उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा

महोपाध्याय विनयसागर

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर
श्रुतज्ञान प्रसारक मण्डल, जयपुर
सेठ मोतीलाल जैन पेरिटेबल ट्रस्ट, बम्बई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत-भारती पुष्प–३१

कोविदशेखर श्री सिद्धर्षि गणि रचित

उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा

प्रथम खण्ड

[प्रस्ताव १ से ४ का हिन्दी अनुवाद]

आशीर्वचन

आचार्य श्री हस्तिमलजी म०

आचार्य श्री पद्मसागरसूरिजी म०

भूमिका

श्री देवेन्द्रमुनि 'शास्त्री'

सम्पादक, संशोधक, अनुवादक

महोपाध्याय विनयसागर

अनुवादक

लालचन्द्र जैन

प्रकाशक

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

सेठ मोतीशा रिलीजियस एण्ड चेरिटेबल ट्रस्ट, मायखला–बम्बई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

☐ उपमिति-भव-प्रपंच कथा प्रथम खण्ड

☐ सम्पादक : महोपाध्याय विनयसागर

☐ प्रकाशक : देवेन्द्रराज मेहता
सचिव, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

सज्जन नाथ मोदी, सुमेरसिंह बोथरा
मन्त्री, संयुक्तमन्त्री, सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

एस० एम० बाफना
मैनेजिंग ट्रस्टी, सेठ मोतीशा रिलीजियस एण्ड चेरिटेबल ट्रस्ट,
भायखला–बम्बई

☐ प्रकाशन : वर्ष १९८५

☐ © राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

☐ मूल्य : ९०.०० नव्वे रुपया : दोनों खण्डों का १५०.०० एक सौ पचास रुपया

☐ मुद्रक : अजन्ता प्रिन्टर्स
घी वालों का रास्ता, जयपुर–३
पॉपुलर प्रिन्टर्स, जयपुर–२

☐ प्राप्ति स्थान :

१. राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान,
३८२६, यति श्यामलालजी का उपाश्रय,
मोतीसिंह भोमियों का रास्ता,
जयपुर (राज०)-३०२ ००३

२. सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल,
बापू बाजार, जयपुर (राज०)–३०२ ००३

३. सेठ मोतीशा रिलीजियस एण्ड चेरिटेबल ट्रस्ट,
१८०, सेठ मोतीशा लेन,
भायखला–बम्बई–४०००२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

प्राकृत भारती पुष्प ३१-३२ के रूप में **उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा के प्रथम हिन्दी अनुवाद** को राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, और सेठ मोतीशाह रिलीजियन्स एण्ड चेरीटेबल ट्रस्ट, भायखला-बम्बई द्वारा संयुक्त प्रकाशन के रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें हार्दिक हर्ष है।

ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उद्भट विद्वान् श्री सिद्धर्षि गणि द्वारा लिखित संस्कृत भाषा का यह ग्रन्थ १०वीं शताब्दी का है। रूपक के रूप में इतना बड़ा ग्रन्थ सम्भवतः पूर्व में या पश्चात् काल में नहीं लिखा गया। इसकी रचना शैली भी वैशिष्ट्यपूर्ण है। धर्म जो सीमित दायरे से विस्तृत मानव-धर्म के स्तर का है, उसके विभिन्न पहलुओं को रूपक/उपमाओं के माध्यम से मनोवैज्ञानिक एवं रुचिकर रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो मूल लेखक के बहु आयामी व्यक्तित्व एवं अनुभवों के कारण ही सम्भव हुआ है।

सिद्धर्षि गणि प्रारम्भ में गृहस्थ थे। उनका प्रारम्भिक जीवन अत्यधिक विषयासक्ति का था। माता और पत्नी का उलाहना सुनकर, आक्रोश में उन्होंने घर छोड़ दिया। अपने समय के प्रमुख विद्वान् जैन श्रमण दुर्गस्वामी के प्रतिबोध से जैन श्रमण बने और धर्म तथा दर्शन का व्यापक एवं तुलनात्मक अध्ययन किया। बाद में बुद्धधर्म की ओर आकर्षित हुए तथा बुद्ध श्रमण भी बन गये। पर, अपने मूल गुरु को दिये गये वचन के अनुसार वापस उनके पास आये और पुनः प्रतिबोध प्राप्त कर जैन श्रमण बने।

इस प्रकार जीवन के विभिन्न पक्षों को सघन रूप से जीने और त्यागने वाले सिद्धर्षि गणि जैसे संवेदनशील विद्वान् व्यक्ति ही ऐसे अद्भुत ग्रन्थ की रचना कर सकते थे। भारतीय दर्शन एवं जैन साहित्य के प्रमुख/मर्मज्ञ विद्वान् **डॉ० हर्मन जेकोबी** (जर्मन) को इस ग्रन्थ ने इतना अधिक प्रभावित किया कि उन्होंने इस ग्रन्थ को भारतीय संस्कृत साहित्य का एक मौलिक एवं अद्वितीय ग्रन्थ बताया तथा मूल ग्रन्थ को सम्पादित कर प्रकाशित करवाया। बाद में जर्मन भाषा में इसका अनुवाद भी हुआ। ६० वर्ष पूर्व **श्री मोतीचन्द गिरधरलाल कापड़िया** द्वारा अनुदित **गुजराती**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। हिन्दी के प्रमुख विद्वान् **श्री नाथूराम प्रेमी** ने भी केवल प्रथम प्रस्ताव का हिन्दी में अनुवाद कर प्रकाशित किया। यह काम उनके देहावसान के कारण आगे नहीं बढ़ पाया।

पुस्तक के २ से ८ प्रस्तावों का अनुवाद **श्री लालचन्द जी जैन** ने किया तथा हमारे अनुरोध को स्वीकार कर जैन साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् **महोपाध्याय श्री विनयसागर जी** ने प्रथम प्रस्ताव का अनुवाद, समग्र अनुवाद का मूलानुसारी अविकल संशोधन तथा सम्पादन का वृहत्भार भी वहन कर इस कार्य को सफलता के साथ सम्पन्न किया। प्रूफ संशोधन में **श्री ओंकारलाल जी मेनारिया** ने पूर्ण सहयोग दिया। एतदर्थ तीनों संस्थायें तीनों विद्वानों की आभारी हैं।

पुस्तक का मुद्रण कार्य अजन्ता प्रिण्टर्स एवं पॉपुलर प्रिण्टर्स, जयपुर द्वारा किया गया, जिसके लिये भी तीनों संस्थायें दोनों प्रेसों के संचालकों की आभारी हैं।

आशीर्वचन प्रदान कर आचार्यप्रवर श्री **हस्तिमलजी** महाराज एवं आचार्यप्रवर श्री **पद्मसागरसूरिजी** महाराज ने तथा सिद्धहस्त लेखक मुनिपुंगव श्री **देवेन्द्रमुनिजी** महाराज 'शास्त्री' ने विस्तृत भूमिका लिखकर हमें कृतार्थ किया है।

परम श्रद्धेय आचार्य श्री हस्तिमल जी महाराज के तो हम अत्यन्त ऋणी हैं कि जिनकी सतत् प्रेरणा से ही इसका हिन्दी अनुवाद सम्भव हो सका।

यदि विषय-प्रतिपादन, सैद्धान्तिक ऊहापोह आदि में कहीं मान्यता अथवा परम्परा भेद आता हो तो उससे प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

हिन्दी भाषा-भाषी अतिविशाल समाज के कर-कमलों में इस ग्रन्थ का सर्वाङ्ग पूर्ण हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है। आशा है, पाठकगण इसके अध्ययन से आनन्द और ज्ञान दोनों प्राप्त करेंगे।

एस. एम. बाफना
मैनेजिंग ट्रस्टी
सेठ मोतीचन्द
रिलीजियस एण्ड
चेरिटेबल ट्रस्ट
भायखला—बम्बई

देवेन्द्रराज मेहता
सचिव
राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान,
जयपुर

सज्जननाथ मोदी
सुमेरसिंह बोथरा
मन्त्री, संयुक्तमन्त्री
सम्यग् ज्ञान
प्रचारक मण्डल,
जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

सिद्धव्याख्यातुराख्यातुं महिमानं हि तस्य कः ?
समस्त्युपमितिर्नाम यस्यानुपमितिः कथा ।

मरुधरा/राजस्थान प्रदेश का यह परम सौभाग्य रहा है कि शताधिक ग्रन्थ प्रणेता आप्त टीकाकार उद्भट दार्शनिक याकिनी महत्तरासूनु आचार्य हरिभद्रसूरि (९वीं शती, चित्तौड़), कुवलयमाला कथाकार दाक्षिण्यचिह्नांक उद्योतनसूरि (९वीं शती, जालौर), शिशुपालवध महाकाव्य के प्रणेता महाकवि माघ (भिन्नमाल), उपमिति-भव-प्रपंच कथाकार विद्वत् शिरोमणि सिद्धर्षि गणि (१०वीं शती, भिन्नमाल), सनत्कुमार-चक्रिचरित महाकाव्यकार जिनपालोपाध्याय (१३वीं शती, पुष्कर), मुहम्मद तुगलक प्रतिबोधक विविधतीर्थकल्पादि ग्रन्थों के रचयिता जिनप्रभसूरि (१४वीं शती, मोहिलवाड़ी), अष्टलक्षीग्रन्थकार महाकवि समयसुन्दर (17वीं शती, सांचोर), मस्तयोगी आनन्दघन (१७वीं शती, मेड़ता), भक्तिमती परमयोगिनी मीरां (१७वीं शती, मेड़ता) आदि शताधिक साहित्यकारों की यह जन्मस्थली, क्रीड़ास्थली और कर्मस्थली रही है । आज भी इनकी यशोपताका/कीर्तिगाथा भारतीय गगन में ही नहीं, अपितु दिग्-दिगन्त तक धवलता के साथ फहरा रही है, प्रसर रही है ।

इन्हीं विशिष्ट साहित्यकारों में सिद्धव्याख्याता सिद्धर्षि गणि का नाम भी साहित्य जगत् में अनामिका की तरह उट्टंकित है और इनकी उपमिति-भव-प्रपंच कथा नामक कृति अमर कृति है । इनकी जीवन-गाथा के सम्बन्ध में राजगच्छीय श्री प्रभाचन्द्रसूरि ने सं. १३३४ में रचित प्रभावकचरित में परम्परागत श्रुति के आधार पर 'सिद्धर्षि प्रबन्ध' में आलेखन किया है । डॉ. हर्मन जैकोबी के मतानुसार सिद्धर्षि प्रबन्ध के अनुसार—ये माघ कवि के चचेरे भाई थे—का वर्णन इतिहास-सम्मत नहीं है ।

अन्तः साक्ष्य के अनुसार निम्न घटना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि सिद्धर्षि बौद्ध-दर्शन एवं बौद्ध श्रमण-चर्या के प्रति अत्यन्त अनुरक्त होते हुए भी गुरु को प्रदत्त वचनानुसार जब गुरु दुर्गाचार्य के समीप आये, उस समय गुरु के यहाँ पर रखी हुई आचार्य हरिभद्रसूरि की चैत्यवन्दन सूत्र पर ललितविस्तरा टीका का उन्होंने आद्यन्त अवलोकन किया, तो उनके नेत्र खुल गये और जैन दर्शन एवं जैन श्रमणचर्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के प्रबल समर्थक बन गये तथा पुनः जैन श्रमणत्व स्वीकार किया। यही कारण है कि वे श्रद्धासिक्त हृदय से कहते हैं :--

आचार्यो हरिभद्रो मे धर्मबोधकरो गुरुः।
प्रस्तावे भावतो हन्त स एवाद्यें निवेदितः॥ 1012

विषं विनिर्धूय कुवासनामयं, व्यचीचरद् यः कृपया मदाशये।
अचिन्त्यवीर्येण सुवासनासुधां, नमोऽस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये॥ 1013

अनागतं परिज्ञाय चैत्यवन्दनसंश्रया।
मदर्थैव कृता येन वृत्तिर्ललितविस्तरा॥ 1014

उपमिति-भव-प्रपंच कथा-ग्रन्थकर्त्ता-प्रशस्ति

अर्थात् आचार्य हरिभद्रसूरि मेरे धर्मबोधकारक गुरु हैं। इस बात का मैंने प्रथम प्रस्ताव में ही निवेदन/संकेत कर दिया है। १०१२।

श्री हरिभद्रसूरि ने कुवासना से व्याप्त विष का प्रक्षालन कर, मेरे लिये अचिन्तनीय वीर्य के प्रयोग से कृपापूर्वक सुवासना रूप अमृत का निर्माण किया ऐसे आचार्य श्री को नमस्कार हो। १०१३।

अनागत काल का परिज्ञान कर जिन्होंने मेरे लिये ही चैत्यवन्दन से सम्बन्धित सूत्र पर ललितविस्तरा नामक वृत्ति की रचना की। १०१४।

सिद्धर्षि के व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में श्री मोतीचन्द गिरधरलाल कापड़िया ने ५८–५९ वर्ष पूर्व विस्तृत अध्ययन के रूप में "श्री सिद्धर्षि" नामक ५०० पृष्ठों की पुस्तक लिखी थी, जो जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर से प्रकाशित हुई थी। साथ ही प्रस्तुत पुस्तक में भूमिका के रूप में श्री देवेन्द्रमुनि जी शास्त्री ने विविध आयामों के आलोक में लेखक के व्यक्तित्व और कृतित्व पर समीक्षात्मक दृष्टि से प्रकाश डाला है। अतः लेखक के जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी कहना पिष्टपेषण मात्र होगा।

श्री सिद्धर्षि ने इस रूपकात्मक कथा ग्रन्थ की रचना ज्येष्ठ शुक्ला ५ गुरुवार वि० सं० ९६२ में भिन्नमाल में रहते हुए की थी। इसके अतिरिक्त लेखक की तीन कृतियाँ और प्राप्त हैं :--

१. श्रीचन्द्रकेवली चरित्र र० सं० ९७४.
२. उपदेशमाला बृहद्वृत्ति एवं लघुवृत्ति
३. न्यायावतार टीका

इन रचनाओं के आधार से स्पष्ट है कि लेखक का काल १०वीं शती का है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुछ विशेषतायें

प्रथम प्रस्ताव में सिद्धर्षि ने स्वयं को जिस रूप में प्रस्तुत किया है वह वस्तुतः अनुपमेय है। कथा के उपोद्घात में स्वयं सिद्धर्षि निष्पुण्यक नामक दीन-हीन महा-दुःखी दरिद्री भिक्षुक के रूप में अवतरित होते हैं। भिखारी समस्त व्याधियों से ग्रस्त और उन्माद दशा से पीड़ित है तथा संकल्प-विकल्प के जालों से ग्रथित है। कदाचित् वह कुछ भव्यता प्राप्त करने पर सर्वज्ञ शासन के चतुर्विध संघ स्वरूप राज-मन्दिर में प्रवेश पाता है। तद्दया अर्थात् आचार्य भगवन्तों की कृपा प्राप्त कर, धर्मबोधकर अर्थात् सद्धर्माचार्यों का उपदेश/निर्देश प्राप्त कर, तद्दया के सान्निध्य में विमलालोक अंजन, तत्त्वप्रीतिकर जल और महाकल्याणक भोजन अर्थात् रत्नत्रयी का येन-केन प्रकारेण आसेवन/अनुष्ठान कर, पात्रता प्राप्त कर सपुण्यक बन जाता है। अर्थात् सर्वज्ञ शासनस्थ संघ का एक अंग बन जाता है। फिर वही सपुण्यक साधु/सद्धमाचार्य सिद्धर्षि के रूप में स्वानुष्ठित रत्नत्रयी के प्रचार करने हेतु कथा के माध्यम से इस अलौकिक ग्रन्थ की रचना करते हैं।

यह ग्रन्थ समग्र रूप से मनोवैज्ञानिक-धरा पर अवलंबित है। कथानायक जीव/आत्मा के साथ संसार में परिभ्रमण करते हुए जितनी भी घटनायें घटित होती हैं, वर्णित की गई हैं, वे सब यथार्थ हैं, कपोल कल्पित नहीं। ग्रन्थ में वर्णित प्रत्येक घटनायें आज भी क्रोधादि कषायों और पांचों इन्द्रियों के विकारों से मोहाविष्ट मानव के जीवन से सम्पृक्त हैं। उसके जीवन से एक भी अछूती नहीं हैं। आज भी मानव इन घटनाचक्रों का येन-केन प्रकारेण स्वयं अनुभव भी करता है। दूसरों के जीवन में घटित होता देखता भी है और सुनता भी है। यही कारण है कि ग्रन्थकार ने कथा का अवलंबन/माध्यम लेकर अनुभूतिपरक, दृष्ट एवं श्रुत घटनाओं का सजीव चित्रण किया है। सिद्धर्षि स्वयं कहते हैं :—

इह हि जीवमपेक्ष्य मया निजं
मदिदमुक्तमदः सकले जने।
लगति सम्भवमात्रतया त्वहो,
गदितमात्मनि चारु विचार्यताम्।

(प्रथम खण्ड पृ. १३९)

अर्थात् मैंने मेरे जीव की अपेक्षा (माध्यम) से यहाँ जो कुछ कहा है वह प्रायः कर सब जीवों के साथ भी घटित होता है। जिन उपर्युक्त घटनाओं का वर्णन किया गया है, वे घटनायें आपके साथ घटित होती हैं या नहीं? इस पर आप अच्छी तरह विचार करें।

इस ग्रन्थ में एक महत्त्व की बात का स्थल-स्थल पर विशेष रूप से लेखक ने वर्णन किया है, जो प्रत्येक मानव के लिये मननीय, अनुकरणीय और आचरणीय है। वह वर्णन है :—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथानायक जीव मोहप्लावित होकर, अकरणीय, अशोभनीय, लज्जनीय, जघन्यतम कुकृत्य/दुष्कर्म पापों का आचरण करता है, जनसमूह को त्रस्त एवं पीड़ित करता है। उस समय जब सद्धर्माचार्यों से पूछा जाता है—'भगवन्! यह अधमाचरण क्यों करता है?' प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य भगवान् या केवली कहते हैं :— 'इसमें इसका/आत्मा का कोई दोष नहीं है। यह तो पूर्णरूपेण निर्दोष है, निर्मलतम है, पवित्र है। यह तो मोहराज का जाल है। मोहराज के सेनानियों—क्रोधादि चार कषायों, पांचों इन्द्रियों के विकारों—तथा भवितव्यता के जाल में फंसा हुआ प्राणी है। इनसे जकड़ा हुआ है और आक्रान्त है। ये दुर्गुण ही इसको अग्रसर बनाकर, इसके परम हितैषी बनकर, इसके माध्यम से अपने अधमाधम कार्यों की सिद्धि करते हैं और प्राणी को भवचक्र में परिभ्रमण कराते हैं। वस्तुतः इन कार्यों में इसका कोई दोष नहीं है।' अन्त में उपसंहार में कहते हैं—'भव्यजनों! यह प्राणी घृणा योग्य नहीं है, अपितु इसमें व्याप्त दुर्गुण ही हेय हैं, घृणा करने योग्य हैं, त्याज्य हैं। भवमुक्त होने के लिये इन दुर्गुणों का त्याग करो।'

अन्य संस्करण

गद्य-पद्यात्मक यह चम्पूकाव्य विशालकाय ग्रन्थ है। अनुष्टुब् श्लोक पद्धति से इसका श्लोक परिमाण १६००० (सोलह हजार) है। रचना शैली प्रांजल, वैदग्ध्यपूर्ण और उपमानात्मक होने से इसका अध्ययन करना, विषय गाम्भीर्य और रहस्य को समझना प्रत्येक के लिये सुकर नहीं है; अतः परवर्ती ग्रन्थकारों ने इसके सारांश के रूप में भी कृतियों का निर्माण किया है। वे हैं—

१. उपमिति-भव-प्रपंचा नाम समुच्चय : कर्ता खरतरगच्छ संस्थापक वर्द्धमानसूरि : समय ११वीं शताब्दी (१०६० से १०८०) यह कृति प्रकाशित हो चुकी है।

इसी का संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद श्री कस्तूरमलजी बांठिया ने किया था जो श्री जिनदत्तसूरि मण्डल, अजमेर से प्रकाशित हो चुका है।

२. उपमिति-भव-प्रपंच कथा सारोद्धार : चन्द्रगच्छीय श्री देवेन्द्रसूरि : र० सं० १२९८ : श्लोक परिमाण ५७३० : यह कृति केसरबाई ज्ञान मन्दिर, पाटण से सं० २००६ में प्रकाशित हो चुकी है।

इसी का गुजराती अनुवाद श्री मंगलविजयजी गणि ने किया है। यह अनुवाद तीन भागों में श्री वर्धमान जैन तत्त्व ज्ञान प्रचारक विद्यालय, शिवगंज से सं० २०२३ में प्रकाशित हो चुका है।

३. उपमितिभवप्रपंचाकथोद्धार : हंसरत्न : इसकी एक मात्र प्रति डेला उपाश्रय ज्ञान भण्डार, अहमदाबाद में प्राप्त है। कृति अप्रकाशित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. उपमितिभवप्रपंचोद्धार (गद्य) : देवसूरि : श्री विमलचन्द्र गणि के अनुरोध से रचित : श्लोक परिमाण २३२८ : इसकी प्रति पाटन के ज्ञान भण्डार में प्राप्त है । कृति अप्रकाशित है ।

५. राजस्थानी/हिन्दी अनुवाद : श्री भंवरलालजी नाहटा की सूचनानुसार इसकी प्रति श्री जिनदत्तसूरि मण्डल, अजमेर के संग्रहालय में हस्त० प्रति के रूप में प्राप्त है ।

उपमिति-भव-प्रपंच कथा के मुद्रित संस्करण—

मूल ग्रन्थ के अभी तक तीन संस्करण विभिन्न सस्थाओं द्वारा निकल चुके हैं :—

१. डॉ. हर्मन जेकोबी और पीटर्सन के संयुक्त सम्पादकत्व में बीबीलोथिया इण्डिया की सीरीज में सन १८९९ से १९१४ के मध्य में बंगाल एशियाटिक सोसायटी द्वारा प्रकाशित ।

२. देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत/बम्बई से दो भागों में सन् १९१८–१९२० में प्रकाशित ।

३. भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति, पिण्डवाडा से वि० सं० २०३४ में दो भागों में प्रकाशित ।

मूल ग्रन्थ के तीनों ही संस्करण आज अप्राप्त हैं ।

अनुवाद

१. डब्ल्यू. किरफेल ने सर्वप्रथम इसका जर्मन भाषा में अनुवाद किया था जो सन् १९२४ में प्रकाशित हुआ था ।

२. श्री मोतीचन्द गिरधरलाल कापड़िया ने इसका गुजराती भाषा में अनुवाद किया था जो तीन भागों में जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर से सन् १९२५–१९२६ में प्रकाशित हुआ था ।

श्री कापड़िया ने "श्री सिद्धर्षि" के नाम से प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन के रूप में विशाल पुस्तक भी लिखी थी । यह कृति भी जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर से प्रकाशित हुई थी ।

३. श्री नाथूराम प्रेमी ने केवल प्रथम प्रस्ताव का हिन्दी अनुवाद किया था, जो आज से ६० वर्ष पूर्व हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, कार्यालय, बम्बई से प्रकाशित हुआ था ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये तीनों भाषाओं के अनुवाद भी आज अप्राप्त हैं।

प्रस्तुत अनुवाद

इस प्राचीनतम मौलिक उपन्यास का पूर्ण हिन्दी अनुवाद न होने से हिन्दी-भाषी पाठक अद्यावधि इसके अध्ययन से वंचित रहे। यह गौरव का विषय है कि यह हिन्दी अनुवाद आज प्रकाशित हो रहा है। इसके प्रकाशन का सारा श्रेय वस्तुतः श्री देवेन्द्रराजजी मेहता, सचिव, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर के हिस्से में ही जाता है। इन्हीं की सतत प्रेरणा से यह अनुदित होकर प्रकाश में आ रहा है। अतः साहित्य जगत् की दृष्टि में वे धन्यवादार्ह हैं।

पूर्वकृत अनुवाद मूलानुसारी न होने से लगभग ४ वर्ष पूर्व श्री मेहताजी ने मुझ से अनुरोध किया था कि मैं इस अनुवाद का संशोधन एवं सम्पादन कर दूं। मेरी अनिच्छा होते हुए भी उनके प्रेम के वशीभूत होकर मैंने उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया था। अनिच्छा का कारण था कि अनुवाद करना सरल है, किन्तु उसका संशोधन लेखक की शैली में ही करना अत्यन्त जटिल एवं अतीव दुष्कर कार्य है तथा कष्ट-साध्य है। तथापि श्रम एवं समय-साध्य होने पर भी श्री मेहताजी की सतत प्रेरणा से मैंने निष्ठापूर्वक इसका संशोधन किया।

मैंने प्रथम प्रस्ताव का अनुवाद स्वतन्त्र रूप से किया और शेष प्रस्तावों का मूलानुसारी संशोधन किया।

प्रस्तुत अनुवाद न तो शब्दशः अनुवाद ही है और न सारांशात्मक है। मूल लेखक के किसी भी विशिष्ट शब्द को नहीं छोड़ते हुए, कथा एवं भाषा के प्रवाह को अक्षुण्ण रखते हुए मैंने अनुवाद करने का प्रयत्न किया है। साधारणतः भाषा भी संस्कृतनिष्ठ न रखकर जनसाधारण की ही भाषा का प्रयोग किया है, किन्तु विषय-गाम्भीर्य के अनुसार कुछ कठिन शब्दों का समावेश भी करना पड़ा है।

मैंने इस अनुवाद में देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड से प्रकाशित संस्करण को ही मूल आधार बनाया है। शोध-छात्रों की सुविधा के लिये इस संस्करण का कौन से पृष्ठ का और कौन से पद्यांक का अनुवाद चल रहा है? इसका संकेत मैंने पाद-टिप्पणी में सर्वत्र पृष्ठांक देकर किया है। साथ ही पद्यांक भी अनुवाद के साथ ही [ ] कोष्ठक में दिये हैं।

यद्यपि अनुवाद और संशोधन मैंने निष्ठा के साथ किया है तथापि यदि किसी स्थल पर मूल लेखक की भावना के विपरीत अनुवाद कर दिया हो, या कहीं अनुवाद में स्खलना रह गई हो अथवा प्रूफ संशोधन में अशुद्धियां रह गई हों, इसके लिये मैं क्षमाप्रार्थी हूँ और सुविज्ञ पाठकों से अनुरोध करता कि त्रुटियों को परिमार्जित कर मुझे उपकृत करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानवता के जीवन्त प्रतीक, सेवाव्रती, धर्मनिष्ठ श्री देवेन्द्रराजजी मेहता का मैं अत्यन्त आभारी हूँ कि जिनकी सतत प्रेरणा एवं सुयोग्य संबल के कारण मैं इस कार्य को सम्पन्न कर सका।

अन्त में, मैं मेरे सद्धर्माचार्य खरतरगच्छ विभूषण पूतात्मा स्वर्गीय आचार्य श्री जिनमणिसागरसूरिजी महाराज का अत्यन्त ऋणी हूँ कि उनके वरद हस्त एवं कृपापाथेय के कारण ही मेरे जैसा अल्पज्ञ/क्षुद्र-व्यक्ति साहित्यिक-यज्ञ में एक आहुति देने में सक्षम हो सका।

आश्विन शुक्ला ८ सं० २०४१
जयपुर

म. विनयसागर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशीर्वचन

☐ आचार्य श्री हस्तिमल जी म० सा०

उपमिति-भव-प्रपंच कथा (यह रूपक शैली का एक संस्कृत कथा ग्रन्थ है) ग्रन्थ के रचनाकार विद्वद्वर्य सिद्धर्षि गणि ने इसकी रचना करके विषय-कषाय के पंक में निमग्न संसारी जीवों को त्याग-विराग की भूमिका पर आरोहण करने के लिये एक बड़ा सरल आलम्बन दिया है, एतदर्थ अध्यात्म चेतना के जिज्ञासु उनके सदा कृतज्ञ रहेंगे, ऐसा विश्वास है।

संसारी जीव हिंसा, मृषावाद, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह तथा क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह के अधीन होकर, शब्दादि विषयों का रसिक बनकर विविध योनिओं में भटकता और कष्ट उठाता है। ये ही भव विस्तार के कारण हैं। और, सदागम--सम्यक् श्रुति से भव-मुक्ति का द्वार प्राप्त होता है।

सर्वविदित बात है कि त्यागी मुनिओं की भक्ति भोग-वैभव के निमन्त्रण से नहीं होती, त्यागी की भक्ति त्याग से ही होती है। फिर भी परम्पराजन्य संस्कारों से व्यवहार दृष्टि वाले पात्र के लिये कही गई वैसी घटना, जैसा कि साहित्य विशारद श्री देवेन्द्रमुनि जी ने प्रस्तावना में कहा है—जो व्यक्ति परमात्म-स्वरूप की साकारता में श्रद्धा रखते हैं, उनके लिए जिनपूजा (पृ० ४८६), जिनाभिषेक (पृ० २१८) जैसे प्रसंग पठनीय हो सकते हैं! (प्रस्तावना पृ० ६५) उनको साहजिक समझ, अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार, पाठक लेखक के मूल उद्देश्य पर ध्यान रखें, हंस दृष्टि से क्षीर-नीर का विवेकी होकर वीतराग भाव को जगाने वाले निरारंभी साधनों को ग्रहण करें एवं शब्दादि विषय और काम-क्रोधादि विकारों से दूर रहकर आत्मलक्षी जीवन बनायें, इसी में स्व-पर का कल्याण है।

आशा है, पाठक इसके पठन-पाठन से आन्तरिक विकारों का शमन कर भव-प्रपंच से मुक्ति मिलाने में प्रयत्नशील होंगे।

६ जुलाई, १९८५ यही शुभेच्छा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशीर्वचन

☐ आचार्य श्री पद्मसागर सूरि जी म० सा०

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि पूज्य विद्वान् शिरोमणि **श्री सिद्धर्षि गणि** की अपूर्व रचना **उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा** का **हिन्दी अनुवाद** शीघ्र प्रकाशित होने जा रहा है।

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में इस महान ग्रन्थ का प्रवेश जैन जगत् के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

वैराग्य से परिपूर्ण इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से जनमानस में दर्शन शुद्धि का परम साधन स्वरूप परमात्म-भक्ति एवं जिनपूजा तथा धर्मश्रद्धा के गुणों में अभिवृद्धि होगी। जीवन के गहन तत्त्वों की खोज में उन्हें ज्ञान का एक नया प्रकाश मिलेगा। साथ ही ज्ञानियों के विचारों को जीवन के आचार में प्रतिष्ठित करने की प्रेरणा भी मिलेगी। इस ग्रन्थ के पठन से रत्नत्रयी की प्राप्ति और शुद्धि सरल/सहज बनेगी, ऐसी मेरी श्रद्धा है।

इस ग्रन्थ के अनुवादक, सम्पादक व प्रकाशकों को मैं इस कार्य के लिये हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

इस ग्रन्थ के स्वाध्याय द्वारा अनेक जीवों के हृदय-पटल में सद्भावना और मानवता के गुण विकसित हों, यही मेरी शुभ-कामना है।

दि० 30-८-८४
पाली (राज०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावना

भगवान् महावीर विहार यात्रा पर थे। चलते-चलते, वे जब उस वन के निकट पहुँचे, जिसमें चण्डकौशिक विषधर रहता था, तब वहाँ पर गायें चरा रहे ग्वालों ने महावीर से कहा—'इधर, एक भयङ्कर सर्प रहता है। अतः आप इधर से न जाकर, उधर वाले रास्ते से चले जावें।'

ग्वालों के कथन का, महावीर पर जरा भी असर न हुआ। वे, निर्विकार भाव से, अपने पथ पर आगे बढ़ चले।

ग्वालों ने, उन्हें उसी रास्ते पर जाते देखा, जिस पर जाने से उन्होंने उन्हें मना किया था, तो वे भयभीत और आशंकित मन से सोचने लगे —'यह संत, अब बच नहीं सकेगा, शायद !'

मैंने, आगमों में उल्लिखित इस घटना-क्रम पर जब-जब भी चिन्तन किया, मुझे लगा—'भय, सर्प की विकरालता में नहीं है, उसके जहरीलेपन में भी नहीं है। अपितु, व्यक्ति के अपने मन में भय रहता है। कोई भी व्यक्ति, जब स्वयं क्रोध से भरा होता है, तब उसे, सर्वत्र क्रोध ही क्रोध नजर आता है। उसके मन में, जब अशान्ति समाई होती है, तब, सारा संसार उसे अशान्त दिखलाई पड़ता है। ईर्ष्या, द्वेष, कुण्ठा और संत्रासों से परिपूरित मन, सारे संसार में, अपनी ही कलुषित कालिमा को छाया हुआ देखता है। और, अपने मन में जब शान्ति हो, सन्तोष हो, निर्मलता हो, समता हो, सरलता हो, अमरता हो; तब, विश्व का सारा वातावरण भी उसे शान्त सन्तुष्ट, निर्मल आदि रूपों में दृष्टिगोचर होगा।

वन-वन विहारी महावीर का मन, शान्ति, सन्तुष्टि, सहजता, समता, सरलता आदि मानवीय गुणों से ले कर दयालुता, परदुःख कातरता आदि अति-मानवीय गुणों को भी अपने में प्रतिष्ठापित कर चुका था। मृत्यु का भय, हमेशा-हमेशा के लिये उसमें से विगलित हो चुका था और उसके स्थान पर उसमें अनन्त अमरता समाहित हो चुकी थी। ऐसे में, ग्वालों के भय-आशंका पूरित निवेदन से, भला वे क्यों सहमते ? अपना पथ-परिवर्तन क्यों करते ?

ग्वालों द्वारा निषिद्ध पथ पर, अपने दृढ़ कदम बढ़ाने के पीछे, महावीर का यह आशय भी नहीं था कि वे उन ग्वालों के ग्राम्य-मन पर प्रभाव डालना चाहते हों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि निर्ग्रन्थ संत, काल की विकरालता से भी भयभीत नहीं होते। बल्कि, उनके मन में, ग्वालों के पूर्वोक्त कथन-श्रवण से प्रादुर्भूत वह करुणापूरित भाव आन्दोलित हो उठा था, जिसमें, पापी चण्डकौशिक के विद्रोही-मन में भरी विकरालता को विगलित करके, उसके स्थान पर, उसमें अमृतत्व समाहित कर देने की चाह निहित रही थी।

वस्तुतः, स्वयं के अभ्युदय और उत्कर्ष की परम-समृद्धि को सम्प्राप्त कर लेना 'जिनत्व' और 'केवलित्व' की साधना की सफलता का द्योतक हो सकता है, पर, 'तीर्थङ्करत्व' की चरितार्थता तो तभी सार्थक बन पाती है, जब एक केवली, एक जिन, भव-भयत्रस्त मानवता के मन में अमृतत्व को प्रतिष्ठित कर पाने में सफल बनता है। महावीर के उक्त आचरण में, गोपालों द्वारा वर्जित मार्ग पर ही अग्रसर होने के मूल में, महावीर के तीर्थङ्करत्व की सफलता और चरितार्थता का एक सार्थक चिरस्थायी मानदण्ड स्थापित होने का संयोग पूर्व निर्धारित था; इस बात को, वे बखूबी जानते थे।

महावीर जानते थे कि चण्डकौशिक के मन में बसी विकरालता को, भयंकरता को निकाल कर फेंक देने के बाद, एक बार उसमें अमृत-ज्योति जगमगा उठी, तो फिर उसका सारा जीवन, अपने आप ज्योतिर्मय बन जायेगा।

महर्षि सिद्धर्षि प्रणीत, 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा के प्रस्तावना-लेखन के इस प्रसङ्ग में, आगम-वर्णित उक्त घटनाक्रम और उससे जुड़ा मेरा चिन्तन, आज मुझे सहसा स्मरण हो आया। इसलिए कि महर्षि सिद्धर्षि का आशय भी 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' के प्रणयन के प्रसङ्ग में, बहुत कुछ वैसा ही रहा है, जैसा कि किसी तीर्थङ्कर के पवित्र जीवन-दर्शन के अध्ययन-मनन, चिन्तन से आप्लावित आचरण में प्रतिस्फूर्त होना चाहिए। सिद्धर्षि जानते थे—चण्डकौशिक की भयङ्करता, बाह्य जगत् की भयङ्करता पर आधारित नहीं थी, बल्कि उसका आधार, उसके मन में, उसके अन्तस् में, गहराई तक जड़ें जमाये बैठा था। रावण भी, इसलिए 'राक्षस' नहीं था कि जगत् का बाह्य परिवेश राक्षसी था, बल्कि, वह इसलिए राक्षस था कि उसका स्वयं का समग्र अन्तःकरण 'राक्षसत्व' से, 'रावणत्व' से सराबोर रहा।

इसलिए, 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' के प्रणयन का श्रमसाध्य दायित्वपूर्ण आचार, इस आशा के साथ निभाया कि यदि एक जीवात्मा का अन्तःकरण भी, ज्ञान के आलोक से एक बार जगमगा उठा, तो उसका समग्र जीवन, ज्योतिर्मय बनने में देर नहीं लगेगी। इस आशय को, उन्होंने अपने इस कथा-ग्रन्थ में स्वयं स्पष्ट किया है—'इस ग्रन्थ को मैं इसलिए बना रहा हूँ कि इसमें प्रतिपादित ज्ञान आदि का स्वरूप, सर्वजन-ग्राह्य हो सकेगा। यदि, कदाचित् ऐसा न भी हो सका, तो भी, संसार के समस्त प्राणियों में से किसी एक प्राणी ने भी, इसका अध्ययन,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनन और चिन्तन करके, अपने आचरण को शुद्धभाव रूप में परिणमित कर लिया, और वह सन्मार्ग पर आ लिया, तो मैं अपने इस परिश्रम को सफल हुआ मानूंगा।'[1]

संस्कृत भाषा एवं साहित्य का विकास-क्रम

'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से निष्पन्न शब्द है--'संस्कृत'। जिसका अर्थ होता है – 'एक ऐसी भाषा, जिसका संस्कार कर दिया गया हो।' इस संस्कृत भाषा को 'देववाणी' या 'सुरभारती' आदि कई नामों से जाना/पहिचाना जाता है। आज तक जानी/बोली जा रही, विश्व की तमाम परिष्कृत भाषाओं में प्राचीनतम भाषा 'संस्कृत' ही है। इस निर्णय को, विश्वभर का विद्वद्वृन्द एक राय से स्वीकार करता है।

भाषा-वैज्ञानिकों की मान्यता है कि विश्व की सिर्फ दो ही भाषाएं ऐसी हैं, जिनके बोल-चाल से संस्कृतियों/सभ्यताओं का जन्म हुआ, और, जिनके लिखने/पढ़ने से व्यापक साहित्य/वाङ्मय की सर्जना हुई। ये भाषाएं हैं--'आर्यभाषा' और 'सेमेटिक भाषा'। इनमें से पहली भाषा 'आर्यभाषा' की दो प्रमुख शाखाएं हो जाती हैं--पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वी शाखा का पुनः दो भागों में विभाजन हो जाता है। ये विभाग हैं--ईरानी और भारतीय।

ईरानी भाषा में, पारसियों का सम्पूर्ण मौलिक धार्मिक साहित्य लिखा पड़ा है। इसे 'जेन्द अवेस्ता' के नाम से जाना जाता है। भारतीय शाखा में 'संस्कृत' भाषा ही प्रमुख है। जेन्द अवेस्ता की तरह, संस्कृत भाषा में भी समग्र भारतीय धार्मिक साहित्य भरा पड़ा है। आज के भारत की सारी प्रान्तीय भाषाएं, द्रविड़ मूल की भाषाओं को छोड़ कर संस्कृत से ही निःसृत हुई हैं। संस्कृत, समस्त आर्य-भाषाओं में प्राचीनतम ही नहीं है, बल्कि, उसके (आर्यभाषा के) मौलिक स्वरूप को जानने/समझने के लिये, जितने अधिक साक्ष्य, संस्कृत भाषा में उपलब्ध हो जाते हैं, उतने, किसी दूसरी भाषा में नहीं मिलते।

पश्चिमी शाखा के अन्तर्गत ग्रीक, लैटिन, ट्यूटानिक, फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेजी आदि सारी यूरोपीय भाषायें सम्मिलित हो जाती हैं। इन सब का मूल उद्गम 'आर्यभाषा' है।

संस्कृत भाषा के भी दो रूप हमारे सामने स्पष्ट हैं--वैदिक और लौकिक, यानी लोकभाषा। वैदिक संहिताओं से लेकर वाल्मीकि के पूर्व तक का सारा साहित्य वैदिक भाषा में है। जब कि वाल्मीकि से लेकर अद्यतनीय संस्कृत रचनाओं तक का विपुल साहित्य 'लौकिक संस्कृत' में गिना जाता है, यही मान्यता है विद्वानों की।

---

१. उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा—प्रथम प्रस्ताव, पृष्ठ १०३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर असल, आर्यों के पुरोहित वर्ग ने, अपने धार्मिक क्रिया-कलापों के लिए जिस परिष्कृत/परिमार्जित भाषा को अङ्गीकार किया, वही भाषा, संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों का माध्यम बनी। कालान्तर में इसके स्वरूप-व्यवहार में धीरे-धीरे होता आया परिवर्तन, जब स्थूल रूप में दृष्टिगोचर होने लगा, तब उसे पुनः परिष्कृत करके, एक नये व्याकरण शास्त्र के नियमों में ढाल कर, नया स्वरूप प्रदान कर दिया गया। इस नये परिष्कृत स्वरूप को ही लौकिक संस्कृत के नाम से जाना गया।

कुछ आधुनिक भाषा-शास्त्रियों की मान्यता है—संस्कृत का साहित्य भण्डार, यद्यपि काफी प्रचुर है, तथापि, उसे जन-साधारण के बोल-चाल/पठन-पाठन की भाषा बनने का गौरव, कभी नहीं मिल पाया। इन विद्वानों की दृष्टि में, संस्कृत एक ऐसी भाषा है, जिसमें, सिर्फ साहित्यिक सर्जना भर की सामर्थ्य रही, और है। उसकी यह कृत्रिमता ही, उसे शिष्ट व्यक्तियों के दायरे तक सीमित बनाये रही। इसलिए, इसे 'भाषा' कहने की बजाय 'वाणी' 'भारती' आदि जैसे समादरणीय सम्बोधन दिये गये।

किन्तु, उपलब्ध लौकिक साहित्य में ही कुछ ऐसे अन्तःसूत्र उपलब्ध होते हैं, जिनसे, यह स्पष्टतः फलित होता है कि 'संस्कृत' शिष्ट, विप्र, पुरोहित वर्ग के सामान्य व्यवहार की भाषा तो थी ही, साथ ही, यह एक बड़े जन-समुदाय के बीच भी बोल-चाल के लिए व्यवहार में लायी जाती थी।

यह बात अलग है कि इसी मुद्दे को लेकर, विद्वानों में दो अलग-अलग प्रकार की मान्यताएं उभर कर सामने आ चुकी हैं। एक दृष्टि से, 'संस्कृत' मात्र साहित्यिक भाषा थी। बोल-चाल की सामान्य भाषा 'प्राकृत' थी। दूसरे मत में—संस्कृत, भारतीय जन-साधारण के बोल-चाल की भी भाषा रही। किन्तु, प्राकृत भाषा के उदय के फलस्वरूप, इसका व्यवहार-क्षेत्र कम होता चला गया। तथापि, शिष्ट-वर्ग में, इसका दैनंदिन उपयोग व्यवहार में बना रहा।

आर्यावर्त के विद्वान् ब्राह्मण 'शिष्ट' माने जाते थे। भले ही, संस्कृत का परिपक्व बोध उन्हें हो, या न हो। पर, आनुवंशिक परम्परा से, उनके बोल-चाल में, शुद्ध संस्कृत का प्रयोग अवश्य होता रहा। यही वजह थी, उनके प्रयोगों को आदर्श मानकर, दूसरे लोग भी, उनकी देखा-देखी शब्दों का शुद्ध प्रयोग किया करते थे।[1] इन शब्दों के उच्चारण में अशुद्धि होती रहे, यह एक दूसरी बात थी। क्योंकि वे,

---

१. एतस्मिन् आर्यावर्ते निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्याः अलोलुपाः अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चित् विद्यायाः पारङ्गताः, तत्र भवन्तः शिष्टाः। शिष्टाः शब्देषु प्रमाणम्।

—६-३-१०९ अष्टाध्यायी सूत्र पर भाष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संज्ञा पदों के रूप में, प्राय: प्राकृत शब्दों को ही संस्कृत जैसा रूप देकर प्रयोग करते थे। कई स्थानों पर, क्रियापदों में भी अशुद्धियाँ देखी जा सकती हैं। बहुत कुछ ऐसा ही अन्तर, रामायण में देखने को मिल जाता है।

ब्राह्मणों की शुद्ध वाणी और जनसाधारण की संस्कृत भाषा में स्पष्ट अन्तर पाया जाता है।[1] महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपने भाष्य में 'सूत' शब्द की व्युत्पत्ति पर, एक वैयाकरण और एक सारथी के बीच हुए विवाद का आख्यान दिया है।[2] महर्षि पाणिनि ने भी, ग्वालों की बोली में प्रचलित शब्दों का, और द्यूत-क्रीड़ा सम्बन्धी प्रचलित शब्दों का भी उल्लेख किया है। बोल-चाल में प्रयोग आने वाले अनेकों मुहावरों को भी पाणिनि ने भरपूर स्थान दिया है। जैसे—दण्डा-दण्डि, केशा-केशि, हस्ता-हस्ति आदि। महाभाष्य में भी, ऐसे न जाने कितने प्रयोग मिलेंगे, जिनका प्रयोग आज भी ग्राम्य-बोलियों तक में मिल जायेगा।[3]

महर्षि कात्यायन के समय, संस्कृत में नये-नये शब्दों का समावेश होने लगा था। नये-नये मुहावरों का प्रयोग होने लगा था। जैसे—पाणिनि ने 'हिमानी' और 'अरण्यानी' शब्दों को स्त्रीलिङ्ग-वाची शब्दों के रूप में मान्यता दी थी।[4] किन्तु, कात्यायन के समय तक, ऐसे शब्दों का प्रचलन, कुछ मायनों में रूढ़ हो चुका था। या फिर उनका अर्थ-विस्तार हो चुका था। उदाहरण के रूप में, पाणिनि ने 'यवनानी' शब्द का प्रयोग 'यवन की स्त्री' के लिये किया था। यही शब्द, कात्यायन काल में 'यवनी लिपि' के लिए प्रयुक्त होने लगा था।[5]

पाणिनि का समय, विक्रम पूर्व छठवीं शताब्दी, कात्यायन का समय विक्रम पूर्व चौथी शताब्दी, और पातञ्जलि का समय विक्रम पूर्व दूसरी शताब्दी माना गया है। पाणिनि से पूर्व, महर्षि यास्क ने 'निरुक्त' की रचना की थी। निरुक्त में, वेदों के कठिन शब्दों की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या की गई है। निरुक्तकार की दृष्टि में, सामान्यजनों की बोली, वैदिक संस्कृत से भिन्न थी। इसे इन्होंने 'भाषा' नाम दिया। और, वैदिक कृदन्त शब्दों की जो व्युत्पत्ति बतलाई, उसमें, लोक-व्यवहार में प्रयोग आने वाले धातु-शब्दों को आधार माना।[6]

---

१. एच. याकोबी—इस रामायण—पृष्ठ-११५

२. २-४-५६ अष्टाध्यायी सूत्र पर भाष्य,

३. करोतिरभूत प्रादुर्भावे दृष्टः, निर्मलीकरणे चापि विद्यते। पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु, उन्मृदानेति गम्यते। —महाभाष्य १-३-१

४. हिमारण्ययोर्महत्त्वे। —१-१-११४ पर वार्तिक

५. यवनाल्लिप्याम्—४/१/१२४ पर वार्तिक,

६. भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते। —निरुक्त २/२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत के उन तमाम शब्दों का उल्लेख भी निरुक्त में किया गया है, जो संस्कृत से प्रान्तीय भाषाओं में, या तो रूपान्तरित हो चुके थे, या फिर उन्हें विशिष्ट प्रयोगों में काम लिया जाता था।[1] पाणिनि ने 'प्रत्यभिवादेऽशूद्रे' सूत्र के उदाहरण के रूप में 'आयुष्मान् एधि देवदत्त' जैसे उदाहरणों के साथ-साथ, अलग-अलग क्षेत्रों में प्रयुक्त और रूपान्तरित शब्दों एवं मुहावरों का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। जिससे यह स्वतः प्रमाणित हो जाता है कि निरुक्तकार की ही भांति पाणिनि ने भी 'संस्कृत' को 'भाषा' माना है।

भारत के अनेकों संस्कृत प्रेमी राजाओं ने, यह नियम बना रखा था कि उनके अन्तःपुर में संस्कृत का प्रयोग किया जाये। राजशेखर ने इस प्रसंग की प्रामाणिकता के लिये साहसाङ्कपदवीधारी उज्जयिनी नरेश विक्रम का उल्लेख किया है।[2] और, इसी सन्दर्भ में ग्यारहवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध राजा धारानरेश भोज का नाम भी लिया जा सकता है।[3] ये सारे प्रमाण स्वतः बोलते हैं कि संस्कृत, मात्र ग्रंथों में प्रयुक्त की जाने वाली भाषा नहीं थी, अपितु वह 'लोक-भाषा' थी। बाद में 'लोक' शब्द से जन-साधारण का बोध न करके, मात्र 'शिष्ट' व्यक्तियों का ही बोध किया जाने लगा, ऐसा प्रतीत होता है।

वाल्मीकि रामायण के सुन्दरकाण्ड में, सीताजी के साथ, किस भाषा में बातचीत की जाये? यह विचार करते हुए, हनुमान के मुख से, वाल्मीकि ने कहलवाया है[4]—'यदि द्विज के समान, मैं संस्कृत वाणी बोलूंगा, तो सीताजी मुझे रावण समझकर डर जायेंगी।' वस्तुतः, भाषा शब्द, उस बोली के लिए प्रयुक्त होता है, जो लोक-जीवन के बोलचाल में प्रयुक्त होती है। महर्षि यास्क[5] ने और महर्षि पाणिनि[6] ने भी, इसी अर्थ में 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया है। सिर्फ एक बात अवश्य गौर करने लायक है। वह यह कि 'भाषा' के अर्थ में 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग, इन पुरातन-ग्रंथों में नहीं मिलता।

वाक्य-विश्लेषण, तथा उसके तत्त्वों की समीक्षा करना, किसी भाषा का संस्कार कहा जाता है। प्रकृति, प्रत्यय आदि के पुनः संस्कार द्वारा 'संस्कृत' होने

---

१. शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते। विकारमस्यार्थेषु भाष्यन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु। —निरुक्त-२/२

२. काव्यमीमांसा—पृष्ठ-५०

३. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास—पं. बलदेवजी उपाध्याय, पृष्ठ ४२८–४३, काशी—१९६६

४. यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥
—वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड ५–१४

५. भाषायामन्वध्यायश्च–निरुक्त १–४

६. भाषायां सदवसश्रुवः—अष्टाध्यायी-३/२/१०८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के कारण इसका नाम 'संस्कृत' रखा गया, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि, वाल्मीकि रामायण के उक्त उदाहरण से ऐसा अनुमानित होता है कि वाल्मीकि के समय में, प्राकृत आदि का उदय, लोक-व्यवहार में प्रचलित भाषा के रूप में हो चुका था। धीरे-धीरे, ये जन-साधारण में प्रधानता प्राप्त करने लगी हों तब, इन भाषाओं से पृथकता प्रदर्शित करने के लिए इसे 'संस्कृत' नाम दे दिया गया। दण्डी (सप्तम शतक) ने तो स्पष्ट रूप से प्राकृत से इसका भेद प्रदर्शित करने के लिए 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग 'देववाणी' के लिए किया है।[1]

भाषा-शास्त्रियों का मत है कि—देववाणी में, प्राचीन काल में, प्रकृति-प्रत्यय विभाग नहीं था। सम्भव है, तब उसका प्रतिपद पाठ आज की वैज्ञानिक विधि जैसा न दिया जाता हो। इससे देववाणी के जिज्ञासुओं को न केवल कठिन श्रम करना पड़ता रहा होगा, बल्कि, अधिक समय भी उन्हें देना पड़ता होगा। इसी कारण से, देवताओं ने, इसके अध्ययन-ज्ञान की सुगम और वैज्ञानिक परिपाटी निर्धारित करने के लिये, देवराज इन्द्र से प्रार्थना की होगी। और, तब इन्द्र ने, शब्दों को बीच से तोड़ कर, उनमें प्रकृति-प्रत्यय आदि के विभाग की सरल अध्ययन प्रक्रिया सुनिश्चित की होगी। वाल्मीकि, पाणिनि आदि के द्वारा प्रयुक्त 'संस्कृत' शब्द, इसी संस्कार पर आधारित प्रतीत होता है। वैयाकरणों की यह भी मान्यता है कि देवराज इन्द्र द्वारा, इसकी सुगम, वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक पद्धति निर्धारित करने, और देवों की भाषा होने के कारण, इसे 'देववाणी' या 'दैवी वाक्' कहा जाता था। लोक-व्यवहार में आने पर, इसका जो संस्कार, पाणिनि (500 ई. पूर्व) से लेकर पतञ्जलि (200 ई. पूर्व) तक लगातार चलता रहा, उसी से इसे 'संस्कृत' नाम मिला।

इन संस्कर्ताओं/वैयाकरणों ने, देववाणी का जो संस्कार किया, उसका, यह अर्थ कदापि नहीं लेना चाहिये कि पाणिनि से पूर्व काल में, इसका स्वरूप असंस्कृत अवस्था में था। क्योंकि, व्याकरण का लक्ष्य, भाषा का निर्माण, या उसकी संरचना करना नहीं होता, अपितु, उसके शब्दों का शुद्ध स्वरूप निर्धारण करना होता है। संस्कृत के शब्दों का अस्तित्व, पाणिनि से पहिले था ही, इन्होंने तो मात्र यह निर्देश किया कि 'षष' के स्थान पर 'शश', 'पलाष' के स्थान पर 'पलाश' और 'मंजक' के स्थान पर 'मञ्चक' का प्रयोग, शुद्ध शब्द-प्रयोग है।

पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि में, मिश्र देश का साहित्य सबसे प्राचीन माना जाता है। किन्तु, उसकी प्राचीनता, विक्रम से मात्र ४००० वर्ष पूर्व तक जा सकी है। जबकि विज्ञों ने संस्कृत की प्रथम रचना ऋग्वेद को हजारों वर्ष प्राचीन माना है। ऋग्वेद के रचनाकाल के विषय में, विद्वानों ने पर्याप्त मतभेद है। किन्तु,

---

१. संस्कृतं नाम दैवीवाक् अन्वाख्याता महर्षिभिः।

—काव्यादर्श-१/३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गणित के कुछ अकाट्य तर्कों के बल पर, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने इसका जो रचना-काल बतलाया है, वह, विक्रम से कम से कम छः हजार वर्ष पूर्व का ठहरता है। विश्व में, किसी भी भाषा का ऐसा साहित्य नहीं है, जो आज से आठ हजार वर्ष पूर्व का हो। इस प्राचीनता के बावजूद, संस्कृत साहित्य की रसवती धारा, आज तक अविच्छिन्न रूप से सतत प्रवाहशील बनी हुई है। विश्व के अन्य साहित्यों के साथ, अविच्छिन्नता की कसौटी पर, संस्कृत साहित्य को जांचा-परखा जायेगा, तो यह साहित्य सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा।

वेदों की मंत्र-संहिताओं की रचना के बाद इनकी व्याख्या का समय आता है। इस समय के ग्रन्थों को 'ब्राह्मण' नाम से कहा गया है। ब्राह्मणों के बाद 'आरण्यक' और फिर 'उपनिषद्' ग्रन्थ रचे गये। इनके बाद का काल, स्पष्ट रूप से वैदिक और लौकिक साहित्य के साहित्य का 'संधिकाल' माना जा सकता है। जिसमें, स्मृतियों, पुराणों और रामायण व महाभारत जैसे आर्षकाव्यों की रचनाओं को लिया जा सकता है। आशय यह है कि महर्षि वाल्मीकि की रामायण से पूर्व के साहित्य को हम 'वैदिक-साहित्य' और रामायण से लेकर आज तक के संस्कृत साहित्य को 'लौकिक-साहित्य' के नाम से अभिहित कर सकते हैं। विषय, भाषा, भाव आदि अनेकों दृष्टियों से लौकिक साहित्य का विशिष्ट महत्त्व है।

वैदिक साहित्य की यह विशेषता है कि उसमें, विभिन्न देवताओं को लक्ष्य करके यज्ञ-याग आदि के विधान और उनकी कमनीय स्तुतियां संजोयी गई हैं। इसलिये, इस साहित्य को मुख्यतः धर्म-प्रधान साहित्य कहा जाता है। जबकि, लौकिक संस्कृत साहित्य, मुख्यतः लोकवृत्त प्रधान है। इसकी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की ओर विशेष प्रवृत्ति हुई है। जिससे धर्म की व्याख्या/वर्णना में, वैदिक साहित्य का विशेष प्रभाव स्पष्ट होने पर भी, कई मायनों में नूतनता उजागर हुई है। ऋग्वेद काल में, जिन देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा थी, प्रमुखता थी, वे, लौकिक साहित्य की परिधि में आकर गौण ही नहीं बन जाते, वरन्, उनमें से कुछ के स्थान पर ब्रह्मा, विष्णु और शिव जैसे देवों की उपासना को अधिक महत्त्व मिल जाता है।

तैत्तिरीय, काठक और मैत्रायणी संहिताओं से, गद्य की जिस गरिमा का प्रवर्त्तन होता है, वह गरिमा, ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिष्ठित होती हुई उपनिषद् काल तक, अपना उदात्त स्वरूप ग्रहण कर लेती है। लौकिक साहित्य का उदय होते ही, गद्य का इस हद तक ह्रास होने लगता है कि ज्योतिष् और चिकित्सा जैसे वैज्ञानिक विषयों तक में, छन्दोबद्ध पद्य-परम्परा अपना स्थान बना लेती है। व्याकरण और दर्शन के क्षेत्र में, गद्य का अस्तित्व रहता जरूर है, किन्तु यहाँ पर, वैदिक गद्य जैसा प्रसाद-सौन्दर्य विलीन हो जाता है। और, उसका स्थान दुर्बोधता एवं दुरूहता ग्रहण कर लेती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साहित्यिक गद्य की गरिमा भी कथानकों और गद्य काव्यों में दृष्टिगोचर होती है। फिर भी, वैदिक गद्य की तुलना में इसमें कई एक न्यूनताएं साफ दिखलाई दे जाती हैं।

पद्य की भी जिस रचना-तकनीक को लौकिक साहित्य में अङ्गीकार किया गया है, वह, वैदिक छन्द-तकनीक से ही प्रसूत प्रतीत होती है। पुराणों में और रामायण-महाभारत में सिर्फ 'श्लोक' की ही बहुलता है। परवर्ती लौकिक साहित्य में, वर्णनीय विषय-वस्तु को लक्ष्य करके छोटे-बड़े कई प्रकार के नवीन छन्दों का प्रयोग किया गया है, जिनमें, लघु-गुरु के विन्यास पर विशेष बल दिया गया है। कुल मिला कर देखा जाये, तो वैदिक पद्य साहित्य में जो स्थान गायत्री, त्रिष्टुप्, तथा जगती छन्दों के प्रचलन को मिला हुआ था, वही स्थान उपजाति, वंशस्थ और वसन्ततिलका जैसे छन्द, लौकिक साहित्य में बना लेते हैं।

संस्कृत साहित्य में, सिर्फ धर्मग्रन्थों की ही अधिकता है, ऐसी बात नहीं है। भौतिक जगत के साधन भूत 'अर्थ' और 'काम' के वर्णन की ओर भी लौकिक साहित्यकारों का ध्यान रहा है। अर्थशास्त्र का व्यापक अध्ययन करने के लिए और राजनीति का पण्डित बनने के लिये कौटिल्य का अकेला अर्थशास्त्र ही पर्याप्त है। इसके अलावा भी अर्थशास्त्र को लक्ष्य करके लिखा गया विशद साहित्य संस्कृत में मौजूद है। कामशास्त्र के रूप में लिखा गया वात्स्यायन का ग्रन्थ, गृहस्थ जीवन के सुख-साधनों पर व्यापक प्रकाश डालता है। इसी के आधार पर कालान्तर में अनेकों ग्रन्थों की सर्जनाएं हुईं। 'मोक्ष' को लक्ष्य करके जितना विशाल साहित्य संस्कृत भाषा में लिखा गया, उसकी बराबरी करने वाला विश्व की भाषा में दूसरा साहित्य मौजूद नहीं है।

इन चारों परम-पुरुषार्थों के अलावा विज्ञान, ज्योतिष, वैद्यक, स्थापत्य और पशु-पक्षियों के लक्षणों से सम्बन्धित अगणित ग्रन्थ/रचनाएं, संस्कृत-साहित्य की विशालता और व्यापकता का जीवन्त उदाहरण बनी हुई हैं। वस्तुतः, संस्कृत के श्रेयः और प्रेयः शास्त्रों की विशाल संख्या को देख कर, पाश्चात्य विद्वानों द्वारा व्यक्त की गई घटनाएं और उनके उद्‌गार कहते हैं--संस्कृत-साहित्य का जो अंश मुद्रित होकर अब तक सामने आया है, वह ग्रीक और लेटिन भाषाओं के सम्पूर्ण-साहित्यिक ग्रन्थों के कलेवर से दुगुना है। इस प्रकाशित साहित्य से अलग, जो साहित्य अभी पाण्डुलिपियों के रूप में अप्रकाशित पड़ा है, और जो साहित्य विलुप्त हो चुका है, उस सबकी गणना कल्पनातीत है।

भारतीय सामाजिक परिवेष, मूलतः धार्मिक है। फलतः भारतीय संस्कृति भी धार्मिक आचार-विचारों से ओत-प्रोत है। आस्तिकता इस का धरातल है। इसका उन्नततम स्वरूप, स्वयं को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् बना लेने में, अथवा ऐसे ही परमस्वरूप में अटूट आस्था प्रतिष्ठापित करने में दिखलाई पड़ता है। भारतीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मान्यता है—सांसारिक क्लेश और राग आदि, मानव जीवन को न सिर्फ कलुषित बना देते हैं, बल्कि उसे सन्ताप भी देते हैं। सांसारिक गृह, उसे कारागार सा लगता है, और जागतिक मोह, उसे पाद-बन्धन जैसा अनुभूत होता है। इन सारी विषमताओं, कुण्ठाओं और संत्रासों से उसे तभी छुटकारा मिल पाता है, जब वह, सर्व शक्तिमान् के साथ सादृश्य स्थापित कर ले, या फिर उससे तादात्म्य बना ले।

वैदिक स्तुतियों से लेकर आधुनिक दर्शन के व्यावहारिक स्वरूप विश्लेषण तक, धर्म का सारा रहस्य, संस्कृत साहित्य में परिपूर्ण रूप से स्पष्टतः व्याख्यायित होता रहा है। वेदों में, आर्यधर्म के विशुद्ध रूप की विवेचना है। कालान्तर में, इस धर्म और दर्शन की जितनी शाखा-प्रशाखाएं उत्पन्न हुईं, विकसित हुईं, नये-नये मत उभरे, उन सबका यथार्थ स्वरूप संस्कृत साहित्य में देखा-परखा जा सकता है।

संस्कृत साहित्य के धार्मिक वैशिष्ट्य का यह महत्त्व, मात्र भारतीयों के लिये ही नहीं है, अपितु पश्चिमी देशों के लिये भी, यह समान महत्त्व रखता है। पश्चिमी विद्वानों ने, संस्कृत साहित्य का, धार्मिक दृष्टि से जिस तरह अनुशीलन किया, उसी का यह सुफल है कि वे 'तुलनात्मक पुराण साहित्य' (कम्परेटिव माइथालॉजी) जैसे एक अधुनातन शास्त्र को आविष्कृत कर सके। सारांश रूप में, यही कहा जा सकता है कि संस्कृत साहित्य, एक ऐसा विशाल स्रोत है, जिससे प्रवाहित हुई विभिन्न धर्म सरिताओं ने मानवता के मन-मस्तिष्क के कोने-कोने को अपनी सरस्वती से रसवान् बनाकर आप्यायित कर डाला।

संस्कृत साहित्य ने, संस्कृति की जो अनुपम विरासत भारत को दी है, उसे कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता है। संस्कृत के काव्यों में भारतीयता का अनुपम गाथा-गान सुनाई पड़ता है, तो संस्कृत नाटकों में उसका नाट्य और लास्य भी अपनी कोमल कमनीयता में प्रस्तुत हुआ है। त्याग की धरती पर अंकुरित और तपस्या के ओज से पोषित आध्यात्मिकता, तपोवनों, गिरिकन्दराओं में संवर्धित होती हुई, जिस संस्कृति का स्वरूप निर्धारण करती रही, उसी का सौम्य दर्शन तो वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, माघ, बाण और दण्डी आदि के काव्यों में देखकर हृदयकलिका प्रमुदित/प्रफुल्लित हो उठती है।

संस्कृत का साहित्यिक मस्तिष्क कभी भी सङ्कीर्ण नहीं रहा है। उसके विचार, किसी भी सीमा रेखा में संकुचित न रह सके। समाज के विशुद्ध वातावरण में विचरण करते हुए उसके हृदय को सामाजिक दुःख-दर्दों ने स्पर्श कर लिया, तो वह दीन-दुःखियों की दीनता पर चार आँसू बहाये बगैर न रह सका। सहज सुखी जीवों के भोग-विलासों पर वह रीझ-रीझ गया। उसका हृदय सहानुभूति से स्निग्ध और द्रवित बना ही रहा। फलतः, संस्कृत साहित्य में, भारतीय संस्कृति का एक ऐसा निखरा स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, जिसमें आध्यात्मिक विचारों के द्योतक मूल्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वान् शब्द भण्डार हैं, जन-मन की बातों का, उनकी प्रवृत्तियों का और सरल-सादगी-पूर्ण जिन्दगी जीने की कला के बहुरंगी शब्द-चित्र भी हैं।

भारत और चीन के प्रायः द्वीप, आज 'हिन्द-चीन' के नाम से जाने जाते हैं। परन्तु १३वीं और १४वीं शताब्दी से पहिले, इन पर चीन का कोई भी प्रभुत्व नहीं था। सुदूरपूर्व में यहाँ जङ्गली जातियां रहती थीं। किन्तु, यहाँ पर स्वर्ण की खान थी, इसी आकर्षणवश जिन भारतीयों ने इसकी खोज की थी, उन्होंने इसे 'स्वर्णभूमि' या 'स्वर्णद्वीप' का नाम दिया था। सम्राट अशोक के शासनकाल में यहाँ बुद्ध का संदेश पहुंचा। विक्रम की शुरुआत से चौदहवीं शताब्दी तक, यहाँ पर अनेकों भारतीय राज्य स्थापित रहे। और, राजभाषा के रूप में संस्कृत का व्यावहारिक उपयोग होता रहा। मनुस्मृति में वर्णित शासन व्यवस्था के अनुरूप 'काम्बोज' का शासन प्रबन्ध चला। आर्यावर्त की वर्णमाला और साहित्य के सम्पर्क के कारण, यहाँ की क्षेत्रीय बोलियों ने, भाषा का स्वरूप ग्रहण किया और धीरे-धीरे, वे साहित्य की सर्जिकाएं बन गईं। इस सारे के सारे साहित्य की मौलिकता पूर्णतः भारतीय थी। फलतः, भारतीय (आर्यावर्तीय) वर्णमाला पर आधारित काम्बोज की 'मेर', चम्पा की 'चम्म' और जावा की 'कवि' भाषाओं के साहित्य में, संस्कृत साहित्य से ग्रहण किया गया उपादान कल्याणकारी अवदान माना गया। रामायण और महाभारत के आख्यान जावा की कवि भाषा में आज भी विद्यमान हैं। बाली द्वीप में वैदिक मंत्रों का उच्चारण और संध्या वन्दन आदि का अवशिष्ट, किन्तु विकृत अंश आज भी देखा जा सकता है। मंगोलिया के मरुस्थल में भी भारतीय साहित्य पहुंचा। जिसका आंशिक अवशिष्ट, वहाँ की भाषा में महाभारत से जुड़े अनेकों नाटकों के रूप में आज भी पाया जाता है।

ये सारे साक्ष्य, स्पष्ट करते हैं कि इन देशों के जनसाधारण की मूक भावनाओं को मुखर बनाने में, संस्कृत साहित्य ने उचित माध्यम उन्हें प्रदान किये, और, उनके सामाजिक संगठन एवं व्यवस्था को नियमित/संयमित बनाकर, उनकी बर्बरता से उन्हें मुक्त किया, सभ्य और शिष्ट बनाया।

नैराश्य में से आशा का, विपत्ति में से सम्पत्ति का, तथा दुःख में से सुख का उद्गम होना अवश्यम्भावी है। भारतीय तत्त्वज्ञान की आधारभूमि यही मान्यता है। व्यक्तित्व के विकास में जीवन का अपना निजी मूल्य है, महत्त्व है। फिर भी, किसी मानव की वैयक्तिक पूर्णता में और उसकी अभिव्यक्ति में, व्यक्ति का जीवन, साधन मात्र ही ठहरता है। सुख और दुःख, समृद्धि और व्यृद्धि, राग और द्वेष, मैत्री और दुश्मनी के परस्पर संघर्ष से, जो अलग-अलग प्रकार की परिस्थितियां बनती हैं, उन्हीं का मार्मिक अभिधान 'जीवन' है। इसकी समग्र अभिव्यंजना, न तो दुःख का सर्वाङ्ग परित्याग कर देने पर सम्भव हो पाती है, और न ही सुख का सर्वतो-भावेन स्वीकार कर लेने पर उसकी पूर्ण व्याख्या की जा सकती है। इसीलिए,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत का कवि, साहित्यकार और दार्शनिक, किसी एक पक्ष का चित्रण नहीं करता। क्योंकि, वह भलीभाँति जानता है कि यह जगत् दुःखों का, संघर्षों का समरांगण है। किन्तु, दुःख में से ही सुख का उद्गम होगा, संघर्ष में से ही सफलता आविष्कृत होगी, संग्राम ही विजय का शंखनाद करेगा, इस अनुभूत यथार्थ से भी वह परिचित है। यही कारण है कि भारतीय साहित्य का लक्ष्य सदा-सर्वदा से मङ्गलमय, कल्याणमय पर्यवसान रहता आया है। यही दार्शनिकता, संस्कृत साहित्य में अनुकरणीय, अनुसरणीय बनकर चरितार्थ होती आ रही है। दरअसल, संस्कृत नाटकों के दुःखान्त न होने का, यही मूलभूत कारण है, रहस्य है।

समाज के स्वरूप का यथार्थ चित्रण, साहित्य में होता है। इसीलिए यह कहा जाता है—'साहित्य, समाज का दर्पण है।' समाज और संस्कृति, दोनों ही साथ-साथ जुड़े होते हैं। जैसे—सूर्य का प्रकाश और प्रताप साथ-साथ जुड़े रहते हैं। अतः साहित्य, जिस तरह समाज को स्वयं में प्रतिबिम्बित करता है, उसी तरह, वह समाज से जुड़ी संस्कृति का भी मुख्य वाहक होता है। समाज, मानव समुदाय का बाह्य परिवेश है, तो संस्कृति उसका अन्तः स्वरूप है। जिस समाज का अन्तः और बाह्य परिवेश, भौतिकता पर अवलम्बित होगा, उसका साहित्य भी आध्यात्मिकता का वरण नहीं कर पाता। किन्तु, जिस समाज का अन्तः स्वरूप आध्यात्मिक होगा, उसका बाह्य-स्वरूप, भले ही भौतिकता में लिप्त बना रहे, ऐसे समाज का साहित्य, आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुए बिना नहीं रह सकता। भारतीय समाज का अन्तः स्वरूप मूलतः आध्यात्मिक है। इसलिए, संस्कृत साहित्य का भी हमेशा यही लक्ष्य रहा कि वह, आध्यात्मिकता का सन्देश सामाजिकों तक पहुंचा कर उनमें नव-जागरण का चिरन्तन भाव भर सके।

भारतीय समाज में सांसारिक/भौतिक सुखों के सभी साधन, सदा-सर्वदा से सुलभ रहते आये हैं। यहाँ का सामाजिक, जीवन-संघर्षों से जूझता हुआ भी आनन्द की उपलब्धि को, आनन्द की अनुभूति को अपना लक्ष्य मान कर चलता रहा। विषम से विषमतम परिस्थितियों में भी आनन्द को खोज निकालना, भारतीय मानस की जीवन्तता का प्रतीक रहा है। वह, आनन्द को सत्, चित् स्वरूप मानता है। इसलिए, भारतीय साहित्य का, विशेषकर संस्कृत साहित्य का लक्ष्य भी सत्+चित् स्वरूप आनन्द की उपलब्धि की ओर उन्मुख रहा। उसका अन्तिम लक्ष्य भी यही बना।

संस्कृत काव्यों की आत्मा 'रस' है। रस का उद्रेक श्रोता/पाठक के हृदय में आनन्द का उन्मेष कर देता है। यह जानकर भी, संस्कृत साहित्य में रीति, औचित्य, गुण तथा अलंकार आदि का विस्तृत विवेचन, किया अवश्य गया है, किन्तु उसका मुख्य प्रतिपाद्य रस-निष्पत्ति ही है। काव्य-जगत् के इस काव्यानन्द को सच्चिदानन्द का परिपूर्ण स्वरूप माना गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह, हम देखते हैं कि वेदों के अति रहस्यमय ज्ञान से लेकर जन-साधारण के मनो-विनोद सम्बन्धी कथाओं तक, जितना भी साहित्यिक वैभव विद्यमान है, वह सारा का सारा संस्कृत भाषा में सुरक्षित है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है—'साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और राजनैतिक जीवन की समग्र व्याख्या संस्कृत साहित्य/वाङ्मय में सर्वात्मना समाहित है।'

जैन साहित्य में संस्कृत का प्रयोग

जैन धर्म और साहित्य का कलेवर भी व्यापक परिमाण वाला है। इसके प्रणयन में संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं का मौलिक उपयोग किया गया। यद्यपि, जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने अपना सारा उपदेश प्राकृत भाषा में ही दिया। उसे सङ्कलित/गुम्फित करने में, उनके प्रधान शिष्य गौतम आदि गणधरों ने भी प्राकृत भाषा को उपयोग में लिया, तथापि, कालान्तर में आगे चल कर, जैन मनीषियों ने संस्कृत भाषा को भी अपने ग्रन्थ-प्रणयन का माध्यम बनाया। और, संस्कृत-साहित्य की श्रीवृद्धि में अपना अविस्मरणीय योगदान दिया। वैसे, जैन मान्यतानुसार, पुरातन जैन धर्म और दर्शन की परम्परागत अनुश्रुतियाँ यह बतलातीं हैं कि जैन धर्म का मौलिक पूर्व साहित्य, संस्कृत भाषा-बद्ध था।

भगवान् महावीर के काल तक, प्राकृत भाषा, जन-साधारण के बोल-चाल और सामान्य व्यवहार में पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुकी थी। और, संस्कृत उन पण्डितों की व्यवहार-सीमा में सिमट चुकी थी, जो यह मानने लगे थे कि संस्कृतज्ञ होने के नाते, सिर्फ वे ही तत्त्वद्रष्टा और तत्त्वज्ञाता हैं। जो लोग संस्कृत नहीं जानते थे, वे भी यह स्वीकार करने लगे थे कि तत्त्व को व्याख्या कर पाना, उन्हीं के बलबूते की बात है, जो 'संस्कृतविद्' हैं। इस स्वीकृति का परिणाम यह हुआ कि महावीर युग तक, संस्कृत न जानने वालों की बुद्धि पर, संस्कृतज्ञ छा गये।

महावीर ने इस स्थिति को भली-भांति देखा-परखा और निष्कर्ष निकाला कि सत्य की शोध-सामर्थ्य तो हर व्यक्ति में मौजूद है। संस्कृत के जानने न जानने से, तत्त्वबोध पर कोई प्रभावकारी परिणाम नहीं पड़ता। वस्तुतः, तत्त्वज्ञान के लिए जो वस्तु परम अपेक्षित है, वह है—चित्त का राग-द्वेष रहित होना। जिस का चित्त राग-द्वेष से कलुषित है, वह संस्कृतज्ञ भले ही हो, किन्तु तत्त्वज्ञ नहीं हो सकता। क्योंकि, सत्य का साक्षात्कार करने में 'भाषा' कहीं भी माध्यम नहीं बन पाती।

महावीर की इसी सोच-समझ ने उन्हें प्रेरणा दी, तो उन्होंने अपने द्वारा अनुभूत सत्य का, तत्त्व का स्वरूप-प्रतिपादन प्राकृत भाषा में किया। महावीर की भावना थी, यदि वे, जन-साधारण की समझ में आने वाली भाषा में तत्त्वज्ञान का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का उपदेश करेंगे, तो वह उपदेश, एक ओर तो बहुजन उपयोगी बन जायेगा, दूसरी ओर संस्कृत न जानने वाला बहुजन समुदाय, यह भी जान जायेगा कि तत्त्व ज्ञान के लिए, किसी भाषा विशेष का जानकार होने का प्रतिबन्ध यथार्थ नहीं है।

महावीर के इस प्रयास का सुफल यह हुआ कि जैन धर्म और साहित्य के क्षेत्र में, लगभग पांच सौ वर्षों तक निरन्तर, प्राकृत भाषा का व्यवहार होता चला गया। इसलिए, जैन धर्म का मूलभूत साहित्य प्राकृत भाषा-प्रधान बन गया। महावीर के इस भाषा-प्रस्थान में, जैन मनीषियों का संस्कृत के प्रति कोई विद्वेष भाव नहीं था, बल्कि, उनका आशय, अपने धर्मोपदेश की प्रभावशालिता के लक्ष्य पर निर्धारित रहा। आर्यरक्षित[1] का वचन, स्वयं साक्षी देता है कि उनके समय में संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं को समान आदर सुलभ था।[2] दोनों ही ऋषि-भाषा कहलाती थीं।

तत्त्वार्थ सूत्र, जैन साहित्य का सर्वप्रथम संस्कृत ग्रन्थ है, ऐसा प्रतीत होता है। इसके रचयिता उमास्वाति (स्वामी) का समय, विक्रम की तीसरी शताब्दी से पांचवीं शताब्दी के मध्य माना जाता है। यही वह युग है, जिसमें, जैन परम्परा में संस्कृत के उपयोग का एक नया युग शुरु हुआ। तो भी, जैनधर्म और साहित्य के क्षेत्र में प्राकृत का उपयोग अनवरत चलता रहा। किन्तु, दार्शनिक युग के आते-आते, जैन मनीषियों को स्वतः यह स्पष्ट अनुभूत हुआ कि जैन धर्म और दर्शन की व्यापक प्रतिष्ठा के लिये, संस्कृत का ज्ञाता होना, उन्हें अनिवार्य है। दार्शनिक युग की विशेषता यह रही है कि इस युग में, भारतीय दर्शन की अनेकों शाखाओं में, प्रबल प्रतिद्वन्द्विता छिड़ी हुई थी। फलतः अपने मत की स्थापना में, ग्रन्थकारों को प्रबल तर्कों का सामना करना पड़ा। इन प्रतिद्वन्द्वी तर्कों का विखण्डन युक्ति पूर्वक करना, और स्वमत का स्थापन भी, तर्क पूर्ण कसौटी पर जांच-परख कर करना, इस युग के ग्रन्थकारों का महनीय दायित्व बन गया था।

इतना ही नहीं, इस युग में, यह भावना भी बलवती हो चुकी थी कि जो विद्वान्, संस्कृत भाषा में ग्रन्थ-प्रणायन की सामर्थ्य नहीं रखता, वह वस्तुतः विद्वत्कोटि का पाण्डित्य भी नहीं रखता। इस उपेक्षित भावना से परिपूर्ण वातावरण ने, जैन दार्शनिकों के मानस में भी मन्थन पैदा कर दिया। इसी मन्थन के नवनीत-स्वरूप, जैन धर्म-दर्शन के महत्त्वपूर्ण संस्कृत-ग्रन्थों की सर्जनाएं हुईं। जिनमें, जैन-धर्म और दर्शन का स्वरूप एवं सिद्धान्त, विस्तार-विवेचना को आत्मसात् कर सका।

इस प्रयास से, जैन विद्वानों ने, सामयिक समाज पर यह छाप डालने में भी सफलता प्राप्त की कि जैन-विद्वान्, मात्र प्राकृत-भाषा के ही पण्डित नहीं हैं, वरन्

---

१. जन्म—ई. पू. ४ (वि. सं. ५२), स्वर्गवास—ई. सन् ७१ (वि. सं. १२७)

२. सक्कयं पागयं चेव पसत्थं इसिभासियं ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत भाषा के भी वे उद्भट विद्वान् हैं। और उनमें, स्व-सिद्धान्त प्रतिपादन की स्फूर्त-सामर्थ्य के साथ-साथ पाण्डित्य-प्रदर्शन का भी विलक्षण-सामर्थ्य है। पण्डित वर्ग की इस प्रतिद्वन्द्विता को देखते हुए, सम्भवतः जन-साधारण में भी, संस्कृत के अध्ययन और ज्ञान का विशेष शौक उभरा होगा। जिसे लक्ष्य करके भी तत्कालीन पण्डित वर्ग ने अपने सिद्धान्तों और मन्तव्यों को प्रकट करने में, लोकमानस के अनुरूप सरल-संस्कृत को अपने ग्रन्थों के प्रणयन की भाषा के रूप में स्वीकार किया।

सिद्धर्षि, इस युगीन स्थिति से पूर्णतः परिचित प्रतीत होते हैं। इसका ज्ञान, उनके स्वयं के कथन से होता है। उन्होंने स्वीकार किया है कि संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं को, उनके ग्रन्थ-रचनाकाल में, प्रधानता प्राप्त थी। किन्तु पण्डित वर्ग में, संस्कृत भाषा को विशेष समादर प्राप्त था। प्राकृत-भाषा को इस समय के बच्चे तक भलीभांति समझते थे। जन-साधारण को बोध कराने की भी इसमें प्रबल सामर्थ्य है। फिर भी, यह प्राकृत भाषा, विद्वानों को अच्छी नहीं लगती। शायद, इसीलिए वे (पण्डित-जन) प्राकृत भाषा में बोल-चाल नहीं करते।[1]

सिद्धर्षि द्वारा व्यक्त इन विचारों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' के रचना काल में, जनसाधारण के रोजमर्रा की जिन्दगी का अनिवार्य बोल-चाल प्राकृतमय था। इसलिए, सिद्धर्षि चाहते थे कि अपनी इस कथा को प्राकृत भाषा में लिखा जाये। ऐसा करने में, उन्हें यह आशंका भयभीत किये रही—'प्राकृत-भाषा में उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा लिखने पर, उन्हें पण्डित वर्ग में समादर सुलभ नहीं हो पायेगा। तभी तो उन्हें यह मान कर चलना पड़ा—सरल संस्कृत भाषा का प्रयोग, एक ऐसा उपाय है, जिससे, तत्कालीन जन साधारण को भी इस कथा को समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी, और ग्रन्थकार को भी पण्डित वर्ग के उपेक्षाभाव का शिकार न बनना पड़ेगा। इस मध्यम मार्ग का निश्चय दृढ़ करके, उन्होंने यह निर्णय लिया कि सभी लोगों का—जनसाधारण और पण्डित वर्ग का भी—मनोरंजन हो, ऐसा उपाय (सरल संस्कृत भाषा के प्रयोग की सामर्थ्य) होने के कारण, इन सबकी अपेक्षाओं/अनुरोधों को दृष्टिगत करते हुये, मैंने इस ग्रन्थ की रचना संस्कृत भाषा में की है।[2]

---

१. संस्कृता प्राकृता चेति भाषे प्राधान्यमर्हतः। तत्रापि संस्कृता तावत् दुर्विदग्धहृदि स्थिता॥
बालानामपि सद्बोधकारिणी कर्णपेशला। तथापि प्राकृता भाषा न तेषामभिभाषते॥

—उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा, प्रथम प्रस्ताव

१. उपाये सति कर्त्तव्यं सर्वेषां चित्तरञ्जनम्। अतस्तदनुरोधेन संस्कृतेयं करिष्यते॥

—वही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धर्षि के इस निश्चय से यह पुष्टि होती है कि उनके ग्रन्थ रचना काल में, संस्कृत और प्राकृत का संघर्ष, उत्कर्ष पर पहुंच चुका था। इसी संघर्ष के प्रतिफल स्वरूप, उस युग का सामाजिक, साहित्य और दर्शन की रचनाओं में पाण्डित्य-प्रदर्शन से यह निष्कर्ष निकालने लगा था कि किस धर्म/दर्शन के प्रचारकों/समर्थकों में, कौन/कितना बड़ा पण्डित है, विद्वान् है। सम्भव है, इस प्रदर्शन से भी जनसाधारण का झुकाव, धर्म विशेष में आस्था जमाने का निमित्त बनने लगा हो। अन्यथा, कोई और, ऐसा प्रबल कारण समझ में नहीं आता, जिससे, बहुजनोपयोगी प्राकृत-भाषा को ताक पर रखकर, मात्र पण्डित वर्ग की भाषा को, ग्रन्थ-प्रणयन के माध्यम के रूप में अङ्गीकार किया जाये।

भारतीय आख्यान/कथा साहित्य

भारतीय आख्यान/कथा साहित्य को, विश्व-भर के सुविशाल वाङ्मय में, एक सम्मानास्पद प्रतिष्ठा प्राप्त है। इस सम्मान/प्रतिष्ठा के पीछे, भारतीय कथा साहित्य की वे उदात्त—भावनाएं हैं, जिनसे प्रेरणा पाकर, मानवीय जीवन के विभिन्न-व्यापारों की विशद विवेचनाओं का विविधता-भरा सम्पूर्ण चित्राङ्कन किया गया है। इन शब्दचित्रों में सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, संयोग-वियोग, आसक्ति-अनासक्ति, आदि मानव-मन की अन्तर्द्वन्द्वात्मक मनःस्थितियों की विचित्रता, और मानव-जीवन के अभ्युदय और अधःपतन से लेकर मानव-समूह की उत्क्रांति और संक्रान्ति जन्य गाथाओं के समस्यामूलक समाधानों का अनुभूति-परक राग-रञ्जन समायोजित किया गया है।

भारतीय आख्यान/कथा साहित्य में, मानव-मन को आन्दोलित करती सांसारिक समस्याओं की विभीषिकाएं और पारलौकिक उपलब्धियों की एषणाएं कहीं मिलेंगीं, तो कहीं-कहीं हार्दिक उदारता, बौद्धिक विशुद्धि, मानसिक मनोरञ्जन और आध्यात्मिक उत्कर्ष के विविध सोपानों पर उतरती, चढ़ती, इठलाती भाव-प्रवणता के मनोहारी लास्य और नाट्य की अनदेखी भङ्गिमाएं भी सहज सुलभ होंगी। उन्मत्त गजराज, क्रुद्ध वनराज, द्रुतगामी अश्व और हरिण-समुदायों के क्रियाकलापों का बहुमुखी वर्णन कहीं मिलेगा, तो कहीं पर, कल-कल छल-छल करती सरिताओं के मधुर-स्वर में मुखरित पक्षी समुदाय का कर्ण-प्रिय कलरव भी दृष्टि पथ से बच नहीं पाता। सघन-वन, गिरि कान्तार और उपत्यकाओं की क्रोड में अनुगुञ्जित प्रकृति के मानवीयकरण का वर्णन स्वर, विश्वजनीन वाङ्मय के बीचों-बीच भारतीय आख्यान साहित्य की सर्वोत्कृष्टता का गुण-गान करने से चूक नहीं पाता।

इस सबसे, यह स्पष्ट फलित होता है कि जीवन स्वरूप की सम्पूर्ण अभिव्यंजना, भारतीय कथा/आख्यान साहित्य में जितने व्यापक स्तर पर हुई है, उससे कम, अचेतन-स्वरूप की अभिव्यंजना की समग्रता, कहीं दिखलाई नहीं पड़ती। जड़

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और चेतन की उभय-विध व्याख्याओं का समान-समादर, भारतीय कथा/आख्यान साहित्य में जैसा हुआ है, वैसा, विश्व की दूसरी किसी भी भाषा के साहित्य में देखने को नहीं मिलता ।

इन समग्र परिप्रेक्ष्यों को लक्ष्य करके, भारतीय आख्यान साहित्य का जब वर्गीकरण किया जाता है, तब इसे चार प्रमुख वर्गों में विभक्त हुआ हम पाते हैं । ये वर्ग हैं :—

(1) धर्म कथा साहित्य (Religious Tale)
(2) नीतिकथा साहित्य (Didactic Tale)
(3) लोककथा साहित्य (Popular Tale)
(4) रूपकात्मक साहित्य (Alligorical literature)

डॉ० सूर्यकान्त ने, अपने 'संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास' में संस्कृत कथा साहित्य को सिर्फ दो वर्गों—नीतिकथा (Didactic Tales) और लोककथा (Popular Tales) में ही विभाजित किया है ।[1]

भारत, एक ऐसा देश है, जिसके जन-जन का जीवन, जन्म से लेकर मरण पर्यन्त तक, धर्म से परिप्लावित रहता चला आया है । भारत के ऐतिहासिक सन्दर्भों में, कोई भी ऐसा क्षण ढूँढ़ा नहीं जा सकता, जिसमें यह प्रकट होता हो कि भारतीय जन-मानस धर्म-शून्य रहा है । धर्म की इस सार्वकालिक सार्वजनीन व्यापकता को लक्ष्य करते हुये, यही कहना/मानना पड़ता है कि भारत 'धर्ममय' है । धर्म-विहीन भारत का विचार, कल्पना में भी कर पाना सम्भव नहीं हो पाता । बल्कि, यथार्थ यह है कि भारत को हमें 'धर्म-भूमि' कहना चाहिये । दुनियां भर में, यही तो एक ऐसा देश है, जिसकी धरती पर अनगिनत धर्मों की अवतारणाएं हुईं । ये धर्म, यहाँ विकसे, फूले और फले । और, जब-जब भी भारत भूमि पर धर्म-ग्लानि (ह्रास) का वातावरण बना, तब-तब किसी न किसी कृष्ण ने अवतीर्ण होकर, धर्म को समृद्ध बनाने की दिशा में, उसका पुनः-पुनः संस्थापन किया, या फिर किसी न किसी महावीर ने तीर्थंकरत्व की साधना-समृद्धि के बल पर धर्म-तीर्थ का वर्धापन किया । धर्म वट-वृक्षों के इन्हीं बीजांकुरों के रस-सेक से, भारतीय आत्मा को शाश्वत-शान्ति मिलती रही, किंवा, उसे परमात्मत्व का साक्षात्कार होता रहा ।

उक्त गुण-सम्पन्न तीन महान् धर्म-संस्कृतियाँ भारत में प्रमुख रही हैं । इन्होंने अपने धार्मिक/दार्शनिक सिद्धान्तों के व्यापक-प्रचार-प्रसार के लिए, आख्यानों कथाओं का जी भर कर उपयोग किया है । परिणामस्वरूप, वैदिक, जैन और बौद्ध,

---

१. संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास—पृष्ठ–३००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन तीनों ही धर्मों का विशाल साहित्य, आख्यानों और कहानियों का विपुल अक्षय भण्डार बन गया है। इन तमाम कथाओं/आख्यानों को, हम ऐसा आख्यान कह/मान सकते हैं, जिसका समग्र कलेवर, धार्मिक स्फुरणा से ओत-प्रोत है, किंवा जीवन्त है। आख्यान-साहित्य के प्रथम वर्ग 'धर्मकथा-साहित्य' के अन्तर्गत, ये ही सारी कथाएँ अन्तर्निहित मानी जायेंगी।

इस तरह, 'धर्मकथा' को परिभाषित करते हुये, यह कहा जा सकता है—'जो कथा, धर्म से सम्बन्ध रखती हो, वह 'धर्मकथा' है। और, 'धर्म' वह है, जिसके द्वारा अभ्युदय और मोक्ष की प्राप्ति होती है।'[1]

'वेद' शब्द की व्युत्पत्ति ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से होती है। जिसका अर्थ है—'ज्ञान'। 'वेद' शब्द का व्यावहारिक उपयोग 'मंत्र' और 'ब्राह्मण' दोनों के लिये किया जाता है।[2] 'मंत्र' में देवताओं की स्तुतियां हैं। इन स्तुतियों/मंत्रों का उपयोग यज्ञ आदि के अनुष्ठान में किया जाता है। यज्ञ के क्रिया-कलापों तथा उनके उद्देश्यों आशयों/प्रयोजनों की व्याख्या करने वाले मंत्र और ग्रन्थ, 'ब्राह्मण' कहे जाते हैं। 'ब्राह्मण' के तीन भेद हैं—ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। 'आरण्यक' ग्रन्थों में वानप्रस्थ-जीवन-पद्धति की विवेचना की गई है। जबकि उपनिषदों में, मंत्रों की दार्शनिक व्याख्या के द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में, यज्ञ आदि का विधान जटिल हो जाने के फलस्वरूप, उसे सरल और संक्षिप्त बनाने की जब आवश्यकता प्रतीत हुई, तब, सरल सूत्र-शैली अपना कर जिन नवीन-ग्रंथों में उसे प्रतिपादित किया गया, वे ग्रन्थ 'कल्पसूत्र' कहलाये।[3] कल्पसूत्रों में यज्ञ-यागादि, विवाह, उपनयनादि कर्मों का क्रमबद्ध संक्षिप्त वर्णन है। कल्पसूत्र के भी चार भेद किये गये हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्व सूत्र। श्रौत सूत्रों में—यज्ञ-याग आदि के अनुष्ठान नियमों का, गृह्य सूत्रों में—उपनयन, विवाह, श्राद्ध आदि षोडश संस्कारों से सम्बद्ध निर्देशों का, धर्म-सूत्रों में—वर्णाश्रम धर्म का, विशेष कर राजधर्म का और शुल्व सूत्रों में—यज्ञ के लिए उपयुक्त स्थान निर्धारण, यज्ञ-वेदि का आकार-प्रकार निर्धारण और उसके निर्माण की योजना आदि का वर्णन है। 'शुल्व' का अर्थ होता है—'नापने का डोरा'। वस्तुतः शुल्व सूत्रों को भारतीय ज्यामिति का आद्य ग्रन्थ कहा जा सकता है।

---

१. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थसंसिद्धिरंजसा। सद्धर्मस्तन्निबद्धा या सा सद्धर्मकथा स्मृता॥
—महापुराण—१/१२०

२. मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्—आपस्तम्बः यज्ञ-परिभाषा—३१

३. कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्वेण कल्पनाशास्त्रम्—ऋग्वेद-प्रातिशाख्य की वर्गद्वय वृत्ति—विष्णुमित्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूप-भेद के कारण, 'वेद' एक होता हुआ भी, तीन प्रकार का माना गया है। ये प्रकार हैं—ऋक्, यजुस् और सामन्। अर्थवशात् पादों/चरणों की व्यवस्था से युक्त छन्दोबद्ध मंत्रों की संज्ञा–'ऋचा' या 'ऋक्' की गई है।[1] इन ऋचाओं में से जो ऋचायें गीति के आधार पर गायी जाती हैं, उनकी संज्ञा 'सामन्' की गई है।[2] इन दोनों से भिन्न, यज्ञ में उपयोगी गद्य-खण्डों को 'यजुस्' संज्ञा दी गई है।[3] इस तरह, जो प्रार्थना/स्तुति-परक छन्दोबद्ध ऋचाएं हैं, उनके संकलित स्वरूप को 'ऋग्वेद संहिता', गेयात्मक ऋचाओं के संकलित स्वरूप को 'सामवेद संहिता' और गद्यात्मक यजुस् मंत्रों के संकलन को 'यजुर्वेद संहिता' कहा गया। इन तीनों को 'वेदत्रयी' के नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। किन्तु आज वेदों की संख्या चार है। जिसमें अथर्ववेद नामक एक चौथे वेद को भी गिना जाता है। अथर्वन् का अर्थ होता है—'अग्नि का पुजारी'। इस अर्थ से यह आशय लिया गया है—अग्नि के प्रचण्ड और भैषज्य रूप से सम्बन्ध रखने वाले मंत्रों का जिस संहिता में संकलन है, वह 'अथर्ववेद' है।

वेदों के सुप्रसिद्ध भाष्यकार महीधर की मान्यता है—ब्रह्मा से चली आ रही वेद-परम्परा को, महर्षि वेद व्यास ने ऋक्, यजु, साम और अथर्व नाम से चार भागों में बांटा, और उनका उपदेश क्रमशः पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु को दिया।[4] बाद में मंत्रों के ग्रहण-अग्रहण, संकलन और उच्चारण विषयक भिन्नता के कारण वेद-संहिताओं की अनेकानेक शाखाएं बन गईं; शाखाओं के साथ 'चरण' भी जुड़ गये। 'चरण' का अर्थ उस वटु-समदाय से जुड़ा है, जो एक साथ मिल-बैठ कर, अपनी परम्परागत शाखा से संबंधित संहिता मंत्रों का ज्ञान/अध्ययन प्राप्त करता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ऋग्वेद की इक्कीस, यजुर्वेद की एक सौ, सामवेद की एक हजार, और अथर्ववेद की नौ, कुल मिलाकर एक हजार एक सौ शाखाओं का उल्लेख किया है।[5] भारत का यह दुर्भाग्य है कि इनमें से अनेकों शाखाओं से सम्बन्धित साहित्य, आज तक विलुप्त हो चुका है।

---

१. तेषां ऋक् यत्रार्थवशेन पाद-व्यवस्था। —जैमिनी सूत्र—२/१/३५

२. गीतिषु सामाख्या—जैमिनी सूत्र–२/१/३६

३. शेषे यजुः शब्दः—वही—२/१/३७

४. तत्रादौ ब्रह्मपरम्परया प्राप्तं वेदं वेदव्यासो मन्दमतीन् मनुष्यान् विचिन्त्य कृपया चतुर्धा व्यस्य ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यांश्चतुरो वेदान् पैल-वैशम्पायन-जैमिनी-सुमन्तुभ्यः क्रमाद् उपदिदेश। —यजुर्वेद : भाष्य

५. चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः बहुधा भिन्नाः। एकशतमध्वर्यु शाखाः। सहस्रवर्त्मा सामवेदः। एक विंशतिधा बाह्वृत्यम्। नवधाऽथर्वणो वेदः।

—पातंजलमहाभाष्य–पस्पशाह्निक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैदिक साहित्य मूलतः धर्मप्रधान है। देवताओं को लक्ष्य करके यज्ञ आदि का विधान करके, उसमें जो कमनीय स्तुतियां सङ्कलित की गई हैं, वे, वैदिक साहित्य की एक विलक्षण विशेषता बन चुकी हैं। इन स्तुतियों के माध्यम से, तमाम ऐसे कथानक वैदिक साहित्य में भरे पड़े मिलते हैं, जिनका साहित्यिक-स्वरूप, उनके धार्मिक महत्त्व से कम मूल्यवान् नहीं ठहरता।

ऋग्वेद, देवों को लक्ष्य करके गाये गये स्तोत्रों का बृहत्काय संकलन है। इसमें, तमाम ऋषियों द्वारा, अपनी मनचाही मुराद पाने के लिये, भिन्न-भिन्न देवताओं से की गई प्रार्थनाएं हैं। तत्त्वतस्तु, जीवन में परमसत्य की प्रतिष्ठा कर लेना, जीवन का सबसे महान् लक्ष्य होता है। ऋग्वेद में, परमसत्य का देवता वरुण को माना गया है। किन्तु, वैदिक आर्य, इस देश में, विजय पाने की लालसा से आये थे। इस विजय का देवता, उन्होंने भ्राजमान इन्द्र को बनाया। शायद यही कारण है, जिस की वजह से, जीवन की यथार्थता का प्रतिनिधि देवता 'वरुण', विजय के प्रतिनिधि देव इन्द्र की स्तुतियों की बहुलता में, पीछे पड़ा रह गया। इसीलिये, वरुण का स्थान, कुछ काल पश्चात् इन्द्र को मिल गया।

इस विविधतामयी वर्णना में, कुछ ऐसे कमनीय भाव स्पष्ट देखे जा सकते हैं, जिनसे यह सहज अनुमान हो जाता है कि ऋग्वेद जैसा आदिम ग्रन्थ भी काव्य कला के उपकरणों से परिपूर्ण है। अलंकारों, ध्वनियों और व्यञ्जनाओं से अनुप्राणित गीतियों में भरी रूपकता, हमें यह अहसास तक नहीं होने देती कि हम किसी देव-स्तोत्र का श्रद्धा-वाचन कर रहे हैं, अथवा, किसी शृङ्गार काव्य की सरस-पदावली का रसास्वादन कर रहे हैं। यम-यमी के पारस्परिक संवाद की दर्शनीय रसीली छटा, एक ऐसी ही स्थिति मानी जा सकती है।

यम और यमी का परस्पर संवाद चलते-चलते ही, बीच में, यमी कामाग्नि संतप्त हो उठती है। तब, वह यम से कहती है—'हम दोनों को सृष्टा ने, गर्भ में ही पति-पत्नी बना दिया था। उसने, जो त्वष्टा है, सविता है, और सभी रूपों में विराजमान है। इसके व्रतों को कौन तोड़ेगा ? ओ यम ! हम दोनों के इस सम्बन्ध को पृथ्वी जानती है, और आकाश जानता है।'[1]

यमी के इस कथन का स्पष्ट आशय है—योन-सम्बन्ध से पूर्व, सभी आपस में भाई-बहिन हैं। किन्तु, परम ऐकान्तिक उस रसमय-सम्बन्ध के स्फूर्त होते ही, अन्य सारे सम्बन्ध तिरोहित हो जाते हैं, दब जाते हैं, सिर्फ एक यही सम्बन्ध शेष रह जाता है, जिससे, जीवन की समग्रता रसाप्लावित हो उठती है। क्योंकि, नर-नारी की परिनिष्ठा इसी में है, जीवन का स्रोत यही है।

---

१. गर्भे नु नो जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः। ---ऋग्वेद–१०/५/१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु, ऋग्वेद का यह यम, यथार्थतः नर है, वह वस्तुतः शिव है। इसने अपने जीवन में संयम के फूल खिलाये हैं और निग्रह में ही विग्रह को अवसान दिलाया है। वह, यमी के उत्तर में, कहता है—'ओ यमी! उस प्रथम-दिवस को कौन जानता है? किसने देखा है उसे? उसे कौन बता सकेगा? वरुण का व्रत महान् है। मित्र का धाम प्रभूत है। ओ कुत्सित मार्ग पर चलने वाली यमी! विपरीत कथन क्यों करती है? प्रत्यक्षतः तो हम भाई-बहिन ही हैं। फिर, इस सम्बन्ध के बदलने की आवश्यकता भी तो नहीं है। क्योंकि, वरुण का यह आदेश है, मित्र का ऐसा व्रत है।[1]

साहित्यिक रसात्मकता से परिपूर्ण, पुरुरवा और उर्वशी का संवाद भी, इसी मण्डल में मिलता है। सूक्त की शब्दावली दुरूह और कठिन अवश्य है, पर, उनसे व्यक्त होने वाले भाव, बेहद चुटीले हैं। पुरुरवा कहता है—'ओ मेरी बेदर्द पत्नी! ठहर, आ, कुछ बातें कर लें। हमने आज तक, खुलकर बातें तक नहीं कीं; हमारे मन को आज तक ठण्डक नहीं मिली।'[2]

उर्वशी उत्तर देती है—'ओ पुरुरवस्! क्या करूंगी तेरी इन बातों का? (तेरे घर से तो) मैं ऐसे आ गई हूँ, जैसे कि सबसे पहिली उषा। ओ पुरुरवस्! अब मैं, हवा की तरह (तेरी) पकड़ से बाहर हूँ।'[3]

प्रेम-पगे दो-चार क्षणों की भिक्षा मांगने वाले पुरुरवा की प्रार्थना का कैसा निर्मम तिरस्कार किया उर्वशी ने। फिर भी, दोनों की परस्पर बातें चलती रहीं। पुरुरवा, अनुनय पर अनुनय करता रहा, अपनी उर्वशी को याद दिलाता रहा तमाम पुरानी यादें, जिनके व्यामोह में उलझ कर, वह उसके घर वापिस चली चले। किन्तु, सब निरर्थक, सब निस्सार।.....आखिर, तार-तार होकर टूटने लगा पुरुरवा का दिल। वह, सहन नहीं कर पाता है अपनी अन्तः पीड़ा को, और चिल्ला उठता है उन्मत्त जैसा—'ओ उर्वशी! तेरा यह प्रणयी, आज कहीं दूर चला जायेगा;

---

१. को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत्।
बृहन् मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन्॥ —वही १०/१०/७

२. हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु।
न नौ मन्त्रा अनुदितास एते मयस्करन् परतरे च नाहन्॥ —वही १०/९५/१

३. किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव।
पुरुरवा पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि॥
—वही १०/९५/२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतनी दूर, जहाँ से वह कभी नहीं लौटेगा। तब, वह सो जायेगा मृत्यु की गोद में। और, वहाँ खूंखार भेड़िये, उसे (आनन्द से) खायेंगे।'[1]

पुरुरवा के हताश/निराश स्नेह को प्रकट करने वाले ये शब्द, उर्वशी की स्नेहिलता की कसौटी बन जाते हैं। पुरुरवा के एक-एक शब्द ने, उर्वशी के अंतस् को कचोट डाला। परिणाम, वही होता है, जो आज भी एक सच्चे प्रेमी और रूठी प्रणयिनी की परस्पर नोंक-झोंक का होता है।

उर्वशी कहती है[2]—'ओ पुरुरवस्! मत भाग दूर, अपने प्राण भी व्यर्थ मत गंवा, अमाङ्गलिक भेड़ियों का शिकार मत बन। क्योंकि, स्त्रियों की मैत्री, मैत्री नहीं होती। इनका दिल तो भेड़िये का दिल होता है।'

दर असल, उर्वशी का यह उत्तर, समग्र स्त्री जाति के लिये शाश्वत शृंगार बन गया।

पुरुरवा और उर्वशी के इस परिसंवाद ने, लौकिक जगत् के सच्चे प्रेमी, और फुसला ली जाने वाली मानिनी प्रेयसी के स्पष्ट उद्गारों को, रसात्मकता का जैसे शिलालेख बना दिया। इसी संवाद की प्रतिध्वनि शतपथ-ब्राह्मण, विष्णु पुराण, और महाभारत में भी मुखरित हुई है। जिसका अनुगुञ्जन, महाकवि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में, स्पष्ट सुनाई पड़ता है।

भारत के मूर्धन्य कवियों ने जी भर कर पर्जन्य की महिमा के गीत गाये हैं। किन्तु, वैदिक कवि ने 'जीमूत' पर्जन्य का गुणगान किया है। यह जीमूत, क्षण भर में ही, जल-थल एक कर देता है। धरती से अम्बर तक, जलधारा का एक वर्तुल सा बना देता है।

वेद कहता है—'आओ, आज इन गीतों से उस पर्जन्य को गाओ; यदि उसे नमस्कार करके मनाना चाहो, तो पर्जन्य के गीत गाओ। देखो, यह महान् साँड गर्ज रहा है। इसके दान में (कितनी) शक्ति है। (अपने इसी दान से) वनस्पतियों में अपने बीज का गर्भाधान कर रहा है वह। ....वह देखो, पेड़ों को किस तरह उखाड़ कर फेंके चला जा रहा है? राक्षसों को किस तरह धराशायी किये चला जा रहा है? इसका दारुण वज्र देखकर, धरती और आकाश डोल रहे हैं। जब, विद्युतपात करके यह दुराचारियों को धराशायी करता है, तब, निष्पाप लोग भी थरथरा उठते हैं।....और, जिस तरह, रथी अपने कोड़े से घोड़ों को आगे कुदा देता है, वैसे ही,

---

१. सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत् परावतं परमां गन्तवा उ।
अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः॥ —वही १०/९५/१४

२. पुरुरवो मा मृथा मा प्रपप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उक्षन्।
नवै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येताः॥ —वही १०/९५/१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह भी, वर्षा के द्वारा दूतों को आगे खिसका/सरका रहा है। सुनो····कहीं दूर, वह सिंह दहाड़ रहा है। यह शेर, पृथ्वी में (वर्षा का) बीज डाल रहा है।'[1]

ये, वे वर्षा गीत हैं, जिनमें, एक विलक्षण प्रतिभा प्रस्फुरित हो रही है। इस वर्षा में सांड़ है, सिंह है, और वह सब कुछ भी है, जिससे हमारा ऐन्द्रियत्व सहल उठता है, फिर स्वयं में, उसे आत्मसात् कर लेता है।

एक दूसरे स्थल पर, 'जीमूत' मेघ का उपमान रूप में प्रयोग, वैदिक वाङ्मय की साहित्यिकता और रूपकता को, एक ऐसी ऊँचाई तक पहुँचा देता है, जिस तक, शायद मेघ स्वयं न पहुंच सके। देखिये—'जब एक वीर योद्धा, कवच से सज-धज करके, रणाङ्गण में उपस्थित होता है, और अपने धनुष से बाणों की वर्षा कर शत्रुदल पर छा जाता है, तब, उसका चेहरा 'जीमूत' जैसा हो जाता है।'[2]

सामान्य रूप से देखने/पढ़ने पर तो यह उपमान, बड़ा ही बेतुका, किंवा फीका सा लगता है, किन्तु, जब 'जीमूत' शब्द की व्युत्पत्ति समझ में आ जाती है, तब, इस उपमान का चमत्कार, स्वतः ही सामने आ जाता है। 'जीमूत' शब्द बनता है—ज्या+√ मीव् (गति) से। अर्थात् ऐसा बादल 'जीमूत' कहा जायेगा, जिसमें बिजली की प्रत्यञ्चा कौंध रही हो। एक सच्चा शूरवीर, जब शत्रुदल पर टूटता है, तब उसका चेहरा 'जीमूत' जैसा ही होता है। क्योंकि, बलपूर्वक पूर्ण श्रम से और धूलि-धूसरित होने के कारण, चेहरा कृष्णवर्ण हो जाता है। साथ ही, शत्रुदल पर धनुष से बाणों की जब वर्षा करता है, तब उसकी लहराती/लपलपाती प्रत्यञ्चा (ज्या), वर्षणशील मेघ में कौंध रही विद्युल्लता जैसी, उस बहादुर वीर के चेहरे के सामने/आस-पास, क्षण-क्षण में कौंधती रहती है। अब, उक्त उपमान से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषि द्वारा प्रयुक्त यह उपमान, न तो फीका है, न ही बेतुका, बल्कि, एक नये रूपक की सर्जना का द्योतक बन गया है।

ऋग्वेद का यह प्राञ्जल वर्णन, कितना सजीव है? इसकी शब्द-गरिमा और उससे ध्वनित अर्थ-गाम्भीर्य कितना विशद है, पेशल है? इस विषय पर, बहुत

---

१. अच्छा वद तवसं गीर्भिराभिः स्तुहि पर्जन्यं नमसा विवास।
क्रनिक्रदद् वृषभो जीरदानू रेतो दधात्योषधीषु गर्भम्॥
किं वृक्षान् हन्त्युत हन्ति राक्षसान् विश्वं बिभाय भुवनं महावधात्।
उता नागा ईषते कृष्ण्यावतो यत् पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः॥
रथीव कशयाश्वां अभिक्षिपन्नाविर्दूतान् कृणुते वर्ष्या अह।
दूरात् सिंहस्य स्तनथा उदीरते यत् पर्जन्यः पृथिवी रेतसावति॥
—वही ५/८/३/१-३

२. वही ५-७५-१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुछ लिखने से अच्छा होगा, इसके प्रयोग को समझा जाये, बल्कि, ठीक से समझा जाये। क्योंकि इसका एक-एक अक्षर जीवन्त है, शब्द-शब्द की पोर-पोर में इक्षरस जैसी मिठास भरी है। आवश्यकता है समझ की, अनुभूति की, और आनन्द लेने की चाह की।

वीरता और कर्मप्रवणता भरे इन आख्यानों का प्रस्थान, जब स्नेहिल धरातल का स्पर्श करता है, तब, एक वपुष्मान् (नर) और वपुषी (नारी) का गठबन्धन, मनु के नौ बन्धन पर होते देर नहीं लगती। इसी गठबन्धन से उभरती हैं वे श्रेष्ठ शालीनताएं, जिनमें उषा, हस्रा (हसनशील वनिता) बन कर, अपने सम्पूर्ण संवृत प्रणय को अनावृत कर देती है। उषा के इसी अनावृत प्रणय-द्वार की देहलीज पर बैठकर, वैदिक जरन्त ऋषि/मुनि-गण ने, प्रत्यङ् मनस् से की गई तपस्याओं के बल पर, शाश्वत सत्य का साक्षात्कार किया है। वेदों ने इसे 'ऋत्' नाम से पुकारा है।

इसी 'ऋत्' के आनन्द की मस्ती में झूमकर वह गा उठता है—'सृष्टि के पहिले क्या था ? न सत् था, न असत्, न धरती थी, न आकाश था ! ....मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ?....इत्यादि।'[1] ऋग्वेद का यह ऐसा गान है, जिससे आगे, मानव का मस्तिष्क अब तक नहीं जा पाया। और, इन ऋग्वेदीय प्रश्नों के जो समाधान अब तक दिये गये हैं, उन्हें सोम पानोचा की रङ्गमयी भाव-भङ्गिमा में, उसने स्वयं ही तलाश लिया था। और, तब, वह कह उठा था—'मैं ही मनु था। सूर्य भी मैं ही था। कक्षीवान् ऋषि मैं ही था। आर्जुनेय कुत्स को मैंने ही दबाया था। उशना कवि मैं ही हूँ। आर्य को पृथ्वी मैंने ही दी थी। मर्त्य के लिए वर्षा मैंने ही बनाई। कलकलायमान जलधाराओं को मैं ही बहाता हूँ। देवता तक, मेरे इशारे पर चलते आये हैं।'[2]

यह सूक्त, पुरुष/आत्मा के परमात्मत्व को जिन संकेतो/प्रतीकों के माध्यम से सर्वशक्तिमान घोषित कर रहा है, ठीक, वैसे ही, शक्ति-स्वरूपा नारी के महिमामय गौरव का गुणगान करने में भी वैदिक ऋषि से चूक नहीं हुई। ऋग्वेद की ऋचा स्वयं बोल उठती है—'सूर्य उदय हो गया है, साथ ही, मेरा भाग्य भी उदय हुआ है।

---

१. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥
इत्यादि, —वही १०-१२९-१—७

२. अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥
अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन्॥ —वही ४-२६-१—२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तथ्य से मैं अवगत हूँ। तभी तो, अपने पति पर प्रभावी बन गई हूँ। मैं स्वयं केतु हूँ, मूर्धा हूँ, और प्रभावुक हूँ। मेरा पति, मेरी बुद्धि के अनुरूप आचरण करेगा, मेरे पुत्र शत्रुघ्न हैं, मेरी पुत्री भ्राजमान् है, मैं स्वयं विजयिनी हूँ, पतिदेव पर, मेरे श्लोक प्रभावुक हैं। जिस हवि को देकर, इन्द्र सर्वोत्तम तेजस्वी बने थे, वह (सब) भी मैं कर चुकी हूँ। अब, मेरी कोई सौत नहीं रही, कोई शत्रु नहीं रहा।'[1]

यह है वैदिक नारी का सबल-स्वरूप। वह जीवन के हर केन्द्र पर, वह केन्द्र चाहे भोग का हो या योग का, युद्ध का हो या याग का; हर जगह वह अपने पति जैसी ही बलवती है, आत्मा की प्रज्ञा जैसी।

ये हैं ऋग्वेद के कुछ अंश, जिनमें भारतीय साहित्य और संस्कृति की शाश्वत-निधियाँ समाई हुई हैं। आज की भारतीयता का यही है आदि स्रोत, जिसमें, अन-गिनत कथाओं के द्वारा मानव-चेतना को ऊर्ध्वरेतस् बनाने के न जाने कितने रहस्य, आज भी अनुन्मीलित हुये पड़े हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण का शुनःशेप आख्यान, शत-पथ ब्राह्मण में दुष्यन्त पुत्र भरत और शकुन्तला से सम्बन्धित आख्यान, महाप्रलय की कथा में मनु का विवरण भी प्रसिद्ध आख्यानों में से है। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य के दार्शनिक वाद-विवाद, महाप्रलय में मनु का वर्णन भी प्रसिद्ध आख्यानों में से है। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य और जनक के संवाद तथा याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयी के बीच हुई दार्शनिक चर्चाएं, भारतीय संस्कृति के ऊर्जस्विल आख्यानों में माने/गिने जाते हैं।

इसी सन्दर्भ में, जब उत्तर वैदिक आख्यान साहित्य पर दृष्टिपात किया जाता है, तो रामायण और महाभारत, ये दोनों ही आर्ष काव्य, अपनी ओर ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं।

महाभारत का मुख्य प्रतिपाद्य, कौरवों और पाण्डवों के पारिवारिक कलह की राष्ट्रीय व्यापकता को विश्लेषित करना रहा है। यह युद्ध यद्यपि अठारह दिनों तक ही चला, किन्तु इसकी वर्णना में अठारह हजार श्लोकों का एक विशाल-ग्रन्थ तैयार हो गया। सर्पदंश से, जब महाराज परीक्षित स्वर्गवासी हो जाते हैं, तब उनका पुत्र जनमेजय, सम्पूर्ण सर्पों के विनाश के लिए नागयज्ञ का अनुष्ठान करता है।

---

१. उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः। अहं तद् विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः॥
अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी। ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत्॥
मम पुत्रा शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्। उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः॥
येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्यु-म्न्युत्तमः। इदं तदक्रि देवा असपत्ना किलाभुवम्॥
इत्यादि। —वही १०-१०६-१—४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी अवसर पर, उसे यह सारी कथा, वैशम्पायन ने सुनाई थी । वैशम्पायन ने स्वयं, यह कथा महर्षि व्यास से सुनी थी ।

इस कथा में, मुख्यकथा के अतिरिक्त अनेकों आख्यान, प्रसङ्गवशात् आये हैं । जिनमें, शकुन्तलोपाख्यान, मत्स्योपाख्यान, रामाख्यान, गंगावतरण, ऋष्यश्रृङ्गकथा, महाराज शिवि और उनके पुत्र उशीनर की, तथा, सावित्र्युपाख्यान और जलोपाख्यान आदि, कुछ ऐसे आख्यान हैं, जिन्हें विश्व-साहित्य में एक विशेष गौरव की आँख से देखा/परखा/पढ़ा जाता है । इसी महाभारत में, श्रीकृष्ण का समग्र जीवन-वृत्त, एक हजार श्लोकों में गुम्फित है । इस अंश को 'हरिवंश कथा' के नाम से स्वतंत्र रूप भी दिया गया है । भगवद्गीता का कृष्णार्जुन संवाद भी, महाभारत का ही एक महत्त्वपूर्ण भाग है ।

रामायण में, महाभारत जैसा, आख्यानों का विपुल भण्डार तो नहीं है, फिर, भी, भारतीय काव्य-परम्परा का आद्य-ग्रन्थ होने का, इसे गौरव-पूर्ण स्थान प्राप्त है । आदि-कवि महर्षि वाल्मीकि ने इसमें जिस रामकथा का वर्णन किया है, उससे, भारत का प्रत्येक आबाल-वृद्ध भलीभाँति परिचित है ।

रामायण में भी मुख्यकथा के अतिरिक्त अनेकों अवान्तर-कथायें जुड़ी हुई, प्रसङ्गवशात् आई हुई हैं । जिनमें, रावण का ब्रह्मा से वरदान पाना, राम के रूप में विष्णु का अवतरित होना, गंगावतरण, विश्वामित्र और वशिष्ठ का युद्ध आदि आख्यान, संस्कृत साहित्य के उत्कृष्ट एवं गरिमापूर्ण आख्यानों के रूप में स्वीकार किये जाते हैं ।

इन दोनों महाग्रन्थों की भाव-भूमि को आधार मान कर, उत्तरवर्ती आख्यान-साहित्य की विस्तृत सर्जनाएं हुई हैं । 'मालती-माधव' और 'मुद्राराक्षस' जैसे कुछ एक कथानकों को छोड़कर, शेष समूचा संस्कृत साहित्य, इन दोनों आर्ष काव्यों के प्रभाव से अनछुआ नहीं रह पाया । रघुवंश, भट्टिकाव्य, रावणवहो और जानकीहरण जैसे महाकाव्यों ने रामायण की रसधारा में स्वयं को निमग्न कराया, तो किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, और नैषधीयचरित जैसे उत्कृष्ट महाकाव्यों की पृष्ठभूमि में, महाभारत की ऊर्जस्विल भाव-लहरियां तरङ्गित होतीं स्पष्ट देखीं जा सकती हैं ।

मानवीय-जीवन, बालू के घर की तरह, शीघ्र ढह कर गिर जाने वाली वस्तु नहीं है । बल्कि, इसमें स्थायित्व है । ऐसा स्थायित्व, जो अपनी भौतिक सत्ता को विनष्ट कर चुकने के बाद भी, अपने बाद की मानव-सन्तति को राह दिखा सकता है । किन्तु, यह तब सम्भव हो पाता है, जब व्यक्ति अपना जीवन उदात्तता, पर-दुःख-कातरता, त्रस्त-पीड़ित–प्रताड़ित मानवता को शरण और सहकार-सम्बल करना, आदि महनीय शोभन गुणों से आपूरित बना लेता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्हीं जैसे गुणों से, व्यक्ति के क्षणभंगुर जीवन में स्थायित्व और महनीयता समाहित हो पाती है ।

वाल्मीकि-रामायण में, उन समस्त शोभन गुणों का सुन्दर-समन्वय, राम के आदर्श व्यक्तित्व में फलितार्थ किया गया है, जिससे, उनका जीवन, सिर्फ मृत्यु-पर्यन्त तक चलने वाला, साधारण आदमी के जीवन जैसा न रह पाया, वरन्, एक ऐसा चरित बन गया, जिसे आज भी, हर-पल, हर-क्षण जीवन्त बना हुआ अनुभव किया जाता है ।

महाभारत की सर्जना के मूल में भी, सिर्फ युद्धों की वर्णना करना ही महर्षि व्यास का लक्ष्य नहीं रहा, बल्कि उनका अभिप्राय, भौतिक-जीवन की निस्सारता को प्रकट करके, मोक्ष के लिये प्राणियों में औत्सुक्य जगाना रहा है । इसीलिये, महाभारत का मुख्य-रस 'शान्त' है । वीररस तो उसका अंगीभूत बनकर आया है ।

महाभारत, वस्तुत: एक ऐसा धार्मिक ग्रन्थ है, जिससे, आधुनिक जगत् की हर-श्रेणी का व्यक्ति, अपना जीवन सुधारने की शिक्षा-सामग्री प्राप्त कर सकता है । कर्म, ज्ञान और भक्ति की सरस्वती प्रवाहित करने वाली भगवद्गीता तो आज के आध्यात्मिक जगत् का उत्कृष्ट कीर्तिस्तम्भ है । महाभारत की इन्हीं सब विलक्षण विशेषताओं को ध्यान में रखकर, महर्षि व्यास ने, अपना आशय व्यक्त करते समय स्पष्ट किया था--'इस आख्यान को जाने बिना, जो पुरुष वेदाङ्ग तथा उपनिषदों को जान लेता है, वह व्यक्ति कभी भी अपने को विचक्षण नहीं कहलवा सकता ।'[1]

भारतीय आख्यान साहित्य में, बौद्धधर्म के कथा साहित्य को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । बौद्ध कथाओं को समाविष्ट करने वाला 'अवदान' साहित्य, अपना मौलिक अस्तित्व रखता है । 'अवदान' का अर्थ होता है—'महनीय कार्य की कहानी' । जिस तरह, पालि साहित्य में, महात्मा बुद्ध के पूर्व-जन्मों के शोभन गुणों का वर्णन 'जातक' में हुआ है, उसी परिपाटी में, संस्कृत में विरचित यह 'अवदान' साहित्य है । इसमें 'अवदान शतक' सबसे प्राचीन संग्रह है ।[2] इसमें संकलित कथायें, तथागत बुद्ध के उन शोभन गुणों की वर्णना करती है, जिनके बल पर उन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति हुई थी । इसकी कुछ कहानियों में, पापाचरण करने वाले व्यक्तियों को दी जाने वाली यातनाओं की भी विवेचना की गई है । इस संकलन के अंत:साक्ष्यों

---

१. यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विज: ।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षण: ।।

२. डॉ० कावेल व नील द्वारा सम्पादित-कैम्ब्रिज–1896,
बौद्ध संस्कृत ग्रन्थमाला (दरभंगा) से प्रकाशित–1962

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के आधार पर, इसका रचना-काल द्वितीय शतक माना जा सकता है। तीसरी शताब्दी में इसका चीनी अनुवाद हुआ था।

'दिव्यावदान' भी बौद्धकथाओं का एक संकलन है। यह ग्रन्थ, पूर्णतः गद्य में है। किन्तु, बीच-बीच में जो गाथायें इसमें दी गई हैं, वे, छन्दबद्ध तो हैं ही, उनमें आलंकारिकता भी अच्छे स्तर की है। ग्रन्थ में अशोक से सम्बन्धित कथाएं हैं। इन कथाओं की ऐतिहासिकता और मनोरञ्जकता तो असंदिग्ध है, परन्तु, इसकी भाषा को, पाली के सम्पर्क से मिश्रित होने के कारण, तथा कुछ स्थलों पर, भ्रष्ट-भाषा का भी प्रयोग होने के कारण, भाषा-शास्त्रियों ने, एक अलग प्रकार की धारा में प्रवाहित भाषा माना है। इसी तरह, इसमें संकलित कथाओं के कहने का ढंग भी अस्त-व्यस्त और बेतुका सा है।

समग्र बौद्ध साहित्य में 'त्रिपिटक' प्रमुख है। ये त्रिपिटक हैं—विनयपिटक, सुत्तपिटक और अभिधम्मपिटक। तथागत बुद्ध ने भिक्षुओं के आचरण को संयमित रखने के लिये जो नियम बनाये, उन्हीं की चर्चा 'विनयपिटक' में है। 'सुत्तपिटक' में, बुद्ध के उपदेशों और संवादों का संग्रह है। महाभारत के सुप्रसिद्ध यक्ष-युधिष्ठिर संवाद की तरह का यक्ष-युद्ध संवाद भी इसी संग्रह में है। इसी संग्रह में संकलित 'जातक' में. बुद्ध के पूर्व-जन्म के सदाचारों की अभिव्यक्ति करने वाली कथायें हैं। बौद्धधर्म कथाओं में इसका विशेष महत्त्व है। 'बुद्धवंश' में, गौतम-बुद्ध से पूर्व के चौबीस बुद्धों का जीवन-चरित वर्णित है। इनमें समाहित कथा साहित्य बौद्ध-धर्म कथा का उत्कृष्ट साहित्य माना जा सकता है। 'अभिधम्मपिटक' में गौतम बुद्ध के उपदेशों के आधार पर, उनके दार्शनिक विचारों की व्यवस्था की गई है।

'विनयपिटक' के खन्दकों में, नियमों और कर्त्तव्यों के निर्देश के साथ-साथ अनेक आख्यान भी मिलते हैं। 'चुल्लवग्ग' में संवादात्मक और चरित सम्बन्धी अनेकों कथाएं हैं। 'दीघनिकाय' 'मज्झिमनिकाय' और 'सुत्तपिटक' में भी, बहुत सारे आख्यान हैं। इसी तरह, 'विमानवत्थु', 'पेत्थवत्थु', 'थेरी गाथा' और 'थेर गाथा' में भी कई तरह की कथाएं हैं। इन सबको देखने से यह सहज ही अनुमान हो जाता है कि जातक-साहित्य, उपदेशपर्ण मनोरञ्जक कथाओं/आख्यानों का विशाल भण्डार है। जिसके प्रभाव से, उत्तरवर्ती साहित्य भी अछूता नहीं रह सका।

पालि त्रिपिटक की गाथाएं, बहुत प्राचीन हैं। उसमें प्रयुक्त छन्द, वाल्मीकि रामायण से भी प्राचीन हैं।[1] कुछ गाथाएं तो वैदिक युग की हैं।[2] इन्हीं गाथाओं को स्पष्ट करने के लिये, जातक कथाएं कही गई हैं। बौद्ध धर्म का यथार्थ-परिचय

---

१. ओल्डेन वर्ग—गुरुपूजाकौमुदी, पृष्ठ—६०, दीघनिकाय—सम्पा. ह्रीस डेविडस एण्ड कारपेन्टर—वाल्यूम-I, इन्ट्रोडक्शन—पृष्ठ-८

२. डॉ० विन्टरनित्ज—हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिट्रेचर-II, P. १२३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कराने के कारण सुत्तपिटक का साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्त्व विशेष है। प्राचीन नीति कथाओं का संग्रह 'जातक' इसी में संकलित है। जातक, सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय का दशवाँ ग्रन्थ है। इसमें, अनेकों कहानियाँ हैं। कुछ छोटी हैं और कुछ बड़ी। कुछ कथाएं तो इतनी बड़ी हैं कि उनके स्वरूप को देखते हुये, उन्हें संक्षिप्त महाकाव्य कहा जा सकता है।

'जातक' का अर्थ होता है--'जन्म-सम्बन्धी कथाएं'। तथागत ने अपने पूर्वजन्मों का, और घटनाओं का स्मरण करके, उन्हें अपने शिष्यों को सुनाया। बुद्धत्व प्राप्ति से पूर्व, कई योनियों में, उन्हें जन्म लेना पड़ा था। जिनमें मनुष्य, देवता, पशु-पक्षी आदि की योनियाँ रहीं। इन सब योनियों में रहकर भी, उनका 'बोधिसत्त्व' यथावस्थित रहा। 'बोधिसत्त्व' का अर्थ होता है--'बोधि के लिये उद्यमशील प्राणी (सत्त्व)'। इन्हीं कहानियों को कह कर, बुद्ध ने, लोगों को अपना उपदेश दिया। ये कहानियाँ, ईसा पूर्व की पांचवीं शताब्दी से लेकर, ईसा के बाद की प्रथम-द्वितीय शताब्दी तक रचीं गईं। इनमें से अनेकों कहानियों का विकसित रूप रामायण और महाभारत में भी पाया जाता है।[1]

बुद्ध ने परम्परागत लौकिक गाथाओं को सुभाषितों के रूप में ग्रहण किया। 'विलारवत' जातक की एक गाथा में 'विडालव्रत' का लक्षण दिया गया है। बुद्धकाल में, कोई ऐसी विडाल कथा प्रचलित रही होगी, जिसमें, चूहों को धोखा देकर कोई विडाल उन्हें खा जाता था। धर्म की आड़ में धोखा देने वाले कृत्य का यह प्रतीकात्मक आख्यान है। इस प्रकार के कार्य को, उस समय में 'विडालव्रत' के रूप में पर्याप्त मान्यता दी जा चकी होगी, ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए बुद्ध ने, उसे जातक गाथा में सम्मिलित करके अपना लिया।[2] महाभारत[3], मनुस्मृति[4] एवं विष्णु स्मृति[5] में भी, इस विडालव्रत का उल्लेख आया है।

'जातक' में जातकों की कुल संख्या ५४७ है। जिनमें, कुछ जातक नये आ गये हैं।[6] और, कुछ प्राचीन जातक इसमें नहीं आ पाये हैं।[7] तथापि यह जातक साहित्य, उपदेश पूर्ण और मनोरंजक है।

---

१. जातक–प्रथम खंड–भूमिका–भदन्त आ० कौस० पृ. २४

२. यो वे धम्मं धजं कत्वा निगूलहो पापमाचरे।
विस्सासयित्वा भूतानि विलारं नाम तं वतं॥ —विलारवत जातक–१२८

३. महाभारत—५-१६०-१३

४. धर्मध्वजो सदा लुब्धादमिको लोकदम्भकः।
वैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधिकः॥ —मनुस्मृति-अ. ४-१९५

५. विष्णुस्मृति—९३-८

६. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर—डॉ. विन्टरनित्ज, वॉ. II, पृष्ठ-१२४, फुटनोट १

७. वही—पृष्ठ–१२५, फुटनोट ४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन आख्यान/कथा साहित्य

प्राचीन जैन आगमों में कथा-साहित्य का भण्डार भरा पड़ा है। 'आचारांग' में, महावीर की जीवन-गाथा है, तो 'कल्पसूत्र' में तीर्थङ्करों की जीवनियों की संक्षिप्त झांकी है। 'नायाधम्मकहाओ' के प्रथम श्रुतस्कन्ध के उन्नीस अध्ययनों में, और दूसरे श्रुतस्कन्ध के दश वर्गों में अनेकों मनोहारी और उपदेशात्मक कथाओं का चित्रण है। शिष्यों के प्रश्नों के उत्तररूप में, वीर जीवन की झांकी 'भगवती' के संवादों में प्रस्तुत की गई है। 'सूत्रकृताङ्ग' के छठे व सातवें अध्ययनों में, आर्द्रककुमार के गोशालक और वेदान्तियों के साथ सम्वादों का, तथा पेढाल पुत्र उदक के साथ भगवान महावीर के संवादों का उल्लेख है। इसी के द्वितीय खण्ड के प्रथम अध्ययन में, पुण्डरीक का दृष्टान्त महत्वपूर्ण है। 'उत्तराध्ययन' में भी जो अनेकों भावपूर्ण व शिक्षाप्रद आख्यान आये हैं, उनमें, नेमिनाथ की जीवन-गाथा का प्रथम उल्लेख, विशेष महत्त्व का है। श्रीकृष्ण, अरिष्टनेमि, और राजीमती की कथाएं, तथा कपिल का आख्यान भी आकर्षक एवं मनोहारी है। इसी के चोर,[1] गाड़ीवान,[2] तीन व्यापारियों के दृष्टान्त,[3] तथा हरिकेश–ब्राह्मण,[4] पुरोहित और उसके पुत्र,[5] पार्श्वनाथ और महावीर के शिष्यों के सम्वाद,[6] विशेष उल्लेखनीय हैं।

आनन्द, कामदेव, चुलनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्ड कोकिल, सद्दालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता, और शालिनीपिता इन दश श्रावकों का जीवन चित्र, 'उपासकदशांग' के दश आख्यानों में चित्रित है। इन्होंने, संसार का परित्याग सर्वांशतः नहीं किया था, फिर भी, वे मोक्षप्राप्ति के लिये सतत प्रयत्नशील बने रहे। इनके जीवन-चरितों का यही वैशिष्ट्य रहा है।

'अन्तकृद्दशांग' में उन अनेकों महापुरुषों और स्त्रियों का जीवन-चरित्र वर्णित है, जिन्होंने उग्र तपश्चरण द्वारा, अपनी सांसारिकता को विखण्डित करके मोक्ष प्राप्त किया। 'अनुत्तरोपपातिक दशांग' में, ऐसे दश साधकों की जीवनचर्या वर्णित की गई है, जो अपने साधना बल से, पहिले तो अनुत्तर विमानों में जन्म लेते हैं, फिर मनुष्य जन्म प्राप्त कर, मोक्षगामी बनते हैं। स्थानांग[7], तत्त्वार्थराज वार्तिक[8]

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र—अध्य० २१,
२. वही—अध्ययन–२७
३. वही—अध्ययन–२१
४. वही—अध्ययन–१२
५. वही—अध्ययन–१२
६. वही—अध्ययन–२३
७. ठाणं—१०/११४
८. तत्त्वार्थराजवार्तिक—१/२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और अंगपण्णत्ती[1] में, इन दश साधकों के नामों में, और उनके क्रम-वर्णन में भी भिन्नता स्पष्ट देखी गई है ।

'विपाक सूत्र' में शुभ-कर्मों का और अशुभ-कर्मों का परिणाम कैसा होता है ? यह बतलाने के लिये दश-दश व्यक्तियों के जीवन-चरित्रों को उद्धृत किया गया है । इसके प्रथम श्रुत-स्कन्ध में, दुष्कृत-परिणामों का दिग्दर्शन कराने के लिये, जिन दश कथानकों को चुना गया है, उनसे सम्बद्ध व्यक्तियों के नाम इस प्रकार हैं—मृगा-पुत्र, उज्झितक, अभग्नसेन, (अभग्गसेन), शकटकुमार, बृहस्पतिदत्त, नंदीवर्धन, उदुंबरदत्त, शौर्यदत्त, देवादत्ता और अंजुश्री । स्थानांग में, इनसे भिन्न नाम मिलते हैं, जो कि इस प्रकार हैं—मृगापुत्र, गोत्रास, अंडशकट, माहन, नंदीषेण, शौरिक, उदुंबर, सहसोद्वाह, आमटक और कुमारलिच्छवी ।[2] इन नामों का वर्तमान में उपलब्ध नामों के साथ सुन्दर समन्वय किया है—पं० बेचरदासजी दोशी ने, जो द्रष्टव्य है ।[3]

दूसरे श्रुतस्कन्ध में, सुकृत परिणामों का दिग्दर्शन कराने वाले, जिन दश जीवनवृत्तों को चुना गया है, उनके नाम हैं—सुबाहुकुमार, भद्रनन्दी, सुजातकुमार, सुवासवकुमार, जिनदासकुमार (वैश्रमणकुमार), धनपति, महाबलकुमार, भद्रनन्दी कुमार, और वरदत्तकुमार । इसी तरह के शिक्षाप्रद भावप्रधान आख्यान, उत्तराध्ययन सूत्र निर्युक्ति, दशवैकालिक निर्युक्ति, आवश्यक निर्युक्ति और नंदिसूत्र में भी हैं ।

श्वेताम्बर परम्परा के आगमोत्तरवर्ती आख्यान साहित्य से जुड़े पउमचरिय (विमलसूरि), सुपार्श्वचरित (लक्ष्मणगणि), महावीर चरिय (गुणभद्र), तरंगवती, वसुदेव-हिण्डी, समराइच्चकहा (हरिभद्र), हरिवंश, प्रभावकचरित, परिशिष्टपर्व, प्रबन्ध चिन्तामणि और तीर्थकल्प आदि अनेकों ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनमें धर्म, शील, पुण्य, पाप और संयम एवं तप के सूक्ष्म-रहस्यों की विवेचना की गई है । जिनमें, मानवीय जीवन और प्राकृतिक विभूति के समग्र चित्र उज्ज्वलता और निपुणता के परिवेश में प्रस्तुत किये गये हैं ।

दिगम्बर परम्परा, श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध अङ्ग-साहित्य को स्वीकार नहीं करती । इसकी मान्यता है कि द्वादशाङ्ग साहित्य लुप्त हो चुका है । उसका जो कुछ भाग शेष बचा है, वह 'षट्खण्डागम', 'कषाय-पाहुड' और 'महाबन्ध' जैसे उपलब्ध ग्रन्थों में सुरक्षित है । फिर भी, तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि ग्रंथों से यह ज्ञात होता है कि दिगम्बर परम्परा के अङ्ग-साहित्य में भी अनेक आख्यान पाये जाते थे ।

---

१ ....उज्जुदासो सालिभद्दक्खो । सुणक्खत्तो अभयो वि य धण्णो वरवारिसेण णंदगया । णंदो चिलायपुत्तो कत्तइयो जह तह अण्णे ।। —अंगपण्णत्ती—५५

२. ठाणांग—१०/१११ ।

३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—भाग १, पृष्ठ २६३, प्रकाठ पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुतः, दिगम्बर और श्वेताम्बर, दोनों ही परम्पराओं में मान्य आगमों के नाम लगभग एक जैसे ही हैं। जो कुछ थोड़ा बहुत अन्तर परम्परा भेद से परिलक्षित होता है, उसका कोई ऐसा महत्त्व नहीं है, जिसका दुष्प्रभाव, मौलिक मान्यताओं पर अपनी छाप डाल पाता हो।

उपलब्ध दिगम्बर साहित्य में आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं का विशिष्ट स्थान है। इनमें ढेर सारे कथानक, आख्यान और चरित मिलते हैं। भावना की उपयोगिता, साधना के क्षेत्र में कितनी महत्त्वपूर्ण है? इसका बहुमुखी परिचय, 'भावपाहुड' का अध्ययन करने से स्वतः मिल जाता है। निस्संग हो जाने पर भी, 'मान' कषाय की उपस्थिति के कारण बाहुबलि के चित्त पर कालुष्य बना ही रहा[1], अपरिग्रही मुनि मधुपिंग को 'निदान' के कारण द्रव्यलिङ्गी बने रहना पड़ा[2], वशिष्ठ मुनि की भी दुर्दशा, इसी निदान के कारण, कुछ कम नहीं हुई।[3] बाहुमुनि को, क्रोधाविष्ट होकर दण्डक राजा का नगर भस्म कर देने के परिणामस्वरूप रौरव नरक तक भोगना पड़ा[4], दीपायन को भी द्वारका नगरी भस्म करने के फलस्वरूप अनन्तसंसारी बनना पड़ा[5], और भव्यसेन मुनिराज, द्वादशाङ्ग एवं चौदह पूर्वों के पाठी होते हुये भी, सम्यक्त्व के अभाव में, भाव-श्रामण्य प्राप्त नहीं कर पाये[6]।

इन कथाओं के साथ, भावश्रमण शिवकुमार का एक ऐसा कथानक भी जुड़ा हुआ है, जिसमें इन्हें, युवतियों से घिरा रहने पर भी विशुद्ध चित्त और आसन्नभव्य बने रहने की भूमिका में चित्रित किया गया है।[7] कुन्दकुन्दाचार्य के ही 'शीलपाहुड' में सात्यकि पुत्र का एक और भावपूर्ण कथानक वर्णित[8] है।

'तिलोय-पण्णत्ति' में त्रेसठ शलाका-पुरुषों की जीवन-घटनाओं का प्रभावपूर्ण वर्णन है। वट्टकेर के 'मूलाचार' में एक ऐसी घटना का वर्णन किया गया है, जिसमें, एक ही दिन, मिथला नगरी की कनकलता आदि स्त्रियों, और सागरक आदि पुरुषों की हत्या का वर्णन है।[9] 'मूलाराधना' में अनेकों सुन्दर आख्यान हैं। जिनमें, सुरत

---

१. भावपाहुड गाथा ४४
२. वही ,, ४५
३. वही ,, ४६
४. वही ,, ४९
५. वही ,, ५०
६. वही ,, ५१
७. वही गाथा ५२
८. शील प्राभृत गाथा ५१
९. मूलाचार १/८६-८७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की महादेवी[1], गोर संदीव मुनि[2], और सुभग ग्वाला[3] आदि के आख्यान मुख्य हैं। इनका विस्तृत वर्णन हरिषेण और प्रभाचन्द्र ने भी अपने-अपने कथानकों में किया है।[4]

समन्तभद्र स्वामी का 'रत्नकरण्ड-श्रावकाचार' आख्यानों का भण्डार है। इसमें अंजन चोर, अनन्तमती, उद्दायन, रेवती, जिनेन्द्रभक्त, वारिषेण, विष्णुकुमार, और वज्रकुमार आदि के आख्यानों से ज्ञात होता है कि ये सब, सम्यक्त्व के प्रत्येक अङ्ग का परिपूर्ण पालन करने के लिये विख्यात थे। इनके अलावा कुछ ऐसे व्यक्तियों के आख्यान भी इसमें मिलते हैं, जो व्रतों का पालन करते हुए भी, पापाचरण के लिये प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। इसी में, उस मेंढक की भी प्रसिद्ध कथा वर्णित है, जो महावीर के दर्शन के लिए निकलता है, किन्तु रास्ते में ही श्रेणिक के हाथी के पैर के नीचे दब कर मर जाता है। और, तुरन्त महर्द्धिकदेव का स्वरूप प्राप्त कर लेता है।

पौराणिक साहित्य के अन्तर्गत, आदिपुराण (जिनसेनाचार्य), उत्तरपुराण (गुणभद्र), महापुराण (अपभ्रंश, पुष्पदन्त) आदि विभिन्न पुराणों में, तथा 'धर्म शर्माभ्युदय' और 'जीवन्धरचम्पू' (दोनों हरिचन्द), चन्द्रप्रभचरित (वीरनन्दि), यशस्तिलकचम्पू (सोमदेव), हरिवंश (जिनसेन), पद्मचरित (रविषेण), पुरुदेवचम्पू (अर्हद्दास) एवं गद्यचिन्तामणि (वादीभसिंह) आदि विभिन्न महाकाव्यों/चरितकाव्यों में पाये जाने वाले आख्यान तथा कथायें, जैनधर्म-कथाओं की महनीयता को सिद्ध करते हैं। तमिल और कन्नड़ भाषा के जैन साहित्य में भी, भारतीय आख्यान-साहित्य की अनुपम निधि भरी पड़ी है।

भारतीय आख्यान साहित्य में 'नीतिकथा' साहित्य का विशेष स्थान है। संस्कृत साहित्य की नीतिकथाओं ने, विश्व के कथा साहित्य में अपना स्थान विशेष ऊंचा बना लिया। क्योंकि, वे, जिन-जिन देशों में पहुंची, वहीं-वहीं पर लोकप्रिय बनतीं गईं।

अंग्रेजी के प्रख्यात आलोचक डॉ. सेमुअल जान्सन ने, नीति-कथा की परिभाषा इस प्रकार की है---'विशुद्ध नीतिकथा, एक ऐसा निवेदन है, जिसमें कुछ बुद्धिहीन प्राणी एवं कभी-कभी अचेतन पदार्थ, पात्रों के रूप में नीति-तत्त्व की

---

१. मूलाराधना आ० ६, गाथा १०६१

२. वही, गाथा ६१५

३. वही, गाथा ७५६

४. बृहद् कथाकोष प्रस्तावना सं० डॉ० ए० एन० उपाध्ये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिक्षा देने हेतु आये हों, और वे, मानवीय हितों एवं भावों को ध्यान में रख कर, चेष्टा तथा सम्भाषण करने में कल्पित किये गये हों।'[1]

डॉ. जान्सन की उक्त परिभाषा के अनुसार नीतिकथा के तीन मूल-तत्त्व स्पष्ट होते हैं— १. पात्र, २. हेतु, एवं ३. कल्पना तत्त्व। इन तीनों का स्वरूप-निर्धारण, उक्त परिभाषा के अनुसार, हम निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

१. **पात्र**—मानवेतर (बुद्धिहीन) चेतन प्राणी तथा अचेतन पदार्थ।

२. **हेतु**—किसी नीतितत्त्व की शिक्षा देना, या उसका स्वरूप-प्रतिपादन।

३. **कल्पना तत्त्व**—मानवीय हितों एवं भावों को ध्यान में रखते हुए, ऐसे पात्रों की कल्पना, जिनमें मानवोचित सम्भाषण और चेष्टाओं की कल्पना करना सहज सम्भव हो।

संस्कृत साहित्य की नीति-कथाओं के प्रमुख पात्र, मानवेतर प्राणी—पशु-पक्षी रहे हैं। ये अपनी-अपनी कहानियों में, मनुष्य की ही भांति सम्पूर्ण व्यवहार करते हुये पाये जाते हैं। हर्ष-विषाद, प्रेम-कलह, हास्य-रुदन, युद्ध-सन्धि, उपकार-अपकार एवं चिन्ता-उत्कण्ठा जैसे भावात्मक व्यवहारों में उनका आचरण, मानव जैसा ही होता है। यही पशु-पक्षी, अपनी-अपनी कहानियों में, व्यावहारिक राजनीति एवं सदाचार के सूक्ष्मतम रहस्यों और उनकी उपलब्धियों का, तथा इन सब की साधनभूत गूढ़ मंत्रणाओं तक को, बड़े स्वाभाविक ढंग से प्रतिपादित करते देखे जाते हैं। किन्तु, उपलब्ध नीतिकथा साहित्य में, एक भी ऐसी कथा नहीं मिलती, जिसमें, अचेतन/निर्जीव पात्रों को स्वीकार किया गया हो। हाँ, ऋग्वेद में, उषा से सम्बन्धित एक कविता है।[2] किन्तु, उसमें दृश्य का प्राकृतिक सौन्दर्य ही अभिव्यक्त हुआ है। वहाँ पर, प्रकृति, जीवन्त स्वरूप में उपस्थित अवश्य हुई है, पर वह, किसी कथा/आख्यान के पात्र जैसा कार्य/व्यवहार नहीं करती। इसलिए इस उषा-वर्णन में, प्रकृति के मानवीयकरण का विश्लेषण, हम स्वीकार करेंगे। क्योंकि पात्र बन कर, किसी कहानी में कार्य/व्यवहार करना, एक अलग बात है। इस पात्र-कार्य/व्यवहार की समानता, प्रकृति के मानवीयकरण से एकदम विपरीत बैठती है। इसलिए, डॉ० जान्सन की परिभाषा में 'कभी-कभी अचेतन पदार्थ' की पात्रता का सिद्धान्त-कथन चिन्तनीय प्रसङ्ग उपस्थित कर देता है।

सन् १८४२ में, लन्दन में फेबल्स (Fables) नाम से एक कहानी संग्रह प्रकाशित हुआ था।[3] इसमें अलग-अलग लेखकों की जो लघुकथाएं, सम्पादक द्वारा

---

१. Lives of the English Poets : Vol. I, Edited By. G. Birckback Hill, Oxford, Goy. P. 283

२. ऋग्वेद १/४८/१-१६

३. Fables : Editor G. Moir Bussey. London, 1842

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संकलित की गई थीं, वे सब की सब, 'फेबल्स' के अन्तर्गत ही रखीं गई थीं। इनमें प्रख्यात ग्रीक नीतिकथाकार ईसप (Acsop) से लेकर डोडस्ले (Dodslay) तक की नीतिकथाएं थीं। इन कथाओं के पात्रों में कहीं 'ईसप एवं गर्दभ' है, तो कहीं पर 'दो बर्तन' है। शृंगाल, सिंह, हाथी आदि पञ्चतन्त्र की कहानियों जैसे पात्र भी कुछ कथाओं में थे। इन सब कहानियों को 'फेबल्स' कहना, उस समय ठीक माना जा सकता था, क्योंकि, इस संग्रह के प्रकाशन काल तक, नीतिकथा की कोई भेद-दर्शिका व्याख्या/परिभाषा, या ऐसा ही कोई लक्षण-विशेष, स्पष्ट नहीं हो पाया था। किन्तु आज, 'फेबल्स' का स्पष्ट स्वरूप सामने आ चुका है।[1] तदनुसार, 'नीतिकथा' के अन्तर्गत वे ही कथाएं ग्रहण की जा सकेंगी, जिनमें अधिकतर पात्र मानवेतर क्षुद्र प्राणी हों, और, कहीं-कहीं, मानवीय पात्र भी आये हों। किन्तु, प्रमुख रूप में नहीं, बल्कि, गौण रूप में ही।

पशु-पक्षियों के माध्यम से व्यावहारिक उपदेश देने की परम्परा, भारत में बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद में 'मनु और मत्स्य' की कथा आई है। छान्दोग्योपनिषद् में दृष्टान्त के रूप में उद्गीथ श्वान का आख्यान है। रामायण में कुछ नीति-कथाएं वर्णित हैं और कुछ उपमाओं द्वारा संकेतित। महाभारत में भी विदुर के श्रीमुख से अनेकों उपदेशप्रद नीतिकथाएं कहीं गई हैं। ई. पू. तीसरी शताब्दी के भारहूत-स्तूप पर भी अनेकों नीतिकथाएं उट्टंकित की गई हैं।[2] पातञ्जलि के महाभाष्य में 'अजाकृपाणीय' 'काकतालीय' आदि लोकोक्तियों का, और 'सर्पनकुल' 'काक-उलूक' की जन्मजात शत्रुता का उल्लेख आया है।

नीतिकथा का स्पष्ट रूप 'पञ्चतन्त्र' में मिलता है। विष्णु शर्मा द्वारा रचित यह ग्रन्थ, नीति-साहित्य का सर्व प्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। किन्तु, मौलिक 'पञ्चतन्त्र' आज उपलब्ध नहीं है। वैसे, पञ्चतन्त्र के आज कल आठ संस्करण उपलब्ध हैं, जिनमें, थोड़ा-बहुत हेर-फेर अवश्य है। इन सारे संस्करणों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर, डॉ. एजर्टन ने एक प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत किया है।

'पञ्चतन्त्र' की रचना कब हुई ? निश्चय के साथ, आज कुछ भी नहीं कहा जा सकता। बादशाह खुसरू अन् शेर खां (५३१–५७९) के शासनकाल में, इसका पहली बार अनुवाद पहलवी भाषा में हुआ था। परन्तु, आज यह अनुवाद भी अप्राप्य हो गया है। इस अनुवाद के आसुरी (Syriac) और अरबी रूपान्तर अवश्य मिलते हैं। जिनके नाम क्रमशः 'कलि लग तथा दम नग' (५७० ई.) और 'कलीलह तथा दिमनह' (७५० ई.) रखे गये थे। इन नामों से यह अवश्य ज्ञात

---

1. Oxford Junior Encyclopaedia : Vol. I, 'Mankind' oxford, 1955 p. 167
२. मैकडानल : इंडियाज पास्ट—पृष्ठ–११७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है कि पहलवी भाषा में अनूदित ग्रन्थ का नाम भी पञ्चतन्त्र के प्रथम तन्त्र में वर्णित दोनों शृंगालों के नाम पर रहा होगा। और सम्भव है, इस रूपान्तर के समय तक, पञ्चतन्त्र का नामकरण भी यही हो गया हो।

पञ्चतन्त्र में चाणक्य का उल्लेख होने, और उस पर 'अर्थशास्त्र' का स्पष्ट प्रभाव होने से, यह भी अनुमानित होता है कि इसका रचना काल ३०० ई. के निकट होना चाहिए। क्योंकि अर्थशास्त्र को, दूसरी शताब्दी की रचना माना जाता है।

विश्व में, जिन पुस्तकों के सर्वाधिक अनुवाद हुए हैं, उनमें से एक 'पञ्चतन्त्र' भी है। भारत में, यह सभी भाषाओं में, लगभग अनूदित हो चुका है। पचास से अधिक विदेशी भाषाओं में, दो सौ पचास संस्करण इसके निकल चुके हैं।[1] ग्यारहवीं शताब्दी में इसका हिब्रू में, १३वीं शताब्दी में स्पेनिश में, और १६वीं शताब्दी में लैटिन एवं अंग्रेजी भाषाओं में अनुवाद हुआ था। इसके प्राचीनतम अनुवाद से यह पता चलता है कि इसमें कुल बारह तन्त्र रहे होंगे। आज, सिर्फ पांच ही तन्त्र इसमें हैं।[2]

पञ्चतन्त्र के बाद सर्वाधिक प्रचलित संकलन, नारायण पंडित का 'हितोपदेश' है। इसकी एक पाण्डुलिपि १३७३ ई. की मिली है। जिसके आधार पर, इसका रचना काल १४वीं शती से पूर्व का माना जा सकता है। डॉ. कीथ का कथन है कि इसका रचनाकाल ११वीं शती से बाद का नहीं हो सकता। क्योंकि इसमें रुद्रभट्ट का एक पद्य उद्धृत है। ११९९ ई. में, एक जैन लेखक ने भी इसका उपयोग किया था। इससे भी उक्त कथन प्रमाणित हो जाता है।

'हितोपदेश' पञ्चतन्त्र की ही पद्धति पर लिखा गया है। बल्कि, इसकी कुल ४३ कथाओं में से २५ कथायें, 'पञ्चतन्त्र' से ली गई हैं। इस सत्य को स्वयं ग्रन्थकार ने प्रस्तावना भाग में स्वीकार किया है। दोनों में सिर्फ इतना फर्क है कि हितोपदेश में, पञ्चतन्त्र की अपेक्षा, श्लोक अधिक हैं। इनमें से कुछ श्लोक 'कामन्दकीय नीतिसार' में मिलते हैं।

बौद्धों की नीतिकथाएं जातकों में संकलित हैं। इनका संकलन ई. पू. ३८० में विद्यमान था। एक चीनी विश्वकोश (६६८ ई.) में बौद्धग्रंथों से ली गई २०० नीतिकथाओं का अनुवाद है।[3] 'अवदानशतक' में, और आर्यशूर रचित 'जातकमाला' में भी बौद्धों की नीतिकथाओं का संकलन है।

---

१. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा---पृष्ठ--३००

२. मैकडानल : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर, पृष्ठ--३७०

३. वही--पृष्ठ--३६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन सिद्धान्तों की विवेचना/व्याख्या के लिये अनेकों नीतिकथाओं की रचना हुई है। प्राकृत साहित्य में इन कथाओं की भरमार है। इनका संस्कृत रूपान्तर, बहुत बाद की वस्तु है। 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' को भी संस्कृत साहित्य के नीतिकथा ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण सम्मान मिला है। १५वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लिखी गई जिनकीर्ति की 'चम्पक श्रेष्ठि कथानक' तथा 'पाल-गोपाल कथानक' रचनाएं, नीति-कथाग्रंथों में रोचक मानी गई हैं। प्रथम रचना में, भाग्य को जीतने के लिए रावण के निष्फल प्रयास का वर्णन है। जबकि दूसरी रचना में, एक ऐसे युवक का कथानक है, जो किसी मनचली स्त्री के चंगुल में फंसने से इनकार कर देता है। फलस्वरूप वह स्त्री, उस युवक पर दोषारोपण करने लगती है। त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित के 'परिशिष्ट पर्व' को हेमचन्द्र (१०८८–११७२) ने, नीति-कथाग्रन्थ के रूप में रचा। इसमें, जैनसन्तों के मनोहारी जीवन-वृत्तों की कथाएँ समाविष्ट हैं। 'सम्यक्त्व कौमुदी' में अर्हद्दास और उसकी आठ पत्नियों के मुख से सम्यक् धर्म की प्राप्ति का प्रतिपादन कराया गया है। जिसे, एक राजा और चोर भी सुनते हैं। इस ग्रंथ की पद्धति, एक ही कथा के अन्तर्गत अनेकों कथाओं का समावेश करने की परम्परा पर आधारित है।

इन तमाम सन्दर्भों को लक्ष्य करके कहा जा सकता है कि 'नीतिकथा' का प्रमुख लक्ष्य है—'सरल और मनोरंजक पद्धति से, धर्म, अर्थ और काम की चर्चाओं के साथ-साथ सदाचार, सद्व्यवहार और राजनीति के परिपक्व ज्ञान को मानव-मन पर इस तरह अंकित कर देना कि वह मायावी और वञ्चकों के जाल में उलझने न पाये।'

लोक-कथा साहित्य का भी लक्ष्य स्पष्ट है—'लोक-मनरञ्जन'। इनके पात्र, पशु-पक्षी न होकर, मात्र मानव ही होते हैं।

गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' लोककथाओं का प्राचीनतम संग्रह-ग्रन्थ है। 'अपने समय की प्रचलित लोककथाओं को संकलित करके गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा' की रचना की' ऐसी कुछ विद्वानों की धारणा है। मूल 'बृहत्कथा' आज उपलब्ध नहीं है। इसलिए, इसके आकार आदि के सम्बन्ध में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण अवशिष्ट नहीं रहा। परन्तु, दण्डी,[1] सुबन्धु,[2] बाण,[3] धनंजय,[4] त्रिविक्रम भट्ट,[5] और गोवर्धनाचार्य[6] आदि ने इसका उल्लेख अपनी-अपनी रचनाओं में, आदर के साथ किया है।

---

१. काव्यादर्श-१/३८
२. वासवदत्ता (सुबन्धु)
३. हर्षचरित-प्रस्तावना,
४. दश रूपक-१/६८
५. नलचम्पू-१/१४
६. आर्यासप्तशती-पृष्ठ–१३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके तीन रूपान्तर आज मिलते हैं—(१) नैपाल के बुद्धस्वामी रचित 'बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह' (८ वीं, ९ वीं ई. शती)। यह रचना भी आज अंशतः उपलब्ध है। इसके वर्तमान स्वरूप में २८ सर्ग और ४५२४ पद्य हैं। इसकी भाषा में, कहीं-कहीं पर प्राकृत स्वरूप दिखलाई देता है, जिससे यह सम्भावना अनुमानित होती है कि ये अंश मूल ग्रन्थ से लिये गये होंगे।

(२) काश्मीर के राजा अनन्त के आश्रय में रहने वाले कवि क्षेमेन्द्र द्वारा रचित—'बृहत्कथामञ्जरी' (१०३७ ई०)। इसमें ७,५०० श्लोक हैं।

(३) सोमदेव कृत 'कथासरित्सागर' (१०६३–१०८१ ई०) में १२४ तरंगें और २०२०० पद्य हैं। इसके सरस आख्यान मनोरंजक हैं और हृदयंगम शैली में लिखे गये हैं। ग्रन्थकार ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसकी रचना का आधार गुणाढ्य की बृहत्कथा है।[1] कथा-सरित्सागर, विश्व का विशालतम कथा-संग्रह ग्रन्थ है।

कीथ, बुद्धस्वामी के 'बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह' को गुणाढ्य की रचना का विशुद्ध रूपान्तर मानते हैं। काश्मीर की जनश्रुति के अनुसार यह श्लोकबद्ध थी। किन्तु दण्डी ने, इसको गद्यमय बतलाया है।[2] बृहत्कथा, भारतीय साहित्य में उपजीव्य ग्रन्थ के रूप में समादृत है। इस दृष्टि से, इसे रामायण और महाभारत के समकक्ष माना जा सकता है।

'वैताल पञ्चविंशतिका' भी बृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागर की पद्धति पर लिखी गई रचना है। इसमें, एक वैताल ने उज्जयिनी नरेश विक्रमादित्य को, पहेलियों के रूप में 25 कथाएँ सुनाई हैं। ये, मनोरंजक होने के साथ-साथ विशेष कौतूहल पूर्ण भी हैं। इसके दो संस्करण उपलब्ध होते हैं—१. शिवदास कृत संस्करण (१२०० ई०) गद्य–पद्यात्मक है। और २. जम्भलदत्त का केवल गद्यमय है।

'सिंहासन द्वात्रिंशिका' भी इसी शैली और परम्परा की रचना है। इसके कथानक में, विक्रम के सिंहासन की बत्तीस पुत्तलिकाएं, राजा भोज को एक-एक कहानी सुनाती जाती हैं और कहानी सुनाने के बाद उड़ जाती हैं। इस रचना के दो उपनाम—'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका' और 'विक्रमचरित' मिलते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकारों वाले इसके तीन अलग-अलग संस्करण प्राप्त होते हैं। इनमें से एक गद्य में, दूसरा

---

१. प्रणम्य वाचं निःशेषपदार्थोद्योतदीपिकाम्।
बृहत्कथायाः सारस्य संग्रहं रचयाम्यहम्॥
—बृहत्कथासार–पृष्ठ–१, पद्य-३.

२. काव्यादर्श–१/२३, ६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पद्य में, और तीसरा गद्य-पद्यमयी भाषा-शैली में है। इसका रचना-काल भोज के समय (१०१८–१०६३) के बाद का ठहराया गया है। दक्षिण भारत में इसका अधिक प्रसिद्ध नाम 'विक्रमार्कचरित' है।

विक्रमादित्य से सम्बन्धित कथाओं के कुछ अन्य ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं। ये हैं—अनन्त का 'वीरचरित', शिवदास की 'शालिवाहन कथा' और भट्ट विद्याधर के शिष्य आनन्द की 'माधवानल कथा'। एक अज्ञात लेखक का 'विक्रमोदया' तथा एक जैन संकलन—'पञ्चदण्डच्छत्र प्रबन्ध'।

'शुक सप्तति' में, कार्यवशात् घर छोड़ कर गये मदनसेन की प्रियतमा का मन बहलाने के लिये, उसका पालतू तोता, हर रात्रि में एक मनोरंजक कहानी उसे सुनाता है। ७० दिनों के बाद मदनसेन घर लौटता है। इस तरह, तोते द्वारा कही गई कहानियों के आधार पर, इसका नामकरण किया गया है। इसका रचना काल चौदहवीं शताब्दी के पूर्व का अनुमानित किया गया है। इसके भी तीन संस्करण प्राप्त होते हैं। मैथिली कवि विद्यापति की पन्द्रहवीं शताब्दी की रचना 'पुरुष परीक्षा' में नीति और राजनीति से सम्बन्धित कथाएं हैं। शिवदास के 'कथार्णव' की पैंतीस कथाएं चोरों और मूर्खों की कथाएं हैं। अनेक कवियों की मनोरंजक दंतकथाएं 'भोज-प्रबन्ध' में संग्रहीत हैं। इसी परम्परा के संग्रह ग्रन्थों में 'आरण्य यामिनी' और 'ईसब्नीति कथा' को गिना जाता है।

चारित्रसुन्दर का 'महिपाल चरित'[1] चौदह सर्गों का कथा ग्रन्थ है। इसका रोचक कथानक पन्द्रहवीं शताब्दी में रचा गया, ऐसा अनुमान किया जाता है। इसी तरह का मनोरंजक कथानक है—'उत्तम चरित कथानक'[2]। आश्चर्यपूर्ण और साहसिक घटनाएं इसमें वर्णित हैं। प्रत्येक कथानक, जैन धर्म के किसी न किसी पवित्र आदर्श की ओर इंगित करता है। इसकी रचना गद्य-पद्यमय है। भाषा संस्कृतमय है। कुछ प्रान्तीय भाषाओं के शब्द प्रयोग, इसका रचना-स्थल गुजरात में होने का संकेत करते हैं। 'पापबुद्धि और धर्मबुद्धि'[3] कथानक एक विनोदपूर्ण धार्मिक कृति है।

---

१ श्री हीरालाल हंसराज, जामनगर द्वारा १९०९ में सम्पादित। द्रष्टव्य–विन्टरनित्ज–ए हिस्ट्री आफ इन्डियन कल्चर–भाग–२, पृष्ठ–५३६-५३७.

२. इसका गद्यभाग श्री ए. वेबर द्वारा जर्मनभाषा में अनूदित और सम्पादित है। 'उत्तम-कुमारचरित' नाम से चारुचन्द्र द्वारा किया गया इसका पद्यबद्ध रूपान्तर भी श्री हीरालाल हंसराज, जामनगर द्वारा सम्पादित हो चुका है। द्रष्टव्य–विन्टरनित्ज–ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन कल्चर, भाग-२, पृष्ठ–५३८.

३. श्री ई. लवाटिनी द्वारा इटालियन भाषा में सम्पादन और अनुवाद किया जा चुका। द्रष्टव्य–वही-पृष्ठ-५३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'चम्पकश्रेष्ठि' जिनकीर्ति द्वारा काल्पनिक कथानक पर रचित एक मनोरंजक कथानक है।[1] इसमें जो तीन कथाएं संकलित हैं, उनमें से पहला कथानक, भाग्य-रेखाओं को निरर्थक बनाने में असफल महाराज 'रावण' का है। दूसरा कथानक, एक ऐसे भाग्यशाली बालक का है, जो प्राणनाशक पत्रक में फेरबदल करके, अपने प्राणों की रक्षा कर लेता है। तीसरा कथानक एक ऐसे व्यापारी का है, जो जीवन भर तो दूसरों को ठगता है, किन्तु, जीवन की अन्तिम वेला में, स्वयं, एक वेश्या द्वारा ठग लिया जाता है। इसका रचनाकाल पन्द्रहवीं शताब्दी अनुमानित किया जाता है।

इसी स्तर की एक और रचना 'पाल-गोपाल कथानक' जिनकीर्ति द्वारा रचित है। इस में, प्रस्तुत कथानक भी मनोरंजक है। प्राणघातक पत्रक को बदल कर प्राण रक्षा करने वाले एक और कथानक के आधार पर 'अघटकुमार'[2] कथा का प्रणयन किया गया है। इस कथा के भी दो अन्य संस्करण मिलते हैं। जिनमें, एक छोटा, दूसरा बड़ा है। एक गद्यमय है और दूसरा पद्यमय। 'अम्बड चरित'[3] जादुई मनोविनोद से भरपूर, अमरसुन्दर की रचना है। इसमें अम्बड की कथा आधुनिक रूप में वर्णित है।

ज्ञानसागरसूरि की रचना 'रत्नचूडकथा'[4] में पर्याप्त रोचक और मनोरंजक कथाएं हैं। इसमें एक ऐसी कथा आई है, जिसमें, 'अनीतिपुर' नाम की नगरी में 'अन्याय' नाम के राजा और 'अज्ञान' नाम के मंत्री की कल्पनाएं करके, इन सब का मनोहारी चरित्र-चित्रण किया गया है। इसका रचनाकाल, पन्द्रहवीं शताब्दी का मध्य भाग अनुमानित किया जाता है। इसमें, अन्य और भी कथानक हैं। जिनमें से अनीतिपुर नगर, अन्याय राजा और अज्ञान मंत्री के कथानक की कल्पना में, सिद्धर्षि प्रणीत 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' की परम्परा का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।

पञ्चतन्त्र की शैली पर लिखी गई 'सम्यक्त्व कौमुदी' धार्मिक और मनोरंजक कथाओं से भरी-पूरी रचना है। कथा का प्रारम्भ और सम्पूर्ण कथावस्तु

---

१. श्री हर्टेल द्वारा अंग्रेजी में अनूदित-सम्पादित-वही-५२९

२. श्री चारलट क्रूसे द्वारा पद्यभाग का जर्मन में अनुवाद किया गया है। संक्षिप्त पद्यभाग १९१७ में निर्णयसागर प्रेस बम्बई 'अघटकुमार चरित' नाम से प्रकाशित हो चुका हैं। द्रष्टव्य-वही-पृष्ठ-५४०

३. श्री हीरालाल हंसराज, जामनगर द्वारा सम्पादित एवं श्री चारलट क्रूसे द्वारा जर्मन में अनूदित। द्रष्टव्य—वही—पृष्ठ-५४०

४. यशोविजय जैन ग्रंथमाला-भावनगर द्वारा सन् १९१७ में प्रकाशित। श्री हर्टेल द्वारा जर्मनी में अनूदित। द्रष्टव्य-वही-पृष्ठ-५४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गद्य में है। किन्तु, बीच-बीच में कुछ गम्भीर बातों के लिए पद्यों का प्रयोग 'उक्तञ्च' 'अन्यच्च' 'तथाहि' 'पुनश्च' आदि शब्दों का सहारा लेकर किया गया है। काल्पनिक आख्यानों के आधार पर सरल, विनोदपूर्ण शैली में रचित, धार्मिक कथा-वस्तुपूर्ण इस रचना के कर्त्ता का और रचना काल का भी, कोई निश्चय नहीं किया जा सका है। किन्तु, १४३३ ई० की, इसकी जो पाण्डुलिपि श्री ए. बेवर को प्राप्त हुई, उससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इसका रचनाकाल भी १४३३ ई. से बाद का नहीं हो सकता। इस रचना में स्फुटित व्यंग्य, उन्नत आदर्श, सौम्य व्यवहार और लोक कल्याणकारी सिद्धान्तों का अक्षय वैभव पद-पद पर भरा पड़ा है।

'क्षत्रचूड़ामणि' में जिन साहसिक, धार्मिक और मनोरंजनकारी कथाओं का समावेश वादीभसिंह ने किया है और प्रत्येक पद्य के अन्त में हितकर, मार्मिक और अनुभवपूर्ण गम्भीर नीति-वाक्यों का जिस तरह से समावेश किया है, उसे देखकर, इसे नीति-वाक्यों का आकर-ग्रन्थ कहना, अतिशयोक्ति न होगा। जीवन्धर कुमार का सम्पूर्ण चरित इसमें वर्णित है। इसकी मुख्य कथा के साथ-साथ अनेकों अवान्तर कथाएं भी आती गई हैं।

इस रचना के जो तीन रूपान्तर प्राप्त होते हैं, उनमें से 'गद्य-चिन्तामणि' के कर्त्ता मूल-ग्रन्थ के रचयिता ही हैं। दूसरा रूपान्तर 'जीवन्धरचम्पू' महाकवि हरिचन्द की रचना है। तीसरा रूप गुणभद्राचार्य के 'उत्तरपुराण' में मिलता है। जैन जगत के 'बृहत्कथाकोश' 'परिशिष्ट पर्व' व 'आराधना कथाकोश' तथा बौद्ध साहित्य के 'अवदान शतक' एवं 'जातक-माला' को ऐसे कथाग्रंथों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, जिनमें लोककथाओं की विनोदपूर्ण शैली के माध्यम से, उच्च-तम जीवन-साधना और आदर्शों की ओर स्पष्ट सङ्केत किये गये हैं।

इन तमाम, भारतीय-लोक कथाओं के विपुल साहित्य ने यात्रियों, व्यापा-रियों और धर्मप्रचारक साधु-सन्यासियों के माध्यम से, सुदूर देशों में पहुंच कर, वहाँ-वहाँ के कथा-साहित्य को न सिर्फ प्रभावित किया, वरन्, उसमें, भारतीय आख्यान साहित्य की एक ऐसी अमिट निशानी भर दी, जो लोकमङ्गलकारी, जीवन्त आदर्शों का मनोरंजक उपदेश, मानवता को अनन्तकाल तक प्रदान करती रहेगी।

रूपक साहित्य : परम्परा एवं विकास

मानवीय हृदय के भावोद्गार, जब तक अपने अमूर्त्त स्वरूप में रहते हैं, तब तक, उनका साक्षात्कार इन्द्रियों द्वारा हो पाना सम्भव नहीं होता। ये ही भावो-द्गार, जब किसी रूपक/उपमा में ढल कर, मूर्त्त रूप प्राप्त करते हैं, तब, वे सिर्फ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रिय ग्राह्य ही नहीं बन जाते, वरन् उनमें एक ऐसा अद्भुत शक्ति-संचार हो जाता है, जिससे वे, अपने साक्षात्कर्ता के मन/मस्तिष्क-पटल पर गम्भीर और अमिट छाप बना डालते हैं।

काव्य-जगत् में अरूप/अमूर्तभावों के मूर्तीकरण का, उनके रूप-विधान के मूर्तीकरण का, उनके रूप-विधान के प्रचलन का, ऐसा ही मुख्य कारण होना चाहिए। रूपक-साहित्य की सर्जना-शैली के मूल में भी, अमूर्त को मूर्त रूप प्रदान करने का उपक्रम, आधारभूत-तत्त्व बनता है।

उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति और लक्षणा के दोनों प्रकार—सारोपा और साध्यवसाना, ऐसे प्रमुख उपकरण हैं, जो, रूपक-साहित्य की सर्जना शक्ति में प्रमुख-पाथेयता का निर्वाह करने में सक्षम हैं। इनमें से, सादृश्यमूला सारोपा की भित्ति पर रूपक का प्रासाद विनिर्मित होता है, और सादृश्यमूला साध्यवसाना की दीवालों पर, अतिशयोक्ति का भवन बनता है।[1] क्योंकि, सारोपा लक्षणा, विषय और विषयि को, यानी उपमान और उपमेय को, एक ही धरातल पर खड़ा कर देती है।[2] जबकि साध्यवसाना लक्षणा, विषय में विषयी का, अर्थात् उपमान में उपमेय का अन्तर्भाव करा देती है।[3] अरूप में रूप को पाने की शैली का, यही आधारभूत सिद्धान्त है।

अमूर्त को मूर्त बनाने के काव्य-शिल्प का बीजरूप सङ्केत, बृहदारण्यक उपनिषद् के उद्गीथ ब्राह्मण[4] में, और छान्दोग्योपनिषद्[5] में भी एक रूपकात्मक आख्यायिका के रूप में मिलता है। श्रीमद् भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में पुण्य और पापरूपी वृत्तियों का उल्लेख, दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति के रूप में किया गया है। बौद्ध साहित्य में, जातक निदान कथा के 'अविदूरे निदान' की मार-विजय सम्बन्धी आख्यायिका और 'सन्तिके निदान' की अजपालवादि के नीचे वाली आख्यायिका में, अरूप को रूपमय बनाने के शैली-शिल्प का दर्शन होता है।

जैन साहित्य में, अनेकों छोटे-मोटे आख्यान रूपक शैली में मिलते हैं। जिनमें 'सूत्रकृताङ्ग' 'उत्तराध्ययन' और 'समराइच्चकहा' के कुछ रूपक विशेष उल्लेखनीय हैं। उदाहरण के लिये :—

---

१. एवं च गौण-सारोपालक्षणासंभवस्थले रूपकम्, गौणसाध्यवसानलक्षणा संभवस्थले त्वतिशयोक्तिरिति फलितम्। —काव्यप्रकाश-वामनीटीका-पृष्ठ-५९३

२. सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।
—काव्यप्रकाश—भण्डा० ओरि० रि० इं० पूना, पृष्ठ-४७

३. विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका।
—वही-पृष्ठ-४८

४. उद्गीथ ब्राह्मण—१/३

५. छान्दोग्योपनिषद्—१/२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक सरोवर है। उसमें, जितना अधिक पानी भरा है, उससे कम कीचड़ नहीं है। सरोवर में अनेकों श्वेतकमल विकसित हैं। इन सब के मध्य में, एक विशाल पुण्डरीक बिकसमान है। इसके मनोहारी स्वरूप को देखकर, पूर्व दिशा से एक व्यक्ति आता है और उस पुण्डरीक को तोड़कर अपने साथ ले जाने के लिये, सरोवर में घुस जाता है। यह व्यक्ति, उस पुण्डरीक तक पहुँचे, इसके काफी पहिले, वह, तालाब में भरे कीचड़ में फंस कर रह जाता है। इसी व्यक्ति की तरह, तीन और व्यक्ति, दक्षिण, पश्चिम व उत्तर दिशाओं की ओर से क्रमशः आते हैं और पुण्डरीक की मनोहर शोभा देख कर, उसे तोड़ने और अपने साथ ले जाने की इच्छा करते हैं। इसी प्रयास में, ये तीनों भी पूर्व-दिशा से आये पहिले व्यक्ति की ही भांति, उस तालाब में भरे कीचड़ में फंस कर रह जाते हैं।

कुछ ही देर बाद, वहाँ, एक भिक्षु भी आ पहुँचता है। भिक्षु, सरोवर के तीर पर पहुँच कर, उसकी शोभा से आकृष्ट हो कर, चारों ओर देखता है। उसे, तालाब के चारों ओर, कीचड़ में, उन चारों व्यक्तियों को फंसा देखकर, यह समझते देर नहीं लगती कि वे क्यों और कैसे, इस दुर्गति में पहुँचे हैं। अतः, वह अपने स्थान से कुछ और आगे आता है, और सरोवर के किनारे पर पहुँचकर, वहीं खड़े रहते हुए ही कहता है—'ओ पुण्डरीक ! मेरे पास आ जाओ।'

पुण्डरीक, भिक्षु की आवाज सुनते ही, अपने मृणाल से अलग होकर, उड़ता हुआ भिक्षु के हाथ में आता है। यह देखकर, कीचड़ में फंसे चारों व्यक्ति, आश्चर्य-चकित रह जाते हैं।

इस कथानक में जो प्रतीक अपनाये गये हैं, उन सब का प्रतीकार्थ स्पष्ट करके, कथा में अन्तर्निहित रहस्य/अभिप्राय को श्रमण भगवान् महावीर स्वयं स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'कथानक में वर्णित सरोवर, यह संसार है। उसमें भरा हुआ जल, कर्म है और कीचड़, सांसारिक विषय-वासनाएं हैं। सरोवर में खिले श्वेत-कमल, सांसारिकजन हैं। उनके मध्य में विकसित विशाल पुण्डरीक राजा है। चारों दिशाओं से आने वाले व्यक्ति, अलग-अलग मतों के अनुयायी व्यक्ति हैं और भिक्षु 'सद्धर्म' है। सरोवर का किनारा 'संघ' है। भिक्षु द्वारा पुण्डरीक को बुलाना सद्धर्म का 'उपदेश' है। और पुण्डरीक का उसके पास आ जाना 'निर्वाण-लाभ' है।[1]

उत्तराध्ययन में 'नमि पवज्जा' का प्रतीकात्मक दृष्टान्त आया है। राजर्षि नमि जब विरक्त होकर अभिनिष्क्रमण में संलग्न होते हैं, तभी ब्राह्मण का वेष बनाकर, देवराज इन्द्र, उनके पास पहुंचता है और प्रश्न करता है—'भगवन् ! मिथलानगरी में, आज यह कैसा कोलाहल सुनाई पड़ रहा है ?' उत्तर मिलता है—'पत्र-पुष्पों से

---

१. सूत्रकृताङ्ग—द्वितीय खण्ड-I अध्ययन,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनोहारी चैत्य-वृक्ष, प्रचण्ड आँधी के वेग से गिरने जा रहा है। इसको आश्रय बनाकर रहने वाले पक्षी, शोकाकुल होकर कलरव कर रहे हैं।'

इस दृष्टान्त में, नमि को 'चैत्यवृक्ष', और मिथला के नागरिकों को 'पक्षि-समुदाय' रूप प्रतीकों में चित्रित किया गया है। इसी अध्ययन में, 'श्रद्धा' नगर, 'संवर' किला, 'क्षमा'-गढ़, 'गुप्ति' रूपी शतघ्नी (तोपें या बन्दूकें), 'पुरुषार्थ' रूपी धनुष, 'ईर्या' रूपी प्रत्यञ्चा, 'धैर्य' रूपी तूणीर, 'तपस्या' रूपी बाण, और 'कर्म' रूपी कवच जैसे विभिन्न रूपक/प्रतीक उल्लिखित हैं।[1] इसी में, दुष्ट बैलों का रूपक भी द्रष्टव्य है।[2] 'समराइच्च कहा' (हरिभद्रसूरि) का 'मधुबिन्दु' दृष्टान्त तो विशुद्ध रूपक शैली में वर्णित है।

ये सारे उदाहरण, रूपक साहित्य के बीज-बिन्दु माने जाते हैं। किन्तु, इस शैली की काव्य-परम्परा का सर्वप्रथम सूत्रपात करने का श्रेय मिलता है—सिद्धर्षि को। इनकी 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा'[3] को रूपक-साहित्य-परम्परा का सर्वप्रथम और अनुपम ग्रन्थ माना जा सकता है। उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा की प्रस्तावना में, डॉ० जैकोबी ने इसे भारतीय रूपक साहित्य की प्रथम रचना स्वीकार किया है।[4] इससे पहिले की अपभ्रंश रचना 'मदनजुज्झ' रूपकात्मक शैली की उपलब्ध है। किन्तु, उसमें अंकित उसके रचनाकाल वि० सं० ९३२ के अनुरूप प्राचीनता के पोषण में, उसकी भाषा का अंतरंग परीक्षण हुए बिना, उसे प्रथम रूपक काव्य मानना, उचित न होगा।

जयशेखरसूरि की रचना 'प्रबोधचिन्तामणि' में सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा को प्रमुखता से समर्थन मिला है।[5] साथ ही, कवि की स्वयं की कल्पना-

---

१. उत्तराध्ययन—अध्ययन ९ व १०

२. वही—अध्ययन-२७

३. सिद्धव्याख्यातुराख्यातुं महिमानं हि तस्य कः।
समस्त्युपमितिर्नाम यस्यानुपमिति कथा॥

—प्रद्युम्नसूरि का—समरादित्य संक्षेप

४. I did not find some thing still more important; the great literary value of the U. Katha, and the fact that is the first allegorical work in Indian Literature.

५. सारोपा लक्षणा क्वापि क्वापि साध्यवसानिका।
धौरेयतां प्रपद्यते ग्रन्थस्यास्य समर्थने॥

—प्रथम-अधिकार-५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामर्थ्य और पूर्ववर्ती आगमों की रूपकात्मक विधा को ग्रंथकार ने, अपनी रचना की सर्जना में बीज-बिन्दु स्वीकार किया है ।[1]

ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यभाग में श्रीकृष्ण मिश्र द्वारा लिखित 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक, अमूर्त्त का मूर्त्त विधान करने वाली लाक्षणिक शैली का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । इस नाटक में ज्ञान विवेक, विद्या, बुद्धि, मोह, दम्भ, श्रद्धा, भक्ति और उपनिषद् जैसे अमूर्त्त भावों की भी पुरुष-स्त्री पात्रों के रूप में अवतारणा की है । नाटक का मूल प्रतिपाद्य आध्यात्मिक अद्वैतवाद का प्रतिपादन है ।

चेदि के राजा कर्ण (१०४२ ई. में जीवित) ने, कीर्तिवर्मा को परास्त किया था । परन्तु, उसके एक सेनानी गोपाल ने अपने बाहुबल से उसे हराने में सफलता प्राप्त कर ली थी । तब, इसने कीर्तिवर्मा को पुनः सिंहासनस्थ कर दिया था । इसी गोपाल की प्रेरणा से, कीर्तिवर्मा के समक्ष, यह नाटक अभिनीत हुआ था । कीर्तिवर्मा, जेजाक भुक्ति चंदेलवंशीय राजा था । चन्देलों की कला-प्रियता के प्रतीक हैं—खजुराहो के शैव मन्दिर । सम्भव है, यहाँ चन्देलों की राजधानी रही हो । कीर्तिवर्मा के पूर्वज राजा धङ्ग का शिलालेख १००२ ई., खजुराहो के विश्वनाथ मंदिर में मिलता है ।

कीर्तिवर्मा, चन्देल वंश का एक प्रतापी और पराक्रमी राजा था । इसके अनेकों शिलालेख, बुन्देलखण्ड के विभिन्न स्थानों पर प्राप्त होते हैं । महोबा के निकट 'कीर्तिसागर' नाम का तालाब इसी के द्वारा बनवाया हुआ है । देवगढ़ में भी इसका एक शिलालेख (ई. १०९३) मिलता है । खजुराहो के लक्ष्मीनाथ मंदिर का एक शिलालेख (११६१ ई.) कीर्तिवर्मा के ही समय का है । जिसे इसके मंत्री वत्सराज ने खुदवाया था । कीर्तिवर्मा राजा विजयपाल का पुत्र था और अपने अग्रज देववर्मा के पश्चात् सिंहासनारूढ हुआ था । इसका राज्य, पर्याप्त विस्तृत भू-भाग पर बहुत वर्षों तक रहा । इन तमाम साक्ष्यों के बल पर कीर्तिवर्मा का काल ग्यारहवीं शताब्दी (ई.) का ठहरता है । यही समय, प्रबोध-चन्द्रोदय का रचना काल है ।

---

१. अत्रात्मचेतनादीनां यत् दाम्पत्यादिशब्दनम् ।
तत्सर्वं कल्पनामूलं सापि श्रेयस्करी क्वचित् ॥ ४७ ॥
मीनमैनिकयोः पाण्डुपत्रपल्लवयोरपि ।
या मिथः संकथा सूत्रे बद्धा सा किं न बोधये ॥ ४८ ॥
नायकत्वं कषायाणां कर्मणां रिपुसैन्यताम् ।
आदिशन्नागमोऽप्यस्य प्रबन्धस्येति बीजताम् ॥ ४९ ॥

—प्रथम—अधिकार—४७-४९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोह के शिकंजे में जकड़ा व्यक्ति, अपने यथार्थ स्वरूप के ज्ञान से विमुख हो जाता है। और जब, उसका विवेक जागता है, तब मोह पराजित हो जाता है। इसी के बाद व्यक्ति को शाश्वत ज्ञान प्राप्त होता है। 'विवेक के साथ उपनिषद् के अध्ययन और विष्णु-भक्ति के आश्रय से ज्ञानचन्द्र का उदय होता है'—इस मान्यता की विवेचना, प्रस्तुत नाटक में, युक्तिपूर्ण सौन्दर्य के साथ की गई है। द्वितीय अङ्क में, हास्य और दम्भ के वार्तालाप से, हास्य रस का सार्थक चित्रण किया गया है। जैन, बौद्ध और सोम-सिद्धान्त के परस्पर वार्तालाप में स्फुटित हास्य-मिश्रित कौतूहल द्रष्टव्य है। श्रीकृष्ण मिश्र उपनिषदों के रहस्यवेत्ता रहे, तभी, उन्होंने अद्वैत वेदान्त और वैष्णव धर्म का जो समन्वय, इस नाटक में प्रस्तुत किया है, वह इसकी एक महनीय विशेषता है। कवित्व का चमत्कार भी इस नाटक में जमकर निखरा है। पात्रों की सजीवता प्रशंसनीय बनी है।

हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य कवियों की रचनाओं पर 'प्रबोधचन्द्रोदय' का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। रामचरितमानस में, पञ्चवटी के वर्णन-प्रसङ्ग में जो आध्यात्मिक रूपक योजना है, उसमें इस नाटक के पात्रों को भी अपनाया गया है। हिन्दी जगत के ही प्रसिद्ध कवि केशव (१६वीं शती) ने 'विज्ञान गीता' नाम से इसका छन्दोबद्ध अनुवाद कर डाला। अध्यात्म विद्या और अद्वैतवाद जैसे शुष्क दार्शनिक विषय को भी नाटकीय और मनोरञ्जक शैली में प्रस्तुत करना, श्रीकृष्ण मिश्र के प्रयास की सर्वोत्तमता को असंदिग्ध बना देता है।

अपभ्रंश-प्राकृत की रचना 'मयणपराजयचरिउ[1], भी रूपकात्मक शैली पर लिखी गई महत्त्वपूर्ण कृति है। इसके प्रणेता, चंगदेव के पुत्र हरदेव हैं। इसका रचनाकाल यद्यपि सुनिश्चित नहीं हो पाया, तथापि, इसकी रचना यशपाल की कृति 'मोहराज-पराजय' से पहिले की जा चुकी थी। नागदेव रचित 'मदनपराजय' (संस्कृत) इसी प्राकृत रचना के आधार पर लिखी गई है।

'मोहराज-पराजय' नाटक,[2] यशपाल की महत्त्वपूर्ण रचना है। यशपाल, चक्रवर्ती अभयदेव का राज्य-कर्मचारी था। अभयदेव ने १२२९ से १२३२ ई. तक राज्य किया था। धारापद के कुमारविहार में, यह नाटक अभिनीत भी हुआ था। इसके प्रथम अङ्क में, मोहराज, राजा विवेकचन्द के मानस नगर को घेर कर आक्रमण कर देता है। फलतः, विवेकचन्द, अपनी पत्नी शान्ति और पुत्री कृपासुन्दरी के साथ निकल भागता है। पंचम अंक में, मोहराज को पराजित कर, पुनः विवेकचन्द सिंहासनासीन होते हैं। नाटक में, ऐतिहासिक नामों के साथ लाक्षणिक चरित्रों के सम्मिश्रण में, और मोहराज-पराजय की वर्णना में, नाटककार की कुशलता और

---

१. भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित।

२. गायकवाड़ सीरीज, बड़ौदा से प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निपुणता, दोनों ही दर्शनीय बन पड़ी है। गुणों की दृष्टि से भी नाटक का विशेष महत्त्व है। ग्रन्थकर्ता यशपाल, राजा अभयदेव के मंत्री धनदेव और रुक्मिणी देवी के पुत्र थे। ये, जाति से मोढ़ वैश्य थे।

इसी से मिलता-जुलता एक और नाटक, मेरुतुंगसूरि की 'प्रबंध-चिन्तामणि' के परिशिष्ट भाग में पाया जाता है। इसकी रचना, वैशाख शुक्ला पूर्णिमा, वि०सं० १३६१ को पूर्ण हुई थी। महाराजा कुमारपाल द्वारा, आचार्य हेमचन्द्र के निकट जैन श्रावक व्रत ग्रहण कर अहिंसा व्रत अङ्गीकार करने के दृश्य को लक्ष्य कर, इसकी रचना की गई। मोहराज-पराजय के दूसरे, तीसरे व चौथे अङ्कों में वर्णित कथावस्तु से, प्रबंध-चिन्तामणि की कथावस्तु में, कुछ बदले हुए नामों के अलावा, अधिक अन्तर प्रतीत नहीं होता।

चौदहवीं शताब्दी की रचना 'संकल्पसूर्योदय[1]' वेदान्तदेशिक की कृति है। इसमें दश अङ्क हैं। रूपककार ने, इसमें वेदान्त की विशिष्टाद्वैत शाखा के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इस नाटक के दूसरे अङ्क में आर्हत्, बौद्ध, सांख्य, अक्षपाद, सौत्रान्तिक, यौगाचार, वैभाषिक, माध्यमिक आदि के मतों का खण्डन करके उनका उपहास भी उड़ाया गया है। तीर्थों के दोषों का उद्घाटन करके, उन्हें अयुक्त सिद्ध किया गया है। और, 'हृदयगुहा' को ही समाधि के लिये, नाटककार ने उपयुक्त बतलाया है।

श्री जयशेखरसूरि का 'प्रबोध-चिन्तामणि' भी रूपक शैली का महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध है। इसकी कथावस्तु का आधार—भगवान पद्मनाभ के शिष्य धर्मरुचि द्वारा प्ररूपित आत्मस्वरूप का चित्रण है।[2] इसकी रचना, स्तम्भनक नरेश की राजधानी में विक्रम सम्वत् १४६२ में की गई।[3] इसके पहिले अधिकार में, परमात्मस्वरूप का चित्रण, और दूसरे में भगवान् पद्मनाभ का चरित्र, तथा मुनि धर्मरुचि का चरित्र वर्णित है। तीसरे अधिकार में मोह और विवेक की उत्पत्ति दिखला कर, मोह को राज्य प्राप्त कराया गया है। चौथे अधिकार में संयमश्री के साथ विवेक का पाणिग्रहण होने के बाद, उसकी राज्य-प्राप्ति का निरूपण किया गया है। पांचवें में, काम की दिग्विजय का वर्णन है। छठवें अधिकार में कलिकृत प्रभाव का

---

१. आर० कृष्णामाचारी मदुरा द्वारा सम्पादित एवं एच० एम० बागुची द्वारा मेडिकल हॉल प्रेस, वाराणसी से प्रकाशित।

२. प्रबोध-चिन्तामणि—२/१०

३. यमरसभुवनमिताब्दे स्तम्भनकाधीशभूषिते नगरे।
श्रीजयशेखरसूरि प्रबोधचिन्तामणिमकार्षीत्॥

—प्रबोध-चिन्तामणि-प्रस्तावना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरूपण है। इसी प्रसङ्ग में, सामाजिक दुर्दशा का चित्रण, मार्मिक और यथार्थ रूप में किया गया है। इसी सन्दर्भ में, ग्रन्थकार की उक्ति[1]—'भगवान् महावीर की सन्तान होने पर भी, आज के साधु, विभिन्न गच्छों में विभक्त हैं और पारस्परिक सौहार्द्र के बजाय वे एक-दूसरे के शत्रु बने हुये हैं, बहुत ही मर्मस्पर्शी है। जयशेखर-सूरि की यह वेदना भरी टीस, आज तक, ज्यों की त्यों बरकरार है।

प्रो० राजकुमार जैन ने, 'मदन-पराजय' (सं०) की प्रस्तावना में 'मयण-जुज्झ' नामक अपभ्रंश रचना को बुच्चराय की कृति बतला कर, उसकी रचना समाप्ति की तिथि–आश्विन शुक्ला प्रतिपदा शनिवार, हस्तनक्षत्र, वि. सं. १५८६, बतलाई है। श्री अगरचन्द नाहटा के सौजन्य से प्राप्त, इस रचना की पाण्डुलिपि के लिखने की समाप्ति की तिथि—'सं० १७६७ वर्षे पौषमासे शुक्लपक्षे १२ तिथौ पं० दानधर्म लिखितं श्रीमरोट्टकोट्टमध्ये' के आधार पर प्रदर्शित की है। इस रचना में, भगवान् पुरुदेव द्वारा की गई मदन-पराजय का वर्णन है।

यहाँ, यह उल्लेखनीय है कि प्रो० राजकुमार जैन ने, इसी प्रस्तावना में, 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' का उल्लेख करने के साथ-साथ, एक और 'मदनजुज्झ' अपभ्रंश रचना का उल्लेख किया है। जिसका रचनाकाल, उन्होंने वि० सं० ६३२ लिखा है। किन्तु, उसके रचनाकार का नाम उन्होंने निर्दिष्ट नहीं किया। यह विचारणीय है।

पं० भूदेव शुक्ल का 'धर्मविजय' नाटक, रूपक साहित्य की एक भावपूर्ण लघु रचना है। इसमें पांच अङ्क हैं। जिनमें धर्म और अधर्म को नायक-प्रतिनायक बतला कर, उनके पारस्परिक युद्ध का वर्णन किया गया है। अन्त में, धर्म अपने परिवार के साथ मिलकर अधर्म का सपरिवार नाश करके, विजय प्राप्त करता है। पं० श्रीनारायण शास्त्री खिस्ते का अनुमान है कि इस नाटक की रचना १६वीं शताब्दी में हुई, और भूदेव शुक्ल, सम्राट अकबर के समकालीन रहे।[2]

नाटककार ने, समसामयिक सामाजिक परिस्थितियों को बड़ी कुशलता से प्रतिबिम्बित किया है। उस समय, विभिन्न प्रदेशों में व्यभिचार, दुराचार, झूठ, हिंसा, चोरी जैसी अमानवीय वृत्तियों का भयङ्कर प्रचार था। जगह-जगह द्यूत-क्रीड़ायें होती थीं, खुले आम मद्यपान होता था। वैभवमयी अट्टालिकाओं के प्रांगण

---

१. एकश्रीवीरमूलत्वात् सौहृदस्योचितैरपि।
सापत्न्यं धारितं तेन पृथग्गच्छीयसाधुभिः॥

—प्रबोध-चिन्तामणि-६/८६

२. श्री नारायण शास्त्री खिस्ते द्वारा सम्पादित, 'प्रिंस ऑफ वेल्स'—सरस्वती भवन सीरीज, बनारस से प्रकाशित–१६३० ई०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में, नृत्यांगनाओं के घुंघरुओं की मुखरता, परकीयाओं को स्वाधीन और स्वकीया बनाना, धर्माधिकारियों द्वारा, धर्म के नाम पर विधवाओं का सतीत्व भङ्ग आदि-आदि हुआ करता था।

अधर्म द्वारा, अपने प्रतिनिधि पौराणिक से देश की स्थिति पूछे जाने पर, वह बतलाता है—'देश की नदियों में पानी, बहुत कम रह गया है। सज्जनों का भाग्य, मन्द पड़ गया है। कुलीन स्त्रियां, मर्यादायें तोड़ रही हैं। युवतियां, अपने पति से विद्रोह करने लगी हैं और गृहस्थ युवक, परस्त्री-लम्पट हो गये हैं। पिता, अपने नालायक पुत्रों का जीवित अवस्था में ही श्राद्ध करना चाहता है। चोर और हिंसक, जंगलों की प्रत्येक दिशा में अपना डेरा डाले पड़े हैं।[1] यही सारी दुर्दशाएं तो आज के समाज में ज्यों की त्यों मौजूद हैं।

कवि कर्णपूर द्वारा रचित–'चैतन्य चन्द्रोदय' नाटक भी रूपक शैली का है। इसकी रचना, जगन्नाथ (उड़ीसा) क्षेत्र के अधिपति, गजपति प्रतापरुद्र की आज्ञा से १५७६ ई० में की गई थी। उस समय, कवि की उम्र मात्र २५ वर्ष थी।[2] इसमें, महाप्रभु चैतन्य के दार्शनिक दृष्टिकोणों और उनकी लीलाओं का अच्छा समावेश किया गया है। अमूर्त और मूर्त, दोनों प्रकार के पात्रों का सम्मिश्रण, इस नाटक में किया गया है। नाटककार को चैतन्यदेव ने 'कर्णपूर' की उपाधि प्रदान की थी। इनका जन्म नाम परमानन्ददास था। और, इनके पिता शिवानन्द सेन, चैतन्यदेव के पार्षद थे। कवि कर्णपूर का जन्म १५०४ ई० में, हुआ था। नाटक के मूर्त पात्रों में चैतन्य और उनके शिष्य हैं। नाटक के उल्लेख के अनुसार, इसकी रचना १४०७ शक सं० में हुई थी।[3]

गोकुलनाथ ने 'अमृतोदय' की रचना १६वीं शताब्दी में की थी। इसमें सांसारिक-बन्धनों एवं क्लेशों का चित्रण करके, उनसे मुक्ति पाने का उपाय बतलाया गया है। आन्वीक्षिकी, मीमांसा, श्रुति आदि को, इसमें पात्रों के रूप में प्रस्तुत करके, न्यायसिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। रत्नखेट के श्रीनिवास दीक्षित (१५०७ ई०) का 'भावना पुरुषोत्तम' नाटक भी उल्लेखनीय है। वादिचन्द्रसूरि का 'ज्ञान-सूर्योदय' नाटक भी, प्रसद्धि रूपक कृति है। ये, मूलसंघी ज्ञानभूषण भट्टारक के प्रशिष्य और

---

१. धर्मविजय (नाटक), द्वितीय अङ्क।

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास : पं० श्री बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ-५६४

३. शाके चतुर्दशशते रविवाजियुक्ते,
गौरो हरिर्धरणिमण्डलराविरासीत्।
तस्मिंश्चतुर्नवतिभाजि तदीयलीला,
ग्रन्थोऽयमाविर्भवत्कतमस्य वक्त्रात्॥

—चैतन्य-चन्द्रोदय–पृष्ठ सं० २०, १०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रभाचन्द्र भट्टारक के शिष्य थे। इस नाटक की रचना, माघ सुदी ८, वि० सं० १६४८ के दिन, मधूकनगर में हुई थी।[1] ज्ञानसूर्योदय में, बौद्धों का और श्वेताम्बरों का उपहास किया गया है। नाटक की प्रस्तावना में कमलसागर और कीर्तिसागर नाम के दो ब्रह्मचारियों का निर्देश है, जिनकी आज्ञा से सूत्रधार, प्रस्तुत नाटक का अभिनय करना चाहता है।

वेद कवि की दो रूपक रचनायें हैं। इनमें से एक 'विद्या-परिणय' में, विद्या तथा जीवात्मा के विवाह का सात अङ्कों में वर्णन है। इसमें, अद्वैतवेदान्त के साथ शृङ्गार रस का मञ्जुल समन्वय प्रदर्शित किया गया है। शिवभक्ति से मोक्ष प्राप्त होता है, यह बतलाना ही नाटक का प्रमुख उद्देश्य है। इसमें जैनमत, सोम-सिद्धान्त, चार्वाक और सौगत आदि पात्रों की अवतारणा 'प्रबोध-चन्द्रोदय' की शैली पर की गई है।

दूसरी कृति 'जीवानन्दन'[2] में भी सात अङ्क हैं। और, इनमें, गलगण्ड, पाण्डु, उन्माद, कुष्ठ, गुल्म, कर्णमूल आदि रोगों का पात्र रूप में चित्रण है। शारीरिक व्याधियों में राजयक्ष्मा सबसे बढ़ कर है। इससे छुटकारा, सिर्फ पारद रस के प्रयोग से मिलता है। स्वस्थ शरीर से स्वस्थ चित्त, और स्वस्थ चित्त से आत्मकल्याण में संलग्न रह पाना सम्भव होता है। इसमें, अध्यात्म और आयुर्वेद दोनों के मान्य तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है।

वेद कवि, तंजौर के राजा शाह जी (१६८४–१७१० ई०) तथा शरभो जी (१७११–१७२० ई०) के प्रधानमंत्री थे। इनका असली नाम आनन्दराय मखी था। ये शैव थे और सरस्वती के उपासक थे। इनकी प्रसिद्धि 'वेद कवि' के रूप में थी। इनका समय १८वीं सदी का प्रथमार्ध है। इनके प्रथम नाटक का रचनाकाल १७वीं शताब्दी का अन्त, और दूसरे नाटक का रचना काल अट्ठारहवीं शताब्दी का आरम्भ, माना गया है।

इसी तरह, नल्लाध्वरी ने भी 'चित्तवृत्तिकल्याण' और 'जीवन्मुक्तिकल्याण' नामक, दो प्रतीक नाटकों का प्रणयन किया था। नाटककार, गणपति के उपासक थे।

---

१. तत्पट्टामलभूषणं समभवद् दैगम्बरीये मते,
चञ्चद्बर्हकरः सभातिचतुरः श्रीमत्प्रभाचन्द्रमाः।
तत्पट्टेऽजनि वादिवृन्दतिलकः श्रीवादिचन्द्रो यति—
स्तेनायं व्यरचि प्रबोधतरणिः भव्याब्जसंबोधनः॥
वसु-वेद-रसाब्जाङ्के वर्षे माघे सिताष्टमी दिवसे।
श्रीमन्मधूकनगरे सिद्धोयं बोधसंरम्भः॥ —ज्ञान सूर्योदय-प्रस्तावना

२. अडयार से १९५० ई० में 'काव्यमाला' में प्रकाशित। तथा हिन्दी अनुवाद के साथ १९५५ में काशी से प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'जीवन्मुक्तिकल्याण[1]' का नायक राजा जीव, अपनी प्रियतमा बुद्धि के साथ, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति दशाओं में भ्रमण करता हुआ, संसार के दुःखों से जब विषण्ण हो जाता है और जीवन्मुक्ति की कामना करता है, तो काम-क्रोध आदि छः रिपु, उसके इस कार्य में बाधा डालते हैं। तब, वह दया, शान्ति आदि आठ आत्मगुणों के द्वारा काम आदि को ध्वस्त करता है। अन्ततः, चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करके, साधन चतुष्टय प्राप्त करता है। और, ब्रह्म-ज्ञान पाकर, जीवन्मुक्ति का लाभ उठाता है। शिव का प्रसाद और गुरु की कृपा, जीवन्मुक्ति में कितनी सहयोगी है, यह, कवि ने सुन्दरता के साथ बतलाया है। नल्लाध्वरी, आनन्दराय मखी के ही समकालिक प्रतीत होते हैं।

नल्लाध्वरी ने, रामचन्द्र दीक्षित के समकालीन रामनाथ दीक्षित से विद्याध्ययन किया था, और २० वर्ष की उम्र में ही उन्होंने 'शृङ्गारसर्वस्व' (भाण) व 'सुभद्रापरिणय' (नाटक) की रचना की थी। बाद में, परमशिवेन्द्र तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती से वेदान्त का अध्ययन करने के बाद, उक्त दोनों नाटकों की रचना की। 'अद्वैतरसमञ्जरी' वेदान्तग्रंथ की रचना भी, इसी काल से सम्बन्ध रखती है। इनमें, परस्पर श्लोक साम्य भी है।

पद्मसुन्दर का 'ज्ञान-चन्द्रोदय' और अनन्तनारायण कृत 'मायाविजय' भी रूपक प्रधान रचनाएं हैं। इन्द्रहंसगणि रचित 'भुवन-भानुकेवली चरित' और यशोविजय कृत 'वैराग्यकल्पलता' भी रूपकात्मक रचनाएं हैं। भुवनभानुकेवली चरित का नायक बलि राजा है। विजयपुर के चन्द्र राजा के पास जाकर, अपना चरित वह स्वयं कहता है। विद्वानों का अनुमान है कि यह रचना १४वीं शती की होनी चाहिए। 'वैराग्यकल्पलता' सिद्धर्षि की उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा के आधार पर तैयार की गई प्रतीत होती है। इसके ६ स्तबकों में, अनुसुन्दर चक्रवर्ती की कथा के बहाने से, जीव के संसरण की व्यथा-कथा और उससे छुटकारा पाने का उपाय, रूपकात्मक शैली में वर्णित है।

इन उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन के दुरूह तत्त्वों को रोचक शैली में प्रस्तुत कर, जनसाधारण में उनका प्रचार-प्रसार करने के उद्देश्य से, कविगणों ने प्रतीक/रूपक स्वरूप वाले नाटकों/काव्यों को माध्यम बनाया। परन्तु, कृष्णानन्द वाचस्पति का नाटक 'अन्तर्व्याकरण नाट्य परिशिष्ट[2]' एक विशेष प्रकार का कौतूहल पैदा करने वाला नाटक है। इसके पद्यों के दो-दो अर्थ हैं। एक अर्थ तो व्याकरण के नियमों की व्याख्या करता है, जबकि, दूसरा अर्थ, दर्शन और नीति की शिक्षा देने में आगे आ जाता है। सम्भवतः, संस्कृत-साहित्य का यह एकमात्र नाटक

---

१. श्री शंकर गुरुकुल, श्रीरंगम् से प्रकाशित-१९४४ ई०

२. कलकत्ता से १८८४ में प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, जिसमें अभिनय के द्वारा व्याकरण के तत्त्व, प्रदर्शित किये गये हैं। अपने द्विविध-तात्पर्य के कारण, यह नाटक विशेष महत्त्व का हकदार बन जाता है।

मलयालम में लिखा गया 'कामदहनम्' सुप्रसिद्ध रूपक रचना है। इसी श्रेणी का साहित्य हिन्दी भाषा में भी है, परन्तु, बहुत थोड़ा सा। दामोदरदास की रचना 'मोह-विवेक की कथा' एक संक्षिप्त रूपकात्मक रचना है। जिसकी पाण्डुलिपि पिरान-सुख जी ने १८६१ सम्वत् में की थी।[1] इसमें, मोह और विवेक, काम और लोभ, क्रोध और क्षमा आदि में परस्पर युद्ध का वर्णन किया गया है। जिसके अन्त में, विवेक की विजय दिखलाई गई है। श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'भारत-दुर्दशा' और 'भारत-जननी' तथा श्री जयशंकर प्रसाद की 'कामना' और 'कामायनी' रचनाओं को, हिन्दी साहित्य की उत्कृष्ट रूपकात्मक रचनाएं माना जा सकता है।

यूरोप के मध्यभाग में, इसी प्रकार के नाटक विद्यमान थे, जिन्हें 'मारेलिटी' नाम से जाना जाता था। इन नाटकों का मुख्य उद्देश्य होता था—'कल्पित पात्रों को मंच पर लाकर, उनके माध्यम से दार्शनिक और धार्मिक तत्त्वों को स्पष्ट करना।' विज्ञान युग का प्रारम्भ होने पर, ये धार्मिक नाटक यूरोप में तो बन्द हो गये, किन्तु, भारत में, इनकी धारा/परम्परा, शताब्दियों से जन-मन रञ्जन करती चली आ रही है।

भारतीय वाङ्मय में, विशेषकर संस्कृत साहित्य में रूपक/प्रतीक पद्धति पर लिखे गये ग्रंथों का, यह संक्षिप्त इतिहास है। जिसके अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि उपमान-उपमेय पद्धति का सहारा लेकर, संशय, मोह, भ्रम, अज्ञान आदि से ग्रस्त जीवात्माओं को प्रबोध देने की परम्परा काफी कुछ प्राचीन है। किन्तु, विस्तृत या वृहदाकार ग्रन्थ की सर्जना, इस पद्धति के बल पर करने का साहस, सिद्धर्षि से पहिले, कोई भी नहीं कर सका। हाँ, इससे पूर्व श्रीमद् भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में, पुरंजन का आख्यान अवश्य मिलता है। पुरंजन की विषयासक्ति ने उसे जो भव-भ्रमण कराया है, उसी का विवेचन इस आख्यान में है। दरअसल, यह पुरंजन, स्व-स्वरूप को भूलकर, स्त्री-स्वरूप पर इतनी गाढ़-आसक्ति बना लेता है कि उसी के दिन-रात चिन्तन की बदौलत, अगले जन्म में, उसे खुद स्त्री रूप की प्राप्ति होती है। पुरंजन का भव-विस्तार चार अध्यायों में, कुल १८१ श्लोकों में वर्णित है।

इस वर्णन में बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां, प्राण, वृत्ति, स्वप्न, सुषुप्ति, शरीर और उसके नव-द्वार आदि के रोचक रूपक दर्शाये गये हैं। यहाँ, पुरंजन को ब्रह्मस्वरूप हंसात्मा बतलाया गया है और स्व-बोध के अभाव को पति-वियोग के रूप में चित्रित किया गया है। अन्त में, इस सारी रूपक कथा का रहस्य, स्पष्ट किया गया है।

---

१. लिखितं पिरानसुखजी फीरोजाबाद में, सं० १८६१, नागरी प्रचारिणी सभा पुस्तकालय में सुरक्षित पाण्डुलिपि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह कथानक, बहुत लम्बा तो नहीं है, किन्तु, इसमें जो-जो भी रूपक, जिस-जिस रूप में दिये गये हैं, वे सटीक, सार्थक और मनोहारी हैं। बावजूद इसके, इस वर्णन को, कथाचरित की उस श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, जिस श्रेणी में सिद्धर्षि ने उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा को पहुँचाया है। इसलिये, पूर्वोक्त रूपक-परम्परा के सन्दर्भ में, 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' को, भारतीय रूपक साहित्य का 'आद्य-ग्रंथ' मानना पड़ेगा।

उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा : विशेषताएं

सोलह हजार श्लोक परिमाण वाली, इस गद्य-पद्य मिश्रित रूपक कथा का महत्व, इसका सम्पादन करते हुये, लब्ध-ख्याति पाश्चात्य-मनीषी डॉ० हर्मन याकोबी ने स्वीकारते हुये कहा था—'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा, भारतीय साहित्य का पहिला और विशद रूपक-ग्रन्थ है।' लाखों की संख्या में बिकने वाली, मिस्टर बनियन की अंग्रेजी रचना 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' पढ़े-लिखे अंग्रेजों में काफी प्रसिद्ध रही है। किन्तु, इस अंग्रेजी रचना में, सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक देग्य इलेविले की कृति—'दी पिलग्रिमेज ऑफ मैन' का बहुत कुछ अनुसरण/अनुकरण किया गया, यह तथ्य, 'दी इंग्लिश लिट्रेचर' के लेखक-द्वय ने स्पष्ट करते हुये बतलाया कि 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' नामक अंग्रेजी रचना (सन् १६७६) फ्रांसीसी-कृति 'दी पिलग्रिमेज ऑफ मैन' से काफी अर्वाचीन है।

ये प्रमाण बोलते हैं—महर्षि सिद्धर्षि की 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' मात्र भारतीय साहित्य की ही नहीं, वरन्, विश्व-साहित्य की भी, सर्वप्रथम रूपक रचना है।

इन कथनों की सापेक्षता में, हम निस्संकोच यह कह सकते हैं—'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' एक ऐसी संस्कृत रचना है, जो, रूपक शैली में लिखी होने पर भी, संस्कृत-वाङ्मय की गौरवमयी काव्य-परम्परा, और सुविशाल आख्यान/कथा साहित्य श्रेणी की, एक गरिमा-मण्डित कृति मानी जा सकती है।

सिद्धर्षि के इस महाकथा-ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता यह है कि पूरा का पूरा ग्रन्थ, रूपकमय है। आदि से लेकर अन्त तक, एक ही नायक के जन्म-जन्मान्तरों का कथा-विवेचन, इस तरह से किया गया है कि धर्म और दर्शन के विशाल-वाङ्मय में जो-जो भी प्रमुख जीव-योनियां/गतियां बतलाई गई हैं, उन सबकी स्वरूप-स्थिति व्यापक-रूप में बतलाने के साथ-साथ यह भी स्पष्ट होता गया है कि किन-किन कर्मों/भावों से, जीवात्मा को किस-किस योनि/गति में भटकना पड़ता है। और, किस तरह की मनोवृत्तियां/भावनाएं उन-उन स्थितियों से उसे उबारने में सक्षम/सम्बल बन पाती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशय यह है कि सिद्धर्षि की सम्पूर्ण कथा, दो समानान्तर धरातलों पर, साथ-साथ विकास/विस्तार को प्राप्त होती गई है। ये दोनों धरातल हैं—सांसारिकता/भौतिकता और अध्यात्म। सांसारिक/भौतिक धरातल पर तो पाठक को सिर्फ यही समझ में आ पाता है कि अनुसुन्दर चक्रवर्ती का जीवात्मा, किस-किस तरह की परिस्थितियों में से गुजरता हुआ, कथा के अन्त में, मोक्ष के द्वार तक पहुंचता है। इन भौतिक परिस्थितियों में, उसके वैभव सम्पन्न सुखदायी, वे जीवन-वृत्तान्त कथा में आये हैं, जिनके अध्ययन से पाठकों को विलासिता भरे भौतिक-सुखों के आनन्द/रस-पान का अवसर मिलेगा। और, कुछ ऐसी विषम, दीन परिस्थितियों का चित्रण भी मिलेगा, जिनमें, पाठक की सहृदयता/दयालुता द्रवित हो उठेगी। जबकि आध्यात्मिकता के अमूर्त्त-आकाश में उड़ान भरती कल्पनाओं का आध्यात्मिक कथा-कलेवर, भव्य-जीव की शुभ रागमयी पुण्य-प्रसूत-केलियों के ऐसे दृश्य उपस्थित करता है, जिनमें भूला-भटका भव्य जीवात्मा, सोने की हथकड़ी जैसे पुण्य-बन्ध के अलावा कुछ और हासिल नहीं कर पाता। किन्तु, कभी-कभी, अशुभ-रागमय पापोद्भूत ऐसे विषम क्षणों/प्रसङ्गों का भी सामना करना पड़ जाता है, जिनमें, उसका भव्यत्व तक सिहर-सिहर उठता है, लड़खड़ाने लग जाता है।

किन्तु, ग्रन्थकार का मूल आशय, इन दोनों ही प्रकार की स्थितियों का विश्लेषण नहीं है। उसका स्पष्ट आशय यह है कि जीवात्मा, जिन कारणों से समृद्ध/सम्पन्न बन कर विलासिता में डूबता है, और, जिन कारणों से उसे दर-दर की ठोकरें खानी पड़ती हैं, उन सारे कारणों का भावात्मक स्वरूप-विश्लेषण किया जाये। और, पाठकों को यह बतलाया जाये कि सुख और दुःख की सर्जना, उसके अन्तस् की शुभ-अशुभ रागमयी भावनाओं के आधार पर होती है। यदि, उसकी चित्तवृत्ति, उत्कृष्ट शुभ रागादिमयी है, तो उसे, उच्चतम स्वर्ग में स्थान मिल सकता है। और, यदि उत्कृष्ट अशुभ-राग-आदिमयी चित्तवृत्ति होगी, तो, अपकृष्टतम नरक में उसे जाना पड़ सकता है। अतः इन दोनों ही प्रकार की, राग-द्वेष आदि से युक्त शुभ-अशुभ चित्तवृत्तियों/मनोभावनाओं से मुक्त होकर, एक ऐसी मध्यस्थ/तटस्थ चित्तवृत्ति, उसे बनानी चाहिए, जिसके बल से, स्वर्ग/नरक आदि भवों में भ्रमण करने से, 'भव-प्रपञ्च' से वह बच सके। यानी, एक ऐसा विशुद्ध शुद्धभाव वह जागृत कर सके, जिसके जागरण से, किसी भी योनि में, किसी भी भव में, आना-जाना नहीं पड़ता।

इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर, पूरी की पूरी 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' की कथा-योजना, दुहरे आशयों को साथ-साथ समाविष्ट करके लिखी गई है। इसका एक आशय तो, सामान्य जगत् के व्यवहारों में दिखलाई पड़ने वाले स्थान, पात्र, घटनाक्रम आदि में व्यक्त होता हुआ, सामान्य कथावस्तु को आगे बढ़ाता है, जबकि दूसरा आशय, अदृश्य/भावात्मक जगत् के आध्यात्मिक विचार-व्यापारों में स्फूर्त्त होता हुआ, सामान्य कथा-प्रसङ्गों में अनुस्यूत होकर आगे बढ़ता है। इन दोनों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशयों को समझाने के लिये यह आवश्यक था कि मूलकथा के दोनों स्वरूपों को, और उसकी प्रतीक/रूपक पद्धति-व्यवस्था को, आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया जाये। अपने, इस दायित्व-निर्वाह में, सिद्धर्षि ने चूक नहीं की। और, कथा-ग्रन्थ की प्रस्तावना/पीठबन्ध के पूर्व में ही, कथा के दोनों स्वरूपों—अंतरंग कथा शरीर और बाह्य कथा शरीर—का संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट वर्णन उन्होंने किया है। इनका सार-संक्षेप इस प्रकार समझा जा सकता है।

सुकच्छ-विजय का राजा था—अनुसुन्दर। यह चक्रवर्ती सम्राट् था और इसकी राजधानी थी—मेरुपर्वत के पूर्व महाविदेह क्षेत्र की प्रमुख नगरी क्षेमपुरी। वृद्धावस्था के अन्तिम दिनों में, अपना देश देखने की इच्छा से, वह भ्रमण के लिये निकल पड़ता है। घूमते-घूमते, वह शङ्खपुर नगर पहुंचता है। शङ्खपुर के बाहर एक सुन्दर बगीचा था—'चित्तरम'। इसके बीच में 'मनोनन्दन' चैत्य-भवन बना हुआ था। कुछ दिन पहिले, विहार करते-करते आचार्य समन्तभद्र भी शङ्खपुर आ पहुंचे थे, और चित्तरम बाग के चैत्य भवन में ठहरे हुए थे।

एक दिन, आचार्यश्री की सभा लगी हुई थी। उनके सामने प्रवर्त्तिनी साध्वी महाभद्रा बैठी हुई थीं। इनके पास में ही श्रीगर्भ नरेश की राजकुमारी सुललिता भी बैठी थी, इसी के पास पुण्डरीक राजकुमार बैठा हुआ था। आसपास अन्य सामाजिक/नागरिक बैठे हुए थे। इसी समय, अनुसुन्दर चक्रवर्ती का काफिला, उद्यान के बगल से निकलता है। रथों की गड़गड़ाहट और सेना के कोलाहल ने, सभा में बैठे लोगों का ध्यान, अपनी ओर आकृष्ट कर लिया।

'भगवति! यह कैसा कोलाहल है?' जिज्ञासावश, राजकुमारी ने महाभद्रा से पूछा।

'मुझे नहीं मालूम।'—महाभद्रा ने, आचार्यश्री की ओर देखते हुए उत्तर दिया।

'राजकुमार पुण्डरीक और राजकुमारी सुललिता को प्रबोध देने का यह अनुकूल अवसर है'—यह विचार करके, आचार्यश्री ने महाभद्रा से कहा—'अरे महाभद्रा! तुम्हें पता नहीं है कि हम सब, इस समय 'मनुजगति' नामक प्रदेश के 'महाविदेह' बाजार में बैठे हुए हैं। आज एक 'संसारी जीव' चोर, चोरी के माल के साथ पकड़ा गया है। दुष्टाशय आदि उसे पकड़ कर वधस्थल की ओर ले जा रहे हैं, ताकि उसे मृत्युदण्ड दिया जा सके। उसे, यह मृत्युदण्ड, 'कर्मपरिणाम' महाराज ने, अपनी राजमहिषी 'कालपरिणति', और 'स्वभाव' आदि से विचार-विमर्श करने के पश्चात् दिया है।

आचार्यश्री की बात सुन कर, सुललिता आश्चर्य में पड़ गई। महाभद्रा की ओर देखकर वह बोली—'भगवति! हम तो शङ्खपुर में बैठे हैं। यह तो मनुजगति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है ? और इस समय, चित्तरम उद्यान में हैं, यह 'महाविदेह' बाजार कैसे हो गया ? यहाँ के राजा श्रीगर्भ हैं, 'कर्मपरिणाम' नहीं । फिर, आचार्यप्रवर यह सब कैसे कह रहे हैं ?'

यह सुनकर आचार्यश्री बोले—'धर्मशीला सुललिता ! तुम 'अगृहीतसंकेता' हो । मेरी बात का गूढ़ अर्थ, तुम्हें समझ में नहीं आया ।'

सुललिता सोचने लगी—'आचार्य भगवन् ने तो मेरा नाम ही बदल दिया, दूसरा नाम कर दिया ।' कुछ भी न समझ पाने के कारण, वह चुप होकर बैठी रह गई ।

महाभद्रा ने, आचार्यश्री का सङ्केत स्पष्टतः समझ लिया । वे जान गईं कि किसी पापी संसारी जीव का आयुष्य क्षीण हो चुका है, और वह, अपने पूर्वनिर्धारित मृत्युस्थल पर पहुंचने का संयोग-उपक्रम कर रहा है । फलतः महाभद्रा का मन, उस के नरक-गमन के प्रति, दयाभाव से ओत-प्रोत हो गया । वे बोलीं—'भगवन् ! यह चोर, मृत्युदण्ड से मुक्त हो सकता है क्या ?'

'जब उसे तेरे दर्शन होंगे, और वह, हमारे समक्ष उपस्थित होगा, तभी उसकी मुक्ति हो सकेगी ।'

'क्या मैं उसके सम्मुख जाऊं ?' महाभद्रा ने निवेदन किया ।

'हाँ, जाओ, इसमें दुविधा क्यों है ?' आचार्यश्री ने अनुमति देते हुए कहा ।

महाभद्रा, उद्यान से बाहर निकलकर राजपथ पर आई, और, अनुसुन्दर चक्रवर्ती को देखकर उसे आचार्यश्री के कथन का आशय बतलाया और, कहा—'भद्र ! 'सदागम' की शरण स्वीकार करो ।'

महाभद्रा को देखने के कुछ ही क्षणों के बीच अनुसुन्दर को 'स्वगोचर' (जाति-स्मरण) ज्ञान हो गया । फिर, आचार्यश्री का कथन सुनने के बाद, महाभद्रा का सुझाव सुना, तो वह चुपचाप, उनके पीछे-पीछे चल पड़ा । और, आचार्यश्री के सामने पहुंचकर खड़ा हो गया ।

अनुसुन्दर को सभा में आते समय, समस्त पार्षदों ने उसे चोर के रूप में देखा । किन्तु, अनुसुन्दर, आचार्यश्री को देखकर अवर्णनीय सुख से भर गया । सुख की अधिकता से, उसे मूर्च्छा आ जाती है । कुछ ही देर में, सचेत होने पर वह उठ बैठता है । तब, राजकुमारी सुललिता, उससे चोरी के विषय में पूछती है । मगर, वह चुप बना रहता है । तब, आचार्यश्री निर्देश देते हैं—'राजकुमारी को तुम अपना सारा पूर्व वृत्तान्त सुना दो ।'

बस, यही वह बिन्दु है, जहाँ से 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' के 'भव-प्रपञ्च' का विस्तार से वर्णन शुरु होता है । अनुसुन्दर, यानी 'चोर', अपनी चोरी का सारा पूर्व-वृत्तान्त सुनाने लगता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथा सुनने के अवसर पर, आचार्यश्री के सामने महाभद्रा, सुललिता और पुण्डरीक, बैठे रहते हैं। शेष सभासद वहाँ से चले जाते हैं। फिर, जो कथा शुरु होती है, उसमें, अनुसुन्दर, अपने भवभ्रमण की कहानी असंव्यवहार (निगोद स्थानीय) जीवराशि में से निकलकर संव्यवहार जीवराशि में आने से शुरु करता है और विकलाक्ष, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, आदि तमाम जीव-योनियों में अनन्त बार जन्म-मरण को प्राप्त करते करते, अपने वर्तमान भव तक, सुना डालता है। इन जन्म-जन्मान्तर की कथाओं में, प्रसङ्गवश, पुण्डरीक और सुललिता के भी पूर्वभवों का वृत्तान्त वह सुनाता है। जिसे सुनकर, लघुकर्मी जीव होने के कारण, पुण्डरीक प्रतिबुद्ध हो जाता है। पर, पूर्वजन्मों के दोषों/पापों की अधिकता के कारण, बार-बार सम्बोधन करके कथा सुनाने पर भी सुललिता को प्रतिबोध नहीं हो पाता। आखिर, विशेष प्रेरणा के द्वारा उसे बड़ी मुश्किल से बोध प्राप्त हो पाता है। फलतः सबके सब, एक साथ दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं।

इस सार-संक्षेप में, आचार्यश्री और महाभद्रा तथा सुललिता के जो वाक्य ऊपर आये हैं, उनके आशयों से यह स्पष्ट पता चलता है कि इस महाकथा के साथ-साथ, एक रहस्यात्मक कथा भी चलती रहती है, जिसका सम्बन्ध भौतिक, दृश्यमान पात्रों से न जुड़कर, अन्तरंग रहस्यात्मक मनःस्थितियों/चित्तवृत्तियों से है। इस अन्तरंग कथा का शुभारम्भ और कथा-विस्तार का उपक्रम, मूलग्रंथ में, जिस तरह शुरु किया गया है, उसका सार, इस तरह समझा जा सकता है—

मनुजगति नगरी के महाराजा 'कर्मपरिणाम' और उनकी प्रधान महारानी 'कालपरिणति' से 'सुमति' नामक बालक का जन्म होता है। इसकी देखरेख के लिये 'प्रज्ञाविशाला' नाम की धाय, नियुक्त होती है। प्रज्ञाविशाला, अपनी सहेली 'अगृहीतसंकेता' से परामर्श के बाद, 'सदागम' नामक उपाध्याय को, सुमति का शिक्षक बनाकर, उसे सुमति को सौंप देती है।

एक दिन, सदागम महात्मा, बाजार में बैठे थे। राजकुमार सुमति और प्रज्ञाविशाला भी, उनके साथ बैठे थे। इसी बीच, अगृहीतसंकेता भी वहाँ आती है और बैठ जाती है। थोड़ी ही देर में, फूटे हुए ढोल की अस्त-व्यस्त, कर्णकटु ध्वनि, और लोगों का अट्टहास सुनाई पड़ता है।

कुछ ही क्षणों में, एक 'संसारी जीव' नामक चोर को गधे पर बिठाये हुये, कुछ सिपाही वहाँ से गुजरे। चोर का शरीर राख से पोता हुआ था, उसके ऊपर गेरुए रंग की, हाथ की छापें लगीं थीं। छाती पर कौड़ियों की माला लटकी हुई थी। टूटी मटकी का कपाल सिर पर रखा था। गले में, एक ओर चोरी का माल लटका हुआ था। सिपाहियों की डांट फटकार, और उनके निन्दा-वचन सुनकर, वह थर-थर कांप रहा था।

यह दृश्य देखकर, प्रज्ञाविशाला को उस पर दया आ गई। उसने चोर के समीप जाकर उससे कहा—'भद्र! तू इन (सदागम) महापुरुष की शरण ग्रहण कर।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चोर भी, सदागम का स्वरूप देखकर उनमें विश्वस्त हो गया। वह, उनके पास गया, और उन्हें देखता ही रह गया। क्षणभर बाद, वह आंखें बन्द करके गिर पड़ा। जब उसे होश आया, तो चिल्लाने लगा—'हे नाथ! मेरी रक्षा करें।'

सदागम ने उसे अभय का आश्वासन दिया, चोर, आश्वस्त हो गया। अब, अगृहीतसङ्केता ने उस चोर से, उसके अपराध का, और राजपुरुषों द्वारा पकड़े जाने का कारण पूछा। चोर बोला—'आप पूछकर क्या करेंगी?' सदागम ने उसे निर्देश दिया—'अगृहीतसङ्केता, तेरा वृत्तान्त सुनने को उत्सुक है। अतः, इसकी जिज्ञासा शान्त करने के लिये, तू अपना सारा वृत्तान्त बतला दे।' चोर ने कहा—'मैं, अपनी आपबीती घटना, सबके सामने नहीं बतलाऊंगा। किसी निर्जन स्थान में चलें।'

सदागम के इशारे से, सब लोग उठकर चले गये। इन लोगों के साथ, प्रज्ञा-विशाला भी उठकर जाने लगी, तो सदागम ने उसे वहीं बैठे रहने के लिए कहा। सुमति राजपुत्र भी वहीं बैठा रहा। पश्चात्, अगृहीतसङ्केता को लक्ष्य कर के, वह 'संसारी जीव' चोर, अपना वृत्तान्त सुनाने लगा।

मेरी पत्नी, 'भवितव्यता' मुझे 'असंव्यवहार' नगर के 'निगोद' नामक एक कमरे में से निकाल कर 'एकाक्षनिवास' नगर में ले आती है। यहाँ मुझे 'वनस्पति' नाम दिया जाता है। यहाँ, मैं 'साधारण शरीर' नामक कमरे में मदमत्त, मूर्च्छित, मृत की तरह श्वांसें लेता पड़ा रहा। फिर कुछ दिनों बाद, यहाँ से निकाल कर, एकाक्षनगर में ही किसी दूसरे मुहल्ले के दूसरे विभाग में 'प्रत्येकचारी' के रूप में असंख्यकाल तक रखा।....इसी तरह के वृत्तान्त सुनाता हुआ वह, अपने वर्तमान जन्म तक आ पहुँचता है।

इन आरम्भिक घटनाक्रमों के वर्णन में, जो द्वैविध्य, शुरु से ही कथानक में उभरता है, उसका रहस्य, कथा के आठवें प्रस्ताव में पहुँचने पर खुलता है। इस तरह, इस महाकथा का लम्बा-चौड़ा कथानक, दूसरे प्रस्ताव से शुरु होता है और आठवें प्रस्ताव के प्रारम्भ तक अपनी रहस्यात्मकता को बनाये रखता है। प्रथम प्रस्ताव, पीठबंध में, ग्रन्थकार ने अपनी निजी कथा-व्यथा लिखी है। इस आत्म-कथा का महत्त्व, इसलिए मूल्यवान् बन गया कि वह भी रूपक-पद्धति में, रहस्यात्मक-प्रतीक शब्दावली द्वारा व्यक्त की गई है। जिससे, मूलकथा की रहस्यात्मकता में पहुँचने के पूर्व ही, पाठक का प्रौढ मन, कथाकार की प्रतीकात्मक शब्दावली के गूढ़ आशयों को समझने की निपुणता प्राप्त कर लेता है। बाद के प्रस्तावों में वर्णित कथाक्रम का सार-संकेत इस प्रकार है।

तीसरे प्रस्ताव में—जयस्थल नगरी के राजा पद्म और उनकी महारानी नन्दा के बेटे राजकुमार नन्दिवर्द्धन के रूप में, अनुसुन्दर का जीव, जन्म लेता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नन्दिवर्द्धन को 'क्रोध' और 'हिंसा' के चंगुल में फंस जाने पर, किस-किस तरह की दारुण व्यथाएँ सहनीं पड़ीं, और किन-किन भवों में भ्रमित होना पड़ा, यह सब बतलाया गया है। मनुजगति नगरी के भरत प्रदेश में क्षितिप्रतिष्ठ नगर के राजा 'कर्मविलास' की दो रानियां थीं—शुभसुन्दरी, और अकुशलमाला। शुभसुन्दरी का पुत्र है—'मनीषी' और अकुशलमाला का पुत्र होता है—'बाल'। बाल को 'स्पर्शन' की कुसंगतिवश जो कष्ट भोगने पड़े, और तदनुसार, उसे जिन-जिन भवों में भ्रमित होना पड़ा, उस सबका व्यापक वर्णन है। 'बाल' के रूप में भी 'संसारीजीव' (द्वितीय प्रस्ताव) चोर, के भव-वर्णन को समझना चाहिए।

चतुर्थ प्रस्ताव में—सिद्धार्थ नगर के राजा नरवाहन और उनकी रानी विमलमालती के पुत्र रिपुदारण को 'असत्य' और 'मान' (गर्व-घमण्ड) के वशीभूत हो जाने से, तथा भूतल नगर के राजा मलसंचय और उनकी पत्नी 'तत्पंक्ति' के दो बेटों —शुभोदय और अशुभोदय, में से अशुभोदय की पत्नी स्वयोग्यता के पुत्र राजकुमार 'जड़' को 'रसना' की आसक्ति/लुब्धतावश, तथा पांचवें प्रस्ताव में—वर्धमान नगर के श्रेष्ठी सोमदेव और सेठानी कनकसुन्दरी के लड़के वामदेव को 'चौर्य' और 'माया' का वशवर्ती बनने से, तथा धरातल नगर के राजा शुभविपाक के अनुज अशुभविपाक की पत्नी परिणति के पुत्र मन्दकुमार को 'घ्राण' के प्रति लगाव होने से, छठवें प्रस्ताव में—आनन्दपुर के श्रेष्ठी हरिशेखर एवं सेठानी बंधुमती के पुत्र धनशेखर को 'मैथुन' और 'लोभ' का वशंवद हो जाने से, तथा मनुजगति के राजा जगत्पिता 'कर्मपरिणाम' व जगन्माता महादेवी के छः पुत्रों में से द्वितीय पुत्र 'अधम' को विषयाभिलाष की पुत्री दृष्टिदेवी के साहचर्य से, सातवें प्रस्ताव में—साह्लाद नगर के राजा जीमूत और उनकी पटरानी लीलादेवी के पुत्र घनवाहन को 'महामोह' और 'परिग्रह' के सम्पर्क से, तथा क्षमातल नगर के राजा 'स्वमलनिचय' और उनकी रानी 'तदनुभूति' के दूसरे पुत्र 'बालिश' को कर्मपरिणाम की कन्या 'श्रुति' के सहवास से कैसी-कैसी भयंकर यातनाएं, पीड़ाएं भुगतनीं पड़ीं, और किन-किन योनियों में कितनी-कितनी बार जन्म-मरण लेना पड़ा, इत्यादि का वर्णन, अवान्तर कथाओं सहित किया गया है।

आठवें प्रस्ताव में चार विभाग हैं। इनमें से पहिले विभाग में – सप्रमोद नगर के राजा मधुवारण और उनकी पटरानी सुमालिनी के यहाँ गुणधारण के रूप में 'संसारी जीव' जन्म लेता है। इसके जीवनवृत्त द्वारा यह बतलाया गया है कि 'कर्म' 'काल' 'स्वभाव' 'भवितव्यता' का क्या कार्य है? इन सबके संयोग/सहयोग से किस तरह पुण्योदय और पापोदय आते-जाते हैं? दूसरे विभाग में, उस रहस्य को सुलझाया गया है, जो कथा के आरम्भ होने के साथ-साथ, पाठक के मस्तिष्क में भी घर कर चुका था। तीसरे विभाग में, समस्त प्रमुख पात्रों का सम्मिलन कराकर उनकी जीवन-प्रगति का निर्देश किया गया है, और चौथे विभाग में ग्रन्थ का सारा का सारा रहस्य स्पष्ट हो जाता है। अन्त में, प्रशस्ति के साथ ग्रन्थ पूर्ण हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस संक्षिप्त कथासार से स्पष्ट हो जाता है कि पूरी 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा में हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य (मैथुन) और परिग्रह में लिप्त होने से, तथा क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह के वशीभूत होकर पञ्चेन्द्रियों के विषयों में लोलुपता रखने से, जीवात्मा को अनगिनत आपदाओं से घिर जाना पड़ता है। इन्हीं सब से 'भव' का 'प्रपञ्च' विस्तार/विकास को प्राप्त होता है, जिसमें फंसा जीवात्मा कभी नारकियों का, देवों का और कभी-कभी पशु-पक्षियों आदि का जन्म प्राप्त करके संसारी बना पड़ा रह जाता है। संयोगवश पुनः प्राप्त मानव-जीवन को दुबारा भी, इन्हीं सब विषय-विकारों में उलझा कर बरबाद कर दिया गया, तो न जाने फिर कब, उसे यह दुर्लभ मानव देह मिल पायेगी। इसलिए, निर्विकार, शुभ्र-चित्त से 'सदागम' की शरण स्वीकार कर यह प्रयास करना चाहिए कि निवृत्ति नगर का वह निवासी बन सके।

सिद्धर्षि के इस कथा-ग्रन्थ के नाम से ही पाठक के मन में यह सहज जिज्ञासा उठती है कि आखिर यह 'भव-प्रपञ्च' क्या है ? जिसे लक्ष्य कर के, इतना विशाल ग्रन्थ रचा गया। इस प्रश्न का उत्तर, स्वयं सिद्धर्षि ने, विवेकाचार्य के द्वारा अपनी रचना में दिया है। इसे इस प्रकार समझना चाहिए।

प्रायः सब प्राणी, अनादिकाल से असंव्यवहारिक राशि में रहते हैं। जब प्राणी वहाँ रहता है, तब, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आस्रव द्वार (कर्मबन्ध के हेतु) उसके अन्तरङ्ग स्व-जन-सम्बन्धी होते हैं। जैन ग्रन्थों में वर्णित अनुष्ठान द्वारा विशुद्ध मार्ग पर आकर, जितने प्राणी, कर्म से मुक्त होकर मुक्ति पाते हैं, उतने ही जीव असंव्यवहार राशि में से निकलकर व्यवहार राशि में आते हैं। यह केवल-ज्ञानियों के वचन हैं।

इस असंव्यवहार राशि में से बाहर निकले जीव, बहुत समय तक एकेन्द्रिय जाति में अनेक प्रकार की विडम्बना भोगते हैं। विकलेन्द्रिय से लेकर पांच इन्द्रियों वाली तिर्यञ्च जाति में परिभ्रमण करते हैं और अनेकविध कष्ट/दुःख भोगते हैं। भिन्न-भिन्न अनन्त भवों में सहन/भोग करने के लिये, बंधे हुये कर्मजाल परिणामों को भोगते हुए, भवितव्यता के योग से, बार-बार नये-नये रूप धारण करते हैं। अरहट घटी की तरह, ऊपर-नीचे घूमते रहते हैं। और, यहाँ पर वे सूक्ष्म और बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति कायिक जीव-रूप धारण करते हैं। कई बार, वे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय, जलचर, स्थलचर, और नभचर तिर्यञ्चों का रूप धारण करते हैं। इस प्रकार नाना-विध विचित्र रूपों में अनेक स्थानों पर भटकते हुए जीव को महान् कठिनता से, मनुष्य भव मिलता है।

जैसे समुद्र में डूबते हुए को रत्नद्वीप मिल जाये, महारोग से जर्जरित को महोदधि, विषमूर्च्छित को मंत्रज्ञाता, दरिद्री को चिन्तामणि की प्राप्ति जितनी कठिन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती है, वैसी ही कठिनाई से मनुष्य भव की प्राप्ति होती है। किन्तु, मनुष्य भव में भी, हिंसा, क्रोध, आदि दुर्गुण इस तरह पीछे पड़े रहते हैं, जैसे धन के भण्डार पर वैताल पीछे पड़ा रहता है। इन सबसे, वह पीड़ित होकर, महामोह की प्रगाढ़ निद्रा में पड़ा रह जाता है, और अपने मनुष्य भव को निरर्थक खो देता है।

जो व्यक्ति, जिनवाणी रूप प्रदीप के द्वारा अनन्त भव-प्रपञ्च को भलीभांति जानते हैं, वे भी, महामोह के वशीभूत होकर मूर्खों की तरह दूसरों को उपताप, संताप देते हैं, गर्व में डूब जाते हैं, दूसरों को ठगते हैं, धनलिप्सा में डूबे रहते हैं, प्राणियों की हिंसा करते हैं, विषयभोगों में आसक्त रहते हैं, वे सबके सब भाग्यहीन प्राणी हैं। ऐसे व्यक्तियों को भी, मनुष्य भव, मोक्ष तक पहुंचाने का कारण नहीं बन पाता, बल्कि अनन्त दुःखों से भरपूर भव-प्रपञ्च (संसार-परम्परा) की वृद्धि कराने वाला हो जाता है।[1]

इस भव-प्रपञ्च विस्तार के नमूनों के रूप में, पूरी 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' में से किसी भी एक कथानक को पढ़ा जा सकता है, और समझा जा सकता है। सहज और सरल तरीके से, संक्षेप में ज्ञान करने के लिये, इस ग्रन्थ के आठवें प्रस्ताव में, शङ्खनगर के महाराजा महागिरि, और उनकी रानी भद्रा के बेटे 'सिंह' का कथानक पढ़ा जा सकता है।[2]

इस संसार में चार प्रकार के पुरुष होते हैं। ये हैं—जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट और उत्कृष्टतम। इनका स्वरूप इस तरह से समझना चाहिए।

उत्कृष्टतम प्राणी वे हैं—जो संसार अटवी से विरक्त होकर, पापरहित होकर, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके समस्त कर्मों का नाश करते हैं और मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं। उत्कृष्ट प्राणी वे हैं—जो विगतस्पृह होकर, अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण रखते हैं, दोषों का संचय नहीं करते, शरीर का और इसके हर अंग का उपयोग धर्म की आराधना में करते हैं, और मोक्षमार्ग की ओर प्रयाण करते हैं। मध्यम पुरुष वे हैं—जो, अपनी इन्द्रियों की प्रवृत्ति को सहज रूप में बनाये रखते हैं, उनके विषय-भोगों में आसक्ति नहीं रखते, और कषाय आदि के दुष्प्रभाव में होने पर भी लोक-विरुद्ध, नीति-विरुद्ध, धर्मविरुद्ध आचरण नहीं करते। और, जघन्य पुरुष वे हैं—जो इस संसार में, संसार के विषय भोगों में गाढ़ आसक्ति रखते हुए अपनी इन्द्रियों की और अन्तःकरणों की प्रवृत्ति बनाए रखते हैं।

इनमें से, उत्कृष्टतम कोटि के पुरुष, मुक्ति को प्राप्त होते हैं। उत्कृष्ट पुरुष, मुक्ति पाने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। मध्यम पुरुष, न तो मुक्ति के लिए

---

१. उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा—प्रस्ताव-३ पृष्ठ २७६-८६

२ उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा—प्रस्ताव ८, पृष्ठ ७२८-७३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चेष्टा करते हैं, और न ही, कर्मबन्ध के अनुकूल परिणाम देने वाले कार्यों में विशेष रुचि रखते हैं। जबकि अधम पुरुष, हर क्षण, इस तरह के क्रिया-कलापों में संलग्न रहता है, जिनके द्वारा उसके भव-प्रपञ्च का विकास/विस्तार ही होगा। एक तरह से, ऐसे ही व्यक्तियों को लक्ष्य करके, यह कथा-ग्रन्थ सिद्धर्षि ने लिखा है, ताकि वे इसे उपयोग कर सकें।

वस्तुतः, कोई भी व्यक्ति, जन्म से उत्कृष्ट, मध्यम या अधम नहीं होता। उसके, अपने पिछले जन्मों के कर्मबन्ध, संस्कार बन कर उसके साथ पैदा अवश्य होते हैं, तथापि, जन्म ग्रहण कर लेने के बाद, बहुत कुछ इस बात पर, व्यक्ति के आगे का भव-प्रपञ्च निर्भर करता है कि उसने वर्तमान मनुष्य भव में क्या, कुछ, कैसा किया। और, यह एक अनुभूत सत्य है कि व्यक्ति, जैसे परिवेष में रहेगा, जिस तरह के समाज में उठेगा-बैठेगा, उस सबका प्रभाव उस पर निश्चित ही पड़ेगा। इस तथ्य से, ग्रन्थकार भली-भांति परिचित रहे। फलतः, इस स्थिति की उन्होंने आध्यात्मिक/धार्मिक/मनोवैज्ञानिक/वैज्ञानिक तरीके से जो व्याख्या की है, वह, बहुत कुछ इन शब्दों से समझी जा सकती है।

इस संसार में प्रत्येक प्राणी के तीन-तीन कुटुम्ब होते हैं। प्रथम प्रकार के कुटुम्ब में—क्षान्ति, आर्जव, मार्दव, लोभ-त्याग, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख, सत्य, शौच, और सन्तोष आदि कुटुम्बीजन होते हैं। यह कुटुम्ब, प्राणी का स्वाभाविक कुटुम्ब है, जो अनादिकाल से, उसके साथ रहता आता है। इस कुटुम्ब का कभी अन्त/विनाश नहीं होता। यह कुटुम्ब, प्राणी का हित करने में ही सदा तत्पर रहता है। परेशानी की बात सिर्फ यह है कि, यह कुटुम्ब कभी-कभी तो अदृश्य हो जाता है और फिर प्रकट हो जाता है। उसका छुपना और प्रकट होना, स्वाभाविक धर्म है। यह हर प्राणी के अन्तस् में रहता है। इसकी सामर्थ्य इतनी प्रबल है कि यदि यह कुटुम्ब चाहे तो प्राणी को मोक्ष की प्राप्ति भी करा सकता है। क्योंकि, यह अपने स्वभाव से ही, प्राणी को, उसके स्व-स्थान से उच्चता की ओर ले जाता है।

दूसरा कुटुम्ब, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, अज्ञान, शोक, भय, अविरति आदि का है। यह कुटुम्ब, प्राणी का अस्वाभाविक कुटुम्ब है। किन्तु, यह दुर्भाग्य की बात ही कही/मानी जायेगी कि अधिकांश प्राणी, इसे ही अपना स्वाभाविक कुटुम्ब मान कर, उससे प्रगाढ़ प्रेम करने लगते हैं। इसका सम्बन्ध, अभव्य जीवों के साथ अनादि काल से है, जिसका अन्त कभी नहीं होता। कुछ भव्य-प्राणियों के साथ भी, इसका अनादि काल से सम्बन्ध जुड़ा होता है, किन्तु उसका अन्त, निकट भविष्य में होने की सम्भावनाएं बनी रहतीं हैं। यह कुटुम्ब, प्राणी का, एकान्ततः अहित ही करता है। किन्तु, यह भी जब कभी, प्रथम कुटुम्ब की तरह अदृश्य हो जाता है, छुप जाता है, और फिर से प्रकट हो जाता है। यह भी, प्राणी के अंतरंग में निवास करता है, और उसे सांसारिक विषय-भोगों में, प्रवृत्त कराकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसके भव-विस्तार में प्रमुख निमित्त बनता है। क्योंकि, इसका स्वाभाविक धर्म है– प्राणी को स्वस्थान से अधःपतित बनाना और दुर्गुणों के प्रति प्रेरित करना।

तीसरा कुटुम्ब/परिवार प्राणी का अपना शरीर, उसे पैदा करने वाले माता-पिता, और भाई-बहिन आदि अन्य कुटुम्बीजनों का होता है। यह कुटुम्ब, स्वरूप से ही अस्वाभाविक है। और, सादि सान्त है। इसका प्रारम्भ अल्पकालिक होता है, फलतः, इसका अस्तित्व पूर्णतः अस्थिर रहता है। यह कुटुम्ब, भव्य प्राणी को तो कभी हितकारी और कभी अहितकारी भी होता है। इसका धर्म उत्पत्ति और विनाश है। यह, हमेशा बहिरंग प्रदेश में ही प्रवर्तित होता है। भव्य प्राणी को, यह संसार और मोक्ष, दोनों की प्राप्ति में सहयोगी बनता है। जबकि अभव्य प्राणी के लिये, यह सिर्फ संसार-वृद्धि का ही कारण होता है। प्रायः, यह कुटुम्ब, प्राणी के दूसरे कुटुम्ब के सदस्यों – क्रोध, मान, माया आदि को परिपुष्ट करने वाला होने से संसारवृद्धि का ही कारण बनता है। जब, कोई प्राणी, अपने प्रथम प्रकार के कुटुम्ब का अनुसरण/ अनुगमन करता है, तब, यह भी, उसके पोषण में सहयोगी बन जाता है, और इस तरह, मोक्ष दिलाने में कारण बनता है।

इसी तरह के तमाम विवेचनों से भरा-पूरा है यह महाकथा ग्रन्थ। धर्म और दर्शन, खासकर जैनधर्म/दर्शन के हर प्रसङ्ग को सिद्धर्षि ने छुआ भर नहीं है, बल्कि उसकी ऐसी स्पष्ट अवतारणा अपने पात्रों में कर दी है, जिससे यह प्रतीत होने लगता है कि, पाठक, कोई कथा नहीं पढ़ रहा है, बल्कि, कथा के पात्रों की घटनाओं को अपने बहिरंग और अंतरंग परिवेश से प्रत्यक्ष-घटित होता अनुभव करता है।

तीसरे प्रस्ताव से लेकर सातवें प्रस्ताव तक कुल पाँच प्रस्तावों में, हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह तथा क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह एवं स्पर्शन, रसन, चक्षु, घ्राण और श्रोत्र में से एक-एक को लेकर, एक-एक प्रस्ताव में इनके समग्र स्वरूप की स्पष्ट, सहज और सरल रूप में व्याख्या की है। और, इन सबके संसर्ग/संपर्क से होने वाले दुष्परिणामों को, कई-कई कथानकों के द्वारा व्याख्यायित किया है। इन पाँच-सात प्रस्तावों में, धर्म और दर्शन के व्यावहारिक आचरण का एक-एक रोम तक व्याख्यायित होने से नहीं बच पाया। इसके अलावा भी, प्रसंगवश जिन विषयों शास्त्रों की विवेचना की गई है, उनमें आयुर्वेद, ज्योतिष, स्वप्न-शास्त्र निमित्त-शास्त्र, सामुद्रिक-शास्त्र, धातुविद्या, युद्धनीति, राजनीति, गृहस्थ धर्म, मनोविज्ञान दुर्व्यसन, विनोद, व्यंग्य आदि प्रमुख हैं। इन सबको, सिद्धर्षि ने जीवन-घटनाओं के सांसारिक/नैतिक/आध्यात्मिक विवेचन में, जीभर कर उपयोग में लिया है। जिससे, यह स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि वे, मात्र दर्शन/धर्म के ही मर्मज्ञ नहीं थे, बल्कि, उनकी उदात्त ज्ञानसमृद्धि-चतुर्मुखी/ बहुमुखी थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'उपमिति-भव-प्रपंच कथा' मात्र दार्शनिक/आध्यात्मिक विषयों को ही स्वयं आत्मसात नहीं किये है, बल्कि इसमें शृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य, करुणा आदि रसों का, छहों ऋतुओं का, नगर, पर्वत, वन, नदी आदि प्राकृतिक दृश्यों का सजीव चित्रण भी है।

मनुष्य के जन्म, जन्मोत्सव और शिक्षा-दीक्षा ग्रहण से लेकर, उसके विवाह आदि संस्कारों का, उसके पिता-भाई आदि दायित्वों के निर्वाह का और सम्मिलित परिवार के रूप में एक गृहस्थी का, आचरणीय क्या होना चाहिए? परिवार, समाज और अपने देश के प्रति उसके क्या-क्या कर्त्तव्य हैं? समाज में किस तरह की व्यावहारिक व्यवस्थाएं होनी चाहिएं? इन सारे पक्षों पर सिद्धर्षि ने अपनी सूक्ष्मेक्षिका से प्रकाश डाला है। और, उनके समकालीन समाज में किस तरह का वातावरण था, कौन-कौन सी कुरीतियां, रूढ़ियां थीं, जो सामाजिक नैतिक-उत्थान में बाधा बनी हुई थीं, इस पक्ष को भी उन्होंने बिना कोई छिपाव किये, अपनी रचना में दर्शाया है। जैन धर्म/दर्शन में आस्था रखने वाले सामाजिकों/नागरिकों को श्रावक/श्राविका के लक्षण, दायित्व और कर्त्तव्यों को भी स्पष्ट करने में, उनसे चूक नहीं होने पाई। हिंसा, चोरी, लूटपाट, ठगी, परवञ्चना और दुराचार जैसे घिनौने रूपों का खुलासा करने के साथ-साथ सच्चाई, ईमानदारी, परोपकारिता और दीन-दुःखियों के प्रति हमदर्दी जैसे सात्विक गुणों की वर्णना में भी वे पीछे नहीं रहे। कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि सिद्धर्षि ने, अपने समकालीन समाज की दुखती नस को छुआ है, तो उसका उपचार/इलाज भी बतलाया है कि कैसे उसे दूर करके समाज को स्वस्थ्य बनाया जा सकता है। इन सारे वर्णनों के कुछ नमूने पुरुष प्रकार (पृष्ठ २०१), नारी स्वरूप (पृष्ठ ३८२) और लक्षण (पृष्ठ ४७४), राजा-रानी वर्णन (पृष्ठ १४८), मंत्रीवर्णन (पृ० १५८), राज्य की सुख दुखता-(पृ० ५८१), दुर्जन दोष (पृ० ११२), धनगर्व (पृ० ४०४), पाखण्डी भेद (पृ० ३६५), मद में अंधापन (पृष्ठ ३३) आदि देखे जा सकते हैं।

संसारी की मूल स्थिति (पृष्ठ २८६), शोक का स्वरूप (पृ० ४०२, ६६६), संसारी जीव का स्वरूप (पृ० ५७६), मोह की प्रबलता (पृ० ७२६), महामोह (पृ० १६१), मिथ्या अभिमान (४००), भोगतृष्णा (१७४), राग की त्रिविधिता और वेदनीय के तीन प्रकार (पृ० ३६७), अज्ञान से उत्पन्न होने वाले दोष (पृष्ठ १७६), क्रोध, मान आदि कषायों का स्वरूप (पृ० ३७३), मिथ्या दर्शन (पृ० ३५६), मिथ्याभिमान से बनने वाली हास्यास्पद स्थिति (पृ० १०१), और चारों गतियों का (पृष्ठ ४१८) वर्णन, जीवात्मा के संसार-वृद्धि के कारणों के रूप में देखा/पढ़ा जा सकता है।

जो व्यक्ति, परमात्म-स्वरूप की साकारता में आस्था रखते हैं, उनके लिए जिनपूजा (पृ० ४८६), जिनाभिषेक (पृ० २१८), साकार स्वरूपदर्शन की महिमा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(पृ० ४८६), जिनशासन (पृ० ४५), चण्डिकायतन (पृ० ३६७), अतिशय वर्णन (पृ० ५६६), और आराधना वर्णन (पृ० ७६६) जैसे प्रसङ्ग पठनीय हो सकते हैं।

साधु समाज के लिये साधु का स्वरूप (पृ० ४३६), साधु अवस्था (पृ० ५७६), साधुक्रिया (पृ० ६४१), साधु धर्म (पृ० ६३६), प्रव्रज्या विधि (पृ० ७३७), दीक्षा महोत्सव (पृ० २१७, २२८), आदि प्रसङ्ग तो पठनीय हैं हीं, इनके साथ-साथ, अपने आचरण की प्रखरता बनाये रखने के लिए वैराग्य महिमा (पृ० ५६७), सम्यक्त्व (पृ० ७३), सम्यग्दर्शन (पृ० ४५१), चित्तानुशासन (पृ० ६४६), दया (पृ० २७१), ध्यान योग (पृ० ७५७), सद्धर्म साधन (पृष्ठ ६३६), चारित्र (पृ० ४४८), चारित्र सेना (पृ० ४५४), साधु के गुण (पृ०६१), धर्म के परिणाम (पृ० ७१), क्षमा (पृ० १४६), सदागम का स्वरूप (पृ० ११८), सदागम का माहात्म्य (पृ० ११७), पुण्योदय (पृ० १३६), सम्यग्दर्शन के पांच दोष (पृ० ७३), विभिन्न साधुवर्गों पर आक्षेप के प्रसङ्ग में क्रियाओं के अर्थ (पृ० ६१), तप के प्रकार (पृ० ७५६), मुक्ति स्वरूप (पृ० ४३०), और सिद्ध स्वरूप (पृ० ७०६) तथा सब एक साथ मोक्ष क्यों नहीं जाते (पृ० ४६) आदि प्रसङ्गों जैसे अनेक प्रसङ्ग पठनीय हैं, चिन्तनीय हैं और मननीय होने के साथ आचरणीय भी हैं।

सिद्धर्षि की भाषा सरल, सुबोध और हृदयग्राही तो है ही, उसमें भावों को स्पष्ट कर पाठक के मन पर अपना प्रभाव डालने की भी पर्याप्त सामर्थ्य है। इसके लिये, उन्हें, प्रसाद गुण को अङ्गीकार करना पड़ा। स्थिति और पात्र, जिस तरह की भाषा की अपेक्षा करते हैं, उसी तरह, भाषा का प्रयोग किया गया है। वे, जब 'कुटी प्रावेशिक रसायन' (पृ० ३५), विमलालोक अंजन (पृ० १२), तत्त्वप्रीतिकर जल (पृ० १२), महाकल्याणक भोजन (पृ० १२), आमर्ष औषधि (पृ० ४५), गोशीर्ष चन्दन (पृ० ४५), भैंस का दही और बैंगन (पृ० ८५-८६), नागदमनी औषधि (पृ० १४२) और धातु मृत्तिका (पृ० ३८) तथा लोहे को सोना बनाने का रस—'रसकूपिका' (पृ० ३८) जैसे प्रसङ्गों पर चर्चा करते हैं, तब उनके वैद्यक का ज्ञान और एक धातुविद् का बुद्धिकौशल, सामने आ जाता है। मद्यपान की दुर्दशा (पृ० ३६७) व मांस खाने के दुष्परिणाम (पृ० ४१३) से लेकर काम-क्रीड़ा (पृ० ५०४) जैसे प्रसङ्गों की, प्रसङ्गगत अपेक्षाओं को रखते हुए, वसन्त (पृ० ३८६), ग्रीष्म और वर्षा (पृ० ४५६) तथा शरद्-हेमन्त (पृ० ३३४) और शिशिर (पृ० ३८६) ऋतुओं का वर्णन भी दिल-खोलकर किया गया है।

कथावर्णन में सिद्धर्षि ने नीतिवाक्यों/सूक्तियों का भी भरपूर प्रयोग किया है। 'लक्षणहीन मनुष्यों को चिन्तामणि रत्न नहीं मिलता' (पृ० १२१), 'सद्गुरु के सम्पर्क से कुविकल्प भाग जाते हैं' (पृ० ५७), 'पहिले जो दिया जाता है, वही मिलता है' (पृ० १००), 'धर्म के अतिरिक्त, सुख पाने का कोई दूसरा साधन नहीं है' (पृ० ५७), 'पति-पत्नी परस्पर अनुकूल हो, तभी प्रेम बना रहता है (पृ० १०६), 'जुओं से बचने के लिए कपड़ों का त्याग कौन बुद्धिमान करेगा' (पृ० ११४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'मनीषियों को ऐसे कार्य सदा करने चाहिए, जिससे मन मुक्ताहार, बर्फ, गोदुग्ध, कुन्दपुष्प और चन्द्रमा के समान श्वेत एवं स्वच्छ हो जाये' (पृ० ११-१८ प्रस्तावना) जैसी लगभग २८० सूक्तियों का, पूरे ग्रन्थ में, इन्होंने प्रयोग किया है। उपमा और रूपकों की तो इतनी भरमार है कि शायद ही कोई पृष्ठ, इनसे अछूता बच पाया हो।

'भव-प्रपञ्च' का विस्तार और उसकी प्ररूपणा, प्रस्तुत ग्रन्थ का मुख्य-प्रतिपाद्य विषय है। वह भी, उपमानों के माध्यम से। इसलिए, सिद्धर्षि ने, संसारी स्थितियों, पात्रों और घटनाओं का जो बाह्य-परिवेश, अपनी लेखनी का विषय बनाया, उसकी चरितार्थता तब तक बिल्कुल ही बेमानी रह जाती, जब तक कि उसके विकास/विस्तार के मुख्य-निमित्त, अन्तरङ्ग-परिवेश को, कलम की नौंक पर न बैठा लिया जाता। यह अन्तरङ्ग परिवेश, यद्यपि स्वभावतः अमूर्त्त है, तथापि, मूर्त्त-संसार का कोई भी ऐसा कोना नहीं है, कोई भी घटना, पात्र और स्थिति नहीं है, जिसकी कल्पना तक, अंतरंग-परिवेश के सहयोग/उपस्थिति के बगैर की जा सके ? इस अनिवार्यता के कारण, इस पूरे कथा ग्रंथ में, जितने भी राजा/महाराजा, राजकुमार, राजकुमारियां, रानियां, महारानियां, उनकी सेना, सेवक/अनुचर, पारिवारिकजन और सामाजिक आदि-आदि सिद्धर्षि ने कल्पित किये, उससे कुछ अधिक ही, अंतरंग-लोक में, ऐसे ही पात्रों की कल्पना करना उन्हें लाजिमी हो गया। इतना ही नहीं, जो नगर, ग्राम, उद्यान, नदी, पर्वत, महल, गुफाएं उन्होंने धरती के लोक में वर्णित की, वैसे ही, अंतरंग लोक में वर्णन करने का कौशल-सामर्थ्य, उन्हें अपने आप में जुटाना पड़ा। पर, प्रसन्नता की बात यह है कि इस सारे कल्पना-जाल में, सिद्धर्षि की विशाल-प्रज्ञा एक ऐसा पैनापन ले आने में समर्थ हुई है, जिसका प्रवेश, शास्त्रों में वर्णित स्वर्ग और नरक आदि चौदहों लोकों में बेरोक-टोक हुआ है। यह, इस कथा-ग्रन्थ से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

हर कथा में, दो वर्ग होते हैं—एक तो नायक, यानी कथानायक का वर्ग, जो पग-पग पर, उसे साहस/सहयोग प्रदान करता है, ताकि वह, अपने लक्ष्य-साधन में सफल हो सके। दूसरा वर्ग वह होता है, जो कथानायक के साथ कुछ इस तरह चिपका-चिपका रहता है कि उसके हर प्रगति-कार्य में झट से उपस्थित होकर, कोई न कोई बाधा खड़ी कर देता है। इस दूसरे वर्ग को प्रतिनायक वर्ग कहा जा सकता है।

'उपमिति-भव-प्रपंच कथा' में कथानायक तो 'संसारी जीव' ही है, क्योंकि ग्रन्थ के विशाल कथानक का मूल-सूत्र, संसारी जीव से, कहीं भी टूटने नहीं पाता। किन्तु, मजेदार बात यह है कि इस कथानायक की लड़ाई जहाँ-कहीं भी जिस-किसी से होती है, या, मित्रता और उठना-बैठना जिनके बीच होता है, वे सबके सब दिखावटी हैं। यह निष्कर्ष, तब निकल पाता है, जब इस सारे कथानक पर, दार्शनिक बुद्धि से गौर किया जाये। क्योंकि पूरे-ग्रन्थ में, जो परस्पर संघर्षरत दो पक्ष/प्रति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वन्द्वी बतलाए गये हैं, वे हैं—सत्-प्रवृत्ति और असत्प्रवृत्ति। यानी, सदाचार और दुराचार। दुराचार पक्ष की ओर से, कई बार यह कहा गया है कि हमारा असली शत्रु 'संतोष' है, 'सदागम' है। जो, 'संसारी जीव' को उनके चंगुल से मुक्त करके 'निवृत्ति नगरी' में पहुंचा देता है। 'कर्मपरिणाम' के प्रमुख सेनापति 'महामोह' और उसके पक्ष/परिवार के 'अशुभोदय' आदि, अपनी सेना के साथ, 'संतोष' को पराजित कर समूल नष्ट करने के लिये प्रयासरत दिखलाये गये हैं। एक भी प्रसङ्ग, ऐसा पढ़ने को नहीं मिला, जिसमें, यह स्पष्ट हुआ हो कि 'महामोह' की सेना ने, 'संसारी जीव' को पराजित करने के लिए कूच किया हो। 'संसारी जीव' को तो कुछ इस तरह दिखलाया गया है, जैसे, वह 'संतोष' आदि का निवास स्थान महल/किला हो। यह गुत्थी, पाठक की बुद्धि को चकराये रहती है।

इस कथा-ग्रन्थ में, धर्म के आचरणीय अनुकरण को मुख्यतः प्रतिपादित किया गया है। इसलिये, इसे हम, 'धर्मकथा' कहने में संकोच नहीं कर सकते। किन्तु, यही धर्म तो जीवात्मा की असली पूंजी है, सम्पत्ति है। इसके बिना, हर जीवात्मा, सिद्धर्षि की तरह निष्पुण्यक/दरिद्री बन जायेगा। अतः इसे 'अर्थकथा' भी मानना चाहिये। परन्तु, यह 'अर्थ' यानी 'धर्म' प्राप्त कर लेना ही, जीवात्मा के लिए सब कुछ नहीं है। बल्कि, 'धर्म' तो उसके लिए एक 'माध्यम' बनता है, सीढ़ी की तरह। जिसका सहारा लेकर, 'मोक्ष' के द्वार तक, जीवात्मा चढ़ पाता है। और, यह 'मोक्ष' ही उसका 'काम'/'इच्छा'/'प्राप्तव्य' होता है। मोक्ष प्राप्ति की कामना किये वगैर, किसी भी जीवात्मा का प्रयत्न, मोक्ष-प्राप्ति के लिये नहीं होता। इस दृष्टि से, इसे 'कामकथा' मानना चाहिये। इस लक्ष्य-प्राप्ति के लिए, अन्य अनेकों अवान्तर कथाएं, सहयोगी बनी हुई हैं। जिनके द्वारा जीवात्मा की प्रवृत्ति, सांसारिक पदार्थ भोग से हटकर, 'मोक्ष' की ओर उन्मुख हो पाती है। यदि, इन अवान्तर कथाओं का प्रसङ्ग-गत उपदेश/निर्देश/सुझाव जीवात्मा को न मिले, तो वह, संसारी ही बना पड़ा रह जायेगा। इसलिए, इन अवान्तर सङ्कीर्ण कथाओं का अप्रत्यक्ष सम्बन्ध ही सही, किन्तु, मूल्यवान प्रदाय, मोक्ष-प्राप्ति में निमित्त बनता है। इस दृष्टि से, इस कथा-ग्रन्थ को 'सङ्कीर्ण कथा' भी कहा जाना, अनुचित न होगा।

इस तरह, हम देखते हैं, कि, 'उपमिति-भव-प्रपंच कथा' हमें सिर्फ जगत् के जञ्जाल से छुड़ाने की ही दिशा नहीं देती, बल्कि, वह यह भी प्रकट करती है कि सब कुछ भूल/छोड़ कर, यदि मेरा ही चिन्तन/मनन कोई करे, तो उसको मोक्ष-लाभ होने में कोई मुश्किल नहीं आ पायेगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भव-प्रपञ्च : जैन दार्शनिक व्याख्या

उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा का गहराई से अनुशीलन-परिशीलन करने से यह स्पष्ट होता है कि इस कथा में जीव की आत्म-कथा है। छह द्रव्यों में जीव-द्रव्य चेतन है और पाँच द्रव्य अचेतन/जड़ हैं। चार्वाक दर्शन ने पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु से चैतन्य की उत्पत्ति/अभिव्यक्ति मानी है, पर, जैन दार्शनिकों ने उनके मन्तव्य का खण्डन करके आत्मा के सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र अस्तित्व को सिद्ध किया है। जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप क्या है ? वह इस कथा में स्पष्ट रूप से उजागर हुआ है।

जैन मनीषियों ने चैतन्य गुण की व्यक्तता की अपेक्षा से ससारी आत्मा के दो भेद किए हैं—त्रस और स्थावर[1]। त्रस आत्मा में चैतन्य व्यक्त होता है और स्थावर आत्मा में चैतन्य अव्यक्त रहता है। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है कि जिनके त्रस नामकर्म का उदय होता है, वे 'त्रस आत्माएं'[2] हैं, और, जो स्थिर रहती हैं, और जिन आत्माओं में गमन करने की शक्ति का अभाव होता है, वे, 'स्थावर आत्माएं' हैं। जिनके स्थावर नामकर्म का उदय होता है, वे 'स्थावर जीव' कहलाते हैं।[3]

त्रस आत्मा के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पंचेन्द्रिय—ये चार भेद हैं[4]। उत्तराध्ययन में अग्नि और वायु को भी त्रस मानकर त्रस आत्मा के छह भेद बतलाये हैं[5]। उत्तराध्ययन में स्थावर आत्मा के पृथ्वी, जल, और वनस्पति, ये तीन भेद बताए गये हैं।[6] आचार्य उमास्वाति ने पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक—ये स्थावर आत्मा के पांच भेद[7] बताये हैं।

इन्द्रियों की अपेक्षा से संसारी आत्मा के भेद-प्रभेद किए गए हैं। इन्द्रिय आत्मा का लिंग है। स्पर्श आदि पाँच इन्द्रियां मानी गयी हैं। अतः इन्द्रियों की अपेक्षा संसारी आत्मा के पांच भेद हैं। जिनके एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है—उसे एकेन्द्रिय जीव कहते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और वनस्पति—ये एकेन्द्रिय जीव के पांच प्रकार हैं[8]। पांचों प्रकार के एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म की अपेक्षा से

---

१. संसारिणस्त्रसस्थावराः—तत्त्वार्थ सूत्र २/१२
२. त्रसनामकर्मोदयवशीकृतास्त्रसाः—सर्वार्थसिद्धि २/१२
३. (क) सर्वार्थसिद्धि २/१२ (ख) तत्त्वार्थवार्तिक २/१२; ३/५
४. द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः—तत्त्वार्थ सूत्र २/१४
५. उत्तराध्ययन ३६/६९-७२
६. उत्तराध्ययन ३६/७०
७ तत्त्वार्थ सूत्र २/१३
८. वनस्पत्यन्तानामेकम्—तत्त्वार्थसूत्र २/२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो-दो प्रकार के होते हैं। बादर नाम-कर्म के उदय से बादर शरीर जिनके होता है—वे बादर-कायिक जीव कहलाते हैं। बादर-कायिक एक जीव दूसरे मूर्त्त पदार्थों को रोकता भी है, और उससे स्वयं रुकता भी है[1]। जिन जीवों के सूक्ष्म नाम-कर्म का उदय होता है, उन्हें सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है, और वे सूक्ष्मकायिक जीव कहलाते हैं। सूक्ष्मकायिक जीव न किसी से रुकते हैं, और न अन्य किसी को रोकते हैं, वे सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं।

पृथ्वीकायिक जीव वे हैं—जो पृथ्वीकाय नामक नाम-कर्म के उदय से पृथ्वीकाय में समुत्पन्न होते हैं। उत्तराध्ययन,[2] प्रज्ञापना,[3] मूलाचार[4] और धवला[5] आदि श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में पृथ्वीकायिक जीवों की विस्तृत चर्चा है, और उनके विविध भेद-प्रभेद भी बतलाए गए हैं। पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर का आकार मसूर की दाल के सदृश होता है[6]। जलकाय स्थावर नाम-कर्म के उदय से, जलकाय वाले जीव, जलकायिक एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं[7]। जीवाजीवाभिगम[8] और मूलाचार[9] में ओस, हिम, महिग (कुहरा), हरिद, अणु (ओला), शुद्ध जल, शुद्धोदक और घनोदक की अपेक्षा से जलकायिक जीव आठ प्रकार के बतलाये गये हैं।

अग्निकाय स्थावर नाम-कर्म के उदय से जिन जीवों की अग्निकाय में उत्पत्ति होती है, उन्हें अग्निकायिक एकेन्द्रिय जीव कहते हैं। उत्तराध्ययन,[10] प्रज्ञापना,[11] और मूलाचार[12] में अग्निकायिक जीवों के अनेक भेद-प्रभेद निर्दिष्ट हैं। सूचिका की नोक की तरह अग्निकायिक जीवों की आकृति होती है[13]।

---

१. धवला १/१/१/४५
२. उत्तराध्ययन ३६/७३–७६
३. प्रज्ञापना १/८
४. मूलाचार २०६–२०६
५. धवला १/१/१/४२
६. गोम्मटसार जीवकाण्ड, २०१
७. तत्त्वार्थ वार्तिक 2/१३
८ जीवाजीवाभिगम सूत्र १/१६
९. मूलाचार ५/१४
१०. उत्तराध्ययन ३६/११०–१११
११. प्रज्ञापना १/२३
१२. मूलाचार ५/१५
१३. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २०१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वायुकाय स्थावर नाम-कर्म के उदय से वायुकाय युक्त जीव वायुकायिक एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। उत्तराध्ययन,[1] प्रज्ञापना,[2] धवला[3] और मूलाचार[4] में वायुकाय के जीवों के अनेक भेद प्ररूपित हैं।

वनस्पतिकाय स्थावर नाम-कर्म के उदय से वनस्पतिकाय युक्त जीव वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीव की अभिधा से अभिहित किये गये हैं[5]। वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के हैं—'प्रत्येक शरीरी' और 'साधारण शरीरी'[6]। जिन वनस्पतिकायिक जीवों का अलग-अलग शरीर होता है—वे प्रत्येक शरीर वनस्पतिकायिक शरीर कहलाते हैं[7]। दूसरे शब्दों में एक शरीर में एक जीव रहने वाले को प्रत्येक शरीरी वनस्पति कहा[8] है। आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित की अपेक्षा से वनस्पतिकायिक जीव के दो भेद किए[9] हैं। इन दोनों में मुख्य अन्तर यही है कि प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव के आश्रय में अन्य अनेक साधारण जीव रहते हैं, पर अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव के आश्रित अन्य निगोदिया जीव नहीं रहते[10]। उत्तराध्ययन में प्रत्येक शरीरी वनस्पति के बारह प्रकार बताये हैं[11]। साधारण शरीर नामकर्म के उदय से जिन अनन्त जीवों का एक ही शरीर होता है, उन्हें साधारण वनस्पतिकायिक जीव कहते हैं[12]। साधारण शरीर जीवों का आहार, श्वासोच्छ्वास, उनकी उत्पत्ति, उनके शरीर की निष्पत्ति, अनुग्रह, साधारण ही होते हैं[13]। एक जीव की उत्पत्ति से सभी जीवों की उत्पत्ति और एक के मरण से सभी का मरण होने से साधारण शरीरी वनस्पति जीव निगोदिया जीव के नाम से भी जाने जाते हैं[14]। निगोदिया जीव संख्या की दृष्टि से अनन्त हैं। स्कन्ध,

---

१. उत्तराध्ययन ३६/११६–१२०
२. प्रज्ञापना १/२६
३. धवला १/१/१/४२
४. मूलाचार ५/१६
५. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १८५
६. षट्खण्डागम १/१/१/४१
७. धवला १/६/१/४१
८. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, जीव तत्त्व प्रदीपिका, १८५
९ गोम्मटसार, जीव प्रदीपिका टीका, गाथा १८५
०. गोम्मटसार, जीव प्रदीपिका टीका, गाथा १८६
१. उत्तराध्ययन ३६/९५–९६
२. (क) धवला १३/५/५/१०१ (ख) सर्वार्थसिद्धि, ८/११
३. षट्खण्डागम १४/५/६/१२२–१२५
४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, गाथा १२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अण्डर (स्कन्धों के अवयव), आवास (अण्डर के अन्दर रहने वाला भाग), पुलविका (भीतरी भाग) निगोदिया से जीवों का वर्णन किया गया है[1]।

इन पाँच स्थावरों में यह जीव असंख्यात और अनन्त काल तक रहा है। वहाँ पर उसने विविध प्रकार के दारुण कष्ट सहन किये हैं। जैन दर्शन की यह महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है कि उसने इन पाँचों में जीव मानकर उनका विश्लेषण किया है और उन स्थानों पर जीव ने किस-किस प्रकार की यातनाएं सहन की, उसका सजीव चित्रण आचार्य सिद्धर्षि ने प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है। जब इस वर्णन को प्रबुद्ध पाठक पढ़ता है तो वह चिन्तन करने के लिए बाध्य हो जाता है कि मेरी आत्मा ने मिथ्यात्व अवस्था में किस प्रकार इस संसार की यात्रा की है, चिरकाल तक कष्टों में झुलसने के पश्चात् अनन्त पुण्यवाणी का पुञ्ज, जब जीवात्मा ने एकत्र किया तब वह एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय बना, स्थावर से त्रस बना। एकेन्द्रिय अवस्था में केवल एक स्पर्शेन्द्रिय थी, उसमें अन्य इन्द्रियों का अभाव था। एकेन्द्रिय अवस्था में स्पर्शन, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं। निगोद तो जीवों का खजाना है। उसमें इतने जीव हैं, जितने अन्य जीव-योनियों में नहीं हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में जो व्यवहार राशि और अव्यवहार राशि का उल्लेख हुआ है, वह दार्शनिक युग की देन है, आचार्य सिद्धर्षि गणी तक यह कल्पना वर्णन की दृष्टि से मूर्त्तरूप ले चुकी थी। अनेक श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्य उस पर अपनी लेखनी चला चुके थे। इसलिए आचार्य सिद्धर्षि ने भी उनका अनुसरण कर व्यवहार राशि एवं अव्यवहार राशि का सजीव वर्णन प्रस्तुत किया है। यदि पाठक-गण मूल ग्रन्थ का पारायण करेंगे तो उन्हें ज्ञानवर्द्धक विपुल सामग्री प्राप्त होगी।

हम पूर्व में लिख चुके हैं कि अनन्त पुण्यवाणी के पश्चात् द्वीन्द्रिय अवस्था को, जीव प्राप्त करता है। द्वीन्द्रिय अवस्था में स्पर्शन् और रसन्—ये दो इन्द्रियाँ उसे प्राप्त होती हैं। द्वीन्द्रिय अवस्था में चारों प्रकार के कषाय और आहार आदि चारों प्रकार की संज्ञाएं होती हैं। वे आत्माएं सम्मूर्च्छनज होती हैं। असंज्ञी और नपुंसक होती हैं। पर्याप्ति और अपर्याप्ति के भेद से वे दो प्रकार की होती हैं। जीवाजीवाभिगम[2], प्रज्ञापना[3], और मूलाचार[4] में द्वीन्द्रिय जीवों के नामों की सूची दी गई है। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय अवस्था को भी इस जीवात्मा ने अनन्त बार प्राप्त किया है। पञ्चेन्द्रिय में वह नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव योनियों को प्राप्त हुआ तथा वहाँ पर उसे मन की भी उपलब्धि हुई जिससे वह

---

१. धवला १४/५/६/६३
२. जीवाजीवाभिगम, १/२२
३. प्रज्ञापना १/४४
४. मूलाचार ५/२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संज्ञी कहलाया। तिर्यञ्च गति में भी उसने अनेक कष्ट सहन किये। वह जीव वहाँ पर भयंकर शीत, ताप, क्षुधा और प्यास को सहन करता रहा, उस पर भयंकर ताड़ना और तर्जना पड़ी। परवशता में आत्मा ने वे दुःख और कष्ट सहन किये। नरक तो दुःखों का आगार है ही। केशववर्णी ने गोम्मटसार की जीव प्रबोधिनी टीका में स्पष्ट रूप से लिखा है—प्राणियों को दुखित करने वाला, स्वभाव से च्युत करने वाला, नरक कर्म है। और, इस कर्म के कारण उत्पन्न होने वाले जीव नारकीय कहलाते हैं।[1] नारकीय जीवों को अत्यधिक दुःख सहन करने पड़ते हैं[2]। भगवती आदि आगम साहित्य में वर्णन है कि नारकीय जीवों को अतीव दारुण वेदनायें भोगनी पड़ती हैं। क्षेत्रकृत और देवकृत, दोनों ही प्रकार की नारकीय वेदनायें सहन करनी पड़ती हैं। ये वेदनायें इतनी भयंकर होती हैं कि उन्हें सहन करते समय प्राणी छटपटाता है, करुण क्रन्दन करता है। ये सारी वेदनायें जीव ने एक बार नहीं, अनन्त-अनन्त बार भोगी हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में कलम के धनी आचार्य ने जो वेदना का शब्द-चित्र प्रस्तुत किया है, वह बड़ा ही अद्भुत है, अनूठा है। इस जीव की जो यात्रायें विविध योनियों में हुई, उसका मूल कारण, कर्म है। कर्म राजा ने ही जीव को परतन्त्रता की बेड़ियों में बांध रखा है।

शुद्धि और अशुद्धि की दृष्टि से संसारी आत्मा के दो भेद हैं—एक भव्यात्मा और दूसरी अभव्यात्मा। जिस आत्मा में मोक्ष प्राप्त करने की शक्ति है, वह भव्यात्मा है; जैसे जो मूंग सीझने योग्य हैं, उन्हें अग्नि आदि का अनुकूल साधन मिलने पर सीझ जाते हैं। उसी तरह जो आत्मायें मुक्त होने की योग्यता रखती हैं, उन्हें सम्यग् दर्शन आदि निमित्त सामग्री के मिलने पर, वे कर्मों को पूर्ण रूप से नष्ट कर शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेती हैं। यह शक्ति जिन जीवों में होती हैं—वे भव्यात्मा कहलाते हैं[3]। इसके विपरीत अभव्य आत्मा होती है। वे 'मूंग शैलिक' जो कभी नहीं सीझता, उसी तरह अभव्य जीव को देव, गुरु, धर्म का निमित्त मिलने पर भी, वह मुक्ति को वरण नहीं कर पाता। वह सदा-सर्वदा संसार में ही परिभ्रमण करता है।

अध्यात्म की दृष्टि से आत्मा के तीन भेद किए गये हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। ये आत्मा के तीन भेद आगम साहित्य में तो नहीं आये हैं, पर

---

१. (क) नरान् प्राणिनः, कायति यातयति, कदर्थयति, खलीकरोति, बाधत इति नरकं कर्म तस्यापत्यानि नारकाः। —गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १४१
(ख) धवला १/१/१/२४

२. तत्वार्थ वार्तिक २/५०३

३. (क) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५५६
(ख) ज्ञानार्णव ६/२०/६/२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य कुन्दकुन्द[1], पूज्यपाद[2], योगेन्दु[3], शुभचन्द्र आचार्य[4], स्वामी कार्तिकेय[5], अमृतचन्द्र[6], गुणभद्र[7], अमितगति, देवसेन[8], और ब्रह्मदेव[9], प्रभृति मूर्धन्य मनीषियों ने अपने-अपने ग्रन्थों में उपर्युक्त तीन आत्माओं का उल्लेख किया है। तीन आत्माओं की चर्चा प्राचीन जैन साहित्य में इस रूप में न होकर अन्य रूप में उपलब्ध है। यह सत्य है कि बहिरात्मा और अन्तरात्मा जैसी शब्दावली आचारांग सूत्र में प्रयुक्त नहीं है, तो भी, उनका लक्षण और विवेचन वहाँ पर किया गया है। जो आत्माएं बहिर्मुखी हैं, उनके लिए बाल, मंद और मूढ़ शब्द का प्रयोग किया गया है। वे ममता से मुग्ध होकर बाह्य विषयों में रस लेती हैं। जो आत्माएं अन्तर्मुखी हैं, उनके लिए पण्डित, मेधावी, धीर, सम्यक्त्वदर्शी और अनन्यदर्शी प्रभृति शब्द व्यवहृत हुए हैं। पाप से मुक्त होकर सम्यग्दर्शी होना ही अन्तरात्मा का स्वरूप है। मुक्त आत्मा को आचारांग में विमुक्त, पारगामी, तर्क तथा वाणी से अगम्य बतलाया गया है।

जो आत्मा अज्ञान के कारण अपने सही स्वरूप को भूलकर आत्मा से पृथक् शरीर, इन्द्रिय, मन, स्त्री, पुरुष, धन आदि पर-पदार्थों में अपनत्व का आरोपण कर उनके भोगों में आसक्त बनी रहती है, वह बहिरात्मा है। बहिरात्मा के भी द्रव्य-संग्रह की टीका में तीन भेद किये गये हैं—१. तीव्र बहिरात्मा—प्रथम मिथ्यात्व गुण-स्थानवर्ती आत्मा, २. मध्यम बहिरात्मा—द्वितीय सासादन गुणस्थानवर्ती आत्मा, ३. मंद बहिरात्मा—तृतीय मिश्र गुणस्थानवर्ती आत्मा। बहिरात्मा मिथ्यात्वी होता है, उसे स्व-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। मिथ्यात्व के कारण ही उसकी प्रवृत्ति अशुभ की ओर होती है[10]। तथागत बुद्ध ने भी कहा है कि मिथ्यात्व ही अशुभाचरण का कारण है[11]। श्रीमद् भगवद् गीता में भी यही भाव इस रूप में व्यक्त किया गया है—रजोगुण से समुद्भव काम ही ज्ञान को आवृत्त कर, व्यक्ति को बलात् पाप की

१. मोक्ष पाहुड़, गाथा ४
२. समाधि शतक, पद्य ४
३. (क) परमात्म प्रकाश १/११-१२ (ख) योगसार, ६
४. ज्ञानार्णव, ३२/५
५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १९२
६. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
७. आत्मानुशासन
८. ज्ञानसार, गाथा २९
९. द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा १४
१०. इसिभासियाइं सुत्त, २१/३
११. अंगुत्तर निकाय १/१७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओर प्रेरित करता है[1]। मिथ्यात्व से यथार्थ का बोध नहीं होता। मिथ्यात्व एक ऐसा रंगीन चश्मा है, जो वस्तु-तत्त्व का अयथार्थ भ्रान्त रूप प्रस्तुत करता है। अज्ञान, अविद्या और मोह के कारण ही जीव इस स्वरूप में रहता है।

मिथ्यात्व के अभाव से जब अन्तर्हृदय में सम्यक्त्व का दिव्य आलोक जगमगाने लगता है, तब जीव, आत्मा और शरीर के भेद समझने लगता है। और, बाह्य पदार्थों से वह ममत्व बुद्धि हटाकर अपने सही स्वरूप की ओर उन्मुख हो जाता है। अन्तरात्मा देहात्मबुद्धि से रहित होता है। वह भेद-विज्ञान से स्व और पर की भिन्नता को समझ लेता है।[2] आत्म-गुण के विकास की दृष्टि से नियमसार की तात्पर्य वृत्ति टीका में अन्तरात्मा के भी तीन भेद किए हैं[3]— १. जघन्य अन्तरात्मा[4]—अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आत्मा, २. मध्यम आत्मा[5]—पांचवें गुणस्थान से उपशान्त मोह गुणस्थानवर्ती तक के जीव इस श्रेणी में आते हैं, ३. उत्कृष्ट अन्तरात्मा[6]—बारहवें गुणस्थानवर्ती आत्मा इस श्रेणी में आते हैं।

कर्ममल से मुक्त राग-द्वेष विजेता, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी आत्मा ही परमात्मा है। शुद्धात्मा को परमात्मा कहा गया है। परमात्मा के अर्हन्त और सिद्ध—ये दो भेद किए गए हैं। तथा सकल परमात्मा और विकल परमात्मा—ये दो भेद भी किए गए हैं। बृहद् नयचक्र में परमात्मा के कारण-परमात्मा और कार्य-परमात्मा ये दो भेद किए गए हैं। अर्हन्त सकल-परमात्मा और कारण-परमात्मा के नाम से पहचाने जाते हैं, तो सिद्ध विकल-परमात्मा और कार्य-परमात्मा के नाम से जाने जाते हैं। अन्य भारतीय दर्शनों में आत्मा के ये तीन रूप उल्लिखित नहीं हैं, पर इससे मिलता-जुलता रूप हम कठोपनिषद् में देखते हैं। वहाँ पर आत्मा के ज्ञानात्मा, महदात्मा और शान्तात्मा, ये तीन भेद किए गए हैं।[7] छान्दोग्योपनिषद् के आधार पर डायसन ने आत्मा की तीन अवस्थाएं बताई हैं—शरीरात्मा, जीवात्मा और परमात्मा[8]। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से साम्य देखा जा सकता है। बहिरात्मा से परमात्मा तक पहुँचने के लिये एक बहुत लम्बी यात्रा तय करनी पड़ती है। उस यात्रा में अनेक बाधायें समय-समय पर समुत्पन्न होती हैं—कभी उसे मिथ्यात्व रोकता है तो, कभी उसे कषाय और राग-द्वेष आगे बढ़ने में रुकावट डालते हैं। बहिरात्मा उनमें उलझ

---

१. श्रीमद् भगवद्गीता ३/३६
२. मोक्खपाहुड़ ५/६
३. नियमसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, गाथा १४६
४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १६७
५. (क) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १६६ (ख) द्रव्य संग्रह टीका, गाथा १४१
६. सत्यशासन परीक्षा का०
७. कठोपनिषद् १/३/१३
८. परमात्मप्रकाश की अंग्रेजी प्रस्तावना (आ० ने० उपाध्ये) पृष्ठ ३१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है। दर्शन मोहनीय कर्म के कारण जीव अनात्मीय पदार्थों को आत्मीय और अधर्म को धर्म मानता है। जैन दृष्टि से आत्मा के स्वगुणों और यथार्थ स्वरूप को आवरण करने वाले कर्मों में मोह का आवरण ही मुख्य है। मोह का आवरण हटते ही शेष आवरण सहज रूप से हटाये जा सकते हैं। जिसके कारण कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का भान नहीं होता, उसे दर्शन मोह कहते हैं। और, जिसके कारण आत्मा स्व-स्वरूप में स्थित होने का प्रयास नहीं करता, वह चारित्र मोह है। दर्शन मोह से विवेक बुद्धि कुण्ठित होती है तो चारित्र मोह से सद्प्रवृत्ति कुण्ठित होती है। अतः आध्यात्मिक विकास के लिये दो कार्य आवश्यक हैं—पहला, स्व-स्वरूप और पर-स्वरूप का यथार्थ विवेक, और दूसरा है—स्व-स्वरूप में अवस्थिति। आत्मा को स्व-स्वरूप के लाभ हेतु और आध्यात्मिक आदर्श की उपलब्धि के लिये दर्शन मोह, चारित्र मोह पर विजय-वैजयन्ती फहरानी होती है। इस विजय यात्रा में उसे सदैव जय प्राप्त नहीं होती, वह अनेक बार पतनोन्मुख हो जाता है। उसी का चित्रण आचार्य सिद्धर्षि ने बड़ी खूबी के साथ उपस्थित किया है। जो भी साधक विजय-यात्रा के लिये प्रस्थित होता है, उसे विजय और पराजय का सामना करना ही पड़ता है। पराजित होने पर यदि वह सम्भल नहीं पाता तो पुनः वह उसी स्थिति को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से उसने विजय-यात्रा प्रारम्भ की थी। अन्तरात्मा में पहुँचा हुआ आत्मा भी पुनः बहिरात्मा बन जाता है। उसकी विकास यात्रा में बाधा समुत्पन्न करने वाले अनेक कर्म-शत्रुओं की प्रकृतियां रही हुई हैं। कभी कोई प्रकृति अपना प्रभाव दिखाती है, तो कभी कोई प्रकृति।

हम पूर्व ही बता चुके हैं कि विकास यात्रा में अवरोध उत्पन्न करने वाला एक प्रमुख कारण कषाय है। कषाय जैन धर्म का एक पारिभाषिक शब्द है। 'कष' और 'आय' इन दो शब्दों के संयोग से 'कषाय' शब्द बना है। यहाँ पर 'कष' का अर्थ संसार है अथवा कर्म और जन्म-मरण है। 'आय' का अर्थ लाभ है। जिससे जीव पुनः-पुनः जन्म और मरण के चक्र में पड़ता है— वह 'कषाय' है। कषाय आवेगात्मक अभिव्यक्तियां हैं। तीव्र आवेग को कषाय कहते हैं और मंद आवेग या तीव्र आवेगों के प्रेरकों को नौ कषाय कहते हैं। नौ कषाय के हास्य, रति, अरति, भय, शोक, प्रभृति नौ प्रकार हैं। कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ, चार प्रकार का है, और प्रत्येक कषाय के तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और अल्प की दृष्टि से चार-चार विभाग हैं। जब तीव्रतम क्रोध आता है, तो उस आत्मा का दृष्टिकोण विकृत हो जाता है, तीव्रतर क्रोध में आत्म-नियंत्रण की शक्ति नहीं रहती, तीव्र क्रोध आत्म-नियंत्रण की शक्ति में बाधा समुत्पन्न करता है और मंद क्रोध वीतरागता उत्पन्न नहीं होने देता। क्रोध एक मानसिक उद्वेग है, उसके कारण मानव की चिन्तन-शक्ति और तर्क-शक्ति कुण्ठित हो जाती है, जिससे उसे हिताहित का भान नहीं रहता। वह उस आवेग में ऐसे अकृत्य कर बैठता है, जिसका पश्चात्ताप उसे चिर-काल तक बना रहता है। क्रोध की उत्पत्ति सहेतुक और निर्हेतुक दोनों प्रकार से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती है। प्रिय वस्तु का वियोग होने पर जो क्रोध उभर कर आता है, वह सहेतुक क्रोध है[1]। किसी बाहरी निमित्त के बिना केवल क्रोध वेदनीय पुद्गलों के प्रभाव से जो क्रोध उत्पन्न होता है, वह निर्हेतुक क्रोध है।[2] भगवती सूत्र में क्रोध के दो रूप बताये हैं—एक द्रव्य क्रोध और दूसरा भाव क्रोध। द्रव्य क्रोध से शारीरिक परिवर्तन होता है, वे शरीर की विविध भाव-भंगिमाएं क्रोध को व्यक्त करती हैं। भाव क्रोध मानसिक अवस्था है, वह अनुभूत्यात्मक पक्ष है। अनुभूत्यात्मक पक्ष भाव क्रोध है और क्रोध का अभिव्यक्त्यात्मक पक्ष द्रव्य क्रोध है। एकेन्द्रिय आदि सभी सांसारिक जीवों में तीव्रतम, तीव्रतर आदि सभी प्रकार के क्रोध रहते हैं, पर अभिव्यक्ति का साधन स्पष्ट न होने से उनकी अनुभूति दूसरे व्यक्ति नहीं कर पाते। क्रोध की तरह मान भी एक आवेग है। मान के कारण व्यक्ति स्वयं को महान और दूसरों को हीन समझता है। मान के कारण भी आत्मा अनेक अनर्थ समय-समय पर करता रहा है। उसके भी तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और अल्प—ये चार भेद हैं। क्रोध में व्यक्ति अपने प्रतिद्वन्द्वी को नष्ट करना चाहता है तो मान में अपने से छोटा बनाकर, अपने अधीन रखना पसन्द करता है। यही क्रोध और मान में अन्तर है। कषाय का तीसरा प्रकार माया है। माया का अर्थ कपट है। जहाँ कपट है, वहाँ पर सरलता का अभाव रहता है। कपट शल्य है, इस शल्य के कारण साधना में प्रगति नहीं होती। और, चौथा प्रकार कषाय का लोभ है। लोभ को पाप का बाप कहा गया है। वह समस्त सद्गुणों को निगल जाने वाला राक्षस है[3], सम्पूर्ण दुःखों का मूल है। क्रोध से प्रीति का, मान से विनय का, माया से मित्रता का और लोभ से सभी सद्गुणों का नाश होता है।[4]। लोभ सभी कषायों में निकृष्टतम है। क्रोध वर्तमान जन्म और आगामी जन्म, दोनों के लिये, भय समुत्पन्न करता है।[5] लोभ के वशीभूत होकर प्राणी सदैव दुःख उठाता रहा है। इसीलिये ज्ञानियों ने कहा कि जन्म-मरण रूपी वृक्ष का सिञ्चन करने वाले कषायों का परित्याग करना चाहिये। सहज जिज्ञासा हो सकती है—इन आवेगों पर किस प्रकार नियन्त्रण किया जाये? पाश्चात्य दार्शनिक स्पीनोजा का अभिमत है कि कोई भी आवेग अपने विरोधी और अधिक सशक्त आवेग के द्वारा ही नियन्त्रित किया जा सकता है, और उसे नष्ट भी किया जा सकता है।[6] आचार्य शय्यम्भव ने भी इसी बात को अपने शब्दों में

---

१. स्थानांग सूत्र १०/७

२. अपइट्ठिए कोहे—निरालम्बन एव केवलं क्रोधवेदनीयोदयादुपजायेत।

—प्रज्ञापना, वृत्ति पत्र १४

३. योगशास्त्र ४/१०; १८

४. दशवैकालिक ८/३८

५. उत्तराध्ययन ६/५४

६. स्पीनोजा नीति, अनुवादक-दीवानचन्द्र, हिन्दी समिति उ० प्र०, ४/७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—'शान्ति से क्रोध पर, मृदुता से मान पर, सरलता से माया पर और सन्तोष से लोभ पर विजय-पताका फहराई जा सकती है।'[1] इसी सत्य पर तथागत बुद्ध[2] ने और महर्षि व्यास[3] ने भी स्वीकार किया है।

कषायों का नष्ट हो जाना ही भव-भ्रमण का अन्त है, इसीलिये एक जैनाचार्य ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है—'कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव'—कषायों से मुक्त होना ही वास्तविक मुक्ति है। सूत्रकृताङ्ग में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार महादोषों को छोड़ने वाला ही महर्षि, न तो पाप करता है और न करवाता है।[4] तथागत बुद्ध ने कहा कि जो व्यक्ति राग, द्वेष आदि कषायों को बिना छोड़े काषाय वस्त्रों को अर्थात् सन्यास धारण करता है तो वह संयम का अधिकारी नहीं है। संयम का अधिकारी वही होता है, जो कषाय से मुक्त है। जिसके अन्तर्मानस में क्रोध की आँधी आ रही हो, मान के सर्प फूत्कारें मार रहे हों, माया और लोभ के बवण्डर उठ रहे हों, राग और द्वेष का दावानल धूं-धूं कर सुलग रहा हो, वह साधना का अधिकारी नहीं है; साधना का वही अधिकारी है, जो इन आवेगों से मुक्त है। इसीलिए प्रस्तुत कथानक में यह बताया गया है कि आत्मा, कभी क्रोध के वशीभूत होकर, कभी मान के कारण और कभी माया से प्रभावित होकर, अपने गन्तव्य मार्ग से विस्मृत होती रही है। प्रबल पुरुषार्थ से उसने कषायों पर विजय प्राप्त की, पर उसके बाद भी कभी वेदनीय कर्म ने उसके मार्ग में बाधा उपस्थित की, तो कभी ज्ञानावरणीय कर्म ने उसकी प्रगति में प्रश्नचिह्न उपस्थित किया। उसकी गति में यति होती रही। एक-एक कर्म-शत्रुओं को परास्त कर वह आगे बढ़ा, यहाँ तक कि उसने मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशमन कर वीतरागता ही प्राप्त कर ली। किन्तु, पुनः उसका ऐसा पतन हुआ कि ग्याहरवें गुणस्थान से प्रथम गुणस्थान में पहुँच गया। जहाँ से उसने विकास यात्रा प्रारम्भ की थी, पुनः उसी स्थिति को प्राप्त हो गया। पर, उस आत्मा ने पुरुषार्थ न छोड़ा, 'पुनरपि दधिदधिनी' की उक्ति को चरितार्थ करता रहा।

आचार्य सिद्धर्षि गणी ने इन तथ्यों को कथा के माध्यम से प्रस्तुत कर साधकों के लिए पथ प्रदर्शन का कार्य किया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्येक वृत्तियों का सजीव चित्रण हुआ है। आचार्य ने विकास में जो भी बाधक तत्त्व हैं, उन सभी को एक-एक कर प्रस्तुत किया है। इस प्रकार यह कथा अपने आत्म-विकास की कथा है, जो बहुत ही प्रेरक है और साधक को अन्तर्निरीक्षण के लिये उत्प्रेरित करती है।

---

१. दशवैकालिक ८/३९

२. धम्मपद २२३

३. महाभारत, उद्योग पर्व,,

४. सूत्रकृताङ्ग, १/६/२६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्यात्मरसिक कवि द्यानतराय ने जीव के भवभ्रमण की पीड़ा को व्यक्त करते हुए लिखा है—

हम तो कबहु न निज घर आये ।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये ।।

निज घर हमारा आत्मस्वरूप है और पर घर यह संसार है । अनन्त काल से यह जीवात्मा कर्म के अनुसार त्रिविध योनियों में भटक रहा है । इस भटकन और भ्रमण का कारण कर्म है, जो आत्मा के साथ बंधे हुए हैं, चिपके हुए हैं । यहाँ यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि आत्मा सुख के सर-सब्ज बाग को भी स्वयं ही लगाता है और दुःख के नुकीले कांटे भी वही बोता है, तो फिर इतना दुःख और वैषम्य किस कारण से है ? मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यदि हम चिन्तन करें कि जब आत्मा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है, तो उसने स्वयं के सुख के लिए अनाचार/भ्रष्टाचार का सेवन कर दुःख के कांटे क्यों बोए ? इस जिज्ञासा का समाधान जैन मनीषियों ने कर्म-सिद्धान्त के द्वारा दिया है । उनका मन्तव्य है कि जीव अपने भाग्य का विधाता स्वयं है, पर वह अनादि काल से कर्म के बन्धनों से आबद्ध है, जिससे वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र और आनन्दमय होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से स्वतन्त्र और आनन्दमय नहीं है । जीव जो भी क्रिया करता है, उसका नाम कर्म है । कर्म शब्द विभिन्न अर्थों में व्यवहृत हुआ है । किन्तु, जैन दर्शन में कर्म शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में हुआ है । आचार्य देवेन्द्र ने लिखा है कि 'जीव की क्रिया का जो हेतु है, वह कर्म है[1] ।' पंडित सुखलाल जी का मन्तव्य है कि 'मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म है[2] ।' इस प्रकार कर्महेतु और क्रिया, दोनों ही कर्म के अन्तर्गत हैं । जैन परम्परा में कर्म के दो पक्ष हैं—राग, द्वेष, कषाय प्रभृति मनोभाव और दूसरा है—कर्म पुद्गल । कर्म पुद्गल क्रिया का साधन/निमित्त है और राग-द्वेष आदि क्रिया है । कर्म पुद्गल जो प्राणि की शारीरिक, मानसिक और वाचिक क्रिया के कारण आत्मा की ओर आकर्षित होकर, उससे अपना सम्बन्ध स्थापित कर कर्म शरीर की रचना करते हैं और समय विशेष के पकने पर अपने फल के रूप में विशेष प्रकार की अनुभूतियां देकर पृथक् हो जाते हैं, उन्हें जैन दर्शन की भाषा में द्रव्य-कर्म कहा गया है । गोम्मटसार में आचार्य नेमीचन्द्र ने लिखा है—पुद्गल पिण्ड 'द्रव्य-कर्म' है और चेतना को प्रभावित करने वाली शक्ति 'भाव-कर्म' है । द्रव्य-कर्म सूक्ष्म कार्माण जाति के परमाणुओं का विकार है और आत्मा उसका निमित्त कारण है । आचार्य विद्यानन्दि ने द्रव्य-कर्म को आवरण और भाव-कर्म को दोष कहा है । क्योंकि, द्रव्य-कर्म आत्म-शक्तियों के

---

१. कर्मविपाक (कर्म ग्रन्थ १)
२. दर्शन और चिन्तन, हिन्दी, पृष्ठ २२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकटन में बाधक है इसलिए उसे आवरण कहा है और भाव-कर्म आत्मा की विभाव अवस्था है इसलिए उसे दोष कहा है। जैन दर्शन ने आवरण और दोष या द्रव्यकर्म और भाव-कर्म के बीच कार्य-कारण-भाव माना है[1]। भाव-कर्म के होने में द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्य-कर्म में भाव-कर्म निमित्त है। दोनों का परस्पर बीजांकुर की तरह, कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध है। जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज बनता है, उनमें से किसी को भी पूर्वापर नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म में भी पहले कौन है या बाद में कौन है, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। द्रव्य-कर्म की दृष्टि से भाव-कर्म पहले है और भाव-कर्म के लिए द्रव्य-कर्म पहले होगा। वस्तुतः इनमें सन्तति की अपेक्षा से अनादि कार्य-कारण-भाव है।

जैन दृष्टि से द्रव्य-कर्म पुद्गल जन्य हैं, इसलिये मूर्त्त हैं। कर्म मूर्त्त हैं, तो फिर अमूर्त्त आत्मा पर अपना प्रभाव किस प्रकार डालते हैं? जैसे वायु और अग्नि अमूर्त्त आकाश पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकती, उसी तरह अमूर्त्त आत्मा पर मूर्त्त कर्म का प्रभाव नहीं हो सकता। इस जिज्ञासा का समाधान मूर्धन्य मनीषियों ने इस प्रकार किया है—जैसे अमूर्त्त ज्ञान आदि गुणों पर मूर्त्त मदिरा आदि नशीली वस्तुओं का प्रभाव पड़ता है वैसे ही अमूर्त्त जीव पर भी मूर्त्त कर्म का प्रभाव पड़ता है। दूसरी बात यह है कि कर्म के सम्बन्ध से संसारी आत्मा कथंचित् मूर्त्त भी है। कर्म-सम्बन्ध होने के कारण स्वरूपतः अमूर्त्त होने पर भी कथंचित् मूर्त्त होने से उस पर मूर्त्त कर्म का उपघात, अनुग्रह और प्रभाव पड़ता है। जब तक आत्मा कर्म-शरीर के बन्धन से मुक्त नहीं होता तब तक वह कर्म के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मूर्त्त शरीर के माध्यम से मूर्त्त कर्म का प्रभाव पड़ता है। यहाँ यह भी सहज जिज्ञासा हो सकती है कि मूर्त्त कर्म अमूर्त्त आत्मा से किस प्रकार सम्बन्धित होते हैं? इस जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार किया गया है कि, जैसे मूर्त्त घट अमूर्त्त आकाश के साथ सम्बन्धित होता है वैसे ही मूर्त्त कर्म अमूर्त्त आत्मा के साथ सम्बन्धित होते हैं। यह आत्मा और कर्म का सम्बन्ध नीर-क्षीर-वत् होता है। यहाँ पर यह भी जिज्ञासा हो सकती है कि जड़ कर्म परमाणुओं का चेतन के साथ पारस्परिक प्रभाव को माना जाए तो सिद्धावस्था में भी जड़ कर्म शुद्ध आत्मा को प्रभावित करेंगे? पर, यह बात नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में लिखा है—स्वर्ण कीचड़ में चिरकाल तक रहता है, तो भी उस पर जंग नहीं लगता, पर लोहा तालाब में भी कुछ समय तक रहे तो जंग लग जाता है, वैसे ही सिद्ध आत्मा स्वर्ण की तरह है, उस पर कर्मों का जंग नहीं लगता। जब तक आत्मा कार्मण शरीर से युक्त है, तभी तक उसमें कर्म-वर्गणाओं को ग्रहण करने की शक्ति रहती है। भाव-कर्म से ही द्रव्य-कर्म का आस्रव होता है। कर्म और आत्मा का सम्बन्ध आज का नहीं अनादि काल का है। जैन दृष्टि से शुभाशुभ

---

१. कर्म विपाक भूमिका, पृष्ठ २४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का फल स्वयं को ही भोगना पड़ता है, दूसरों को नहीं। श्रमण भगवान महावीर ने भगवती में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'प्राणी स्वकृत सुख-दुःख का भोग करते हैं, पर परकृत सुख-दुःख का भोग नहीं करते।' जातक साहित्य का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि बोधिसत्त्व के अन्तर्मानस में ये विचार लहरियां तरंगित होती हैं कि मेरे कुशल कर्मों का फल संसार के सभी प्राणियों को प्राप्त हो, पर जैन दर्शन इस विचार से सहमत नहीं है। जैसा हम कर्म करेंगे वैसा ही फल हमें मिलेगा। दूसरा व्यक्ति उस कर्म-विभाग में संविभाग नहीं कर सकता। जैन दर्शन ने कर्म सिद्धान्त के सम्बन्ध में अत्यधिक विस्तार से चिन्तन किया है। जैन दर्शन का कर्म सिद्धान्त इतना वैज्ञानिक और अद्भुत है कि विश्व का कोई भी चिन्तक उसे चुनौती नहीं दे सकता। उस गहन दार्शनिक सिद्धान्त को आचार्य सिद्धर्षि गणी ने प्रस्तुत ग्रन्थ में इस प्रकार संजोया है कि देखते ही बनता है। आचार्यश्री की प्रकृष्ट प्रतिभा ने ग्रन्थ में चार चाँद लगा दिये हैं। कर्म का जीव के साथ अनादि काल का सम्बन्ध है, पर जीव चाहे तो उन कर्मों को अपने प्रबल पुरुषार्थ से हटा सकता है। कर्म से मुक्त होने के लिए जैन मनीषियों ने चार उपाय बताये हैं। वे हैं--सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप।

आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन आवश्यक है। सम्यग्दर्शन का अर्थ--तत्त्व रुचि है, सत्य अभीप्सा है। सत्य की प्यास जब तीव्र होती है, तभी साधना मार्ग पर कदम बढ़ते हैं। उत्तराध्ययन[1] और तत्त्वार्थ सूत्र[2] में सम्यग्दर्शन शब्द तत्त्व-श्रद्धा के अर्थ में व्यवहृत हुआ है, तो आवश्यक सूत्र में देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा और भक्ति के अर्थ में सम्यग्दर्शन का प्रयोग है। सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्व और सम्यग्दृष्टि आदि शब्द समान अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। सम्यग्दृष्टि का जीव और जगत् के सम्बन्ध में सही दृष्टिकोण होता है। जबकि मिथ्यादृष्टि का जीव और जगत् के सम्बन्ध में गलत दृष्टिकोण होता है। मिथ्या दृष्टिकोण संसार का किनारा है और सम्यग्दृष्टिकोण निर्वाण का किनारा है[3]। सम्यग्दर्शन मुक्ति का अधिकार पत्र है। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता। सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यक्-चारित्र नहीं होता। और सम्यग्चारित्र के बिना मुक्ति नहीं होती। इसलिए सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन आध्यात्मिक जीवन का प्राण है, जैसे चेतनारहित शरीर शव है, वैसे ही सम्यग्दर्शन रहित साधना भी शव की तरह ही है।

सम्यग्दर्शन मुक्ति महल में पहुँचने का प्रथम सोपान है, इसलिये दर्शन पाहुड़[4] और रत्नकरण्ड श्रावकाचार[5] आदि में जीवन विकास के लिए ज्ञान और

१. उत्तराध्ययन २८/३५
२. तत्त्वार्थ सूत्र १/२
३. अंगुत्तर निकाय १०/१२
४. दर्श पाहुड़, गाथा, श्रावकाचार १/२८
५. रत्नकरण्डक श्रावकाचार १/२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारित्र के पूर्व दर्शन को स्वीकार किया है। सम्यग्दर्शन होने पर ही साधक को भेद-विज्ञान होता है और वह समझता है कि 'मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, निरंजन और निराकार हूँ। जो यह विराट विश्व में दिखलाई दे रहा है, वह पृथक् है और मैं पृथक् हूँ। आत्मा और शरीर ये पृथक्-पृथक् हैं। सुख और दुःख की जो भी अनुभूति हो रही है, वह मुझे नहीं किन्तु शरीर को है।' इस प्रकार भेद-विज्ञान का दीप जलते ही जीवन में समता का आलोक जगमगाने लगता है। इसीलिये आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा--'भेदविज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन'। जितने भी आज दिन तक सिद्ध हुए हैं, वे सभी भेद-विज्ञान से हुए हैं। वस्तुतः सम्यग्दर्शन एक जीवन-दृष्टि है। जीवन-दृष्टि के अभाव में जीवन का मूल्य नहीं है। जिस प्रकार की दृष्टि होती है उसी प्रकार की सृष्टि भी होती है अर्थात् दृष्टि की निर्मलता से ही ज्ञान भी निर्मल होता है और चारित्र भी। इसलिए सर्वप्रथम दृष्टि-निर्मलता को ही सम्यग्दर्शन कहा है।

इस विराट विश्व में ऐसी कोई भी आत्मा नहीं है, जिसमें ज्ञान गुण न हो। भगवती आदि आगमों में आत्मा को ज्ञानवान कहा है।[1] ज्ञान आत्मा का ऐसा गुण है, जो अविकसित से अविकसित अवस्था में भी विद्यमान रहता है, पर मिथ्यात्व के कारण ज्ञान अज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है। पर, ज्यों ही सम्यग्दर्शन का संस्पर्श होता है, अज्ञान ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—'ज्ञान ही मानव जीवन का सार है।' अविद्या के कारण ही पुनः-पुनः जन्म और मृत्यु के चक्कर में आत्मा आती रहती है। वह एक गति से दूसरी गति में परिभ्रमण करती है। जिस आत्मा में ज्ञान और प्रज्ञा होती है, वही आत्मा निर्वाण के समीप होती है। ज्ञान रूपी नौका पर आरूढ़ होकर पापी से पापी व्यक्ति भी संसार रूपी समुद्र को पार कर जाता है। ज्ञान ऐसी जाज्वल्यमान अग्नि है, जो कर्मों को भस्म कर देती है। इसीलिये कुरुक्षेत्र के मैदान में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि 'इस विश्व में ज्ञान के सदृश अन्य कोई भी पवित्र वस्तु नहीं है।' ज्ञान वह है, जो आत्मविकास करता हो। उसका दृष्टि-कोण सदा सत्यान्वेषी होता है। वह स्व का साक्षात्कार करता है। इसीलिये आचारांग के प्रारंभ में ही कहा गया कि 'साधक प्रतिपल, प्रतिक्षण यह चिन्तन करे कि, मैं कौन हूँ ?' छान्दोग्योपनिषद्[2] में भी ऋषियों ने कहा—जिसने एक आत्मा को जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। उपाध्याय यशोविजय जी ने ज्ञानसार ग्रन्थ में लिखा है, जो ज्ञान मोक्ष का साधक है—वह श्रेष्ठ है। और, जो ज्ञान मोक्ष की साधना में बाधक है, वह ज्ञान निरुपयोगी है। जिस ज्ञान से आत्मविकास नहीं होता,

---

१. (क) भगवती १२/१०
(ख) आचारांग, ५/५/१६६
(ग) समयसार, गाथा ७
(घ) स्वरूप-सम्बोधन, ४

२. छान्दोग्योपनिषद् ६/१/३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह ज्ञान सम्यक् ज्ञान नहीं है। आत्मज्ञान, इन्द्रियज्ञान, बौद्धिक ज्ञान से भी बढ़कर है। आत्मज्ञान को ही जैन मनीषियों ने सम्यग्ज्ञान कहा है।

सम्यग्ज्ञान की परिणति सम्यक् चारित्र है। सम्यक् चारित्र आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा में उठाया गया एक महत्त्वपूर्ण कदम है। आध्यात्मिक पूर्णता के लिये दर्शन की विशुद्धि के साथ ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान के बिना जो श्रद्धा होती है—वह सम्यक् श्रद्धा न हो कर, अन्ध श्रद्धा होती है। श्रद्धा जब ज्ञान से समन्वित होती है, तभी सम्यक्-चारित्र की ओर साधक की गति और प्रगति होती है। एक चिन्तक ने लिखा है—दर्शन परिकल्पना है, ज्ञान प्रयोग विधि है और चारित्र प्रयोग है। तीनों के सहयोग से ही सत्य का साक्षात्कार होता है।[1] जब तक सत्य स्वयं के अनुभव से सिद्ध नहीं होता, तब तक वह सत्य पूर्ण नहीं होता। इसीलिये श्रमण भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन में कहा—ज्ञान के द्वारा परमार्थ का स्वरूप जानो, श्रद्धा के द्वारा उसे स्वीकार करो और आचरण कर उसका साक्षात्कार करो। साक्षात्कार का ही अपर नाम सम्यक् चारित्र है।

सम्यक् चारित्र से आत्मा में जो मलिनता है, वह नष्ट होती है। क्योंकि, जो मलिनता है, वह स्वाभाविक नहीं, अपितु वैभाविक है, बाह्य है, और अस्वाभाविक है। उस मलिनता को ही जैन दार्शनिकों ने कर्म-मल कहा है, तो गीताकार ने उसे त्रिगुण कहा है और बौद्ध दार्शनिकों ने उसे बाह्य-मल कहा है। जैसे अग्नि के संयोग से पानी उष्ण होता है, किन्तु अग्नि का संयोग मिटते ही पानी पुनः शीतल हो जाता है, वैसे ही आत्मा बाह्य संयोगों के मिटने पर अपने स्वाभाविक रूप में आ जाता है। सम्यक् चारित्र बाह्य संयोगों से आत्मा को पृथक् करता है। सम्यक् चारित्र से आत्मा में समत्व का संचार होता है। यही कारण है कि प्रवचनसार[2] में आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि, चारित्र ही वस्तुतः धर्म है। जो धर्म है, वह समत्व है। जो समत्व है, वही आत्मा की मोह और क्षोभ से रहित शुद्ध अवस्था है। चारित्र का सही स्वरूप समत्व की उपलब्धि है। चारित्र के भी दो प्रकार हैं—व्यवहार चारित्र और निश्चय चारित्र। आचरण के जो बाह्य विधि-विधान हैं, उसे व्यवहार चारित्र कहा गया है और जो आचरण का भाव पक्ष है, वह निश्चय चारित्र है। व्यवहार चारित्र में पञ्च महाव्रत, तीन गुप्तियां, पञ्च समिति और पञ्च चारित्र आदि का समावेश है, तो निश्चय चारित्र में राग-द्वेष, विषय और कषाय को पूर्ण रूप से नष्ट कर आत्मस्थ होना है। सम्यक् चारित्र से सद्गुणों का विकास होता है। सम्यक् चारित्र से साधना में पूर्णता आती है।

---

१. जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग २, पृष्ठ ८४, डॉ. सागरमल जैन, प्र० प्राकृत भारती जयपुर

२. प्रवचनसार १/७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक् चारित्र के अन्तर्गत सम्यक् तप का भी उल्लेख हुआ है। तत्त्वार्थ-सूत्र प्रभृति ग्रन्थों में सम्यक् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र—इस त्रिविध साधना मार्ग का उल्लेख है, तो उत्तराध्ययन आदि में चतुर्विध साधना का निरूपण हुआ है। उसमें सम्यक् तप को चतुर्थ साधना का अंग माना है। तप साधक के जीवन का तेज है, ओज है। तप आत्मा के परिशोधन की प्रक्रिया है, पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट करने की एक वैज्ञानिक पद्धति है। तप के द्वारा ही पाप कर्म नष्ट होते हैं, जिससे आत्म-तत्त्व की उपलब्धि होती है और आत्मा का शुद्धिकरण होता है। अनन्त काल से कर्म-वर्गणाओं के पुद्गल राग-द्वेष व कषाय के कारण आत्मा के साथ एकी-भूत हो चुके हैं। उन कर्म-पुद्गलों को नष्ट करने के लिये तप आवश्यक है। तप से कर्म-पुद्गल आत्मा से पृथक् होते हैं और आत्मा की स्वशक्ति प्रकट होती है तथा शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि होती है। तप का लक्ष्य है—आत्मा का विशुद्धीकरण व आत्म परिशोधन। जैन-परम्परा में ही नहीं, वैदिक और बौद्ध परम्परा ने भी तप की महिमा और गरिमा को स्वीकार किया है। इन तीनों ही परम्पराओं ने आत्म-तत्त्व की उपलब्धि के लिये तप का निरूपण किया है और तप के विविध भेद-प्रभेद भी किये हैं।

आचार्य सिद्धर्षि गणी ने उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा में जीवन-शुद्धि के लिये, ये चारों मार्ग प्रतिपादित किये हैं। उन्होंने कथा के माध्यम से यह बताया है कि 'सम्यग्दर्शन की एक बार उपलब्धि हो जाने पर भी जीव पुनः मिथ्यात्वी बन जाता है, और वहाँ पर चिरकाल तक विपरीत श्रद्धान को स्वीकार कर जन्म-मरण के चक्र में परिभ्रमण करने लगता है। सम्यग्दर्शन और सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए वह पुनः प्रयासरत होता है और उससे आगे बढ़कर सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप को स्वीकार कर, वह एक दिन सम्पूर्ण कर्म-शत्रुओं को नष्ट कर पूर्ण मुक्त बन जाता है। और, सदा-सदा के लिये उस जीवात्मा का भव-प्रपंच मिट जाता है तथा वह आत्मा मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।'

मोक्ष का अर्थ मुक्त होना है। मोक्ष शब्द 'मोक्ष असने' धातु से बना है, जिसका अर्थ छूटना या नष्ट होना होता है। इसलिये समस्त कर्मों का समूल आत्यन्तिक उच्छेद होना मोक्ष है।[1] पूज्यपाद ने लिखा है—'जब आत्मा कर्म रूपी कलंक शरीर से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाता है, तब अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञान आदि गुण रूप और अव्याबाध आदि सुख रूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है, वह मोक्ष है'।[2] तत्त्वार्थ-वार्तिक में आचार्य अकलङ्क ने लिखा है—'बन्धन से आबद्ध प्राणी, बन्धन से मुक्त हो कर अपनी इच्छानुसार गमन कर सुख का अनुभव करता है, वैसे ही कर्म के

---

१. (क) सर्वार्थसिद्धि १/४ (ख) तत्त्वार्थ-वार्तिक १/१/३७

२. सर्वार्थ-सिद्धि-उत्थानिका, पृष्ठ १

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्धन से मुक्त होकर आत्मा सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र होकर ज्ञान-दर्शन रूप अनुपम सुख का अनुभव करती है।[1] यही बात धवला,[2] सर्वार्थसिद्धि[3] और तत्त्वार्थ-श्लोक-वार्तिक[4] में भी कही गई है। सभी विज्ञों ने यह तथ्य स्वीकार किया है कि आत्म-स्वरूप का लाभ ही मोक्ष है। कर्म-मलों से मुक्त आत्मा शुद्ध है। बौद्ध दार्शनिकों ने मोक्ष के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा है—जैसे दीपक के बुझ जाने से प्रकाश का अन्त हो जाता है, वैसे ही कर्मों का क्षय हो जाने से निर्वाण में चित्सन्तति का विनाश हो जाता है, इसलिये मोक्ष में जीव का अस्तित्व नहीं है। पर, जैन दार्शनिकों का अभिमत है कि मोक्ष में जीव का अभाव नहीं होता। जीव एक भव से भवान्तर रूप परिणमन करता है। देवदत्त के एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाने पर उसका अभाव नहीं माना जाता, वैसे ही जीव के मुक्त होने पर उसका अभाव नहीं होता।[5] आचार्य अकलंक[6] ने भी बौद्ध दार्शनिकों के अभिमत पर चिन्तन करते हुए लिखा है—'दीपक के बुझ जाने पर दीपक का विनाश नहीं होता, किन्तु उस दीपक के तेजस् परमाणु अन्धकार में परिवर्तित हो जाते हैं, वैसे ही मोक्ष होने पर जीव का विनाश नहीं होता, अपितु कर्मों का क्षय होते ही आत्मा अपने विशुद्ध चैतन्यावस्था में परिवर्तित हो जाता है। इसलिए मोक्ष में जीव का अभाव नहीं होता।

कितने ही बौद्ध दार्शनिकों का अभिमत है कि मुक्त जीव जिस स्थान से मुक्त होता है, वह जीव उसी स्थान पर स्थिर होकर रह जाता है। उस जीव का किसी दिशा और विदिशा में गमन नहीं होता, और न वह जीव ऊपर या नीचे ही जाता है, क्योंकि मुक्त जीव में संकोच, विकास और गति आदि के कारणों का पूर्ण अभाव है। जैसे कोई व्यक्ति सांकल से बंधा हुआ है, उस व्यक्ति को सांकल से मुक्त करने पर भी वह वहीं पर स्थिर रहता है, वही स्थिति मुक्त जीव की है।[7] पर, जैन दार्शनिकों का अभिमत है कि, मुक्तात्मा एक क्षण भी मुक्त स्थल पर अवस्थित नहीं रहता, अपितु वह जिस स्थान पर मुक्त होता है, वहाँ से वह ऊर्ध्वगमन करता है।[8] आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन का है।[9] अधोलोक और तिर्यक् लोक में जो गमन होता है,

---

१. तत्त्वार्थ-वार्तिक १/४/२७, पृष्ठ १२
२. धवला १३/५/५/८२, पृष्ठ ३४८
३. सर्वार्थसिद्धि ७/१९
४. तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक, १/१/४
५. तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक १/१/४
६. तत्त्वार्थ-वार्तिक १०/४/१७, पृष्ठ ६४४
७. (क) सर्वार्थसिद्धि १०/४; पृष्ठ ३६०
   (ख) अश्वघोष कृत, सौन्दरानन्द
८. द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा १४
९. उत्तराध्ययन ३६/५६-५७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसका कारण कर्म है, पर मुक्त जीव में कर्मों का अभाव होने से मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन ही करता है ।[1] ऊर्ध्वगमन का तात्पर्य यह नहीं कि वह निरन्तर ऊर्ध्वगमन ही करता रहे, जैसा कि माण्डलिक मतावलम्बियों का अभिमत है । जैन दृष्टि से मुक्त जीव लोक के अन्तिम भाग तक ही ऊर्ध्वगमन करता है । आगे धर्मास्तिकाय द्रव्य का अभाव होने से वह वहीं पर स्थित हो जाता है ।[2] कितने ही दार्शनिक यह भी मानते हैं--मुक्त जीव जब देखते हैं कि संसार में धर्म की हानि हो रही है और अधर्म का प्रचार बढ़ रहा है तो धर्म की संस्थापना हेतु वे मोक्ष से पुनः संसार में आते हैं ।[3] सदाशिववादियों का मन्तव्य है कि सौकल्प (१०० कल्प) प्रमाण समय व्यतीत होने पर संसार जीवों से शून्य हो जाता है, तब मुक्त जीव पुनः संसार में आते हैं ।[4] जब कि जैन दर्शन का मन्तव्य है—जीव ने एक बार भाव-कर्म और द्रव्य-कर्म का पूर्ण विनाश कर दिया और मुक्त बन गया, वह आत्मा पुनः संसार में नहीं आता । जैन दार्शनिकों ने अपने चिन्तन को परिपुष्ट करने के लिए लिखा है कि 'संसार के कारणभूत मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय आदि का मुक्त जीव में अभाव है, अतः वे संसार में पुनः नहीं आते ।' यदि मुक्त जीवों का संसार में आना माना जाये तो कारण और कार्य की व्यवस्था ही नहीं रहेगी । जो पुद्गल हैं, गुरुत्व स्वभाव वाले हैं, वे ही ऊपर से नीचे की ओर गमन करते हैं, पर मुक्तात्मा में यह स्वभाव नहीं है ।[5] मुक्तात्मा अगुरुलघु स्वभाव वाला है, इसलिये उसकी मोक्ष से च्युति नहीं होती । जो गुरुत्व स्वभाव वाले होते हैं, वे ही नीचे गिरते हैं । गुरुत्व स्वभाव के कारण ही आम का फल टहनी से गिरता है; नौकाओं में पानी भर जाने से वे डूबती हैं ।[6] मुक्तात्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, ज्ञाता और द्रष्टा है, पर वीतरागी होने से न किसी के प्रति उनके अन्तर्मानस में राग होता है और न द्वेष ही होता है । राग और द्वेष का अभाव होने से उनमें कर्म-बन्धन नहीं होता और कर्म-बन्धन नहीं होने से वे पुनःसंसार में नहीं आते ।[7] एक बार आत्मा कर्मरहित हो गया, वह पुनः कर्म से युक्त नहीं होता । जैसे एक बार मिट्टी के कणों से स्वर्ण-कण पृथक् हो गए, वे पुनः मिट्टी में नहीं मिलते, वैसे ही मुक्त जीव हैं । आकाश में अवगाहन शक्ति रही हुई है, अतः स्वल्प आकाश में भी अनन्त सिद्ध उसी प्रकार रहते हैं, जैसे हजारों दीपकों का प्रकाश स्वल्प स्थान में समा जाता है । इसी तरह मुक्त जीवों में परस्पर अविरोध है ।

---

१. द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा १४, ३७
२. तत्त्वार्थसूत्र १०/८
३. (क) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, जीव प्रबोधिनी टीका गाथा ६६
   (ख) स्याद्वादमञ्जरी पृष्ठ ४२
४. (क) द्रव्यसंग्रह, गाथा १४, पृष्ठ ४० (ख) स्वाद्वादमञ्जरी, कारिका २६
   (ग) मुण्डकोपनिषद ३/२/६
५. तत्त्वार्थ-वार्तिक १०/४/८ पृ. ६४३
६. (क) तत्त्वार्थसार ८/११-१२ (ख) तत्त्वार्थ-वार्तिक १/६/८, पृ० ६४३
७. तत्त्वार्थ-वार्तिक १०/४/५-६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय दार्शनिक चिन्तकों का यह अभिमत है कि मोक्ष में दुःख का पूर्ण अभाव है, पर न्याय, वैशेषिक, प्रभाकर, सांख्य और बौद्ध दार्शनिक यह भी मानते हैं कि जिस तरह मोक्ष में दुःख का अभाव है, वैसे ही मोक्ष में सुख का भी अभाव है। पर, कुमारिल भट्ट[1] जो वेदान्त दर्शन के एक जाने-माने हुए मूर्धन्य मनीषी दार्शनिक रहे हैं, उन्होंने और जैन दार्शनिकों ने मोक्ष में आत्मीय अतीन्द्रिय सुख का उच्छेद नहीं माना है। जैन दार्शनिकों ने सुख को दो भागों में विभक्त किया है—एक इन्द्रियज सुख और दूसरा आत्मज सुख। मोक्षावस्था में इन्द्रिय और शरीर का अभाव होने से, उसमें इन्द्रियज सुख का अभाव होता है, पर, आत्मजन्य सुख का अभाव नहीं है।[2]

मुक्त जीव क्या सर्वलोक-व्यापी हैं ? इस प्रश्न का चिन्तन करते हुए जैन मनीषियों ने लिखा है कि मुक्त जीव सर्वव्यापी नहीं हैं, क्योंकि सांसारिक जीव में जो संकोच और विस्तार होता है, उसका कारण शरीर नामकर्म है। पर, मोक्ष अवस्था में शरीर नामकर्म का पूर्ण अभाव होता है, इसलिये आत्मा सर्वलोकव्यापी नहीं है, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य नहीं हो सकता।[3] यहाँ पर यह भी सहज जिज्ञासा हो सकती है कि एक दीपक को ढक दिया जाय तो उसका प्रकाश सीमित हो जाता है, पर उसका आवरण हटते ही उसका प्रकाश सर्वत्र फैल जाता है, वैसे ही शरीर नामकर्म का अभाव होने से सिद्धों की आत्मा सम्पूर्ण लोकाकाश में फैल जानी चाहिये। उत्तर में जैन दार्शनिकों ने कहा—दीपक के प्रकाश का विस्तार स्वतः है ही, वह तो आवरण के कारण सीमित क्षेत्र में है, पर, आत्म-प्रदेशों का विकसित होना अपना स्वभाव नहीं है। जो विकसित होते हैं, वे भी सहेतुक हैं। अतः मुक्त जीव लोकाकाश प्रमाण व्याप्त नहीं होता। सूखी मिट्टी के बर्तन की भांति मुक्त आत्मा में कर्मों के अभाव के कारण संकोच और विस्तार नहीं होता है।[4] मुक्तात्मा का आकार मुक्त शरीर से कुछ कम होता है।[5] कारण कि चर्म शरीर के नाक, कान, नाखून आदि कुछ ऐसे पोले अंग होते हैं, जहाँ आत्म-प्रदेश नहीं होते। मुक्तात्मा छिद्ररहित

---

१. दुःखात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तितः।
सुखस्य मनसा मुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः॥

—भारतीय दर्शन : डॉ० बलदेव उपाध्याय, पृ० ६१२

२. (क) स्याद्वादमंजरी, कारिका १; ८, पृष्ठ ६०, आचार्य मल्लिषेण
(ख) षट्दर्शन-समुच्चय, पृष्ठ २८८

३. (क) सर्वार्थसिद्धि. १०/४. पृ. ३६० (ख) तत्त्वार्थसार, ८/६-१६

४. (क) द्रव्यसंग्रह टीका, गा. १४; ५१, पृष्ठ ३६
(ख) परमात्मप्रकाश टीका गा. ५४ पृ. ५२

५. तत्त्वानुशासन २३२-२३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने से पहले शरीर से कुछ न्यून होती है, जैसे ५०० धनुष की अवगाहना वाले जो सिद्ध होंगे, उनकी अवगाहना ३३३ धनुष और ३२ अंगुल होगी ।[1]

इस प्रकार जैन दर्शन ने मुक्त जीव का जो स्वरूप चित्रित किया है कि, वह किस प्रकार बन्ध से मुक्त होता है ? इस सम्बन्ध में आचार्य सिद्धर्षि गणी ने अपनी 'उपमिति-भव-प्रपंच कथा' में मुक्त जीव के स्वरूप का भी सांगोपांग निरूपण किया है । जीव, जगत् और परमात्मा की गुरु-गम्भीर ग्रन्थियां कथा के द्वारा इस प्रकार सुलझाई गई हैं कि पाठक पढ़ते-पढ़ते आनन्द से झूमने लगता है । उस दार्शनिक और नीरस विषय को लेखक ने अपनी महान प्रतिभा से सरस, सरल और सुबोध बना दिया है । वस्तुतः आचार्य सिद्धर्षि की प्रतिभा अद्वितीय है, अनुपम है । उनकी प्रताप पूर्ण प्रतिभा को यह ग्रन्थ रत्न सदा सर्वदा उजागर करता रहेगा ।

सिद्धर्षि : जीवनवृत्त

सिद्धर्षि, भीनमाल के सुप्रसिद्ध धनपति शुभंकर का 'सिद्ध' नामक पुत्र था, यह कुछ विद्वानों की राय है । कुछ विद्वानों की दृष्टि से, श्रीमालपुर में कोई धनी जैन सेठ, चातुर्मास के प्रसङ्ग में, देवदर्शन के लिए जा रहा था । उसे नाली में पड़ा हुआ 'सिद्ध' नाम का राजपुत्र मिला था । इसे, जुए में हारते-हारते, कुछ साथी जुआरियों का रुपया उधार करना पड़ा था, जिसे न देने की वजह से, निर्दयतापूर्वक मार-पीट करके नाली में गिरा दिया था । सेठ ने उन जुआरियों को देय धन दिया, और सिद्ध को उठा कर अपने घर लिवा ले आया । पढ़ा लिखा कर, उसका विवाह किया और अपना सारा कार्य-भार उसे सौंप दिया । व्यापार सम्बन्धी बही-खातों आदि को लिखने में, उसे प्रायः काफी रात गये, घर आना सम्भव हो पाता था । जिससे उसकी पत्नी अनमनी-सी और उदास रहती हुई काफी कमजोर हो चली थी ।

जो विद्वान्, 'सिद्ध' को शुभंकर सेठ का पुत्र मानते हैं, उनकी दृष्टि से, शुभंकर ने ही इसे पढ़ा-लिखा कर योग्य बनाया था । और, इसका विवाह 'धन्या' नाम की कन्या से कर दिया था ।

सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए, एक दिन, सिद्ध के मित्र, उसे किसी बाग में ले गये । वहाँ उसे जुआ खेलने बैठा लिया, जिसमें वह हार गया । दूसरे दिन, वह फिर जुआ खेला और हारा । गुस्से में आकर, वह तीसरे दिन भी जुआ खेलने गया तो उसकी जीत हो गई । इस हार-जीत के आकर्षण और उत्सुकता ने, उसे

---

४. (क) द्रव्यसंग्रह, टीका, गाथा १४ (ख) तिलोयपण्णत्ति ९/१६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूरा जुआरी बना दिया। फलतः वह रात-रात भर जुआ खेलने में, या दुराचार/वेश्यागमन में लीन रहने लगा। इसी वजह से, उसकी पत्नी धन्या, दुःखी और कृश हो चली थी।

इस मतभेद के आगे, प्रायः एक-सा ही घटनाक्रम है। तदनुसार, एक दिन, धन्या की सास ने उससे उसकी उदासी के बारे में पूछताछ की, तो वह चुप्पी लगा गई। किन्तु बहू की चुप्पी देखकर, सासु को और वेदना हुई। और, जिद करके पूछने लगी, तो धन्या, विलख-विलख कर रो पड़ी। आखिर, उसे बताना पड़ा कि, उसका पति, रात को काफी देर से घर आता है। उसकी सासु ने, उसे निश्चिन्त होकर सोने की अनुमति उस दिन दे दी और स्वयं जागते रहने का विश्वास भी।

इसी रात, तीसरे पहर, सिद्ध जब घर लौट कर आया, तो उसने घर का बन्द दरवाजा हर रोज की तरह खटखटाया।

दरवाजे की खट-खट आवाज सुनकर, उसकी माँ-लक्ष्मी ने पूछा—'इतनी रात को कौन दरवाजा खटखटा रहा है?'

'मैं, सिद्ध हूँ।' सिद्ध ने जबाव दिया।

लक्ष्मी ने बनावटी गुस्सा दिखलाते हुए पुनः कहा—'इतनी रात गये घर आने वाले सिद्ध को मैं नहीं पहचानती।'

'फिर, मैं इतनी रात गये, कहां जाऊँ?'—सिद्ध ने प्रश्न किया।

'जिस घर का दरवाजा, इस समय खुला हो, वहीं जा'—माँ ने, उसे ताड़ना/शिक्षा देने के उद्देश्य से कहा।

'ठीक है, माँ! ऐसा ही करूंगा'—आहत स्वाभिमान भरे स्वर में, सिद्ध ने जबाव दिया और वहाँ से लौट आया।

गांव में घूमते-घूमते वह उपाश्रय के सामने पहुँचा, तो उसने देखा—'उपाश्रय का दरवाजा खुला है।'

रात्रि का, थोड़ा सा ही समय शेष रह गया था। इसलिए, वहाँ ठहरे हुए साधु-जन जाग गये थे और अपनी-अपनी क्रियायें कर रहे थे।

इन शान्त मुनिवरों को देख, वह विचार करने लगा—'धन्य है इनका जीवन! जो ये धर्म की आराधना/साधना में अपना समय बिताते हैं। एक मैं हूँ, जिसे जुआ खेलने और दुराचार करने की वजह से, अपनी पत्नी व माँ के द्वारा अपमानित होना पड़ा।.....अच्छा हुआ, सुबह का भूला, शाम को ठीक स्थान पर आ पहुँचा।'

यह विचार कर वह अन्दर गया, और वहाँ पर बैठे वृद्ध सन्त को वन्दन/प्रणाम किया।

गुरु ने पूछा—'कौन हो भाई? कहाँ से आये हो?'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध ने उत्तर दिया—'रात, मैं देर से घर पहुँचा, तो माँ ने दरवाजा न खोल कर, उल्टा यह कहा—जहाँ का दरवाजा खुला हो, वहाँ चले जाओ। इसलिए, मैं यहाँ आया हूँ, और आपके पास ही रहना चाहता हूँ।'

गुरु ने उन्हें कहा—'हमारे पास, हमारा वेष लिये बगैर तुम नहीं रह सकते। और, फिर तुम्हारे जैसे व्यसनी के लिए, यह वेष लेना और उसकी मर्यादाओं का पालन करना कठिन है। क्योंकि, हमारा वेष लेने वाले को, नंगे पैर पैदल चलना पड़ता है। भिक्षा में जो कुछ भी रूखा-सूखा मिल जाये, वही खाना पड़ता है। सिर के बालों का लोच करना पड़ता है। इसलिए, तुम्हारे लिए यह वेष धारण कर पाना दुष्कर है।'

सिद्ध ने कहा—'हमारे जैसे जुआरी को धूप-वर्षा-सर्दी सब सहन करने पड़ते हैं। जहाँ जगह मिल जाये, वहीं रहना पड़ता है। जब दुर्व्यसनों के लिए हम इतने कष्ट उठाते रहे हों, तब, उन्नति के लिए क्या, कुछ सहन नहीं कर सकेंगे? आप निःसंकोच, प्रातःकाल मुझे दीक्षा दें।'

गुरु ने कहा—'तुम्हारे माता-पिता कुटुम्बीजनों की आज्ञा के बिना, हम दीक्षा नहीं देते। अतः उनसे आज्ञा मिलने पर ही दीक्षा दे पायेंगे।'

सिद्ध ने कहा—"जैसा आप उचित समझें।' और वहीं, बैठ गया।

प्रातःकाल होते ही, उसके पिता ने, पुत्र के बारे में पूछा, तो लक्ष्मी ने सारा किस्सा उसे बता दिया। सुनकर, सेठ को बहुत दुःख हुआ। और, अपने बेटे को ढूंढ़ने के लिए घर से निकल पड़ा।

ढूंढ़ते-ढूंढ़ते वह उपाश्रय में भी पहुँचा। वहाँ सिद्ध को बैठा देखकर, उसने उसे घर चलने को कहा।

सिद्ध बोला—'पिताजी! घर तो छोड़ दिया है। अब इनकी सेवा में ही रहूंगा।'

सेठ ने कहा—'तू अकेला मेरा बेटा है। करोड़ों की सम्पत्ति है। यह सब किस काम आयेगी? साधु-जीवन में बहुत परीषह सहने पड़ेंगे।'

सिद्ध, अपनी बात पर डटा रहा, तो सेठ को आज्ञा देनी ही पड़ी। इस तरह जुआरी सिद्ध, सिद्धमुनि बना।

आचार्य सिद्धर्षि गणी निवृत्ति कुल के थे। भगवान् महावीर की युगप्रधान पट्टावली के अनुसार २१वें पट्टधर वज्रसेन हुए हैं, उन्होंने सोपारक नगर में श्रेष्ठी जिनदत्त और सेठानी ईश्वरी के चार पुत्रों को आर्हती दीक्षा प्रदान की थी। उनके नाम थे—नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर। इन चारों के नाम से चार परम्परायें प्रारम्भ हुईं, जो नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर कुलों के नाम से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्रुत हुई ।[1] निवृत्ति कुल में अनेक मूर्धन्य मनीषी गण हुए हैं । विशेषावश्यक भाष्य के रचयिता जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण भी निवृत्ति कुल के थे । चौपन्न महा-पुरुषचरियम् ग्रन्थ के लेखक शीलाचार्य भी निवृत्ति कुल के थे और आचार्य अभयदेव ने जो नवांगी टीका लिखी, उस टीका के संशोधक द्रोणाचार्य भी निवृत्ति कुल के थे । इसी महनीय कुल के महर्षि गर्गर्षि ने सिद्ध को भागवती दीक्षा प्रदान की ।

सिद्ध ने दीक्षानन्तर कठिन तपस्या की । जैन धर्म के सिद्धान्त-शास्त्रों का गहन अध्ययन/अभ्यास किया, और, सिद्धमुनि से सिद्धर्षि बन गया । 'उपदेशमाला' पर सरल भाषा में 'बालावबोधिनी' टीका लिखी ।

एक दिन, उसके मन में विचार उठा—'मुझे अभी बहुत शास्त्राभ्यास करना है । विशेषकर, उग्र तर्कवादी बौद्धों के शास्त्रों का ।' इसी विचार को क्रियान्वित करने के लिए, उन्होंने अपने गुरु से आज्ञा मांगी कि, वह किसी बौद्ध विद्यापीठ में जाकर उनके शास्त्रों का अभ्यास कर सके ।

गुरु ने समझाया—'शास्त्र अभ्यास करना तो अच्छा है । किन्तु, बौद्ध, अपने तर्कों से लोगों को भ्रमित कर देते हैं । फलतः, उनके यहाँ रहने से लाभ की बजाय हानि अधिक हो सकती है । अतः यह विचार छोड़ दो ।' किन्तु, सिद्धर्षि की विशेष जिद देखकर, उन्होंने इस शर्त पर आज्ञा दी कि बौद्धों के तर्कों में उलझकर, तेरा मन डगमगाने लगे, तो यहाँ वापिस आकर, हमारा वेष हमें वापिस कर देना ।'

सिद्धर्षि वचन देकर और वेष बदलकर, बौद्ध विद्यापीठ चले गये ।

सिद्धर्षि की मेहनत और प्रतिभा देखकर, बौद्धों ने उनके साथ सद्भाव रखा । धीरे-धीरे सिद्धर्षि पर उनके व्यवहार का और उनके कुतर्कों का असर होने लगा । फलतः कुछ ही दिनों बाद, उन्होंने बौद्ध-दीक्षा भी ले ली । जब, बौद्धों ने उन्हें अपना गुरु-पद देने का निश्चिय किया, तो उन्हें अपनी प्रतिज्ञा याद आ गई और अपना वेष वापिस करने जाने के लिए समय मांगा । सिद्धर्षि की इस ईमानदारी ने उनके बौद्ध गुरु को प्रसन्न कर दिया । उन्होंने भी आज्ञा दे दी ।

सिद्धर्षि, जब अपने जैन दीक्षा गुरु के सामने पहुँचे तो उन्हें वन्दन नहीं किया और यों ही सामने जाकर खड़े हो गये ।

सिद्धर्षि के गुरु गर्गर्षि, उसका बौद्ध वेष देखकर दुःखी हुए, और सिद्धर्षि के ज्ञान-गर्व का अनुमान भी लगा बैठे । फलतः युक्ति से काम बनाने की इच्छा से, वे उठे और सिद्धर्षि को, 'ललित-विस्तरा' ग्रन्थ देकर बोले—'इस ग्रंथ को देखो, तब तक मैं चैत्यवन्दन करके आता हूँ ।' इतना कहकर, अन्य साधुओं के साथ वे चले गये ।

---

१. खतरगच्छ पट्टावली, देखिये जैन गुर्जर कविओ, भाग २,पृष्ठ ६६३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धर्षि, ज्यों-ज्यों उस ग्रंथ को पढ़ते गये, त्यों-त्यों उन्हें अपने किये पर पश्चात्ताप होने लगा। और, जब तक गर्गर्षि वापिस लौटे, तब तक, उनका भूला-भटका मन, सही रास्ते पर आ चुका था।

सामने से आते गर्गर्षि को देखकर, वे अपने स्थान से उठे और उनके चरणों में गिर कर अपनी भूल की क्षमा-याचना करते हुए, वापस अपने रास्ते पर आने की इच्छा प्रकट की।

'तू मेरे वचनों को याद रखकर, प्रतिज्ञा-पालन करने के लिए यहाँ वापस आ गया, फिर तेरे जैसे विद्वान् शिष्य को वापस पाकर किस गुरु को प्रसन्नता न होगी ?

गुरु के वचन सुन कर सिद्धर्षि का मन प्रसन्न हो गया। गुरु ने उन्हें प्रायश्चित्त दिया और अपने पद पर बैठा कर, साधना की प्रेरणा प्रदान की।

सिद्धर्षि ने, अपना दायित्व समझा और लोगों को बोध देने की भावना से इस 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' की रचना की। सिद्धर्षि की यह मूल्यवान् कृति, उनके विद्वत्तापूर्ण प्रदाय को, भारतीय जन-मानस में और भारतीय-साहित्यिक जगत में, उन्हें अविस्मरणीय बनाये रखने की पर्याप्त सामर्थ्य रखती है।

इस महान् ग्रंथ का सम्मान, सिर्फ भारत में ही नहीं, इंग्लैंड और फ्रांस के विद्वानों में भी ख्याति अर्जित कर चुका है। पाठकगण, इसके सद्बोध-सन्देश को अपनाकर, अपना जीवन-पथ आलोकित बना सकते हैं।

सन् १६०५ में उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा का मूल डॉ. हरमन जैकोबी ने "बंगाल रोयल एशियाटिक जरनल" में प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। यह कार्य पहले डॉ० पीटर्स ने प्रारम्भ किया था। उन्होंने ६६-६६ पृष्ठों के तीन भाग प्रकाशित किये। उसके पश्चात् डॉ. पीटर्स का निधन हो गया। उस अपूर्ण कार्य को पूर्ण करने के लिये डॉ. जैकोबी (बोन) को कार्यभार सम्भलाया गया। उन्होंने द्वितीय प्रस्ताव को पुनः मुद्रित करवाया और सम्पूर्ण ग्रंथ १२४० पृष्ठों में सम्पन्न हुआ। उन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ पर मननीय प्रस्तावना भी लिखी। इस ग्रन्थ रत्न को प्रकाशित करने में उन्हें लगभग १६ वर्ष का समय लगा।

सन १६१८ में श्री देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धारक ग्रंथमाला, सूरत से उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा का पूर्वार्द्ध प्रकाशित हुआ और सन् १६२० में उसका उत्तरार्द्ध प्रकाशित हुआ। यह ग्रंथ पत्राकार प्रकाशित है।

संस्कृत भाषा में निर्मित होने के कारण सामान्य जिज्ञासु पाठक इस ग्रंथ रत्न का स्वाध्याय कर लाभान्वित नहीं हो सकता था, अतः विज्ञों के मस्तिष्क में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस ग्रंथ के अनुवाद की कल्पना उद्‌बुद्ध हुई। श्रीयुत् मोतीचन्द गिरधरलाल कापड़िया ने नौ वर्ष की लघुवय में कुँवरजी आनन्दजी से यह ग्रंथ सुना था, तभी से वे इस ग्रन्थ की महिमा और गरिमा से प्रभावित हो गये। उन्होंने मन में यह संकल्प किया कि यदि इसका अनुवाद हो जाये तो गुजराती भाषा-भाषी श्रद्धालु वर्ग लाभान्वित होंगे, उन्हें नया आलोक प्राप्त होगा। कथा के माध्यम से द्रव्यानुयोग की गुरु-गम्भीर ग्रन्थियाँ इस ग्रंथ में जिस रूप से सुलझाई गई है, वह अपूर्व है। अतः उन्होंने 'श्री जैन धर्म प्रकाश' मासिक पत्रिका में सन् १९०१ में धारावाहिक रूप से इस कथा का गुजराती में अनुवाद कर प्रकाशित करवाना प्रारम्भ किया। पर, अनुवादक अन्यान्य कार्यों में व्यस्त हो गया और वह धारावाहिक कथा बीच में ही स्थगित होगई, तथा पुनः इस का धारावाहिक प्रकाशन सन् १९१५ से १९२१ तक होता रहा। जिज्ञासु पाठकों की भावना को सम्मान देकर सम्पूर्ण ग्रंथ का अनुवाद जैन धर्म प्रचारक सभा, भावनगर ने सम्वत् १९८० से लेकर १९८२ तक की अवधि में तीन भागों में ग्रंथ के रूप में प्रकाशित किया। प्रस्तुत ग्रंथ पर मोतीचन्द गिरधर-लाल कापड़िया ने सविस्तृत प्रस्तावना भी लिखी, जो "सिद्धर्षि" ग्रंथ के नाम से स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित हुई है। यह प्रकाशन सन् १९३९ में हुआ। प्रस्तावना में कापड़िया की प्रकृष्ट प्रतिभा के संदर्शन होते हैं। प्रतिभावान लेखक ने सरल और सुबोध भाषा में उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा के रहस्य को उद्‌घाटित किया है, वह अद्‌भुत है, अनुपम है। प्रस्तावना क्या है, एक शोध प्रबन्ध ही है, सिद्धर्षि पर।

आश्चर्य है—हिन्दी, जो भारत की राष्ट्र भाषा है, उसमें इस ग्रंथ का अनुवाद अब हो रहा है! इस अनुवाद के मूल प्रेरक हैं—महामहिम आचार्यप्रवर १००८ श्री हस्तीमल जी महाराज ने जब इस ग्रंथ को पढ़ा तो उनके अन्तर्मानस में यह विचार उद्‌बुद्ध हुआ कि इस प्रकार का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ अभी तक हिन्दी पाठकों को उपलब्ध नहीं हो सका है; यदि इस ग्रंथ का अनुवाद हो जाये तो हिन्दी पाठकों के लिये अत्यधिक श्रेयस्कर रहेगा। उन्होंने अपनी मर्यादित भाषा में श्री देवेन्द्रराज जी मेहता को संकेत किया कि यह ग्रंथ बहुत ही उपयोगी है। अध्यात्मप्रेमियों के लिए आलोक स्तम्भ की तरह है। यदि इस ग्रंथ का हिन्दी में अनुवाद हो तो प्रबुद्ध पाठक लाभान्वित होंगे। आचार्यप्रवर के संकेत को पाकर श्रीयुत् मेहता ने लालचन्द जी को अनुवाद करने के लिये उत्प्रेरित किया।

लालचन्द जी जैन एक उत्साही, भावुक हृदय के सज्जन हैं। उन्होंने भावना से विभोर होकर अनुवाद का कार्य किया है। अनुवाद की पाण्डुलिपि परिष्कार के लिए श्री मान् देवेन्द्रराज जी मेहता सन् १९८० में मेरे पास लाये, मैंने ग्रंथ को आद्योपान्त पढ़ा, कुछ परिष्कार भी किया। हमारी विहार यात्रा निरन्तर चल रही थी। इतने बड़े ग्रन्थ की पाण्डुलिपि विहार में साथ रखना सम्भव नहीं था और मेरे सामने अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का लेखन कार्य था, अतः पाण्डुलिपि के परिष्कार का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्य महामनीषी विद्वद्रत्न महोपाध्याय विनयसागर जी को दिया गया। विनय-सागरजी ने बहुत ही तन्मयता के साथ इस ग्रन्थ का सम्पादन और संशोधन एवं प्रथम प्रस्ताव का पूर्ण अनुवाद किया। अनुवाद का कार्य लालचन्द जी पहले कर चके थे, इसलिये आमूल-चूल परिवर्तन करना सम्भव नहीं था, इस कारण कहीं-कहीं पर मूल ग्रन्थ के भाव स्पष्ट नहीं हो पाए हैं। तथापि साधिकार यह कहा जा सकता है कि यह ग्रंथ अपनी शानी का अद्भुत ग्रन्थ है। विनयसागर जी की प्रतिभा से ग्रन्थ के सम्पादन में चार-चांद लग गये हैं। ग्रन्थ की भाषा सरल है, सुगम है और मुद्रण आकर्षक है। अनुवादक, सम्पादक और प्रकाशक सभी साधुवाद के पात्र हैं।

इस ग्रन्थ रत्न को इस रूप में प्रकाशित करने का श्रय श्रीयुत देवेन्द्रराजजी मेहता को है। देवेन्द्रराजजी मेहता एक युवक और उत्साही सज्जन पुरुष हैं। शासन के उच्च पदाधिकारी होते हुए भी उनमें अहंकार का अभाव है। सत्साहित्य के प्रकाशन के प्रति उनकी स्वाभाविक अभिरुचि है। उसी अभिरुचि का मूर्त्त रूप है—प्राकृत भारती प्रकाशन संस्थान। एक दशक की स्वल्पावधि में प्राकृत भारती ने बहुत ही महत्वपूर्ण और उत्कृष्ट प्रकाशन विविध भाषाओं में किए हैं। कुछ प्रकाशन इतने शानदार और कलात्मक हुए हैं कि देखते ही बनते हैं। प्राकृत भारती के प्रकाशनों को 'उत्कृष्ट प्रकाशन' निस्संकोच कहा जा सकता है। श्रीयुत् मेहता ने प्रकाशन के क्षेत्र में ही नहीं, सेवा के क्षेत्र में भी एक कीर्तिमान स्थापित किया है। उन्होंने "श्री भगवान महावीर विकलांग सहायता समिति" की संस्थापना कर हजारों अपंग/विकलांग और असहाय व्यक्तियों की सेवा-सुश्रुषा कर श्रमण भगवान् महावीर के आदर्श सिद्धान्तों को मूर्त्तरूप प्रदान किया है। उनकी यह सेवा भावना प्रतिपल/प्रतिक्षण बढ़ती रहे—यही मंगल कामना और भावना है।

उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा का संक्षिप्त हिन्दी सार श्री कस्तूरमल बांठिया ने तैयार किया जो सन् १९८२ में "बांठिया फाउन्डेशन," कानपुर से प्रकाशित हुआ है, पर उस संक्षिप्त सार में मूल कथा का भाव भी पूर्ण रूप से उजागर नहीं हो सका है। इस बृहद्काय ग्रन्थ में बहुत ही विस्तार के साथ कथा को प्रस्तुत किया है। आशा ही नहीं अपितु इस ग्रन्थ रत्न का सर्वत्र समादर होगा। प्रबुद्ध पाठक-गण इस ग्रन्थ रत्न का पारायण कर अपने जीवन को पावन बनायेंगे।

एक बात और मैं निवेदन करना चाहूँगा, वह यह है कि यह ग्रन्थ रत्न भारती-भण्डार का शृंगार है। इस ग्रन्थ रत्न में मूर्धन्य मनीषी लेखक ने चिन्तन के लिये विपुल सामग्री प्रदान की है। इसमें एक नहीं, अनेक ऐसे शोध-बिन्दु हैं, जिन पर शताधिक पृष्ठ सहज रूप से लिखे जा सकते हैं। मेरा स्वयं का विचार ग्रन्थ में आए हुए चिन्तन-बिन्दुओं पर तुलनात्मक व समीक्षात्मक दृष्टि से लिखने का था, पर, दिल्ली के भीड़ भरे वातावरण में यह सम्भव नहीं हो सका। एक के पश्चात् दूसरा व्यवधान आता गया और प्रस्तावना लेखन में आवश्यकता से अधिक विलम्ब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी होता गया। अतः मैंने अन्त में यही निर्णय लिया कि प्रस्तावना अति-विस्तार से न लिखकर संक्षेप में ही लिखी जाय। उस निर्णय के अनुसार मैंने संक्षेप में प्रस्तावना लिखी है। मैं सोचता हूँ कि यह प्रस्तावना प्रबुद्ध पाठकों को पसन्द आएगी और शोधार्थियों के लिये कुछ पथ-प्रदर्शक भी बनेगी। आज भौतिकवाद के युग में मानव भौतिक चकाचौंध में अपने आप को भूल रहा है। स्वदर्शन को छोड़कर प्रदर्शन में उलझ रहा है। ऐसी विकट वेला में आत्मदर्शन की पवित्र प्रेरणा प्रदान करने वाला यह ग्रन्थ सभी के लिये आलोक स्तम्भ सिद्ध होगा।

१ जनवरी, १९८५
जैन भवन, नई दिल्ली

देवेन्द्र मुनि शास्त्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयानुक्रम

१. प्रथम प्रस्ताव : पीठबन्ध	**१–१४०**
सिद्धर्षि गणि की प्रस्तावना	१–१०
उपोद्घातरूप दृष्टान्त कथा	११–३५
दार्ष्टान्तिक योजना : कथा का उपनय	३६–१३६
उपसंहार	१३६–१४०
२. द्वितीय प्रस्ताव : तिर्यग् गति वर्णन	**१४१–१८४**
पात्र एवं स्थान सूची	१४३–१४४
१. मनुजगति नगरी	१४५–१४६
२. कर्मपरिणाम और कालपरिणति	१४६–१५१
३. भव्यपुरुष सुमति का जन्म	१५१–१५३
४. अगृहीतसंकेता और प्रज्ञाविशाला	१५३–१५७
५. सदागम का परिचय	१५७–१६२
६. संसारी जीव तस्कर	१६२–१६७
७. असंव्यवहार नगर	१६७–१७४
८. एकाक्षनिवास नगर	१७४–१७८
९. विकलाक्षनिवास नगर	१७८–१८३
उपसंहार	१८४
३. तृतीय प्रस्ताव	**१८५–४०२**
पात्र एवं स्थान सूची	१८६–१९०
१. नन्दिवर्धन और वैश्वानर	१९१–२००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२.	क्षान्तिकुमारी	२०१–२०८
३.	स्पर्शन-कथानक	२०९–२१४; २०९–३१४
४.	स्पर्शन-मूलशुद्धि	२१५–२२३
५.	स्पर्शन की योगशक्ति	२२३–२३०
६.	मध्यमबुद्धि	२३०–२३५
७.	प्रतिबोधकाचार्य	२३६–२४५
८.	मदनकन्दली	२४५–२५२
९.	बाल, मध्यमबुद्धि, मनीषी और स्पर्शन	२५२–२६०
१०.	बाल की दुरवस्था	२६१-२६५
११.	प्रबोधनरति आचार्य	२६६–२७०
१२.	चार प्रकार के पुरुष	२७०–२८२
१३.	बाल के अधमाचरण पर विचार	२८२–२८७
१४.	अप्रमाद यन्त्र: मनीषी	२८७–२९३
१५.	शत्रुमर्दन आदि का आन्तरिक आह्लाद	२९३–३००
१६.	निजविलसित उद्यान का प्रभाव	३००–३०६
१७.	दीक्षा महोत्सव : दीक्षा और देशना	३०६–३१४
१८.	कनकशेखर	३१५–३१८
१९.	दुर्मुख और कनकशेखर	३१८–३२४
२०.	विमलानना और रत्नवती	३२४–३२८
२१.	रौद्रचित्तनगर में हिंसा से लग्न	३२८–३३३
२२.	अम्बरीष-युद्ध और लग्न	३३३–३३५
२३.	विभाकर से युद्ध	३३५–३४०
२४.	कनकमंजरी	३४०–३५५
२५.	हिंसा के प्रभाव में	३५५–३५८
२६.	पुण्योदय से बंगाधिपति पर विजय	३५८–३६२
२७.	दयाकुमारी	३६२–३६६
२८.	वैश्वानर और हिंसा के प्रभाव में	३६७–३७२
२९.	खूनी नन्दिवर्धन की कदर्थना	३७३–३७७
३०.	मलयविलय उद्यान में विवेक केवली	३७७–३८५
३१.	भवप्रपंच और मनुष्य भव की दुर्लभता	३८५–३८८
३२.	तीन कुटुम्ब	३८८–३९४
३३.	अरिदमन का उत्थान	३९५–३९७
३४.	नन्दिवर्धन की मृत्यु	३९७–४००
	उपसंहार	४०१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. चतुर्थ प्रस्ताव ४०३–४६०

पात्र एवं स्थान-सूची ४०४–४११

१. रिपुदारण एवं शैलराज ४१२–४१७
२. मृषावाद ४१७–४२६
३. नरसुन्दरी से लग्न ४२७–४३५
४. नरसुन्दरी का प्रेम व तिरस्कार ४३५–४३६
५. नरसुन्दरी द्वारा आत्महत्या ४३६–४४७
६. विचक्षण और जड़ ४४७–४५३

विचक्षणाचार्य चरित्र, रसना-प्रबन्ध ४५१–६५१ ४५१–४५३

७. रसना और लोलता ४५३–४६४
८. विमर्श और प्रकर्ष ४६४–४७३
९. चित्तवृत्ति अटवी ४७३–४७६
१०. भौताचार्य कथा ४७६–४८३
११. वेल्लहल कुमार कथा ४८३–४६७
१२. महामूढता, मिथ्यादर्शन, कुदृष्टि ४६७–५०७
१३. रागकेसरी और द्वेषगजेन्द्र ५०७–५०६
१४. मकरध्वज ५०६–५१२
१५. पाँच मनुष्य ५१२–५१५
१६. सोलह बालक ५१५–५१७
१७. महामोह के सामन्त ५१८–५२०
१८. महामोह के मित्र राजा ५२१–५२६
१९. महामोह-सैन्य के विजेता ५२६–५३२
२०. भवचक्र नगर के मार्ग पर ५३२–५३७
२१. वसन्तराज और लोलाक्ष ५३७–५४८
२२. लोलाक्ष ५४८–५५२
२३. रिपुकम्पन ५५२–५५८
२४. महेश्वर और धनगर्व ५५६–५६३
२५. रमण और गणिका ५६४–५६८
२६. विवेक पर्वत से अवलोकन ५६६–५७८
२७. चार उप-नगर ५७८–५८३
२८. सात पिशाचिनें ५८३–५६४
२९. राक्षसी-दौर और निर्वृत्ति ५६४–५६६
३०. छः अवान्तर मण्डल (छः दर्शन) ६००–६०३
३१. षट्-दर्शनों के निर्वृत्ति-मार्ग ६०३–६०६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३२.	जैनदर्शनपुर	६१०–६१२
३३.	सात्विकमानसपुर और चित्तसमाधान मण्डप	६१२–६२०
३४.	चारित्रधर्मराज	६२१–६२४
३५.	श्रमणधर्म और गृहस्थधर्म	६२५–६३०
३६.	चारित्रधर्मराज का परिवार	६३१–६३८
३७.	कार्य-सम्पादन-रपट	६३८–६४१
३८.	रसना, विचक्षण और जड़कुमार	६४२–६४५
३९.	नरवाहन की दीक्षा	६४६–६५१
४०.	रिपुदारण का गर्व और पतन	६५१–६५९
	उपसंहार	६६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोविदशेखर श्री सिद्धर्षि गणि प्रणीत

उपमिति-भव-प्रपंच कथा

हिन्दी अनुवाद

१. प्रथम प्रस्ताव : पीठबन्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐं नमः

सिद्धर्षि गणि की प्रस्तावना

मंगलाचरण ❀

जिन्होंने महामोह की समस्त शीत[1] पीड़ाओं का नाश कर दिया है और जो लोकालोक का विशुद्ध दर्शन कराने में सूर्य के समान हैं, ऐसे परमात्मा को नमस्कार हो। जो विशुद्ध धर्म में रत हैं, आत्म-स्वरूप के स्वभाव की पराकाष्ठा को प्राप्त कर चुके हैं, संसार के विकार-समूह का नाश कर चुके हैं और महासत्त्व के पुञ्ज हैं, उन परमात्मा को मेरा नमस्कार हो। नाभिराजा के पुत्र आदिनाथ भगवान् जिन्होंने विश्व को सन्तप्त करने वाले राग-केसरी को विदीर्ण कर दिया है, जो प्रशमामृत का पान कर तृप्त हो गये हैं, उनको नमस्कार हो। अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ पर्यन्त निर्मल आत्म-स्वरूप के धारक जिनेन्द्रों को, जिन्होंने सिंह के समान द्वेष-गजेन्द्र रूप शत्रु के कुम्भस्थल का भेदन कर दिया है, उनको नमस्कार हो,[1] जिन्होंने समस्त दोषों का दलन कर दिया है, मिथ्या-दर्शन का जड़ से उच्छेदन कर दिया है, कामदेव का नाश कर दिया है और समस्त शत्रुओं का नाश कर शत्रु रहित हो चुके हैं, उन महावीर स्वामी को नमस्कार हो। जिस किसी महात्मा ने खेल-खेल में समस्त प्राणियों को सन्ताप देने वाले अन्तरंग कषायादि महासैन्य का हनन कर दिया है, उनको मैं नमस्कार करता हूँ। जो समस्त वस्तु [पदार्थ] समूह का विचार कर सकती है, विश्व के समस्त रहस्यों का उद्घाटन कर सकती है और समस्त पापों का प्रक्षालन कर सकती है ऐसी जिनेश्वर देव की वाणी को मैं वन्दन करता हूँ। मुखचन्द्र की किरणों से दीपित, विकसित कमल की धारक और अपूर्व तेज से शोभित सरस्वती देवी को नमस्कार करता हूँ। जिनके प्रभाव से मेरे जैसा—(सामान्य) व्यक्ति भी परोपदेश में प्रवीण हो जाता है उन सद्गुरुओं को मेरा विशेष रूप से नमस्कार हो। 卐[१-९]

❀ पृष्ठ १ इस चिह्नान्तर्गत पृष्ठांक सर्वत्र श्रेष्ठि देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड से प्रकाशित उपमिति भव प्रपञ्चा कथा, सन् १९१८ के संस्करण के समझें।

卐 [ ] कोष्ठकान्तर्गत संख्या सर्वत्र उपर्युक्त संस्करण की श्लोक संख्या को सूचक हैं।

1. मोह की पीड़ा को शीत-ठण्डी पीड़ा कहा जाता है, क्योंकि यह प्रेम से उत्पन होती है और अन्त में असह्य सन्तापदायक होती है। किन्तु इस पीड़ा का उद्भव (स्रोत) ठण्डा पड़ जाता है। ठण्डी पीड़ा सर्वदा कठोर और त्रासदायक होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार विघ्नरूपी विनायक को शान्त करने वाले परमेष्ठि को नमस्कार करने के पश्चात् मैं विवक्षित ग्रन्थ की रचना करता हूँ। [१०]

कर्तव्य-सूचन

भव्य जीव अपने शुभ कर्मों से अतिदुर्लभ इस मनुष्य जीवन और श्रेष्ठ❀ कुल आदि अनुकूल सामग्री[1] को प्राप्त कर सभी हेय पदार्थों का त्याग करें, करने योग्य कार्यों को करें, श्लाघनीय वस्तु की प्रशंसा करें और श्रवण करने योग्य वचनों को सुनें। आत्म-हितेच्छु, जो भी कार्य मन को मलिन बनाने वाले और मोक्ष से हटाने वाले हैं उनका मन-वचन-काया से त्याग करें। मनीषियों को सर्वदा ऐसे कार्य करने चाहिये जिससे मन मुक्ताहार, बर्फ, गोदुग्ध, कुन्दपुष्प और चन्द्रमा के समान श्वेत एवं स्वच्छ हो जाय। विशुद्ध अन्तर्हृदय से सर्वज्ञ, तत्प्रणीत धर्म और उसका आचरण करने वालों की सर्वदा श्लाघा करनी चाहिये। समस्त दोषों का नाश करने के लिए श्रद्धा से विशुद्ध बुद्धिपूर्वक सर्वज्ञ-भाषित सार-गर्भित वचनों को भावपूर्वक सुनना चाहिये। सर्वज्ञ-भाषित श्रोतव्य वाणी जगत् की हितकारिणी है ऐसा चिन्तन कर यहाँ प्रस्तुत करता हूँ। तदनुसार महामोहादि (अन्तरंग शत्रुओं) का नाश करने वाली और संसार के प्रपञ्चमय विस्तार को बताने वाली कथा मैं कहूँगा। [११-१८]

सर्वज्ञ-वाणी

सर्वज्ञ-भाषित वाणी पाँचों आस्रवों (हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य, परिग्रह), पाँचों इन्द्रियों, महामोह से समन्वित चारों कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ), मिथ्यात्व, राग और द्वेषादि रूप अन्तरंग-शत्रुओं की सेना के दोषों का उद्घाटन करने वाली है। अर्थात् ये आन्तरिक-शत्रु प्राणी को संसार में कितना भटकाते हैं इसका स्वरूप सर्वज्ञ-वाणी स्पष्टतः बताती है। इसी प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सन्तोष, प्रशम, तप, संयम और सत्य आदि करोड़ों सैनिकों से सुसज्जित आत्मबल की आन्तरिक सेना भी है; जिसके गुणों की गौरव गाथा भी जिनेन्द्र-वाणी में पद-पद पर प्रकट की गई है। एकेन्द्रिय आदि भेदों से अनन्त दुःखरूपी भव-प्रपञ्च के स्वरूप का वर्णन भी जिन वाणी में प्राप्त होता है। अतएव उसी सर्वज्ञ वाणी को आधार मानकर, मेरे जैसे सामान्य प्राणी द्वारा कहे गये वचनों को भी जैनेन्द्र-सिद्धान्त का निर्झर समझें। [१९-२४]

❀ पृष्ठ २

1. अनुकूल सामग्रियाँ अनेक प्रकार की हैं :—आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल, नीरोग शरीर, इन्द्रिय सुख, बुद्धि, ग्रहण शक्ति, सद्गुरु का योग तत्त्वश्रवण की इच्छा, आलस आदि काठियों का नाश इत्यादि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथा के प्रकार

लोक में कथा के चार प्रकार कहे गये हैं—अर्थ, काम, धर्म और संकीर्ण (मिश्रित)। [२५]

साम आदि (साम, दाम, दण्ड, भेद) नीति सम्बन्धी, धातुवाद और कृषि विद्या का प्रतिपादन करने वाली तथा धनोपार्जन करने के उपायों से भरी हुई को अर्थ कथा कहा जाता है। यह अर्थ कथा मन को दूषित करने वाली और पाप के साथ सम्पर्क बढ़ाने वाली होने से दुर्गति की ओर ले जाने वाली है। काम-वासना के उपादानों से गर्भित, कामक्रीडावस्था के नैपुण्य को बताने वाली, अनुराग और इंगितादि चेष्टाओं से वासना को उद्दीप्त करने वाली कथाएँ काम कथा कही गई है। यह काम कथा मलिन विषयों में राग को बढ़ाने वाली तथा विपरीत मार्ग में ले जाने वाली होने से दुर्गति का कारण बनती है। दया, दान, क्षमा आदि धर्म के अंगों में प्रतिष्ठित और धर्म की उपादेयता को बताने वाली कथा को बुद्धिमानों ने धर्म कथा कहा है।❀ यह धर्म कथा चित्त की निर्मलता के कारण पुण्य व निर्जरा का विधान करती है, अतः इसे स्वर्ग और मोक्ष का कारण समझना चाहिये। अर्थ, काम, धर्म इन तीनों की प्राप्ति के उपाय बताने वाली, नव रसों से युक्त और निष्कर्ष वाली मिश्रित कथा को संकीर्ण कथा कहते हैं। यह कथा विचित्र एवं नाना प्रकार के अभिप्रायों से युक्त होने के कारण विविध प्रकार के फल देने वाली है तथा सभी विधाओं में पारंगत बनाने में सहायक होती है [२६-३३]

श्रोता के प्रकार

इस प्रकार की कथाओं के श्रोता भी चार प्रकार के होते हैं, संक्षेप में उनके लक्षण बताता हूँ। माया, शोक, भय, क्रोध, लोभ, मोह और मद से परिपूर्ण अर्थ-सम्बन्धी कथा के जो इच्छुक हैं, वे तामस् प्रकृति वाले अधम श्रेणी के मनुष्य हैं। राग-ग्रस्त मन वाले विवेकहीन होकर जो काम कथा की इच्छा करते हैं वे राजस् प्रकृति के मध्यम श्रेणी के व्यक्ति हैं। एक मात्र मोक्ष की आकांक्षा वाले शुद्ध हृदय से जो विशुद्ध धर्मकथा को ही सुनना चाहते हैं, वे सात्विक प्रकृति के श्रेष्ठ मानव हैं। उभय लोक की कामना करने वाले किञ्चित् सत्त्वधारी मनुष्य संकीर्ण कथा को सुनने की इच्छा करते हैं, वे श्रेष्ठ मध्यम श्रेणी के हैं। [३४-३८]

रज और तम के अनुयायी सत्वशाली जीव, अर्थ और काम के निवारण में समर्थ धर्मशासक और धर्म शास्त्रों की अवहेलना कर, स्वयं अर्थ और काम के रंग में रंग जाते हैं। अर्थ एवं काम-रूपी घी की आहुति से उनकी राग, द्वेष और मोह रूपी अग्नि-ज्वाला बहुत बढ़ जाती है। जैसे मयूरी के केकारव से मयूर के शरीर में रोमांच बढ़ जाता है वैसे ही काम और अर्थ कथा के श्रवण से पाप कार्यों में उत्साह बढ़

❀ पृष्ठ ३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है। अतएव काम और अर्थ सम्बन्धी कथा कभी भी नहीं करनी चाहिये। ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो घाव पर नमक छिड़केगा? परोपकारी मनीषियों को ऐसा कार्य करना चाहिये कि जिससे समस्त प्राणियों का उभय लोक में हितसाधन हो। यद्यपि काम और अर्थ की कथा लोगों को प्रिय है, तथापि इन कथाओं के परिणाम अत्यन्त दारुण हैं। अतः विद्वानों को इन दोनों कथाओं का त्याग करना चाहिये। ऐसा समझकर उभय लोक की हित-कामना से जो अमृतोपम शुद्ध धर्म कथा को कहते हैं, वे धन्य हैं। [३६-४५]

संकीर्ण कथा का आशय

आकर्षण के साथ सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने वाली होने से संकीर्ण कथा को कितने ही आचार्य सत्कथा की कोटि में रखते हैं। जिस किसी भी प्रकार से प्राणियों को प्रतिबोधित किया जा सके, हितेच्छु उपदेशकों को उसी कथा का आश्रय लेकर उसे उपदेश देने का प्रयत्न करना चाहिये। सांसारिक मोहग्रस्त मुग्ध प्राणियों के मन में एकाएक धर्म प्रतिभासित नहीं होता, वे धर्म की ओर आकर्षित नहीं होते, अतः अर्थ और काम की कथा के द्वारा उसके मन को आकृष्ट करना चाहिये। अर्थ और काम कथा के माध्यम से उन्हें धर्म कथा की ओर प्रेरित करने पर वे उसे ग्रहण करने में समर्थ हो जाते हैं। इसीलिये संकीर्ण कथा को भी विक्षेप* द्वारा सत्कथा कहा गया है। वैसे तो यह **उपमिति-भव-प्रपंच** कथा शुद्ध धर्म कथा ही है, परन्तु किसी-किसी स्थान पर वह संकीर्ण कथा का रूप भी ग्रहण करती है, फिर भी वहाँ पर वह धर्म कथा के गुण की अपेक्षा रखती है, अतः इसे धर्म कथा ही समझना चाहिये। (४६-५०)

भाषा-विचार

संस्कृत और प्राकृत दोनों ही प्रधान भाषायें हैं। उनमें भी पण्डितंमन्य विद्वानों का झुकाव संस्कृत की ओर अधिक है। यद्यपि प्राकृत भाषा सहज भाव से बाल जीवों को सद्बोध कराने वाली और कर्ण-प्रिय है, फिर भी वह अहम्मन्य पण्डितों को वैसी नहीं लगती। साधनों के विद्यमान होने पर सब का मनोरंजन करना चाहिये। इसलिए उनके अनुरोध को ध्यान में रखकर, इस ग्रन्थ की रचना संस्कृत भाषा में ही करूँगा। संस्कृत में रचना होते हुए भी वह बड़े-बड़े वाक्यों और अप्रसिद्ध अतिगूढ़ शब्दों वाली न होकर, सर्व प्राणियों को समझ में आने वाली (लोकप्रिय) भाषा होगी। (५१-५४)

कथा-शरीर—अन्तरंग

'उपमिति-भव-प्रपंच कथा' इस नाम से इसका कथा-शरीर स्पष्ट है। इसमें भव-प्रपंच (संसार के विस्तार) का वर्णन है। यह संसार का विस्तार, यद्यपि सभी लोगों द्वारा अनुभव किया जाता है, फिर भी परोक्ष जैसा लगता है, इसलिये इसका विस्तार पूर्वक विशेष वर्णन आवश्यक है। किसी प्रकार की भ्रांति न हो और स्मृति

* पृष्ठ ४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सदा ताजी बनी रहे, इसलिये कथा के नाम का स्पष्टीकरण करने के पश्चात् मैं कथा-विषय (कथा-शरीर) पर संक्षेप में विवेचन करूँगा। यह कथा दो प्रकार की है :— अन्तरंग और बाह्य। इनमें से पहले अन्तरंग-कथा-शरीर में क्या है ? यह बतलाऊँगा। [५५-५८]

इस कथा के आठ प्रस्ताव (खण्ड, विभाग) करूँगा। प्रत्येक प्रस्ताव में जिन विषयों का वर्णन करूँगा उसका निष्कर्ष यहाँ प्रस्तुत करता हूँ। [५९]

१. प्रथम प्रस्ताव में जिस हेतु से इस आकार-प्रकार में इस कथा की रचना की गई है, उस हेतु का स्पष्टतः प्रतिपादन करूँगा। [६०]

२. दूसरे प्रस्ताव में एक भव्य पुरुष सुन्दर मनुष्य-जन्म प्राप्त कर, आत्म-हित करने में तत्पर होकर, सदागम[1] की संगति प्राप्त कर उसके साथ रहता है। एक संसारी-जीव सदागम के समक्ष अगृहीतसंकेता[2] को उद्देश्य कर अपना चरित्र (आत्म कथा) कहता है; जिसे प्रज्ञाविशाला[3] के साथ भव्य पुरुष सुनता है। इस प्रसंग में संसारी जीव ने तिर्यञ्च[4] गति में कौन-कौन से और कैसे-कैसे रूप धारण किये, उन सब भावों पर वे विचार करते हैं; उनका यहाँ प्रतिपादन करूँगा। (६१—६३)

३. तीसरे प्रस्ताव में संसारी-जीव हिंसा और क्रोध के वशीभूत होकर तथा स्पर्शनेन्द्रिय में आसक्त होकर विविध दुःख और दारुण पीड़ाओं को प्राप्त करता है तथा मानव-भव से भ्रष्ट होता है, इन सबका वर्णन, स्वयं संसारी-जीव के मुख से ही कराऊँगा [६४-६५]

४. चौथे प्रस्ताव में मान जिह्वेन्द्रिय और असत्य में आसक्त होकर संसारी-जीव दुःख-पीड़ित होकर कैसी-कैसी यातनायें प्राप्त करता है और अनेक दुःखों में डूबा हुआ अपार अनन्त संसार में किस प्रकार बारम्बार भटकता है, यह सब वह स्वयं बतलायेगा [६६-६७]

५. ❀पाँचवें प्रस्ताव में संसारी-जीव चोरी, माया तथा घ्राणेन्द्रिय के विपाकों का विस्तार से वर्णन करेगा [६८]

६. छठे प्रस्ताव में संसारी-जीव लोभ, मैथुन और चक्षु इन्द्रिय के विपाकों का वर्णन करेगा; जो इसके जीव ने पूर्व-भवों में अनुभव किया है [६९]

७. सातवें प्रस्ताव में संसारी-जीव महामोह, परिग्रह और श्रवणेन्द्रिय के सहयोग से कैसे-कैसे प्रपञ्च रचता है और करता है; यह बतलायेगा [७०]

❀ पृष्ठ ५

१. शुद्ध श्रुतज्ञानधारक सद्गुरु, पात्र।

२. भद्रजन, सरल स्वभावी, गतानुगतिक व्यवहार करने वाला पात्र।

३. दीर्घदर्शी, विचक्षण, मनीषी पात्र।

४. एक इन्द्रिय से चार इन्द्रिय वाले समस्त प्राणी तथा जलचर, स्थलचर, खेचर, पशु, पक्षी आदि प्राणियों को जैन परिभाषा में तिर्यंच कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार तीसरे से सातवें तक पाँच प्रस्तावों में (हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह इन पाँचों आस्रवों से; त्वचा, जीभ, नाक, आँख, कान इन पाँच, इन्द्रियों से, क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायों से तथा महामोह के वशीभूत होने से) संसारी-जीव पर दुःखों के पहाड़ टूट पड़ते हैं, उन घटनाओं का वर्णन किया जायेगा। इन घटनाओं में से कुछ का तो संसारी-जीव स्वयं भुक्तभोगी है और कुछ अन्य लोगों से सुनी हुई है, किन्तु उन सब पर उसकी स्वयं की प्रतीति होने से वे समस्त घटनाएं स्वयं संसारी-जीव से सम्बन्धित और उसकी अपनी ही हैं, ऐसा कहा जायेगा। [७१-७२]

८. आठवें प्रस्ताव में पूर्व-वर्णित सातों प्रस्तावों की घटनाओं का मेल होता है और संसारी-जीव अपना आत्महित करता है। संसार पर तीव्र विराग उत्पन्न करने वाली संसारी-जीव की इस आत्मकथा को सुनकर भव्य पुरुष प्रतिबोध प्राप्त करता है, किन्तु संसारी-जीव द्वारा बारम्बार प्रेरित करने पर भी अगृहीतसंकेता बड़ी कठिनाई से प्रतिबोधित होती है। केवल-ज्ञान रूपी सूर्य से देदीप्यमान निर्मलाचार्य को पूछकर संसारी-जीव ने (अपने पूर्व-भव में) यह सब वृत्तान्त समझ लिया था। सदागम के द्वारा संसारी-जीव को पुनः-पुनः स्थिर करने पर उसे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ। फलस्वरूप उसने अपनी यह आत्मकथा प्रतिपादित की, ऐसा प्रतिपादन किया जायेगा। [७३-७७]

रूपक कथा की परिपाटी

इस कथा में अन्तरंग लोगों के ज्ञान, आपसी बोलचाल, गमनागमन, विवाह, बन्धुता आदि समस्त लोक-व्यवहारों का वर्णन किया गया है, उसे किसी भी प्रकार से दूषित नहीं समझना चाहिये; क्योंकि गुणान्तर की अपेक्षा से उपमा रूपक द्वारा बोध कराने के लिए ऐसे वर्णन किये गये हैं। कहा है—जो प्रत्यक्ष और अनुभव सिद्ध हो तथा युक्ति से दूषित न हो उसे सत्यकल्पित उपमान कहा जाता है और इस प्रकार के उपमान सिद्धान्त आगम ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। जैसे कि, आवश्यक सूत्र में मुद्गल शैल-पाषाण और पुष्करावर्तक मेघ की स्पर्द्धा एवं नागदत्त चरित्र में क्रोध आदि को सर्प की उपमा दी गई है। उत्तराध्ययन सूत्र के पिण्डैषणा अध्ययन में मत्स्य ने अपना चरित्र कहा है तथा सूखे पत्तों ने भी अपना संदेश दिया है, वैसे ही सिद्धान्त ग्रन्थों के आलोक में यहाँ जो भी कथन उपमा-रूपक द्वारा किया जायेगा उसे युक्तियुक्त वचन ही समझना चाहिये। [७८-८३]

इस प्रकार इस कथा का अन्तरंग शरीर क्या है? इसका वर्णन किया गया। अब मैं कथा के बहिरंग शरीर का प्रतिपादन करता हूँ। [८४]

कथा-शरीर—बहिरंग

मेरु पर्वत की पूर्व दिशा में स्थित महाविदेह क्षेत्र में सुकच्छ नामक विजय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था। उस विजय की राजधानी क्षेमपुरी नामक नगरी थी। इस नगर में सुकच्छ विजय के स्वामी अनुसुन्दर नामक चक्रवर्ती हुए।* आयुष्य के अन्तिम भाग में अनुसुन्दर चक्रवर्ती को अपने देश को देखने की इच्छा हुई और वे आनन्द पूर्वक यात्रा पर निकल पड़े। घूमते-घूमते वे शंखपुर नगर पहुंचे। नगर के बाहर मन को आह्लादित करने वाला चित्तरम नाम का उद्यान था। उस सुन्दर उद्यान के मध्य में मनोनन्दन नामक एक सुन्दर जिन मन्दिर था। किसी समय इस उद्यान के मन्दिर में समन्तभद्र नामक आचार्य पधारे। उनके सन्मुख महाभद्रा नामक प्रवर्तिनी साध्वी, सुललिता नामक सरल स्वभाव वाली राजकुमारी, पुण्डरीक नामक राजपुत्र एवं अन्य अनेक लोगों की सभा जुड़ी हुई थी। आचार्य समन्तभद्रसूरि ने ज्ञान-दृष्टि से यह जानकर कि अनुसुन्दर चक्रवर्ती ने महापाप किये हैं, उस समय इस प्रकार कहा— बाहर लोगों में अभी जो भारी कोलाहल सुनने में आ रहा है, वह संसारी-जीव नामक चोर को वध्य-स्थल पर ले जाने के कारण है। आचार्यदेव के इस प्रकार के वचन सुनकर महाभद्रा साध्वी ने सोचा कि, जिस जीव का आचार्यश्री ने वर्णन किया है, वह अवश्य ही कोई नरकगामी जीव होना चाहिये। इस विचार से साध्वी को उस जीव पर करुणाभाव उत्पन्न हुआ और वह वध-स्थान को ले जाने वाले जीव के पास गई। साध्वी के दर्शन से जीव को स्वगोचर[1] (जाति स्मरण) ज्ञान हो गया। फिर उसने साध्वी से आचार्यश्री द्वारा कथित बात सुनी और वैक्रिय-लब्धि[2] द्वारा चोर का वेश धारण कर, साध्वीजी के साथ आचार्य के सन्मुख उपस्थित हुआ।[3] राजपुत्री सुललिता ने जो आचार्य के पास ही बैठी थी, इस नवागन्तुक चोर से चोरी के विषय में पूछा। आचार्य ने उसे निर्देश दिया कि, तुम अपना वृत्तान्त सुनाओ। एतएव चोर ने राजपुत्री को प्रतिबोधित करने के लिये तीव्र संवेग उत्पन्न करने वाली स्वयं की भव-प्रपञ्च रूप आत्मकथा उपमाओं के माध्यम से कह सुनाई। इसी अवसर पर राजपुत्र पुण्डरीक भी जो पास में बैठा हुआ संसारी-जीव की कथा सुन रहा था, लघुकर्मी जीव होने से तुरन्त ही प्रतिबोधित हो गया। राजपुत्री सुललिता में पूर्वजन्मों का कर्म-दोष अधिक था, अतः बारम्बार उसे उद्देश्य कर कथा कहने पर भी वह प्रतिबोध को प्राप्त नहीं हो रही थी। अन्त में विशिष्ट प्रेरणा द्वारा इसे भी बड़ी कठिनाई से बोध प्राप्त हुआ। पश्चात् सभी ने अपना आत्म-हित किया और मोक्ष को प्राप्त हुए। इस बहिरंग कथा-शरीर को अपने हृदय में अच्छी तरह धारण करें— लक्ष्य में रखें। आठवें प्रस्ताव में इन सब का स्पष्टीकरण किया जायेगा [८५-१००]

---

* पृष्ठ ६

१. स्वगोचर ज्ञान को ही जातिस्मरण ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मतिज्ञान का एक भेद है। इस ज्ञान से पूर्वजन्म का वृत्तान्त स्मृति में आता है।

२. यह एक प्रकार की लब्धि है। इस लब्धि से मनुष्य मन चाहा रूप धारण कर सकता है।

३. चोर का रूप धारण कर गुरु के सन्मुख आने वाला चक्रवर्ती स्वयं है, ऐसा समझें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस ग्रन्थ अधिकारी

परमार्थ के लिये सर्वज्ञ-प्ररूपित सिद्धान्त-समुद्र में से बूंद के समान इस कथा को महासमुद्र में से खींचकर बाहर निकाला है। दुर्जन मनुष्य इस कथा को सुनने के योग्य नहीं हैं। अमृत बिन्दु और कालकूट विष का संयोग किसी भी प्रकार से उचित नहीं कहा जा सकता। दुर्जन मनुष्य के दूषणों पर भी विचार नहीं करना चाहिये। पाप को उत्पन्न करने वाली पापी मनुष्यों की कथा कहने से क्या लाभ? यदि दुर्जन की स्तुति भी करें, तो भी वह काव्य में से दोष ही ढूंढ निकालेगा और उन दोषों का विशेष रूप से प्रकाशन करेगा। यदि उसकी निन्दा करेंगे, तो वह और भी अधिक दोष निकालेगा, अतः ऐसे प्राणी के प्रति उपेक्षा-भाव रखना ही श्रेयस्कर है। दुर्जन प्राणी की निन्दा करने से स्वयं में भी उसकी दुर्जनता का कुछ अंश आता ही है और उसकी प्रशंसा करने से असत्य-भाषण होता है,* अतः उनके सम्बन्ध में उपेक्षा ही उचित है। क्षीर समुद्र जैसे निर्मल और विशाल हृदय वाले, गम्भीर मानस वाले, लघुकर्मी भव्य सज्जन ही इस कथा को सुनने के अधिकारी हैं। ऐसे अधिकारी सज्जनों की निन्दा नहीं करनी चाहिये, उनकी प्रशंसा करने की भी आवश्यकता नहीं है, उनके सम्बन्ध में मौन रहना ही समुचित है; क्योंकि अनन्त गुण-शाली सज्जनों की निन्दा करना महापाप है। मेरे जैसा सामान्य बुद्धि वाला उनके गुणानुरूप उनकी स्तुति या श्लाघा कर सके, यह अशक्य है। सज्जन पुरुषों की यह विशेषता होती है कि उनकी स्तवना-प्रशंसा न करने पर भी वे काव्य स्थित गुणों को देख सकते हैं, परख सकते हैं। यदि काव्य में कोई दूषण भी हो, तो वे उसको ढक सकते हैं; क्योंकि वे स्वभाव से ही सार-ग्रहण करने वाले महात्मा होते हैं, अतः उनकी प्रशंसा करने की आवश्यकता नहीं है। मैं केवल ऐसे विशाल हृदय और बुद्धिवाले मनीषियों से अनुरोध करता हूँ कि वे इस कथा को भली प्रकार सुनें। उनसे यह निवेदन करने के लिए ही मैंने उक्त वर्णन किया है [१०१-११०]

हे भव्य जीवों! मेरे अनुरोध को स्वीकार कर, आप अपने मन को स्थिर कर, कान खोलकर, मैं जो कह रहा हूँ उसे कुछ समय तक ध्यान पूर्वक श्रवण करें [१११]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपोद्घातरूप दृष्टान्त कथा

अदृष्ट-मूलपर्यन्त नगर

१. ❀इस संसार में 'अदृष्ट-मूल-पर्यन्त' नामक नगर उच्च अट्टालिकाओं और मनोहर भवनों से सुशोभित व अनन्त प्राणियों से भरा हुआ है, जो सनातन है। इसमें अनेक प्रकार की पण्य (वस्तुओं) और महामूल्यवान रत्नों से भरी दुकानों वाले आदि-अन्त रहित अनेक बाजार हैं। यह नगर सुन्दरतम एवं विचित्र चित्रों से चित्रित देवालयों से सुशोभित है जिन्हें बच्चे बूढ़े एकटक देखते रह जाते हैं। यह नगर क्रीड़ा कलरव करने वाले बालकों की ध्वनि से गुंजरित है। यह नगर अलंघ्य तथा तुंग (उच्च) दुर्ग से घिरा हुआ है। इस नगर की रचना ऐसी है कि मध्य भाग अति गंभीर और दुर्गम है, क्योंकि नगर के चारों ओर बड़ी-बड़ी खाईयाँ खुदी हुई हैं। सभी लोगों को आश्चर्यचकित करने वाले चपल लहरों से गुंजरित अनेक छोटे-बड़े सरोवरों से यह नगर सुशोभित है। नगर के किले के पास ही चारों ओर अति-गहन भयंकर अनेक अन्धकूप भी शत्रुओं को त्रास देने के लिए निर्मित हैं। यह महानगर अनेक प्रकार के फल-फूलों से पल्लवित और भ्रमरों से गुंजित, कई देववनों से परिवेष्टित और अनेकानेक आश्चर्यों तथा चमत्कारों से परिपूर्ण है।

[११२-१२०]

निष्पुण्यक दरिद्री

२. इस नगर में एक निष्पुण्यक नामक गरीब ब्राह्मण रहता था, जो महोदर, महादुर्बुद्धि और स्वजन सम्बन्धियों से रहित था। वह अर्थ तथा पुरुषार्थ दोनों से हीन था। उसका शरीर भूख से जीर्ण होकर मात्र अस्थि-पंजर रह गया था। वह मलिन निन्दनीय और गरीबी से ग्रस्त था। वह निरन्तर फूटा हुआ मिट्टी का पात्र लेकर घर-घर भीख माँगता था। वह ऐसा अनाथ था कि उसे सोने के लिए बिछौना तक उपलब्ध नहीं था, जमीन पर सोते-सोते उसकी पसलियाँ घिस गई थीं और

❀ यह दृष्टान्त कथा मूल में १-४० अनुच्छेदों में दी गई है। आगे इसी की दार्ष्टान्तिक योजना—कथा का उपनय भी तुलनात्मक रूप से प्रस्तुत किया गया है, अतः इन अनुच्छेदों पर भी १-४० की संख्या दी गई है। जिससे अनुच्छेदवार तुलना करने में सरलता रहे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धूल से सारा शरीर मलिन हो रहा था। उसके पहिनने के चिथड़े जाल-जाल हो रहे थे। [१२१–१२३]

३. इस दरिद्री को चिढ़ाने के लिए नगर के दुर्दान्त डिम्भ (चंचल और नट-खट बालक)❀ प्रतिक्षण लकड़ी, बड़े-बड़े पत्थर (ढेले) और घूंसे मार-मार कर उससे छेड़छाड़ करते थे जिससे वह अधमरा और बहुत दुःखी हो रहा था। सारे अंगों पर घाव थे, इस कारण वह बार-बार चिल्लाता था 'हे माँ ! मैं मर गया, मुझे बचाओ।' ऐसे ही दैन्य और आक्रोश पूर्ण वचनों से वह अपना दुःख प्रकट कर रहा था। उसे उन्माद और बुखार भी हो रहा था। कुष्ठ, खुजली और हृदय-शूल से ग्रसित वह सब तरह के रोगों का घर लग रहा था। इतनी अधिक वेदना से वह घबरा गया था। सर्दी, गर्मी, डांस, मच्छर, भूख, प्यास आदि अनेक प्रकार की पीड़ाओं से वह अशान्त, त्रस्त और दुःखी होकर नरक जैसी यंत्रणा सहन कर रहा था। [१२४-१२७]

४. निष्पुण्यक दरिद्री का स्वरूप सज्जनों के लिये दया का स्थान, दुर्जनों के लिये हँसी-मजाक का पात्र, बालकों के लिये खेल का खिलौना और पापियों के लिये एक उदाहरण-सा बन गया था। [१२८]

५. अदृष्टमूलपर्यन्त नगर में अन्य भी कई दरिद्री रहते थे, पर निष्पुण्यक जैसा दुःखी और निर्भागियों का शिरोमणि तो सम्पूर्ण नगर में सम्भवतः कोई दूसरा नहीं था। [१२९]

निष्पुण्यक की मिथ्या कल्पनाएँ

६. निष्पुण्यक अनेक संकल्पों-विकल्पों द्वारा रौद्रध्यान (दुर्ध्यान) करते हुए सोचता रहता कि मुझे अमुक-अमुक घर से भिक्षा मिलेगी। अर्थात् उसका सारा समय रौद्रध्यान में ही व्यतीत होता था, पर उससे प्राप्त क्या होता ! सिवाय परिताप के। भिक्षा में यदि उसे कहीं थोड़ा झूँठा अन्न भी मिल जाता तो वह ऐसा प्रसन्न हो जाता जैसे कहीं का राज्य मिल गया हो ! अनेक प्रकार के तिरस्कार से प्राप्त झूँठा अन्न खाते हुए उसे सर्वदा यह शंका बनी रहती कि कोई शक्र जैसे बलवान पुरुष मेरा भोजन चुरा न ले। उस थोड़े से झूँठण से उस बेचारे की तृप्ति तो क्या होती, उसकी भूख और अधिक प्रज्वलित हो जाती। उस अन्न के पचते-पचते उसके शरीर में वात-विसूचिका[1] (उदर पीड़ा) उठ खड़ी होती। वह भोजन उसके लिये असाध्य रोगों का कारण बनता और शरीर में पहले से स्थित रोगों को बढ़ाने में सहायभूत बनता। इस वास्तविकता की उपेक्षा करते हुये निष्पुण्यक उसी भोजन को अच्छा मानता और उससे सुन्दर भोजन की तरफ दृष्टिपात भी नहीं करता। सुन्दर और स्वादिष्ट भोजन चखने का कभी उसे स्वप्न में भी अवसर प्राप्त नहीं हुआ।

❀ पृष्ठ ८

१. उदरशूल, संग्रहणी, हैजा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह दरिद्री भीख माँगते हुये उस नगर के छोटे-बड़े घरों में, भिन्न-भिन्न मुहल्लों और गलियों में बिना थके भटकता रहता। दुःखग्रस्त महादुर्भागी को यों भटकते हुये उसे कितना समय बीत गया, इसका भी उसे ध्यान नहीं रहा। [१३०-१३७]

सुस्थित महाराजा : कर्मविवर द्वारपाल

७. इस नगर में सुस्थित नामक एक प्रख्यात महाराजा राज्य करता था जो स्वभाव से ही सब प्राणियों पर अत्यधिक प्रेम रखने वाला था। एक बार घूमते हुये वह निष्पुण्यक दरिद्री राजा के भवन (महल) के पास पहुँच गया। उस भवन के द्वार पर स्वकर्मविवर नामक द्वारपाल नियुक्त था। उस अत्यन्त करुणाजनक भिखारी को देखकर द्वारपाल ने कृपा कर उसे अपूर्व राजमन्दिर (महल) में प्रवेश करने दिया। [१३८–१४०]

राजमन्दिर का वैभव

८. अनेक रत्नों के प्रकाश से देदीप्यमान राजमन्दिर (महल) में अन्धेरे का तो कहीं नाम भी नहीं था। कटिमेखला और झांझर (कंदोरा और पायल) के घुंघरुओं से उत्पन्न स्वरों से उस राजमन्दिर (महल) में स्वयं ही अनेक राग उत्पन्न हो रहे थे। झूलती हुई मोतियों की लड़ियों से सुशोभित दिव्य वस्त्रों के सुन्दर पर्दे भवनों में चारों ओर लटक रहे थे। पान चबाने से आरक्त सुन्दर मुख वाले भवननिवासियों से वह राजमन्दिर शोभायमान था। भ्रमरों द्वारा गुंजरित और परिवेष्टित स्वर्ण जैसे सुन्दर रंग की विविध प्रकार से गूंथी हुई अनेक पुष्पमालाओं से उस भवन का आँगन सुगन्धित और सुवासित हो रहा था। शरीर पर लेप करने योग्य *अनेक सुवासित और सुगन्धित वस्तुएँ जमीन पर इतनी मात्रा में बिखरी पड़ी थीं कि उनसे वातावरण ही सुगन्धमय बन गया था। राजमन्दिर में रहने वाले सभी प्राणी हर्ष से विभोर होकर आनन्द से विभिन्न वाद्य यन्त्रों से मनोरंजन कर रहे थे। जिनके आन्तरिक तेज से सभी शत्रु पलायन कर गये थे और जो बाह्य व्यापारों से भी निश्चिन्त हो गए थे ऐसे अनेक राजपुरुष उस राजमन्दिर में निवास करते थे। सम्पूर्ण जगत् की चेष्टाओं को जानने वाले, स्वबुद्धि से अपने शत्रुओं को भली प्रकार पहचानने वाले और सम्पूर्ण नीतिशास्त्रों में पारंगत अनेक मंत्री भी वहाँ निवास करते थे। युद्ध के मैदान में अपने समक्ष आये हुए साक्षात् यमराज को देखकर भी जो विचलित नहीं होते थे, ऐसे असंख्य योद्धा वहाँ सेवारत थे। [१४१–१४७]

९. इस विशाल राजमन्दिर में अनेक व्यक्ति नियुक्तक (कामदार) थे जो सर्वदा करोड़ों नगरों, असंख्य ग्रामों और अनेक परिवारों का परिपालन करते थे तथा शासन-प्रबन्ध संचालित करते थे। स्वामी पर अत्यन्त प्रीति और श्रद्धा रखने वाले विशिष्ट बलवान और वास्तविक सूझ-बूझ वाले अनेक तलवर्गिक (कोटवाल) कार्यकर्ता वहाँ रहते थे। अनेक वृद्ध स्त्रियाँ भी रहती थीं; जिन्होंने विषयों का सर्वदा

* पृष्ठ ६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्याग कर दिया था और जो मदोन्मत्त युवतियों को अंकुश में रखने में समर्थ थीं। विलास करती अनेक सुन्दर ललनाओं से वह राजमन्दिर देवलोक को भी अपने वैभव से पराजित कर रहा था। अनेक योद्धाओं द्वारा वह राजमन्दिर चारों ओर से सुरक्षित था। [१४८-१५१]

१०. इस राजमन्दिर में सुरीले कण्ठ वाले नानाविध राग-रागिनियों व संगीत कला के मर्मज्ञ गायक, वीणा, बाँसुरी आदि वाद्यों के साथ सुन्दर आलाप से मधुर राग गाकर कर्णेन्द्रिय को अनेक प्रकार से मधुरता प्रदान करते थे। चित्ताकर्षक सुन्दर अनेक प्रकार के चित्र वहाँ इस प्रकार सजाये गये थे कि जिन्हें देखकर आँखें तृप्त हो जातीं और उन्हें एकटक देखते रहने का मन होता था। वहाँ चन्दन, अगर, कपूर, कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थ अत्यधिक मात्रा में बिखरे हुए थे जिससे कि घ्राण (नासिका) को तृप्ति मिलती थी। कोमल वस्त्र, कोमल शैय्या और सुन्दर स्त्रियों के योग से भी लोगों की स्पर्शनेन्द्रिय (स्पर्श) प्रमुदित होती थी। मन पसन्द स्वादिष्ट उत्तम भोजन से वहाँ प्राणियों की जिह्वा सन्तुष्ट और तृप्त होती थी और उनका स्वास्थ्य उत्तम रहता था। [१५२-१५६]

राजमन्दिर-दर्शन से स्फुरणा

११. तात्त्विक दृष्टि से सब इन्द्रियों के निर्वाण (तृप्ति) का कारणभूत ऐसे अद्भुत राजमन्दिर को देखकर वह भिखारी आश्चर्य-चकित होकर सोचने लगा कि, यह क्या है? अभी तक उन्मादग्रस्त होने से वह राजमन्दिर के तात्त्विक स्वरूप को पहचान नहीं सका, पर धीरे-धीरे-चेतना प्राप्त होने पर वह सोचने लगा कि, इस राजमन्दिर में निरन्तर उत्सव होते रहते हैं, पर द्वारपाल की कृपा दृष्टि से आज ही मैं इसे देखने में समर्थ हो सका हूँ, जो आज से पहले मैं कभी नहीं देख सका था। मुझे याद आ रहा है कि, मैं कई बार भटकते हुए इस राजमन्दिर के दरवाजे तक आया हूँ पर दरवाजे के निकट पहुँचते-पहुँचते तो ये महापापी द्वारपाल मुझे धक्के देकर वहाँ से भगा देते थे। जैसा मेरा नाम निष्पुण्यक है वैसा ही मैं पुण्यहीन भी हूँ कि देवताओं को भी अलभ्य ऐसे सुन्दर राजमन्दिर को पहले न तो मैं कभी देख सका और न कभी देखने का प्रयत्न ही किया। मेरी विचार शक्ति इतनी मोहग्रस्त और मन्द हो गई थी कि यह राजमन्दिर कैसा होगा? इसको जानने की जिज्ञासा तक मेरे मन में कभी भी उत्पन्न नहीं हुई। चित्त को आह्लादित करने वाले इस सुन्दर राजभवन को दिखाने की कृपा करने वाला यह द्वारपाल वास्तव में मेरा बन्धु है। मैं निर्भागी हूँ, फिर भी मुझ पर इसकी बड़ी कृपा है।* सब प्रकार के संक्लेश से रहित होकर, परिपूर्ण हर्ष से इस राजभवन में रहकर जो लोग आनन्द भोग रहे हैं, वे वास्तव में भाग्यशाली हैं। [१५७-१६४]

महाराजा सुस्थित का दृष्टिपात

१२. निष्पुण्यक दरिद्री को कुछ चेतना प्राप्त होने पर जब उसके मन में उपर्युक्त विचार चल रहे थे, तभी वहाँ जो कुछ घटित हुआ, उसे आप सुनें। इस

* पृष्ट १०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजमन्दिर की सातवीं मंजिल पर सब से ऊपर के भवन में लीला में लीन सुस्थित नामक महाराजा बिराजमान थे। महाराजा वहीं बैठे हुए आनन्द में व्यस्त नगर वासियों की दिनचर्या का व कार्य-कलापों का तथा नगर का अवलोकन कर रहे थे। इस नगर या नगर के बाहर ऐसी कोई वस्तु, घटना या भाव नहीं था जिसे सातवीं मंजिल पर बैठे सुस्थित महाराज न देख सकते हों। अत्यन्त बीभत्स दिखाई देने वाले, अनेक भयंकर रोगों से ग्रसित, सद्गृहस्थों के हृदय में दया उत्पन्न करने वाले निष्पुण्यक दरिद्री पर, उसके मन्दिर में प्रवेश करते समय ही उनकी निर्मल दृष्टि पड़ गई थी। महाराजा की करुणा से ओत-प्रोत निर्मल दृष्टि पड़ते ही उस दरिद्री के कितने ही पाप धुल गये थे। [१६५-१७०]

धर्मबोधकर की विचारणा

१३. सुस्थित महाराज ने अपने भोजनालय की देख-रेख के लिए धर्म-बोधकर नामक राज्य सेवक को नियुक्त कर रखा था। उसने जब देखा कि दरिद्री पर महाराज की कृपा दृष्टि हुई है, तो वह साश्चर्य आशय पूर्वक विचार करने लगा कि मैं यह कैसी अद्भुत नवीन घटना देख रहा हूँ। जिस पर महाराज की विशेष रूप से दृष्टि पड़ जाती है, वह तो तुरन्त ही तीनों लोकों का राजा हो जाता है। यह निष्पुण्यक तो भिखारी है, रंक है, इसका पूरा शरीर रोगों से भरा हुआ है, लक्ष्मी के अयोग्य है, मूर्ख है और सम्पूर्ण जगत् के उद्वेग को उत्पन्न करने वाला है। अच्छी तरह से विचार करने पर भी यह कुछ समझ में नहीं आता कि ऐसे दीन रंक पर महाराज की कृपा दृष्टि क्यों कर हुई? अरे हाँ, ठीक है, मैं समझ गया कि स्वकर्मविवर नामक द्वारपाल ने इसे यहाँ प्रवेश करने दिया, यह महाराज ने अवश्य देख लिया है। यह स्वकर्मविवर द्वारपाल तो बहुत सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षा करके ही किसी प्राणी को भवन में प्रवेश करने देता है। दरिद्री को भी कुछ सोच-समझकर ही उसने इसे भवन में प्रवेश दिया होगा। ऐसा लगता है कि राजा ने सम्यक् दृष्टि[1] पूर्वक इसे देखा है। इसके अतिरिक्त जिस प्राणी का इस राजभवन की ओर पक्षपात (प्रेम) उत्पन्न होता है, वह महाराज सुस्थित का प्रिय बन जाता है। यह दरिद्री जो आँखों की पीड़ा से निरन्तर परेशान था, वह अब भवन के दर्शन से अपनी आँखें अच्छी तरह से खोल रहा है। अभी तक इसका मुँह अत्यधिक बीभत्स दिखलाई दे रहा था, पर अब इस सुन्दर राजभवन के दर्शन से इसे जो प्रमोद उत्पन्न हुआ है, उससे कुछ अच्छा हो गया लगता है। इसके धूलि-धूसरित अंग कुछ स्वस्थ हुए हैं और इसे बार-बार रोमांच हो रहा है। इससे लगता है कि इसे इस राजभवन पर अवश्य ही अनुराग उत्पन्न हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि यह दरिद्री भिक्षुक का

१. सम्यक् दृष्टि—प्रेमपूर्ण दृष्टि, यह एक पारिभाषिक शब्द है। पुद्गल परावर्त के समय जब ग्रन्थिभेद होता है तब सम्यक्त्व प्राप्त होता है। उस समय की स्थिति और योगबल को सम्यक् दृष्टि कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकार अवश्य धारण किये हुए है, पर अभी-अभी महाराज की जो कृपा दृष्टि इस पर हुई है, इससे यह अवश्य ही वस्तुत्व[1] (राज्य और धन) को प्राप्त कर लेगा, धनाढ्य बन जायेगा।* ऐसा सोचकर धर्मबोधकर के हृदय मे भी उस दरिद्री पर करुणा उत्पन्न हुई। लोक में यह कहावत सत्य है कि 'जैसा राजा वैसी प्रजा'। अर्थात् राजा का जैसा व्यवहार किसी एक प्राणी पर होता है वैसा ही उस पर प्रजा का भी होता है। ऐसा सोचते हुए धर्मबोधकर शीघ्रता से उसके पास आया और उसके प्रति आदर प्रकट करते हुए कहा, 'आओ, आओ, मैं तुम्हें भिक्षा देता हूँ।' उस समय कुछ शरारती बच्चे निष्पुण्यक को छेड़ने और पीड़ा देने के लिये उसके पीछे पड़े हुए थे, वे सब धर्मबोधकर के शब्द सुनकर भाग गये। [१७१–१८५]

तद्दया द्वारा भिक्षादान

१४. फिर वह उसको प्रयत्नपूर्वक भिक्षुकों के बैठने के योग्य स्थान पर ले गया और उसे योग्य दान देने के लिये अपने सेवकों को आज्ञा दी। [१८६]

धर्मबोधकर के तद्दया[2] नाम की एक अति सुन्दर पुत्री थी। अपने पिता की आज्ञा को सुनकर वह तुरन्त उठ खड़ी हुई और शीघ्र ही महाकल्याणक खीर (पक्वान्न) लेकर निष्पुण्यक को भोजन कराने उसके पास गई। यह महाकल्याणक खीर का भोजन सर्व व्याधियों का नाशक, शरीर को वर्ण (रूप) तेज, शक्ति और पुष्टि को बढ़ाने वाला, सुगन्धित, रसदार और देवताओं को भी अप्राप्य एवं दुर्लभ अत्यन्त मनोहर था। उस दरिद्री के विचार अभी भी बहुत तुच्छ थे। अभी भी उसके मन में अनेक शंकाएँ उठ रही थीं। जब उसे भोजन के लिये बुलाया तो वह सोचने लगा—मुझे आगे होकर बुलाकर इतने आग्रहपूर्वक भिक्षा देने के लिये प्रयत्न किया जा रहा है, यह बात किसी भी तरह ठीक नहीं लगती। इससे अवश्य कुछ दाल में काला है। मुझे लगता है कि भिक्षा देने के बहाने कहीं एकान्त में ले-जाकर मेरा यह भिक्षा से भरा हुआ पात्र भी मुझ से छीन लेंगे या तोड़ देंगे। तब मैं क्या करूँ? सहसा यहाँ से भाग जाऊँ या यहीं बैठकर भोजन कर लूँ या यह कह कर कि मुझे भिक्षा की कोई आवशयकता नहीं है, यहाँ से चला जाऊँ। ऐसे अनेक संकल्प-विकल्पों से उसका भय बढ़ गया जिससे वह यह भी भूल गया कि, वह कहाँ आया है और कहाँ बैठा है? अपने भिक्षा पात्र पर उसे इतनी गाढ़ मूर्च्छा (अधिक मोह) हो गयी कि उसकी रक्षा के लिये वह रौद्रध्यान (दुर्ध्यान) में निमग्न हो गया। इसी दुर्ध्यान में उसकी दोनों आँखें बन्द हो गईं। उसके मन पर विचारों का इतना प्रबल प्रभाव पड़ा कि उसकी सभी इन्द्रियों के कार्य थोड़ी देर के लिये बन्द हो गये और वह लकड़ी की भाँति चेतना-रहित और सख्त हो गया तथा

---

* पृष्ठ ११

१. वस्तुत्व-धन, राज्य, सुख। वस्तुत्व अर्थात् सम्यक् बोध प्राप्त कर, अन्त में अनन्त सुख प्राप्त करना।

२. तद्दया—सद्धर्माचार्य की वात्सल्य और करुणामयी दया पात्र।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसकी सारी हलचल बन्द हो गई। तद्दया वहाँ खड़ी-खड़ी बार-बार उससे भोजन लेने का आग्रह करते-करते थक गई, परन्तु निष्पुण्यक ने उसकी ओर किंचित् ध्यान नहीं दिया। वह तो केवल अनेक रोगों को पैदा करने वाला अपने पास रखे हुए तुच्छ भोजन से बढ़कर अच्छा भोजन दुनिया में है ही नहीं, कहीं मिल ही नहीं सकता, ऐसे विचारों में इतना फँस गया कि तद्दया द्वारा लाये गये सर्वरोगहरी, अमृत के समान स्वादिष्ट पक्वान्न भोजन का मूल्य भी वह नहीं समझ सका। [१८७–१९८]

निरर्थक प्रयत्न

१५. ऐसी असंभावित घटना घटते देख कर पाकशालाध्यक्ष धर्मबोधकर ने अपने मन में सोचा—इस गरीब को प्रत्यक्ष सुन्दर खीर का भोजन देने पर भी नक्* तो वह उसे ले ही रहा है, न कोई उत्तर ही दे रहा है, इसका क्या कारण है? उल्टा इसका मुँह सूख गया है, आँखें बंद हो गई हैं और इतना मोहग्रसित हो गया है कि मानो इसका सर्वस्व लुट गया हो। इस प्रकार यह लकड़ी के कील (टुकड़े) की तरह निश्चेष्ट हो गया है। इससे लगता है कि यह पापात्मा ऐसे कल्याणकारी खीर के भोजन योग्य नहीं है। दूसरी तरह सोचें तो इसमें इन बेचारे का कोई दोष नहीं है। यह बेचारा तो शरीर की आन्तरिक और बाह्य व्याधियों से इतना घिर गया है और उनकी पीड़ा से इतना संवेदना-शून्य हो गया है कि कुछ भी जानने समझने में असमर्थ हो रहा है। यदि ऐसा न हो तो वह अपने तुच्छ भोजन पर इतनी प्रीति क्यों करे? यदि उनमें थोड़ी भी समझ हो तो वह ऐसा अमृत भोजन क्यों नहीं ग्रहण करे? [१९९–२०४]

तीन औषधियाँ :–१. विमलालोक अंजन

१६. तब यह नीरोग कैसे हो? इसका मुझे उपाय करना चाहिये। अरे हाँ, ठीक है, इसको निरोग करने के लिये मेरे पास तीन सुन्दर औषधियाँ हैं। उसमें से प्रथम मेरे पास विमलालोक नामक सर्वश्रेष्ठ अंजन (सुरमा) है। वह आँख की सब प्रकार की व्याधियों को दूर करने में समर्थ है। उसे बराबर विधि-पूर्वक आँख में लगाने से सूक्ष्म व्यवहित (पर्दे के पीछे या दूर रहे हुये), भूत और भविष्य काल के सर्वभावों को देख सके, ऐसी सुन्दर आँखें बना सकता है। [२०५–२०७]

२. तत्व-प्रीतिकर जल

१७. दूसरा मेरे पास तत्त्वप्रीतिकर नामक श्रेष्ठ तीर्थजल है, वह सब रोगों को एकदम कम कर सकता है। विशेषतः शरीर में यदि किसी प्रकार का उन्माद हो तो उसका सर्वथा नाश करता है और पण्डित लोग कहते हैं कि सम्यक् प्रकार से देखने में यह सबसे अधिक सहायता करता है। [२०८–२०९]

---

* पृष्ठ १२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. महाकल्याणक भोजन

१८. तीसरा वह महाकल्याणक परमान्न नामक खीर है, जिसे तद्या लेकर यहाँ खड़ी है, जो सर्व व्याधियों को समूल नष्ट करने में समर्थ है। इसका बराबर विधि पूर्वक सेवन करने से शरीर का रूप रंग बढ़ता है। वह पुष्टिकारक, धृतिकारक, बलवर्धक, चित्तानन्दकारी, पराक्रम बढ़ाने वाला, युवावस्था को स्थिर रखने वाला, वीर्य में वृद्धि करने वाला, और अजर-अमरत्व प्रदान करने वाला है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। यह भोजन ही इतनी श्रेष्ठ औषधि है कि इससे श्रेष्ठ औषधि विश्व में दूसरी हो ही नहीं सकती। अतः मैं इस बेचारे का इन औषधियों से उपचार कर इसे व्याधियों से छुड़ाऊँ, इस प्रकार धर्मबोधकर ने अपने मन में सोचा। [२१०–२१२]

अंजन का अद्भुत प्रभाव

१९. फिर उसने सलाई पर अंजन (सुरमा) लगाया और वह निष्पुण्यक सिर धुनता रहा तब भी उसने उसकी आँखों में सुरमा लगा ही दिया। वह सुरमा आनन्दायक, बहुत ठंडा और अचिन्त्य गुणवाला था। अतः उस भिखारी की आँखों में लगाते ही उसकी चेतना वापस आ गई। परिणाम स्वरूप थोड़ी ही देर में उसने अपनी आँखें खोली तो उसे ऐसा लगने लगा मानों उसके सब चक्षु रोग नष्ट हो गये हों। उसके मन में थोड़ा आनन्द हुआ। उसे आश्चर्य हुआ कि यह क्या हो गया! इतना लाभ होने पर भी पूर्वकालीन संस्कारों के कारण उसका अपने भिक्षा पात्र को पकड़े रखने का स्वभाव नहीं गया। अब भी भिक्षा पात्र की रक्षा का विचार उसके मन में बार-बार उठता रहता था। यह एकान्त स्थान है, अतः कोई उसका भिक्षा पात्र उठाकर न ले जाय, इस विचार से वह वहाँ से भागने के लिये रास्ता ढूँढने को चारों तरफ नजरें घुमा रहा था। [२१३–२१८]

जल का विलक्षण प्रभाव

२०. निष्पुण्यक को सुरमा लगाने से कुछ चेतना प्राप्त हुई देखकर धर्मबोधकर ने मीठे वचनों से उससे कहा—'भद्र! तेरे सब तापों (रोगों) को कम करने वाला यह पानी तो जरा पी,* यह पानी पीने से तेरा शरीर सम्यक् प्रकार से स्वस्थ हो जायेगा।' धर्मबोधकर जब उस भिखारी को इस प्रकार की प्रेरणा दे रहा था तब भी वह द्रमुक (निष्पुण्यक) शंकाकुल होकर अपने मन में सोच रहा था कि यह पानी पीने से क्या होगा? इसका क्या निश्चय? ऐसे विचारों से उस मंदात्मा ने पानी पीने की इच्छा नहीं की। धर्मबोधकर ने जब उसकी ऐसी दशा देखी तब हृदय में अत्यधिक दयाभाव होने के कारण उसके हित के विचार से उसकी इच्छा के विरुद्ध भी, बलपूर्वक मुँह खोलकर उसने तत्व-प्रीतिकर नामक जल उसके मुँह में डाल दिया। यह पानी अत्यन्त ठंडा, अमृत के समान स्वादिष्ट,

---

* पृष्ठ १३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चित्ताह्लादकारी और सब संतापों को नष्ट करने वाला था। उसके पीने से वह पूर्णरूपेण स्वस्थ के समान हो गया। उसका उन्माद बहुत कम हो गया, उसके रोग कम हो गये और उसके शरीर की दाह पीड़ा (जलन) ठंडी पड़ गई। उसकी सभी इन्द्रियाँ संतुष्ट हुईं। इस प्रकार उसकी अन्तरात्मा के स्वस्थ होने से उसकी विचार-शक्ति भी किंचित् शुद्ध हुई और वह सोचने लगा :— [२१९–२२५]

२१. 'ओह ! इन अत्यन्त कृपालु महापुरुष को मैंने महामोह के वश होकर मूर्खता से पापी और ठग समझा था। इन महापुरुष ने मुझ पर बड़ी कृपा कर, मेरी आँखों पर सुरमे का प्रयोग कर मेरी आँखों को बिल्कुल ठीक कर दिया जिससे मेरी दृष्टि-व्याधि दूर हो गई। फिर मुझे पानी पिलाकर स्वस्थ बना दिया। वास्तव में इन्होंने मुझ पर बड़ा उपकार किया है। मैंने इन पर क्या उपकार किया है ? फिर भी इन्होंने मेरा इतना उपकार किया है। यह इनकी महानता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। [२२६–२२८]

भूँठन पर मूर्च्छा

२२. ऐसे विचारों के रहते हुए भी अपने साथ लाये हुए भूँठन से प्राप्त तुच्छ भोजन पर उसका चित्त मंडरा रहा था। उस भूँठन से उसकी मूर्च्छा (प्रगाढ़ प्रेम) दूर नहीं हो रही थी। उसकी दृष्टि उसी भूँठन पर बार-बार पड़ रही थी। उसे इस स्थिति में देखकर और उसके मन के आशय को समझ कर धर्मबोधकर ने कहा—'अरे मूर्ख द्रमुक ! तेरा यह कैसा विचित्र व्यवहार है ! यह कन्या तुझे परमान्न (खीर) का भोजन दे रही है, क्या तू देखता नहीं। इस दुनियाँ में पापी भिखारी तो बहुत होंगे पर मैं निश्चय पूर्वक कह सकता हूँ कि तेरे जैसा निर्भागी तो शायद ही कोई दूसरा हो, क्योंकि तू अपने तुच्छ भोजन पर इतना आसक्त है। मैं ऐसा अमृतमय परमान्न भोजन तुझे दिलवा रहा हूँ फिर भी तू अपनी आकुलता को त्यागकर उसे नहीं लेता। तुझे एक दूसरी बात कहूँ, इस राजभवन के बाहर अनेक दुःखी प्राणी रहते हैं, पर उनको न तो इस भवन को देखकर आनन्द हुआ और न उन पर हमारे महाराज की कृपा दृष्टि ही हुई, जिससे हमारा उनके प्रति आदर-भाव रहता, हम उनसे बात भी नहीं करते। पर तुझे तो इस राजभवन को देखकर प्रसन्नता हुई और हमारे महाराज की तुझ पर कृपा दृष्टि हुई इसीलिये हम तेरा इतना आदर कर रहे हैं। अपने स्वामी को जो प्रिय हो, वही प्रिय कार्य स्वामी-भक्त सेवक को करना चाहिये। इसी न्याय (विचार) से हम तुझ पर विशेष दयालु हैं।* हमें यह पूर्ण विश्वास था कि हमारे राजा योग्य पात्र (व्यक्ति) पर ही अपनी कृपा दृष्टि डालते हैं, कोई मूढ उनके लक्ष्य में नहीं आता। यह विश्वास भी आज तूने गलत सिद्ध कर दिया है। तेरे अत्यन्त तुच्छ भोजन पर तेरा मन चिपका हुआ है, जिससे तू इतना सुन्दर अमृतमय भोजन भी नहीं लेता। यह भोजन सर्वरोग नाशक, मधुर और स्वादिष्ट है, इसे तू किसलिये नहीं ले रहा है ? अरे दुर्बुद्धि

* पृष्ठ १८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रमुक ! अपने पास के इस कुभोजन का त्याग कर और विशेषरूप से इस सुन्दर स्वादिष्ट भोजन को ग्रहण कर; जिसके प्रताप से इस राजभवन में रहने वाले प्राणी आनन्द कर रहें हैं। इसके माहात्म्य को तू देख।' [२२६-२३६]

२३. धर्मबोधकर के उपर्युक्त वचन सुनकर उसे कुछ विश्वास हुआ और मन में कुछ निश्चय भी हुआ कि यह पुरुष मेरा हित करने वाला है, फिर भी वह अपने पास के भोजन का त्याग करने की बात से विह्वल हो गया। अन्त में उसने दीन वचनों से कहा—'आपने जो बात कही उसे मैं पूर्णतया सच मानता हूँ, पर मुझे आपसे एक प्रार्थना करनी है, वह आप सुनें। हे नाथ ! मेरे इस मिट्टी के पात्र (भिक्षा पात्र) में जो भोजन है वह मुझे स्वभाव वश प्राणो से भी अधिक प्यारा है। इसे मैंने बहुत परिश्रम से प्राप्त किया है और भविष्य में इससे मेरा निर्वाह होगा, ऐसा मैं मानता हूँ। फिर आपका भोजन कैसा है ? इसे मैं वास्तव में नहीं जानता। अतः मैं अपना भोजन किसी भी अवस्था में छोड़ना नहीं चाहता। महाराज ! यदि आपको अपना भोजन भी मुझे देने की इच्छा हो तो मेरा भोजन मेरे पास रहने दें और आप आना प्रदान करें। [२४०-२४४]

विश्वास हेतु दृढ़ प्रयत्न—

२४. उसके ऐसे वचन सुनकर धर्मबोधकर मन में सोचने लगा—'अहो ! अचिन्त्य शक्ति वाले महामोह की चेष्टा को देखो। यह बेचारा द्रमुक सब रोगों का घर, इस तुच्छ भोजन में इतना आसक्त है कि उसकी तुलना में मेरे उत्तम भोजन को भी तृण के समान हेय समझता है। फिर भी यथाशक्ति इस बेचारे गरीब को पुनः शिक्षा देनी चाहिये। शायद इससे उसका मोह टूटे या कम हो और इस बेचारे का हित हो सके।' इस प्रकार सोचकर धर्मबोधकर ने भिखारी से कहा—'अरे भाई ! क्या तू यह भी नहीं समझता कि तेरे शरीर में जो ये अनेकों रोग हैं, उनका कारण यह तुच्छ भोजन ही है। तेरे पास जो तुच्छ भोजन है, यदि तू उसे अधिक मात्रा में खायेगा तो तेरे सब रोग बढ़ जायेंगे, अतः अच्छी बुद्धि वाले प्राणी को इसका बिल्कुल त्याग कर देना चाहिये। हे भद्र ! तुझे सभी प्रत्येक वस्तु उल्टी दिखाई देती है, इसलिये तू ऐसा मानता है। पर जब तू मेरे भोजन का तत्त्वतः एक बार स्वाद लेगा तब तेरा ऐसा सोचना स्वतः ही बन्द हो जायेगा और तुझे रोकने पर भी तू अपने आप इस कुभोजन का त्याग कर देगा। कौन ऐसा मूर्ख होगा जो अमृत का पान करने के बाद जहर पीने की इच्छा करेगा ? फिर मैं तुझसे पूछता हूँ कि क्या तूने अभी मेरे सुरमे की शक्ति और पानी की महिमा नहीं देखी ? क्या फिर भी तुझे मेरे वचन पर विश्वास नहीं है ? तू कहता है कि यह भोजन तूने बहुत परिश्रम से प्राप्त किया है,* अतः तू इसका त्याग नहीं कर सकता। इसके सम्बन्ध में मैं तुझे अभी विस्तार से बतलाता हूँ; जिसे तू मोह त्यागकर ध्यान से सुन। तुझे इसको प्राप्त करने में (क्लेश) कष्ट हुआ। सेवन से कितना क्लेश हो रहा है और भविष्य में भी इससे अनेक प्रकार के क्लेश पैदा होंगे, इसलिये इसका त्याग करना ही उचित है। तूने कहा कि 'भविष्य में इससे तेरा निर्वाह होगा, इसलिये इसे

* पृष्ठ १५

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

नहीं छोड़ सकता।' इस विपरीत मति को छोड़कर तू मेरी बात सुन। भविष्य में यह भोजन तेरे अनेक दुःखों को परम्परा का निर्वाह (पोषण) करेगा और तुझे अनेक दुःखों में पटक देगा। दुःख में डूबा हुआ तू क्या इस भोजन की रक्षा कर सकेगा? नहीं। तेरा यह कहना कि मेरा यह स्वादिष्ट भोजन कैसा होगा? इसका तुझे विश्वास नहीं है। इसका समाधान भी मैं करता हूँ तू उसे विश्वास-पूर्वक ध्यान से सुन। तुझे क्लेश न हो और जितनी तेरी इच्छा हो इस प्रकार थोड़-थोड़ा यह परमान्न स्वादिष्ट भोजन तुझे दिया करूँगा। अतः तू मिथ्या भ्रम का त्याग कर और इस परमान्न को ग्रहण कर। यह सुन्दर भोजन तेरी सभी व्याधियों (दर्दों) को समूल (जड़ से) दूर करेगा, तेरे शरीर और मन को सन्तोष देगा, पुष्ट करेगा, रंग-रूप सुन्दर करेगा और वीर्य में वृद्धि करेगा। इस भोजन का भली प्रकार सेवन करने से अनन्त आनन्द से परिपूर्ण होकर अक्षय स्थिति को प्राप्त कर; जिस प्रकार हमारे महाराज सुस्थित सुख में रमण करते हैं, उसी प्रकार तू भी हो जायेगा। अतः हे भद्र! अपने दुराग्रह को छोड़। तेरा भोजन जो अनेक रोगों का कारण है उसका त्याग कर और इस परम औषध स्वरूप महाआनंद के कारण स्वरूप स्वादिष्ट भोजन को ग्रहण कर एवं उसका उपभोग कर।' [२४५-२६१]

शर्त के साथ भोजन-दान

२५. धर्मबोधकर के इस वक्तव्य को सुनकर निष्पुण्यक ने कहा—'भट्टारक महाराज! मुझे अपने भोजन पर इतना स्नेह है कि उसके त्याग की कल्पना मात्र से मैं पागल होकर मर जाऊँगा, ऐसा मुझे लग रहा है। अतः हे महाराज! यह मेरा भोजन आप मेरे पास रहने दें और अपना भोजन आप मुझे प्रदान करें', उसका ऐसा अत्यन्त आग्रह देखकर धर्मबोधकर ने मन में सोचा—इस बेचारे को समझाने का अभी तो बाधारहित कोई दूसरा उपाय नहीं है, अतः वह अपना कुत्सित भोजन भले ही अपने पास रखे, अपना यह भोजन तो इसे देना ही चाहिये। जब उसे इस स्वादिष्ट भोजन का रस लगेगा तब अपने आप ही वह उस कुभोजन का त्याग कर देगा। इस प्रकार सोचकर धर्मबोधकर ने कहा—'भद्र! तेरा भोजन तेरे पास रहने दे और हमारा यह परमान्न भोजन ग्रहण कर तथा उसका उपभोग कर।' दरिद्री ने कहा—'ठीक है, मैं ऐसा करूँगा।' उसका ऐसा उत्तर सुनकर धर्मबोधकर ने अपनी पुत्री तद्दया को संकेत किया और उसने द्रमुक को भोजन दिया। दरिद्री ने तुरन्त उस भोजन को ग्रहण किया और वहीं बैठे-बैठे उसे खाया। इस भोजन से उसकी भूख शान्त हुई और उसके शरीर के प्रत्येक अंग-अंग में जो रोग थे वे प्रचुर मात्रा में कम हुये। पहले आँख में सुरमे के प्रयोग से और फिर पानी पीने से उसे जो सुख प्राप्त हुआ था, उससे अनन्त गुणा सुख इस सुन्दर भोजन के करने से प्राप्त हुआ और उसके हृदय में अतीव प्रसन्नता हुई। ऐसा होने पर उस दरिद्री को धर्मबोधकर पर प्रीति एवं भक्ति उत्पन्न हुई और वह हर्षित होकर बोला, 'मैं भाग्यहीन हूँ, सब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणियों में अधम हूँ और आप पर मैंने किसी प्रकार का उपकार नहीं किया, फिर भी आप मुझ पर इतनी अनुकम्पा (दया) दिखा रहे हैं, अतः हे प्रभो ! आपके सिवाय दूसरा कोई भी मेरा नाथ नहीं है।' [२६२-२७०]

औषध सेवन का उपदेश

२६. ❀इसके इस कथन पर धर्मबोधकर ने कहा—'यदि ऐसी बात है तो थोड़ी देर यहाँ बैठकर जो मैं कहता हूँ उसे सुनो और उस पर तदनुसार आचरण करो।' विश्वास के साथ दरिद्री के वहाँ बैठने पर, उसका हित करने की इच्छा से उसके मन को आनन्दित करने वाले सुन्दर मृदु शब्दों में धर्मबोधकर बोले—'तूने कहा कि मेरा आपके सिवाय कोई दूसरा नाथ नहीं है, पर तुझे ऐसा नहीं बोलना चाहिये, क्योंकि राजाओं में श्रेष्ठतम राजाधिराज सुस्थित तेरे स्वामी हैं, महाराज जंगम और स्थावर (चल-अचल) सब प्राणियों और पदार्थों के स्वामी हैं, उसमें भी इस राजभवन में रहने वाले प्राणियों के तो वे विशेष रूप से नाथ हैं। जो भाग्यशाली प्राणी इन महाराज का दासत्व स्वीकार करते हैं, उनके इस भवन निवासी सभी प्राणी अल्पकाल में ही दास बन जाते हैं। जो प्राणी अत्यन्त पापी होते हैं और भविष्य में भी जिनका उत्थान होना सम्भव नहीं, वे बेचारे तो इन महाराज का नाम भी नहीं जानते। जो भावि-भद्र महात्मा इस राजभवन में दिखाई देते हैं, उन्हें पहले तो स्वकर्मविवर द्वारपाल प्रवेश करवाता है, फिर बिना किसी शंका के वे वस्तुतः इन्हें महाराज के रूप में स्वीकार करते हैं। अन्दर प्रवेश करने के बाद कुछ मुग्ध (मोह के वशीभूत) होते हैं, उन्हें जब मैं सब बात समझाता हूँ, तब वे समझते हैं। इस प्रकार हे भद्र ! तेरे सद्भाग्य से जब से इस विशाल राजभवन में तेरा प्रवेश हुआ है, तब से महाराज सुस्थित ही तेरे स्वामी हैं। अब तू मेरे कथनानुसार जहाँ तक तू जीवित रहे तब तक शुद्ध चित्त से इन महाराज को अपना स्वामी स्वीकार कर। जैसे-जैसे तू उनके गुणों का उपभोग करता जायेगा, वैसे-वैसे तेरे शरीर में पैदा हुये अनेक रोग धीरे-धीरे शमित होते जायेंगे। तुझे जो रोग हो रहे हैं, उनके शमन का और समूल नाश करने का उपाय यही है कि तू श्रद्धापूर्वक तीनों औषधियों का बार-बार प्रयोग कर। इसलिए हे सौम्य ! सब प्रकार के संशयों को छोड़कर इस राजभवन में सुख से रह। प्रत्येक समय बार-बार अंजन, पानी और भोजन का उपभोग करता रह। इस प्रकार इन तीनों औषधियों का बार-बार उपयोग करने से तेरे सभी रोग समूल नष्ट होंगे और इन महाराज की विशेष सेवा करते-करते अन्त में एक दिन तू स्वयं नृपोत्तम (महाराज) बन जायेगा। यह तद्या तुझे प्रतिदिन ये तीनों औषधियाँ देती रहेगी। अब मुझे अधिक कुछ नहीं कहना है, पर तुझे फिर याद दिलाता हूँ कि तू इन तीनों औषधियों का बार-बार निरन्तर उपयोग करते रहना।' [२७१–२८५]

❀ पृष्ठ १६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दरिद्री का आग्रह

२७. धर्मबोधकर की उपर्युक्त मधुर बातें सुनकर निष्पुण्यक का हृदय आह्लाद से भर गया और उनकी बात को स्वीकार करते हुये भी वह कुछ सोचकर बोला—'स्वामिन् ! आपने इतनी बात कही तो भी मैं अभी भी अपने तुच्छ भोजन रूपी पाप को छोड़ नहीं सकता। इसके अतिरिक्त मुझ से जो भी कर्त्तव्य कराना हो उसे आप कहिये।' [२८६–२८७]

निष्पुण्यक को उपदेश

२८. दरिद्री के ऐसे वचन सुनकर धर्मबोधकर सोचने लगा—*इसे तो मैंने तीनों औषधियों का उपयोग करने की बात कही, तो उसके उत्तर में यह क्या कहने लग गया ? अरे, हाँ, अब समझा, अभी तक इसके मन में ऐसा ही विचार चल रहा है कि मैं अभी उसके साथ जो बातचीत कर रहा हूँ, उसका उद्देश्य किसी भी तरह उस से कुभोजन का त्याग करवाने का ही है। ऐसा विचार वह तुच्छता-वश कर रहा है। सच कहा है :—'क्लिष्ट (मलिन) चित्त वाले प्राणी सम्पूर्ण जगत् को दुष्ट मानते हैं और शुद्ध विचार वाले प्राणी सम्पूर्ण ससार को पवित्र मानते हैं।' दरिद्री को अपने प्रयत्न का गलत अर्थ लगाते देखकर धर्मबोधकर तनिक मुस्कराये और बोले—भद्र ! तू तनिक भी मत घबरा। मैं तेरे पास से अभी तेरा तुच्छ भोजन नहीं छुड़ाता। तू बिना डरे अपने भोजन का उपयोग कर सकता है। मैंने पहले जो तुझे कुभोजन का त्याग करने को कहा था, वह तो मात्र तेरे हित के लिये कहा था, पर जब तुझे यह बात रुचिकर नहीं है तो मैं अब इस सम्बन्ध में चुप रहूँगा। पर तुझे क्या करना चाहिये, इस प्रसंग में अभी मैंने जो उपदेश दिया और महाराज का गुणगान किया, उसमें से तूने अपने हृदय में कुछ धारण किया, या नहीं ?' [२८८–२९३]

निष्पुण्यक की स्वीकारोक्ति

२९. दरिद्री ने कहा—'हे स्वामिन् ! आपने जो कुछ भी कहा उसमें से कोई भी बात मेरे ध्यान में नहीं रही। आपके कर्णप्रिय मधुर भाषण को सुनकर मैं केवल अपने मन में प्रसन्न हो रहा था। सज्जनों की वाणी का परमार्थ (आशय) समझ में न आये तो भी वह वाणी स्वतः ही अति सुन्दर होने से मनुष्यों के चित्त को प्रसन्न करती है। दूसरे, जब आप बोल रहे थे तब मेरी आँखें आपके सामने थीं, पर मेरा चित्त कहीं और भटक रहा था, जिससे आप जो कुछ कह रहे थे वह एक कान में प्रवेश कर दूसरे कान से निकल जाता था। हे स्वामी ! उस समय मेरे मन की ऐसी विषम स्थिति का एक कारण था उस, समय मुझे जो भय था उसका अब नाश हो गया। अतः उस समय मेरे मन की ऐसी स्थिति क्यों हुई, उसका कारण बताने में अब मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मेरे मन की चंचल स्थिति का कारण आप सुनें—आपने मुझ

* पृष्ठ १७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर अत्यन्त करुणा कर जब मुझे भोजन देने के लिये बुलाया तब मेरे मन में ऐसा विचार आया कि यह मनुष्य भोजन देने के बहाने से मुझे किसी स्थान पर ले-जाकर मेरा भोजन छीन लेगा। ऐसे विचारों के वशीभूत होने के कारण मेरा चित्त घबरा गया था। उसके बाद आपने प्रेम पूर्वक मेरी आँख में सुरमा लगाकर जब मुझे जागृत किया और मेरी घबराहट कुछ कम हुई तब ऐसा विचार करने लगा कि मैं जल्दी यहाँ से भाग जाऊँ। उसके बाद आपने जल पिलाकर जब मेरे शरीर को शान्ति प्रदान की और मेरे साथ बातचीत की तब मुझे आप पर कुछ विश्वास हुआ। उस समय मैंने विचार किया कि, जो प्राणी मेरा इतना उपकार करता है और जिसके पास इतनी बड़ी विभूति (ऐश्वर्य) है, वह मेरा अन्न चुराने वाला कैसे हो सकता है? फिर आपने कहा कि अपने इस (कुत्सित) भोजन का त्याग कर और इस (स्वादिष्ट भोजन) को ग्रहण कर, तब फिर मेरा मन डाँवाडोल हो गया और विचार करने लगा कि, यह स्वयं तो मेरा भोजन लेना नहीं चाहता, किन्तु मुझ से इसका त्याग करवाना चाहता है। पर मेरे से तो उसका त्याग हो नहीं सकता, तब मैं क्या उत्तर दूँ अन्त में मैंने कहा कि, मेरा भोजन मेरे पास रहने दें और आप अपना भोजन मुझे दें। आपने यह स्वीकार किया और मुझे भोजन दिलवाया। जब मैंने उसका स्वाद चखा तब मुझे मालूम हुआ कि आप मुझ पर अत्यन्त स्नेहशील हैं। फिर मुझे विचार आया कि यदि मैं आपके कहने से अपने भोजन का त्याग कर दूँगा तो* उस भोजन के प्रति मूर्च्छा (आसक्ति) के वशीभूत आकुल-व्याकुल होकर (पागल होकर) मर जाऊँगा। मेरे हित को ध्यान में रखकर ये जो कुछ कह रहे हैं, तत्त्वतः वह सच्ची बात है किन्तु मैं इसका त्याग नहीं कर सकता। अरे! यह तो मेरे ऊपर धर्म-संकट आ पड़ा। उस समय ऐसे संकल्प-विकल्प मेरे मन में चल रहे थे जिससे आप जो कह रहे थे, वह चिकने घड़े पर गिरे पानी की तरह बह गया। आपने जब मेरी बात मान कर कहा कि, अब मैं तुझे इस कुभोजन का त्याग करने के लिये नहीं कहूँगा तब मैं कुछ स्वस्थ हुआ। आपके कहने का आशय मैं समझ सका। मेरा चित्त ऐसा अस्थिर है और मैं बहुत पापी हूँ। अतः हे नाथ! मुझे अब क्या करना चाहिये, वह आप मुझे फिर से कहें जिससे कि मैं उसे अपने चित्त में धारण कर सकूँ। [२९४–३१०]

औषध सेवन के योग्य अधिकारी के लक्षण

३०. निष्पुण्यक से सब वृत्तान्त सुनकर दया के सागर धर्मबोधकर ने जो बात पहले समझाई थी वही फिर से विस्तार पूर्वक कही। उसके बाद यह समझ कर कि वह विमलालोक अंजन, तत्त्व प्रीतिकर जल, महाकल्याणक भोजन, सुस्थित महाराज और उनके विशिष्ट गुणों से अनभिज्ञ है, वे बोले—'भाई! मुझे महाराज ने पहले ही आज्ञा दे रखी है कि उनकी ये तीनों औषधियाँ मैं योग्य पुरुष को ही प्रदान करूँ। यदि ये तीनों औषधियाँ किसी अयोग्य व्यक्ति को दी गई तो वे उपकार

---

* पृष्ठ १९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के बदले उल्टी अनर्थकारी हो जायेगी। महाराजा की उपर्युक्त आज्ञा सुनकर मैंने पूछा कि 'कोई व्यक्ति योग्य है या नहीं, इसे किस प्रकार पहचाना जाये? इसके उत्तर में महाराजाधिराज ने इन औषधियों के योग्य प्राणी के लक्षण इस प्रकार बताये।

जो प्राणी इन औषधियों को लेने योग्य अभी तक नहीं बने हैं, उन्हें स्वकर्म-विवर द्वारपाल इस राजभवन में प्रवेश ही नहीं करने देता। मैंने स्वकर्मविवर द्वारपाल को आज्ञा दे रखी है कि जो प्राणी इन तीनों औषधियों को ग्रहण करने की योग्यता रखता हो उसी को राजभवन में प्रवेश करने दें और जो अयोग्य हों उनको भीतर नहीं आने दे। फिर भी कोई व्यक्ति इस राजभवन में प्रवेश कर गया हो पर जिसे इस भवन को देखकर आनन्द प्राप्त नहीं होता, और जिस पर मेरी कृपा दृष्टि नहीं पड़ती, ऐसे व्यक्ति को किसी दूसरे द्वारपाल ने भूल से प्रवेश करा दिया है, ऐसा तुझे उसके लक्षणों से समझ लेना चाहिये और ऐसे व्यक्ति का प्रयत्न पूर्वक त्याग करना चाहिये। अर्थात् उनको पुनः बाहर निकाल देना चाहिये। जो मेरे भवन को देखकर हर्षित होते हैं, आत्मा विकसित (प्रमुदित) होती है ऐसे भावी-भद्र (भविष्य में अच्छे होने वाले) रोगियों पर मेरी विशेष कृपा दृष्टि होती है। स्वकर्मविवर ने जिस प्राणी को भवन में प्रवेश कराया हो और जिस पर मेरी कृपा दृष्टि पड़ी हो, वह इन तीनों औषधियों के योग्य है, ऐसा समझना चाहिये। ये तीनों औषधियाँ उस प्राणी की कसौटी (परीक्षक) हैं। इनके प्रयोग से उस प्राणी पर इन औषधियों का कैसा गुण (प्रभाव) होता है, यह जानकर ही निश्चय करे कि यह प्राणी भवन में रखने योग्य है या नहीं?* जिनके मन में इन औषधियों के प्रति प्रेम उत्पन्न हो और इनका प्रयोग जिनको बिना किसी प्रयास के गुणकारी हो, उन्हें सुसाध्य रोगी समझना चाहिये। जो प्रारम्भ में औषधि का सेवन न करे, पर बल या प्रयास पूर्वक समझाने से जो कालक्षेप के साथ धीरे-धीरे औषधियों का सेवन करें, उन्हें कष्ट साध्य रोगी समझना चाहिये और जिनकी औषधि पर थोड़ा भी विश्वास न हो, जो औषधियाँ देने का प्रबन्ध करने पर भी न लें तथा औषधियाँ देने वाले के प्रति द्वेष करें, उन्हें असाध्य रोगी और नराधम समझना चाहिये। [३११-३२५]

इस प्रकार हमारे महाराजा ने सम्प्रदाय (पहले) से ही हमें कह रखा है, उसके अनुसार तू कृच्छ (कष्ट) साध्य रोगी है। ऐसा तेरे लक्षणों से भी स्पष्ट है। तुझे दूसरी एक और बात कहता हूँ, सुन। मेरी यह उपचार करने की पद्धति अनन्त शक्ति से भरपूर और सब व्याधियों का नाश करने वाली है, फिर भी जो प्राणी हमारे महाराज को जीवन पर्यन्त भाव पूर्वक राजा स्वीकार करते हैं और इस सम्बन्ध में अपने मन में किसी प्रकार की शंका नहीं रखते, उन्हें ही ये औषधियाँ लाभकारी होती हैं। अतः तू शुद्ध मानस से हमारे महाराज को अपना स्वामी स्वीकार कर; क्योंकि महापुरुष भाव और भक्ति से ही अपने बनाये जा सकते हैं। भूतकाल में भी अनन्त प्राणियों ने महाराज को भक्ति पूर्वक अपना स्वामी स्वीकार कर, आनन्दित

* पृष्ठ १६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और रोग रहित होकर अपना कार्य सिद्ध किया है। तेरे रोग बहुत कठिन हैं, तेरा मन अभी भी अपथ्यकारी कुभोजन पर चिपक रहा है, इससे मुझे लगता है कि तेरे लिये असाधारण प्रयत्न किये बिना तेरी व्याधियों का नाश नहीं हो सकेगा। अतः हे वत्स सावधान होकर यत्न पूर्वक अपना चित्त स्थिर कर, इस विशाल राजभवन में प्रसन्नता पूर्वक रह। मेरी यह पुत्री तुझे बार-बार तीनों औषधियाँ देती रहेगी। तू उनका सेवन कर और अपनी आत्मा को आरोग्य (स्वस्थ) कर।

धर्मबोधकर ने जो बात विस्तार पूर्वक कही वह द्रमुक ने स्वीकार की और धर्मबोधकर ने अपनी पुत्री तद्दया को उसकी परिचारिका बना दिया। द्रमुक ने अपना भिक्षापात्र सदा के लिये एक जगह पर रख दिया और उसकी रक्षा करते हुए उसका कुछ समय इस स्थिति में व्यतीत हुआ। [३२६–३३५]

औषध सेवन के लाभ और अपथ्य भोजन से हानि

३१. तद्दया रात-दिन उसे तीनों औषधियाँ देती रही पर द्रमुक को अभी भी अपने कुभोजन पर अत्यधिक आसक्ति रहने से उसे औषधियों पर पूर्ण विश्वास नहीं हो पाया। मोहवश वह अपने पास का कुभोजन अधिक खा लेता और तद्दया द्वारा दिया हुआ भोजन बहुत ही कम खाता। तद्दया जब उसे कहती तब वह कभी-कभी थोड़ा सुरमा आँख में डालता और बार-बार प्रेरित करने पर थोड़ा-सा तीर्थ जल पीता। तद्दया विश्वास पूर्वक उसे महाकल्याणक भोजन प्रचुर मात्रा में देती, *पर वह थोड़ा खाकर बाकी अपने भिक्षापात्र में डाल देता। उसके तुच्छ भोजन के साथ इस सुन्दर भोजन की मिलावट हो जाने से वह उच्छिष्ट भोजन निरन्तर बढ़ता रहता और रात-दिन खाने पर भी वह समाप्त नहीं होता। अपने भोजन में इस प्रकार वृद्धि होते देखकर वह अत्यधिक प्रसन्न होता, पर किसके प्रताप से और किस कारण से उसके भोजन में वृद्धि हो रही है, इस बात पर वह कभी विचार नहीं करता। केवल अपने भोजन में आसक्त वह निष्पुण्यक तीनों औषधियों के प्रति निरंन्तर कम रुचि वाला होने लगा और स्वयं सब कुछ जानते हुए भी अज्ञानी बनकर सांसारिक मोह में अपना समय व्यतीत करने लगा। अपना अपथ्यकारी तुच्छ भोजन रात-दिन खाने से उसका शरीर तो अवश्य हृष्ट-पुष्ट हुआ पर तीनों औषधियों का अरुचि से कभी-कभी थोड़ा-थोड़ा सेवन करने से, उसकी व्याधियों का समूल नाश नहीं हुआ। महाकल्याणक भोजन वह बहुत थोड़ा ले रहा था और सुरमे तथा जल का प्रयोग भी यदा-कदा करता था, फिर भी उसे प्रचुर लाभ तो हुआ, और उसकी व्याधियाँ भी कम हुईं, पर वस्तुस्वरूप का पूर्ण भान न होने से और अपथ्य भोजन का अधिक सेवन करने से, उसके शरीर पर कुभोजन के विकार स्पष्टतः दिखाई देते थे। अपथ्य भोजन के विशेष उपभोग से कई बार उसे उदरशूल होता, कई बार शरीर में दाह ज्वर होता, कभी मूर्च्छा (घबराहट) आ जाती, कभी ज्वर आ जाता, कभी सर्दी-जुकाम हो जाता, कई बार जड़ (संज्ञाहीन) हो जाता, कई बार,

* पृष्ठ २०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छाती और पसलियों में दर्द होता, कई बार उन्मादित-सा (पागल) हो जाता और कई बार पथ्य भोजन पर अरुचि हो जाती। इस प्रकार ये सब रोग उसके शरीर में विकार उत्पन्न कर उसे कई बार त्रास देते थे। [३३६-३४७]

तद्दया द्वारा उद्बोधन

३२. इस प्रकार व्याधियों एवं पीडाओं से घिरे हुए और रोते हुए निष्पुण्यक को एक बार कृपामयी तद्दया ने देखकर विचार किया और कहा—'भाई ! पिताजी ने पहले से ही तुझे कहा है कि तेरे शरीर में ये जो व्याधियाँ हैं वे कुभोजन पर तेरी प्रीति के कारण ही हैं। हम तुम्हारी सब वास्तविकता को देख समझ रहे हैं, पर तुम्हें आकुलता न हो इसलिये हम तुम्हें कुत्सित भोजन को खाने से नहीं रोकते। इन तीनों औषधियों के, जो महान् शान्ति प्रदाता हैं, सेवन में तेरी शिथिलता है और सब प्रकार के सन्ताप को पैदा करने वाले इस कुभोजन पर तेरी रुचि है। इस समय तू पीड़ा से छटपटाता हुआ रुदन कर रहा है पर तुझे शान्ति प्रदान कर सके, ऐसा कोई कारण वर्तमान में तो विद्यमान नहीं है जिसे अपथ्य पर अत्यन्त आसक्ति होती है, उसे औषधि नहीं लग सकती। मैं तेरी परिचारिका हूँ इस कारण मुझ पर भी अपवाद (उपालम्भ) आता है। मैं तुझे इतना समझाती हूँ, फिर भी तुझे स्वस्थ करने की अभा तो मेरे में शक्ति नहीं है।' [३४८-३५३]

तद्दया की उपर्युक्त बात सुनकर निष्पुण्यक ने कहा, 'यदि ऐसा ही है तो अब से आप मुझे तुच्छ भोजन का उपयोग करने से बार-बार रोकें। क्योंकि यह भोजन करने की मुझे इतनी अधिक इच्छा रहती है कि स्वयं त्याग करने का उत्साह मुझ में आ सके, ऐसा मुझे नहीं लगता। आपके प्रभाव से इस कुभोजन का थोड़ा-थोड़ा त्याग करते हुए इसका पूर्ण त्याग करने की शक्ति मुझ में पैदा होगी।' यह सुनकर तद्दया ने तुरन्त कहा—'साधु ! साधु !! तेरे जैसे व्यक्ति को इस प्रकार करना ही चाहिये।' इस बातचीत के बाद वह उसे कुभोजन का सेवन करने पर बार-बार टोकती रही। इस प्रकार बार-बार टोकने से वह कुभोजन थोड़ा-थोड़ा त्याग भी करने लगा,* जिससे उसकी व्याधियाँ कम होने लगी। जो विशेष पीड़ा होती थी वह बंद होने लगी और औषधियों का शरीर पर प्रभाव होने लगा। जब तद्दया पास में होती तो निष्पुण्यक अधिक मात्रा में सुभोजन और अल्पमात्रा में कुभोजन करता। इससे उसकी व्याधियाँ कम होने लगीं, परन्तु जब वह थोड़ी दूर चली जाती तब अपथ्य भोजन पर अब भी उसकी आसक्ति अधिक होने के कारण उसका सेवन करने लग जाता और औषधियों का सेवन थोड़ा भी नहीं करता, जिससे फिर से अजीर्ण आदि विकार उत्पन्न हो जाते। [३५४-३५९]

धर्मबोधकर ने अपनी पुत्री तद्दया को सम्पूर्ण लोक (पूरे भवन) की देख-रेख के लिये पहले से ही नियुक्त कर रखा था, अतः उसे तो अनन्त प्राणिगणों की सार-सम्भाल के काम में व्यस्त रहना पड़ता था, जिससे वह निष्पुण्यक के पास तो कभी-कभी ही आ पाती थी। बाकी पूरे समय तो वह अकेला ही रहता था। ऐसे

*पृष्ठ २१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय में अपथ्य भोजन करने से उसे कोई टोकता नहीं था, जिससे उसके व्याधि-विकार फिर से प्रकट होने लगे थे और वह फिर जैसा का तैसा हो जाता था। 'वही खड्डा और वहीं मेंढा वाला उक्ति उस पर चरितार्थ हो रही थी। [३६०–३६२]

सद्बुद्धि की नियुक्ति

३३. एक समय धर्मबोधकर उसे इस प्रकार व्याधियों से पीड़ित होते हुए देखा और उससे अब भी इस प्रकार पीड़ित रहने का कारण पूछा। इसके उत्तर में निष्पुण्यक ने अपनी सारी वास्तविकता बताते हुए कहा—महाशय ! आपकी पुत्री तद्दया मेरे पास सर्वदा नहीं रह सकती, फलतः उसकी अनुपस्थिति में मेरी व्याधियाँ अधिक बढ़ जाती हैं। अतः प्रभो ! आप मेरे लिये कुछ ऐसी व्यवस्था कीजिये कि फिर मुझे स्वप्न में भी पीड़ा न हो। [३६३–३६५]

धर्मबोधकर ने कहा–'भाई ! तेरे शरीर में बार-बार पीड़ा होने का कारण तेरा अपथ्य सेवन है। तद्दया को तो बहुत से काम सौंपे हुए हैं, इसलिये वह तो पूरे समय एक या दूसरे काम में व्यस्त रहती है, अतः तुझे अपथ्य सेवन से बार-बार रोक सके, ऐसी कोई स्त्री हो तो तेरी परिचारिका नियुक्त करूँ। तू अभी तक यह नहीं जान पाया है कि तेरा आत्महित किस में है ? तू पथ्य भोजन से दूर भागता रहता है और अपने अपथ्य भोजन को करने में सर्वदा प्रयत्नशील रहता है, फिर मैं तेरे बारे में क्या करूँ ? धर्मबोधकर के ऐसे वचन सुनकर निष्पुण्यक ने कहा–'प्रभो आप ऐसा न कहें। अब से मैं आपकी आज्ञा का कभी उल्लंघन नहीं करूँगा, आपकी आज्ञा का बराबर पालन करूँगा।' [३६६–३६९]

निष्पुण्यक का कैसे भला हो, इस विचार में परार्थ-हित में उद्यत मानस वाले धर्मबोधकर थोड़ी देर सोचते रहे। फिर उसकी बात सुनकर उन्होंने कहा—एक सद्बुद्धि नामक लड़की मेरी आज्ञाकारिणा है। उसे दूसरा अधिक काम नहीं है। मेरा विचार उसे तेरी परिचारिका बनाने का है। वह लड़की तेरे पास निरन्तर रहेगी और तेरे लिए पथ्य क्या है और अपथ्य क्या है, इसका सुझाव तुझे देती रहेगी। ऐसी अच्छी दासी मैं तेरी सेवा में नियुक्त कर रहा हूँ, इसलिये अब तुझे भी घबराने की आवश्यकता नहीं है। वह अच्छी जानकार है, इसलिये विपथगामी और शिष्टाचार रहित प्राणी पर वह किंचित् भी उपकार नहीं करती। अतः यदि तुझे सुख प्राप्त करने की इच्छा हो और दुःख से भय लगता हो तो वह जैसा कहे वैसा प्रतिदिन करना।* तुझे विशेष रूप से आदेश देता हूँ और शिक्षा प्रदान करता हूँ कि तू उसके कथनानुसार ही करना। उसे जो प्रिय नहीं, वह मुझे भी प्रिय नहीं यह तुझे समझ लेना चाहिये। तद्दया अनेक कार्यों में व्यस्त है, फिर भी वह कभी-कभी तेरे पास आती रहेगी और तुझे जागृत करती रहेगी। तेरे परमार्थ और हित-कामना से मैं फिर कह रहा हूँ कि यदि तुझे सुख पाने की इच्छा है तो सद्बुद्धि को

* पृष्ठ २२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रसन्न रखने के लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहना। जो प्राणी सद्बुद्धि की सम्यक् प्रकार से आराधना (सेवा) कर उसे प्रसन्न रखने का प्रयत्न नहीं करते उन पर हमारे महाराज, मैं स्वयं और इस भवन में रहने वाला कोई भी व्यक्ति प्रसन्न नहीं रहता। जिस पर सद्बुद्धि की अकृपा हो, वह प्राणी सर्वदा दुःख भोगने के लायक गिना जाता है। उसकी प्रसन्नता के अतिरिक्त इस लोक में सुख देने वाला कोई दूसरा हेतु नहीं है। मेरे जैसे जो स्वाधीन हैं वे तो तेरे जैसों से दूर रहने वाले होते हैं अर्थात् वे तो तेरे पास कभी-कभी ही आ सकते हैं पर सद्बुद्धि तो सर्वदा तेरे पास ही रहेगी, अतः अपने सुख के लिये तुझे उसकी आराधना कर उसे सर्वदा प्रसन्न रखना चाहिये।' जब निष्पुण्यक ने इस सम्बन्ध में हाँ भरी तब धर्मबोधकर ने सद्बुद्धि को उसकी परिचारिका नियुक्त किया और तब से वह निष्पुण्यक की ओर से निश्चिन्त हुआ। [३७०–३८१]

सद्बुद्धि का फल

थोड़े दिन सद्बुद्धि निष्पुण्यक के पास रही, इससे उसमें क्या परिवर्तन आया, वह सुनें—अभी तक द्रमुक आसक्तिवश तुच्छ भोजन अधिक करता था, पर अब वह तुच्छ भोजन बहुत कम करता और उसके विषय में उसे चिन्ता भी नहीं रहती। बहुत समय से उसकी अपथ्य भोजन की आदत पड़ी हुई थी जिससे वह अभी भी कभी-कभी थोड़ा सा अपथ्य भोजन कर लेता था, पर तृप्ति मात्र के लिये ही, और वह भी बहुत गृद्धि (आसक्ति) से नहीं। इससे उसके मन की शान्ति और स्वास्थ्य का नाश नहीं हो पाता। वह अभी तक बहुत आग्रह करने से औषधियों का सेवन करता था, पर अब स्वयं प्रसन्नता पूर्वक तानों औषधियों का सेवन करता और औषधि सेवन की रुचि भी उसमें जागृत हो गई। अपथ्य भोजन के प्रति प्रीति घटने और औषध सेवन के प्रति प्रीति बढ़ने से उसे जो लाभ हुआ उसे भी बताता हूँ—पहले उसके शरीर में रही हुई व्याधियों से उसे जो पीड़ा होती थी वह अब क्षीण होने लगी और रोग भी कम होने लगे। कभी-कभी थोड़ी पीड़ा उठ खड़ी भी होती तो वह थोड़ी देर में शान्त हो जाती और अन्त में मिट जाती। वास्तविक सुख का रस कैसा होता है, इसका रस अब उस दरिद्री को मिलने लगा। उसका भयंकर रूप दूर होता गया और स्वास्थ्य लाभ से शरीर में शान्ति व्याप्त होती गई जिससे उसके मुख पर सन्तोष दिखाई देने लगा। [३८२–३८८]

सद्बुद्धि के साथ वार्ता

३४. एकान्त में रहते हुये, अपने मन में अत्यन्त प्रसन्न होते हुये उसने एक दिन निराकुलता से सद्बुद्धि से कहा—'भद्रे! मेरे शरीर में यह कैसी नवीनता आ गई है। आश्चर्य है! तू देख तो सही! अभी तक जो शरीर सब दुःखों से आकीर्ण था वही शरीर अब सुख से परिपूर्ण दिखाई दे रहा है।' सद्बुद्धि ने उत्तर दिया—'भद्र! भली प्रकार पथ्य सेवन से और शरीर को हानि पहुँचाने वाली समस्त दोष-मूलक वस्तुओं के प्रति अलोलुप (अनासक्त) रहने से ही यह सब लाभ हुआ है। पूर्वकालीन अभ्यास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के कारण तू कभी-कभी अपथ्य सेवन कर भी लेता है, पर उस समय तेरे पास मेरे रहने से तुझे बहुत लज्जानुभूति होती है।* कुभोजन का सेवन करने में जब लज्जा लगे तब उसका प्रभाव बहुत थोड़ा होता है। फिर उस पर आसक्ति नहीं होने से बार-बार उसे खाने की इच्छा भी नहीं होती। इस प्रकार की चित्त-वृत्ति होने के बाद यदि कभी कुभोजन थोड़ा सा खा भी लिया तो वह शरीर की व्याधियों को नहीं बढ़ा पाता। तेरे मन में जो आनन्द और सुख का अनुभव हो रहा है, इसका यही कारण है।' [३८९–३९४]

सम्पूर्ण त्याग के प्रति सचेष्ट

३५. निष्पुण्यक ने कहा—यदि ऐसी बात है तो मैं उस कुत्सित भोजन का सर्वथा त्याग ही कर देता हूँ, जिससे मुझे उच्च कोटि का सुख भली प्रकार मिल सके। [३९५]

सद्बुद्धि ने कहा—बात तो बिल्कुल ठीक है, पर उसका त्याग सम्यक् प्रकार से समझ कर करना, जिससे छोड़ने के बाद पूर्व आसक्तिवश तुझे उसके लिये पहले जैसी आकुलता-व्याकुलता न हो। एक बार उसका त्याग करने के बाद फिर से उस पर स्नेह होने लगे, उससे तो उसका त्याग नहीं करना ही अच्छा है; क्योंकि तुच्छ भोजन पर स्नेह रखने से व्याधियाँ बढ़ जाती हैं। कुभोजन बहुत थोड़ा खाने से और तीनों औषधियों का सेवन अधिक करने से तेरी व्याधियाँ कम हुई हैं और तेरे शरीर में शान्ति आई है, यह भी बहुत दुर्लभ है। एक बार सर्वथा त्याग करने के बाद ऐसे तुच्छ भोजन की इच्छा करने वाले की व्याधियाँ महामोह के प्रताप से क्षीण नहीं हो सकतीं। इस सम्बन्ध में सम्यक् प्रकार से विचार करने के पश्चात् यदि मन में यह पूर्ण प्रतीति हो कि इनका वास्तव में त्याग करना चाहिये तभी उत्तम पुरुषों को सर्वथा त्याग करना चाहिये। सद्बुद्धि का उत्तर सुनकर उसके मन में जरा घबराहट हुई, इससे वह अच्छी तरह से निश्चय नहीं कर सका कि उसको क्या करना चाहिये। [३९६–४०१]

द्रमुक का शुभ संकल्प

३६. एक दिन उसने महाकल्याणक भोजन भरपेट खाने के बाद लीला-भाव से (हँसते हुए) थोड़ा सा कुभोजन भी खा लिया। उस समय अच्छा भोजन खाने से वह तृप्त हो गया था और सद्बुद्धि के पास होने से कुभोजन के गुण उसके चित्त पर अधिक असर करने लगे थे, जिससे वह विचार करने लगा—अहो! मेरा यह तुच्छ भोजन अत्यन्त हेय, लज्जाजनक, मैल से भरा, घृणोत्पादक, कुरस वाला, निन्दनीय और सर्व दोषों का भाजन (स्थान) है। ऐसा जानते हुए भी मैं अभी तक उस कुभोजन पर अपने मोह का नाश नहीं कर सका। मुझे लगता है, इसका संपूर्ण त्याग किये बिना मुझे कभी भी पूर्ण सुख प्राप्त नहीं हो सकेगा। मैं इसका त्याग कर दूँ और मेरी पूर्व-लोलुपता के कारण बाद में उसे मैं फिर से याद करने लगूँ तब भी वह दुःखों का घर हो सकता है, ऐसा सद्बुद्धि ने कहा है। यदि मैं इसका सर्वथा

---

* पृष्ठ २३

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

त्याग नहीं करता हूँ तो सर्वदा दुःख के समुद्र में ही पड़ा रहूँगा। फिर मुझे क्या करना चाहिये ? मैं बिल्कुल सत्त्वहीन (शक्तिहीन) निर्भागी हूँ अथवा मोहग्रस्त होने के कारण ऐसे संकल्प-विकल्प मुझे होते रहते हैं। मैं तो इस कुभोजन का सर्वथा त्याग कर देता हूँ; फिर जो होगा, सो देखा जायेगा। अथवा वास्तव में होगा भी क्या ? त्याग करने के बाद कुभोजन का नाम भी मुझे याद नहीं रहेगा। राज्य प्राप्त होने के बाद अपने पूर्व-समय का चाण्डालपन कौन याद करेगा ? इस प्रकार निश्चय कर उसने सद्बुद्धि से कहा—*'हे भद्रे ! मेरा यह भिक्षापात्र लो और इसमें रखा सब कुत्सित भोजन फेंक कर इसे धोकर स्वच्छ कर दो।' सद्बुद्धि ने कहा—'इस विषय में तुझे धर्मबोधकर का परामर्श लेना चाहिये; क्योंकि अच्छी तरह विचार कर किये हुये काम में पीछे से परिवर्तन नहीं करना पड़ता।' [४०२–४११]

निष्पुण्यक-सपुण्यक : दृढ़ निश्चय और त्याग का आनन्द

फिर वह निष्पुण्यक अपने साथ सद्बुद्धि को लेकर धर्मबोधकर के पास गया और उन्हें अपनी पूरी मनःस्थिति से अवगत कराया। धर्मबोधकर ने कहा—'हे भद्र ! तुमने बहुत अच्छा विचार किया है। मुझे तो इतना ही कहना है कि जो कुछ करना हो, अच्छी तरह से दृढ़ निश्चय करके ही करना चाहिये जिससे भविष्य में कभी लोगों में हँसी का पात्र न बनना पड़े।' दरिद्री ने उत्तर दिया—'नाथ ! बार-बार वही बात मुझे क्यों कहते हैं ? इस विषय में अब मेरा इतना दृढ़ निश्चय हो गया है कि कुभोजन की ओर मेरा तनिक भी मन नहीं जाता।' उसका ऐसा उत्तर सुनकर विचक्षण धर्मबोधकर ने अन्य विचारशील लोगों के साथ विचार कर निष्पुण्यक से उसके भिक्षापात्र का त्याग करवा दिया, उसे शुद्ध जल से अच्छी तरह स्वच्छ कराया और उसमें महाकल्याणक भोजन भरवाया। इससे निष्पुण्यक अत्यधिक प्रमुदित हुआ जिससे उस दिन से ही पथ्य भोजन के प्रति उसकी रुचि बढ़ती गई। यह देखकर धर्मबोधकर भी प्रसन्न हुए, तद्या भी हर्ष से थिरक उठी, सद्बुद्धि के आनन्द की सीमा नहीं रही और संपूर्ण राजमन्दिर के लोग हर्ष-विभोर हो गये। उस समय लोग कहने लगे—'यह निष्पुण्यक, जिस पर महाराज सुस्थित की कृपा दृष्टि हुई, जो धर्मबोधकर को प्रिय है, जिसका तद्या ने लालन-पालन किया, जो प्रतिदिन सद्बुद्धि से अधिष्ठित है, जिसने थोड़ा-थोड़ा अपथ्य भोजन का प्रतिदिन त्याग किया, तीनों औषधियों के सेवन से जो अनेक व्याधियों से रहित जैसा हो गया है, अतः अब वह निष्पुण्यक न रहकर महात्मा सपुण्यक हो गया है।' उसके बाद लोग उसे सपुण्यक के नाम से पहचानने लगे। पुण्यहीन प्राणियों को इतनी अनुकूलता कहाँ से मिल सकती है ? जो जन्म से दरिद्री और निर्भागी होता है, वह चक्रवर्ती पद के योग्य हो ही नहीं सकता। [४१२–४२१]

---

* पृष्ठ २४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजमन्दिर में सपुण्यक की स्थिति

३७. उसके बाद सपुण्यक सद्बुद्धि और तद्या के साथ राजमन्दिर में रहने लगा। उसी दिन से उसमें जो परिवर्तन आया और वहाँ उसकी जो स्थिति बनी, उसका वर्णन करता हूँ। अब वह शरीर को हानि पहुँचाने वाला अपथ्य भोजन नहीं करता जिससे उसके शरीर में कोई बड़ी पीड़ा तो होती ही नहीं। कभी पूर्व दोष से छोटी-मोटी सहज पीड़ा हो भी जाती तो वह भी थोड़ी देर में ठाक हो जाती। अब उसे किसी प्रकार की आकांक्षा (इच्छा) न होने से वह लोक-व्यापार का विचार नहीं करता और अत्यन्त आनन्द से सर्वदा विमलालोक अञ्जन अपनी आँखों में लगाता, बिना थकान के प्रसन्नचित्त होकर तत्त्वप्रीतिकर जल प्रतिदिन पीता और महाकल्याणक भोजन निरन्तर पेट भर करता। अञ्जन, जल और भोजन के प्रयोग से प्रतिक्षण जैसे उसके बल, धैर्य और स्वास्थ्य में वृद्धि होने लगी वैसे ही रूप, शक्ति, प्रसन्नता, बुद्धि और इन्द्रियों की पटुता में भी वृद्धि होने लगी। उसके शरीर में बहुत से रोग होने से वह अभी तक पूर्ण स्वस्थ्य तो नहीं हुआ था, फिर भी उसके शरीर में बहुत भारी परिवर्तन हुआ दिखाई दे रहा था। अभी तक जो वह भूत-प्रेत जैसा अत्यन्त भयंकर और कुरूप लगता था और किसी को उसके सामने देखना भी अच्छा नहीं लगता था,* किन्तु अब वह सुन्दर मनुष्य का आकार धारण करने लगा था। पहले दरिद्रपन में तुच्छता, अधैर्य, लोलुपता, शोक, मोह, भ्रम आदि क्षुद्र भावों की अधिकता थी, वे तीनों औषधियों के सेवन से प्रायः नष्ट हो चुके थे और वे उसे तनिक भी पाड़ित नहीं करते थे, जिससे वह निरन्तर आनन्दित मन वाला बन गया था। [४२२–४३०]

औषधदान निर्णय : कथा की उत्पत्ति का प्रसंग

३८. एक दिन अत्यन्त प्रसन्न चित्त होकर उसने सद्बुद्धि से पूछा—'भद्रे! ये तीनों सुन्दर औषधिया मुझे किस कर्म के योग से मिली होंगी?' सद्बुद्धि ने कहा—भाई! पहले जो दिया जाता है, वही वापस मिलता है, ऐसी लोक में कहावत है। इससे ऐसा लगता है कि पहले कभी तूने अन्य किसी को ये वस्तुएँ दी होंगी।' सद्बुद्धि का उत्तर सुनकर सपुण्यक सोचने लगा—यदि किसी को देने से ही वापस मिलती हो तो मैं अनेक प्रकार से सकल कल्याणकारी इन तीनों औषधियों का किसी योग्य पात्रों को प्रचुर दान दूँ, जिससे भविष्य में अगले जन्मों में वे मुझे अक्षय रूप में मिलती रहें। [431–434]

३९. उसके म.. के इस विचार को सुस्थित महाराज ने सातवीं मंजिल में बैठे ही जान लिया। धर्मबोधकर को अतिशय प्रिय लगा, तद्या ने उसे बधाई दी, सब लोगों ने उसकी प्रशंसा की और सद्बुद्धि का तो वह अत्यन्त प्रिय हो गया। इस

* पृष्ठ २५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थिति को जानकर उसे स्वयं को लगने लगा कि, मैं पुण्यवान हूं अतः लोगों में उत्तम स्थान को प्राप्त हुआ हूं। अब कोई भी मेरे पास आकर ये तीनों औषधियाँ माँगेगा तो मैं अवश्य दूँगा। ऐसे विचार से वह प्रति-दिन इच्छापूर्वक किसी आगन्तुक की प्रतीक्षा करता रहता। अत्यन्त निर्गुणी प्राणी की भी जब महात्मा प्रशंसा करते हैं, तब वह इस अधम दरिद्री की तरह अभिमानी हो जाता है। वहाँ राजमन्दिर में रहने वाले सभी व्यक्ति नित्य तीनों औषधियों का भली प्रकार सेवन करते थे, उनके सेवन के प्रभाव से वे चिन्ता रहित होकर परम ऐश्वर्यशाली हो गये थे। निष्पुण्यक जैसे कुछ व्यक्ति जिन्होंने थोड़े समय पहले ही राजभवन में प्रवेश किया था, वे तीनों औषधियाँ अन्य लोगों से अच्छी मात्रा में अच्छी तरह प्राप्त कर लेते थे। इस प्रकार राजभवन में कोई भी उसके पास औषधि लेने नहीं आता था और वह औषध-इच्छुक व्यक्ति की राह में आँखें बिछाये बैठा रहता था। [४३५–४४१]

हास्यास्पद स्थिति

४०. इस प्रकार बहुत समय तक औषध-इच्छुक व्यक्ति की प्रतीक्षा करने पर भी जब कोई औषध लेने उसके पास नहीं आया तब एक दिन उसने सद्बुद्धि से इसका कारण पूछा। सद्बुद्धि ने कहा—भद्र! तुम्हें बाहर निकलकर यह घोषणा पुकार-पुकार कर करनी चाहिये कि इन तीनों औषधियों की जिसे भी आवश्यकता हो वह आकर ले जावे, ऐसा करने पर कोई लेने वाला शायद मिल जावे तो बहुत अच्छा होगा। सद्बुद्धि के परामर्श से वह उच्च-स्वर में पुकारने लगा—भाइयो! मेरे पास तीन महागुणकारी औषधियाँ हैं, जिन्हें आवश्यकता हो, आकर मुझ से ग्रहण करें। इस प्रकार बोलते हुये वह घर-घर घूमने लगा। उसकी घोषणा सुनकर, जो अत्यन्त तुच्छ प्राणी थे, वे कभी-कभी उससे थोड़ी-थोड़ी औषधि ले लेते थे। इसके जैसे ही अन्य तुच्छ प्राणी सोचते थे—अहा! पहले उस भिखारी को हमने देखा था, यह अब पागल हो गया लगता है।* देखो तो सही, राज्य कर्मचारियों से स्वयं औषधियाँ लेकर अब वह हमें बाँटने चला है। उसके विषय में ऐसे विचार करते हुए कितने ही तुच्छ व्यक्ति उसकी मजाक करते, कितने ही हँसी उड़ाते और कितने ही उसके प्रति उपेक्षा से उसका अत्यन्त निरादर करते। [४४२–४४७]

सद्बुद्धि द्वारा समाधान

अन्य प्राणियों को दान देने की उसकी रुचि और उत्साह को भंग करने वाले लोगों के व्यवहार को देखकर एक बार सपुण्यक ने सद्बुद्धि से पूछा—भद्रे! मेरी औषधि तो केवल भिखारी ही ग्रहण करते हैं, सम्पन्न आदमी तो कोई लेते ही नहीं। मेरी इच्छा यह है कि सब लोग मुझसे औषधि ग्रहण करें, उपयोग करें। निर्मल दृष्टिधारिके! तुम विशुद्ध चिन्तन करने वाली हो, भूत-भविष्य का विचार करने में तुम बहुत प्रवीण हो, अतः महात्मा पुरुष मुझसे औषधि क्यों नहीं ग्रहण करते, इसका क्या कारण है? [४४८–४५०]

---

* पृष्ठ २६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सपुण्यक के प्रश्न को सुनकर 'इस सपुण्यक ने तो मुझे महाकार्य में लगा दिया' ऐसा विचार करती हुई विचक्षणा सद्बुद्धि ने महाध्यान में प्रवेश किया और इस प्रकार की कार्य-बाधा का अन्तरंग कारण क्या है, इसका मन में निर्णय किया और कहा—'सभी प्राणी तुझ से औषधि ग्रहण करें इसका एक ही उपाय है, वह यह है कि राजमार्ग में जहाँ लोगों का अधिक आवागमन होता है, वहाँ लकड़ी के एक विशाल पात्र में तीनों औषधियाँ रखकर, अपने मन में विश्वास रखकर, तू दूर बैठ जा। पहले की तेरी दरिद्रता को देखकर जो लोग तेरे हाथ से औषधि नहीं लेना चाहते, उनमें से भी कुछ को उसकी आवश्यकता हो सकती है। वहाँ किसी को न देखकर वे अपने आप ही औषधि ग्रहण करेंगे। उनमें से कोई सच्चा पुण्यवान और गुणवान प्राणी भी तेरी औषधि ले जाय तो तेरा मनोरथ पूर्ण हो जायेगा, ऐसा मैं मानती हूँ। कोई ज्ञानी या तपस्वी पात्र (व्यक्ति) इसमें से औषधि ग्रहण करेगा तो तेरा कल्याण हो जायेगा।' सद्बुद्धि के ऐसे कुशल उत्तर से सपुण्यक के आनन्द में वृद्धि हुई और सद्बुद्धि के बताये हुये उपाय के अनुसार उसने कार्य किया।

यह शाश्वत सत्य है कि उस दरिद्री द्वारा बताई औषधियों को जो प्राणी ग्रहण करेंगे वे सर्व रोग-रहित बनेंगे, क्योंकि नीरोग रहने की कारण-भूत ये तीनों औषधियाँ ही हैं। यहाँ जो वास्तविक सत्य कहा गया है, वह सब के लिये है। उनके ग्रहण से रचनाकार पर बड़ा उपकार होगा, अतः इस विषय में मुझ पर अनुकम्पा (कृपा) करने वाले सभी ये तीनों वस्तुएँ लेने की कृपा करें। ये सब के लेने योग्य हैं।

इस प्रकार संक्षेप में दृष्टान्त आपको कह सुनाया, अब उसका उपनय (रहस्य, आशय) क्या है ? वह सुनाता हूँ, सुनें। [४५१-४६०]

संक्षिप्त उपनय

यहाँ जिसे अदृष्टमूलपर्यन्त नगर कहा है वह यह विशाल संसार है, जिसका कोई आरम्भ और अन्त दिखाई नहीं देता। यहाँ जिस निष्पुण्यक दरिद्री का वर्णन किया गया है वह महामोह द्वारा मारा हुआ, अनन्त दुःखों से भरपूर, पुण्यहीन और पूर्वकाल का मेरा जीव समझें। पूर्व में कहा गया था कि उस निष्पुण्यक के पास भिक्षा-ग्रहण करने के लिये मिट्टी का ठीकरा है, उसे गुण और दोष के आधार रूप आयुष्य को भिक्षापात्र समझें। निष्पुण्यक को जो नटखट बाल त्रास देते थे, उन्हें कुतीर्थी समझें। उसे जो वेदना होती है, उसे मन की विकृत स्थिति समझें। राग आदि को रोग और अजीर्ण आदि को कर्म का संचय समझें। भोग शब्द से स्त्री, पुत्र आदि ग्रहण करें, वे ही जीव की अत्यन्त आसक्ति के कारण संसार की बढ़ोतरी करने वाले होते हैं, अतः उन्हें कुत्सित भोजन समझें। राजमन्दिर की सातवीं मंजिल पर विराजमान महाराज सुस्थित का वर्णन किया है, उन्हें सर्वज्ञ परमात्मा श्री जिनेश्वर भगवान् समझें। आनन्द उत्पन्न करने वाला और अनेक प्रकार की राजलक्ष्मी से परिपूर्ण राजमन्दिर को जिन-शासन समझें। इस राजमन्दिर का द्वारपाल स्वकर्मविवर कहा है उसे स्वीय कर्मों का उच्छेदक समझें। इसके अतिरिक्त

---

* पृष्ठ २७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे द्वारपाल भी कहे गये हैं, उन्हें मोह, अज्ञान, लोभ आदि हैं, ऐसा तत्त्वचिन्तक समझें। [४६१-४६९]

उस राजभवन के राजाओं को आचार्य, मन्त्रियों को उपाध्याय, योद्धाओं को गण की चिन्ता करने वाले विद्वान् गीतार्थ और तलवर्गिक-सरदारों को सामान्य साधु समझें। शान्त प्रकृति की स्थविरा स्त्रियों को आर्या-साध्वी समझें। राजभवन की रक्षा करने में प्राणों की बाजी लगाने वाले सेनापतियों को श्रावक संघ समझें। विलासी स्त्रियों के वर्णन को भक्ति करने वाली श्राविकाएँ समझें। राजभवन में शब्द, रस, गन्ध आदि विषयों में आनन्द आने का जो वर्णन किया गया है, वैसा ही आनन्द वास्तविक विशुद्ध धर्म के प्रभाव से होता है। मुझे प्रतिबोध देने वाले आचार्यदेव को धर्मबोधकर समझें और उनकी मेरे ऊपर महाकृपा कर्म को तद्वत् समझें। मनीषीगण विमलालोक अंजन (सुरमा) को ज्ञान, तत्त्वप्रीतिकर जल को सम्यक्त्व और महाकल्याणक भोजन को चारित्र समझें। सद्बुद्धि परिचारिका को अच्छे मार्ग की ओर प्रवृत्ति करवाने वाली शोभन बुद्धि और तीनों औषधियों को धारण करने वाले काष्ठपात्र को यह उपमिति-भव-प्रपंच कथा समझें।

इस प्रकार संक्षिप्त उपनय के द्वारा कथा की सामान्य रूप-रेखा प्रस्तुत की। अब इसी उपनय-योजना को विस्तार के साथ गद्य में प्रस्तुत करता हूँ। [४७०-४७७]

□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दार्ष्टान्तिक योजना : कथा का उपनय

अवतरण

तत्त्ववेदी पुरुषों का यह मार्ग है कि जन-कल्याण की भावना में संलग्न होने से बिना कारण किसी भी प्रकार का मन में संकल्प (विचार) नहीं करते। यदि कभी अनजान में उनके चित्त में बिना प्रयोजन ही किसी प्रकार का विचार उत्पन्न हो भी जाये तब भी वे बिना प्रयोजन नहीं बोलते। यदि तत्त्वहीन लोगों के मध्य में रहते हुए, कभी कुछ बोल भी दें, तो बिना कारण वे इंगितादि चेष्टा नहीं करते। यदि तत्त्वज्ञ पुरुष बिना प्रयोजन ही कायिक चेष्टा करते हैं तो तत्त्वहीन और तत्त्वज्ञ में कोई भेद नहीं रह जाता, अर्थात् उनका तत्त्ववेदीपन नष्ट हो जाता है। अतएव जो स्वय तत्त्ववेदी मनीषियों की पंक्ति (गणना) में रहने के अभिलाषी हों उनको प्रति समय❀ स्वय के विचार, वाणी और व्यवहार (मन-वचन-काय योग) की सार्थकता पर पुनः-पुनः चिन्तन करना चाहिये और जो इस स्थिति को समझने की क्षमता रखते हों ऐसे तत्त्वज्ञ मनोषियों के सन्मुख ही स्वय की स्थिति को प्रकट करना चाहिये। वे तत्त्ववेदी, निरर्थक संकल्प-विकल्पमय विचार वाणी और आचरण को सार्थक मानने वाले प्राणियों को अनुकम्पा (कृपा) करके रोक देते हैं। इसलिये मैं भी अपनी इस प्रवृत्ति की सार्थकता का प्रारम्भ में ही आवेदन करता हूँ। मेरी इच्छा इस 'उपमिति-भव-प्रपंच' कथा को प्रारम्भ करने की है। इसी कथानक को मैंने दूसरे दृष्टान्त के द्वारा आपके सम्मुख प्रस्तुत किया है। उपर्युक्त कथा आपके ध्यान में आ गई हो तो, हे भव्यजनों! मेरा आपसे अनुरोध है कि आप अन्य विक्षेपों (बाधाओं) को त्याग कर इस कथा के दार्ष्टान्तिक- (अन्तरंग) अर्थ को ध्यानपूर्वक सुनें।

[१]

अदृष्टमूलपर्यन्त नगर

दृष्टान्त में 'विविध प्रकार की जनमेदिनी से व्याप्त सदा स्थिर रहने वाला अदृष्टमूलपर्यन्त नगर कहा है' उसे आदि और अन्त से रहित अर्थात् अनादि अनन्त, अविच्छिन्न रूप वाला और अनन्त प्राणियों के समूह से भरा हुआ संसार समझें।

❀ पृष्ठ २८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस संसार कोरनगकीस नगरता केरूप में कल्पित (आरोपित) किया है' यह युक्तिसंगत है। 'उस नगर में धवल गृहों की हारमाला बताई है' उसे इस संसार नगर में देवलोक आदि स्थानों को समझें। 'उस नगर में बाजार-मार्ग बताये हैं' उसे इस संसार नगर में एक जन्म से दूसरे जन्म में उत्पन्न होने की पद्धति समझें। 'विभिन्न प्रकार के व्यापार करने की किराणारूपी वस्तुओं, को' नाना प्रकार के सुख-दुःख समझें। 'उन वस्तुओं के मूल्य के समान' उन्हें यहाँ अनेक प्रकार के पुण्य-पाप समझें। उस नगर को 'विचित्र प्रकार के चित्रों से उज्ज्वल प्रतीत होने वाले अनेक देवकुलों (देव मन्दिरों) से मंडित कहा गया है' उसे इस संसार नगर में आगे पीछे की स्थिति (पूर्वापर-संदर्भ) का विचार नहीं करने वाले, भ्रम से विकल, भद्रजनों के चित्त को आक्षिप्त (दूषित) करने वाले विवेकशून्य सुगत (बौद्ध), कणभक्ष (कणाद) (वैशेषिक दर्शन के प्रणेता), अक्षपाद (गौतम, नैयायिक दर्शन के प्रणेता), कपिल (सांख्य दर्शनकार) आदि द्वारा प्रणीत कुदर्शनों को कुमत समझें। 'नगर में हर्षोन्मत्त बालकों के कलरव की बात कही गई है' उसे यहाँ क्रोध, मान, माया, और लोभ रूपी दुर्दान्त कषायों का कोलाहल समझें। कषायों का यह कोलाहल विवेकी महापुरुषों के हृदय में उद्वेग एवं विक्षोभ उत्पन्न करने वाला होता है।

'यह नगर ऊंचे दुर्ग से घिरा हुआ कहा गया है' उसे यहाँ संसार नगर को चारों ओर से वेष्टित करने वाला अनुल्लंघनीय महामोह समझें। 'नगर के चारों ओर परिखाएं (खाइयाँ) कही गई हैं' उसे यहाँ राग द्वेष तृष्णामयी परिखाएँ समझें; जो अत्यन्त गहरी हैं और विषय-वासना जल से सदा लबालब भरी रहती हैं। 'नगर में विशाल सरोवरों का उल्लेख किया है' उसे यहाँ शब्दादि विषय रूप सरोवर समझें; जो इन्द्रियादि विषयरूपी जल से सर्वदा तरंगायित हैं और जो विवेकहीन (मिथ्यात्वविकसित) पक्षीरूपी प्राणियों का आधार (निवास) स्थान होने से प्राणियों से भरा हुआ है। 'नगर-वर्णन में शत्रुओं को त्रासदायक गहन अन्धकूपों का उल्लेख किया गया है' उसे इस संसार नगर में प्रिय का वियोग, अनिष्ट का संयोग, स्वजन-मरण और धन हरण आदि त्रासदायक भावों को गम्भीर अन्धकूप समझें। गम्भीर अन्धकूप के समान ही त्रासदायक भावों की जड़े इतनी गहरी कि उनका मूल नजर नहीं आता। 'नगर में अनेक विशाल उद्यानों का वर्णन किया है' उसे यहाँ संसार नगर में प्राणियों के शरीर समझें, जो स्वकीय कर्मरूपी अनेक प्रकार के वृक्ष, फूल और पत्तों से लदा हुआ है। इस शरीररूपी उद्यान में इन्द्रिय और मनरूपी भौंरा निरन्तर गुञ्जारव किया करता है। प्रारम्भ में जिसे अदृष्टमूलपर्यन्त नगर कहा गया है वही संसार नगर है।

[२]

निष्पुण्यक दरिद्री

वहाँ 'अदृष्टमूलपर्यन्त नगर में निष्पुण्यक नामक दरिद्री है ऐसा कहा गया है' उसे इस संसार नगर में सर्वज्ञ-शासन की प्राप्ति होने से पूर्व का मेरा जीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समझें। पुण्यहीन होने के कारण उसका निष्पुण्यक नाम यथार्थता का बोधक है। वहाँ 'इस दरिद्री को महोदर वाला कहा गया है' वैसे ही यह जीव विषयरूपी कुभोजन से अतृप्त रहते हुये भी अधिक भक्षण के कारण उसे महोदर समझें। निष्पुण्यक को 'सगे-सम्बन्धियों से रहित बनाया गया है' वैसे ही यह * जीव अनादि काल से संसार की रखड़-पट्टी में अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है और स्वकृत कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का अनुभव भी अकेला ही करता है, अतएव परमार्थतः जीव का कोई स्वजन-सम्बन्धी भी नहीं है। जैसे उस दरिद्री को दुर्बुद्धि कहा है' वैसे ही यह जीव भी विपरीत बुद्धि और मूर्ख है, क्योंकि यह जीव अनन्त दुःखों को प्रदान करने वाले इन्द्रियों के विषयों को प्राप्त कर प्रसन्न होता है। परमार्थतः कषाय उसके शत्रु हैं फिर भी उनकी सेवा करता है तथा उनके साथ भाईचारे का व्यवहार रखता है, मिथ्यात्व जो वास्तव में ही अन्धत्व का बोधक है उसको शुभ दृष्टि रूप में ग्रहण करता है, नरक-गमन का कारणभूत अविरति अवस्था को प्रमोद का कारण मानता है, अनेक प्रकार की अनर्थ-परम्परा को उत्पन्न करने वाले प्रमाद समूह रूप शत्रुओं की और मित्रवृन्द के समान प्रेम की दृष्टि से देखता है, धर्म-धन को लूटने वाले, चोरों के समान मन-वचन-कायरूपी अशुभ योगों को बहुत धन-सम्पदा को कमाने वाले पुत्र के समान मानता है और संसार में निबिड बन्धनों से जकड़ने वाले पुत्र, स्त्री, धन, स्वर्ण आदि को अत्यन्त आह्लाद का कारण मानता है। अतएव यह जीव सचमुच में ही दुर्बुद्धि का धारक है।

पूर्व में 'इस दरिद्री को अर्थहीन कहा गया है' वैसे ही इस जीव के पास भी शुद्ध धर्म की एक कोड़ी भी नहीं होने से यह दारिद्र्य की मूर्ति ही है। जैसे 'उस दरिद्री को पौरुषहीन कहा गया है' वैसे ही यह जीव स्वकीय कर्मों का उच्छेदन करने में शक्ति-सामर्थ्यहीन होने के कारण पौरुषहीन पुरुषाकार का धारक मात्र है। जैसे 'भूख के कारण उस भिखारी का शरीर सूखकर कांटा हो गया था' वैसे ही कदापि तृप्त नहीं होने वाली और प्रतिक्षण उग्रता के साथ बढ़ने वाली विषय सेवनरूपी भूख से इस जीव का शरीर जर्जरित हो गया है, ऐसा समझें। जैसे 'उस रंक को अनाथ कहा गया है' वैसे सर्वज्ञरूपी स्वामी नहीं मिलने से इस जीव को भी अनाथ समझें। जैसे 'जमीन पर सोते-सोते भिखारी की पसलियाँ घिस गई थीं' वैसे ही पापों को अत्यन्त कुत्सित और कठोरभूमि पर लोट-पोट होते रहने के कारण इस जीव के सारे अंगोपांग घिस गये हों ऐसा समझें। जैसे 'उस भिखारी का शरीर धूलि-धूसरित कहा गया है' वैसे ही निरन्तर बंधने वाले पापकर्म के परमाणुरूप धूल से इस जीव का भी सर्वांग मलिन हो गया है। जैसे 'उस रंक के पहिनने के चिथड़े जाल-जाल हो रहे थे' वैसे ही महामोह की कलाओं की ओर संकेत करने वाली छोटी-छोटी ध्वजा के समान लीरियों से इस जीव का शरीर ढका होने से उसकी आकृति अत्यन्त बीभत्स बन गई है, ऐसा समझें। 'उस दरिद्री को निन्दनीय और गरीब कहा है' वैसे ही यह जीव भी विवेक के भण्डार सज्जन पुरुषों द्वारा

* पृष्ठ २६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निन्दा प्राप्त करता है और भय-शोक आदि उत्पन्न करने वाले क्लिष्ट । कर्मों द्वारा घिरा हुआ होने से अत्यन्त ही दीन और गरीब है ।

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि 'वह निष्पुण्यक भिखारी अदृष्ट-मूलपर्यन्त नगर में निरन्तर भीख मांगने के लिये घर-घर भटकता था' वैसे ही यह जीव भी संसारनगर में विषयरूपी ❀ तुच्छ भोजन प्राप्त करने की लालसा रूप पाश से जकड़ा हुआ एक जन्म से दूसरे जन्म में, दूसरे जन्म से तीसरे जन्म में, ऊंच-नीच कुलों में निरन्तर भटकता रहता है । 'भीख लेने के लिये उसके पास टूटा-फूटा मिट्टी का ठीकरा (भिक्षपात्र) था' उस भिक्षापात्र को यहाँ जीव का आयुष्य समझें; क्योंकि यह पात्र ही विषयरूपी कुत्सित अन्न और चारित्ररूप महाकल्याणकारी भोजन ग्रहण करने का आधार है और इसी आयुष्य को लेकर यह जीव निरन्तर संसारनगर में भटकता रहता है ।

[३]

दुर्दान्त बाल

'इस दरिद्री भिखारी को चिढाने के लिये नगर के दुर्दान्त बच्चे प्रतिक्षण लकड़ियाँ, बड़े-बड़े पत्थर और घूंसे मार-मारकर उससे छेड़छाड़ करते थे, जिससे वह अधमरा और बहुत दुःखी हो रहा था' ऐसा कहा गया है उसे इस जीव के कुविकल्प, सारहीन तर्क तथा इन कुविकल्पों को उत्पन्न करने वाले ग्रन्थ एवं उन कुतर्क ग्रन्थों के प्रणेता और उपदेशकों को कुतीर्थी समझें । ये लोग जब-जब इस पामर जीव को देखते हैं तब-तब उस पर सैकड़ों निकृष्ट हेतुरूप मुद्गरों का आघात करके उसके तत्त्वाभिमुख शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं । इस प्रकार आघातों से जर्जरित (अधमरा) हो जाने पर वह प्राणी (जीव) कार्य और अकार्य का भेद करने में समर्थ नहीं रह पाता, भक्ष्य और अभक्ष्य पदार्थों में भेद नहीं कर पाता, पेय और अपेय का स्वरूप नहीं जान पाता, हेय और उपादेय के भेद को समझ नहीं सकता, स्वयं के और दूसरों के गण और दोष के निश्चित कारण क्या हैं उन्हें लक्ष्य में नहीं ले सकता, अर्थात् उसकी विचारशक्ति नष्ट हो जाती है । कुतर्क से चिन्तन-शक्ति नष्ट होने पर वह जीव सोचता है । परलोक नहीं है, अच्छे-बुरे कर्मों का फल मिलता ही नहीं है, आत्मा हो ऐसा सम्भव नहीं है, सर्वज्ञ होता ही नहीं है और सर्वज्ञ-भाषित मार्ग मोक्षमार्ग है ऐसी कल्पना भी व्यर्थ है । (इस प्रकार के कुविचार ही इस जीव को अधमरा करने वाले दुर्दान्त बाल हैं) । इस प्रकार तत्त्व-ज्ञान से हीन होकर, विपरीत मनोवृत्ति को धारण कर यह जीव प्राणियों की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, दूसरे के धन-हरण करता है, विषयासक्त हो जाता है अथवा पराई स्त्रियों के साथ संभोग करता है, परिग्रह का संचय करता है, इच्छाओं पर अंकुश नहीं रखता, मांस भक्षण करता है, मदिरापान करता है, श्रेष्ठ उपदेश को ग्रहण नहीं करता है, कुमार्ग का प्रचार करता है, वन्दनीय पुरुषों की निन्दा करता है, गुणहीनों की सेवा करता है, स्व और पर के गुण-दोषों के कारणों की ओर ध्यान नहीं देता है और दूसरों की निन्दा करता हुआ यह प्राणी समस्त पापों का

❀ पृष्ठ ३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचरण करता है। इस प्रकार विविध प्रकार के पापों का सेवन करने के कारण वह प्राणी निबिड विविध पाप-समूह का बन्धन कर नरक में पड़ता है। वहाँ नरक में उस जीव को कुम्भीपाक (भयकर अग्नि) में पचाया जाता है, करवत से काटा जाता है, वज्र जैसे तीक्ष्ण काँटेदार शाल्मली वृक्ष पर चढ़ाया जाता है, संडासी से मुख खोलकर तपा हुआ सीसा पिलाया जाता है, स्वय का मांस खिलाया जाता है, अत्यन्त तपी हुई भट्ठियों में भूजा जाता है, पीप, चरबी, खून, मल, मूत्र और आंतडियों से कलुषित वैतरणी नदी में तिरना पड़ता है और तलवार के समान तीक्ष्णधारा वाले वृक्ष के पत्तों से शरीर छदित किया जाता है। इस प्रकार निज के पाप-समूह से प्रेरित होने से परमाधार्मिक असुर समस्त प्रकार की पीड़ायें प्रदान करते हैं।

नरक गति में विश्व के समस्त पुद्गल राशि का एक साथ भक्षण करने पर भी उस जीव की भूख शान्त नही होती। विश्व के समस्त समुद्रों का पानी एक बार में पीने पर भी उसकी * प्यास नहीं बुझती। भयकर शीत-वेदना और भयंकर गर्मी भोगनी पड़ती है। अन्य नारकीय जीव उसको अनेक प्रकार के दुःख देते हैं। ऐसी अवस्था में यह जीव भयंकर दुःखों से आकुल-व्याकुल होकर बूम पाड़ता हुआ 'ओ माँ, मुझे बचाओ! ओ बाप! मुझे बचाओ'!! कहता हुआ चिल्लाता रहता है, परन्तु वहाँ उसके शरीर को बचाने वाला कोई नहीं होता है।

कदाचित् नारकीय भयकर महादुःखों से उस जीव का पिण्ड छूट जाता है तो, वह तिर्यञ्च गति में उत्पन्न होता है। तिर्यञ्च गति में भी उस जीव को अत्यधिक बोझा ढोना पड़ता है। बेंत, लकड़ी आदि से उसकी कुटाई होती है। उसके कान, पूँछ आदि छेदे जाते हैं। जोंक आदि कीड़े उसका खून चूसते हैं। उसको भूख सहन करनी पड़ता है। प्यास से मर जाता है, इत्यादि विभिन्न प्रकार की यातनायें उस जीव को भोगनी पड़ती हैं।

तिर्यञ्च गति से भी निकल कर कदाचित् यह जीव मनुष्य भव प्राप्त करता है, तो यहाँ भी यह जीव अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ित होता है। मनुष्य भव में हजारों प्रकार के रोगों से घिरा हुआ कष्ट पाता है। बुढ़ापे के विकार उसको जर्जरित कर देते हैं। दुष्ट लोग दुःख देते हैं। प्रियजनों का वियोग विह्वल कर देता है। अनिष्ट पदार्थ या प्राणियों का सम्बन्ध व्यथित कर देता है। धन का हरण होने से रंक बन जाता है। स्वजन-सम्बन्धियों के मरण से आकुल-व्याकुल हो जाता है और विविध प्रकार के सकल्प-विकल्पों से व्यथित रहता है।

कदाचित् यह जीव देवगति में देव बन जाता है, तो वहाँ भी उसे विविध प्रकार की वेदनायें सहन करनी पड़ती हैं। इन्द्रादि के आदेशों का विवश होकर पालन करना पड़ता है। अन्य देवों के उत्कर्ष को देखकर खेद होता है। पूर्वभवों में आचरित स्वय की भूलों का स्मरण होने से ग्लानि होती है। अन्य देवों की

* पृष्ठ ३१

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

सुन्दर देवाँगनाओं को देखकर जलन होती है। उसकी प्रार्थना को जब अन्य देवाँगनाएँ ठुकरा देती हैं तब जल-भुनकर रह जाता है। अन्य की देवाँगनाएँ कैसे प्राप्त हों ? इसी उधेड़बुन में मन में शल्य की गाँठें बाँधता रहता है। महर्धिक देवों से निन्दित होता है। देवलोक से च्युत (मरण) होने का समय निकट आने पर विलाप करता है। मौत को निकट देखकर रो-रोकर चिल्लाता है और अन्त में मरण प्राप्त कर समस्त प्रकार की अशुचियों से भरे हुए गर्भ की कीचड़ में पड़ता है।

दरिद्री के दीन-वचन

इस प्रकार की स्थिति में उस दरिद्री की अवस्था के वर्णन में पहले कहा जा चुका है कि:--'आघातों से वह अधमरा हो रहा था और समस्त शरीर पर घाव हो रहे थे। इस कारण वह बार-बार चिल्लाता था--हे माँ! मैं मर गया, मुझे बचाओ! ऐसे ही दैन्य और आक्रोश-पूर्ण वचनों से वह अपना दुःख प्रकट कर रहा था।' जीव की वह और यह दोनों अवस्थाएँ पूर्णरूप से समान हैं। महाअनर्थकारी इन समस्त दशाओं का कारण उसके मानसिक संकल्प-विकल्प, उन कुविकल्पों को प्रोत्साहित करने वाले कुदर्शन-ग्रन्थ और उन ग्रन्थों के प्रणेता एवं उनके प्रचारक कुतीर्थी (कुगुरु) ही हैं।

भिखारी के रोग

कथा में कहा गया है:--'वह भिखारी उन्माद, ज्वर आदि बीमारियों का घर लग रहा था' उसे इस जीव के सम्बन्ध में महामोह आदि समझें। उन्मादग्रस्त प्राणी जैसे अनेक प्रकार के अकरणीय *कार्य करता है वैसे ही यह जीव मोह-मिथ्यात्व और अज्ञान से प्रेरित होकर अविचारित कार्य करता है। जैसे ज्वर से सारा शरीर जलता रहता है वैसे ही राग के कारण सर्वाङ्ग ताप से तप्त (पीड़ित) रहता है। जैसे शूल की भयंकर पीड़ा हृदय और पसलियों में असह्य वेदना उत्पन्न करती है वैसे ही द्वेष के कारण हृदय में वैर-विरोध की प्रबल वेदना सर्वदा बनी रहती है। खुजली की तरह काम (विषय-वासना) की तीव्रतम अभिलाषा मन को सर्वदा कुरेदती (खुजलाती) रहती है। जिस प्रकार गलितकुष्ठ व्याधि से पीड़ित प्राणी जन-समूह द्वारा तिरस्कृत होता है और उस कारण उसका मन उद्वेगों से उद्वेलित रहता है। उसी प्रकार यह जीव भय, शोक और अरति (अप्रीति) से उत्पन्न होने वाली दीनता के कारण लोगों की जुगुप्सा का पात्र बनता है और उससे उसका चित्त उद्वेग से व्यथित रहता है, इससे उसकी दीनता को ही गलितकुष्ठ समझें। जैसे नेत्ररोग से देखने की शक्ति नष्ट हो जाती है वैसे ही अज्ञान के कारण इस जीव की विवेक दृष्टि नष्ट हो जाती है। जैसे जलोदर की व्याधि से कार्य करने का उत्साह नष्ट हो जाता है वैसे ही प्रमाद के वशीभूत होकर शुभ अनुष्ठानों की ओर इस जीव का उत्साह नष्ट हो जाता है। इस प्रकार यहाँ उन्माद

* पृष्ठ ३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को मोह, मिथ्यात्व-ज्वर को राग, शूल को द्वेष, खुजली को काम, गलितकुष्ठ को भय-शोक अरति, नेत्र-रोग को अज्ञान और जलोदर को प्रमाद समझें।

रोगों के उपादान कारण

इस प्रकार मिथ्यात्व, राग, द्वेष, काम, दीनता, अज्ञान और प्रमाद आदि भाव-रोगों से यह जीव सर्वदा विह्वल बना रहता है और इस कारण उसकी चिन्तन शक्ति नष्ट हो जाती है। जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि उसकी विचार-शक्ति लुप्त हो जाने से वह भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय आदि से विवेकशून्य होकर स्वनिर्मित चिन्तनरूपअन्धकार में भटकता रहता है और 'परलोक इत्यादि नहीं हैं' के कुविकल्पों से ग्रस्त रहता है। अज्ञान और कुविकल्प इन दोनों को उत्पन्न करने वाले सहकारी कारण के रूप में कुतर्क-ग्रन्थ, उनके प्रणेता और उपदेशक हैं तथा राग, द्वेष, मोह आदि उपादान कारण के रूप में अंतरंग कारण हैं। अतएव पुर्वोक्त समस्त अनर्थों को परम्परा को प्रगाढ़ रूप मे उत्पन्न करने वाले और बढ़ाने वाले परमार्थतः (वस्तुतः) राग, द्वेष मोहादि को समझें। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कुशास्त्रों के संस्कार तो यदा-कदा ही होते हैं किन्तु राग, द्वेष, मोहादि तो सर्वदा ही अनर्थ-परम्परा को उत्पन्न करते हैं। यह भी लक्ष्य में रखना चाहिये कि किसी के लिये कुदर्शन-शास्त्रों का श्रवण अनर्थ की परम्परा का निमित्त बनता है और किसी के लिये नहीं भी बनता है। यह विभेद है, किन्तु रागादि के कारण तो जीव निश्चत रूप से महा अनर्थ के गड्ढे में गिरता ही है, इसमें किसी प्रकार का कोई विकल्प या संदेह नहीं है। इन रागादि दोषों से अभिभूत जीव अज्ञान रूप महा-अन्धकार में प्रवेश करता है, अनेक प्रकार के विकल्पों से मन को दूषित करता है, सैकड़ों अकरणीय कार्य करता है और महाकठोर कर्म-समूहों का संचय करता है। ऐसे संचित कर्मों के परिणाम स्वरूप यह जीव कदाचित् देवगति में उत्पन्न होता है, कदाचित् मनुष्य गति में पैदा होता है, कदाचित् पशुभाव (तिर्यञ्च योनि को प्राप्त करता है और कदाचित् महानरक में पड़ता है। ऊपर चारों गतियों के दुःखों का वर्णन किया जा चुका है, तदनुसार यह जीव अनन्तवार 'अरघट्ट घटीयत्र' के न्यायानुसार महादुःखों का अनुभव करता है और चारों ओर भटका करता है। ऐसी अवस्था होने से, जैसा कि उस भिखारी के वर्णन में पहले कहा गया था कि 'वह सर्दी, गर्मी, डाँस, मच्छर, भूख, प्यास आदि अनेक प्रकार की पीड़ाओं से व्यथित और दुःखी होकर नरक जैसी यन्त्रणा सहन कर रहा था।' ये सब दशायें इस जीव के साथ पूर्णतया मेल खाती हैं।

[४]

कृपा, हास्य, क्रीड़ा-स्थान

इस दरिद्री के प्रसंग में पूर्व में कहा जा चुका है कि:—'इसका स्वरूप सज्जनों के लिये दया का स्थान, दुर्जनों की दृष्टि में हँसी-मजाक का पात्र, बालकों के लिये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खिलौना और पापियों के लिये एक उदाहरण सा बन गया था। [पद्य० २८]' इस जीव के साथ इसकी सगति इस प्रकार है :—यह जीव निरन्तर असातावेदनीय कर्म की परम्परा रूप कीचड़ में फसा हुआ है, उसको जब प्रशमरसनिमग्न, आत्मसुख के अनुभवी, भगवत्स्वरूप और श्रेष्ठ साधुगण देखते हैं तो उनके हृदय में सर्वदा करुणाभाव का संचार होने से यह जीव उनकी कृपा का पात्र बनता है। ❀ जो सरागसयमी [1] साधुगण वीररस के आवेश से तपस्या करते हैं, धर्म के प्रति रागरूपी नशे में धुत्त होकर आचार-व्यवहार का पालन करते हैं वे अभिमानियों की तरह अहंकार से मत्त होते हैं, ऐसे साधुओं की दृष्टि में यह जीव हँसी-मजाक का पात्र बनता है। सरागसयमी यह सोचते हैं कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में से धन नामक मुख्य पुरुषार्थ के बिना इस प्राणी में धर्म या मानवता हो ही नहीं सकती। इन्हीं विचारों से ग्रस्त ये इस जीव को अनादर की दृष्टि से देखते हैं। ऐसे अभिमानी सयमियों को दृष्टि में यह जीव हास्य का कारण बनता है। जिनका चित्त मिथ्यात्व से ओतप्रोत है तथा जिनको किसी प्रकार किंचित् विषय-सुख के कण मिल गये हैं उन्हें यहाँ बाल कहा गया है। ऐसे बालजीवों की दृष्टि में यह जीव क्रीड़ा का स्थान बन जाता है। दुनिया में देखते हैं कि धन के मद में अन्धे बने हुए लोग छोटे व्यक्तियों का कदर्थना-विडंबना करने में, उनको तिरस्कृत करने में अपनी शान समझते हैं। पापी प्राणी किस प्रकार पाप एकत्रित करते हैं और उन पापों का फल किस प्रकार भोगना पड़ता है, इसकी प्ररूपणा करते समय इस जीव को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार जब भगवान् पाप-कर्मों के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं उस समय भव्य प्राणियों को संसार से विरक्ति और वैराग्य प्राप्ति हो, इस हेतु से इस प्रकार के जीवों का दृष्टान्त देते हैं। इस प्रकार यह जीव कृपा, हास्य और क्रीड़ा का स्थान और पापियों का उदाहरण रूप बनता है।

[५]

दुःख की प्रतिमूर्ति

इस दरिद्री के वर्णन में पहले कहा जा चुका है कि:—'अदृष्टमूलपर्यन्त नगर में अन्य भी कई दरिद्री रहते थे, पर निष्पुण्यक जैसा दुःखी और निर्भागियों का शिरोमणि तो सम्पूर्ण नगर में सम्भवतः कोई दूसरा नहीं था। [प० १२६]' उपर्युक्त कथन स्वय मैंने मेरे जीव का अत्यन्त विपरीत एवं गर्हित आचरण देखकर और अनुभव करके किया है। कारण यह है कि, मेरे इस जीव में जन्मान्ध को भी तुच्छ प्रमाणित करने वाला महामोह-अन्धत्व है, नारकीय वेदना को हँसकर टाल देने वाला राग है, दूसरों पर उपमातीत द्वेष है, वेश्वानर (अग्नि) को हँसी

❀ पृष्ठ ३३

1. सरागसंयमी—त्याग पर राग रखने वाला साधु। त्याग के लिए त्याग करने वाले नहीं किन्तु मोह से त्याग करने वाले सरागसंयमी कहलाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में टालने वाला क्रोध है, मेरुपर्वत को भी लघु मानने वाला मान है, सर्पिणी की गति को भी मात देने वाली माया है, स्वयंभूरमण समुद्र को भी छोटा मानने वाला लोभ है, स्वप्न में लगी हुई प्यास के समान विषयों में लम्पटता है। भगवान् का शासन-धर्म प्राप्त होने से पूर्व मेरे जीव की उपरोक्त दशा ही थी और यह अवस्था स्वयं द्वारा अनुभूत है। मैं ऐसा सोचता हूँ कि अन्य प्राणियों में ऐसे दोषों की उत्कटता शायद न हो! इस बात की मेरे जीव के सम्बन्ध में किस प्रकार संगति बैठती है, इसको आगे, जिस समय मुझे प्रतिबोध होता है उस समय विस्तार से कहूँगा।

[६]

निष्पुण्यक की मनोकल्पनाएँ

पूर्व में कह चुके हैं कि:—'यह रंक उस अदृष्टमूलपर्यन्त नगर में भिक्षा के लिये हर घर की ओर भटकता-भटकता सोचता था कि अमुक देवदत्त या बन्धु-मित्र अथवा जिनदत्त के घर से मुझे अच्छी तरह से बनाई हुई रसवती और स्वादिष्ट भिक्षा प्रचुर मात्रा में मिलेगी। उस भिक्षा को लेकर मैं शीघ्र एकान्त स्थान पर चला जाऊँगा, जहाँ मुझे कोई भी देख नहीं सके। वहाँ बैठकर उस भिक्षा में से कुछ खा लूँगा और बाकी बची हुई दूसरे दिन के लिये छिपाकर रख दूँगा। अन्य भिखारियों को कदाचित् यह मालूम पड़ जायगा कि मुझे अच्छी और ज्यादा मात्रा में भिक्षा मिलती है तो वे मेरे पास आकर मुझ से माँगेंगे और मुझे परेशान करेंगे, किन्तु मर जाऊं तब भी मैं उनको नहीं दूंगा। जब मेरे साथ जबरदस्ती छीना-झपटी करेंगे तो मैं उनके साथ लड़ाई करूँगा। जब वे मुझको हाथा-पाई करते हुए मुट्ठियाँ और *लकड़ियों से मारेंगे तब मैं बड़ा मुद्गर लेकर उन सब को चकनाचूर कर दूँगा। वे दुष्ट मेरे से बचकर कहाँ जायेंगे? ऐसे-ऐसे अनेक प्रकार के बनावटी कुविकल्पों के जाल से उस दरिद्री का मन आकुल-व्याकुल रहता है और वह प्रतिक्षण रौद्रध्यान में पड़ा रहता है; किन्तु उसको नगर में घर-घर भटकने पर भी थोड़ी सी भी भिक्षा नहीं मिल पाती। इसके फलस्वरूप उसके हृदय में अनन्तगुणा खेद बढ़ता रहता है। यदि कदाचित् भाग्यवश इसे थोड़ी सी झूंठन मिल जाती है, तो मानो विशाल राज्य पर राज्याभिषेक हो गया हो ऐसा हर्षोन्मत्त होकर वह अपने से समस्त विश्व को तुच्छ समझता है।' उपरोक्त सारी बनावटी कल्पनायें जो कही गई हैं उनको इस जीव के साथ पूर्ण संगति बैठती है जो इस प्रकार है:—

इस संसार में अहर्निश परिभ्रमण करते हुए शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पाँचों इन्द्रियों के विषय, स्वजन-सम्बन्धियों का समूह, धन, सोना आदि और कामक्रीड़ा एवं विकथा आदि में अत्यधिक आसक्ति संसार-वृद्धि का कारण

* पृष्ठ ३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने से तथा रागादि भाव-रोगों का कारण होने से कर्मसंचय रूप अजीर्ण को पैदा करता है। इन्हें ही कुत्सित अन्न (झूठन) समझें। महामोह से ग्रस्त जीव यह भी सोचता है:—"मैं अनेक स्त्रियों के साथ विवाह करूँगा। मेरी पत्नियाँ इतनी अधिक रूपवती होंगी कि जो अपने रूप से तीनों लोक की महिलाओं को पराजित कर सकेंगी, अपने सौभाग्य से कामदेव को भी आकर्षित कर सकेंगी, अपने हाव-भाव विलासों से मुनिजनों के हृदयों को चलायमान कर सकेंगी, अपनी कलाओं से बृहस्पति को भी हँसी में उड़ा देंगी और अपनी विशिष्ट प्रतिभा से स्वयं को महापण्डित मानने वाले पण्डितों के चित्त को भी रिझाने में निपुण होंगी। ऐसी गुणवाली मनोरमा पत्नियों का मैं हृदयवल्लभ हो जाऊँगा। ये मेरी पत्नियाँ पर-पुरुष की गन्ध तक सहन नहीं कर सकेंगी, मेरी आज्ञा का कभी भी उल्लंघन नहीं करेंगी, मेरे मन को निरन्तर आह्लादित करेंगी, उन पर जब कृत्रिम क्रोध करूँगा तो वे मुझे प्रसन्न करने का प्रयत्न करेंगी, मुझे मनावेंगी। अपनी कामवासना की पूर्ति के लिये वे मुझे हर तरह से चापलूसी कर प्रसन्न रखेंगी, मेरी इंगिताकार आदि चेष्टाओं (मनोभावों) को मुझे बतावेंगी, विविध प्रकार के विब्बोकादि हाव-भावों द्वारा मेरे मन को अपनी ओर आकर्षित करेंगी, आपसी ईर्ष्या के कारण एक दूसरे पर कटाक्ष (व्यंग्य) वाक्यों से अभिलाषा पूर्वक मुझे बारम्बार घायल करेंगी। इन्द्र के परिवार को भी मखौल में उड़ा देने वाला विनीत, दक्ष, शुद्ध चित्तवाला, सुन्दर वेषवाला, अवसर का जानकार, हृदयाह्लादक, मेरे ऊपर अनुराग रखने वाला, समस्त प्रकार के उपचार करने में कुशल, शूरवीर उदार, सकल कला कौशलों में सम्पन्न, सेवा-भक्ति में प्रवीण ऐसा मेरा परिवार होगा। इन्द्र के राजमहलों की हँसी उड़ाने वाले ऐसे सात मंजिले मेरे अनेक राजमहल होंगे, जो अपने यशरूप चमक से चकाचौंध करने वाले, अमल के कारण शुभ्रता को धारण किये हुए मेरे चित्त जैसे निर्मल होंगे, जो बहुत उत्तुंग (ऊंचे) होने के कारण हिमालय पर्वत का भ्रम पैदा करेंगे, जो विविध प्रकार के सुन्दर चित्रों से सुशोभित होंगे, अनेक चंदरवों से रमणीय होंगे, शालभंजिका आदि विविध प्रकार की पुत्तलिकाओं की रचनाओं से शोभायमान होंगे, बड़ी-बड़ी शालाओं (हालों) से युक्त होंगे, जिसमें अनेक प्रकार के छोटे-मोटे कमरे होंगे, जिसमें अत्यन्त विशाल और विभिन्न प्रकार के सभा-मण्डप बने हुए होंगे, जिसके चारों ओर परकोटा बना हुआ होगा। अर्थात् मेरा महल अत्यन्त आकर्षक और आनन्ददायक होगा। ❀ मेरे इस राजमहल में मरकत, इन्द्रनील, महानील, कर्केतन, पद्मराग, वज्र, वैडूर्य, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, चूडामणि, पुष्पराग आदि विविध प्रकार के रत्न सर्वदा प्रकाश करेंगे। सोने के अम्बार से मेरा राजमहल पीले रंग के प्रकाश से प्रकाशित रहेगा। मेरे घर में चाँदी, धान्य आदि

❀ पृष्ठ ३५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विविध पदार्थों का इतना विशाल संग्रह होगा कि सामान्य प्राणी विश्वास नहीं कर सकेंगे कि मेरे घर में धान्यादि इतने पदार्थ हैं। मुकुट, बाजूबन्द, कुण्डल, प्रालम्ब (लम्बे हार) आदि विविध भाँति के आभूषण मेरे चित्त को आनन्दित करेंगे। चीनांशुक (रेशमी), सूती और देवांशुक (देववस्त्र) आदि विविध जाति के वस्त्र मेरे चित्त को अनुरंजित करेंगे। मेरे महल के सामने ही क्रीड़ा करने योग्य उद्यान मेरे चित्त में आनन्द को बढ़ाते रहेंगे। इन उद्यानों में रत्न, सोना आदि विविध धातुओं से निर्मित कृत्रिम क्रीड़ा-पर्वत शोभित होंगे; जो बावड़ी, विशाल कुंजालिका (पानी देने की बड़ी नाली), फव्वारे और अनेक जलाशय होने से अत्यन्त रमणीय होंगे। बकुल, पुन्नाग, नाग, अशोक और चम्पा आदि अनेक जाति के वृक्षों से पल्लवित और रमणीय होंगे। पाँच प्रकार के सुगन्धित और मनोहर फूलों के भार से जिसकी शाखाँयें झुक गई हैं तथा कुमुद, कोकनद आदि कमलों से यह अत्यन्त शोभित होंगे और गुञ्जारव करते भ्रमरों की आवाज से कर्णप्रिय गीतों की झंकार चलती होंगी। अर्थात् मेरे महल के सन्मुख ऐसे उद्यान होंगे। सूर्य के रथ की सुन्दरता को भी पराजित करने वाले अनेक प्रकार के रथ मेरे मन को प्रमुदित करेंगे। इन्द्र के ऐरावत हाथी को भी मात देने वाले करोड़ों हाथी मेरे चित्त को हर्षित करेंगे। इन्द्र के घोड़े की चाल को भी लज्जित करने वाले करोड़ों घोड़े मेरे मन को सतुष्ट करेंगे। मेरे सन्मुख दौड़ते हुए, मुझे दिल से चाहने वाले, दूसरों (शत्रुओं) को भगा देने में कुशल, परस्पर एक मन वाले और शत्रुओं के साथ गुप्त रीति सेनहीं मिलने वाले संख्यातीत पैदल सेना मेरे मन को उल्लसित करेगी। प्रतिदिन नमन करने वाले अनेक राजाओं के मुकुटों में खचित मणिरत्नों की प्रभा से मेरे चरण रक्तवर्णी होंगे। विशाल भूमि का मैं मण्डलाधिपति महाराजा होऊँगा। बुद्धि-चातुर्य में देवताओं के मन्त्री बृहस्पति को भी पराजित करने वाले महामात्य (महामन्त्री) मेरे राज्यतन्त्र का सचालन करेंगे।' उपरोक्त सारी अभिलाषायें उस दरिद्री की स्वादिष्ट भिक्षा की इच्छा के समान ही इस जीव की इच्छाएँ समझें।

शारीरिक पुष्टता के वितर्क

पुनः यह जीव विचार करता है—'विपुल समृद्धि का स्वामी होने से, चिन्ता रहित होने से और समस्त प्रकार के साधनों से परिपूर्ण होने से मैं विधि पूर्वक 'कुटीप्रावेशिक' रसायन बनाऊँगा। इस रसायन के प्रयोग से शरीर पर झुर्रियाँ, सफेद बाल, गंजापन आदि किसी भी प्रकार को खोटों से रहित, बुढ़ापा और मरण के विकार से रहित, देवकुमारों से भी अधिक कान्ति-दीप्ति वाला, समस्त प्रकार के विषयों के भोग भोगने में समर्थ तथा महाबलशाली मेरी देह हो जाएगी।' इस प्रकार के इस जीव के ये मनोरथ पूर्वकथित भिखारी को भिक्षा प्राप्त होने पर ❀ एकान्त स्थान पर ले जाने के मनोरथ के समान ही समझें।

❀ पृष्ठ ३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकान्त में भिक्षा खाने की अभिलाषा

पुनः यह जीव अपने मन में विचार करता है –"ऐसा सुन्दर और बलिष्ठ शरीर हो जाने से मेरा चित्त अत्यन्त प्रमुदित होगा और मैं अगाध प्रेमरस के समुद्र में डूबकर, पूर्व वर्णित सुन्दर ललनाओं के साथ काम क्रीड़ा करूँगा। कदाचित् निरन्तर वर्धमान मदनरस के वशीभूत होकर अनवरत सुरत क्रीड़ा द्वारा स्पर्शनेन्द्रिय को तृप्त करूँगा। किसी समय रसनेन्द्रिय (जिह्वा) को तृप्ति के लिये मन को लुभाने वाले और समस्त इन्द्रियों को पुष्ट करने वाले मनोज्ञ षड्रस भोजन का आस्वादन करूँगा। कभी कपूर मिश्रित चन्दन, केशर, कस्तूरी आदि अति सुगन्धित पदार्थों का शरीर पर विलेपन कर, तज-इलायची-लोंग-जायफल और जावंत्री इन पाँचों सुगन्धित पदार्थों से सुवासित ताम्बूल को चबाते हुए घ्राणेन्द्रिय (नासिका) को तृप्त करूँगा। कभी निरन्तर वाद्यमान मृदंग की ध्वनि के साथ मानों देवांगनाओं का नृत्य हो रहा हो ऐसे भ्रम को पैदा करने वाले, मनोरम ललनाओं के हाव-भाव कटाक्षों से युक्त, अंग-विक्षेप, अंग-निदर्शन आदि विलास-विक्षेपों से युक्त दर्शनीय नृत्यों को देखते हुए मैं अपनी चक्षुरिन्द्रिय (आँखों) को तृप्त करूँगा। किसी समय मधुर कण्ठ वाले और संगीत विद्या में प्रवीण गायकों द्वारा प्रयुक्त वेणु, वीणा, मृदंग, काकली आदि वादित्रों की ताल-लय के साथ गायकों के गीत-गान सुनते हुए मैं अपनी कर्णेन्द्रिय (कान) को रससिक्त करूँगा। कभी समस्त कलाओं में पारंगत, समान अवस्था वाले, हृदय की गोपनीय बातें आपस में करने वाले, शूरवीर, उदार, पराक्रमी और सौन्दर्य में कामदेव को मात देने वाले अपने मित्रों के साथ विभिन्न प्रकार की क्रीड़ा करते हुए समस्त इन्द्रियों को एक साथ ही तृप्त करूँगा।' इस प्रकार इस जीव की ये अभिलाषायें पूर्व वर्णित प्राप्त भिक्षा को एकान्त स्थान पर ले जाकर खाने की भिखारी की अभिलाषा के समान ही समझें।

कुभोजन का संग्रह

पुनः यह जीव अपने मन में विचार करता है 'मैं इस प्रकार का दीर्घ-काल तक निरतिशय सुख भोगते हुए, देवकुमारों के समान, शत्रु-पत्नियों के हृदय में दाह उत्पन्न करने वाले, स्वजन-सम्बन्धी एवं प्रिय स्नेहाजनों के भिन्न-भिन्न स्वभाव होते हुए भी सभी को समान रूप से। प्रसन्न रखने वाले तथा मेरे समान ही मेरे सैकड़ों पुत्र होंगे। इस प्रकार मेरे मन के समस्त मनोरथ पूर्ण होंगे, मेरे समस्त शत्रु नष्ट हो जायेंगे और मैं अपनी इच्छानुसार अनन्त काल तक विचरण करता रहूँगा, अर्थात् सुख पूर्वक रहूँगा।' इस प्रकार इस जीव के ये मनोरथ पूर्ववर्णित बाकी बची हुई भिक्षा को दूसरे दिन के लिये छिपा कर रखने के मनोरथ के समान ही समझें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[illegible] और दरिद्री

पुनः यह जीव सोचता है—'मेरी विविध प्रकार की अतुल सम्पत्ति और ऐश्वर्य की बात जब दूसरे राजा लोग सुनेंगे तब वे ईर्ष्या से अन्धे होकर, सब मिलकर मेरे राज्य पर चढ़ाई कर देंगे और उपद्रव एवं मारकाट चालू कर देंगे। ऐसी स्थिति में मैं अपनी चतुरंगिणी (हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल) सेना को साथ लेकर उन पर टूट पड़ूँगा। जब वे सैन्य-बल के दर्प में मेरे साथ युद्ध करेंगे तब उनके साथ लम्बे समय तक चलने वाला महायुद्ध प्रारम्भ हो जाएगा। शत्रुगण संगठित होने से तथा साधन सम्पन्न होने से जब वे अपने प्रबल आक्रमण से मुझे थोड़ा सा पीछे धकेल देंगे* तब मेरा क्रोध भड़क उठेगा और लड़ने का जोश भी जाग उठेगा। उस जोश के आवेश में मैं एक-एक के बल-पराक्रम को चकनाचूर कर दूँगा, सब को मार दूँगा। युद्ध-भूमि से भागकर पाताल में भी जायेंगे तब भी वे मुझसे बच नहीं सकेंगे।' पूर्ववर्णित उस रंक की भिक्षा के बचाव में अन्य भिखारियों के साथ लड़ाई के हवाई-किले के समान इस जीव की पूर्वोक्त मनोदशा को समझें।

पुनः यह जीव कल्पना करता है—'इस प्रकार समग्र भूमण्डल के समस्त राजाओं पर विजय होने से मेरा चक्रवर्ती पद पर अभिषेक किया जायेगा। इससे त्रिभुवन (स्वर्ग, मृत्यु, पाताल) में ऐसी कोई वस्तु शेष नहीं रहेगी जो कि मुझे उपलब्ध न हो।' राजपुत्रादि की अवस्था में उत्पन्न जीव इस प्रकार के बहुधा निष्प्रयोजन हजारों संकल्प-विकल्पों के जाल में फँसकर अपनी आत्मा को आकुलित बनाये रखता है और रौद्रध्यान से पूरित होता है। इससे यह जीव सघन कर्मों को बाँधता है और उसके फलस्वरूप नरक में पड़ता है तथा अनेक प्रकारों के दुःख और मानसिक वेदनाओं को भोगता है। पूर्वभवों में पुण्योपार्जन न करने के कारण उसे मानसिक-सन्ताप के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। इस विवेचन से यह समझना चाहिये—"जब यह जीव राजकुमार जैसी अवस्था में विशाल हृदय वाला होता है तब उसे उस समय सामान्य वस्तुएँ प्राप्त करने की कोई अभिलाषा नहीं होती, किन्तु वह विपुल और महार्घ्य अर्थ की कामना करता है, स्वाभाविक रूप से महत्वाकांक्षी होता है। ऐसे समय में भी जिन्होंने शान्तरस रूपी अमृतपान का आस्वादन कर उस रस की महत्ता को समझा है और जो विषयरूपी विष के दारुण विपाकों को जानते हैं, जो सिद्धिवधू को प्राप्त करने के अध्यवसायी हैं, ऐसे भगवत्स्वरूप श्रेष्ठ साधुजनों की दृष्टि में इस जीव की राजकुमारादि अवस्थायें तुच्छ दरिद्री जैसी प्रतीत होती हैं, तो फिर इस जीव की अन्य दयनीय अवस्थाओं का उनकी दृष्टि में स्थान ही कहाँ है?"

---

* पृष्ठ ३७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन की प्रगल्भता

तत्त्वमार्ग से अनभिज्ञ यह जीव जब ब्राह्मण, वैश्य, अहीर, और अन्त्यज (नीच जाति) आदि जातियों में उत्पन्न होता है तब उस समय उसकी अभिलाषायें अत्यन्त तुच्छ होने के कारण कदाचित् उसे छोटे-छोटे दो-तीन ग्राम प्राप्त हो जाते हैं तो वह स्वयं को चक्रवर्ती मान बैठता है। एक-आध खेत का मालिक हो जाता है तो स्वयं को महामण्डलीक राजा मान लेता है। उसे कोई कुलटा स्त्री प्राप्त हो जाये तो वह उसे देवांगना समझ बैठता है। स्वयं की देह के कुछ अंग बेडोल होने पर भी स्वयं को मकरध्वज (कामदेव) समझता है। मातंगों (ढ़ेढ-चमार) के मोहल्ले में रहने वालों के समान अपने परिवार को इन्द्र के परिवार के समान समझता है। कदाचित् उसे तीन-चार सौ या तीन-चार हजार रुपये प्राप्त हो जायें तो स्वयं को कोट्याधिपति मान लेता है। किसी समय उसके खेत में पाँच या छः द्रोण (३० किलो के लगभग एक द्रोण होता है) अनाज की पैदावार हो जाये तो स्वयं को बड़ा कुबेर मान बैठता है। कदाचित् अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण सुख पूर्वक कर लेता है तो स्वयं को राज्यपालक मान लेता है। कदाचित् उदरपूर्ति निमित्त कोई काम-धन्धा मिल जाये तो वह उसे उत्सव मानता है। कदाचित् भिक्षा प्राप्त हो जाये तो जीवन मिल गया हो ऐसा मानता है। किसी समय में राजा अथवा अन्य किसी को शब्दादि इन्द्रिय सुखों को भोगते देखकर उनके सम्बन्ध में वह विचार करता है—'अहो ! यह इन्द्र है, देव है, वन्दनीय है, पुण्यशाली है, महात्मा है, सचमुच में यह भाग्यशाली पुरुष है, मुझे भी यदि * विषय-सुख भोगने का अवसर मिल जाये तो मैं भी इसके समान विलास करूँ।' इस प्रकार व्यर्थ के विचारों में गोते लगाता हुआ यह जीव केवल खेद को प्राप्त करता है।

राज्य सेवा

इस प्रकार की निष्फल कल्पनाओं से दुःखित होकर, यह जीव उन वस्तुओं को प्राप्त करने की अभिलाषा से राजसेवा करता है। राजा की उपासना (सेवा) करता है। सर्वदा उनके सन्मुख झुका हुआ रहता है। उनके मनोनुकूल बातें करता है। स्वयं शोकाक्रान्त होने पर भी स्वामी को हँसते देखकर स्वयं भी हँसता है। स्वयं के घर में पुत्र उत्पन्न होने से आनन्दमग्न होते हुये भी स्वामी को रोते देखकर स्वयं भी रोने लगता है। राजा के प्रिय व्यक्ति स्वयं के शत्रु हों तब भी उनकी प्रशंसा करता है। राजा के शत्रुओं को जो स्वयं के घनिष्ठ इष्टमित्र हों तब भी राजा के सन्मुख उनकी निन्दा करता है। राजा के आगे-पीछे दौड़ता रहता है। श्रम से चूर होने पर भी राजा के पैर दबाता है। उनके अशुचिपूर्ण स्थानों की भी हाथ से सफाई करता है। राज्य के आदेश से समस्त प्रकार के जघन्य कार्य भी करता है। यमराज

* पृष्ठ ३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के मुख के समान युद्धभूमि में चला जाता है। तलवार, भाला आदि के आघात सहने के लिये स्वयं का सीना (छाती) आगे कर देता है। धन की कामना वाला यह दरिद्री जीव इस प्रकार के दुःख भोग कर भी कामनाएँ पूर्ण होने के पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त करता है।

खेती

यह जीव किसी समय खेती करता है तब रात-दिन खेत में खपा रहता है। हल चलाता है, जंगल में रहकर पशुओं की जिन्दगी का अनुभव करता है, अर्थात् पशु जैसा जीवन बिताता है। अनेक प्रकार के छोटे-मोटे जीवों का नाश करता है। वर्षा के अभाव में संताप करता है और बीजनाश होने पर दुःखी होता है।

व्यापार

पुनः यह जीव कदाचित् व्यापार करता है तब उसमें वह झूठ बोलता है, विश्वासु और भोले लोगों को ठगता है, परदेश जाता है, सर्दी-गर्मी को सहता है, भूखा रहता है, प्यास को भी भूल जाता है, अनेक प्रकार के त्रास और परिश्रम से होने वाले संकड़ों दुःखों को झेलता है, समुद्री यात्रा करता है, जहाज डूब जाने या भग्न हो जाने पर मौत की स्थिति का आलिंगन करता है, जलचरों का भोजन बन जाता है। कदाचित् पर्वतों की गुफाओं में घूमता है, राक्षसों की गुफाओं में जाता है, रसकूपिका (लोहे को भी स्वर्ण बनाने वाला रस) की खोज करता है, खोजते समय उसको रसकूपिका के रक्षक अपना भक्ष्य भी बना लेते हैं। किसी समय दुःसाहस कर बैठता है, भयंकर रात्रि में श्मशान में जाता है, मृतकों को ढोता है, उनका मांस बेचता है, विकराल बेताल की साधना करता है; साधना में त्रुटि रहने पर वह बेताल कुपित होकर उसे मार भी देता है। कदाचित् खनिज विद्या (मिनरोलोजी) का अभ्यास करता है, भूमि में रहे हुये धन-भण्डारों के लक्षणों का निरीक्षण करता है, किसी स्थान पर धन-निकल जाये तो उसे देखकर प्रसन्न होता है, उस धन को ग्रहण करने के लिये रात्रि में भूतों को बलि देता है, निधान-पात्र को निकालता है किन्तु उस पात्र में धन के स्थान पर कोयले देखकर अत्यन्त दुःखी होता है। किसी समय धातुवाद (मेटलर्जी) का अनुशीलन करता है। धातुवाद के जानकार (विज्ञ) की सेवा-शुश्रूषा करता है, उसके आदेशों का पालन करता है, अनेक प्रकार की जड़ी-बूँटियों को इकट्ठा करता है, धातुमृत्तिका (तेजमतूरी) लाता है, पारद (पारा) को समीप लाकर रखता है उस पारे को जलाना, उड़ाना आदि क्रियाओं में अनेक प्रकार के कष्ट उठाता है, उसे रात-दिन धोंकता रहता है, प्रतिक्षण उसे फूँकता है, पीत और श्वेत रंग की किंचित् भी सिद्धि होते देखकर हर्षवशात् फूलकर कुप्पा हो जाता है। रात-दिन आशा के लड्डू खाया करता है। स्वयं के पास थोड़ा-बहुत संचित धन होता है, उसे भी इस प्रकार

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

की सिद्धियों के पीछे फूँक देता है और अन्त में किसी भी प्रकार की सफलता न मिलने पर निराश होकर मृत्यु को प्राप्त करता है।

धन की खोज

पुनः यह प्राणी विषयभोगों को प्राप्त करने की लालसा से धन संग्रह के लिये चोरी करता है, जुआ खेलता है, यक्षिणी (देवी-देवताओं) की आराधना करता है, मन्त्रों का जप करता है, ज्योतिष की गणना करता है, निमित्त (शकुन) का योग मिलाता है, लोगों का हृदय अपनी ओर आकर्षित करता है, * तत्सम्बन्धी समस्त कलाओं का अभ्यास करता है। अधिक क्या कहें ? धन प्राप्ति के लिये ऐसा कोई काम बाकी नहीं रहता जिसे वह न करता हो, ऐसा कोई वचन नहीं जिसे वह नहीं बोलता हो और ऐसा कोई विचार नहीं जिसका वह चिन्तन नहीं करता हो। धन के लिये इधर-उधर फर्र-फर्र मारता हुआ घूमता-रखड़ता रहता है। इतनी भाग-दौड़ करने पर पूर्वोपार्जित पुण्य से शून्य (रहित) होने के कारण इच्छित धन के स्थान पर तिल के छिलकों का तीसरा हिस्सा भी उसे नहीं मिलता। यदि मिलता है तो केवल रात-दिन का मानसिक सन्ताप और रौद्रध्यान से ग्रस्त होने से गुरुतर कर्मों का बन्धन और इस बन्धन के गुरुतर बोझ से यह जीव दुर्गति में जाने योग्य स्थितियों की अभिवृद्धि करता है।

वास्तविक भिक्षुपन

यदि कदाचित् किंचित् पूर्वोपार्जित पुण्योदय से इस जीव को हजारों या लाखों रुपये अथवा मनोनुकूल पत्नी अथवा शारीरिक सौन्दर्य अथवा विनीत परिवार अथवा धान्य का भण्डार अथवा कतिपय ग्रामों का स्वामित्व अथवा राज्यादिक प्राप्त हो जाये तो जैसे पूर्वकथित 'निष्पुण्यक दरिद्री को भिक्षा में थोड़ी सी भूँठन प्राप्त हो जाने पर वह सन्तुष्ट हो जाता था' वैसे ही यह जीव अहँकार रूपी सन्निपात से ग्रस्त हो जाता है। गर्वोन्मत्त होकर वह किसी की प्रार्थना को भी नहीं सुनता है, दूसरों की ओर दृष्टि भी नहीं उठाता है, गर्दन भी नहीं झुकाता अर्थात् अकड़कर चलता है, मधुर वचनों का प्रयोग भी नहीं करता है, बिना कारण ही आँखें बन्द रखता है और वृद्धजनों को अपमानित करता है। इस प्रकार अत्यन्त क्षुद्र अभिप्रायों से जिसका मूलस्वरूप नष्ट हो चुका है ऐसा जीव ज्ञान दर्शन चारित्रादि रत्नों से परिपूर्ण परमोच्च भगवत्स्वरूप मुनिपुङ्गवों की दृष्टि में दीन-हीन भिखारियों से भी निष्कृष्टतम कैसे प्रतिभासित नहीं होगा ? अर्थात् मुनिपुंगवों की दृष्टि में पूर्वोक्त क्षुद्र अभिप्रायों वाला और विवेकहीन जीव निकृष्ट ही प्रतीत होता है।

भिक्षुक से भी अधम

जब यह जीव पशुयोनि में अथवा नरक में रहता है उस समय इस जीव को दी गई 'भिखारी-दरिद्री' की उपमा का भी यह अतिक्रमण कर देता है, क्योंकि

* पृष्ठ ३९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महर्द्धिकमहातेजस्वी इन्द्रादि देव शब्दादि इन्द्रियों के विषयों को यथेच्छ सुखपूर्वक भोगने में योग्य, दीर्घकाल पर्यन्त सुखी अवस्था में रहने वाले भी यदि सम्यक्-दर्शन रूपी रत्न से रहित होते हैं तो विवेकरूपी धन से समृद्ध महर्षियों की दृष्टि में वे दरिद्रता से आक्रान्त की प्रतिमूर्ति और विद्युत् चपलता के समान जीवन धारण करने वाले प्रतीत होते हैं। ऐसी दशा में संसार रूपी उदर की गुफा में रहने वाले शेष समस्त प्राणियों के लिये तो उन महर्षियों की दृष्टि में स्थान ही कहाँ है ?

धनवान की कुशंकाएँ

जैसे पूर्वोक्त अनेक प्रकार के तिरस्कार से प्राप्त झूंठा अन्न खाते हुए उस भिखारी को सर्वदा यह शंका बनी रहती थी। कि 'कोई शक्र जैसे बलवान् पुरुष मेरा भोजन चुरा न ले' वैसे ही महामोह में पड़ा हुआ यह जीव धन, औरत और उसके द्वारा कल्पित एवं मान्य वैभव जिसको उसने अत्यन्त कष्ट झेलकर प्राप्त किया है उनका उपभोग करते समय वह सर्वदा भयभीत बना रहता है। वह चोरों से डरता है, राज-भय से त्रस्त रहता है, चचेरे भाई आदि स्वजनों से काँपता रहता है और याचकों से उद्विग्न रहता है। यहाँ अधिक क्या कहें ? वह अत्यन्त निःस्पृही वीतरागी मुनिपुंगवों से भी शंकित रहता है। वह सोचता है—ये मुनिराज मुझे उपदेश देकर वचन चातुरी से * छलकर मेरे धन को लूटना चाहते हैं। इस प्रकार कुविचाररूपी विष के नशे में पड़ा हुआ यह क्षुद्रजीव सोचता रहता है—अरे ! यह सारा धनमाल-मकान आदि कहीं आग की चपेट में आकर नष्ट न हो जाए, बाढ़ में नष्ट न हो जाए, चोर आदि लूट न ले जाएँ, इसलिये इसकी मुझे सुरक्षा करनी चाहिये; किन्तु उसका किसी पर भी विश्वास न होने से उसका कोई सहायक नहीं होता। अतएव वह अकेला ही रात में उठकर जमीन में बहुत गहरा गड्ढा खोदता है, किसी को ज्ञात न हो इस प्रकार धीमी गति से चलकर अपना धन उस गड्ढे में रखता है और गड्ढे को पूर कर समतल कर देता है। उस पर धूल और कचरा आदि डालता है ताकि उस स्थान को कोई पहचान नहीं सके। भविष्य में स्वयं भी उस स्थान को कहीं भूल न जाए इसलिये उस पर अनेक प्रकार के चिह्न (निशान) लगाता है। कोई भी प्राणी किसी प्रयोजन से उस स्थान की ओर आवागमन करे तो वह पुनः पुनः उसको ध्यान पूर्वक देखता है। कदाचित् उस स्थान पर स्वाभाविक रूप से किसी की दृष्टि पड़ जाए तो उसके हृदय में शंकाएँ बलवती हो जाती हैं और सोचता है—'ओह ! इसको मालूम पड़ गया है, इस प्रकार की शंकाओं से ग्रस्त और व्याकुलता के कारण उसे रातभर नींद नहीं आती। रात में ही उठकर उस स्थान पर जाकर, उस गड्ढे से धन निकालकर दूसरा

---

* पृष्ठ ४०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गड्ढा खोदकर उसमें धन रखता है। धन को गाड़ते समय भय के कारण चारों ओर देखता रहता है, कहीं कोई मुझे देख न ले इस भय से अपना शारीरिक व्यापार बन्द कर देता है अर्थात् निष्पन्द और निश्चेष्ट-सा होकर कार्य करता है। फिर भी उसका मन उस गाड़े हुए धन के बंधन में ऐसा बंध जाता है कि उस स्थान से उसका मन एक कदम भी पीछे नहीं लौटता। उस धन की रक्षा के लिये सैकड़ों प्रयत्न करने पर भी कदाचित् संयोगवश उस स्थान को कोई पहचान जाए और उस धन का हरण कर ले तो उस समय उस पर अकाल में ही वज्रपात सा ! हो जाता है। वह मृतप्राय होकर प्रलाप करता है—ओ बाप ! हाय माँ ! अरे भाई ! मैं मर गया। इस प्रकार व्यथित वचनों से रुदन करता हुआ वह विवेकीजनों की करुणापूर्ण सांत्वना प्राप्त करता है। धन-नाश के आघात से वह मूर्छित हो जाता है और कदाचित् मृत्यु को भी प्राप्त करता है। इस प्रकार थोड़े से धन पर मरने वाले प्राणियों के व्यवहार और चेष्टाओं का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया है।

कामुक की चेष्टाएँ

इसी प्रकार स्वयं की स्त्री के मोहपाश में बंधा हुआ यह जीव ईर्ष्यारूपी शल्य से पीड़ित होता है। अन्य किसी प्राणी की मेरी पत्नी पर दृष्टि न पड़ जाए इस भय और ईर्ष्या से वह अपने घर से बाहर नहीं निकलता। उसकी रातों की नींद हराम हो जाती है, माता-पिता का भी त्याग कर देता है, स्वजन-सम्बन्धियों के प्रेम में शैथिल्य लाता है, अपने इष्टमित्रों को भी घर पर आने का निमंत्रण नहीं देता, धर्मकार्यों का तिरस्कार करता है, और लोकनिन्दा का भी भय नहीं रखता। वह तो केवल स्त्री के मुख को अनवरत देखता रहता है, मानों वह परमात्मा की मूर्ति हो और स्वयं एक योगी हो ! इस प्रकार सारे कामकाज छोड़कर वह प्रतिक्षण उसका ही ध्यान करता हुआ घर में बैठा रहता है। उसकी वह स्त्री जो कुछ करती है वह उसे अच्छा लगता है, वह जो कुछ बोलती है उसे आनन्दकारी प्रतीत होता है, वह जो कुछ चाहती है उसे उसकी चेष्टाओं से समझकर वह वस्तु प्राप्त करने योग्य है ऐसा मानता है। ❀ मोह-विडम्बित जीव मन में विचार करता है—यह मेरे ऊपर अनुराग रखती है, मेरा हित करने वाली है, इसके समान सुन्दर, उदार और सौभाग्यादि गुणों से युक्त अन्य दूसरी स्त्री सारे विश्व में नहीं है। यदि कदाचित् कोई पुरुष उसकी पत्नी को माता, बहिन, बेटी अथवा पुत्री की दृष्टि से उसकी ओर झांके तब भी वह अपनी मूर्खता के कारण उन पर अत्यन्त कुपित हो जाता है; बिह्वल हो जाता है, मूर्छित हो जाता है और जैसे मर ही रहा हो ऐसी दशा को प्राप्त हो जाता है। ऐसी दशा में क्या करना चाहिये,

❀ पृष्ठ ४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका भी उसे भान नहीं रहता। कदाचित् किसी कारण से उसका पत्नी से वियोग हो जाये अथवा वह मर जाये तब वह रोता है, शोक करता है अथवा मर भी जाता है। यदि उसकी स्त्री दुराचारिणी होने से अन्य पुरुषों के साथ सम्पर्क रखती हो अथवा कोई पुरुष बलात्कार पूर्वक उसका हरण कर ले जाये तो यह मोहान्ध जीव जीवन पर्यन्त मन ही मन में जलता रहता है या अत्यधिक दुःख से प्राण भी त्याग कर देता है। इस प्रकार एक-एक वस्तु के प्रतिबन्धन में आसक्त यह जीव अनेक प्रकार के दुःखों को सहता है तथापि विपरीत बुद्धि के कारण उन वस्तुओं के रक्षण में तत्पर बना रहता है और मेरी किसी वस्तु का कोई हरण न कर ले इस शंका से सर्वदा उद्वेलित रहता है।

तृप्ति का अभाव

पूर्व में निष्पुण्यक के प्रसंग में कह चुके हैं:—'उस थोड़े से भूँठन से उस बेचारे की तृप्ति तो क्या होती, उसकी भूख और अधिक प्रज्वलित हो जाती।' उसी प्रकार इस जीव को भूँठन के समान अर्थ, स्त्री और विषयभोगों की इच्छानुसार प्राप्ति और उपभोग करने पर भी उसकी इच्छाओं का कभी शमन नहीं होता, प्रत्युत उसकी तृष्णाएँ निरन्तर बलवती होकर बढ़ती रहती हैं। जैसे उसे यदि कदाचित् सौ रुपये प्राप्त हो जाये तो वह हजार की कामना करता है, हजार प्राप्त हो जाये तो लाख की अभिलाषा करता है, लाख प्राप्त हो जाये तो करोड़पति बनने की इच्छा करता है, कोट्याधिपति हो जाये तो राज्य-प्राप्ति की कामना करता है, राजा बन जाता है तो चक्रवर्ती बनने की मृगतृष्णा जग जाती है, यदि कदाचित् चक्रवर्ती भी बन जाता है तो देवत्व की आकांक्षा करता है, देवत्व भी प्राप्त हो जाये तो इन्द्रत्व की प्रार्थना करता है। इन्द्र भी बन जाये तो सौधर्मादि देवलोकों से ऊपर उत्तरोत्तर अनुत्तरकल्प का अधिपति बनने का मनोरथ करता है। इस प्रकार इस जीव की भी मनोरथों की संकल्पमाला मृगतृष्णा के समान निरन्तर बढ़ती ही रहती है, वह कभी समाप्त नहीं होती। जैसे भयंकर ग्रीष्म ऋतु में जिसका शरीर चारों ओर से झुलस रहा हो, जो अत्यधिक प्यास से बेहाल होकर मूर्छित हो गया हो ऐसा कोई बटाउ (पथिक) अचेतनावस्था में स्वप्न में जलतरंगों से सुशोभित सरोवरों से कितना भी पानी पी ले तब भी उसकी प्यास रंचमात्र भी बुझती नहीं; वैसे ही इस जीव की अर्थ, स्त्री और विषयभोगों की प्यास कदापि शान्त नहीं होती। अनादि संसार में रखड़ते हुये इस जीव ने अनन्तबार देवभव प्राप्त किया, विषय-भोगों की सामग्री का छककर उपभोग किया, महामूल्यवान संख्यातीत रत्न प्राप्त किये, रति के विभ्रम को भी खण्डित करने वाली विलासिनी ललनाओं के साथ विलास किया और तीनों लोकों में अतिशय मनोरम मानने योग्य अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ की, * तथापि यह जीव जैसे प्रबल भूख लगने से पेट कमर को लग जाता है वैसे ही वह पूर्व में भुक्त विषय भोग अथवा

* पृष्ठ ४२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भुक्त भोजन की बात को भूल जाता है, उसे याद भी नहीं करता, केवल नई-नई भोग सामग्री प्राप्त करने की अभिलाषा में सूखकर कांटा होता रहता है।

उदरशूल

पूर्व में कह चुके हैं कि:—'बेचारा निष्पुण्यक उस कदन्न को बड़ी लोलुपता से खाता है। उस भूँठन के पचते-पचते उसके शरीर में वात-विशूचिका उठ खड़ी होती और यह पीड़ा उसे अत्यन्त दुःखित करती।' इसका जीव के साथ सम्बन्ध इस प्रकार योजित करें :—रागादि में लुब्ध यह जीव जब भूँठन के समान धन, विषय और स्त्री को प्राप्त कर उसका आसक्तिपूर्वक उपभोग करता है तब उसे कर्म-संचय रूप अजीर्ण होता है। कर्मों के उदय में आने पर जब वह उनको पचाता रहता है (निर्जरा करता है) तब नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति में भटकने रूप उदरशूल पैदा होता है। इस प्रकार संचित कर्म इस जीव को अत्यधिक पीड़ित और त्रस्त करते हैं। पुनश्च जैसा कि पूर्व में कह चुके हैं:—'वह भोजन उसके लिये असाध्य रोगों का कारण बनता और शरीर में पहले से स्थित रोगों को बढ़ाने में सहायभूत बनता' वैसे ही यह जीव जब रागादि से ग्रस्त होकर विषयादि का उपभोग करता है तब उस आसक्ति के कारण पूर्ववर्णित महामोह के लक्षण वाली अनेक नवीन व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं और वह पहले जिन व्याधियों से पीड़ित था उनमें अतिशय वृद्धि होती है; क्योंकि कर्म-संचय ही कुभोजन है। इससे नये कर्मों का बन्धन होता है और पूर्व कर्मों को स्थिति, अनुभाग (रस) भी अधिक तीव्र बनते हैं।

सुस्वाद से विहीन

पूर्व में कहा जा चुका है :—'इस वास्तविकता की उपेक्षा करते हुये निष्पुण्यक उसी भोजन को अच्छा मानता और उससे सुन्दर भोजन की तरफ दृष्टिपात भी नहीं करता। सुन्दर और स्वादिष्ट भोजन चखने का कभी उसे स्वप्न में भी अवसर प्राप्त नहीं हुआ।' यह कथन इस जीव के साथ पूर्णतया घटित होता है। इस जीव की चित्तवृत्ति महामोह से कुण्ठित (ग्रस्त) होने से वह अनेक दोषों को उत्पन्न करने वाले धन, विषय, स्त्री आदि को सुखदायक और आत्महितकारी मानता है। स्वाधीन (जब इच्छा हो तब प्राप्त कर सके) अतिशय आनन्द और तृप्तिदायक महाकल्याणकारी पारमार्थिक चारित्ररूपी खीर का भोजन जब प्राप्त होता है तब यह बेचारा जीव उसे प्राप्त नहीं कर पाता; क्योंकि महामोहरूपी निद्रा से कार्याकार्य को बताने वाले उसके विवेकरूपी नेत्र खुलते ही नहीं हैं। अनादि काल से परिभ्रमण करते हुये इस जीव को पहले कदाचित् यह महाकल्याणक भोजन प्राप्त हो गया होता तो समस्त क्लेश-समूह का नाश करने वाला मोक्ष उसे कभी का मिल गया होता तथा वह इतने समय तक संसार में भटकता भी नहीं। यह मेरा जीव तो अभी भी संसार में भटक रहा है, इससे यह प्रमाणित है कि मेरे इस जीव ने सच्चारित्र रूपी सुभोजन कभी प्राप्त ही नहीं किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनन्त काल से परिभ्रमण

पूर्व में कह चुके हैं:— 'वह दरिद्री भीख माँगते हुये अदृष्टमूलपर्यन्त नगर के छोटे-बड़े घरों में, भिन्न-भिन्न मोहल्लों और गलियों में बिना थके भटकता रहता।' इस जीव की स्थिति भी इसके समान ही है। इस जीव ने भी अनादि काल से अनन्त पुद्गल परावर्त किये हैं अर्थात् अनन्त पुद्गल परावर्त जितना समय यह जीव संसार में परिभ्रमण करता रहा है।* पुनश्च 'दुःखग्रस्त महादुर्भागी को यों भटकते हुये उसे कितना समय बीत गया, इसका भी उसे ध्यान नहीं रहा।' इस की संगति इस प्रकार है:— यह जीव कितने काल तक भव भ्रमण द्वारा संसार में रखड़ता रहा, इस काल का निर्णय करना अशक्य है; क्योंकि जिस काल का प्रारम्भ ही न हो, अनादि हो उसकी गणना करना (सीमा में बांधना) न केवल अशक्य है अपितु असम्भव भी है।

इस प्रकार यह मेरा पामर जीव इस संसार रूपी नगर के उदर में झूँठे संकल्प-विकल्प, कुतर्क, कुतीर्थिक-दर्शन रूप दुर्दान्त बाल-समह से तत्त्वाभिमुख सुन्दर शरीर पर मिथ्यात्व रूप मार खाता हुआ महामोह आदि अनेक रोगों से ग्रस्त शरीर वाला हो गया है और इन निकृष्ट व्याधियों के अधीन होकर, नरकादि स्थानों में अत्यन्त पीड़ाएँ सहन करने से इसका स्व-स्वरूप भ्रष्ट हो गया है। जिनका चित्त विवेक बुद्धि से निर्मल हो गया है ऐसे सज्जनों की दृष्टि में यह जीव कृपा का पात्र बनता है। फिर भी यह जीव आगे-पीछे के विचारों से शून्य और व्याकुलित चित्त वाला होने से तत्त्वबोध (सम्यक्-ज्ञान) से बहुत दूर रहता है। इन सब कारणों से प्रायः समस्त प्राणियों की तुलना में यह जीव जघन्यतम (अधम) है। अधम मनोवृत्ति के कारण कुत्सित भोजन के समान धन, विषय, स्त्री आदि प्राप्त करने की आशा से दुराशा रूपी पाश में जकड़ा रहता है। कदाचित् उसकी इच्छाओं की नाममात्र की भी पूर्ति हो जाती है तो वह किंचित् तृप्ति (सन्तोष) का अनुभव करता है, किन्तु यह तृप्ति स्थिर नहीं रहती। वह सदा असन्तुष्ट रहता है। उसे अभिलाषित वस्तुएँ किस प्रकार प्राप्त हों, किस प्रकार वे बढ़ती रहें और किस प्रकार उनको सुरक्षित रखूँ, इन्हीं विचारों में वह सर्वदा डूबा रहता है। इन विचारों के फलस्वरूप वह गुरुतर, निबिड़ और दुर्दम्य आठ प्रकार के कर्म-संचय रूप अपथ्यरूपी नाश्ता-भोजन (संबल) बाँध लेता है। इस अपथ्य भोजन का सेवन करने से इस जीव का राग आदि व्याधियाँ अत्यधिक बढ़ जाती हैं और वह इन व्याधियों को भोगता है। विपरीत बुद्धि के कारण इन बीमारियों की जड़ क्या है? इसको उपेक्षा कर, सर्वदा कुपथ्य भोजन का अधिक मात्रा में सेवन करता है, किन्तु सच्चारित्र रूप अतिस्वादिष्ट परमान्न (खीर) को चखना भी वह पसन्द नहीं करता। फलस्वरूप यह जीव 'अरघट्टघटीयन्त्र' के न्यायानुसार अनन्त पुद्गल परावर्त पर्यन्त समस्त योनियों (उत्पत्ति स्थानों) में घूमता रहता है, भटकता रहता है।

---

* पृष्ठ ४३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[७]

उस दरिद्री के प्रसंग में आगे क्या हुआ ? अब इसका वर्णन करते हैं :—

इस कथा-प्रबन्ध का विषय तीन काल का है, अतः भूत-भविष्य-वर्तमान काल को ध्यान में रखकर क्रियापदों का विभिन्न रूप में प्रयोग किया गया है, किन्तु उनका आशय एक समान ही है। व्याकरणवेत्ताओं के अनुसार कथन करने वाले की विवक्षा के अनुसार ही कारक की प्रवृत्ति होती है और कारक के अनुसार ही काल की प्रवृत्ति होती है। कारक (कर्ता) के समान काल का भी एक स्वरूप वाली वस्तु में, वस्तु की स्थिति के परिवर्तन से विभिन्न प्रकार से प्रयोग किया जाता है। यह प्रवृत्ति देखी भी जाती है और अभीष्ट भी है। जैसे यह मार्ग पाटलिपुत्र जाता है, इस मार्ग में पाटलिपुत्र से पहले वहाँ कुँआ था/हुआ करता था/कभी था/होगा/रहेगा, इत्यादि काल के रूप एक कुँए के लिए ही हैं, किन्तु विवक्षा के अनुसार इनका प्रयोग भिन्न-भिन्न रूपों में किया जा सकता है और यह पद्धति उपयुक्त भी है, अस्तु।

सुस्थित महाराज और स्वकर्मविवर द्वारपाल

'इस नगर में सुस्थित नामक एक प्रख्यात महाराजा राज्य करता था, जो स्वभाव से ही सब प्राणियों पर अत्यधिक प्रेम रखने वाला था।' ऐसा पूर्व में कहा है। इस सुस्थित राजा को ही यहाँ परमात्मा, जिनेश्वर, सर्वज्ञ, भगवान् समझें। समस्त प्रकार के क्लेश नष्ट हो जाने से, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्तवीर्य के धारक होने से, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र और अतिशय * अनन्त आनन्दसिन्धु स्वरूप होने से जिनेश्वर ही वास्तविक रूप में सुस्थित नाम के योग्य हैं। अविद्या, अज्ञान आदि क्लेश-समूहों के अधीन रहने वाले अन्य कोई भी इस नाम के योग्य नहीं हैं; क्योंकि मिथ्यात्व के कारण वे दुःस्थित (दुःख की स्थिति में रहने वाले) हैं। ये भगवान् समस्त प्राणीवर्ग का अत्यन्त सूक्ष्मरूप से रक्षण करने का उपदेश देते हैं, मोक्ष की प्राप्ति शीघ्र ही हो सके ऐसा कुशलता के साथ सिद्धान्त-मार्ग का प्रवचन करते हैं और वे स्वभाव से ही अत्यन्त वात्सल्य भाव से सराबोर हृदय के धारक हैं। मनुष्य और देवताओं के अधिपति चक्रवर्ती और इन्द्रादिक से अधिक कीर्ति के धारक होने से इन्हें प्रख्यात कहा गया है, क्योंकि देव और मनुष्य भी प्रशस्त मन वचन काय के योग में प्रवृत्त होकर अनवरत इनकी स्तुति करते हैं, अतएव सर्वज्ञ भगवान् ही महाराज शब्द को धारण करने के योग्य हैं।

कथा प्रसंग में कह चुके हैं—'एक बार घूमते हुए वह निष्पुण्यक दरिद्री राजा के भवन के पास पहुँच गया। उस भवन के द्वार पर स्वकर्मविवर नामक

---

* पृष्ठ ४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारपाल नियुक्त था। उस अत्यन्त करुणाजनक भिखारी को देखकर द्वारपाल ने कृपाकर उसे अपूर्व राजमन्दिर में घुसने दिया।' इस कथन की संगति इस प्रकार है—कदाचित् यह जीव 'घर्षण-घूर्णन' न्याय से जब यथाप्रवृत्तिकरण करता है तब आयुष्य कर्म को छोड़कर, शेष सातों कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को कम कर, सब कर्मों को एक कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति तक ले आता है और सभी कर्मों की अधिक स्थिति का क्षय करता है। जब यह जीव सात कर्मों की एक कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति में से भी कथंचित् स्थिति का क्षय कर लेता है तब आचारांग से लेकर दृष्टिवाद पर्यन्त द्वादशांग आगम रूप अथवा उसके आधारभूत चतुर्विध साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप श्री संघ के लक्षण वाला आत्मनृपति सुस्थित महाराज के राजमन्दिर को प्राप्त करता है। इस सर्वज्ञ शासन रूपी मन्दिर का स्वकर्मविवर अर्थात् स्वयं के कर्मों का विच्छेदक (विनाशक) जो कि यथार्थ नाम और गुण का धारक है, वही द्वारपाल होने की योग्यता रखता है। यही स्वकर्मविवर इस मन्दिर में प्रविष्ट होने में सहायक होता है। यहाँ राग, द्वेष, मोह आदि और भी अनेक द्वारपाल हैं किन्तु ये द्वारपाल इस जीव को राजमन्दिर में घुसने नहीं देते, अपितु अनेक प्रकार के रोड़े अटकाते हैं। यह जीव सर्वज्ञदेव के मन्दिर के द्वार के समीप अनन्तवार आया और आता रहता है, किन्तु राग, द्वेष, मोह आदि द्वारपाल उसको धक्का देकर दूर भगा देते हैं। कदाचित् ये राग-द्वेषादि द्वारपाल इस जीव को दरवाजे के भीतर तो आने देते हैं, परन्तु वास्तविक रूप में यह जीव प्रविष्ट हुआ, ऐसा प्रतीत नहीं होता। क्योंकि राग, द्वेष, मोह आदि से आकुल-व्याकुल चित्त वाले और बाहर से मुनि अथवा श्रावक के चिह्नों को धारण करने वाले कदाचित् सर्वज्ञ-मन्दिर के भीतर प्रवेश भी कर जाएँ तो भी वे सर्वज्ञ-शासन मन्दिर के बाहिर ही हैं, ऐसा समझें। अर्थात् बाह्य दृष्टि से साधु अथवा श्रावक का आडम्बर रखने वाले साधना पथ की ओर अग्रसर नहीं हो सकते, अतएव वस्तुतः वे सर्वज्ञ-शासन भवन के बाहिर ही हैं। राजभवन के द्वार तक पहुँचने पर, स्वकर्मविवर द्वारपाल इस जीव को ग्रन्थिभेद करवाकर सर्वज्ञ-शासन मन्दिर में प्रवेश करवाता है। इस प्रकार इस जीव का मन्दिर-प्रवेश युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

[८]

राजमन्दिर का वैभव

निष्पुण्यक के कथानक में कहा गया था—"इस दरिद्री ने पूर्व में कभी नहीं देखा ऐसा विविध प्रकार के ऐश्वर्य और समृद्धि से परिपूर्ण, राजा, प्रधान (मंत्री), सेनापति, कामदार और कोतवाल आदि से अधिष्ठित, वृद्धजनों से युक्त, सैन्यवृन्द से आकीर्ण, विलासवती सुन्दर ललनाओं से पूर्ण, उपमा रहित, ❀ अत्युत्तम

❀ पृष्ठ ४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दादि इन्द्रिय विषयों के भोगों से भरपूर तथा जहाँ सर्वदा उत्सव होते रहते हैं, ऐसा राजमन्दिर देखा।" इसी प्रकार इस जीव ने संसारचक्र में परिभ्रमण करते हुए आज तक वज्र के समान दुर्भेद्य और क्लिष्टतम कर्म की जटिल गांठ का भेदन (ग्रन्थिभेद) नहीं किया था। उसे स्वकर्मविवर प्राप्त होने से ग्रन्थिभेद कर जब वह सर्वज्ञ-शासन के मन्दिर में प्रवेश करता है तब उसे यह सर्वज्ञ-शासन मन्दिर उस राजमन्दिर के समान ही ऐश्वर्यादि विशेषणों से युक्त प्रतीत होता है। तुलना इस प्रकार है :—

इस मौनीन्द्र (जिनेश्वर) शासन में अज्ञानरूपी अन्धकार पटल के प्रसार का नाश करने वाले, ज्ञान रूपी विविध प्रकार के रत्नपुञ्जों को धारण करने वाले, जाज्वल्यमान निर्मल प्रकाश से तीन भुवन के समस्त प्रदेशों को प्रकाशित करने वाले विशिष्ट प्रकार के ज्ञान दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ भगवान् के प्रवचन में मुनिपुङ्गवों के शरीर को शोभित करने वाली, रमणीय मणि-रत्नों से जड़ित श्रेष्ठ आभूषणों की सुन्दराकृति को धारण करने वाली आमर्ष औषधि आदि अनेक प्रकार की लब्धियाँ विद्यमान हैं। इस जिन शासन में अत्यधिक सुन्दर होने के कारण चित्र-विचित्र वस्त्रों के आकार को धारण करने वाले अनेक प्रकार के तप सज्जन पुरुषों के हृदय को आकर्षित करते हैं। इस परमेश्वर-मत में चपल उज्ज्वल वस्त्रों के चंदरवों में सुन्दर रचना और सम्यक् प्रकार से गुम्फित लटकते हुए मोतियों के गुच्छों को धारण करने वाले चरण-करण रूप मूल गुण और उत्तर गुण चित्त को आह्लादित करते हैं।

शासन प्राप्ति का फल

ऐसे जैनेन्द्र शासन में तदनुकूल आचरण करने वाले भाग्यशाली प्राणियों के सत्यवचन ताम्बूल के समान हैं। जैसे ताम्बूल मुख की शोभा है, मुख को सुगन्धित करता है और चित्त को आह्लादित करता है वैसे ही उनके उदार सत्यवचन श्रेष्ठत्व की सुगन्ध फैलाते हैं और मन को आनन्दित करने वाले हैं। जैन शासन में मनोरम पुष्पपुञ्जों की आकृति को धारण करने वाले अठारह हजार शीलांग (अत्युत्तम चारित्र के अंग) अपनी सुगन्धि को समस्त दिशाओं में फैलाते हैं। जैसे फूलों का समूह भ्रमरों को आनन्दित करता है वैसे ही ये शीलांग "मुनिपुङ्गवरूपी भ्रमरों को प्रमुदित करते हैं और जैसे फूलों को गूंथा जाता है वैसे ही ये शीलांग भी चित्र-विचित्र प्रकार की रचना से गुम्फित किये जाते हैं। पारमेश्वर मत में सम्यक् दर्शन गोशीर्ष चन्दन के विलेपन के समान है। जैसे गोशीर्ष चन्दन का शरीर पर विलेपन करने से मानव को शीतलता प्राप्त होती है, वैसे ही यह सम्यग् दर्शन, मिथ्यात्व और कषायों के संतापों से जलते हुए भव्यजीवों के शरीर को अत्यन्त शीतलता प्रदान करते हैं। इस प्रकार सर्वज्ञभाषित जैन दर्शन में सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र की प्रधानता है। जो भाग्यशाली प्राणी सर्वज्ञ-वाणी के अनुसार आचरण करते हैं वे अपने लिए नरक के अन्धकूप में पड़ने का मार्ग बन्द

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर देते हैं, तिर्यञ्च गति के कारागृह को भग्न कर देते हैं, अधम मानवता के दुःखों का दलन कर देते हैं, तुच्छ जाति के देवों के मन में होने वाले सन्तापों का मर्दन कर देते हैं, मिथ्यात्व रूपी वैताल का नाश कर देते हैं, रागादि शत्रुओं को निष्पन्दित कर देते हैं, कर्मसंचय रूप अजीर्ण को जीर्ण (शक्ति रहित) कर देते हैं, वृद्धावस्था के विकारों को तिरस्कृत कर देते हैं, मृत्युभय को हँसी में उड़ा देते हैं और देवलोक तथा मोक्ष के सुखों को हस्तामलक कर लेते हैं। अथवा इस दर्शन का आचरण करने वाले भव्य प्राणी सांसारिक सुखों की अवगणना करते हैं, इन सुखों की आवश्यकता का किंचित् भी अनुभव नहीं करते, अपनी बुद्धि से संसार के समस्त प्रपंचों को हेय दृष्टि से देखते हैं और मोक्ष प्राप्ति के लिए तन्मयता पूर्वक अपने अन्तःकरण को उसकी ओर उन्मुख कर देते हैं। मुझे परमपद प्राप्त होगा, इस सम्बन्ध में उन्हें किसी प्रकार का संदेह नहीं रहता, क्योंकि उपाय और उपेय परस्पर विरुद्ध नहीं होते। वे समझते हैं कि परमपद की प्राप्ति के लिए सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही एकमात्र मार्ग है और यह मार्ग अप्रतिहत शक्ति वाला है। * ऐसा प्रशस्त मार्ग उन्हें मिल जाने से उनको दृढ़ निश्चय हो गया है कि, इससे अधिक प्राप्त करने को कुछ भी शेष नहीं रहा, मेरे सारे मनोरथ पूर्ण हो गये। इन विचारों से उनको पूर्णतया मानसिक तोष प्राप्त होता है। (यह गोशीर्ष चन्दन के विलेपन से प्राप्त शान्ति और सम्यग् दर्शन प्राप्त भव्यों की मानसिक शान्ति की तुलना है।)

रत्नत्रयी का मार्ग प्राप्त करने के पश्चात् पारमेश्वर मत के भव्य उपासकों को कदापि शोक नहीं होता, दैन्यभाव नहीं होता, उनकी उत्सुकता विलीन हो जाती है, काम-विकार नष्ट हो जाते हैं, जुगुप्सा के प्रति घृणा हो जाती है अर्थात् किसी भी वस्तु या प्राणी के प्रति जुगुप्सा के भाव नहीं जगते, उन्हें कदापि चित्तोद्वेग नहीं होता, तृष्णा कोसों दूर भाग जाती है और वे त्रास-पीड़ा को समूल नष्ट कर देते हैं। अधिक क्या? उनके मन में धैर्य रहता है, गम्भीरता निवास करती है, अतिप्रबल औदार्य होता है, प्रबल आत्म-विश्वास होता है और स्वाभाविक प्रशम-सुखरूपी अमृत का अनवरत आस्वादन करते रहने से उनके हृदय में सर्वदा उत्सव चलते रहते हैं। इसी कारण उनकी राग-प्रबलता मन्द हो जाती है, रति-प्रकर्ष अर्थात् शुभराग–गुणानुराग बढ़ जाते हैं, मद–अहंकाररूपी व्याधि नष्ट हो जाती है, मन में सर्वदा प्रफुल्लता रहती है, आयुधों द्वारा नष्ट करने वालों और विलेपन करने वालों पर जैसे चंदन की दृष्टि सम रहती है वैसी ही सम दृष्टि होने से उनका आनन्द कभी नष्ट नहीं होता।

जैनेन्द्र शासन में स्थित भव्य-प्राणी स्वाभाविक हर्षातिरेक से प्रमुदित होकर पाँच प्रकार के स्वाध्याय (वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा, धर्मकथा) के माध्यम से सर्वदा गाते रहते हैं। आचार्यादि दश (आचार्य, उपाध्याय, स्थविर,

---

* पृष्ठ ४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तपस्वी, ग्लान, क्षुल्लक, स्वधर्मी, कुल, गण, संघ) की वैयावच्च (सेवा-शुश्रूषा) करने रूप अनुष्ठान के माध्यम से सर्वदा नृत्य करते रहते हैं। तीर्थंकरों के जन्माभिषेक, समवसरण, पूजा, रथयात्रादि महोत्सवों को सम्पादन करने के माध्यम से सर्वदा कूदते रहते हैं। अन्य प्रतिवादियों की युक्तियों का चतुराई से निराकरण करने के पश्चात् (अर्थात् विजय प्राप्त कर) चित्तानन्द के बहाने उत्कृष्ट सिंहनाद आदि अनेक प्रकार की गर्जना करते हैं। किसी समय में तीर्थंकर, भगवन्तों के च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण इन पाँच कल्याणकों के महोत्सवों के माध्यम से हर्षित होकर मर्दल (मादल) आदि वाजित्र बजाते हैं। इस प्रकार मौनीन्द्र शासन में सर्वदा आनन्द ही आनन्द छाया रहता है और इस शासन में रहने से समस्त प्रकार के सन्ताप नष्ट हो जाते हैं। इस जैनेन्द्र शासन को इस जीव ने कभी भी भावपूर्वक स्वीकार किया हो ऐसा प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इस जीव का संसार में परिभ्रमण अभी तक विद्यमान है। यदि इस जीव ने इस शासन को शुद्ध भाव से स्वीकार किया होता तो कभी की ही इसको मोक्ष की प्राप्ति हो गई होती।

पूर्व कथा में राजभवन के दो विशेषण कहे गये थे – १. अदृष्टपूर्व और २. अनन्त विभूति सम्पन्न। राजमन्दिर के इन दोनों विशेषणों की तुलना सर्वज्ञ शासन मन्दिर के साथ सम्यक् प्रकार से मेल खाती है।

राजमन्दिर के राजा

पूर्व में राजमन्दिर के विशेषणों में कहा गया है– 'राजा, प्रधान (मंत्री), सेनापति, कामदार और कोतवाल आदि से अधिष्ठित था।' इन विशेषणों की तुलना इस प्रकार है :—जिनेश्वर देव के शासन मन्दिर में आचार्यों को राजा समझें। जिनके अन्तर्ज्वलित महातप के तेज से रागादि शत्रुवर्ग पलायन कर गये हैं, जिनके बाह्य-व्यापार शान्त हो गये हैं और जो जगत् को आनन्द प्रदान करने के साधन हैं। जैसे राजागण रत्नों से भरपूर और प्रभुत्व सम्पन्न होते हैं वैसे ही ये आचार्यगण भी गुणरत्नों के भण्डार और प्रभुत्व सम्पन्न होते हैं। अतएव इनके लिए राजा शब्द का प्रयोग सर्वथा उचित है।

राजमन्दिर के मन्त्री

मन्त्रियों के वर्णन प्रसंग में पहले कह चुके हैं - 'संपूर्ण जगत् की चेष्टाओं को जानने वाले, स्वबुद्धि से अपने शत्रुओं को भली प्रकार पहचानने वाले और सम्पूर्ण नीतिशास्त्रों में पारंगत अनेक मन्त्री भी वहाँ निवास करते थे।' इसकी संगति इस प्रकार है : सर्वज्ञ शासन में उपाध्यायों को मन्त्री समझें। वीतराग प्रणीत आगम रहस्य के ज्ञाता होने के कारण जो समस्त जगत् के व्यापारों को स्पष्टतया जानते हैं, और जो प्रज्ञाबल से रागादि अन्तरंग शत्रुवर्ग को पहचानते हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्रों के रहस्य को प्रतिपादित करने वाले ग्रन्थों के वेत्ता और उन रहस्यों पर विचार करने में कुशल (चतुर) होते हैं। जैसे समस्त नीतिशास्त्रों के पारंगत मन्त्रिगण अपने बुद्धि-कौशल से राज्य के समस्त अंगों पर समीक्षा करते रहते हैं वैसे ही ये उपाध्याय अपने असाधारण बुद्धि-वैभव से सर्वज्ञ-शासन के समस्त अंगों की समय-समय पर समीक्षा करते रहते हैं। अतएव ये उपाध्याय अमात्य शब्द को सम्यक् प्रकार से चरितार्थ करते हुए शोभित होते हैं।

सेनापति

पूर्व में कह चुके हैं कि 'युद्ध के मैदान में अपने समक्ष आये हुए साक्षात् यमराज को देखकर भी जो विचलित नहीं होते थे, ऐसे असंख्य योद्धा वहाँ सेवारत थे।' इसकी योजना इस प्रकार है :—गीतार्थ-वृषभों (सम्पूर्ण ज्ञान के धारक, षड्दर्शनवेत्ता, गण के नियन्त्रक और धौरेय वृषभ के समान शासन का भार वहन करने में समर्थ साधुओं) को यहाँ महायोद्धा—सेनापति समझें। जिनका अन्तःकरण सत्व (तप, श्रुत, सत्व, एकत्व, बल) की विशिष्ट भावनाओं से वासित है, देवों द्वारा महाभयंकर उपसर्ग (उपद्रव) करने पर भी जो किंचित् भी क्षुब्ध नहीं होते और जो घोर परीषहों से तनिक भी भयभीत नहीं होते। इनके सम्बन्ध में अधिक क्या कहें? यमराज के समान भयंकर उपद्रव करने वालों को सामने देखकर जो तनिक भी त्रस्त नहीं होते। जैसे महारथी संग्राम के अन्त को विजय में परिणत करते हैं वैसे ही ये गीतार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को लक्ष्य में रखकर गच्छ, कुल, गण और संघ को मोक्ष प्राप्ति करवाते हुए संसार-समर का अन्त ला देते हैं। अतएव इन गीतार्थ वृषभों को महायोद्धा सेनापति कहा जाता है।

[९]

नियुक्तक (कामदार)

राजमन्दिर-प्रसंग में पहले कहा जा चुका है—'इस विशाल राजमन्दिर में अनेक व्यक्ति नियुक्तक (कामदार) थे जो सर्वदा करोड़ों नगरों, असंख्य ग्रामों और अनेक परिवारों का पालन करते थे तथा शासन-प्रबन्ध संचालित करते थे।' इन कामदारों को यहाँ सर्वज्ञ शासन में गण-चिन्तक समझें। जो बाल, वृद्ध, ग्लान, प्राघूर्णक (अतिथि साधु) आदि की सहिष्णुभाव से परिपालन करने योग्य अनेक पुरुषों से परिवृत, कुल, गण और संघरूपी करोड़ों नगर और गच्छ रूप असंख्य ग्राम एवं आकरों में गीतार्थ होने के कारण उत्सर्ग और अपवाद के ज्ञाता, योग्य स्थान पर कार्यक्षम व्यक्ति को नियुक्त करने में चतुर और उनका पालन करने में समर्थ होते हैं। जो समस्त कालों में निराकुल होकर प्रासुक और ऐषणीय भक्त (भोजन), पान, औषध, उपकरण (वस्त्र-पात्रादि) एवं उपाश्रय आदि के सम्पादन द्वारा शासनतन्त्र

❀ पृष्ठ ४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का सम्यक् प्रकार से संचालन करते हैं। इन्हें समस्त दृष्टियों से योग्य समझकर आचार्य इनकी गणचिन्तक पद पर नियुक्ति करते हैं। अतएव इनके लिए नियुक्तक पद का प्रयोग सर्वथा समुचित है।

राजमन्दिर के तलवर्गिक

पहले कह चुके हैं—'स्वामी पर अत्यन्त श्रद्धा और प्रीति रखने वाले, विशिष्ट बलवान और वास्तविक सूझबूझ वाले अनेक तलवर्गिक (कोतवाल) कार्यकर्ता वहाँ रहते थे।' इन तलवर्गिकों को जैनेन्द्र शासन भवन में सामान्य साधु समझें। जो आचार्य के आदेशों का सावधानी पूर्वक सम्पादन (पालन) करते हैं, उपाध्याय की आज्ञा का पालन करते हैं, गीतार्थ-वृषभों का विनय करते हैं, गण-चिन्तक द्वारा प्रयुक्त मर्यादा का लंघन नहीं करते, गच्छ, कुल, गण और संघ के प्रयोजनों में पूर्णरूप से स्वयं को नियोजित कर देते हैं, इन गच्छ, कुल, गण, संघादि पर किसी प्रकार की विपदा आ पड़े तो स्वयं के प्राणों का मोह किये बिना ही उस विपदा को दूर करने में प्रयत्नशील रहते हैं और जो शूरता, भक्ति एवं विनीत स्वभाव से ओतप्रोत होते हैं। अतएव सामान्य साधु को जो यहाँ तलवर्गिक कहा गया है, वह यथोचित है।

इस प्रकार मौनीन्द्र शासन को राजभवन के समान कहा गया है। इस शासन में आचार्यदेव की आज्ञानुसार उपाध्याय उसका चिन्तन करते हैं, गीतार्थ-वृषभ उसका रक्षण करते हैं, गणचिन्तक उसकी पुष्टि करते हैं और साधुगण चिन्ता रहित होकर उस निर्णीत मार्ग का अनुसरण करते हैं। इस प्रकार यह शासन मन्दिर भी राजमन्दिर के राजादि के समान आचार्यादि से अधिष्ठित (व्याप्त) है।

मन्दिर में वृद्धाएँ

कथा-प्रसंग में पहले कह चुके हैं कि—'राजमन्दिर में अनेक वृद्ध स्त्रियाँ भी रहती थीं, जिन्होंने विषयों का सर्वदा त्याग कर दिया था और जो मदोन्मत्त युवतियों को अंकुश में रखने में समर्थ थीं।' सर्वज्ञ शासन में इसकी योजना इस प्रकार है:—स्थविरा को यहाँ आर्या (साध्वियाँ) समझें। ❀ स्थविराओं के लिए दो विशेषणों का प्रयोग किया गया है, वे दोनों ही विशेषण साध्वीवर्ग के लिए युक्तिसंगत हैं। ये आर्याएँ स्वयं का शिष्य वर्ग (साध्वी वर्ग) और श्रमणोपासक वर्ग की पत्नियाँ अर्थात् श्राविकाएँ जब प्रमाद के कारण धर्मकार्यों में आलस्य करती हैं तब वे परोपकार करने का स्वभाव होने के कारण तथा भगवन्तों द्वारा आगमों में प्ररूपित स्वधर्मीवात्सल्य को महानिर्जरा का कारण जानकर, उनको कर्त्तव्य मार्ग का स्मरण कराती हैं, अकरणीय कार्यों से रोकती हैं, शुभ कार्यों की

❀ पृष्ठ ४८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओर प्रेरित करती हैं और श्रेष्ठ कार्यों के लिये पुनः पुनः प्रेरणा देती हैं। इस प्रकार वे उनको सन्मार्ग के पथ पर अग्रसरित करती हैं और उन आर्याओं को विषयरूपी विष के भयंकर विपाकों का ज्ञान होने से वे विषयभोग से निवृत्त होकर, संयम मार्ग में रमण करती हैं, विशेष प्रकार के तपविधानादि लीला पूर्वक करती हैं, अनवरत स्वाध्याय करने में प्रसन्नता अनुभव करती हैं, किंचित् भी प्रमादाचरण नहीं करतीं और निःसंकोच एवं निःशंक होकर आचार्यों का आदेशों का पालन करती हैं।

राजमन्दिर में सुभट

पूर्व में कहा जा चुका है- 'अनेक योद्धाओं द्वारा वह राजमन्दिर चारों ओर से सुरक्षित था।' यहाँ इस भगवत् शासन में श्रमणोपासकों (श्रावकवर्ग) के समूह को सुभटवृन्द समझें। इस श्रावकवर्ग की विपुल संख्या होने से ये चारों ओर व्याप्त होकर (फैलकर) शासन मन्दिर को सुरक्षित रखते हैं। क्योंकि देवलोक में असंख्य, मनुष्य लोक में संख्यात, तिर्यञ्च गति में बहुत प्रकार के तथा नरक गति में भी बहुत श्रावक होते हैं। ये श्रावक शूरवीर, उदार और गाम्भीर्यादि गुणों से सम्पन्न होने के कारण जैनेन्द्र शासन के शत्रुओं को जिनका हृदय मिथ्यात्व से वासित है उनका चतुराई के साथ विघटन करने में सक्षम होते हैं। उनकी इस अनुपम प्रवृत्ति के कारण वे सुभट के उपमान के सर्वथा योग्य हैं। क्योंकि, ये श्रावक सर्वज्ञ देव का सर्वदा ध्यान करते हैं। आचार्यरूपी राजाओं की आराधना करते हैं। उपाध्यायरूपी अमात्यों के उपदेशों का पालन करते हैं। गीतार्थ-वृषभरूपी महारथियों के वचनानुसार धर्मकार्यों में प्रवृत्त होते हैं। साधुवर्ग पर सदा अनुग्रह करने वाले गणचिन्तकरूपी नियुक्तकों (कामदारों) को वस्त्र, पात्र, भोजन, पानी, औषध, आसन, संस्तारक आदि विधि पूर्वक एवं सन्मान के साथ प्रदान करते हैं। श्रमणरूपी तलवर्गिकों को, यह नवदीक्षित है या पुराना दीक्षित है इस विभेद रेखा को रखे बिना ही समस्त साधुवर्ग को विशुद्ध मन-वचन-काया से वन्दन करते है। आर्यारूपी स्थविराओं को उल्लसित हृदय से भक्तिपूर्वक नमन करते हैं। श्राविकारूपी विलासिनियों को समस्त धार्मिक-प्रवृत्तियों में प्रोत्साहित करते हैं। (देवलोक में रहते हुए) तीर्थंकरों का जन्माभिषेकोत्सव और नन्दीश्वर द्वीप की यात्रा करते हैं। मृत्युलोक में रहते हुए पर्व दिवसों में स्नात्रादि धार्मिक कृत्यों का और शासन मन्दिर द्वारा प्रतिपादित नित्यक्रिया एवं नैमित्तिक क्रियाओं का उचित रीति से आचरण करते हैं। अधिक क्या कहें ? वे भावपूर्वक सर्वज्ञ शासन को ❀ छोड़कर, अन्य किसी भी शासन को न तो देखते हैं, न सुनते हैं, न जानते हैं, न श्रद्धा (विश्वास) रखते हैं, न रुचि रखते हैं और न प्रश्रय देते हैं। केवल जैन शासन ही समस्त प्रकार को कल्याण करने वाला है ऐसा अन्तःकरण से स्वीकार करते हैं। प्रकर्ष भक्ति के कारण वे सर्वज्ञ महाराजादि को प्रिय होते हैं। इन्हीं कारणों से वे

❀ पृष्ठ ४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वज्ञ मन्दिर में निवास करने वाले विनीत, महर्द्धिक और महाकौटुम्बिक के समान हैं, ऐसा समझें। अशुभ दृष्टि वाले अन्य जीवों का तो सर्वज्ञ मन्दिर में निवास ही कैसे हो सकता है ?

राजमन्दिर में रमणियाँ

पूर्व में कहा गया है :—"विलास करती अनेक सुन्दर स्त्रियों से वह राजमन्दिर देवलोक को भी अपने वैभव से पराजित कर रहा था।" मौनीन्द्र-शासन में इसकी संघटना इस प्रकार है :—सम्यक् दर्शन धारण कर, अणुव्रतों का आचरण और जिनेश्वर देव एवं साधुगणों की भक्ति करने में परायण श्राविकावृन्द को विलास करने वाली रमणियाँ समझें। ये श्रमणोपासिकायें भी श्रमणोपासक के समान सर्वज्ञ रूपी महाराजा की अन्तःकरण पूर्वक आराधना करने में प्रवृत्त होती हैं एवं उनकी आज्ञा का पालन करने में प्रयत्नशील रहती हैं। वे विशुद्ध श्रद्धा (दर्शन) से अपनी आत्मा को दृढ़तर बनाती हैं, अणुव्रतों को धारण करती हैं, गुणव्रतों को ग्रहण करती हैं, शिक्षाव्रतों का अभ्यास करती हैं, विभिन्न प्रकार के तप करती हैं, स्वाध्याय में तल्लीन रहती हैं, साधुवर्ग को उनके लिए उपयोगी और दाता के लिए शोभाजनक दान देती हैं, सद्गुरुओं के चरणों का वन्दन कर हर्षित होती हैं, सुसाधुओं को नमन कर सन्तुष्ट होती हैं, प्रशस्य धर्मकथाएँ सुनकर प्रमुदित होती हैं, स्वजन-सम्बन्धियों से भी अधिक स्वधर्मीजनों को समझती हैं, स्वधर्मीबन्धुओं से रहित प्रदेश में रहने पर उद्वेग को प्राप्त करती हैं, साधुजनों को दान दिये बिना भोजन करना उन्हें अप्रीतिकर लगता है और भगवद् धर्म की आसेवना से स्वयं ने इस संसार समुद्र को प्रायशः पार कर लिया ऐसा स्वीकार करती हैं। इस प्रकार की ये श्रमणोपासिकाएँ सर्वज्ञ शासन मन्दिर के मध्य भाग में पूजा के उपकरणों का आकार धारण कर, श्रमणोपासकों (अपने पतियों के साथ) के साथ बन्धी हुई अथवा एकाकी (विधवा या कुमारी) रूप में निवास करती हैं। उक्त गुणों से रहित स्त्रियाँ भी यदि राजमन्दिर में निवास करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं तो वे बाह्य दृष्टि से ही हैं। वस्तुतः गुणहीन नारियाँ तो सर्वज्ञ मन्दिर के बाहिर ही हैं, ऐसा समझें। यह भगवन्तों का शासन मन्दिर विशुद्ध भाव से ही ग्रहण करने का है। अतएव बाहिर की छायामात्र से उसमें प्रविष्ट प्राणियों को परमार्थतः शासन मन्दिर से बहिर्भूत ही समझें।

[१०]

राजमन्दिर के विषय

पाँचों इन्द्रियों के शब्दादि अनुपम विषय की उपभोग्य सामग्रियों से परिपूर्ण वह राजमन्दिर अत्यन्त सुन्दर लगता था। ऐसा पूर्व में कह चके हैं। इसकी संगति इस प्रकार है :—समस्त इन्द्र जिनेश्वर-शासन मन्दिर के मध्यभाग में निवास करते हैं। अन्य महर्द्धिक देवता भी प्रायः कर इसी शासन मन्दिर में निवास करते हैं। जहाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विमानों के अधिपति देवगण और इन्द्रादि रहते हों वहाँ शब्दादि इन्द्रियों के अनुपम विषयोपभोगों की परिपूर्ण सामग्री से ❀ वह स्थान रमणीय हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इन्द्रिय विषयों की प्राप्ति के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि पुण्योदय से भोग प्राप्त होते हैं। यह पुण्य दो प्रकार का है:—1. पुण्यानुबन्धी पुण्य और 2. पापानुबन्धी पुण्य। इसमें पुण्यानुबन्धी के उदय से प्राप्त इन्द्रिय विषयों के लिये निरुपचरित (अनुपम) विशेषण सार्थक है। क्योंकि, जैसे सम्यक् प्रकार से बनाया हुआ स्वादिष्ट पथ्य भोजन खाते हुए भी अच्छा लगता है और वह शरीर को पुष्ट भी बनाता है वैसे ही पुण्यानुबन्धी पुण्य के योग से प्राप्त भोग भी प्राणी के अध्यवसायों को निर्मल बनाते हैं। प्राणियों के अध्यवसाय उदार होने से वे भोग उसके लिये बन्धन नहीं बनते अर्थात् वह प्राणी विषयों में लुब्ध और आसक्ति से अन्धा नहीं होता। भोगों के प्रति लोलुपता न होने के कारण विषयों का उपभोग करता हुआ भी प्राणी पूर्वबद्ध पाप परमाणुओं के बन्धनों को शिथिल करता है और शुभ फलदायक पुण्य-परमाणुओं का संचय करता है। ऐसे पुण्य जब उदय में आते हैं तब वे इस प्राणी के हृदय में संसार के प्रति विरक्तिभाव जागृत करते हैं, तथा सुख की परम्परा प्रदान करते हुए क्रमशः मोक्ष प्राप्ति के हेतु बनते हैं। इसीलिये इन्हें सुन्दर परिणाम वाला कहा गया है। पापानुबन्धी पुण्य के उदय से जो शब्दादि विषयभोग प्राप्त होते हैं वे कालकूट विष से विनिर्मित मोदकों के समान भयंकर परिणामों को प्रदान करते हैं। अतएव पापानुबन्धी पुण्य को तत्त्वतः 'भोग' शब्द से व्यवहृत करना भी उचित नहीं है; क्योंकि मरु-भूमि में जलकल्लोल की मृग-तृष्णा के समान उन भोगों के पीछे दौड़ते हुए पुरुष का समस्त परिश्रम व्यर्थ जाता है और उसकी तृष्णा को अत्यधिक बढ़ा देता है, किन्तु उसको मन चाहे भोग कदापि प्राप्त नहीं होते। कदाचित् प्राप्त भी हो जाएँ तो उनका उपभोग करते समय वे क्लिष्ट (क्रूर) अध्यवसायों को उत्पन्न करते हैं। तुच्छ और अधम विचारों से उन पुरुषों की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और विषयलुब्ध बन जाते हैं। इस प्रकार वे प्राणी पुण्य से प्राप्त विषयभोगों का कुछ समय तक उपभोग कर अपने पुण्यकर्मों को पूर्ण रूप से व्यय (समाप्त) कर देते हैं और पुनः अपनी आत्मा को गुरुतर पापकर्मों के भार से बोझिल बना लेते हैं। ये बन्धे हुए गुरुतर पापकर्म जब उदय में आते हैं और उनके कटुक फल जब भोगने पड़ते हैं तब यह जीव अनन्त काल तक संसार-सागर में परिभ्रमण करता रहता है। इसीलिये पापानुबन्धी पुण्य से प्राप्त शब्दादि इन्द्रिय भोगों को दारुण परिणाम वाला कहा गया है।

संसार में रहने वाले जिन प्राणिगणों के लिये ये शब्दादि इन्द्रिय भोग सुन्दर परिणाम प्रदान करते हैं उन प्राणियों को उक्त विवेचन के अनुसार भगवत् शासन मन्दिर के निवासी ही समझें, बहिर्भूत नहीं। अतएव बुद्धिमानों को चाहिये कि

❀ पृष्ठ ५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कराने वाले जैनेन्द्र शासन मन्दिर में विशुद्ध भाव से स्थिरता करें। इस शासन में रहने वाले प्राणियों को ये सुन्दर भोग तो अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं, इनको प्राप्त कराने वाला अन्य कोई हेतु (कारण) नहीं है। अतएव❀ परम्परा (क्रमशः) अप्रतिपाति (कदापि क्षय न होने वाले) सुख को प्रदान करने का मुख्य कारण होने से पारमेश्वर दर्शन मन्दिर निरन्तर उत्सवमय है, ऐसा कहा गया है। पूर्वोक्त कथानक में निष्पुण्यक ने जिस प्रकार सर्व विशेषणों से युक्त राजमन्दिर को देखा उसी प्रकार समस्त विशेषणों से युक्त सर्वज्ञ शासन मन्दिर को यह जीव देखता है।

[११]

मन्दिर दर्शन : स्फुरणा

कथा प्रसंग में कह चुके हैं :—"तात्त्विक दृष्टि से सब इन्द्रियों के निर्वाण का कारणभूत ऐसे अद्भुत राजमन्दिर को देखकर वह भिखारी आश्चर्यचकित होकर सोचने लगा कि, यह क्या है ? अभी तक उन्मादग्रस्त होने से वह राजमन्दिर के तात्त्विक स्वरूप को पहचान नहीं सका।" इसी प्रकार यह जीव कर्म-विवर (मार्ग) प्राप्त होने पर, बड़ी कठिनाई से सर्वज्ञ शासन को प्राप्त कर, यह क्या है ? जानने की जिज्ञासा करता है, परन्तु उन्माद से तुलना करने योग्य मिथ्यात्व (विपरीत बुद्धि) के अंश जब तक प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहते हैं तब तक वह जीव जिनमत के विशिष्ट गुणों को तत्त्वतः पहचान नहीं पाता।

कथानक में कह चुके हैं :—"पर धीरे-धीरे चेतना प्राप्त होने पर वह सोचने लगा कि इस राजमन्दिर में निरन्तर उत्सव होते रहते हैं, पर द्वारपाल की कृपादृष्टि से आज ही मैं इसे देखने में समर्थ हो सका हूँ, जो आज से पहले मैं कभी नहीं देख सका था। मुझे याद आ रहा है कि, मैं कई बार भटकते हुए इस राजमन्दिर के दरवाजे तक आया हूँ, पर दरवाजे के निकट पहुँचते-पहुँचते ये महापापी द्वारपाल मुझे धक्के देकर वहाँ से भगा देते थे।" इस कथन की संगति जीव के साथ इस प्रकार है :- निकट भविष्य में जिनका कल्याण होने वाला है ऐसे भव्यप्राणी किसी प्रकार सर्वज्ञ शासन को प्राप्त तो कर लेते हैं परन्तु उसके विशिष्ट गुणों की उन्हें जानकारी नहीं होती। फिर भी मार्गानुसारी होने से उनके हृदय में इस प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं—अहो ! अर्हद्-दर्शन अत्यन्त अद्भुत है, यहाँ जो निवास करते हैं वे मानों मित्र हों, बन्धु हों, समान प्रयोजन वाले हों, समर्पित हृदय वाले हों, एकात्मीभूत हों—इस प्रकार का परस्पर व्यवहार करते हैं। ये मानों, अमृत का पान कर तृप्त हो गए हों, उद्वेग रहित हों, औत्सुक्य रहित हों, उत्साह से भरपूर हों, परिपूर्ण मनोरथ वाले हों और सर्वदा समस्त विश्व के समग्र प्राणियों का हित

❀ पृष्ठ ५१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधन करने में तत्पर हों, ऐसे दृष्टिगोचर होते हैं। अतएव यह सर्वज्ञ मन्दिर श्रेष्ठतम है, ऐसा मैं आज ही जान सका। विचारशक्ति के अभाव में इसकी सुन्दरता को आज से पूर्व कभी नहीं पहचान सका। यह जीव अनन्तवार ग्रन्थि प्रदेश तक पहुँचा भी, किन्तु ग्रन्थिभेद न करने के कारण इस सर्वज्ञ शासन का इसने कभी अवलोकन नहीं किया; क्योंकि राग-द्वेष-मोहादि रूपी क्रूर द्वारपाल इस जीव को बारम्बार वहाँ से दूर भगा देते थे। फलतः यह जीव इस शासन मन्दिर का अंशमात्र ही देख पाया, परन्तु मन्दिर के जिस विभाग में सम्यक्त्व प्राप्त होता है उस खण्ड को वह आज तक नहीं जान पाया और न उसने कभी इस सम्बन्ध में विचार ही किया।*

जिज्ञासा : स्फुरणा

पूर्व में कह चुके हैं कि उस दरिद्री को पुनः पुनः विचार करने पर इस प्रकार की स्फुरणा जागृत हुई :—"जैसा मेरा नाम निष्पुण्यक है वैसा ही मैं पुण्यहीन भी हूँ क्योंकि देवताओं को भी अलभ्य ऐसे सुन्दर राजमन्दिर को पहले न तो मैं कभी देख सका और न कभी देखने का प्रयत्न ही किया। मेरी विचारशक्ति इतनी मोहग्रस्त और मन्द हो गई थी कि, यह राजमन्दिर कैसा होगा ? इसको जानने की जिज्ञासा तक मेरे मन में कभी भी उत्पन्न नहीं हुई। चित्त को आह्लादित करने वाले इस सुन्दर राजभवन को दिखाने की कृपा करने वाला यह द्वारपाल वास्तव में मेरा बन्धु है। मैं निर्भागी हूँ, फिर भी मुझ पर इसकी बड़ी कृपा है। सब प्रकार के संक्लेश से रहित होकर, परिपूर्ण हर्ष से इस भवन में रहकर जो लोग आनन्द भोग रहे हैं, वे वास्तव में भाग्यशाली हैं।" इस कथन की योजना इस प्रकार है :— किसी समय तीर्थंकरों के समवसरण का दर्शन करने से, जिनेश्वरों के स्नात्र महोत्सव का अवलोकन करने से, वीतराग भगवान् का बिम्ब (प्रतिमा) देखने से, शान्त तपस्वीजनों का साक्षात्कार करने से, अथवा शुद्ध (सम्यक्त्व धारक) श्रावकों की संगति करने से, अथवा उनके द्वारा विहित अनुष्ठानों को देखने से इस प्राणी के अध्यवसाय शुभ ध्यान के कारण विशुद्ध हो जाते हैं, मिथ्यात्वभाव दूर खिसक जाता है और भावों में सरलता एवं मृदुता आ जाती है। ऐसे प्रसंगों पर इस जीव को जब सर्वज्ञ दर्शन गोचर हुआ हो, तब उसे ऐसे विचार आते हैं और इन विचारों पर उसे प्रीति होती है। आज तक ऐसे सुन्दर विचार करने का अवसर न मिलने के कारण उसके मन में खेद होता है। फलतः इस मार्ग के उपदेशकों को बन्धु की बुद्धि से ग्रहण करता है और इस मार्ग का अनुसरण करने वालों के प्रति उसके हृदय में बहुमान के भाव जागृत होते हैं। इस प्रकार की विचार सरणि उन्हीं जीवों की होती है जो लघुकर्मी जीव सन्मार्ग के निकट आये हों और जिन्होंने ग्रन्थिभेद न

---

* पृष्ठ ५२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया हो, अथवा ग्रन्थिभेद कर सम्यक् दर्शन प्राप्त करने की स्थिति में आ गए हों और जो कितने ही समय से भद्र (सरल) स्वभाव को धारण कर रहे हों। सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व प्राणी की ऐसी दशा होती है, उसी का यहाँ विस्तार से दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया है।

[१२]

महाराज सुस्थित का दृष्टिपात

तदनन्तर समग्र कल्याणों के कारणभूत परमेश्वर की दृष्टि इस जीव पर पड़ती है, इस प्रसंग में कथानक में कह चुके हैं :—"निष्पुण्यक दरिद्री को कुछ चेतना प्राप्त होने पर, जब उसके मन में उपर्युक्त विचार चल रहे थे, तभी वहाँ जो कुछ भी घटित हुआ, उसे आप सुनें— इस राजमन्दिर की सातवीं मंजिल पर सबसे ऊपर के भवन में सततानन्दी लीला में लीन सुस्थित नामक महाराज विराजमान थे। महाराज वहीं से बैठे हुए आनन्द में व्यस्त नगरवासियों की दिनचर्या व ❀ कार्य-कलापों का तथा नगर का अवलोकन कर रहे थे। इस नगर या नगर के बाहर ऐसी कोई वस्तु, घटना या भाव नहीं था जिसे सातवीं मंजिल पर बैठे सुस्थित महाराज न देख सकते हों। अत्यन्त बीभत्स दिखाई देने वाले, अनेक भयंकर रोगों से ग्रसित, सद्गृहस्थों के हृदय में दया उत्पन्न करने वाले निष्पुण्यक दरिद्री पर उसके मन्दिर में प्रवेश करते समय ही उनकी निर्मल दृष्टि पड़ गई थी। महाराज की करुणा से ओतप्रोत निर्मल दृष्टि पड़ते ही इस दरिद्री के कितने ही पाप धुल गये थे।" इस कथन की संगति और तुलना निम्न प्रकार है :—इस जीव के जब कर्म किंचित् क्षीण होते हैं, सरल स्वभाव होता है तब वह मार्गानुसारी गुणों की ओर बढ़ता जाता है। योग्यता की भूमि पर जब जीव पहुँचता है तब ही परमात्मा की दृष्टि उस पर पड़ती है। जीव के लिये यह संयोग (घटना) अद्भुत और आश्चर्यकारी होती है। यहाँ महाराज को निराकार (कर्मरहित एवं शरीर रहित) अवस्था में रहने वाले परमात्मा, भगवान्, सर्वज्ञ समझें। ये परमात्मा इस मर्त्यलोक की अपेक्षा से एक दूसरे पर निर्मित मंजिलों के समान सात राजलोकरूप लोकप्रसाद शिखर पर निवास करते हैं। लोक के अन्त में सिद्धशिला पर विराजमान परमेश्वर अदृष्ट-मूलपर्यन्त नगर के भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यापारों के साथ तुलना योग्य इस समस्त संसार के विस्तार को एक समय में एक साथ ही देख सकते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु चौदह राजलोक के बाहर अलोक में रहने वाले आकाश द्रव्य को देखने की भी उनमें शक्ति होती है। लोकालोक के समस्त भावों को प्रत्यक्ष कराने वाला केवलज्ञान होने से वे नगर के और नगर बाहिर के समस्त भावों को हस्तामलक न्याय से देख सकते हैं। अनन्तवीर्य और अनन्त सुख से परिपूर्ण होने के कारण वे सर्वदा वास्तविक आनन्द का अनुभव करते रहते हैं और तद्रूप लीला

❀ पृष्ठ ५३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में मग्न रहते हैं। संसार में इन्द्रियजन्य भोगों का आनन्द वस्तुतः विडम्बना रूप होने के कारण आनन्द ही नहीं है और भोगरूपी आनन्द को भोगने वाला उस आनन्द के स्वरूप को समझता भी नहीं है।

भगवत्कृपा

जैसे महाराजा ने अनेक रोगों से ग्रस्त और बीभत्स रूप वाले उस निष्पुण्यक दरिद्री को करुणा दृष्टि से देखा वैसे ही जब यह प्राणी सवयं की निजभव्यता का परिपाक होने पर, उन्नति के पथ पर क्रमशः आगे-आगे बढ़ता जाता है तब उसके ऊपर भगवान् का अनुग्रह होता है; क्योंकि भगवत्कृपा के बिना मार्गानुसारिता प्राप्त नहीं होती। उनका अनुग्रह होने पर ही भगवन्तों के प्रति भावपूर्वक बहुमान की भावना होती है, अन्यथा नहीं; क्योंकि इसमें कर्मों का क्षय अथवा उपशम अथवा अन्य कारण या साधन गौण होते हैं। प्रगति के लिए कर्मक्षय अथवा उपशम आवश्यक अवश्य हैं किन्तु तज्जन्य विकास स्थायी नहीं होता। अर्थात् ऊपर-ऊपर की प्रगति फलदायक नहीं होती। वस्तुतः भगवद् अनुग्रह होने पर ही जीव का वास्तविक विकास होता है। इसी बात को ध्यान में रखकर यह कहा गया है कि इस जीव पर जिनेश्वर देव ने विशेष रूप से कृपापूर्ण दृष्टि डाली। ये परमेश्वर ही अचिन्त्य शक्ति के धारक और परमार्थ करने में तल्लीन होने के कारण इस जीव को मोक्षमार्ग की ओर प्रवृत्त करने में श्रेष्ठ हेतु (कारण–साधन) हैं। ये निराकार होने पर भी समग्र विश्व के समस्त जीवों का कल्याण करने की पूर्ण क्षमता रखते हैं, अर्थात् रूपरहित होने पर भी इनके आलम्बन से भव्य जीव मोक्ष में जा सकते हैं। तथापि उस प्राणी का भव्यत्व, कर्म, काल, स्वभाव और नियति आदि सहकारी कार्य-कारणों को ध्यान में रखते हुए ही वे जगत् पर उपकार करने में प्रवृत्त होते हैं। यही कारण है कि एक साथ सब प्राणी मोक्ष नहीं जा सकते। अर्थात् जिस जीव के काल, स्वभाव आदि कारण परिपाक दशा को प्राप्त होते हैं वे ही प्राणी प्रगति की ओर अग्रसर होते हैं और उन्हीं जीवों पर भगवान् की दृष्टि पड़ती है। जिस जीव का कल्याण होने वाला है और जो भद्रिक परिणामी है उन्हीं पर भगवान् का अनुग्रह होता है। इस कथन को आगमानुसार समझें।

[१३]

धर्मबोधकर की विचारणा

कथन कर चुके हैं :—"सुस्थित महाराज ने अपने भोजनालय की देखरेख के लिए धर्मबोधकर नामक राज्यसेवक को नियुक्त कर रखा था। उसने जब देखा कि दरिद्री पर महाराज की कृपादृष्टि हुई है।" इसका तात्पर्य यह है कि धर्म का बोध करने में तत्पर होने से ❀ धर्मबोधकर यथार्थ नाम के धारक और मुझे सन्मार्ग का

❀ पृष्ठ ५४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपदेश करने वाले आचार्य महाराज ने मेरे ऊपर जिनेश्वर देव की कृपादृष्टि को पड़ते हुए देखा, ऐसा समझें। जिन योगी महात्माओं की आत्मा विशुद्ध ध्यान से निर्मल होती है और जो दूसरों का हितसाधन करने में तत्पर रहते हैं वे देश-काल से व्यवहित जीवों की भगवत् अवलोकन की योग्यता को भी जान सकते हैं। छद्मस्थ होने पर भी विशुद्ध बुद्धि के कारण निकटस्थ प्राणियों की योग्यता की पहचान कर सकते हैं। जब सामान्य श्रुतज्ञानी भी उपयोग पूर्वक विचार कर योग्यता-अयोग्यता का निर्धारण कर सकते हैं, तो फिर विशिष्ट ज्ञानियों की तो बात ही क्या ? मुझे सदुपदेश देने वाले आचार्य भगवान् तो विशिष्ट ज्ञानी थे, क्योंकि मेरे सम्बन्ध में भविष्य में होने वाले वृत्तान्त को वे पहले ही जान चुके थे। इनके द्वारा ज्ञात वृत्तान्त का तो मैंने स्वयं ने अनुभव किया है, अतएव ये सब वृत्तान्त मेरे द्वारा अनुभूत सिद्ध हैं।

धर्मबोधकर की शंका

जैसा कि पहले कह चुके हैं :—"उस समय वह (धर्मबोधकर) साश्चर्य आशयपूर्वक विचार करने लगा कि, मैं यह कैसी अद्भुत नवीन घटना देख रहा हूँ। जिस पर महाराज की विशेष रूप से दृष्टि पड़ जाती है वह तो तुरन्त ही तीनों लोकों का राजा हो जाता है। यह निष्पुण्यक तो भिखारी है, रंक है, इसका पूरा शरीर रोगों से भरा हुआ है, लक्ष्मी के अयोग्य है, मूर्ख है और सम्पूर्ण जगत् में उद्वेग उत्पन्न करने वाला है। अच्छी तरह से विचार करने पर भी यह कुछ समझ में नहीं आता कि ऐसे दीन रंक पर महाराज की कृपादृष्टि क्योंकर हुई ?" पुनः वह विचार करने लगा :—"अत्यन्त भाग्यहीन मनुष्यों के घर में अमूल्य रत्नों की वृद्धि नहीं होती फिर यह विस्मयकारक घटना कैसे घटित हुई ?" वैसे ही इस जीव के सम्बन्ध में सद्धर्माचार्य के मन में जो विचार उत्पन्न होते हैं, उनकी योजना इस प्रकार है:—यह जीव पूर्वावस्था में गुरुकर्मी (कर्मभार से भारी) होने के कारण समस्त प्रकार के पाप कर्म करता था, सब प्रकार के असभ्य और असत्य वचन बोलता था और अनवरत रौद्रध्यान करता रहता था। जब यही जीव अच्छे निमित्तों को प्राप्त कर, अच्छे आचरण वाला, सत्य और प्रियभाषी तथा प्रशान्तचित्त नजर आता है तब पूर्वापर विचार करने में चतुर विवेकीजनों के हृदय में स्वाभाविक रूप से ये विचार उत्पन्न होते हैं कि, सद्धर्म की साधक मन वचन काया की श्रेष्ठ प्रवृत्ति भगवत् अनुग्रह के बिना कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। और, हमने तो इस जीव का इसी भव में ही अधमता पूर्ण मन वचन काया का व्यापार देखा है, अतएव इसकी ये दोनों स्थितियाँ पूर्वापर विरुद्ध दिखाई देती हैं। समझ में नहीं आता कि ऐसे निकृष्ट पापों से उपहत जीव पर भगवान् का अनुग्रह कैसे हो सकता है ? क्योंकि यदि भगवान् का अनुग्रह हो जाता है तो वे उस जीव को मोक्ष प्राप्त करवाकर * शीघ्र

* पृष्ठ ५५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही तीन भुवन का स्वामी बना देते हैं, अतएव इस जीव पर भगवत्कृपा हुई हो ऐसी सम्भावना ही दृष्टिपथ में नहीं आती। पुनश्च, इस प्राणी में अभी जो मन वचन काया की सुन्दर प्रवृत्ति दिखाई दे रही है उसका अन्य कोई कारण न दिखाई देने से इस पर भगवान् की कृपादृष्टि पड़ी ही हो, ऐसा निश्चय भी किया जा सकता है। ऐसा मान लेने पर संदेह को दूर करने का एक कारण तो मिल जाता है, किन्तु फिर भी हमारा मन दोलायित है कि यह कैसी आश्चर्यजनक घटना है ?

दृष्टिपात के कारण

इस प्रकार वस्तुस्थिति का पर्यालोचन करते हुए धर्मबोधकर ने निश्चय किया कि सम्भवतः महानरेन्द्र सुस्थित की इस भिखारी पर दृष्टि पड़ने के दो ही कारण हो सकते हैं। जिन कारणों से इस रंक पर परमेश्वर की दृष्टि पड़ी है इसका निर्णय किया जा सकता है, जो युक्तिसंगत भी है। पहला कारण यह है—सम्यक् प्रकार से परीक्षा करने वाले स्वकर्मविवर द्वारपाल ने इसको यहाँ (राजमन्दिर में) प्रवेश करने दिया। इससे यह निश्चित है कि यह महाराजा की विशेष दृष्टि और कृपा के योग्य है। दृष्टिपात का दूसरा कारण यह है—यह नीति तो पूर्व से ही निर्धारित है कि इस राजमन्दिर को देखकर जिसका मन प्रसन्नता से खिल जाता है, ऐसा प्राणी महाराजा को अत्यधिक प्रिय लगता है। राजमन्दिर को देखकर इस जीव को अत्यधिक आनन्द हुआ है, स्पष्टतः प्रतीत होता है। क्योंकि, इसकी आँखें अनेक रोग और पीड़ा से आक्रान्त होने पर भी इस राजभवन को पुनः पुनः देखने की इच्छा से प्रतिक्षण खुलती रहती हैं. प्रभुकृपा के सम्पादन से इसका बीभत्स मुख भी सहसा दर्शनीय प्रतीत हो रहा है, इसके धूलिधूसरित शरीर के सारे अंग भी रोमराजि विकसित हो जाने से पुलकित (रोमांचित) दिखाई दे रहे हैं। ये सारी स्थितियाँ अन्तर के आनन्द के बिना हो ही नहीं सकती। अतएव स्पष्ट है कि राजमन्दिर के प्रति प्रीतिभाव ही महाराज की कृपा का कारण है। इसी प्रकार सद्धर्माचार्य भी इस जीव के विषय में पूर्वापर विचार करते हुए इस प्रकार कल्पना करते हैं कि—जब सद्धर्माचार्य विचारपूर्वक इस जीव के सम्बन्ध में लक्ष्य करते हैं तब उन्हें प्रतीत होता है कि इस प्राणी के कर्मों ने ही इसे विवर (मार्ग) दिया है और भगवत् शासन को प्राप्त कर इसका मन प्रसन्नता से भर गया है। यही कारण है कि बारंबार आँखें खोलता बन्द करता हुआ जीव, अजीव आदि पदार्थों की ओर जिज्ञासा बुद्धि से देखता है, प्रवचन (शास्त्रों) का अर्थलेश समझ में आने के कारण ही संवेग तत्त्व के दर्शन से इसका प्रसन्न मुख दिखाई देता है और श्रेष्ठ अनुष्ठान की किंचित् प्रवृत्ति होने के कारण ही इसका धूलि-धूसरित अंग भी रोमांचित प्रतीत हो रहा है। इन लक्षणों से यह निश्चित है कि इस जीव पर भगवान् का विशेष रूप से अनुग्रह हुआ है। इन कारणों से स्पष्ट है कि, धर्माचार्य द्वारा भी इस जीव के सम्बन्ध में निश्चय करने के लिए पूर्वोक्त दोनों ही कारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ भी साधनभूत हैं। अर्थात् १. स्वकर्मों द्वारा प्रदत्त मार्ग (विवर) और २. भगवत् शासन के प्रति पक्षपात (आकर्षण) अथवा भगवत् शासन के प्रति हार्दिक संतोष। (इन्हीं दोनों कारणों से जीव शासन की ओर अभिमुख होता है)।

प्रगति निर्णय

पुनश्च धर्मबोधकर ने इस भिखारी के सम्बन्ध में विचार किया :—"ऐसा जान पड़ता है कि यह दरिद्री भिक्षुक का आकार अवश्य धारण किये हुए है, पर अभी-अभी ❀ महाराज की जो कृपादृष्टि इस पर हुई है इससे यह अवश्य ही उत्तरोत्तर कल्याण-परम्परा को प्राप्त करता हुआ कालान्तर में वस्तुत्व (राज्य और धन) को प्राप्त कर लेगा, धनाढ्य बन जायेगा।" ऐसा पूर्व में कह चुके हैं। इसी प्रकार धर्माचार्य भी इस जीव पर परमात्मा की कृपादृष्टि पड़ी है ऐसा निश्चय करते हैं और इन विचारों को सन्देह रहित होकर दृढ़ निश्चय करते हैं कि भविष्य में यह उत्तरोत्तर प्रगति करता हुआ परम कल्याण को प्राप्त करेगा।

प्राणी पर करुणा

जैसा कि कह चुके हैं :—"ऐसा सोचकर धर्मबोधकर के हृदय में भी उस दरिद्री पर करुणा उत्पन्न हुई। लोक में यह कहावत सत्य है :—'यथा राजा तथा प्रजा' अर्थात् राजा का जैसा व्यवहार एक प्राणी पर होता है वैसा ही उस पर प्रजा का होता है।" वैसे ही इस जीव पर परमेश्वर के अनुग्रह को देखकर, जो स्वयं परमात्मा की आराधना करने में तत्पर रहते हैं ऐसे सद्धर्माचार्य भी इस जीव की ओर करुणाभाव से देखते हैं। ऐसे भव्य जीवों पर करुणाभाव दिखाना भी भगवान् की आराधना करना ही है।

भिक्षादान की ओर उन्मुख

निष्पुण्यक के प्रसंग में पहले कह चुके हैं :—"ऐसा सोचते हुए धर्मबोधकर शीघ्रता से उसके पास आया और उसके प्रति आदर प्रकट करते हुए कहा—आओ! आओ! मैं तुम्हें (भिक्षा) देता हूँ।" इस प्रकार कहकर उस भिक्षुक को अपने पास बुलाया। इस कथन की संगति इस प्रकार है :—पूर्वोक्त कथन के अनुसार अनादि संसार में भटकते हुए जब इस जीव की भवितव्यता परिपक्व हो जाती है, क्लिष्ट कर्म क्षीण प्राय हो जाते हैं, केवल उनमें से थोड़े से ही कर्म शेष रह जाते हैं, वे शेष कर्म उसे मार्ग देते हैं, मनुष्य भव आदि सामग्री उसे प्राप्त हो जाती है और वह सर्वज्ञ शासन का दर्शन करता है, सर्वज्ञ शासन श्रेष्ठ है ऐसी उसको प्रतीत होती है, पदार्थ ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा होती है, शुभकार्य करने की किंचित् इच्छा होती है तब जिसकी सहज पापकलाएँ अभी भी विद्यमान हैं ऐसे भद्र (सरल)

❀ पृष्ठ ५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वभावी जीव पर भगवद् दर्शन के पश्चात् प्रगाढ़ करुणा लाकर, इस जीव में विशुद्ध मार्ग पर आने की योग्यता है ऐसा निश्चय कर सद्धर्माचार्य उसकी ओर उन्मुख होते हैं। अर्थात् धर्माचार्य इस जीव के समीप जाते हैं। इन भावों को धर्मबोधकर उस दरिद्री के सन्मुख जाता है—के साथ तुलना करें।

भिक्षादान : तत्त्वानुसन्धान

तदनन्तर उस जीव पर प्रसन्न होकर धर्माचार्य उसको कहते हैं :—"हे भद्र! यह लोक अकृत्रिम (शाश्वत) है, काल अनादि अनन्त है, यह आत्मा शाश्वत है, अविनाशी है, संसार का समस्त प्रपंच कर्मजनित है, आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है और मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग कर्मबन्धन के कारण हैं। ये कर्म दो प्रकार के हैं—१. कुशलरूप और २. अकुशलरूप, अथवा शुभ और अशुभ। इनमें कुशलरूप शुभकर्म पुण्य अथवा धर्म कहा जाता है और अकुशलरूप अशुभ कर्म पाप अथवा अधर्म कहा जाता है। पुण्य के उदय से सुख का अनुभव होता है और पाप के उदय से दुःख का अनुभव। पाप और पुण्य की तरतमता (कमी-बेशी) से इनके अनन्त भेद होते हैं और उनके भिन्न-भिन्न भेदों के कारण ही जीव अधम, मध्यम, उत्तम आदि अनेक प्रकार के रूप प्राप्त करता है। फलतः विचित्र स्वरूप वाला संसार का समस्त विस्तार कर्मजनित ही है। सद्धर्माचार्य के इस प्रकार के वचन सुनकर, * पूर्वकालीन अनादि कुवासनाओं के कारण यह जीव जो अद्यावधि अनेक प्रकार के कुविकल्प करता रहता था; जैसे कि क्या यह विश्व अण्डे से उत्पन्न हुआ है? ईश्वर-कर्तृक है? ब्रह्मनिर्मित है? अथवा प्रकृति का विकार है? अथवा प्रतिक्षण नाशशील है? क्या पाँच स्कन्धात्मक यह जीव पाँच महाभूतों से उत्पन्न हुआ है? अथवा मात्र ज्ञान रूप ही है? अथवा समस्त शून्यरूप ही है? कर्म है या नहीं? सर्वशक्तिमान ईश्वर के कारण ही समस्त जीव विभिन्न रूप धारण करते हैं? ऐसे-ऐसे अनेक प्रकार के कुविकल्प उसके मन में होते रहते थे। जैसे भीषण युद्धस्थल में महाबलवान् शत्रुदल को देखकर कायर मनुष्य मैदान से भाग खड़ा होता है वैसे ही इस जीव के पूर्वोक्त कुविकल्प सहज ही दूर हो जाते हैं। ऐसे समय में इस जीव को पूर्ण विश्वास हो जाता है कि ये धर्माचार्य जो कथन करते हैं वह सचमुच स्वीकरणीय है। वस्तुतत्त्व (सत्यासत्य) की परीक्षा करने में ये (धर्माचार्य) मेरे से अधिक वस्तुत्व के जानकार हैं। इसी प्रसंग में कथानक में पहले कह चुके हैं :—"उस समय कुछ शरारती बच्चे निष्पुण्यक को छेड़ने और पीड़ा देने के लिये उसके पीछे पड़े हुए थे, वे सब धर्मबोधकर के शब्द सुनकर भाग गए। [प०१८५]।" इस कथन की योजना इस प्रकार है :—कुविकल्प ही शरारती बच्चे हैं। ये ही इस जीव को अनेक प्रकार से तिरस्कृत और त्रस्त करते हैं। धर्मबोधकर के समान सद्गुरु के शुभयोग और सम्पर्क से ये कुविकल्परूपी

* पृष्ठ ५७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरारती लड़के दूर भाग जाते हैं। कुविकल्पों के दूर होने पर जब यह जीव सद्गुरु की वाणी को सुनने के लिये किंचित् प्रवृत्त होता है तब परहितपरायण सद्धर्माचार्य इस जीव को सम्बोधित करते हुए सन्मार्ग का उपदेश देते हैं।

सन्मार्ग देशना

हे भद्र! सुनो, संसार में भटकते हुए जीव पर वात्सल्यभाव को धारण करने वाला यदि कोई पिता है तो वह धर्म है, धर्म ही प्रगाढ़ स्नेहदात्री माता है, धर्म ही अभिन्न हृदय वाला भ्राता है, धर्म ही समान स्नेह रखने वाली बहिन है, धर्म ही समस्त सुखों की खान अनुरागवती और गुणवती भार्या है, धर्म ही विश्वसनीय अनुकूल सर्वकलाओं में कुशल समान प्रीति वाला मित्र है, धर्म ही देवकुमार के समान सुन्दर आकृति का धारक और चित्त को अत्यधिक हर्षित करने वाला पुत्र है, धर्म ही शीलरूपी सौन्दर्य गुण से जयपताका फहराने वाली और कुल की उन्नति करने वाली पुत्री है, धर्म ही सदाचारी बन्धुवर्ग है, धर्म ही विनीत परिवार है, धर्म ही राजाधिराज है, धर्म ही चक्रवर्तित्व है, धर्म ही देवत्व है, धर्म ही इन्द्रत्व है, धर्म ही जरा-मरण के विकार से रहित और सुन्दरता में तीन भुवन को तिरस्कृत करने वाला वज्राकार शरीर है, धर्म ही समस्त शास्त्रों के अर्थरूप शुभ शब्दों को ग्रहण करने में चतुर कान है, धर्म ही विश्व को देखने में सक्षम कल्याणदर्शी आँखें हैं, धर्म ही मन को प्रमुदित करने वाली अमूल्य रत्नराशि है, धर्म ही चित्त को आह्लादित करने वाला विषघातादि आठ गुणों को धारण करने वाला * स्वर्णपुञ्ज है, धर्म ही शत्रु को पराजित करने में प्रवीण चतुरंग सैन्यबल है और धर्म ही अनन्त रतिसागर (मोक्षसुख) में अवगाहन कराने वाला विलास-स्थान है। अधिक क्या कहें? धर्म ही अनन्तकाल तक निर्विघ्न और ऐकान्तिक सुख को प्रदान करने वाला है। धर्म के अतिरिक्त सुख प्राप्त करने का अन्य कोई साधन नहीं है।

विशेष उपदेश

जब मधुर-भाषी ज्ञानी धर्माचार्य उपदेश दे रहे थे तब इस जीव का चित्त आकृष्ट होने से वह आँखें फाड़-फाड़कर उनकी ओर देखता था। उस समय उसके मुख पर प्रसन्नता झलक रही थी। उसने विक्षेपकारक विकथाओं का त्याग कर दिया था। किसी समय हृदय में शुभभाव जागृत होने पर वह मुस्कराता है, कभी चुटकी बजाता है। उक्त चेष्टाओं से इस जीव को धर्म के प्रति रस पैदा हुआ है ऐसा जानकर आचार्य ने पुनः उपदेश देना प्रारम्भ किया।

हे सौम्य! यह धर्म चार प्रकार का है :—१. दानमय, २. शीलमय, ३. तपमय और ४. भावनामय। यदि तुझे सुख प्राप्त करने की आकांक्षा है तो चारों प्रकार के धर्म का तुझे आचरण करना चाहिये। यथाशक्ति सुपात्र को दान दे,

---

* पृष्ठ ५८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्त पापों का (सर्वविरति रूप) अथवा स्थूल पापों का (देशविरति रूप) त्याग कर अथवा जितना तेरे से शक्य हो तदनुसार प्राणातिपात (हिंसा), मृषावाद (असत्यवचन), चौर्य वृत्ति, परदारागमन, परिग्रह (अपरिमित वस्तु संग्रह), रात्रि-भोजन, मद्यपान, माँस-भक्षण, सजीव फलभक्षण, मित्रद्रोह और गुरुपत्नी-गमन आदि ऐसे अन्य प्रकार के पापों का परित्याग कर, निवृत्त बन। तू यथाशक्ति किसी प्रकार की तपस्या कर। अनवरत शुभभावना रखा कर। इस प्रकार करने से निःसंशय ही इस भव और परभव में तेरा समस्त प्रकार से कल्याण होगा।

[१४]

तद्दया

पहले कथानक में कह चुके हैं :—"फिर धर्मबोधकर उसको प्रयत्न पूर्वक भिक्षुओं के बैठने योग्य स्थान पर ले गया और उसे योग्य दान देने के लिये सेवकों को आज्ञा दी। धर्मबोधकर के तद्दया नामक एक अति सुन्दर पुत्री थी। अपने पिता की आज्ञा को सुनकर वह तुरन्त उठ खड़ी हुई और शीघ्र ही महाकल्याणक खीर लेकर निष्पुण्यक को भोजन कराने उसके पास गई।" इसकी संगति-योजना ऊपर कर चुके हैं। तदनुसार चार प्रकार के धर्म का वर्णन इस जीव को निकट बुलाने के समान है। इस जीव का चित्त धर्म की ओर आकर्षित हुआ, इसे भिक्षुकों के बैठने योग्य स्थान समझें। धर्मभेद (दानादि चार भेद) वर्णनात्मक आचार्य के प्रवचन को उसे योग्य दान देने के लिये सेवकों को आज्ञा प्रदान करना समझें। आचार्य की इस जीव पर महती कृपा ही यहाँ तद्दया नामक धर्मबोधकर की पुत्री है। महाकल्याणक परमान्न के समान यहाँ दान-शील-तप-भावरूप चार प्रकार का धर्मानुष्ठान है। धर्माचार्य की कृपा से यह जीव धर्मरूप परमान्न प्राप्त कर सकता है। इसे अन्य किसी साधन से प्राप्त नहीं कर सकता, ऐसा लक्ष्य में रखें।

दरिद्री को आशंका

कथा प्रसंग में कह चुके हैं :—"उस दरिद्री के विचार अभी भी बहुत तुच्छ थे। अभी भी उसके मन में अनेक शंकाएँ उठ रही थीं। जब उसे भोजन के लिये बुलाया तो वह सोचने लगा। पहले जब मैं भिक्षा के लिये लोगों से याचना करता था तब ये लोग मुझे * अनादरपूर्वक दूर भगा देते थे। यदि कभी थोड़ा सा अन्न देते तो भी वह तिरस्कार के साथ। आज ये ही सुवेषधारी राजपुरुष स्वयं आकर, मुझे आगे होकर, बुलाकर इतने आग्रहपूर्वक भिक्षा देने के लिये इतना प्रयत्न कर रहे हैं, मुझे प्रलोभित कर रहे हैं। यह क्या आश्चर्य है? यह बात किसी तरह ठीक नहीं लगती। कहीं मुझे ठगने का प्रयत्न तो नहीं है? मुझे लगता है कि भिक्षा देने के बहाने कहीं एकान्त में ले जाकर मेरा यह भिक्षा से भरा हुआ पात्र भी

* पृष्ठ ५९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुझ से छीन लेंगे या तोड़ देंगे। तब मैं क्या करूं ? सहसा यहाँ से भाग जाऊँ ? या यहीं बैठकर भोजन कर लूं ? या यह कहकर कि मुझे भिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है, निषेध कर यहीं खड़ा रहूँ ? अथवा इन लोगों को झाँसा देकर किसी स्थान पर शीघ्रता से छिप जाऊँ ? समझ में नहीं आता कि मैं किस प्रकार इनके जाल से मुक्त होऊँ ? ऐसे अनेक संकल्प-विकल्पों से उसका भय बढ़ गया। भय से उसका गला सूख गया। हृदय व्याकुल हो जाने से वह यह भी भूल गया कि वह कहाँ आया है और कहाँ बैठा है ? अपने भिक्षापात्र पर उसे इतनी गाढ मूर्च्छा हो गई कि उसकी रक्षा के लिये वह रौद्रध्यान (दुर्ध्यान) में निमग्न हो गया। इसी दुर्ध्यान में इसकी दोनों आँखें बन्द हो गईं। उसके मन पर इन विचारों का इतना प्रबल प्रभाव पड़ा कि उसकी सभी इन्द्रियों के कार्य थोड़ी देर के लिये बन्द हो गये और वह लकड़ी में लगाई हुई कील की भाँति चेतना रहित और सख्त हो गया तथा उसकी सारी हलचल बन्द हो गई। तद्दया वहाँ खड़ी-खड़ी बार-बार उसे भोजन लेने का आग्रह करते-करते थक गई, परन्तु निष्पुण्यक ने उसकी ओर किंचित् भी ध्यान नहीं दिया और वह तो केवल अनेक रोगों को पैदा करने वाले अपने पास रखे हुए तुच्छ भोजन से बढ़कर अच्छा भोजन दुनियाँ में है ही नहीं, कहीं मिल ही नहीं सकता, ऐसे विचारों में इतना फंस गया कि तद्दया द्वारा लाये गये सर्व रोगहारी, अमृत के समान स्वादिष्ट परमान्न भोजन का मूल्य भी वह नहीं समझ सका।" यह सारा कथन जीव के साथ पूर्णतया घटित होता है। इस कथन की जीव के साथ संगति इस प्रकार समझें :—

मोहमुग्ध के अधम विचार

इस जीव का हित करने की दृष्टि से सद्धर्माचार्य धर्म के गुणों का प्रतिपादन करते हुए चार प्रकार के धर्मानुष्ठान करने का उपदेश देते हैं। उस समय यह जीव महा अन्धकारमय मिथ्याज्ञानरूप काच, पटल, तिमिर, कामला (नेत्र की व्याधियाँ) आदि व्याधियों से ग्रस्त होने के कारण विवेकरूपी नेत्रों की ज्योति क्षीण होने से, अनादि काल से संसार में परिभ्रमण का अभ्यस्त होने से, मिथ्यात्व के संताप और उन्माद के कारण भ्रमित हृदय होने से, प्रबल चारित्र-मोहनीय रूप रोग के कारण चेतना विह्वल होने से, विषय धन स्त्री आदि के ऊपर गाढ़ मूर्च्छा (प्रगाढ़ मोह) होने के कारण पराभूत चित्तवृत्ति वाला होने से इस प्रकार सोचता है :—* मैं पहले जब धर्म क्या है ? अधर्म क्या है ? आदि के विचारों की शोध नहीं करता था तब किसी समय में इन श्रमणों के पास पहुँच भी जाता तो कभी ये मेरे से सीधे मुँह बात भी नहीं करते थे। किसी अवसर में ये मुझे धर्म के दो चार शब्द भी सुनाते थे तो वे भी अवगणना से अथवा खीजे हुए भावों से। अभी जब कि मैं इनसे कुछ नहीं पूछ रहा हूँ फिर भी मुझे धर्माधर्म की जिज्ञासा वाला जानकर, यह

---

* पृष्ठ ६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारे आदेशों का पालन करेगा ऐसा मानकर, कण्ठ और तालु सूख जायेंगे इसकी चिन्ता किये बिना ही ऊँचे स्वरों में, सुन्दर वचनों के घटाटोप से ये श्रमण लोक के स्वरूप का प्रकाश (वर्णन) करने वाला, जिसे स्वयं ने नहीं देखा है तब भी मेरे सामने धर्म के गुणों का प्रवचन कर रहे हैं। इसके बाद मेरे चित्त को अपनी ओर आकृष्ट कर ये मेरे से दान दिलवाते हैं, शील ग्रहण करवाते हैं, तपस्या करवाते हैं और भावनाओं का चिन्तन करवाते हैं।

उपदेशक पर आशंका

असमय ही इन श्रमणों के इस विचित्र वचनाडम्बर का क्या रहस्य है? अरे हाँ, समझ में आ गया। मेरी अनेक सुन्दर स्त्रियाँ हैं, मेरे पास अनेक प्रकार का धन संग्रह है, विविध धान्यों के बड़े-बड़े भंडार हैं, गाय, भैंस, घोड़ा आदि चतुष्पद और कुप्यादि (बर्तन) सामग्री भी विपुल है। मेरी समस्त सम्पदा की इनको जानकारी हो गई है। सारांश यह है कि इस जानकारी का ये लाभ लेना चाहते हैं। इसीलिये ये कहते हैं:— तुझे दीक्षित करें, तेरे पापों को नष्ट करें, तेरे कर्मरूपी बीजों को जलादें। तू वेष धारण कर, गुरु के चरणकमलों की पूजा कर, अपनी पत्नी धन-सोना आदि समस्त सर्वस्व गुरु चरणों में न्योछावर कर। यही इनका उद्देश्य जान पड़ता है। पुनः यह जीव कल्पना करता है :—हमारे कथनानुसार आचरण करने से तू पिण्डपात (शरीर छोड़कर) शिव (परमात्मा) बन जाएगा। इस प्रकार अपने मधुर वाग्जाल में फंसाकर, शैवाचार्य के समान ये श्रमण मुझे ठगेंगे। अथवा जैसे ब्राह्मण दुनिया को कहते हैं:— स्वर्णदान महाफलदायक होता है, गोदान से विशिष्ट उत्कर्ष होता है, पृथ्वीदान से अविनाशी होता है, पूर्तधर्म (यज्ञ अथवा कूप खनन) से अतुल फल मिलता है, वेदपारगामी को दान देने से अनन्त गुणा फल प्राप्त होता है। यदि ब्राह्मण को दूध देने वाली, सद्य प्रसवा, बछड़े वाली, वस्त्रों से सजी हुई, स्वर्णशृंगवाली रत्नों से मंडित और पूजा की हुई गाय का दान किया जाए तो दानदाता को चारों समुद्रों से वेष्टित अनेक नगर और ग्रामों से व्याप्त और पर्वतों तथा जंगलों से युक्त पृथ्वी का दान देने के समान फल प्राप्त होता है तथा यह फल अक्षय होता है। इस प्रकार मुग्धजनों को ठगने के लिए शास्त्रों में प्रक्षिप्त श्लोकों तथा काव्यों के द्वारा जैसे ब्राह्मण भोली भाली दुनिया को ठगते हैं वैसे ही ये श्रमण भी मुझे ठगकर मेरा धन हरण कर लेंगे। अथवा सुन्दरतम विहार (बौद्ध भिक्षुकों के रहने का स्थान) बनवाओ, उन विहारों में बहुश्रुत (पंडित) साधुओं को ठहराओ, संघ की पूजा करो, भिक्षुओं को दक्षिणा दो, संघ के कोषागार में अपना धन मिला दो, संघ के कोष्ठागार में तुम्हारे धान्य के कोठार मिला दो, संघ की संज्ञाति (गोकुल) में अपना * चतुष्पद (चार पैरों वाले) जानवरों को दे दो, बुद्ध-धर्म

---

* पृष्ठ ६१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और संघ की शरण स्वीकार करो, ऐसा करने से तुम्हें शीघ्र ही बुद्धपद प्राप्त हो जाएगा। इस प्रकार ये रक्तभिक्षुक (बौद्धभिक्षुक) अपनी वाक्चातुरी से माया जाल फैलाकर, शास्त्रों का उल्लेख कर जैसे प्राणियों को लूटते हैं वैसे ही ये श्रमण भी मुझे बहकाकर मेरा सर्वस्व हरण करना चाहते हैं। अथवा संघ को भोजन कराओ, ऋषियों को भोजन कराओ, सुन्दर एवं स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ प्रदान करो, मुखशुद्धि के लिये सुगन्धित पदार्थ भेंट करो। दान देना ही गृहस्थ का परम धर्म है, दान से ही संसार को पार किया जा सकता है। इस प्रकार मुझे प्रलोभित कर, अपने शरीर का पोषण करने वाले नग्न साधुओं की तरह ये श्रमण भी कहीं मेरा धन तो हरण नहीं कर लेंगे। अन्यथा मुझे आदर देते हुए मेरे सन्मुख संसार प्रपंच का इतना विस्तार क्यों करते ? उनके इन सब प्रयत्नों का निष्कर्ष यह है कि, ये सब साधु लोग वहीं तक अच्छे हैं जब तक इनके पास नहीं जावें और इनके अनुगामी (वशवर्ती) न हो जाएँ। इनको यदि यह विश्वास हो जाए कि यह श्रद्धालु हमारे चक्कर में आ गया है तो ये मायावी साधु उसको अपने वचनजाल में फंसाकर उसका सर्वस्व हरण कर लेते हैं। ये लोग मेरे साथ भी यही चाल चल रहे हैं, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। इस श्रमण ने तो अपना जाल फैलाना शुरु कर दिया है, अब मुझे क्या करना चाहिए ? सोचता हूँ क्या इनको कुछ कहे बिना ही यहाँ से उठकर चला जाऊँ ? अथवा इन्हें स्पष्ट शब्दों में कह दूँ कि धर्मानुष्ठान करने की मेरी शक्ति नहीं है, अथवा यह कह दूँ कि मेरा सारा धन चोर लूट कर ले गये हैं, मेरे पास अर्थ नाम की कोई वस्तु शेष नहीं रही है जो कि मैं किसी पात्र को दान दे सकूँ। अथवा यह कह कर इस साधु को रोक दूँ कि मुझे आपके धर्मानुष्ठानों से कोई रुचि नहीं है और इस सम्बन्ध में आप कभी भी मुझे कुछ भी नहीं कहें। अथवा क्रोध से भौंहे चढ़ाकर इनको घुड़की देकर स्पष्ट शब्दों में कह दूँ कि आप अप्रासंगिक बेकार बातें करते हैं। समझ में नहीं आता कि यह साधु मुझे ठगने के प्रयत्नों से कब बाज आएगा और कब अपनी इस पंचायत से मुझे मुक्त करेगा, अर्थात् मेरा पिण्ड छोड़ेगा।

साधु की निःस्पृहता

यह जीव पूर्वोक्त विकल्प-जालों में डूबा रहता है। इस बेचारे की चेतना दिङ्मूढ़ होने के कारण यह सोच भी नहीं पाता कि ये भगवत्स्वरूप सद्गुरु ज्ञानवान होने से संसार के समस्त पदार्थों को तुषमुष्टि के समान निःसार समझते हैं, अतुलनीय सन्तोषामृत का पान करने से इनका अन्तःकरण पूर्णतया तृप्त है, ये विषयरूपी विष के दारुण फलों से अच्छी तरह परिचित हैं, इनको एकमात्र मोक्ष प्राप्ति की लय लगी हुई है, समस्त पदार्थों पर समदृष्टि रखते हैं और निःस्पृही हैं। यही कारण है कि जब ये उपदेश देने में प्रवृत होते हैं तब इनके मन में इन्द्र और रंक के प्रति कोई भेद नहीं रहता, महर्द्धिक देवताओं और निर्धन पुरुषों के बीच

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी प्रकार का अन्तर नहीं रखते, चक्रवर्ती और भिखारी जीव में ये किसी प्रकार की विभेद रेखा नहीं देखते और उदार धनवान का आदर या कृपण का अनादर की दृष्टि से व्यवहार नहीं करते। इनके विचारों में * परमैश्वर्य और दारिद्र्य दोनों समान हैं, महर्घ्य रत्नों की राशि—कठोर पत्थरों का ढगला, देदीप्यमान स्वर्णराशि—मिट्टी का ढगला, चान्दी का समूह धूल की ढेरी, अनाज के कोठार—नमक का ढेर और चतुष्पद जानवर तथा बर्तन आदि सार रहित पदार्थों के तुल्य हैं। इनकी दृष्टि में अपने रूप लावण्य से रति को भी तिरस्कृत करने वाली रमणियाँ और लकड़ी का जीर्ण-शीर्ण स्तम्भ भी समान है। इस प्रकार की विशुद्ध मनोवृत्ति वाले श्रमण इस प्राणी को जो उपदेश प्रदान करते हैं, इसमें उनकी केवल परोपकार करने की प्रवृत्ति ही दृष्टिगोचर होती है; अन्य कोई स्वार्थजन्य कारण नहीं है। ये श्रमण तो अपना स्वार्थ सम्पादन भी परमार्थतः स्वाध्याय, ध्यान, तपश्चर्या आदि के माध्यम से सिद्ध करते हैं। स्वार्थसिद्धि के लिये इनकी उपदेश देने में प्रवृत्ति नहीं होती। ये इससे या अन्य प्राणियों से किसी प्रकार के लाभ की अभिलाषा रखें यह तो कल्पना भी नहीं की जा सकती; अर्थात् पूर्णरूप से असम्भव है। परन्तु यह नष्ट बुद्धि वाला प्राणी वस्तुतः इन श्रमणों की मनोवृत्ति को किंचित् भी नहीं समझ पाता। यही कारण है कि ये सद्गुरु जो अत्यन्त उदार विचार वाले होते हैं उनको भी यह जीव अपनी क्षुद्र मनोवृत्ति के कारण अपने जैसे निम्न विचारों वाला समझ बैठता है और महामोह के वश में पड़े हुए, शुद्ध तत्त्व दर्शन से रहित शैव, ब्राह्मण, बौद्ध भिक्षुक और नग्न साधुओं के समान इनको भी मान बैठता है। कर्म-ग्रन्थि का भेदन करने पर भी यह जीव यदि दर्शन मोहनीय कर्म के तीन पुञ्ज (शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध) कर लेता है तो वह पुनः मिथ्यात्व के पुंज में विचरता रहता है। इसी दशा में इस जीव के मन में पूर्वोक्त कुविकल्प उत्पन्न होते हैं।

मिथ्यात्व की प्रबल छाया

उक्त विकल्पजालों से आकुलित चित्त वाले इस जीव के मानस में पुनः मिथ्यात्व का जहर तेजी से फैलता जाता है। इसी विष के प्रभाव से इस जीव का पहले जो मौनीन्द्र दर्शन के प्रति आग्रह था वह शिथिल हो जाता है। वह पदार्थ ज्ञान की जिज्ञासा छोड़ देता है, सद्धर्मनिरत प्राणियों का तिरस्कार करता है, विवेक-विकल प्राणियों को बहुमान देता है, पहले स्वयं जो कुछ थोड़ा-थोड़ा सुकृत कार्य करता था अब उसमें भी प्रमाद करता है, भद्रिक (सरल) स्वभाव को छोड़ देता है, विषयभोगों में मस्त हो जाता है (आनन्द मानता है), विषयभोगों को प्राप्त कराने के साधन धन-सोना आदि को तात्त्विक बुद्धि से देखता है, सत्योपदेश करने वाले गुरुओं को वंचक (धूर्त) समझता है, सद्गुरु की वाणी को सुनता भी नहीं है,

---

* पृष्ठ ६२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म की निन्दा करता है, धर्मगुरुओं के मर्मस्थानों का उद्घाटन करता है, झूठे विवाद खड़े करता है और पग-पग पर गुरु का अपमान करता है।

पुनः यह जीव सोचता है :—अपनी मान्यता को पुष्ट करने वाले ग्रन्थों का इन्होंने पहले से ही अच्छी तरह से निर्माण कर रखा है। ऐसे शास्त्र इन श्रमणों के पास होने से मैं इनको पराजित करने में समर्थ नहीं हो सकता। अब ये मायावी झूठे विकल्पों के द्वारा मायाजाल फैलाकर, मुझे ठगकर, मेरी आत्मा को स्वयं का भक्ष्य बनायेंगे। अतएव पहले से ही इनका सम्पर्क छोड़ देना चाहिये, ये मेरे घर पर आते हों तो रोक देना चाहिये, मार्ग में मिल भी जाएँ तो संभाषण नहीं करना चाहिये और इनका तो नाम भी नहीं सुनना चाहिये। * इस प्रकार महामोहग्रस्त यह प्राणी कुत्सित अन्न के समान धन, विषय और स्त्री आदि में गाढ़ासक्ति धारण करता है और इसके संरक्षण में ही रात-दिन लगा रहता है। इसी कारण सच्चे उपदेशक गुरुओं को भी यह जीव मायावी और ठग समझ लेता है और रात-दिन रौद्रध्यान में डूबा रहता है। इन कुविचारों से जब इस जीव की विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है तब सद्गुरु इस जीव को जमीन में गड़े हुए खड़े लकड़ी के खम्भे (स्तम्भ) की कील के समान समझते हैं। जब जीव विवेकभ्रष्ट और निश्चेष्ट सा होता है तब धर्माचार्य कृपापूर्वक स्वादिष्ट परमान्न भोजन के तुल्य श्रेष्ठ अनुष्ठान करने का उपदेश देते हैं परन्तु बेचारा पामर जीव उसको समझ नहीं पाता। इस जीव की ऐसी दयनीय स्थिति को देखकर विवेकीजनों को आश्चर्य होता है कि विषय, स्त्री, धनादि जो नरक के गड्ढे में गिराने वाले हैं उन पर प्रगाढ़ आसक्ति को रखने के कारण यह जीव, धर्माचार्य प्रतिपादित मोक्ष सुख को प्रदान करने वाले श्रेष्ठ अनुष्ठानों का तिरस्कार करता है तथा उन सत्कृत्यों की ओर अपना विरोध प्रकट करता है।

[१५]

तीन औषधियाँ : निष्फल प्रयत्न

पूर्व में कथा प्रसंग में कहा जा चुका है :—"ऐसी असम्भावित घटना घटते देखकर पाकशालाध्यक्ष ने अपने मन में सोचा – इस गरीब को प्रत्यक्षतः सुन्दर खीर का भोजन देने पर भी न तो वह उसे ले ही रहा है, न कोई उत्तर ही दे रहा है, इसका क्या कारण है? उल्टा इसका मुँह सूख गया है, आँखें बन्द हो गई हैं और इतना मोहग्रसित हो गया है कि मानो इसका सर्वस्व लुट गया हो। इस प्रकार यह लकड़ी के कील की तरह निश्चेष्ट हो गया है। इससे लगता है कि यह पापात्मा ऐसे कल्याणकारी खीर के भोजन के योग्य नहीं है।" यह कथन इस जीव के साथ पूर्णतया घटित होता है। सद्गुरु इस प्रकार विस्तार पूर्वक धर्मदेशना दें और अन्य

* पृष्ठ ६३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयत्न भी करें फिर भी जब वे इस जीव की भद्रिकता नष्ट होते देखते हैं, विपरीत आचरण देखते हैं तब उनके हृदय में सहजभाव से ये विचार आते हैं कि यह जीव कल्याण का भाजन (पात्र) हो ऐसा प्रतीत नहीं होता, अतएव यह भगवद्धर्म के योग्य नहीं है। सद्गतिगामी न होकर कुगतिगामी ही दृष्टिगोचर होता है। दुर्दल (घड़ने के अयोग्य पत्थर या लकड़ी) होने के कारण धर्मात्माओं के द्वारा यह संस्कारित होने के योग्य नहीं है। ऐसे मोह से मारे हुए प्राणी पर मैंने जो प्रयास किया उससे मेरा सारा परिश्रम निष्फल गया।

दोषोत्पत्ति के कारण

पूर्व में कहा जा चुका है—"धर्मबोधकर पुनः विचार करने लगा – दूसरी तरह सोचें तो इसमें इस बेचारे का कोई दोष नहीं है। यह बेचारा तो शरीर की आन्तरिक और बाह्य व्याधियों से इतना घिर गया है और उनकी पीड़ा से इतना संवेदनाशून्य हो गया है कि कुछ भी जानने-समझने में असमर्थ हो रहा है। यदि ऐसा न हो तो वह अपने तुच्छ भोजन पर इतनी प्रीति क्यों करे? यदि उसमें थोड़ी भी समझ हो तो वह ऐसा अमृत भोजन क्यों नहीं ग्रहण करे?" इस प्रकार जैसे विचार धर्मबोधकर के मन में चल रहे थे वैसे ही धर्माचार्य भी इस जीव के सम्बन्ध में ऊहापोह करते हैं कि यह जीव विषय भोगों में गाढासक्ति रखता है, कुमार्ग पर चलता है और सदुपदेश देने पर भी ग्रहण नहीं करता है। इसमें इस बेचारे पामर जीव का कोई दोष नहीं है। फिर दोष किसका है? वस्तुतः मिथ्यात्वादि भावरोगों का ही दोष है। इन्हीं भावरोगों के कारण इसकी चेतनाशक्ति (विवेकबुद्धि) मारी जाती है और इसी कारण यह जीव न कुछ जान पाता है, न समझ पाता है और न विचार कर पाता है। यदि यह जीव भावरोगों से मुक्त होता तो क्या वह आत्म हितकारी प्रवृत्तियों को छोड़कर कदापि अनिष्टकारी प्रवृत्तियों में प्रवृत्त हो सकता था?

[१६–१७–१८]

तीन औषधियाँ

पुनः धर्मबोधकर विचार करने लगा—"तब यह ❀ नीरोग कैसे हो? इसका मुझे उपाय करना चाहिये। अरे हाँ, ठीक है, इसको नीरोग करने के लिये मेरे पास तीन सुन्दर औषधियाँ हैं। उसमें से प्रथम मेरे पास विमलालोक नामक सर्वश्रेष्ठ अंजन (सुरमा) है, वह आँख की सब प्रकार की व्याधियों को दूर करने में समर्थ है। उसे नियमित रूप से विधिपूर्वक आँख में लगाने से सूक्ष्म व्यवहित (पर्दे के पीछे या दूर रहे हुए), भूत और भविष्य काल के सर्वभावों को

❀ पृष्ठ ६४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देख सके, वह ऐसी सुन्दर आँखें बना सकता है। दूसरा मेरे पास तत्त्व प्रीतिकर नामक श्रेष्ठ तीर्थजल है, वह सब रोगों का एकदम शमन कर सकता है। विशेषतः शरीर में यदि किसी भी प्रकार का उन्माद हो तो उसका सर्वथा नाश करता है और सम्यक् प्रकार से देखने में यह सबसे अधिक सहायता करता है अर्थात् सत्यग्रहण करने में दृष्टि को चतुर बनाता है। तीसरा वह महाकल्याणक नामक परमान्न (खीर) है, जिसे तद्दया लेकर यहाँ खड़ी है जो सर्व व्याधियों को समूल नष्ट करने में समर्थ है। इसका नियमित विधिपूर्वक सेवन करने से शरीर का रूप-रंग बढ़ता है। वह पुष्टिकारक, धृतिकारक, बलवर्धक, चित्तानन्दकारी, पराक्रम को बढ़ाने वाला, युवावस्था को स्थिर रखने वाला, वीर्य में वृद्धि करने वाला और अजर-अमरत्व प्रदान करने वाला है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। ये परमान्नादि औषधियाँ इतनी श्रेष्ठ हैं कि इनसे श्रेष्ठ औषधियाँ विश्व में दूसरी हो ही नहीं सकतीं। अतः मैं इस बेचारे का इन औषधियों से उपचार कर इसे व्याधियों से छुड़ाऊँ। इस प्रकार धर्मबोधकर ने अपने मन में निश्चय किया।" जैसे धर्मबोधकर ने सोच-समझकर निश्चय किया वैसे ही सद्धर्माचार्य ने जीव की समस्त दशाओं पर ऊहा-पोह कर निर्णय किया कि इस जीव की पूर्व की प्रवृत्ति को देखने से यह निश्चित है कि यह भव्यजीव है, केवल प्रबल कर्मों से उत्पीडित होने के कारण इसका चित्त डांवाडोल हो रहा है और सन्मार्ग से भ्रष्ट हो रहा है। जीव की इन विषमताओं को देखकर सद्गुरु की यह अभिलाषा होती है कि इस दीन का रोग रूप कर्मसमूहों से किस प्रकार छुटकारा हो। गम्भीर दृष्टि से तात्पर्य का पर्यालोचन करते हुए धर्माचार्य के मन में यह प्रतिभासित हुआ कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप रत्नत्रयी औषधियाँ ही इस जीव को रोगमुक्त करने का एक मात्र उपाय है। इसके अतिरिक्त कोई उपाय ध्यानपथ में नहीं आता।

यहाँ ज्ञान को अंजन समझें। यह समस्त पदार्थों का स्पष्ट रूप से प्रतिपादक होने से इसको विमलालोक कहते हैं। आँखों के भीतर होने वाली, समस्त प्रकार की व्याधि रूप अज्ञान का नाश ज्ञान ही करता है और यही ज्ञान तीनों कालों में होने वाले पदार्थों के समग्र भावों को प्रकट करने वाला विवेकचक्षु इस जीव को प्रदान करता है।

दर्शन को तीर्थजल समझें। जीव-अजीव आदि पदार्थों में श्रद्धा उत्पन्न करवाने का हेतु होने से इसे तत्त्वप्रीतिकर कहते हैं। इस दर्शन का जब उदय होता है तब सब कर्मों की स्थिति कम होकर, एक कोटा कोटि सागरोपम से भी कुछ कम शेष रह जाती है और उस समय दर्शन (तत्त्वश्रद्धान रूप) प्राप्त होने पर इस कर्मस्थिति में भी क्रमशः कमी आती जाती है। कर्मों को यहाँ रोग का रूपक माना है। इन समस्त रोगों को घटाने का मुख्य हेतु दर्शन ही है। यही दर्शन दृष्टि सम्बन्धी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान में भी यथावस्थित अर्थ को ग्रहण करने की प्रवीणता भी प्रदान करता है और प्रबल उन्माद के ❀ सदृश मिथ्यात्व का नाश भी करता है।

चारित्र को यहाँ परमान्न समझें। सदनुष्ठान, धर्म, सामायिक, विरति (व्रत) आदि चारित्र के ही पर्यायवाची शब्द हैं। यह चारित्र मोक्ष-प्राप्ति का प्रधान कारण होने से और मोक्ष प्राप्ति में जीव का अत्यधिक कल्याण अन्तर्हित होने से इसे महाकल्याणक कहते हैं। यह परमान्न रूपी चारित्र ही रागादि प्रबलतम व्याधि-समूहों का जड़मूल से नाश कर देता है। यह परमान्न (खीर) वर्ण, रूप-रंग, पुष्टि, धृति (धैर्य), बल, मानसिक प्रसन्नता, ओज, युवावस्था को स्थायी रखने वाला और पराक्रम आदि के समान आत्मिक गुणों को प्रकट करता है। प्राणी में इस प्रकार का विद्यमान महाकल्याणक चारित्र धैर्य का उत्पत्ति स्थान है, औदार्य का कारण है, गम्भीरता की खान है, शान्तभाव का शरीर है, वैराग्य का स्वरूप है, अन्तर्वीर्य (पौरुष) के उत्कर्ष का प्रबल हेतु है, निर्द्वन्द्वता का आश्रय है, मानसिक शान्ति का मन्दिर है और दया आदि गुणरत्नों का उत्पत्ति स्थान है। इतना ही नहीं, अपितु यह चारित्र अनन्त ज्ञान दर्शन वीर्य और आनन्द से परिपूर्ण, अक्षय, अव्यय तथा अव्याबाध-स्थान इस जीव को प्राप्त करा देता है। यह चारित्र ही इस जीव को अजर अमर भी बना देता है। अतएव यह पामर जीव जो कर्म का मारा हुआ है उस पर ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप औषधियों का प्रयोग कर इसको रोगमुक्त करूं। इस प्रकार सद्धर्माचार्य अपने हृदय में इस प्राणी के लिये विचार करते हैं।

[१६]

अंजन का अद्भुत प्रभाव

कथा प्रसंग में कहा जा चुका है:—"फिर उसने (धर्मबोधकर) सलाई पर अंजन (सुरमा) लगाया और वह निष्पुण्यक शिर धुनता रहा तब भी उसने उसकी आँखों में सुरमा लगा ही दिया। वह सुरमा आनन्ददायक, बहुत ठण्डा और अचिन्त्य गुण वाला था। अतः उस भिखारी की आँखों में लगते ही उसकी चेतना वापिस आ गई। परिणाम स्वरूप थोड़ी ही देर में उसने अपनी आँखें खोली तो उसे ऐसा लगने लगा मानो उसके सब नेत्र-रोग नष्ट हो गए हों! उसके मन में थोड़ा आनन्द हुआ। उसे आश्चर्य हुआ कि यह क्या हो गया!" इस कथन की जीव के साथ संगति इस प्रकार है: पहले यह जीव भद्र स्वभावी था, भगवत्शासन के प्रति इसकी रुचि थी, अर्हत् प्रतिमाओं की वदन्ना-अर्चना करता था, साधुओं की उपासना करता था, धर्म का वस्तु स्वरूप जानने की जिज्ञासा प्रकट करता था और दानादि में प्रवृत्त होता था। इन प्रवृत्तियों से इस जीव ने धर्माचार्यों के हृदय में 'यह जीव पात्र है' ऐसा बुद्धिभाव उत्पन्न किया था, परन्तु उसके बाद प्रबल अशुभ कर्मों के उदय

❀ पृष्ठ ६५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से विस्तृत धर्मदेशना श्रवण करने के प्रसंग में अथवा अन्य कोई निमित्त को प्राप्त कर यह जीव उक्त श्रेष्ठ परिणामों से परिभ्रष्ट होता है। फलस्वरूप यह न तो देव-मन्दिर जाता है, न उपाश्रय जाता है, साधुओं को देखते हुए भी वन्दना नहीं करता, श्रावकजनों को आमंत्रित नहीं करता, घर में चल रही दान-प्रवृत्ति को बंद कर देता है, धर्मगुरुओं को दूर से देखकर ही भाग जाता है और पीठ पीछे उनके अवर्णवाद बोलता है (निन्दा करता है)। इस प्रकार इस जीव की विवेक चेतना को नष्ट हुई देखकर सुगुरु स्वबुद्धि-रूप शलाका में इसको प्रतिबोध देने योग्य उपाय रूप अंजन लेते हैं। किस-किस प्रकार के उपाय रूप अंजन लेते हैं? जैसे, किसी समय आचार्य बहिर्भूमि आदि के कारण नगर के बाहिर गये हुए हों और मार्ग में कदाचित् वह प्राणी दृष्टिपथ में आ जाए तो वे उसके साथ मधुर-भाषण करते हैं, हित-कामना के भाव प्रदर्शित करते हैं, स्वयं का सरल स्वभाव व्यक्त करते हैं और हम तुझे ठगने वाले नहीं हैं ऐसा उसके हृदय में विश्वास जागृत करते हैं। स्वयं के प्रति उस जीव का * विशेष सद्भाव देखकर वे उसे कहते हैं—हे भद्र! तुम साधुओं के उपाश्रय में क्यों नहीं आते हो? तुम अपनी आत्मा का हित साधन क्यों नहीं करते हो? मनुष्य जन्म को क्यों निष्फल बना रहे हो? क्या तुम शुभ और अशुभ के भेद को नहीं जानते हो? तुम पशुभाव का अनुभव कैसे करते हो? हम तुम्हें पुनः पुनः बतला रहे हैं कि यह उपदेश ही तुम्हारे लिये पथ्य है, हितकारी है। अतएव तुझे हमारे कथन पर बारम्बार विचार करना चाहिये। ये सब बातें शलाका (सलाई) पर अंजन लगाने के समान समझनी चाहिये। यहाँ उपदेश रूप कारण में सम्यग् ज्ञान रूप कार्य का उपचार किया गया है।

विचित्र उत्तर

धर्माचार्य की इस प्रकार की वाणी सुनकर, यह जीव आठ प्रकार के उत्तर देने की मन में योजना कर बोला – १. हे श्रमण! मुझे किंचित्मात्र भी समय नहीं मिलता। २. भगवान् के समीप जाने से मुझे कुछ मिलने वाला नहीं है। ३. बेकार (कामधन्धों से रहित) आदमियों को ही धर्म की चिन्ता होती है। ४. मेरे जैसा आदमी इधर-उधर घूमता रहे तो कुटुम्बीजन (औरत, बच्चे) भूखे मरें। ५. घर के बहुत काम पड़े हैं, वे अधूरे रह जाएँ। ६. व्यापार-धन्धा बन्द करना पड़े। ७. राजसेवा नहीं कर सकता। ८. खेती बाड़ी का काम भी चोपट हो जाए। जीव के इस कथन की तुलना को निष्पुण्यक के शिर धुनने के समान समझनी चाहिये।

व्यवहार से धर्मोपासना

निष्पुण्यक के इस प्रकार के वचन सुनकर, करुणापूरित हृदय वाले धर्माचार्य अपने मन में सोचते हैं—यह बेचारा प्राणी विशेष शुभ (पुण्य) कर्म न

* पृष्ठ ६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने के कारण अवश्य ही दुर्गति में चला जाएगा, अतएव मुझे इसके प्रति किसी भी प्रकार का उपेक्षाभाव नहीं रखना चाहिये। ऐसा सोचकर पुनः सद्गुरु उसे कहते हैं: — हे वत्स! तूने जैसा कहा वैसा ही होगा। फिर भी मैं तुझे एक बात (वचन) कहता हूँ, तू उस वचन को स्वीकार कर। तू दिन या रात के किसी समय में भी (जब तुझे समय मिले तब) एक बार अवश्यमेव उपाश्रय आकर साधुओं के दर्शन कर चले जाना। इस बात का तू अभिग्रह (नियम) धारण कर। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार का व्रत ग्रहण करने को मैं तुझे नहीं कहूँगा। जीव ने सोचा - क्या करूं? मार्ग में ही महाराज मिल गये और उनकी इस सामान्य बात को भी स्वीकार नहीं करूं तो अच्छा नहीं लगेगा। अतएव अनिच्छा होने पर भी मन मसोसकर उसने यह अभिग्रह ले लिया। जीव ने धर्माचार्य का एक वचन स्वीकार किया, इसे निष्पुण्यक के शिर धुनते हुए भी आँखों में अंजन लगाने के समान समझें। इसके बाद यह प्राणी प्रतिदिन उपाश्रय जाने लगा। साधुओं का नियमित सम्पर्क होने से, साधुओं की अकृत्रिम (बनावट रहित) शुभानुष्ठानमय जीवन-चर्या देखने से, उनके निःस्पृहता आदि गुणों का अवलोकन करने से और स्वयं जीव के पाप-परमाणुओं का दलन प्रारंभ होने से उसे विवेक कला प्राप्त होने लगी, अर्थात् उसकी विवेकबुद्धि पुनः सक्रिय हो गई। इस कथन को निष्पुण्यक की नष्ट-चेतना पुनः प्राप्त हुई के सदृश समझें। विवेक जागृत होने पर जीव को पुनः-पुनः धर्म-पदार्थों को जानने की जिज्ञासा होने लगी, इसे निष्पुण्यक के पुनः-पुनः आँखें उघाड़ने और भींचने के तुल्य समझें। जीव का क्रमशः अज्ञान नाश होने लगा, इसे निष्पुण्यक के नेत्र रोग शान्त हुए के समान समझें। धर्माचार्य के उपदेश से अज्ञता नष्ट होने से एवं बोध होने से जीव को किंचित् शान्ति प्राप्त हुई, इसे निष्पुण्यक को विस्मय हुआ के कथन के सदृश समझें।

भिक्षापात्र पर प्रेम

जैसा पूर्व में कह चुके हैं: — "इतना लाभ होने पर भी पूर्वकालीन संस्कारों के कारण उसका अपने भिक्षापात्र को पकड़े रखने का स्वभाव नहीं गया।* अब भी भिक्षापात्र की रक्षा का विचार उसके मन में बार-बार उठता रहता था। यह एकान्त स्थान है, अतः कोई उसका भिक्षापात्र उठाकर न ले जाए; इस विचार से वह वहाँ से भागने के लिए रास्ता ढूँढने को चारों तरफ नजरें घुमा रहा था।" वैसा ही यहाँ इस जीव के साथ समझें, जो इस प्रकार है: — जब तक यह जीव प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य लक्षणों से युक्त अधिगम सम्यक्त्व (अन्य के उपदेश से प्राप्त सम्यक्त्व दर्शन) प्राप्त नहीं करता तब तक व्यवहार-बोध (बाहरी ज्ञान) होने पर भी प्राणी में विवेक की अल्पता के कारण धन-विषय-कलत्रादि के प्रति कुत्सित भोजन के समान परमार्थ बुद्धि जागृत नहीं होती।

---

* पृष्ठ ६७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा तुच्छ विचार वाला प्राणी अपनी अधम मन की कल्पनाओं के आधार पर उदार हृदय एवं निःस्पृह मुनिपुंगवों के प्रति भी ऐसे ही निराधार विचार किया करता है कि इनके निकट रहने पर ये मेरे से किसी वस्तु की याचना करेंगे; ऐसी शंकाएँ बारंबार किया करता है। इसी कारण न तो वह उनसे निकट सम्पर्क बनाये रखता है और न उनके पास अधिक समय तक रुकता ही है।

[२०]

जल का विलक्षण प्रभाव

जैसा कि पहले कह चुके हैं:—"निष्पुण्यक को सुरमा लगाने से कुछ चेतना प्राप्त हुई देखकर धर्मबोधकर ने मीठे वचनों से उससे कहा:—हे भद्र ! तेरे सब तापों (रोगों) को कम करने वाला यह तत्त्व प्रीतिकर पानी तो जरा पी। यह पानी पीने से तेरा शरीर सम्यक् प्रकार से स्वस्थ हो जाएगा। धर्मबोधकर जब उस भिखारी को इस प्रकार की प्रेरणा दे रहा था तब भी वह द्रमुक (निष्पुण्यक) शंकाकुल होकर अपने मन में सोच रहा था कि यह पानी पीने से क्या होगा ? इसका क्या निश्चय ? ऐसे विचारों से उस मूढात्मा ने तत्त्व प्रीतिकर जल को पीने की इच्छा नहीं की। धर्मबोधकर ने जब उसकी ऐसी दशा देखी तब हृदय में अत्यधिक दयाभाव होने के कारण उसके हित के विचार से उसकी इच्छा के विरुद्ध भी 'बलपूर्वक भी हित-साधन करना चाहिये' ऐसा मानते हुए, बलपूर्वक उसका मुँह खोलकर उसने तत्त्वप्रीतिकर नामक जल उसके मुँह में डाल दिया। यह पानी अत्यन्त शीतल, अमृत के समान स्वादिष्ट, चित्ताह्लादकारी और सब सन्तापों को नष्ट करने वाला था। उसके पीने से वह पूर्णरूपेण स्वस्थ के समान हो गया। उसका उन्माद बहुत कम हो गया, उसके रोग कम हो गए और उसके शरीर की दाहपीड़ा (जलन) ठंडी पड़ गई। उसकी सभी इन्द्रियाँ संतुष्ट हुईं। इस प्रकार की उसकी अन्तरात्मा के स्वस्थ होने से उसकी विचारशक्ति भी किंचित् शुद्ध हुई और वह सोचने लगा।" वैसे ही उक्त कथन इस जीव के साथ पूर्णतया घटित होता है, जिसकी योजना इस प्रकार है:—

सम्यग् दर्शन की प्राप्ति में कठिनता

जब यह जीव कुछ समय निकाल कर साधुओं के उपाश्रय में आता है तब साधुओं के सम्पर्क से उसको द्रव्यश्रुत (छिछला ज्ञान या सामान्य व्यावहारिक ज्ञान) की प्राप्ति होती है। द्रव्यश्रुत-सम्पन्न होने से उस जीव में किंचित् विवेकबुद्धि अवश्य जागृत होती है किन्तु वह विशिष्ट श्रद्धा से रहित होता है। यही कारण है कि वह धन-विषय-कलत्र को परमार्थ (हितकारी) बुद्धि से ही ग्रहण करता है और उन पर प्रबल आसक्ति रखता है। इस गाढासक्ति के कारण ही वह यह समझता है कि साधुगण भी इन्हीं विषयों की चाहना करते होंगे। इस प्रकार की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शंकाओं से घिरा हुआ यह जीव जब धर्मकथा चलती हो तब जान-बूझकर उसे नहीं सुनता, अर्थात् धर्मकथा श्रवण का त्याग करता है। उसकी डांवाडोल मानसिक स्थिति में जब आचार्य उस जीव से मिलते हैं तब अत्यन्त कृपालु होने के कारण वे विचार करते हैं:—यह जीव विशिष्टतर गुणों का पात्र कैसे बने? अतएव जब कभी वह जीव उनके पास बैठा होता है तब वे उसको सुनाते हुए, दूसरों को लक्ष्य करके सम्यग् दर्शन के गुणों का और उसकी दुर्लभता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो प्राणी इस सम्यग् दर्शन को स्वीकार करता है वह स्वर्ग और मोक्ष का फल प्राप्त करता है। उस व्यक्ति को न केवल पारलौकिक फल ही प्राप्त होता है अपितु इहलोक में भी उसे मन की अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है। यह सब योजना इस जीव में चैतन्य आने के बाद आचार्य द्वारा जल का पान करने हेतु आमन्त्रण के तुल्य समझें।

उपदेशक का अनादर

धर्माचार्य के पूर्वोक्त वचन सुनकर डांवाडोल बुद्धि वाला यह जीव इस प्रकार सोचता है:—ये श्रमण सम्यग् दर्शन के गुणों की अत्यधिक प्रशंसा करते हैं,* किन्तु ज्यों ही मैं सम्यग् दर्शन अंगीकार करूंगा त्योंही ये मुझे अपना वशवर्ती समझकर अवश्य ही मेरे पास से धनादिक की याचना करेंगे। मुझे प्राप्त वस्तु का त्यागकर अप्राप्त वस्तु की अभिलाषा रूप आत्म-प्रवंचना को क्या आवश्यकता है? मैं नहीं जानता कि इन श्रमणों के मन में क्या है और ये मुझसे कितना ल करवायेंगे? इस प्रकार के विचारों में बहका हुआ प्राणी आचार्य के वचन। जैसे सुना ही न हो, अंगीकार नहीं करता है। इस कथन को जैसे निष्पुण्यक पानी पीने को निमंत्रण देने पर भी पानी पीने की इच्छा नहीं करता वैसे ही इस जीव की मनोदशा को समझें।

मार्गदेशना : अर्थ पुरुषार्थ

जीव की ऐसी मनोदशा देखकर धर्मगुरु सोचते हैं कि क्या उपाय करना चाहिये कि जिससे यह बोध को प्राप्त हो। ऊहापोह के पश्चात् वे इस मार्ग का अवलम्बन लेते हैं। जैसे, किसी समय में यह जीव उपाश्रय में आया हुआ है जानकर, उसके आने से पूर्व ही अन्य प्राणियों को इंगित करते हुए धर्माचार्य मार्गदेशना (धर्मोपदेश) देना प्रारम्भ करते हैं—हे भव्यप्राणियो! तुम सब प्रकार के विक्षेपों का त्याग कर मैं जो कह रहा हूँ उसे ध्यान पूर्वक सुनो। इस संसार में चार प्रकार के पुरुषार्थ होते हैं—अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। कई लोग इन पुरुषार्थों में से अर्थ को ही प्रधान पुरुषार्थ मानते हैं। आचार्य इस प्रकार धर्मदेशना की भूमिका बाँधते हैं इसी बीच यह प्राणी सभास्थल में आ जाता है, उस समय उसको सुनाते हुए

* पृष्ठ ६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य आगे कहते हैं—धनवान पुरुष वृद्धावस्था से जीर्ण शरीर वाला होने पर भी पच्चीस वर्ष की अवस्था का उन्मत्त तरुण पुरुष माना जाता है। धनवान अत्यन्त कायर (डरपोक) होने पर भी, मानो बड़ी-बड़ी लड़ाइयों में इसने अदम्य साहस और वीरता दिखाई हो तथा वह अतुलबली एवं महापराक्रमी हो, ऐसे उसके प्रशंसागीत चाटुकारों द्वारा गाये जाते हैं। जिसको सिद्ध-मातृका पाठ – (क. ख. ग.) भी न आता हो उसे भी समस्त शास्त्रों के पारंगत और तीव्रतम चतुरबुद्धि के धारक मानकर भाटगण उस धनवान की स्तुति करते हैं। कुरूप और नितान्त अदर्शनीय होने पर भी उसके चाटुकार सेवक उस धनवान को कामदेव के सौन्दर्य को भी पराजित करने वाला मानते हैं। रत्ती मात्र भी जिसका वर्चस्व (प्रभाव) न हो, फिर भी धनवान को समस्त वस्तुओं का साधन करने में पूर्ण प्रभावशाली मानकर धनलोलुपी उसकी ख्याति करते हैं। जघन्य कुल की दासी से अथवा वेश्या से उत्पन्न होने पर भी मानों ये प्रख्यात, उन्नत, श्रेष्ठवंश (जाति) में उत्पन्न हुए हों इस प्रकार धनार्थी उस धनवान की प्रख्याति करते हैं। सात पीढ़ियों में भी जिसका किसी प्रकार का सम्बन्ध न हो, तो भी मानो सगे भाई हों इस प्रकार का सब लोग उस धनवान के साथ सम्बन्ध एवं व्यवहार रखते हैं। यह सब अर्थ (धनदेव) की लीला है। पुनश्च, समस्त प्राणियों का पुरुषत्व तथा सब इन्द्रियाँ समान होते हुए भी लोक में कितने ही पुरुष दाता होते हैं और कितने ही याचक, कितने ही राजा होते हैं और कितने ही सैनिक या सेवक, कितने ही इन्द्रियों के अनुपम भोगों के भोक्ता होते हैं और कितने ही दुःख उठाते हुए भी अपनी उदरपूर्ति करने में असमर्थ और कितने ही पोषक (पालन करने वाले) होते हैं और कितने ही पोषित। इस जगत् में इस प्रकार के जो अनेक भेद दिखाई पड़ते हैं वे सब अर्थ (धन) का सद्भाव और असद्भाव से उत्पन्न होते हैं, अतएव सब पुरुषार्थों में अर्थ ही प्रधान पुरुषार्थ है। कहा भी गया है—❀

अर्थाख्यः पुरुषार्थोऽयं प्रधानः प्रतिभासते।
तृणादपि लघुं लोके धिगर्थरहितं नरम्।

अर्थ नाम का पुरुषार्थ सब पुरुषार्थों में मुख्य प्रतीत होता है। धनहीन मनुष्य इस लोक में तृण से भी अधिक तुच्छ माना जाता है अतएव वह धिक्कार के योग्य है।

अर्थ द्वारा आकर्षण

धर्माचार्य के मुख से अर्थ की महिमा सुनकर वह जीव सोचने लगा—अरे! आचार्य महाराज ने तो बहुत ही बढ़िया बात कहनी प्रारम्भ की है, अतएव

❀ पृष्ठ ६९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह उपदेश को ध्यानपूर्वक सुनने लगा, सुनते हुए मैं आपकी सब बात समझ रहा हूँ, यह जतलाने के लिये वह अपनी गर्दन को हिलाता है, आँखे खोलता है और भौंचता है, चेहरे पर मुस्कराहट लाता है और मुख से धीमे-धीमे बोलता है -बहुत अच्छी बात कही, बहुत अच्छी बात कही। इस प्रकार जीव के शारीरिक लक्षणों को देखकर सद्धर्माचार्य समझ जाते हैं कि इसको बात (उपदेश) सुनने का कौतूहल पैदा हो गया है; ऐसा समझकर अपने प्रवचन को पुनः आगे बढ़ाते हुए कहते हैं।

काम पुरुषार्थ

भो भव्यलोको ! कितने ही लोग काम को ही प्रधान पुरुषार्थ मानते हैं, उन लोगों का विचार है कि, ललित ललनाओं के मुखकमल में रहे हुए मधु का पान करने में चतुर भ्रमरों के समान आचरण (अधरोष्ठपान) किये बिना पुरुष का पौरुष वस्तुतः स्वीकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि अर्थ-संग्रह का, कलाकौशल प्राप्त करने का, धर्मप्राप्ति का और मनुष्य जन्म पाने का वास्तविक फल तो काम ही है। यदि समस्त प्रकार की श्रेष्ठ सामग्री प्राप्त हो भी जाए किन्तु काम के साधनों का उपयोग करने की कला न आती हो तो वह सब निष्फल ही है। जो प्राणी कामभोग का सेवन करने में प्रवीण होते हैं उनको भोग के साधनभूत धन, स्त्री, स्वर्ण आदि स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं। "सम्पद्यन्ते भोगिनां भोगा :" अर्थात् भोगी को भोग प्राप्त होते हैं। इस प्रसिद्ध उक्ति से बालगोपाल और स्त्रियाँ भी परिचित हैं। कहा भी है—

स्मितं न लक्षेण वचो न कोटिभि--र्न कोटिलक्षै : सविलासमीक्षितम्।
अवाप्यतेऽन्यैरदयोपगूहनं, न कोटिकोट्यापि तदस्ति कामिनाम् ।।

अर्थात् अन्य पुरुषों को लाख रुपये व्यय करने पर भी जो स्मित हास्य (मुस्कराहट) प्राप्त नहीं होता, करोड़ रुपया व्यय करने पर भी जो मधुर वचन नहीं मिलते, कोटिलक्ष (दस खरब) व्यय करने पर भी उसके सन्मुख मादकतापूर्ण कटाक्ष फेंका नहीं जा सकता (जो मादक कटाक्ष प्राप्त नहीं होता) और कोटाकोटि द्रव्य खर्च करने पर भी जो निष्ठुर आलिंगन प्राप्त नहीं होता, ये सब कामी पुरुष को सहज प्राप्त हो जाते हैं।

कामप्रवण पुरुष को कमी किस बात की है ? अतएव काम ही प्रमुख पुरुषार्थ है। कहा भी है—

कामाख्यः पुरुषार्थोऽयं प्राधान्येनैव गीयते।
नीरसं काष्ठकल्पं हि धिक्कामविकलं नरम् ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् यह विश्व इस काम-पुरुषार्थ के गीत प्रमुख रूप से गाता है। नीरस काष्ठ के समान कामरहित पुरुष को धिक्कार है।

इस काम पुरुषार्थ की प्रशंसा सुनकर इस प्राणी का हृदय हर्षातिरेक से उछलने लगा और स्पष्ट वाक्यों में कहने लगा—अहो! आचार्य भट्टारक ने बहुत अच्छा कहा, बहुत अच्छा कहा। बहुत समय के बाद आज धर्माचार्य ने बहुत ही सुन्दर व्याख्यान (प्रवचन) देना प्रारम्भ किया है। यदि आप इस प्रकार की सुन्दर देशना प्रतिदिन प्रदान करें तो, मैं एक क्षण का अवकाश न होने पर भी जैसे-तैसे समय निकालकर, सारी बाधाओं का त्यागकर एकाग्रचित्त होकर सुनूंगा। निष्पुण्यक का मुख खोलने के समान सद्गुरु ने अपने सामर्थ्य से इस जीव का मुख खोला।

मोह का प्रभाव : गुरु का पर्यालोचन

जब यह प्राणी देशना के मध्य में साधु! साधु!! बोलने लगता है तब धर्माचार्य अपने मन में विचार करते हैं—अहो! महामोह का खेल देखो! मोहराज से मारे हुए ये प्राणी प्रसंगोपात्त कही हुई अर्थ और काम की कथा से प्रसन्न होते हैं, खिल उठते हैं और प्रयत्न करने पर भी धर्मकथा को सुनकर रंजित नहीं होते। यहाँ हमने अर्थ और काम से प्रतिबद्ध (वशवर्ती) क्षुद्र प्राणियों के हृदयों में किस प्रकार के अभिप्राय (विचार) होते हैं * इसका दिग्दर्शन कराया तो यह बापड़ा इसी को सुन्दरतम मान बैठा। इस प्राणी को श्रवणाभिमुख करने का मेरा परिश्रम सफल हुआ। इसको प्रतिबोध देने के लिये मेरे द्वारा चिन्तित प्रयोगबीजों (विचारणा बीज) में अंकुर निकल आया है। मैं समझता हूँ अब यह प्राणी मार्ग पर आ जाएगा। ऐसा मन में सोचकर आचार्य पुनः बोले - हे भद्र! हम तो वस्तु का जैसा स्वरूप विद्यमान हो वैसा ही प्रतिपादन करते हैं। हम झूठ बोलना तो जानते भी नहीं हैं। धर्माचार्य के वचनों पर इस जीव को विश्वास होने पर वह बोला - भगवन्! आप जैसा कहते हैं वैसा ही है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। पुनः गुरु ने कहा - भद्र! यदि ऐसा ही है तब बतलाओ कि मैंने जो अभी अर्थ और काम की महत्ता दिखाई वह क्या तुम्हारी समझ में आ गई? वह बोला - अच्छी तरह से समझ में आ गई। पुनः गुरु बोले—सौम्य! हम चारों पुरुषार्थों की महत्ता प्रदर्शित कर रहे थे, उसमें अर्थ और काम के स्वरूप का वर्णन कर चुके। अब हम तीसरे धर्म पुरुषार्थ का स्वरूप बताते हैं, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो। वह जीव पुनः बोला—मेरा पूर्ण ध्यान है, हे भगवन्! आप आगे वर्णन करिए।

धर्म पुरुषार्थ का स्पष्ट वर्णन

तब धर्माचार्य अपने प्रवचन को आगे बढ़ाते हुए कहने लगे—हे श्रोतागणो! कितने ही लोग धर्म को ही मुख्यतम पुरुषार्थ मानते हैं। समस्त

* पृष्ठ ७०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणियों में जीवत्व समान होने पर भी कितने ही प्राणी ऐसे कुलों में होते हैं जो परम्परा से (अनेक पीढ़ियों से) धन से समृद्ध होते हैं, जो आनन्द के धाम होते हैं और जो विश्व में पूजित (सम्माननीय) होते हैं। कितने ही प्राणी ऐसे कुलों में उत्पन्न होते हैं जहाँ धन नामक पदार्थ की गन्ध का सम्बन्ध भी नहीं होता (धन का लवलेश भी नहीं होता), समस्त दुःखों का आगार होता है और जो समस्त लोगों द्वारा निन्दनीय माना जाता है। यह महदन्तर क्यों पड़ता है? एक ही माता-पिता से उत्पन्न हुए जुड़वाँ दो भाइयों में विशेष अन्तर देखने में आता है। जैसे कि, इन जुड़वाँ भाइयों में से एक तो रूप (सौन्दर्य) में कामदेव, समता में मुनि, बुद्धिवैभव में अभयकुमार, गम्भीरता में समुद्र, अडिगता में मेरुशिखर, शूरवीरता में अर्जुन, धन में कुबेर, दान में कर्ण, नीरोगता में वज्र-शरीर और प्रसन्नता में महर्धिक देवताओं के समान होता है। इस प्रकार समस्त गुणों और कला-कौशल से शोभित एक भाई तो सब प्राणियों के मन और नेत्रों को आह्लादित करने वाला होता है, जब कि दूसरा जुड़वां भाई बीभत्स आकृतिधारक होने से सब को उद्वेगदायक, अपनी दृष्टि प्रवृत्ति से माता-पिता को सन्तापदायक, मूर्खशिरोमणि होने से पृथ्वी पर विजयकारक (भूतल में एकमात्र मूर्ख), तुच्छता में आकड़ा और सेमल की रूई से भी हलका, चपलता में वानरलीला को भी मात देने वाला, कायरता में चूहों को भी पीछे पटकने वाला, निर्धनता से रंकाकृति का धारक, कृपणता से टक्क जाति के मनुष्यों का * लंघन करने वाला, रोगाक्रान्त शरीर और उसकी विविध पीड़ाओं से विक्लव तथा बम मारते रहने से जगत् के लोगों की दया प्राप्त करने वाला, दैन्य उद्वेग और शोकादि से व्याप्त चित्त वाला होने से नारकी के घोर दुःखों के समान घोर सन्ताप को प्राप्त करता है। सब लोग उसको समस्त दोषों का घर मानते हुए पापिष्ठ और अदर्शनीय कहकर उसकी बारम्बार निन्दा करते हैं। (अर्थात् एक माँ-बाप की सन्तान होने पर भी जुड़वाँ भाइयों में इतना महदन्तर किस कारण से होता है?)

अन्तर और हानि

पुनश्च, सोचिए— ऐसे दो पुरुष उन्नत तेज, बल, बुद्धि, उद्योग और पराक्रम में जो समस्त दृष्टियों से एक समान हों, अर्थात् मानसिक, शारीरिक और औद्योगिक दृष्टि से एक-सरीखे हों, वे जब अर्थोपार्जन के लिये प्रवृत्त होते हैं तब उनमें से एक व्यक्ति चाहे वह खेती-बाड़ी करे, पशु पालन करे, व्यापार करे, राज्य-सेवा करे अथवा अन्य जो कोई भी कार्य हाथ में ले तो वह उन-उन कार्यों में इच्छित सफलता को प्राप्त करता है। जब कि दूसरा व्यक्ति उसी के समान उद्योग या व्यापार करता है तब भी वह उसमें तनिक भी सफल नहीं होता, विफल ही होता है। इतना ही नहीं, अपितु पूर्वजों की जो कुछ संचित सम्पत्ति होती है वह भी विपरीत आपत्तियों के कारण खो बैठता है। इसमें भी क्या कारण है?

* पृष्ठ ७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषता के कारणों की खोज

पुनश्च, यह भी विचार करना चाहिये कोई दो पुरुष जब स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु और कर्ण (पाँचों इन्द्रियों) के उन्नत प्रकार के विषयों को एक साथ प्राप्त करते हैं तब उनमें से एक तो प्रबल शक्ति वाला इन विषयों को प्रवर्धमान अत्यधिक प्रेम के साथ बारम्बार भोग करता है और दूसरा पुरुष असमय में ही कृपण हो जाता है अथवा उसे किसी प्रकार का रोग हो जाता है; फलस्वरूप भोगों को भोगने की इच्छा होते हुए भी वह भोग नहीं पाता। इस प्रकार का जीवों में विभेद (अन्तर) बहुत बार देखने में आता है किन्तु इसका क्या कारण है ? यह दृष्टिपथ में नहीं आता, समझ में नहीं आता। कारण के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। यदि इस प्रकार के कार्य अकारण ही होते रहते हों तो आकाश के समान सर्वदा होते रहने चाहिये अथवा खरगोश के शृंग के समान कदापि नहीं होने चाहिये। जब कि यह विभेद कभी तो प्रत्यक्षतः दिखाई देता है और कभी नहीं दिखाई देता। अतएव यह निश्चित है कि यह विभेद अकारण नहीं है, इसमें कोई न कोई कारण अवश्य है।

धर्म और अधर्म के परिणाम

इसी बीच में इस बात को कुछ समझकर वह जीव बोला - भगवन् ! इन विभेदों का उत्पादक कारण क्या है ? जीव का प्रश्न सुनकर धर्माचार्य बोले - हे भद्र ! सुनो - समस्त प्राणियों को जो सुन्दर विशेषताएँ (सामग्री आदि) प्राप्त होती हैं उनका अन्तरंग कारण धर्म ही है। यह धर्म ही प्राणियों को अच्छे कुल में उत्पन्न करता है, धर्म ही उसे गुणों का धाम बनाता है, यही सब अनुष्ठानों को सफल बनाता है, प्राप्त हुए भोगों का निरन्तर उपभोग करवाता है और अन्य समस्त शुभ विषयों को प्राप्त करवाता है, अर्थात् धर्म के प्रताप से ही समस्त श्रेष्ठ संयोग प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार सब जीवों को जो अशोभन विशेषताएँ (अप्रिय साधन) प्राप्त होते हैं उनका अन्तरंग कारण भी अधर्म ही है। अधर्म के कारण ही जीव अधम कुलों में उत्पन्न होता है, सब प्रकार के दोषों (दुर्गुणों) का आश्रय स्थान बन जाता है, सब प्रकार के व्यवसायों में असफल होता है, शक्ति-वैकल्य के कारण प्राप्त भोगों को भोग नहीं पाता और अन्य अनेक प्रकार के अप्रिय, अमनोज्ञ एवं अशुभ विषयों को प्राप्त करता है, अर्थात् अधर्म के कारण समस्त प्रकार के अशुभ संयोग प्राप्त होते हैं। अतएव यह स्वीकार करना चाहिये कि जिस धर्म के प्रभाव से समस्त प्रकार की सम्पदाएँ जीवों को प्राप्त होती हैं वह धर्म ही प्रमुखतम पुरुषार्थ है।* अर्थ और काम की पुरुष कितनी भी अभिलाषाएँ करे किन्तु धर्म के बिना ये प्राप्त नहीं हो सकतीं। धर्मयुक्तों को कल्पना नहीं करने पर भी ये स्वतः ही प्राप्त

* पृष्ठ ७२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो जाती हैं। अतएव अर्थ और कामार्थी प्राणियों को वस्तुतः धर्म पुरुषार्थ की साधना करना ही आवश्यक एवं युक्त है। इसी कारण धर्म ही प्रधान पुरुषार्थ है। यद्यपि अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्द रूप आत्मा की मूल अवस्था को प्रकट करने वाला मोक्ष नामक चतुर्थ पुरुषार्थ ही है, यह मोक्ष पुरुषार्थ समस्त क्लेश-राशियों को नष्ट करने वाला है और प्राणी स्वतंत्र रूप से स्वाभाविक आनन्द का भोग कर सके ऐसी आह्लादमयी स्थिति को प्राप्त कराने वाला होने से प्रमुख पुरुषार्थ है तदपि धर्म पुरुषार्थ की साधना के फलस्वरूप ही परम्परा से मोक्ष पुरुषार्थ साध्य होने से धर्म को प्रधानता दी गई है। मोक्ष पुरुषार्थ प्रधान होते हुए भी वस्तुतः मोक्ष का सम्पादक धर्म ही प्रधान पुरुषार्थ है। कहा भी है—

धनदो धनार्थिनां धर्मः कामिनां सर्वकामदः।
धर्म एवापवर्गस्य पारम्पर्येण साधकः॥

अर्थात् धर्म धनेच्छुओं को धन, कामार्थियों को काम प्रदान करता है और धर्म ही परम्परा से अपवर्ग (मोक्ष) का साधक होता है।

अतएव धर्म से प्रधानतम कोई पुरुषार्थ नहीं है। पुनः कहते हैं:—

धर्माख्यः पुरुषार्थोऽयं, प्रधान इति गम्यते।
पापग्रस्तं पशोस्तुल्यं, धिग् धर्मरहितं नरम्॥

अर्थात् धर्म नाम का यह पुरुषार्थ सब पुरुषार्थों में प्रधान है। पापग्रस्त धर्महीन प्राणी जो पशुतुल्य है, ऐसे मानव को धिक्कार है।

धर्म के कारण : स्वभाव : कार्य

उक्त धर्मदेशना सुनकर वह जीव बोला —'हे भगवन्! अर्थ और काम तो प्रत्यक्ष में दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु आपने जिस धर्म का वर्णन किया उसे तो हमने कहीं भी नहीं देखा! अतएव आप उसका प्रत्यक्ष स्वरूप मुझे बतावें।' यह सुनकर धर्माचार्य ने उत्तर प्रदान किया—भद्र! मोहान्ध प्राणी इसको प्रत्यक्ष में नहीं देख पाते हैं, जब कि विवेकी इस धर्म को स्पष्टतः प्रत्यक्ष देखते हैं। सामान्यतः धर्म के तीन स्वरूप देखे जाते हैं: कारण, स्वभाव और कार्य। इसमें सदनुष्ठान का पालन करना यह धर्म का कारण है, जो प्रत्यक्षतः देखने में भी आता है। स्वभाव दो प्रकार का है: - सास्रव और अनास्रव। इसमें सास्रव स्वभाव जीव में शुभ परमाणुओं का संग्रह रूप है और अनास्रव स्वभाव पूर्वोपार्जित कर्म परमाणुओं का नाशरूप (विलय रूप) है। इन दोनों प्रकार के धर्म के स्वभावों को योगीजन तो प्रत्यक्ष में देख सकते हैं और हमारे जैसे अनुमान से देख सकते हैं। धर्म का कार्य तो प्रत्येक जीव में जो अनेक प्रकार की शुभ प्राप्तियाँ हैं वे स्पष्टतः दृष्टिपथ में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आने से सब को स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती हैं। इस प्रकार धर्म के कारण, स्वभाव और कार्य - इन तीनों रूपों को प्रत्यक्षतः देखते हुए भी तू कैसे कहता है कि मैंने धर्म को नहीं देखा ? धर्म के जो तीन भेद दिखाए उसमें से तीसरा भेद कार्य ही धर्म के नाम से कहा जाता है, प्रसिद्ध है। इसमें विशिष्ट बात यह है कि जैसे 'मेघ तन्दुलों (चावलों) की वर्षा करता है, मेघ तो पानी बरसाता है किन्तु पानी पड़ने से कार्य रूप तन्दुल पैदा होते हैं। यहाँ कारण में कार्य का उपचार है वैसे ही सदनुष्ठान रूप कारण में कार्य का उपचार करने से इसको धर्म कहा जाता है। ऊपर स्वभाव वर्णन में सास्रव स्वभाव कहा है उसे यहाँ पुण्यानुबन्धी पुण्य रूप समझें और जो अनास्रव भेद कहा गया है उसे यहाँ (जैन परिभाषा में) निर्जरा रूप समझें। उक्त दोनों प्रकार के सास्रव-अनास्रव * स्वभाव को भी बिना किसी उपचार से साक्षात् धर्म नाम से ही सम्बोधित करते हैं, धर्म ही कहते हैं। प्राणियों में आरोग्य, सौभाग्य, यश, कीर्ति, धनप्राप्ति आदि जो देखने में आती है उसे ही कार्य में कारण का आरोप करके लोग उसे धर्म के नाम से ख्यापित करते हैं, पहचानते हैं। जैसे, 'यह मेरा शरीर पूर्व कर्म है,' अर्थात् शरीर रूप कार्य का कारण पूर्वकृत कर्म है तो भी शरीर रूप कार्य में कारण का आरोप कर उसे ही कर्म कह देते हैं।

यह कथन सुनकर जीव बोला—भगवन् ! आपने धर्म के तीन रूप बतलाए, इन तीनों में से ग्रहण करने योग्य कौनसा है ?

धर्माचार्य - भद्र ! सदनुष्ठान कारण ही ग्रहण करने योग्य है। यही कारण, स्वभाव और कार्य दोनों की प्राप्ति करवा देता है।

जीव - सदनुष्ठान कौन-कौन से हैं ?

धर्माचार्य - सौम्य ! सदनुष्ठान दो प्रकार का है- साधु धर्म और गृहस्थ (श्रावक) धर्म। और इन दोनों प्रकार के धर्मों का मूल सम्यग् दर्शन है।

जीव—भगवन् ! आपने पहले किसी समय मुझे सम्यग् दर्शन का उपदेश दिया था, किन्तु उस समय मैंने आपकी बात ध्यान पूर्वक नहीं सुनी थी। अतः कृपा कर पुनः कहिए कि इस सम्यग् दर्शन का स्वरूप क्या है ?

जीव की जिज्ञासा देखकर आचार्य प्रथमावस्था के योग्य सम्यग् दर्शन का सामान्य स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं—

सम्यग् दर्शन का सामान्य स्वरूप

हे भद्र ! जो राग, द्वेष, मोहादि से रहित हो, जो अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त वीर्य और आनन्दस्वरूप हो, जो समस्त जगत् का कल्याण करने में

* पृष्ठ ७३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्पर हो, जो सकल (परिपूर्ण) और निष्कल रूप (सम्पूर्णांश में एकरूप) हो, जो ऐसे अनेक गुणों से युक्त हो वही परमात्मा है। वही परमार्थतः सच्चा देव है। ऐसी विवेक बुद्धि से अन्तःकरण (शुद्ध भाव) पूर्वक भक्ति करना [देवतत्त्व], उन्हीं परमेश्वर द्वारा प्ररूपित जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध और मोक्ष—इन पदार्थों (तत्त्वों) को सन्देह रहित होकर स्वीकार करना, स्वरूप समझना और इन पर प्रतीति (विश्वास) रखना [धर्मतत्त्व] और उन परमात्मा द्वारा उपदिष्ट ज्ञान दर्शन चारित्रात्मक मोक्ष मार्ग में जो प्रवृत्ति करते हैं वे ही सच्चे साधु गुरु होने और वन्दन करने योग्य होते हैं [गुरुतत्त्व]; ऐसी बुद्धि होना ही सम्यग् दर्शन है। जीव में सम्यग् दर्शन है या नहीं? इसको जानने के लिये पाँच लक्षण या बाह्यचिह्न बतलाये गये हैं (इन्हीं को समकित के पाँच लिंग कहते हैं): १. प्रशम, १. संवेग, ३. निर्वेद, ४. अनुकम्पा और ५. आस्तिक्य। ऐसे सम्यग् दर्शन को अंगीकार करने वाले प्राणी को विश्व में बलवान लोगों द्वारा बताये हुए दुःखी और अविनीत जीवों पर मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावों का सम्यक् प्रकार से आचरण करना चाहिये। स्थिरता (धर्म के प्रति दृढ़ता), तीर्थ (चैत्य) सेवा, आगम-कुशलता (अर्हद् दर्शन सम्बन्धी निपुणता), भक्ति और प्रवचन (शासन) प्रभावना ये पाँच भाव सम्यग् दर्शन को उज्ज्वलतम दीप्तिमान बनाते हैं। इस सम्यग् दर्शन को दूषित करने वाले ये पाँच दोष हैं: —शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, परपाखण्ड प्रशंसा और संस्तवना। यह दर्शन समस्त प्रकार के कल्याणों का करने वाला है। दर्शन-मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से प्रकटित आत्मा के परिणाम को ही विशुद्ध सम्यग् दर्शन कहते हैं।

सम्यग् जल से व्याधि की शान्ति

आचार्यदेव की वाणी सुनकर इस जीव के हृदय में सम्यक् प्रकार से धर्म के प्रति विश्वास जागृत होने से उसके कितने ही कठोर कर्म नष्ट हो जाते हैं और वह जीव सम्यग् दर्शन को प्राप्त करता है। सत्तीर्थोदक के समान यह तत्त्व प्रीतिकर (तत्त्व प्रतीति रूप) जल धर्माचार्य ने इस जीव को बलपूर्वक पिलाया, इसको धर्मबोधकर द्वारा निष्पुण्यक को बलपूर्वक तत्त्व प्रीतिकर जल उसके मुंह में डाल दिया कथन के समान समझें। जब इस जीव को सम्यग् दर्शन पर सामान्य रूप से प्रतीति हुई उस समय उसके जो मिथ्यात्व की सत्ता उदय में थी वह क्षीण (नष्ट) हो गई, जो उदय में नहीं आई थी वह उपशान्त दशा को प्राप्त हो गई और अनुदीर्ण सत्ता अब केवल प्रदेशोदय से अनुभव की जाए ऐसी स्थिति को प्राप्त हो गई। पूर्व में कहा था कि निष्पुण्यक का उन्माद नष्टप्राय हो गया, किन्तु पूर्णतः नष्ट हो गया ऐसा नहीं कहा गया था, वैसे ही इस जीव का मिथ्यात्व क्षीण हो गया, पूर्णतः नष्ट नहीं हुआ समझें। जैसे तीर्थजल पीने से निष्पुण्यक की व्याधियाँ

* पृष्ठ ७४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कम हो गई वैसे ही सम्यग् दर्शन प्राप्त करने से इस जीव की कर्मरूपी व्याधियाँ क्षीण हो गईं। कर्म कमजोर पड़ने से चर (त्रस) अचर (स्थावर) समस्त प्राणियों को दुःख देने वाला दाह भी दलित हो जाता है, शान्त हो जाता है। इसी कारण सम्यग् दर्शन को अत्यन्त शीतल कहा गया है। जैसे तत्त्व प्रीतिकर जलपान से निष्पुण्यक की जलन ठण्डी पड़ गई और अन्तरात्मा स्वस्थ हुई वैसे ही सम्यग् दर्शन प्राप्ति के परिणाम स्वरूप इस जीव की कर्म-दुःख स्वरूप जलन शीतल पड़ गई और उसका मानस स्वस्थ एवं प्रसन्न हो गया।

[२१]

कथा प्रसंग में कह चुके हैं कि स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करने पर निष्पुण्यक सोचने लगा: "ओह! इन अत्यन्त कृपालु महापुरुष को मैंने महामोह के वश होकर मूर्खता से ठग और पापी समझा और कल्पना की थी कि ये मेरा भोजन छीन लेंगे, अतएव कुत्सित विचार करने वाले मुझको धिक्कार है। इन महापुरुष ने मुझ पर बड़ी कृपा कर, मेरी आँखों पर सुरमे का प्रयोग कर मेरी आँखों को बिल्कुल ठीक कर दिया, जिससे मेरी दृष्टि-व्याधि दूर हो गई। फिर मुझे पानी पिलाकर स्वस्थ बना दिया। वास्तव में इन्होंने मुझ पर बड़ा उपकार किया है। मैंने इन पर क्या उपकार किया है? फिर भी इन्होंने मेरा इतना उपकार किया है। यह इनकी महानता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है।" इसी प्रकार सम्यग् दर्शन प्राप्त होने पर यह जीव भी धर्माचार्य के सम्बन्ध में ऐसे ही विचार करता है। वस्तु का यथावस्थित स्वरूप ज्ञात होने से वह रौद्र भावों का त्याग करता है, मदान्धता की प्रवृत्ति छोड़ देता है, कुटिलता का त्याग करता है, प्रगाढ़ लोभवृत्ति को छोड़ देता है, राग के वेग को शिथिल करता है, द्वेष की प्रबलता को बढ़ने नहीं देता और महामोहजनित दोषों को काट फेंकता है। इन प्रवृत्तियों से इस जीव का मानस प्रफुल्लित हो जाता है, अन्तःकरण निर्मल हो जाता है, बुद्धि-चातुर्य बढ़ने लगता है, धन-स्वर्ण-कलत्रादि के प्रति मूर्च्छाभाव नहीं रहता, जीवादि तत्त्वों के स्वरूप जानने का आकर्षण और आग्रह होता है और समस्त प्रकार के दोष क्षीण हो जाते हैं। फलस्वरूप यह जीव दूसरे जीवों के गुण-विशेषों को समझता है, स्वकीय दोषों को लक्ष्य में लेता है, अपनी पुरानी अवस्था का स्मरण करता है और उस दशा में सद्गुरु ने मेरे लिये क्या-क्या प्रयत्न किो उनको स्मृतिपथ में लाता है तथा यह समझता है कि आज मैं जिस स्थिति में पहुँचा हूँ वह सब इन धर्माचार्य का प्रयत्न और प्रताप ही है। पुनश्च, मेरा यह जीव जो उस पूर्व की दशा में तुच्छ विचारों के कारण धर्म और गुरु आदि के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के कुतर्क एवं कुविकल्प करता रहता था, उसे आज विवेक बुद्धि प्राप्त हुई है। विवेक दृष्टि प्राप्त होने पर वह चिन्तन करने लगा —अहो मेरी पापिष्ठता! अहो मेरी महामोहान्धता। ❀ अहो मेरी निर्भाग्यता! अहो मेरी

❀ पृष्ठ ७५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृपणातिरेकता ! अहो मेरी अविचारिकता ! मूर्खता ! मुझे धिक्कार है। मैंने अत्यन्त तुच्छ विचारों और धनादि पर गाढासक्ति के कारण ऐसे आचार्य भगवन्तों के प्रति कुत्सित विचार किये। ये सत्पुरुष तो निरन्तर परहितैकपरायण हैं, दोषरहित होकर सन्तोष (धन) से शरीर का पोषण करते हैं, मोक्ष-सुखरूपी अविनाशी धन को प्राप्त करने में विशुद्धभाव से प्रयत्नशील हैं तुषमुष्टि (फोंतरों की भरी हुई मुट्ठी) के समान संसार के विस्तार को निस्सार समझते हैं, स्वशरीर को पिंजरे के समान बन्धन समझकर ममत्वबुद्धि से रहित हैं। ऐसे ये धर्माचार्य आदि साधुगण हैं। ऐसे सत्पुरुष भी धर्मदेशना या अन्य किसी प्रपंच के द्वारा अथवा धूर्तता से मेरा धन-विषय-कलत्रादि हरण कर लेंगे, इत्यादि अनेक प्रकार की कुकल्पनाएँ मैंने पहले की थीं। ऐसे दुष्ट विचारों के कारण मैं महाअधम हूँ, नीचातिनीच हूँ। मुझे धिक्कार है। यदि यह धर्माचार्य जो परोपकारपरायण हैं, मेरे ऊपर अकारण ही उपकार नहीं करते, तो सद्गतिरूप नगर में जाने के लिए निर्दोष और प्रशस्त मार्ग दिखाते हुए, सम्यग् ज्ञान प्रदान करने के बहाने से नरकगमन योग्य मेरी चित्त वृत्ति को क्यों रोकते ? मिथ्यात्व दर्शन से ग्रस्त मुझे स्वयं के बुद्धिकौशल से सम्यक् दर्शन प्राप्त करवाकर, मैं समस्त दोषों से मुक्त हो सकूँ, इसके लिये ये विशेष प्रयत्न क्यों करते ? ये श्रमण तो पूर्णतया निःस्पृह हैं। इनकी दृष्टि में स्वर्ण और प्रस्तर एक समान हैं, परहित करने का इनको व्यसन है अतएव सर्वदा इसी आचरण में तत्पर रहते हैं और किसी भी प्रकार के प्रत्युपकार की अपेक्षा रखे बिना ही दूसरों का उपकार करते रहते हैं। ऐसे परोपकारी महात्माओं का तो मेरे जैसा प्राणी प्राणार्पण करके भी इनका प्रत्युपकार नहीं कर सकता, अर्थात् उपकार का बदला चुका नहीं सकता; तब फिर धन-दानादि को तो बात ही क्या ? इस प्रकार सम्यग् दर्शन प्राप्त होने से यह जीव अपने विगत जीवन की स्वकीय दुश्चर्या को याद कर पश्चात्ताप करता है और सन्मार्गदायी धर्माचार्य के प्रति जो विपरीत शंकाएं थीं उनका नाश करता है।

कुविकल्प के प्रकार

प्राणियों को कुविकल्प दो प्रकार से उत्पन्न होते हैं: —१. कुशास्त्र श्रवण से जो मिथ्या वासनाएँ (संस्कार) उत्पन्न होती हैं। जैसे, यह त्रिभुवन (स्वर्ग-मृत्यु-पाताल) अण्ड से उत्पन्न हुआ है, महेश्वर (सर्व शक्तिमान् परमेश्वर) निर्मित है, ब्रह्मादि प्रणीत है, प्रकृति का विकार रूप है, क्षणिक है, विज्ञानमात्र है, शून्यरूप है इत्यादि। इन कुविकल्पों को आभिसंस्कारिक कहते हैं अर्थात् बाहर के संस्कारों से उत्पन्न होते हैं। २. दूसरे प्रकार के कुविकल्प सहज कुविकल्प कहलाते हैं। यह कुविकल्प सुख की अभिलाषा करने वाले, दुःख से शत्रुता रखने वाले, द्रव्यादि में आसक्ति और उसके संरक्षण में एकाग्रचित्त वाले तथा तत्त्वमार्ग से विमुख प्राणियों को होते हैं। ऐसे प्राणी अशंकनीय बातों में शंका करते हैं, अचिन्तनीय बातों की *

* पृष्ठ ७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिन्ता करते हैं, अभाषणीय वाचा का प्रयोग करते हैं और अनाचरणीय कर्त्तव्यों का आचरण करते हैं। इन दोनों प्रकार के कुविकल्पों में से आभिसंस्कारिक कुविकल्प सत्-गुरु के सम्पर्क से कदाचित दूर हो जाते हैं, किन्तु दूसरा सहज कुविकल्प तो जब तक प्राणी की बुद्धि मिथ्यात्व से ग्रस्त होती है तब तक नष्ट नहीं होता; केवल अधिगमज सम्यग् दर्शन प्राप्त होने पर ही यह दूर हो सकता है।

[२२]

तुच्छ भोजन पर मूर्च्छा

पहले कथा प्रसंग में कह चुके हैं:—"निष्पुण्यक के आंखों में अंजन और तत्त्वप्रीतिकर जल पिलाने वाले धर्मबोधकर के प्रति उसको विश्वास हुआ और उनका महोपकार मानते हुए भी अपने साथ लाये हुए झूठन से प्राप्त तुच्छ भोजन पर उसका चित्त मंडरा रहा था। उस झूठन पर से उसकी मूर्च्छा (प्रगाढ प्रेम) दूर नहीं हो रही थी। उसकी दृष्टि उसी झूठन पर बारम्बार पड़ रही थी।" इस कथन की जीव के साथ संगति इस प्रकार है :—

त्याग का भय

ज्ञानावरणीय और दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने से इस जीव को सम्यग् ज्ञान और सम्यग् दर्शन हुआ। इससे संसार प्रपंच के प्रति इसकी जो तत्त्वबुद्धि थी (अर्थात् सांसारिक पदार्थों को अपना मानता था) वह नष्ट हो गई, जीवादि तत्त्वों का उसे ज्ञान हुआ और उस ज्ञान पर उसको आस्था हुई, सम्यग् दर्शन को प्रदान करने वाले धर्माचार्यों को उसने महोपकारी के रूप में स्वीकार किया, तथापि जब तक इस जीव के बारह कषायों का उदय और नो-कषाय प्रबल रूप में विद्यमान रहते है तब तक अनादिकाल से अभ्यस्त वासनाओं (संस्कारों) के वशीभूत होने के कारण कुत्सित भोजन के समान धन-विषय-कलत्रादि पर होने वाली मूर्च्छा (गाढासक्ति) को रोकने में वह शक्तिमान् (सफल) नहीं होता। इसका कारण यह है कि कुशास्त्र श्रवण से असत्संस्कार पड़ जाने के कारण 'यह समस्त सृष्टि अण्डे से उत्पन्न हुई' इत्यादि अनेक प्रकार के संस्कारजन्य कुतर्क उत्पन्न होते हैं, धन-कलत्रादि पर अपनत्व की बुद्धि तथा उसके संरक्षण के प्रयत्न और अशंकनीय धर्माचार्यादि पर शंका इत्यादि सहजजन्य कुविकल्प मिथ्यादर्शन के उदय (प्रभाव) से उत्पन्न होते हैं। ये कुविकल्प मरुस्थली में सूर्य के चिलके से नजर आने वाली जलकल्लोलमाला (मरु मरीचिका) के समान असत्य होते हैं। मिथ्या ज्ञान विशेष और कुतीर्थिकों द्वारा प्रस्थापित तर्क अन्य प्रमाणों से बाधित होने पर सम्यग् दर्शन प्राप्ति के समय नष्ट हो जाते हैं तथापि धन-विषय-स्त्री पर मूर्च्छा लक्षण रूप जो मोह होता है वह अपूर्व शक्तिमान् होता है और वह तत्त्वबोध होने पर भी दिङ्मूढ जीव के साथ चिपका हुआ रहता है। प्रबल मोहग्रस्त जीव कुशाग्रलग्न जलबिन्दु के समान समस्त पदार्थों को चपल (नश्वर) मानते हुए भी नहीं मानता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, धनहरण और स्वजनमरण आदि देखता हुआ भी नहीं देखता है, विचक्षण बुद्धिमान् होने पर भी जडमूर्ख की तरह चेष्टा करता है और समस्त शास्त्रार्थ-विशारद होने पर भी महामूर्ख शिरोमणि की तरह आचरण करता है। फलस्वरूप इस जीव को स्वच्छन्दचारिता प्रिय होती है, इच्छानुसार चेष्टा (आचरण) करना अच्छा लगता है और व्रत, नियम रूपी नियन्त्रणों से घबराता है। अधिक क्या कहें ? मौका पड़ने पर कौए का मांस खाने से भी नहीं चूकता।

भोजन लेने का आग्रह

कथा प्रसंग में पहले कह चुके हैं:—"उसे इस स्थिति में देखकर और उसके मन के आशय को समझ कर धर्मबोधकर ने कहा—अरे मूर्ख द्रमुक ! तेरा यह कैसा विचित्र व्यवहार है ? यह कन्या तुझे परमान्न का भोजन दे रही है, क्या तू देखता नहीं ? इस दुनियां में पापी भिखारी तो बहुत होंगे, पर मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि तेरे जैसा निर्भागी तो शायद ही कोई दूसरा हो ! क्योंकि तू अपने तुच्छ भोजन पर इतना आसक्त है। मैं ऐसा अमृतमय परमान्न भोजन तुझे दिलवा रहा हूँ फिर भी तू अपनी आकुलता को त्यागकर उसे नहीं लेता। तुझे एक दूसरी बात कहूँ— इस राजभवन के बाहर अनेक दुःखी प्राणी रहते हैं पर उनको न तो इस भवन को देखकर आनन्द हुआ और न उन पर हमारे महाराज की कृपा-दृष्टि ही हुई, जिससे हमारा उनके प्रति आदर भाव नहीं रहता, हम उनसे बात भी नहीं करते। पर, तुझे तो इस राजभवन को देखकर आनन्द हुआ और हमारे महाराज की तुझ पर कृपा-दृष्टि हुई, इसीलिये हम तेरा इतना आदर कर रहे हैं। अपने स्वामी को जो प्रिय हो, वही प्रिय कार्य स्वामीभक्त सेवक को करना चाहिये। इसी न्याय (विचार) से हम तुझ पर विशेष दयालु हुए हैं। हमें यह पूर्ण विश्वास था कि हमारे राजा योग्य पात्र (व्यक्ति) पर ही अपनी कृपादृष्टि डालते हैं, कोई मूढ (मूर्ख) उनके लक्ष्य में नहीं आता। यह विश्वास भी आज तूने गलत सिद्ध कर दिया है। तेरे अत्यन्त तुच्छ भोजन पर तेरा मन चिपका हुआ है, जिससे तू इतना सुन्दर अमृत तुल्य भोजन भी नहीं लेता। यह भोजन सर्व-रोग नाशक, मधुर, और स्वादिष्ट है। इसे तू किसलिये नहीं ले रहा है ? अरे दुर्बुद्धि द्रमुक ! अपने पास के इस कुभोजन का त्याग कर और विशेष रूप से इस सुन्दर स्वादिष्ट भोजन को ग्रहण कर; जिसके प्रताप से इस राजभवन में रहने वाले प्राणी आनन्द कर रहे हैं, उसके माहात्म्य को तू देख।" धर्मबोधकर के समान ही यहाँ सद्गुरु भी जीव के साथ इसी प्रकार आचरण करते हैं। तुलना कीजिए--

सद्गुरु का स्नेहमिश्रित क्रोध

जब यह जीव सम्यग् ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होने पर भी कर्म-परतन्त्रता के कारण नाममात्र की भी विरति (त्याग) नहीं करता है तब आचार्यदेव उसकी ऐसी अवस्था

❀ पृष्ठ ७७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और विषयभोगों के प्रति गाढासक्ति देखकर स्वतः ही मन में विचार करते हैं—अहो ! इस प्राणी की आत्मा के साथ कैसी दुश्मनी है ? जैसे कोई निर्भागी पुरुष रत्नद्वीप में जाकर भी रत्नों के स्थान पर कांच के टुकड़े लेकर आता है वैसे ही यह प्राणी महर्ध्य (अमूल्य) रत्नराशि के समान व्रत-नियमादि के अनुष्ठान को ❀ स्वीकार न कर, कांच के टुकड़ों के समान विषय भोगों को प्रेम पूर्वक स्वीकार करता है। ऐसे विचार करते हुए आचार्यदेव स्नेह मिश्रित क्रोध से उपालम्भ देते हुए प्रमादयुक्त इस जीव को इस प्रकार कहते हैं अरे ज्ञान-दर्शन के विद्वेषी ! यह तेरी कैसी अनात्मज्ञता है ? मैं प्रतिक्षण चिल्ला-चिल्लाकर तुझ कहता हूँ फिर भी तू कान नहीं धरता ? स्वयं का अकल्याण करने वाले बहुत से प्राणियों को हमने देखा है, किन्तु उन सब प्राणियों में तो सचमुच में तू ही मूर्खशिरोमणि दिखाई देता है। क्योंकि, तू भगवान् की वाणी का जानकार है, जीवादि पदार्थों (तत्त्वों) पर श्रद्धा रखता है और मेरे जैसे तुझे प्रोत्साहित करने वाले हैं। ये सामग्रियाँ बड़ी कठिनाई से प्राप्त होती हैं यह तू समझता है, संसार से पार पाना अत्यन्त दुष्कर है यह भी तू जानता है, कर्म के भयंकर परिणाम तेरे ध्यान में हैं, राग-द्वेषादि की रौद्रता तेरे द्वारा अनुभूत है फिर भी तू इन विषयों को जो समस्त प्रकार के अनर्थों की जड़ हैं, जो चन्द दिन रहने वाले हैं, तुषमुष्टि के समान निस्सार हैं, उनमें प्रीति करता है ! निरन्तर अनुराग रखता है ! हम तुझे अनर्थकूप में गिरते हुए देखकर, तुझ पर दया लाकर समस्त प्रकार के क्लेश और दोषों को नाश करने वाली, समस्त पापों का परिहार करने वाली त्यागमयी भगवद् वाणी सुनाते हैं उसे तू तिरस्कार की दृष्टि से देखता है ! यह तू नहीं जानता कि तेरे प्रति हमारा आकर्षण (आदर) किस कारण से है ? तो तू सावधानी पूर्वक सुन– तू सम्यग् ज्ञान और सम्यग् दर्शन प्राप्त कर सर्वज्ञ शासन में प्रविष्ट हुआ है। भगवत्शासन को जब तूने पहली बार देखा था तब तेरे मन में प्रमोद हुआ था। जब तू शासन रूपी मंदिर का दर्शन कर रहा था तब भगवान् की कृपादृष्टि तुझ पर पड़ी थी ऐसा हमने देखा था। जब हम को यह प्रतीति हुई कि तुझ पर भगवत्कृपा हुई है तब ही हम तेरा इतना आदर कर रहे हैं। जो भगवान् को प्रिय हो उनकी ओर प्रेमभाव रखना, भगवद्भक्तों के लिये उचित ही है। अद्यावधि जो प्राणी सर्वज्ञ शासन-मन्दिर में प्रविष्ट नहीं हुए हैं अथवा किसी भी प्रकार से प्रवेश करने में सफल होने पर भी शासन-मन्दिर को देखकर भी हर्षित नहीं होते, उन प्राणियों पर भगवत्कृपा नहीं होने से वे शासन मंदिर के बाहिर ही समझे जाते हैं। मन्दिर से बहिर्भूत संसार के अनन्त जीवों को देखते हुए भी हम उनके प्रति औदासीन्य वृत्ति ही रखते हैं। ऐसे प्राणी आदर के योग्य भी नहीं होते। इस सम्बन्ध में अद्यावधि हमारा यह पूर्ण विश्वास था और इसी उपाय (प्रयोग) से हम यह निर्णय करते थे कि सन्मार्ग के पथिक बनने योग्य कौन-कौन से जीव हैं ? अद्यावधि इस प्रयोग का हमने अनेक प्राणियों पर सफलता-

❀ पृष्ठ ७८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वक परीक्षण किया था किन्तु हमारा यह प्रयोग कदापि निष्फल नहीं हुआ था। हमारे इस सुनिश्चित और सफलतम परीक्षण प्रयोग को तूने अपने विपरीत आचरण से झूठा बना दिया है, असफल सिद्ध कर दिया है। अतएव हे दुर्मति! तू ऐसा मत कर। मैं तुझे जैसा कहता हूँ* वैसा ही तू अब भी कर। तू बुरे आचरणों का त्याग कर, दुर्गति रूपी नगरी में जाने योग्य अविरति का परिहार कर, निर्द्वन्द्व आनन्द को देने वाली और सर्वज्ञ प्रतिपादित सम्यग् ज्ञान-दर्शन का फल देने वाली "विरति" को अंगीकार कर। यदि तू ऐसा नहीं करेगा तो तेरे ज्ञान-दर्शन निष्फल हो जायंगे। भगवत् प्ररूपित इस विरति को स्वीकार करने से और उसका सम्यक् रीत्या पालन करने से यह सकल कल्याण-परम्परा को सम्पादित करती है। पारलौकिक कल्याण की बात को छोड़ भी दें, तो भी क्या तू नहीं देखता कि भगवत्प्रतिपादित विरति पर प्रीति रखने वाले सुसाधुगण आनन्द में कितने सराबोर रहते हैं, इन्होंने अमृतरस का पान किया हो ऐसे स्वस्थ दिखाई देते हैं, विषयाभिलाषा और काम-विकलता से उत्सुकता और प्रिय-विरह-वेदना आदि अनेक दुःखों का इनके मानस पर किंचित् भी असर नहीं होता अर्थात् मानसिक पीड़ा से रहित होते हैं, कषायरहित होने से लोभ का मूल धनार्जन, रक्षण, नाश आदि दुःखों से ये पूर्णतया अनभिज्ञ होते हैं, तीनों लोकों के वन्दनीय होते हैं और स्वयं को संसार-समुद्र को पार कर लिया हो ऐसे मानने वाले ये साधु सदा प्रमुदित रहते हैं। (यह मानसिक और आत्मिक सुख "विरति" को अंगीकार करने से ही ये साधुगण प्राप्त करते हैं।) अनेक गुणों से परिपूर्ण विरति को क्या तू अपनी आत्मशत्रुता के कारण ही स्वीकार नहीं करता?

[२३]

तुच्छ भोजन पर दृढ़ प्रेम

जैसा कि पूर्व में कह चुके हैं:—"धर्मबोधकर के उपर्युक्त वचन सुनकर उसे कुछ विश्वास हुआ और मन में कुछ निश्चय भी हुआ कि यह पुरुष मेरा हित करने वाला है। फिर भी अपने पास के भोजन का त्याग करने की बात से वह विह्वल हो गया। अन्त में उसने दीन वचनों से कहा आपने जो बात कही उसे मैं पूर्णतया सत्य मानता हूँ, पर मुझे आपसे एक प्रार्थना करनी है, वह आप सुनें। हे नाथ! मेरे इस मिट्टी के पात्र (भिक्षापात्र) में जो भोजन है वह मुझे स्वभाववश प्राणों से भी अधिक प्यारा है। इसके में विरह में मैं क्षणमात्र भी जीवित नहीं रह सकता। इसे मैंने बहुत परिश्रम से प्राप्त किया है और भविष्य में मेरा इससे निर्वाह होगा, ऐसा मैं मानता हूँ। फिर आपका भोजन कैसा है? इसे मैं वास्तव में नहीं जानता। आपके इस एक दिन के भोजन से मेरा होगा भी क्या? अतः मैं अपना भोजन किसी भी अवस्था में छोड़ना नहीं चाहता। महाराज! यदि आपको अपना भोजन मुझे देने की इच्छा हो तो मेरा भोजन मेरे पास रहने दें और आप अपना

* पृष्ठ ७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोजन भी प्रदान करें; अन्यथा इसके बिना भी चलेगा।" इस कथन की योजना निम्नांकित है :—

भोगासक्त का तुच्छ निवेदन

इस जीव को चारित्र ग्रहण करने के भाव (विचार) होते हैं किन्तु कर्मों द्वारा परतन्त्र होने के कारण गुरुदेव के सन्मुख यह जीव निष्पुण्यक के समान ही बोलता है। अब इस जीव को भी धर्मगुरु के प्रति पूर्ण विश्वास हो जाता है और ज्ञान-दर्शन के लाभ की प्रतीति भी हो जाती है तथापि इस जीव की धनादि के प्रति गाढ मूर्च्छा दूर नहीं होती। धर्मगुरु तो धन-विषयादि का पूर्णतया त्याग कर चारित्र ग्रहण करने को कहते हैं।* इस बात से जीव विह्वल हो जाता है और दीनतापूर्वक गुरुदेव से कहता है—भगवन्! आप जो आदेश प्रदान कर रहे हैं, कह रहे हैं वह पूर्णतया सत्य है, किन्तु आपसे मेरी एक विज्ञप्ति (निवेदन) है, कृपा कर आप सुनें। मेरी यह आत्मा धन-विषय-कलत्रादि में प्रबल रूप से आसक्त है, इनको छोड़ना मेरे लिये किसी भी प्रकार से शक्य नहीं है, इनका त्याग तो मेरे लिये प्रत्यक्ष मौत है। इनको मैंने बड़े परिश्रम और विविध क्लेश सहकर प्राप्त किया है, इनका असमय में ही मैं कैसे त्याग कर दूं? मेरे जैसे प्रमादी जीव आप द्वारा प्रतिपादित विरति का स्वरूप पूर्णतया समझ भी नहीं सकते। एक बात और कहूँ—ये धन-विषयादिक पदार्थों का संचय मेरे जैसों के लिये भविष्य में भी चित्त की प्रसन्नता के कारण बन सकते हैं, किन्तु आपके द्वारा प्ररूपित अनुष्ठानों की साधना तो राधावेध के समान अत्यन्त कठिन है, मेरे जैसे प्राणी के लिये यह साधना कैसे शक्य हो सकती है? मेरी दृष्टि में आपका यह सारा प्रयत्न योग्य स्थान पर नहीं हो रहा है। कहा भी है —

महतापि प्रयत्नेन तत्त्वे शिष्टेऽपि पण्डितै :।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि, प्रयासस्तेषु निष्फल :॥

अर्थात् पण्डितों के विशेष प्रयत्न से तत्त्व जानकर भी प्राणी अपनी प्रकृति की ओर ही आकर्षित होता है। (प्राणी अपनी प्रकृति (स्वभाव) को छोड़ता नहीं, जैसा होता है वैसा ही बना रहता है।) अतएव ऐसे प्राणियों के प्रति प्रयत्न करना व्यर्थ है। फिर भी आपश्री का मुझे विरति प्रदान करने का आग्रह ही है तो, जो धन-विषय-कलत्रादि मेरे पास हैं, उनके विद्यमान रहते हुए आप अपना चारित्र व्रत मुझे प्रदान कर सकते हों तो प्रदान करें। अन्यथा मुझे इस चारित्र की कोई आवश्यकता नहीं है।

[२४]

प्रतीति के लिये दृढ़ प्रयत्न

जीव ने जब इस प्रकार उत्तर दिया तब हितकारी परमान्न भोजन को ग्रहण करने के सम्बन्ध में प्राणी को विमुख देखकर जैसे कथा प्रसंग में कहा गया

* पृष्ठ ८०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है: -"उसके ऐसे वचन सुनकर धर्मबोधकर मन में सोचने लगा—अहो ! अचिन्त्य शक्ति वाले महामोह की चेष्टा को देखो ! यह बेचारा द्रमुक सब रोगों का घर, इस तुच्छ भोजन में इतना आसक्त है कि उसकी तुलना में मेरे उत्तम भोजन को भी तृण के समान हेय समझता है, किन्तु मैंने पहले जो निश्चय किया था कि इस सम्बन्ध में इस पामर का कोई दोष नहीं है। दोष तो इसके चित्त को व्यथित करने वाले इसके रोगों का है। फिर भी यथाशक्ति इस बेचारे गरीब को पुनः शिक्षा देनी चाहिये। शायद इससे उसका मोह टूटे या कम हो और बेचारे का हित हो सके।" वैसे ही धर्मगुरु भी इस जीव के सम्बन्ध में विचार करते हैं अहो ! इस प्राणी का महामोह तो कोई अपूर्व प्रकार का ही दिखाई देता है। यह महामोह के प्रभाव से अनन्त दुःखों का हेतु और राग-द्वेषादि अन्तरंग रोगों को बढ़ाने वाले धन-विषयादि पर एक मात्र हितकारी बुद्धि रखने वाला बन गया है। यह भगवद् वचनों को जानता हुआ भी अनजान बन गया है, जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा रखता हुआ भी अश्रद्धा दिखाता है और मेरे द्वारा निर्दिष्ट समस्त कष्टों का नाश करने वाली विरति को अंगीकार नहीं करता है। इसमें इस बेचारे संतप्त जीव का क्या दोष है ? यह सब तो कर्मों का दोष है। ये कर्म ही जीव के अच्छे अध्यवसायों को छिन्न-भिन्न कर देते हैं।

उपदेशक की मानसिक स्थिरता

मैं इसको प्रतिबोध देने के कार्य में प्रवृत्त हुआ हूँ; अतः इसके व्यवहार को देखकर मुझे विरक्त नहीं होना चाहिये। कहा भी है: -

अनेकशः कृता कुर्याद् * देशना जीवयोग्यताम् ।
यथा स्वस्थानमाधत्ते शिलायामपि मृद्घटः ।।
यः संसारगतं जन्तुं बोधयेज्जिनदेशिते ।
धर्मे हितकरस्तस्मान्नान्यो जगति विद्यते ।।
विरतिः परमो धर्मः सा चेन्मत्तोऽस्य जायते ।
ततः प्रयत्नसाफल्यं किं न लब्धं मया भवेत् ।।३।।

अन्यच्च महान्तमर्थमाश्रित्य यो विधत्ते परिश्रमम् ।
तत्सिद्धौ तस्य तोषः स्यादसिद्धौ वीरचेष्टितम् ।।४।।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन पुनः प्रत्याय्य पेशलैः ।
वचनैर्बोधयाम्येनं गुरुश्चित्तेऽवधारयेत् ।।५।।

अर्थात्—अनेक प्रकार से बारम्बार देशना दी जाए तो वह प्राणी में योग्यता उत्पन्न करती है; जैसे कठोर प्रस्तर-शिला पर मिट्टी का घड़ा नियमित रूप से रखने से वह धीमे-धीमे अपना स्थान (गड्ढा) बना लेता है।

---

* पृष्ठ ८१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसारी प्राणियों के लिये श्रेष्ठ और हितकारी जिनोपदिष्ट धर्म के अतिरिक्त विश्व में कोई भी उपाय नहीं है।

विरति (त्यागभाव) सर्वश्रेष्ठ धर्म है। मेरे द्वारा यह धर्म इस जीव को किसी भी प्रकार प्राप्त हो जाए तो मेरा प्रयत्न सफल हो जाएगा। तब मैं समझूंगा कि मैंने क्या नहीं प्राप्त किया? अर्थात् सब कुछ प्राप्त कर लिया।

महान् अर्थ का आश्रय (विशिष्ट कार्य का अवलंबन) लेकर जो परिश्रम करते हैं, उस कार्य की सिद्धि पर उनको आत्म सन्तोष होता है। यदि कदाचित् कार्य सिद्ध न हो तो भी ग्लानि नहीं होती, क्योंकि विशिष्ट कार्य की सफलता के लिये उसने साहस के साथ पूर्ण परिश्रम किया था।

अतएव पुनः सब प्रकार के प्रयत्न कर, इसे विश्वस्त कर मधुर वचनों से इसको प्रतिबोधित करूं, इस प्रकार सद्धर्माचार्य अपने हृदय में निश्चय करते हैं।

विशिष्ट प्रयत्न

धर्मबोधकर ने विचार कर निष्पुण्यक की शंकाओं को निरस्त करते हुए उसको विशेष रूप से समझाने का प्रयास किया उसका विस्तृत विवेचन कथा-प्रसंग में कर चुके हैं। सारांश इस प्रकार है—इस प्रकार धर्मबोधकर ने विशेष रूप से उस कुत्सित भोजन के दोष भिखारी निष्पुण्यक को समझाए। यह भोजन त्याग करने योग्य ही है यह भी युक्तिपूर्वक समझाया। निष्पुण्यक की जो मान्यता थी कि भविष्य में इससे ही मेरा निर्वाह होगा उसे भी दूषित बताया। स्वयं के परमान्न की प्रशंसा की ओर उसे यह भी समझाया कि यह भोजन तुझे सर्वदा मिलेगा। जल और अंजन से तुझे जो शान्ति मिली, उसका उदाहरण देकर उसका आत्म-विश्वास जागृत करते हुए कहा—"द्रमुक! अधिक क्या कहूँ? तू इस कुभोजन का त्याग कर और अमृततुल्य मेरा स्वादिष्ट भोजन ग्रहण कर।" वैसे ही सद्धर्माचार्य भी इसी परिपाटी का अवलम्बन लेते हैं; जो इस प्रकार है—

चारित्र रस का आस्वादन

आचार्यदेव भी जीव को समझाते हैं कि धन-विषय-कलत्रादि रागादि दोषों के कारण हैं, ये ही कर्म-संचय के कारण हैं और ये ही अनन्त संसार में परिभ्रमण के कारण हैं। ऐसा स्पष्ट करते हुए पुनः कहते हैं—हे भद्र! ये धनादि पदार्थ बड़े कष्ट से प्राप्त होते हैं, इनका उपभोग करते समय भी अनेक कष्ट झेलने पड़ते हैं और भविष्य में भी ये अनेक कष्टों को पैदा करते हैं, अतएव ये धनादि त्याग करने योग्य हैं। हे भद्र! मोह के कारण अभी तेरी विपरीत चित्तवृत्ति होने से तेरी बुद्धि इन भोगों को सुन्दर मान रही है। पुनः यदि तू एक बार भी चारित्र-रूपी रस का आस्वादन कर लेगा तो हमारे कहे बिना ही तू इन भोगों की ओर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाममात्र की भी स्पृहा (अभिलाषा) नहीं करेगा। ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो अमृत को छोड़कर विष की चाहना करेगा? हम चारित्रिक परिणामों का जो उपदेश देते हैं, यह उपदेश तुझे यदा-कदा ही प्राप्त होता है; इससे तू यह समझता है कि भविष्य में तेरा निर्वाह कैसे होगा? तू यह मानता है कि धन-विषय-कलत्रादि प्रकृतिभाव में रहने के कारण सदा तेरे पास रहेंगे और तेरा कालान्तर में भी निर्वाह होता रहेगा, ऐसा मत मान। कारण यह है कि धनादि पदार्थ धर्मरहित प्राणियों के पास सर्वदा नहीं रहते हैं। यदि कदाचित् रहें तो भी विचारशील प्राणी कदापि उन्हें निर्वाहक के रूप में अंगीकार नहीं करते। समस्त प्रकार के रोगों को बढ़ाने वाला यह कुपथ्य भोजन सर्वदा प्राप्त होता रहे, * तो यह पोषक है ऐसा कोई मान नहीं सकता। ये धनादि समस्त अनर्थ-परम्परा की जड़ है, अतः ये सुन्दर और पोषक हैं यह बुद्धि रखना अयुक्त है। जीव की यह प्रकृति भी नहीं है। जीव की स्वाभाविक प्रकृति तो अनन्त ज्ञान दर्शन वीर्य और आनन्दरूप है और धन-विषयादि का प्रतिबन्ध तो कर्ममलजनित वैभाविक प्रकृति है, अर्थात् विभ्रम है, ऐसी तत्त्ववेदी पुरुषों की मान्यता है। जब तक जीव अपने वीर्य (पौरुष पराक्रम) की स्फुरणा नहीं करता तब तक चारित्रिक परिणाम भी अल्पकालिक ही रहते हैं, वीर्य को उल्लसित करने पर चारित्रिक भाव दृढ़ और स्थायी बने रहते हैं और ये ही भाव इस जीव के कालान्तर में निर्वाहक बनने की योग्यता रखते हैं; अतएव विचारशील प्राणियों को चारित्रिक भावों के लिए प्रयत्न करना चाहिये। इसी चारित्रिक पराक्रम से महापुरुष परीषह और उपसर्गों को सहन करते हैं, धनादिक का तिरस्कार करते हैं, रागादि समूह का निर्दलन करते हैं, कर्मजाल का उन्मूलन करते हैं, संसार सागर को तिर कर पार कर जाते हैं और सतातानन्दमय शिवधाम (मोक्ष) में निवास करते हैं। अब तू ही बता कि मैंने जो तुझे ज्ञान प्रदान किया, क्या उससे तेरा अज्ञानमय अन्धकार नष्ट नहीं हुआ? अथवा मेरे से प्राप्त दर्शन द्वारा तेरे कुविकल्प रूपी बेताल का नाश नहीं हुआ? फिर तू मेरे वचनों पर अविश्वास कर विकल क्यों हो रहा है? अतएव हे भद्र! संसारवर्धक इन धनादिकों का त्याग कर और मेरी दया (तद्दया) द्वारा लाया हुआ चारित्र-(परमान्न) को तू ग्रहण कर। इस चारित्र-भोजन को ग्रहण करने से तेरे समस्त कष्टों की परम्परा नष्ट हो जाएगी और तू शाश्वत स्थान प्राप्त करेगा।

[२५]

शर्त स्वीकार

जैसा पहले कहा जा चुका है:—"धर्मबोधकर के इस वक्तव्य को सुनकर निष्पुण्यक ने कहा —भट्टारक महाराज! मुझे अपने भोजन पर इतना स्नेह है कि उसके त्याग की कल्पना मात्र से मैं पागल होकर मर जाऊँगा, ऐसा मुझे लग रहा है। अतः हे महाराज! यह मेरा भोजन मेरे पास रहने दें और आप अपना भोजन मुझे

* पृष्ठ ८२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रदान करें।" वैसे ही आचार्यदेव के बारम्बार प्रेरित करने पर गलिआ बैल के समान पैरों को पसारता हुआ यह जीव भी इसी प्रकार कहता है—भगवन्! मैं धन-विषय-कलत्रादि को किसी भी कीमत पर छोड़ नहीं सकता, अतएव आप यदि इनको मेरे पास विद्यमान रखते हुए किसी प्रकार का चारित्र दे सकते हों तो दीजिये।

भोजन-ग्रहण

जैसा कह चुके हैं:—"उसका ऐसा अत्यन्त आग्रह देखकर धर्मबोधकर ने मन में सोचा—इस बेचारे को समझाने का अभी तो बाधारहित कोई दूसरा उपाय नहीं है, अतः वह अपना कुत्सित भोजन भले ही अपने पास रखे, अपना यह भोजन तो इसे देना ही चाहिये। जब उसे इस स्वादिष्ट भोजन का रस लगेगा तब अपने आप ही वह उस कुभोजन का त्याग कर देगा। इस प्रकार सोचकर धर्मबोधकर ने कहा—"तेरा भोजन तेरे पास रहने दे और हमारा यह परमान्न भोजन ग्रहण कर तथा उसका उपभोग कर।" दरिद्री ने कहा—"ठीक है, मैं ऐसा करूँगा।" उसका ऐसा उत्तर सुनकर धर्मबोधकर ने अपनी पुत्री तद्दया को संकेत किया और उसने द्रमुक को भोजन दिया। दरिद्री ने तुरन्त उस भोजन को ग्रहण किया और वहीं बैठे-बैठे उसे खाया। इस भोजन से उसकी भूख शान्त हुई और उसके शरीर के अंग-अंग पर जो रोग थे वे प्रचुर मात्रा में कम हुए। पहले आँख में सुरमे के प्रयोग से और फिर पानी पीने से उसे जो सुख प्राप्त हुआ था उससे अनन्तगुणा सुख इस सुन्दर भोजन के करने से प्राप्त हुआ और उसके हृदय में अतीव प्रसन्नता हुई। ऐसा होने पर उस दरिद्री को धर्मबोधकर पर प्रीति और भक्ति उत्पन्न हुई। उसके मन में जो शंका थी वह दूर हुई और वह हर्षित होकर बोला—"मैं भाग्यहीन हूँ, सब प्राणियों में अधम हूँ और आप पर मैंने किसी प्रकार उपकार नहीं किया फिर भी आप मुझ पर इतनी अनुकम्पा (दया) दिखा रहे हैं, अतः हे प्रभो! आपके सिवाय दूसरा कोई भी मेरा नाथ नहीं है।"

सर्वविरति और देशविरति

जब यह जीव विविध प्रकार से उपदेश देने और प्रयत्न करने पर भी धनादि के प्रति प्रबल मूर्च्छाभाव का त्याग नहीं करता तब धर्माचार्य जीव के सम्बन्ध में इस प्रकार विचार करते हैं—यह प्राणी इस समय सर्वविरति चारित्र को ग्रहण नहीं कर सकता, अतः इस समय इसे देशविरति चारित्र ही * प्रदान करूं। देशविरति का पालन करने से इस जीव में विशेष गुण उत्पन्न होंगे और इन गुणों से उसकी महत्ता को समझ कर, यह स्वतः ही समस्त प्रकार के सम्पर्कों (बन्धनों) का त्याग कर सर्वविरति अंगीकार कर लेगा। इस प्रकार दूरदृष्टि से विचार कर उसको देशविरति चारित्र प्रदान करते हैं।

---

* पृष्ठ ८३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपदेश का क्रम

उपदेश देने का क्रम इस प्रकार है—सर्वप्रथम तो प्रयत्नपूर्वक सर्वविरति का उपदेश देना चाहिये, किन्तु जब यह प्रतीत हो कि यह जीव सर्वविरति से विमुख है, ग्रहण करने में असमर्थ है तब देशविरति की प्ररूपणा करनी चाहिये अथवा देशविरति चारित्र प्रदान करना चाहिये। यदि प्रारम्भ में देशविरति का ही उपदेश दिया जाय तो प्राणी उसी पर अनुरक्त होकर सीमित ही त्याग कर सकेगा और सूक्ष्म (स्थावर) जीव हिंसा की आचार्य से अनुमति प्राप्त कर लेगा; अतएव प्रारम्भ में सर्वविरति का ही उपदेश देना चाहिये। यहाँ देशविरति चारित्र का पालन थोड़ा सा परमान्न-भक्षण के समान समझें। इस चारित्र का पालन करने से जीव की विषयाकांक्षा रूपी भूख किंचित् शान्त हो जाती है, राग-द्वेषादि अन्तरंग (भाव) रोग क्षीण हो जाते हैं, ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति से जो सुख हुआ था उससे अत्यधिक प्रवर्धमान स्वाभाविक स्वास्थ्यरूप प्रशम सुख प्राप्त होता है, श्रेष्ठ भावनाओं के योग से चित्त प्रमुदित हो जाता है और देशविरति चारित्र के दायक धर्माचार्य के प्रति 'ये मेरे परमोपकारी हैं' ऐसी भावना उत्पन्न हो जाती है तथा उनके प्रति भक्ति जागृत होती है। फलतः यह जीव सद्गुरु को इस प्रकार कहता है—'आप ही मेरे नाथ हैं।' मैं तो खराब लकड़ी के समान गाढकर्मी अधम जीव हूं, फिर भी आपने स्वसामर्थ्य और प्रयत्नों से मुझे योग्य और गुणों का पात्र बना दिया।

[२६]

औषध-सेवन का उपदेश

निष्पुण्यक के कथन को सुनकर धर्मबोधकर ने उसे पुनः समझाया, उसका विस्तार से वर्णन मूल कथा-प्रसंग में कर चुके हैं, उसका सारांश यह है:—"इस प्रसंग में धर्मबोधकर ने उस रंक को अपने पास बुलाया, मधुर वचनों से उसके चित्त को आनन्दित किया, उसके सन्मुख महाराजा के गुणों की प्रशंसा की, स्वयं का अनुचरभाव दिखाते हुए उसे दासत्व स्वीकार करने को प्रेरित किया, महाराज के विशेष गुणों को जानने की उसके हृदय में उत्कंठा जागृत की, ज्ञान-प्राप्ति से ही व्याधियाँ कम होती हैं और इन व्याधियों को नष्ट करने का कारण तीन औषधियाँ हैं उसे समझाया। इन औषधियों का बारम्बार प्रयोग करने का निर्देश दिया, इनके प्रयोग से ही महाराज की सेवा सफल होती है और महाराज की आराधना से महाराज के समान ही विशाल राज्य प्राप्त होता है ऐसा प्रतिपादित किया।"

ऐसे ही धर्मगुरु भी ज्ञान-दर्शन-सम्पन्न और देशविरतिधारी इस जीव को विशिष्ट स्थिरता प्रदान करने हेतु इसी प्रकार आचरण करते हैं। जैसे:—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आराधना और महाराज्य प्राप्ति

धर्माचार्य कहते हैं—"हे भद्र ! तूने जो कहा कि 'आप ही मेरे नाथ हैं' ये वचन तेरे जैसे जीवों के लिये तो ठीक हैं किन्तु साधारणतया तुझे ऐसा नहीं कहना चाहिये; क्योंकि तुम्हारा और हमारा नाथ तो परमात्मा सर्वज्ञ भगवान् ही है। वे ही त्रिभुवन के चराचर प्राणियों के पालक होने के कारण नाथ होने योग्य हैं। विशेषतया सर्वज्ञ-प्रणीत ज्ञान-दर्शन-चारित्र प्रधान दर्शन का जो पालन करते हैं उनके तो वे प्रमुख रूप से नाथ हैं ही। कितने ही महात्मा सर्वज्ञदेव का किंकर भाव स्वीकार कर, केवलज्ञानरूप राज्य प्राप्त कर, * समस्त विश्व को अपना किंकर बना लेते हैं। अन्य जो पापी प्राणी होते हैं वे तो सर्वज्ञदेव का नाम भी नहीं जानते। भविष्य में जिनका कल्याण होने वाला होता है उन्हीं प्राणियों को जब उनके कर्म-विवर (मार्ग) देते हैं तब ही इस दर्शन को प्राप्त करते हैं। तू इस पगोथिये पर चढ़ा है और स्वकर्मविवर ने तुझे यहाँ पहुँचाया है, अतएव तूने अन्तःकरण से सर्वज्ञदेव को स्वीकार किया है। इस सर्वज्ञदेव को प्राप्त करने के तरतमभेद से संख्यातीत स्थान हैं। तुझे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो और तू स्वयं भविष्य में प्रगति करे, इसलिये हमारा यह प्रयत्न है। देव को सामान्यतया प्राणी जानते हैं किन्तु सद्गुरु-सम्प्रदाय के बिना उनके विशिष्ट स्वरूप (गुणों) को नहीं जान पाते। इस प्रकार धर्माचार्य जीव के सन्मुख भगवान् के गुणों का वर्णन करते हैं। स्वयं को भगवान् का सेवक बतलाते हैं और उसे भगवान् को विशेषकर नाथ के रूप में स्वीकार करने को समझाते हैं। वे भगवद्गुण-वर्णन द्वारा उन गुणों के प्रति जीव के हृदय में कौतुक (आश्चर्य) उत्पन्न करते हैं। उन विशिष्ट गुणों को जानने के लिए रागादि भाव-रोगों को क्षीण करने का उपाय ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप तीन औषधियां बतलाते हैं। इन औषधियों का प्रतिक्षण सेवन करने का उपदेश देते हैं। इन औषधियों के सेवन को ही भगवान् की आराधना बतलाते हैं और भगवदाराधन से ही विशाल राज्य की प्राप्ति के समान ही परमपद प्राप्ति होती है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं। जीव द्वारा गृहीत गुणों को विशेष रूप से दृढ़ करने के लिए उसके हित को लक्ष्य में रखकर आचार्यदेव ऐसा कहते हैं।

[२७]

दरिद्री का आग्रह

जैसा कि कथानक में पहले कह चुके हैं:—"धर्मबोधकर की उपर्युक्त मधुर बातें सुनकर निष्पुण्यक का हृदय आह्लाद से भर गया और उनकी बात को स्वीकार करते हुए भी वह कुछ सोचकर बोला—स्वामिन् ! आपने इतनी बात कही तो भी मैं अभी भी अपने तुच्छ भोजनरूपी पाप को छोड़ नहीं सकता। इसके

* पृष्ठ ८४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतिरिक्त मुझे जो भी कर्त्तव्य करना हो, उसे आप कहिये।" वैसे ही चारित्र मोहनीय कर्म से विह्वल चित्त वाला यह जीव भी इस प्रकार विचार करता है—अरे! ये धर्माचार्य तो विशिष्ट प्रयत्नपूर्वक मुझे बारम्बार धर्मदेशना देने लग गये हैं। फलतः यह स्पष्ट है कि ये धन-विषय-कलत्रादि का मेरे से त्याग करवाना चाहते हैं किन्तु मैं किसी भी अवस्था में इनका पूर्णरूपेण त्याग नहीं कर सकता, तब क्यों नहीं मेरे विचार इनको स्पष्ट रूप से बतला दूँ? जिससे ये धर्माचार्य व्यर्थ में ही बारम्बार अपना कण्ठ शोषण न करें। ऐसा निश्चय कर यह जीव धर्माचार्य को अपना अभिप्राय स्पष्ट शब्दों में बता देता है।

[२८]

निष्पुण्यक को उपदेश

जैसा कि पहले कह चुके हैं:—"दरिद्री के ऐसे वचन सुनकर धर्मबोधकर सोचने लगा—इसे तो मैंने तीनों औषधियों का उपयोग करने की बात कही, तो उसके उत्तर में यह क्या कहने लग गया? अरे हाँ, अब समझा, अभी तक इसके मन में ऐसा ही विचार चल रहा है कि मैं अभी उसके साथ जो बातचीत कर रहा हूँ, उसका उद्देश्य किसी भी तरह उससे कुभोजन का त्याग करवाने का ही है। ऐसे विचार वह तुच्छतावश कर रहा है। सच कहा है—'क्लिष्ट (मलिन) चित्त वाले प्राणी सम्पूर्ण जगत् को दुष्ट मानते हैं और शुद्ध विचार वाले प्राणी सम्पूर्ण संसार को पवित्र मानते हैं।' दरिद्री को अपने प्रयत्न का विपरीत अर्थ लगाते देखकर धर्मबोधकर तनिक मुस्कराये और बोले—"तू तनिक भी घबरा मत। मैं तेरे पास से अभी तेरा तुच्छ भोजन नहीं छुड़ाता। तू बिना डरे अपना भोजन कर सकता है। मैंने पहले जो तुझे कुभोजन का त्याग करने को कहा था, वह तो मात्र तेरे ही हित के लिए कहा था, पर जब तुझे यह बात रुचिकर नहीं है तो मैं अब इस सम्बन्ध में चुप रहूँगा।* पर तुझे क्या करना चाहिये, इस प्रसंग में अभी मैंने जो उपदेश दिया और महाराज का गुणगान किया, उसमें से तूने अपने हृदय में कुछ धारण किया या नहीं?" वैसे ही इस जीव के सम्बन्ध में धर्माचार्य चिन्तन करते हैं और उसको सम्बोधित कर कहते हैं वह धर्मबोधकर के चिन्तन और वक्तव्य के समान स्पष्ट है, अतः इसकी योजना स्वकीय बुद्धि के अनुसार कर लेनी चाहिये।

[२९]

निष्पुण्यक की स्वीकारोक्ति

धर्मबोधकर का प्रश्न सुनकर दरिद्री निष्पुण्यक ने उसका उत्तर बड़े विस्तार से दिया, जो कथा-प्रसंग में विस्तार से पहले कह चुके हैं। पूर्व प्रसंग का

* पृष्ठ ८५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारांश यह है:—"दरिद्री ने कहा—हे स्वामिन्! आपने जो कुछ भी कहा उसमें से कोई भी बात मेरे ध्यान में नहीं रही। आपके कर्णप्रिय मधुर भाषण को सुनकर मैं केवल अपने मन में प्रसन्न हो रहा था।" यह कहते हुए निष्पुण्यक ने अपनी मनोदशा का स्पष्टतया वर्णन किया। अन्त में जब धर्मबोधकर ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया—"तेरा भोजन तू अपने पास रख, मैं इसका त्याग करने के लिए नहीं कह रहा हूँ।" तब उसके मन का भय और आकुलता दूर हो गई। निराकुल होकर पुनः निष्पुण्यक ने शेष समस्त आत्मवृत्तान्त सुनाते हुए अपनी मानसिक स्थिति का स्पष्ट शब्दों में निरूपण किया और अन्त में कहा कि—"हे नाथ! मेरी ऐसी मानसिक दशा है, मेरा चित्त अस्थिर है, ऐसी स्थिति में मुझे क्या करना चाहिये, वह आप मुझे फिर से कहें जिसे कि मैं उसे अपने चित्त में धारण कर सकूं।"

धर्माचार्य का प्रश्न

धर्मबोधकर के समान ही सद्धर्माचार्य भी उसके चित्तगत अभिप्राय को जानकर उसको कहते हैं—सब वस्तुओं का त्याग करना तुम्हारे लिये शक्य नहीं है तो हम भी तुम्हें सर्वत्याग को नहीं कहते हैं। हमने तो केवल तुम्हें स्थिर (दृढ़) करने के लिये ही तुम्हारे सन्मुख विविध प्रकार से भगवद्गुण-वर्णनादि का प्रतिपादन किया है। तूने जो थोड़ा-थोड़ा सा सम्यग् ज्ञान दर्शन चारित्र को ग्रहण किया है उसे निरन्तर पोषण करते हुए वृद्धि करते रहो, इसीलिये तुझे हम उपदेश देते हैं। अब तुम ही कहो कि तुम्हें कुछ समझ में आया या नहीं?

व्यग्रता का प्रदर्शन

धर्मगुरु का प्रश्न सुनकर जीव उत्तर देता है—भगवन्! मैं आपके कथन को सम्यक् प्रकार से ग्रहण नहीं कर सका, समझ नहीं सका, तथापि आपकी कोमल, कर्णप्रिय और मधुर वचनावली सुनकर मन ही मन आनन्दित होता हूँ और विचार करता हूँ कि गुरुजी की व्याख्यान (भाषण) कला बहुत बढ़िया है। जब-जब भी आप कुछ कहते हैं तब मैं शून्य-हृदय होने (कुछ भी समझ में न आने) पर भी आँखें फाड़कर ऐसा दिखावा करता हूँ कि मैं अत्यन्त बुद्धिमान् हूँ और एक-एक शब्द समझ रहा हूँ। इस बनावट के साथ बैठा हुआ सुनता रहता हूँ। ऐसी स्थिति में भगवन्! मेरे जैसे प्राणी में विशिष्ट तत्त्वज्ञान की स्थिरता कैसे हो सकती है? क्योंकि, जब भी आप असाधारण प्रयास के साथ तत्त्वज्ञान के गूढ़ रहस्यों का प्रवचन करते हैं उस समय में मैं मानों ऊंघते हुए के समान, पीए हुए के समान, उन्मत्त के समान, मनरहित सम्मूर्छिम के समान, शोकापन्न के समान, मूर्छित के समान अथवा शून्य-हृदय के समान मेरी चित्तवृत्ति होने के कारण में कुछ भी ध्यान नहीं देता हूँ।

❀ पृष्ठ ८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवन् ! मेरी चित्त की जो ऐसी विकृत दशा हो रही है, उसका कारण भी आप सुनें। अनन्तर यह जीव गुरुदेव के सन्मुख पश्चात्ताप-पूर्वक अपने अशिष्ट व्यवहार की गर्हा करता है, अशिष्ट भाषण के लिये खेद प्रकट करता है, पूर्व समय के अविचारित कुविकल्पों को प्रकट करता है, अथ से इति तक अपनी पूर्ण आत्मकथा का निवेदन करता है और अन्त में धर्माचार्य से कहता है—भगवन् ! मैं जानता हूँ कि मेरा परमहित करने की लालसा से ही आप विषयादिक की निन्दा करते हैं, संग-त्याग का वर्णन करते हैं, इनका त्याग करने वाले त्यागियों के प्रशमसुख की प्रशंसा करते हैं और उससे प्राप्त होने वाले परमपद की श्लाघा करते है; * परन्तु मैं तो कर्मों से परतन्त्र (पराधीन जकड़ा हुआ) हूँ। जैसे भैंस का दही और बैंगन का अधिक मात्रा में भक्षण करने पर ऊँघ दूर नहीं होती, जैसे अमन्त्रित तीव्र विष पीने पर विह्वलता (मूर्च्छा) दूर नहीं होती वैसे ही धन-विषय-कलत्रादि पर चिरकालीन सम्पर्क के कारण अनादिकाल से चली आ रही मूर्च्छा को दूर करने में मैं तनिक भी शक्तिमान नहीं हूँ। इस मूर्च्छा से विह्वल चित्त होने के कारण, जैसे प्रगाढ़ निद्रा में सुप्त पुरुष को जोर-जोर से चिल्लाकर कोई उठाता है तो उसके शब्द निद्राधीन को कर्णकटु और उद्वेगकारी प्रतीत होते हैं वैसे ही आपकी भगवद् वाणी सम्बन्धी धर्मदेशना भी मुझे प्रबल उद्वेगकारी और अप्रिय लगती थी। जब भी मैं देशना सुनते हुए आपकी वाणी में रही हुई मधुरता, गम्भीरता, उदारता, भाव-सौन्दर्य पर ऊहापोह करता था तब यदा-कदा बीच-बीच में मेरा चित्त भी आह्लादित हो जाता था। अनन्तर जब आपने कहा कि, "तू अशक्त है अतएव हम सर्वस्व त्याग नहीं कराते" तब कहीं जाकर मेरा मानसिक भय दूर हुआ और निराकुल होकर अपनी समस्त आत्मकथा को आपके सन्मुख कहने में सक्षम हो सका। अन्यथा तो जब-जब भी आप देशना देने को प्रवृत्त होते थे तब-तब मेरे चित्त में संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते रहते थे - अरे ! ये तो स्वयं निःस्पृह हैं इसीलिये मुझ से भी धन-विषय-कलत्रादि का त्याग करवाना चाहते हैं अर्थात् अपने जैसा मुझे बनाना चाहते हैं किन्तु मैं तो इनको छोड़ने में सक्षम नहीं हूँ; फलतः ये निरर्थक प्रयास कर रहे हैं। इस प्रकार मेरे मन में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प चलते रहते थे किन्तु प्रबल भय के कारण अपने विचार प्रकट करने में समर्थ नहीं हो सका था। अब मेरा आपसे अनुरोध है कि मुझे क्या करना चाहिये ? इसे आप मेरी शक्ति को लक्ष्य में रखकर मुझे निर्देश प्रदान करें।

[३०]

औषध-सेवन के योग्य अधिकारी

निष्पुण्यक के आत्म-निवेदन के पश्चात् का वर्ण्य-विषय मूलकथा में विस्तार से प्रतिपादित कर चुके हैं। उसका निष्कर्ष यह है :—"दरिद्री निष्पुण्यक के आत्म-वृत्तान्त को सुनकर, कृपालु धर्मबोधकर ने पहले जो बातें संक्षेप रूप में

* पृष्ठ ८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसको बतलाई थीं उन्हीं को यहाँ उसे विस्तार से समझाते हुए कहा—विमलालोक अंजन, तत्त्व प्रीतिकर तीर्थजल और महाकल्याणक परमान्न ये हमारी तीनों औषधियाँ अभूतपूर्व चमत्कारी हैं। इन औषधियों का सेवन करने के लिये कौन सा जीव योग्य है और कौन सा अयोग्य ? इस सम्बन्ध में महाराजाधिराज सुस्थित के सम्प्रदाय (परम्परा) में जो निश्चित विधान (नियम) बना हुआ है, उसी के आधार से अधिकारी के लक्षण निश्चित करके हम इन औषधियों का सेवन कराते हैं। पुनः धर्मबोधकर ने कहा—हे भद्र ! तुम्हारा रोग अत्यन्त कष्टसाध्य है, असाधारण प्रयत्नों के बिना तुम्हारे रोग उपशान्त हो जाएँ ऐसा दिखाई नहीं देता। अतः तुम अनवरत सावधानी और प्रयत्नपूर्वक अपना चित्त स्थिर करते हुए इस राजमन्दिर में सुखपूर्वक रहो और समस्त रोगों को समूल नष्ट करने में महाराज की इन अभूतपूर्व औषधियों का अहर्निश (प्रतिदिन) नियमित रूप से सेवन करो। यह मेरी पुत्री तद्दया तुम्हारी परिचारिका है। यह तद्दया तुम्हें समय-समय पर औषधियाँ देती रहेगी।' धर्मबोधकर ने जो बात विस्तारपूर्वक कही उसे द्रमुक ने स्वीकार की। द्रमुक ने अपना भिक्षापात्र सदा के लिए एक स्थान पर रख दिया और उसकी रक्षा करते हुए, उसका कुछ समय इस स्थिति में व्यतीत हो गया।" उक्त प्रसंग की जीव के साथ तुलना इस प्रकार है :—

धर्माचार्य का पुनः कथन

जब यह जीव निश्छल हृदय से अपनी आप बीती अक्षरशः निवेदन करते हुए निर्देश मांगता है, मुझे अब क्या करना चाहिये ? तब सद्धर्माचार्य भी उस पर अनुकम्पा (दया) लाकर, स्वयं ने जो इस जीव को उपदेश दिया था किन्तु मोहग्रस्त होने के कारण इस जीव ने उस ओर लक्ष्य नहीं दिया था, उसी उपदेश को पुनः विस्तार के साथ उसे सुनाते हैं। अनन्तर यह जीव कालान्तर में भी धर्म-भ्रष्ट न हो जाए और यह अपने धर्म में सर्वदा दृढ़ रहे, इस बात को लक्ष्य में रखते हुए धर्माचार्य उसके सन्मुख * धर्म-सामग्री की दुर्लभता का प्ररूपण करते हैं, राग-द्वेषादि भाव-रोगों की प्रबलता पर विवेचन करते हैं और यह भी प्रतिपादित करते हैं कि जीव स्वतंत्र नहीं है; क्योंकि कर्म-परतन्त्र होने के कारण कर्मों के निर्देशानुसार कार्य करता है, इत्यादि विषयों का प्रतिपादन करते हुए सद्गुरु इस जीव को कहते हैं—हे भद्र ! जैसी सामग्री से तुम सम्पन्न हो वैसी सामग्री अधन्यों (भाग्यहीनों) को कदापि प्राप्त नहीं होती। हम भी अपात्र (अयोग्य) व्यक्तियों पर किसी प्रकार का प्रयास नहीं करते; क्योंकि जिनेश्वर देवों की यह आज्ञा है कि जो जीव योग्य हों उन्हीं को ज्ञान दर्शन चारित्र प्रदान करना चाहिये, अयोग्य प्राणियों को नहीं। अयोग्य जीवों को प्रदान करने से ज्ञानादि उनके स्वार्थ के साधक नहीं बनते, प्रत्युत

* पृष्ठ ८७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विपरीत प्रकार की उपाधियां और अनर्थ–परम्परा की बढ़ोत्तरी करते हैं। कहा भी है :—

धर्मानुष्ठानवैतथ्यात् प्रत्यपायो महान् भवेत् ।
रौद्रदुःखौघजनको दुष्प्रयुक्तादिवौषधात् ।।

अर्थात् जैसे औषध का सेवन योग्य रीति से न किया जाय तो वह लाभ के बदले हानि पहुँचाती है वैसे ही धर्मानुष्ठान का विपरीत आचरण करने से वह भयंकर दुःखों को उत्पन्न करता है।

गुरु-परम्परा

हे भद्र ! इस भगवद् आज्ञा का ज्ञान हमें सुगुरु-परम्परा से प्राप्त हुआ है। भगवत्कृपा से ही हम जीवों की योग्यता और अयोग्यता के लक्षणों को जानते हैं। ज्ञान दर्शन चारित्र के माध्यम से ही जीव की साध्यता-असाध्यता, योग्यता-अयोग्यता का परीक्षण सफलतापूर्वक किया जा सकता है, ऐसा भगवान् ने प्रतिपादन किया है।

सुसाध्य अधिकारी

जो जीव प्रारम्भिक अवस्था में हों फिर भी उनके सन्मुख यदि ज्ञान-दर्शन-चारित्र का कथन किया जाए तो वे उसे सुनकर प्रसन्न होते हैं, जिनको इन तत्त्वों पर अत्यधिक प्रीति हो और इन औषधों का सेवन करने वाले जीवों की श्रेष्ठता का जिनके मानस पर प्रतिभास पड़ता हो, जो सुखपूर्वक इन औषधियों को ग्रहण करते हों और जिनको इन औषधियों के सेवन मात्र से तत्काल ही विशेष अन्तर प्रतीत होता हो, तो वे जीव लघुकर्मी होने के कारण शीघ्र ही मोक्ष जाने की योग्यता रखते हैं। जैसे सुन्दर काष्ठपट्टिका पर सहजता से चित्र-निर्माण किया जा सकता है वैसे ही इन जीवों को समझें। राग-द्वेषादि भाव रोगों का नाश करने में ऐसे जीव सुसाध्य की कोटि में आते है, ऐसा समझें।

कष्टसाध्य अधिकारी

जिन प्राणियों के समक्ष प्रारम्भ में ज्ञानादि रत्नत्रयी की बात की जाये तो उसे सुनकर जिन्हें अरुचि होती है, अनुष्ठान परायण व्यक्तियों का जो तिरस्कार करते हैं, धर्माचार्य द्वारा विशिष्ट प्रयत्न करने पर जो प्रतिबोध को प्राप्त होते हैं, औषध त्रयी ग्रहण करने में हिचकिचाहट करते हैं, जिनको इन औषधियों के सेवन से तत्काल में लाभ नहीं दिखाई देता, अर्थात् बहुत समय बाद इन औषधियों का सामान्य प्रभाव दिखाई देता है और जो पुनः पुनः अतिचार (दोष) लगाते हैं, ऐसे जीव निश्चय ही गुरुकर्मी होने के कारण दीर्घकाल के पश्चात् मोक्ष जाने की योग्यता अर्जित करते हैं। मध्यम प्रकार की काष्ठपट्टिका पर चित्रालेखन में जैसे शिक्षक की आवश्यकता होती है वैसे ही इस प्रकार के जीव सद्गुरु की ओर से बारम्बार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रेरित होने पर ही योग्यता प्राप्त करते हैं। भावरोगों की शान्ति के लिए इस प्रकार के प्राणियों को कष्टसाध्य कोटि में मानना चाहिये।

असाध्य अधिकारी

जिन प्राणियों के समक्ष ज्ञानत्रयी औषध की बात की जाए तो उन्हें ये बातें तनिक भी अच्छी नहीं लगतीं, शताधिक प्रयत्नों के पश्चात् यदि इन्हें ये औषधियाँ प्रदान की जाए तो भी वे उसे ग्रहण नहीं करते, उपदेष्टा (उपदेशक-धर्मगुरु) पर भी विद्वेष रखते हैं, ऐसे प्राणी महापापी और अभव्य होते हैं। फलतः ये अभव्य प्राणी ज्ञानत्रयी औषध के लिए पूर्णतया अयोग्य होते हैं। भाव-व्याधि का नाश करने में ऐसे जीव असाध्य की कोटि में आते हैं, ऐसा समझें।

चेष्टाओं से अधिकारी का निर्णय

हे सौम्य! भगवत् कृपा से हमने सुसाध्य, कष्टसाध्य और असाध्य प्राणियों के लक्षणों का ज्ञान प्राप्त किया है। इन्हीं लक्षणों के आधार पर हम जीव की योग्यता और अयोग्यता का अंकन करते हैं अर्थात् यह इसके योग्य अधिकारी है या नहीं? सुसाध्य, कष्टसाध्य और असाध्य में से किस कोटि का है? निश्चित करते हैं। जिस प्रकार तुमने अपना आत्म-स्वरूप (आत्म-कथा) कहा है वैसा ही हम भी तेरा स्वरूप देख रहे हैं। तू परिशीलना (नियन्त्रण) योग्य कष्टसाध्य जीव है।* तू कष्टसाध्य होने से जब तक तेरी रागादि व्याधियों का नाश करने के लिए हम असाधारण प्रयास नहीं करेंगे तब तक तेरी व्याधियों का शमन नहीं हो सकता। फलतः हे वत्स! यदि तू इस समय सब प्रकार के सम्बन्धों का त्याग करने में शक्तिमान नहीं है तो फिलहाल इस विशाल सर्वज्ञ-शासन में शुद्धभाव पूर्वक मन को दृढ़ कर, बाह्य आकांक्षाओं का त्याग कर और अचिन्त्य (अनन्त) वीर्यातिशय से जो भगवान् समस्त दोषों का नाश करने में समर्थ हैं उन परमेश्वर को तू परिपूर्ण भक्ति से अपने हृदय में अनवरत स्थापित कर तथा देशविरति चारित्र में स्थिर रह। तू इस ज्ञान-दर्शन-चारित्र का प्रतिदिन अधिक से अधिक परिमाण में आराधन कर। तू इस रत्नत्रयी की उत्तरोत्तर क्रम से विशिष्ट, विशिष्टतर और विशिष्टतम आसेवना करता हुआ बढ़ता जा। इस ज्ञानत्रयी की विशिष्ट सेवना से ही तेरे राग-द्वेषादि भावरोगों का उपशमन हो सकेगा, अन्यथा इन भावरोगों को नाश करने का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

इस प्रकार मार्गदेशना देने वाले सद्धर्माचार्य के हृदय में जो इस जीव के प्रति दया उत्पन्न होती है उसी को यहाँ तद्दया के नाम से जीव की परिचारिका वर्णित की गई है, ऐसा समझें। यह तद्दया परिचारिका परमार्थतः धर्माचार्य के

---

* पृष्ठ ८८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हृदयगत निर्देशों का परिपालन करने में पूर्णतया सक्षम होती है, अर्थात् तदनुसार ही जीव की परिचर्या करती है (ऐसा उपनय समझें)।

तदनन्तर यह जीव उसी समय सद्गुरु के वचनों को अंगीकार करता है, यावज्जीवन आपके निर्देशानुसार ही कर्त्तव्यों का पालन करूँगा, ऐसा दृढ़ निश्चय (प्रत्याख्यान) करता है और देशविरति का पालन करता हुआ कितने ही समय तक सर्वज्ञ-शासन-मन्दिर में निवास करता है। साथ ही यह जीव धन-विषय-कलत्र और कुटुम्बादि का आधारभूत भिक्षापात्र (आयु कर्म) के समान स्वयं के जीवितव्य का भी पालन करता है।

इसी बीच वहाँ निवास करते हुए जो कुछ घटित हुआ उसका अब वर्णन करते हैं।

[३१]

औषध-सेवन से लाभ और अपथ्य भोजन से हानि

जैसा पहले कह चुके हैं:—'तद्दया रात-दिन उसे तीनों औषधियाँ देती रही पर प्रमुक को अभी भी अपने कुभोजन पर अत्यधिक आसक्ति रही जिससे उसे औषधियों पर पूर्ण विश्वास नहीं हो पाया।" इस कथन की जीव के साथ तुलना इस प्रकार करें—आचार्यदेव की दया इस जीव को विशेष रूप से बारम्बार ज्ञानत्रयी औषध प्रदान करती है तथापि कर्म-परतन्त्र और धनादि पर गाढ़ासक्ति होने के कारण यह जीव इस दया-औषध को अधिक महत्व नहीं देता, अर्थात् इस दया का अधिक लाभ नहीं उठा पाता।

जैसे कथानक में निष्पुण्यक "मोहवश अपने पास का कुभोजन अधिक खा लेता और तद्दया द्वारा दिया हुआ भोजन बहुत ही कम खाता।" वैसे ही महामोह से मारा हुआ यह जीव धनोपार्जन, विषयभोग आदि सांसारिक कार्यों में गाढ़ानुराग के साथ व्यस्त रहता है और धर्माचार्य द्वारा दयापूर्वक प्रदत्त व्रत-नियमादि का अनादरपूर्वक यदा-कदा थोड़ा बहुत पालन करता है अथवा कभी पालन नहीं भी करता है। जैसे "तद्दया जब उसे कहती तब वह कभी-कभी थोड़ा सुरमा आँख में डालता।" वैसे ही यह जीव भी गुरुदेव की दया से प्रेरित होने पर और उनके अनुरोध को ध्यान में रखकर कभी-कभी थोड़ा बहुत ज्ञान का अभ्यास करता है; सर्वदा नहीं। जैसे कथा में निष्पुण्यक "तद्दया द्वारा बारम्बार प्रेरित करने पर थोड़ा सा तीर्थजल पीता।" वैसे ही यह जीव भी प्रमादवश होकर जब अनुकम्पा-परायण धर्मगुरु बारम्बार प्रेरित करते तब सम्यग् दर्शन को * उत्तरोत्तर प्रदीप्त करता हुआ आगे बढ़ता किन्तु अपनी इच्छा से या उत्साह से नहीं।

---

* पृष्ठ ८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुत्सित भोजन में बढ़ोत्तरी

जैसे पहले कथा-प्रसंग में कह चुके हैं:—"तद्दया विश्वासपूर्वक उसे महाकल्याणक भोजन प्रचुर मात्रा में देती, पर वह थोड़ा खाकर बाकी अपने भिक्षा-पात्र में डाल देता। उसके तुच्छ भोजन के साथ इस सुन्दर भोजन की मिलावट हो जाने से यह उच्छिष्ट भोजन निरन्तर बढ़ता रहता और रात-दिन खाने पर भी समाप्त नहीं होता। अपने भोजन में इस प्रकार वृद्धि देखकर वह अत्यधिक प्रसन्न होता पर किसके प्रताप से और किस कारण से उसके भोजन में वृद्धि हो रही है, इस बात पर वह कभी विचार नहीं करता। केवल अपने भोजन में आसक्त वह निष्पुण्यक तीनों औषधियों के प्रति निरन्तर कम रुचि वाला होने लगा और स्वयं सब कुछ जानते हुए भी अज्ञानी बनकर साँसारिक मोह में अपना समय व्यतीत करने लगा। अपना अपथ्यकारी तुच्छ भोजन रात-दिन खाने से उसका शरीर तो अवश्य हृष्ट-पुष्ट हुआ पर तीनों औषधियों का अरुचि से कभी-कभी थोड़ा-थोड़ा सेवन करने से उसकी व्याधियों का समूल नाश नहीं हुआ। महाकल्याणक भोजन वह इतना थोड़ा ले रहा था और सुरमे तथा जल का प्रयोग भी यदा-कदा करता था, फिर भी उसे प्रचुर लाभ तो हुआ और उसकी व्याधियाँ भी कम हुईं, पर वस्तु-स्वरूप का बराबर भान न होने से और अपथ्य भोजन का अधिक सेवन करने से उसके शरीर पर कुभोजन के विकार निरन्तर दिखाई देते थे। अपथ्य भोजन के विशेष उपभोग से कई बार उसे उदरशूल होता, कई बार शरीर में दाह-ज्वर होता, कई बार मूर्च्छा (घबराहट) आ जाती, कभी ज्वर आ जाता, कभी सर्दी-जुकाम हो जाता, कई बार जड़ (संज्ञाहीन) हो जाता, कई बार छाती और पसलियों में दर्द होता, कई बार उन्मादित-सा (पागल) हो जाता और कई बार पथ्य भोजन पर अरुचि हो जाती। इस प्रकार ये सब रोग उसके शरीर में विकार उत्पन्न कर, कई बार उसे त्रास देते थे।" वैसे ही इस जीव के साथ भी होता है; जो इस प्रकार है—

अणुव्रत का माहात्म्य

किसी समय में चातुर्मास के प्रारम्भ में दयालु आचार्य इस जीव पर दया लाकर विशेषरूप से विरति ग्रहण-हेतु अणुव्रत की विधि बतलाते हैं। उसे सुनकर यह जीव तीव्र संवेग के कारण त्याग की भावना भी करता है किन्तु चारित्रावरणीय कर्म की प्रबलता के कारण तथा स्वयं की मन्दवीर्यता के कारण वह कोई-कोई व्रत नियम अल्परूप में ग्रहण करता है। जैसे तद्दया द्वारा निष्पुण्यक को बारम्बार भोजन देने पर भी वह उसमें से थोड़ा सा भोजन लेता वैसे ही आचार्य की अनुकम्पा से प्राप्त चारित्र-भोजन को यह जीव भी अल्प मात्रा में ही लेता। दयालु आचार्य के अनुरोध पर यह जीव अनिच्छापूर्वक कुछ व्रत भी ग्रहण कर लेता था। इस कथन को जिस प्रकार निष्पुण्यक शेष भोजन को अपने भोजन में मिला देता था, उसी के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समान समझें। अनिच्छापूर्वक मन्द संवेग के कारण ग्रहण किये हुए व्रत भी इस भव या परभव में अवश्य ही धन-विषयादि के साधनों की अभिवृद्धि करते ही हैं। इस कथन को सुन्दर भोजन की मिलावट से उच्छिष्ट भोजन की बढ़ोत्तरी के सदृश समझें। मन्द संवेग द्वारा गृहीत व्रत-नियमों के प्रभाव से प्राप्त हुए धन-विषयादि का अनवरत उपभोग करते रहने पर भी व्रत-नियमों में दृढ़ होने के कारण धन-विषयादि सामग्री समाप्त नहीं होती। अर्थात् जैसे-जैसे धन-विषयादि सामग्री का उपभोग करता रहता है वैसे-वैसे व्रत-नियमों के प्रभाव से अन्य सामग्रियाँ प्राप्त होती जाती हैं। यह जीव तो मनुष्य भव अथवा देव भव में अपनी सम्पत्ति की निरन्तर वृद्धि देखकर हर्षित हो जाता है परन्तु यह पामर जीव यह नहीं सोचता कि ये धनादि सामग्री तो धर्म के प्रभाव से ही प्राप्त होती है, इसमें हर्ष करने जैसा क्या है? वस्तुतः यह तो धर्म के प्रभाव से ही बढ़ती है, तो धर्म-सम्पादन ही युक्त है। वस्तु-स्थिति का ज्ञान न होने से यह जीव विषयादि में अनुरक्त होकर ज्ञान, दर्शन और देशविरति चारित्र की आराधना में शिथिल हो जाता है। जानता हुआ भी अनजान की तरह मोहदोष के कारण अपना समय निरर्थक ही खो देता है। इस प्रकार जहाँ तक इस जीव का मन धनादि में चिपका हुआ रहता है और धर्मानुष्ठान की ओर कम आदर रहता है वहाँ तक चाहे जितना भी काल व्यर्थ में बिता दे परन्तु उसके रागादि भावरोगों का * नाश नहीं होता। सद्गुरु के अनुग्रह से मन्द संवेग होने पर भी यदि यह जीव अल्प मात्रा में भी धर्मानुष्ठान करता है तो उसे गुणों की प्राप्ति होती है और उसके भावरोगों का उपशमन होता है।

आत्म-स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण जब यह जीव धन-विषय-कलत्रादि पर प्रबल अनुराग रखता है, अधिक परिग्रह रखता है, महाजाल के समान वाणिज्य-व्यापार करता है, खेतीबाड़ी करता है और इसी प्रकार के अन्य धन्धे करता है तब राग-द्वेषादि भावरोगों को बढ़ने का ठोस अवसर मिल जाता है। जैसे व्याधियों को बढ़ने का दृढ़ कारण मिल जाने से व्याधियाँ बढ़ने लगती हैं और उससे प्राणी दुःखी होता है वैसे ही ये भावरोग भी बढ़ जाने से अनेक प्रकार के विकारों के प्रभाव से इस जीव को प्रभावित करते हैं। ऐसे समय में अनिच्छा से ग्रहण किये हुए सदनुष्ठान भी इस जीव का बचाव करने में सक्षम नहीं होते। यह जीव कभी अकाल में शूल की पीडा के समान धन-व्यय की चिन्ता से पीडित होता है, कभी दूसरों के प्रति ईर्ष्या की दाह से जलता रहता है, कभी सर्वस्वनाश की कल्पना से मुमुर्षु की तरह मूर्छित हो जाता है, कभी कामज्वर के सन्ताप से तड़फता रहता है, कभी ऋणदाता द्वारा बलपूर्वक धन ले जाने पर शीत लहर से जड़ीभूत

* पृष्ठ ९०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने के समान निस्पन्द हो जाता है, कभी लोगों द्वारा 'अहो ! यह जानकार होकर भी कैसे विपरीत आचरण कर रहा है, इससे तो जडमूर्ख भी अच्छा' सुनकर खेद को प्राप्त करता है, कभी इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोग की व्यथा से वह पांसलियों और हृदय में उठने वाले शूल के समान त्रस्त हो जाता है, कभी प्रमादी जीव मिथ्यात्व रूपी उन्माद से संतप्त हो जाता है और कभी उसे सदनुष्ठानरूपी पथ्यकारी भोजन पर अत्यधिक अरुचि हो जाती है। इस प्रकार अपथ्य सेवन में अनुरक्त यह जीव देशविरति चारित्र के मार्ग पर चलता हुआ भी अनेकविध विकारों से ग्रस्त होकर दुःखी बना रहता है।

[३२]

तद्या द्वारा उद्बोधन

तदनन्तर का कथानक मूल कथा-प्रसंग में विस्तार से दिया जा चुका है, उसका सारांश निम्नलिखित है:—

"इस प्रकार व्याधियों एवं पीडा से घिरे हुए और रोते हुए निष्पुण्यक को तद्या ने देखकर विचार किया और कहा–'अपथ्यकारी भोजन करने से ही तेरी ये सब बीमारियाँ बढ़ी हैं।' तद्या की बात सुनकर निष्पुण्यक ने कहा– 'इस तुच्छ और अपथ्य भोजन पर मेरी इतनी अधिक इच्छा रहती है कि मैं उसका स्वयं त्याग करने में तनिक भी समर्थ नहीं हूँ। फलतः अब आप ही मुझे इस अपथ्य भोजन का उपयोग करने से बार-बार रोकें।' तद्या ने उसकी बात स्वीकार की। पश्चात् तद्या के बार-बार रोकने से वह कुभोजन का थोड़ा-थोड़ा त्याग भी करने लगा जिससे उसकी व्याधियाँ कम होने लगीं। जब तद्दया पास में होती तो वह अपथ्य का त्याग करता, अन्यथा नहीं। तद्या तो पहले से ही सम्पूर्ण लोक की देख-रेख के लिए नियुक्त थी, अतः उसे तो अनन्त प्राणीगणों के सार-संभाल के काम में रुकना पड़ता था जिससे वह निष्पुण्यक के पास तो यदा-कदा ही आ पाती थी। तद्या की अनुपस्थिति में वह अपथ्य भोजन का सेवन करता था जिससे वह पुनः व्याधि-विकार से पीडित हो जाता था।"

निष्पुण्यक के समान जीव की भी ऐसी ही दशा होती है। यहाँ ध्यान में रखना चाहिये कि सद्गुरु को इस जीव पर जो दया आती है वही दया यहाँ मुख्य रूप से कार्यकर्त्री है। इसी बात को रूपक के आलोक में दया को प्रधान रूप से कर्त्री बताया है।

उपालम्भ

दयासमुद्र सद्धर्माचार्य जब इस प्रमादी जीव से पुनः मिलते हैं तो उसे सांसारिक उपाधिजन्य पीडाओं की आकुलता से क्रन्दन करते हुए पाते हैं तब वे उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपालम्भ देते हैं—भद्र ! मैंने तुझे पहले ही कहा था कि विषयासक्त जीव का मन सर्वदा सन्तप्त रहता है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, स्वाभाविक है। * जो प्राणी धनोपार्जन और उसके रक्षण में सर्वदा व्यस्त रहते हैं उनसे अनेक प्रकार की विपत्तियाँ दूर नहीं रहती, अर्थात् विभिन्न विपत्तियों से घिरा रहता है; तब भी तू विषयादि पर गाढासक्ति रखता है और ज्ञान दर्शन चारित्र जो समस्त क्लेशसमूह रूपी महा अजीर्ण का नाश करने वाले हैं तथा परम स्वास्थ्य (परम शान्ति) के कारण हैं उनको तू उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। ऐसी अवस्था में अब तू ही बता कि हम क्या करें ? यदि हम तुझे त्याग के सम्बन्ध में कुछ कहते हैं तो तू आकुल-व्याकुल हो जाता है। तेरे ऊपर अनेक प्रकार के उपद्रव होते रहते हैं, यह हमारी दृष्टि से छिपा हुआ नहीं है, फिर भी हम अनदेखी कर जाते हैं और चुप बैठे रहते हैं। तेरी आकुलता के भय से तुझे गलत रास्ते पर जाते हुए भी नहीं रोकते हैं। जो प्राणी ज्ञान दर्शन चारित्र का आदर करते हैं, असत्कार्यों का परिहार करते हैं और इस रत्नत्रयी का अनुष्ठान करते हैं वे ही इन विकारों को दूर करने में सक्षम हो सकते हैं, अनादर और उपेक्षा करने वाले प्राणी नहीं। हमारे देखते हुए भी तू रागादि भाव-रोगों से पीडित रहता है तब तुम्हारे गुरु होने के कारण लोगों की दृष्टि में हमें भी उपालम्भ का पात्र बनना पड़ता है। गुरु द्वारा दिये गये इस उपालम्भ को तद्दया द्वारा निष्पुण्यक को दिये गये उपालम्भ के तुल्य समझें।

इच्छा, आसक्ति और भावना

गुरुदेव का इस प्रकार उपालम्भ सुनकर जीव ने उत्तर देते हुए कहा—भगवन् ! अनादिकालीन संस्कारों के कारण तृष्णा लोलुपता आदि के भाव मुझे मोहित करते हैं। तृष्णा लोलुपता के वशीभूत होने के कारण आरम्भ (हिंसा) और परिग्रह के कटुफलों को जानता हुआ भी मैं इनको छोड़ नहीं सकता। ऐसा होते हुए भी मेरी ओर आप उपेक्षाभाव न रखें तथा प्रयत्न पूर्वक असत्प्रवृत्तियों से मुझे रोकें। इससे संभव है कि अभी तो मैं दोषों का थोड़ा-थोड़ा त्याग कर रहा हूँ किन्तु भविष्य में कदाचित् आपके प्रभाव से परिणतियों के परिवर्तन होने पर समस्त दोषों को त्याग करने की शक्ति प्राप्त कर सकूं।

तद्दया का उद्यम

धर्माचार्य जीव की प्रार्थना को स्वीकार करते हैं और किसी-किसी समय जब जीव प्रमादाचरण करता है तब उसे उस आचरण से रोकते हैं। धर्माचार्य के निर्देशानुसार आचरण (प्रवृत्ति) करने से अभी तक अशुभ प्रवृति के कारण जीव को जो पीडायें होती थी उनका उपशमन होने लगा और धर्माचार्य के प्रसाद से ज्ञानादि गुणों का विकास होने लगा। जैसे तद्दया के कथनानुसार प्रवृत्ति करने से

* पृष्ठ ९१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निष्पुण्यक ने किंचित् स्वास्थ्य लाभ प्राप्त किया वैसे ही इसे भी समझें। विशिष्ट उज्ज्वल परिणाम न होने के कारण यह जीव भी जब गुरु महाराज प्रेरित करते हैं तब ही स्वहितकारी शुभ प्रवृत्ति का आचरण करता है, परन्तु गुरु महाराज की प्रेरणा के अभाव में यह जीव अपने सत्कर्त्तव्यों के प्रति शिथिल हो जाता है और पुनः असत्कार्य, आरम्भ (हिंसा) एवं परिग्रह की प्रवृत्तियों के जंजाल में फंस जाता है। इससे रागादि भावरोग वेग के साथ बढ़ने लगते हैं जिससे मानसिक तथा शारीरिक अनेक व्यथाएँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। जब प्राणी की ऐसी अवस्था हो जाती है वही उसकी विह्वलता है। इसे निष्पुण्यक की विह्वलता के सदृश समझें। धर्माचार्य जिस प्रकार इस जीव को सदनुष्ठान की ओर बारम्बार प्रेरित कर सन्मार्ग पर ले आते हैं उसी प्रकार प्रेरित कर सन्मार्ग पर लाने के लिए और भी बहुत से जीव होते हैं। समस्त जीवों पर अनुग्रह करने में संलग्न होने के कारण जिस-जिस समय जो जीव सम्पर्क में आता है उसी को वे प्रेरित कर सकते हैं। यही कारण है कि सर्वदा गुरु महाराज का सानिध्य प्राप्त न होने से यह जीव शेषकाल में स्वयं के लिए अहितकारी अशुभ प्रवृत्तियों का आचरण करने लगता है। उस समय उसे कोई रोकने वाला न होने से पूर्वोक्त अनर्थ-परम्परा प्रारम्भ हो जाती है। इस कथन को जैसे तद्दया की अनुपस्थिति में निष्पुण्यक अपथ्य भोजन का सेवन करता है, ❀ उससे पुनः उसके रोग बढ़ते हैं और अनेक प्रकार के विकार पैदा होते हैं वैसे ही जीव के साथ होता है।

[३३]

सद्बुद्धि की नियुक्ति

अनन्तर के घटनाचक्र का मूल कथा-प्रसंग में विस्तार से प्रतिपादन कर चुके हैं, उसका निष्कर्ष यह है :—"धर्मबोधकर ने निष्पुण्यक को पुनः व्याधियों से पीडित देखकर उससे इसका कारण पूछा। उसके उत्तर में निष्पुण्यक ने अपनी समस्त वास्तविकता बताते हुए कहा—'हे नाथ! आप मेरे लिए अब ऐसी व्यवस्था करें कि फिर मुझे स्वप्न में भी पीडा न हो।' निष्पुण्यक की बात सुनकर धर्मबोधकर ने कहा—'यह तद्दया अन्य अनेक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण तुझे अपथ्य सेवन से रोक नहीं पाती है। अतः जो निरन्तर तेरी सार संभाल कर सके ऐसी व्यग्रता रहित अन्य परिचारिका की नियुक्ति कर देता हूँ, किन्तु तुझे उसके समस्त निर्देशों का पालन करना होगा।' निष्पुण्यक की स्वीकृति प्राप्त कर धर्मबोधकर ने उसकी सार-संभाल के लिए असाधारण चातुर्यपूर्ण सद्बुद्धि नामक परिचारिका की नियुक्ति कर दी। पश्चात् सद्बुद्धि के सम्पर्क से और उसके निर्देशानुसार आचरण करने से निष्पुण्यक की अपथ्य भोजन पर लोलुपता दूर हुई। इससे इसके रोग क्षीण होने लगे, विकार दूर होने लगे, शारीरिक सुख का किंचित्

❀ पृष्ठ ९२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुभव होने लगा और उसके आनन्द में बढ़ोतरी होने लगी।" ये ही बातें जीव के साथ भी सम्यक् प्रकार से घटित होती हैं, जो इस प्रकार हैं—

स्वच्छ हृदय से स्वीकृति

जैसे अन्धा आदमी दौड़ता हुआ दीवार अथवा थंभे से टकराकर, चोट खाकर वेदना से विह्वल हो जाता है और अपनी व्यथा को दूसरों के सामने रो-रोकर कहता है वैसे ही यह जीव भी करता है। धर्माचार्य द्वारा निषिद्ध कार्यों को करने के फलस्वरूप उसे अनेक विपदाओं का अनुभव होने पर उसे गुरुवचनों पर विश्वास होता है और वह अपने अनेक प्रकार के कष्टों का गुरु के सन्मुख उल्लेख करता हुआ कहता है—भगवन्! आपके सदुपदेश के अनुसार जब मैं चोरी से कोई वस्तु ग्रहण नहीं करता, राज्यविरुद्ध कोई कार्य नहीं करता, वेश्या और परस्त्रीगमन आदि कोई दुष्कृत्य नहीं करता, इसी प्रकार के धर्म और लोक विरुद्ध कोई आचरण नहीं करता और महारम्भ (हिंसा) तथा परिग्रह में अनुराग नहीं रखता तब तो सब लोग मुझे साधु पुरुष समझते हैं, मुझ पर विश्वास करते हैं और मेरी प्रशंसा करते हैं। ऐसे समय में शारीरिक परिश्रमजन्य दुःख भी मुझे दुःख प्रतीत नहीं होता, हृदय में भी स्वस्थता और प्रसन्नता प्रतीत होती है। 'सद्धर्माचरण करने से सद्गति प्राप्त होती है' इन विचारों से मेरा चित्त आनन्दित हो जाता है। परन्तु, जब अशुभ प्रवृत्ति करते समय आपकी ओर से किसी प्रकार की रोक-टोक नहीं होती अथवा आपकी निषेधाज्ञा का यह सोचकर कि 'आपको क्या मालूम पड़ेगा' उल्लंघन कर निर्भयता के साथ जब मैं धन-विषय-कलत्रादि पर आसक्ति रखता हुआ तस्करी से धनादि पदार्थ ग्रहण करता हूँ, काम-लाम्पट्य के कारण वेश्यादि से गमन करता हूँ, इसी प्रकार के आप द्वारा निषिद्ध धर्म या लोक विरुद्ध कृत्य करता हूँ तब लोगों की निन्दा, राज्य की ओर से दण्ड तथा सर्वस्वहरण, शारीरिक खेद, मानसिक सन्ताप और समस्त प्रकार के अनर्थ इस लोक में ही प्राप्त करता हूँ। जब मैं यह सोचता हूँ कि 'असदाचरण ही पाप है और इस पाप से दुर्गति प्राप्त होती है' तब मेरा हृदय जलता रहता है और मैं तनिक भी सुख या शान्ति प्राप्त नहीं करता। फलतः हे कृपानाथ! अब आप कोई ऐसा प्रबन्ध कर दें जिससे मैं आपकी आज्ञानुसार आचरण करने रूप कवच पहनकर अनर्थ-सन्तति रूप बाणों के जाल से सुरक्षित रह सकूँ।

स्वायत्तता का महत्त्व

जीव के मन की स्पष्ट बातों को सुनकर धर्माचार्य ने कहा— भद्र! दूसरों के रोक-टोक करने से और दूसरों पर विश्वास होने से अकार्य रोके जा सकते हैं, परन्तु दूसरों का सहयोग यदा-कदा ही सम्भव होता है। * दूसरे के उपदेश से असत्कार्य के त्याग का विशेष सुन्दर फल तुझे अथवा दूसरों को कितना उत्तम मिलता है यह तूने देखा ही है। हम तो सर्वदा अनेक प्राणियों पर उपकार करने में

* पृष्ठ ९३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यस्त रहते हैं, अतएव सर्वदा तेरे निकट रहकर तुझे अशुभ कर्त्तव्यों से रोकना हमारे लिए संभव नहीं है। वस्तुतः जब तक तेरी स्वयं की सद्बुद्धि जागृत नहीं होगी तब तक जिसको हम त्याग करने का कहते हैं उसी पर तेरी आसक्ति होने के कारण होने वाली अनर्थ-परम्परा रोकी नहीं जा सकती। स्वयं की सद्बुद्धि ही एक ऐसी वस्तु है जो अन्य की प्रेरणा की अपेक्षा रखे बिना ही केवल स्वयं के प्रयासों से ही जीव को अशुभ प्रवृत्तियों से विमुख कर सकती है और इसी से तू भी अनर्थ-परम्परा से मुक्त हो सकता है।

सद्बुद्धि की महत्ता

यह सुनकर जीव ने कहा—भगवन्! यह सद्बुद्धि तो मुझे आपके प्रसाद से ही प्राप्त हो सकती है, अन्यथा नहीं। यह सुनकर गुरुदेव ने कहा—भद्र! मैं तुझे सद्बुद्धि देता हूँ। हमारे जैसों के तो सद्बुद्धि वचनाधीन ही रहती है। यह ध्यान रखना चाहिये कि सद्बुद्धि प्रदान करने पर भी जो पुण्यशाली प्राणी होते हैं वह उन्हीं को अच्छी तरह फलती है, अन्य भाग्यहीनों को नहीं। इसका कारण यह है कि पुण्यशाली प्राणी ही उसके प्रति आदरभाव रखते हैं, अन्य प्राणी नहीं। इस सद्बुद्धि के अभाव में ही देहधारियों को समस्त प्रकार के अनर्थकारी कष्ट होते हैं। वस्तुतः विश्व में समस्त प्रकार के कल्याणकारी सुखों की परम्परा का आधार सद्बुद्धि ही है। जो महात्मा इस सद्बुद्धि को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं वे ही वास्तव में सर्वज्ञदेव की आराधना करते हैं, अन्य नहीं। किसी भी प्रकार से तुझे सद्बुद्धि प्राप्त हो इसीलिये हम विस्तृत एवं विशेष उपदेश द्वारा तुझे समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं। यदि सद्बुद्धि रहित प्राणियों को कदाचित् व्यवहार से ज्ञान दर्शन चारित्र की प्राप्ति हो भी जाए और किन्हीं को ज्ञानादि प्राप्त न भी हो तो भी कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। कारण यह है कि इस प्रकार का व्यावहारिक (छिछला) ज्ञान स्वकार्य सिद्ध नहीं कर सकता। अधिक क्या कहूँ? सद्बुद्धि रहित पुरुष और पशु में कोई अन्तर नहीं होता। वस्तुतः यदि तू दुःख से घबराता है और सच्चे सुख की अभिलाषा रखता है तो हमारे द्वारा प्रदत्त इस सद्बुद्धि को प्रयत्नपूर्वक सुरक्षित रखना। तू यदि इस सद्बुद्धि को सम्यक् प्रकार से आदर के साथ सुरक्षित रख सका तो ऐसा हम मान लेंगे कि, तूने प्रवचन की आराधना की, त्रिभुवनपति सर्वज्ञ को बहुमान दिया, हमको सन्तुष्ट किया, लोकोत्तर वाहन (मार्ग) स्वीकार किया, लोक-संज्ञा (जडरुचि) का त्याग किया, सद्धर्म का आचरण किया और भव समुद्र से आत्मा को पार कर लिया। ऐसा ही तू भी समझ लेना।

इच्छा और प्राप्ति का परस्पर सम्बन्ध

सद्धर्माचार्य के ऐसे वचनामृत के प्रवाह से इस जीव का हृदय प्रफुल्लित हो गया और उसने आचार्य के वचनों को प्रमुदित हृदय से स्वीकार किया। इसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाद आचार्यदेव इस प्राणी को सदुपदेश देते हैं: -'जब तक यह जीव विपरीत ज्ञान के कारण दुःखदायी धन-विषय-कलत्रादि में सुख का आरोप करता है और सुखदायी वैराग्य, तप, संयम आदि में दुःख का आरोप करता है तब तक ही उसका दुःख के साथ सम्बन्ध होता है। जब यह जीव भलीभांति जान जाता है कि विषयभोगों की ओर प्रवृत्ति ही दुःख है और धनादि आकांक्षाओं को निवृत्ति ही सुख है तब उसकी समस्त कामनाएँ नष्ट हो जाने से उसे निराकुल स्वाभाविक सुख प्राप्त होता है और वह सतत आनन्द में रहता है।' ❀ अब मैं तेरे परमार्थ की बात कहता हूँ:— 'जसे-जसे यह जीव निःस्पृही होता जाता है वैसे-वैसे उसमें पात्रता (योग्यता) आती जाती है। पात्रता आने पर सब सम्पदाएँ सहज ही प्राप्त हो जाती हैं। जैसे-जसे प्राणी सम्पदाभिलाषी होता है वैसे-वैसे उसकी अयोग्यता का निश्चय करके सम्पदाएँ भी उससे बहुत दूर चली जाती हैं। फलतः तुझे भी दृढ़ निश्चय कर, सांसारिक पदार्थों के उपभोग की ओर अभिलाषा नहीं रखनी चाहिये। यदि तू वास्तव में इस प्रकार का आचरण करेगा तो तुझे कभी स्वप्न में भी मानसिक और शारीरिक पीडा की गन्ध भी नहीं मिलेगी।' गुरु महाराज के उक्त उपदेश को जीव अमृत के समान ग्रहण करता है। अब इस प्राणी को सद्बुद्धि प्राप्त हो गई है ऐसा समझकर धर्मगुरु अपने हृदय में निश्चय करते हैं कि अब यह जीव विपरीत मार्ग पर कभी नहीं जाएगा। इन विचारों से धर्मगुरु इस जीव के प्रति निश्चिन्त हो जाते हैं।

पीडा : गुण और प्रमोद

सद्बुद्धि प्राप्त होने पर यद्यपि यह जीव श्रावक अवस्था में रहता हुआ विषयों का उपभोग करता है, धनादि ग्रहण करता है तथापि इन पदार्थों के साथ सम्बन्ध होने पर भी गाढानुराग न होने से ये पदार्थ अतृप्ति या असंतोष के कारण नहीं बनते थे। ज्ञान दर्शन चारित्र के प्रति चित्त का अनुराग होने के कारण उसे जो भी और जितने भी परिमाण में धनादि पदार्थ प्राप्त होते थे उसी में वह जीव संतुष्ट रहता था, अर्थात् उतनी ही सामग्री उसके लिये संतोषदायक था। सद्बुद्धि के प्रभाव से वह ज्ञान दर्शन चारित्र की विशिष्ट प्राप्ति के लिए जितना प्रयत्न करता था, उतना अब वह धनादि की प्राप्ति के लिए नहीं करता था। फलस्वरूप उसके रागादि भावरोगों में नवीन वृद्धि नहीं होती थी और पुराने भाव-रोग क्षीण होते जाते थे। ऐसी अवस्था में भी कभी-कभी पूर्वोपार्जित कर्मों की परिणति के कारण शारीरिक और मानसिक पीडाएँ उत्पन्न हो जाती किन्तु तीव्र अनुबन्ध नहीं होने के कारण अधिक समय तक स्थिर नहीं रहती। इस कारण से इस जीव को सन्तोष के गुणों और असन्तोष के दोषों का अन्तर समझ में आने लगा और उत्तर गुणों की प्राप्ति से उसका चित्त प्रमुदित रहने लगा।

❀ पृष्ठ ६४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[३४]

सद्बुद्धि के साथ वार्ता

पहले कथा-प्रसंग में जो बात विस्तार से कही गई है उस पर संक्षेप में यहाँ विचार करते हैं:—"उस निष्पुण्यक ने एक दिन निराकुलता से सद्बुद्धि के साथ विचार-विमर्श किया। उसने सद्बुद्धि से कहा 'भद्रे ! मुझे आश्चर्य है कि अब मेरा शरीर और मन इतना प्रमुदित रहता है, इसका क्या कारण है ?' सद्बुद्धि ने उत्तर में कहा—'कुत्सित भोजन के प्रति तेरी लोलुपता की समाप्ति और विमलालोक अंजन आदि तीनों पथ्य एवं हितकारी औषधियों के नियमित सेवन से ही तुझे यह सफलता प्राप्त हुई है।' इसी प्रसंग को सद्बुद्धि ने युक्तिपूर्वक उसे समझाया।" यही बात इस प्राणी के साथ भी पूर्णतया घटित होती है।

सद्बुद्धि से प्रशम सुख

सद्बुद्धि के साथ विचार-विमर्श करने से इस प्राणी को यह बात विशेष रूप से ध्यान में आती है कि मेरे शरीर और मन में निवृत्ति स्वरूप स्वाभाविक सुख जो मुझे अभी प्राप्त हुआ है उसका प्रमुख कारण धन-विषय-कलत्रादि पर-पदार्थों पर आसक्ति का त्याग और ज्ञान दर्शन चारित्र के प्रति आदरभाव एवं सम्यक् आचरण ही है। यद्यपि पूर्व संस्कारों के कारण यह जीव विषयादि में प्रवृत्ति करता है तथापि उसमें सद्बुद्धि जागृत रहने के कारण वह इस प्रकार विचार करता रहता है:—'मेरे जैसे जीव को इस प्रकार का आचरण करना न युक्तिसंगत है और न शोभास्पद है।' इन विचारों के फलस्वरूप उसका विषयादि पदार्थों पर आसक्तिभाव नहीं होता और अनासक्त होने के कारण उनके प्रति तीव्र आकर्षण या आग्रह नहीं होता। यही कारण है कि इस जीव को प्रशम सुख प्राप्त होता है। सद्बुद्धि ने इस प्रकार इस प्राणी को युक्ति पुरस्सर समझाया, ऐसा समझें।

[३५]

पूर्ण त्याग के प्रति सचेष्ट

कथा-प्रसंग में कहा जा चुका है:—"प्राप्त हुए प्रशान्त सुख के रस में आनन्दित होकर * उस निष्पुण्यक ने सद्बुद्धि परिचारिका के सन्मुख इस प्रकार कहा:—'यदि ऐसी बात है तो मैं उस कुत्सित भोजन का सर्वथा त्याग ही कर देता हूँ जिससे मुझे उच्चकोटि का सुख भली प्रकार मिल सके।' निष्पुण्यक की बात सुनकर सद्बुद्धि ने उत्तर दिया 'बात तो बिल्कुल ठीक है, पर उसका त्याग सम्यक् प्रकार से समझ कर करना जिससे छोड़ने के बाद पूर्व प्रेमवश तुझे उसके लिए पहले जैसी आकुलता-व्याकुलता न हो। एक बार उसका त्याग करने के बाद फिर से उस पर

* पृष्ठ ९५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्नेह होने लगे, उससे तो उसका त्याग नहीं करना ही अच्छा है, क्योंकि तुच्छ भोजन पर मोह रखने से व्याधियाँ बढ़ जाती हैं। कुभोजन थोड़ा खाने से और तीनों औषधियों का सेवन अधिक करने से तेरी व्याधियाँ कम हुई हैं और तेरे शरीर में शांति आई है, यह भी अति दुर्लभ है। एक बार सर्वथा त्याग करने के बाद ऐसे तुच्छ भोजन की इच्छा करने वाले की व्याधियाँ महामोह के प्रताप से क्षीण नहीं हो सकतीं। इस सम्बन्ध में सम्यक् प्रकार से विचार करने के पश्चात् यदि तेरे मन में यह पूर्ण प्रतीति हो कि 'इसका वास्तव में त्याग करना चाहिये' तभी उत्तम पुरुषों को सर्वथा त्याग करना चाहिये। सद्बुद्धि का उत्तर सुनकर उसके मन में जरा घबराहट हुई, इससे वह अच्छी तरह से निश्चय नहीं कर सका कि उसको क्या करना चाहिये।" इस जीव के सम्बन्ध में भी ऐसी ही स्थिति बनती है।

सर्व संग-त्याग के लिए पर्यालोचन

गृहस्थावस्था में रहते हुए जब इस जीव की सांसारिक पदार्थों के प्रति लालसा समाप्त हो जाती है और ज्ञान दर्शन चारित्र के आचरण में दृढ़ानुराग हो जाता है तब उसे यह प्रतीत होता है कि वास्तविक सुख का स्वरूप क्या है और वह कहाँ है? यह ज्ञान होने पर उसे अविच्छिन्न रूप से प्रशम सुख (परम शांति) प्राप्त हो इसकी अभिलाषा उसके मन जागृत होती है। फलस्वरूप इस जीव के मन में समस्त पर-पदार्थों को त्याग करने की बुद्धि होती है। उस समय वह स्वयं की सद्बुद्धि के साथ गहराई से ऊहापोह करता है कि मैं सर्व संग का त्याग करने में समर्थ हूँ या नहीं? सद्बुद्धि पूर्वक पर्यालोचन करने से उसे प्रतीत होता है - इस अनादि संसार में चिरकालीन संस्कारों के कारण यह जीव विषयादि पदार्थों को अपना मानकर सहजभाव से आसक्तिपूर्वक प्रवृत्ति करता रहता है। यदि यह जीव समस्त दोषों से निवृत्तिरूप भागवती दीक्षा ग्रहण करके भी अनादिकालीन कर्मजनित पूर्व प्रवृत्तियों का अनुसरण कर, पुनः विषयादि पदार्थों के प्रति स्पृहा रखता है तो स्वयं की आत्मा को विडंबित करता है। इससे तो दीक्षा नहीं ग्रहण करना ही अधिक श्रेयस्कर है। *क्योंकि, तीव्र लालसा रहित होकर, विषयादि पदार्थों का उपभोग करता हुआ गृहस्थ (श्रावक) भी मुख्य रूप से ज्ञान दर्शन चारित्र का आचरण करता हुआ* द्रव्यस्तव का आश्रय लेकर कर्मरूप अजीर्ण का नाश करता जाता है और इससे रागादि भाव-रोगों को कम करता हुआ कर्मों को क्षीण करता जाता है। ऐसे भाव-*रोगों की कमी भी अनादिकाल से भवभ्रमण करते हुए इस जीव को पहले कभी प्राप्त* नहीं हुई थी, अतः भावरोगों की ऐसी क्षीणता इस जीव को प्राप्त हो जाए यह भी अत्यन्त दुर्लभ बात है। यदि प्रव्रज्या (भागवती दीक्षा) ग्रहण करने के पश्चात् विषयादि पदार्थों के प्रति आकांक्षाएँ जागृत होती हैं तो प्रतिज्ञा-भंग (प्रत्याख्यान भंग) के कारण चित्त में अत्यधिक सन्ताप होता है और रागादि भावरोगों की अत्यधिक वृद्धि होती है। फलतः गृहस्थावस्था (देशविरति अवस्था) में जो भाव-रोगों की कमी थी उतनी भी उसे प्राप्त नहीं होती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारित्र मोहनीय कर्म का उदय

जिस समय जीव स्वयं की सद्बुद्धि के साथ ऊहापोह करता है उसी समय सर्व संग-त्याग की बुद्धि को चारित्र मोहनीय कर्म के अंश उसे झकझोरते रहते हैं, इस कारण उसकी बुद्धि डांवाडोल हो जाती है। फलतः उसके वीर्य (पराक्रम) की हानि होती है और वह इस प्रकार के झूठे बहानों का आलम्बन लेता है। जैसे, यदि मैं दीक्षा ग्रहण कर लूं तो मेरे कुटुम्ब का क्या होगा? मेरे मुखड़े को * देखकर जीने वाले ये मेरे विरह में कितना दुःख प्राप्त करेंगे? क्या बिना अवसर ही इनका त्याग कर दूँ? अभी तक यह लड़का जवान भी नहीं हुआ है, लड़की अभी तक कुंवारी ही है, मेरी बहिन का पति परदेश गया हुआ है, अथवा मेरी बहिन विधवा है अतः इसका पालन भी मुझे ही करना चाहिये, मेरा यह भाई अभी घर का भार संभालने में शक्तिमान नहीं है, मेरे माता-पिता दोनों ही वृद्ध हैं. जर्जरित हो रहे हैं और उन दोनों का मेरे ऊपर अत्यधिक स्नेह है, मेरे ऊपर प्रगाढ प्रेम रखने वाली पत्नी अभी गर्भवती है और वह मेरे विरह में जीवित भी नहीं रह सकती। अतः अस्त-व्यस्त स्थिति वाले इस कुटुम्ब का मैं परित्याग कैसे करूं? अथवा मेरे पास विपुल धन-भंडार है, बहुत लोग मेरे कर्जदार हैं, मेरा विशाल परिवार और मेरे भाई लोग मेरा अच्छी तरह से आदर सत्कार करते हैं, इनका पालन-पोषण करना मेरा कर्त्तव्य है। अतः कर्जदारों से ऋण (धन) वसूल कर उसे परिवार और बन्धु-जनों में बांटकर, कुछ धन धर्म कार्य में लगाकर, गृहस्थ धर्म के समस्त कर्त्तव्यों को पूरा करने के पश्चात् माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर मैं स्वेच्छा से दीक्षा ग्रहण करूंगा। अतएव असमय में ही दीक्षा ग्रहण करने के विचारों से क्या लाभ है?

कातर प्राणी के बहाने

पुनः दीक्षा ग्रहण करना और उसका पालन करना अपने भुजबल से स्वयम्भूरमण समुद्र को तिरने के समान है, गंगा के वेगवान प्रबल प्रवाह के सामने तिरने के सदृश है, लोहे के चने चबाने के समान है, लोहे के मोदक खाने के समान है, छिद्रों से भरपूर कम्बल में सूक्ष्म पवन भरने के समान है, मेरु पर्वत को अपने मस्तक से भेदन करने के समान है, डाभ के अग्रभाग से समुद्र का माप लेने के समान है, तैलपूर्ण पात्र को लेकर सौ योजन तक दौड़ते हुए भी एक भी तैलबिन्दु न गिरने देने के समान है, दायें और बायें घूमते हुए आठ चक्रों के छेद में जाने वाले बाण के के द्वारा अष्टचक्र के ऊपर रही हुई पुतली की दाई आँख भेदन के समान है अर्थात् राधावेध-साधन के तुल्य है, पैर कहाँ पड़ रहे हैं ध्यान में रखे बिना ही तलवार की तीक्ष्ण धार पर चलने के समान है। क्योंकि, यहाँ (दीक्षा के पश्चात्) परीषह सहन करने पड़ते हैं, देवादि उपसर्गों का सामना करना पड़ता है, समस्त पापयोगों से

---

* पृष्ठ ९६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निवृत्ति लेनी पड़ती है, यावज्जीवन मेरुगिरि के भार के समान शील का बोझ उठाना पड़ता है, स्वयं को सर्वदा मधुकरीवृत्ति (गौचरी) से जीवन यापन करना पड़ता है, विकृष्ट तपस्या से देह को तपाना पड़ता है, संयम को आत्मभाव में लाना पड़ता है, राग-द्वेषादि का समूल नाश करना पड़ता है, अन्तर में स्थित अज्ञानरूपी अन्धकार के प्रसार को रोकना पड़ता है। अधिक क्या कहूँ ? प्रमाद-रहित चित्त से मोहरूपी महावैताल का नाश करना पड़ता है।

मेरा शरीर तो कोमल शय्या और स्वादिष्ट भोजन से पालित-पोषित है और मेरे मन के संस्कार भी वैसे ही हैं। ऐसी दशा में दीक्षा रूप महानतम बोझ को उठाने का मेरे में तनिक भी सामर्थ्य नहीं है। साथ ही यह बात भी सोचने की है कि जब तक सब प्रकार के शारीरिक और मानसिक द्वन्द्वों से मुक्त होकर दीक्षा ग्रहण न की जाए तब तक पूर्णतया शान्ति-साम्राज्य को प्राप्त कराने वाले और समस्त क्लेशों से छुड़ाने वाले * मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। ऐसी अवस्था में मुझे तो समझ ही नहीं पड़ती कि अब मैं क्या करूँ ? 'स्वयं को क्या करना चाहिये' इस सम्बन्ध में निर्णय लेने में अक्षम होने के कारण संदेह रूपी हिंडोले पर चढ़ा हुआ यह प्राणी कितना ही समय अपने ऊहापोह में ही बिता देता है।

[३६]

द्रमुक का शुभ संकल्प

तत्पश्चात् मूल कथा-प्रसंग में जो बात कही गई है उसका निष्कर्ष यह है :—"एक दिन उसने महाकल्याणक भोजन भरपेट खाने के बाद लीलामात्र से (हँसते हुए) थोड़ा सा कुभोजन भी खा लिया। उस समय अच्छा भोजन खाने से तृप्त हो गया था और सद्बुद्धि के पास होने से सुन्दर भोजन के गुण उसके चित्त पर अधिक असर करने लगे थे, जिससे वह विचार करने लगा—'अहो ! मेरा यह तुच्छ भोजन अत्यन्त खराब, लज्जाजनक, मैल से भरा, घृणोत्पादक, खराब रस वाला, निन्दनीय और सर्व दोषों का भाजन है।' इन विचारों के फलस्वरूप उसको अपने तुच्छ भोजन पर घृणा उत्पन्न हुई और इससे उसने अपने मन में निश्चय किया कि 'चाहे जैसे भी हो मुझे इस कुत्सित भोजन का त्याग करना ही चाहिये।' ऐसा दृढ़ संकल्प करके उसने सद्बुद्धि को आदेश दिया—'मेरे भिक्षापात्र में पड़ा हुआ कुभोजन फेंक दो और इस भिक्षापात्र को धोकर साफ कर दो।' यह सुनकर सद्बुद्धि ने कहा—'इस विषय में तुम्हें धर्मबोधकर से परामर्श लेकर ही इसका त्याग करना चाहिये।' अनन्तर निष्पुण्यक सद्बुद्धि के साथ धर्मबोधकर के पास गया और अपनी मनःस्थिति से उनको अवगत कराया। धर्मबोधकर ने उसे समझाया, उसके विचारों का परखा और इस सम्बन्ध में उसके दृढ़ निश्चयात्मक विचार जानकर निष्पुण्यक के

---

* पृष्ठ ९७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पास से कुत्सित भोजन का त्याग करवा दिया और पवित्र जल से उस पात्र को स्वच्छ करवाकर, उस पात्र को परमान्न भोजन से भर दिया। जिस दिन यह कार्य सम्पन्न हुआ उस दिन राजमन्दिर में महोत्सव मनाया गया और लोगों की जिह्वा पर आज तक जिसका नाम निष्पुण्यक था उसको आज से सब लोग सपुण्यक के नाम से पहचानने लगे।" इसी प्रकार की बातें गृहस्थावस्था में विद्यमान और दोलायमान (डाँवाडोल) बुद्धि वाले इस जीव के साथ भी कई बार घटती हैं। जैसे :—

विशेष शुद्ध अनुष्ठान

जब यह जीव प्रशम सुख के रस के आस्वादन का अनुभव कर लेता है तब सांसारिक प्रपंचों से विरक्त चित्त वाला होकर भी किसी प्रकार का आश्रय लेकर वह गृहस्थ जीवन में रहता है। वह सर्वत्याग किये बिना ही विशिष्टतर तप और नियमों को धारण कर प्रगति करता रहता है। निष्पुण्यक द्वारा परमान्न का अधिक उपभोग करने के समान ही इस उपनय को समझें। उक्त अवस्था में प्रवृत्ति करने वाला यह जीव अर्थोपार्जन और काम का सेवन करते हुए भी इन कार्यों के प्रति आदर (अनुराग) भाव नहीं रखता; इसे लीलामात्र से खराब भोजन खाने के तुल्य समझें।

वैराग्य के प्रसंग

गृहस्थावस्था में रहते हुए यदि कदाचित् भार्या विपरीत आचरण करती हो, पुत्र दुर्विनीत हो, पुत्री शिष्टाचार का उल्लंघन कर जाए, भगिनी भ्रष्ट आचरण करे, स्वकीय द्रव्य को धर्म कार्यों में व्यय करने पर भाइयों को अरुचिकर प्रतीत हो, माता-पिता दूसरों के सन्मुख आक्रोश व्यक्त करें या शिकायत करें कि यह तो घर-बार की ओर ध्यान भी नहीं देता है, बन्धुवर्ग दुराचारी हो, भृत्यगण आज्ञा का पालन न करते हों, स्वदेह का विविध भाँति से लालन-पालन करने पर भी यह शरीर कृतघ्न मनुष्य की तरह रोगादिक विकारों का प्रदर्शन करे और धन का भंडार बिजली के झबकारे के समान असमय (अल्प समय) में ही नष्ट हो जाता हो, उस समय चारित्र रूप परमान्न का भक्षण कर तृप्त हो जाने से इस जीव को यह प्रतीति होती है कि कुभोजन के समान ही ये समस्त पदार्थ नश्वर हैं; तब संपूर्ण संसार के विस्तार का यथावस्थित स्वरूप उसके मन में प्रतिभासित होता है। संसार स्वरूप का आभास हो जाने से इस जीव का मन संसार से विरक्त हो जाता है और उसके मन में संवेग उत्पन्न होता है। संवेग-पूर्ण मन होने से यह जीव विचार करता है—अरे! मुझे परमार्थ का ज्ञान होने पर भी मैं स्वकीय जीवन के हितकारी कार्यों को छोड़कर ❀ अभी तक भी गृही-जीवन में रह रहा हूँ! अर्थात् चारित्र ग्रहण नहीं करता! स्वजन-सम्बन्धी और धन-विषयादि का फल तो इस प्रकार का है! अर्थात् विपरीत

❀ पृष्ठ ९८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारी है। तथापि, इन पर पर्यालोचन (ऊहापोह) न करने के कारण ही मेरा इनके प्रति स्नेह और मोह दूर नहीं हो रहा है। यह निश्चित है कि अज्ञान लीला के कारण ही मैं इनके प्रति लुब्ध होकर विरक्तिपथ की ओर नहीं बढ़ पा रहा हूँ। इनकी अनर्थ-परम्परा को देखता हुआ भी व्यामूढ़ हृदय होकर मैं किसके लिए आत्म-वंचना करूँ? अतएव अच्छा यही है कि अन्तरंग और बहिरंग संग-समूह जो कचरे अथवा सेवाल के समान है और जो कोशेटा (रेशम का कीड़ा) के समान स्वयं को अपने तन्तुओं से जकड़ लेता है, का सर्वथा परित्याग कर दूँ।

मन की दृढ़ता

यद्यपि यह जीव ज्यों-ज्यों सर्वत्याग का विचार करता है त्यों-त्यों विषय आदि रस से स्निग्ध चित्त को यह त्याग सर्वथा दुष्कर प्रतीत होता है तथापि वह निश्चय करता है कि मुझे तो सर्वसंग का त्याग कर ही देना चाहिये, भविष्य में जो होना होगा, हो जाएगा। अरे! भविष्य में होना भी क्या है? इन समस्त असुन्दर पदार्थों का परित्याग करने पर भविष्य में मेरा बुरा भी क्या होगा? अरे! इसका त्याग करने पर तो जो आज तक कभी प्राप्त नहीं हुआ ऐसा अनुपम आनन्दोल्लास मन को प्राप्त होगा। जब तक यह जीव कीचड़ में फसे हुए हाथी के समान परिग्रह रूपी कीचड़ में फंसा हुआ रहता है तब तक ही उसे समस्त पदार्थों का त्याग करना दुष्कर प्रतीत होता है, किन्तु जब वह विषयरूपी दलदल से बाहर निकल आता है तब इस जीव में विवेक दृष्टि जागृत होने से वह धन-विषयादि पदार्थों की ओर दृष्टिपात भी नहीं करता। 'ऐसा कौन मूर्ख होगा जो विशाल साम्राज्य का अधिपति होने के बाद पुनः अपनी पूर्वावस्था चाण्डालपन की अभिलाषा करेगा?' ऐसा विचार करते हुए यह जीव दृढ़ निश्चय करता है कि सर्वसंग का परित्याग कर देना चाहिये। इनका त्याग करने से किसी प्रकार की हानि नहीं होने वाली है।

निष्पुण्यक : सपुण्यक

तदनन्तर यह जीव पुनः सद्बुद्धि के साथ पर्यालोचन कर निश्चय करता है कि इस सम्बन्ध में मुझे सद्धर्माचार्य से पूछना चाहिये। निश्चयानन्तर वह जीव धर्माचार्य के पास आकर विनय पूर्वक स्वयं के विचार निवेदन करता है। धर्मगुरु जीव के विचारों को ध्यान पूर्वक सुनते हैं। पश्चात् धर्माचार्य कहते हैं:—'भद्र! बहुत अच्छा, तेरे अध्यवसाय (विचार) बहुत ही उत्तम हैं, किन्तु तुझे यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि इस प्रशस्त मार्ग पर महापुरुष चलकर आगे बढ़े हैं फिर भी यह मार्ग कायर प्राणियों के लिए भयोत्पादक है। तू इस मार्ग पर चलना चाहता है तो तू दृढ़ धैर्य का आलम्बन अवश्य लेना। जो प्राणी धैर्य रहित और विकल चित्त वाले होते हैं वे इस मार्ग पर चलकर दूसरे किनारे तक नहीं पहुँच सकते। फलतः इस मार्ग पर कदम रखने से पूर्व तू पूरी तरह सोच समझकर दृढ़ निश्चय कर लेना।' इस प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरु महाराज ने जो विचार उसे बतलाये उन्हें निष्पुण्यक की परीक्षा कर दृढ़ करने के तुल्य समझें। धर्माचार्य की बात सुनकर यह जीव उनके वचनों को भावपूर्वक स्वीकार करता है। तदनन्तर सद्धर्माचार्य इसकी योग्यता का भलीभांति परीक्षण कर, अपने साथ में रहे हुए गीतार्थ श्रमणों के साथ विचार-विमर्श कर, पात्र समझ कर जीव को प्रव्रज्या (दीक्षा) प्रदान करते हैं। यहाँ समस्त सम्बन्धों का त्याग पूर्वोक्त निष्पुण्यक के कुभोजन त्याग के समान समझें। इस भव में इस जीव ने जो भी पाप किये हैं उन का क्षालन करने के लिए धर्माचार्य उसे प्रायश्चित्त प्रदान कर उसके मानव जीवन को शुद्ध करते हैं। इसे यहाँ निष्पुण्यक के भिक्षापात्र को पवित्र जल से स्वच्छ करने के समान समझें। भिक्षापात्र को ही जीवितव्य (मनुष्य भाव) समझें। चारित्र (दीक्षा) प्रदान करना इसे यहाँ स्वच्छ किये हुए भिक्षापात्र को सुन्दर और स्वादिष्ट परमान्न से भर देने के समान समझें।

जब सद्धर्माचार्य के उपदेश से जीव दीक्षा ग्रहण करता है तब भव्य प्राणियों के चित्त को आह्लादित करने के लिए * संघ पूजा, चैत्य पूजा आदि सन्मार्ग की प्रवृत्ति के कारणभूत महोत्सव किये जाते हैं। 'इस प्राणी को हमने संसार रूपी अटवी से पार कर दिया' इन विचारों से धर्माचार्य का मन भी संतुष्ट होता है। इन कारणों से इस प्राणी पर धर्माचार्य की दया (कृपा) भी बढ़ती जाती है तथा इस दया के प्रभाव से उसकी सद्बुद्धि भी अत्यधिक निर्मल होती जाती है। ऐसे प्रशस्य अनुष्ठानों को देखकर लोग भी प्रशंसा करते हैं और सर्वज्ञ-शासन की उन्नति भी होती है। इन सब बातों को मूलकथा के निम्नांकित श्लोक के समान समझें।

धर्मबोधकरो हृष्टस्तद्दया प्रमदोद्धुरा।
सद्बुद्धिर्वर्द्धितानन्दा मुदितं राजमन्दिरम् ॥४१७॥

अर्थात् यह देखकर धर्मबोधकर भी प्रसन्न हुए, तद्दया भी हर्ष से पागल हो गई, सद्बुद्धि के आनन्द की सीमा नहीं रही और सम्पूर्ण राजमन्दिर के लोग हर्ष-विभोर हो गए।

इस जीव को चारित्ररूपी मेरु पर्वत के विपुल भार को धारण करते देखकर भक्तिरस के निर्झर से परिपूर्ण मानस और रोमांचित शरीर वाले भव्य लोग उसकी प्रशंसा करने लगे अहो! इसको धन्य है। यह वास्तव में कृतार्थ हो गया है। इसने अपना मनुष्य जन्म सार्थक कर दिया है। इसकी समस्त सत्प्रवृत्तियों को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सर्वज्ञदेव ने इस पर कृपापूर्ण दृष्टि की है। इस पर सद्धर्मोपदेशक धर्माचार्य की अनुकम्पा (दया) हुई है। इसी कारण से इसमें सद्बुद्धि जागृत हुई है, सद्बुद्धि के कारण ही बाह्य (धन दि पदार्थ) और अन्तरंग (क्रोधादि कषाय) संग का त्याग किया है, ज्ञानत्रयी को अंगीकार किया है और राग-द्वेषादि

* पृष्ठ ९९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकारजन्य भावों का निर्दलन किया है। सच है कि महान् पुण्यशाली प्राणी ही इस प्रकार का कार्य कर सकते हैं। इस घटना के पश्चात् लोगों ने इस जीव का निष्पुण्यक नाम बदल कर सपुण्यक रख दिया और इसी नाम से उसे पुकारने लगे। इसका परिवर्तित सपुण्यक नाम गुणानुसार और युक्तियुक्त था।

[३७]

राजमन्दिर में सपुण्यक की स्थिति

मूल कथा-प्रसंग में वर्णित घटनाचक्र का सारांश यह है कि : "अब वह सपुण्यक शरीर को हानि पहुँचाने वाला अपथ्य भोजन नहीं करता जिससे उसके शरीर में कोई बड़ी पीडा तो होती ही नहीं। कभी पूर्व दोष से छोटी-मोटी सहज पीडा हो भी जाती तो वह भी थोड़ी देर में ठीक हो जाती। अंजन, जल और परमान्न नामक तीनों श्रेष्ठ औषधियों का अनवरत सेवन करने से प्रतिक्षण उसके बल, धैर्य और स्वास्थ्य आदि में भी वृद्धि होने लगी। उसके शरीर में बहुत से रोग होने से वह अभी तक पूर्णतया नीरोग तो नहीं हुआ था फिर भी उसके शरीर में भारी परिवर्तन हुआ हो ऐसा दिखाई दे रहा था। अभी तक जो वह भूत-प्रेत जैसा अत्यन्त बीभत्स और कुरूप लगता था और किसी को उसके सामने देखना भी अच्छा नहीं लगता था, वह अब सुन्दर मनुष्य का आकार धारण करने लगा था। नीरोग हो जाने से वह निरन्तर आनन्दित मन वाला बन गया था।" ये सब बातें जीव के साथ भी पूर्णतया समानता रखती हैं। यथा--

आत्मभाव में रमणता

घर, धन, परिवार आदि द्वन्द्वों का भावपूर्वक त्याग करने के कारण राग-द्वेषादि विकारों से उत्पन्न होने वाली पीडा अब इस जीव को नहीं होती थी। यदि कदाचित् पूर्वसंचित कर्मों के उदय से किसी समय पीडा हो भी जाती तो वह छोटी-मोटी होती और वह अधिक समय तक नहीं रहती। अब यह प्राणी किसी भी प्रकार के लोक-व्यापारों की अपेक्षा रखे बिना ही अनवरत वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा लक्षण रूप पाँच प्रकार का स्वाध्याय करते हुए अपने सम्यग् ज्ञान की वृद्धि करता है। शासन की शोभा और उत्कर्ष बढ़ाने वाले शास्त्राभ्यास द्वारा अपने सम्यग् दर्शन को दृढ़ करता है। विविध प्रकार के उत्तम तप नियमादि का अनुशीलन कर अपने सम्यक् चारित्र को * आत्मीभाव करता है अर्थात् उसकी जीवनचर्या चारित्रमयी बन जाती है। यहाँ इस ज्ञानत्रयी की आराधना को उक्त तीनों औषधियों का इच्छापूर्वक सेवन के सदृश समझें। इस प्रकार परिणति (विचार और आचरण) हो जाने से इस प्राणी में बुद्धि, धैर्य, स्मृति, बल आदि

* पृष्ठ १००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशिष्ट गुण प्रादुर्भूत होते हैं। यद्यपि अनेक पूर्वजन्मों में संचित कर्मसमूहों के प्रभाव से अनेक रागादि भावरोग विद्यमान होने के कारण वह प्राणी अभी तक पूर्णरूप से नीरोग (स्वस्थ) नहीं हुआ था तथापि वह पूर्व भावरोगों की मन्दता का अनुभव करता है। फलस्वरूप इस जीव का जो आज तक अशुभ प्रवृत्तियों की ओर अनुराग था वह समाप्त हो गया और उसके स्थान पर शुभ प्रवृत्ति की ओर प्रीति बढ़ने से उसे आनन्दोल्लास का अनुभव होने लगा।

रोगनाश

तीनों औषधियों के सेवन के प्रभाव से जैसे उस दरिद्री के चिरकालीन तुच्छता, पराक्रमहीनता, लुब्धता, शोक, मोह, भ्रम आदि विकार नष्ट हो गये और वह किंचित् उदारचित्त बन गया वैसे ही यह जीव भी ज्ञान दर्शन चारित्र की सेवना (आराधना) के प्रभाव से अनादिकालीन संस्कारों से प्राप्त तुच्छता आदि विकारभावों को नष्ट करता है, इससे इसका मानस भी किंचित् उज्ज्वल और उदार हो जाता है।

[२८]

औषधदान एवं कथोत्पत्ति-प्रसंग

पहले कथा-प्रसंग में कह चुके हैं :—"एक दिन अत्यन्त प्रसन्न चित होकर उसने सद्बुद्धि से पूछा—'भद्रे ! ये तीनों सुन्दर औषधियाँ मुझे किस कर्म के योग से मिली होंगी ?' सद्बुद्धि ने कहा—'भाई ! पहले जो दिया जाता है, वही वापस मिलता है, ऐसी लोक कहावत है। इससे ऐसा लगता है कि पहले कभी तूने अन्य किसी को ये वस्तुएँ दी होंगी।' सद्बुद्धि का उत्तर सुनकर सपुण्यक सोचने लगा—यदि किसी को देने से ही वापस मिलती हों तो मैं अनेक प्रकार से सकल कल्याणकारी इन तीनों औषधियों का किन्हीं योग्य पात्रों को प्रचुर दान दूँ, जिससे भविष्य में अगले जन्मों में वे मुझे अक्षय रूप में मिलती रहें।" इसी प्रकार इस जीव के साथ भी बनता है। जैसे—

दान और प्राप्ति का सम्बन्ध

ज्ञान दर्शन चारित्र का विशिष्ट सेवन (आचरण) करने से प्रशमानन्द का अनुभव करता हुआ यह जीव सद्बुद्धि के प्रभाव से इस प्रकार विचार करता है—'समस्त प्रकार के कल्याणों की परम्परा को प्राप्त कराने वाली यह ज्ञानादि रत्नत्रयी अत्यन्त दुर्लभ होने पर भी मुझे अंश रूप में प्राप्त हुई है। यह पूर्वकालीन शुभ प्रवृत्तियों के बिना प्राप्त हो नहीं सकती, अतएव यह निश्चित है कि मैंने पूर्वजन्मों में किसी प्रकार के श्रेष्ठ आचरण या सत्कार्य किए होंगे, उसी के फलस्वरूप इस जन्म में यह ज्ञानादि रत्नत्रयी मुझे प्राप्त हुई है।' इन विचारों में गोते लगाता हुआ वह पुनः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिन्तन करता है—'मुझे भविष्य में भी अविच्छिन्न रूप से यह रत्नत्रयी प्राप्त होती रहे इसका मुझे उपाय करना चाहिये।' विचार करते हुए उसे यह प्रतीत होता है कि पूर्वभवों में मैंने किसी को दान दिया होगा उसी के फलस्वरूप मुझे यहाँ रत्नत्रयी प्राप्त हुई है। ऐसा अनुभव करता हुआ वह पुनः चिन्तन करता है कि तब फिर मुझे इस ज्ञानादि रत्नत्रयी का योग्य अधिकारियों (सत्पात्रों) को दान करते रहना चाहिये जिससे मेरी मनोकामना पूर्ण हो और भविष्य में मुझे यह रत्नत्रयी अनवरत रूप से प्राप्त होती रहे।

[३९]

पहले कथा में कहा जा चुका है :—"उसके मन के विचार को सुस्थित महाराज ने सातवीं मंजिल में बैठे-बैठे ही जान लिया। धर्मबोधकर को वह अतिशय प्रिय लगा, तद्या ने उसे बधाई दी, सब लोगों ने उसकी प्रशंसा की और सद्बुद्धि का तो वह अत्यन्त प्रिय हो गया। इस स्थिति को जानकर उसे स्वयं को लगने लगा कि 'मैं पुण्यवान् हूँ, अतः लोगों में उत्तम स्थान को प्राप्त हुआ हूँ। अब कोई भी मेरे पास आकर ये तीनों औषधियाँ माँगेगा तो मैं अवश्य दूँगा।' ऐसे विचार से वह प्रतिदिन इच्छापूर्वक किसी आगन्तुक की प्रतीक्षा करता रहता था। अत्यन्त निर्गुणी प्राणी की भी जब महात्मा प्रशंसा करते हैं तब वह इस अधम दरिद्री की तरह अभिमानी हो जाता है। वहाँ राजमन्दिर में रहने वाले सभी व्यक्ति * नित्य तीनों औषधियों का सेवन करते थे, उनके सेवन के प्रभाव से वे चिन्तारहित होकर परम ऐश्वर्यशाली हो गए थे। निष्पुण्यक जैसे कुछ व्यक्ति जिन्होंने थोड़े समय पहले ही राजभवन में प्रवेश किया था, वे तीनों औषधियाँ अन्य लोगों से अच्छी मात्रा में अच्छी तरह से प्राप्त कर लेते थे। इस प्रकार राजभवन में कोई भी उसके पास औषधि लेने नहीं आता था और वह औषध-इच्छुक व्यक्ति की राह में आँखें बिछाये बैठा रहता था।" इस जीव के साथ भी इसी प्रकार बनता है, देखिये—

मिथ्याभिमान का फल

अन्य प्राणियों को रत्नत्रयी औषध का दान देने की इच्छा करने वाला जीव सोचना है—'भगवान् ने मेरे ऊपर कृपादृष्टि की है, सद्धर्माचार्य की दृष्टि में मेरा मान है अर्थात् मैं उनका मानीता हूँ, आचार्यदेव की दया मुझ पर अनुग्रह करने के लिए सर्वदा तत्पर रहती है, आंशिक रूप में मेरी सद्बुद्धि का विकास हो गया है और सब लोग मेरी श्लाघा करते हैं, अतएव सपुण्यक अर्थात् अधिक पुण्योदय के कारण मैं जनसमूह में बहुत श्रेष्ठ हो गया हूँ।' उक्त विचारों से ग्रस्त होकर वह मिथ्याभिमान धारण करता है। अत्यन्त निर्गुणी प्राणी की भी जब महात्मा गण प्रशंसा कर देते हैं तब वह अपने मन में घमण्ड करने लगता है। उसका

* पृष्ठ १०१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह दरिद्री जीव प्रत्यक्ष उदाहरण है। यदि ऐसा न हो तो यह जीव अपने समस्त प्रकार के जघन्य कृत्यों को भूलकर ऐसा झूठा अभिमान क्यों करे ? ऐसा मिथ्याभिमान हो जाने पर यह जीव विचार करता है –'जब कोई ज्ञान दर्शन चारित्र का इच्छुक प्राणी विनय पूर्वक मुझ से पूछेगा तब मैं उसके सन्मुख रत्नत्रयी के स्वरूप का प्रतिपादन करूँगा, अन्यथा नहीं।' इस प्रकार के अहंकारात्मक विचारों में फंसा हुआ जीव मौनीन्द्रशासन (जिनशासन) में बहुत समय तक रहता है किन्तु उसकी इच्छानुसार विनय सहित कोई भी प्राणी उससे प्रश्न करने के लिए उसके पास नहीं आता है; क्योंकि जैनेन्द्र-शासन में निवास करने वाले जीव स्वतः ही उत्कृष्ट ज्ञान दर्शन चारित्र के विशेष रूप से धारक होते हैं, फलतः वे बाहरी उपदेश की अपेक्षा नहीं रखते। कितने ही प्राणी तुरन्त में ही स्वकीय कर्म-विवर (मार्ग) प्राप्त होने से इस शासन में प्रविष्ट हुए हैं और जिनकी मनोवृत्ति सन्मार्ग की ओर अभिमुख है तथा जो अभी तक विशिष्ट ज्ञान से रहित हैं वे भी इस घमण्डी जीव की ओर दृष्टिपात भी नहीं करते; क्योंकि भगवत् शासन में और भी अनेक महाबुद्धिशाली, सद्बोध प्रदान करने में अत्यन्त पटु गीतार्थ पुरुष होते हैं। ऐसे गीतार्थों के पास जाकर राजमन्दिर में तत्काल प्रविष्ट प्राणी इच्छानुसार किसी प्रकार के क्लेश के बिना ही सहजता से ज्ञानादि की अभिवृद्धि करते हैं। फलतः यह जीव ज्ञान प्राप्ति की इच्छा वाला कोई प्राणी न मिलने पर भी गर्व के कारण स्वयं को उच्चकोटि का मानता हुआ अपना बहुत सा समय व्यर्थ में ही बिता देता है किन्तु स्व-अर्थ का किसी भी प्रकार से पोषण नहीं कर पाता।

[४०]

हास्यास्पद स्थिति और सद्बुद्धि द्वारा समाधान

आगे का वृत्तान्त मूल कथा-प्रसंग में विस्तृत रूप से दिया जा चुका है जिसका सारांश निम्न है :—"औषधेच्छुक कोई भी व्यक्ति प्राप्त न होने पर एक दिन सपुण्यक ने सद्बुद्धि से इसका उपाय पूछा। सद्बुद्धि ने कहा—'भद्र ! तुम्हें बाहर निकल कर घोषणा करनी चाहिये उससे जिसको आवश्यकता होगी वह लेने आएगा, उसको देना।' सद्बुद्धि के परामर्श से वह राजकुल में उच्च स्वर में पुकारने लगा—'भाइयों ! मेरे पास तीन महागुणकारी औषधियाँ हैं, जिनको आवश्यकता हो, आकर मुझसे ले जाएँ।' इस प्रकार बोलते हुए वह घर-घर घूमने लगा। उसकी घोषणा सुनकर कितने ही इसके जैसे ही तुच्छ प्रकृति के प्राणी थे वे कभी-कभी उससे थोड़ी सी औषधि ले लेते थे। कई तुच्छ प्राणी उसको पहचान कर उसकी हँसी उड़ाते और कितने ही उसे पागल समझकर उसका तिरस्कार करते। ऐसी स्थिति देखकर सपुण्यक ने सद्बुद्धि को सारी स्थिति से परिचित कराया।* सपुण्यक

* पृष्ठ १०२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की बात सुनकर सद्बुद्धि ने कहा— 'भद्र ! पहले की तेरी दरिद्रता को देखकर ये मूर्ख लोग तेरा अनादर करते हैं और तेरे हाथ से दी हुई औषधियाँ ग्रहण नहीं करना चाहते। यदि तेरी यही अभिलाषा है कि सभी प्राणी तुझ से औषधि ग्रहण करें तो इसका एक ही उपाय मेरे ध्यान में आता है, वह यह है कि राजमार्ग में जहाँ लोगों का अधिक आवागमन होता है वहाँ एक विशाल काष्ठपात्र में तीनों औषधियाँ रखकर, अपने मन में विश्वास रखकर तू दूर बैठ जा। इसको कौन ग्रहण करेगा, इसकी चिन्ता तू क्यों करता है ? जिन्हें भी आवश्यकता होगी वे वहाँ किसी को न देखकर चुपचाप अपने आप ही औषधि ग्रहण कर लेंगे। तुझे इससे क्या कि किसने ग्रहण की ? उनमें से यदि कोई एक भी सच्चा पुण्यवान और गुणवान प्राणी तेरी औषधि ले जाएगा तो तेरा मनोरथ परिपूर्ण हो जाएगा।' सपुण्यक ने सद्बुद्धि के कथनानुसार वैसा ही किया।" इस जीव के साथ भी इसी प्रकार घटित होता है, तुलना करिये :—

परोपकार और संकोच

इस जीव को दान देने की इच्छा होते हुए भी उसे रत्नत्रयी इच्छुक कोई योग्यपात्र न मिलने के कारण वह शान्त चित्त से सद्बुद्धि पूर्वक विचार करता है। विचारणा करते हुए उसे यह प्रतीत होता है कि मौन धारण कर (चुपचाप) बैठे रहने से किसी और को ज्ञान दर्शन चारित्र प्रदान किया जा सके यह तनिक भी संभव नहीं है। अन्य प्राणियों को रत्नत्रयी का दान देने के समान अन्य कोई परोपकार नहीं है, परमार्थतः यही परोपकार है। इह लोक में सन्मार्ग प्राप्त हो जाए और जन्मान्तरों में भी अबाधित रूप से प्राप्त होता रहे ऐसी अभिलाषा वाले प्राणियों को सर्वदा परोपकार परायण होना चाहिये; क्योंकि उक्त परोपकार का यह सहज गुण है कि वह पुरुष में श्रेष्ठ गुणों के उत्कर्ष का आविर्भाव करता है। पुनश्च, यदि सम्यक् रीति से परोपकार किया जाए तो वह धीरता में वृद्धि करता है, दीनता का हरण करता है, उदार चित्त बनाता है, स्वार्थीपन नष्ट करता है, मन को *निर्मल करता है और प्रभुता को प्रकट करता है। ऐसा होने से परोपकार परायण* पुरुष के वीर्य (पराक्रम) का विकास होता है अर्थात् परोपकार में विशेष रूप से प्रवृत्ति होती है और उसके मोहनीय कर्मों का नाश होता है। फलतः वह जीव जन्मान्तरों में भी उत्तरोत्तर श्रेष्ठ सन्मार्ग को प्राप्त करता रहता है और उस सन्मार्ग से कदापि पतित नहीं होता। अतएव यदि स्वयं ज्ञान-दर्शनादि का ज्ञाता हो तो भी अन्य प्राणियों के सन्मुख ज्ञानादि के यथातथ्य स्वरूप का प्रकाश करने के लिये यथाशक्ति प्रवृत्ति अवश्य ही करनी चाहिये और इस सम्बन्ध में उसे दूसरे लोगों की अभ्यर्थना या याचना की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वज्ञ-शासन में सर्वविरति चारित्रधारी श्रमण के रूप में रहता हुआ यह जीव योग्य देश और योग्य काल की अपेक्षा से एक स्थान से दूसरे स्थान पर परिभ्रमण (विचरण) करते हुए देशना के माध्यम से विस्तार पूर्वक भव्य प्राणियों को ज्ञान दर्शन का मार्ग बतलाता है। इस कथन को सपुण्यक द्वारा की गई औषधिदान घोषणा के तुल्य समझें।

ज्ञानादि ग्रहणकर्त्ता के प्रकार

जब यह जीव ज्ञान दर्शन चारित्र के मार्ग का उपदेश देता है तब उस उपदेष्टा से हीनबुद्धि वाले (मन्दमति) प्राणी कदाचित् उस देशना से ज्ञानादि ग्रहण करते हैं, परन्तु जो व्यक्ति महामति (जड मूर्ख) होते हैं उनको उपदेष्टा प्राणी के पूर्वावस्था के दोषों का ध्यान होने से उसके उपदेश को हास्यास्पद समझते हैं। यह जीव उन प्राणियों की दृष्टि में सर्वथा तिरस्कार योग्य होने पर भी महात्मा गण उसका अनादर नहीं करते; क्योंकि महात्माओं का हृदय विशाल होता है अर्थात् महात्माओं का यह सहज गुण होता है। इसमें इस प्राणी की कोई विशेषता या उसका अपूर्व गुण नहीं है।

ग्रन्थ-व्यवस्था

यह जीव पुनः विचार करता है कि अभी तक तो मेरा उपदेश पूर्णतः मन्दमति ही ग्रहण करते हैं, बुद्धिमान नहीं। मेरा ज्ञानादि सम्बन्धी उपदेश सर्वजन-ग्राह्य कैसे हो सकता है? इसके लिये मुझे प्रयत्न करना चाहिये।* पश्चात् स्वयं की सद्बुद्धि के साथ ऊहापोह करते हुए उसे मार्ग दिखाई पड़ता है। अहो! मैं इन समस्त प्राणियों को साक्षात् में इस प्रकार उपदेश देता हूँ किन्तु उस उपदेश को ये लोग ग्रहण करें ऐसा दिखाई नहीं देता (क्योंकि ये लोग मेरी पूर्व जाति और योग्यता को ही सामने रखकर मुझे देखते हैं।) अतएव अब मैं ऐसा करूँ कि सर्वज्ञ-दर्शन के सारभूत ज्ञान दर्शन चारित्र का मैं जिन सब लोगों के सन्मुख प्रतिपादन करना चाहता हूँ उन लोगों के जानने योग्य (ज्ञेय-ज्ञान), श्रद्धान करने योग्य (दर्शन) और अनुष्ठान करने योग्य (चारित्र) अर्थ की एक ग्रन्थ के रूप में रचना करूँ और उस ग्रन्थ में विषय और विषयी के अभेद को स्पष्ट करूँ। ग्रन्थ में ऐसी व्यवस्था (पद्धति) अपना कर इस ग्रन्थ को मैं मौनीन्द्र-शासन के अनुयायी भव्यजनों के समक्ष खोलकर (स्वतन्त्र रूप से) रख दूँ। ऐसा करने से इस ग्रन्थ में प्रतिपादित ज्ञानादि का स्वरूप सर्वजन-ग्राह्य हो सकेगा। मैं ग्रन्थ बनाता हूँ (वह यदि सब लोगों के लिए उपयोग और बोधदायक हो सके तो अत्युत्तम है।) यह ग्रन्थ सर्वजनोपयोगी न भी हो तब भी यदि समस्त प्राणियों में से एक प्राणी भी इस ग्रन्थ का अध्ययन कर शुद्ध भाव पूर्वक परिणमित हो जाता है, सन्मार्ग पर आ जाता है तो मेरा (इस जीव का) ग्रन्थ-रचना

---

* पृष्ठ १०३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का परिश्रम सफल हुआ, ऐसा मैं समझूंगा। यही सोचकर यथानाम और यथागुण वाली **उपमिति-भव-प्रपंचा कथा** नामक कथा की (जिसमें संसार के प्रपंच को उपमान के रूप में दिखाया है) मैंने (इस जीव ने) रचना की है। इस कथा में प्रकृष्ट और प्राञ्जल शब्दार्थ न होने से अर्थात् उच्च कोटि की रचना न होने से इसे स्वर्ण-पात्र में स्थापित की हुई नहीं कह सकते, परन्तु काष्ठपात्र में रखने योग्य मानी जा सके ऐसी मैंने संयोजना की है। इस ग्रन्थ में मैंने ज्ञान दर्शन चारित्र रूप तीनों औषधियों का मेरे साधारण शब्दों में महत्व दिखाने का प्रयास किया है।

अभ्यर्थना

हे भव्य प्राणियों! अब मैं आप सब से अभ्यर्थना करता हूँ उसे आप सुनें। उस भिखारी सपुण्यक द्वारा राजमार्ग में रखे हुए काष्ठपात्र में से तीनों औषधियों को ग्रहण कर जो रोगी उनका अच्छी तरह से सेवन करते हैं वे नीरोगता को प्राप्त करते हैं। साथ ही उस काष्ठपात्र में रखी हुई औषधियों का ग्रहण उचित भी है; क्योंकि ऐसा करने से जैसे उस सपुण्यक (पहले का भिखारी) पर उपकार होता है और वह ऐश्वर्यशाली बन जाता है वैसे ही मेरे जैसे जीव पर जिनेश्वरदेव की कृपापूर्ण दृष्टि पड़ने के कारण और सद्गुरु के चरण कमलों के प्रसाद से तथा उनके प्रताप से प्रकटित सद्बुद्धि के आविर्भाव से मैंने इस कथा में जो ज्ञान दर्शन चारित्र की रचना की है उसे जो भव्य प्राणी ग्रहण करेंगे उनके राग-द्वेषादि भाव-रोग अवश्य ही नष्ट हो जाएँगे। कारण यह है कि पदार्थ का जो स्वरूप कथनीय है वह कहने वाले के गुण-दोषों की अपेक्षा रखकर स्वेच्छित साध्य की प्राप्ति में प्रवर्तित नहीं होता। अर्थात् कथनीय बात यदि उत्तम, योग्य और यथास्थित है तो काफी है, उस साध्य की प्राप्ति में उसका कथन करने वाले के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। जैसे कोई भूख से पीडित होने के कारण अत्यन्त दुर्बल सेवक स्वामी की आज्ञा से समस्त परिवार के लिए बनाई हुई भोजन सामग्री उन लोगों के खाने के लिए परोसगारी करता है तो वह परोसा हुआ भोजन स्वामी और परिवार की भूख मिटाता है, न कि उस सेवक की भूख को। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कथनीय विषय के स्वरूप का जो यथास्थित रूप कथन करने में आता है उसमें वक्ता के निजी दोषों का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। वैसे ही मैं तो स्वयं ज्ञान दर्शन चारित्र की दृष्टि से अपूर्ण हूँ फिर भी, भगवान् ने आगम ग्रन्थों में जिस प्रकार ज्ञान दर्शन चारित्र का प्रतिपादन किया है तदनुसार ही मैंने इस ग्रन्थ में भी निवेदन (प्रतिपादन) किया है। इसको जो भव्य सत्व ग्रहण करेंगे उनकी रागादि भावरोग रूप भूख शान्त होने से वे अवश्य ही निरोगी बनेंगे, क्योंकि यह उनका स्वरूप ही है।

ग्रन्थकर्त्ता का निवेदन

भगवत् सिद्धान्त में कथित एक पद भी शुद्धभाव पूर्वक श्रवण किया जाए तो वह समस्त रागादि भावरोगों के जाल को समूल ❀ नाश करने में समर्थ होता

❀ पृष्ठ १०४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है और उसको स्वाधीन होकर सहजभाव से तुम सुन सकते हो। पूर्व समय के महा-पुरुषों द्वारा प्रणीत कथाओं तथा प्रबन्धों का विशुद्ध भाव पूर्वक श्रवण मात्र से रागादि व्याधियाँ सम्यक् रीत्या नष्ट हो जाएँ यह भी सम्भव है। उसी प्रकार इस उपाय से संसार समुद्र को तैरने के इच्छुक सब सज्जन पुरुष मेरे ऊपर कृपारस से परिपूर्ण अनुग्रह कर, मेरे द्वारा रचित यह कथा-प्रबन्ध भी सुनने योग्य समझकर सुनेंगे ऐसी मुझे पूर्ण आशा है।

उपसंहार

ग्रन्थ के प्रारम्भ में जो निष्पुण्यक का दृष्टान्त दिया गया है उसके प्रत्येक पद का उपनय यहाँ विस्तार के साथ दिया गया है। कदाचित् बीच-बीच में यदि किसी पद का उपनय नहीं दिया गया हो या रह गया हो तो आगे-पीछे के प्रसंग को लक्ष्य में रखकर स्वकीय बुद्धि से योजना कर लें। जो संकेत समझ गये हों उनको उपमान बताने के बाद उपमेय को समझना कठिन नहीं होता। अर्थात् कथा के भीतरी सकेत (आशय) को जो समझ गए हों उनके लिए उपमान का कथन करने पर उसके आधार से उपमेय (रहस्यार्थ, तात्पर्यार्थ) को समझने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती; वे स्वतः ही समझ जाते हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिए ही इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में उपमान रूप में कथा की रचना की गई है। अब आगे जिस कथा की रचना कर रहा हूँ उसमें यथासाध्य एक भी पद का उपमेय के बिना प्रयोग नहीं होगा; परन्तु इस प्रसंग में उपनय को किस पद्धति से विस्तार के साथ योजित किया जाय इस रहस्य से आप सब भलीभांति परिचित हो ही गए हैं। फलतः इस कथा के अग्रिम प्रस्तावों में आपकी सुखपूर्वक गति (प्रवृत्ति) हो सकेगी। ग्रन्थ के उपोद्घात रूप में इससे अधिक लिखने की अब कोई आवश्यकता नहीं रही।

इह हि जीवमपेक्ष्य मया निजं,
यदिदमुक्तमदः सकले जने।
लगति सम्भवमात्रतया त्वहो,
गदितमात्मनि चारु विचार्यताम् ॥१॥

मैंने मेरे जीव की अपेक्षा (माध्यम) से यहाँ जो कुछ कहा है वह प्रायः कर सब जीवों के साथ भी घटित होता है। जिन उपर्युक्त घटनाओं का वर्णन किया गया है, वे घटनाएँ आपके साथ घटित होती हैं या नहीं ? इस पर आप अच्छी तरह से विचार करें।

निन्दात्मनः प्रवचने परमः प्रभावो,
रागादिदोषगणदौष्ट्यमनिष्टता च।
प्राक्कर्मणामतिबहुश्च भवप्रपञ्चः,
प्रख्यापितं सकलमेतदिहाद्यपीठे ॥२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस पीठबन्ध रूप प्रथम प्रस्ताव में मैंने अपनी निन्दा, सर्वज्ञ-शासन का सर्वोच्च प्रभाव, राग-द्वेष आदि दोषों की दुष्टता, पूर्वकृत कर्मों की अनिष्टता और विविध प्रकार का संसार का प्रपंच आदि सब का वर्णन किया है।

संसारेऽत्र निरादिके विचरता जीवेन दुःखाकरे,
जैनेन्द्रं मतमाप्य दुर्लभतरं ज्ञानादिरत्नत्रयम्।
लब्धे तत्र विवेकिनाऽऽदरवता भाव्यं सदा वर्द्धने,
तस्यैवाद्य कथानकेन भवतामित्येतदावेदितम् ॥३॥

दुःख की खान रूप इस अनादि संसार में भ्रमण करते हुए जीव को जैनेन्द्र शासन (धर्म) की प्राप्ति होने पर भी सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन, सम्यग् चारित्र रूप रत्नत्रयी की उपलब्धि होना अत्यधिक दुष्कर है। ज्ञानादि रत्नत्रयी प्राप्त होने पर विवेकशील प्राणियों को आदर के साथ सर्वदा उसको बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये। यही बात मैंने इस कथानक के प्रथम प्रस्ताव में आपसे निवेदन की है।

श्री सिद्धर्षि गणि रचित उपमिति-भव-प्रपंच
कथा के पीठबन्ध नामक प्रथम
प्रस्ताव का हिन्दी अनुवाद

पूर्ण हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपमिति-भव-प्रपंच कथा

२. द्वितीय प्रस्ताव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय प्रस्ताव

पात्र एवं स्थान सूची

स्थान	मुख्य पात्र		सामान्य पात्र	
मनुजगति नगरी	कर्मपरिणाम	मनुजगति नगरी का महाराजा	प्रियनिवेदिका	दासी
	कालपरिणति	कर्मपरिणाम की पट्टरानी	अविवेक	मन्त्री
	भव्यपुरुष-सुमति	महाराजा का पुत्र		
	अगृहीतसंकेता प्रज्ञाविशाला	सखियाँ		
	सदागम	धर्माचार्य		
असंव्यवहार नगर	अत्यन्ताबोध	महत्तम–राज्यपाल	तत्परिणति	प्रतिहारी
	तीव्रमोहोदय	बलाधिकृत–सेनापति	तन्नियोग	कर्मपरिणाम
	संसारी जीव	कथा प्रवाचक		का दूत
	लोकस्थिति	कर्मपरिणाम महाराजा की बड़ी बहिन		
	भवितव्यता	संसारी जीव की पत्नी		

एकाक्ष निवास नगर

पाँच मोहल्ले

(१) वनस्पति
(२) पृथ्वीकाय
(३) अप्काय
(४) तेजस्काय
(५) वायवीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकलाक्षनिवास नगर	उन्मार्गोपदेश	राज्यपाल	
तीन मोहल्ले	माया	राज्यपाल की पत्नी	

(१) द्विहृषीक
(२) त्रिकरण
(३) चतुरक्ष

पंचाक्षपशुसंस्थान नगर	उन्मार्गोपदेश	राज्यपाल		हरिण
जलचर | संमूर्च्छिम स्थलचर | गर्भज खेचर	पुण्योदय	गुप्तमित्र और बन्धु		हाथी
उरःपरि भुजपरि				

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिर्यग्-गति वर्णन

१. मनुजगति नगरी ❀

इस लोक में सुमेरु के समान अनादि काल से प्रतिष्ठित, समुद्र के समान महासत्व-सेवित, कल्याण-परम्परा के समान मनोरथ पूर्ण करने वाली, तीर्थंकरों द्वारा प्रवर्तित दीक्षा के समान सत्पुरुषों को प्रमोद देने वाली, समरादित्य कथा की तरह अनेक वृत्तान्तों से भरपूर, त्रैलोक्य विजेता के समान श्लाघा प्राप्त और सुसाधुओं की क्रिया के समान पुण्यहीन प्राणियों को अति दुर्लभ ऐसी मनुजगति नामक नगरी है। यह नगरी धर्म की उत्पत्ति भूमि है, अर्थ का मन्दिर है, काम का उत्पत्ति स्थान है, मोक्ष का कारण है और पंच कल्याणक आदि प्रसंगों पर होने वाले महोत्सवों का स्थान है। इस नगरी में विचित्र प्रकार के सुवर्ण-रत्नों की दीवारों से शोभित अति मनोहर मेरु पर्वत जैसे उन्नत और विशाल देवालय हैं जिनमें अनेक देवता रहते हैं। इस नगरी में अनेक आश्चर्यजनक वस्तुओं का स्थान रूप होने से देवलोक को भी नीचा दिखाने वाली, क्षितिप्रतिष्ठित आदि अनेक पुरों (छोटे नगरों) से शोभित, भरत आदि नाना प्रकार के मोहल्ले और आसपास में कुलशैल के आकार को धारण किये हुए अत्युच्च अनेक गढ़ (किले) हैं। इस नगर के मध्य में लम्बी आकृति वाली, भिन्न-भिन्न विजयरूप दुकानों से शोभित, अनेक महापुरुषों की टोलियों से व्याप्त महाविदेह रूप बाजार है; जहाँ मूल्य देकर शुभ-अशुभ वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं। इस नगरी के चारों ओर पर्वत के आकार का धारण करने वाला मानुषोत्तर नाम का अति उच्च गढ़ है। वह इतना ऊँचा है कि चन्द्र-सूर्य की गति भी रुक जाती है और परचक्रभय (शत्रु सेना के भय) से पूर्णतया मुक्त है। इस ऊँचे गढ़ से कुछ दूरी पर उसके चारों ओर समुद्र जैसी मोटी खाई है। इस नगरी में विबुधों द्वारा निर्मित भद्रशालवन रूपी अनेक सुन्दर बगीचे हैं। इस नगरी में नाना प्रकार के प्राणियों रूपी जल को प्रवाहित करने के लिये अनेक नदियाँ रूपी चौड़ी-चौड़ी गलियाँ (सड़कें) हैं। इस नगर में अनेक नदियों के संगम का आधारभूत और अनेक सड़कों से मिलने वाले लवणोदधि और कालोदधि समुद्ररूप दो राजमार्ग हैं। इन दो राजमार्गों से विभाजित जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड, अर्द्ध पुष्करद्वीप नामक तीन बड़ी बस्तियाँ हैं। इस नगरी में लोगों के सुख का कारण अपने-अपने योग्य स्थान पर नियुक्त कल्पवृक्ष जैसे स्थानान्तर (छोटे-छोटे) राजागण हैं।

करोड़ों जिह्वाओं से भी इस नगरी का वर्णन करना सम्भव नहीं है, फिर मेरे जैसे सामान्य बुद्धि वाले की तो क्षमता ही क्या है? इस नगरी में अनन्त

❀ पृष्ठ १०५ ❀ पृष्ठ १०६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव और बलदेव हुए हैं, होंगे और कितने ही वर्तमान में भी विद्यमान हैं। यह नगरी अनन्त गुणों से भरी हुई होने से इस लोक और परलोक में दुर्लभ है। सभी शास्त्रों में इस प्रशंसित नगरी का वर्णन है। ऊँचे-नीचे स्थानों में चलकर जब प्राणी थक जाता है तब इस नगरी में आकर परम निर्वृत्ति प्राप्त करता है। इस नगरी के लोग नम्र, बुद्धिमान्, पवित्र और भाग्यवान हैं, अतः धर्म के अतिरिक्त कुछ भी उनके मन में स्थान प्राप्त नहीं करता। इस नगरी की स्त्रियाँ अशिष्ट और निम्नस्तर के कार्यों को छोड़ देने के लिये सर्वदा तत्पर रहती हैं और पुण्यशाली बनकर जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित धर्म का निरन्तर सेवन करती हैं। इस नगरी का अधिक क्या वर्णन करूँ ? संक्षेप में कहूँ तो स्वर्ग, नरक और मृत्युलोक में कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो इस नगरी में भली प्रकार रहने वाले प्राणियों को प्राप्त न हो। यह नगरी रत्नाकर से परिपूर्ण, विद्या की उत्तम भूमि, मन और नेत्र को आनन्द देने वाली, दुःख-समूह का नाश करने वाली, सर्व प्रकार के आश्चर्यों से भरपूर, उत्तमोत्तम विशेष वस्तुओं से परिपूर्ण, महात्मा मुनियों से व्याप्त, सुश्रावकों से अलंकृत, तीर्थंकरों के जन्माभिषेक से समस्त भव्य प्राणियों को संतोष देने वाली, भव्य प्राणियों के मोक्ष का कारण रूप और पापी प्राणियों के संसार को बढ़ाने वाली है। पुण्य, पाप, जीव, अजीव आदि तत्त्व हैं या नहीं ? यदि हैं तो कैसे आकार में हैं ? क्यों हैं ? आदि विषयों पर विशेषतया तार्किक (तर्कपूर्ण) विचार इसी नगरी में होता है। जो अधम प्राणी इस नगरी में आकर भी सम्यक् दर्शन आदि गुणों से नहीं जुड़ते, उन्हें लोग भाग्यहीन कहते हैं। इस नगरी के अतिरिक्त स्वर्ग, नरक और मर्त्य तीनों लोकों में कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी चारों पुरुषार्थों की सम्पूर्ण रूप से साधना की जा सकती हो।

[1–13]

•

२. कर्मपरिणाम और कालपरिणति

उपर्युक्त वर्णित मनुजगति नगरी में अतुल बल पराक्रमी कर्मपरिणाम नामक महाराजा राज्य करता है। अपने पराक्रम से उसने स्वर्ग, मर्त्य और पाताल तीनों लोकों पर विजय प्राप्त कर रखी है। इसकी शक्ति का प्रचण्ड तेज इतना प्रबल है कि इन्द्र भी उसे रोक नहीं सकता। यह राजा अपने प्रचण्ड प्रताप को सर्वत्र फैलाने की इच्छा से सब नीतिशास्त्रों का उल्लंघन कर सम्पूर्ण संसार की ओर तृण के समान हिक्कार की दृष्टि से देखता है। यह राजा प्राणियों के प्रति सभी अवस्थाओं में नितान्त निर्दय (दया रहित) है, अनुकम्पा रहित है। ❀ वह जो दण्ड देता है उसकी क्रियान्विति में किसी प्रकार की अपेक्षा का कोई स्थान

❀ पृष्ठ १०७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है। इसके विपरीत इसको हंसी-मजाक भी बहुत पसन्द है। वह स्वयं भी अत्यन्त दुष्ट है और लोभ आदि योद्धाओं से घिरा रहता है। वह नाट्यकला में पूर्ण पारंगत और अत्यन्त विचक्षण है। वह अपने मन में अभिमानपूर्वक ऐसा मानता है कि उसके जैसा मल्ल (योद्धा) सकल विश्व में दूसरा कोई नहीं है और जब किसी प्राणी को बलात् आघात पहुँचाने के लिए कमर कस लेता है तब किसी की तनिक भी अपेक्षा नहीं करता और अनेकों प्राणियों को निर्धन बना देता है। कभी हँसी करने का मन हो तो यह सभी प्राणियों को विचित्र प्रकार से त्रस्त कर, उनसे अपने सन्मुख नाटक करवाता है और उनको हो रही पीडा को देखकर स्वयं आनंदित होता है। यद्यपि ये सभी पीडित लोग इससे बहुत बड़े हैं किन्तु इसके प्रबल प्रताप को न चाहते हुए भी उन्हें वह सब कुछ करना पड़ता है, जो वह कहता है। [१–६]

किसी समय कर्मपरिणाम राजा कई लोगों को नारकी के वेष में अनेक प्रकार की वेदनाओं से दुःखी और पुकार मचाते देखकर प्रसन्नता से बारम्बार झूमता रहता है। जैसे-जैसे इन प्राणियों को महादुःखों से पीडा पाते देखता है वैसे-वैसे मन में अति सन्तुष्ट और उल्लसित होता है। अभिमानवश कभी यह राजा, जो लोग भयभीत होकर उसकी आज्ञा मानने को सदा तत्पर रहते हैं उन्हें आदेश देता है, "अरे प्राणियों! इस रंगभूमि पर तुम तिर्यंच का आकार धारण कर ऐसा सुन्दर नाटक तुरन्त करो जिनसे मेरा मन प्रसन्न हो।" वे प्राणी कौवे, गधे, बिल्ली, चूहे, सिंह, चीता, बाघ, हिरण, हाथी, ऊँट, बैल, कबूतर, बाज, जूँ, कीड़ा, कीड़ा और खटमल का रूप धरकर और ऐसे अनेक प्रकार के तिर्यंच के रूप धारण कर महाराज को प्रसन्न करने के लिये विविध प्रकार के अत्यधिक हास्योत्पादक नाटक दिखाते हैं और महाराजा उन्हें नचवाता है। कई प्राणी कुबड़े मनुष्य का, कई वामन का कई गूंगे, अन्धे, बहरे, लकड़ी के सहारे चलने वाले वृद्ध, असहाय आदि विचित्र प्रकार के मनुष्य वेष धारण कर नाटक के पात्र बनकर नाटक करते हैं। कई प्राणियों से देवता का अभिनय करवाता है और वे परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, शोक, उच्च देवों से भय और त्रास पा रहे हों, ऐसा दिखाते हैं। इस प्रकार वे प्राणी नये-नये वेष धारण कर भिन्न-भिन्न प्रकार के पात्र बनकर नाटक दिखाते हैं जिसे देखकर कर्मपरिणाम महाराज आनन्दित होते हैं। [१–९]

स्वेच्छानुसार प्रवृत्ति करने वाले स्वच्छन्द महाराज पुनः नाटक देखने की अभिलाषा होने पर लोगों से कुछ अच्छे वेष धारण करवाते हैं और पात्रों के लिये फिर से भिन्न प्रकार की योजना प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार यह महापराक्रमी राजा प्राणियों को अनेक प्रकार से त्रास देता रहता है, परन्तु त्रास से उन बेचारे प्राणियों की रक्षा कर सके, ऐसा कोई प्रभावशाली व्यक्ति उनको नहीं मिल पाता। वे महाराज तो इतने स्वतन्त्र और अपनी इच्छानुसार काम करने वाले स्वेच्छाचारी हैं कि उन्हें जो करने की इच्छा हो, वह करते हैं। उनके पास कोई प्रार्थना भी नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर सकता। यदि कोई उनके कहे अनुसार करने का निषेध करे, रोकने का प्रयत्न भी करे तो वे किसी का कहना भी नहीं सुनते। [१०-१२]

महाराजा अपने आनन्द के लिये जो संसार नामक नाटक करवाते हैं वह भी अत्यधिक विचित्र प्रकार का होता है। ये नाटक कई बार स्नेहियों के वियोग से करुण होते हैं और कई बार प्रेमियों के मिलन से सुन्दर (शृंगारमय) दिखाई देते हैं। किसी समय अनेक रोगों से भरपूर, किसी समय दरिद्र दोष से पूर्ण, किसी समय आपत्ति में पड़े हुए प्राणी समूह के दृश्य से बहुत भयंकर लगते हैं। किसी समय सम्पत्ति के संयोग से अत्यन्त मनोहर लगते हैं तो कई बार उत्तम कुलोत्पन्न प्राणियों को अपने कुल की मर्यादा का त्यागकर, * अत्यन्त अधम कार्यों में प्रवृत्त दिखाकर अत्यधिक विस्मय उत्पन्न करते हैं। उच्च कुल में उत्पन्न किन्तु कुसंग से बुरे चाल-चलन में प्रवृत्त कुलटा स्त्रियाँ अपने पर अत्यन्त प्रेम रखने वाले पति का त्यागकर, तुच्छ मनुष्यों से प्रेम करते हुये दिखाकर अत्यधिक आश्चर्य उत्पन्न करती हैं। कई बार अपने धर्म-शास्त्रों का उल्लंघन कर उसकी मर्यादा को ताक पर रखकर काम करने वाले विषयासक्त पाखण्डियों के हँसने योग्य नृत्य से चमत्कृत करते हैं। ऐसी विचित्र घटनाओं से पूर्ण यह संसार नाटक होता है जिसे महाराजा बिना किसी आकुलता के लीला पूर्वक करवाते हैं। [१३-१८]

उस नाटक में राग-द्वेष नामक तबले होते हैं, जिन्हें दुष्टाभिसन्धि नामक पुरुष बजाता है। मान, क्रोध आदि उस्ताद गवैये अति मधुर कंठ से गाते हैं। महामोह नामक सूत्रधार नाटक का संचालन करता है। भोगाभिलाष नामक नन्दी और अनेक प्रकार की चेष्टाओं द्वारा आनन्द और हास्य उत्पन्न करने वाला काम नामक विदूषक होता है। कृष्ण आदि लेश्या नाम के रंग उसके पात्रों को विभूषित करते हैं। योनि (यवनिका-पर्दा) में प्रवेश करने वाले पात्रों के लिये योनि (नेपथ्य के योग्य वस्त्रों के अनुरूप वेषभूषा) की व्यवस्था करता है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन संज्ञा नामक मंजीरे होते हैं। लोकाकाश का उदर उस नाटक की विशाल रंगभूमि है और स्कन्ध नामक पुद्गल नाटकोपयोगी सामग्री का संचय है। ऐसी सामग्री से परिपूर्ण उस नाटक में भिन्न-भिन्न पात्रों को नये-नये रूप देकर और बारम्बार उसमें परिवर्तन कर, सभी पात्रों की अनेक प्रकार से विडम्बना करते हुए कर्मपरिणाम महाराजा बहुत ही आनन्दित होते हैं। अधिक क्या कहें! इस विश्व में कोई ऐसी वस्तु नहीं कि जिससे ये महाराजा अपने मनोनुकूल कार्य को सिद्ध न करते हों। [१९-२६]

महादेवी कालपरिणति

तीन गण्डस्थलों से मद झरते हुए जंगली हाथी जिस प्रकार अपनी इच्छानुसार सर्वत्र घूमता है और किसी के रोकने से नहीं रुकता, इच्छानुसार चेष्टाएं करता है उसी प्रकार अपनी इच्छानुसार कार्य करने वाले कर्मपरिणाम राजा के

* पृष्ठ १०८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पूर्ण अन्तःपुर में तिलक समान, अपने रूप, लावण्य, वर्ण, विज्ञान, विलास और नृत्य आदि गुणों से भरपूर, नियति यदृच्छा आदि अनेक रानियों में भी प्रधानतम और अत्यधिक रमणीय कालपरिणति नामक महादेवी है। वह महादेवी ऋतुओं में शरद जैसी, शरद् ऋतु में कुमुदिनी जैसी, कुमुदिनी में कमलिनी जैसी, कमलिनी में कलहंसिका जैसी और कलहंसिकाओं में राजहंसिका जैसी है। महाराजा को वह कालपरिणति महारानी प्राणों से भी अधिक प्रिय है। स्वयं की चित्तवृत्ति के समान वह जो कुछ करती है उसे प्रमाणभूत माना जाता है। मंत्रिमण्डल के परामर्श के समान वह महाराजा कोई भी कार्य करने से पूर्व महारानी से परामर्श लेता है। श्रेष्ठ मित्रमण्डली के समान वह महारानी महाराजा के ❀ विश्वास का स्थान है। अधिक क्या कहें! संक्षेप में कहें, तो कर्मपरिणाम राजा का राज्य उस महादेवी पर ही आधारित है। वास्तव में वह महादेवी ही राज्य चलाती है। जैसे चंद्रिका से चन्द्र, रति से कामदेव, लक्ष्मी से विष्णु, पार्वती से शंकर अलग नहीं रह सकते वैसे ही कर्मपरिणाम राजा विरह-व्यथा के भय से कभी भी महारानी कालपरिणति को अपने से पृथक् नही रखते। स्वयं जहाँ जाते, जहाँ बैठते वहाँ महारानी को सर्वदा साथ ही रखते। वह महारानी भी अपने पति पर अतिशय अनुरागिनी होने के कारण कभी भी उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करती। 'पति-पत्नी परस्पर अनुकूल हों तभी प्रेम निरन्तर बना रहता है, अन्यथा प्रेम न तो बढ़ता है और न रहता ही है।' इस नियम के अनुसार प्रवृत्ति करने से उनका प्रेम इतना गाढ़ और परिपूर्णता को प्राप्त हो गया था कि उसके टूटने की शंका करने का कोई कारण विद्यमान नहीं था।

महादेवी का कठोर शासन

कालपरिणति महारानी महाराजा की कृपा से, यौवन की मस्ती से, स्त्री-हृदय की तुच्छता से, स्त्री-स्वभाव की चंचलता से और अनेक प्राणियों की विडंबना के कौतूहल से वह अपने मन में अपना प्रसार सब जगह करने में अपने को समर्थ मानती हुई, सुषमा दुःषमा आदि नाम की अपनी प्यारी सखियों से परिवेष्टित जिन्हें वह अपने अंग के समान ही मानती है और समय, आवलिका, मुहूर्त, प्रहर, दिन, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, पल्योपम, सागरोपम, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, पुद्गलपरावर्त आदि परिवार और नौकर-चाकरों से 'मैं इस लोक में सर्वकार्य करने में समर्थ हूँ' ऐसा गर्व अपने मन में रखते हुए, अपने पति कर्मपरिणाम महाराजा की आज्ञा से निर्देशित संसार नामक नाटक को करवाने में अपने पति के साथ बैठकर अभिमानपूर्वक आज्ञा देती है—इस योनि रूपी पर्दे के भीतर अभी जो पात्र तैयार होकर बैठे हैं वे सब मेरी आज्ञा से बाहर निकलें और सब से पहले रोने का नाटक करें। उसके बाद अपनी माताओं के स्तन से दुग्धपान करें। फिर धूलि-धूसरित वदन से घुटने के बल रेंगते हुए चलें। डगमग चलते हुए पग-पग पर जमीन

❀ पृष्ठ १०९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर गिर पड़ें। मल-मूत्र को अपने शरीर से लिपटाकर दुर्गन्धित करें। फिर बाल-स्वभाव को छोड़कर कुमारपन धारण करें, भिन्न-भिन्न प्रकार के हाव भावादि पूर्ण खेल खेलें। सब प्रकार की कलाओं में कुशलता प्राप्त करने के लिये अभ्यास करें। फिर कुमारावस्था छोड़कर युवावस्था को धारण करें। समस्त विवेकी प्राणियों में हास्य उत्पन्न करने वाले कटाक्षों से कामदेव महाराज के उपदेशानुसार कार्य करें और ऐसा करने में अपने कुल-कलंक या अन्य कठिनाइयों की उपेक्षा करें। कामदेव जैसा कहे वैसा भिन्न-भिन्न प्रकार से विलास करें, नाचें और तूफानी मस्ती करें। परदारागमन जैसे अनार्य (अनुचित) कार्य करें। इस प्रकार युवावस्था पूर्ण कर मध्यम (प्रौढ़) अवस्था धारण करें उसमें सात्विक प्रकृति, बुद्धि, पुरुषार्थ और पराक्रम बतावें। इस प्रकार मध्यम वय पूर्ण कर वृद्धावस्था धारण कर * जिसमें कपाल पर रेखाएँ, सफेद बाल, अंग-भंग, अवयवों की शिथिलता और शरीर पर लार टपकती हुई मेल आदि के लगने से शरीर की अति विचित्र अवस्था का दृश्य उपस्थित करें। विकृत और विपरीत स्वभाव का आचरण करें। इस प्रकार जीवन के अनेक स्वरूपों से पूर्ण नाटक दिखाकर अन्त में शरीर का त्यागकर मुर्दे का अभिनय करें। उसके बाद पुनः योनि के पर्दे के पीछे चले जावें। वहाँ गर्भ रूपी कीचड़ में रहकर विविध दुःखों का अनुभव करें। फिर दूसरा रूप धारण कर नया नाटक दिखाने के लिये पर्दे से बाहर आवें। इसी प्रकार बार-बार पर्दे से निकलें, पर्दे के पीछे चले जावें। जनमें, मरें और अनन्त बार नये-नये नाटक दिखावें।

इस प्रकार आज्ञा देने वाली कालपरिणति महारानी संसार नामक नाटक में अभिनय करने वाले सभी पात्रों को एक क्षण भी निष्क्रिय नहीं बैठने देती। क्षण-क्षण में बेचारों से नये-नये रूप धारण करवाती है। बार-बार वेष परिवर्तन में साधनभूत नये-नये पुद्गल स्कन्ध नामक उपकरण जो अति चपल स्वभाव वाले हैं, उन पर भी यह महारानी अपनी सत्ता चलाती है और उन उपकरणों से भी नये-नये रूप धारण करवाती है। वे पात्र भी बेचारे सोचते हैं कि क्या करें! जहाँ राजा भी इस रानी के वश में हैं वहाँ बचने की तो कोई संभावना ही नहीं। इस प्रकार मुक्त होने का कोई मार्ग न देखकर वे लाचार हो जाते हैं और महारानी जो आदेश देती है उनका पालन करते हुए, अनेक प्रकार के वेष धारण करते हुए अपनी आत्म-विडम्बना को देखते रहते हैं। यह महारानी ऐसी प्रबल है कि महाराजा की उपस्थिति में भी स्पष्ट रूप से स्वकीय व्यवहार के द्वारा अपने प्रभाव की अधिकता को प्रदर्शित करती है। महाराजा का प्रभाव तो मात्र नाट्यशाला में संसार नामक नाटक में अभिनय करने वाले पात्रों से बारबार नये-नये रूप धारण करवाने में ही चलता है (वह भी जब महारानी समयानुसार आज्ञा दे तभी), परंतु इस महादेवी का प्रभाव तो नाट्य संसार से बाहर रही हुई निर्वृत्ति नगरी पर भी चलता है; क्योंकि उस निर्वृत्ति नगरी में जो लोग रहते हैं, उनको भी क्षण-क्षण में

* पृष्ठ ११०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित करने की चतुराई इस महादेवी में है। इस प्रकार अपनी सत्ता रंगभूमि से बाहर भी निष्पादित होने से अपने पति से भी अपने को बड़ी मानने वाली अभिमानिनी महादेवी क्या-क्या नहीं कर सकती ? ऐसे अविच्छिन्न चलते अत्यन्त अद्भुत नाटक को कराने में और देखने में निरन्तर प्रवृत्त महाराजा और महारानी का मन अत्यधिक प्रमुदित रहता है और वे दोनों इस नाटक को देखने में ही अपने राज्य की सफलता मानते हैं।

•

३ : भव्य पुरुष सुमति का जन्म

संसार नाटक देखते हुए और नये-नये खेल करते हुए कर्मपरिणाम राजा और कालपरिणति महारानी आनन्द से समय बिता रहे थे। एक समय वे एकान्त में आनंद कल्लोल करने बैठे थे तभी राजा को आनन्द में देखकर महारानी ने कहा :—

नाथ ! भोगने योग्य सभी पदार्थों का मैंने भोग किया है और पीने योग्य सभी पेय पदार्थों का का पान किया है तथा मान करने योग्य को मान देकर बहुत अभिमानपूर्वक जीवन बिताया है। हे प्रभो ! आपके पादपद्मों की कृपा से इस संसार में कोई भी ऐसा सुख नहीं बचा जिसका आस्वाद मैंने न पाया हो। मेरे सुन्दर नाथ ! आपकी कृपा से मैं समस्त प्रकार के कल्याण प्राप्त कर चुकी हूँ और देखने योग्य समस्त पदार्थों को देख चुकी हूँ, परन्तु हे देव ! अभी तक मैंने पुत्र का मुख नहीं देखा है, अतः आपकी कृपा से मुझे एक पुत्र प्राप्त हो जाये तो मेरा जीवन ❀ सफल हो, अन्यथा यह जीवन निष्फल है। [१-५]

राजा -- देवी ! तुमने बहुत ही अच्छी बात कही। यह बात मुझे भी रुचिकर लगती है। सभी कामों में हम दोनों एक समान सुखी-दुःखी होते हैं अतः हे प्रिये ! इस विषय में तू थोड़ा भी खेद मत कर; क्योंकि जिस काम में हम दोनों एकमत हो जाते हैं वह काम तत्काल सफल हो जाता है। [६-७]

रानी -- प्रभो ! आपने बहुत ठीक कहा, मुझ पर बहुत कृपा की। आपके कथनानुसार पुत्र अवश्य होगा. ऐसा मुझे विश्वास है और इस विषय में मैं अभी से गांठ बाँध लेती हूँ। [८]

पति ने जो वचन कहे, उन्हें सुनकर महादेवी की आँख में हर्ष से आँसू आ गये। पति के वचन पर पूर्ण विश्वास होने से उसे अतिशय संतोष हुआ।

उसके बाद एक दिन वह कमल के समान नेत्रों वाली महादेवी अपने शयन कक्ष में सो रही थी तभी रात्रि के अन्तिम प्रहर में उसने एक स्वप्न देखा कि 'सर्वांगसुन्दर एक पुरुष ने उसके मुख से होकर पेट में प्रवेश किया, फिर वह उदर से बाहर निकला और उसे उसका कोई मित्र ले गया।' स्वप्न देखने से महादेवी की आंख खुल गई। इस स्वप्न से उसे कुछ आनन्द और कुछ

❀ पृष्ठ १११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खेद हुआ। फिर तत्क्षण अपने पति के पास जाकर, उस विचक्षण महारानी ने अपने स्वप्न दर्शन की बात कही। [१०-१२]

राजा - महादेवी! इस स्वप्न का जो फल मेरे मन में जच रहा है उसे कहता हूँ, सुनो। तुझे आनन्द देने वाला एक श्रेष्ठ पुत्र होगा पर वह अधिक समय तक तेरे घर में नहीं रहेगा। किसी धर्माचार्य के वचन से बोध प्राप्त कर अपने लक्ष्य को सिद्ध करेगा। [१३-१४]

रानी—मेरे पुत्र होगा, बस इतना ही मेरे लिए बहुत है। मुझे तो इसी से पूर्णानन्द प्राप्त होगा। पश्चात् वह अपनी इच्छानुसार चाहे कुछ भी करे। [१५]

उसी रात को कालपरिणति रानी को गर्भ रहा। वह हर्ष पूर्वक गर्भ क पालन करने लगी। जब गर्भ तीन मास का हुआ तब रानी को दोहद हुआ कि "मैं विश्व के समस्त प्राणियों को अभयदान दूँ, याचको को धन दूँ और जो अपढ, अज्ञानी हैं उन्हें ज्ञान दूँ, ये सभी वस्तुएं जिसे जितनी चाहिये उतनी दूँ।" ऐसी-ऐसी जो-जो इच्छाएँ उसे होती गई वे सब उसने महाराजा को बतादीं और महाराजा की आज्ञा से उसकी सभी इच्छाएँ पूरी होने लगीं। इस प्रकार गर्भ-वहन करते हुए, गर्भकाल पूर्ण होने पर शुभ दिन शुभ मूहूर्त में महादेवी ने समग्र लक्षणों से युक्त एक सुन्दर बालक को जन्म दिया। [१६-१९]

जन्मोत्सव

प्रियनिवेदिका नामक दासी ने तत्काल जाकर राजा को सहर्ष पुत्र जन्म की बधाई दी। पुत्र जन्म का संवाद सुनकर महाराजा को वर्णनातीत अत्यधिक आह्लाद का अनुभव हुआ और राजा ने दासी को आशा से अधिक पुरस्कार देकर प्रसन्न किया। राजा को उस समय जो अपूर्व आनन्द हुआ वह उसके रोमांचित-पुलकित होने से प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा था। आनन्द से ओत-प्रोत राजा ने अपने राज्य-मन्त्रियों को आदेश दिया, "मंत्रियो! महारानी को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई है, अतः इस प्रसंग में ❀ घोषणापूर्वक अच्छे-बुरे, योग्य-अयोग्य का विचार किये बिना सभी प्राणियों को मनोवांछित दान दो। गुरुओं का आदर-सत्कार करो। स्वजन-सम्बन्धियों का सन्मान करो। मित्रों को समग्र प्रकार से सन्तुष्ट करो। कैदियों को बन्दीगृह से मुक्त करो। आनन्द के बाजे बजाओ। इच्छानुसार प्रगल्भ हर्ष से नाचो, कूदो, खाओ, पीओ, स्त्रियों के संग क्रीड़ा करो। कर लेना बन्द करो। दण्ड माफ करो। भयभीत लोगों को धीरज बन्धाओ। सर्व प्राणी स्वस्थ चित्त होकर सुख पूर्वक रहें और किसी भी प्रकार के अपराध की गंध भी मत आने दो।"

❀ पृष्ठ ११२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'आपकी जैसी आज्ञा' कहकर मन्त्रियों ने महाराज को नमस्कार किया और उनकी आज्ञाओं को तुरन्त क्रियान्वित किया। सर्व प्राणियों को आश्चर्य उत्पन्न करने वाला वह जन्म-दिन-महोत्सव आनन्दपूर्वक व्यतीत हुआ।

नामकरण

तत्पश्चात् योग्य समय पर कर्मपरिणाम महाराजा ने विचार किया कि जब इस पुत्र का महादेवी की कुक्षि में प्रवेश हुआ था तब देवी को स्वप्न आया था कि एक सर्वांगसुन्दर पुरुष ने उसके मुख द्वारा शरीर में प्रवेश किया है, अतः इस पुत्र का नाम भी इस घटना के अनुरूप रखना चाहिये। ऐसा विचार कर महाराजा ने अपने पुत्र का नाम भव्यपुरुष रखा। महारानी को जब यह बात ज्ञात हुई तब उसने महाराजा से प्रार्थना की, 'हे देव! यदि आप स्वीकृति प्रदान करें तो मैं भी पुत्र का एक दूसरा नाम रखना चाहती हूँ।' राजा ने कहा, 'ऐसी मंगलमयी बात में कभी मतभेद हो सकता है? इसमें क्या आपत्ति है? तू ने मन में जो कुछ भी नाम निश्चित किया हो उसे प्रसन्नता पूर्वक कह।' तब महादेवी ने कहा, 'यह पुत्र जब गर्भ में था तब मुझे बहुत से अच्छे-अच्छे श्रेष्ठ कार्य करने की बुद्धि होती थी इसलिये मैं इसका दूसरा नाम सुमति रखना चाहती हूँ।' राजा ने कहा, 'देवी! यह तो दूध में शक्कर डालने जैसा हुआ; क्योंकि तुम्हारी निपुणता से उस भव्य-पुरुष का सुमति जैसा नाम अधिक सुन्दर रहेगा।' इस प्रकार कहकर, सुमति नाम से सन्तुष्ट होकर राजा ने हर्षपूर्वक नामकरण महोत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया।

❀

४. अगृहीतसंकेता और प्रज्ञाविशाला

सउ मनुजगति नगरी में अगृहीतसंकेता नामक एक ब्राह्मणी रहती थी। लोगों के मुख से यह सुनकर कि राजकुमार का जन्म-महोत्सव चल रहा है और उसका नामकरण हो गया है, उसने अपनी सखी से कहा—प्रिय सखि प्रज्ञाविशाला! लोगों में जो नयी आश्चर्योत्पादक बात चल रही है क्या वह तूने सुनी है? लोग कह रहे हैं कि कालपरिणति महारानी ने भव्यपुरुष नामक पुत्र को जन्म दिया है।

प्रज्ञाविशाला—प्रिय बहिन! इसमें आश्चर्य की क्या बात है!

अगृहीतसंकेता—मैंने पहले सुना था कि यह कर्मपरिणाम महाराजा अपने स्वरूप से ही निर्बीज (पुत्रोत्पादक शक्तिहीन) है और कालपरिणति राणी वन्ध्या (बांझ) है। फिर भी उनके पुत्र उत्पन्न हुआ है, यह सचमुच ही महान् आश्चर्य की बात है।

राजा और रानी की जननशक्ति

प्रज्ञाविशाला—अरे भोली! तेरा अगृहीतसंकेता नाम ठीक ही है, क्योंकि तू अपने नाम के अनुसार विषय के भीतर रही हुई बात को भली प्रकार नहीं समझ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकी। यह राजा तो अत्यधिक बीज वाला है (पुत्रोत्पादक शक्ति इसमें साधारण लोगों से अनन्त गुणा अधिक है), पर कहीं लोग उसे दृष्टि (नजर) न लगादें इसलिये अविवेक आदि उसके मन्त्रियों ने यह बात फैला रखी है कि वह निर्बीज है।* महारानी भी अनन्त पुत्र-पुत्रियों को जन्म देने की सामर्थ्य रखने वाली है, पर दुर्जनों की उसे नजर न लग जाये इसीलिये मंत्रियों ने उसे भी दुनिया में वंध्या बताया है। सुन—इस संसार में जितने भी पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न होते हैं उन सब में परम-वीर्य रूप से इन राजा-रानी का हाथ होने से परमार्थ से तो ये ही उन सब के वास्तविक माता-पिता हैं। फिर ये राजा-रानी जब नाटक देखते हैं तब इनका माहात्म्य कितना अधिक हो जाता है, क्या तूने वह देखा-सुना नहीं? यह महाराजा अपनी इच्छानुसार सब पात्रों को मनुष्य, नारकी, तिर्यंच, देवरूप संसार के अन्तर्गत अनेक लाख योनियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के रूप धारण करवा कर नाटक करवाते हैं। महाराजा जिन प्राणियों को भिन्न-भिन्न रूप धारण करवाते हैं उन सब को यह महारानी गर्भावस्था, बालकपन, कुमारपन, यौवन, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था, मृत्यु और फिर पुनः अन्यत्र गर्भप्रवेश, वहाँ से निकलकर फिर गर्भप्रवेश आदि स्थितियों में अनन्त बार परिवर्तन करवाती है।

अगृहीतसंकेता—प्रिय सखि! जो बात तू कह रही है वह तो मैंने सुन रखी है, पर मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि कर्मपरिणाम महाराजा सर्व पात्रों को भिन्न-भिन्न रूप धारण कराने में शक्तिमान हैं और कालपरिणति महारानी उनको अवस्थाओं में बार-बार फेर बदल कर सकती है, इससे क्या यह कहा जा सकता है कि वे लोगों के माता-पिता हैं?

प्रज्ञाविशाला—प्रिय सखि! तू तो बिल्कुल भोली है। गाय जैसा जानवर भी आधी बात कहने से पूरी बात समझ लेता है, पर तू तो इस स्पष्ट बात को भी नहीं समझ सकती। सुन, यदि वास्तविक दृष्टि से विचार करें तो यह संसार एक नाटक है, अतः उस नाटक को जो उत्पन्न करने वाले हैं वे परमार्थतः सब के माँ-बाप गिने जा सकते हैं, समझी?

अगृहीतसंकेता—प्रिय बहिन! यदि वे सम्पूर्ण संसार के माँ-बाप हैं, फिर भी दुर्जन प्राणियों की उन पर नजर न लगे, इस भय से अविवेक आदि मंत्रियों ने दुनिया में राजा को निर्बीज और रानी को वंध्या प्रसिद्ध किया है, तब फिर भव्यपुरुष का जन्मोत्सव वे इतने भव्य रूप से क्यों मना रहे हैं, इसका क्या कारण है?

सदागम का स्वरूप

प्रज्ञाविशाला—इस भव्यपुरुष को राजा-रानी के पुत्र रूप में प्रसिद्ध करने का क्या कारण है? सुन—इस नगरी में एक शुद्ध सत्यवादी सदागम

* पृष्ठ ११३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नामक महापुरुष है। वह सर्व प्राणियों का हित करने वाला है, सकल भावों और स्वभावों को अच्छी तरह जानने वाला है। राजा और रानी की गुप्त से गुप्त बातों का रहस्य, उसके स्थान और उनके मर्मों को वह विशेष रूप से जानता है। (उस महात्मा सदागम से मेरी अच्छी पहचान है, मैं कभी-कभी उनसे मिलती रहती हूँ)। एक समय की घटना है कि एक बार मैं उनके पास गई तो उन्हें विशेष आनन्द में देखा। अतः उनसे मैंने आग्रहपूर्वक हर्ष का कारण पूछा। उत्तर में उन्होंने कहा, 'भद्रे ! तुझे इतना कुतूहल है तो तू मेरे हर्ष का कारण सुन। इस कालपरिणति रानी ने एक बार एकान्त में महाराजा से कहा कि, 'राजन् ! मैं स्वयं वन्ध्या नहीं हूँ। फिर भी लोग मुझे वन्ध्या कहते हैं, इस झूठे आरोप से अब मैं दुःखी हो गई हूँ। यद्यपि मेरे अनन्त पुत्र हैं, फिर भी मुझ पर दुर्जन प्राणियों की, दृष्टि न लग जाय इस भय से अविवेक आदि मंत्रियों ने मुझे वन्ध्या प्रसिद्ध किया, जिससे लोगों में ऐसी बातें हो रही हैं; जैसे, मेरे अपने बालक भी * दूसरों के बालक हों। यह तो ऐसी बात हो गई कि जूँओं से बचने के लिये कपड़े का ही त्याग कर दिया जाय। मेरे ऊपर वन्ध्यापन का जो झूठा आरोप लगाया गया है उसे अब आपको किसी भी प्रकार दूर करना चाहिये और मेरे सिर पर लगे इस कलंक के टीके को मिटाना चाहिये।' राजा ने कहा, 'देवि ! मुझे भी मंत्रियों ने निर्बीज प्रसिद्ध किया है, इसलिये अपने दोनों के सिर पर कलंक का टीका एक समान है। तू थोड़ा धैर्य रख। दुनिया में अपना जो अपयश हुआ, उसको दूर करने का उपाय अब मुझे मिल गया है।' ऐसा उपाय क्या है ? रानी के द्वारा पूछने पर राजा ने कहा, 'देवि ! प्रधान आदि के अभिप्राय की परवाह न करके इस मनुजगति नगरी नामक महाराजधानी में तेरे उदर से एक सुन्दर पुत्र का जन्म हुआ है, ऐसा प्रसिद्ध करेंगे और उस पुत्र का जन्मोत्सव धूमधाम से मनायेंगे। इस प्रकार करने से चिरकाल से मेरे ऊपर निर्बीजपन का और तेरे ऊपर बांझपन का जो अपयश एवं कलंक लगा हुआ है वह दूर हो जाएगा।' राजा के वचन सुनकर रानी ने उन वचनों को सहर्ष स्वीकार किया। पश्चात् उन्होंने अपने विचारों को कार्यरूप में परिणित किया। प्रज्ञाविशाला ! इस भव्यपुरुष का जो जन्म हुआ है, वह मुझे बहुत प्रिय है। महाराजा और महारानी के इस पुत्र-जन्म से मैं अपनी आत्मा को सफल मानता हूँ और इससे मुझे हर्ष हुआ है।'

सदागम से ऐसा सुनकर मैंने उनसे कहा—आपके हर्ष का कारण बहुत अच्छा है। इस कारण से इस प्रकार भव्यपुरुष को महाराजा और महारानी के पुत्र के रूप में प्रसिद्ध किया गया है, अब तेरी समझ में यह बात आ गई होगी।

अगृहीतसंकेता अच्छा बहिन अच्छा, ने हैं ीक कहा। तुम्हारी बात से मेरा संदेह दूर हो गया। मैं जब यहाँ आ रही थी ब बाजार में जो बातचीत

* पृष्ठ ११४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चल रही थी उस से लगता है कि राजा-रानी पर अब तक जो निर्वीर्य और बांझपन का कलंक लगा हुआ था, वह दूर हो गया है।

प्रज्ञाविशाला—प्रिय सखि! बाजार में तुमने क्या सुना?

भव्यपुरुष के भावी गुणों का वर्णन

अगृहीतसंकेता—बाजार में बहुत से मनुष्यों के बीच मैंने एक अग्रगण्य अतिसुन्दर आकृति वाले पुरुष को देखा। इस सुन्दर पुरुष को नगर के जिज्ञासु लोग विनयपूर्वक पूछ रहे थे—भगवन्! आज जिस राजपुत्र का जन्म हुआ है वह कैसे गुणों को धारण करने वाला होगा?

उत्तर में भद्रपुरुष ने कहा—भद्रजनो! सुनो, यह बालक कालक्रम से बढ़ता-बढ़ता सर्व गुण-सम्पन्न बनेगा। इसमें इतने अधिक गुण होंगे कि उन सब गुणों का तो वर्णन भी नहीं किया जा सकता और यदि मैं वर्णन करने भी लगूँ तो उन सब गुणों को तुम याद नहीं रख सकते, तथापि इसके गुणों का संक्षेप में वर्णन करता हूँ। सुनो, यह बालक रूप का उदाहरण, यौवन का भण्डार, लावण्य का मन्दिर, प्रश्रय का दृष्टान्त, औदार्य का निकेतन, विनय का भण्डार, गम्भीरता का सदन, विज्ञान का स्थान, दाक्षिण्य की खान, चातुर्य का उत्पति स्थान, स्थिरता की परिसीमा, धीरता का प्रत्यादेश, लज्जाशील, किसी भी विषय को झट से समझने की शक्ति का उदाहरण और धृति, स्मरणशक्ति, श्रद्धा तथा जिज्ञासा रूपी सुन्दरियों का पति होगा। अनेक भवों में उसने अच्छे कर्म करने का अभ्यास कर रखा है इससे वह अतिशय प्रगतिशील होने से बालकपन में भी केलिप्रिय नहीं बनेगा।* वह लोगों पर वात्सल्यभाव दिखाएगा, गुरुजनों के प्रति विनम्रता का आचरण करेगा, धर्मानुरागी होगा, विषय-भोगों में अलोलुप होगा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन अन्तरंग शत्रुओं का विजेता बनेगा और सब के चित्त को अत्यन्त आनन्द देने वाला बनेगा।

इन सब बातों को सुन कर लोगों ने भय और हर्ष मिश्रित दृष्टि से चारों तरफ देखकर कहा—महाराज और महारानी की प्रकृति अतिविषम (क्रूर) होने से वे हम सब को अनेक प्रकार के निरन्तर दुःख देते रहते हैं। पर, यह एक काम तो उन्होंने बहुत ही अच्छा किया जो सब देश-देशान्तरों में प्रसिद्ध मनुजगति नगरी में भव्यपुरुष सुमति को जन्म दिया। ऐसे सुन्दर बालक को जन्म देकर उन्होंने अपने समस्त दुश्चरित्रों को धो दिया और अपने पर लगे निर्बीज एवं बांझपन के कलंक को भी मिटा दिया।

हे बहिन! यह सब वृत्तान्त मैंने बहुत ध्यानपूर्वक सुना था तभी से मेरे मन में यह शंका उठ रही थी कि राजा-रानी तो बांझ है फिर उनके यहाँ पुत्र का

---

* पृष्ठ ११५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन्म कैसे हुआ ? यह पुरुष कौन है जो सर्वज्ञ के समान इस भव्यपुरुष के भविष्य का कथन करता है ? उसी समय मैंने अपने मन में निश्चय किया था कि मैं अपनी अतिप्रिय सखी के पास जाकर दोनों शंकाओं का समाधान करूंगी, क्योंकि इन सब बातों में वह बहुत चतुर है। मेरे मन में जो दो शंकाएं उत्पन्न हुई थीं उनमें से पहली तो तुमने दूर करदी, अब मेरी दूसरी शंका को भी दूर कर।

❀

५. सदागम का परिचय

सदागम का परिचय प्राप्त करने की अगृहीतसंकेता की उत्सुकता जानकर प्रज्ञाविशाला ने अपनी सखी को इस महापुरुष का परिचय इस प्रकार दिया :—

प्रिय सखि ! कार्यकलापों के आधार से मैं उन्हें जानती हूँ कि वह मेरा परिचित परमपुरुष सदागम ही होगा। उसी को तूने उक्त बातें करते हुए देखा है ऐसा मुझे लगता है, क्योंकि वह भूत, भविष्य और वर्तमान के सब भावों को हाथ में रखे हुए आंवले की तरह जानता है और उन भावों का प्रतिपादन करने में वह अत्यन्त पटु है। इनके अतिरिक्त अन्य कोई पुरुष नहीं हो सकता। सदागम के अतिरिक्त इस मनुजगति नगरी में चार और महापुरुष अभिनिबोध, अवधि, मनपर्यव और केवल नामक रहते हैं। यद्यपि वे सदागम जैसे ही हैं पर किसी के सामने उन भावों का प्रतिपादन करने की शक्ति उनमें नहीं है। वे चारों ही अपने स्वरूप से गूंगे हैं। इन चारों महापुरुषों के माहात्म्य और स्वरूप का वर्णन भी भगवान् सदागम ही लोगों के सामने करते हैं; क्योंकि वह सत्पुरुषों की चेष्टाओं का अवलम्बन करने वाला है और दूसरों के गुणों को प्रकाशित करने का सदागम (श्रुतज्ञानी) का स्वभाव ही है।

अगृहीतसंकेता—सखि ! सदागम को यह राजपुत्र अत्यन्त प्रिय है तथा इस बालक के जन्म से सदागम अपनी आत्मा को सफल मानता है, इसका क्या कारण है ?

प्रज्ञाविशाला—यह सदागम महापुरुष है। परोपकार-परायण होने से वह अन्य प्राणियों का उपकार करने में सतत प्रयत्नशील रहता है, इसलिये ऐसा ही आचरण करता है जिससे सर्व प्राणियों का हित हो। केवल पापिष्ठ प्राणी ही उसके वचन का अनुसरण नहीं करते। महात्मा सदागम के माहात्म्य (ज्ञानवैभव और परोपकारी स्वभाव) को ये पापी प्राणी नहीं समझते। यही कारण है कि महात्मा सदागम सर्वदा हितकारी उपदेश देते हैं फिर भी उनमें से कई लोग इनको ही दोष देते हैं।❀ कितने ही उन्हें धिक्कारते हैं, मजाक उड़ाते हैं। कितने ही यह तो स्वीकार करते हैं कि इनका उपदेश ग्रहण करने

❀ पृष्ठ ११६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग्य है, पर उसके अनुसार आचरण करने में वे अपने को अशक्त पाते हैं। कितने ही तो उनके वचन से डरकर दूर से ही भाग खड़े होते हैं। कितने ही उन्हें ठग समझकर शंकालु बनते हैं और बहुत से प्राणी तो उसके वचन को मूल से ही नहीं समझते। कितने ही उनका वचन सुनते हैं पर उसमें रुचि नहीं रखते। कुछ प्राणियों की उनके वचनों पर रुचि तो होती है किन्तु उसके अनुसार आचरण नहीं कर पाते और कुछ उन पर आचरण करना शुरु करके फिर शिथिल पड़ जाते हैं। इस प्रकार सदागम को परोपकार करने की बहुत इच्छा होते हुए भी उनकी धारणा के अनुसार फल प्राप्त नहीं होता। प्राणियों में ऐसी अपात्रता होने के कारण सदागम को निरन्तर अत्यधिक खेद होता रहता है। कुपात्र प्राणी को उपदेश देने का बहुत प्रयत्न किया जाय और वह निष्फल हो जाये तो सद्गुरु के चित्त में खेद का हेतु बनता है। यह राजपुत्र भव्यपुरुष है, अतः उन्हें लगता है कि यह सुपात्र होगा। कोई प्राणी भव्य हो पर वह दुर्मति हो तो वह सुपात्र नहीं हो सकता। किन्तु, यह राजपुत्र तो भव्यपुरुष और सुमति (सद्बुद्धि) भी है इसलिये सुपात्र है और इसी कारण वह सदागम को अत्यन्त वल्लभ लगता है।

सदागम के आनन्द का कारण

सदागम अन्तःकरण से यह मानता है कि इस बालक के पिता कर्मपरिणाम महाराजा होने से इसके कर्म-परिणाम (कर्मफल) सुन्दरतम होंगे तथा इसकी माता काल-परिणति होने से इसका काल अनुकूल होकर व्यतीत होगा। उनको लगता है कि राजपुत्र का बालभाव दूर होने पर, स्वभाव की सुन्दरता से, कल्याण-परम्परा सन्निकट होने से और उसके जैसे पुरुष को मेरे दर्शन करने से प्रसन्नता होने पर जब वह मेरे पास आयेगा तो उसको इस बात का वितर्क (बोध) होगा कि जिस नगर में सदागम जैसा परमपुरुष रहता है, वह मनुजगति नगरी बहुत सुन्दर है। मेरे में कुछ योग्यता होगी ही तभी तो इस महापुरुष से मेरा समागम हुआ है। अब इस श्रेष्ठ पुरुष की विनयपूर्वक आराधना कर इनकी कृपा से ज्ञान का अभ्यास करूंगा। ऐसे-ऐसे विचार वह बालक करेगा और बालक के विचारों से प्रभावित होकर उसके माता-पिता अनुकूल होने से वे पुत्र को मुझे समर्पित कर देंगे अर्थात् यह सुमति मेरा शिष्य बनेगा और मैं अपना ज्ञान इस बालक को देकर कृतकृत्य हो जाऊंगा। इस दृष्टि से भव्यपुरुष सुमति के जन्म को सदागम अपनी आत्मा की सफलता मानता है और इस प्रसंग में अपने मन में सन्तोष होने से वह राजपुत्र के गुणों का लोगों के सन्मुख वर्णन करता है।

सदागम का माहात्म्य

अगृहीतसंकेता—सखि! इस सदागम का ऐसा क्या माहात्म्य है कि पापिष्ठ प्राणी उसे नहीं समझ सकते और इसीलिये उनके कहने के अनुसार वे आचरण नहीं कर सकते?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रज्ञाविशाला—प्यारी सखि ! ध्यानपूर्वक सुन । कर्मपरिणाम महाराज की शक्ति को किसी भी स्थान पर रोका नहीं जा सकता अर्थात् वह अप्रतिहत शक्तिशाली है । यह महाराजा संसार-नाटक करवाते हुए निरंतर अपनी इच्छानुसार धनवान को भिखारी, ❀ भाग्यशाली को भाग्यहीन, रूपवान को कुरूप, पण्डित को मूर्ख, शूरवीर को कायर, अहंकारी (अभिमानी) को दीन, तिर्यंच को नारकी, नारकी को मनुष्य, मनुष्य को देव और देव को पशु बना देता है । वह बड़े-बड़े राजाओं को कीड़ा (कीट), चक्रवर्ती को भिखारी और दरिद्री को ऐश्वर्यशाली बना देता है । अरे ! इसके बारे में अधिक क्या कहें ? अपनी इच्छानुसार बड़े से बड़ा भाव परिवर्तन करते हुए उसको कोई रोक नहीं सकता । अतुल शक्तिशाली महाराजा भी सदागम के नाममात्र से भयभीत हो जाता है और उसकी गंध से भी दूर भाग खड़ा होता है । यह महाराजा सब लोगों को संसार नाटक में तब तक ही विडम्बित कर सकता है जब तक कि यह सदागम महापुरुष जोर से हुंकार नहीं करता । यदि ये एक बार भी गर्जना कर दें तो कर्मपरिणाम महाराजा उसके भय से भयभीत होकर, युद्ध में जैसे कायर अपने प्राण गंवा देता है उसी प्रकार प्राणियों को छोड़कर भाग खड़ा होता है । इस प्रकार हांक लगाकर सदागम ने अभी तक अनन्त प्राणियों को कर्मपरिणाम राजा के जाल से छुड़ाया है ।

कर्मपरिणाम से मुक्त जीवों का स्थान

अगृहीतसंकेता—सदागम ने अनन्त प्राणियों को उसके जाल से छुड़ाया है ऐसा तू कहती है, तब वे प्राणी दिखाई क्यों नहीं देते ?

प्रज्ञाविशाला कर्मपरिणाम राजा के राज्य-शासन से बाहर एक निर्वृत्ति नामक महानगर है । सदागम की हुंकार से जिन पर कर्मपरिणाम राजा की आज्ञा नहीं चलती और जो यह जान जाते हैं कि सदागम ने उन्हें कर्मपरिणाम के चंगुल से छुड़ा लिया है वे कर्मपरिणाम महाराज के सिर पर पाँव रखकर, उड़कर निर्वृत्तिनगर में पहुँच जाते हैं । उस नगर में पहुँचने के बाद सर्व प्रकार के उपद्रवों और त्रास से रहित होकर वे वहाँ सर्वकाल परमसुखी जीवन व्यतीत करते हैं । इसीलिये सदागम द्वारा छुड़ाये गये प्राणी यहाँ दिखाई नहीं देते ।

समस्त प्राणियों के सुखी नहीं होने का कारण

अगृहीतसंकेता—यदि ऐसा ही है तो फिर वे परमपुरुष सब लोगों को क्यों नहीं छुड़ाते ? यह अतिविषम प्रकृति वाला महाराजा कर्मपरिणाम तो सभी पामर जीवों को अतिशय दुःख देता है । यदि जैसा तुम कह रही हो वैसी शक्ति महापुरुष सदागम में है तब लोगों की कदर्थना को देखकर चुप रहना उन जैसे श्रेष्ठ पुरुष के लिये योग्य नहीं है ।

❀ पृष्ठ ११७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रज्ञाविशाला – तेरी बात ठीक है। परन्तु महापुरुष सदागम का यह स्वभाव है कि जो प्राणी उनके वचनों से विपरीत आचरण करते हैं, ऐसे कुपात्रों की वे सर्वदा उपेक्षा करते हैं। जिन प्राणियों के प्रति सदागम उपेक्षाभाव रखते हैं वे आश्रयहीन हैं, ऐसा समझकर कर्मपरिणाम राजा उनकी अत्यधिक कदर्थना करते हैं। जो प्राणी स्वयं सुपात्र बनकर महापुरुष सदागम के निर्देशानुसार कार्य करते हैं उन्हें सदागम अपनी प्रकृति का अनुसरण करने वाला समझकर कर्मपरिणाम राजा की तरफ से दी जाने वाली यंत्रणाओं से पूर्णतया मुक्ति दिला देते हैं। जिन लोगों की भगवान् सदागम पर प्रीति-भक्ति होने पर भी उनके वचनानुसार पूर्ण रूप से अनुष्ठान (आचरण) करने में सामर्थ्यहीन होने से उनके वचनों में से जो अत्यधिक, अधिक, अल्प या अत्यल्प भी आचरण करते हैं, ❀ या जो सदागम पर अंतःकरण पूर्वक भक्ति रखते हैं और कुछ नहीं तो जो केवल अन्तरात्मा से उसका नाम भी स्मरण करते हैं और इस महात्मा के वचनों का नाममात्र (अत्यल्प) भी अनुसरण करते हैं, उन पर यह महात्मा 'धन्य, कृतार्थ, पुण्यशाली, सुलब्धजन्म' आदि शब्दों से उनका पक्ष लेते हैं। जो प्राणी इस पूज्य महात्मा का नाम भी नहीं जानते पर जो स्वभाव से ही भद्र होते हैं वे अन्धे की लाठी की तरह मार्गानुगामी बन जाते हैं, वे अनाभोग से भी (सम्यग् बोध के अभाव में भी, नहीं जानते हुए भी) इस महात्मा के वचनों का अनुसरण करने वाले बनते हैं। यद्यपि ऐसे अनेक प्रकार के प्राणियों को कर्मपरिणाम महाराजा संसार-नाटक में कुछ समय तक नचाते हैं तदपि वे सदागम को प्रिय हैं ऐसा जानकर उनसे नारकी, तिर्यंच, असंयमी मनुष्य या अधम देवता का अभिनय नहीं करवाते। ऐसे लोगों से अनुत्तरविमानवासी देवता, ग्रैवेयक देवता, कल्पोपपन्न देवता, पातालस्थ कल्पोपपन्न महर्द्धिक देवता, ज्योतिषी, चक्रवर्ती या महामाण्डलिक आदि का प्रधान पुरुष के रूप में अभिनय करवाता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अभिनय की स्थितियों में उनसे नाटक करवाता है परन्तु उनसे निम्न कोटि के पुरुषों का अभिनय कभी नहीं करवाता। इतना प्रचण्ड शक्तिशाली कर्मपरिणाम महाराजा भी पूज्य सदागम के भय से कांपता रहता है। यह एक ही बात सदागम के माहात्म्य को समझने के लिये पर्याप्त है।

सदागम का स्वरूप

हे मृगाक्षि! यदि तुझे अभी भी कौतुक हो कि सदागम महात्मा का कैसा स्वरूप है? तो मैं वह सुनाती हूँ, तू सुन—परमार्थ से देखें तो यह महात्मा तीनों जगत् का स्वामी है। वस्तुतः सब पर स्नेह रखने वाला, संसार का शरणस्थल, सब का बन्धु, विपत्ति के अन्धकूप में पड़े हुए प्राणियों का आश्रयदाता और संसार अटवी में भटकते हुओं को सन्मार्ग बताने वाला भी यही है। समस्त व्याधियों की सच्ची औषधि देने वाला महान् वैद्य और सर्व व्याधियों का अन्त करने वाली महान् औषधि भी यही है। समग्र वस्तुओं का प्रकाशक होने से जगद्दीपक, प्रमाद-राक्षस के

❀ पृष्ठ ११८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंजे से तत्काल छुड़ाने वाला, अविरति रूप कचरा और लील को धोने वाला, मन वचन काया के दुष्ट योगों से छुटकारा दिलवाने वाला और शब्दादि पाँच चोरों द्वारा प्राणी के धर्मधन को लूटने पर उनके चंगुल से छुड़ाने वाला भी यही पूज्य पुरुष है, अन्य कोई समर्थ नहीं है। महाघोर नरक के दुःखों से रक्षण करने वाला, पशुत्व (तिर्यंच गति) के दुःखों से रक्षण करने वाला तुच्छ मनुष्यता के अनेक दुःखों का विच्छेदक, अधम असुरपन के मानसिक संतापों का नाशक, अज्ञान-वृक्ष का ❀ उच्छेद करने में कुठार के समान महानिद्रा को भगाने वाला, प्राणियों का प्रतिबोधक, स्वाभाविक आनन्द का सच्चा कारण, और सुख-दुःख रूप अनुभव की मिथ्या बुद्धि का विनाशक भी यही महापुरुष है। प्रबल क्रोधरूपी अग्नि का शमन करने में जल के समान, मानरूपी महापर्वत को चूर्ण करने में वज्र के समान, मायारूपी विशाल बाघिन का नाश करने में शरभ के समान और महालोभरूप महासागर का शोषण करने में वडवानल के समान भी यही है। हास्यविकार को प्रगाढ़ता के साथ शमन करने में सक्षम, मोहनीय कर्म के उदय से होने वाली रति का नाशक, पीडा तथा भय से ग्रस्त प्राणियों के लिए अमृत समान और भ्रान्त एवं भयाकुल प्राणियों के संरक्षण में समर्थ भी यही है। शोक से हिम्मत हारने वालों प्राणियों को आश्वासन देने वाला, जुगुप्सा आदि विकारों को पूर्णरूप से शमन करने वाला, कामरूप पिशाच को दृढ़ता के साथ उच्चाटन करने में पटु और मिथ्यात्व रूप अन्धकार को ध्वस्त करने में प्रचण्ड सूर्य के समान भी यही है। चार प्रकार के जीवित (आयु) का उच्छेदन करने वाला भी यही महापुरुष है, क्योंकि प्राणियों का जहाँ जन्म-मरण न हो ऐसे शिवलोक में ले जाने वाला भी यही है। शुभ-अशुभ नाम कर्म की प्रकृतियों से होने वाली लोक विडम्बना को यह महात्मा अशरीरी स्थान प्राप्त करवाकर काट फेंकता है। अपने भक्तों को अक्षय, अव्यय सर्वोत्तमता प्राप्त करवाकर, ऊँच-नीच गोत्र से होने वाली विडम्बना का उच्छेद करता है। दान, महावीर्य, योग आदि शक्तिपुंज प्राप्ति का कारणभूत भी यही सदागम है। जो अधम और भाग्यहीन पुरुष महापापी होते हैं और जिन्हें इन महापुरुष के नाम के प्रति सन्मान नहीं होता, ऐसे प्राणियों को निरन्तर कर्मपरिणाम महाराजा उपर्युक्त अनेक प्रकार से विडंबित करता है और उनसे संसार नाटक करवाता है। जिनका थोड़े समय में कल्याण होने वाला होता है ऐसे पुण्यशाली उत्तम पुरुष बहुत आदरपूर्वक सदागम का निर्देश मानते हैं और सम्मानपूर्वक उसकी आज्ञानुसार आचरण करते हैं। फलतः वे अनेक प्रकार की कदर्थना करने वाले कर्मपरिणाम महाराजा की थोड़ी भी परवाह नहीं करते और उसका अपमान कर, संसार-नाटक से मुक्त होकर, निर्वृत्ति नगर में पहुँच कर वहाँ आनन्दपूर्वक रहते हैं। कदाचित् वे कर्मपरिणाम महाराजा के प्रदेश में रह भी जाएं तब भी किसी प्रकार की चिंता किए बिना वे सदागम की कृपा से कर्मपरिणाम

❀ पृष्ठ ११६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाराजा को तृण तुल्य गिनते हैं। इस विषय में अधिक क्या कहूँ! इस दुनिया में या अन्यत्र ऐसी कोई सुन्दर वस्तु (पदार्थ) नहीं है जो कि सदागम के भक्त को प्राप्त नहीं हो सकती हो। हे सखि! इस प्रकार मैंने तेरे समक्ष परमपुरुष सदागम का लेशमात्र संक्षिप्त परिचय दिया है। विशेष रूप से उनके सब ❀ गुणों का वर्णन करने में तो कोई समर्थ नहीं हो सकता। [१–२८]

सदागम के पास जाने की विज्ञप्ति

प्रज्ञाविशाला द्वारा वर्णित सदागम के परिचय को सुनकर अगृहीत-संकेता को बहुत आश्चर्य हुआ। मन में शंकाएँ उठने से वह विचार करने लगी कि मेरी इस सखी ने जैसे गुणों का वर्णन किया है वैसे गुण यदि उसमें वास्तव में हों तो उसके जैसा दूसरा कोई प्राणी विश्व में नहीं है। अतः मैं स्वयं उसे देखकर निश्चय करूँ कि वह इस प्रकार के गुणों का धारक है या नहीं? दूसरे के कहने से, अथवा सुनी हुई बात से संदेह दूर नहीं हो सकता। [२९–३१]

इस प्रकार विचार कर अगृहीतसंकेता ने प्रज्ञाविशाला से कहा मुझे अभी तक तो पूर्ण विश्वास था कि मेरी सखी सत्यवादिनी है पर अभी तूने जिस प्रकार से सदागम के गुणों का वर्णन किया है वह तो मुझे असंभव सा लगता है और तू मेरी दृष्टि में अनर्गलभाषिणी प्रतीत होती है। मैं मन में यह भी सोचती हूँ कि सम्भव है तेरा उससे विशेष परिचय है, जिससे उसके प्रति अपने अनुराग को लेकर तूने उसके बारे में इतना अधिक कहा है। अन्यथा क्या कर्मपरिणाम महाराजा कभी किसी से डर सकते हैं? क्या एक प्राणी में इतने सारे गुण एक साथ कभी हो सकते हैं? यद्यपि मुझे इतना तो विश्वास है कि मेरी प्यारी सखी कभी मुझे धोखा नहीं देगी तदपि संदेह पर आरूढ़ मेरा मन हिचकोले खा रहा है। इसलिये तुझे तेरे आत्म-परिचित परमपुरुष सदागम के दर्शन मुझे विशेष रूप से कराने की आवश्यकता है।

प्रज्ञाविशाला—तेरा यह विचार मुझे भी बहुत पसंद आया। महापुरुष सदागम का तुझे भी दर्शन करना चाहिये और इसके लिए तुझे उनके पास जाना चाहिये। तदनन्तर वे दोनों सखियाँ सदागम के पास जाने के लिये चल पड़ीं।

❀

६. संसारी जीव तस्कर

महाविदेह क्षेत्र में सदागम

बड़े-बड़े विजय रूप अनेक दुकानों की पंक्तियों से शोभायमान और अनेक महापुरुषों से खचाखच भरा हुआ वहाँ महाविदेह रूप बाजार था। दोनों बहिनें उस बाजार में गईं, वहाँ उन्होंने अनेक प्रधान पुरुषों से परिवेष्टित भूत, भविष्य और वर्तमान के सर्वभावों का वर्णन करते हुए भगवान् सदागम को देखा। दोनों

❀ पृष्ठ १२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सखियां उनके पास गईं और उन्हें नमस्कार कर, उनके चरणकमलों के समीप बैठ गईं। उनकी आकृति को देखने मात्र से और उनके सामने बहुमान पूर्वक बार-बार देखने से अगृहीतसंकेता का संशय दूर हो गया और उसके चित्त में आनन्द की वृद्धि हुई। उसके चित्त में इस महापुरुष के प्रति विश्वास उत्पन्न हुआ और वह अन्तःकरण पूर्वक मानने लगी कि उनके दर्शन से उसकी आत्मा कृतार्थ हुई है। फिर उसने प्रज्ञाविशाला को लक्ष्य करके कहा—

अहो महाभाग्यशालिनि ! तू धन्य है। तेरा जीवन बहुत श्रेष्ठ है कि तुझे ऐसे महात्मा पुरुष का परिचय प्राप्त हुआ। मैं भाग्यहीन होने के कारण ही समस्त पापों को धो डालने वाले ऐसे महाभाग्यवान पुरुष के दर्शन से आज तक वंचित रही। भाग्यहीन प्राणी इन भगवान् सदागम को प्राप्त नहीं कर सकते; क्योंकि लक्षणहीन मनुष्यों को चिंतामणि रत्न नहीं मिल सकता। हे मृगलोचना ! इन महाभाग्यशाली सदागम का दर्शन आज मैंने तेरी कृपा से किया है जिससे मेरे सर्व पाप धुल गये हैं और मैं पवित्र हो गई हूँ। हे कमलपत्राक्षि ! तूने इन महात्मा के जिन गुणों का वर्णन मेरे समक्ष किया था, ❀ वे सब इनमें हैं, यह तो इनके दर्शन मात्र से मेरे मन में निश्चय हो गया है। इन महापुरुष का विशेष गुण-गौरव तो मैं अभी जानती नहीं तब भी मुझे यह तो लग रहा है कि इनके जैसा अन्य कोई पुरुष इस विश्व में नहीं है। इनमें इतने सारे गुण एक साथ होंगे ? ऐसा संशय तो मुझे हुआ था, पर वह अभी इनके दर्शन से एकदम नष्ट हो गया है। तू बड़ी छिपी रुस्तम है और मेरे प्रति सच्ची सद्भावना तेरे में नहीं है, इसीलिये तूने इन पुरुषोत्तम का मुझे कभी दर्शन नहीं कराया। पर बहिन ! अब से तो मैं प्रतिदिन तेरे साथ आकर इन महात्मा पुरुष के दर्शन और इनकी उपासना किया करूंगी। हे सुन्दरांगि ! तू तो यहाँ बहुत बार आई हुई है, अतः इनमें कैसे-कैसे गुण हैं, इनका वास्तविक स्वरूप क्या है, इनका आचार कैसा है, इनकी अंत-करण पूर्वक आराधना किस प्रकार की जा सकती है, आदि सब बातें तू तो जानती है परन्तु हे मितभाषिणी ! यह सब तुम्हें मुझे भी बताना पड़ेगा, जिससे कि मैं भी इन परम-पुरुष की आराधना करके तेरे जैसी बन सकूं। [१-१४]

प्रज्ञाविशाला—बहुत अच्छा, बहुत अच्छा, प्यारी सखि ! यदि तू इस प्रकार करेगी तो मेरा परिश्रम सफल हो जाएगा। हे सुलोचना ! तेरे विशेष ज्ञान और वचन-कौशल को धन्य है। तेरी कृतज्ञता प्रकट करने की वृत्ति भी प्रशस्य है। इस सदागम का ज्ञान तुझे न होने से तू इनको नहीं पहचानती थी पर अब सचमुच तू इस विषय में योग्य हो गई लगती है। इस प्रकार यदि तू प्रतिदिन मेरे साथ विचार करेगी तो यद्यपि अभी तो तू परमार्थ को नहीं जानती, पर धीरे-धीरे तू परमार्थ तत्त्व की पूर्णरूपेण ज्ञाता बन जायेगी। इस प्रकार बातचीत करते हुए उन दोनों सखियों को बहुत आनन्द मिला। फिर उन्होंने सदागम महात्मा को

❀ पृष्ठ १२१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नमस्कार किया। उस दिन तो वे अपने-अपने स्थान पर चली गईं, परन्तु उसके पश्चात् वे दोनों सखियाँ प्रतिदिन सदागम के पास आने लगीं और उन महात्मा की सेवा-भक्ति करने लगीं जिससे उनके दिन आनन्द लीला पूर्वक व्यतीत होने लगे। [१५-२०]

राजपुत्र सम्बन्धी निर्णय

बुद्धिमान महात्मा सदागम ने एक बार विशाल दृष्टि वाली प्रज्ञाविशाला को उद्देश्य कर कहा—सर्व गुणसम्पन्नता को प्राप्त करने वाले राजपुत्र भव्यपुरुष को बचपन से ही तुझे अपने स्नेह से सिक्त कर देना चाहिये। अतः हे भद्रे! तू राजकुल में जाकर वहाँ अपना परिचय बढ़ा और राजपुत्र की माता कालपरिणति महारानी का मन मुग्ध कर किसी भी प्रकार से तू अपने को उस राजपुत्र की धाय बनाले। यदि यह बालक तुझ में विश्वास करेगा तो चाहे वह कितने ही सुख में पले फिर भी वह मेरे वश में रहेगा। ऐसे सुपात्र में अपना समस्त ज्ञान-कोष स्थापित कर मैं शीघ्र ही कृतकृत्य हो जाऊँगा। [२१-२५]

सदागम की आज्ञा सुनकर, 'हे आर्य! आपकी जैसी आज्ञा' कहकर * मस्तक झुकाकर, उनके वचनों का आदर करते हुए, जैसा उन्होंने कहा उसी प्रकार उसने किया। अर्थात् प्रज्ञाविशाला राजपुत्र की धाय नियुक्त हो गई। भव्यपुरुष ऐसी सुन्दर धाय को प्राप्त कर प्रसन्न हुआ और उस धाय के द्वारा लालित-पालित होता हुआ देवताओं के समान सुखानुभव करता हुआ लीलापूर्वक बढ़ने लगा। अनुक्रम से वृद्धि प्राप्त करते हुए वह राजपुत्र कल्पवृक्ष की भांति सब लोगों के नेत्रों को आनन्द देने लगा। सदागम ने उसमें जिन-जिन श्रेष्ठ गुणों का वर्णन किया था वे सब गुण उसमें कुमारावस्था से ही प्रत्यक्ष दिखाई देने लगे। [२६-२९]

सुमति की गुण विचारणा

एक दिन प्रज्ञाविशाला उस राजपुत्र को सदागम का परिचय कराने उनके पास ले गई। महापुण्यशाली जीव भावीभद्र कुमार को महाभाग्यवान सदागम को देखते ही हर्षातिरेक हुआ। अन्तःकरण पूर्वक उनको नमस्कार कर राजकुमार उनके पास बैठा और वे जो अमृत जैसे मनोहर वाक्य बोल रहे थे उन्हें ध्यान पूर्वक उत्साह से सुनने लगा। चन्द्र किरण जैसे निर्मल गुणधारक राजपुत्र भव्यपुरुष का मन सदागम के प्रति आकर्षित हुआ और वह अपने मन में विचार करने लगा—'अहा! कितने मधुर वचन हैं! इनका रूप कितना अद्वितीय है! इनके गुण कितने आकर्षक हैं! मैं सचमुच मैं भाग्यशाली हूँ कि ऐसे महात्मा पुरुष के मुझे दर्शन हुए। इस मनुजगति नगर में जहाँ ऐसे महापुरुष रहते हैं, वह भी भाग्यशाली है। इन बुद्धिमान महात्मा के दर्शन कर आज मेरे पाप धुल गये हैं। वास्तव में भगवान् सदागम भूत, भविष्य और वर्तमान के सारे भावों का वर्णन बहुत ही सुन्दर पद्धति से करते हैं।

* पृष्ठ १२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि ये महात्मा मेरे उपाध्याय (शिक्षक) बन सकें तो मैं इनके पास समस्त कलाओं को इनसे ग्रहण करूं। [३०-३७]

सदागम को उपाध्याय का स्थान

राजपुत्र के मन में जो विचार उत्पन्न हुए उनको उसने प्रज्ञाविशाला को बतलाया और उसने उसके माता-पिता को सब बात समझाई। उनको भी यह बात सुनकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई। उसके पश्चात् शुभ दिन देखकर उन्होंने महोत्सवपूर्वक अपने पुत्र को शिक्षण हेतु सदागम को समर्पित किया। परम्परानुसार सदागम महात्मा का अद्भुत पूजा सत्कार कर भव्यपुरुष सुमति को उनका शिष्य बनाकर सौंप दिया। उस समय उस गंभीर कुमार के शरीर पर श्वेत चन्दन का लेप किया गया, उसे धवल वस्त्र आभूषण पहनाये गये और स्वेत पुष्पों से ही उसका शृंगार किया गया। अब वह कुमार महानन्द और प्रमोद पाते हुए विनयपूर्वक शिष्य बनकर उन उपाध्याय के पास जाने लगा उसकी कलाग्रहण की कामना से है और सदागम की भी इच्छा उसे कलाएं सिखाने की हैं। इसके पश्चात् प्रतिदिन राजकुमार प्रज्ञाविशाला के साथ धीमान् सदागम के पास जिज्ञासापूर्वक विद्याध्ययन के लिये जाने लगा। [३८-४३]

संसारी जीव

एक दिन बाजार में महात्मा सदागम आनन्द से बैठे थे। उनके साथ प्रज्ञाविशाला और राजकुमार भी बैठे थे। सदागम के चारों ओर दूसरे अनेक मनुष्य भी बैठे थे। वे महात्मा उनसे अनेक विषयों पर वार्तालाप कर रहे थे। ❀ उस समय अगृहीतसंकेता भी अपनी सखी प्रज्ञाविशाला के पास आकर, सदागम को नमस्कार कर, शुद्ध जमीन देखकर बैठ गई। उसने अपनी प्यारी सखी से कुशल समाचार पूछे, राजपुत्र का सम्मान किया और सदागम के सामने आँखें स्थिरकर बैठ गई। [४४-४७]

उस समय एक दिशा में से अचानक कोलाहल सुनाई देने लगा। उस दिशा की तरफ से फूटे हुए अस्त-व्यस्त ढोल की कर्ण कटु ध्वनि आ रही थी। तूफानी लोगों के अट्टहास की आवाज भी आ रही थी। ऐसे विचित्र कोलाहल को जानने के लिए उत्सुक सम्पूर्ण सभा की दृष्टि उस तरफ आकर्षित हुई। उस समय उन्होंने अपने निकट ही एक संसारी जीव नामक चोर को देखा जिसके कारण से वह कोलाहल उठा था। उस चोर के सारे शरीर पर राख चुपड़ी हुई थी, उसकी चमड़ी पर गेरुएं रंग के हाथ छापे हुए थे, सारे शरीर पर घास की राख से काले तिलक (टीका) बनाये गये थे, गले में कनेर के डोडों की माला पड़ी हुई थी और छाती पर कोड़ियों की माला लटकी हुई थी। टूटी हुई मटकी का ठीकरा सिर पर छत्र की तरह रखा हुआ था, गले के एक तरफ चोरी का माल लटका

❀ पृष्ठ १२३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ था, और उसे गधे पर बिठा रखा था। उसके चारों ओर राज्य कर्मचारी चल रहे थे, लोग उसकी निन्दा कर रहे थे, उसका पूरा शरीर थरथर कांप रहा था, भय से छाती धड़क रही थी और वह फटी हुई आँखों से चारों तरफ देख रहा था।

चोर का सदागम की शरण में आना

यह दृश्य देखकर प्रज्ञाविशाला को उस पर करुणा आई। उसने मन में सोचा कि महात्मा सदागम के अतिरिक्त और कोई भी इस बेचारे को शरण नहीं दे सकता। ऐसा सोचकर वह उस संसारी जीव के पास गई और बहुत प्रयत्नपूर्वक समझाकर उस चोर को सदागम के दर्शन कराये एवं कहा 'भद्र ! तू इन महापुरुष की शरण ग्रहण कर।' वह चोर भी जैसे ही सदागम के पास आया वैसे ही उसमें अपूर्व विश्वास पैदा हो गया तथा ऐसी चेष्टा और विचार करने लगा मानों वह कोई अपूर्व अवर्णनीय अवस्था का अनुभव कर रहा हो। सब लोगों के देखते-देखते वह अपनी आँखें बन्द कर जमीन पर पड़ गया। कुछ समय तक वह वैसे ही बिना हिले-डुले निश्चल पड़ा रहा। 'इस चोर को एकाएक क्या हो गया ?' ऐसे विचार से नगर के जो लोग उसके पीछे आये थे, वे आश्चर्य करने लगे। उसके पश्चात् धीरे-धीरे उस चोर को चेतना आने लगी और वह थोड़ा सावधान हुआ। फिर उठकर सदागम को लक्ष्य कर जोर-जोर से पुकारने लगा—'हे नाथ ! मेरी रक्षा करें, हे नाथ ! मेरी रक्षा करें।' उसकी पुकार सुनकर 'तू भय का त्याग कर, अभय हो, अभय हो।' कहकर सदागम ने उसे आश्वासन दिया। उसके बाद वह सदागम की शरण में आया, सदागम महात्मा ने भी उसको स्वीकार कर लिया। जो राजपुरुष सदागम के माहात्म्य और अद्भुत शक्ति को जानते थे वे मन में समझ गये कि अब यह पुरुष अपनी राजसत्ता में नहीं रहा। अतः भय से कांपते हुए एक-एक कदम पीछे चलते हुए बाहर निकल गये और उस स्थान से दूर जाकर बैठ गये। संसारी जीव को भी इससे कुछ शांति मिली।

चोर का वृत्तान्त

अगृहीतसंकेता ने संसारी जीव से पूछा—'भद्र। तूने क्या अपराध किया था कि इन यम जैसे राजपुरुषों ने तुझे पकड़ रखा था ?' प्रश्न सुनकर संसारी जीव ने कहा—'आप इस विषय में पूछ कर क्या करेंगी ? यह कहने योग्य विषय नहीं है। ❀ भगवान् सदागम यह सब वृत्तान्त अच्छी तरह जानते हैं अतः यह सब बताने की आवश्यकता भी नहीं है।' तब सदागम ने कहा—'भद्र ! इस अगृहीतसंकेता को तेरा वृत्तान्त सुनने की उत्सुकता है, अतः उसकी जिज्ञासा को शान्त करने के लिये तू अपनी दशा बतलादे, इसमें कोई दोष (आपत्ति) नहीं है।' तब संसारी जीव ने कहा—'नाथ ! जैसी आपकी आज्ञा ! परंतु मैं आप बीती दुःखद

❀ पृष्ठ १२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घटना का वर्णन सब के सन्मुख नहीं कर सकता, अतः आप ऐसी आज्ञा प्रदान करें कि हम किसी निर्जन स्थान में बैठकर बातचीत कर सकें।'

सदागम ने जैसे ही सभा की तरफ आँख से इशारा किया वैसे ही सभा में आये हुए विचक्षण लोग तत्क्षण उठकर दूर चले गये। दूसरे लोगों के साथ जब प्रज्ञाविशाला भी उठने लगी तब सदागम ने उसे कहा कि, तू भी बैठकर सुन। सदागम के कहने से उसके पास ही राजपुत्र भव्यपुरुष भी बैठा रहा। पश्चात् इन चारों के समक्ष अगृहीतसंकेता को उद्देश्य कर संसारी जीव ने अपना वृत्तान्त कहना प्रारम्भ किया।

❀

७. असंव्यवहार नगर

अत्यन्त-अबोध और तीव्र मोहोदय

इस संसार में अनादि काल से प्रतिष्ठित (स्थापित और अनन्त लोगों से परिपूर्ण एक असंव्यवहार नगर है। इस नगर में अनादि वनस्पति नाम के कुल पुत्र रहते हैं। वहाँ पूर्व-वर्णित कर्मपरिणाम महाराजा के सम्बन्धी अत्यन्त-अबोध नामक सेनापति और तीव्रमोहोदय नामक महत्तम (सूबेदार–राज्यपाल) उस पद पर सर्वदा के लिये नियुक्त हैं। उस नगर में रहने वाले सभी लोग कर्मपरिणाम महाराजा की आज्ञा से, अत्यन्त-अबोध और तीव्रमोहोदय के प्रताप से अस्पष्ट चेतना वाले ऊंघते हुए से दिखाई देते हैं। कार्य-अकार्य का विचार नहीं होने से नशे में हों, ऐसे एक-दूसरे में आसक्त और मूच्छित से दिखाई देते हैं। स्पष्ट दिखाई देने वाली कोई भी चेष्टा न करने से मृत जैसे दिखाई देते हैं। अत्यन्त-अबोध और तीव्रमोहोदय इन सब जीवों को सर्वदा के लिये निगोद नामक कोठरी में डालकर एक पिण्ड जैसा गड्डमड्ड करके रखते हैं। वे समस्त जीव अत्यन्त मूढ़ होने से कुछ भी नहीं जानते, कुछ भी नहीं बोलते, हिलते-डुलते नहीं, छेदन-भेदन को प्राप्त नहीं होते, जलते नहीं, भीगते नहीं, टूटते-फूटते नहीं, आघात नहीं पाते और व्यक्त वेदना का अनुभव नहीं करते। इसके अतिरिक्त भी किसी प्रकार का वे लोक-व्यवहार नहीं करते। उस नगर में रहने वाले जीवों का अपना कोई और किसी प्रकार का व्यवहार नहीं होने से इस नगर का नाम असंव्यवहार नगर पड़ गया। उस नगर में संसारी जीव नामक मैं भी एक कुटुम्बी था। इस नगर में रहते हुए मुझे अनन्त काल बीत गया।

तत्परिणति का निवेदन

एक दिन राज्यपाल तीव्रमोहोदय सभा बुलाकर बैठे थे और उनके पार्श्व में अत्यन्तअबोध सेनापति बैठा था। इतने में ही तत्परिणति नामक प्रतिहारिणी ने सभा मण्डप में प्रवेश किया। वह समुद्र तरंग के समान मोतियों के समूह को धारण करने वाली, वर्षा ऋतु की लक्ष्मी की तरह समुन्नत पयोधरा, मलयाचल पर्वत की मेखला की तरह चन्दन की सुगन्ध को धारण करने वाली और वसन्त ऋतु की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्ष्मी की तरह सुन्दर पत्र (पत्रवल्ली) तिलक और आभूषणों से शोभित थी। उसने जमीन तक अपने हाथ, पांव और मस्तक झुका कर प्रणाम किया और फिर अंजली जोड़कर निवेदन किया * —'देव! अपने सुगृहीतनामधेय महाराज कर्मपरिणाम की ओर से तन्नियोग नामक दूत आपके दर्शन करने की इच्छा से आपके पास आया है। आपकी आज्ञा की राह देखते हुए वह अभी प्रतिहार भूमि में खड़ा है। इस सम्बन्ध में आपकी क्या आज्ञा है?" प्रतिहारिणी के ऐसे वचन सुनकर ससंभ्रमपूर्वक तीव्रमोहोदय ने अत्यन्तअबोध की ओर दृष्टि घुमाई, तब उसने प्रतिहारिणी को आज्ञा दी—'तू उसे शीघ्र प्रवेश करने दे।' प्रतिहारिणी ने आज्ञा को शिरोधार्य कर तन्नियोग दूत को तुरन्त राज्यसभा में उपस्थित किया।

लोकस्थिति की सम्पूर्ण विचारणा

तन्नियोग दूत ने अपनी मर्यादानुसार विनयपूर्वक राज्यपाल और सेनापति को प्रणाम किया। उन्होंने दूत का आदर सत्कार किया और बैठने के लिये आसन दिया। दूत ने पुनः उचित प्रणाम किया और आसन पर बैठा। फिर राज्यपाल तीव्रमोहोदय ने आसन छोड़ खड़े होकर हाथ जोड़कर सिर पर लगाते हुए पूछा— अपने महाराजा, महारानी और राज्य-परिवार के अन्य लोग कुशल-मंगल से तो हैं?

तन्नियोग—जी हाँ, सब कुशलपूर्वक हैं।

तीव्रमोहोदय—तुम्हें यहाँ भेजकर देवचरणों (महाराजा) ने हमें याद किया, यह उनकी हम पर बड़ी कृपा है। अब तुम्हारे आने का क्या कारण है? वह कहो।

तन्नियोग—कर्मपरिणाम महाराज के आपसे अधिक कृपापात्र और कौन है! मेरे यहाँ आने का कारण सुनाता हूँ, सुनिये। आपको यह तो ध्यान में ही होगा कि अपने महाराजा की बड़ी बहिन लोकस्थिति है जो बहुत ही माननीय है, सब अवसरों पर परामर्श करने योग्य है, अचिन्त्य प्रभावशाली और इतनी प्रबल है कि उसके कथन का कभी कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। अपनी बहिन पर प्रसन्न होकर महाराजश्री ने उन्हें सर्वकाल के लिये यह अधिकार प्रदान कर कहा—

"बहिन! अपने से सर्वदा शत्रुता रखने वाला और किसी प्रकार नष्ट न होने वाला सदागम हमारा महाशत्रु है। वह बीच-बीच में अवसर देखकर जब-तब अपनी सेना को पराजित कर, अपने राज्य में प्रवेश कर, कितने ही लोगों को बाहर निकाल कर अपनी निर्वृत्ति नगरी में लेजाकर रखता है, जो अपने लिये अगम्य है। अगर ऐसी घटनाएँ लम्बे समय तक चलती रहीं तो अपनी जनसंख्या कम हो जायेगी और अपना अपयश फैलेगा। यह बात तो किसी भी प्रकार से ठीक नहीं है। अतः बहिन! तुम्हें ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये जिससे मेरे स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं हो,

* पृष्ठ १२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके लिये तुम्हें असंव्यवहार नगर की भली प्रकार रक्षा करनी चाहिये और सदागम जितने प्राणियों को हमारे यहाँ से मुक्त कर, मेरी सत्ता से बाहर निकाल कर निर्वृत्ति नगर ले गया है उतने ही प्राणियों को तुम्हें असंव्यवहार नगर से यहाँ लाकर मेरे सत्ता स्थान पर रखना चाहिये। ऐसा करने से समग्र स्थानों पर जीव प्रचुर परिमाण में हैं ऐसा ही लगेगा। और, सदागम ने अमुक प्राणियों को छुड़ाया, किसी को इस बात का पता लगाने का अवसर भी नहीं मिलेगा। इससे भी अधिक आवश्यक बात तो यह है कि इस प्रकार नगरों को जनसंख्या में कमी नहीं होगी जिससे अपना अपयश भी नहीं होगा।"

महाराज ने जब लोकस्थिति के सम्मुख उपर्युक्त प्रस्ताव रखा तब उसने भी 'बड़ी कृपा' कह कर * उस अधिकार को स्वीकार किया। यद्यपि मैं स्वयं महाराजा का अनुचर हूँ तथापि विशेषतः लोकस्थिति के अधिकार में ही हूँ। इसीलिये मुझे लोग तन्नियोग के नाम से जानते हैं। अभी हाल ही में सदागम ने कितने ही लोगों को छुड़ाया है। इसलिये भगवती लोकस्थिति ने उतने ही प्राणियों को यहाँ से ले जाने के लिये मुझे आपके पास भेजा है। यह आज्ञा आपने सुन ही ली, अब आप जैसा उचित समझें वैसा करें।

'जैसी भगवती लोकस्थिति की आज्ञा' कहकर राज्यपाल और सेनापति ने बतलाया कि देवी ने जो आज्ञा दी है उसका पालन करने को वे तैयार हैं। उसके बाद पुनः राज्यपाल बोला।

तीव्रमोहोदय—भद्र तन्नियोग! तुम उठो और हमारे साथ चलो। यह असंव्यवहार नगर कितना विशाल है यह तुम्हें दिखाते हैं। फिर तू वापस जाकर तूने जो कुछ देखा है, उसका वर्णन महाराज के समक्ष करना जिससे कि उनको अपने अधीनस्थ नगरों में जनसंख्या घटने का जो भय है, वह निर्मूल हो जायेगा।

तन्नियोग—चलिये, महाशय! जैसी आपकी आज्ञा।

असंव्यवहार नगर-दर्शन

ऐसा कहकर तन्नियोग खड़ा हो गया और उसी समय वे तीनों व्यक्ति असंव्यवहार नगर देखने निकल पड़े। घूमते हुए तीव्रमोहोदय ने हाथ उठाकर गोलक नामक असंख्य बड़े-बड़े प्रासाद (महल) बताये। प्रत्येक प्रासाद में निगोद नामक असंख्य कमरे थे। इन कमरों को विद्वान् साधारण शरीर भी कहते हैं। फिर इन कमरों में रहने वाले अनन्त जीवों को बताया। यह सब देखकर तन्नियोग दूत तो आश्चर्य चकित हो गया। फिर तीव्रमोहोदय ने पूछा, 'तूने देखा, यह नगर कितना विशाल है?' उत्तर में तन्नियोग ने कहा, 'हाँ, मैंने बहुत अच्छी तरह से देखा।' फिर अपने हाथ से तालो बजाकर जोर-जोर से अट्टहास करते हुए तीव्रमोहोदय ने कहा,

* पृष्ठ १२६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'तू सदागम की मूर्खता तो देख। वह तो सुगृहीतनामधेय कर्मपरिणाम महाराजा की सत्ता में रहने वाले सब जीवों को निर्वृत्तिनगर में ले जाने की इच्छा रखता है, पर इस बेचारे को यह खबर ही नहीं कि ऐसे कितने प्राणी हैं ? देख, अपने इस नगर में असंख्य प्रासाद महल) हैं, प्रत्येक महल में असंख्य कमरे हैं और प्रत्येक कमरे में अनन्त जीव निवास करते हैं। इस सदागम का अनादि काल से यह दुराग्रह रहा है कि अपने लोगों को वह निर्वृत्तिनगर में ले जाता है। पर, इतने समय से वह परिश्रम कर रहा है फिर भी एक कमरे में रहने वाले प्राणियों का अनन्तवां भाग (किंचित् मात्र) भी वह यहाँ से नहीं ले जा सका है, तब महाराजाधिराज जनसंख्या में कमी होने की चिन्ता क्यों करते हैं ?'

तन्नियोग बोला— आप जो कह रहे हैं वह ठीक है। महाराजा को भी आप पर पूरा विश्वास है और उन्हें भी यह बात ज्ञात है। फिर मैं भी यहाँ से जाकर महाराजश्री के समक्ष आप द्वारा कही हुई सारी बातें अवश्य बताऊँगा। पर, मुझे आपको एक दूसरी बात भी कहनी है कि लोकस्थिति महादेवी ने यह आज्ञा दी है और साथ में यह भी कहा है कि उनकी आज्ञा-पालन में थोड़ा भी विलम्ब नहीं होना चाहिये। अतः उन्होंने जो आज्ञा दी है उसकी पूर्ति के लिये आप शीघ्र प्रबन्ध करिये।

इस प्रकार बातचीत करके राज्यपाल और सेनापति बाहर के दरवाजे के पास खड़े होकर आपस में विचार करने लगे।

तीव्रमोहोदय—ठीक, तब यहाँ से बाहर भेजने योग्य कौन से जीव हैं ?

अत्यन्तअबोध—आर्य ! इस विषय में आपको अधिक विचार करने की क्या आवश्यकता है ? अपने, नगर में सब लोगों को इस वास्तविकता से अवगत करा दें, इस विषय में घोषणा करवा दें, डोंडी पिटवा दें कि महाराजा कर्मपरिणाम की आज्ञा से कुछ लोगों को यहाँ से राजधानी की तरफ भेजना है, अतः जिन्हें जाने की इच्छा हो वे अपने आप तैयार हो जायें। जिस जगह इन जीवों को यहाँ से जाना है वह जगह अधिक अनुकूल होने से तथा अभी जहाँ वे रहते हैं वहां भीड़ में फंसे हुए होने से, कई लोग अपने आप जाने के लिये तैयार हो जायेंगे। फिर तन्नियोग को पूछकर कि कितने प्राणियों को वहाँ ले जाना है, जो लोग जाने को तैयार होंगे उनमें से अपनी पसन्द के प्राणियों को छांटकर तन्नियोग द्वारा बताई गई संख्या में प्राणियों को वहाँ भेज देंगे।

अत्यन्तअबोध की अबोधता

तीव्रमोहोदय—भद्र ! तू स्वयं अपनी पहनी हुई या पहनने की वस्तुओं की विशेषताओं को भी नहीं जानता ! इसी प्रकार इन लोगों ने जब दूसरा कोई

❀ पृष्ठ १२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थान देखा ही नहीं है तब उस स्थान के स्वरूप को कैसे जान सकते हैं? वहाँ अनुकूलता है या प्रतिकूलता; इसको भी कैसे जान सकते हैं? अनादि काल से वे यहीं रहते हैं और इनको यहीं रहने में आनन्द आता है। अनादि काल से यहाँ रहते हुए इनका आपस में इतना स्नेह हो गया है कि वे एक दूसरे के वियोग की कामना भी नहीं करते। भाई! देख, एक ही कमरे में रहने वाले सभी प्राणी परस्पर इतने प्रेम से रहते हैं कि एक साथ सांस लेते हैं, एक साथ सांस छोड़ते हैं, साथ में आहार लेते हैं, साथ में नीहार करते हैं, एक मरता है तो साथ में उसके सभी स्नेही मरते हैं, एक जीता है तो साथ में सब जीते हैं। इस प्रकार जब ये दूसरे स्थान के गुणों को नहीं जानते और परस्पर स्नेह-बन्धन से इतने जकड़े हुए हैं तब अपने आप दूसरे स्थान पर जाने का निर्णय कैसे ले सकते हैं? अतः यहाँ से ले जाने के योग्य कौन लोग हैं? इसका पता लगाने के लिये कोई दूसरा उपाय ढूँढना चाहिये।

उपर्युक्त कथन सुनकर सेनापति अत्यन्त अबोध सोच में पड़ गया कि अब क्या करना चाहिये।

भवितव्यता

[इधर संसारी जीव अगृहीतसंकेता को उद्देश्य कर अपने विषय में जो वृत्तान्त कह रहा था उसे आगे बढ़ाते हुए उसने कहा :—]

बहिन अगृहीतसंकेता! मेरे भवितव्यता नामक पत्नी है। वास्तव में कहूँ तो यह साड़ी पहनी हुई भी स्त्री परिवेश में एक सुभट है। मैं तो नाम-मात्र के लिये उसका पति हूँ। सच पूछा जाय तो मेरे घर का और सब लोगों के घरों का सम्पूर्ण कर्त्तव्य तन्त्र तो यह अकेली ही चलाती है। उसमें अचिन्त्य शक्ति होने के कारण वह स्वाभिलषित कार्य को स्वतः ही पूर्ण करती है और किसी अन्य पुरुष की सहायता की इच्छा नहीं करती। अमुक कार्य स्व-पुरुष के लिये अनुकूल है या प्रतिकूल, इसका विचार नहीं करती, अवसर नहीं देखती। प्राणी पर दूसरी आपत्तियाँ आ पड़ी हैं, इसे भी नहीं देखती। बुद्धि-वैभव में बृहस्पति जैसा व्यक्ति भी उसे रोक नहीं सकता। पराक्रम में देवेन्द्र भी उसे पीछे नहीं हटा सकता। योगी भी उसका सामना करने का साहस नहीं जुटा सकते। अत्यन्त असम्भव कार्य को भी यह महादेवी हस्तगत के समान खेल ही खेल में शक्य बना देती है। सम्पूर्ण लोक के जिस प्राणी का प्रयोजन जब, जहाँ, जिस प्रकार करना हो उसे लक्ष्य में रखकर* प्रत्येक प्रयोजन को उस प्राणी के सम्बन्ध में उसी समय, उसी जगह, उसी प्रकार घटित करती है। ऐसा करते हुए उसे तीन लोक में कोई भी रोक नहीं सकता। [अर्थात् किस प्राणी के बारे में कौन सा कार्य कब करना, कितने समय तक करना, किस स्थान पर करना, कैसे करना आदि सब बातों की कुञ्जी मेरी पत्नी भवितव्यता के हाथ में है। उसे कोई रोक नहीं सकता]। देवताओं के राजा इन्द्र या मनुष्यों के राजा चक्रवर्ती से भी यदि कोई कहे कि भवितव्यता तुम्हारे अनुकूल है तो वे हृदय

* पृष्ठ १२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में प्रसन्न हो जाते हैं, मुख-कमल विकसित और नेत्र विस्तरित हो जाते हैं, कहने वाले को पारितोषिक देते हैं, अपने को बड़ा मानते हैं, महोत्सव कराते हैं, आनन्द की दुन्दुभि बजाते है, अपने को कृतकृत्य और अपना जन्म सफल मानते हैं। ऐसी अवस्था में सामान्य लोगों की तो बात ही क्या ? इन्हीं इन्द्र या चक्रवर्ती को यदि कोई कहे कि अभी भवितव्यता आपके अनुकूल नहीं है, तो वे भयातिरेक से थर-थर कांपने लगते हैं, दीनता दिखाने लगते हैं और पल भर में उनका मुख विवर्ण हो जाता है, आँखें भिच जाती हैं, कहने वाले पर क्रोध करते हैं, चिन्ता से गहरे विचार में डूब कर सूखने लगते हैं, शोक-बाहुल्य में अपने कर्त्तव्य भी भूल जाते हैं और भवितव्यता को प्रसन्न करने के लिये क्या उपाय किये जायं, इसकी योजना बनाने लगते हैं। अधिक क्या कहूँ ? भवितव्यता के असंतुष्ट होने पर पल भर भी उनके चित्त को शांति नहीं मिलती और किस प्रकार वह अनुकूल हो, इस विषय का उद्वेग उनके मन में बराबर बना रहता है। जब इन्द्र और चक्रवर्ती की भी ऐसी दशा होती है तब सामान्य प्राणी का तो कहना ही क्या ? पुनश्च, उस महादेवी भवितव्यता की जैसी इच्छा होती है वह वैसा ही करती है। दूसरा कोई प्राणी उसकी प्रार्थना करे, उसके पास रोये या उसे रिझाने का प्रयत्न करे तो उसकी भी वह कोई परवाह नहीं करती। मैं स्वयं भी उससे इतना भयोद्भ्रान्त हूँ कि वह देवी इच्छानुसार जो कुछ करती है उसे मुझे बहुत अच्छा मानना पड़ता है। यद्यपि मैं उसका पति हूँ फिर भी उसके भृत्य की भांति 'जय देवी, जय देवी' कहते हुए उसके पास बैठा रहता हूँ। इस देवी का विशेष स्वरूप इस प्रकार है :—

मेरी यह पत्नी भवितव्यता सर्वत्र उद्योगों में व्यस्त रहती है। अमुक भुवन के लोगों को अमुक वस्तु उचित है और अमुक वस्तु उचित नहीं, यह सब वह जानती है। जो प्राणी सो गये हों उनके विषय में भी वह जागृत रहती है। वह सब प्राणी और वस्तुओं को अलग-अलग कर सकती है। मदोन्मत्त गन्धहस्तिनी की भांति बिना किसी प्रकार की आकुलता के वह सारे विश्व में विचरण करती है। किसी से लवलेश भी नहीं डरती। कर्मपरिणाम महाराजा भी उसे बहुत सन्मान देते हैं, उसकी पूजा करते हैं। क्योंकि, आवश्यकता पड़ने पर कुछ काम हो तो महाराजा को भी उसका अनुसरण करना पड़ता है, उसको अपने अनुकूल करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त दूसरे महात्मा भी जब अपना कुछ कार्य करने की इच्छा रखते हैं तब भवितव्यता के अनुकूल होने पर ही करते हैं। इसीलिये तो कहा गया है—

बुद्धिरुत्पद्यते तादृग् व्यवसायश्च तादृश :।
सहायास्तादृशाश्चैव यादृशी भवितव्यता ॥

जैसी भवितव्यता होती है वैसी ही बुद्धि उत्पन्न होती है, काम भी वैसा ही सूझता है और सहायता भी उसी प्रकार की मिलती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसारी जीव अगृहीतसंकेता से कहता है:—मेरी गृहिणी भवितव्यता में इतने सारे गुण हैं, यह सब बात वह अत्यन्तअबोध सेनापति जानता था।

उपर्युक्त कथनानुसार जब सेनापति अपने मन में विचार कर रहा था तब उसके मन में तरंग उठी कि, अहा! इसका तो बहुत ही सरल उपाय विद्यमान है, फिर व्यर्थ में ही चिन्ता में अपने को क्यों आकुल-व्याकुल करता हूँ? संसारी जीव की पत्नी भवितव्यता इन प्राणियों के स्वरूप को अच्छी तरह जानती है कि किन-किन जीवों को यहाँ से बाहर भेजना चाहिये, अतः उसको बुलाकर उसी से इस सम्बन्ध में पूछूँ।

संसारी जीव को भेजने का निर्णय

अपने मन में जो विचार आये वे सब अत्यन्तअबोध सेनापति ने राज्यपाल तीव्रमोहोदय से कहे। उसे भी यह बात अच्छी लगी। अतः भवितव्यता को बुलाकर पूछने की सम्मति दे दी। एक पुरुष को उसी समय भवितव्यता को बुलाने के लिये भेज दिया जो उसे साथ में लेकर तुरंत वापिस आया। प्रतिहारी ने उसे अन्दर प्रविष्ट करवाया। सामान्य रूप से सभी स्त्रियाँ देवी मानी जाती हैं फिर यह भवितव्यता तो अतुल प्रभावशालिनी थी ही, इसलिये राज्यपाल और सेनापति ने मुख से उसे 'पाय लागूं' कहा। महादेवी भवितव्यता ने भी आशीर्वाद देकर उन दोनों का अभिनन्दन किया। उन्होंने भवितव्यता को बैठने के लिये आसन दिया, जिस पर वह बैठी। फिर जब राज्यपाल ने सेनापति की तरफ आँख के इशारे से बात प्रारंभ करने का संकेत किया, तब सेनापति ने सारी बात कही कि तन्नियोग दूत महाराजा की तरफ से कुछ लोगों को यहाँ से ले जाने के लिये आया है। वृत्तान्त सुनकर भवितव्यता हँस पड़ी।

अत्यन्तअबोध—भद्रे! क्या हुआ, आप हँसी क्यों?

भवितव्यता—कुछ नहीं।

अत्यन्तअबोध—तब बिना प्रसंग हँसने का क्या कारण है?

भवितव्यता—इसलिये कि तुमने जो बात कही उसमें कुछ भी सार नहीं है।

अत्यन्तअबोध—वह किस प्रकार?

भवितव्यता—इस विषय में आप मुझ से पूछ रहे हैं? इससे लगता है कि आप वास्तव में अत्यन्तअबोध (बिल्कुल अज्ञान दशा में) ही हैं। ऐसे विषयों में मैं उद्योग (प्रयास) कर चुकी हूँ। अनन्त काल में होने वाली समस्त घटनाएँ मेरे ध्यान में हैं। सर्वभावों को मैं जानती हूँ। तब फिर वर्तमान काल में घटने वाली

* पृष्ठ १२९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बात मेरे लक्ष्य में कैसे नहीं होगी ? अतः मुझे बुलाकर पूछने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। इसीलिये मैंने कहा कि इस बात में कुछ सार नहीं है।

अत्यन्तअबोध आपकी बात सही है। आपसे पूछते समय मैं आपके माहात्म्य को भूल ही गया था। मेरे इस अपराध को आप क्षमा करें। अब यहाँ से जो लोग आगे भेजने योग्य हैं उन्हें आप कृपा कर भेज दीजिये। हमें अब इस विषय में कुछ भी प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है।

भवितव्यता—एक तो मेरा पति संसारी जीव भेजने योग्य है और दूसरे उसी की जाति के ये सब जीव भेजने योग्य हैं।

अत्यन्तअबोध—इस विषय में आप अच्छी तरह जानती हैं, अतः हमें तो इस विषय में कुछ भी बोलने की आवश्यकता नहीं है।

❀

८. एकाक्षनिवास नगर

भवितव्यता अत्यन्तअबोध और तीव्रमोहोदय के पास से निकल कर मेरे पास आई और मुझे सब वृत्तान्त सुनाया। मैंने उत्तर में कहा—'जैसी महादेवी की इच्छा।' फिर जितनी संख्या में जीवों को ले जाने के लिये तन्नियोग संदेश लाया था उतनी संख्या में मेरे जैसे अन्य जीवों सहित मुझे वहाँ से भेजा गया। उस समय भवितव्यता ने राज्यपाल और सेनापति से कहा—'मुझे और आपको इनके साथ जाना पड़ेगा, क्योंकि स्त्री के लिये पति ही देव समान है इसलिये मैं तो संसारी जीव से अलग रह भी नहीं सकती। फिर एकाक्षनिवास नगर आपकी सत्ता में है, जहाँ इनको पहले जाना है, इसलिये आपको इनके साथ रहकर इनकी रक्षा और पहरेदारी करनी होगी। अतएव हम तीनों का इनके साथ रहना उपयुक्त है, अन्यथा कोई आवश्यकता नहीं थी। भवितव्यता की इस आज्ञा को राज्यपाल और सेनापति ने 'जैसा आप ठीक समझें' कहकर स्वीकार किया। ❀ फिर हम सब वहां से चलकर एकाक्ष निवास नगर आ पहुँचे।

पहला मोहल्ला : वनस्पति

इस एकाक्षनिवासन गर में पाँच बड़े मोहल्ले हैं। उन पाँच में से एक मोहल्ले की तरफ हाथ से इंगित करके तीव्रमोहोदय ने कहा—'भद्र संसारी जीव ! तू इस मोहल्ले में ठहर। यह मोहल्ला अपने असंव्यवहार नगर से बहुत ही मिलता जुलता है, अतः यहाँ रहने में तुझे आनन्द आयेगा। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार असंव्यवहार नगर के गोलक भवन में निगोद नामक अनेक कमरे थे जिसमें अनन्त जीव पिण्डीभूत बनकर स्नेह-सम्बन्ध से मिलकर रहते थे उसी प्रकार इस मोहल्ले

❀ पृष्ठ १३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में भी जीव रहते हैं। अन्तर केवल इतना है कि असंव्यवहार नगर के लोग लोक-सम्बन्धी किसी भी व्यवहार में नहीं पड़ते, अतः वे असंव्यवहारी अथवा अव्यवहारी कहलाते हैं। वे भगवती लोकस्थिति की आज्ञा से केवल एक बार ही तुम्हारी तरह उस स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं और फिर वहाँ लौटकर नहीं जाते। पर, इस मोहल्ले के लोग तो लोक-व्यवहार करते हैं और बार-बार एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते-जाते हैं, इसीलिये इनको सांव्यवहारिक अथवा व्यवहारी कहते हैं। असंव्यवहार नगर में रहने वाले लोगों को अनादि वनस्पति जैसे सामान्य नाम से पहचाना जाता है जब कि इस सांव्यवहारिक मोहल्ले में रहने वालों को 'वनस्पति' जैसा नाम दिया जाता है। यही इन दोनों में अन्तर है। फिर यहाँ असंख्य प्रत्येकचारी जीव भी हैं जो गोलक भवन और निगोद रूपी कमरों के बिना अलग-अलग घरों में रहते हैं। अतः तू यहाँ ठहर। तुझे पहले से असंव्यवहार नगर का परिचय है, उसके जैसा ही यह साधारण वनस्पति मोहल्ला है, अतः तुझे यहाँ अच्छा लगेगा।' इस प्रकार सुनकर मैंने कहा—'देव! जैसी आपकी आज्ञा।'

फिर मुझे एक कमरे में ठहराया गया। मेरे साथ जो दूसरे लोग लाये गये थे उनमें से कुछ को इसी मोहल्ले में रखा गया, कुछ को स्वतन्त्र कर दिया और कुछ को दूसरे मोहल्लों में ले गये। हे भद्रे! मैं तो साधारण शरीर नामक कमरे में रह गया। वहाँ अनन्त जीवों के साथ पिण्डीभूत होकर पहले की तरह निद्राधीन, मदिरापान से मत्त, मूर्च्छित और मृत की तरह उनके साथ ही स्वांसे लेता, उनके साथ ही स्वांसे छोड़ता, उन्हीं के साथ आहार करता और उन्हीं के साथ नीहार करता हुआ अनन्त काल तक रहा।

एक समय मेरे विषय में कर्मपरिणाम महाराज की फिर आज्ञा आई जिसके अनुसार राज्यपाल और सेनापति ने मुझे उस कमरे से बाहर निकाला तथा भवितव्यता ने मुझे एकाक्षनिवास नगर के उसी मोहल्ले के दूसरे त्रिभाग में असंख्यकाल तक प्रत्येकचारी के रूप में रखा।

एकभववेद्य गुटिका

इधर कर्मपरिणाम महाराजा ने लोकस्थिति को पूछकर, महारानी कालपरिणति के साथ विचार-विमर्श कर, नियति और स्वभाव आदि को निवेदन कर और भवितव्यता की अनुमति लेकर विचित्र आकार को धारण करने वाले ❀ लोक-स्वभाव की अपेक्षा से तथा अपनी ही शक्ति से सब कार्य सम्पन्न कर सके ऐसे परमाणुओं से निर्मित 'एकभववेद्य' नामक गोलियाँ बनाईं और उन गोलियों को भवितव्यता को देते हुए उन्होंने कहा—'भद्रे! तू समस्त लोक-व्यापार करने में उद्यत होने से और क्षण-क्षण में लोगों के अनेक प्रकार के सुख-दुःख के कार्य सम्पादन करती हुई थक गई लगती है, अतः ये गोलियाँ ले और उन प्राणियों को

❀ पृष्ठ १३१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दे। जब-जब प्राणी की यह पहली गोली जीर्ण हो जाय (घिस जाय) तब तू उन्हें दूसरी गोली दे देना। इन गोलियों के प्रभाव से विविध रूपों में होते हुए भी एक साथ निवास करने वाले प्रत्येक प्राणी जन्म पर्यन्त तेरी इच्छानुसार समस्त कार्य स्वतः ही पूर्ण करेंगे, इससे तेरी समस्त व्याकुलता दूर हो जाएगी।' राजा की आज्ञा को भवितव्यता ने स्वीकार किया। पश्चात् वह सर्व प्राणियों पर सब कालों में समय-समय पर गोलियों का प्रयोग करने लगी।

मैं जब असंव्यवहार नगर में था तब भी वह मुझे जब-जब मेरी गोली घिस जाती तब-तब दूसरी गोली देती और इस प्रयोग से वह मेरा एक समान आकार वाला सूक्ष्मरूप मात्र बार-बार बनाती रहती। जब मैं एकाक्षनगर में आया तब भी तीव्रमोहोदय और अत्यन्ताबोध को आश्चर्य में डालने के लिये मुझे अनेक प्रकार के स्वरूपों में बदलती रहती। जब मैं एकाक्षनगर में रहने लगा तब यह भवितव्यता कभी मेरा सूक्ष्म रूप बनाती, किसी समय पर्याप्त, कभी अपर्याप्त और कभी बादर (दिखाई देने वाला) बनाती। बादर में भी वह कभी पर्याप्त और कभी अपर्याप्त दशा में रखती। बादर दशा में भी वह कभी मुझे साधारण वनस्पति के कमरे में रखती और कभी मुझे प्रत्येकचारी (प्रत्येक वनस्पति बनाती। प्रत्येकचारी में वह मुझे कभी अंकुर, कभी कंद, कभी मूल, कभी छाल, कभी स्कन्ध, कभी शाखा-प्रशाखा, कभी नवांकुर, कभी पत्र, कभी फूल, कभी फल, कभी बीज, कभी मूलबीज, कभी अग्रबीज, कभी पर्वबीज, कभी स्कन्धबीज, कभी बीजांकुर और सम्मूर्छिम आदि अनेक रूपों में बदलती रहती। कभी वृक्ष, गुल्म, लता, बेल, घास आदि के आकार वाला मुझे बनाती। जब मैं इन अवस्थाओं में रहता था तब ऐसे समय में किसी दूसरे नगर के लोग आकर भवितव्यता के सन्मुख कंपायमान दशा में मुझे छेदते, भेदते, दलते, पीसते, मरोड़ते, तोड़ते, बींधते, जलाते और अनेक तरह से कष्ट देते। उस समय में भवितव्यता मेरे पास खड़ी-खड़ी देखती रहती, पर मुझे प्राप्त इन कदर्थनाओं के प्रति वह उपेक्षाभाव ही रखती।

दूसरा मोहल्ला : पृथ्वीकाय

इस प्रकार से ❀ दुःख सहन करते हुए मुझे अनन्त काल बीत गया। अन्त में जब मुझे दी हुई गोली घिस गई तब भवितव्यता ने मुझे दूसरी गोली दी। इस गोली के प्रभाव से मैं एकाक्षनगर के दूसरे मोहल्ले में गया, वहां पार्थिव नामक जीव रहते हैं। इन लोगों के मध्य में जाकर मैं भी पार्थिव बन गया। यहाँ भी भवितव्यता ने मुझे नई-नई गोलियाँ देकर मेरे सूक्ष्म, बादर, पर्याप्तक, अपर्याप्तक आदि रूप बनाये। मुझे काला, आसमानी, सफेद, पीला, लाल आदि रूप दिये। रेत, पत्थर, नमक, हरताल, पारा, सुरमा, शुद्ध पृथ्वी आदि अनेक रूप मुझ से धारण करवाये। इस प्रकार असंख्येय काल तक वह मेरी विडम्बना करती रही। वहाँ मेरा भेदन

❀ पृष्ठ १३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया गया, दलन किया गया, चूरा बनाया गया, काटा गया और मुझे जलाया गया। इस प्रकार इस मोहल्ले में मैंने महा भयंकर दुःख सहन किये।

तीसरा मोहल्ला : अप्काय

पार्थिव लोगों में रहते हुए जब अंतिम गोली भी घिस गई तब भवितव्यता ने मुझे एक नयी गोली दी। इस गोली के प्रभाव से मैं एकाक्षनगर के तीसरे मोहल्ले में गया। वहां आप्य नामक कुटुम्बीजन रहते हैं। पार्थिव रूप छोड़कर वहाँ जाने पर मेरा भी आप्य रूप हो गया। यहाँ भी भवितव्यता मेरी जब एक गोली घिस जाती तब दूसरी गोली देकर मेरा रूप परिवर्तित कर देती। इस प्रकार असंख्य काल तक मुझे ओस, हिम (बर्फ), कुंहार, हरतनु (जलबिन्दु) और शुद्ध जल आदि अनेकविध रूपों में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के भेद से विचित्र प्रकार के आकारों में परिवर्तित करती रही। इस मोहल्ले में रहते हुए मैंने गर्मी, सर्दी, क्षार-पीड़ा, खनन-पीड़ा और शस्त्रों से होने वाली अनेक प्रकार की वेदनाएं सही।

चौथा मोहल्ला : तेजस्काय

आप्य लोगों में रहते हुए जब मेरी गोली घिस गई तब भवितव्यता ने फिर मुझे दूसरी गोली दी जिससे में इस प्रकार के चौथे मोहल्ले में पहुंचा। इसमें तेजस्काय नामक असंख्य ब्राह्मण रहते हैं। मैं भी वहाँ वर्ण से देदीप्यमान, स्पर्श से उष्ण, आकृति से दाहक (जलाने वाला) और स्थान से पवित्र तेजस्कायिक (अग्नि) ब्राह्मण बन गया। वहाँ रहते हुए मेरे ज्वाला, अंगारे, ढकी हुई अग्नि, अग्निशिखा, आलात (जलती हुइ लकड़ी), शुद्धाग्नि, बिजली, उल्का, वज्राग्नि आदि कई रूप परिवर्तित हुए। मुझे बुझाने आदि के नानाविध दुःख इस मोहल्ले में सहने पड़े। इस बस्ती में सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त रूप धारण करते हुए मैं असंख्य काल तक भटकता रहा।

पांचवां मोहल्ला : वायुकाय

तेजस्काय बस्ती के ब्राह्मणों के साथ रहते हुए जब मेरी पुरानी गोली घिस गई तब भवितव्यता ने फिर मुझे नई गोली दी। इस गुटिका के उपयोग से मैं नगर की पाँचवी बस्ती में गया। वहाँ वायवीय नामक असंख्य क्षत्रिय रहते थे। मैं भी वहाँ वायवीय क्षत्रिय बन गया। वहाँ मैं नेत्रों वाले प्राणियों के लिये अदृष्टि-गोचर होने पर भी स्पर्श से पहचाना जा सकता था, और वहाँ मेरे शरीर की रचना ध्वजाकृति की बनी। वहाँ मुझे तूफान, वंटोलिया, ❀ गुंजावात, झंझावात, संवर्तकवात, घनवात, शुद्ध वायु आदि अनेक रूपों में समय-समय पर परिवर्तित किया गया। पंखे आदि शस्त्र के घात और निरोध से मुझे वहाँ विविध प्रकार के दुःख सहने पड़े। वहाँ भी पर्याप्त, अपर्याप्त, सूक्ष्म और बादर रूप धारण करवाकर भवितव्यता ने असंख्य काल तक मुझे भटकाया।

❀ पृष्ठ १३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस बस्ती में बहुत समय तक रहने के बाद जब मेरी वह गोली भी घिस गई तब फिर दूसरी गोली देकर भवितव्यता मुझे वापिस पहले मोहल्ले में ले आई। यहाँ भी मुझे अनन्त काल तक रहना पड़ा। मुझे बार-बार नई-नई गोली देकर फिर से दूसरी, तीसरी, चौथी बस्तियों में असंख्य काल तक रखा गया। इस प्रकार भवितव्यता ने तीव्रमोहोदय और अत्यन्ताबोध के समक्ष मुझे एकाक्षनिवास नगर की सभी बस्तियों में बार-बार अनन्तबार भटकाया।

❀

६. विकलाक्षनिवास नगर

एक दिन भवितव्यता ने किंचित् प्रसन्न होकर कहा, 'आर्यपुत्र! आप इस नगर में बहुत समय तक रहे, अतः अब इस स्थान से भी आपको अरुचि हो गई होगी। इस अरुचि को मिटाने के लिये अब मैं आपको दूसरे नगर में ले जाती हूँ।' मुझे तो भवितव्यता की आज्ञा माननी ही थी अतः कहा, 'जैसी देवी की आज्ञा।' महादेवी ने फिर दूसरी तरह की गोलियों का प्रयोग किया।

मनुष्य लोक में एक विकलाक्षनिवास नामक नगर है। उस नगर में तीन बड़ी बस्तियां हैं। उस नगर का पालन करने के लिये कर्मपरिणाम महाराजा ने उन्मार्गोपदेशक नामक अधिकारी की नियुक्ति कर रखी है। इस अधिकारी की माया नामक स्त्री है। भवितव्यता द्वारा दी गई गोली के प्रभाव से मैं पहली बस्ती में गया। वहां सात लाख कुल कोटि की संख्या में असंख्य द्विहृषीक (दो इन्द्रियों वाले) कुलपुत्र रहते हैं। मैं भी उनके साथ वैसा ही द्विहृषीक हो गया। पहले एकाक्षनगर में मेरी सुप्त, मत्त और मृत जैसी स्थिति थी, वह यहां आने से दूर हुई और ऐसा लगने लगा मानों मेरे में कुछ चेतना (शक्ति) आ गयी हो। अर्थात् मैं स्थावर न रहकर त्रस जाति में आ गया।

प्रथम मोहल्ला : द्विहृषीक

मेरे पाप का अभी तक अन्त नहीं आया। यहाँ भी मेरी स्त्री ने एक गोली देकर मुझे महा अपवित्र स्थान में कृमि बनाया। मुझे मूत्र, आन्त्र, रुधिर, जम्बाल (कचरे) से भरे हुए उदर में रहते हुए देखकर विशाल नेत्रों वाली मेरी स्त्री भवितव्यता बहुत प्रसन्न होती। किसी समय कुत्ते आदि के शरीर पर पड़े हुए दुर्गन्धी पूर्ण घावों में मुझे दूसरे अनेक जीवों के साथ देखकर वह बहुत हर्षित होती। पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज में अथवा विष्टा में परस्पर घर्षण से दुःख पाते हुए, एक प्रकार के कृमि की आकृति धारण करते मुझे देखकर भवितव्यता प्रमुदित होती। फिर दूसरी गोली देकर मुझे जलोका जीव के रूप में परिवर्तित कर मेरी स्त्री मायादेवी के साथ मिलकर खुश होती। मुझे दुःख पाता देखकर वह हँसती और अधिक दुःख देती। वह कहती, 'मायादेवि! ❀ उन्मार्गोपदेशक तेरा पति है

पृष्ठ १३४ ❀

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसका तू बहुत अभिमान करती है किन्तु तू मेरे पति का सामर्थ्य तो देख ! मेरा पति भूखा हो और उसे दर्द की जगह पर छोड़ दूँ तो वह चिपट कर अपनी पूरी शक्ति से पूरा खून चूस लेता है। मेरे पति की त्याग-शक्ति भी कुछ ऐसी वैसी नहीं है, यह भी देख। यदि कोई उसे हाथ से लेकर दबावे तो सब खून का वह उसे दान कर देता है।' [१–८]

हे अगृहीतसंकेता ! इस प्रकार मैं अपनी स्त्री के हाथ से दुःख पाते हुए भी जब वह ऐसा-वैसा कहकर मेरी हँसी उड़ाती तब तो मैं दुःखी दुःखी हो जाता। फिर एक बड़ी गोली देकर उसने महासमुद्र में मुझे शंख बनाया। जब शंख बजाने वाले ने मुझे छिन्न-भिन्न किया तब दुःख से मुझे रोता देखकर वह बहुत प्रसन्न हुई। भिन्न-भिन्न रूपों में मेरी स्त्री के साथ उस बस्ती में रहते हुए और अनेक प्रकार की विडम्बना को सहन करते हुए असंख्यात काल बीत गया। [९–११]

दूसरा मोहल्ला : त्रिकरण

अन्यदा अपनी इच्छानुसार करने वाली भवितव्यता ने मुझे फिर एक गोली दी जिसके प्रभाव से मैं विकलाक्षनिवास नगर की दूसरी बस्ती में पहुँच गया। वहाँ आठ लाख कुल कोटि प्रमाण असंख्य त्रिकरण नाम के गृहपति रहते हैं, मैं भी उनके साथ त्रिकरण (तीन इन्द्रियां) नामधारी जीव बन गया। वहाँ भी मुझे भवितव्यता ने जूं, खटमल, मकोड़ा, कुंथुआ और चिउंटी आदि के विभिन्न रूपों में परिवर्तित किया। भूख से पीड़ित होकर मुझे यहाँ से वहाँ भटकता, बच्चों से पिसता और जलता देख कर मेरी स्त्री सन्तुष्ट होकर आनन्द में डूब जाती। इस बस्ती में भी मुझे नयी-नयी गोलियां देकर और मुझे नये-नये अनेक रूपों में परिवर्तित कर, असंख्य बार मुझे भवितव्यता ने इधर-उधर भटकाया। [१–३]

तीसरा मोहल्ला : चतुरक्ष

एक दिन फिर मेरी स्त्री ने लीला पूर्वक दूसरी गोली देकर मुझे विकलाक्ष-निवास नगर की तीसरी बस्ती में भेजा। वहाँ नौ लाख कुल कोटि प्रमाण चतुरक्ष (चार इन्द्रिय वाले) नामक असंख्य कुटुम्बी रहते हैं, मैं भी वहाँ जाकर चतुरक्ष कुटुम्बी बना। वहां पतंगा, मक्खी, डांस, बिच्छू आदि के विभिन्न आकारों में मुझे परिवर्तित किया गया। इस बस्ती में रहते हुए विवेकहीन प्राणियों द्वारा किये गये मर्दन (मसलना, कुचलना) आदि से मैंने अनेक प्रकार के दुःख पाये। जब-जब मेरी पुरानी गोली घिसती तब-तब नई-नई गोलियां भवितव्यता मुझे इस बस्ती में भी देती रहती। इस प्रकार गोलियां देकर मुझे असंख्य रूपों में परिवर्तित करते हुए इस तीसरी बस्ती में भी उसने मुझ से नाटक करवाया। इन तीनों बस्तियों में बार-बार असंख्य रूप धारण करवा कर असंख्य हजार वर्षों तक मुझे भवितव्यता ने भटकाया। यहां भी मेरी पत्नी ने किसी समय पर्याप्तक और किसी समय अपर्याप्तक रूप से इन तीनों बस्तियों में मेरे से अनेक प्रकार के खेल कराये। [४–१०]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०. पंचाक्षपशु-संस्थान

एक बार भवितव्यता ने यह जानकर कि अब मुझे पंचेन्द्रिय बनाने का समय आ पहुँचा है, प्रसन्नचित्त होकर कहा—[*] 'आर्यपुत्र ! यदि इस विकलाक्षनिवास नगर में रहने से तुम प्रसन्न नहीं हो तो मैं तुम्हें दूसरे नगर में ले जाऊँ ?' मैंने कहा, 'देवि ! तुम्हें जैसा ठीक लगे वैसा करो, क्योंकि सभी कामों में तुम जो करती हो, वही मेरे लिये प्रमाण है।' फिर मुझे दी गई अंतिम गोली भी घिस गई है, ऐसा जानकर मुझे दूसरे नगर में ले जाने के लिये उसने नई गोली दी। [११–१४]

पंचाक्षपशु-संस्थान

इस लोक में एक पंचाक्षपशु-संस्थान नामक नगर है। इस नगर पर भी उन्मार्गोपदेशक का ही नियंत्रण है। इस नगर में ५३½ लाख कुलकोटि प्रमाण पंचाक्ष नामक (पाँच इन्द्रिय वाले) जीव कुलसमूह में रहते हैं। वे जलचर, थलचर और खेचर (आकाशगामी) जाति के होते हैं। उनको स्पष्ट चेतना होती है और ये संज्ञी कहलाते हैं। विद्वान् लोग उन्हें गर्भज संज्ञी का नाम भी देते हैं। इन जीवों में यदि किसी को अस्फुट चेतना हो तो उसे असंज्ञी भी कहा जाता है और वे सम्मूर्च्छिम होते हैं। मैं गोली के प्रभाव से अस्पष्ट चैतन्य वाला सम्मूर्च्छिम पंचाक्ष जाति में उत्पन्न हुआ। खेलने की रसिक मेरी स्त्री ने वहाँ मेरा बिना कारण ही सब दिन चिल्लाने वाले मेंढक का रूप धारण करवाकर मुझे नचाया। इस प्रकार असंख्य भिन्न-भिन्न आकारों में सम्मूर्छिम जाति में भटका कर फिर उसने मुझे गर्भज का आकार धारण करने वाला बनाया। [१५–२१]

गर्भज पंचेन्द्रिय प्राणियों में भी सर्वप्रथम मुझे जलचर बनाया। जलचर में मुझे मत्स्य रूप दिया गया। वहाँ मच्छीमार मुझे पकड़ कर, काट कर, अग्नि में पका कर हजारों प्रकार के दुःख देने लगे। फिर मुझे चार पैर वाला थलचर बनाया। वहाँ मुझे खरगोश, सूअर, हिरण आदि का रूप दिया गया और उस समय शिकारी तीर मार कर मेरे शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देते और मुझे अनेक प्रकार से पीड़ा पहुँचाते। फिर स्थलचर में रहते हुए मुझे भुजपरिसर्प और उरपरिसर्प जाति में गो, सांप, नेवला आदि जाति का बनाया जिसमें बहुत समय तक क्रूरतावश एक दूसरे का भक्षण करते हुए मुझे बहुत दुःख सहन करने पड़े। फिर किसी समय मुझे खेचर जाति में कौवा, चील, उल्लू आदि के रूप धारण कर इस जाति के पक्षियों के बीच में रहते हुए मुझे संख्यातीत कष्ट सहने पड़े। असंख्य प्राणियों से भरपूर उस पंचाक्ष-पशु-संस्थान नगर में प्रत्येक कुल में मैं जलचर, थलचर और खेचर बना। इस नगर में मेरी पत्नी ने सात-आठ बार, एक के बाद दूसरे नये-नये रूप सतत रूप से धारण करवाये और वह मुझे दूसरी जगह ले जाकर फिर वापिस उसी नगर में ले आती। इस प्रकार इस नगर के समस्त स्थानों में बीच-बीच में ले जाकर और लाकर, विभिन्न

---

[*] पृष्ठ १३५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप प्रदान कर अनन्त प्रकार से ❀ मेरी विडम्बना की। मैं वहाँ काल की अपेक्षा से निरन्तर तिर्यंच रूप में तीन पल्योपम और कुछ अधिक सात करोड़ वर्ष तक इस नगर में रहा। इस प्रकार पर्याप्त-अपर्याप्त, संज्ञी-असंज्ञी रूप में पंचाक्षपशु-संस्थान में भवितव्यता ने मुझे अनेक प्रकार की विडम्बनाएँ प्रदान कीं। [२२-३०]

श्रुतिरसिक हरिण

एक बार भवितव्यता ने मुझे उसी नगर में हरिण का रूप प्रदान किया। हरिण के झुण्ड के साथ रहते हुए भय से चपल मेरी आँखें दशों दिशाओं में चकाचौंध होकर फिरती रहतीं। जंगल में बड़े-बड़े झाड़ों को फांदते हुए मैं जहां-तहां भटकता रहता। एक समय एक शिकारी का बच्चा बहुत मधुर स्वर से गीत गाने लगा। यह गीत इतना मधुर था कि हरिणों का पूरा झुण्ड उसके पास दौड़ा गया। दौड़ना और छलांग मारने की चेष्टा को छोड़कर हरिण झुण्ड स्तब्ध सा निश्चेष्ट हो गया। उनकी आंखें भी निश्चल हो गईं, उनकी सभी इन्द्रियों का व्यापार निवृत्त हो गया और मधुर गीत सुनते हुए उनकी अन्तरात्मा कर्णेन्द्रिय में ही रसमग्न हो गई। झुण्ड के सब हरिणों को बिना हिले-डुले देखकर शिकारी हमारे पास आया। उसने धनुष पर बाण चढ़ाया, शिकारी की मुद्रा से निशाना बांधा, कन्धे को कुछ पीछे ले जाकर प्रत्यंचा को कान तक खींच कर तीर छोड़ दिया। उस तीर ने मुझे बींध दिया और मैं तुरन्त भूमि पर गिर गया। उस समय भवितव्यता द्वारा दी गई मेरी गोली भी घिस गई थी।

यूथपति हाथी

हरिण के भव में काम में लाने योग्य मेरी एकभववेद्य गोली जब समाप्त हो गई तब मेरी स्त्री भवितव्यता ने मुझे दूसरी गोली दी। इस गोली के प्रभाव से मैं हाथी बना। धीरे-धीरे मैं बड़ा हुआ और अनुक्रम से हाथियों के एक झुण्ड का मुखिया बना। प्रकृति से सुन्दर कमलवनों में, सल्लकी के पत्रों से भरपूर वृक्षों के वनों में और अत्यन्त कमनीय जंगलों में मैं हथनियों के झुण्ड से घिरा हुआ रहता था और अपने चित्त को आनन्द के सागर में डुबकी लगवाता हुआ अपनी इच्छानुसार घूमता-फिरता था। एक दिन अकस्मात् हमारा झुण्ड भयभीत हुआ, जानवर इधर-उधर भागने लगे, बांस की गांठें फूटने से तड़-तड़ की आवाज होने लगी और धुएं के बादल उठने लगे। यह क्या हुआ? देखने के लिये जैसे ही मैंने अपने पीछे देखा तो मालूम हुआ कि ज्वाला की लपटों से महाभयंकर दावानल मेरे पास आ गया है। दावानल को देखते ही मन में मौत का भय समा गया। मेरी शक्ति और पुरुषार्थ समाप्त हो गया, मेरा अहंकार चला गया, मैं दीन बन गया। स्वरक्षण का आश्रय लेकर, अपने झुण्ड को छोड़कर मैं एक तरफ भागने लगा। भागते हुए मैं थोड़ी दूर गया। वहां एक गांव के पास जानवरों को पानी पिलाने का जूना-पुराना

❀ पृष्ठ १३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूखा हुआ अन्धकार वाला कुआ था, जो ऊपर पड़े हुए कचरे और घास से ढंक गया था। भयभ्रान्त होकर वेग से दौड़ने के कारण वह अन्धकूप मुझे दिखाई नहीं दिया और मेरे आगे के दोनों पांव उसमें चले गये। मेरे शरीर के पिछले हिस्से को कुछ सहारा नहीं होने से तथा मेरा शरीर बहुत भारी होने से मैं उस अन्धकूप में गिर पड़ा। गिरने से और शरीर भारी होने से मैं ❀ अत्यन्त घायल हो गया और मेरा शरीर चूर-चूर हो गया। मैं कुछ देर तो मूछित रहा, फिर कुछ चेतना आई, पर मैं ऐसा फंसा हुआ था कि मैं अपने शरीर को थोड़ा भी हिला-डुला नहीं सकता था। मेरे सम्पूर्ण शरीर में तीव्र वेदना होने लगी और मुझे पश्चाताप होने लगा। मैं सोचने लगा कि मेरी सेवा करने वाले, चिरकाल से परिचित, उपकार करने वाले, मेरे में अनुरक्त और आज्ञापालक साथियों को आपत्ति में छोड़कर स्वार्थवश अकेला भाग आने वाले मेरे जैसे कृतघ्नों को तो यही सजा मिलनी चाहिये। मेरी निर्लज्जता तो देखो! मुझे अब कौन यूथाधिपति (मुखिया) कहेगा? अब पछतावा बेकार है! जैसा किया वैसा भरना होगा। ऐसे विचारों से मेरे मन में कुछ मध्यस्थता (सान्त्वना) प्राप्त हुई। ऐसी दशा में मैंने अपनी तीव्र वेदना को सहन करते हुए वहां सात रातें बितायीं।

अब भवितव्यता मेरे ऊपर प्रसन्न होकर बोली, 'धन्य! आर्यपुत्र धन्य! तुम्हारे अध्यवसाय (विचार) बहुत सुन्दर हैं। तुमने अत्यधिक कठिन दुःख सहे हैं। तुम्हारी इन चेष्टाओं से अब मैं बहुत प्रसन्न हूँ, इसलिये अब तुझे दूसरे नगर में ले जाऊंगी।' मैंने कहा, 'जैसी देवी की आज्ञा।' फिर भवितव्यता ने एक सुन्दराकृति पुरुष की ओर इशारा कर कहा, 'हे आर्यपुत्र! मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ, अतएव तेरी सहायता के लिये पुण्योदय नामक इस पुरुष को तेरे साथ भेज रही हूँ। अब तू इसके साथ जा।' मैंने फिर कहा 'जैसी देवी की आज्ञा।' इस बीच में मेरी पुरानी गोली घिस गई थी अतः भवितव्यता ने मुझे एक दूसरी गोली दी और कहा, 'आर्य पुत्र! जब तू यहां से जायेगा तब यह पुण्योदय तेरा गुप्त सहोदर और मित्र की भांति प्रच्छन्न रूप से तेरे साथ रहेगा।'

भव्यपुरुष का मूल प्रश्न : स्पष्टीकरण

संसारी जीव इस प्रकार अपनी कथा सुना रहा था तब भव्यपुरुष ने प्रज्ञाविशाला के कान के पास जाकर पूछा—'माताजी! यह पुरुष कौन है? यह किसकी कथा कह रहा है? असंव्यवहार आदि नगर कहां है? यह कौन सी गोली है जिसके एक-एक बार लेने से प्राणी नये-नये रूप धारण करता है और विविध सुख-दुःख का अनुभव करता है? एक ही पुरुष इतने अधिक समय तक एक ही स्थान पर कैसे रह सकता हैं? मनुष्य प्राणी के असम्भव से लगने वाले चिउटी और कृमि जैसे रूप कैसे हो सकते है? मुझे तो इस चोर की पूरी कथा किसी पागल के

❀ पृष्ठ १३७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मस्तिष्क से निकली इन्द्रजाल सी कल्पित लग रही है। अतः हे माता ! इस कथा का भावार्थ क्या है ? वह मुझे समझाइये।'

प्रज्ञाविशाला ने कहा—इस चोर का वर्तमान में विशेष रूप क्या है, यह इसने अभी तक नहीं बताया है। सामान्य रूप से तो यह संसारी जीव नामक ❀ पुरुष है। इसी नाम से इसने अपनी कथा कही है। यह सारा वृत्तान्त ठीक ही है। यह घटना किस प्रकार से है ? मैं तुझे समझाती हूँ।

यहां असंव्यवहारिक जीव राशि को ही असंव्यवहार नगर कहा गया है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, अग्नि और वनस्पति इन पाँचों एकेन्द्रिय जाति के जीवों की उत्पत्ति और निवास का स्थान एकाक्षनिवास नगर कहा है। दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले जीवों को विकलेन्द्रिय कहा जाता है, अतः उनकी उत्पत्ति और निवास-स्थान को विकलाक्षनिवास नगर कहा है। पांच इन्द्रिय वाले तिर्यंचों के स्थान को पंचाक्षपशु-संस्थान नगर कहा है। एक भव में भोगने योग्य उदय में आये हुए कर्मों को 'एकभववेद्य' गोली कहा गया है। इन कर्मों के उदय से जीव नाना प्रकार के रूप धारण करता है और सुख-दुःख आदि का अनुभव भी करता है। यह पुरुष (जीव-आत्मा) स्वयं तो अजर अमर है, यह कभी जीर्ण नहीं होता, इसकी कभी मृत्यु नहीं होती है, अतः यह अनन्त काल तक रहे तो इसमें कुछ नवीनता नहीं है। हे भद्र ! संसारी जीव ही कृमि और चिउंटी जैसे रूप धारण करता है, इसमें आश्चर्य क्या है ? अभी तू बालक है, मुग्ध है, इसलिये यह सब बात नहीं जानता। पुत्र ! देख, इस विश्व में त्रिभुवन में ऐसा कोई भी चरित्र नहीं जिसे संसारी जीव न धारण करता हो। अतः हे वत्स ! इस संसारी जीव ने जो कुछ भोगा है, वह सब इसे कहने दे। फिर मैं उचित अवसर पर निराकुल होकर इस सब का भावार्थ (रहस्य) तुझे समझाऊंगी।

भव्यपुरुष ने अपनी धात्री प्रज्ञाविशाला की बात को 'जैसी माता की आज्ञा' कहकर शिरोधार्य की।

उपसंहार

उत्पत्तिस्तावदस्यां भवति नियमतो वर्त्यमानुष्यभूमौ,
भव्यस्य प्राणभाजः समयपरिणतेः कर्मणश्च प्रभावात्।
एतच्चाख्यातमत्र प्रथममनु ततस्तस्य बोधार्थमित्थं,
प्रक्रान्तोऽयं समस्तः कथयितुमतुलो जीवसंसारचारः ॥१॥

अतुलनीय संसार में संचरण करने वाले जीव का जो वर्णन यहाँ किया गया है, उस भव्य प्राणी की उत्पत्ति, समय-परिणति (काल परिणति) और कर्म

❀ पृष्ठ १३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के प्रभाव से नियमतः उत्तम मनुष्य भूमि में होती है; जिसका वर्णन अग्रिम प्रस्तावों में किया जाएगा और तत्पश्चात् उसके बोध-प्रसंग का पूर्ण वर्णन किया जाएगा।

स च सदागमवाक्यमपेक्ष्य भो! जडजनाय च तेन निवेद्यते।
बुधजनेन विचारपरायणस्तदनु भव्यजनः प्रतिबुध्यते ॥२॥

हे पाठको! सदागम (श्रुतज्ञानी सद्गुरु) के वचनानुसार यह घटनाक्रम संसार में संचरणशील जड बुद्धि वाली (अगृहीतसंकेता) को लक्ष्य कर कहा जा रहा है, जिसे सुनकर बुधजन (प्रज्ञाविशाला) और उसके पश्चात् विचारपरायण भव्यजन (भव्यपुरुष-सुमति) प्रतिबोध को प्राप्त करते हैं।

प्रस्तावेऽत्र निवेदितं तदतुलं संसारविस्फूर्जितं,
धन्यानामिदमाकलय्य विरतिः संसारतो जायते।
येषां त्वेष भवो विमूढ़मनसां भोः! सुन्दरो भासते,
ते नूनं पशवो न सन्ति मनुजाः कार्येण मन्यामहे ॥ ३ ॥

इस (दूसरे) प्रस्ताव में प्रतिपादित इस अतुलनीय संसार के विस्तार (और उसमें स्थान-स्थान पर जाकर अनन्तकाल तक भोगे हुए दुःखों) के वर्णन को सुनकर भाग्यशाली पुरुषों को तो संसार से विरक्ति होती है, किन्तु जो विमूढ़ मन वाले (मूर्ख) प्राणी हैं उन्हें तो यह संसार का प्रपंच ही अच्छा लगता है। ऐसे मूढ प्राणी अपने कार्यों से मनुष्य रूप में पशु ही हैं, ऐसा हम समझते हैं।

उपमिति-भव-प्रपंचा कथा में संसारी जीव के
चरित्र में तिर्यग्गति वर्णन नामक
द्वितीय प्रस्ताव पूर्ण हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. तृतीय प्रस्ताव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय प्रस्ताव

पात्र एवं स्थान-सूची

वैश्वानर (क्रोध) के प्रसंग में

स्थल	मुख्य-पात्र	परिचय	सामान्य-पात्र	परिचय
जयस्थल नगर	पद्म	राजा	प्रमोदकुम्भ	बधाई देने वाला दासी पुत्र
	नन्दा	रानी	राजकुमार	नन्दिवर्धन के सहपाठी
	नन्दिवर्धन	संसारी जीव, पद्म राजा का पुत्र	मतिधन बुद्धिविशाल	पद्मराजा के मंत्री
	बुद्धिसमुद्र	कलाचार्य	प्रज्ञाकर	
	विदुर	राज्यसेवक	सर्वरोचक	
	जिनमतज्ञ	नैमित्तिक		
	वैश्वानर	धायपुत्र, अन्तरंग राज्य में नन्दिवर्धन का मित्र	स्फुटवचन	शार्दूलपुर के राजा अरिदमन का दूत
	पुण्योदय	नन्दिवर्धन का अन्तरंग मित्र		
चित्तसौन्दर्य नगर (अन्तरंग नगर)	शुभ-परिणाम	राजा		
	निष्प्रकम्पता	पहली रानी		
	क्षान्ति	रानी निष्प्रकम्पता की पुत्री		
	चारुता	दूसरी रानी		
	दया	रानी चारुता की पुत्री		

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्पर्शन-प्रबन्ध

नगर	अन्तरंग-पात्र	परिचय		
क्षितिप्रतिष्ठित	कर्मविलास	राजा		
	शुभसुन्दरी	रानी, मनीषी की माता		
	अकुशल-माला	रानी, बाल की माता		
	सामान्य-रूपा	रानी, मध्यमबुद्धि की माता		
	मनीषी	राजकुमार, रानी शुभसुन्दरी का पुत्र		
	बाल	राजकुमार, रानी अकुशलमाला का पुत्र		
	मध्यमबुद्धि	राजकुमार, रानी सामान्यरूपा का पुत्र		
	स्पर्शन	राजकुमार बाल का मित्र	भवजन्तु	स्पर्शन-प्रसंग-मुक्त मोक्षगामी पुरुष
	बोध	मनीषी राजकुमार का अंगरक्षक		
	प्रभाव	बोध का अनुचर		

स्पर्शन मूल-शुद्धि

राजसचित्त	राजकेसरी	राजा
नगर (अन्तरंग नगर)	विषया-भिलाष	मन्त्री
	विपाक	नागरिक
	महामोह	रागकेसरी का पिता
	सन्तोष	सदागम का अनुचर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिथुनद्वय अन्तर कथा

		अन्य पात्र
तथाविध नगर	नगर	भोगतृष्णा
ऋजु	राजा	आर्जव
प्रगुणा	रानी	अज्ञान
मुग्ध	राजकुमार	पाप
अकुटिला	मुग्ध की पत्नी	
कालज्ञ	व्यन्तर	
विचक्षणा	व्यन्तरी	
प्रतिबोधक	केवलज्ञानी आचार्य	
शुभाचार	ऋजुराजा का छोटा पुत्र	
व्यन्तर	कामदेव मंदिर का अधिष्ठायक देवता	

———

नगर	बहिरंग-पात्र	परिचय		सामान्य-पात्र	परिचय
क्षितिप्रतिष्ठित	शत्रुमर्दन	राजा	कुशस्थल नगर	नन्दन	राजपुरुष
	मदनकन्दली	रानी			
	विभीषण	अन्तःपुर का सेवक			
	प्रबोधनरति	आचार्य			
	सुबुद्धि	मंत्री			
	सुलोचन	राजकुमार			
	धवल	सेनापति			
कुशावर्तपुर नगर	कनकचूड	जयस्थल नगर का राजा, कनकशेखर का पिता, नन्दिवर्धन का मामा			

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	कनकशेखर	कुशावर्तपुर का राजा	चतुर	कनकशेखर का अंगरक्षक
	कनकमंजरी	राजा कनकचूड और रानी मलयमंजरी की पुत्री, नन्दिवर्धन की दूसरी रानी	सुमति वरांग केशरी शूरसेन	कनकचूड के प्रधान
			कपिंजला	वृद्धगणिका, कनकमंजरी की धाय माता
			चूतमंजरी	कनकचूड राजा की रानी
			मलयमंजरी	कनकचूड राजा की रानी
			मणिमंजरी	कनकचूड राजा की पुत्री
विशालानगरी (बाह्य)	नन्दन	विशाला का राजा, नन्दिवर्धन का श्वसुर		
	प्रभावती	नन्दन राजा की रानी, विमलानना की माता		
	पद्मावती	नन्दन राजा की रानी, रत्नवती की माता		
	विमलानना	नन्दन राजा की पुत्री, कनकशेखर की रानी	विकट	नन्दन राजा का दूत
	रत्नवती	नन्दन राजा की पुत्री, नन्दिवर्धन की पत्नी	दारुक	दूत

कनकपुर (बाह्य)	विभाकर	राजकुमार	प्रभाकर	कनकपुर का राजा
			मधुसुन्दरी	प्रभाकर राजा की रानी
			प्रवरसेन	अम्बरीष भिल्ल-पल्ली का प्रधान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रौद्रचित्तपुर (अन्तरंग नगर)	दुष्टाभि-सन्धि	राजा	समरसेन	कलिंग देश का राजा, विभाकर का सहायक
	निष्करुणता	रानी	द्रुम	बंग देश का राजा, विभाकर का मामा
	हिंसा	दुष्टाभिसन्धि की पुत्री		
तामसचित्त (अन्तरंग नगर)	द्वेषगजेन्द्र	राजा		
	अविवेकिता	रानी		
	वैश्वानर	पुत्र		
शार्दूलपुर नगर (बहिरंग नगर)	अरिदमन	राजा	रणवीर	चोरपल्ली का नायक
	रतिचूला	रानी		
	मदनमंजूषा	राजकुमारी	विमलमति	अरिदमन का मंत्री
	विवेकाचार्य	केवली	स्फुटवचन	अरिदमन का प्रधान
	धराधर	विजयपुर का राजकुमार		

———

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. नन्दिवर्धन और वैश्वानर

❀ तिर्यंच गति में प्राणी की सांसारिक स्थिति कैसी विचित्र होती है इसका उल्लेख पिछले प्रस्ताव में किया गया है। मनुष्य भव में प्राणी की कैसी स्थिति होती है, इसका वर्णन अब प्रस्तुत किया जा रहा है।

सदागम, भव्यपुरुष और प्रज्ञाविशाला के समक्ष अगृहीतसंकेता को लक्ष्य कर संसारी जीव अपनी कथा आगे कहता है—

नन्दिवर्धन का जन्मोत्सव

भद्रे अगृहीतसंकेता! उसके पश्चात् नवीन एकभववेद्य गोली लेकर मैं तिर्यंच गति से निकलकर आगे जाने लगा। इस मनुजगति नगर (देश) में एक भरत नामक मोहल्ला (प्रदेश) है। वहाँ नगरों में तिलक के समान जयस्थल नामक नगर है। उस नगर में सर्व गुण-सम्पन्न पद्मराजा राज्य करते थे। उनके कामदेव की पत्नी रति जैसी सुन्दर नन्दा देवी नाम की रानी थी। भवितव्यता ने मुझे नन्दा देवी की कोख में प्रवेश कराया। उचित समय तक मैं नन्दा के गर्भ में रहा। गर्भकाल पूर्ण होने पर पुण्योदय के साथ मैंने अपनी माँ की कोख से जन्म लिया। नन्दा रानी ने मुझे देखा और उसे पुत्र हुआ ऐसा उसे अभिमान हुआ। इस समय प्रमोदकुम्भ नामक दासीपुत्र ने महाराजा को मेरे जन्म की बधाई दी। समाचार सुनकर पद्मराजा को बहुत आनन्द हुआ और हर्ष से उनका शरीर रोमांचित हो गया। बधाई लाने वाले प्रमोदकुम्भ को पुरस्कार दिया और महाराजा ने धूमधाम से मेरा जन्मोत्सव मनाने की आज्ञा दी। आज्ञानुसार बहुत दान दिया गया, जेल से कैदी मुक्त किये गये, नगर-देवताओं का पूजन किया गया, दुकानों और गृह-द्वारों को तोरण, बन्दनवार आदि लटका कर सजाया गया। बड़े-बड़े राज-मार्गों पर जल और सुगन्धित पदार्थों का छिड़काव किया गया, आनन्द के बाजे बजने लगे, सुन्दर और उज्ज्वल वस्त्र पहिन कर नागरिक राजभवन में आने लगे, अतिथियों का यथायोग्य मान-सन्मान के साथ आदर सत्कार किया गया। शहनाई और दूसरे बाजे बजने लगे, स्त्रियाँ धवल मंगल गाने लगीं। कंचुकी, बौने, कुबड़े और नागरिक स्त्रियों के साथ नाचने लगे। इस प्रकार मेरा जन्म-महोत्सव आनन्द पूर्वक मनाया गया। इसके एक महीने बाद संसारी जीव की जगह मेरा नाम नन्दिवर्धन रखा गया। मुझे भी यह अभिमान हुआ कि मैं राजपुत्र हूँ। मैं अपनी क्रीडाओं से माता-पिता को आह्लादित करता हुआ, पाँच धाय माताओं से ❀ लालित-पालित होता हुआ क्रमशः तीन वर्ष का हो गया।

❀ पृष्ठ १३६ ❀ पृष्ठ १४०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैश्वानर का जन्म-स्वरूप

मैं असंव्यवहार नगर से आगे चला तभी से मेरे अन्तरंग और बहिरंग दो प्रकार के परिवार थे। इसी अन्तरंग परिवार में पहले से ही अविवेकिता नामक ब्राह्मणी मेरी धाय थी। मेरा जन्म हुआ उसी दिन मेरी धाय ने भी एक लड़के को जन्म दिया। उसका नाम वैश्वानर रखा गया। यह लड़का गुप्त रूप से तो प्रारम्भ से ही मेरे साथ था, पर अब वह सब को दिखाई देने योग्य स्पष्ट आकार में मेरे साथ उत्पन्न हुआ। मैंने जब इस ब्राह्मण पुत्र वैश्वानर को देखा तब उसका आकार था— उसके टेढे-मेढे और लम्बे-चौड़े वैर और कलह नामक दो पैर थे। स्थूल, कठिन और छोटी-सी ईर्ष्या तथा स्तेय नाम की जंघाएं (पिंडलियां) थीं। अत्यन्त टेडी-मेढी और विषम अनुशय (द्वेष) तथा अनुपशम (अशान्ति) नामक दो ऊरु (सांथल) थे। एक तरफ से ऊँची पैशुन्य नामक कटि (कूल्हा) थी। परमर्मोद्घाटन नामक टेढा, विषम और लम्बा पेट था। अन्तस्ताप नामक सिकुड़ी हुई छोटी सी छाती थी। आड़े, टेढे, मोटे. पतले क्षार और मत्सर नामक भुजाएँ थीं। बांकी, टेढी और लम्बी शिर को अधर रखने वाली क्रूरता नामक गर्दन थी। होठों से बाहर निकले हुए और दूर-दूर, बड़े-बड़े असभ्यभाषण नामक दान्तों से वह बड़ा ही भयंकर लगता था। चण्डत्व और असहिष्णुता नामक जिन कानों के छेद मात्र दिखाई देते हों ऐसे दो कानों से वह हंसी का पात्र बना हुआ था। तामसभाव नामक बहुत चपटी नाक थी जो उस स्थान पर केवल चिन्ह के रूप में शेष रह गई थी जिससे वह हंसी का पात्र बन गया था। रौद्रत्व और नृशंस नामक दो गोल-मटोल आँखे थीं जो चिरमी जैसी लाल सुर्ख लगती थी जिससे उसका रूप महा भयंकर लगता था। अनार्य आचरण नामक मोटा तिकोना ललाट था जो हिलते रहने से नाटक की प्रतीति कराता था। परोपताप नामक अग्निशिखा जैसे पीले और घने केशभार से वह अपना वैश्वानर नाम यथार्थ कर रहा था। इस प्रकार के वैश्वानर नामक ब्राह्मण पुत्र का मेरे साथ ही जन्म हुआ था।

अनादि काल से परिचय के कारण मेरा वैश्वानर पर स्नेह उत्पन्न हो गया। मैंने उसे अपना सच्चा मित्र समझ कर ही ग्रहण किया था, पर वास्तव में तो वह मेरा शत्रु था, यह बात उस समय मेरी समझ में नहीं आई। यह मेरा अन्तरंग परिजन और मेरी धाय अविवेकिता का पुत्र है इसलिये मेरा हितकारी ही होगा ऐसा दृढ़ विश्वास उस समय मेरे मन में था। मेरे मन के इस निर्णय का पता वैश्वानर को लग गया। 'अरे! राजपुत्र तो मेरे प्रति प्रेम करता है' ऐसा सोचकर वह मेरे पास आने लगा। जब वह मेरे पास आया तो मैंने उसे गले से लगाकर उसके प्रति स्नेहभाव दिखाया। परिणाम स्वरूप हमारे बीच मित्रता बढ़ने लगी। फिर हमारी मित्रता इतनी बढ़ी कि घर या बाहर जहाँ कहीं मैं जाता, मेरा मित्र हमेशा मेरे साथ रहता, एक क्षण भी मेरे से अलग नहीं रहता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुण्योदय को मानसिक खेद

वैश्वानर के साथ मेरी मित्रता को देखकर पुण्योदय नामक मेरा अन्तरंग मित्र जो गुप्तरूप से मेरे साथ आया था मन में अत्यधिक रुष्ट हुआ। उसने सोचा, अरे ! ❀ वैश्वानर तो मेरा शत्रु है परन्तु यह नन्दिवर्धन वस्तुस्थिति को समझे बिना ही अन्तरंग रूप से साथ रहते हुए भी मेरे अनुराग का तिरस्कार कर, समस्त दोषों का भण्डार और परमार्थतः जो शत्रु है उस वैश्वानर के साथ मैत्री करता है। अथवा इसमें आश्चर्य की क्या बात है ! सत्य ही है -- 'अज्ञानी मूर्ख प्राणी पापी-मित्र के स्वरूप को नहीं समझते, ऐसे मित्र की संगति का परिणाम कितना भयंकर होगा इसे वे नहीं जानते, उसका साथ छोड़ने का सदुपदेश देने वाले की बात का आदर नहीं करते, पापी-मित्र के लिये दूसरे सन्मित्रों का भी त्याग कर देते हैं, पापी-मित्र की संगति के वश होकर वे कुमार्ग पर चल पड़ते हैं। जैसे अन्धे दौड़ते हुए दीवार से जोर की टक्कर खाकर पीछे हटते हैं उसी तरह कुसंगति में पड़े हुए लोगों को जब बहुत अधिक दुर्गति हो जाती है तभी वे कुमार्ग से पीछे हटते हैं, किन्तु दूसरों के उपदेश से नहीं।' यह नन्दिवर्धन कुमार ऐसे पापी-मित्र की संगति करता है, अतः यह भी मूर्ख ही है। अभी मेरे समझाने से या रोकने से क्या फल होगा। भवितव्यता ने मुझे उसके सहचारी के रूप में रहने को कहा है। पूर्व-भव में कुमार जब हाथी था तब इसने माध्यस्थ भाव से बहुत वेदना सही तथा समता पूर्वक निश्चल रहा, उस समय उसने मेरे मन पर अच्छा प्रभाव डाला; अतः यद्यपि यह अभी पापी-मित्र की कुसंगति में पड़ गया है तथापि बिना योग्य अवसर के इसे छोड़ देना उचित नहीं है। ऐसा विचार करते हुए मेरा साथी पुण्योदय यद्यपि मुझ पर क्रोधित हुआ था तब भी पहले की ही भांति छिपकर मेरे साथ रहा।

वैश्वानर के साथ प्रीति : मित्रों के साथ असद् व्यवहार

वैश्वानर मेरा अन्तरंग मित्र था। उसके अतिरिक्त भी मेरे कई बहिरंग मित्र थे। उन सभी मित्रों के साथ अनेक प्रकार की क्रीडा करते हुए मैं बड़ा होने लगा। खेल में मेरे से अधिक उम्र के, उच्चकुल के, अधिक पराक्रम वाले लड़के भी वैश्वानर से अधिष्ठित (क्रोधी मुद्रा वाला) होने के कारण मेरे से भय से काँपते थे, मेरे पाँव पड़ते थे, मेरी चाटुकारिता करते थे, मेरे रक्षक बन कर मेरे आगे दौड़ते थे और मेरे वचनों का तनिक भी अनादर नहीं करते थे। अधिक क्या ! मेरी झलक मात्र से, मेरी परछांई से भी वे डर जाते थे। इस सब का वास्तविक कारण तो गुप्तरूप से मेरे साथ रहने वाला अनन्त शक्तिमान मेरा मित्र पुण्योदय ही था, पर महामोह के वश मुझे ऐसा लगता था कि मुझ से बड़े लड़के भी जो मुझ से डरते हैं उसका कारण मेरा अन्तरंग मित्र वैश्वानर ही है। क्योंकि, मेरा वह मित्र जब मुझ पर अधिष्ठित होता है तब अपनी अतुलनीय शक्ति से मेरी तेजस्विता को बढ़ाता है,

---

❀ पृष्ठ १४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुझे उत्साहित करता है, मेरे बल को जागृत करता है, मेरे तेज को बढाता है, मन को स्थिर करता है, धैर्य उत्पन्न करता है और मेरे बडप्पन को जागृत करता है। संक्षेप में कहूँ तो पुरुष के योग्य सभी गुणों का वैश्वानर मुझ में नियोजन करता है। ऐसे विचारों से वैश्वानर पर मेरी प्रीति बढने लगी और वह मेरा परम मित्र बन गया।

कलाभ्यास

क्रमशः बढता हुआ जब मैं आठ वर्ष का हुआ तब मेरे पिता पद्मराजा ने मुझे शिक्षा प्रदान करवाने का विचार किया। इस कार्य के लिये ज्योतिषी से शुभ दिन पूछा गया, ❀ एक विद्वान् प्रधान कलाचार्य को बुलाया गया, विधिपूर्वक उनकी पूजा की गई और इस प्रसंग के योग्य सभी क्रियाएँ पूर्ण कर आदर पूर्वक मेरे पिता ने मुझे कलाचार्य को सौंपा। मेरे भाई-भतीजे और अन्य राजपुत्र भी शिक्षा ग्रहण करने के लिये इन्हीं कलाचार्य को पहले सौंपे गये थे। उन सब के साथ मैं भी कला-ग्रहण (अध्ययन) करने लगा। अभ्यास के समग्र साधन होने से, पिता का शिक्षा के प्रति प्रबल उत्साह होने से, कलाचार्य का मेरे अभ्यास के प्रति विशेष आकर्षण होने से, बालपन में चिन्तारहित होने से, पुण्योदय के सर्वदा साथ होने से, क्षयोपशम उत्कृष्ट होने से और उस समय भवितव्यता के अनुकूल होने से, दूसरे किसी भी कार्य में ध्यान न देकर एकचित्त से शिक्षा ग्रहण करते हुए मैं अल्प समय में ही कलाचार्य से सभी कलाएँ सीख गया।

वैश्वानर की मित्रता का दुष्प्रभाव

मेरा मित्र वैश्वानर जो मुझे अत्यन्त प्रिय था मेरे पास ही रहता था और मेरे शिक्षा काल में भी कभी-कभी कारण-अकारण मुझे मिल जाया करता था। मेरा प्यारा मित्र जब भी मुझ मिलता मैं कलाचार्य के उपदेश को भूल जाता, मेरे उत्तम कुल को कलंक लगने की परवाह नहीं करता यह सब जानकर मेरे पिताजी को दुःख होगा इसका भय नहीं रखता, मैं इन बातों के परमार्थ (रहस्य) को समझ नहीं पाता, हृदय की अन्तर्ज्वाला को भी मैं नहीं पहिचान पाता और मेरी शिक्षा व्यर्थ हो रही है इसे भी नहीं समझता। मैं तो केवल वैश्वानर को मेरा परम मित्र मानते हुए उसके कहने के अनुसार पसीने से लथपथ होकर, अंगारे जैसी लाल आँखें और भवें चढाकर मैं अन्य विद्यार्थियों से लड़ाई-झगड़ा करता, सब की गुप्त बातों की चुगली कलाचार्य से करता और अशिष्ट वचन बोलता। यदि कोई बीच में पड़कर मुझे समझाने का प्रयत्न करता तो मैं सहन नहीं करता और पास में डण्डा या जो कुछ होता उससे उसको पीट देता। वैश्वानर इसके साथ है, यह जानकर वे सभी सहाध्यायी भय से त्रस्त होकर जैसा मुझे अनुकूल लगे वैसा ही बोलते, मेरी चाटुकारिता करते और मेरे पाँव पड़ते। अधिक क्या! सभी राजपुत्र शक्तिशाली थे

❀ पृष्ठ १४२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर भी जैसे नागदमनी औषधि से सर्प हतप्रभ हो जाते हैं वैसे ही मेरी गंधमात्र से अपनी स्वतन्त्र चेष्टा को त्याग कर उद्विग्न मन से भय से कांपते हुए, जेल में पड़े हुए कैदियों की तरह महादुःख से अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन करने के लिये वहाँ शिक्षण लेते हुए अपना समय व्यतीत कर रहे थे। मेरे से वे इतने भयभीत थे कि ये सब घटनाएँ कलाचार्य को कहने का साहस भी नहीं कर पाते थे, क्योंकि उनको भय रहता कि ऐसा करने से उन सब का नाश होगा। सर्वदा सन्निकट रहने के कारण कलाचार्य मेरी समस्त उच्छृंखल चेष्टाओं को जानते ही थे और मेरी अनुशासन-हीनता का अन्य विद्यार्थियों पर क्या प्रभाव पड़ रहा है इसे जानकर भी वे मुझे दण्ड देने का साहस नहीं कर पाते थे, क्योंकि वे स्वयं भी मन में मेरे से भयभीत थे। यदि किसी बहाने से कभी वे मुझे कुछ कहने का प्रयास भी करते तो मैं उनका भी तिरस्कार करता, इतना ही नहीं कभी तो उन्हें मार भी देता। इसके बाद तो अन्य राजकुमारों की तरह वे भी मेरे से दूर ही रहने लगे।

इन सब घटनाओं पर विचार करते हुए महामोह के वशीभूत मैं सोचने लगा—'अहो! मेरे परम मित्र वैश्वानर का प्रताप और माहात्म्य! अहो इसका हितकारीपन! * अहो इसका कौशल! अहो इसका वात्सल्य भाव! और मुझ पर उसका प्रेम पूर्ण दृढ़ अनुराग! जब वह मुझ से प्रेम पूर्वक मिलता है तो मेरा पराक्रम बढ़ जाता है जिससे सर्वत्र राजा की भांति मेरा एक छत्र शासन चलता है। (यह सब मेरे मित्र वैश्वानर का ही प्रताप है। वह मुझे एक क्षण भी नहीं छोड़ता अतः वह मेरा सच्चा भाई, मेरा शरीर (अंग), मेरा सर्वस्व, जीवन और परम तत्त्व है। इस वैश्वानर के बिना पुरुष कुछ भी नहीं कर सकता, वह मांस का पुतला मात्र रह जाता है।' ऐसे विचारों से मेरा वैश्वानर पर दृढ़ अनुराग अधिकाधिक बढ़ता गया।

वैश्वानर में अनुरक्त नन्दिवर्धन

एक बार मैं और वैश्वानर एकान्त में बैठे हुए वार्तालाप कर रहे थे, उस समय मैंने विश्वस्त होकर कहा—

श्रेष्ठ मित्र! मुझे कुछ अधिक कहने की तो आवश्यकता नहीं है, मात्र इतना बता देना चाहता हूँ कि मेरे प्राण तेरे अधीन हैं और तुझे अपनी इच्छानुसार उन्हें प्रयुक्त करना है।

इस प्रकार मेरी बात सुनकर वैश्वानर ने सोचा कि चलो अपना परिश्रम तो सफल हुआ, क्योंकि यह अब पूर्णरूपेण मेरे वश में हो गया है। ऐसा विचार कर वैश्वानर मुझ पर अधिक प्रेम दिखाने लगा। परस्पर प्रेम में अनुरक्त प्राणी एक दूसरे का कहा हुआ सुनते हैं, किसी भी प्रकार के संकल्प-विकल्प बिना उसे ग्रहण करते हैं, उस पर अन्तरंग से व्यवहार करते हैं और जो काम करने को कहा गया हो उसको तुरन्त पूर्ण करते हैं। अतएव अब उचित समय आ गया है यह जानकर

---

* पृष्ठ १४३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसने मुझे कहा—कुमार तेरी बात ठीक है, इसमें जरा भी शंका नहीं। यह सब मैं जानता हूँ, फिर भी मेरे समक्ष तुम यह सब बताते हो इसका कारण केवल तुम्हारी कृपा ही है। इस महाप्रसाद (कृपा) का फल ऐसा है कि जो प्राणी इसे प्राप्त करते है वे हर्षाधिक्य में आकर व्यक्त अर्थवाली वास्तविकता को भी बार-बार कहते हैं। इसमें कौन सी नवीनता है! पर, मित्र! यदि तेरा निर्देश हो तो तेरे प्राणों को भी मैं अक्षय बनादूँ, यही मेरी अभिलाषा है।

नन्दिवर्धन—यह कैसे कर सकते हो?

वैश्वानर—मैं कुछ रसायन विद्या भी जानता हूँ।

नन्दिवर्धन—ऐसी बात है तब मेरे प्राणों को अक्षय कर दो।

वैश्वानर—जैसी कुमार की आज्ञा।

वैश्वानर का प्रसाद

इसके पश्चात् वैश्वानर ने क्रूरचित नामक बड़े तैयार किये और जब मैं एकान्त में बैठा था तब मेरे पास ले आया और कहा—कुमार! यह बड़े मैंने अपनी शक्ति से तैयार किये हैं। इसके खाने से अधिक शक्ति प्राप्त होती है, प्राणी की इच्छानुसार आयुष्य लम्बी होती है और जो कुछ इच्छा हो वह भी पूर्ण होती है; अतः इन बड़ों को तुम ग्रहण करो अर्थात् ये बड़े तुम खाओ।

हमारे बीच बातचीत चल रही थी तभी पार्श्व के कमरे में बैठा हुआ कोई पुरुष मन्द स्वर में बोला— तेरे इच्छित स्थान (नरक) में अब यह उत्पन्न होगा, इसमें क्या सन्देह है?

इस प्रकार कोई बहुत ही धीमी आवाज से बोला जो मुझे नहीं सुनाई पड़ा, पर वैश्वानर ने उसे सुन लिया और मन में विचार करने लगा—'ओह! मेरी इच्छा पूर्ण होगी। मेरे द्वारा तैयार किये बड़े खाने से यह नन्दिवर्धन महा नरक में जायगा। वहाँ जन्म लेगा और लम्बी आयु पायेगा। इस ध्वनि का अन्य क्या अर्थ हो सकता है? मुझे तो महानरक का स्थान ही अधिक अभीष्ट है।' यह बात जानकर मेरे मित्र के मन में संतोष हुआ।

मैंने कहा—तेरे जैसा मित्र मेरे अनुकूल होगा तो कौनसी कामना पूर्ण नहीं होगी?

मेरे वचन सुनकर वैश्वानर ❀ द्विगुणित प्रसन्न हुआ। मुझे बड़े दिये, मैंने तुरन्त बड़े ले लिये। फिर उसने कहा—कुमार! तुम्हें मुझ पर एक और कृपा करनी होगी। जब-जब मैं दूर से तुम्हें संकेत करूँ तब बिना किसी संकल्प-विकल्प के इनमें से एक बड़ा तुम खा लेना। मैंने हँसते हुए कहा—इस विषय में प्रार्थना करने की क्या आवश्यकता है? मैं अपने प्राण, आत्मा, सर्वस्व तुझे सौंप ही चुका हूँ।

वैश्वानर—महती कृपा! मैं अन्तःकरण से कुमार का आभारी हूँ।

❀ पृष्ठ १४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विदुर की सूचनायें

इधर एक दिन मेरे पिता पद्म राजा ने राजवल्लभ विदुर नामक विश्वसनीय सेवक को बुलाकर कहा—विदुर ! कुमार नन्दिवर्धन को जब मैंने कलाचार्य के पास भेजा था तब उसे शिक्षा दी थी कि वह एकाग्रचित्त होकर मात्र कला-ग्रहण में ही अपना मन लगाये। मैंने उसे यह भी आदेश दिया था कि वह मुझ से मिलने भी नहीं आये (क्योंकि यहाँ आने से अभ्यास की एकाग्रता में विघ्न पड़ता है)। समय-समय पर मैं स्वयं आकर उससे मिल लूंगा। पर, राज्य-कार्य में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण मेरा वहाँ जाना नहीं हो सकेगा, अतः तुम प्रतिदिन स्वयं गुरुकुल जाकर उसके अभ्यास, स्वास्थ्य आदि का पता लगाकर मुझे सूचित करना। विदुर ने राजाज्ञा को मान्य किया।

मेरे पिता की आज्ञानुसार विदुर प्रतिदिन मेरे पास आने लगा। फलतः मेरे सहपाठी छात्रों को तथा कलाचार्य को मैं कितना क्षुब्ध करता था, सब को कितना त्रास देता था आदि व्यवहार उसने स्वयं देखा। मेरे पिता को यह सब बतलाने से आघात लगेगा ऐसा सोचकर कुछ दिन तो उन्हें कुछ नहीं बतलाया, पर प्रतिदिन मेरे त्रासदायक रूप को बढता देखकर एक दिन उसने पिताश्री को सब बता दिया। पिताश्री ने सब सुनकर विचार किया, 'यह विदुर कभी असत्य नहीं बोल सकता, पर कुमार भी तो ऐसा अयोग्य आचरण नहीं कर सकता ? अवश्य ही इसमें कुछ रहस्य है जो मेरी समझ में नहीं आ रहा है। विदुर के कथनानुसार यदि कुमार कलाचार्य को भी त्रास दे रहा हो तो उसे कला-शिक्षा ग्रहण करवाने से क्या लाभ ?' ऐसे विचारों से मेरे पिता के मन में दुःख हुआ और उन्हें चिन्ता होने लगी। फिर मेरे पिता ने दृढ़ निश्चय किया कि, 'इस विषय में स्वयं कलाचार्य को बुलाकर, उन्हीं से सब बात पूछकर निर्णय लेना उचित होगा। वास्तविकता जानने के बाद उसके निवारण के उपाय सोचकर उन्हें कार्य रूप में परिणित करने का प्रयत्न करूँगा।' इस प्रकार निश्चय कर उन्होंने विदुर को आज्ञा दी कि वह सम्मानपूर्वक कलाचार्य को बुला लाये।

पद्मराजा और कलाचार्य का वार्तालाप

विदुर स्वयं जाकर कलाचार्य को बुला लाया। कलाचार्य को आते देखकर मेरे पिताजी उनके स्वागत में खड़े हुये, उन्हें आसन दिया, पूजा सत्कार किया और उनकी आज्ञा लेकर सिंहासन पर बैठे।

पद्म राजा—आर्य बुद्धिसमुद्र ! सभी कुमारों की शिक्षा ठीक से चल रही है न ?

कलाचार्य—देव ! आपकी कृपा से सब की शिक्षा बहुत भली प्रकार चल रही है।

पद्म राजा—बहुत अच्छा ! कुमार नन्दिवर्धन ने भी कुछ कलाएँ ग्रहण की या नहीं ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कलाचार्य—हाँ, कुमार नन्दिवर्धन सब कलाओं में कुशल हो गया है, सुनिये—* सर्वलिपियों का ज्ञान तो मानो उसका स्वयं का हो ऐसा हो गया है, गणित तो मानो उसने ही बनाया हो ऐसा हो गया है, व्याकरण तो उससे ही उत्पन्न हुआ हो ऐसा उत्तम ज्ञान उसे हो गया है। ज्योतिष तो मानो उसमें घर कर गया है, अष्टांग निमित्त तो उसके आत्मभूत हो गए हैं, छन्द शास्त्र में इतना प्रवीण हो गया है कि दूसरों को भी समझाता है। उसने नृत्य शास्त्र का भी अभ्यास किया है, संगीत का भी शिक्षण लिया है। प्रियतमा के समान हस्ति शिक्षा, साथी के समान धनुर्वेद, मित्र के समान आयुर्वेद, आज्ञापालक के समान धातुवाद और मनुष्य के लक्षण, व्यापार के क्रय-विक्रय का ज्ञान, लक्ष्यभेदी बाण, निशाना ताक कर अमुक पत्ते को ही किस प्रकार बींधना आदि विद्याएं तो उसकी दासी बन गई हैं। आपके समक्ष अधिक क्या वर्णन करूं ? संक्षेप में ऐसी कोई कला नहीं बची है जिसमें कुमार पारंगत न हुआ हो।

उपर्युक्त वर्णन सुनकर पद्म राजा की आंखों में हर्ष के अश्रु छलक आये। पश्चात् उन्होंने कलाचार्य से कहा, आर्य ! ठीक है, ऐसा ही होना चाहिये और ऐसा हो, इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं है। आप जैसे गुरु की शिक्षा-दीक्षा से कुमार को क्या प्राप्त नहीं हो सकता ? आप जैसे गुरु को प्राप्त कर कुमार वास्तव में भाग्यशाली है।

कलाचार्य देव ! ऐसा न कहिये। हम क्या हैं ! सब आपका ही प्रताप है।

पद्म राजा - इन औपचारिक वचनों की क्या आवश्यकता है ? वस्तुतः आपकी कृपा से ही कुमार नन्दिवर्धन समस्त गुणों को धारण करने वाला बना है, जानकर हमें अत्यधिक आनन्द हुआ है।

कलाचार्य - देव ! कार्य करने के लिये नियुक्त व्यक्ति को कभी भी अपने स्वामी को ठगना नहीं चाहिये। इस नियम के अनुसार मैं आपसे कुछ विशेष बात कहना चाहता हूँ। वह बात योग्य या अयोग्य कैसी भी हो आप मुझे क्षमा करेंगे। देव ! यथार्थ और मनपसंद दोनों विशेषतायें वाणी में मिलना कठिन है। (क्योंकि सच्ची बात कई बार अच्छी नहीं लगती और मधुर बोलने वाले सदा सच्ची बात नहीं कह पाते, कारण सच्चाई में कटुता आ ही जाती है।)

पद्म राजा—आर्य ! आपको जो कुछ कहना हो निःसंकोच कहिये। सत्य बोलने में क्षमा मांगने की क्या आवश्यकता है ?

कलाचार्य—महाराज ! ऐसा कह रहे हैं तो सुनिये। आपने कहा कि कुमार नन्दिवर्धन सर्व गुण-सम्पन्न हुआ, इस प्रसंग में मेरा कहना है कि कुमार के स्वाभाविक स्वरूप को देखते हुये ऐसा ही होना चाहिये, इसमें सन्देह नहीं है। परन्तु, जैसे कलंक से चन्द्रमा, कांटे से गुलाब, कंजूसी से धनाढ्य, निर्लज्जता से स्त्री,

---

* पृष्ठ १४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कायरपन से पुरुष और परपीडा से धर्म दूषित होता है उसी प्रकार समस्त गुणों का भण्डार कुमार भी वैश्वानर नामक मित्र की संगति से दूषित हुआ है ऐसा मैं समझता हूँ। क्योंकि, सभी कलाओं की कुशलता के लिये अलंकार रूप प्रशम (शांति) परमावश्यक है। वैश्वानर पापी मित्र है, अतः जितने समय तक वह कुमार के साथ रहता है उतने समय वह अपनी शक्ति से कुमार के प्रशम (शांति) का नाश करता है। वह वैश्वानर कुमार का महान शत्रु है, परन्तु दुर्भाग्य से महामोह के वशीभूत कुमार उसे अपना बड़ा उपकारी मानता है। कुमार के शांतिरूपी अमृत को इस पापी-मित्र ने नष्ट कर दिया है, अतः उसमें दूसरे कितने भी गुण क्यों न हों, किन्तु समस्त ज्ञान की सारभूत प्रशम (शांति) के बिना सारे गुण व्यर्थ हैं।

वैश्वानर के संपर्क से मुक्त करने पर विचार

कलाचार्य की बात सुनकर पद्म राजा को वज्राहत के समान महान दुःख हुआ। थोड़ी देर बाद महाराजा ने विदुर से कहा. ❀ हे भद्र! चन्दन रस के छींटों से शीतल पवन देने वाले इस आलावर्त (वस्त्र का पंखा) को बन्द कर। मुझे बाह्य ताप इस समय कुछ भी पीडा नहीं दे रहा है। तू जाकर तुरन्त कुमार को बुलाकर यहाँ ला। कुमार को मैं स्पष्ट कह दूँगा कि अब से वह पापी-मित्र वैश्वानर की संगति बिल्कुल नहीं करे ताकि इस कारण से मुझे जो दुःसह आन्तरिक ताप हुआ है उसका निवारण हो सके।

विदुर ने पंखा बन्द कर जमीन पर रखा और दोनों हाथ जोड़ सिर झुका कर नमस्कार करते हुए कहा—जैसी महाराज की आज्ञा। परन्तु, आपने जो बड़ा कार्य मुझे सौंपा है उसे ध्यान में रखकर, यद्यपि मुझे आपकी आज्ञा के सम्बन्ध में कुछ भी बोलने का अधिकार तो नहीं है, फिर भी नियुक्त परामर्शी के स्थान पर यदि मैं अपना विचार प्रकट करूं तो आप उस पर ध्यान देने की कृपा करेंगे और मुझ पर क्रोधित न होंगे।

पद्म राजा—भद्र! हितकारी बात कहने वाले पर कौन क्रोध करेगा, तुझे जो कुछ कहना हो निःसंकोच कह।

विदुर—देव! आप कुमार को यहाँ बुलाकर, समझाकर वैश्वानर का साथ छुड़वाने की सोच रहे हैं, पर मैंने तो कुमार के अल्प परिचय से ही यह जान लिया है कि कुमार वैश्वानर का अंतरंग मित्र बन चुका है और उसकी संगति छुड़वाने में अभी कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। कुमार इस पापी-मित्र को अपना पूर्णरूपेण हितेच्छु समझता है और उसके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता, क्योंकि वह थोड़ी देर भी दूर रहता है तो कुमार का धैर्य नष्ट हो जाता है और उसे चिन्ता होने लगती है तथा उसके बिना अपने को तृण जैसा तुच्छ समझने लगता है। अतः यदि आप कुमार से इस पापी-मित्र की संगति छोड़ने के लिये कहेंगे

❀ पृष्ठ १४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो मैं कल्पना करता हूँ कि इससे उसे बहुत उद्वेग होगा, संभव है वह आत्महत्या भी करले या अन्य कोई अनर्थ कर बैठे। अतः आप स्वयं इस सम्बन्ध में कुमार से कुछ कहें, यह मुझे तो उचित नहीं लगता।

कलाचार्य—राजन्। विदुर ने आपके समक्ष जो विचार रखे हैं वे वास्तव में युक्तिसंगत और सत्य हैं। मैंने स्वयं भी उस पापी-मित्र की संगति से कुमार को छुड़ाने का बहुत बार कठिन प्रयत्न किये हैं। मेरे मन में बार-बार विचार आता है कि किसी भी प्रकार कुमार और इस पापी-मित्र वैश्वानर की मित्रता भंग हो जाये तो कुमार वास्तव में अपने नाम को सार्थक करने वाला नंदिवर्धन अर्थात् आनन्द में वृद्धि करने वाला बन जाय। पर, इन दोनों का सम्बन्ध इतना अधिक प्रगाढ हो गया है कि कुमार कहीं कोई अनर्थ न कर बैठे इसी भय से वैश्वानर की संगति में नहीं छुड़ा सका। इसीलिए मैं मानता हूँ कि कुमार और वैश्वानर का साथ छुड़ाने का प्रयत्न करना अशक्य अनुष्ठान जैसा ही है।

पद्म राजा आर्य! फिर इसका क्या उपाय किया जाय?

कलाचार्य—यह तो बहुत गहन बात है। मैं भी इसका उपाय नहीं जान पाया हूँ।

विदुर- देव! मैंने सुना है कि भूत, भविष्य और वर्तमान काल के सर्व पदार्थों को जानने वाला सिद्धपुत्र जिनमतज्ञ नामक एक प्रसिद्ध नैमित्तिक आजकल अपने नगर में आया हुआ है। संभवतः वह बता सके कि इस सम्बन्ध में अपने को क्या उपाय करना चाहिये?

पद्म राजा—बहुत अच्छा। तो फिर तुम स्वयं जाकर उन्हें यहाँ बुला लाओ।

विदुर—जैसी महाराज की आज्ञा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. क्षान्ति कुमारी

विदुर जिनमतज्ञ नैमित्तिक को बुलाने गया और थोड़े ही समय में उन्हें साथ लेकर वापिस आ गया। राजा ने नैमित्तिक को दूर से देखा ❀ और उनकी आकृति को दूर से देखकर ही उन्हें संतोष हुआ। उन्हें बैठने को आसन दिया और उनका उचित आदर सत्कार किया। उसके पश्चात् नन्दिवर्धन के सम्बन्ध में अभी तक जो कुछ घटित हुआ वह सब उन्हें कह सुनाया। उसे सुनकर बुद्धि-नाडी के संचार (स्वरोदय) से नैमित्तिक ने कहा—महाराज! आप जो प्रश्न पूछ रहे हैं, इस सम्बन्ध में अन्य कोई मार्ग नहीं है। उसका मात्र एक ही उपाय है और वह भी बहुत कठिन है।

पद्म राजा—हे आर्य! वह उपाय क्या है? आप निःसंकोच कहें।

चित्तसौन्दर्य नगर

जिनमतज्ञ—सुनिये महाराज! एक चित्तसौन्दर्य नामक नगर है जो समस्त उपद्रवों से रहित और सर्व गुणों का निवास स्थान है, कल्याण-परम्परा का कारण है और मन्दभाग्य प्राणियों को दुर्लभ है।

इस नगर में रहने वाले पुण्यशाली जीवों को रागादि चोर किसी प्रकार का दुःख नहीं पहुँचा सकते। इस नगर के निवासियों को क्षुधा, तृषा आदि किसी प्रकार भी प्रभावित नहीं करती हैं। अतः विद्वान् प्राणी इस नगर को सर्व उपद्रवों से रहित कहते हैं। [१–२]

इस नगर में रहकर लोग ज्ञान-प्राप्ति के योग्य बनते हैं और उस नगर में रहने वालों को कला में जितनी कुशलता प्राप्त होती है उतनी अन्य किसी स्थान पर प्राप्त नहीं हो सकती। वहाँ के निवासियों को उदारता, गम्भीरता, धैर्य, वीरता आदि गुण सहज ही प्राप्त होते हैं। इसीलिये इस नगर को सर्व गुणों का निवास स्थान कहा गया है। [३–४]

चित्तसौन्दर्य नगर के भाग्यशाली निवासियों को क्रमशः उत्तरोत्तर विशिष्ट प्रकार की सुख की श्रेणियां प्राप्त होती रहती हैं और जो सुख प्राप्त होता है उससे कभी अधःपतन नहीं होता। अतः इस नगर को कल्याण-परम्परा का कारण कहा गया है। [५–६]

यह नगर समग्र उपद्रव-रहित, समस्त गुणों से विभूषित और कल्याण-परम्परा का कारणभूत होने से सर्वदा आनन्द देने वाला और पुण्यशाली जीवों का निवास स्थान है। इसीलिये मन्दभाग्य प्राणियों को उसकी प्राप्ति दुर्लभ है। [७–८]

❀ पृष्ठ १४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभपरिणाम राजा

इस नगर में सकल प्राणियों का हितकारक, दुष्ट-दलन में विशेष प्रयास करने वाला, सज्जन मनुष्यों के रक्षण में विशेष ध्यान देने वाला और कोष तथा दण्ड देने की दक्षता से परिपूर्ण शुभपरिणाम नामक राजा राज्य करता है।

वहाँ के निवासियों के चित्त में होने वाले सभी प्रकार के संतापों को वह राजा शांत करता है और उससे किञ्चित् भी सम्बन्ध रखने वाले प्राणियों को भी अत्यधिक आनन्द प्रदान करता है तथा जगत् के सर्व प्राणियों को सत्कार्यों की ओर प्रवृत्त करता है। इसलिये विद्वान् उसे समस्त लोगों का हितकारक कहते हैं। [१-२]

राग, द्वेष, मोह, क्रोध, लोभ, मद, भ्रम, काम, ईर्ष्या, शोक, दैन्य आदि दुःख देने वाले भावों को और जो अपनी दुष्चेष्टाओं से बारम्बार लोगों को संताप देते हैं, उन सब को यह राजा जड़-मूल से उखाड़ फेंकने वाला है और इस विषय में वह सर्वदा सावधान रहता है। [३-४]

ज्ञान, वैराग्य, संतोष, त्याग, संयम, सौजन्य आदि मनुष्य मात्र को आह्लादित करने वाले गुणों और मान्य पुरुषों द्वारा सम्मत ऐसे अन्य गुणों का परिपालन करने में यह राजा सर्वदा तत्पर रहता है। इस कार्य को यह राजा अन्य सभी कार्यों की अपेक्षा अधिक मनोयोग से करता है। [५-६]❀

महाराजा का भण्डार बुद्धि, धैर्य, स्मृति, संवेग, समता आदि गुणरत्नों से प्रतिक्षण बढता रहता है। रथ, हाथी, अश्व और पैदल चार प्रकार की सेना से रक्षित अन्य राजाओं के समान इसने दान, शील, तप और भावरूपी चार प्रकार की सेना से अपने राज्य-दण्ड का निरन्तर विस्तार किया है। [७-८]

इसीलिये इस राजा को दुष्टों का निग्रह करने वाला, शिष्टों का परिपालक और कोष तथा दण्ड से समृद्ध कहा गया है। [९]

निष्प्रकम्पता रानी

इस महाराजा की निष्प्रकम्पता नामक महारानी है। वह अद्वितीय शारीरिक सौन्दर्य से विजय-ध्वज धारण करने वाली, कला-कौशल से त्रिभुवन में विजय प्राप्त करने वाली, नाना प्रकार के विलासों से कामदेव की प्रिया रति के विभ्रमों को तिरस्कृत करने वाली और अपनी पति-भक्ति से अरुन्धती के माहात्म्य को भी पीछे छोड़ देने वाली है।

देवता, असुर और मनुष्यों की स्त्रियों में सब से सुन्दर स्त्रियाँ अपने शरीर पर सुन्दर वस्त्राभूषण पहनकर साधु-समुदाय को विचलित करने का सामूहिक प्रयत्न करें और दूसरी तरफ अकेली निष्प्रकम्पता को रखा जाय तो उनका

❀ पृष्ठ १४८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चित्त केवल निष्प्रकम्पता महादेवी की तरफ ही आकर्षित होगा, अतएव अद्वितीय शारीरिक सौन्दर्य की धारिका होने से महादेवी को विजय-ध्वज धारण करने वाली कहा गया है। [१-३]

तीनों लोकों में रुद्र, इन्द्र, उपेन्द्र, चन्द्र आदि प्रसिद्ध कलाकार हैं और इनके अतिरिक्त अन्य जो भी लोक-विख्यात कलाकार हैं वे सब लोभ, काम, क्रोध आदि भाव शत्रुओं से पराजित हैं, अतएव परमार्थतः कलाओं में निपुण कलाकार नहीं माने जा सकते। परन्तु इस महादेवी में तो ऐसा अपूर्व कला-कौशल है कि खेल-खेल में ही इसने सब शत्रुओं को जीत कर त्रिभुवन को अभिभूत कर दिया है। इसीलिये महारानी को कला-कौशल से त्रिभुवन में विजय प्राप्त करने वाली कहा गया है। [४-६]

कामदेव की स्त्री रति के विलास तो मात्र कामदेव को संतुष्ट करने वाले होते हैं, मुनि तो इन विलासों की बात भी नहीं जानते, किन्तु इस महादेवी के व्रतनिर्वाहादि विलास तो मुनिवरों के चित्त को भी आकर्षित करने वाले हैं। इसीलिये इस महादेवी को स्वकीय विलासों से रति को भी तिरस्कृत करने वाली कहा गया है। [७-८]

महादेवी की पतिभक्ति के सम्बन्ध में तो इतना ही कहने का है कि अपने पति शुभपरिणाम महाराजा पर जब किसी प्रकार की भी आपत्ति आ पड़ती है तब यह महादेवी अपने प्राण देकर भी अपनी अचिन्त्य शक्ति से पति को आपत्ति से उबार लेती है। इसीलिये उसे पति-भक्ति में अरुन्धती से अतिशय माहात्म्य वाली कहा गया है, क्योंकि महासती अरुन्धती अपने पति का संरक्षण करने में सक्षम नहीं हुई थी। [९-११]

इस महारानी का अधिक क्या वर्णन करें! संक्षेप में कहें तो राजा के सभी कार्य सम्पन्न कराने वाली यह निष्प्रकम्पता महादेवी है। यही कारण है कि राजा के विशाल राज्य में वह एक अति प्रमुख स्त्री मानी जाती है। [१२]

क्षान्ति कुमारी

शुभपरिणाम राजा और निष्प्रकम्पता महारानी के एक क्षान्ति नामक पुत्री है, वह सुन्दरतम युवतियों से भी सुन्दर, अनेक आश्चर्यों का जन्म स्थान, गुणरत्नों की मंजूषा और शरीर की विलक्षणता से महामुनियों के मन को भी आकर्षित करने वाली है।

जो प्राणी क्षान्ति की सेवा करते हैं उनके लिए वह आनन्ददायिनी है।* वह इतनी भली है कि उसका स्मरण करने मात्र से वह समस्त दोषों का हरण (नाश) करवा देती है। विकसित नेत्रों वाली क्षान्ति जिस मनुष्य की तरफ

---

* पृष्ठ १४९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लीला मात्र के लिये भी देखती है, उसे विद्वान् लोग महात्मा की उपाधि देकर उसकी प्रशंसा करते हैं। मैं मानता हूँ कि जो भाग्यशाली प्राणी इस युवती-रत्न का आलिंगन प्राप्त करने में समर्थ होगा वह समस्त मनुष्य लोक का चक्रवर्ती होगा। उससे अधिक सुन्दर बाला इस संसार में और कोई नहीं है, अतः विद्वानों ने इसे सुन्दरियों में सर्वोत्तम कहा है। [१-४]

शुक्लध्यान, केवलज्ञान और प्रशम ऋद्धि आदि चमत्कारिक अद्भुत भाव जो इस संसार में विद्यमान हैं वे सब क्षान्ति की कृपा से और उसकी आराधना से अनेक सज्जन प्राणियों ने अनेक बार प्राप्त किये हैं, कर रहे हैं और करेंगे। इसीलिये क्षान्ति को अनेक आश्चर्यों का जन्म स्थान कहा गया है। [५-६]

जैसे रत्न मंजूषा होती है वैसे ही यह गुणरूपी रत्नों की मंजूषा है। दान, शील, तप, ज्ञान, कुल, रूप, पराक्रम, सत्य, शौच, सरलता, अलोभ, शक्ति, ऐश्वर्य आदि जितने भी श्रेष्ठ गुण इस लोक में हैं जो अमूल्य रत्न जैसे हैं, उन सब का आधार स्थान क्षान्ति ही है। क्षान्ति से रहित होने पर ये सारे गुण आश्रयहीन होकर शोभा-रहित हो जाते हैं। इसीलिये विद्वानों ने क्षान्ति को गुणरत्नों की मंजूषा कहा है। [६-१०]

क्षान्ति अर्थात् क्षमा ही महादान है, क्षान्ति ही महातप है, क्षान्ति ही महाज्ञान है और क्षान्ति ही महादम (इन्द्रिय दमन) है। क्षान्ति ही सर्वोत्तम शील है, क्षान्ति ही श्रेष्ठतम कुल है, क्षान्ति ही सर्वोच्च शक्ति है, क्षान्ति ही पराक्रम है, क्षान्ति ही सन्तोष है, क्षान्ति ही इन्द्रिय-निग्रह है, क्षान्ति ही महान शौच (पवित्रता) है, क्षान्ति ही महान दया है, क्षान्ति ही अद्वितीय रूप (सौन्दर्य) है, क्षान्ति ही सर्वश्रेष्ठ बल है, क्षान्ति ही सर्वोत्तम ऐश्वर्य है, और क्षान्ति को ही धैर्य कहते हैं। क्षान्ति ही परब्रह्म है, क्षान्ति को ही परम सत्य कहते हैं, क्षान्ति ही सचमुच में मुक्ति है, क्षान्ति ही सर्वार्थसाधिका है, क्षान्ति ही जगद्वन्द्या है, क्षान्ति ही जगत की हितकारिणी है, क्षान्ति ही जगत में ज्येष्ठ (महान्) है, क्षान्ति ही कल्याणदायिका है, क्षान्ति ही जगत्पूज्या है, क्षान्ति ही परम मंगल रूप है, क्षान्ति ही समस्त व्याधियों का हरण करने में श्रेष्ठतम औषध है और शत्रुओं का नाश करने वाली चतुरंगिणी सेना भी क्षान्ति ही है। अधिक क्या कहें! क्षान्ति में ही सब कुछ प्रतिष्ठित (समा जाता) है। इसीलिये उसे मुनियों के मन को भी आकर्षित करने वाली कहा गया है। इस प्रकार की रूपवती सुन्दरी को देखकर ऐसा कौनसा सचेतन प्राणी होगा जो उसको अपने हृदय में धारण नहीं करेगा? [११-१६]

क्षान्ति के साथ कुमार का पाणिग्रहण करवाने का संकेत

जिस प्राणी के हृदय में यह कन्या अपनी लीला से बस जाती है उसका भाग्य बदल जाता है और वह स्वयं इस कन्या के समान रूप-गुण वाला बन जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। ❀ अतः सब इच्छाओं को पूर्ण करने वाली इस कन्या को प्राप्त करने के लिये सम्यक् गुणाकांक्षी प्रत्येक प्राणी सर्वदा अपने हृदय से इसकी कामना क्यों नहीं करेगा ? [२०-२१]

ऐसा होने से अब आप समझ गये होंगे कि गुणों के उत्कर्ष के कारण यह सर्वांगसुन्दरा कन्या कुमार के मित्र वैश्वानर के प्रतिपक्ष (शत्रु, विरोधी) के रूप में बैठी है। वैश्वानर इस राजकन्या के दर्शन मात्र से भय-विह्वल होकर दूर भाग जायेगा। वैश्वानर समस्त दोषों की खान है तो यह कन्या समग्र गुणों का मन्दिर। यह पापी वैश्वानर साक्षात् जाज्वल्यमान अग्नि है तो क्षान्ति कुमारी हिम जैसी शीतल है। अतः इनका परस्पर विरोधभाव होने के कारण ये दोनों कभी एक साथ नहीं रह सकते। इसीलिये मैं कहता हूँ कि, हे राजन्! यदि तुम्हारा कुमार इस भाग्यशाली कन्या के साथ विवाह करे तो उस पापी मित्र के साथ उसकी मित्रता स्वतः ही समाप्त हो जायगी। [२२-२६]

कुमार और कन्या के सम्बन्ध का प्रयत्न

जिनमतज्ञ नैमित्तिक की विस्तृत बात सुनकर विदुर ने अपने मन में विचार किया कि अहो! इन्होंने जो बात कही उसका भावार्थ ऐसा लगता है कि चित्तसौन्दर्य में शुभ परिणामों की जो निष्प्रकम्पता (स्थिरता) है, उसी से जन्मी क्षान्ति (क्षमा) ही कुमार नन्दिवर्धन और उसके पापी-मित्र वैश्वानर की मित्रता को दूर करने में समर्थ हो सकती है। इस मैत्री को दूर करने का दूसरा कोई उपाय दिखाई नहीं देता। इन्होंने जो कुछ कहा वह युक्तियुक्त है। अथवा इसमें आश्चर्य की क्या बात है! क्योंकि जिनमत को जानने वाले कभी अयुक्त बोल ही नहीं सकते।

नैमित्तिक की बात सुनकर पद्म राजा ने अपने पास में बैठे मतिधन महामंत्री की ओर देखा। महामंत्री ने राजा की ओर देखकर शिर झुका कर नमन किया, तब राजा ने कहा—आर्य मतिधन! तुमने यह सब सुना ?

मतिधन—हाँ महाराज! मैंने सब वार्ता ध्यान पूर्वक सुनी है।

राजा—आर्य! देखिये, नंदिवर्धन कुमार में बडे लोगों के योग्य अनेक गुण हैं, पर वे सब उसके पापी-मित्र वैश्वानर की संगति से दोषयुक्त और फल रहित बन गये हैं। यह स्थिति मेरे लिए बहुत ही संतापदायक और उद्वेगकारक बन गई है। अतः हे आर्य! आप जाइये, अथवा आपके किसी वाक्पटु मुख्य सेवक को चित्तसौन्दर्य नगर भेजिये। उस देश में न मिल सकती हो ऐसी श्रेष्ठतम भेंट-वस्तुएँ एकत्रित कर उसे दीजिए, सम्बन्ध करने और बढ़ाने योग्य मधुर और विवेक पूर्ण वचन उसे अच्छी तरह से सिखाइये और उसके माध्यम से शुभपरिणाम महा-

❀ पृष्ठ १५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजा से उनकी पुत्री क्षान्ति कुमारी को हमारे कुमार के लिये मांगने का प्रबन्ध करिये।

मतिधन जैसी महाराज की आज्ञा।

मतिधन बाहर जाने का उपक्रम कर ही रहा था तभी जिनमतज्ञ नैमित्तिक ने कहा—महाराज! इस प्रकार जाने की आवश्यकता नहीं है। चित्तसौन्दर्य नगर में इस प्रकार नहीं जाया जा सकता।

पद्म राजा—ऐसा क्यों आर्य?

जिनमतज्ञ—नगर, राज, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि इस लोक की समस्त वस्तुएं दो प्रकार की होती हैं—* अन्तरंग और बहिरंग। इनमें से जो बहिरंग वस्तुएँ हैं उनमें आपका गमनागमन हो सकता है और आपका आदेश आदि व्यापार चल सकता है, परन्तु अन्तरंग वस्तुओं के सम्बन्ध में ऐसा नहीं हो सकता। मैंने जिस नगर, राजा, रानी और उनकी पुत्री का वर्णन किया है वे सभी अन्तरंग वस्तुएँ हैं, इसीलिये वहाँ आपका दूत नहीं पहुँच सकता।

राजा—आर्य! तब वहाँ जाने में कौन समर्थ है?

जिनमतज्ञ—महाराज! जो अन्तरंग राजा हो वही यह कार्य कर सकता है।

राजा—आर्य! वह राजा कौन है?

अन्तरंग और बहिरंग तन्त्र

जिनमतज्ञ—महाराज! उस अन्तरंग राजा का नाम कर्मपरिणाम है। उस कर्मपरिणाम राजा ने यह चित्तसौन्दर्य नगर शुभपरिणाम राजा को पारितोषिक में दिया है इसलिये शुभपरिणाम स्वयं कर्मपरिणाम के वशवर्ती रहता है।

राजा आर्य! क्या ये कर्मपरिणाम महाराजा मेरी प्रार्थना सुनेंगे?

जिनमतज्ञ—महाराज! यह कर्मपरिणाम राजा कभी किसी की प्रार्थना नहीं सुनता। अधिकांश में वह अपनी इच्छानुसार ही कार्य करता है। सत्पुरुष उसकी प्रार्थना करें इसकी वह अपेक्षा भी नहीं रखता। उसके समक्ष विवेकपूर्ण वचन कहने से भी वह कभी नहीं रीझता। अन्य प्राणियों के आग्रह से वह नहीं झुकता और किसी के दुःख को देखकर वह दया नहीं करता। उसे जब कुछ कार्य करने की इच्छा होती है तब वह अपनी बड़ी बहिन लोकस्थिति से परामर्श लेता है, अपनी स्त्री कालपरिणति के साथ वह उस कार्य के सम्बन्ध में विचार करता है और अपने मित्र स्वभाव के साथ इस सम्बन्ध में बात करता है। इसी नंदिवर्धन

* पृष्ठ १५१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुमार की समस्त जन्मों में स्त्रीरूप में साथ रहने वाली भवितव्यता का वह अनुगमन करता है, पर कभी-कभी अपनी प्रवृत्ति के सम्बन्ध में वह नंदिवर्धन कुमार की शक्ति से थोड़ासा डरता भी है। इस प्रकार यह कर्मपरिणाम महाराज इन अंतरंग लोगों को पूछ कर अपनी इच्छानुसार कार्य करते हैं। स्वेच्छानुसार कार्य करते समय बहिरंग तन्त्र के लोग कितना भी निवेदन करें, रुदन करें, तब भी उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। अधिक क्या ? उसके मन में जो आता है वह वही करता है। अतः उसकी प्रार्थना करना या उससे कुछ मांगना व्यर्थ है। जब उसको रुचिकर लगेगा तब वह स्वयं शुभपरिणाम राजा को कहकर उनकी पुत्री क्षान्ति को आपके कुमार को दिलवा देगा।

पद्म राजा—आर्य ! यदि ऐसा ही है तब तो हमारा बहुत दुर्भाग्य है। कर्मपरिणाम राजा के मन में यह काम करने की कब इच्छा होगी यह तो हम नहीं जानते और कुमार को उसके पापी-मित्र से जब तक दूर नहीं किया जायेगा तब तक उसके सभी गुण निष्फल रहेंगे। अतः इसके निराकरण की वर्तमान में तो कोई सम्भावना नहीं लगती। यह तो ऐसी बात हो गई कि हम इस समय जीवित होते हुए भी मृतक के समान हैं।

जिनमतज्ञ—महाराज ! इस विषय में शोक करना व्यर्थ है। जहाँ परिस्थिति ऐसी है कि अपना कुछ वश नहीं, वहाँ हम लोग क्या कर सकते हैं ?

जो कार्य होने योग्य हो उसमें यदि मनुष्य आलस्य करे तो वह धिक्कार योग्य है, पर जहाँ कार्य किसी भी प्रकार होने योग्य न हो उस विषय में वह अपराधी नहीं गिना जा सकता। [१]

नीति-शास्त्र में भी कहा है कि:—

जो व्यक्ति अपनी और विपक्ष की शक्ति तथा कमजोरी का विचार किए बिना अपने से न हो सकने वाले कार्य करने का प्रयास करते हैं वे विद्वानों के सम्मुख हँसी के पात्र बनते हैं। [२]

इस स्थिति को ध्यान में रखकर जैसा होना होगा वही होगा, ऐसा सोचकर इस समय चिन्ता का त्याग कर समय की प्रतीक्षा करना ही उचित है। [३] ❀

तुम्हारे मन को शान्ति मिले ऐसा दूसरा भी उपाय बताता हूँ। निरालम्बता धारण करिये, आप जैसे लोगों को दीनता दिखाना शोभा नहीं देता। [४]

पद्म राजा—आर्य ! आपने बहुत ठीक कहा। आपने जो अन्तिम बात कही है उससे मेरे मन को थोड़ी शान्ति प्राप्त हुई है। हमारे मन की शान्ति का अन्य क्या उपाय है ? वह कहिये।

❀ पृष्ठ १५२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनमतज्ञ—महाराज ! कुमार का पुण्योदय नामक एक मित्र है वह अपना रूप छिपा कर रहता है। यह पुण्योदय मित्र जब तक कुमार के निकट रहेगा तब तक उसका पापी-मित्र वैश्वानर कुमार से कितने भी अनर्थ करवाये वह उन सब को कुमार के लाभ का कारण बना देगा। यह बात सुनकर मेरे पिता को कुछ शान्ति मिली।

सभा-विसर्जन : विदुर को निर्देश

इस समय जब सूर्य आकाश के मध्य में आया तब शहनाई और नौबत बजने लगी, अन्त में शंख ध्वनि हुई। समय बताने वाले काल-निवेदक ने कहा—

इस संसार में तेज की वृद्धि क्रोध से नहीं होती, पर मध्यस्थ भाव से होती है, ऐसा बताते हुए सूर्य मध्यस्थता (मध्याह्न काल) को प्राप्त हुआ है।

यह सुनकर मेरे पिता पद्म राजा ने कहा- अरे ! मध्याह्न काल हो गया है ! अतः अब अपने को उठना चाहिये। ऐसा कहकर राजा ने कलाचार्य और नैमित्तिक की पूजा की और उन्हें सम्मान पूर्वक विदा किया तथा सभा विसर्जित की। नैमित्तिक के वचनों से मेरे पिता को अब पता लग गया था कि मुझे सुधारना अशक्य अनुष्ठान है तभी पुत्र-स्नेह से उन्होंने विदुर को आज्ञा दी—'उस पापी-मित्र की संगति से कुमार किसी भी प्रकार दूर रह सकेगा या नहीं, इस विषय में तुम कुमार के अभिप्राय की परीक्षा करते रहना।' 'जैसी महाराज की आज्ञा' कहकर विदुर वहाँ से निकला। मेरे पिता भी सभा मण्डप छोड़कर महल में गये और अपने दैनिक कार्य में लग गये।

दूसरे दिन विदुर मेरे पास आया। उसने मुझे प्रणाम किया और मेरे पास बैठा। मैंने पूछा—विदुर ! क्या कल तुम नहीं आये थे ? विदुर ने अपने मन में विचार किया कि, अरे ! महाराज ने मुझे आज्ञा दी है कि कुमार के अभिप्राय की बराबर परीक्षा करूं और उस पर दृष्टि रखूं। उन जिनमतज्ञ नैमित्तिक से दुर्जन की संगति के कितने भयकर परिणाम होते हैं उस पर कल मैंने जो वार्ता सुनी है, उसे ही कुमार को कह सुनाता हूँ, जिससे यह पता लग सके कि उसके मन में कैसे भाव हैं। ऐसा विचार कर विदुर ने कहा कुमार ! कल कुछ जानने समझने योग्य बात हो गई थी।

नन्दिवर्धन—ऐसी क्या बात हुई ?

विदुर—एक उत्तम कथा सुनी थी।

नन्दिवर्धन—वह कथा कैसी थी ? वह सुनाओ।

विदुर—मैं वह कथा सुनाता हूँ, पर आपको वह ध्यान पूर्वक सुननी पड़ेगी।

नन्दिवर्धन—मैं ध्यान पूर्वक सुनूंगा, कहो।

विदुर ने निम्न कथा सुनाई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. स्पर्शन कथानक

मनीषी और बाल

इस मनुजगति ❀ नामक नगरी (देश) के भरत नामक मोहल्ले (प्रदेश) में क्षितिप्रतिष्ठित नामक नगर है। इस नगर पर अचिंत्य शक्ति सम्पन्न कर्मविलास नामक राजा का राज्य है। उसके दो रानियाँ हैं एक शुभसुन्दरी और दूसरी अकुशलमाला। शुभसुन्दरी से जो पुत्र हुआ उसका नाम मनीषी रखा गया और अकुशलमाला से जो पुत्र हुआ उसका नाम बाल रखा गया। मनीषी और बाल बढते हुए, अपनी इच्छानुसार वन-प्रांतर में विविध प्रकार की क्रीडा रस का आनन्दानुभव करते हुए क्रमशः कुमारावस्था को प्राप्त हुये। एक बार वे स्वदेह नामक उद्यान में विचरण कर रहे थे कि उन्होंने अपने पास किसी पुरुष को देखा। अभी दोनों कुमार उस पुरुष को देख ही रहे थे कि वह एक तदुच्छय (उन्नत) वल्मीक के ढेर पर चढ गया। उसके पास ही एक मूर्छ नामक वृक्ष था, जिसकी शाखा पर रस्सी बाँध कर, उसके एक सिरे पर फांसी का फन्दा लगाकर, अपने गले को उसमें फंसाकर नीचे लटक गया। अरे! ऐसा दुस्साहस मत करो! दुस्साहस मत करो! दुस्साहस मत करो!! कहते हुये दोनों कुमार दौड़ते हुए उसके पास आये। बाल ने रस्सी काट दी जिससे वह पुरुष जमीन पर गिर गया। उस समय उसकी दोनों आँखें ऊपर चढ़ी हुई थीं और वह मूर्च्छित था। दोनों कुमार उसके शरीर पर हवा करने लगे और उस पुरुष में चेतना आने लगी। मूर्च्छा दूर होने पर वह आँखे खोलकर चारों ओर देखने लगा, तब उसने अपने सामने दोनों कुमारों को देखा। उस समय कुमारों ने उससे पूछा—नीच पुरुषों की तरह गले में फांसी लगाकर आत्महत्या करने का यह अधम कार्य तुमने क्यों किया? तुम्हारे इतने पतित विचारों का कारण क्या है? यदि तुम्हें बताने में कोई आपत्ति न हो तो हमें बताओ। उस पुरुष ने दीर्घ निश्वास लेते हुए कहा— मेरी कथा में कुछ रस नहीं है, अतः उसे छोड़िये। मेरी आत्मोत्पीडन की अग्नि को शान्त करने के लिये मैं फांसी लगाकर मरना चाहता था, आपने मुझे रोक कर किंचित् भी अच्छा नहीं किया, कृपाकर अब आप मुझे अपना कार्य करने दें, उसमें बाधक न बनें। ऐसा कहकर वह पुरुष फिर वृक्ष से बंधी रस्सी से अपने को लटकाने लगा। बाल ने फिर उसे रोका और कहा—भाई! हमारे आग्रह से तू अपनी कथा हमें सुना दे। फिर भी यदि हम तेरे दुःख-शमन करने का कोई उपाय न कर सके तो तेरी जैसी इच्छा हो वैसा करना। पुरुष ने कहा यदि आपका इतना ही आग्रह है तो सुनिये—

❀ पृष्ठ १५३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवजन्तु की अन्तर-कथा : स्पर्शन का संग और मुक्ति

मेरा एक भवजन्तु नामक मित्र था और उससे मेरी मित्रता ऐसी थी जैसे कि वह मेरा दूसरा शरीर हो, मेरा सर्वस्व, मेरा प्राण और मेरा हृदय ही हो। उसका मुझ पर इतना स्नेह था कि वह एक क्षण के लिये भी मेरा वियोग नहीं सह सकता था। वह सदैव मेरा लालन-पालन करता और छोटी से छोटी बात में भी मुझे पूछ कर कार्य करता। मुझे बार-बार पूछता, भाई स्पर्शन ! तुझे क्या प्रिय है ? तेरी क्या इच्छा है ? आदि। उसके उत्तर में मैं जिस वस्तु के लिये कहता, वह मेरे लिये वह वस्तु ले आता, उसका मुझ पर इतना स्नेह था। जो मेरी इच्छा के प्रतिकूल हो या मुझे अप्रिय लगे वैसा कोई कार्य मेरा मित्र कभी नहीं करता था। एक दिन मेरे दुर्भाग्य से मेरे उस मित्र ने सदागम नामक पुरुष को देखा। मन में पूज्य भाव लाकर मेरे मित्र भवजन्तु ने सदागम से एकान्त में बातचीत की, उस समय उसे ऐसा लगा कि जैसे वह आनन्द की प्राप्ति कर रहा हो। * उसके पश्चात् भवजन्तु की मुझ पर प्रीति कम होने लगी। पहिले वह मेरा जिस तरह पालन-पोषण करता था, जिस तरह मेरे साथ एकात्म था उसमें कमी आने लगी। मेरे कथनानुसार उसने कार्य करना बन्द कर दिया। बात इतनी बढी कि वह मेरे सुख-दुःख की बात भी न पूछता और उल्टा मुझे शत्रु समझने लगा। मेरे अपराध ढूँढने लगा और मेरी इच्छा के प्रतिकूल आचरण करने लगा। तब मुझे विचार आया कि अरे ! यह क्या हो गया ? मैंने इसका कुछ अपकार्य तो किया नहीं, फिर मेरा मित्र असमय में ही ऐसा क्यों हो गया ! मानो छद्मी का बदला हुआ हो अर्थात् जन्म से ही मेरा शत्रु हो। अरे ! मैं कैसा दुर्भागी हूँ ? मेरे तो भाग्य ही फूट गये। मानो मुझ पर कोई वज्र गिरा हो, मानो किसी ने मुझे पीस कर चकनाचूर कर दिया हो, मानो मेरा सर्वस्व हरण हो गया हो, इन्हीं विचारों में मैं कलपता रहा। इस प्रकार मैं शोक की प्रतिमूर्ति बन गया और मुझे असह्य दुःख होने लगा। गहन विचार करते हुए मुझे लगा कि मेरे मित्र में सदागम से एकान्त में बात करने के पश्चात् ही ऐसा परिवर्तन आया है। अतः निश्चय ही इस पापी सदागम ने मेरे परम मित्र को ठगा है। अरे रे ! यह तो अब भी मेरे बार-बार समझाने पर भी, रोने धोने पर भी मेरी बात नहीं सुनता, बल्कि मेरे हृदय को चोरता हुआ मेरा मित्र बराबर सदागम से एकान्त में बातें करता रहता है। जैसे-जैसे मेरा मित्र भवजन्तु सदागम से अधिकाधिक बातचीत करता है, मुझे लगता है, वैसे-वैसे उसे उसकी बात अधिक रुचिकर लगती है और वह मेरे प्रति अधिकाधिक निर्लिप्त होता जा रहा है। मेरे प्रति मेरे मित्र की निर्लिप्तता जैसे-जैसे बढती जाती वैसे-वैसे मेरा दुःख बढता जाता।

एक दिन तो मेरे मित्र भवजन्तु ने सदागम के साथ एकान्त में पर्यालोचन करते हुए मेरे साथ के सब सम्बन्ध पूर्णरूप से तोड दिये, मुझे मन से भी निकाल

* पृष्ठ १५४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिया। मेरे कहने से उसने पहले कोमल रुई का गद्दा, तकिया, शय्या ले रखे थे किन्तु अब मुझे जो कुछ अधिक प्रिय था उन सब का उसने त्याग कर दिया। हंस की पांखों से भरे आसनों को छोड़ दिया। कोमल उत्तरीय वस्त्र, रेशमी वस्त्र कम्बल, चीनांशुक और लम्बे वस्त्र आदि सब का त्याग कर दिया। सर्दी और गर्मी की ऋतु में कस्तूरी, गोचंदन आदि के लेप जो मुझे बहुत प्रिय थे, उनका भी उसने त्याग कर दिया। कोमल शरीरलता से आनन्द और आह्लाद प्रदान करने वाली और मुझे अत्यधिक प्रिय स्त्रियों का तो उसने सर्वथा त्याग कर दिया। बात यहाँ तक बढी कि वह भवजन्तु सिर के बालों का लुंचन करता, कठिन धरती पर सोता, शरीर पर मेल चढ़ने देता, फटे हुए वस्त्र पहिनता, स्त्री के अंगों का स्पर्श भी नहीं करता। भूल से यदि कभी स्त्री का कोई अंग भी छू जाय तो उसका प्रायश्चित्त करता। अत्यधिक सर्दी वाले माघ के महीने की ठण्ड सहन करता। जेठ-आषाढ की गर्मियों में धूप की आतापना सहता। मेरे घोर शत्रु की भांति जो बात मुझे अच्छी न लगे, उसका वह अवश्य आचरण करता।

उसका यह रूप देखकर मैंने विचार किया कि भवजन्तु ने तो मेरा सर्वथा त्याग कर दिया है और वह मुझे अपना शत्रु समझता है। परन्तु, बड़े लोगों का कहना है कि प्रेमी लोग मृत्यु पर्यन्त स्नेह का त्याग नहीं करते। यद्यपि भवजन्तु इस ❀ पापी-मित्र सदागम की छलना में आकर मुझे दुःख दे रहा है तब भी ऐसे असमय में मुझे उसका त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि अभी वह भोला है। बहुत समय तक वह मुझ से एकात्म होकर प्रेम करता रहा है और मुझे अभीष्ट लगे ऐसे प्रिय कार्य करता रहा है। अभी सदागम की संगति से उसमें विपरीत भाव पैदा हो गये हैं। थोड़े समय पश्चात् सदागम चला जायेगा या उसकी संगति छूट जायेगी तब मेरा मित्र अवश्य ही अपनी पूर्व-स्थिति में आ जायेगा और पूर्ववत् मेरे प्रति स्नेह भाव रखेगा। भवजन्तु द्वारा बहिष्कृत होने पर भी, ऐसे विचारों से अभिभूत होकर कि 'मेरे मित्र का सदागम की संगति से पीछा छूट जाएगा' मैं इसी प्रतीक्षा में झूठी आशा से बंधा, मित्र-विरह के दुःख से दुःखी, कुछ समय तो इस शरीर रूपी महल में रहा। एक दिन सदागम की बात मानकर उसने मेरा प्रत्यक्षतः स्पष्ट रूप से तिरस्कार कर दिया। उसने मुझे धक्के देकर अपने शरीर से बाहर निकाल दिया। मेरा मित्र परमाधामी नारकी जैसा दयारहित होकर, मेरे गिडगिडाने की उपेक्षा कर, मेरा तिरस्कार करते हुए मुझ पर क्रोधित होकर कहने लगा – 'जहाँ तू अपनी आँखों से मुझे न देख सके, मैं ऐसे स्थान पर जा रहा हूँ' ऐसा कहकर वह वहाँ से कहीं चला गया। अभी मुझे पता लगा है कि मेरा वह मित्र भवजन्तु तो निर्वृत्ति नगर में पहुँच गया है, जहाँ मेरा जाना असम्भव है। अतः मैंने सोचा कि अपने मित्र से तिरस्कृत, बकरी के गले में लटके आँचल की भांति मित्ररहित व्यर्थ जीवन जीने से क्या लाभ ? ऐसा सोचकर मैंने अपने गले में फांसी लगाई।

❀ पृष्ठ १५५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाल का स्पर्शन पर स्नेह

स्पर्शन की उपर्युक्त बात सुनकर बाल ने कहा—बहुत अच्छा, स्पर्शन ! भाई, तूने तो बहुत ही अच्छा किया। तुम्हारा व्यवहार तो उचित ही प्रतीत होता है। अपने प्रिय मित्र से तिरस्कार मिले, यह तो असहनीय है। मित्र के विरह से जो पीडा होती है वह अन्य किसी उपाय से नहीं मिट सकती। लोग कहते हैं कि:—

क्षमाशील पुरुष भी तिरस्कार को सहज भाव से सहन करें यह अशक्य है। सोने से अलग होकर पत्थर भी राख हो जाता है। [१]

प्रतिष्ठित मनुष्य मित्र के विरह में जीवित नहीं रहते। यदि जीवित रहते हैं तो वह उनके योग्य भी नहीं है। जैसे सूर्य अस्त होने पर दिन भी उसके साथ ही विदा हो जाता है। [२]

अहो ! तेरा मित्र-प्रेम, दृढ़-स्नेह, कृतज्ञता, साहस, सत्यभाव वास्तव में श्लाघनीय है। दूसरी ओर भवजन्तु की क्षण में आसक्ति और क्षण में विरक्ति विचित्र है अहो ! उसकी कृतघ्नता, मूढता, घातकी-हृदय, अनार्य-क्रिया और प्रवृत्ति सब अद्‌भुत लगते हैं। हे भद्र ! ऐसा होने पर भी अब मैं तुझे एक बात कहता हूँ, तू सुन।

स्पर्शन—आर्य ! आप किसी भी प्रकार के संकल्प-विकल्पों से रहित हो कर जो कुछ कहना चाहते हों, कहिये।

बाल बोला—कैसे ही प्रतिकूल प्रसंगों में भी पीछे न हटने वाले, मित्रता के वास्तविक अभिमान को रखने वाले और स्नेह के लिये प्राणों को झोंकने वाले तेरे जैसे प्रेमी मनुष्य को जो करना चाहिये वही तूने किया है। [१]

परन्तु, अब मुझ पर कृपा कर तुझे अपने प्राण रखने पड़ेंगे। मैं तुझे आत्म-हत्या तो नहीं करने दूँगा, अन्यथा मेरी भी तेरे जैसी ही गति होगी। तेरी ऐसी स्वाभाविक मित्र-वत्सलता से मैं प्रसन्न हुआ हूँ। सत्पुरुष दाक्षिण्यता के सागर होते हैं। अमुक मनुष्य अच्छा है या नहीं ❀ यह उसके सत्कार्यों से ही जाना जाता है। अत: मैं तुझे जो कह रहा हूँ उस पर किसी भी प्रकार की ऊहापोह किये बिना ही तुझे वह करना चाहिये, ऐसी मेरी प्रार्थना है। यह बात ठीक है कि किसी को आम खाने की इच्छा हो तो वह इमली से पूरी नहीं होती। फिर भी मुझ पर कृपा कर, भवजन्तु के विरह का जो तुझे दु:ख हुआ है उसके प्रतीकार के रूप में मेरे साथ सम्बन्ध स्थापित कर, उसकी पूर्ति तू मुझ से कर सकता है।

स्पर्शन—बहुत अच्छा आर्य ! आप पर किसी प्रकार का उपकार न करने वाले मुझ जैसे व्यक्ति पर भी वात्सल्य लाने वाले आपने अति स्नेह-सिंचित वचनामृत से मेरे प्राणों को बचाया है। आप जैसे महान् प्राणी से मैं अब अधिक क्या

❀ पृष्ठ १५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहू ? अभी तक मेरे मन में जो शोक-संताप हो रहा था वह अभी तो नष्ट हो गया है, आपने अभी तो मेरे भूतपूर्व मित्र भवजन्तु को भुला दिया है। आपके दर्शन से मेरी आँखे शीतल, मेरा चित्त आनन्दित और मेरा शरीर शान्त हो गया है। अधिक क्या ! अब तो मैं ऐसा समझता हूँ कि आप स्वयं ही मेरे मित्र वही भवजन्तु हैं।

उसी समय से स्पर्शन और बाल का स्नेह अधिकाधिक प्रगाढता को प्राप्त करने लगा।

मनीषी की विचारणा

मनीषी जो उस समय वहाँ उपस्थित था सोचने लगा कि जो व्यक्ति बहुत विचार पूर्वक काम करता है, वह अपने अनुरक्त, प्रेमी, निर्दोष मित्र का त्याग कभी नहीं कर सकता। फिर सदागम भी दोष-रहित प्रेमी का त्याग करने का परामर्श कभी नहीं दे सकता। मैंने ऐसा सुना है कि सदागम जो कुछ बोलता है या आचरण करता है, वह पूरी तरह सोच समझ कर करता है। अतः इस घटना के पीछे कोई गहरा कारण होना चाहिये। स्वयं मुझे तो यह स्पर्शन कोई अच्छा व्यक्ति नहीं लगता। बाल ने इसके साथ मित्रता बढाई यह मेरे विचार से ठीक नहीं हुआ। इस प्रकार वह अपने मन में सोच रहा था तभी स्पर्शन ने उसके साथ भी बात करना प्रारम्भ किया। मनीषी ने भी लोक-व्यवहार को निभाने के लिये उससे बात की और स्पर्शन के साथ लोक-दिखाऊ मित्रता स्थापित की।

स्पर्शन के सम्बन्ध पर राजा के विचार

फिर बाल, स्पर्शन और मनीषी तीनों नगर की ओर लौटे। सभी ने राजभवन में प्रवेश किया। उन्होंने कर्मविलास राजा को कालपरिणति रानी के साथ राज्य सभा में बैठा देखा। राजकुमारों ने अपने माता-पिता को नमस्कार किया। माता-पिता ने उन्हें आशीर्वाद दिया और बैठने को आसन दिया, पर वे आसन पर न बैठकर जमीन पर बैठ गये। उन्होंने अपने पिता से स्पर्शन का परिचय कराया और जंगल में जो घटना हुई थी वह कह सुनायी। साथ ही यह भी कहा कि हम दोनों ने इस स्पर्शन के साथ मैत्री भाव स्थापित किया है। घटना सुनकर कर्मविलास महाराजा बहुत प्रसन्न हुए और मन में सोचने लगे कि इस स्पर्शन को मैंने पहले भी कई बार देखा है। जैसे अपथ्य-सेवन से व्याधि बढती है, अर्थात् संसार कर्म-व्याधि को बढाने वाला है वैसा ही यह है। दोनों राजकुमारों के साथ इसकी मित्रता हुई, यह ठीक ही हुआ। मेरी तो अनादि काल से ऐसी प्रकृति हो गई है कि जो प्राणी स्पर्शन के अनुकूल रहता है उसके साथ मैं प्रतिकूल रहता हूँ और जो इस पर किसी प्रकार का स्नेह न रख कर इसके प्रतिकूल रहता है उसके साथ मैं अनुकूल रहता हूँ। जो इसका सर्वथा त्याग करता है उसे तो मुझे भी छोड़ देना पड़ता है। अब मुझे गहराई से देखना है कि ये कुमार इसके साथ कैसा आचरण करते हैं ? फिर मुझे जैसा योग्य लगेगा वैसा करूँगा। इस प्रकार सोचकर कर्मविलास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने कहा –बच्चों ! यह स्पर्शन प्राण-त्याग कर रहा था तब तुमने इसे बचाया यह बहुत अच्छा किया * और इसके साथ मैत्री स्थापित कर अत्यधिक प्रशस्त कार्य किया। तुम्हारा और स्पर्शन का सम्बन्ध खीर और शक्कर जैसा है।

रानी अकुशलमाला के विचार

बाल की माता अकुशलमाला ने सोचा कि, अहो ! बाल का स्पर्शन के साथ जो सम्बन्ध हुआ है वह बहुत अच्छा हुआ। मैं वास्तव में भाग्यशाली हूँ। मेरे पुत्र की इस नवीन मित्रता से मेरा भी गुणानुरूप यथार्थ नाम होगा। जो लोग स्पर्शन के अनुकूल रहते हैं वे मुझे बहुत प्रिय लगते हैं, वे ही मेरा पालन-पोषण करते हैं और वे ही मेरा स्नेह प्राप्त कर सुख का अनुभव कर सकते हैं, अन्य लोग नहीं। मैंने पहले भी इसी प्रकार की परिस्थिति कई बार देखी है। मेरे पुत्र की आकृति (मनोभाव) देखकर ऐसा लगता है कि उसे स्पर्शन से बहुत रागात्मकता हो गई है। (भविष्य में भी वे दोनों परस्पर अनुकूल बर्ताव करेंगे, ऐसी सम्भावना है।) अगर ऐसा हुआ तो मेरे मन की सभी इच्छाएँ पूर्ण होंगी। इस प्रकार मन में सोचते हुए अकुशलमाला ने बाल से कहा––बेटे बाल ! तू ने बहुत अच्छा किया। तेरे मित्र के साथ तेरा वियोग न हो यही शुभाशीष है।

रानी शुभसुन्दरी की प्रतिक्रिया

मनीषी की माता शुभसुन्दरी ने सोचा कि मेरे पुत्र का ऐसे पापी-मित्र के साथ सम्बन्ध हुआ यह किंचित् भी उचित नहीं हुआ। यह स्पर्शन वास्तव में मित्र नहीं शत्रु है। यह अनेक अनर्थकारी परम्पराओं का कारण है और मेरा तो स्वभाव से ही शत्रु है। पहले भी इसने मुझे अनेक बार अनेक प्रकार से कष्ट पहुँचाया है। अतः इसके साथ हमारा किसी प्रकार मिलाप सम्भव नहीं है। मेरे पुत्र की मुखाकृति से और आँखों की विरक्तता से तो ऐसा लगता है कि उसका इस नये मित्र पर विरक्ति भाव ही है। इस स्थिति को जानकर मेरे मन में कुछ शान्ति है। अतएव मुझे तो ऐसा लगता है कि यह पापी मेरे पुत्र पर अपनी शक्ति का प्रयोग करने में सफल नहीं हो सकेगा। फिर भी भविष्य के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि यह पापी दुरात्मा स्पर्शन बहुत दुष्ट है। ऐसे अनेक विकल्प शुभसुन्दरी के मन में उत्पन्न होने लगे जिससे उसे कुछ व्याकुलता भी हुई, किन्तु वह गम्भीर स्वभाव वाली होने से मौन धारण कर बैठी रही।

इस समय मध्याह्न हो जाने से सभा विसर्जित हुई और सभी अपने-अपने स्थानों पर चले गये।

❀

---

* पृष्ठ १५७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. स्पर्शन-मूल-शुद्धि

उस दिन से बाल का स्पर्शन के साथ स्नेह सम्बन्ध बढ़ने लगा। मनीषी तो आश्चर्य चकित होकर सब कुछ देखता रहता है, पर वह स्पर्शन का किसी प्रकार विश्वास नहीं करता। स्पर्शन भी दोनों राजकुमारों के पास ही रहता, पूरे समय वह अन्दर-बाहर उनके आगे-पीछे लगा रहता, दोनों राजकुमारों के साथ विविध स्थानों पर घूमता रहता और अनेक प्रकार की क्रीडाएँ करता रहता।

मनीषी के विचार : निर्णय

एक समय मनीषी ने अपने मन में विचार किया कि स्पर्शन के प्रसंग से भी जब चित्त स्थिर नहीं रहता तब फिर इसके साथ विचरण करने वाले का मन भटके और सुख प्राप्त न हो तो क्या आश्चर्य ? इसका वास्तविक रूप क्या है ? कैसा है ? यह भी अभी तक समझ में नहीं आया। जब तक इस विषय का रहस्य समझ में नहीं आता तब तक इसका भी निर्णय नहीं हो सकता कि इसके साथ परिचय बढाया जाय अथवा नहीं ? अतः अभी तो यह आवश्यक है कि इसका वास्तविक मूल कहाँ है ? इसका पता लगाया जाय और इसके सम्बन्ध में समग्र वास्तविकता की छान-बीन की जाय। उसके पश्चात् जैसा उचित हो वैसा आचरण किया जाय। ऐसा मनीषी ने निर्णय किया।

बोध को जांच के आदेश : प्रभाव की नियुक्ति

मनीषी ने स्पर्शन के बारे में पता लगाने के लिये अपने बोध नामक अंग-रक्षक को एकांत में बुलाकर कहा—भद्र ! मुझे इस स्पर्शन पर अत्यन्त अविश्वास है, अतः तुम इस बात का पता लगाओ कि यह कौन है ? कहाँ से आया है ? इसके सम्बन्धी कौन हैं ? आदि बातों से मुझे सूचित करो। बोध ने कहा—'जैसी राजकुमार की आज्ञा' और वह वहाँ से निकल पड़ा। * बोध के पास प्रभाव नामक एक योग्य व्यक्ति था जो दूत का कार्य कर सकता था। प्रभाव ने देश-विदेश की अनेक भाषाओं का अध्ययन किया था। अनेक प्रकार के वेष धारण करने में वह कुशल था। अपने स्वामी का कार्य करने के लिये मन-प्राण से जुट जाने वाला था। अपने काम को बराबर समझने वाला और किसी की पकड़ में न आने वाला एक चतर व्यक्ति था। बोध ने प्रभाव को अपने पास बुलाया और उसे स्पर्शन के बारे में सब पता लगाने को कहा। फिर प्रभाव ने स्पर्शन का पता लगाने के लिये अनेक देशों में कुछ समय तक घूमकर कई बातों की सूचना एकत्रित की। एक दिन वह वापस बोध के पास आया और प्रणाम कर भूमि पर बैठ गया। बोध ने भी यथोचित सत्कार कर

---

* पृष्ठ १५८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा कि, भद्र ! तुमने स्पर्शन के सम्बन्ध में क्या जानकारी प्राप्त की है ? बताओ। बोध का आदेश प्राप्त कर प्रभाव ने कहा 'जैसी देव की आज्ञा' ऐसा कहकर वह अपनी जानकारी देने लगा—

राजसचित्त नगर : रागकेसरी राजा

मैं यहाँ से निकल कर अलग-अलग बहिरंग (बाह्य) प्रदेशों में गया, पर वहाँ तो मुझे स्पर्शन की मूल प्रवृत्ति के बारे में कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं हुई। फिर मैं अन्तरंग प्रदेश में गया। वहाँ मैंने राजसचित्त नामक नगर देखा। वह नगर जंगली भील लोगों की पल्ली (बस्ती) जैसा दिखाई देता था। उसमें चारों तरफ काम आदि चोर लोग भरे हुए थे। वह पापी लोगों का निवास स्थान, मिथ्याभिमानियों की खान और अकल्याण की परम्परा का साधक था। वह चारों तरफ अन्धकार से घिरा हुआ था और वहाँ प्रकाश की एक किरण भी नहीं थी। इस नगर में रागकेसरी नामक राजा राज्य करता था जो सभी दुष्ट लोगों का सरदार, सब पापजन्य प्रवृत्तियों का कारण, सन्मार्गरूपी पर्वतों के लिये वज्रपात जैसा, इन्द्रादिकों के लिये भी दुर्जेय और अतुलबलशाली था।

विषयाभिलाष मन्त्री

इस रागकेसरी राजा के विषयाभिलाष नामक मुख्य मन्त्री था। वह राजा के सब कार्यों में पूर्ण सहायक था। सब स्थानों पर उसकी आज्ञा अप्रतिहत होती थी। सम्पूर्ण संसार को अपने वश में करने में वह निपुण था। प्राणियों को मोह में लिप्त करने का उसे विशेष अभ्यास था। पाप-अनीति का कोई कार्य करना हो तो उसे करने में वह चालाक और कुशल था। स्वयं किसी भी कार्य के करने में दूसरों के उपदेश की अपेक्षा नहीं रखता था। अतः राजा ने राज्य का सम्पूर्ण कार्यभार उसे सौंप दिया था।

राजसचित्त में कोलाहल

भ्रमण करता हुआ मैं राजसचित्त नगर के महलों के मध्य चौक में पहुँच गया। उस समय अचानक ही वहाँ बड़ा कोलाहल हो रहा था। उस कोलाहल के साथ ही मिथ्याभिनिवेश आदि कई रथ बाहर निकलते हुए मुझे दिखाई दिये। रथों के आगे भाट लोग योद्धाओं की प्रशंसा में उनके शौर्य का वर्णन कर रहे थे। उन रथों में लौल्य (लोलुप) आदि अनेक राजा बैठे थे। आगे देखा तो अपनी चिंघाड से दिशाओं को गुंजाते हुए ममत्व आदि हाथी राजमार्ग पर निकल रहे थे। दूसरी ओर अज्ञान आदि घोड़े अपनी हिनहिनाहट से दिशाओं को बधिर करते हुए चल रहे थे। उनके आगे चापल्य आदि असंख्य पैदल योद्धा हाथों में नाना प्रकार के शस्त्र लिये दौड़ रहे थे। उस समय कामदेव के प्रयाण को सूचित करते हुए ढोल और तासों के शब्द सुनाई देने लगे। क्षणमात्र में ही मानों झंझावात से प्रेरित बादल घुमड़ आये हों, वैसे ही विलास रूपी ध्वजाओं से व्याप्त और विब्बोक रूपी शंख एवं रणभेरियों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्वनियों से चारों दिशाओं को गुंजायमान करते हुए अपरिमित संख्या में सैनिक एकत्रित होने लगे।

विपाक से वार्ता

उपर्युक्त चतुरंगिणी सेना को देखकर मैंने सोचा कि, अरे! यह सब क्या है? क्या कोई बड़ा राजा विचरण के लिए बाहर निकला है? यदि वह राजा है तो इस प्रकार सेना को साथ लेकर घूमने निकलने का क्या प्रयोजन है?* इस प्रकार मैं वितर्कों में झूल रहा था, उसी समय विषयाभिलाष मंत्री के सम्बन्धी विपाक को मैंने देखा। वह बहुत दारुण, अपने स्वरूप से संसार की विचित्रता बताने वाला, ज्ञानी मनुष्यों को भी उपदेश देने वाला, विवेकी प्राणियों में वैराग्य उत्पन्न करने वाला और अविवेकी प्राणियों के लिये पहेली के रूप में प्रतीत होता था। मैंने उस के साथ मीठी-चूँठी बातें करते हुए उससे पूछा—भाई! यह राजा अभी जो प्रयाण कर रहा है उसका क्या प्रयोजन है? मुझे जानने की उत्सुकता है, यदि आप जानते हों तो बतायें। विपाक बोला—आर्य! तुम्हें प्रयोजन जानने का कौतूहल है तो मैं बताता हूँ, सुनो :—

एक बार सुगृहीतनामधेय रागकेसरी राजा ने अपने मंत्री विषयाभिलाष को बुलाकर कहा—'आर्य! अब तो तुम कुछ ऐसा करो कि सम्पूर्ण जगत मेरे वश में हो जाय।' मन्त्री ने राजाज्ञा को शिरोधार्य किया। राजा का यह कार्य करने में कौन समर्थ है इस पर पूर्णरूपेण विचार कर मन्त्री ने मन में सोचा कि राजा का ऐसा कठिन कार्य करने में अत्यन्त चतुर मेरे स्पर्शन आदि पाँच विशेष पुरुषों के अतिरिक्त जिन पर मुझे पूरा विश्वास है, अन्य कोई समर्थ नहीं हो सकता। ये अपने अचिन्त्य पराक्रम से निपुणता के साथ इस कार्य को सम्पन्न कर देंगे। अतएव इस सम्बन्ध में मुझे चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार सोचकर मन्त्री ने स्पर्शन आदि अपने पाँच मुख्य पुरुषों को अपने पास बुलाया। ये पाँचों पुरुष मन्त्री के अत्यधिक विश्वासपात्र, अनुरागी और समर्थक थे। उन्होंने पहले भी कई जगह अपना पराक्रम बताया था। बहुत समय तक मन्त्री के सच्चे सेवकों के समान उसकी विजय-पताका को फहराया था। मनुष्य के हृदय को अपने प्रति आकर्षित करने में वे कुशल थे। शूरवीरों को निर्देश देने वाले, चंचल प्राणियों में अग्रगामी, अन्य प्राणियों को ठगने की कला में पारंगत, साहसिकों में अन्तिम श्वांस तक भी पीछे न रहने वाले और बहुत कठिनाई से वश में आ सके ऐसे दुर्दान्त प्राणियों में उदाहरण रूप थे। अपने ऐसे क्रूर स्पर्शन आदि मुख्य पाँचों पुरुषों को मन्त्री ने इस जगत को वश में करने का कार्य सौंपा।

सन्तोष और स्पर्शन का सम्बन्ध

विपाक से इतनी बात सुनकर मैंने अपने मन में सोचा कि, 'अरे! बात तो मिल रही है। इससे स्पर्शन का मूल भी समझ मे आ रहा है।' विपाक ने अपनी

* पृष्ठ १५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बात आगे चलाई—उसके बाद से ही इस विस्तृत जगत में ये पाँचों पुरुष घूम रहे हैं और इन्होंने सम्पूर्ण जगत को अपने वश में कर लिया है। इन्होंने रागकेसरी राजा को भी अपने वश में कर लिया है। संसार के सब लोगों से ये इस प्रकार काम लेते हैं जैसे सब उनके सेवक हों! परन्तु सुना है, धान्य समूह पर उपद्रव करने वाली ईतियों के समान उनके काम काज को ठप्प करने वाला उपद्रवकारी संतोष नामक एक चोर पुरुष उत्पन्न हुआ है। यह सन्तोष उनका सामना कर, उन्हें हराकर, कई लोगों को रागकेसरी राजा की सीमा से बाहर निकालकर निर्वृत्ति नगर में ले गया है।

विपाक की बात सुनकर मैंने सोचा कि हमारे सम्मुख बाल और मनीषी को स्पर्शन ने जो बात कही थी, उसमें तो भवजन्तु को सदागम द्वारा मोक्ष में ले जाने की बात थी और यह विपाक कहता है कि सन्तोष नामक प्राणी ने स्पर्शनादि से अभिभूत पुरुषों को भगाकर निर्वृत्ति नगर में ले जाकर स्थापित किये हैं, अतः मोक्ष दिलाने वाला सदागम है या सन्तोष? इस प्रकार इन दोनों की बातों में विरोधाभास-सा लगता है, पर अभी इस व्यर्थ के विचार की क्या आवश्यकता है? अभी तो विपाक जो कहता है उसे ध्यान से सुनूं, फिर अवकाश के समय इस पर विचार करूँगा।

रागकेसरी को क्षोभ और सान्त्वना

तत्पश्चात् विपाक ने अपनी बात पुनः आगे चलाई.—* सन्तोष नामक प्राणी स्पर्शन आदि पुरुषों को बहुत पीडा पहुँचा रहा है, पराजित कर रहा है, यह बात उनके मुख्य पुरुषों ने आज रागकेसरी को बताई। अपने सेवकों का पराभव राजा ने पहले कभी नहीं सुना था, अतः यह दुस्सह बात वह सहन नहीं कर सका और बात सुनते ही राजा की आँखें क्रोध से लाल हो गईं, होठ फड़कने लगे, भौंहें भयंकर रूप से चढ गईं और कपाल पर रेखायें पड़ गयीं। उसका पूरा शरीर पसीने से लथपथ हो गया, जमीन पर जोर-जोर से हाथ-पैर पटकने लगा और प्रलय काल की महा भयंकर अग्नि जैसा रूप धारण कर, अत्यन्त क्रोधित होते हुए अपशब्द बोलने लगा तथा अपने सेवकों को आज्ञा देने लगा—'अरे! दौड़ो, शीघ्र ही प्रयाण का डंका बजाओ, चतुरंग सेना तैयार करो।' राजाज्ञा को सेवकों ने शिरोधार्य किया।

अपने राजा को इतना अधिक चिन्तित देखकर विषयाभिलाष मंत्री ने कहा- देव! इतने आवेश में आने की क्या आवश्यकता है? यह संतोष बेचारा किस खेत की मूली है? इसको किसी प्रकार का बढावा देने की आवश्यकता नहीं है। जो केसरी सिंह कपाल में से मद झरते हाथियों के झुण्ड को लीला मात्र में चूर्ण कर सकता है वह क्या हरिण का बच्चा मारने के लिये चिन्ता करेगा? आपके सम्मुख उस बेचारे का क्या अस्तित्व? उसकी क्या शक्ति? महाराज! इसके बारे में आपको इतनी चिन्ता क्यों?

---

* पृष्ठ १६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाराजा ने कहा—मित्र ! तेरी बात सच्ची है, पर अपने लोगों को पीडित कर इस पापी सन्तोष ने मुझे बहुत उद्वेलित किया है, अतः जब तक मैं उसे जड़ से उखाड न फेंकू तब तक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी ।

मंत्री ने कहा—देव ! यह तो छोटी-सी बात है । इसके लिये आपको इतने आवेश में नहीं आना चाहिये । आवेश का त्याग कीजिये ।

मंत्री की बात सुनकर रागकेसरी राजा कुछ स्वस्थ हुआ, फिर विजय प्राप्त करने के लिये युद्ध के अनुरूप कार्यवाही की गई । अपने समीप स्नेहजल से पूरित प्रेमबन्ध नामक स्वर्ण कलश स्थापित करवाया, केलिजल्प नामक आनन्द क्रीडा का जयघोष करवाया, चाटुकारिता-पूर्ण मंगल गीत गवाये और रतिकलह नामक उद्दाम बाजे बजवाये । अपने शरीर पर चन्दन का लेप कर, आभूषण धारण कर राजा रथ पर चढने को तैयार हुआ तब स्मरण आया कि, अरे ! इस विषय में मैंने अभी तक पिताजी से तो पूछा ही नहीं । यह मेरी कितनी बड़ी भूल है, कितना आलस्य है, कितना अविनय है ! यद्यपि यह छोटी-सी बात है, फिर भी मैं इतना व्याकुल हो गया कि पिताजी को नमन करना भी भूल गया ! इस प्रकार विचार करते हुए राजा पिताजी को नमन करने गया ।

रागकेसरी के पिता महामोह

विपाक के इतना कहने पर मैंने पूछा—हे भद्र ! इस रागकेसरी राजा का पिता भी है ? वह कौन है ? विपाक ने कहा—भाई प्रभाव ! तू तो बहुत भोला है । क्या तू इतना भी नहीं जानता कि इस महाराजा का पिता महामोह है जो अद्भुत कामों का करने वाला और त्रिलोक में प्रसिद्ध है, उसका तुझे पता नहीं ? तू तो अनोखी बात करता है । अरे ! स्त्रियाँ और बच्चे भी इसको जानते हैं । सुन—

यह महामोह सम्पूर्ण जगत को लीला मात्र से घुमाता रहता है । बड़े-बड़े चक्रवर्ती और इन्द्र भी इसके सेवक होकर रहते हैं । अपनी वीरता के दर्प में जो लोग अन्य सब की आज्ञा का उल्लंघन करते रहते हैं वे भी महामोह की आज्ञा का तनिक भी उल्लंघन नहीं कर सकते ।* वेदान्तवादियों के सिद्धान्त में जैसे परमात्मा को चराचर (स्थावर और जंगम) जगत में व्यापक कहा गया है वैसे ही महामोह अपने वीर्य (पराक्रम) से राग-द्वेष आदि रूपों के द्वारा समस्त लोकों में व्याप्त है । जैसे वेदान्त में कहा है कि समस्त जीव परमात्मा से ही उत्पन्न होते हैं और उसी में लय हो जाते हैं वैसे ही मद आदि महामोह से ही प्रवर्तित होते हैं और उसी में समा जाते हैं । परमार्थ को जानने वाले और सन्तोषजन्य वास्तविक सुख को जानने वाले प्राणी भी इन्द्रियों के सुख में ललचा जाते हैं, यह सब महामोह का प्रताप है । समग्र शास्त्रों का अध्ययन कर जो अपने को पण्डित मानते हैं, ऐसे लोग भी विषयों में आसक्त हो जाते हैं इस सब का कारण भी महामोह ही है । जैनेन्द्र-मत के तत्त्वज्ञ प्राणी

* पृष्ठ १६१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो इस लोक में कषायों के वशीभूत हो जाते हैं, उसका कारण महामोह का शासन ही है। ऐसा भव्य मनुष्य जन्म और जैन-शासन जैसे सुन्दर शासन को प्राप्त करके भी जो प्राणी अपने घर में आसक्त रह कर संसार में भटकते हैं, उसका कारण भी महामोह ही है। महामोह के परिणाम स्वरूप ही जब अपने पति को धोखा देकर, कुल की मर्यादा छोड़ कर स्त्री पर-पुरुष में आसक्त होती है, यह भी महामोह का ही परिणाम है। यह महामोह व्याकुलता-रहित होकर अपने वीर्य से सब का त्याग कर यति-भाव में रहने वाले कई साधुओं को भी विडम्बित करता है। गंधहस्ती के समान यह महामोह स्वेच्छानुसार मनुष्यलोक, पाताल और स्वर्ग में सर्वत्र आनंद से विलास करता है। प्रगाढ़ मित्रता से विश्वासपात्र बने हुए मित्रों को भी जो ठगते हैं, उसका कारण भी महामोह ही है। अपने उत्तम कुल की विशुद्ध मर्यादा का त्याग कर जो प्राणी परस्त्रीगमन करते हैं, उसका कारण भी यह महामोह ही है। जो शिष्य गुरु के प्रताप से ही योग्य बने हैं, गुणवान बने हैं, वे भी उसी गुरु के प्रतिकूल हो जाते हैं, उसका कारण भी यह नराधम महामोह ही है। कुछ लोग चोरी, डाका, हत्या आदि घृणित कार्य करते हैं और उन कामों में आनन्द मानते हैं, उसका प्रवर्तक भी महामोह ही है। [१-१७]

उपरोक्त प्रसिद्धि वाले महामोह राजा ने सम्पूर्ण विश्व का परिपालन करते हुए एक बार सोचा कि अब मैं वृद्ध हो गया हूँ अतः अपने राज्य का भार अब मुझे अपने पुत्र को सौंप देना चाहिये, क्योंकि मैं एक ओर रहकर भी अपने बल से राज्य संभालने में असमर्थ हूँ। ऐसा सोचकर विचक्षण महामोह राजा ने एक दिन अपना सम्पूर्ण राज्य अपने बड़े पुत्र को सौंप दिया और * अब वह निश्चिन्त होकर विश्राम कर रहा है तथा राज्य सम्बन्धी अधिक चिन्ता नहीं करता। फिर भी यह विश्व इस महाराजा के प्रभाव से ही चलता है। ऐसे बड़े जगत को चलाने और उसका परिपालन करने में इसके अतिरिक्त और कौन समर्थ हो सकता है? महामोह राजा ऐसे आश्चर्योत्पादक और अद्भुत कार्य करने वाला है तथा त्रिलोक में भी भली-भांति विख्यात है। उनके सम्बन्ध में तुझे मुझ से पूछना पड़ा यह तो अद्भुत ही लगता है। [१८-२२]

मैंने कहा—भाई! आप मुझ पर क्रुद्ध न हों। मैं तो यात्री हूँ। मैंने पहले सामान्य रूप से महामोह राजा का नाम तो सुना है, विशेष रूप से नहीं। किन्तु, वह रागकेसरी का पिता होता है यह मैं नहीं जानता था। तेरे स्पष्ट कथन से मेरा जो भ्रम था वह भी दूर हो गया। ऐसी बात है, तब तो आपने जो बात शुरु की थी, भद्र! उसका शेष भाग भी कहिये जिससे मुझे सम्पूर्ण बात समझ में आ जाय।

महामोह का वर्णन : युद्ध के लिये प्रस्थान

विपाक ने अपनी बात आगे चलाई। फिर रागकेसरी राजा अपने पिता महामोह महाराज के चरणों के निकट गया। महामोह को तमस नामक लम्बो-लम्बी

---

* पृष्ठ १६२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भौहें थी। अविद्या नामक सूखी लकडी जैसा कम्पमान और वृद्धावस्था से जीर्ण-शीर्ण उनका शरीर दिखाई देता था। तृष्णा नामक वेदी पर बिछाये हुए विपर्यास नामक आसन पर वे बैठे थे।

रागकेसरी ने अपने हाथ और मस्तक से भूमि का स्पर्श करते हुए पिता के पाँवों में नमस्कार किया चरण-स्पर्श किया। पिता महामोह ने उसे आशीष दी और वह उनके पास धरती पर बैठ गया। पिता ने उसे आसन दिलवाया। पिता के प्रेम-वचन से राजा आसन पर बैठा। फिर अपने पिता के कुशल समाचार पूछे और वहाँ आने का कारण बताया। पिता ने सब बातें सुनीं और कहा—

महामोह—पुत्र! जीर्ण वस्त्र की भांति अब मेरे जीवन का अन्तिम शेष भाग बचा है। जैसे खुजली वाले हाथी से जितना अधिक काम लिया जा सके उतना ही अच्छा है वैसे ही मेरे बोरडी के ठूंठ जैसे शरीर से जितना काम लिया जा सके उतना ही ठीक है। अतः जब तक मैं जीवित हूँ तब तक तुझे लड़ाई में जाने की आवश्यकता नहीं है। तू अपना यह विस्तृत राज्य संभाल और बिना किसी शंका के राज्य का पालन कर। तेरे प्रस्थान का जो प्रस्तुत प्रयोजन है उसे मैं पूर्ण कर दूँगा।

रागकेसरी—(दोनों कान बन्द कर) पिताजी! आप ऐसा नहीं बोलें, ऐसी बात न करें, पाप शान्त हों और सब अमंगल दूर हों। आपका शरीर अनन्त काल तक स्थायी रहे। आपके शरीर को किसी प्रकार की बाधा-पीडा न हो इसी में आनन्द मानने वाला मैं आपका दास हूँ। अतः ऐसे कार्य में आप मुझे ही प्रयुक्त करें। इस विषय में आपसे अधिक क्या कहूँ? मैं शत्रु को पराजित करने जा रहा हूँ, आप मुझे आज्ञा दें।

महामोह—पुत्र! इस बार तो मुझे ही जाना पड़ेगा। तुझे तो मैं यहीं राज्य में रहने की आज्ञा देता हूँ।

इतना कहकर महामोह राजा खड़े हो गये। पिता का इस सम्बन्ध में इतना दृढ़ आग्रह देखकर रागकेसरी ने कहा - पिता श्री! यदि आपकी ऐसी ही इच्छा और आज्ञा है तो फिर मैं आपके साथ तो चलूँगा ही। इस सम्बन्ध में आप मुझे मत रोकियेगा।

महामोह—वत्स! ठीक है, ऐसा कर सकते हो। मैं भी तुम्हारा विरह एक क्षण भी सहन नहीं कर सकता। पर, यह बहुत बड़ा और दुष्कर कार्य होने से मैंने अकेले ही जाने का सोचा था। खैर, तूने साथ में चलने की इच्छा व्यक्त की यह उत्तम ही है।

रागकेसरी—आपकी बड़ी कृपा। ❀

❀ पृष्ठ १६३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसके पश्चात् रागकेसरी राजा ने अपने साथ चलने वाले दूसरे समस्त राजाओं को भी समाचार भेज दिये कि पिता श्री महानरेन्द्र महामोह भी साथ चलेंगे। यह बात सुनकर पूरी सेना में उत्साह छा गया। फिर महामोह, रागकेसरी, विषयाभिलाष व अन्य समस्त मंत्रीगण और सामंत सेना के साथ संतोष नामक प्रबल तस्कर पर विजय प्राप्त करने निकल पड़े। इस घटना से पूरा राजसचित्त नगर उद्वेलित हो गया और यह जो कोलाहल सुन रहे हो वह इसी सेना के प्रयाण का कोलाहल है। हे भद्र! महाराजा और राजा के विजय-यात्रा पर निकलने का यह प्रयोजन है। तुझे यह बात जानने की बहुत उत्सुकता थी इसीलिये मैंने तुझे सब बात कह सुनाई, अन्यथा अतित्वरा के कारण मुझे भी बोलने का समय नहीं था; क्योंकि सेना की प्रथम पंक्ति में नायक के स्थान पर मेरी नियुक्ति हुई है।

विपाक का आभार

विपाक के मुख से इतना विस्तृत वर्णन सुनकर मैंने उसके प्रति आभार प्रदर्शित करते हुए कहा—'आर्य! मैं किन शब्दों में आपका आभार प्रदर्शन करूँ? सज्जन पुरुष सर्वदा परोपकार करने में तत्पर रहते हैं। जब ऐसे सज्जन दूसरों का भला करने में व्यस्त होते हैं तब वे अपना स्वयं का काम भी भूल जाते हैं या उसे गौण कर देते हैं, अपने परिश्रम से उत्पन्न धन का दूसरों के लिये उपयोग करते हैं, दूसरों के लिये अनेक प्रकार के दुःख सहन करते हैं, स्वयं को चाहे कितनी विपत्तियाँ सहन करनी पड़े उसकी ओर ध्यान नहीं देते, आवश्यकता पड़ने पर अपना मस्तक कटाने को भी उत्सुक रहते हैं, अपने जीवन को भी संकट में डालने को तत्पर रहते हैं और दूसरों के काम को अन्तःकरण से अपना काम मानकर करते हैं।' मेरे ऐसे वचन सुनकर विपाक मन में प्रसन्न हुआ। मेरे प्रति अपने मस्तक को थोड़ा झुकाया और अपने जाने की सूचना देता हुआ मुझे प्रणाम कर विपाक वहाँ से विदा हुआ।

बोध को रिपोर्ट

अपनी बात को बोध के समक्ष आगे चलाते हुए प्रभाव बोला—आपने मुझे जो राजकार्य सौंपा था वह लगभग पूर्ण हो चुका है। आपकी आज्ञा थी कि मैं स्पर्शन के मूल का पता लगाकर आपको सूचित करूँ। विपाक ने स्पर्शन के जितने गुणों का वर्णन किया है वे अपने स्पर्शन से सब मिलते हैं, इसका मुझे स्वयं को अनुभव हो गया है। विपाक के कथनानुसार स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रवण इन पाँच पुरुषों को सन्तोष को जीतने के लिये भेजा गया था, उन्हीं पाँच में एक स्पर्शन है। इससे उसके मूल का तो पता लग गया पर सन्तोष की बात अभी तक मुझे भी बराबर समझ में नहीं आई। मुझे ऐसा लगता है कि यह सन्तोष तो सदागम का ही कोई सेवक होना चाहिये। अगर ऐसा न हो तो आगे और पीछे की बात में जरूर कुछ विरोध आता। वस्तुतः मुझे इतना सोचने की क्या आवश्यकता है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरे स्वामी के पास जाकर ज्ञात सब वृत्तान्त वर्णित कर दूँ जिससे वे स्वयं सब यथार्थता समझ लेंगे। ऐसा विचार कर मैं आपके समीप आया हूँ। (आर्य! मेरे मन में यह दुविधा है कि यहाँ तो भवजन्तु को सदागम ने निर्वृत्ति नगर में भेजा और वहाँ रागकेसरी राजा के पास प्रार्थना-पत्र आया कि सन्तोष नामक चोर सारे लोगों को निर्वृत्ति नगर में ले जा रहा है, इसमें क्या रहस्य है?) अब सब वृत्तान्त जानकर आपको जैसा योग्य लगे वैसी आज्ञा दें।

प्रभाव का आभार

इस विस्तृत विवरण को सुनकर बोध बहुत प्रसन्न होकर बोला—प्रभाव! तूने अत्यधिक प्रशस्य कार्य किया। फिर वे दोनों साथ-साथ राजकुमार मनीषी के पास आये और नमस्कार के पश्चात् प्रभाव ने स्पर्शन के बारे में जो विस्तृत जानकारी प्राप्त की थी वह सब मनीषी को कह सुनाई। राजकुमार यह सब वृतान्त सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और इतनी जानकारी प्राप्त करने में प्रभाव ने जो कष्ट उठाया उसके लिये उसका आदर सत्कार किया।

❀

५. स्पर्शन की योगशक्ति

एक दिन मनीषी और स्पर्शन साथ-साथ बैठे थे, तब अवसर देखकर कुमार मनीषी ने स्पर्शन से पूछा—भाई स्पर्शन! तुझे तेरे परममित्र भवजन्तु से अलग कराने में सदागम का ही हाथ था ❀ या उस समय उसके साथ और भी कोई था?

स्पर्शन को सन्तोष का महाभय

स्पर्शन—आर्य मनीषी! उनके साथ एक और भी था, पर अब उस बात को जाने दीजिये। मुझे उस पापी, क्रूर कर्म करने वाले से इतना डर लगता है कि मैं उसका नाम भी नहीं लेना चाहता। सदागम तो भवजन्तु को केवल मुझ से दूर रहने का उपदेश ही देता था, पर मुझे अनेक प्रकार के दुःख देने वाला तो सदागम का एक सेवक ही था जो महाघातक कार्य करता था और अपने क्रूर कर्मों से मुझे दुःखी करता था। वही भवजन्तु को मुझ से अलग करता था और मेरे विरुद्ध उसे उकसाता था। उस पापी अनुचर ने ही मेरे मित्र भवजन्तु को शरीर-प्रासाद से बाहर निकाल कर निर्वृत्ति नगर में पहुँचा दिया। इन सब घटनाओं का कारण वह अनुचर ही था। सदागम तो मात्र उपदेश देता था।

मनीषी—पर, भाई! उस अनुचर का नाम क्या था? यह तो बता।

❀ पृष्ठ १६४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्पर्शन– मैंने अभी तो आपसे कहा कि मुझे उस पापी का इतना भय लगता है कि मैं उसका नाम भी नहीं लेना चाहता। मैंने पहले भी तुम्हें इसीलिये उसके बारे में कुछ भी नहीं बताया था। वह महापापी है, उसका नाम लेने से भी क्या लाभ ? पापी मनुष्य की बात करने से भी पाप की वृद्धि होती है, यश में धब्बा लगता है, लघुता प्राप्त होती है, मन में बुरे विचार आते हैं और धर्मबुद्धि का क्षय होता है।

मनीषी – तेरी बात तो ठीक है, पर मुझे उसका नाम जानने की बहुत उत्सुकता है। जब तक तू मेरे पास है तब तक तुझे उस अनुचर या अन्य किसी से भी डरने की आवश्यकता नहीं है। नाम-ग्रहण मात्र से पाप नहीं लग जाता, अग्नि का नाम लेने से मुँह नहीं जल जाता, अतः तू निर्भय होकर उसका नाम बता।

मनीषी का इतना अधिक आग्रह देखकर स्पर्शन भय से चारों ओर देखने लगा, फिर धीरे से बोला– भाई ! यदि ऐसा ही है तो सुनो, उस दुर्नामक पापी का नाम सन्तोष है।

मनीषी का विचारपूर्वक आत्म निर्णय

अब मनीषी अपने मन में सोचने लगा, स्पर्शन के मूल का जो पता प्रभाव ने लगाया था वह ठीक ही लगता है। उसने जो पता लगाया उससे सन्तोष का सम्बन्ध नहीं जुड़ता था, वह भी अब जुड़ गया है। मैंने प्रारम्भ से ही सोचा था कि इस स्पर्शन का अधिक परिचय अच्छा नहीं है, वह ठीक ही था। विषयाभिलाष मन्त्री ने इस स्पर्शन को लोगों को ठगने के लिये ही भेजा है और उस काम को पूरा करने के लिये ही वह इधर-उधर भटक रहा है, अतएव यह व्यक्ति संगति (मित्रता) के योग्य कदापि नहीं है। फिर भी अभी तक मैंने उसे मित्र की भांति माना है और ऊपर-ऊपर से स्नेह भी दिखाया है तथा बहुत समय तक इसके साथ खेला भी हूँ, अतः इसे एकदम छोड़ देना भी उचित नहीं होगा। परन्तु, अब मैं उसके स्वरूप को अच्छी तरह से जान गया हूँ, अतः उसका अधिक विश्वास करना भी उचित नहीं है। अब मैं उसके मनोनुकूल आचरण नहीं करूँगा, मेरा आत्मस्वरूप उसे नहीं बताऊँगा, मेरी गुप्त बात उसको नहीं कहूँगा, फिर भी उसे यह पता नहीं लगने दूँगा कि मेरा उसको चाहना दिखावा मात्र है, क्योंकि वह विचित्र स्वभाव का व्यक्ति है। अतएव अभी तो इसके साथ समय व्यतीत करना और उसके साथ पहले जैसा व्यवहार ही रखना चाहिये, पहले की भांति सम्बन्ध रखते हुए उसके साथ घूमना-फिरना चाहिये, वह जो भी काम करने को कहे उनमें से आत्मिक प्रयोजन को नष्ट न करने वाले काम करने चाहिये * तथा जब तक मैं उसका सर्वथा त्याग न कर सकूँ तब तक उसके साथ इसी प्रकार का व्यवहार रखते हुए उस पर अधिक

* पृष्ठ १६५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। यदि मैं उसके साथ इस प्रकार का व्यवहार रखूँगा तो वह मुझे किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकेगा, ऐसा मनीषी ने मन में विचार कर आत्म-निर्णय किया। तदनन्तर मनीषी और बाल पहले की ही भांति स्पर्शन के साथ क्रीडा करते हुए, विविध स्थानों का भ्रमण करते हुए समय व्यतीत करने लगे।

स्पर्शन का प्रश्न : संसार में सारभूत क्या है ?

एक बार स्पर्शन ने अपने मित्र-मण्डली में कहा, भाइयों ! संसार में सारभूत क्या है ? सभी प्राणी किस की इच्छा करते हैं ?

बाल—मित्र ! इसमें पूछना क्या है ? यह तो सर्व विदित है।

स्पर्शन—कहिये, वह क्या है ?

बाल—मित्र ! वह सुख है।

स्पर्शन—यदि ऐसा ही है तो प्रतिदिन उसका सेवन क्यों नहीं करते ?

बाल—उसके सेवन का उपाय क्या है ?

स्पर्शन—मैं स्वयं उसका उपाय हूँ।

बाल—वह कैसे ?

योग-शक्ति की महत्ता

स्पर्शन—मुझ में योगशक्ति है जिससे म प्राणी के शरीर में या बाहर किसी जगह छिपकर बैठ सकता हूँ। फिर वे प्राणी भक्तिपूर्वक मेरा ध्यान करें, कोमल और सुन्दर स्पर्श के साथ सम्बन्ध स्थापित करें, तो उन्हें इतना अधिक सुख मिलेगा कि उस सुख से बढकर अन्य कोई सुख उन्हें प्रतीत नहीं होगा। अतः सुख-सेवन का उपाय मैं स्वयं हूँ। (अब तो मेरी बात पूरी तरह समझ में आई ?)

इतना सुनते ही मनीषी के मन में विचार उठा कि, अरे ! यह तो अब हमें ठगने का प्रपंच कर रहा है। खैर, देखें अब आगे यह क्या करता है ?

बाल—मित्र ! तुम्हारे साथ हमारा इतने दिन से सम्बन्ध है, फिर आज तक तुमने यह बात हमसे क्यों नहीं कही ? तुमने आज तक हमें अवश्य ही ठगा है। हम दुर्भागी हैं, क्योंकि सुख प्राप्त करने का इतना सरल उपाय पास में होते हुए भी हम अभी तक उस सुख का सेवन नहीं कर सके। तेरे पास इतनी प्रबल योग-शक्ति होने पर भी तूने उसे प्रकट नहीं किया यह तो तेरी असामान्य गम्भीरता है। पर, अब तो कृपा कर हमें अपना कुतूहल दिखा, तेरी योगशक्ति का प्रयोग कर सुख प्राप्त कराने में हमारी सहायता कर।

क्या मेरी शक्ति बताऊँ ? ऐसा मन में सोचते हुए स्पर्शन ने संदेह पूर्वक मनीषी के मुख की तरफ देखा और उससे पूछा। (बाल ने जैसी इच्छा प्रकट की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैसी ही इच्छा मनीषी की भी है या नहीं ? यह जानने के लिये उसने उससे प्रश्न किया)। मनीषी को भी क्या और कैसे होता है यह जानने का कुतूहल था, अतः उसने कहा—मित्र ! बाल ने तुम्हें जिस प्रकार करने को कहा है, वैसा ही करो। इसमें विचार करने जैसा या विरोध प्रकट करने जैसा क्या है ?

योग-शक्ति का प्रयोग

मनीषी का उत्तर सुनकर स्पर्शन ने पद्मासन लगाया, शरीर को स्थिर किया, मन के विक्षेप को बाह्याकर्षण से मुक्त किया, दृष्टि को निश्चल कर नासिका के अग्रभाग पर स्थिर किया, मन को हृदय-कमल पर स्थिर किया, धारणा को स्थिर किया, जिस विषय पर ध्यान करना था उस पर एकाग्र हुआ, इन्द्रियों की समस्त वृत्तियों का निरोध किया, स्वयं स्वरूप-शून्य की भांति बन गया, समाधि धारण की, अन्तर्ध्यान के लिये आवश्यक आत्मसंयम को प्रकटाकर अदृश्य हो गया तथा मनीषी और बाल के शरीर में प्रवेश कर उनके शरीर का जो प्रदेश उसको अधिक रुचिकर था उसमें स्थित हुआ। उस समय बाल और मनीषी को अपने मन में अत्यन्त नवीनता का अनुभव हुआ और दोनों के मन में कोमल स्पर्श को प्राप्त करने की इच्छा जागृत हुई। ❀

योग-शक्ति का बाल पर प्रभाव

जब स्पर्शन ने अपनी योग-शक्ति के बल से बाल के शरीर में प्रवेश किया तब वह मृदु शय्या, सुन्दर आरामदायक कोमल वस्त्र, हाड़-मांस और त्वचा को सुख देने वाले मर्दन, सुन्दर ललित ललनाओं के साथ अनवरत रति-क्रिया, ऋतु से विपरीत परिणाम उत्पन्न करने वाले विलेपन, शरीर को प्रिय लगने वाले सर्व प्रकार के स्नान और उद्वर्तन (पीठी) आदि स्पर्शनप्रिय पदार्थों में आसक्त हो गया। जैसे भस्मक व्याधि वाले को जितना भी खाने को दें वह सब खा जाता है वैसे ही स्पर्शन के वशीभूत बाल कोमल शय्या आदि सब वस्तुओं को अतृप्ति पूर्वक प्रचुरता से भोगने लगा। बेचारा बाल कोमल स्पर्श के विषय-सुख में विकल होकर इतना फंस गया कि अनेक प्रकार के प्रबन्धों के होते हुए भी उसके मन को थोड़ा भी सन्तोष प्राप्त नहीं होता, जिसके परिणाम स्वरूप उसकी मन की शांति ही नष्ट हो गई। जैसे खुजली वाले प्राणी को खुजलाने में ऊपर-ऊपर से आनन्द मिलता है किन्तु अन्त में उससे उसके शरीर को कष्ट ही मिलता है वैसी ही स्थिति उसकी भी हो गई थी। किन्तु शुद्ध विचारों के अभाव में और वस्तु-स्थिति की अनभिज्ञता के कारण जब-जब वह सुन्दर शय्या आदि का उपभोग करता तब-तब वह सोचता कि, 'अहा ! कितना सुन्दर सुख है ! अहा ! मुझे कितना आनन्द प्राप्त हो रहा है' ऐसे मिथ्या विचारों से मन में फूलकर कुप्पा हो जाता और आँखें मूँदकर, विपरीत भावों के कारण स्वयं परम सुख भोग रहा हो, ऐसा मानकर व्यर्थ ही विपरीत रस में अवगाहन करता और सुख में लीन हो जाता।

❀ पृष्ठ १६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग-शक्ति का मनीषी पर प्रभाव

इसके विपरीत मनीषी को जब-जब कोमल और मृदु शय्या आदि की इच्छा होती है तब-तब वह अपने मन में विचार करता है कि, अरे ! अभी मेरे मन में जो विकार उत्पन्न हो रहा है वह स्पर्शन द्वारा उत्पन्न किया हुआ है, यह स्वाभाविक इच्छा नहीं है। अस्वाभाविक कामनायें सुख का कारण कैसे हो सकती हैं ? अतः इस सम्बन्ध में मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि स्पर्शन वस्तुतः पूर्णरूप से मेरा शत्रु है। दृढ निश्चय के पश्चात् वह स्पर्शन के अनुकूल कोई भी कार्य नहीं करता। चूंकि उसे मित्र-रूप से स्वीकार किया है और उसकी मित्रता का त्याग करने का अभी समय नहीं हुआ है, अतः कालयापन की दृष्टि से और उसे बुरा न लगे इसलिये मनीषी कभी-कभी स्पर्शन के अनुकूल कुछ आचरण भी कर लेता है। परन्तु, उसमें किंचित् भी आसक्त नहीं होता। संतोष से उसका मन स्वस्थ रहता है। निरोग शरीर वाले को जैसे पथ्य भोजन सुखकारक होता है वैसे ही शयन आदि के उपभोग से उसे सुख प्राप्त होता है। सुविज्ञ मनीषी बाल की भांति शयन आदि उपभोगों के साथ मैत्री नहीं करता, जिससे भविष्य में उसे किसी प्रकार का दुःख उठाना पड़े वह ऐसे कर्म का बन्ध नहीं करता।

बाल की मान्यता

एक दिन अन्तर्ध्यान किये हुए स्पर्शन ने प्रकट होकर बाल से कहा—मित्र ! मेरे परिश्रम का कुछ फल हुआ ? तुझे उससे किसी प्रकार का सुख प्राप्त हुआ ? तेरा कुछ उपकार हुआ या नहीं ?

बाल ने उत्तर दिया—मित्र ! मैं तुम्हारा आभारी हूँ। तुमने सचमुच मुझ पर बहुत कृपा की है। मैं कल्पना भी नहीं कर सकता, ऐसे स्वर्ग के सुख का तुमने मुझे अनुभव करवाया है। वास्तव में इसमें कितनी नवीनता है ! ऐसा लगता है कि विधाता ने तुझे दूसरे प्राणियों को सुख देने के लिये ही उत्पन्न किया है।

सच है, तेरे जैसे दुनिया में दूसरों का उपकार करने के लिये ही जन्म लेते हैं और मेरे जैसों का जन्म तेरे जैसों से ही सार्थक होता है। तेरे जैसे उत्तम मनुष्यों का यह सौजन्य है कि वे अपने स्वभाव से ही सर्वदा अन्य मनुष्यों के सुख के कारण बनते हैं। [१-२]

बाल का यह उत्तर सुनकर स्पर्शन ने विचार किया कि चलो, एक कार्य तो निर्विघ्न रूप से सफल हुआ। यह बाल तो अब मेरा सेवक हो गया और इतना अधिक मेरे वश में हो गया कि मैं काली वस्तु को सफेद कहूँ या सफेद को काली कहूँ तब भी वह बिना किसी विचार के उसे स्वीकार कर लेगा। ऐसा सोचते हुए स्पर्शन ने कहा--मित्र ! मेरा इतना ही प्रयोजन था, ❀ तेरा उपकार हुआ इससे मैं अपने को भाग्यशाली समझता हूँ।

❀ पृष्ठ १६७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनीषी का गूढ उत्तर

फिर स्पर्शन मनीषी के पास गया और बोला--मित्र ! तुम्हारी इच्छित वस्तु प्राप्त कराने में मेरा प्रयास सफल हुआ या नहीं ? मनीषी ने उत्तर दिया--'अरे भाई ! इस विषय में अधिक क्या कहूँ तेरी शक्ति तो इतनी अधिक है कि वाणी से उसका वर्णन नहीं कर सकता।' ऐसा गूढ उत्तर सुनकर स्पर्शन ने अपने मन में विचार किया कि, अरे यह जो कुछ कह रहा है उसमें कुछ गहरा भेद है। यह मनीषी वास्तव में दुष्ट है। मेरे जैसा व्यक्ति किसी भी प्रकार से इसका मनोरंजन नहीं कर सकता ! ऐसा लगता है कि मेरे वास्तविक स्वरूप को यह जान गया है, अतः यहाँ तो मर्यादा में रहना ही अच्छा है, इस सम्बन्ध में इससे अधिक बात करना श्रेयस्कर नहीं है। मन में ऐसा सोचते हुए स्पर्शन ने धूर्त मनुष्य की भांति शब्द-ध्वनि की (सीटी बजाई) और उसने अपने हाव-भाव से किसी प्रकार के विपरीत भाव को प्रकट नहीं होने दिया तथा मौन धारण कर लिया।

अकुशलमाला की प्रेरणा

बाल ने अपनी माता अकुशलमाला के पास जाकर स्पर्शन की योगशक्ति का सम्पूर्ण वर्णन किया। स्पर्शन ने किस प्रकार उसे सुख प्राप्त करवाया और उसमें कितनी अधिक शक्ति है, इसका उल्लेख किया। यह सब सुनकर अकुशलमाला ने कहा--पुत्र ! मैंने तो पहले ही तुझे कहा था कि तेरी इस स्पर्शन के साथ मित्रता हुई है, यह बहुत अच्छा हुआ। यह मित्रता तेरे लिये सुख की परम्परा का कारण बनेगी। मुझ में भी ऐसी योगशक्ति है जिसका परिचय मैं फिर कभी तुझे दूँगी।

यह नई बात सुनकर बाल ने कहा--यदि ऐसा है तो माताजी ! अभी तुरन्त ही यह कुतूहल दिखाइये, मेरा आपसे यही आग्रह है।

अकुशलमाला ने कहा--जब मैं अपनी योगशक्ति का प्रयोग करूँगी तब तुझे इस सम्बन्ध में सब कुछ बताऊँगी।

शुभसुन्दरी का परामर्श

जिस प्रकार बाल ने अपनी माता को स्पर्शन सम्बन्धी सब बात कही उसी प्रकार मनीषी ने भी अपनी माता शुभसुन्दरी को स्पर्शन का सब वृत्तान्त कहा। सुनकर शुभसुन्दरी ने कहा--वत्स ! इस पापी-मित्र के साथ तू किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रखे, यह मुझे अच्छा नहीं लगता; क्योंकि परम्परा से भी स्पर्शन का परिचय प्राप्त करने वाले को अनेक दुःख प्राप्त होते हैं।

मनीषी--माताजी ! आप का कहना उचित है, पर आप इस सम्बन्ध में तनिक भी चिन्ता न करें। मैं इस स्पर्शन के वास्तविक स्वरूप को पहचान गया हूँ। वह मुझे वश में करने के अनेक उपाय करता रहता है, किन्तु वह मुझे ठग नहीं सकता। मात्र अभी मैं उसका त्याग नहीं कर रहा हूँ, पर त्याग के लिये योग्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवसर की प्रतीक्षा में हूँ; क्योंकि मैंने उसे एक बार मित्र के तौर पर स्वीकार किया है अतः असमय में एकदम छोड़ देना उचित नहीं है।

पुत्र के ऐसे वचन सुनकर शुभसुन्दरी ने कहा—वत्स! तेरा यह विचार बहुत सुन्दर है। तेरी व्यवहार कुशलता उचित ही है। तेरी वत्सलता, नीतिमार्ग पर प्रवृत्ति की तत्परता, गंभीरता और स्थिरता धन्य है। व्यवहार का एक नियम है—

जिसे एक समय ग्रहण किया हो, उसमें कुछ दोष होने पर भी सज्जन मनुष्य उसका एकाएक त्याग नहीं करते, जैसा कि तीर्थंकर महाराज जब गृहस्थाश्रम में होते हैं तब वे असमय में गृहस्थी का त्याग नहीं करते। [१]

एक बार स्वीकार किये हुए व्यक्ति को उसके दोषी होने पर भी असमय में त्याग करने से सज्जन पुरुषों में निन्दा होती है और अपना उद्देश्य भी पूर्ण नहीं होता है। [२] ❀

परन्तु, वैसी दोष वाली वस्तु या व्यक्ति का त्याग करने का उचित अवसर प्राप्त होने पर भी जो प्राणी मूर्खतावश उसका त्याग नहीं करता, तो परिणाम-स्वरूप उसका स्वयं का भी नाश हो जाता है, इस विषय में तनिक भी शंका नहीं की जा सकती। [३]

किसी कारणवश हेय बुद्धि से ग्रहण की गई वस्तु का त्याग करने के लिये विद्वान् पुरुष सुअवसर की प्रतीक्षा करते हैं। ऐसे पुरुष निःसंदेह प्रशंसा के योग्य हैं। [४]

कर्मविलास राजा ने जब अपनी दोनों रानियों से सब वृत्तान्त सुना तब वह मन ही मन में मनीषी पर प्रसन्न हुआ और बाल पर रुष्ट हुआ।

तदनन्तर बाल कोमल शय्याओं पर आराम करने, सुन्दर स्त्रियों के साथ स्पर्शनेन्द्रिय रति-सुख भोगने आदि स्पर्शन की सभी प्रिय वृत्तियों में अधिकाधिक आसक्त होने लगा और अहर्निश उनका ही सेवन करने लगा। बाल ने राजकुमार के योग्य दूसरे सब कार्यों को छोड़ दिया, अपने देव और गुरु को प्रतिदिन नमन करने का जो नियम था उसका भी त्याग कर दिया, कलाभ्यास भी छूट गया, कुल-मर्यादा का त्याग करना आरम्भ कर दिया और पशु-धर्म को ग्रहण कर लिया। उसकी ऐसी प्रवृत्ति के लिये लोग निन्दा करने लगे तो वह उनकी उपेक्षा करने लगा। अभी तक उसका विचार था कि अपने कुल को कलंक लगे ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये, उस विचार का भी त्याग कर दिया। मैं दूसरे प्राणियों के बीच निन्दा और हँसी का पात्र बन रहा हूँ यह उसकी समझ में ही नहीं आ रहा था। अपना हित करने वाले लोगों के प्रति उपेक्षा दिखाने लगा और सद् उपदेश ग्रहण करना छोड़ दिया। वह केवल जहाँ-तहाँ स्त्री-संग, कोमल

❀ पृष्ठ १६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शय्या या अन्य जो कुछ भी स्पर्शन को सुखकारी हैं उन कार्यों को करने या भोगने मात्र में लग गया। इस स्पर्शनजन्य उपभोग का क्या दुष्परिणाम होगा? इसका विचार किये बिना ही लोलुपता के साथ इन कार्यों में प्रवृत्त हो गया। उसकी ऐसी प्रगाढ आसक्तिपूर्ण प्रवृत्ति देखकर मनीषी को उस पर दया आने लगी और कभी-कभी वह उसे अपने द्वारा स्पर्शन की मूल-प्रवृत्ति के विषय में की गई जाँच के बारे में बताता और कहता—भाई बाल! यह स्पर्शन बड़ा ठग है, थोड़ा भी विश्वास करने योग्य नहीं है, यह सचमुच ही प्रबल शत्रु है। जब बाल के समक्ष वह यह सब कुछ कहता और उसे स्पर्शन के विरुद्ध भड़काता तब बाल कहता—'भाई मनीषी! जिस बात का तुमने अनुभव नहीं किया उस विषय में व्यर्थ ही बात करने से क्या लाभ? जो मेरा परम मित्र है, मुझे अनन्त सुख-सागर में अवगाहन करवाता है, उसे तू मेरा शत्रु कहता है! यह कैसी उल्टी बात है?' ऐसा विचित्र उत्तर सुनकर मनीषी अपने मन में विचार करने लगता, वास्तव में बाल मूर्ख लगता है। उसे रोकना अभी तो संभव नहीं है, अतः अभी तो स्वयं को उससे बचाना ही पर्याप्त है। नीति-शास्त्र में भी कहा है :—

मूर्ख मनुष्य जब अकार्य करने में तत्पर हो, तब उसे रोकने के लिये वाणी द्वारा समझाने आदि का जो प्रयत्न किया जाता है वह राख में घी डालने जैसा है। ऐसे मूर्ख को शताधिक बार उपदेश देने पर भी वह कुकृत्य करने से नहीं रुकता। राहु को कितना भी वाक्यों द्वारा समझाओ किन्तु वह तो चन्द्र को ग्रसेगा ही। दुर्बुद्धि प्राणी जब अकार्य करने में संलग्न हो जाता है तब समझदार व्यक्ति को उपदेश द्वारा उसे नहीं रोकना चाहिये।

ऐसा सोचकर मनीषी ने बाल को जो सद्शिक्षा देने का सत्प्रयास किया था, उसका त्याग किया और मौन धारण कर लिया। [१-४]

❀

६. मध्यमबुद्धि

कर्मविलास राजा के उपर्युक्त शुभसुन्दरी और अकुशलमाला के अतिरिक्त एक और रानी थी जिसका नाम सामान्यरूपा था। इस रानी के एक अत्यन्त वल्लभ मध्यमबुद्धि नामक पुत्र था। मध्यमबुद्धि पर बाल और मनीषी का बहुत प्रेम था। दोनों ने उसके साथ बहुत समय तक क्रीडा की थी। राज्य सम्बन्धी कुछ कार्य के लिये महाराजा की आज्ञा से वह विदेश गया हुआ था। वह अभी-अभी वापिस क्षितिप्रतिष्ठित नगर में लौटा था। आते ही उसने बाल और मनीषी को स्पर्शन के साथ देखा। ❀ वह दोनों भाइयों तथा स्पर्शन से आलिंगनपूर्वक मिला। फिर मध्यमबुद्धि को कुछ कौतुक होने से अपना मुँह बाल के कान के पास ले जाकर गुप्तरूप से पूछा—'अरे भाई। यह नया व्यक्ति कौन है?' बाल ने उत्तर दिया—'बन्धु! यह

❀ पृष्ठ १६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो अत्यन्त प्रभावशाली अपना मित्र स्पर्शन है।' मध्यमबुद्धि ने जब उसका विशेष स्वरूप पूछा तब बाल ने स्पर्शन के सम्बन्ध में सब वृत्तान्त कह सुनाया, जिसको सुनकर मध्यमबुद्धि को भी स्पर्शन पर अनुराग हुआ। फिर बाल के कहने से स्पर्शन ने मध्यमबुद्धि पर भी अपनी शक्ति का प्रयोग किया। स्पर्शन योगशक्ति से अन्तर्ध्यान होकर मध्यमबुद्धि के शरीर में प्रवेश कर गया जिससे उसे बहुत आश्चर्य हुआ और उसमें कोमल स्पर्श प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हुई। उसने सुन्दर कोमल शय्या, ललित ललनाओं के संग सुरत-क्रिया आदि द्वारा स्पर्श सुख का आनन्द करवाया और उसके मन में भी अपने प्रति प्रेम उत्पन्न किया। स्पर्शन पुनः प्रकट हुआ और मध्यमबुद्धि से पूछा कि, उसका प्रयोग सफल हुआ या नहीं? उत्तर में मध्यमबुद्धि ने सहसा उसके प्रति आभार प्रदर्शित किया। स्पर्शन ने भी मन में सोचा, कोई बात नहीं, यह भाई भी मेरे चंगुल में फंस गया है।

मध्यमबुद्धि को संशय : मनीषी की चेतावनी

यह देखकर मनीषी अपने मन में विचार करने लगा कि पापी स्पर्शन ने इस मध्यमबुद्धि को भी लगभग अपने वश में कर लिया है। यदि यह मेरी बात माने तो इसे यथार्थता का ज्ञान कराऊं, जिससे बेचारा उसके चक्कर में फंसकर और न ठगा जाय। ऐसा सोचकर मनीषी ने मध्यमबुद्धि को एकान्त में ले जाकर गुप्त रूप से कहा—'भाई! यह स्पर्शन अच्छा व्यक्ति नहीं है। इसे तो विषयाभिलाष ने लोगों को ठगने के लिए यहाँ भेजा है और यह हर घड़ी लोगों को ठगने का कार्य ही किया करता है।' जब मध्यमबुद्धि ने इस सम्बन्ध में विस्तार से पूछा तब मनीषी ने स्पर्शन के मूल के सम्बन्ध में जो बात बोध और प्रभाव से सुनी थी वह संपूर्ण कथा आदि से अन्त तक कह सुनाई। यह सब वृत्तान्त सुनकर मध्यमबुद्धि ने मन में विचार किया कि स्पर्शन का मुझ पर कितना प्रेमभाव है यह मैंने स्वयं अनुभव किया है। फिर इसकी शक्ति भी अचिंत्य है और यह सुख का हेतु भी है, यह सब मैंने स्वयं देखा है पर यह मनीषी भी तो कभी गलत बात नहीं कहता! क्या करना चाहिये? मैं नहीं जानता कि इसमें सच्चाई क्या है? और ऐसी स्थिति में मुझे इस प्रकार संकल्प-विकल्प करने से क्या लाभ? माताजी के पास जाकर उनसे ही सब बात पूछना ठीक है। फिर वे जैसी आज्ञा देंगी वैसा ही मैं आचरण करूंगा।

मध्यमबुद्धि का माता से प्रश्न और उत्तर

ऐसा विचार कर मध्यमबुद्धि अपनी माता सामान्यरूपा के पास आया और चरण-स्पर्श कर नमन किया। उसने उसे आशीष दी। मध्यमबुद्धि उसके पास भूमि पर बैठा। फिर उसने स्पर्शन के सम्बन्ध में सब वृत्तान्त अपनी माता को कह सुनाया। सब बात सुनकर सामान्यरूपा ने कहा—वत्स! अभी तो तुझे स्पर्शन और मनीषी दोनों के वचनों के अनुसार ही प्रवृत्ति करनी चाहिये, जिससे तू दोनों का अविरोधी बनकर मध्यस्थ बना रह सकेगा। बाद में जब तुझे इस सम्बन्ध में विशेष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जानकारी प्राप्त हो तब जो पक्ष बलवान लगे उसे ग्रहण करना। व्यवहार-शास्त्र में कहा है :—

दो भिन्न-भिन्न कार्यों के सम्बन्ध में जब मन में शंका उत्पन्न हो तब सर्वदा थोड़े समय तक मिथुनद्वय के दृष्टान्त के समान कालक्षेप करना चाहिये। [१]❀

यह सुनकर मध्यमबुद्धि बोला -माताजी ! मिथुनद्वय की कथा कैसी है ? तब सामान्यरूपा ने कहा कि पुत्र ! तू मिथुनद्वय की कथा सुन—

मिथुनद्वय की अन्तर्कथा

एक तथाविध नामक नगर है। वहाँ ऋतु नामक राजा राज्य करता है। उसके प्रगुणा नामक रानी है। इन के कामदेव जैसा रूप और सुन्दर आकृति वाला मुग्ध नामक एक पुत्र है। इस राजकुमार के रति जैसी लावण्यवती अकुटिला नामक पत्नी है। मुग्धकुमार और अकुटिला का परस्पर बहुत प्रेम था। अनेक प्रकार से इन्द्रिय-सुखों का उपभोग करते हुए वे अपना समय व्यतीत कर रहे थे। अन्यदा वसंत ऋतु के एक सुन्दर प्रभात में मुग्धकुमार अपने महल के बराण्डे में आनन्द पूर्वक सृष्टि-सौन्दर्य देखते हुए खड़ा था, तभी दूर से मनोहर विकसित विविध प्रकार के पुष्पों और हरियाली से छाये हुए अपने बगीचे को देखकर उसमें क्रीडा करने की उसकी इच्छा हुई। अतः अपनी स्त्री अकुटिला से बोला—देवि ! आज इस उद्यान की शोभा कुछ विशेष ही बढी हुई लगती है, चलो हम फूल एकत्रित करने के बहाने वहाँ आनन्द-क्रीडा करें। अकुटिला ने उत्तर दिया, जैसी प्राणनाथ की आज्ञा। तत्पश्चात् हीरों से जडित स्वर्ण की पुष्प टोकरियाँ लेकर वे दोनों बगीचे में गये और फूल चुनने लगे। फूल चुनते-चुनते मुग्धकुमार ने कहा—प्रिये ! देखें हम दोनों में कौन पहले फूलों से अपनी टोकरी भरता है ? तू दूसरी तरफ जा, मैं इस तरफ जाता हूँ। अकुटिला ने उसकी बात स्वीकार की। पुष्प चुनते-चुनते वे एक दूसरे से बहुत दूर निकल गये। बीच में बड़ी-बड़ी झाड़ियाँ होने से वे एक दूसरे की दृष्टि से ओझल हो गये।

कालज्ञ और विचक्षणा की करतूत

उसी समय उस प्रदेश पर एक व्यन्तर युगल उड़ता हुआ आया था। उसमें जो पुरुष था उसका नाम कालज्ञ और स्त्री का नाम विचक्षणा था। वे दोनों जब आकाश में विचरण कर रहे थे तब इन्होंने इस मनुष्य-युगल को उद्यान में फूल चुनते हुए देखा। कर्मों की परिणति अचिन्त्य होने से मनुज दम्पति की अत्यधिक सुन्दरता के कारण, कामदेव द्वारा अविचारित कार्य करवाने के कारण, बसन्त ऋतु का समय मन्मथ का उद्दीपक होने से, वन प्रदेश की रमणीयता से, व्यन्तरों का क्रीडा-प्रिय स्वभाव, इन्द्रियों की अत्यधिक चपलता, विषयाभिलाष की दुर्निवारिता,

❀ पृष्ठ १७०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनोवृत्तियों की अनियन्त्रित चपलता और भवितव्यता के वशीभूत होने से कालज्ञ को अकुटिला मानवी पर और विचक्षणा व्यन्तरी को मुग्धकुमार पर तीव्र अनुराग उत्पन्न हुआ।

कालज्ञ की युक्ति

अपनी व्यन्तरी को धोखा देकर प्रच्छन्न रूप से इच्छित कार्य करने की दृष्टि से कालज्ञ व्यन्तर ने अपनी स्त्री विचक्षणा से कहा—देवि ! तुम थोड़ी आगे चलो, प्रभु-भक्ति के लिये कुछ पुष्प इस राज उद्यान से चुनकर मैं आ रहा हूँ। विचक्षणा का मन भी मुग्धकुमार ने हरण कर रखा था जिससे वह मौन रही। कालज्ञ व्यन्तर बगीचे में जहाँ अकुटिला पुष्प चुन रही थी वहीं गहरी झाड़ी वाले प्रदेश में नीचे उतरा और विचक्षणा व्यन्तरी की दृष्टि से ओझल हो गया। तदनन्तर कालज्ञ ने विचार किया कि, अरे ! यह मनुष्य-दम्पति किसलिये एक दूसरे से दूर-दूर फिर रहे हैं इसका पता लगाना चाहिये। फिर उसने विभंग-ज्ञान का उपयोग किया जिससे उसे मालूम हो गया कि वे एक दूसरे से दूर क्यों हैं। ❀ अकुटिला को वश में करने का यही एकमात्र उपाय समझ कर उसने तुरन्त मुग्धकुमार का वैक्रिय रूप धारण कर लिया, हाथ में सोने की टोकरी ले ली, उसमें फूल भर लिये और अकुटिला के पास जाकर एकाएक बोला—प्रिये ! मैं तो तेरे से जीत गया हूँ, तू हार गई। 'ओह ! आर्यपुत्र तो बहुत जल्दी आ गये और मुझ पर विजय प्राप्त कर ली' इस विचार से अकुटिला कुछ खिन्न हुई। उसकी खिन्नता को देखकर मुग्धकुमार रूपधारी व्यन्तर ने कहा—प्रिये ! रुष्ट होने की क्या बात है, यह तो साधारण बात है। अब हमने बहुत से पुष्प एकत्रित कर लिये हैं, अतः चलो, पास के कदलीगृह में चलें। देखो यह कदलीगृह कितना सुन्दर है। यह तो सम्पूर्ण उद्यान का आभूषण है। बेचारी भोली-भाली अकुटिला कुछ विशेष जानती न थी इसलिये वास्तविकता के अज्ञान में उसने सब कुछ स्वीकार किया। वहाँ से मुग्धकुमार रूपी व्यन्तर और अकुटिला कदलीगृह में गये और वहाँ केले के पत्तों की शय्या बनाकर आमोद-प्रमोद करने लगे।

विचक्षणा का रूप परिवर्तन

इधर विचक्षणा व्यन्तरी ने आकाश में ही सोचा, अरे ! मेरा पति कालज्ञ तो अभी तक पृथ्वी पर है, वह वापिस आये और उस मनुष्य की स्त्री अपने पति से दूर रहे तब तक रति-रहित कामदेव के समान उस पुरुष को मना-समझा कर, रिझाकर, मान देकर उसके साथ अपना जन्म सफल करूँ। यह मनुष्य-दम्पति एक दूसरे से अलग क्यों हुए हैं, इसका पता उसने भी विभंग-ज्ञान के उपयोग से लगा लिया और तुरन्त स्वयं अकुटिला का वैक्रिय रूप धारण कर, हाथ में सोने की टोकरी फूलों से भरकर मुग्धकुमार के पास आई और जोर से हँसते हुए बोली—'आर्यपुत्र ! मैंने तुम्हें जीत लिया है, तुम हार गये।' मुग्धकुमार ने तनिक चकित होते हुए सामने

❀ पृष्ठ १७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखकर कहा—वल्लभे ! सचमुच ही आज तो तुमने मुझे जीत लिया, बोलो अब क्या करें ? अकुटिला रूपधारी विचक्षणा व्यन्तरी ने कहा —जो मैं कहूँ वह आज तो तुम्हें करना ही पड़ेगा। कुमार ने कहा—क्या करना है यह तो बताओ ? व्यन्तरी ने कहा -चलो हम लता-मण्डप से छाये कदलीगृह में चलें और वहाँ जाकर उद्यान की सुन्दरतम विकसित पुष्पावली में आनन्द का उपभोग करें।

केलिगृह में दो युगल

मुग्धकुमार ने प्रस्ताव स्वीकार किया और वे उसी कदलीगृह में गये जहाँ कालज्ञ व्यन्तर और अकुटिला पहले से ही मौजूद थे। वहाँ उन्होंने एक जोड़े को देखा। अधिक ध्यान से देखने पर उन्हें आश्चर्य हुआ और वे एक दूसरे को एकटक देखने लगे। दोनों युगलों में रंचमात्र भी अन्तर नहीं था, जिस तरफ से भी देखो सब समान था। वास्तविक मुग्धकुमार ने अब विचार किया—अहो ! भगवती वनदेवी के प्रभाव से आज तो मैं और मेरी स्त्री दोनों ने एक समान दो स्वरूप धारण कर लिये हैं। यह तो हमारे महान् उत्कर्ष का कारण बना है। चलो, चलकर पिताजी को यह आनन्ददायक समाचार देवें। उसने दूसरे युगल से भी अपनी इच्छा बतायी, उन्होंने भी स्वीकार किया और चारों व्यक्ति ऋतु राजा के पास आये।

राज-परिवार को हर्ष

इन एक समान दो युगलों को देखकर राजा आश्चर्यचकित हुआ। प्रगुणा रानी और राज्य परिवार के अन्य लोगों को भी बहुत विस्मय हुआ। उन्होंने मुग्ध-कुमार से पूछा—पुत्र ! यह सब कुछ कैसे हुआ ? जरा हमें भी समझाओ।

मुग्धकुमार—पिताजी यह तो वन देवता का प्रभाव है।

ऋतु राजा—वह कैसे ?

तब मुग्धकुमार ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। वृत्तान्त सुनकर सरल प्रकृति वाले ऋतु राजा ने विचार किया कि, 'अहा ! मैं धन्य हूँ, भाग्यशाली हूँ, मुझ पर वन देवता की बड़ी कृपा हुई है।' हर्ष के उत्साह में असमय में ही उसने पूरे नगर में बड़ा महोत्सव मनाने का आदेश दे दिया। अनेक प्राणियों को बड़े-बड़े दान दिये गये, धूमधाम से नगर देवता का पूजन-अर्चन किया गया। फिर पूरे राज्य-मण्डल को बुलाकर उनके मध्य में राजा ने कहा —

'मेरे एक ही पुत्र और एक ही पुत्रवधु थी ❀ जिसके स्थान पर अब दो पुत्र और दो पुत्रवधुएं हो गई हैं। अतः हे लोगो ! खूब खाओ, पीओ, गाओ, बजाओ, नाचो और आनन्द करो।' राजा के कथन को ही दोहराती हुई प्रगुणा रानी ने भी आनन्द मंगल के बाजे बजवाये और प्रसन्नता में हाथ ऊंचे कर-करके नाचने लगी, द्विगुणित आनन्दित हुई। अकुटिला भी बहुत प्रमुदित हुई। अन्तःपुर की सभी स्त्रियाँ हर्ष से से नाचने लगीं। इस प्रकार सम्पूर्ण नगर प्रमुदित हुआ और सर्वत्र आनन्द छा गया।

❀ पृष्ठ १७२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालज्ञ व्यन्तर की विचारणा

केलिप्रिय होने के कारण कालज्ञ व्यन्तर यह सब लीला देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, किन्तु उसके मन में विचार-द्वन्द्व चल रहा था कि यह दूसरी स्त्री कौन है ? जब उसने अपने विभंग-ज्ञान का उपयोग किया तब उसे ज्ञात हुआ कि यह तो स्वयं की स्त्री विचक्षणा ही है। यह जानकर वह मन में क्रोधित हुआ और उसने सोचा कि, 'इस दुराचारी पुरुष मुग्धकुमार को ही मार डालूँ। मैं इस विचक्षणा को देवांगना होने के कारण मार तो नहीं सकता पर इसे इतना दुःख पहुंचाऊँ कि इसके पश्चात् यह कभी पर-पुरुष की गन्ध भी नहीं ले सके।' ऐसा दृढ निश्चय कालज्ञ व्यन्तर ने किया, परन्तु उसी समय भवितव्यता की प्रेरणा से उसके मन में विचार आया कि मैंने जो सोचा वह ठीक नहीं है. जब मैं स्वयं शुद्ध आचरण का पालन नहीं कर सका तब मुझे विचक्षणा को पीडा पहुँचाने का क्या अधिकार है ? जैसा उसका दोष है वैसा ही मेरा दोष है। मुग्धकुमार का मारना भी योग्य नहीं है, क्योंकि कुमार को मारने पर यदि अकुटिला को कुछ भनक पड़ गई तो वह मेरे से विपरीत हो जाएगी और वह मेरा सेवन नहीं करेगी तथा विचक्षणा भी सर्वदा के लिए मेरे से विरक्त हो जाएगी। तब मैं क्या करूँ ? अपनी स्त्री को चपलवृत्ति को अनदेखा करके अकुटिला को लेकर यहाँ से कहीं दूर चला जाऊं ? नहीं, यह भी उचित नहीं। यह सब अस्वाभाविक होगा। यदि अकुटिला को कुछ संदेह हो गया तो वह मेरे साथ आनंद का उपभोग नहीं करेगी और उसके बिना यहाँ से जाना व्यर्थ होगा। अतः दूसरों की ईर्ष्या न कर, समय निकालना और यहीं रहना मेरे लिये हितकर है।

विचक्षणा के विचार

विचक्षणा ने भी यही विचार किया कि, अरे ! यह तो मुग्धकुमार का रूप बनाकर मेरे पति कालज्ञ ही आये लगते हैं। उनके सिवाय अन्य कौन इस प्रकार यहाँ आ सकता है ? उनके देखते हुए मैं पर-पुरुष का सेवन किस प्रकार करूँ ? ऐसे विचार से विचक्षणा के मन में बहुत लज्जा आयी। फिर अपनी आँखों के सामने अपना पति अन्य स्त्री से सम्बन्ध करे यह देखकर उसे भी बहुत ईर्ष्या हुई। ऐसे संयोगों में यहाँ रहना तो दुष्कर है, पर अब यहाँ से चले जाने से भी क्या लाभ होगा ? इन विचारों से व्याकुल होते हुए भी उसने सोचा—अब तो यहाँ रहने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। उसे दूसरा कोई रास्ता न सूझने से 'जो होगा देखा जायगा' ऐसा सोचकर मन को धैर्य देती हुई वह भी वहीं पर रह गई। अब उन दोनों ने नये वैक्रिय रूप धारण करने बन्द किये, एक दूसरे पर ईर्ष्या करना छोड़ा, देवमाया से मनुष्यों के सब कर्त्तव्य निभाते हुए और वे दोनों नवीन रूपों में भोग भोगते हुए लम्बे समय तक इसी स्थिति में वहीं रहे।

❀

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. प्रतिबोधकाचार्य

उस तथाविध नगरी के बाहर मोहविलय नामक उद्यान में अनेक शिष्यों से परिवेष्टित केवलज्ञानादि लक्ष्मी के समुद्र * प्रतिबोधक नामक आचार्य पधारे। ऐसे महान् आचार्य के आगमन की सूचना वनपालक ने महाराजा ऋतुराज को निवेदित की। गुरुदेव के आगमन के समाचार सुनकर महाराजा नगर के लोगों के साथ उन्हें वन्दन करने उद्यान में आये। देवताओं ने आचार्यश्री के बैठने के लिये एक सुन्दर स्वर्ण कमल बनाया था। उस कमल पर बैठकर आचार्यदेव उपदेश दे रहे थे। गुरुदेव के दर्शन कर, जमीन तक मस्तक झुकाकर राजा ने उनके चरण-कमलों में नमस्कार किया तथा अन्य सभी मुनियों को भी नमस्कार किया। आचार्य भगवान् ने कर्मरूपी वृक्ष को तोड़ने में तीक्ष्ण कुल्हाडी के समान 'धर्मलाभ' आशीर्वाद से राजा का अभिनन्दन किया, वैसे ही अन्य मुनियों ने भी उसे धर्मलाभ आशीर्वाद दिया। राजा भूमि पर बैठे। कालज्ञ व्यन्तर आदि जो राजा के साथ आये थे वे भी आचार्यश्री व मुनियों को वन्दन कर योग्य स्थान पर बैठे।

प्रतिबोधकाचार्य की देशना

आचार्यश्री का उपदेश चल रहा था। उन्होंने अपने उपदेश में संसार की निर्गुणता (निस्सारता) बताकर कर्मबन्ध के हेतुओं का विस्तार से वर्णन किया। संसार रूपी कैदखाने में पड़े रहने की स्थिति के अवगुण बताते हुए निन्दा की। मोक्षमार्ग की प्रशंसा की। मोक्षसुख में कितनी विशेषता है उसे अधिक स्पष्ट रूप से समझाया। विषय सुख के लालच में पड़े रहने से किस प्रकार संसार में परिभ्रमण होता है उसकी वास्तविकता समझाई और इस प्रकार के सुख से शिव-सुख प्राप्ति में विघ्न और अनन्त काल पर्यन्त भटकते रहने की यथार्थता को बतलाया।

व्यन्तरों के शरीर से निर्गत स्त्री

आचार्य भगवान् की वाणी सुनकर कालज्ञ व्यन्तर और विचक्षणा व्यन्तरी पर जो मोह का जाल फैला हुआ था वह दूर हुआ। उन दोनों में सम्यग्दर्शन के परिणाम जागृत हुए जिससे कर्मरूप इन्धन को जलाकर राख करने में समर्थ प्रबल पश्चात्ताप रूपी अग्नि प्रज्वलित हुई और उसी क्षण वे अपने दुष्कर्म पर पश्चात्ताप करने लगे। उस समय उनके शरीर में से एक स्त्री बाहर निकली। उस स्त्री का शरीर लाल और काले परमाणुओं से बना हुआ लगता था। उसका

---

* पृष्ठ १७३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूप अत्यन्त बीभत्स और विवेकी प्राणियों को उद्वेलित करने वाला था। वह स्त्री आचार्यश्री के तेज को सहन न कर सकी, अतः शीघ्र ही निकल कर सभा से बाहर दूर जाकर उल्टा मुँह करके बैठ गई।

पश्चात्ताप और स्वरूप-दर्शन

कालज्ञ और विचक्षणा के हृदय पश्चात्ताप से इतने पानी-पानी हो गये कि उनकी आँखों से आँसू ढलने लगे और वे दोनों एक साथ आचार्यश्री के पाँवों में पड़ गये। पाँव छूकर कालज्ञ व्यन्तर ने कहा—भगवन्! मैं तो अधमाधम हूँ। प्रभु! मैंने अपनी पत्नी को भी ठगा है, पर-स्त्री के साथ विषय भोग किया है, सरल हृदय वाले मुग्धकुमार को भी ठगा है, ऋतुराजा और प्रगुणा रानी के मन में नकली पुत्र पर मोह उत्पन्न किया है। इस प्रकार के कार्यों द्वारा मैंने दूसरों को ही नहीं वस्तुतः अपने आप को ही ठगा है। प्रभु! मैं बहुत पापी हूँ, इस प्रकार के घृणित पापकर्मों से मेरी शुद्धि किस प्रकार होगी?

विचक्षणा—भगवन्! मुझ पापिनी की भी शुद्धि कैसे होगी? मुझ पापिन ने भी वही सब पाप किये हैं, जिन्हें अब फिर से दोहराने की क्या आवश्यकता है? आप तो दिव्य ज्ञानी हैं, अतः आप सब वास्तविकता को जानते ही हैं, आपसे क्या छिपाना। (प्रभु! मैं क्या करूँ जिससे मेरा उद्धार हो सके, कृपया बताइये।)

आचार्य—इस विषय में विषाद करने की आवश्यकता नहीं है। तुम दोनों का इसमें कोई दोष नहीं है। तुम लोगों का वास्तविक रूप तो निर्मल है।

कालज्ञ-विचक्षणा—भगवन्! तब यह किसका दोष है?

आचार्य—भद्रों! यह सब दोष उस स्त्री का है जो तुम्हारे शरीर में से निकलकर उधर दूर पीठ फेरकर बठी है।※

कालज्ञ-विचक्षणा—भगवन्! इस स्त्री का नाम क्या है?

आचार्य—भद्रों! इसका नाम भोगतृष्णा है।

कालज्ञ-विचक्षणा—भगवन्! वह इन सब दोषों की कारण किस प्रकार है?

आचार्य—इस भोगतृष्णा के स्वरूप को सुनो—

जिस प्रकार रात्रि अन्धकार को चारों तरफ फैलाती है, उसी प्रकार यह भोगतृष्णा रागादि दोषों के समूह को चारों तरफ फैलाती है। यह महानीच और अयोग्य कार्य करने वाली है, अतः यह जिस प्राणी के शरीर में प्रवेश करती है उसमें सहसा अकरणीय कार्यों को करने की बुद्धि उत्पन्न होती है। जैसे अग्नि का पेट घास-फूस काष्ठ से नहीं भरता, जैसे जल से समुद्र तृप्त नहीं होता वैसे ही प्रचुर भोगों को

※ पृष्ठ १७४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोगने से भी यह भोगतृष्णा कभी तृप्त नहीं होती। जो मूर्ख प्राणी समझते हैं कि इसे इन्द्रिय सुखों का भोग देकर शांत कर देंगे, वे बेचारे मानो जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र को पकड़ने का प्रयत्न करते हैं। जो नराधम मोहवश भोगतृष्णा को अपनी प्यारी स्त्री बनाते हैं वे महाभयंकर अनन्त संसार-समुद्र में भटकते रहते हैं। जो उत्तम प्राणी भोगतृष्णा को दोषयुक्त समझकर उसे अपने शरीर से बाहर निकाल देते हैं और उसके लिये अपने मन के द्वार सदा के लिये बन्द कर देते हैं वे सब प्रकार के उपद्रवों से मुक्त होकर, समग्र पापों को धोकर, अपनी आत्मा को निर्मल कर परमपद को प्राप्त करते हैं। जो सत्पुरुष भोगतृष्णा रहित होते हैं वे तीनों लोकों में सभी प्राणियों द्वारा वन्दनीय होते हैं, पर जो प्राणी इसके वश में होते हैं वे सज्जन पुरुषों द्वारा निन्दा के पात्र बनते हैं। [१-८]

इसकी प्रकृति ऐसी विलक्षण है कि जो अधम प्राणी इसके वशीभूत होकर इसके अनुकूल प्रवृत्ति करते हैं उन्हें तो यह बहुत दुःख देती है और जो उत्तम प्राणी इसके प्रतिकूल प्रवृत्ति करते हैं उन्हें यह असीम सुख पहुँचाती है। जब तक प्राणी के मन में यह पापिनी भोगतृष्णा बसी हुई रहती है तब तक उसे संसार प्यारा और मोक्ष कड़ुआ लगता है, परन्तु जब पुण्यशाली प्राणियों के मन से इसका विलय हो जाता है तब संसार के सारे पदार्थ उस प्राणी को धूल के समान निस्सार लगते हैं। जब तक मन में इसका वास रहता है तब तक प्राणी अशुचि के ढेर रूप स्त्री के अंगोपांगों को कुन्द, कमल और चन्द्रमा की उपमा देता है, पर इसके मन से निकलते ही स्वप्न में भी उसे इन अंगोपांगों के सेवन की इच्छा नहीं होती। [९-१४]

पुरुषार्थ और मनुष्यता में समान होते हुए भी कई प्राणी इसी भोग-तृष्णा के कारण दूसरों की गुलामी जैसे अधम कार्य करते हैं। जिन महात्माओं के शरीर से भोगतृष्णा निकल जाती है वे दुनिया की दृष्टि में चाहे निर्धन हों पर वास्तव में वे धीर-वीर पुरुष इन्द्र के भी स्वामी बन जाते हैं। (क्योंकि भोगतृष्णा से निवृत्त होने पर इन्हें किसी की अपेक्षा नहीं रहती, अतः इन्द्र भी इन्हें नमस्कार करते हैं।) इस भोगतृष्णा का शरीर तामसी और राजसी परमाणुओं के योग से बना है, ऐसा अन्य शास्त्रों में कहा गया है। [१५-१७]

[आचार्यश्री सभा को और विशेषकर कालज्ञ और विचक्षणा को उद्देश्य कर पुनः कहने लगे।]

इस पापी स्त्री ने ही तुम्हें पाप कर्मों में प्रवृत्त कराया है। तुम दोनों का इसमें कोई दोष नहीं है। ❀ तुम दोनों स्वरूप से निर्मल हो पर इस स्त्री के कारण ही तुम दोनों में यह दोष उत्पन्न हुए हैं। यह भोगतृष्णा ही समस्त दोषों की जननी है। वह इस धर्म-सभा में खड़ी रह सकने में असमर्थ है इसीलिये वहाँ दूर जाकर, तुम्हारे यहाँ से बाहर निकलने की प्रतीक्षा कर रही है। [१८-२०]

❀ पृष्ठ १७५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचक्षणा-कालज्ञ—भगवन् ! इस पापिन भोगतृष्णा से सदा के लिये हमारी मुक्ति कब होगी ?

तृष्णा से मुक्त होने की कुञ्जी

आचार्य—इस भव में तो तुम्हारा इससे सर्वथा छुटकारा नहीं हो सकेगा पर इसका धीरे-धीरे नाश करने के लिये महा मुद्गर के समान आज तुम्हें सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है। सद्गुरुओं के सम्पर्क द्वारा इसे बारंबार तेज करते रहने से, भोगतृष्णा के अनुकूल कोई आचरण नहीं करने से, मन में इसका विचार आने से विकार पैदा होंगे इस बात को ध्यान में रखकर ऐसे विकार के प्रसंग में तुरन्त उसके विपरीत भावनाओं द्वारा उसका प्रतीकार करने से यह दुबली-पतली (क्षीण) होती जायेगी और तुम्हारे शरीर में रहते हुए भी तुम्हें पीडित नहीं कर सकेगी। इस प्रकार का आचरण करने से तुम दोनों अगले जन्म में इस भोगतृष्णा का सर्वथा त्याग करने में समर्थ बन सकोगे।

कालज्ञ और विचक्षणा इस बात को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। 'प्रभो ! आपने हम पर महती कृपा की' ऐसा कहते हुए वे आचार्यश्री के चरणों में झुक गये।

यह सब सुनकर ऋतु राजा, प्रगुणा रानी, मुग्धकुमार और अकुटिला के मन में बहुत पश्चात्ताप हुआ और साथ ही विशुद्ध अध्यवसाय भी उत्पन्न हुए। राजा और रानी सोचने लगे कि, 'पुत्र और पुत्रवधु के द्विगुणित होने के भ्रम में पड़कर निरर्थक ही हमने दोनों से कुकर्म सेवन करवाये, यह बहुत बुरा हुआ।' कुमार सोचने लगा 'मैंने परस्त्री-गमन कर कुल में कलंक लगाया।' अकुटिला सोचने लगी कि 'मेरा शील भंग हुआ यह बड़ा अकार्य हुआ।' चारों के मनमें एक-साथ विचार आया कि हम सभी ये बातें आचार्यश्री को बतावें जिससे ये महापुरुष हमें पापों से शुद्धि का कोई रास्ता बता देंगे।

आर्जव, अज्ञान और पाप का प्रकट होना

राजा, रानी, कुमार और कुमारवधू जब इस प्रकार सोच रहे थे तभी 'मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा' 'मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा' बोलते हुए एक बालक इन चारों के शरीर में से प्रकट हुआ। इसका शरीर इन चारों के शुद्ध परमाणुओं से बना हुआ था, वह उज्ज्वल वर्ण वाला और तेजस्वी था, उसकी आकृति इतनी सुन्दर थी कि उसके सामने दृष्टिपात करने से आँखें शांत और मन प्रसन्न होता था। यह छोटा बालक आचार्य भगवान् के मुँह के सम्मुख देखते हुए सब से आगे आकर आचार्यश्री के समक्ष बैठ गया। इस बालक के पश्चात् एक और बालक प्रकट हुआ जिसका रंग काला और आकृति बीभत्स थी, जिसके सामने देखने से मन में उद्वेग पैदा होता था। इस दूसरे बालक के शरीर में से एक अन्य उसके जैसा ही पर अधिक बेडौल और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बीभत्स आकृति वाला तथा उससे भी अधिक दुष्ट स्वभाव वाला तीसरा * बालक प्रकट हुआ, जो बाहर निकलते ही अधिकाधिक बढता गया। उसे बढते देखकर पहले निर्मल वर्णधारक सुन्दर बालक ने उसके सिर पर लात मारकर उसके बढाव को रोक दिया और उसे फिर से उसके प्रकृत असली रूप में ले आया। यह देखकर काले रंग वाले दोनों बालक आचार्यश्री की सभा से बाहर चले गये। इस प्रकार तीनों बालकों का आश्चर्यजनक चरित्र चल रहा था तभी आचार्यश्री ने ऋतु राजा आदि को उद्देश्य कर कहा-- भद्रजनों! आप सब सोच रहे हैं कि हमने विपरीत आचरण किया है, पर आप लोगों को इस विषय में विषाद करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इसमें तुम्हारा स्वयं का कोई दोष नहीं है, तुम सब अपने स्वरूप से तो निर्मल हो।

ऋतुराजादि—भगवन्! तब इसमें किसका दोष है?

आचार्य—इस श्वेत वर्ण के बालक के बाद जो श्याम वर्ण का बालक तुम्हारे शरीर में से निकला उसी का यह सब दोष है।

ऋतुराजादि—प्रभु! इसका नाम क्या है?

आचार्य—इसका नाम अज्ञान है।

ऋतुराजादि—इस अज्ञान में से एक और दूसरा काला बालक प्रकट हुआ था जिसे इस उज्ज्वल बालक ने लात मारकर बढने से रोक दिया था, उस बालक का क्या नाम है?

आचार्य—इसका नाम पाप है।

ऋतुराजादि—उज्ज्वल रंग के बालक का क्या नाम है?

आचार्य—इसका नाम आर्जव (सरलता) है।

ऋतुराजादि—यह अज्ञान कौन है? इसमें से पाप कैसे प्रकट हुआ? आर्जव ने उसे बढने से कैसे रोका? यह सब विस्तार से जानने की हमारी उत्कट अभिलाषा है, अतः आप हम पर कृपा कर यह सब विस्तार से बतलाइये।

आचार्य—यदि तुम्हारी ऐसी इच्छा है तो सुनो।

अज्ञान का स्वरूप

तुम्हारे शरीर में से जो अज्ञान (बालक) बाहर निकला वही सब दोषों का कारण है। जब तक यह शरीर में रहता है तब तब प्राणी कार्य और अकार्य के भेद को नहीं समझ सकते और कहाँ जाना चाहिये तथा कहाँ नहीं जाना चाहिये यह भी तत्त्वतः नहीं जान सकते। भक्ष्य और अभक्ष्य तथा पेय और अपेय का ज्ञान भी इसके प्रभाव से प्राणी को नहीं रहता। अन्धा मनुष्य जैसे खड्डे में गिर जाता है वैसे ही

* पृष्ठ १७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अज्ञानवश व्यक्ति कुमार्गगामी बन जाता है। अन्ध होकर कुमार्ग में प्रवृत्ति करने वाला प्राणी भयंकर कठोर कर्मों को बांधता है और उन अशुभ कर्मों के प्रभाव से इस संसार समुद्र में अनेक प्रकार के दुःखों को भोगते हुए भटकता रहता है। राग और द्वेष को प्रवृत्त करने वाला भी यह अज्ञान ही है। भोगतृष्णा को भी जब किसी प्राणी को वशवर्ती करना होता है तब उसे भी अज्ञान की सहायता लेनी पड़ती है। अज्ञान न हो तो भोगतृष्णा वापिस मुड़ जाती है, शायद थोड़े समय तक वह ठहर भी जाय तो तुरन्त वापिस चली जाती है। यह आत्मा स्वरूप से सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और निर्मल होने पर भी अज्ञान के प्रभाव से पत्थर जैसी जडता को प्राप्त हो जाती है। देवताओं, मनुष्यों और मोक्ष की दैवी-सम्पत्तियों का हरण करने वाला और सन्मार्ग को रोकने वाला अज्ञान ही है। अज्ञान ही नरक है, क्योंकि वह महा अन्धकारमय है। अज्ञान ही वास्तविक दारिद्र्य है, अज्ञान ही परम शत्रु है, अज्ञान ही रोगों को घर है,* अज्ञान ही वृद्धावस्था है, अज्ञान ही समस्त विपत्तियों का पुञ्ज है और अज्ञान ही मृत्यु है। यदि अज्ञान न हो तो यह घोर संसार समुद्र जिसे पार करना बहुत कठिन लगता है वह संसार में रहते हुए भी बाधक नहीं लगता। प्राणी में जो कुछ भी अयुक्त व्यवहार और उन्मार्ग की ओर प्रवृत्ति दिखाई देती है, परस्पर विरोधी विचार दिखाई देते हैं, उन सब का कारण यह अज्ञान ही है। जिन प्राणियों के मन में प्रकाश को ढंकने वाला यह अज्ञान रहता है वे ही पाप कर्म में प्रवृत्ति करते हैं। जिन भाग्यवान प्राणियों के चित्त में से यह अज्ञान निकल जाता है उनकी अन्तरात्मा परम शुद्ध हो जाती है और वैसे प्राणी फिर सदाचार में ही प्रवृत्ति करते हैं। अत्यन्त विशुद्ध मन वाले ऐसे प्राणी पाप-पंक से मुक्त होकर अन्त में परम पद मोक्ष को प्राप्त करते हैं और त्रिलोक में वन्दनीय बनते हैं। यहाँ जिस अज्ञान का वर्णन किया गया है, तुम चारों उसके वशीभूत हो गये थे, इसीलिये यह सब विपरीत आचरण हुआ है। इसमें आप लोगों का कोई दोष नहीं है, दोष तो इस अज्ञान का ही है। [१-१६]

पाप का स्वरूप

यह अज्ञान ही सर्वदा पाप नामक दूसरे डिम्भ (बालक) को उत्पन्न करता है। उसी प्रकार अज्ञान ने यहाँ भी पाप को उत्पन्न किया है। सज्जन पुरुष पाप को सब दुःखों का कारण बताते हैं, यह ठीक ही है। प्राणियों को यह हठात् उद्वेग रूपी भयंकर समुद्र में ढकेल देता है। ऐसा कहा जाता है कि संसार के सब क्लेशों का कारण यह पाप है, अतः सज्जन पुरुषों को जो पाप का कारण हो ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये। हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह, शुद्ध तत्त्वज्ञान में अश्रद्धा, क्रोध, मान, माया और लोभ ये सब पाप के कारण हैं। मनीषी को चाहिये कि पापोत्पादक इन कारणों से प्रयत्न पूर्वक दूर रहे। ऐसा करने से पाप नहीं बंधेंगे, और पाप का बन्धन नहीं होगा तो दुःख की संभावना भी नहीं रहेगी।

* पृष्ठ १७७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आप लोगों को भी अज्ञान के कारण ही पाप की प्राप्ति हुई है। हिंसा आदि समग्र दोषों की प्रवृत्ति का मूल कारण यह अज्ञान ही है। [१७-२२]

आर्जव का स्वरूप

अभी आप लोगों ने देखा कि बढते हुए पाप को लात मारकर आर्जव ने रोक दिया था, अतः आर्जव का स्वरूप सुनें। [२३]

यह आर्जव स्वरूप (स्वभाव) से ही प्राणियों के चित्त को अत्यन्त शुद्ध करने वाला होने से बढते हुए पाप को रोक सकता है। सब प्राणियों में आर्जव यही काम करता है और आप लोगों के सम्बन्ध में भी उसने अपनी पद्धति से अज्ञान-जनित पाप को जीतने का कार्य कर दिखाया है। प्रकृति से हंसमुख बालक का रूप धारण करने वाला यह आर्जव सर्वदा हर्षित होकर 'मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा' ऐसा निरन्तर कहता रहता है। जिन भाग्यशाली प्राणियों के चित्त में इस आर्जव का निवास होता है, वे कभी भूल से अज्ञानवश कुछ पाप कर्म कर भी लेते हैं तब भी बहुत थोड़े पाप का बन्ध करते हैं। आर्जव युक्त प्राणी जब शुद्ध मार्ग को जान जाते हैं तब कर्मों का नाश कर मोक्ष की तरफ प्रवृत्ति करते हैं। इस प्रकार ऋजुता युक्त शुभ्र मन वाले भाग्यशाली प्राणी जीवन पर्यन्त निष्कपट आचरण करते हुए इस संसार सागर को पार कर लेते हैं। [२३-२६]।

धर्माचरण-कर्त्तव्य

आप सब भद्र प्राणियों को आजव भाव प्राप्त हुआ है ❀ और उसके स्वरूप को भलीभांति समझ गये हैं। अब आप लोग सम्यक् धर्म का आचरण कर अज्ञान और पाप का प्रक्षालन कर दें। [३०]

विद्वान् मनुष्य को यह सोचना चाहिये कि अज्ञान और पाप से मुक्त होने के लिये इस संसार में विशुद्ध धर्म ही आदर करने योग्य वस्तु है। इसके अतिरिक्त जो कुछ है वह सब दुःख का कारण है। अपने प्रियजनों के साथ का संयोग अनित्य है, ईर्ष्या और शोक से व्याप्त है, यौवन अस्थिर (चपल) है और बुरे आचरणों का निवास स्थान है। अनेक प्रकार के क्लेश से उत्पन्न सम्पत्ति भी अनित्य है और यह जीवन जो समस्त कल्पनाओं का धारक है वह भी अनित्य है। जो जन्मता है वह मरता ही है। मृत्यु के बाद जन्म और फिर मृत्यु इस प्रकार जन्म-मरण का चक्कर पुनः पुनः चलता ही रहता है। उसमें भी कर्म के अनुसार अधम स्थानों में भी जन्म लेना पड़ता है, अतः संसार में किसी भी प्रकार का सुख नहीं है। इस संसार की सभी वस्तुएँ स्वभाव से ही असुन्दर (नाशवान) हैं। अतएव विवेकी प्राणियों को नाशवान एवं अनित्य पदार्थों के साथ आस्था या सम्बन्ध रखना युक्त नहीं है। इस संसार में यदि कोई वस्तु चाहने योग्य है तो वह सनातन, कलंक-

❀ पृष्ठ १७८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहित जगत्वंद्य धर्म ही है, क्योंकि वह उत्कृष्ट अर्थ (मोक्ष) को दिलाने वाला है। अतः समस्त कामनाओं को त्यागकर परार्थ-साधक सुज्ञ चारित्रवान धीर पुरुषों को धर्म का ही सेवन करना चाहिये। [३१–३६]।

प्रतिबोध एवं दीक्षा

आचार्यश्री का अमृत तुल्य उपदेश सुनकर उन सब का चित्त संसारवास से निवृत हुआ।

ऋतु राजा ने कहा—भगवन्! आपने जैसा उपदेश दिया, मैं वैसा करने को तैयार हूँ।

प्रगुणा रानी ने भी राजा की ओर दृष्टिपात किया और कहा—महाराज! इस शुभ कार्य में अब थोड़ी सी भी देरी नहीं करनी चाहिये।

मुग्धकुमार ने कहा—पिताजी! आपका कहना यथार्थ है। माताजी! आपकी बात भी सही है। इस प्रकार का अनुष्ठान करना पूर्णतया योग्य है और हमें ऐसा करना ही चाहिये।

अकुटिला की आँखें भी आनन्दाश्रु से प्रफुल्लित हो गईं, पर बड़ों के समक्ष लज्जावश वह कुछ बोली नहीं, किन्तु लोगों ने जो कहा उसके प्रति संकेत से अपनी सहमति प्रदर्शित की। [३७–४०]

तब वे चारों आचार्य के चरणों में गिरे और ऋतु राजा ने कहा—भगवन्! आपने जो आज्ञा दी उसे स्वीकार करने के लिये हम प्रस्तुत हैं। उत्तर में आचार्यश्री ने कहा—तुम्हारे जैसे भव्य प्राणियों का ऐसा ही करना चाहिये।

तत्पश्चात् ऋतु राजा ने पूछा—भगवन्! इस कार्य के लिये शुभ दिन कौन-सा होगा? तब आचार्य ने कहा कि 'आज का दिन ही उत्तम है।' अतः राजा ने वहाँ रहते हुए ही महादान दिया, देव-पूजन किया, अपने छोटे पुत्र शुभाचार को राजगद्दी पर बिठाया और अपनी समस्त प्रजा को आनन्दित किया।

तदनन्तर ये चारों दीक्षा ग्रहण करने योग्य सभी कार्य पूर्ण कर प्रव्रज्या लेने के लिये आचार्यश्री के समक्ष उपस्थित हुए। आचार्यश्री ने सद्भाव पूर्वक उन्हें दीक्षा दी। उसी समय अज्ञान और पाप रूपी बालक जो दूर खड़े इन चारों के धर्मसभा से बाहर आने की प्रतीक्षा कर रहे थे वे भाग गये और उज्ज्वल बालक आर्जव अपने सूक्ष्म परमाणुओं से इन चारों के शरीर में फिर से प्रविष्ट हो गया। [१–२]।

कालज्ञ और विचक्षणा को सम्यक्त्व की प्राप्ति

उस समय कालज्ञ और विचक्षणा अपने मन में सोचने लगे कि, अहो! इन चारों मनुष्यों को धन्य है, इनका जन्म सफल हुआ। ये सच्चे पुण्यशाली जीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं इसी से आचार्यश्री के उपदेश से प्रतिबुद्ध होकर दीक्षा लेने को तत्पर हुए हैं। इस संसार समुद्र को पार करना अत्यन्त दुष्कर है, पर इन्होंने तो इस भव समुद्र को पार करने की तैयारी कर ही ली है। यह चारित्र-रत्न ही संसार समुद्र को पार करने का मुख्य साधन है, किंतु हम अत्यन्त भाग्यहीन हैं कि देवयोनि में हमें चारित्र प्राप्त नहीं हो सकता। * फिर भी हमें उत्तम लाभ तो प्राप्त हुआ ही है और वह यह है—मिथ्यात्व को चूर-चूर करने वाला, अनन्त भवों में भी कठिनता से प्राप्त होने वाला सर्वोत्तम सम्यक्त्व जो हमें प्राप्त हुआ है। इतने तो भाग्यशाली हम भी हैं ही, क्योंकि दरिद्री को रत्नों का ढेर कभी नहीं मिलता। ऐसा सोचते हुए वे दोनों व्यन्तर-दम्पति आचार्यश्री के चरणों को नमन कर, उनसे आज्ञा लेकर अपने स्थान को जाने के लिये निकल पड़े। जैसे ही वे सभा-स्थान से बाहर निकले कि तुरन्त ही भोगतृष्णा जो बाहर खड़ी उनकी प्रतीक्षा कर रही थी उन दोनों के शरीर में प्रविष्ट हो गई, पर अब यह व्यन्तर-युगल शुद्ध सम्यक्त्व को प्राप्त कर चुका था अतः वह इनको किसी प्रकार की बाधा पहुँचाने में असमर्थ थी। [३–९]

व्यन्तर-व्यन्तरी को स्पष्टोक्ति

एक दिन विचक्षणा और कालज्ञ एकान्त में बैठे थे। उस समय विचक्षणा ने पूछा—प्राणनाथ! जब आपको मालूम हुआ कि मैंने आपको ठगा है और पर-पुरुष से समागम कर रही हूँ तब आपके मन में मेरे प्रति कैसे विचार हुए होंगे? उत्तर में कालज्ञ ने उस समय मुग्धकुमार को मार डालने के और अन्त में एकाएक ऐसा साहस न कर कुछ विलम्ब से यह कार्य करने के जो विचार आये थे वे सब कह सुनाये। ऐसा विचार-युक्त उत्तर सुनकर विचक्षणा ने कहा—आर्यपुत्र! आपका नाम कालज्ञ है वह सर्वथा उपयुक्त ही है। [आप अपने नाम के अनुसार समय को पहचानने वाले और उसकी शोध करने वाले हैं, इसमें तनिक भी शंका नहीं हो सकती। उस समय आपने त्वरितता न कर, जो कालक्षेप किया वह अच्छा ही किया। इस प्रकार हम सब जीवित बच गये, आचार्यश्री के दर्शन कर सके, चारों ने दीक्षा ग्रहण की और हमें सम्यक्त्व प्राप्त हुआ, यह सब धैर्य रखने का ही सुफल प्राप्त हुआ है।] [१०–११]

अब कालज्ञ ने विचक्षणा से पूछा—प्रिये! मुझे परस्त्री के साथ रमण करते देख कर तेरे मन में क्या-क्या विचार उठे थे? उत्तर में विचक्षणा ने उस समय उसके मन में जो-जो विचार उठे थे वे सब कह सुनाये। तब कालज्ञ ने कहा—सच ही तेरे मन में मेरे प्रति ईर्ष्या होते हुए भी तूने जल्दबाजी न कर, समय निकाला यह तेरी विचक्षणता ही है, तूने भी अपना नाम सार्थक किया है। वल्लभे! हमने जो समय व्यतीत किया तो भोग भी भोगे, प्रीति भी बनी रही और अकाल में विरह भी नहीं भोगना पड़ा, अन्त में हमें धर्म भी प्राप्त हुआ, ऋतु राजा

* पृष्ठ १७९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि पर हमने बहुत उपकार किया। अतः हमने जो कालक्षेप किया वह हम दोनों के लिये तो सफल ही हुआ। विचक्षणा ने उत्तर दिया--नाथ! इस बात में क्या संदेह है? जो भी कार्य विचार-पूर्वक किया जाता है वह अच्छा ही होता है। [१२-१५]।

इसके बाद उस व्यन्तर-दम्पति के परस्पर प्रेम में वृद्धि हुई और वे शुद्ध धर्म की प्राप्ति से आत्मा को कृतार्थ करते हुए आनन्द से रहने लगे। [१६]।

कथा का निष्कर्ष

सामान्यरूपा, मध्यमबुद्धि को उपरोक्त कथा द्वारा दो युगलों का दृष्टान्त देकर कहती है--हे पुत्र! उपरोक्त दृष्टान्त से तू समझ गया होगा कि जब कभी किसी विषय में संदेह पैदा हो जाय तो कालक्षेप करना ही गुणकारक होता है। अतएव ऐसी संदेहास्पद अवस्था में जिसमें कि निर्णय लेना शक्य नहीं है तुम्हें भी कालक्षेप करना चाहिये। पश्चात् इस अवधि में गुणावगुण का निर्णय करने के बाद जो मार्ग ग्रहण करने योग्य लगे उसे ग्रहण करना। मध्यमबुद्धि ने अपनी माता की आज्ञा को शिरोधार्य किया। अब स्पर्शन पर जो वास्तव में सब का भाव शत्रु है, मनीषी के कहने से मध्यमबुद्धि प्रगाढ प्रीति नहीं रखता। बाल के कहने से कभी-कभी उस पर थोड़ा ऊपरी स्नेह दिखाता रहता है फिर भी स्वयं सर्वदा सचेत रहता है। इस प्रकार मध्यमबुद्धि त्याग और स्नेह के बीच झूलते हुए समय व्यतीत कर रहा है। [१७-२०]।

❀

८. मदनकन्दली

अकुशलमाला की योगशक्ति

बाल ने एक दिन अपनी माता अकुशलमाला से कहा--माताजी! आप अपनी योगशक्ति का बल दिखलाइये। उत्तर में उसने कहा--पुत्र! तू मेरे सम्मुख खड़ा हो जा, मैं अपनी योगशक्ति का प्रयोग करती हूँ। फिर अकुशलमाला ने ध्यान किया, प्राण-वायु को रोका और सूक्ष्म परमाणुओं द्वारा बाल के शरीर में प्रवेश किया। इधर स्पर्शन भी हर्ष पूर्वक बाल के शरीर में प्रविष्ट हो गया।❀ दो सूक्ष्म शरीरों के प्रविष्ट होने से बाल को अधिकाधिक कोमल स्पर्शवाली वस्तुओं को प्राप्त करने की अभिलाषा होने लगी जिससे वह बार-बार व्याकुल होने लगा। परिणाम स्वरूप वह दूसरे सब कर्त्तव्य छोड़कर इसी कार्य में संलग्न हो गया और रात-दिन अनेक स्त्रियों के साथ सुरत-क्रिया आदि भोग भोगने में लीन हो गया। यहाँ तक कि वह मूढात्मा जुलाहे, चमार, डूम, ढेढ आदि नीच जाति की स्त्रियों पर

❀ पृष्ठ १८०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी आसक्त होने लगा और लोलुपता पूर्वक उनके साथ भोग भोगने लगा। इस प्रकार सत्कार्य के विरुद्ध चलने वाले बाल को अकार्य में ही प्रवृत्त देखकर लोग उसकी निन्दा करने लगे और उसके मुँह पर ही उसे पापी, मूर्ख, अज्ञानी, निर्लज्ज, निर्भागी, कुल-कलंकी आदि कहने लगे। लोगों की निन्दा की उपेक्षा कर बाल तो यही मानता कि वह माताजी और स्पर्शन की कृपा से सुख-सागर में गोते लगा रहा है। लोगों को जो बोलना हो बोलते रहें, इनके कहने की चिन्ता क्यों करूँ ?

अकुशलमाला भी कभी-कभी उसके शरीर से बाहर आकर उससे पूछ लेती कि उसकी अद्भुत योगशक्ति का उस पर कैसा प्रभाव हुआ ? तब बाल कहता--माताजी ! इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है कि आपने मुझ पर बहुत बड़ा उपकार किया है, मुझे सुखसागर में सराबोर कर दिया है। माताजी ! अब मेरी प्रार्थना है कि आप कृपा करके जीवन पर्यन्त मेरे शरीर का त्याग न करें। अकुशलमाला ने यह स्वीकार किया और कहा—वत्स ! तुझे यह रुचिकर है तो दूसरे सब काम छोड़कर मैं तेरा ही काम करूँगी। माता को अपने अधीन देखकर बाल मन में फूला न समाया। वह सोचने लगा--'स्पर्शन तो मेरे वश में है ही, कार्य-साधक समस्त सामग्री मेरे अनुकूल है ही। अहो ! इस संसार में मेरे जैसा भाग्यशाली, मेरे जैसा सुखी अन्य कोई शायद ही होगा' ऐसे विचारों से वह अत्यधिक प्रफुल्लित होकर अधिक कुव्यसनी बनता गया। [२१-३५]

मध्यमबुद्धि का परामर्श

बाल के उपरोक्त चाल-चलन से राज्य भर में उसकी बहुत निन्दा हो रही थी अतः लोक-निन्दा से डरने वाले मध्यमबुद्धि ने स्नेह-विह्वल होकर एक दिन प्रेम से उसे समझाया--भाई बाल ! तेरा इस प्रकार का लोक-विरुद्ध आचरण किसी भी प्रकार उचित नहीं है। त्याग करने योग्य अयोग्य वस्तुओं का उपभोग करना अति निन्दनीय, पाप से परिपूर्ण और कुल को कलंक लगाने वाला है। बाल ने उत्तर दिया--भाई मध्यमबुद्धि ! ऐसा लगता है कि तुझे मनीषी ने ठगा है, अन्यथा स्वर्ग के जैसे उत्तम सुख भोगने वाले मुझ को क्या तू नहीं देखता ? जो मूर्ख प्राणी जाति-दोष के कारण किसी सुन्दर स्त्री आदि का त्याग करते हैं वे ऐसे ही हैं जैसे जो दूषित स्थान में पड़े होने के कारण महारत्न का त्याग करते हैं। उसका उत्तर सुनकर मध्यमबुद्धि अपने मन में सोचने लगा कि यह बाल उपदेश (शिक्षा) के अयोग्य है, इसे किसी प्रकार की शिक्षा देना व्यर्थ है। मैं व्यर्थ ही वाक्परिश्रम कर रहा हूँ। इस प्रकार बाल, मध्यमबुद्धि और मनीषी सुख-पूर्वक अपना समय बिता रहे थे। ❀ [३६-४१]

वसन्त ऋतु का आगमन

अन्यदा काम को उत्तेजित करने वाली वसन्त ऋतु का समय आ गया।

❀ पृष्ठ १८१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वन में अनेक प्रकार के विकसित सुन्दर पुष्प-समूहों पर गुंजायमान भौंरों की गुंजार से वन उद्यान अति सुन्दर हो गये। पति के साथ विचरण करने वाली प्रेम-मग्न पत्नी के हृदय को आनन्द देने वाली कोयल की मीठी कुहुक से वन प्रदेश गूंज उठा। विकसित केशू के फूलों के अग्रभाग ऐसे लाल हो रहे थे मानो वियोग से दुःखी स्त्री के शरीर का मांस-पिण्ड हो। आम्र-मंजरी चारों दिशाओं को सुगंधित करती हुई वसन्तराज के साथ प्रमुदित होकर धूलि-क्रीडा कर रही थी। देवता और किन्नरों के युगल वन में आकर अनेक प्रकार की क्रीडाएँ कर रहे थे जिससे मनुष्य-लोक का वन स्वर्ग के नन्दनवन की रमणीयता को प्राप्त कर रहा था। वल्लरियाँ उत्कर्ष को प्राप्त हो रही थीं। घर-घर और वृक्षों की शाखाओं में झूले पड़े थे और कामदेव को उद्दीपित करने वाली सुगंधित मलय पवन मन्द-मन्द चल रही थी। [४२–४७]

लीलाधर उद्यान

ऐसे मन्मथकालीन वसन्त ऋतु में आनन्दित होकर मध्यमबुद्धि को साथ लेकर बाल क्रीडा के लिये एक दिन बाहर निकल पड़ा। जब वह बाहर निकला तब योग-शक्ति से उसके शरीर में प्रविष्ट उसकी माता और उसका मित्र स्पर्शन भी सूक्ष्म रूप से उसके शरीर में ही विद्यमान थे। ऐसे लुभावने समय में कुमार मध्यमबुद्धि के साथ नगर के बाहर स्थित नन्दनवन के समान लीलाधर उद्यान में पहुँचा। इस उद्यान के मध्य में एक बड़ा मन्दिर था, जिसके ऊँचे श्वेत शिखर मन्दिर के दर्शनार्थी की आँखों को आह्लादित करते थे। अनेक विशाल तोरणों से मन्दिर शोभित हो रहा था। मन्दिर में लोगों ने स्त्रियों के हृदय को आह्लादित करने वाले रतिपति कामदेव की प्रतिमा प्रतिष्ठित कर रखी थी। इस देवता की विशिष्ट पूजा प्रत्येक त्रयोदशी को होती थी। आज भी त्रयोदशी होने से कुमारिकायें सुन्दर पति की प्राप्ति के लिये, विवाहित स्त्रियाँ सौभाग्य की वृद्धि के लिये और कुछ स्त्रियाँ अपने पति के प्रेम को प्राप्त करने के लिये पूजा करने आ रही थीं। मोहान्ध कामी पुरुष अपनी पसन्द की स्त्री के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का अवसर प्राप्त करने के लालच से पूजा करने के बहाने मन्दिर में आ रहे थे। [४८-५४]

कामदेव की शय्या पर बाल

कामदेव के मन्दिर में आज बहुत कोलाहल हो रहा था जिसे सुनकर कौतुक देखने की इच्छा से बालकुमार ने अपने भाई मध्यमबुद्धि के साथ मन्दिर में प्रवेश किया। वहाँ उन्होंने देखा कि रतिनाथ कामदेव को कई भक्तिपूर्वक प्रणाम कर रहे थे, कई प्रयत्न पूर्वक पूजा कर रहे थे और कई गुण-कीर्ति गाकर स्तुति कर रहे थे। बाल ने मन्दिर की प्रदक्षिणा देते हुए देव मन्दिर के निकट ही गुप्त स्थान पर वासभवन (शयनकक्ष) देखा। रतिनाथदेव का वह वासभवन (कक्ष)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखने में अत्यन्त रमणीय, मन्द-मन्द प्रकाश से युक्त और कौतुक उत्पन्न करने वाला था। ❀ इसमें क्या होगा ? यह देखने के लिए मध्यमबुद्धि को द्वार के पास खड़ा कर बाल सहसा ही उस कक्ष के अन्दर चला गया। वहाँ उसने एक अति विशाल शय्या देखी जिस पर कोमल बिस्तर-तकिये तथा निर्मल स्वच्छ एवं कोमल चादर बिछी हुई थी। इस शय्या के मध्य में रति के साथ कामदेव सो रहे थे। देवताओं को भी अप्राप्य उस कोमल सुन्दर महाशय्या को बाल ने देखा। शयन-कक्ष में प्रकाश अति मन्द था अतः यह क्या है जानने के कौतुक से शय्या को दो-चार बार हाथ फिरा कर देखा तब उसे लगा कि यह कामदेव की शय्या होनी चाहिये। उस शय्या के कोमल स्पर्श के वशीभूत होकर वह सोचने लगा कि ऐसी कोमल शय्या अन्यत्र तो कहीं मिल ही नहीं सकती। उस समय उसके शरीर में स्थित उसकी माता और स्पर्शन की प्रेरणा से उसमें चपलता जागृत हुई। चापल्य दोष से ग्रस्त होकर वह सोचने लगा कि मैं इच्छानुसार इस शय्या पर सोकर इसका उपयोग करूं। उस समय उसे यह विचार नहीं आया कि इस शय्या में स्वयं कामदेव रति महादेवी के साथ सो रहे हैं। देव-शय्या पर सोने वाले को कितने दुःख उठाने पड़ते हैं इसका भी उसे विचार नहीं आया। बाल ने यह भी नहीं सोचा कि अन्य लोग यदि देख लेंगे या उन्हें पता लग गया तो मेरी कितनी हँसी होगी। द्वार पर उसकी राह देख रहा मध्यमबुद्धि उसकी हँसी करेगा। भविष्य में क्या होगा इसका तनिक भी विचार किये बिना मोह के वशीभूत होकर वह शय्या पर चढ गया और उस पर सोकर कुचेष्टायें करने लगा। अपने अंगों को मरोड़ने लगा और उस विशाल शय्या के स्पर्श-सुख को प्राप्त कर वह सोचने लगा – अहो ! इसका सुख ! इसका स्पर्श कितना आह्लादकारी है ! तथा उसके प्रति अपूर्व प्रीति वाला बनकर अपने आप को भाग्यशाली मानता हुआ वह शय्या पर लोट-पोट होने लगा। [५५–७१]

मदनकन्दली का स्पर्श

[क्षितिप्रतिष्ठित नगर के अन्तरंग राज्य का राजा कर्मविलास था और वहीं बाल, मनीषी, मध्यमबुद्धि आदि कुमार भी रहते थे।] नगर के बहिरंग राज्य पर प्रख्यात महातेजस्वी शत्रुमर्दन नामक राजा राज्य करता था। उस राजा के उत्तम कुलोत्पन्न कमल के समान नेत्रों वाली प्राणों से भी अधिक प्रिय मदनकन्दली नामक रानी थी। वह महारानी अपने हाथ में पूजा की सामग्री लेकर अपने परिवार के साथ कामदेव की पूजा करने के लिये उस दिन मंदिर में आई थी। मंदिर के मध्य में स्थित कामदेव की पूजा कर वह भी शयनकक्ष की तरफ आई। उसे देखकर और स्त्री जानकर लज्जा और भय से बाल थोड़ी देर के लिये काष्ठ के समान निस्पन्द और स्थिर हो गया। ❀ शयनकक्ष में प्रकाश अति मन्द था, शय्या के मध्य में सोये

❀ पृष्ठ १८२ ❀ पृष्ठ १८३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए कामदेव की रानी हाथ के स्पर्श से पूजा करने लगी। चन्दन से रति और कामदेव का विलेपन करते हुए रानी ने बाल के सम्पूर्ण शरीर को अपने कोमल हाथ से स्पर्श किया। बाल के शरीर में सूक्ष्म रूप से स्थित माता और स्पर्शन की प्रेरणा से मलिन-बुद्धि बाल के मन में विचार आया कि इस कोमलांगी स्त्री के हाथ का स्पर्श मात्र मुझे कितना मृदु लग रहा है। मैंने अपने जीवन में कभी भी ऐसे कोमल स्पर्श का अनुभव नहीं किया। अहो! मैं अभी तक अन्य स्पर्शों को व्यर्थ ही कोमल मान रहा था। अब तो मुझे ऐसा लग रहा है कि तीनों लोकों में भी इस स्त्री से अधिक कोमल कोई वस्तु हो ही नहीं सकती।

कामदेव की पूजा समाप्त कर मदनकन्दली रानी वहाँ से अपने स्थान पर चली गई। [७२–८२]

बाल की विचित्र दशा

मदनकन्दली के वहाँ से चले जाने पर 'मुझे यह स्त्री किस प्रकार प्राप्त हो' इसी विचार और चिन्ता में बाल का हृदय विह्वल और व्यथित हो गया। उसके मन में अवर्णनीय अन्तस्ताप होने लगा, वह अपने आपको भूल गया और शय्या में पड़ा-पड़ा लम्बे-लम्बे निःश्वास छोड़ने लगा। जैसे मूर्छित हो, मूक हो, पागल हो, सर्वस्व हार गया हो, ग्रहाविष्ट हो, तप्त शिला पर मत्स्य पड़ा हो वैसे ही वह शय्या पर इधर से उधर लोट-पोट होते हुए तड़फने लगा।

मध्यमबुद्धि का वासभवन में प्रवेश

उस समय मध्यमबुद्धि जो शयनकक्ष के बाहर खड़ा उसकी प्रतीक्षा कर रहा था, सोचने लगा कि, अरे! इतना समय हो गया, अभी तक बाल बाहर क्यों नहीं निकला? अन्दर क्या कर रहा है? जरा भीतर जाकर देखूँ तो सही! यह सोचकर मध्यमबुद्धि शयनकक्ष में प्रविष्ट हुआ और हाथ से छूकर उसने कामदेव की शय्या को देखा। उसे हाथ लगाते ही उसका भी मन उस तरफ आकर्षित हो गया, क्योंकि वह शय्या अत्यन्त कोमल थी। जब उसने अधिक ध्यानपूर्वक देखा तब उसे मालूम हुआ कि शय्या के एक हिस्से पर बाल तड़फड़ा रहा है। उसकी दशा देखकर मध्यमबुद्धि सोचने लगा कि, अहो! इस भाई ने यह क्या अकार्य कर डाला? देव की शय्या पर चढना योग्य नहीं है। रति के रूप को भी शर्माने वाली अत्यन्त सुन्दर गुरुपत्नी हो तब भी वह सर्वथा अगम्य है। यह शय्या अत्यधिक सुख देने वाली होने पर भी देव प्रतिमा से अधिष्ठित होने से मात्र वन्दनीय है, उपभोग्य नहीं। यह सोचकर मध्यमबुद्धि ने बाल को जगाया, पर वह कुछ भी नहीं बोला, तब मध्यमबुद्धि ने कहा—अरे भाई! तूने यह न करने योग्य कार्य किया है, देव की शय्या पर चढना या सोना ठीक नहीं। इस प्रकार बाल को अनेक तरह से समझाने लगा, पर उसने तो कुछ भी उत्तर नहीं दिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यन्तर-कृत पीड़ा

उसी समय मन्दिर के अधिष्ठायक व्यन्तर ने वहाँ प्रवेश किया। उसने बाल को आकाश-बन्धन से बांध दिया और जमीन पर पछाड़ा, फिर उसके सारे शरीर में तीव्रतम वेदना उत्पन्न की जिससे वह मरणासन्न हो गया। इस भयंकर प्रसंग को देखकर मध्यमबुद्धि ने हाहाकार किया। 'यह क्या है ?' देखने की इच्छा से बहुत से लोग मन्दिर से शयनकक्ष की तरफ दौड़े आये। व्यन्तर ने धक्के मार कर बाल को शयनकक्ष के बाहर धकेल दिया ❀ और बहुत जोर से जमीन पर पटका, परिणामस्वरूप उसकी आँख की पुतली फूट गई और प्राण कण्ठ में आ गये। सब लोगों ने बाल को उस स्थिति में देखा। उसके पीछे ही दीन मन वाला मध्यमबुद्धि भी शयनकक्ष से बाहर निकला। मध्यमबुद्धि के बाहर आते ही लोग उसे पूछने लगे कि 'यह सब क्या गड़बड़ है ?' पर लज्जावश वह कुछ भी उत्तर नहीं दे सका। उस समय वह व्यन्तर किसी पुरुष के शरीर में प्रविष्ट हुआ और उस पुरुष के द्वारा उसने सब घटना लोगों को कह सुनाई। मकरध्वज के भक्त जो लोग वहाँ उपस्थित थे उन्होंने यह घटना सुनकर बाल को देव का अपमान करने वाला महापापी जानकर उसका अत्यन्त तिरस्कार किया। उसके सम्बन्धी कहने लगे 'अपने कुल को कलंकित करने वाला विषवृक्ष जैसा यह बाल अपने कुल में उत्पन्न हुआ है' ऐसा कहकर वे सब उसकी निन्दा करने लगे। 'अब यह अपने पाप के फल भोगेगा, इसे सजा भुगतनी ही चाहिये।' ऐसा कहकर सामान्य लोग भी उसकी आलोचना करने लगे। 'जो प्राणी बिना विचारे निन्दनीय काम करते हैं वे सब अनर्थों और दुःखों को सहन करते हैं, इसमें नवीनता भी क्या है ?' ऐसा कहकर विवेकी लोगों ने उसकी उपेक्षा की। उस समय व्यन्तर ने भयंकर रूप धारण कर कहा—तुम्हारे सब के सामने ही इस दुरात्मा बाल के टुकड़े-टुकड़े कर देता हूँ। यह सुनकर मध्यमबुद्धि ने हाहाकार किया और उस पुरुष के पांवों में पड़ गया, जिसके शरीर में व्यन्तर ने प्रवेश किया था। उसने कहा—'अरे ! अरे ! कृपा करो, दया करो, मेरे भाई के प्राणों की मैं आप से भिक्षा मांगता हूँ। कृपा कर आप इसे न मारें।' मध्यमबुद्धि के रुदन से लोगों को भी उस पर दया आई और उन्होंने व्यन्तर से कहा—हे भट्टारक ! इस बेचारे को एक बार क्षमा करदो, फिर से वह देव का अपमान कभी नहीं करेगा। मध्यमबुद्धि पर करुणा लाकर और लोगों के कहने से उस समय व्यन्तर ने बाल को छोड़ दिया। थोड़ी देर बाद जब बाल के शरीर में चेतना आई, शरीर पर घाव लगने से चमड़ी कठोर हो गई थी वह नरम होने लगी और कुछ स्फूर्ति आई तब मध्यमबुद्धि उसे शीघ्रता पूर्वक मन्दिर से बाहर ले आया और बड़ी कठिनता से उसे राजमहल में ले गया।

❀ पृष्ठ १८४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाल और कर्मविलास

कर्मविलास राजा ने जब अपने परिजनों से यह सब घटना सुनी तब अपने मन में विचार किया कि, बाल को यह क्या हो गया है ? उसके ऐसे आचरण से अब मुझे उसके प्रतिकूल होना पड़ेगा, तब उसका क्या हाल होगा ? यह तो अभी इन लोगों को ज्ञात ही नहीं हैं। देवता का अपमान करने वाले ऐसे दुराचारी पुत्र को तो कठोर दण्ड मिलना ही चाहिये। यह सोचकर कर्मविलास राजा ने अपने परिवार से कहा—अरे ! ऐसे अविनयी तूफानी छोकरे की अब क्या चिन्ता करें ? यह तो अब हमारे अनुशासन के योग्य भी नहीं रहा। [मैं आज्ञा देता हूँ कि] कोई भी व्यक्ति अब इसके साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखे। राजा की आज्ञा को सबने शिरोधार्य किया।

बाल का अन्तस्ताप : मध्यमबुद्धि का परामर्श

मध्यमबुद्धि ने बालकुमार से पूछा—भाई ! अब तो तेरे शरीर में कोई दर्द नहीं है न ?

बाल—शरीर में तो दर्द नहीं है, पर मेरे मन में सन्ताप हो रहा है और वह बढता जा रहा है।

मध्यमबुद्धि—पर, इस मनस्ताप का कारण क्या है ? क्या तू उसे जानता है ?

कामदेव सर्वदा वक्र होता है और उसकी प्रवृत्तियाँ भी विपरीत होती हैं, अतः बाल ने सीधा उत्तर न देते हुए कहा – मैं तो नहीं जानता, पर कामदेव के मन्दिर में शयन कक्ष के बाहर जब तू खड़ा था तब क्या तूने किसी स्त्री को कक्ष में प्रवेश करते या बाहर निकलते देखा था ?

मध्यमबुद्धि – हाँ, एक स्त्री को देखा तो था, पर उससे तुझे क्या ?

बाल—वह कौन थी ? उसे तू पहचानता भी होगा ?

मध्यमबुद्धि – हाँ, अच्छी तरह जानता हूँ। वह शत्रुमर्दन की रानी मदनकन्दली थी।

मध्यमबुद्धि का उत्तर सुनकर ❀ बाल चिन्ता में पड़ गया और गहरे निःश्वास छोड़ते हुए सोचने लगा कि ऐसी स्त्री मुझे कैसे मिल सकती है ? व्यवहार-कुशल मध्यमबुद्धि समझ गया कि यह भाई मदनकन्दली पर आसक्त हो गया लगता है। पुनः मध्यमबुद्धि ने विचार किया कि यह मदनकन्दली अतिशय सुन्दर और रूपवती होने से लोगों को अपनी ओर आकर्षित करती है और लोगों के मन में अपने प्रति अभिलाषा उत्पन्न करती है। कक्ष का द्वार छोटा होने से जब वह

❀ पृष्ठ १८५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शयनकक्ष से बाहर निकल रही थी तब मुझे भी उसका स्पर्श हुआ था और ऐसा लगा था कि संसार में किसी भी अन्य वस्तु का स्पर्श इतना मादक नहीं हो सकता। उस समय मेरा मन भी उसके साथ विलास करने के विचार से डांवाडोल हो गया था। पर 'कुलीन मनुष्यों के लिये पर-स्त्रीगमन उचित नहीं' यह सोचकर मैं तुरन्त पीछे हट गया। यह भाई भी यदि मेरी बात माने तो इसे समझा कर अनुचित कार्य करने से इसे रोकूं। ऐसा सोचकर मध्यमबुद्धि ने बाल से कहा—अरे भाई! बाल! क्या अभी तक तू मूर्ख अज्ञानी ही रहा? अविनय का कितना बुरा परिणाम होता है क्या तूने स्वयं अभी उसका अनुभव नहीं किया है? तेरे प्राण तो कण्ठ तक आ गये थे, तेरे दुर्विनय से भगवान् कामदेव तुझ पर बहुत क्रोधित हुए थे, बड़ी कठिनता से तो मैंने तुझे उनके हाथ से छुड़ाया है। क्या तू इतनीसी देर में सब कुछ भूल गया? अतः भाई अब तो तू इन बुरे विचारों को छोड़ दे। तू ऐसा सोचले कि यह मदनकन्दली दृष्टि-विष सर्प के मस्तक में रही हुई मणि है। इस स्त्री की इच्छा के परिणाम स्वरूप तू स्वयं जल कर राख हो जायेगा और तेरे हाथ कुछ भी नहीं लगेगा, यह तू निश्चित समझले। मध्यमबुद्धि के विचार सुनकर बाल समझ गया कि मेरे मन में क्या विचार चल रहे हैं यह उन सब को जान गया है अतः अब इससे छुपाना व्यर्थ है, यह सोचकर बाल ने उसे स्पष्ट कहा—अरे भाई! यदि ऐसा है तो तूने मुझे छुड़वाया ऐसा क्यों कहते हो? तूने तो मुझे अधिक पिटवाया है। तेरे कहने से ही कामदेव ने मुझे छोड़ दिया इससे मेरी शारीरिक वेदना तो मिटी, पर मुझ पर वितर्क-परम्परा रूप अंगारे डाल दिये जिससे मेरा पूरा शरीर जल रहा है, धधक रहा है। कामदेव ने जब मुझे बाँधा तभी मैं मर गया होता तो इतना अन्तस्ताप तो नहीं होता। मुझे छुड़वाकर तो तूने बहुत बड़ा अनर्थ कर दिया है। मेरे मन में इतना अधिक संताप हो रहा है कि उसे शान्त करने के लिये तो मदनकन्दली के मिलन रूपी अमृत सिंचन के अतिरिक्त और दूसरा कोई उपाय नहीं है। मैं तुझे अब अधिक क्या कहूँ।

मध्यमबुद्धि अपने मन में समझ गया कि इसका भला करो तो इसे बुरा लगता है। उसे यह भी निश्चित मालूम हो गया कि वह मदनकन्दली के प्रति इतना अधिक आकर्षित हुआ है कि वर्तमान में तो वह आसक्ति किसी भी प्रकार कम नहीं हो सकती। यह किसी भी प्रकार इससे पीछे हट सकता हो ऐसा नहीं लगता। यह सब देखकर वह चुप हो गया।

❀

9. बाल, मध्यमबुद्धि, मनीषी और स्पर्शन

बाल का अपहरण : मध्यमबुद्धि द्वारा शोध

सूर्यास्त हुआ तो बाल को लगा जैसे सूर्य (प्रकाश) उसके हृदय से ही निकल गया और चारों ओर अन्धकार फैल गया। रात्रि का प्रथम प्रहर समाप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने पर सड़कों पर लोगों का गमनागमन बन्द हो गया। 'जो काम वह कर रहा है वह उचित है या नहीं' इसका विचार किये बिना ही बाल रात्रि के दूसरे प्रहर में महल से निकला और राजमार्ग पर जिधर शत्रुमर्दन राजा का महल था उसी तरफ चलते हुए कितनी ही दूर पहुँच गया। इधर मध्यमबुद्धि ने यह सोचकर कि इस बाल का क्या होगा? ❀ वह भी उसके पीछे पीछे चल पड़ा। आगे-आगे बाल और पीछे-पीछे छुपता हुआ मध्यमबुद्धि जा रहे थे कि बाल ने एक पुरुष को देखा। उस पुरुष ने लात मारकर बाल को मयूरबन्ध (मजबूत रस्सों) से बांध दिया तो बाल जोर-जोर से चिल्लाने लगा, तब मध्यमबुद्धि ने 'आ रहा हूँ' 'आ रहा हूँ' जोर से दो तीन आवाज लगाई। मध्यमबुद्धि दूर से देख ही रहा था, तब तक तो वह पुरुष बाल को उठाकर आकाश में उड़ने लगा। बाल अधिक चिल्लाने लगा तो उसने बाल का मुँह कपड़े से ढक दिया। बाल को उड़ाकर वह आकाश में पश्चिम दिशा की तरफ जाने लगा। 'अरे दुष्ट विद्याधर! तू मेरे भाई को कहाँ ले जा रहा है?' ऐसी आवाजें लगाते हुए तलवार खींचकर विद्याधर की दिशा में मध्यमबुद्धि भी जमीन पर भागने लगा। चलते-चलते वह नगर के बाहर निकल गया, तब तक तो आकाश में उड़ते हुए वह विद्याधर इतनी दूर निकल गया कि वह उसकी आँखों से भी ओझल हो गया।

उस समय मध्यमबुद्धि एकदम निराश हो गया तब भी भाई के स्नेहवश दौड़ना चालू रखा, यह सोचकर कि आगे किसी स्थान पर तो विद्याधर बाल को छोड़ेगा ही। दौड़ते-दौड़ते पूरी रात बीत गई। पाँव में जूते न होने से अनेक काँटे, कील, पत्थर लगते रहे, चुभते रहे। मध्यमबुद्धि दौड़-दौड़ कर थक गया, भूख-प्यास से पीडित हो गया, शोक से विह्वल और दीन हो गया, फिर भी पश्चिम दिशा की तरफ चलता ही गया। गाँव-गाँव में अपने खोए हुए भाई की खोज-खबर पूछते हुए वह सात दिन-रात इसी प्रकार चलते हुए अन्त में कुशस्थल नगर में पहुँचा।

मध्यमबुद्धि का आत्महत्या का प्रयत्न : बाल का मिलन

कुशस्थल नगर के बाहर मध्यमबुद्धि थोड़ा रुका, वहाँ उसने एक पुराना काम में न आने वाला गहरा कुँआ देखा। 'भाई के बिना जीने से क्या लाभ' ऐसा सोचकर, उसने कुँए में डूब कर आत्मघात करने के निर्णय से अपने गले में एक शिला (मोटा पत्थर) बाँधी। उसी समय वहाँ नन्दन नामक एक राजपुरुष ने मध्यम-बुद्धि को ऐसा दुःसाहस करते हुए देखकर जोर से आवाज लगाई—भाई! ऐसा दुःसाहस मत करो, मत करो।' कहते हुए वह दौड़कर मध्यमबुद्धि के पास आया और कुँए की जगत पर से उसे कूदते हुए धर पकड़ा, उसके गले से बंधा हुआ बड़ा पत्थर अलग किया, उसे जमीन पर बिठाया और फिर ऐसा अधम कार्य (आत्मघात) करने का कारण पूछा। उत्तर में मध्यमबुद्धि ने किस प्रकार अपने भाई बाल से वियोग हुआ, वह सब घटना कह सुनाई। सुनकर नन्दन ने कहा—'भाई! यदि

❀ पृष्ठ १८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा है तो तुझे विषाद नहीं करना चाहिये, तेरे भाई के साथ तेरा मिलन अवश्य होगा ।' मध्यमबुद्धि ने पूछा—मिलन किस प्रकार होगा ? उत्तर में नन्दन ने कहा, सुन—

इस नगर में हमारे स्वामी राजा हरिश्चन्द्र राज्य करते हैं । उन्हें विजय, माठर, शंख आदि निकट में रहने वाले अन्य माँडलिक राजागण बार-बार त्रास देते थे । हरिश्चन्द्र राजा का रतिकेलि नामक विद्याधर परम मित्र है । जिस समय शत्रुओं का उपद्रव चल रहा था, उस समय यह विद्याधर राजा के पास आया और उसे ऐसी क्रूरविद्या देने का वचन दिया * जिसके प्रभाव से वह शत्रुओं से कभी भी पराभव को प्राप्त न होगा । राजा ने विद्याधर मित्र का आभार माना । फिर विद्याधर ने यह विद्या सिद्ध करने के लिये राजा को छः महिने तक पूर्वाभ्यास (साधना) करवाया और आज से आठ दिन पहले वह विद्याधर राजा को साथ लेकर किसी स्थान पर गया । उससे अरि-विद्या की साधना करवायी और दूसरे दिन एक अन्य पुरुष के साथ राजा को वापिस नगर में ले आया । राजा के साथ लाये हुए उस पुरुष के माँस और खून से सात दिन तक होम-क्रिया करवाई । उस पुरुष को आज ही छोड़ा गया है, मेरे विचार से यही तेरा भाई होना चाहिये । राजा ने उस पुरुष को अभी-अभी मुझे सौंपा है । यह सुनकर मध्यमबुद्धि बोला—भद्र ! यदि ऐसा है तो शीघ्र ही उस पुरुष को मुझे दिखाने की कृपा करें जिससे मैं यह पता लगा सकूँ कि वह मेरा भाई है या नहीं । अच्छा, कहकर नन्दन तुरन्त ही उसको लेने के लिये गया और बाल को उठाकर शीघ्र ही वहाँ ले आया ।

बाल की दुरवस्था

बाल के शरीर में केवल हड्डियाँ रह गई थीं, खून और माँस तो लगभग समाप्त प्रायः हो चले थे, मात्र साँस चल रही थी जिससे लगता था कि वह जीवित है । वह इतना कमजोर हो गया था कि उसकी जुबान भी बन्द हो गई थी । ऐसी स्थिति में बाल को देखकर मध्यमबुद्धि ने बड़ी कठिनता से उसे पहचाना, फिर तुरन्त ही नन्दन से कहा—'भाई ! जिसके बारे में मैं तुझ से पूछ रहा था, यही मेरा भाई है । सचमुच तू नाम और काम से भी नन्दन ही है, तेरा नाम सार्थक है, तुमने आज मुझ पर बहुत बड़ा उपकार किया है ।' उत्तर में नन्दन बोला —'भाई मध्यमबुद्धि ! तुझ पर करुणा लाकर मैंने यह राजद्रोह का कार्य किया है । अभी मैं तेरे भाई बाल को लेने गया तब सुना कि आज रात को राजा फिर रक्त से विद्या को तृप्त करेगा, तब इस पुरुष की आवश्यकता पड़ेगी । अतः मेरा तो जो होना होगा वह होता रहेगा तू तो इसे लेकर शीघ्र ही यहाँ से भाग जा, बाद में जो होगा उसे मैं देख लूँगा ।' मध्यमबुद्धि ने नन्दन का उपकार मानते हुए उसकी आज्ञा को स्वीकार किया और

* पृष्ठ १८७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा कि 'भद्र ! किसी भी प्रकार तू अपने प्राण बचाना' ऐसा कहकर बाल को उठाकर मध्यमबुद्धि चल पड़ा। मन में भय था इसलिये रात-दिन दौड़ते हुए आगे बढ़ता गया। बीच में कहीं-कहीं थोड़ा रुक कर बाल को पानी पिलाता, हवा करता, पेय आहार देता। इस प्रकार अपनी शारीरिक-पीड़ा की चिन्ता न कर, बड़ी कठिनाई से बाल को लेकर वह वापिस अपने नगर में पहुंच गया।

बाल का अनुभूत वृत्तान्त

अपने स्थान पर पहुँचने के थोड़े दिनों बाद बाल में कुछ शक्ति आई। एक दिन मध्यमबुद्धि ने उससे पूछा - 'भाई ! यहाँ से जाने के बाद तुमने क्या-क्या अनुभव किया ?' उत्तर में बाल ने कहा—भाई ! तेरे सामने ही वह गगनचारी विद्याधर मुझे बांधकर उड़ा ले गया और यमपुरी के समान एक महा भयंकर श्मशान में ले पहुँचा। वहाँ मैंने देखा कि धधकते अंगारों से भरे हुए अग्निकुण्ड के पास एक पुरुष खड़ा था। विद्याधर ने उस पुरुष से कहा—'महाराज ! आपका इच्छित कार्य आज सिद्ध होगा। विद्या सिद्ध करने के लिये जैसे लक्षणों वाले पुरुष की आवश्यकता थी, वह मुझे प्राप्त हुआ है।' उस पुरुष ने उत्तर दिया—'आपकी बहुत कृपा।' फिर विद्याधर बोला—'विद्या का एक-एक जाप पूरा होने पर * मैं तुम्हारे हाथ में जो आहुति दूँगा उसे तुम अग्नि में डालना।' उस पुरुष ने विद्याधर का कथन स्वीकार कर जाप करना प्रारम्भ किया। विद्याधर यम-जिह्वा के समान अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाली चमकती एक कटार लेकर मेरे पास आया और मेरी पीठ में से एक बड़ा मांस का टुकड़ा काटा और उसी भाग को दबाकर खून निकाला। मांस और खून से अपनी अंजुली भरी। उस समय वहाँ जो दूसरा पुरुष जाप कर रहा था उसकी एक विद्या का जाप पूरा होने पर विद्याधर ने उसे वह आहुति के रूप में प्रदान की। उस पुरुष ने उस आहुति को अग्निकुण्ड में डाला। पुनः उसने जाप करना प्रारम्भ किया। परमाधामी राक्षस जैसे नारकीय जीव के शरीर को काटते हैं वैसे ही विद्याधर मेरे शरीर के भिन्न-भिन्न भागों से मांस काटता और उसी स्थान को दबाकर खून निकालता, उसे अपनी अंजुली में भर कर जाप करते हुए पुरुष के हाथ में देता और विद्या का एक जाप पूरा होने पर वह पुरुष उसे अग्निकुण्ड में डालता। उस समय मुझे इतनी अधिक पीड़ा होती कि वेदना-विह्वल होने से मुझे मूर्च्छा आ जाती और मैं मूर्छित होकर जमीन पर गिर पड़ता। पर वह निर्दयी विद्याधर तो मेरे हृष्टपुष्ट शरीर को देखकर हर्षित होता और मेरे दर्द की उपेक्षा कर मेरे शरीर के मांस को अधिक से अधिक काटता। उस समय आकाश में होने वाले अट्टहास के समान, प्रलयंकर मेघ गर्जना के समान, गुलगुलि शब्दकारी समुद्र के समान, भूकम्प से घूमती हुई पृथ्वी के समान शृगाल चमचमाती-लपलपाती जीभ से भयोत्पादक रुदन करने लगे, भयंकर रूपधारी बेताल नाचने लगे और खून की वर्षा होने लगी। ऐसी भयंकर और बीभत्स परिस्थिति में भी उस पुरुष (राजा) का चित्त किंचित् भी चलायमान नहीं हुआ। अन्त में

* पृष्ठ १८८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब १०८ जाप पूरे हुए तब वह क्रूरविद्या राजा के पास आई और "मैं सिद्ध हुई" ऐसा कहते हुए प्रकट हुई। राजा ने उसे नमस्कार किया और वह क्रूरविद्या उसके शरीर में प्रविष्ट हो गई। मेरे शरीर में से मांस और खून के निकल जाने से दयोत्पादक स्थिति में मुझे रोता देखकर राजा को थोड़ी दया आई और उसने स्वांस लेते हुए दांतों से आवाज की। तब विद्याधर ने उसे रोकते हुए कहा—'राजन्! इस विद्या का ऐसा कल्प (नियम) है कि जिस प्राणी की विद्या को आहुति दी जा रही हो उस पर साधक को दया नहीं करनी चाहिये।' फिर विद्याधर ने मेरे शरीर पर एक प्रकार का लेप लगाया जिससे मुझे इतनी अधिक पीड़ा हुई मानो मैं चारों ओर से अग्नि में जल रहा हूँ, वज्र से चूर-चूर हो रहा हूँ, घाणी में पेला जा रहा हूँ। अत्यधिक वेदना होने पर भी मेरा सुदृढ़ पापी शरीर उस समय भी समाप्त नहीं हुआ। क्षणमात्र में मेरा शरीर दावानल से दग्ध काष्ठ जैसा हो गया। उसी दशा में विद्याधर और राजा मुझे उठाकर नगर में ले गये। मेरे शरीर पर सूजन लाने के लिये मुझे खूब खट्टी वस्तुएँ खिलाई गई जिससे मेरा पूरा शरीर सूज कर शून्य-सा हो गया। राजा ने मेरे मांस और खून की आहुति देकर * सात दिन तक प्रतिदिन १०८ जाप किये। उसके बाद तूने मुझे जिस अवस्था में देखा, वह तो तू अच्छी तरह जानता ही है। यह मेरी अनुभव कथा है। इस दुःख का जब मैं अनुभव कर रहा था तब मुझे ऐसा लगा कि ऐसा दुःख तो शायद नरक में भी नहीं होगा।

मध्यमबुद्धि ने बाल का उपरोक्त वृत्तान्त सुनकर अत्यन्त दुःख के साथ कहा—भाई बाल! सचमुच ऐसा दुःख किसी को प्राप्त न हो। अरे? यह पापी विद्याधर कैसा दयाहीन और यह विद्या भी कैसी रौद्र होगी?

मनीषी की व्यवहार-बोधक शिक्षा

लोकाचार का अनुसरण कर उस समय मनीषी भी बाल के हाल-चाल पूछने और वार्ता की जानकारी लेने वहाँ आया। वह बाहर खड़ा था तभी मध्यमबुद्धि को उपरोक्त प्रकार से शोक प्रकट करते हुए सुना, वह अन्दर आया। मध्यमबुद्धि और बाल ने उसे बैठने का आसन दिया सत्कार किया और उससे बातचीत करने लगे। थोड़ी बातचीत के पश्चात् मनीषी ने पूछा—भाई। मध्यमबुद्धि! तू इस प्रकार शोक क्यों करता है?

मध्यमबुद्धि—मेरे शोक का कारण अलौकिक है, असाधारण है।

मनीषी—ऐसा क्या असाधारण कारण है?

उस समय मध्यमबुद्धि ने उसे बाल के साथ उद्यान में जाने से लेकर विद्याधर द्वारा उसे उड़ा ले जाने और उसके खून व माँस से किये गये हवन आदि का सब वृत्तान्त कह सुनाया।

* पृष्ठ १८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनीषी पहले से ही यह सब सुन चुका था, पर अपने को अनभिज्ञ बतलाते हुए और आश्चर्य प्रकट करते हुए उसने सब वृत्तान्त सुना। फिर बोला—बाल को यह क्या हो गया है? यह तो अच्छा नहीं हुआ। मैंने तो इसे पहले ही कह दिया था कि तू पापी स्पर्शन के साथ मित्रता करता है वह किंचित्मात्र भी हितकारी नहीं है। इस बाल को जो भी दुःख प्राप्त हुए हैं वे सब मेरी समझ से स्पर्शन द्वारा किये गये हैं, अर्थात् स्पर्शन-जनित अनर्थ-परम्परा के कारण ही हुए हैं। यह पापी स्पर्शन आर्यपुरुषों के अयोग्य कार्य करने का प्रेरणा स्रोत है। जब प्राणी आर्यपुरुष के अयोग्य कार्य करने का संकल्प कर लेता है तब अधमवृत्ति के कारण पाप का प्रबल उदय हो जाने से, जैसे मछली कांटे में फंसे मांस के टुकड़े को खाने के लोभ में कांटे में फंस जाती है वैसे ही प्राणी एक भी कार्य सिद्ध किये बिना आपत्तियों के जाल में फंस जाता है और मृत्यु को प्राप्त करता है। विपरीत मार्ग और आचरण से किसी प्राणी का कार्य कभी भी सिद्ध नहीं होता है। सुख प्राप्ति के लिये आर्य-पुरुष के अयोग्य कार्य करने का संकल्प करना, यह विपरीत मार्ग है। ऐसे खोटे संकल्प ही धैर्य का नाश करते हैं, विवेक का विनाश करते हैं, चित्त को मलिन करते हैं, पूर्व में बांधे हुए पाप-कर्मों को उदय में लाते हैं और अन्त में प्राणी को सर्व अनर्थों के मार्ग पर लाकर छोड़ देते हैं। अतः आर्यपुरुष के अयोग्य एवं अशोभनीय कार्य करने के संकल्प में सुख-लाभ की गंध मात्र भी नहीं आ सकती। बाल को ऐसी भयंकर पीड़ा भोगनी पड़ी जिसका एक मात्र कारण यही है कि उसने मेरी शिक्षा को नहीं माना। (अपने मन में आया वैसे किया और स्पर्शन के साथ सम्बन्ध बढ़ाता गया। बाल ने शिक्षा नहीं मानी उसका फल तो उसे स्वयं ही भोगना पड़ेगा।) इसमें तू क्यों शोक कर रहा है?

बाल—भाई मनीषी! ऐसे सम्बन्ध रहित वचन बोलने से, असम्बद्ध प्रलाप करने से क्या लाभ? सत्पुरुष विशिष्ट कार्य सम्पादन करने को जब तैयार होते हैं तब बीच-बीच में दुःख पड़ने से उनके मन में दुःख नहीं होता और न वे अपने काम से पीछे हटते हैं। यदि अभी भी कमल जैसी कोमल शरीर वाली मदनकन्दली मुझे मिल जाय तो इन दुःखों का तो अस्तित्व ही क्या है?

बाल के दुर्व्यवहार पर विभिन्न प्रतिक्रियायें

जैसे किसी मनुष्य को विकराल सर्प ने काटा हो तो उसे बचाने का कोई उपाय शेष नहीं रहता वैसे ही यह बाल अब उपदेश, मंत्र या तंत्र से सच्चे मार्ग पर नहीं आ सकता। 'इसकी अंतर व्याधि अब असाध्य हो गई है' ऐसा सोचकर मनीषी ने दांये हाथ की अंगुली के इशारे से मध्यमबुद्धि को बुलाया और उस स्थान से उठकर ❀ वे दोनों बाहर निकले तथा पास ही के दूसरे कमरे में गये। फिर

❀ पृष्ठ १९०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनीषी ने मध्यमबुद्धि से कहा—भाई मध्यमबुद्धि ! यह बाल तो अपने नाम के अनुसार मूर्ख ही है। अपना सच्चा आत्महित कहाँ है, यह नाम मात्र भी नहीं समझता। फिर इसके पीछे पड़े रहकर क्या तेरा भी विचार विनाश को प्राप्त होने का है ?

मध्यमबुद्धि—भाई मनीषी ! तूने मुझे वस्तुतः उचित शिक्षा दी है, इसमें तनिक भी शंका नहीं है। यह बाल जब तेरा सच्चा परामर्श भी नहीं मानता तब इसके साथ सम्बन्ध रखना मेरे लिये व्यर्थ है। बाल के साथ में अभी जो घटना घटी है वह बहुत ही लज्जाजनक है। क्या पिताजी को अभी तक इस बात की खबर नहीं लगी होगी ?

मनीषी—अरे ! पिताजी ही नहीं, पूरा नगर इस लज्जाजन्य घटना को जान गया है। भाई ! सूर्य के प्रकाश को क्या किसी कपड़े से ढँक कर बन्द किया जा सकता है ?

मध्यमबुद्धि—इस बात की सब मनुष्यों को कैसे खबर लग गई ?

मनीषी—भाई ! कामदेव के मन्दिर में जो घटना घटी थी वह तो बहुत से लोगों के सामने ही घटी थी। उस रात में जब विद्याधर बाल को उड़ाकर ले गया, उस समय तुमने 'मैं आया, मैं आया' करके जोर से आवाजें लगाई थी, तब बहुत से मनुष्य नींद में से उठ गये थे और उन्होंने ही यह सब घटना नगर में फैलाई है।

मध्यमबुद्धि सोचने लगा कि, अरे ! बाल चाहे जैसा भी हो, अपना भाई है, इसलिये वह तो यह सब वृत्तान्त गुप्त रखता था पर यह सब घटना तो अत्यधिक प्रकाश में आ गई लगती है। कितना भी गुप्त रूप से किया हुआ काम भी, विशेषकर पाप तो तुरन्त ही प्रसिद्ध हो जाता है। दुर्बुद्धि लोग अपने पापाचरण को छुपाने का प्रयत्न करते हैं, पर वास्तव में वह व्यर्थ है। ऐसा प्रयत्न करना ही मोह-विलसित अधिकता को ही सिद्ध करता है। अपने मन में ऐसा सोचते हुए मध्यमबुद्धि बोला—भाई मनीषी ! यह वृत्तान्त सुनकर तूने क्या सोचा ? पिताजी ने क्या सोचा ? माताजी को कैसा लगा ? और नगरवासियों ने क्या विचार किया ? यह सब मैं तुझ से सुनना चाहता हूँ।

मनीषी—'भाई मध्यमबुद्धि ! सुन, सज्जन प्राणी को दुर्गुणी प्राणी के प्रति उपेक्षा रखनी चाहिये, इस भावना से मैंने बाल के प्रति मध्यस्थ भाव रखा। क्लेश पाते प्राणी पर सज्जन पुरुषों को दया रखनी चाहिये, इस विचार से मुझे तुझ पर महती करुणा आई। पापी-मित्र (स्पर्शन) की संगति से उत्पन्न होने वाली अनेक प्रकार की पीडाओं से मैं मुक्त रहा, इस विचार से मुझे अपनी आत्मा पर अधिक श्रद्धा (पूर्ण विश्वास) हुई। महात्मागण गुणों पर और गुणी प्राणियों पर प्रमोद (विशेष कृपा) वाले होते हैं, इस विचार से पुण्यशाली भवजन्तु द्वारा समस्त अनर्थों के मूल इस पापी-मित्र स्पर्शन को दूर भगाये जाने पर मुझे विशेष प्रमोद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ और उसके प्रति अत्यधिक बहुमान उत्पन्न हुआ। पिताश्री को जब यह बात मालम हुई तब वे जोर से अट्टहास कर हँसे। मैंने जब उनसे हँसने का कारण पूछा तब उन्होंने बताया कि, वत्स! जो प्राणी मेरे प्रतिकूल होते हैं उन्हें जैसी शिक्षा मिलनी चाहिये वैसा ही दण्ड बाल को मिला है, इसलिये यह सब सुनकर मुझे हर्ष होता है। माता सामान्यरूपा तो शोक में रोने लगी और पुत्र कहाँ गया होगा, इस विचार से बहुत उदास हुई। अपने पुत्र को ऐसा कोई कष्ट नहीं आया यह जानकर मेरी माता शुभसुन्दरी आनन्दित हुई। बाल को कोई उड़ाकर ले गया है, यह जानकर नगर के सब लोग तो अत्यन्त प्रसन्न हुए। * तू बाल के पीछे गया, यह सुनकर नगर के लोगों को तुझ पर करुणा आई और मेरी स्वस्थ प्रवृत्ति (व्यवहार) को देखकर समस्त नगर निवासी मेरे प्रति आकर्षित हुए।

मध्यमबुद्धि—यह सब बातें तुझे कैसे मालूम हुई?

मनीषी—कुतूहल से मैं नगर में घूमने निकला था तभी लोगों को परस्पर बातें करते हुए मैंने सुना था। वे कह रहे थे—अरे! कुलकलंकी, अंतःकरण से महादुष्ट, मर्यादारहित, दुराचारी और सर्वदा विषय-वासना-वश होकर निन्दनीय मार्ग पर चलने वाला लंपटी, संपूर्ण नगर को अनेक प्रकार से पीड़ित करने वाले बाल को कोई महात्मा उड़ाकर ले गया, यह बहुत अच्छा हुआ। यह सुनकर उनमें से एक बोल पड़ा—हाँ, यह तो बहुत अच्छा हुआ। पर, इस बाल को किसी ने छिन्न-भिन्न कर मार डाला, ऐसी बात यदि सुनने को मिले तो और भी अधिक अच्छा; क्योंकि इस पापी का तो किसी प्रकार नाश हो तभी नगर की स्त्रियों के शील की रक्षा हो सकती है। यह सुनकर उन लोगों में से तीसरे मनुष्य ने कहा—हाँ रे! यह तो बहुत अच्छी बात हुई, पर इसके पीछे लगकर मध्यमबुद्धि दुःख पाता है यह अच्छा नहीं। मुझे तो वह भला आदमी लगता है। तभी एक और व्यक्ति बोल पड़ा—अरे भाई! जाने दे न! पापी के मित्र कभी अच्छे होते होंगे? जो सच्चा सोना होता है उनमें तो मेल होता ही नहीं। अच्छा आदमी यदि पापी का साथ करता है तो दुःखों की परम्परा और अपकीर्ति को प्राप्त करता ही है, इसमें आश्चर्य क्या है? जो प्राणी प्रारम्भ से ही ऐसे पापकार्य में आसक्त अधम व्यक्ति के सम्बन्ध का त्याग करता है, उसे किसी प्रकार का दोष नहीं लगता। इस सम्बन्ध में मनीषी उदाहरण स्वरूप है। वह स्वयं महात्मा है, इसलिये पापप्रवण बाल की संगति को छोड़कर कलंक रहित होकर पूर्णतया सुख में रहता है। भाई मध्यमबुद्धि! लोग अन्दर ही अन्दर आपस में इस प्रकार की बातें करते थे जिसे सुनकर मैंने यह सब जाना है और इसीलिये तुझे बाल का साथ छोड़ने को कहा है।

मध्यमबुद्धि को बोध और बाल की संगति का त्याग

मध्यमबुद्धि ने सोचा कि सचमुच दोषों में आसक्त व्यक्ति को इस भव में सुख की गंध भी नहीं मिलती, उसे एक के बाद दूसरा दुःख और दूसरे के बाद

* पृष्ठ १९१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीसरा दुःख. इस प्रकार दुःख ही दुःख प्राप्त होते हैं। ऐसे प्राणी को दुःख की पीड़ा से ही छुटकारा नहीं मिलता और ऊपर से लोगों का आक्रोश भी सहना पड़ता है। साथ ही अपने ही व्यक्ति शत्रुओं के कार्य-साधक बन जाते हैं। एक तो दुःख से जलता हो, उस पर लोगों में निन्दा हो तो 'गाँठ पर फोड़ा' अथवा 'जले पर डाम' लगाने जैसा असर होता है। कुबुद्धि बाल को ऐसा ही हुआ है। बाल के साथ सम्बन्ध रखने से मैं भी लोगों में दया का पात्र बना और कुछ तत्त्वविचारक लोगों ने तो मुझे बाल जैसा ही समझा। पापी बाल का साथ दुःख की खान और सज्जन पुरुषों द्वारा निन्दनीय है, यह बात अब मेरी समझ में आ गई है, अतः अब मुझे उसकी संगति कदापि नहीं करनी चाहिये। यह भी सिद्ध हो गया कि गुणों में प्रवर्तमान व्यक्ति को इसी भव में सकल संपत्ति प्राप्त हो जाती है और उसका उदाहरण मनीषी हमारे सामने है। उसने प्रारम्भ से ही बाल और स्पर्शन की संगति नहीं की जिससे अभी तक उस पर कोई कलंक नहीं लगा वह पूर्ण रूप से सुख से रहा और सज्जन पुरुषों का प्रशंसनीय बना। ❀ ऐसा प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी कई बार लोग दोष के प्रति निरन्तर आकर्षित होते हैं और गुण के प्रति हतोत्साहित होते हैं, इसका कारण पाप-कर्म का उदय ही है। मैंने तो गुण और दोष के अन्तर को प्रत्यक्षतः देख लिया है। मनीषी के कथनानुसार मुझे तो अब गुण-प्राप्ति के लिये ही प्रयत्न करना चाहिये। [१-९]

इस प्रकार मन में विचार करते हुए उसने मनीषी से कहा - अभी तो मैं लोगों में प्रकटतया घूमने और मुँह दिखाने योग्य नहीं रहा, क्योंकि बाल का वृत्तांत पूछकर लोग मुझे बार-बार तंग करेंगे। बाल का वृत्तांत अत्यन्त निन्दनीय और लज्जाकारी होने से उसे बार-बार कहना अच्छा नहीं लगता। बाल ने कैसे-कैसे कष्ट उठाये और कदर्थना प्राप्त की, यदि यह सब वृत्तांत दुर्जन लोग मुझसे सुनेंगे तो वे प्रसन्न होकर उस पर और अधिक हंसेंगे। अतः भाई मनीषी ! कुछ समय के लिये राजभवन में रहना ही मेरे लिये उचित है। लोग बाल की घटना को भूल न जायं तब तक बाहर निकलना मुझे अच्छा नहीं लगता। [१०-१३]

मनीषी—जैसा तुझे अच्छा लगे वैसा कर, मुझे उसमें कुछ भी आपत्ति नहीं है। मुझे तो इतना ही कहना है कि इस पापी-मित्र (स्पर्शन) का सम्बन्ध छोड़ दे। [१४]

उस दिन से मध्यमबुद्धि महल में ही रहने लगा, बाहर जाना आना बिलकुल बन्द कर दिया। बातचीत समाप्त होने पर मनीषी भी अपने स्थान पर चला गया।

❀

❀ पृष्ठ १९२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०. बाल की दुरवस्था

इधर अकुशलमाला और स्पर्शन बाल के शरीर से निकल कर प्रकट हुए। अकुशलमाला कहने लगी—वाह बेटे! बहुत अच्छा किया। उस झूठे वाचाल मनीषी का तिरस्कार कर तूने बहुत अच्छा किया। मेरे से उत्पन्न पुत्र को तो ऐसा ही करना चाहिये। तू मेरा सच्चा पुत्र है।

स्पर्शन—माताजी! ऐसे पुरुषों के साथ तो ऐसा ही व्यवहार करना चाहिये। ऐसा आचरण कर मेरे प्यारे मित्र ने मेरे प्रति दृढ़ अनुराग को प्रकट कर दिखाया है। अरे! इतना कहने की भी क्या आवश्यकता? अब तो अपने तीनों का एक दूसरे के सुख-दुःख में एक समान भाग लेने जैसा सम्बन्ध जुड़ गया है। यदि कोई प्राणी बड़ा काम करने को तैयार हो तो उसके बीच में विघ्न-बाधाएँ तो आती ही हैं, पर क्या कभी वह उनसे डरता है?

बाल—मेरा भी ऐसा ही कहना है, किन्तु मनीषी इस बात को नहीं समझता है।

स्पर्शन—तुझे उससे क्या काम है? यह पापकर्मा मनीषी तो तेरे सुख में विघ्न करने वाला है। तेरे सुख के वास्तविक कारण तो मैं और तेरी माता ही हैं।

बाल—इसमें क्या संदेह है? यह तो संदेह-रहित बात है।

इतनी बात-चीत होने के बाद अकुशलमाला और स्पर्शन अपनी योग-शक्ति से पुनः बाल के शरीर में प्रविष्ट हो गये।

जैसे ही ये दोनों बाल के शरीर में प्रविष्ट हुए, वैसे ही मदनकन्दली के साथ विषय-सुख भोगने की तीव्र इच्छा बाल को जागृत हुई। फलतः उसके शरीर में दाह होने लगी, उबासियाँ आने लगीं और वह बिछौने पर पड़कर तड़फड़ाने तथा अपने शरीर को इधर से उधर पछाड़ने लगा। मध्यमबुद्धि ने दूर से बाल की चेष्टाएँ देखीं, उस पर दया आई, पर मनीषी के वचनों का स्मरण कर उसने बाल से कुछ नहीं पूछा।

बाल का मदनकन्दली के शयनकक्ष में प्रवेश

उस समय सूर्य अस्त हो गया था। रात्रि के प्रथम पहर में बाल महल से निकल पड़ा। * उसे बाहर निकलते देख मध्यमबुद्धि के मन में उसके प्रति तिरस्कार उत्पन्न हुआ, परन्तु वह इस समय पहले के समान उसके पीछे नहीं गया। बाल शत्रुमर्दन राजा के राजभवन के पास पहुँचा और चोरी छिपे राजभवन में घुस गया। दूर से मदनकन्दली का महल दिखाई दिया तो वह उस तरफ चलने लगा

---

* पृष्ठ १६३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और लोगों के झुण्ड में सम्मिलित हो गया। उस समय रात्रि का अन्धकार भी था और पहरेदार भी किसी अन्य कार्य में व्यस्त थे, अतः बाल छिपते हुए मदनकन्दली के शयनकक्ष में पहुँच गया। कक्ष के मध्य में जाज्वल्मान मणि-रत्नों की दीप-पंक्ति के नीचे उसने एक महार्घ्य विशाल पलंग देखा। उस समय मदनकन्दली शयनकक्ष के पास वाली प्रसाधन-शाला में अपने शरीर पर चन्दन आदि का विलेपन कर रही थी, वस्त्रालंकारों से सुसज्जित हो रही थी। शय्या खाली देखकर मूर्ख के समान ही बाल उस पर चढ़ गया। अहा! शय्या कितनी कोमल है! इस भावना से उसका मन आनन्दित हुआ। अपना प्रावरण (ओवरकोट) उतारकर वह शय्या पर लोट-पोट होने लगा।

राजा शत्रुमर्दन का शयनकक्ष में प्रवेश

इतने में ही शत्रुमर्दन राजा सब कार्यों से निवृत्त हो, सभा विसर्जन कर, अपने अंगरक्षकों के साथ सभा मण्डप से शयन-कक्ष की तरफ चल पड़ा। हाथ में जलती हुई मशालें लेकर कुछ सेवक महाराजा को मार्ग बता रहे थे। बातचीत करते, धीरे-धीरे चलते हुए राजा शयन-कक्ष के द्वार तक पहुँचा। बाल ने दूर से ही देखा कि राजा स्वयं आ रहा है। शत्रुमर्दन राजा के भव्य राजस्व तेज से, स्वयं का हृदय सत्वहीन होने से, बुरे काम के आचरण के भय से, कर्मविलास राजा की विरुद्धता से, अकुशलमाला का योगशक्ति द्वारा फल प्रदान करवाने की आतुरता से और स्पर्शन का अपने कार्यों का विपाक (फल) दिलवाने को तत्पर होने से बाल के अंगोपाँग भयातिरेक से काँपने लगे तथा वह स्वयं ही घबराकर पलंग से नीचे गिर पड़ा। पलंग जमीन से काफी ऊँचा था, आंगन रत्नमय चौकियों से जड़ा था और बाल का शरीर शिथिल एवं अस्त-व्यस्त था, अतः उसके गिरने से बहुत जोर का धमाका हुआ।

बाल का पकड़ा जाना

यह क्या हुआ? जानने के लिये राजा एकदम शयन गृह में प्रविष्ट हुआ। वहाँ उसने बाल को देखा। 'यह यहाँ कैसे पहुँच गया?' राजा के मन में इस सम्बन्ध में अनेक तर्क-वितर्क होने लगे। पलंग के तकिये पर बाल का प्रावरण पड़ा था और शय्या अस्त-व्यस्त हो रही थी, जिससे राजा समझ गया कि यह पलंग पर से नीचे गिरा है। यह जानकर राजा को दृढ़ निश्चय हो गया कि यह अत्यन्त दुष्ट प्राणी है और मेरी रानी की अभिलाषा करने वाला है, अतएव राजा को उस पर बहुत क्रोध आया। बाल की दीनता को भी वह जान गया, परन्तु ऐसे अत्यन्त अधम पुरुष की दुष्टता को अब समाप्त करना ही चाहिये, यह सोचकर राजा ने उसकी पीठ पर जोर से लात मारी, उसके दोनों हाथ पीछे करके मरोड़े और उसी के प्रावरण से उसको मजबूती से बाँध दिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाल को असह्य यातना

फिर अपने सेवक विभीषण को बुलाकर राजा ने कहा—अरे विभीषण ! यह महान् अधम पुरुष है। इसे इसी राजमहल के आंगन में रखकर इतना अधिक पीड़ित करो कि इसका करुण क्रन्दन मैं सारी रात सुनता रहूँ। विभीषण ने राजाज्ञा को शिरोधार्य किया। फिर जोर-जोर से रोते हुए बाल को पकड़ कर निकट ही के एक फर्श पर घसीट कर ले गया। वज्र जैसे तीक्ष्ण कांटों वाले लोहे के थम्भे से बांधा और ऊपर से उस पर कोड़े बरसाये। उसके शरीर पर गरम तेल डाला, उसकी अंगुलियों में लोहे की कीलें ठोकी और पूरी रात उसे ऐसी अनेक नारकीय जीवों को दी जाने वाली पीड़ाएँ दीं। ❀ विभीषण द्वारा दी गई भयंकर असह्य पीडा से बाल सारी रात हृदय-विदारक करुण क्रन्दन करता रहा।

जनता का तिरस्कार

उसके रुदन की आवाज कितने ही लोगों ने रात में सुनी थी और कईयों ने दूसरों से सुनी। 'राजमहल में क्या घटना घटी है ?' यह जानने की उत्सुकता से प्रभात में राजमहल के निकट लोगों का समूह एकत्रित हो गया। वहाँ बाल को उस दशा में देखकर लोगों ने कहा—'अरे ! यह पापी अभी तक जीवित है !' नागरिकों के आक्रोश पूर्ण ऐसे कडुवे वचन सुनकर बाल को जो असह्य दुःख था वह सौ गुणा बढ गया। उस समय विभीषण ने नागरिकों को रात की घटना कह सुनाई, जिसे सुनकर, उसकी निर्लज्ज धृष्ठता को देखकर वह बाल सब की दृष्टि में गिर गया और सब लोग उसके शत्रु बन गये। अतः नगर के प्रमुखों ने राजा से प्रार्थना की—महाराज ! आपके साथ भी जो इस प्रकार का नीच व्यवहार करे वह तो दुष्ट मनुष्य ही है, इसे तो ऐसा दण्ड मिलना चाहिये कि जिससे भविष्य में कोई ऐसा नीच काम नहीं कर सके।

मृत्यु-दण्ड का निर्देश

शत्रुमर्दन राजा के एक सुबुद्धि नामक प्रधान था। उसकी बुद्धि श्री अर्हंत् परमात्मा के आगम (शास्त्र) के ज्ञान से पवित्र थी। उसने एकबार नम्रता पूर्वक राजा से प्रार्थना की थी कि किसी भी हिंसा के काम में उससे परामर्श नहीं लिया जाय। राजा ने प्रधान की प्रार्थना स्वीकार की थी, अतः सुबुद्धि प्रधान का परामर्श लिये बिना ही राजा ने अपने सेवकों को आज्ञा दी कि, 'इस अधम को विविध प्रकार से कदर्थना कर इसे मार डालो।' बाल को मृत्युदण्ड की आज्ञा सुनकर जनसमूह अतिशय प्रमुदित हुआ मानो विशाल राज्य की प्राप्ति हुई हो। फिर बाल को एक गधे पर बिठाया गया। उसके गले में फूटे सकोरों की माला पहनायी गई। चारों तरफ से लोग उसे लकड़ी, मुट्ठी और पत्थरों से मारने लगे। दीन

❀ पृष्ठ १६४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वर में आक्रन्दन करते हुए और लोगों के हृदय-भेदी, कर्ण-कटु एवं आक्रोश पूर्ण वचन सहन करते हुए कोलाहल के बीच में उसे नगर के राज्यमार्गों, तिराहों, चोराहों, चौक, बाजारों आदि में घुमाया गया। नगर बहुत बड़ा था इसलिये उसे सब स्थानों पर घुमाने में सारा दिन बीत गया। संध्या के समय उसे राजसेवक वध-स्थल पर ले आये। उसके गले में फांसी का फन्दा डालकर उसे वृक्ष की शाखा पर लटका दिया गया। बाल को इस दशा में देखकर नगरवासी वापिस चले गये।

भवितव्यता (भाग्य) से बाल के गले में बन्धी रस्सी टूट गई और वह नीचे गिरा जिससे मूर्छित हो गया, मुर्दे जैसा चेष्टारहित हो गया। फिर वन का मन्द-मन्द शीतल पवन उसके शरीर पर लगने से धीरे-धीरे उसे चेतना आई। जमीन पर घिसटते हुए और नि:स्वास लेते हुए धीरे-धीरे वह अपने घर की तरफ जाने लगा।

स्पष्टीकरण

कुमार नन्दिवर्धन को विदुर कहता है कि यह सब कथा सदागम के समक्ष संसारी जीव ने कही और अगृहीतसंकेता आदि ने सुनी। इतनी कथा सुनकर अगृहीतसंकेता ने बीच ही में पूछा--अरे संसारी जीव! तूने जो कथा कही उसमें क्षितिप्रतिष्ठित नगर के राजा का नाम अतुलपराक्रम-सम्पन्न कर्मविलास बतलाया था, फिर आगे चलकर तूने उसी नगर का निपुण प्रशासक शत्रुमर्दन राजा बतलाया, तो एक ही नगर के दो राजा कैसे हो सकते हैं?

संसारी जीव--भोली बहिन! जब मेरा जीव नन्दिवर्धन था और विदुर मुझे यह कथा सुना रहा था तब मैंने भी उससे यह प्रश्न पूछा था। उत्तर में उसने कहा था—'कुमार! कर्मविलास को अन्तरंग राज्य का राजा समझना चाहिये और शत्रुमर्दन को बहिरंग राज्य का राजा। इस प्रकार समझने पर तुम्हें किञ्चित् भी विरोध प्रतीत नहीं होगा। बहिरंग राजाओं की * प्रशासकीय आज्ञा बहिरंग नगरों के अपराधियों पर ही चलती है, इतर राज्यों पर नहीं। परन्तु अतरंग राजा तो गुप्त रहकर अपनी शक्ति से अच्छे-बुरे निमित्त एकत्रित कर देता है। (जो अच्छे कार्य करते हैं उनके साथ अच्छे निमित्त और जो बुरे काम करते हैं उनके साथ बुरे निमित्त प्रयुक्त कर देता है। फिर उन्हीं निमित्तों से प्राणी अपने कर्म के अच्छे-बुरे फल भोगता है)। बाल को जो-जो दुःख हुए वे कर्मविलास राजा की प्रतिकूलता के कारण ही हुए ऐसा तुझे परमार्थ से समझना चाहिये।' विदुर का यह उत्तर सुनकर मेरे मन की शंका नष्ट हुई। अब तू समझी? फिर विदुर ने नन्दिवर्धन कुमार को आगे कथा सुनाई।

मध्यमबुद्धि की व्यवहारिक विचारणा

विदुर कहने लगा—बड़ी कठिनता से एक पहर रात्रि बीतने पर बाल अपने घर के निकट आया। इधर मध्यमबुद्धि ने उस दिन प्रातःकाल ही लोगों से

* पृष्ठ १६५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाल पर बीती गत रात की घटना सुन ली थी। बाल पर उसे अभी भी थोड़ा स्नेह था अतः उसे कुछ खेद हुआ और वह सोचने लगा कि, 'हा! बाल को इतना अधिक दुःख क्यों हुआ?' गहन विचार करने पर उसका मन प्रमुदित हुआ। वह सोचने लगा कि, अहो! देखो, मनीषी के वचन के अनुसार करने और न करने का फल इस भव में ही प्रत्यक्ष दिखाई देता है जो विचारणीय है। उसके उपदेशानुसार प्रवृत्ति करने पर मुझे किञ्चित् भी दुःख-क्लेश नहीं हुआ और न मेरा अपयश ही फैला। पहिले जब मैंने उसकी बात नहीं मानकर विपरीत आचरण किया था तो क्लेश भी पाया और अपयश भी मिला था। बाल तो सर्वदा ही मनीषी के वचनों से विपरीत ही चलता है, इसलिये उस पर अनेक प्रकार के अत्यधिक दुःख पड़ते हैं, अपयश का ढोल बजता है और अन्त में मृत्यु भी हो तो क्या बड़ी बात है! उस समय सचमुच ही मुझे मनीषी के वचनों पर प्रीति हुई और मैंने उसके अनुसार चलने का निश्चय किया, अतः मैं वास्तव में भाग्यशाली हूँ। सज्जन पुरुषों ने कहा भी है कि—

नैवाभव्यो भवत्यत्र, सतां वचनकारकः।
पक्तिः काङ्कटुके नैव, जाता यत्नशतैरपि॥

जो प्राणी अभव्य है, जिसका भविष्य में सुधार नहीं हो सकता, ऐसा प्राणी सज्जन पुरुषों के वचन के अनुसार कभी भी नहीं चल सकता। सैकड़ों प्रयत्न करने पर भी कौवा कभी काँव-काँव छोड़कर मीठी बोली नहीं बोल सकता।

इस प्रकार विचार करते हुए बाल के प्रति उसके मन में जो थोड़ा स्नेह बचा था वह भी समाप्त हो गया, इससे उसके मन को शांति प्राप्ति हुई। मन प्रमुदित हो जाने से इसी प्रकार के विचारों में उसका वह पूरा दिन व्यतीत हो गया। रात में जब बाल राजमहल में पहुँचा तब लोकाचार निभाने के लिये उससे सहज रूप से बात की और उसके हालचाल पूछे, तब बाल ने उसकी जो-जो विडम्बनाएँ हुई थीं वे सब खेद पूर्वक कह सुनाईं। उसकी बातें सुनकर उसके व्यवहार से उसके प्रति अनादर होने से मध्यमबुद्धि ने सोचा कि ऐसे प्राणी को शिक्षा देना निरर्थक है। शिष्टाचार के कारण उसने ऊपरी तौर पर थोड़ासा शोक प्रकट किया। बाल के सभी अंग चूर-चूर हो गये थे और मन दुःख से आकुल-व्याकुल हो गया था। फिर उसे राज्य की ओर से भी बहुत भय था, अतः वह छिपकर महल में ही पड़ा रहा। बिल्कुल बाहर न निकल कर निरन्तर प्रच्छन्न रूप से महल में ही रहने लगा। इसी स्थिति में उसका बहुत-सा समय व्यतीत हो गया। [२-७]

❀

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. प्रबोधनरति आचार्य

एकदा नगर के बाहर स्थित निजविलसित नामक उद्यान में प्रबोधनरति नामक आचार्य पधारे। गन्धहस्ती के साथ जैसे अनेक छोटे-बड़े हाथी रहते हैं वैसे ही आचार्य अनेक अतिशय गुणवान् छोटे-बड़े शिष्य परिवार से परिवृत थे, जो करुणा-रस के प्रवाह (भण्डार), संसार समुद्र को पार करने के लिये सेतु, तृष्णालता का छेदन करने में परशु, मान पर्वत का विदारण करने में वज्र, उपशम (समता) तरु की जड़, ❀ संतोषामृत में सागर, सर्व विद्या-समुद्र में प्रवेश करने के लिये तीर्थ (घाट), विशुद्ध आचार का निकेतन, प्रज्ञाचक्र की नाभि, लोभ समुद्र के लिए वाडवाग्नि, क्रोध सर्प के लिये महामंत्र, महामोह के अन्धकार को दूर करने में सूर्य, शास्त्र-रत्नों की परीक्षा करने में कसौटी, रागवन को जलाने में दावानल, नरकद्वार को बन्द रखने के लिये बड़ी अर्गला के समान और शुद्ध मार्ग को बतलाने वाले तथा अतिशय ज्ञान रत्न के भण्डार थे। संक्षेप में कहें तो वे आचार्य सर्व गुण-सम्पन्न थे।

मनीषी के प्रति कर्मविलास का पक्षपात

इधर कर्मविलास राजा को जब मालूम हुआ कि मनीषी तो सर्वदा स्पर्शन से विपरीत ही चलता है तब उन्हें उसके प्रति अधिक पक्षपात उत्पन्न हुआ और उसने शुभसुन्दरी से कहा—प्रिये! तू तो अच्छी तरह जानती है कि अनादि काल से मेरी प्रकृति एक समान चलती आ रही है। जो स्पर्शन के साथ अनुकूल होकर रहते हैं उनके प्रति मुझे प्रतिकूल होना पड़ता है और जो स्पर्शन के प्रतिकूल होकर रहते हैं उनके प्रति मुझे अनुकूल होना पड़ता है। जहाँ मैं प्रतिकूल प्रवृत्ति करता हूँ वहाँ अकुशलमाला मेरी सहायता करती है और उसी के द्वारा मैं अपना कार्य करता हूँ, परन्तु जहां मुझे अनुकूल प्रवृत्ति करनी होती है वहाँ तू मेरी सहायता करती है। मेरी ऐसी प्रकृति और प्रवृत्ति होने के कारण बाल स्पर्शन के अनुकूल है इसीलिये अकुशलमाला के सहयोग से मैंने मेरी प्रतिकूलता का थोड़ासा फल उसे चखा दिया, किन्तु यह मनीषी स्पर्शन के प्रतिकूल रहता है तो भी अभी तक मैंने उसे अपनी अनुकूलता का नाममात्र का भी फल नहीं दिया है। मनीषी की स्पर्शन पर आसक्ति न होने पर भी उसे कोमल शय्या, स्त्री-संभोग आदि अनुभवों में अनेक प्रकार का सुख प्राप्त होता है और संसार में उसका सुयश भी फैला है, दुःख की तो गंध भी उसके पास नहीं फटकती। इस सब का मूलभूत कारण तुम्हारे द्वारा मैं ही हूँ, फिर भी जब मेरी उस पर कृपा हुई है तब उसे केवल इतना ही फल मिले यह तो समुचित नहीं है। उसे अभी तक जो लाभ प्राप्त हुआ है वह तो कुछ भी नहीं है, इसलिये हे प्रिये! उसे विशेष लाभ प्राप्त करवाने के लिये तू मेरी इच्छानुसार प्रयास कर, क्योंकि वह विशेष लाभ के योग्य है।

❀ पृष्ठ १९६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभसुन्दरी ने कहा—बहुत अच्छा, आर्य पुत्र ! आप जो कह रहे हैं वह बहुत सुन्दर है। मेरे मन में भी यही था कि मनीषी आपकी विशेष कृपा के योग्य है। आपकी आज्ञानुसार मैं प्रयास करूँगी।

उद्यान में तीनों भाई

ऐसा कहकर शुभसुन्दरी ने अपनी योग-शक्ति प्रकट की और अन्तर्ध्यान होकर सूक्ष्मरूप से मनीषी के शरीर में प्रविष्ट हो गई। मनीषी का मन अत्यधिक प्रमुदित हुआ, सम्पूर्ण शरीर अमृत सिंचन से सराबोर हो गया, उसे निजविलसित उद्यान में जाने की इच्छा हुई और उस तरफ जाने के लिये वह निकल पड़ा। फिर उसके मन में विचार आया कि, वहाँ अकेला कैसे जाऊं ? मध्यमबुद्धि को घर में रहते काफी समय बीत गया है, अब तो लोग बाल की बात भी भूल गये हैं, अतः बाहर निकलने में लज्जित होने का अब कोई कारण नहीं है, तब उसे भी अपने साथ उद्यान में क्यों न ले जाऊं ? ❀ इस विचार से मनीषी मध्यमबुद्धि के पास आया और अपना विचार उसे सुनाया। इधर कर्मविलास राजा ने अपनी स्त्री सामान्यरूपा को उत्साहित किया कि उसे भी अपने पुत्र को उसके कर्म का फल प्राप्त करवाना चाहिये। सामान्यरूपा रानी मध्यमबुद्धि की माता थी। वह अकुशलमाला और शुभसुन्दरी से शक्ति में कुछ कमजोर थी और चित्रविचित्र फल देने वाली थी। वह भी मध्यमबुद्धि के शरीर में सूक्ष्म रूप से प्रविष्ट हुई और उसकी प्रेरणा से मध्यमबुद्धि की भी निजविलसित उद्यान में जाने की इच्छा हुई। मध्यमबुद्धि ने बाल को भी उद्यान में साथ चलने को कहा, जिससे अनमना-सा वह भी उद्यान में जाने को तैयार हुआ। इस प्रकार बाल, मनीषी और मध्यमबुद्धि तीनों ही निजविलसित उद्यान में गये।

जिन मन्दिर और आचार्य के दर्शन

कुतूहल से नाना प्रकार के विलास करते हुए वे तीनों निजविलसिता उद्यान में स्थित प्रमोदशिखर जिन मन्दिर में पहुँच गये। वह देव मन्दिर मेरु पर्वत के समान उन्नत (बहुत ऊँचा) था, साधुओं के हृदय की तरह विशाल था और सौन्दर्य तथा औदार्य के योग से वह देवलोक को भी लज्जित करने वाला था। युगादिदेव श्री आदीश्वर भगवान् की मूर्ति उस मन्दिर में विराजमान थी। इस मन्दिर के चारों तरफ उच्च विशाल किला गढ (परकोटा) बना हुआ था। लोकनायक आदीश्वर भगवान् की मधुर स्वर से स्तुति करते और स्तोत्र बोलते हुए श्रावकों की कर्णप्रिय ध्वनि को सुनकर 'यहाँ क्या है !' जानने के कौतुक से तीनों कुमार जिनेश्वर देव के मन्दिर में प्रविष्ट हुए। उन्होंने वहाँ महा भाग्यवान्, शान्त, धीर प्रबोधनरति आचार्य महाराज को देखा। वे दक्षिण दिशा में विराजमान थे, देव भवन के अंगन

❀ पृष्ठ १९७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के आभूषण समान थे, और अतिशय विनयी साधुओं के मध्य में विराजमान थे। वे महा तपस्वी थे और संसार समुद्र से पार उतारने वाले तीर्थंकर महाराज के निष्कलंक शुद्ध सनातन धर्म का उपदेश प्राणियों को दे रहे थे। उस समय वे अनेक तारामण्डल से आवेष्टित चन्द्र की तरह शोभायमान थे। [१–८]

मनीषी निर्मल चित्तवाला भावी भद्रात्मा था अतः उसने पहले जिनेश्वर भगवान् की मूर्ति को और फिर आचार्य श्री को नमस्कार किया। तत्पश्चात् सर्व मुनियों के चरणकमलों की वन्दना की। मनीषी के पीछे-पीछे किंचित् शुद्ध मन से मध्यमबुद्धि ने भी भगवान्, आचार्य और साधुओं को नमस्कार किया। किन्तु पापिन माता अकुशलमाला और स्पर्शन के शरीराधिष्ठित होने के कारण अकल्याणकारी बाल ने किसी को भी नमस्कार नहीं किया। उसने न तो किसी की वंदना ही की और न चरण-स्पर्श ही किया, अपितु एक स्तब्ध मन वाले ग्रामीण की भांति इधर-उधर ताकता हुआ मनीषी और मध्यमबुद्धि के पीछे जाकर खड़ा हो गया। गुरु महाराज ने उन तीनों को धर्मलाभ आशीर्वाद दिया और प्रेम से संभाषण किया। फिर वे तीनों आचार्यश्री के सन्मुख जमीन पर बैठ गये। [९-१३]

राजा शत्रुमर्दन का उद्यान गमन

इधर सूरि महाराज उद्यान में पधारे हैं, यह लोगों से सुनकर जिनभक्त सुबुद्धि मन्त्री भी मुनि-वंदन के लिये तत्पर हुआ और शत्रुमर्दन राजा को भी प्रेरित करते हुए निवेदन किया कि मुनीन्द्र की वंदना करने आप पधारें। कहा है कि, 'साधु महात्मा के चरण-स्पर्श से जो इस जन्म में अपनी आत्मा के पाप-मल को धो लेते हैं * वे महा भाग्यवान और वास्तव में विचारशील बुद्धिमान प्राणी हैं।' सुबुद्धि मन्त्री के वचन सुनकर मदनकन्दली और अन्य अन्तःपुर की रानियों सहित शत्रुमदन राजा भी आचार्यश्री को वन्दन करने उद्यान की तरफ जाने के लिये निकला। राजा को उद्यान की तरफ सपरिवार जाते देखकर नगर की प्रजा और सेना को भी आश्चर्य हुआ तथा वे भी उद्यान की तरफ चल पड़े। सैन्य सहित शत्रुमर्दन राजा ने उद्यान में स्थित मंदिर में विराजमान युगादिदेव के चरणों में वन्दन कर अन्तःकरण के अपार हर्ष सहित आचार्य प्रबोधनरति और सर्व साधुओं को नमस्कार किया। आचार्यदेव और साधुओं ने आशीर्वाद दिया। पश्चात् विनय से मस्तक झुकाकर सब भूमि पर बैठ गए। [१४–२०]

सुबुद्धि-कृत जिनपूजा और स्तुति

सुबुद्धि मन्त्री ने भी युगादिप्रभु के मन्दिर में आकर तीर्थंकर भगवान् के चरण-कमलों में नमस्कार किया और देवपूजा की समस्त क्रियाएँ विवेक एवं विधि पूर्वक सम्पन्न की। धूप, दीप आदि से देवपूजन करते समय भक्ति से उसके सर्व अंगों में एक प्रकार का अपूर्व उत्साह उत्पन्न हुआ। फिर तीर्थंकर महाराज को

* पृष्ठ १९८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जमीन पर हाथ और मस्तक लगाकर (पंचांग) प्रणाम किया। उस समय उसके मन में भावना जाग्रत हुई कि इस प्राणी को संसार अरण्य में तीर्थंकर महाराज के दर्शन या देव-वंदन का लाभ मिलना अत्यन्त कठिन है। यह भावना इतनी अपूर्व हृदय-स्पर्शी हुई कि उससे उसका मन अतिशय निर्मल हो गया। आनन्दाश्रु से उसकी आँखें डबडबा गईं और नेत्र-जल से उसने अपने पाप-मल को धो डाला। फिर विचक्षण सुबुद्धि भगवान् की मूर्ति पर दृष्टि स्थिर कर, पंचांग नमस्कार कर जमीन पर बैठा और भक्ति पूर्वक शक्रस्तव (नमोत्थुणं) बोला। फिर हाथ की दसों अंगुलियों को भीतर ही भीतर कमल के डोडे की तरह मिलाकर, दोनों हाथ की कोहनियों को पेट पर लगाकर, योगमुद्रा पूर्वक एकाग्र चित्त से लय लगाकर मधुर स्वर से भगवान् आदिनाथ की स्तुति करने लगा। [२१–२७]

"हे जगदानन्द! हे मोक्षमार्गविधायक! आपको नमस्कार हो। हे जिनेन्द्र! विदित अशेषभाव! (विश्व के समस्त भावों के जानकार), सद्भावनायक! (सद्भावों के प्रदर्शक) आपको नमस्कार हो! हे प्रणष्टसंसार-दुःख-विस्तार परमेश्वर! आपको नमस्कार हो! हे वचनातीत! त्रैलोक्य-नरशेखर! आपको नमस्कार हो। संसार समुद्र में डूबते अनन्त प्राणियों के उद्धारक! महाभयंकर संसार अटवी के सार्थवाह! आपको नमस्कार हो। हे प्रभो! अनन्त परमानन्दपूर्ण मोक्षधाम में रहने वाले आपका लोग भक्तिभाव से यहीं साक्षात् दर्शन करते हैं। हे विभो! यदि ऐसा न हो तो आपकी मूर्ति की स्तुति करने वाले प्राणियों के मन में जैसा अतिशय प्रमोद होता है वैसा प्रमोद त्रैलोक्य के किसी भी अन्य पदार्थ से क्यों नहीं प्राप्त होता? मुझे तो आपकी मूर्त्ति में आपका साक्षात्कार हो रहा है। हे नाथ! हे सदानन्द! जब तक संसारी प्राणियों के चित्त में आपका निवास नहीं होता तभी तक पाप के परमाणुओं का ताप उनके हृदय में रहता है, पर जैसे ही आपका निवास प्राणियों के चित्त में हो जाता है वैसे ही तुरन्त समस्त पाप-परमाणुओं का एकदम नाश हो जाता है। ❀ हे नाथ! इससे उनके सब पाप धुल जाते हैं और सद्भाव के अमृत सिंचन से उन्हें निरन्तर अपूर्व मोद (आनन्द) प्राप्त होता है। हे स्वामिन्! जिन्हें आपका सान्निध्य (आश्रय) प्राप्त नहीं होता वे रागादि चोरों से लुट जाते हैं। हे देव! आपको निःशंक मन से ग्रहण कर, मद मत्सर आदि छः रिपुओं के कंठ पर पैर रखकर (नाश कर) प्राणी मोक्ष को प्राप्त होते हैं। हे नाथ! यदि आप प्राणियों को अहिंसारूपी हाथ के सहारे से धारण नहीं करते, ऊपर नहीं खींचते तो सारा संसार नरक रूपी भयंकर अंधकूप में पड़ गया होता। हे जिनेन्द्र! भव्य प्राणियों को आपका शरीर अत्यन्त कमनीय, सर्व क्लेश रहित, विकार रहित, श्रेष्ठ और बहुत मनोहर प्रतीत होता है। आपके रमणीय शरीर को देखते ही प्राणी को ऐसा लगता है कि हे वीतराग प्रभो! आप स्वयं अनन्त वीर्य-युक्त और सर्वज्ञ हैं। फिर भी अभव्य प्राणियों को वैसे नहीं लगते; इसका

❀ पृष्ठ १६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण उनका अपना पापाचरण है। पापी मनुष्यों की दृष्टि में विकार होने से वे शुद्ध रूप से आपको नहीं देख सकते। हे प्रभो! राग-द्वेष और महामोह के सूचक हास्य, शस्त्र, विलास और अक्षमाला से रहित! हे निष्पाप! पवित्र! नाथ! आपको नमस्कार हो! हे प्रभो! आप तो अनंत गुणों से भरपूर हैं, आपकी स्तुति मैं क्षद्र प्राणी कैसे कर सकता हूँ? मैं तो जड़बुद्धि वाला हूँ परन्तु आप के प्रति प्रगाढ़ सद्भावना से बंधा हुआ हूँ। हे नाथ! मेरे मन में जो शुभ भावनायें हैं, जिन्हें मैं वचन द्वारा प्रकट नहीं कर सकता, उन सबको आप तो स्वयं भली प्रकार जानते हैं. अतः भव-परम्परा का नाश करने वाली आपकी निश्चल भक्ति मुझे भव-भव में प्राप्त हो, ऐसी कृपा करें। [२८–४३]

इस प्रकार त्रिलोकनाथ आदीश्वर भगवान् की स्तुति कर, खड़े होकर, जिनमुद्रा धारण कर क्षमाश्रमणादि पूर्वक फिर से पंचांग प्रणाम किया। अन्त में मुक्ताशक्ति मुद्रा धारण कर अति सुन्दर प्रणिधान सूत्रों द्वारा प्रभु की स्तुति कर नमस्कार किया। इस सुकृत्य कार्य-कलापों से मन्त्री अपनी आत्मा को बहुत कृतार्थ समझने लगा। फिर आनन्दाश्रुओं से आचार्यश्री के चरण-कमलों का सिंचन करते हुए गुरु महाराज को दोषनाशक द्वादशावर्त वन्दन किया। मन में समताभाव धारण कर सर्व साधुओं को भक्ति भाव से नमस्कार किया। आचार्यश्री और साधुओं से धर्मलाभ आशीर्वाद प्राप्त कर मन्त्री शुद्ध भूमि पर बैठा और आचार्य श्री से सुख-साता पूछी। [४४–४७]

आचार्य का धर्मोपदेश

आचार्यश्री ने विशेष धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया। उपदेश में उन्होंने इस संसार की निर्गुणता की व्याख्या की और बतलाया कि इस संसार को बढ़ाने वाले वास्तविक कारण कर्म ही हैं। जो प्राणी पुरुषार्थ द्वारा सर्व कर्मों से मुक्ति प्राप्त करते हैं वे निर्वाण को प्राप्त होते हैं। आचार्यश्री प्रबोधनरति महाराज की अमृत सिंचन जैसी मधुर वाणी को सुनकर प्राणी मानसिक सन्ताप रहित हुए और उनके मन में आनन्द व्याप्त हुआ। [४८–५०] ❀

❀

१२. चार प्रकार के पुरुष

शत्रुमर्दन राजा ने अपने तेजस्वी नख-किरण-प्रकाशित दोनों हाथों को कमल के डोडे के समान जोड़ कर, स्वयं के ललाट तक लाकर, नमस्कार कर सूरि

❀ पृष्ठ २००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाराज से पूछा —भगवन् ! सुख की इच्छा करने वाले प्राणी को इस संसार में सर्व संपत्ति को प्राप्त कराने वाली कौनसी वस्तु को प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना चाहिये ? [५१–५२]

धर्म की उपादेयता

आचार्य—राजन् ! इस संसार में प्राणी को प्रयत्नपूर्वक सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म का आचरण करना चाहिये, क्योंकि धर्म ही समस्त पुरुषार्थों को प्राप्त कराने वाला होने से विशेष रूप से ग्रहणीय है। धर्म प्राणी को अनन्त सुख के भण्डार मोक्ष में ले जाता है और जब तक प्राणी इस संसार में रहता है तब तक आनुषंगिक रूप से उसे सुख राशि भी प्राप्त कराता है। [५३–५४]

शत्रुमर्दन—यदि ऐसा ही है, तब समस्त सुखों के साधनरूप धर्म को सब लोग आचरण में क्यों नहीं लेते ? जानते हुए भी और सुख प्राप्त करने की इच्छा रखते हुए भी क्लेशों को क्यों प्राप्त करते हैं ? । [५५]

इन्द्रियों का माहात्म्य

आचार्य—राजन् ! सुख प्राप्त करने की इच्छा तो शीघ्र ही हो जाती है, पर धर्म की साधना जल्दी नहीं हो सकती; क्योंकि जो प्राणी अपनी पांचों इन्द्रियों को जीत लेता है वही धर्म की साधना कर सकता है। अनादि भवाटवी में परिभ्रमण करते हुए ये इन्द्रियाँ बहुत बलवान बन जाती हैं, अतः दुर्बुद्धि वाले प्राणी इन्हें सरलता से नहीं जीत सकते। इसलिये ऐसे प्राणी केवल सुख प्राप्त करने की इच्छा तो करते हैं पर उसको प्राप्त कराने वाले धर्म का आचरण नहीं करते, प्रत्युत सुख-कारक धर्म से दूर भागते हैं। [५६–५८[

शत्रुमर्दन—सुख प्राप्ति की इच्छा वाले प्राणी जिन इन्द्रियों को वशीभूत करने में असमर्थ होकर उन पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते और धर्म से दूर भागते हैं वे इन्द्रियाँ कौन-कौन सी हैं, उनका स्वरूप क्या है और वे क्यों अति दुर्जेय है ? मैं यह सब कुछ तत्त्वतः जानना चाहता हूँ, कृपा कर मुझे समझाइये। [५९–६०]

आचार्य—हे राजेन्द्र ! स्पर्श, जीभ, नाक, आँख और कान ये पाँच इन्द्रियाँ कही जाती हैं। कोमल स्पर्श से आनन्द और कठोर स्पर्श से दुःख, सुस्वादु भोजन से जिह्वा का आनन्द और कड़वे भोजन को थूंक देने की इच्छा, सुगन्ध से मन प्रसन्न और दुर्गन्ध से नाक बंद करने की इच्छा, सुन्दर वस्तु और प्राणी को देखने से मन प्रसन्न तथा असुन्दरता से दुःखी, मधुर संगीत से प्रसन्नता और ककर्श ध्वनि से विषाद आदि इन्द्रियों के विषय हैं। इन पाँचों इंद्रियों को इष्ट विषय की प्राप्ति से आनन्द और अनिष्ट की प्राप्ति से द्वेष होता है।

इन्द्रियाँ दुर्जेय क्यों हैं ? अब इस विषय का विवेचन कर रहा हूँ। ध्यान-पूर्वक सुनो और धारण करो। कितने ही मनुष्य इतने बलवान होते हैं कि लड़ाई में हजारों योद्धाओं से अकेले झझ लेते हैं और मदोन्मत्त हाथियों को भी वश में कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेते हैं, ऐसे बलवान पुरुषों को भी ये इन्द्रियाँ जीत लेती हैं। इन्द्र आदि महाशक्तिवान प्राणी जो तीनों लोकों को अपनी शक्ति से अंगुली पर नचा सकते हैं, उन्हें भी इन्द्रियाँ क्षणभर में अपने वश में कर लेती हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश जैसे बड़े देव न केवल इन्द्रियों के वशीभूत हो जाते हैं अपितु इनके किंकर बन जाते हैं। सर्व शास्त्रों में प्रवीण और परमार्थ के जानकार व्यक्तियों को भी जब इन्द्रियां अपने अधीन कर लेती हैं तब वे बालक की तरह मूर्खतापूर्ण व्यवहार करते हैं। ये इन्द्रियाँ ❀ अपनी शक्ति-पराक्रम के सन्मुख देव, दानव और मानवों से भरपूर तीनों लोकों को पामर तुल्य मानती हैं। हे राजन्! इसीलिये मैंने कहा कि इन्द्रियाँ दुर्जय हैं। इस प्रकार इन इन्द्रियों के गुणों का सामान्य रूप से मैंने वर्णन किया है। [६१–६९]

तत्पश्चात् ज्ञान द्वारा मनीषी का वृत्तान्त जानकर दन्तपंक्ति से निसृत आभा से मानों अधर रक्त हो गये हों ऐसे सूरि महाराज ने सब को ज्ञान देने के लिये कहा––हे राजन्! सर्व इन्द्रियों को वश में करने की तो बात ही क्या करूँ? पर एक स्पर्शनेन्द्रिय ही संसार में इतनी बलवान है कि अकेली इस इन्द्रिय को जीतना भी संसार के अनेक प्राणियों के लिये महा कठिन है, जब कि यह अकेली तीनों लोकों के चल-अचल प्राणियों पर विजय प्राप्त कर सब को अपने वश में रखती है। [७०–७२]

स्पर्शनेन्द्रिय के जेता

शत्रुमर्दन–महाराज! इस स्पर्शनेन्द्रिय को वश में करने वाला कोई तो होगा या त्रैलोक्य में उस पर विजय प्राप्त करने वाला कोई भी नहीं है? [७३]

आचार्य––राजन्! स्पर्शनेन्द्रिय को वश में करने वाले पुरुष संसार में हैं ही नहीं, ऐसा तो नहीं कह सकते। पर उसे वश में करने वाले पुरुष विरले ही हैं, यह कह सकते हैं। विजेता विरले ही क्यों हैं? इसका कारण मैं आपको बताता हूं, आप सुनें। [७४]

इस संसार में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट और उत्कृष्टतम चार प्रकार के पुरुष होते हैं। इन चारों प्रकार के पुरुषों का स्वरूप इस प्रकार है। [७५]

उत्कृष्टतम प्राणी का स्वरूप

इनमें से उत्कृष्टतम (उत्तमोत्तम) पुरुष का स्वरूप पहले बताता हूँ– अनादि काल से प्राणी का सम्बन्ध स्पर्शनादि इन्द्रियों के साथ चलता आ रहा है। वह प्रत्येक भव में इन्द्रियों का लालन-पालन करता आ रहा है अतः उसे इन्द्रियां बहुत प्रिय लगती हैं। जब सर्वज्ञ देव द्वारा प्ररूपित आगमों के आधार से उत्कृष्टतम पुरुषों को इन्द्रियों का स्वरूप विशेषकर स्पर्शनेन्द्रिय का स्वरूप समझाया जाता है कि ये इन्द्रियाँ अत्यधिक दोष उत्पन्न करने वाली हैं तब वे उससे संतुष्ट हो जाते हैं अर्थात् उससे विरक्त हो जाते हैं। यही कारण है कि महात्मा पुरुषों ने इन्द्रियों का

❀ पृष्ठ २०१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिरस्कार किया है। इतना जानने के पश्चात् गृहस्थावस्था में रहते हुए भी जिनागम के द्वारा वस्तु-स्वरूप को बराबर समझकर स्पर्शनेन्द्रिय की लोलुपता में किसी प्रकार के अनाचरणीय कार्य का आचरण नहीं करते। आगे चलकर ऐसे प्राणियों को जिनागम का विशेष ज्ञान होता है जिससे उन्हें शासन के प्रति स्थिरता प्राप्त होती है और वे स्पर्शनेन्द्रिय के साथ अपने जो थोड़े बहुत सम्बन्ध शेष रह गये होते हैं उन्हें भी त्याग कर, भागवती दीक्षा लेकर, मन को अत्यन्त निर्मल कर, संतोष भाव धारण कर, अत्यन्त निःस्पृह बनकर कृतार्थ हो जाते हैं। तत्पश्चात् इस भयंकर संसार अटवी से विरक्त होकर, पाप रहित होकर, मन में महोसत्त्व को धारण कर स्पर्शनेन्द्रिय के जो प्रतिकूल हो उसे स्वीकार करते हैं, किन्तु स्पर्शनेन्द्रिय के अनुकूल किसी भी कार्य का सेवन नहीं करते। वे भूमि पर सोते हैं, कोमल शय्या का त्याग करते हैं, अपने सिर और दाढी मूंछ के बालों का लुंचन करते हैं। इस प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय के प्रतिकूल अनेक शारीरिक कष्टों को वे प्रसन्नता से वरण करते हैं और स्पर्श सुख की किंचित् भी इच्छा नहीं रखते जिससे उन्हें क्लेशजन्य किसी भी प्रकार की आकुलता नहीं होती। इस प्रकार समग्र कर्मों से होने वाले क्लेशों का नाश कर, स्पर्शनेन्द्रिय पर पूर्णरूपेण विजय प्राप्त कर अन्त में वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं। हे राजन्! ऐसे प्राणियों को विचक्षण पुरुष उत्कृष्टतम वर्ग के मनुष्य कहते हैं और जो प्राणी इस प्रकार की प्रवृत्ति करते हैं वे महा भाग्यशाली होते हैं। पर, यह सच है कि ऐसे उत्कृष्टतम वर्ग के प्राणी इस संसार में विरले ही होते हैं।

[७६-८४]

मनीषी की विचारणा

आचार्य श्री प्रबोधनरति के ऐसे वचन सुनकर विशुद्धचेता मनीषी ने अपने मन में सोचा कि, अहो! आचार्य भगवान् ने स्पर्शनेन्द्रिय का जैसा स्वरूप अभी बताया और कहा कि इस लोक में यह दुर्दमनीय है, ठीक ❀ ऐसा ही स्पर्शन का स्वरूप बोध और प्रभाव ने मुझे पहले बताया था। उन्होंने कहा था कि, यह महाबलशाली स्पर्शन अन्तरंग नगर का निवासी योद्धा है। इससे लगता है कि स्पर्शनेन्द्रिय ही स्पर्शन के नाम से पुरुष के रूप में हम सब को ठग रही है, अन्यथा ऐसा कैसे हो सकता है? आचार्य ने जिस उत्कृष्टतम पुरुष का वर्णन किया है, वैसा ही वर्णन स्पर्शन ने भवजन्तु के विषय में मेरे समक्ष किया था। उस समय स्पर्शन ने यह भी कहा था कि सदागम के प्रभाव से उसने मुझे छिटक दिया था और सन्तोष के सहयोग से निर्वृत्ति नगरी को चला गया था। बोध और प्रभाव ने जो वर्णन पहले किया था वह अभी आचार्य श्री द्वारा किये गये वर्णन से मिलता है, जिससे इसका रहस्य समझ में आ जाता है; अतएव इस सम्बन्ध में मुझे किसी प्रकार का संदेह नहीं रहा। अन्य तीन प्रकार के पुरुषों का वर्णन सुनने से मुझे सारा रहस्य

❀ पृष्ठ २०२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समझ में आ जायगा। ये आचार्य श्री अपनी विशाल ज्ञान दृष्टि से चराचर जगत के सर्व भावों को जानते हैं और वे सर्व प्रकार की शंकाओं का समाधान करने में भी समर्थ हैं। [८५-९२]

मध्यमबुद्धि के विचार

विस्मित दृष्टि से मनन पूर्वक मनीषी जब उपरोक्त विचार कर रहा था तब मध्यमबुद्धि ने उसकी ओर चित्त को केन्द्रित कर उससे पूछा--भाई मनीषी! लगता है तू अपने मन में कुछ गहन विचार कर रहा है। क्या तुझे कोई नवीन तत्त्व मिला है?। [९३-९४]

मनीषी--हे भाई! ये महात्मा मुनि महाराज स्पष्ट शब्दों में सब बात करते हैं, फिर भी क्या तुझे तत्त्व की बात समझ में नहीं आई? मुझे तो निःसन्देह स्पर्शन ऐसा ही लग रहा है जैसा इन महात्मा ने अभी-अभी स्पर्शनेन्द्रिय का वर्णन किया है। [९५-९६]

यह सुनकर मध्यमबुद्धि को आश्चर्य हुआ। उसने पूछा--स्पर्शन और स्पर्शनेन्द्रिय दोनों एक समान कैसे हो सकते हैं? मनीषी ने उत्तर में अपने मन में जो कारण था वह कह सुनाया और भवजन्तु का स्पर्शन के साथ भूतपूर्व मित्रता के सम्बन्ध का उदाहरण देकर स्पर्शन और स्पर्शनेन्द्रिय की समानता को स्पष्टतः सिद्ध किया। [९७]

बाल के तुच्छ विचार

उस समय बेचारा बाल तो पापकर्मों की प्रबलता के कारण यों ही चारों तरफ देख रहा था। गुरु महाराज के हितकारक उपदेश के प्रति वह पूर्णतः अनादर भाव प्रदर्शित कर रहा था।

उस समय आचार्य श्री के मुख-कमल से निकली अमृतवाणी का पान करती विशालाक्षी मदनकन्दली रानी भी वहीं राजा के पास बैठी थी, जिस पर बाल की पाप-दृष्टि गई। पापी बाल सोचने लगा--'अहा! मेरे हृदय में निवास करने वाली मेरी हृदयवल्लभा मदनकन्दली भी यहाँ आई है! अहा! स्वर्ण कांति प्रभायुक्त इसका शरीर देखने मात्र से इसकी सम्पूर्ण कोमलता/मृदुता प्रकट हो जाती है। इसके दोनों पैरों के भीतर की शिराएँ (नाडियां) दिखाई नहीं देती, जो कछुए की पीठ जैसी उन्नत हैं और सर्व प्रकार से श्रेष्ठ हैं वे रक्त कमल जैसे दिखाई देते हैं। इस मदनकन्दली की दोनों जंघायें स्व-सौन्दर्य से कामदेव के मन्दिर के तोरण का आकार धारण करती हुई शोभायमान हो रही हैं। इस सुन्दर स्त्री के नितम्ब पर पहनी हुई मेखला (कंदौरे) से ऐसा प्रतीत होता है मानों कामदेव रूपी हाथी बंधा हुआ हो और इसकी ओर दृष्टिपात करने वाले को अमृत पान करा रही हो। इस स्त्री की सुन्दर कटि (कमर) ऊपर के बोझ से कृशीभूत, त्रिवली से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शोभित रोमराजी को धारण करती हुई सुन्दरतम दिखाई देती है। ❀ सत्कामरस से भरपूर वापिका जैसी इस की नाभि मनोहर और सज्जन पुरुषों के हृदय के समान गम्भीर लगती है। इसके पयोधर कठोर, गोल, पुष्ट, कलशाकार, उन्नत, विशाल और अति सुन्दर हैं। इसकी बाहुलताएँ (भुजाएँ) सुकुमार, मनोहर और महान पुण्य संचय से प्राप्त हो सकें ऐसी रमणीय हैं। सुन्दर-रूपधारक इस सुन्दरी ने हाथों की शोभा से रक्ताशोक के नवीन और मनोरम रक्त पल्लवों को भी जीत लिया हो ऐसा मैं समझता हूँ। इसकी गोलाकार गर्दन पर आकर्षक तीन रेखायें शोभित हो रही हैं, इन रेखाओं को मानो विधाता ने त्रिभुवन विजेता के रूप में अंकित की हों! इसके कोमल अधर प्रवाल के समान शोभित हो रहे हैं। मृदु और निर्मल कपोलों से निसृत दीप्ति से यह शोभायमान हो रही है। इसके मुख में कुन्दपुष्प की कलियों के समान दन्तपंक्ति विलास करती हुई ज्योत्स्ना का पुंज हो ऐसी शोभायमान हो रही है और ऐसा लगता है कि इसके जैसी दन्तपंक्ति तीन भुवन में किसी की भी न हो! इसकी विशाल आंखें किंचित् श्वेत, किञ्चित् कृष्ण लालरेखा से शोभित और सूक्ष्म पक्ष्मल (भांपणे) युक्त होने से आनन्द को बढाती हैं। इसकी नासिका का अग्रभाग उन्नत है। इसकी भ्रूलता लम्बी और सुकोमल बालों वाली है। इसका कपाल अलकावली (जुल्फों) से आकर्षक लग रहा है। इसके कानों की रचना करके विधाता को भी मन में अभिमान हुआ होगा कि मैंने इसके शरीर के रूप और गुण के अनुरूप ही कानों का निर्माण किया है। इस का सुगन्धित तेल से स्निग्ध कुटिल केशपाश (जूडा) अत्यधिक आकर्षक लगता है। इस केशपाश में खचित मालती पुष्पों की सुगन्ध से आकर्षित होकर चारों ओर भौंरे (भ्रमर) मंडरा कर इस की शोभा को द्विगुणित कर रहे हैं। कामदेव को जाग्रत करने वाले उसके कर्णप्रिय मधुर स्वर को सुनकर कोयल भी लज्जित हो जाती है और समझती है कि इसके सम्मुख मेरा स्वर विस्वर हो गया है। संसार के सारभूत श्रेष्ठ पुद्गलों को चुन-चुन कर ब्रह्मा ने इस रमणी के रूप-लावण्य की रचना की हो, ऐसा स्पष्टतः लगता है; अन्यथा ऐसे सौन्दर्य और लावण्य का निर्माण हो ही नहीं सकता। जैसा इसका रूप सुन्दर है वैसा ही इसका स्पर्श भी कोमल होना चाहिये, इसमें क्या संदेह है? अमृत के कुण्ड में थोड़ी भी कडुहाअट कैसे हो सकती है? यह अति चपल नयनवाली नजर चुराकर स्निग्ध दृष्टि से बार-बार मेरी तरफ देख रही है, इससे लगता है कि वह भी मुझे चाहती है।' ऐसे विपरीत विचारों से बाल का मन आकुल-व्याकुल हो गया और भविष्य में इस सुन्दरी के संसर्ग से प्राप्त होने वाले सुख की कल्पना में उसका मूढ मन खो गया। [९८–१२१]

उत्कृष्ट प्राणी का स्वरूप

सूरि महाराज ने अपना उपदेश आगे चलाया—राजेन्द्र! मैंने तुम्हें

❀ पृष्ठ २०३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वोत्कृष्ट पुरुषों का स्वरूप बताया वह आप समझ गये होंगे ! अब मैं उत्तम पुरुषों के स्वरूप का वर्णन करता हूँ। [१२२]

सूरि महाराज के ऐसा कहने पर मनीषी ने सोचा कि यह तो बहुत अच्छा हुआ। आचार्य श्री यह भली प्रकार समझायेंगे। मध्यमबुद्धि को भी उसने कहा कि आचार्य श्री के उपदेश को ध्यान पूर्वक सुनना और समझना। [१२३]

आचार्य ने अपने प्रवचन में कहा—मनुष्य-जन्म प्राप्त कर जो प्राणी स्पर्शनेन्द्रिय को शत्रु रूप से पहचान लेते हैं वे उत्कृष्ट/उत्तम प्राणी हैं।* इस वर्ग के प्राणियों का भविष्य उत्तम होने से वे अपने मन में निर्णय कर लेते हैं कि स्पर्शनेन्द्रिय प्राणियों के लिये किंचित् भी लाभकारी नहीं है। फिर जब वे बोध (ज्ञान) और प्रभाव (धर्मोपदेश) द्वारा स्पर्शनेन्द्रिय के मूल स्वरूप की जाँच करते हैं तब उन्हें स्पष्टतः पता चल जाता है कि वास्तव में यह इन्द्रिय कैसी है ? जब उन्हें इस इन्द्रिय की यथार्थता ज्ञात हो जाती है, तब वे समझ जाते हैं कि यह इन्द्रिय तो निरन्तर प्राणियों को ठगने का कार्य ही करती है। तब वे सर्वदा उसके प्रति शंकाशील रहते हैं, उससे सचेत रहते हैं और कभी उसका विश्वास नहीं करते। इतना ही नहीं, वे विगतस्पृह होकर अपनी इच्छा पर अकुश रखते हैं और स्पर्शनेन्द्रिय के अनुकूल कोई भी आचरण नहीं करते, इस प्रकार वे विचक्षण तज्जनित दोषों का संचय नहीं करते। शरीर धर्म करने का साधन है, इसलिये उसे टिकाने के लिये आवश्यक कार्य वे स्पर्शनेन्द्रिय के अनुकूल भले ही करते हैं, पर उसमें उनकी रंचमात्र भी आसक्ति नहीं होती, अतः वे सुख को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार के मनुष्य इस लोक में निर्मल यश प्राप्त करते हैं और उनका आशय निष्कलंक और स्वच्छ होने से परभव में भी वे स्वर्ग को प्राप्त करते हैं तथा स्वयं क्रमशः मोक्ष मार्ग के निकट पहुँच जाते हैं। इस विषय में उनको प्रेरित करने वाले सद्गुरु तो नाम मात्र के लिये कारणभूत होते हैं, पर वास्तव में तो वे मोक्षमार्ग के प्रति स्वयं ही प्रयाण करते हैं। ऐसे प्राणी स्वयं तो मोक्ष की ओर प्रगति करते ही हैं पर दूसरों को भी सन्मार्ग पर चलने के लिये आकर्षित करते हैं। वे अपनी वाणी से दूसरों को भी बता देते हैं कि आत्मा का हित करने वाला यदि कोई मार्ग है तो वह यही है। यद्यपि कई अज्ञानी प्राणी उनकी वाणी सुनकर भी सन्मार्ग की ओर प्रवृत्ति नहीं करते तब वे उत्तम प्राणी उनके प्रति उपेक्षा की दृष्टि अपनाते हैं और अपने विशुद्ध मार्ग में निराकुलता के साथ बढते रहते हैं। ऐसे महाबुद्धिशाली उत्कृष्ट मनुष्य स्वभाव से ही देवपूजा, आचार्य का सन्मान, तपस्वी की सेवा और श्रेष्ठतम व्यवहार वाले महापुरुषों की पूजा-सत्कार में दत्तचित रहते हैं। [१२२-१३४]

आचार्य प्रबोधनरति इस प्रकार उपदेश कर रहे थे तभी मनीषी के मन में विचार उठा कि आचार्य महाराज ने उत्कृष्ट पुरुष के व्यवहार की जो श्लाघा

---

* पृष्ठ २०४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की है, जैसा स्वरुप का वर्णन किया है वैसा मैंने स्वयं अनुभव किया हो ऐसा लग रहा है। उसी समय मध्यमबुद्धि ने भी विचार किया कि आचार्य महाराज द्वारा वर्णित उत्तम पुरुष के सभी गुण मनीषी में दिखाई देते हैं। [१३५-१३६]

मध्यम प्राणी का स्वरूप

राजा शत्रुमर्दन ! मैंने उत्कृष्टतम और उत्कृष्ट पुरुषों का वर्णन किया। अब मध्यम पुरुष का वर्णन कर रहा हूँ, ध्यानपूर्वक सुनें।

जो लोग मनुष्य जन्म को प्राप्त कर स्पर्शनेन्द्रिय का स्वरूप मध्यमबुद्धि (सामान्य दृष्टि) से समझ पाते हैं वे मध्यम प्राणी हैं। इस वर्ग के प्राणी स्पर्शनेन्द्रिय को प्राप्त कर उसके सुख में आसक्त हो जाते हैं, पर जब कोई विद्वान् पुरुष उन्हें अनुशासित करते हैं (उस इन्द्रिय का स्वरूप और उसके भोग के फल के सम्बन्ध में उपदेश देते हैं) तब उनका मन चंचल हो उठता है। वे डांवाडोल बुद्धि वाले मन में विचार करते हैं कि इस विचित्र संसार में हम क्या करें ? एक तरफ देखें तो अनेक प्राणी इन्द्रिय-भोगों की प्रशंसा करते हैं और अधिकांश प्राणी आनन्द पूर्वक उसका सेवन करते हैं, तो दूसरी तरफ कुछ प्रशान्त आत्मा वाले प्राणी सर्व प्रकार की इच्छाओं का त्याग कर भोग की निन्दा करते हैं। तब इस उलझन भरे संसार में मुझ जैसों को कौनसा मार्ग स्वीकार करना चाहिये ? कुछ समझ में नहीं आता। ऐसे विचारों से वे शंकालु बन जाते हैं और दोनों में से किसी एक मार्ग को ग्रहण करने का निर्णय नहीं कर पाते। * जब उन्हें कुछ नहीं सूझता तब वे ऐसे ही समय व्यतीत करते हैं और सोचते हैं कि किसी एक पक्ष को स्वीकार करने से पूर्व गुणावगुण परीक्षण करने के लिये कालक्षेप करना ही योग्य है। मनुष्य के जैसे कर्म होते हैं वैसे ही उसकी बुद्धि बनती है। विद्वान् लोगों ने कहा ही है कि 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी' अर्थात् शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार ही बुद्धि भी उत्पन्न होती है। फलतः चित्त की डांवाडोल अवस्था में वे स्पर्शनेन्द्रिय को सुख का कारण तो मानते हैं और उसके अनुकूल आचरण भी करते हैं किन्तु उसमें अधिक आसक्त नहीं होते। अतएव स्पर्शनेन्द्रिय के वशवर्ती होकर वे कोई लोकविरुद्ध आचरण नहीं करते, जिससे उन्हें अनर्थकारी दुःख भी नहीं होता। ज्ञानी पुरुष उन्हें जो उपदेश देते हैं उसे वे भली प्रकार सुनते और समझते हैं, किन्तु उन्होंने पहले कभी दुःख देखा ही नहीं इसलिये वे उस उपदेश के अनुसार आचरण नहीं कर पाते। कभी-कभी वे अज्ञानी प्राणियों के स्नेह में पड़कर उनसे मित्रता कर बैठते हैं, इसके फलस्वरूप कभी-कभी वे भयंकर दुःख भी प्राप्त करते हैं और वे लोक-निंदा को भी प्राप्त होते हैं; क्योंकि पापी मनुष्यों की संगति समस्त प्रकार के अनर्थों को उत्पन्न करने वाली होती है। जब वे विद्वान् पुरुषों द्वारा ज्ञान प्राप्त कर यह समझ जाते है कि अपना वास्तविक हित किसमें है, तब उनके आदेशानुसार प्रवृत्ति भी

* पृष्ठ २०५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं, जिससे उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है, वे परमार्थतः सुखी होते हैं और महापुरुषों की संगति से उत्तम मार्ग को प्राप्त करते हैं। फिर वे भी विज्ञ पुरुषों की भांति गुरु, देव और तपस्वियों का अर्चन-पूजन, वन्दन, सत्कार आदि बहुमान पूर्वक करते हैं। [१३७-१५३]

आचार्य महाराज का उपदेश सुनकर मध्यमबुद्धि ने विचार किया कि आचार्यश्री ने अपने ज्ञान और अनुभव से मध्यम पुरुषों के जो गुणावगुण लक्षण बताये हैं, वे सब मुझे स्वयं अनुभवसिद्ध हैं, मेरे में घटित हैं। मेरे मन की स्थिति वस्तुतः इन महापुरुष द्वारा वर्णित स्थिति जैसी ही है। मनीषी ने भी अपने मन में यही सोचा कि आचार्यश्री ने स्पष्टरूप से मध्यम-पुरुषों के जो लक्षण बताये हैं, वे सभी मेरे भाई मध्यमबुद्धि में विद्यमान हैं। [१५४-१५५]

सूरि महाराज ने अपना उपदेश आगे चलाया :—

जघन्य प्राणी का स्वरूप

हे भव्य प्राणियों ! मैंने तुम्हें उपरोक्त मध्यम वर्ग के प्राणियों का स्वरूप बतलाया वह तुम्हें समझ में आ गया होगा। अब मैं तुम्हें जघन्य प्राणियों का स्वरूप बतलाता हूँ। [१५६]

मनुष्य-जन्म पाकर जो प्राणी स्पर्शनेन्द्रिय को अपना परम मित्र समझते हैं, जो स्वयं यह नहीं जानते कि वह हमारी बड़ी से बड़ी शत्रु है तथा जो हितोपदेशक विज्ञ पुरुषों पर क्रोधित होते हैं, ऐसे प्राणियों को जघन्य वर्ग के समझना चाहिये। इस वर्ग के प्राणियों को स्पर्शनेन्द्रिय का सुयोग मिलना गंजे को खुजली होने के समान समझना चाहिये। परमार्थतः आत्मा को हानि पहुँचाने वाली स्पर्शनेन्द्रिय के लेशमात्र सुख पर जब ऐसे प्राणी एक बार आसक्त हो जाते हैं तब उन्हें भविष्य का विचार नहीं रहता। उस पर गाढासक्ति हो जाने के कारण उनकी विपरीत मति हो जाती है और वे स्पर्शनेन्द्रिय को ही अपना स्वर्ग, परमार्थ और सुख का सागर समझ बैठते हैं। ❀ ऐसे विचारों से उनके हृदय में चारों तरफ अन्धकार फैलता है और विवेक का शोषण करने वाली राग-वृत्ति चित्त में बढ जाती है। अर्थात् वे विवेक-शून्य हो जाते हैं और अन्धकार में भटकने लगते हैं। उनके हृदय में सद्भावों का प्रवेश न होने से वे सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं। उनकी बुद्धि भी अन्धकारग्रस्त हो जाती है। फलस्वरूप उनकी बुद्धि इतनी विकृत हो जाती है कि वे अनार्य, अकरणीय एवं निन्द्य कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं। उस समय उन्हें अकार्य करने से रोक भी कौन सकता है ? यदि कोई उनसे कहे कि इन लोक और धर्म विरुद्ध कार्यों से अनेक लोग तुम्हारी निन्दा करते हैं अतः तुम्हें इस प्रकार के अधम कार्य नहीं करने चाहिये, तो वे उसके भी शत्रु बन जाते हैं। ऐसे पापी प्राणी चन्द्र जैसे अपने निर्मल कुल को कलंकित करते हैं और अपने अधम

❀ पृष्ठ २०६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चरित्र के कारण हंसी के पात्र बनते हैं। वे इतने विषयान्ध बन जाते हैं कि मर्यादा-हीन होकर अगम्य स्त्रियों के साथ भी विषय-सेवन की इच्छा करते हैं, जिससे वे लोगों की दृष्टि में आक की रुई से भी अधिक तुच्छ बन जाते हैं। स्त्रियों के साथ विषय-संभोग और ऐसे ही अन्य अधम कार्य उनके हृदय में कदाग्रह और दुराग्रह के कारण ऐसी जड़ जमा लेते हैं कि जिससे उन्हें जो दुःख होते हैं और संसार में उनकी विडम्बना और निन्दा होती है उसका वर्णन वाणी द्वारा करना अशक्य है। संक्षेप में, संसार में जितनी विडम्बनाएँ/पीडाएँ शक्य हैं वे सब ऐसे जघन्य प्राणी को भोगनी पड़ती हैं। ऐसे प्राणी अपने स्वभाव से ही गुरु, देव और तपस्वियों के शत्रु होते हैं, गर्हित पापाचरण करने वाले और अत्यन्त निर्भागी तथा गुणों को दूषित करने वाले होते हैं। वे महामोह के वशवर्ती होते हैं, अतः यदि कोई उनके हित के लिये उन्हें सन्मार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं तो उसे नहीं सुनते और कभी सुन भी लेते हैं तो उसे स्वीकार नहीं करते। [१५७-१७०]

आचार्यश्री का उपदेश सुनकर मनीषी और मध्यमबुद्धि अपने मन में विचार करने लगे कि आचार्य ने स्पर्शनेन्द्रिय-लुब्ध जघन्य वर्ग के जीवों का जो विशदरूप कहा है वह सचमुच बाल में अक्षरशः सत्य दिखाई देता है। आचार्य के वचन सत्य हैं, क्योंकि उन्हें ज्ञानदृष्टि से जो दिखाई नहीं देता उसके बारे में वे कभी नहीं बोलते। [१७१-१७३]

बाल ने तो आचार्यश्री के उपदेश की तरफ लेशमात्र भी ध्यान नहीं रखा, वह पापी तो शनी मदनकन्दली की तरफ ही एकटक देख रहा था और उसके साथ विषय-भोग करने के विचार में ही लुब्ध हो रहा था। [१७४]

सूरि महाराज ने अपने उपदेश का उपसंहार करते हुए कहा—राजन्! मैंने जघन्य प्राणियों का जो वर्णन किया वह तुम्हें समझ में आगया होगा। विशेषता यह है कि संसार में इस वर्ग के प्राणी ही सबसे अधिक होते हैं, पहले तीन वर्ग के प्राणी तो त्रैलोक्य में भी बहुत थोड़े होते हैं। जैसा कि पहले मैंने आपके सन्मुख प्रतिपादन किया है तदनुसार मेरे कथन का तात्पर्य यह है कि स्पर्शनेन्द्रिय को जीतने वाले प्राणी त्रैलोक्य में भी बहुत ही विरले होते हैं। [१७५-७७] *

शत्रुमर्दन—जीव धर्म का आचरण क्यों नहीं कर सकता? इस प्रश्न का उत्तर देकर आपने मेरी शंका का समाधान किया जिसके लिये मैं आपका बहुत आभारी हूँ। [१७८]

चार प्रकार के प्राणियों का विवेचन

इस अवसर पर सुबुद्धि मन्त्री ने कहा-महाराज! आपने अभी जो पश्चानुपूर्वी से उत्कृष्टतम, उत्तम, मध्यम, जघन्य चार प्रकार के प्राणियों के स्वरूपों

* पृष्ठ २०७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रतिपादन किया, क्या वे अपने स्वभाव से ही ऐसे होते हैं या किसी और कारण से वे भिन्न-भिन्न प्रकार के बन जाते हैं ? कृपा कर स्पष्ट करें।

आचार्य—महामन्त्रिन् ! प्राणियों का भिन्न-भिन्न प्रकार का स्वरूप स्वाभाविक नहीं है वह विभिन्न कारणों से बन जाता है। इनमें से उत्कृष्टतम और उत्तम प्राणियों में वस्तुतः किसी भी प्रकार का भेद नहीं है, केवल इतना ही अन्तर है कि उत्कृष्टतम प्राणियों ने अपना कार्य सिद्ध कर लिया है जब कि उत्तम प्राणी मनुष्य भव को पाकर, संसार के स्वरूप को समझकर, मोक्षमार्ग को पहचान कर उस ओर आचरण करते हैं और कर्मजाल को काटकर, स्पर्शनेन्द्रिय का त्याग कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। उस अवस्था में उत्कृष्ट भी उत्कृष्टतम बन जाते हैं। फिर वे मोक्ष में सिद्ध-रूप में अवस्थित हो जाते हैं। अवस्था की दृष्टि से उत्कृष्टतम विभाग के प्राणियों का कोई जनक नहीं होता, अर्थात् इन प्राणियों के कोई माता-पिता नहीं होते। शेष उत्तम, मध्यम, और जघन्य प्राणी संसार में रहते हैं और स्वकीय भिन्न-भिन्न विचित्र कर्मों के फल स्वरूप वैसे-वैसे बनते हैं, अतः कर्म-विलास राजा उन्हें उत्पन्न करने वाला उनका पिता माना जाता है।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं—शुभ, अशुभ और सामान्य। इसमें जो कर्म-पद्धति शुभ होने से सुन्दर लगे वह शुभसुन्दरी रूपी माता उत्तम प्राणियों को जन्म देने वाली मानी जाती है। जो कर्मपद्धति अशुभ होने से असुन्दर लगे वह अकुशलमाला रूपी माता जघन्य प्राणियों को जन्म देने वाली मानी जाती है। जो कर्मप शुभ-अशुभ मिश्रित होने से सामान्य लगे वह सामान्यरूपा माता मध्यम वर्ग के प्राणियों को जन्म देने वाली मानी जाती है।

उपरोक्त वर्णन सुनकर मनीषी ने विचार किया कि, अहो ! इन आचार्यश्री ने तो उत्तम, मध्यम और जघन्य पुरुषों को न केवल गुणों से ही हमारे समान बताया है अपितु चरित्र से भी हमारे समान बताया है, जिससे आचार्य की बात हम तीनों भाइयों पर लागू होती है। इन महात्मा ने माता-पिता सम्बन्धी जो वर्णन किया है वह भी हम पर लागू होता है, अतः तीनों वर्गों के पुरुष हम तीनों भाई हैं यह तो निश्चित ही है।

स्पर्शन ने पहले मुझे कहा था कि भवजन्तु जब उसका तिरस्कार कर निर्वृत्ति नगर में चला गया तब उसके कोई माता-पिता हों ऐसा उसने कुछ नहीं कहा था। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि भवजन्तु उत्कृष्टतम विभाग का पुरुष था। हम तीनों भाइयों के पिता कर्मविलास राजा हैं और आचार्य निर्दिष्ट हमारी माताएँ भी अलग-अलग हैं, अतएव यह ज्वलन्त सत्य है कि ❀ बाल जघन्यवर्ग का, मध्यमबुद्धि मध्यमवर्ग का और मैं स्वयं उत्तम वर्ग का पुरुष हूँ।

मनीषी जब उपरोक्त विचार कर रहा था तभी सुबुद्धि मन्त्री ने आचार्य-देव से दूसरा प्रश्न किया—भगवन् ! आपने जिन चार प्रकार के प्राणियों का वर्णन

❀ पृष्ठ २०८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया है, क्या वे सर्वदा ऐसे ही रहेंगे या कभी उनमें परिवर्तन भी सम्भव है ? क्या एक वर्ग के प्राणी किसी दूसरे वर्ग में परिवर्तित हो सकते हैं ?

आचार्य—महामन्त्रिन् ! उत्कृष्टतम विभाग के प्राणियों का स्वरूप तो स्थित है, स्थिर है, वे कभी दूसरी स्थिति या स्वरूप को प्राप्त नहीं होते। अन्य तीन वर्गों का स्वरूप अनित्य है, क्योंकि उन्हें कर्मविलास राजा के अधीन रहना पड़ता है। यह कर्मविलास राजा विषम (अव्यवस्थित) प्रकृति का है, अतः कभी-कभी उत्कृष्ट प्राणियों को भी मध्यम या जघन्य वर्ग का बना देता है। कभी मध्यम वर्ग के प्राणी को भी उत्तम बना देता है और कभी जघन्य बना देता है। वैसे ही जघन्य प्राणी को कभी मध्यम और कभी उत्तम बना देता है। अतः जो प्राणी कर्मविलास राजा के पंजे से छूट चुके हैं, उन्हीं की स्थिति एक समान रहती है, अन्य लोगों की स्थिति तो परिवर्तित होती रहती है।

मनीषी सोचने लगा कि यह सारा वृत्तान्त हम तीनों भाइयों और भवजन्तु के बारे में अक्षरशः सत्य घटित होता है। इसका कारण यह है कि हमारे पिता कर्मविलास बहुत ही विषम प्रकृति वाले हैं। उन्होंने एक समय कहा था कि जब वे प्रतिकूल होते हैं तब प्राणी की वही गति होती है जो बाल की हुई है। अपना पुत्र भी यदि विपरीत मार्ग पर चले तो वे उसे भी दुःखों की परम्परा प्रदान कर योग्य दण्ड देते हैं तब वे अन्य प्राणियों पर तो ममत्व रख ही कैसे सकते हैं ?

सुबुद्धि—भगवन् ! आपने जो उत्कृष्टतम प्राणियों का वर्णन किया वे किसके प्रभाव से वैसे बनते हैं ?

आचार्य—इस वर्ग के प्राणी किसी दूसरे के प्रभाव से वैसे नहीं बनते। वे अपने वीर्य से अपनी शक्ति से ही वैसे बनते हैं।

सुबुद्धि—इस प्रकार की शक्ति उत्पन्न करने का उपाय क्या है ?

आचार्य—श्री जिनेश्वर भगवान द्वारा प्ररूपित भाव-दीक्षा को अंगीकार करना और उसे भाव-पूर्वक निभाना ही इस प्रकार की शक्ति को प्राप्त करने का उपाय है।

मनीषी ने विचार किया की यदि ऐसा ही है तब तो मुझे भी उत्कृष्टतम विभाग का प्राणी बनना चाहिये। संसार की विडंबना और पीड़ा क्यों सहन की जाय ? इसका क्या लाभ ? अतः मुझे भी भाव-दीक्षा ले लेनी चाहिये। इस प्रकार सोचते हुए मनीषी के मन में दीक्षा लेने के विचार दृढ हुए। आचार्यश्री और सुबुद्धि मंत्री की बात-चीत सुनकर मध्यमबुद्धि को भी दीक्षा ग्रहण करने का विचार उत्पन्न हुआ, पर भाव-दीक्षा लेकर मैं नैष्ठिक अनुष्ठान सम्यक् प्रकार से कर सकूंगा या नहीं ? यही वह सोचने लगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुबुद्धि – भगवन् ! आपने पहले जो गृहस्थ-धर्म बताया वह इस प्रकार की शक्ति उत्पन्न कर सकता है या नहीं ?

आचार्य – परम्परा से गृहस्थ-धर्म भी इस प्रकार का वीर्य उत्पन्न करने का कारण बन सकता है, परन्तु प्रत्यक्ष कारण नहीं बन सकता; क्योंकि गृहस्थ-धर्म मध्यम वर्ग के प्राणियों के योग्य है। इस धर्म को भली प्रकार पालन करने से मध्यम वर्ग का प्राणी शनैः शनैः उत्कृष्ट वर्ग में आ जाता है और परम्परा से वह उत्कृष्टतम भी बन सकता है। अतः गृहस्थाश्रम को परम्परा से उत्कृष्टतम बनने का कारण माना गया है। ❀ वैसे समस्त प्रकार के क्लेशों का नाश करने वाली और सरलता पूर्वक संसार का विच्छेद करने वाली तो पवित्रतम भागवती दीक्षा ही है, जो कि अतिदुर्लभ है। किन्तु मन्त्रीश्वर ! गृहस्थाश्रम भी संसार को बहुत कुछ संक्षिप्त कर सकता है, अतः इस संसार समुद्र में उसे भी अति दुर्लभ समझना चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि भागवती दीक्षा प्राणी को अतिशय वीर्य द्वारा उसी भव में उत्कृष्टतम श्रेणी में ले जाती है, जब कि गृहस्थाश्रम में वह स्थिति धीरे-धीरे अनेक भवों में प्राप्त होती है।

यह सुनकर मध्यमबुद्धि सोचने लगा कि अभी तो मुझे तीर्थंकर महाराज द्वारा प्ररूपित गृहस्थ-धर्म का ही भली प्रकार अनुष्ठान करना चाहिये।

१३. बाल के अधमाचरण पर विचार

आचार्यश्री के उपदेशामृतसरिता-प्रवाह के समय बाल अकुशलमाला और स्पर्शन के शरीराधिष्ठित होने से उसने उपदेश का एक अक्षर भी ध्यान देकर नहीं सुना। उसकी चित्तवृत्ति अधिकाधिक अस्थिर/चंचल होती गई और उसके मन में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प होने लगे। वह तो रानी मदनकन्दली को अपलक दृष्टि से देख रहा था, और सोच रहा था, अहा ! कैसा सुन्दर मनोहर रूप है ! कैसा सौकुमार्य है ! ऐसा लगता है मदनकन्दली रानी भी मेरी ओर आकृष्ट है, उसकी मेरे प्रति आसक्ति निश्चित ही दिखाई दे रही है क्योंकि वह बार-बार तिरछी नजर से मेरी तरफ देख रही है। सचमुच इस गौरांगना के कोमल अंगों के स्पर्शजन्य सुखामृत-सेचन के अनुभव से अब मेरा जन्म सफल होगा ऐसा मुझे आभास हो रहा है। इस प्रकार वितर्क-परम्परा के जाल में आकुलित चित्त वाला बाल अपने आत्म-स्वरूप को खो बैठा, शेष व्यापारों से शून्य हो गया और उसके मन में भी किसी प्रकार से मदनकन्दली के साथ विषय-सुख भोगने की उत्कट इच्छा जाग्रत हुई।

❀ पृष्ठ २०६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य जब अधर्म पर उतर आता है तब अन्धे की भांति कार्य-अकार्य का कुछ भी विचार नहीं करता, जैसे उसे भूत लगा हो वैसे वह अन्धकार में कूद पड़ता है। वैसे ही हजारों लोगों, राजा, आचार्य और बड़े भाइयों के देखते हुए, जनसमुदाय को उपदेश श्रवण में विघ्न डालते हुए वह बाल एकाएक मदनकन्दली पर मन और आँखों को निश्चल कर लोगों को ठोकरें मारते हुए मदनकन्दली की तरफ दौड़ा। उसकी इस कुचेष्टा को देखकर उपस्थित जन-समुदाय में से लोग चिल्लाने लगे, 'अरे! यह क्या ? यह कौन पापी है जो ऐसे पवित्र स्थान में ऐसा अधम आचरण कर रहा है ?' पर बाल उस कोलाहल की ओर ध्यान दिये बिना ही मदनकन्दली रानी के निकट पहुँच गया। 'यह कौन है ?' शीघ्रता से शत्रुमर्दन ने उसे देखा और उसकी विकारयुक्त दृष्टि से उसके नीच भावों को समझ गया तथा 'अरे यह तो वही अधम पापी बाल है' पहचान गया। राजा की आँखें क्रोध से लाल हो गई, मुखाकृति भयंकर हो उठी और उसने जोर से उसे ललकारा। बाल पहले भी ऐसे अधम कार्यों से मरणान्तक कष्ट भुगत चुका था, जिससे वह अत्यन्त भयभीत हुआ, उसका कामज्वर उतरा, शरीर में कुछ चेतना, मुख पर दीनता के भाव उभरे और वह उलटे मुँह भागा। पर, उसके जोड़ ढीले पड़ जाने से, शरीर शिथिल हो जाने से, दौड़ने का वेग टूट जाने से कांपने लगा और वह थोड़ी दूर जाकर जमीन पर गिर पड़ा। उस समय स्पर्शन उसके शरीर से निकल कर आचार्यश्री के डर से दूर जाकर बैठ गया और उसकी प्रतीक्षा करने लगा। जन-समुदाय का कोलाहल कुछ शान्त हुआ। बाल के इस अधम आचरण से उसके दोनों भाई भी बहुत लज्जित हुए। राजा सोचने लगा कि, ऐसे निर्लज्ज अधम प्राणी पर क्या क्रोध करें ? ऐसा सोचकर राजा भी शान्त हो गया।

बाल के अधमाचरण पर विचारणा

शत्रुमर्दन राजा ने बाल के सम्बन्ध में आचार्यश्री से पूछा—भगवन्! इस पुरुष का चरित्र तो बहुत ही अद्भुत लगता है, उस पर विचार करना भी अशक्य है। जिन्हें संसार के अनेक मनुष्यों के चरित्रों का अनुभव है, ऐसे विद्वानों को भी इस पुरुष के आचरण की सत्यता को मानने में आनाकानी हो ऐसा निकृष्ट आचरण इस पुरुष का है। इसने पूर्व काल में कैसा आचरण किया और अभी उसके मन में कैसे विचार चल रहे हैं, वह आपश्री तो निर्मल* ज्ञान दृष्टि से प्रत्यक्ष जान सकते हैं, क्योंकि आप त्रैलोक्य में होने वाले समस्त भावों को हथेली पर रखे आंवले की तरह देख सकते हैं। तथापि मुझे यह जानने का कौतुक है कि इसका पहले का आचरण तो कर्मवैचित्र्य के कारण सत्त्ववाले प्राणियों में सम्भव है, पर अभी-अभी इसने जो कुछ किया वह तो प्रत्यक्ष सत्य होने पर भी इन्द्रजाल के समान विश्वास योग्य नहीं है। रागदि सर्पों का संहार करने वाले गरुड के समान आपके समक्ष भी अति अधम

* पृष्ठ २१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणी भी ऐसा आचरण कैसे कर सकते हैं ? ऐसा नीच कार्य करने का अध्यवसाय भी उनके मन में कैसे पनप सकता है ?

आचार्य—राजन् ! इस सम्बन्ध में कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है क्योंकि उस बेचारे का उसमें कुछ भी दोष नहीं है ।

शत्रुमर्दन—तब किसका दोष है ?

आचार्य—बाल के शरीर में से निकल कर उधर जो दूर बैठा है, उस पुरुष को देखा है ?

शत्रुमर्दन—हाँ, उसको देख रहा हूँ ।

आचार्य—उस दूर बैठे पुरुष का ही यह सब दोष है । बाल ने पहले जो आचरण किया वह उसी के वशीभूत होकर किया है । इस पुरुष के चक्कर में एक बार फंसकर जो उसके वशवर्ती हो जाता है उसके लिये संसार में कोई ऐसा पाप नहीं जिसका वह आचरण न करता हो । इसके वशीभूत प्राणी की ऐसी ही पराधीन स्थिति हो जाती है । अतः बाल ने कुछ भी अनहोना विचित्र कार्य नहीं किया । उसका आचरण कल्पनातीत भी नहीं है, अतः आपका ऐसा सोचना व्यर्थ है, क्योंकि उस दूर बैठे पुरुष की पराधीनता का यह अति साधारण परिणाम है ।

शत्रुमर्दन—भगवन् ! यदि ऐसा ही है तब आत्मा के लिये अनर्थकारी उस पुरुष को बाल अपने शरीर में क्यों रहने देता है ?

आचार्य—बेचारा बाल तो यह जानता ही नहीं कि शरीर में रहने वाला यह पुरुष इतना निकृष्ट और अधम है । यद्यपि वह उसका परम शत्रु है, तथापि वह उसके स्वभाव और मूलस्वरूप को नहीं जानता, इसलिये उसे अपने भाई जैसा मानता है और उसके प्रति अत्यन्त प्रेम रखता है ।

शत्रुमर्दन—ऐसी गलत मान्यता का कारण क्या है ?

आचार्य—इस बाल के शरीर में उसकी माता अकुशलमाला ने योगशक्ति द्वारा प्रवेश किया है । वही इन सब बुरे विचारों की जननी है । हमने अभी स्पर्शनेन्द्रिय के स्वरूप का जो वर्णन किया कि वह अति दुर्जेय है, उसका मूर्तिमान् स्वरूप बाल का पापी मित्र यह स्पर्शन है जो अभी दूर जाकर बैठा हुआ है । हमने जो चार प्रकार के प्राणियों का वर्णन किया है उसमें से जघन्य वर्ग का प्राणी यह बाल है और अकुशलमाला (अशुभ कर्मों की शृंखला) उसकी माता है, अतः इसके सम्बन्ध में सब कुछ सम्भव हो सकता है ।

राजन् ! आपने पूछा कि आचार्यश्री के समक्ष ऐसे नीचे अध्यवसाय (विचार) कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? इस विषय में भी आश्चर्य करने जैसा कुछ भी नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, क्योंकि कर्म दो प्रकार के होते हैं—सोपक्रम और निरुपक्रम। सोपक्रम कर्मों का क्षय एवं क्षयोपशम महापुरुषों के संयोग से या ऐसे ही किसी अन्य कारण से होता है, जबकि निरुपक्रम कर्मों का क्षय महापुरुषों के संयोग से भी नहीं हो सकता। अतः निरुपक्रम कर्मों के वशीभूत प्राणी महापुरुषों के समक्ष भी बुरे कार्य करे तो उसे कौन रोक सकता है? देखो, अतिशय पुण्य-पुंज तीर्थंकर देव भी जब गंधहस्ती के समान पृथ्वीतल पर विचरण करते हैं तब क्षुद्र हाथियों के समान दुष्काल, उपद्रव, * लड़ाई महामारी, वैर आदि सौ योजन दूर भाग जाते हैं। तथापि ऐसे तीर्थंकर देवों के समक्ष भी निरुपक्रम कर्मजाल के वशीभूत होकर अधम प्राणी शान्त होकर नहीं बैठते, अपितु उन तीर्थंकर भगवन्तों के ऊपर भी क्षुद्र उपद्रव करने को तैयार हो जाते हैं, अर्थात् उपद्रव करते हैं। शास्त्रों में भी भगवान् के कानों में कीलें ठोकने वाले ग्वाले और अनेक प्रकार के उपसर्ग/उपद्रव करने वाले संगम आदि पापकर्मियों की कथायें सुनते हैं। ऐसे पापी अपने पाप कर्म के आधिक्य से स्वयं भगवान् को भी महा उपसर्ग करते हैं। तीर्थंकरों के विचरण स्थान पर देवनिर्मित समवसरण के मध्य में सिंहासन पर तीर्थंकर चतुर्मुख के रूप में विराजमान होते हैं। उस समय उनकी मूर्ति के दर्शन मात्र से प्राणियों के राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं, कर्म के जाले टूट जाते हैं, वैर-सम्बन्ध शान्त हो जाते हैं, झूठे स्नेह-पाश कट जाते हैं और मिथ्या को सत्य समझने का भ्रम दूर हो जाता है। तदपि कुछ अभव्य और निरुपक्रम कर्मपुंज से आवृत एवं वशीभूत प्राणियों के अंतःकरण में विवेक का प्रसार नहीं हो सकता। फलतः भगवान् के समक्ष भी ऐसे प्राणियों को पूर्ववर्णित गुणों से उन्हें लेशमात्र का भी लाभ नहीं होता, प्रत्युत भगवान् के प्रति भी उनके हृदय में अनेक प्रकार के कुवितर्क उत्पन्न होते हैं। वे सोचते हैं, 'अहो! इस ऐन्द्रजालिक का इन्द्रजाल तो अत्यद्भुत एवं आश्चर्यकारी है! अहो! लोगों को ठगने की चतुराई तो देखो!! अरे! लोगों की बुद्धि मारी गई है जो ऐसे इन्द्रजाल रचने में कुशल, झूंठे और वाचाल मनुष्य से ठगे जाते हैं।' इस प्रकार तीर्थंकर भगवान् के समक्ष और उनके निकट भी बुरा आचरण करने वाले प्राणी होते हैं। अतः हे राजन्! इस बाल ने मेरे समक्ष जो दूषित आचरण किया और अधम कर्म करने का सोचा इसमें कुछ भी आश्चर्यकारक या अत्यद्भुत नहीं है। इस बाल के शरीर में अकुशलमाला निरुपक्रम रूप में विद्यमान है और वह उसकी माता होने से उसके अति निकट भी है। अपनी माता से प्रेरित होकर यह अपने पापी मित्र स्पर्शन को साथ में रखता है, अतः ऐसा परिणाम आये इसमें कुछ भी आश्चर्य करने जैसा नहीं है। फलतः आपको विस्मय नहीं करना चाहिये।

सुबुद्धि—भदन्त! भगवत्प्ररूपित आगम आदि के श्रवण से जिन प्राणियों की बुद्धि निर्मल हो जाती है उनको इन दुष्कर्मजन्य कृत्यों में लेशमात्र भी

* पृष्ठ २११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आश्चर्य एवं आपके उपरोक्त कथन में किंचित् भी संदेह नहीं हो सकता; क्योंकि निरुपक्रम कर्मों का परिणाम ऐसा ही विस्मयकारी होता है। हमारे महाराजा भी आपश्री के चरणकमलों के प्रभाव से इस सम्बन्ध में निर्मल-बुद्धि वाले और निपुण होते जा रहे हैं, अब इन्होंने भी इस विषय में समझना प्रारम्भ कर दिया है, इसलिये उन्होंने आपके साथ उपरोक्त प्रश्न-चर्चा की है।

बाल का भविष्य

शत्रुमर्दन—मेरे बुद्धिमान मन्त्री! आपने अवसर के योग्य सत्य कहा। पुनः आचार्यदेव को सम्बोधित कर राजा ने कहा— भगवन्! इस बाल की अंतिम दशा क्या होगी? यह बताने की कृपा करें।

आचार्य—तुम्हारे क्रोध के परिणामस्वरूप भयातिरेक से ग्रस्त मन वाला यह बाल अभी निश्चल होकर बैठा है, पर जैसे ही तुम यहाँ से प्रस्थान करोगे यह अपने असली स्वरूप में आ जायगा। फिर स्पर्शन और अकुशमाला उसे अपनी अधीनता में कर लेंगे। फिर तुम्हारे भय से अन्य प्रदेश में जाने के विचार से दौड़ता हुआ, अनेक प्रकार के घोर क्लेश सहता हुआ यह कोल्लाक सन्निवेश गांव में पहुंचेगा। कूर्मपूरक * गांव के समीप पहुंचकर थकान से उसे बहुत जोर की प्यास लगेगी और उसे दूरी पर एक बड़ासा तालाब दिखाई देगा। वह पानी पीने और नहाने के लिये उस तालाब की तरफ जायगा। उसी समय बाल के पहुँचने के पूर्व ही एक चाण्डाल और उसकी स्त्री भी वहाँ पहुँच जायेंगे। चाण्डाल तालाब के किनारे के वृक्ष पर पक्षियों के शिकार के लिये चढ़ेगा और चाण्डालिन यह सोचकर कि यहाँ विजन में कोई नहीं है अतः नहाने के लिये निर्वस्त्र होकर तालाब में उतरेगी। उसी समय बाल तालाब पर पहुँचेगा। उसे देखकर चांडालिन सोचेगी कि 'यह तो कोई स्पर्श्य (सवर्ण) वर्ग का पुरुष दिखता है, मुझ अछूत को सरोवर में देखकर यह अवश्य झगड़ा करेगा।' इस भय से पानी में डुबकी लगाकर वह कमलों के झुण्ड के पीछे छिप जायेगी। बाल भी नहाने के लिये तालाब में उतरेगा और संयोग से चाण्डालिन की ओर ही जायेगा। अनायास ही उसके अंगों का स्पर्श हो जाएगा। अंगस्पर्श होते ही बाल की कामाग्नि भभक उठेगी और लम्पटता के कारण उस चाण्डाल स्त्री के यह जता देने पर भी कि वह अछूत है, बाल बलपूर्वक उसके साथ बलात्कार करेगा। उस समय जब वह चाण्डाल स्त्री हल्ला मचायेगी तब चाण्डाल गुस्से में उस तरफ दौड़ेगा और दूर से ही अपनी स्त्री और बाल को उस अवस्था में देखेगा। उस समय चाण्डाल की क्रोधाग्नि भड़केगी और धनुष पर बाण चढाकर उसे ललकारेगा, 'अरे अधम पुरुष! दुरात्मन्! तेरा पौरुष बता, ऐसा घृणित कार्य करते तुझे लज्जा नहीं आई?' इस प्रकार ललकारते हुए चाण्डाल बाण मारेगा। उसे देखकर ही बाल कांपने लगेगा और एक ही बाण से उसके प्राण

* पृष्ठ २११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निकल जायेंगे। रौद्र ध्यान में मरकर वह बाल नरक में जायेगा। वहाँ से निकल कर अनेक बार कुयोनियों में जन्म लेगा और पुनः-पुनः मर कर नरक में अनन्त बार जायेगा। इसी प्रकार अत्यन्त अधम अवस्था में संसार चक्र में भटकता रहेगा और अनेक प्रकार के दुःखों को विचित्र परम्परा को तीव्रता से सहन करता रहेगा।

❀

१४. अप्रमाद यंत्र : मनीषी

[आचार्य प्रबोधनरति ने जब बाल के चरित्र और भविष्य का वर्णन किया और उसके कारण बताये तब शत्रुमर्दन राजा के मन में अनेक प्रश्न उठे। इसी प्रसंग में निजविलसित उद्यान में राजा, आचार्य और मन्त्री के मध्य जो प्रश्नोत्तर हुए, वे विशेष ध्यान योग्य हैं।]

शत्रुमर्दन—भगवन्! अकुशलमाला माता और स्पर्शन मित्र तो बहुत भयंकर हैं। बाल को हुए दुःखों और होने वाले अन्त का कारण भी यही दोनों हैं।

आचार्य—राजन्! इसमें कहने को क्या शेष रह गया है। इन्होंने तो दारुण भयंकरता की सीमा का भी उल्लंघन कर दिया है।

सुबुद्धि—भगवन्! अकुशलमाला और स्पर्शन केवल बाल पर ही अपना प्रभाव चलाते हैं या अन्य प्राणियों पर भी उनका प्रभाव चलता है?

आचार्य—महामंत्रिन्! इन दोनों का प्रभाव सब प्राणियों पर चलता है। अन्तर इतना ही है कि इन दोनों का बाल पर इतना अधिक प्रभाव है कि उनका स्वरूप स्पष्टतः झलक आता है। परमार्थ से तो कर्मबन्धन से युक्त समस्त संसारी प्राणियों पर इनका प्रभाव रहता ही है; क्योंकि अकुशलमाला योगिनी है और स्पर्शन योगिराज है। वे दोनों योगशक्ति से युक्त हैं। कभी दृश्य रूपवाले बन जाना और कभी अदृश्य हो जाना योगशक्ति सम्पन्न प्राणी ही कर सकते हैं।

शत्रुमर्दन—भगवन्! क्या हम देख सकें इस प्रकार का उनका प्रभाव चल सकता है? क्या हम पर भी उनका प्रभाव चल सकता है?

आचार्य—हाँ, न केवल तुम पर भी उनका प्रभाव चल सकता है अपितु चल रहा है।

यह सुनकर शत्रुमर्दन राजा ने मंत्री से कहा—मन्त्रिन्! जब तक इन दोनों पापियों का ❀ मर्दन नहीं किया, उन्हें नहीं हराया, नष्ट नहीं किया तब तक मेरा

❀ पृष्ठ २१३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शत्रुमर्दन नाम ही कैसा ? आचार्यश्री के समक्ष मुझे ऐसा कहना तो नहीं चाहिये, किन्तु दुष्टों का निग्रह करना राजा का धर्म है, अतः मैं तुम्हें जो आज्ञा दे रहा हूँ, आर्य ! उसे ध्यानपूर्वक सुनो।

सुबुद्धि—कहिये, क्या आज्ञा है ?

शत्रुमर्दन—आचार्यश्री ने जैसा अभी कहा कि अकुशलमाला और स्पर्शन ये दोनों बाल के साथ जायेंगे अतः अब इन दोनों का वध करना तो व्यर्थ है किन्तु तुम उन्हें मेरी यह आज्ञा सुना दो कि वे दोनों मेरे राज्य की सीमा से तुरन्त दूर, बहुत दूर चले जायें। बाल के मर जाने के बाद भी वे हमारे देश में वापस नहीं लौटें। यदि वे इस आज्ञा का उल्लंघन करेंगे तो इन्हें प्राणान्त दण्ड दिया जायगा। इस प्रकार की आज्ञा देने के उपरान्त भी यदि वे मेरे देश में फिर से प्रवेश करें तो उन्हें किञ्चित् भी विचार किये बिना ही इन दोनों को लोहयन्त्र में डालकर पील देना। ये दोनों महादुष्ट कितना भी रोएं या चिल्लाएं तब भी इन पर तुम नाममात्र की भी दया मत करना।

सुबुद्धि मन्त्री सोचने लगा कि, अहो ! राजा की इन दोनों पर कोप दृष्टि हुई है और आवेश में आकर राजा ने मुझे यह आज्ञा दी है। राजा ने जब मुझे नियुक्त किया था तब यह वचन दिया था कि वे मेरे से किसी प्रकार का हिंसा का कार्य नहीं करायेंगे, पर आवेश में राजा यह वचन भी भूल गये हैं। अस्तु। आचार्यश्री तो इसी विषय को लेकर राजा को प्रतिबोधित करने का कारण ढूंढ लेंगे। मुझे तो राजाज्ञा शिरोधार्य करनी ही चाहिये। यह सोचकर मन्त्री बोला—"जैसी महाराज की आज्ञा।" इस प्रकार कहकर मन्त्री स्पर्शन और अकुशलमाला को राजा की आज्ञा सुनाने के लिये जाने की तैयारी करने लगा।

उसी समय आचार्यश्री ने कहा—नरेन्द्र ! इन दोनों के विषय में तुम्हारी यह आज्ञा व्यर्थ है। इन्हें मूल से उखाड़ फेंकने का यह उपाय नहीं है, क्योंकि अकुशलमाला और स्पर्शन ये दोनों अन्तरंग वर्ग के हैं और अन्तरंग वर्ग के लोगों पर लोहयन्त्र (घाणी या फांसी) आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बाह्य शस्त्र तो उन तक पहुँच ही नहीं सकते।

शत्रुमर्दन—भदन्त ! तब इन दोनों के निर्दलन (नाश) का क्या उपाय है ?

अप्रमाद यन्त्र

आचार्य—अन्तरंग में रहने वाला अप्रमाद यन्त्र ही इन दोनों को नाश करने का उपाय है। मेरे पास जो साधु बैठे हैं वे इन दोनों का निर्दलन और उन्हें चूर-चूर करने के लिये उस यन्त्र का निरन्तर प्रयोग करते हैं, धारण करते हैं।

शत्रुमर्दन—इस अप्रमाद यन्त्र के साथ दूसरे और क्या-क्या उपकरण होते हैं ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य—ये साधु उन उपकरणों को भी निरन्तर अपने साथ ही रखते हैं और प्रति क्षण उनका अनुशीलन करते हैं।

शत्रुमर्दन—साधु इन उपकरणों का किस प्रकार अनुशीलन करते हैं?

आचार्य— सुनो। ये मुनि जीवन-पर्यन्त अन्य प्राणियों को दुःख नहीं पहुंचाते। लवलेशमात्र भी असत्य नहीं बोलते। दन्तशोधक सलाई जैसी तुच्छ वस्तु भी बिना दिये नहीं लेते। नवगुप्ति युक्त ब्रह्मचर्य को धारण करते हैं। परिग्रह का सर्वथा त्याग करते हैं। धर्मसाधन उपकरणों पर और अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखते। रात्रि में चारों प्रकार के आहार (खाद्य-पेय) का सेवन नहीं करते हैं। दिन में भी शास्त्रानुसार * संयम-यात्रा कि सिद्धि के लिये विशुद्ध उपकरण और निरवद्य आहार लेते हैं। अपना आचरण पाँच समिति और तीन गुप्ति से युक्त रखते हैं। अनेक प्रकार के अभिग्रहों को धारण करने में अपने शक्ति-पराक्रम का प्रयोग करते हैं। अकल्याणकारक मित्रों की संगति का परिहार करते हैं। सज्जन पुरुषों के प्रति आत्मभाव दर्शित करते हैं। अपनी योग्य स्थिति का थोड़ा भी उल्लंघन नहीं करते हैं। लोक व्यवहार की उपेक्षा नहीं करते हैं। गुरु और बड़ों का सर्वदा मान करते हैं। उनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करते हैं। भगवान् प्ररूपित आगम-शास्त्रों का भली प्रकार श्रवण करते हैं। यत्नपूर्वक व्रत-पालन की भावना रखते हैं। द्रव्य (बाह्य) आपत्ति में धैर्य रखते हैं। भविष्य में होने वाले दुःखों का पहले से ही विचार कर अपनी समझ के अनुसार उनके निवारण का उपाय करते हैं। अप्राप्त ज्ञानादि की प्राप्ति के लिये सतत प्रयत्नशील रहते हैं। अपने चित्त का प्रवाह कर्म-बन्ध की ओर न जाय इसके प्रति प्रतिक्षण सतर्क रहते हैं। मन यदि कर्म-बन्ध के मार्ग पर भागे तो तत्क्षण ही उसके प्रतिकार का उपाय सोच लेते हैं। अनासक्ति के अभ्यास से अपने मन को सतत निर्मल रखते हैं। योग मार्ग का अभ्यास करते हैं। परमात्मा को अपने चित्त में स्थापित करते हैं और उस पर अपनी दृढ़ धारणा करते हैं। विक्षेपकारक बाह्य कारणों का परित्याग करते हैं। अपने अन्तःकरण को इस ढंग से नियोजित करते हैं कि वह परमात्मा के साथ ऐक्य का अनुभव करने में लग जाता है। योग-सिद्धि का प्रयत्न करते हैं। शुक्लध्यान धारण करते हैं। अपनी आत्मा, शरीर और इन्द्रियों से भिन्न हैं ऐसा स्पष्ट देखते हैं। उत्कृष्ट प्रकार की समाधि को प्राप्त करते हैं और अपना आचरण इतना शुद्ध रखते हैं कि जिससे उत्कृष्ट मानसिक निर्मलता को प्राप्त कर शरीर में रहते हुए भी मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं।

हे राजन्! प्राणियों को दुःख से बचाकर अन्त में आत्मा को मोक्ष के योग्य बनाने तक उपरोक्त सभी कार्य अप्रमाद-यन्त्र के उपकरण हैं जिन्हें मुनिगण प्रत्येक क्षण उपयोग में लाते हैं। जैसे-जैसे मुनिगण इनका अधिकाधिक

* पृष्ठ २१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपयोग करते हैं, वैसे-वैसे अप्रमाद-यन्त्र अधिक दृढ बनता जाता है और वे स्पर्शन एवं अकुशलमाला जैसे अन्य अन्तरंग दुष्टों का दलन करने में समर्थ बनते जाते हैं। इस यन्त्र से अन्तरंग दुष्टों का एक बार निष्पीडन कर देने पर फिर वे कभी प्रकट नहीं होते। अतएव हे राजन्! यदि तुम्हारे मन में इन दुष्टों का निष्पीडन करने की अभिलाषा हो तो उपरोक्त अप्रमाद-यन्त्र को मन में स्वीकार करें और स्वतः ही अपनी स्वयं की दृढ-पराक्रम युक्त मुष्टि का अवलम्बन लेकर इन दुष्टों का निर्दलन करें। इस कार्य के लिये मन्त्री को आज्ञा देना व्यर्थ है। यदि कोई दूसरों मनुष्य उन्हें पील भी दे तो वे वास्तव में स्वयं के लिये पूर्णतया पीले नहीं जाते, अर्थात् दूसरा व्यक्ति यदि उन्हें निर्दलित कर भी दे तो वे उसके लिये निर्दलित हुए, पर उसका लाभ अन्य किसी को नहीं मिल सकता। यदि तुम्हें उनको अपने लिये नष्ट करना है जिससे वे तुम्हें कभी न सतायें तो तुम्हें स्वयं अपनी शक्ति का ही उपयोग करना होगा।

मनीषा की जिज्ञासा : भावदीक्षा

आचार्यश्री का प्रवचन चल ही रहा था तभी भगवद्-वचन रूप पवन से कर्मरूप काष्ठ को जलाने वाली शुभपरिणाम रूपी अग्नि मनीषी के मन में प्रज्वलित हुई, स्व-कल्याण करने का विचार अधिक दृढ़ हुआ। आचार्य भगवान् ने पहले भागवती भाव-दीक्षा लेने की बात कही तथा बाद में अप्रमाद यंत्र की बात कही। इन दोनों में क्या सम्बन्ध है? वह बराबर समझ नहीं सका. अतः अपने सन्देह को दूर करने के लिये उसने हाथ जोड़कर आचार्य श्री से पूछा—भगवन्! आपने पहले भागवती भावदीक्षा से आत्मबल का उत्कर्ष और उसे पुरुष के उत्कृष्टतम स्वरूप प्राप्ति का कारण बताया और अन्त में अन्तरंग के दुष्टों का संहार करने के लिए स्वयं की शक्ति पर आधारित अप्रमाद यंत्र का वर्णन किया, इन दोनों में क्या अन्तर है? बताने की कृपा करें। ❀

आचार्य - इन दोनों में शब्दभेद के अतिरिक्त कोई अन्तर नहीं है। परमार्थतः अप्रमाद यन्त्र ही भागवती भावदीक्षा है।

मनीषी—यदि ऐसा ही है तो भगवन्! यदि आप मुझे भागवती भाव-दीक्षा के योग्य समझें तो मुझे वह प्रदान करने की कृपा करें।

आचार्य—तू सर्व प्रकार से उसके योग्य है। तुझे वह अवश्य दी जायगी।

मनीषा का परिचय

शत्रुमर्दन—भगवन्! मैंने अनेक युद्धों अपने अतुल पराक्रम और अदम्य साहस से विजय प्राप्त की, किन्तु आपके अप्रमाद यंत्र के अनुष्ठान की कठिनाइयों

❀ पृष्ठ २१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को सुनकर तो मन में कंपकंपी छूटती है। यह महापुरुष कौन है ? कहाँ से आया है ? इसे तो मानों किसी महान राज्य को जीतने की इच्छा हुई हो वैसे ही हर्षातिरेक पूर्वक अप्रमाद यन्त्र को धारण करने की इच्छा हो रही है।

आचार्य—भूप ! इसका नाम मनीषी है और यह इसी क्षितिप्रतिष्ठित नगर का रहने वाला है।

राजा शत्रुमर्दन मन में विचार करने लगा कि, अरे ! जब मैंने उस पापी बाल को मारने की आज्ञा दी थी तभी मैंने मनीषी नामक उसके भाई की प्रशंसा करते लोगों को सुना था। वे कह रहे थे कि, देखो एक ही पिता के दो पुत्र होने पर भी इस बाल और मनीषी में कितना अन्तर है ? एक का इतना बुरा आचरण कि वह सब से तिरस्कार पाता है और दूसरा महात्मा है और सब से प्रशंसा को प्राप्त करता है। यह वही मनीषी होना चाहिये। अथवा इसके सम्बन्ध में विशेष जानकारी आचार्य से ही क्यों न पूछ लूँ ? इस प्रकार अपने मन में विचार कर राजा शत्रुमर्दन ने पूछा—महाराज ! इस नगर में इसके माता-पिता कौन हैं और इसके अन्य सम्बन्धी कौन हैं ?

आचार्य—इस क्षितिप्रतिष्ठित नगर का स्वामी कर्मविलास नामक महाराजा है, वह मनीषी का पिता है और उसकी शुभसुन्दरी नामक पटरानी इसकी माता है। उसी राजा की अन्य रानी अकुशलमाला का पुत्र बाल है। मनीषी के पास जो दूसरा पुरुष खड़ा है वह इस राजा की एक अन्य रानी सामान्यरूपा का पुत्र मध्यमबुद्धि है। इतने तो इसके सम्बन्धी यहाँ विद्यमान हैं, बाकी इसके अन्य सम्बन्धी देशान्तरों में हैं जिनके बारे में बताने का अभी कोई प्रयोजन नहीं है।

अन्तरंग राज्य की तन्त्र-प्रक्रिया

शत्रुमर्दन—महाराज ! तब क्या इस क्षितिप्रतिष्ठित नगर का स्वामी मैं न होकर वह कर्मविलास राजा है ?

आचार्य—हाँ, तुम नहीं हो।

शत्रुमर्दन—यह कैसे ?

आचार्य—सुनो। इसका कारण यह है कि कर्मविलास महाराज जो-जो आज्ञा देते हैं, उनमें से एक भी आज्ञा का उल्लंघन प्रकंपित नगर के निवासी भय से नहीं कर सकते। अर्थात् उनकी आज्ञा में किंचित् मात्र रद्दोबदल करने का भी किसी में साहस या सामर्थ्य नहीं है। तेरा राज्य भी तुझ से लेकर किसी अन्य को देना हो अथवा तेरे ही अधीन रखना हो आदि सब बातों का सामर्थ्य इस कर्मविलास महाराजा में है। इन सब में तेरा आदेश या निर्देश नहीं चल सकता, पर इस राजा का चलता है, अतः परमार्थ से वही इस नगर का राजा है। जिसकी प्रभुता सम्पन्न आज्ञा चलती हो वही प्रभु, नृपति कहलाता है। [१-३]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शत्रुमर्दन—भगवन्! आपके कथनानुसार यदि कर्मविलास इस नगर का राजा है, तब वह दिखाई क्यों नहीं देता? कृपा कर कारण बतावें।

आचार्य—राजन्! * इसका कारण सुनो। कर्मविलास अंतरंग राज्य का राजा है इसलिये वह तुम जैसे व्यक्ति को दिखाई नहीं दे सकता। अन्तरंग लोक के व्यक्तियों का स्वभाव है कि वे गुप्त रहकर सब कार्य करते हैं। धैर्यवान व्यक्ति केवल बुद्धि/दृष्टि से अन्तरंग लोक को देख पाते हैं तथा अन्तरंग राज्य के निवासी जो प्राणी आविर्भूत होते हैं उनको स्पष्टतया देख सकते हैं। इस विषय में तुम्हें विषाद करने की आवश्यकता नहीं है। यह राजा केवल तुम्हें ही पराजित कर रखता हो ऐसी बात नहीं है। इसने तो अपने पराक्रम से संसार में रहने वाले प्रायः सभी प्राणियों को पराजित कर अपने अधीन वशवर्ती कर रखा है। [८-९]

वार्ता के रहस्य को समझ कर सुबुद्धि मंत्री ने राजा से कहा—महाराज! आचार्य श्री ने अभी जिस राजा का वर्णन किया उसे मैं भी पहचान गया हूँ। मैं आपको उसके विषय में विस्तार से बताऊँगा। आचार्यश्री ने मुझे पहले भी इस राजा के स्वरूप को समझाया है, आप चिन्ता न करें। [१०-११]

गृहस्थ-धर्म का स्वरूप

इसी समय अवसर देखकर मध्यमबुद्धि ने मस्तक झुकाकर आचार्यश्री से प्रश्न किया—भगवन्! आपने कुछ समय पहले कहा है कि गृहस्थधर्म भी संसार को क्षीण करने वाला है, यदि मैं उसके योग्य हू तो आप मुझे उसे प्रदान करने का कृपा करें [१२-१३]

आचार्य—भागवती भावदीक्षा के सम्बन्ध में सुनकर जब तुम्हारे जैसे व्यक्ति उस पर आचरण करने में असमर्थ हों, तब गृहस्थ-धर्म का आचरण करना उचित ही है। [१४]

शत्रुमर्दन—भगवन्! गृहस्थ-धर्म का क्या स्वरूप है? बताने की कृपा करें। उसे जानने की मेरी उत्कट अभिलाषा है।

आचार्य—यदि ऐसी इच्छा है तो गृहस्थ धर्म का स्वरूप सुनो। [१५]

तब आचार्यश्री ने मोक्षरूपी कल्पवृक्ष को उगाने वाले सम्यक् दर्शनरूपी अमोघ बीज कैसा होता है उसका वर्णन किया। संसार वृक्ष की जड़ को अल्प समय में ही नष्ट करने में निपुण और स्वर्ग तथा मोक्षमार्ग के साथ शीघ्र सम्बन्ध स्थापित कराने वाले, अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का वर्णन किया। जिसके कारण उस समय आवरणीय कर्मों का आंशिक नाश और आंशिक शमन होने पर शत्रुमर्दन राजा को भी सम्यग् दर्शन पूर्वक देशविरति (गृहस्थ-धर्म) ग्रहण करने की इच्छा हुई। उनके मन में आया कि गृहस्थ-धर्म तो मेरे जैसे लोगों द्वारा भी ग्रहण किया जा

* पृष्ठ २१२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता है। ऐसा सोचते हुए शत्रुमर्दन राजा ने कहा—भगवन्! आप द्वारा वर्णित गृहस्थ-धर्म मुझे भी प्रदान करने की कृपा करें।

आचार्य—राजन्! मैं तुम्हें वह धर्म ग्रहण करवाता हूँ। ऐसा कहकर आचार्यश्री ने शत्रुमर्दन राजा और मध्यमबुद्धि को विधिपूर्वक गृहस्थ-धर्म प्रदान किया।

❀

१५ : शत्रुमर्दन आदि का आन्तरिक आह्लाद

आचार्यश्री मनीषी को दीक्षा देने को तैयार हुए तब शत्रुमर्दन राजा ने आचार्यश्री के चरण छूकर कहा—भगवन्! मनीषी ने भाव से तो भागवती दीक्षा ले ही ली है जिससे वह कृतकृत्य हो गया है। मनीषी का उद्देश्य लेकर हम हमारा संतोष प्रकट करने के लिये इसका दीक्षा महोत्सव मनाने की अभिलाषा रखते हैं, उसके लिये आप हमें आज्ञा प्रदान करें।

द्रव्यस्तव और गुरु

शत्रमर्दन राजा की बात सुनकर ❀ आचार्यश्री मौन रहे। तब सुबुद्धि मन्त्री ने राजा से कहा—देव! आपको जब द्रव्य-स्तव में प्रवृत्ति करनी हो तब गुरु महाराज से पूछने की आवश्यकता नहीं है। इस सम्बन्ध में आचार्यश्री को कुछ भी आदेश देने का अधिकार नहीं है। आप जैसे लोगों को जहाँ अवसरानुकूल योग्य लगे वहाँ द्रव्य-स्तव करना चाहिये। आचार्यश्री तो द्रव्यस्तव का अनुमोदन मात्र करते हैं; अर्थात् जब कोई द्रव्यस्तव करता है तो उसका यथास्वरूप वर्णन करते हैं, उसको योग्य स्थान पर करने का संकेत करते हैं और यथा अवसर द्रव्यस्तव का उपदेश देते हैं। जैसे कि उदारता एवं विशालता के साथ देव-पूजा करना आपका कर्त्तव्य है। देवपूजा के अतिरिक्त धन-व्यय का दूसरा कोई श्रेष्ठतम स्थान नहीं है, आदि। अतः आपको जैसा योग्य लगे वैसा आप स्वयं करें। हम मनीषी से प्रार्थना करें कि वह दीक्षा लेने में थोड़े समय का व्यवधान करें, जिससे कि हम दीक्षा महोत्सव मना सकें। राजा ने ऐसा ही करने सम्मति दी।

जिन मन्दिर में पूजन महोत्सव

तदनन्तर राजा और मन्त्री ने बहुमानपूर्वक मनीषी से प्रार्थना की कि हमारा विचार दीक्षा महोत्सव करने का है अतः आप दीक्षा लेने में थोड़ा विलम्ब करें।

मनीषी ने अपने मन में सोचा कि धर्म के कार्य में विलम्ब करना ठीक नहीं है, फिर भी जब बड़े लोग आदरपूर्वक प्रार्थना करते हैं तब उनकी अवहेलना

❀ पृष्ठ २१७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना अविनय माना जायगा जो मेरे लिये उपयुक्त नहीं है। अतः उनकी प्रार्थना स्वीकार करली।

मनीषी की स्वीकृति प्राप्त कर राजा ने हार्दिक प्रसन्नता से अपने सभी महामन्त्रियों को दीक्षा महोत्सव की तैयारी करने में लगा दिया और उन्हें समस्त कार्य त्वरितता से पूर्ण करने की आज्ञा दी। उन्होंने तत्काल ही जिन मन्दिर के चारों तरफ सुन्दर पर्दे लगवाये जिससे मन्दिर में धूप और गर्मी न आ सके और उसकी शोभा द्विगुणित हो जाय। कस्तूरी, केशर, मलय चन्दन और कर्पूर मिश्रित घोल से मन्दिर के आंगन को विलेपित कर सुगन्धित किया गया। पांच जाति के सुगन्धित पुष्पों को मन्दिर में जानु पर्यन्त फैला दिये। पुष्पों की गन्ध से आकृष्ट होकर भ्रमर पंक्ति गुञ्जारव करती हुई संगीत की स्वर लहरी उत्पन्न करने लगी। सोने के थंभे खड़े कर उन पर कीमती वस्त्रों का चन्दरवा बांधा गया। चन्दरवों के नीचे मणि-खचित दर्पण (शीशे) लटकाये और उसके चारों तरफ मोती की मालायें लटका दीं। चारों ओर इतने अधिक रत्न लटका दिये गये कि उनके प्रकाश से मन्दिर प्रकाशित हो उठा। कृष्ण अगरु का धूप जलाया गया जिससे किसी भी प्रकार की दुर्गन्ध न रहे। पीसे हुए कुंकुम चूर्ण आदि सुगन्धित पदार्थों के फैलाने से तथा घोटे हुए केवडा आदि की प्रशस्त गन्ध से जिन मन्दिर के भीतर-बाहर आस-पास सर्वत्र देवलोक से भी अधिक सुगन्ध आने लगी और उसमें लावण्यवती ललनायें सराबोर हो गईं। इस प्रकार समस्त सामग्री तैयार कर देवपूजन के लिये मन्दिर को अच्छी तरह सजाया गया। इतने में ही अनेक देव पारिजातक, मंदार, नमेरु, हरिचन्दन संतानक आदि अनेक प्रकार के देव-पुष्पों से विमान भर कर आकाश को उद्योतित करते हुए देव-दुंदुभि बजाते हुए मन्दिर की ओर आये। उन्हें प्रभु भक्ति के लिये तत्पर और तैयार देखकर अन्य लोग भी अत्यन्त आनन्दपूर्वक जगद्गुरु जिनेश्वर देव की पूजा के लिये तैयार हुए। उन्होंने विभिन्न प्रकार के रागरंग पूर्वक इतनी सरस और श्रेष्ठ पूजा की व्यवस्था की कि लोग लम्बे समय तक एकटक उन्हें देखते रहे। उनके अनिमेष देखने से वे वास्तविक देवता जैसे लगने लगे। फिर राजा ने सभी लोगों के साथ चित्त में अनन्त गुणित आनन्द से परिपूरित होकर देवताओं की प्रशस्त मधुर वाणी से स्तुति कर उन्हें आनन्दित किया। पश्चात् मेरु पर्वत जैसे ऊंचे शुभ्र भद्रासन पर जिनेन्द्र देव की मूर्ति को ❀ स्थापित किया और भक्ति एवं विधि-पूर्वक स्नात्र महोत्सव की तैयारी की। [१–१४।]

इधर मनीषी को स्नान कराया, उत्तम वस्त्र पहनाये, मुकुट और बाजूबन्द आदि पहनाये, शीर्ष पर गोचन्दन का लेप किया, कंठ में बहुमूल्य हार पहनाया, कानों में देदीप्यमान कुण्डल पहनाये। कुण्डलों की आभा से कपोल

❀ पृष्ठ २१८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्भासित होने लगा। मन्त्रीगणों ने मनीषी को वस्त्राभूषणों से ऐसा अलंकृत किया कि वह इन्द्र के समान प्रतीत होने लगा। मनीषी के समस्त बाह्य विकार शान्त हो गये और मन पूर्णतया पवित्र हो गया। 'यह हमारे में से सर्वश्रेष्ठ है, महाभाग्यशाली है, यह हमारा नायक है, पूजनीय है, इसने अतिदुष्कर भागवती दीक्षा लेने का निर्णय किया है' कहते हुए शत्रुमर्दन राजा ने उसके हाथ में उत्तम तीर्थों के जल से पूरित, स्वर्ण निर्मित, मनोहर श्रेष्ठ धर्म-तत्त्व का सार रूप, मुनियों के मानस के समान निर्मल, गोशीर्ष चन्दन से विलिप्त, दिव्य कमलों से आच्छादित मुख वाला, चारों ओर सुन्दर चन्दन के हस्तलेप से अर्चित और भवच्छेदक दिव्यकुम्भ (कनक कलश) जिनेन्द्र भगवान् का सर्वप्रथम अभिषेक कराने के लिये दिया। अत्यन्त आनन्द व रोमांचपूर्ण मन से भक्तिभाव सहित राजा शत्रुमर्दन ने दूसरा कलश अपने हाथ में लिया। मध्यमबुद्धि और राजपुत्र सुलोचन भी भगवान् की स्नात्र पूजा करने में संलग्न हुए। मदनकन्दली चन्द्र के समान अत्यन्त स्वच्छ चामर ग्रहण कर भगवान् के सन्मुख खड़ी रही। उसी के साथ पद्मावती नामक एक अन्य सुरूपा स्त्री दूसरी ओर चामर लेकर खड़ी रही। आनन्द वर्धक पवित्र दृश्य से सुबुद्धि मन्त्री भी मुखवस्त्र बांधकर हाथ में धूपदान लेकर भगवान् के समक्ष खड़ा हुआ। पूजा से सम्बन्धित अन्य उपकरणों को लेकर बड़े-बड़े मन्त्री और अन्य मुख्य नागरिकों को भी राजा ने यथास्थान नियोजित किया। [१५–२७]

इन्द्र भी जिनकी सेवा करते हैं ऐसे भगवान् के मन्दिर में जो प्राणी किंकरभाव से सेवा कार्य करते हैं वे वास्तव में भाग्यशाली हैं, उनका जन्म सफल है, उनकी समृद्धि सार्थक है। वे ही वास्तविक कला, गायन और विज्ञान के अभ्यासी वे ही सच्चे वीर पुरुष हैं, वे ही कुल के भूषण हैं, वे ही त्रैलोक्य में प्रशंसा के हैं, वे ही सच्चे धनवान, रूपवान, सर्वगुण सम्पन्न हैं, पात्र हैं और उनका ही वास्तव में भविष्य में कल्याण होने वाला है। [२८–३०]

अभिषेकोत्सव

पश्चात् जिनेश्वर भगवान् का अभिषेक महोत्सव प्रारम्भ हुआ। देवताओं के दुन्दुभि नाद के समान वादित्रों की ध्वनि से दिशायें गुंजित हो गईं। गम्भीर एवं प्रबल घोष करने वाले पटह (ढोल) की प्रतिध्वनि के साथ स्वरनाद का संमिश्रण करने वाले शहनाई आदि विविध प्रकार के वाद्यों की ध्वनि मनुष्यों के कर्ण कुहरों को बधिर सा करने लगी। कांस्य वाद्यरव से मिश्रित अव्यक्त एवं मधुर उच्चघोष के साथ कण-कणायमान* कलकल नाद चारों तरफ फैल गया। प्रशमसुखरस की अनुभूति कराने वाले, भगवन्तों के सर्वोत्तम गुणों के वर्णन से परिपूरित और जो श्रवणमात्र से आनन्दोत्सेक को प्रवर्धित करने वाले भावगर्भित गीत बीच-बीच में गाये जाने लगे। सर्वज्ञ प्रतिपादित वाणी को उत्कर्ष प्रदान करने

---

* पृष्ठ २१९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले, राग-द्वेषादि भयंकर विषधर सर्पों के लिये जांगुली मन्त्र के समान अर्थ एवं श्रेष्ठ भावपूर्ण महास्तोत्र शुद्ध एवं गम्भीर ध्वनि के साथ बीच-बीच में पढे जाने लगे। अन्तःकरण के प्रमोदातिरेक को सूचित करने वाले विभिन्न इन्द्रियों एवं हाथ-पैर अंगहार-विक्षेप के साथ महानृत्य होने लगे। इस प्रकार जैसे मेरु पर्वत पर देवता और असुर गण जिनेश्वर भगवान् का अभिषेक बड़े ठाट-बाट से करते हैं उसी प्रकार विशाल जन समुदाय के मध्य में शत्रुमर्दन राजा ने प्रभु का अभिषेक मंगल स्नात्र महोत्सव सम्पन्न किया। पश्चात् मूलनायक आदिनाथ भगवान् एवं अन्य समस्त जिन प्रतिमाओं की विशेष प्रकार से पूजा-अर्चना की तथा उस समय करणीय शेष समस्त कार्यों को यथोचित रीति से सम्पन्न किया। अनन्तर समस्त साधुओं की वन्दना की, प्रचुर दान दिया, स्वधर्मीबन्धुओं को विशेष रूप से सम्मानित किया। इसके बाद मनीषी को अपने राजभवन में ले जाने के लिये अपना जयकुंजर नामक हाथी मंगवाया। उस पर मनीषी को बिठाया राजा स्वयं उसके पीछे छत्र धारण कर बैठा और हर्षातिरेक से रोमांचित होकर राजा ने घोषणा की, हे सामन्तों और मंत्रियों सुनों—

राजा की घोषणा

तत्त्वतः इस संसार में 'सत्त्व' प्राणी की सबसे बड़ी सम्पत्ति है, आत्मिक बल है, ऐसा सर्वज्ञों ने बार-बार कहा है। अतः संसार में जिस प्राणी का 'सत्त्व' अधिक प्रकाशित है, वह समस्त मनुष्य-वर्ग पर प्रभुता स्थापित करने में समर्थ होता है। यही कारण है कि सत्त्व के परमोत्कर्ष को धारण करने वाले इस महात्मा मनीषी का माहात्म्य कैसा है, यह तो आप लोगों ने स्पष्टतया देखा ही है। जब आचार्यश्री ने अप्रमाद यंत्र की बात की थी तब वह मुझे भी महा कठिन और त्रासदायक लगा था, परन्तु इस महात्मा ने उस यन्त्र की तुरन्त ही अपने लिये याचना की। अतः इसमें असाधारण आत्मिक बल है, इसमें कोई संदेह नहीं। हम सबका उपकार करने की बुद्धि से जब तक यह मनीषी घर में रहे तब तक अपना स्वामी है, अपना देव है, अपना गुरु है और अपना पिता है। हम सब इसके किंकर हैं। अतः अपने से बड़ा मानकर इनके साथ व्यवहार करें। मैं स्वयं और आप सब भी उसकी निर्मल सेवा कर अपनी आत्मिक उन्नति करें। उत्तम व्यक्ति का विनय करने से आत्मा के पाप धुल जाते हैं।

राजा के वचन सुनकर सामन्त, मन्त्री, और नगरजन प्रसन्नता से उत्फुल्ल चित वाले होकर बोले—आप जो कह रहे हैं वह बिल्कुल ठीक है। आप जैसे राजा जो कहें वह किसको रुचिकर न होगा? हम सब आपके कथनानुसार ही करेंगे [१-७]

मनीषी के शरीर में शुभसुन्दरी का योगशक्ति से प्रवेश

उपरोक्त बात चल रही थी तभी मनीषी के शरीर में योगशक्ति द्वारा विद्यमान उसकी माता शुभसुन्दरी अधिक विकसित हुई और अपने योग का अधिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रभाव प्रकट करने लगी। उस समय मनीषी का मन अत्यन्त आह्लादित हुआ और संसार में साधारण मनुष्यों को अप्राप्त आत्मिक तेज और बाह्य लक्ष्मी को प्राप्त कर तथा राजा के सामन्तों, मन्त्रियों और राजलोक से परिवृत मनीषी अधिक शोभायमान लगने लगा। सुबुद्धि मन्त्री द्वारा स्तूयमान, मध्यमबुद्धि के साथ हाथी पर बैठा हुआ मनीषी नगर क द्वार पर पहुँचा। [८-१०]

मनीषी का नगर प्रवेश

नगरवासियों ने सम्पूर्ण नगर में उन्नत ध्वजा पताकाएँ बांधी, दुकान विशेष रूप से सजाई और मुख्य मार्गों की सफाई करवाकर पानी छींटकर सुन्दर बनाया। नगर का शृंगार कर, उज्ज्वल वस्त्र पहन कर नगर वासी मनीषी को लेने के लिये हर्ष पूर्वक सामने आये। तोषपूरित हृदय से नागरिक जनों ने मनीषी को ❀ नगर में प्रवेश कराया। सब लोग मनीषी का यशोगान करने लगे मनीषी का जीवन वास्तव में धन्य है, कृतकृत्य है, भाग्यशाली है, महात्मा है, मनुष्यों में उत्तम है, इसका जन्म सचमुच में सफल हुआ है, इसने पृथ्वी को भी शोभायमान/प्रकाशित किया है। इसके जैसे महापुरुष का जन्म हमारे नगर में हुआ, अतः हम नगरवासी भी वास्तव में भाग्यशाली हैं, क्योंकि भाग्यहीन प्राणी कभी रत्नपुंज से न तो सम्बन्धित ही हो सकते हैं और न उन्हें रत्नपुञ्ज की प्राप्ति ही हो सकती है। [११-१४]

सभा भवन में प्रवेश

अपने देव समान रूप से स्त्रियों के नेत्रों को आह्लादित करते हुए, द्रव्यार्थियों को प्रचुर दान देते हुए, स्वयं के विशुद्ध धर्मानुष्ठान से प्राणियों को विशुद्ध धर्म में प्रेरित करते हुए, जनसमूह को आनन्दित करते हुए मनीषी की शोभा यात्रा सारे नगर में निकली। जनसमूह के बीच घूमता हुआ मनीषी राजमन्दिर में पहुँचा। राजमन्दिर भी रत्नराशि से सजाया गया था, उसकी आभा से ऐसा लग रहा था मानो आकाश में इन्द्र धनुष तना हो। राजमन्दिर में प्रवेश करते ही राज-परिवार के समस्त लोगों ने तथा स्वयं शत्रुमर्दन राजा ने मनीषी का स्वागत किया और रसिक तरुणी ललनाओं ने अपनी चपल आंखों से उसे बधाया। राजमन्दिर में उस समय गीत-संगीत और नृत्य चल रहे थे जिससे वह इन्द्रभवन के समान सुशोभित हो रहा था। [१५-१८]

देवभवन में इन्द्र के समान निःशंक हृदय से सभा भवन में बैठकर कुमार ने सब को आह्लादित किया। पदार्थों पर रागादि भावों के विलीन हो जाने पर भी राजा की संतोष वृद्धि के लिये वह राज सभा से उठकर स्नानगृह में गया। वहाँ रानी मदनकन्दली ने गौरव एवं स्नेह पूर्वक अपने भतीजे की तरह उसके शरीर पर पीठी की। मृदु, मधुर आलाप करती हुई अन्तः पुर की अन्य रानियों और दासियों ने जो स्नान सम्बन्धी समस्त कार्यों में प्रवीण थीं, मनीषी को चारों ओर से घेर लिया।

❀ पृष्ठ २२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पश्चात् मनीषी ने हीरे, पन्ने, इन्द्रनील, वेडूर्य, माणक आदि जटित रत्नों की कांति से सुशोभित सुन्दर बावडी के निर्मल जल से स्नान किया। सर्प की कांचुली जैसे पारदर्शी सुन्दर श्वेत वस्त्र पहन कर मनीषी मनोहर देवभवन में गया। [१६-२४]

देवभवन/जिन मन्दिर को सुबुद्धि मंत्री ने विशेष रूप से सजाया था जो देखते ही मन को आकर्षित करता था। मनीषी बहुत समय पूर्व ही सन्मार्ग पर आ गया था, परमार्थ दृष्टि से उसके हृदय में जिनेश्वर का स्वरूप आलेखित हो चुका था, फिर भी उस दिन प्रबोधनरति आचार्य के उपदेश से उसे वीतराग स्वरूप का विशेष दिग्दर्शन हुआ था जिससे वह रागद्वेष और मोह के विष को अपहरण करने में प्रवीण भगवान् के देहस्थ और परब्रह्म के स्वरूप पर स्थिर चित्त से अधिकाधिक विचार करने लगा।

जिनमन्दिर में द्रव्य और भाव पूजा के पश्चात् कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ मनीषी भोजन मण्डप में आया। वहाँ पहिले से ही सुन्दर सरस भोजन की सर्व सामग्री तैयार थी। मन और जिह्वा को आनन्द देने वाले अनेक प्रकार के व्यंजन पदार्थ परोस कर रखे गये थे। राजा शत्रुमर्दन मनीषी को बताते गये और मनीषी राजा को प्रसन्न करने के लिये उनके अनुरोध पर स्वयं के ग्रहण करने योग्य पदार्थों का भोजन करने लगा, किन्तु भोज्य पदार्थों में किसी प्रकार का राग या प्रीति उसे तनिक भी नहीं थी जिससे स्वस्थता वृद्धि को प्राप्त हो रही थी। भोज कर मनीषी खड़ा हुआ।

पश्चात् अत्यन्त आग्रह पूर्वक उसे पंच सुगन्धित मसालों से युक्त पान दिया गया। उसके शरीर पर चन्दन कस्तूरी केसर का * विलेपन किया गया, उसे सुन्दर आभूषण और बहुमूल्य वस्त्र पहनाये गये, गले में सुगन्धित पुष्प मालायें पहनाई गईं, जिनकी सुगन्ध से भंवरे भी आकर्षित होने लगे। फिर राजा ने मनीषी को महा मूल्यवान सिंहासन पर बिठाया।

पश्चात् अनेक सामन्तगण आकर उसके चरणों में नमन करने लगे। उनके मुकुट में जटित रत्नों की प्रभा से उसके पैर लालिमायुक्त दिखने लगे। बंदी और भाट स्तुति-गान करने लगे। इस प्रकार मनीषी का योग्य आदर सम्मान करने के पश्चात् राजा शत्रुमर्दन अपने मन में अत्यन्त हर्षित होते हुए सुबुद्धि मन्त्री से कहने लगे।

राजा द्वारा सुबुद्धि का अभिनन्दन

मित्र! आज हमें यह कल्याणकारी अवसर आपके प्रताप से ही प्राप्त हुआ है क्योंकि आचार्य का वन्दना करने के लिये आपने ही मुझे प्रेरित किया था।

आपके कारण ही तीनों भवनों को आनन्द देने वाले भगवान् के मैंने दर्शन किये और भक्तिपूर्वक प्रमुदित मन से मैंने त्रैलोक्यनाथ आदीश्वर भगवान्

* पृष्ठ २११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की वन्दना की, पूजा की, स्नात्र महोत्सव किया और कल्पवृक्ष जैसे आचार्य प्रबोधनरति को मुदित मन से वन्दन किया और संसार से मुक्त करे ऐसे भगवद् धर्म को प्राप्त किया।

मनीषी जैसे महापुरुष से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। इसने तो सचमुच में हमारे हृदय को उत्सवमय बना दिया है। इसमें नवीनता भी क्या है? महा भाग्यशाली पुरुष तो सर्वदा पर-प्राणियों के संतोष को बढाने वाले ही होते हैं। उनका तो एक ही कार्य है कि अन्य मनुष्यों में प्रीति उत्पन्न करे। पुण्यवान प्राणियों के लिये उनका ऐसा करना तो योग्य ही है, पर मेरे जैसे के लिये तो यह नवीनता ही है, नहीं तो 'कहाँ चाण्डाल और कहाँ तिलों का भण्डार'? अर्थात् कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगू तेली?

इस प्रकार हे मित्र वत्सल! मुझे तो आपने कल्याण-माला की परम्परा प्राप्त करा ही दी है। लोक/जगत् में ऐसी कहावत है कि 'मन्त्री सर्वदा राजा का हित करता है' आपने वास्तव में अपना मन्त्रीत्व सार्थक किया है। आपके नाम के अनुसार ही आप वस्तुतः सुबुद्धि ही हैं। आप वास्तव में धन्यवाद के पात्र हैं।

सुबुद्धि मन्त्री बोला—महाराज! आप ऐसा न कहें। हमारे जैसों का तो जीवन ही आपके पुण्य प्रताप से चलता है। सेवक को आप इतना गौरव प्रदान कर रहे हैं वह योग्य नहीं है। ऐसे सुन्दर संयोग आपको प्राप्त कराने वाला मैं कौन हूँ? आप स्वयं ही ऐसी कल्याण-परम्परा को प्राप्त करने के योग्य हैं। निर्मल आकाश में द्युतिमान सुन्दर नक्षत्रों को देखकर किसी को आश्चर्य नहीं होता। बादल रहित आकाश में तारे चमकें तो इसमें आश्चर्य क्या? यह तो आकाश की निर्मलता का प्रताप है, तारों का नहीं।

मनीषी महाराज! प्रभु की आप पर कृपा हुई है अतः अभी प्राप्त कल्याण-परम्परा तो उसका एक अंश मात्र है। आपके हृदय रूपी निर्मल आकाश में अनन्त ज्ञान रूपी सूर्य का उदय होने वाला है, इसे तो अभी आप उसका अरुणोदय ही समझें। केवलज्ञान रूपी सूर्योदय के परिणामस्वरूप आपको परमपद के कल्पनातीत आनन्द का योग प्राप्त होगा, उसको सूचित करने के लिये अभी तो आपको केवल सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई है, उसी के फलस्वरुप आपको इतना हार्दिक प्रमोद उत्पन्न हो रहा है, यह तो अभी प्रारम्भ मात्र है।

शत्रुमर्दन—सचमुच, नाथ! मुझ पर आपकी बड़ी कृपा हुई। आपके कथन में मुझे कोई सन्देह नहीं है। आपके अनुचर को कौन सी वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती? फिर सुबुद्धि मन्त्री को लक्ष्य कर कहा—मन्त्री देखो तो, यह महात्मा मनीषी अभी आज ही तो सच्चा उपदेश प्राप्त कर प्रबुद्ध (जाग्रत) हुआ है, फिर भी इसमें कितना विवेक और गहन विचार आ गये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन्त्री—महाराज ! इसमें नवीनता क्या है ? इसका नाम ही मनीषा है * जो सर्व प्रकार से योग्य है। मनीषी अर्थात् बुद्धि-चातुर्य वाला महापुरुष, यह तो आप जानते ही हैं। ऐसे महापुरुष तो जन्म से ही जाग्रत और गहन विचार-शक्ति वाले होते हैं। उन्हें जाग्रत करने में गुरु तो निमित्त मात्र होते हैं, वास्तव में तो वे स्वयं बोध प्राप्त करते हैं।

❀

१६ : निजविलसित उद्यान का प्रभाव

मध्यमबुद्धि का आगमन

मनीषी को महोत्सव पूर्वक जब राजमन्दिर में प्रवेश कराया गया तभी राजा की आज्ञा से सुबुद्धि मन्त्री ने मध्यमबुद्धि को भी अपना स्वधर्मी भाई जानकर आत्मीय सदन (अपने गृह) में प्रवेश कराया। मध्यमबुद्धि वहाँ आया, वह बहुत हर्षित हुआ और विशिष्ट दान दिया। मन्त्री के भवन में आकर मध्यमबुद्धि ने स्नान किया, भोजन किया, पान सुपारी खायी, शरीर पर विलेपन किया, आभूषण पहने, शृंगार किया और माला पहनी। सुबुद्धि और उसके परिवारजनों के मधुर प्रेम भरे प्रशंसा के वचन सुनकर उसका सरल हृदय बहुत हर्षित हुआ। फिर वह भी राजसभा में आ गया। आते ही मनीषी ने उसे हर्षोल्लास पूर्वक नमस्कार किया और अपने सिंहासन के पास ही एक अन्य विशिष्ट विशाल आसन पर बिठाया।

मध्यमबुद्धि का उपकार

शत्रुमर्दन राजा ने मध्यमबुद्धि को देखकर सुबुद्धि मन्त्री से कहा—मित्र ! इस महापुरुष मध्यमबुद्धि ने भी हम पर बहुत उपकार किया है।

सुबुद्धि—देव ! वह कैसे ?

शत्रुमर्दन—सुनो। आचार्यश्री ने आज जब अप्रमाद यन्त्र के सम्बन्ध में उपदेश दिया तब मुझे भयंकर लड़ाई के मैदान में कायर मनुष्य के समान अकुलाहट हुई, क्योंकि मुझे उस समय ऐसा लगा कि इस अप्रमाद यन्त्र को ग्रहण कर उसके अनुसार प्रवृत्ति करना मेरे जैसे व्यक्ति के लिये बहुत कठिन है। उस समय इस मध्यमबुद्धि ने आचार्यश्री से गृहस्थधर्म स्वीकार करने की इच्छा व्यक्त की और मैं भी उसका पालन कर सकता हूँ ऐसा मुझे सुझाया तथा मेरी आकुलता दूर की, इससे मैं आश्वस्त हो गया। गृहस्थधर्म स्वीकार करने पर मेरे मन को भी बहुत धैर्य प्राप्त हुआ, मुझे सहारा मिला और मेरा चित्त प्रसन्न हुआ। इस सब का

* पृष्ठ २२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण मध्यमबुद्धि द्वारा किये गये प्रश्नोत्तर ही थे, अतः इसने भी मुझ पर बहुत उपकार किया है।

राजा की मध्यमजन में गणना

सुबुद्धि—देव ! इसका नाम भी गुणानुरूप सार्थक है। लोगों में कहावत है कि 'समान गुण, प्रवृत्ति, सुख और दुःख वालों में ही प्रायः मित्रता होती है।' इसकी प्रवृत्ति मध्यम प्रकार की है अतः यह मध्यम स्थिति के मनुष्यों को आश्वासन दे यह उचित ही है।

राजा ने अपने मन में विचार किया कि, अहा ! मेरे मन में मिथ्याभिमान था कि 'मैं राजा हूँ' इसलिये सब पुरुषों में श्रेष्ठ हूँ, परन्तु इस सुबुद्धि मन्त्री ने युक्ति पूर्वक अर्थापत्ति से मुझे मध्यम श्रेणी में ला दिया है। सचमुच मेरे मिथ्याभिमान को धिक्कार है ! ऐसा अभिमान करने वाला मैं भी धिक्कार का पात्र हूँ, अथवा जब वस्तुस्थिति ही ऐसी है तब मुझे विषाद नहीं करना चाहिये।

विशालकाय हाथी वहीं तक शूरवीर और त्रासदायक दिखाई देता है जब तक कि विकराल दाढों वाला सिंह उसे दिखाई नहीं देता। सिंह की गन्ध आते ही वह भयभीत होकर थर-थर कांपने लगता है। अतः मनीषी की अपेक्षा से तो मेरी मध्यम-रूपता योग्य ही है। यह महाभाग्यशाली मनीषी तो वास्तव में सिंह ही है, उसके समक्ष मेरे जैसे हाथियों को डर लगे तो इसमें क्या आश्चर्य ! इसकी तुलना में तो मैं डरपोक हाथी के समान ही हूँ। ❀ अतः मुझे खिन्नमन नहीं होना चाहिये; क्योंकि मेरे जैसे व्यक्तियों के लिये तो मध्यमश्रेणी में गिना जाना भी बड़े भाग्य की बात है। मध्यमवर्ग का अशक्त प्राणी यदि कभी अपना कार्य सफल कर ले तो वह सर्वोत्तम हो सकता है पर जघन्य तो कभी सर्वोत्तम हो ही नहीं सकता। पहले मेरे मन में केवल सर्वोत्तम होने का एक ही मिथ्याभिमान नहीं था अपितु अन्य कई मिथ्याभिमान भी थे, पर अब उनकी चिन्ता करना व्यर्थ है। [१–६]

धर्मानुष्ठान में निमित्त की उपकारिता

राजा उपरोक्त विचार कर रहा था तभी सुबुद्धि मन्त्री बोला— देव ! आपका यह विचार अत्युत्तम है कि यह हमारा उपकारी है; क्योंकि जिन धर्म के अनुष्ठान की प्रवृत्ति में यदि कोई किंचित् मात्र भी निमित्त बने तो उसके जैसा उपकारी इस संसार में अन्य कोई भी प्राणी नहीं है।

निजविलसित उद्यान का प्रभाव-स्मरण

शत्रुमर्दन—सचमुच ही तेरा कहना यथार्थ है। अब दूसरी बात सुनो। मेरे मन में बार-बार एक विचार आ रहा है। आचार्यश्री के उपदेश का स्मरण

❀ पृष्ठ २२३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर मैं पुनः-पुनः उसका निराकरण भी करता रहता हूँ तथापि निर्लज्ज भिक्षुक ब्राह्मण की भांति मेरे मन में एक प्रश्न पुनः-पुनः उभर-उभर कर आता है। अब तुम ही मेरी इस शंका को दूर करो।

सुबुद्धि—वह कैसा विचार है, आप बताने की कृपा करें।

शत्रुमर्दन—सुनो। आज प्रातः हम सब जैसे ही प्रमोदशिखर मन्दिर में प्रविष्ट हुए कि तुरन्त मेरे मन के सारे द्वन्द्व स्वतः ही दूर हो गये। राज्य-कार्य की चिन्ता-पिशाचिका अदृश्य हो गई, मोह के सब जाल टूट गये हों ऐसा लगने लगा, विपरीत दुराग्रह रूपी भूत भाग गया, सम्पूर्ण शरीर पर अमृत-वृष्टि जैसी शान्ति हो गई और क्षण मात्र में ऐसा अनुभव होने लगा मानों हृदय सुखसागर में डूब गया हो। यह सब कुछ मैंने स्वयं अनुभव किया है। उसके पश्चात् त्रिभुवननायक आदिनाथ भगवान् को, आचार्यश्री को और मुनियों को नमस्कार किया तथा आचार्य का उपदेश सुना, उस समय आज प्रातः मुझे जो अनुपम आनन्द सुख का अनुभव हुआ, उसका वर्णन वाणी द्वारा होना सम्भव नहीं है। ऐसे अप्रतिम जैन मन्दिर में, अचिंत्य प्रभाव वाले गुरु महाराज के समक्ष, राग के विष को शमन करने वाले उनके वैराग्योत्पादक उपदेश के मध्य, शान्त चित्त वाले तपस्वियों और इतने बड़े जनसमुदाय के बीच उस अधम बाल को अत्यन्त नीच आचरण करने का अध्यवसाय कैसे हो गया ?

व्यक्ति भेद से विचित्र प्रकार का क्षेत्र-स्वभाव

सुबुद्धि—देव ! जैसा कि आपने कहा कि मंदिर में प्रवेश करते ही क्षणमात्र में आपको अपूर्व आनन्द का अनुभव हुआ, वह सत्य ही है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि भगवान् के मन्दिर का नाम ही प्रमोदशिखर है। मन्दिर ऐसे गुण-समूह का निमित्त है, अतः उसमें प्रवेश करने से ऐसे गुणों का आविर्भाव होना स्वाभाविक ही है। आपने पूछा कि ऐसे संयोगों के होते हुए भी बाल के मन में ऐसे तुच्छ अध्यवसायों का आविर्भाव क्यों हुआ ? ❀ इसका कारण तो आचार्यश्री ने आपको पहले ही बता दिया था। उसका नाम ही बाल है। नाम पर विचार करने से ही संदेह दूर हो जाता है। अतः इसमें भी कोई विस्मयकारिता नहीं है; क्योंकि पाप को रोकने की सभी सामग्री होने पर भी बाल जीव पाप का आचरण करते हैं, यह बाल प्रकृति का स्वभाव है। पुनः आचार्यश्री के उपदेश पर विचार करने से यह भी समझ में आता है कि प्राणी को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव की अपेक्षा से शुभ या अशुभ परिणामों का आविर्भाव होता है। प्राणी के अध्यवसायों में इन पांचों निमित्तों का योग रहता है। बाल को उस समय जो अध्यवसाय हुए वे क्षेत्र के कारण से हुए, ऐसा लगता है।

❀ पृष्ठ २२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शत्रुमर्दन—जब तुम क्षेत्र की बात करते हो तब जैन मन्दिर जैसे पवित्र क्षेत्र में ऐसी अघटित घटना कैसे हुई ? ऐसे सुन्दर शान्त पवित्रतम गुण-भण्डार क्षेत्र में बाल के मन में ऐसे अशुभ परिणाम क्यों उत्पन्न हुए ?

सुबुद्धि—महाराज ! इसमें मन्दिर का नहीं उद्यान का दोष है। मन्दिर भी उद्यान में आया हुआ है इसलिये उद्यान सामान्य क्षेत्र है और वही बाल के अशुद्ध अध्यवसायों का कारण है।

शत्रुमर्दन—यदि यह उद्यान अशुद्ध अध्यवसायों का कारण है तो हम भी तो उसी उद्यान में थे फिर हमारे मन में अशुद्ध विचार क्यों नहीं उठे ?

सुबुद्धि—देव ! यह उद्यान विचित्र स्वभाव वाला है और भिन्न-भिन्न प्राणियों की अपेक्षा से अनेक प्रकार के विचार पैदा करने वाला है, इसीलिये उसका नाम निजविलसित उद्यान रखा गया है। भिन्न-भिन्न सहकारी कारणों के योग से जो भिन्न-भिन्न प्राणियों में विभिन्न प्रकार के विलास की इच्छा उत्पन्न करे वह निजविलसित। बाल के साथ उसका मित्र स्पर्शन और अकुशलमाला थी इसलिये इस उद्यान में मदनकन्दली को देखने पर उसके मन में उसके साथ विषय-भोग की इच्छा जाग्रत हुई। यहाँ स्पर्शन और अकुशलमाला का सहयोग और मदनकन्दली का दिखाई देना बुरे विचारों की उत्पत्ति के सहयोगी कारण हैं। मनीषी, मध्यमबुद्धि और आपको पुण्यशाली विशिष्ट पुरुष आचार्यश्री के चरण-स्पर्श का अवसर मिला जिससे सर्वविरति और देशविरति स्वीकार करने की इच्छा जाग्रत हुई, अतः आचार्य श्री का चरण-स्पर्श इसका सहयोगी कारण हुआ। यद्यपि द्रव्य, क्षेत्र, काल, स्वभाव, कर्म, नियति, पुरुषार्थ आदि अनेक प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष कारणों के एक साथ मिलने पर ही किसी भी कार्य की निष्पत्ति होती है। केवल किसी एक ही कारण से स्वतन्त्र रूप से कोई कार्य का कारण नहीं हो सकता। फिर भी किसी विशेष कारण की अपेक्षा से किसी कारण की मुख्यता हो तो उसे मुख्य समझना चाहिये। वास्तव में सब कारणों के एकत्रित होने पर ही कार्य होता है, पर अमुक अपेक्षा से एक कारण मुख्य दिखाई देता है। उस वक्त उद्यान के विचित्र प्रकार के भाव हृदय पर अधिक प्रभावोत्पादक होने से क्षेत्र को मुख्य कारण माना है।

शत्रुमर्दन—मित्र ! यह तो तुमने ठीक कहा। अब एक दूसरी बात पूछता हूँ। आचार्यश्री के समक्ष जब कर्मविलास राजा के विषय में बात चली थी तब तुमने कहा था कि 'मैं उसका स्वरूप जानता हूँ, आपको बतला दूँगा' अतः मुझे उसका स्वरूप समझाओ, उसे जानने की मेरी तीव्र इच्छा है।

सुबुद्धि—देव ! यदि आपकी ऐसी इच्छा है तो एकांत में चलें, मैं सब कुछ बताऊँगा।

कर्मविलास राजा और उसके परिवार का वास्तविक स्वरूप

पश्चात् मनीषी की आज्ञा लेकर राजा तथा मन्त्री राज्यसभा से उठकर एकान्त कमरे में गये। वहाँ सुबुद्धि ने कहा—राजन् ! आचार्यश्री ने जो बात कही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसका परमार्थ इस प्रकार है, आप ध्यान पूर्वक सुनें। आचार्यश्री ने चार प्रकार के ❀ पुरुष कहे थे, उनमें से प्रथम उत्कृष्टतम पुरुष समस्त प्रकार के कर्म-प्रपञ्चों से रहित है, अतः उन्हें सिद्ध या मुक्त कहा जाता है। उसके पश्चात् जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट जीव बताये, उन्हें क्रमशः बाल, मध्यमबुद्धि और मनीषी समझें। आचार्यश्री ने जिस कर्मविलास राजा की बात की उसे प्राणियों के इस प्रकार के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप के जनक अपने-अपने कर्म के उदय को समझें। कर्म की शक्ति अचिन्त्य एवं अवर्णनीय है। आचार्य देव का संकेत इसी ओर था, अन्य किसी के सम्बन्ध में नहीं। कर्म की शुभ, अशुभ और मिश्र तीन प्रकार की परिणति है। शुभसुन्दरी, अकुशलमाला और सामान्यरूपा नाम प्रदान कर मनीषी, बाल, मध्यमबुद्धि की माताओं के रूप में इन तीनों प्रकृतियों का परिचय दिया है, क्योंकि तीन वर्णों के पुरुषों को उसी स्वरूप में यही माताएँ जन्म देती हैं।

शत्रुमर्दन—"तब उक्त वर्ग के जीवों का मित्र कौन है, यह भी बतलाओ ?

सुबुद्धि—देव ! सब अनर्थों को उत्पन्न करने वाला, वह जो दूर खड़ा था, उस स्पर्शनेन्द्रिय को उन जीवों का मित्र समझें।

गुरु के उपदेश का रहस्य

शत्रुमर्दन राजा ने यह सुनकर मन में विचार किया कि, अहो! आचार्यश्री का उपदेश मैंने भी सुना, पर मैं उसका रहस्य नहीं समझ सका, किन्तु इस सुबुद्धि ने विचार पूर्वक इस गहन निष्कर्ष को समझ लिया। मुझे लगता है कि सुबुद्धि को सदुपदेश देने वाले ऐसे साधुओं से पर्याप्त समय से परिचय है, इसीसे वह सब यथार्थता समझ गया है। ओहो ! इसने कितने सरल शब्दों में समझाया ! आचार्यश्री का वचन-कौशल देखो ! जिन्होंने युक्तिपूर्वक बिना किसी का नाम लिये मनीषी आदि सबके चरित्र सुना दिये। उन्होंने भी कितना सुन्दर उपदेश दिया ! अथवा इसमें आश्चर्य कैसा ? उनका तो नाम ही प्रबोधनरति है, अतः उन्हें अन्य प्राणियों को प्रतिबोध देने में ही आनन्द आता है, यह तो उनके नाम की ही सार्थकता है।

राजा की दीक्षा में विलम्ब करने की इच्छा

इस प्रकार विचार करने के बाद राजा ने सुबुद्धि से कहा—मित्र ! अब अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं। इन घटनाओं की यथार्थता मुझे समझ में आ गई है। अब मैं एक दूसरी बात कहता हूँ, सुनों।

यदि यह मनीषी थोड़े समय तक संसार में रहकर विषय-सुखों का भोग करे तो हम भी इसके साथ दीक्षा ले लें। कारण यह है कि जब से मैंने इसे देखा है तभी से मुझे इस पर अत्यधिक स्नेह उत्पन्न हुआ है। अतः इससे दूर रहने का विरह हृदय को किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं होता, इसके मुखकमल को देखते हुए

❀ पृष्ठ २२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टि भी नहीं थकती। हमें इसका विरह भी स्वीकार नहीं होता और इसी की तरह चारित्र-ग्रहण करने के परिणाम भी अभी उत्पन्न नहीं हुए, अतः इसे प्रेम से समझाकर इसको संगीतादि विषय-भोगों के सुखों की अनुभूति करा दो और इसको स्पष्ट रूप से बता दो कि आप ही इन विषय-भोगों के स्वामी हैं। इसे वज्र, इन्द्रनील, महानील, कर्केतन, मारणक, वैडूर्य, चन्द्रकान्त, पुखराज आदि बहुमूल्य रत्नों का ढेर दिखा दो। देवांगनाओं को मात देने वाली लावण्यवती सुन्दर कन्याओं को दिखाकर उसके मन में संसार के प्रति अनुराग पैदा कर दो जिससे कि वह अधिक विचार किये बिना ही थोड़े समय तक संसार में रहकर अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर सके।

सुबुद्धि—जैसी महाराज की आज्ञा। परन्तु, इस विषय में मुझे आपसे कुछ प्रार्थना करनी है, * वह योग्य हो या अयोग्य आप मुझे क्षमा प्रदान करें।

शत्रुमर्दन—सखे! तुम तो मुझे अच्छा और यर्थाथ उपदेश देने वाले हो अतः मुझ पर तुम्हारा पूर्ण अधिकार है। उपदेश देने के कारण तुम मेरे गुरु और मैं तुम्हारा शिष्य हूँ। फलतः मेरे बारे में कुछ भी शंका करने की आवश्यकता नहीं। जो कहना हो निःसंकोच होकर तुरन्त कहो।

दीक्षा की महत्ता

सुबुद्धि—देव! ऐसा है तो सुनिये। आपने कहा कि आपको मनीषी के प्रति अत्यधिक प्रेम है वह ठीक ही है, क्योंकि महापुरुषों को सर्वदा गुणवान मनुष्य के प्रति पक्षपात (प्रेम) होता ही है जो समुचित भी है। ऐसा प्रेम पाप-समूह का दलन करता है, सद्गुणों को बढ़ाता है, सज्जनता को जन्म देता है, यश की वृद्धि करता है, धर्म का संचय करता है और मोक्षमार्ग की योग्यता प्राप्त कराता है। आपने मनीषी को किसी प्रकार लालच देकर कुछ समय तक संसार में रोकने की जो बात कही वह न्याययुक्त न होने से मुझे अनुचित प्रतीत होती है। ऐसा करके आप उस पर सच्चा प्रेम नहीं दिखा रहे हैं, वरन् उसके विरुद्ध कार्य कर रहे हैं, क्योंकि इस संसार रूपी महाअटवी से बाहर निकलने की इच्छा से संपूर्ण जगत् का हित करने वाले जिनमत में विशेष प्रवृत्ति करने के लिये मन, वचन, काया से जो सम्यक् प्रकार से उद्यम कर रहा हो उसे अधिक उत्साह देने वाला ही उसका स्नेहशील सच्चा मित्र है। परन्तु, झूठे मोह से जो प्राणी संसार से निकलने की इच्छा वाले व्यक्ति को रोके वह उसका अहित करने वाला होने से परमार्थतः उसका शत्रु है। मनीषी अपना हित करने को उद्यत हुआ है, उसे न रोकने में ही उसका हित है, तब ही आपका उसके प्रति सच्चा स्नेह माना जायगा। दूसरा, उसे रोकने के लिये इस संसार के पदार्थ तो क्या यदि आप दैवी-संपत्ति और सुख भी प्रस्तुत करें तब भी उसे डिगाना अशक्य है। [१–५]

---

* पृष्ठ २२६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका कारण यह है कि उसे आचार्यश्री के उपदेश से विषय-विष के दारुण परिणामों की अनुभूतिपूर्वक प्रतीति हो चुकी है, वह प्रबोध प्राप्त कर चुका है। उसके हृदय सरोवर में सर्वप्रकार के पाप रूपी कलुषता को धो डालने वाला विवेक रत्न स्फुरित हो चुका है। वस्तु-स्वरूप का ज्ञान कराने वाला सम्यक्दर्शन उसकी आत्मा में अधिक उल्लसित हुआ है और समस्त दोषों का हरण करने वाले चारित्र धर्म को ग्रहण करने के परिणाम उसे प्राप्त हो चुके हैं। जब प्राणी में ऐसे महाकल्याणकारी गुणसमूह जागृत हो जाते हैं तब उसका चित्त विषयों में लग ही नहीं सकता। उसे संसार का प्रपंच त्याज्य ही लगता है। संसार के विलास उसे इन्द्रजाल के समान निस्सार ही लगते हैं। क्षणिक सुख उसे स्वप्न जैसे लगते हैं। इष्टजनों का सम्पर्क क्षण-स्थायी लगता है। मोक्षमार्ग प्राप्ति की जो प्रबल बुद्धि उसे प्राप्त हुई है वह दूसरों के अनुरोध या अनुराग पर प्रलयकाल में भी नाश को प्राप्त नहीं होती, यह निश्चित है। अतः यदि हम उसे रोकने का प्रलोभन देंगे तो यह प्रकट हो जायगा कि हम पर मोह का कितना अधिकार है। बाकी आप जैसा सोच रहे हैं, उसे संसार में रहने का, रोकने का, वह तो कभी भी फलीभूत नहीं होगा। अतः ऐसे व्यर्थ के प्रयत्नों से क्या प्रयोजन ?

शत्रुमर्दन—यदि ऐसा ही है तो इस अवसर पर हम क्या करें ? बताओ *

सुबुद्धि—देव ! उसकी दीक्षा का प्रशस्त मुहूर्त निकलवाकर उस दिन तक सब लोग अत्यधिक प्रमुदित हों ऐसे धार्मिक महोत्सव करें।

शत्रुमर्दन—यह तो तुम सब जानते ही हो अतः जैसा उचित समझो वैसा सब प्रबन्ध करो।

❀

१७. दीक्षा महोत्सव : दीक्षा और देशना

राजा शत्रुमर्दन ने सिद्धार्थ नामक ज्योतिषी को बुलाया। ज्योतिषी शीघ्र आया। उसके राज्य सभा में प्रवेश करते ही राजा ने उसका उचित सम्मान किया और उसे आसन दिया। फिर उसे बुलाने का प्रयोजन बताया और दीक्षा महोत्सव के लिये शुभ मुहूर्त पूछा।

गणना कर ज्योतिषी ने कहा कि आज से नौवें दिन इसी मास के इसी पक्ष में शुक्ल त्रयोदशी शुक्रवार को चन्द्रमा का उत्तराभाद्रपद नक्षत्र के साथ योग है। उस दिन महाकल्याणकारी शिव योग है, सूर्योदय के सवा दो प्रहर पश्चात् वृषलग्न में सातों ग्रह शुभ स्थान में आने का एकान्त निरवद्य योग है। जो शुभ कार्य करने का सर्वोत्तम समय है, अतः उस समय चारित्र ग्रहण करवायें। राजा और मंत्री को मुहूर्त

* पृष्ठ २२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहुत पसंद आया जिसे उन्होंने स्वीकार किया। ज्योतिषी को योग्य भट आदि देकर विदा किया और वह दिन आनन्द पूर्वक बीता।

अष्टाह्निका महोत्सव

दूसरे दिन से राजा ने प्रमोदशिखर मंदिर में और नगर के अन्य विशाल जिन मंदिरों में देवभवनों के सौन्दर्य को भी लजाने वाला सुन्दर एवं विशाल महोत्सव मनाना प्रारम्भ किया। राजा ने घोषणा करवाई कि जिसे जो वस्तु चाहिये वह उस वस्तु को ग्रहण करे, इस प्रकार बड़े-बड़े दान दिये। महोत्सव के आठ दिन तक मनीषी को जय-करिवर नामक बड़े हाथी पर बिठाकर नगर के राज्य मार्गों, मुख्यमार्गों, तिराहों और चौराहों पर शोभायात्रा निकाली गई। शोभायात्रा में राजा स्वयं मंत्रियों एवं सामन्तों सहित आगे-आगे पैदल चल रहे थे। उस समय मनीषी ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो इन्द्र ऐरावत हाथी पर विराजमान हो। वस्त्राभूषणों से सुशोभित स्तुति करते हुए नागरिकगण देवता जैसे लग रहे थे। इस प्रकार मनीषी की सम्पूर्ण नगर में प्रतिदिन शोभायात्रा निकाल कर शत्रुमर्दन राजा ने उसे अलौकिक विलासों का अनुभव कराया।

इस प्रकार महोत्सव मनाते हुए आठवां दिन आ गया। राज्य सभा में समस्त अतिथियों का विशिष्ट सम्मान करते हुए पहले दो प्रहर आनन्दपूर्वक व्यतीत हुए। सूर्य का चरित्र मानो मनीषी का चरित्र ही सूचित कर रहा हो इस प्रकार समय की सूचना देने वाले पहरेदारों ने घण्टा बजाते हुए सूचित किया—

संसार के अंधकार को दूर करता हुआ और मनस्वियों को आह्लादित करता हुआ सूर्य अब मस्तक पर पहुँच गया है और स्पष्टतया सूचित कर रहा है कि जैसे मैं बढ़ते-बढ़ते अपने प्रकर्ष ताप से सबके ऊपर पहुँच गया हूँ उसी प्रकार प्राणी अपने गुणों के प्रताप (प्रकर्ष) से सब पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकता हैं। [१–२]

निष्क्रमण महोत्सव

शत्रुमर्दन राजा ने समय सूचित करने वाले की आवाज सुनकर सुबुद्धि प्रभृति को लक्ष्य कर कहा—अहो! मुहूर्त का समय आ गया है, अब आचार्यश्री के चरण-कमलों में चलने के लिये सामग्री शीघ्रता से तैयार करें। सुबुद्धि मंत्री ने कहा—महाराज! मनीषी की पुण्य-परिपाटी के समान समस्त सामग्री तैयार ही है।

कनक के समान उज्ज्वल रथों में जुते हुए सुसज्जित श्रेष्ठ घोड़े घनघनाहट (हिनहिनाइट) की आवाज के साथ चलने प्रारम्भ हो गये हैं। उनके पीछे राजपुरुषों से अधिष्ठित, बादलों के समान असंख्य हाथी राज्यद्वार पर घन गर्जन करते हुए मन्थर गति से चल रहे हैं। उनके पीछे रोबीले और बांके घुड़सवारों से सुसज्जित चपल मुखवाले सैकडों अश्व मानों आकाश का पान कर रहे हों इस प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हेषारव कर रहे हैं। उनके पीछे आज के अवसर के अनुसार सुन्दर वस्त्र पहने हर्षोन्मत्त सैनिक दल चल रहे हैं जो क्षीर समुद्र के जल के समान लग रहे हैं। सुन्दर रत्नाभूषणों से सुसज्जित सुन्दर लोचन वाले स्त्री-पुरुष सुन्दर द्रव्यों को साथ लेकर पंक्तिबद्ध होकर चल रहे हैं। महात्मा मनीषी के पुण्यपुञ्ज से आकर्षित देवता समूह आकाशमार्ग से आकर आकाश को सुशोभित कर रहे हैं। नगरवासी भी कौतुक देखने के लिये बड़ी संख्या में आ रहे हैं जो हर्षोल्लास से तरंगित समुद्र में आये ज्वार की तरह लग रहे हैं। अथवा मुझ से वृत्तान्त सुनकर, आपके आशय को जानकर और मनीषी के गुणों से आकर्षित होकर कौन इस उत्सव में सम्मिलित नहीं होगा? ऐसे उत्सव में तो भाग लेने की सभी को इच्छा होती ही है, इसमें क्या संदेह है? अतएव हे राजन्! अब आप लोग भी उठिये। [१–८]

सुबुद्धि मंत्री के वचन सुनकर राजा और मनीषी खड़े हुए और द्वार के पास आये। एक मुख्य रथ पर मनीषी बैठा जिसके चारों तरफ रत्नों के घुंघरू लगे थे, सुन्दर सुखासन पर विराजमान मनीषी द्वारा धारित मुकुट की किरणों से उसका मस्तक आरक्त हो उठा था, कानों में पहने हुए कुण्डल दोलायमान हो रहे थे, वक्षस्थल पर बड़े-बड़े उत्तम मोतियों की माला शोभित हो रही थी, सुन्दर कान्तियुक्त हाथों के कड़े और बाजूबन्द शोभित हो रहे थे, अति सुगन्धित पान और विलेपन आदि से उसकी बाह्य इन्द्रियों को प्रसन्न किया गया था, शरीर पर स्वच्छ बहुमूल्य दिव्य वस्त्र शोभित थे, उत्तम प्रकार की विभिन्न जातियों की फूल मालाओं से वक्ष सुशोभित था और प्रेमियों के मनोरथ को पूर्ण करने वाला उसका रूप अतिशय सुन्दर था। नरेश शत्रुमर्दन उस के रथ के सारथि बन कर रथ चला रहे थे। उस समय स्वकीय यशः कीर्ति के समान उसके मस्तक पर धवलित छत्र शोभित हो रहा था। दोनों ओर सुन्दर पण्यांगनायें हाथों से चन्द्र-कौमुदी-किरण जैसे श्वेत चामर ढुला रही थीं, भाट लोग उच्च स्वर से विरुदावली पढ़ते हुए साथ में चल रहे थे, हर्षोन्मत्त वारांगनायें आगे-आगे नृत्य करती चल रही थीं, भिन्न-भिन्न वाद्ययन्त्रों से निकलता मधुर स्वर चारों दिशाओं को बधिर कर रहा था, फैल रहा था। किन्नर गण (गायक समूह) गान करते साथ चल रहे थे, आकाश में देवता हर्षातिरेक से सिंहनाद करते चल रहे थे, नगर निवासी उसकी जय जयकार करते चल रहे थे।

इस अवसर पर स्त्रियां झरोखों से अपने मुंह बाहर निकाल कर मनीषी को एकटक देख रही थीं, कई महिलायें तो मनीषी को देव कुमार मानकर कौतुक से उसे ही देख रही थीं और उसको निरख-निरख कर स्वयं को भाग्यशालिनी मान रही थीं। उसके दर्शन से कितनी ही स्त्रियां हर्ष-विह्वल हो गईं कितनी ही अनुपम शृंगार कर सामने आ रही थीं जिससे कि उसकी दृष्टि उन पर ही पड़े, कितनी ही स्त्रियों ने मदन-रस से पराभूत होकर विलासपूर्ण हाव-भाव प्रदर्शित करने प्रारम्भ कर दिये थे और कितनी ही उसे देखने की प्रबल उत्कंठा में एक-दूसरी को धकेल कर आगे

❀ पृष्ठ २२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आ रही थीं, इससे आपस में ईर्ष्या हो रही थी। घर के बड़े लोग हमको खिड़की से इस प्रकार झांकते हुए देख लेंगे इस कल्पना से वे लज्जित भी हो रही थीं। ऐसा रूप सौंदर्यवान पुरुष संसार छोड़ देगा इस विचार से कइयों को दुःख हो रहा था। सृष्टि में से ऐसा सौन्दर्यधारक पुरुष चला जाए तब संसार में रखा ही क्या है? इस विचार से कई स्त्रियाँ वैराग्य रस में लीन हो रही थीं। इस प्रकार नगरवासी हजारों वनितायें अनेक प्रकार से रस और भावों से प्रभावित होकर उसका अभिनन्दन कर रही थीं।* आकाश में देवसुन्दरियाँ और अप्सरायें उसके साथ चल रही थीं। उसके पीछे दूसरे रथ में उसके समान ही रूपवान उसका भाई मध्यमबुद्धि बैठा था। उसके पीछे महा-सामन्त, मन्त्रीगण एवं विशाल जन समुदाय के साथ अनेक रथ, हाथी और घोड़े आनन्द पूर्वक चल रहे थे। इस प्रकार चलते हुए मनीषी की शोभायात्रा निज-विलसित उद्यान में पहुँची। जैसे ही मनीषी रथ से नीचे उतरा, राज्य परिवार के लोगों ने उसे घेर लिया। फिर वह थोड़ी देर प्रमोदशिखर मन्दिर के द्वार पर खड़ा रहा।

उदात्त अनुकरण : राजा की दीक्षाभिलाषा

मनीषी रथ में बैठा तभी से उसमें कितना आत्मबल है इसकी परीक्षा करने के लिये शत्रुमर्दन राजा उसके स्वरूप को अधिकाधिक लक्ष्यपूर्वक अवलोकन करने लगा और उसके हलन-चलनादि प्रत्येक क्रिया पर विशेष ध्यान रखने लगा। किन्तु राजा ने देखा कि हर्षातिरेक का प्रसंग उपस्थित होने पर भी अत्यन्त विशुद्ध अध्य-वसायों से मनीषी के मन का मैल धुल गया है और उसके मन में तिल-तुष मात्र भी विकार नहीं है, वरन् जैसे क्षार और अग्नि के ताप से रत्न अधिक चमकीला बनता है वैसे ही संसार के चित्र-विचित्र विलासों के दर्शन से उसका चित्त-रत्न अधिक निर्मल हो रहा है। ऐसे निर्मल मन ने परम्परानुविद्ध उसके शरीर पर भी प्रभाव दिखाया जिससे उसका शरीर इतना अधिक देदीप्यमान हो गया कि सूक्ष्म निरीक्षण करने पर राजा को ऐसा लगने लगा कि जैसे उदय होते समय सूर्य के प्रकाश में तारामण्डल द्युतिहीन हो जाता है वैसे ही मनीषी के आत्मिक तेज के समक्ष संपूर्ण राज्य मण्डल निस्तेज हो गया है। मनीषी के गुण-चिन्तन में राजा इतना लीन हो गया कि परिणामस्वरूप संसार-बन्धन-कारक कर्मों का जाल टूट गया और उसे स्वयं भी चारित्र ग्रहण करने की इच्छा उत्पन्न हो गई। उद्यान में पहुँचते ही उसने अपनी इस इच्छा को सुबुद्धि मन्त्री, रानी मदनकन्दली, मध्यमबुद्धि और अन्य लोगों पर प्रकट की। महात्मा पुरुषों के सान्निध्य (संपर्क) के अचिन्त्य प्रभाव से, कर्मक्षयोपशम के विचित्र कारणों से और मनीषी के अकृत्रिम गुणों से प्रभावित सभी लोगों का आत्मवीर्य भी समुल्लसित हुआ जिससे उन्होंने कहा :—

महाराज! आपने ठीक कहा, आपके जैसे विवेकी पुरुषों को ऐसा ही करना चाहिये, क्योंकि संसार में इससे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। प्रभो! यदि इस संसार

* पृष्ठ २२९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में कोई भी वस्तु रमणीय, सारभूत, ग्रहणीय और सुन्दर हो तो तत्त्वज्ञ क्यों संसार का त्याग करें ? बुद्धिमान पुरुष कैदखाने जैसे इस संसार का त्याग करते हैं इससे यह सहज ही प्रमाणित होता है कि इस संसार में कुछ भी सारभूत नहीं है। देव ! अनेक प्रकार के महान भयों को बारंबार उत्पन्न करने वाले इस संसार का जब मनीषी जैसे बुद्धिमान पुरुष सोच-समझकर त्याग करते हैं तब आपके जैसे समझदार व्यक्ति का उसमें लिप्त रहना योग्य नहीं है। हम सबने मनीषी के चित्त का अभी-अभी सूक्ष्म निरीक्षण किया है जिससे हमारा मन भी संसार के प्रति आकर्षित न होकर विकर्षित हो रहा है। जिस प्रकार उसके प्रभाव से हममें दीक्षा लेने का विचार उत्पन्न हुआ है, उसी प्रकार उसी के प्रभाव से उसी के अनुरूप हम सब कार्य-सम्पादन करेंगे जो उसी के द्वारा पूर्ण होगा ऐसा लग रहा है। अतः जिनेश्वर देव के मत की अत्यन्त निर्मल और संसार का क्षय करने वाली भागवती दीक्षा लेने की हमारी भी इच्छा हुई है, आप हमें आज्ञा देने की कृपा करें। [१–८]

शत्रुमर्दन—आपके विवेक को धन्य है। आपका गम्भीर चित्त भी धन्यवाद का पात्र है। आपका वचन-चातुर्य और आत्मबल सचमुच ही प्रशंसा के योग्य है। आपने श्लाघनीय विचार किया है। आपने मुझे भी उत्साहित किया है। एक क्षण में मोह-पिंजर को तोड़ कर आपने प्रशस्ततम कार्य किया है। [९–१०]

सबको धन्यवाद देने के पश्चात् हर्षोल्लसित होकर राजा ने सुबुद्धि से कहा—मेरे मित्र ! तुझे तो संसार का स्वभाव पहले से ही ज्ञात था, फिर भी इतने समय तक तू सिर्फ मेरे लिये संसार में रहा, अन्यथा तेरा संसार में पड़े रहने का दूसरा क्या कारण हो सकता है ? यदि किसी प्राणी को राज्य मिलता हो तो वह चण्डाल कार्य क्यों स्वीकार करेगा ? मेरे सच्चे मित्र ! तूने बहुत अच्छा किया। मेरे ऊपर कृपा कर तूने आज तक संसार में मेरा साथ दिया और आज मेरे साथ ही दीक्षा लेने का निश्चय कर तूने अपनी सच्ची मित्रता को निभाया है [११–१४]

मध्यमबुद्धि को उद्देश्य कर राजा ने कहा—भाई ! तेरी तो पहले से ही मनीषी की संगति होने से तू तो सच्चा भाग्यशाली है। जिस प्राणी को कल्पवृक्ष की प्राप्ति हो जाय उसे फिर किसी भी प्रकार का दुःख कैसे रहेगा ? इसके चारित्र ग्रहण के विषय पर गम्भीरता से सोचकर उसका अनुकरण करने का निश्चय कर तुमने बता दिया है कि तुम भी अपने भाई जैसे ही हो। भद्र ! तूने साधु कार्य किया। वृद्धजन कहते हैं कि जिसका प्रारम्भ अच्छा रहे उसका अन्त भी अच्छा होता है, यह कहावत तुम पर पूर्णतया घटित होती है [१५–१७]

फिर राजा ने मदनकन्दली रानी से कहा—स्वर्ण और पद्मकमल जैसा तुम्हारा चित्त वास्तव में अत्यन्त सुन्दर और सुकुमार है। इस निर्मल चित्त के कारण ही तुमने आज यह बात स्वीकार की है। लोक-व्यवहार से तुम मेरी धर्मपत्नी

❀ पृष्ठ २३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहलाती हो, उसे आज तुमने धर्म में भी मेरा साथ देकर सत्य कर दिखाया है । हे देवी ! तुमने बहुत अच्छा निर्णय लिया है । संसार-कारागृह में फंसे हुए जीवों के लिये इससे अच्छा दूसरा कोई श्रेष्ठ कर्त्तव्य नहीं हो सकता । [१८–२०]

अपने सामन्तों और नगरवासियों में से जो व्यक्ति उस समय दीक्षा लेने को तैयार हुए थे उन्हें मधुर वाणी से प्रसन्न एवं उत्साहित करते हुए राजा ने कहा—आप पारमेश्वरी दीक्षा लेने को तैयार हुए हैं, अतः आप वास्तव में भाग्यशाली हैं, महात्मा हैं, उत्तम पुरुष हैं और कृतकृत्य हैं । आप सब सर्वोत्तम कार्य कर रहे हैं । आपके जैसे लोगों के लिये ऐसा करना ही उचित है । आप इस लोक में मेरे अकृत्रिम/सच्चे भाई हैं । [२१–२२]

सुलोचन को राज्य-प्रदान : दीक्षा

उस समय अपने पुत्र सुलोचन कुमार को अपने सर्व राज्य-चिह्न सौंपकर उसे राजगद्दी पर स्थापित किया । इसके अतिरिक्त जो अन्य कार्य करने थे उन्हें पूर्ण कर राजा जिनमन्दिर में गया । अन्य लोग भी अपने कार्यों से निवृत्त होकर जिन-मन्दिर में आये, जगद्गुरु जिनेश्वर देव की पूजा की और सब मिलकर गुरुदेव प्रबोधनरति आचार्य के पास आये तथा उनके सन्मुख सबने अपने विचार प्रकट किये । गुरु महाराज ने मधुर शब्दों में सबका अभिनन्दन करते हुए कहा—बहुत अच्छा । अब विलम्ब कर, प्रतिबन्धित होकर ❀ संसार में रहना श्रेयस्कर नहीं है । तदनन्तर पापों का प्रक्षालन कर जो स्वच्छतम हो चुके हैं ऐसे आचार्य देव ने सब को जैनागमों में प्रदर्शित विधि से दीक्षा प्रदान की, दीक्षित किया । उस समय सब के संवेगमय वैराग्य की वृद्धि करने के लिये आचार्यश्री ने संक्षिप्त में देशना दी । [२४–२८]

आचार्य देव की देशना

आदि-अन्त रहित यह संसार जिसमें बार-बार जन्म-मरण होने से बहुत भयंकर है, इसमें मौनीन्द्री/भागवती प्रव्रज्या ग्रहण करना प्राणियों के लिये अति कठिन है । यह दीक्षा मन, वचन, काया के सभी सावद्य योगों पर अंकुश रखने वाली होने से अतिशय निर्मल है । जब तक यह अत्यन्त दुर्लभ दीक्षा प्राणी के उदय में नहीं आती तब तक उसे इस संसार में अनन्त प्रकार के दुःख होते रहते हैं, राग-द्वेष की परम्परा के भयंकर परिणाम उसको प्रभावित करते रहते हैं, कर्म के स्पष्टतः प्रभाव से जन्म-परम्परा का चक्कर चलता रहता है, अनेक प्रकार की आपत्तियाँ और पीडाएँ आती रहती हैं, विडम्बित होता रहता है, मनुष्य ही मनुष्य के सन्मुख दीन वाक्य बोलता है, दुर्गति में जाकर अनेक दुःख सहन करता है, अनेक प्रकार के रोगों से ग्रस्त रहता है और विविध क्लेशों से भरपूर इस भयंकर संसार-समुद्र में भटकता रहता है । जब कर्म शिथिल हों और भगवान् की कृपा हो तभी प्राणी जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित दीक्षा ग्रहण कर सकता है । दीक्षानन्तर उसके सब पाप धुल जाते हैं जिससे प्राणी अखण्ड

❀ पृष्ठ २३१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आनन्द से परिपूर्ण और दुनिया के सर्व क्लेशों से रहित उत्तमोत्तम गति में पहुँच जाता है। फिर पूर्ववर्णित भयंकर उपद्रव और संसार की सभी उपाधियों से उसका छुटकारा हो जाता है। जो प्राणी दीक्षा ग्रहण करते हैं वे इस संसार में भी प्रशंसा-मृत-रस का पान करते हैं। इस भव में भी उन्हें किसी प्रकार की कमी नहीं रहती और वे अबाधित सुख से परिपूर्ण रहते हैं। जिनेश्वर देव के मत की ऐसी दीक्षा आज तुम्हें प्राप्त हुई है, जिसे तुमने स्वयं अपनी इच्छा से स्वीकार किया है, अतः इस भव में प्राणी को जो विशेष स्थिति प्राप्त करनी चाहिये वह तुमने प्राप्त की है। मुझे अब तुम्हें यही कहना है कि प्रमाद को छोड़कर, इस दीक्षा का पालन करते हुए आत्मा की प्रगति करने के लिये जीवन-पर्यन्त सतत प्रयत्न करते रहना। क्योंकि, दीक्षा लेकर भी जो प्राणी उसका विधिवत् पालन नहीं करते वे अधन्य हैं और अधमता को प्राप्त करते हैं तथा जो प्राणी इसका विधिवत् पालन करते हैं वे संसार के उस पार पहुंच जाते हैं। वस्तुतः वे ही पुरुषोत्तम हैं। [२९–४०]

गुरु महाराज का उपरोक्त प्रवचन सुनकर सबने एक मत से कहा - गुरुदेव ! आप हमें आज्ञा दीजिये। आपकी आज्ञा का पालन करने के लिये हम सब तत्पर हैं। [४१]

राजर्षि शत्रुमर्दन की शंकाओं का समाधान

उस समय अपने मुँह के समक्ष मुखवस्त्रिका रखकर शत्रुमर्दन साधु आचार्यश्री से प्रश्न किया—हे प्रभो ! मनीषी का चित्त अति विशाल, निर्मल, धीर, गम्भीर, दाक्षिण्ययुक्त, दयावान, चिन्ता रहित, द्वेष रहित, अचंचल और संसार को आनन्द प्रदान करने वाला है। संक्षेप में वर्णनातीत है। ऐसा चित्त क्या अन्य किसी का भी हो सकता है ? उसके विशाल चित्त और उदार व्यवहार को देखकर हमारे सब संसारी बन्धन शिथिल हो गये हैं* और हम सब इस भयंकर संसार कारागृह से मुक्त हो गये हैं। प्रभो ! ऐसा विशाल चित्त अन्य किसी का भी हो सकता है क्या ? कृपा कर मुझे समझाइये। [४२–४५]

गुरु महाराज - इस मनीषी की माता शुभसुन्दरी का नाम तो आपने पहले सुना ही है। शुभसुन्दरी के जितने भी पुत्र होते हैं उन सब का चित्त ऐसा ही निर्मल होता है। [४६]

यद्यपि राजर्षि शत्रुमर्दन स्वयं तो अब उपरोक्त कथन का तत्त्व समझ गये थे किन्तु अन्य मुग्ध लोगों को बोध देने के उद्देश्य से शिर नमाकर फिर प्रश्न किया—महाराज ! क्या शुभसुन्दरी के अन्य भी बहुत से पुत्र हैं ? मैं तो उसके इस एक ही पुत्र मनीषी को जानता हूँ और ऐसा समझता हूँ कि उसके यह एक-मात्र पुत्र ही है। [४७–४८]

---

* पृष्ठ २३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरु महाराज- शुभसुन्दरी के बहुत से पुत्र हैं । इस त्रिभुवन में जो प्राणी मनीषी जैसे दिखाई देते हैं वे सब शुभसुन्दरी के पुत्र हैं इसमें किञ्चित् भी संदेह नहीं है । इस संसार के सभी उत्तम प्राणी जो महासत्त्व वाले प्राणियों के मार्ग पर चलने वाले हैं, वे सब मनीषी के समान शुभसुन्दरी के ही पुत्र हैं, ऐसा समझें । [४९-५०]

राजर्षि शत्रुमर्दन—भदन्त ! आपने पहले बाल की माता अकुशलमाला बताई, तब उसके भी बाल के अतिरिक्त और पुत्र होंगे ? [५१]

गुरु महाराज - हाँ, उसके भी बहुत से पुत्र हैं। इस संसार के अधम, तुच्छ स्वभाव के जितने भी मनुष्य हैं, वे सब अकुशलमाला के पुत्र हैं, इसमें भी कोई संशय नहीं है । बाल जैसे अधम आचरण वाले पुरुषों को तुरन्त पहचान लेना चाहिये कि ये अकुशलमाला के पुत्र हैं । [५२-५३]

राजर्षि शत्रुमर्दन—भगवन् ! यदि ऐसा है तो सामान्यरूपा के भी मध्यमबुद्धि जैसे अन्य पुत्र होंगे ? मध्यमबुद्धि के अन्य सहोदर हैं या नहीं ? [५४]

गुरु महाराज—अरे, इस सामान्यरूपा के तो अत्यधिक पुत्र हैं । इस संसार में कुछ मनीषी जैसे अत्युत्तम चरित्र वाले और कुछ बाल जैसे अत्यन्त अधम चरित्र वाले मनुष्य होते हैं । इनके अतिरिक्त बाकी के सब मनुष्यों को मध्यमबुद्धि के भाई ही समझना चाहिये । मध्यमबुद्धि की भांति कुछ-कुछ मलिन आचरण वाले जितने भी मनुष्य इस त्रिभुवन में हैं, उन सब को सामान्यरूपा के पुत्र समझना चाहिये । मनीषी और बाल जैसे प्राणियों की अपेक्षा से यदि मध्यमबुद्धि जैसे प्राणियों की गिनती की जाय तो वे उन दोनों से अनन्त गुणे अधिक होंगे, इसीलिये मैंने कहा कि सामान्यरूपा के तो अत्यधिक पुत्र हैं । [५५-५७]

राजर्षि शत्रुमर्दन—भगवन् ! यदि ऐसा ही है तो मेरे मन में एक विचार आ रहा है । आपके कथनानुसार कर्मविलास राजा ने अपनी तीन स्त्रियों से जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट तीन प्रकार के प्राणी उत्पन्न किये, अतः सम्पूर्ण संसार के सभी प्राणी कर्मविलास राजा के कुटुम्बी हुए, क्या यह बात ठीक है ? [५८]

गुरु महाराज—आर्य ! इसमें कोई सन्देह नहीं है, तुम्हारा कथन सत्य है । तुम इस कथन के भाव को सम्यक् प्रकार से समझ गये हो । जिनकी बुद्धि मार्गानुसारिणी होती है, अर्थात् वे शीघ्र ही सत्य को पकड़ लेते हैं । वैसे तो सभी योनियों में जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट प्राणी होते हैं, पर इन वर्गों की स्पष्ट पहचान मनुष्य योनि में ही हो पाती है । मनुष्यों में तो यह पूरा कुटुम्ब सर्वत्र स्पष्टतः दिखाई देता है । [५९-६०] *

बुद्धिमान पुरुष को क्या करना चाहिये ? इस सम्बन्ध में संक्षेप में कहता हूँ, उसे सुनो—बाल का चरित्र त्याज्य है अतः किसी को भी न तो उसके जैसा आचरण ही करना चाहिये और न ऐसे व्यक्ति की संगति ही करनी चाहिये । जिस

* पृष्ठ २३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति को सुख की इच्छा हो उसे मनीषी के चरित्र का यत्न पूर्वक आदर करना चाहिये और उसके जैसा बनने का प्रयत्न करना चाहिये। अधिकांशतः प्राणी मध्यमबुद्धि जैसे होते हैं, पर यदि वे सम्यक् अनुष्ठान करें तो प्रयत्न से मनीषी जैसे हो सकते हैं। अतः हे भव्य प्राणियों! तुम्हें बारम्बार यही कहना है कि मेरे वचनों का अनुसरण करते हुए तुम्हें मनीषी के चरित्र का अनुकरण करना चाहिये और प्रयत्न पूर्वक पापी मित्रों का साथ छोड़ देना चाहिये, क्योंकि स्पर्शन की संगति से ही अन्त में बाल का विनाश हुआ और उस स्पर्शन का त्याग करने से ही मनीषी ने संसार में उत्कृष्टतम रूप से सुस्पष्ट प्रसिद्धि प्राप्त की और अन्त में मोक्ष को सिद्ध करने वाला साधक बना। अतः अपना हित चाहने वाले प्राणियों को कल्याणकारी पवित्र मित्रों की संगति करनी चाहिये। अन्तःकरण से समझना चाहिये कि पवित्र मनुष्यों की मित्रता इस भव और परभव में सब प्रकार की सम्पत्ति प्राप्त कराने वाली है। बुरे मनुष्य की संगति इस भव में दुःखदायी और अच्छे मनुष्य की संगति सुखदायी होती है। मध्यमबुद्धि के सम्बन्ध में यह वास्तविकता तुमने स्वयं देखी है। देखो, जब तक उसने बाल की संगति की तब तक वह भी अनेक प्रकार के दुःखों का भाजन बना। उसने जब से मनीषी की संगति की तब से उसे आनन्द ही आनन्द प्राप्त हुआ। अतएव इस सच्चाई को ध्यान में रखकर तुम्हें निश्चय करना चाहिये कि बाह्य अथवा अन्तरंग में दुर्जन की संगति कभी नहीं करनी चाहिये और सर्वदा सज्जनों की ही संगति करनी चाहिये। [६१-७०]

जिनेश्वर देव के शासन के ऐसे अप्रतिम और अत्यन्त मनोहारी शब्द सुनकर बहुत से प्राणियों ने बोध प्राप्त किया और धर्माचरण में तत्पर हुए। देवगण अपने-अपने स्थान को गये। सुलोचन कुमार राज्य शासन चलाने लगा और आचार्य श्री ने अपने पुराने और नये शिष्यों के साथ वहाँ से अन्यत्र विहार किया। [७१-७२]

जिनागम प्रदर्शित मार्ग पर बहुत समय तक चलते हुए जब अन्तिम समय निकट देखा तब समस्त विधियों को पूर्णकर मनीषी ने ज्ञान, ध्यान, तप और वीर्य के उपयोग से सब पापों को नष्ट कर, शरीर का त्याग कर मोक्ष प्राप्त किया। मध्यम वीर्य वाले मध्यमबुद्धि और उसके जैसे अन्य साधुओं ने अपने कर्मों को बहुत कम और बहुत हल्के कर अन्त में देवलोक प्राप्त किया। वे अन्य भवों में मोक्ष प्राप्त करेंगे। बाल के सम्बन्ध में आचार्य श्री ने पहले से ही भविष्यवाणी की थी कि वह चण्डाल के हाथ से मर कर नरक में जायगा, वैसा ही हुआ। मुनि महाराज के भविष्य वचन कभी झूंठे नहीं होते। [७३-७४]

स्पर्शन कथानक सम्पूर्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८ : कनकशेखर

[कुसंगति की बुराइयों को दिखाने के लिये तीसरे प्रकरण से विदुर ने स्पर्शन की कथा का प्रसंग उठाया था। जब राजा ने नन्दिवर्धन कुमार के पास विदुर को दूसरी बार भेजा था तब कुमार ने पूछा था कि, कल क्यों दिखाई नहीं दिया? उत्तर में विदुर ने बताया था कि वह एक आश्चर्यजनक कथा सुनने में रुक गया था। कुमार के आग्रह करने पर विदुर ने स्पर्शन की संपूर्ण कथा कह सुनाई। स्पर्शन की कथा समाप्त होने पर विदुर और नन्दिवर्धन (संसारी-जीव) के बीच निम्न बात चीत हुई]

कथानक का कुमार पर प्रभाव

विदुर—कुमार श्री! कल मैंने यह स्पर्शन की कथा सुनी थी। कथा बड़ी होने से मेरा पूरा दिन उसे सुनने में ही बीत गया, इससे कल मैं आपके पास नहीं आ सका, जिसके लिये क्षमा चाहता हूँ।*

नन्दिवर्धन—भद्र! बहुत अच्छा किया। यह कथा अत्यन्त रमणीय और चित्ताकर्षक है। इसे सुनने से रस तृप्ति भी होती है और उपदेश भी प्राप्त होता है। अहो! सचमुच ही पापी मित्रों की संगति बहुत ही खराब है। देखो न, बाल ने स्पर्शन के साथ मित्रता की तो उसे इस भव में और परभव में अनेक घोर विडम्बनाओं से पूर्ण दुःखों की परम्परा ही प्राप्त हुई। इन दुःखों का कारण कुसंगति ही था अन्य कुछ नहीं।

विदुर ने मन में विचार किया कि चलो यह अच्छा हुआ कि कुमार ने कथा के आशय और सार को बराबर समझ लिया है। अब इसे कुछ कहने-समझाने का अवसर मिल गया।

विदुर की हितशिक्षा

उस समय मेरे निकट ही उसका मित्र वैश्वानर भी खड़ा था। कथा की प्रतिक्रिया के रूप में नन्दिवर्धन ने जो वाक्य कहे थे उसे सुनते ही वैश्वानर को झटका लगा। उसने सोचा, अरे! कुमार के वाक्यों से यह स्पष्ट है कि कुमार विपरीत बातें करने लगा है। इस कुमार को यह उल्टी पाटी विदुर ने पढाई है। यह अच्छा नहीं हुआ। यह विदुर बड़ा मुँहफट और यथार्थता को समझने वाला है। यह मेरा वास्तविक स्वरूप कुमार को अवश्य ही बता देगा। इस कल्पना से वैश्वानर शंकित हो उठा।

विदुर ने मन में सोचते हुए कुमार से कहा—ठीक है, आपने सम्यक् रीति से समझा। एक बात और है, प्राणी की ऐसी प्रकृति स्वभाव) बन गई है कि जब

* पृष्ठ २३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कभी वह कुछ नई वस्तु या घटना देखता है या उसके बारे में सुनता है, तब उस घटना को अपने जीवन से मिलाकर देखता है। मैंने भी इस कथा को सुनकर अपने मन में विचार किया कि राजकुमार नन्दिवर्धन की भी यदि किसी पापी मित्र से मित्रता न हो तो बहुत अच्छा हो।

नन्दिवर्धन—भद्र! तुझे इस विषय में सोचना ही क्यों पड़ा? मेरे पास इस समय न तो किसी पापी मित्र की गन्ध ही है और न भविष्य में भी कभी होगी।

विदुर—मेरी भी आपसे यही प्रार्थना है।

इस प्रकार कह कर विदुर मेरे कान के पास आया और दूसरा कोई सुन न सके इतने धीमें से बोला—देखो कुमार! एक बात आपको कहनी है। लोगों के कथनानुसार यह वैश्वानर बहुत ही दुष्ट प्रकृति और बुरे चरित्र वाला है, अतः इसकी पूर्ण रूप से परीक्षा करें। जिस प्रकार स्पर्शन की संगति से बाल ने अनेक दुःख भोगे वैसे ही वैश्वानर आपके लिये अनर्थकारी न बन जाय इस विषय में विशेष ध्यान रखें।

हितोपदेशक पर द्वेष और उसका अपमान

यह बात सुनकर मेरे बिलकुल पास खड़े मित्र वैश्वानर ने लक्ष्य पूर्वक मेरे सामने देखा। उसके मुँह के भाव से ही मैं समझ गया कि विदुर के वचनों से उसे बहुत दुःख हुआ है। उसने मुझे (नन्दिवर्धन) पहले से समझाये हुए संकेतचिह्न से मुझे पास बुलाकर क्रूरचित्त नामक एक बड़ा दिया, जिसे मैंने तुरन्त खा लिया। बड़े के प्रभाव से मेरे शरीर में गर्मी बढने लगी। गुस्से से सारे शरीर पर पसीना आने लगा। क्रोध से शरीर गुंजा के अर्धभाग के समान आरक्त हो गया, दांतों से होठ दबाकर आवेश के भाव प्रकट करने लगा, ललाट पर रेखायें पड़ गई और मुख अत्यन्त भयंकर हो गया। हे भद्रे अगृहीतसंकेता! उस समय बड़े के प्रभाव से मैं वैश्वानर के इतना वशीभूत हो गया कि मुझ पापी ने विदुर के सारे प्रेम और वात्सल्य को भुला दिया। उसने जो कुछ कहा, वह मेरे भले के लिये ही कहा, यह भी मैं भूल गया। लम्बे समय से चली आ रही उसकी संगति और स्नेह भाव का त्याग कर दुर्भावना पूर्वक निष्ठुर वचनों से विदुर का तिरस्कार करते हुए मैंने कहा—❀ अरे दुरात्मा! लज्जाहीन!! क्या तू मुझे बाल के समान समझता है? क्या अकल्पनीय प्रभाव वाले मेरे परमोपकारी, मेरे अंतरंग मित्र वैश्वानर को तू दुष्ट पापी स्पर्शन जैसा समझता है?

विदुर ने कोई उत्तर नहीं दिया। इससे मेरी क्रोधाग्नि भड़क उठी। मैंने तड़ाक से एक जोर का तमाचा उसके गाल पर जड़ दिया और एक मोटा पटिया उठाकर उसे मारने दौड़ा। भयातिरेक से उसका शरीर कांपने लगा और डरकर वह

❀ पृष्ठ २३५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भागा। मेरे पिता के पास जाकर उसने सब वृत्तान्त सुनाया। तब मेरे पिता ने बहुत ही शोक-पूरित मन से सोचा कि अब कुमार किसी भी प्रकार से वैश्वानर की संगति छोड़े यह सम्भव नहीं है। अतएव हमें तो अब मौन ही रखना चाहिये। मेरे पिता ने अपने मन में ऐसा निर्णय किया।

नन्दिवर्धन का यौवन

इधर थोड़े ही समय में मैंने अन्य समस्त कलाओं का अभ्यास पूरा किया, अतः अच्छा शुभ दिन देखकर मेरे पिताजी मेरे कलाचार्य से स्वीकृति प्राप्त कर मुझे कलाशाला (गुरुकुल) से घर ले गये। मेरे पिता ने कलाचार्य का सन्मान किया, दान दिया और मेरे कलाग्रहण समाप्ति की प्रसन्नता में महोत्सव किया। माता-पिता व अन्य समस्त परिजनों ने अभ्यास की समाप्ति पर मुझे धन्यवाद दिया। मेरे लिये एक राजभवन बनाया गया। यहाँ तुम आनन्द पूर्वक रहो, ऐसा कहकर वहाँ मेरे लिये अलग सेवकों की नियुक्ति की और मेरे भोग-उपभोग के सारे साधनों का अलग से प्रबन्ध किया। देव कुमार के समान सुखानुभव करता हुआ मैं उस भवन में आनन्द पूर्वक रहने लगा।

अनुक्रम से त्रैलोक्य को ललचाने वाले सागर के अमृत रस के समान, समस्त जनों के नेत्रों को आनन्दित करने वाले रात्रि में चन्द्रोदय के समान, बहुविध रागरंगों के विकारों से बांके वर्षा काल के इन्द्रधनुष के समान, कामदेव के अस्त्र रूप कल्पवृक्ष क कुसुम गुच्छ के समान, कमल वन को विकसित करने वाले रमणीय लालिमा युक्त सूर्योदय के समान और विविध प्रकार के लास्य विलास प्रदान करने वाले मयूरनृत्य के समान यौवन मुझे (नन्दिवर्धन) प्राप्त हुआ। जबसे मेरी युवावस्था का प्रारम्भ हुआ तबसे मेरा शरीर रमणीय और आकर्षक बना, मेरी छाती चौड़ी हुई, मेरी जांघे मांसल हो गई, कमर पतली और नितंब स्थूल होने लगे। अपने प्रताप को प्रस्फुटित करती रोमावली फूट निकली, आंखें विशाल हो गई, दोनों हाथ लम्बे हो गये और यौवन के पदार्पण रूप कामदेव भी मेरे हृदय में निवास करने लगा।

प्रतिदिन मैं अपने राजभवन से निकल कर प्रातः मध्याह्न और संध्या समय अपने से बड़े पारिवारिक जनों को नमस्कार करने राजकुल में जाता था। एकदिन प्रातः इसी प्रकार में माता-पिता को नमस्कार करने गया और उनके पांवों को स्पर्श कर नमस्कार किया। उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया। थोड़ी देर उनके पास बैठा, फिर उनसे आज्ञा लेकर अपने राजभवन में आया और सिंहासन पर बैठा।

कनकशेखर का जयस्थल नगर में आगमन

उस समय राजकुल में एकाएक कोलाहल का स्वर सुनाई देने लगा। असमय में यह क्या हल्ला हो रहा है? यह जानने के लिये मैं जिस तरफ से कोलाहल सुनाई दे रहा था उस तरफ जाने का विचार करने लगा।* इतने में ही धवल नामक

* पृष्ठ २३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बलवान सेनापति राजकुल में से निकलकर मेरी तरफ शीघ्रता से आता दिखाई दिया। मेरे पास आकर उसने नमस्कार किया और कहने लगा—कुमार! महाराज ने आपको सन्देश भिजवाया है। आज प्रातः आप जैसे ही उनके पास से उठकर बाहर आये वैसे ही एक दूत उनके पास आया और उसने बताया कि राजा कनकचूड का पुत्र कनकशेखर अपने पिता द्वारा किये गये अपमान से क्रोधित होकर, कुशावर्त नगर से निकल कर यहाँ से एक कोस दूर मलयनन्दन वन में पहुँच गया है। अब आपको जैसा योग्य लगे वैसा करें। वह अपना सम्बन्धी है, बड़ा आदमी है और अपना पाहुना है अतः उसे सन्मान के साथ लाने के लिये उसके सन्मुख जाना आवश्यक है। सभा में बैठे राजकुल के सभी सामन्तों ने भी यही विचार प्रकट किये हैं, अतः महाराज स्वयं उसे लेने के लिये उसके सन्मुख जा रहे हैं। आपके पिताजी ने आपको भी शीघ्र बुला लाने के लिये मुझे भेजा है। अतः अब आप शीघ्र पधारें।

"पिताजी की जैसी आज्ञा" कहकर मैं भी अपने परिजनों को लेकर चला और पिताजी की सवारी के साथ हो गया। मैंने धवल सेनापति से पूछा कि, 'कनकशेखर हमारा सम्बन्धी किस प्रकार है?' तब धवल ने बताया—कुमार! आपकी माता नन्दा और कुमार के पिता कनकचूड सगे भाई बहिन हैं, अतः कनकशेखर आपके मामा का पुत्र भाई है।

इस प्रकार बात करते हुए हम सब कनकशेखर के पास पहुँचे। उसने मेरे पिताजी के चरण स्पर्श किये, फिर पिताजी और मैं उससे प्रेम सहित आलिंगन-पूर्वक गले मिले। परस्पर एक दूसरे के योग्य सन्मान दिया। फिर बड़े आनन्दपूर्वक कनकशेखर को जयस्थल नगर में प्रवेश कराया। मेरे पिताजी और माताजी ने कनकशेखर से कहा - 'वत्स! बहुत अच्छा किया, तुमने अपना मुख-कमल दिखाकर हमें अकल्पनीय आनन्द प्राप्त कराया है। यह राज्य भी अपने पिता का ही है, ऐसा समझ कर तुम्हें यहाँ रहने में किंचित् भी संकोच नहीं करना चाहिये।' मेरे माता-पिता के ऐसे प्रेम पूर्ण वचन सुनकर कनकशेखर बहुत प्रसन्न हुआ और उनकी आज्ञा को सिर आंखों पर चढ़ाया। मेरे महल के पास ही कनकशेखर को रहने के लिये एक विशाल सुन्दर महल मेरे पिताजी ने दिया। वह उस महल में रहने लगा। धीरे-धीरे उसका मेरे प्रति स्नेह बढ़ता गया और वह मेरा विश्वासपात्र मित्र बन गया।

❀

१६. दुर्मुख और कनकशेखर

कनकशेखर जयस्थल नगर में मेरे साथ आनन्द से रह रहा था। एक दिन हम एकांत में बैठे थे तब मैंने कनकशेखर से पूछा—मैंने सुना है कि तुम्हारे पिता ने तुम्हारा अपमान किया जिससे तुम्हें अपना राज्य छोड़ कर यहाँ आना पड़ा। क्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैं जान सकता हूँ कि तुम्हारे पिताजी ने तुम्हारा कैसा अपमान किया और क्यों किया ? यह सारी घटना मैं सुनना चाहता हूँ।

कनकशेखर की पूर्ववार्ता : मुनि-दर्शन

कनकशेखर—सुनो, मेरे पिता कनकचूड और मेरी माता आम्रमंजरी मेरा बहुत प्रेमपूर्वक पालन करते थे और बचपन का लाभ उठाकर मैं कुशावर्त नगर में आनन्द करता था। एक दिन अपने मित्रों के साथ खेलते हुए मैं नन्दनवन के समान शमावह नामक उद्यान में पहुँचा। वहाँ साधुओं के ठहरने योग्य स्थान पर रक्त अशोक वृक्ष के नीचे * एक महाभाग्यशाली प्रशान्त मुनिश्रेष्ठ को बैठे देखा। वे क्षीर समुद्र जैसे गम्भीर, मेरु पर्वत जैसे स्थिर, सूर्य के समान तेजस्वी और स्फटिक रत्न जैसे निर्मल दिखाई दे रहे थे। उन्हें देखकर स्वतः ही मेरे हृदय में उनके प्रति भक्ति उत्पन्न हुई, जिससे मैं उनके पास गया, नमस्कार किया और शुद्ध जमीन देखकर उनके समक्ष बैठा। मेरे मित्र भी मुनि महाराज को नमस्कार कर मेरे पास ही विनय-पूर्वक बैठ गये। [१—६]

जिनशासन का सार

इन साधु महाराज का नाम दत्त था। अपना ध्यान पूरा कर उन्होंने हम सबको धर्मलाभ का आशीर्वाद दिया और मधुरवाणी में हमारे साथ वार्तालाप किया। उनके मधुर वचनों पर प्रीति उत्पन्न होने से मैंने उनसे नम्रता पूर्वक पूछा—'भगवन् ! आपके दर्शन में धर्म किस प्रकार का बताया गया है ?' मेरे प्रश्न को सुनकर उन मुनि महाराज ने हम सबको अपनी मधुर वाणी से आह्लादित करते हुए विस्तार पूर्वक जिनेश्वर भगवान् के धर्म का स्वरूप बतलाया। उसमें भी उन्होंने पहले साधु धर्म का और फिर विस्तार पूर्वक गृहस्थ धर्म का विवेचन किया। उन्होंने बतलाया कि श्रावक का धर्म कल्पवृक्ष जैसा है, सम्यक् दर्शन कल्पवृक्ष का मूल है, बारह व्रत स्कन्ध हैं, शम, संवेग, निर्वेद, आस्तिकता और अनुकम्पा शाखायें हैं और इसके फल महान् हैं। यह सुनकर उसी समय मैंने और मेरे मित्रों ने गृहस्थ धर्म स्वीकार किया। मुनि महाराज अन्यत्र कहीं विहार कर गये। फिर मैं भी घर आकर गृहस्थधर्म का पालन करने लगा। [७—१२]

मुझे गृहस्थ धर्म की दीक्षा देने वाले दत्त मुनि घूमते हुए थोड़े दिनों बाद पुनः मेरे नगर के समीप पधारे। धर्म प्राप्ति की तीव्र इच्छा से और अन्य श्रावकों की संगति से मैं धर्म के विषय में प्रवीण हो गया था। नगर के बाहर उद्यान में मैं महामुनि के पास गया, उनको वन्दना कर मैंने पूछा—भगवन् ! जैन शासन का सार क्या है ? उसका वास्तविक रहस्य क्या है ? उसे समझाने की कृपा करें। [१३—१४]

गुरु महाराज ने कहा—अहिंसा, ध्यानयोग, रागादि शत्रुओं पर अंकुश और स्वधर्मी बन्धुओं पर प्रेम, यह जैनागम का सार है [१५]

---

* पृष्ठ २३७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सार पर विचारणा

गुरुदेव का उत्तर सुनकर मुझे विचार हुआ कि मेरे जैसा प्राणी जो सर्व प्रकार की आरम्भ-समारम्भ की प्रवृत्ति करता है, उसका सर्व प्रकार की हिंसा से बचना तो दुष्कर ही है। फिर गुरु महाराज ने ध्यान योग की शिक्षा दी, पर मेरे जैसे विषय-वासना में लिप्त और अस्थिर मन वाले को ध्यान योग की साधना तो और भी कठिन लगी। फिर गुरुदेव ने रागादि शत्रुओं पर अंकुश लगाने की बात की, पर यह भी तत्त्वपरायण और प्रमाद रहित व्यक्ति ही साध सकते हैं, मेरे जैसों का रागादि पर विजय प्राप्त करना भी अशक्य है। फिर गुरुदेव ने अन्तिम शिक्षा स्वधर्मी बन्धुओं पर प्रेम रखने के लिये दी। वह शायद मेरे जैसे से पालन हो सकता है, ऐसा मुझे लगा। अतः मैंने निश्चय किया कि अपनी शक्ति के अनुसार मैं इस विषय में प्रयत्न करूंगा। क्योंकि, अपना हित चाहने वाले व्यक्ति को धर्म के सार को समझकर उसके अनुसार आचरण करना चाहिये। ऐसा विचार कर, गुरुदेव को वन्दना कर मेरे संवेग की वृद्धि करता हुआ मैं राज्य भवन में आया। [१६–२१]

स्वधर्मीवात्सल्य

मेरे पिता का मैं एकमात्र पुत्र होने से वे मुझे अपने जीवन से भी अधिक चाहते थे। मेरे पिता की मेरे पर बहुत कृपा थी अतः मेरी जो भी इच्छा होती उसे वे पूरी करते थे।* फिर भी मैं नीति और विनय के अनुसार कार्य करता, कभी भी शीघ्रता नहीं करता था। राजनियम के अनुसार एक दिन मैंने अपने पिताजी से नम्र निवेदन किया — पिताजी! जैन धर्मानुयायियों के प्रति हो सके इतना वात्सल्य करने की मेरी इच्छा है, अतः आप मुझे ऐसा करने की आज्ञा प्रदान करें।' मेरे साथ पिताजी भी जैन शासन के प्रति भद्रिक-भाव रखने वाले बन गये थे, अतः उन्हें मेरी प्रार्थना रुचिकर प्रतीत हुई। उन्होंने कहा –'वत्स! यह राज्य तेरा है, मेरा जीवन भी तेरे लिये ही है, तेरी जो इच्छा हो वह कर, मुझे पूछने की कोई आवश्यकता नहीं है।' पिताजी का ऐसा अनुकूल उत्तर सुनकर मेरा हृदय हर्ष से परिपूरित हो गया। मैंने उनका चरण स्पर्श किया और "आपकी बड़ी कृपा" ऐसा कहते हुए मन में बहुत प्रसन्न हुआ। उसके पश्चात् मेरे देश में नवकार मन्त्र को धारण करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह अन्त्यज (अछूत) या अन्य कोई भी हो, मैं अपना भाई मानने लगा और उनके प्रति अत्यन्त प्रेम पूर्ण व्यवहार करने लगा। उन्हें आवश्यकतानुसार खाद्य, वस्त्र, आभूषण, जवाहिरात और द्रव्य देकर साधर्मिकों की पूर्ति करने लगा। पुनश्च, सम्पूर्ण देश में मैंने घोषणा करवाई कि 'नमस्कार महामन्त्र का स्मरण और धारण करने वालों से किसी भी प्रकार का कर नहीं लिया जायगा, उनके लिये कर माफ किया जाता है।' घोषणा में मैंने इसका भी विशेष रूप से उल्लेख किया कि 'साधु मेरे परमात्मा, साध्वियाँ आराध्यतम परम देवियाँ और

* पृष्ठ २३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रावक मेरे गुरु हैं।' उसके पश्चात् तीर्थंकर महाराज के शासन के प्रति भक्ति-भाव प्रकट करने वाले को देखकर मेरी आँखे आनन्दाश्रु से भर जाती और मैं उनकी कई प्रकार से स्तुति करने लगता। जैन धर्म पालन करने वाले सज्जनों के साथ यात्रा करने में, स्नात्र महोत्सव करने में और बड़े-बड़े दान देने में मुझे अतिशय प्रमोद होने लगा। जो मौनीन्द्रमत में नवदीक्षित होते उनकी मैं भावना पूर्वक विशेष सेवा-पूजा करने लगा। मुझे धर्म-तत्पर देखकर अन्य लोग भी अधिकाधिक धर्मपरायण होने लगे। कहावत भी है कि 'जैसा राजा वैसो प्रजा' राजा के जैसी ही प्रजा भी बन जाती है। [२२-३५]

दुर्मुख मन्त्री की दुरभिसन्धि

अपनी बात आगे चलाते हुए कनकशेखर नन्दिवर्धन से कहता है कि 'मुझे इस प्रकार जैन शासन के प्रति विशेष रूप से अनुरागी देखकर दुर्मुख नामक एक मन्त्री मुझ से द्वेष करने लगा। यह दुरात्मा बहुत ही शठ (नीच) प्रकृति का और दम्भी था। एक दिन उसने पिताजी को एकान्त में लेजाकर कहा--महाराज! ऐसा लगता है कि इस प्रकार तो राज्य को चलाना अत्यधिक दुष्कर हो जायगा, क्योंकि कुमार ने तो प्रजा को बहुत ही उच्छृंखल बना दिया है। जब तक लोगों के सिर पर कर देने का भय होता है तब तक वे अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते, पर जब उन्हें कर-मुक्त कर दिया जाता है तब वे निरंकुश होकर समस्त अनर्थों के कारण बन जाते हैं। देव! जैसे उन्मार्ग पर चलने वाला निरंकुश हाथी अंकुश के भय से रास्ते पर आता है वैसे ही निरंकुश लोग दण्ड के भय से रास्ते पर आते हैं। जब लोग अपनी इच्छानुसार योग्य-अयोग्य प्रवृत्ति करते हैं और आर्य पुरुषों के अयोग्य कार्य कर उद्दण्ड हो जाते हैं तब राजा के प्रताप की हानि होती है और राजा लघुता (हीनता) को प्राप्त होता है। ❀ एक अन्य बात भी है, अभी जो बहुत से लोग जैन धर्मानुयायी बन गये हैं वे कुमार की कर-मुक्ति घोषणा का अनुचित लाभ उठाने के लिये ही जैन बने हैं, विचारवान मनुष्य तो इस प्रकार धर्म परिवर्तन एकाएक नहीं करते। अतः राजन्! जब लोगों को कर-मुक्ति कर दिया जाता है तो वे इच्छानुसार आचरण करने वाले बन जाते हैं। जब आपकी आज्ञा का कोई पालन न करे तब फिर आप कैसे राजा और कैसा राज्य? अतः हे देव! कुमार ने अभी जो असाधारण घोषणा करवाई है वह राजनीति की दृष्टि से मुझे तो ठीक नहीं लगती।' [३६-४४]

दुर्मुख की उपरोक्त बात सुनकर पिताजी ने उससे कहा--यदि ऐसा है तो तुम स्वयं कुमार से मिलकर इस विषय में उसे समझा दो, मैं स्वयं तो इस विषय में कुमार को कुछ भी कहने में असमर्थ हूँ [४५]

दुर्मुख की राजनीति

पिताजी की आज्ञा लेकर दुर्मुख मेरे पास आया और बोला—कुमार! आपने जो लोक-प्रशासन की नीति अपना रखी है वह राजनीति की दृष्टि से ऐसी

❀ पृष्ठ २३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है। कुमार! जैसे सूर्य अपने करों (किरणों) से संसार के तत्त्व को खींचकर, अपने तेज से भूमण्डल पर व्याप्त होकर सबसे ऊपर रहता है, वैसे ही सूर्य के समान राजा भी कर द्वारा जगत के तत्त्व को खींचकर, अपने प्रताप से पृथ्वी तल पर व्याप्त होकर लोगों का सिरमौर बनता है। जो राजा साधारण लोगों के अधीन हो जाता है, उसका कैसा राज्य? ऐसे निर्बल राजा की आज्ञा को कौन मानेगा? न्याय भी कैसे मिलेगा? जब राज्य की तरफ से दण्ड का भय चला जाता है तब लोग निरंकुश हो जाते हैं और अपनी इच्छानुसार बुरे मार्ग पर प्रवृत्ति करने लगते हैं। जो राजा कर और दण्ड द्वारा पहले से ही प्रजा को अनुशासन में नहीं रख सकता वह राज्य का संचालन नहीं कर सकता, अतः वास्तव में वह धर्म का नाश कर रहा है ऐसा ही समझना चाहिये। कुमार! आपने अभी जो नीति अपना रखी है उससे राजधर्म की हानि होती है, अतएव वास्तविकता को सोच समझकर आप जैसे को निरर्थक स्वधर्मी वात्सल्य दिखाना उचित नहीं है। [४६-५८]

कनकशेखर की नीति

दुर्मुख के ऐसे निकृष्ट विचार सुनकर मेरा मन क्रोध से विह्वल हो गया। फिर भी अपने क्रोध को छिपाकर मैंने उसे शांति से कहा - आर्य! यदि मैं किसी दुष्ट या नीच व्यक्ति का पूजा-सन्मान कर रहा हूँ तब तो आपका कथन उचित है, पर जिन लोगों के गुण इतने अधिक वृद्धि को प्राप्त हुए हैं कि जिससे वे देवताओं द्वारा भी पूजनीय बने हैं, उन्हें दान-मान और सन्मान देने के सम्बन्ध में ऐसे वचन बोलना उचित नहीं है। कारण यह है कि जैनेन्द्र मत का अनुसरण करने वाले लोग तो स्वभाव से ही चोरी, परस्त्री-गमन आदि सभी दुष्ट प्रवृत्तियों से बचे रहते हैं। जो बिना कहे ही सन्मार्ग पर चलते हैं, ऐसे महात्मा पुरुषों को दण्ड किस कारण से दिया जाय? जिसकी बुद्धि में ऐसे सत्पुरुषों को दण्ड देने के विचार उठते हैं, वास्तव में तो वे ही दण्ड के योग्य हैं। जिन प्राणियों का रक्षण करने की आवश्यकता हो, जिनकी सार सम्भाल आवश्यक हो, उनसे कर लिया जाय तो वह उचित है, पर जिनधर्मी तो अपने गुणों से स्वयं ही रक्षित हैं, अतः उन पर कर का बोझ लादना उचित नहीं है। ऐसे लोगों की तो स्वयं राजा और राज्य को सेवा करनी चाहिये, और मैं वही कर रहा हूँ। त्रैलोक्य के नाथ श्री तीर्थंकर भगवान् के जो सेवक हैं वे तो वास्तव में राजा ही हैं, और सब तो उनके सेवक हैं। अतः मैंने किस राजनीति का उल्लंघन किया है कि जिससे तुम्हें इतने कठोर शब्द कहने पड़े? मेरे धर्म-वात्सल्य के कार्य को मिथ्या और व्यर्थ बताकर तो तुमने सचमुच अपना दुर्मुख नाम सार्थक कर दिया है। [५२-६१]

दुर्मुख का प्रपंच जाल

मेरा उत्तर सुनकर दुर्मुख मेरा अभिप्राय समझ गया अतः उसने अपने मन में विचार किया कि, कुमार के मन में अर्हद् दर्शन के प्रति प्रगाढ अनुराग है।

पृष्ठ २४०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके मन पर इस दर्शन का अपरिवर्तनीय प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि मेरी बात सुनकर यह मुझ पर क्रोधित हो गया है। अब इस सम्बन्ध में अधिक कहकर इसे उत्तेजित (क्रोधाविष्ट) करना उपयुक्त नहीं है। राजा को तो मैंने पहले ही पट्टी पढा रखी है अतः मेरी जैसी इच्छा होगी वैसा करूँगा। अभी तो इसके कहे अनुसार ही करूँ।

अपने मन में इस प्रकार सोचते हुए प्रकट रूप में दुर्मुख ने कहा—धन्य! कुमार धन्य!! तुम्हारी सद्धर्म पर अटूट स्थिरता है इसमें सन्देह नहीं। तुम्हारी परीक्षा करने के लिये ही मैंने उपरोक्त बात कही थी। अब मुझे निश्चय हुआ कि धर्म में तुम्हारे मन की स्थिरता मेरुशिखर की स्थिरता को भी तिरस्कृत करने वाली है। आप मेरे वचन पर ध्यान न दें और उसे अन्यथा न समझें।

मैंने भी वैसा ही शुष्क उत्तर दिया, 'इसमें कहना ही क्या है आर्य! आपके जैसे अन्य कल्पना करें यह भी अशक्य है!' इतना सुनकर दुर्मुख मेरे पास से चला गया।

दुर्मुख के जाने के बाद मैंने सोचा कि दुर्मुख दुष्ट, शठ प्रकृति वाला, धूर्त और पापी है। इसकी वाणी और आचरण में कितनी सत्यता है यह नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि पहले इसने मेरे से बात की तब तो बहुत सोच-सोचकर बोल रहा था, मगर मेरा उत्तर सुनकर उसने शीघ्रता से बात बदल दी। अतः इसकी क्या इच्छा है यह जानना चाहिये। मेरे पास एक बहुत ही विश्वसनीय युक्ति सम्पन्न बुद्धिमान चतुर नामक लड़का था। मैंने उसे सब बात समझाकर जांच करने भेजा। कुछ दिन बाद वह वापस मेरे पास आकर बोला—'राजकुमार! आपके पास से जाकर मैंने अनेक प्रकार से दुर्मुख को मना कर उसके अंगरक्षक के रूप में नौकरी प्राप्त की और देखने लगा कि क्या हो रहा है?' दुर्मुख ने सब स्थानों से प्रमुख व्यक्तियों को बुलाकर कहा कि, 'अरे! यह कनकशेखर कुमार तो व्यर्थ ही मिथ्या-धर्म के आवेश में आकर भूत-प्रेरित की तरह राज्य का नाश करने पर तुला है। अतः अब से वह कुछ भी दान में दे तो वह दान की हुई वस्तु या धन और तुममें जो राज्य का कर बकाया हो वह भी गुप्त रूप से मुझे दे दिया करो। ध्यान रहे कि यह बात भूल से भी कुमार को मालूम नहीं होनी चाहिये। यदि ऐसा नहीं करोगे तो प्राण दण्ड दिया जायगा।' महामात्य दुर्मुख की इस आज्ञा को श्रावकों ने शिरोधार्य किया और मन्त्री के पास से बाहर निकले।

नन्दिवर्धन को अपनी बात सुनाते हुए कनकशेखर ने आगे कहा चतुर की बात सुनकर मैंने उससे पूछा कि, 'भद्र! क्या पिताजी को यह सब मालूम है?' चतुर ने कहा, 'हाँ, पिताजी को सब ज्ञात है।' मैंने फिर पूछा कि, 'पिताजी को यह सब कैसे विदित हुआ?' तब उसने कहा कि, 'पिताजी को दुर्मुख ने ही सब बता दिया है।' मैंने फिर पूछा कि, 'पिताजी ने यह सब सुनकर क्या किया?' तब चतुर ने कहा कि, 'यह सब जानकर भी पिताजी ने कुछ भी नहीं किया, केवल गजनिमीलिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के समान सुना-अनसुना कर दिया।' उस समय मैंने मन में विचार किया कि, 'यदि दुर्मुख पिताजी की आज्ञा के बिना ❀ ऐसी धृष्टता करता तब तो मैं उसे स्मरण रखने योग्य दण्ड देता। अन्य कोई व्यक्ति कोई कार्य करे और उसका निषेध नहीं किया जाय तो उसमें उसकी सम्मति ही मानी जाएगी। इस न्याय से पिताजी की जानकारी में सब कुछ होते हुए भी वे दुर्मुख को मना नहीं करते, इससे उनकी सम्मति स्पष्ट है। अब इस सम्बन्ध में मुझे क्या करना चाहिये ? क्योंकि भगवान् ने कहा है कि माता-पिता के उपकार का बदला चुकाना अति दुष्कर है, अतः पिताजी से विग्रह (लड़ाई) करना भी योग्य नहीं है। श्रावकों पर फिर से लगाये गये कर के बोझ और दण्ड को मैं सहन भी नहीं कर सकता हूँ, अतः मेरे लिये यहाँ से चला जाना ही श्रेयस्कर है।' यही सोचकर बिना किसी को सूचना दिये कुछ अन्तरंग मित्रों के साथ मैं यहाँ आ गया। भाई नन्दिवर्धन ! इस प्रकार पिताजी ने मेरा अपमान किया है, तुम समझ गये होगे।

❀

२०. विमलानना और रत्नवती

कनकशेखर की बात सुनकर मैंने उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए कहा— भाई ! जिन परिस्थितियों में तुम पड़ गये थे, उनमें तुम्हारा यहाँ आना ठीक ही हुआ। जो व्यक्ति अपने सन्मान को समझता है, वह कभी भी स्वाभिमान को ठेस पहुँचाने वालों के साथ नहीं रहेगा। कहा भी है कि "तेजोमय सूर्य जब तक अन्धकार को दूर कर सज्जनों के मन को प्रसन्न कर सकता है तभी तक आकाश में रहता है और जब वह अन्धकार को आते देखता है तब अन्य समुद्र में छिपकर समय की प्रतीक्षा करता है। [समय आने पर फिर अन्धकार को दूर कर पूरे वेग से आकाश में प्रकाशित होता है।"]

कनकशेखर को पुनः बुलाने मन्त्रियों को भेजना

मेरे उपरोक्त वचन सुनकर कनकशेखर बहुत सन्तुष्ट हुआ। इस प्रकार सब तरह के आनन्द-विनोद और बातचीत में दस दिन बीत गये। ग्यारहवें दिन हम दोनों मेरे महल में बैठे थे कि पिताजी का संदेश लेकर एक व्यक्ति आया और हमको प्रणाम कर कहा— महाराज ने आप दोनों राजकुमारों को शीघ्र अपने पास बुलाया है।' "जैसी पिताजी की आज्ञा" कहकर हम दोनों पिताजी से मिलने निकले। हमारे पिताजी के पास पहुँचने के पहले ही पिताजी के पास से सभा मण्डप में से तीन प्रधान पुरुष अतिशीघ्रता से बाहर आये। उनकी आँखों से हर्षाश्रु बह रहे थे जिनसे उनकी आँखे गीली हो रही थीं। उन्होंने कनकशेखर का चरण-स्पर्श

❀ पृष्ठ २४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया तब उसने आश्चर्य से कहा, 'अरे ! तुम कहाँ से ? सुमति, वरांग और केसरी अपने परिवार सहित यहाँ कैसे ?' कहते-कहते कनकशेखर ने स्नेह पूर्वक उन्हें उठाया और प्रेम से गले मिला। जब मैंने पूछा कि, 'कुमार ! ये कौन हैं ?' तब उसने बताया कि 'ये उसके पिताजी के महामात्य हैं।' एक दूसरे से मिलने के बाद हम सब राज सभा में आये और पिताजी के पास बैठे।

मन्त्रियों का निवेदन

फिर पिताजी ने कनकशेखर से कहा—कनकशेखर ! तुम्हारे पिताजी के मन्त्रियों ने मुझे जो कुछ कहा है, वह सुनो—वे कह रहे हैं कि तुम अपने पिताजी कनकचूड को कुछ भी कहे बिना घर से निकल गये। तुरन्त ही भृत्यों द्वारा उन्हें पता चला कि तुम महल में कहीं भी दिखाई नहीं देते तब मानो उन पर अकस्मात वज्र प्रहार होने से वे चूर-चूर हो गये हों, परवश हो गये हों. पागल हो गये हों, मूर्छित हो गये हों, इस प्रकार चेतना रहित हो गये। रानी आम्रमंजरी भी बहुत घबरायी और थोड़ी देर तो वह स्वय भी अचेतन (मूर्छित) हो गई। फिर राजसेवकों ने पंखा झला, चन्दन का लेप किया और कई प्रकार के उपचार किये तब उन्हें चेतना आयी। तब 'हा पुत्र ! तू कहाँ गया ?' * कहकर दोनों विलाप करने लगे। नौकर-चाकर और भाई-बन्धुओं के विलाप से पूरे राजमहल में हाहाकार मच गया। मंत्री-मण्डल ने मिलकर उस समय उन्हें धीरज बंधाया और कहा, 'महाराज ! इस प्रकार विलाप करने से तो कुमार मिलेगा नहीं। आप विषाद का त्याग करें, धीरज रखें और कुमार को ढूँढने का प्रयत्न करें।' राजा ने उनकी बात अनसुनी करदी और अधिक व्यथित एवं विह्वल हो गये।

राजा-रानी की ऐसी दशा देखकर कुमार के सेवक चतुर ने मन में विचार किया कि इनको शोकातिरेक से अधिक दुःख हो रहा है। यदि ऐसा ही अधिक समय तक चलता रहा तो इनके प्राण निकल जायेंगे। ऐसी दशा में अब मुझे उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। ऐसा सोचकर चतुर ने राजा के पांवों में गिरते हुए कहा—'कुमार किसी कारण से यहाँ से बाहर चले गये हैं पर वे जीवित हैं—यह निश्चित है।' इतना सुनते ही राजा को पुनः चेतना आई, तब उन्होंने चतुर से पूछा कि 'कुमार यहाँ से किसलिये और कहाँ गये ?' चतुर ने बताया कि 'कुमार ने यहाँ से जाने का कारण तो नहीं बताया है, किन्तु चातुर्य के कारण मैंने संकेत पा लिया है। मेरे विचार से वे जयस्थल नगर अपनी भुवा के यहाँ गये होंगे; क्योंकि नन्दादेवी (नन्दिवर्धन की माता) पर कुमार का बहुत प्रेम है और पद्मराजा पर भी बहुत प्रेम है। मेरा कुमार से अधिक परिचय होने से मैं इतना कह सकता हूँ कि मेरा अनुमान ठीक ही होगा; क्योंकि यहाँ से जाकर यदि उनके मन को कहीं संतोष प्राप्त हो सकता है तो वह नन्दादेवी के राज्य में ही हो सकता है, अन्यत्र कहीं नहीं।' राजा ने चतुर

* पृष्ठ २४२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की भूरी-भूरी प्रशंसा की और उसे पारितोषिक में महादान दिया। जाँच करने पर राजा को मालूम हुआ कि इस सब अनर्थ का कारण दुर्मुख मंत्री ही है, अतः उसे कुटुम्ब सहित देश निकाला दे दिया। उसी समय कनकचूड राजा और आम्रमंजरी रानी ने प्रतिज्ञा की कि जब तक वे कुमार का मुँह नहीं देखेंगे तब तक आहार ग्रहण नहीं करेंगे, स्नान नहीं करेंगे और शृंगार आदि शरीर-संस्कार नहीं करेंगे।

विशाला से दूत का आगमन : प्रयोजन

इधर उसी दिन वहाँ एक दूत आया जिसने कनकचूड राजा को विधि-पूर्वक नमस्कार आदि कर निवेदन किया—'देव! विशाला नगरी में राजा नन्दन राज्य करते हैं। उनके प्रभावती और पद्मावती दो रानियां हैं। इन दोनों रानियों से उत्पन्न विमलानना और रत्नवती नामक दो पुत्रियाँ हैं। इधर रानी प्रभावती का भाई प्रभाकर कनकपुर का राजा है जिसके बुधसुन्दरी नामक रानी है। उनके विभाकर नामक पुत्र है। विमलानना और विभाकर के जन्म के पहले ही प्रभाकर और प्रभावती बचनबद्ध हुए थे कि हम दोनों में से किसी एक को लड़का और दूसरे को लड़की होगी तो हम उन दोनों का विवाह आपस में कर देंगे। इस प्रतिज्ञा के अनुसार विमलानना की जन्म के पहले ही विभाकर से सगाई हो गई थी। विमलानना ने एक बार भाट लोगों से कुमार कनकशेखर की निर्मल यशोगाथा सुनी; जिसे सुनकर विमलानना कुमार पर पूर्णतया अनुरागवती हो गई; जिससे वह यूथ से बिछुड़ी हरिणी, चकवे से दूर हुई चकवी, स्वर्ग से * च्युत देवांगना, मानसरोवर की अति उत्कंठित दूर रही हुई कलहंसी और जुआ खेलने वाली साधनहीन स्त्री के समान शून्यहृदया होकर चुपचुप रहने लगी। अब वह न वीणा बजाती है, न गेंद खेलती है, न मेंहदी लगाती है, न चित्रकारी करती है, न अन्य किसी भी कला में रुचि दिखाती है, न शृंगार करती है, कोई कुछ पूछे तो उत्तर भी नहीं देती है, दिन-रात का भी उसे ध्यान नहीं है और योगिनी की तरह आँख की पुतली को हिलाये-चलाये बिना निरालम्ब होकर किसी के ध्यान में निश्चल बैठी रहती है। उसकी यह दशा देखकर राज-परिवार के परिजन घबरा गये, पर समझ न सके कि एकाएक उसके आचरण में इतना अंतर क्यों आ गया? रत्नवती उसकी अतिप्रिय होने के कारण सर्वदा उसके पास ही रहती थी। उसे विचार करते-करते ध्यान में आया कि, अरे! कुमार कनकशेखर का नाम सुनने के बाद ही एकाएक विमलानना की ऐसी स्थिति हुई है, अतः यह निश्चित है कि कनकशेखर ने मेरी इस बहिन का मन चुराया है। इसलिये अवसर देखकर पिताजी नन्दराजा को इस विषय में बता देना चाहिये, जिससे इसके चित्त को चुराने वाले को पकड़ कर इसके साथ बाँध दिया जाय। यह सोचकर उसने सब बात नन्दराजा को बताई। पिताजी ने सोचा

* पृष्ठ २४३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि 'इसकी माँ प्रभावती ने तो इसके जन्म के पहले से ही इसकी सगाई विभाकर से कर दी है, पर अभी यदि मैं इस सम्बन्ध में कुछ न करूं तो लड़की के प्राण मुश्किल से बचेंगे। अतः इसे शीघ्र ही कनकशेखर के पास पहुँचा देना चाहिये। यह स्वयं कनकशेखर का वरण कर लेगी। इस अवस्था में अधिक समय बिताना उचित नहीं है। कार्य समाप्ति के पश्चात् तो विभाकर को सम्भाल लेंगे।' यह सोचकर पिताजी विमलानना के पास आकर बोले—'पुत्री! धैर्य रख, शोक न कर, तू कुशावर्त नगर में कनकशेखर के पास जा।' इस प्रकार मधुर शब्दों में धैर्य बंधाकर नन्दराजा ने उसे परिजनों के साथ कुशावर्त भेजने की आज्ञा दी। उस समय विमलानना की बहिन रत्नवती ने पिताजी के कहा 'पिताजी! मैं अपनी बहिन विमलानना के बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती। अतः यदि आप आज्ञा दें तो मैं भी बहिन के साथ जाऊं। मैं इतना वचन अवश्य देती हूँ कि मैं कनकशेखर से विवाह करने और बहिन की सौत बनने का प्रयत्न कदापि नहीं करूंगी। स्त्रियों में आपस में कितना भी प्रेम क्यों न हो, पर यदि वे एक दूसरे की सौत बन जाय तो स्नेह बन्धन अवश्य ही टूट जाता है। अतः मैं विमलानना के पति के किसी प्यारे मित्र की पत्नी बनूंगी।' रत्नवती के विचार सुनकर राजा ने कहा—'पुत्री! जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर। मुझे विश्वास है कि मेरी पुत्री स्वयमेव कभी भी अनुचित कार्य नहीं करेगी।' रत्नवती ने पिता की शिक्षा को शिरोधार्य किया और वह भी विमलानना के साथ चल पड़ी। महाराज! वहाँ से रात-दिन प्रवास कर विमलानना और रत्नवती यहाँ पहुँच गई हैं और नगर के बाहर बगीचे में ठहरी हुई हैं। यह वृत्तान्त निवेदन करने के लिए उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है। अब आप जैसा उचित समझें वैसी आज्ञा प्रदान करें।

महाराजा कनकचूड ने जब यह बात सुनी तब उन्हें एक ओर अत्यधिक प्रसन्नता और दूसरी ओर गहन विषाद हुआ। फिर उन्होंने चार प्रधानों में से शूरसेन को आज्ञा दी कि आई हुई कन्याओं के ठहरने का समुचित प्रबन्ध करे और उनकी योग्य खातिरदारी करें। पश्चात् हमें (सुमति, वरांग, केशरी तीनों प्रधानों को) बुलाकर कहा—'अरे प्रधानों! देखो, नन्दराजा की दोनों पुत्रियाँ कुमार और उसके मित्र के साथ पाणिग्रहण करने आई हुई हैं, यह हमारे लिए बहुत ही आनन्द की बात है पर अभी कनकशेखर कुमार के विरह के कारण यह बात हमें अग्नि में घी डालने और जले पर नमक छिड़कने के समान लगती है। अतः तुम तीनों जयस्थल नगर जाओ! मुझे विश्वास है कि कुमार वहीं गया है। तुम मेरे जीजाजी पद्मराज नृपति को मेरी दशा और यहाँ आई कन्याओं के सम्बन्ध में बताना। मुझे विश्वास है कि दोनों कारणों को समझ कर जीजाजी कनकशेखर को शीघ्र ही यहाँ भेज देंगे। जीजाजी की आज्ञा लेकर उनके पुत्र नन्दिवर्धन को भी साथ लेते आना,

---

पृष्ठ २४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि मेरे विचार से रत्नवती के योग्य वर वही हो सकता है।' राजा की आज्ञा को शिरोधार्य कर हम यहाँ आये हैं।

कुमार कनकशेखर! तुम्हारे पिताजी के तीनों प्रधानों ने अपनी सारी बात हमें सुनादी है, अतः अब तुम्हें शीघ्र ही यहाँ से जाना चाहिये। यद्यपि तुम्हारे जाने से हमें विरह होगा जिसे हम सहन नहीं कर सकेंगे तथापि वहाँ जाने के पक्ष में प्रबल कारण होने से और तुम्हारे पिताजी की अवस्था गंभीर होने से हमें खेद पूर्वक निर्देश देना पड़ता है कि तनिक भी समय गंवाये बिना शीघ्र कुशावर्त पहुँचकर तुम दोनों को राजा कनकचूड के मन को हर्षित करना चाहिये।

दोनों कुमारों का प्रयाण

पिताजी की आज्ञा सुनकर मैं (नन्दिवर्धन) बहुत प्रसन्न हुआ कि पिताजी ने मनोनुकूल आज्ञा प्रदान की है। चलो, हम दोनों का वियोग तो नहीं होगा। यह सोचकर मैंने और कनकशेखर ने कहा—'तात! जैसी आपकी आज्ञा।' पिताजी ने उसी समय सानन्द प्रयाण योग्य चतुरंगी सेना को तैयार करने की आज्ञा दी, उसके लिये प्रधान पुरुषों की नियुक्ति की, प्रयाण योग्य उचित मंगल का विधान कर हम दोनों को विदा किया। उस समय मेरे अन्तरंग परिजनों के मध्य में मित्र वैश्वानर ने भी मेरे साथ ही प्रयाण किया और पुण्योदय मित्र ने भी गुप्तरूप से साथ ही प्रयाण किया। इस प्रकार चलते-चलते हमने कितना ही रास्ता पार कर लिया।

❀

२१ : रौद्रचित्त नगर में हिंसा से लग्न

रौद्रचित्त नगर

चलते-चलते हम लोग रौद्रचित्त नगर में आ पहुँचे। इस नगर का अन्तरंग चोरों की पल्ली (बस्ती) जैसा है। यह दुष्ट लोगों का निवास स्थान और अनर्थ रूपी वैतालों की जन्मभूमि है और नरक का द्वार तथा संपूर्ण संसार में संताप का कारण है। यथा—

किसी का सिर काट देना, छुरा भोंक देना, यंत्र में पील देना, मार देना आदि संतापकारक घोर भाव इस रौद्रचित्त नगर के लोगों में सर्वदा रहते हैं, इसीलिये इसे दुष्टों का निवास स्थान कहा गया है। [१–२]

कलह की वृद्धि, प्रीति का विच्छेद, वैर की परम्परागत बढोतरी, माँ-बाप और बच्चों आदि को मारने में निष्ठुरता, आदि अनेक अवर्णनीय क्षोभरहित अनर्थकारी कार्य इस नगर में होते ही रहते हैं, इसीलिये इस पत्तन को अनर्थ रूपी वैतालों की जन्मभूमि कहा है। [३–५]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसे नरक का द्वार कहने का कारण यह है कि अपने पाप के बोझ से जिन लोगों को नरक में जाना होता है, ❀ वे ही पहले इस अधम नगर में प्रवेश करते हैं। निर्मल मन वाले प्राणी तो इसी से समझ जाते हैं कि यह नरक में प्रवेश का मार्ग है। इसी से इसे नरक का द्वार और नरक का कारण कहा गया है [६-७]

इस नगर में क्लिष्ट कर्म (अत्यन्त अधम कार्य) करने वाले प्राणी रहते हैं। वे अपने शरीर के लिये स्वयं ही भयंकर दुःख उत्पन्न कर लेते हैं और दूसरे प्राणियों को भी अनेक प्रकार के दुःख देते हैं। इसी से इसे सम्पूर्ण संसार के संताप का कारण कहा है। अधिक क्या कहें? त्रिभुवन में भी रौद्रचित्तपुर जैसा निकृष्टतम दूसरा नगर नहीं है [८-१०]

दुरभिसन्धि राजा

इस नगर में चोरों को एकत्रित करने वाला, शिष्ट लोगों का परम शत्रु, स्वभाव से ही विपरीत प्रकृति वाला और नीति का लोप करने वाला लगभग चोर जैसा ही दुष्टाभिसन्धि नाम का राजा राज्य करता है।

इस संसार में मान, उग्र क्रोध, अहंकार, दुष्टता, लम्पटता आदि जितने भी अन्तरंग राज्य के बड़े-बड़े चोर हैं, वे सब इस राजा की सेवा में रहते हैं। इस प्रकार अन्तरंग राज्य के चोरों का आश्रय-स्थान और पोषक होने से उसे चोरों को एकत्रित करने वाला कहा गया। [१-२]

सत्य, बाह्याभ्यन्तर पवित्रता, तप, ज्ञान, इन्द्रिय-संयम, प्रशम आदि इस लोक में श्रेष्ठ प्रवृत्ति वाले जितने भी सदाचारी लोग हैं, उन सबको मूल से उखाड़ फेंकने के काम में यह राजा निरंतर तत्पर रहता है। इसी से इसको शिष्ट लोगों का परम शत्रु कहा गया है। [३-४]

प्राणियों ने करोड़ों वर्षों तक विशेष प्रयत्न द्वारा जो कुछ भी धर्मध्यान रूपी धर्मधन एकत्रित किया हो, शुभ परिणाम प्राप्त किये हों उन सब को यह राजा अत्यन्त निर्दयता से एक क्षण में जला देता है। और, सरल लोग इसे संतुष्ट करने, इसकी इच्छाओं को पूरा करने का कोई उपाय नहीं कर सकते, इसी से इसे स्वभाव से ही विपरीत प्रकृति वाला कहा गया है। [५-६]

इस लोक में जब तक दुष्टाभिसन्धि राजा बीच में पड़कर नीति का विघटन नहीं करता तभी तक दुनिया में नीति चलती है, परन्तु जब यह प्रकट होता है तब नीति और धर्म कहीं जाकर छुप जाते हैं, इसीलिये बुद्धिमान अनुभवियों ने इसे नीति का लोप करने वाला कहा है। [७-८]

निष्करुणता रानी

दूसरों की वेदना को नहीं समझने वाली, पाप के रास्तों में कुशल, चोरों

❀ पृष्ठ २४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर प्रेम रखने वाली, पति की अनुरागिणी और पूतना जैसी निर्दय निष्करुणता नामक इस राजा की महारानी है।

दुष्टाभिसन्धि राजा लोगों को भिन्न-भिन्न प्रकार के कष्ट देता रहता है उस समय कष्ट पाते दयनीय लोगों को देखकर उन पर दया लाने के बदले यह रानी मुक्त हास्य पूर्वक हँसती है और प्रसन्न होकर गाढतर दुःखों को उत्पन्न करती है। इसीलिये इसे दूसरों की वेदना नहीं समझने वाली कहा है। [१-२]

आँखें फोड़ देना, शिरोच्छेद कर देना, नाक कान काट देना, चमड़ी उतार देना, हाथ-पांव तोड़ देना, खदिर की लकड़ी के समान शरीर को पीटना आदि प्राणियों को पीड़ा देने के सभी उपायों में यह रानी अत्यन्त चतुर है। इसीलिये इस निष्करुणता रानी को पाप के रास्तों में कुशल कहा है। [३-४]

सम्पूर्ण संसार को सन्ताप देने वाले, परद्रोह ❀ आदि अधम चेष्टायें करने वाले दुष्ट और नीच लोग जो इस नगर में रहते हैं, उन सब पर इस महारानी का प्रगाढ प्रेम है और उन्हें वह अपने विशेष अनुचर के रूप में नियुक्त करती है। इसीलिये इसे चोर-वृन्द पर प्रेम रखने वाली कहा है। [५-६]

अपने पति में अनुरक्त यह रानी दुष्टाभिसन्धि राजा को परमात्मा के समान मानती है और रातदिन उसकी सेवा शुश्रूषा करने में तत्पर रहती है। उसके शरीर को या उसका साथ वह कभी नहीं छोड़ती और उसके बल को संचय कर बढाती है। इसीलिये उसे पति की अनुरागिणी कहा गया है। [७-८]

हिंसा पुत्री

निष्करुणता रानी के एक हिंसा नामक पुत्री है जो रौद्रचित्तपुर की निकृष्टतम समृद्धि की अभिवृद्धि करने वाली, नगर निवासियों की अत्यन्त वल्लभा, माता-पिता के प्रति विनीता और स्वरूप से अतिभीषण आकृति वाली है, मानो वह साक्षात कालकूट विष से निर्मित हुई हो।

जब से इस पुत्री का राजभवन में जन्म हुआ है तब से रौद्रचित्त नगर समस्त प्रकार से समृद्ध हुआ है और राजा-रानी के शरीर भी पुष्ट हुए हैं। इसीलिये इस हिंसा कन्या को इस रौद्रचित्तपुर की निष्कृष्टतम समृद्धि की अभिवृद्धि करने वाली कहा गया गया है। [१-२]

ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर, क्रोध, अशांति आदि बड़े-बड़े प्रसिद्ध कीर्ति वाले इस नगर के प्रधान नागरिक हैं, उन्हें यह हिंसा अत्यधिक आनन्द देने वाली है। यह एक की गोद में उठकर दूसरे की गोद में बैठ जाती, एक के हाथ से दूसरे के हाथ में चली जाती तब लोग उसका चुम्बन करते। इस प्रकार यह हिंसा स्वेच्छाचारिणी के रूप में नगर में घूमती रहती है। इसीलिये इसे नगर निवासियों की अत्यन्त वल्लभा कहा गया है। [३-५]

❀ पृष्ठ २४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह दुष्टाभिसन्धि राजा की आज्ञा का कभी अनादर नहीं करती और निष्करुणता माता की आज्ञा का भी बराबर पालन करती है।

अपने माता-पिता की सेवा शुश्रूषा करने में सर्वदा तत्पर रहती है। इसी-लिये इसे माता-पिता के प्रति विनीता कहा गया है। [६-७]

इस हिंसा पुत्री को स्वरूप से अतिभीषण आकृति वाला क्यों कहा है? उसका कारण सुनो—

इस पुत्री का नाम ही इतना भयंकर है कि जिसे सुनने मात्र से लोगों के मन में भय और कम्पकंपी छूट जाती है तब उसे साक्षात देखने पर तो वह कितनी बीभत्स और डरावनी लगती होगी, इसकी कल्पना आप स्वयं करें। यह हिंसा अपना शिर नीचे झुकाकर, जोर से धक्का मार कर प्राणी को नरक के महा भयंकर गहन खड्डे में गिरा देती है। यह सर्व प्रकार के पाप की मूल, समग्र प्रकार से सर्व धर्म का नाश करने वाली और अंतरंग को उत्तप्त करने वाली है। शास्त्रकारों ने बारंबार इसकी निंदा की है। अधिक क्या कहें? संक्षेप में भयंकर आकृति वाली इस हिंसा पुत्री जैसी रौद्रतम अन्य कोई स्त्री इस संसार में नहीं है। [८-१२]

तामसचित्त का परिवार

इधर एक तामसचित्त नामक अन्य अन्तरंग नगर है। वहाँ राजा महामोह के पुत्र द्वेषगजेन्द्र नामक राजा रहते हैं। पहले मैंने बताया है कि मेरा अन्तरंग मित्र वैश्वानर अविवेकिता नामक ब्राह्मणी का पुत्र है। यह ब्राह्मणी द्वेषगजेन्द्र की पत्नी है, अतः वैश्वानर द्वेषगजेन्द्र का पुत्र हुआ। ❀ मेरा मित्र वैश्वानर जब इस अविवेकिता के गर्भ में था तभी किसी कारण से वह तामसचित्त नगर को छोड़कर इस रौद्रचित्त नगर में आ गई थी। यह तामसचित्त नगर कैसा है? द्वेषगजेन्द्र राजा कैसा है? और अविवेकिता रानी कैसी है? तथा वह तामसचित्त नगर से रौद्रचित्त में क्यों आई? इत्यादि के सम्बन्ध में आगे वर्णन करूंगा। भद्रे अगृहीतसंकेता! उस समय मुझे इन सब घटनाओं की गन्ध भी प्राप्त नहीं हुई थी। महापुरुष सदागम की कृपा से मुझे अभी-अभी यह सब घटना मालूम हुई है वह तुम्हें बताता हूँ।

नन्दिवर्धन का हिंसा के साथ विवाह

यह अविवेकिता कुछ समय तक रौद्रचित्त नगर में आकर रही। वहाँ उसका दुष्टाभिसन्धि राजा से गाढ परिचय हुआ। यह दुष्टाभिसन्धि पल्ली-पति अविवेकिता के पति द्वेषगजेन्द्र का निकट सम्बन्धी था, अतः वह अविवेकिता रानी के प्रति दास की तरह व्यवहार करता था। जब अविवेकिता को यह पता लगा कि मैं मनुजगति नगर में आया हूँ तब मुझ पर स्नेह वश वह रौद्रचित्त नगर से निकलकर

❀ पृष्ठ २४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरे पास मनुजगति नगर में आ गई और जिस दिन मेरा जन्म हुआ उसी दिन उसने वैश्वानर पुत्र को जन्म दिया। जैसे-जैसे मैं बड़ा हुआ वैसे वैसे ही वैश्वानर भी बड़ा हुआ। जब वैश्वानर समझदार हो गया तब अविवेकिता ने उसे सब समझा दिया कि कौन-कौन उसके आत्मीय स्वजन सम्बन्धी हैं।

हम कुशावर्त जाने के लिये चलते हुए जब रौद्रचित्त नगर पहुँचे तब मेरे प्रिय मित्र वैश्वानर के मन में ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई कि इस नन्दिवर्धन कुमार को रौद्रचित्त नगर में ले जाऊं और प्रयत्न कर दुष्टाभिसन्धि राजा को समझा कर उनकी पुत्री हिंसा का लग्न मेरे मित्र के साथ करवादूँ। यदि इन दोनों का विवाह हो जाय तो मेरे सोचे हुए सब काम सिद्ध हो जायेंगे। यह सोचकर उसने मुझ से कहा—'चलो हम रौद्रचित्त नगर चलते हैं।' मैंने कहा—'ठीक है चलेंगे, परन्तु कनकशेखर आदि को साथ लेकर चलेंगे।' वैश्वनर ने कहा—'कुमार! वे इस नगर में प्रवेश नहीं कर सकेंगे, क्योंकि रौद्रचित्त नगर अन्तरंग का नगर है, अतः वहाँ तू तेरे सगे सम्बन्धियों से रहित होकर अकेला ही मेरे सहयोग से प्रवेश कर सकता है,' उसके यह वचन मैंने सुने। उसके वचन मेरे लिये अनुल्लंघनीय थे, क्योंकि उसका मेरे प्रति प्रगाढ स्नेह होने से, अज्ञान में डूबी हुई चित्त की विकलता से, यह मेरा वास्तविक शत्रु है इसका विचार/ज्ञान न होने से, स्वयं की आत्मा के हिताहित की दृष्टि न होने से और आगामी काल में होने वाली अनर्थ-परम्परा से अज्ञात होने के कारण हे अगृहीत-संकेता! मैं मेरे मित्र वैश्वानर के साथ रौद्रचित्त नगर गया। वहाँ के राजा दुष्टाभिसन्धि को मैंने देखा। मेरे मित्र ने राजा से उनकी कन्या हिंसा के साथ मेरे विवाह की बात की और हम दोनों का विवाह सम्पन्न हुआ। लग्न के योग्य सभी क्रियाओं को वहाँ किया गया।

वैश्वानर की शिक्षा

इस प्रकार दुष्टाभिसन्धि राजा ने अपनी पुत्री का विवाह मेरे साथ कर मुझे विदाई दी। वैश्वानर और हिंसा को साथ लेकर मैं वहाँ से चलकर कनकशेखर और अपनी सेना के पास वापस आया। रास्ते में प्रसन्न होकर वैश्वानर मुझ से बातचीत करने लगा।

श्वानर—मित्र नंदिवर्धवन! आज मैं सचमुच भाग्यशाली हूँ।

नन्दिवर्धन—वह किस प्रकार?

वैश्वानर—तूने इस हिंसा देवी से शादी की यह बहुत अच्छा हुआ।* अब मेरी एक ही प्रार्थना है कि तू इस प्रकार व्यवहार कर कि जिससे वह तेरे प्रति अत्यधिक अनुरागवती बन जाय।

नन्दिवर्धन—यह मेरे प्रति अधिक अनुरक्त रहे इसका क्या उपाय है?

---

*पृष्ठ २४८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैश्वानर—किसी भी प्राणी ने किंचित् भी अपराध किया हो, या न किया हो उसे बिना विचारे, बिना दया किये मार देने पर ही यह हिंसा देवी तुम पर अधिक अनुरागिणी हो सकती है।

नंदिवर्धन—यदि हिंसादेवी मुझ पर अधिक अनुरागवती हो तो उसका परिणाम क्या होगा ?

वैश्वानर—भाई नंदिवर्धन ! मेरे से भी इसका प्रभाव तो अत्यधिक है। जब मैं किसी पुरुष में प्रवेश करता हूँ तब वह अत्यन्त तेजस्वी बन जाता है और प्राणियों को त्रास मात्र दे सकता है। परन्तु, जब हिंसा किसी प्राणी पर आसक्त हो जाती है तब उसके प्रभाव से उसके दर्शन मात्र से विपक्षो के प्राणों का नाश हो हो जाता है, अतः यह तेरे पर अधिक अनुरागवती हो ऐसे उपाय कर।

नन्दिवर्धन—'ठीक, मैं ऐसा ही करूंगा।

वैश्वानर—बड़ी कृपा।

उसके पश्चात् रास्ते चलते हुए जंगल में रहने वाले खरगोश, हिरण, सियाल, सूअर, सांरग आदि हजारां पशुओं को मैंने बिना प्रयोजन ही मार डाला। अपने मित्र वैश्वानर की शिक्षा को पूरा करने के लिये ही मैं ऐसा करता था। ऐसा करने से मेरी नवपरिणीता पत्नी हिंसा देवी मुझ पर बहुत प्रसन्न हुई और मुझ पर पूर्ण अनुरागमयी हुई। अन्त में मेरी यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढी कि मुझे देखकर ही प्राणी-मात्रत्रास से कांपने लगे और किसी-किसी जीव के तो प्राण मुझे देखने मात्र से निकलने लगे। मेरे मित्र वैश्वानर ने मुझे हिंसा का जो प्रभाव बताया था कि दर्शन-मात्र से अन्य प्राणी के प्राण निकल जायेंगे, उस पर अब मुझे विश्वास हो गया।

❀

२२ : अंबरीष युद्ध और लग्न

अम्बरीष जाति के डाकू

कनकशेखर और मैं (नन्दिवर्धन) सेना के साथ चलते हुए कनकचूड की राजधानी कुशावर्तपुर की सीमा के समीप पहुँच गये। वहाँ एक विषमकूट पर्वत था। इस पर्वत पर महाराज कनकचूड के राज्य में बड़े-बड़े उपद्रव करने वाले अम्बरीष जाति के डाकू रहते थे। इन डाकुओं ने पहले भी राजा कनकचूड के प्रजाजनों को बहुत त्रास दिया था। ये डाकू इस राज्य से बहुत शत्रुता रखते थे और उसे क्रियान्वित करने के प्रसंग ढूंढते रहते थे। जब उन्हें समाचार मिले कि शत्रु कनकचूड राजा का बड़ा राजकुमार कनकशेखर इस रास्ते से होकर कुशावर्तपुर जा रहा है, तो वे तुरन्त ही रास्ता रोककर बैठ गये। हमारी और डाकुओं की सेना जब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निकट आई तब डाकुओं की सेना हम पर टट पड़ी और डाकुओं तथा हमारी सेना में घमासान युद्ध शुरु हो गया।

भयंकर युद्ध : डाकुओं की पराजय

एक के बाद एक आ रहे तीरों की बौछार से विद्ध हाथियों के कुम्भस्थल से निकलते श्वेत मोतियों से जमीन ढंक गई। वह भयंकर युद्ध-भूमि बड़े तालाब जैसी लग रही थी और उसमें बीर यौद्धाओं के कटे सिर रक्त कमल जैसे लग रहे थे। रक्त से लाल भरे हुए पानी में मानों दण्ड और छत्र ऐसे तैर रहे थे जैसे हस तैर रहे हों।

लुटेरों की सेना अधिक संख्या में होने से ऐसी स्थिति आ गई कि कनकशेखर और मेरी सेना हारने के कगार पर पहुँच गई। उसी समय लुटेरों के पल्लीपति प्रवरसेन के साथ मेरा युद्ध प्रारम्भ हुआ। उस समय मेरे मित्र वैश्वानर ने दूर से ही मुझे संकेत किया जिसे समझ कर मैंने क्रूरचित्त नामक एक बड़ा खा लिया, जिससे मेरे शरीर में क्रोध का आवेग बढ गया, ललाट पर सल पड़ गये और शरीर पसीने से तरबतर होकर क्रोधाग्नि भभक उठी। प्रवरसेन धनुर्विद्या (तीर चलाने) में अत्यन्त कुशल था, तलवार चलाने में भी प्रबल साहसी और सिद्धहस्त था और समस्त प्रकार के अस्त्रों के प्रयोग को कला में भी निपुण था। * वह शस्त्र-विद्या में प्रवीण होने से गर्वोन्मत्त और देवता का कृपापात्र होने से प्रबल पराक्रमी था, तथापि मेरे पास मेरा मित्र पुण्योदय भी होने से एवं उसके माहात्म्य से वह मेरी ओर कितने भी तीर फैंकता किन्तु उनमें से एक भी मुझे नहीं लगता, उसके द्वारा प्रक्षिप्त शस्त्रास्त्रों का भी मेरे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उसके मंत्रित शस्त्रों का भी मेरे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। न तो उसकी शस्त्र-विद्या और न उसके द्वारा मंत्रशक्ति से आमंत्रित देवता ही मेरा कुछ बिगाड़ सके। मेरे मित्र पुण्योदय का ऐसा प्रभाव था, किन्तु मैं तो यही मानता था कि, अहो! यह सब मेरे मित्र वैश्वानर और उसके बड़े का प्रभाव है। देखो न, उसको दृष्टि मात्र से मेरे शत्रु मेरी ओर आँख उठाने की भी हिम्मत नहीं कर सकते। उस समय तक मुझ पर वैश्वानर के बड़े का पूर्ण प्रभाव हो चुका था, परिणामस्वरूप प्रवरसेन का धनुष टूट गया, उसके दूसरे सब शस्त्र नष्ट हो गये और वह अपने हाथ में लपलपाती तलवार लेकर रथ से उतरा और मेरे सामने आया।

उस वक्त मेरी नवपरिणीता पत्नी हिंसा देवी ने जो मेरे पास में ही बैठी थी, मेरी ओर देखा, जिससे मेरे मनोभाव घोर भयंकर/रौद्र हो गये और मैंने अर्धचन्द्र बांण को कान तक खींचकर प्रवरसेन पर छोड़ा, जिससे सामने से आते हुए प्रवरसेन का सिर उड़ गया। उस समय हमारी सेना में विजयोल्लास से हर्षध्वनि फैल गई। देवताओं ने आकाश से मुझ पर पुष्पवृष्टि की, सुगन्धि जल की वृष्टि की, देव दुंदुभि

---

* पृष्ठ २४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बजाई और जय-जयकार करने लगे। अपने सेनापति प्रवरसेन के मारे जाने से डाकुओं की सेना में निराशा फैल गई और युद्ध को बन्द कर सारी सेना मेरी शरण में आ गई। मैंने भी उनकी शरणागति स्वीकार की। युद्ध समाप्त हुआ, शांति हुई और सभी डाकुओं ने मेरी सेवा (नौकरी) स्वीकार की।

उस समय मैंने अपने मन में विचार किया कि, अहो! हिंसादेवी की शक्ति तो अचिन्त्य प्रकर्ष प्रभाव वाली है। देखिये ना, इसने मेरी तरफ मात्र दृष्टि की जिससे सारा कार्य इतना सरल हो गया और मेरा यश इतना बढ गया कि कनकशेखर ने भी मेरे इन नूतन सेवकों का सन्मान किया। पश्चात् हमने विषमकूट पर्वत से आगे प्रयाण किया और अनुक्रम से कुशावर्तपुर पहुँच गये।

विमलनना और रत्नवती का लग्न

कनकचूड राजा अपने पुत्र कनकशेखर के वापस लौटने के समाचर सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और साथ में मुझे देखकर उन्हें अत्यधिक संतोष हुआ। अपने आनन्द को प्रकट करने के लिये राजा ने महोत्सव किया जिसमें अपने सम्बन्धियों का योग्य सन्मान किया।

विमलानना और रत्नवती के विवाह के लिये शुभ दिन निश्चित किया गया। उस दिन लग्न के योग्य सब क्रियाएं पूर्ण की गई, बड़े-बड़े दान दिये गये, आगन्तुक लोगों का योग्य सन्मान किया गया, विभिन्न कुलाचार किये गये पूजनीय सज्जन पुरुषों की योग्य सेवा की गई। सारे शहर में खाने, पीने, गाने-बजाने और आनन्द मनाने की प्रवृतियाँ चल रही थी। ऐसे आनन्दोत्सव के बीच विमलानना का कनकशेखर से और मेरा रत्नवती से विवाह सम्पन्न हुआ।

❀

२३. विभाकर से महायुद्ध

राजकन्याओं का अपहरण

विवाह कार्य सम्पन्न हुआ। आनन्द ही आनन्द में तीन दिन बीत गये। विमलानना और रत्नवती ने पहले कुशावर्तपुर नहीं देखा था। यह प्रदेश अत्यधिक रमणीय और आकर्षक था, अतः जवानी की तरंग में और नवीन देखने के कुतूहल से विमलानना और रत्नवती अपने अनुचरों के साथ घूमने चली गईं। इन दोनों ने अपने व्यवहार से हमें आश्वस्त कर रखा था, अतः हम से अनुमति लिये बिना ही वे गई थीं। उन्होंने कई नये स्थान देखे जिससे उन्हें बहुत आनन्द आया। अन्त में वे घूमते-घूमते ❀ चूतचुचुक (आम्रकुंज) नामक उद्यान में आई और उसमें प्रवेश कर क्रीडा करने लगीं। उस समय मैं और कनकशेखर राज्यसभा में बैठे थे कि इतने में

❀ पृष्ठ २५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अचानक तीव्र कोलाहल उठा और दासियां उच्च स्वर में पुकार करने लगीं। अचानक यह क्या हुआ ? राज्य सभा विचार में पड़ गई। तुरन्त सभा विसर्जित कर दी गई। कोई विमलानना और रत्नवती का हरण कर ले गया ऐसी पुकार आने लगी। उसी समय हमने अपनी सेना तैयार कराई और अपहर्ताओं का पीछा किया।

अपहर्ता का ज्ञान

जो शत्रुसेना विमलानना और रत्नवती का अपहरण कर भाग रही थी वह अधिक दिनों की यात्रा परिश्रम से थक चुकी थी और हमारी सेना तेज और उत्साह वाली थी, अतः कुछ ही दूर पीछा करने के बाद हमारी सेना ने अपहरण-कर्ताओं की सेना को पकड़ लिया। हमने दूर ही से भाटों द्वारा उच्च स्वर में गाया जाने वाला राजा विभाकर का यशोगान सुना। इससे हमें यह निश्चय हो गया कि अरे ! यह तो कनकपुर निवासी प्रभाकर और बन्धुसुन्दरी का पुत्र विभाकर ही होना चाहिये जिसके साथ प्रभावती ने विमलानना की जन्म से पहले ही सगाई कर दी थी। पद्मराजा के पास कनकचूड के मन्त्रियों ने इस विषय में जो बात सुनाई थी वह हमने पहले विस्तार से सुनी ही थी। यह पापी हमारी अवज्ञा कर हमारी कुलवधुओं का हरण कर भाग रहा है, चलो, इस दुष्टात्मा को तो उग्र दण्ड देना ही चाहिये। मैं अपने मन में यह विचार कर ही रहा था कि मेरे मित्र वैश्वानर ने संकेत किया और मैंने तुरन्त क्रूरचित नामक बड़ा खा लिया। परिणामस्वरूप मेरी मनोवृत्ति तेजस्वी हो गई और मैंने हुंकार के साथ आवाज लगाई, अरे ! अधम, नीच, चोर विभाकर ! पराई स्त्रियों के चोर ! कहाँ भाग रहा है ? जरा मनुष्य बन ! पौरुष धारण कर और सामने आ !

ऐसे तिरस्कारपूर्ण वचन सुनकर शत्रु की सेना ने गंगा के प्रवाह की भांति तीनों तरफ से हमारी सेना को घेरकर व्यूह रचना की। सेना के तीनों भागों के सेनापति भी अलग-अलग हो गये। अतः मैं, महाराज कनकचूड और बन्धु कनक-शेखर हम तीनों शत्रु सेना के तीनों सेनापतियों के समक्ष लड़ने को तैयार हो गये।

सेनापतियों की पहिचान

कनकचूड राजा के पास पहिले दोनों कन्याओं के आगमन के समाचार लेकर आने वाला नन्दराजा का दूत विकट इस समय मेरे पास ही खड़ा था, अतः मैंने उससे पूछा—'अरे विकट ! अपने विपक्ष में जो ये तीन सेनापति हम से लड़ने आये हैं, वे कौन-कौन हैं ? क्या तू उन्हें पहचानता है ?' प्रत्युत्तर में विकट बोला—'जी हाँ, मैं इन तीनों को अच्छी तरह से पहचानता हूँ। आपके समक्ष दुश्मन की सेना के बांयें हिस्से का जो सेनापति है, वह कलिंग देश का अधिपति राजा समरसेन है। विभाकर ने यह महायुद्ध इसके बल पर ही प्रारम्भ किया है। इसके पास बहुत बड़ी सेना है, इसलिये यह विभाकर के पिता प्रभाकर के साथ स्वामी जैसा व्यवहार करता है। शत्रुसेना के मध्य भाग का सेनापति जो महाराज कनककूड के सामने है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह विभाकर का मामा, बंगदेश का अधिपति राजा द्रुम है। इधर दायें भाग का सेनापति जो कनकशेखर के सामने खड़ा है, वह विभाकर स्वयं है।

भयंकर युद्ध : विभाकर की पराजय

इस प्रकार विकट पहचान करा ही रहा था कि युद्ध प्रारम्भ हो गया। बाणों की वर्षा से दृष्टिपथ ढक गया, दृष्टिपथ अवरुद्ध हो जाने से योद्धा आकुल-व्याकुल होने लगे।* करोड़ों योद्धा हाथियों के कुम्भस्थल को तोड़ने लगे। हाथियों के शरीर, तट का विभ्रम पैदा करने लगे। सज्जित हाथियों के भुण्ड शोभायमान होने लगे। हाथियों के भुण्ड के बीच में फंसे हुए डरपोक लोगों की चीखें सुनाई देने लगीं। उच्च कोलाहल और युद्ध रव से पर्वतों की गुफायें और चारों दिशाएं गूंजने लगीं। सामने से आते हुए विशिष्ट प्रकार के शस्त्रों को रोकने में असमर्थ होने के कारण राजागण खिन्न होने लगे। राजागण मदोन्मत्त शत्रु सेना को गाजर मूली की भाँति काटने लगे। आकाश में चलने वाले देवता और विद्याधर जय-जयकार करने लगे। जय की कामना वाले सैकड़ों योद्धाओं से युद्धभूमि सुशोभित होने लगी। सुन्दर एवं चपल हजारों घोड़े मरण को प्राप्त होने लगे। तीरों के समूह की चोटों से रथ टूटने लगे। रथों के टूटने से भयंकर कोलाहल होने लगा। बलवान महायोद्धा गर्जना के साथ सिंहनाद करने लगे और उस समय गाढे लाल रंग के ताजे खून की नदी बहने लगी। [१–४]

इस प्रकार जब भयंकर युद्ध चल रहा था तभी भीषण अट्टहास की गर्जना के साथ शत्रु की सेना हम पर टूट पड़ी, जिससे हमारी सेना में भगदड़ मच गई। हमारे योद्धाओं को भागते देख शत्रुसेना ने आनन्द से जय-जयकार किया, तथापि हम एक कदम भी पीछे नहीं हटे। मैं, कनकचूड और कनकशेखर शत्रु-सेना के सेनापतियों द्रुम, विभाकर और समरसेन के बिल्कुल निकट पहुँच गये। इसी समय वैश्वानर ने पुनः संकेत किया और मैंने एक और क्रूरचित्त बड़ा खा लिया, फलस्वरूप मेरे परिणाम तीव्र आवेश वाले हो गये। उस समय मेरे सामने समरसेन राजा लड़ रहा था। मैंने उसे आक्षेपपूर्वक अपने समक्ष बुलाया और उसे ललकारा। तब उसने मुझ पर अस्त्रों की वर्षा प्रारम्भ करदी, पर मेरा मित्र पुण्योदय मेरे साथ था इसलिये उसका एक भी अस्त्र मुझ पर असर नहीं कर सका। उसी समय मेरी रानी हिंसादेवी ने मेरी तरफ दृष्टिपात किया जिससे मेरे परिणाम और भाव बहुत ही रौद्र हो गये। शत्रु को तत्क्षण मार डाले ऐसे शक्ति नामक शस्त्र का मैंने प्रयोग किया और समरसेन को घायल कर दिया। फलस्वरूप समरसेन मारा गया, उसके मरण के साथ ही उसकी सेना में भगदड़ मच गई।

समरसेन की सेना के पीछे हटते ही मैं शीघ्रता से द्रुम की तरफ लपका, वह महाराज कनककूड के साथ युद्ध कर रहा था। उसकी ओर मुंह कर मैंने आवाज लगाई—'अरे! तुझे मारने के लिये पिताजी की क्या आवश्यकता? सियार और सिंह की लड़ाई समान नहीं कहलाती। तू मेरे सामने आ।' मेरे तिरस्कारपूर्ण वचन

* पृष्ठ २५१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुनकर द्रुम मुझ पर झपटा। हिंसा देवी ने फिर मेरी तरफ दृष्टिपात किया। मैंने दूर से ही अर्धचन्द्रबाण उसके ऊपर फेंका जिससे द्रुम का सिर उड़ गया और उसकी सेना में भी भाग-दौड़ मच गई। इस प्रकार मैंने दो राजाओं पर विजय प्राप्त की जिससे आकाश स्थित सिद्ध, विद्याधर और देवताओं ने जय-जयकार किया।

तीसरी तरफ विभाकर कनकशेखर से लड़ रहा था। प्रारम्भ में अनेक प्रकार के तीरों की वर्षा करने के पश्चात् उसने कनकशेखर पर अग्निबाण, सर्पबाण आदि मंत्रित अस्त्र फेंकने शुरू किये, परन्तु उन्हें काटने के लिये कनकशेखर ने वरुण बाण, गरुडबाण आदि का प्रयोग कर उनका निवारण किया। उस समय अपने हाथ में तलवार लेकर विभाकर रथ से नीचे उतरा। जमीन पर से युद्ध करने वाले के साथ रथ में बैठकर युद्ध करना अनुचित होने से कनकशेखर भी हाथ में तलवार लेकर रथ से नीचे उतरा। अनेक प्रकार से तलवार चलाते हुए, मर्मभाग पर प्रहार करने का मौका ढूंढते हुए, अपने प्रहार को बचाते हुए और सामने वाले पर प्रहार करते हुए वे बहुत देर तक युद्ध करते रहे। अंत में मौका देखकर कनकशेखर ने विभाकर के कंधे पर एक भरपूर वार किया, जिससे विभाकर जमीन पर गिर कर मूछित हो गया। कनकशेखर की सेना में ❀ हर्षोल्लास फैल गया। उस समय कनकशेखर ने हर्षध्वनि को रोक कर विभाकर के शरीर पर पानी के छींटे देते, हवा करते और मूर्छा दूर करने के प्रयत्न करते हुए कहा —'अहो राजपुत्र! तुम्हें धन्य है। तुमने अन्त तक पौरुषबल का त्याग नहीं किया, दीनता स्वीकार नहीं की, पूर्व-पुरुषों की यशः स्थिति को अधिक उज्ज्वल किया और अपना स्वयं का नाम चन्द्र में लिखवा दिया, अर्थात् अमर कर दिया। उठ! और फिर लड़ने को तैयार हो जो कि राजपुत्र के योग्य है।' कनकशेखर की वाणी सुनकर विभाकर ने अपने मन में सोचा—'अहो! कनकशेखर की सज्जनता, गंभीरता, महानता, वीरता और वचनों की मधुरता महान है।' ऐसा सोचते हुए उसके हृदय में कनकशेखर के प्रति बहुत सन्मान हुआ और वह उच्च स्वर में बोला—'आर्य! अब युद्ध व्यर्थ है। आज आपने न केवल मुझे तलवार से ही हराया है अपितु सचमुच में आपने अपने सुन्दर व्यवहार से भी मुझे पराजित कर दिया है।' ऐसे प्रशस्य वचन सुनकर कनकशेखर ने विभाकर को अपने भाई के समान मधुर वचनों से बुलाया और अपने पास रथ में बिठाया। इस प्रकार युद्ध बंद हुआ। शत्रु की संपूर्ण सेना ने कनकशेखर के सन्मुख आत्म-समर्पण कर दिया। लड़ाई का क्या परिणाम होगा? इस विचार से कांपती हुई विमलानना और रत्नवती को वहाँ लाया गया, उन्हें मधुर वचनों से शांत किया गया और महाराजा कनकचूड ने स्वयं दोनों को उनके पतियों के रथ में बिठाया। इस प्रकार युद्ध-विजय कर हम फिर कुशावर्त नगर में प्रवेश करने की तैयारी करने लगे।

नगर-प्रवेश : नन्दिवर्धन की मनःस्थिति

सब से आगे हाथी की अंबाडी पर बैठे इन्द्र की भांति सुशोभित राजा

❀ पृष्ठ २५२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कनकचूड ने प्रचुर मात्रा में दान देते हुए राजमहल में प्रवेश किया। उनके पीछे बन्धु कनकशेखर ने आनन्दातिरेक में मग्न लोगों की हर्षमिश्रित दृष्टि को स्वीकार करते हुए राजमन्दिर में प्रवेश किया। उनके पीछे रत्नवती के साथ रथ में बैठा हुआ मैं धीरे धीरे अपने महल की तरफ प्रस्थान कर रहा था। उस समय नगर की स्त्रियों के बीच हो रही बातें मेरे कानों में पड़ी। आज की विजय का श्रेय वे बड़े गर्व के साथ मुझे निम्नांकित शब्दों में दे रहीं थीं:- अहो ! समरसेन और द्रुम जैसे अप्रतिमल्ल राजाओं के सामने लड़ सके ऐसा मल्ल योद्धा इस दुनिया में कोई नहीं, उनको भी जीतने वाला यह राजकुमार नन्दिवर्धन वास्तव में धन्यवाद का पात्र है। धन्य हो इसकी शूरवीरता ! धन्य है इसकी शक्ति, इसकी कुशलता और धीरता आदि गुणों को ! सचमुच यह नन्दिवर्धन मर्त्यलोक का कोई साधारण पुरुष न होकर दैवी पुरुष है। इसकी पत्नी रत्नवती भी भाग्यशाली है। आज हमने इनको अपनी आंखों से देखा, अतः हम भी भाग्यशाली हैं। अथवा ऐसे साहसी, बलवान, पराक्रमी महानुभाव ने यहाँ पधारकर इस नगर को अलंकृत किया है, अतः यह नगर भी भाग्यशाली है। [१-९]

लोगों में चल रही ऐसी बातों को सुनकर महामोह के वशीभूत मेरे मन में निम्न विचार आने लगे— अहा ! मेरे मन को अत्यन्त आनन्द देने, मेरी उन्नति करने, साधारणतः दुर्लभ यश की प्राप्ति करने आदि के सम्बन्ध में मेरे विषय में जो लोक प्रवाद प्रचलित हो रहे हैं, उन सब का श्रेय मेरे हितकारी परम मित्र वैश्वानर को दिया जाना चाहिये, इसमें कुछ भी संदेह नहीं।* तथापि मुझे यह भी मानना ही चाहिये कि मेरी प्यारी पत्नी हिंसादेवी ने मेरी तरफ दृष्टिपात कर मुझे प्रेरणा दी, उसी से यह सब प्राप्त हुआ है। धन्य हो मेरी हिंसादेवी के प्रभाव को ! धन्य हो उसकी मुझ पर आसक्ति ! धन्य हो मेरी प्रिया का कल्याणकारी गुण ! और धन्य हो इसकी गुणग्राहकता को ! सच ही मेरे प्रिय मित्र वैश्वानर ने विवाह के पूर्व हिंसा के जिन गुणों का वर्णन किया था वह वैसी ही गुणवती है। अहा अगृहीतसंकेता ! परमार्थतः सच्ची बात तो यह है कि यह सब अनुकूल फल प्राप्त करवाने वाला मेरा गुप्त मित्र पुण्योदय था, किन्तु उस समय मेरा मन पाप से घिरा हुआ था, इसलिये मेरा सच्चा हितकारी मित्र पुण्योदय है यह तथ्य मेरी समझ में नहीं आया और न मैंने यह जानने का प्रयत्न ही किया। [१०-१६]

मित्र वैश्वानर और प्रिया हिंसा में अत्यन्त आसक्त मैं उपरोक्त विचारों में मग्न, उनके प्रति अधिकाधिक सोचते हुए, बाजार में होते हुए, लोगों के दिलों में होने वाले चमत्कारों को सुनते हुए अपने रथ को राजमहल के निकट ले आया। [१७-१८]

---

* पृष्ठ २५३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२४. कनकमञ्जरी

सुह्म लोगों के राजा जयवर्मा की पुत्री देवी मलयमंजरी महाराजा कनकचूड की प्रिय रानी थी। इस रानी से महाराजा को कामदेव की पत्नी रति जैसी एक सुन्दर कनकमंजरी नाम की पुत्री हुई थी जो सौन्दर्य का मन्दिर हो ऐसी प्रतीत होती थी। [१६-१०]

दृष्टि-मिलन

मेरा रथ जैसे ही राजमहल के निकट पहुँचा वैसे ही कनकमंजरी महल के एक झरोखे में खड़ी-खड़ी दूर से मुझे देख रही थी और मुझे देखते ही वह कामदेव के बाण से विद्ध हो गई। मैं भी कुतूहल से चारों तरफ देख रहा था। जैसे ही मेरी दृष्टि उस झरोखे की तरफ गई, वह अति मनोज्ञ कन्या मुझे दिखलाई पड़ी। मेरी और कनकमंजरी की दृष्टि परस्पर टकराई और हम दोनों एकटक एक दूसरे को देखते रह गये। बिना आंख झपकाये वह भी एकटक मुझे ही देख रही थी। उसके शरीर में व्याप्त पसीने से, अंगोपांग में उत्पन्न सरसराहट से और स्पष्ट दिखाई देने वाले रोमांच से यह निश्चित हो गया कि उसके शरीर में कामदेव व्याप्त हो चुका है। [२१-२४]।

सारथि की चतुरता

हमारे दृष्टि-मिलन से हमें बहुत प्रसन्नता हुई है। हमारे इन मनोभावों को मेरा चतुर सारथि तेतलि तुरन्त समझ गया। वह सोचने लगा - ओह! महाराज नन्दिवर्धन और कनकमंजरी का यह दृष्टि-मिलाप तो सचमुच कामदेव और रति के प्रेम जैसा है। पर, इतने लोगों के बीच यदि नन्दिवर्धन अधिक देर तक कनकमंजरी की तरफ एकटक देखता रहेगा तो इससे इनकी तुच्छता प्रकट होगी, लघुता होगी और अपयश होगा। रत्नवती को भी ईर्ष्या हो सकती है, अतः मुझे इस समय उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। यह विचार आते ही सारथि ने काकली (टचकारा) करते हुए रथ को एकाएक आगे चला दिया।

कनकमंजरी के मुखकमल को एकटक देखते हुए मानों मैं उसके लावण्य रूपी अमृत के कीच में फंस गया। मेरी दृष्टि उसके कपोल के रोमांच-कंटक में बिंध गई। मैं कामदेव के बाण की शलाका से कीलित हो गया अथवा उसके सौभाग्य गुणों से अनुस्यूत हो गया। रसपूर्वक उस दृष्टिपात को समाप्त कर बड़ी कठिनाई से मैंने अपनी दृष्टि घुमाई और मैं अपने महल में आ पहुँचा, किन्तु मेरा मन तो कनकमंजरी की मूर्ति में ही अटक गया था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नन्दिवर्धन की विरहदशा

❀ मेरे राजभवन में पहुँचने पर मेरा हृदय तो शून्य था ही फिर भी दैनिक कार्यों को जैसे-तैसे निपटाकर मैं अपने भवन की सब से ऊपर वाली मंजिल पर पहुँचा। मैंने अपने सब सेवकों को छुट्टी दे दी और अकेला पलंग पर जाकर पड़ा रहा। उस समय मुझे कनकमंजरी के सम्बन्ध में एक के बाद एक अनेक विचार आने लगे। अनेक तर्क-वितर्क होने लगे। संकल्प जाल में फंसकर मैं कल्पना-तरंग में इतना तरंगित हो गया कि मुझे यह भी भान नहीं रहा कि मैं कहीं गया हूँ या आया हूँ? बैठा हूँ या सो रहा हूँ? अकेला हूँ या मैं मेरे परिवार और सेवकों के साथ हूँ? जाग्रत हूँ या सुप्त हूँ? रो रहा हूँ या हँस रहा हूँ? सुख में हूँ या दुःख में हूँ? यह मेरी प्रेमातुरता है या मुझे कोई रोग है? कोई महोत्सव है या विपत्ति है? और तो और यह भी भान नहीं रहा कि यह दिन है या रात है? मैं जीवित हूँ या मृत हूँ? जब मुझे किंचित् सहज चेतना आयी तब सोचने लगा कि अब मैं कहाँ जाऊँ? क्या करूँ? क्या सुनूँ? क्या देखूँ? क्या बोलूं? और किससे कहूँ? मेरे इस दुःख का प्रतीकार क्या है?

इस प्रकार मेरे मन में बहुत व्याकुलता थी। मैंने अपने सभी सेवकों को अन्दर आने की पूर्ण मनाई कर रखी थी। शय्या पर पड़ा हुआ मैं थोड़ी देर इस करवट तो थोड़ी देर उस करवट लोट रहा था और मन में घबरा रहा था। पूरी रात नारकीय तीव्र वेदना को सहन करते हुए मैं पलंग पर पड़ा रहा परन्तु मुझे एक क्षण भी नींद नहीं आई। ऐसे ही विरह दुःख में मेरी पूरी रात बीत गई। प्रभात में सूर्य उदय हुआ, पर प्रातःकाल का आधा पहर भी वैसे ही वेदना में बीत गया।

सारथि तेतलि का प्रश्न :

उसी समय मेरा सारथि तेतलि मेरे भवन में आया। वह मेरा विशिष्ट विश्वासपात्र सेवक होने से किसी ने उसे मेरे पास आने से नहीं रोका। मेरे पास आकर उसने मेरा चरण-स्पर्श किया और जमीन पर बैठकर हाथ जोड़ कर कहने लगा—'देव! आप तो जानते ही हैं कि नीच पुरुषों में चपलता अधिक होती है। उसी चपलता के वश होकर मैं आपसे कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। वह अच्छी हो या बुरी आप उसे सुनने की कृपा करें।' उत्तर में मैंने कहा—'भाई तेतलि! तुझे जो कुछ कहना हो सुख से विश्वास पूर्वक कह। तेरे लिये किसी प्रकार की रोक नहीं है। ऐसी सामान्य बात के लिये तुझे कूर्चशोभक (लागलपेट) पूर्वक पूछने की भी क्या आवश्यकता थी?' उसके पश्चात् हम दोनों के मध्य निम्न बात हुई:—

तेतलि—यदि ऐसा है तो कुमार! सुनिये, मैंने आपके दूसरे सेवकों से सुना है कि कल जब से आप रथ से उतरे हैं तभी से उद्विग्न हैं, इसका क्या कारण

❀ पृष्ठ २५४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है ? आप बहुत चिन्तित हैं, सेवकों को अपने पास आने की पूर्ण मनाई कर रखी है और आप अकेले पलंग पर पड़े हुए हैं। मेरा तो कल रथ के घोड़े छोड़ने के बाद पूरा दिन उनकी देखभाल में ही निकल गया। रात में मुझे चिन्ता हुई कि मेरे स्वामी के उद्वेग का क्या कारण हो सकता है ? मैंने बहुत विचार किया पर कुछ भी कारण सूझ नहीं पड़ा। चिंता में जागते हुए ही मेरी पूरी रात बात गई। प्रातः काल उठकर मैं आपके पास आ रहा था कि एक अन्य महत्वपूर्ण काम आ गया। इस कार्य को पूर्ण करने में मुझे इतना समय लग गया। कार्य सम्पन्न कर अब मैं आपके समक्ष उपस्थित हुआ हूँ। आपके कुशल-क्षेम से तो हमारे जैसे अनेक लोगों का जीवन चलता है, अतः आपके इस अधम सेवक को यह बताने की कृपा करें कि आपके शरीर की यह स्थिति किस कारण हुई ?

इस प्रकार कहते हुए सारथि मेरे पांवों में पड़ गया, ❀ तब मैंने सोचा कि, अहो ! इसकी वास्तव में मुझ पर भक्ति है और बात करने की चतुराई भी है, अतः अब इसको वास्तविकता से परिचित करा देना चाहिये। फिर भी कामदेव का विकार और प्रभाव विचित्र होने से मैंने उसे सीधा न बताकर निम्न उत्तर दिया—

नन्दिवर्धन—'प्रिय तेतलि ! मेरे शरीर और मन की ऐसी स्थिति होने का कारण मुझे भी समझ में नहीं आ रहा है। मुझे केवल इतना याद है कि बाजार का रास्ता पूरा होने पर राजभवन के मार्ग पर जब तू अपना रथ ले आया और वहां थोड़ी देर रथ को रोका, तभी से मेरा अंग-अंग टूट रहा है। अन्तस्ताप बढता जा रहा है। ऐसा लग रहा है मानो राजभवन आग में जल रहा हो ! लोगों का बोलना अच्छा नहीं लगता, मन हाय-हाय कर रहा है, व्यर्थ की चिन्ता हो रही है और ऐसा लग रहा है जैसे हृदय शून्य हो गया हो ! मेरी स्थिति तो अभी ऐसी हो गई है कि यह दुःख क्या है ? और इसके निवारण का क्या उपाय है ? यह भी मुझे दिखाई नहीं पड़ता।

तेतलि—देव ! यदि ऐसी बात है तब तो मैं समझ गया हूँ कि यह दुःख क्या है ? और इसे दूर करने का उपाय क्या है ? आप अब इस विषय में चिन्ता न करें।

नन्दिवर्धन—वह कैसे ?

तेतलि—सुने, आपके दुःख का कारण कुदृष्टि अर्थात् चक्षुदोष है।

नन्दिवर्धन मुझे किसकी कुदृष्टि लग सकती है।

तेतलि—आपने उसे देखा या नहीं यह तो मैं नहीं जानता, पर राजभवनों के अन्तिम महल के एक झरोखे में से एक तरुणी आपको एकटक आशय पूर्वक देख रही थी। वह बहुत देर तक टेढी दृष्टि से आपके अंगोपांग देख रही थी, इससे लगता है कि उस युवती का दृष्टिदोष ही आपके दुःख का कारण है। कुमार ! जो तुच्छ स्वभाव के होते हैं उनकी दृष्टि बहुत भयंकर क्रूर होती है।

❀ पृष्ठ २५५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह सुनकर मैं अपने मन में विचार करने लगा कि यह तेतलि बहुत चतुर है। यह मेरे मन का भाव समझ गया है। इसने मेरी प्रिया को बहुत समय तक देखा है अतः यह भाग्यशाली भी है। अभी-अभी इसने कहा कि यह मेरे दुःख का कारण और उसके निवारण की औषध भी जान गया है। लगता है मेरे काम-ज्वर को मिटाने वाली उस कन्या की प्राप्ति में यह मेरी सहायता अवश्य करेगा। सच ही आज इसने मेरी प्राण रक्षा की है। यह सोचकर मैंने स्नेहवश खींचकर उसे पलंग पर बिठाया और कहा—तेतलि! तुमने मेरे रोग का कारण तो ढूंढ निकाला पर अब उसका उपचार क्या है यह तो बता?

तेतलि—देव! इस दृष्टिदोष का उपचार यह है कि—जब किसी की नजर लगी हो तो किसी चतुर वृद्ध महिला को बुलाकर उससे नमक उतरवाना चाहिये, मंत्र में कुशल किसी व्यक्ति से झड़वाना चाहिये, कान के पीछे मंत्रित राख लगानी चाहिये, गंडों का (डोरा) बांधना चाहिये और अन्य प्रकार के टोने-टोटके करने चाहिये। यह भी कहा जाता है कि चाहे कैसी ही डायन लगी हो तो उसे गालियाँ देने और धमकाने से वह नर्म पड़ जाती है, अतः उस छोकरी के पास जाकर खूब कठोर वचनों से उसे धमकाना चाहिये। मेरे जैसे को उसके पास जाकर कहना चाहिये, 'अरे वामलोचना! हमारे स्वामी पर कुदृष्टि डालकर अब तू * भली मानस बनकर बैठी है, पर याद रखना अगर हमारे स्वामी का एक बाल भी बांका हुआ तो तेरा जीवन एक पल भी नहीं बचेगा।' ऐसा करने से जिस छोकरी की आपको कुदृष्टि लगी है वह दूर हो जायगी। आपने पूछा अतः मैंने आपके रोग का उपचार बताया।

नन्दिवर्धन—हँसकर, 'भाई तेतलि! अब हँसी मजाक छोड़ो। मेरे दुःख को मिटाने का तूने कुछ वास्तविक उपाय सोचा हो तो बता।' तेतलि—'कुमार! आपके मन में इतना उद्वेग हो और मुझे उसका सच्चा उपचार ज्ञात न हो तो, ऐसे समय में मैं आपसे हँसी कर सकता हूँ भला! आप चिन्ता न करें। आपकी इच्छा पूर्ण हो चुकी है ऐसा समझें। आपके उद्वेग को दूर करने के लिये ही मैंने आपसे विनोद करने का साहस किया है।'

नन्दिवर्धन—मेरी इच्छा कैसे पूर्ण होगी? तू मुझे जल्दी बता।

अभिलषित सिद्धि का मार्ग

तेतलि—प्रभो! मैंने आते ही बताया था कि मैं प्रातःकाल ही आपके पास यहाँ आ रहा था तभी एक महत् कार्य आ गया था। उसे सम्पन्न करने में ही आधा पहर बीत गया। इसी कारण मुझे आपके पास आने में देर हुई। आपकी अभिलाषा को पूर्ण करने का ही वह कार्य था। घटना यों थी कि, रानी मलयमंजरी (महाराज कनकचूड की महारानी) की विशेष दासी कपिंजला नाम की एक वृद्ध गणिका

* पृष्ठ २५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है. वह मुझे जानती है। आज प्रातः जब मैं अपने बिस्तर से उठा भी न था कि वह आकर जोर-जोर से पुकार करने लगी, 'मित्र बचाओ ! बचाओ !!' मुझे कुछ भी समझ में नहीं आया, तब मैंने पूछा, 'कपिंजला ! क्यों घबरा रही है ? क्या हुआ ?' उसने बताया कि, 'वह कामदेव से घबरा रही है।' मैंने कहा—'कपिंजला ! तेरी बात विश्वास करने लायक नहीं है, क्योंकि तेरा शरीर तो अत्यन्त रौद्र श्मशान जैसा लग रहा है, तेरे शिर के लाल और पीले रंग के बाल चिता को ज्वाला के समान देदीप्यमान हो रहे हैं, तेरे शरीर की हड्डियों की आवाज श्मशान के सियारों को भयंकर आवाज जैसी लग रही है, सलवटों और काले दागों से भरा हुआ तेरा शरीर भयंकरतम दिखाई देता है और मांस रहित लटकते हुए तेरे मुर्दे के समान मोटे स्तन अति भयानक लगते हैं। तेरे ऐसे शरीर को देखकर स्वयं कामदेव भी कायर मनुष्य के समान डरकर चिल्लाता हुआ दूर भाग जाय और तू कहती है कि तुझे कामदेव से डर है ! अरे वह तो तेरे पास ही नहीं फटके। अतः तुझे क्या भय है ?'

कपिंजला—अरे झूठे ! तू जानबूझ कर मेरी बात का अभिप्राय नहीं समझ रहा है अथवा नहीं समझने का ढोंग कर रहा है। तब मुझे स्पष्ट बताना ही पड़ेगा। सुन, मुझे कामदेव से क्यों भय है, तुझे बताती हूँ।

तेतलि—हाँ, मुझे स्पष्ट बता।

कनकमंजरी का कामज्वर : बाह्योपचार

कपिंजला—'तू भली प्रकार जानता है कि महाराज कनकचूड की रानी मलयमंजरी मेरी स्वामिनि है और उनके कनकमंजरी नाम की एक कन्या है।' तेतलि के मुख से कनकमंजरी का नाम सुनते ही मेरी दायीं आँख फड़कने लगी,* होठ हिलने लगे, हृदय की धड़कन तेज हो गई, पूरा शरीर रोमांचित हो गया और मन का उद्वेग तो मानों मिट ही गया। मैं अपने मन में सोचने लगा कि यह मेरे मन में निवास करने वाली प्रियतमा कनकमंजरी ही होनी चाहिये। अतः उत्साह में आकर मैं बीच ही में बोल पड़ा—'हाँ, फिर आगे बता, कपिंजला ने फिर तुझे क्या कहा ?' तेतलि मेरा भाव समझ गया और मन में सोचने लगा कि 'प्रिय के नामोच्चार की भी भारी महिमा है।' फिर कपिंजला ने आगे जो बात कही थी उसका अनुसन्धान मिलाते हुए आगे बात चलाई।

कपिंजला—भाई तेतलि ! यह कनकमंजरी मेरा स्तनपान कर बड़ी हुई है अर्थात् मैं उसकी धाय हूँ। मुझे उससे इतना अधिक प्रेम है कि जैसे वह मेरा ही शरीर हो, मेरा ही हृदय हो, मेरा ही जीवन हो, मेरा ही स्वरूप हो। वह मुझे अपने से भिन्न नहीं लगती। संप्रति वह मुग्धा बालिका कामदेव से

* पृष्ठ २५७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पीड़ित है। उसकी काम-पीड़ा परमार्थ से मेरी ही पीड़ा है। इसीलिये मैंने कहा था कि मैं कामदेव से भयभीत हो रही हूँ।

कपिंजला द्वारा कथित कनकमंजरी की विरह स्थिति को सुनकर मैं (नन्दिवर्धन) एकाएक खड़ा हो गया, म्यान में से तलवार निकालकर बोलने लगा— 'अरे! खूनी कामदेव! मेरी प्यारी कनकमंजरी का पल्ला छोड़ दे। जरा पुरुषार्थ धारण कर। हे दुरात्मा! याद रख! अब तू एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता।' ऐसा कहते हुए हड़बड़ा कर पलंग से उठकर मैं तलवार घुमाने लगा। मुझे शान्त करते हुए तेतलि कहने लगा— कुमार! इतना आवेश क्यों कर रहे हैं? जब तक आप जैसे सदय देव विद्यमान हैं तब तक कनकमंजरी को कामदेव तो क्या किसी अन्य से भी लेशमात्र भय नहीं हो सकता। इसके बाद क्या हुआ वह तो आप पूरा सुनिये।' तेतलि के वचन सुनकर मैं शान्त हुआ। मेरी चेतना लौटी और मैं शून्य मन से पलंग पर बैठ गया। फिर उसके और कपिंजला के बीच आगे जो बातचीत हुई थी तेतलि उसे सुनाने लगा।

तेतलि— कपिंजला! कामदेव किस लिये कनकमंजरी पर इतना प्रभाव दिखा रहा है?

कपिंजला तेतलि! सुन, कल वाली विमलानना और रत्नवती के हरण की घटना तो तुझे ज्ञात ही है। फिर महाराज कनकचूड और शत्रु-सेना में घोर युद्ध हुआ और महाराज, कनकशेखर और नन्दिवर्धन की विजय हुई। जब वे विजय पताका फहराते हुए नगर में प्रवेश कर रहे थे तब मुझे भी उन्हें देखने का कुतूहल हुआ और मैं भी बाजार में जाकर खड़ी हो गई। जब उनका नगर में प्रवेश महोत्सव हो रहा था तभी मैं कनकमंजरी के महल की ऊपरी मंजिल पर गई। वहाँ जाकर मैंने देखा कि कनकमंजरी झरोखे में खड़ी है, उसका मुँह राजमार्ग की तरफ है और दृष्टि एक-टक। उसकी दृष्टि अपलक होने से और अंगोपांगों में हलन-चलन न होने से वह चित्र-लिखित संगमरमरी मूर्ति या योगरत योगिनी जैसी लग रही थी। कनकमंजरी की ऐसी विचित्र स्थिति को देखकर 'हाय! अकस्मात इसे क्या हो गया है?' ऐसा विचार करते हुए मैंने उसे 'अरे पुत्रि कनकमंजरी!' कहते हुए बार-बार पुकारा, पर कुमारी ने मुझ मन्दभाग्या को कोई उत्तर नहीं दिया। उस समय वहाँ कन्दलिका नामक एक दासी खड़ी था, उसे मैंने पूछा, 'भद्रे कन्दलिका! पुत्री कनकमंजरी की किस कारण से ऐसी अवस्था हो गई?' तब कन्दलिका ने कहा — 'मांजी! मुझे तो कुछ भी पता नहीं लगता। केवल जब कुमार नन्दिवर्धन का रथ राजमार्ग पर जा रहा था तब कुमारी ने उन्हें देखकर बहुत हर्षित हुई, मानो महा-मूल्यवान रत्नों की प्राप्ति हुई हो! मानो शरीर [illegible] का सिंचन हुआ हो! मानो कोई अभ्युदयकारी महान फल की प्राप्ति हुई हो! अपार अनिर्वचनीय प्रकार वर्णनातीत रस में मग्न मने इन्हें देखा था। जब कुमार का रथ दृष्टिपथ से दूर आगे चला गया तभी से

---

* पृष्ठ २५८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुमारी की ऐसी स्थिति हो रही है।' यह बात सुनकर मैंने विचार किया कि यदि शीघ्र ही इसक कोई उपाय नहीं ढूंढा गया तो शोकाकुल होकर कुमारी अपने प्राण दे देगी। इस भावि अनिष्ट की कल्पना से शोकविह्वल होकर मैं चीखने चिल्लाने लगो, जिसे सुनकर कुमारी की माता मलयमंजरी वहाँ पहुँच गई। 'कपिंजला! यह क्या है?' यह क्या है? कहकर पूछने लगी। मलयमंजरी ने भी जब कनकमंजरी की ऐसी चित्रलिखित सी दशा देखी तो वह भी विलाप करने लगी। चीख-पुकार सुनकर माँ के प्रति ममता जागृत होने से और विनय-सम्पन्ना होने से कुमारी को तनिक चेतना आई, शरीर को किंचित् मरोड़ा और उबासी लेने लगी। फिर मलयमंजरी ने कुमारी को अपनी गोद में बिठाकर पूछा -'कनकमंजरी तुझे क्या हुआ है? तेरे शरीर में क्या कोई पीड़ा है?' कुमारी ने कहा—'माताजी! मुझे कुछ भी पता नहीं, केवल मेरे शरीर में दाह-ज्वर की पीड़ा है।' हम सब व्याकुल होकर उसके शरीर पर मलय चन्दन का लेप करने लगे, कपूर के जल से सिक्त ताड़पत्र के ठण्डे पंखे से हवा करने लगे, शरीर पर शीतल जल की ठण्डी पट्टी रखने लगे, पुन-पुनः पान के बीड़े में कपूर डालकर उसे खिलाने लगे और शरीर को शान्ति प्रदान करने वाले अन्य अनेक प्रकार के उपाय करने लगे। उस समय सूर्य अस्त हो गया, रात्रि का प्रसार हुआ, निशापति चन्द्र का उदय हुआ और आकाश में चारों ओर निर्मल चांदनी छिटक गई। उस वक्त मैंने माता मलयमंजरी से कहा -'स्वामिनी! यह स्थान बद होने से यहाँ गर्मी अधिक है कुमारी को कुछ खुले हवा वाले स्थान में ले जाने से ठीक रहेगा।' रानी की आज्ञा प्राप्त कर हिमालय पर्वत की विशाल शिला के भ्रम को पैदा करने वाली विशाल राजभवन की छत पर जो अमृत जैसी सफेद चांदनी के शीतल प्रकाश से सुशोभित थी, हाथ का सहारा देकर कनकमंजरी को ले गये और कमलपत्र की अतिशीतल शय्या तैयार करवाई एव उस पर उसे सुलाकर उसके दोनों हाथों पर कमल की नाल बांधो तथा सिन्दुवार के पुष्पों का हार पहनाया। उसे ठण्डक पहुँचाने के लिये ऐसी ठण्डी मणियाँ उसके पास रखी गई कि जिन्हें पानी में रखने से तालाब का पानी भी ठंडा हो जाय। वस्तुतः इस प्रदेश में स्वतः ही इतना शीतल पवन निरन्तर बहता रहता था कि बलवान लोगों को भी रोमांच हो आये और सर्दी से दांत कटकटाने लगे। ऐसी सुन्दर शीतल छत पर लाकर रानी ने कुमारी से पूछा —'पुत्रि कनकमंजरी! * तुझे जो दाह-ज्वर से वेदना हो रही थी वह अब तो दूर हुई होगी?'

कनकमंजरी ने कहा—'नहीं माताजी! अभी तो तक नहीं मिटी। प्रत्युत मुझे तो ऐसा लग रहा है कि पहलेसे! अनन्त गुणी जलन बढ़ गई है। आकाश में लटकता चन्द्रमा जलते हुए अंगारोंका ढेर और अंगारों की ज्वाला मेरी ओर फेंक रहा हो ऐसा लग रहा है। चन्द्रिका ज्वाला समूह जैसी लग रही है। आकाश

---

* पृष्ठ २५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में बिखरे तारे लाखों अंगार-कणों जैसे लग रहे हैं। ऐसा लग रहा है जैसे कमल शय्या मुझे जला रही है और यह सिन्दुरी पुष्पों का हार मुझे पूरी तरह सुलगा रहा है। हे माँ! मैं तुझे क्या कहूँ? अभी तो मुझ अभागिनी पापिनी का पूरा शरीर सुलगते हुए अग्निपिण्ड के समान सुलग रहा है।

कनकमंजरी की व्याधि का कारण

पुत्री का ऐसा अचिंत्य उत्तर सुनकर मलयमंजरी ने दीर्घ निश्वास लेते हुए कहा—'कपिंजला! यह क्या हुआ? मेरी पुत्री को ऐसा भीषण दाह-ज्वर क्यों हुआ? इसका कुछ कारण तेरी समझ में आता है क्या?' उस समय मैंने मलयमंजरी के कान में कन्दलिका दासी द्वारा कही गई बात कह सुनाई।

सुनकर मलयमंजरी ने कहा—'यदि ऐसा ही है तो ऐसे समय हमको क्या करना चाहिये?' उसी समय राजमार्ग पर किसी की आवाज सुनाई दी, अरे! यह काम तो सिद्ध हुआ। अब विलम्ब नहीं करना चाहिये।

कपिंजला ने (सहर्ष) कहा—'माताजी! राजमार्ग पर अचानक किसी के मुह से निकले हुए शब्द आपने सुने?' रानी ने उत्तर दिया—'हाँ, मैंने बराबर सुने हैं।' मैंने कहा—'यदि यह बात है तो कुमारी कनकमंजरी की इच्छा पूर्ण हो हो गई ऐसा समझिये। अभी मेरी बायी आँख भी फड़क रही है, अतः मुझे तो थोड़ी भी शंका इस विषय में नहीं है।

मलयमंजरी ने कहा—इसमें शंका की गुंजाइश ही कहाँ है? यह काम अवश्य सिद्ध होगा।

इधर कनकमंजरी की बड़ी बहिन मणिमंजरी भी उस समय राजभवन की छत पर आकर अत्यन्त हर्षित होकर हमारे सामने बैठी।

मैंने मणिमंजरी से कहा—'पुत्रि मणिमंजरी! तू बहुत कठोर है, दूसरों के सुख-दुःख का तेरे मन पर थोड़ा भी प्रभाव नहीं होता क्या?' मणिमंजरी ने उत्तर मे कहा—'ऐसी क्या बात है?' मैंने कहा, 'अरे! क्या तू देख नहीं रही है कि हम सब कितने शोक-मग्न हैं और तू हर्ष विभोर होकर बैठी है।'

मणिमंजरी— ओहो! मैं क्या करूं? मेरे हर्ष का कारण इतना सशक्त है कि प्रयत्न करने पर भी मैं उसे किसी प्रकार छिपा नहीं सकती।

मैंने पूछा —'ऐसा हर्षातिरेक का कारण क्या है वह हमें भी तो बता?

विवाह के लिये कनकचूड की स्वीकृति

मणिमंजरी— 'मैं आज पिताजी के पास गई थी। उन्होंने बड़े प्यार से मुझे गोद में बिठाया। उस समय भाई कनकशेखर भी पिताजी के पास बैठे थे। उनसे पिताजी ने कहा—'प्रिय कनक! तू जानता ही है कि समरसेन और द्रुम जैसे महा बलवान योद्धाओं को एक ही वार में मारने वाला नन्दिवर्धन कोई साधारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरुष नहीं है। इसका अपने ऊपर अत्यधिक उपकार है जिससे हम अपना जीवन देकर भी उससे उऋण नहीं हो सकते। मणिमंजरी और कनकमंजरी मेरी दोनों पुत्रियाँ मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारी हैं। मणिमंजरी को तो हम नन्दिवर्धन के बड़े भाई शीलवर्धन को पहले ही दे चुके हैं, अब कनकमंजरी का विवाह नन्दिवर्धन से कर दें तो कैसा रहेगा ?' ❀ भाई कनकशेखर ने पिताजी के प्रशंसनीय विचार सुनकर कहा—'पिताजी ! आपके विचार बहुत ही सुन्दर हैं। आप अवसरोचित कहाँ क्या करना चाहिये यह भली प्रकार जानते हैं। मेरी प्यारी बहिन का विवाह नन्दिवर्धन के साथ करना बहुत ही उचित रहेगा।' इस प्रकार बातचीत कर पिता-पुत्र ने बहिन कनकमंजरी का विवाह कुमार नन्दिवर्धन से करने का निश्चय किया है।'

इस प्रकार पिताजी और भाई कनकशेखर के बीच वार्तालाप हो रहा था तभी मैं पिताजी की गोद में से उठकर यहाँ आ गई। आते-आते मैंने सोचा कि अहो ! मैं बहुत भाग्यशालिनी हूँ, मेरे भाग्य सर्व प्रकार से मेरे अनुकूल हो गये हैं। पिताजी के विचार और निर्णय को भी धन्य है ! भाई कनकशेखर के विनय को भी धन्य है !! अब तो मैं अपनी प्यारी बहिन कनकमंजरी के साथ जीवन भर रहूँगी, हम दोनों का कभी वियोग नहीं होगा और दोनों बहिने साथ-साथ अनेक प्रकार का आनन्द सुख प्राप्त करती रहेंगी। इन विचारों और मनोभावों के कारण मुझे इतना अधिक आनन्द प्राप्त हुआ कि मेरा हर्षातिरेक बाहर भी प्रकट हो गया। यही मेरे हर्ष विभोर होने का कारण है।

मणिमंजरी का उपरोक्त कथन सुनकर माता मलयमंजरी ने कहा—अरे कपिंजला ! अभी हमने निमित्त रूप जो आवाज सुनी थी उसमें कार्य-सिद्धि की जो बात कही गई थी, देख ! वह अविलम्ब फलीभूत हो गई।

कपिंजला—इसमें क्या शक है। अकस्मात् सुनाई देने वाली और भविष्य सूचित करने वाली वाणी अवश्य देव वाणी ही होती है। प्रिय पुत्री कनकमंजरी ! अब तू विषाद का त्याग कर और धैर्य धारण कर। समझले कि अब तेरी इच्छा पूर्ण हो चुकी है। तुझे जिस कारण से दाह-ज्वर हुआ था वह अब दूर हो गया है। पुत्रीवत्सल पिता ने तेरे हृदय को आनन्दित करने वाले कुमार नन्दिवर्धन से तेरा विवाह करने का निर्णय कर लिया है।

कनकमंजरी का सन्देह

हे तेतलि ! यह वृत्तान्त सुनकर कनकमंजरी को हृदय में कुछ विश्वास हुआ, फिर भी कामदेव के तौर-तरीके सर्वदा आड़े-टेढ़े होने से मेरे सामने देखकर भवें चढाकर मुझे डराकर वह कहने लगी—'ओह, हे माता ! ऐसे असत्य वचन बोलकर मुझे क्यों ठग रही हो ? मेरा मस्तक फट रहा है, ऐसा बिना अते-पते का ढोंगभरा वचन बोलने से बाज आओ।' मलयमंजरी ने कहा—'बेटी ऐसा मत बोल। यह बात

❀ पृष्ठ २५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिल्कुल सच्ची है। पुत्री ! तुझे इसके अतिरिक्त किसी बात की कल्पना भी नहीं करनी चाहिये।'

'अरे ! मेरे ऐसे भाग्य कहाँ ?' धीरे-धीरे मन में बोलती कनकमंजरी नीचा मुँह कर खड़ी रही। पूरी रात हमने कनकमंजरी को पतिभक्ता सती स्त्रियों के चरित्र सुनाने और उसका मनोरंजन करने में व्यतीत की। भाई तेतलि ! अभी प्रातःकाल में भी कनकमंजरी का दाह-ज्वर शांत नहीं हुआ है। अतः मैंने मन में विचार किया कि यदि इसको कुल परम्परानुसार विवाह के प्रसंग पर ही नन्दिवर्धन के दर्शन होंगे तब तो यह इतने समय में मर जायगी या मरने जैसी हो जायगी। यही सोचकर मैं तुमसे मिलने आई हूँ। कुमार का भी तुम्हारे प्रति प्रेम है अतः तुम उन्हें सूचित कर सकोगे और यदि किसी प्रकार आज ही इसको कुमार के दर्शन हो जायं तो यह बच जायगी। हे तेतलि ! यह विचार करके ही मैं प्रातः ही तेरे पास आई हूँ। इसी कारण से मैंने तुझे कहा कि कामदेव से मुझे बहुत भय लग रहा है, वह तो तू अब समझ ही गया होगा, अब तू जैसा कहे वैसा करें।

मिलन-स्थान का संकेत

तेतलि—अरे कपिंजला ! हमारे कुमार ने सब इन्द्रियाँ वश में कर रखी हैं और स्त्रियों को तो वे तृणतुल्य गिनते हैं, क्योंकि वे महापुरुष हैं। फिर भी तुम्हारे लिये मैं कुमार को सूचित करूँगा कि वे अपना दर्शन देकर कुमारी के प्राण बचायें। केवल तू कुमारी को साथ लेकर रति-मन्मथ उद्यान में कुमार से मिलने आ जाना।

कपिंजला—बहुत उपकार किया। मैं आपका अन्तःकरण से आभार मानती हूँ।

तेतलि—स्वामिन् नन्दिवर्धन ! उपरोक्त कथन के साथ ही कपिंजला ने मेरे चरण स्पर्श किये। मेरा बहुत बहुत आभार माना और वह कुमारी के महल की ओर गई तथा मैं यहाँ आया। ❀ अतः आपको जो व्याधि हुई है, उसकी यह औषधि भी मैं अपने साथ लेकर आया हूँ।

नन्दिवर्धन—धन्य तेतलि ! धन्य !! तू ने बहुत अच्छा किया। कैसे बात करनी चाहिये यह भी तू अच्छी तरह जानता है।

ऐसा कहकर मैंने अपने गले का हार और हाथ के बाजूबन्द आदि भी उतारकर उसे पहना दिये। तेतलि ने कहा—कुमार ! इस तुच्छदास पर आपने इतनी बड़ी कृपा की यह उचित नहीं लगता।'

नन्दिवर्धन—आर्य तेतलि ! प्राण बचाने वाले प्रवीण वैद्य को तो जितना दिया जाय उतना ही थोड़ा है। इसमें अच्छा नहीं लगने की बात ही क्या है ? तुझे इस प्रसंग में किसी भी प्रकार का विचार नहीं करना चाहिये। तुझे समझ लेना चाहिये कि अब तू मेरे प्राण से भिन्न नहीं है।

❀ पृष्ठ २६१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमात्य विमल का संदेश

मैं तेतलि से इस प्रकार बातें कर ही रहा था कि कनकचूड राजा का अमात्य विमल मेरे भवन के द्वार पर आ पहुँचा। प्रतिहारी ने सूचित किया कि अमात्य विमल आये हैं। शीघ्र ही मैंने सारथि तेतलि को एक आसन पर बैठने को कहा, तब तक द्वारपाल अमात्य को लेकर मेरे पास आ गया। उसने मुझे योग्य रीति से प्रणाम किया और कहा कुमार श्री! महाराज कनकचूड ने अपने एक विशिष्ट कार्य से मुझे आपके पास भेजकर कहलाया है कि मेरे प्राणों से अधिक प्रिय कनकमंजरी नामक पुत्री है। मेरे अनुरोध पर आप उससे पाणिग्रहण कर मुझे आह्लादित करें।

अमात्य के उपरोक्त वचन सुनकर मैंने तेतलि की ओर देखा। उसने कहा—महाराज कनकचूड की सभी आज्ञाओं को आपको देव आज्ञा के समान स्वीकार कर लेना चाहिये। अतः उन्होंने आपसे जो अनुरोध किया है, उसे आप अवश्य स्वीकार करें।

मैंने उत्तर दिया—'तेतलि! तुम जो कहते हो वह मुझे स्वीकार है।' मेरा उपकार मानते हुए अमात्य विमल वहाँ से विदा हुआ। फिर तेतलि ने मुझ से कहा—'देव! अब आप रति-मन्मथ उद्यान में पधारें। अधिक विलम्ब होने से राजकुमारी कनकमंजरी का मन ऊंचा-नीचा होगा, जो नहीं होना चाहिये।' मैंने उसकी बात को स्वीकार किया।

रति-मन्मथ उद्यान में

फिर तेतलि को साथ लेकर मैं रतिमन्मथ उद्यान में पहुँचा। मनोहारिणी शोभा में इन्द्र के नन्दनवन का भी उपहास करने वाले इस उद्यान को मैंने देखा। कनकमंजरी के दर्शन की आशा से मैं वहाँ चम्पक वीथिका में, कदली (केला) समूह में, माधवीलता मण्डप में, केतकी खण्ड में, द्राक्षा मण्डप में, अशोक वन में, लवलीवृक्षों के गहन भागों में, नागरबेल के आरामगृह में, कमल सरोवर की पाल पर और अन्य बहुत से सुन्दर स्थानों पर घूमा, बार-बार उन्हीं स्थानों पर गया, परन्तु उस मृगनयनी को मैंने कहीं नहीं देखा। तब मैंने मन में सोचा कि तेतलि ने मुझे ठगा है। अमात्य विमल भी कन्या के पाणिग्रहण का जो संदेश दे गया वह भी तेतलि का मायाजाल ही लगता है। ऐसी अद्भुत नवयौवना के दर्शन का सौभाग्य भी मेरे भाग्य में कहाँ है?

शोकग्रस्ता कनकमंजरी

मैं उन्मना-सा होकर ऐसे विचारों में लीन था कि तभी उद्यान की तरुलताओं के गहन भाग में से झांझर की मधुर ध्वनि सुनाई दी। तेतलि को वहीं छोड़, जिधर से नूपुर की ध्वनि आई थी उधर ही गया तो तमाल वृक्षों के नीचे स्वर्गभ्रष्ट देवांगना जैसी, गृहत्यक्त नागकन्या जैसी और कामदेव के विरह से कातर रति जैसी शोकमग्न कनकमंजरी को मैंने देखा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूर से ही मैंने देखा कि वह चपल दृष्टि से चारों दिशाओं में किसी को खोज रही है, पर कोई मनुष्य उसे दिखाई नहीं पड़ रहा है। * अन्त में उसने कहा – 'हे भगवति वनदेवता ! आप साक्षी हैं। तेतलि ने मेरी धाय के पास स्वीकार किया था कि मेरे इष्ट हृदयनाथ को वह शीघ्र ही मेरे पास लेकर आयेगा और इस रति-मन्मथ उद्यान में मिलने का उसने संकेत किया था। वह बुड्ढी बिल्ली (कपिंजला) ठगकर मुझे यहाँ लायी है। मेरे हृदयनाथ यहाँ तो कहीं दिखाई नहीं देते और वह बुड्ढी भी उन्हें ढूँढने के बहाने मुझे अकेली यहाँ छोड़कर न जाने कहाँ चली गई है ? यह कपिंजला इन्द्रजाल की रचना करने में बहुत चतुर है। उसने आज मुझे ठगा है। इधर तो मैं प्रियतम के विरह से दग्ध हूँ और उधर मेरे विश्वस्त जनों ने मेरे साथ छल किया है। मुझ जैसी मन्दभाग्य वाली स्त्री के जीने से क्या लाभ ? आप वनदेवता से मैं यही वर माँगती हूँ कि अगले जन्म में भी यही हृदयनाथ मेरे पति बनें।' इस प्रकार कहते हुए कनकमंजरी वल्मीक शिखर के सहारे एक तमाल वृक्ष की डाल पर चढ़ी। वृक्ष की डाल के साथ रस्सी बाँधी और उस रस्सी से अपने गले को बाँधकर ज्योंही लटकने को तैयार हुई त्योंही 'अरे, सुन्दरी ! ऐसा दुस्साहस क्यों कर रही हैं ?' ऐसा कहते हुए त्वरित गति से मैं उसके पास पहुँच गया और बांये हाथ से उसके शरीर को सम्भाल कर दांये हाथ से छुरी से मैंने रस्सी को काट दिया। फिर मैंने उसे लिटाकर उस पर पवन किया। जब उसे कुछ चेतना आई तब मैंने कहा—'अरे देवि ! ऐसा अघटित कार्य क्यों कर रही थी ? यह पुरुष तुम्हारे अधीन है। अतः सर्व प्रकार के क्लेश, दुःख और विषाद का त्याग करो।'

कनकमंजरी से मिलन

कनकमंजरी कुछ आंखे भींचते और कुछ-कुछ तिरछी दृष्टि से मुझे देखने लगी। जब वह मेरे सामने देख रही थी उस समय वह मानों अनेक रसों का एक साथ अनुभव कर रही हो, मानो कामदेव के चिन्हों को व्यक्त कर रही हो। उस समय उसका स्वरूप ऐसा अनिर्वचनीय लग रहा था जो योगियों की वाणी से भी वर्णनातीत था। स्वयं अकेली होने से उसे कुछ डर लग रहा था, पर यह वह पुरुष है जिसे वह चाहती है, इस विचार से उसे आनन्द भी हो रहा था। ये अपने आप ही इस स्थान पर कैसे पहुँच गये होंगे, इस विषय में उसे शंका हो रही थी। ये बहुत ही रूपवान है इस विचार से उसके मन में थोड़ी घबराहट हो रही थी। स्वयं चल कर यहाँ आई थी, इस विचार से मन में लज्जित भी हो रही थी। इस जनरहित एकान्त प्रदेश में अकेली हूँ, इस विचार से चारों दिशाओं में चपल दृष्टि घुमा रही थी। इसी उद्यान में मिलने का संकेत किया था, इस विचार से उसका मन कुछ आश्वस्त हुआ था। मुझे फांसी लगाकर आत्म-घात करते इन्होंने देख लिया है, इस विचार से मन में खिन्न हुई। उसका पूरा शरीर पसीने से तर-बतर था जिससे वह समुद्र मन्थन से निकली लक्ष्मी

* पृष्ठ २६२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसी दिख रही थी। शरीर में बार-बार होने वाले रोमांच से वह कदम्ब-पुष्प-माल जैसी लग रही थी। प्रथम मिलाप की स्वाभाविक घबराहट से उसका शरीर कम्पित हो रहा था जिससे वह पवन के वेग से हिलती हुई वृक्ष मंजरी जैसी लग रही थी। उसकी आँखें बन्द थी और हलन-चलन बन्द था जिससे ऐसा लग रहा था जैसे वह आनन्द के समुद्र में डूबी हुई हो।

नन्दिवर्धन के प्रेम वचन

ऐसी स्थिति में कनकमंजरी लज्जावश समझ में न आने वाले अस्पष्ट शब्द बोल रही थी—'अरे निष्ठुर हृदय! मुझे छोड़! छोड़!! मुझे तेरी कोई आवश्यकता नहीं।' इस प्रकार कहते हुए उसने मेरे हाथ से छूटने का प्रयत्न किया। उसके प्रयत्न को देखकर मैंने उसे दूब उगी जमीन पर बिठाया। मैं उसी के पास उसके सामने बैठा और बोला—'अरे सुन्दरी! अब लज्जा को छोड़, क्रोध को शान्त कर, मैं तो तेरी आज्ञा का पालन करने वाला सेवक हूँ। मुझ पर इतना क्रोध करना ❀ उचित नहीं है।' मैं जब इस प्रकार बोल रहा था तब उसे भी कुछ बोलने का विचार हुआ परन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी लज्जावश वह मुझ से कुछ बोल नहीं सकी। केवल उसकी श्वेत दन्तपंक्ति की किरणें, रक्तिम अधर और स्फुरायमान कपोल उसके हृदय के आनन्द को व्यक्त करते थे, किन्तु बाहरी दिखावे में तो वह अपने बांये हाथ के अंगूठे से जमीन कुरेदते हुए नीचा मुँह किये बैठी ही रही।

मैंने फिर कहा—हे सुन्दरी! अब अपने मन के संकल्प-विकल्पों का त्याग कर।

प्यारी! मेरे हृदय, प्राण और शरीर से भी तू मुझे अत्यधिक प्रिय है। त्रैलोक्य में तेरे अतिरिक्त मेरे हृदय का कोई स्वामी नहीं है। हे पद्मलोचना! तूने अपने अन्तरंग का प्रेम रूपी मूल्य देकर आज से मुझे क्रीत कर लिया है, अतः आज से मैं तेरे पाँव धोने वाला सच्चा सेवक हूँ। मैं तुझे विश्वास दिलाता हूँ कि मैं कठोर हृदय वाला नहीं हूँ। अपने लिये यदि कोई कठोर हृदय वाला है तो वह केवल भाग्य लिखने वाला विधाता ही है। हे सुलोचना! वही तेरे मुखकमल के दर्शन में बाधक बनता है। [१-३[

जब राजकुमारी ने मेरे उपरोक्त वचन सुने तब अपने अंतःकरण में अत्यन्त प्रसन्न होने से वह मुझे ऐसी लगने लगी मानों किसी अभीष्ट मधुर रस में डूब रही हो। मानो यह राजकुमारी कोई दूसरी ही हो। मानों उसके शरीर पर अमृत की वर्षा हुई हो। मानों उसने सुख के सागर में डुबकी लगाई हो अथवा उसे कोई बड़ा साम्राज्य प्राप्त हो गया हो। ऐसा आनन्द उसके चेहरे पर दिखाई देने लगा। [४-५]

❀ पृ० २६३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारथि और कपिंजला

इधर मुझे ढूँढने निकली कपिंजला उद्यान के भिन्न-भिन्न विभागों में ढूँढती हुई जहाँ हम थे उसके निकट आ पहुँची। पहिले उसने तेतलि को देखा और तुरन्त बोल पड़ी—'मित्र, भले पधारे! पर आपके कुमार कहाँ है?' तेतलि ने कहा—'कुमार वृक्षलता के गहन भाग में आये हुए उद्यान में हैं।' इस बातचीत के पश्चात् वे दोनों जहाँ हम थे वहाँ आने के लिये चल पड़े। दूर से ही उन्होंने हमारी जोड़ी देखी तो उन्हें अत्यधिक हर्ष हुआ। कपिंजला ने कहा—'जिस विधाता ने ऐसी सुन्दर, योग्य और अनुरूप जोड़ी मिलाई उसे नमस्कार हो।' तेतलि ने कहा—'हे कपिंजला! कामदेव और रति जैसी यह सुन्दर जोड़ी आज इस उद्यान में मिली, अतः इस उद्यान का रतिमन्मथ नाम सार्थक हुआ। अभी तक तो इसका नाम अर्थ रहित होने से निरर्थक था।' इस प्रकार बात करते हुए कपिंजला और तेतलि हमारे पास पहुँचे।

उन्हें देखकर कनकमंजरी घबरा कर एकाएक खड़ी हो गई जिसे देख कपिंजला ने कहा—'पुत्री! बैठ जा। घबराने का कुछ भी कारण नहीं है।' पश्चात् अमृतपुञ्ज के समान दूब पर बैठकर हम चारों स्नेहपूरित हास्य युक्त विश्वस्त बातें करते रहे।

कंचुकी योगन्धर

हम बातों में रस मग्न थे तभी कनकमंजरी के अन्तःपुर का कंचुकी योगन्धर वहाँ आ पहुँचा। मुझे प्रणाम कर उसने शीघ्रता से कनकमंजरी को बुलाया। तब कपिंजला ने पूछा—'भैया योगन्धर! इस प्रकारी कुमारी को सहसा बुलाने का क्या कारण है?' कंचुकी ने उत्तर दिया—महाराज ने जब सुना कि रात में राजकुमारी अस्वस्थ थी तो प्रातः ही कुमारी को देखने भवन में आ गये। कुमारी वहाँ नहीं मिली। फलतः महाराज व्याकुल हो गए और महाराज ने मुझे बुलाकर आज्ञा दी कि कुमारी जहाँ कहीं हों उसका पता लगाकर मैं उन्हें शीघ्र ही उनके पास लेजाऊं।' इसलिये कुमारी जी को बुलाने के लिये मैं आया हूँ। * कनकमंजरी यह जानती थी कि पिताजी की आज्ञा का उल्लंघन कभी भी नहीं हो सकता, अतः मेरी तरफ तिरछी दृष्टि से देखती हुई, आलस्य मरोड़ती हुई कपिंजला के साथ वहाँ से प्रस्थान कर गई और थोड़ी ही देर में मेरी दृष्टि से ओझल हो गई।

स्नेह-स्मृतियाँ

कनकमंजरी के जाने के बाद तेतलि ने मुझ से कहा—'प्रभो! अब यहाँ अधिक ठहरने की क्या आवश्यकता है?' उसके पश्चात् कनकमंजरी का बनावटी क्रोध भरा मुखडा, 'निष्ठुर हृदय मुझे छोड़ दें' जैसे वचन, विलसित दंतपंक्ति से रंजित ओष्ठ, अंतरंग के हर्षातिरेक को व्यक्त करते विस्फुरित कपोल, प्रेम पगी लज्जा-

* पृष्ठ २६४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युक्त पैर के अंगूठे से जमीन का कुरेदना, अंतःकरण की गहन अभिलाषा को व्यक्त करती उसकी वक्र दृष्टि आदि कनकमंजरी सम्बन्धी मदन-ज्वर को तीव्रतर करने वाली बातें, जिन्हें मैं उस समय मोहवश मदन-दाह को शान्त करने वाली अमृत जैसी मानता था, बार-बार मन में याद करते हुए मैं अपने भवन में पहुँचा और उस दिन के अन्य दैनिक कार्य करने लगा।

पाणिग्रहण

दोपहर में दासी कन्दलिका मेरे पास आई और कहने लगी –'कुमार! महाराज ने कहलाया है कि आज उन्होंने ज्योतिषी को बुलाकर लग्न का मूहूर्त पूछा तो उसने आज संध्या का गोधूली लग्न बहुत शुभ बताया।' कन्दलिका के वचन सुनकर मैं रति-समुद्र में डूब गया और ऐसे हर्ष के समाचार लाने के लिये मैंने उसे पारितोषिक दिया। कुछ समय बाद सोने के कलश हाथ में लिये हुए स्त्रियाँ वहाँ आ पहुँची और उन्होंने मुझे स्नान कराया, मेरे हाथ में मंगलसूत्र बांधा। इसके बाद बड़े-बड़े दान दिये गये, कैदखाने से कैदी छोड़े गये, नगर देवताओं का पूजन कराया गया और गुरुजनों को सन्मानित किया गया। बाजार को विशेष रूप से सजाया गया। राजमार्गों को साफ करवाया गया। स्नेहीजनों को सन्तुष्ट किया गया। उस प्रसंग पर राजमाताएँ गीत गाने लगीं, अन्तपुर की दासियां नाचने लगीं और राजा के प्रिय पुरुष विलास करने लगे। ऐसे आमोद-प्रमोद के वातावरण में बड़े आडम्बर के साथ मैंने राज भवन में प्रवेश किया। वहाँ मुसल-ताड़ना, पूंखने (आरती उतारने) आदि अनेक प्रकार के कुलाचार/रीति-रस्म पूरे किये गये।

फिर लग्नमण्डप में विशेष प्रकार से रचित वधूगृह (मातृगृह) में मुझे ले जाया गया। वहाँ मैंने महामोहवश जिसके विवेकचक्षु बन्द हो गये हों, ऐसी दृष्टि से हर्षातिरेक से पुलकित होकर कनकमंजरी को देखा। अपने अतिशय रूप से वह देवांगनाओं का भी उपहास कर रही थी। इन्द्रियजन्य विलासों में मदनप्रिया रति से भी अधिक प्रवीण दिखाई देती थी। उसके अधर नवरक्त प्रल्लव जैसे, स्तन गोल सुगठित चकवे-चकवी की जोड़ी का भ्रम उत्पन्न करने वाले, नाक की डण्डी ऊंची सीधी और सुन्दर, रक्त अशोक की नवस्फुटित किशलय जैसे कमनीय पतले लम्बे और चमकते हुए हाथ, रक्त कमल के पत्तों जैसी सुन्दर आँखें हाथी के सूंड की आकार वाली मनोहर जांघें, अत्यन्त विस्तीर्ण नितम्ब, त्रिवली की तरंगों से तरंगायित मध्यभाग, वेणी के काले चिकने और भ्रमराकार गुच्छेदार बाल और उसके दोनों पाँव जमीन पर उगे हुए कमल के जोड़े जैसे सुशोभित थे। उसके उस रूप और यौवन को देखकर मेरे विवेक के नेत्र बंद हो गये। मुझे ऐसा लगा कि मानो वह कामरस की तलैया है, सुख की राशि है, रति का खजाना है, रूप और आनन्द की खान है। मुनियों के मन को भी अपनी ओर आकर्षित कर सके ऐसी सुन्दर यौवनावस्था का अनुभव कराने वाली कनकमंजरी को मैंने जी भरकर देखा। ❀ फिर

❀ पृष्ठ २६५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुख्य ज्योतिषी के निदर्शानुसार हमारा हस्त-मिलाप किया गया, फेरे फिरवाये गये और विधि अनुसार सभी प्रकार के लौकिक रीति-रिवाजों को पूर्ण किया गया। बड़े आडम्बर के साथ हमारे विवाह-यज्ञ का कार्य पूर्ण हुआ। फिर देव भवन की शोभा को भी फीका करने वाले विशेष सुसज्जित शयन गृह में जहाँ कनकमंजरी थी मैंने प्रेम रूपी अमृतसमुद्र में डुबकी लगाते हुए प्रवेश किया। हमारा परस्पर का प्रेम दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया और कई दिन हमने इस राजभवन में आनन्द पूर्वक बिताये।

❀

२५. हिंसा के प्रभाव में

हमारे साथ लड़ने वाले विभाकर को युद्ध में जो घाव लगे थे वे अब भर गये थे। उसका शरीर भी स्वस्थ हो गया था। उसे मुझ से स्नेह हो गया था और वह मेरा विश्वासपात्र भी बन गया था। कुछ दिनों के बाद महाराज कनकचूड ने उसे मानपूर्वक परिवार सहित उसके राज्य में वापिस भेज दिया। अम्बरीष जाति के लुटेरों का नायक प्रवरसेन युद्ध में मारा गया था, अतः अन्य वीरसेन आदि मेरे दास बनकर मेरे पास ही रहने लगे। उन्हें भी योग्य सन्मान देकर मैंने उनको उनके देश की ओर विदा किया। अब मेरे मन में किसी प्रकार की चिन्ता न थी, किसी ओर से मुझे संताप हो ऐसा भय भी नहीं था। ऐसे सर्वथा अनुकूल संयोगों में मैं अपनी प्रिय-पत्नियों रत्नवती और कनकमंजरी के साथ आनन्दसमुद्र में कल्लोल करता हुआ कनकचूड राजा के कुशावर्तपुर में कुछ समय तक रहा।

नान्दवर्धन की विपरीत बुद्धि

मुझे सर्व प्रकार के आनन्द-सुख प्राप्ति का वास्तविक कारण तो मेरा मित्र पुण्योदय ही था, किन्तु महामोह के वशीभूत मेरा मन घने अन्धकार में भटक रहा था जिससे मुझे सर्वदा ऐसा ही लगता था कि यह सब मेरी प्रिया हिंसा और मेरे मित्र वैश्वानर का ही प्रभाव है। इन दोनों के प्रभाव से ही कनकमंजरी जैसी सुन्दर पत्नी जो आनन्द रूपी अमृतरस की कुइयाँ जैसी है, मुझे प्राप्त हुई है। महाराजा कनकचूड ने स्वयं ही मणिमंजरी से कहा था कि 'द्रुम और समरसेन जैसे योद्धाओं को नन्दिवर्धन कुमार ने (मैंने) खेल-खेल ही में मृत्यु के घाट पहुँचा दिया, इसीलिये हमें कुमारी कनकमंजरी का लग्न उसके साथ करना चाहिये।' यह बात मणिमंजरी ने कपिंजला को कही थी और कपिंजला से सुनकर तेतलि सारथि ने मुझे कही थी। द्रुम और समरसेन को मैंने हिंसादेवी और वैश्वानर के प्रभाव से ही पराजित किया था, इसमें क्या सन्देह है? वस्तुतः मुझे कनकमंजरी की प्राप्ति हिंसा और वैश्वानर के सहयोग से ही प्राप्त हुई है। इनका मुझ पर असीम उपकार है। ऐसे-ऐसे विचारों से मेरे मन में हिंसा और वैश्वानर के प्रति अधिकाधिक स्नेह बढता गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैश्वानर और क्रूरचित्त बड़ों का प्रभाव

वैश्वानर मित्र पर मेरा बहुत प्रेम होने से वह मुझे क्रूरचित्त नाम के बड़े खाने को देता रहता था, जिन्हें मैं प्रतिदिन खाता था। इसके प्रभाव से मुझ में प्रचण्ड कठोरता का भाव आने लगा, असहिष्णुता, उग्र भयंकरता और अतीव क्रूरता मेरे रग-रग में समा गई। संक्षेप में कहूँ तो उस समय मेरा अपना स्वरूप विलीन हो गया और मैं वास्तव में वैश्वानर भय ही बन गया। कुछ समय बाद तो मेरी ऐसी स्थिति हो गई कि मुझे बड़े खाने की भी आवश्यकता नहीं रही। मैं सर्वदा क्रोध से दम-दमाता रहता और जो कोई मुझे हित की बात कहता मैं उसको आड़े हाथों लेता और ताडित करता। मेरे नौकरों-सेवकों को भी मैं बिना किसी अपराध के मारने लग जाता।

आखेट का व्यसन : कनकशेखर की विचारणा

हिंसादेवी के पुनः-पुनः आलिंगनादि के प्रभाव से मैं शिकार का शौकीन बन गया। परिणामस्वरूप मैं प्रतिदिन अनेक जीवों को मारने लगा। मेरे शिकार के व्यसन का जब कनकशेखर को पता लगा तो वह सोचने लगा कि—* अहो! इसका व्यवहार तो बहुत गड़बड़ा रहा है। ऐसा क्यों हुआ?

यह नन्दिवर्धन तो सुन्दर है, उत्तम कुलोत्पन्न है, शूरवीर है, पढा हुआ है, महारथी है फिर भी प्राणियों को आनन्दित क्यों नहीं करता? मेरे विचार में इसका कारण यही हो सकता है कि वह हिंसादेवी से आलिंगित है और वैश्वानर से प्रेम करता है। इसीलिये प्राणियों को निरंतर संताप देता है और धर्म से दूर होता जा रहा है। किन्तु, मैं इसका मित्र हूँ इसलिये मुझे इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये तथा नन्दिवर्धन को उसके हित की बात बतानी चाहिये। यदि वह इसके अनुसार व्यवहार करेगा तो उसका बहुत भला होगा। सम्भव है अकेले में शिक्षा देने से यदि वह मेरी शिक्षा को न माने तो कहना व्यर्थ होगा, अतः मुझे पिताजी के समक्ष ही इससे बात करनी चाहिये जिससे कुछ नहीं तो पिताजी की शर्म से ही वह सीधे रास्ते पर आ जाय। अतएव मुझे पिताजी के सामने ही नन्दिवर्धन को ऐसी शिक्षा देनी चाहिये जिससे वह हिंसा और वैश्वानर का त्याग करदे और गुणों का भाजन बन सके [१–५]

शिक्षा का प्रयत्न

अनन्तर कनकशेखर ने अपने पिताजी से इस विषय में बातचीत की। एक दिन मैं राज्यसभा में गया, महाराजा को नमस्कार कर उनके पास बैठा। समयानुसार राजा कनकचूड ने मेरी प्रशंसा की। उस समय कनकशेखर ने कहा—'पिताजी! स्वरूप से तो भाई नन्दिवर्धन अवश्य ही प्रशंसा-योग्य हैं, किन्तु उसके सुन्दर रूप में एक ही दाग (कांटा) दिखाई देता है कि वह सज्जन पुरुषों द्वारा निन्दनीय बुरे लोगों की संगति करते हैं।' महाराजा ने पूछा—'ऐसी किसकी कुसंगति

---

* पृष्ठ २६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसको लगी है ?' कनकशेखर ने उत्तर में कहा—'पिताजी स्वरूप से ही सर्व प्रकार के दुःख उत्पन्न करने वाला और अनेक अनर्थों का कारण इसका एक बचपन का मित्र वैश्वानर है। इसके अतिरिक्त जिसका नाम सुनने से ही पूरे संसार को त्रास प्राप्त होता है ऐसी गुरुतर पापों का बन्ध करवाने वाली हिंसा नामक इसकी अन्तरंग पत्नी है। इन दोनों की कुसंगति के कारण इसके सभी गुण इक्षु-कुसुम (कास के फूल जैसे) उज्ज्वल होते हुए भी निष्फल हैं।' महाराजा कनकचूड ने कहा—'यदि ऐसा है तो इसे इन दोनों पापियों का त्याग करना ही उचित है। ऐसे लोगों के साथ सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। क्योंकि:—

जो व्यक्ति अपना हित चाहते हों उन्हें ऐसे मित्र करने चाहिये जो इस भव और पर भव में हितकारी, उभय लोकों को सुधारने वाले और उभय लोकों का विनाश न करने वाले हों। १।

स्वहितेच्छु मनुष्य को ऐसी स्त्री के साथ लग्न करना चाहिये जो उभय लोकों में आह्लादकारिणी हो और जो धर्म-साधना में अधिक कारणभूत बने। किन्तु जिस स्त्री की चेष्टायें मूल से ही दूषित हों उसके साथ कभी भी सम्बन्ध नहीं करना चाहिये। २।

उग्र-क्रोध : शत्रुता

मैं तो सर्वदा क्रोधाग्नि से धधकता रहता था, उस अग्नि में महाराजा कनकचूड और कुमार कनकशेखर के वचनों ने घी का काम किया जिससे मेरी क्रोधाग्नि अधिक प्रज्वलित हो उठी। क्रोधाग्नि के जोश में मैंने अपना सिर हिलाया, भूमि पर हाथ से मुक्के मारे, प्रलयकाल के सदृश हुंकार किया और क्रुद्ध दृष्टि से राजा और राजकुमार की ओर देखा। फिर राजा को उद्देश्य कर चीखते हुए कहा—'अरे मूर्ख! मेरे प्राणों से भी प्यारे वैश्वानर और हिंसा को पापी कहने वाला तू कौन है? क्या तुझे इतना भी भान नहीं कि किस की कृपा से तुझे यह राज्य पुनः मिला है? यदि मेरा मित्र वैश्वानर नहीं होता तो महा बलवान समरसेन और द्रुम को तेरा बाप भी नहीं हरा सकता था? उसमें से एक को भी मारने में तुम में से कौन समर्थ है, यह तो बता?' फिर उसने कनकशेखर से कहा—❀ 'अरे नीच! चाण्डाल! क्या तू मुझ से भी बड़ा पण्डित बन गया है कि मुझे शिक्षा दे रहा है?

मेरे क्रोधपूर्ण चेहरे को देखकर और कटुवचन सुनकर राजा कनकचूड को बहुत आश्चर्य हुआ और कुमार कनकशेखर का मुँह खुला का खुला रह गया। उनकी विस्मयपूर्ण मुख मुद्रा देखकर मैंने मनमें कहा—'अरे! ये तो मुझे कुछ मानते ही नहीं।' उसी समय चमकती हुई छुरी निकाल कर मैंने (नन्दिवर्धन ने) कहा—'अरे! घर में बैठकर बातें करने वाली औरतों! अब देखो! थोड़ी ही देर में मैं अभी अपना और अपने मित्र वैश्वानर का चमत्कार तुम्हें बताता हूँ। तुम्हें जो प्रिय हो वह शस्त्र अपने हाथ में लेकर मुझ से युद्ध करने को तैयार हो जाओ।'

❀ पृष्ठ २६७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हाथ में छुरी और फटी जीभ से साक्षात् यमराज जैसा मुझे देखकर राज्यसभा के सभी सदस्य भाग खड़े हुए और महाराजा तथा कुमार तो अपने स्थान से हिल तक नहीं सके। उस समय उनका प्रताप और पुण्योदय शेष था और भवितव्यता भी ऐसी ही थी जिससे उन्हें कोई चोट पहुँचाये बिना मैं राज्य-सभा से निकलकर अपने भवन में आ गया। उसके बाद महाराजा और कुमार ने मेरी अवहेलना शुरु कर दी और मैं उन दोनों को अपना शत्रु समझने लगा। हमारे बीच साधारण लोक-व्यवहार भी टूट गया।

❀

२६ : पुण्योदय से बंगाधिपति पर विजय

महाराज कनकचूड और राजकुमार कनकशेखर के साथ जब से मेरी बोलचाल और व्यवहार बन्द हुआ तब से मैं वह नगर छोड़कर जाने का विचार कर रहा था तभी जयस्थल से मेरे पिता द्वारा भेजा हुआ दूत दारुणक आया। जब मैंने उसे अच्छी तरह से पहचान लिया तब उसने निम्न समाचार कहे:—

जयस्थल के समाचार

दूत—कुमार श्री! मुझे प्रधानों ने आपके पास भेजा है।

उसी समय मेरे मन में शंका हुई कि, अरे! इस दूत को मेरे पिताजी ने न भेजकर प्रधानों ने मेरे पास भेजा है, इसका कारण क्या हो सकता है? अतः मैंने दूत से पूछा - अरे दारुणक! पिताजी तो सकुशल हैं?

दूत - हाँ जी, पिताजी सकुशल हैं। आपको ध्यान होगा कि बंग देश में यवन नामक एक राजा है। उसकी विशाल सेना ने अपने नगर के चारों तरफ घेरा डाल रखा है। अपने किले के बाहर का पूरा प्रदेश उसने जीत लिया है। उसने और भी अनेक स्थान जीत लिये हैं और अपने घास तथा अनाज के भण्डारों पर भी अधिकार कर लिया है। इस यवनराज को हटाने का कोई उपाय नहीं रहा जिससे क्षीर समुद्र जैसे गम्भीर हृदय वाले आपके पिताजी भी थोड़े बहुत विह्वल हो गये हैं, मंत्री भी विषाद को प्राप्त हुए हैं, प्रधानों के भी मन खिन्न हुए हैं और नगर के सब लोग त्रस्त हुए हैं। श्रीमान्! क्या कहूँ? अब क्या होगा? इस विचार से सम्पूर्ण नगर भाग्य पर आधारित हो गया है। 'भाग्य में जो लिखा होगा, वही होगा', सभी लोग ऐसा सोचने लगे हैं। मन्त्रियों और प्रधानों ने मिलकर बहुत विचार के पश्चात् निश्चय किया कि यवनराजा जैसे बड़े शत्रु को हराने की सामर्थ्य तो केवल कुमार नन्दिवर्धन में है, और किसी पुरुष में ऐसी शक्ति नहीं है। इसके पश्चात् मंत्रियों में निम्न प्रकार से विचार विमर्श हुआ:—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मतिधन - अभी हम जिस निर्णय पर पहुँचे हैं उसे शीघ्र महाराजा पद्म को सूचित करना चाहिये।

बुद्धिविशाल—नहीं, नहीं, यह बात महाराजा को नहीं बतानी चाहिये।

मतिधन—क्यों, उनको बताने में क्या आपत्ति है ?

बुद्धिविशाल—पद्म राजा को अपने पुत्र पर बहुत प्रेम है, अतः ऐसे संकट के समय में वे अपने पुत्र का यहाँ आना रागवश पसन्द न भी करें, इसीलिये इस बारे में महाराजा को सूचित नहीं करना ही अच्छा रहेगा।

प्रज्ञाकर—मतिधन ! बुद्धिविशाल ने जो बात कही है वह अवश्य ही विचार करने योग्य है। मुझे तो यह बात उचित ही लग रही है। इस विषय में अधिक सोच विचार करने से क्या ? मेरे विचार से तो महाराजा को बिना सूचित किये ही गुप्त रूप से दूत को कुमार के पास भेजकर ❀ सब समाचार कहलाकर राजकुमार को शीघ्र यहाँ बुला लेना चाहिये जिससे सर्वत्र शान्ति हो जाय।

मतिधन—ठीक है, फिर ऐसा ही करें।

कुमार नन्दिवर्धन ! इस प्रकार प्रधानों में बातचीत होने के पश्चात् सर्वरोचक प्रधान ने मुझे आपके पास भेजा है।

जयस्थल की ओर प्रयाण

दूत की इतनी बात सुनते ही मेरे शरीर में रहने वाला मेरा मित्र वैश्वानर उल्लसित हो जागृत हो गया। अब अपना चमत्कारी प्रभाव दिखाने का अच्छा अवसर आ गया है, यह जानकर मेरी प्रिया हिंसा देवी भी अत्यन्त प्रसन्न हुई। मैंने जोर से कहा—'सेना के प्रस्थान की भेरी बजाओ ! कूच का रणसिंगा फूंको। मेरी चारों प्रकार की सेना को तैयार करो।' मेरी इच्छा को समझकर मेरे सेनाधिकारियों ने कूच की तैयारी कर दी। मेरी सेना के साथ मैं वहाँ से चल निकला। क्रोधवश मैंने महाराजा कनकचूड या कुमार कनकशेखर को कुछ भी सूचित नहीं किया। कनकमंजरी से प्रेम के कारण मणिमंजरी हमारे साथ आयी। अनवरत कूच करते हुए थोड़े ही दिनों में हम जयस्थल नगर के निकट पहुँच गये।

वैश्वानर का उग्र प्रभाव

मैंने मित्र वैश्वानर से कहा—'मित्र ! आजकल तो मुझ में प्रतिक्षण सतत तेजस्विता रहती है, जिससे मुझे बड़ों का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं रहती। पहले तो तेजस्विता लाने के लिये मुझे बड़ों का प्रयोग करना पड़ता था। यह सब परिवर्तन कैसे हुआ ?' वैश्वानर ने उत्तर दिया—'मित्र ! कृत्रिमता रहित भक्ति से (मैं) भक्त के वश में हो जाता हूँ। तुम्हारी मुझ पर अन्तःकरण की अतुलनीय गहरी भक्ति है। जिस प्राणी को मुझ पर सच्ची भक्ति होती है, मेरे वीर्य

❀ पृष्ठ २६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से बने क्रूरचित्त बड़े उसके चित्त/रग-रग में प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार तेरे चित्त में प्रवेश किये हुए बड़े अब तेरे साथ तन्मय हो गये हैं। संक्षेप में बड़ों के प्रताप से अब तू वीर्य में पूर्णरूप से मेरे समान ही हो गया है। पुनश्च, मेरी बात मानकर तुझे साक्षात् हिंसा देवी भी मिल गई है, जो तेरे जैसी ही तेजस्विनी है। तेरा शरीर वैश्वानरमय और तू स्वयं हिंसामय बन गया है। अब तुझे किसी प्रकार का सन्देह नहीं रखना चाहिये।' मैंने उत्तर में कहा – 'अभी भी मुझे एक सन्देह है।'

बंगाधिपति के साथ युद्ध और विजय

हम दोनों के बीच उपरोक्त बातचीत चल ही रही थी कि हमें शत्रु की सेना दृष्टिगोचर होने लगी। शत्रु सेना ने भी दूर से ही हमारी सेना को देख लिया था। तुरन्त ही शत्रु सेना ने व्यूह की रचना की और हमसे लड़ने के लिये हमारे सामने आ गई। शत्रु सेना और हमारी सेना के मध्य घमासान युद्ध शुरु हो गया।

रथों के घरघराहट से, हाथियों की विकराल गर्जना से, घोड़ों के उद्दाम हेषारव से और पैदल सेना के भीषण घोष से युद्ध का मैदान बहुत भयकर लगने लगा। थोड़ी ही देर में रथ के चक्र और कूबर टूटने लगे, मदोन्मत्त हाथी विदीर्ण होने लगे, घोड़ों की पंक्तियाँ सवार बिना होने लगी, पैदल सेना के धड़ाधड़ सिर कटने लगे, सेना कम होने लगी, आकाश में देव-दानव भी भगदड़ करने लगे, सिर रहित धड़ ही हाथ में तलवार लेकर युद्ध क्षेत्र में नाचने लगे। [१–३]

इस प्रकार लड़ते-लड़ते यवनराज ने हमारी सेना को पीछे खदेड़ दिया। उसकी सेना में जयघोष की हर्ष ध्वनि होने लगी। उसी समय मैं अकेला उसके सामने गया। यवनराज भी अकेला मुझ से युद्ध करने मेरे सामने आया। हम दोनों के रथ एक दूसरे के आमने-सामने आ गये। उस समय मैंने रथ के जुए पर खड़े होकर एक जोर की छलांग लगाई और उसके रथ में कूद गया। कूदने के साथ ही मैंने यवनराज का सिर अपने हाथ से काट दिया।

यह देख कर मेरी सेना जो पीछे हट रही थी संतोष सूचक जयघोष के साथ वापस आने लगी। [१]

माता-पिता से मिलन

देवता, गन्धर्व और राक्षसों ने * मेरे पराक्रम का वर्णन करते हुए सुगन्धित जल और पुष्पों की मुझ पर वर्षा की। शत्रु सेना के नायक का नाश होने से सम्पूर्ण शत्रु सेना बिना प्रयत्न के मेरे अधीन हो गई। मेरे माता-पिता यह समाचार सुनकर सभी बन्धु-बान्धवों के साथ नगर से बाहर निकलकर मुझ से मिलने आये। साथ में नगरवासी अपने बच्चों को लेकर मुझे धन्यवाद देने वहाँ उपस्थित हुए। [२–४]

उस समय मैंने रथ से उतरकर पिताजी के चरण स्पर्श किये। उन्होंने कन्धे से उठाकर मुझे खड़ा किया, हर्षाश्रुओं की वर्षा से मुझे स्नपित करते हुए मुझे

* पृष्ठ २६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वक्ष से लगाया और बार-बार मेरा मस्तक चूमने लगे। इसी समय मैंने माताजी को देखा। उन्हें देखते ही मैंने झुककर उनके चरण स्पर्श किये। माताजी ने भी मुझे उठाकर गले लगा लिया और मेरे मस्तक पर चुम्बन अंकित किया तथा हर्षाश्रुपूरित नेत्रों से गदगद् होकर उन्होंने कहा—वत्स ! तेरी माता का हृदय तो वज्र शिला के टुकड़ों से बना हुआ लगता है, क्योंकि इतने दिनों तक तेरा वियोग सहने पर भी उसके सैकड़ों टुकड़े नहीं हो गये। अहा ! जैसे प्राणी गर्भावास में चारों तरफ से घिरा हुआ रहता है वैसे ही हम सब नगर अवरोध (शत्रु सेना के घेरे) में फँसे हुए थे। आज तुमने ही हम सब को उस घेराव से छुड़ाया है। भगवान करे मेरी आयु तुझे लग जाय।

माता-पिता के ऐसे मधुर शब्द सुनकर मैं लज्जित हुआ और कुछ नीचा मुँह कर जमीन की तरफ देखने लगा। फिर हम सब रथों में आरुढ हुए।

विजय के साथ जयस्थल में प्रवेश

शत्रु-नाश और मेरे मिलन से समस्त राज परिवार अत्यधिक हर्षित हुआ और वे अनेक प्रकार से आनन्द मनाने लगे। कोई दान देने लगे, कोई अन्तःकरण के हर्ष से गाने लगे, कई भेरी वादन के उद्दाम स्वरों के साथ नाचने लगे, कई हर्षनाद करने लगे, कई जोर से जयघोष करने लगे, कई केशर चन्दन से सुगन्धित गुलाल उड़ाने लगे, कई रत्नों की वर्षा करने लगे और कई परस्पर प्रेम पूर्वक मिलते हुए पूर्णपात्र ले जाने लगे। सम्पूर्ण नगर के लोग प्रसन्न हो गये। कूबड़े और ठिगणे लोग नाच-कूद करने लगे और अन्तःपुर के रक्षक/नाजिर भी हाथ उठा-उठा कर नृत्य करने लगे। इस प्रकार अत्यन्त प्रमोद पूर्वक जयस्थल में मेरा प्रवेश हुआ। फिर थोड़ी देर तक राज्य भवन में रुककर मैं अपने महल में गया। [१–६]

वैश्वानर और हिंसा के प्रति प्रगाढासक्ति

अपने भवन में जाकर मैंने दिन के सारे दैनिक कर्त्तव्य पूरे किये। अनेक प्रकार के महान और अद्भुत दृश्यों को देखते हुए मेरा मन अतिशय हर्षित हुआ। रात में कनकमंजरी के साथ पलंग पर सोते हुए महामोह के वशीभूत होकर मैं सोचने लगा—अहा ! मेरे मित्र महात्मा वैश्वानर का कैसा आश्चर्यकारी अद्भुत प्रभाव है ! उसने मुझे उत्साहित और प्रेरित किया जिससे मुझे विजय, यश और कल्याण की परम्परा प्राप्त हुई। उसकी प्रेरणा से ही मैं यहाँ आया, मुझ में इतना उत्साह/तेज प्रकट हुआ, मेरे माता पिता को इतना संतोष हुआ और मुझे विजय प्राप्त हुई। विशालाक्षी महादेवी हिंसा का प्रभाव भी अलौकिक है। दृष्टि निक्षेप मात्र से वह तो तुरंत शत्रु का विमर्दन कर देती है। ❀ महादेवी हिंसा जितना प्रत्यक्ष फल देती है, उससे अधिक प्रभाव में वृद्धिकारी अन्य कोई कारण मुझे दिखाई नहीं देता।' इस प्रकार विचार करते हुए मैं वैश्वानर और हिंसादेवी पर अधिकाधिक आसक्त होने लगा और मैंने अपने मन में निर्णय किया कि ये दोनों

❀ पृष्ठ २७०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(वैश्वानर और हिंसा) मेरे सच्चे बन्धु हैं, सम्बन्धी हैं, मेरे परम देवता हैं, मेरा सच्चा हित करने वाले हैं और मेरा सब कुछ इन दोनों में ही समाहित है। मैंने यह भी निश्चय किया कि जो कोई भी प्राणी इन दोनों की प्रशंसा करता है वही प्राणी धन्य है, वही मेरा सच्चा बन्धु और अंतरंग मित्र है। जो मूर्ख प्राणी इन दोनों पर द्वेष रखता है वह मेरा शत्रु है, इसमें कोई संदेह नहीं है। महामोह के वशीभूत दुर्भाग्य से मैं उस समय यह नहीं जानता था कि यह सब लाभ मुझे मेरे मित्र पुण्योदय के योग से मिला है। इस प्रकार वैश्वानर और हिंसा में प्रगाढासक्त होकर और पुण्योदय से पराङ्मुख होकर (विपरीत दिशा में काम करने का सोचकर) मैं यथार्थ शुद्ध धर्म-मार्ग से अधिकाधिक दूर होता गया। [७-१७]

❀

२७ : दयाकुमारी

माता-पिता के सन्मान और नागरिकों के प्रेम के मध्य नगर प्रवेश कर पूरा दिन आनन्द और प्यारी हिंसा के विचार में पूरा किया। उसी रात सोने के पश्चात् जब थोड़ी रात बाकी थी, मेरे मन में फिर पाप प्रकट हुआ, अतः नियमानुसार माता-पिता को प्रभात वंदन किये बिना ही मैं जंगल में चला गया। पूरे दिन अनेक प्रकार के प्राणियों का शिकार किया और शाम को मैं अपने महल में वापस आया। [१८-१९]

महाराज पद्म के विचार : विदुर की सूचना

सन्ध्या के समय पिताजी ने विदुर से पूछा—'विदुर! आज पूरे दिन कुमार दिखाई नहीं पड़ा, क्या बात है? जरा पता लगाओ।' उत्तर में विदुर ने कहा—प्रभो! कुमार श्री के साथ अपनी पुरानी मित्रता को याद कर आज प्रातः मैं उनसे मिलने उनके कक्ष में गया था। परिजन से मैंने पूछा कि क्या कुमार घर में हैं? तब उनके सेवकों ने मुझे बताया कि वे तो थोड़ी रात बाकी थी तभी जंगल में शिकार करने चले गये। [२०-२२]

मेरे यह पूछने पर कि कुमार आज ही शिकार करने गये हैं या नित्य ही जाते हैं? उन्होंने बताया कि, 'भद्र! जब से यहाँ से जाते हुए रास्ते में कुमार श्री का हिंसादेवी से परिणय हुआ है तभी से वे नित्य शिकार करने जाते हैं। जिस दिन किसी कारण वश नहीं जा पाते उस दिन उन्हें किंचित् भी चैन नहीं पड़ता। अधिक क्या कहें? मृगया का शौक उन्हें इतना अधिक हो गया है कि वे उसे अपने प्राणों से भी प्रिय समझते हैं।' महाराज! इस बात को सुनकर मेरे मन में विचार आया कि दुर्भाग्य ने हमें मन्दभागियों को खूब फंसाया है! मुझे कहावत याद आई कि, 'जो ऊँट की पीठ पर न समा सके उसे उसके गले में बाँध दिया जाता है।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुमार की संगति उसके पापी मित्र वैश्वानर से तो पहले से ही थी जिससे हम सब प्रगाढ उद्वेग में पड़े थे और अब साक्षात चण्डिका जैसी इस हिंसादेवी को कुमार ने पत्नी बनाया। अब हम क्या करें? इसी विचार में आज मेरा पूरा दिन बीत गया। कुमार आज आपके पास नहीं आये हैं इसका यही कारण है।

महाराज पद्म विदुर का उत्तर सुनकर विचार में पड़ गये। वे बोले—विदुर! यह शिकार का शौक तो महापाप का कारण है। हमारे वंश के किसी राजा ने आज तक यह शौक नहीं किया। इस शौक के कारण-स्वरूप उसकी स्त्री हिंसा को किसी भी प्रकार उससे अलग किया जा सके तो अच्छा हो।

उत्तर में विदुर ने मेरे पिताजी से कहा—* 'महाराज! वैश्वानर की भांति यह हिंसादेवी भी अन्तरंग में रहने वाली है, अतः वह अपनी पहुँच के बाहर है। किन्तु, देव! आज मैंने सुना है कि जिनमतज्ञ नैमेत्तिक आज फिर यहाँ आया हुआ है। यदि आपकी इच्छा हो तो उसे बुलवाकर पूछा जाय कि इस विषय में हमें क्या करना चाहिये?' राजा ने कहा—'तब तो नैमेत्तिक को अवश्य बुलाओ।'

जिनमतज्ञ द्वारा दर्शित उपाय

राजाज्ञा सुनकर विदुर जिनमतज्ञ नैमेत्तिक को बुलाने गया और थोड़ी ही देर में उसे साथ लेकर वापस आ गया। मेरे पिताजी ने नैमेत्तिक को प्रणाम कर उचित सन्मान दिया और उसे बुलाये जाने का कारण बताया। नैमेत्तिक ने बुद्धि नाड़ी के संचार को ध्यान में रखकर विचार पूर्वक पिताजी से कहा—महाराज! इस विषय में एक मात्र बहुत ही अच्छा उपाय है। यदि वह उपाय सम्पन्न हो जाय तो कुमार को जिस स्त्री पर इतनी अधिक आसक्ति है, वह महा अनर्थकारिणी हिंसादेवी स्वयं ही भाग जाय।

पद्म राजा—वह कौनसा उपाय है? आर्य! आप बताने की कृपा करें।

नैमेत्तिक—मैंने आपको पहले ही बताया था कि समस्त उपद्रवरहित, सर्व गुणों का निवास स्थान, कल्याण-परम्परा का कारण, मन्दभाग्यों के लिये अति दुर्लभ चित्तसौन्दर्य नाम का एक नगर है। उस नगर में लोगों का हितकारी, दुष्टों का निग्रह करने में सतत प्रयत्नशील, शिष्ट मनुष्यों के परिपालन का विशेष ध्यान रखने वाला, कोष और दण्ड से समृद्ध शुभपरिणाम नाम के राजा हैं। इस राजा के यहाँ क्षान्ति नामक पुत्री को जन्म देने वाली निष्प्रकम्पता नामक देवी का वर्णन मैं पहले कर चुका हूँ। महाराजा के एक दूसरी चारुता नामक रानी भी है। यह लोक हितकारी, सकल शास्त्र और अर्थ की कसौटी, सद् अनुष्ठानों को प्रवर्तिका तथा पाप से दूर रहने वाली है।

चारुता रानी

जब तक प्राणी इस चारुता देवी की भली प्रकार भक्ति/उपासना नहीं करते

---

* पृष्ठ २७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तभी तक वे इस संसार में सब प्रकार के दुःख भोगते हैं और तभी तक स्वर्ग एवं मोक्ष के श्रेष्ठतम मार्ग को प्राप्त नहीं कर पाते। जब प्राणी इस महादेवी की विधि पूर्वक सम्यक् प्रकार से आराधना करते हैं तभी वे अनेक प्रकार के कल्याण समूह को प्राप्त कर अन्त में मोक्ष को प्राप्त होते हैं। इसीलिये इसे लोकहितकारी कहा गया है। [१–३]

अन्य दर्शनों और जैन दर्शन में महापुरुषों द्वारा प्रतिपादित संसार-सागर से पार उतारने वाले जो कुछ शास्त्र हैं उन सब में बुद्धिशाली तत्त्वचिन्तकों ने परमार्थतः इस महादेवी को ग्रहण एवं आदर करने योग्य बताया है अर्थात् तत्त्वज्ञ शास्त्रकार सूचित करते हैं कि सब को इस देवी को स्वीकार करना चाहिये। इसीलिये चारुता देवी को सर्व शास्त्रों के अर्थ की कसौटी कहा गया है। इस देवी की अनुपस्थिति में शास्त्र की सभी बातें असद्बुद्धि समूह जैसी लगती है। [४–६]

दान, शील, तप, ध्यान, गुरुपूजा, शम, दम आदि जितने भी शुभ अनुष्ठान लोगों में प्रवर्तित हैं, उन सब को * यह महादेवी अपने बल से महात्मा जनों में प्रवर्तित करवाती है। इसीलिये उसे श्रेष्ठ अनुष्ठान प्रवर्तिका कहा गया है। [७–८]

इस लोक में काम, क्रोध, भय, द्रोह, मोह, मत्सर, विभ्रम, शठता, निन्दा, राग, द्वेष आदि जितने भी पाप के कारण हैं, वे सब कभी भी त्रैलोक्य में भी इस चारुता देवी के साथ एक स्थान पर नहीं ठहर सकते। इसीलिये इसे पाप से दूर रहने वाली कहा गया है। [९–१०]

दयाकुमारी

शुभपरिणाम राजा और चारुता देवी की एक दयाकुमारी नामक पुत्री है, जो विश्व को आह्लादित करने वाली, रूप में सुन्दर, सगे-सम्बन्धियों को अत्यन्त प्यारी और आनन्द-परम्परा की कारणभूत होकर स्त्री होते हुए भी मुनियों के हृदय में निरन्तर निवास करने वाली है।

इस विश्व में रहने वाले सभी चराचर जीव कभी भी दुःख और मरण को नहीं चाहते। प्रत्येक जीव अंतःकरण से चाहता है कि उसे किसी प्रकार का मानसिक या कायिक दुःख न हो, कभी उसका मरण न हो। दयाकुमारी प्राणियों के दुःख और मरण को रोकती है। अनिष्ट को रोकने वाली होने से इसे विश्व को आह्लादित करने वाली कहा गया है। [१–२]

इस दया के मुख से बार-बार 'भय मत करो! भय मत करो!!' ऐसे शब्द निरन्तर निकलते रहते हैं। उसका उत्तम दान रूपी मुख चन्द्रमा के समान है। इसके सद्दान और दुःखत्राण नामक दो उन्नत स्तन हैं। संसार को आनन्द देने वाली शम नामक विस्तीर्ण जंघायें हैं। संक्षेप में उसके सामने आने वाले किसी भी प्राणी

* पृष्ठ २७२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को प्रिय न लगे ऐसा उसके शरीर का कोई भाग नहीं है। इसीलिये मुनिपुंगवों ने उसे रूप से सुन्दर कहा है। [३–५]

दया के स्वजन-सम्बन्धी क्षान्ति, शुभपरिणाम, चारुता, निष्प्रकम्पता, शौच, सन्तोष और धैर्य आदि हैं। यह उनके हृदय में निवास कर उन्हें सतत आह्लादित करती रहती है। इसीलिये उसे सगे सम्बन्धियों की प्यारी कहा गया है। [६-७]

स्वर्गलोक, मनुष्यलोक और मोक्ष में जो कुछ सुख की श्रेणी/परंपरा है, वह सब दया से ओत-प्रोत प्राणियों के हाथ में ही होती है, इसीलिये इसे आनन्द परम्परा का कारण कहा गया है। अतएव स्त्री होते हुए भी वह महामुनियों के हृदय में भी निवास करती है। [८–९]

दया की उपादेयता

जिनमतज्ञ नैमेत्तिक ने आगे कहा—संसार में दया सच्ची हितकारिणी है, सर्व गुणों को आकृष्ट करने वाली है, समस्त गुणों की भण्डार है, धर्म की सर्वस्व है, दोषों का नाश करने वाली है, समस्त सन्तापों को शान्त करने की शक्ति को धारण करने वाली है और सर्व प्रकार की वैर-परम्परा को नष्ट करने वाली है। कितना वर्णन करें? कमलपत्र के समान नेत्रों वाली दयाकुमारी इतने गुणों की खान है कि उसका सम्पूर्ण वर्णन कौन कर सकता है? महाराज! मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि इस संसार में हिंसा को नाश करने का एक मात्र यही उपाय है। अन्य कोई उपाय नहीं है। यह उपाय भी तभी कारगर होगा जब कि आपका धीर-वीर कुमार इस दयाकुमारी के साथ लग्न करेगा। ऐसा होते ही ❀ इसकी दुष्ट भार्या हिंसा स्वतः ही नष्ट हो जायगी, भाग जायगी। महाराज! यह हिंसा तो महापापिनी और प्रज्वलित आग है जब कि दयाकुमारी तो महाशुद्ध और हिम जैसी शीतल है। हिंसा और दया में अग्नि और जल जैसा अन्तर है। [१०–१५]

दया के साथ लग्न की चिन्ता

जिनमतज्ञ नैमित्तिक के उपरोक्त वचन सुनकर राजा ने पूछा—आर्य! राजकुमार नन्दिवर्धन इस कन्या के साथ कब विवाह करेगा?

नैमेत्तिक—महाराज! जब शुभपरिणाम राजा अपनी पुत्री का विवाह तुम्हारे पुत्र के साथ करने की इच्छा करेगा तभी यह लग्न होगा।

पद्म राजा—शुभपरिणाम राजा अपनी पुत्री का लग्न कब करेगा?

नैमेत्तिक—जब कुमार को शुभ परिणाम राजा अनुकूल होगा तब।

पद्म राजा—शुभपरिणाम राजा को कुमार के अनुकूल बनाने का कोई उपाय भी है या नहीं?

❀ पृष्ठ २७३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नैमेत्तिक—मैंने पहले ही बताया था कि इस शुभपरिणाम राजा को इससे श्रेष्ठ कर्मपरिणाम राजा ही अनुकूल कर सकता है, अन्य कोई यह काम नहीं कर सकता। क्योंकि, यह शुभपरिणाम राजा कर्मपरिणाम राजा के अधीन है। अधिक क्या कहूँ ? देखिये, बात ऐसी है कि जब इस कर्मपरिणाम महानरेन्द्र की कुमार पर कृपा होगी तभी उसके अधीनस्थ शुभपरिणाम राजा स्वयमेव ही अपनी पुत्री दयाकुमारी का लग्न अपने हाथ से कुमार के साथ करेगा। इस विषय में चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। पुनश्च, कुमार की भव्यता को ध्यान में रखकर, निमित्त के बल पर और युक्ति के योग से मैं इतना कह सकता हूँ कि भविष्य में किसी समय कुमार पर कर्मपरिणाम राजा की कृपा होगी, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। जब ऐसा समय आयगा तब राजा अपनी बड़ी बहिन लोकस्थिति को पूछेगा, अपनी स्त्री कालपरिणति से विचार करेगा, अपने मुख्य सचिव स्वभाव से कहेगा, कुमार के भीतर समग्र भवों में गुप्त रूप से रहने वाली इसकी अन्तरंग पत्नी भवितव्यता को सूचित करेगा तब नियति और यदृच्छा आदि यह बतायेंगी कि कुमार में कितना वीर्य है ? इस प्रकार सब को पूछकर, सब से परामर्श लेकर, सब के सन्मुख महाराज कर्मपरिणाम सिद्धान्त रूप से निर्णय करेंगे कि कुमार दयाकुमारी के योग्य हुआ या नहीं ? इस निर्णय के बाद ही वह दयाकुमारी का लग्न करवायेगा इसमें कुछ भी सन्देह नहीं, अतः आप व्याकुलता का त्याग करें।

मौन रहने का परामर्श

पद्म राजा—तब अभी हमें क्या करना चाहिये ?

नैमेत्तिक—मौन धारण करें और कुमार के प्रति उपेक्षा भाव रखें।

पद्म राजा—आर्य ! आपका कहना ठीक है, किन्तु क्या अपने पुत्र के प्रति कभी उपेक्षा रखी जा सकती है ? क्या वह रह भी सकती है भला ?

नैमेत्तिक—तब आप और कर भी क्या सकते हैं ? कुमार को जो उपद्रव सम्प्रति हैं, यदि वह बाह्य (स्थूल) प्रदेश पर होता तो हम उसका स्पर्श कर सकते, हम उसे पकड़ सकते। यदि किसी बाहर के प्राणी की तरफ से उसे दुःखित किया जाता तब तो आप उसके प्रति उपेक्षा न करते तो ठीक ही कहा जाता। परन्तु, यह तो अन्तरंग का उपद्रव है, अतः इस विषय में यदि आप उपेक्षा रखेंगे तब भी कोई उपालम्भ नहीं रहेगा, आपका अपयश नहीं होगा।

पद्म राजा—आर्य ! जैसी आपकी आज्ञा।

पश्चात् राजा ने जिनमतज्ञ नैमेत्तिक का सत्कार कर उसे विदा किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२८ : वैश्वानर और हिंसा के प्रभाव में

युवराज पद की तैयारी

❀ उपरोक्त बातचीत हुए कुछ दिन बीते होंगे कि एक दिन राजा के मन में विचार उठा कि कुमार नन्दिवर्धन को युवराज पद प्रदान करना चाहिये। राजा ने अपने मंत्रियों से यह बात कही जिसे उन्होंने भी स्वीकार कर लिया। इस कार्य के लिये एक शुभ दिन निश्चित किया गया और युवराज पद देने के लिये आवश्यक सामग्री तैयार की गई। मुझे राज्य सभा में बुलाया गया। मेरे लिये एक सुन्दर भद्रासन तैयार करवाया गया। सभी सामन्त और नागरिक एकत्रित हुए, सब प्रकार के मंगलोपचार किये गये, प्रत्येक प्रकार की उत्तमोत्तम वस्तुयें बाहर रखी गईं। अन्तःपुर की सभी स्त्रियां भी वहाँ उपस्थित हुईं।

मदनमंजूषा के सगाई का प्रस्ताव

उसी समय प्रतिहारिणी अन्दर आई और मेरे पिताजी को हाथ जोड़, चरण-स्पर्श कर, अंजलि संपुट कपाल पर लगाकर कहने लगी—'देव! अरिदमन राजा का बड़ा प्रधान स्फुटवचन आपसे मिलना चाहता है। अभी वे बाहर के द्वार पर खड़े हैं, आपकी क्या आज्ञा है?' राजा ने उन्हें राज्य सभा में भेजने की आज्ञा दी, अतः स्फुटवचन को लेकर प्रतिहारिणी अन्दर आई। मेरे पिताजी को नमस्कार कर मुख्य प्रधान ने कहा—'महाराज! मैंने अभी-अभी सुना है कि आज राजकुमार नन्दिवर्धन को युवराज पद देने का महोत्सव मनाया जा रहा है। यह प्रशस्त एवं शुभ मुहूर्त है ऐसा सोचकर जिस काम से मैं आया हूँ उसे शीघ्र पूरा करने की आशा से मैंने राज्यसभा में प्रवेश किया है।'

पद्म राजा—यह तो बहुत अच्छी बात है। आपका यहाँ आने का क्या प्रयोजन है? बताइये।

स्फुटवचन—आपको ज्ञात ही है कि शार्दूलपुर में सुगृहीतनामधेय अरिदमन राजा राज्य करते हैं। उनके कामदेव की पत्नी रति के रूप को भी पराजित करने वाली रतिचूला महारानी है। महारानी से राजा के मदनमंजूषा नामक पुत्री है जो अचिन्त्य गुण रत्नों की मंजूषा ही है। जनमुख से कुमार नन्दिवर्धन के पराक्रम की यशोगाथा सुन-सुन कर मदनमंजूषा कुमार के प्रति अत्यन्त ही अनुरागवती हो गई है और उन्हीं के साथ लग्न करने का कुमारी ने निश्चय किया है। कुमारी ने अपने निर्णय को अपनी माता रतिचूला महारानी को बताया और महारानी ने उसे महाराज को सूचित किया। उसके पश्चात् महाराजा ने मुझे

❀ पृष्ठ २७४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपके पास अपनी पुत्री का सम्बन्ध राजकुमार नन्दिवर्धन से करने के उद्देश्य से यहाँ भेजा है। अतः अब आप इस विषय में अपनी आज्ञा प्रदान करें।

स्फुटवचन का प्रस्ताव सुनकर मेरे पिताजी ने मतिधन मंत्री के मुख की ओर देखा। मन्त्री ने कहा—'महाराज! अरिदमन तो वास्तव में एक प्रभावशाली महान व्यक्ति हैं। उनका आपके साथ सम्बन्ध हो यह योग्य ही है। अतः मेरी भी यही राय है कि आप स्फुटवचन के प्रस्ताव को स्वीकार करें। इस प्रस्ताव में तो विरोध का प्रश्न ही नहीं है।' मंत्री की राय जानकर पिताजी ने सम्बन्ध स्वीकार कर लिया।

रंग में भंग

इसी बीच मैंने पूछा—हे स्फुटवचन! यहाँ से तुम्हारा शार्दूलपुर कितनी दूर है?

स्फुटवचन—कुमार! हमारा शार्दूलपुर यहाँ से १५० योजन दूर है।

नन्दिवर्धन—यह गलत है, तुम्हें ऐसा नहीं कहना चाहिये।

स्फुटवचन—तब कितना दूर है? आप श्रीमान् ही कहें।

नन्दिवर्धन—१५० योजन में दो कोस कम।

स्फुटवचन—आपके पास इसका क्या प्रमाण है।

नन्दिवर्धन—मैं जब छोटा था तब मैंने ऐसा सुना था।

स्फुटवचन—इस विषय में आपने सम्यक् प्रकार से जानकारी प्राप्त नहीं की है श्रीमान्!

नन्दिवर्धन—❀ इसका तुम्हारे पास क्या प्रमाण है?

स्फुटवचन—मैंने अपने कदमों से नापकर गणना की है।

नन्दिवर्धन—मैंने भी विश्वसनीय लोगों से यह पता लगाया है, अतः मेरा कथन सच्चा है और तुम्हारा झूठा है।

स्फुटवचन—कुमार श्री! अवश्य ही आपको किसी ने ठगा हैं। मैंने स्वयं जो नाप किया है उसमें तिल-तुष के त्रिभाग का भी अन्तर नहीं आ सकता।

पुण्योदय का पलायन

यह दुरात्मा (हरामखोर) राज्य सभा में लोगों के समक्ष मुझे झूठा बता रहा है, ऐसा विचार मेरे मन में आते ही वैश्वानर भभक उठा, हिंसा देवी थोड़ी हंसकर मुझ पर अपनी योग-शक्ति चलाने लगी और तुरन्त ही ये दोनों मेरे शरीर में प्रविष्ट हुए जिससे मैं प्रलयाग्नि के समान प्रचण्ड हो गया। (मेरा शरीर क्रोध से लाल हो गया, आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं और शरीर कांपने लगा)। मैंने तत्क्षण सूर्य किरण जैसी चमचमाती विकराल तलवार को म्यान से खींच लिया।

❀ पृष्ठ ५७५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी समय पुण्योदय ने विचार किया 'अब मेरा समय पूरा हो गया। भवितव्यता की आज्ञा से अभी तक तो मैं यहाँ रहा और उसकी आज्ञा का पालन किया, परन्तु अब तो कुमार नन्दिवर्धन थोड़ा भी मेरे सम्पर्क/सम्बन्ध योग्य नहीं रहा, अतः अब यहाँ से चले जाना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है।' ऐसा विचार करते हुए मेरा सच्चा मित्र पुण्योदय मेरे पास से चला गया।

नन्दिवर्धन द्वारा कुटुम्ब का संहार

आवेश में आकर सभाजनों के हाहाकार की अपेक्षा न करते हुए, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की उपेक्षा करते हुए सभाजनों के समक्ष मैंने तलवार के एक ही झटके में स्फुटवचन के शरीर के दो टुकड़े कर दिये।

उस समय मेरे पिताजी ने सिंहासन से खड़े होकर पुकारा—'हे पुत्र! हे पुत्र!! तूने यह क्या गर्हित अकार्य कर दिया? यह तू ने बहुत बुरा किया।' ऐसा कहते हुए वे मेरी तरफ दौड़ते हुए आने लगे। पिताजी को मेरी तरफ आते देखकर मैंने सोचा कि 'यह भी दुरात्मा हो गये हैं, इसीलिये ये मेरे कार्य को अनुचित एवं गर्हित बता रहे हैं। यदि वे उसके पक्षपाती नहीं होते तो मेरे काम को बुरा क्यों बताते?' ऐसा सोचकर नंगी तलवार हाथ में लिये हुए मैं भी उनकी तरफ दौड़ा। मेरे अभिषेक के लिये उपस्थित अनेक राज्यपुरुषों और नागरिकों में भारी कोलाहल और भगदड़ मच गई। मैं भी अपना पुत्रधर्म भूल गया कि पद्म राजा मेरे पिता हैं, वे मुझ पर कितना स्नेह करते हैं, इस बात को भी मैं भूल गया कि उनका मुझ पर कितना उपकार है। मैं जो अकार्य करने पर तुला हूँ उससे मुझे भविष्य में महापापों के उद्भव से कितना दुःख उठाना पड़ेगा, इसका भी मैंने विचार नहीं किया। उस समय मैं वैश्वानर और हिंसादेवी के इतना वशीभूत हो गया कि क्रोध से आगबबूला होकर, पिताजी कुछ कह रहे थे उसे सुने बिना ही चण्डाल की भांति तलवार के एक ही झटके से उनका भी मस्तक धड़ से अलग कर दिया।

'हे पुत्र! हे पुत्र!! ऐसा दुःसाहस न कर! दुःसाहस न कर!! अरे लोगों! बचाओ!! बचाओ!!!' उच्च और करुण स्वर में पुकार करती मेरी माता ने मेरे हाथ से तलवार छुड़ाने के लिये शीघ्रता से आकर मेरा हाथ पकड़ा। उस समय मेरे मन में विचार आया कि 'मेरे शत्रु को मारने में तत्पर मुझ पर ऐसे मूर्खता पूर्ण उलटे सीधे आरोप लगाने वाली मेरी माता भी पापिनी है और मेरी दुःश्मन ही है।' ऐसे दुःसाहस पूर्ण विचार आते ही मैंने तलवार के एक झटके से मेरी माता के शरीर के भी दो टुकड़े कर दिये।

उसी समय मेरा भाई शीलवर्धन जिसके साथ मेरी साली मणिमंजरी का लग्न हुआ था वहाँ और मेरी पत्नी रत्नीवती मुझे कहने लगे—'हे भाई! हे कुमार!! हे आर्य!!! यह तुम क्या कर रहे हो?' मुझे अकार्य से रोकने के लिये वे तीनों एक साथ आकर मुझे पकड़ने लगे। मैंने सोचा कि 'ये सभी पापी इकट्ठे होकर एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साथ मेरे विरुद्ध षडयन्त्र रच रहे हैं इस विचार से मेरा प्रज्वलित क्रोध और अधिक भभक उठा और मैंने एक-एक झटकों से ही तीनों को यमलोक पहुँचा दिया। ❀

'हे आर्यपुत्र ! यह क्या अनर्थ कर रहे हैं ? रुकिये।' कहती हुई विलाप करती हुई मेरी प्यारी कनकमंजरी वहाँ आ पहुँची। मैंने मन में सोचा कि 'यह अधम स्त्री भी शत्रुओं से मिल गई लगती है, इसीलिये यह मेरे कार्य को अनर्थकारी बता रही है और मुझे कोस रही है। अहो ! मेरे हृदय के समान मेरी प्यारी कनकमंजरी भी आज मेरी वैरिणी बन गई लगती है, इससे क्या ? यह भी अयोग्य लोगों के प्रति वात्सल्य जताने लगी है, ऐसी मूर्खतापूर्ण वत्सलता को दूर करना ही चाहिये।' इस विचार से कनकमंजरी के प्रति मेरा प्रम-बन्ध टूट गया। इसका विरह सहन कर सकूंगा या नहीं यह भी मैं भूल गया, उसके साथ एकान्त में मैंने कैसी मीठी-मीठी बातें की थी और कैसे-कैसे वचन दिये थे इसका भी स्मरण नहीं रहा, उसके साथ अनेक प्रकार के कामभोग के सुख भोगे हैं यह भी ध्यान से हट गया और उसके साथ मेरा अनुपम प्रेम सम्बन्ध है इसका भी मैंने विचार नहीं किया। वैश्वानर ने उस समय मेरी बुद्धि को इतनी अन्धी बना दी थी और हिंसादेवी ने मेरे हृदय में ऐसा प्रबल स्थान बना लिया था कि आगे-पीछे का विचार किये बिना मैंने बेचारी कनकमंजरी को भी उसी समय तलवार के वार से मार दिया।

इस धमाचौकड़ी में मेरी धोती खुलकर नीचे गिर गई और मेरा दुपट्टा भी जमीन पर गिर गया जिससे मैं एकदम नग्न हो गया। मेरे बाल भी बिखर गये जिससे मैं साक्षात् बैताल जैसा दिखने लगा। मुझे इस रूप में देखकर दूर खेलते बच्चे खिलखिला कर हँस पड़े और ताने मारने लगे। इससे मुझे और गुस्सा आया और मैं उनको मारने के लिये दौड़ा। उस समय मुझे रोकने के लिये मेरे भाई, बहिनें, सगे-सम्बन्धी और सामन्त सब एक साथ मिलकर आये। किन्तु जैसे यमराज सब को समान दृष्टि से देखता है किसी को नहीं छोड़ता वैसे ही मुझे रोकने का प्रयत्न करने वाले उन सभी लोगों को मारते हुए मैं बहुत दूर निकल गया। अन्त में बहुत अधिक लोगों ने इकट्ठे होकर मुझे चारो ओर से घेरकर जंगली हाथी की तरह बड़ी मुश्किल से पकड़ कर जमीन पर पटक दिया। मेरे हाथ से तलवार छीन ली और मेरे हाथ पीठ पीछे करके कसकर बाँध दिये। फिर मुझे गालियाँ देते हुए कारागृह में बन्द कर दिया।

कारागृह में

कारागार के द्वार मजबूती से बन्द कर दिये गये। लोग अनेक प्रकार से जलते हुए व्यंग्य वचनों से मेरी हँसी उड़ाने लगे और अनेक प्रकार के कटु और अशिष्ट वचन बोलने लगे। जेल की दीवारों से सिर फोड़ते, भूख से बिलखते, प्यास से पड़फते, अन्तर के सन्ताप से जलते, निद्रा के अभाव में अनेक प्रकार के असहनीय

❀ पृष्ठ २७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नारकीय घोर दुःख सहन करते हुए एक माह तक मैं कैद में पड़ा रहा। इस अवधि में परिजनों में से किसी ने न तो मेरे बन्धन ही ढीले किये और न मेरी तरफ देखा ही। सभी ने मेरा अनादर किया और यह सारा समय मैंने महान दुःख में बिताया।

कैदखाने से छुटकारा : नगर को जलाना

एक माह तक जेल में भूखा-प्यासा रहने से मेरा शरीर एकदम क्षीण हो गया। एक दिन कमजोरी के कारण से आधी रात को कुछ क्षण के लिये मुझे नींद आ गई। उस समय चूहे ने आकर मेरे हाथ-पाँव के बन्धन काट दिये जिससे मैं स्वतन्त्र हुआ। मैंने तुरन्त दरवाजे खोले और बाहर निकल गया, तब मुझे मालूम हुआ कि मुझे राजभवन में ही कैद करके रखा था।

आधी रात होने से चौकीदार आदि सो गये थे, कोई चल फिर नहीं रहा था। मैंने सोचा कि 'यह सम्पूर्ण राजकुल और पूरा नगर अब मेरा शत्रु हो गया है। इन सब लोगों ने मुझे अनेक प्रकार के दुःख देने में कोई कमी नहीं रखी है।' इतना सोचते ही मेरे शरीर में निवास करने वाला मेरा मित्र वैश्वानर झनझनाया और हिंसा ने आनन्द में आकर हुंकार भरी, जिससे मेरे शरीर पर इन दोनों का प्रभाव बढ़ गया। उस समय मैंने देखा कि पास में ही एक अग्निकुण्ड जल रहा है। मैंने मन में सोचा कि 'शत्रु का नाश करने का उपाय तो यहाँ मौजूद है। बस इतना ही तो करना है कि सकोरे में अंगारे भरकर * थोड़े-थोड़े महल और नगर के स्थानों पर डाल दूं और विशेष रूप से शीघ्र-प्रज्वलित होने वाले इन्धन-बहुल स्थानों में आग लगा दूं। बस मेरा काम पूरा हो जायगा। पूरा नगर और राजकुल इस प्रकार अपने आप ही भस्म हो जायगा' ऐसे अधम विचार के उठते ही मैंने वैसा ही किया। शीघ्र जलने वाले राजमहल और नगर के स्थानों को मैं जानता था उन स्थानों को मैंने चारों तरफ से जला दिया जिससे चारों ओर धू-धू- करती अग्नि की इतनी विकराल लपटें उठने लगी कि मैं स्वयं भी उसमें से भवितव्यता के बल पर ही बड़ी कठिनता से जलने से बच कर निकल सका। मैं जब नगर से बाहर निकल रहा था तब मैंने नगर से भागते हुए लोगों की भारी क्रन्दनरव से युक्त चिल्लाहटें सुनी। योद्धा चिल्लाने लगे– 'अरे लोगों ! दौड़ो ! दौड़ो !!' उनके मन में ऐसी शंका हुई कि शत्रु सेना ने ही यह अधम कार्य किया है। उस समय मेरा शरीर एकदम क्षीण हो गया था और शरीर की कमजोरी का प्रभाव मेरे मन पर भी पड़ा था जिससे मैं अपना सारा धैर्य खो बैठा।

❀

* पृष्ठ २७७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६. खूनी नन्दिवर्धन की कदर्थना

मेरे आग लगाने से सम्पूर्ण जयस्थल नगर जल रहा था जिससे मेरे मन में भी भय उत्पन्न हुआ और मैं जंगलों की तरफ मुँह कर भागने लगा। भागते-भागते मैं घोर जंगल में पहुँच गया। मैं कांटों से बिंध गया, तीक्ष्ण पत्थरों और कीलों से पैर घायल हुए, रास्ता भूलकर गलत रास्ते पर पहुँच गया। ऊँचो ढलान पर से पैर फिसलने के कारण सिर के बल नीचे प्रदेश में गिरा, मेरा अंग-अंग भंग होकर चूर-चूर हो गया और मुझे इतने जोर की चोट लगी कि पड़ने के बाद उठने की शक्ति भी नहीं रही।

चोरों की पल्ली में कदर्थना

मैं इस स्थिति में भयंकर अटवी में पड़ा था कि वहाँ चोर आ पहुँचे और उन्होंने मुझे इस अवस्था में पड़े हुए देखा। मुझे देखकर वे आपस में कहने लगे—'अरे! यह तो कोई महाकाय मनुष्य लगता है, अगर इसे किसी दूसरे स्थान पर लेजाकर बेचा जाय तो अच्छा मूल्य मिलेगा। चलो, इसको उठाकर अपने स्वामी पल्लिपति के पास ले चलें।' चोरों को इस प्रकार बोलते सुनकर मेरे मन में बसा हुआ वैश्वानर फिर प्रज्ज्वलित हो उठा और मैं बैठ गया। अतः चोरों में से एक ने कहा—'अरे भाइयों! इसका विचार अच्छा नहीं लग रहा है, वह हमारे से लड़ने या भागने की इच्छा कर रहा है, अतः इसको तुरन्त बाँध लो अन्यथा इसको पकड़ना दुष्कर होगा।' फिर चोरों ने धनुष की लकड़ी से मुझे खूब पीटा और मेरे हाथ पीछे कर मुश्कें बाँध दीं। मैं मुँह से गालियाँ देने लगा तो मेरा मुँह भी बाँध दिया। फिर मुझे वहाँ से उठाया मेरे शरीर पर फटा हुआ जीर्ण कपड़ा लपेट दिया और मुझे बार-बार मारते और धमकाते हुए कनकपुर के निकट भीमनिकेतन नामक चोरों की पल्ली में ले गये। वहाँ मुझे रणवीर नामक पल्लिपति के सम्मुख खड़ा किया गया। सरदार ने आदेश दिया—'अरे! इसको अच्छी तरह खिलाओ पिलाओ जिससे यह खब मोटा होगा तो इसका मूल्य अधिक मिलेगा।' सरदार की आज्ञा मानकर एक चोर मुझे अपने घर ले गया।

अपने घर लेजाकर चोर ने मेरे मुँह पर बन्धी पट्टी जैसी ही खोली वैसे ही मैंने उन्हें चच्चा-मम्मा की गालियाँ बकनो शुरु की जिससे वह चोर मेरे ऊपर अत्यन्त कुपित हुआ। उसने मुझे डण्डे आदि से खूब मारा। अपने स्वामी ने मुझे उसे सौंपा है, यह समझकर ही उसने मुझे जान से नहीं मारा। मेरे कटु वचनों के कारण वह मुझे कुत्सित भोजन देने लगा। अधिक भूखों मरने से मैं और कमजोर हो गया तथा मेरे मुख पर दीनता छा गई। पहले तो मैंने कुत्सित भोजन खाने से इन्कार किया, पर फिर भूख के मारे खाने लगा। तुच्छ भोजन से मेरा पेट नहीं भरता, इससे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरे मन में निरन्तर उद्वेग बढने लगा। इस प्रकार भूख-प्यास में मेरे कुछ दिन निकले और मैं अत्यधिक दुर्बल हो गया। एक दिन सरदार रणवीर ने मुझे पालन करने वाले चोर से पूछा कि, 'मैं कितना मोटा हुआ हूँ ?' उत्तर में चोर ने कहा कि, 'देव ! इसे मोटा बनाने के प्रयत्न तो बहुत कर रहा हूँ पर किसी भी प्रकार इसमें शक्ति की वृद्धि होती ही नहीं।' उसके बाद उस चोर के घर में भूखा-प्यासा और दुःख भोगता हुआ कई दिनों तक रहा।

अन्यदा एक दिन चोर बस्ती पर कनकपुर नगर की सेना ने हमला कर दिया। इसकी खबर लगते ही चोर बस्ती छोड़कर भाग गये। राजा की आज्ञा से वह बस्ती लूट ली गई, ❀ और जितने चोर पकड़े जा सके उन्हें पकड़ लिया गया। पकड़े गये सब लोगों को कनकपुर ले जाया गया। मैं भी पकड़ा गया और मुझे भी कनकपुर ले जाया गया।

कनकपुर : विभाकर के समक्ष

कनकपुर में महाराजा विभाकर के समक्ष मुझे एक चोर के रूप में प्रस्तुत किया गया। मुझे देखते ही विभाकर कुछ-कुछ पहचान गया और अपने मन में विचार करने लगा कि 'अरे ! यह तो बड़े आश्चर्य की बात है ? इस पुरुष के शरीर में मात्र चमड़ी और हड्डियाँ रह गई हैं जिससे यह जले हुए वृक्ष के ठूंठ जैसा लग रहा है, फिर भी यह कुमार नन्दिवर्धन जैसा दिखाई दे रहा है, इसका क्या कारण हो सकता है ?' सोचते हुए उसने नख-शिख पर्यन्त मुझे घूर-घूर कर देखा और उसे निश्चय हो गया कि मैं नन्दिवर्धन ही हूँ। फिर उसने विचार किया कि 'कुमार नन्दिवर्धन यहाँ इस रूप में कैसे आ सकता है ? विधि (भाग्य) का विलास (खेल) विचित्र प्रकार का होता है। भाग्य के वशीभूत प्राणियों के लिये क्या असम्भव है ? जिस महानरेन्द्र के चरणों में मुकुटधारी राजा नमस्कार कर पाँवों की पूजा करते हैं और कुछ भी वचन बोलने पर 'जो आज्ञा, जो आज्ञा' कहते नहीं थकते। वही महानरेन्द्र उसी भव में दुर्भाग्यवश भिखारी बनते और अनेक प्रकार के नारकीय दुःख भोगते हुए भी देखे गये हैं। [१-२] अतः अस्थिपंजर बना यह पुरुष नन्दिवर्धन ही लगता है, इसमें कोई सन्देह नहीं।' यह विचार आते ही उसे मेरे साथ किया गया पहले का स्नेहपूर्ण व्यवहार याद आ गया और आँखों से आनन्दाश्रु के प्रवाह से कपोलों को क्षालित करते हुए वह अपने आसन से उठ खड़ा हुआ और मुझ से बहुत ही प्रेम से आलिंगन पूर्वक मिला। घटना की विचित्रता को देखकर सम्पूर्ण राज्यकुल आश्चर्य में डूब गया और सोचने लगा कि यह क्या है ?

विभाकर द्वारा सन्मान

राजा विभाकर ने अपने सिंहासन पर आधा आसन देकर मुझे बिठाया और पूछा—'मित्र ! यह सब कैसे हुआ ?' मैंने प्रारम्भ से अन्त तक अपनी सब

❀ पृष्ठ २७८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपबीती (आत्म-चरित) उसे कह सुनाई। सुनकर विभाकर बोला— अरे भाई! बड़े दुःख की बात है! अपने माता-पिता आदि को मारने का अतिगर्हणीय दया रहित कार्य कर तुमने ठीक नहीं किया। देख, इस भयंकर कार्य के परिणाम स्वरूप तुमने जो इस भव में ही इतने दुःख पाये वे सब इसी अकार्य के फल हैं।' विभाकर के हित वचन सुनते ही मेरे मन में रहे हुए वैश्वानर और हिंसा जाग्रत हो गए और मैं सोचने लगा कि 'सचमुच यह विभाकर भी मेरा शत्रु ही है, क्योंकि यह भी मेरे शत्रु-नाश के कार्य को अकार्य और अशोभनीय मानता है।' अतः मैंने निश्चय किया कि इसे भी मार देना चाहिये। किन्तु, मेरा शरीर अत्यधिक निर्बल हो गया था और विभाकर का राज्य-प्रताप बहुत अधिक था। फिर मेरे पास कोई शस्त्र भी नहीं था और पास ही अनेक सशस्त्र राजपुरुष खड़े थे, अतः मैंने विभाकर पर प्रहार तो नहीं किया, हाथ तो नहीं उठाया किन्तु अपना मुँह जरूर बिगाड़ लिया। विभाकर मेरा अभिप्राय समझ गया। वह जान गया कि मुझे उसकी बात पसन्द नहीं आई है, अतः इस प्रसंग को फिर से छेड़कर नन्दिवर्धन का मन दुःखाने से क्या लाभ? यह सोचकर विभाकर ने इस प्रसंग को यहीं समाप्त कर दिया।

तदनन्तर राजा विभाकर ने अपने सामन्तों और सरदारों से कहा—'यह कुमार नन्दिवर्धन मेरा परम मित्र है। यह मेरा शरीर, मेरा जीवन-सर्वस्व, मेरा भाई, मेरा परम स्नेही और पूजनीय है। इसके दर्शन से मुझे आज बहुत आनन्द प्राप्त हुआ है, अतः स्नेहीजनों के मिलने पर जो महोत्सव किया जाता है वह सब करो।' उन्होंने राजाज्ञा को शिरोधार्य किया। पश्चात् राजकुल में खूब आनन्द मनाया गया। मुझे विधिपूर्वक नहलाया, दिव्य वस्त्राभूषण पहनाये, अत्यन्त स्वादिष्ट परमान्न का भोजन कराया और मेरे शरीर पर सुगन्धित पदार्थों का लेप किया। ❀ मुझे महान् मूल्यवान अलंकार धारण कराये गये और अन्त में विभाकर ने स्वयं अपने हाथ से मुझे पान खिलाया। विभाकर मेरे लिये इतना कर रहा था फिर भी मैं तो अपने मन में यही सोच रहा था कि 'इसने मुझे कहा था कि मैंने अपने माता-पिता आदि को मार डाला यह कार्य अच्छा नहीं किया, अतः यदि अवसर मिले तो मुझे इस वैरी/पापी को मार ही देना चाहिये।' ऐसे रौद्र वितर्कजालों के कारण मुझे यह भी ध्यान नहीं रहा कि विभाकर स्वयं मुझे कितना मान दे रहा है। भोजनशाला से निकलकर हम सब सभाभवन में आये। वहाँ विभाकर के मंत्री मतिशेखर ने कहा—'प्रातः स्मरणीय महाराज प्रभाकर देवलोक हो गये यह तो आपको पता ही होगा?' उत्तर में मैंने सिर हिलाकर हामी भरी। विभाकर की आँखों में आँसू आ गये, बोला— 'मित्र! पिताजी तो परलोक में गये, अब तुम्हें ही पिताजी का स्थान लेना है। यह राज्य, हम सब, हमारा मन्त्रीमण्डल और प्रजाजन जो पिताजी की कृपा से आनन्द में थे, वे सब आपके सेवक हैं और

❀ पृ० २७९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपकी सेवा में उपस्थित हैं। आपकी इच्छानुसार आप हम से कार्य करायें।' विभाकर ने मुझ से इतनी उदार प्रार्थना की जिसका मुझे आभार मानना चाहिये था, पर मेरे मन में बसे हुए वैश्वानर में इस प्रकार का कोई भी गुण था ही नहीं, अतः किसी प्रकार के आभार-प्रदर्शन के बिना ही मैं मौन धारण कर चुपचाप बैठा रहा।

सन्मानदाता विभाकर का खून

वह दिन आनन्द पूर्वक बीत गया। सन्ध्या को नित्य की भांति राज्यसभा बुलाई गई और अन्त में विसर्जित भी हुई। पश्चात् शयन कक्ष में अपनी प्रिय स्त्रियों को आने के लिये निषेध कर, मेरे साथ प्रगाढ स्नेह होने के कारण महामूल्यवान शय्या में नरेन्द्र विभाकर मेरे साथ सोया। हे अगृहीतसंकेता! उस समय हिंसा और वैश्वानर ने मेरे मन को इतना चाण्डाल बना दिया था कि मुझ पर विश्वास करने वाले सरल हृदय विभाकर को मुझ पापी ने रात में उठाकर, नीचे पटक कर मार दिया। फिर इस घृणित दुष्कर्म के त्रास से शरीर पर केवल एक वस्त्र धारण कर मैं कनकपुर नगर से बाहर निकल गया।

कुशावर्त में सन्मान : कनकशेखर को मारने का प्रयत्न

भयंकर रात्रि में अकेला निकल कर वेग से दौड़ते हुए मैं घने वन में पहुँच गया, जहाँ मैंने अनेक प्रकार के दुःख सहन किये। अन्त में भटकते हुए मैं कुशावर्तपुर नगर में पहुँचा। मैं नगर के बाहर उद्यान में विश्राम कर रहा था तभी मुझे कनकशेखर के नौकरों ने देख लिया, अतः उन्होंने मेरे आने का समाचार महाराज कनकचूड और युवराज कनकशेखर को दिये। उन्होंने मन में सोचा कि कुमार नन्दिवर्धन यहाँ अकेला आया है, इसका कुछ कारण अवश्य होना चाहिये। वे अपने परिवार के विशेष सदस्यों के साथ मेरे पास आये। परस्पर सन्मान देने के पश्चात् मैं कनकशेखर के साथ जब बरांडे में अकेला बैठा तब उसने मुझ से अकेले आने का कारण पूछा। मुझे लगा कि इसको भी मेरा चरित्र और आचरण अच्छा नहीं लगेगा, अतः इसको अपनी सब बात कहने से क्या लाभ? इसलिये मैंने कनकशेखर से कहा—'इस बात को रहने दे, इसमें कुछ तथ्य नहीं है।' कनकशेखर को मेरा उत्तर कुछ विचित्र सा लगा इसलिये उसने फिर से पूछा—'अरे भाई! क्या मुझे भी अपने मन की बात नहीं बतायेगा?' उत्तर में मैंने कहा—'नहीं, यह बात कहने योग्य नहीं है।' तब उसने अधिक आग्रह किया—'भाई! यह बात मुझे तो बतानी ही पड़ेगी। जब तक तुम मुझे यह बात नहीं बताओगे तब तक मुझे चैन नहीं पड़ेगा।' 'मैंने बताने का निषेध किया तब भी यह समझता नहीं और मेरी आज्ञा का अनादर करता है, इस विचार से वैश्वानर और हिंसा मेरे मन में हलचल करने लगे। मैंने तत्क्षण ही कनकशेखर की कमर से यम की जिह्वा जैसी चमकती कटार खींच ली और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कनकशेखर को मारने के लिये हाथ उठाया। उसी समय * शीघ्रता से कनकचूड महाराजा आदि सभी लोग वहाँ आ पहुँचे और 'अरे! यह क्या कर रहे हो?' कहते हुए शोर करने लगे। कनकशेखर के गुणों से आकर्षित जो देव वहाँ उपस्थित थे उन्होंने मुझे जकड़ लिया और सब के देखते हुए मुझे उठाकर आकाश मार्ग में फेंका और मैं उस राज्य की सीमा से बाहर जा पड़ा।

चोरों की पल्ली : कई चोरों की हत्या

देवता ने मुझे अम्बरीष जाति के वीरसेन आदि चोरों की बस्ती में ला पटका। किसी पर प्रहार करने की दृष्टि से धारण की हुई मेरे हाथ की चमकती कटार को चोरों के सरदार ने देखा और देखते ही मुझे पहचान लिया। वे सब कुछ समय पूर्व मेरे अधीन रह चुके थे इसलिये तुरन्त मेरे चरणों में गिर पड़े और मुझे पूछने लगे कि, 'देव! बात क्या है?' मैं उन्हें कुछ भी उत्तर न दे सका, जिससे चोरों को आश्चर्य हुआ। वे मेरे बैठने के लिये आसन ले आये, पर मेरे से उस पर बैठा ही नहीं गया। उनके मन में मेरे प्रति दैन्य-भाव जागृत हुआ। उनकी करुणा से प्रभावित होकर देवता ने अपनी जकड़ से मुझे मुक्त किया। देवता से मुक्त होने पर मेरे अंगोपांग हिलने-डुलने लगे, जिसे देखकर चोरों को प्रसन्नता हुई।

फिर उन्होंने मुझे आसन पर बिठाया और .ीती हुई सारी घटना के बारे में प्रेम पूर्वक पुनः-पुनः पूछने लगे। मैंने मन में विचार किया कि 'यह तो बड़ी दिक्कत की बात है कि जहाँ जाओ वहीं दूसरों की चिन्ता में जलने वाले और ऊपर से कृत्रिम स्नेह दिखाने वाले लोग मिलते हैं और क्षणभर भी सुख से नहीं बैठने देते।' जब मैंने दूसरी बार भी उत्तर नहीं दिया तो वे फिर पुनः-पुनः आग्रह पूर्वक पूछने लगे। इसी समय मेरे अन्तःस्थल में विद्यमान हिंसा और वैश्वानर जागृत हो गये जिससे मैंने तत्काल ही कई चोरों को मार गिराया। ऐसी अनोखी घटना देखकर वहाँ बहुत शोर होने लगा। मेरे सामने चोर अधिक संख्या में थे, अतः उन्होंने मुझे घेर लिया, मेरे हाथ से कटार छीन ली और स्वजाति को भय होने से मुझे बांध दिया।

शत्रुत्व की आशंका

उस समय सूर्यास्त हो जाने से चारों तरफ अन्धकार फैल गया। चोरों ने एकत्रित होकर विचार किया कि 'इस नन्दिवर्धन ने पहले भी अपने नायक प्रवरसेन को मार दिया था और अभी भी अपने कई प्रधान मुख्य पुरुषों को मार दिया है, इससे स्पष्ट है कि यह अभी तक अपना शत्रु ही है। इसे अच्छा समझकर हम इसके अधीन होकर रहे और देश-देशान्तर में इसे अपना स्वामी प्रसिद्ध किया, अतः अब यदि हम इसे मार देंगे तो अपना अधिक अपयश होगा। अग्नि को जैसे पोट में बाँधकर नहीं रखा जा सकता वैसे इसे रखना भी कठिन है, अतः इसे दूर प्रदेश में ले

---

* पृष्ठ २८०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाकर छोड़ देना अधिक अच्छा है।' ऐसा निर्णय कर उन्होंने मुझे गाड़ी में पटक कर गाड़ी के साथ ही जकड़ कर बांध दिया और मेरे मुँह पर भी मोटा कपड़ा बांध दिया। इस गाड़ी के साथ मन और पवन के समान वेग से दौड़ने वाले बैल जोड़ दिये गये और गाड़ी में कुछ आदमी भी साथ में बैठ गये। हमारी गाड़ी चली और रात्रि में ही बारह योजन जमीन पार कर गयी। इस प्रकार चलते-चलते हम शार्दूलपुर नगर के निकट पहुँच गये। नगर के बाहर मलयविलय उद्यान में चोरों ने मुझे छोड़ दिया और अपनी गाड़ी लेकर वापस चले गये।

शार्दूलपुर के बाहर

थोड़ी देर बाद वहाँ अचानक ही सुरभित पवन चलने लगा। पशुओं में रहने वाला स्वाभाविक वैर भी दूर हो गया। उद्यान में समस्त पृथ्वी की श्री यहीं बस गई हो ऐसा लगने लगा। सारी ऋतुएं एक साथ वहाँ उतर आईं। पथिकों के समूह आनन्द कल्लोल करने लगे। भौंरे सरस ताल-लय में मनहारक गुंजारव करने लगे। उस प्रदेश में न अधिक शीत रहा और न ताप। सूर्य उद्योत करने लगा। प्रकृति अनुकूल हुई * और मेरे मन का संताप भी कुछ कम हुआ।

❀

२०. मलयविलय उद्यान में विवेक केवली

विवेक केवली का पदार्पण

मलयविलय उद्यान में उस समय बहुत से देवता आ पहुँचे थे। उनके शरीरों पर विभूषित आभूषणों की प्रभा से चारों दिशाओं में प्रकाश फैल गया। उन्होंने उद्यान की भूमि को स्वच्छ किया, सुगन्धी जल का छिड़काव किया, पांच वर्ण के मनोहर पुष्प चारों तरफ फैला दिये, एक विशाल और मणि-रत्न-जड़ित भूमिका (चबूतरा) तैयार की और उसके ऊपर स्वर्ण-कमल की रचना की। उसके ऊपर देवदूष्य वस्त्र का अति सुन्दर चन्दरवा बांधा जिसके चारों तरफ मोतियों की मालायें लटका दीं। ऐसी सुन्दर रचना करने के पश्चात् उत्सुकता पूर्वक मार्ग का अवलोकन करने लगे। मनोवांछित पूर्ण करने में कल्पवृक्ष के समान, मेरु पर्वत के समान स्थिर, क्षीरसमुद्र के समान गुणरत्नों के भण्डार, चन्द्र के समान शीतलेश्या से भूषित, प्रतप्त सूर्य के समान महाप्रतापी, अत्यधिक कठिनाई से प्राप्त होने वाले चिन्तामणि रत्न के समान, अतिशय निर्मल होने से स्फटिक के समान, सर्व सहिष्णुता से पृथ्वी के समान, आकाश जैसे अवलम्बन रहित और केवलज्ञान रूपी सूर्य को धारण करने वाले

* पृष्ठ २८१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवेक नामक आचार्य वहाँ पधारे। गन्धहस्ति जैसे हाथियों के समूह से घिरा हुआ रहता है वैसे ही महाधुरन्धर आचार्य अपने जैसे ही शान्तिमूर्ति अनेक शिष्यों से घिरे हुए थे। वहाँ आकर केवली महाराज सुवर्ण-कमल पर विराजमान हुए। उनके समक्ष हाथ जोड़कर खड़े सभाजनों ने उनकी वन्दना की और जमीन पर बैठ गये। फिर केवली भगवान् विवेकाचार्य ने व्याख्यान प्रारम्भ किया।

इसी समय मेरे शरीर में रहने वाले हिंसा और वैश्वानर आचार्यश्री के प्रताप को सहन नहीं कर सके इसलिये शरीर से बाहर निकल कर मुझ से दूर जाकर बैठ गये और मेरी प्रतीक्षा करने लगे।

महाराज अरिदमन-कृत केवली की स्तुति

शार्दूलपुर के राजा अरिदमन ने जब लोगों से उद्यान में विवेकाचार्य के पधारने के समाचार सुने तब उन्हें वन्दन करने के लिये नगर से निकले। पहिले अपनी पुत्री मदनमंजूषा का ब्याह मेरे से निश्चित करने के लिये उन्होंने स्फुटवचन को हमारे यहाँ भेजा था, उनकी वह पुत्री भी उनके साथ थी। उसकी माता रतिचूला भी साथ ही थी। राजा ने राज्य के पाँच निशान बाहर ही छोड़कर, उत्तरासन धारण कर मन में केवली के प्रति अत्यन्त भक्ति होने से सूरि-महाराज के अवग्रह (सभा) में प्रवेश किया। सूरि-महाराज के चरणों में पंचांग नमन पूर्वक नमस्कार कर, हाथ जोड़कर, अपने ललाट का स्पर्श करते हुए उन्होंने इस प्रकार स्तुति की। [१-४]

अज्ञानरूप अन्धकार के विनाशक हे सूर्य! रागरूपी संताप का नाश करने वाले हे चन्द्र! आपको मेरा नमस्कार हो। हे करुणासागर! हे संसार-विनाशक! आपके पवित्र चरणों के दर्शन कराकर आज आपने हमें पाप से मुक्त कर दिया। यथार्थ में आज ही मेरा जन्म सफल हुआ है, आज ही मुझे सच्चा राज्य प्राप्त हुआ है, आज ही मेरे कान सचेष्ट हुए हैं और आज ही मैं अपनी आँखों से देखने वाला बना हूँ। क्योंकि, सब प्रकार के पापों और संतापों के अजीर्ण को विरेचन करने वाले और मेरे महाभाग्य को सूचित करने वाले आपश्री का मुझे आज दर्शन हुआ है।

समस्त पापों का नाश करने वाले आचार्य महाराज की उक्त सुन्दर शब्दों में स्तुति करने के पश्चात् राजा ने अन्य साधुओं की वन्दना की और शुद्ध भूमि देखकर जमीन पर बैठ गया। उस समय स्वर्ग और मोक्ष को प्रत्यक्ष करा रहे हों इस प्रकार आचार्यश्री और सर्व साधुओं ने उन्हें धर्मलाभ का आशीर्वाद दिया। * फिर सभा में आये हुए अन्य सभी लोगों ने आचार्यश्री और अन्य साधुओं की भाव पूर्वक वन्दना की। सब के बैठ जाने पर लोक-यात्रा करने में उद्यत आचार्यश्री ने अपनी देशना प्रारम्भ की। [५-११]

---

* पृष्ठ २८२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवेक केवली की देशना

हे भव्य प्राणियों ! यह प्राणी इस संसार अटवी में निरन्तर भटकता रहता है। सर्वज्ञ भगवान् द्वारा बताये गये धर्म की प्राप्ति उसे बहुत ही कठिनाई से प्राप्त होती है। क्योंकि, ज्ञान-चक्षु से देखने पर पता लगता है कि यह संसार अनादि है, काल का प्रवाह भी अनादि है और जीव भी अनादि है। अनादि काल से भटकते प्राणियों को कभी भी सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म की प्राप्ति नहीं होती, इसीलिये वे ससार में भटकते ही रहते हैं और उनके इस चक्कर का कभी अन्त नहीं होता। यदि कभी उन्हें जैन धर्म की प्राप्ति हो जाय तो उनका संसार में निवास भी कैसे हो सकता है ? अग्नि का मिलन होने पर तृण का अस्तित्व कैसे रह सकता है ? अतः हे राजन् ! यह निश्चित है कि इस प्राणी ने तीर्थंकर प्ररूपित धर्म को पहले कभी भी प्राप्त नहीं किया; इस कथन में तनिक भी सन्देह नहीं है। जैसे मत्स्य निरन्तर समुद्र में डोलते रहते हैं उसी प्रकार प्राणी इस अनन्त दुःखों से भरे हुए संसार-समुद्र में डोलता रहता है इसी प्रकार भटकते हुए जब उसका स्वकर्म और भव्यपन परिपक्व होता है और मनुष्यत्व आदि सामग्री की प्राप्ति होती है तथा समय की अनुकूलता होती है तब किसी भव्य जीव पर सकल कल्याणकारी अचिंत्य शक्ति-धारी प्रभु की कृपा होता है। फलतः वह भव्य जीव बड़ी कठिनाई से भेदी जाने वाली ग्रंथि को भेद कर सकल क्लेशों का नाश करने वाला जिनेन्द्र भगवान् का तत्त्व-दर्शन प्राप्त करता है। उसके पश्चात् प्राणी तीर्थंकर प्ररूपित गृहस्थ-धर्म को अथवा सर्व दुःखों का निवास करने वाले श्रेष्ठ साधु-धर्म को स्वीकार करता है। इस प्रकार की सामग्री की प्राप्ति प्राणी को बहुत कठिनाई से प्राप्त होती है। इसीलिये राधावेध-संधान के समान धर्म की प्राप्ति को बहुत कठिन कहा गया है। अतः हे जीवों ! यदि तुम्हें शुद्ध धर्म की प्राप्ति हुई है तो उसका पालन करने का श्लाघ्यतम प्रयत्न करो और जितने अंश में धर्म की प्राप्ति न हुई हो उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करो। [१२-२३]

राजा अरिदमन द्वारा नन्दिवर्धन सम्बन्धी प्रश्न

देशनानन्तर अरिदमन राजा ने विचार किया कि 'आचार्य भगवान् तो केवलज्ञानी होने से साक्षात् सूर्य हैं, इनसे तो कोई भी बात छिपी नहीं रह सकती, अतः मेरा जो संशय है उसके बारे में भगवान् से पूछ देखूं। अथवा आचार्यश्री केवलज्ञानी मेरे मन होने से मेरे मन के संशय या जिज्ञासा को वे स्वयं ही जानते हैं और मुझे जो बात जानने की इच्छा हुई है वह भी जानते हैं, अतः मुझ पर कृपा कर वे स्वयं ही सब कुछ बतायेंगे।' राजा इस प्रकार सोच ही रहा था कि भव्य प्राणियों को विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करवाने के उद्देश्य से राजा को सम्बोधित करते हुए केवली भगवान् ने कहा—

आचार्य—राजन् ! आपके मन में जो सन्देह है उसे वाणी से पूछिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरिदमन—'भगवन्! यह पास ही बैठी मदनमंजूषा मेरी पुत्री है। थोड़े दिन पहले इसका सम्बन्ध पद्म राजा के कुमार नन्दिवर्धन से करने के लिये मैंने स्फुटवचन नामक मंत्री को जयस्थल भेजा था। उसे गये बहुत समय हो गया परन्तु वह वापस नहीं आया तब उसका पता लगाने मैंने यहाँ से कुछ लोग जयस्थल की ओर भेजे। ❀ वे लोग कुछ दिन बाद वापस आये और उन्होंने कहा—देव! जयस्थल नगर तो जल कर भस्म हो गया है। जला हुआ स्थान मात्र शेष रह गया है। उस नगर के निकट के अनेक ग्राम और शहर भी जल चुके हैं। अतएव जयस्थल और उसके पास के ग्राम-नगरों का नाम निशान भी नहीं है। वह देश तो अब जंगल जैसा लग रहा है। पता लगाने गये मेरे लोगों को वहाँ एक भी मनुष्य ऐसा नहीं मिला कि जिससे यह मालूम हो कि यह सब कैसे घटित हुआ? मैंने सोचा कि, अहो! बड़े दुःख की बात है, किस कारण से यह अघटित घटना हो गई? क्या वहाँ अचानक ही उल्कापात हो गया? क्या अंगारों की वर्षा हो गई? अथवा पहले से कुपित किसी क्रोधी देवता ने नगर को जला कर भस्म कर दिया? या किसी तपस्वी ने क्रोध में आकर शाप देकर नगर को जला दिया है या दावाग्नि से जल गया? अथवा चोरों ने जला दिया? इस घटना का वास्तविक कारण ज्ञात न होने से मेरे मन में सन्देह उत्पन्न हुआ। इस सन्देह का निराकरण न होने के कारण से बहुत दिनों से मैं संतप्त हूँ और ऊहापोह करता रहता हूँ। अब आपश्री के दर्शन होने से आज मेरे सब शोक-सन्ताप नाश को प्राप्त हुए हैं, पर मेरे मन का सन्देह अभी तक नहीं मिटा है, अब आप मेरा सन्देह दूर करने की कृपा करें।

आचार्य—राजन्! इस सभा के निकट ही एक पुरुष बैठा है जिसके हाथ पीछे से बन्धे हुए हैं, मुँह में भी कपड़ा ठूंसा हुआ है और जो कुछ झुका हुआ भी है, उसे आप देख रहे हैं न?

अरिदमन—हाँ, भगवन्! इस पुरुष को मैं देख रहा हूँ।

आचार्य—राजन्! इसी ने जयस्थल नगर को जलाकर राख कर दिया है।

अरिदमन—भगवन्! यदि इसी पुरुष ने जयस्थल नगर को जलाया है तो यह कौन है?

आचार्य—राजन्! जिसे तुम अपना जंवाई बना रहे थे, यह वही कुमार नन्दिवर्धन है।

अरिदमन—भगवन्! आप यह क्या कह रहे हैं? क्या नन्दिवर्धन ने स्वयं यह दुष्कर्म किया है? इसने ऐसा क्यों किया? फिर यह ऐसी दुरवस्था को कैसे प्राप्त हुआ?

❀ पृष्ठ २८३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नन्दिवर्धन की दुष्कर्म-कथा

उसके पश्चात् आचार्यश्री ने स्फुटवचन के साथ जयस्थल में पद्म राजा की सभा में तनिक-सी बात पर हुए विवाद से लेकर, चोर इसे शार्दूलपुर नगर के समीप इस जंगल में छोड़ गये वहाँ तक की (नन्दिवर्धन की) सब घटना कह सुनाई। मेरा ऐसा चित्र-विचित्र चरित्र सुनकर राजा और सम्पूर्ण धर्मसभा को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। राजा ने विचार किया कि इसका मुँह और हाथ बन्धे हुए हैं उन्हें छुड़ा दूं या नहीं ? नहीं, नहीं ! अभी तो आचार्यश्री ने उसके दुश्चरित्र का जो वर्णन किया है, उसे ध्यान में रखते हुए यदि मैं इसे बन्धन-मुक्त करूँगा तो यह अभी कुछ नया उत्पात मचा देगा और हम लोग केवली भगवान् के मुख से धर्मकथा सुनने का लाभ प्राप्त कर रहे हैं उसमें भी विघ्न उत्पन्न हो जायेगा। अतः जब तक आचार्यश्री का उपदेश चल रहा है तब तक तो इसे इसी दशा में रहने देना चाहिये। धर्मसभा समाप्त होने पर इसके विषय में सोचकर उचित कार्यवाही करूंगा। जिस प्राणी का ऐसा घोर पाप पूर्ण चरित्र हो उस पर एकदम अधिक दया दिखाना भी संगत नहीं है। अब केवली भगवान् से एक दूसरा प्रश्न भी पूछ लूं।

अरिदमन—महाराज ! हमने तो कुमार नन्दिवर्धन के विषय में पहले बहुत बड़ी-बड़ी बातें सुनी थीं कि वह महागुणवान है। हमने तो सुना था कि वह महान् योद्धा, दक्ष, स्थिर, बुद्धिमान, महासत्ववान, दृढप्रतिज्ञ, रूपवान, राजनीति का ज्ञाता, सर्व शास्त्रों में प्रवीण, समस्त गुणों की कसौटी और अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त असाधारण पुरुष है। जिसके बारे में हमने इतनी अच्छी बातें सुनी थी उसने ऐसा निकृष्ट पाप कार्य क्यों कर किया होगा ? यह कुछ भी समझ में नहीं आता। [१-२]

विवेकाचार्य—राजन् ! इसमें इस बेचारे तपस्वी का कुछ भी दोष नहीं है। तुमने इसके जिन-जिन गुणों का वर्णन किया ❀ वह अपने स्वरूप से इन सब गुणों से युक्त है। [३]

अरिदमन—भगवन् ! यदि यह नन्दिवर्धन आत्म-स्वरूप से निर्दोष होने के कारण इस निकृष्ट चरित्र के लिये दोषी नहीं है तो फिर किस का दोष है ? आप कृपाकर बतलावें। [४]

विवेकाचार्य—उससे कुछ दूरी पर जो पूर्णरूपेण कृष्ण रूप वाली दो मनुष्य आकृतियाँ बैठी हैं, यह सब दोष उन्हीं का है।

राजा ने आँखें फैलाकर मुझे देखा और फिर मेरे से कुछ दूर बैठी उन दो काली आकृतियों को बार-बार देखा।

अरिदमन—महाराज ! दूर से देखने से इन दो काली आकृतियों में से एक पुरुष और एक स्त्री जान पड़ती है।

विवेकाचार्य—तुमने ठीक ही देखा है।

अरिदमन—महाराज ! यह पुरुष कौन है ?

❀ पृष्ठ २८४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवेकाचार्य—राजन्! यह पुरुष महामोह राजा का पौत्र है और द्वेष-गजेन्द्र का पुत्र है। इसकी माता का नाम अविवेकिता है और इसका नाम वैश्वानर है। पहले जब इसका द्वेषगजेन्द्र के घर अविवेकिता की कोख से जन्म हुआ तब इसका नाम क्रोध रखा गया था, पर बाद में जैसे-जैसे इसमें क्रोधात्मक गुणों की वृद्धि होती गई वैसे-वैसे इसके सम्बन्धियों ने इसका प्रिय नाम वैश्वानर रख दिया।

अरिदमन—भगवन्! इस पुरुष के साथ जो दूसरी स्त्री आकृति बैठी है, वह कौन है?

विवेकाचार्य—द्वेषगजेन्द्र का सम्बन्धी दुष्टाभिसन्धि नामक एक राजा है, उसकी रानी निष्करुणता की यह पुत्री हिंसा है।

अरिदमन—इस नन्दिवर्धन कुमार के साथ इन दोनों का सम्बन्ध कब से हुआ है?

विवेकाचार्य—ये दोनों कुमार के अन्तरंग राज्य में मित्र और स्त्री के रूप में रहते आए हैं। वैश्वानर स्वयं को उसका मित्र बताता है और हिंसा उसकी स्त्री बन कर रहती है। नन्दिवर्धन ने भी अपना हृदय इन दोनों को समर्पित कर दिया है जिससे वह स्वकीय अर्थ (कार्य) सिद्ध होगा या नहीं इसका भी विचार नहीं करता, किस कार्य में धर्म है या अधर्म, अमुक पदार्थ भक्ष्य है या अभक्ष्य, पेय है या अपेय इसका भी विचार नहीं करता। अमुक बात बोलने योग्य है या नहीं, अमुक स्त्री गमन योग्य है या नहीं और अमुक कार्य के परिणाम स्वरूप अपना कितना हित या अहित होगा इसका भी विवेक नहीं रखता, पर्यालोचन नहीं करता। इसी मनोवृत्ति के फलस्वरूप स्वाभ्यस्त कितने ही गुणों के प्रयोग करने की प्रवृत्ति को भी वह भूल गया है। इसकी आत्मा क्षणमात्र में परिवर्तित होकर समग्र दोषों का भण्डार बन गई है। राजन्! इन दोषों को धारण कर नन्दिवर्धन बचपन से ही सह शिक्षार्थी निरपराध बालकों को अनेक प्रकार के त्रास देता था, अपने कलाचार्य (शिक्षक) को बार-बार धमकी देता था और हितोपदेश देने वाले विदुर को भी इसने एक बार चांटा मार दिया था। बुरी संगति से बचपन में ही ऐसे-ऐसे उत्पात करने के पश्चात् युवावस्था में दोनों की संगति से इसने अनेक प्राणियों का नाश किया, बड़े-बड़े युद्ध कर इसने संसार को संतप्त किया। इन दोनों के वशीभूत होकर इसने परमोपकारी बान्धवों को भी मारने का प्रयत्न किया। अपने स्नेही महाराज कनकचूड और कुमार कनकशेखर का तिरस्कार किया। स्फुटवचन के साथ असमय ही मिथ्या विवाद किया, बिना कारण उसे मार डाला। माता-पिता, भाई-बहन और अपनी प्रिया का भी खून किया। पूरे शहर को जला कर भस्म कर दिया और स्नेह से परिपूर्ण मित्रों और नौकरों को मार दिया। यह सब तो आपने अभी-अभी सुना ही है। हे राजन्! इन सारे दोषों का यह जो ताण्डव हो रहा है उसका कारण ये दोनों वैश्वानर और हिंसा ही हैं। इसमें वैश्वानर मित्र रूप में और हिंसा पत्नी रूप में विद्यमान है। इस बेचारे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तपस्वी ❀ नन्दिवर्धन का तो तनिक भी दोष नहीं है। यह तो अपने स्वरूप से अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख और अपरिमित गुणों का निवास स्थान है। यह तो बेचारा अज्ञानवश अभी अपने इतने श्रेष्ठ आत्म-स्वरूप को जानता ही नहीं है। इसी कारण पापी मित्र और पापिनी स्त्री की संगति में पड़ने से इसके स्वरूप में इतना विकृत परिवर्तन हुआ है। इनकी कुसंगति से इनके वशीभूत होकर वह इस अवस्था में आ पहुँचा है और अनन्त दुःखों की कारणभूत अनर्थ-परम्परा को भोग रहा है।

अरिदमन—महाराज! हमने स्फुटवचन प्रधान को जब यहाँ से पुत्री का सम्बन्ध तय करने जयस्थल भेजा था उससे पहले हमने बहुत से लोगों के मुख से सुना था कि नन्दिवर्धन के जन्म पर पद्म राजा के सम्पूर्ण राज-परिवार में आनन्द छा गया था, राज्य-भण्डार में विपुल समृद्धि हुई थी और समस्त नगर अत्यधिक आनन्दित हुआ था। बड़ा होने पर भी कुमार अपनी प्रकृति से प्रजा को अत्यधिक आह्लादित करता था और उसके गुणों की प्रसिद्धि चारों तरफ फैल गई थी। अपने प्रताप से उसने सारे भूमण्डल को अपने अधीन कर लिया था, शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी, जयपताका प्राप्त कर यश का डंका बजाया था और भूतल पर सिंह के जैसा पराक्रम दिखाया था। अन्त में उसे सुख-समुद्र में आनन्द करते सुना था। हे महाराज! ऐसी-ऐसी अनेक बातें हमने कुमार के सम्बन्ध में सुन रखी थीं। क्या उस समय दुःखों की परम्परा का हेतु उसका यह पापी मित्र और क्रूर पत्नी इसके साथ नहीं थे? क्या वे अभी-अभी उससे सम्बन्धित हुए हैं?

विवेकाचार्य—राजन्! उस समय भी यह मित्र और पत्नी उसके साथ ही थे परन्तु उस समय उसको कल्याणकारिणी परम्परा और प्रसिद्धि का कुछ अन्य ही कारण था।

अरिदमन—भगवन्! वह क्या कारण था?

विवेकाचार्य—उस समय उसके साथ पुण्योदय नामक एक अन्तरंग मित्र और भी था जो सर्वदा कुमार के साथ ही रहता था। पद्म राजा और उसकी प्रजा को जो आनन्द प्राप्त हुआ एवं पूर्ववर्णित जो कुछ कीर्तिकारक कार्य हुए उन सब का कारण वह पुण्योदय था। जहाँ वह होता है वहाँ अपने प्रभाव से आनन्द ही आनन्द कर देता है और चारों तरफ यश-कीर्ति फैलाता है। दुर्भाग्य से मोह के वशीभूत कुमार को यह पता ही नहीं था कि उसकी यश-कीर्ति का कारण पुण्योदय है। बल्कि इसके विपरीत वह तो यह समझता रहा कि उसे जो कुछ भी लाभ, यश, विजय आदि प्राप्त हो रहे हैं वे सब उसके मित्र वैश्वानर और पत्नी हिंसा के प्रभाव से प्राप्त हो रहे हैं। इससे पुण्योदय को लगा कि यह भाई तो उसके गुणों को मानने और समझने की शक्ति वाला नहीं है, अयोग्य है। इस विचार से धीरे-धीरे उसने कुमार

❀ पृष्ठ २८५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर से अपना प्रेम कम कर दिया और उससे धीरे-धीरे दूर होने लगा। जिस दिन कुमार ने बिना कारण स्फुटवचन को मारा, उसी दिन पुण्योदय उसे छोड़कर अन्य कहीं चला गया। फिर पुण्योदय-रहित हो जाने से उस पर पापी मित्र और क्रूर पत्नी का प्रभाव अधिक बढ़ने लगा और इन्होंने उससे अनेक प्रकार के अनर्थकारी पापकर्म करवाये।

अरिदमन—भगवन्! कुमार का हिंसा और वैश्वानर के साथ कितने काल से सम्बन्ध है?

विवेकाचार्य—हिंसा और वैश्वानर का कुमार नन्दिवर्धन की आत्मा के साथ अनादि काल से सम्बन्ध है तथापि पद्म राजा के घर जन्म लेने के पश्चात् ये दोनों कुछ विशेष रूप से प्रकट हुए हैं। इसके पहले ये दोनों छिपकर रहते थे।

अरिदमन—महाराज! क्या कुमार नन्दिवर्धन अनादि काल से है?

विवेकाचार्य—हाँ (आत्म दृष्टि से) ऐसा ही है।

अरिदमन—यदि वह अनादि काल से है तो फिर पद्म राजा के पुत्र के रूप में कैसे प्रसिद्ध हुआ?

विवेकाचार्य—मैं पद्म राजा का पुत्र हूँ ऐसा उसे मिथ्याभिमान हुआ है। ऐसे मिथ्याभिमान (मिथ्याज्ञान) पर तनिक भी आस्था * नहीं रखना चाहिये।

अरिदमन—भदन्त! तब परमार्थ से कुमार नन्दिवर्धन कौन हैं? किसका पुत्र है?

विवेकाचार्य—वास्तव में यह नन्दिवर्धन असंव्यवहार नगर का रहने वाला है, इसीलिये असंव्यवहारी कुटुम्ब का गिना जाता है। इसका नाम संसारी जीव है। कर्मपरिणाम महाराजा की आज्ञा से लोकस्थिति और तन्नियोग के अनुसार अपनी पत्नी भवितव्यता के साथ इसे असव्यवहार नगर से बाहर निकाल दिया गया है, तब से यह एक स्थान से दूसरे स्थान और दूसरे से तीसरे, तीसरे से चौथे स्थान पर भटक रहा है। यह इसका स्वरूप है, इसे आप समझ लें।

अरिदमन—भगवन्! यह सब कैसे होता है? और इसके सम्बन्ध में यह सब कैसे हुआ? मेरी विस्तार से सुनने की इच्छा है आप कृपा कर सुनावें।

विवेकाचार्य—यदि आपकी इच्छा है तो ध्यान पूर्वक सुनें।

पश्चात् आचार्यश्री ने मेरा सारा वृत्तान्त विस्तार पूर्वक अरिदमन को कह सुनाया। राजा अरिदमन केवली तीर्थंकर भगवान् के धर्म-दर्शनों से परिचित होने से, उसका बोध स्पष्ट और विमल होने से, भगवान् के वचनों पर विश्वास होने से, उसकी आत्मा लघुकर्मी होने से और निकट भविष्य में उसका कल्याण होने वाला था जिससे उसके मन में स्फुरणा हुई कि अहो! आचार्य महाराज केवलज्ञान से नन्दिवर्धन के संसार परिभ्रमण की सब बात जानते हैं और उसे कथा को सुनाने के

* पृष्ठ २८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहाने से वे सब भव-प्रपंच मुझे बता रहे हैं। इस प्रकार विशुद्ध आत्मज्ञान के विषय में विचार कर फिर राजा ने पूछा—भगवन्! मैंने अभी अपने मन में इस बारे में जो कुछ सोचा है, क्या वास्तव में वह ऐसा ही है अथवा अन्य प्रकार का है?

विवेकाचार्य—राजन्! वह वैसा ही है। आपकी बुद्धि सम्यग् मार्गानुसारिणी है, अतः अब आपकी धारणा में अन्य मिथ्याभाव तो आ ही नहीं सकते।

❀

३१. भव-प्रपञ्च और मनुष्य भव की दुर्लभता

जब विवेकाचार्य ने अरिदमन राजा को यह कहा कि आपकी बुद्धि अब मार्गानुसारिणी हो गई है तब उन्हें अतीव आनन्द हुआ और तत्त्व समझने की विशेष जिज्ञासा हुई। राजा ने पूछा—भगवन्! आपने अभी जो कथा सुनाई वह मात्र नन्दिवर्धन के विषय में ही घटित हुई है या अन्य प्राणियों के विषय में भी ऐसा होता है?

विवेकाचार्य—राजन्! इस संसार में रहने वाले प्राणियों में से अधिकांश की तो ऐसी ही दशा होती है, वह इस प्रकार है—प्रायः समस्त प्राणी अनादि काल से असंव्यवहारिक राशि में रहते हैं। जब प्राणी वहाँ रहता है तब क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आस्रव द्वार (कर्मबन्ध के हेतु) उसके अन्तरंग स्वजन-सम्बन्धी होते हैं। जैन आगम ग्रन्थों में वर्णित अनुष्ठान द्वारा विशुद्ध मार्ग पर आकर जितने प्राणी कर्म से मुक्त होकर मुक्ति पाते हैं, उतने ही असंव्यवहार राशि में से बाहर निकलते हैं, अर्थात् व्यवहार राशि में आते हैं। यह केवलज्ञानियों के वचन हैं। इस असंव्यवहार राशि में से बाहर निकले जीव बहुत समय तक एकेन्द्रिय जाति में अनेक प्रकार की विडम्बना भोगते हैं। विकलेन्द्रिय से लेकर पाँच इन्द्रियों वाले तिर्यञ्च जाति में परिभ्रमण करते हैं, वहाँ सर्वत्र नानाविध अनन्त दुःख सहते हैं। भिन्न-भिन्न अनन्त भवों में सहन करने के लिये बन्धे हुए कर्मजाल के परिणामों (विपाक-फलों) को भोगते हुए भवितव्यता के योग से बार-बार नये-नये रूप धारण करते हैं। अरहट घटी यन्त्र की तरह ऊपर नीचे घूमते रहते हैं और वहाँ वे सूक्ष्म और बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति कायिक जीवों का रूप धारण करते हैं। कई बार वे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय, जलचर, थलचर और आकाशगामी तिर्यञ्चों का रूप धारण करते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न रूप धारण कर प्रत्येक स्थान में अनन्त बार भटकते हैं। इस प्रकार नानाविध विचित्र रूपों में अनेक स्थानों पर भटकते हुए किसी जीव को ❀ महासमुद्र में डूबते हुए को जैसे रत्नद्वीप की प्राप्ति, महारोग से जर्जरित को जैसे

❀ पृष्ठ २८७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महौषधि की प्राप्ति, विष मूर्छित को जैसे मंत्र ज्ञाता की प्राप्ति, दरिद्री को जैसे चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति बड़ी कठिनाई से हो पाती है वैसे ही महान कठिनता से मनुष्य भव की प्राप्ति होती है। वहाँ भी धन के भण्डार पर जैसे बताल पीछे पड़ जाते हैं उसी प्रकार हिंसा, क्रोध आदि बैताल प्राणी के पीछे पड़ जाते हैं और उसको अनेक प्रकार से प्रपीड़ित करते हैं; जिससे महामोह की प्रगाढ निद्रा में पड़े हुए नन्दिवर्धन जैसे मन वाले पामर सत्वहीन प्राणी तो दुःखित होकर मनुष्य भव को हार जाते हैं। इतना ही नहीं, कुछ उच्चकोटि के प्राणी जो जिनवाणी रूप प्रदीप से अनन्त भव-प्रपञ्च को भलीभाँति जानते हैं, जो मनुष्य-भव-प्राप्ति की दुर्लभता को समझते हैं, जो यह जानते हैं कि संसार-समुद्र से पार कराने वाला एकमात्र धर्म ही है, जो स्वानुभव (सम्यक् ज्ञान) से भगवत् प्ररूपित उपदेश के अर्थ को समझते हैं और जिनको यह भी निश्चित जानकारी है कि निरुपम आनन्द का स्थान सिद्ध दशा ही है, ऐसे लोग भी मूर्खों (छोटे बालक) की तरह दूसरों को उपताप (त्रास) देने लगते हैं, गर्व में डूब जाते हैं, अन्य प्राणियों को ठगने लगते हैं, धनोपार्जन करने में रंजित होते हैं, सत्वधारी प्राणियों की हिंसा करते हैं, झूठ बोलते हैं, दूसरों के धन का अपहरण करते हैं, इन्द्रियों के विषय भोगों में आसक्त हो जाते हैं, महान परिग्रह एकत्रित करते हैं, रात्रिभोजन करते हैं। ज्ञान के होने पर भी लुभावने शब्द सुनकर मोहित होते हैं, रूप देखकर मूर्छित होते हैं, रस पर लुब्ध होते हैं, गन्ध पर लोलुप होते हैं और स्पर्श पर आश्लेषित (एकरूप) होते हैं। अप्रियकारी शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से द्वेष करते हैं, अन्तःकरण से निरन्तर पापस्थानकों में भ्रमण करते हैं, वाणी पर कोई नियन्त्रण नहीं रखते, शरीर को उद्दण्ड बना देते हैं और तपस्या से दूर भागते हैं। मनुष्य भव मोक्ष को निकट लाने में प्रबल कारण है यह जानते हुए भी लोग ऐसे भाग्यहीन हैं कि उनके लिये यह मनुष्य भव लेशमात्र भी गुणकारक या गुणसाधक नहीं बनता, अपितु उनके लिये इस नन्दिवर्धन कुमार की भाँति अनन्त दुःखों से भरपूर संसार-परम्परा की वृद्धि करने वाला हो जाता है। सारांश यह है कि यह दुर्लभ मनुष्य भव ऐसे प्राणियों को लाभ के स्थान पर हानि ही करता है। इस प्राणी ने संसार में परिभ्रमण करते हुए अनन्त बार मनुष्य भव प्राप्त किया परन्तु उन भवों में विशुद्ध धर्म का आराधन न करने से उसे कुछ भी प्राप्त न हो सका, कोई भी कार्य सिद्ध नहीं कर सका। मैंने पहले भी कहा है कि भगवान् के धर्म की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। पुनः सुनिये—

राजन्! पद्मराग, इन्द्रनील जैसे अनेक रत्नों से पूर्ण भण्डारों की प्राप्ति सरल है, पर जिनेन्द्र शासन की प्राप्ति उससे भी दुर्लभ है। राज्यदण्ड और कोषागार से समृद्ध, निष्कण्टक एकछत्र राज्य प्राप्त करना सरल है परन्तु जिनोदित धर्म को प्राप्त करना उससे भी कठिन है। राजन्! देवयोनि में इन्द्रियाँ और मन सर्वदा भोग सामग्री से तृप्त रहते हैं, ऐसी देव योनि की प्राप्ति सुलभ है परन्तु पारमेश्वरी मत की प्राप्ति महादुर्लभ है। हे भूपति! संसार में सबसे अधिक ऐश्वर्यमान् इन्द्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का इन्द्रत्व अपनी सम्पूर्ण ऋद्धि के साथ सहलता से प्राप्त हो सकता है, किन्तु जिनोक्त धर्म इतनी सरलता से प्राप्त नहीं हो सकता। हे राजन्! राज्य-सुख, राज्य-प्राप्ति, देवभोग या इन्द्रत्व ये सब तो संसार-सुख के कारण हैं जब कि मुनीन्द्रोक्त विशुद्ध धर्म तो मोक्ष सुख की प्राप्ति का कारण है। * कांच और चिन्तामणि रत्न के गुणों में जितना अन्तर हैं उतना ही संसार-सुख और मोक्ष-सुख में अन्तर है। वस्तुतः सद्धर्म की प्राप्ति इस संसार में अति दुर्लभ है। अतएव हे राजन्! जो लोग इस धर्म-प्राप्ति के महत्व को समझते हैं वे संसार की किसी भी वस्तु के साथ उसकी तुलना कैसे कर सकते हैं? इस कारण से हे राजन्! इस संसार के विस्तार को किसी प्रकार पार कर, राधावेध के समान दुःसाध्य मनुष्य भव को प्राप्त कर और संसार एवं कर्म का नाश करने वाले जिन शासन को प्राप्त करके भी जो मूढ मानस वाले हिंसा, क्रोध आदि पापों में रागयुक्त होते हैं वे सर्वोत्तम चिन्तामणि रत्न को छोड़कर कांच को ग्रहण करते हैं, गोशीर्ष चन्दन को जलाकर उसके कोयले का व्यापार करते हैं, महासमुद्र में लोहे के लिये नौका को विनष्ट करते हैं, उत्तम वैडूर्य रत्न में पिरोए धागे को प्राप्त करने के लिये रत्न को तोड़ देते हैं और कील के लिये सर्वोत्तम काष्ठ पात्र (नाव) को जला देते हैं। मोह-दोष से इमली की छछ को रत्न-पात्र में पकाते हैं, आक के फूल के लिये सोने के हल से जमीन जोतकर उसमें आकड़े के बीज बोते हैं और ये मूर्ख कपूर के टुकड़ों को फेंक कोदरे का व्यापार करते हैं तथा मन में गौरव का अनुभव करते हैं। ऐसा मानने का कारण यह है कि जिन प्राणियों के चित्त में हिंसा, क्रोध आदि पापों पर आसक्ति होती है उनसे जिनेन्द्रोक्त सद्धर्म दूर से दूर ही होता जाता है। जिस प्राणी का मन पाप में ओतप्रोत रहता है तथा सद्धर्म-रहित होता है वह मोक्षमार्ग के एक अंश के साथ भी नहीं जुड़ सकता। अतः ऐसा प्राणी संसार की प्रपंच विचित्रता और सद्धर्म की दुर्लभता को जानते हुए भी मोहान्ध होकर इस महा भयंकर संसार-समुद्र में सम्पूर्ण रूप से डूब जाता है और अनेक प्रकार की पीड़ा को भोगता है। परिणाम स्वरूप उसका ज्ञान बिल्कुल व्यर्थ हो जाता है, जैसा कि इस नन्दिवर्धन का हुआ है। [१-१७]

नन्दिवर्धन की बोध-दुर्लभता

अरिदमन—भगवन्! आपने भव-प्रपंच को इतने विस्तार से सुनाया जिसे इस नन्दिवर्धन ने भी सुना है, इसने क्रोध और हिंसा के कटु परिणाम भी स्वयं अनुभव किये है। तो क्या अब उसे कुछ बोध प्राप्त होगा या नहीं? कुछ जागृति आयेगी या नहीं?

विवेकाचार्य—राजन्! इसे किसी प्रकार का प्रतिबोध तो नहीं हुआ है, पर इस प्रकार की बातों से उल्टे इसके मन में अधिक उद्वेग उत्पन्न हो रहा है।

---

* पृष्ठ २८८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरिदमन—भगवन् ! तो क्या यह नन्दिवर्धन अभव्य है ?

विवेकाचार्य—राजन् ! यह अभव्य नहीं है किन्तु भव्य है। वह मेरे वचनों पर प्रतीति नहीं करता और उन पर आचरण नहीं करता, यह तो उसके मित्र वैश्वानर (क्रोध) का दोष है। इस वैश्वानर का इसके साथ अनन्त काल का अनुबन्ध (सम्बन्ध) होने से इसका तीसरा नाम अनन्तानुबन्धी भी कहा गया है। यह अनन्तानुबन्धी क्रोध अभी इसमें जागृत है और उस पर इसकी बहुत प्रीति है, इसीलिये मेरे वचनों से इसको लेशमात्र भी सुख-शान्ति नहीं मिलती, अपितु इसके हृदय में अप्रीति और दुःख उत्पन्न करते हैं। ऐसे संयोगों में इस बेचारे तपस्वी को प्रतिबोध कैसे हो सकता है ? इस वैश्वानर की संगति के परिणाम स्वरूप यह नन्दिवर्धन अभी भिन्न-भिन्न स्थानों में भटकता रहेगा, जहाँ यह अनेक प्रकार की वैर-परम्परा बाँधेगा और अनन्त काल तक विविध प्रकार के दुःखों का अनुभव करते हुए उनके दारुण फलों को भोगता रहेगा।

अरिदमन—भगवन् ! तब तो यह वैश्वानर इसका सचमुच में ही महान् शत्रु है।❀

विवेकाचार्य—इसने तो शत्रुता की सीमा भी लांघ दी है। इससे अधिक कोई किसी का क्या बुरा करेगा ?

अरिदमन—भगवन् ! क्या यह वैश्वानर इस नन्दिवर्धन का मित्र बन कर इसके साथ ही रह रहा है ? या अन्य किसी प्राणी का मित्र बनकर उसके साथ भी रहता है ?

विवेकाचार्य—राजन् ! यदि आप यह प्रश्न स्पष्टतया पूछ रहे हैं तो मुझे उसका उत्तर भी उसी स्पष्टता से विस्तार पूर्वक देना पड़ेगा, तभी आपको यथोक्त रीति से समझ में आयेगा और आपको पुनः-पुनः पूछना नहीं पड़ेगा।

अरिदमन—यदि आप विस्तार पूर्वक समझावें तो मुझ पर बड़ी कृपा होगी।

❀

३२. तीन कुटुम्ब

[अरिदमन राजा का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण था, पूरी धर्म सभा उत्तर सुनने को आतुर थी। विवेकाचार्य भी विस्तार से सब कुछ समझाने को उद्यत थे और चारों तरफ श्रोता भी खूब एकत्रित थे। उस समय आचार्य ने मधुर स्वर में तीन कुटुम्ब का विस्तार पूर्वक वर्णन प्रारम्भ किया।]

❀ पृष्ठ २८९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवेकाचार्य—राजन् ! इस संसार में प्रत्येक प्राणी के तीन-तीन कुटुम्ब होते हैं। वे इस प्रकार हैं—प्रथम कुटुम्ब में क्षान्ति, आर्जव, मार्दव, लोभ-त्याग, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख, सत्य, शौच, तप और संतोष आदि कुटुम्बीजन (घर के मनुष्य) होते हैं। दूसरे कुटुम्ब में क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, अज्ञान, शोक, भय, अविरति आदि कुटुम्बीजन (बान्धव) होते हैं। तीसरा यह शरीर, इसको उत्पन्न करने वाले माता-पिता और भाई-बहिन आदि अन्य कुटुम्बीजन होते हैं, प्रत्येक प्राणी के इन तीन कुटुम्बों द्वारा असख्य स्वजन सम्बन्धी होते हैं।

इनमें जो क्षान्ति, मार्दव आदि का प्रथम कुटुम्ब कहा गया है यह प्राणी का स्वाभाविक कुटुम्ब है जो अनादि काल से उसके साथ रहा हुआ है, जिसका कभी अन्त नहीं होता और जो प्राणी का हित करने में सदा तत्पर रहता है। यह कभी छुप जाता है और कभी प्रकट हो जाता है यह उसका स्वभाव है। यह अन्तरंग में रहता है और प्राणी को मोक्ष प्राप्ति करा सके ऐसा समर्थवान है। इसका कारण यह है कि वह अपने स्वभाव से ही प्राणी को उसके स्वस्थान से उच्चता की ओर ले जाता है।

इसके पश्चात् क्रोध, मान आदि को प्राणी का दूसरा कुटुम्ब कहा गया है। यह कुटुम्ब अस्वाभाविक है, पर दुर्भाग्य से वस्तु-स्वभाव को न समझने वाले अधिकांश प्राणी उसे ही अपना स्वाभाविक कुटुम्ब मानकर उससे ही प्रगाढ प्रेम भाव रखते हैं। इस द्वितीय प्रकार के कुटुम्ब का सम्बन्ध अभव्य जीवों के साथ अनादि काल से है और इस सम्बन्ध का कदापि अन्त नहीं होता अर्थात् अन्त रहित है। कुछ भव्य प्राणियों का इसके साथ सम्बन्ध अनादि काल से है किन्तु उसका अन्त निकट भविष्य में हो ऐसे स्वभाव वाला होता है। यह कुटुम्ब अपवाद-रहित प्राणी का एकान्त अहित करने वाला होता है। प्रथम कुटुम्ब की भाँति यह भी कभी छुप जाता है और कभी प्रकट हो जाता है। यह भी प्राणी के अन्तरंग में निवास करता है। प्राणियों को अधिक से अधिक संसार-वृद्धि का लाभ करवा कर ससार को बढ़ाना इस कुटुम्ब का धर्म है, क्योंकि प्राणी को स्वस्थान से नीचे गिराना, उसे दुर्गुणों के प्रति प्रेरित करना इसका स्वभाव है।

इसके अतिरिक्त जो तृतीय कुटुम्ब का ऊपर वर्णन किया गया है, वह तो स्वरूप से ही अस्वाभाविक है। यह कुटुम्ब तो सादि और सान्त है। इसका प्रारम्भ अल्पकालिक होता है अतः इसका तो अस्तित्व भी पूर्णतया अस्थिर है। वह कभी भी किसी प्रकार स्थिर नहीं रह सकता। यह कुटुम्ब भव्य प्राणी को कभी हितकारी और कभी अहितकारी भी होता है। इसका धर्म उत्पत्ति और विनाश है और यह बहिरंग प्रदेश में ही प्रवर्तित होता है। भव्य प्राणी को यह संसार और मोक्ष दोनों में कारणभूत होता है, जबकि अभव्य प्राणी को मात्र संसार का कारण होता है। यह बाह्य कुटुम्ब बहुलता से क्रोध, मान आदि द्वितीय कुटुम्ब को परिपुष्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने वाला होने से अधिकतर संसार-वृद्धि का कारण ही बनता है। यदि कोई भाग्यवान् प्राणी कभी क्षान्ति, मार्दव आदि प्रथम कुटुम्ब का अनुसरण करता है तो तीसरा बाह्य कुटुम्ब उसका भी पोषण करने में सहायता करता है और इस प्रकार कभी-कभी यह बाह्य कुटुम्ब मोक्ष का कारण भी बनता है। राजन्! द्वितीय कुटुम्ब का अंगभूत वैश्वानर समस्त संसारी जीवों का मित्र बनकर रहता है और इसी प्रकार हिंसा भी समस्त संसारी जीवों की स्त्री बनकर रहती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं करना चाहिये।

अरिदमन—महाराज! आपने क्षान्ति, मार्दव आदि प्रथम कुटुम्ब के सम्बन्ध में बताया कि यह प्राणी का स्वाभाविक कुटुम्ब है, प्राणी का हित करने वाला है और उसे मोक्ष में ले जाने का कारण है, तब प्राणी इसी कुटुम्ब को प्रेम पूर्वक क्यों नहीं अपनाते? भगवन्! क्रोध, मान, राग, द्वेष आदि द्वितीय कुटुम्ब के बारे में * आपने बताया कि यह प्राणी के लिये अस्वाभाविक है, अहितकारक है और संसार की वृद्धि का कारण है, फिर प्राणी इस द्वितीय कुटुम्ब को प्रेम पूर्वक क्यों अपनाते हैं?

विवेकाचार्य—राजन्! प्राणी हितकारक पहले कुटुम्ब को न अपनाकर अहितकारक दूसरे कुटुम्ब को क्यों अपनाते हैं, इसका कारण सुनें। क्षमा, आर्जव आदि प्रथम कुटुम्ब और क्रोध, मानादि द्वितीय कुटुम्ब के बीच अनादि काल से वैर चलता आ रहा है। दोनों कुटुम्ब अन्तरंग मनोराज्य में रहते हैं, पर इस लड़ाई में द्वितीय अधम कुटुम्ब द्वारा प्रथम कुटुम्ब प्रायः कर हारता ही रहता है। इस प्रकार इस अनादि संसार में दूसरे कुटुम्ब की अधिक शक्ति चलती है और प्रथम कुटुम्ब दब जाता है। यह प्रथम कुटुम्ब उसके भय से इतना प्रच्छन्न हो जाता है कि वह प्राणी को व्यक्त होकर अपने दर्शन भी नहीं कराता, अर्थात् प्राणी को इसका स्पष्ट दर्शन भी नहीं हो पाता। स्पष्ट दर्शन न होने से इस कुटुम्ब में कितने और कैसे गुण हैं, इसका भी प्राणी को पता नहीं लग पाता। इसीलिये प्राणी का उसके प्रति पूर्ण आदर भाव नहीं हो पाता। वास्तव में यह कुटुम्ब प्राणी के अन्तरंग में रहता है फिर भी प्राणी ऐसा मानता है कि उसके मन में ऐसे किसी कुटुम्ब का वास नहीं है। बात इतनी अधिक बढ जाती है कि जब हमारे जैसे इस प्रथम कुटुम्ब के गुणों का वर्णन करते हैं तब भी उसकी विशिष्ट रूप में गणना नहीं की जाती। इस अनादि संसार में धीरे-धीरे द्वितीय कुटुम्ब शत्रुभूत प्रथम विशुद्ध कुटुम्ब के लोगों को पराजित कर दूर भगा देता है और उस पर अपनी पूर्ण विजयपताका फहरा देता है। प्राणी को अधिकाधिक अपने घेरे में जकड़ कर अपनी इच्छानुसार नचाता है और प्रकट रूप में उसका स्वामी बन जाता है। इससे प्राणी को प्रतिदिन इस अधम कुटुम्ब के ही दर्शन होते हैं। प्रतिदिन साथ रहने से प्राणी इस द्वितीय अधम कुटुम्ब के प्रति

---

* पृष्ठ २६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक प्रेमबद्ध होने लगता है। उसे देखकर प्राणी के मन में सन्तोष और अनुराग होता है। उस पर विश्वास उत्पन्न हो जाता है और प्रणयभाव (मित्रता) गाढ होता जाता है। इस प्रकार प्राणी के मन में क्रोध, मोह, राग, द्वेष वाले इस द्वितीय अधम कुटुम्ब पर आसक्ति बढ़ती जाती है। फलतः इनमें रहे हुए अनेक दोषों को प्राणी देख नहीं पाता और प्रेम के वश उनमें जो गुण नहीं होते उन मिथ्या गुणों का आरोप करता है। इस झूठे प्रेम को लेकर प्राणी इस द्वितीय कुटुम्ब का अधिकाधिक पोषण करता है। वह अन्तःकरण पूर्वक मानने लगता है कि यह दूसरा कुटुम्ब ही उसका परम बन्धु है। हमारे जैसे उपदेशक यदि कभी उसे इस दूसरे कुटुम्ब के दोषों को बताते हैं तो वह हमें भी शत्रु बुद्धि से ग्रहण करता है अर्थात् हमें भी शत्रु मान बैठता है।

अन्तरंग कुटुम्ब के गुण-दोषों का ज्ञान आवश्यक है

अरिदमन—भदन्त! क्षान्ति, मार्दव आदि विशुद्ध अन्तरंग कुटुम्ब और क्रोध, रागादि अधम अन्तरंग कुटुम्ब के गुण-दोषों को यदि तपस्वी प्राणी स्पष्टतया समझ जाय तो कितना अच्छा हो! [इससे उसके यह भी समझ में आ जाय कि इन दोनों कुटुम्बों में कितना अन्तर है।]

विवेकाचार्य—इससे अधिक अच्छा और क्या हो सकता है? जो प्राणी अपना सर्वथा कल्याण करने की इच्छा रखता हो उसे तो वस्तुतः अवश्य ही प्रथम और द्वितीय प्रकार के कुटुम्बों के गुण-दोषों का विशेष रूप से ज्ञान प्राप्त करना ही चाहिये। हम अपनी धर्मकथा (उपदेश) में इसी पर विशेष ध्यान देते हैं। (विभिन्न उपदेश प्रणालियों से हमारा उद्देश्य यही होता है कि प्राणी इन दोनों कुटुम्बों के गुण दोषों को पहचाने)। वास्तव में जब तक प्राणी में स्वयं में योग्यता नहीं आती तब तक वह इन दोनों कुटुम्बों के बीच के अन्तर को समझने मे समर्थ नहीं हो सकता, अतः जो प्राणी अयोग्य होते हैं उनके प्रति हम भी गजनिमीलिका (उपेक्षा) करते हैं। यदि सभी प्राणी इन दोनों कुटुम्बों के अन्तर को स्पष्टतया समझ लें तो इस संसार का मूलोच्छेद हो जाय; क्योंकि इन दोनों कुटुम्बों के गुण-दोषों का ज्ञान हो जाने से दूसरे अधम कुटुम्ब का तिरस्कार कर उसे मार भगाकर सभी प्राणी मोक्ष चले जायें।

अरिदमन—सब प्राणियों को इन दोनों अन्तरंग कुटुम्बों के गुण-दोषों का स्पष्ट ज्ञान होना या कराना, यह अनुष्ठान शक्य नहीं है तब फिर इस बारे में व्यर्थ चिन्ता करने से क्या प्रयोजन? आपके चरणों की कृपा से हम तो दोनों अन्तरंग कुटुम्बों के गुण-दोषों को स्पष्ट रूप से समझ गये हैं, अतः हमारा अभिलषित कार्य तो सिद्ध हो गया। ❀ व्यवहार में कहा गया है कि—

बुद्धिमान मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार परोपकार करना ही चाहिये और यदि परोपकार करने की अपने में शक्ति न हो तो अपने स्वकीय अर्थ/कार्य

❀ पृष्ठ २९१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की सिद्धि को महत्वपूर्ण स्थान देना चाहिये अर्थात् स्वकीय कार्य साधन में कोई कमी नहीं रखनी चाहिये।

ज्ञान के साथ आचरण की आवश्यकता

विवेकाचार्य—राजन्! अकेला ज्ञान कार्य की सिद्धि नहीं कर सकता।

अरिदमन—यदि और कुछ करने की आवश्यकता हो तो आप निर्देश प्रदान करें।

विवेकाचार्य—अन्य कर्त्तव्य हैं:—ज्ञान के बाद उस पर सच्ची श्रद्धा और फिर उसे अनुष्ठान (क्रिया, आचरण) रूप में परिणत करना आवश्यक है। इन में से आप में श्रद्धा तो विद्यमान है अर्थात् आपको यह प्रतीति तो है कि जो बात कही गई है वह सत्य है, अब उसके अनुसार अनुष्ठान करने की, अपने ज्ञान को आचरण रूप में परिणत करने की चारित्र की आवश्यकता है। ऐसा करने से तुम्हारे सभी मनोवांछित सिद्ध होंगे, इसमें सन्देह को तनिक भी स्थान नहीं है। राजन्! इस अनुष्ठान को करने में आपको अनेक निर्दय आचरण (द्वितीय कुटुम्ब का विनाश करने हेतु) करने पड़ेंगे।

अनादि कुटुम्ब के बीच तुमुल युद्ध : निर्दय संहार

अरिदमन—महाराज! यह निर्दय कर्म किस प्रकार का है?

विवेकाचार्य ये निर्दय कर्म इस प्रकार के हैं जिसे हमारे सभी साधु निरन्तर करते रहते हैं।

अरिदमन—साधु जो इस प्रकार का कार्य निरन्तर करते हैं उसे सुनने की मेरी इच्छा है। आप उसे सुनाने की कृपा करें।

विवेकाचार्य—राजन्! सुनो—इन साधुओं के साथ दूसरे अधम कुटुम्ब का स्नेह सम्बन्ध अनादि काल से है, पर उनकी अधमता को समझने के पश्चात् वे स्वयं नृशंस होकर अधम कुटुम्ब वालों को रात-दिन विशुद्ध कुटुम्ब वालों से संघर्ष कराते हैं, लड़ाते हैं। इस दूसरे कुटुम्ब के पितामह महामोह को ये साधु निर्दय होकर अपने ज्ञान के फलस्वरूप ज्ञान से नाश करते हैं। इस कुटुम्ब-तन्त्र को चलाने वाला महा बलवान राग नामक सरदार है, उसको ये साधु वैराग्य नामक यन्त्र से चूर-चूर कर देते हैं। पुनः राग का भाई द्वेष है उसे ये साधु आक्रोश में आकर मैत्री नामक तीर से मार देते हैं। इस अधम कुटुम्ब में रहने वाले द्वेषगजेन्द्र के पुत्र अनादि के स्नेही बन्धु क्रोध को ये साधु निर्दय होकर क्षमा रूपी क्रकच (करवत) से काट देते हैं। द्वेष का पुत्र और वैश्वानर के भाई मान को ये मार्दव (मृदुता) रूपी तलवार से मार देते हैं और हाथ भी नहीं धोते हैं। द्वेषगजेन्द्र की पुत्री माया का तो ये निर्दयी साधु आर्जव (सरलता) रूपी डण्डे से मार-मार कर कचूमर निकाल देते हैं और उसके भाई लोभ को तो रौद्र बनकर निर्लोभता रूपी कुल्हाड़े से टुकड़े-टुकड़े कर देते है। समस्त प्रकार का स्नेह-बन्ध कराने में परायण काम को ये मुनि दोनों हाथों के बीच में लेकर खटमल के समान मसल देते हैं। सद्ध्यान रूपी अग्नि से अपने सभी शोक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्बन्धों को जला देते हैं और अपने साथ अनादि काल से स्नेह रखने वाले भय को निर्भय होकर धैर्य रूपी बाण से बींध देते हैं। राजेन्द्र ! इसी कुटुम्ब के हास्य, रति, जुगुप्सा और अरति नामक भुवा को ये साधु विवेक रूपी शक्ति से विदारण कर देते हैं। पाँच इन्द्रिय नामक भाई-भड़वों को ये मुनि घृणा-रहित होकर सन्तोष रूपी मुद्गर से खण्ड-खण्ड कर देते हैं। अन्तरंग में रहने वाले इस अधम कुटुम्ब के सभी स्नेही बन्धु-जनों और सम्बन्धियों को ढूँढ-ढूँढ कर ये निर्दयी साधु उनके विरुद्ध योग्य शस्त्रों का प्रयोग कर उनका संहार कर देते हैं। हे राजेन्द्र ! इस प्रकार अधम कुटुम्ब वालों को त्रास देने के साथ ही ये मुनिगण प्रथम विशुद्ध कुटुम्ब के प्रेमी सम्बन्धियों के बल, पुष्टि व तेज में वृद्धि करते हैं। धीरे-धीरे प्रथम कुटुम्ब अधिक पुष्ट होता जाता है और दूसरे कुटुम्ब के मुख्य लोगों के मर जाने से पौरुष-भग्न (सत्त्वहीन) हो जाने से वे प्रथम कुटुम्ब के कार्यों में ❀ बाधक नहीं बन पाते। हे राजन् ! इन साधुओं को यह ज्ञान होने पर कि तीसरा बाह्य कुटुम्ब (माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, बहिन आदि) अधम कुटुम्ब का पोषण करने वाला है, अतः इन्होंने इस तीसरे कुटुम्ब का सर्वथा त्याग ही कर दिया है। जब तक तीसरे बाह्य कुटुम्ब का सर्वथा त्याग न कर दिया जाय तब तक प्राणी दूसरे अधम कुटुम्ब पर सर्वथा विजय प्राप्त नहीं कर सकता। अतः हे राजन् ! यदि आपकी इच्छा संसार को छोड़ देने की हो तो आप भी मेरे द्वारा निर्दिष्ट अति निर्दय कर्म क्रियान्वित करें। केवल इस बात को ध्यान में रखते हुए कि अपनी अन्तरात्मा को मध्यस्थ रख कर सम्यक् प्रकार से विचार करें कि आप में उपर्युक्त निर्दय कर्म (साध्वाचार) के क्रियान्वयन की शक्ति भी है या नहीं ? हे भूपति ! दूसरे कुटुम्ब के व्यक्तियों को निर्बल करने में मैंने जिन अत्यन्त निर्घृण कर्मों का वर्णन किया है उनमें से कुछ का प्रयोग ये घातकी साधु अपने अभ्यास योग के बल पर करते हैं। अन्य संसार-रसिक प्राणी तो संसार के आनन्द में इतने तल्लीन रहते हैं कि इस सम्बन्ध में विचार करना भी उनके लिये सम्भव नहीं है, उस पर आचरण करना तो उनके लिये बहुत दूर की बात है, अर्थात् वे ऐसे कर्म को (साधुता को) कभी व्यवहार में प्रवर्तित नहीं कर सकते।

राजन् ! तीसरे बाह्य कुटुम्ब का त्याग, दूसरे अधम कुटुम्ब का घात और पहले विशुद्ध कुटुम्ब को पोषण करने का जो उपदेश मैंने दिया इसे बराबर ध्यान में रखें। इन तीनों का परिज्ञान कर, उस पर श्रद्धा रख और उसके आचरण में अपनी शक्ति का उपयोग कर अनेक मुनि-पुंगव इस ससार प्रपंच से मुक्त हुए, समस्त द्वन्द्वों से रहित हुए और अपने स्वाभाविक रूप को प्राप्त कर मोक्षावस्था में रहते हुए प्रमोद कर रहे हैं। अतः हे राजन् ! जिस दुष्कर कर्म की मैंने व्याख्या की और उपदेश दिया उसे करना कठिन तो अवश्य है, परन्तु उसका अन्त बहुत सुन्दर है। ऐसी अवस्था में अब आपको जैसा योग्य लगे वैसा करें। [१–२४]

❀ पृष्ठ २९२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनन्त बाह्य कुटुम्ब का सम्बन्ध

अरिदमन—भगवन्! आपने प्रतिपादित किया कि प्रथम दोनों अन्तरंग कुटुम्ब अनादि संसार में सर्वदा अविच्छिन्न प्रवाह वाले हैं और तृतीय बाह्य कुटुम्ब की उत्पत्ति और विनाश समय-समय पर होता रहता है, तब तो यह तीसरा कुटुम्ब प्रत्येक भव में नया-नया होता होगा? [२५–२६]

विवेकाचार्य—राजन्! यह बाह्य कुटुम्ब तो प्राणी के प्रत्येक भव में नया ही होता है। [२७]

अरिदमन—महाराज! यदि ऐसा है, तब तो इस अनादि संसार में प्राणी ने अभी तक अनन्तों कुटुम्ब प्राप्त करके छोड़ दिये होंगे? [२८]

विवेकाचार्य—राजन्! जैसा आप कह रहे हैं वैसा ही है। इस प्राणी ने अनन्त बाह्य कुटुम्ब किये और छोड़ दिये, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इस संसार में भटकने वाले सभी तपस्वी जीव पथिक (यात्री) जैसे हैं। यात्री जैसे नये-नये वासस्थानों में नये-नये यात्रियों से मिलता है और फिर उन्हें छोड़ देता है वैसे ही प्रत्येक भव में प्राणी नये-नये शरीरों में प्रवेश कर नये-नये कुटुम्बों के साथ सम्बन्ध जोड़ता है और फिर उन्हें छोड़कर अन्य-अन्य शरीरों को धारण कर अन्य-अन्य कुटुम्बों से सम्बन्धित होता है। [२९–३०]

अरिदमन—भगवन्! यदि ऐसा है तब तो इस मानव भव में तृतीय कुटुम्ब से स्नेह सम्बन्ध रखना महामोह को बढावा देना मात्र है? ❀ [३१]

विवेकाचार्य—राजन्! तुमने सच्ची बात जान ली है। महामोह के बिना कौन समझदार व्यक्ति इस प्रकार की चेष्टा करेगा? [३२]

अरिदमन—स्वामिन्! एक प्रश्न और है। यदि कोई प्राणी यह निश्चय न कर सके कि उसमें अधम अन्तरंग कुटुम्ब को मार भगाने की शक्ति है या नहीं? और वह अधम कुटुम्ब के नाश में समर्थन न हो सके, फिर भी यदि वह तीसरे बाह्य कुटुम्ब का त्याग करे तो क्या फल प्राप्त होगा? श्रीमान् द्वारा निर्दिष्ट मुक्ति-लाभ हो सकता है या नहीं? कृपया विवेचन करें। [३३–३४]

विवेकाचार्य—राजन्! जो प्राणी अधम कुटुम्ब का नाश करने में समर्थ नहीं है वह यदि बाह्य कुटुम्ब का त्याग कर भी दें तो वह केवल आत्म-विडम्बना मात्र ही है। बाह्य कुटुम्ब का त्याग कर जो प्राणी निराकुल होकर अधम कुटुम्ब को मार भगा सके उसी का बाह्य कुटुम्ब त्याग सफल है, अन्यथा उसका त्याग निष्फल है, यह ध्यान रखें। [३५–३६]

❀

❀ पृष्ठ २९३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३३. अरिदमन का उत्थान

तत्त्वज्ञान की आवश्यकता

अरिदमन आपके उपदेश से मैंने यह जान लिया है कि इस संसार का प्रपंच बहुत भयंकर है और संसार-समुद्र को पार करना अति दुष्कर है। इस संसार-यात्रा में मैंने मनुष्य-भव बहुत कठिनाई से प्राप्त कर, मोक्ष अनन्तानन्द से भरपूर है इस तत्त्व को श्रद्धा पूर्वक समझा और यह भी जाना कि मोक्ष-प्राप्ति का कारण-भूत जैनेन्द्र शासन ही है। आप जैसे परोपकारी मुनीन्द्र की संगति से तीनों कुटुम्बों के स्वरूप, हेतु और फल आदि को परमार्थतः समझ सका। ऐसे संयोग प्राप्त होने पर भी आत्महित चाहने वाला कौन समझदार व्यक्ति अपने सच्चे बन्धु-सदृश प्रथम अन्तरंग कुटुम्ब का तत्त्वतः पोषण नहीं करेगा? कौनसा बुद्धिमान व्यक्ति आत्म-समृद्धि में विघ्न करने वाले समस्त व्यसनों के कारणभूत शत्रु जैसे दूसरे कुटुम्ब का नाश नहीं करेगा? और, तीसरे बाह्य संसारी कुटुम्ब का त्याग क्यों नहीं करेगा? जबकि उसका त्याग करने से दुःख-समूह का नाश होता है और परम सुख प्राप्त होता है। [३७-४२]

विवेकाचार्य—जिस प्राणी को संसार का भय लगा हो और जिसे सच्चा तत्त्व समझ में आ गया हो उसे ये तीनों कार्य अवश्य करने चाहिये। [४३]

अरिदमन - भगवन्! जिसने सच्चा तत्त्व नहीं समझा उस प्राणी को आपके कथनानुसार सर्वज्ञ शासन में प्रगति का कोई अधिकार है या नहीं?

विवेकाचार्य—नहीं, राजन्! बिलकुल नहीं। [४४]

अरिदमन का त्याग का निर्णय

राजा ने विचार किया कि मैंने गुरु महाराज से तत्त्व को समझा है और श्रद्धा से मेरा मानस भी प्रक्षालित है, अतः गुरुदेव ने जिस कार्य को करने का उपदेश दिया है, उसे करने का निश्चित रूप से मुझे अधिकार भी है। [४५]

ऐसा सोचते हुए राजा को उस समय वीर्योल्लास हुआ, आत्मिक प्रसन्नता हुई और उसने यतीश्वर गुरुदेव के चरण छू कर हाथ जोड़कर कहा—महाराज! यदि आपकी आज्ञा हो तो, आपने अभी जो अत्यन्त निर्घृण होकर अनुष्ठान करने का उपदेश दिया है, उस अनुष्ठान को करने की मेरी इच्छा है। [४६-४७]

विवेकाचार्य—महावीर्यशाली! आपके जैसे व्यक्ति को तो ऐसा करना ही चाहिये। आपने अभी तत्त्व को समझा है, अतः मेरी इस विषय में पूर्ण सम्मति है। [४८]

प्रधान पुरुषों का समयोचित कर्त्तव्य

उस समय राजा अरिदमन ने सहसा अपनी दृष्टि अपने पास खड़े मंत्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विमलमति के मुख की ओर घुमाई। तत्क्षण ही मंत्री ने नम्रता पूर्वक कहा—कहिये महाराज! क्या आज्ञा है?

अरिदमन—* आर्य! मेरा विचार राज्य, सगे-सम्बन्धियों और शरीर का संग छोड़ देने का है। आचार्य महाराज के निर्देशानुसार राग-द्वेषादि कुटुम्बियों का मुझे नाश करना है, ज्ञानादि अंतरंग के विशुद्ध कुटुम्ब का अहर्निश पोषण करना है और भागवती दीक्षा लेनी है अतः जो समयोचित कार्य हों उन्हें शीघ्र करो।

विमलमति—जैसी देव की आज्ञा। परन्तु, महाराज! मुझ अकेले को कालोचित कार्य करने का है ऐसा नहीं है, अपितु आपके अन्तःपुर में रहने वाले सब लोगों, सामन्तवर्ग और राज्य कर्मचारियों एवं इस सभा में उपस्थित सभी लोगों को यह कार्य करना है।

राजा ने मन में विचार किया कि मैंने तो मंत्री को आदेश दिया था कि मेरा दीक्षा लेने का विचार है, अतः तदनरूप जिनस्नात्र, जिनपूजा दान, महोत्सव आदि जो इस अवसर के योग्य कार्य हैं वे करो। किन्तु, यह क्या उत्तर दे रहा है? अहो! इसके कथन में अवश्य ही कोई गम्भीर अभिप्राय होना चाहिये। यह सोचकर राजा ने मंत्री से पूछा—आर्य! अभी जो-जो कार्य करने हैं वे आपको ही करने हैं, यह आपके अधिकार का विषय है, और ये कार्य करने में आप सक्षम हैं, तब अन्य लोग समयोचित कार्य के अतिरिक्त कौन-कौन सा उचित कर्त्तव्य करने वाले हैं?

विमलमति—महाराज! आपने जो कर्त्तव्य करने का श्री गणेश किया है, वह कर्त्तव्य हम सबको भी करना चाहिये, यही मेरे कहने का तात्पर्य है; क्योंकि न्याय तो सबके लिये समान होता है। आचार्यश्री ने अभी-अभी हमें समझाया है कि प्रत्येक प्राणी के तीन-तीन कुटुम्ब होते हैं। अतः हम सबके लिए समयोचित कर्त्तव्य यही है कि प्रथम क्षमा-मार्दव आदि कुटुम्ब को पुष्ट करें, द्वितीय कुटुम्ब राग-द्वेष आदि का विनाश करें और तृतीय बाह्य कुटुम्ब का त्याग करें।

अरिदमन—आर्य! जैसा आप कह रहे हैं, यदि वे सब भी इस बात को स्वीकार करते हैं तो बहुत ही अच्छी बात है।

विमलमति—देव! आप जो काम करने जा रहे हैं वह सबके लिये अत्यन्त पथ्यकारी है, अतः सभी इसी मार्ग को अंगीकार करें इसमें आश्चर्य ही क्या है?

प्रधान का ऐसा विचार सुनकर सभा में जो कायर व्यक्ति थे वे मन में कांपने लगे कि यह मंत्री हम सबको बल पूर्वक दीक्षा दिलवा देगा। भारी कर्म वाले जीव द्वेष करने लगे, नीच प्रकृति के लोग भागने लगे, विषयासक्त प्राणी घबराने लगे और जो अपने कुटुम्ब-जाल में फंसे थे वे पसीने से तरबतर होने लगे परन्तु जो लघु-कर्मी जीव थे वे अत्यधिक प्रसन्न हुए और जो धीर गंभीर मानस वाले थे वे

* पृ० २९४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रधान के वचनानुसार कार्य करने के विषय में सोचने लगे। ऐसे लघुकर्मी धीर प्रकृति वाले प्राणियों ने प्रकट में कहा—जिस प्रकार की महाराज की आज्ञा हो वैसा ही हम सब करने को तत्पर हैं। सर्व प्रकार की सामग्री का ऐसा संपूर्ण लाभ मिलने पर भी ऐसा कौन मूर्ख होगा जो ऐसा सर्वोत्तम साथ छोड़ देगा ? ऐसे स्वर्ण अवसर का त्याग करेगा ? ऐसे वचन सुनकर राजा अपने मन में बहुत प्रसन्न हुआ।

प्रमोदवर्धन चैत्य में दीक्षा

वहाँ पास ही प्रमोदवर्धन नामक जिनालय था, राजा और अन्य सभी लोग वहाँ गये। उस अत्यन्त विशाल जिन मन्दिर में विराजित जिन प्रतिमाओं को स्नात्र कराया और भगवान् का जन्माभिषेक मनाया गया। फिर भगवान् की मनोहारिणी पूजा की गई। अनेक प्रकार के महादान दिये गये। कैदियों को कारागृह से छोड़ा गया और ऐसे अन्य समयोचित समस्त प्रशस्त कार्य किये गये। राजा अरिदमन का पुत्र श्रीधर था उसको नगर से वहाँ बुलाया गया और राजा ने अपना राज्य पुत्र श्रीधर को सौंप दिया। ❀ जैन शास्त्रों में वर्णित विधि पूर्वक विवेकाचार्य ने राजा तथा उसके साथ दीक्षा लेने वाले उपस्थित सभी लोगों को भागवती दीक्षा प्रदान की। फिर आचार्यश्री ने संसार के प्रपंच पर विशेष रूप से वैराग्य-वर्धक और मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा में वृद्धि करने वाली धर्मदेशना दी। पश्चात् देवता आदि जो आचार्यश्री का उपदेश सुनने और उनको वन्दन करने आये थे वे अपने-अपने स्थान पर चले गये।

❀

३४. नन्दिवर्धन की मृत्यु

उपरोक्त वर्णन के अनुसार राजा अरिदमन ने अपने अंतःपुर और अनुयायी वर्ग में से कईयों के साथ संसार-त्याग कर दीक्षा ग्रहण करली। मेरे समक्ष स्वरूप-दर्शन हुआ, अनुकरण करने योग्य संयोग बने। और, हे अगृहीतसंकेता ! आचार्यश्री विवेक केवली ने अमृत तुल्य सदुपदेश दिया पर उन सबका मुझ पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। कुछ समय पश्चात् मेरा मित्र वैश्वानर और हिंसादेवी जो दूर बैठे थे मेरे पास आये और उन्होंने फिर से मेरे शरीर में प्रवेश कर लिया। राजा अरिदमन के दीक्षा समारोह पर जब अन्य कैदियों को बन्धन-मुक्त किया गया था तब राजपुरुषों द्वारा मुझे भी बन्धन-मुक्त कर दिया गया। मैं अपने मन में सोचने लगा कि 'इस श्रमण (विवेकाचार्य) ने मुझे लोगों के बीच बदनाम किया है।' इस विचार से मेरे मन में उनके प्रति धमधमायमान क्रोध की ज्वाला भभकी। जिस स्थान पर इतनी बदनामी हो गई हो उस स्थान पर रहने से क्या लाभ ? यह सोचते

❀ पृष्ठ २९५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए मैं वहाँ से विजयपुर जाने के लिये निकल पड़ा और उस तरफ जाने वाला कितना ही रास्ता पार कर लिया।

धराधर के साथ लड़ाई : नन्दिवर्धन की मृत्यु

इधर विजयपुर राज्य के राजा शिखरी के एक धराधर नामक पुत्र था। वैश्वानर और हिंसा ने मेरी भाँति उसे भी अपने वश में कर रखा था जिससे उसके पिता ने उसे देश निकाला दे रखा था। जंगल में भटकते हुए उस धराधर तरुण को मैंने देखा। मैंने उससे विजयपुर नगर का रास्ता पूछा, किन्तु उस समय उसके मन में अधिक व्याकुलता होने से उसने मेरी बात नहीं सुनी। मैंने सोचा कि तिरस्कृत बुद्धि से यह मेरी अवगणना कर रहा है। इस विचार के साथ ही मेरे शरीर में निवास करने वाले वैश्वानर और हिंसा उछल पड़े जिससे मैंने उसकी कमर से लटकी हुई कटार खींच ली। उसके शरीर में निवास करने वाले वैश्वानर एवं हिंसा भी सचेष्ट हो गये। फलस्वरूप उसने भी अपनी तलवार खींच ली। हमने एक ही साथ एक दूसरे पर घातक प्रहार किये जिससे दोनों के ही शरीर विदीर्ण हो गये।

उस समय हम दोनों के पास जो एकभववेद्या गुटिका थी वे एक साथ ही जीर्ण हो गई और भवितव्यता ने हम दोनों को नई गुटिकायें दे दीं।

छठे नरक में नन्दिवर्धन

इधर पापिष्ठनिवासा (नरक) नामक एक नगरी है जिसमें एक के ऊपर एक ऐसे सात पाटक (बस्तियाँ) हैं। इस नगर में मात्र पापिष्ठ नामक कुलपुत्र ही रहते हैं। भवितव्यता द्वारा दी गई गोली के प्रभाव से मुझे और धराधर को इस नगरी की तमःप्रभा नामक छठे पाटक (नरक) में ले जाया गया और वहाँ के निवासी कुलपुत्रों का रूप प्रदान कर हम दोनों को वहाँ स्थापित किया। वहाँ जाने के बाद हम दोनों में वैरानुबन्ध बहुत अधिक बढ गया। एक दूसरे पर अनेक प्रकार के घात-आघात करते हुए, अनेक विध यातना भोगते हुए हम २२ सागरोपम तक वहाँ विशाल दुःख-समुद्र में डूबे रहे।

संसार-परिभ्रमण

बावीस सागरोपम का समय पूरा होने पर भवितव्यता ने हम दोनों को फिर एक नई गोली दी जिसके प्रभाव से वह हमें पंचाक्ष-निवास नगर में ले गई और हम दोनों को गर्भज सर्प का रूप प्राप्त हुआ। वहाँ भी पूर्व-भव के वैर के कारण हम दोनों में क्रोध-बन्ध जागृत हुआ और हम परस्पर युद्ध करने लगे।

इस प्रकार लड़ते-लड़ते हमारी यह गोली भी जीर्ण हो गई। फलतः भवितव्यता ने पुनः नयी गोली देकर हमें पापिष्ठनिवास नगर के धूमप्रभा नामक पांचवे पाटक (नरक) में उत्पन्न किया। वहाँ भी हम आपस में जमकर संघर्ष करते रहे। इस घोर महादुःख में हमारी १७ सागरोपम की आयु समाप्त हुई।❀ वहाँ अनेक प्रकार की तीव्रतर पीड़ाओं का मुझे अनुभव करना पड़ा।

❀ पृष्ठ २६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वहाँ से हमें भवितव्यता पुनः पंचाक्ष-निवास नगर में ले आई और गोली के प्रयोग से हम दोनों को सिंह की योनि में उत्पन्न किया। वहाँ भी हम खूब लड़े और हमारी वैर-परम्परा सतत चलती रही।

इस प्रकार लड़ते-लड़ते सिंह योनि से मर कर, भवितव्यता की नई गोली के प्रभाव से हम फिर पापिष्ठनिवास नगर की पंकप्रभा नामक चौथी नरक बस्ती में उत्पन्न हुए। वहाँ भी हम दोनों क्रोधोत्कर्ष में एक दूसरे पर सर्वदा प्रहार करते रहे, लड़ते रहे। इस प्रकार आपस में लड़ते मरते हमारी दस सागरोपम की आयु पूर्ण हुई। इस बीच हमने वर्णनातीत दुःख सहन किये।

वहाँ से भवितव्यता ने फिर हमें बाज पक्षी का रूप प्रदान किया, जहाँ हम दोनों का क्रोध और अधिक बढ गया तथा हमारे बीच अनेक युद्ध हुए।

पुनः भवितव्यता ने अपनी गोली के प्रभाव से हमें पापिष्ठ-निवास नगरी की बालुकाप्रभा नामक तीसरी नरक बस्ती में उत्पन्न किया। यहाँ भी हम एक दूसरे को अनेक प्रकार से मार-कूटकर एक दूसरे का चूरा-चूरा कर देते थे। फिर वहाँ उस क्षेत्र की भी विविध पीड़ाएं सहन कीं। परमाधामी देव वहाँ हमें बहुत त्रास देते थे। ऐसे अनन्त दुःखों को सतत भोगते-भोगते हमारे सात सागरोपम पूर्ण हुए।

पुनः नयी गोली देकर भवितव्यता ने फिर हमें पंचाक्षनगर में नकुल (नोलिये) के रूप में उत्पन्न किया। हम इतने त्रस्त हुए तथापि एक दूसरे पर हमारा वैरानुबन्ध क्रोध और मात्सर्य किंचित् भी कम नहीं हुआ। हम एक दूसरे पर प्रहार करते और अपने शरीर को लहुलुहान कर देते। वहाँ से फिर हमें पापिष्ठ-निवास नगर की शर्कराप्रभा नामक दूसरी नरक बस्ती में ले जाया गया। वहाँ भी हम बीभत्सरूप धारण कर दूसरे का गला घोंटते रहे। परमाधामी देव भी कदर्थना करते हुए, त्रास देते रहे। क्षेत्र की वेदना का भी पार नहीं था। इन समस्त संतापों का अनुभव करते हुए बड़ी कठिनाई से हमने वहाँ तीन सागरोपम का काल जैसे-तैसे पूरा किया।

एक बार पापिष्ठ-निवास में और एक बार पंचाक्ष-निवास में इस प्रकार यहाँ से वहाँ बारम्बार गमनागमन करते हुए, धराधर के साथ वैरजनित संघर्ष करते हुए मैंने भवितव्यता के प्रभाव से अनेक नये-नये रूप धारण किये और विविध प्रकार की विडम्बनायें भोगता रहा। हे भद्रे अगृहीतसंकेता! एक गोली पूरी होते ही पुनः कुतूहल से कर्मपरिणाम राजा की ओर से मुझे दूसरी गोली दे दी जाती और मेरी पत्नी भवितव्यता भी एकभववेद्या गुटिका के साथ ऐसी योजना बनाती रहती कि मैं असंव्यवहार नगर के अतिरिक्त अन्य समस्त नगरों में पुनः-पुनः भटकता रहूँ। यों घाणी के बैल की तरह यहाँ से वहाँ भटकते हुए मेरा अनन्त काल व्यतीत हुआ।

❀

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रज्ञाविशाला के विचार

संसारी जीव इस प्रकार जब आप बीती सुना रहा था तब प्रज्ञाविशाला ने सोचा कि यह क्रोध (वैश्वानर) तो बहुत भयंकर है और हिंसा तो उससे भी दारुण भयंकर लगती है। पुनश्च, इस महा भयंकर संसार-समुद्र का कुछ अंश तो लंघन कर संसारी जीव ने बहुत कठिनाई से मनुष्य-भव प्राप्त किया तब भी वैश्वानर और हिंसा के वशीभूत होकर उसने स्वयं ने पूर्व-वर्णित महारौद्र कार्य किये। भगवान् के वचनों को भी मान नहीं दिया, मनुष्य का सम्पूर्ण भव हार गया, वैर की लम्बी शृंखला खड़ी कर ली। फलस्वरूप इसने संसार सागर में अनेक प्रकार की विडम्बनाएं ❀ प्राप्त कीं और महादुःखों की परम्परा को स्वयं स्वीकार किया। इस हिंसा और वैश्वानर का इस जीव के साथ शत्रुताभाव अनुभव एवं आगम (शास्त्र) से सिद्ध है। फिर भी प्राणी इन दोनों के स्वरूप को नहीं जानता हो इस प्रकार आत्म-वैरी (अपना ही शत्रु) बनकर क्रोध करता है और बार-बार उसी हिंसादेवी का अनुवर्तन करता है। जो लोग जानते हुए भी ऐसा आचरण करते हैं वे पामर प्राणी निश्चित रूप से नन्दिवर्धन जैसी ही अनर्थ-परम्परा को प्राप्त करते हैं, करेंगे। इस चिन्ता से मेरे मन में बहुत व्याकुलता होती है।

❀

श्वेतपुर में आभीर : पुण्योदय का साथ

सदागम के समक्ष भव्यपुरुष और प्रज्ञाविशाला की उपस्थिति में संसारी जीव ने अगृहीतसंकेता को उद्देश्य कर कहा—भद्रे अगृहीतसंकेता! इस प्रकार अनन्त काल तक अनेक स्थानों पर भटकाने के बाद भवितव्यता मुझे श्वेतपुर नगर में ले गई और मुझे आभीर (अहीर) का रूप दिया। जब मैंने इस रूप को धारण किया तब मेरा मित्र वैश्वानर कहीं छिप गया जिससे मैं कुछ शांत रूप वाला बन गया। अतः स्वभाव से ही मुझे कुछ दान करने की बुद्धि हुई। यद्यपि मैंने विशिष्ट शील का पालन नहीं किया, किसी संयम विशेष का आचरण नहीं किया तथापि घिसते-घिसते मैं कुछ मध्यम गुणों वाला बन गया। मुझे इस प्रकार सुधरता देखकर भवितव्यता मुझ पर अत्यन्त प्रसन्न हुई और उसने मेरे पर्व के मित्र पुण्योदय को फिर से जागृत किया तथा उसे फिर से मेरा सहचर बनाया। उस भवितव्यता ने मुझे स्पष्ट कहा—आर्यपुत्र! अब तुम सिद्धार्थपुर नगर में जाकर वहाँ आनन्द से रहो। यह पुण्योदय तुम्हारे साथ आयेगा और तुम्हारे मित्र एवं सेवक के रूप में कार्य करेगा। मैंने अपनी निश्चित विचार वाली भार्या के वचन को स्वीकार किया। उस समय एक भव में चलने वाली मेरी गोली जीर्ण हो गई थी अतः भवितव्यता ने मुझे नयी गोली दी जो दूसरे भव में चल सके।

❀

❀ पृष्ठ २९७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपसंहार

भो भव्याः प्रविहाय मोहललितं युष्माभिराकर्ण्यता-
मेकान्तेन हितं मदीयवचनं कृत्वा विशुद्धं मनः।
राधावेधसमं कथञ्चिदतुलं लब्ध्वापि मानुष्यकं,
हिंसाक्रोधवशानुगैरिदमहो जीवैः पुरा हारितम् ।। १ ।।

हे भव्य प्राणियों! आप सब का एकान्त हित हो इस दृष्टिसे जो बात मैं कहता हूँ उसे आप मोह-विलास को छोड़कर, मन को विशुद्ध कर ध्यान पूर्वक सुनें। राधावेध-साधन के समान दुःसाध्य अतुलनीय मनुष्य जन्म को किसी प्रकार प्राप्त करके भी जो प्राणी हिंसा और क्रोध के वश में पड़कर दुर्लभता से प्राप्त मनुष्य-भव को व्यर्थ खो देता है, पहले भी कई बार खो चुका है। अहो! वह मनुष्यता का कुछ भी लाभ प्राप्त नहीं कर सका ।। १ ।।

अनादिसंसारमहाप्रपंचे, क्वचित्पुनः स्पर्शवशेन मूढैः।
अनन्तवारान् परमार्थशून्यैर्विनाशितं मानुषजन्म जीवैः ।। २ ।।

इस अनादि संसार के विशाल प्रपंच में पड़कर, कई बार स्पर्शनेन्द्रिय के वशीभूत होकर और परमार्थ दृष्टि से शून्य बनकर इस मूढ जीव ने अनन्त बार मनुष्यता को खोया है ।। २ ।।

एतन्निवेदितमिह प्रकटं ततो भोः! तां स्पर्शकोपपरताऽपमतिं विहाय।
शान्ताः कुरुध्वमधुना कुशलानुबन्धमुपाय लंघयथ येन भवप्रपंचम् ।।३।।

उपरोक्त कथा में घटनानुसार स्पष्ट वर्णित कथानक को ध्यान में रखकर स्पर्शनेन्द्रिय, क्रोध और हिंसा की बुद्धि को छोड़कर अब आप शान्त बनें और पुण्यबन्ध करें जिससे इस संसार के प्रपंच का शीघ्र ही लंघन कर सकें ।। ३ ।।

इति उपमिति-भव-प्रपंच कथा का स्पर्शनेन्द्रिय,
क्रोध और हिंसा के फल का प्रतिपादक
तीसरा प्रस्ताव समाप्त हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपमिति-भव-प्रपंच कथा

४. चतुर्थ प्रस्ताव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ प्रस्ताव

पात्र एवं स्थान-सूची

स्थल	मुख्य-पात्र	परिचय	सामान्य-पात्र	परिचय
सिद्धार्थ नगर (बाह्य)	नरवाहन राजा	रिपुदारण का पिता	महामति	कलाचार्य
	विमलमालती रानी	रिपुदारण की माता	नरकेसरी	शेखरपुर का राजा, नरसुन्दरी का पिता
	रिपुदारण	कथानायक/ संसारीजीव, नरवाहन राजा का पुत्र	वसुन्धरा	नरकेसरी की रानी, नरसुन्दरी की माता
	नरसुन्दरी	रिपुदारण की पत्नी		
(अन्तरंग)	अविवेकिता	द्वेषगजेन्द की पत्नी		
	शैलराज	मान का रूपक, अविवेकिता का पुत्र		
क्लिष्टमानस नगर	दुष्टाशय	क्लिष्टमानस नगर का राजा		
(अन्तरंग)	जघन्यता	दुष्टाशय की रानी		
	मृषावाद	दुष्टाशय और जघन्यता का पुत्र, रिपुदारण का मित्र		
	माया	रागकेसरी और मूढता की पुत्री, मृषावाद की मुँहबोली बहिन		

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचक्षणाचार्य चरित्र

भूतल नगर	मलसंचय	भूतल नगर का राजा (कर्मबन्ध)
	तत्पंक्ति	मलसंचय राजा की रानी (कर्मसत्ता)
	शुभोदय	मलसंचय और तत्पंक्ति का पुत्र (शुभ कर्म का उदय)
	अशुभोदय	मलसंचय राजा का पुत्र (अशुभ कर्म का उदय)
	निजचारुता	शुभोदय कुमार की रानी (स्वाभाविक भलाई)
	स्वयोग्यता	अशुभोदय कुमार की रानी (अयोग्य होते हुए भी योग्यता प्रदर्शित करने वाली)
	विचक्षण	शुभोदय और निजचारुता का पुत्र (चातुर्य)

निर्मलचित्त नगर (अन्तरंग)

जड़	अशुभोदय और स्वयोग्यता का पुत्र (मूर्ख)	मलक्षय	निर्मलचित्त नगर का राजा, विचक्षण का श्वसुर, विमर्श का पिता
बुद्धि	विचक्षण की पत्नी		
विमर्श	निर्मलचित्त नगर के राजा मलक्षय का पुत्र, विचक्षण का साला और प्रकर्ष का मामा	सुन्दरता	मलक्षय राजा की रानी, बुद्धि और विमर्श की माता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	प्रकर्ष	विचक्षण और बुद्धि का पुत्र		
	रसना	वदन कोटर में रहने वाली और जड़ की पत्नी (रसनेन्द्रिय)		
	लोलता	रसना की दासी (लोलुपता)		

रसना मूलशुद्धि (अन्तरंग प्रदेश)

राजसचित्त नगर	मिथ्याभिमान	राजसचित्त नगर का रक्षक		
	रागकेसरी	राजसचित्त नगर का राजा, महामोह का पुत्र	महामूढता	रागकेसरी की माता, महामोह की पत्नी
	महामोह	रागकेसरी राजा का पिता		
	विषयाभिलाष	रागकेसरी का मन्त्री		
	रसना	विषयाभिलाष की पुत्री		
तामसचित्त नगर	द्वेषगजेन्द्र	रागकेसरी का भाई, महामोह का पुत्र, तामसचित्त नगर का राजा	शोक दैत्य आक्रन्दन विलपन	तामसचित्त नगर का एक अधिकारी शोक के विशिष्ट पुरुष
	अविवेकिता	द्वेषगजेन्द्र की रानी, वैश्वानर की माता		
	मतिमोह	तामसचित्त नगर का रक्षक, शोक का मित्र		
चित्तवृत्ति (महा अटवी)	महामोह	चित्तवृत्ति महाटवी में विपर्यास सिंहासन पर बैठकर राज्य करने वाला वृद्ध पितामह	सदाशिव शान्तिशिव	भौताचार्य अन्तर्कथा भौताचार्य सदाशिव का शिष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमत्तता (नदी)	महामूढता	महामोह की रानी,
तद्विलसित (द्वीप)		रागकेसरी और द्वेषगजेन्द्र की माता
चित्तविक्षेप (मण्डप)	मिथ्यादर्शन	महामोह का सेनापति
तृष्णा (वेदिका)	कुदृष्टि	मिथ्यादर्शन की पत्नी
विपर्यास (सिंहासन)		

वेल्लहल अन्तर्कथा

भुवनोदर नगर		
अनादि	भुवनोदर नगर का राजा	
संस्थिति	अनादि राजा की रानी	
वेल्लहल	अनादि राजा का जिह्वालोलुपी पुत्र	
समयज्ञ	वैद्य का पुत्र	
अतत्त्वाभिनिवेश	अपर नाम दृष्टिराग	रागकेसरी राजा के तीन मित्र
भवपाल	अपर नाम स्नेहराग	
अभिष्वंग	अपर नाम विषयराग	

मकरध्वज	महामोह के परिवार का एक छोटा राजा (कामदेव)	पुंवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद	मकरध्वज का परिवार
रति	मकरध्वज की पत्नी		
हास	मकरध्वज का विशिष्ट सहायक	तुच्छता	हास की पत्नी
अरति	मकरध्वज की विशिष्ट अनुचरी		

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	भय	मकरध्वज का विशिष्ट सहायक	हीनसत्त्वता	भय की पत्नी
	शोक	मकरध्वज का विशिष्ट सहायक	भवस्था	शोक की पत्नी
	जुगुप्सा	मकरध्वज का विशिष्ट सहायक		
	कषाय	रागकेसरी और द्वेषगजेन्द्र के सोलह बालक—अनन्तानुबन्धी ४, अप्रत्याख्यानी ४, प्रत्याख्यानी ४, संज्वलन ४		
	भोगतृष्णा	विषयाभिलाष मन्त्री की पत्नी		
	मोहराजा के मित्र सात राजा			
	ज्ञान संवरण	परिवार के ५ सदस्यों सहित		
	दर्शनावरण	परिवार के ९ सदस्यों सहित		
	वेदनीय	परिवार के २ सदस्यों सहित		
	आयु	परिवार के ४ सदस्यों सहित		
	नाम	परिवार के ४२ सदस्यों सहित		
	गोत्र	परिवार के २ सदस्यों सहित		
	अन्तराय	परिवार के ५ सदस्यों सहित		
भवचक्र नगर	लोलाक्ष	ललितपुर का राजा		
	रिपुकम्पन	लोलाक्ष का छोटा भाई		
	रतिललिता	रिपुकम्पन की रानी		
	मतिकलिता	रिपुकम्पन की दूसरी रानी		
	घनगर्व	मिथ्याभिमान का अंगभूत मित्र		
	सेठ	घनगर्वी मिथ्याभिमानी वणिक्	दुष्ट शील	सेठ के पास आने वाला चोर एवं जार पुरुष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

		मदनमंजरी	वृद्ध गणिका
रमण	गणिका-रसिक युवक	कुन्दकलिका	गणिका, मदनमंजरी गणिका की पुत्री
		चण्ड	राजपुत्र, कुन्दकलिका गणिका का प्रेमी

कपोतक अपरनाम घनेश्वर	कुबेर सार्थवाह का पुत्र, जुआरी
ललन	ललितपुर का पद-भ्रष्ट राजा, शिकारी एवं मांस प्रिय

दुर्मुख	विकथा प्रिय, चणकपुर का सार्थवाह		
वासव	धनवान सेठ	घनदत्त	वासव सेठ का मित्र
		वर्धन	वासव सेठ का पुत्र
		लम्बनक	वर्धन का भृत्य

हर्ष	रागकेसरी का सेनानी
विषाद	शोक का मित्र

भवचक्रान्तर
नगरों में—
मानवावास
विबुधालय
पशुसंस्थान
पापीपंजर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	सात महेलिका/पिशाचिनियां			विरोधी सत्त्व
	जरा	कालपरिणति प्रेरित	यौवन	जरा का शत्रु
	रुजा	असाता प्रेरित	निरोगिता	रोग की शत्रु
	मृति	आयुःक्षय प्रेरित	जीविका (जीवन)	मृत्यु की शत्रु
	खलता	पापोदय प्रेरित	सौजन्य	खलता की शत्रु
	कुरूपता	नाम कर्म प्रेरित	सुरूपता	कुरूपता की शत्रु
	दरिद्रता	अन्तराय प्रेरित	ऐश्वर्य	दरिद्रता की शत्रु
	दुर्भगता	नाम राजा प्रेरित	सुभगता	दुर्भगता की शत्रु

पृथ्वीतल के पांच नगर
नैयायिक
वैशेषिक
सांख्य
बौद्ध
लोकायत

जैन चारित्रधर्मराज (विवेक पर्वत पर छठा नगर)		जैनपुर में चित्तसमाधान मण्डप में निःस्पृहता वेदी पर जीववीर्य सिंहासनस्थ राजा	चारित्रधर्मराज के पांच मित्र सामायिक छेदोपस्थापन परिहारविशुद्धि सूक्ष्म सम्पराय यथाख्यात
सात्विक-मानसपुर (भवचक्र में एक नगर और विवेक पर्वत का आधार)	विरति	चारित्रधर्मराज की रानी	
विवेक पर्वत (सात्विक मानसपुर का पर्वत)	यतिधर्म	चारित्रधर्मराज का पुत्र, युवराज	

अप्रमत्तत्व (विवेक पर्वत का शिखर)	क्षमा	युवराज यतिधर्म के दस सहचारी
	मार्दव	
	आर्जव	
जैनपुर (विवेक पर्वत पर निर्मित नगर)	मुक्तता	
	तपयोग	
चित्तसमाधान (मण्डप)	संयम	
	सत्य	
निःस्पृहता (वेदी)	शौच	
	अकिंचनत्व	
जीववीर्य (सिंहासन)	ब्रह्मवीर्य	

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	सद्भावसारता	युवराज यतिधर्म की पत्नी		
	गृहिधर्म	चारित्रधर्मराज का छोटा पुत्र, युवराज यतिधर्म का छोटा भाई		
	सद्गुणरक्तता	गृहिधर्म की पत्नी		
	सम्यग्दर्शन	चारित्रधर्मराज का सेनापति		
	सुदृष्टि	सेनापति सम्यग्दर्शन की भार्या		
	सद्बोध	चारित्रधर्मराज का मन्त्री	अभिनिबोध	मंत्री सद्बोध के पांच मित्र
	अवगति	मन्त्री सद्बोध की भार्या	सदागम	
			अवधि	
			मनःपर्याय	
			केवल	
	सन्तोष	चारित्रधर्मराज का तन्त्र-पाल, संयम का मित्र		
	निष्पिपासिता	तन्त्रपाल सन्तोष की पत्नी		
शुभ्रमानस	शुद्धाभिसन्धि	शुभ्रमानस नगर का राजा		
नगर	वरता	राजा शुद्धाभिसन्धि की रानियां		
	वर्यता			
	मृदुता	शुद्धाभिसन्धि और वरता की पुत्री, शैलराज की शत्रु		
	सत्यता	शुद्धाभिसन्धि और वर्यता की पुत्री, मृषावाद की शत्रु		
	तपन	चक्रवर्ती, रिपुदारण का गर्वापहारक		

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. रिपुदारण और शैलराज

[मनुजगति नगरी में सदागम के समक्ष अगृहीतसंकेता को उद्देश्य कर संसारी जीव अपने चरित्र का वर्णन कर रहा है। उस समय प्रज्ञाविशाला और भव्यपुरुष भी पास बैठे हैं। संसारी जीव ने क्रोध, हिंसा और स्पर्शनेन्द्रिय-जन्य कर्मफल को प्रकट करने वाले नन्दिवर्धन के भव का विस्तृत वर्णन तृतीय प्रस्ताव में किया था। अब अपने चरित्र की कथा को आगे बढाते हुए कह रहा है :–]

सिद्धार्थ नगर : राजा नरवाहन और विमलमालती रानी

❀ अतिशय सुप्रसिद्ध, सौन्दर्य युक्त और पुण्यवान मनुष्यों से सेवित एक सिद्धार्थ नामक नगर था। उसमें नरवाहन राजा राज्य करता था। वह महाबली राजा अपने प्रताप-तेज से सूर्य को भी जीतने वाला, गंभीरता में महा समुद्र को जीतने वाला और स्थिरता में मेरु पर्वत से भी बढकर था। वह राजा अपने बन्धुवर्ग के लिये चन्द्रमा के समान शान्त, शत्रुओं के लिये अग्नि की प्रचण्ड ज्वाला के समान और अपने राज्य कोष की समृद्धि से कुबेर के समान था। इस नरवाहन राजा के रूप, शील, कुल और वैभव में उसके अनुरूप ही गुणों से शोभायमान विमलमालती नामक पटरानी थी। जैसे चन्द्रिका चन्द्रमा से और लक्ष्मी कमल से दूर नहीं रहती वैसे ही यह महारानी भी राजा के हृदय से कभी भी दूर नहीं रहती थी। अर्थात् नरवाहन राजा और विमलमालती रानी दोनों अभिन्न हृदय थे। [१-४]

रिपुदारण का जन्म

हे अगृहीतसंकेता ! मैं अपने पुण्योदय मित्र के साथ और अपनी स्त्री भवितव्यता के साथ (पूर्वभव से च्युत होकर) विमलमालती रानी की कुक्षि में प्रविष्ट हुआ। गर्भ समय पूर्ण होने पर मैंने प्रकट रूप से और मेरे अंतरंग मित्र पुण्योदय ने अदृश्य रूप से जन्म लिया। मेरे शरीर के सभी अवयव बहुत ही सुन्दर थे। मुझे प्राप्त कर स्वयं को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई है इस विचार से मेरी माता विमलमालती अत्यधिक हर्षित हुई। उस भव के मेरे पिता नरवाहन को मेरे जन्म के समाचार प्राप्त होने पर वे भी हृदय से तुष्ट हुए। सम्पूर्ण नगर को राजकुमार के जन्म से हर्ष हुआ तथा सारे राज्य और नगर में मेरा जन्मोत्सव मनाया गया। उस समय मेरे मन में ऐसी कल्पना हुई कि नरवाहन राजा और विमलमालती रानी का पुत्र हूँ और वे दोनों मेरे माता-पिता हैं। मेरे जन्म के एक माह पश्चात् बड़े हर्षोल्लास के साथ मेरा नाम रिपुदारण रखा गया। [५-११]

शैलराज का जन्म

नन्दिवर्धन के भव में अविवेकिता नामक जो मेरी धाय माता थी (यह तो

❀ पृष्ठ २९८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुझे याद ही होगा)। यही धाय माता मुझे अपना दूध पिलाने और मेरा पालन-पोषण करने के लिये यहाँ भी आई। इधर संयोग ऐसा हुआ कि एक बार इस अविवेकिता धात्री का उसके प्रियपतिद्वेषगजेन्द्र से मिलन/संयोग हुआ और दैवयोग से जिस समय विमलमालती के गर्भ में मैं आया उसी समय अविवेकिता ने भी गर्भ धारण किया। संयोग से जिस दिन मेरा जन्म हुआ उसी दिन अविवेकिता ने भी ❀ एक महादुष्ट बालक को जन्म दिया। इस बालक की छाती बाहर निकली हुई और कुछ ऊंची उठी हुई थी तथा उसके आठ मुँह थे जिसे देखकर वह विशालाक्षी अविवेकिता बहुत प्रसन्न हुई। फिर वह अविवेकिता धात्री हर्ष पूर्वक अन्तर्मन में विचार करने लगी कि, अहा ! मेरे पुत्र के तो श्रेष्ठ पर्वत के भिन्न-भिन्न शिखरों के समान आठ मुँह हैं, यह तो बहुत ही आश्चर्यजनक बात है। बालक के जन्म के एक माह पश्चात् अविवेकिता ने भी अपने पुत्र का नाम उसके गुणों के अनुसार शैलराज रखा।

[१२-१८]

शैलराज के साथ मित्रता

यह अविवेकिता धात्री और शैलराज दोनों ही मेरे अन्तःकारण में तो अनादि काल से रहते आ रहे थे, परन्तु अभी तक वे गुप्तरूप से रहते थे इसलिये मुझे उनका पता नहीं था। [१९]

मेरा सुख पूर्वक लालन-पालन हो रहा था और मैं बालोचित क्रीडाओं से माता-पिता को आनन्दित करता हुआ बढ रहा था। मेरे साथ ही साथ शैलराज भी पालित-पोषित होता हुआ बढ़ने लगा। [२०]

मेरी ५-६ वर्ष की उम्र हुई तब क्रीडा करते हुए एकबार मैंने ध्यान पूर्वक और समझ पूर्वक शैलराज को देखा। अनादि काल से उस पर मेरा अत्यधिक स्नेह और मोह था जिससे उसे देखते ही मेरे मन में उसके प्रति इतनी अधिक प्रीति उत्पन्न हुई कि जिसका वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। मैं उसकी ओर बहुत प्रेम से देख रहा हूँ यह जानकर वह दुष्टात्मा बालक अपने मन में लक्ष्य पूर्वक सोचने लगा कि, यह राजकुमार मेरी और स्निग्ध नेत्रों से देख रहा है. इससे लगता है कि अवश्य ही यह मेरे वशीभूत हो गया है। इससे वह भी बहुत आश्चर्य चकित हुआ और उसे भी मेरे प्रति बहुत प्रेम है, ऐसा दिखावा करते हुए वह माया पूर्वक मुझ से गले लगकर मिला। अत्यन्त मोह के कारण उस समय मेरे मन पर भी ऐसी छाप पड़ी कि, अहा ! इस शैलराज में सामने वाले प्राणी के मन के भावों को समझने की जैसी शक्ति है वैसी इस दुनिया में किसी में नहीं है। मैंने अपने मन में निश्चय किया कि जब ऐसा प्रेमी, विचक्षण और भला लड़का मेरा मित्र बनना चाहता है और मेरे प्रति इतना आकर्षित है तब मुझे भी उसे एक क्षण के लिये भी नहीं छोड़ना चाहिये, अर्थात् उसके साथ मित्रता गांठ लेनी चाहिए। इस निर्णय के पश्चात् मैं प्रतिदिन उसके साथ उद्यानों में तथा क्रीड़ा-स्थलों में खेलने लगा। इस प्रकार प्रसन्नता

❀ पृष्ठ २९९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वक मेरा समय उसके साथ बीतने लगा। वस्तुतः दुर्भाग्यवश उस समय मोह से मेरा मन इतना अधिक भ्रमित हो गया था कि स्नेह के आवेश में मुझे यह पता ही नहीं लगा कि यह शैलराज परमार्थ से तो मेरा यथार्थतः शत्रु ही है। [२१-२६]

शैलराज की मेरे आचरण पर छाप

इस प्रकार जैसे-जैसे दिन व्यतीत होते गये वैसे-वैसे शैलराज के साथ मेरी मित्रता बढ़ती ही गई। फलस्वरूप मेरे मन में विविध प्रकार के निम्नांकित वितर्क उठने लगे। मेरे मन में यह विचार उठा कि, 'मेरी क्षत्रिय जाति सब से उत्तम है। मेरा कुल सब कुलों से अधिक श्रेष्ठ है। मेरे बल/पराक्रम का यश त्रिभुवन में फैल रहा है। मेरा रूप इतना सुन्दर है कि मेरे रूप से ही यह पृथ्वी शोभायमान हो रही है। मेरा सौभाग्य जगत को आनन्दित करने वाला है। मेरा ऐश्वर्य विश्व में सब से बढ़कर है। विगत भव में पठित ज्ञान आज भी मेरे सन्मुख स्फुरित हो रहा है। मेरी लाभ प्राप्त करने की शक्ति तो इतनी अद्भुत है कि यदि मैं इन्द्र से कहूँ कि तेरी गद्दी मुझे सौंप दे तो वह प्रसन्नता से अपना स्थान मुझे सौंप दे, परन्तु अभी तो मुझे उसके स्थान की—इन्द्र पद की आवश्यकता ही नहीं है। इसके अतिरिक्त भी इस संसार में तप, वीर्य, धैर्य, सत्त्व आदि जो अनेक प्रकार के गुण और शक्तियाँ हैं वे सब तीनों भुवनों को छोड़कर मेरे में ही निवास कर रही हैं। ❀ इसमें आश्चर्य भी क्या है ? जिसे ऐसे अच्छे मित्र की मित्रता प्राप्त हुई हो, उसके गुणसमूह के गौरव का सम्पूर्ण वर्णन कौन कर सकता है ? साधारणतौर पर संसार में प्रत्येक प्राणी के एक मुँह होता है, जबकि मेरे मित्र के तो आठ मुँहहैं। मेरा मित्र तो अपने आठ मुखों से ही सब पर विजय प्राप्त कर सकता है। अहा ! जिसे शैलराज जैसा मित्र मिल जाय उसे इस संसार में ऐसी कौनसी वस्तु है जो नहीं मिल सकती ?' शैलराज के प्रति लिप्त-चित्त होकर ऐसे-ऐसे संकल्प-विकल्पों के कारण और मिथ्याभिमान वश मैं अपने आपको बहुत बड़ा और अन्य सब को क्षुद्र मानने लगा। ऐसे व्यवहार के परिणाम स्वरूप जब मैं चलता तो अपनी गर्दन को सर्वदा ऊँची उठाये रखता, मानों मैं आकाश के तारे या नक्षत्र देख रहा हूँ। घमंड से मैं मदोन्मत्त पागल हाथी के समान कभी सामने या नीची नजर नहीं करता। हवा भरी हुई निस्सार मशक या धौंकनी की भांति व्यर्थ में ही मैं सर्वदा मद से फूला हुआ अक्खड़ता में ही रहने लगा। [३०-४०]

अहंकारजन्य व्यवहार

गर्वोन्मत्तता के कारण मैं अपने मन में प्रतिदिन यही सोचा करता था कि इस संसार में मेरे से बड़ा कोई प्राणी नहीं है जो मेरे द्वारा नमस्कार करने योग्य हो; क्योंकि मुझ में इतने अधिक गुण हैं कि यदि गुणों से ही कोई वन्दन करने योग्य हो सकता है तो संसार के समस्त प्राणी गुणों की अपेक्षा से मुझ से नीचे हैं। अर्थात् सब

❀ पृष्ठ ३००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोग गुणों में मेरे से अधम हैं, हीन हैं। अन्य कोई मेरा गुरु कैसे हो सकता है ? मुझ में इतने अधिक गुण हैं कि उन गुणों के प्रताप से मैं स्वयं ही गुरु हूँ। मुझे तो देवताओं में भी कोई ऐसा दिखाई नहीं देता जिसमें मुझ से भी अधिक गुण हों ! हे अगृहीत-संकेता ! उस समय मैं इतना अभिमानाभीभूत हो गया था कि मैं प्रस्तर-स्तम्भ के समान सर्वदा हेंकड़ी में ही रहता और किसी को नमन भी नहीं करता था। हे भद्रे ! मेरा अहंकार इतना बढ़ गया कि समस्त सामन्त राजाओं के नमन करने से उनके मुकुट-किरणों से जिनके चरण-कमल सुशोभित हो रहे थे ऐसे मेरे पिताश्री के चरणों में भी मैं कभी नमन हेतु झुका नहीं। समग्र मनुष्यों द्वारा वन्दनीया, मेरे प्रति अत्यधिक वात्सल्य रखने वाली प्रेममूर्ति माता को भी मैं कभी नमस्कार नहीं करता था। इतना ही नहीं, अपने कुलदेवता और लौकिक देवों की तरफ भी मैं कभी नमस्कार करने की इच्छा से नहीं देखता। अर्थात् उनकी ओर कभी दृष्टिपात भी नहीं करता था। [४१-४६]

अभिमान-पोषण

मेरे पिता नरवाहन ने मेरे व्यवहार से यह जान लिया कि शैलराज के साथ मेरी प्रगाढ मैत्री हुई है और वह प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। उन्होंने अपने मन में सोचा कि, 'मेरा पुत्र घमंड से अपने को ईश्वर जैसा मानता है, अतः लोग यदि उसकी आज्ञा का कदाचित् उल्लंघन करेंगे तो उसके मन में अत्यन्त विक्षोभ उत्पन्न होगा और स्वयं को अपमानित मानकर मुझे छोड़कर वह कहीं अन्यत्र चला जायेगा। यदि ऐसा हो गया तो बहुत बुरा होगा। अतः मेरे अधीनस्थ सभी राजाओं और सामन्तों को कुमार के इस व्यवहार के संवाद भेज दूं और उनको निर्देश दे दूं कि वे सभी कुमार की आज्ञा का अवश्यमेव पालन करें।' मेरे पिता का मेरे प्रति अगाध प्रेम था। इसलिए उन्होंने उक्त बात सोची और तदनुसार आदेश प्रसारित कर दिया। यद्यपि मैं छोटा बालक था तदपि मेरे पिता की आज्ञानुसार सभी राजा मेरे सन्मुख नत-मस्तक होकर ऐसा व्यवहार करने लगे कि जैसे वे सब मेरे सेवक हों ! बड़े-बड़े उच्च कुलोत्पन्न राजा और पराक्रमी बलवान पुरुष भी देव ! देव ! खमा !! खमा !! कह कर मेरी अनेक प्रकार से सेवा करने लगे। ❀ मेरे मुख से शब्द निकलने के पहले ही समस्त राजलोक ससन्मान जय देव ! जय देव !! कहकर वे मेरी आज्ञा को शिर झुकाकर स्वीकार करने लगे। हे अगृहीतसंकेता ! तुझे कितना सुनाऊँ ? संक्षेप में, मेरे पिता-माता, बन्धु, सम्बन्धी और नौकर आदि सभी समस्त कार्यों में मेरे साथ ऐसा व्यवहार करने लगे कि जैसे मैं परमात्मा से भी बड़ा होऊँ। वास्तव में तो मेरे इस सन्मान का यथार्थ कारण मेरा मित्र पुण्योदय था परन्तु, अत्यन्त मोहजनित दोष के कारण मैं तो मन में उस समय यही विचार करता था कि अहा ! देवताओं को भी अप्राप्य मेरा जो प्रताप अभी सर्वत्र फैल रहा है उसका कारण मेरा परम प्रिय इष्ट मित्र शैलराज है और यह सब प्रताप मेरे उसी प्यारे मित्र का ही है। [४७-५७]

❀ पृष्ठ ३०१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शैलराज के साथ वार्तालाप

मेरे मित्र शैलराज के प्रति मेरा मन अत्यधिक सन्तुष्ट था। एक दिन मैं अपने मित्र को अत्यन्त विश्वस्त वचनों द्वारा स्नेहावेश से कहने लगा—मित्र! बन्धु! लोगों में मेरा इतना यश फैला और आज कल मेरी आज्ञा का इतना अधिक पालन होता है, यह सब तेरा ही प्रताप है। [५८-५९]

मेरी प्रशंसा से शैलराज अपने मन में अत्यधिक प्रसन्न हुआ, किन्तु ऊपर से प्रसन्नता को प्रकट नहीं करते हुए वह मुझे कहने लगा—कुमार! इसका परमार्थ मैं अभी तुम्हें बताता हूँ। तुमने जो मेरी प्रशंसा की उसका कारण मैं नहीं तुम स्वयं ही हो। सत्य यह है कि संसार में जो स्वयं दुर्गुणी होता है वह गुणों से परिपूर्ण अन्य व्यक्ति को भी अपनी मान्यतानुसार दोषों से भरा हुआ ही मानता है, जब कि सज्जन पुरुष दोष से भरे हुए अन्य व्यक्ति को भी अपने विशुद्ध विचारों के अनुसार गुणों का मन्दिर ही मानते हैं। इसी मान्यता के अनुसार मेरे जैसा गुण-रहित सामान्य व्यक्ति भी तुम्हारी दृष्टि में गुणों से परिपूर्ण दिखाई देता है, इसका कारण तुम्हारी सज्जनता ही है। इसलिये मेरी तो यह दृढ धारणा है कि यह सब यश और प्रताप तुम्हारा स्वयं अपने परिश्रम से अर्जित किया हुआ है। मेरी स्वयं की प्रसिद्धि भी तुम्हारे ही प्रताप से हुई है। वस्तुतः देखा जाय तो मेरा तो अस्तित्व ही क्या है? [६०-६५]

हे भद्रे! शैलराज के ऐसे प्रेमपूर्ण मनोहारी वचन सुनकर मैं उस पर अधिक अनुरक्त हुआ। उस समय मैंने अपने मन में सोचा कि, अहा! यह शैलराज मेरे प्रति कितना स्नेहशील है, यह हृदय से कितना गम्भीर है, इसकी वाणी में कितनी मिठास है और इसका भाव प्रकट करने का तरीका भी कितना आकर्षक है। मन में इस प्रकार सोचते हुए मैंने शैलराज से कहा—मित्र! तुम्हें मेरे समक्ष इस प्रकार के औपचारिक वचन कहने की क्या आवश्यकता है? तुझ में कितनी अद्भुत शक्ति है यह तो अब मुझे ज्ञात हो गया है। [६६-६८]

मेरी ओर से ऐसे स्नेहासिक्त शब्द सुनकर शैलराज बहुत हर्षित हुआ। फिर अपनी कार्यसिद्धि के लिये उसने कहा भाई! जब स्वामी स्वयं ही दास पर कृपा करने को प्रस्तुत हो तब उसका भला क्यों नहीं होगा? सुन, मैं एक और बात बताता हूँ। जब मेरे जैसे साधारण मनुष्य पर आपकी इतनी कृपा हुई है, तब आज मैं एक बहुत ही गोपनीय रहस्य बताता हूँ, उसे आप स्वीकार करें। मेरे पास हृदय पर लगाने का वीर्यवर्धक (शक्तिवर्धक) एक लेप है उसे प्रतिक्षण (बार-बार) अपने हृदय पर लगाते रहें। [६९-७१]

मैंने पूछा—यह लेप तुझे कहाँ से प्राप्त हुआ? इस लेप का क्या नाम है? इसको हृदय पर लगाने से किस फल की प्राप्ति होती है? ❀ यह मैं जानना चाहता हूँ।

❀ पृ० ३०२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर में शैलराज ने कहा—कुमार ! मैंने यह लेप किसी से प्राप्त नहीं किया है, स्वयं अपने वीर्य (शक्ति) से ही बनाया है। इसका नाम स्तब्धचित्त है। इसका कितना शक्तिशाली प्रभाव है, यह तो आपको स्वयं के अनुभव से ही ज्ञात हो सकेगा। अभी इस पर अधिक विवेचन करने से क्या लाभ है ?

मैंने कहा—जैसी मित्र की इच्छा।

फिर एक दिन शैलराज आत्मीय स्तब्धचित्त लेप मेरे पास लाया और मुझे अर्पण किया। मैंने भी वह लेप तत्क्षण ही अपने हृदय पर लगाया जिससे मेरी स्थिति सूली पर चढ़ाये हुए चोर जैसी हो गयी। किसी के सामने झुकने की तो मैंने बात ही छोड़ दी। मेरे इस परिवर्तन को देख कर सम्पूर्ण सामन्त वर्ग और अधिकारी वर्ग मुझे और अधिक झुक कर प्रणाम करने लगा। बात यहाँ तक बढ़ गई कि मेरे पिताजी भी मुझ से हाथ जोड़कर बात करने लगे और मेरी माताजी तो मुझ से इतने नम्र वचनों से बोलने लगीं मानों मैं उनका स्वामी होऊँ ! हृदय पर लेप लगाने का इतना अच्छा परिणाम देखकर मुझे इस लेप पर अत्यन्त विश्वास हुआ और मेरी यह दृढ़ धारणा हो गयी कि शैलराज मेरा सच्चा इष्ट मित्र और परम बन्धु है।

२. मृषावाद

एक दिन मैं क्लिष्टमानस नामक अन्तरंग नगर में गया। यह नगर समस्त दुःखों का स्थान था। इसमें धर्म को तिलांजली देने वाले लोग ही रहते थे। यह नगर सभी पापों का उद्गम स्थान और दुर्गति में जाने का सीधा द्वार जैसा था। [१]

उस नगर में दुष्टाशय नामक राजा राज्य करता था। वह समस्त प्रकार के दोषों का जन्म स्थान, महाभयंकर कर्मों का भण्डार और सद्विवेक राजा का जगत् प्रसिद्ध शत्रु था। [२]

उस दुष्टाशय राजा के जघन्यता नामक रानी थी जो अधम प्राणियों को अभीष्ट थी, समझदार और विद्वान् लोगों द्वारा निन्दित और तिरस्कृत थी तथा समस्त प्रकार के निन्दनीय और तुच्छ कार्यों की प्रवर्तिका थी। [३]

इस दुष्टाशय राजा और जघन्यता रानी का अतिशय अभीष्ट मृषावाद नामक एक पुत्र था। यह समग्र प्राणियों के आपसी विश्वास को भंग करवाने वाला था, संसार के समस्त दोषों से परिपूर्ण था और विचक्षण बुद्धिमानों की दृष्टि में गर्हित एवं त्याग करने योग्य था। [४]

इस नगर में शाठ्य (दुष्टता), पैशुन्य (चुगली), दौर्जन्य (दुर्जनता), परद्रोह (अन्य का बुरा चाहना) आदि अनेक चोर रहते थे। ये सभी राजकुमार मृषावाद की कृपा प्राप्त करने के लिये उसकी सेवा करते थे। स्नेह, मित्रता, प्रतिज्ञा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और विश्वास जैसे भले लोगों का यह राजकुमार शत्रु था। यह प्रतिज्ञालोपक का पिता (पोषक) था, नियम (मर्यादा) का महान् शत्रु था और किसी के अपयश की घोषणा करने वाले की वाहवाही करने को सदा तत्पर रहता था। उसकी आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने वाले कई प्राणी नरक में जाते हैं, उन्हें नरक जाने का सीधा और सरल मार्ग बताने की उसमें अपूर्व क्षमता थी। [५-८]

मृषावाद के साथ मैत्री

जब मैं क्लिष्टमानस नगर में गया तब मैंने दुष्टाशय राजा को देखा और उनके पास ही बैठी महादेवी जघन्यता को भी देखा। उनके चरणों के पास बैठकर उनकी सेवा-शुश्रूषा करने में परायण पुरुष को जब मैंने देखा तब मुझे अपने मन में विश्वास हो गया कि यही पितृभक्त मृषावाद होना चाहिये। * मैंने दुष्टाशय राजा को नमस्कार किया और थोड़ी देर उनके पास बैठा। [मैंने उपरोक्त नगर, नगरवासी, राजा, रानी और राजकुमार मृषावाद का जो वर्णन किया है, वह तो मुझे बहुत बाद में ज्ञात हुआ।] उस समय तो महामोह के वशीभूत होने से मुझे इनके स्वरूप के बारे में कुछ भी पता नहीं था। उस समय तो मैंने मृषावाद को अपने बड़े भाई के समान मानकर उसे अपना परम इष्ट मित्र बना लिया और थोड़े ही समय में उसके साथ प्रेम बढ़ा लिया। उसके साथ मेरा स्नेह यहाँ तक बढ़ गया कि जैसे वह मेरे शरीर का अंग ही हो, अर्थात् हम दोनों एक प्राण एक शरीर जैसे हो गये।

मृषावाद की मैत्री का प्रभाव : पुण्योदय की उपेक्षा

मृषावाद के साथ मेरा प्रगाढ सम्बन्ध हो जाने के बाद मैं उसे अपने साथ ही अपने यहाँ ले आया। उसके साथ आनन्द-विनोद करते-करते मेरे मन में अनेक विध नये-नये तर्क-वितर्क उठने लगे। जैसे कि, मैं निश्चित रूप से अत्यधिक विचक्षण और निपुण हूँ। मुझे सार वस्तु प्राप्त हुई है। अन्य सब लोग मूढ बुद्धि वाले पशुतुल्य हैं। मुझे समस्त प्रकार की सम्पदायें प्राप्त करवाने वाला मित्र मृषावाद मुझे मिल गया है। यह प्रिय मित्र स्नेह-पूर्वक सर्वदा मेरे हृदय में रहता है। अपने मित्र के प्रताप से मैं असद्भुत पदार्थ (अस्तित्वहीन पदार्थ) में भी अस्तित्व की बुद्धि उत्पन्न कर देता हूँ और अस्तित्व वाले पदार्थों में नास्तित्व वाली बुद्धि उत्पन्न कर देता हूँ। मैं स्वयं प्रत्यक्ष में ही प्रबल दुःसाहस का काम कर डालता हूँ किन्तु इस मित्र के प्रभाव से उसका उत्तरदायित्व अन्य किसी व्यक्ति पर डाल देता हूँ। मैं इच्छानुसार चोरी करूं, परस्त्री-गमन करूं या अन्य कोई अपराध करूं, किन्तु जब तक मेरा मित्र मृषावाद मेरे साथ है तब तक उस अपराध की गंध भी मुझ पर आरोपित नहीं की जा सकती। जिन प्राणियों से मृषावाद मित्र का सम्बन्ध न हो उनका एक भी

---

* पृष्ठ ३०३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वार्थ कैसे सिद्ध हो सकता है ? अर्थात् किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये मुझे तो ऐसे सब लोग मूर्ख ही लगते हैं, क्योंकि स्वार्थ का नाश करना ही सब से बड़ी मूर्खता है। मैं तो मृषावाद की कृपा से जहाँ विग्रह (युद्ध) हो रहा हो वहाँ सन्धि करवा सकता हूँ और जहाँ सन्धि (मित्रता) हो वहाँ विग्रह (लड़ाई) करवा सकता हूँ। इस संसार में अति कठिनाई से प्राप्त होने वाली किसी भी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा मात्र से वे सब वस्तुएं मेरे प्रिय मित्र की कृपा से मुझे प्राप्त हो जाती हैं। सचमुच मेरे बड़े पुण्य-योग से ही ऐसा मित्र मुझे प्राप्त हुआ है। यही मेरा सच्चा इष्ट मित्र है और इच्छानुसार फल प्राप्त करवाने वाला है, इसलिये वह सारे संसार द्वारा वन्दनीय है। हे अगृहीतसंकेता ! उस समय मोहवश मैंने ऐसे ही अनेक सच्चे-झूठे तर्क-वितर्कों द्वारा मृषावाद को मैंने अपने मन में स्थापित कर दिया। यद्यपि उसके सम्बन्ध से मेरे द्वारा अनेक अनर्थकारी कार्य हो रहे थे, अनेक न करने योग्य कार्य मैं कर बैठता था जिसका अति दारुण दण्ड भी मुझे मिलता। परन्तु, मेरे साथ गुप्त रूप से मेरा पुण्योदय मित्र रहता था उसी के कारण मुझ पर आने वाले संकट दूर हो जाते थे तथापि मेरे मन पर मोहराजा ने अपना इतना प्रबल साम्राज्य स्थापित कर दिया था कि मैं पुण्योदय के प्रभाव को समझ ही नहीं पाता था और सभी गुणों की माला मृषावाद में ही हो ऐसा समझता था। [१-१२]

कलाचार्य का अविनय

शैलराज और मृषावाद के साथ आनन्द-विनोद करते हुए क्रमशः मेरे कलाग्रहण (शिक्षाभ्यास) का समय आ गया। अतः मेरे पिताजी ने कलाचार्य को अपने पास बुलाकर उनका योग्य सन्मान किया और आनन्द पूर्वक मुझे शिक्षा देने के लिये उन्हें सौंपा। उस समय पिताजी ने मुझे कहा—'वत्स ! ये तेरे ज्ञानदाता गुरु हैं, इनके चरणों में झुककर इन्हें नमस्कार करो और इनके शिष्य बनो।' उत्तर में मैंने अभिमान पूर्वक अपने पिताजी से कहा --'अरे पिताजी ! आप मेरे सामने ऐसी बात करते हैं ! लगता है आप बहुत भोले हैं। अरे ! ये कलाचार्य मेरे से अधिक क्या जानते हैं ? ये मुझे क्या पढायेंगे ?* ये अन्य साधारण लोगों के गुरु हो सकते हैं किन्तु मेरे जैसे व्यक्त के ये गुरु कदापि नहीं हो सकते। मैं तो शास्त्र पढ़ने की कामना से कभी भी ऐसे व्यक्ति के चरणों में नहीं झुक सकता। आपके अनुरोध से मैं उनके पास सभी कलाओं का अभ्यास करूंगा, पर उनका विनय तो मैं कभी नहीं कर सकता। [१३-१८]

फिर मेरे पिताजी ने कलाचार्य को एकान्त में ले जाकर कहा—आर्य ! मेरा पुत्र महा अभिमानाभिभूत हो गया है, अतः इसमें किसी प्रकार का अविनय या अन्य कोई दोष आपको दिखाई दे तो आप उद्विग्न न हों, पर आप इसे विद्या और कला का भली प्रकार अभ्यास करावें। [१९-२०]

---

* पृष्ठ ३०४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कलाचार्य का स्वयं की कला पर विश्वास

मेरे पिताजी ने उपरोक्त शब्द कलाचार्य को बहुत ही विनय और नम्रता पूर्वक कहे जिसका उन पर बहुत असर पड़ा। उत्तर में महामति कलाचार्य ने मात्र इतना ही कहा—'जैसी महाराज की आज्ञा।' कलाचार्य का नाम महामति था। उन्होंने अपने मन में विचार किया कि, 'जब तक शास्त्रों में उल्लिखित सुन्दर भावों का ज्ञान इस रिपुदारण को नहीं होगा और जब तक बचपन के कारण इसका मन बच्चों के खेल-कूद में अधिक है तभी तक झूठे अभिमान के वश होकर यह इस प्रकार के गर्वपूर्ण वचन बोलेगा, किन्तु एक बार शास्त्र में रहे हुए सुन्दर भावों को जब यह समझ जायेगा तब मद को छोड़कर स्वतः ही विनम्र बन जायेगा।' अपने मन में ऐसा विचार कर महामति कलाचार्य मुझे अपने साथ ले गये और मुझे आदर पूर्वक सब प्रकार की योग्य कलायें सिखाने लगे। [२१–२५]

शिक्षाकाल में अभिमान

इन कलाचार्य के पास दूसरे भी कई राजकुमार कला का अभ्यास कर रहे थे, पर वे सभी पूर्णतया प्रशान्त और कलाचार्य का समुचित विनय करने में आतुर थे; परन्तु मेरे प्रति तो कलाचार्य जैसे-जैसे अधिक आदर दिखाने लगे वैसे-वैसे मेरा मित्र शैलराज अधिकाधिक वृद्धि को प्राप्त होने लगा और उसके वशवर्ती होने के कारण मदोद्धत होकर मैं स्वयं उपाध्याय (कलाचार्य) की जाति, ज्ञान और रूप के विषय में बार-बार उनका अपमान करने लगा। [मेरा अभिमान निरन्तर बढ़ता ही गया। सब छात्रों को मैं सब विषयों में स्पष्टतः अपने से तुच्छ मानने लगा और अपने व्यवहार तथा वचनों से मैं यह बात उन पर प्रकट भी करने लगा। २६–२८]

कलाचार्य का निर्णय : मेरी उपेक्षा

मेरे ऐसे व्यवहार को देखकर महामति कलाचार्य ने अपने मन में चिन्तन किया कि यदि सन्निपात के रोगी को स्वादिष्ट खीर खिलाई जाय तो वह उसके लिये अपथ्य-कारक होती है, जिसे चोट लगी हो उसे यदि खटाई खिलाई जाय तो उसके शरीर में लाभ होने के स्थान पर सूजन आ जाती है उसी प्रकार इस बेचारे रिपु-दारण कुमार पर शास्त्राभ्यास का परिश्रम करना उल्टा उसको अधिक हानि पहुँचाने वाला सिद्ध होगा। यद्यपि नरवाहन राजा का अपने पुत्र पर अत्यधिक प्रेम होने से वे चाहते हैं कि उनका पुत्र किसी भी प्रकार विद्याभ्यास करे तो ठीक रहे और इसीलिये वे मुझे बार-बार इस विषय में उत्साहित करते रहते हैं, किन्तु यह कुमार तो पूर्णरूप से अपात्र (अयोग्य) ही लगता है। मेरे अपने विचार के अनुसार तो इसे छोड़ देना ही उचित होगा; क्योंकि यह किसी भी प्रकार के ज्ञान-दान के योग्य नहीं है। [२९–३२] एक साधारण नियम है कि—

यो हि दद्यादपात्राय संज्ञानममृतोपमम्।
स हास्यः स्यात् सतां मध्ये भवेच्चानर्थभाजनम्॥ ३३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो अमृतोपम ज्ञान के योग्य न हो, ऐसे कुपात्र को ज्ञान देने वाला अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता, वह सज्जनों की दृष्टि में हँसी का पात्र बनता है और अनर्थों का भाजन (स्थान) बनता है।

कुत्ते की पूंछ सैकड़ों बार सीधी की जाय तो भी क्या वह कभी सीधी हो सकती है ? अर्थात् वह तो टेढी की टेढी ही रहेगी। ऐसा ही यह रिपुदारण है, इस पर शताधिक प्रयत्न करने पर भी यह सुधर सकेगा ऐसा नहीं लगता। [३३-३४]

उपरोक्त विचार कर महामति कलाचार्य अब तक जो मेरे अभ्यास के प्रति विशेष ध्यान दे रहे थे * वे भी अपने प्रयत्न में शिथिल पड़ गये और मुझे सुधारने के लिये जो समय-समय पर मुझे पास बिठाकर, व्यवहारोपयोगी उपदेश देते थे, वह सब भी उन्होंने बन्द कर दिया। अब वे मुझे मार्ग की धूल जैसा तुच्छ मानकर मेरे प्रति उपेक्षा करने लगे, परन्तु मेरे पिताजी की उन पर बड़ी कृपा थी इसलिये वे मेरी उपेक्षा का थोड़ा भी भाव या विकार अपने चेहरे पर प्रकट नहीं होने देते थे और न मुझे कभी कटु शब्द ही कहते थे।

मेरे साथ अभ्यास करने वाले अन्य राजकुमारों ने जब यह देखा कि मैं शैलराज और मृषावाद की संगति में फंसा हुआ हूँ और मैं इनकी संगति छोड़ नहीं सकता तब वे सभी मेरे से विरक्त हो गये, मेरे से दूर-दूर रहने लगे। यद्यपि वे मुझे तिरस्कृत करने का अनेक बार विचार कर चुके थे, परन्तु पुण्योदय मित्र मेरे साथ होने से वे एक बार भी अपने इस विचार को कार्यरूप में परिणत नहीं कर सके। तथापि जैसे-जैसे शैलराज और मृषावाद की संगति का प्रभाव मुझ पर बढता गया वैसे-वैसे मेरे मित्र पुण्योदय का मेरे प्रति स्नेह दिनों दिन अधिकाधिक कम होता गया।

कलाचार्य का अपमान : असत्य-भाषण

इस प्रकार शनैः-शनैः ज्यों-ज्यों मेरे प्रति मेरे पुण्योदय का स्नेह क्षीण होने लगा त्यों-त्यों मेरे मन में कलाचार्य का स्पष्ट रूप से अपमान करने की इच्छा प्रबल होती गई। एक बार हमारे कलाचार्य किसी काम से बाहर गये थे तब मैं उनके बैठने के मूल्यवान बेत्रासन पर चढ बैठा। मेरे सह-शिक्षार्थी राजपुत्रों ने जब मुझे कलाचार्य के आसन पर बैठे देखा तब मेरे इस कर्म से वे बहुत ही लज्जित एवं दुःखी हुए। उन्होंने बहुत ही धीमी आवाज में मुझ से कहा—'अरे कुमार ! यह काम तुमने ठीक नहीं किया। कलागुरु का आसन वन्दनीय और पूजनीय होता है, उस पर तेरे जैसे व्यक्ति का आक्रमण करना अर्थात् बैठना किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। गुरु के आसन पर बैठने से विद्यार्थी के कुल को कलंक लगता है, अत्यधिक अपयश फैलता है, पाप बढ़ता है और आयु कम होती है।'

इन सब राजकुमारों को जो मुझ से बात करते हुए भी कांपते थे, मैंने डपट कर जवाब दिया—अरे मूर्खों ! मुझे शिक्षा देने वाले तुम कौन होते हो ? तुम

---

* पृष्ठ ३०५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोग जाकर अपनी सात पीढियों को पढ़ाते रहो।' मेरा ऐसा अयुक्त और कर्कश उत्तर सुनकर वे चुप होकर बैठ गये। मैं बहुत देर तक शिक्षा गुरु के आसन पर बैठा रहा, इच्छानुसार चेष्टायें करता रहा और पश्चात् उस आसन से नीचे उतरा। थोड़ी देर बाद हमारे कलाचार्य लौट आये। सह विद्यार्थियों ने मेरे द्वारा आचरित सारी घटना कलाचार्य को कह दी, जिसे सुनकर कलाचार्य अपने मन में मुझ पर बहुत क्रोधित हुए और मुझे बुलाकर इस सम्बन्ध में मुझ से स्पष्टीकरण मांगा। उत्तर में असूया पूर्वक अपने अपराध को छिपाते हुए मैंने कहा—'क्या मैं ऐसा कर सकता हूँ? वाह! आप में कितना अधिक शास्त्रज्ञान है! अहो आप तो बहुत अच्छी तरह से मनुष्य की परीक्षा कर लेते हैं! अहो आप बहुत विचार पूर्वक बोल रहे हैं! धन्य हैं आपकी विमर्श-पटुता और दीर्घदृष्टि को! जिससे आप ऐसे झूठ बोलने वाले और मुझ पर ईर्ष्या रखने वाले छात्रों की बात को मानकर मुझे दोषी बता रहे हैं! आपको चालाक छात्रों ने ठगा है।' मेरा ऐसा उत्तर सुनकर कलागुरु मन में अत्यन्त रुष्ट हुए। उन्होंने मन में सोचा कि, 'यद्यपि इसके सहपाठी राजकुमार झूठ बोलने वाले नहीं है और न ऐसा लगता है कि इस प्रसंग पर वे झूठ बोलें। रिपुदारण इन पर दोष लगाकर अपना अपराध छिपा रहा है। अब इसे कभी रंगे हाथों पकड़ कर अच्छी तरह शिक्षित (दण्डित) करना चाहिये जिससे कि इसकी बुद्धि ठिकाने आ जाय।'

उसके पश्चात् एक दिन कलागुरु महामति गुरुकुल में ही कहीं छिपकर बैठ गये और मेरे आचरण पर बराबर ध्यान रखने लगे। यह जानकर कि आचार्य यहाँ नहीं है, मैं मस्ती के साथ शीघ्रता से उनके वेत्रासन पर जाकर बैठ गया। मैं थोड़ी देर तक उनके आसन पर बैठा ही था कि आचार्य अपने गुप्त स्थान से निकल कर मेरे समक्ष आ खड़े हुए। जैसे ही मैंने उन्हें देखा तुरन्त उनका आसन छोड़कर खड़ा हो गया। फिर हमारे बीच निम्न प्रश्नोत्तर हुए—

महामति—कुमार! अब तेरा क्या उत्तर है? क्या स्पष्टीकरण है?

रिपुदारण—किस विषय में?

महामति—पहले तुमसे जिस विषय में स्पष्टीकरण मांगा गया था, उसी विषय में।

रिपुदारण—पहले आपने मुझ से किस विषय में स्पष्टीकरण मांगा था? मैं तो नहीं जानता। ❀

महामति—तू मेरे इस वेत्रासन (बेंत की कुर्सी) पर बैठा था या नहीं?

रिपुदारण—अरे, अरे! आप यह क्या कह रहे हैं? ऐसा क्या कभी हो सकता है? 'हा पाप शान्त हो' ऐसा कहते हुए मैंने अपने दोनों हाथ से दोनों कानों को ढक लिया और स्पष्ट रूप से कहा—'अरे, मात्सर्य का नाटक तो देखो! स्वयं अकार्य करके मुझ पर आरोप लगा रहे हैं।'

❀ पृष्ठ २०६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महामति आचार्य ने विचार किया कि, अहो ! देखो, मैंने स्वयं इसे मेरे आसन पर बैठते देखा है फिर भी यह अपना दोष स्वीकार नहीं करता और उल्टा मुझे ही झूठा बना रहा है। अहो इसकी धृष्टता ! अब इसे सुधारने का कोई उपाय नहीं है। अब तो इसकी असत्य बोलने की सीमा ही टूट गई। फिर मेरे सह विद्यार्थी राजकुमारों ने कलाचार्य को एकान्त में बुलाकर कहा—आचार्यप्रवर ! यह पापी, अभिमानी, असत्यवादी, रिपुदारण इतना अधिक पतित हो चुका है कि इसका मुँह भी नहीं देखना चाहिए ; तब फिर ऐसे पतित विद्यार्थी को आप हमारे साथ क्यों रखते हैं ? आचार्य ने विचार किया कि ये तपस्वी राजपुत्र जो कुछ कह रहे हैं वह यथातथ्य है। रिपुदारण इतना अधिक पतित हो चुका है कि अब वह सज्जन पुरुषों की संगति के योग्य भी नहीं रहा। कहा भी है:—

संसार में भिन्न-भिन्न दुर्गुणों के वशीभूत प्राणियों को सुधारने के लिये बुद्धिमानों ने विभिन्न मार्ग अपनाये हैं। जैसे, लोभी को धन की प्राप्ति करवाने से, क्रोधी के समक्ष मधुर वचन बोलने से, कपटी के प्रति स्पष्ट विश्वास प्रकट करने से, अभिमानी के समक्ष नम्रता का व्यवहार करने से, चोर के विरुद्ध रक्षा के उपाय करने से और परस्त्री-गामी को सुबुद्धि प्रदान करने से वह सुधर सकता है। किन्तु झूठ बोलने वाले को सुधारने का तो एक भी उपाय संसार में कहीं दिखाई नहीं देता। [१-२]

अतः ऐसे व्यक्ति को तो कालदष्ट ही कहते हैं अर्थात् उसको यम के द्वार पर खड़ा हुआ ही समझना चाहिये। क्योंकि, इस दुनिया में शुभ-अशुभ, अच्छे-बुरे जितने भी व्यवहार हैं वे सब सत्य में ही प्रतिष्ठित हैं, अर्थात् उन सब का आधार सत्य ही है। जिसमें सत्य नहीं वह इस संसार से पृथक् और विलक्षण ही है। इसीलिये व्यवहार-कुशल बुद्धिमान मनुष्यों को सत्य सर्वदा अत्यधिक प्रिय लगता है। जो अधम प्राणी सत्यरहित होता है उसे वे सदा प्रयत्न पूर्वक अपने से दूर ही रखते हैं। रिपुदारण में सत्य का लवलेश भी नहीं है, अतः सज्जन पुरुषों के विशुद्ध व्यवहार के बीच इसका रहना किसी भी प्रकार से योग्य नहीं है। [३-५]

अथवा परमार्थ दृष्टि से देखें तो इस बेचारे रिपुदारण का इसमें कोई दोष नहीं है। यह तो अपने अधम मित्र शैलराज की प्रेरणा से ऐसे दुर्विनय के कार्य करता है और अपने दूसरे मित्र मृषावाद से प्रोत्साहित होकर झूठ बोलता है। इसलिये अब मुझे इसे कुछ ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि जिससे यह इन दोनों अधम मित्रों की संगति को छोड़ दे।

गुरुकुल से निष्कासन

उपरोक्त विचार के अनुसार एक दिन महामति कलाचार्य ने मुझे शिक्षा देने के लिये बुलाया और अपनी गोद में बिठाकर मुझे प्रेम पूर्वक समझाने लगे—'कुमार ! मेरे गुरुकुल में तुम्हारे जैसे अथवा शैलराज और मृषावाद जैसों के लिये कोई स्थान नहीं है। अतः तू किसी भी प्रकार या तो इन दोनों पापी मित्रों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(शैलराज, मृषावाद) की संगति छोड़ दे अन्यथा मेरे गुरुकुल में दुबारा आने की आवश्यकता नहीं है।' आचार्य के ऐसे वचन सुनते ही मैं भभक उठा और धृष्टता-पूर्वक बोला—'तू अपने बाप को तेरे गुरुकुल में रखना। मुझे तेरी क्या परवाह पड़ी है? मैं तो तेरे गुरुकुल के बिना और तेरे बिना भी चला लूंगा।' इस प्रकार कटु एवं कठोर वचनों द्वारा कलाचार्य का अपमान कर, उनके समक्ष अपनी गर्दन ऊंची उठाकर, आकाश की तरफ ऊंची दृष्टि रखकर, छाती को फुलाकर, जोर से पांव पटककर चलते हुए और अपने हृदय पर शैलराज द्वारा प्रदत्त स्तब्धचित्त लेप लगाते हुए मैं आचार्य के कक्ष से बाहर निकल गया।❀

जब मैं बाहर निकल गया तब आचार्य ने मेरे सहपाठी अन्य राजपुत्रों को बुलाकर कहा—अरे देखो! यह दुरात्मा रिपुदारण अभी तो यहाँ से चला गया है। इसके विषय में मुझे केवल एक ही बात खटकती है। वह यह कि हमारे प्रतापी नरवाहन राजा को अपने पुत्र पर अत्यधिक प्रेम है। संसार का ऐसा नियम है कि जो स्नेह में अन्धे हो जाते हैं वे अपने स्नेही में रहे हुए दोषों को नहीं देख सकते, उसमें जो गुण वास्तव में नहीं होते उन गुणों का भी उसमें झूठा आरोप करते हैं, अपने स्नेही के प्रति अप्रिय कार्य करने वालों पर रुष्ट होते हैं, अन्य व्यक्ति 'अप्रियकारी कार्य क्यों कर रहा है' इसके बारे में कभी सोचते भी नहीं, अमुक पद पर स्थापित व्यक्ति को अमुक प्रकार का सन्मान मिलना चाहिये या नहीं इस बात पर कभी ध्यान नहीं देते और स्वाभिमत के विरुद्ध यदि कोई किंचित् भी विपरीत कार्य करे तो उसके समक्ष वह अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ खड़ी कर देते हैं। इसलिये तुम सब छात्रों को इस सम्बन्ध में चुप ही रहना चाहिये। यदि नर-वाहन राजा रिपुदारण को यहाँ से निकालने के प्रसंग में कोई प्रश्न उठायेंगे तो मैं उसका उचित उत्तर दे दूंगा। आचार्य महामति के इस आदेश को सभी कुमारों ने स्वीकार किया।

प्रवीणता का दम्भ

महामति आचार्य से मेरी झड़प के बाद मैं गुरुकुल से निकल कर सीधा पिताजी के पास आया। पिताजी ने स्वाभाविक प्रश्न किया—'पुत्र! तेरा अभ्यास कैसा चल रहा है?' उस समय शैलराज द्वारा प्रदत्त लेप मेरे हृदय पर लगाया हुआ था और मुझे मृषावाद का बड़ा सहारा था, अतः मैंने पिताजी से कहा—पिताजी! सुनिये—

वैसे तो मैं प्रारम्भ से ही समस्त कला-विज्ञान का ज्ञाता था। आपने जो प्रयत्न किया वह इसीलिये किया था कि मैं पहिले जो कुछ जानता था उससे अधिक कलाओं की जानकारी प्राप्त करूं। परन्तु, वास्तविकता यह है कि मैंने लेखनकला, चित्रकला, धनुर्वेद, सामुद्रिक शास्त्र, गायन कला, हस्तिशिक्षा, पत्तों पर चित्र बनाने

❀ पृष्ठ ३०७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की कला, वैद्यक, व्याकरण, तर्क, गणित, धातुवाद, इन्द्रजाल, निमित्त शास्त्र तथा लोक में प्रसिद्ध अन्य जो भी श्रेष्ठ कलायें हैं, पिताजी ! उन सभी कलाओं में निपुणता प्राप्त करली है। तीनों लोकों में भी इन सब कलाओं में मुझ से अधिक प्रवीण व्यक्ति मुझे तो अन्य कोई भी दिखाई नहीं देता। [१-४]

पिताजी की व्यावहारिक शिक्षा

मुझ पर मेरे पिताजी का बहुत स्नेह था अतः उपरोक्त वृत्तान्त सुनकर वे बहुत ही हर्षित हुए और मेरे सिर को सूंघकर प्यार से हाथ फेरते हुए उन्होंने कहा—'पुत्र ! बहुत अच्छा किया, तुमने पढने लिखने का अच्छा प्रयत्न किया, पर मुझे अभी भी तुझे एक बात कहनी है।' मैंने कहा—'कहिये, पिताजी !' मेरे ऐसा कहने पर पिताजी बोले—

विद्यायां ध्यानयोगे च, स्वभ्यस्तेऽपि हितैषिणा।
सन्तोषो नैव कर्त्तव्यः, स्थैर्यं हितकरं तयोः॥

जो व्यक्ति अपना हित करने की इच्छा रखता है उसे विद्या प्राप्त करने में और ध्यान-योग की सिद्धि करने में चाहे कितना भी प्रयत्न किया हो तब भी कभी उस पर संतोष धारण कर बैठ नही जाना चाहिये, क्योंकि इनमें अभ्यास बढाकर जितनी अधिक स्थिरता प्राप्त कर ली जाय उतने ही वे अधिक हितकारी होते हैं। अतः जितनी कलाओं में तुमने अभी तक निपुणता प्राप्त की है उन्हें स्थिर करने में और जो शेष रह गई हैं उन्हें अपनी कुमारावस्था में प्राप्त कर तुझे मेरे सर्व मनोरथ पूर्ण करने चाहिये। [५-८]

पिताजी के इस उपदेश को मैंने स्वीकार किया जिससे वे मुझ पर बहुत प्रसन्न हुए और अपने भण्डारी (कोषाध्यक्ष) को आज्ञा दी कि महामति कलाचार्य के घर को धन, धान्य, सुवर्ण आदि से इतना अधिक भर दो कि सर्व प्रकार के उपभोगों की सामग्री वहाँ उपलब्ध हो जाय, जिससे कुमार व्यग्रता रहित होकर कलाग्रहण में वृद्धि कर सके।

राज्य के भण्डारी ने राजाज्ञा के अनुसार कार्य किया। उस समय कलाचार्य मन में सोचने लगे कि 'यदि राजा को कुमार के वास्तविक चरित्र का पता लगेगा तो उसके मन में व्यर्थ का संताप होगा, अतः मुझे कुछ भी नहीं कहना चाहिये।' ऐसा सोचकर उन्होंने मेरे सम्बन्ध में * पिताजी को कुछ भी नहीं कहा। अन्त में पिताजी ने मुझ से कहा—'पुत्र ! अभी तक आचार्य के पास से तू ने जो-जो विद्यायें सीखी हैं उन्हें स्थिर कर और आचार्य के घर पर रहकर ही अन्य अपूर्व कलायें भी सीख। अभ्यास में अधिक ध्यान रहे अतः तू मुझ से मिलने भी यहाँ मत आया कर।' मैंने पिताजी की बात स्वीकार की और मुझे प्रसन्नता हुई।

---

* पृष्ठ ३०८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मृषावाद की प्रशंसा

तदनन्तर अपने पिताजी के पास से बाहर निकलकर मैंने मेरे मित्र मृषावाद से कहा—'मित्र ! तू तो बहुत शक्तिशाली है। तुझ में किसके उपदेश से से इतनी चतुराई आ गई है कि तेरे प्रताप से मैं अपने पिताजी को इतना अधिक आनन्दित कर सका। कलाचार्य के साथ मेरी लड़ाई हुई है, इस बातको छुपा लिया और उनके कोप से बाल-बाल बच गया। आज तो मुझे अति दुर्लभ सफलता प्राप्त हो गई।'

माया का कुटुम्ब

उत्तर में मृषावाद ने कहा—'मित्र कुमार ! सुन, राजसचित्त नगर में रागकेसरी नामक राजा राज्य करता है। उसकी पटरानी का नाम मूढताहै। उसके एक माया नामक पुत्री है, जिसे मैं अपनी बड़ी बहिन के रूप में मानता हूँ और माया भी मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय मानती है। मेरी इस बहिन के उपदेश से ही मुझ में इतनी कुशलता आई है। यद्यपि मैंने उसे अपनी बड़ी बहिन बनाया है, पर उसका मुझ पर माता के समान स्नेह है, इसलिये जहाँ-जहाँ मैं जाता हूँ वहाँ-वहाँ वह भी वात्सल्य के कारण अन्तर्लीन (प्रच्छन्न) होकर मेरे साथ रहती है, एक क्षण के लिये भी मुझे अकेला नहीं छोड़ती।' माया की बात सुनकर मैंने अपने मित्र से कहा—'अरे भाई ! कभी अपनी बहिन के मुझे भी दर्शन कराना।' मृषावाद ने मेरा प्रस्ताव स्वीकार किया।

दुर्गुणों में वृद्धि

इसके पश्चात् तो मैं वेश्यालयों में, जुआखानों में तथा बुरी इच्छाओं की पूर्ति करने वाले अन्य-अन्य दुष्ट चेष्टा वाले अधम स्थानों में, सज्जन पुरुष जिन स्थानों को दूर से ही नमस्कार करें ऐसे तुच्छ स्थानों में अपनी इच्छानुसार भटकने लगा। फिर भी मैं अपने मित्र मृषावाद के बल पर लोगों में ऐसी बात फैलाता रहा कि मैं अपना सारा समय अभ्यास करने में ही व्यतीत कर रहा हूँ और मैं मात्र ऐसे मार्ग का ही अनुसरण कर रहा हूँ जिससे मुझ में गुणों की वृद्धि हो रही है। पिताजी ने अभ्यास में विघ्न न हो एतदर्थ मुझे मिलने आने के लिये भी मना कर दिया था, इसलिये अब उन्हें मुँह दिखाने की भी मुझे आवश्यकता नहीं थी। इसी प्रकार मैंने बारह वर्ष व्यतीत किये। इसी बीच मैंने मुग्ध (भोले) लोगों के बीच यह बात फैला दी कि मैं (रिपुदारण) समस्त कलाओं में पारंगत बन गया हूँ। मेरी ऐसी प्रसिद्धि मैंने देश में ही नहीं देशान्तरों में भी चारों तरफ फैला दी। अनुक्रम से मैंने युवावस्था के मध्य काल में प्रवेश किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. नरसुन्दरी से लग्न

शेखरपुर नगर में नरकेसरी राजा का राज्य था, जिसके वसुन्धरा नामक रानी थी, जिससे उनको नरसुन्दरी नामक पुत्री हुई थी। वह विश्व को आश्चर्य-चकित करने वाली, अद्‌भुत रूपवती और विद्याकलाओं में प्रवीण थी। अनुक्रम से नरसुन्दरी युवावस्था को प्राप्त हुई।

नरसुन्दरी की प्रतिज्ञा : माता-पिता की चिन्ता

इस नरसुन्दरी ने गर्वाधिक्य के कारण निश्चय किया था कि कला-कौशल में जो उससे अधिक विद्वान् हो, ऐसा कोई प्रवीण पुरुष मिलेगा तभी उसके साथ वह विवाह करेगी, अन्य किसी के साथ विवाह नहीं करेगी। अपना यह निश्चय उसने अपने पिता नरकेसरी को और अपनी माता वसुन्धरा को भी बता दिया था।

उसके माता-पिता मन में बहुत सोच-विचार करते थे कि विद्या-कला में इस पुत्री के समान गुण वाला भी कोई पुरुष मिलना बहुत कठिन है, तब फिर उससे अधिक प्रवीण पुरुष कैसे प्राप्त होगा? इन्हीं विचारों से वे अपने मन में व्याकुल रहते थे।

मैं विद्याकला में बहुत प्रवीण हो गया हूँ, ऐसी मेरे द्वारा फैलाई गई मेरी प्रसिद्धि को उन्होंने भी सुना। नरकेसरी राजा ने सोचा कि सम्भव है रिपु-दारण कुमार * मेरी पुत्री से अधिक विद्वान् हो! फिर नरवाहन राजा के कुटुम्ब के साथ विवाह सम्बन्ध करना सर्व प्रकार से योग्य भी है, क्योंकि वे राजा श्रेष्ठ कुल के हैं और स्वयं मन के भी बड़े उदार हैं। नागराज के सिर पर जैसे एक ही मणि होती है वैसे ही मेरे भी यह एक ही पुत्री है, इसलिये मेरा कर्त्तव्य है कि मैं इसका सम्बन्ध योग्य स्थान पर करूं। फिर पुत्री पर अधिक प्रेम होने के कारण नरकेसरी राजा ने सोचा कि वह स्वयं अपनी इकलौती पुत्री को लेकर सिद्धार्थपुर नरवाहन राजा के यहाँ जाय और वहीं पर कुमार रिपुदारण की परीक्षा कर, उसके साथ नरसुन्दरी का विवाह कर जीवन में निश्चिन्त हो जाय।

सिद्धार्थपुर में नरसुन्दरी

नरकेसरी राजा अपनी पुत्री को लेकर अपनी सेना सहित सिद्धार्थपुर आये। अपने पहुँचने के समाचार नरवाहन राजा को पहिले ही भिजवा दिये थे। समाचार सुनकर राजा नरवाहन बहुत प्रसन्न हुआ। पूरा नगर ध्वजा-पताकाओं से सजाया गया और योग्य सत्कार एवं हर्ष पूर्वक बड़ी ही धूमधाम से नरकेसरी राजा का नगर प्रवेश करवाया गया तथा उनको ठहराने के लिये बहुत ही सुन्दर आवास-स्थान की व्यवस्था की गई।

---

* पृष्ठ ३०९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजकुमार रिपुदारण की कला-कौशल में नरसुन्दरी के साथ परीक्षा थोड़े ही समय बाद जनता के समक्ष होगी, यह समाचार लोगों में बहुत तेजी से फैल गया। प्रशस्त शुभ दिन देखकर इस कार्य के लिये स्वयंवर मण्डप की रचना की गई। वहाँ लोगों के बैठने के लिये मंच बनाया गया। उस दिन उस स्वयंवर मण्डप में सभी राज्याधिकारी, सम्बन्धी और प्रजाजन एकत्रित हुए। मेरे पिताजी भी अपने परिवार सहित वहाँ आकर बैठे। फिर वहाँ पर कलाचार्य को और मुझे भी बुलाया गया। मैं अपने तीनों अन्तरंग मित्रों पुण्योदय, शैलराज और मृषावाद के साथ (तीनों गुप्त थे) पिताजी के पास आकर बैठा। महामति कलाचार्य भी अपने विद्यार्थी राजकुमारों के साथ आकर मण्डप में यथास्थान विराजमान हुए।

मेरे दुर्भाग्य से मेरा मित्र पुण्योदय मेरे दुष्ट व्यवहार से क्षुभित और खिन्न हो शरीर से सूख गया था, दुबला हो गया था, उसकी स्फूर्ति कम हो गई थी और वह मन्द प्रताप वाला हो गया था।

स्वयंवर मण्डप में मैं एक ओर अपने पिताजी के पास बैठा था तो उनके दूसरी तरफ कलाचार्य बैठे हुए थे। मेरे पिताजी ने कलाचार्य को नरकेसरी राजा के सिद्धार्थपुर आने का कारण बताया जिसे सुनकर मुझे तो अपने मन में अत्यधिक प्रसन्नता हुई। आचार्य अपने मन में किंचित् हँसे। वे समझ गये कि अब यहाँ रिपुदारण की पोल अवश्य खुल जायगी, पर, मुँह से उन्होंने कुछ भी नहीं कहा और वे चुप बैठे रहे।

स्वयंवर मण्डप में नरसुन्दरी

हमारे आने के बाद नरकेसरी राजा भी मण्डप में आ पहुँचे। योग्य सन्मान पूर्वक महा मूल्यवान सिंहासन पर उनको बिठाया गया। उनका परिवार भी यथास्थान बैठ गया। तदनन्तर अपने लावण्यामृत-प्रवाह से मनुष्यों के हृदय-सरोवर को पूरित करती, काले लम्बे स्निग्ध और घुंघराले केश-पाश से सुन्दर मयूर के पंख कलाप को भी तिरस्कृत करती, मुख-चन्द्र से चारों दिशाओं को उद्भासित करती, लीलापूर्वक प्रक्षेपित विलासपूर्ण कटाक्षों से कामीजनों के चित्त को कम्पित एवं भ्रमित करती, अपने पयोधरों की शोभाभार से हाथी के कुम्भस्थलों का विभ्रम उत्पन्न करती, विस्तृत जांघों से कामदेव रूपी हाथी को मदमस्त करती, दोनों पांवों से चलते हुए रक्त कमल के युग्म की लीला को विडम्बित करती, कामदेव के आलापों को मधुर वाणी से बोलती हुई कोयल की कुहु-कुहु कूक को भी पराजित करती और सुन्दर वेश, आभूषण, माला, तांबूल, अंगराग आदि विन्यासों से सुसज्जित होने से बड़े-बड़े ऋषि मुनियों के मन में भी कौतूहल पैदा करती हुई नरसुन्दरी अपनी प्रिय सखियों से घिरी हुई अपनी माता वसुन्धरा के साथ मण्डप में प्रविष्ट हुई।

नरसुन्दरी पर व्यामोह

अद्भुत रूप, कान्ति, लावण्य और तेज से परिपूर्ण नरसुन्दरी को देखते ही मैं अपने मन में हृष्ट हुआ। मेरे मित्र अष्टमुख शैलराज ने भी उस समय मुझे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहुत उत्साहित किया ❀ और मैंने भी अपने हृदय पर स्तब्धचित्त लेप खूब अच्छी तरह लगाया। फिर शैलराज के प्रभाव/छाया में ही मैंने अपने मन में विचार किया कि मेरे अतिरिक्त इस नवयुवती से विवाह करने योग्य और कौन हो सकता है? कामदेव को छोड़कर रति न तो अन्य किसी के पास जाती है, न अन्य किसी को स्वीकार करती है।

रिपुदारण की परीक्षा में असफलता

नरसुन्दरी ने आते ही मेरे पिताजी और अपने पिताजी को विनय पूर्वक नमस्कार किया। फिर नरकेसरी राजा ने अपनी पुत्री से कहा—'पुत्री! यहाँ बैठ। लज्जा छोड़कर तेरे जो-जो मनोरथ हो उन्हें पूर्ण कर। कलाकौशल के विषय में तुझे जो भी प्रश्न कुमार रिपुदारण से करने हों उन्हें कर।' नरसुन्दरी ने हर्षित होकर कहा—'जैसी पिताजी की आज्ञा। मैं गुरुजनों (बड़े लोगों) के समक्ष कला सम्बन्धी वर्णन करूं यह मुझे योग्य प्रतीत नहीं होता, अतः कुमार रिपुदारण ही सर्व कलाओं के सम्बन्ध में वर्णन करें। प्रत्येक कला के सम्बन्ध में जब ये वर्णन करेंगे तब उस कला के विषय में जो विशिष्ट प्रश्न-स्थल होंगे वहाँ मैं उनसे प्रश्न करती रहूँगी और कुमारश्री उसका उत्तर देते हुए मेरे प्रश्न का समाधान करते रहेंगे।' यह प्रस्ताव सुनकर दोनों महाराजा, दोनों राजकुल, दोनों तरफ के राज्याधिकारी और प्रजाजन बहुत ही आनन्दित हुए। उस समय मेरे पिताजी ने मुझ से कहा—'कुमार! राजकुमारी ने बहुत ही समुचित प्रस्ताव रखा है, अतः अब तुम इस प्रश्न को स्वीकार करो और समग्र कलाओं का विवेचन कर कुमारी का मनोरथ पूर्ण करो। मुझे भी आनन्दित करो जिससे अपनी कुल-कीर्ति अधिक निर्मल होकर उसकी विजय पताका फहरे। तेरे ज्ञान प्रकर्ष की यह कसौटी (परीक्षा भूमि) है।'

उस समय मेरी तो ऐसी दशा हो गई कि मैं तो कलाओं के नाम तक भी भूल गया, मैं दिङ्मूढ हो गया, मेरा सारा शरीर कांपने लगा, शरीर से पसीना झरने लगा, रोंगटे खड़े हो गये और आँखे गीली हो गईं। देवी सरस्वती तो मेरे से दूर ही चली गई।

कलाचार्य द्वारा राजा के भ्रम का निराकरण

मेरी ऐसी अवस्था देखकर मेरे पिताजी बहुत ही खिन्न हुए और महामति कलाचार्य के सन्मुख देखने लगे। कलाचार्य ने मेरे पिताजी से पूछा—'कहिये महाराज! क्या आज्ञा है?' तब मेरे पिताजी ने आचार्य से पूछा—'आचार्य! कुमार के शरीर की यह क्या दशा हो गई, वह बोलता क्यों नहीं?' आचार्य मेरे पिताजी के अति निकट आये और उन दोनों में फिर बहुत धीरे-धीरे दूसरा कोई न सुन सके इस प्रकार वार्तालाप हुआ—

आचार्य—महाराज! कुमार के मन में बहुत घबराहट हुई है, उसी का यह विकार है, अन्य कुछ नहीं।

❀ पृष्ठ ३१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नरवाहन—इस परीक्षा की घड़ी में कुमार के मन में इतनी अधिक घबराहट होने का क्या कारण हो सकता है ?

आचार्य—इसका कारण यही है कि जिस विषय में कुमार की परीक्षा होने जा रही है उसमें वह नितान्त अज्ञानी है। जब विद्वान् परस्पर स्पर्धा करते हुए सभाकक्ष में अपनी-अपनी वाणी के शस्त्र छोड़ते हुए वाद-विवाद करते हैं तब जिस व्यक्ति को ज्ञान का सहारा नहीं होता उसे अवश्य ही घबराहट होती है।

नरवाहन—पर, आर्य ! इस कुमार में तो अज्ञान का प्रश्न ही क्या है ? कुमार ने तो समस्त कलाओं में प्रकर्षता एवं प्रवीणता प्राप्त कर रखी है।

उस समय कलाचार्य को मेरे दुर्व्यवहार की स्मृतियाँ आने से वे तनिक क्रोध और कुछ सहज तीखे स्वर में बोल उठे—महाराज ! कुमार ने तो शैलराज (अभिमान) और मृषावाद (असत्य भाषण) द्वारा रचित कलाओं में निपुणता प्राप्त कर शिरोमणि पद प्राप्त किया है। अन्य किसी भी कला में इसने प्रवीणता प्राप्त नहीं की है।

नरवाहन—अभी आपने कही वे कौन-कौन सी कलायें हैं ?

आचार्य—पहली तो किसी का भी अपमान करना और दूसरी असत्य भाषण करना। इसके शैलराज और मृषावाद नामक दो अन्तरंग मित्र हैं, उन्हीं ने कुमार को ये कलायें सिखाई हैं और इन दोनों कलाओं में कुमार बहुत कुशल हो गया है। अन्य किसी भी प्रकार की कलाओं का एक अक्षर भी वह नहीं जानता। *

नरवाहन—ऐसा क्यों और कैसे हुआ ?

आचार्य—मेरे मन में ऐसा भय था कि सच्ची बात बताने से आपको अतिशय संताप एवं दुःख होगा, इसीलिये अभी तक मैंने आपको सच्ची बात नहीं बताई। कुमार का व्यवहार सामान्य लोगों के नियमों से भी इतना विपरीत है कि अभी भी आपके समक्ष उसका वर्णन करने में मेरी वाणी असमर्थ है।

नरवाहन—जो कुछ घटना घटी हो उसे कह सुनाने में आपका कुछ भी अपराध या दोष नहीं है। अतः हे आर्य ! निःशंक होकर आप सच्ची बात कह सुनायें।

इस पर आचार्य ने भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर मैंने उनकी आज्ञा का उल्लंघन किया, उनका अपमान किया, उनके वेत्रासन पर कितनी बार बैठा और अन्त में कैसे दुर्वचनों से उनका तिरस्कार कर वहाँ से चला आया आदि मेरे दुर्व्यवहार का संक्षिप्त वर्णन पिताजी को सुना दिया।

आचार्य के मुख से सारी घटना सुनकर मेरे पिताजी ने कहा—आर्य ! जब आप स्वयं मेरे कुमार के इस चरित्र को जानते थे और इसके अज्ञान को भी जानते थे तब ऐसे कुल-कलंक को इस राज्यसभा में परीक्षा दिलवाने के लिये किस लिये ले आये ? अरे ! इस पापी ने तो हमें आज तक खूब धोखे में रखा।

---

* पृष्ठ ३११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य - राजन् ! मैं उसे यहाँ लेकर नहीं आया हूँ। मेरे गुरुकुल में से तो यह १२ वर्ष पहिले ही मेरा अपमान कर और मुझ से लड़कर निकल गया था। उसके बाद यह वहाँ आया ही नहीं। आज प्रातःकाल आपकी ओर से अकस्मात् आमन्त्रण आने से मैं आपके पास उपस्थित हुआ हूँ। कुमार मेरे साथ नहीं आया है। वह तो किसी अन्य स्थान से यहाँ आया है।

नरवाहन- आर्य ! इस कुपात्र-शिरोमणि रिपुदारण में किसी प्रकार के गुणों की नाममात्र की भी योग्यता न होने से आपने उसका त्याग किया, किन्तु गर्भाधान से लेकर आज तक उसको जो कल्याण-परम्परा प्राप्त होती रही इसका क्या कारण है ? और आज ही परीक्षा की घड़ी में लोगों में इसका अपमान होने का प्रसंग आया इसका क्या कारण है ?

आचार्य महाराज ! इस कुमार का एक अन्तरंग मित्र पुण्योदय है। आज से पहिले कुमार को जो कुछ भी कल्याण-परम्परा प्राप्त हुई उसका कारण यह पुण्योदय ही था। पुण्योदय के प्रभाव से यह उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ, इस पर माता-पिता का अवर्णनीय प्रेम रहा, अनेक प्रकार के सुख, सौभाग्य, धन, ऐश्वर्य और सुन्दर रूप इसे प्राप्त हुआ। ये सभी अनुकूलताएं इसे पुण्योदय के प्रभाव से ही प्राप्त हुई।

नरवाहन तब इसका पुण्योदय मित्र अब कहाँ चला गया ?

आचार्य - वह कहीं भी नहीं गया, अभी भी कुमार में ही गुप्त रूप से रहता है। परन्तु जब से उसने रिपुदारण के दुश्चरित्र और निन्द्य व्यवहार को देखना प्रारम्भ किया है तब से उसके मन में अतिशय ग्लानि उत्पन्न हुई है। इसी से चिन्ता के कारण बेचारा तपस्वी क्षीण शरीर हो गया है। कुमार पर जो-जो आपत्तियाँ आ रही हैं उनका सर्वथा निवारण करने में अब वह इस दुर्बल शरीर से पहिले जैसा समर्थ नहीं रहा।

नरवाहन—अरे ! तब तो इस विषय में अब कुछ भी उपाय शेष नहीं रहा। इस दुष्ट पुत्र ने तो मेरी सब लोगों के समक्ष बड़ी भारी हँसी करवा दी।

लोकापवाद

जैसे चन्द्र को राहु ने ग्रस लिया हो वैसे ही मेरे पिताजी का मुँह काला पड़ गया। अतः पिताजी और आचार्य के बीच जो कर्णगत वार्तालाप हो रहा था उसका अनुमान लोगों ने लगा लिया। परिणाम स्वरूप मेरे पिताजी, सम्बन्धी, मंत्रीगण और परिजनों का मुख लज्जा से लटक गया। नगर के हँसोड़े लोग परस्पर हँस रहे थे और मुझ पर व्यंग कसे जा रहे थे। बेचारी नरसुन्दरी तो इस घटना से से विस्मित और खिन्न हुई और नरकेसरी राजा तथा उसके साथ आये हुए सम्बन्धी और मंत्री बहुत ही आश्चर्यान्वित हुए, भौंचक्के हो गये। नगर के लोग पिताजी सुन न सके इस प्रकार धीरे-धीरे बातें करने लगे—'अरे ! ❀ यह रिपुदारण अभिमान में

❀ पृष्ठ ३१२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फूल रहा है, पर निरा मूर्ख ही लगता है ! जैसे पवन से भरी हुई धौंकनी फूलकर कुप्पा हो जाती है, पर पवन के निकलते ही पिचक जाती है इसी प्रकार इसने अभिमान से फूलकर अपनी झूठी ख्याति फैला दी, पर अन्दर में कुछ दम नहीं था। अथवा यदि कोई व्यक्ति निरक्षर होने पर भी वाचाल हो अपनी वाणी के आडम्बर से लोगों के मध्य में गौरव एवं प्रसिद्धि प्राप्त कर भी ले तो भी परीक्षण के अवसर पर वह मूर्ख विडम्बना मात्र ही प्राप्त करता है और इस रिपुदारण कुमार की भाँति ही लोगों में हँसी का पात्र बनता है।

भयातिरेक से व्याधि

मेरे पिताजी और कलाचार्य को परस्पर कान में बात करते देख कर मैंने सोचा कि पिताजी और आचार्य किसी भी प्रकार मुझ पर दबाव डालकर मुझे कलाओं का वर्णन करने के लिये बाध्य करेंगे। इस विचार से मैं अत्यधिक भयभीत हुआ। फलतः मेरे कण्ठ का नाडीजाल अवरुद्ध हो जाने से मेरा सांस रुक गया। मेरी दशा मृतप्रायः जैसी हो गई। यह देखकर मेरी माता विमलमालती दौड़कर मेरे पास आई और 'अरे पुत्र ! हा वत्स ! हा तनय ! तुझे यह क्या हो गया ?' कहती हुई मेरे शरीर से लगकर रोने लगी। मेरे पारिवारिकजन आकुल-व्याकुल हो गये, रानी वसुन्धरा किंकर्त्तव्यविमूढ हो गई और नरकेसरी राजा विस्मित हुए।

सभा का विसर्जन

उस वक्त योग्य अवसर देखकर मेरे पिताजी ने कहा—'हे दर्शकगणों ! आज तो आप लोग वापीस पधार जावें क्योंकि आज कुमार का शरीर स्वस्थ नहीं है, अतः कुमार की परीक्षा अन्य किसी दिन की जायगी।' पिताजी के वचन सुनकर लोग स्वयंवर मण्डप से बाहर निकल गये और नगर के तिराहों, चौराहों और चौक आदि स्थानों पर झुण्ड में इकट्ठे होकर, अहो रिपुदारण का पाण्डित्य ! अहो इसका वैदुष्य ! देखो सभा में एक अक्षर भी नहीं बोल सका। इस प्रकार बोलते हुए हँसने लगे। मेरे पिताजी ने लज्जा से सिर नीचे झुका कर कलाचार्य और नरकेसरी राजा को भी विदा किया। नरकेसरी राजा ने अपने स्थान पर जाकर सोचा कि जो देखना था वह तो देख लिया, कुमार में कुछ दम नहीं लगता, अतः कल प्रातः यहाँ से प्रस्थान कर देना चाहिये।

जब लोग चले गये और नरकेसरी राजा आदि विदा हो गये तब वह स्थान जनरहित होने पर मेरे जी में जी आया और मेरा भय तनिक दूर हुआ जिससे मैं कुछ स्वस्थ हुआ।

पिताजी की चिन्ता

मेरे पिताजी को तो इतना प्रबल आघात लगा कि मानों उन्होंने अपना पूरा राज्य ही खो दिया हो, उन पर किसी ने वज्र का दारुण प्रहार किया हो, इस प्रकार पूरा दिन उन्होंने चिन्ताग्रस्त होकर व्यथित दशा में व्यतीत किया। वे अपने मन में इतने क्षुब्ध हुए कि नियमानुसार संध्या समय होने वाली राज्यसभा में भी उपस्थित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं हुए। रात्रि में किसी भी पुरुष को अपने पास न आने की आज्ञा देकर वे अपने शयनकक्ष में चले गये, किन्तु मन में चिन्ता होने के कारण उनको नींद नहीं आई और लगभग पूरी रात उनकी व्याकुलता में ही व्यतीत हुई।

पुण्योदय का सहयोग

इस समय मेरे अन्तरंग मित्र पुण्योदय को कुछ लज्जा आई और उसने विचार किया कि—

यस्य जीवत एवैवं, पुंसः स्वामी विडम्ब्यते।
किं तस्य जन्मनाप्यत्र, जननीक्लेशकारिणः॥

अहा! प्राणी के जीवित होने पर भी यदि उसके स्वामी को कठिनाई में फँसना पड़े, अपमानित होना पड़े तो ऐसे प्राणी के जन्म की सार्थकता ही क्या? ऐसे प्राणी का जन्म तो मात्र अपनी माता के लिये क्लेशकारी ही है। [१]

कुमार का अभी जो दुःसह अपमान हुआ उससे मुझे लज्जित होना चाहिये। नरकेसरी राजा अपनी पुत्री को साथ लेकर यहाँ आये और अब अपनी पुत्री का लग्न कुमार के साथ किये बिना वापस चले जायें, तो फिर मेरा कुमार के साथ रहना और मेरी मित्रता सब व्यर्थ है। अतः अब मेरा निष्क्रिय बैठे रहना उचित नहीं है। यद्यपि यह कमललोचना सुन्दरी किसी भी प्रकार से कुमार के योग्य नहीं है तथापि अब अपमान से बचाने के लिये किसी भी प्रकार यह कन्या उसे दिलवानी चाहिये। [२-४]

नरवाहन को स्वप्न

हे अगृहीतसंकेता! इधर पुण्योदय उपरोक्त बात सोच ही रहा था उधर रात ❀ थोड़ी बाकी रहने पर पिताजी की आँख लगी। इस समय पुण्योदय ने पिताजी को आश्वस्त करने की दृष्टि से अत्यन्त मनोहर रूप धारण कर स्वप्न में दर्शन दिया। मेरे पिताजी ने एक सुन्दर आकार युक्त धवल वर्ण वाले पुरुष को स्वप्न में देखा। इस धवल पुरुष ने कहा—'राजन्! जाग रहे हो या सो गये?' पिताजी ने कहा—'जाग रहा हूँ।' तब धवल पुरुष ने कहा—'यदि ऐसा है तो आप विषाद छोड़ दें। तुम्हारे पुत्र रिपुदारण को नरसुन्दरी दिलवाऊंगा, तुम घबराओ मत।' पिताजी ने उत्तर में कहा—'आपकी बड़ी कृपा।'

समय-निवेदक का संकेत

इस समय प्रभातकालीन वाद्य (नौबत) सुनकर मेरे पिताजी जागृत हुए। उसी समय समयनिवेदक ने कहा—'स्वयं का प्रताप क्षीण होने पर संसार के समक्ष जो कल अस्त हो गया था, वह सूर्य अभी उदय को प्राप्त कर लोगों से कह रहा है—

यदा येनेह यल्लभ्यं, शुभं वा यदि वाऽशुभम्।
तदाऽवाप्नोति तत्सर्वं, तत्र तोषैतरौ वृथा॥

❀ पृष्ठ ३१३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस संसार में प्राणी को जिस समय जो शुभ (अच्छी) या अशुभ (बुरी) वस्तु प्राप्त होनी होती है वह उसे अवश्य ही प्राप्त होती है। अतः इस विषय में संतोष या असंतोष धारण करना व्यर्थ है। [१-२]

अन्योक्ति का अर्थ

समयसूचक के उपरोक्त वचन सुनकर मेरे पिताजी ने सोचा कि 'सचमुच मुझे अब इस विषय में विषाद नहीं करना चाहिये, क्योंकि मुझे ऐसा लग रहा है कि कुमार अवश्य ही नरसुन्दरी को प्राप्त करेगा। प्रथम तो देवता ने स्वप्न में मुझे कहा है कि वह कुमार को नरसुन्दरी अवश्य दिलवायेगा। दूसरे मेरे भाग्य से काल-निवेदक ने भी सुभाषित पद्य के बहाने से अभी जो उपदेश दिया है वह भी इसी बात की पुष्टि करता है। इसके कहने का तात्पर्य यह है कि जिस पुरुष को जिस सुन्दर या असुन्दर वस्तु की प्राप्ति का योग होता है वह भाग्य के योग से अकस्मात ही प्राप्त हो जाती है। अतः विद्वान् पुरुष को यह अभिमान नहीं करना चाहिये कि मेरे कारण या प्रयत्न से प्राप्त हुई है। फलतः उसे वस्तु की प्राप्ति या अप्राप्ति के सम्बन्ध में किसी प्रकार का हर्ष या शोक नहीं करना चाहिये।' इस विचार से मेरे पिताजी कुछ स्वस्थ एवं आश्वस्त हुए।

विचार-परिवर्तन

पुण्योदय के अचिन्त्य प्रभाव के विषय में तो कुछ सोचा ही नहीं जा सकता। उसने मेरा पक्ष लेकर राजा नरकेसरी के मन में विचार उत्पन्न किया कि—'अहा! यह राजा नरवाहन वस्तुतः विशाल हृदय वाला उदार राजा है। मैं यहाँ किस कार्य के लिये आया हूँ यह बात इनके पूरे राज्य में तो फैली हुई है ही. साथ ही अन्य राजाओं को भी यह बात ज्ञात हो गई है। यदि अब मैं नरसुन्दरी का लग्न किये बिना वापस जाऊंगा तो मेरे लिये और राजा नरवाहन के लिये भी अर्थात् दोनों पक्षों के लिये यह घटना अत्यधिक लज्जाकारक होगी। अन्य राज्यों में और हमारी प्रजा में इस विषय में अनेक सच्ची-झूठी बातें फैलेंगी। अतः अच्छा यही होगा कि अब किसी प्रकार पुत्री को समझाकर इसका लग्न रिपुदारण कुमार के साथ कर दूं'। यह सोचकर नरकेसरी राजा ने अपनी रानी वसुन्धरा के समक्ष अपनी पुत्री नरसुन्दरी के विषय में अपना अभिप्राय रखा। पुण्योदय के प्रभाव से नरसुन्दरी का मन भी मेरे प्रति आकर्षित हुआ और उसने मन में सोचा कि उसके पिता ने जो विचार व्यक्त किये हैं वे युक्तियुक्त हैं, अतः उसने पिताजी को कहा कि—'पिताजी! जो आपकी अभिलाषा है वह मुझे स्वीकार्य है।' राजा यह सुनकर प्रसन्न हुआ कि पुत्री ने अपना निर्णय बदल कर मेरी बात स्वीकार कर ली है।

नरसुन्दरी के साथ लग्न

उसके पश्चात् राजा नरकेसरी तत्क्षण ही मेरे पिताजी से मिलकर बोले—'अब बारम्बार परीक्षा करने की और लोगों को इकट्ठा करने की क्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकता है ? नरसुन्दरी स्वयं ही कुमार रिपुदारण का वरण करने हेतु ही यहाँ आई है। अतः अब इस विषय में अधिक प्रचार या आडम्बर करने से क्या लाभ है ? ऐसा करने से तो दुर्जन व्यक्तियों को कुछ कहने का या अँगुली उठाने का अवकाश मिलेगा। अतएव कुमार अब बिना किसी परीक्षा के ही निःशंक होकर मेरी पुत्री का पाणिग्रहण करें।' मेरे पिताजी ने राजा नरकेसरी के प्रस्ताव को स्वीकार किया। अनन्तर शीघ्र ही शुभ दिन दिखवाया गया ❀ और उस शुभ दिन महोत्सव पूर्वक मैंने नरसुन्दरी के साथ विवाह किया।

नरसुन्दरी को वहाँ छोड़कर उसके पिता वापस अपने देश लौट गये। मैं निर्विघ्न एवं निराकुल होकर आनन्द का उपभोग कर सकूं, इस हेतु मेरे पिताजी ने एक बड़ा महल मुझे सौंप दिया।

❀

४. नरसुन्दरी का प्रेम व तिरस्कार

दाम्पत्य-प्रेम

नरसुन्दरी के साथ विवाह होने के पश्चात् उसके साथ सुखभोग करते हुए मेरे कई दिन बीत गये। पुण्योदय ने हम दोनों के प्रेम को सुदृढ़ कर दिया, हम दोनों में परस्पर पूर्ण विश्वास उत्पन्न किया, हम दोनों में प्रगाढ साहचर्य स्थापित कर दिया जिससे उसने मेरे लिये अनेक आनन्दजन्य रति-केलि के प्रसंग उत्पन्न किये, हमारे प्रणय में वृद्धि की और हमारे चित्त को एकीभूत कर हमें अगाध प्रणय-सागर में डुबकियें लगवाईं। जैसे—

सूर्य अपनी प्रभा को एक क्षण भी दूर नहीं करता, जैसे चन्द्रमा अपनी चन्द्रिका को एक पल के लिये भी दूर नहीं करता, जैसे शंकर पार्वती को एक क्षण के लिये भी दूर नहीं करते वैसे ही मैं भी अपनी बल्लभा नरसुन्दरी को एक क्षण के लिये भी दूर नहीं रखता था। वह मुग्धा नवोढा सुन्दरी भी भ्रमरी की भाँति मेरे मुख-कमल के रस का आस्वाद लेने में इतनी अधिक आतुर रहती थी कि रसपान करते-करते कितना समय व्यतीत हो गया यह भी वह तपस्विनि नहीं जान पाती थी। [१–२]

प्रेमभंग की योजना

जो साधारणतया देवगणों को भी दुर्लभ होता है ऐसा नरसुन्दरी और मेरे भव्य मनोहारी आकर्षक प्रेमभाव और चुम्बकीय प्रणय-बन्धन को देखकर

❀ पृष्ठ ३१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरे सुहृदाभास किन्तु परमार्थ से सच्चे दुश्मन मृषावाद और शैलराज मन में अत्यधिक रुष्ट हुए, अर्थात् इस सम्बन्ध ने उनके हृदय रूपी अग्नि में घी का काम किया। वे सोचने लगे कि 'यह नयी बाधा कहाँ से आ गयी? इसने तो मित्र रिपुदारण को अपने वश में कर लिया। अब इस पापी रिपुदारण और नरसुन्दरी का वियोग कैसे हो, इसकी सुगठित योजना बनानी चाहिये।' इस विचार के परिणाम स्वरूप शैलराज ने मृषावाद से कहा—'भाई मृषावाद! अभी तू नरसुन्दरी के साथ लग जा और उसके मन में रिपुदारण के प्रति विरक्ति उत्पन्न कर। बाद में जब योग्य अवसर आयगा तब इस योजना को पूरी करने के लिये मैं भी कूद पड़ूंगा। जब मेरे जैसा व्यक्ति प्रेम-भंग करवाने में हाथ डाले तो फिर प्रेमबन्धन कैसे टिक सकता है?' [अर्थात् अभिमान और प्रेम एक साथ कैसे रह सकते हैं? क्योंकि अभिमान ईर्ष्या उत्पन्न करता है और ईर्ष्या से प्रेम टूटता है।] तत्काल ही मृषावाद ने उत्तर दिया—'भाई शैलराज! मेरे जैसे को बार-बार उत्साह दिलाने या प्रेरित करने की क्या आवश्यकता है? पलक झपकते ही मैं नरसुन्दरी के चित्त में बहुत बड़ा भेद डाल दूंगा। तू समझ ले कि यह काम तो हो हो गया।' इस प्रकार मेरा नरसुन्दरी से वियोग करवाने के लिये मेरे इन दोनों पापी मित्रों ने विचार-विमर्श पूर्वक दृढ़ निश्चय किया और इस योजना को किस प्रकार क्रियान्वित किया जाय इस सम्बन्ध में भी उन्होंने परस्पर निर्णय कर लिया। [३-९]

प्रेमासक्ति

जब से नरसुन्दरी मुझे अपनी सद्भार्या के रूप में प्राप्त हुई तब से मैं अपने मन में ऐसा मानने लगा कि त्रैलोक्य में प्राप्त करने योग्य सर्वोत्तम वस्तु मुझे प्राप्त हो गई है। इस विचार के परिणाम स्वरूप मैं अपनी भौंहे चढाकर, आँखे टेढी कर, अपने हृदय पर शैलराज का लेप लगाते-लगाते अपने मन में सोचने लगा कि 'मुझे सचमुच में सर्वांगसुन्दरी सौभाग्यशालिनी कलामर्मज्ञ पत्नी मिली है, अतः मेरे समान अन्य शाग्यशाली व्यक्ति त्रैलोक्य में नहीं है।' इन विचारों से मैंने उसके प्रेम के प्रगाढ बन्धन में बंधकर गुरु, देव और गुरुजनों को नमन करने के लिये भवन से निकलना भी बन्द कर दिया। फलतः मैं अपने परिजनों, सेवकों और लोक-सम्पर्क से पूर्णतया विमुख हो गया। मेरी ऐसी दुष्ट प्रवृत्ति को देखकर मेरे पुण्योदय मित्र को जिसके मन में मेरे लिये रह-रहकर स्नेह उमड़ पड़ता था असह्य संताप हुआ जिससे वह बेचारा मेरी चिन्ता में अति दुर्बल हो गया, अर्थात् मेरे पुण्य क्षीण होने लगे। समस्त स्वजन-सम्बन्धी और परिजन भी मेरा इस प्रकार का व्यवहार देखकर मेरे प्रति विरक्त बन गये और गुपचुप मेरी हँसी उड़ाते हुए कहने लगे—'अहा! भाग्य को देखो! भाग्य कैसी विचित्र घटना घटित करता है! वाह विधाता ने क्या इस कौए के साथ रत्न बाँध दिया है! ऐसी रत्न जैसी स्त्री को इस मूर्ख के साथ बाँध दिया है! ※ पहिले ही से अपनी मूर्खता के कारण रिपुदारण गर्व से फूला नहीं समाता

※ पृष्ठ ३१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था और अब तो ऐसी निपुण पत्नी को प्राप्त कर गर्व में अन्धा हो गया है। लोगों में यह न्यायोक्ति (कहावत) है कि "पहले तो बन्दर और फिर उसके अण्डकोष पर बिच्छ काट खाये तो उसके उछलकूद (तूफान) का क्या कहना!" सचमुच ऐसे गधे के साथ हथिनी जैसी सर्वांगसुन्दरी मृगलोचना पत्नी का गठबन्धन कदापि उचित नहीं लगता। [१०-१९]

नरसुन्दरी द्वारा प्रेम-परीक्षा

नरसुन्दरी का चित्त सद्भाव से परिपूरित था। एक दिन उसके मन में विचार जाग्रत हुआ कि रिपुदारण का मुझ पर सच्चा स्नेह है या नहीं? इसका परीक्षण करना चाहिये। अमुक व्यक्ति का अपने पर सच्चा स्नेह है या नहीं? इसका पता उसकी कोई गोपनीय बात कहने से लग जाता है। मैं कुमार से उसकी कोई प्रच्छन्न बात पूछ, उसका उत्तर वह ठीक देता है या कुछ छिपाता है, इस से ही पता लग जायगा कि उसका मेरे प्रति स्नेह-बन्ध कैसा है? [२०-२२]

इस प्रकार विचार करते-करते नरसुन्दरी ने निश्चय किया कि पति से उसकी कोई रहस्यमयी गुप्त बात अवश्य ही पूछनी चाहिये। कौनसी गुह्य बात पूंछू? यह सोचते हुए उसे स्मरण आया कि जैसे रक्त अशोक का वृक्ष कमनीय होते हुए भी फलरहित होता है वैसे ही मेरे आर्यपुत्र शारीरिक दृष्टि से अत्यन्त कमनीय होते हुए भी निखिल कला-कौशल में चातुर्य (फल) रहित हैं, क्योंकि जब मैं सिद्धार्थपुर में आई थी और सभा-समक्ष उनकी परीक्षा ली गई थी, उस समय तनिक भी ज्ञान न होने के कारण भयातिरेक से उनका मन अत्यधिक क्षुब्ध हो गया था जो स्पष्टतः उनके शरीर पर झलक आया था। अतः अब मैं आर्यपुत्र से यही प्रश्न पूछूंगी कि उस दिन आपके मन में जो क्षोभ उत्पन्न हुआ था उसका कारण क्या था? यदि वे इसका स्पष्ट उत्तर देंगे तो मैं समझूंगी कि आर्यपुत्र का मुझ पर सच्चा और दृढ़ स्नेह है। यदि वे स्पष्ट उत्तर नहीं देंगे तो मैं समझ जाऊंगी कि उनका मेरे प्रति सच्चा प्रेम नहीं है।

उपरोक्त विचारों से प्रेरित होकर एक दिन नरसुन्दरी ने मुझ से पूछा—'आर्यपुत्र! उस दिन राज्य सभा में आपके समक्ष जब मेरी प्रथम वार्ता हुई थी तब आपके शरीर में क्या व्याधि हो गई थी?' ऐसा युक्तियुक्त प्रश्न नरसुन्दरी ने मुझ से पूछा। उस समय योग्य अवसर को समझकर मृषावाद ने अपनी योगशक्ति का मुझ पर प्रयोग किया। वह अदृश्य होकर गुप्त रूप से मेरे मुँह में प्रविष्ट हो गया। मेरे पापी मित्र मृषावाद की प्रेरणा से मैंने नरसुन्दरी को उत्तर में कहा—'उस समय तुम्हें मेरे विषय में कैसा लगा? यह तो पहिले मुझे बताओ।'

नरसुन्दरी—आर्यपुत्र! मुझे तो उस समय न तो ठीक से दिखाई ही दिया और न मैं वास्तविक स्थिति को जान ही सकी। उस समय मेरे मन में ऐसी शंका अवश्य हुई थी कि या तो आर्यपुत्र के शरीर में सचमुच ही कोई रोग उत्पन्न हुआ है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या इनमें कलाकौशल की कमी है जिसे छिपाने के लिये ही सम्भवतः आपने कुछ बहाना बनाया है।

मैं (रिपुदारण)—सुन्दरी ! तुझे अपने मन में इनमें से एक भी विकल्प (कारण) नहीं समझना चाहिये, क्योंकि समस्त कलायें तो मेरे हृदय में समायी हुई हैं और मेरे शरीर में उस समय कोई विशेष रोग इत्यादि उत्पन्न भी नहीं हुआ था। मेरे प्रति अन्धे मोह के कारण से मेरे माता-पिता ने उस समय व्यर्थ ही धूमधाम मचा दी थी। उनकी व्यर्थ की धांधलो के कारण ही मैंने उस समय स्थिर होकर मौन धारण कर लिया, अर्थात् चुपचाप बैठा रहा।*

इस बात को सुनकर नरसुन्दरी को दृढ़ विश्वास हो गया कि मैं वास्तविक बात को निश्चित रूप से छुपा रहा हूँ। उसने मन में विचार किया, अहो ! ये तो प्रत्यक्ष में ही अपलाप कर रहे हैं, अर्थात् पूर्णतया झूठ बोल रहे हैं। अहो इनकी निर्लज्जता ! अहो इनकी धृष्टता ! अहो इनका झूठा आत्माभिमान ! अर्थात् ये अपने आपको कितना बड़ा समझते हैं ?

पुनः नरसुन्दरी ने कहा—आर्यपुत्र ! यदि ऐसी बात है तब तो बहुत ही आश्चर्य की बात है। मुझे अभी भी आपके मुख से कला-कलाप के स्वरूप को सुनने की प्रबल इच्छा है। यदि आप मुझ पर कृपा कर कलाओं के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन सुनायें तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।

नरसुन्दरी की उपरोक्त प्रार्थना को सुनकर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि 'अहो ! इसे अपने पांडित्य का बहुत अभिमान हो गया लगता है, इसीलिये यह मेरा पराभव कर अपने समक्ष मुझे तुच्छ सिद्ध करने की इच्छा से ही मेरी हँसी उड़ा रही है।' इसी समय शैलराज ने अवसर देखकर गुप्त रूप से मुझ पर अपना प्रभाव जमाया और अपने हाथ से स्तब्धचित्त लेप का मेरे हृदय पर विलेपन कर दिया। लेप के प्रभाव में मैंने पुनः सोचा कि 'सचमुच यह पापिनी नरसुन्दरी अपने पांडित्य की छाप मुझ पर जमाने के लिये मेरा पराभव कर मेरी हँसी उड़ाने को तत्पर हुई है। ऐसी पापिन को अपने पास रखने से क्या लाभ ?'

नरसुन्दरी का तिरस्कार

मैंने शैलराज के प्रभाव में आकर तत्क्षण ही अत्यन्त तिरस्कार पूर्वक नरसुन्दरी से कहा—अरे पापिनि ! मेरी दृष्टि से दूर हट जा। मेरे राजभवन से अविलम्ब बाहर निकल जा। अपने आप को पण्डित मानने वाली तेरे जैसी स्त्री को मेरे जैसे मूर्ख व्यक्ति के साथ रहना शोभा नहीं देता।

मेरे वचन सुनकर नरसुन्दरी एकाएक घबरा गई। उसने मेरे मुख के सामने देखा। पुनः उसने सोचा, धिक्कार है ! इनका मेरे प्रति पहले जो सद्भाव एवं प्रेम था वह अब नहीं है। प्रतीत होता है कि इस समय ये मानभट (अभिमान)

* पृष्ठ ३१६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के वशीभूत हो गये हैं। अब किसी भी प्रकार पुनः ये प्रसन्न हों ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता। उस समय स्तब्धदशा में वह नरसुन्दरी ऐसी लग रही थी मानो गारुडिक मंत्र से आहत नागिन हो, मानों मूल से खींच कर निकाली हुई वनलता हो, मानों तोड़ कर फेंक दी गई कोई आम्रमंजरी हो या मानों अंकुश से वश में की हुई कोई हथिनी हो। इस प्रकार एकदम शोकातुर दीनमुख वाली और आकस्मिक भय के भार से दोलायमान हृदय वाली नरसुन्दरी तत्क्षण ही मन्थर गति से चलती हुई मेरे भवन से चल दी। उस समय उसकी रत्नजटित कटिमेखला (कंदोरे) के घुंघरुओं से निकलते कल-कल स्वर और पाँव की झांझर से निर्गत झण-झणारव से ऐसा लग रहा था मानो कोई कलहंसी स्नान-वापिका में अपनी ओर आकर्षित कर रही हो! इस प्रकार मन्द गति से चरण रखती हुई शोकातुर नरसुन्दरी मेरे महल से निकल कर मेरे पिताजी के भवन में चली गई।

❀

५. नरसुन्दरी द्वारा आत्महत्या

पश्चात्ताप और कामज्वर

मेरे भवन से नरसुन्दरी के जाने के पश्चात् भी जब तक शैलराज द्वारा मेरे हृदय पर लगाया हुआ लेप नहीं सूखा तब तक मैं पत्थर के खम्भे की भांति वैसे ही तना हुआ खड़ा रहा। जब यह लेप थोड़ा सा सूख गया तब मेरे मन में पश्चात्ताप हुआ। पूर्व में नरसुन्दरी पर मेरा जो स्नेह और ममत्व था वह मुझे पीड़ित करने लगा, उसके लिये मेरे मन में दुःख होने लगा और कुछ चिन्ता भी होने लगी। अन्त में मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मेरा मन एकदम शून्य (खाली) हो गया है। मेरे मन में विह्वलता होने लगी तथा शरीर एवं मन पर अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होने लगे। शरीर में कुछ कामातुरता की वृद्धि से उष्मा बढ़ गई, अर्थात् कामज्वर ने मुझे जकड़ लिया। मन के ताप को कम करने के लिये मैं पलंग पर लेटा किन्तु वहाँ भी शान्ति नहीं मिली। फलस्वरूप उबासियाँ आने लगीं, शरीर टूटने लगा और मैं इस प्रकार तड़फड़ाने लगा जैसे खैर की जलती लकड़ियों के बीच पड़ी हुई मछली तड़फड़ाती है। कामज्वर से जलते हुए हृदय से मैं पलंग पर से उठा तभी मेरी माता विमलमालती अत्यन्त शोकातुर दशा में मेरे पास आयी।

माता विमलमालती की शिक्षा

मेरी माता को मेरे पास आती देखकर मैंने अपने मन की चिन्ता को छुपा लिया। माता के स्वतः ही भद्रासन पर बैठने पर मैं भी ❀ पलंग पर बैठ

❀ पृष्ठ ३१७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया। तब मेरी माता ने कहा—पुत्र! तपस्विनी नरसुन्दरी को कठोर वचनों से तिरस्कृत कर तूने उसे यहाँ से निकाल दिया, यह ठीक नहीं किया। यहाँ से जाने के बाद उस बेचारी पर क्या-क्या बीती है, सुनेगा?

मैंने कहा—जो आपको अच्छा लगे तो कहिये।

तब मेरी माता बोली—यहाँ से जाने के बाद नरसुन्दरी के कपोल नेत्रों से निकलती अश्रुधारा से भीग गये थे। ऐसी अवस्था में रोती-रोती खिन्नमनस्क वह मेरे पास आई और मेरे पाँवों में गिर पड़ी। मैंने पूछा कि—'पुत्री नरसुन्दरी! तुझे क्या हुआ?' तो उस बेचारी ने कहा—'माताजी! कुछ नहीं, शरीर में दाह-ज्वर से पीड़ा हो रही है।' मैं उसे अधिक पवन वाले स्थान पर ले गई, वहाँ पलंग बिछा कर उसे सुलाया और मैं उसके पास बैठी। उस समय वह पलंग पर ऐसे तड़फ रही थी जैसे विशाल मुद्गर से किसी ने प्रबल प्रहार किया हो, जैसे अग्नि में जल रही हो, मानो जंगल का भयंकर सिंह उसे खाने को तैयार हो, मानो कोई बड़ा मगरमच्छ उसे निगल जाने वाला हो, मानो कोई विशाल पर्वत टूट कर उस पर गिर पड़ा हो, मानो यमराज की तलवार से उसे काटा जा रहा हो, मानो उसे कोई आरे से चीर रहा हो, मानो नरक की अग्नि में उसे पकाया जा रहा हो, इस प्रकार वह पलंग पर एक करवट से दूसरे करवट पछाड़ खाती हुई लौटने लगी। उसकी ऐसा स्थिति देखकर मैंने उससे पूछा—'अरे नरसुन्दरी! तुझे ऐसा तीव्रतर दाहज्वर कैसे हुआ? कुछ बता तो सही।' मेरा प्रश्न सुनकर बेचारी गहरी-गहरी सांस लेकर चुप हो गई, पर कुछ बोल न सकी। मैंने सोचा, अवश्य ही इसे कोई मानसिक पीड़ा है, अन्यथा मुझे भी स्पष्ट कारण क्यों नहीं बताती? फिर मैंने उससे बहुत आग्रह किया तब कहीं जाकर उसने तेरे यहाँ की घटित घटना मुझे सुनायी। तब मैंने उसके शीतल उपचार के लिये कन्दलिका दासी को नियुक्त किया और मैंने नरसुन्दरी से कहा—'पुत्री! यदि ऐसी बात है तो तू धीरज रख। अपने सब मानसिक शोक-संताप को दूर कर और साहस धारण कर। मैं अभी कुमार के पास जाती हूँ और उसे समझा कर तेरे अनुकूल करूंगी, फिर तो ठीक है? क्या पहले तुझे इस बात का ज्ञान नहीं था कि आजकल मेरा पुत्र मानधनेश्वर अर्थात् अत्यधिक अभिमानी हो गया है, अतः उसके प्रतिकूल (विरुद्ध) कुछ कहने या चिढाने में कोई सार नहीं है। उसकी यह विशेषता अब तेरे ध्यान में आ गई होगी। अब तू जीवन पर्यन्त उसके प्रतिकूल या अरुचिकर ऐसा कोई वचन या आचरण मत करना और उसे अपना परमात्मा समझ कर आराधना करना।' मेरे सांत्वना पूर्ण वचन सुनकर बाला नरसुन्दरी विकसित कमलिनी जैसी, पुष्पयुक्त कुन्दलता जैसी, पक्व सुगन्धित आम्रमंजरी जैसी, मद झरती सुन्दर हथिनी जैसी, पानी से सिक्त प्रफुल्लित बेल जैसी, अमृतरस पान से तृप्त नागराज की पत्नी नागिनी जैसी, बादल रहित सुन्दर शोभायमान चन्द्रलेखा जैसी, सहचारी चकवे से पुनः मिलने पर चक्रवाकी जैसी और सुखरूपी अमृत के सागर में डूबी हुई के समान अवर्णनीय रसान्तर का अनुभव करती हुई शय्या से उठ बैठी और मेरे चरणों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गिरकर बोली—* 'माँ ! आपकी महती कृपा। मैं आपकी अनुगृहीत हूँ। मैं मन्द-भाग्या हूँ। माँ ! आप शीघ्र जाकर एक बार मेरे पति को मेरे प्रति अनुकूल कर दीजिये। फिर यदि मैं स्वप्न में भी कभी मेरे आर्यपुत्र के प्रतिकूल व्यवहार करूं तो आप जीवन पर्यन्त मुझ पापात्मा से नहीं बोले, मेरा मुँह भी नहीं देखें। मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि मैं सर्व प्रकार से आर्यपुत्र के अनुकूल रहूँगी।' मैंने कहा—'अच्छी बात है, मैं अभी जाती हूँ।' नर सुन्दरी ने पुनः 'माँ ! आपकी महती कृपा।' कहकर दुबारा मेरा आभार माना। पुत्र ! इसीलिये मैं तेरे पास आई हूँ।

पुत्र ! तात्पर्य यह है कि तू उसके प्रतिकूल है यह जानकर वह बाला जल उठती है और तुझे अनुकूल समझ कर वह प्रमुदित होकर खिल उठती है। जब वह सुनेगी कि वह कुमार को प्रिय है तो उसे अमृतपान करने के समान आनन्द होगा और यदि वह सुनेगी कि कुमार को वह प्रिय नहीं है तो उसे महानरक के दुःख जैसा अनुभव होगा। यदि उसे मालूम होगा कि तेरा थोड़ा भी उस पर रोष है तो वह तपस्विनी मर जायगी और यदि वह जानेगी कि अब तू उसके प्रति तनिक भी सन्तुष्ट है तो वह इसी अवलम्बन पर जीवित रह सकेगी। छोटी उम्र और नासमझी से स्नेहवश यदि उस बेचारी ने तेरा कुछ अपराध कर दिया हो तो वत्स ! वह क्षमा करने योग्य है। [१-४]

प्रणतेषु दयावन्तो, दीनाभ्युद्धरणे रताः।
सस्नेहार्पितचित्तेषु, दत्तप्राणा हि साधवः ॥५॥

सज्जन पुरुष नतमस्तक प्राणियों पर दयावान होते हैं, दीन-हीन गरीबों का उद्धार करने में सर्वदा तत्पर रहते हैं और जो उन्हें स्नेह (भक्ति) पूर्वक अपना चित्त अर्पण करते हैं उनके लिये वे अपने प्राण भी अर्पित कर देते हैं। [सज्जन पुरुषों का व्यवहार ऐसा ही होता है, अतः तुझे भी ऐसा ही व्यवहार नर-सुन्दरी के साथ करना चाहिये।]

माता का चरण-प्रहार द्वारा अपमान

नरसुन्दरी का मुझ पर कितना अविचल प्रेम था और उसके हृदय में मेरे प्रति कितना स्नेह था, इस विषय में मेरी माता का विवेचन सुनकर मैं उसके प्रति स्नेहाकर्षित हो ही रहा था कि इतने में शैलराज ने भौंहे कुटिलकर (चढ़ाकर) सिर धुनाया और मेरे हृदय पर स्तब्धचित्त लेप लगा दिया।

लेप के लगते ही पत्नी ने मेरा जो अपराध (अपमान) किया था वह पुनः तरोताजा होकर मेरी आँखों के सामने घूम गया। मुझे उस पर स्नेह के स्थान पर घृणा हुई, अर्थात् मेरे मन में विपरीत प्रतिक्रिया हुई और मैंने माता से कहा—'मेरा अपमान करने वाली इस पापिनी की मुझे कोई आवश्यकता नहीं है।' माता ने कहा—'अरे वत्स ! ऐसा मत बोल। यद्यपि उसने तेरा गुरुतर अपराध किया है फिर भी मेरे कहने से तू एक बार उसे क्षमा कर दे।' इतना कहकर मेरी माता मेरे पाँवों में

* पृष्ठ ३१८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पड़ गई। पर, मैंने क्रोधित होकर कहा—'जा, निकल जा, अवस्तु की प्रार्थना करने वाली ! अर्थात् उस दुष्टा का पक्ष लेने वाली तू भी यहाँ से निकल जा। मेरी दृष्टि से दूर हो जा। मुझे तेरी भी कोई आवश्यकता नहीं है। मैंने जिस दुष्टा को यहाँ से निकाल दिया उसी को तुम सहारा दे रही हो।' ऐसा कहते हुए मैंने क्रोध में अपनी माता पर पाद-प्रहार भी कर दिया।

अहो, हे भद्रे अगृहीतसंकेता ! मुझ पापी ने शैलराज की प्रभाव-छाया में जब अपनी माता को भी लात मार दी और उसका तिरस्कार कर दिया तब वह समझ गई कि मैं अपने दुराग्रह को त्याग कर अपना निर्णय बदलने वाला नहीं हूँ। वह बेचारी एकदम निराश होकर आँखों से आँसू गिराती हुई जैसी आई थी वैसी ही वापस लौट गई और मेरी पत्नी नरसुन्दरी को सब कुछ कह सुनाया। सुनते ही नरसुन्दरी मूर्छित होकर जमीन पर गिर पड़ी, जैसे उस पर कोई वज्राघात हुआ हो। माता ने उस पर चन्दन और शीतल जल का उपचार किया और पंखे से पवन किया। कुछ देर बाद उसे चेतना आई और वह जोर-जोर से विलाप करने लगी।

उसे रोती देखकर मेरी ॐ माता विमलमालती ने कहा—पुत्री ! क्या करूं ? तेरा पति तो सचमुच वज्र जैसा कठोर हृदय का हो गया है, पर तू रो नहीं, शोक का त्याग कर। साहस के साथ इस उपाय का अवलम्बन ले और तू स्वयं जाकर अपने पति को प्रसन्न करने का प्रयत्न कर। तेरे स्वयं जाने से सम्भव है तेरे प्रति उसका जो पूर्व प्रेमाकर्षण है वह फिर से उसे आकर्षित करले और वह तुझ पर पुनः प्रसन्न हो जाय। कामी पुरुष का हृदय मृदुता से ही जीता जा सकता है। इस अन्तिम प्रयत्न के बाद भी अगर वह प्रसन्न न हो तो मन में दुःख या पश्चात्ताप नहीं रहेगा कि तूने अन्तिम उपाय नहीं किया। कहावत भी है कि "अपने प्रिय पुरुष को भली प्रकार समझाने से प्रेम में अवरोध नहीं होता और जनमानस में भी यह अपवाद नहीं उठता कि इस विषय में पूरा प्रयत्न नहीं किया गया।"

नरसुन्दरी को प्रेम-याचना : औद्धत्य पूर्ण भर्त्सना

नरसुन्दरी ने माता की आज्ञा शिरोधार्य की और अविलम्ब ही मुझे प्रसन्न करने के लिये वहाँ से चल पड़ी। वह मेरे पास आ रही है और न जाने मेरा उसके प्रति कैसा कठोर व्यवहार हो, इस शंका से मेरी माता भी छिपकर उसके पीछे-पीछे आ गई। मेरी पत्नी कक्ष में मेरे पास आई और बाहर द्वार के पास छिपकर मेरी माता खड़ी रही।

नरसुन्दरी ने अत्यन्त विनम्र और प्रेमपूरित शब्दों में कहा—'मेरे नाथ ! प्रिय प्राणबल्लभ ! स्वामी ! प्राणजीवन ! प्रेमसागर ! इस अभागिन स्त्री पर कृपा करिये। शरणागत पर कृपा दृष्टि रखने वाले मेरे प्रभो ! भविष्य में मैं कभी ऐसा कोई कार्य नहीं करूंगी कि जिससे आपके मन को किंचित् भी दुःख हो। हे नाथ ! आपके अतिरिक्त त्रैलोक्य में भी मेरा कोई शरण-स्थान नहीं है। [१–२]

ॐ पृष्ठ ३१६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चपल नेत्रों की उष्ण अश्रुधारा से मेरे चरणों को भिगोती हुई उसने अत्यन्त नम्रता से मेरे पाँव पकड़ लिये। उसकी दयनीय स्थिति को देखकर मेरा हृदय दहल गया। मेरे प्रति उसके पूर्वकालीन अपूर्व प्रेम का स्मरण आते ही मेरा हृदय कमल जैसा होने लगा, किन्तु शैलराज (अभिमान) की उस पर दृष्टि पड़ते ही वह फिर पत्थर जैसा कठोर हो गया। जब तक मन में प्रियतमा नरसुन्दरी के प्रणय-निवेदन के विचार रहते तब तक वह मक्खन जैसा कोमल रहता और जैसे ही शैलराज के विचार आते वह पुनः वज्र से भी कठोर हो जाता। यों मेरा हृदय कोमल एवं कठोर भावों के झूले पर झूल रहा था, 'क्या करना चाहिये और क्या नहीं' इसका निर्णय लेने की स्थिति में भी नहीं था। अन्त में मोहराजा की मुझ पर विजय हुई और शैलराज को प्रसन्न करने के लिये उस दीन अबला बालिका नरसुन्दरी की मैंने भर्त्सना कर डाली। 'अरे पापिनी ! चल निकल यहाँ से। वाग्जाल की माया को छोड़ दे। यह अच्छी तरह समझ ले कि तू ऐसे वाणी-चातुर्य से रिपुदारण को नहीं ठग सकेगी। तू सभी कलाओं में बहुत प्रवीण है अतः लोगों को ठगने की कला में भी अवश्य ही प्रवीण होगी, पर मेरे जैसे मूर्ख ? को तो कभी नहीं ठग सकेगी। जब तेरे जैसी विदुषी को हँसी उड़ाने के लिये मैं ही मिला, तो अब यह व्यर्थ का प्रलाप करने में क्या सार है ? और तेरी जैसी विदुषी का नाथ भी मैं मूर्ख कैसे हो सकता हूँ ?'

ऐसे कर्कश कटुवचन बोलने के बाद शैलराज से प्रेरित होने के कारण मेरे शरीर के सभी अवयव निस्तब्ध हो गये अर्थात् पत्थर जैसे शून्य एवं कठोर बन गये थे और मैं निर्जन जंगल में ध्यान-मग्न मुनि की भाँति चुप होकर बैठ गया। [१-८]

आशाभंग : अपघात

मेरे ऐसे गर्वाभिभूत कठोर और अडिग निश्चय वाले वचन सुनकर बेचारी नरसुन्दरी की दशा आकाशगामिनी विद्या भूली हुई विद्याधरी जैसी, योग सामर्थ्य से भ्रष्ट योगिनी जैसी, जल-विहीन तप्त भूमि पर पड़ी मछली जैसी * और प्राप्त रत्न भण्डार को खोने के बाद बैठी हुई चुहिया जैसी अत्यन्त दयनीय हो गई। आशा के सभी बाँध टूट जाने पर वह शोकसागर में डूब कर मन में विचार करने लगी कि 'प्राणनाथ से इस प्रकार तिरस्कृत होने के पश्चात् जीवित रहने का मेरे लिये क्या अर्थ है ? ऐसे जीने से तो मरना ही अच्छा है।' ऐसे विचार करती हुई वह मेरे कक्ष से बाहर निकल गई।

देखें, अब यह क्या करती है ? इस विचार से शैलराज के साथ मैं भी धीरे-धीरे- चलते हुए उसके पीछे-पीछे चल दिया। उसी समय मानों मेरे दुष्ट व्यवहार से खिन्न होकर सूर्यदेव भी इस क्षेत्र से अन्य क्षेत्र में चले गये अर्थात् अस्त हो गये।

---

* पृष्ठ ३२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूर्य अस्त होने से चारों तरफ अन्धेरा छा गया। नगर के बड़े-बड़े मार्गों पर आवागमन कम हो गया। ऐसे समय में एक खण्डहर जैसे शून्यगृह में नरसुन्दरी ने प्रवेश किया। उस समय आकाश के दूसरे छोर पर चन्द्र उदित हो चुका था। चन्द्र के रुपहले मन्द-मन्द प्रकाश में नरसुन्दरी को देखते हुए मैं भी उसके पीछे-पीछे उस खण्डहर के द्वार तक पहुँचा और द्वार के पास ही छिपकर खड़ा हो गया। उस समय नरसुन्दरी ने चारों तरफ दृष्टि घुमायी। उसे एक स्थान पर ईंटों का ढेर दिखाई दिया। उस पर चढ़कर उसने छत के बीच के कड़े से अपनी साड़ी का एक छोर कस कर बाँधा और दूसरे छोर पर फांसी का फंदा लगाकर उसमें अपनी गर्दन डाल दी। फिर उसने ऊँची आवाज में कहा—'हे लोकपालों ! आप ध्यान पूर्वक सुनें। हे पूज्यों ! आप अपने दिव्य ज्ञान से सब कुछ देख ही रहे हैं। आज आर्यपुत्र के साथ वार्तालाप करते हुए ऐसा प्रसंग आ गया कि मैंने उनसे कलाओं पर विवेचन करने का अनुरोध किया था। यद्यपि मेरा हेतु उनका अपमान करने का कदापि नहीं था तथापि दुर्भाग्य से इस प्रसंग को लेकर वे अभिमान के पर्वत पर चढ़ गये और इस मन्दभागिनी अबला का उन्होंने सर्वथा तिरस्कार कर दिया।'

नरसुन्दरी के वचन सुनकर मुझे लगा 'कि इस बेचारी तपस्विनी के अन्तः-करण में तो मेरा अपमान करने की कोई इच्छा नहीं थी। प्रेम-संभाषण करते-करते मुझे क्रोध आ गया अतः यह तो केवल प्रेम का ही अपराध है। इसे तिरस्कृत कर, निकाल कर मैंने ठीक नहीं किया। मुझे अभी भी इसे आत्महत्या करने से रोकना चाहिये।' इस विचार से मैं उसके गले का फंदा काटने के लिये आगे कदम बढ़ा ही रहा था कि वह फिर बोल पड़ी—हे लोकपालों ! अतएव अभी आप मेरे प्राण ग्रहण करें। जन्मान्तर में भी मेरे साथ ऐसी घटना फिर न घटे ऐसी मेरी आप से प्रार्थना है।

उसी समय शैलराज ने कहा—'कुमार ! देख, अगले जन्म में भी वह तेरा साथ नहीं चाहती है।' उस समय उसके तात्पर्य को न समझ कर, दुर्भाग्य से शैलराज द्वारा किये गये अर्थ को ही ठीक समझ बैठा। मैंने सोचा कि उसने ऐसी दुर्घटना फिर से घटित न हो ऐसी इच्छा प्रकट की है और यह दुर्घटना तो मेरे सम्बन्ध में ही घटी है, अतः वह मेरा साथ जन्मान्तर में भी नहीं चाहती। तब मरने दो, ऐसी पापिन शंखिनी से मेरा क्या काम ?

उसी समय शैलराज ने अपना लेप वाला हाथ मेरे हृदय पर लगाया। लेप के प्रभाव से मैं तो कर्त्तव्यहीन निर्जीव लकड़ी के खम्भे की तरह स्तब्ध खड़ा का खड़ा देखता रहा। उधर नरसुन्दरी ने अपनी गर्दन फंदे में डाली, फंदे को जोर से खींचा और लटक गई। तत्क्षण ही उसकी आँखें बाहर निकल आईं, श्वास-मार्ग अवरुद्ध हो गया, गर्दन लटक गई, ❀ नाडियें खिंच गईं, सर्वांग शिथिल हो गया, इन्द्रियाँ शून्य

❀ पृ० ३२१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो गईं, मलद्वार खुल गये, जीभ बाहर निकल आई और उस बेचारी के प्राण-पखेरु उड़ गये।

माता विमलमालती की आत्महत्या

नरसुन्दरी को मेरे भवन से निकल कर बाहर जाते हुए और उसके पीछे-पीछे मुझे जाते हुए मेरी माता ने देखा था। उन्होंने समझा कि मेरी पुत्रवधु पूर्वकृत प्रेम-भंग के कारण अपमान से रुष्ट होकर जा रही है और मेरा पुत्र उसको मनाने के लिये उसके पीछे जा रहा है। हमारे थोड़ी दूर निकल जाने के बाद मेरी माता भी छिपती हुई हम दोनों को ढूंढते हुए उस खण्डहर तक पहुँच गई। वहाँ पहुँचकर जैसे ही उसने नरसुन्दरी को फांसी के फन्दे पर लटकते देखा, वह घबरा गई। उसने सोचा—'हाय मैं मर गई! हाय गजब हो गया! मेरे अभिमानी पुत्र ने इसकी यह स्थिति बनाई है, अन्यथा वह आत्मघात करे और यह चुपचाप खड़ा-खड़ा देखता रहे ऐसा कैसे हो सकता है।' मेरी माता जिस समय यह विचार कर रही थी उस समय मेरे हृदय पर शैलराज का लेप चढा होने से मुझे ऐसा लगा कि मेरी माता इस अधम स्त्री से जो किसी के स्नेह या प्रेम की पात्र नहीं है, अवांछनीय वस्तु पर प्रेम कर रही है। ऐसी विचारधारा से मैंने अपनी माता की अवहेलना करते हुए तिरस्कृत दृष्टि से देखा। अत्यधिक शोक के भार से अन्धी बनी मेरी माता ने भी उसी खण्डहर में उसी प्रकार अपनी साड़ी का फन्दा लगाकर अपनी आत्महत्या कर ली और मैं खड़ -खड़ा देखता ही रह गया।

पत्नी और माता की आत्महत्या को देखकर मैं सहसा काँप गया। संताप से मेरे हृदय पर लगा हुआ स्तब्धचित्त नामक लेप थोड़ा सा सूख जाने से मेरे मन में पश्चात्ताप होने लगा। मेरे मन का शोक भी बढ़ गया। स्वाभाविक रूप से माता के प्रति और मोह से पत्नी के प्रति मेरा जो प्रेम होना चाहिये, उसने मेरे मन पर ऐसा प्रभाव जमाया कि अन्त में मैं विह्वल होकर अतिदारुण प्रलाप करने लगा, अर्थात् जोर-जोर से चिल्लाने लगा। मेरा यह प्रलाप-क्रन्दन क्षण मात्र के लिये ही था। शीघ्र ही शैलराज ने प्रौढता के साथ अपनी शक्ति का अद्भुत चमत्कार मुझ पर डालना प्रारम्भ किया और मेरे मन पर उसका पूरा प्रभाव पड़ने पर मैं सोचने लगा कि, 'अरे! स्त्री की मृत्यु पर कभी कोई पुरुष रोता है!' इन विचारों के आते ही मैं फिर चुप हो गया।

रिपुदारण का तिरस्कार : निष्कासन

इधर मेरे पिताजी के राजभवन में सेविका कन्दलिका ने विचार किया कि 'रानी जी को गये इतनी देर हो गई, वे अभी तक वापस क्यों नहीं आई? मुझे बाहर जाकर उन्हें ढूँढना चाहिये।' यह सोचकर वह राजमन्दिर से बाहर निकली और ढूँढती-ढूँढती आखिर वह भी उस खण्डहर के पास आ पहुँची। वहाँ आकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसने नरसुन्दरी और विमलमालती को फाँसी के फन्दों से लटकते देखा तो एकदम घबरा गई। उसने तीव्रतर आवाज में रोना कर दिया। उसका प्रबल क्रन्दन सुनकर बड़ी संख्या में नागरिक और मेरे पिताजी वहाँ आ पहुँचे जिससे बड़ा कुहराम मच गया। सभी कन्दलिका से पूछने लगे कि—'यह क्या हुआ ? कैसे हुआ ?' उत्तर में जितना कन्दलिका जानती थी उतना उसने कह सुनाया। उस वक्त तक चन्द्रमा का प्रकाश भी कुछ अधिक बढ़ जाने से उजाला अधिक हो गया था और उस प्रकाश में लोगों ने मेरी माता और पत्नी को वहाँ फांसी पर लटकते देखा। उस समय स्वकृत कर्मों के त्रास से मेरे चलने की शक्ति नष्ट हो गई थी और मुँह में बोलने की शक्ति भी नहीं रह गई थी। ऐसी दशा में उस खण्डहर के एक कोने में छिपकर मैं खड़ा था। जन-समूह ने मुझे उस स्थिति में देख लिया और उन्हें विश्वास हो गया कि इस अनर्थ का कारण मैं ही हूँ। फिर तो लोगों ने मुझे खूब धिक्कारा, खूब फटकारा, खूब गालियाँ सुनाईं और मेरा स्पष्टतया खुलकर अपमान किया। तत्पश्चात् मेरे पिताजी ने शोकमग्न होकर मेरी माता और पत्नी का अग्नि-संस्कार आदि सभी मृत्यूपरांत के कार्य पूरे किये।

मेरा उपरोक्त कुत्सित एवं दारुण व्यवहार देखकर मेरे पिता को गहरा आघात लगा और वे शोकाक्रान्त होकर विचार करने लगे कि—'अहो ! यह कुलांगार पुत्र तो अनर्थ का भण्डार है। यह कुल का दूषण है, यह सबसे जघन्यतम और पापियों का सरदार है। यह समस्त दुःखों का मूल है और लोगों के सामान्य मार्ग का भी उलंघन करने वाला है। यह रिपुदारण तो सचमुच मेरे शत्रु जैसा ही है। ऐसे अत्यन्त अधम दुरात्मा पुत्र से मुझे क्या लाभ ? ऐसे पुत्र को घर में रखने से क्या फायदा ?' ऐसे विचारों से पिताजी ने मुझे घर से निकालने का निश्चय कर लिया। [१–४]

पश्चात् मेरा अत्यन्त तिरस्कार कर पिताजी ने मुझे राजभवन से बाहर निकाल दिया। इस प्रकार समृद्धि-भ्रष्ट होकर मैं अनेक प्रकार के दुःख उठाते हुए नगर में यहाँ-वहाँ भटकने लगा। मेरे दुष्ट व्यवहार के कारण मैं जहाँ भी जाता वहाँ छोटे-छोटे बालक भी मेरा अपमान करते। लोग मेरे मुँह पर मेरी निन्दा करने लगे। वे मुझे साफ-साफ शब्दों में सुनाने लगे—'अरे ! यह रिपुदारण महान् पापी है, अत्यन्त दुष्ट आचरण वाला है, इसका मुँह भी देखने के योग्य नहीं है, यह अत्यन्त मूर्ख है, महाप्रतापी कुल में कांटे जैसा उग आया है और यह समस्त प्रकार से विष के ढेर जैसा है। इस दुष्ट ने अभिमान के वश में होकर अपने अत्यन्त पूज्य गुरुदेव कलाचार्य का भी अपमान किया था, स्वयं शंखचक्र-चूडामणि ढपोर-शंख जैसा मूर्ख होकर भी अपने आप को महापण्डित बताता है। अभिमान ही के वश होकर इसने माता और पत्नी का खन किया। ऐसे अत्यन्त अधम पापी अभिमानी रिपुदारण का मुँह कौन

---

* पृष्ठ ३२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखे ? हम तो पहिले ही कहते थे कि ऐसे अधम पापी दुरात्मा के योग्य कलाकौशल की भण्डार सर्वांगसुन्दरी नरसुन्दरी नहीं है। इस पापी से उस सुन्दरी का छुटकारा हुआ यह तो अच्छा ही हुआ, किन्तु वह कमलनयनी स्त्री अकाल ही मृत्यु को प्राप्त हुई यह ठीक नहीं हुआ।' [५-११]

हे विमललोचना अगृहीतसंकेता ! लोग इस प्रकार मुझे धिक्कार रहे थे तथापि महामोह के कारण मेरा ज्ञान पूर्णतया विलुप्त हो जाने से मैं तो उस समय भी मेरे मन में ऐसा ही सोच रहा था कि दुर्जन लोग मेरे विरुद्ध चाहे जैसी बातें करते रहें। मेरे पिता ने मेरा त्याग किया तो भी क्या हुआ ? अभी तक मेरी भलाई चाहने वाले और विपत्ति में मेरी सहायता करने वाले मृषावाद और शैलराज तो मेरे साथ ही हैं। वे मेरे सच्चे मित्र हैं। पूर्व में भी मैंने इनकी ही कृपा से फल प्राप्त किया है और भविष्य में भी समय आने पर इनकी संगति से अवश्य ही सुन्दर फल प्राप्त करूंगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। [१२-१४]

प्रतिक्षण और प्रति-समय लोगों की निन्दा सुनते, तिरस्कृत होते और तुच्छता प्राप्त करते हुए दुःख समुद्र के मध्य में मैंने कई वर्ष उस नगर में व्यतीत किये। हे भद्रे ! मेरा पुण्योदय नामक तीसरा मित्र मेरे जघन्य व्यवहार से बहुत ही कुपित हुआ और दुःख-ग्रस्त होकर अत्यन्त क्षीणकाय हो गया। यद्यपि उस बेचारे को कभी-कभी मेरे प्रति कुछ स्नेह होता था तथापि मेरे दुष्ट व्यवहार से उसकी दुर्बलता बढ़ती ही जाती थी और वह इतना अशक्त हो गया था कि मेरी किंचित् भी सहायता नहीं कर सकता था। [१५-१६]

❀

६. विचक्षण और जड़

ललितोद्यान में विचक्षणाचार्य

अन्यदा मेरे पिताजी अपने राज्य परिवार के साथ अश्वक्रीडा करने हेतु नगर के बाहर गये। कौतूहल से नगरवासी भी राजा की अश्वक्रीडा देखने के लिये वहाँ गये। नगरवासियों के साथ मैं (रिपुदारण) भी अश्वक्रीडा देखने नगर के बाहर गया। वहाँ विशाल मैदान में राजलोक के समक्ष मेरे पिताजी ने वाह्लीक, कम्बोज, तुर्किस्तान आदि देशों के अनेक अश्वों पर बैठकर अपनी कला का प्रदर्शन किया। अश्वक्रीडा समाप्त होने पर वे जन-समुदाय के साथ विश्राम के लिये पास ही के अत्यधिक शीतल ललित नामक उद्यान में गये। १७-२०]

वह ललित उद्यान अनेक प्रकार के अशोक, नागरबेल, जायफल, ताड़, हिन्ताल आदि के बड़े-बड़े वृक्षों से सुशोभित था। उसमें प्रियंगु, चम्पा, अंकोल और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केले आदि के अनेक सुन्दर मण्डप बने हुए थे। केवड़े की मनमोहक सुगन्ध से प्रमुदित होकर भंवरों के झुण्ड उद्यान को गुंजारित कर रहे थे। संक्षेप में, वनराजि के समस्त गुणों से यह उद्यान शोभायमान था और स्वर्ग के नन्दन वन के समान दृष्टिगोचर हो रहा था। [२१-२२] ❀

ऐसे मनोरम उद्यान में नरवाहन राजा (मेरे पिताजी) ने एक स्थान पर विश्राम किया। उसके पश्चात् उद्यान की सुन्दरता से उनका चित्त अत्यधिक प्रमुदित हुआ और वे अपने सामन्तों के साथ घूमते हुए स्वकीय नील कमल जैसे सुन्दर और चपल नेत्रों से अपलक होकर उद्यान की शोभा देखने लगे। शोभा का निरीक्षण करते हुए राजा ने एक रक्त अशोक वृक्ष के नीचे साधुजनोचित स्थान पर विराजमान, श्रेष्ठ साधु समूह से परिवृत विचक्षण नामक आचार्य को धर्मोपदेश देते हुए देखा। उस समय वे आचार्य शोभन कान्ति से पूर्ण नक्षत्र एवं ग्रह-गणों से घिरे हुए, दिशाओं को प्रकाशित करते हुए साक्षात् चन्द्रमा के समान प्रकाशमान हो रहे थे। उनके सुन्दर शरीर के चारों ओर अशोक वृक्षों का समूह सुशोभित था। यथेष्ट फलदाता होने से वे आचार्यश्री साक्षात् जंगम कल्पवृक्ष जैसे लगते थे। वे कुलशैल पर्वत पर देवताओं के निवास स्थान जैसे शुद्ध स्वर्ण के वर्ण वाले दिखाई देते थे। वे चलते-फिरते सुखदायक मेरु पर्वत के समान प्रतीत होते थे। कुवादी रूप मदोन्मत्त हाथियों के मद को नाश कर दें ऐसे दिखाई देते थे। श्रेष्ठ हाथियों के झुण्ड के समान वे सुसाधुओं के समूह से परिवृत्त थे। गन्धहस्ति के समान होते हुए भी वे निर्मद थे अर्थात् मान-रहित थे। जैसे किसी भाग्यशाली को भाग्योदय से रत्नपूरित निधान प्राप्त हो जाय वैसे ही निर्मल मानस वाले इन आचार्यदेव को देखकर राजा नरवाहन को अवर्णनीय आनन्द प्राप्त हुआ। [२३-३१]

नरवाहन राजा की जिज्ञासा

विचक्षण आचार्य को देखते ही राजा नरवाहन के मन में यह दृढ़ प्रतीति हुई कि जैसे ये नररत्न तपोधन महात्मा हैं वैसे त्रैलोक्य में भी नहीं हैं। देवताओं की कान्ति को भी पराजित करने वाली इन महात्मा की आकृति को देखने मात्र से ही द्रष्टा को विश्वास हो जाता है कि ये महात्मा समस्त गुणों से परिपूर्ण हैं। अहा! इन महात्मा ने पूर्ण युवावस्था में ही कामदेव को खण्डित (पराजित) कर दिया है। इस तरुणावस्था में किस कारण से इन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ होगा? पुनः राजा ने सोचा कि 'ऐसे महर्षि के चरण-कमलों में प्रणाम कर अपनी आत्मा को पवित्र करूं और इनसे पूर्ण युवावस्था में भवनिर्वेद (वैराग्य) का कारण पूछूं।' ऐसा चिन्तन कर राजा सूरिमहाराज के समीप गये और उनके पवित्र चरणों में मस्तक झुका कर वन्दना की। आचार्यश्री ने राजा को आशीर्वाद दिया तब वे प्रसन्न चित्त होकर उनके समक्ष शुद्ध जमीन पर बैठे। राजा का अनुसरण कर अन्य राजपुरुषों और नगरवासियों

❀ पृष्ठ ३२३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने भी आचार्य को नमस्कार किया और उनके समक्ष यथास्थान जमीन पर बैठ गये। हे भद्रे अगृहीतसंकेता ! उस समय मेरे पापी मित्र शैलराज का मुझ पर प्रभाव होने से मैंने न तो ऐसे धुरन्धर आचार्य को नमस्कार ही किया न उनके चरण ही छूए। पत्थर से भरे बोरे के समान तनिक भी झुके बिना मैं सीधा तनकर मात्र श्रोताओं की संख्या बढ़ाने के लिये जमीन पर बैठ गया। [३८-३९]

विचक्षणाचार्य की धर्मदेशना

आचार्य विचक्षण ने जल से भरे हुए मेघ के समान गम्भीर स्वर में अपना उपदेश प्रारम्भ किया—

आचार्यश्री ने कहा—हे भद्रजनों ! एक विशाल महल में लगी हुई आग से घिरे हुए मनुष्यों की जैसी भयंकर स्थिति होती है, ऐसी ही स्थिति इस संसार की है। यह संसार शारीरिक और मानसिक अनेक प्रकार के दुःखों का घर है। बुद्धिमान मनुष्यों को यहाँ क्षणमात्र के लिये भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। मनुष्य भव मिलना अति दुर्लभ है,* अतएव प्राणी को मुख्य रूप से परलोक का साधन करना चाहिये। इस संसार में जिन विषय-वासनाओं का सेवन किया जाता है, यद्यपि वे सेवन करते समय बड़ी मधुर लगती हैं किन्तु उनका परिणाम बहुत ही विषादकारी होता है। मन को अच्छे लगने वाले जो संयोग हमें मिलते हैं, उन सभी का अन्त वियोग में ही होता है। आयु कब समाप्त होगी यह जाना नहीं जा सकता, इसलिये मृत्यु का भय सदा बना रहता है। इसलिये इस अग्निमय संसार को शीतल (पार) करने के लिये उसके योग्य व्यवस्थित योजना बनाकर अथक प्रयत्न करना आवश्यक है। इसके लिये सिद्धान्त (तत्त्वज्ञान) वासित धर्मरूपी मेघ की वृष्टि एक मुख्य साधन है। अतः सिद्धान्त-वासित तत्त्वज्ञान को सर्वप्रथम स्वीकार करना चाहिये और उसमें जो-जो उपदेश दिया गया हो उस पर आचरण करना चाहिये। शरीर को मुण्डमाला (कच्चे घड़ों) की उपमा दी गई है अतः यह सार रहित (नाशवान) है, ऐसी भावना निरन्तर रखनी चाहिये। जो वस्तु असत् अर्थात् अस्तित्वहीन है उसे प्राप्त करने की किसी भी प्रकार की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये। सिद्धान्त में जिन बातों की आज्ञा दी गई है उनका विशेष रूप से अनुष्ठान करने के लिये सदा तन्मयता, एकाग्रता एवं निष्ठा पूर्वक तत्पर रहना चाहिये और सुसाधुओं की सेवा से उसे सदा पुष्ट करना चाहिये। धर्म-शासन और प्रवचन किसी प्रकार मलिन न होने पाए इसका सर्वदा ध्यान रखना चाहिये। जो प्राणी शास्त्रोक्त विधि के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं वे उपरोक्त सभी साधनों को प्राप्त करते हैं, इसलिये सभी अनुष्ठानों में शास्त्रोक्त विधि के अनुसार ही प्रवृत्ति करनी चाहिये। सूत्रों में वर्णित आत्मा के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से समझ कर, प्रवृत्ति करते समय आस-पास के निमित्तों (प्रसंगों) को पूर्णतया पहचान कर उनके अनुकूल प्रवृत्ति करनी चाहिये। जो-जो

* पृष्ठ ३२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग प्राप्त न हुए हों उन्हें प्राप्त करने का विशेष प्रयत्न करना चाहिये। प्रमाद पर विशेष रूप से अंकुश रखना चाहिये। प्रमाद के उत्पन्न होने के पहले ही उसके प्रतिरोध (रोकने) की योजना बना लेनी चाहिये। जो प्राणी इस प्रकार का व्यवहार करते हैं उनके सोपक्रम कर्म (प्रयत्न द्वारा तप आदि से जिनका क्षय सम्भव हो) नष्ट होते हैं और निरुपक्रम कर्म (निकाचित कर्म जिन्हें भोगना पड़ता है) का नया बन्धन रुक जाता है। आप लोगों को भी इस प्रकार का प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि आपकी भविष्य की प्रगति के लिये यह अत्यावश्यक है।

देशना का प्रभाव : नरवाहन के प्रश्न

आचार्य विचक्षण का ऐसा सुन्दर एवं मार्मिक उपदेश सुनकर सभा में कुछ भव्य जीवों को चारित्र ग्रहण करने की इच्छा हुई, कुछ को श्रावक के व्रत ग्रहण करने की इच्छा हुई, कुछ जीवों के मिथ्यात्व का नाश हुआ, कुछ जीवों के राग-द्वेष आदि विकार दुर्बल हुए और कइयों को भद्रिक भाव (सरल स्वभाव) प्राप्त हुआ। आचार्यश्री का उपदेश सुनकर सभी ने उनके चरण छुए और कहने लगे कि, 'हे स्वामिन्! आपकी जैसी आज्ञा हो हम वैसा ही अनुष्ठान करने की इच्छा रखते हैं।' उसी समय राजा नरवाहन ने सोचा कि इन्होंने तरुणावस्था में संसार-त्याग क्यों किया और दीक्षा क्यों ली? इस शंका का निवारण करने के लिये उन्होंने आचार्यश्री को हाथ जोड़ मस्तक झुका कर पूछा—भगवन्! आपका सुन्दर रूप मनुष्यों में असाधारण है, आपकी आकृति से ही लगता है कि आप महान् ऐश्वर्य सम्पन्न हैं, तथापि आपने इस भरी जवानी में वैराग्य धारण किया इसका क्या कारण है? क्या आप यह बताने की कृपा करेंगे? [१]

आचार्य ने कहा—राजन्! आपको यह कौतूहल है कि मुझे संसार से वैराग्य क्यों हुआ? मैं आपकी जिज्ञासा का समाधान करता हूँ, किन्तु — [२]

आत्मस्तुतिः परनिन्दा, पूर्वक्रीडितकीर्तनम्।
विरुद्धमेतद्राजेन्द्र! साधूनां त्रयमप्यलम्॥

हे राजेन्द्र! साधुओं को तीन बातों के वर्णन का विशेष रूप से निषेध किया गया है (१) आत्मस्तुति, (२) परनिन्दा, और (३) पूर्वकाल में की हुई आनन्द-क्रीडा का वर्णन। यह तीनों बातें साधु के आचरण के विरुद्ध हैं और मुझे अपनी आत्मकथा कहने में इन तीनों का वर्णन करना पड़ेगा, इसलिये मुझे अपने चरित्र पर प्रकाश डालना उचित नहीं लगता। [३-४]

नरवाहन—भगवन्! ऐसा कहकर तो आपने मेरे मन में आपकी आत्मकथा के प्रति अधिक जिज्ञासा उत्पन्न कर दी है, अतः अब तो आप मुझ पर कृपा कर अपना चरित्र अवश्य ही बतावें। [५]

राजा के आग्रह को देखकर और यह समझ कर कि मेरे वैराग्य-कारण को सुनकर राजा और अन्य लोगों को भी ज्ञान तथा वैराग्य प्राप्त होगा। फलतः आचार्य ने मध्यस्थ वृत्ति से अपना चरित्र कहना प्रारम्भ किया। [६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचक्षणाचार्य-चरित्र

रसना-प्रबन्ध

[हे अगृहीतसंकेता ! विचक्षणाचार्य ने अपना चरित्र मेरे पिता राजा नरवाहन के समक्ष इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया कि जिसे मैं भी सुन सकूं ।] ❀

इस लोक में अनेक प्रकार के वृत्तान्तों (घटनाओं) से परिपूर्ण, आदि-अंत-रहित, अत्यन्त मनोहर एवं दर्शनीय भूतल नामक नगर है। इस नगर पर मलसंचय नामक राजा राज्य करता है। इस राजा की त्रैलोक्य में प्रसिद्धि है, देवताओं का भी नायक है, अतिशय प्रताप का धारक है और इसकी आज्ञा सर्वदा अनुल्लंघनीय होती है। इस राजा के भुवन-विश्रुत तत्पक्ति नामक रानी है जो अच्छे बुरे सभी कार्यों पर सर्वदा दृष्टि रखती है। इन राजा-रानी के अपने श्रेष्ठ व्यवहार से जगत् को आह्लादित करने वाला एक शुभोदय नामक पुत्र है तथा दूसरा पुत्र सभी लोगों को संताप देने वाला जगत्प्रसिद्ध अशुभोदय है। [७–११]

शुभोदय कुमार पर अत्यन्त प्रेम रखने वाली, पतिव्रता, अत्यन्त रूपवती, लोकप्रिय, सौन्दर्यमूर्ति और कमललोचना निजचारुता नामक पत्नी है। अशुभोदय कुमार के समस्त प्राणियों को सन्ताप देने वाली अत्यन्त भयंकर स्व-योग्यता नामक स्त्री है। [१२–१३]

निजचारुता और शुभोदय को समय के परिपक्व होने पर विचक्षण नामक पुत्र की प्राप्ति होती है तथा स्वयोग्यता और अशुभोदय को जड़ नामक अधम पुत्र की प्राप्ति होती है। [१४–१५]

विचक्षण

इन दोनों कुमारों में विचक्षण कुमार जैसे-जैसे बड़ा होने लगा वैसे-वैसे उसमें सभी प्रकार के गुणों की भी वृद्धि होने लगी। वह मार्गानुसारी में जो गुण होते हैं उनका ज्ञाता, गुरुओं की निरन्तर भक्ति करने वाला, महाबुद्धिशाली, उत्कृष्ट गुणों के प्रति प्रेमवृत्ति वाला, दक्ष, अपने लक्ष्य (साध्य) को जानने वाला, जितेन्द्रिय, सदाचार परायण, धैर्यवान्, अच्छी वस्तुओं का उपभोक्ता, मित्रता को दृढ़ता के साथ निभाने वाला, सुदेव की मन से पूजा करने वाला, महान् दानेश्वरी, अपने और अन्य के मनोभावों को जानने वाला, सत्यवक्ता, अतिनम्र, प्रेमियों के प्रति वात्सल्य वाला, क्षमाशील, मध्यस्थ वृत्ति से काम करने वाला, प्राणियों की इच्छा पूर्ण करने में कल्पवृक्ष के समान, धर्म पर दृढ विश्वास रखने वाला, पवित्रात्मा, आपत्ति में भी अखिन्न रहने वाला, स्थानों के मूल्य और भेद को जानने वाला, दुराग्रह रहित, समस्त शास्त्रों के तत्त्वों का जानकार, वाणीकुशल, नीति-निपुण, शत्रुओं को त्रास देने वाला, स्वगुणों के मद से रहित, परनिन्दा से मुक्त, सम्पदा-लाभ में भी हर्षित नहीं होने वाला और मानो उसका जन्म ही दूसरों के उपकार के लिये

❀ पृष्ठ ३२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ हो ऐसा सच्चा परोपकारी था। इस विचक्षण कुमार का अधिक वर्णन क्या करूं ? संक्षेप में कहूँ तो मनुष्य के जिन समस्त सद्गुणों का वर्णन अनेक स्थलों पर किया जाता है, वे सभी सद्गुण इस विचक्षण कुमार में विद्यमान थे। [१६-२३]

जड़

अशुभोदय का पुत्र जड़ कुमार भी बड़ा होकर कैसा हुआ, यह भी सुनिये। वह विपरीत मन वाला, सत्य-पवित्रता और संतोष से रहित, मायावी, चुगली खाने वाला, नपुंसक जैसा, साधुओं की निन्दा करने वाला, झूठी प्रतिज्ञा करने वाला, पापात्मा-गुरु और देव की कदर्थना करने वाला, असत्यवादी लोभान्ध, दूसरों के चित्त को भेदन करने (दुखाने) वाला, मन में कुछ और कार्य में कुछ, अर्थात् मन वचन और कार्य में असमानता वाला, अन्य की सम्पत्ति से जलने वाला, अन्य की विपत्ति में आनन्द मनाने वाला, अभिमान से फूलकर कुप्पा बना हुआ, निरन्तर क्रोध में भड़भड़ाने वाला, दांत किटकिटाकर बोलने वाला, सर्वदा अपनी बड़ाई करने वाला और राग-द्वेष के वश में रहने वाला था। अर्थात् वह समस्त दुर्गुणों का पिटारा था। संक्षेप में कहूँ तो अधम से अधमतम दुर्जन में जिन-जिन दोषों की कल्पना की जा सकती है वे सभी दोष इस जड़ कुमार में विद्यमान थे। [२४-२९]

इन विचक्षण कुमार और जड कुमार का अपने-अपने महलों में सुख पूर्वक पालन-पोषण होता रहा और क्रमशः वृद्धि प्राप्त करते-करते ये दोनों युवावस्था को प्राप्त हुए। [३०]

विचक्षण का बुद्धि के साथ लग्न

विश्व प्रसिद्ध गुण-रत्नों का उत्पत्ति स्थान निर्मलचित्त नामक एक सर्वोत्तम नगर है। इस अन्तरंग नगर में मलक्षय नामक राजा राज्य करते हैं। ये राजा अनेक सद्गुण रूपी रत्नों को जन्म देने और उन रत्नों का पालन (वृद्धि) करने वाले हैं। इनके सर्वांगसुन्दरी सद्गुण रूपी रत्नों की वृद्धि करने वाली अत्यन्त मनभावनी सुन्दरता नामक पटरानी है। समय के परिपक्व होने पर इनको कमलपत्र के समान नेत्रों वाली, गुणों की भण्डार, रूपवती और कुल के यश को बढ़ाने वाली बुद्धि नामक पुत्री उत्पन्न हुई। युवावस्था प्राप्त होने पर राजा-रानी ने अपनी पुत्री बुद्धि को स्वयंवर के लिये उसके अनुरूप रूप और गुण वाले विचक्षण कुमार के पास भेजा। बुद्धि ने भी कुमार का भलीभाँति परीक्षण कर स्वेच्छा से उसका वरण किया। विचक्षण कुमार ने हर्षपूर्वक और आडम्बर महोत्सव के साथ सुशोभना बुद्धि के साथ पाणिग्रहण किया। उस सद्गुणशील पत्नी पर कुमार का अतिशय हार्दिक प्रेम था। [३१-३६]

विमर्श-प्रकर्ष

विचक्षण कुमार अपनी पत्नी बुद्धि के साथ शुभकर्मों के कारण अनेक

❀ पृष्ठ ३२६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार के मन को तुष्टि देने वाले सुखों को (मानसिक सुख) भोगता हुआ आनन्दपूर्वक अपना समय व्यतीत कर रहा था। अन्यदा मलक्षय राजा ने अपने पुत्र विमर्श को उसकी बहिन बुद्धि के कुशल समाचार प्राप्त करने के लिये उसके पास भेजा। विमर्श कुमार को अपनी बहिन बुद्धि पर प्रगाढ स्नेह था, अतः वह उसके पास आकर वहीं आनन्दपूर्वक रहने लगा। बुद्धि को भी अपने भाई विमर्श पर अत्यन्त स्नेह था और उसका पति विचक्षण भी उसका बहुत सन्मान करता था तथा पति-पत्नी में परस्पर अत्यन्त प्रेम था, इसलिये विमर्श के आने से उन्हें अतिशय प्रसन्नता हुई। ऐसी प्रेम और स्नेहशील परिस्थितियों में बुद्धि ने गर्भ धारण किया। समय परिपक्व और गर्भ काल पूर्ण होने पर उसने एक अत्यन्त दीप्तिमान सर्वांगसुन्दर बालक को जन्म दिया। इस बालक का नाम प्रकर्ष रखा गया। दिनों दिन बुद्धिनन्दन प्रकर्ष कुमार बढ़ने लगा। साथ ही साथ उसके गुणों में भी वृद्धि होती गई और वह अपने पिता विचक्षण जैसा गुणवान बन गया। वह अपने मामा विमर्श का भी बहुत लाड़ला था। [३६-४२]

❀

७. रसना और लोलता

एक दिन विचक्षण कुमार और जड़ कुमार अपने मनोहर वदनकोटर (मुख) नामक उद्यान में घूमने गये। वहाँ अपनी इच्छानुसार खाते-पीते प्रसन्नता में झूमते वे दोनों कुछ समय तक वहाँ रहे। इस वदनकोटर उद्यान में मोगरे जैसे सफेद आड़े-टेढ़े, चिरे हुए वृक्षों की दो मनोहर पंक्तियाँ (दन्त-पंक्तियाँ) उन्होंने देखी।❀ वे कौतुक से इन सफेद वृक्ष (दन्त) पंक्तियों के भीतर गये तो वहाँ उन्हें एक बहुत बड़ा बिल (गुफा) दिखाई दिया। वह इतना अधिक गहरा था कि उसका कहीं अंत ही दिखाई नहीं देता था। ऐसे अद्भुत बिल का वे दोनों कुमार आश्चर्यचकित होकर आँखे फाड़कर बहुत समय तक निरीक्षण करते रहे। उस समय उनके देखते-देखते एक रक्तवर्ण वाली मनोहर और सुन्दरांगी ललना अपनी दासी के साथ बाहर निकली। [४३-४८]

रमणी का कुमारों पर प्रभाव

अचानक ऐसी सुन्दर स्त्री को बाहर निकलते देखकर विपरीत बुद्धिवाला जड़ कुमार हर्षित हुआ और सोचने लगा कि, अहो! यह तो कोई अपूर्व स्त्री है। ऐसी लावण्यवती तरुणी तो मैंने कभी देखी ही नहीं। अहा! कैसी इसकी सुन्दरता! कैसी रमणीय अनुकृति! कैसा मनोहर रूप! कैसे सुन्दर आकर्षक गुण! कहीं यह

❀ पृष्ठ ३२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई स्वर्ग से भ्रष्ट होकर मृत्युलोक में आई हुई देवांगना तो नहीं है ? अथवा पाताल से निष्कासित नागकन्या तो यहाँ नहीं आई है ? नहीं-नहीं, मेरे विचार समीचीन नहीं है; क्योंकि स्वर्गलोक या पाताललोक में ऐसी सुन्दर स्त्री कैसे हो सकती है ? और मृत्युलोक में तो ऐसी स्त्री की बात करना ही व्यर्थ है। मुझे तो ऐसा लगता है कि विधि (ब्रह्मा) ने मुझ पर सन्तुष्ट होकर मेरे लिये ही विशेष प्रयत्न पूर्वक विश्व के श्रेष्ठ से श्रेष्ठ परमाणुओं को ग्रहण कर इस स्त्री का निर्माण किया है। इस स्त्री के साथ कोई पुरुष भी नहीं है और यह स्त्री चपल दृष्टि से मेरी तरफ बार-बार देख रही है, इससे लगता है कि अवश्य ही मेरे लिये ही विधि ने इसका निर्माण कर उसे इस उद्यान में भेजा है। अतः अब मुझे इस कन्या के निकट जाकर इसके नाम आदि एवं चित्त का परीक्षण कर इसे अपना लेना चाहिये। मन में अन्य व्यर्थ के विचार करने से क्या लाभ है ? [४६-५५]

विचक्षण कुमार ने भी वदनकोटर की गुफा में से इस ललित मुख वाली ललना को निकलते देखा था। उसे देखकर महात्मा विचक्षण के मन में विचार आया कि यह परस्त्री है, अकेली है, जंगल में है और सुन्दर भी है। ऐसी स्थिति में परकीया के सन्मुख रागपूर्वक देखना और ऐसे एकान्त में उससे बात करना भी उचित नहीं है। [५६-५७] क्योंकि:—

सतः सन्मार्गरक्तानां, व्रतमेतन्महात्मनाम्।
परस्त्रियं पुरो दृष्टवा, यान्त्यधोमुखदृष्टयः ॥

सन्मार्ग पर चलने वाले सज्जन पुरुषों का यह नियम होता है कि जब कभी वे अपने सामने किसी परस्त्री को देखते हैं तब जमीन की ओर मुख तथा नीची दृष्टि रखकर चले जाते हैं। अतः अब इस स्थान से चले जाना ही अच्छा है, इस विषय में अधिक विचार करना व्यर्थ है। ऐसा विचार कर विचक्षण जड़ कुमार का हाथ खींचकर आगे बढ़ने लगा। विचक्षण कुमार कुछ अधिक बलवान था इसलिये जब वह जड़ कुमार का हाथ खींच कर चलने लगा तब जड़ कुमार को मोह के कारण ऐसा दुःख हुआ मानो किसी ने उसका सर्वस्व हरण कर लिया हो। [५८-६०]

दासी का जाल : रसना का परिचय

विचक्षण और जड़ कुमार थोड़ी दूर गये ही थे कि उस सुन्दर स्त्री के साथ जो दासी थी वह दौड़कर उनके पीछे आई [६१] और दूर से ही पुकार-पुकार कर कहने लगी—"बचाओ ! मेरे प्रभु ! बचाओ !! अरे ! मैं मन्द भाग्यवाली मर रही हूँ, कोई तो मुझे बचाओ।"

जड़ कुमार ने पीछे मुड़कर देखा और कहा—सुन्दरी ! डरो मत, तू किससे डर रही है ? मुझे बता।

दासी—आप दोनों मेरी स्वामिनी को ❀ छोड़कर आ गये इसलिये उस

❀ पृष्ठ ३२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बेचारी को मूर्छा आ गई है और वह मरने जा रही है, अतः हे देवों ! कृपा कर आप दोनों उसके निकट आइये। आप उनके पास रहेंगे तो मेरी स्वामिनी का स्वास्थ्य कुछ ठीक हो जायेगा। उनका स्वास्थ्य ठीक होने पर मैं निश्चिन्त होकर आप दोनों को उनका समस्त स्वरूप विस्तार के साथ बतलाऊंगी।

जड़ ने विचक्षण की तरफ देखा और कहा—चलो, हम इसकी स्वामिनी के समीप चलते हैं। उसे स्वस्थ होने दो, फिर यह दासी हमको निश्चिन्त होकर अपनी स्वामिनी के सम्बन्ध में सब बातें बतायेगी, इसमें क्या आपत्ति है ?

विचक्षण कुमार ने अपने मन में सोचा कि यह ठीक नहीं है। यह दासी मुझे तो अत्यन्त चालाक और स्वभाव से ही बहुत चंचल दिखाई देती है इसलिये यह अवश्य ही हमें ठगेगी। अथवा चल कर देखें तो सही, वहाँ जाकर यह क्या कहती है ? मुझे तो यह कभी भी ठग नहीं सकती, इसलिये चल कर देख ही लिया जाय, व्यर्थ में ही शंका करने से क्या लाभ ? ऐसा विचार कर विचक्षण ने जड से कहा—'चलो, ऐसा ही सही।' दोनों कुमार वापस मुड़े और उस स्त्री के पास गये। उन्हें वापस आये देखकर वह थोड़ी स्वस्थ हुई। उसे स्वस्थ होते देखकर उसकी दासी उन दोनों कुमारों के पाँव पड़ी और बोली—'आपकी बड़ी कृपा हुई। आप दोनों ने बहुत ही अनुग्रह किया। आपने मेरी स्वामिनी को जीवित कर मुझे भी जीवनदान दिया।'

जड़—अरे सुन्दरी ! तेरी इस स्वामिनी का नाम क्या है ?

दासी- मेरी स्वामिनी का प्रातः स्मरणीय नाम रसना (जिह्वा) है।

जड़—तुझे किस नाम से पहचानूं ? अर्थात् तेरा नाम क्या है ?

दासी—(लज्जित होकर) लोग मुझे लोलता (लोलुपता) के नाम से जानते हैं। मैं और आप तो चिरकाल से परिचित हैं किन्तु मुझे लगता है कि आप इस बात को भूल गये हैं। सचमुच में मेरा यह दुर्भाग्य है, मैं क्या करूं !

जड़ अरे ! मेरा तुम्हारे साथ चिरकाल से परिचय कैसे है ?

दासी—यही बात तो मैं आपको बताना चाहती हूँ।

जड़ – ठीक है, बताओ।

दीर्घकालीन परिचय

लोलता दासी—यह मेरी स्वामिनी परम योगिनी है। यह भूत और भविष्य के सब भावों को जानती है और समझती है। इसकी मुझ पर बड़ी कृपा है, इसलिये मैं भी इसके समान ही बन गई हूँ। सुनिये, कर्मपरिणाम राजा के राज्य में असंव्यवहार नगर है। आप दोनों उस नगर में बहुत समय तक रहे थे। फिर कर्मपरिणाम राजा की आज्ञा से आप दोनों एकाक्षनिवास नगर तथा बाद में विकलाक्ष निवास नगर में आये। आप दोनों को याद होगा कि विकलाक्ष निवास नगर में तीन मोहल्ले हैं। उसमें प्रथम मोहल्ले में द्विरिन्द्रिय नामक कुलपुत्र रहते हैं। आप लोग जब इन कुलपुत्रों में निवास कर रहे थे तब महाराज की आज्ञा का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्णतया पालन करने से आप पर प्रसन्न होकर आपको यह वदनकोटर नामक उद्यान उपहार में दिया गया था। तब से आप इसके स्वामी हैं। इस उद्यान में स्वाभाविक रूप से यह बड़ी गुफा भी तभी से विद्यमान है। यह तो मेरी उत्पत्ति के पूर्वकाल की बात हुई। इसके पश्चात् विधि (भाग्य) ने विचार किया कि * ये बेचारे दोनों स्त्रीरहित हैं जिससे सुख से नहीं रह पाते हैं, अतः इनका विवाह किसी सुन्दर स्त्री से करवा दूं। उसके पश्चात् करुणा-परायण विधि ने आप दोनों के निमित्त ही इस महाबिल (गुफा) में मेरी स्वामिनी रसना को रचना कर रख दिया और मुझे उसकी दासी बनाया। यही हम दोनों का वृत्तान्त है।

उपरोक्त वृत्तान्त सुनकर जड़ कुमार ने विचार किया कि—अहा! मैंने पहिले जैसा सोचा था वैसी ही बात निकली। इस रसना को विधि ने मेरे लिये ही निर्मित की है। धन्य है मेरे बुद्धिवैभव को!

विचक्षण कुमार ने मन में विचार किया कि यह विधि कौन है? ठीक, समझ में आया; यह तो महाराज कर्मपरिणाम ही होने चाहिये, अन्य किसी में तो इतनी शक्ति हो ही नहीं सकती।

जड़ (दासी से)—हाँ, तो भद्रे! उसके बाद क्या हुआ?

लोलता दासी—कुमार! उसके बाद मेरी स्वामिनी रसना के साथ मैं आप दोनों के साथ नाना प्रकार के अच्छे-अच्छे भोज्य पदार्थ खाती, विविध रसों से भरपूर पेय पदार्थों को पीती और इच्छानुसार चेष्टायें करती रही। अनन्तर विकलाक्ष निवास नगर के तीनों मोहल्लों में और पंचाक्षनिवास के मनुजगति नगर में तथा ऐसे ही अन्य स्थानों में चिरकाल से आपके साथ ही विचरण करती रही हूँ। यह रसना देवी दीर्घकाल से आपके साथ रहती आई हैं, अतः यह आपका विरह एक क्षण के लिये भी सहन नहीं कर सकती हैं। आप पर इसका इतना अधिक स्नेहबन्ध है कि कभी आप इस बेचारी का तनिक भी तिरस्कार कर दें तो इसको तत्काल मूर्छा आ जाती है और मृतप्राय हो जाती है। इसीलिये मैंने कहा कि हमारा आपके साथ चिर काल से जान पहचान है।

जड़ कुमार की रसना-लुब्धता

लोलता की बात सुनकर जड़ कुमार मन में अतिशय तुष्ट हुआ, मानो उसके समस्त मनोरथ परिपूर्ण हो गये हों। पुनः उसने लोलता दासी से कहा—सुन्दरी! यदि तू जैसा कह रही है वह ठीक है तो तेरी स्वामिनी मेरे नगर में प्रवेश करें और मेरे भव्य राजमहल में निवास कर उसे पवित्र करें जिससे मैं तुम्हारी स्वामिनी के साथ में बहुत समय तक सुखपूर्वक रह सकूँ।

लोलता--नहीं, देव! आप ऐसी आज्ञा न दें। मेरी स्वामिनी इस वदनकोटर उद्यान से बाहर कभी भी नहीं निकली हैं। आपने पहिले भी यहीं रहकर

---

* पृष्ठ ३२६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इनका लालन-पालन एवं इसके साथ लीला की है। अतः अब भी आपको यहीं रह कर मेरी रसना स्वामिनी का लालन-पालन करना चाहिये।

जड़ – तू जैसा कहेगी वैसा ही करूंगा। इस विषय में तेरा वचन सर्वथा प्रमाण है। अतः तेरी स्वामिनी को जो बात प्रियकारी हो वह मुझे बतला, जिससे कि मैं उसकी पूर्ति कर सकूं।

लोलता - आपकी बड़ी कृपा। इसमें अब मेरे कहने योग्य क्या शेष रहता है? आप दोनों मेरी स्वामिनी का अच्छी प्रकार पालन-पोषण कर उसे प्रसन्न करें और निरन्तर अमृतमय सुख का अनुभव करें।

इस प्रकार का निर्णय करने के बाद जड़ कुमार अपने वदनकोटर (मुख) में रहने वाली रसना देवी का मोह से प्रयत्न पूर्वक लालन-पालन करने लगा। उसे बार-बार दूध पाक, गन्ना, शक्कर, दही, घी, गुड आदि और उसके बने खाद्य पदार्थ, स्वादिष्ट मिठाइयाँ आदि खिलाने लगा और द्राक्षा आदि के सुन्दर पेय पदार्थ पिलाने लगा। उसकी इच्छानुसार प्रतिदिन विचित्र प्रकार के मद्य, मांस, मधु आदि और विश्व में प्रसिद्ध रसों से भरपूर अन्य खाने-पीने के पदार्थ खिला-पिला कर उसे आनन्द देने लगा। ❀ इस प्रकार जड़ द्वारा रसना का लालन करते हुए कभी कोई न्यूनता दृष्टिगोचर होती तो लोलता दासी उसे प्रेरित करती और कहती – 'मेरी स्वामिनी और आपकी प्यारी स्त्री प्रतिदिन आपको जैसा कहे उसी के अनुसार उसे मांस खिलावें, शराब पिलावें, मिठाइयाँ खिलावें, सुन्दर स्वादिष्ट सब्जियाँ फल आदि खिलावें; क्योंकि मेरी स्वामिनी को ऐसी वस्तुएं बहुत अच्छी लगती हैं।' इस प्रकार लोलता जैसा कहती, उन सब को जड़ कुमार सर्वदा कार्यरूप में परिणित करने लगा। वह समझने लगा कि यह जब कभी किसी भी वस्तु की मांग करती है तो मुझ पर अनुग्रह करती है। [१-६]

रसना देवी पर आसक्त होने से जड़ कुमार प्रतिदिन विविध क्लेशों में निमग्न होने पर भी मोह के कारण यही मानता था कि, अहा! मैं कितना भाग्यशाली हूँ, पुण्यशाली हूँ, कृतकृत्य हूँ कि पुण्योदय से मुझे ऐसी शुभकारी पत्नी प्राप्त हुई है, जिससे मैं सुखरूपी समुद्र में डुबकी लगा रहा हूँ। अभी जैसा मैं सुखी हूँ वैसा तीन भुवन में भी अन्य कोई नहीं है; क्योंकि ऐसी सुन्दर स्त्री के बिना संसार में सुख हो ही कैसे सकता है? [७-९

यतोऽलीकसुखास्वादपरिमोहितचेतनः।
तदर्थं नास्ति तत्कर्म, यदर्थं नानुचेष्टते॥ [१०]

झूठे सुख की प्राप्ति के लिये झूठे सुख के स्वाद में लुब्ध हुए और मोह में आसक्त चित्त वाले प्राणी के लिये ऐसा कोई भी कर्म नहीं होता जिसे वह नहीं करता हो। अर्थात् ऐसा प्राणी समस्त प्रकार के दुष्कर्म कर सकता है।

❀ पृष्ठ ३३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार जड़ कुमार को रसना के लालन-पालन में सर्वदा उद्यत (प्रयत्नशील) देख कर लोग उसकी हँसी उड़ाने लगे कि यह जड़ कुमार तो सचमुच जड़ ही है अर्थात् बुद्धिशून्य है।

यतो धर्मार्थमोक्षेभ्यो, विमुखः पशुसन्निभः।
रसनालालनोद्युक्तो न चेतयति किञ्चन ।। [१२]

रसना इन्द्रिय में आसक्त प्राणी उसके लालन-पालन में इतना पशुतुल्य हो जाता है कि वह धर्म, अर्थ और मोक्ष इन तीनों पुरुषार्थों का त्याग कर देता है और अन्य किसी भी विषय में कुछ भी नहीं सोचता, अतः वह सचमुच जड़ ही समझा जाता है।

इस प्रकार लोग जड़ कुमार की अनेक प्रकार से हँसी उड़ाते और निन्दा करते, परन्तु वह तो किसी की भी चिन्ता किये बिना रसना में अधिकाधिक गृद्ध होता गया। पीछे मुड़कर उसने देखने का तनिक भी प्रयत्न नहीं किया। [१३]

विचक्षण और रसना

लोलता और जड़ कुमार के प्रश्नोत्तरों को विचक्षण ने सुना और मध्यस्थ भाव से अपने मन में विचार किया कि रसना मेरी स्त्री है इसमें तो कोई सन्देह नहीं है; क्योंकि यह मेरे वदनकोटर में प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है। परन्तु, इस दासी ने रसना का पालन-पोषण करने के बारे में जो कुछ कहा है, उसके विषय में तो पहले सम्यक् प्रकार से परीक्षण (जाँच-पड़ताल) किये बिना उसे स्वीकार करना उचित नहीं है। [१४-१६] कहा भी है—

यतः स्त्रीवचनादेव, यो मूढात्मा प्रवर्तते।
कार्यतत्त्वमविज्ञाय, तेनानर्थो न दुर्लभः ।। [१७]

जो मूर्ख प्राणी कार्य के तत्त्व को बिना समझे केवल स्त्री के वचन के आधार पर प्रवृत्ति करता है उसे अनर्थ की प्राप्ति हो यह असम्भव नहीं है। [१७] अतः लोलुपता जब कभी किसी खाने-पीने के पदार्थ की माँग करे तब उसे वह पदार्थ अनादरपूर्वक देना चाहिये और इसी प्रकार थोड़ा समय व्यतीत कर इस विषय में बराबर जाँच करनी चाहिये कि वास्तविक सार क्या है? [१८]।

विचक्षण ने अपने विचार के अनुसार निर्णय किया कि रागरहित होकर इस रसना को साधारण शुद्ध आहार देकर इसका पालन-पोषण तो करना चाहिये, परन्तु लोलता (लोलुपता) का पूर्णतया निवारण करना चाहिये। अविश्वसनीय स्त्री पर विश्वास भी नहीं करना चाहिये, अतः लोक व्यवहार निभाने के लिये अनिन्द्य मार्ग से इस रसना का पोषण करना चाहिये। अर्थात् इसको अधिक महत्त्व कभी नहीं देना चाहिये। इस निर्णय के अनुसार विचक्षण कुमार धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों को एक साथ निभाने लगा। इससे विद्वान् और समझदार लोग उसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदर करने लगे। इस प्रकार उसने अपना कुछ समय रसना के साथ लीलापूर्वक व्यतीत किया। लोलता तेजस्वी विचक्षण के अभिलाषा-रहित हृदय के भावों को अच्छी तरह समझती थी इसलिये वह उससे किसी भी प्रकार की मांग करती ही नहीं थी। * इस प्रकार विचक्षण लोलुपता-रहित रसना का पालन करता जिससे उसे किसी प्रकार का क्लेश नहीं होता और वह निरन्तर आनन्द में रहता। क्योंकि, दुरात्मा जड़ को रसना के लालन-पालन में जो दोष और दुःख उत्पन्न हुए और भविष्य में होंगे उसका कारण यह लोलता ही है। विचक्षण यद्यपि रसना का पालन-पोषण करता था किन्तु उसने लोलुपता को दूर भगा दिया था, इसलिये उसे किसी दोष या अनर्थ का भाजन नहीं बनना पड़ा। [१९-२५]

जड़ की माता-पिता के साथ चर्चा

एक दिन तुष्टचित्त जड़ कुमार ने अपनी माता स्वयोग्यता और पिता अशुभोदय से रसना नामक स्त्री की प्राप्ति के बारे में सारा वृत्तान्त कहा। अपने पुत्र को लोलता दासी के साथ रसना जैसी वधू की प्राप्ति से उन्हें भी सन्तोष हुआ और स्नेहपूरित हृदय से उन दोनों ने जड़ से कहा—पुत्र! अभी तेरे पुण्यकर्मों का उदय हुआ है जिससे तेरे ही अनुरूप योग्य भार्या की प्राप्ति हुई है। तूने इसका पालन-पोषण शुरू कर दिया है यह भी अच्छा किया। ऐसे सुन्दर मुख वाली तेरी यह पत्नी तुझे बहुत सुख देगी, इसलिये हे पुत्र! तुझे इसका रात-दिन पालन-पोषण करना चाहिये। [२६-२९]

जड़ कुमार पहिले ही रसना का लालन-पालन बहुत ही आसक्ति और ममता पूर्वक कर रहा था, उस पर उसके माता-पिता ने भी वैसी ही प्रेरणा दी अतः शेष क्या रहता? जैसे कोई स्त्री पहले ही काम-वासना के उन्माद से परिपूर्ण हो और उस समय में मोर टुहकने लगे तो उन्मत्तता में क्या कमी रहे? मूढात्मा जड़ कुमार अब प्रगाढ आसक्ति पूर्वक रसना का लालन-पालन करने लगा और उसे प्रसन्न रखने के लिये स्वयं अनेक प्रकार की विडम्बनाएँ सहन करने लगा। [३०-३१]

विचक्षण की स्वजनों के साथ चर्चा

विचक्षण कुमार ने भी एक दिन अपनी माता निजचारुता और पिता शुभोदय को रसना की प्राप्ति के सम्बन्ध में सब वृत्तान्त कहा। उस समय उसकी पत्नी बुद्धिदेवी, पुत्र प्रकर्ष और साला विमर्श भी साथ ही थे। उन सब ने भी रसना की प्राप्ति का वृत्त सुना। [३२-३३]

शुभोदय ने कहा—पुत्र! तुझे क्या समझाऊँ? तू तो स्वयं वस्तु-तत्त्व को समझता है, इसलिये तेरा विचक्षण नाम सत्य ही है अर्थात् गुणानुरूप ही है, तथापि तुझे मेरे प्रति जो स्वभाव से ही आदर व सम्मान है उसी से प्रेरित होकर मैं तुझे दो बात कहता हूँ। नारी पवन के समान चञ्चल होती है, संध्याकाल के आकाश

* पृष्ठ ३३१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की पंक्ति (बादलों) के समान कभी रक्त (आसक्त) और कभी विरक्त होती है, पर्वत जैसे उन्नत स्थान से उत्पन्न नदी की भाँति निम्नगामिनी होती है, दर्पण के प्रतिबिम्ब के समान दुर्ग्राह्य होती है, अत्यधिक कुटिलता से पूर्ण सांपों को रखने के करंडिया के समान होती है, कालकूट विष से वर्द्धित वेलड़ी (लता) के समान मृत्यु प्रदान करने वाली होती है, नरकाग्नि के समान अतिभीषण संताप देने वाली होती है, मोक्ष-प्राप्ति के साधक सद्ध्यान की शत्रु होती है, चिन्तन-भाषण और कर्म से भिन्न आचरण वाली होती है, मायाचारिणी होती है, पुरुष के निकट पतिव्रता साध्वी का दिखावा करने वाली होती है, इन्द्रजालिक विद्या के समान दृष्टि को आच्छादित करने वाली होती है, अग्निपिण्ड के समान पुरुष के मनरूपी लाख को पिघलाने वाली होती है और स्वभाव से ही सर्व प्राणियों में परस्पर वैमनस्य करवाने वाली होती है। इसीलिये विज्ञपुरुषों ने नारी को संसार-चक्र को चलाने का कारणभूत कहा है।* पुनः यह पुरुष के द्वारा आस्वादित और भुज्यमान दिव्य विवेकामृत भोजन का वमन करवाने वाली होती हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। पुनश्च, नारी में असत्य-भाषण, साहसिकता, कपटवृत्ति, निर्लज्जता, अतिलोभिता, निर्दयता, अपवित्रता आदि दुर्गुण स्वाभाविक रूप से होते है। वत्स ! तुझे अधिक क्या कहूँ ? संक्षेप में, इस जगत् में जितने भी दोषपुञ्ज हैं वे सभी नारी रूपी भाण्डशाला (भण्डार) में अनादि काल से सुप्रतिष्ठित (स्थापित) हैं। अतः जिस प्राणी को अपने हित की कामना हो उसे स्वयं को स्त्री के विश्वास पर नहीं रहना चाहिये। वास्तविकता को समझाने के लिये इतने विस्तार से मैंने उपरोक्त वर्णन किया है। तुझे यह रसना स्त्री दासी लोलता के साथ प्राप्त हुई, वह मुझे तो ठीक नहीं लगती। तेरा इसके साथ परिचय (जान-पहचान) कैसे हुआ ? अभी तो यह भी ज्ञात नहीं है कि यह कहाँ से आई और कौन है ? अतः इसका संग्रह (स्वीकार), पालन-पोषण करने के पहले इसके मूल स्थान के बारे में अच्छी तरह से शोध (जाँच) करनी चाहिये। [३४–४८]

कहा भी है—

अत्यन्तमप्रमत्तोऽपि, मूलशुद्धेरवेदकः।
स्त्रीणामर्पितसद्भावः, प्रयाति निधनं नरः॥ [४९]

अत्यन्त अप्रमत्त अर्थात् विवेकशील एवं प्रवीण होने पर भी यदि पुरुष स्त्री के मूल स्वभाव (उत्पत्ति स्थान) की जाँच नहीं करता, उसे भलीभाँति नहीं पहचानता और अपना हृदय समर्पित कर देता है तो वह अवश्य ही निधन (नाश) को प्राप्त होता है। [४९]

निजचारुता माता ने कहा—वत्स विचक्षण ! तेरे पिता ने तुझे जो परामर्श दिया है वह पूर्णतया युक्तिसंगत है। रसना की उत्पत्ति के विषय में पहले जाँच करो। जाँच करने में हानि भी क्या है ? इसके कुल, शील और स्वरूप को

* पृष्ठ ३३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्तया ज्ञात कर लेने पर इसके अनुसरण का कार्य अधिक सरल और सुखकारी हो जायेगा। अर्थात् इसका पोषण कब और कितना करना चाहिये इसका निर्णय करने के लिये विशेष साधन प्राप्त हो जायेंगे।

बुद्धिदेवी (पत्नी) ने कहा—आर्यपुत्र! गुरुजन (बड़े लोग) जैसी आज्ञा दें उसी के अनुसार आपको करना चाहिये।

"अलंघनीयवाक्या हि गुरवः सत्पुरुषाणां भवन्ति।"

सज्जन पुरुषों के लिये गुरुजनों के वाक्य अलंघनीय होते हैं अर्थात् सज्जन पुरुष उनकी आज्ञा का कभी उल्लंघन नहीं करते।

प्रकर्ष (पुत्र) बोला—पिताजी! मेरी माताजी बुद्धिदेवी ने उचित ही कहा है।

विमर्श (साला) बोला—इस विषय में अयोग्य बात कहना आता ही किसको है? अर्थात् अयोग्य बात कहने वाला यहाँ है ही कौन? सम्यक प्रकार से परीक्षा पूर्वक किया हुआ कोई भी कार्य सर्वथा सुन्दर ही होता है।

रसना की मूल-शुद्धि का निश्चय

विचक्षण ने अपने मन में सोचा कि ये सब स्वजन जो परामर्श दे रहे हैं वह उचित ही है। यह सच ही है कि विद्वान् पुरुष को स्त्री के कुल, शील और आचार सम्बन्धी जानकारी किये बिना उसका संग्रहण और पोषण नहीं करना चाहिये। अर्थात् न तो अज्ञात स्त्री से परिचय ही बढ़ाना चाहिये और न उस पर विश्वास ही करना चाहिये। रसना की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तो मुझे कुछ लोलता से ज्ञात हुआ किन्तु इसके शील और आचार के सम्बन्ध में तो ऐसा सुनने में आया है कि इसे अच्छा खाना-पीना बहुत पसन्द है और इसकी दासी लोलता ने भी ऐसा ही कहा है। अथवा नहीं! नहीं!! शीलवान और समझदार व्यक्ति सर्पगति के समान अति कुटिल चित्तवृत्ति वाली कुलवधु के वचनों पर भी विश्वास कैसे कर सकता है? ऐसी स्थिति में एक दासी के वचन पर विश्वास करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। शील और आचार के विषय में तो लम्बे समय तक साथ रहने पर ही अच्छी तरह से पता लग सकता है, सामान्य सम्पर्क से नहीं। इस विषय में मैं अधिक विचार क्यों करूं? मेरे पिताजी आदि ने जैसा परामर्श दिया है उसी के अनुसार इस रसना की मूलशुद्धि के सम्बन्ध में खोज करूं। इसकी मूलशुद्धि ज्ञात होने पर यथोचित मार्ग ग्रहण करूँगा।

उपरोक्त विचार करते हुए विचक्षण ने अपने पिताजी से कहा—जैसी आपकी आज्ञा। परन्तु, ❀ रसना की उत्पत्ति का पता लगाने के लिये भेजने योग्य कौन है? यह आपश्री ही निर्णय करावें।

विमर्श की नियुक्ति

शुभोदय—वत्स! यह तेरा साला विमर्श महत्वपूर्ण कार्य करने का भार वहन करने में समर्थ है।

❀ पृष्ठ ३३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युक्तं चायुक्तवद्भाति, सारं चासारमुच्चकैः ।
अयुक्तं युक्तवद्भाति, विमर्शेन विना जने ।

इसका नाम ही विमर्श (तर्क पूर्ण विचार) है । विमर्श के बिना करणीय कार्य अकार्य लगता है, सार असार लगता है और अकरणीय कार्य करणीय लगता है । विमर्श जिस प्राणी के अनुकूल नहीं होता उसे हेय (त्याज्य) कार्य उपादेय लगता है और उपादेय कार्य हेय लगता है । यदि कोई अत्यन्त गहन कार्य हो जिसका पृथक्करण बुद्धि नहीं कर सकती हो तब विमर्श उस पर विवेचन कर सिद्धान्ततः निर्णय कर सकता है । क्योंकि, विमर्श पुरुष और स्त्री के मानसिक रहस्य को समझता है, देश-राज्य और राजाओं की व्यवस्था (जानता है, त्रिभुवन के तत्त्व को जानता है, रत्नों की परीक्षा कर सकता है, लोकधर्म का रहस्य जानता है, देव-तत्त्व को जानता है, सभी शास्त्रों का रहस्य उसके लक्ष्य में रहता है तथा धर्म और अधर्म की व्यवस्था में क्या रहस्य है यह उसको ज्ञात है । इन सब विषयों में तत्त्व को जानने वाला विमर्श के अतिरिक्त संसार में अन्य कोई नहीं है । वत्स ! जिन प्राणियों का मार्गदर्शक महाप्राज्ञ विमर्श होता है वे प्राणी समस्त विषयों के आन्तरिक रहस्य को समझ कर सुखी होते हैं । तू भाग्यशाली है कि तुझे यह विमर्श सगे साले के रूप में प्राप्त हुआ है । भाग्यहीन प्राणियों को कभी चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति नहीं होती । रसना की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पता लगाने के लिये तुझे इसको ही भेजना चाहिये । सूर्य ही रात्रि के अन्धकार को समाप्त करने में समर्थ हो सकता है । [१–८]

विचक्षण—जैसी पिताजी की आज्ञा ।

इतना कहकर यह जानने के लिये कि विमर्श यह कार्य करने को तैयार है या नहीं ? विचक्षण ने विमर्श के मुख की ओर देखा ।

विमर्श—मुझ पर अनुग्रह है । (आपको जो कहना हो कहिये, मैं करने के लिये तैयार हूँ ।)

विचक्षण—यदि ऐसी बात है तो पिताजी की आज्ञा का शीघ्र पालन करें अर्थात् रसना की मूलशुद्धि के विषय में शोध करें ।

विमर्श—बहुत अच्छा, मैं तैयार हू । एक बात पूछनी है कि पृथ्वी विशाल है, जिसमें अनेक देश और अनेक राज्य हैं, इसलिये सम्भव है मुझे इस शोध में अधिक समय लग जाय, अतः आप कोई समय निश्चित कीजिये कि अमुक समय में मुझे वापस आ जाना चाहिये ।

विचक्षण—भद्र ! तुम्हें एक वर्ष का समय दिया जाता है ।

विमर्श – बड़ी कृपा । ऐसा कहकर प्रणाम कर विमर्श चलने की तैयारी करने लगा ।

प्रकर्ष का सहयोग

इसी वार्ता के बीच प्रकर्ष ने उठकर अपने दादा शुभोदय के चरण छुए, अपनी दादी निजचारुता को प्रणाम किया और माता-पिता विचक्षण एवं बुद्धि को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी नमस्कार कर बोला—यद्यपि मेरे माता-पिता को विरह होगा इस विचार से मेरे मन में शान्ति (निवृत्ति) नहीं हो पाती। मामा के साथ मेरा सहचारित्व होने से मेरे अन्तःकरण में उनके प्रति प्रबल आकर्षण है। जन्म से ही मैं उनके साथ ही रहा हूँ, अतः उनके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। इसलिये आप मुझे भी आज्ञा दें तो मैं भी मामा के साथ जाऊँ।

पुत्रादि की प्रशंसा

पुत्र के वचन सुनकर विचक्षण का हृदय पुत्र-स्नेह से उल्लसित हुआ। आनन्द के अश्रु-बिन्दुओं से उसकी आँखें एवं पलकें आर्द्र हो गईं और उसने अपने दाँये हाथ की अंगुली से पुत्र के मुखकमल को उठाकर चूम लिया। * स्नेह से उसका सिर सूँघा और बहुत अच्छा बेटे! कहकर उसे अपनी गोद में बिठाया, तथा अपने पिता शुभोदय के सामने देख कर कहा—पिताजी! आपने देखा, यह प्रकर्ष अभी छोटा बच्चा ही है पर इसका विनय, सम्भाषण की युक्ति पूर्ण पद्धति और इसकी वाणी में उभरता स्नेह!

उत्तर में शुभोदय ने कहा—वत्स! इसमें नवीनता क्या है? तेरे और बुद्धिदेवी के पुत्र का व्यवहार तो ऐसा होना ही चाहिये। किन्तु वत्स! पुत्रवधू या पौत्र के सम्बन्ध में हमें गुणों की प्रशंसा विशेषतया तेरे सामने तो करनी ही नहीं चाहिये। कहा है कि—

प्रत्यक्षे गुरवः स्तुत्याः परोक्षे मित्रबान्धवाः।
भृतकाः कर्मपर्यन्ते, नैव पुत्रा मृताः स्त्रियः॥

गुरु की स्तुति उनके समक्ष करनी चाहिये, मित्र और सगे सम्बन्धियों की स्तुति उनकी अनुपस्थिति में करनी चाहिये, काम समाप्त होने के पश्चात् नौकर को धन्यवाद देना चाहिये, पुत्र की प्रशंसा तो करनी ही नहीं चाहिये और स्त्री की प्रशंसा तो उसके मरने के बाद ही करनी चाहिये। फिर भी इस पुत्रवधू और पौत्र के विशिष्टतम महान् गुणों को देखकर मेरे से उनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। तेरी पत्नी बुद्धिदेवी पूर्णरूप से तेरे अनुरूप ही है। यह श्रेष्ठ मुखवाली पुत्रवधू बुद्धि तो चन्द्र की चन्द्रिका के समान रूपवती है, गुणों में बढोतरी करने वाली है, भाग्यशालिनी है, पति पर स्नेहपूरित हृदय वाली है, पटु है, सर्व कार्यकुशल है, बल-सम्पादन कराने वाली है, गृहभार को वहन करने में सक्षम है, विशाल दृष्टि वाली होने पर भी सूक्ष्म दृष्टिवाली कहलाती है और सर्वांगसुन्दर होने पर भी जड़ात्माओं (मूर्खों) के मन में द्वेष उत्पन्न करने वाली है। अथवा निर्मलमानस नगर के राजा मलक्षय और सुन्दरता देवी की जो पुत्री है उसका गुण वर्णन करने में तो कौन समर्थ हो सकता है? अतः प्रकर्ष का वर्णन करने की भी अब क्या आवश्यकता है? अपनी माता बुद्धि से भी वह अधिक अनन्त गुण धारण करता जा रहा है। वत्स! विचक्षण

* पृष्ठ ३३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक क्या कहूँ ? संक्षेप में कहूँ तो जगत में तू सचमुच धन्य है; क्योंकि तुझे ऐसा महाभाग्यशाली सुन्दर कुटुम्ब प्राप्त हुआ है। पुत्र ! अभी-अभी तेरा रसना से परिचय हुआ जानकर हमें इसलिये चिन्ता हुई है कि हमारे दृष्टिकोण से यह स्त्री किसी भी प्रकार से तेरे योग्य नहीं हैं। कहीं यह रसना सौत बनकर मात्सर्य से बुद्धिदेवी का नाश करने वाली और अपनी सौत के पुत्र प्रकर्ष की प्रगति में बाधक न बन जाए, इसी कारण हम चिन्तातुर हो गये हैं। अब कालक्षेप (समय बिताने) से क्या लाभ ? प्रस्तुत कार्य को पूरा करने की तैयारी करो। रसना की मूलशुद्धि का पता लगने पर जैसा योग्य लगेगा वैसा कर लिया जावेगा। प्रकर्ष को उसके मामा से स्नेह है, अतः उसे मामा के साथ भेजने का निर्णय किया वह भी ठीक ही है, यह तो खीर में खाँड मिलाने जैसा है। अब विमर्श और प्रकर्ष दोनों मामा भाणजा रसना की मुलशुद्धि की कार्यसिद्धि के लिये जावें। इस विषय में मैं समझता हूँ कि अब तुम्हें तनिक भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है।। १-१४]

विचक्षण और बुद्धिदेवी ने शुभोदय के वचन शिरोधार्य किये। विमर्श और प्रकर्ष ने सब के चरण छूए, नमस्कार किया, यात्रा का सारा उचित कार्य पूरा किया और रसना देवी के मूल उत्पत्ति की सच्ची जानकारी का पता लगाने के लिये विदा हुए।

❀

८. विमर्श और प्रकर्ष

शरद् ऋतु का वर्णन

शरद् ऋतु का सुहावना समय है। पृथ्वी पर धान्य पक गया है। गोपालक एक साथ मिलकर रास गा रहे हैं। धान्य की प्रतीक्षा में आकुल प्रजा के लिये सुनहरा समय आ गया है। ❀ गोपांगनायें (कृषक महिलायें) धान्य के खेतों की रक्षा में तत्पर हैं।

जलविहीन बादलों के झुण्ड के झुण्ड आकाश में दृष्टिगोचर हो रहे हैं। पृथ्वीतल श्वेत काश के घास से ढक गया है। भूमण्डल का मध्यभाग चन्द्रमा की शीतल एवं उज्ज्वल किरणें पड़ने से स्फटिक रत्न के कुम्भ जैसा देदीप्यमान हो रहा है।

कलहंसों के मीठे मधुर स्वर को सुनने के पश्चात् अब कान मोर के मधुर टुहुक के प्रति विरक्त (रसहीन) हो गये हैं। अब लोगों की दृष्टि कदम्ब के बड़े वृक्षों से हटकर पलास, (ढाक, खाखरे) के ऊँचे-नीचे वृक्षों में आसक्त हो रही है।

❀ पृष्ठ ३३५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोगों की जिह्वा अब खारे और तीखे स्वाद का त्याग कर मिष्टान्न में अनुरक्त हो रही है। इससे लगता है कि जगत् के लोग शुद्ध (सच्चे) गुणों के पारखी हैं, चापलूसी उन्हें रुचिकर नहीं है।

स्वच्छ निर्मल जल से परिपूर्ण सरोवर विकसित कमल रूपी नेत्रों से दिन को देख रहे हैं। आकाश भी लोकयात्रा की इच्छा से तारामण्डल और नक्षत्र रूपी नेत्रों से रात्रि में पृथ्वी का अवलोकन कर रहा है।

गोकुल आनन्दित हो रहे हैं अर्थात् गायों के झुण्ड आनन्द से हरी घास चर रहे हैं। मजदूर वर्ग भी (धान की सुलभता से) हर्षित हो रहा है। कदम्ब वृक्ष पुष्पित हो रहे हैं। रात्रियाँ स्वच्छ और निर्मल हो रही हैं। इतना होने पर भी चक्रवाक पक्षी अभी भी व्यथित हो रहे हैं (क्योंकि उनका विरह काल अभी भी पूर्ण नहीं हुआ है)। सच है, जो प्राणी जब जिस वस्तु के योग्य बनता है तभी उसे उस वस्तु की प्राप्ति होती है। [१–६]

विमर्श और प्रकर्ष बाह्य-सृष्टि में

विमर्श और प्रकर्ष ऐसी शरद ऋतु में अत्यन्त मनोहर उद्यानों की शोभा को निहारते हुए, विकसित कमल खण्डों से विभूषित सरोवरों की छटा का निरीक्षण करते हुए, ग्रामों कस्बों और नगरों का अवलोकन करने से प्रमुदित होते, इन्द्र मह त्सव को देखकर हर्षित होते, दीवाली महोत्सव देखकर सन्तुष्ट होते, कौमुदी महोत्सव को देखकर आह्लादित होते और अनेक मनुष्यों के हृदयों की परीक्षा करते हुए बाह्य प्रदेशों में खूब घूमे। जिस कार्य के लिये वे निकले थे उसकी सिद्धि के लिये उन दोनों ने सैकड़ों उपायों का अवलम्बन लिया, परन्तु वहाँ उन्हें रसना की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी। जब वे दोनों कार्य हेतु भूमण्डल में विचरण कर रहे थे तभी हेमन्त ऋतु का आगमन हो गया।

हेमन्त ऋतु

इस समय में वस्त्र, तेल, कम्बल, रजाई और अग्नि मूल्यवान प्रतीत होते हैं। तिलक, लोध्र, कुन्द, मोगरा आदि अनेक प्रकार के पुष्पवन प्रफुल्लित होते हैं। शीतल पवन यात्रियों की दन्त वीणा को बजाते हैं, अर्थात् पथिकों के दांत कटकटा रहे हैं, जलराशि अथवा चन्द्र किरण, महल को छत, चन्दन और मोतियों की सुभगता (उत्कृष्टता) का हरण हो रहा है। [१]

हेमन्त ऋतु में दुर्जन मनुष्यों की संगति की भाँति दिन छोटे हो जाते हैं और सज्जनों की मित्रता के समान रात्रियाँ लम्बी हो जाती हैं। विशुद्ध ज्ञान के अर्जन की भाँति इस ऋतु में अनाज का संग्रह किया जाता है, काव्य पद्धति के समान मनोहर वेणियों की रचना की जाती है, लोगों के मुख सज्जनों के हृदय के समान स्नेह से परिपूर्ण हो जाते हैं। जैसे रणक्षेत्र में शत्रुसेना की ललकार को सुनकर योद्धा आ डटते हैं वैसे ही परदेश गये हुए यात्री अपनी पत्नियों की विस्तृत जांघों और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्नत स्तनों की गर्मी का स्मरण कर अपनी ठण्ड को भगाने के लिये शीघ्र स्वदेश लौट आते हैं।

सूर्य का तेज कम हो जाने से वह लघुत्व को प्राप्त हुआ है, क्योंकि जो दक्षिण दिशा का अवलम्बन लेते हैं उन सब की यही गति होती है अथवा जो दक्षिणा की आशा के अवलम्बन पर जीते हैं वे सभी लघुता को प्राप्त होते हैं, जैसे दक्षिण दिशा को प्राप्त सूर्य तेजहीन होकर लघुता को प्राप्त होता है। [१]

अपने प्रिय जन के विरह रूपी सर्प से नीचे पड़े हुए अर्थात् व्यथित और शिशिर के पवन से खण्डित * शरीर वाले अर्थात् अत्यधिक ठण्ड से थर-थर कम्पित लोग मानो पशु ही हों। उन्हें यह हेमन्त ऋतु पकाकर खा जाने की इच्छा से रात्रि में अग्नि से पचा रही हो ऐसा प्रतीत होता है। [१]

राजसचित्त नगर

इस प्रकार कुछ महीनों तक मामा-भाणजा विमर्श और प्रकर्ष बाह्य प्रदेश में घूमते रहे, पर उन्हें रसना के मूल के बारे में कुछ भी पता नहीं लगा। तब वे अन्तरंग प्रदेश में प्रविष्ट हुए और वहाँ भिन्न-भिन्न प्रदेशों में रसना की मूलशुद्धि का पता लगाने के लिये घूमने लगे। घूमते हुए वे राजसचित्त नगर में जा पहुँचे।

यह नगर बड़े जंगल जैसा लम्बा चौड़ा था। धन-धान्य से भरपूर घरों वाला होने पर भी अधिकांशतः जनशून्य था, अर्थात् थोड़ी सी ही आबादी थी। नगर में किसी-किसी स्थान पर घर की रक्षा करने वाला या चौकीदार दिखाई देता था। ऐसे नगर को उन दोनों ने देखकर विचार किया—

प्रकर्ष—मामा! इस नगर में इतने कम लोग हैं कि यह शून्य (श्मशान) जैसा दिखाई दे रहा है, इसका क्या कारण है, यह नगर ऐसा क्यों हो गया?

विमर्श—यह पूरा नगर समृद्धि से परिपूर्ण दिखाई दे रहा है। बड़े-बड़े भवन नजर आ रहे हैं, पर उनमें रहने वाले लोग बहुत कम दिखाई दे रहे हैं, जिससे लगता है कि इस नगर में किसी प्रकार का उपद्रव नहीं है। मेरा अनुमान है कि इस नगर का राजा किसी प्रयोजन से बाहर गया है और उसके साथ उसका परिवार, सैन्य और राज्याधिकारी भी गये हैं।

प्रकर्ष—आपका अनुमान मुझे भी ठीक लग रहा है।

विमर्श—भाई! इसमें बड़ी बात क्या है? जितनी भी वस्तुएँ दिखाई देती हैं उनका तत्त्व मैं जानता हूँ। इसलिये तुम्हें भविष्य में भी कभी कोई शंका हो तो उसके बारे में प्रसन्नता से मुझ से पूछ लिया करो।

प्रकर्ष—मामा! यदि ऐसा ही है तब तो एक बात अभी पूछता हूँ। देखिये, इस नगर का न तो राजा यहाँ है और न लोग ही दिखाई दे रहे हैं। सभी

---

* पृष्ठ ३३५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नगर छोड़कर बाहर गये हैं। फिर भी इस नगर की शोभा (सौन्दर्य) में तनिक भी कमी दिखाई नहीं देती, इसका क्या कारण है ?

विमर्श—इस नगर में कोई महान् प्रभावशाली पुरुष रहता है, उसी के प्रभाव से नगर की समृद्धि-शोभा सर्वदा बनी रहती है।

प्रकर्ष—मामा ! ऐसा है तो हमें इस नगर में जाकर उस पुरुष को ढूंढना चाहिये।

विमर्श—ठीक है, चलो, चलते हैं।

फिर वे दोनों नगर में प्रविष्ट हुए और राजकुल तक आ पहुँचे। वहाँ उन्होंने मिथ्याभिमान नामक अधिकारी को देखा। इस अधिकारी के पास अहंकार आदि कई पुरुष बैठे थे। विमर्श ने अपने भानजे से कहा—भद्र ! इस राजसचिव नगर की जो श्री-शोभा अभी दिखाई दे रही है, वह इसी अधिकारी के प्रभाव से है।

प्रकर्ष—तब हम क्यों न इसके पास जाकर इससे बातें करें और नगर जनशून्य-सा क्यों है ? कारण पूछें।

विमर्श—चलो, चल कर पूछें।

फिर वे दोनों मिथ्याभिमान के पास गये। उससे कुछ वार्तालाप किया और पूछा—भद्र ! इस नगर में मनुष्य बहुत थोड़े दिखाई देते हैं इसका क्या कारण है ?

मिथ्याभिमान—अरे ! यह बात तो अच्छी तरह प्रसिद्ध हो चुकी है, क्या तुम्हें इसका पता नहीं है ?

विमर्श—भद्र ! आप कुपित न हों। हम दोनों यात्री हैं, इसलिये हमको इसका ज्ञान नहीं है। हमें यह जानने का अत्यधिक कौतूहल है, अतः आपसे निवेदन करते हैं कि आप बतायें।

मिथ्याभिमान इस नगर के स्वामी का नाम रागकेसरी है। ये त्रिभुवन में प्रसिद्ध प्रातःस्मरणीय महापुरुष हैं। इनके पिताजी का नाम महामोह है। इनके * विषयाभिलाष आदि अनेक मन्त्री और राज्याधिकारी हैं। वे अपनी पूरी सेना के साथ युद्ध-यात्रा में बाहर गये हुए हैं जिसे अनन्त काल हो चुका है। यहाँ के राजा ससैन्य बाहर गये हुए हैं, इसीलिये नगर में मनुष्य कम दिखाई दे रहे हैं।

विमर्श—भद्र मिथ्याभिमान ! इन रागकेसरी राजा का किसके साथ युद्ध चल रहा है ?

मिथ्याभिमान—दुरात्मा पापी संतोष के साथ।

विमर्श—संतोष के साथ युद्ध करने का कारण क्या है ?

मिथ्याभिमान—महाराज रागकेसरी की आज्ञा से मंत्री विषयाभिलाष ने स्पर्शन, रसना आदि पाँच अधिकारियों को समस्त जगत् को वश में करने के लिये

---

* पृष्ठ ३३७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भेजा था। स्पर्शन, रसनादि पाँचों ने लगभग पूरे संसार को अपने वश में कर लिया था, तभी इस पापी संतोष ने इन पाँचों को भगाकर कुछ लोगों को बचा लिया था और उन्हें निर्वृति नगर में पहुँचा दिया था। यह संवाद सुनते ही महाराजा रागकेसरी को प्रचण्ड क्रोध आया और संतोष को पराजित करने के लिये स्वयं ही निकल पड़े। यही लड़ाई का मूल कारण है।

विमर्श ने सोचा कि—अहा! रसना के नाम की कुछ तो भनक पड़ी। इसका मूल कहाँ से शुरू हुआ है, इसके बारे में नाम से तो कुछ पता लगा। रसना के गुण के बारे में तो विषयाभिलाष को देखकर ज्ञात करूंगा। अधिकांशतः बच्चे पिता के अनुरूप ही होते हैं तो विषयाभिलाष को देखने पर शायद रसना के गुण के सम्बन्ध में भी निर्णय हो जाएगा। ऐसा सोचते हुए विमर्श बोला—हे भद्र! यदि ऐसी बात है तब फिर आप यहाँ कैसे रहे? आप लड़ने क्यों नहीं गये?

मिथ्याभिमान— जब हमारी सेना यहाँ से प्रयाण (कूच) करने को तैयार हुई थी तब मैं भी सबके साथ तैयार होकर बाहर निकला था, किन्तु हमारे महाराजा ने सेना के मुख्य भाग में मुझे देखकर अपने पास बुलाया और कहा—'आर्य मिथ्याभिमान! तुम इस नगर को छोड़ कर बाहर मत जाना। हमारे नगर से बाहर चले जाने पर भी यदि तुम यहाँ रहोगे तो नगर की श्री-शोभा किंचित् भी कम नहीं होगी और इस पर कोई चढ़ाई भी नहीं करेगा, अर्थात् नगर उपद्रव रहित रहेगा। जैसे हम स्वयं ही यहाँ हों, इस तरह सब कुछ चलता रहेगा, क्योंकि इस नगर की रक्षा करने में तुम्हीं समर्थ हो।' मैंने राजाज्ञा को शिरोधार्य किया और मैं यहीं रहा। मेरे यहाँ रहने का यही कारण है।

विमर्श - जब से आपके राजा युद्ध-स्थल पर गये हैं तब से उनके कुशल समाचार और लड़ाई की प्रगति के बारे में आपको संवाद मिले या नहीं?

मिथ्याभिमान— अरे! हाँ, बहुत समाचार मिले हैं। हमारे राजा के दैवी साधनों से लड़ाई में प्रायः हमारी जीत हुई है, परन्तु अभी भी उस पापी संतोष को सर्वथा पराजित नहीं किया जा सका है। वह लुटेरा चोर बीच-बीच में हमारे राजा की आँखों में धूल झोंककर किसी-किसी मनुष्य को निर्वृति नगर ले भागता है। यद्यपि संतोष को पराजित करने के लिये राजा स्वयं लड़ने गये हैं परन्तु वे अभी तक उसे पूरी तरह से पराजित नहीं कर पाये हैं इसीलिये इतना समय लग गया है।

विमर्श— तब आज कल आपके राजा कहाँ सुने जाते हैं, अर्थात् कहाँ हैं?

यह प्रश्न सुनकर मिथ्याभिमान के मन में शंका उठी कि कहीं ये दोनों (विमर्श-प्रकर्ष) शत्रुओं के गुप्तचर तो नहीं हैं और कहीं गुप्तचरी करने तो यहाँ नहीं आये हैं? इस विचार से उसने बात को उड़ा दिया। उत्तर में वह बोला—मुझे इस विषय में पक्की खबर नहीं है। प्रयाण के समय उनके कहने से ऐसा लगता था कि यहाँ से वे तामसचित्त नगर की ओर गये हैं। * कदाचित् अभी भी वे वहीं हों।

* पृष्ठ ३३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विमर्श—हमें जिस बात को जानने का कौतूहल था वह आपके उत्तर से पूर्ण हुआ। आपने सब कुछ वृत्तान्त बताने की सज्जनता दिखाई यह आपकी बड़ी कृपा है। अब हम जाते हैं।

मिथ्याभिमान—बहुत अच्छा ! तुम अपने कार्य में सफलीभूत हो।

विमर्श यह वचन सुनकर प्रसन्न हुआ। दोनों ने सिर को सहज झुका कर प्रणाम किया और राजसचित्त नगर से बाहर निकले।

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! मिथ्याभिमान से हमने सुना कि विषयाभिलाष के पाँच अधिकारियों में से एक रसना भी है। अब हमें स्वयं विषयाभिलाष से मिलकर रसना के गुणों से उसके स्वरूप के सम्बन्ध में निश्चय करना चाहिये। अतः चलो, अब हम तामसचित्त नगर में चलें।

प्रकर्ष—जैसी मामाजी की इच्छा।

तामसचित्त नगर

उसके बाद दोनों मामा-भाणजा तामसचित्त नगर जाने के लिये वहाँ से निकले और क्रमशः चलते हुए वहाँ पहुँचे। इस नगर के सब अच्छे मार्ग मूल से ही नष्ट हो गये थे, इसी कारण शत्रु इस किले को लांघ नहीं पाते थे, अर्थात् इस पर अधिकार प्राप्त नहीं कर पाते थे। यह नगर सर्वथा प्रद्योत रहित अर्थात् अन्धकारमय रहता था, चोर लोग यहाँ भलीभाँति आश्रय प्राप्त कर संवर्धित होते थे, पाप-पूर्ण मनुष्यों को यह नगर सर्वदा प्रिय लगता था, शिष्टजनों को इस नगर के प्रति सर्वदा तिरस्कार रहता था, अनन्त दुःखसमुद्र को पोषण करने का कारण-भूत था और समस्त प्रकार के सुख तथा उन्नति के लिये यह नगर सदा बाधक था। [१-२]

विचक्षणाचार्य कहते हैं कि यह नगर ऐसा होने पर भी विमर्श और प्रकर्ष को कैसा दिखाई दिया, वह आपको बताता हूँ। भयंकर दावानल लगने से काले पड़े हुए जंगल जैसा यह नगर उन्हें दिखाई दिया। यद्यपि इस नगर में भी अधिक लोग नहीं थे तथापि उसकी श्री-शोभा नष्ट नहीं हुई थी। [३]

नगर की ऐसी दशा देखकर प्रकर्ष ने पूछा—मामा ! इस नगर का कोई रक्षक है या नहीं ? [४]

विमर्श—इस नगर का भी कोई विशेष रक्षक हो ऐसा तो नहीं लगता, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि नायक जैसे आकार को धारण कर कोई मनुष्य साधारण तौर पर काम चला रहा है। [५]

मामा-भाणजा वार्तालाप कर ही रहे थे कि उन्होंने शोक नामक पाडोरिक अधिकारी को देखा। उसके आस-पास दैन्य, आक्रन्दन, विलपन आदि कई प्रधान पुरुष चल रहे थे और ऐसा लग रहा था कि वे तामसचित्त नगर में प्रवेश करने की इच्छा रखते हैं। विमर्श और प्रकर्ष ने पहले तो उनके साथ सहज वार्तालाप किया और फिर पूछा— भद्र ! इस नगर का राजा कौन है ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शोक—अरे ! इस नगर के राजा तो त्रिभुवन में प्रसिद्ध हैं। महामोह राजा के पुत्र रागकेसरी के भाई और अविवेकिता के पति यहाँ के राजा हैं, जो बहुत प्रसिद्ध हैं। उसके प्रताप से उसके समस्त शत्रु आहत हुए हैं और वे भय से काँपते हुए स्वर्ग, पाताल और मृत्यु लोक में छिप कर बार-बार उनका नाम जपते हैं। इनका नाम महाराजा द्वेषगजेन्द्र है। ये महाराज अचिन्त्य वीर्य (शक्ति) सम्पन्न और अतुल पराक्रमशाली हैं। हमारे राजा का नाम लेने या पूछने की भी किसमें शक्ति है ? अरे, इन महाराजा की बात तो दूर रहने दो। इनकी अत्यन्त वल्लभा पत्नी अविवेकता देवी भी अपनी शक्ति से तीनों भुवनों को मोहित कर देती है, अर्थात् घबराहट में डाल देती है। ❀ यह अविवेकिता अपने स्वसुर महामोह की आज्ञा का सदा पालन करती है और बड़े लोगों के प्रति प्रेम रखने वाली तथा अपनी जेठानी (द्वेषगजेन्द्र के बड़े भाई रागकेसरी की भार्या) महामूढता का सर्वदा कहना मानने वाली है। वह कभी भी अपने जेठ रागकेसरी की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करती। अपनी जेठानी महामूढता के साथ सगी बहिन जैसा प्रेम रखती है। अपने पति द्वेषगजेन्द्र पर उसे बहुत प्रेम और गहरी आसक्ति है, इसीलिये इसकी जगत् में पतिपरायणा के रूप में प्रख्याति है। अरे भले मनुष्यों ! हमारे राजा-रानी तो त्रिभुवन में प्रसिद्ध हैं, फिर तुम कौन हो और कहाँ से उनके बारे में पूछने आये हो ? [१–८]

विमर्श—भद्र ! आप हम पर कुपित न हों। इस संसार में सभी प्राणी सब कुछ जानते हों यह सम्भव नहीं है। हम तो बहुत दूर देश से आये हैं। आपका यह नगर हमने पहले कभी नहीं देखा था किन्तु आपके राजा-रानी का नाम अवश्य सुना था। आपके राजा अभी यहीं है या बाहर गये हैं, इसकी हमें खबर नहीं है। मन के सन्देह को दूर करने के लिये ही आपसे पूछा था। अतः अब आप हमें यह बतायें कि आपके राजा यहीं है या बाहर गये हैं और हम उनसे कहाँ मिल सकते हैं ? [९–१२]

शोक—तुम जो कुछ पूछ रहे हो वह भी जग-प्रसिद्ध-बात है, सब बुद्धिमान् इस बात को जानते हैं. फिर तुम कैसे नहीं जानते ? सुनो—महाराज महामोह, उनके ज्येष्ठ पुत्र रागकेसरी और यहाँ के राजा द्वेषगजेन्द्र तीनों ही अपनी-अपनी सेना लेकर उस संतोष नामक हत्यारे को मार भगाने का दृढ़ निश्चय कर यहाँ से निकल पड़े थे। उन्हें गये तो बहुत समय हो गया। [१३–१५]

विमर्श - तब भाई ! आप यहाँ कैसे आये हैं ? देवी अविवेकिता तो अभी इसी नगर में है न ? [१६]

शोक—देवी अविवेकिता अभी न तो यहाँ है और न महाराजा के साथ रणक्षेत्र में ही है। इसका कारण मैं तुम्हें अभी बताता हूँ। जिस समय महाराजा महामोह तथा रागकेसरी सेना लेकर हत्यारे संतोष को हनन करने का दृढ़ निश्चय

❀ पृष्ठ ३३९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर चलने लगे थे तब हमारे नगर के राजा भी उनकी सहायता को जाने के लिये तैयार हुए। उस समय पतिवल्लभा देवी अविवेकिता भी उनके साथ जाने को उद्यत हुई। उसको उद्यत देखकर राजा द्वेषगजेन्द्र ने अपनी प्रिय पत्नी से कहा—'देवी कमललोचना! अभी तुम्हारा शरीर रणक्षेत्र में जाने योग्य नहीं है। ऐसा लगता है कि युद्ध लम्बे समय तक चलेगा। अभी तुम गर्भवती हो और उसका यह अन्तिम माह है, इसलिये तुम्हें रणक्षेत्र में साथ ले जाना उचित नहीं है। अतः तुम यहीं रहो, अभी तो मैं अकेला ही लड़ाई में जाऊँगा।' उत्तर में सुमुखी ने कहा—'नाथ! आपके बिना मैं अकेली इस नगर में नहीं रह सकती, अतः कृपा कर मुझे साथ ले चलिये।' उसका उत्तर सुनकर राजा ने फिर कहा—'तुम्हें यहाँ नहीं रहना हो तो रौद्रचित्तपुर चली जाओ। गर्भवती का युद्धक्षेत्र में जाना अनुचित है।* देवी! वहाँ दुष्टाभिसन्धि राजा तुम्हारी देखभाल करेगा। यह दुष्टाभिसन्धि मेरी सेना का आदमी है और पवित्र है। तुम्हें किसी प्रकार की चिन्ता न रहे ऐसा प्रबन्ध वह कर देगा।' उत्तर में देवी अविवेकिता ने कहा—'मैं आपको क्या कहूँ? क्या करना चाहिये यह तो आप सब जानते हैं।' [१७-२५]

इस वार्तालाप के बाद राजा द्वेषगजेन्द्र तो महामोह आदि के साथ युद्ध में गये और उनकी आज्ञा से देवी अविवेकिता रौद्रचित्तपुर गई। उसके बाद वहाँ से भी वह देवी किसी कारणवश अभी बाह्य प्रदेश में है, क्योंकि किस समय क्या करना चाहिये यह देवी अच्छी तरह से जानती है। यहाँ से जाने के बाद अविवेकिता देवी ने एक पुत्र[1] को जन्म दिया था तथा पति के साथ योग होने से अभी भी उन्होंने एक दूसरे पुत्र[2] को जन्म दिया है, ऐसा मैंने सुना है। अतः अविवेकिता देवी अभी यहाँ नहीं है। मेरे यहाँ आने का कारण भी तुम पूछ रहे थे, इसका उत्तर सुनो-[२६-२९]

स्पष्टीकरण

इस प्रकार संसारी जीव जब अपने चरित्र का सम्पूर्ण वृत्तान्त महात्मा सदागम के समक्ष सुना रहा था तब अगृहीतसंकेता ने अपनी बहिन के समान प्रज्ञाविशाला से कहा प्रिय बहिन! यह संसारी जीव जब नन्दिवर्धन के भव में था तब वैश्वानर ने इसका लग्न हिंसा देवी के साथ करवाया था। उस समय वैश्वानर की मूलशुद्धि (उत्पत्ति) की जांच के प्रसंग में इसने पहले कहा था कि तामसचित्त नगर कैसा है, वहाँ के राजा द्वेषगजेन्द्र कैसे हैं, तथा रानी अविवेकिता कैसी है? इसके सम्बन्ध में आगे जाकर वर्णन करूंगा और अविवेकिता रौद्रचित्तपुर नगर में

---

* पृष्ठ ३४०

1 इस पुत्र का नाम वैश्वानर था जिसका वर्णन तृतीय खण्ड में आ चुका है।

2 इस पुत्र का नाम आठमुख वाला शैलराज है जिसका वर्णन पहले के प्रकरणों में आ चुका है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किस प्रयोजन से गई यह भी बताऊँगा। वह सब वृत्तान्त संसारी जीव ने अभी जो सुनाया वह सब तेरी समझ में आ गया होगा ?

अगृहीतसंकेता—हाँ, प्रियसखि ! अच्छा हुआ जो तूने मुझे इस सम्बन्ध में याद दिला दिया। अब मैंने यह वृत्तान्त भलीभांति समझ लिया है।

तब प्रज्ञाविशाला ने संसारी जीव से कहा—भद्र ! जिस समय राजा नरवाहन के समक्ष विचक्षणाचार्य उपरोक्त विमर्श और प्रकर्ष का वृत्तान्त सुना रहे थे और तू भी वहीं रिपुदारण के रूप में उस सभा में बैठा यह सब सुन रहा था, क्या उस समय तुझे अविवेकिता का पूर्व-चरित्र ज्ञात था ? क्या तुझे मालूम था कि नन्दिवर्धन के भव में तेरे मित्र वैश्वानर की माता यह अविवेकिता ही थी जो उस उस समय तेरी धाय माता थी ? क्या तुझे यह भी विदित था कि यही अविवेकिता रिपुदारण के भव में तेरे मित्र शैलराज की माता थी ? या उस समय तुझे इस सन्दर्भ में कुछ भी ज्ञात नहीं था ?

उत्तर में संसारी जीव ने कहा—भद्रे ! मुझे उस समय इस सन्दर्भ में कुछ भी ज्ञात नहीं था। उस समय ऐसा कहा जाता था कि मेरा एक के बाद एक अनेक अनर्थ-परम्परा में फँसने का कारण मेरा अज्ञान ही था। उस समय मैं तो केवल यही समझता था कि ये आचार्य मेरे पिता को कोई लालित्यपूर्ण कथा सुना रहे हैं। उस कथा के रहस्य को जैसे यह अगृहीतसंकेता अभी नहीं समझ रही है वैसे ही मैं भी उस समय नहीं समझा था।*

अगृहीतसंकेता—तब क्या इस कथा में कोई विशेष रहस्य है ? क्या कोई गहन भावार्थ इसमें छिपा हुआ है ?

संसारी जीव—हाँ, इसमें गहन भावार्थ छिपा है। मेरे चरित्र में अधिकांशतः एक भी वाक्य गूढार्थ-रहित नहीं है। अतः तुम्हें इस कथा को मात्र सुनकर ही संतोष नहीं कर लेना चाहिये, परन्तु इसके गूढार्थ को भी समझना चाहिये। यद्यपि ध्यानपूर्वक सुनने से इसका गूढार्थ स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है तथापि, हे अगृहीतसंकेता ! जिस स्थान का भावार्थ तुम्हें समझ में नहीं आये, उसके सम्बन्ध में तुम्हें प्रज्ञाविशाला से पूछ लेना चाहिये। यह मेरे वचनों का रहस्य ठीक से समझती है।

अगृहीतसंकेता—ठीक है, ऐसा ही करूँगी। अभी तो अपनी प्रस्तुत कथा कहो।

× × × ×

विचक्षणाचार्य ने जैसे राजा नरवाहन और सभा को कथा सुनाई थी उसी प्रकार संसारी जीव ने अगृहीतसंकेता और प्रज्ञाविशाला को सुनाते हुए सदागम के समक्ष अपनी कहानी आगे बढायी।

---

* पृष्ठ ३४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तामसचित्त नगर में राजा-रानी की अनुपस्थिति का कारण बताने के बाद शोक ने अपना उस नगर में आने का कारण विमर्श और प्रकर्ष को सुनाया—

विमर्श—हाँ भाई ! आपका यहाँ आना कैसे हुआ ? यह बताएँ।

शोक—इस नगर में मेरा एक प्राणों से भी अधिक प्रिय अन्तरंग मित्र मतिमोह नामक महाबलवान अधिकारी है। हे भद्र ! इसीलिये महाराज की शक्तिशाली सेना को संसार के बीहड़ जंगल में छोड़कर मैं उससे मिलने यहाँ आया हूँ। [१-२]

विमर्श—क्या यह मतिमोह आपके स्वामी के साथ युद्ध में नहीं गया ?

शोक—महाराज ने उसे इस नगर में ही रहने का निर्देश दिया था। युद्ध में जाते समय महाराजा ने उससे कहा था कि, हे मतिमोह ! तुम्हें इस नगर के बाहर कभी नहीं जाना चाहिये, क्योंकि इस नगर की रक्षा करने में तुम ही सामर्थ्यवान हो। महाराजा द्वेषगजेन्द्र की आज्ञा को स्वीकार कर मतिमोह यहीं रहा है। मेरे यहाँ आने का कारण तुम्हें बता चुका, अब मैं उससे मिलने के लिये नगर में प्रवेश कर रहा हूँ। [३-५]

विमर्श—बहुत अच्छा, आपको अपने कार्य में सफलता प्राप्त हो।

शोक प्रसन्न होकर तामसचित्त नगर में चला गया।

अब विमर्श ने प्रकर्ष से कहा—भाई ! अभी शोक के कथनानुसार महामोह आदि विशाल सेना के साथ संसार के बीहड़ जंगल में ही हैं, अतः हम को भी इस जंगल में जाकर रागकेसरी राजा और उसके मंत्री विषयाभिलाष से मिलना चाहिये।

प्रकर्ष—मामा ! दूसरा मार्ग ही क्या है ? अटवी में ही चलें। तदनन्तर दोनों मामा-भाणजे तत्काल ही उस बीहड़ अटवी की तरफ चल पड़े। [६-८]

❀

६. चित्तवृत्ति अटवी

विमर्श और प्रकर्ष अपना कार्य शीघ्रता से निपटाने के लिये पवन वेग से प्रवास करते हुए थोड़े ही समय में चित्तवृत्ति नामक अटवी के मध्य में पहुँच गये। [९]

महामोह-दर्शन

इस बीहड़ अटवी में एक महानदी के तट पर मनोहर विशाल मण्डप के मध्य में निर्मित मंच/वेदिका के ऊपर महासिंहासन पर विराजमान महामोह, रागकेसरी और द्वेषगजेन्द्र को अपनी-अपनी चतुरंगिणी सेनाओं से घिरे हुए देखा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इनके चारों ओर करोड़ों सुभट घूम रहे थे। उन्होंने दूर से ही सभा-स्थान को छिपकर देखा। [१०-१२]

तत्पश्चात् विमर्श बोला—भद्र प्रकर्ष! * हम अभीष्ट स्थान पर पहुँच गये हैं। भयंकर जंगल को पार कर महामोह राजा की सेना को देख लिया है। हमने इस सभा-स्थल और उसमें बैठे हुए महामोहराज और रागकेसरी राजा को सपरिवार देख लिया है। अभी हम को इस सभास्थल में प्रवेश नहीं करना चाहिये क्योंकि हम उनसे परिचित नहीं हैं, अतः अपरिचितों को देखकर कदाचित् उनके मन में शंका उत्पन्न हो सकती है और हमारे शोध-कार्य में बाधा आ सकती है। हम इतनी दूर से भी पूरे सभास्थल को अच्छी तरह देख सकते हैं, अतः कौतूहल से भी सभामण्डप में प्रवेश करना हम लोगों के लिये किसी प्रकार उचित नहीं है।

प्रकर्ष की जिज्ञासा : उत्तर

प्रकर्ष – ठीक है मामा! ऐसा ही होगा, किन्तु इस भयंकर जंगल, महानदी, नदीतट, विशाल मण्डप, मंच, सिंहासन, महामोह राजा, उनका परिवार और अन्य राजाओं की अपूर्व शोभा-छटा को मैंने पहले कभी नहीं देखा, जिससे मैं आश्चर्यचकित हो रहा हूँ और इनमें से प्रत्येक के नाम और गुणों को विस्तार से जानने की प्रबल जिज्ञासा मेरे मन में हो रही है। मामा! आपने मुझे पहले कहा भी था कि जो-जो वस्तुएँ देखोगे उन सब का यथावस्थित तत्त्व का आपको ज्ञान है, अतः इन सकल वस्तुओं का तत्त्व मुझे समझाइये।

विमर्श—हाँ भाई! मैंने कहा तो था, परन्तु तुमने तो एक साथ कई वस्तुओं के सम्बन्ध में प्रश्न कर दिये हैं, अतः इन सब के बारे में पहले अपने मन में सोच कर फिर तुम्हें बताता हूँ।

प्रकर्ष—आप अच्छी तरह चिन्तन कर कहें।

विमर्श ने उस जंगल का, महानदी का, नदी पुलिन (द्वीप) का, मण्डप का, मंच और सिंहासन का भली प्रकार अवलोकन किया। महामोह राजा, अन्य राजाओं, उनके परिवारों तथा समस्त बल का निरीक्षण करने के पश्चात् इनके सम्बन्ध में मन में सोचा, फिर अपने हृदय में मन्थन किया, इन्द्रियों के सब व्यापारों को बन्द कर, वृत्ति को दृढ़ कर, आँखों को निश्चल कर, थोड़ी देर तक एकाग्र होकर ध्यान किया। ध्यान पूर्ण कर तनिक सा मस्तक को हिलाते हुए हँस दिया।

प्रकर्ष—मामा! यह क्या हुआ?

विमर्श—अभी मैंने इन सब का स्वरूप समझ लिया है इसीलिये मुझे प्रसन्नता हुई है। अब तुझे इसके अतिरिक्त भी जो कुछ पूछना हो वह प्रसन्नता से पूछ ले।

प्रकर्ष—बहुत अच्छा अन्य प्रश्न फिर पूछूंगा। पहिले तो मैंने जो प्रश्न कर रखे हैं उन्हीं के विषय में बताइये।

---

* पृष्ठ ३४२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चित्तवृत्ति महाटवी

विमर्श ने क्रमशः सभी वस्तुओं का वर्णन प्रारम्भ किया—

भाई प्रकर्ष ! यह जो अति विस्तृत चित्तवृत्ति नामक महाटवी है, इसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की अद्भुत घटनायें निरन्तर होती रहती हैं। यह जंगल श्रेष्ठ रत्नों की उत्पत्ति स्थान के रूप में जग-प्रसिद्ध है। इसी अटवी को अनेक प्रकार के उपद्रवकारी अनर्थ-पिशाचों की उत्पत्ति भूमि भी कहा गया है। अन्तरंग में रहने वाले सभी लोगों के नगर, ग्राम, पत्तन और स्थान इसी चित्तवृत्ति जंगल में हैं।❀ यद्यपि ज्ञानी अपने ज्ञान चक्षु से देख कर किसी कारण से कभी-कभी बाह्य प्रदेश में भी उनके स्थान का निर्देश करते हैं तथापि परमार्थ से तो वे सब अन्तरंग व्यक्ति हमेशा इस महाअटवी में ही प्रतिष्ठित हैं, अर्थात् यहीं रहते हैं, ऐसा समझ। क्योंकि, अन्तरंग निवासियों का कोई भी स्थान इस चित्तवृत्ति महा अटवी के अतिरिक्त बाह्य प्रदेश के किसी भी स्थान पर नहीं हो सकता। भद्र ! अन्तरंग के कुछ लोगों को छोड़कर सभी अच्छे-बुरे व्यक्ति इस अटवी के अतिरिक्त कदापि कहीं और नहीं रहते। भद्र ! यदि इस महाटवी का आसेवन विपरीत (मिथ्यात्व) भाव से किया जाय तो यह प्राणी से महापाप करवा कर उसे इस महा भयंकर संसार-अरण्य में भटकाने वाली बन जाती है। भद्र ! यदि इसका आसेवन सम्यक् प्रकार (सम्यक्त्व) से किया जाय तो यह अनन्त आनन्दपूर्ण मोक्ष का कारण भी बन सकती है। इसका अधिक वर्णन क्या करूं ? भद्र ! संक्षेप में कहूँ तो संसार की सभी अच्छी-बुरी घटनाओं का कारण यह महा अटवी ही है। [१–१०]

प्रमत्तता महानदी

भद्र ! यह जो चारों तरफ फैली हुई अति विस्तृत महानदी तुम देख रहे हो इसको मनीषी गण प्रमत्तता महानदी कहते हैं। इस नदी के दोनों ओर के ऊँचे-ऊँचे किनारों को निद्रा कहते हैं और इसमें कषाय का पानी निरन्तर बहता रहता है। मद्य के स्वादवाली यह नदी राजकथा, देशकथा, स्त्रीकथा, भक्तकथा आदि विकथाओं रूपी पानी के प्रवाहों का तो भण्डार ही है। इस नदी में विषय-वासनाओं की अति चंचल तरंगे सदा से व्याप्त हैं। विविध विकल्प रूपी मोटे मत्स्यों से यह नदी भरी हुई है। यदि कोई निर्बुद्धि प्राणी इस नदी के तट पर खड़ा रहे तो उसे आकर्षण पूर्वक खींचकर यह नदी अपने आवर्तजाल (भंवर) में फंसा देती है। जो मूढ प्राणी एक बार भी इस नदी के प्रवाह में पड़ गया तो वह फिर एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता, अर्थात् आत्मिक दृष्टि से तो वह मृतप्रायः ही हो जाता है। पहले तुमने रागकेसरी राजा का राजसचित्त नगर और द्वेषगजेन्द्र राजा का तामसचित्त नगर देखा है। उन नगरों से निकल कर यह नदी इस अटवी में प्रवेश करती है और अन्त में घोर संसार-समुद्र में गिरती है। इसके भंवर-जाल में फंसा हुआ प्राणी निश्चित

❀ पृष्ठ ३४३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप से वेगपूर्वक घिसटता हुआ संसार-समुद्र में डूब जाता है। ऐसे डूबे हुए का बचाव कहाँ ? जो प्राणी भयानक संसार-समुद्र में जाने की इच्छा रखते हैं उन्हें यह महानदी अत्यधिक प्रिय है, परन्तु जो प्राणी घोर संसार-सागर से भयभीत हैं वे तो इस नदी को छोड़कर इससे दूर ही दूर भागते रहते हैं। भद्र ! उक्त महानदी का गुण और स्वरूप का वर्णन पूर्ण हुआ। [११-२०]

तद्विलसित पुलिन (द्वीप)

इस नदी के मध्य में जो यह द्वीप देख रहे हो इसे तद्विलसित द्वीप कहते हैं। अब इसका स्वरूप वर्णन करता हूँ, सुनो—भद्र ! इस द्वीप पर हास्य और विब्बोक (गर्व से अनादर) की रेत है। यह पुलिन विलास, नृत्य और संगीत रूपी हंस और सारस पक्षियों से भूषित है। स्नेहपाश रूपी आकाश से घिरा हुआ होने से यह धवल (सफेद) दिखाई दे रहा है * और घर्घराहट के साथ वेग से आती निद्रा रूपी मदिरा से यह दुर्जन प्राणियों को मत्त कर देता है। मूर्ख जीवों की क्रीडा के लिये यह विशाल द्वीप रमणीय स्थान है, किन्तु विशुद्ध चरित्र वाले तत्त्व-रहस्य के जानकार विद्वान् प्राणी तो इस द्वीप को दूर से ही प्रणाम करते हैं. अर्थात् सर्वदा दूर ही रहते हैं। हे भद्र ! नदी-पुलिन का गुण-वर्णन पूर्ण हुआ। अब मैं महामण्डप और उसके नायक का वर्णन करता हूँ। [२१-२५]

चित्तविक्षेप मण्डप

इस द्वीप के मध्य में जो सभामण्डप बना हुआ है उसे विद्वान् लोग चित्त-विक्षेप के नाम से जानते हैं। यह सर्व प्रकार के दोष-समूह का घर है, इसीलिये इसका ऐसा नाम रखा गया है। इस मण्डप में प्रवेश करते ही प्राणी अपने गुणों को पूर्णरूप से भूल जाता है और महापापों के साधनभूत अधम से अधम कार्य करने की ओर उसकी बुद्धि प्रवृत्त होती है। यहाँ जो महामोह आदि बड़े-बड़े भूपतिगण विराजमान दिखाई दे रहे हैं उन्हीं के कार्य के लिये विधाता ने इस मण्डप का निर्माण किया है। भद्र ! तुम देखोगे कि यद्यपि यह मण्डप राजाओं के लिये बना है तथापि कुछ-कुछ बाह्य नगर के लोग भी महामोह के वशीभूत होकर इसमें प्रवेश कर गये हैं। ये बहिरंग नगर के निवासी मण्डप में प्रविष्ट होने के पश्चात् मण्डप के दोष के कारण विभ्रम में पड़ जाते हैं, जिससे उन्हें अनेक प्रकार के संताप होते हैं, मन में उन्माद होता है और वे नियम-व्रत से भ्रष्ट हो जाते हैं। उनकी यह स्थिति इस मण्डप के कारण ही होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। महामोह आदि राजा जब यहाँ आकर इस मण्डप को प्राप्त करते हैं तब स्वाभाविक रूप से उनका चित्त सन्तुष्ट और प्रमुदित होता है, किन्तु बाहर के लोग जब मोह के वशीभूत होकर इस मण्डप में प्रवेश करते हैं तब उनकी मानसिक स्थिति विकृत हो जाती है और वे दुःख-समुद्र में डूब जाते हैं। क्योंकि, यह मण्डप अपनी शक्ति से चित्त को अपूर्व शान्ति और

* पृ० ३४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुख-सन्दोह देने वाली एकाग्रता का नाश कर देता है। बेचारे भाग्यहीन बाहर के व्यक्ति यह नहीं जानते कि इस मण्डप में कितनी अधिक उच्छेदक शक्ति है, इसीलिये मोहाभिभूत होकर वे पुनः-पुनः इस मण्डप में प्रवेश करते हैं। जो कतिपय पुण्यशाली प्राणी इस मण्डप की उच्छेदक शक्ति को पहचानते हैं वे दुबारा इस मण्डप में कभी प्रवेश नहीं करते। ऐसे भाग्यशाली प्राणी तो अपने चित्त में अपूर्व शान्ति धारण कर, एकाग्रता का आश्रय लेकर इसी जन्म में सतत आनन्द का अनुभव करते हैं। हे भद्र! इस चित्तविक्षेप मण्डप की ऐसी अद्भुत यौगिक शक्ति का गुण-वर्णन पूर्ण हुआ। अब मैं वेदिका का वर्णन करता हूँ, सुनो। [२६-३७]

तृष्णा वेदिका

इस मण्डप के मध्य में एक वेदिका (मंच) महामोह महाराजा के लिये बनायी गयी है जो विश्व में तृष्णा के नाम से प्रसिद्ध है। अतएव भद्र! तू इसे ध्यान पूर्वक देख। महाराजा के कुटुम्ब परिवार के सभी लोगों को इस मंच पर प्रवेश मिला हुआ है। महाराजा की सेवा करने वाले अन्य राजा तो सभा-मण्डप के आस-पास भिन्न-भिन्न स्थानों पर बैठे हैं, किन्तु मोहराजा का परिवार तो मंच पर ही बैठा हुआ है। भैया! यह मंच तो प्रकृति (स्वभाव) से ही मोह राजा और उसके परिवार को विशेष रूप से अत्यधिक प्रिय है। इस मंच पर बैठकर मोह राजा जब गर्वाभिभूत होकर सब लोगों पर पुनः-पुनः दृष्टिपात करते हैं तब मन में ऐसे हर्षित होते हैं मानो उनके सर्व कार्य सिद्ध हो गये हों।* यह मंच महामोह राजा के पूरे परिवार को अपने ऊपर बिठाकर अपने स्वभाव से ही उन सब को प्रसन्न रखता है। भद्र! यदि बाहर के लोग इस मंच पर आकर बैठ जाय तो उनका क्या हाल हो, यह तो कहने की भी आवश्यकता नहीं है। उनका दीर्घ (आत्मिक) जीवन नष्ट हो जाता है। भैया! बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि यह तृष्णा वेदिका (मंच) यहाँ रह कर भी अपनी शक्ति से सम्पूर्ण संसार को चक्र पर चढ़ाती है और सब को भ्रमित करती है। हे भद्र! यथार्थ नामधारक इस तृष्णा वेदिका का स्वरूप बतलाया, अब मैं सिंहासन के गुण-दोषों का वर्णन करता हूँ, उसे तू सुन। [३८-४६]

विपर्यास सिंहासन

इस तृष्णा मंच पर विपर्यास नामक सिंहासन रखा हुआ है। विधि ने इसका निर्माण निश्चित रूप से महामोह महाराजा के लिये ही किया है। मोहराजा को लोक-विख्यात विशाल राज्य और समृद्धि आदि अन्य जो कुछ भी प्राप्त है उसका कारण यह सिंहासन ही है। मेरी मान्यता है कि जब तक महामोह राजा के पास यह श्रेष्ठ सिंहासन है, तभी तक उसका राज्य और राज्य-समृद्धि है। जब तक ये महाराजा इस सिंहासन पर बैठे हैं तब तक उनके सभी शत्रु एकत्रित होकर अकेले उन पर हमला करें तो भी उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकते, अर्थात् शत्रुओं के लिये

* पृष्ठ ३४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अगम्य हो जाते हैं। किन्तु, जब ये महाराजा इस सिंहासन से उतरकर अन्य स्थान पर बैठ जाय तो एक निर्बल पुरुष भी उन्हें जीत सकता है। भद्र ! बाहर के लोगों द्वारा इस सिंहासन की ओर दृष्टिपात करने मात्र से वे महान् अनर्थों, भयंकर विपत्तियों और अनेक कठिनाइयों में फंस जाते हैं। जब तक बाहर के लोग इस सिंहासन की तरफ दृष्टिपात नहीं करते तभी तक उनकी सुन्दर बुद्धि अच्छे मार्ग पर प्रवृत्त होती है। यदि उनकी एक बार भी सिंहासन पर दृष्टि पड़ जाती है और मन उसके प्रति आकृष्ट हो जाता है तब तो प्राणी महा पापिष्ठ-वृत्ति और व्यवहार वाले बन जाते हैं। ऐसी अवस्था में उनके पास प्रशस्त बुद्धि रह भी कैसे सकती है ? पहले जिस नदी, द्वीप, मण्डप और मंच का वर्णन किया गया है उन सब की सम्मिलित शक्ति इस सिंहासन में समाई हुई है। भद्र ! विपर्यास सिंहासन के गुण-दोष का स्वरूप मैंने बता दिया। [४७-५५]

महामोह राजा

भाई प्रकर्ष ! अब इस सिंहासन पर बैठे हुए महामोह राजा के गुणगौरव का वर्णन ध्यान पूर्वक सुनो। इन महाराजा का शरीर अविद्या से बना हुआ है। यद्यपि वृद्धावस्था के कारण वह जीर्ण कपोल वाले हो चुके हैं तथापि त्रिभुवन में विख्यात हैं। भैया ! इनका यह जीर्ण शरीर भी अपनी शक्ति से त्रिभुवन में क्या-क्या कर सकता है, सुनो। यह अनित्य वस्तुओं में नित्यता का भान कराता है, अपवित्र वस्तुओं को महा पवित्र और शुद्ध मनवाता है, दुःख से परिपूर्ण वस्तुओं को सुख रूप बतलाता है, अनात्म वस्तुओं में आत्मा का रूप प्रतिपादित करवाता है, शरीर आदि पुद्गल स्कन्धों में ममता उत्पन्न करवाता है और ऐसे भाव उत्पन्न करवाता है मानों वह उनका अपना ही हो। पर-वस्तुओं में अपनेपन की बुद्धि उत्पन्न कर प्राणी को परभाव में इतना आसक्त कर देता है कि प्राणी अपने (आत्म) स्वरूप को भूलकर अनर्थकारी क्लेशों को प्राप्त करता है। मोहराजा का यह अविद्या शरीर वृद्धावस्था से ❀ इतना जीर्णशीर्ण होने पर भी तेज से देदीप्यमान है, इसीलिये इसे महाबली कहा जाता है। भद्र ! यह राजेन्द्र सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति करने वाला होने से प्राज्ञजनों ने इस महामोह को पितामह का नाम दिया है, अर्थात् यह महामोह दादा या महामोह पितामह के नाम से पहिचाना जाता है। इसकी शक्ति इतना अचिन्त्य है कि शिव, विष्णु, शेषनाग, इन्द्र, चन्द्र और विद्याधर तथा ऐसी ही अन्य बड़ी-बड़ी हस्तियाँ भी इस दादा की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकतीं। अहा ! जो महामोह दादा अपनी शक्ति रूपी डण्डे से कुम्हार की भाँति इस जगत् रूपी चाक को घुमा कर भिन्न-भिन्न कार्यरूपी बर्तन खेल-खेल में बना सकता है उस अचिंत्य शक्ति वाले महामोह राजा की आज्ञा का अपमान करने या उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने में दुनिया में कौन समर्थ हो सकता है ? भाई प्रकर्ष ! इस प्रकार मैंने तुम्हारे सामने

❀ पृष्ठ ३४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महामोह राजा और उसके गुणों का वर्णन किया। अब इस राजा का परिवार कैसा-कैसा है ? इसका वर्णन करूंगा। [५६-६७]

इतना कहकर विमर्श थोड़ी देर चुप हो गया।

१०. भौताचार्य कथा

[विचक्षणाचार्य अपनी कथा नरवाहन राजा के समक्ष सभाजनों एवं रिपुदारण को सुनाते हुए कह रहे थे कि जिस समय विमर्श ने चित्तवृत्ति अटवी से लगाकर मोहराजा तक का वर्णन किया उस समय प्रकर्ष ने बीच में न तो एक भी प्रश्न किया और न हुंकारा ही भरा। इससे विमर्श को लगा कि या तो प्रकर्ष बराबर समझ नहीं रहा है या किसी अन्य विचार में पड़ा हुआ है। मुझे तो नहीं लगता कि इसने बराबर ध्यान देकर मेरी बात सुनी हो।]

अतः विमर्श ने पूछा—भाई प्रकर्ष ! यद्यपि मैं तेरे सन्मुख प्रस्तुत प्रतिपाद्य विषय का विस्तार से वर्णन कर रहा हूँ तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि किन्हीं विचारों में तू खो गया है और गुमसुम होकर सुनता जा रहा है; क्योंकि वर्णन के बीच में न तो तूने एक भी प्रश्न पूछा और न हुंकारा ही दिया। इससे लगता है कि मेरी बात तुझे भलीभाँति समझ में नहीं आई है। सम्पूर्ण वर्णन के बीच में तू ने कभी सिर भी नहीं हिलाया, न कभी चुटकी ही बजाई। अपनी आँखों को स्थिर करके तू मेरी ओर देख रहा था, पर तेरे मुख पर भी किसी प्रकार का भाव दृष्टि-गोचर नहीं हो रहा था, जिससे मुझे पता नहीं लग सका कि तू मेरी बात को ठीक से समझ पाया या नहीं ? [६८-७०]

प्रकर्ष—मामा ! ऐसा न कहिये। आपकी कृपा से संसार में ऐसी कोई बात नहीं है जो स्पष्टतः मेरी समझ में न आये। [७१]

विमर्श—भैया ! मैं जानता हूँ कि तू मेरी बात स्पष्ट रूप से समझ रहा है। मैंने तो तेरे साथ किंचित् परिहास किया था, क्योंकि—

विज्ञातं परमार्थेऽपि, बालबोधनकाम्यया।
परिहासं करोत्येव, प्रसिद्ध पण्डितो जनः॥

विद्वान् लोग बच्चों को समझाने के लिये, परमार्थ (वस्तुतत्त्व) को समझ रहा हो फिर भी उनके साथ उच्चस्तरीय किंचित् हास्य-विनोद करते ही हैं। भद्र ! मुझे तो तेरे जैसे भाणजे के साथ विनोद करना ही चाहिये। मेरे तनिक परिहास पर कुपित होना उचित नहीं है। सुन, यद्यपि मेरे द्वारा कथित सब वर्णन तुझे समझ में आ गया होगा, फिर भी मेरे उत्साह और हर्ष को बढ़ाने के लिये कभी-कभी तुझे वार्ता के बीच में प्रश्न करना चाहिये। किसी भी वार्तालाप के बीच-बीच में शंका-समाधान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने से, वार्ता का आनन्द बढ़ जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में यथावस्थित वस्तुतत्त्व के अन्तरंग रहस्य को तो तू मेरे साथ चर्चा करके ही बराबर समझ सकता है, मात्र सुनने से वस्तु का आन्तरिक स्वरूप समझ में नहीं आ सकता। भाई! इसका रहस्य तुझे यत्नपूर्वक समझना चाहिये, अन्यथा वस्तुतत्त्व से अज्ञात भौताचार्य की कथा के समान बात हो जायेगी। [७२-७७]

प्रकर्ष—मामा! यह भौताचार्य की कथा कौनसी है? कहो।

भौताचार्य की कथा

विमर्श—भद्र! सुन, किसी नगर में जन्म से बधिर सदाशिव नामक भौताचार्य (शिवभक्त) रहते थे। अधिक वृद्ध होने पर जब वे जीर्ण-शीर्ण दिखाई देने लगे, तब एक उपहास प्रिय धर्त छात्र ने हाथ के इशारे से उन्हें बुलाकर उनसे कहा—गुरुदेव नीतिशास्त्र में कहा है कि—

विषं गोष्ठो दरिद्रस्य, ❀ जन्तोः पापरतिर्विषम्।
विषं परे रता भार्या, विषं व्याधिरुपेक्षितः॥

दरिद्र से गोष्ठी करना विष के समान है, पाप के प्रति प्रेम रखना विष के समान है, अपनी स्त्री की परपुरुष में आसक्ति विष के समान है और व्याधि की उपेक्षा करना भी विष के समान ही है। हे भट्टारक! आपको बधिरपन का उपचार शीघ्र ही करवाना चाहिये। इस महाव्याधि की उपेक्षा करना ठीक नहीं है। अपने विद्यार्थी की बात सुनकर भौताचार्य ने भी निश्चय किया कि किसी प्रकार इस बहरापन (रोग) को मिटाना चाहिये।

आचार्य ने अपने शिष्य शान्तिशिव को बुलाकर कहा—शान्ति! तू वैद्य के घर जाकर, उसे मेरे बहरेपन का सब वृत्तान्त कह कर वह जो औषधि-चूर्ण बतावे वह लेकर शीघ्र आ। अब अधिक समय तक उपेक्षा कर इस रोग को बढ़ने नहीं देना चाहिये। आचार्य की आज्ञानुसार शान्तिशिव वैद्य के घर गया।

जिस समय वह वैद्य के घर पहुँचा, उसी समय वैद्य का लड़का इधर-उधर भटक कर घर आया था। लड़के को देखते ही वैद्य ने क्रोधान्ध होकर लड़के को अति कठोर मूंज के मोटे रस्से से खम्भे के साथ बाँध दिया। लड़का चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा तो वैद्य अधिक क्रोधित होकर निर्दयता पूर्वक उसे लकड़ी से मारने लगा। शान्तिशिव दूर से देख रहा था, जब उसने बुरी तरह लड़के को पिटते हुए देखा तब उसे दया आ गई और उसने वैद्य से पूछ ही लिया, अरे वैद्यराज! आप इस लड़के को इतना अधिक क्यों मार रहे हैं?

उत्तर में वैद्य बोला—अरे, यह पापी बिल्कुल सुनता ही नहीं हैं। इतने में ही वैद्य की स्त्री लड़के को मार से बचाने के लिये हाहाकार करती हुई बीच में आ खड़ी हुई। तब वैद्य अधिक क्रोधित होकर कहने लगा—'तू दूर हट जा, अन्यथा

❀ पृष्ठ ३४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेरी भी ऐसी ही गति होगी ।' इतना कहने पर भी जब वह दूर नहीं हुई तब वैद्य उसे भी लकड़ी से पीटने लगा ।

यह सब देखकर शान्तिशिव ने विचार किया कि, अरे ! मुझे भट्टारक जी के लिये जो औषधि लेनी है, वह तो मैंने सुन ही ली है, अब वैद्य से पूछने की आवश्यकता ही क्या है ? (शान्तिशिव ने वैद्य से बिना पूछे ही उपरोक्त घटना देख-सुनकर मन में यह निर्णय कर लिया था कि जो न सुने उसे सुनाने के लिये खम्भे से बाँधकर लकड़ी से मारना ही औषधि है ।)

पश्चात् शान्तिशिव वैद्य के घर से निकलकर एक शिवभक्त सेठ के घर गया । उससे एक रस्सी माँगी । सेठ ने एक सण की रस्सी दी तो शान्तिशिव ने कहा कि, इसको रहने दो मुझे तो कठोर मूंज की मजबूत रस्सी चाहिये । शिवभक्त ने उसे मूंज की मोटी रस्सी देते हुए पूछा—भट्टारक ! इस रस्सी की क्या आवश्यता पड़ गई ?

शान्तिशिव ने कहा—इस रस्सी से हमारे माननीय सुगृहीत नामधन्य सदाशिव भट्टारक जी की औषधि करनी है ।

रस्सी लेकर शान्तिशिव भट्टारक के मठ में आ गया । मठ में गुरु को देखते ही उसने क्रोध से भौंहे चढ़ायी, मुँह लाल-पीला किया और मठ के बीच खड़े एक खम्भे से रोते-चिल्लाते भट्टारक को उस रस्सी से बांध दिया । फिर एक मोटा लट्ठ (लकड़ी) लेकर गुरु को खूब जोर से मारने-पीटने लगा ।

इधर शिवभक्त सेठ ने विचार किया कि भट्टारक के लिये औषधि बनायी जा रही है, अतः मैं भी मठ में जाऊँ । कुछ आवश्यकता होने पर मैं भी सहयोग कर सकूँगा । ऐसा सोचकर सेठ भी मठ में आया । मठ में घुसते ही सेठ ने देखा कि शान्तिशिव निर्दयता से आचार्य को मार रहा है । तब उसे रोकते हुए उन्होंने कहा—'अरे शान्तिशिव ! यह क्या कर रहा है ? आचार्य को क्यों मार रहा है ?' इस पर शान्तिशिव ने वैद्य की नकल उतारते हुए कहा—'मैं इतना प्रयत्न कर रहा हूँ तब भी यह पापी कुछ भी सुनता ही नहीं ।' ❀ उस समय तक सदाशिव आचार्य मार खा-खाकर मृतप्राय जैसे हो गये थे और अत्यन्त भयंकर क्रन्दन कर रहे थे । आचार्य की ऐसी विपन्न दशा देखकर शिवभक्तों ने हाहाकार करते हुए शान्तिशिव को रोका ।

इस पर शान्तिशिव ने दुबारा वैद्य की नकल उतारते हुए कहा—'मैं इतना अधिक प्रयत्न कर रहा हूँ फिर भी यह दुरात्मा सुनता ही नहीं । अभी तो मुझे इसे और मारना पड़ेगा । तुम सब अलग हट जाओ, अन्यथा तुम्हारा भी यही हाल होगा ।' उतने पर भी जब शिवभक्त उसे रोकने लगे, तब उसने शिवभक्तों पर भी लाठियाँ जमा दी । परन्तु, शिवभक्त अधिक थे अतः 'इसके हाथ से लकड़ी छीन लो' कहते हुए उन्होंने मिलकर उसे पकड़ा, लकड़ी छीन ली और यह सोचकर कि शान्तिशिव

❀ पृष्ठ ३४८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को अवश्य कोई भूत लगा है, अतः उसे खूब मारा, उसके हाथ पीछे से बांध दिये और उसकी मुश्कें बाँध दी। तदनन्तर उन्होंने सदाशिव आचार्य को छुड़ाया। थोड़ी देर बाद आचार्य में चेतना आई। देवकृपा से वे बच गये।

फिर सभी शिवभक्तों ने मिलकर शान्तिशिव से पूछा—अरे भले मनुष्य! तू आचार्य भट्टारक के साथ ऐसा दुर्व्यवहार क्यों कर रहा था?

शान्तिशिव ने बड़े भोलेपन से कहा—अरे मूर्खों! वैद्यराज ने भट्टारक के बहरेपन को मिटाने के लिये जिस औषधि का उपदेश दिया था, मैं तो उसी का प्रयोग कर रहा था। तुम मुझे छोड़ो और मुझे भट्टारक जी की व्याधि को दूर करने दो। व्याधि की उपेक्षा मत करो।

शिवभक्तों ने सोचा कि अवश्य ही शान्तिशिव को भूत लगा है। उन्होंने उससे कहा—'देख, तू फिर ऐसा नहीं करने की प्रतिज्ञा करे तो तुझे छोड़ दें।' शान्तिशिव बोला—'अरे भले मनुष्यों! क्या मैं तुम्हारे कहने से हमारे गुरु महाराज के रोग की दवा भी न करूँ? मैं तो जैसा वैद्यराज ने कहा है वैसा ही करूंगा। तुम्हारे कहने से नहीं रुकूंगा।'

शान्तिशिव की बात सुनकर शिवभक्तों ने वैद्यराज को बुलाया और उन्हें सब घटना सुनाई। वैद्यराज अपने मन में हँसते हुए बोले—भट्टारक! मेरा लड़का तो बहरा नहीं है। बात ऐसी है कि मैंने बहुत परिश्रम पूर्वक उसे वैद्यक शास्त्र की बड़ी-बड़ी पुस्तकों को पढ़ाया है, पर उसे खेलकूद की ऐसी आदत पड़ गई है कि मेरे कितना ही समझाने पर भी वह उन वैद्यक शास्त्रों के अर्थ एवं विधि को ग्रहण नहीं करता। इसीलिये मुझे क्रोध आ गया और मैंने उसे मारा। यह तो कोई बहरेपन की दवा नहीं है। यह मेरा लड़का तो इस औषध (मार) के प्रभाव से समझ गया है, अर्थात् यह औषध गुण कर गई है। परन्तु, मेरी बात सुनकर बिना मुझे पूछे भट्टारक की ऐसी औषधि तुझे नहीं करनी चाहिये थी।

शान्तिशिव—बहुत अच्छा वैद्य जी! अब ऐसा नहीं करूंगा। किसी भी प्रकार हमारे से भट्टारक ठीक होने चाहिये। यदि वे किसी दूसरे उपाय से ठीक होते हैं तो फिर इस औषधि की क्या आवश्कता है।

तदनन्तर शान्तिशिव के वादा करने पर लोगों ने उसे छोड़ दिया।

भावार्थ : प्रश्न

विमर्श भाई प्रकर्ष! यदि तू भी शान्तिशिव की भाँति जितना मैं कहूँ उसे ही सुने और उसके भावार्थ को न समझे तो बेचारे भौताचार्य के जैसी दुर्दशा तू मेरी भी कर सकता है। इसीलिये तुझे कह रहा हूँ कि मेरी बात का भावार्थ समय-समय पर प्रश्नोत्तर के माध्यम से मुझ से पूछ लिया कर।

प्रकर्ष—मामा! आपने तो बहुत बढ़िया कथा सुनाई। अब मुझे जो कुछ पूछना है वह आपसे पूछ लेता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विमर्श—तुझे जो कुछ पूछना है, प्रसन्नता से पूछ।

प्रकर्ष देखो मामा! आपने सबसे पहले चित्तवृत्ति अटवी का वर्णन किया और कहा कि यह समस्त अन्तरंग लोक की आधारभूत है तथा बहिरंग लोक में जितनी भी अच्छी-बुरी घटनायें घटती हैं उन सब का निर्माण करवाने वाली यही अटवी है। यह बात तो रहस्य (भावार्थ) के साथ मेरी समझ में आ गई। तदनन्तर आपने * प्रमत्तता महानदी, तद्विलसित द्वीप, चित्तविक्षेप मण्डप, तृष्णा वेदिका, विपर्यास सिंहासन, अविद्या शरीर और महामोह राजा का जो वर्णन किया है उसका रहस्य मैं सम्यक् प्रकार से नहीं समझ सका हूँ। यद्यपि गहन विचार करने पर मेरी कल्पनानुसार ऐसा लगता है कि ये बस नाम से ही भिन्न हों, पर अर्थ से तो वे सब एक समान ही हैं। क्योंकि, ये अन्तरंग लोक की पुष्टि करने वाले और बहिरंग लोक का अनर्थ कराने वाले लगभग एक समान ही हैं। फिर भी यदि इनमें कोई अर्थ-भेद हो तो कृपाकर आप मुझे समझाइये।

विमर्श—भाई! जब मैंने इनमें से प्रत्येक के सम्बन्ध में गुण-स्वरूपों का वर्णन किया था तभी इनमें क्या-क्या अन्तर है, इसका भी स्पष्टता पूर्वक विवेचन कर तुझे समझाया था। फिर भी यदि तुझे वास्तविकता ठीक से समझ में न आई हो तो मैं पुनः अर्थ सहित समझाता हूँ।

ऐसा कहकर विमर्श ने नदी, द्वीप आदि प्रत्येक का भावार्थ विस्तार पूर्वक भाणजे प्रकर्ष को कह सुनाया, जिससे उसे प्रत्येक की वास्तविकता स्पष्टता पूर्वक समझ में आ गई।

❀

११. वेल्लहल कुमार कथा

नरवाहन राजा ने विचक्षणाचार्य से कहा—महाराज! विमर्श ने अपने भानजे प्रकर्ष को नदी आदि का जो भावार्थ (रहस्य) बताया, वह सब आप हमें भी सुनाइये। राजा का प्रश्न सुनकर विचक्षणाचार्य ने महानदी आदि का भावार्थ विस्तार से कह सुनाया।

इधर अगृहीतसंकेता ने संसारी जीव से कहा—भद्र संसारी जीव! महानदी आदि का भावार्थ मेरे समझने योग्य हो तो उस अर्थभेद (रहस्य) को मुझे भी सुनाइये।

संसारी जीव—बिना किसी स्पष्ट दृष्टान्त के प्रत्येक का भिन्न-भिन्न स्वरूप समझाना बहुत कठिन है, अतः पहले दृष्टान्त देकर फिर मैं इनके भावार्थ को समझाऊंगा।

---

* पृष्ठ ३४९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अगृहीतसंकेता ने आभार पूर्वक उसका प्रस्ताव स्वीकार किया, अतः संसारी जीव ने पहले दृष्टान्त कथा प्रारम्भ की—

वेल्लहल कुमार कथा

भुवनोदर नामक एक नगर था। नगर की प्राकृतिक रचना ही ऐसी थी कि संसार में होने वाली सभी घटनायें उस नगर में भी होती रहती थीं। उस नगर में अनादि नामक राजा राज्य करता था। वह इतना शक्तिशाली था कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश जैसी समर्थ हस्तियों को भी पराजित कर, वह अपने वश में रख सकता था। इस अनादि राजा की रानी का नाम संस्थिति था। वह नीति-निपुण थी और सच्ची-झूठी युक्तियों से मिथ्या बोलने वाले का नाश करने में कुशल थी।

इन राजा-रानी के एक अत्यन्त वल्लभ वेल्लहल नामक पुत्र था। यह कुमार खाने-पीने का इतना शौकीन था कि वह रात-दिन भिन्न-भिन्न प्रकार के खाद्य और पेय पदार्थों का भक्षण और पान करता ही रहता था तब भी उसे कभी तृप्ति नहीं होती थी। अधिक खाने-पीने से उसे अजीर्ण हो गया, पेट के दोष बढ गये और फिर उसे जीर्ण-ज्वर हो गया। अत्यन्त रुग्ण होने पर भी इस कुमार की खाने-पीने की इच्छा थोड़ी भी कम नहीं होती थी। एक दिन उसकी इच्छा बगीचे में गोठ करने की हुई। गोठ के लिये विविध प्रकार के भोजन तैयार कराये गये। तैयार भोजन-सामग्री को देख-देख कर कुमार का मन ललचाने लगा। मन में सोचने लगा कि मैं इस-इस खाद्य को खाऊंगा; क्योंकि सभी पदार्थ उसे रुचिकर थे, इसलिये सब में से थोड़ा-थोड़ा कुमार ने नमूना चख लिया। फिर अपने मित्र मण्डल, परिवार और अन्तःपुर की सुन्दरियों सहित वे लोग उद्यान की ओर निकल पड़े। मार्ग में भाट लोग कुमार का गुणगान करने लगे, उन्हें दान देते हुए, आडम्बर पूर्वक विविध प्रकार के आमोद-प्रमोद करते हुए वे लोग ❀ मनोरम उद्यान में पहुँचे।

उद्यान में पहुँचने के बाद मित्रों के साथ कुमार भी आसन पर बैठे और लाई हुई भोजन सामग्री में से थोड़ी-थोड़ी सभी वस्तुएं उसे भी परोसी गईं। इनमें से प्रत्येक वस्तु कुमार ने थोड़ी-थोड़ी खाई। उस समय जंगल की ठण्डी हवा भी उसे लगने लगी, इससे उसका ज्वर अधिक तेज हो गया। वैद्यक शास्त्र में कुशल समयज्ञ नामक वैद्यपुत्र भी उनके साथ था। उसने कुमार के ललाट पर हाथ लगाकर और नाड़ी देख कर यह निर्णय कर लिया कि कुमार का ज्वर बढ गया है और उसे पीड़ा हो रही है, पर लज्जा के मारे वह बोल नहीं रहा है।

समयज्ञ ने कुमार से कहा देव! आपको अब कुछ भी नहीं खाना चाहिये। यदि आप अब कुछ भी खायेंगे तो आपको बहुत हानि होगी। देखिये, अभी भी आपका शरीर भीतर से ज्वर की प्रबलता के कारण धधक रहा है। आकृति से स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि आपकी आँखें लाल चोल हो गई हैं, मुँह भी तप्त ताम्र

❀ पृष्ठ ३५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के समान लाल हो रहा है, सीने में से धक-धक की आवाज आ रही है, नाडी तेज चल रही है, बाह्य चमड़ी जल रही है और हाथ अंगारे जैसे हो रहे हैं। ये सारे चिह्न ज्वर वृद्धि के हैं। अतः अब आप भोजन न करें और पवन रहित बन्द कमरे में जाकर आराम करें। लंघन (उपवास) करें, गर्म पानी पीयें और अजीर्ण तथा ज्वर को मिटाने के जो भी उपाय हैं, उन सब का सम्यक् प्रकार से सेवन करें। यदि आप इसमें तनिक भी उपेक्षा करेंगे तो आपको तुरन्त ही सन्निपात हो जायगा।

वैद्यपुत्र जब कुमार को रोग-शमन के उपाय बता रहा था तब भी कुमार की दृष्टि तो परोसे हुए भोज्य पदार्थों पर ही जमी हुई थी और सोच रहा था कि यह खाऊंगा, वह खाऊंगा। उसका अन्तःकरण भोज्य पदार्थों पर इतना आसक्त हो गया था कि वैद्यपुत्र द्वारा उसके हित में दिये हुए उपदेश को सुनने की ओर भी उसने ध्यान नहीं दिया। समयज्ञ, कुमार का हाथ पकड़-पकड़ कर उसे खाने से रोक रहा था तब भी वेल्लहल तो उसकी उपस्थिति में, उसके रोकने पर भी खाता ही रहा। उसे वैद्यपुत्र की उपस्थिति की भी शर्म नहीं आई। यद्यपि वेल्लहल को पहले ही प्रबल अजीर्ण था ही, अतः ज्वर की तीव्रता बढ़ने से वह जो भी ग्रास मुँह में डालता, उसे गले के नीचे बल पूर्वक उतारता। ऐसी दशा में भी वह जबरदस्ती खाये जा रहा था। परिणाम स्वरूप उसका हृदय उछलने लगा, पेट में गड़बड़ होने लगी, भक्षित भोजन मुँह में आने लगा और अन्त में वमन होने लगी, जिससे सामने पड़ा हुआ भोजन भी वमन मिश्रित हो गया। ऐसी अत्यन्त दयनीय अवस्था में भी वेल्लहल कुमार विपरीत ही सोचने लगा कि 'मेरा शरीर भूख से पीड़ित है, मेरा पेट खाली है जिसमें वायु घुस गयी है उसी से यह उल्टी हुई है, अन्यथा उल्टी कैसे हो सकती है ? उल्टी से पेट अधिक खाली हो जायगा तो उसमें अधिक हवा भर जायगी, इससे मुझे अधिक व्यथा होगी। इसीलिये मुझे दुबारा डटकर भोजन कर पेट को पूरा भर लेना चाहिये, जिससे कि वह खाली न रहे और उसमें हवा नहीं भरे।' उस समय दूसरा भोजन तो उसके सामने परोसा हुआ था नहीं, अतः कुमार निर्लज्ज होकर सब लोगों के देखते हुए वह वमन मिश्रित भोजन ही करने लगा। [१–३]

ऐसे निर्लज्ज और हानिकारक व्यवहार को देखकर समयज्ञ वैद्यपुत्र घबराया और चिल्लाते हुए उसने कुमार से कहा – देव ! देव !! आपको कौए जैसा व्यवहार करना योग्य नहीं है। प्रभो ! आप अपने इतने बड़े राज्य, सुन्दर शरीर और चन्द्र जैसे निर्मल यश को मात्र एक दिन के भोजन के लिए व्यर्थ में ही गंवा रहे हैं। मेरे प्रभो ! आपके सामने पड़ा हुआ यह वमन मिश्रित भोजन ❀ अपवित्र, दोषपूर्ण, उद्वेगकारक और निन्दनीय है, अतः आपको इसका भक्षण करना कदापि उचित नहीं है। देव ! आपके शरीर में पहले से ही दुःखदायी अनेक व्याधियां विद्यमान हैं, फिर भी आप ऐसा वमन मिश्रित दोषपूर्ण भोजन करेंगे तो वह आपकी सर्व व्याधियों

❀ पृष्ठ ३५१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को अधिक जागृत कर उन्हें बढ़ावेगा। आप जैसे विद्वान् को तो बाह्य पुद्गलमय इस तुच्छ भोजन पर आसक्ति होनी ही नहीं चाहिये। प्रभो! आप इसका त्याग कर अपने आपकी रक्षा करने का प्रयत्न करें। [४-८]

समयज्ञ द्वारा विनयपूर्वक इतना समझाने और रोकने पर भी वेल्लहल तो अपनी विपरीत मति पर डटा ही रहा। वह सोचने लगा कि, अहो! यह वैद्यपुत्र तो मूर्ख ही लगता है, समय का ज्ञाता नहीं लगता है। यह न तो मेरी प्रकृति को ही समझता है, न मेरी अवस्था को ही जानता है और मेरे हित-अहित को भी ठीक से नहीं समझता है तब भी यह मुझे सीख देने चला है। मेरे शरीर में वायु बढ़ गई है जिससे मुझे तो भूख लग रही है और यह मुझे खाने से रोक रहा है। देवताओं को भी दुर्लभ ऐसे सुन्दर सुस्वादु भोजन को यह दोषपूर्ण बता रहा है। धन्य है इसकी बुद्धि को! ऐसा बुद्धिहीन व्यक्ति कुछ भी बोले, मुझे उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। मैं तो यह भोजन इच्छानुसार अवश्य ही करूंगा। मुझे तो अपना स्वार्थ सिद्ध करना है, अन्य से क्या लेना देना? [९-१२]

वैद्यपुत्र, अन्य मित्रों और परिवारजनों के बारम्बार मना करने पर भी कुमार नहीं माना और उसने वह वमन मिश्रित भोजन किया ही। परिणाम स्वरूप उसके शरीर में एकाएक सभी दोष प्रबलता से बढ़ गये और उसे अत्यन्त तीव्र सन्निपात हो गया। फिर उसे उल्टी हुई और वह अचेत होकर उस उल्टी से भरी हुई घृणा योग्य जमीन पर ही काष्ठ के समान निश्चेष्ट होकर गिर पड़ा। उल्टी के कीचड़ में लोटने लगा। उसका गला कफ से भर जाने के कारण उसके कण्ठ से घर्र-घर्र की की भारी आवाज निकलने लगी। लोग देखते रहे और वह अत्यन्त उद्वेग उत्पन्न करने वाली और असाध्य चिकित्सा वाली दारुण अवस्था को प्राप्त हो गया। वह उस समय ऐसी विषम स्थिति को पहुँच गया था कि समयज्ञ भी उसे अब इस अवस्था से नहीं बचा सकता था तथा उसके परिवार-जन और नौकर भी अब उसकी रक्षा नहीं कर सकते थे। राज्य भी अब उसे इस अवस्था से बाहर निकालने में असमर्थ था और देव दानव भी इसको बचा नहीं सकते थे। यह प्राणी अब अपने कर्म के फल भोगते हुए अत्यन्त अपवित्र कीचड़ से भरी इस अवस्था में अनन्त काल तक इसी तरह लुढकता रहेगा। [१३-१९]

हे अगृहीतसंकेता! महानदी आदि वस्तुओं का भेद तुझे स्पष्टता से समझाने के लिये यह वेल्लहल की कथा सुनाई गई। अब कुछ समझी?

इस कथा को सुनकर अगृहीतसंकेता तो अधिक विह्वल होकर असमञ्जस में पड़ गई। वह बोली—अरे संसारी जीव! तू ने तो चित्तवृत्ति अटवी और वहाँ की अन्य वस्तुओं में भेद दर्शाने के लिये यह कथा कही थी। पर, मुझे तो इस कथा में पूर्वापर सम्बन्ध वाली कोई बात ही दिखाई नहीं देती। यह तो "ऊंठ और उसकी आरती" वाली कहावत चरितार्थ हुई। यदि तेरी इस कथा में और पूर्व-वर्णित महानदी आदि में कुछ सम्बन्ध हो तो मुझे स्पष्ट रूप से समझा दे। [२०-२३]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसारी जीव सदागम के समक्ष अपनी आत्मकथा सुनाते-सुनाते थक गया था और वह थोड़ा विश्राम करना चाहता था. इसलिये उसने प्रज्ञाविशाला से कहा—भद्रे प्रज्ञाविशाला ! मैंने अभी जो कथा कही है उसका सम्बन्ध पूर्व-वर्णित वस्तुओं के साथ कैसे घटित होता है, यह तू ही संक्षेप से अपने शब्दों में स्पष्ट करते हुए अगृहीता को समझा दे। [२४–२५] ❀

प्रज्ञाविशाला ने कहा—ठीक है, मैं भलीभांति समझाती हूँ। फिर वह बोली—भद्रे अगृहीतसंकेता ! देख, बराबर ध्यान रखना, अब मैं उपरोक्त कथा को पूर्व-वर्णित वस्तुओं से योजित (घटित) कर रही हूँ। [२६]

कथा-योजना : अर्थ-घटना

विशालाक्षि ! वार्ता में वेल्लहल कुमार का उल्लेख किया है उसे यहाँ कर्मभार से भारी बना हुआ संसारी जीव समझना। भद्रे ! ऐसा जीव भुवनोदर (संसार) नगर में ही उत्पन्न होता है। इसे अनादि राजा और संस्थिति रानी का पुत्र कहा गया है उसे यहाँ कर्मबन्धन युक्त जीव ही समझना जो कि अनादि कालीन कर्म-प्रवाह से अपनी संस्थिति के कारण संसार में भटकता है। इस संसारी प्राणी के अनन्त प्रकार के रूप होते हैं, अतः उसे बहिरंग लोक कहा गया है और सामान्य रूप की अपेक्षा से उसे एक कहा गया है। सुन्दरि ! मनुष्य भव में आकर ही प्राणी समस्त कर्मों पर प्रभुता प्राप्त करने की स्थिति में आता है इसलिये उसे महाराजपुत्र कहा गया है, क्योंकि राजकुमार ही सब का स्वामी बन सकता है। [२७–३०]

चितवृत्ति अटवी की योजना

चितवृत्ति अटवी को संसारी जीव की मनोवृत्ति समझना। प्राणी का अच्छा-बुरा जो कुछ भी होता है वह सब इसी मनोवृत्ति के कारण होता है। जब तक प्राणी आत्म-स्वरूप को सम्यक्तया नहीं पहचानता तभी तक उसकी चितवृत्ति पर महामोह और उसका सेनापति द्वन्द्व मचाता रहता है और मानसिक अटवी को उथल-पुथल करता है तथा युद्ध चलता रहता है। परन्तु, जैसे ही प्राणी आत्मा को पहचान लेता है वैसे ही वे महामोहादि आत्मा के अनन्त बल-वीर्य को देखकर दूर से ही भाग खड़े होते हैं। जब तक प्राणी में आत्मिक बल प्रकट नहीं होता तभी तक उसकी चितवृत्ति में महामोह का संघर्ष चलता रहता है और उस मनोवृत्ति में तृष्णा नदी आदि का निर्माण होता रहता है; क्योंकि महामोह और उसके सेनापतियों के क्रीडा करने के लिये यह महानदी क्रीडा-स्थली है। परन्तु, जब इन सेनानियों को चितवृत्ति के संघर्ष-स्थल में आने की ही आवश्यकता नहीं होती तब इन सब वस्तुओं का अपने आप ही नाश हो जाता है। भद्रे ! जब तक प्राणी अपने आत्म-स्वरूप को सम्यक् रीति से नहीं समझता तब तक ही महामोह राजा और उसके सेनानियों का चितवृत्ति पर पूर्णरूप से आधिपत्य रहता है और वह विकसित होती रहती है, तथा

❀ पृष्ठ ३५२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तब तक ही तृष्णा महानदी आदि वस्तुएँ निर्मित, विकसित और अधिकाधिक बढ़ती जाती हैं एवं जीव इनका निर्माण भी आवश्यक समझता है। (इस स्थिति में प्राणी अपनी आत्मा का शत्रु हो जाता है और उसे समझ में ही नहीं आता कि वह कैसी भूल कर रहा है या कैसे विपरीत मार्ग पर चल रहा है।) ऐसी विषम स्थिति में प्राणी आत्म-शत्रु बनकर स्वयं की शक्ति से भिन्न-भिन्न प्रकार का कार्य और आचरण करता है। इस तथ्य को समझाने के लिये ही वेल्लहल की कथा कही गई है। उसका इस महा अटवी और महानदी आदि से घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसके भेद को समझाने के लिये अब मैं भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रस्तुत अर्थ के साथ योजित (घटित) कर प्रकट करती हूँ। [३१-३६]

अजीर्ण : प्रमाद नदी : उद्यान-गमन का उपनय

जैसे इस वेल्लहल कुमार को आहार-प्रिय (अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थों को बार-बार खाने की इच्छा वाला) कहा गया है वैसे ही इस विषय-लम्पट जीव को समझना, जिसे विषय-भोग की कामनाएँ सर्वदा पुनः-पुनः होती रहती हैं। जैसे पुनः-पुनः अधिक भोजन करने से वेल्लहल कुमार को अजीर्ण रोग हो गया था वैसे ही हरिणाक्षि! इस जीव को बार-बार कर्म का अजीर्ण हो जाता है। यह कर्म पाप और अज्ञानमय होने से बहुत दारुण है, जिसमें से (प्रमाद) रूपी पुलिन (नदीतट द्वीप) उत्पन्न होता है, अर्थात् इस प्रमाद को उत्पन्न करने वाले तामसचित्त और राजसचित्त (नगर) हैं। जैसे-जैसे कुमार को भोजन करने से अधिकाधिक अजीर्ण होता गया और उसके जीर्ण ज्वर में वृद्धि होती गई वैसे ही प्राणी की विषय-लम्पटता बढ़ने से उसके रागादि (आसक्ति) दोषों में वृद्धि होती है जो जीर्ण ज्वर के समान समस्त प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोगों को बढ़ाती रहती है। ऐसे असाध्य अजीर्ण और जीर्ण ज्वर में भी जैसे वेल्लहल कुमार को भोजन करने की इच्छा होती रहती थी वैसे ही इस भाग्यहीन प्राणी को प्रति समय विषय-भोग की कामना बनी रहती है। ❀ मनुष्यभव प्राप्त जीव को देखेंगे तो प्रतीत होगा कि इसे कर्म का अत्यन्त दारुण अजीर्ण हो रहा है, उसके कुपित राग-द्वेष इतने वर्धित दिखाई देंगे कि उसके मूर्खता पूर्ण व्यवहार को देखकर आपको ऐसा लगेगा कि इसके चित्त पर ताप आ गया है, मानसिक संताप हो गया है। प्राणी वस्तु-स्वरूप को बराबर नहीं समझने के कारण वह समझ ही नहीं पाता कि राग-द्वेष के बढ़ने से उसका ज्वर (मानसिक संताप) बढ़ता जा रहा है, अतः वह सुख-प्राप्ति की इच्छा से ऐसे अहितकारी विपरीत मार्ग पर चल पड़ता है। (इससे वह अपना अहित करता है और परिणाम स्वरूप उसे दारुण दुःख प्राप्त होता है।) सुख-प्राप्ति के लिये वह दुरात्मा जीव शराब पीता है, उसे निद्रा सुखकारी लगती है, अनेक ऊंची उड़ानों से भरपूर कल्पनाजन्य विकथा उसे सुन्दर लगती है। उसे क्रोध इष्ट लगता है, मान प्रिय लगता है, माया प्यारी लगती है, लोभ प्राणों के समान अभीष्ट

❀ पृष्ठ ३५३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगता है और राग-द्वेष को स्वचित्त के समान ही समझता है। उसे सुन्दर स्त्रियों का स्पर्श प्रिय लगता है, रस अभीष्ट लगता है, गन्ध अच्छी लगती है, रूप आह्लादकारी लगता है और ध्वनि प्रियकारी लगती है। उसे चन्दन आदि का लेपन, ताम्बूल-चर्वण, आभूषण-धारण, सुस्वादु भोजन, फूलमालायें, लावण्यवती स्त्रियों का संगम और बढ़िया कपड़े पहनना अच्छा लगता है। बढ़िया आसन, वाहन और पलंग आदि पदार्थों पर मन ललचाया करता है। द्रव्य-संचय और झूठे यश की बातें बहुत ही प्रिय लगती हैं। हे भद्रे! प्राणी की चित्तवृत्ति रूपी अटवी में ऐसे कार्य करती हुई प्रमत्तता (प्रमाद) रूपी नदी अति वेग से निरन्तर बहती रहती है। [४०–५२]

हे सुन्दरि! जैसे अजीर्ण और जीर्ण ज्वर से संतप्त दशा में भी वेल्लहल राजकुमार को उद्यान में गोठ करने की इच्छा हुई और एतदर्थ खाद्य सामग्री तैयार करवाई। उस भोज्य सामग्री में से चखने के बहाने से उसने थोड़ी-थोड़ी खाई। उसके बाद आमोद-प्रमोद पूर्वक परिवार सहित नगर से निकल कर बगीचे में आया। वहाँ दिव्य आसन पर स्वयं बैठा। भोजनार्थ नानाविध खाद्य सामग्री परोसी गई, इत्यादि वर्णन पहले विस्तृत रूप से कर चुके हैं। हे कमलनयनि! वैसे ही प्रमाद में पड़े हुए प्राणी को कर्म के अजीर्ण से महा दारुण मानसिक संताप ज्वर के कारण उसके मन में प्रतिक्षण अनेक प्रकार के विचार उठते रहते हैं। जैसे—खूब धन कमाकर यथेच्छ सुख भोगू, अन्तःपुर को दिव्य वैभव-सम्पन्न कर दूं, मनोहारी राज्य का भोग करूं, बड़े-बड़े राज महल बनवाऊं, सुन्दर उद्यान बनवाऊं, महावैभव सम्पन्न बनूं, समस्त शत्रुओं का नाश करूं, समस्त जन-समूह से प्रशंसित होऊं और समस्त मनोरथों को पूर्ण करूं। पाँचों इन्द्रियों के शब्दादि विषय रूपी सुख-सागर में अपने को डुबाकर (सराबोर होकर) निरन्तर आनन्द की मस्ती में रहूँ। खाना, पीना, भोग भोगना और इन्द्रियों की तृप्ति करना, यही तो मनुष्य भव प्राप्त करने का फल है। इसके अतिरिक्त मनुष्य भव-प्राप्ति का फल ही क्या है? प्राणी की चित्तवृत्ति में ऐसी प्रमाद रूपी नदी निरन्तर बहती रहती हैं। हे सुन्दरि! उसे वेल्लहल कुमार के उद्यान में जाकर गोठ करने की इच्छा के समान समझना चाहिये। देख, ऐसे विचारों के परिणाम स्वरूप ही प्राणी महारम्भ पाप करता हुआ द्रव्य-संचय (संग्रह) करता है। दैवयोग से यदि उसे धन की प्राप्ति हो जाती है तो वह अपनी इच्छानुसार अन्तःपुर और भवन निर्माण से लेकर पूर्वोक्त पाँचों इन्द्रियों के विषयोपभोग पर्यन्त आनन्द सुख का स्वाद भी लेता है, जिसे वह सुख मानता है। [५३–६२]

तद्विलसित द्वीप की योजना

हे मृगलोचनि! कथा में कहा गया है कि गोठ के लिये तैयार भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वादिष्ट भोजन में से उसने थोड़ा-थोड़ा चखा, यह महारम्भ से धन-प्राप्ति होने पर पांचों इन्द्रियों के रसों का स्वाद लेने के समान है। जब यह प्राणी अनेक प्रकार

---

* पृष्ठ ३५४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के कुसंसर्गों से झूठी संकल्प-विकल्प-मालाओं से ग्रस्त होकर इसी को सुख मान बैठता है तब वह उसे प्राप्त करने के लिये अनेक प्रकार के विलास, नाच, संगीत, हास्य, नाटक आदि के झूठे आनन्द में डूब जाता है और दुर्ललिसाओं के वशीभूत होकर जुआ खेलने, शराब पीने, स्त्रियों के साथ सभोग करने आदि अधम कार्यों में रस लेने लगता है; जिससे वह सन्मार्ग रूपी नगर से दूर होकर दुःशील रूपी (बुरे मार्ग) उद्यान में आता है। हे नीलकमलनयने ! कथा में कुमार के उल्लास पूर्वक नगर से निकलकर उद्यान में आने का भावार्थ यही है। अर्थात् सन्मार्ग-भ्रष्ट होकर दुश्चरित्री हो जाता है और इसका कारण है आरम्भ-समारम्भ से प्राप्त धन के उपभोग करने की तुच्छवासना। उद्यान में आकर कुमार जिस दिव्य विशाल आसन पर बैठता है उसे मिथ्याभिनिवेश आसन समझ। फिर कर्म के पारिवारिकजनों द्वारा कुमार के सामने भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्ताकर्षक एवं स्वादिष्ट भोजन परोसे गये, जिनको वह पहले चख चुका है, इसीलिये उनके प्रति लोलुपता की दृष्टि से देखता है। हे पद्मलोचने ! यह भोजन सामग्री ही प्रमत्तता नदी के मध्य में स्थित तद्विलसित द्वीप के समान है। [२३-६६]

चित्तविक्षेप मण्डप का उपनय

हे भद्रे ! वेल्लहल कुमार द्वारा फिर थोड़ा सा भोजन करने से और जंगल के शीतल पवन से उसका ज्वर तीव्रता से बढ़ गया। वैद्यपुत्र ने इसे लक्ष्य किया और उसे भोजन करने से रोका परन्तु कुमार भोजन के प्रति इतना आकर्षित था कि उसने वैद्यपुत्र की बात सुनी ही नहीं। इसी प्रकार प्राणी को कर्म के अजीर्ण से मानसिक सन्ताप ज्वर तो पहले से ही होता है। फिर मदिरा, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा रूपी प्रमाद में पड़ने से और अज्ञान रूपी वायु के स्पर्श से उसका ज्वर बढ़ जाता है। प्राणी के इस कर्म-ज्वर की वृद्धि को समयज्ञ (शास्त्र के जानकार) वैद्य जैसे बुद्धिशाली धर्माचार्य समझते हैं और उसे अधिक प्रमाद में पड़ने से रोकते हैं तथा उसे वस्तु-स्वरूप को समझाते हुए स्पष्ट रूप से कहते हैं कि, 'भद्र ! इस अनादिकालीन संसार रूपी महा भयानक जंगल में भटकते-भटकते विशाल साम्राज्य की प्राप्ति के समान ही किसी सुन्दर कर्मों के सुयोग से तुम्हें यह मनुष्य भव प्राप्त हुआ है फिर भी कर्म के अजीर्ण से उत्पन्न ज्वर से तुम पीड़ित हो, अतः तुम प्रमाद का सर्वथा त्याग कर दो। अन्यथा कर्मज्वर की व्याधि में यदि प्रमाद का सेवन करोगे तो तुम्हारा यह मानसिक ज्वर बढ़कर सन्निपात में बदल जायेगा, अर्थात् तुम्हें महामोह रूपी सन्निपात हो जायेगा। इस मानसिक ज्वर को मिटाने की अमोघ औषधि सम्यक् ज्ञान सम्यक् दर्शन, और सम्यक् चारित्र है। यह औषधि सर्वज्ञ भगवान् ने बताई है। इसके सेवन से तुम्हारे चित्त पर चढ़े ज्वर का सर्वथा नाश होगा। अतः हे भद्र ! तुम इस औषधि का सेवन करो।' इत्यादि वचनों द्वारा धर्माचार्य प्राणी को विस्तृत उपदेश देते हैं, परन्तु इस पापी प्राणी के चित्त पर तो प्रमाद रूपी भोजन के प्रति इतनी अधिक आसक्ति होती है कि वह इस शिक्षा को उपदेष्टा का वागजाल मात्र समझकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वीकार नहीं करता है। अपितु, इसके विपरीत वह उन्मत्त के समान, मदिरापीत मत्त के समान, ग्राह (मगरमच्छ) ग्रस्त मृत्यु की पीड़ा के समान और गाढ निद्रा की बेहोशी में पड़े हुए के समान उद्भ्रान्त होकर, धर्माचार्य के उपदेश को अनसुना कर उससे विपरीत आचरण करता है। हे भद्रे ! संसारी प्राणी के इसी आचरण को महानदी के पुलिन तद्विलसित द्वीप के मध्य बने चित्तविक्षेप मण्डप के समान समझना चाहिये। ऐसी ये घटनायें संसारी जीव के सम्बन्ध में बारम्बार घटती ही रहती हैं।

[७०–७९]

तृष्णा वेदिका की संघटना

हे चारुलोचना अगृहीतसंकेता ! वेल्लहल को अजीर्ण और ज्वर के कारण भोजन गले से नीचे नहीं उतर रहा था फिर भी वह भोज्य पदार्थों के प्रति लोलुपता के कारण जबरदस्ती खा रहा था। फलस्वरूप उसने उसी भोजन के ऊपर ही उल्टी की। ठीक ऐसी ही घटना संसारी प्राणी के साथ भी घटित होती है। प्राणी कर्म के अजीर्ण से उत्पन्न जीर्ण ज्वर से ग्रस्त रहता है जिससे उसका मन सदा विह्वल रहता है और इधर वृद्धावस्था के कारण शरीर का खून और मांस सूख जाता है जिससे शरीर क्षीण हो जाता है और उसका क्षीण शरीर अनेक प्रकार के रोगों का घर बन जाता है। ऐसी अवस्था में किसी भी प्रकार के भोग * भोगने का उसमें सामर्थ्य नहीं रहता, फिर भी उसकी इच्छा अधिकाधिक भोग भोगने की ही बनी रहती है, परन्तु इसके विपरीत उसके मन में तनिक भी भोग-त्याग की बुद्धि जाग्रत नहीं होती। ऐसी स्थिति में भी वह प्रमाद-भोजन के प्रति लोलुपता होने के कारण विवेकीजनों निषिद्ध द्वारा करने पर भी वह उनकी बात नहीं सुनता। प्राणी को सौ की प्राप्ति होने पर हजार की इच्छा होती है और हजार मिलने पर लाख की, करोड़ की, करोड़ की प्राप्ति होने पर राज्य प्राप्ति की, राज्य मिलने पर देव बनने की और फिर इन्द्र बनने की इच्छा करता है। शक्रेन्द्र बन जाने पर भी उसकी इच्छा पूर्ति नहीं होती। चाहे जितने पुत्र हों, सुन्दर सद्गुणी स्त्रियाँ हो, सर्व प्रकार की इच्छित वस्तुएं हों, करोड़ों की सम्पत्ति हो, विविध प्रकार के भोग पदार्थ हो, फिर भी कुछ विशेष प्राप्त करने की उसकी अभिलाषा का कभी अन्त नहीं आता। जैसे-जैसे अधिकाधिक स्थूल पदार्थ मिलते जाते हैं वैसे-वैसे उनसे अधिक सुख प्राप्त करने की कामना से वह उन सब का संग्रह करता जाता है। जैसे ज्वर-ग्रस्त मनुष्य के अपथ्यकारी अधिक भोजन करने पर उसके ज्वर में वृद्धि होत है वैसे ही स्थूल पदार्थों के संग्रह से प्राणी के दुःखों की ही वृद्धि होती है। अधिक सुख प्राप्त करने की उसकी इच्छा तो इच्छा-मात्र ही रह जाती है, अपितु बाढ़ आदि के उपद्रव, अग्नि के उपद्रव, सम्बन्धियों के झगड़े, चोरों के उपद्रव और राज्य सत्ता द्वारा द्रव्य रूपी भोजन का जबरदस्ती वमन (हरण) करवाना आदि उपद्रवों से होने वाले उन पदार्थों के वियोग से उसके हृदय

---

* पृष्ठ ३५५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में दारुण कष्ट होता है और अत्यन्त दुःख से प्राणी विलाप पूर्ण क्रन्दन करता है, अर्थात् उसकी दशा बड़ी दयनीय बन जाती है। ऐसे अवसरों पर वे विवेकी पुरुषों के दयापात्र बन जाते हैं। हे सर्वांगसुन्दरी अगृहीतसंकेता! संसारी प्राणियों की इसी मनःस्थिति को चित्तविक्षेप मण्डप के मध्य बने तृष्णा वेदिका (मंच) का रूप समझना चाहिये। [८०-९१]

विपर्यास सिंहासन का उपनय

ऐसी शोचनीय दशा में भी वेल्लहल ने विचार किया कि शरीर में वायु दोष बढ जाने से उसे वमन हुआ है, वमन होने से उसका पेट खाली हो गया है और यदि यह उदर खाली रहा तो फिर इसमें वायु का प्रकोप बढ़ जायगा जिससे मुझे कष्ट-पीडा होगी, अतः दुबारा डटकर भक्षण कर लूं ताकि पुनः वायु-प्रकोप न हो। हे चपलनेत्री अगृहीतसंकेता! यह जीव भी ऐसा ही सोचा करता है। जब उसके द्वारा संचित वैभव पापरूपी ज्वर से नष्ट हो जाता है, अपने किसी स्वजन का, स्त्री का अथवा पुत्र का मरण होता है, अथवा हृदय पर आघातकारक किसी अत्यन्त प्रिय पदार्थ का विनाश होता है तब प्राणी मन में सोचता है कि शायद मैंने नीति (युक्ति) से धन नहीं कमाया, या सुचारु रूप से पुरुषार्थ नहीं किया, अथवा मैंने योग्य स्वामी का आश्रय नहीं लिया, अथवा व्याधि का उपचार बराबर नहीं किया। इसीलिये मेरा सर्वस्व चला गया, मेरी चारुदर्शना सुन्दर पत्नी मर गई या मेरे देखते-देखते पुत्र और बान्धव आदि अकाल में ही काल-कवलित हो गये। परन्तु, अब मैं उनका विरह क्षण भर भी नहीं सहन कर सकता। एक बार फिर पूरे उत्साह से प्रयत्न करूंगा और पहले के समान सब वैभव प्राप्त करूंगा, युक्ति-प्रयुक्ति से उसे सम्भाल कर रखूंगा और उसकी सावधानी पूर्वक रक्षा करूंगा। यदि मैं साहस खोकर बैठ जाऊं तो बकरी के गले के स्तन के समान मेरा जीवन व्यर्थ है, अर्थात् मेरा जन्म होना न होने के समान है। अतः पुनः प्रयत्न कर पूर्ववत् समस्त वैभव प्राप्त करूं। हे सुभ्रु अगृहीतसंकेता! जीव इस प्रकार की जो चेष्टायें करता है उसे विपर्यास सिंहासन के समान समझना चाहिये। [९२-१००]

वमित भोजन को पुनः खाने की अर्थ-योजना

हे सुन्दरि! जैसे वेल्लहल कुमार समयज्ञ वैद्यपुत्र के रोकने पर भी सब लोगों के देखते हुए लोलुपता पूर्वक वमन मिश्रित भोजन करने लगा, उस समय पारिवारिक लोगों ने चिल्लाते हुए उसका हाथ पकड़ कर उसे रोकना चाहा और वैद्यपुत्र ने रोकते हुए * कुत्सित भोजन के दोष उसे समझाये। तब भी वह राजपुत्र वैद्य के चिल्लाने की और उसके द्वारा वर्णित दोषों की उपेक्षा कर, उसी वमन मिश्रित कुत्सित भोजन को स्वयं के लिये हितकारी मान कर गाढासक्ति पूर्वक खाने लगा। वैसे ही यह संसारी जीव कर्मों की मलिनता के कारण निर्लज्ज होकर भोग कर

* पृष्ठ ३५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फके हुए पदार्थों को फिर से प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यद्यपि शब्द आदि पाँच इन्द्रियों के भोग के सभी स्थूल पदार्थ पुद्गल परमाणुओं से बने हुए हैं, प्रत्येक प्राणी इन्हीं परमाणुओं का उपभोग करता है, पूर्व के अनन्त भवों में इस प्राणी ने प्रत्येक परमाणुओं को अनन्त बार प्राप्त कर उपभोग कर छोड़ दिया है, अतः ये सब शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के जितने भी पदार्थ हैं और, हे पवित्र बहिन ! इस जगत् में प्रेमानुबन्ध पूर्वक आकर्षणकारी जितने भी पदार्थ इस संसार में हैं वे सब उन्हीं परमाणुओं के बने हुए होने से भोग कर फेंके हुए यानि वमन किये हुए पदार्थ के समान हैं तथापि यह पापात्मा जीव उन्हें पुनः प्राप्त कर आसक्ति पूर्वक सेवन करता है और वमन के कीचड़ में लोटता है। प्राणी के ऐसे निर्लज्ज व्यवहार को निर्मल आत्मा वाले आत्मार्थी वैद्य देखते हैं, उसे रोकते हैं, फिर भी उसे लज्जा नहीं आती। उसकी ऐसी शोचनीय एवं लज्जनीय स्थिति में भी पूतात्मा धर्माचार्य कृपा-परायण होकर भोग रूपी कीचड़ में फंसे हुए ऐसे प्राणियों को प्रयत्न पूर्वक बार-बार रोकते हैं और समझाते हैं।

हे भद्र ! तुम स्वयं अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य स्वरूप हो। तुम्हारे भीतर अवर्णनीय आत्मिक आनन्द है। तुम देव स्वरूप हो। तुम्हें ऐसे भोग के दलदल में फँसकर आत्मिक गौरव को क्षय करना शोभा नहीं देता। एक बार भोगे हुए पदार्थ फिर दूसरा रूप धारण कर तुम्हारे समक्ष आते हैं, अतः ऐसे वमन किये हुए पदार्थों पर अपने मन को अनुबन्धित करना तुम्हारे जैसों के लिये अत्यन्त ही हीन कार्य है। वस्तु-तत्त्व को यथार्थ रूप में समझने वाले तत्त्वज्ञ महात्मा इन पदार्थों को वमन किये हुए अपवित्र पदार्थ के समान मानते हैं। तुम तो स्वयं परम देव हो, फिर भी तुम ऐसे अपवित्र पदार्थों को भोग करो यह तनिक भी उचित नहीं है। इन पदार्थों को प्राप्त करने में भी दुःख होता है। तत्त्वतः ये पदार्थ भी महादुःख रूप हैं और भविष्य में भी उनके वियोग से दुःख होने वाला है। अतः विवेकशाल प्राणियों को इनका पूर्ण त्याग कर देना चाहिये। अपने आत्म-स्वरूप को समझने वाला कौन ऐसा भला मनुष्य होगा जो बाह्य परमाणुओं से निर्मित तुच्छ और आत्मिक-भाव रहित इन पदार्थों पर आसक्त होगा ? अर्थात् आत्म-धन वाले विशिष्ट प्राणियों के लिये ऐसे तुच्छ पदार्थ क्या कभी आसक्ति के योग्य हो सकते है ? अतः हे भद्र ! मेरे कहने से भोग-पदार्थों में और प्रमाद के विषय में पड़ना अब तुम्हारे योग्य नहीं है अतः अब तुम इस दलदल में मत फंसो। [१०१–११५]

अविद्याशरीर की संघटना

हे पद्मपत्रलोचने ! गुरु महाराज जब प्राणी को न्याय और तर्कपूर्ण शब्दों में उपदेश देकर विषय-भोग भोगने से रोकते हैं तब प्रमाद-भोजन में अत्यन्त लोलुप बना हुआ प्राणी सोचता है कि, अहो ! यह धर्माचार्य तो पूर्णतया मूर्ख हैं। ये तो वस्तुतत्त्व को समझते ही नहीं, ऐसे आनन्द देने वाले भोग-पदार्थों की निन्दा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं। इस संसार में मद्यपान, सुन्दरांगी के साथ सम्भोग, माँस भक्षण संगीत-श्रवण स्वादिष्ट भोजन, पुष्पहार, पान-सुपारी, सुन्दर वस्त्राभूषण, सुखदायी आसन आदि पदार्थों का भोग, अलंकार धारण, त्रिभुवन व्यापी निर्मल यश, मूल्यवान रत्नों का संग्रह, शूरवीरता, महाबली चतुरंग सेना, विशाल राज्य की प्राप्ति और यथेष्ट सम्पदाओं की प्राप्ति आदि ही यदि दुःख के कारण हैं तो फिर सुख है कहाँ ? कुछ बेचारे झूठे सिद्धान्त में फंसकर अपने शुष्क * पांडित्य के अभिमान में ग्रस्त हो जाते हैं, वे निश्चय रूप से इस लोक में भोग-साधनों और स्वादिष्ट भोज्य पदार्थों से वंचित ही रहते हैं। ये स्वयं तो धर्म-पागल होकर भोग नहीं भोग सकते, पर जो अन्य प्राणी प्रयत्न पूर्वक भोग सामग्री प्राप्त कर उपभोग करने वाले होते हैं उनके भोगों का भी अपने हाथों से नाश करवाते हैं। देखो न, ऐसे धर्म-पागल पण्डित संसार के भोगों को बन्धन बताते हैं और मोक्ष का उपदेश देते हैं, पर मोक्ष में तो ऐसे भोग उपलब्ध ही ही नहीं होते। फिर ऐसे मोक्ष का उपदेश ठगी नहीं तो और क्या है ? कौन ऐसा समझदार मनुष्य है जो ऐसे मोक्ष के लिये संसार के अमृत तुल्य सुखों का त्याग करेगा ? [११६-१२३]

ऐसा जीव गुरु महाराज के शुद्ध, सत्य उपदेशों से पराङ्मुख होकर ऐसी-ऐसी विपरीत कल्पनाओं द्वारा दूर भागता है, उसके विरुद्ध आचरण करता है और भोग-पदार्थों में अभूतपूर्व नये-नये गुणों की कल्पना करता है। वह मानता है कि ये भोग पदार्थ स्थिर हैं अर्थात् निरन्तर रहने वाले हैं, पवित्र हैं, सुख देने वाले हैं और वस्तुतः मेरे ही रूप हैं। मैं और ये अभिन्न हैं, ये मेरे ही हैं, मेरे लिये ही निर्मित हैं, अतः अब इनके अतिरिक्त मुझे किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। मुझे इस तथाकथित मोक्ष या शान्ति के साम्राज्य की कोई आवश्यकता नहीं है और धर्माचार्य या अन्य किसी के ऐसे बड़े-बड़े शब्दाडम्बरों के जाल में मैं अब अपनी आत्मा को नहीं फंसाऊंगा। ऐसे विचारों से प्राणी प्रमाद रूपी अशुचि के कीचड़ में धसता रहता है। शुद्ध धर्म क्या है ? प्राणी का कर्त्तव्य क्या है ? आदि समझाते हुए धर्माचार्य तो उसके हितार्थ उच्च स्वर से पुकारते हुए दूर रह जाते हैं। हे श्रेष्ठमुखी अगृहीत-संकेता ! प्राणी की ऐसी अविद्या (अज्ञान) मय मनोभावनाओं को ही महामोह राजा की अविद्या नामक शरीर-स्थिति समझना चाहिये। [१२४-१२८]

सन्निपात का रहस्य

वेल्लहल कुमार ने रोकने पर भी वमन मिश्रित भोजन ठूंस-ठूंस कर किया जिससे उसे सन्निपात हो गया। वह अपना भान भूल गया और उल्टी के कीचड़ में जमीन पर गिर पड़ा। इसी कीचड़ में लोट-पोट होते हुए असह्य वेदना के कारण उच्च स्वर से क्रन्दन करने लगा और वह अवर्णनीय अचिन्त्य असाध्य दशा को प्राप्त हो गया। हे सर्वांगसुन्दरि ! तब उसे इस असाध्य रोग से बचाने में कोई भी

* पृष्ठ ३५७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समर्थ नहीं हो सका। ऐसी ही स्थिति इस संसारी प्राणी की है। जब वह प्राणी प्रमाद युक्त होकर तद्विलास-परायण होता है तब उसके चित्त में अनेक प्रकार के विक्षेप होते रहते हैं और तृष्णा से पीड़ित होकर विपर्यास (विपरीत) बुद्धि के वशीभूत हो जाता है तथा अविद्या से अन्धा बनकर संसार रूपी कीचड़ में आसक्त हो जाता है। वह अपने मन से ही कल्पना कर बैठता है कि विषय-सुखों में ही समस्त गुणों का समावेश है। उस समय यदि कोई धर्माचार्य या सर्वज्ञ रूपी सच्चा वैद्य आकर उसे कीचड़ में फंसने से रोकता है तो यह जीव उन्हें मूर्ख और बुद्धिहीन मानता है। उस प्राणी द्वारा बांधे हुए अजीर्ण रूपी गाढ पापों के कारण उसे दुःख-भोग-रूपी ज्वर आता है। ज्वराभिभूत होकर यह धर्माचार्य सर्वज्ञ की शिक्षा को वमन के समान त्याग देता है और प्रमाद में पड़कर उसका मन [illegible] दोषों से परिपूर्ण हो जाता है। उस समय महामोह राजा, जिसका व्यवहार सन्निपात जैसा ही है, आकर उसके मन को अपने अधीन कर लेता है। एक बार महामोह के वश में पड़ने के पश्चात् हे सुन्दरलोचने! यह प्राणी अन्य विवेकशील प्राणियों के देखते-देखते ही आत्मिक दृष्टि से निश्चेष्ट बन जाता है। तदनन्तर अति पापोदय के परिणाम स्वरूप विष्टा, मूत्र, अंतडियाँ, चर्बी, खून, माँस रूपी कीचड़ से लथपथ वमन में लिपट कर सीधा नरक में पड़ जाता है। वहाँ फिर नरक के दलदल में लोट-पोट होता हुआ हा हा कार करता है, आर्त्तस्वर से रोता है, चिल्लाता है और अवर्णनीय तीव्रतम दुःखों को सहन करता है। * हे सुन्दरगात्र वाली बहिन! तपोधन और शुद्ध दृष्टि वाले ज्ञानी पुरुष अपनी ज्ञान दृष्टि से इस प्राणी की उक्त चेष्टाओं को देखते हैं, समयज्ञ चिकित्सक होने से उसका निदान कर जान लेते हैं कि यह प्राणी अब सन्निपात जैसे असाध्य रोग से घिर गया है और अब इसे बचाने का कोई उपाय शेष नहीं है, अतः वे ऐसे प्राणी का त्याग कर देते हैं, अर्थात् उसके प्रति उपेक्षा की दृष्टि धारण करते हैं। हे चपलनेत्रि! इस अवस्था में जब यह प्राणी घोर संसार में डूबा हुआ होता है तब उसको अन्य कोई रक्षा कैसे कर सकता है?

[१२६-१ २]

अल्पभाषिणि बहिन! ऐसी अत्यन्त दयनीय अवस्था में भी प्राणी की प्रमादरूपी भोजन पर लोलुपता है, उस भोजन का त्याग नहीं करता. इससे दोष बढ़ते जाते हैं और वह चेतनाशून्य होता जाता है तथा अन्त में वह महामोह के सन्निपात से घिर जाता है। फलस्वरूप यह संसार-चक्र जो रोग, जरा और मरण से आकुल-व्याकुल है। इसमें अनन्त काल से बैठा हुआ यह महा बलवान महामोह इस प्राणी के साथ ऐसा व्यवहार करता है कि जिससे इसके शुद्ध धर्मबन्धु इसे छोड़कर चले जाते हैं। फिर प्राणी को पूर्ण रूप से वश में कर यह महाबली महामोह अपनी शक्ति के बल पर सन्निपात के समान उससे विपरीत आचरण करवाता है। इस महामोह नरेन्द्र में इतनी अद्भुत शक्ति है कि वह प्राणी से संसार में खिलौने की भाँति

* पृष्ठ ३५८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इच्छानुसार खेलता है। इसके वशीभूत प्राणी अपनी आत्मा को तत्त्वतः भूल जाता है। हे सुलोचने ! अब तुझे समझ में आ गया होगा कि प्रमत्तता महानदी आदि समस्त वस्तुओं को गतिमान करने और उनकी वृद्धि करने वाला यह महामोह महाराजा ही है। [१४३-१४७]

संक्षिप्त अर्थ-योजना

हे अगृहीतसंकेता ! तुझे महानदी आदि का भेद समझाने के लिये वेल्लहल कुमार की कथा के सन्दर्भ से सम्बन्धित कर विस्तार से वस्तु-तत्त्व का गूढार्थ मैंने वर्णन किया, तथापि तू स्पष्ट रूप से नहीं समझी हो तो मैं पुनः इसी का संक्षेप में रहस्य सुना [illegible] [१४८-१४९]

सर्व [illegible] य भोगों के प्रति उन्मुख रहता है, उसे ही प्रमत्तता नदी समझना।

पाँचो इन्द्रियों की भोगों की तरफ प्रवृत्ति करने अर्थात् विषय-भोग भोगने को ही तद्विलसित द्वीप समझना।

हे मृगनयनि ! इन्द्रिय भोगों में प्रवृत्त होने पर विषय-लोलुपता के कारण मन में जो एक प्रकार की शून्यता आ जाती है, जिससे गम्य-अगम्य, भक्ष्य-अभक्ष्य, पेय-अपेय आदि के सम्बन्ध में कोई विचार नहीं रहता, उसे ही इस जीव का चित्त-विक्षेप मण्डप समझना।

भोगों को यथेष्ट भोगने पर भी तृप्ति कभी नहीं होती और मन में अधिकाधिक भोग भोगने की इच्छा बलवती रहती है। इसे ही मनीषियों ने तृष्णा-वेदिका (मंच) कहा है।

भोग सामग्री प्राप्त होने पर भी पाप के उदय से मिले हुए भोग नष्ट हो जाय तब उन भोगों को प्राप्त करने के लिये जो बाह्य प्रयत्न किये जाते हैं, जिसे पुरुषार्थ कहते हैं, उसी को विपर्यास सिंहासन कहते हैं।

इस संसार के सभी पदार्थ अनित्य हैं, अपवित्र हैं, दुःख से परिपूर्ण हैं और आत्मा से एकदम भिन्न हैं। ऐसे पदार्थों के विषय में विपरीत मान्यता का होना अर्थात् उन्हें नित्य, पवित्र, सुखदायक और आत्ममय मानना ही अविद्या (अज्ञान) रूपी शरीर कहा जाता है।

इन समस्त पदार्थों में प्रवृत्त कराने वाला तथा इनमें से ही उत्पन्न होने वाला महामोह महाराजा कहलाता है।

बहिन अगृहीतसंकेता ! इस प्रकार महानदी आदि सब वस्तुएँ एक दूसरे से भिन्न स्वरूप वाली हैं, अतः इन्हें चिन्तन पूर्वक सम्यक् प्रकार से समझ लेना चाहिये।

अगृहीतसंकेता ने कहा—बहिन ! आपने सुन्दर शैली में बहुत अच्छी तरह से समझाया। अब मुझे विश्वास हो गया कि आप सचमुच प्रज्ञाविशाला हैं। अर्थात् आपका जैसा नाम है वैसे ही आप में गुण हैं। अब मेरे सारे संशय नष्ट हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गये हैं। हे विशालाक्षि ! आपको बहुत कष्ट हुआ, अब आप विश्राम करें और ❀ संसारी जीव को कहें कि यह अपनी आगे की आत्मकथा सुनावे। भाई संसारी जीव! विचक्षणसूरि अपना जो चरित्र नरवाहन राजा के समक्ष सुना रहे थे और जिसमें अभी विमर्श-प्रकर्ष की बात चल रही थी, उसे अब आप आगे सुनाइये। [१५०–१५८]

ससारी जीव ने अपनी आत्मकथा आगे सुनाना प्रारम्भ किया।

❀

१२. महामूढता, मिथ्यादर्शन, कुदृष्टि

विचक्षणसूरि ने नरवाहन राजा के समक्ष धर्मसभा और रिपुदारण को सुनाते हुए कहा कि उस समय संसारी जीव ने अपनी आत्मकथा आगे बढ़ाते हुए कहा—हे विमललोचने ! विमर्श ने जो प्रतिपादित किया उसे मैं सुनाता हूँ। [१५९–१६०]

मामा विमर्श ने भाणजे प्रकर्ष से कहा—भाई प्रकर्ष ! अब तुम्हें नदी आदि का गूढार्थ पूर्णतया समझ में आ गया होगा ? बोलो, और भी स्पष्टता करने की आवश्यकता है क्या ? [१६१]

प्रकर्ष—मामा ! प्रमत्तता नदी आदि सबके बारे में मैं समझ गया हू। इनके नाम और गुण सब मेरे लक्ष्य में आ गये हैं। अब आप मुझे मोहराजा के समस्त परिवार का परिचय कराइये। इन सब के समक्ष राज-सिंहासन पर जो सुन्दर और मोटी स्त्री बैठी है, इसका नाम क्या है और इसमें कौन-कौन से गुण हैं ? [१६२–१६३]

देवी महामूढता

विमर्श—यह पृथ्वीपति महामोह महाराजा की जगत्प्रसिद्ध गुणों की भण्डार सौभाग्यवती महारानी महामूढता है। जैसे चन्द्र से चन्द्रिका और सूर्य से प्रकाश अलग नहीं रहते वैसे ही यह महारानी अपने स्वामी से अलग नहीं रहती। इन दोनों का शरीर एक ही है अर्थात् ये दोनों अभिन्न हैं। इसीलिये मोह राजा के जो गुण पहले वर्णन किये हैं वे सभी विशेष रूप से इसमें भी विद्यमान हैं। [१६४–१६६]

सेनापति मिथ्यादर्शन : महत्ता

प्रकर्ष—अच्छा मामा ! यह तो मैं समझा। अब यह बताओ कि महाराज के पास ही जो कृष्णवर्णी (कालाकोट) और भयंकर आकृति वाला राजपुरुष बैठा है और जो समस्त सभासदों को टेढी नजर से देख रहा है, वह राजा कौन है ? [१६७–१६८]

❀ पृष्ठ ३५९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विमर्श--यह समस्त राज्य का नायक महामोह महाराज का प्रख्यात मुख्यमंत्री या सेनापति मिथ्यादर्शन है। महाराजा के सम्पूर्ण राज्य पर यही शासन करता है अर्थात् राजतन्त्र यही चलाता है। हे भद्र! यहाँ बैठे हुए अन्य राजाओं को भी यही शक्ति प्रदान करता है। यह अन्तरंग प्रदेश में रहकर भी बाह्य प्रदेश के प्राणियों में अपनी शक्ति से निम्न परिवर्तन करता है—उसे ध्यान पूर्वक समझ लो। [१६६-१७१]

अदेव को देव : देव को अदेव

जो देव नहीं उसमें देवत्व की बुद्धि उत्पन्न करता है, अधर्म में धर्म की मान्यता उत्पन्न करता है, अतत्त्व में स्पष्टतः तत्त्व की बुद्धि जागृत करता है, अपात्र या कुपात्र में पात्रता का आरोप करता है, जहाँ लेशमात्र भी गुण न हो वहाँ गुणों का भण्डार बताता है और संसार बढ़ाने के हेतुओं को मोक्ष के हेतु होने की भ्रांति कराता है। [१७२-१७६]

यह मिथ्यादर्शन ऐसे आश्चर्यजनक कार्य कैसे सम्पादित करता है, यह भी थोड़ा विस्तार से बताता हूँ।

जो हंसने, गाने, हास्य-विनोद, नाटक आदि आडम्बरों में तल्लीन रहते हैं, जो स्त्रियों के कटाक्ष-विक्षेप के वशीभूत हो जाते हैं, जो अपना आधा शरीर ही स्त्री (अर्ध-नारीश्वर) का बना लेते हैं, जो कामान्ध होते हैं, जो पर-स्त्री में आसक्त रहते हैं, जो निर्लज्ज होते हैं, जो क्रोध से भरे हुए हैं, जो शस्त्र धारण करते हैं, जो देखने में ही भयंकर लगते हैं, जो शत्रु को मारने में तत्पर रहते हैं, शाप और आशीर्वाद देने के माध्यम से जिनके चित्त कलुषित रहते हैं, ऐसे व्यक्तियों (देवों) का यह मिथ्यादर्शन सर्वोत्तम देव के रूप में स्थापित करवाता है। इसके विपरीत जो राग-द्वेष से रहित हैं, जो सर्वज्ञ हैं, जो शाश्वत सुख और ऐश्वर्य को अनन्त काल तक भोगने वाले हैं, * अत्यन्त क्लिष्ट कर्मरूपी मैल का जिन्होंने सर्वथा नाश कर लिया है, जो सर्व प्रकार के प्रपञ्चों से रहित हैं, जो महाबुद्धिशाली हैं, जिनका क्रोध सर्वथा शान्त हो गया है, झूठे आडम्बरों से रहित हैं, जो हास-विलास स्त्री और अस्त्र-शस्त्रों से रहित हैं, जो आकाश के समान निर्मल और स्वच्छ हैं, जो धैर्यवान, शान्त और गम्भीर हैं, जो महान भाग्यशाली हैं, जो समस्त प्रकार के अशिवकारी उपद्रवों से रहित हैं, जो न किसी को शाप देते हैं और न किसी को आशीर्वाद देते हैं, फिर भी जो प्राणियों को शिवपद (मोक्ष) प्राप्त करवाने में कारणभूत हैं, जो मन, वचन और कायिक दृष्टि से विशुद्ध शास्त्रों का उपदेश देने वाले हैं, जो परम ऐश्वर्यवान (परमेश्वर) हैं, जो समस्त देवताओं के भी पूज्य हैं, जो समस्त योगियों द्वारा भी ध्यान करने योग्य है, जिनकी आज्ञा का अनुसरण और आराधना करने से सदानन्दमय निर्द्वन्द्व विशुद्ध सुख की प्राप्ति होती है, ऐसे वास्तविक और सच्चे देव को यह

* पृष्ठ ३६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्यादर्शन अपनी शक्ति से आच्छादित कर देता है और उसके स्वरूप का विशेष रूप से ज्ञान भी नहीं होने देता है। अर्थात् जो प्राणी इसके वश में हैं वे ऐसे महागुणी अक्षय सुखदायी सच्चे देव के स्वरूप को नहीं समझ सकते और न ऐसे देवों के अस्तित्व का ही उन्हें कोई भान रहता है। [१७७-१८१]

अधर्म को धर्म : धर्म को अधर्म

स्वर्णदान, गोदान, पृथ्वीदान आदि करने, बार-बार स्नान करने, धूम्रपान करने, पंचाग्नि तप करने, चण्डिका आदि देवियों का तर्पण करने, बड़े-बड़े तीर्थों पर जाकर शरीरपात (आत्मघात) करने, साधुओं को एक ही घर में भोजन कराने, गाने बजाने नाचने आदि का आदर करने, बावड़ी-कुएं और तालाब खुदवाने, यज्ञों में मंत्रों द्वारा पशुओं का होम करने आदि ऐसे-ऐसे अनेक प्रकार के जो प्राण-घातक, शुद्ध-भावरहित धर्म इस संसार में दिखाई दे रहे हैं, हे भद्र! उन्हें इस महाबली मिथ्यादर्शन ने प्रपञ्च से लोगों को ठगकर जगत् में धर्म के नाम से फैलाया है। [१८२-१८६]

इस संसार में अन्य भी धर्म हैं जो कहते हैं कि क्षमा करो, मृदुता (नम्रता) धारण करो, संतोष धारण करो, हिंसा का त्याग करो, पवित्रता धारण करो, सरलता सीखो, लोभ त्यागो, तप करो, संयम में मन को लगाओ सत्य बोलो, परद्रव्य का हरण मत करो, ब्रह्मचर्य का पालन करो, शान्ति रखो, इन्द्रियों का दमन करो, अहिंसा का पालन करो, पराई वस्तु न लो, शुद्ध ध्यान धरो, संसारजाल पर विराग रखो, गुरु की भक्ति करो, प्रमाद त्यागो, मन को एकाग्र करो, निर्ग्रन्थता में तत्पर रहो आदि आदि चित्त को निर्मल करने वाले अमृत जैसे शुद्ध उपदेश, जो सच्चे शुद्ध धर्म के योग्य हैं, जो जगत् को आनन्ददायक और संसार-समुद्र के उल्लंघन के लिये सेतु जैसे हैं, उन्हें यह महामोह का सेनापति मिथ्यादर्शन प्रकृति से ही अधर्म की आड में आच्छादित करता रहता है। अर्थात् ऐसे विशुद्ध धर्म की अप्रसिद्धि कैसे हो, जन-समूह इसे कम से कम जाने, ऐसी योजना वह प्रति-समय बनाता रहता है और ऐसे धर्म को अधर्म के रूप में प्रसिद्ध करने का सर्वदा प्रयत्न करता है। [१८७-१९०]

अतत्त्व में तत्त्वबुद्धि : तत्त्व में अतत्त्वबुद्धि

आत्मा श्यामाक (धान्य) एवं चावल जैसे आकार का है, पाँच सौ धनुष प्रमाण है, अखिल विश्व में एक है, नित्य है, विश्व व्यापी है, विभु है, क्षण-सन्तान रूप है अर्थात् क्षण-क्षण में विनाशशील है, ललाट में रहता है, हृदय में रहता है, ज्ञान मात्र (रूप) ही है, चराचर सभी शून्यमात्र है, पञ्चभूतों का समूह है, अखिल विश्व ब्रह्मा निर्मित है, देव सर्जित है और महेश्वर निर्मित है—आदि आदि आत्मा के विषय में जो अनेक प्रकार के प्रमाण-बाधित तत्त्व मानते हैं। ऐसे तत्त्वाभास के विषय में भी यह मिथ्यादर्शन प्राणी को तत्त्वतः मानने की सद्बुद्धि जाग्रत करता है। [१९१-१९४]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब कि जीव, अजीव, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा, आस्रव, बन्ध और मोक्ष जो वास्तविक नौ तत्त्व हैं, ❀ जिनकी प्रतीति से सिद्धि होती है और जो प्रमाणों द्वारा प्रतिष्ठित हैं उन्हें यह दारुण व्यक्ति मिथ्यादर्शन छुपा देता है। अर्थात् इसके वश में पड़े हुए प्राणियों को यह प्रमाणसिद्ध सत्य तत्त्वों को दृष्टि से ओझल कर देता है, पहचानने नहीं देता। [१९५–१९६]

कुगुरु को सुगुरु : सुगुरु को कुगुरु

साधु-वेष धारण करके भी घर में रहने वाले, ललनाओं के अंगोपांगों का मर्दन करने वाले, प्राणियों की घात (हिंसा) करने वाले, असत्य-परायण, पापिष्ठ, प्रतिज्ञाभंग करने वाले, धन-धान्य आदि का परिग्रह करने में रचे-पचे हुए, स्वादिष्ट भोजन का निर्माण करवाकर सर्वदा भक्षण करने वाले, मद्यपान करने वाले, पर-स्त्रियों के साथ गमन करन वाले, धर्म-मार्ग को दूषित करने वाले, तप्त लोह पिण्ड के समान क्रोधमूर्ति होते हुए भी यति स्वरूप के धारक—आदि-आदि अधर्माचरण करने वालों को भी यह मिथ्यादर्शन सत्पात्र (सद्गुरु) बनाकर उनका योग्य सन्मान करने और उनका उपदेश सुनने की बुद्धि जागृत करता है।

जब कि सत्य ज्ञान के ज्ञाता, विशुद्ध ध्यान में रत, शुद्ध चारित्र का पालन करने वाले, उग्र तपस्या करने वाले, सन्मार्ग में अपनी शक्ति का उपयोग करने वाले, गुण-रत्नों को धारण करने वाले, महान् धैर्यवान, चलते-फिरते कल्पवृक्ष के समान, दानदाता को संसार-समुद्र से पार उतारने वाले, अचिन्तनीय वस्तुओं से भरे हुए जहाज के समान, (संसार समुद्र से) उस पार पहुँचाने वाले—ऐसे निर्मलचित्त वाले महापुरुषों के प्रति यह जड़ात्मा मिथ्यादर्शन अपात्र (कुगुरु) की बुद्धि उत्पन्न करता है। [१९७–२०२]

असाधु को साधु : साधु को असाधु

साधु-वेश धारण कर सौभाग्य के लिये भस्म देने वाले, गारुड़ी विद्या या जादू का प्रयोग करने वाले, मन्त्रों का उपयोग करने वाले, इन्द्रजाल दिखलाने वाले, स्वर्ण आदि रसायन-सिद्ध करने वाले, विष उतारने वाले, तन्त्रों का प्रयोग करने वाले, अंजन लगाकर अदृश्य होने वाले, आश्चर्योत्पादक कार्य करने वाले, उत्पात, अन्तरिक्ष, दिव्य, अंग, स्वर, लक्षण, व्यंजन और भौम अष्टांग निमित्त के माध्यम से शुभाशुभ फल बतलाने वाले, उच्चाटन आदि से शत्रु का नाश करने वाले, टोने-टोटके करने वाले, आयुर्वेदीय औषध देने वाले, सन्तति के शुभाशुभ फल बतलाने वाले, जन्मपत्री तैयार करने वाले, ज्योतिष गणना से वर्ष-फल बताने वाले, यौगिक चूर्ण और यौगिक लेप आदि तैयार करने वाले, दूषित शास्त्रों के माध्यम से विचित्र एवं आश्चर्यजनक कार्य करने वाले, अन्य प्राणियों का नाश करने वाले, धूर्तता की ध्वजा फहराने वाले, ऐसे-ऐसे पाप परायण व्यक्ति निःशंक होकर अधम एवं तुच्छ

❀ पृष्ठ ३६१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्य करते हैं और धर्म की उपेक्षा करते रहते हैं। ऐसे साधुओं को यह मिथ्यादर्शन गुणवान बतलाता है उन्हें धीर-वीर, पूज्य, मनस्वी, और सच्चे लाभ देने वाला बतलाता है और कहता है कि मुनियों में (साधुओं में) वे ही सर्वोत्तम हैं। इस प्रकार यह मिथ्यादर्शन अपनी शक्ति के प्रभाव से ऐसे लोगों को बाह्यजनों की दृष्टि में सर्व-मान्य बताता है।

जब कि अन्य साधु जिन्हें मंत्र-तंत्र आदि विद्यायें यद्यपि अच्छी तरह से ज्ञात होती हैं फिर भी जो निःस्पृह रह कर ऐसी लोकैषणा से निवृत्त (दूर) रहते हैं, लोकयात्रा से विरक्त रहते हैं, धर्म-मर्यादा का अतिक्रमण न हो जाय ऐसा भय उनके हृदय में समाया रहता है अर्थात् धर्मभीरु होते हैं, अन्य जनों की दोषपूर्ण बातों के लिये ये मूक और अन्ध होते हैं, स्वात्मिक गुणों के विकास में प्रयत्नशील रहते हैं, अपने शरीर पर भी आसक्ति नहीं रखते, फिर धन स्त्री आदि पर-पदार्थों को रखने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, जो क्रोध, अहंकार और लोभ का तो दूर से ही त्याग कर देते हैं, जिनके सभी बाह्य व्यवहार शान्त हो गये हैं, जिन्हें अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रहती, जो तप को सच्चा आत्म-धन मानते हैं, लब्धि का उपयोग नहीं करते, जादू मन्त्र-तन्त्र का प्रयोग नहीं करते. निमित्त नहीं बताते, जो लोगों के समस्त बाह्य उपचारों का सुखपूर्वक त्याग करते हैं * और निरन्तर स्वाध्याय ध्यान अभ्यास और योग क्रिया में अपने मन को तल्लीन रखते हैं। ऐसे विशिष्ट महात्मा साधु पुरुषों को यह मिथ्यादर्शन गुण रहित, लोक-व्यवहार विमुख, मूर्ख, सुखोपभोग वञ्चित. अपमानित, गरीब, दीन-हीन, ज्ञान रहित और श्वान जैसा कहकर उनकी हंसी उड़ाता है। इस प्रकार मिथ्यादर्शन अपनी शक्ति से बाह्यजनों की बुद्धि में साधु पुरुषों को असाधु और असाधु को साधु रूप में प्रतिष्ठित करने में आनन्द मानता है। [२०३-२१६]

अकरणीय को करणीय और करणीय को अकरणीय

कन्याओं के लग्न, पुत्रोत्पत्ति, शत्रुनाश, कुटुम्ब परिपालन आदि घोर संसार-वृद्धि के कामों को मिथ्यादर्शन विशुद्ध धर्म प्रतिपादित करता है और संसार समुद्र को पार करने का कारण बताता है। जब कि यह लोकशत्रु ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप रत्नत्रयी से युक्त मुक्ति के मार्ग का सर्वथा लोप करता है। [२१७-२१९]

भाई प्रकर्ष ! इस प्रकार अद्भुत शक्ति-सम्पन्न यह जड़ात्मा सेनापति मिथ्यादर्शन अदेव में देव, अधर्म में धर्म, अतत्त्व में तत्त्व, अगुरु में गुरु, असाधु में साधु, अपात्र में पात्र, गुणरहित को गुणवान और संसार-वृद्धि के कारणों को मोक्ष का कारण बताने की भ्रान्ति उत्पन्न करता है। मैंने अपनी विचारणा शक्ति के अनुसार इन सब का संक्षिप्त विवेचन किया, किन्तु इसके पराक्रम का समग्र रूप से विस्तृत वर्णन करने में तो कौन समर्थ हो सकता है ? [२२०-२२३]

---

* पृष्ठ ३६२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्यादर्शन द्वारा मण्डपादि का निर्माण

भैया ! यह महामोह राजा का सेनापति मिथ्यादर्शन स्वभाव से ही बहुत अभिमानी है, मदोद्धत है और अपने मन में ऐसा समझता है कि सम्पूर्ण राज्य का भार उसी पर है। अपने को समस्त राज्य का नायक मानकर ही वह कार्य करता है। वह मानता है कि महाराजा का उस पर पूर्ण विश्वास है इसलिये उसे अन्य कार्यों को छोड़कर सदा उनके हित में ही प्रवृत्ति करनी चाहिये। इसी के फलस्वरूप वह अपना कर्त्तव्य समझ कर चित्तविक्षेप मण्डप की रचना करता है, उस पर तृष्णा वेदिका (मञ्च) का निर्माण कर विपर्यास सिंहासन की स्थापना करता है। इस प्रकार की योजनायें बनाकर वह बाह्य लोक में क्या परिणाम उत्पन्न करता है ? इस विषय में अब मैं तुम्हें बताता हूँ, तुम ध्यान पूर्वक सुनो। [२२४-२२८]

चित्तविक्षेप मण्डप का रहस्य

भद्र ! बेचारा प्राणी पागल, शराबी, और भूतग्रस्त मनुष्य की तरह धर्म-बुद्धि से व्यर्थ ही इधर-उधर भटकता रहता है। ऐसे विचित्र परिणाम वह कैसे उत्पन्न करता है यह भी तुम समझ लो। प्राणी धर्म मान कर महातीर्थों में भैरवजव (आत्मघात) करता है, महापंथ (हिमालय) के उत्तर में माने हुए (स्वर्गपथ) पर जाता है, माघ मास की ठण्ड में पानी में खड़े रह कर सर्दी से मरता है, पंचाग्नि तपकर तीव्र अग्नि के ताप से शरीर को जलाता है, गौ, पीपल आदि को नमस्कार करके सिर फोड़ता है, कुमारी कन्या और ब्राह्मण को सीमातीत दान देकर निर्धन बनता है, स्वयं को श्रद्धावान और पाप से पवित्र मानकर अनेक दुःख सहन करता है, * तीर्थों की यात्रा करने की अभिलाषा से घर, धन और कुटुम्ब को छोड़कर अनेक दुःख सहन करते हुए परदेश में जहाँ-तहाँ भटकता रहता है, मृत-पित्रों के तर्पण के लिये और देवों के आराधन हेतु यज्ञ में पशुबली देकर जीव-हिंसा और धन का अपव्यय करता है, भक्ति में पागल बनकर तप्त लोहपिण्ड के समान क्रोधमूर्ति गुरुओं को मांस-मद्य खिला-पिलाकर और धन तथा खाद्य वस्तुएं देकर प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। यह सब वह (सच्चा) धर्म मानकर धर्मबुद्धि से ही करता है, इसीलिये विवेकशील पुरुषों की दृष्टि में हंसी का पात्र बनता है। धर्म के झूठे विचार से उसकी बुद्धि इतनी अधिक शून्य (कुण्ठित) हो जाती है कि जिससे उसको समझ में ही नहीं आता कि वह ऐसे कार्यों से व्यर्थ में प्राणियों का नाश कर दारुण पापों का उपार्जन कर रहा है, स्वयं का भविष्य अन्धकारमय बना रहा है और धन का व्यय करके भी हास्य पात्र बनता जा रहा है। तत्त्वमार्ग से बहिष्कृत लोग राग द्वेष से उत्पन्न स्वकीय पापों की विशुद्धि के लिये ऐसी अनेक प्रकार की क्रियाएं करते हैं। इसके फलस्वरूप धर्म के सत्य स्वरूप को न जानकर अनेक जीवों का मर्दन करते हैं और हाथी के बच्चे की एवज में गधे को बांधते हैं (धर्म समझ कर अधर्म करते हैं)। तेरे

---

* पृष्ठ ३६३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिलों की यज्ञ में आहुति लग गई, तेरे खीर की यज्ञ में आहुति लग गई, इसलिये अब तेरे सब पाप जलकर नष्ट हुए, ऐसा कहकर धूर्तजन दूसरों का माल उड़ाते हैं और मूर्ख प्राणी उनका अनुसरण करते हैं। उस समय यदि कोई सन्मार्ग का प्रतिपादन करने वाला वक्ता पुकार-पुकार कर अनेक प्रकार से समझाता भी है तब भी वह जीव उसकी परवाह नहीं करता, अपितु उपदेश देने वाले को मूर्ख समझता है। भाई प्रकर्ष ! मिथ्यादर्शन द्वारा निर्मित इस चित्तविक्षेप मण्डप का यही परिणाम है। [२२४-२४२]

तृष्णा वेदिका का रहस्य

हे भद्र ! यह प्राणी काम-भोग के विषयों में इतना लुब्ध होता है कि मरते दम तक इन्हें नहीं छोड़ पाता। काम-भोगों की प्राप्ति के लिये वह अनेक प्रकार की विडम्बनाओं को सहन करता है। जैसे. अप्सरा को प्राप्त करने के लिये नन्दाकुण्ड में प्रवेश करते हैं। इस भव के पति को फिर से प्राप्त करने के लिये मृत पति के साथ चिता में जलकर आत्मघात करती हैं (सती प्रथा)। स्वर्ग, धन एवं पुत्र-प्राप्ति की कामना से अग्निहोत्र यज्ञ या ऐसे ही अन्य अनुष्ठान करते हैं, दान देते हैं और आशा करते हैं कि मृत्यु के पश्चात् दान के बदले में मुझे अमुक वस्तु मिले। परन्तु, ऐसे अनुष्ठानों के बदले वह मोक्षरूपी फल की न तो कभी आशा ही करता है और न कभी उसे प्राप्त ही करता है। वह जो कुछ कर्मानुष्ठान भी करता है वह भी परलोक में अर्थ अथवा काम-भोग की प्राप्ति के निदान से करता है। इसलिये वह सब दोषपूर्ण हो जाता है। भैया ! यह सब मिथ्यादर्शन द्वारा निर्मित और संचालित तृष्णा मंच के कारण ही होता है। [२४३-२४८]

विपर्यास सिंहासन का रहस्य

भाई प्रकर्ष ! प्राणी को मोक्ष में जाने की अभिलाषा होने पर भी वह दिङ्मूढ की तरह सन्मार्ग से पलायन कर विपरीत मार्ग को अपनाता है। जैसे, सर्वज्ञ सर्वदर्शी जिनेश्वर भगवान् की वह निन्दा करता है, अप्रामाणिक वेदों को वह प्रामाणिक मानता है, वह मूर्ख अहिंसा-लक्षण विशुद्ध धर्म को दूषित बताता है, जब कि पशु-हिंसा से पूर्ण यज्ञादि धर्म को प्रशस्त बताता है। ❀ मोह से असत्य तत्त्व के चक्कर में पड़कर जीव-अजीव आदि शुद्ध सत्य तत्त्वों की निन्दा करता है और पृथ्वी, पानी, तेजस्, वायु और आकाश आदि पञ्चभूतों की स्थापना करता है अथवा शून्यवाद की स्थापना करता है, अर्थात् उसे सत्य कहता है। यह जड़ात्मा (मूढ) शुद्ध ज्ञान, दर्शन, चारित्र के उपासक विशुद्ध पात्र की निन्दा करता है और सर्व प्रकार के आरम्भजन्य (आस्रव) की प्रवृत्तियों में पड़े हुए को पात्र मानकर उसे प्रसन्नता से दान देता है। वह तप, क्षमा और ब्रह्मचर्य को निर्बलता का प्रतीक मानता है। जब कि शठता,

❀ पृष्ठ ३६४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुश्चेष्टा और वेश्यावृत्ति को गुण मानता है। निर्मल ज्ञान के विशुद्ध मार्ग को धूर्तों द्वारा प्रवर्तित कुमार्ग मानता है। जब कि तांत्रिक जैसे शाक्त-मतों को मोक्ष का मार्ग मानता है। वह गृहस्थाश्रम धर्म का विशेष सन्मान करता है और उसे अतुलनीय श्रेष्ठ धर्म बताता है, जब कि सर्व प्रकार के राग-द्वेषादि विपरीत भावों का उच्छेदन करने वाले साधु धर्म की निन्दा करता है। इस प्रकार मिथ्यादर्शन द्वारा स्थापित विपर्यास सिंहासन के कारण ही इस लोक में प्राणी के मन में ऐसे विपरीत भाव उत्पन्न होते हैं। [२४६-२५७]

मिथ्यादर्शन की महिमा

भैया प्रकर्ष! मिथ्यादर्शन के प्रभाव से अज्ञान के वशवर्ती हुए प्राणी कैसे-कैसे अन्य काम करते हैं, वह भी सुनले। जो पूर्णतया वृद्ध हो गये हैं, तरुण नारियां जिन्हें देखकर हँसी उड़ाती हैं, जिनके शरीर की चमड़ी लटक गई है, ललाट पर सल पड़ रहे हैं, अंग पर धब्बे स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं, ऐसे प्राणी भी काम-विकार से ग्रस्त रहते हैं और निरन्तर काम-भोगों की बातों में रस लेते हैं तथा वे बुढ़ापे की बात करने से भी शर्माते हैं। कोई उनसे उम्र पूछे तो वे अपने को जवानी के निकट ही बताते हैं। अनेक प्रकार के रसायनों और रंगों के उपयोग से वे अपने केश काले करते हैं मानो स्वयं के हृदय को काला बना रहे हों। शरीर पर बार-बार अनेक प्रकार के तेलों की मालिश कर उसे चिकना बनाते हैं, गाल पर लाली लगाकर उसकी शिथिलता को यत्नपूर्वक छुपाते हैं। ये मूढ जवानी की अकड़ाई पूर्ण चाल चलने का नाटक करते हैं, जवानी को स्थिर रखने के लिये अनेक प्रकार के रसायनों का सेवन करते हैं, अपना मुखड़ा बार-बार शीशे में देखते हैं और शरीर की छाया को पानी में देखते हैं। इस प्रकार ये स्वयं की शरीर-शोभा को बढ़ाने वाले साधनों की प्राप्ति में अनेक प्रकार के कष्ट प्रसन्नता से सहन करते हैं। सुन्दर स्त्रियों द्वारा उन्हें ताल (बाबूजी, भाईजी) आदि कह कर पुकारे जाने पर स्वयं उनके दादा जैसे होने पर भी. उनकी तरफ काम-विकार की दृष्टि से देखते हैं और उनसे लिपटने को तरसते हैं। स्वयं अन्य को आज्ञा और प्रेरणा देने के संयोगों में होने पर भी हँसी-विनोद, इशारेबाजी, छेड़खानी आदि करके दूसरों की हँसी के पात्र बनते हैं। हे भद्र! बुढ़ापे से जर्जर शरीर से भी जब यह मिथ्यादर्शन ऐसी-ऐसी विडम्बनायें करवाता है तब गधा पच्चीसी वाली युवावस्था में तो न जाने कैसी दशा करवाता होगा? [२५८-२६७]

जब यह शरीर श्लेष्म, आन्तड़ियां, चरबी आदि से भरा हुआ है तब भी इस पर अत्यन्त आसक्त चित्त होकर बेचारे प्राणी अनेक प्रकार के कष्ट प्राप्त करते हैं और निर्लज्ज होकर, धर्म के साधनों का त्याग कर अनन्त भवों में दुर्लभता से प्राप्त मनुष्य जन्म को व्यर्थ में गंवा देते हैं। ऐसे जीव का भविष्य में क्या होगा? इसका विचार भी नहीं करते, देह-तत्त्व को नहीं पहचानते, अर्थात् शरीर और आत्म-तत्त्व के

---

* पृष्ठ ३६५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भेद को नहीं जानते। ये तो मात्र खाने, पीने, सोने और काम-भोग में पशु के समान अपना समय व्यतीत करते हैं। ❀ अपार संसार-समुद्र के तल में पड़े हुए ऐसे निश्चेष्ट प्राणियों को ऊपर लाने का उपाय क्या और कैसे हो ? समुद्र में से निकालने वाले उत्तम धार्मिक आचरणों को तो उसने पूर्णरूप से नष्ट कर रखा है। भाई प्रकर्ष ! मिथ्यादर्शन निर्मित विपर्यास सिंहासन इस रूप में भी संसार में दिखाई देता है। जिन नियमों और अनुष्ठानों में प्रशमानन्द रूप शान्ति का साम्राज्य समाया हुआ है और जो सारभूत है ऐसे नियमों में भी यह विषय-परवश मूढ प्राणी दुःख ही मानता है। जब कि जो विषय-भोग अत्यन्त दुःख से भरपूर और तथा थोड़े समय में नष्ट होने वाले हैं उनमें यह विषयाभिभूत प्राणी सुख की कल्पना करता है, सुख मानता है। इस प्रकार यह भुवन प्रसिद्ध, महाबली मिथ्यादर्शन सेनापति बाह्य लोक के प्राणियों के चित्त में ऐसे-ऐसे अनेक प्रकार के अनर्थ उत्पन्न करता है। [२६८-२७५]

हे प्रकर्ष ! महामोह नरेन्द्र के प्रधान सेनापति मिथ्यादर्शन के माहात्म्या का मैंने संक्षेप में वर्णन कर तुझे बताया। [२७६]

मिथ्यादर्शन के सन्दर्भ में उपरोक्त विवेचन सुनकर प्रकर्ष बहुत प्रसन्न हुआ, फिर उसने अपना दांया हाथ उठाकर मामा से कहा—मामा ! आपने विस्तार पूर्वक जो वर्णन किया वह तो मैं अच्छी तरह समझ गया। किन्तु, सेनापति के आधे आसन पर जो सुन्दर स्त्री बैठी है वह कौन है ? [२७७-२७८]

कुदृष्टि

विमर्श—भाई ! अपने पति के समान ही बल और साहस को धारण करने वाली यह मिथ्यादर्शन की पत्नी कुदृष्टि के नाम से प्रसिद्ध है। हे भद्र ! बहिरंग लोक में जो कई पाखण्डी अनेक प्रकार के असत् मार्ग चलाने वाले दृष्टिगोचर हैं उन सब का कारण यह कुदृष्टि ही है। हे भद्र ! उन पाखण्डियों के नामों का मैं वर्णन करता हूँ। इनके देव आदि भिन्न-भिन्न होने से ये एक दूसरे से भिन्न लगते हैं। [२७९-२८१]

शाक्य, त्रिदण्डी, शैव, गौतम, चरक, सामानिक, सामपरा, वैदिक, धार्मिक, आजीवक, शुद्ध, विद्युद्दन्त, चुंचुण, माहेन्द्र, चारिक, धूम, बद्धवेश, खुंखुक, उल्का, पाशुपत, कौल, कणाद, चर्मखण्ड, सयोगी, उलूक, गोदेह, यज्ञतापस, घोष-पाशुपत, कन्दलेदी, दिगम्बर, कामर्दक, कालमुख, पाणिलेह, त्रैराशिक, कापालिक, क्रियावादी, गोव्रती, मृगचारी, लोकायत, शंखधामो, सिद्धवादी, कुलंतप, तापस, गिरिरोहो, शुचिवादी, राजपिण्डी, ससारमोचक, सर्वावस्थ, अज्ञानवादी, श्वेतभिक्षुक, कुमारव्रती, शरीरशत्रु, उत्कन्द, चक्रवाल, त्रपु, हस्तितापस, ❀ चित्तदेव, बिलवासी, मैथुनचारी, अम्बर, असिधारी, माठरपुत्र, चन्द्रोद्गमिक, उदकमृत्तिक, एकैकस्थाली, मंखक, पक्षापक्षी, गजध्वजी, उलूकपक्ष, मातृभक्त (देवी-भक्त), और

❀ पृष्ठ ३६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कंटकमर्दक आदि-आदि। भाई प्रकर्ष! तुझे कितने नाम गिनाऊं? ये सब भिन्न-भिन्न अभिप्राय को धारण करने वाले होने से भिन्न-भिन्न नाम से पहचाने जाने वाले पाखण्डी हैं। इनके (१) देव-तत्त्व भिन्न होने से, (२) वाद (कारण) तत्त्व में भेद होने से, (३) वेष-भिन्न होने से, (४) कल्प (आचार) भेद होने से, (५) मोक्षविचार भिन्न होने से, (६) विशुद्धि विचार में भिन्नता होने से और (७) खाने-पीने के रीति रिवाज में भिन्नता होने से एक दूसरे से भिन्न-भिन्न हैं। इनका संक्षिप्त विवेचन निम्न है। [२८२-२९३]

१. **देव**—उपरोक्त मत-मतान्तर वाले कोई शिव को, कोई इन्द्र को, कोई चन्द्र को, कोई नाग को कोई बुद्ध को, कोई विष्णु को और कोई गणेश को देव मानते हैं। और, इस प्रकार जिसके मन में जैसा आया वैसे ही भिन्न-भिन्न देवताओं की मान्यता कर उनकी पूजा करने लगे। [२९४]

२. **वाद**—इनमें अनेक प्रकार के वाद हैं। कोई ईश्वर को कर्त्ता मानते हैं, कोई ईश्वर की आवश्यकता ही नहीं मानते, कोई नियति को प्रधानता देते हैं, कोई कर्म पर सृष्टि का विकास मानते हैं, कोई स्वभाववाद को प्रधानता देते हैं और कोई काल को मुख्यता देते हैं। इस प्रकार जगत्कर्ता के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार-धाराओं के कारण भिन्न-भिन्न रूपों में अनेक मत-मतान्तर हैं। [२९५]

३. **वेष**—कुछ त्रिदण्डी का वेष धारण करते हैं, कुछ हाथ में कमण्डलु धारण करते हैं, काई सिर का मुण्डन कराते हैं, कोई वल्कल धारण करते हैं और कोई भिन्न-भिन्न रंग के सफद, पीले, गेरुए आदि कपड़े पहनते हैं। इस प्रकार वेष की भिन्नता प्रत्येक मत में दिखाई देती है। [२९६]

४. **कल्प**—प्रत्येक तीर्थिकों में (मत वालों में) खाने-पीने की वस्तुओं और भक्ष्य-अभक्ष्य के बारे में भेद होने से भी ये मत अलग-अलग हैं। [२९७]

५. **मोक्ष**—सुख-दुःख से रहित मोक्ष को भी ये पाखण्डी मत भिन्न-भिन्न रूप से मानते हैं। कोई मोक्ष को शून्य रूप मानते हैं, कोई निवृत्ति रूप एवं अभेद स्वरूप मानते हैं, कोई उपाधि-त्याग रूप मानते हैं, कोई बुझे हुए दीपक के समान सुख-दुःख रहित मानते हैं। ऐसे मोक्ष के भी विचित्र प्रकार के लक्षण भिन्न-भिन्न मत वाले स्थापित करते हैं। [२९८]

६. **विशुद्धि**—प्राणी के अमुक पाप की विशुद्धि अमुक प्रकार के प्रायश्चित्त से होगी, इसमें भी प्रत्येक मत के अलग-अलग विचार हैं। जिसके मन में जो आया वही विशुद्धि का मार्ग बता दिया और कह दिया कि इसका अनुसरण करने से प्राणी पाप से मुक्त हो जायगा। [२९९]

७. **वृत्ति**—कुछ जंगल के कन्दमूल फल खाकर निर्वाह करते हैं, कुछ अनाज खाकर निर्वाह करते हैं, कुछ अमुक-अमुक पदार्थों के सेवन का ही उपदेश देते हैं। यों प्रत्येक मत की निर्वाह-वृत्ति भी भिन्न-भिन्न है। [३००]

कुदृष्टि की शक्ति-सामर्थ्य से शुद्ध धर्म से बहिष्कृत होकर ये पामर प्राणी इस भवसमुद्र में भटकते हैं, डोलते रहते हैं। [३०१]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वमार्गमजानन्तो, विवदन्ते परस्परम् ।
स्वाग्रहं नैव मुंचन्ति, रुष्यन्ति हितभाषिणे ॥

तत्त्व मार्ग को न जानने के कारण ये पाखण्डी परस्पर व्यर्थ में ही वाद-विवाद करते हैं, अपने निर्णय के आग्रह को नहीं छोड़ते और यदि कोई उनके हित के लिये सच्ची बात समझाता है तो वे उस पर रुष्ट होते हैं। [३०२]

भाई प्रकर्ष ! जगत्प्रसिद्ध मिथ्यादर्शन की प्राणवल्लभा यह कुदृष्टि बहिरंग प्राणियों से ऐसे-ऐसे कार्यों को करवाती हुई विलास करती है। [३०३]

❀

१३. रागकेसरी और द्वेषगजेन्द्र

विगत प्रकरण में विमर्श ने अपने भाणजे प्रकर्ष के समक्ष मोह राजा के परिवार का विस्तार से वर्णन किया जिसमें उसकी पत्नी, सेनापति तथा उसकी पत्नी के गुणों का विस्तृत वर्णन किया था। अब मोहराजा के दोनों पुत्रों का परिचय कराया जा रहा है।

भाई प्रकर्ष ! विपर्यास नामक उच्च सिंहासन पर बैठे हुए जो दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे मोहराजा के ज्येष्ठ पुत्र सुप्रसिद्ध रागकेसरी हैं। इन्हें राज्य-गद्दी पर बिठाकर मोहराजा स्वयं राज्य की चिन्ता से मुक्त हो गये हैं और जीवन में कृतार्थ हो गये हों ऐसा जीवन बिता रहे हैं। महाराजा ने अपना सम्पूर्ण राज्य उन्हें सौंप दिया है तथापि ये विनय कुशल बनकर पिता की सर्व प्रकार की मर्यादा को विवेक एवं नीति पूर्वक निभाते हैं। पिता को सर्व प्रकार से योग्य मानते हैं और अत्यावश्यक सभी विषयों में उनका परामर्श लेते हैं। पिता भी सभी के समक्ष अपने पुत्र के गुणों की प्रशंसा करते हैं और कई बार कहते हैं कि यही मेरे राज्य का स्वामी है। पुत्र का विनय और पिता की प्रशंसा तथा स्नेह, ❀ दोनों को परस्पर स्नेह-सूत्र में बांध कर रखती है। इसी गाढ सम्बन्ध के कारण वे दोनों मिलकर सम्पूर्ण जगत को अपने वश में करने में समर्थ हैं। जब तक इस रागकेसरी राजा का प्रताप दुनिया में विद्यमान है तब तक बहिरंग लोगों को आत्मिक सुख की गंध भी कैसे प्राप्त हो सकती है ? हे भद्र ! संसार रूपी समुद्र के उदर में विद्यमान बाह्य पदार्थों पर बहिरंग प्राणियों की अतिशय प्रीति उत्पन्न करने और क्लेशमय पापानुबन्धी पुण्य से स्वयं को क्लेशमय बनाने तथा भविष्य में भी क्लेश उत्पन्न करने वाले भावों से प्राणी को दृढ़ स्नेह-बन्धन में बांधकर रखने में यह पूर्ण समर्थ है [३०४-३११]

रागकेसरी के तीन मित्र

प्रकर्ष ! वे जो रक्त वर्ण और अति स्निग्ध शरीर वाले तीन पुरुष

❀ पृष्ठ २६७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रागकेसरी के पास बैठे हुए दिखाई देते हैं, वे रागकेसरी के घनिष्ठ एवं अन्तरंग मित्र हैं और जिनको उसने अपनी शक्ति से स्वशरीर से अभिन्न बना दिया है। वे तीनों पुरुष ध्यान पूर्वक देखने-समझने योग्य हैं। वे कौन-कौन हैं ? बताता हूँ। [३१२-३१३]

इन तीनों में से प्रथम अतत्त्वाभिनिवेश नामक श्रेष्ठ पुरुष है। कतिचित् विद्वान् आचार्य इसे दृष्टिराग के नाम से भी कहते हैं। हे भैया ! यह भाई भिन्न-भिन्न मतवालों (तीर्थिकों) में अपने-अपने दर्शन के प्रति अत्यन्त आग्रह उत्पन्न कराता है। यह आग्रह इतना दुराग्रह पूर्ण हो जाता है कि एक बार हो जाने पर छूटना बहुत ही कठिन होता है। [३१४-३१५]

प्रकर्ष ! इस दूसरे पुरुष का नाम भवपात है। कतिचित् प्राज्ञ इसे स्नेह-राग के नाम से प्रतिपादन करते हैं। यह भवपात प्राणियों में धन, स्त्री, पुत्र, पुत्री, सगे सम्बन्धी परिवार और अन्य वस्तुओं के प्रति अतिशय मूर्च्छा उत्पन्न करता है और उसके मन को इनके साथ गाढ बन्धन से बांध कर रखता है। [३१६-३१७]

तीसरे पुरुष का नाम अभिष्वंग है। कतिपय आचार्य इसी को विषयराग या कामराग भी कहते हैं। भैया ! यह लोक में अनेक प्रकार की उद्दाम लीलाएं करता हुआ भ्रमण करता है और शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के प्रति प्राणियों में लोलुपता उत्पन्न करता है। [३१८-३१९]

प्रकर्ष ! मैं तो ऐसा मानता हूँ कि इन तीनों मित्रों की शक्ति से ही रागकेसरी राजा ने सम्पूर्ण जगत को आक्रान्त कर रखा है। इस रागकेसरी ने अपनी शक्ति से सम्पूर्ण त्रैलोक्य को अपने पाँव के नीचे दबा रखा है। यह इतना अधिक वीर्यवान और पराक्रमी है कि सन्मार्ग रूपी मदमस्त हाथी के कुम्भस्थल को भेदने में यह पूर्ण समर्थ है, इसीलिये इसका नाम रागकेसरी यथा नाम तथा गुण सफल हुआ है। [३२०-३२१]

रागकेसरी की भार्या मूढता

हे भैया ! सिंहासन पर उसके साथ जो स्त्री बैठी है वह रागकेसरी की लोक-प्रसिद्ध पत्नी मूढता है। जो-जो गुण उसके पति में हैं वे सभी गुण मूढता में भी पूर्णरूपेण विद्यमान हैं। जैसे शंकर पार्वती को (अर्द्ध-नारीश्वर के रूप में) अपने आधे अंग में समा कर रखते हैं, ठीक वैसे ही यह रागकेसरी भी अपनी पत्नी को अपने अर्धांग शरीर के रूप में ही रखता है। जैसे इन दोनों का अन्योन्याश्रित रूप से शरीर अभिन्न है वैसे ही इनके समस्त गुण भी अभिन्न हैं। [३२३-३२५]

द्वेषगजेन्द्र

प्रकर्ष ! रागकेसरी के बांयी तरफ महामोह महाराजा के दूसरे पुत्र और रागकेसरी के भाई द्वेषगजेन्द्र बैठे हैं, इन्हें तू पहचानता भी है। इनमें भी इतने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक गुण हैं कि पिता (महामोह) का उस पर भी अत्यधिक स्नेह है और उसे देखकर महामोह के नेत्र हर्षित और मन निश्चिन्त होता है। यद्यपि जन्म से यह अपने बड़े भाई रागकेसरी से छोटा है परन्तु शक्ति में उससे भी अधिक बलवान है, क्योंकि रागकेसरी को देखकर किसी को डर नहीं लगता परन्तु द्वेषगजेन्द्र को देखते ही लोग भय से थर-थर कांपने लगते हैं। जब तक यह महा पराक्रमी द्वेषगजेन्द्र चित्तअटवी में घूमता रहता है तब तक बहिरंग लोगों में प्रीतिसंगम (प्रेम सम्बन्ध) रह ही कैसे सकता है? जो लोग एक दूसरे के घनिष्ठ मित्र होते हैं और जिनके हृदय परस्पर स्नेह से बंधे होते हैं, उन्हें यह भाई अपने जाति-स्वभाव से ही उनके दिलों में भेद उत्पन्न कर अलग-अलग कर देता है और उनमें शत्रुता पैदा कर देता है। जब-जब यह द्वेषगजेन्द्र चित्तअटवी में चलता हुआ हलचल करता रहता है तब-तब बहिरंग प्राणी अत्यधिक पीड़ित एव दुःखी हो जाते हैं और परस्पर शत्रुता में इतने बद्ध हो जाते हैं कि भयंकर वेदना वाली नरक में पड़ते हैं तथा वहाँ भी आपसी वैर एवं मात्सर्य में आबद्ध रहते हैं अर्थात् वैर को नहीं भूलते। भैया प्रकर्ष! इस द्वेषगजेन्द्र का जैसा कर्णकटु नाम है वैसा ही यह भयंकर भी है और यथा नाम तथा गुण वाला है। जैसे गंधहस्ती की गन्ध से अन्य हाथी भाग जाते हैं वैसे ही द्वेषगजेन्द्र की गंध से विवेक रूपी हाथी दूर से ही भाग जाते हैं। इसकी स्त्री अविवेकिता अभी यहाँ दृष्टिगोचर नहीं हो रही है, परन्तु उसके बारे में तो शोक ने तुझे पहिले ही बता दिया था जो तुझे स्मरण ही होगा। [३२६–३३५]

❀

१४. मकरध्वज

[चित्तवृत्ति अटवी के मण्डप में सिंहासन पर बैठे हुए महामोह राजा और उनके परिवार का वर्णन सुनकर प्रकर्ष बहुत प्रसन्न हुआ। उस समय महामोह महाराजा के पीछे बैठे हुए एक अद्भुत स्वरूप वाले पुरुष को देखकर प्रकर्ष की जिज्ञासा जागृत हुई और उसने अपने मामा से पूछा—]

मकरध्वज

मामा! महाराज रागकेसरी के ठीक पीछे सिंहासन पर राजा जैसे एक व्यक्ति बैठे दिखाई दे रहे हैं, जिनके साथ तीन पुरुषों का परिवार है, जिनके शरीर का रंग लाल है, आंखें बहुत चपल हैं, विलास के चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं, पीठ पर बाण रखने का तूणीर बंधा हुआ है, हाथ में धनुष दिखाई दे रहा है, समीप में पाँच बाण रखे हुए हैं, जिनके पास विलासमयी दीप्तीमयी लावण्यपूर्णा सुन्दर स्त्री

❀ पृष्ठ ३६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भ्रमर गुंजार से अधिक मृदु गीत से विनोद कर रही है। इस स्त्री के आलिंगन एवं मुख-चुम्बन में लुब्ध कमनीय आकृतिवाला यह कौन राजा है ? [३३६–३३९]

विमर्श – भाई प्रकर्ष ! संसार में महान आश्चर्य उत्पन्न करने वाला उद्दाम पौरुष वाला जगत् प्रसिद्ध यह मकरध्वज राजा है। ऐसे अद्भुत व्यक्तित्व और कृतित्व वाले पुरुष को तुमने अभी तक नहीं पहचाना, तब तो तू अभी तक कुछ भी नहीं समझ पाया। भैया ! इसने संसार में कैसे-कैसे विस्मयोत्पादक काम किये हैं, सुन—पार्वती के लग्न के समय इसने संसार के परमेष्ठि पितामह ब्रह्मा से बाल-विप्लव (वीर्य स्खलित) करवाया। इन्हीं ब्रह्मा की तपस्या भंग करने जब इन्द्र ने तिलोत्तमा को भेजा तब इसने उस अप्सरा को चारों ओर से देखने में लुब्ध ब्रह्मा को अपनी तपस्या के फलस्वरूप पांच मुख बनाने को बाध्य किया। विश्व व्यापी कृष्ण जैसे व्यक्ति को इसने राधा जैसी ग्वालिन के पांव पड़ने को विवश किया। लोक प्रसिद्ध शिव को तो इसने विरह-कातर बनाकर ऐसा बेहाल किया कि उन्हें पार्वती को अपने आधे शरीर में ही समाहित कर अर्धनारीश्वर का रूप बनाना पड़ा।* यही महादेव जब नन्दनवन में कामदेव की स्त्री रति को क्षुब्ध करने की लालसा से बृहत्लिंग को उद्दीप्त कर रहे थे तब इस मकरध्वज ने इनसे अनेक नाटक करवाये। इसने शंकर के मन में सूरत-क्रीडा की ऐसी तृष्णा जागृत करदी कि वे एक हजार वर्ष तक विषय सेवन-रत रहें, उन्हें ऐसा विवश कर दिया। अन्य भी बहुत से देव-दानव और मुनियों को इसने अपने वश में कर दास जैसा बना लिया है। इसके पास अपने महा पराक्रम से प्राप्त आत्मीभूत तीन अनुचर हैं। ऐसे इस मकरध्वज की आज्ञा का उल्लंघन करने में इस त्रैलोक्य में कौन समर्थ है ? [३४०–३४९]

मकरध्वज के अनुचर वेद-त्रय

प्रकर्ष ! मकरध्वज के साथ जो तीन पुरुष हैं उनमें से प्रथम का नाम पुंवेद (पुरुष वेद) है, जो महान पौरुष-शक्तिसम्पन्न और प्रसिद्ध है। इसकी शक्ति से बहिरंग प्रदेश के मनुष्य पर-स्त्री में आसक्त होकर अपने कुल को कलंकित करते हैं। [३५०–३५१]

दूसरा पुरुष जो महान तेजस्वी दिखाई देता है और जिसने सम्पूर्ण त्रैलोक्य को भ्रष्ट कर रखा है उसे विद्वान् आचार्यगण स्त्रीवेद के नाम से पुकारते हैं। इसके प्रताप से स्त्रियाँ लाज शर्म और अपने कुल की मर्यादा का त्याग कर पर-पुरुष में आसक्त होती हैं। [३५२–३५३]

तीसरे पुरुष का नाम षण्ढवेद (नपुंसक वेद) है। यह भी अपने तेज से बहिरंग लोगों को त्रस्त करता है। इसमें इतनी शक्ति है कि जिसे जानना भी बहुत कठिन है, क्योंकि नपुंसक संसार में अत्यधिक निन्दा के पात्र बनते हैं। इसके सम्बन्ध में अधिक वर्णन करना व्यर्थ है।

---

* पृष्ठ ३६९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकर्ष ! यह मकरध्वज इन तीनों पुरुषों को आगे कर संसार में प्रवृत्ति करता है। यह इतना अतुलबली है कि तीनों जगत् के अन्य मनुष्य इसके बल की कल्पना भी नहीं कर सकते। [३५४-३५६]

मकरध्वज की पत्नी रति

मकरध्वज के पास ही जो कमलनयनी रूप-सौभाग्य की मन्दिर, अत्यधिक सुन्दर प्रिय स्त्री बैठी है वह उसकी पत्नी रति है। जिन लोगों को मकरध्वज ने अपने पराक्रम से जीत लिया है उनके मन में यह स्वाभाविक रूप से सुखोपभोग की बुद्धि उत्पन्न करती है। वास्तव में तो मकरध्वज से पराजित एवं वशीभूत होकर वे लोग दुःख भोग रहे होते हैं। परन्तु, यह रति उनके मन में इस बात को पुष्ट कर देती है कि जिससे उन्हें ऐसा आभास होता है कि वे बहुत ही आह्लादकारी सुख का उपभोग कर रहे हैं और यह मकरध्वज हमारा हितकारी है। जो कामदेव के विरुद्ध काम करते हैं उन्हें सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? लोगों के मन में ऐसी मान्यता यह रति ही उत्पन्न करती है। भैया ! यह रति लोगों के मन को इतना वश में कर लेती है कि वे निरपवाद रूप से मकरध्वज के दास के समान बन जाते हैं और उसके निर्देशानुसार चलकर अनेक प्रकार की विडम्बनायें प्राप्त करते हैं। इससे विवेकशील पुरुषों की दृष्टि में वे हँसी के पात्र बनते जाते हैं। मूढात्मा लोग इसके वश में होकर कैसे-कैसे विचित्र रूप धारण करते हैं और विडम्बनाएं उठाते हैं, उसके कुछ उदाहरण देता हूँ जिन्हें सुनकर तुम भी आश्चर्य में पड़ जाओगे। स्त्रियों के चित्त को प्रसन्न करने के लिये सुन्दर वस्त्र पहनते हैं, स्त्रियों को मोहित करने के लिये बहुमूल्य आभूषण धारण करते हैं, स्त्रियाँ जब कटाक्ष द्वारा चपल आँख झपका कर अर्धनिमीलित नेत्र से उसकी तरफ एकटक देखती हैं तब वे बहुत प्रसन्न होते हैं। जब स्त्रियाँ उनके साथ मधुरालाप (मधुर सम्भाषण) करती हैं तब उनके प्रति मन में बहुत प्रेम उत्पन्न होता है और हृदय हर्ष-विभोर हो जाता है। * अकड़ के साथ शरीर को कठोर बना कर, गर्दन ऊंची कर, सुदृढ़ कदम रखता हुआ, अपनी जवानी का प्रदर्शन करता हुआ चलता है और स्त्रियाँ जब उसे देख कर उसकी तरफ कटाक्ष बाण फेंकती है तब अपने को महान भाग्यशाली मानकर घमण्ड से फूल कर कुप्पा हो जाता है। कुलटा (व्यभिचारिणी) स्त्री को अपनी तरफ आकर्षित करने के लिये काम-लम्पट मोहान्ध पुरुष बिना कारण हाथ-पाँव और आँखों से अनेक प्रकार के इशारे करता है, छेड़खानी करता है, मुँह से सीटी बजाता है, ताने मारता है, गाने गाता है और इधर-उधर भाग दौड़ कर अपना पराक्रम बताता है। इस प्रकार उसके मन को अनुकूल बनाने के लिये ऐसे कौन से कार्य हैं जिन्हें वह नहीं करता हो ? स्त्री की चाटुकारिता (खुशामद) करता है, उससे नौकर के समान बात करता है, उसके

* पृष्ठ ३७०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाँव पड़ता है और बिना कहे उसका काम करता है। कोई लम्पट स्त्री अपने पाँव से उस पुरुष के सिर पर लात भी मार दे तो वह उसे सहन कर लेता है और मोह के कारण उस लात को भी पुष्प-वर्षामान कर उसे उस स्त्री का अनुग्रह ही समझता है। स्त्री अपने मुख से शराब के घूंट को चखकर थूंक मिलाकर यदि लंपट पुरुष के मुँह में दे दे तो उसे पीकर वह स्वर्ग से अधिक सुख का अनुभव करता है। अत्यन्त बलवान, वीर्यवान पुरुषों को भी स्त्रियाँ खेल-खेल में ही अपने कटाक्ष अथवा भ्रू-विक्षेप से कचरे की टोकरी जैसा बना देती हैं। ऐसी स्त्रियों के साथ भी संगम करने के लिये पुरुष लालायित रहते हैं, उनके साथ सुरत-क्रीडा करते हुए भी उन्हें कभी तृप्ति प्राप्त नहीं होती और वे उनके तनिक से विरह में पागल जैसे हो जाते हैं तथा कभी-कभी तो शोक में विह्वल होकर मरण को भी प्राप्त करते हैं। ऐसी स्त्रियाँ यदि उसका तिरस्कार करे या उसका आदर न करे तो उसे खेद होता है और यदि उसका बहिष्कार कर दे तो रोने लग जाता है। ऐसे ही पर-पुरुष में आसक्त अपनी स्त्री भी उसे महान दुःखसागर में डुबोती है, मरणान्तक पीड़ा पहुँचाती है। जब ऐसा पुरुष अपनी स्त्री को पर-पुरुष के पास जाने से रोकने के लिये प्रयत्न करता है तब ईर्ष्या के परिणाम स्वरूप अनेक प्रकार के कष्ट उठाता है। हे भद्र! रति और कामदेव के वश में होकर प्राणी ऐसी-ऐसी अनेक विडम्बनाएं इस भव में उठाता है और परभव में भी मोहवश इस रति की शक्ति से कामदेव का दास बनकर इस भयंकर संसार-समुद्र में डूब जाता है। भाई प्रकर्ष! बहिरंग लोक के अधिकांश मनुष्य ऐसे ही होते हैं, ऐसा समझना चाहिये। मकरध्वज और रति की आज्ञा न मानने वाले मनीषीगण तो इस संसार में विरले ही होते हैं। भाई! तू ने मुझ से मकरध्वज के बारे में पूछा अतः उसके स्वरूप और उसके परिवार के बारे में मैंने विस्तार से वर्णन किया। [३५७–३७७]

❀

१५. पाँच मनुष्य

[विमर्श वार्ता कहने में रसमग्न था और प्रकर्ष भी रस जमा रहा था। मामा का एक वर्णन पूरा होते ही वह दूसरी जिज्ञासा खड़ी कर देता था। मकरध्वज का वर्णन पूर्ण होते ही उसने नया प्रश्न खड़ा कर दिया।]

प्रकर्ष—मामा! आपने मकरध्वज का बहुत सुन्दर वर्णन किया। अब मेरी दूसरी जिज्ञासा प्रस्तुत है उसका भी समाधान करें। मकरध्वज के पास ही जो तीन पुरुष और दो स्त्रियाँ बैठी हैं वे कौन हैं? उनके क्या नाम और गुण हैं? [३७८]

१. हास—

विमर्श—इसमें से जो श्वेत रंग का पुरुष है वह विषम और अत्यन्त दुष्कर कार्य करने वाला है और उसका नाम हास है। यह अपनी शक्ति में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से बहिरंग प्रदेश के लोगों को बिना कारण ही वाचाल बनाता है। कोई निमित्त को प्राप्त कर या अकारण ही जब यह बहादुर योद्धा के समान अपनी शक्ति प्राणी में प्रकट करता है तब प्राणी सकारण या अकारण ही हा ! हा ! हा ! कर कहकहैं लगाता है, अट्टहास करने लगता है। हँसते हुए उसका मुँह इतना विकृत हो जाता है कि वह शिष्ट पुरुषों द्वारा निन्दनीय बन जाता है। यों मुखवाद्य को बजाकर प्राणी लघुता को प्राप्त करता है। अकारण ही वह लोगों को शंकाशील बनाता है। परस्पर वैर उत्पन्न करता है और स्पष्टतः भ्रान्ति पैदा करता है। अपने हास्य के स्वभाव से ऐसा प्राणी मक्खी मच्छर जैसे क्षुद्र प्राणियों का भी उपघात कर बैठता है और कौतुकता के कारण व अकारण ही मनुष्यों को त्रस्त करता है। कभी-कभी उसकी यह प्रवृत्ति दूसरे प्राणियों के लिये प्राणघातक भी बन जाती है। यह हास्य ऐसी अनेक प्रकार की विचित्रताएं इस लोक में पैदा करता है और परलोक में दारुण कर्मबन्ध के परिणाम उपार्जित करवाता है। इसकी एक तुच्छता नामक हितकारिणी पत्नी है जो इसके शरीर में ही रहती है और जिसे गम्भीर-चिन्तक मनुष्य ही समझ सकते हैं। हे वत्स ! यह स्त्री अकारण ही तुच्छ लोगों में अपनी इच्छानुसार प्रतिदिन तुच्छता जागृत करती है, प्रेरित करती है और उसे बढाती है। कहा भी है :—

यतो गम्भीरचित्तानां, निमित्ते सुमहत्यपि।
मुखे विकारमात्रं स्यान्न हास्यं बहुदोषलम् ॥

हँसने का कैसा भी गम्भीर कारण क्यों न हो, गम्भीर पुरुष मुँह में ही मुस्कराते हैं, परन्तु मुँह बिगाड़ कर खिल-खिलाकर कभी नहीं हँसते। [३८०–३८९।]

२. अरति – इनमें काले रंग की और बीभत्स (भद्दी) दिखाई देने वाली स्त्री संसार में अरति के नाम से प्रसिद्ध है। यह किसी भी कारण को लेकर उत्साहित हो जाती है और बहिरंग प्राणियों को असहनीय मानसिक दुःख देती है। [३९०–३९१]

३. भय--वह जो दूसरा कांपता हुआ पुरुष दृष्टिगोचर हो रहा है वह भय के नाम से प्रख्यात है जो महादुःखदायी है। भाई ! वह जब-जब चित्तवृत्ति अटवी में लीलापूर्वक विचरण करता है तब-तब बहिरंग प्रदेश के प्राणियों को एक दम डरपोक बना देता है। इसके प्रभाव से प्राणी (१) अन्य मनुष्य को देखकर भयभीत होते हैं, (२) पशुओं को देखकर काँपने लगते हैं, (३) धन के खो जाने या लुट जाने या हानि की कल्पना मात्र से पागल बनकर भागने लगते हैं, (४,५) अग्नि, बाढ, भूकम्प आदि आकस्मिक कारणों के विचार मात्र से विह्वल होकर अश्रुपूरित नेत्रों से बोल उठते हैं कि अब क्या होगा ? कैसे जीवित रहेंगे ? क्या हाल

---

* पृष्ठ ३७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होगा ? (६) अरे मारे गये ! अरे मारे गये ! आदि शब्दों से व्यर्थ भयभीत होकर, सत्वहीन होकर कभी-कभ अपने प्राण भी गंवा देते हैं और (७) ये अधम पुरुष अपयश के भय से अव्यवस्थित होकर करने योग्य कार्य भी नहीं करते। उपरोक्त सात प्रकार के पुरुषों के परिवार सहित यह भय बहिरंग प्राणियों में अपनी शक्ति का प्रयोग कर भय उत्पन्न करता रहता है। भय की आज्ञा से अधम पुरुष निर्लज्ज होकर युद्ध के मैदान से भाग खड़े होते हैं, शत्रुओं के पाँवों में गिरते हैं। हे भद्र ! अपने वशीभूत प्राणी को यह इस भव में तो नचाता ही है, परभव में भी भयत्रस्तता के कारण दीर्घकाल तक संसार-समुद्र में भटकाता है कि कहीं उसका अता-पता ही नहीं लगता। इसकी एक हीनसत्वता (हीनता) नामक प्राण-प्रिय पत्नी भी इसके शरीर में ही अभिन्न रूप से रहती है। वह इसके कुटुम्ब-परिवार का संवर्धन करती है। यह हीनसत्वता उसे इतनी अधिक प्रिय है कि वह उसे अपने शरीर से एक क्षणपृ भी थक् नहीं करता है। यदि उसे पृथक् कर देता है तो हे भद्र ! यह निश्चित रूप से मरण को प्राप्त हो जाता है। [३९२–४०२] ❀

४. शोक—भाई प्रकर्ष ! यह जो तीसरा पुरुष दिखाई दे रहा है, उसे तो तुम पहचानते ही होगे ? हम जब तामसचित्त नगर में प्रवेश कर रहे थे तब हमें यह मिला था और चित्तवृत्ति अटवी की सब बात बताई थी यह वही शोक है। जो वापस लौटकर महामोह राजा की सेना में सम्मिलित हो गया है। किसी भी निमित्त को प्राप्त कर यह बहिरंग प्रदेश के लोगों में दीनता उत्पन्न करता है, उन्हें रुलाता है और आक्रन्दन करवाता है। जो प्राणी अपने प्रियजनों से वियुक्त हो गये हैं, महाविपत्ति में पड़ गये हैं, और अनिष्टकारी तत्त्वों से सम्बद्ध हो गये हैं वे सब निश्चित रूप से इसी के वशवर्ती हो जाते हैं। उस समय उन बेचारों की यह ऐसी दुर्दशा कर देता है कि जैसे उनका भयंकर शत्रु हो। परन्तु, शोक के वशीभूत मूर्ख प्राणी इसे शत्रु नहीं समझ पाते। इसके निर्देशानुसार बेचारे जड़ प्राणी चिल्लाते हैं, रोते हैं और दुःखी होते हैं। रोते-चिल्लाते वे ऐसा समझते हैं कि यह शोक उन्हें दुःखों से छुड़ायगा, पर, यह भाई तो दुःख को घटाने के स्थान पर उसे अधिक बढा देता है। परिणाम स्वरूप प्राणी अपने स्वार्थ को तो सिद्ध नहीं कर पाते, किन्तु धर्म-भ्रष्ट होकर मोह में पड़कर कई बार शोक ही शोक में मूर्छित होकर आँखे बन्द कर लेते हैं और उनके प्राण तक निकल जाते हैं। शोक के वशीभूत प्राणी गाढ दुःखी होकर सिर फोड़ते हैं, बाल नोचते हैं, छाती कूटते हैं, जमीन पर पछाड़ खाते हैं, गले में रस्सी बाँधकर आत्महत्या करने लटक जाते हैं, नदी तालाब, कुवा, बावड़ी, समुद्र में कूदकर प्राण देते हैं, अग्नि में जल मरते हैं, पर्वत-शिखर से कूदकर (आत्महत्या) करते हैं, कालकूट आदि तीक्ष्ण विष भक्षण करते हैं, शस्त्र से अपने ही शरीर पर प्रहार करते हैं, प्रलाप करते हैं, पागल हो जाते हैं, विक्लव हो जाते हैं, दीन स्वर में बोलते हैं, घोर मानसिक सन्ताप से जलकर राख जैसे हो जाते हैं और शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादि के सुखों से वंचित

❀ पृष्ठ ३७२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो जाते हैं। हे भद्र ! इस प्रकार शोक के वशीभूत प्राणी इस भव में अनेक प्रकार के प्रगाढ दुःख प्राप्त करते हैं और दुःखदायी कर्मों का बन्ध कर परभव में भी भयंकर दुर्गति को प्राप्त होते हैं। हे भैया ! यह शोक बाह्य प्रदेश के प्राणियों को बहुत प्रकार से दुःख देने वाला है जिसका मैंने तेरे सन्मुख संक्षेप में वर्णन किया है। हे वत्स ! इसके शरीर में भी इसकी पत्नी भवस्था नामक महादारुण स्त्री निवास करती है। शोक का संवर्धन करने वाली यह भवस्था ही है। इसके बिना शोक क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकता, इसीलिये वह इसे सदा अपने शरीर में ही अभिन्न रूप से रखता है। [४०३–४१७]

५. **जुगुप्सा**—प्रकर्ष ! यह जो चपटे नाक और काले रंग वाली स्त्री शोक के पास ही बैठी है, उसे विद्वान् आचार्य जुगुप्सा के नाम से जानते हैं। वस्तु स्वरूप को नहीं समझने वाले बाह्य प्रदेश के प्राणियों में विपरीत भाव उत्पन्न कर यह उनकी कैसी दुर्दशा करती है, सुनो। किसी के घाव में से जब खून और पीप निकल रही हो, कीड़े कुलबुला रहे हों, दुर्गन्ध उठ रही हो तब ऐसे दुर्गन्ध वाले प्राणी या वस्तु को देखकर स्वयं को अति पवित्र मानते हुए यह मूर्ख सिर धुनने लग जाता है, नाक चढ़ाकर, * आंखे बन्द कर, मुँह से थू थू करते हुए और कंधे उचकाते हुए भाग खड़ा होता है। पवित्रता के दिखावे के लिये कपड़ों सहित पानी में कूद पड़ता है, बार बार छींकता है और थूकता रहता है। उसके कपड़े का पल्ला किसी से छू जाय तो क्रोधित होकर बार-बार स्नान करता है और चाहता है कि अन्य की छाया का भी उसे स्पर्श न हो। ऐसे शौचवाद (छूआछूत) के कारण वेताल के समान सर्वदा त्रस्त होता रहता है। जुगुप्सा के वशीभूत प्राणी पहिले से ही उन्मत्त तो होते ही हैं, फिर ऐसे विचित्र विचारों से अधिक उन्मत्त बन जाते हैं और तत्त्वदर्शन-रहित होकर परभव में अज्ञानाभिभूत हो भयंकर संसार रूपी जेल में पड़ते हैं। भैया ! यह जुगुप्सा भी बाह्य प्रदेश के प्राणियों को बहुत दुःख देने वाली है जिसका मैंने संक्षिप्त वर्णन किया है। [४१८–४२७]

❀

१६. सोलह बालक

पूर्व प्रकरण में पाँच प्राणियों का वर्णन सुनने के पश्चात् जब प्रकर्ष ने सिंहासन के सामने १६ बालकों को धमा-चौकड़ी करते देखा तो उसने विमर्श से पूछा—मामा ! सामने राजा की गोदी में और नीचे खेलते हुए १५ बच्चे दिखाई पड़ रहे हैं। उनमें से कुछ का लाल रंग है और कुछ का काला। वे तूफानी बच्चे

* पृष्ठ ३७३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कभी-कभी दुर्दमनीय चेष्टा करते हैं और कभी धमा-चौकड़ी मचा देते हैं। ये बच्चे कौन हैं ? उनके नाम क्या हैं ? और उनमें क्या-क्या गुण हैं ? यह जानने की मेरी इच्छा है अतः स्पष्टतया वर्णन करें। [४२८–४३०]

१. **अनन्तानुबन्धी** - विमर्श - भाई प्रकर्ष ! आचार्यदेवों ने पहले इन सौलहों बच्चों की सामान्य पहिचान कषाय के नाम से कराई है। इन सोलह में जो चार अधिक बड़े दिखाई दे रहे हैं वे महान दुष्ट और स्वभाव से अति रौद्र आकार वाले हैं, उनके नाम अनन्तानुबन्धी-क्रोध, मान, माया और लोभ हैं। भैया ! मिथ्यादर्शन सेनापति इन चारों बालकों को स्वात्मभूत अर्थात् अपने बच्चों जैसा ही मानता है। ये चारों बच्चे भी बाह्य प्रदेश के लोगों को अपनी शक्ति के प्रयोग से सेनापति के भक्त बना देते हैं। इसका कारण यह है कि जब तक चित्तवृत्ति अटवी में ये चारों बच्चे लीला पूर्वक घूमते रहते हैं, तब तक बहिरंग लोक के मनुष्य मिथ्यादर्शन के प्रति अनन्यचित्त होकर, अन्य विद्वानों द्वारा समझाये जाने पर भी उनकी अपेक्षा कर सेनापति की भक्ति पूर्वक उपासना करते हैं। इसके फलस्वरूप इन चारों बालकों के चित्तवृत्ति अटवी में विद्यमान होने पर मनुष्य कभी भी भाव पूर्वक तत्त्वमार्ग के सच्चे रास्ते को प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिये पूर्व प्रकरण में मिथ्यादर्शन आश्रित जो दोष वर्णित किये गये हैं वे सभी दोष बहिरंग के लोगों में भी पाये जाते हैं और ये बालक उसके कारणभूत हैं। [४३१–४३९] *

२. **अप्रत्याख्यानी**—उपरोक्त अनन्तानुबन्धी चार बालकों से कुछ छोटे जो चार बालक उनके पास ही दिखाई देते हैं उन्हें पण्डितवर्ग अप्रत्याख्यानी-क्रोध, मान, माया और लोभ नाम से कहते हैं। ये चारों बच्चे अपनी शक्ति से बहिरंग प्रदेश के लोगों को पाप में प्रवृत्त कराते हैं। यदि कोई पापमार्ग से निकलना चाहे तो उसे ये चारों राकते हैं। अधिक क्या कहूँ ? जब तक ये चारों चित्तवृत्ति में रहते हैं तब तक प्राणी पाप से तिल मात्र भी पीछे नहीं हट सकते। प्रथमोक्त अनन्तानुबन्धी चार बालकों से इनमें इतना अन्तर अवश्य है कि चित्तवृत्ति में इनकी उपस्थिति होने पर भी प्राणी तत्त्वदर्शन को स्वीकार करता है जिससे उसे कुछ-कुछ सुख अवश्य मिलता है। परन्तु, वे किसी प्रकार की विरति (त्याग) या व्रत-नियम की प्रतिज्ञा नहीं कर सकते जिससे इस भव में भी संतप्त रहते हैं और परभव में भी पाप कर्मों का संचय कर संसार रूपी गहन जंगल में भटकते रहते हैं। [४४०–४४४]

३. **प्रत्याख्यानी**—हे प्रकर्ष ! इन आठ बालकों से भी छोटे जो चार बालक दिखाई दे रहे हैं, उन्हें विबुधगण प्रत्याख्यानी-क्रोध, मान, माया और लोभ के नाम से कथन करते हैं। जब तक ये चारों इस मण्डप के आश्रित हैं तब तक बहिरंग जगत के प्राणी पाप को सर्वथा नहीं छोड़ सकते। जब तक चित्तवृत्ति में ये बालक निवास करते हुए क्रीड़ा करते रहते हैं तब तक प्राणी पाप का कुछ-कुछ त्याग तो भली प्रकार करते हैं, पर उसे सम्पूर्णतः छोड़ नहीं सकते। प्राणी द्वारा किये गये कुछ-कुछ

* पृष्ठ ३७४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विरति (त्याग), व्रत, नियम आदि के फलस्वरूप उसका कुछ-कुछ कल्याण तो इनकी उपस्थिति में भी होता है पर सम्पूर्ण लाभ नहीं मिल पाता, क्योंकि वे सर्वविरति (सम्पूर्ण व्रत नियम) ग्रहण नहीं कर सकते [४४५–४४८।

४. **संज्वलन**– भाई प्रकर्ष। इन प्रत्याख्यानी बालकों से भी छोटे जो केवल गर्भपिण्ड के समान चार बालक दिखाई दे रहे हैं उन्हें मुनिजन संज्वलना क्रोध, मान, माया और लोभ के नाम से पुकारते हैं। ये बच्चे क्रीड़ा करने में ही आनन्दित होते हैं और स्वभाव से ही अति चपल और चञ्चल रहते हैं। सर्व पाप से विरत साधुओं के चित्त को भी ये बच्चे कभी-कभी डांवाडोल कर देते हैं अर्थात् ऐसे विशाल हृदय मुनिजनों के मन में भी अपनी चञ्चलता से उथल-पुथल मचा देते हैं। फलस्वरूप सर्व पाप को नष्ट करने के इनके निश्चय में भी कभी-कभी इन बच्चों के कारण दोष लग जाता है, शुद्ध मार्ग में अतिचार आ जाता है और उन्हें प्रायश्चित्त लेना पड़ता है। यद्यपि बाह्य प्रदेश के प्राणियों को ये बच्चे बहुत छोटे-छोटे और सुन्दर प्रतीत होते हैं तथापि संसारी प्राणियों के लिये वे सुन्दर तो कदापि नहीं हो सकते, क्योंकि ये बड़े-बड़े मुनियों के चित्त को भी कुछ-कुछ क्षुब्ध कर देते हैं। [४४९–४५३]

इन चार-चार बालकों के समूह का कुछ विस्तृत विवरण मैंने प्रस्तुत किया है, परन्तु इनके विशिष्ट गुणों का वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है? तथापि कभी अवकाश में प्रसंग आने पर प्रत्येक के नाम गुण और शक्ति का वर्णन करूंगा। इनमें से आठ बालक (माया और लोभजन्य अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन) रागकेसरी के सामने खेल कूद कर रहे हैं। ये रागकेसरी और उसकी अत्यन्त वल्लभा पत्नी मूढता के पुत्र हैं। * और, जो शेष आठ बालक (क्रोध एवं मानजन्य अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन) द्वेषगजेन्द्र के सन्मुख धमा-चौकड़ी कर रहे हैं वे द्वेषगजेन्द्र और उसकी प्रियपत्नी अविवेकिता के पुत्र हैं। ये सोलह ही बालक महामोह राजा के पौत्र हैं। इन सोलह बालकों को इनके माता-पिता ने सिर पर चढ़ा रखा है जिससे ये अत्यधिक चपल और शक्तिसम्पन्न बन गये हैं। इनकी शक्ति का वर्णन तो इस संसार में हजार जिह्वाओं से भी करने में कौन समर्थ हो सकता है? प्रकर्ष! इन बच्चों का औद्धत्य तू देख, सामने जितने भी राजा बैठे दिखाई दे रहे हैं ये बच्चे उनके भी सिर पर चढ़कर बैठ जाते हैं। भैया! इस प्रकार महामोह राजा के अंगभूत पूरे परिवार का संक्षेप में मैंने तुम्हारे समक्ष वर्णन किया जो तुमने भली प्रकार समझ लिया होगा। [४५५–४६४]

❀

* पृष्ठ ३७५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७. महामोह के सामन्त

[विमर्श आज प्रसन्न था। महामोह के परिवार, सेनापति, पुत्र-पौत्र आदि का वर्णन करने के बाद प्रकर्ष के प्रश्न करने के पहिले ही उसने महाराज के सामन्तों का वर्णन प्रारम्भ कर दिया।]

भाई प्रकर्ष ! महामोह राजा के सिंहासन के निकट ही जो राजा बैठे दिखाई दे रहे हैं वे राजा के विशेष अंगभूत प्रमुख पदाति (मंत्री) हैं जिनका संक्षिप्त गुण-वर्णन अब मैं तुम्हें सुनाता हूँ। [४६५]

विषयाभिलाष मंत्री

भद्र ! रागकेसरी के पास जो राजा बैठा दिखाई दे रहा है उसका नाम विषयाभिलाष है। वह सुन्दर स्त्री की कमर में हाथ डाल कर बैठा है मुँह में सुस्वादु सुगन्धित पान चबा रहा है, भ्रमरों के झुण्ड से गुञ्जरित मनोमुग्धकारी सुगन्धी से पूर्ण कमल को लीला पूर्वक बार-बार सूंघ रहा है, अपनी सुन्दरी पत्नी के मुखकमल को एकटक दृष्टि से अपलक देख रहा है, और वीणा, झांझर और काकली जैसे वाद्यों की मधुर ध्वनि सुनने में जो अत्यधिक आसक्त दिखाई दे रहा है। मानो सारी सृष्टि के पदार्थ उसकी मुट्ठी में ही हों, इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों के भोग भोगने में वह दत्त-चित्त हो रहा है। भैया ! यह रागकेसरी राजा का मन्त्री है। इसकी प्रसिद्धि हमने पहले भी कई बार सुनी थी और इसी से मिलने हम यहाँ आये हैं। [४६६-४७०]

प्रकर्ष ! तुझे याद होगा कि मिथ्याभिमान ने हमें बताया था कि इस विषयाभिलाष के पाँच लड़के हैं जिनके बल पर यह मन्त्री महाबली बनकर सारे संसार को अपने वश में रखता है और सब को अपने समान ही विषय भोगों में गृद्ध बना देता है। देखो, उसके साथ ये पाँच लड़के भी बैठे है। जो-जो प्राणी विषयाभिलाष मंत्री के प्रभाव में हैं वे सभा स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द में आसक्त हो जाते हं। एक बार इनके जाल में फंस जाने पर प्राणी भूल जाते हैं कि अमुक कार्य करने योग्य है या नहीं ? अमुक विषय उसके लिये हितकर है या अहितकर ? अमुक वस्तु खाने योग्य है या त्यागने योग्य ? और धर्माचार का तो वे बहिष्कार ही कर देते हैं। वे तो ऐसे ही मनुष्यों से मित्रता रखना पसन्द करते हैं जो सर्वज्ञ और जो सारे समय विषयों में ही रचा-पचा रहता है तथा पूर्णतया जड़ की भाँति अन्य किसी को न तो देखता है, न किसी से मिलता है और न ही किसी की बात सुनता है। ठीक जड़कुमार की भाँति ही अपना आचरण करते हैं। भद्र ! इसको देखने मात्र से और बुद्धि पूर्वक विचार करने से ऐसा निश्चित जान पड़ता है कि रसना को उत्पन्न करने वाला यह विषयाभिलाष ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। यह विशद बुद्धि वाला है, इसलिये अनेक प्रकार की राजनीति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(उठा-पटक) द्वारा रागकेसरी का पूरा राज्य-तन्त्र यही चलाता है ❀ तथापि अन्य किसी के बुद्धि प्रयोग से यह कदापि पराजित नहीं होता। बाह्य प्रदेश के मनुष्य तभी तक विद्वान् बनकर अपने व्रतों में दृढ़ रह सकते हैं जब तक कि यह विषयाभिलाष मन्त्री उन्हें नहीं उकसाता। परन्तु, जैसे ही यह महाबुद्धिशाली प्रधान अपनी शक्ति का प्रयोग करने लगता है वैसे ही वे पामर प्राणी हतवीर्य होकर छोटे बच्चों की तरह निर्लज्ज बनकर अपने व्रतों को छोड़कर इसके दास बन जाते हैं। यहाँ जितने भी राजा हैं उन सब का प्राणियों पर जो साम्राज्य है उसकी वृद्धि यह विषयाभिलाष मंत्री ही करता है। अतः बाह्य प्रदेश के प्राणियों के लिये यह मन्त्री बहुत ही दुःखदायक है, क्योंकि बहिरंग लोक के प्राणी इसकी आज्ञा से ही पाप करते हैं और पाप के परिणाम स्वरूप वे इस भव और परभव में दुःख प्राप्त करते हैं। यह विषयाभिलाष नीति-मार्ग में कुशल, निर्दोष पुरुषार्थी, मनुष्यों के मन को भेदन करने के उपायों में अति चतुर, सर्व यथार्थता को पहचानने वाला, विग्रह या सन्धि कराने के काम में प्रवीण, विकल्पजाल फैलाने में निपुण तथा अनेक विषयों में कुशल है। सम्पूर्ण संसार में इसके समान अन्य कोई मंत्री है ही नहीं। अधिक क्या कहूँ ? संक्षेप में, जब तक राज्य-तन्त्र (पद्धति) के कामकाज को चलाने वाला यह महामंत्री है तभी तक इन राजाओं का राज्य चल रहा है, अर्थात् इस मन्त्री के बिना इन राजाओं के राज्य में चारों तरफ अन्धेरा फैल जाता है। [४७१-४८४]

प्रकर्ष ने हर्षित होकर कहा—बहुत अच्छा मामा ! आपने बहुत ही सुन्दर निर्णय बताया है, अर्थात् आपकी बात सौ टका सच्ची है, क्योंकि यह तिलतुष के तृतीयांश जितना भी बदल सके ऐसा प्रतीत नहीं होता है। यह महामन्त्री आपके कथनानुसार ही है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। क्योंकि, जब मैंने इसे पहिले देखा था तभी इसकी आकृति को देखकर मेरे मन में विचार उठा था कि यह मन्त्री ऐसा ही होना चाहिये और अब आपने इसके जिन समस्त गुणों का वर्णन किया है वे पूर्णतः मेरे विचारों के समर्थक ही हैं। [४८५-४८६]

विमर्श—तेरे जैसा चतुर मनुष्य किसी को देखकर ही उसके गुण-अवगुणों को जान जाय, इसमें कौनसा आश्चर्य है ? क्योंकि—

ज्ञायते रूपतो जातिर्जातेः शीलं शुभाशुभम्।
शीलाद् गुणाः प्रभासन्ते, गुणैः सत्वं महाधियाम्॥

अर्थात् बुद्धिशाली मनुष्य को प्राणी के रूप से उसकी जाति का पता लग जाता है, जाति के जानने पर उसके अच्छे-बुरे व्यवहार का पता लग जाता है, व्यवहार से गुण और गुण से सत्व का पता लग जाता है। [४८८]

भाई ! इस विषयाभिलाष महामन्त्री को देखकर तू ने इसके ही गुण जाने हों, यही नहीं परन्तु तू ने अन्य राजाओं को देखकर, उनके गुण-अवगुण भी जान लिये

❀ पृष्ठ ३७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। भाणजे ! तू मेरी बहन बुद्धिदेवी का पुत्र है, इसलिये तुझे निर्णय करने में समय नहीं लग सकता। मैं जानता हूँ कि तू मुझे जो प्रश्न पूछ रहा है वे तेरी जातिवान् होने की (मुझे मान देने की), उदार नीति की और तेरी एक प्रकार की महत्ता की निशानी है। [४८६-४९०]

भोगतृष्णा

प्रकर्ष—अच्छा मामा! इस मन्त्री के पास एक मुग्ध नेत्रों वाली स्त्री बैठी है, क्या वह इसकी पत्नी है? इसका नाम क्या है? और वह कैसी है? कृपया बतलाइये। [४९१]

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! इसका नाम भोगतृष्णा है। यह विषयाभिलाष की पत्नी है। इसमें इसके पति के समान ही सब गुण विद्यमान हैं। [४९२]

मोह राजा के अन्य सेनानी

हे भद्र ! महामन्त्री के आस-पास और आगे-पीछे राजा जैसे जो पुरुष खड़े दिखाई दे रहे हैं और जिन्होंने अपने मस्तक मन्त्री के आगे झुका रखे हैं वे दुष्टाभिसन्धि आदि ❀ महायोद्धा हैं और मोह राजा के विशेष स्वांगभूत सेनानी हैं। ये सभी महायोद्धा महाराजा के अति प्रिय, रागकेसरी द्वारा मान्य और द्वेषगजेन्द्र की सेवा में सभी समय-समय पर भृत्य के रूप में उपस्थित रहते हैं। विषयाभिलाष मन्त्री की आज्ञा होते ही वे सभी या जिसे आज्ञा दी गई हो वे राज्य की सेवा में प्रवृत्त हो जाते हैं और जब तक मन्त्री उन्हें उस कार्य से निवृत्त होने को आज्ञा नहीं देता तब तक वे कार्य से पीछे नहीं हटते। बाह्य प्रदेश में रहने वाले प्राणियों को क्षुद्र उपद्रव करने वाले जो-जो अन्तरंग के राजा हैं वे सभी यहीं इस तृष्णा मञ्च के मध्य में बैठे हुए हैं जिन्हें भली प्रकार पहचान लो। फिर बाह्य प्रदेश में कुछ अधम उपद्रव करने वाली स्त्रियाँ और कुछ बच्चे भी इन्हीं राजाओं के बीच हैं उन्हें भी ध्यान पूर्वक देखने से वे लोग दिखाई देंगे। वे इतने अधिक हैं कि उनकी गिनती भी नहीं हो सकती, फिर उनका वर्णन करना तो अशक्य ही है। उन सब में जो विशेष-विशेष स्वांगभूत (मोह राजा से उत्पन्न) योद्धा हैं उनका संक्षिप्त वर्णन मैंने किया है। [४९३-४९९]

❀

❀ पृष्ठ ३७७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८. महामोह के मित्र राजा

[महामोह के परिवार, पुत्र, मंत्री और योद्धाओं का वर्णन पूर्ण होने के बाद प्रकर्ष ने उसके मित्र राजा जो वहाँ उपस्थित थे, उनका भी परिचय प्राप्त करने का सोचा। इस विषय में मामा-भाणजे में निम्न बात हुई।]—

प्रकर्ष – मामा ! आपने मञ्च पर बैठे लोगों का वर्णन किया वह तो ठीक, पर मञ्च के द्वार के बाहर इस विशाल मण्डप में जो सात राजा बैठे हुए दिखाई देते हैं, जिनके साथ भिन्न-भिन्न छोटा-बड़ा परिवार है और जिनके रूप-गुण भी स्पष्टतया भिन्न-भिन्न दिखाई दे रहे हैं, उनके क्या-क्या नाम हैं ? और क्या-क्या गुण हैं ? वह समझाइये। [५००-५०१]

विमर्श—ये सात बड़े राजा यद्यपि महामोह राजा की सैन्य में हैं, किन्तु ये बाहर के हैं और वे महाराजा की सहायता करने आये हुए मित्र राजा हैं। [५०२]

१. ज्ञानावरण—इनमें से जो सब से प्रथम है और जो पाँच मनुष्यों के साथ है वह ज्ञानसंवरण नामक बहुत प्रसिद्ध राजा है। इसमें इतनी शक्ति है कि वह स्वयं तो यहाँ रहता है, फिर भी अपनी शक्ति से बाह्य प्रदेश के प्राणियों को ज्ञान रूपी प्रकाश से रहित कर एक दम अन्धा बना देता है अर्थात् लोगों की समझ, विचार-शक्ति और दीर्घदृष्टि का हरण कर लेता है। यह राजा गहन अज्ञानान्धकार से लोगों को असमञ्जस में डाल देता है, इसीलिये शिष्ट लोग इसे मोह के उपनाम से भी जानते हैं। इसके साथ बैठे पाँच पुरुषों के नाम हैं—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यवज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। [५०३-५०५]

२. दर्शनावरण—दूसरे स्थान पर जो राजा चार पुरुषों और पाँच स्त्रियों से घिरा बैठा है वह दर्शनावरण के नाम से महीतल में प्रतिष्ठित है। (चार पुरुषों के नाम चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण हैं।) इसके साथ जो पाँच सुन्दर स्त्रियाँ दिखाई दे रही हैं (उनके नाम निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि है)। ये अपनी शक्ति से सारे संसार को निद्रा में घूर्णित कर देती हैं और इसके साथ खड़े ये चार पुरुष दुनिया को नितांत अन्धा बना देते हैं। [५०६-५०८]

३. वेदनीय—तीसरे स्थान पर जो दो पुरुषों से युक्त राजा दिखाई दे रहा है, उस विख्यात पुरुषत्व वाले राजा का नाम वेदनीय है। इनमें से एक पुरुष साता के नाम से प्रसिद्ध है जो देव, मनुष्य आदि सब को अनेक प्रकार के आनन्द प्राप्त कराता है और त्रैलोक्य को मस्ती से हर्षित कर देता है। उसके साथ ही जो दूसरा पुरुष दिखाई दे रहा है वह असाता के नाम से प्रसिद्ध है। यह पुरुष जगत् को विविध प्रकार के संताप और दुःख देता है। [५०९-५११]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. **आयुष्य**—चौथे स्थान पर चार छोटे-बड़े बच्चों से घिरा हुआ जो राजा दिखाई दे रहा है, उसे संसार में लोग आयुष्य के नाम से जानते हैं। (इसके साथ के बच्चों के नाम देवायुष्य, मनुष्यायुष्य, तिर्यञ्चायुष्य और नरकायुष्य हैं।) ❀ ये बच्चे अपने प्रभाव से प्रत्येक भव में प्राणी के निवास का समय निश्चित करते हैं, अर्थात् किस-किस भव में प्राणी कितने समय तक रहेगा इसका प्रमाण तय करते हैं। [५१२-५१३]

५. **नाम**—प्रकर्ष! पाँचवे स्थान पर जो ४२ मनुष्यों से परिवेष्टित महाबली राजा दिखाई दे रहा है, उसे लोग नाम संज्ञा से पहचानते हैं। अपने ४२ अनुचरों के प्रभाव से यह सभी चराचर प्राणियों को इतनी विडम्बनाएं देता है कि जिसका वर्णन भी अशक्य है। तुम देख ही रहे हो कि चतुर्गति रूप संसार में कोई प्राणी देव, कोई मनुष्य, कोई नारकी और कोई पशु के रूप में उत्पन्न होते हैं। कुछ एक, दो, तीन, चार या पांच इन्द्रियों को धारण करते हैं तथा भिन्न-भिन्न शरीरों को धारण करते हैं। इसी के प्रभाव से भिन्न-भिन्न शरीरों में नये-नये पुद्गलों से सम्बन्धित होते हैं। भिन्न-भिन्न अंगोपांग प्राप्त करते हैं। औदारिक आदि शरीर पुद्गलों का संघात (एकत्रित) करने को तत्पर रहते हैं। भिन्न-भिन्न संहनन (हड्डियों के आकार) धारण करते हैं। शरीर के भिन्न-भिन्न संस्थान (आकृति) धारण करते हैं। रूप, गंध, स्पर्श, रस में एक दूसरे से भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले बनते हैं। लघु (हल्के) या गुरु (भारी) बनते हैं। स्वोपघात-परायण अर्थात् शारीरिक या अंगों के दुःख को सहन करने में समर्थ बनते हैं। पराघात-परायण अर्थात् शक्तिशाली से भी विजय प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। अनुपूर्वी-पूर्वक अर्थात् अपने अपने इष्ट स्थान पर जन्म धारण करते हैं। पूर्ण श्वासोच्छ्वास वाले और स्वस्थ शरीर वाले बनते हैं। आतप अर्थात् स्वयं शीतल शरीर वाले होने पर भी अन्य प्राणियों को अपनी किरणों से तप्त बना सकते हैं। उद्योत अर्थात् अपने शरीर की शांति-किरणों से चन्द्र किरण जैसी शान्ति चारों ओर फैला देते हैं। शुभ-अशुभ विहायोगति के प्रभाव से कोइ प्राणी अति सुन्दर चाल को प्राप्त करता है और कोई ऊंट जैसी बेढंगी चाल को प्राप्त करता हैं। कुछ प्राणी त्रस, कुछ स्थावर (एक इन्द्रिय वाले), कुछ सूक्ष्म, कुछ आँखों से दिखने वाले बादर, कुछ अपनी योग्य पर्याप्ति को पूर्ण किये हुए, कुछ अपर्याप्त स्थिति में, कुछ भिन्न-भिन्न शरीर वाले (प्रत्येक), कुछ एक ही शरीर में अनन्त जीव वाले (साधारण), कुछ स्थिर, कुछ अस्थिर, कुछ शुभ, कुछ अशुभ, कुछ सौभाग्यशाली, कुछ दुर्भागी, कुछ सुस्वर (मधुर भाषी), कुछ दुःस्वर (कठोर भाषी), कुछ के वचन लोक में आदेय, ग्राह्य और मनोहर तथा कुछ के स्ववर्ग में अनादेय (अमान्य) होते हैं। कुछ का यश सर्वत्र फैलता है जब कि कुछ का अपयश का ही फैलता है। कुछ के शरीर का गठन सुन्दर होता है। कुछ महात्मा पुरुष इस संसार में तीर्थंकर भी बनते हैं जिनके चरण-कमल नमन करते हुए श्रेणिबद्ध देवताओं के

❀ पृष्ठ ३७८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुकुटों से पूजित होते हैं और जो संसार को भेदकर उसके अन्तिम छोर (मुक्ति) को प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी अनेक प्रकार की जो रचनायें संसार में होती हैं, जिससे भिन्न भिन्न प्रकार की अच्छी-बुरी स्थिति को प्राणी प्राप्त करता है, वह सब इस महाबलवान महाराजा नाम और उसके अनुचरों के प्रभाव एवं पराक्रम से ही होता है। [५१४-५२५]

६. गोत्र—भद्र! इसके आगे छठे स्थान पर दो आत्मीय पुरुषों से घिरा हुआ जो जगत्पति महापराक्रमी राजा बैठा है उसका नाम गोत्र है। इन दो पुरुषों में से एक का नाम उच्च गोत्र और एक का नीच गोत्र है। प्राणियों को अच्छे या बुरे गोत्र वाला बनाना इसी राजा का काम है। [५२६-५२७]

७. अन्तराय—भैया! इसके आगे सातवें स्थान पर पाँच मनुष्यों से घिरा हुआ जो राजा बैठा है, उसे अन्तराय कहते हैं। यह नराधम अपनी शक्ति से बाह्य प्रदेश के लोगों में विघ्नरूप बनकर न तो दान देने देता है, न वस्तुओं का लाभ होने देता है और न उनका भोग-उपभोग करने देता है, पराक्रमी होते हुए भी निर्बल बना देता है अर्थात् प्राणी अपने वीर्य का उपयोग नहीं कर सकता और प्रत्येक कार्य में विघ्न उपस्थित करता है। इसके पाँच पुरुषों (दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय) के प्रभाव से यह प्राणियों की ऐसी गति बनाता है। [५२८-५२९]

भाई प्रकर्ष! मैंने संक्षेप में इन सातों राजाओं और उनके परिवार के सम्बन्ध में तुझे बताया। वैसे इनमें से प्रत्येक की कितनी शक्ति है और वे कैसे-कैसे काम कर सकते हैं, इस सम्बन्ध में यदि विस्तार से कहूँ तो मेरा पूरा जीवन समाप्त हो जाय तब भी वह पूरा नहीं हो सकता। [५३०-५३१]

मामा के गम्भीर वचन सुनकर * प्रकर्ष का चित्त अत्यधिक हर्षित हुआ और वह बोला—मामा! आपने बहुत अच्छा किया। मैं मानता हूँ कि इन सब राजाओं का वर्णन कर आपने मुझे मोह के पिञ्जरे के छुड़ा लिया है। [५३२-५३३]

हर्षित प्रकर्ष ने अपनी जिज्ञासा शान्त करने के लिये विमर्श से पुनः पूछा—मामा! मेरे मन में एक शंका उठ रही है, यदि आपकी आज्ञा हो तो पूछकर निर्णय करूं? [५३४]

मित्र राजाओं का विशिष्ट परिचय

प्रकर्ष के प्रश्न पर विमर्श ने संतोष व्यक्त किया और प्रसन्नता से कहा—भद्र! तू जो कुछ पूछना चाहता है उसे प्रसन्नता पूर्वक पूछ। तब प्रकर्ष ने पूछा—मामा! आपने जिन सात राजाओं का वर्णन किया उनके विषय में मुझे विस्मय-कारक अनेक नवीनताएं लग रही हैं। मण्डप में बैठे हुए इन्हें ध्यान पूर्वक देखने पर भी मुझे ये राजा तो दिखाई देते हैं किन्तु उनके परिवार दिखाई नहीं देते। अधिक

* पृष्ठ ३७९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जोर देकर विस्फारित नेत्रों से देखने पर परिवार दिखाई देते हैं तो राजा दिखाई नहीं देते। आपने तो प्रत्येक राजा और उसके परिवार (अनुचरों) का नाम तथा गुणों का अलग-अलग वर्णन किया है। इसमें क्या यथार्थता है? वह समझाइये। [५३५-५३९]

विमर्श—वत्स! इसमें विस्मय जैसी क्या बात है? जैसे तू एक ही समय में राजा और उसके परिवार को एक साथ नहीं देख सकता वैसे ही अन्य भी कोई उन्हें एक साथ नहीं देख सकता। क्योंकि, इन दोनों को जानने वाले समझते हैं कि ये दोनों एक ही समय में एक साथ नहीं रहते, किन्तु उस समय मन में ऐसा भाव होता है कि राजा है तो उसका परिवार भी है। देख, आवरण रहित ज्ञान वाले सर्वज्ञ केवली भी यह जानते हैं कि ये राजा और उनका परिवार एक ही समय में एक साथ नहीं रहते, क्योंकि ये सातों राजा सामान्य हैं और उनका परिवार विशिष्ट है। जिस प्रकार अवयव को धारण करने वाला अवयवी यहाँ सामान्य है और उसके अवयव विशेष हैं वैसे ही ये सातों राजा अंश को धारण करने वाले अंशी हैं और उनके परिवार उन्हीं के अंश के रूप हैं। सामान्य और विशेष किसी को एक ही समय में एक ही साथ दिखाई नहीं दे सकते, क्योंकि यह इनका स्वभाव ही है। इनमें देश, काल या स्वभाव से किसी भी प्रकार का भेद नहीं है, दोनों तादात्म्यरूप (एकरूप) होकर साथ में रहते हैं, अतः वे दोनों एकरूप (अभिन्न) ही प्रतिभासित होते हैं। यही कारण है कि भैया! तुझे दोनों एकरूप में दृष्टिगोचर हो रहे हैं। [५४०-५४५]

इस विषय में मैं तुझे एक दृष्टान्त देकर समझाता हूँ। मानों कि एक जंगल है। उसमें धावड़े, आम और खैर के वृक्ष हैं। अब ये धावड़े, आम या खैर वृक्ष से भिन्न तो नहीं है, अर्थात् वृक्ष हैं तो धावड़े आदि हैं और धावड़े आदि हैं तो वृक्ष हैं। दोनों वैसे अभिन्न हैं, पर एक समय सामान्य वृक्ष पर लक्ष्य रहता है तो दूसरे समय धावड़े, आम आदि विशेष पर लक्ष्य रहता है। जैसे, श्रुतस्कन्ध के बिना अध्ययन नहीं हो सकते और अध्ययन के बिना श्रुतस्कन्ध नहीं हो सकता। बिना प्रकरण के पुस्तक नहीं हो सकती। (पुस्तक है तो प्रकरण भी होंगे और प्रकरण हैं तो पुस्तक भी होगी)। बात इतनी ही है कि एक ही समय में दोनों का बोध एक साथ हो नहीं सकता। यह नहीं कि वे शास्त्र रूप या प्रकरण रूप में दिखाई ही नहीं देते, परन्तु भिन्न-भिन्न समय की अपेक्षा को ध्यान में रखकर देखें तो दोनों ही दिखाई देते हैं। अर्थात् एक समय शास्त्र दिखाई देता है तो एक समय प्रकरण, पर दोनों एक साथ दिखाई नहीं दे सकते। जब वस्तु के सामान्य रूप पर ध्यान होता है तब विशेष रूप अदृश्य हो जाता है और जब विशेष रूप पर ध्यान होता है तब सामान्य रूप अदृश्य हो जाता है। [५४६-५४८]

जंगल को दूर से देखने पर सामान्य रूप में वृक्षों के झुण्ड ही दिखाई देंगे, उसमें धावड़े आम या खैर न तो दिखाई ही देंगे और न उन्हें भिन्न-भिन्न रूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में पहचाना ही जा सकेगा। उसके निकट जाने पर वे ही धावड़े, आम या खैर अलग-अलग दिखाई देंगे। तब 'यह धावड़ा है, यह आम है, ऐसा कहा जायगा, पर यह वृक्ष है ऐसा कोई नहीं कहेगा। यद्यपि धावड़ा, आम आदि वृक्ष से भिन्न नहीं हैं, पर सामान्य रूप से वे वृक्ष होने पर भी विशेष रूप से आम आदि भिन्न-भिन्न हैं। काल की अपेक्षा से कहें तो आपने दो वस्तु देखी है ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न रूप देखें हैं। एक बार वृक्ष देखे और थोड़ी देर बाद आम आदि देखे।* काल के भेद से वस्तु-भेद अवश्य हुआ, पर वस्तुतः वे भिन्न नहीं हैं। जो द्रव्य वास्तव में अभिन्न होते हैं वे कालभेद से भी कभी भिन्न-भिन्न दिखाई नहीं देते। जो सर्वथा अभिन्न हैं वे सर्व काल में अभिन्न ही रहते हैं। [५४६-५५१]

यद्यपि सामान्य और विशेष के स्वभाव, गुण, प्रकृति आदि अभिन्न होते ह, फिर भी चार विषयों में उनमें भिन्नता होती है। संख्या, संज्ञा (नाम), लक्षण और कार्य। इन चारों के कारण विशेष और सामान्य से भिन्नता हो जाती है। जो तत्त्वज्ञान भेदाभेद परिस्थिति को स्वीकार करता है अर्थात् जहाँ स्याद्वाद शैली को अपनाने की विशालता होती है, वहाँ सामान्य से विशेष को संज्ञा, संख्या आदि की अपेक्षा से भिन्न बताने में कोई दोष नहीं है। [५५२-५५३]

इन चारों बातों में विशेष सामान्य से भिन्न किस प्रकार होता है? वह बताता हूँ, सुनो। (१) वृक्ष नाम से वह संख्या की अपेक्षा से एक ही है जब कि खैर, आम आदि भिन्न-भिन्न रूपों में अनेक है। (२) संज्ञा, सामान्य रूप से वृक्ष को वृक्ष के नाम से ही पहचाना जाता है, जब कि विशेष रूप से आम, खैर, धावड़ा, नीम आदि भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है। (३) लक्षण, सामान्य रूप से सभी वृक्ष हरे-भरे समान लक्षण वाले ही लगते हैं, किन्तु विशेष रूप से आम वृक्ष के जैसे पत्ते, मंजरी आदि होते हैं, वैसे ही धावड़े या नीम में नहीं होते, अतः लक्षण (पहचान) में भी वे सामान्य से भिन्न हैं। (४) कार्य, सामान्यतः सभी वृक्षों का कार्य है शीतल छाया आदि प्रदान करना, किन्तु आम के वृक्ष में आम लगता है और नीम के वृक्ष में नींबोली, अतः कार्य की अपेक्षा से भी विशेष सामान्य से भिन्न है। इन सब भेदों को देखते हुए जब सामान्य का व्यवहार होता है तब मुख्यतया सामान्य ही दृष्टिगोचर होता है और विशेष गौण हो जाने से वह दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी प्रकार जब विशेष का व्यवहार होता है तब मुख्यतया विशेष ही दृष्टिगोचर होता है और सामान्य गौण हो जाने से वह दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसे, शास्त्र (श्रुतस्कन्ध) एक है पर उसमें अध्ययन, उद्देशक आदि अनेक हैं (संख्या की अपेक्षा से भिन्नता)। शास्त्र का नाम अलग है और प्रत्येक अध्ययन के भी नाम अलग-अलग हैं (नाम की अपेक्षा से भिन्नता)। शास्त्र के सभी पृष्ठ समान रूप से हैं पर प्रत्येक पृष्ठ पर भिन्न-भिन्न विषय हैं (लक्षण की अपेक्षा से भिन्नता)। और, शास्त्र का कार्य सामान्य रूप से ज्ञान

* पृष्ठ ३८०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देना है, जब कि भिन्न-भिन्न अध्याय अलग-अलग विषयों का ज्ञान देने वाले होते हैं (कार्य की अपेक्षा से भिन्नता)। भिन्न-भिन्न अध्ययन शास्त्र के अंग हैं और उन अध्ययनों को धारण करने वाला शास्त्र है। [५५४–५५७]

भाई प्रकर्ष! इस प्रकार नाम, संख्या आदि भेदों को ध्यान में रखकर देश, काल और स्वभाव से राजा और उनके परिवारों में सामान्य रूप से जो अभिन्नता है, उसे थोड़े समय के लिए एक तरफ रखकर, उन सात राजाओं और उनके परिवारों के नाम और गुणों को तुझे समझाने के लिये अलग-अलग बताये हैं। यद्यपि इन राजाओं और उनके परिवारों में सामान्य और विशेष की भिन्नता अवश्य है, फिर भी वे अभिन्न हैं (जैसे शास्त्र और उसके अध्ययन)। इसीलिये वे एक ही समय में एक दूसरे से अलग-अलग दिखाई नहीं देते। इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं है अतः तुम संशय का त्याग कर दो। साथ ही अन्य कहीं भी यदि मैंने सामान्य और विशेष की अपेक्षा से भिन्नता बताई हो तो उनके नाम, संख्या, लक्षण, कार्य आदि को समझ कर तुझे आश्चर्य नहीं करना चाहिये। [५५८–५६१]

❀

१६. महामोह-सैन्य के विजेता

[विमर्श से उक्त स्पष्टीकरण सुनकर सामान्य और विशेष को समझ कर, न्यायसूत्रों और दृष्टान्तों से उसे हृदयंगम कर जिज्ञासु प्रकर्ष ने अपना प्रश्न आगे चलाया।]

मामा! आपके स्पष्टीकरण से मेरे मन की शंका दूर हुई, पर अब एक नयी शंका मन में उठ खड़ी हुई है।

मामा! यहाँ जो ये सात राजा दिखाई देते हैं, उनमें से तीसरा वेदनीय, चौथा आयुष्य, पाँचवां नाम और छठा गोत्र ये चारों महीपति आपके कथनानुसार प्राणी को कभी-कभी सुख और कभी-कभी दुःख देते हैं। निष्कर्ष यह है कि ये चारों बाह्य जगत के प्राणियों के लिये अपकार-परायण (एकान्त रूप से दुःखदाता) ही नहीं हैं पर कभी-कभी सुख के कारण भी बनते हैं। परन्तु प्रथम ज्ञानावरण, द्वितीय दर्शनावरण और अन्तिम अन्तराय ये तीनों तो प्राणियों को निश्चित रूप से सर्वदा दुःख देने वाले ही हैं। अपने शक्तिशाली परिवार के साथ महामोह महाराजा और उपरोक्त तीन राजा मिलकर प्राणी के जीवन के सारभूत ज्ञानादि गुणों का हरण कर लेते हैं, तो फिर प्राणियों का जीवन ही कहाँ रहा? मामा! तो क्या बाह्य प्रदेश में कोई ऐसे शरीरधारी प्राणी भी होंगे जो इन चार शक्तिशाली शत्रुओं से तनिक भी कदर्थित (पीड़ित) न होते हों? ❀ क्या ऐसे प्राणी बाह्य जगत में होंगे या ऐसे प्राणियों के होने

❀ पृष्ट ३८१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की सम्भावना भी नहीं है ? मामा ! मैं ऐसे प्राणियों के बारे में पूछ रहा हूँ, जिनके समक्ष इन शत्रुओं की शक्ति नष्ट हो जाती हो और जो इन राजाओं पर विजय प्राप्त करने में प्रसिद्ध हो गये हों। [५६२-५६९]

विमर्श—(आदर पूर्वक मधुर स्वर में) हे वत्स ! क्या तू ऐसे प्राणियों के बारे में पूछ रहा है, जिन्होंने अपने वीर्य से इन चारों शत्रुओं का नाश कर दिया हो ? बाह्य प्रदेश में ऐसे प्राणी होते तो अवश्य हैं, पर वे विरले ही होते हैं। देखो, बाह्य प्रदेश के जो बुद्धिशाली प्राणी यथार्थ सद्भावना रूपी मन्त्र-तन्त्रों से प्रतिपूर्ण शास्त्रों का अध्ययन कर, शास्त्र रूपी कवच से अपनी आत्मा की रक्षा करते हैं और जो एक क्षण के लिये भी (परभाव-रमण रूपी) प्रमाद नहीं करते उनका महामोह आदि सारे राजा मिलकर भी कुछ नहीं बिगाड़ सकते, अर्थात् उनके लिए उपतापकारक नहीं होते हैं। कारण यह है कि ऐसे धीर-वीर प्राणी जिनकी बुद्धि विशुद्ध श्रद्धा से पवित्र हो गई है, वे निरन्तर अपने पवित्र मन में जगत के यथावस्थित स्वरूप का इस प्रकार विचार-चिन्तन करते हैं:—

यह संसार-समुद्र अनादि अनन्त है, महा भयंकर है, दुस्तरणीय है। ऐसे संसार में मनुष्यता प्राप्त करना, जल में परछाईं देखकर ऊपर चक्र में घूमती मछली की आँख को बाण से बींधने (राधावेध) जैसा अति विषम है। इस संसार में जो भी समस्त कार्य होते हैं उन सब के मूल में एक ही कारण है और वह है आशा रूपी पाशबन्धन (आशा का कच्चा धागा)। इच्छित फल-प्राप्ति की आशा में ही प्राणी काम करता है। यह जीवन देखते-देखते नष्ट होने वाला पानी के बुलबुले जैसा क्षणिक है। इसके साथ बन्धा हुआ यह शरीर अत्यन्त बीभत्स है, मल-मूत्र आदि अशुचि से पूर्ण है, कर्मजन्य है, आत्मा से भिन्न है, रोग-पिशाचों का निवास स्थान है और क्षण भँगुर है। मनुष्य का यौवन सन्ध्याकाल के रक्त मेघ की भांति भ्रान्ति-कारक एवं चपल है, अर्थात् थोड़े ही दिनों में तरुणाई का रंग उड़ जाता है। जैसे पवन के झोंको से मेघ तितर-बितर हो जाते हैं वैसे ही अनेक प्रकार की बाह्य सम्पत्तियाँ गमनशील होने से क्षण भंगुर हैं। प्राप्त किये हुए शब्दादि पांच इन्द्रियों के भोग प्रारम्भ में कुछ-कुछ आनन्द देते हैं, किन्तु अन्त में उनका परिणाम (फल) किंपाक फल के समान विषाक्त होता है। माता, पिता, पुत्र, पत्नी, भाई आदि से यह प्राणी इस अनादि भव चक्र में कई-कई बार विभिन्न रूपों में सम्बन्ध स्थापित कर चुका है। [फिर भी घाणी के बैल की तरह इसका चक्र घूमता ही रहता है।] एक वृक्ष पर रात्रि में अनेक पक्षी विश्राम करते हैं और प्रभात में कलरव करते हैं, परन्तु सूर्योदय होते ही जैसे वे उड़ जाते हैं, वैसे ही संसार के सगे-सम्बन्धी अमुक काल तक साथ निभाते हैं और अपना समय पूर्ण होने पर काल-कवलित होकर इस विशाल विश्व में समा जाते हैं। इस संसार में वियोगाग्नि से जलते हुए प्राणियों को अपने प्रिय व्यक्तियों से या अपनी प्रिय वस्तुओं से जो मिलन होता है, उसे स्वप्न में प्राप्त भण्डार जैसा ही समझना चाहिये, क्योंकि सभी मिलन अन्त में विलुप्त होते ही हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः मिलन की मधुरता से वियोग की कटुता अधिक असहनीय और ज्वलनशील होती है। वृद्धावस्था सर्व प्राणियों को जीर्णशीर्ण बना देती है और अन्त में मृत्यु रूपी विकराल पर्वत सब प्राणियों को चूर-चूर कर देता है। [५७०-५८३]

भाई प्रकर्ष ! जो प्राणी ऐसी भावना का अभ्यास कर पुनः-पुनः इसी चिन्तन में रमण करते हैं, जिनके मन ऐसी भावनाओं (विचारों) से अत्यन्त निर्मल बन गये हैं और जिनका अज्ञानान्धकार नष्ट हो गया है ऐसे प्राणियों को मोह राजा, महामूढता, रागकेसरी, द्वेषगजेन्द्र, मूढता और अविवेकिता, सब मिलकर भी त्रास नहीं दे सकते, बाधक नहीं बन सकते। इतना ही नहीं, मोह राजा के परिवार के शोक, अरति, भय या दुष्टाभिसन्धि आदि भी इनको किसी भी प्रकार से व्यथित नहीं कर सकते। जिसने भावना रूपी शस्त्र से मोह राजा और उनके पुत्र रागकेसरी एवं द्वेषगजेन्द्र को जीत लिया है उन्हें ये कषाय रूपी १६ बालक या अन्य कोई भी नहीं सता सकता। ❀ अतः ऐसे प्राणी मोह राजा या उसके पुत्रों से कभी सताये नहीं जा सकते। [५८४-५८७]

जो प्राणी सर्वज्ञों द्वारा प्ररूपित आगमों का बुद्धिपूर्वक चिन्तन-मनन कर वास्तविक निर्णय पर पहुँच जाते हैं, जो विशुद्ध श्रद्धावान हो जाते हैं, जो अपनी आत्मा पर चिपके हुए पाप-पंक को सद्विचार रूपी जल से धोते रहते हैं, जो आगम ग्रन्थों का बार-बार मनन कर अपने चित्त को स्थिर रखते हैं और जो मूढ कुतीर्थियों के उन्मार्ग-गमन को विचार पूर्वक देखते रहते हैं, ऐसे निर्मल बुद्धिधारक प्राणी पर मोहराजा का मंत्री मिथ्यादर्शन भी अपने स्वभाव से बाधक नहीं बन पाता अर्थात् उसका भी इन पर कुछ वश नहीं चलता। मिथ्यादर्शन की अत्यन्त शक्तिशाली स्त्री कुदृष्टि तो ऐसे प्राणी की शक्ति के विचार से ही दूर भाग जाती है। [५८८-५९१]

ऐसे प्राणी अपनी आत्मा को पूर्णरूपेण मध्यस्थ रखकर स्त्री, शरीर और उसके चपल चित्त के सम्बन्ध में परमार्थ से निम्न चिन्तन करते हैं—

हे जीव ! स्त्रियों की रक्त कमल जैसी कुछ श्वेत और कुछ काली दो विशाल आँखों को निश्चय ही मांस के दो गोले समझ। रमणीय आकृति वाले मांसल, संश्लिष्ट स्थानस्थित पतले और लम्बे मुँह के भूषण रूप कानों को लटकती हुई चमगादड़ समझ। स्त्री के जाज्वल्यमान लालिमा से दीपित कपोलों को देखकर तेरा मन अनुरक्त होता है, उन्हें मात्र हड्डियों के ढांचे पर मढा हुआ चमड़ा समझ। तेरी हृदयवल्लभा स्त्री का ललाट (कपाल) भी चमड़े से ढंका हुआ हड्डी का टुकड़ा ही है। ऊंची और लम्बी तथा सुन्दर आकार वाली नाक भी चर्मखण्ड ही है। स्त्री के आरक्त पतले अधर जो तुझे मधु से भी मीठे लगते हैं, वे मांस-पेशी के दो टुकड़े मात्र हैं और लार एवं थूक (मल) से अपवित्र हैं। स्त्रियों की खिलखिलाती दन्त पंक्ति जो तुझे मोगरे के फूल जैसी दिखाई देती है और तेरे चित्त को हरण

❀ पृष्ठ ३८२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करती है वे सिलसिलेवार जमाये हुए मात्र हड्डियों के टुकड़े हैं, इसको लक्ष्य में रख। भौंरे के समान काले चमकीले मनोहर केशपाश स्पष्टतः स्त्रियों के हृदय का अन्धकार है, ऐसा चिन्तन कर। मूढ! स्वर्ण कुम्भ का विभ्रम उत्पन्न करने वाले वक्षः-स्थित दो उन्नत उरोज मांस के दो स्थूल पिण्ड ही हैं, समझ। तेरे चित्त को नचाने वाली मनोहारिणी भुजा रूपी दो लताएं चमड़े से आवृत्त दो लम्बी चञ्चल हड्डियाँ मात्र हैं। तेरा मन हरण करने वाले अशोक पत्र के समान मनोहर दो कोमल हाथ भी चर्म और मांस से आच्छादित हड्डियाँ ही हैं। स्त्री का त्रिवली युक्त उदर तेरे चित्त को आकर्षित करता है पर, मूर्ख! वह तो मल-मूत्र और आंतड़ियों से भरा हुआ है। स्त्री की विशाल कटि (कमर) जो तेरे चित्त को खेंचती है वह तो अनेक प्रकार के अशुद्ध पदार्थों को भर कर रखने की थैली मात्र है, ऐसा समझ। स्त्री की साथलों को मूर्ख पुरुष स्वर्ण स्तम्भ जैसा मानकर उन पर रीझते हैं, पर वे तो चर्बी, मांस और अशुचि से भरे हुए दो नल मात्र हैं। चलते-फिरते रक्त कमल ❀ जैसे उसके सुन्दर पैर स्नायुओं से आबद्ध हड्डियों के दो पिंजरे हैं। मूढ! स्त्री के कामोद्दीपक मधुर वचन तुझे अमृत के समान कर्णप्रिय लगते हैं वे वस्तुतः अमृत नहीं अपितु हलाहल विष है। स्त्री का शरीर शुक्र और खून के मिश्रण से उत्पन्न हुआ है, जिसके आँख, कान, नाक, मुख, गुदा और योनि रूपी नौ छिद्रों से निरन्तर मल निकलता ही रहता है। वस्तुतः नारी का शरीर अस्थियों की शृंखला (सांकल) हैं। जीव! तेरा स्वयं का शरीर भी इससे कुछ भिन्न नहीं है, वह भी अस्थिपिञ्जर मात्र और मल से परिपूर्ण है। इस वास्तविकता को जानकर भी कौन ऐसा मूर्ख होगा जो अस्थिपिंजर का अस्थिपिञ्जर से मिलाप करायेगा? भले मनुष्य! इस चमड़ी और अस्थिओं के मिलाप में तू क्यों आसक्त हो रहा है? स्त्रियों का चित्त प्रचण्ड पवन से लहराती ध्वजा के अग्रभाग जैसा चञ्चल होता है। कौन समझदार व्यक्ति ऐसे चञ्चल हृदय पर रागबद्ध होने का साहस करेगा? चपल तरंगों से चलायमान जल में पड़ते हुए चन्द्रबिम्ब को पकड़ने में कौन सफल हो सकता है? [५९२-६११]

नारी स्वर्ग और मोक्षदायक सन्मार्ग को रोकने में अर्गला के समान है और नरक द्वार की ओर प्रेरित करने वाली है। विद्यमान नारी को भोगने में न सुख है, न इसका साथ होने में सुख है और न इसके वियोग में आनन्द है। संक्षेप में, यह प्राणी को सुख का अंश भी प्राप्त नहीं करा सकती। अनेक प्रकार के अनर्थों की जड़, सुख-मार्ग के द्वार की अर्गला जैसी स्त्री पर स्नेह करना अपने गौरव को तुच्छता प्रदान करना है। इस प्रकार की वास्तविक स्थिति को जान कर भी मूढ मनुष्यों का स्त्रियों के प्रति आसक्ति पूर्ण व्यवहार देखता हूँ तब मुझे यह आचरण कैसा प्रतीत होता है, वह कहता हूँ। स्त्रियों का हंसना मुझे तो ऐसा लगता है जैसे कोई विदूषक दूसरे विदूषक को देखकर हँस रहा हो या उसे विडम्बना दे रहा

❀ पृष्ठ ३८३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो। स्त्रियों का अपमानित व्यवहार, वध्यभूमि पर जाते हुए के समक्ष ढोल बजाने जैसा लगता है। स्त्रियों का नाटक फांसी की प्रेरणा करने जैसा और गायन रोने जैसा लगता है। स्त्रियों का दृष्टिपात विवेकी प्राणी को करुणा-दृष्टि जैसा, स्त्रियों के साथ विलास सन्निपात के रोगी को अपथ्य आहार जैसा और स्त्री को आलिंगन पाश में जकड़ना, सुरतादि क्रीडा करना तो सचमुच में नाटक जैसा ही लगता है। हे भद्र! ऐसी प्रशस्त विचारधाराओं (भावनाओं) से जिनकी आत्मा पवित्र हो गई है, ऐसे सत्पुरुष ही मकरध्वज (कामदेव) पर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

[६१२-६१९]

प्रकर्ष! मैंने पहले बताया था कि कामदेव की पत्नी रति भी महाशक्तिशाली स्त्री है, पर ऐसे महापुरुष अपनी भावना के बल पर उसे भी जीत लेते हैं। इस प्रकार के जिन महापुरुषों का चित्त सद्भावना में सदा लवलीन रहता है, उनसे मोह राजा का पाँचवां योद्धा हास भी सदा दूर से दूर भाग जाता है। [६२०-६२१]

भाई प्रकर्ष! जिन पुरुषों का मन सद्भावना रूपी निर्मल जल से धुलकर पंक-रहित निर्मल हो जाता है और जो यथाशक्य किसी भी प्रकार का विपरीत आचरण नहीं करते, ऐसे प्राणियों को जुगुप्सा (घृणा) भी किसी प्रकार की पीड़ा नहीं दे सकती। जो तत्त्वज्ञान द्वारा निर्णय कर लेते हैं कि यह सारा शरीर अशुद्धि से व्याप्त है और अशुचिमय है, अतः इसे बार-बार जल से धोकर शुद्ध करने का वे आग्रह नहीं रखते हैं और न ही उन्हें यह क्रिया विशेष रूप से प्रिय ही लगती है। जो अशुचि से व्याप्त हो उसे ऊपर-ऊपर से जल से धोने से कैसे शुद्ध हो सकता है? किसी भी प्रकार की निन्दा और अपवाद रहित प्रशस्त व्यवहार एवं विचार मन को शुद्ध करते हैं, वही सच्ची शुद्धि है, ऐसी उनके अन्तःकरण की दृढ मान्यता होती है। कहा भी है :—

सत्यं शौचं तपः शौचं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।*
सर्वभूतदया शौचं, जलशौचं तु पंचमम्॥

सत्य शौच है, तप शौच है, इन्द्रिय-निग्रह शौच है और सर्व प्राणियों पर दया करना पवित्रता है। जल से शुद्धि करना तो पांचवी और अन्तिम शौच (पवित्रता) है।

अतः जल से कोई विशिष्ट शुद्धि नहीं होती। जल-शुद्धि की आवश्यकता ही न हो ऐसा भी नहीं है। यदि जल-शुद्धि करनी ही हो तो इस प्रकार करनी चाहिये कि जिससे अन्य जीवों का नाश न हो और किसी जीव को पीड़ा न पहुँचे। इसका कारण यह है कि जल तो निश्चित रूप के बाह्य मल की विशुद्धि के लिये है, पर अन्तरंग पाप-मल को यह नहीं धो सकता। इसीलिये विद्वानों ने कहा है कि :—

---

* पृष्ठ ३८४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चित्तमन्तर्गतं दुष्टं, न स्नानाद्यैर्विशुध्यति ।
शतशोऽपि हि तद्धौतं, सुराभाण्डमिवाशुचि ।।

चित्त के अन्दर रहे हुए दुष्ट भावों की शुद्धि स्नान आदि से नहीं हो सकती, जैसे अपवित्र मदिरा पात्र को सौ बार जल से धोने पर भी वह पवित्र नहीं हो सकता ।

विद्वानों ने उपरोक्त निर्णय इसीलिये किया है कि जल-स्नान से शरीर पर लगा हुआ मैल क्षण भर के लिये दूर हो जाता है किन्तु सदा के लिये नहीं, क्योंकि मनुष्य के शरीर में असंख्य रोमकूप हैं। इन्हें जितना चाहें धोते रहें परन्तु उनमें से निरन्तर बदबूदार पसीना आदि अशुचि पदार्थ निकलते ही रहते हैं। देव-पूजा या अतिथि-पूजन के आदि प्रसगों पर या भक्ति के कारण स्नान करना पड़े तो वह जल-शुद्धि निन्दित नहीं है अर्थात् उचित है। तात्पर्य यह है कि तत्त्व के जानकर विद्वान् को जल-शुद्धि या जल-स्नान का विशेष आग्रह नहीं रखना चाहिये, क्योंकि ऐसा आग्रह एक प्रकार की मूर्खता ही है। इस प्रकार विशुद्ध ज्ञान से पूर्ण बुद्धि वाले पुरुष प्रसंग वश जल-शुद्धि भी करते हैं। हे वत्स ! ऐसे महात्माओं को इस भव और परभव में अनेक प्रकार के दुःख देने वाली यह जुगुप्सा भी नष्ट हो जाती है और इस जुगुप्सा के नष्ट हो जाने के कारण उनके कार्य-साधन में बाधक नहीं बनती। [६२२-६३४]

भाई प्रकर्ष ! जिनकी आत्मा सर्वज्ञ प्ररूपित आगमाभ्यास से सुवासित है और जो प्रमाद-रहित है, ऐसे महापुरुष को यह पूर्व-वर्णित जगत्शत्रु ज्ञानावरण और दर्शनावरण नामक राजा भी किसी प्रकार का त्रास नहीं दे सकते। ऐसे आशा रहित, इच्छा रहित, दान देने वाले, अतुल-वीर्य-सम्पन्न पुरुषों का यह पूर्ववर्णित दानादि विघ्नकारक अन्तिम राजा अन्तराय भी क्या कर सकता है ? इनके अतिरिक्त भी मोह राजा के अन्य योद्धा, स्त्रियाँ, बच्चे आदि भी ऐसे प्राणी को किसी प्रकार की बाधा-पीड़ा नहीं दे सकते। बाह्य राजाओं में से ये विशेष चार राजा वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र तो बेचारे पूर्वोक्त गुणविशिष्ट प्राणियों का भला ही करते हैं, सदा उनके अनुकूल ही प्रवृत्ति करते हैं। [६३५-६४०]

भाई प्रकर्ष ! ऐसे महात्मा पुरुष स्वकीय वीर्य/पराक्रम के बल पर अन्तरंग सैन्य पर विजय प्राप्त कर निरन्तर आनन्द में ही रहते हैं, बाधा-पीड़ा रहित होते हैं और शांतचेता होते हैं। यह महामोह राजा अपने समस्त साधनों से बाह्य प्रदेश के प्राणियों पर आक्रमण करता है और उन्हें इस भव में और परभव में अत्यन्त दुःख देता है, किन्तु जो प्राणी सद्भावना रुपी अस्त्र से इस महाराजा को अपने वश में कर लेते हैं, उन्हें दुःख कैसे * हो सकता है ? दुःखोत्पत्ति के कारणों का ही समूल नाश हो जाने से उन्हें निर्बाध सुख-परम्परा प्राप्त होती है। भाई

* पृष्ठ ३८५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकर्ष ! बात यह है कि बाह्य प्रदेश में ऐसे लोग अत्यन्त विरले होते हैं, इसीलिये तो मनीषियों ने कहा है कि :—

प्रत्येक पर्वत पर माणक नहीं मिलते, प्रत्येक हाथी के गण्डस्थल में मोती नहीं होते और प्रत्येक वन में चन्दन के वृक्ष नही होते। ऐसे ही साधु भी सर्वत्र नहीं मिलते !

भाई प्रकर्ष ! तू समझ गया होगा कि मोहराजा पर विजय प्राप्त करने वाले, उसके दर्प का नाश करने वाले प्राणी भी इस संसार में हैं तो अवश्य ही पर वे अत्यल्प हैं। [६४१-६४६]

मामा के इस लम्बे भाषण को सुनकर प्रकर्ष फिर गहन विचार में डूब गया।

❀

२०. भवचक्र नगर के मार्ग पर

[विमर्श से मोह राजा को जीतने वाले महापुरुषों, उनके सद्भाव और विरलता के बारे में सुनकर जिज्ञासु प्रकर्ष उनके सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक जानने को आतुर हो गया और कुछ देर सोचकर उसने नया प्रश्न पूछा।]

मामा ! जिन महात्माओं ने ऐसे बड़े शत्रु की सैन्य पर विजय प्राप्त की है अथवा जिन्होंने शत्रुओं की सेना में विक्षेप उत्पन्न कर दिया है, वे कहाँ रहते हैं ? [६४७]

विमर्श–भाई प्रकर्ष ! सुनो। मैंने किसी आप्त (ज्ञानी) पुरुष से पहले कभी सुना था कि सर्व वृत्तान्त (घटना)-परम्परा का आधार, आदि-अन्त-रहित और अनेक प्रकार की अद्भुतता का उत्पत्ति स्थान अति विशाल भवचक्र नामक एक नगर है। इस अति विस्तृत नगर में अनेक छोटे-बड़े शहर, ग्राम-मोहल्ले और शृंखलाबद्ध भवनों (हवेलियों) की कई-कई कतारें हैं। इसमें प्रचुरता से देवकुल भी हैं। वहाँ इतने प्रकार की जाति के लोग निवास करते हैं कि उनकी पूर्णतया गिनती भी शक्य नहीं हो सकती। मुझे ऐसा लगता है कि बाह्य प्रदेश के जिन महात्माओं ने अपने वीर्य से इस महामोह राजा आदि शत्रुओं को विक्षिप्त कर रखा है, वे इसी नगर में रहते होंगे।

प्रकर्ष–मामा ! आपने अभी जिस नगर की बात की, वह अन्तरग नगर है बहिरंग नगर ?

विमर्श–मात्र एक अपेक्षा से इसे अन्तरंग या बहिरंग नगर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें जैसे अन्तरंग प्राणी रहते है वैसे ही बहिरंग प्राणी भी रहते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इस मोह राजा का सामना करने वाला सन्तोष नामक योद्धा भी इसी नगर में रहता है और मोह राजा की सेना ने इसी नगर को चारों ओर से घेर रखा है।

प्रकर्ष–मामा ! इस मोह राजा की सेना तो यहाँ इस चित्तवृत्ति नगर में है, फिर वह भवचक्र नगर में कैसे हो सकती है ? एक साथ दो स्थानों पर एक ही सेना कैसे रह सकती है ?

विमर्श–भाई ! ये महामोह राजा आदि अन्तरंग के लोग तो योगी जैसे हैं। इसलिये वे यहाँ भी दिखाई देते हैं और वहाँ भी रह सकते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि योगियों की तरह ये चाहे जैसे और चाहे जितने रूप धारण कर सकते हैं, दूसरों के शरीर में प्रवेश कर सकते हैं, अन्तर्ध्यान हो सकते हैं और चाहे जहाँ प्रकट हो सकते हैं। इसीलिये ये राजागण अचिन्त्य शक्ति और माहात्म्य वाले माने जाते हैं। ये अपनी इच्छानुसार कहीं भी आ-जा सकते हैं, अतः इनके लिये कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ ये नहीं रहते हों। हे वत्स ! यह भवचक्र नगर अन्तरंग और बाह्य सभी प्रकार के लोगों का आधार स्थान है, सभी का इसमें समावेश है, अतः इसे बाह्यलोक भी कह सकते हैं और इसे अन्तरंग लोक भी कहा जा सकता है।

प्रकर्ष–तब तो सन्तोष भी वहीं रहता होगा। ऐसे महाभिमानी राजाओं के घमण्ड को चूर-चूर करने वाले महापुरुष जिस भवचक्र नगर में रहते हों, वह * नगर तो अवश्य ही दर्शनीय होगा। मुझे तो वह नगर देखने का बहुत कौतूहल हो रहा है। मामा ! मुझ पर कृपा कर वह नगर मुझे अवश्य दिखाइये। चलिये, हम अब उसी नगर में चलें।

विमर्श–भाई ! जिस कार्य के लिये आये, वह तो सिद्ध हो गया है। हमने विषयाभिलाष मंत्री को देखा है। यह रसना देवी का पिता है, इसलिये उसकी मूलशुद्धि/उत्पत्ति-स्थान हमें मालूम हो गया है। रसना के मूल का पता लगाने के लिये हमें राजाज्ञा हुई थी, वह काम अब पूरा हो चुका है, अतः अब व्यर्थ में इधर-उधर घूमने से क्या लाभ ? अब हमें अपने नगर वापस लौट जाना चाहिये और जो कार्य पूरा किया है उसकी सूचना दे देनी चाहिये।

प्रकर्ष–नहीं, मामा ! नहीं, ऐसा न कहिये। आपने भवचक्र नगर का वर्णन कर मेरे मन में इस नगर को देखने का अत्यधिक कौतूहल जाग्रत कर दिया है, अतः ऐसे दर्शनीय नगर को देखे बिना वापस लौट जाना तो किसी भी प्रकार उचित नहीं है। आपको याद ही होगा कि रसना की उत्पत्ति के बारे में पता लगाने के लिये पिताजी ने हमें एक वर्ष का समय दिया था और हमें वहाँ से रवाना हुए अभी केवल शरद् और हेमन्त ऋतु ही व्यतीत हुई है। वर्तमान समय में शिशिर ऋतु चल रही है। देखिये :—

शिशिर वर्णन

इस समय प्रियंगु की लताओं पर मञ्जरी (मांजर) खिल रही है।

---

* पृष्ठ ३८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोध्र वृक्षों की वल्लरियां विकसित होकर मानों हँस रही हैं। तिलक वन विकसित होती कलियों और मञ्जरियों से शोभित हो रहा है।

शिशिर के हिम-कणों से सारे कमल जल गये हैं जिससे सिर्फ उनके डंठल दिखाई दे रहे हैं। बड़े-बड़े वृक्षों के जंगल किशलय विलास (नये पत्तों) से सुशोभित हो रहे हैं। यात्रियों के शरीर अति शीतल पवन से कांप रहे हैं। यह सब देखकर मोगरा चालाक मनुष्य की भांति आनन्द से परिहास कर रहा है। [१]

विदेश गये हुए मूर्ख पति शिशिर में अपनी प्रिय सुन्दरियों की विरह-वेदना से व्याकुल हो रहे हैं। शीत पवन से बार-बार प्रति क्षण इतने सर्द हो जाते हैं, मानों अभी-अभी अपने प्राण त्याग कर रहे हों। [२]

मामा ! देखिये, अब सूर्य उत्तरायण में चला गया है जिससे दिन क्रमशः बड़ा होने लगा है। रातें थोड़ी-थोड़ी छोटी होती हुई, हर रात पहले की रात्रि से कुछ छोटी होने लगी हैं। [३]

जिस घर में मोटे-मोटे गद्दे हों, ओढने के लिये हरिण के रोओं से बने मुलायम कम्बल हों, अगर और धूप से वातावरण गमक रहा हो, ऐसे घर में भी इस शिशिर ऋतु में मोह-परवश प्राणी को पुष्ट शरीर वाली ललना के विरह में किञ्चित् भी सुख प्राप्त नहीं होता। [४]

सूर्य का तेज और महत्व पहले से बढ गया है, क्योंकि सूर्य ने दक्षिण दिशा से सम्बन्ध त्याग कर दिया है। ठीक ही तो है, जिसने दक्षिणाशा (दक्षिण की आशा) को त्याग दिया हो वह क्षीण प्रताप/लघुता कैसे प्राप्त कर सकता है ? उसे किस बात की ग्लानि हो सकती है ? अर्थात् उसका तो गौरव एवं महत्व पहिले से बढेगा ही। [५]

देखिये मामा ! (परदेश में काम करने वाले) ये दुःसेवक (कुभृत्य) ठंड से घबरा कर अपने स्वामी के विशिष्ट कामों को बीच में ही छोड़कर अपनी प्रिय पत्नी के उन्नत उरोजों की गर्मी को प्राप्त करने की आशा से स्वदेश लौट रहे है। [६]

मामा ! देखिये, गरीब, वृद्धावस्था से जीर्ण, वात रोग से पीड़ित शरीर वाले, कन्था (ओढने बिछौने) के अभाव वाले यात्री ठंड से घबरा कर कह रहे हैं कि यह शीतकाल कब बीतेगा ? [७]

मामा ! देखिये, घोड़े आदि पशुओं को खिलाने के लिये जौ की कटाई होने लगी है। अत्यधिक ठंड से बहुत प्राणी कंपकंपा रहे हैं। दुःखी-दरिद्री लोगों के बच्चे शीत की पीड़ा से रो रहे हैं। केवल सियार ही इस ऋतु में आनन्द पूर्ण आवाजें कर रहे हैं। [८]

मोटे-मोटे गन्नों को पेरने की घाणिय चालू हो गई हैं।* सरोवर हिम से अत्यधिक ठंडे हो गये हैं। फिर भी महामोह के प्रधान मिथ्यादर्शन के निर्देश से

* पृष्ठ ३८७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोग धर्म-बुद्धि से इतनी अधिक शीत में, बर्फ जैसे ठंडे पानी में धर्म-प्राप्ति के लिये डुबकियाँ लगा रहे हैं। [९]

मामा ! यह शिशिर ऋतु अब तो लगभग समाप्त होने को आ रही है। हमें घर छोड़े अधिक से अधिक छः महीने हुए हैं, तब फिर आप इतनी त्वरा क्यों कर रहे हैं ? मुझ पर कृपा कर आप भवचक्र नगर तो मुझे अवश्य दिखाइये, फिर आपकी जैसी इच्छा हो वैसा करियेगा। [१०-११]

विमर्श ने लौटने में अवधि शेष है यह समझकर और भाणजे का अधिक आग्रह देखकर भवचक्र नगर देखने की स्वीकृति दे दी। फिर वे दोनों जाने की तैयारी करने लगे। जाते-जाते उन्होंने महामोह राजा की चतुरंगिणी सेना का अवलोकन किया। इस सेना में मिथ्यानिवेश आदि नाम के सुन्दर रथों का समूह था। ममत्व आदि गजघटा गर्जना कर रही थी। अज्ञान आदि मनोहर घोड़े हिन-हिना रहे थे। दीनता, चपलता, लोलुपता आदि पैदल वाहिनी से यह सेना परिपूर्ण थी। ऐसी रथ, हाथी, घोड़े और पैदल सिपाहियों की चतुरंगी सेना का भली प्रकार अवलोकन कर मामा-भाणेज चित्तवृत्ति अटवी से बाहर निकले। [१२-१५]

भवचक्र के मार्ग पर

चित्तवृत्ति अटवी में पड़ाव डालकर पड़ी हुई मोह राजा की सेना को देखते हुए, मार्ग निश्चय कर, हर्षित होकर विमर्श और प्रकर्ष वहाँ से कूच कर भवचक्र नगर के मार्ग पर आ गये। एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर बढते हुए (अविच्छिन्न प्रयाण करते हुए) वे अपना रास्ता काट रहे थे और मार्ग को छोटा करने के लिये भाणेज अपने मामा से रास्ते में अनेक महत्व के प्रश्न पूछता हुआ चल रहा था। [१६-१७]

कर्मपरिणाम और महामोह का सम्बन्ध

प्रकर्ष—मामा ! इस दुनिया में सब से ऊपर सार्वभौम कर्मपरिणाम राजा गिना जाता है, जिसके विषय में पहले कहा जा चुका है। जिसने अपने प्रताप से सम्पूर्ण राज्य को आक्रान्त कर रखा है। उसकी आज्ञा इस महामोह राजा पर भी चलती है या नहीं ? इस विषय में मेरे मन में शंका है, उसका निवारण कीजिये। [१८-१९]

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! यदि परमार्थ से (वस्तुतः) देखा जाय तो इन दोनों राजाओं में कोई भेद नहीं है। साधारण तौर पर ऐसा कहा जा सकता है कि कर्म-परिणाम राजा बड़ा भाई है और यह महामोह उसका छोटा भाई है जिसे चित्तवृत्ति अटवी का राज्य सोंप दिया गया है। यह महामोह राजा चोर डाकू जैसा है और अन्धेरे में आक्रमण करने वाला है, इसीलिये इसे अटवी में स्थापित किया गया है। इस अटवी में दूसरे कई राजा तूने देखे हैं, उन सब को इस महामोह राजा के योद्धा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सैनिक) समझना चाहिये। विशेषता यह है कि जहाँ कर्मपरिणाम राजा स्वभाव से ही समस्त प्राणियों को कभी अच्छा कभी बुरा लगने वाला कार्य करता है वहाँ महामोह राजा तो सभी प्राणियों को बुरा लगने वाला कार्य ही करता है। दूसरी विशेषता यह है कि महामोह तो युद्ध कर अपने शत्रुओं को जीतने की इच्छा वाला है, जब कि कर्मपरिणाम तो स्वभाव से ही नाटक-प्रिय है और नये-नये खेल देखने का अभिलाषुक है। इसीलिये ये सभी छोटे-बड़े राजा सर्वदा महामोह राजा की ही सेवा करते हैं। किन्तु, यह कर्मपरिणाम महाराजा उसका बड़ा भाई है और इसका राज्य भी बहुत विस्तृत है, इसीलिये लोग उसी को बड़ा राजा मानते हैं। यही कारण है कि स्वयं मोह राजा और उसके अधीनस्थ सभी राजा भी बार-बार कर्मपरिणाम राजा के यहाँ जाकर उसकी हर्ष-वृद्धि के लिये अनेक प्रकार के नाटक करते हैं। ये राजा जब वहाँ नाटक करने जाते हैं तब उनमें से कई तो * गायक बनते हैं, कई वीणा बजाते हैं और कई भक्ति पूर्वक स्वयं ही मृदंग आदि का रूप धारण कर लेते हैं। संक्षेप में, हे वत्स ! इस संसार-नाटक को चलाने में महामोह आदि राजा कारण बनते हैं और कर्मपरिणाम राजा अपनी पत्नी कालपरिणति के साथ बैठकर निराकुलता के साथ संसार-नाटक को देखकर हर्षित होते हैं। मात्र इन राजाओं का ही नहीं बल्कि अन्तरंग राज्य के जो भी अन्य राजा हैं उन सब का स्वामी भी यह कर्मपरिणाम महाराजा ही है। निष्कर्ष यह है कि सुन्दर-असुन्दर, शुभ-अशुभ आदि समस्त राजमण्डल का नायक कर्मपरिणाम है, जब कि महामोह तो उसके एक विभाग का नायक है और उसे भी महाराजा की आज्ञा माननी पड़ती है।[२०-३२]

अन्तरंग लोक के प्राणियों का अच्छा-बुरा करने वाले जो भी हैं उन सब को प्रायः करके प्रवृत्त कराने वाला कर्मपरिणाम महाराजा ही है। निर्वृत्ति नगरी को छोड़कर अन्तरंग प्रदेश में जितने भी नगर या शहर हैं, उनके बाह्य भाग का यही राजा है। इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। यहाँ तूने जितने राजा देखे उनका स्वामी यह महामोह है, किन्तु इसका यह स्वामित्व कर्मपरिणाम राजा की आज्ञा से है; जब तक उसकी आज्ञा प्रवृत्त है तभी तक स्वामित्व है। जैसे अधीनस्थ राजा कर दिया करते हैं वैसे ही महामोह राजा भी अपने वीर्य (शक्ति) से जो कुछ धन उपार्जित करता है, वह सब सिर झुका कर कर्मपरिणाम महाराजा को समर्पित कर देता है। महामोह द्वारा उपार्जित एवं समर्पित धन में से अच्छी-बुरी वस्तुओं का योग्य बंटवारा यह कर्मपरिणाम महाराजा ही करता है। मोहराजा तो युद्ध द्वारा विजय प्राप्त करने में सदा तत्पर रहता है, जब कि कर्मपरिणाम तो भोग भोगने में ही आनन्द मानता है, नाटक देखकर ही हर्षित होता है। विग्रह (युद्ध की तो वह बात ही नहीं जानता। वत्स ! यही कारण है कि कर्मपरिणाम मोहराजा को आज्ञा देता है और वह भक्ति पूर्वक उसका अनुसरण करने में तत्पर रहता है।

---

* पृष्ठ ३८८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मपरिणाम मोह राजा को अपने से भिन्न नहीं मानता, पर ऐसा मानता है जैसे वे दोनों अभिन्न हों। [३३-३९]

भाई प्रकर्ष! तुमने जो पहले राजसचित्त और तामसचित्त नामक दो बड़े नगर देखे हैं वे इस मोह राजा को कर्मपरिणाम महाराजा ने पारितोषिक में दिये हैं। इसी कारण मोह राजा की कुछ स्वामी-भक्त सेना इन दोनों नगरों में रहती है और शेष समस्त सेना चित्तवृत्ति अटवी में रहती है तथा युद्ध के लिये निरन्तर सन्नद्ध रहती है। [४०-४१]

प्रकर्ष—मामा! एक प्रश्न और पूछना चाहता हूँ। कर्मपरिणाम और मोह राजा के राज्य उन्हें अपने बड़ेरों से प्राप्त हुए हैं या उन्होंने ये राज्य किसी अन्य राजा से छीन कर प्राप्त किये हैं? [४२]

विमर्श—भाई प्रकर्ष! न तो यह उनके बाप-दादों का राज्य है और न ही यह उन्हें क्रमशः परम्परा द्वारा उनसे प्राप्त हुआ है। यह तो दूसरों का राज्य है जिसे इन्होंने बलात्कार पूर्वक हरण कर उसके अधिपति बन बैठे हैं। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ कि जब तक प्राणी कर्म से आवृत रहता है और जब तक बाह्य प्रदेश में रहता है तब तक वह संसारी जीव कहलाता है। ऐसे प्राणी को ये अपने वीर्य (शक्ति) से चित्तवृत्ति रूपी महाटवी में से खदेड़ कर, निकाल कर उससे अटवी का राज्य छीन कर ये लोग अपनी शक्ति से उस अटवी पर राज्य करते हैं। इसमें कोई संशय नहीं है। [४३-४५]

प्रकर्ष—मामा! साथ में यह भी तो बताइये कि इस प्रकार दूसरों के राज्य को हरण किये इन्हें कितना समय हुआ है?*

विमर्श भाई! यह राज्य इन दोनों राजाओं ने कब लिया है यह तो मैं नहीं जानता, परन्तु इस विषय का आन्तरिक रहस्य क्या है, यह तुझे समझाता हूँ, जिससे तेरे मन का सन्देह मिट जायगा। कर्मपरिणाम महाराजा कभी किसी को कुछ दे देता है और कभी किसी से दिया हुआ वापस छीन लेता है, यह उसका स्वभाव है। उसके सब सामन्तों के मुकुट उसके पाँवों में झुकते हैं और वह इतने अच्छे संयोगों में है कि उसके प्रभाव मात्र से सभी कार्यों का विस्तार सिद्ध हो जाता है। वह राजाधिराज, महान राजा और राज्य सिंहासन का स्वामी है। यह महामोह राजा उसकी सेना का परिपालक (रक्षक), उसकी प्रच्छन्न आज्ञा के अनुसार कार्य करने वाला, उसके सैन्यबल और कोष की वृद्धि करने वाला तथा उसकी आज्ञा का अक्षरशः पालन करने वाला है। फिर भी वह अधिक पुरुषार्थी होने से राज्य कार्य में अपनी इच्छानुसार राजाज्ञा का अनुपालन करता है। लोगों में ऐसी चर्चा चलती है कि मोह राजा पराक्रमी है, महारथी योद्धा है और कर्मपरिणाम तो मात्र नाटक-प्रिय है। इसलिये पण्डित लोग तो महामोह राजा को ही महासिंहासन पर बैठा

* पृष्ठ ३८९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ ऊर्ध्व (ऊपर) का राजा मानते हैं। भैया! वास्तव में तो इन दोनों राजाओं में परस्पर कोई भेद नहीं है, अर्थात् दोनों अभिन्न हैं। अतएव यह एक ही राज्य है, ऐसा समझना चाहिये। (तात्पर्य यह है कि कार्य के परिणाम से उत्पन्न होने वाले फल को व्यवहार में मोह की प्रबलता अधिक होने से विशेष रूपक से समझाया गया है। वैसे मोह का राज्य और कर्मपरिणाम का राज्य एक ही है।) [४६-५३]

प्रकर्ष—मामा! मेरे हृदय में जो शंका उत्पन्न हुई थी उसका अब नाश हो गया है। आप जैसे विद्वान् मेरे साथ हों तब संदेह अधिक समय तक कैसे टिक सकता है? [५४]

इस प्रकार ज्ञान-चर्चा और विद्वत्ता पूर्ण वार्तालाप करते हुए मामा एवं भाणेज भवचक्र नगर के मार्ग पर आगे बढ रहे थे जिससे उन्हें मार्ग की थकान नहीं लग रही थी। यात्रा करते हुए कुछ दिनों बाद वे भवचक्र नगर में जा पहुँचे। [५५]

❀

२१. वसन्तराज और लोलाक्ष

विमर्श और प्रकर्ष जब भवचक्र नगर में पहुँचे तब शिशिर ऋतु समाप्त हो गई थी और कामदेव को अत्यन्त प्रिय तथा लोगों को अनेक प्रकार से उन्मादित करने वाली वसन्त ऋतु प्रारम्भ हो गई थी। मामा और भाणजा उस भवचक्र नगर के बाहर उद्यान में घूम रहे थे, तब उन्हें वसन्त ऋतु की उद्दामलीला का कैसा अनुभव हुआ? सुनिये :—[५६-५७]

वसन्त ऋतु वर्णन

इस ऋतु में दक्षिण दिशा से वेग से आते हुए पवन के जोर से हिलती हुई लताएं ऐसी लग रही थीं मानो वसन्तोत्सव की खुशी में हाथ उठा-उठा कर नाच रही हों। महाराजाधिराज मोह राजा के अत्यन्त प्रिय मित्र कामदेव का मानो राज्याभिषेक के समय जय-जय शब्दोच्चारण करती हो, वैसे ही कोकिलाओं के मधुर कण्ठ-निसृत मधुर कुहु-कुहु से और अन्य पक्षियों के मधुर कलरव मानो इन सब से संयुक्त बसन्त ऋतु गुणगान कर रही हो। विलास करती हुई आम्र-मञ्जरियाँ ऐसी लग रही थीं मानो युवतियाँ अपनी तर्जनी से युवाओं का तिरस्कार कर रही हों। रक्त अशोक अपने नवीन सुकोमल लाल-लाल पत्तों के समूह रूप रचे हुए चपल हाथों से इशारे करके बुला रहा हो। विशाल एवं उन्नत पर्वत शिखरों पर बड़े-बड़े वृक्ष मलय पवन के वेग से आन्दोलित होकर ऐसे मस्तक झुका रहे थे मानो वे सभी वसन्त ऋतु का अभिवादन कर रहे हों। नव विकसित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुष्पों के समूह से अट्टहास कर रही हो। सिन्दुवार जाति के पुष्प अपने डंठलों से छूटकर भूमि पर गिर रहे थे और उनकी आँखों में से निकलता हुआ पानी ऐसा लग रहा था मानो ऋतु रो रही हो। शुक, सारिका की कलकल मधुर ध्वनि मानो स्फुट वर्णों द्वारा पाठ कर रही हो। माधवी पुष्पों के मकरन्द का मधुपान कर मत्त होकर गुञ्जारव करते हुए भौंरों के झुंड की मधुर आवाज मानो रतिक्रिया हेतु उत्कण्ठित अथवा उत्साहित हो गई हो, ऐसी लग रही थी।

नर्तन, गान, तर्जन, आकर्षण, प्रणामन, हास्य, रुदन, पठन और उत्कण्ठा इन नौ भावों से युक्त वसन्त ऋतु का आगमन नवग्रह रूप नौ हाथों जैसा लग रहा था। पवन प्रेरित फूलों का सुगन्धित पराग नगर और नगर के बाहर उपवनों (उद्यानों) में भी चारों तरफ फैल रहा था। [१]

विमर्श ने कहा—* भाई प्रकर्ष ! तुझे भवचक्र नगर देखने का कौतूहल योग्य समय पर ही हुआ है, क्योंकि इस नगर का सौन्दर्यसार (सुन्दर से सुन्दर रूप) इस वसन्त ऋतु में ही दिखाई देता है। अतः इसकी समग्र सौन्दर्य लीला देखने का यह सर्वोत्तम समय है। देखो, नगर के बाहर के उद्यानों में कौतूहल से ऋतु-सौन्दर्य-निरीक्षण हेतु निकले हुए नगरवासियों की कैसी अवस्था हो रही है ?

लोग सन्तानक वृक्षों के वनों से मोहित हो रहे हैं। बकुल वृक्षों की तरफ दौड़ रहे हैं। विकसित मोगरे की झाड़ियों में विश्राम कर रहे हैं। सिन्दुवार के वृक्षों में लुब्ध हो रहे हैं। पुन्नाग और अशोक वृक्ष के कोमल किशलय पल्लवों को लीला से तो वे तृप्त ही नहीं हो रहे हैं। वे गहन आम्रवनों और चन्दन की वाटिकाओं में भी प्रवेश कर रहे हैं। [१]

चैत्र में विकसित अति रमणीय वृक्षों के विस्तार पर भ्रमरों के झुण्ड की तरह इन लोगों की दृष्टि विलास कर रही है। [२]

लोग झूला झूलने के आनन्द के साथ अनेक प्रकार की काम-क्रीडाओं के रस में डूब रहे हैं और बड़े-बड़े वृक्षों पर होने वाले मधु का पान करते हुए कामक्रीडा में मदमस्त हो रहे हैं। [३]

विकसित आम्रवनों में आसक्त, कुरबक वृक्षों में लुब्ध और मलय पवन के झकोरों से आनन्दित होकर लोग निरन्तर उद्यानों में ही घूम रहे हैं, वापस घर लौटने का नाम भी नहीं लेते। वत्स ! देखो, सुन्दर आम्रवृक्षों की पंक्ति के बीच में आये हुए कदम्ब वृक्ष के चारों तरफ नगरवासी मद्य और आसव पी-पिला रहे हैं और विलास कर रहे हैं। सुसंस्कारित मनुष्यों के सन्मुख रत्न निर्मित सुन्दर बहुमूल्य पात्र में मद्य रखा जा रहा है। प्रियतमा के मधुर होठों से पवित्र मद्य, पात्र की रत्न किरणों से सुशोभित, सुगन्धित कमल की आकर्षक सुगन्ध से सुवासित और रमणीय पत्नी के मुख कमल द्वारा अर्पित (मुंह में कुल्ला भरकर पिलाना), रसना को

* पृष्ठ ३९०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुस्वादु लगने वाली भिन्न-भिन्न प्रकार की मदिरा की गन्ध से इस कदम्ब वन का वातावरण मद से गमगमा रहा है। [४-६]

भाई प्रकर्ष! देखो, इस सुरा-पान गोष्ठि से लोग कैसे उल्लसित हो रहे हैं। लोग मस्ती में एक दूसरे के पैरों में पड़ रहे हैं, इधर-उधर लोट रहे हैं, सुरापान कर रहे हैं, गा रहे हैं, स्त्रियों के मुख-कमल को चूम रहे हैं, अनेक प्रकार की केलि-क्रीडा और विचित्र चेष्टायें कर रहे हैं। परस्पर एक दूसरे से भद्दी मजाक कर रहे हैं, बोलते-बोलते मद (मस्ती) में ताल देते हुए नाच रहे हैं। कुछ भूलुण्ठित हैं, कुछ मद्य के नशे में घूर्णित आँखें नचा-नचा कर मृदंग और बांसुरी की ध्वनि से अपना विकार प्रदर्शित कर रहे हैं, कुछ अपने धनाढ्य बड़ेरों के घमण्ड से धन बांट रहे हैं और कुछ बिना कारण ही शिथिल कदमों से इधर-उधर चहल कदमी कर (डोल) रहे हैं। ऐसा लग रहा है मानो सभी आनन्द की मस्ती में इतने डूब गये हैं कि अन्य किसी बात की चिन्ता ही न हो। [७-१०]

विमर्श अपने भाणजे के समक्ष जब उपरोक्त सुरापान गोष्ठि की ओर इंगित कर वर्णन कर रहा था, तभी इतनी देर तक कमल पत्रों पर अटकी हुई प्रकर्ष की दृष्टि मोगरा और बेला के पुष्पों से सज्जित मण्डप पर पड़ीं और वह बोल पड़ा—मामा! इस मण्डप की सुरा-पान गोष्ठि तो, पूर्व दर्शित गोष्ठि से भी अधिक विलास-मग्न है।

विमर्श—वसन्त ऋतु के निकट आने पर प्रमुदित नगर-निवास ऐसी अनेक सुरापन गोष्ठियाँ इस भवचक्र नगर में स्थान-स्थान पर करते हैं।* चम्पा-वृक्ष की पंक्तियों में, द्राक्षालता-मण्डपों में, सेवती वृक्ष के गहन वन-विभागों में, मोगरे की झाड़ियों के समूह में, रक्त अशोक वृक्षों की घटाओं में, बकुल वृक्षों के गहन भागों में, जिधर भी तू दृष्टि घुमायेगा उधर ही तुझे विलास करती उद्दाम कामिनी वृन्द से परिवेष्टित धनवान नागरिकों द्वारा आयोजित मदिरा-पान गोष्ठियां दृष्टिगोचर होंगी। नगर से बाहर के उद्यानों में तुझे एक भी ऐसा स्थान नहीं दिखाई देगा, जहाँ मद्य-पान न हो रहा हो। यदि तुझे एक भी ऐसा स्थान मिल जाय तो तू मेरी बात पर विश्वास मत करना। शायद तुझे ऐसा लग रहा होगा कि मैं यों ही बहुत बढा-चढा कर बात कर रहा हूँ, या तुझे झांसा दे रहा हूँ पर ऐसी बात नहीं है।

प्रकर्ष—मामा! आपके कथन में सन्देह की कोई गुंजाइश ही नहीं है। यहाँ रह कर ही मैं प्रायः कर सभी वन प्रदेश आपके कथनानुसार ही देख रहा हूँ। देखिये मामा! वे उद्यान और वन विविध प्रकार के मद्यपान से मदमस्त लोगों की आवाजों, शृंगार-चेष्टाओं और उल्लसित आनन्द ध्वनि से गुंजरित हो रहे हैं। इतना ही नहीं अपितु—

---

* पृष्ठ ३६१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्यान के कुछ भाग झांझर झंकारती, कटिमेखला के घुंघरुओं को गुंजरित करती, मोटे नितम्ब-भार के कारण मन्दगति वाली, वृक्ष के पुष्पों को चूंटने की अभिलाषा से आगत विलासिनी स्त्रियों के समुदाय से शोभित हो रहे हैं और उनके पुरुष उनके साथ केलि-क्रीडा में आनन्द-विभोर हो रहे हैं। मामा ! कहीं हाथियों के कुम्भस्थल का भ्रम पैदा करने वाली उन्नत उरोजों वाली स्त्रियाँ वृक्षों पर झूला झूलती हुई वृक्षों को ऐसे कम्पित कर रही हैं मानो उनके स्तना को छूकर वृक्षों में भी कामदेव प्रवेश कर गया हो जिससे वे प्रकम्पित हो रहे हों। किसी वन-विभाग में हो रही रास-लीला का कौतुक मन को आकर्षित कर रहा है, तो किसी वन के एकान्त स्थान में स्त्री-पुरुष युगल परस्पर चिपक कर बैठे हैं। कोई-कोई वन प्रदेश विलासिनी तरुणी स्त्रियों के रक्ताभ मुख कमल-वनखण्डों से भी अधिक शोभायमान हो रहे हैं अर्थात् युवती स्त्रियों के ललाई लिये हुए मुख कमल-समूह सच्चे कमल वन का आभास कर रहे हैं। [१-३]

विमर्श - भाई प्रकर्ष ! तू ने बहुत ध्यान से देखा, आशा है इससे तेरा कौतूहल शान्त हुआ होगा। अन्य सब वन प्रदेश भी ऐसे ही हैं, इसीलिये मैंने कहा था कि तुझे योग्य समय पर ही भवचक्र नगर देखने का कौतूहल हुआ है। इसी वसन्त ऋतु के समय ही यह नगर उत्कृष्ट सौन्दर्य को प्राप्त करता है। भद्र ! तूने नगर के बाहर के भाग तो देख ही लिये, चलो, अब हम नगर के अन्दर प्रवेश करें। नगर की शोभा कैसी है, यह देख लेने पर तेरे मन का कौतुक/मनोरथ पूर्ण हो जायगा।

प्रकर्ष—मामा ! बाह्य प्रदेश में रहने वाले इन लोगों का वसन्त-विलास तो वास्तव में दर्शनीय ही है। नगर का यह बाह्य भाग अत्यन्त रमणीय है। मैं रास्ते में चलते-चलते थक भी गया हूँ, इसलिये मुझ पर कृपा कर आप थोड़ी देर और यहाँ ठहरिये। कुछ समय बाद हम नगर में प्रवेश करेंगे।

विमर्श—ठीक है। जैसी तुम्हारी इच्छा।

भवचक्र के कौतुक

मामा भाणेज बात कर ही रहे थे क उन्होंने एक अद्भुत बात देखी। उसी समय राज्यवर्ग और नगर-निवासियों से परिवेष्टित राजा अपनी सैन्य-सज्जा के साथ वसन्त की शोभा निहारने उधर से आता दिखाई दिया। उसके रथों की गड़गड़ाहट और हाथियों का समह घन-गर्जन का विभ्रम पैदा कर रहे थे। तीक्ष्ण शस्त्रों की चकाचौंध करने वाली चमक बिजली जैसी लग रही थी। चलते हुए तेजस्वी श्वेत अश्व बड़े बगुलों के समूह जैसे लग रहे थे। हाथियों के मद रूपी जल के झरने से वे मनोहर लग रहे थे। हर्ष के आवेग में झूमकर चलते हुए जनसमूह से परिवेष्टित, सुन्दरियों के मन में महान उन्माद पैदा करने वाला मन्मथरूपधारक वह राजा कामदेव जैसा लग रहा था।* मानो महामेघ अपने भाई वसन्त को शोभा

* पृष्ठ ३९२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखने आ रहा हो। उसके आसपास सैकड़ों कंसालक, वेणु आदि वादित्र बज रहे थे जो भ्रमरों के गुञ्जारव का भ्रम पैदा कर रहे थे। विलास करती हुई ललनाओं के घुंघरुओं और वीणा की मधुर ध्वनि के साथ नृत्य-गान भी चल रहा था। [१-४]

विमर्श और प्रकर्ष ने देखा कि महासामन्त-वृन्द से परिवेष्टित, श्रेष्ठ हस्तिस्कन्ध पर आरूढ़ जिसके मस्तक पर विकसित सुन्दर श्वेत कमल जैसा धवल छत्र शोभायमान है, राजा आ रहा है। वह राजा देवताओं के समूह के मध्य ऐरावत हाथी पर बैठे हुए इन्द्र जैसा सुशोभित हो रहा था। उसके आगे-आगे अनेक श्वेत छत्रधारी लोग हर्षानन्द से कलकल ध्वनि करते हुए चल रहे थे जिससे ऐसा लग रहा था मानो गर्जन करता हुआ समुद्र फेनपिण्ड (सफेद झागों) से भर गया हो अथवा चलती फिरती कदली (ध्वजा) रूप हजारों हाथों द्वारा प्रतिस्पर्धा से तीनों लोकों की अवगणना कर रहा हो, अर्थात् हजारों लोग अपने हाथों में श्वेत ध्वजाएं लेकर चल रहे हों।

जब यह राजा नगर में से निकलकर उद्यान के निकट पहुँचा तब भौंरे वातावरण को विशेष गुंजित करने लगे, मृदंग बजने लगे, वीणा में से मधुर स्वर निकलने लगे, कंसालक (कांसी) उच्च स्वर में बजने लगे, रण-रण करते मंजीरे बजने लगे, गायक ताल सुर मिलाने लगे, विदूषक कोलाहल करने लगे, चारों तरफ जय-जयकार होने लगा, भाट विरुदावली गाने लगे, गणिकायें नृत्य करने लगीं और दर्शकों में खलबली मच गई। चारों तरफ अधिक हास्य विलास जमने लगा।

उस जन समुदाय में कुछ लोग नाचने-कूदने और दौड़ने लगे, कुछ हर्ष-ध्वनि करने लगे, कुछ कटाक्ष करने लगे, कुछ भूलुण्ठित होने लगे, कुछ परस्पर हास्य विनोद करने लगे, कुछ गाने बजाने लगे, कुछ हर्ष-विभोर होने लगे, कुछ हुर्रे-हुर्रे आवाज कसने लगे, कुछ भुजाओं से टक्कर मारने लगे और कुछ आनन्दातिरेक में हाथ में सोने की पिचकारियाँ लेकर केशर कस्तूरी मिश्रित सुगन्धित जल एक दूसरे पर फेंकने लगे। इस प्रकार सब लोग अश्रुत एवं उद्भट विलास में पड़कर कामदेव की अग्नि से उत्तेजित हो रहे थे। महाविद्वान् और बुद्धिशाली विमर्श ने जब उन लोगों को इस अवस्था में देखा तब उसने अपने मन में क्या सोचा ?

विमर्श का चिन्तन : प्रकर्ष का प्रश्न

वसन्त ऋतु के रस में लबालब डूबे हुए लोगों द्वारा मचाई हुई धमाचौकड़ी को देख कर विमर्श सोचने लगा कि, अहो ! मोह राजा की शक्ति वास्तव में आश्चर्य-जनक है। अहा ! रागकेसरी का विलास भी अति प्रबल है। अहो ! विषयाभिलाष मंत्री का प्रभाव भी कुछ कम नहीं है। अहो ! मकरध्वज कामदेव का माहात्म्य भी आश्चर्यकारक है। अहो ! कामदेव की पत्नी रति की क्रीड़ा भी महान् लुब्धकारी है। अहो ! महासुभट हास्य का हर्षोल्लास भी विस्मयकारक है। अहो ! पापपूर्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्य करने में इन लोगों की हिम्मत भी असीम है। अहो ! प्रमाद भी अमर्यादित है। अहो ! लोक-प्रवाह में बहते चले जाना भी अद्भुत है। अहो ! इनकी दीर्घदृष्टि का अभाव भी विस्मयकारक है। अहो ! इनके चित्तविक्षेप भी अद्भुत ही लगते हैं। अहो ! आगे-पीछे का विचार नहीं करने की इनकी पद्धति भी विशेष ध्यान देने योग्य है। अहो ! उल्टे-सीधे विचार और घोटालों का तो यहाँ कोई पार ही नहीं है। अहो ! अशुभ भावना के प्रति इनकी प्रीति भी असाधारण है। अहो ! काम-भोग भोगने की अधम तृष्णा भी अपरिमित है। अहो ! अज्ञान (अविद्या) से मारे हुए इन बेचारों के चित्त की दशा भी बड़ी ही शोचनीय है।

प्रकर्ष उन सब लोगों के विलास को * आँखें फाड़-फाड़ कर देख रहा था तब उसके मामा ने उससे कहा—भाई प्रकर्ष ! ये सब बाह्य प्रदेश में रहने वाले प्राणी हैं। महामोह आदि जिन राजाओं के सम्बन्ध में मैंने तुझे पहले बताया था, यह सब उन्हीं का प्रताप है।

प्रकर्ष मामा ! किस घटना के कारण, किस राजा के प्रताप से और किसलिये ये लोग ऐसी चेष्टाएँ करते हैं ?

विमर्श—भाई ! मैं विचार कर इसका उत्तर देता हूँ।

फिर विमर्श ने ध्यान किया, आँखें बन्द कीं और विचार पूर्वक मन में निश्चय कर भाणजे से बोला—

वसन्त और मकरध्वज मैत्री

भाई प्रकर्ष ! सुनो, चित्तवृत्ति महाटवी के प्रमत्तता नदी के तट पर स्थित चित्तविक्षेप मण्डप में महामोहराज से सम्बन्धित तृष्णा वेदिका (मञ्च) पर मकरध्वज नामक एक राजा सिंहासन पर बैठा था, यह तो तुमने देखा ही था। यह वसन्त उसी मकरध्वज का विशिष्ट प्रिय मित्र है। जब शिशिर ऋतु समाप्त प्रायः होने लगी थी उस समय वसन्त अपने मित्र मकरध्वज के पास किसी काम से गया था और कुशल-क्षेम के पश्चात् थोड़े समय तक सुखपूर्वक उसके पास रहा था। कर्मपरिणाम महाराजा और कालपरिणति महारानी का यह वसन्त विशेष अनुचर है। इस वसन्त ने अपनी एक गुप्त बात अपने प्रिय मित्र मकरध्वज से कही—'भाई ! महारानी की आज्ञा से भवचक्र नगर के मानवावास नामक अन्तरंग के अवान्तर नगर में मुझे जाना है, अतः कुछ समय के लिये तेरा विरह सहन करना पड़ेगा, इसीलिये तुमसे मिलने यहाँ आया हूँ।' वसन्त की बात सुनकर मकरध्वज ने हर्ष से पुलकित होकर कहा—'मित्र ! गत वर्ष जब मैं इस मानवावास शहर में तुम्हारे साथ था तब कितना आनन्द आया था, क्या तू इसे भूल गया ? पर मेरी विरह-वेदना से तू क्यों खिन्न होगा ? क्या तू भूल गया कि जब-जब महारानी तुझे मानवावास में भेजती है तब-

* पृष्ठ ३९३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तब महामोह राजा इस शहर का राज्य मुझे सौंप देते हैं ? ऐसी स्थिति में तुझे विरह की शंका कैसे हुई ?' उत्तर में वसन्त बोला—'भाई मकरध्वज ! कमनीय वचनों द्वारा इस बात की याद दिलाकर तुमने मुझे नवजीवन दिया है, अन्यथा मैं तो यह बात भूल ही गया था । जब बिना अवसर या प्रयोजन अचानक चिन्ता आ जाती है, तब मित्र-विरह की आशंका से प्राणी अपने हाथ में लिए हुए कार्य को भी कभी-कभी भूल जाता है । तुमने बहुत अच्छी याद दिलाई । अब मैं विदा होता हूँ । तू भी मेरे पीछे-पीछे शीघ्र ही वहाँ आ जाना ।' मकरध्वज ने अपने मित्र की विजय (सफलता) की कामना की । पश्चात् वसन्तराज तुरन्त ही इस मानवावासपुर में आ गया । भिन्न-भिन्न उद्यानों में इसने अपना कैसा प्रभाव जमाया, यह तो अभी-अभी मैं तुझे दिखा ही चुका हूँ ।

मकरध्वज का राज्याभिषेक

भाई प्रकर्ष ! वसन्तराज के विदा होने के पश्चात् मकरध्वज ने विषयाभिलाष मंत्री से निवेदन किया कि लम्बे समय से चली आ रही परिपाटी का पालन किया जाना चाहिये । फिर उसने वसन्त से जो बात हुई वह बता कर याद दिलाया कि वह कालपरिणति देवी की आज्ञा से मानवावासपुर गया है । मन्त्री ने सारा वृत्तान्त रागकेसरी राजा से कहा और रागकेसरी ने *अपने पिता महामोह महाराजा को कह सुनाया । महामोह ने विचार किया कि, अरे ! हाँ, प्रतिवर्ष जब-जब वसन्त को मानवावास भेजा जाता है तब-तब उस नगर का आंतरिक राज्य मकरध्वज को सौंपा जाता है । अतः इस बार भी उस नगर का राज्य मकरध्वज को देना चाहिये । क्योंकि, जो उचित परम्परा लम्बे समय से चली आ रही हो उसका उल्लंघन स्वामी को भी नहीं करना चाहिये और लम्बे समय से जो सेवक हमारी सेवा कर रहा हो उसका सम्यक् पालन और उसकी उन्नति करनी चाहिये । ऐसा विचार कर महामोह महाराजा ने अपनी राज्यसभा के सभी राजाओं (सदस्यों) को बुलवाया और कहा—'आप सभी लोग सुनिये । भवचक्र राज्य के आंतरिक शहर मानवावास का राज्य थोड़े समय के लिये मकरध्वज को प्रदान कर रहा हूँ । अतः आप सब को भी मकरध्वज के सैनिकों की तरह उसके साथ ही रहना है। आप वहाँ मकरध्वज का राज्याभिषेक करें, इसकी आज्ञा का पालन करें, सभी राज्यकार्य उचित प्रकार से पूर्ण कर और सभी स्थानों पर बिना पीछे हटे सजगतापूर्वक कर्त्तव्य का पालन करें । मैं स्वयं भी मकरध्वज के राज्य में उसका प्रधानमन्त्री बनकर कार्य करूंगा । आप सब तैयार हो जायें । हम सब मानवावास नगर जायेंगे ।' सभी राजाओं ने जमीन तक मस्तक झुकाकर महाराजा के वचनों को 'जैसी देव की आज्ञा' कहकर स्वीकार किया । फिर महाराजा ने मकरध्वज से कहा—'भद्र ! मानवावास की गद्दी पर

---

*पृष्ठ ३९४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बैठकर तू अन्य राजाओं की सारी आमदनी हड़प मत करना। जिन्हें जो अधिकार मिले हुए हैं, उन्हें उन अधिकारों का उपयोग करने देना और पुरानी प्रीति के अनुसार सब के साथ अच्छा व्यवहार करना।' मकरध्वज ने भी मोहराजा की इस आज्ञा को शिरोधार्य किया। फिर सभी मिलकर मानवावासपुर आये। सब ने एकत्रित होकर वहाँ मकरध्वज का राज्याभिषेक किया और उसके निर्देशानुसार सभी राजाओं ने अपने-अपने पद का भार संभाल लिया।

लोलाक्ष पर मकरध्वज की अदृष्ट विजय

भाई प्रकर्ष ! अभी तूने जिस राजा को हाथी के होदे पर बैठे देखा है, वह मानवावासपुर के ललितपुर शहर का लोलाक्ष नामक बहिरंग प्रदेश का राजा है। जब मकरध्वज को मानवावासपुर का राज्य सौंपा गया तब उसने अपनी शक्ति से इस राजा की सेना को और नगरवासियों को इस नगर से खदेड़ कर बाहर के उद्यान-वनों में भेज दिया है और उसे जीत लिया है। पर, यह बेचारा लोलाक्ष ऐसा मूढ है कि अभी तक समझ ही नहीं पाया है कि मकरध्वज ने उसे जीत लिया है। राजा के साथ जिन नागरिकों को नगर से बाहर निकाल दिया गया है वे भी ऐसा नहीं मानते कि मकरध्वज ने उन्हें और उनके राजा को जीत लिया है। हे वत्स ! इसीलिये महामोह राजा के सहयोग से एवं मकरध्वज के प्रताप से ये लोग अभी-अभी तूने देखी ऐसी विचित्र-विचित्र चेष्टायें कर रहे हैं।

योगांजन से अन्तरंग-दर्शन

प्रकर्ष - मामा ! यह मकरध्वज इस समय कहाँ है ?

विमर्श- अरे, भाई प्रकर्ष ! वह तो अपने परिवार सहित यहाँ निकट में ही है और इन सब लोगों से नाटक करवा रहा है।

प्रकर्ष - तब वह यहाँ क्यों नहीं दिखाई देता ?

विमर्श—भाई ! मैंने तुझे पहले ही बता दिया था कि ये अन्तरंग लोग बार-बार अदृश्य हो सकते हैं और योगियों की भांति अन्य पुरुष के शरीर में प्रवेश कर सकते हैं। * अभी वे सब इन लोगों के शरीरों में प्रवेश कर गये हैं, अपनी विजय से अत्यन्त हर्षित हो रहे हैं और इनके प्रताप से लोग जो नाटक कर रहे हैं उसे वे भीतर बैठे-बैठे दर्शक बनकर आनन्द से देख रहे हैं।

प्रकर्ष - जब ये लोग अन्य लोगों के शरीर में प्रविष्ट हैं तब आप इन्हें प्रत्यक्ष रूप से कैसे देख रहे हैं ?

विमर्श—भाई ! मेरे पास विमलालोक योगांजन है, जिसे आँख में लगाने से मैं इन मकरध्वज राजा आदि सब को स्पष्टतः देख सकता हूँ।

---

* पृष्ठ ३९५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकर्ष—मेरी आँखों में भी यह सुरमा लगाइये ना, जिससे मैं भी मकरध्वज आदि राजाओं को आँखों से देख सकूं।

प्रकर्ष की प्रार्थना पर मामा ने उसके नेत्रों में विमलालोक योगाञ्जन लगाया और कहा कि वत्स! अब तुम इनके हृदय प्रदेश की तरफ देखो। इनके हृदय प्रदेश में ये सब लोग तुम्हें बैठे दिखाई देंगे। प्रकर्ष ने वैसा ही किया।

तदनन्तर प्रकर्ष हर्षित होकर कहने लगा—अहा मामा! अब तो महामोह आदि से परिवेष्टित राज्याभिषिक्त मकरध्वज मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

देखिये न मामा! हाथ में धनुष लेकर वह अपने सिंहासन पर बैठा-बैठा ही बाण को कान तक खींच कर छोड़ रहा है और लोगों के हृदय को बींध रहा है। लोग इसके बाणों के प्रहार से विह्वल हो गये हैं। राजा लोलाक्ष भी इसके बाणों के प्रहार से जर्जरित हो गया है। इन सब को ऐसी विकारजन्य आकुलता की स्थिति में देखकर भूपति कामदेव अपनी स्त्री रति के साथ प्रमुदित होकर खिलखिला कर हँस रहा है और तालियाँ पीट-पीटकर आनन्द ले रहा है। इसके नौकर और दास भी जोर-जोर से बोल रहे हैं—अहा! क्या निशाना लगाया! क्या बाण मारा! अच्छा प्रहार किया, आदि। महामोह आदि भी मकरध्वज के समक्ष खड़े-खड़े हंस रहे हैं। मामा! आज तो आपने बहुत सुन्दर देखने योग्य दृश्य दिखाया। मैं अधिक क्या कहूँ? इस राज्य को लीला का भोग करते हुए कामदेव को दिखाकर आपने सचमुच में मुझ पर बड़ी कृपा की। [१–५]

मकरध्वज द्वारा महामोहादि का कार्य-निर्धारण

विमर्श—अरे भाई! तूने अभी देखा ही क्या है? इस भवचक्र नगर में तो ऐसे-ऐसे देखने योग्य अन्य कई दृश्य हैं। इस नगर में तो देखने योग्य अनेक नाटक होते ही रहते हैं।

प्रकर्ष—मामा! जब आप मुझ पर ऐसे अनेक दृश्य दिखाने की कृपा कर रहे हैं तब मेरी जिज्ञासा अब पूर्ण हुए बिना कैसे रह सकती है? मामा! एक बात और पूछ रहा हूँ। इस मकरध्वज के पास केवल महामोह, रागकेसरी, विषयाभिलाष, हास्य आदि तो सपत्नीक दिखाई दे रहे हैं, किन्तु इस समय द्वेषगजेन्द्र, अरति, शोक आदि दिखाई नहीं देते, इसका क्या कारण है? क्या वे मकरध्वज के राज्याभिषेक में नहीं आये?

विमर्श—भाई प्रकर्ष! वे सब इस मकरध्वज के अभिषेक में भवचक्र नगर में आये हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। पर, मैंने तुझे बताया था कि ये अन्तरंग लोग कभी स्पष्ट दिखाई देते हैं और कभी अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। द्वेषगजेन्द्र, शोक आदि अभी अन्तर्ध्यान होकर मकरध्वज के राज्य में ही हैं, परन्तु वे राजा की सेवा करने के अवसर की प्रतीक्षा में है। इस समय महामोह आदि को सेवा करने का अवसर मिला है इसलिये वे सभा में प्रत्यक्ष होकर अपने कर्त्तव्य का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पालन पर-शरीर-प्रवेश द्वारा कर रहे हैं। प्रचण्ड शासक होने से महाराजा मकरध्वज का * आज्ञा बड़ी कठोर होती है और वह अपने आदेश को क्रियान्वित भी करवाता है। जिसको जो कार्य करने की आज्ञा मिली हो उसे मात्र उतना ही कार्य उस प्रसंग में करना चाहिये। जिसका जितना माहात्म्य हो उसे उस अवसर पर उतना ही प्रकट करना चाहिये। जिसे स्वयं जितनी आय करने की छूट है उतनी ही आय वह करे, उससे अधिक भी नहीं और उससे कम भी नहीं। तुझे यह बात मैं दृष्टान्त देकर समझाता हूँ, सुनो :—

इस लोलाक्ष राजा को, उसके राज्याधिकारियों को और उसकी प्रजा को मकरध्वज ने जीत लिया है, फिर भी उन लोगों को इस बात का ज्ञान नहीं है। इतना ही नहीं, ये सभी बाह्य लोग मकरध्वज को अपने भाई जैसा ही मानते हैं। यह सब योजना महामोह राजा द्वारा क्रियान्वित की गई है। मकरध्वज महाराज की ऐसी ही आज्ञा है कि महामोह राजा मात्र इतने ही कार्य की पूर्ति करके अपना माहात्म्य बतावें। ये सभी बाह्य लोग जो परस्पर प्रेम दिखा रहे हैं और एक दूसरे से लिपट रहे हैं तथा अपने को बड़ा कृतकृत्य एवं सौभाग्यशाली मान रहे हैं, इस कार्य को रागकेसरी ने सम्पन्न किया है। रागकेसरी को ये परिणाम उत्पन्न करने की योजना बताई गई थी और इतना करने में ही उसका माहात्म्य है, जो उसने पूरा कर दिखाया है। ये बाह्य लोग जो शब्दादि इन्द्रियों के विषयों की तरफ आकर्षित होते हैं और सैकड़ों प्रकार के विकारों में फंसते हैं, यह सब करणीय कार्य विषयाभिलाष मन्त्री को सौंपा गया था। विषयाभिलाष ने ये परिणाम उत्पन्न किये, बस यही उसका प्रभाव है और यही उसकी आय है। ये लोग अट्टहास करते हैं, खिलखिला... हँसते हैं और एक दूसरे पर व्यंग कसते हैं, यह सब हास्य द्वारा उत्पन्न किया गया प...गाम है। इसी प्रकार इनकी पत्नियाँ महामूढता, भोगतृष्णा और तुच्छता आदि ने भी उनको सौंपे गये कार्य को पूरा करती हैं। इसी प्रकार अन्य राजा और वे १६ बच्चे भी उनको सौंपे गये कार्य को पूरा किया है, स्वयं का महत्व जताते हैं और अपने खाते में उतनी ही आय जमा करते हैं। इन सभी की निश्चित कार्यों पर ही नियुक्ति है। ये लोग शब्दादि इन्द्रियों के भोग भोगते हैं, सहर्ष अपनी स्त्रियों को अपने अनुकूल करने का प्रयत्न करते हैं, उनका मुख-चुम्बन करते हैं, उनके शरीर से लिपटते हैं, उनके साथ मैथुन (रति-क्रिया) करते हैं, इत्यादि सब कामों पर मकरध्वज ने किसी को नियुक्त नहीं किया है। परन्तु, ये सब काम तो मकरध्वज अपनी स्त्री के साथ स्वयं ही करता है, क्योंकि इन कार्यों को सम्पन्न करने की शक्ति केवल मकरध्वज में ही है, अन्य किसी में नहीं है। हे वत्स ! इस प्रकार द्वेषगजेन्द्र, शोक आदि को भी काम सौंपा हुआ है, पर वे अपने सौंपे हुए काम को पूरा करने के अवसर की प्रतीक्षा में हैं। इसीलिये अभी वे प्रकट रूप में दिखाई नहीं देते।

---

* पृष्ठ ३९६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तरंग लोगों के अनेक रूप

प्रकर्ष—मामा ! यदि वे सब यहाँ आये हुए हैं तो चित्तवृत्ति अटवी में महामोह राजा का जो मण्डप हमने पहले देखा है, वह तो बिलकुल खाली पड़ा होगा ?

विमर्श—नहीं भाई ! ऐसा कुछ नहीं है। मैंने तुम्हें पहले भी बताया था कि वे अन्तरंग के लोग अनेक रूप धारण कर सकते हैं। यद्यपि वे यहाँ मकरध्वज के राज्य में आये हैं, फिर भी वे सभी महामोह के स्थान पर भी इसी प्रकार बैठे हुए हैं। मकरध्वज का राज्य तो थोड़े दिन चलने वाला है इसलिए वह क्षणिक है, जब कि महामोह का राज्य तो लम्बे समय से स्थापित है, अनन्त कल्पों से प्रवृत्त है और अनन्त काल तक रहने वाला है; अतः इनके लिये वहाँ से तो हटने का प्रश्न ही नहीं उठता। महामोह का राज्य तो सम्पूर्ण विश्व में फैला हुआ है, जब कि इस मकरध्वज का राज्य तो मात्र मानवावास नगर में है। यह तो महामोह राजा का स्वभाव ही है कि वह चिरन्तन (पुरानी) परिपाटी को हमेशा निभाता रहता है। यही कारण है कि स्वयं द्वारा अभिषिक्त महायोद्धा मकरध्वज की सेवा में स्वयं ही उसका मन्त्री बनकर रहता है। हे भद्र ! महामोह का सभास्थल तो अभी भी अविचल है, विजयवंत ही है। यहाँ अभी जो लोग दिखाई दे रहे हैं, वे सभी अभी भी महामोह के राज्य में तो अपने मूल (असली) स्वरूप में विद्यमान हो हैं।

प्रकर्ष—मामा ! आपका विस्तृत विवरण सुनकर मेरे मन में जो शंका उठी थी वह अब शांत हुई।

❀

२२. लोलाक्ष

[भाणजे प्रकर्ष को नये-नये दृश्य देखने का अत्यधिक उत्साह था। पिताजी द्वारा दिया गया समय भी अभी शेष था। आन्तरिक तत्त्ववेदी विमर्श भाणजे की सभी जिज्ञासायें सन्तुष्ट कर रहा था। अतः प्रकर्ष भवचक्र नगर के कौतुक अधिक उत्साह से देखने लगा, साथ ही विमर्श उसके जानने योग्य बातों का स्पष्टीकरण भी करने लगा।]

मद्यपों की दशा

हाथी की अम्बाडी पर बैठे लोलाक्ष राजा को पहले देख ही चुके हैं। अब वह लोलाक्ष हाथी से नीचे उतरा और उसने सामने ही चण्डिका देवी का मन्दिर था उसमें प्रवेश किया। पहले चण्डिका देवी को मदिरा चढ़ाई, फिर देवी की पूजा

❀ पृष्ठ ३६७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की और उसके बाद देवी के सामने ही खुले मैदान में मदिरा पीने बैठ गया। राजा के साथ जो राजपुरुष और प्रजाजन आये थे वे भी वहीं घेरा बना कर मदिरा पीने बैठ गये। सुरापान हेतु अनेक प्रकार के रत्न-निर्मित मद्य-पात्र राजा के सन्मुख एवं स्वर्ण-निर्मित सुरापात्र प्रत्येक राजपुरुष के सन्मुख रख दिये गये। फिर सुरापान का क्रम चला। एक के बाद एक सभी मदिरा पीने लगे। कोई अधिक उल्लसित होकर आनन्द से अधिक मदिरा पी रहा है तो कोई नशा चढ़ाने के लिए हिण्डोल राग गाता। फिर लाल मदिरा का प्याला चढ़ाता है। कोई वाद्यवादक को आग्रह पूर्वक मदिरा पिला रहा है। नृत्य चल रहा है। कोमल किशलय जैसे ललनाओं के हाथों से मद्य-पात्र ले जाये जा रहे हैं। प्रियतमा के अधरबिम्बों (होंठों) का चुम्बन-पान किया जा रहा है। आवेश में कभी-कभी नीचे का होठ दांतों से कट रहा है। मदिरा की मस्ती में केलिक्रीडा की स्थिति अधिकाधिक बढ़ती जा रही है। छोटे-बड़े की लज्जा-मर्यादा और अच्छे-बुरे की शंका छूटती जा रही है। स्त्रियों के सुन्दर मुखों की तरफ सभी की नजरें आकृष्ट हो रही हैं। गम्भीरता नष्ट हो रही है। बड़े-बड़े मनुष्य छोटे बालकों जैसी चेष्टायें कर रहे हैं। समस्त प्रकार के न करने योग्य अकार्य इस मदिरा गोष्ठि में हो रहे हैं।

लोलाक्ष की कामान्धता

लोलाक्ष राजा का एक छोटा भाई रिपुकंपन था जो अभी युवराज के पद पर था। वह भी लोलाक्ष के साथ यहाँ नगर से बाहर उद्यान में आया था। खूब मदिरा पीकर वह ऐसा मस्त और परवश हो गया था कि कार्य-अकार्य को सोचने की स्थिति में ही नहीं रह गया था। ऐसी अवस्था में उसने अपनी पत्नी रतिललिता को आज्ञा दी कि 'प्रियतमे ! अब तू नाच कर।' यद्यपि उसे अपने से बड़े लोगों के सामने नाचने में लज्जा आ रही थी तब भी अपने पति की आज्ञा का उल्लंघन करने की उसमें शक्ति नहीं होने से अपनी इच्छा के विरुद्ध भी रतिललिता नाचने लगी। जैसे ही वह अपने लावण्यपूर्ण कोमल अंगोपांगों का प्रदर्शन करती हुई मदिरा के नशे में मस्त होकर नाचने लगी वैसे ही कामदेव ने अनवरत अपने सैकड़ों तीर लोलाक्ष को मार कर बींध दिया और उसे अपने वश में कर लिया, जिससे राजा अपने छोटे भाई की पत्नी पर गाढ़ आसक्त हो गया। परन्तु, अपनी कामवासना की तृप्ति करने का कोई उपाय उसे काफी समय तक नहीं सूझ पड़ा, अतः वह कामाहत दशा में कुछ देर तक बैठा रहा।

इधर अधिक मदिरापान से समस्त राज्य-मण्डल मदमत्त हो रहा था। इनमें से मदिरा के प्रभाव से कई चेतना-शून्य होकर जमीन पर लेट गये थे, कई वमन कर रहे थे और कई झौंके खा रहे थे। सारी जमीन उल्टी से अपवित्र और कीचड़ वाली हो गई थी। कौए और कुत्ते उधर झपट रहे थे और लोगों के मुंह चाट रहे थे। रिपुकंपन भी ऊंघ रहा था, केवल रतिललिता जागृत थी। उस समय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में महामोह के वशीभूत, रागकेसरी द्वारा अंक (गोद) में बिठाया हुआ, विषयाभिलाष द्वारा प्रेरित, रति के सामर्थ्य से पराजित, काम-बाणों से हृदयविद्ध लोलाक्ष अपने स्वरूप को भूल कर, अपनी मृत्यु को निमन्त्रण देने के लिये रतिललिता को पकड़ने दौड़ा। अपने आवेश को रोकने में असमर्थ वह रतिललिता के पास पहुँच गया। पास पहुँचते ही दोनों भुजाएं फैलाकर रतिललिता को अपने आलिंगन-पाश में जकड़ने के लिये आगे बढ़ा। पहले तो रतिललिता विचार में पड़ गई कि यह क्या हो रहा है? फिर अपनी स्वाभाविक स्त्री-बुद्धि से वह लोलाक्ष का आशय समझकर चौंक गई। * भयभीत होने से उसका मदिरा का नशा उतर गया। परिस्थिति को समझकर वह जोर से भागने लगी। लोलाक्ष ने दौड़कर उसे पकड़ लिया। उस अबला ने जोर लगाकर उस विषयान्ध राजा के पाश से अपने को छुड़ाया तथा फिर दौड़ने लगी। राजा ने उसे फिर आ पकड़ा। नशे में धुत्त राजा के बाहुपाश से उसने खींचतान कर अपने को फिर मुक्त किया और दौड़कर चण्डिका मन्दिर के अन्दर घुस गई तथा भय से थर-थर काँपती हुई चण्डिका देवी की मूर्ति के पीछे छिप गई।

द्वेषगजेन्द्र का प्रभाव : संघर्ष

इसी समय महाराजा मकरध्वज ने द्वेषगजेन्द्र को अपना प्रभाव दिखाने और समयानुकूल आयोजन करने की आज्ञा दी, अतः वह प्रकट हुआ।

प्रकर्ष ने द्वेषगजेन्द्र को देखा और बोला—'मामा! देखिये द्वेषगजेन्द्र आ गया है और साथ में अपने आठ बच्चे भी लेकर आया लगता है।' विमर्श ने कहा—'हाँ, भाई! अब द्वेषगजेन्द्र को अपना प्रभाव दिखाने का अवसर प्राप्त हुआ है, अतः वह अपना कर्त्तव्य निभायेगा। अब तू केवल इसकी क्रीड़ा को ध्यान पूर्वक देखना।' प्रकर्ष ने कहा—'मैं ऐसा ही करूंगा' यह कहकर वह अपनी दृष्टि को चारों तरफ घुमाते हुए ध्यान से देखने लगा।

द्वेषगजेन्द्र ने राजाज्ञा को सुना और लोलाक्ष के शरीर में प्रविष्ट हो गया। द्वेषगजेन्द्र के वशीभूत होकर लोलाक्ष ने सोचा—'इस पापिन रतिललिता को मार ही डालना चाहिये। यह दुष्टा मुझ से प्रेम नहीं करती और मुझ से दूर भागती फिर रही है, अतः सर्वदा के लिये इसके जीवन का अन्त ही कर देना चाहिये।' ऐसे विचार के साथ ही उसने अपने हाथ में तलवार पकड़ी और चण्डिका मन्दिर के गर्भ भाग में प्रविष्ट हो गया। वह मदिरा के नशे में इतना मदान्ध हो रहा था कि उसे यह भान ही नहीं था कि वह क्या कर रहा है। रतिललिता के स्थान पर उसने तलवार से चण्डिका देवी की प्रतिमा का मस्तक उड़ा दिया। रतिललिता वहाँ से भागकर मन्दिर के बाहर आकर जोर-जोर से चिल्लाने लगी—'आर्यपुत्र! रक्षा करो बचाओ! बचाओ!!' उसकी चिल्लाहट सुनकर रिपुकंपन ऊंघ से जागृत हुआ और

* पृष्ठ ३९८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्य लोग भी जाग गये। रिपुकंपन दौड़ता-दौड़ता आया और पूछा— प्रियतमे ! तुझे किसका भय है ? उत्तर में रतिललिता ने उसके साथ लोलाक्ष ने कैसा अधम व्यवहार किया, वह सब संक्षेप में कह सुनाया।

रतिललिता से रिपुकंपन ने सारा वृत्तांत सुना। सुनते ही रिपुकंपन पर भी द्वेषगजेन्द्र का प्रभाव हो गया। उसने अत्यन्त तिरस्कार और स्पर्धापूर्वक अपने भाई लोलाक्ष को युद्ध करने के लिये ललकारा। सारे योद्धाओं में खलबली मच गई। सारे वन प्रदेश में जहाँ मद्यगोष्ठि हो रही थी और लोग नशे में ऊंघ रहे थे वे सब जाग गये 'क्या हुआ ? क्या हुआ?' कहते हुए वहाँ चारों तरफ कोलाहल मच गया और चारों प्रकार की सेना चारों तरफ से एकत्रित होने लगी, जिससे बड़ी धमाचौकड़ी मच गई। लोग नशे से चूर थे अतः उन्हें पता ही न लगा कि क्या हुआ। वातावरण से प्रेरित होकर और युवराज की ललकार सुनकर नशे में चूर सैनिक आपस में ही भिड़ गये। कायर कायर से, योद्धा योद्धा से, खच्चर वाला खच्चर वाले से, घुड़सवार घुड़सवार से, ऊंट सवार ऊंट-सवार से, रथी रथी से, गज-सवार गज-सवार से यों परस्पर लड़कर वे एक दूसरे का नाश करने लगे। इस प्रकार बिना कारण अचानक बहुत बड़ी संख्या में सैनिक हताहत हो गये।

इधर रिपुकंपन की ललकार सुनकर लोलाक्ष उससे लड़ने के लिये उसके सामने आ गया। दोनों द्वेषगजेन्द्र के वशीभूत थे, अतः वे भूल गये कि वे दोनों भाई हैं। फलतः मदिरा के नशे की मस्ती में एक दूसरे पर तलवार का प्रहार करने लगे। अन्त में अत्यन्त क्रोध से रिपुकंपन ने अपने बड़े भाई लोलाक्ष को धराशायी कर दिया जिससे लोगों में भारी खलबली मच गई।

सुरा-सुन्दरी के भयानक परिणाम

यह सब देखते हुए मामा-भाणजे नगर में प्रविष्ट हुए और जहाँ किसी प्रकार का विप्लव (गड़बड़) नहीं था ऐसे स्थान पर विश्राम करने बैठे। विमर्श ने फिर से बातचीत प्रारम्भ की।

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! द्वेषगजेन्द्र का माहात्म्य देख लिया न ?

प्रकर्ष - हाँ, मामा ! बहुत अच्छी तरह से देखा। इस प्रकार की विलास-क्रीड़ा का परिणाम कैसा भयानक होता है, यह अच्छी तरह देखा।

विमर्श - वत्स ! मदिरा पीने वालों का ऐसा ही पर्यवसान (अन्त) होता है। मदिरा के नशे में चूर प्राणी, अगम्या के साथ गमन करते हैं अर्थात् जिसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखना चाहिये उसी पर विषयासक्त होकर उससे गमन करते हैं। अपने सामने कौन खड़ा है, इसका भी उन्हें ध्यान नहीं रहता। अपने सगे भाई या अत्यधिक निकट सम्बन्धी का भी खून कर देते हैं। बिना कारण अपने

---

* पृष्ठ ३९९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही हाथ से अघटित (आकस्मिक) घटना कर बैठते हैं। सर्व प्रकार के अधम से अधम पापों का आचरण करते हैं। सम्पूर्ण संसार को अनेक प्रकार से कष्ट देते हैं। बिना कारण ही धराशायी होकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं। जन्म गंवाकर दुर्गति को प्राप्त होते हैं। भाई ! इसमें आश्चर्य क्या ? विद्वान् लोग तो कहते हैं :—

जो अधम प्राणी मदिरा और परस्त्री में आसक्त होते हैं उन्हें ऐसे ही अनर्थकारी फल चखने पड़ते हैं। इसमें प्रश्न करने का अवकाश ही कहाँ है।

सभी सज्जन पुरुष शराब की निन्दा करते हैं। मदिरा अनेक क्लेशों का कारण (जननी), सर्व प्रकार की आपत्तियों का मूल और सैकड़ों पापों से आकुलित है।

जो व्यक्ति मदिरा-पान और परस्त्री-लम्पटता का व्यसन नहीं छोड़ सकता उसका अन्त में राजा लोलाक्ष के समान ही क्षय (नाश) होता है।

भाई ! जो प्राणी मद्य और परस्त्री का त्याग करते हैं, वे वस्तुतः विवेकशील और पण्डित हैं, वे पुण्यशाली हैं, वे भाग्यवान हैं और वे सचमुच में कृतार्थ हैं। [१–४]

प्रकर्ष - मामा ! आप शराब और परस्त्री-गमन के विषय में जो कुछ कह रहे हैं, वह युक्त ही है। इसमें कोई संशय नहीं है।

२३. रिपुकम्पन

मिथ्याभिमान

विमर्श और प्रकर्ष मानवावास के ललितपुर को देखने की इच्छा से थोड़े दिनों तक घूमते रहे। अन्यदा ललितपुर में घूमते हुए उन्होंने राजकुल के समीप एक पुरुष को देखा।

प्रकर्ष—मामा ! यह तो मिथ्याभिमान दिखाई देता है।

विमर्श—हाँ, भाई ! यह मिथ्याभिमान ही है।

प्रकर्ष—मामा ! इन भाई साहब को तो हमने राजसचित्त नगर में देखा है। ये वहाँ स्थायी रूप से नियुक्त थे फिर वहाँ की स्थायी नियुक्ति को छोड़कर ये यहाँ कैसे आ गये ?

विमर्श—महामोह महाराजा की मकरध्वज पर इतनी अधिक कृपा है कि इसके राज्य की ऋद्धि बढ़ाने के लिये जिनकी भी आवश्यकता हो, उन्हें अन्य स्थान पर स्थायी नियुक्ति होने पर भी ससैन्य बुला लिया जाता है। यद्यपि ये मिथ्याभिमान और मतिमोह आदि यहाँ आये हुए हैं, फिर भी ये राजसचित्त और तामसचित्त नगर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में तो परमार्थ से हैं ही। क्योंकि, ये योगी के समान इच्छानुसार रूप धारण कर सकते हैं।

प्रकर्ष - मामा ! अभी ये कहाँ जा रहे हैं ?

विमर्श -भद्र ! सुनो, तूने बाहर के उद्यान में रिपुकम्पन को देखा था, उसके बड़े भाई लोलाक्ष की मृत्यु होने से उसका राज्याभिषेक हुआ है और वह ललितपुर का राजा बना है। यह रिपुकम्पन राजा का राजमहल है। किसी बहाने यह मिथ्याभिमान राजभवन में प्रवेश करना चाहता है, ऐसा लग रहा है।

प्रकर्ष - मामा ! इस राजा का राजभवन मुझे भी बताइये न ?

विमर्श—अच्छा, चलो।

दोनों रिपुकम्पन के राजमहल में प्रविष्ट हुए।

हर्ष और शोक का प्रभाव : पुत्र जन्मोत्सव

इधर रिपुकम्पन राजा के मतिकलिता नामक एक दूसरी रानी भी थी। जिस समय मामा-भाणजे महल में प्रविष्ट हुए उसी समय इस रानी ने एक बालक को जन्म दिया। जैसे सूर्य के उदय से तामरस कमल विकसित होते हैं और आकाश में से अंधकार नष्ट हो जाता है, सुन्दरजनों के नयन जैसे नींद उड़ जाने पर शोभायमान होते हैं अथवा स्वधर्म-कर्म में तत्पर सुन्दर गृहस्थ का घर हो वैसे सारा राजमहल पुत्र जन्म की खुशी में शोभायमान होने लगा। चारों ओर आनन्द ही आनन्द छा गया। मणियों के दीपक जगमगाने लगे। मंगल समय में टांकी जाने वाली दर्पणों की मालायें चारों तरफ टांकी जाने लगी। * अनेक प्रकार के रक्षा विधान निष्पन्न किये गये। सफेद सरसों से नन्दावर्त को सैकड़ों रेखायें बनाकर स्वस्तिक बनाये गये। विलासिनी स्त्रियों के हाथ में श्वेत चंवर देकर उन्हें स्थान-स्थान पर खड़ा किया गया। प्रियंवदा नामक दासी सभास्थल में बैठे हुए महाराजा को पुत्र जन्म की बधाई देने वेग से चल पड़ी।

वह दासी शीघ्रता में पाँव पटकती हुई तेजी से चल रही थी। पांवों में पहिने हुए झांझर के कारण कभी-कभी उसकी गति स्खलित हो जाती थी। चरणों की तेज चाल से उसके स्तन ऊंचे-नीचे हो रहे थे। स्तन-कम्पन के कारण उसके नितम्ब भी हिल रहे थे। नितंबों के हिलने से कटिमेखला के घुंघरुओं की रण-रणक आवाज हो रही थी। कटिमेखला के हिलने से उरोजों पर डाला हुआ दुपट्टा नीचे खिसक रहा था। दुपट्टे के खिसकने से उसके मुंह पर लज्जा की लालिमा छा रही थी। मुख की लालिमा से उसके मुखचन्द्र का प्रकाश भुवन में चारों तरफ फैल रहा था। नितम्बों और स्तनों के भार से वह दासी झुकी जा रही थी जिससे उसकी चाल मन्द हो रही थी, फिर भी आनन्द के आवेश में वह तेजी से दौड़ती हुई आगे बढ़

* पृष्ठ ४००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रही थी। सभास्थान में पहुँचकर उसने हर्षातिरेक पूर्वक महाराजा रिपुकम्पन को पुत्र जन्म की बधाई दी। समाचार सुनकर हर्ष से राजा का शरीर रोमाञ्चित हो गया। [१–४]

इसी समय मिथ्याभिमान भी वहाँ आ पहुँचा और वह रिपुकम्पन के शरीर में प्रविष्ट हो गया। मिथ्याभिमान के प्रविष्ट होते ही रिपुकम्पन अभिमान से इतना फूल गया मानो वह अपने शरीर में ही नहीं अपितु तीन भुवन में भी नहीं समा रहा हो। हर्ष के आवेश में विपरीत चित्त होने के कारण वह सोचने लगा कि–'अहो! वह सचमुच भाग्यशाली है, कृतार्थ है, उसका कुल बहुत ही उच्च है। अहो! देवताओं की भी उस पर बहुत कृपा है। अहो! मेरे लक्षण कितने श्रेष्ठ हैं। अहा! मेरा राज्य! अहा! मेरा स्वर्ग! आज पुत्र–प्राप्ति से जन्म का फल मिला। अहा! जगत में मेरा जन्म सफल हुआ। अहा! मुझे कल्याण-परम्परा प्राप्त हुई। अहा! आज मैं धन्य हुआ। अहा! मेरे सभी मनोवांछित आज पूरे हुए। आज तक मेरे पुत्र नहीं था जिससे मैं करोड़ों मनोतियां मनाता रहता था, वह कुलनन्दन पुत्र आज प्राप्त हुआ।' इस प्रकार मन में विचार करते हुए राजा ने प्रसन्नतापूर्वक बधाई देने वाली दासी को अपने कड़े, बाजूबन्द, हार, कुण्डल, कलंगी और एक लाख स्वर्ण मोहरें बधाई में दी। राजा के रोम-रोम में प्रसन्नता का रस प्रवाहित होने लगा। हर्ष से गद्‌गद् होकर उसने अपने मन्त्रिमण्डल को आज्ञा दी, 'पुत्र-जन्म का महोत्सव सर्वत्र आनन्दपूर्वक मनाइये।' राजा की आज्ञा सुनकर मन्त्रियों ने क्षण मात्र में राजभवन में अनेक प्रकार के उत्सव प्रारम्भ करवा दिये। [५–८]

हवा के वेग से आहत (प्रेरित) होकर ऊंची-नीची उठती लहरों के मध्य में जिस प्रकार जलजन्तुओं द्वारा अपनी पूंछ ऊपर उछालने से तरंगों की हार माला उत्पन्न होने पर महा समुद्र में गम्भीर गर्जना (ध्वनि) उत्पन्न होती है उसी प्रकार उस राजमहल में क्षण मात्र में चारों तरफ नौबत, शहनाई आदि वादित्रों का गम्भीर घोष व्याप्त हो गया। श्रेष्ठ मलय चन्दन का चूर्ण, केसर, अगर, कस्तूरी, कपूर आदि के सुगन्धित पानी के छिड़काव से सभी स्थान सुगन्धित एवं कीचड़मय (गीले) हो गये। सुगन्धित पानी को छूकर आने वाली हवा भी सुरभित हो गई थी जिससे प्राणी मात्र प्रमुदित हो रहे थे। प्रकाशमान रत्नों की प्रभा से राजभवन में चारों तरफ ऐसा प्रकाश फैल रहा था कि सूर्य किरणों को तो वहाँ प्रवेश करने की आवश्यकता ही नहीं रह गई थी। [९–१०]*

वामन और कुबड़े महल में चारों तरफ नाटक करने लगे। जनाने महलों के नौकर हंसी-ठट्ठा करने लगे। लोगों को रत्न-समूह बधाई में दिये जाने लगे। अमूल्य मोतियों के हारों को तोड़कर चारों तरफ मोती उछाले जाने लगे। योद्धा आडम्बर सहित नये-नये वस्त्र पहन कर अपना प्रदर्शन करने लगे। ललनायें राज-

* पृष्ठ ४०१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन्दिर में सर्वत्र रास आदि विलास करने लगीं। वधाई देने के लिये महल में आने वाले लोगों को भोजन-पान से तुष्ट किया जाने लगा। आनन्द और हर्ष में सर्वत्र वृद्धि हो गई। पुत्र जन्म की वधाई का आनन्द चारों तरफ फैल रहा था और नौकर लोग आनन्द से नाच रहे थे। तभी हर्षातिरेक में आकर राजा रिपुकम्पन भी हाथ उठा-उठा कर नौकरों के साथ नाचने लगा। [११–१३]

उक्त प्रकार की सर्वत्र धूमधाम देखकर प्रकर्ष को कुछ सन्देह हुआ, इसलिये उसने मामा से पूछा मामा! ये लोग हर्ष से उछल रहे हैं, आनन्दातिरेक में सब लोग मुंह से हर्षोल्लास के उद्गार निकाल रहे हैं, इसका क्या कारण है? यह जानने का मुझे कौतुहल हो रहा हैं। क्या आप मुझे बताने की कृपा करेंगे? कुछ लोग अपने शरीर पर मटकियों का भार उठाये हुए हैं, कुछ लोग लकड़ी की चौखट पर चमड़े को मढ़कर उनको जोर-जोर से बजा रहे हैं। आंतड़ियों से निर्मित और मोतियों से ग्रथित तन्तुवाद्य मन्द-मन्द स्वर में चल रहे है, इन सब का कारण क्या है? सब से आश्चर्यजनक बात तो यह है कि इस राजभवन का नायक और पृथ्वीपति एक बच्चे की तरह हँसी पैदा करने वाला आचरण, नाच और हँसी-ठट्ठा क्यों कर रहा है? इसका कारण क्या है? यह तो बताइये मामा! जब तक यह बात मेरी समझ में नहीं आयेगी तब तक मेरा कौतुहल शांत नहीं होगा। [१४–१८]

विमर्श—वत्स! इस सब का कारण तुझे बताता हूँ. सुन—इस सब घटनाचक्र का प्रवर्तक एक ही मनुष्य है। जब हम इस राजमन्दिर में प्रवेश कर रहे थे उस समय मिथ्याभिमान ने भी प्रवेश किया था। यह सब नाटक यह मिथ्याभिमान ही करवा रहा है। पुत्रोत्पत्ति की खुशी में यह रिपुकम्पन इतना अधिक हर्षोन्मत्त हो गया है कि वह हर्ष इसके शरीर में या राजमहल में या नगर में या तीन भुवन में भी नहीं समा रहा है। इस राजा के चित्त को मिथ्याभिमान ने बिल्कुल कर दिया है। इसी से राजा स्वयं नाच रहा है और दूसरों को भी नचा रहा है। विशेषता तो यह है कि इन लोगों की जो आत्म-विडम्बना हो रही है, उसे ये समझ ही नहीं सकते, क्योंकि मिथ्याभिमान के समक्ष सम्पूर्ण संसार पामर जैसा है। [१९–२४]

प्रकर्ष—मामा! यदि ऐसी बात है तो लोगों को इतनी अधिक विडम्बना में गिराने वाला यह मिथ्याभिमान तो वास्तव में लोगों का शत्रु ही है। [२४]

विमर्श—इसमें शंका की क्या बात है? वास्तव में यह लोगों का शत्रु ही है। फिर भी लोगों को यह अपने भाई से भी अधिक प्रिय लगता है। [२५]

प्रकर्ष—यह रिपुकम्पन अर्थात् शत्रुओं को कंपाने वाला जब मिथ्याभिमान के वश में हो गया है तब इसे रिपुकम्पन कैसे कहा जाय? [२६]

विमर्श—भाई! यह भाव से रिपुकम्पन नहीं है, क्योंकि यह अपने शत्रुओं को किंचित् भी कम्पायमान नहीं कर सकता। यह तो केवल बाहरी शत्रुओं से लड़ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में वीर है, अतः द्रव्य रिपुकम्पन अर्थात् नाम से ही रिपुकम्पन हैं। [२७] ❀ कहा भी है :—

यो बहिः कोटिकोटीनामरीणां जयने क्षमः।
प्रभविष्णुर्विना ज्ञानं, सोऽपि नान्तरवैरिणाम् ॥ [२८]

जो व्यक्ति करोड़ों बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होता है, वही ज्ञान के बिना अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने में शक्तिशाली नहीं बन पाता।

अतः हे वत्स! इसमें रिपुकम्पन का या अन्य प्राणियों का दोष नहीं है। वस्तुतः उनमें ज्ञान की अनुपस्थिति ही सच्चा दोष है, वही उन्हें कुमार्ग पर ले जाता है। नेत्रों में अज्ञान रूपी विकार होने से उस पर काम रूपी अन्धता का पर्दा पड़ा होने से लोग निश्चितरूप से शीघ्र ही मिथ्याभिमान के वश में हो जाते हैं। एक बार मिथ्याभिमान के वश में पड़ा नहीं कि व्यक्ति दूसरे लोगों के साथ बच्चों जैसी चेष्टाएं करने लगता है और अपने लिये अनेक प्रकार की विडम्बनाएं खड़ी कर लेता है। रिपुकम्पन का दृष्टांत तेरे समक्ष ही है। जिन प्राणियों की बुद्धि ज्ञान से पवित्र हो गई है, उन्हें तो पुत्र, राज्य या धन प्राप्त हो अथवा कोई आश्चर्यजनक स्थिति प्राप्त तब भी हो ऐसे पुण्यशाली मध्यस्थ बुद्धि वाले प्राणी के हृदय में यह मिथ्याभिमान रूपी आन्तरिक शत्रु तनिक भी स्थान प्राप्त नहीं कर सकता।

[२८-३३]

मामा-भाणजे बात कर ही रहे थे कि राजभवन के द्वार पर दो व्यक्ति आ पहुँचे। प्रकर्ष द्वारा इनके बारे में पूछे जाने पर विमर्श ने बताया कि मतिमोह के साथ शोक आया है। जिन्हें तुमने पहले तामसचित्त नगर में देखा है। [३४-३५]

इसी समय सूतिकागृह में से करुणाजनक कोलाहल उठा। दासियाँ हाहारव पूर्ण क्रन्दन करती हुई राजा के समक्ष आईं। प्रसन्नता की धमाचौकड़ी बन्द हो गई, वातावरण एकदम शान्त हो गया और राजा घबराकर बारम्बार पूछने लगा कि 'यह क्या हो रहा है?' दासी ने कहा—'रक्षा करो देव! बचाओ! महाराज! कुमार की आंखें एकदम स्थिर हो रही हैं, उनके प्राण कण्ठ तक आ गये हैं। देव! दौड़िये, शीघ्र कोई उपाय करिये।' दासी के वचन सुनकर राजा वज्राहत जैसा व्याकुल हो गया, फिर भी साहस धारण कर अपने पारिवारिक लोगों के साथ तत्क्षण सूतिकागृह में पहुँचा। वहाँ जाकर उसने देखा कि स्वयं के प्रतिरूप जैसा सुन्दर और अपने तेज से राजभवन को दीवारों को प्रकाशित करने वाला बालक शिथिल हो रहा है, उसके प्राण कण्ठ तक आ गये हैं, और लगता है कि उसका जीवन थोड़ा ही शेष रह गया है। नगर के सारे वैद्यों को तुरन्त बुलाया गया। मुख्य वैद्य को पूछा कि, 'क्या बीमारी है?' वैद्य ने कहा—'महाराज! कुमार को मरणान्तक कालज्वर आया है। जैसे प्रचण्ड पवन के झोंकों से कैसा भी दीपक हो वह झपाटे से बुझ जाता

❀ पृष्ठ ४०२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है वैसे ही हम दुर्भागी लोग देखते ही रह जायेंगे और यह सुकोमल पुष्प एक क्षण में सदा के लिये कुम्हला कर गिर जायगा।' राजा बोला—'अरे लोगों! सब अपनी-अपनी शक्ति का शीघ्र ही उपयोग करें। कोई भी कुमार को जीवन प्रदान करेगा उसे मैं अपना राज्य दे दूंगा, मैं उसका नौकर बनकर रहूँगा।' यह सुनकर सब लोगों ने आदरपूर्वक कई दवाइयाँ दी, मन्त्र जपे, मादलिये (गण्डे ताबीज) बांधे, रक्षा-मन्त्र लिखे, अनेक देवी-देवताओं का तर्पण किया, मानता मानी, विद्यापाठ किये, मण्डल बनाये, टोटके किये, देवी-देवताओं के जाप किये, यन्त्र बनाये, परन्तु इतनी सारे साधन एवं उपचार के पश्चात् भी * कुमार की मृत्यु थोड़ी देर बाद हो गई।

शोक से रिपुकम्पन का मरण

उसी समय शोक और मतिमोह ने मतिकलिता रानी, रिपुकम्पन राजा और उनके परिवार-जनों के शरीर में प्रवेश किया। इस कारण 'अरे! मैं मर गई, मेरी सारी आशाएं भंग हो गई, मैं लुट गई। अरे देव! मेरी रक्षा करो। मुझे बचाओ' इस प्रकार रोती बिलखती रानी कुमार को मृतक देखकर वज्राहत सी जमीन पर गिर गई और अत्यन्त विह्वल एवं व्याकुल हो गई। [१–२]

'अरे बच्चे! मेरे प्यारे पुत्र! मेरे लाड़ले!' पुकारते हुए रिपुकम्पन राजा भी मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ा और पुत्र शोक से दुःखी होकर तुरन्त अपने प्राणों का त्याग कर दिया। [३]

राजभवन में घोर हाहाकार, विलाप और आक्रन्दन होने लगा। लोगों की छाती कूटने की हृदयभेदी आवाजें आने लगीं। मतिकलिता और रतिललिता रानियों ने अपने केशकलाप (चोटियां) खोल दिये, भग्न किये हुए आभूषणों से सिर फोड़ने लगीं और सैकड़ों प्रकार से विलाप करने लगीं। मुंह में लार भर गई और दीन बनकर जमीन पर लोटने लगीं। सिर के बाल नोंचने लगी व जोर से हाहाकार करती हुई रोने लगीं। चारों और लोग भी करुण स्वर से हाहाकार करने लगे। [४–६]

विमर्श और प्रकर्ष की रहस्यमय विचारणा

यह देखकर विस्मित नेत्रों से प्रकर्ष बोला - मामा! अभी कुछ समय पूर्व तक तो ये लोग नाच-कूद रहे थे, पर अब नाच-कूद छोड़कर यह नये प्रकार का नाच कैसे शुरू कर दिया? [७–८]

विमर्श --भाई प्रकर्ष! अभी तूने राजभवन में शोक और मतिमोह को प्रवेश करते देखा है, उन्होंने अपनी शक्ति से ही यह सब नाटक रचा है। मैंने तुझे पहले भी बताया था कि इस नगर के लोग अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्र रूप से कोई भी कार्य नहीं कर सकते, पर उनमें रहे हुए अन्तरंग मनुष्य अपनी शक्ति से उनसे

* पृष्ठ ४०३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसा भी अच्छा-बुरा कार्य करवाते हैं, तदनुसार ये बेचारे करते हैं। पहले इस मिथ्याभिमान ने इन बेचारों से एक नाटक करवाया और अब शोक एवं मतिमोह इनसे दूसरा नाटक करवा रहे हैं, ये बेचारे क्या करें ?

जो प्राणी शुभ चेतना वाले, सद्ज्ञान से पूर्ण और पवित्र हैं ऐसे महात्मा पुरुषों को यह मतिमोह किसी भी प्रकार की विघ्न/बाधा नहीं पहुँचा सकता। ऐसे प्राणी तो पहले से ही वस्तु स्वभाव को जानते हैं। उन्हें तो यह विदित ही रहता है कि यह संसार-रचना क्षण भंगुर है. अन्त में नष्ट होने वाली है। प्रारम्भ से ही जिन्हें यह ज्ञान हो उनका यह शोक क्या बिगाड़ सकता है ? रिपुकम्पन पुत्र-शोक से इसी लिये मरा कि मतिमोह से प्रभाव से वह पुत्र में अत्यन्त आसक्त हो गया था। अब शोक इन सभी लोगों से करुण विलाप करवा रहा है। [९-१५]

प्रकर्ष—मामा इस नृप-मन्दिर में क्षणमात्र में इतना आश्चर्योत्पादक उलट फेर हो गया। थोड़ी देर पहले जहाँ हर्ष था, वहाँ विलाप होने लगा। ऐसा आज ही हुआ है या कभी कभी होता ही रहता है ?

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! इस संसार चक्र में ऐसी घटनाएं असम्भव या अशक्य नहीं है। *यह नगर तो ऐसी एक दूसरे से विपरीत एवं विचित्र घटना-चक्रों से भरा हुआ ही है। अब यहाँ राजा और उसके पुत्र को दाह-संस्कार के लिये ले जाने की पुकार होगी। लोग छाती पीट-पीट कर दारुण एवं भीषण क्रन्दन करेंगे। शोक प्रदर्शित करने वाले काले झण्डे चारों तरफ लगाये जायेंगे। हृदयभेदी मृत्यु-सूचक विषम बाजे बजेंगे। ऐसी हृदयविदारक रीतियाँ यहाँ होगी। हे वत्स ! हृदय को अत्यन्त उद्विग्न करने वाली ऐसी रीतियाँ लोगों को अत्यन्त सन्तप्त करती हैं। अतः मृतक को राजमन्दिर के बाहर ले जाने से पहले ही हमें यहाँ से चल देना चाहिये। ऐसे हृदयभेदक दृश्य को हमें नहीं देखना चाहिये।

परदुःखं कृपावन्तः सन्तो नोद्वीक्षितुं क्षमाः।

सन्त लोग दयालु दृष्टि वाले होते हैं, वे दूसरों के दुःख को देखने में समर्थ नहीं होते।

इस प्रकार विचार करते हुए प्रकर्ष और विमर्श राजभवन से बाहर निकल कर बाजार में आ गये। रिपुकम्पन को मरा हुआ जान कर सूर्य भी उस समय मलिनता धारण कर पश्चिम समुद्र में स्नान करने चला गया/अस्त हो गया।[१६-२३]

❀

* पृष्ट ४०४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२४. महेश्वर और धनगर्व

सन्ध्या वर्णन

सूर्यास्त हो जाने के कारण अन्धकार से सारा संसार काली स्याही जैसा काला हो गया था। दीपक जल गये थे। गाय भैंसे वापस अपने घर लौट चुकी थीं। पक्षी अपने घोसलों में आकर बैठ गये थे। वैताल भयंकर रूप धारण कर रहे थे। उल्लू विचरण करने लगे थे। कौए शान्त हो गये थे। सूर्यमुखी कमल बन्द हो गये थे। ब्रह्मचारी मुनिगण अपनी-अपनी आवश्यक क्रियाओं में संलग्न हो गये थे। अपनी प्यारी चकवी के विरह से चकवा रोने लगा था। विषय-लम्पट लोग उल्लसित होने लगे थे और कामिनियाँ मन में मुस्कराने लगी थीं। ऐसे प्रदोष (संध्या) कालीन समय में लोगों के मन आनन्दित होने लगे थे। उसी समय मामा-भाणजे ने महेश्वर नामक एक सेठ को अपनी दुकान पर बैठे देखा। [२४–२८]

महेश्वर का गर्व

सेठजी दुकान में बिछी एक मोटी गद्दी पर तकिये के सहारे आराम से बैठे थे। उनके आस-पास अनेक नम्र, विनया और विचक्षण वणिकपुत्र (व्यापारी) बैठे थे। सेठजी के सामने माणक, हीरे, नीलम, वैडूर्य, प्रवाल आदि रत्नों के ढेर पड़े थे, जो अपनी चमक से आस-पास के अन्धकार का भी नाश कर रहे थे। सेठजी के ठीक सामने सोने की मोहरें, सिल्लियां, चांदी, रुपये आदि के ढेर लगे थे। इन सब को देखकर सेठ मन में मुस्करा रहा था और गर्व से फूल रहा था। यह देखकर मामा-भाणेज बात करने लगे :—

प्रकर्ष—मामा ! यह महेश्वर सेठ अपनी भौंहें चढ़ाकर दृष्टि को एकटक निश्चल कर क्या देख रहा है? इसके सामने कुछ व्यक्ति आदर/बहुमान पूर्वक कुछ याचना सी करते दिखाई दे रहे हैं, फिर भी यह भाई बहरा बनकर कुछ ध्यान ही नहीं दे रहा है। बेचारे आदरपूर्वक विनय से उसकी तरफ देखकर बोल रहे हैं, पर यह भाई उनकी तरफ आँख उठाकर भी नहीं देखता, इसका क्या कारण है? कुछ लोग तो बेचारे अत्यन्त नम्रता पूर्वक हाथ जोड़कर इसके समक्ष खड़े हैं, कुछ उसकी चापलूसी कर रहे हैं, मगर यह उनकी तरफ देखता भी नहीं और उन्हें तृणतुल्य रंक जैसा समझता है, इसका क्या कारण है? यह सेठ रत्नों को बार-बार देखता है, मन में कुछ ध्यान करता है, निस्तब्ध हो जाता है, फिर पूरा शरीर रोमांचित होता है और मन में मुस्कराता सा दिखाई देता है, इसका क्या कारण है? यह बताइये। [२९–३५]

धनगर्व

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! सुनो, हमने अभी राजमन्दिर में मिथ्याभिमान को देखा था, उसी का एक अंगभूत मित्र धनगर्व है। इस धनगर्व ने अभी इस सेठ के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर में प्रवेश कर लिया है। जिन प्राणियों में धनगर्व प्रविष्ट हो जाता है, उन सभी की यही स्थिति हो जाती है। यह सेठ अभी ऐसा मान बैठा है कि * ये हीरे माणक आदि रत्न सब उसी के हैं और वह ही उसका स्वामी है, अतः वह बहुत ही कृत-कृत्य है, भाग्यशाली है। वह ऐसा समझता है कि उसे इस जन्म का सचमुच बड़ा फल (लाभ) प्राप्त हुआ है और उसका जन्म सफल हो गया है। वह अपने समक्ष सारे संसार को रंक समझता है। ऐसे विचाररूपी विकारों के अधीन यह भाई सर्वदा आकाश में ही उड़ता रहता है। धन का स्वरूप कैसा अस्थिर है, इसका इसे तनिक भी ज्ञान नहीं है। धन का अन्तिम परिणाम क्या होता है, इस पर यह किंचित् भी विचार नहीं करता। भविष्य में क्या होगा, इसकी इसे नाममात्र भी चिन्ता नहीं है। वस्तुतत्त्व क्या है, इसका पर्यालोचन नहीं करता। प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, नाशवान है, इसका चिन्तन नहीं करता।

प्रकर्ष—रागकेसरी के जो आठ बालक मैंने देखे थे, उनमें से यह पांचवां (अनन्तानुबन्धी मान या लोभ) इस सेठ के बिलकुल समीप ही बैठा हो ऐसा लगता है।

विमर्श—ठीक है, वही है। रागकेसरी का यह पांचवाँ लड़का ही यहाँ आया हुआ है। अब आगे क्या होता है यह ध्यानपूर्वक देखना।

मान एवं लोभाभिभूत महेश्वर सेठ

मामा-भाणेज दूर खड़े-खड़े देख रहे थे, इतने में ही कोई एक भुजंग (गणिकापति) आया और महेश्वर के पास बैठा। बैठकर सेठ से बोला कि वह एकांत में कुछ विशेष बात करना चाहता है। सेठ उसके साथ एकान्त के कमरे में गया तब उसने एक महा मूल्यवान मुकुट सेठ को दिखाया। यह मुकुट हीरे रत्न जटित था और अन्धेरे में भी अपनी चमक से दिशाओं को प्रकाशित कर रहा था। सेठ ने इस राजसेवक को तुरन्त पहचान लिया। अरे! यह तो हेमपुर नगर के राजा विभीषण का सैनिक वेश्यापति दुष्टशील है। विचक्षण सेठ मन में समझ गया कि यह चोर अवश्य ही मुकुट चुराकर लाया होगा। इसी समय रागकेसरी का वह लड़का सेठ के शरीर में प्रविष्ट हो गया। उसके प्रताप से सेठ ने सोचा कि यह मुकुट चोरी का हो या कैसा भी हो, उससे उसको क्या मतलब? उसे तो यह मुकुट किसी भी प्रकार से हस्तगत करना चाहिये।

सेठ ने अपने विचार को तत्क्षण ही कार्यरूप में परिणत करने का निर्णय कर लिया और उसने दुष्टशील से कहा—'हाँ, भाई! बोलो, क्या कहना है?' गणिकापति ने कहा—'इसका उचित मूल्य देकर आप इसे ले लीजिये।' सेठ मन में प्रसन्न हुआ और साधारण मूल्य पर दुष्टशील को राजी कर लिया। दुष्टशील भी जो मिला वह रोकड़ी लेकर वहाँ से वेग के साथ पलायन कर गया।

---

* पृष्ठ ४०५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुष्टशील के जाते ही तत्काल उसके पैरों के चिह्नों को गुप्तचरों के साथ ढूंढते हुए विभीषण राजा के राज-कर्मचारी वहाँ पहुँच गये। जांच करने पर उन्हें किसी भी प्रकार से पता लग गया कि महेश्वर सेठ ने मुकुट को खरीद लिया है। उन्होंने चोरी के माल सहित सेठ को पकड़ा और पंचों के समक्ष साक्षियां तैयार कर सेठ को माल सहित गिरफ्तार कर लिया।

सेठ के पास जो हीरे माणक आदि रत्नों के ढेर लगे थे उन पर भी राज-सेवकों ने क्षण मात्र में अधिकार कर लिया। सेठ रोता-चिल्लाता रहा किन्तु राज-सेवकों ने उसे बांध दिया, अर्थात् बेड़ियां पहना दीं। नौकर, व्यापारी और रिश्तेदार तथा आसपास के सभी लोग घबराकर सेठ का साथ छोड़ गये। (सच ही है, स्वार्थी मित्र और रिश्तेदार विपत्ति आने पर साथ छोड़ भागते हैं।) धन, मित्र एवं रिश्तेदारों से रहित सेठ महेश्वर के गले में चोरी का माल लटकाया गया, फिर गधे पर बिठाकर, सारे शरीर पर राख पोतकर, चोर जैसी आकृति (शक्ल) बनाकर उसको नगर में घुमाया। लोग सेठ की निन्दा करने लगे, 'राजा की भी चोरी करने वाला यह तो डाकू निकला।' निन्दा की आवाजों से चारों दिशायें भर गईं। राजा के कर्मचारी उसकी लात-घूंसों और लाठी से खबर लेने लगे। सेठ का मुंह रंक जैसा हो गया था और उसकी सभी आशायें भंग हो गई थीं। महेश्वर सेठ की ऐसी अत्यन्त शोचनीय एवं दयनीय दशा देखकर प्रकर्ष ने अपने मामा से पूछा—'मामा यह अद्भुत घटना देखी? क्या यह इन्द्रजाल है, स्वप्न है, कोई जादू है, या मेरी बुद्धि का भ्रम है? जो एक क्षण मात्र में सेठ की * शानो-शौकत, धन-दौलत, चापलूस, सगे-संबंधी सब चले गये। सारे लोग ही जैसे बदल गये। इसका तेज, अभिमान और पुरुषत्व सब समाप्त हो गया। [१–८]

धनस्वरूप पर विमर्श के विचार

विमर्श ने कहा वत्स! तूने जो कुछ देखा वह सब सत्य है, इसमें तेरी बुद्धि का भ्रम नहीं है। इसीलिये बुद्धिमान पुरुष धन का तनिक भी गर्व नहीं करते। यह धन ग्रीष्म ऋतु की गर्मी से तप्त पक्षी के कण्ठ जैसा चञ्चल है। ग्रीष्म की गर्मी से आक्रान्त सिंह की जीभ जैसा अस्थिर है। इन्द्रजाल की भांति अनेक प्रकार के अद्भुत विभ्रम उत्पन्न कर मन को नचाने वाला है। यह लक्ष्मी पानी के बुलबुले की भांति क्षण भर में नष्ट होने वाली है। इस सेठ में अप्रामाणिकता और अविवेक का इतना प्रबल दोष था कि उसके कारण वह अपने सन्मान और समग्र धन को क्षण भर में गवा बैठा। हे वत्स! धन तो ऐसी वस्तु है कि जो प्राणी किसी प्रकार का दोष नहीं करते उनके पास से भी चला जाता है और उल्टे भय का कारण बन जाता है। जो फूंक-फूंक कर जमीन पर पैर रखते हैं, उनके पास से भी धन क्षण भर में नष्ट हो जाता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। धन के दोष से धनवान प्राणी

* पृष्ठ ४०६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाढ़ से डरते हैं, अग्नि से भय खाते हैं, डाकुओं से भयभीत रहते हैं, राजा द्वारा लूटे जाने से आशंकित रहते हैं, भाइयों और रिश्तेदारों द्वारा हिस्सा पड़वाने की पंचायत से उद्विग्न रहते हैं और चोर द्वारा चुराये जाने के भय से त्रस्त रहते हैं। इस प्रकार धन से अनेक प्रकार की व्याधियां आती हैं और अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। हे वत्स! जैसे पवन के एक प्रखर झपाटे से बहुत से एकत्रित बादल बिखर जाते हैं वैसे ही जब धन जाने लगता है। [६–१६] तब न तो वह धनवान के रूप को देखता है, न उसके साथ के लम्बे काल के सम्बन्ध और पहचान की अपेक्षा रखता है, न उसकी कुलीनता को देखता है, न कुलक्रम का अनुसरण करता है, न शील, पांडित्य, सुन्दरता, धर्म-परायणता, दानशीलता, उपकार-वृत्ति या कर्त्तव्य-परायणता का ही विचार करता है। उसके ज्ञान, सदाचार, सुन्दर व्यवहार, चिर स्नेहभाव और सत्त्व पराक्रम को भी वह स्वीकार नहीं करता। प्राणी के शरीर के लक्षण कितने उत्तम हैं, इसकी भी वह पहचान नहीं करता। अधिक क्या? आकाश में दिखने वाले नगर, मनुष्य, हाथी, घोड़े आदि जैसे क्षण भर में छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, वैसे ही धन लुप्त हो जाता है। वह कहाँ गया और कितने थोड़े समय में गया, इसका पता ही नहीं लगता। संसारी प्राणी घोर क्लेश/कष्ट सहन कर धन एकत्रित करता है और अपने प्राणों की तरह उसका रक्षण करता है, फिर भी जब वह जाने लगता है तब देखते-देखते ऐसे चला जाता है जैसे मञ्च पर नृत्य करता नर्तक नाचते-नाचते एकाएक अदृश्य हो जाता है। तथापि हे भद्र! महामोहग्रसित बेचारे क्षुद्र प्राणी इस धन की चिन्ता और आशा से आबद्ध होकर, इस महेश्वर सेठ की भांति धन के झूठे गर्व में पड़कर सैकड़ों प्रकार के विकारों में फंस जाते हैं और उनका चित्त विह्वल एवं व्यथित हो जाता है। भाई! इस जन्म में धन से ऐसा ही भयावह परिणाम प्राप्त होता है और परलोक में तो इससे भी महाभयंकर दुःख-परम्परा प्राप्त होती है, ऐसा समझना चाहिये। [१–५]

प्रकर्ष – मामा! मुझे बताओ कि धन एक ही स्थान पर निश्चल होकर रह सके, इसका विपाक (परिणाम) शुभ हो और इसका फल भी कल्याणकारी हो, इसका भी कोई उपाय इस विश्व में है या नहीं?

विमर्श—वत्स! * इस संसार में ऐसा उपाय सम्भव तो अवश्य है, पर वह विरले भाग्यशाली को ही प्राप्त होता है। इसे पुण्यानुबन्धी पुण्य कहते हैं। पुण्य अर्थात् शुभ का अनुभव, ऐसे अनुभव के समय फिर से पुण्य का बन्ध हो, पुण्य का संचय हो उसे पुण्यानुबन्धी पुण्य कहते हैं। ऐसा पुण्य धन को बढ़ाता है, स्थिर करता है, और धन न हो तो प्राप्त करवाता है। परन्तु इस प्रकार का पुण्य अत्यन्त ही दुर्लभ है। (अधिकांश प्राणियों को पापानुबन्धी पुण्य ही होता है यह ध्यान में रखना।) प्राणियों पर दया, संसार से वैराग्य (विरक्ति), विधिपूर्वक देव-गुरु की

* पृष्ठ ४०७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूजा और विशुद्धशील में वृत्ति, इन्हीं से पुण्यानुबन्धी पुण्य एकत्रित होता है। किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का त्रास नहीं देने से, अन्य प्राणियों पर अधिकाधिक कृपा (करुणा) करने से और अपने मन का दमन करने से भी पुण्यानुबन्धी पुण्य एकत्रित होता है। जिन प्राणियों ने पूर्व-भव में ऐसा पुण्य उपार्जित किया हो अथवा इस भव में ऐसा पुण्य कमाया हो, उनके पास आया हुआ धन मेरु पर्वत के शिखर के समान स्थिर रहता है। ऐसे पुण्यशाली महात्मा प्राणी अपने पुण्यानुबन्धी पुण्य के फलस्वरूप जो धन प्राप्त करते हैं, उसे वे बाह्य (अपने से भिन्न), तुच्छ, मल जैसा और क्षण भर में नाशवान/अस्थिर समझकर उसका शुभ स्थानों और शुभ कार्यों में व्यय करते हैं और स्वयं उसका भली प्रकार उपयोग करते हैं, परन्तु वे मनीषी धन में तनिक भी आसक्त नहीं होते। अर्थात् न तो वे धन के ढेर देखकर प्रसन्न होते हैं और न उसे संचित करने में पागल ही बनते हैं। जिनका जन्म भी शुभ (पवित्र) माना जाता है ऐसे पुण्यशाली विशुद्ध बुद्धि वाले प्राणियों के सम्बन्ध में यह धन, धन के शुभ (अच्छे) परिणाम ही प्रदान करता है। अन्य क्षुद्र मनुष्य जो ऐसे बाह्य निन्दनीय, अनर्थकारी धन पर मूर्च्छित रहते हैं, आसक्ति रखते हैं, उसको पकड़कर बैठते हैं, वे उसका दान भी नहीं कर सकते और उसका उपभोग भी नहीं कर सकते। ऐसे क्षुद्र प्राणी इस भव में अत्यधिक चित्त-सन्ताप प्राप्त करते हैं और परभव में घोर अनर्थ-परम्परा को प्राप्त करते हैं। हे भद्र! इसमें क्या नवीनता है? क्या आश्चर्य है? संक्षेप में सारांश यह है कि तत्त्व-रहस्य को समझने वाले बुद्धिमान पुरुष धन होने पर भी उस पर आसक्त नहीं होते, उसका अभिमान नहीं करते, अपितु शुभ कार्यों में व्यय करते हैं और स्वयं उसका उपभोग करते हैं। जो प्राणी न तो दान करता है और न उसका उपभोग करता है वह तो बेचारा व्यर्थ परिश्रम करने वाला बिना पैसे का नौकर है जो अन्त में पछताता है। जो प्राणी इस वस्तु-स्थिति को जानता है वह पैसा प्राप्त करने में लुब्धता और अनीति की गन्ध भी नहीं आने देता। यदि चोरी या अप्रामाणिकता से धन प्राप्त करने की इच्छा होती है तो समझ लेना चाहिये कि उसका कष्टदायक परिणाम वैसा ही प्राप्त होगा जैसा इस महेश्वर सेठ को प्राप्त हुआ। [६-२०]

❋

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५. रमण और मणिका

बुद्धिपुत्र प्रकर्ष अपने मामा के साथ धन के तत्त्वज्ञान पर विचार कर रहा था तभी एक विशेष आकर्षक घटना घटी। मामा-भाणजे ने देखा कि एक अत्यन्त दुर्बल, अशक्त और मलिन शरीर वाला तरुण मनुष्य जीर्ण-शीर्ण कपड़े पहने हुए कहीं से निकल कर बाजार में आ रहा है। एक दुकान पर उसने गांठ में से कुछ रुपये निकाल कर बाजार से थोड़े लड्डू, एक पुष्पहार, थोड़े पान, कुछ सुगन्धित पदार्थ और दो कपड़े खरीदे। फिर बाजार के पास की ही एक बावड़ी की सीढ़ी पर बैठकर खरीद कर लाये हुए लड्डू खाये, पान चबाया। पेट भरने के पश्चात् उसने स्नान किया, शरीर पर सुगन्धित तेल लगाया, सिर पर पुष्पहार का मुकुट बनाकर पहना, सुगन्धित पदार्थों से शरीर को सुवासित किया, नवीन वस्त्र पहने और महाराजा की भांति आडम्बर पूर्वक वहां से चला। चलते-चलते वह बार-बार अभिमान पूर्वक अपने शरीर को देखता जाता, बाल ठीक करता, आमोट (पुष्प-मुकुट) को संभालता और गहरी सांस लेकर इत्र की सुगन्ध को सूंघकर प्रसन्न होता जाता। [२१-२६]

रमण

भिखारी जैसे व्यक्ति को रसिक बनते देखकर प्रकर्ष ने पूछा—मामा! यह युवक कौन है? * कहाँ जाने के लिये निकला है और क्यों ऐसे विकार प्रदर्शित कर रहा है? [२७]

विमर्श—भाई! इसकी कहानी तो बहुत लम्बी है। पर संक्षेप में विशेष बात तुझे बताता हूँ, (तू ध्यानपूर्वक सुन।)

यह इस नगर के निवासी समुद्रदत्त नामक सेठ का पुत्र रमण है। यह तरुण है, अत्यधिक भोगासक्त है, बचपन से ही वेश्या के फंदे में ऐसा फंसा हुआ है कि इसे वेश्या के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही नहीं देता। इस समुद्रदत्त का घर धन, धान्य, स्वर्ण, रत्न आदि वैभवों से परिपूर्ण कुबेर के खजाने जैसा था जिसे इस रमण ने वेश्या के फंदे में फंसकर मिट्टी में मिला दिया है। यहाँ तक कि अब इसे स्वयं के लिये रोटियों के भी लाले पड़ गये हैं। यह पापी अब निर्धन हो गया है, जीर्ण-शीर्ण वस्त्र वाला हो गया है, दूसरे की नौकरी कर रहा है, लोगों की नजरों में तुच्छ हो गया है और अपने कर्म के परिणाम स्वरूप महा दुःखी हो रहा है। नौकरी करते हुए आज इसे कहीं से अनायास पैसा प्राप्त हो गया है, अतः व्यसन ने फिर इस पर अपना आधिपत्य जमाया है। हे वत्स! इसके बाद इसने कैसे बहुरूपिये की भांति अपना रूप बदला, यह तो तूं ने देखा ही है, इस सम्बन्ध में मुझे कहने की आवश्यकता ही

---

* पृष्ठ ४०८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्या है ? इस नगर में एक मदनमंजरी नामक प्रसिद्ध वेश्या है जिसके कुन्दकलिका नामक लड़की है जो रूपवती और यौवनमद से आपूरित है। कुन्दकलिका में आसक्त होकर इस रमण ने अपना सब धन खोया और जब यह धन-रहित हो गया तो गणिका मदनमंजरी ने उसे घर से बाहर निकाल दिया। रमण अब भी कुन्दकलिका के साथ भोगे गये भोग को भूल नहीं सका है। न करने योग्य दूसरों का काम करके कहीं से आज इसे जैसे ही थोड़े रुपये मिले कि यह उन रुपयों को लेकर अपनी विषय-वासना को तृप्त करने कुन्दकलिका के घर की तरफ निकल पड़ा है। अपने को रूप-वान बनाने के लिये इसने वहाँ जाने के पहले यह सब टीप-टॉप, साज-सज्जा की है। (चलो हम इसके पीछे चलें)। [२८-३८]

मकरध्वज का प्रभाव

इसी समय एक पुरुष अपने अनुचरों के साथ दूर से आता हुआ और अपने तरकस में से भयंकर तीर निकाल कर खींच खींच कर मारता हुआ दिखाई दिया। इसका सुन्दर स्वरूप देखकर प्रकर्ष ने पूछा—'अरे मामा ! मामा !! देखिये तो वह पुरुष दूर से ही इस रमण को प्रबल वेग से तीर मार रहा है, आप इसे रोकिये ना।' विमर्श ने कहा—'भाई ! यह तो मकरध्वज है और अपने मित्र मय के साथ रात्रि में आनन्द से नगरचर्या देखने निकल पड़ा है। सम्पूर्ण नगर में कौन उसकी आज्ञा का पालन करता है और कौन उसके विरुद्ध है कौन क्या कहता है, कैसा वेष धारण करता है और मन में क्या सोचता है, इस सब की वह परीक्षा करता है। हे वत्स ! यही मकरध्वज अपनी शक्ति से काम-बाण-विद्ध बनाकर इस पामर रमण को वेश्या के घर ले जा रहा है। हम उसे नहीं रोक सकते क्योंकि यह तो उसका कर्त्तव्य है। रमण इस समय अपने मन में जिस तीव्र विषयाभिलाषा का अनुभव कर रहा है, उसका कारण यह मकरध्वज ही है। अब इसकी क्या दशा होती है, यह देखना है। चलो, यह कौतुक देखें। [३९-४४]

कुन्दकलिका का बाह्यान्तर रूप

बात करते-करते मामा-भाणजे वेश्या के घर की तरफ गये। वहाँ उन्होंने दरवाजे के पास ही ठाठ-बाट से बैठी हुई अति-चर्चित कुन्दकलिका को देखा। उसे देखकर विमर्श ने अपना नाक चढ़ाया, मुंह से थूंका, गर्दन हिलाई और मुँह बिगाड़ कर दूसरी तरफ फेर लिया। * मामा को व्याकुल देखकर और उनके मुँह से हाय-हाय शब्दों के उच्चारण को सुनकर प्रकर्ष ने मामा से उद्वेग का कारण पूछा—'मामा ! आपको एकाएक ऐसा क्या बुरा लगा कि आपकी मुखाकृति में अचानक परिवर्तन हो गया ?' विमर्श ने कहा—'भाई ! यह स्वरूपवती वेश्या सुन्दर वस्त्राभूषण और पुष्पहारों से सुशोभित होने पर भी अशुचि की कोठी (खजाना) है, क्या तू यह नहीं देख सकता ? मुझे तो इसमें से इतनी दुर्गन्ध आ रही है कि मैं उसे सहन

* पृष्ठ ४०९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही नहीं कर सकता। अतः हमें इससे दूर ऐसे स्थान पर खड़े होना चाहिये जहाँ इसके शरीर की दुर्गन्ध न आती हो, पर जहाँ से यहाँ घटित होने वाली घटना आकुलता रहित होकर दिखाई दे सकती हो। साधारण अशुचि की कोठी (पात्र) तो छिद्ररहित भी हो सकती है, पर यह तो निरन्तर नौ द्वारों से अशुचि बाहर निकालती ही रहती है। अतः इसके निकट तो मैं एक क्षण भी खड़ा नहीं रह सकता। इस दुर्गन्ध से मेरा तो सिर भिन्ना जाता है। [४५-५१]

प्रकर्ष आपकी बात तो सत्य ही है, इसमें कोई संशय नहीं है। यह दुर्गन्ध इतना बुरा प्रभाव डाल रही है कि मेरी नाक में भी भर गई है और मुझे भी घबराहट हो रही है। चलिये, थोड़े दूर खड़े हो जायें। [५२]

दोनों वहाँ से कुछ दूर हट गये और जहाँ से सब दृश्य बराबर दिखाई दे सके ऐसे स्थान पर जाकर खड़े हो गये।

रमण वेश्या के घर में

उसी समय रमण वेश्या के घर आ पहुँचा। उसके पीछे-पीछे हाथ में खिंचा हुआ तीर कमान लेकर मकरध्वज अपने मित्र भय के साथ आ रहा था और कभी-कभी अपने तीरों से उस पर वार भी कर रहा था। महल के द्वार पर ही रमण ने कुन्दकलिका को देखा। उसे देखते ही रमण को इतना अधिक हर्ष हुआ मानो उसे नवजीवन प्राप्त हो गया हो, मानो उसके सम्पूर्ण शरीर पर अमृत-सिंचन हो रहा हो, मानो उसे हीरे माणक का रत्न भण्डार मिल गया हो या उसका किसी बड़े राज्य की राजगद्दी पर राज्याभिषेक हो गया हो। उसी समय मदनमञ्जरी घर से बाहर निकली। उसने रमण को घर के द्वार पर खड़ा देखा। वह समझ गई कि आज इसके पास कहीं से कुछ पैसे आये हैं। उसने इशारे से अपनी जवान पुत्री को समझाया कि आज रमण आया है जिसे लूटना है। संकेत होते ही कुन्दकलिका ने ऊपरी हाव-भाव से अपनी सुन्दरता का प्रदर्शन करते हुए प्रेम-दृष्टि से रमण की तरफ देखा जिससे वह निहाल हो गया। अवसर देखकर मकरध्वज ने भी इसी समय एक तीर अपने कान तक खींचकर वेग से रमण पर चलाया जिससे उसका हृदय आर-पार काम-विद्ध हो गया और उसने कुन्दकलिका को अपनी भुजाओं में ले लिया तथा उसे लेकर उसके महल में प्रविष्ट हुआ। वृद्धा मदनमञ्जरी उस समय वहाँ आ पहुँची और उसने रमण से रुपये और अन्य सभी वस्तुएं ले लीं। उसके कपड़े भी उतरवा लिये और उसे एकदम नंगा कर दिया, फिर बोली—लड़के! यह तो तूने बहुत अच्छा किया कि तू यहाँ आ गया। कुन्दकलिका तुझे बार-बार याद करती थी, पर देख अपने राजा का पुत्र चण्ड भी अभी यहीं आने वाला है, अतः थोड़ी देर के लिये तू कहीं छिप जा। यदि वह तुझे यहाँ देख लेगा तो बहुत क्रोधित होगा और सम्भव है क्रोधित होकर तुझे मार भी दे।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रमण की मृत्यु

इस बात को सुनते ही भय ने रमण के शरीर में प्रवेश कर लिया। इसी समय वेश्या के द्वार पर चण्ड आ पहुँचा। चण्ड के आने से वेश्या के महल में प्रसन्नता का कलरव हुआ। उसे आया जानकर भय ने अपना अधिक प्रभाव जमाया। रमण थर-थर कांपने लगा, भयभीत हुआ और घबरा गया। अचानक चण्ड महल में आ पहुँचा। रमण को देखते ही वह क्रोधित हुआ और तलवार खींचकर * उसे द्वन्द्व युद्ध के लिये ललकारा। बेचारा रमण दीन, निर्लज्ज और नपुंसक जैसा हो गया। भय से घबराकर अपनी अंगुलियाँ मुँह में ठूंसते हुए उसने चण्ड को अष्टांग प्रणाम कर जमीन पर लेट गया। 'अरे प्रभो! मेरी रक्षा करें! मेरी रक्षा करें!' कहते हुए उसकी आँखों में से आंसू निकल आये। चण्ड को दया आ गई, इसलिये उसने उसे जान से तो नहीं मारा किन्तु उसकी चोटी, नाक और कान काट लिये, दाँत तोड़ दिये, नीचे का होठ फाड़ दिया, दोनों गाल काट दिये और एक आँख फोड़ दी तथा लात मारकर धक्के देकर उसे महल से बाहर निकाल दिया। उसकी बुरी दशा देखकर मदनमञ्जरी और कुन्दकलिका तालियाँ बजा-बजा कर खिलखिलाकर हँसने लगीं। वे दोनों मधुर वचनों से चण्ड की चापलूसी कर रही थीं जिससे वह अधिकाधिक उनकी ओर आकर्षित हो रहा था। रमण जर्जरित होकर कठिनता से बाहर निकला उसका पूरा शरीर मार से टूट रहा था। बाहर राजसेवकों ने उसे मारा। इस प्रकार मार-पिटाई के नारकीय दुःख सहते हुए वह (उसी रात) मर गया।

गणिका-व्यसन का दुष्परिणाम

प्रकर्ष आह! मामा। यह तो बहुत अद्भुत घटना घटी। अहो! मकरध्वज की शक्ति सचमुच ही आश्चर्यजनक है। अहो! भय का विलास भी ऐसा ही शक्तिशाली है। अहो! उस वृद्धा कुट्टनी मदनमञ्जरी का प्रपञ्च भी बड़ा गजब का है। अहो! सचमुच ही रमण का चरित्र तो अत्यन्त ही करुणाजनक और हास्योत्पादक नाटक जैसा लगता है।

विमर्श -- वत्स! अन्य जो भी मानव वेश्या के व्यसन में आसक्त होते हैं, उन सभी की ऐसी ही दुर्गति होती है, इसमें कुछ भी संशय नहीं। वेश्या के सुन्दर वस्त्र, आकर्षक आभूषण ताम्बूल, सुगन्धित द्रव्य, सुवासित पुष्पहार और मादक विलेपन की सुगन्धी से बेचारे लोगों का इन्द्रियाँ ऐसी कुण्ठित हो जाती हैं कि वेश्या प्राकृतिक अशुचि से भरी हुई है और अनिच्छनीय अपवित्र पदार्थों की थैली है, इसका उन्हें स्मरण ही नहीं रहता। ऐसे मूर्ख लोग जीती-जागती विष्ठा की कोठी का आलिंगन कर, कठिनाई से प्राप्त धन का नाश दुरुपयोग करते हैं, अपने कुल को कलंकित करते हैं, और भिखारी जैसे हो जाते हैं। अत्यन्त दयनीय अवस्था को प्राप्त हो जाने पर भी एक बार वेश्या के फंदे में पड़ने के पश्चात् वे उसकी आसक्ति

* पृष्ठ ४१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को छोड़ नहीं सकते। फिर वेश्या-व्यसन में फंसे लोग ऐसे अनेक प्रकार के नाटक करते हैं और असह्य दुःख प्राप्त करते हैं। वत्स ! इसमें आश्चर्य क्या है ? भाई ! जब कुलवती स्त्रियाँ भी स्वभाव से ही चञ्चल चित्त वाली होती हैं तब गणिका जैसी कुलटा स्त्रियों का तो कहना ही क्या ? वे यदि एक को छोड़ कर दूसरे का साथ करें तो इसमें आश्चर्यजनक प्रश्न ही क्या ? जब कुलवती स्त्रियाँ भी माया की छाब और गुप्त कपट करने वाली होती हैं तब अनुभवी गणिकाओं की माया/कपट की तो बात ही क्या ? जब अन्य कुलवान स्त्रियाँ भी स्नेह को तिलांजलि दे देती हैं तब वेश्या के स्नेह पर विश्वास करने वाले को तो मूर्खशिरोमणि ही कहा जा सकता है। एक को अमुक समय मिलने का संकेत करती है, उसी समय दूसरे को प्रेम से देखती है. उसी वक्त घर में तीसरा व्यक्ति उपस्थित रहता है। अपने मन में किसी अन्य की लगन लगी होती है और किसी अन्य को अपने पास में बुलाती है, ऐसा वेश्या का चरित्र है। जब तक उसका स्वार्थ सधता है तब तक अनेक प्रकार की चापलूसी करती है, मधुर वचन बोलती है, प्रेम प्रदर्शित करती है, पर जैसे ही उसका धनरूपी रस नष्ट हो जाता है वैसे ही लाक्षा का रस चू जाने पर अलता के समान छोड़ देती है, अर्थात् चूसे हुए आम की गुठली की तरह उसे निकाल फेंकती है। वेश्या तो सार्वजनिक शौचालय जैसी है। जो उस पर * आसक्त होते हैं वे मनुष्य नहीं श्वान हैं। जो पापी लोग वेश्या-व्यसन में आसक्त होते हैं उनकी दशा अत्यन्त दयनीय हो जाती है। [१-१२]

प्रकर्ष - मामा ! आपका कथन पूर्ण सत्य है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

❀

२६. विवेक पर्वत से अवलोकन

विमर्श और प्रकर्ष ने रात्रि का शेष भाग किसी मन्दिर में बिताया। जैसे बीमार बालिका पीली तेजहीन और केश-विहीन हो जाती है उसी प्रकार उस समय आकाश की शोभा पीली पड़ गयी, तारे छिपने लगे और अन्धकार नष्ट होने लगा। आकाश-लक्ष्मी की शोभा को पुनः स्थापित करने के लिये करुणापूर्वक सूर्य वैद्य बनकर पहुँच गया। उषा काल का आकाश अब फिर रक्तिम आभा से चमक उठा। आकाश लाल मेघमाला से सुशोभित हो गया। चन्द्रमा कांतिहीन हो गया। चोर छिप गये, मुर्गे बांग देने लगे, उल्लू चुप हो गये, गिलहरियें जोर-जोर से बोलने लगीं और जगत्-लक्ष्मी के आरोग्य की कामना से सब लोग अपने दैनिक कार्यों एवं धर्म-कार्यों में उद्यत होने लगे। आकाश-लक्ष्मी की शोभा-महत्ता में वृद्धि होने के कुछ देर

* पृष्ठ ४११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाद सूर्य उदय हुआ, कमल विकसित हुए, चकवों का वियोग काल पूरा हुआ और धर्म-परायण लोग प्रभु का नाम स्मरण करने लगे। [१-६]

विवेक पर्वत पर

ऐसे शांत प्रभात के समय में मामा प्रकर्ष से बोला—भाई! तुझे तो नये-नये कौतुक देखने की बहुत अभिलाषा है और यह भवचक्र नगर तो बहुत बड़ा है जहाँ नित्य नयी-नयी घटनाएं होती ही रहती हैं। अपने लौटने का समय निकट आ गया है, अब समय बहुत थोड़ा बचा है और देखने को बहुत अधिक पड़ा है। प्रत्येक स्थान को सूक्ष्मता से देखना सम्भव नहीं, अतः वत्स! मैं कहूँ ऐसा कर जिससे थोड़े समय में अनेक कौतुक देखने की तेरी कामना पूर्ण हो जाय और मर्यादित समय में ही वापस लौट चलें। कुछ दूरी पर तुम्हें जो पर्वत दिखाई दे रहा है, वह अत्यधिक ऊंचा है, श्वेत है, स्फटिक जैसा निर्मल है, प्रभावशाली है और बहुत विस्तृत है। यह पर्वत संसार में विवेक के नाम से प्रसिद्ध है। यदि हम इस पर्वत पर चढ़कर देखेंगे तो भवचक्र नगर में होने वाली समस्त विचित्र घटनायें जो घटित होती हैं वे सभी दिखाई देंगी। अतः हे वत्स! चलो, हम इस पर्वत पर जाकर निपुणता के साथ सभी दृश्य देखें। यदि तुम्हें कुछ समझ में न आये तो मुझे पूछ लेना, मैं तो तुम्हारे साथ ही हूँ। इस प्रकार यदि भवचक्र नगर का सारा दृश्य यदि तुम एक साथ देख लोगे तो फिर तुम्हारे मन में कोई उत्सुकता शेष नहीं रहेगी। प्रकर्ष को भी मामा की यह बात रुचिकर लगी और दोनों सन्तुष्ट होकर विवेक पर्वत पर चढ़ गये। [७-१४]

कपोतक और द्यूत (जुआ)

प्रकर्ष—अहा मामा! यह महागिरि तो बहुत ही रमणीय है। यहाँ से तो पूरा भवचक्र नगर चारों तरफ से दृष्टिगोचर हो रहा है। आपने तो बहुत सुन्दर उपाय बताया। मामा! अब मैं एक बात पूछता हूँ, उसे समझाइये। देखिये, उस देवकुल (मन्दिर) में एक आदमी बिलकुल नगा, ध्यानमग्न और चारों ओर से कुछ लोगों से घिरा हुआ है। यह कंगाल जैसा, भूखा-प्यासा, बिखरे बालों वाला, हाड-पिंजर जैसा दिखाई दे रहा है, जो यहाँ से भागने के प्रयत्न में है, चारों तरफ दिङ्मूढ सा देख रहा है, इसके हाथ सफेद खड़ी जैसे हो गये हैं और पिशाच जैसा लग रहा है, यह पुरुष कौन है? [१५-१७]

विमर्श—* वत्स! यह अतुल धन-सम्पत्ति वाले अति प्रख्यात कुबेर सार्थवाह नामक सेठ का पुत्र कपोतक है। उस समय की अपनी स्थिति के अनुसार इसके पिता ने इसका नाम धनेश्वर रखा था जो 'यथा नाम तथा गुण' की उक्ति से ठीक ही था, क्योंकि उस समय यह अतुल सम्पत्ति का स्वामी था। वर्तमान स्थिति के अनुसार लोगों ने इसका नाम कपोतक (कबूतर जैसा भोला अथवा कुपुत्र) रखा है, जिसे इसने सच्चा कर दिखाया है। महामूल्यवान रत्नों एवं सोने से भरे हुए अपने

* पृष्ठ ४१२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिता के घर को इस पापी पुत्र ने अपने पाप कर्मों से श्मशान जैसा बना दिया है। इसे जुआ खेलने का ऐसा रस लगा है कि किसी अन्य कार्य के बारे में तो यह सोच ही नहीं सकता। समय-असमय यह सिर्फ जुआ खेलने का ही विचार करता रहता है। जब अपनी सब पूंजी जुए में गंवा चुका तब जुआ खेलने के लिये चोरी द्वारा धन इकट्ठा करने लगा। इसने इस नगर में अनेक बार चोरियाँ की है, कई बार रंगे हाथों पकड़ा गया है और इसकी जमकर खूब पिटाई भी हुई है। मान्य सेठ का लड़का होने से राजा ने इसे मारा नहीं, फिर भी यह अपने कुव्यसन का त्याग नहीं कर सका। आज रात में जुआ खेलते हुए यह अपने कपड़े तक सभी कुछ हार बैठा। पर, इसे तो जुए में ऐसा रस लगा था कि जब दाव पर लगाने को कुछ भी शेष नहीं बचा तो इसने अपना सिर ही दाव पर लगा दिया। इन महाधूर्त जुआरियों ने जो इसके चारों ओर खड़े हैं, उसे इस अन्तिम बाजी में भी हरा दिया और अब उसका सिर काटने के लिये उसे नचा रहे हैं। यह भी अपने पाप से इतना भर गया है कि यहाँ से भाग भी नहीं सकता और खड़ा-खड़ा अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क करते करते उद्विग्न एवं सन्तप्त हो रहा है। यहाँ से भाग जाने का अवसर ही इसे नहीं मिल रहा है, क्योंकि जुआरियों का इस पर कड़ा पहरा है। [१८-२५]

द्यूत-दोष : पर्यालोचन

प्रकर्ष—मामा ! क्या इस बेचारे को यह मालूम नहीं है कि जुआ संसार में समस्त प्रकार के अनर्थों का मूल है। धन का क्षय करने वाला, अत्यन्त निन्दनीय, उत्तम कुल व आचार को दूषित करने वाला, सर्व पापों का उद्भव स्थान और लोगों में अपयश एवं लघुता प्राप्त करवाने वाला यह जुआ है। यह जुआ अनेक प्रकार के मानसिक क्लेशों का मूल, लोगों के विश्वास को समाप्त करने वाला और पापी लोगों द्वारा प्रवर्तित है, क्या यह इस बात को नहीं जानता ? [२६-२८]

विमर्श—यह बेचारा महामोह राजा की सेना के वशीभूत हो गया है, अतः अब यह क्या कर सकता है ? क्योंकि जो प्राणी पहले ही स्वयं अधम होते हैं और फिर वे विशेष रूप से महामोह के वशीभूत हो जाते हैं वे ही जुआ खेलते हैं, उसमें गृद्ध होते हैं और उसके कटुफल भोगते हैं। [२९-३०]

विमर्श यह बता ही रहा था कि इतने में उन जुआरियों ने कपोतक का सिर धड़ से अलग कर दिया। ऐसा बीभत्स दृश्य देखकर प्रकर्ष बोल पड़ा—ओह मामा ! जो प्राणी महा अनर्थकारी जुआ खेलते हैं, उसकी ऐसी ही गति होती है ? [३१-३२]

विमर्श—भाई ! तू ने ठीक ही देखा। तू ने वास्तविकता को समझा है। जो प्राणी जुआ खेलने में आसक्त होते हैं, उन्हें इस भव में या परभव में लेशमात्र भी सुख नहीं मिलता। [३३]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ललन और मृगया (शिकार)

इसी बीच प्रकर्ष की नीलकमल-पत्र जैसी दृष्टि एक घने जंगल पर पड़ी। जंगल की तरफ अपने हाथ से संकेत करते हुए वह बोला— मामा ! देखिये, दूर एक पुरुष घोड़े पर बैठा हुआ दिखाई दे रहा है। उसके शरीर से पसीना बह रहा है और वह थका हुआ सा लग रहा है। उसके हाथ में शस्त्र उठाया हुआ है और वह पापी किसी प्राणी को मारने के लिये तत्पर हो ऐसा लग रहा है। स्वयं इस समय चारों ओर से दुःख से घिरा हुआ होने पर भी जंगल के प्राणियों को दुःख देने को उद्यत है। अभी मध्याह्न की भरी धूप में यह भूख से तड़फड़ा रहा है, प्यास से इसका गला सूख रहा है, फिर भी सियार के पीछे-पीछे दौड़ रहा है, यह पुरुष कौन है ?

[३४–३७] *

विमर्श—इसी मानवावास के ललितनगर का यह ललन नामक राजा है। इसे शिकार का गहरा शौक है। यह इस व्यसन में इतना अधिक लुब्ध है कि अन्य किसी विषय पर सोच ही नहीं सकता। यह इस भीषण जंगल में रात-दिन पड़ा रहता है और अवसर देखकर शिकार के लिये दौड़ पड़ता है। इसके सामन्तों, स्वजन-सम्बन्धियों, प्रजाजनों एवं मन्त्रियों ने इसे बार-बार शिकार से रोका, पर इसे तो मांस खाने की ऐसी लत लगी थी कि इसने किसी की नहीं सुनी। राज्य के सब काम बिगड़ते देखकर सारा राज्यमण्डल इसके विरुद्ध हो गया। राज्य के हितचिन्तक अधिकारियों (मुतसद्दियों) ने इस स्थिति को देखकर विचार किया कि यह दुरात्मा शिकारी राजा अब इस राज्यलक्ष्मी के योग्य नहीं रहा, अतः अब इसका राजगद्दी पर रहना नीति-संगत नहीं है। इस विचार से राज्यमण्डल ने ललन के पुत्र का राज्याभिषेक कर इसे राज्य और महल से निकाल दिया। तथापि इसकी शिकार और मांस-भक्षण पर इतनी अधिक आसक्ति है कि यह पिशाच के समान अकेला ही महा दुःखदायी अवस्था को भोगता हुआ सर्वदा जंगल में पड़ा रहता है पर अपने शौक को नहीं छोड़ सकता। 'मूंजड़ी जल जाय पर बट न जाय' अथवा 'हाल जाय हवाल जाय पर बन्दे का खेल न जाय' कहावत को इसने चरितार्थ कर दिया है। [३८–४४]

मृगया और मांस-भक्षण के दोष

हे वत्स ! अन्य हिंसक प्राणी जो अन्य द्वारा मारे हुए जीवों का मांस खाते हैं वे भी जब इस भव और परभव में अनेक दुःख-परम्परा को प्राप्त होते हैं, अनेक प्रकार की पीड़ा सहते हैं तब जो महापापी प्राणी क्रूर बनकर स्वयं ही अन्य जीवों को काटते हैं, जीवित प्राणियों पर तलवार चलाते हैं, तीर या फरसा चलाते हैं और उसका मांस खाते हैं, उन्हें इस भव में ऐसे ही दुःख प्राप्त होते हैं और परभव में वे भयंकर नरक में पड़ते हैं, इसमें लवलेश भी सन्देह नहीं है। भाई ! (मांस देखने में भी बीभत्स लगता है, उसे देखकर उल्टी होती है), यह अपवित्र वस्तु का पिण्ड है,

* पृष्ठ ४१३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्यन्त निन्दनीय है, महारोग का कारण है और अनेक छोटे-छोटे जीवों का समूह है। ऐसे मांस को राक्षसों की तरह खाने वाले स्वयं राक्षस हैं। जो मांस खाने में धर्म मानते हैं, जो धर्म क्रिया में मांस खाने को कर्त्तव्य समझते है, जो धर्म-बुद्धि से स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा से मांस-भक्षण करते हैं, ऐसे अधिक जीने की इच्छा वाले लोग वस्तुतः निश्चित रूप से तालपुट विष का भक्षण करते हैं। बेचारे नहीं समझते कि तालपुट विष खाने से जीवन बढ़ता नहीं वरन् उसका अन्त हो जाता है। इसी प्रकार मांस खाने वाले को स्वर्ग नहीं मिलता वरन् वह महान् भयकर नरक में जाता है।) 'अहिंसा परमो धर्मः' जीव-हिंसा न करना उत्कृष्ट धर्म है। यह धर्म मांस-भक्षण से कैसे पाला जा सकता है ? यदि हिंसा से धर्म होता हो, या हो सकता हो तो अग्नि भी बर्फ जैसी ठण्डी हो सकती है। मांस-भक्षण के कितने दोषों का वर्णन करूं ? धर्मबुद्धि से या रसगृद्धि से जो व्यक्ति मांस खाते हैं, अथवा मांस-भक्षण के लिये प्राणियों का नाश करते हैं वे नरक को अग्नि में पकाये जाते हैं और महान् दुःखों को प्राप्त करते हैं। वर्तमान में भी जैसे यह ललन सियार को मारने के लिये व्यर्थ परेशान हो रहा है, त्रास सहन कर रहा है, भूखा-प्यासा जंगल-जंगल भटक रहा है, इसी प्रकार शिकार के शौकीन सभी प्राणी हैरान होते हैं, दुःखी होते हैं और त्रास प्राप्त करते हैं। [४५-५२]

इस प्रकार जब विमर्श अपने भाणेज प्रकर्ष को ललन के सम्बन्ध में बता रहा था तब ललन का क्या हुआ यह भी सुनिये। सियार के पीछे दौड़ते-दौड़ते उसे पकड़ कर उसका शिकार करने के लोभ से उसने घोड़े को एड़ लगाई। घोड़ा ऊंची-नीची जमीन पर सरपट दौड़ने लगा। इतने में एक बड़ा खड्डा आया जो घास-फूस से ढक गया था। दौड़ता हुआ घोड़ा राजा सहित खड्डे में गिर पड़ा। वे दोनों इतनी बुरी तरह गिरे कि राजा का सिर नीचे और शरीर ऊपर, जिससे उसके शरीर का चूरा-चूरा हो गया। ऊपर से घोड़े का भार और उसके पांवों की मार से राजा पूरा दब गया। ललन बहुत चिल्लाया, पुकार मचाई, पर कोई उसकी सहायता के लिये नहीं आया और महान वेदना को सहन करता हुआ खड्डे में पड़ा-पड़ा मृत्यु को प्राप्त हुआ। [५३-५४]

प्रकर्ष बोला—मामा ! शिकार का कुफल इसे तो यहाँ का यहाँ ही मिल गया।

उत्तर में विमर्श ने कहा—अरे ! यह फल तो कुछ भी नहीं * यह तो मात्र पुष्प है। अभी तो अगले भव में महा भयंकर नरक में जाकर लम्बे समय तक अत्यन्त दयनीय स्थिति को प्राप्त करेगा तब इसे इसका फल प्राप्त होगा। ऐसे भयंकर पापों के फल इतने से अल्प/थोड़े ही होते हैं ! आश्चर्य की बात तो यह है इतने घोर कटु परिणामों को जानकर भी प्राणी मांस खाता है और प्राणियों की हिंसा करता है। [५५-५६]

* पृष्ठ ४१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुर्मुख और विकथा

मामा-भाणेज ने दूसरी तरफ देखा कि एक पुरुष खड़ा है, उसके पास में राजा के पुरुष खड़े हैं। क्रूर राजपुरुष उस व्यक्ति की जीभ खींच कर उसके मुँह में तपाया हुआ तांबा उंडेल रहे हैं। ऐसे भयंकरतम दृश्य को देखकर प्रकर्ष के मन में अतिशय ग्लानि हुई।

उपरोक्त दृश्य देखकर दया से व्याप्त चित्त वाला प्रकर्ष बोला—अहो मामा! ये राजपुरुष निर्घृण होकर इस व्यक्ति को किसलिये इतनी भयंकर पीड़ा दे रहे हैं। [५७-५८]

विमर्श—मानवावास के अन्दर चणकपुर नामक एक छोटे नगर का निवासी यह सुमुख नामक बड़ा धनवान सार्थवाह है। बचपन से ही इसकी भाषा में अत्यधिक कड़वाहट और कठोरता है। लोग इसे दुर्मुख नाम से बुलाने लगे, क्योंकि इसकी वाणी में कटुता और कर्कशता भरी हुई है। इसका ऐसा स्वभाव हो गया था कि कोई उसके पास स्त्री सम्बन्धी चर्चा करे, भोजन सम्बन्धी बात करे, राज्य चर्चा करे या देश कथा करे तो इसे अत्यधिक रुचिकर प्रतीत होती तथा ऐसी स्त्री, भोजन, राज्य या देश की चर्चा का कोई भी प्रसंग आने पर यह अपने मुँह को वश में नहीं रख सकता था।

इधर चणकपुर के राजा तीव्र को एक बार अपने शत्रु से युद्ध करने के लिये जाना पड़ा और युद्ध में शत्रुओं को तीव्र राजा ने हरा दिया। जब तीव्र राजा ने शत्रुओं की तरफ कूच किया था तब दुर्मुख ने यह अफवाह फैलाई कि 'हमारे शत्रु बहुत ही बलवान हैं, वे अवश्य ही हमारे राजा को हरा देंगे और अपना नगर लूटने के लिये यहाँ आयेंगे, अतः जिनमें शक्ति हो उन्हें अवश्य यह नगर छोड़ कर भाग जाना चाहिये।' इस अफवाह के फैलने से पूरे नगर के लोग नगर को खाली कर भाग गये। युद्ध जीतकर तीव्र राजा जब वापस चणकपुर लौटा तो उसने देखा कि पूरा नगर उजड़ गया है। जब राजा ने इसके कारण का पता लगाया तो किसी से उसे मालूम हुआ कि दुर्मुख ने ऐसी अफवाह फैलाई थी जिससे लोग घबरा कर भाग गये। यह सुनकर तीव्र राजा दुर्मुख पर बहुत क्रोधित हुआ। राजा द्वारा लोगों को सन्तोष दिलाने से नगर फिर से बस गया, पर दुर्मुख ने कैसा जघन्यतम अपराध किया था! उसने राज्य-विरुद्ध कैसी झूठी अफवाह फैलाई थी! उसकी खुली जांच के पश्चात् राजा ने उसे जो दण्ड दिया उसी के फलस्वरूप राजपुरुष लोगों के समक्ष उसे पिघला हुआ तांबा पिला रहे हैं।

विकथा (दुर्भाषण) पर विचारणा

प्रकर्ष—अहो मामा! केवल दुर्भाषण मात्र (झूठी अफवाह फैलाने) से दुर्मुख को इतना भयंकर कष्ट भोगना पड़ रहा है, यह तो बहुत ही कष्टकारक घटना है। [१]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! ऐसा कुछ नहीं है। जिनका स्वभाव विकथा (दुर्भाषण) करने, झूठी अफवाहें फैलाने का होता है और जो अपनी वाणी को वश में नहीं रख सकते उन दुरात्माओं के लिये यह दण्ड कुछ भी नहीं है। हे भद्र ! जो अपनी जिह्वा को इस प्रकार खुली छोड़ देता है और बिना कारण लोगों के दिलों में वैर-विरोध का विष घोलता है तथा बिना प्रयोजन संताप पहुँचाता है, वह तो दण्ड का पात्र है ही। जो सोच समझकर बोलते हैं, जिनकी भाषा सत्य से पूर्ण है, जिनके वचन संसार को आनन्द देने वाले हैं, जो योग्य समय पर भी सीमित ही बोलते हैं, जो बुद्धिपूर्वक विचार कर ही बोलते हैं, ऐसे सर्व गुण-सम्पन्न प्राणी भाग्यशाली हैं, महात्मा हैं, प्रशंसनीय हैं, मनस्वी हैं, वन्दनीय हैं, सत्य में दृढ़ विश्वास वाले हैं और संसार में उनकी वाणी अमृत तुल्य है। अन्य जो अपनी जिह्वा को खुली छोड़ देते हैं, वक्त-बेवक्त कुछ भी बक देते हैं उन्हें इस दुर्मुख जैसा दण्ड मिले तो क्या आश्चर्य है! हे वत्स ! जो प्राणी प्रामाणिक, मधुर और हितकर भाषा (वाणी) बोलता है उसे यह भाषा कष्ट से छुड़ाती है, * पर जो उद्धतता से खुले मुँह जैसा-तैसा बकता है, उसे (पाँच मुश्कों से) बंधवाने में भी यही कारणभूत होती है। विकथा की कुटेव के कारण दुर्मुख ने झूठी अफवाह फैलाई जिसके फलस्वरूप उसे इस भव में ऐसा कठोर दण्ड मिला और अभी तो परभव में उसकी दुर्गति होना शेष है। [२–८]

हर्ष और विषाद

विकथा पर तत्त्व-चर्चा चल ही रही थी, तभी प्रकर्ष ने राज-मार्ग पर एक श्वेत वस्त्रधारी मनुष्य को देखा। उसे जानने के लिये उसने विमर्श से पूछा—

उत्तर में विमर्श ने कहा– वत्स ! यह रागकेसरी का एक योद्धा है, इसका नाम हर्ष है। इस मानवावास नगर में वासव नामक एक व्यापारी रहता है। अनेक प्रकार के धन-धान्य से पूर्ण इस वासव का यह घर है। बचपन से ही इसकी धनदत्त नामक व्यक्ति से मित्रता हो गई थी। दोनों में प्रगाढ़ स्नेह था, पर किसी कारणवश बाद में वे दोनों अलग हो गये थे। आज बहुत वर्षों के बाद वे मिले हैं। वासव को अपने मित्र से प्रगाढ़ स्नेह था अतः आज धनदत्त से मिलकर वह प्रबल हर्षित हुआ है। इसी कारण से यह हर्ष आज सेठ के घर में प्रविष्ट हुआ है। वहाँ जाकर वह क्या-क्या करता है, देखो। [९–१३]

हर्ष मानवावास में आकर कैसे-कैसे कौतुक करता है, इस जिज्ञासा से प्रकर्ष नेत्र विस्फारित कर देखने लगा। जिस समय धनदत्त और वासव का मिलन हुआ, उसी समय रागकेसरी का योद्धा हर्ष वासव सेठ और उसके कुटुम्ब के शरीर में प्रविष्ट हो गया। परिणामस्वरूप वासव सेठ का घर आनन्द और हर्ष से परिपूर्ण हो गया। अपने मित्र से मिलने की प्रसन्नता में सेठ ने अपने सभी स्वजन बन्धुओं

* पृष्ठ ०१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को बुलाकर बड़ा उत्सव मनाया। फिर तो वहाँ नृत्य-गायन होने लगे, वादित्र बजने लगे, ढोल तासें गूंजने लगे। बहुत वर्षों बाद मिले अपने मित्र धनदत्त की खुशी में वासव सेठ के घर में आनन्द उत्साह फैल गया। सभी कुटुम्बीजनों ने उत्तम वस्त्राभूषण धारण किये और सब को प्रमोदकारक सुस्वादु भोजन कराया गया। क्षणमात्र में इतने अधिक आनन्द-कल्लोल को देखकर बुद्धिनन्दन प्रकर्ष के मन में विस्मय हुआ और नये-नये कौतुक देखने की उसकी इच्छा सन्तुष्ट हुई। कौतुक मिश्रित आनन्द में उसने विमर्श से पूछा—मामा! वासव सेठ का घर हर्ष-कल्लोल से नाच उठा है और इतनी अधिक धूमधाम हुई है, क्या यह सब नाटक हर्ष ने कराया है? उत्तर में विमर्श शान्ति से बोला—हाँ भाई, तेरा सोचना ठीक ही है। जब बिना किसी कारण किसी स्थान पर ऐसा आनन्द का प्रसंग आ जाय, तब समझ लेना चाहिये कि उसका कारण हर्ष ही है। [१४–२०]

जिस समय वासव सेठ के घर में आनन्द मनाया जा रहा था उसी समय प्रकर्ष ने एक अत्यन्त भयंकर आकृति वाले काले मनुष्य को घर के द्वार में प्रवेश करते देखा और अपने मामा से पूछा—मामा! यह अत्यन्त अधम पुरुष यहाँ कौन आ पहुँचा?

विमर्श—भाई! यह तो शोक का अन्तरंग मित्र विषाद नामक अत्यन्त कठोर और भयंकर पुरुष है। देख, वह जो पथिक यात्री आ रहा है, यह बहुत दूर से चलकर आया है और यह वासव सेठ के घर में जायेगा। उसी के साथ यह विषाद भी उसके घर में प्रविष्ट होगा, ऐसा लग रहा है। [२१–२३]

मामा-भाणेज विवेक पर्वत पर खड़े-खड़े बातचीत कर ही रहे थे कि वह यात्री वासव सेठ के घर में प्रविष्ट हुआ और उसने सेठ को एकान्त में ले जाकर कोई गोपनीय संदेश कह सुनाया। जिस समय पथिक सेठ से बात कर रहा था उसी समय विषाद सेठ के शरीर में प्रविष्ट हुआ। यात्री की बात सुनते ही सेठ तुरन्त चेतना-शून्य मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ा। * आनन्द कल्लोल रुक गया और सभी कुटुम्बी घबरा कर उसके पास दौड़े और 'अरे! क्या हो गया? हाय क्या हो गया?' कहते हुए, विलाप करते हुए जोर-जोर से पूछने लगे। सेठ को पंखा किया गया, अन्य शीतल प्रयोग किये गये तब थोड़ी देर बाद उसकी चेतना लौटी। मूर्छा जाते ही वासव सेठ विषाद पूर्ण प्रलाप करते हुए रोने लगा, 'अरे पुत्र! बेटे! मेरे सुकुमार फूल! कुलशृंगार! अरे भाई! मेरे किन कर्मों के कारण तेरी ऐसी अवस्था हुई? हे पुत्र! मैंने तुझे बहुत रोका था, पर मेरे पाप के उदय के कारण तू घर से निकल गया और दयाहीन दैव ने तेरी यह स्थिति बना डाली। अरे! मैं तो मर गया। मेरी आशायें भग्न हो गईं। अरे! मैं लुट गया। मेरी सारी चतुराई नष्ट हो

---

*पृष्ठ ४१६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गई। अरे भाई! तेरी ऐसी गति (अवस्था) हो जाने पर अब मैं जिन्दा क्यों हूँ? अब मैं जीकर क्या करूंगा? हाय मैं मर क्यों नहीं गया?' [२४-३०]

सेठ इस प्रकार विलाप कर ही रहा था कि विषाद अपने अनेक रूप धारण कर उसके स्वजन-सम्बन्धियों के शरीर में प्रविष्ट हो गया। विषाद की शक्ति से वासव के स्वजन-सम्बन्धी भी हाहाकार करने लगे, जोर-जोर से रोने लगे, विलाप करने लगे। क्षणभर पहले जो घर हर्ष के आवेश में कल्लोल कर रहा था वह आनन्दरहित हो गया और लोग शोक से विह्वल एवं दीन जैसे दिखाई देने लगे। स्त्रियाँ और नौकर भी रोने लगे, जिससे चारों ओर शोक तथा विषाद फैल गया। यह देखकर प्रकर्ष को कौतुक हुआ और उसने पूछा—मामा! इस वासव के घर में अचानक विपरीत नाटक होने लगा, इसका क्या कारण है? ऐसा आश्चर्यजनक परिवर्तन कैसे हो गया? [३१-३४]

विमर्श – भाई प्रकर्ष! मैंने तुम्हें पहले ही बताया था कि इन बाह्य लोक के मनुष्यों का सम्पूर्ण आधार अन्तरंग मनुष्यों पर आधारित है। देख, यहाँ पहले तो हर्ष ने आकर आनन्द का नाटक कराया, फिर विषाद आ पहुँचा और उसने उलटा नाटक करवाया। इस प्रकार कभी हर्ष आनन्द करवाता है तो कभी विषाद शोक करवाता है, तब इस संसार के बाह्य लोक के पामर प्राणी क्या करें? इसमें इनका तो कुछ चलता ही नहीं। (हर्ष या विषाद उन्हें जिस तरफ धकेल दे उसी तरफ आड़े-तिरछे धक्के खाते रहते हैं। गिरते हैं, उठते हैं और फिर गिरते हैं, इनके ऐसे हाल होते ही रहते हैं।) हर्ष और विषाद थोड़े-थोड़े समय के अन्तर से इन्हें नचाते ही रहते हैं अर्थात् विडम्बना देते ही रहते हैं। [३५-३७]

प्रकर्ष—परन्तु, मामा! उस पथिक यात्री ने आकर वासव सेठ के कान में ऐसी क्या गोपनीय बात कही कि जिससे पूरा कुटुम्ब ऐसे विषाद में पड़ गया? [३८]

विमर्श—भाई प्रकर्ष! सुन, इस सेठ के वर्धन नामक इकलौता पुत्र था। उस पर पिता का बहुत प्रेम था। वह शरीर से आकर्षक, रूप से रमणीय और तरुणाई से आच्छन्न था। सैकड़ों मनौतियों के बाद सेठ के यहाँ उसका जन्म हुआ था। बचपन से ही वह विनय परायण था। एक बार उसने स्वयं अपने परिश्रम से धन कमाने का निश्चय किया। पिता ने बहुत रोका पर एक दिन वह बड़ा सार्थ तैयार कर धन कमाने के लिये देशान्तरों में चला गया। इस बात को बहुत समय व्यतीत हो गया। विदेश में बहुत धन अर्जित कर वह वापस स्वदेश लौटने के लिये निकल पड़ा। लौटते हुए कादम्बरी नामक भयंकर जंगल में उसे धन के अर्थी चोरों ने मार-पीट कर उसका सब धन लूट लिया और सार्थ एवं सम्बन्धियों के साथ उसे बन्दी बना लिया। सेठ के पुत्र वर्धन को पकड़ कर वे क्रूरकर्मी चोर उसे अपनी पल्ली (बस्ती) में ले गये। ❀ उससे अधिक धन वसूल करने के लिये

❀ पृष्ठ ४१७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे क्रूरकर्मी तस्कर उसे अनेक प्रकार की यातनायें दुःख/कष्ट देने लगे। वत्स ! यह यात्री जो यहाँ आया है, इसका नाम लम्बनक है। यह सेठ के घर का दास है, सेठ के निरन्तर पग धोने वाला है, नमक हलाल है। चोरों से पीड़ित अपने सेठ को देखकर किसी प्रकार वहाँ से भाग छूटा और यहाँ आकर इसने सब घटनाएं एकान्त में सेठ से कह सुनाईं। इससे सारा वृत्तांत सुनकर वासव सेठ के शरीर और मन में कैसे-कैसे परिवर्तन हुए और आनन्द के स्थान पर मूर्छा आई, यह तो तूने स्वयं देख ही लिया है। [३६-४८]

प्रकर्ष—मामा ! ये इतने अधिक रोते, चीखते-चिल्लाते और विलाप करते हैं, उससे क्या वर्धन बच जायगा ? [४९]

हर्ष-विषाद पर चिन्तन

विमर्श – नहीं, भाई ! इनके रोने, चिल्लाने और छाती-माथा कूटने से वर्धन का कोई बचाव नहीं हो सकता, उसकी स्थिति में तुषमात्र भी अन्तर नहीं आ सकता। ये लोग इस बात को जानते भी हैं फिर भी इन लोगों को विषाद जैसे नचाता है वैसे ये सब नाचते हैं और व्यर्थ ही पीड़ित होते हैं। तू देखना, धनदत्त के आने के समाचार सुनकर ये हर्षित हो उठे और वर्धन की विपत्ति के समाचार सुन कर शोकमग्न हो गये। ये बेचारे हर्ष और विषाद से प्रेरित होकर बार-बार इतने पीड़ित एवं व्यथित होते हैं कि इन्हें विचार करने या अपनी बुद्धि का उपयोग करने का समय ही नहीं मिल पाता। ये पामर तो हर्ष और विषाद के वशीभूत होने के बाद वस्तु-तत्त्व का थोड़ा भी चिन्तन नहीं कर पाते। हमें क्या करने से क्या लाभ होगा और क्या करने से क्या हानि होगी, इस विषय में बिना सोचे ही वे व्यर्थ में ही अनेक प्रकार की विडम्बनाएं प्राप्त करते हैं। भाई प्रकर्ष ! तुझे एक बात और कहूँ, ये हर्ष और विषाद वासव सेठ के घर में ही ऐसा नाटक करवा रहे हों, ऐसी बात नहीं है। ये इतने प्रबल शक्तिशाली हैं कि इस भवचक्र में किसी भी कारण को लेकर ये घर-घर में लोगों को प्रतिदिन ऐसा ही नाच नचाते रहते हैं। दीर्घ दृष्टि-रहित अज्ञ प्राणी पुत्र-प्राप्ति, राज्य-प्राप्ति, धन-प्राप्ति, मित्र-प्राप्ति आदि सुख के कारणों को प्राप्त कर हर्ष के वश में हो जाते हैं। हे वत्स ! सद्बुद्धिरहित हर्ष के वशीभूत प्राणी ऐसी-ऐसी चेष्टाएं और आचरण करते हैं कि विवेकशील प्राणियों की दृष्टि में हास्य के पात्र बनते हैं। परन्तु, ये मूर्ख लोग विचार नहीं कर सकते कि पुत्र, राज्य, धन, मित्र आदि जो भी सुख की सामग्री है वह उन्हें पूर्व जन्म में किये हुए सुकृत्यों के फलस्वरूप प्राप्त हुई है। यह तो जमा-पूंजी का व्यय है। तब फिर कर्म पर आधारित इन अत्यन्त तुच्छ, बाह्य और थोड़े समय में नष्ट होने वाली साधारण वस्तुओं या स्नेहीजनों की प्राप्ति पर हर्ष किस कारण से ? (वस्तुतः रागकेसरी के योद्धा हर्ष के वशीभूत बेचारे प्राणी इस बात का विचार/चिन्तन ही नहीं कर सकते।) इसी प्रकार अपने किसी प्रिय का वियोग होने पर, या किसी अप्रिय व्यक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से संयोग होने पर, या स्वयं को या अपने किसी स्नेही को व्याधि या विपत्ति से ग्रस्त होने पर मूर्ख प्राणी तुरन्त ही विषाद के वशीभूत हो जाता है और रोने चिल्लाने लगता है, मन में सन्तप्त होता है तथा गरीब रंक जैसा बन जाता है। परन्तु, प्राणी यह नहीं सोचते कि जो कुछ भी अनुकूल या प्रतिकूल संयोग-वियोग होते हैं वे सब पूर्व भव में किये हुए कर्मों का संचित फल मात्र है। उस पर अपना किसी प्रकार का अंकुश नहीं रह सकता, इसलिये उस पर विषाद करने का अवसर ही कहाँ है। हे वत्स ! वे यह भी नहीं सोचते कि विषाद करने से प्राणियों के दुःख में कमी होने के स्थान पर वृद्धि ही होती है। विषाद से, दुःख से छुटकारा नहीं मिल सकता। दुःख से त्राण प्राप्त करने का तो ❀ एकमात्र उपाय शुभ प्रवृत्ति ही है। कारण यह है कि हे वत्स ! दुःख का मूल पाप है और शुभवृत्ति एवं शुभ चेष्टा से सब पापों का नाश होता है। जब पाप का ही नाश हो जायगा तब दुःख होगा ही कैसे ? [५०-६४]

प्रकर्ष—मामा ! यदि शुभ प्रवृत्ति का इतना अच्छा प्रभाव होता है और इतना सुन्दर परिणाम निकलता है, तब तो लोगों को इसके लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। लोग जो बार-बार विषाद के वशीभूत हो जाते हैं, उन्हें उसके शासन से बाहर निकलना चाहिये। [६५]

विमर्श—भाई ! तूने बहुत अच्छी बात कही, परन्तु इस भवचक्र नगर के लोग इस यथार्थता को अभी समझ नहीं पाये हैं। [६६]

❀

२७. चार उप-नगर

विवेक पर्वत पर खड़े-खड़े मामा-भाणेज भवचक्र नगर की अनेक प्रकार की लीलायें/चेष्टायें देख रहे थे। भाणेज उनके सम्बन्ध में प्रश्न पूछता था और विमर्श उत्तर दे रहा था। इसी बीच मामा बोला—भाई प्रकर्ष ! यह भवचक्र नगर इतना लम्बा-चौड़ा और विशाल है कि इसमें घटित प्रत्येक कौतुक को तो तुझे कैसे दिखा सकता हूँ ? जहाँ तेरी दृष्टि पड़ेगी वहीं तुझे कुछ न कुछ नवीनता दिखाई देगी। वत्स ! तुझे इस नगर का स्वरूप जानने की विशेष जिज्ञासा है, अतः संक्षेप में मैं तुझे कुछ बातें समझाता हूँ। आज हम इस विवेक नामक अत्यन्त निर्मल पर्वत पर चढ़े हैं जिससे तू सभी दृश्य स्वयं अपनी आँख से देख सकता है। अतः उसके स्वरूप का वर्णन करने की क्या आवश्यकता है ? इसके गुणों का तो मैं वर्णन करता ही जा रहा हूँ जो तू सुन ही रहा है। अब मैं संक्षेप में भवचक्रपुर नगर के कुछ विशेष दृश्यों का वर्णन करता हूँ जिसे तू ध्यान पूर्वक सुन। [६७-७०]

❀ पृष्ठ ४१८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उप-नगरों का परिचय

इस भवचक्र नगर में छोटे-छोटे अनेक उप-नगर हैं जिनका वर्णन करना तो दुष्कर है, पर उनमें से चार श्रेष्ठ एवं मुख्य हैं, जिनके बारे में बताता हूँ। इनमें से प्रथम का नाम मानवावास, दूसरे का विबुधालय, तीसरे का पशुसंस्थान और चौथे का नाम पापीपिंजर है। इस भवचक्र नगर में ये चार मुख्य उप-नगर हैं जो इस प्रकार व्याप्त हैं कि इसमें यहाँ के सभी निवासी समा जाते हैं। ये चारों उप-नगर भिन्न-भिन्न होने पर भी अन्दर से मिले हुए हैं, ऐसा लगता है। पर, वास्तव में वे अलग-अलग हैं और उनके निवासी भी अलग-अलग हैं। [७१-७३]

१. मानवावास

प्रथम उप-नगर मानवावास है जो महामोह आदि अन्तरंग प्राणियोंसे व्याप्त है, जिससे वहाँ सब समय कलकल निनाद चलता रहता है अर्थात् धमाचौकड़ी चलती ही रहती है तथा बाहर से देखने पर जो जीता-जागता लगता है। इसमें कैसी धूम मची रहती है यह तो तू ने देखा ही है। कहीं कुछ लोगों को अपने प्रिय से मिलन होने पर हर्षातिरेक हो रहा है। कहीं अत्यन्त द्वेष उत्पन्न करने वाले मनुष्यों के संयोग से अति व्यग्रचित्त वाले दुर्जनों से भरा दिखाई देता है। कहीं यहाँ के निवासियों को थोड़े से धन की प्राप्ति से ही प्रसन्नता हो रही है। कहीं किसी के धन का नाश हो जाने से अत्यन्त सन्ताप-संतप्त दिखाई दे रहा है। कहीं किसी को ढलती उम्र में पुत्र प्राप्त होने से महोत्सव मनाया जा रहा है। कहीं अत्यन्त प्रिय सम्बन्धी के मरण से भयंकर शोक से लोग अस्त-व्यस्त स्थिति वाले हो रहे हैं। कहीं सेनाओं के भीषण युद्ध के कारण कोई स्थान अत्यन्त भयंकर लग रहा है। कहीं बहुत समय बाद स्नेही मित्र के मिलन से आँखों से स्नेहाश्रु टपक रहे हैं। कहीं गरीबी, दुर्भाग्य और विविध व्याधियों से लोग पीड़ित हो रहे हैं। कहीं शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि इन्द्रियों की तृप्ति के कारणों को सुख मानकर लोग आह्लादित हो रहे हैं। कहीं सन्मार्ग एवं सदाचरण से दूर महापापी प्राणियों से परिपूर्ण और कहीं धर्मबुद्धि होने पर भी उसके विपरीत आचरण करने वाले प्राणियों से यह नगर व्याप्त दिखाई देता है। तुझे कितना बताऊँ ? संक्षेप में महामोह आदि राजाओं का जो चरित्र वर्णन मैंने तेरे समक्ष किया था वे सभी चरित्र और घटनायें इस नगर में विशेष रूप से घटित होती हैं। हे वत्स ! मानवावास उप-नगर में भिन्न-भिन्न कारणों और प्रसंगों को लेकर ये सभी घटनायें निरन्तर घटित होती रहती हैं। ❀ इस प्रकार यह इस मानवावास अवान्तर नगर का संक्षिप्त वर्णन है। अब मैं तुम्हें विबुधालय नामक दूसरे सत्पुर का गुण वर्णन सुनाता हूँ। [७४-८३]

❀ पृष्ठ ४१९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. विबुधालय

यह दूसरा उप-नगर विबुधालय है, इसे तू स्वर्ग के रूप में समझ। इसमें अनेक पारिजात के वृक्ष हैं। सुन्दर पारिभद्र वृक्ष, कल्पवृक्ष तथा अन्य अनेक प्रकार के सुन्दर वृक्षों के वनों से यह व्याप्त है। इसमें सुरपुन्नाग वृक्षों की तथा चन्दन वृक्षों की सुरभित गन्ध सर्वदा प्रसरित होती रहती है। निरन्तर विकसित श्वेत कमल और कुमुदिनी से यह सुशोभित है। इसमें पद्मराग, महानील, वज्र, प्रवाल आदि रत्नों के ढेर चारों तरफ बिखरे हुए हैं। दिव्य स्वर्ण से अनेक छोटे-छोटे मोहल्ले बने हुए हैं। सुशोभित तेजस्वी मणियों की प्रभा से इस नगर का सारा अन्धकार दूर हो गया है। अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र रत्नों की किरणों से यह नगर देदीप्यमान हो रहा है। जहाँ देखो दिव्य आभूषण तैयार दिखाई देते हैं। सुगन्धी का तो पार ही नहीं है। पुष्पमालायें चारों तरफ फैली हुई हैं। सुन्दर भोगों के समस्त साधन यहाँ उपलब्ध हैं। मन को हर्षित करने वाला उच्चस्तरीय नृत्य इस नगर में नित्य चलता ही रहता है। हृदय को छूने वाला मधुर गीत-गान यहाँ निरन्तर होता ही रहता है, जिससे नगरवासियों के आनन्द में वृद्धि होती रहती है। इस नगर में रहने वाले देवता निरन्तर आनन्द और सुख में रहने वाले हैं, सूर्य से भी अधिक तेजस्वी हैं, अत्यन्त देदीप्यमान कुण्डल, केयूर, मुकुट और हार से वे द्युतिमान हो रहे हैं। अनेक भ्रमरों को आकर्षित करने वाली, कभी न कुम्हलाने वाली मन्दार पुष्पों की सुन्दर माला उन्होंने धारण कर रखी है। सुन्दर वनमाला से सुशोभित वे सतत प्रमुदित चित्त वाले लगते हैं। वे प्रीति-समुद्र में कल्लोल करते हुए अपनी सभी इन्द्रियों को पूर्णरूपेण तृप्त करते हैं। विबुधालय ऐसे लोगों से भरा हुआ है। इस विबुधालय की भूमि भी श्रेष्ठ है और इसके निवासी भी सर्व प्रकार से सुखी हैं। तुम्हें याद होगा कि मोह राजा के मण्डप में वेदनीय राजा के एक साता नामक पुरुष का मैंने पहले वर्णन किया था। कर्मपरिणाम महाराजा ने जनाह्लादकारी साता को ही इस विबुधालय का नायक (राजा) बनाया है। हे वत्स! वही इस नगर को अनवरत प्रशस्त भोगों से परिपूर्ण रखता है, अनेक प्रकार के आह्लाद उत्पन्न करने वाले साधनों से सम्पन्न रखता है और सम्यक् प्रकार से सुव्यवस्थित रखता है। ऐसे साता राजा की नियुक्ति से ही इस नगर की समग्र प्रजा अत्यधिक सुखी रहती है।

[८४-९२]

प्रकर्ष—मामा! यदि यह बिबुधालय इतना सुन्दर है तब महामोह आदि राजाओं की शक्ति यहाँ तो नहीं चलती होगी? इस नगर के इतना अधिक सुखी होने का कारण क्या है, यह तो बताइये। [९३]

विमर्श—नहीं भाई! ऐसी बात नहीं है। यहाँ भी अन्तरंग राजा अपनी शक्ति का पूर्ण प्रयोग करते हैं। यहाँ भी परस्पर ईर्षा, स्पर्धा, शोक, भय, क्रोध, लोभ, मोह, मद और भ्रम अपनी पूर्ण प्रबल शक्तियों के साथ सक्रिय हैं। अर्थात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ के निवासियों में भी ये सब अन्तरंग के लोग घर जमा कर बैठे हुए हैं और जब भी अवसर मिलता है वे अपनी शक्ति का पूर्ण प्रदर्शन किये बिना नहीं रहते।

[९४-९५]

प्रकर्ष - मामा ! जब ऐसा ही है तब यहाँ भी सुख कैसा ? आपने यहाँ के निवासियों में जो अतिशय सुख का वर्णन किया, वह फिर कैसे घटित होता है ?

[९६]

विमर्श—वत्स ! तेरा प्रश्न पूर्णतया युक्तिसंगत है। वास्तव में तो ये लोग जिसे सुख मानते हैं वह वस्तुतत्त्व के परमार्थ से सुख नहीं है। तत्त्वदृष्टि से तो विबुधालय कोई प्रशस्त एवं सुन्दर भी नहीं है। परन्तु, विषयाभिलाषा में ही जीवन की परिसमाप्ति मानने वाले, स्थूल सुख को ही जीवन का साध्य समझने वाले मुग्ध बुद्धिवाले जो लोग हैं उन्हें तो इस विबुधालय के सुख उच्च कोटि के ही प्रतीत होते हैं तथा वे यह मानते हैं कि उन्हें यह स्थिति बड़े भाग्य से प्राप्त हुई है, अतः उनकी दृष्टि से ही मैंने उपरोक्त वर्णन किया है। अन्यथा तो जहाँ महामोह अपने परिवार के साथ राज्य कर रहा हो, वहाँ बाह्य जगत के प्राणियों के लिए सच्चे सुख की तो बात ही क्या ? मोह और सच्चे सुख का संयोग तो अशक्य है, अर्थात् जहाँ मोह राजा के परिवार का एक भी व्यक्ति राज्य करता हो, वहाँ सच्चे सुख की तो एक किरण भी नहीं आ सकती। इसके कारण भी मैं तुझे पहले बता चुका हूँ। यहाँ जो आनन्द दिखाई दे रहा है वह स्थूल, ऊपर-ऊपर का और वास्तविक सुख-रहित है। वास्तव में तो इसमें कुछ भी तथ्य नहीं है और न इसे सुख का नाम ही दिया जा सकता है। इस प्रकार मैंने तेरे सन्मुख विबुधालय का संक्षेप में वर्णन किया। अब मैं पशुसंस्थान का * वर्णन करता हूँ, तू ध्यान पूर्वक सुन। [९७-१००]

३. पशुसंस्थान

तीसरा उप-नगर पशुसंस्थान है जिसमें रहने वाले प्राणी निरन्तर भूख से पीड़ित रहते है, अरति और अनेक संतापों से, तृषा से, वेदना से दुःखी एवं त्रस्त रहते हैं। उनको अनेक बार तप्त लोह-शलाका से दग्ध किया जाता है, समय पर आहार और पानी नहीं मिलता, सर्वदा शोक और भय से उद्विग्न रहते हैं। अनेक बार बांधे जाते हैं, उन पर अधिक भार लादा जाता है और ऊपर से मार पड़ती है। पशुसंस्थान के निवासी सदा दुःख में ही रहते हैं और महामोह आदि उन्हें अनेक प्रकार से दुःख तथा त्रास देते रहते हैं। वे एकदम दीन, गरीब, अनाथ जैसे लगते हैं, पर उन्हें कोई शरण (आश्रय) भी नहीं मिलता। उनमें धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का किञ्चित् भी विवेक नहीं होता, अर्थात् विचार-विकल होते हैं। वे क्लेशमय जीवन जीते हैं। इस नगर के निवासियों की अनन्त जातियाँ हैं, इतनी अधिक कि

* पृष्ठ ४२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गिनाई नहीं जा सकती। हे वत्स! इस प्रकार तेरे समक्ष पशुसंस्थान उप-नगर का संक्षिप्त में वर्णन किया, अब मैं पापीपिंजर का वर्णन करता हूँ। [१०१–१०४]

४. पापीपिंजर

चौथा उप-नगर पापीपिंजर है। महा पाप के जोर से जो पापी प्राणी इस नगर में रहते हैं, उनके दुःख का तो जब तक वे यहाँ रहते हैं तब तक इस महा दुःख का कोई विच्छेद/अन्त होता हो ऐसा सम्भव नहीं है। मोह राजा के सभामण्डप में बैठे तीसरे वेदनीय नामक राजा का मैंने जो पहले वर्णन किया था वह तो तुझे स्मरण ही होगा। उसके एक अनुचर असाता पर प्रसन्न होकर महामोह राजा ने इस पापीपिंजर नगर का राज्य जमींदारी के रूप में सौंप रखा है। यह असाता परमाधामी नामक अपने अनुचरों द्वारा यहाँ रहने वाले लोगों को अनेक प्रकार से कदर्थना करवाता है। ये परमाधामी प्राणी को कैसा-कैसा त्रास देते हैं, इसका वर्णन करना भी दुःशक्य है। परमाधामी यहाँ के निवासियों को पिघला हुआ तांबा पिलाते हैं, उनके शरीर के सैकड़ों टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं, उन्हीं का मांस उन्हें खिलाते हैं, धधकती अग्नि में उन्हें जलाते है, उन्हें वज्र सदृश कांटेदार शाल्मलिवृक्ष पर चढ़ाते हैं, खून से भरी वैतरणी नदी तैरकर पार करवाते हैं, करुणाहीन होकर असिपत्र वन में प्राणियों को चला कर उनके अंग छेदते हैं, भाले-बरछी तोमर मारते हैं, लोह के नाराच बाण मारते हैं, तलवार और गदाओं से मारते हैं, कुम्भीपाक में पकाते हैं, आरी से चीरते हैं और कादम्बरी अटवी की गरम-गरम बालुका में चने की भांति भूनते हैं। (अत्यन्त अधम परमाधामी असुर नारकीय जीवों को इतना अधिक त्रास देते हैं कि उनको सुनकर भी मन में अत्यन्त ग्लानि होती है। नारकीय जीवों को सताने में ही इन असुरों को आनन्द आता है, वे इस कार्य को अच्छा मानते हैं।) [१०५–११२]

पापीपिंजर उप-नगर में सात मोहल्ले हैं। इनमें से पहले के तीन मोहल्लों में परमाधामी देव (असुर) पूर्व-वर्णित दुःख देते हैं। अन्य तीन मोहल्लों के निवासी परस्पर ही एक दूसरे को दुःख देते हैं, कदर्थना करते हैं, मारते हैं, कूटते हैं और एक दूसरे से लड़ाई-झगड़ा करते रहते हैं। इस प्रकार चौथे, पांचवें और छठे विभाग (नरक) के निवासी परस्पर पीड़ा पहुँचाते हैं। सातवें विभाग के निवासियों को वज्र जैसे तीक्ष्ण कांटे चुभाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त नरक के प्राणी भूख और प्यास से तड़फते हैं। वहाँ ठण्ड इतनी अधिक है कि ठिठुर कर लकड़ी के ठूंठ जैसे हो जाते हैं। वेदना से घबरा कर पागल जैसे हो जाते हैं। पल में प्रवाही और पल में ठोस बन जाते हैं। क्षण भर में शरीर से अलग और दूसरे ही क्षण शरीर से जुड़ जाते हैं। (उनके शरीर पारे जैसे पदार्थ के होने से वे इन सब स्थितियों को सह लेते हैं, फिर भी मरते नहीं। वे वैक्रिय शरीरधारी होते हैं, अतः अनेक प्रकार की विक्रिया/भिन्न-भिन्न रूप धारण कर सकते हैं।) पापीपिंजर नगर के निवासियों को इतनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक पीड़ा होती है कि जिसका वर्णन करने में कोटि जिह्वाएं (बृहस्पति) भी असमर्थ है। वत्स ! यह पापीपिंजर नगर तो पूर्णरूप से एकान्त दुःखमय है, कष्टों से परिपूर्ण और क्लेशों से व्याप्त है। मैंने संक्षेप में इसका वर्णन किया है।

[११३-११८]

मैंने तेरे समक्ष मानवावास, विबुधालय, पशुसंस्थान और पापीपिंजर इन चारों उप-नगरों का वर्णन किया। भैया ! इन चारों का स्वरूप यदि तूने सम्यक् प्रकार से समझ लिया तो समझले कि तूने भवचक्र नगर का भलीभांति निरीक्षण कर लिया। [११९]

मामा के वचन सुनकर भगिनीसुत प्रकर्ष ने अपनी दृष्टि को आदरपूर्वक भवचक्र नगर की तरफ से घुमा लिया। [१२०]

❀

२८. सात पिशाचिनें

मामा-भाणेज बातें कर रहे थे। बहिन भारती (बुद्धि) का पुत्र प्रकर्ष आनन्दपूर्वक सविशेष अवलोकन कर रहा था। विमर्श से स्पष्टीकरण सुनकर आनन्दित हो रहा था और कौतूहल से नये-नये प्रश्न पूछ रहा था। जब वह भवचक्र नगर का अवलोकन कर रहा था, दृष्टि को चारों ओर घुमाकर आश्चर्य से देख रहा था और प्रश्न पूछकर स्पष्टीकरण करवा रहा था, तभी उसने एक अति विचित्र और हृदयद्रावक दृश्य देखा।

पिशाचिनी महेलिकाओं (स्त्रियों) के दर्शन : परिचय

यह दृश्य देखकर प्रकर्ष चौंका, उसके मुख पर ग्लानि के चिह्न स्पष्ट दिखाई देने लगे और घबराते हुए विमर्श से पूछने लगा—अरे मामा ! देखिये तो यहाँ सात महेलिकायें (स्त्रियाँ) दिखाई दे रही हैं जो एकाएक ध्यान आकर्षित करें ऐसी हैं। इनकी आकृतियाँ अति रौद्र एवं बीभत्स हैं और वे लोगो को पीड़ा देने वाली लगती हैं। इनके उग्ररूप से ऐसा जान पड़ता है कि वे सर्व शक्ति-सम्पन्न हैं और समस्त स्थानों को इन्होंने आक्रान्त कर रखा है। तवे जैसे काले रंग वाली वैतालिनों सी वे स्त्रियाँ देखने में अति बीभत्स लग रही हैं। लगता है इनका नाम सुनकर ही लोगों को कंपकंपी छूट जाती होगी। मामा ! ये सात स्त्रियाँ कौन हैं ? इनका क्या कार्य है ? इनको प्रेरणा देने वाला कौन है ? इनमें कितनी शक्ति है ? इनके परिवार में और कौन-कौन हैं ? इनकी आकृति से ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वे किसी को पीड़ित करने के लिये दृढ़ निश्चय पूर्वक तैयार हैं। जब तक आप मुझे

❀ पृष्ठ ४२१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह सब बात नहीं समझायेंगे, मुझे लगता है तब तक भवचक्र नगर का वर्णन अधूरा ही रहेगा। अतः मुझ पर कृपा कर इन सातों भयंकर स्त्रियों के बारे में मुझे समझाइये।

उत्तर में विमर्श बोला—वत्स ! इन सातों स्त्रियों के बारे में तुझे विस्तार से बता रहा हूँ, ध्यान पूर्वक सुन। इन अति रौद्र दिखाई देने वाली सातों स्त्रियों के नाम अनुक्रम से जरा, रुजा (व्याधि), मृत्यु, खलता (दुष्टता), कुरूपता, दरिद्रता और दुर्भगता (दौर्भाग्य) है। अब इन सात पिशाचिनों के बारे में तुमने जो प्रश्न पूछे उनका उत्तर दे रहा हूँ। [१२०–१२७]

१. जरा

प्रकर्ष ! तुझे कर्मपरिणाम महाराजा और कालपरिणति महारानी के बारे में तो याद ही होगा। वह महारानी सब कार्य समयानुसार करती है। इस महादेवी ने ही इस प्रथम पिशाचिन जरा (वृद्धावस्था) को इस भवचक्रपुर में भेज रखा है। यद्यपि इसको प्रेरित करने में कुछ बाह्य कारण भी हैं, जैसे अधिक नमक आदि का प्रयोग (और अधिक संभोग) बुढ़ापे को जल्दी लाते हैं। जरा की शक्ति कैसी है ? सुन। जब यह प्राणी के पास आकर प्राणी को आश्लेष (आलिंगन) में लेती है तब प्राणी के समस्त सुन्दर वर्ण, रूप, लावण्य और बल का पूर्णरूपेण हरण कर लेती है। जब यह प्राणी को प्रबल वेग के साथ आलिंगन-पाश में जकड़ती है तब उसकी बुद्धि को भी भ्रष्ट कर देती है। (कहावत भी है कि 'साठी बुद्धि नाठी।') बलवान प्राणी की भी यह अति शोचनीय दशा बना देती है। इसके आने पर कपाल में रेखायें, सफेद बाल, गजापन, शरीर में काले तिल और चकत्ते, शिथिल अवयव, कुरूपता, कंपकपी, चिड़चिड़ापन, बड़बड़ाना, शोक, मोह, शिथिलता, दीनता, चलने की शक्ति का ह्रास, अन्धापन, बहरापन, दन्तहीनता और वायु का प्रकोप आदि भी साथ-साथ ही चलते हैं। जरा के साथ उसका यह समस्त परिवार भी आता है और समय-समय पर अपना प्रभाव बतलाता है। वायु सब से पहले आता है और इसके आने से शरीर के अंग-प्रत्यंग के जोड़-जोड़ दुःखने लगते हैं, अर्थात् जैसे-जैसे शरीर में जीवन-शक्ति मन्द होती जाती है वैसे-वैसे वायु का प्रकोप बढ़ता जाता है। इस सब परिवार के साथ जरा मदमस्त गन्ध हस्तिनि की तरह भवचक्रपुर में आनन्द से मस्त होकर घूमती है। ऐसा है जरा का परिवार, आया कुछ समझ में ? भैया ! अब प्राणी की महान शत्रु यह जरा निश्चय पूर्वक किसको पीड़ा देती है ? इस प्रश्न का उत्तर भी सुनो। [१२८–१३५]

यौवन

इस कालपरिणति महादेवी के अति सामर्थ्यवान उद्दाम पौरुष वाला (अरबी घोड़े जैसा) यौवन नामक अनुचर (नौकर) है। यह यौवन भी योगी है और कालपरिणति की आज्ञा से प्राणियों के शरीर में प्रवेश करता है। अपनी योगशक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से यह प्राणियों को बल, ऊर्जा और मनोहारी आकार/स्वरूप देता है। ❀ फिर यह यौवन प्राणी अनेक प्रकार की विलास लीलायें करवाता है। हँसाता है, चस्के भराता है, उल्टे सीधे विचार करवाता है, विपरीत पराक्रम दिखलाता है, कूद फांद करवाता है, नचाता है, उल्लसित करता है दौड़ाता है और इन सब कार्यों में अपना मद दिखाता है। अभिमान करवाता है, पराक्रम करवाता है, विदूषकपना दिखलाता है, हँसी-ठट्ठा करवाता है, साहस करवाता है और औद्धत्यपूर्ण कार्य करवाता हैं। ऐसे कार्यकर्ता योद्धाओं को अपने साथ लाकर यौवन ससार को लीला पूर्वक नचाता है। भवचक्र के निवासी लोग भी ऐसे विचित्र हैं कि जब वे यौवन के सम्पर्क प्रभाव में आते हैं तब भोग-सभोग के सुखों को प्राप्त कर वे अपने को सौभाग्यशाली समझ बैठते हैं। कालपरिणति महादेवी द्वारा भेजा हुआ यह योगी थोड़े दिनों तक तो अपने वीर्य से इसी तरह लोगों को नचाता रहता है। यह साक्षात् पिशाचिनी जरा कुपित होकर हाथ में तलवार लेकर यौवन और उसके परिवार को अपनी शक्ति से चूर-चूर कर देती है, उनके टुकड़े-टुकड़े कर देती है और उसे निर्वीर्य कर देती है। वत्स! इस स्थिति के आने पर लोगों का यौवन समाप्त होकर बुढ़ापा आ जाता है तब वे बेचारे हजारों दुःखों में पड़ जाते हैं। रंक जैसे अत्यन्त दीन-हीन हो जाते हैं। उनकी अपनी स्त्रियाँ ही उन्हें धिक्कारती हैं। उनके कुटुम्बीजन भी उनका तिरस्कार करते हैं। उनके बच्चे भी उनकी हंसी उड़ाते हैं। युवती स्त्रियाँ तो उनकी ओर तिरस्कृत दृष्टि से देखती हैं। जराक्रान्त वे अपने यौवन में भोगे हुए भोगों को बार-बार खेद पूर्वक याद करते हुए हाथ मलते रहते हैं। बार-बार उबासी खाते हुए टूटी-फूटी खटिया पर पड़े-पड़े लौटते रहते हैं। उनके नाक में से श्लेष्म निकलता रहता है। वे बात बात में लोगों पर गरम होते रहते हैं। अपना आपा खोते तो उन्हें समय ही नहीं लगता। अन्य द्वारा अनादर प्राप्त कर वे पग-पग पर क्रोधित होते हैं और जरा द्वारा पराभव प्राप्त गतिहीन प्राणी दिन-रात सोते रहते है। भाई प्रकर्ष! लोगों को पीड़ा प्रदान करने में तत्पर रहने वाली जरा पिशाचिनी का वर्णन संक्षेप में कर दिया, अब मैं राक्षसी के समान रौद्र दिखने वाली रुजा का वर्णन करता हूँ। [१३६-१४६]

२. रुजा

दूसरी स्त्री रुजा (व्याधि, बीमारी) नामक भयंकर पिशाचिन है। देख, यह जरा के दांये बाजू बैठी है। सात राजाओं के वर्णन के समय पहले मैंने वेदनीय राजा का वर्णन किया था, शायद तुझे याद होगा। उसी समय मैंने उसके साथ बैठे हुए असाता नामक उसके एक मित्र का भी वर्णन किया था। इस दुरात्मा की प्रेरणा से ही यह व्याधि यहाँ आई है। यद्यपि कुछ आचार्य इस व्याधि को प्रेरित करने वाले कुछ बाह्य निमित्तों को भी मानते हैं, जैसे बुद्धि, धैर्य और स्मरण शक्ति के नाश से व्याधि आती है, समय के परिपक्व होने और अशुभ कर्म फल के योग (उदय) से

❀ पृष्ठ ४२९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी व्याधि आती है, प्रतिकूल वस्तुओं के उपयोग से भी व्याधि आती है, वात, पित्त और कफ की विषमता से भी व्याधि आती है तथा राजस् और तामस् गुण की वृद्धि से भी व्याधि आती है, परन्तु वस्तुतः इन बाह्य निमित्त कारणों को प्रेरित करने वाला भी असाता ही है, अतः व्याधि को प्रेरित करने में मूल कारण भी वही है। यह व्याधि भी अपने योगबल से मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट होकर अपनी शक्ति से उसके शरीर सौष्ठव और स्वास्थ्य का नाश कर रोगग्रस्त बना देती है। बुखार, अतिसार, कोढ, अर्श, प्रमेह, यकृत्वृद्धि, धूम्र, अपच, संग्रहणी, उदर एवं कटिशूल, हिचकी, श्वास, क्षय, गोला, वायु, हृदयरोग, मूर्छा, प्रबल हिचकी, कंपकपी, खाज, दाद, अरुचि, सूजन, भगंदर, कण्ठरोग, चर्मरोग, जलोदर, सन्निपात, अतिप्यास, सरदी, नेत्ररोग, सिरदर्द, धनुर्वात आदि बीमारियाँ इस रुजा के परिवार के योद्धा हैं। परिवार के प्रताप से यह रुजा महाबलशालिनी है, अतः हे भैया ! इस पर विजय प्राप्त करना बहुत कठिन है। [१४७-१५६]

नीरोगता

वेदनीय राजा के साता नामक योद्धा ने भी अपनी ओर से एक बहुत अच्छी स्त्री नीरोगता को भवचक्र में भेजा है। ❀ यह यहाँ के निवासियों को सुन्दर रूप, रंग, शरीर, बल, बुद्धि, धैर्य, स्मृति और निपुणता प्रदान कर अनेक प्रकार के सुख और आनन्द का भोग करवाती है। पर, यह दारुण रुजा पिशाचिन नीरोगता को क्षण भर में नष्ट कर देती है और देखते-देखते ही प्राणियों के शरीर और मन में अनेक प्रकार की भयंकर पीड़ा पैदा कर देती है। हे वत्स! नीरोगता को समाप्त करने के लिये यह व्याधि प्राणियों से इस प्रकार चिपकती है कि एक बार प्राणी पर अपनी चढ़ाई करने के पश्चात् उस प्राणी से ऐसी-ऐसी चेष्टायें, चीख-पुकार और चिल्लाहट मचवाती है कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जैसे, व्याधि की चढ़ाई होने पर प्राणी अत्यन्त दीन स्वर से रोता है, विकृत शब्दों (विकार युक्त स्वर से) क्रन्दन/कोलाहल करता है, गहरी निसांसे छोड़ता है, तीव्र स्वर से रोता है, विह्वल होकर चिल्लाता है, दीन (तुच्छ) वचन बोलता है, बार-बार लम्बी चीसें मारता है और जमीन पर इधर-उधर लोटता है। उसके पास ही क्या हो रहा है, इसकी भी उसे खबर नहीं रहती। अचेतन होकर निरन्तर व्याधि की पीड़ा में पचता रहता है। प्रतिदिन शोक में घबराया हुआ उद्विग्न दिखाई देता है। जैसे अब उसकी रक्षा करने वाला कोई न हो इस प्रकार दीन/अनाथ जैसा विक्लव दिखाई देने लगता है। भय से उद्भ्रांत दिखाई देता है। नरक के नारकीय प्राणी जैसा दिखावा वह व्याधि के प्रभाव से यहीं करने लगता है। भय से पागल हो जाता है। हे वत्स ! इस प्रकार इस भवचक्र नगर में यह पापिनी रुजा नीरोगता को नष्ट कर प्राणियों को अनेक प्रकार की पीड़ा पहुँचाती हैं जिससे विश्व के प्राणी उससे पीड़ित, दबे हुए, कुचले हुए और अत्यन्त दुःखी दिखाई देते हैं। [१५७-१६४]

❀ पृष्ट ४२३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे वत्स ! इस प्रकार मैंने तेरे समक्ष रुजा पिशाचिनी का संक्षेप में वर्णन किया, अब मैं तीसरी पिशाचिन मृति का वर्णन करता हूँ, सुन ।

मृति (मृत्यु/मरण)

तीसरी अति दारुण दिखाई देने वाली स्त्री का नाम मृति (मृत्यु) है। इसने तो सम्पूर्ण भवचक्रपुर को अपने पांव तले रौंद कर दबा रखा है । इसका अति संक्षिप्त विवरण सुनाता हूँ उसी से तू समझ जायगा कि यह कौन है ? चित्तविक्षेप मण्डप में जिन सात राजाओं का वर्णन मैंने पहले किया है, उन्हीं में से एक आयु नामक राजा भी था जिसके साथ चार अनुचर थे, तुझे याद होगा । इस आयु के क्षय से ही मृत्यु प्रवर्तित होती है । यह सत्य है कि इसकी विचित्र प्रवृत्ति के सैकड़ों बाह्य कारण भी हैं, जैसे विष से, अग्नि से, शस्त्र से, जल में डूबने से, पर्वत-पतन से, घोर भय से, भूख से, व्याधि से, सर्पदंश से, असह्य तृषा, शीत, गर्मी, लू आदि से, अधिक श्रम और अधिक वेदना से, अधिक आहार के परिणामस्वरूप अपच से, अधिक दुर्ध्यान से, थम्भे दीवार या वाहन से टकराकर, अति भ्रम से, श्वासोच्छ्वास मल-मूत्र आदि के रुक जाने से और ऐसे ही अन्य-अन्य कारणों से भी मृत्यु का आवागमन दिखाई देता है । परन्तु, इन सब को प्रेरित करने वाला और इन बाह्य कारणों को एकत्रित करने वाला मूल कारण तो आयुराज का क्षय ही है । वस्तुतः आयु क्षय होते ही मृति (मृत्यु) प्राणी को जकड़ लेती है । इस मृत्यु में कितना सामर्थ्य है, यह भी सुनले । यह क्षण मात्र में प्राणियों की श्वास को रोक देती है, वाणी को बन्द कर देती है, हिलना-डुलना बन्द कर देती है, चेतनाहीन कर देती है, खून का पानी कर देती है, शरीर और मुंह को विकृत एवं लकड़ी जैसा कठोर बना देती है । इसके आगमन के पश्चात् यदि शरीर कुछ अधिक देर पड़ा रह जाय तो उसे दुर्गन्ध से परिपूर्ण बना और प्राणी को सर्वदा के लिए दीर्घ निद्रा में सुला देती है ।

[१६५-१७१]

अन्य पिशाचिनें तो अपनी सहायता के लिये अपने साथ अपना परिवार रखती हैं, पर यह मृत्यु तो अकेली ही अपना सब काम कर लेती है । इसको न तो किसी की सहायता की ही आवश्यकता है और न यह किसी को अपने साथ ही रखती है । यह अकेली ही अपना तीव्र प्रबल शक्ति से सब कार्य पूरा कर लेती है । इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण त्रैलोक्य में सभी चराचर प्राणी यहाँ तक कि स्वयं देवेन्द्र और चक्रवर्ती भी इसके नाम मात्र से कांप उठते हैं । महान शक्ति, बल और तेज वाले त्रिभुवन प्रसिद्ध व्यक्ति भी इसका नाम सुनकर भय से कातर बन जाते हैं । भैया ! जिसका स्वयं का इतना सामर्थ्य हो उसे परिवार की क्या आवश्यकता है ? संसार के अत्यन्त अद्भुत कार्य यह दूर रहकर अकेली हो कर लेती है, इसलिये यह पिशाचिन * अपने ऐश्वर्य के मद में स्वच्छन्दचारिणी बनकर विचरती है, घूमती है और अपनी शक्ति का सर्वत्र प्रयोग करती है । इसे किसी अपेक्षा या सहायता की

* पृष्ठ ४२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकता नहीं है। कोई भी भवचक्र निवासी चाहे चक्रवर्ती हो या रंक, बुड्ढा हो या जवान, शक्तिशाली हो या निर्बल, धैर्यशाली हो या कायर, आनन्दमग्न हो या आपद्ग्रस्त, मित्र हो या शत्रु, तपस्वी हो या गृहस्थ, सज्जन हो या दुर्जन, संक्षेप में किसी भी अवस्था वाले प्राणी पर यह अपनी शक्ति का प्रयोग सम्यक् रीति से पूर्णरूपेण करती है। [१७२–१७६]

जीविका (जीवन)

आयुराज की अंगभूत उसकी प्राणप्यारी जीविका नामक स्त्री है जो विश्व प्रसिद्ध है। यह लोगों को आह्लादित करने और उन्हें प्रसन्न रखने में बहुत कुशल है और अपना कर्त्तव्य प्रतिदिन सुचारु रूप से करती रहती है। इसी के प्रताप से लोग अपने-अपने स्थान पर सुख से रहते हैं, इसी हितकारी गुण के कारण यह समस्त लोगों को अत्यधिक प्रिय है। इतनी सुन्दर जीविका (जीवन) का खून कर यह क्रूर पिशाचिन मृत्यु लीलापूर्वक बेचारे लोगों को स्व-स्थान से खींचकर अन्य स्थानों में धकेल देती है। इतना ही नहीं, यह लोगों को इतने विकृत एवं दूषित स्थानों पर धकेलती है कि वे फिर अपने मूल स्थान पर भी नहीं आ सकते और ढूंढने पर भी नहीं मिल पाते। जैसे रिपुकम्पन को पुत्र-मरण के सदमे के बहाने से इस मृत्यु ने आकर उसे वहाँ से निकाल कर कहीं दूर फेंक दिया। इस मृत्यु के आदेश से जब लोग अन्य स्थान पर जाते हैं तब वे यहाँ का धन, घर-गृहस्थी, सगे-स्नेही, सम्बन्धी आदि सब को यहीं छोड़कर अकेले ही चले जाते हैं। धन, गृह आदि सब को प्राप्त करने में चाहे जितने प्रयत्न किये हों, किन्तु इन सब को यहीं छोड़कर मात्र अच्छे-बुरे कर्मों का फल साथ लेकर लम्बी यात्रा के लिये एकाकी ही निकल जाते हैं और सुख-दुःख से पूर्ण मार्ग पर चल पड़ते हैं। उसके लड़के या सगे-सम्बन्धी कुछ समय तक रोते-धोते हैं, शोक मनाते हैं फिर सब अपने-अपने काम में लग जाते हैं, खाते-पीते हैं और सब व्यवहार करते हैं। धनलिप्सु अपने भोग एवं स्वार्थ के लिये मरने वाले के धन के हिस्से करते हैं और उसके लिये परस्पर ऐसे लड़ते हैं जैसे कुत्ते मांस के एक टुकड़े के लिये आपस में लड़ते हैं। धन एकत्रित करने में यदि प्राणी ने प्रचुर पाप का बन्ध किया है तो वह तो मृत्यु के आदेश से उस धन को छोड़कर अन्यत्र चला जाता है और उस प्रचुर पाप के फलस्वरूप करोड़ों प्रकार के दुःख सहन करता है। (पीछे रहने वाले उसके धन के लिये भले ही लड़ मरें, पर मरने वाले के दुःख में हिस्सा बटाने कोई नहीं जाता।) हे वत्स ! यह मृत्यु पिशाचिन ऐसी अत्यन्त त्रासदायी स्थिति उत्पन्न करती है जिसका वर्णन मैंने तेरे समक्ष किया है। यह मृत्यु भवचक्र निवासियों को भिन्न-भिन्न आकार के स्थानों में भिन्न-भिन्न रूपों में घुमाती रहती है। एक स्थान से दूसरे स्थान और दूसरे स्थान से तीसरे स्थान यों इधर-उधर घुमाना ही इसका काम है। [१८०–१८६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. खलता

अब तेरे कौतुक को शान्त करने के लिए चौथी खलता (दुष्टता) पिशाचिन का स्वरूप बताता हूँ, इसे तू ध्यानपूर्वक श्रवण कर। हे वत्स! मूल राजा कर्म-परिणाम के सेनापति पापोदय इस खलता (दुष्टता) को प्रेरित कर भवचक्रपुर में भेजता है। दुर्जन की संगति और उसके साथ के विशेष सम्बन्ध से भी यह प्रेरित होती हुई जान पड़ती है, पर तत्त्वदृष्टि से देखने पर वास्तव में पापोदय ही इसकी प्रेरणा का मूल कारण है, क्योंकि दुर्जनों की संगति भी पापोदय के कारण ही होती है। जब दुष्टता शरीर में प्रविष्ट होती है तब वह अपनी शक्ति अनेक प्रकार से प्रकट करती है। यह प्राणियों के मन को पाप की ओर प्रेरित करती है, पाप करने की इच्छा उत्पन्न करती है और पाप के प्रति प्रेम पैदा कर उसे पाप-परायण बना देती है। शठता (लुच्चाई), चुगली, बुरा व्यवहार, परनिन्दा, गुरुद्रोह, मित्रद्रोह, कृतघ्नता निर्लज्जता, अभिमान, मात्सर्य, परमर्म उद्घाटन, धृष्टता, परपीडा, * ईर्ष्या आदि को इस खलता (दुष्टता) के सहचारीजन समझना। [१६०-१६५]

सौजन्य

कर्मपरिणाम महाराजा का दूसरा पुण्योदय नामक एक महान उत्तम सद्गुणी सेनापति भी है। यह पुण्योदय अपने अनुचर सौजन्य नामक श्रेष्ठ पुरुष को भी भवचक्र नगर में भेजता है। यह सौजन्य अपने साथ शक्ति, धैर्य, गम्भीरता, विनय, नम्रता, स्थिरता, मधुरवचन, परोपकार, उदारता, दाक्षिण्य, कृतज्ञता, सरलता आदि अनेक योद्धाओं को साथ लेकर आता हैं। हे प्रकर्ष! यह सौजन्य जब मानव के सम्पर्क में आता है तब वह अपनी शक्ति से मनुष्यके मन को एकदम निर्मल और अमृत जैसा प्रशस्त बना देता हैं। यह विशुद्ध धर्म और लोक-मर्यादा को स्थापित कर स्थिर रखता है, लोगों में सदाचार प्रवर्तित करता है, सच्ची मित्रता बढ़ाने का परामर्श देता है और परस्पर सच्चा विश्वास पैदा करता है। सब से बड़ी बात तो यह है कि इसी भवचक्रपुर में ही किसी-किसी प्राणी को अपने अत्यन्त सौजन्य के योग से मिथ्यात्व का हरण कर इतनी प्रशस्त बुद्धि प्रदान करता है कि वह सामान्य जन-प्रवाह से अत्यधिक उत्कृष्ट बनकर अनुकरण योग्य बन जाता है। हे वत्स! ऐसा श्रेष्ठतम कार्य करने वाले इस सौजन्य से यह खलता पिशाचिन शत्रुता रखती है। इसका कारण स्पष्ट है, सौजन्य अमृत है तो खलता कालकूट से भी अधिक तेज विष है। यह पापिष्ठ मन वाली स्त्री अपने पराक्रम से सौजन्य का खून करती है और स्वकीय परिवार के साथ इस नगर के निवासियों के पीछे ऐसी क्रूर कठोरता से पड़ जाती है कि बस फिर कुछ कहा नहीं जा सकता। जिस प्राणी में इस खलता की प्रबलता हो जाती है वहाँ से सौजन्य तो आहत होकर चला ही जाता है। उसके जाने के बाद फिर प्राणी जैसी चेष्टाएं करता है उसका वर्णन कठिन है, तथापि

* पृष्ठ ४२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संक्षेप में दिग्दर्शन कराता हूँ। दुष्टता के प्रभाव में आकर मनुष्य मायावी बनकर अनेक प्रकार के कपट करता है, अन्य को ठगने का प्रयत्न करता है, द्वेष-यन्त्र से पिसता रहता है, अर्थात् द्वेषमय बन जाता है, स्नेह सम्बन्ध को तिलांजलि दे देता है और स्पष्टतः दुर्जन बन जाता है। उसकी ऐसी स्थिति बन जाती है कि एक भी अच्छा कार्य यदि उसका स्पर्श भी कर ले तो वह अपने को भ्रष्ट हुआ मानने लग जाता है। अपने परिचितों के समक्ष वह कुत्ते की तरह भोंकता रहता है। अपने निकट सम्बन्धी को खा जाने में तो वह कुत्ते से भी अधिक बढ़ जाता है। अपनी जाति और समुदाय के रीति-रिवाजों से अलग होकर चलता है। अन्य की गुप्त बातों को प्रकट करता है। स्थिर मनुष्यों को भी अस्थिर बना देता है। स्थिर कार्य को नियमबद्धता को चूहे की तरह छिन्न-भिन्न कर सर्वत्र उद्वेग पैदा कर देता है, सम्पूर्ण वातावरण को विषमय बना देता है और जीवन को बोझिल बना देता है। वह खलता से आहत होकर मन में एक बात सोचता है, वचन से अन्य प्रकट करता है और कार्यरूप में किसी तीसरी बात को ही करता है। अपनी अनुकूलता के अनुसार कभी वह तप्त हो जाता है और कभी प्रतिकूल अवसर आ पड़ने पर कपट पूर्वक ठंडा पड़ जाता है। कभी न अधिक गर्म और न अधिक ठण्डा ऐसी मध्यम स्थिति धारण कर लेता है। तात्पर्य यह है कि वह सन्निपात ग्रस्त मनुष्य के समान अपनी एकरूपता (एक जैसी स्थिति) नहीं रख सकता। अर्थात् दुर्जनता को अच्छा लगे ऐसे अवसरानुकूल रूप धारण करता रहता है। भैया! तुम्हें इस पिशाचिन के बारे में जानने की इच्छा थी इसीलिये संक्षेप में तुझे बता दिया है, वैसे मुझे तो इस पिशाचिन के वशीभूत लोगों का नाम लेना भी अच्छा नहीं लगता।

[१९६-२०९]

प्रकर्ष! इस चौथी पिशाचिनी खलता का लेशमात्र वर्णन किया अब मैं तुझे पांचवी कुरूपता नामक दारुण स्त्री के विषय में बताता हूँ।

५. कुरूपता

चित्तविक्षेप मण्डप के वर्णन के समय ४२ अनुचरों से घिरे हुए नाम नामक पाँचवें राजा का वर्णन किया था, वह तो तुझे याद ही होगा। इस राजा ने ही दुष्टता के कारण कुरूपता को भवचक्र में भेजा है। कुरूपता को प्रेरित करने वाले कई बाह्य कारण भी हैं, जैसे अनियमित और दूषित आहार-विहार के फलस्वरूप शरीर-स्थित कफ आदि कुपित होते हैं जिसके परिणाम स्वरूप कुरूपता आती है, * पर तात्त्विक दृष्टि से तो इसे प्रेरित करने वाला नाम कर्म राजा ही है। इसमें इतना अधिक शक्ति प्राचुर्य है कि जब वह प्राणी के शरीर में प्रविष्ट हो जाती है तब उसकी आँखों में महान उद्वेग पैदा हो ऐसा रूप धारण करवाती है। यह प्राणी में लंगड़ापन, कुबड़ापन, ठिगणापन, अन्धता, विवर्णता, अंगोपांगहीनता, ताड जैसा लम्बापन व अन्य शारीरिक विषमताएं पैदा करती है। लंगड़ापन आदि ही

* पृष्ठ ४२६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुरूपता के परिवार हैं और वे इसके साथ ही आते हैं। अपने परिवार के साथ यहाँ आकर यह पिशाचिन आनन्द से विलास करती है और निरन्तर मन ही मन मुस्कराती रहती है। [२१०–२१२]

सुरूपता

इन्हीं नाम कर्म महाराजा ने प्रसन्न होकर सुरूपता नामक अपनी एक दासी को भी भवचक्र में भेज रखा है। सुरूपता को उत्पन्न करने में यद्यपि कुछ बाह्य कारण भी हैं, जैसे अच्छे और नियमित आहार-विहार से कफादि प्रकृतियाँ नियमित रहने के कारण प्राणी की आकृति सुन्दर बनती है, परन्तु इसका तात्त्विक कारण तो नाम महाराज द्वारा प्रेरित सुरूपता ही है। जब यह भवचक्र नगरस्थ प्राणी में प्रविष्ट होती है तब उसका रूप इतना सुन्दर और आकर्षक बना देती है कि देखने वाले की आँखें तृप्त और हर्षित हो उठती हैं। उसकी आकृति अत्यन्त रमणीय बना देती है, नेत्र कमल जैसे और शरीर के प्रत्येक अवयव को योग्य स्थान पर शोभा देने वाला लम्बा, छोटा, मोटा या पतला आवश्यकतानुसार बना देती है। उसकी चाल हाथी की चाल जैसी मनोरम और साक्षात् देवकुमार जैसा रूप बना देती है। सुरूपता अपनी शक्ति से लोगों को आह्लादित करने वाला रूप प्रदान कर प्रसन्न होती है। सुरूपता और कुरूपता में स्वाभाविक शत्रुता है। सुरूपता का हनन कर यह राक्षसी कुरूपता योगिनी के समान प्राणियों के शरीर में प्रविष्ट होती है। कुरूपता के प्रविष्ट होने से बेचारे प्राणी सुन्दर रूप और आकृति से हीन होकर कुरूप बनकर ऐसे भद्दे लगते हैं कि उनके सामने देखने से भी लोगों के नेत्रों में उद्वेग पैदा हो जाता है। वे आदेय नाम कर्म-रहित हो जाते हैं जिससे कोई उनकी बात नहीं मानता। निरन्तर हीनभावना-ग्रस्त होने के कारण वे लोगों में हास्यास्पद बन जाते हैं। अपने रूप का गर्व करने वाले मूर्ख लोग उनको देखकर हंसते हैं और उनकी कुरूपता पर टीका करते हैं। इसके अतिरिक्त ठिंगने, कुबड़े आदि कुरूप लोग अधिकांश में गुणरहित भी होते हैं। व्यवहार में वे बहुत अच्छे तो शायद ही हो पाते हैं, क्योंकि 'आकृतौ च वसन्त्येते प्रकृत्या निर्मला गुणाः' सामान्य तौर पर अच्छी आकृति वाले लोगों में निर्मल गुण स्वभावतः ही पाये जाते हैं। इस प्रकार यह कुरूपता जगत में अनेक प्रकार की विडम्बना पैदा करने वाली है। इसका निरूपण संक्षेप में किया है जो तेरी समझ में आ गया होगा। [२१७–२२४]

६. दरिद्रता

भाई प्रकर्ष ! अब दरिद्रता नामक छठी पिशाचिन के बारे में तुझे बताता हूँ, ध्यान से सुनो। दरिद्रता को प्रेरित कर यहाँ भेजने वाला तो पापोदय नामक सेनापति ही है, जो खलता (दुष्टता) को यहाँ भेजता है वही दरिद्रता को भी भेजता है। यह अवश्य है कि पापोदय दरिद्रता को यहाँ भेजने के समय अन्तराय नामक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सातवें राजा को आगे कर देता है। यद्यपि दरिद्रता का वास्तविक कारण तो पापोदय ही है, तथापि बाह्य दृष्टि से देखने पर दरिद्रता के अनेकों बाह्य कारण दिखाई देते हैं और वे ही इसके कारण हैं ऐसा लोग मानते हैं। ये बाह्य कारण कौन-कौन से हैं? यह भी बता देता हूँ। जैसे बाढ़, आग, लुटेरे, राजा, सम्बन्धी, चोर, जुआ, शराब, अत्यधिक सम्भोग, वेश्यागमन, दुश्चरित्रता आदि। इसके अतिरिक्त भी जिन-जिन कारणों को अपनाने से धन का नाश होता हो, उन सब को दरिद्रता को प्रेरित करने वाले हेतु समझने चाहिये। परन्तु, तत्त्व-दृष्टि से तो पापोदय सेनापति ही अन्तराय नामक सातवें राजा के द्वारा इन बाह्य कारणों को प्रवर्तित करता है, अतः वही वास्तविक कारण है। वत्स! दरिद्रता प्राणी को कैसी दशा कर देती है, वह भी सुन। यह प्राणी को ऐसा निर्धन बना देती है कि उसे धन की गन्ध भी नहीं आ सकती, फिर भी उसे झूठी आशा के फन्दे में फंसा कर ऐसा मूर्ख बना देती है कि जिससे उसे यह आशा बनी रहती है कि भविष्य में उसे अढलक धन प्राप्त होगा। दीनता, अनादर, मूढ़ता, अतिसन्तति, तुच्छता, भिक्षुकता, अलाभ, बुरी इच्छा, भूख, अति संताप, * कुटुम्ब-वेदना, पीड़ा, व्याकुलता आदि दरिद्रता का परिवार है। अर्थात् यह दरिद्रता राक्षसी जहाँ जाती है वहाँ दीनता और भूख तो साथ ही लेकर जाती है। [२२५–२३३]

ऐश्वर्य

कर्मपरिणाम राजा का दूसरा सेनापति पुण्योदय अपनी ओर से ऐश्वर्य नामक एक उत्तम पुरुष को भी यहाँ भेजता है जो लोगों को अत्यन्त आह्लादित करता है। इस ऐश्वर्य के साथ भलमनसाहत, अत्यधिक हर्ष, हृदय की विशालता, गौरव, सर्वजनप्रियता, ललितता, शुभेच्छा आदि आते हैं और प्राणी को धन-धान्य से परिपूर्ण कर देते हैं। यह ऐश्वर्य लोगों में प्राणी को बड़ा और आदरपात्र बनाता है, सुखी बनाता है, लोकमान्य बनाता है। ऐश्वर्य यह सब सुन्दर परिस्थिति खेल ही खेल में घटित कर देता है। भैया! दरिद्रता को जब इच्छा होती है तब अपने परिवार के साथ आकर ऐश्वर्य नामक इस आह्लादक नरोत्तम को मूल से उखाड़ फेंकने की चतुराई दिखा देती है, क्योंकि दरिद्रता और ऐश्वर्य क्षण भर भी एक साथ नहीं रह सकते। दरिद्रता के त्रास से ही ऐश्वर्य भाग खड़ा होता है। ऐश्वर्य के दूर होते ही प्राणी सम्पत्तिरहित हो जाता है। दुःख से आछन्न और विकल मन वाला होकर वह बहुत विफल प्रयत्न करता है। भविष्य में धन प्राप्ति की झूठी आशा के लालच से भिन्न-भिन्न उपाय करता है और फिर से धनवान बनने के लिए रात-दिन दुःखी बना रहता है। अनेक प्रकार से धन प्राप्ति के प्रयत्न करता है, किन्तु जैसे पवन का एक झोंका बादलों को बिखेर देता है वैसे ही पापोदय उसके सब प्रयत्नों को एक ही झपाटे में उलट देता है और बेचारे प्राणी के धन-प्राप्ति के सभी प्रयत्न

* पृष्ठ ४२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निष्फल कर देता है। फिर तो प्राणी रोता है, पछताता है, यह मानकर कि अपने प्रयत्न से जो धन उसे प्राप्त होने वाला था वह उसी का था। उसके न मिलने से मन में अत्यधिक खेद होता है और दूसरों का धन चुरा लेने या हड़प लेने का प्रयत्न करता है। अपने पास एक फूटी कौड़ी भी न होने से कल घी, तेल, अनाज, ईंधन आदि लाने के लिये पैसे कहाँ से आयेंगे, ऐसी कुटुम्ब की चिन्ता से दग्ध होने के कारण बेचारे को रात में नींद भी नहीं आती। इस चिन्ता से धन की प्राप्ति हेतु वह न करने योग्य कार्य करता है, धर्म-कर्म से विमुख हो जाता है। वह लोगों में लघुता प्राप्त करता है और उसकी गिनती तृण से भी तुच्छ होने लगती है। वह दूसरों का नौकर, चपरासी, दीन-हीन, भूख से अस्थिपिंजर, मैला-कुचैला, देखने मात्र से घृणा पैदा करने वाला और सैकड़ों दुःखों से ग्रस्त होकर प्रत्यक्ष नारकीय जीव जैसा दिखाई देने लगता है। ऐश्वर्य का नाश कर जब दरिद्रता प्राणी का आलिंगन करती है तब उसे जीवित होने पर भी मृत समान ही बना देती है। [२३३-२४६]

७. दुर्भगता [दौर्भाग्य]

वत्स प्रकर्ष ! तेरे सन्मुख दरिद्रता के स्वरूप का संक्षेप में वर्णन किया। अब तुझे जो सब के अन्त में खड़ी है उस दुर्भगता पिशाचिन के बारे में बताता हूँ, ध्यान पूर्वक श्रवण कर।

कर्मपरिणाम महाराज किसी-किसी प्राणी पर रुष्ट होकर इस विशालाक्षी दुर्भगता (दौर्भाग्य) को इस भवचक्र नगर में भेजते हैं। कई बाह्य कारण भी इसको प्रेरित करते हैं, जैसे विरूपता, भद्दी आकृति, बुरा स्वभाव, क्रूर कर्म और कटु वचन से भी दुर्भाग्य निकट आता है, पर ये इसके मूल कारण नहीं है, वास्तव में तो इसको प्रेरित करने वाला दौर्भाग्य नाम कर्म ही है। तत्त्वरहस्य को भली प्रकार समझने वाले विद्वान् पुरुष इसकी शक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह प्राणी को अप्रिय, अवांछित और द्वेष करने योग्य बना देती है। दीनता, अपमान, निर्लज्जता, प्रबल मानसिक दुःख, * न्यूनता, तुच्छता, लघुता, तुच्छवेश, अल्पबुद्धि, निष्फलता आदि इस दुर्भगता के पारिवारिकजन हैं। इस परिवार के बल पर बलशालिनी बनकर यह दुर्भगता इस भवचक्र नगर में जाती है और स्वच्छन्दता पूर्वक विचरण करती है। [२४८-२५३]

सुभगता

नाम कर्म महाराज ने प्रसन्न होकर इस भवचक्र नगर में लोगों को आनन्द देने वाली सुभगता नामक एक अपनी परिचारिका को भी भेज रखा है। यह परिचारिका भी अतिशय विश्रुत है। इस सुभगता के आते ही शारीरिक सौष्ठव, स्वास्थ्य, मानसिक सन्तोष, गर्व, गौरव, हर्ष, आशाजनक भविष्य और तिरस्कार का

* पृष्ठ ४२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभाव आदि भी स्वयं ही आ जाते हैं। भवचक्र नगर में विचरण करती हुई जब यह प्राणियों के सम्पर्क में आती है तब उन्हें आनन्दरस से परिप्लावित, सुखी, आदरणीय और सर्व प्राणियों को अपने प्रेमाकर्षण से मुग्ध करने वाला जनवल्लभ बना देती है, अर्थात् सर्व प्रकार से यह प्राणी के सौभाग्य को प्रस्फुटित करती है। वत्स ! दौर्भाग्य और सौभाग्य में स्वभाव से ही शत्रुता है, अतः जैसे हथिनी वृक्ष, लता आदि को मूल से ही उखाड़ फेंकती है वैसे ही यह दुर्भाग्यता भी सौभाग्यता को जड़ मूल से ही उखेड़ देती है। बेचारे जिन प्राणियों में से जब दुर्भगता इस सौभाग्यता को भगा कर अधिकार कर लेती है तब वे लोगों में प्रकृति (स्वभाव) से ही इतने अ प्रय हो जाते हैं कि अपने स्वामी को भी अच्छे नहीं लगते। स्वामी को तो उस पर अप्रीति हो ही जाती है, अपितु स्वयं उसकी पत्नी भी उसे धिक्कारती है, बच्चे कहना नहीं मानते, सगे-सम्बन्धी मिलना बन्द कर देते हैं। जिन्हें अपना समझा जाता है उनका प्रेम भी जब प्राणी को नहीं मिलता तब अन्य से तो आदर मिलने का प्रश्न ही कहाँ ? उसके सगे भाई भी उससे नहीं बोलते। ऐसी अवस्था में जब वह कोई भी कार्य करता है तब उसका दुर्भाग्य अनवरत उससे दो कदम आगे रहता है। शत्रु उस पर विजय प्राप्त करते हैं, अपने अन्तरंग मित्र उसके शत्रु बन जाते हैं, मित्र और सम्बन्धी उसे छोड़ जाते हैं और बेचारा प्राणी निन्दित होकर मनुष्यता को शापित करता हुआ, जीवन को बोझ समझ कर क्लेश पूर्ण जीवन व्यतीत करता है। इस प्रकार दुर्भगता प्राणी के हाल-बेहाल कर देती है। भाई प्रकर्ष ! इस सातवीं और अन्तिम पिशाचिन दौर्भाग्यता का जिसका पहले मैंने नाम ही बताया था उसका संक्षिप्त विवरण भी तुम्हें कह सुनाया। [२५४-२६१]

भाई प्रकर्ष ! मैंने तुम्हें जरा, व्याधि, मरण, दुष्टता, कुरूपता, दरिद्रता और दुर्भगता के बारे में अनुक्रम से सम्पूर्ण विवरण सुना दिया है। प्रत्येक के प्रेरणा करने वाले, शक्ति और परिवार का भी वर्णन किया। वे किस-किस को किस प्रकार की पीड़ा देती हैं यह भी अनुक्रम से बता दिया है। प्रत्येक का शत्रु कौन है, उसका वे कैसे नाश करती हैं और उसके साथ लड़कर लोगों को पीड़ित करने के कार्य में वे भवचक्र नगर में किस प्रकार अपने आपको प्रयुक्त करती हैं, यह सब विवरण तुम्हें संक्षेप में किन्तु विगतवार सुना दिया है। [२६२-२६४]

❀

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९. राक्षसी दौर और निवृत्ति

[प्रकर्ष ने सप्त पिशाचिनों के विषय में विस्तार से सुना, उनको प्रेरणा करने वाले और उनके आन्तरिक बल को पहचाना तथा उनके विरोधी तत्त्वों पर हृदय में विचारणा की। मामा के वर्णन पूरा करते ही भाणेज ने उस पर विस्तृत चर्चा चलाई और वस्तु-स्वभाव को भली-भांति स्पष्ट करवाया। ये स्पष्टीकरण विशेष ध्यान देने योग्य हैं।]

पिशाचिनियों का अस्खलित वेग और प्रतिकार की अशक्यता

प्रकर्ष मामा! ये पिशाचिनें भवचक्र नगर के लोगों को इतनी अधिक पीड़ा देती हैं, तो क्या यहाँ राजा, लोकपाल या कोटवाल नहीं हैं? वे इन्हें रोक नहीं सकते? यदि रोक सकते हैं तो फिर वे क्यों चुप बैठे हैं?

विमर्श - भाई प्रकर्ष! राजा आदि कोई भी इन पिशाचिनों को रोकने में समर्थ नहीं है। किसी में इतनी शक्ति क्यों नहीं है इसका कारण भी बताता हूँ। इस भवचक्र नगर में कितने ही महापराक्रमी राजा हैं, उन पर भी ये पिशाचिनें बलपूर्वक अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकती हैं। ये सातों इतनी बलवान हैं कि सर्वत्र व्याप्त हैं और स्वेच्छानुसार विचरण करती हुई उद्दाम लीला करती हैं। जैसे मदमस्त भयंकर हाथी को पकड़ने के लिए योद्धा नहीं मिल सकता वैसे ही इन सातों को अंकुश में लेने में त्रैलोक्य में भी कोई समर्थ नहीं हो सकता। अपने प्रयोजन (कार्य) को पूरा करने में अत्यन्त शक्तिशाली और सर्वत्र निरंकुश घूमने वाली इन पिशाचिनों को रोकने की त्रिभुवन में किसमें सामर्थ्य है? [२६५-२६८]

प्रकर्ष- मामा! तब क्या किसी भी प्राणी को इन राक्षसनियों को हराने का कुछ भी प्रयत्न नहीं करना चाहिये?

विमर्श- वत्स! निश्चय से यदि वास्तविकता को समझा जाय तो प्रयत्न करना व्यर्थ ही है। ❀ क्योंकि यदि इन पिशाचिनों का प्रभुत्व किसी प्राणी पर होना अवश्यम्भावी (अवश्य ही निर्मित) है तो उसे रोकने में कोई समर्थ नहीं हो सकता। जिस कार्य को करने में सफलता प्राप्त न हो सकती हो उसे कोई विचारशील व्यक्ति क्यों करेगा? जब कर्मपरिणाम, कालपरिणति, स्वभाव, लोकस्थिति और भवितव्यता आदि सम्पूर्ण कारण-सामग्री के बल पर ये पिशाचिनें प्रवर्तित होती हैं और जब अवश्यम्भावी समस्त निमित्त एकत्रित हो जाते हैं तब इन्हें या ऐसे ही अन्य कार्यों को रोकने का मनुष्य चाहे कितना ही प्रयत्न करे वह उन्हें रोकने में समर्थ नहीं हो सकता। प्रयत्न के अतिरिक्त उसे किसी भी फल की प्राप्ति नहीं हो सकती।

❀ पृष्ठ ४२९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रेरक की विशिष्टता

प्रकर्ष—मामा ! आपने तो और शंका खड़ी कर दी। आपने इन सप्त राक्षसनियों के प्रवर्तक पापोदय, असाता, नामराजा आदि बताये थे तथा भिन्न-भिन्न बाह्य कारण भी बताये थे, किन्तु अभी आपने इनको प्रेरित करने वाले कर्मपरिणाम, कालपरिणति आदि अन्य कारणों को बतलाया। आपके कथन में यह परिवर्तन कैसे हुआ ? मेरी तो समझ में कुछ भी नहीं आया।

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! वास्तव में इसमें कोई परिवर्तन नहीं है। मैंने पहले तुम्हें इन सप्त राक्षसनियों को प्रेरित करने वाले आन्तरिक और बाह्य कारण बताये थे वे तो प्रत्येक के विशेष कारण थे और प्रकट प्रेरणा मुख्यतः इन्हें उन्हीं कारणों से मिलती है। किन्तु, परमार्थ दृष्टि से विचार करने पर तुम्हारी समझ में यह बात आ जायगी कि कर्मपरिणाम, कालपरिणति, स्वभाव, लोक-स्थिति और भवितव्यता इन पांचों कारणों के एकत्रित हुए बिना संसार में पलक झपकने जैसा तुच्छतम कार्य भी होना सम्भव नहीं है।

निवारण का उपाय करे या नहीं ?

प्रकर्ष—मामा ! इसका अर्थ तो यह हुआ कि ये पिशाचिनें किसी भी व्यक्ति या उसके सम्बन्धी पर प्रहार/हमला कर रही हों या करने की तैयारी में हों तो उससे बचने का कोई उपाय व्यक्ति को करना ही नहीं चाहिये ? तब क्या जरा, व्याधि या मृत्यु आदि के पास आने पर वैद्य को बुलाना, औषधि सेवन, मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र, रसायन सेवन, अथवा साम-दाम-दण्ड-भेद नीति से दुर्भगता, दरिद्रता, व्याधि आदि को रोकने का प्रयत्न ही नहीं करना चाहिये ? क्या ऐसे प्रसंग पर हाथ-पांव बांधकर निष्क्रिय बने बैठा रहना ही श्रेयस्कर है ? अमुक कार्य करने योग्य है या त्याज्य है, यह जानने के पश्चात् भी क्या प्राणी को निष्क्रिय होकर कुछ भी नहीं करना चाहिये ? अर्थात् क्या वह ऐसा वीर्यहीन नपुंसक है ? क्या वह अबला स्त्री है ? बेकार है ? क्या अपनी इच्छानुसार कार्य का त्याग या ग्रहण करने की शक्ति से रहित है ? यदि ऐसा ही है तब तो यह प्रत्यक्षतः अनुचित है, अर्थात् किसी भी प्रकार उचित नहीं लगता क्योंकि, हम तो प्रति-दिन देखते हैं कि लोग अपने हितकारी कार्य को करते हैं और अहितकारी का त्याग करते हैं। इस प्रयत्न के पश्चात् वे अपनी हितकारी परिस्थिति को प्राप्त करते हैं और अहितकारी परिस्थिति को दूर करने मे समर्थ होते हैं। प्रयत्न पूर्वक निश्चित परिणाम प्राप्त करते हुए प्राणी सर्वत्र दिखाई देते हैं।

व्यवहार-निश्चय : अवश्यंभावीभाव : परिपाटी

विमर्श—भाई ! थोड़ा धैर्य धारण कर, अधिक उतावला मत बन। मेरे कथन में रहे हुए गूढ अर्थ पर तू ठीक से विचारकर। मैंने तुझे प्रारम्भ में ही कहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था कि निश्चय से देखा जाय तो पुरुषार्थ की आवश्यकता ही नहीं है, परन्तु व्यवहार में प्रयत्न (पुरुषार्थ) करने से कौन रोकता है ? प्राणी को अपने अपराधरूपी मल को शुभ अनुष्ठानरूपी निर्मल जल से बार-बार धोते रहना चाहिये। इस विषय में प्राणी प्रवृत्ति करता ही रहता है क्योंकि पुरुषार्थ करते समय प्राणी यह नहीं जानता कि भविष्य में अमुक कार्य का परिणाम क्या होगा ? इसीलिये व्यवहार में वह छोड़ने योग्य विषयों का त्याग करता है और आदरने योग्य विषयों को ग्रहण करता है। क्योंकि, वह सोचता है कि यदि वह प्रवृत्ति (प्रयास) नहीं करेगा तब भी कर्मपरिणाम तो प्रवृत्त होगा ही; बल्कि कर्मपरिणाम, कालपरिणति आदि कारण-सामग्री को प्राप्त कर वह वैताल की भांति अधिक वेग से प्रवृत्त होगा। पुनः वह सोचता है कि मनुष्य अकर्मण्य तो रह नहीं सकता। वास्तव में तो वही मुख्य कर्ता है, क्योंकि कर्म-परिणाम आदि की प्रवृत्ति का उपकरण (साधन) तो वह स्वयं ही है। अतः हाथ बांधकर, पैर फैलाकर बैठे रहना तो किसी भी प्राणी के लिये श्रेयस्कर नहीं है। कारण यह है कि व्यवहार से प्राणी अपने हित-अहित को प्रवृत्त कर सकता है या रोक सकता है। अर्थात् यह कहा जाता है कि प्राणी में हित को अपनाने और अहित को रोकने की शक्ति है। * निश्चय से भी जब समग्र कारण-समूह एकत्रित होता है तभी अमुक कार्य पूर्णतया परिणाम रूप में परिवर्तित होता है। यदि प्राणी विचारपूर्वक कोई कार्य करता है, फिर भी उसका परिणाम विपरीत आता है, तो उसे बीच के साधनों के सम्बन्ध में हर्ष या शोक नहीं करना चाहिये। उसे निश्चय मत से यह समझ लेना चाहिये कि ऐसा परिणाम तो आने ही वाला था, यह घटना ऐसे ही घटने वाली थी, यह समझकर उसे मध्यस्थभाव धारण कर लेना चाहिये। उसे कभी यह नहीं सोचना चाहिये कि मैंने ऐसा किया होता तो ऐसा परिणाम नहीं भुगतना पड़ता, क्योंकि जो अवश्यम्भावी है उस परिणाम को अन्य साधनों के द्वारा परिवर्तित नहीं किया जा सकता। निश्चय दृष्टि से तो इस संसार में घटित होने वाली सभी अन्तरंग और बाह्य कार्य-पर्यायें अमुक निर्णीत कारण-सामग्री को प्राप्त कर सदा के लिये निर्मित हो चुकी होती हैं, जिन्हें अनन्त केवलज्ञानी सर्वज्ञ जीव अपने ज्ञान से जानते हैं और उसी के अनुसार कर्म-परिणाम अवश्य घटित होते रहते हैं। ये कार्य-पर्यायें जिस परिपाटी (अनुक्रम) से गठित होती हैं और जिन कारणों से प्रकट होने वाली हैं, उसी क्रम से और उन्हीं कारणों से वे प्रकट भी होती हैं. इसमें तनिक भी परिवर्तन या आगे-पीछे नहीं हो सकता। अतः भूतकाल में जो कुछ हो गया है, उसके विषय में चिन्ता करना यह मोह राजा का विलास मात्र है। व्यवहार में भी अपने अहित को दूर करने और हितसाधन में उद्यत विचारशील पुरुष को औषधि, तन्त्र-मन्त्र, रसायन, दण्डनीति आदि सम्पूर्ण साधन शुभ परिणाम प्राप्त करवाने में सक्षम न हो तो उनका आदर (स्वीकार) नहीं करना चाहिये, अपितु असमर्थ साधनों के स्थान पर किसी एक ऐसे साधन को ढूंढ निकालना चाहिये जो निरपवाद सम्पूर्ण

* पृष्ठ ४३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लाभदायी फल देने वाला हो और जो सर्वदा हितसाधक ही हो, कभी अहितकर न हो। तात्पर्य यह है कि सदनुष्ठानरूपी उपायों द्वारा प्राणी को ऐसे स्थान पर चले जाना चाहिये जहाँ जरा, व्याधि आदि पिशाचिनियों का उपद्रव हो ही नहीं सके।

प्रकर्ष—मामा ! ऐसा कौनसा स्थान है जहाँ इन जरा, व्याधि आदि सप्त पिशाचिनियों की शक्ति थोड़ी भी न चलती हो।

निर्वृत्तिनगरी

विमर्श—हाँ भाई ! ऐसा स्थान है। यह निर्वृत्तिनगर के नाम से प्रसिद्ध है। यह नगर अनन्त आनन्द से परिपूर्ण है और एक बार प्राप्त होने के पश्चात् विनाशरहित है। एक बार इस स्थान की प्राप्ति हो जाने के बाद फिर से ऐसे स्थान पर आने की आवश्यकता ही नहीं होती जहाँ इन जरा, रुजा आदि राक्षसनियों का दौर चलता हो। यह नगर समग्र उपद्रवों से रहित है इसलिये इसमें निवास करने वाले प्राणियों पर जरा, व्याधि आदि राक्षसनियों का कोई प्रभाव नहीं चल सकता। जो प्राणी इस नगर में जाने की इच्छा रखता हो उसे अपने वीर्य (शक्ति) के विकास और उन्नति के लिये सुन्दर तत्त्वबोध (सम्यक्ज्ञान) प्राप्त करना चाहिये, शुद्ध श्रद्धा (सम्यक् दर्शन) रखनी चाहिये और विशुद्ध क्रियाओं (सम्यक् चारित्र) का पालन करना चाहिये। इस प्रकार जिन प्राणियों के वीर्य की वृद्धि तत्त्वबोध, श्रद्धा और सदनुष्ठान से हो रही होती है, वे यदि निर्वृत्तिनगर में न भी पहुँचे हों और उस नगर के मार्ग पर चल रहे हों तब भी उन्हें इन पिशाचिनियों सम्बन्धी पीड़ा अत्यल्प हो जाती है और उन्हे अतिशय सुख-परम्परा प्राप्त होती है। [१-४]

भवचक्रपुर के ये चारों उप-नगर मानवावास, विबुधालय, पशुसंस्थान और पापीपिंजर तो इन सातों पिशाचिनियों एवं अन्य महा-भयंकर घोर उपद्रवों से व्याप्त हैं; महान् त्रास के कारण हैं और भैया ! उनमें इतने अधिक क्षुद्र उपद्रवों के प्रसंग व हेतु उत्पन्न होते रहते हैं कि कोई उन्हें गिन भी नहीं सकता; क्योंकि यह भवचक्रपुर स्थान ही ऐसा है। [५-६]

प्रकर्ष—मामा ! तब आपके कहने का तात्पर्य तो यह हुआ कि यह भवचक्रपुर सम्पूर्णरूप से अत्यन्त दुःखों से परिपूर्ण है। [७]

विमर्श—वत्स प्रकर्ष ! तूने ठीक ही समझा। मेरे कहने का भावार्थ तू स्पष्टतः समझ गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस सम्पूर्ण भवचक्रपुर का सार तुझे भली प्रकार समझ में आ गया है। [८]

प्रकर्ष—मामा ! यदि ऐसा ही है तब यह तो बताइये कि इस नगर में ❀ रहने वाले प्राणियों को कभी इस संसार से निर्वेद (खिन्नता, घबराहट) भी होता है या नहीं ? [९]

❀ पृष्ठ ४३१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विमर्श - भाई ! इस भवचक्र में सर्वदा रहने वाले प्राणियों को इस संसार से कभी निर्वेद नहीं होता, इसका भी कारण सुन। जैसा कि मैं पहले प्रतिपादित कर चुका हूँ कि महामोह आदि अन्तरंग राजा अपनी महान् शक्ति से सम्पूर्ण भवचक्र के लोगों को अपने वश में रखते हैं। सम्पूर्ण विश्व को जनमोहन (अपने वशवर्ती) करने में इनका कौशल अभूतपूर्व है। इनके वशीभूत यहाँ के प्राणी निरन्तर यहाँ रहकर दुःख सहते हैं फिर भी कभी इससे घबराते नहीं। ये महामोहादि प्रबल तस्कर हैं, धूर्त हैं, दुःखदायी शत्रु हैं, तथापि आश्चर्य की बात तो यह है कि मोहित चित्त वाले भवचक्र निवासी तो इन्हें अपने सच्चे मित्र, हितेच्छु, प्रेमी और सुख के कारणभूत मानते हैं। वत्स ! मोह द्वारा चित्त को विपरीत दिशा में ले जाने के कारण यह नगर दुःखों से परिपूर्ण होने पर भी यहाँ के निवासी इसे सुख-समुद्र जैसा मानते हैं और कभी दुःखों से छूटने की चिन्ता नहीं करते। वे यहीं पड़े रहकर महामोह आदि को अपना बन्धु मानते हुए सन्तुष्ट होकर प्रसन्न रहते हैं। यदि कोई विद्वान् पुरुष कभी इन्हें इस भवचक्र के दुःखों से मुक्त होने का परामर्श देता है, मार्ग बताता है तो उसे वे अपना सुख लूटने वाला ठग समझते हैं और उसका उपकार मानने के बदले उस पर रुष्ट होते हैं। इतना ही नहीं, वे यहाँ रहकर निरन्तर ऐसे-ऐसे कार्य करते हैं जिसके परिणामस्वरूप पाप कर्म का उपार्जन कर वे इस भवचक्र में अपना निवास अधिक स्थिर और दीर्घकालीन बना लेते हैं। ये महामोह आदि शत्रुओं की गोद में बैठे हुए हैं और इन्हें यहीं पड़ा रखने के लिये महामोहादि अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग कर रहे हैं तथापि ये बेचारे इस वास्तविकता को न तो जानते हैं और न ही कभी जानने का प्रयत्न ही करते हैं। इतना ही नहीं शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि इन्द्रियों के भोग जो तुच्छ हैं, दुःख से आछन्न हैं, फिर भी वे इन्हें अमृतोपम मानते हैं और इन्हीं में सुखानुभव करते हैं। वत्स ! जब तक इन प्राणियों पर महामोह आदि राजाओं का ऐसा वर्चस्व रहेगा तब तक इन्हें इस संसार से कभी भी निर्वेद नहीं होगा। [१०-२१]

प्रकर्ष—मामा ! इस भवचक्र के लोग जब स्वयं ही इस प्रकार बेवकूफ, पागल और उन्मत्त जैसे दुरात्मा बन रहे हैं तब हम उनके विषय में चाहे जितनी चिन्ता करें या उनके हित की बात सोचें तो वह सब व्यर्थ ही है। [२२]

❀

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३०. छः अवान्तर मण्डल (छः दर्शन)

[राक्षसनियों का वर्चस्व कब तक और कहाँ समाप्त होता है यह जानने के बाद प्रकर्ष को अन्य बातें जानने की जिज्ञासा होने लगी। प्रकर्ष बहुत जिज्ञासु था और सभी बातें समझ लेने का प्रयत्न कर रहा था तो विमर्श भी सब कुछ बताने में प्रसन्नता का अनुभव कर रहा था।]

मिथ्यादर्शन की शक्ति

प्रकर्ष—मामा ! महामोह आदि समस्त राजाओं का कितना पराक्रम है और भवचक्र पर कितना वर्चस्व है यह तो मुझे अच्छी तरह समझ में आ गया, किन्तु पहले आपने इसके मन्त्री मिथ्यादर्शन का वर्णन किया था और बताया था कि इसकी पत्नी कुदृष्टि महा भयंकर है। यह मिथ्यादर्शन अपनी शक्ति से भवचक्र में कैसे-कैसे संयोगों में क्या-क्या प्रभाव उत्पन्न करता है, यह नहीं बताया था। अतः मामा ! इस मिथ्यादर्शन के गुण और स्वरूप का तथा उसके वशीभूत लोगों का व्यवहार कैसा होता है, यह जानने की मेरी उत्कट इच्छा है, अतः इस विषय में स्पष्टीकरण करें। [२३-२६]

विमर्श—प्रिय प्रकर्ष ! तूने ऐसा प्रश्न पूछा है कि उसका उत्तर बहुत विस्तार से देना पड़ेगा। वैसे तो इस भवचक्र का अधिकांश भाग मिथ्यादर्शन के व. में रहता है, इसमें कोई संशय नहीं है। मानवावास आदि चारों उप-नगरों के[88] निवासी तो प्रायः इसके वशीभूत रहते ही हैं। अब विशेष रूप से इसकी आज्ञा में रहने वाले प्राणी कहाँ-कहाँ रहते हैं, उनके मुख्य-मुख्य स्थान कौन से हैं? इनका स्पष्ट वर्णन करता हूँ। इतना कहकर विमर्श ने अपना दाहिना हाथ ऊंचा कर तर्जनी अंगुली से उन स्थानों कीओर निर्देश करता हुआ बोला—भाई ! इस मानवावास उप-नगर के अन्तर्गत जो सामने छः अवान्तर मण्डल (मोहल्ले) देख रहे हो उनके निवासी विशेषरूप से इस मिथ्यादर्शन के वशीभूत हो कर इसकी आज्ञा में रहते हैं। [२७-३२]

प्रकर्ष—मामा। इन छः अवान्तर मण्डलों के नाम क्या-क्या हैं? इनमें रहने वाले लोग किन-किन नामों से जाने जाते हैं? [३३]

विमर्श—इन छः में से प्रथम का नाम नैयायिकपुर है, इसके निवासी नैयायिकों के नाम से जाने जाते हैं। दूसरे का नाम वैशेषिकपुर है और इसके निवासी वैशेषिकों के नाम से जाने जाते हैं। तीसरे का नाम सांख्यपुर है और इसके निवासी सांख्य के नाम से जाने जाते हैं। चौथे का नाम बौद्धपुर है और इसके निवासी बौद्ध कहलाते हैं। पाँचवें का नाम मीमांसक नगर है और इसके निवासी मीमांसक कहलाते

---

[88] पृष्ठ ४३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। अन्तिम छठे पुर का नाम लोकायतनिवास या चार्वाक नगर है। इसके निवासियों को नास्तिक या बार्हस्पत्य कहा जाता है। इन छहों अवान्तर मण्डलों के निवासियों पर विशेषरूप से मिथ्यादर्शन का शासन चलता है। अपनी स्त्री कुदृष्टि के साथ यह यहाँ पर जिस प्रकार का विलास करता है, यह तो मैंने तुझे पहले ही बता दिया था। इसका विलास इन छहों मण्डल के निवासियों में दृष्टिगोचर होता है। [३४–४०]

प्रकर्ष– मामा ! लोक-वार्तानुसार इस मण्डल में जो षट् दर्शन कहे जाते हैं, क्या आपने उन्हीं के अनुयायियों का यह वर्णन किया है? [४१]

विमर्श—वत्स ! उपरोक्त वर्णन में जिन छः मण्डलों (पुरों) का वर्णन किया गया है, उनमें से मीमांसक के अतिरिक्त सब दर्शन कहलाते हैं। मीमांसकपुर का निर्माण तो अर्वाचीन ही है, अतः लोग इसे दर्शन की पंक्ति में नहीं रखते। जैमिनी नामक आचार्य ने जब देखा कि वेद-धर्म का नाश हो रहा है और लोग अयोग्य प्रवृत्ति करने लगे हैं तब वेदों की रक्षा के लिये और प्रवर्तित दोषों को दूर करने के लिए उन्होंने वेदों पर मीमांसा की रचना की। यही कारण है कि लोग मीमांसकपुर के अतिरिक्त पांच पुरों को दर्शन की संख्या में रखते हैं। अतः इस सम्बन्ध में संशय को कोई स्थान नहीं है। [४२–४५]※

प्रकर्ष– मामा ! यदि ऐसा है तब लोग जिसे छठा दर्शन कहते हैं वह पुर कहाँ आया हुआ है? यह बतायें। [४६]

लोकोत्तर जैनपुर

विमर्श वत्स प्रकर्ष ! हम जिस श्रेष्ठतम विवेक पर्वत पर खड़े हैं, उसके सामने जो निर्मल और उत्तुंग शिखर (चोटी) दिखाई देता है जिसे अप्रमत्तत्व कहते हैं, उसी पर छठा लोकोत्तर जैनपुर बसा हुआ है। यह पुर बहुत विस्तृत है और इसकी रचना भी असाधारण है। अन्य दर्शनों से इसमें विशेष असाधारण गुण हैं जिसका वर्णन मैं विस्तार से बाद में करूंगा। लोक-मान्यता के अनुसार इसे भी अन्य दर्शनों के साथ छठे दर्शन के रूप में ही माना जाता है। इस जैनपुर (जैनदर्शनपुर) के निवासियों का यह वैशिष्ट्य है कि इस पर मिथ्यादर्शन मन्त्रो का वर्चस्व लेशमात्र भी नहीं चलता है। [४७–५०]

प्रकर्ष—मामा ! नीचे के मण्डलों (पुरों) में रहने वाले लोगों पर तो मिथ्यादर्शन का वर्चस्व चलता है और अप्रमत्तत्व शिखर पर बसे हुए जैनदर्शनपुर के निवासियों पर उसकी शक्ति नहीं चलती इसका क्या कारण है? [५१]

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! इस लोक में एक मनोहर निर्वृत्तिनगर है, जिसके निवासियों पर महामोह आदि राजाओं का वर्चस्व नहीं चलता, वे इस नगर में प्रवेश

※ पृष्ठ ४३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही नहीं कर सकते। इस नगर में सम्पूर्ण दुःखों का अभाव है। इसमें अनन्त काल तक सम्पूर्ण एवं निर्द्वन्द्व आनन्द रहता है। अतः व्याधि, चोर, शत्रु, परमाधामी आदि कोई भी यहाँ किसी प्रकार का उपद्रव नहीं कर सकते। इस नगर की इस विशेषता को नैयायिकादि समस्त पुरों के सभी निवासी जानते हैं, अतः लोकायतों (नास्तिकों) के अतिरिक्त सभी इस नगरी में पहुँचने की इच्छा रखते हैं। किन्तु, इस निर्वृत्ति नगर में पहुँचने के मार्ग इन लोगों ने अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार बना लिये हैं, जिससे इन मार्गों में परस्पर विरोध पैदा हो गया है। परिणाम स्वरूप इन लोगों ने निर्वृत्तिनगर में जाने के लिये जिन अनेक मार्गों की योजना की है, वे युक्तियुक्त नहीं हैं, न्याय की दृष्टि से स्पष्ट विरोध वाले हैं और तर्क के समक्ष तो टिक ही नहीं सकते। जब कि विवेक पर्वत के अप्रमत्तत्व शिखर पर स्थित जैनदर्शनपुर के निवासियों ने निर्वृत्ति नगर जाने का जो मार्ग देखा है, निर्माण किया है, वह सन्मार्ग है, मनोहर है, विरोधरहित है, युक्तियुक्त और तर्कसंगत है। इस मार्ग पर चलने से लोग अवश्य ही निर्वृत्ति नगर पहुँचते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। मैं बिना किसी पक्षपात के वास्तविकता का वर्णन तेरे समक्ष कर रहा हूँ। नीचे बसे हुए अन्य पुरों के निवासियों पर मिथ्यादर्शन अपना वर्चस्व स्थापित कर सकता है, किन्तु इस शिखर पर स्थित पुर पर नहीं। मिथ्यादर्शन के प्रताप से उन लोगों की बुद्धि इतनी कुण्ठित हो जाती है कि वे तत्वदृष्टि से निर्वृत्तिनगर ले जाने के बजाय उसके विपरीत दिशा में ले जाने वाले मार्ग को ही वास्तविक मोक्ष मार्ग मान बैठते हैं। अर्थात् वे मोक्ष के सच्चे मार्ग को न जानकर उसके विपरीत मार्ग को ही सच्चा मानने लगते हैं। किंतु, शिखर पर स्थित जैनदर्शनपुर के लोग मोक्ष के सच्चे मार्ग को जानते हैं और विपरीत मार्ग को सच्चा मार्ग मानने की भूल कभी नहीं करते, इसीलिये मिथ्यादर्शन के प्रभाव से दूर रहते हैं। [५२-६३]

भाई प्रकर्ष! तू यह मत समझ लेना कि मैंने तुझे जिन छः पुरों के नाम बताये हैं इतने ही पुर इस भवचक्र में है। इस उपलक्षण (आधार) से मिथ्यादर्शन के वशीभूत * कई अन्य पुर भी इस भवचक्र में हैं, ऐसा समझना। ऐसे-ऐसे तो यहाँ अनेक पुर हैं। वत्स! भूतल पर इस प्रकार जो पुर हैं वैसे ही देश और काल के अनुसार दूसरे भी अनेक पुर थे और नये अनेक पुर बस रहे हैं और बसते ही रहेंगे। इस अप्रमत्तत्व शिखर पर स्थित जैनदर्शनपुर अनादि-अनन्त है, यह न कभी उत्पन्न हुआ और न कभी इसका नाश होगा, अर्थात् परमार्थ से यह सर्वकाल शाश्वत है। [६४-६६]

प्रकर्ष—मामा! इन लोगों ने अपनी-अपनी कल्पना से अपने नगर-निवासियों के लिए निर्वृत्तिनगर के जिन मार्गों को बताया है उन्हें जानने की मैं

---

*पृष्ठ ४३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इच्छा रखता हूँ। मुझे यह बात सुनने का अत्यधिक कौतूहल है, अतः आप अनुग्रह कर मुझे बताइये। [६७-६८]

विमर्श--वत्स ! यदि तेरी ऐसी इच्छा है तो प्रत्येक दर्शनकार ने निर्वृत्ति के कैसे-कैसे मार्ग बताये हैं, तुझे स्पष्टता पूर्वक सुनाता हूँ, ध्यान पूर्वक सुन। [६९]

❀

३१. षट् दर्शनों के निर्वृत्ति-मार्ग

१. नैयायिक दर्शन

भाई प्रकर्ष ! नैयायिकों ने निर्वृत्ति-मार्ग की कल्पना में १६ तत्त्व माने हैं। वे हैं—१. प्रमाण, २. प्रमेय, ३. संशय, ४. प्रयोजन, ५. दृष्टान्त, ६. सिद्धान्त, ७. अवयव, ८. तर्क, ९. निर्णय, १०. वाद, ११. जल्प, १२. वितण्डा, १३. हेत्वाभास, १४. छल, १५. जाति और १६. निग्रहस्थान। इन १६ तत्त्वों के ज्ञान से वे मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं :—

१. **प्रमाण**:—पदार्थ के ज्ञान के कारण को प्रमाण कहते हैं। यह प्रमाण चार प्रकार का है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इन्द्रिय और पदार्थों के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से उत्पन्न होने वाला, वचन द्वारा अकथ्य और व्यभिचार दोष से रहित निश्चयात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष पूर्वक उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमान कहलाता है। अनुमान के तीन भेद हैं—पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट। कारण से कार्य का अनुमान करना। जैसे आकाश में बादलों को देखकर वर्षा होने का अनुमान करना पूर्ववत् अनुमान कहलाता है। कार्य से कारण का अनुमान करना, जैसे नदी के पूर को देखकर अत्यधिक वर्षा हुई है ऐसा अनुमान करना शेषवत् अनुमान कहलाता है। जैसे देवदत्त आदि गति करने (चलने) से देशान्तर में जाते हैं वैसे सूर्य भी गति पूर्वक ही देशान्तर को प्राप्त करता है ऐसा अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहलाता है। प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से अप्रसिद्ध वस्तु का साधन करना उपमान कहा जाता है, यथा—जैसी गाय होती है वैसा ही बैल होता है। आप्त पुरुषों का उपदेश शब्द कहलाता है। इस प्रकार चार प्रकार का प्रमाण कहा गया है।

२. **प्रमेय** :—१२ प्रकार का है :—१. आत्मा, २. शरीर, ३. इन्द्रिय, ४. अर्थ, ५. बुद्धि, ६. मन, ७, प्रवृत्ति ८. दोष, ९. प्रेत्यभाव, १०. फल, ११. दुःख, १२. अपवर्ग।

३. **संशय** :—यह क्या होगा ? यह स्तम्भ है या पुरुष ? ऐसा सन्देह जहाँ हो उसे संशय कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. प्रयोजन :—जिसके लिये अर्थात् जिस अभिलाषा से प्रवृत्ति की जाय वह प्रयोजन कहलाता है।

५. दृष्टान्त :—जिसके सम्बन्ध में वादी और प्रतिवादी में विवाद नहीं हो सकता, उसे दृष्टान्त कहते हैं।

६. सिद्धान्त :—चार प्रकार का है : सर्वतन्त्र सिद्धान्त, प्रतितन्त्र सिद्धान्त अधिकरण सिद्धान्त और अभ्युपगम सिद्धान्त।

७. अवयव :—पांच प्रकार का है : —प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन।

८. तर्क :—संशय को दूर करने के लिए अन्वय धर्म का अन्वेषण करना तर्क है, जैसे यह स्थाणु होना चाहिये या पुरुष ?

९. निर्णय :—संशय और तर्क के पश्चात् ❀ जो निश्चय होता है उसे निर्णय कहते हैं, जैसे यह पुरुष ही है अथवा स्थाणु ही है।

१०. वाद :—तीन प्रकार का है : — वाद, जल्प और वितण्डा। वाद—गुरु और शिष्य के मध्य में पक्ष और प्रतिपक्ष को स्वीकार कर अभ्यास के लिए जो कथा कहने में आती है वह वाद कथा कहलाती है।

११. जल्प :—केवल विजय प्राप्त करने की इच्छा से छल, जाति, निग्रह-स्थान आदि दूषणों को आरोपित करने वाली कथा जल्प कहलाती है।

१२. वितण्डा :—इसी जल्प कथा में प्रतिपक्ष की अनुपस्थिति में स्वपक्ष का स्थापित करना वितण्डा कथा कहलाती है।

१३. हेत्वाभास :—हेतु न होने पर भी जो हेतु जैसा दिखाई दे उसे हेत्वाभास कहते हैं। इसके अनैकान्तिक आदि भेद हैं।

१४. छल :—नव कम्बल वाला देवदत्त इत्यादि वाक्प्रपञ्च को छल कहते हैं।

१५. जाति :—दूषणाभास को जाति कहते है।

१६. निग्रहस्थान :—विपक्षी जहाँ वाद करते हुए लड़खड़ा जाय उसे निग्रहस्थान कहते हैं। निग्रह अर्थात् पराजय का; स्थान अर्थात् कारणनिग्रहस्थान। इस निग्रह स्थान के बाईस भेद हैं :—१. प्रतिज्ञा हानि, २. प्रतिज्ञान्तर, ३. प्रतिज्ञा-विरोध, ४. प्रतिज्ञा संन्यास, ५. हेत्वन्तर, ६. अर्थान्तर, ७. निरर्थक, ८. अविज्ञातार्थ, ९. अपार्थक, १०. अप्राप्तकाल, ११. न्यून, १२. अधिक, १३. पुनरुक्त, १४. अननु-भाषण, १५. अप्रतिज्ञान, १६. अप्रतिभा, १७. कथाविक्षेप, १८. मतानुज्ञा, १९. पर्यनुयोज्योपेक्षण, २०. निरनुयोज्यानुयोग, २१. अपसिद्धान्त और २२. हेत्वाभास।

इस प्रकार नैयायिक दर्शन सम्मत प्रमाण आदि सोलह पदार्थों का यह संक्षिप्त विवेचन है।

❀ पृष्ठ ४३५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. वैशेषिक दर्शन

वत्स प्रकर्ष ! वैशेषिकों ने निर्वृत्ति-मार्ग की कल्पना में ६ पदार्थ माने हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। ये इन ६ पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष (निर्वृत्ति) प्राप्ति होना मानते हैं।

इन छः पदार्थों के विभिन्न भेद हैं। इन पदार्थों में द्रव्य ९ प्रकार का है :—पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन।

गुण २५ प्रकार के हैं :—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग और शब्द।

कर्म ५ प्रकार का है :—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, प्रचारण, आकुंचन और गमन।

सामान्य दो प्रकार का है :—पर और अपर। सत्ता लक्षण वाला पर-सामान्य और द्रव्यत्व आदि वाला अपर-सामान्य।

विशेष—अणु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन आदि नित्यद्रव्य में रहने वाले अन्त्य को विशेष कहते हैं।

समवाय—अयुतसिद्ध अर्थात् तन्तुस्थित पट के समान अन्य आश्रय में नहीं रहने वाले ऐसे आधार आधेय भाव वाले दो पदार्थों के सम्बन्ध के हेतु इह प्रत्यय को समवाय कहते हैं।

इस दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान (लैंगिक दो प्रमाण माने जाते हैं। यह वैशेषिक दर्शन का सामान्य अर्थ (परिचय) है।

३. सांख्य दर्शन

प्रकर्ष ! सांख्यों ने अपनी कल्पना से २५ तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान से मोक्ष (निर्वृत्ति) का मार्ग स्वीकार किया है। ये २५ तत्त्व निम्नलिखित हैं :— सत्व, रजस् और तमस् तीन प्रकार के गुण हैं। प्रसन्नता, लघुता, स्नेह, अनासक्ति, अद्वेष और प्रीति ये सत्वगुण के कार्य हैं। ताप, शोक, भेद, स्तम्भ, उद्वेग और चलचित्तता ये रजोगुण के कार्य हैं। मरण, सादन, बीभत्स, दैन्य, गौरव (गर्व) आदि तमोगुण के चिह्न हैं। इन तीनों गुणों की साम्यावस्था अर्थात् समान प्रमाण में होने की अवस्था को प्रकृति कहते हैं। इसी का दूसरा नाम प्रधान भी है। प्रकृति से महान् अर्थात् बुद्धि उत्पन्न होती है। *बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार से ११ इन्द्रियाँ और ५ तन्मात्रा मिलाकर १६ तत्त्व उत्पन्न होते हैं। वे इस प्रकार है :—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कान ये पांच बुद्धि इन्द्रियाँ। वचन, हाथ, पैर, गुदा और योनि

* पृष्ठ ४२६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा लिंग ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और छठा मन। इन ११ इन्द्रियों में अहंकार के प्रभाव से जब तमोगुण की अधिकता होती है तब पांच तन्मात्रा उत्पन्न होती है, जिनके लक्षण हैं :— स्पर्श, रस, रूप, गन्ध और शब्द। इन ५ तन्मात्रा से पृथ्वी, पानी, तेज, वायु और आकाश इन ५ महाभूतों को उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार प्रधान, बुद्धि, अहंकार, ११ इन्द्रियाँ, ५ तन्मात्रा और ५ महाभूत मिलाकर २४ तत्त्व वाली प्रकृति है। इनसे भिन्न चैतन्य स्वरूप २५वां तत्त्व पुरुष है। जन्म-मरण के नियम से बद्ध होने के कारण और धर्म आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रवृत्ति करने वाला होने से यह पुरुष अनेक प्रकार का है। शब्द आदि के उपभोग के लिये पुरुष और प्रकृति का संयोग अन्ध और पंगु के संयोग के समान है। शब्दादि की प्राप्ति होना अर्थात् गुण और पुरुष का आन्तरिक मिलन उपभोग है। इस दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम को प्रमाण माना गया है। यह सांख्य दर्शन का संक्षिप्त स्वरूप है।

४. बौद्ध-दर्शन

भाई प्रकर्ष! बौद्धों ने निर्वृत्ति मार्ग की कल्पना इस प्रकार की है। वे कहते हैं कि ५ इन्द्रियाँ, शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, मन और धर्म ये १२ प्रकार के आयतन हैं। धर्म अर्थात् सुख-दुःख आदि का आयतन (घर) यानि शरीर है। वे प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रकार का प्रमाण मानते हैं। यह बौद्ध दर्शन का सारांश है।

बौद्धों की वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक इस प्रकार चार शाखायें हैं।

वैभाषिकों की मान्यता है :—पदार्थ क्षणिक है, क्योंकि जैसे जन्म उत्पन्न करता है, स्थिति स्थापन करता है, जरा जर्जरित करती है और विनाश नाश करता है वैसे ही आत्मा भी इसी के समान क्षणिक है। इसी कारण आत्मा भी पुद्गल कहलाती है।

सौत्रान्तिकों की मान्यता है :—समस्त शरीरधारियों में रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार ये पांच स्कन्ध विद्यमान हैं। वे आत्मा नामक किसी पदार्थ को नहीं मानते। स्कन्ध ही परलोक में जाते हैं, समस्त संस्कार तो क्षणिक हैं, स्वलक्षण ही परमार्थ है और अन्य पदार्थों की व्यावृत्ति शब्दार्थ है। नैरात्म्य भावना से ज्ञान-संतान का उच्छेद ही मोक्ष है।

योगाचार की मान्यता है :—यह संसार ही विज्ञान है, इसके अतिरिक्त कोई बाह्य पदार्थ नहीं है। एक अद्वैत ज्ञान ही तत्त्व है जिसकी अनेक संतानें हैं। वासना के परिपाक से नीला-पीला आदि प्रतिभासित होता है। आलय-विज्ञान ही समग्र वासनाओं का आधारभूत है और आलय-विज्ञान की विशुद्धि ही अपवर्ग या मोक्ष है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माध्यमिक मत के अनुसार यह सब शून्य है। प्रमाण और प्रमेय का विभाग तो मात्र स्वप्न सदृश है। शून्यता-दृष्टि ही मुक्ति है और उसी के लिये समस्त भावनायें हैं। ये बौद्ध-दर्शन के विशेष भेद हैं और उनका यह संक्षिप्त परिचय है।

५. लोकायत (चार्वाक) दर्शन

वत्स! नास्तिकों को चार्वाक, लोकायत या बार्हस्पत्य कहा जाता है। ये चार्वाक तो निर्वृत्तिनगर को ही नहीं मानते। इनके अनुसार मोक्ष, जीव, परलोक, पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक, आदि कुछ भी नहीं है। * मात्र पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार तत्त्व हैं। इन तत्त्वों के समुदाय में ही शरीर, इन्द्रिय और विषय ये संज्ञायें हैं। जैसे मद्य में विद्यमान मदशक्ति (नशा) उसके सभी तत्त्वों के एकत्रित होने पर प्रकट होता है वैसे ही चारों भूतों के एकत्रित होने से जो शरीर रूपी परिणति होती है उसी में चैतन्य उत्पन्न होता है। जैसे जल में बुलबुला उठता है और उसी में समा जाता है वैसे ही भूत समुदाय से चैतन्य उत्पन्न होता है और पुनः उसी में विलीन हो जाता है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति से साध्य प्रेम को ही वे पुरुषार्थ मानते हैं। यह पुरुषार्थ काम (विषय सुख) ही धर्म है, अन्य मोक्ष आदि कुछ भी नहीं है और पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु के अतिरिक्त कोई अन्य तत्त्व भी नहीं है। इनकी मान्यता है कि प्रत्यक्ष में अनुभव होने वाले विषय सुख का त्याग कर अदृष्ट परलोक सुख के लिये प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है। इनके अनुसार प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। यह लोकायत मत का संक्षिप्त परिचय है।

मीमांसा-दर्शन

मीमांसकों का मार्ग यह है कि अतीन्द्रिय पदार्थों को साक्षात् देखने वाला कोई सर्वज्ञ है ही नहीं, अतः नित्य-स्थायी वेदवाक्यों से ही यथार्थ का निर्णय होता है। इसलिये सब से पहले वेदपाठ करना चाहिये, फिर धर्म-सम्बन्धी जिज्ञासा करनी चाहिये। उसके पश्चात् निमित्त की परीक्षा करनी चाहिये, प्रेरणा ही निमित्त है। कहा भी है कि, 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः" प्रेरणा लक्षण अर्थ ही धर्म है, अर्थात् क्रिया में प्रवृत्ति करने वाला वेदवाक्य ही धर्म है। जैसे जिसको स्वर्ग की अभिलाषा हो वह अग्निहोत्र करे। अतः प्रवृत्ति को ही धर्म माना गया है, अन्य किसी प्रमाण को नहीं। क्योंकि, प्रत्यक्षादि प्रमाण तो विद्यमान को ही ग्रहण करते हैं, परन्तु धर्म तो कर्त्तव्यरूप है और कर्त्तव्य त्रिकालवर्ती है। मीमांसक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, शब्द और अभाव इन छः प्रमाणों को मानते हैं। यह मीमांसा दर्शन का सार है।

---

* पृष्ठ ४३७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. जैन-दर्शन

भाई प्रकर्ष ! इस विवेक महापर्वत पर आरूढ़ और अप्रमत्तत्व नामक शिखर पर स्थित जैनदर्शन पुर के निवासियों ने निर्वृत्ति नगर का मार्ग इस प्रकार देखा है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व हैं। सुख-दुःख आदि परिणामों को प्राप्त करने वाला जीव है, इसके विपरीत लक्षण वाला अजीव है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये कर्म-बन्ध के हेतु हैं। इन्हें ही आस्रव कहते हैं। आस्रव के कार्य को ही बन्ध कहते हैं। इससे विपरीत संवर है, जिसका फल निर्जरा है और निर्जरा से ही मोक्ष होता है। ये सात पदार्थ है। इसमें विधि और निषेध दोनों अनुष्ठानों को बताया गया है पर पदार्थों का परस्पर विरोध नहीं है।

इस दर्शन के अनुसार जिसे स्वर्ग की इच्छा हो उसे तप, ध्यान आदि का आचरण करना चाहिये। 'किसी भी जीव को मारना नहीं चाहिये' यह इसका निषेध वचन है। साधुओं को सदा समग्र क्रियाओं में समिति और गुप्ति का पालन करते हुए शुद्ध क्रिया का आचरण करना चाहिये। समिति और गुप्ति से शुद्ध क्रिया हो तो वह असपत्न-योग कहलाता है, ऐसा शास्त्र में कहा गया है। जो उत्पत्ति, स्थिति और विनाश युक्त हो वही सत् है। एक ही द्रव्य अनन्त पर्यायार्थक होता है। जैन-दर्शन प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण मानता है। यह जैन मत (दर्शन) का दिग्दर्शन मात्र है।

निष्कर्ष

वत्स प्रकर्ष ! नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य और बौद्ध तो निर्वृत्ति-मार्ग को जानते ही नहीं, क्योंकि नैयायिक पुरुष (आत्मा) को एकान्त और नित्य मानते हैं। अन्य उसे सर्वव्यापी मानते हैं तो बौद्ध उसे प्रतिक्षण नाशवान मानते हैं। जब यह आत्मा नित्य है तब वह अविचल होकर मोक्ष में कैसे जाय ? इसी प्रकार जो सर्व व्यापी है, वह तो सिद्धगति में भी व्याप्त है फिर जाय तो कहाँ जाय ? जो प्रतिक्षण नष्ट होने वाला है वह तो मोक्ष जाने की इच्छा ही कैसे रखेगा ? ❀ अतएव ये तपस्वी तो निर्वृत्तिनगर का मार्ग जानते ही नहीं। [१-४]

वत्स ! लोकायत (चार्वाक, नास्तिक) तो इस नगरी से दूर ही रहते हैं। पापाभिभूत हृदय वाले ये बेचारे तो निर्वृत्तिनगर का अस्तित्व ही नकारते हैं। प्राज्ञ-पुरुषों द्वारा नास्तिकों के इस मत को महापापपूर्ण ही माना जाना चाहिये। क्योंकि, जिसके समक्ष अन्य किसी का भी अस्तित्व तुच्छ है, ऐसे निर्द्वन्द्व (अलौकिक) सुख से आच्छन्न निर्वृत्तिनगर के अस्तित्व का ही ये सर्वथा निषेध करते हैं। किन्हीं अधम पुरुषों ने इस नास्तिक दर्शन का चिन्तन किया होगा, जो स्वयं पापश्रुत (पापपूर्ण)

❀ पृष्ठ ४३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और दुष्टाशय को उत्पन्न करने वाले होंगे, अतः विचारशील धीर-पुरुषों को इसका सदा त्याग करना चाहिये। [५–७]

भैया ! परमार्थ दृष्टि से विचार करें तो मीमांसकों को भी निर्वृत्ति नगर इष्ट नहीं लगता, क्योंकि ये बेचारे सर्वज्ञ के अस्तित्व को ही अस्वीकार करते हैं और केवल एकमात्र वेद को ही प्रामाणिक तथा आधारभूत मानते हैं। इसीलिये यह कहा गया है कि भूमि (निम्न स्तर) पर स्थित इन पांचों पुरों के निवासी मिथ्यादर्शन से मोहाभिभूत हो गये हैं। [८–१०]

किन्तु अप्रमत्तत्व शिखर पर स्थित जैनपुर के निवासियों ने निर्वृत्तिनगर का जो मार्ग बताया है, वह पूर्ण सत्य, बाधा एवं विरोध रहित है। मिथ्यादर्शन चाहे जितना शक्तिशाली हो तब भी वह यथावस्थित सन्मार्ग को जानने वाले और स्वयं शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। जैनपुर के निवासी ज्ञान और श्रद्धा से अपने को पवित्र कर संसार-बन्दीगृह से निःस्पृह रहते हैं और चारित्ररूपी वाहन में बैठकर निर्वृत्तिनगर को जाते हैं। वत्स ! जैसे यह सन्मार्ग सत्य है और अन्य मार्ग ऐसे क्यों नहीं, इस विषय में यदि मैं विचारणा करने बैठूं तो मेरा पूरा जीवन ही समाप्त हो जाय तब भी इस चर्चा का अन्त नहीं आ सकता, इसीलिये तुझे संक्षेप में बता दिया है। आशा है तुझे सब बातें सम्यक् प्रकार से समझ में आ गई होंगी। ज्ञान, दर्शन और चारित्र लक्षण वाला जो आन्तरिक मार्ग है उसे ही विद्वानों ने वास्तविक निर्वृत्ति-मार्ग माना है। इस निर्वृत्ति-मार्ग को अप्रमत्तत्व शिखरारूढ़ जैनपुर के लोगों ने ही समझा है, अन्य भूमि पर स्थित लोग अभी इसे नहीं समझ पाये हैं। [११–१६]

भैया ! भवचक्र में मिथ्यादर्शन मन्त्री ने कैसी विडम्बना खड़ी कर रखी है, यह मैंने तुझे संक्षेप में बता दिया है। [१७]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३२. जैन दर्शनपुर

[सदागम के समक्ष संसारी जीव अगृहीतसंकेता और प्रज्ञाविशाला को अपना जीवन-चरित्र सुना रहा है। इसी जीवन-चरित्र के अन्तर्गत विचक्षण आचार्य ने रिपुदारण के पिता नरवाहन को अपनी कहानी सुनाते हुए यह बताया था कि जब शुभोदय राजा ने विमर्श को रसना की उत्पत्ति का पता लगाने भेजा था तब उसका भाणेज प्रकर्ष भी जिज्ञासावश साथ हो लिया था। रसना के उत्पत्ति की शोध तो हो चुकी थी पर उन्हें एक वर्ष का समय मिला था, अतः शेष समय का उपयोग करने के लिये, प्रकर्ष की जिज्ञासा को शान्त करने के लिये मामा विमर्श भाणेज प्रकर्ष को भवचक्रपुर के अनेक कौतुक बताता है।]

[विचक्षणचार्य राजा नरवाहन को कहते हैं :—]

जैन दर्शनपुर की ओर प्रयाण

प्रकर्ष—मामा ! आपकी कृपा से मैंने भवचक्रपुर में बहुत कुछ देखा। अन्तरंग राजाओं की शक्ति कैसी और कितनी है, यह भी समझ में आया, परन्तु एक बात तो हंसने जैसी ही हो गई। संसार में छोटे बच्चे भी यह कहावत कहते हैं कि 'पुत्र की शादी करने ठाठ-बाट से बरात लेकर गये, पर शादी करके लौटते समय दुल्हन को ही भूल आये।' ऐसी ही बात हमारे साथ घटित हो गई है। हम भवचक्रपुर में विशेषरूप से महामोह आदि राजाओं को जीतने वाले और संतोष राजा के साथ रहने वाले श्रेष्ठ एवं महान् पुरुषों के दर्शन करने आये थे, पर हमने न तो उनके दर्शन किये और न संतोष राजा के ही, अतः जिस हेतु से आये थे वह तो अभी अधूरा ही है। मामा ! मुझ पर अनुग्रह कर * इन महात्माओं और संतोष राजा के स्थान पर मुझे ले चलिये तथा सम्यक् प्रकार से उनका परिचय कराइये। [१८–२३]

विमर्श—भाई ! हम जिस विवेक पर्वत पर खड़े हैं और सामने अप्रमत्तत्व शिखर पर जो जैनपुर दिखाई दे रहा है, उसी में वे महात्मा और संतोष राजा रहते हैं। तुम्हें कौतूहल है तो चलो, वहीं चलकर मैं तुम्हें बताता हूँ। जब तुम उनके प्रत्यक्ष दर्शन कर लोगे, तब तुम्हें सब बात समझ में आ जायगी। [२४–२५]

प्रकर्ष के हाँ कहने पर दोनों जैनपुर की तरफ चले। रास्ते में उन्होंने अत्यन्त निर्मल मानस वाले साधुओं के दर्शन किये। [२६]

साधु-वर्णन

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! ये वे ही महात्मा हैं जिन्होंने अपने प्रचण्ड वीर्य (शक्ति) से महामोह आदि राजाओं को निर्वीर्य कर दिया है। वत्स ! ये महात्मा

* पृष्ठ ४३९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्त त्रस एवं स्थावर जन्तुओं के बन्धु हैं और समस्त जीवों के भाई हैं। ये नरोत्तम मनुष्य, देव या तिर्यञ्च की स्त्रियों को माता के समान मानते हैं और स्वयं इन सब स्त्रियों के प्रिय पुत्र हों ऐसा अनुभव करते हैं। इन महापुरुषों का चित्त धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह या क्रोध मान माया लोभ आदि अन्तरंग परिग्रह पर किञ्चित् भी आसक्त नहीं होता। अपने शरीर पर भी इन्हें आसक्ति नहीं रहती। कमल कीचड़ और जल से उत्पन्न होकर भी जैसे उससे अलग रहता है वैसे ही कर्म-कीचड़ से उत्पन्न और भोगजल से वृद्धि प्राप्त करने पर भी ये अब इन सब से दूर रहते हैं। ये महापुरुष सत्य बोलते हैं। प्राणियों के हितकारी वचन बोलते हैं। ये बोलते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि इनके मुख से अमृत झर रहा हो। सार-असार की परीक्षा कर बोलते हैं। आवश्यकतानुसार मित शब्दों में बोलते हैं। व्यर्थ की बातें नहीं करते। ये महापुरुष असंग योग की साधना करते हैं। किसी प्राणी या वस्तु का संग सर्वथा न रहे ऐसी इच्छा रखते हैं और उसकी सिद्धि के लिये समस्त प्रकार के दोषों से रहित भोजन ग्रहण करते हैं तथा ऐसे दोष-रहित भोजन में भी किसी प्रकार की लोलुपता (गृद्धता) नहीं रखते। संक्षेप में इन महात्माओं की सर्व प्रकार की चेष्टायें और प्रवृत्तियाँ इस प्रकार की होती हैं कि जिससे महामोह आदि राजा इनसे दबे हुए रहते हैं और इनके समक्ष अपनी शक्ति का नाम मात्र भी प्रदर्शन नहीं कर पाते तथा अन्त में हार कर वे इन्हें छोड़कर चले जाते हैं। [२७-३३]

भाई प्रकर्ष ! पहले तुमने चित्तवृत्ति अटवी आदि देखी थी, इन भगवन्तों की उन सब के प्रति कैसी प्रवृत्ति रहती है, यह भी समझ लो। चित्तवृत्ति अटवी में तुमने जो प्रमत्तता नदी देखी थी वह इनके लिये बिलकुल सूखी है, नदी का तद्विलसित द्वीप इनके लिये शून्य के समान है, द्वीप के मध्य का चित्तविक्षेप मण्डप इनके लिये भग्न हो चुका है, मण्डप की तृष्णा-वेदिका नष्ट हो चुकी है, विपर्यास सिंहासन टूट गया है, महामोह राजा के अविद्या रूपी शरीर को इन्होंने चूर चूर कर दिया है और महामोह राजा को चेष्टा-शून्य कर दिया है। इन्होंने मिथ्यादर्शन पिशाच को उठाकर दूर फेंक दिया है, रागकेसरी का नाश कर दिया है, द्वेषगजेन्द्र को छिन्न-भिन्न कर दिया है और सेनापति मकरध्वज को तो जमीन पर पछाड़ दिया है। विषयाभिलाष मंत्री को कागज की तरह फाड़ कर फेंक दिया है और महामूढ़ता महारानी को धक्के मार कर बाहर निकाल दिया है। हास्य, जुगुप्सा, भय, अरति, शोक आदि विशिष्ट सुभटों का इन्होंने नाश कर दिया है। दुष्टाभिसन्धि आदि तस्करों को पद-दलित कर दिया है और सोलह कषायों के बालकों को इन्होंने भगा दिया है। ज्ञानावरणीय आदि तीन अत्यन्त दुष्ट राजाओं का इन्होंने नाश कर दिया है। सात राजाओं में से वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र जो चार शेष हैं, उन्हें भी इन्होंने अपने अनुकूल बना लिया है। मोहराजा की चतुरंगी सेना इनके विषय में नष्ट प्रायः दिखाई देती है, उनकी सभी चालें विफल हो गई हैं, विडम्बोक शान्त हो गया है, विलास गल गया है और सर्व प्रकार के विकार इनके सम्बन्ध में अदृश्य हो गये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाई प्रकर्ष ! अधिक क्या वर्णन करूं ! ❀ संक्षेप में कहूँ तो मैं तुझे पहले ही बता चुका हूँ कि चित्तवृत्ति अटवी की समग्र वस्तुएं जो संसार के प्राणियों को बाह्य रूप से अत्यन्त ही दुःख देने वाली हैं और जिनके प्रभाव में आकर प्राणी अनेक प्रकार के त्रास प्राप्त करते हैं, उन सभी वस्तुओं को ये महापुरुष इस भवचक्र में बैठे-बैठे ही नष्ट हो गई हों ऐसा देखते हैं। ये महात्मा सचमुच बहुत बुद्धिशाली हैं। इन महात्माओं का ध्यान-योग इतना बलवान होता है कि इनको चित्तवृत्ति अटवी सर्व प्रकार के उपद्रवों से रहित दिखाई देती है और इनकी चित्तवृत्ति अटवी पूर्णतया श्वेत, शुद्ध तथा ज्ञानादि रत्नों से परिपूर्ण दिखाई देती है। हे वत्स ! जिन महात्माओं का मैंने तेरे समक्ष वर्णन किया है वे सब तपोधन वीर पुरुष तेरे सन्मुख हैं, उन्हें तू आँखें खोलकर सम्यक् प्रकार से देखलें। [१-४]

❀

३३. सात्विकमानसपुर और चित्त-समाधान मण्डप

[अब प्रकर्ष को आनन्द आने लगा, उसकी जिज्ञासा तृप्त होने के प्रसंग बढ़ने लगे तथा मन को आनन्दित करने वाली सुन्दर वस्तुओं और लोगों के दर्शन होने लगे एवं सम्पूर्ण जगत का तत्त्वज्ञान चक्षुओं के समक्ष दृष्टिगत होने लगा। उसे एक नई जिज्ञासा हुई अतः उसने मामा से पूछ ही लिया।]

प्रकर्ष—मामा ! आपने बहुत अच्छा किया, मुझ पर कृपा कर महात्मा पुरुषों के दर्शन करवा कर मेरे पाप नष्ट किये। मुझे पवित्र बनाया, मेरे अन्तःकरण को शांत किया, मेरे नेत्र आज वास्तव में पवित्र हुए, आनन्द रूपी अमृत का मेरे शरीर पर छिड़काव कर आपने मेरे सम्पूर्ण शरीर को शीतल कर दिया। पर, मामा ! आप तो मुझे यहाँ महावीर्यशाली संतोष राजा का दर्शन कराने लाये थे, वह तो अभी बाकी ही है। सन्तोष राजा के दर्शन आप मुझे करादें तो यहाँ आने का हमारा योजना सफल हो। [५-७]

चित्त-समाधान मण्डप

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! देखो, सामने दूर एक उज्ज्वल चित्त-समाधान मण्डप दिखाई देता है। इसको देखने मात्र से आँखों को सुख एवं शान्ति मिलती है। यह मण्डप अत्यन्त विशाल है और जैनपुर निवासियों को अत्यधिक प्रिय है। संतोष राजा इस मण्डप में ही होना चाहिये, तुम ध्यान से देखो। [८-९]

प्रकर्ष- मामा ! यदि ऐसा है तो हम इस मण्डप में जाकर ही राजा को क्यों न देखें ?

❀ पृष्ठ ४४०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विमर्श—अच्छी बात है, ऐसा ही करते हैं। [१०]

इस प्रकार विचार कर मामा और भाणेज योग्य स्थान से उस मण्डप में प्रविष्ट हुए। यहाँ से उनको अन्दर का पूरा दृश्य दिखाई दे रहा था। इस मण्डप को देखते ही उन्हें लगा कि यह मण्डप स्वकीय प्रभाव से विक्षेप प्राप्त लोगों के सन्ताप को दूर करने में समर्थ एवं सुन्दर है। इस मण्डप के बीच में एक चार मुख वाला राजा उन्हें दिखाई दिया जिन्होंने अपने तेज से मण्डप के अन्धकार को नष्ट कर रखा था। उनके आस-पास अनेक लोग बैठे थे जो सत्-चित् और आनन्द को देने वाले दिखाई देते थे। एक विशाल वेदी पर अत्यन्त श्रेष्ठ सिंहासन पर राजा विराजमान थे। राजा को देखते ही प्रकर्ष अत्यन्त आनन्दित, हर्षित और प्रमुदित हुआ। साधारणतः उसकी प्रकृति नये-नये विषयों में कौतूहलपूर्ण होने से कुछ प्रश्न पूछकर वास्तविकता जानने की इच्छा हुई। फिर उसने मामा से क्रमशः प्रश्न पूछे। [११-१४]

सात्विक-मानसपुर

प्रकर्ष—अहा मामा ! जिस जैनपुर का ऐसा स्वामी व राजा हो, इतना अच्छा मण्डप हो और जहाँ इतने श्रेष्ठ लोग रहते हों वह नगर तो अवश्य ही सुन्दर और रमणीय होना चाहिये। मामा ! ऐसे श्रेष्ठ विवेक पर्वत पर बसा हुआ यह नगर भी क्या सर्व दोषों से भरे हुए इस भवचक्र में ही आया हुआ है ? भवचक्र में ऐसे सुन्दर मण्डप को कैसे स्थान प्राप्त हो सकता है ? [१५-१६]

विमर्श—वत्स ! यह विवेक महागिरि किस स्थान पर है, इस विषय में बताता हूँ, सुनो। चित्तसमाधान मण्डप जो विवेक पर्वत पर स्थित है, वह वास्तव में तो चित्तवृत्ति अटवी में ही है। किन्तु, विद्वान् उपचार मात्र से इसे भवचक्र में मानते हैं, क्योंकि यहाँ श्रेष्ठ एवं प्रशस्य लोगों से निर्मित अतिविशाल एक सात्विक-मानस नामक अन्तरंग नगर है। वत्स ! इसी नगर में यह सुन्दर विवेकगिरि भी है। सात्विक-मानसपुर भवचक्र में है और उसी में श्रेष्ठ विवेक * पर्वत आया हुआ है, इसलिये इन दोनों का परस्पर आधार-आधेय का सम्बन्ध है। भवचक्र में सात्विक-मानसपुर और उसी में विवेकपर्वत होने से जैनपुर को भी भवचक्र में गिना जाता है। [१७-२०]

प्रकर्ष—मामा ! यदि आप जैसा कहते हैं वैसा ही है तब तो विवेक पर्वत के आधारभूत सात्विक-मानसपुर, उसके आश्रय में रहने वाले बहिरंग लोग, महान विवेक पर्वत, अप्रमत्तत्व शिखर, जैनपुर उसके निवासी बहिरंग लोग, चित्त-समाधान मण्डप, वेदी, सिंहासन, उस पर बैठे महाराजा और उनके परिवार आदि सभी मेरे लिये तो नये ही हैं। इस जन्म में कभी मैंने इनके बारे में पहले नहीं जाना। यह सब एकदम

* पृष्ट ४४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभूतपूर्व और नया-नया है तथा जानने लायक है, इसलिये मुझ पर कृपा कर प्रत्येक के विषय में विस्तार से स्पष्टतः बताइये।

विमर्श—भाई ! तुझे यह सब कुछ जानने/समझने का विशेषतः अत्यधिक कौतूहल है तो तू ध्यान देकर श्रवण कर।

इस विवेक पर्वत का आधारभूत सात्विक-मानसपुर वास्तव में ज्ञानादि अन्तरंग रत्नों/गुणों की खान है। वत्स ! यद्यपि यह अनेक प्रकार के दोषों से परिपूर्ण भवचक्र के बीच में बसा हुआ है, फिर भी इसका स्वरूप इतना श्लाघनीय है कि दोष इसको छू भी नहीं सकते। भवचक्र में रहने पर भी यह दोष-मुक्त है। भैया ! भवचक्र में रहने वाले भाग्यहीन प्राणी अपने पास ही बसे हुए इस सुन्दर सात्विक-मानसपुर को उसके वास्तविक रूप में देख ही नहीं पाते। इसके अन्तर्गत निर्मलचित्त आदि अनेक छोटे-छोटे नगर और पुर हैं जो सात्विक-मानसपुर के अधीनस्थ हैं और उन उपनगरों की यह राजधानी है। तुझे स्मरण होगा कि राजसचित्त नगर का राज्य कर्मपरिणाम राजा ने रागकेसरी को और तामसचित्त नगर का राज्य द्वेषगजेन्द्र को सौंपा था और महामोह की आज्ञा सर्वत्र फैलाई थी। पर, कर्मपरिणाम महाराजा ने सात्विक-मानसपुर या उसके अधीनस्थ नगरों का राज्य किसी को नहीं सौंपा। इस राज्य की आमदनी का उपयोग वह स्वयं करता है और उसका कुछ भाग शुभाशुभ आदि श्रेष्ठ राजाओं में बांटता है। इसीके फलस्वरूप सात्विक-मानसपुर और उसके अधीनस्थ नगरों पर महामोह आदि राजाओं और उनके सेवकों का कोई वश नहीं चलता। यह सात्विक-मानसपुर सम्पूर्ण जगत् का सारभूत है, सर्व प्रकार के उपद्रवों से रहित है, सर्व प्राणियों में अनेक प्रकार का आह्लाद उत्पन्न करने वाला और बाह्य मनुष्य के मन को अपनी ओर आकर्षित करने वाला है। भैया ! संक्षेप में सात्विक-मानसपुर के सम्बन्ध में तुझे बताया जो तेरा समझ में आया होगा। अब इस नगर में रहने वाले लोग कैसे हैं, इसका वर्णन करता हूँ, सुन। [२१-२८]

सात्विक-मानसपुर के निवासी

इस सात्विक-मानसपुर में जो बाह्य लोग रहते हैं वे शूरवीरता आदि गुणों के धारक हैं। जो बाह्य लोग इस नगर में अन्य स्थानों से आकर रहते हैं वे इस नगर के माहात्म्य के कारण विबुधालय (देवलोक) में जाते हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ रहने वाले लोगों की दृष्टि के सन्मुख विवेक पर्वत आ जाता है, क्योंकि वह सात्विकमानसपुर में ही आया हुआ है। इस नगर में रहने वाले लोगों में से जो इस विवेक पर्वत को देखकर उस पर चढ़ते हैं, उन्हें जैनपुर प्राप्त होता है और वे वास्तविक सच्चे सुख के भाजन बनते हैं। एक तो इस नगर के प्रभाव से लोग स्वभाव से ही श्रेष्ठ एवं सुन्दर होते हैं, फिर विवेक पर्वत के शिखर पर चढ़ने (रहने) से और भी अधिक प्रशस्त तथा सुन्दर हो जाते हैं। पुनश्च, वत्स ! भवचक्र निवासी प्राणियों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से जो पापी होते हैं - उन्हें यह जैनपुर न तो इतना सुन्दर लगता है न सुखकारी प्रतीत होता है और न इसकी विशिष्टताएं ही उनके ध्यान में आती हैं। जो बहिरंग प्राणी सात्विक-मानसपुर में आकर इस विवेकगिरि पर रहते हैं उन्हें यह जैनपुर अति-सुन्दर लगता है, अतः जिनका भविष्य में शीघ्र ही परम कल्याण होने वाला होता है और जो सन्मार्ग की ओर प्रवृत्ति करने वाले होते हैं, ऐसे लोग ही इस स्वाभाविक सुन्दर नगर में रहते हैं। इस प्रकार सात्विक-मानसपुर के निवासियों के बारे में मैंने तुझे बताया, अब मैं विवेकगिरि के स्वरूप का वर्णन करता हूँ उसे तू सुन।

[२६-३६]

विवेकगिरि

भवचक्रपुर में रहने वाले लोग जब तक इस विवेकगिरि महापर्वत को नहीं देखते तब तक वे अनेक प्रकार के दुःखों में डूबे हुए रहते हैं। जब वे एक बार इस पर्वत के दर्शन कर लेते हैं तब उनकी बुद्धि भवचक्र की तरफ आकर्षित नहीं होती। इस पर्वत के दर्शन के परिणामस्वरूप अन्त में वे भवचक्र को छोड़कर विवेक पर्वत के शिखर पर चढ़ जाते हैं और समस्त प्रकार के दुःखों से रहित होकर अलौकिक निर्द्वन्द्व आनन्द के भोक्ता बन जाते हैं। वत्स ! इस निर्मल विवेक पर्वत पर स्थित वे सम्पूर्ण भवचक्रपुर को हस्तामलकवत् देख सकते हैं। वे बराबर देख सकते हैं कि भवचक्र में विविध घटनायें घटित होती हैं और यह नगर दुःखों से परिपूर्ण है। इस नगर की परिपाटी को देखते-देखते ही उन्हें इसके प्रति वैराग्य पैदा होता है और इससे दूर जाने का निर्णय करते हैं। भवचक्र से विरक्ति होते ही उन्हें स्वभावतः विवेक पर्वत पर प्रेम और आकर्षण उत्पन्न होता है, क्योंकि उनको यह ज्ञात हो जाता है कि वास्तविक सुख का कारण यह महान पर्वत ही है। भैया ! इस निर्णय के पश्चात् जब तक थोड़े समय के लिये वे भवचक्रपुर में रहते हैं, तब तक वे विवेक पर्वत के माहात्म्य से अत्यन्त सुखी रहते हैं, वास्तविक आनन्द को प्राप्त करते हैं और अत्यन्त उन्नत दशा के मार्ग पर आ जाते हैं। [४८-४४]

अप्रमत्तत्व शिखर

भाई प्रकर्ष ! तेरे समक्ष मैंने समस्त प्राणियों के लिये सुख का हेतु इस विवेकगिरि के स्वरूप का वर्णन किया। अब मैं इस पर्वत के उत्तुंग शिखर अप्रमत्तत्व के विषय में तुम्हें बताता हूँ, सुनो। यह शिखर समस्त दोषों को नष्ट करने वाला है और अन्तरंग राज्य के समग्र दुष्ट राजाओं के लिए यह अत्यन्त त्रासदायक बन गया है। वत्स ! कारण यह है कि पर्वत पर आरूढ़ लोगों में उपद्रव फैलाने के लिये जब महामोह आदि शत्रु प्रयत्न करते हैं तब विवेकगिरि पर स्थित लोग इस अप्रमत्तत्व शिखर पर चढ़कर वे अपने शत्रुओं पर ऐसी मार करते हैं कि वे बेचारे पर्वत पर से

---

*पृष्ठ ४४२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लुढ़कते हुए जमीन पर आ गिरते हैं और उनके शरीर का ऐसा चूरा हो जाता है कि वे कायर भय से शिखर की तरफ देखते हुए भाग खड़े होते है। इस शिखर पर मद्य, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा आदि रूप किसी भी प्रकार का प्रमाद नहीं होता। ऐसा लगता है कि विवेक पर्वत पर रहने वाले प्राणियों के शत्रु अन्तरग राजाओं को नष्ट करने के लिये ही इस शिखर का निर्माण हुआ है। भाई! वस्तुतः यह शिखर उज्ज्वल, अति विशाल, अत्यन्त ऊंचा, सर्वजन सुखकारी और बहुत ही सुन्दर है।

[४५-५१]

जैनपुर

भाई! अप्रमत्तत्व शिखर के वर्णन के पश्चात् अब जैनपुर का तात्त्विक वर्णन सुन। यह श्रेष्ठ नगर, अक्षय आनन्द प्राप्त करवाने का कारण है। पुण्यहीन प्राणी भवचक्र में चाहे जितने समय भटकते रहें तब भी उनको इस पुर की प्राप्ति होना अति दुर्लभ है, दृष्टिगत होना भी अशक्य है।* क्योंकि, अनन्तकाल तक भवचक्र में भटकते हुए प्राणी (जब ओघदृष्टि का त्याग कर योगदृष्टि में आते हैं तब) बड़ी कठिनाई से सात्विक-मानसनगर में आते हैं। उनमें से कई एक तो अनेक भवों तक इस भवचक्र में भटकते रहते हैं परन्तु सात्विक-मानसपुर उन्हें दृष्टिगोचर ही नहीं होता। यदि कभी थोड़े समय के लिये सात्विक-मानसपुर मिल भी जाय तब भी वे थोड़े समय तक वहाँ रह कर फिर भवचक्र में चले जाते हैं। और, वहाँ तो अनन्त नगर हैं इसलिये उनका कुछ पता ही नहीं लगता। ऐसे प्राणी इस श्रेष्ठ विवेक पर्वत के दर्शन ही नहीं कर पाते। इस प्रकार भवचक्र और सात्विक-मानसपुर के बीच अनेक बार भटकते हुए कभी उनकी दृष्टि विवेक पर्वत पर पड़ जाती है। कितने ही प्राणी तो स्वयं अपने ऐसे शत्रु होते हैं कि अपनी आँखों से ऐसे सुन्दर विवेक पर्वत को देखकर और उसकी वास्तविकता को समझकर भी उस पर चढ़ने का प्रयत्न नहीं करते और वापस भवचक्र में चले जाते हैं। कुछ प्राणी कदाचित् विवेक पर्वत पर चढ़कर भी अति सुन्दर किन्तु महा दुर्लभ अप्रमत्तत्व शिखर को नहीं देख पाते। कुछ इस शिखर को देखकर भी उस पर चढ़ने का प्रयत्न नहीं करते और आलस्यपूर्वक भवचक्र में ही आनन्द मानकर बैठे रहते हैं। अर्थात् पर्वत और उसकी चोटी पर चढ़ने के परिश्रम के भय से वे भवचक्र के दुःख में ही आनन्द मानकर जमीन पर ही पड़े रहते हैं। जो भाग्यशाली प्राणी इस मनोहर अप्रमत्तत्व शिखर पर चढ़ जाते हैं वे ही फिर इस जैनपुर को देख सकते हैं, अन्यथा जैनपुर का दर्शन कराने वाली सामग्री का भवचक्र में मिलना अति दुर्लभ है। वत्स! इसीलिये मैंने पहले कहा था कि भवचक्र में भ्रमण करने वाले प्राणियों को सतत आनन्द का कारण इस जैनपुर का प्राप्त होना अति दुर्लभ है। यह जैनपुर अनेक रत्नों से परिपूर्ण है, सब प्रकार के सुखों की खान है और समस्त संसार की श्रेष्ठतम सारभूत वस्तुओं का भी सार जैसा है।

[५२-६३]

---

* पृष्ठ ४४३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनपुर के निवासी

वत्स ! इस प्रकार जैनपुर के स्वरूप का संक्षेप में वर्णन करने के पश्चात् अब मैं जैनपुर के निवासी कैसे हैं, यह बताता हूँ, इसे तू लक्ष्य में रखले। इस नगर के निवासी सज्जन लोग निरन्तर आनन्द में रहते हैं, सब प्रकार की बाधा-पीड़ा से रहित होते हैं, इसका कारण इस नगर का प्रभाव ही है। यहाँ के समस्त निवासियों ने निर्वृत्ति-नगर (मोक्ष) जाने का दृढ़ निश्चय कर रखा है और वे उसके लिये निरन्तर प्रयाण करते रहते हैं। बीच-बीच में कहीं-कहीं पर रुक भी जाते हैं। ऐसे विश्राम के समय में वे विबुधालय में निवास करते हैं (किन्तु ज्ञानयुक्त होने से वहाँ भी वे मोक्ष के मार्ग को सरल करते जाते हैं।) इन लोगों के भी महामोह आदि शत्रु तो होते ही हैं पर उनकी शक्ति, बल और धीरज को देखकर वे भय से दूर भाग जाते हैं और इनसे दूर-दूर ही फिरा/रहा करते हैं। [६४-६७]

प्रकर्ष मामा ! जैसा आप कह रहे हैं वैसा मुझे तो कुछ लगता नहीं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि जैसे भवचक्र के लोग महामोह आदि में आसक्त दिखाई देते हैं वैसे ही जैनपुर के निवासी भी महामोह आदि आन्तरिक शत्रुओं में आसक्त दिखाई देते हैं। क्योंकि, ये भी सभी काय करते हुए दिखाई दे रहे हैं. जैसे कि भवचक्र के निवासी करते हैं। जैसे—जैन लोग भगवान् की मूर्ति पर आसक्त (श्रद्धायुक्त) होते हैं। स्वाध्याय पर अनुरक्त होते हैं। स्वधर्मी-बन्धुओं पर स्नेह रखते हैं। धर्मानुष्ठान कर प्रसन्न होते हैं। गुरु-महाराज को देखकर संतोष प्राप्त करते हैं। सदर्थ (ज्ञान) प्राप्ति से हर्षित होते हैं। अपने व्रतों में दोष लगने पर उन दोषों के प्रति द्वेष करते हैं। समाचारी (धर्मशास्त्र की मर्यादा) का लोप करने वाले पर क्रोध करते हैं। शास्त्र का विरोध करने वाले पर रोष करते हैं। अपने कर्मों की निर्जरा होने पर गर्व करते हैं। अपनी ली हुई प्रतिज्ञाओं का * निर्वाह होने पर अभिमान करते हैं। परिषहों पर स्वयं की साध्य-प्राप्ति का आधार रखते हैं। देव-कृत उपद्रव होने पर वे उस पर हँसते हैं। जिन-शासन की हीनता को छिपा लेते हैं। स्वयं की धूर्त इन्द्रियों को ठगते हैं (उन्हें आत्मद्रोह के मार्ग पर जाने से रोक कर आत्म-साधना के मार्ग में जोड़ते हैं।) तपस्या और चारित्र-पालन का लालच रखते हैं। महापुरुषों की सेवा-शुश्रूषा करने में तल्लीन रहते हैं। प्रशस्त ध्यानयोग की अच्छी तरह रक्षा करते हैं। परोपकार करने की तृष्णा रखते हैं। प्रमाद रूपी चोरों का नाश करते हैं। भवचक्र भ्रमण से घबराते हैं। कुमार्ग से घृणा करते हैं। निर्वृत्ति-नगर के मार्ग की ओर रमण करते है। विषयजन्य सुख-भोगों की हंसी करते हैं। आचार की शिथिलता को देखकर उद्वेग प्राप्त करते हैं। भूतकाल में अपने द्वारा आचरित असद् आचरण को याद कर शोक करते हैं। अपने उत्तम चारित्र में भूल होने पर अपने को धिक्कारते हैं। भवचक्रवास की निन्दा करते हैं। तीर्थंकर

---

* पृष्ठ ४४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् की आज्ञा रूपी स्त्री की आराधना करते हैं। ग्रहण, शिक्षा और आसेवना शिक्षारूपी ललना की सेवा करते हैं।

मामा ! आप देखिये कि संसारी प्राणी जैसे मूर्छा, आनन्द, स्नेह, प्रेम, संतोष, हर्ष, द्वेष, क्रोध, रोष, अहंकार, विश्वास, विस्मय, गूढ़ता, वंचन, लोभ, वृद्धि, रक्षा, तृष्णा, हिंसा, भय, घृणा, रमणता, हास्य, उद्वेग, शोक, तिरस्कार, निन्दा, युवति-आराधना, युवति-सेवा आदि भावों में रत रहते हैं वैसे ही जैनपुरवासी भी मूर्छा, स्नेह, प्रेम आदि सर्व भावों में एक या दूसरे प्रकार से अनुरक्त दिखाई देते हैं। आप जानते हैं कि महामोह आदि अन्तरंग शत्रु संसारी प्राणियों में मूर्छा आदि समस्त भाव फैलाते हैं, वे ही भाव जब जैनपुरवासियों में भी स्पष्टतः दिखाई दे रहे हैं, तब आप कैसे कहते है कि जैनपुरवासियों ने महामोह आदि राजाओं को दूर भगा दिया है ? [६९-७०]

विमर्श—भाई ! पहले तुमने जो महामोह आदि देखे थे उनसे जैन लोगों के महामोह आदि भिन्न-भिन्न हैं। यहाँ जो महामोह आदि दिखाई देते हैं वे जैन लोगों के प्रति अत्यन्त प्रेमालु हैं, बन्धुता रखने वाले और उनका श्रेय बढ़ाने वाले हैं। महामोहादि दो प्रकार के हैं। अप्रशस्त— जो सर्व प्राणियों के शत्रु हैं और प्रशस्त— जो सब के अतुलनीय बन्धु हैं। पहले प्रकार के अप्रशस्त मोहादि प्राणियों को संसार चक्र में धकेलते हैं, उनका पतन कराते हैं, क्योंकि, वे स्वभाव से ही वैसे हैं। जब कि दूसरे प्रकार के प्रशस्त मोहादि प्राणियों की उन्नति कराते हैं, उन्हें निर्वृत्ति-मार्ग की तरफ ले जाते हैं, क्योंकि इनका स्वभाव ही ऐसा है। जैन सज्जनों के पास से अप्रशस्त मोहादि दूर हो गये हैं और प्रशस्त मोहादि उनके साथ हैं जिससे जैनपुरवासी सज्जन बनकर निरन्तर आनन्द में रहते हैं।

इस प्रकार समस्त प्रकार के कल्याणों का उपभोग करने वाले जैन सज्जनों का स्वरूप-वर्णन करने के पश्चात् अब मैं विवेकगिरि के शिखर पर आये हुए चित्त-समाधान मण्डप आदि के बारे में बताता हूँ। [७१-७६]

चित्त-समाधान मण्डप

इस मण्डप में ऐसी अद्वितीय शक्ति है कि जब वह प्राणी को प्राप्त हो जाता है तब अपने वीर्य से प्राणी को अतुल सुखी बनाता है। त्रैलोक्य के बन्धु महाराजा के बैठने के लिये स्रष्टा ने यह मण्डप बनाया है। जब तक प्राणी को चित्त-समाधान मण्डप की प्राप्ति नहीं होती तब तक सम्पूर्ण भवचक्र नगर में प्राणी को सुख की गन्ध भी नहीं मिल सकती। [७७-७९]

निःस्पृहता-वेदी

भाई प्रकर्ष ! मण्डप का स्वरूप बताने के बाद अब मैं उस मण्डप के मध्य बनी निःस्पृहता-वेदी के सम्बन्ध में बताता हूँ। जो लोग इस निःस्पृहता-वेदी का पुनः-पुनः स्मरण करते हैं उन्हें शब्दादि इन्द्रिय भोग तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विष के समान लगते हैं। उन्हें इन भोगों में किसी प्रकार का रस या आनन्द नहीं मिलता। उनका मन ऐसे भोगों पर तनिक भी आसक्त नहीं होता जिससे उन्होंने जो कर्म पहले एकत्रित किये थे उनका भी क्षय होता जाता है। अतः कर्मरूपी मैल से रहित होकर * निर्मल बनकर भवचक्रपुर से पराङ्मुख होकर ही वे इस संसार में रहते हैं। जिन भाग्यवान प्राणियों के मन में यह निःस्पृहता वेदी बस गई है उन्हें फिर देवता तो क्या इन्द्र की भी आवश्यकता नहीं रहती। राजा की चापलूसी या किसी अन्य के सहयोग की भी अपेक्षा नहीं रहती। विधाता ने इस वेदी का निर्माण भी इन श्रेष्ठतम महाराजा के बैठने के लिये ही किया है। [८०–८४]

जीववीर्य सिंहासन

भाई प्रकर्ष! इसी प्रकार निःस्पृहता वेदी पर जो जीववीर्य नामक सिंहासन रखा है, उसके बारे में बताता हूँ। जिन प्राणियों के मन में जीववीर्य की स्फुरणा होती है उन्हें सुख का ही अनुभव होता है। फिर उन्हें दुःख में पड़ने का कोई प्रसंग नहीं रहता। इस सिंहासन पर बैठे ये राजा अत्यन्त देदीप्यमान और तेजस्वी शरीर वाले हैं। इनके चार सुन्दर मुख (चतुर्मुख) दिखाई दे रहे हैं। ये सकल-जगत् के बन्धु हैं और सब को अत्यन्त आनन्द देने वाले हैं। इन राजाओं का जो पवित्रतम परिवार दिखाई देता है और जो यह महान राज्य, सम्पत्ति, महत्त्व और अतुल तेज दिखाई देता है, उन सब का कारण यह सिंहासन ही है। अधिक क्या कहूँ! संक्षेप में, सात्विक-मानसपुर, यहाँ के निवासी, विवेक पर्वत, अप्रमत्तत्व शिखर, जैनपुर, वहाँ के निवासी, यह मण्डप, वेदी और अपनी सेना के साथ ये महान राजा यहाँ दिखाई देते हैं तथा समस्त लोक में सब से सुन्दर आनन्दमय मनोराज्य यहाँ दिखाई देता है वह सब इस सिंहासन का ही प्रताप है। यदि यह जीववीर्य सिंहासन यहाँ न हो तो पूरे मण्डप पर अप्रशस्त महामोहादि राजा चढ़ाई कर देंगे और देखते ही देखते सब को पराजित कर देंगे। किन्तु, मण्डप में इस सिंहासन की स्थापना होने से अप्रशस्त मोहादि राजा इस मण्डप में घुस भी नहीं सकते। वत्स प्रकर्ष! यदि किसी समय महामोहादि राजा इस सेना का तिरस्कार करें तो जीववीर्य के प्रभाव से ये अपनी शक्ति द्वारा अपना प्रभुत्व पुनः स्थापित कर लेते हैं। जब तक यह सिंहासन यहाँ प्रकाशित है, तभी तक वह सर्वतोभद्र (चार द्वार वाला) चित्त-समाधान मण्डप, सिंहासन पर विराजमान राजा, उसकी सेना, विवेकगिरि और जैनपुर दिखाई देते हैं, अर्थात् ये सभी इस सिंहासन के प्रभाव से प्रभावित हैं। भाई प्रकर्ष! इस प्रकार तेरे सन्मुख इस जीववीर्य सिंहासन के स्वरूप का वर्णन किया, अब मैं इस सिंहासन पर बैठने वाले राजा और उसके परिवार का वर्णन करता हूँ। [८५–९५]

प्रकर्ष का तत्त्वचिन्तन

प्रकर्ष ने अपने मन में विचार किया कि मामा ने जो वर्णन किया इसका भावार्थ (रहस्य) मेरे मन में इस प्रकार स्फुरित होता है। सर्व प्रथम सात्विक-

* पृष्ठ ४४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानसपुर का वर्णन तो अकाम निर्जरा की अपेक्षा से प्राणी में उत्पन्न ज्ञानरहित मिथ्यादृष्टि के उत्कट वीर्य जैसा है। (जैसे नदी में पत्थर घिसते-घिसते अपने आप गोल हो जाते हैं, वैसे ही कुटते-पिटते प्राणी को अपने आप अकाम निर्जरा हो जाती है। आत्म-प्रदेश से कर्म अवश्य छूट जाते हैं, पर उस समय उसे योग्य-अयोग्य का ज्ञान नहीं होता। साधारणतः ओघदशा को छोड़कर जब प्राणी धर्म की ओर उन्मुख होता है, तभी यह दशा प्राप्त होती है।) सात्विक-मानसपुर के निवासी विशुद्ध ज्ञानरहित सात्विक मन के कारण बिबुधालय में जाते हैं। फिर जैनधर्म के सिद्धान्तों को जाने बिना भी मात्र कर्मों की निर्जरा से प्राणी में ऐसी बुद्धि उत्पन्न हो जाती है कि वह स्वयं को धन, स्त्री, पुत्र, शरीर आदि से भिन्न समझने लगता है और यह भी जानने लगता है कि महामोहादि राजा अत्यन्त दुष्टतम शत्रु हैं, महान भयंकर हैं। ऐसी बुद्धि की प्राप्ति को ही विवेक कहा जाता है। विवेक के आने से कितने ही प्राणियों के दोष कम हो जाते हैं, क्योंकि वे विवेक के कारण से कषायों से पीछे हट जाते हैं। ऐसे प्राणियों में जो अप्रमादीपन आता है उसी को * अप्रमत्तत्व शिखर कहा गया लगता है। फिर शिखर पर जो जैनपुर बताया गया है वह (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप) चार प्रकार के महासंघ में रहने वाले लोगों को अत्यन्त प्रमोद प्रदान करने वाला द्वादशांगी रूप जैन प्रवचन ही प्रतीत होता है। उपरोक्त चतुर्वर्ण महासंघ के लोग जो सर्व गुण-सम्पन्न हैं तथा द्वादशांगी में वर्णित आज्ञाओं को कार्य-रूप में परिणत करने वाले हैं वे जैनपुरवासी लगते हैं। सब का सार रूप चित्त-समाधान-मण्डप है क्योंकि नगर की शोभा उसके मण्डप से ही होती है। निःस्पृहता वेदी और जीववीर्य सिंहासन तो स्पष्ट शब्दों में वर्णित हैं अतः स्वतः ही समझ में आ जाते हैं। यह सब वर्णन मुझे भावार्थ के साथ समझ में आ गया है, अतएव राजा, उसका परिवार और उसकी सेना के सम्बन्ध में जो वर्णन आगे आयेगा वह भी भावार्थ सहित समझ में आ जायेगा, इसमें क्या शंका है? उपरोक्त वर्णनों का रहस्य भली प्रकार समझ में आ जाने से प्रकर्ष अत्यधिक प्रमुदित हुआ।

[९६-१०५]

*

* पृष्ठ ४४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३४. चारित्रधर्मराज

[आज प्रकर्ष के आनन्द का कोई ओर-छोर ही नहीं था। वह सात्विक-मानसपुर, चित्त-समाधान मण्डप, वेदी और सिंहासन के तत्त्वचिन्तन में डूब गया। इस चिन्तन से उसके मन की मधुरता बढ़ती गई और जीववीर्य सिंहासन पर बैठे राजा का वर्णन सुनने के लिये वह अधिक उत्सुक हो गया।]

प्रकर्ष का चिन्तन पूरा होने पर उसने राजा का वर्णन सुनाने के लिये मामा से प्रार्थना की। इस पर बुद्धिदेवी के भाई विमर्श ने राजाधिराज के स्वरूप का वर्णन करना प्रारम्भ किया।

चतुर्मुख राजाधिराज

भाई प्रकर्ष! यह राजा जो यहाँ दिखाई दे रहा है वह लोगों में चारित्र-धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। और, वह स्वयं अत्यन्त सुन्दर है। इस राजा में अनन्त शक्ति का भण्डार भरा हुआ है, जिससे वह संसार का हित करने में तत्पर रहता है। इसकी दण्ड-पद्धति भी साधना से परिपूर्ण है; जो समझने योग्य है। वह सर्व गुणों की खान और अत्यन्त विश्रुत है। वत्स! इनको ध्यान पूर्वक देखो, इनके चार मुख हैं। इन चार मुखों के क्या-क्या नाम हैं और इनकी कितनी शक्ति है, वह बताता हूँ। इनके नाम क्रमशः दान, शील, तप और भाव हैं। इनके क्या-क्या कार्य हैं, सुनो।

[१०६–११०]

१. दान-मुख

इन चारों में सब से प्रथम दान मुख है। यह जैनपुर निवासी पात्रों में मोहराजा का नाश करने के लिए सत्य का ज्ञान फैलाता है और संसार के सभी प्राणियों को प्रिय अभय का सर्वत्र प्रसार करता है। यही मुख यह भी कहता है कि विशुद्ध धर्म के आधारभूत शरीर को सहायता प्रदान करने हेतु आवश्यक वस्त्र, पात्र, आहार, आदि का सुपात्र को दान देना चाहिये। किसी गरीब, अन्धे, पंगु, लंगड़े, दीन-हीन को देखकर उसके प्रति दया आने से उसे आहार आदि देने का यह मुख कभी निषेध नहीं करता। कई लोग गाय, घोड़ा, जमीन, या सोना आदि का दान देने का भी उपदेश देते हैं, पर ऐसे दान से किसी प्रकार का गुण (लाभ) नहीं होता, अतः यह मुख ऐसे दान का उपदेश नहीं देता। यह दान-मुख सदाशयकारक, आग्रह को दूर करने वाला और संसार में दया फैलाकर बंधुभाव का प्रसार करने वाला है। भद्र! इस प्रकार दान नामक प्रथम मुख का वर्णन किया, अब मैं राजाधिराज के दूसरे शील नामक मुख का वर्णन करता हूँ, सुनो। [१११–११६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. शील-मुख

वत्स ! दूसरा शील-मुख है। चारित्रधर्मराज का यह मुख जिस प्रकार कथन करता है तदनुसार ही जैनपुर में जितने साधु रहते हैं वे सब उसका आचरण करते हैं। यह शीलमुख साधुओं को अठारह हजार नियमों का निर्देश करता है, उन सब का ये मुनिपुंगव प्रतिदिन पालन करते हैं। यह उत्तम शील (विशुद्ध व्यवहार) ही साधुओं का सर्वस्व है, सच्चा आलम्बन है, और उनका आभूषण हैं। * मुनियों को तो यह मुख सम्पूर्ण रूप से शील-पालन का आदेश देता है, इसके आदेशानुसार मुनिवर्ग भी पूर्णरूपेण सुखपूर्वक पालन करता है। साथ ही मुनिवर्ग के अतिरिक्त गृहस्थ भी इन नियमों का थोड़ा-थोड़ा पालन करते हैं। वत्स ! मैंने शील नामक दूसरे मुख का स्वरूप बताया, अब मैं तीसरे मुख का वर्णन करता हूँ, सुन।

[११७-१२०]

३. तप-मुख

चारित्रधर्मराज का तीसरा तप नामक मुख अत्यन्त ही मनोहारी है। यह सब प्रकार की आकांक्षा को दूर कर, दुःख का नाश कर प्राणी को सुखमय बनाता है। (आकांक्षा के दूर होते ही प्राणी निःस्पृह बन जाता है जिससे वह किसी के आधीन नहीं रहता। आकांक्षा और व्याधि के नष्ट होते ही संसार का रास्ता सरल, सीधा और सपाट हो जाता है।) यह तप-मुख प्राणियों में विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न करता है, संसार पर संवेग प्राप्त करवाता है, मन की समता दिलवाता है, शरीर को सुखकारी और सुन्दर बनाता है और अन्त में दुःख और विनाशरहित शाश्वत सुख के योग्य बनाता है। सज्जन पुरुष इस नरेन्द्र का तप-मुख देखकर, इसकी आराधना कर और अपने असाधारण सत्व का उपयोग कर अन्त में लीलापूर्वक निर्वृत्तिनगरी को चले जाते हैं। (कर्मों की निर्जरा करने का यह मुख प्रबल साधन है। तीर्थंकर अपनी मुक्ति उसी भव में जानते हुए भी तप की आराधना करते हैं। तप से शरीर सुख बढ़ता है, यह तो तप करने वालों के अनुभव का विषय है।) हे वत्स ! चारित्र-धर्मराज के तीसरे मुख का स्वरूप वर्णन कर, अब मैं चौथे मुख शुद्ध भाव का वर्णन करता हूँ। [१२२-१२५]

भाव-मुख

सुज्ञ सज्जन पुरुष चारित्रधर्मराज के चौथे भाव-मुख का भक्ति पूर्वक स्मरण करते हैं, देखते हैं और आराधना करते हैं, उससे उनके समस्त पाप-समूह नष्ट हो जाते हैं और शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं। इस मुख की आज्ञा का अनुसरण कर जैन सत्पुरुष (१२ भावनाओं का) विचार करते हैं—अहो ! इस संसार में जितने भी पदार्थ दिखाई देते हैं वे सब तुच्छ और नाशवान हैं (अनित्यभाव)। पूर्व कर्म के उदय से जब प्राणी संसार में दुःख और पीड़ा भोगता है तब उसे कोई

* पृष्ठ ४४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरण नहीं देता, कृत-कर्मों को स्वयं ही भोगना पड़ता है (अशरणभाव)। यह प्राणी संसार-समुद्र में अकेला ही आया है और अकेला ही जायगा, न उसका कोई है और न वह किसी का है (एकत्वभाव)। इस संसार में शरीर, धन, धान्य आदि वस्तुएं जो प्राणी को बांधकर रखती हैं वे सब बाह्य पदार्थ उससे भिन्न हैं, उनके साथ उसका कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है (अन्यत्वभाव)। यह शरीर मल, मूत्र, आन्तडियां खून, मांस, चर्बी आदि दुर्गन्धपूर्ण पदार्थों से आछन्न है, घृणाकारक है। ऐसे शरीर में से नाममात्र भी पवित्रता की गन्ध प्राप्त हो ऐसा संभव नहीं है (अशुचिभाव)। इस संसार में एक जन्म की स्त्री अन्य जन्म में माता भी बन जाती है और पिता पुत्र भी बन जाता है, यह जन्म-मरण का चक्र चलता ही रहता है (संसारभाव)। मन, वचन, काया के अशुभ योगों की प्रवृत्ति से और पापस्थानकों के आचरण से प्राणी निरन्तर आस्रव (कर्म ग्रहण) करता रहता है और कर्म बन्ध से भारी होता जाता है (आस्रवभाव)। कोई-कोई प्राणी कर्म से छुटकारा पाने के विचार से सदाचार (श्रमणधर्म, शुद्ध भावना, परिषह, अष्ट प्रवचन माता आदि) द्वारा आते हुए कर्मों को रोकता है (संवर भाव)। बारह प्रकार के तप द्वारा निरन्तर कर्मों की निर्जरा करता है जिससे पूर्व में बांधे हुए कर्म भोगे बिना भी आत्म-प्रदेश से अलग हो जाते हैं (निर्जराभाव)। प्राणी इस संसार में समस्त स्थानों पर जन्म और मृत्यु प्राप्त कर चुका है और संसार में विद्यमान समस्त रूपी द्रव्यों को एक या दूसरे रूप में भोग चुका है, फिर भी वह संसार भ्रमण से नहीं थकता, खाते-खाते नहीं अघाता, यह संसार उसे कडुआ नहीं लगता (लोकस्वभावत्वभाव)। संसार समुद्र को पार करने के लिये तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित स्याद्वाद शैली युक्त जैनधर्म ही वास्तव में शक्तिमान है (धर्मभाव)। परन्तु, संसार-चक्र में प्राणी को इस सर्वज्ञ-दर्शन-धर्म-प्राप्ति की सामग्री बहुत कठिनाई से प्राप्त होती है, मिल भी जाय तो उसको पहचानना दुष्कर है और पहचान भी ले तो उसे स्वीकार करना एवं उसका अनुष्ठान/आचरण करना और भी कठिन है (बोधिदुर्लभ भाव)। जो श्रद्धावान विशुद्ध बुद्धिशाली प्राणी इस भाव-मुख को आज्ञानुसार ऐसी और इसके समान अन्य भावनाएं धारण करते हैं वे वास्तव में भाग्यशाली मनस्वी और मनीषी है। भैया! चारित्रधर्मराज का यह चौथा मुख बहुत सुन्दर एवं दर्शनीय है। इसके दर्शन से अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है और स्वभाव से भी यह मुख सब को अपूर्व सुख प्रदान करने वाला है।

[१२६-१३६]

भाई प्रकर्ष! महाराजा चारित्र-धर्मराज इस प्रकार अपने चारों मुखों से सभी नगरवासियों को असीम सुख प्रदान करते हैं। ये महाराजा संसार में भटकने वाले सभी प्राणियों को निरन्तर सुख देने वाले ही हैं, क्योंकि जो स्वयं अमृत हो वह दूसरों को दुःख देने वाला कैसे हो सकता है? (आश्चर्य की बात तो यह है कि संसार-चक्र में रहने वाले प्राणियों में से अत्यल्प प्राणी ही इनके स्वरूप को पहचानते हैं और उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूप को हृदय में धारण करते हैं।) ❀ भवचक्र निवासी अधिकांश पापी प्राणी तो इन्हें पहचानते ही नहीं, कुछ पुण्यहीन प्राणी पहचान कर भी इनकी निन्दा करते हैं। चतुर्मुख चारित्रधर्मराज महाराजा के वर्णन के बाद अब मैं उनके परिवार के बारे में बताता हूँ। [१३७-१४०]

विरति महादेवी

भाई प्रकर्ष ! महाराजा के अर्धासन पर विराजमान सर्वांगसुन्दरी, सर्व परिमित अवयववाली, शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल जो स्त्री बैठी है, यह विरति नामक महारानी है। चारित्रधर्मराज के समान यह भी समस्त गुण और वीर्य/शक्ति सम्पन्न है। यह विश्व में लोगों को आह्लाद प्रदान करने वाली और निर्वृत्ति (मोक्ष) का मार्ग बताने वाली है। महाराजा के साथ जब यह तादात्म्यरूप/एकरूप हो जाती है तब तो वे भिन्न-भिन्न दिखाई ही नहीं देते अर्थात् अभिन्न दिखाई देते हैं। [१४१-१४३]

पाँच मित्र

महाराजा के पास जो पाँच राजा बैठे हैं वे उनके विशेष अंगभूत मित्र हैं। इनमें से प्रथम का नाम सामायिक भूपति है। वत्स ! यह जैनपुरवासियों को समग्र पापों से विरति (छुटकारा) दिलाता है। भैया ! दूसरे मित्र का नाम छेदोपस्थापन नृपति है, यह पापानुष्ठान समूह को विशेषरूप से रोकता है। तीसरे मित्र का नाम परिहार-विशुद्धि नरेश्वर है, इसकी आज्ञानुसार साधु १८ माह तक विशेष उग्र तप करते हैं। चौथे मित्र का नाम सूक्ष्मसंपराय नृपति है, यह प्राणियों के सूक्ष्म पापाणुओं का नाश करता है। पाँचवें मित्र का नाम यथाख्यात भूपति है, यह विशुद्ध, निर्मल और सारभूत मित्र है तथा समस्त पापों का नाश करने वाला है।

[१४४-१४६]

ये पाँचों मित्र चारित्रधर्मराज महाराजा के शरीर के अंग जैसे, उनके जीवन, प्राण और सर्वस्व हैं। [१५०]

❀

❀ पृष्ठ ४४८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५. श्रमण-धर्म और गृहस्थ-धर्म

[चारित्रधर्मराज का सुन्दर वर्णन, विरतिदेवी का परिचय, महाराजा के ८ मित्रों की पहचान, विशाल मण्डप, आकर्षक वेदिका, भव्य सिंहासन आदि हृदय को निर्मल कर ही रहे थे, उस पर राजा के वर्णन ने प्रकर्ष को अधिक जिज्ञासु बना दिया। वह चारित्रधर्मराज के पूरे परिवार से परिचय करने को आतुर हो गया। मामा ने वर्णन आगे चलाया।]

युवराज यति-धर्म (श्रमण-धर्म)

चारित्रधर्मराज के पास जो राज्यतेज से प्रदीप्त मुख वाला युवक दृष्टि-गोचर हो रहा है वह महाराजा का पुत्र है यह युवराज यति-धर्म (श्रमण-धर्म) है। तुमने जो नगर के बाह्य भाग में मुनिपुंगवों को देखा था, उन्हें यह युवराज अतिशय प्रिय है। वत्स! युवराज के आसपास जो दस मनुष्य बैठे हैं वे क्या-क्या कार्य करते हैं, तुम्हें संक्षेप में बताता हूँ, तुम समझलो। [१५१-१५३]

क्षमादि दसविध यति-धर्म

१. **क्षमा**—वत्स! इन दस में जो पहली स्त्री दिखाई देती है उसका नाम क्षमा है। यह क्षमा मुनियों को अत्यधिक प्रिय है। यह मुनियों को उपदेश देती है कि सदा क्रोध का निवारण करो और शान्ति धारण करो। [१५४]

२. **मार्दव**—वत्स! उसके बाद जो छोटे बालक जैसा सुन्दर रूपवान प्राणी दिखाई देता है वह मार्दव के नाम से प्रसिद्ध है। वह अपनी शक्ति से साधुओं में अत्यधिक नम्रता उत्पन्न कर मद/अहंकार का नाश करता है। [१५५]

३. **आर्जव**—तीसरा बालक जैसा अति सुन्दर रूप वाला मनुष्य दिखाई देता है वह आर्जव के नाम से पहचाना जाता है। यह प्रशस्त बुद्धिवाले मनुष्यों में सर्वत्र सरलता (ऋजुता, लघुता) के भाव उत्पन्न करता है और उन्हें छल-छद्म रहित बनाता है। [१५६]

४. **मुक्तता** वत्स! चौथी जो सुन्दर रूपवती स्त्री दिखाई देती है उसका नाम मुक्तता है। * यह मुनियों के मन को बहिरंग (द्रव्य परिग्रह) और अन्तरंग (कषाय विकारादि) भावों से तथा तृष्णा से मुक्त कराती है, निस्संग बना देती है। अर्थात् इससे बाह्य और अन्तरंग परिग्रह को छोड़ देने की शुभ प्रवृत्ति पैदा होती है। [१५७]

---

* पृष्ठ ४४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. **तपोयोग**— प्रकर्ष ! युवराज के पास बैठे दस मनुष्यों में से पाँचवें का नाम तपोयोग है। यह अत्यन्त पवित्र और विशुद्ध है। इसके पास इसके अंगभूत १२ मनुष्य दिखाई देते हैं, इनके प्रभाव से नरोत्तम तपोयोग जैनपुर में क्या-क्या चमत्कार दिखा सकता है, वह भी संक्षेप में बताता हू। **अनशन** नामक पुरुष प्राणियों से सब प्रकार के आहार का त्याग करवाकर निःस्पृह (इच्छा, आकांक्षा रहित) बना देता है। **न्यूनोदर** पुरुष भूख से कम भोजन करवाकर स्वास्थ्य अच्छा रखता है और वीर्य की वृद्धि करता है। **वृत्ति-संक्षेप** के आदेश से मुनिगण अनेक प्रकार के श्रेष्ठ अभिग्रह धारण करते हैं, इसके कारण जीवन नियमित होने से उनमें सुख शांति की वृद्धि होती है। **रसत्याग** पुरुष के आदेश से मोह और विषयाभिलाषा के उद्रेक का कारण होने से मुनिगण रस वाले विकृतिकारक पदार्थों का त्याग करते हैं। **कायक्लेश** के निर्देश से मुनिगण कायिक कष्ट सहन करने का अभ्यास कर कर्मों की निर्जरा की ओर प्रवृत्त होते हैं। **संलीनता** के निर्देशानुसार मुनिगण अंगोपांगों का उपयोग (विवेक, सावधानी) पूर्वक करते हैं। अनावश्यक हलन-चलन न कर अपने आचार को पवित्र रखते हैं तथा इन्द्रिय, कषाय और योगों का संगोपन करते हैं। इसी से प्रेरित होकर विविक्तचर्या (एकान्त वास करते हैं। (ये छः प्रकार के पुरुष समस्त बाह्य विषयों पर विजय प्राप्त करवाते हैं, जिससे त्याग भाव को अंगीकार करने का सीधा सरल और लाभकारी मार्ग प्रशस्त होता है।) [१५८–१६३]

इस तपोयोग के साथ अन्य छः अंगभूत पुरुष भी हैं जो अन्तरंग साम्राज्य को विस्तृत करते हैं और अत्यन्त लाभकारी हैं। उनमें प्रथम पुरुष **प्रायश्चित्त** है। यह प्रायश्चित्त दस प्रकार का है :—(१. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. मिश्र, ४. विवेक, ५. कायोत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. मूल, ९. अनवस्थाप्य, १०. पारांचिक।) दूसरा पुरुष **विनय** नामक है जो (अनाशातना, भक्ति, बहुमान, गुण-प्रशंसा) चार प्रकार का है। तीसरा पुरुष **वैय्यावृत्य** नामक है जो (आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित, स्वधर्मीबन्धु, कुल, गण और संघ) दस प्रकार का है। चौथे पुरुष का नाम **स्वाध्याय** है जो (वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा) पाँच प्रकार का है। पाँचवां पुरुष जो दिखाई देता है, उसका नाम **ध्यान** है। उसके धर्मध्यान और शुक्लध्यान दो भेद हैं। अन्तिम पुरुष का नाम **उत्सर्ग** है, यह श्रेष्ठ मुनिपुंगवों को गण, उपधि, शरीर तथा आहार पर निःस्पृह (स्पृहा रहित) बनाता है। योग्य समय आने पर प्रेरित कर बाह्य वस्तुओं का सर्वथा त्याग करवाता है। कर्म-क्षय के लिये बार-बार एकाग्र ध्यान से कायोत्सर्ग करने का भी इसी में समावेश होता है।) छः बाह्य और छः अन्तरंग रक्षकों के सम्बन्ध में संक्षिप्त वर्णन मैंने सुनाया, वैसे विस्तृत वर्णन करने लगूं तो उसका कोई अन्त ही नहीं।

[१६४-१६७]

६. **संयम**—प्रकर्ष ! श्रमण-धर्म युवराज के पास बैठे हुए दस मनुष्यों में से छठा मनोहारी श्रेष्ठ पुरुष संसार में संयम के नाम से प्रसिद्ध है और मुनियों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रिय है। संयम के आसपास १७ व्यक्ति बैठे हुए हैं वे जैनपुर में क्या-क्या आनन्द उत्पन्न करते हैं वह संक्षेप में बताता हूँ। इन १७ में से पहले के पांच आस्रवविधान (आस्रव को ढंकने वाले) के नाम से प्रसिद्ध हैं। (इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं:— १. प्राणातिपात विरति, २. मृषावाद विरति, ३. अदत्तादान विरति, ४. मैथुन विरमण, और ५. परिग्रह विरति।) उनके आगे जो ५ व्यक्ति बैठे हैं वे पंचेन्द्रियनिरोध के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे निम्न हैं—(स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द। जो इन पाँचों इन्द्रियों को दृढ़ता से वश में रखते हैं।) उनके आगे जो चार व्यक्ति बैठे हैं वे क्रोध, मान, माया और लोभ को वश में रखते हैं और अन्तिम तीन व्यक्ति मन, वचन और काया के सर्व योगों को वश में रखते हैं। इस प्रकार संयम अपनी शक्ति से ५ आस्रवों को ढँक कर, मुनिवर्ग को शांति के बोध से आकुलतारहित बना देता है, पाँच इन्द्रियों को वश में करवा कर उन्हें इच्छा/आकांक्षारहित स्थिति में सम्पूर्ण प्रकार से सन्तुष्ट बना देता है, कषाय के ताप को शान्त कराकर चित्त को ऐसा शीतल बना देता हैं कि उन्हें निर्वाण जैसे सुख की अनुभूति होने लगती है और योगों को वश में करवा कर मुनि-पुंगवों को निश्चितरूप से अतिशय मनोहारी बना देता है। मुनिपुंगव इस संयम को निरन्तर धारण करते हैं और यह संयम अपने वीर्य/शक्ति से इन श्रमणों को धैर्य-समुद्र में निमग्न कर देता है। अथवा संक्षेप में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा दो, तीन, चार और पांच इन्द्रिय वाले सर्व प्राणियों की मन, वचन, काया से किसी भी प्रकार की आरम्भ आदि की हिंसा करने, करवाने और अनुमोदन करने का यह सर्वथा निषेध करता है। इसके अतिरिक्त यह संयम जीवरहित पुस्तकादि वस्तुओं का भी यत्न पूर्वक प्रतिलेखन, प्रमार्जन का और बीज, वनस्पति या किसी भी प्रकार के जीव-जन्तुरहित स्थान को सोने-बैठने एवं चलने के लिये यत्नपूर्वक प्रमार्जित करने का उपदेश देता है। स्थण्डिल भूमि (शौच भूमि) को प्रेक्षण करने का निर्देश देता है। * आरम्भ/आस्रव कारी गृहस्थों की उपेक्षा करना, उनको आरम्भजन्य कार्यों में प्रेरित न करना, प्रयोग में आने वाली भूमि का प्रमार्जन करना, आसन, शयन, वस्त्र-पात्रादि का प्रतिलेखन/परिमार्जन करना, अशुद्ध अथवा अनुपयोगी वस्तु का विधिपूर्वक परिष्ठापन (त्याग) करना, मन को शुद्ध धर्म कार्यों में प्रवृत्त करना, शुभ भाषा का प्रयोग करना और उपयोग पूर्वक शरीर की प्रवृत्ति करने का भी यह संयम निर्देश देता है। जिन मुनियों ने संसार के कार्य छोड़ दिये हैं और जो सर्वदा सुसमाहित (एक समान शान्त) अवस्था में रहते हैं, उनसे यह संयम उपरोक्त सुन्दर कार्य करवाता है। श्रमणधर्म युवराज के छठे सहचारी संयम का वर्णन करने के पश्चात् अब बाकी के चारों का भी संक्षेप में वर्णन करता हूँ, सुनो। [१६८–१७८]

७. **सत्य**—वत्स प्रकर्ष! युवराज के पास जो सातवां अत्यधिक सुन्दर पुरुष-श्रेष्ठ दिखाई दे रहा है वह यतिधर्म के परिवार में सत्य के नाम से प्रसिद्ध है। यह प्राणियों को आज्ञा देता है कि तुम्हें जो कुछ कहना हो वह अन्य व्यक्तियों के

* पृष्ठ ४५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिये हितकारी हो, आवश्यकता से अधिक शब्दों का प्रयोग न हो और जगत् को आह्लादित करने वाला हो ऐसे वचन ही बोलो। सत्यधर्म की आज्ञा का ये महामुनि अक्षरशः पालन करते हैं अर्थात् सत्य वचन ही बोलते हैं। [१७६-१८०]

८. **शौच**—युवराज के पास बैठे आठवें व्यक्ति का नाम शौच है। यह प्राणियों को बाह्य और आन्तरिक पवित्रता रखने का उपदेश देता है। (४२ दोष-रहित आहार-पानी लेने आदि को बाह्य शौच या द्रव्य पवित्रता कहा जाता है और कषाय रहित होकर शुद्ध अध्यवसाय द्वारा अच्छे परिणाम रखने को भावशौच या आन्तरिक पवित्रता कहा जाता है।) ये मुनिपुंगव इस शौच के आदेशों का भी पूर्णतया पालन करते हैं। [१८१]

९. **आकिञ्चन्य**—वत्स! उसके बाद छोटे बालक की आकृति वाला जो नौवां मनोहारी पुरुष दिखाई दे रहा है उसका नाम आकिञ्चन्य है। यह श्रमण-पुंगवों का अतिवल्लभ है। वत्स! यह मुनिगणों से बाह्य और अन्तरंग परिग्रह का त्याग करवा कर उन्हें निष्परिग्रही बना देता है और उनके मानस को स्फटिक जैसा अत्यन्त निर्मल एवं स्वच्छ बना देता है। इसका दूसरा नाम निष्परिग्रह भी है। (धन, धान्य, खेत, मकान, सोना, चांदी, धातु, द्विपद, चतुष्पद आदि बाह्य परिग्रह और कषाय तथा मनोविकार आदि अन्तरंग परिग्रह हैं।) [१८२-१८३]

१०. **ब्रह्मचर्य**—वत्स! यतिधर्म परिवार में गर्भज जैसा मनोहर बालक बैठा दिखाई दे रहा है वह ब्रह्मचर्य के नाम से विख्यात है और मुनियों को हृदय से प्रिय है। दिव्य या औदारिक शरीर वाली किसी भी देवांगना या स्त्री के साथ या तिर्यञ्च स्त्री के साथ मन, वचन, काया से संयोग करना नहीं, करवाना नहीं और करने वाले की प्रशंसा करना नहीं, ऐसा नवकोटि विशुद्ध उपदेश यह दसवाँ पुरुष देता है। अर्थात् अब्रह्म का पूर्णरूप से स्पष्टतः निर करण करता है।

[१८४-१८५]

वत्स! इस प्रकार सुन्दर दस पुरुषों के परिवार के साथ यह यतिधर्म युवराज जैन सत्पुर में लीला कर रहा है और सम्पूर्ण नगर में घूम-घूम कर अपना प्रभाव बतलाता है। [१८६]

सद्भावसारता पुत्रवधु

भाई प्रकर्ष! श्रमणधर्म युवराज की अत्यन्त सुन्दर, कान्तियुक्त और निर्मल नेत्रों वाली सद्भावसारता नामक पत्नी है। चारित्रधर्मराज की पुत्रवधु सद्भावसारता मुनियों को बहुत ही प्रिय है और युवराज श्रमणधर्म तो इसके प्रति इतना अधिक अनुरक्त है कि वह इसके बिना एक क्षण भी नहीं जी सकता। युवराज को अपनी पत्नी पर अत्यधिक स्नेह और सच्चे हृदय से प्रेम है। इनके दाम्पत्य प्रेम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का कितना वर्णन करूं ? संसार में बहुत से पति-पत्नी देखे हैं पर मुझे इनके जैसा अकृत्रिम स्नेहमय दाम्पत्य जीवन अन्य किसी स्थान पर दिखाई नहीं दिया।

[१८७-१८९]

राजकुमार गृहिधर्म

वत्स ! वहाँ एक अन्य छोटा राजकुमार भी दिखाई दे रहा है, जिसका नाम गृहस्थधर्म है, जो श्रमणधर्म युवराज का सहोदर (छोटा) भाई है। इसके आस-पास १२ व्यक्ति बैठे हैं जो जैनपुर में अत्यधिक आनन्द लीला करवा रहे हैं, उनका भी संक्षिप्त वर्णन तुम्हें सुनाता हूँ, वत्स ! तुम एकाग्रचित होकर सुनो।

[१९०-१९२]❀

१. यह प्रथम पुरुष **स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत** कहलाता है जो सर्व प्रकार की स्थूल हिंसा का त्याग करने की आज्ञा देता है।

२. दूसरा पुरुष **स्थूल मृषावाद विरमण व्रत** है। यह जैनपुर के गृहस्थों को समस्त प्रकार के स्थूल (मोटे) असत्य भाषण से निवृत्त करता है।

३. तीसरा पुरुष **स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत** है। यह जैनपुर निवासी गृहस्थों को स्थूलरूप से अन्य किसी भी प्रकार की वस्तु या पदार्थ का हरण (चोरी) करने से बचाता है।

४. चौथा पुरुष **स्थूल ब्रह्मचर्य विरमण व्रत** है। यह स्त्री को परपुरुष और पुरुष को परस्त्रीगमन से पराङ्मुख करता है एवं स्व-पति और स्व-स्त्री में ही सन्तोष रखने का विधान करता है।

५. पाँचवां पुरुष **स्थूल परिग्रह परिमाण विरमण व्रत** है। यह गृहस्थ को अपने अधीनस्थ नव प्रकार के बाह्य परिग्रह (धन, धान्य, खेत, मकान, चांदी, सोना, कुपद (तांबा, पीतल, लोहा आदि) द्विपद (दास, दासी) और चतुष्पद (पशु) को परिमित (मर्यादित) करने का निर्देश देता है।

६. छठा पुरुष **रात्रि भोजन** का परित्याग करवाता है। समस्त दिशा-विदिशाओं के गमनागमन को सीमित करवाता है और गृहस्थ को संवर (कर्मबन्ध-मार्ग का अवरोध) में स्थापित करता है।

७. सातवां पुरुष **भोगोपभोग विरमण व्रत** है। यह उपभोग और परि-भोगजन्य समस्त पदार्थों को सीमित करवाकर, अभक्ष्य पदार्थ भक्षण और असत् व्यापार से रहित बनाकर सत्कार्यों का अनुष्ठान करवाता है।

८. यह आठवां पुरुष **अनर्थदण्ड विरमण व्रत** है। यह जैनपुरवासी गृहस्थों को गृहस्थ के लिये आवश्यक साधन एवं प्रवृत्ति के अतिरिक्त समस्त अनर्थ-कारी प्रवृत्तियों का त्याग करवाता है। (छः, सात और आठवां पुरुष तीन गुण व्रतों के नाम से भी प्रसिद्ध हैं।)

❀ पृष्ठ ४५१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. यह नौवां पुरुष **सामायिक व्रत** है। यह सांसारिक परभावों (विभावों) का त्याग करवाकर स्वाभाविक प्रशमभावों में अनुरक्त बनाता है।

१०. दसवां पुरुष **देशावकाशिक व्रत** है। छठे व्रत में जीवन भर के लिये दिशा आदि की जो मर्यादा की हो उसे भी यहाँ परिमित (सीमित) करवाता है।

११. ग्यारहवां पुरुष **पौषध व्रत** है। यह सामायिक व्रत की सीमा को अधिकाधिक विस्तृत करने का दृढ़ निश्चय करवाता है।

१२. यह बारहवां पुरुष **अतिथि संविभाग व्रत** है। वत्स! यह जैनपुर के गृहिधर्मीजनों को अतिथियों का सम्मानपूर्वक उपयोगी पदार्थों को प्रदान करने को प्रेरित कर, कालिमा का नाश कर मन को पवित्र बनाता है।

भाई प्रकर्ष! गृहस्थधर्म नामक यह छोटा राजकुमार जैनपुर में प्राणियों को जितनी आज्ञा देता है, उसमें से अपनी शक्ति सामर्थ्य के अनुसार जो प्राणी जितने अंश में उन आज्ञाओं का पालन करता है, उन्हें उतने ही अंश में यह फल भी प्रदान करता है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। [१९३–१९८]

सद्गुणरक्तता पुत्रवधु

वत्स! गृहस्थधर्म राजकुमार के पास में अपनी आँखों में हर्ष और जिज्ञासा पूरित जो नववधुसी बाला बैठी है, वह गृहस्थधर्म की पत्नी सद्गुणरक्तता है। मुनियों को इस युवती पर बहुत स्नेह है और वह भी प्रतिदिन बड़ों का विनय करने को तत्पर ही रहती है। उसे भी अपने पति गृहस्थधर्म से उत्कट प्रेम है। ये दोनों राजकुमार और इनकी पत्नियाँ जैनपुर के सभी लोगों को स्वभाव से ही निरन्तर आनन्द देते रहते हैं। [१९९–२०१]

मामा विमर्श ने कुछ विश्राम लेने के लिये यहाँ अपना वर्णन बन्द किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६. चारित्रधर्मराज का परिवार

[जिसके सुनने मात्र से शान्ति उत्पन्न हो ऐसे चारित्रधर्मराज, उनके पुत्र और पुत्रवधुओं का वर्णन सुनकर प्रकर्ष के आनन्द का पार न रहा। चारित्रधर्मराज के परिवार में अनेक प्रकाशमान पवित्र रत्न जगमगा रहे थे, जिनका वर्णन सुनने के लिये बुद्धिदेवी का पुत्र प्रकर्ष उत्सुक हो रहा था। क्षण भर रुककर बुद्धिदेवी के भाई विमर्श ने वर्णन आगे चलाया।]

सम्यक्दर्शन सेनापति

वत्स प्रकर्ष ! महाराजा चारित्रधर्मराज के दोनों पुत्रों की देखरेख और पोषण के लिये महाराजा ने सेनापति एवं प्रधानमन्त्री के तौर पर जिस व्यक्ति को नियुक्त किया है, वह भी यहीं बैठा है। इसका नाम सम्यक्दर्शन है। ये राजपुत्र इसके बिना कदापि अकेले दृष्टिगोचर नहीं होते। ऐसा प्रबन्ध कर दिया गया है कि सम्यक्दर्शन सेनापति राजपुत्रों के अत्यन्त निकट रहकर अत्यन्त वात्सल्यपूर्वक दोनों की वृद्धि और स्थिरता कराते हैं। पहले के प्रकरण में यह बताया गया था कि जैनपुर में सात तत्त्व हैं—जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष; जिनका संक्षिप्त परिचय भी वहाँ दिया गया था। ये सेनापति इन सातों के विषय में दृढ़ निश्चय कराते हैं और समझाते हैं कि इन सात तत्त्वों में समस्त पदार्थों का न्यायपूर्वक समावेश हो जाता है और इनके अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ शेष नहीं रहता। तदतिरिक्त यह सम्यक्दर्शन भवचक्र नगर के प्राणियों को भवचक्रसे पराङ्मुख बनाता है और उस नगर में से निकलने का इच्छा वाला बनाता है। साथ ही भवचक्र पराङ्मुख से प्राणियों को समता धारण करवाता है, समग्र स्थूल पदार्थों पर विरक्ति दिलवाता है, संसार पर उदासीनता उत्पन्न करता है, सकल जीवों पर अनुकम्पा उत्पन्न कराता है और शुद्ध देव पर पूर्ण आस्तिकता का भाव जागृत करता है। अर्थात् सेनापति सम्यक्दर्शन शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिकता इन पाँच महान गुणों से सुशोभित है। यह प्राणियों से कहता है कि सभी जीवों पर मैत्री भाव रखो, गुणवान को देखकर प्रसन्नता प्रकट करो, दीन-दुःखी को देखकर उन पर दया करो, (उसे दुःख से बचाने का प्रयत्न करो, भविष्य में उसके दुःख कैसे कम हो ऐसी योजना बनाओ), पाप करने वाला अपने कर्मों के अधीन है, उसके लिये आप उत्तरदायी नहीं है, उपाय करने पर भी यदि वह न सुधरे तो उसके प्रति माध्यस्थभाव रखो। ऐसे-ऐसे उत्कृष्ट विचारों से यह सम्यक्दर्शन जैनपुर के निवासियों के मन को निरन्तर निर्मल बनाता है और निर्वृत्तिनगर जाने की दृढ़ इच्छा उत्पन्न कर प्राणी को प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा निर्वृत्तिनगर की ओर ले जाता है। [२०२–२०६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्दर्शन की पत्नी सुदृष्टि

भैया प्रकर्ष ! सम्यक्दर्शन के पास ही अत्यन्त शोभनाकृति वाली और अन्य के मन को आकर्षित करने वाली जो अत्यधिक सौन्दर्यवती स्त्री बैठी है वह सम्यक्दर्शन की पत्नी है जो सुदृष्टि के नाम से प्रख्यात है। सन्मार्ग में अपनी शक्ति का सदुपयोग करने वाली सुदृष्टि की विधि पूर्वक सेवा करने से, वह जैनपुर के लोगों का मन सर्वदा स्थिर करती है। [२०७-२०८]

सम्यक्दर्शन की व्यवस्था

भैया ! अब तुझे आगे-पीछे की कुछ बात कहकर संदर्भ याद करवाता हूँ। तुझे याद होगा कि महामोह के प्रधानमन्त्री और सेनापति मिथ्यादर्शन का वर्णन करते समय मैंने बताया था कि वह अतिशय विचित्र चरित्र वाला है, साथ में उसकी पत्नी कुदृष्टि का भी वर्णन किया था। चारित्रधर्मराज और मोहराज के इन दोनों सेनापतियों को तुमने देखा है। सम्यक्दर्शन सेनापति की सर्व चेष्टायें मिथ्यादर्शन सेनापति से विपरीत दिखाई देगी। सम्यक्दर्शन की सर्व चेष्टायें संसार को आनन्दित करने वाली हैं। इसकी चेष्टाओं/व्यवहारों पर जैसे-जैसे अधिकाधिक विचार किया जाय वैसे-वैसे वे अत्यधिक सुन्दर प्रतीत होती हैं। मिथ्यादर्शन मोहराजा की सेना को नित्य तैयार करता है, सुगठित, अनुशासित और शिक्षित करता है। इधर सम्यक्दर्शन सेनापति चारित्रधर्मराज की सेना को सुशिक्षित और सुगठित करता है। * यह सम्यक्दर्शन सेनापति मिथ्यादर्शन का वास्तविक शत्रु है और इसीलिये उसकी इस पद पर व्यवस्था (नियुक्ति) हुई है। [२०९-२१२]

सम्यक्दर्शन के तीन रूप

इस सम्यक्दर्शन सेनापति के तीन रूप दिखाई देते हैं, वे भिन्न-भिन्न कारणों से हैं। कभी वे क्षायिक रूप में सामने आते हैं, अर्थात् मिथ्यादर्शन की सारी सेना को मारकर उसकी सारी सामग्री अपने अधीन कर लेते हैं। कभी औपशमिक रूप से सामने आते हैं अर्थात् थोड़े समय के लिये मिथ्यादर्शन की सेना को हराकर अपना साम्राज्य स्थापित कर देते हैं। कभी क्षयोपशमिक रूप से सामने आकर मिथ्यादर्शन की कुछ सेना का नाश कर देते हैं और कुछ को हराकर दबा देते हैं। भैया ! इसके ये तीनों रूप उसके स्वभाव (प्रकृति) के कारण ही हैं। अथवा इस सम्यक्दर्शन सेनापति के साथ मन्त्री सद्बोध रहता है, वही सेनापति के स्वभावानुसार उनके भिन्न भिन्न रूपों को सम्पादित (प्रस्तुत) करता है। [२१३-२१४]

सद्बोध मन्त्री

भाई प्रकर्ष ! तुझे सद्बोध मन्त्री की भी पहचान करा दूँ। पुरुषार्थ करने में यह मन्त्री बेजोड़ है। तीन भुवन में पुरुषार्थ को साधित करने वाली एक भी ऐसी

* पृष्ठ ४५२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तु नहीं है जिसके स्वरूप को यह मन्त्री नहीं जानता हो। यह मन्त्री वर्तमान, भूत और भविष्य में होने वाली घटनाओं को जानता है। सामान्यतः प्रत्यक्ष भावों को ही नहीं, अपितु अति सूक्ष्म भावों को भी यह मन्त्री जानता है। अधिक क्या कहूँ ? समस्त लोक के चल-अचल प्राणियों और अनन्त पदार्थों के अथवा जीव-अजीव के समस्त द्रव्य, गुण और पर्यायों को वह अपनी निर्मल दृष्टि से भली-भांति जानता है। वह नीति-निपुण है और महाराजा का अत्यन्त प्रिय है। राज्य के समस्त कार्यकलापों पर सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन करता है और राज्य के बल (सेना) का आदर भी करता है। सेनापति सम्यक्दर्शन को भी यह अत्यन्त प्रिय है। इसके पास रहने पर सेनापति में भी अधिक स्थिरता आती है। ऐसा अच्छा राज्यनिष्ठ, कर्त्तव्य-परायण, लोकमान्य और सर्वग्राही मन्त्री सकल विश्व में भी नहीं है। [२१५–२१६]

यह सद्बोध मन्त्री पूर्व वर्णित सात राजाओं में से ज्ञानावरण राजा का विशेष शत्रु है। यह ज्ञानावरण का क्षय या क्षयोपशम के रूप में दो प्रकार का माना गया है। [२२०]

सद्बोध की पत्नी अवगति

वत्स ! मन्त्री के पास बैठी हुई जो सुन्दरानना, निर्मला, सुलोचना स्त्री दिखाई देती है, वह उसकी पत्नी अवगति है। वह अपने पति के साथ एक-रूप (अभिन्न) है, पापरहित है, अत्यन्त पवित्र है और पति के स्वरूप में रहने वाली है। यह मन्त्री के प्राणों के समान उसके हृदय की प्राणेश्वरी है। [२२१–२२२]

सद्बोध मंत्री के पाँच मित्र

सद्बोध मन्त्री के पास जो पाँच श्रेष्ठ पुरुष बैठे दिखाई दे रहे हैं वे अत्यन्त ही उत्तम और मन्त्री के अंगभूत इष्ट मित्र हैं। [२२३]

इनमें से प्रथम का नाम **अभिनिबोध** है। यह नगरवासियों में इन्द्रियों और मन द्वारा भली प्रकार ज्ञान उत्पन्न करता है। [२२४]

भद्र ! दूसरा प्रसिद्ध पुरुष स्वयं **सदागम** है। (यह कथा भी सदागम के समक्ष ही चल रही है, यह पाठकों के ध्यान में होगा।) इस सदागम की आज्ञा से ही सम्पूर्ण नगर का कार्य चल रहा है, इसमें शंका की कोई गुंजाइश नहीं है। इस राज्य के मंत्री को समस्त कार्यों के सम्बन्ध में यह परामर्श देता है। यह वाक्पटु है, शेष चार मित्र तो गूंगे हैं। सदागम की वाणी-कौशल को देखकर महाराज चारित्रधर्मराज बहुत प्रसन्न हुए और उसी के परामर्श पर महाराजा ने सद्बोध को मन्त्री पद पर नियुक्त किया। वत्स ! यह सदागम निखिल राजाओं और जैन लोगों के समग्र बाह्य विषयों में उत्कृष्ट कारणभूत है, ऐसा समझना चाहिये। सदागम के बिना न तो चारित्रधर्मराज की सेना ही टिक सकती है और न संसार में अपने स्वरूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से प्रकाशमान यह जैन नगर ही रह सकता है। समस्त कार्यों का उपदेश देने वाला, प्राणी को अच्छे मार्ग पर ले जाने वाला यह दूसरा प्रधानतम पुरुष सदागम ही है। [२२५-२३०]*

तीसरा जो प्रधान पुरुष दिखाई देता है वह सद्बोध मन्त्री का मित्र **अवधि** है। यह भी अपने अनेक रूपों का विस्तार करता है और लोगों को आनन्दित करता है। कभी यह बहुत दीर्घरूप और कभी छोटा रूप, कभी थोड़ा तो कभी अधिक रूप धारण कर इस संसार में अपनी लीला से दूरस्थित वस्तु को भी देख लेता है। [२३१-२३२]

वत्स! सद्बोध मन्त्री के पास जो चौथा प्रधान पुरुष दिखाई देता है, उसका नाम **मनपर्यव** है। यह अपनी शक्ति से अन्य प्राणियों के मन के भावों को जान सकता है। यह ऐसा महाबुद्धिशाली कुशल पुरुष है कि मनुष्य लोक में ऐसा एक भी मनोगत भाव शेष नहीं रहता जिसे यह न जान सकता हो। [२३३-२३४]

भैया! सब से अन्त में जो पाँचवां पुरुष दिखाई दे रहा है वह सद्बोध मन्त्री का विशिष्ट मित्र **केवल** है जो लोक में विश्रुत है। यह भूत, भविष्य और वर्तमान काल के सकल पदार्थों, भावों और मन की विचार-तरंगों को जान सकता है। संसार में जानने योग्य कोई भी पदार्थ, भाव, अध्यवसाय या घटना ऐसी नहीं है जिसे यह नरोत्तम नहीं जानता हो। जैनपुर से जो निवृत्तिनगर जाते हैं उन पुरुषों का यह पुरुषोत्तम केवल प्रकृति से ही नायक है, अग्रगण्य है। [२३५-२३६]

मनुष्य लोक में साक्षात् सूर्य समान सद्बोध मन्त्री अपने पाँच मित्रों और परिवार के साथ आनन्द से रहता है। [२३७]

इतना कहकर मामा विमर्श थोड़ा रुका तो भाणेज ने उससे शका-समाधान प्रारम्भ कर दिया।

प्रकर्ष—मामा! आपने सद्बोध मन्त्री और चारित्रधर्मराज के परिवार को दिखाया यह तो ठीक किया, पर संतोष महाराजा के दर्शन करने की मेरे मन में उत्कट अभिलाषा है, उनका दर्शन आपने अभी तक नहीं करवाया है। [२३८]

संतोष तन्त्रपाल

विमर्श—भाई! देख, इस संयम नामक (श्रमणधर्म युवराज के छठे मित्र) के आगे जो व्यक्ति बैठा है, वही निश्चय से संतोष है। इसमें कोई संदेह नहीं है। [२३९]

प्रकर्ष—जिस संतोष के साथ शत्रुता के कारण महामोह आदि बड़े-बड़े राजाओं का मन विक्षिप्त हो गया है और उससे लड़ने के लिये उसके विरुद्ध आकर खड़े हुए हैं, क्या वह संतोष वास्तव में कोई बड़ा राजा नहीं हैं? [२४०]

* पृष्ठ ४५३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विमर्श—भाई प्रकर्ष ! सचमुच ही यह संतोष कोई मूल (बड़ा) राजा नहीं है, किन्तु चारित्रधर्मराज की सेना का एक महारथी है। वास्तविकता यह है कि यह सन्तोष अत्यधिक शूरवीर, नीति-न्याय-तत्पर, दक्ष और सन्धि-विग्रह का विशेषज्ञ है। इसीलिये चारित्रधर्मराज ने इसे अपनी और राजतन्त्र की सुरक्षा हेतु तन्त्रपाल नियुक्त कर रखा है। महाराजा की विशेष सेना और युद्ध सामग्री को लेकर यह कोटवाल की भांति अत्यन्त आनन्दपूर्वक जहाँ-तहाँ घूमता रहता है। एक समय इसने किसी स्थान पर स्पर्शन आदि को देखा (स्पर्शन का वर्णन तीसरे प्रस्ताव में आ चुका है) और अपनी शक्ति से उन्हें हराकर कुछ मनुष्यों को निर्वृत्तिनगर में भेज दिया। चारित्रधर्मराज की पूरी सेना ने इस युद्ध में इसकी सहायता की। लोगों के मुख से जब महामोह आदि राजाओं ने इस युद्ध के समाचार सुने तब उन्हें लगा कि अपने आश्रित स्पर्शन, रसन आदि व्यक्ति यदि इस प्रकार मार खाते जायेंगे तो हमारी शक्ति क्षीण होती जायेगी, अतः युद्ध करने की इच्छा से वे निकल पड़े। भाई ! महामोह आदि राजाओं ने सन्तोष की वीरता को देखकर अपनी बुद्धि के अनुसार यह मान लिया कि वह कोई मूल नायक (बड़ा राजा) है। मनुष्य जितना देखता है उतना ही जानता है, काले सर्प का पेट अन्दर से सफेद होता है, पर लोग उसका ऊपर का भाग ही देखते हैं, अतः वे उस सांप को काला ही कहते हैं। लोगों की बातें सुनकर मोह राजा सन्तोष को ही स्पर्शन आदि को घातक मानता है, (वास्तव में यह सन्तोष ही स्पर्शन, रसन आदि को अच्छी तरह पछाड़ता है और उनसे त्राहि-त्राहि करवाता है) अतः मोह राजा को जितना क्रोध सन्तोष पर है, उतना अन्य किसी पर नहीं। इसीलिये सन्तोष को मार भगाने की इच्छा से * महामोहादि राजा अपने-अपने स्थान से अपनी सेनायें लेकर युद्ध करने निकल पड़े हैं। इस युद्ध के लिये योग्य स्थान चित्तवृत्ति अटवी में अब तक महामोह और संतोष में अनेक युद्ध हो चके हैं, पर अभी तक किसी की भी अन्तिम हार-जीत का निर्णय नहीं हो सका है। कभी तन्त्रपाल संतोष अपने शत्रु की पूरी सेना को हराकर उसकी सेना में घबराहट पैदा कर देता है तो कभी महामोह आदि राजा अपना प्रभाव दिखाकर संतोष को पटकी मारते हैं। हे कमलनेत्र भाई ! इस प्रकार एक दूसरे के क्रोध के कारण दोनों सेनाओं का युद्ध अनन्त काल से चल रहा है, पर अन्त में क्या होगा ? यह मैं नहीं बता सकता। इस प्रकार मैंने तन्त्रपाल संतोष के दर्शन भी तुझे करा दिये हैं और उसकी वास्तविकता भी बता दी है, जिसके विषय में तुझे अत्यन्त कौतूहल था। [२४८–२५४]

संतोष की पत्नी निष्पिपासिता

भाई प्रकर्ष ! इस संतोष के पास ही एक कमलनयना सुन्दरानना युवा बाला बैठी है, वह इसकी पत्नी निष्पिपासिता है। इस संसार में पाँचों इन्द्रियों के शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध आदि भिन्न-भिन्न विषय हैं। संसारी प्राणी इन

* पृष्ठ ४५४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयों में अत्यासक्त रहते हैं। संतोष की यह पत्नी मनीषियों के मन को इन्द्रियजन्य विषयों पर से तृष्णा रहित बना देती है, मन को इच्छारहित बना देती है और इन्द्रिय-विषयों के प्रति जीव का जो राग-द्वेष रहता है उससे निःस्पृह कर देती है। अर्थात् चित्त को तृष्णा, राग-द्वेष और द्विधारहित बनाती है। किसी विषय में लाभ हो या न हो, सुख हो या दुःख हो, सुन्दर वस्तु मिले या दूषित मन पसन्द आहार मिले या नापसन्द, सर्व परिस्थितियों में यह निष्पिपासिता मन को सन्तुष्ट और स्थिर रखती है। [२५४–२५६]

निष्कर्ष

वत्स प्रकर्ष ! अब तू संकल्प-विकल्प को छोड़कर चारित्रधर्मराज को परमार्थ से सच्चा राजा समझ। उसके ज्येष्ठ पुत्र श्रमणधर्म और कनिष्ठ पुत्र गृहस्थ-धर्म हैं, सद्बोध महामन्त्री है जिसे राज्य का सब काम सौंप दिया गया है, सम्यक्-दर्शन सेनापति है और संतोष तन्त्रपाल है, यह समझले। जैसे महामोह राजा और उसका परिवार तीनों लोक के लोगों को संताप देने वाले हैं वैसे ही चारित्रधर्मराज और उसका परिवार तीनों लोकों के समस्त प्राणियों को आह्लादित करने वाला है। वत्स ! चारित्रधर्मराज और उसका परिवार सम्पूर्ण जगत के लिये वास्तविक अवलम्बन हैं, जगत के सच्चे और परमार्थ से हित करने वाले तथा सारे विश्व के पारमार्थिक बन्धु (वास्तविक मित्र) हैं। ये इस अनन्त संसार समुद्र से तैरा कर पार ले जाने वाले हैं और संसार को ऐसे अनन्त आनन्द समूह को प्राप्त करवाने वाले हैं जिसका कभी नाश नहीं होता। चारित्रधर्मराज के साथ जो अन्य नरेश्वर यहाँ दिखाई दे रहे हैं वे सब समस्त प्राणियों के सुख के कारण हैं। भाई ! चारित्रधर्मराज के अंगभूत निखिल बान्धवों के गुण-स्वरूप का तेरे समक्ष वर्णन किया। तदुपरान्त वेदिका के पास मण्डप में जो शुभ-अशुभ आदि बैठे हुए दिखाई दे रहे हैं वे सब चारित्रधर्मराज के सैनिक हैं। महाराजा चारित्रधर्मराज की आज्ञा से ये राजा प्राणियों से शोभन कार्य करवाते हैं, क्योंकि वे सभी स्वयं अमृतोपम हैं।

[२५७–२६६]

भाई प्रकर्ष ! इन राजाओं के मध्य में सर्व प्राणियों को सुख देने वाले अनेक स्त्री-पुरुष और बच्चे हैं। * यह स्थान अनेक राजाओं और असख्य मनुष्यों से परिपूर्ण है, उनका सम्यक् प्रकार से पूर्ण वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है ? मैंने तुम्हारे समक्ष इस मण्डप और सभास्थान का संक्षिप्त वर्णन किया है। अब यदि तेरा कौतूहल पूर्ण हुआ हो तो हम द्वार की ओर चलें अर्थात् यहाँ से चलें। [२६७–२६९]

---

* पृष्ठ ४५५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारित्रधर्मराज की सेना

प्रकर्ष ने भी अपनी यही इच्छा प्रकट की। वहाँ से बाहर निकलते हुए उन्होंने चारित्रधर्मराज की चारों प्रकार की सेना का अवलोकन किया। इस चतुरंगी सेना में गम्भीरता, उदारता, शूरवीरता आदि रथ हैं जिनके चलने से चारों दिशाएं घन-घनाहट ध्वनि से भर जाती हैं। कीर्ति श्रेष्ठता, सज्जनता और प्रेम आदि बड़े-बड़े हाथी हैं जो विलास करते हुए अपने कण्ठ-निर्घोष से सारे भुवन को भर देते हैं। बुद्धि-विशालता, वाक्-चातुर्य, निपुणता आदि घोड़े अपनी हिन हिनाहट से उत्तम प्राणियों के कर्णरंध्रों को भर देते हैं। अचपलता, मनस्विता, दाक्षिण्य आदि योद्धाओं से परिपूर्ण यह चतरंगी सेना विस्तृत अगाध शान्ति-समुद्र का भ्रम उत्पन्न करती है। इस चतुरंगी सेना को देखकर प्रकर्ष मन में अत्यन्त आनन्दित हुआ। [२७०–२७५]

प्रकर्ष का आभार-प्रदर्शन

यह सब देखकर प्रकर्ष ने मामा से कहा—मामा! सचमुच आज आपने मेरे इच्छित कौतूहल को पूरा कर दिया है और इस विश्व में जो कुछ भी देखने योग्य है वह सब आपने मुझे दिखा दिया है। आपने मुझे नाना प्रकार की अनेक घटनाओं से व्याप्त भवचक्र नगर बताया। महामोह आदि राजा अपनी शक्ति का प्रयोग कहाँ-कहाँ और कैसे करते हैं, यह बताया। यह मनोहर विवेक पर्वत बताया, पर्वत का आधारभूत सज्जन प्राणियों से परिपूर्ण सात्विक-मानसपुर नगर बताया, पर्वत का अप्रमत्तता शिखर बताया और उस पर बसा हुआ एवं मुनिपुंगवों से वेष्टित जैनपुर बताया। फिर आपने मुझे चित्त-समाधान मण्डप, निःस्पृहता वेदी और जीववीर्य सिंहासन बताया। साथ ही आपने चारित्रधर्मराज महाराज से पहचान कराई और अन्य सब राजाओं का वर्णन भी किया तब मुझ मालूम हुआ कि ये सभी राजा चारित्रधर्मराज के सेवक हैं। अन्त में आपने यह चतुरंगी सेना दिखाई। ये सब सुन्दर स्थान और व्यक्ति बताकर आपने कोई ऐसा विषय बाकी नहीं रखा जो मेरे जानने योग्य शेष रह गया हो। आज सच ही आपने मेरे पापों को धोकर मुझे निर्मल बना दिया, मुझ पर महान उपकार किया और आप कृपालु ने उत्साहपूर्वक मेरे सब मनोरथ पूर्ण किये। मामा! यह सुन्दर जैनपुर इतना रमणीय है कि इसमें कुछ दिन रहने की मेरी इच्छा हो रही है, क्योंकि जैसे-जैसे मैं सद्विचार पूर्वक आपके प्रभाव से इस नगर को देख रहा हूं वैसे-वैसे मुझे लगता है कि मैं अधिक प्राज्ञ और मनीषी होता जा रहा हूँ। आपने मुझ पर असीम कृपा की है तो अब इसको चरम सीमा तक पहुँचाने की कृपा और करें। अभी अपने लौटने में दो माह का समय शेष है, अतः इस जैनपुर में रहने से बड़ा आनन्द आयगा, ऐसा मानकर आप भी मेरे साथ रहें, ऐसा मेरा नम्र अनुरोध। [२७६–२८६]

❀ पृष्ठ ४५२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मामा ने कहा—भाई ! मेरी तो सर्वदा यही इच्छा रहती है कि तुझे अधिकाधिक सुख कैसे प्राप्त हो। मैं तो तेरे वश हूँ, फिर तेरी ऐसी शोभन इच्छा को भंग कैसे कर सकता हूँ ? बहुत अच्छा, कुछ दिन यहीं रहते हैं। [२८७]

प्रकर्ष—मामा ! आपने सहमति प्रदान कर मुझ पर बड़ा उपकार किया है।

इस वार्तालाप के बाद मामा-भाणेज दो माह तक जैनपुर में रहे, क्योंकि रसना के मूल का पता लगाने उन्हें जो एक वर्ष का समय मिला था वह अभी पूर्ण नहीं हुआ था, दो माह शेष थे। [२८८]

❀

३७. कार्य-सम्पादन-रथ

[विमर्श और प्रकर्ष विवेक पर्वत-स्थित जैनपुर में दो माह रहे और अनेक सद्गुणों का साक्षात्कार किया। अनेक शुभ दृश्य देखे और विमर्श ने प्रकर्ष की विविध जिज्ञासाएं पूर्ण कीं।]

इधर मानवावास नगर में महादेवी कालपरिणति की आज्ञा से वसन्त ऋतु ने अपना समय पूर्ण किया और उधर दारुण ग्रीष्म ऋतु का आगमन हुआ। [२८९]

ग्रीष्म ऋतु-वर्णन

संसार रूपी भट्टी के मध्य में स्थित और लोहे के गर्म गोले की तरह जगत को दाह प्रदान (जलाने) करने वाला सूर्य तीव्र उष्णता से तमतमा रहा था। [२९०]

प्रचुर पत्रों के झिर जाने से वृक्ष पत्रहीन हो रहे थे, प्राणियों के शरीर का बल घट रहा था, लोग नदी की धाराओं का अधिक पानी पी रहे थे फिर भी प्यास से उनके कण्ठ सूख रहे थे, भयंकर गर्मी से लोग जल रहे थे और पसीने से तरबतर होकर मन में बार-बार खिन्न हो रहे थे। संसार को तप्त करने वाली लू (गर्म हवा) इतने वेग से चल रही थी कि सूखे पत्ते मर-मर शब्द कर रहे थे। [२९१]

जैसे स्वामी का अभ्युदय होने पर उसके अधीनस्थ सभी सेवकों की भी संतोष से [प्रसन्नता में] वृद्धि होती है, वैसे ही सूर्य के प्रताप (तेज) के बढ़ने से संतुष्ट होकर दिन भी बड़ा हो गया था। [२९२]

इस ऋतु में मोगरा विकसित हो रहा था, लाल लोध्रवृक्ष फूल रहे थे, शिरीष के वृक्षों पर इतने फूल आ गये थे कि समग्र वन हरे-भरे दिखाई दे रहे थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चन्द्रकिरणें आँखों को शीतलता प्रदान कर रही थी, जलाशय हृदय को उल्लसित कर रहे थे और मोती की मालायें हृदय को सुहावनी लग रही थीं। सुन्दर महलों की विस्तृत खुली छतें चित्त हरण कर रही थीं और पूरे शरीर पर चन्दन का लेप अत्यन्त प्रिय लग रहा था। सिर पर चल रहे पंखे अमृत समान लग रहे थे, ठण्डे फूलों के अंकुरों से बनी शय्या मन को सुख प्रदान कर रही थी और चन्दन का पानी शरीर के बाहरी भागों पर लगाने पर भी शरीर के भीतर रहने वाले मन को शान्ति प्रदान कर रहा था।

जैनपुर में स्थिरता

ऐसे समय में मामा विमर्श ने अपने भाणेज प्रकर्ष से कहा कि वत्स ! चलो अब अपने देश की ओर वापस चलें। [२९३]

प्रकर्ष– मामा ! यह समय तो वापस लौटने के लिये बहुत ही भयंकर है। ऐसी भीषण गर्मी में यात्रा करना मेरे लिये तो अति कठिन है। ये दो महिने तो भीषण गर्मी के कारण यात्रियों के लिये अत्यन्त ही संतापदायी हैं, अतः ग्रीष्म ऋतु यहीं ठहर कर बितालें। बाद में दिशाए ठंडी होने पर चलेंगे तो मैं शीघ्रता से चल सकूंगा। मामा ! हम दोनों विचारक हैं अतः जैनपुर में अधिक रहें तो इसमें हमें लाभ ही है। हमारा यहाँ का निवास व्यर्थ नहीं जायगा। इस गुण-सम्पन्न नगर में रहने से मेरी स्थिरता में वृद्धि होती जा रही है और मेरे गुण-लाभ को जानकर पिताजी को भी इस स्थान के प्रति आदर उत्पन्न होगा जिससे वे हमारे यहाँ अधिक रहने से अप्रसन्न नहीं होंगे। [२९४–२९७]

विमर्श—तेरी ऐसी इच्छा है तो कोई बात नहीं, यहीं जैनपुर में ही रुक जाते हैं।

मामा के उत्तर से प्रकर्ष अत्यन्त प्रसन्न हुआ। मामा-भाणेज उस नगर में दो माह अधिक रहे। वहाँ रहते हुए वर्षा ऋतु आ पहुँची, वह कैसी है ? [२९८]

वर्षा ऋतु-वर्णन

यह वर्षा ऋतु संसार में कुलटा स्त्री जैसी शोभित हो रही थी। जैसे कुलटा स्त्री अपने घन-उन्नत पयोधरों के भार को वहन करती हुई, * उज्ज्वल अलंकारों की विद्युत् चमक से चकाचौंध करती हुई, अपनी गर्जनरूप धीर मधुर स्वर-ध्वनि करती है वैसे ही काले ऊंचे जल से भरे बादलों के भार को वहन करती, बिजली चमकाती, गर्जना करती वर्षा ऋतु आ रही थी। जैसे कुलटा अपने जार पुरुष को छिपा देती है वैसे ही वर्षा ऋतु में बादल सूर्य को छिपा देते हैं। जैसे मत्त कामी पुरुष कुलटा के प्रति दूर से ही आवाजें कसते हैं वैसे ही वर्षा में मेंढ़क टर्र-टर्र कर

* पृष्ठ ४५७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहे थे। जैसा कुलटा मुक्तहास करती है वैसे ही वर्षा ऋतु दौड़ते हुए सफेद बादलों पर अट्टहास (मुक्त हास) कर रही थी। मेघों को देखकर पर्वतों और वनों में मोर नाच रहे थे मानों कामी पुरुषों के मन कुलटा को देख-देख कर नाच रहे हों। वर्षा ऋतु का दृश्य अति आकर्षक और मनोहर था, मानो कुलटा ने लोगों को रिझाने के लिये आकर्षक और सुन्दर रूप धारण किया हो। सुगन्धी कदम्ब वृक्षों के फूलों की गंध चारों तरफ फैल रही थी, मानो कुलटा अपने शरीर पर इत्र छिड़क कर वातावरण को सुगन्धित कर रही हो। अधिक वर्षा से पहाड़ भी कट रहे थे, मानो कुलटा, जार पुरुष को अपने वश में कर उसे तोड़ने में समर्थ हो गई हो। इस प्रकार अपने रूप, विलास और कपट से अपनी सत्ता सर्वत्र फैला कर वर्षा ऋतु कुलटा की तरह शोभित हो (हंस) रही थी। [२९९–३०१]

ऐसी वर्षा ऋतु को देखकर प्रकर्ष अपने मन में बहुत प्रसन्न हुआ और वापस घर लौटने की इच्छा से मामा से बोला— मामा! अब शीघ्र पिताजी के पास चलना चाहिये, क्योंकि हवा ठंडी हो गई है जिससे मार्ग सुगम हो गये हैं, अब रास्ता काटने में कठिनाई नहीं होगी। [३०२–३०३]

उत्तर में विमर्श बोला--भाई! तू क्या कह रहा है? आजकल तो यात्रियों का आवागमन बन्द रहता है, क्या तू यह नहीं जानता है? [३०४]

आज कल तो यात्रा (प्रवास) स्थगित कर एवं प्रवास से लौटकर लोग अपने-अपने भली प्रकार आच्छादित घरों में रहकर स्वतन्त्रता पूर्वक स्त्री के मुख-चन्द्र का अवलोकन करने में अपने को भाग्यशाली मानते हैं। देखो, वत्स! इसके कारण भी स्पष्ट हैं इस समय रास्ते पानी से भर जाते हैं और चारों तरफ कीचड़ ही कीचड़ हो जाता है। ऐसे में जरा पांव फिसल जाने से गिर जाय तो आदमी की हालत देखने लायक हो जाती है, ऐसा लगता है मानो मिट्टी के ढेर आदमी की हंसी उड़ा रहे हों। जो भाग्यहीन पापी प्राणी इस ऋतु में परदेश जाने के लिये निकलते हैं उन पर वर्षा की मोटी-मोटी धाराओं की मार से मार करता हुआ मेघ गर्जारव करता है। भाई प्रकर्ष! ऐसी ऋतु में यात्रा की बात छोड़। इतने दिन यहाँ रहे तो थोड़े दिन और रह जायेंगे। यहाँ जो समय व्यतीत होगा वह हानिकारक नहीं अपितु लाभदायक ही होगा। क्योंकि, यहाँ बीता प्रत्येक क्षण तुम्हारे अभ्युदय की वृद्धि करने वाला है। [३०५–३०९]

प्रकर्ष ने भी अपनी सहमति प्रकट की तब मामा और भाणेज जैनपुर में चार माह रहे। वर्षाकाल पूर्ण होने पर, सहर्ष उन्होंने घर की तरफ प्रस्थान किया [जो कार्य उन्हें सौंपा गया था, वह कार्य सिद्ध हो चुका था और उन्हें अत्यधिक जानने-सीखने को मिला था अतः वे मन में अत्यन्त हर्षित हो रहे थे।] [३१०]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिवार-मिलन और कार्य-निवेदन

विमर्श और प्रकर्ष चलते हुए अपने देश में आ पहुँचे। राजभवन में पहुँचकर जब वे शुभोदय राजा के पास पहुँचे तब उन्होंने राज्यसभा में विमर्श का सन्मान किया। राज्यसभा में महाराजा शुभोदय के साथ महारानी निजचारुता, कुमार विचक्षण और समस्त सभाजन उपस्थित थे। मामा और भाणेज ने राज्यसभा में प्रवेश करते ही शुभोदय महाराजा को भक्ति पूर्वक प्रणाम किया और दोनों विनय-पूर्वक शुद्ध जमीन पर बैठ गये। विमर्श की बहिन बुद्धिदेवी जो राज्यसभा में उपस्थित थी, ने आग्रह पूर्वक भाई को खड़ा किया। वह और उसका पति विचक्षण बार-बार प्रेमपूर्वक उससे गले मिले, उसका सत्कार किया और उसके प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित करते हुए आदरपूर्वक उसे अपने पास के आसन पर बिठाया। फिर दादा, दादी, माता, पिता एवं अन्य बड़े लोगों ने कुमार प्रकर्ष को आनन्द पूर्वक बुलाया, उसकी बलैयां लीं, स्नेह से अपनी गोद में बिठाया और बार-बार प्रेम से उसके मस्तक को चूमा, पुनः-पुनः कुशलक्षेम पूछा। पश्चात् शुभोदय, विचक्षण और अन्य सब लोगों ने रसना की मूलोत्पत्ति के बारे मे उन्होने क्या पता लगाया, इसके बारे में पूछा। मिलन के आनन्दाश्रुओं के साथ विमर्श ने रसना की खोज में अधिक समय लगने का कारण बताते हुए स्वतः अनुभूत और प्राप्त समग्र घटनाक्रम विस्तार पूर्वक राज्यसभा के समक्ष प्रस्तुत किया। घर से निकलने के बाद वे कितने समय तक बाह्य प्रदेश में घूमे, फिर अन्तरंग प्रदेश में घूमे, * वहाँ उन्होंने राजसचित्त और तामसचित्त नामक दो नगर देखे, फिर चित्तवृत्ति नामक भयानक जंगल देखा, वहाँ महामोह आदि राजाओं के बैठने का स्थान देखा, वहाँ रसना की मूलोत्पत्ति का उन्होंने कैसे पता लगाया वह सब वर्णन किया। रसना कैसे रागकेसरी राजा के मन्त्री विषयाभिलाष की पुत्री होती है, इस विषय में उन्होंने कैसे पता लगाया, फिर कैसे वे कौतूहल पूर्वक भवचक्र नगर में गये और वहाँ उन्होंने क्या-क्या देखा उसका वर्णन किया। फिर उन्होंने विवेक पर्वत पर बड़े-बड़े मुनिपुंगवों के दर्शन किये, पर्वत पर चारित्र-धर्मराज का स्थान कैसा सुन्दर था और उन्हें कैसा लगा, फिर वहाँ संतोष को देखकर मन में कैसे भाव उत्पन्न हुए, संतोष अनेक लोगों को कैसे भवचक्र से निर्वृत्तिनगर ले जाता था आदि सभी वर्णन विमर्श ने अपने बहनोई विचक्षण और सभी सभाजनों के समक्ष विस्तार पूर्वक सुनाया। [२११-३२२]

❀

* पृष्ठ ४५८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३८. रसना, विचक्षण और जड़कुमार

जड़ की आसुरी वृत्ति : मरण

विचक्षण का भाई जड़कुमार लोलुपता के कथन को सत्य मानकर रसना का पोषण मांस-मद्य आदि से भली प्रकार कर रहा था। वह उसमें इतना अधिक गृद्ध हो गया था कि उसे दूसरे किसी विषय में विचार करने का भी अवसर नहीं मिलता था। वह रसना में इतना अधिक आसक्त हो गया था कि बड़े से बड़े पाप वाले निन्दनीय कर्म करने से भी नहीं हिचकिचाता था। अपनी कुल-मर्यादा कैसी है, अपने ऊंचे कुल को ऐसे निन्दनीय कार्य से कितना कलंक लगेगा, इसका भी वह विचार नहीं करता था। [३२३-३२४]

एक दिन वह मद्य के नशे में लस्त-पस्त बैठा था कि लोलुपता ने उसे एक बड़े बकरे को मारने के लिये प्रेरित किया। शराब के नशे में वह होश में नहीं था और बकरे के बदले उसने पशुपालक (ग्वाले) को मार दिया। ग्वाले की हत्या बकरा समझ कर अपने हाथ से हो गई है, यह बात जब जड़कुमार को समझ में आई तब लोलुपता को बकरे का मांस न मिलने से उसको दुःख हो रहा होगा ऐसा सोचकर वह विचार करने लगा कि मैंने पशुओं और पक्षियों के मांस से तो रसना की लोलता को बार-बार तृप्त किया ही है पर कभी मनुष्य का मांस नहीं खिलाया है, अतः क्यों न आज उसे मनुष्य का मांस खिलाकर देखूं कि इससे रसना को कैसा सुखदायी संतोष होता है ? ऐसे अधम विचार से उसने जिस ग्वाले का खून किया था उसके शरीर से मांस निकाला, उसे साफ कर पकाया और लोलता को दिया। ऐसा खाद्य खाने से उसकी तुच्छ वृत्ति को विशेष पोषण मिला और रसना तथा लोलता के प्रमुदित होने से जड़कुमार भी मन में हर्षित हुआ। [३२५-३२९]

फिर तो लोलता, मनुष्य का सुन्दर मांस खिलाने के लिये जड़कुमार को बार-बार प्रेरित करने लगी। इससे जड़कुमार किसी न किसी मनुष्य को मार कर उसका मांस अपनी प्यारी रसना को खिलाने लगा। उत्साह पूर्वक स्वयं भी मनुष्य का मांस खाते-खाते वह राक्षस बन गया। उसकी अत्यन्त अधम प्रवृत्ति देखकर बालक भी उसकी निन्दा करने लगे। उसके सगे-सम्बन्धी और भाई-बन्धुओं ने भी उसका साथ छोड़ दिया और लोग बार-बार उसका अपमान करने लगे। ऐसे पाप कर्म से उसे अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न हो गईं।

[३३०-३३१]

जड़कुमार की मनुष्य के मांस-भक्षण की इच्छा दिनोदिन बढ़ने लगी। एक रात वह किसी मनुष्य को मारने की इच्छा से लोलता को साथ लेकर चोर की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरह एक शूर नामक क्षत्रिय के घर में घुसा। अन्दर जाकर उसने देखा कि क्षत्रिय का बालक सो रहा था। उसने क्षत्रिय के बच्चे को उठाया और बाहर निकलने लगा कि शूर ने उसे देख लिया। उसे देखते ही शूर को उस पर प्रचण्ड क्रोध उत्पन्न हुआ और उसने जोर से चिल्लाना शुरु किया जिससे पास-पड़ौस के सगे-सम्बन्धी इकट्ठे हो गये और उन्होंने जड़कुमार को खूब मारा फिर बांध कर लाठियों और मुद्गरों से उसे अधमरा कर दिया। उसे इतनी अधिक मार पड़ी कि उसी रात उसी घर में मार की भयंकर पीड़ा से उसकी मृत्यु हो गयी। दूसरे दिन प्रातः जब जड़ की मृत्यु के समाचार फैले तो लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए। जड़ के भाइयों ने और स्वयं राजा ने शूर को कोई दण्ड नहीं दिया, यहाँ तक कि उससे कुछ पूछा भी नहीं। जड़ के पारिवारिक जन सोचने लगे कि जड़ कुल को कलंकित करने वाला और सभी को लज्जित करने वाला था, ऐसे महानीच पापी को मार कर शूर ने बहुत अच्छा किया।

विचक्षण का विरतिभाव [३३२–३३६]

जड़कुमार की घटना को सुनकर और देखकर विचक्षण का मन अधिक निर्मल हो गया। वह सोचने लगा कि, 'अहो! रसना में आसक्त जड़कुमार को इसी भव में कैसा कठोर दण्ड मिला। परलोक में तो उसकी और भी भयंकर दुर्गति होगी।' इस विचारधारा ने उसको रसना के प्रति अत्यधिक विरक्त बना दिया। यह घटना विमर्श और प्रकर्ष के लौटने के पहले ही हो चुकी थी। इस घटना के पश्चात् वह रसना की मूलोत्पत्ति के बारे में क्या खबर लेकर उसका साला लौटता है, इसकी उत्सुकता पूर्वक राह देखने लगा। जब विमर्श ने राज्यसभा में रसना की मूल-शुद्धि (उत्पत्ति) के बारे में सविस्तर वर्णन किया तब उसे सुनकर विचक्षण ने तुरन्त रसना का त्याग करने का अपने मन में निर्णय कर लिया। अपने निर्णय को सूचित करने के लिये उसने अपने पिताजी से कहा—पिताजी! रसना कैसे भयंकर कटु फल देने वाली है यह तो हमने जड़ की घटना से जान ही लिया है। अब तो यह भी मालूम हो गया है कि वह रागकेसरी के मंत्री दोषों के समूह विषयाभिलाष की पुत्री है, अतः यदि आप आज्ञा दें तो अब मैं इस अधम कुलोत्पन्न दुष्ट स्त्री का सर्वथा त्याग कर दूँ। [३३७–३४२]

शुभोदय का निर्देश

पुत्र की बात सुनकर शुभोदय महाराजा ने कहा—प्रिय विचक्षण! संसार को विदित हो चुका है कि रसना तुम्हारी स्त्री है, अतः उसे एकाएक छोड़ देना अनुचित है। वत्स! यदि तुम्हें इसका त्याग करना ही है तो क्रमशः धीरे-धीरे सर्वथा त्याग करो। इसके सम्बन्ध में अभी तुम्हें क्या करना है वह भी ठीक से समझाता हूँ, सुनो। विमर्श की बात से तुम्हारे ध्यान में आया होगा कि विवेक पर्वत पर महामोह आदि राजाओं का नाश करने वाले श्रमण श्रेष्ठ रहते हैं। यदि तू उनके साथ रहे

❀ पृष्ठ ४५९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और उनके जैसा आचरण करे तो यह दुष्ट रसना तेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकती। अतः वत्स ! मेरा परामर्श है कि तू विवेक पर्वत पर प्रयत्न पूर्वक चढ़ जा और रसना के सकल दोषों से दूर रहकर अपने कुटुम्ब के साथ वहाँ रह। यद्यपि तेरे कुटुम्ब के साथ तेरी स्त्री रसना भी वहीं रहेगी, पर वह तुझे किसी प्रकार की पीड़ा नहीं दे सकेगी। [३४३-३४७]

विचक्षण ने फिर पूछा—पिताजी ! विवेक पर्वत तो यहाँ से बहुत दूर हैं। इतनी दूर सारे परिवार को लेकर मैं किस प्रकार जाऊँ ? इतनी दूर जाने के लिये मैं कैसे उत्साहित हो सकता हूँ ? [३४८]

विमलालोक अञ्जन का प्रयोग

उत्तर में शुभोदय महाराज बोले - प्रिय विचक्षण ! विमर्श तो चिन्तामणि रत्न के समान तेरा अतुलनीय बन्धु है, अतः विमर्श जैसे साले के होते हुए किसी प्रकार की चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है ? वत्स ! उसके पास एक ऐसा अञ्जन है जिसे आँखों में लगाने से, उसके अद्भुत प्रभाव से वह इस विवेक महापर्वत का दर्शन यहाँ बैठे-बैठे ही करवा सकता है, तुझे इतनी दूर जाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। [३४९-३५०]

उपर्युक्त बात चल ही रही थी कि बीच में ही प्रकर्ष बोल उठा—हाँ, पिताजी ! यह सत्य है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। इस योगाञ्जन की शक्ति का मुझे भी भवचक्रपुर में अनुभव हुआ है। अधिक क्या कहूँ ? जब तक इस असाधारण शक्तिशाली अञ्जन का प्रयोग न किया जाय तब तक विवेक पर्वत, जैनपुर आदि बराबर दिखाई नहीं देते, परन्तु इस विमलालोक अञ्जन के प्रयोग से नगर, पर्वत आदि सब स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं, वे दूर भी नहीं लगते, सर्वत्र दिखाई देते हैं. यह इस अञ्जन का ही महा प्रभाव है। [३५१-३५३]

यह सुनकर विचक्षण ने विमर्श से कहा—* विमर्श ! यदि तेरे पास ऐसा अञ्जन हो तो तू मुझे उसे अवश्य शीघ्र ही दे दे, जिससे मेरी चिन्ता दूर हो और मैं शीघ्र अपनी इच्छा पूर्ण कर सकूं। [३५४]

विमर्श ने अपने जीजा पर अनुग्रह करने की दृष्टि से उसे आदर पूर्वक विमलालोक अञ्जन प्रदान किया। उस अञ्जन का प्रयोग करते ही तुरन्त उसे सभी कुछ अपने सामने स्पष्ट दिखाई देने लगा। विचक्षण ने देखा कि सैकड़ों लोगों से भरा हुआ सात्विक-मानसपुर, निर्मल एवं उत्तुंग विवेक पर्वत और उसका रमणीय अप्रमत्तत्व शिखर, जैनपुर और उसमें रहने वाले श्रमणपुंगव, नगर के मध्यस्थित चित्त-समाधान मण्डप, निःस्पृहता वेदी, सुन्दरतम जीववीर्य सिंहासन और उस पर

* पृष्ठ ४६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विराजित चारित्रधर्मराज महाराजा एवं उनका विशाल परिवार सब विचक्षण के समक्ष स्पष्ट हो गया। चारित्रधर्मराज महाराजा और अन्य राजाओं के उज्ज्वल सद्गुण भी उसे दिखाई देने लगे।

आचार्य विचक्षण नरवाहन राजा को अपनी जीवन-कथा सुनाते हुए कह रहे हैं कि, महाराज ! उस समय मैंने यह सब मानो मेरे सन्मुख ही खड़े हों, ऐसा मैंने प्रत्यक्षतः अवलोकन किया। [३५५-३६२]

विचक्षण की दीक्षा

विचक्षण आचार्य ने अपनी कथा को आगे चलाते हुए कहा :—हे महा-नरेन्द्र नरवाहन ! उस समय विचक्षण ने अपने पिता शुभोदय, माता निजचारुता, पत्नी बुद्धि, साले विमर्श, हृदयांकित प्रिय पुत्र प्रकर्ष को भी साथ ले लिया और अपनी दूसरी पत्नी रसना को भी वदनकोटर में साथ ही रहने दिया। मात्र लोलता दासी को निन्दनीय समझ कर उसको अपमान पूर्वक वहीं छोड़ दिया। उस दासी के अतिरिक्त पूरे परिवार को साथ लेकर वह (विचक्षण) गुणधर आचार्य के पास पहुँचा और उनके पास दीक्षा स्वीकार की। हे राजन् ! फिर दीक्षा ग्रहण की है ऐसा मानता हुआ वह उस अद्भुत जैनपुर में अन्य महात्मा साधुओं के बीच रहने लगा। फिर गुणधर आचार्य ने अपना समग्र आचार विक्षचण मुनि को सिखाया। उस आचार की उसने भक्तिपूर्वक आराधना की जिससे रसना इतनी निर्माल्य बन गई कि वह लगभग विसर्जन (टूट पड़ने) की स्थिति में आ गई। उसने उसकी ऐसी स्थिति बनादी थी कि वह कुछ भी कर नहीं सकती थी, वह बिलकुल निरर्थक जैसी हो गई थी। अन्त में गुरु महाराज ने विचक्षण मुनि को अपने पद पर स्थापित कर आचार्य बनाया। यद्यपि विचक्षणाचार्य घूमते-फिरते अन्य स्थान पर भी दृष्टिगोचर होते हैं तथापि परमार्थ से वे विवेक महागिरि के शिखर पर स्थित जैनपुर में ही निवास करते हैं, ऐसा ही समझना चाहिये। महाराज नरवाहन ! मैं ही वह विचक्षण कुमार हूँ जो अब विचक्षण आचार्य के नाम से प्रसिद्ध हो गया हूँ। विवेक पर्वत पर जो मुनिपुंगव रहते हैं, वे ये ही साधु हैं जो अभी आपके सामने बैठे हैं। राजन् ! आपने मुझे पूछा था कि इतनी छोटी उम्र में मेरे वैराग्य का क्या कारण था ? उसका उत्तर मैंने आपको विस्तार पूर्वक सुनाया है। ❀ मेरी उपरोक्त वर्णित आत्मकथा ही मेरी दीक्षा का कारण थी।

रसना कथानक सम्पूर्ण।

❀

❀ पृष्ठ ४६१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३९. नरवाहन-दीक्षा

[अनेक रहस्यों से पूर्ण रसना की मूलोत्पत्ति का पता लगाने की योजना और पूरे भवचक्र के अद्भुत स्वरूप को बताने वाले मामा एवं भाणेज के प्रसंग से विकसित तथा कवित्व के चमत्कारों से सुशोभित भव्य एवं विशाल अपनी आत्मकथा विचक्षणसूरि ने पूर्ण की। उसमें उन्होंने श्रोताजनों को भिन्न-भिन्न रसों का पान कराया।]

आत्मकथा पूर्ण कर विचक्षणाचार्य रुके नहीं, उन्होंने बात आगे बढ़ाई, वे ज्ञान का फल प्राप्त करने के प्रसंग को समझाने लगे। वे बोले - राजन्! स्त्री के दुःख और दोष से बचने के लिये मैंने दीक्षा ली, ऐसा कहा जाता है, पर अभी तक मैंने उस पापिनी (आन्तरिक स्त्री रसना अपर नाम जिह्वा का) सर्वथा त्याग नहीं किया है। मेरे समस्त कुटुम्ब (आन्तरिक कुटुम्ब) का भी मैं अभी तक कम या अधिक रूप में पालन-पोषण कर ही रहा हूँ। ऐसे संयोगों में मेरी सच्ची दीक्षा कैसे हो सकती है? तथापि राजन्! आपका मेरे प्रति इतना आदर और उच्चभाव क्यों है? इसका कारण मेरी समझ में नहीं आता। [३६३-३६५] कहा भी है कि :—

दोष वाले प्राणियों में गुणों का आरोप करने वाले और संसार में आह्लाद उत्पन्न करने वाले, जिनके सौन्दर्य की तुलना किसी से नहीं की जा सकती ऐसे विशुद्ध आन्तरिक भाव वाले सज्जनों की प्रकृति का हो यह गुण हो सकता है। [३६६]

सन्त पुरुषों की दृष्टि किसी अपूर्व धनुष-यष्टि जैसी होती है। क्योंकि, धनुष-यष्टि तो किसी अवसर पर ही गुणारोपण करती है, परन्तु सन्त पुरुषों की दृष्टि तो बिना प्रसंग भी गुणारोपण करने को तत्पर रहती है। [३६७]

अथवा, हे राजन्! त्रैलोक्य द्वारा वन्दनीय यह जैन-लिंग (मुनिवेष) जिन्होंने धारण कर रखा है और जिन्होंने अपने आन्तरिक शत्रुओं को मार भगाया है, उस वेष का ही यह गुण हो सकता है। [३६८]

जिनके हाथों में जैन-लिंग (वेष) प्राप्त हुआ दिखाई देता है उन्हें देव और देवों के राजा इन्द्र भी अत्यन्त भक्तिभाव से पूजते हैं, सेवा करते हैं और आदर सन्मान देते हैं। [३६९]

राजन्! यद्यपि मैं अभी भी मेरे परिवार (आन्तरिक) के साथ हूँ, अतः गृहस्थाचार-धारक ही हूँ, फिर भी आप मुझे ऐसा दुष्कर कार्य करने वाला (दीक्षा लेकर श्रमण-धर्म पालने वाला) मानते हैं, इसका कारण जैनलिंग के अतिरिक्त क्या हो सकता है? [३७०]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नरवाहन का चिन्तन : सन्मार्ग का अन्वेषण

विचक्षणसूरि जब उपर्युक्त बात कह रहे थे तब ऐसा लगता था कि उनके मन में यदि थोड़ा भी मद शेष रह गया होगा तो वह भी अब गल गया है, ऐसा स्पष्ट प्रतिभासित हो रहा था। नरवाहन राजा अपने मन में विचार कर रहा था कि अहा! इन आचार्य भगवान् ने तो स्वयं की आत्मकथा ऐसे सुन्दर रूप में सुनाई कि उसे सुनकर ही मेरे तो मोह का भी नाश हो गया। अहा! आचार्य भगवान् की बात कहने और बोलने का ढंग भी कितना सुन्दर है। अहो! इनका विवेक भी कैसा आश्चर्यजनक है। अहो! इनकी मुझ पर कितनी कृपा है! इन्होंने तो किसी अद्भुत परमार्थ को जान लिया है। आचार्य भगवान् स्वयं जो बात कर रहे हैं, उस बात का रहस्य अब मुझे ज्ञात हो गया है।

मन में उपर्युक्त विचारों के आते ही नरवाहन राजा ने विचक्षणाचार्य से कहा :—

भगवन्! इस संसार में आपको शुभोदय, निजचारुता, बुद्धिदेवी, विमर्श, प्रकर्ष आदि जैसा सुन्दर कुटुम्ब मिला है वैसा सुन्दर आन्तरिक परिवार मेरे जैसे भाग्यहीन प्राणी को नहीं मिल पाया है। आप तो सचमुच भाग्यशाली हैं। पूज्यवर! जैन वेष में रहकर ऐसे सुन्दर अन्तरंग परिवार का पोषण करने वाले (गृहस्थ) तो आपके जैसे भगवान् ही हो सकते हैं। आपश्री ने तो युक्तिपूर्वक रसना को निःसत्व बना दिया है जिससे वह आप पर कुछ भी असर नहीं कर सकती। उससे भी अधिक बुरी उसकी दासी लोलता है जिसे जीतना संसार में अति कठिन है, उसे आपने बिलकुल त्याग दिया हैं। हे मुनिश्रेष्ठ! आपने महामोह और उसके पूरे परिवार को जीत कर अपने पूरे अन्तरंग परिवार को साथ में रखते हुए इस अति सुन्दर जैनपुर में सर्व साधुओं के मध्य में रह रहे हैं। मैंने आपको दुष्कर काम करने वाला कहा जिसका आपने प्रतिवाद किया, पर यदि आपको दुष्कर कार्य करने वाला न कहा जाय तो फिर इस संसार में अन्य किसको कहा जाय? यह मेरी समझ में नहीं आता। भगवन्! मैं आपसे एक अन्य बात पूछना चाहता हूँ। सम्पूर्ण संसार को आश्चर्य में डालने वाली जैसी घटना आपके जीवन में घटित हुई है, वैसी ही यदि अन्य किसी भी व्यक्ति के सम्बन्ध में घटित हो तो वे सब वास्तव में वन्दनीय, पूजनीय और नमस्कार करने योग्य हैं ऐसा मैं मानता हूँ। अतः मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपके साथ जो ये सब साधु हैं, उनके सम्बन्ध में भी क्या ऐसा ही घटित हुआ है या नहीं * कृपया आप मुझे बताइये। [३७१–३७७]

विचक्षणाचार्य बोले—नरवाहन भूप! निश्चय ही समस्त साधुओं के सम्बन्ध में भी ऐसा ही घटित होता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। एक अन्य

* पृष्ठ ४६२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बात देखिये, नरेश्वर ! जिस प्रकार मैंने किया है, यदि वैसा ही आप भी करें तो आपके सम्बन्ध में भी वैसा ही घटित हो सकता है। मात्र आप को भी मेरी ही भांति प्रयत्न करना पड़ेगा। आपकी मनोकामना हो तो आपको एक क्षण में मैं विवेक पर्वत दिखा सकता हूँ। फिर मेरे जैसा अन्तरंग परिवार आपको भी तुरन्त स्वतः ही प्राप्त हो सकता है। उसके पश्चात् आप भी थोड़े ही समय में महामोह राजा और उसके परिवार पर विजय प्राप्त कर सकेंगे और लोलता का तिरस्कार कर समग्र साधुओं के मध्य आनन्दपर्वक रह सकेंगे। [३७८–३८१]

नरवाहन को वैराग्य : दीक्षा

विचक्षणाचार्य के ऐसे मनोरम वचन सुनकर राजा नरवाहन अपने मन में सोचने लगे, आचार्य भगवान् ने जो बात कही है वह तो दीपक की भांति स्पष्ट है कि जो अपने बाहुबल से उत्साह पूर्वक आगे बढ़ते हैं, प्रभुता उनके हाथों में स्वतः ही आता है, अर्थात् सफलता उनके चरण चूमती है। (प्रयत्न किये बिना कुछ भी नहीं मिलता और प्रयत्न करने वाले को तो जो चाहिये वह सब कुछ मिलता है।) लगता है, आचार्य भगवान् मुझ से कह रहे हों कि हे राजन् ! तुम भागवती दीक्षा ग्रहण करो, जिससे मुझे जो कुछ प्राप्त हुआ है वह सब तुम्हें भी प्राप्त हो जाय। आचार्य भगवान् ने तो वास्तव में मुझे श्रेष्ठतम उपदेश दिया है, अतः मुझे अब दीक्षा ग्रहण करनी ही चाहिये। ऐसा मन में संकल्प किया। विचक्षणसूरि का वृत्तांत सुनकर वैराग्यपूर्ण अन्तःकरण होते ही नरवाहन राजा की अनिष्ट पाप-प्रकृति के परमाणु नष्ट हो गये, अतः उसी क्षण राजा ने आचार्य के पाँव छू कर कहा—भगवन् ! यदि आप मुझ में ऐसी योग्यता पाते हों तो जैसा आपने किया है, वैसा ही मैं भी करना चाहता हूँ। अधिक बोलने से क्या लाभ ? मुझ पर कृपा कर आप मुझे जैन भागवती दीक्षा प्रदान करें। मुझे पूर्ण आशा है कि आपकी कृपा से सब कुछ श्रेष्ठ होगा। [३८२–३८८]

उत्तर में विचक्षणसूरि ने फिर से कहा—हे राजन् ! आपका निश्चय अत्युत्तम है। आपके जैसे भव्य पुरुषों को ऐसा ही करना चाहिये, यही आपका विशेष कर्त्तव्य है। हे राजन् ! मुझे विश्वास है कि मेरे वचन के गूढ़ार्थ को आप लभी-भांति समझ गये होंगे। मेरा शुभ आशय भी आपके ध्यान में आ गया होगा। उस सच्ची समझ के परिणामस्वरूप ही आपको यह सत् उत्साह जागृत हुआ है, यह अच्छा ही है। क्योंकि, जब महामोह आदि भयंकर शत्रु चारों तरफ घेरा डालकर कूद-फांद कर रहे हों तब सुदृढ़ दुर्ग से भली प्रकार रक्षित क्षेमकारी जैनपुर में आश्रय लेना कौन नहीं चाहेगा ? गृहस्थाश्रम तो दुःख-समूह से भरा हुआ है, अतः जिस प्राणी को सुख के भण्डार जैनपुर का सम्यक् ज्ञान हो गया हो वह ऐसे गृहस्थावास में चिन्ता-रहित होकर कैसे निवास कर सकता है ? अतः ऐसे महा भय के समय एक क्षण की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ढील भी उचित नहीं है। आपको जब तत्त्व का रहस्य समझ में आ गया है तब अविलम्ब जैनपुर में प्रवेश कर लेना चाहिये। [३८६-३६३]

आचार्य भगवान् की वाणी से सन्तुष्टचेता राजा के मन में दीक्षा लेने की सुदृढ़ इच्छा हो गई। ऐसी प्रबल इच्छा के कारण राजा मन में सोचने लगा कि मेरे राज्य का उत्तरदायित्व मैं किसको सौंपूं ? क्या मेरा पुत्र रिपुदारण राज्य के योग्य है? हे अगृहीतसंकेता ! उस समय मैं (रिपुदारण) दुःखी, निर्भागी और भिखारी जैसा वहाँ पास ही बैठा था। उस समय जब मेरे पिता नरवाहन ने विकसित कमल-पत्र के समान विस्फारित नेत्रों से मेरी ओर देखा, तब उस समय मेरा पूर्वकाल का अन्तरंग मित्र पुण्योदय जो शरीर से निर्बल हो गया था, कुछ स्फुरित हुआ, कुछ चलने-फिरने लगा और जीवन के कुछ लक्षण प्रकट किये। फलस्वरूप मेरे पिताजी ने निर्मल अन्तःकरण से जब मेरी तरफ देखा तब उन्हें मेरा मित्र पुण्योदय भी दृष्टि-गोचर हुआ। मुझे देखते ही मेरे पिताजी का मुझ पर स्नेह जागृत हुआ। उन्हें मन में मेरी पहले की बातें याद हो आईं। उन्हें लगा कि उन्होंने मुझे घर से निकाल दिया इसीलिये मेरी ऐसी अधम स्थिति हुई है और मेरी इस स्थिति का कारण वे स्वयं हैं। उन्हें लगा कि स्वयं उन्होंने लड़के का तिरस्कार कर घर से बाहर निकाला, यह अच्छा नहीं किया। यदि स्वयं ने विषवृक्ष को भी पानी पिलाकर बढ़ाया है तो फिर उसे काट देना योग्य नहीं है। अभी तो अवसरानुसार मुझे रिपुदारण का सत्कार कर, उसका राज्याभिषेक कर पुत्र के प्रति पिता के कर्त्तव्य से उऋण होना चाहिये। मेरा उसके प्रति पूर्व में किये व्यवहार की यही शुद्धि है। अतः रिपुदारण का राज्याभिषेक कर दूँ, ऐसा कर मैं कृतकृत्य बन कर निर्मल दीक्षा ग्रहण करूंगा। हे भद्रे अगृहीतसंकेता ! उस समय मैं दोषों का पुञ्ज था, फिर भी मेरे पिताजी का मेरे प्रति इतना उदार होने का क्या कारण था, उसे तू समझ। सज्जन पुरुषों का मन मक्खन जैसा सुकोमल होता है, वह पश्चात्ताप के सम्पर्क से पिघल ही जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है। जिन प्राणियों के मन मैल-रहित हो गये हैं, उन्हें अपना स्फटिक जैसा शुद्ध आत्मा भी दोषपूर्ण लगता है और दूसरे लोग दोषों से भरे हुए हों तब भी वे उनको निर्मल लगते हैं। परोपकार करने में निरन्तर तत्पर महा बुद्धिशाली मनुष्य कभी किसी कारण से कटु शब्द बोल देते हैं या कटु व्यवहार कर भी देते हैं तो बाद में जब उन्हें अपना कर्म याद आता है तब उस पर विचार करने से उनके मन में पश्चात्ताप अवश्य होता है। [३६४-४०६]

उपर्युक्त विचार मन में आते ही पिताजी ने तुरन्त मुझे अपने पास बुलाया, अपनी गोद में बिठाया और उसी समय गद्गद् वाणी में विचक्षणाचार्य से प्रश्न किया- महाराज ! आप तो जगत में ज्ञानचक्षु वाले हैं, आप तो सब बात जानते हैं। यह रिपुदारण ऐसे उच्च कुल में जन्मा, उसे ऐसी सुन्दर सामग्री मिली,

❀ पृष्ठ ४६३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर भी यह ऐसे निकृष्ट चरित्र वाला कैसे बना ? आपकी ज्ञानदृष्टि में तो इसका स्पष्टीकरण होना ही चाहिये । [४०७–४०८]

आचार्य – राजन् नरवाहन ! बेचारे रिपुदारण का इसमें कोई दोष नहीं है । इस बुरे चरित्र का कारण इसके दो मित्र शैलराज और मृषावाद हैं । इन दोनों के कारण ही उसकी ऐसी स्थिति बनी है । [४०९]

नरवाहन—महाराज ! ये मृषावाद और शैलराज तो कुमार का बहुत अनर्थ करने वाले हैं, पापी-मित्र हैं । कुमार इन दोनों की संगति से कब छूटेगा ? कृपा कर बताइये । [४१०]

आचार्य ने तनिक हँसते हुए कहा—राजन् ! यद्यपि शैलराज और मृषावाद बहुत पापी और अनर्थकारी हैं, फिर भी रिपुदारण की उन पर बहुत प्रीति है, इसलिये यह सम्बन्ध एकदम नहीं छूट सकता । परन्तु, बहुत समय के बाद योग्य कारण के मिलने पर इन दोनों का वियोग हो जायगा । इनके वियोग का कारण क्या होगा ? वह मैं तुम्हें बतलाता हूँ । [४११–४१३]

एक शुभ्रमानस नामक नगर है । वहाँ शुद्धाभिसन्धि नामक राजा राज्य करता है जो बहुत प्रसिद्ध और कीर्तिवान है । उसके दो रानियाँ हैं, ❀ एक का नाम वरता और दूसरी का नाम वर्यता है । इन दोनों रानियों से राजा को एक-एक पुत्री हुई है । इन दोनों शुभ-पुत्रियों के नाम मृदुता और सत्यता हैं । ये दोनों कन्याएं भुवन को आनन्द देने वाली, अति मनोहर, साक्षात् अमृत जैसी, सर्वसुखदात्री हैं और संसारी प्राणियों के लिये अति दुर्लभ हैं । यदि किसी प्रकार तेरे पुत्र का इन कन्याओं से लग्न हो जाय तो उनके संयोग से शैलराज और मृषावाद से कुमार का छुटकारा हो सकता है । क्योंकि, ये दोनों कन्याएं गुण-समूह से पूर्ण हैं जब कि कुमार के मित्र शैलराज और मृषावाद दोषों की खान हैं, अतः दोनों पापी-मित्र एक ही समय एक साथ इन गुणवान कन्याओं के साथ नहीं रह सकते । इन दोनों का लग्न कब और कैसे होगा, कौन करेगा और कैसे संयोगों में होगा, उसकी चिन्ता करने और योजना बनाने वाला तो कोई और ही है, इसमें आपकी योजना या विचार काम नहीं आ सकते । राजन् ! आपको अभी जो कार्य करने का उत्साह हुआ है और जिसे करना आपको इष्ट है, वह प्रसन्नता पूर्वक सम्पन्न करिये । [४१४–४१९]

आचार्य महाराज के वचन सुनकर नरवाहन विचार करने लगा—अहा ! मेरे पुत्र के साथ दो बड़े शत्रु निरन्तर रहते हैं, यह तो बहुत ही कष्टदायक बात है, सच ही यह तो बड़ी पीड़ादायक बात है । बेचारा रिपुदारण यथा नाम तथा गुण तो है नहीं । पर, इस विषय में अभी कुछ उपचार हो ही नहीं सकता, तब क्या किया

❀ पृष्ठ ४६४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाय ? अतः मुझे तो अब इन सर्व बाह्य विषयों की चिन्ता छोड़कर मेरी आत्मा का हित हो वैसा करना चाहिये । [४२०–४२२]

हे अगृहीतसंकेता ! इसके बाद समयोचित तैयारी कर मेरे पिता नरवाहन ने मेरा राज्याभिषेक किया । उस प्रसंग पर किये जाने योग्य सभी कार्य किये, दान दिया और विचक्षणाचार्य के पास दीक्षा ग्रहण कर राज्य का त्याग किया तथा राज्य का सारा कार्यभार मुझे सौंप दिया । दीक्षा ग्रहण कर मेरे पिता विचक्षणाचार्य के साथ विवेक पर्वत पर गये । फिर भी स्वयं अत्यन्त बुद्धिशाली होने से गुरु महाराज के साथ बाह्य प्रदेश में भी विहार (विचरण) करते रहे । [४२३–४२४]

❀

४०. रिपुदारण का गर्व और पतन

[नरवाहन मुनि विवेक पर्वत पर पधारे और बाह्य एवं आन्तरिक प्रदेशों में भी विहार करते रहे । इधर रिपुदारण ने राज्य-शासन संभाला । पुण्योदय ने उसकी स्थिति में परिमित परिवर्तन किया । अगृहीतसंकेता को सुनाते हुए संसारी जीव अपनी आत्म-कथा को आगे चलाते हुए कहने लगा ।]

पापी-मित्रों का प्रभाव

उस समय मुझे राज्य प्राप्त होते ही मेरे विशेष मित्र शैलराज और मृषावाद अत्यधिक प्रसन्न हुए । वे समझने लगे कि अब उन्हें फिर से अपना प्रभाव जमाने का सुअवसर प्राप्त होगा । अब वे निरन्तर मेरे पास रहने लगे । प्रेमाधिक्य के साथ अपने प्रभाव को बढ़ाकर मुझे अपने वश में करने लगे । शैलराज के प्रभाव से उस समय मुझे सारा संसार तृण समान लगता था । झूठ बोलना तो मेरे लिये मुख से पानी का कुल्ला थूंकने के समान सरल था । ऐसे संयोगों में मसखरे मन ही मन मेरी हँसी उड़ाते थे, पण्डित लोग अन्दर ही अन्दर मेरी निन्दा करते थे, धूर्त और चाटुकार लोग मधुर चापलूसी भरे असत्य वचनों से मेरी प्रशंसा करते थे । अर्थात् मेरे भीतर अभिमान और असत्य का ऐसा साम्राज्य स्थापित हो चुका था और मैं उनके इतना वशीभूत हो चुका था कि दोनों पापी-मित्र मेरे अभिन्न अंग बन गये थे । भद्रे ! फिर भी मेरा पुण्योदय मित्र अन्दर से शक्ति प्रदान करता रहा जिसके प्रभाव से कुछ वर्षों तक मैं आनन्दपूर्वक राज्य करता रहा । [४२५–४२८]

तपन चक्रवर्ती का आगमन

उस समय उग्र प्रतापी आज्ञा वाला, शत्रु को त्रस्त करने वाला और सारे संसार पर अपना सार्वभौमत्व स्थापित करने वाला तपन नामक चक्रवर्ती राजा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूमण्डल को देखने की इच्छा से अपनी सेना और अन्य सामग्री लेकर घूमता हुआ सिद्धार्थ नगर आ पहुँचा। मेरे प्रधान-मन्त्रियों को उसके आने के समाचार मिल गये। वे नृपनीति और राजनीति में कुशल थे, अतः मेरे हित को ध्यान में रखते हुए एकत्रित होकर उन्होंने मुझ से कहा—यह पृथ्वीपति तपन नामक चक्रवर्ती संसार में सब से बड़ा है, अतः हे देव! उसके सन्मुख जाकर उसका स्वागत सन्मान करिये। यह चक्रवर्ती सभी राजाओं का पूजनीय है। आपके * पिताजी और अन्य पूर्वज उसकी पूजा करते थे, उसकी आज्ञा मानते थे और उसे योग्य सन्मान देते थे। अभी तो वे मेहमान के तौर पर चलकर आपके घर आ रहे हैं, अतः अधिक सन्मान के पात्र हैं। अतएव हे देव! आप उनका उचित आतिथ्य सत्कार करें। [४२६–४३३]

रिपुदारण का औद्धत्य

उसी समय शैलराज ने मेरी चेतना में अपना विष घोल दिया था जिसका प्रभाव मेरे समस्त अंगों पर तीव्रतर होने लगा, मेरे रोंगटे खड़े हो गये और मैं स्तब्ध हो गया। ऐसी स्थिति में मंत्रियों की बात सुनते ही मैंने कहा—अरे मूर्खों, मेरे समक्ष उस तपन का क्या अस्तित्व है? मैं उसकी पूजा करूं और वह मेरी पूजा न करे यह कैसा न्याय? उसे करना हो तो वह मेरी पूजा करें। [४३४–४३५]

मेरे वचन सुनकर मंत्री और सेनापति ने पुनः प्रार्थना की—'देव! आप ऐसा न कहें। यदि आप इस चक्रवर्ती का सन्मान नहीं करेंगे तो पीढ़ियों से चली आ रही परिपाटी (रीति-रिवाज) का भंग होगा, राजनीति के प्रतिकूल होगा, प्रजा का प्रलय (नाश) होगा, राज्य-सुख का त्याग करना पड़ेगा, विनय नष्ट होगा और हमारे वचनों का अनादर होगा। अतः आपका ऐसा कहना अनुचित है। हे प्रभो! हम पर कृपा कर आप तपन चक्रवर्ती का योग्य आदर-सन्मान करिये। हमारी दृष्टि में आपका ऐसा करना ही उचित है।' ऐसा कहते-कहते सभी मेरे पैरों में गिर गये और मुझ से प्रार्थना करने लगे, जिससे शैलराज द्वारा मेरे हृदय पर किया गया लेप कुछ नरम हुआ। दुर्भाग्य से उसी समय मृषावाद ने मुझ पर प्रभुत्व जमाया और उसके प्रभुत्व में मैंने अपने मंत्रियों से कह दिया—'मन्त्रियों! अभी मुझे वहाँ जाने का उत्साह नहीं है, तुम लोग जाओ और यथायोग्य करो। मैं बाद में आजाऊंगा। और, तपन महाराज से उनकी राज्यसभा में आकर मिल लूंगा।' मेरे वचन सुनकर 'जैसी आपकी आज्ञा' कहते हुए मेरे मन्त्री, सेनापति, राज्य के अधिकारी आदि तपन चक्रवर्ती के सन्मुख गये।

तपन चक्रवर्ती के पास विविध देश की भाषा, वेष, वर्ण, स्वर, भेद, विज्ञान और आन्तरिक गुप्त बातों को जानने वाले अनेक गुप्तचर थे। मेरी और मंत्रियों की बातचीत का भेद तपन चक्रवर्ती के किसी गुप्तचर को लग गया और मेरे मन्त्रियों

* पृष्ठ ४६५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के पहुँचने से पहले ही उसने जाकर सारी बात चक्रवर्ती से कह दी। इधर मेरे मंत्री और सेनापति आदि वहाँ पहुँचे, उन्होंने योग्य विनय किया, पैरों पड़े, अमूल्य भेंट प्रदान की और उसके हृदय को वश में किया। चक्रवर्ती ने सब को बैठने का योग्य स्थान दिया। उसके बाद स्वभावतः चक्रवर्ती ने मेरे सम्बन्ध में कुशल वार्ता पूछी। मंत्रियों ने हाथ जोड़कर कहा—'महाराज! आपकी कृपा से रिपुदारण कुशल हैं और आपको नमस्कार करने शीघ्र ही आ रहे हैं।' ऐसा कहकर उन्होंने मुझे बुलाने के लिये कुछ लोगों को भेजा।

मुझे बुलाने वाले मनुष्य जब मेरे पास आये उस समय शैलराज और मृषावाद दोनों ने मिलकर एक साथ मुझ पर प्रभुत्व जमा रखा था, अतः उनके आते ही मैंने कहा— तुम लोग शीघ्र यहाँ से जाओ और मेरे मंत्री, सेनापति आदि सब से कहो कि, 'अरे मूर्खों! पापी दुरात्माओं!! तुम्हें किसने वहाँ भेजा था? [४३६] मैं तो वहाँ नहीं आऊंगा और उन्हें भी अपने जीवन की इच्छा हो तो शीघ्र वापस आ जावें, अन्यथा समझ लें कि उनका जीवन खतरे में है।' मेरे वचन सुनकर मुझे बुलाने के लिये आने वाले लोग वापस चक्रवर्ती के पास गये और मेरे मंत्री, सेनापति आदि को मेरी बात कह सुनाई।

तपन चक्रवर्ती की व्यवहार-दक्षता

मेरी बात सुनकर बेचारे मंत्री घबरा गये, त्रस्त हो गये और उद्वेग में पड़ गये। दोनों तरफ से जीवन की आशा छोड़कर एक दूसरे का मुख देखने लगे और 'मर्यादा-भंग के विषय में अब क्या करना चाहिये' इस विषय में कुछ भी निर्णय करने में दिङ्मूढ़ से असमर्थ बन गये। तपन चक्रवर्ती बहुत विचक्षण था, वह उन सब की घबराहट और उद्वेग को समझ गया और बोला—अरे लोगों! धीरज रखो, भय छोड़ो इसमें आप लोगों का कोई दोष नहीं है। रिपुदारण के ढंग कैसे हैं, यह मैं भलीभांति जानता हूँ। मैं स्वयं ही रिपुदारण को समझ लूंगा। आप सब लोगों से तो मुझे इतना ही कहना है कि जो व्यक्ति ऐसा झूंठा दुराग्रह रखता है वह नीच है। ऐसे अयोग्य स्वामी के प्रति बहुमान-प्रतिबन्ध (आग्रह) नहीं रखना चाहिये। अर्थात् आप लोगों को रिपुदारण के प्रति जो मान, प्रीति और आज्ञाकांक्षिता है उसे छोड़ देना चाहिये। क्योंकि, रिपुदारण न तो राज्य-लक्ष्मी के योग्य है और नहीं आप जैसे योद्धाओं का नेता बनने के योग्य है। कहा भी है—'मानसरोवर में मोती चुगने वाले और उस सुन्दर सरोवर में अनुरक्त अत्युज्ज्वल रूप वाले राजहंस का नेता कौआ नहीं बन सकता।' [४३७] अतः आप लोगों का उस पर जो भी स्नेह भाव है, उसे तुरन्त छोड़ देना चाहिये।

❀ पृष्ट ४३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरे सभी मंत्री, सेनापति और राजलोक के सदस्य मेरे अभिमानी और झूठे व्यवहार से पहले ही मेरे विरुद्ध हो रहे थे। चक्रवर्ती की ऐसी आज्ञा को सुनते ही उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया और इस सम्बन्ध में स्पष्ट घोषणा करदी।

रिपुदारण का मान-दलन

तपन चक्रवर्ती के पास एक योगेश्वर नामक तन्त्रवादी था। उसे एकान्त में बुलाकर तपन चक्रवर्ती ने क्या-क्या करना और किस प्रकार करना इस सम्बन्ध में कान में गुप्त रूप से समझा दिया। योगेश्वर ने चक्रवर्ती की आज्ञा को शिरोधार्य किया। तत्पश्चात् योगेश्वर बहुत से राजपुरुषों के साथ मेरे पास आया। उसने देखा कि मेरा मित्र शैलराज मेरा सहारा लेकर बैठा था और मृषावाद मुझ से चिपट रहा था। मेरे अन्तरंग प्रदेश की उस समय ऐसी स्थिति थी और बाह्य प्रदेश में अनेक विदूषक हंसी-मजाक कर रहे थे तथा मुझे घेर कर चापलूसी कर रहे थे। योगेश्वर बिना कुछ बोले मेरे सन्मुख आया और अपने पास के योगचूर्ण में से एक मुट्ठी भर कर मेरे मुंह पर फेंकी। मणि, मंत्र और औषधियों का प्रभाव अकल्पनीय होता है, अतः उसी समय मेरी प्रकृति में बड़ा परिवर्तन आ गया। मेरा हृदय शून्य हो गया और समस्त इन्द्रियों के विषय विपरीत लगने लगे। मुझे उस समय ऐसा लगा जैसे किसी ने घोर अन्धकारमय विषम गुफा में फेंक दिया हो और मैं अपने स्वरूप को भूल गया होऊं। मेरे पास मेरा जो परिवार मुझे घेर कर बैठा था वह तो समझ गया कि योगेश्वर चक्रवर्ती की तरफ से आया है। ऐसा जानते ही वे सब भय से त्रस्त हो गये। योगेश्वर ने अपनी शक्ति से मोहित कर उन सब को किंकर्त्तव्य-विमूढ़ बना दिया। योगेश्वर ने हाथ में एक मोटी लाठी ली और भौंहें चढ़ाकर बोला—'अरे पापी! लुच्चे! दुरात्मा! हमारे स्वामी तपन चक्रवर्ती के पास नहीं आता और उनके पैरों में नहीं पड़ता तो ले मजा चख।' ऐसा कहकर मुझे लाठी से मारने लगा जिससे मैं भयभीत हो गया, मैं दीन-हीन बनकर उसके पैरों में गिर पड़ा। दुर्भाग्य से उसी समय मेरा मित्र पुण्योदय भी मुझे छोड़कर चला गया और मृषावाद तथा शैलराज भी कहीं छुप गये।

रिपुदारण का नाटक

इस प्रकार मैं परिवार और मित्रों से रहित हो गया। उसी समय योगेश्वर ने अपने साथ वाले पुरुषों को कुछ इशारा किया। क्षण भर में मेरे पूरे शरीर में उन्माद छा गया, तीव्रतर ताप होने लगा और अन्दर-बाहर से मेरा शरीर जलने लगा। उन्होंने मुझे जन्मजात नग्न (वस्त्ररहित) कर दिया, मेरे शरीर के पाँचों स्थानों के बाल नोच-नोच कर उखाड़ दिये, मेरा मुण्डन कर दिया, मेरे सारे शरीर पर राख पोत दी और पूरे शरीर पर उड़द चिपका दिये। मेरा ऐसा बीभत्स रूप बना कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योगेश्वर के साथ वाले पुरुष तालियाँ पीट-पीट कर नाचने-कूदने लगे। फिर मुझ से नाटक करवाते हुए वे तीन ताल का रास करने लगे। वे गाने लगे :—

यो हि गर्वमविवेकभरेण करिष्यते,
बाधकं च जगतामनृतं च वदिष्यते।
नूनमत्र भव एव स तीव्रविडम्बनां,
प्राप्नुयात निजपापभरेण भृशं जनः ॥ [४३८ ध्रुवक]

जो प्राणी अविवेक की बहुलता के कारण गर्व करते हैं और विश्व को बाधा पहुँचाने वाला असत्य बोलते हैं वे वस्तुतः इस भव में ही अपने पाप के बोझ से तीव्र विडम्बनाओं को और विविध दुःखों को प्राप्त करते हैं। *

इस पद को वे मुहुर्मुहु उल्लास से गाने लगे। कुण्डल (घेरा) बनाकर, मुझे मध्य में लेकर, वृत्ताकार घूमते हुए ललकार ललकार कर जोर-जोर से गाते हुए नाचने लगे। नाच चलते हुए मैं प्रत्येक के पैरों में पड़ने लगा और लोग मेरी हँसी उड़ाने लगे। इस प्रकार मैं भी उनके साथ-साथ नाचता रहा। नाचते-नाचते जब वे उच्च समवेत स्वर में गाते तब मुझे भी उल्लसित होकर जोर से गाने और नाचने का दिखावा करना पड़ता' साथ में ताल भी देता जाता। उन्होंने गायन का दूसरा पद प्रारम्भ किया—

पश्यतेह भव एव जनाः कुतूहलं,
शैलराजवरमित्रविलासकृतं फलम्।
यः पुरैष गुरुदेवगणानपि नो नतः,
सोऽद्य दासचरणेषु नतो रिपुदारणः ॥४३९॥
यो हि गर्वमविवेकभरेण करिष्यते, इत्यादि

अरे लोगों! आप इस आश्चर्योत्पादक कौतूहल को देखें! शैलराज महामित्र के साथ विलास करने का फल तो देखें! यह जो रिपुदारण पहले अपने गुरुजनों और देवताओं को भी नमस्कार नहीं करता था (अपनी हेठी समझता था) वही आज सेवकों के पैरों में गिर-गिर कर नमस्कार कर रहा है, जरा आश्चर्य तो देखो!

उस समय स्वतः मेरे मुख से भी निम्न पद निकल गया—

शैलराजवशवर्तितया निखिले जने,
हिण्डितोऽहमनृतेन वृथा किल पण्डितः।
मारिता च जननी हि तथा नरसुन्दरी,
तेन पापचरितस्य ममात्र विडम्बनम् ॥४४०॥
यो हि गर्वमविवेकभरेण करिष्यते। इत्यादि

* पृष्ठ ४६७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस जगत में शैलराज (अभिमान) के वश में होकर मैं भटकता रहा और मृषावाद के वश में होकर स्वयं को विद्वान् मानकर घूमता रहा। इन दोनों के वशीभूत होकर मैंने अपनी माँ को मारा और पत्नी को आत्महत्या करने दी। इसी पाप-कृत्य के फलस्वरूप ही मुझे विडम्बनायें प्राप्त हो रही हैं।

[मेरे हृदय के उपर्युक्त उद्‌गार चालू राग में निकल गये। इससे नाचने वाले और अधिक ललकार-ललकार कर गाने लगे, मानो वे मेरे हृदय में यह बात ठूंस रहे हों कि जो व्यक्ति अभिमान करता है और असत्य-भाषण करता है वह अपने भयंकर पापों का फल इसी तरह भोगता है।]

योगेश्वर मेरी पहले की आत्मकथा अच्छी तरह जानता था, इसलिये उसने नाचने वालों से कहा कि, अरे रास करने वालों! तुम इस प्रकार गाओ और नाचो—

योऽत्र जन्ममतिदायिगुरूनवमन्यते,
सोऽत्र दासचरणाग्रतलैरपि हन्यते।
यस्त्वलीकवचनेन जनानुपतापयेत्,
तस्य तपननृप इत्युचितानि विधापयेत् ॥ ४४१ ॥
यो हि गर्वमविवेकभरेण करिष्यते— इत्यादि।

जो व्यक्ति जन्म देने वाली माँ और बुद्धि देने वाले गुरु का अपमान करता है वह यहीं दास लोगों के पांवों तले रौंदा जाता है और अपमानित होता है। जो झूठ बोलकर लोगों को दुःखी करता है उसे तपन चक्रवर्ती इसी प्रकार योग्य दण्ड देते हैं।

इस प्रकार गाते-गाते और नाचते-नाचते वे पैरों से और मुट्ठियों से मुझे निर्दयता पूर्वक मारने लगे। अर्थात् मेरे शरीर पर प्रहार पर प्रहार करते हुए जोर-जोर से ताल देने लगे, मानो वे मेरा कचूमर निकाल देना चाहते हों। ताल के साथ-साथ उन सब के पैर एक ही साथ मेरे शरीर पर इतनी जोर से पड़ते थे मानो भारी सघन लोह के गोले से मुझे मारा जा रहा हो। इतनी जोर की मार से मेरा शरीर दब रहा था। उस समय मेरी चेतना अवरुद्ध हो गई, मैं घबरा गया और आकुल-व्याकुल हो गया।

योगेश्वर के साथ आये राजपुरुष चक्राकार घेरा डालकर मेरे चारों तरफ परमाधामी देवों की तरह मुझ पर कड़ा पहरा लगाये घूम रहे थे और मुझे घेरे से बाहर नहीं निकलने देते थे। एक दूसरे से रास खेलते, ध्रुवपद और दूसरे पद जोर-जोर से गाते, त्रिताल देते और ताल आने पर मेरे शरीर पर पैरों से ताल ठोंकते। इस प्रकार वे नाचते-नाचते मुझे पूरे नगर में घुमाते हुए जहाँ तपन चक्रवर्ती थे वहाँ लेकर आये। वहाँ आने पर उनमें और अधिक उत्साह आया और जोर-जोर से झूक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

झुक कर मेरे शरीर पर ताल ठोंकने लगे और चक्रवर्ती को अधिक प्रहसन (नाटक) दिखाने लगे तथा जोर-जोर से हँसने लगे। मेरे नगर के अनेक लोग यह नाच देखने इकट्ठे हुए थे, वे तो स्पष्ट कहते थे कि मेरे जैसा दुरात्मा इसी प्रकार के अपमान, मार और तिरस्कार के योग्य ही है। अनन्तर योगेश्वर रास मण्डल (गाने वालों) के घेरे के बीच आया और सभी को सुनाते हुए निम्न पद बोलने लगा :—

नो नतोऽसि पितृदेवगणा न च मातरं,
किं हतोऽसि ! रिपुदारण ! पश्यसि कातरम् ।
नृत्य नृत्य विहिताहति देव पुरोऽधुना,
निपत निपत चरणेषु च सर्वमहीभुजाम् ।। ४४२ ।।
यो हि गर्वमविवेकभरेण करिष्यते इत्यादि

हे रिपुदारण ! तू ने कभी भी माता-पिता या देवता को झुककर नमस्कार नहीं किया, क्या तू मर गया है ? क्या तू कायर बन गया है ? नाचो ! रिपुदारण, नाचो !! हमारे देव तपन के चरणों में गिर-गिर कर और सभी राजाओं के चरणों में गिर-गिर कर बार-बार नाचो।

[योगेश्वर उपर्युक्त कविता बोल रहा था और उसके साथी उसकी प्रथम पंक्ति (टेर) बार-बार बोलने लगे और ताल आने पर मुझे पैरों की खड़ाउओं से जोर-जोर से मारने लगे।]

रिपुदारण का तिरस्कार : मरण

तपन चक्रवर्ती के समक्ष योगेश्वर इस प्रकार मुझे नचा रहा था और मेरा तिरस्कार कर रहा था। उस समय मुझ में मूढ़ता और उन्माद बढ़ता गया और मुझे मेरा जीवन खतरे में लगने लगा। फलस्वरूप मैंने दीनता पूर्वक अनेक नाच किये। अन्त में भंगियों और चमारों के पैरों में भी पड़ा एवं अत्यन्त सत्वहीन नपुंसक जैसा बन गया। ❀

उस समय तपन चक्रवर्ती ने मेरे ही छोटे भाई कुलभूषण को सिद्धार्थपुर राज्य की गद्दी पर अभिषिक्त किया। हे अगृहीतसंकेता ! मुझे मुक्कों और लातों से इतना मारा गया था कि मेरा शरीर चूर-चूर होकर नष्ट प्रायः की अवस्था को प्राप्त हो गया। फलतः मेरे पेट में से खून निकलने लगा और मैं अत्यन्त दुःखी एवं सन्तप्त हो गया। भवितव्यता द्वारा दी गई रिपुदारण के जन्म में चलने वाली एकभववेद्या गोली अब समाप्त हो चुकी थी, अतः उसने अब मुझे दूसरी गोली दी।

नरक-यातना : संसार-परिभ्रमण

इस गोली के प्रभाव से मैं पापिष्ठ निवास (नरक) नगरी के महातमःप्रभा नामक सातवें उपनगर में उत्पन्न हुआ। मैंने वहाँ रहने वाले पापिष्ठ कुलपुत्र का रूप

❀ पृष्ठ ४६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धारण किया। वहाँ मैं तेतीस सागरोपम तक रहा और अनेक प्रकार के महा भयंकर दुःख भोगता रहा। वहाँ गेंद की तरह मैं इधर-उधर ऊपर-नीचे फेंका जाता और वज्र के कांटे मेरे आगे-पीछे, ऊपर-नीचे भौंके जाते। इस सातवें उप-नगर में अनेक भयंकर पीड़ायें दी जाती हैं। बहुत लम्बे समय तक मैं अत्यन्त भयंकर दुःख-सागर में में डूबा रहा। जब मेरा यह समय पूर्ण हुआ तो भवितव्यता ने मुझे एक और गोली दी जिससे मैं पंचाक्षपशु-संस्थान नगर (तिर्यञ्च) में उत्पन्न हुआ। मेरी पत्नी भवितव्यता ने वहाँ मुझे सियार बनाया। हे भद्रे अगृहीतसंकेता! भवितव्यता को ऐसे खेल-खेलने का बहुत शौक था, अतः वह मुझे बहुत भटकाती रही। कभी पापिष्ठ निवास नगर के सात उपनगरों में से किसी एक में, तो कभी पंचाक्षपशु संस्थान नगर में, तो कभी विकलाक्ष निवास में, कभी एकाक्ष निवास में और फिर मनुष्यगति नगर में ले जाती। अधिक क्या कहूँ! केवल एक असंव्यवहार नगर को छोड़कर शेष समस्त नगरों में मुझे अनेक बार धक्के खिलाये और अनेक पीड़ाओं का अनुभव कराया गया। कर्मपरिणाम महाराजा द्वारा दी गई एक भव में भोगने योग्य गोली के समाप्त होते ही वह मुझे दूसरी गोली दे देती। इस प्रकार उसने मुझे अरहट्ट-घटिका यन्त्र की तरह अनेक योनियों में घुमाया और भटकाया। इस प्रकार समस्त स्थानों पर मुझे अनन्त बार घुमाया गया।

इस प्रकार मुझे उन समस्त स्थानों में भी भटकना पड़ा जहाँ मेरी जाति और कुल भी अत्यन्त अधम और निन्दनीय होते थे। मेरा बल अत्यन्त निस्तेज और मेरा रूप घृणा उत्पन्न करने वाला होता था। मेरी तपस्या भी निन्दनीय होती थी। जन्म से ही मैं अत्यन्त मूर्ख, भिखारी और दरिद्रता का घर होता था। मांगने से भी मुझे भीख नहीं मिलती थी। इस सन्ताप से मेरा भीख मांगने का धन्धा भी निरन्तर अत्यन्त भयानक और कष्टदायक हो जाता था। सभी प्राणी मुझे अपना शत्रु मानते थे और मेरे से दूर भागना ही श्रेयस्कर समझते थे।

भवितव्यता ने भिन्न-भिन्न गोलियाँ देकर, मेरे भिन्न-भिन्न समयों में ऐसे अनेक रूप बनाये कि कई बार मेरी जीभ खींचकर निकाल ली जाती कई बार पिघलाया हुआ तांबा पिलाया जाता, कई बार गूंगा और बहरा बनाया जाता और अनेक बार तो मेरी जीभ ही काट ली जाती।

प्रज्ञाविशाला का चिन्तन

संसारी जीव जब इस प्रकार अपनी आत्मकथा सुना रहा था तब प्रज्ञाविशाला सोच रही थी कि देखो, अहो! झूठ और घमण्ड (मृषावाद और शैलराज) के कितने भयंकर परिणाम हैं। इनके वश में पड़कर संसारी जीव ने मिला हुआ दुर्लभ मनुष्य जन्म व्यर्थ गंवा दिया, इसी जन्म में अनेक प्रकार के कष्ट और तिरस्कार सहे और अनन्त संसार-सागर में डूबा। वहाँ विविध प्रकार के दुःखों का साक्षात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुभव किया और अत्यन्त अधम जाति, कुल आदि में उत्पन्न हुआ। सचमुच ही इसको शैलराज और मृषावाद की मित्रता बहुत ही महंगी पड़ी।

संसारी जीव ने पुनः कहा—हे अगृहीतसंकेता ! फिर भवितव्यता मुझे भवचक्रपुर के मनुष्यगति नामक नगर में ले गई। वहाँ मुझे मध्यम प्रकार के गुण प्राप्त हुए, जिससे भवितव्यता मुझ पर प्रसन्न हुई * और मुझ पर संतुष्ट होकर मेरे मित्र पुण्योदय को फिर से मेरे साथ रहने के लिये जागृत किया। उसने मुझे कहा—'आर्यपुत्र ! अब आप मनुष्यगति नगर के वर्धमानपुर में पधारें और वहाँ सुखपूर्वक रहें। यह अनुचर पुण्योदय वहाँ आपके साथ आयेगा और आपकी सेवा करेगा।' पत्नी भवितव्यता के वश में होने से मैंने उसकी आज्ञा को शिरोधार्य किया। मेरी एकभववेद्या (उस भव में भोगने योग्य) गोली के समाप्त होते ही भवितव्यता ने मुझे वर्धमानपुर में भोगने योग्य अन्य गोली प्रदान की।

* पृष्ठ ४६९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपसंहार

भवगहनमनन्तं पर्यटद्भिः कथञ्चि-
न्नरभवमतिरम्यं प्राप्य भो भो मनुष्याः !
निरुपमसुखहेतावादरः संविधेयो,
न पुनरिह भवद्भिर्मानजिह्वानृतेषु ।। ४४३ ।।

इस संसाररूपी अति महान गहन वन में भटकते-भटकते महान कठिनाई से किसी समय यह रमणीय मनुष्य भव प्राप्त होता है, अतः हे मनुष्यों ! ऐसे प्रसंग पर जिस सुख की उपमा अन्य किसी सुख से नहीं की जा सकती, ऐसे निरुपम (मोक्ष) सुख को प्राप्त करने के लिये आदरपूर्वक सम्यक् प्रकार से प्रयत्न करें। विशेषरूप से ऐसे सुन्दर भव को अभिमान करने, असत्य बोलने एवं जिह्वा का रस भोगने में तो कभी भी नष्ट नहीं करें। [४४३]

इतरथा बहुदःखशतैर्हता, मनुजभूमिषु लब्धविडम्बनाः ।
मदरसानृतगृद्धिपरायणा, ननु भविष्यथ दुर्गतिगामुकाः ।। ४४४ ।।

इसके विपरीत जो मनुष्य भव को प्राप्त कर अभिमानी, रस-लोलुप और असत्य-भाषण में आसक्ति-परायण बनेंगे तो वे इसी मनुष्य-भूमि में अनेक प्रकार के दुःख भोगेंगे, विविध प्रकार की विडम्बनायें प्राप्त करेंगे और अन्त में निश्चित रूप से दुर्गति में जायेंगे। [४४४]

एतन्निवेदितमिह प्रकटं मया भो,
मध्यस्थभावमवलम्ब्य विशुद्धचिताः ।
मानानृते रसनया सह संविहाय,
तस्माज्जिनेन्द्रमतलम्पटतां कुरुध्वम् ।। ४४५ ।।

हे प्राणियों! इस प्रकार मैंने (सिद्धर्षि गणि ने) मध्यस्थ भावों का अवलम्बन लेकर मान, रसना और असत्य के चरित्र का वर्णन किया। अब आप भी मध्यस्थ भाव का अवलम्बन लेकर (धारण कर), विशुद्ध अन्तःकरण वाले बन कर रसना, मान और असत्य का त्याग कर जैनेन्द्र-मत के प्रति उत्कट प्रेम धारण करें।

उपमिति-भव-प्रपंच कथा का मान, मृषावाद
और रसनेन्द्रिय के विपाक वर्णन का
चतुर्थ प्रस्ताव का अनुवाद
समाप्त हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत-भारती पुष्प–३२

कोविदशेखर श्री सिद्धर्षि गणि रचित

उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा

द्वितीय खण्ड

[प्रस्ताव ५ से ८ का हिन्दी अनुवाद]

आशीर्वचन

आचार्य श्री हस्तिमलजी म० आचार्य श्री पद्मसागरसूरिजी म०

भूमिका

श्री देवेन्द्रमुनि 'शास्त्री'

सम्पादक, संशोधक, अनुवादक

महोपाध्याय विनयसागर

अनुवादक

लालचन्द्र जैन

प्रकाशक

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

सेठ मोतीशा रिलीजियस एण्ड चेरिटेबल ट्रस्ट, भायखला-बम्बई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

☐ **उपमिति-भव-प्रपंच कथा द्वितीय खण्ड**

☐ सम्पादक : **महोपाध्याय विनयसागर**

☐ प्रकाशक : **देवेन्द्रराज मेहता**
सचिव, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

सज्जन नाथ मोदी, सुमेरसिंह बोथरा
मन्त्री, संयुक्तमन्त्री, सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

एस० एम० बाफना
मैनेजिंग ट्रस्टी, सेठ मोतीशा रिलीजियस एण्ड चेरिटेबल ट्रस्ट,
भायखला–बम्बई

☐ प्रकाशन : वर्ष १९८५

☐ @ राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

☐ मूल्य : ६०.०० साठ रुपया : दोनों खण्डों का १५०.०० एक सौ पचास रुपया

☐ मुद्रक : **पॉपुलर प्रिन्टर्स,**
जयपुर–२

☐ प्राप्ति स्थान :

१. **राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान,**
३८२६, यति श्यामलालजी का उपाश्रय,
मोतीसिंह भोमियों का रास्ता,
जयपुर (राज०)–३०२ ००३

२. **सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल,**
बापू बाजार, जयपुर (राज०)–३०२ ००३

३. **सेठ मोतीशा रिलीजियस एण्ड चेरिटेबल ट्रस्ट,**
१८०, सेठ मोतीशा लेन,
भायखला–बम्बई–४०००२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

प्राकृत भारती पुष्प ३१-३२ के रूप में **उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा** के **प्रथम हिन्दी अनुवाद** को राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, और सेठ मोतीशाह रिलीजियन्स एण्ड चेरीटेबल ट्रस्ट, भायखला-बम्बई द्वारा संयुक्त प्रकाशन के रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें हार्दिक हर्ष है।

ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उद्भट विद्वान् श्री सिद्धर्षि गणि द्वारा लिखित संस्कृत भाषा का यह ग्रन्थ १०वीं शताब्दी का है। रूपक के रूप में इतना बड़ा ग्रन्थ सम्भवतः पूर्व में या पश्चात् काल में नहीं लिखा गया। इसकी रचना शैली भी वैशिष्ट्यपूर्ण है। धर्म जो सीमित दायरे से विस्तृत मानव-धर्म के स्तर का है, उसके विभिन्न पहलुओं को रूपक/उपमाओं के माध्यम से मनोवैज्ञानिक एवं रुचिकर रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो मूल लेखक के बहु आयामी व्यक्तित्व एवं अनुभवों के कारण ही सम्भव हुआ है।

सिद्धर्षि गणि प्रारम्भ में गृहस्थ थे। उनका प्रारम्भिक जीवन अत्यधिक विषयासक्ति का था। माता और पत्नी का उलाहना सुनकर, आक्रोश में उन्होंने घर छोड़ दिया। अपने समय के प्रमुख विद्वान् जैन श्रमण दुर्गस्वामी के प्रतिबोध से जैन श्रमण बने और धर्म तथा दर्शन का व्यापक एवं तुलनात्मक अध्ययन किया। बाद में बुद्धधर्म की ओर आकर्षित हुए तथा बुद्ध श्रमण भी बन गये। पर, अपने मूल गुरु को दिये गये वचन के अनुसार वापस उनके पास आये और पुनः प्रतिबोध प्राप्त कर जैन श्रमण बने।

इस प्रकार जीवन के विभिन्न पक्षों को सघन रूप से जीने और त्यागने वाले सिद्धर्षि गणि जैसे संवेदनशील विद्वान् व्यक्ति ही ऐसे अद्भुत ग्रन्थ की रचना कर सकते थे। भारतीय दर्शन एवं जैन साहित्य के प्रमुख/मर्मज्ञ विद्वान् **डॉ० हर्मन जैकोबी** (जर्मन) को इस ग्रन्थ ने इतना अधिक प्रभावित किया कि उन्होंने इस ग्रन्थ को भारतीय संस्कृत साहित्य का एक मौलिक एवं अद्वितीय ग्रन्थ बताया तथा मूल ग्रन्थ को सम्पादित कर प्रकाशित करवाया। बाद में जर्मन भाषा में इसका अनुवाद भी हुआ। ६० वर्ष पूर्व **श्री मोतीचन्द गिरधरलाल कापड़िया** द्वारा अनुदित गुजराती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। हिन्दी के प्रमुख विद्वान् **श्री नाथूराम प्रेमी** ने भी केवल प्रथम प्रस्ताव का हिन्दी में अनुवाद कर प्रकाशित किया। यह काम उनके देहावसान के कारण आगे नहीं बढ़ पाया।

पुस्तक के २ से ८ प्रस्तावों का अनुवाद **श्री लालचन्द जी जैन** ने किया तथा हमारे अनुरोध को स्वीकार कर जैन साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् **महोपाध्याय श्री विनयसागर जी** ने प्रथम प्रस्ताव का अनुवाद, समग्र अनुवाद का मूलानुसारी अविकल संशोधन तथा सम्पादन का वृहत्भार भी वहन कर इस कार्य को सफलता के साथ सम्पन्न किया। प्रूफ संशोधन में **श्री ओंकारलाल जी मेनारिया** ने पूर्ण सहयोग दिया। एतदर्थ तीनों संस्थायें तीनों विद्वानों की आभारी हैं।

पुस्तक का मुद्रण कार्य पॉपुलर प्रिण्टर्स, जयपुर द्वारा किया गया, जिसके लिये भी तीनों संस्थायें संचालकों की आभारी हैं।

आशीर्वचन प्रदान कर आचार्यप्रवर श्री **हस्तिमलजी** महाराज एवं आचार्यप्रवर श्री **पद्मसागरसूरिजी** महाराज ने तथा सिद्धहस्त लेखक मुनिपुंगव **श्री देवेन्द्रमुनिजी** महाराज 'शास्त्री' ने विस्तृत भूमिका लिखकर हमें कृतार्थ किया है।

परम श्रद्धेय आचार्य श्री हस्तिमल जी महाराज के तो हम अत्यन्त ऋणी हैं कि जिनकी सतत् प्रेरणा से ही इसका हिन्दी अनुवाद सम्भव हो सका।

यदि विषय-प्रतिपादन, सैद्धान्तिक ऊहापोह आदि में कहीं मान्यता अथवा परम्परा भेद आता हो तो उससे प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

हिन्दी भाषा-भाषी अतिविशाल समाज के कर-कमलों में इस ग्रन्थ का सर्वाङ्ग पूर्ण हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है। आशा है, पाठकगण इसके अध्ययन से आनन्द और ज्ञान दोनों प्राप्त करेंगे।

एस. एम. बाफना	**देवेन्द्रराज मेहता**	**सज्जननाथ मोदी**
मैनेजिंग ट्रस्ट्री	सचिव	**सुमेरसिंह बोथरा**
		मन्त्री, संयुक्तमन्त्री
सेठ मोतीशा	राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान,	सम्यग् ज्ञान
रिलीजियस एण्ड	जयपुर	प्रचारक मण्डल,
चेरिटेबल ट्रस्ट		जयपुर
भायखला–बम्बई		

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयानुक्रम

५. पञ्चम प्रस्ताव		**१–११४**
	पात्र एवं स्थान सूची	२–४
१.	माया और स्तेय से परिचय	५–९
२.	नर-नारी शरीर-लक्षण	१०–१८
३.	आकाश-युद्ध	१९–२१
४.	रत्नचूड की आत्मकथा	२२–२६
५.	विमल, रत्नचूड और आम्रमंजरी	२६–२८
६.	विमल का उत्थान : देवदर्शन	२९–३२
७.	विमल का उत्थान : गुरु-तत्त्व-परिचय	३२–४०
८.	दुर्जनता और सज्जनता	४०–४६
९.	विमल-कृत भगवत्स्तुति	४७–५०
१०.	मित्र-मिलन : सूरि-संकेत	५१–५४
११.	प्रतिबोध-योजना	५४–५९
१२.	उग्र दिव्य-दर्शन	६०–६३
१३.	बुधसूरि : स्वरूप-दर्शन	६३–७२
१४.	पारमार्थिक आनन्द	७२–७४
१५.	बठरगुरु कथा	७४–७७
१६.	कथा का उपनय एवं कथा का शेष भाग	७८–८३
१७.	बुधाचार्य-चरित्र	८४–८६
१८.	घ्राण-परिचय : भुजंगता के खेल	८६–९०
१९.	मोहराज और चारित्रधर्मराज का युद्ध	९०–१०३
२०.	विमल की दीक्षा	१०३–१०४
२१.	वामदेव का पलायन	१०५–१०७
२२.	वामदेव का अन्त एवं भव-भ्रमण	१०७–११३
	उपसंहार	११४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. षष्ठ प्रस्ताव ११५–२०९

पात्र-परिचय ११६–११८

१. धनशेखर और सागर की मैत्री ११९–१२३
२. धन की खोज में १२४–१३१
३. हरिकुमार की विनोद-गोष्ठी १३२–१४४
४. हरिकुमार की काम-व्याकुलता : आयुर्वेद १४४–१४९
५. निमित्तशास्त्र : हरिकुमार-मयूरमंजरी सम्बन्ध १४९–१५५
६. मैथुन और यौवन के साथ मैत्री १५५–१५९
७. समुद्र से राज्य-सिंहासन १६०–१६६
८. धनशेखर की निष्फलता १६६–१७०
९. उत्तमसूरि १७१–१७४
१०. सुख-दुःख का कारण : अन्तरंग राज्य १७४–१७९
११. निकृष्ट राज्य १८०–१८४
१२. अधम राज्य : योगिनी दृष्टिदेवी १८५–१८८
१३. विमध्यम राज्य १८९–१९०
१४. मध्यम राज्य १९०–१९२
१५. उत्तम राज्य १९२–१९९
१६. वरिष्ठ राज्य १९९–२०३
१७. हरि राजा और धनशेखर २०३–२०८
उपसंहार २०९

७. सप्तम प्रस्ताव २१०–३१०

पात्र-स्थानादि परिचय २११–२१३

१. धनवाहन और अकलंक २१४–२१९
२. लोकोदर में आग २१९–२२२
३. मदिरालय २२३–२३०
४. अरहट यन्त्र २३१–२३२
५. भव मठ २३३–२३८
६. चार व्यापारियों की कथा २३८–२४६
७. रत्नद्वीप कथा का गूढार्थ २४६–२५७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. संसार-बाजार (प्रथम चक्र) २५७–२६४
९. संसार-बाजार (द्वितीय चक्र) २६४–२६९
१०. सदागम का सान्निध्य : अकलंक की दीक्षा २६९–२७४
११. महामोह और परिग्रह २७५–२७८
१२. श्रुति, कोविद और बालिश २७८–२८३
१३. शोक और द्रव्याचार २८३–२८७
१४. सागर, बहुलिका और कृपणता २८७–२९०
१५. महामोह का प्रबल आक्रमण २९१–२९६
१६. अनन्त भव-भ्रमण २९६–२९९
१७. प्रगति के मार्ग पर ३००–३०८
उपसंहार ३०९

८. अष्टम प्रस्ताव ३११–४३६

पात्र-परिचय ३१२–३१६

१. गुणधारण और कुलन्धर ३१७–३२०
२. मदनमंजरी ३२०–३२९
३. गुणधारण-मदनमंजरी-विवाह ३२९–३३५
४. कन्दमुनि : राज्य एवं गृहिधर्म-प्राप्ति ३३५–३४१
५. निर्मलाचार्य : स्वप्न-विचार ३४१–३४५
६. कार्य-कारण-शृंखला ३४६–३५१
७. दस कन्याओं से परिणय ३५२–३५८
८. विद्या से लग्न : अन्तरंग युद्ध ३५९–३६२
९. नौ कन्याओं से विवाह : उत्थान ३६३–३६९
१०. गौरव से पुनः अधःपतन ३७०–३७४
११. पुनः भवभ्रमण ३७४–३७७
१२. अनुसुन्दर चक्रवर्ती ३७७–३७९
१३. महाभद्रा और सुललिता ३८०–३८१
१४. पुण्डरीक और समन्तभद्र ३८२–३८५
१५. चक्रवर्ती चोर के रूप में ३८५–३९३
१६. प्रमुख पात्रों की सम्पूर्ण प्रगति ३९३–४०९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[१] अनुसुन्दर चक्रवर्ती का उत्थान ३९३
[२] सुललिता को प्रतिबोध ३९५
[३] पुण्डरीक को बोध ३९८
[४] सात दीक्षायें ४०३

१७. द्वादशाङ्गी का सार ४०९–४१३
१८. ऊंट वैद्य कथा ४१३–४२०
१९. जैनदर्शन की व्यापकता ४२०–४२५
२०. मोक्षगमन ४२६–४३१
२१. उपसंहार ४३१–४३६
ग्रंथकर्त्ता-प्रशस्ति ४३७–४४०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपमिति-भव-प्रपंच कथा

५. पञ्चम प्रस्ताव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्ताव ५.

पात्र-परिचय

स्थल	मुख्य पात्र	परिचय	सामान्य पात्र	परिचय
वर्धमान नगर (बहिरंग)	धवल	वर्धमान नगर का राजा		
	कमल सुन्दरी	राजा धवल की रानी		
	विमल	राजा धवल का पुत्र		
	सोमदेव	सेठ, वामदेव का पिता		
	कनकसुन्दरी	सैठ सोमदेव की पत्नी, वामदेव की माता		
	वामदेव	संसारी जीव, कथानायक, सोम-देव-कनकसुन्दरी का पुत्र		
	स्तैय	वामदेव का मित्र (अन्तरंग)		
	बहुलिका	वामदेव की सखी (अन्तरंग)		
(क्रीड़ानन्द भवन)	रत्नचूड	विद्याधर, विमल का मित्र, मेघनाद-रत्नशिखा का पुत्र, मणिप्रभ का दौहित्र	वैताढ्य पर्वत मणिप्रभ	गगन शेखर नगर गगन शेखर नगर का राजा, विद्याधर
	अचल	विद्याधर, रत्नचूड का प्रतिद्वन्दी, मणिशिखा-अमितप्रभ का पुत्र	कनकशिखा रत्नशेखर	विद्याधर मणि-प्रभ की रानी विद्याधर मणि-प्रभ का पुत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	चपल	अचल का भाई, रत्नचूड का विरोधी	**रत्नशिखा**	मणिप्रभ की पुत्री, मेघनाद की पत्नी,
	चूतमंजरी	विद्याधर रत्नचूड की पत्नी, मणिप्रभ की पौत्री, रत्नशेखर की पुत्री	**मणिशिखा**	मणिप्रभ की पुत्री, अमितप्रभ की पत्नी

वंशवृक्ष

मणिप्रभ-कनकशिखा

रत्नशेखर (रतिकान्ता)	रत्नशिखा (मेघनाद)	मणिशिखा (अमितप्रभ)
चूतमंजरी पुत्री	रत्नचूड	अचल, चपल

	चन्दन	सिद्धि-पुत्र, रत्नशेखर का मित्र	**मुखर**	जासूस, रत्नचूड का चर
	बुधाचार्य	परोपकारी आचार्य		

बठर गुरु कथा

भव ग्राम स्वरूप (शिव मन्दिर)	**सारगुरु** **बठरगुरु**	शैवाचार्य तस्करों द्वारा आरोपित शैवाचार्य सारगुरु का नाम	चोर आदि **महेश्वर**	शिव भक्त

बुध चरित्र के पात्र

धरातल नगर (अन्तरंग)	**शुभविपाक**	धरातल नगर का राजा, बुधाचार्य का पिता
	निजसाधुता	राजा शुभविपाक की रानी, बुधाचार्य की माता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	बुध कुमार	शुभविपाक-निज-साधुता का पुत्र, बुधाचार्य की पूर्व स्थिति		
	अशुभविपाक	राजा शुभविपाक का छोटा भाई		
	परिणति	अशुभविपाक की रानी		
	मन्द कुमार	अशुभविपाक-परिणति का पुत्र		
	धिषणा	विमलमानस नगर के शुभाभिप्राय राजा की पुत्री, बुध की पत्नी		
	विचार कुमार	बुध और धिषणा का पुत्र	**मोहराज सैन्य**	दुष्टाभिसन्धि आदि
	घ्राण	नासिका प्रदेश में स्थित, मन्द का मित्र	**चारित्र-धर्मराज-सैन्य**	सद्बोध मंत्री, सम्यग्दर्शन सेनापति आदि
	भुजंगता	घ्राण की परिचारिका		
	मार्गानुसारिता	विचार की मौसी	**लीलावती**	देवराज की पत्नी, मंदकुमार की बहिन
	सत्य	चारित्रधर्मराज का दूत		
	संयम	चारित्रधर्मराज का राज्यपाल, मोहराज द्वारा कदर्थित	**कमल**	धवलराज का पुत्र
विशदमानस नगर (अन्तरंग)	**शुभाभिसन्धि**	विशदमानस नगर का राजा		
	शुद्धता	शुभाभिसन्धि की रानी		
	पापभीरुता	शुभाभिसन्धि की रानी		
	ऋजुता	रानी शुद्धता की पुत्री, बहुलिका की शत्रु		
	अचौरता	रानी पापभीरुता की पुत्री, स्तेय की शत्रु		कांचनपुर
	सरल सेठ	भद्र प्रकृति का सेठ	**बन्धुल**	सरल सेठ का मित्र
	बन्धुमती	सरल सेठ की पत्नी		

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. माया और स्तेय से परिचय

[संसारी जीव अपनी कथा आगे बढ़ाते हुए सदागम को कह रहा है, भव्यपुरुष सुन रहा है तथा प्रज्ञाविशाला और अगृहीतसंकेता पास ही बैठी हैं। आत्मकथा क्रमशः प्रगति कर रही है :—]*

विमल कुमार

बाह्य प्रदेश में संसार प्रसिद्ध समस्त सौन्दर्यों का मन्दिर स्वरूप वर्धमान नामक एक नगर था। इस नगर के पुरुष पूर्वाभाषी (आतिथ्य सत्कार करने वाले), पवित्र, प्राज्ञ, उदार, जाति-वत्सल और जैन-धर्मपरायण थे। इस नगर की स्त्रियाँ भी अत्यन्त विनयी, शुद्ध शीलगुण विभूषित, सुन्दर अवयवों वाली, योग्य लज्जा मर्यादा वाली और धार्मिक वृत्ति वाली थीं। [१–३]

उस नगर का राजा धवल था। वह अभिमानोद्धत शत्रु रूपी हाथियों के कुम्भ-स्थल का भेदन करने वाला, निष्कपट तथा सत्पराक्रम सम्पन्न था। वह अपने बन्धु-वर्ग के लिये कुमुद-विकासी चन्द्र जैसा शीतल था और शत्रुओं के लिये तम-विनाशी सूर्य जैसा प्रखर एवं प्रचण्ड रूपधारक था। इस धवल राजा की समस्त रानियों में ध्वजा के समान श्रेष्ठ सौन्दर्य और शील गुण सम्पन्न कमल-सुन्दरी नामक पटरानी थी। उस पटरानी के गर्भ से सद्गुणों का मन्दिर विमल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस विमल की यह विशेषता थी कि जब यह छोटा था तब भी बालकों जैसी व्यर्थ चेष्टायें नहीं करता था परन्तु पूर्ण विकसित मनुष्य की तरह बड़प्पन एवं बुद्धिमत्ता के अनेक लक्षण प्रकट करता था। [४–८]

वामदेव का जन्म

इसी वर्धमान नगर में सोमदेव नामक अतिधनवान सेठ रहता था। वह गुणों का आश्रय स्थान सर्वजनमान्य एवं ख्यातिप्राप्त था। वह धन में कुबेर, रूप में कामदेव और बुद्धि में बृहस्पति को भी मात दे सके, ऐसा था। वह अत्यन्त धैर्यवान था और उसमें किसी प्रकार का घमण्ड नहीं था। सोमदेव के अनुरूप ही गुणवती

---

* पृष्ठ ४६६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कनकसुन्दरी नामक उसकी पत्नी थी, जो शीलगुण सम्पन्न, लावण्यामृत से पूर्ण और अपने पति के प्रति अटूट भक्ति वाली थी। [९-११]

हे अगृहीतसंकेता ! मेरी स्त्री भवितव्यता ने मुझे जो गोली दी थी उसके प्रभाव से मैं अपने अन्तरंग मित्र पुण्योदय के साथ कनकसुन्दरी की कुक्षि में पहुँच गया। गर्भकाल पूर्ण होने पर जैसे रंगमंच पर नट प्रकट होता है वैसे ही मैं योनि से बाहर आया। मेरी माता यह जानकर अतीव प्रसन्न हुई कि उसने एक निष्पाप पवित्र सुन्दर बालक को जन्म दिया है, इस भावना से माता ने मुझे देखा।* मेरे साथ पुण्योदय का भी जन्म हुआ था, पर मेरी माता उसे नहीं देख पायी, क्योंकि अन्तरंग व्यक्ति साधारण लोगों की भांति दिखाई नहीं देते। परिचारकों ने मेरे पिता को जब यह सुसंवाद सुनाया तब उन्होंने पुत्र-जन्म-महोत्सव किया, याचकों को प्रचुर दान दिया, गुरुजनों की पूजा भक्ति की और स्वजन सम्बन्धी आनन्द के बाजे बजा-बजाकर नाचे। जब मैं बारह दिन का हुआ तब मेरे पिता ने बड़े महोत्सव के साथ अत्यधिक सन्तुष्टिपूर्वक मेरा नाम वामदेव रखा। [१२-१८]

माया और स्तेय का परिचय

अनेक प्रकार के लाड़-प्यार और सुखोपभोगों का अनुभव करता हुआ मैं क्रमशः बड़ा होने लगा। साथ ही मेरी चेतना भी वृद्धि को प्राप्त होती गई। हे भद्रे ! जब मैं कुछ समझदार हुआ तब मैंने दो काले रंग के पुरुष और एक कमर झुकी हुई विकृताकृति स्त्री को देखा। मैं सोच रहा था कि ये तीनों कौन हैं और मेरे पास किस प्रयोजन से आये हैं, तभी उनमें से एक पुरुष मुझ से बांहें भींचकर प्रेम से मिला और मेरे पाँवों में पड़ा।

फिर वह बोला—अरे मित्र ! तू मुझे पहचानता है या भूल गया ?

मैंने कहा—भाई ! मैंने तो नहीं पहचाना, आपके साथ का कोई सम्बन्ध मुझे याद नहीं आता।

मेरा उत्तर सुनकर वह काला मनुष्य शोकातुर हो गया।

मैं (वामदेव)—भाई ! आप इतने शोकातुर और व्यग्र क्यों हो गये ?

मनुष्य—मेरा घनिष्ठ परिचय होते हुए भी तू मुझे भूल गया, यही मेरे शोक और व्यग्रता का कारण है।

मैं (वामदेव)—अरे भाई सुलोचन ! तूने पहले मुझे कब देखा है ? यह तो बताओ।

---

* पृष्ठ ४७०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य ! मैं बताता हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो। तुझे याद होगा कि पहले तू असंव्यवहार नगर में रहता था। उस समय तेरे पास मेरे जैसे अनेक मित्र थे, पर मैं उस समय तेरा मित्र नहीं बन पाया था। इसके बाद तू एक समय भ्रमण की कामना से इस नगर से बाहर निकल गया। फिर तू एकाक्षनिवास नगर और विकलाक्षपुर में बहुत बार घूमा। घूमते-घूमते तू पंचाक्षपशुसंस्थान नगर में आ पहुंचा। इस नगर में संज्ञि संज्ञक (संज्ञा वाले) गर्भज कुलपुत्र रहते हैं। अनेक स्थानों पर घूम फिर कर तू भी उनकी टोली में चला आया। जब तू गर्भज संज्ञी पंचाक्ष-पशु कुल-पुत्र में उत्पन्न हुआ तब मैं तेरा मित्र बना, पर मैं छिपकर रहता था इसलिये तू मुझे नहीं पहचान सका। फिर तो तेरा इधर-उधर घूमने (भ्रमण करने) का स्वभाव ही पड़ गया। जिससे तू अपनी स्त्री भवितव्यता के साथ अनन्त स्थानों में अनेक बार भ्रमण करता रहा। तुझे याद होगा कि एक बार तू कुतूहल से घूमते हुए तेरी स्त्री के साथ बाह्य नगर सिद्धार्थपुर गया था। उस समय तू नरवाहन राजा के राजमहल में रिपुदारण के प्रसिद्ध नाम से कुछ दिन रहा था।* हे बापू ! तेरा असली नाम तो संसारी जीव है किन्तु भिन्न-भिन्न स्थानों में निवास करते-करते बार-बार तेरा नाम परिवर्तित होता रहता है। हे सुलोचन मित्र ! उस समय तू मुझ से भली प्रकार परिचित हुआ था। उस समय तू मुझे मृषावाद के नाम से जानता था। तूने मेरे साथ बहुत आनन्द किया था, अनेक प्रकार के भोग भोगे थे और मुझे भली प्रकार प्रसन्न किया था। उस जन्म में तुझे मेरे ज्ञान और कौशल के प्रति अतिशय प्रेम था। एक बार तूने मुझे प्रसन्नतापूर्वक पूछा था कि, मित्र ! आनन्द-दायिनी यह कला-कुशलता तुझे किसके प्रसाद से प्राप्त हुई है ? उत्तर में मैंने कहा था कि मूढ़ता और रागकेसरी की माया नामक पुत्री है, उसे मैंने बड़ी बहिन बना रखा है। उसी माया के प्रसाद से मुझे यह कुशलता प्राप्त हुई है। वह सर्वदा मेरे साथ ही रहती है और बड़ी बहिन होने से माता जैसा प्रेम रखती है। यह छोटे बच्चे भी जानते हैं कि जहाँ-जहाँ मृषावाद रहता है उसके साथ माया तो रहती ही है। उस समय तूने मुझे अपनी बहिन दिखाने के लिये कहा था। उस समय मैंने तेरी माँग को स्वीकार किया था। बापू ! तुम्हारी उसी बात को याद कर आज मेरी बहिन को साथ लेकर उसकी पहचान कराने आया हूँ। बापू ! रिपुदारण के जन्म में तेरी मेरे प्रति मित्रता, स्नेह और आकर्षण इतना अधिक था कि उसका जितना वर्णन करूं वह थोड़ा है। पर, अभी मैं तेरे पास खड़ा हूँ तो भी तुम मुझे नहीं पहचानते हो, इससे अधिक शोक की बात क्या हो सकती है ? मैं सचमुच में भाग्य-हीन हूँ कि तेरे जैसा परम इष्ट मित्र मुझे भूल गया और पहले के स्नेह को आज याद भी नहीं करता। अब में कहाँ जाऊँ और क्या करूँ ? इस कारण अभी मेरी ऐसी चिन्ताजनक और दुःखदायक स्थिति बन गई है। (१६–४५)

---

* पृष्ठ ४७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैं (वामदेव)—भाई ! वास्तव में मुझे अभी यह बात याद नहीं आ रही है, पर मेरे हृदय में ऐसे भाव आ रहे हैं मानो तुम्हारे साथ लम्बे समय से परिचय रहा हो। भाई मृषावाद ! जब से मैंने तुम्हें देखा है तब से मेरी आँखें हिम जैसी शीतल हो गई हैं और मेरे मन में आनन्द ही आनन्द छा गया है। [४६-४७]

किसी प्राणी को देखने से पूर्व-जन्म में घटित घटना का स्मरण (जाति-स्मरण) हो जाता है। जैसे इस जन्म में भी हम जब अपने किसी प्रिय स्नेही सम्बन्धी को देखते हैं तब हृदय प्रफुल्लित हो जाता है, पर जब किसी अप्रिय व्यक्ति को देखते हैं तब मन खिन्न हो जाता है। [४८]

अतः, हे भाई ! तुझ इस सम्बन्ध में किंचित् भी शोक नहीं करना चाहिये। मित्र ! तू मेरे प्राण के समान है। अब तुझे जो प्रयोजन (कार्य) हो वह प्रसन्नता से कह। [४९]

मृषावाद—भाई वामदेव ! मुझे यही कहना है कि मेरी यह बहिन जो मेरे साथ में आई है उसका तुम्हारे प्रति अत्यन्त स्नेह है। यद्यपि नये-नये नाम निकालने में आनन्द मानने वाले लोगों ने इसे माया के नाम से प्रसिद्ध कर रखा है तथापि इसके आचरण से प्रसन्न होकर इसका दूसरा सुन्दर नाम बहुलिका रखा गया है। इस समय तो मुझे केवल यही कहना है कि जैसा बर्ताव तुमने मेरे साथ रखा था वैसा ही इसके साथ भी रखना। मैं तो अभी छुपकर रहूंगा क्योंकि मेरे प्रकट होने का अभी अवसर नहीं आया है।* अभी तो यही तेरा साथ अधिक देगी। परन्तु, जहाँ यह रहेगी वहाँ तत्वतः मैं तो रहूंगा ही, क्योंकि हम दोनों का अन्योन्य स्वरूप अभिन्न है। मेरे साथ यह जो दूसरा पुरुष है, यह मेरा छोटा भाई है। वर्तमान काल में यह तुमसे मित्रता करने योग्य है। इसीलिये इसे भी मैं साथ लेकर आया हूँ। इसका नाम स्तेय है। यह प्रचण्ड-शक्ति-सम्पन्न और महा-तेजस्वी है। पहले यह छुपकर रहता था, परन्तु अभी अपने योग्य प्रसंग को जानकर यहाँ आया है। इसके सम्बन्ध में भी मुझे यही कहना है कि जैसा प्रेम तू मुझ पर रखता था, वैसा ही स्नेह-पूर्ण व्यवहार तू इसे अपना प्यारा भाई समझ कर इसके साथ रखना। [५०-५६]

मैं (वामदेव)—प्रिय मित्र ! मैं ऐसा ही समझूंगा कि जो तुम्हारी बहिन है वह मेरी भी बड़ी बहिन है और जो तुम्हारा भाई है वह मेरा भी भाई है। इस विषय में तुझे कहने की या संशय करने की आवश्यकता नहीं है। [५७]

मृषावाद—मित्र ! बड़ी कृपा की। तुमने मुझ पर बहुत अनुग्रह किया। तुम्हारे ऐसे वचन को सुनकर मैं सचमुच कृतकृत्य हुआ। हे नरोत्तम ! तुम धन्यवाद के पात्र हो। [५८]

ऐसा कहकर मृषावाद अन्तर्ध्यान हो गया।

---

* पृष्ठ ०७२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माया और स्तेय के परिचय का प्रभाव

माया और स्तेय के परिचय के परिणामस्वरूप मेरे मन में जो विचार-तरंगे उठने लगीं उन्हें संक्षेप में तुम्हें बतलाता हूँ। मैं समझने लगा कि माया जैसी बहिन-और स्तेय जैसे भाई को प्राप्त कर मैं सचमुच कृतकृत्य हुआ हूँ, मेरा जन्म सफल हो गया है। ऐसे भाई-बहिन तो भाग्य से ही प्राप्त होते हैं। उसके साथ विलास करते हुए मेरी चेतना भ्रमित होने लगी और मन में अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क के झंझावात उठने लगे। माया के प्रभाव से मैं समग्र विश्व को ठगने की सोचने लगा। विविध प्रपंचों से लोगों को शीशी में उतारने की कामनायें करने लगा। स्तेय के प्रभाव से मेरे मन में विचार उठा कि मैं दूसरों का सब धन चुरा लूं या उठा लाऊं। भद्रे! तभी से मैं निःशंक होकर लोगों के साथ ठगी करने के और लोगों का धन-हरण कर लेने के काम में व्यस्त हो गया। मेरे मित्रों और रिश्तेदारों ने भी मुझे पहचान लिया और मेरे ऐसे कुत्सित कार्यों को देखकर वे मुझे तृण के समान तुच्छ समझने लगे। [५६–६४]

विमल के साथ मैत्री

इधर वर्धमान नगर के महाराजा धवल की पटरानी कमलसुन्दरी के साथ मेरी माता कनकसुन्दरी का सम्बन्ध प्रिय सहेली (बहिन) जैसा था और उन दोनों में आपस में घनिष्ठ स्नेह था। दोनों माताओं के सम्बन्ध के कारण पटरानी के पुत्र कपटरहित, स्वच्छ हृदय, वात्सल्यप्रिय विमल के साथ मेरा भी मैत्री-भाव स्थापित हो गया। अर्थात् हम एक दूसरे के इष्ट मित्र बन गये। विमलकुमार सर्वदा दूसरों का उपकार करने में तत्पर रहता था। उसका मन स्नेह से ओतप्रोत था और वह एक महात्मा जैसा दिखाई देता था। किसी भी प्रकार के मनमुटाव या दावपेच-रहित वह मेरे साथ प्रमुदित होकर प्रेम से रहता था। जबकि विमल मुझ पर एक-निष्ठ सच्चा स्नेह रखता था, तब माया के प्रताप से मेरा हृदय कुटिलता का घर बन गया था, इसी कारण मैं अपने मन में उसके प्रति दुर्भाव रखता था। मैं उसके प्रति स्नेह में सच्चा नहीं था और विमल जैसे पवित्र महात्मा के प्रति भी मन में मलिनता रखता था। अर्थात् विमलकुमार सच्चा शुद्ध सात्विक प्रेम रखता था और मैं उसके प्रति कपट-मैत्री रखता था। ऐसी विचित्र परिस्थिति में भी शुद्ध प्रेम और कपट-मैत्री के बीच झूलते हुए, हम दोनों ने अनेक प्रकार की क्रीडा करते हुए, आनन्द करते हुए और सुखोपभोग करते हुए अनेक दिन बिताये। [६५–६९]

महात्मा विमल ने कुमारावस्था में ही एक श्रेष्ठ उपाध्याय के पास जाकर उनसे सब प्रकार की कलाओं का अभ्यास कर लिया। क्रमशः वह युवतियों के नेत्रों को आनन्दित करने वाले कामदेव के मन्दिर के समान और लावण्य* समुद्र की आधारशिला सदृश तरुणावस्था को प्राप्त हुआ। [७०–७१] □

* पृष्ठ ४७३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. नर-नारी शरीर-लक्षण

एक ओर विमलकुमार का शुद्ध सच्चा प्रेम और एक तरफ मेरा कृत्रिम प्रेम निरन्तर बढ़ रहा था। हम अनेक प्रकार के आनन्द भोग रहे थे और विलास कर रहे थे। एक दिन हम खेलते-खेलते क्रीडानन्दन नामक दर्शनीय सुन्दर वन में जा पहुंचे [७२]

क्रीडानन्दन वन

यह वन अशोक, नागकेशर, पुन्नाग (जायफल), बकुल, काकोली और अंकोल वृक्षों से शोभित हो रहा था। चन्दन, अगर और कपूर के वृक्षों से मनोहारी लग रहा था। उसमें द्राक्षा-मण्डप इतने विस्तृत फैले हुए थे कि वे धूप को रोककर मण्डप के भीतर छाया कर देते थे जिससे वह वन अत्यन्त सुन्दर लगता था। झूमते केवड़े की मादक सुगन्ध भौंरों को अन्धा बना रही थी। ताड़, हिताल और नारियल के वृक्ष इतने ऊंचे बढ़कर हवा में झूल रहे थे मानो वे नन्दनवन से स्पर्धा कर रहे हों और शाखारूपी हाथों से लोगों को बुला रहे हों। [७३–७५]

इस वन में अनेक प्रकार के अद्‌भुत आम्र लतागृह थे। किसी-किसी स्थान पर सारस, हंस और बगुले आकर इधर-उधर घूम रहे थे। मन को हरण करने वाली मृदु गन्ध से भौंरे गुनगुना रहे थे। संक्षेप में यह वन ऐसा सुन्दर था कि उसे देखकर देवता भी मन में आश्चर्यान्वित भाव से संतोष प्राप्त करते थे। ऐसे मनोज्ञ क्रीडानन्दन वन में मैं विमल के साथ प्रविष्ट हुआ। हे मृगाक्षि! विमल अतिशय सरल स्वभावी, पाप रहित और मन को आनन्द देने वाला था। ऐसे एकान्त वन में मेरे साथ क्रीडा करते और घूमते-फिरते वह आह्लादित हो रहा था। [७६-७७]

वन में मिथुन युगल

जब मैं और विमल लतामण्डप के पास आनन्द से बैठे थे तभी हमारे कानों में दूर से किसी स्त्री-पुरुष के धीरे-धीरे बात करने की, साथ ही पैर के झांझर की अस्पष्ट ध्वनि सुनाई दी। [७८]

यह आवाज सुनते ही विमल बोला—मित्र वामदेव! यह किसकी आवाज आ रही है? मैंने कहा—यह आवाज स्पष्ट न होने से मैं इसे भली प्रकार नहीं सुन सका। यह किसकी है और किधर से आ रही है यह भी नहीं जान सका। यहाँ तो अनेक प्रकार की आवाजों की संभावना है, क्योंकि इस वन में यक्ष विचरण करते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, राजागण (श्रेष्ठ मनुष्य) परिभ्रमण करते हैं, देव भी संभव हैं, सिद्ध रमण करते हैं, पिशाच घूमते हैं, भूत आवाज करते हैं, किन्नर गाते हैं, राक्षस फिरते हैं, किम्पुरुष रहते हैं, महोरग विलास करते हैं, गन्धर्व लीला करते हैं और विद्याधर क्रीडा करते हैं। अतः जिस ओर से यह ध्वनि आ रही है उस ओर आगे जाकर देखना चाहिये कि ये आवाजें किस की हैं ?

विमल ने मेरी बात मान ली और हम दोनों उस तरफ चले जिधर से वह मधुर ध्वनि आ रही थी। हम थोड़े ही आगे बढ़े होंगे कि हमें भूमि पर कुछ पद-चिह्न दिखाई दिये। पद-चिह्न विशेषज्ञ विमल बोला—मित्र वामदेव ! ये पद-चिह्न किसी मनुष्य-युगल (स्त्री-पुरुष) के दिखाई देते हैं।

भाई ! देखो, बालू में जो एक के पग के निशान बने हैं वे किसी कोमल और छोटे पांव के हैं। पगतली की सूक्ष्म सुन्दर रेखायें भी बालू में स्पष्ट दिखाई दे रही हैं। अन्य के पद-चिह्नों में चक्र, अंकुश और मत्स्य आदि के चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं तथा वे दूर-दूर हैं। देवताओं के पाँव तो लगते नहीं, क्योंकि वे भूमि से चार अंगुल ऊंचे रहकर चलते हैं और साधारण मनुष्य के पाँवों में भी ऐसे चिह्न नहीं होते। [७९–८१]

अतः मित्र वामदेव ! जिस सुन्दर युगल के ये पदचिह्न हैं वह कोई असाधारण युगल होना चाहिए।

उत्तर में मैंने कहा—कुमार ! तुम्हारा कहना सत्य ही होगा, चलो हम आगे जाकर इसकी जांच करें।

फिर हम कुछ आगे बढ़े। आगे बढ़ने पर* हमने सघन वृक्षों की झाड़ियों से घिरा हुआ एक लतामण्डप देखा। लतामण्डप के एक छिद्र से हमने झांक कर देखा। रति और कामदेव के रूप को भी तिरस्कृत करने वाले एक सुन्दर स्त्री-पुरुष के जोड़े को हमने एक-दूसरे में एकमेक हुए देखा। विमल तो इन दोनों स्त्री-पुरुषों को पाँव से सिर तक घूर-घूर कर देखने लगा, पर वे दोनों ऐसे रस में लीन थे कि उन्होंने हमें नहीं देखा। हम जब थोड़े पीछे हटे तब विमल बोला–मित्र यह स्त्री-पुरुष का जोड़ा कोई साधारण मनुष्यों का नहीं है, क्योंकि इनके शरीर में बहुत से विशिष्ट लक्षण दिखाई देते हैं।

मैंने (वामदेव) पूछा—भाई ! स्त्री-पुरुष के शरीर पर कैसे लक्षण होते हैं ? वह मुझे बता। मुझे स्त्री-पुरुष लक्षण जानने की बहुत उत्सुकता है, अतः पहले मुझे वही बता।

नर-नारी के शारीरिक लक्षण

फिर विमल स्त्री-पुरुष के लक्षण बताने लगा।

---

* पृष्ठ ४७४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाई वामदेव ! पुरुषों के लक्षण लाखों ग्रन्थों में [लाखों पद्यों में] विस्तार से वर्णित हैं, उनका संक्षेप में वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है ? वैसे ही स्त्रियों के लक्षण भी अत्यन्त विस्तृत हैं, उनके वर्णन का अन्त कौन पा सकता है ? कौन उन्हें सम्पूर्ण रूप से अपने ध्यान में ला सकता है ? तुझे इन लक्षणों को जानने की अत्यधिक उत्सुकता है तो स्त्री और पुरुष के शरीरों के लक्षण मैं तुम्हें संक्षेप में बताता हूँ, उन्हें ध्यानपूर्वक सुनो। [८२-८४]

मैंने [वामदेव] ने कहा—बड़ी कृपा। ऐसा कहकर जब मैंने अपनी इच्छा प्रकट की तब विमल ने बात आगे चलायी :—

पुरुष-लक्षण

पाँव का तल [चरण] रक्तिम, स्निग्ध और सीधा हो, कमल जैसा मनोहर कोमल और सुश्लिष्ट हो तो उसे प्राज्ञजनों ने प्रशंसनीय कहा है। पुरुष के चरण-तल में चन्द्र, वज्र, अंकुश, छत्र, शंख, सूर्य आदि के चिह्न हों तो वह पुरुषोत्तम और भाग्यशाली होता है। यदि चन्द्र आदि चिह्न पूरे न हों और अस्पष्ट दिखाई देते हों तो वह पुरुष अपनी अवस्था में भोग भोगने में भाग्यशाली होता है। जिसके पदतल में गधा, सूअर या सियार के निशान दिखाई देते हों तो वह मनुष्य निर्भागी और दुःखी होता है। [८५-८८]

विमल—पुरुष-शरीरस्थ लक्षणों का वर्णन कर रहा था इसी बीच मैं [वामदेव] उससे पूछ बैठा—मित्र ! तुम शरीर के प्रशस्त लक्षणों का वर्णन कर रहे थे इसी बीच अपलक्षणों का वर्णन क्यों करने लग गये ?

विमल—इसका कारण सुनो। मनुष्य को देखने मात्र से उसके शुभाशुभ लक्षण स्वतः ही दृष्टिपथ में आ जाते हैं। इसी कारण लक्षण दो प्रकार के प्रतिपादित किये गये हैं :— १. शुभ लक्षण और २. अशुभ लक्षण। शरीर संस्थित प्रशस्त और अप्रशस्त दो प्रकार के चिह्न [लक्षण] सुख और दुःख के संकेतकारक होते हैं। इसीलिए विद्वानों ने ये लक्षण दो प्रकार के माने हैं। भद्र ! इसी कारण प्रस्तुत पुरुष के लक्षणों में अपचिह्नों का वर्णन भी युक्तिसंगत है।

मैं [वामदेव]—कुमार ! प्रशस्त और अप्रशस्त चिह्नों की शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से परिहास में ही मैं बीच में पूछ बैठा था। वस्तुतः तो दोनों ही लक्षणों का वर्णन कर तुम मेरे ऊपर द्विगुणित अनुग्रह कर रहे हो। अतः तुम इन लक्षणों का सांगोपांग वर्णन-क्रम चालू रखो। [८९-९३]

विमल ने पुनः वर्णन प्रारम्भ कर दिया—

मित्र ! जिन मनुष्यों के नाखून उन्नत, विस्तृत, लाल, चिकने और शीशे की तरह चमकते हुए होते हैं वे भाग्यशाली होते हैं और उन्हें धन, भोग और सुख प्राप्त होता है। यदि नाखून सफेद हों तो वह व्यक्ति भीख मांगकर गुजारा करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि नाखून रुक्ष और भिन्न-भिन्न रंग वाले हों तो वह व्यक्ति दुःशील [बुरे आचरण वाला] होता है [९४-९५] *

जिनके पाँव बीच से छोटे हों वे स्त्री सम्बन्धी किसी कार्य में मृत्यु को प्राप्त होते हैं। मांस रहित, पतले, पिचके हुए और लम्बे पैर अच्छे नहीं होते। पैर छोटे-बड़े हों तो भी अच्छे नहीं गिने जाते। कूर्म के सदृश उन्नत, मोटे, चिकने, मांसल, कोमल और एक-दूसरे से मिले हुए पैर भाग्यशाली के होते हैं और सुख देने वाले होते हैं। [९६-९७]

जिन पुरुषों की पिंडलियें कौए जैसी दुर्बल और लटकती हुई हों और जांघें बहुत लम्बी और मोटी हों वे दुःखी होते हैं तथा पैदल यात्रा करते हैं। उन्हें घर के वाहन उपलब्ध नहीं होते।[९८]

जिनकी चाल हंस, मोर, हाथी और बैल जैसी हो वे इस लोक में सुखी होते हैं, इसके विपरीत चाल वाले दुःखी होते हैं। [९९]

जिनकी जानु गूढ, संधिरहित और सुगठित हों वे सुखी होते हैं, बहुत मांसल और मोटे जानु अच्छे नहीं होते। (१००)

जिस पुरुष का लिंग छोटा, कमल जैसा कान्तियुक्त, उन्नत और सुन्दर अग्रभाग वाला होता है वह प्रशस्त माना गया है और टेढ़े-मेढ़े लम्बे और मलिन लिंग को अशुभ माना गया है। [१०१]

जिसका वृषण (अण्डकोष) सहज लम्बा होता है, वह लम्बी आयु वाला होता है और जिसके वृषण छोटे-मोटे होते हैं वह थोड़ी आयुष्य वाला होता है। [१०२]

मांसल और विस्तृत कटि शुभकारी होती है तथा पतली और संकड़ी कटि दरिद्रता देने वाली होती है। [१०३]

जिसका पेट सिंह, बाघ, मोर, बैल या मछली के पेट जैसा हो वह अनेक भोग भोगने वाला होता है। गोल पेट वाला भी भोग भोगने योग्य होता है। जिसकी कुक्षि मेंढ़क जैसी हो वह पुरुष शूरवीर होता है, ऐसा प्राज्ञों का कथन है। [१०४]

जिसकी नाभि विशाल और गहरी तथा दक्षिणावर्त (दांयी तरफ मुड़ी हुई) हो वह सुन्दर गिनी जाती है। जिसकी नाभि ऊपर उठी हुई और वामावर्त (बांयी तरफ मुड़ी हुई हो) उसे लक्षणशास्त्रकारों ने अनिष्टकारी माना है। [१०५]

जिसका वक्षस्थल विशाल, उन्नत, तुंग, चिकना, रोंयेदार और सुकोमल हो वह भाग्यशाली होता है। इसके विपरीत जिसकी छाती छोटी, धंसी हुई, रुक्ष, रोंयेरहित और कठिन होती है वह निर्भागी होता है। [१०६]

---

* पृष्ठ ४७५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसकी पीठ कछुए, सिंह, घोड़े या हाथी की पीठ के समान होती है वह शुभकारी होती है।

जिस पुरुष की बाहु (भुजा) आवश्यकतानुसार लम्बी न हो वह दुष्ट होता है। छोटी भुजा वाले दास या नौकर होते हैं। प्रलम्ब बाहु वाले भाग्यशाली होते हैं, दीर्घबाहु वाले प्रशस्त गुणी माने गये हैं। जिसकी दोनों हथेलियां कठिन हों, उसे विशेष काम करना पड़ता है। हाथ के नाखूनों के लक्षण भी पैर के नाखूनों के समान समझ लेने चाहिये। [१०७–१०९]

जिसके कन्धे लम्बे और भेड़ के कंधे जैसे मांसरहित हों, वह भार उठाने वाला मजदूर होता है। जो कंधे मांसल और छोटे होते हैं, उन्हें विद्वान् लोग श्रेष्ठ मानते हैं। [११०]

पुरुष का गला लम्बा और पतला हो तो वह दुःखदायी होता है। जो गला शंख के समान सुन्दराकृति वाला और तीन रेखाओं से युक्त हो वह श्रेष्ठ माना जाता है। [१११]

जिसके होठ विषम हों वह डरपोक, लम्बे हों तो भोगी और छोटे हों तो दुःखी होगा। जिसके होठ पीन (भरे हुए) हों वह सौभाग्यशाली होता है। [११२]

दांत निर्मल, एक समान, अणीदार, चिकने और पुष्ट हों तो शुभ समझे जाते हैं। इसके विपरीत गंदे, छोटे-बड़े, भोंथरे, रुक्ष और पतले दांत दुःख के कारण माने जाते हैं। ३२ दांत वाला भाग्यशाली राजा, ३१ दांत वाला भोगी, ३० दांत वाला* मध्यम और ३० से कम दांत वाला भाग्यशाली नहीं माना जाता। बहुत अधिक या बहुत थोड़े दांत वाला, काले दांत वाला और चूहे जैसे दांत वाला पुरुष पापी गिना जाता है। जिसके दांत भयानक, घृणोत्पादक या टेढ़े-मेढ़े हों वे बुरे व्यवहार वाले, अत्यन्त पापी और नर-पिशाच माने जाते हैं। [११३–११६]

कमल पत्र जैसी लाल रंग की अणीदार जीभ शास्त्रों के जानकार विद्वान् मनुष्य की होती है। भिन्न-भिन्न रंग वाली जीभ शराबी की होती है। शूरवीर पुरुष का तालू कमल-पत्र जैसा कांतियुक्त और मनोहारी होता है। काले तालू वाला कुल का क्षय करने वाला होता है और नीला तालू दुःख का कारण होता है। [११७-११८]

हंस अथवा सारस के जैसे सुन्दर स्वर वाला पुरुष सुखी होता है। कौए एवं गधे जैसे स्वर वाला दुःखी होता है। [११९]

लम्बी नाक वाला सुखी होता है और विशुद्ध (सीधी) नाक वाला भाग्यशाली होता है। चपटी नाक वाला पापी होता है और टेढ़ी नाक वाला चोर होता है। [१२०]

---

* पृष्ठ ४७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनस्वी पुरुष की दृष्टि (आंख की पुतली) नील कमल की पंखुड़ी जैसी काली और मनोहारी होती है। मधु या दीपशिखा जैसी पीली दृष्टि भी प्रशस्त मानी जाती है। बिल्ली जैसी कजरी आंख पापी की होती है। सीधी दृष्टि, वक्र दृष्टि, भयंकर दृष्टि, केकरा (टेढ़ी) दृष्टि, दीन दृष्टि, अत्यन्त रक्त दृष्टि, रुक्ष दृष्टि और काले तथा पीले रंग की मिश्रित आंख खराब मानी जाती है। भाग्यशाली पुरुषों की आंख काले कमल जैसी होती है, लम्बे आयुष्य वाले की दृष्टि गम्भीर होती है, भोगी की दृष्टि विशाल होती है और अल्पायुषी की आंखें उछलती हुई सी लगती हैं। काने से अन्धा अच्छा, बाडी आंख वाले से काना अच्छा, डरपोक दृष्टि वाले से अन्धा, काना तथा बाडा भी अच्छा। अस्थिर और बिना कारण सतत चलने वाली आंखें, लक्ष्यहीन आंखें, रुक्ष-शुष्क और मलिन आंखें पापी मनुष्य की होती हैं। पापी नीची दृष्टि से, सरल व्यक्ति सीधी दृष्टि से और भाग्यशाली ऊंची नजर रखकर चलता है तथा बार-बार क्रोध करने वाला टेढ़ा-मेढ़ा देखा करता है। [१२१-१२६]

सम्माननीय और सौभाग्यशाली मनुष्य की भौंहें लम्बी और विस्तीर्ण होती हैं। जिसकी भौंहें छोटी होती हैं वह स्त्री सम्बन्धी किसी बड़ी आपत्ति में गिरता है। [१२७]

धनवान व्यक्ति के कान पतले, चौड़े और लम्बे होते हैं। चूहे जैसे कान वाला व्यक्ति बुद्धिशाली होता है और जिसके कान पर अधिक रोयें होते हैं वह लम्बी आयुष्य वाला होता है। [१२८]

जिस पुरुष का ललाट विशाल और चन्द्र की आभा जैसा उज्ज्वल होता है वह सम्पत्तिशाली होता है, जिसका ललाट अधिक बड़ा होता है वह दुःखी होता है और जिसका ललाट छोटा होता है उसकी आयुष्य थोड़ी होती है। [१२९]

जिस पुरुष के सिर के बांयी तरफ बालों में वामावर्त (बांयी ओर घूमने वाला) भौंरा होता है वह लक्षणरहित, क्षुधा-पीड़ा से घर-घर भीख मांगने वाला होता है, फिर भी उसे लूखे-सूखे टुकड़े ही मिल पाते हैं। जिस पुरुष के सिर के दायी तरफ दक्षिणावर्त (दांयी ओर घूमने वाला) भौंरा होता है उसके हाथ में लक्ष्मी दासी की तरह रहती है। जिस पुरुष के बांये भाग में दांयी ओर घूमने वाला भौंरा हो अथवा दांये भाग में बांयी ओर घूमने वाला भौंरा हो वह अपने जीवन के अन्तिम भाग में भोग भोगेगा इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। [१३०-१३२]*

जिस पुरुष के बाल दूर-दूर, रूखे और मैले हों, वह दरिद्री होता है। जिसके बाल कोमल और चिकने हों वे सुख देने वाले होते हैं। अग्नि जैसे रंग के बाल वाला व्यक्ति विविध क्रीड़ा करने वाला होता है। [१३३]

---

* पृष्ठ ४७७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामान्यतः भाग्यशाली पुरुषों के वक्षस्थल, ललाट और मुख विस्तृत होते हैं, नाभि, सत्व (अन्तरंग बल) और स्वर गम्भीर होते हैं तथा बाल, दांत और नाखून छोटे हों वे सुखकारक होते हैं। जिनका गला, पीठ, जांघें और पुरुष चिह्न (लिंग) छोटा हो वे पूजनीय होते हैं। भाग्यशाली मनुष्यों की जीभ और हाथ-पांव के तले लाल होते हैं। दीर्घायुषी व्यक्तियों के हाथ और पैर विशाल होते हैं। चिकने दांत वाले को सुस्वादु भोजन मिलता है अथवा सदाचारी होता है। स्निग्ध आंखों वाला पुरुष सौभाग्यशाली होता है। अधिक लम्बा, छोटा, मोटा या काला पुरुष निन्दनीय होता है। जिनकी चमड़ी, रोंये, दांत, जीभ, बाल और आंखें अधिक रुक्ष हों वे भाग्यशाली नहीं होते हैं। [१३४-१३८]

हे सौम्य ! जिस पुरुष के ललाट में ५ रेखायें पड़ती हों तो उसकी उम्र १०० वर्ष, ४ रेखायें पड़ती हों तो ९० वर्ष, ३ रेखायें पड़ती हों तो ६० वर्ष, २ रेखायें पड़ती हों तो ४० वर्ष और एक रेखा वाले की आयु ३० वर्ष होती है। [१३९-१४०]

धन का आधार हड्डियों पर, सुख का आधार मांस पर, भोग का आधार चमड़ी पर, स्त्री-प्राप्ति का आधार आंखों पर, वाहन-प्राप्ति का आधार गति पर, शासक (आज्ञा चलाने) का आधार स्वर पर और सब विषयों का आधार आंतरिक बल में स्थित है। [१४१]

गमन गति (चलने के तरीकों) से शरीर का वर्ण (रंग) विशेष आवश्यक है, रंग से स्वर अधिक आवश्यक है और स्वर से भी अधिक आवश्यक आन्तरिक बल है; क्योंकि सब विषयों का अन्तिम आधार उसी सत्त्व पर आधारित है। पुरुष का जैसा रंग होता है वैसा ही उसका रूप होता है, जैसा रूप वैसा ही मन, जैसा मन वैसा ही सत्त्व और जैसा उसका सत्त्व अर्थात् आन्तरिक बल होता है वैसे ही उसमें गुण होते हैं। [१४२-१४३]

हे भद्र ! इस प्रकार मैंने पुरुष के लक्षणों का संक्षेप में वर्णन किया, अब स्त्री के लक्षणों का वर्णन करता हूँ जिसे ध्यान से सुनो। [१४४]

सत्त्व-वर्धन के उपाय

यहाँ मैंने विमलकुमार से पूछा—मित्र ! तुमने कहा कि सर्व लक्षणों का आधार अत्यन्त निर्मल सत्त्व (आत्मिक बल) है और अन्त में उसका विशेष वर्णन किया है, तो क्या यह आत्मिक-बल जैसा और जितना पहले होता है उतना ही रहता है या इसी जन्म में किसी प्रकार उसमें वृद्धि और विशुद्धता भी बढ़ सकती है ?

[१४५-१४६]

उत्तर में विमल बोला—सुनो, निम्न उपायों से आंतरिक-बल में वृद्धि भी हो सकती है। ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति और समाधि ये आंतरिक-बल को बढ़ाने के उपाय हैं। ब्रह्मचर्य, दया, दान, निःस्पृहता, तप और उदासीनता ये सब आंतरिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बल को बढ़ाने के कारण हैं, इनसे सत्त्व अधिक शुद्ध होता है और प्राणी की प्रगति होती है। जैसे शीशे पर सोडे का कपड़ा फेरने से एवं हाथ फैरने से वह अधिक साफ होता है वैसे ही विशुद्धि के उपायों से सत्त्व जितने अंश में अशुद्ध होता है उतने ही अंश में फिर से विशुद्ध हो जाता है। उपरोक्त विशुद्धि के उपाय अन्तरंग व्यवहार में लगी चिकनाई को दूर कर देते हैं और इनका पुनः-पुनः सेवन (प्रयोग) करने से वे अन्तरात्मा को रुक्ष बना देते हैं।* आत्मा रुक्ष होने से उसमें संचित मैल निकल जाता है, जिससे लेश्या (आत्मपरिणति) शुद्ध होती है, उसी को यहाँ सत्त्व कहा गया है। सत्त्व शुद्ध होने पर प्रशस्त लक्षणों के गुण स्वतः ही पूर्णरूपेण प्रकट होते हैं और अपलक्षणों के दोष अपना अधिक प्रभाव नहीं दिखा सकते। भाई वामदेव ! समस्त गुणों का आधारभूत उत्तम सत्त्व जिन भावों (उपायों प्रयोगों) से वृद्धि प्राप्त कर सकता है, ऐसे भाव विद्यमान हैं, यह बात अब तेरी समझ में आ गई होगी। [१४७–१५३]

हे अगृहीतसंकेता ! मित्र विमल ने आंतरिक बल के विषय में मुझे इतना बताया, पर मेरी समझ में तो कुछ भी नहीं आया। फिर भी मेरी बहिन माया जो मेरे पास थी, उसके प्रभाव से मैंने हाँ कह दिया और सिर हिलाते हुए कहा—कुमार ! तुम्हारी बात ठीक है, इससे अभी मेरे मन का संशय नष्ट हो गया है। अब तुम स्त्री के लक्षणों का वर्णन करो। साथ ही स्त्री-पुरुष के इस जोड़े को देख कर तुझे जो इतना विस्मय हुआ है, वे तुझे इन लक्षणों के आधार पर कैसे लगते हैं वह भी बतला दो। [१५४–१५६]

उत्तर में विमल बोला—सुनो, इस युगल में से पुरुष में जो लक्षण दिखाई दे रहे हैं उनसे वह कोई चक्रवर्ती होना चाहिये और स्त्री के लक्षणों को देखते हुए वह किसी चक्रवर्ती की स्त्री होनी चाहिये। ऐसे सुन्दर लक्षणों से युक्त श्रेष्ठतम युगल को देखकर ही मुझे विस्मय हुआ था। हे भद्र ! अब स्त्री के लक्षणों का वर्णन कर रहा हूँ। [१५७–१५८]

मैंने (वामदेव) कहा—सुनाओ, तब विमलकुमार कहने लगा।

स्त्री-लक्षण

पूरे शरीर का आधा भाग मुंह है या यों कहें कि मुंह ही शरीर का आधार है, अतः वह ही पूरा शरीर है तो अत्युक्ति नहीं होगी। मुख से भी नाक श्रेष्ठ (विशेष) स्थान रखता है और नाक से भी आँखें अधिक श्रेष्ठतम (उपयोगी और शुभ लक्षण-सूचक) हैं। [१५९]

जिस स्त्री के पाँव में चक्र, पद्म, ध्वजा, छत्र, स्वस्तिक और वर्धमान का चिह्न हो वह स्त्री राजा की रानी है या होने वाली है, ऐसा समझना। [१६०]

---

* पृष्ठ ४७८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस स्त्री के पैर बड़े, टेढ़े और सूप जैसे हों वह दासी होती है। जिस स्त्री के पाँव अत्यन्त रुक्ष हों वह दरिद्रता प्राप्त करती है और भिन्न-भिन्न कारणों से शोक पाती है। ऐसा लक्षणज्ञ मुनियों का कथन है। [१६१]

जिस स्त्री के पाँव की अंगुलियां दूर-दूर हों और रुक्ष हों, वह मजदूरी करने वाली होती है और यदि अंगुलियां अधिक मोटी हों तो वह दुःख और दरिद्रता को प्राप्त करती है। जिस स्त्री के पैर की अंगुलियां चिकनी, पास-पास, गोल, लाल और बहुत मोटी न हो वह स्त्री सुखी होती है। [१६२-१६३]

जिस स्त्री की जांघें और पिंडलियें पुष्ट हों, अधिक दूर-दूर न हों, चिकनी हों, तिल और रोमरहित हों और हथिनी की सूण्ड जैसी हों तो वह प्रशंसनीय होती है। [१६४]

जिस स्त्री की कमर विस्तृत, मांसल, चारों ओर से रक्तिम और शोभायमान हो तथा नितम्ब समुन्नत हों वह विशेष प्रशस्त मानी गई है। जिस स्त्री के पेट पर अधिक नाड़ियां दिखाई देती हैं और उन पर मांस दिखाई नहीं देता है वह दुष्काल में से आई हुई भूख का घर होती है। जिस स्त्री के पेट का मध्य भाग बराबर लगा हुआ और सुन्दर हो वह सुख भोगने वाली होती है। [१६५-१६६]

जिस स्त्री के हाथ के नाखून खराब हों, हाथ पर फोड़े से दिखाई देते हों, बार-बार पसीना आता हो, अधिक मोटे हों, हाथ पर रोंयें उगे हों, अधिक कठोर हों, हाथों की आकृति ठीक न हों, पीले, चपटे और रुक्ष हों, ऐसे हाथ वाली स्त्री बहुत दुःखी होती है। [१६७]

नोट—स्त्री-लक्षणों का वर्णन यहाँ एकाएक रुक गया है, इससे लगता है कि या तो स्त्री-शरीर का अधिक वर्णन हितकर नहीं समझा गया हो या लिखा हुआ अंश गुरु ने या अन्य किसी महापुरुष ने बाद में निकाल दिया हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. आकाश-युद्ध

जब विमलकुमार लतामण्डप के दूसरे भाग में वामदेव के साथ बात कर रहा था, स्त्री-पुरुष के जोड़े को देखकर उनके लक्षणों पर विवेचन कर रहा था तभी वहाँ एक अनोखी घटना घट गई, जिससे उनकी बातें वहीं बन्द हो गईं।* क्या घटना घटित हुई ? सुनिये —

मिथुन-युगल पर आक्रमण

मैंने देखा कि आकाश में सूर्य के समान तेजस्वी अति भयंकर दो पुरुष हाथों में नग्न तलवार लिये हुए लतागृह की ओर तेजी से आ रहे हैं। [१६८]

विमल की बात वहीं छोड़कर मैंने आश्चर्यान्वित होकर उसका ध्यान उस तरफ आकर्षित करने के लिये कहा—कुमार ! कुमार !! देखो। अभी तक विमलकुमार की दृष्टि कोमल कमल के पत्तों में स्थिर थी, उसने यह दृश्य देखने के लिये तुरन्त अपनी दृष्टि घुमायी और दृश्य देखकर वह सोचने लगा कि एकाएक यह क्या हो गया ?

उसी समय आकाश से आने वाले दोनों पुरुष लतागृह के ऊपर मंडराने लगे और उनमें से एक पुरुष बोला - अरे पुरुषाधम ! निर्लज्ज ! तू कहीं भी भाग या छुप, तुझे छोड़ूंगा नहीं। अतः अब तू इस संसार को अन्तिम बार देख ले और अपने इष्टदेव का स्मरण करले या अपना पराक्रम बतला। यों चोर की तरह छुपकर क्यों बैठा है ?

आकाश में युद्ध

ऐसे तिरस्कार युक्त अति कठोर और युद्ध को निमन्त्रण देने वाले वचन सुनकर लतागृह के युगल में से पुरुष ने स्त्री से कहा—'सावधान होकर जरा धैर्य से रहो।' ऐसा कहकर स्त्री को लतागृह में छोड़कर उन आने वाले दोनों पुरुषों से बोला—'रे ! मेरे विषय में तुमने जो कुछ कहा है उसे भूल मत जाना, अब देखें कौन भागता है और कौन छुपता है।' यों कहकर उसने अपनी तलवार म्यान से खींची और कटूक्तिपूर्ण अपशब्द बोलने वाले पर झपटा। आकाश में इन दोनों का दारुण और विस्मयकारक युद्ध हुआ। तलवारें और ढालें खड़खड़ाने लगीं, शस्त्रों की खनखनाहट और योद्धाओं के सिंहनाद से युद्ध का दृश्य भीषणतम हो

---

* पृष्ठ ४७९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया। अनेक प्रकार के युद्ध-व्यूहों और एक-दूसरे को पराजित करने के लिये ऊपर नीचे अगल-बगल से किये गये उग्र वारों से युद्ध तीव्रतम स्थिति में आ गया। [१६६-१७०]

भयाक्रान्त सुन्दरी

इस प्रकार जब तीनों में युद्ध चल रहा था, तब आने वाले दो पुरुषों में से एक पुरुष बार-बार लतागृह में प्रवेश करने का प्रयत्न कर रहा था। वह स्त्री लतागृह में अकेली रह गई थी इसलिये भयभीत हो गई थी। सिंह के त्रास से जैसे हरिणी घबरा जाती है, वैसी ही स्थिति उसकी हो गई थी। उसके पयोधर भय से धड़क रहे थे। वह अस्थिर दृष्टि से दसों दिशाओं में सहायता के लिये देखती हुई वहाँ से निकल कर भागने लगी। इसी समय उसकी दृष्टि विमलकुमार पर पड़ी, अतः हृदय में कुछ आश्वस्त होकर उसने विमलकुमार से कहा—'हे महापुरुष! मेरी रक्षा करिये, मुझे बचाइये, मैं आपकी शरण में हूँ।' विमल बोला—सुन्दरी! तनिक भी मत घबराओ। अब डरने का कोई कारण नहीं है, तुम्हें आंच भी नहीं आने दूंगा।

जब कुमार सुन्दरी को आश्वासन दे रहा था तभी युद्धरत पुरुषों में से एक जो इतनी देर से लतागृह में उतरने का प्रयत्न कर रहा था लतागृह के ठीक ऊपर आकर ज्यों ही नीचे उतरने का प्रयत्न करने लगा त्यों ही विमलकुमार के गुण-समूह से उत्पन्न मानसिक बल के प्रभाव से वनदेवता ने उसे आकाश में ही स्तम्भित कर दिया। तब वह पुरुष आँखें फाड़-फाड़ कर इधर-उधर देखने लगा और अपने को छुड़ाने का प्रयत्न करने लगा, पर उसका कुछ भी वश नहीं चला और हलन-चलन क्रिया-रहित होकर वह चित्रांकित सा आकाश में लटक गया। [१७१]

आक्रमणकारी की पराजय

स्त्री-पुरुष के जोड़े में से जो पुरुष युद्ध करने आकाश में गया था उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी को पराजित कर दिया। प्रतिद्वन्द्वी हारकर भागने लगा तो वह पुरुष भी उसके पीछे झपटा। लतागृह पर चित्रलिखित से स्तंभित पुरुष ने जब यह देखा तब वह अत्यन्त क्रोधित होकर उसका पीछा करने की सोचने लगा। वनदेवता ने उसके मन के भाव जान लिये। वनदेवता का काम तो केवल स्त्री की मर्यादा को बचाने और विमल के असाधारण गुणों को मान देने का था, युद्ध में पड़ने या भाग लेने का नहीं था, अतः उस स्तंभित पुरुष को मुक्त कर दिया। मुक्त होते ही वह त्वरित गति से उनके पीछे आकाश में उड़ा। वे दोनों तो इतने दूर जा चुके थे कि दृष्टि-पथ में ही नहीं आते थे। फिर भी यह देव उनके पीछे दौड़ता ही रहा।

उस समय लतागृह में विमलकुमार की शरणागत वह सुन्दरी विलाप करने लगी—'हा आर्यपुत्र! हा आर्यपुत्र!! आप मुझ मन्दभागिनी को अकेली छोड़कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहाँ चले गये ? मेरा क्या होगा ?' उस समय मैंने और विमलकुमार ने अनेक प्रकार से धीरज बंधाकर उसे आश्वस्त किया ।*

विमल का आभार

कुछ समय पश्चात् सुन्दरी के साथ वाला पुरुष विजय प्राप्त कर विजयश्री की कान्ति से दीप्त और हर्षित होता हुआ, आतुरता से सुन्दरी को ढूंढ़ता हुआ वेग से लतागृह में आ पहुँचा । [१७२]

उसे आया देखकर सुन्दरी को अत्यन्त हर्ष हुआ, मानो उसके सम्पूर्ण शरीर पर अमृत वृष्टि हुई हो । उसके अंगोपांग आनन्दातिरेक से पुलकित हो गये । सुन्दरी ने विमलकुमार की शरणागतता का वृत्तान्त संक्षप में कह सुनाया जिसे सुनकर उसने विमलकुमार को प्रणाम किया और कहा—

अहा ! ऐसे विषम समय में आपने मेरी प्रिय पत्नी की रक्षा की है अतः आप मेरे बन्धु हैं, पिता हैं, माता हैं, मेरे जीवन-प्राण हैं । हे पुरुषोत्तम ! हे नरोत्तम !! हे धीर ! आप वस्तुतः धन्यवाद के पात्र हैं, अथवा मैं आपका दास हूँ, नौकर हूँ, बिका हुआ गुलाम हूँ, संदेशवाहक चाकर हूँ । आदेश दीजिये, अब मैं आपकी क्या सेवा करूं ? [१७३-१७४]

उत्तर में विमलकुमार बोला—महापुरुष ! इस प्रकार शीघ्रता करने की और मेरा आभार मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । मैं आपकी स्त्री को बचाने वाला कौन होता हूँ । वास्तव में तो आपने ही अपने माहात्म्य से उसे बचाया है । भद्र ! मुझे यह दृश्य देखकर अत्यधिक कौतुक हो रहा है । क्या आप मुझे यह बताने का कष्ट करेंगे कि यह सब घटना कैसे घटित हुई और युद्ध-निमन्त्रण पर आपके आकाश में उड़ जाने के बाद क्या हुआ ?

उपरोक्त प्रश्न का सविनय उत्तर देते हुए उस देव-पुरुष ने कहा—यदि आपको यह घटना सुनने की वास्तविक उत्सुकता हो तो आप थोड़ी देर शान्ति से यहाँ बैठिये, क्योंकि यह कथा बहुत लम्बी है ।

फिर सभी लोग लतागृह में पृथ्वीतल पर आराम से बैठे और देव-पुरुष ने अपनी कथा प्रारम्भ की ।

* पृष्ठ ४८०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. रत्नचूड की आत्मकथा

देव-पुरुष ने अपनी सुन्दर स्त्री के समक्ष विमल और मुझे सुनाते हुए अपनी आत्मकथा प्रारम्भ की। देव-पुरुष ने कहा—

रत्नचूड का परिचय

शरद् ऋतु के शांत चन्द्र के किरण-समूह जैसा श्वेतरजोमय वैताढ्य नामक एक पर्वत है। इस पर्वत की उत्तर और दक्षिण दो श्रेणियाँ हैं। उत्तर श्रेणी में ६० विद्याधरों के और दक्षिण श्रेणी में ५० विद्याधरों के नगर बसे हुए हैं। वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणी में गगनशेखर नामक एक नगर है। इस नगर का राजा मणिप्रभ और उसकी रानी कनकशिखा है। इनके रत्नशेखर पुत्र और रत्नशिखा एवं मणिशिखा नामक दो पुत्रियाँ हैं। रत्नशिखा का विवाह मेघनाद विद्याधर के साथ और मणिशिखा का अमितप्रभ विद्याधर के साथ हुआ है। मैं रत्नशिखा और मेघनाद का पुत्र हूँ। मेरा नाम रत्नचूड है। मणिशिखा और अमितप्रभ के दो पुत्र हैं जिनके नाम अचल और चपल हैं। अचल और चपल मेरी मौसी के पुत्र होने से मेरे भाई हुए। मेरे मामा रत्नशेखर का विवाह रतिकान्ता से हुआ, जिससे उन्हें एक पुत्री हुई जिसका नाम उन्होंने आम्रमंजरी रखा। वही आम्रमञ्जरी अभी आपके समक्ष इस लतामण्डप में बैठी हुई है। मेरी मौसी के पुत्र अचल, चपल, मैं और आम्रमञ्जरी, हम सब बचपन में एक साथ ही क्रीडा करते थे। क्रमशः हम सब कुमारावस्था को प्राप्त हुए और कुलक्रम से चली आ रही विद्याधरों की सारी विद्याओं का हमने अभ्यास किया।

रत्नचूड को धर्मप्राप्ति

इधर मेरे मामा रत्नशेखर की बचपन से ही चन्दन नामक सिद्धपुत्र के साथ मित्रता थी। यह सिद्धपुत्र सर्वज्ञ प्ररूपित आगम-शास्त्रों में अत्यन्त निपुण था और निमित्तशास्त्र, ज्योतिष, मंत्र-तन्त्र तथा मनुष्यों के लक्षणों को समझने में भी बहुत कुशल था। उसकी संगति से मेरे मामा रत्नशेखर भी सर्वज्ञभाषित धर्म के अनुरागी और दृढ़ भक्त बने। मेरे मामा ने इस श्रेष्ठ जैन-धर्म का ज्ञान मेरे माता-पिता (रत्नशिखा, मेघनाद) और मुझे भी करवाया।* एक समय सिद्धपुत्र चन्दन

---

* पृष्ठ ४८१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने मेरे लक्षण देखकर मेरे पिता और मेरे मामा से कहा कि तुम्हारा यह बालक एक दिन विद्याधरों का चक्रवर्ती बनेगा। [१७५—१७८]

रत्नचूड-आम्रमञ्जरी का लग्न : अचल-चपल का द्वेष और प्रपञ्च

इसी बीच मैंने (वामदेव) कहा—कुमार! तुमने इसके लक्षण देखकर कहा था कि यह पुरुष चक्रवर्ती होगा, पूर्ण सत्य है। मेरी बात सुनकर विमल ने कहा—मित्र वामदेव! मैंने जो कुछ कहा वह मेरा मनगढन्त कथन नहीं था, किन्तु आगम-वचन था। आगम-वचन सत्य ही होते हैं, अतः इसमें विसंवाद या संशय को स्थान ही प्राप्त नहीं होता। रत्नचूड पुनः कहने लगा—

मैं और मेरे मामा एक धर्म को मानने वाले होने से साधर्मिक (सहधर्मी) थे। उनके विचारों के अनुसार मैं सुलक्षणों (योग्य लक्षणों) से युक्त था अतः उन्होंने अपनी पुत्री आम्रमंजरी का विवाह मेरे साथ कर दिया। मेरी मौसी के लड़के अचल और चपल को यह बात अच्छी नहीं लगने से वे कुपित हो गये और ईर्ष्यावश मुझे नीचा दिखाने के अनेक प्रयत्न करने लगे, पर वे अपने प्रयत्नों में सफल नहीं हुए। तब वे मुझे हराने के लिये तुच्छ प्रपञ्च करने लगे और मेरे दोष ढूंढने लगे। जब मुझे उनके प्रपञ्चों का पता लगा तब यह सोच कर कि कहीं असावधानी में मेरी हत्या न हो जाय, मैंने उनके कार्यों पर दृष्टि रखने के लिये मुखर नामक गुप्तचर को नियुक्त किया जो उनके षड्यन्त्रों का पता लगा कर मुझे सूचित करता रहता था। एक बार उस मुखर गुप्तचर ने मुझे सूचित किया कि अचल और चपल ने महान् प्रयास से किसी के पास से काली नामक विद्या प्राप्त की है और अब वे उसे सिद्ध करने के लिये किसी गुप्त स्थान पर गये हैं। मैंने अपने गुप्तचर से कहा—भद्र! जब वे इस विद्या को सिद्ध कर वापिस लौटें तब मुझे सूचित करना। मुखर ने मेरी आज्ञा शिरोधार्य की।

आज प्रातः मेरा गुप्तचर वापिस मेरे पास आया और मुझे बतलाया कि, देव! अचल और चपल काली विद्या सिद्ध कर वापिस लौट आये हैं। उनके बीच जो गुप्त संकेत वार्ता हुई थी उसे मेरे गुप्तचर ने समझ लिया था और उसने मुझे बताया कि गुप्तमन्त्रणा करते हुए अचल ने कहा—'भाई चपल! मैं रत्नचूड के साथ युद्ध करूंगा उस समय तू आम्रमंजरी का हरण कर लेना।' हे कुमार! अब आगे आप जैसा उचित समझें वैसा करें।

गुप्तचर की बात सुनकर मैंने विचार किया कि यद्यपि ये दोनों विद्या से शक्तिमान बन गये हैं तथापि मैं इन्हें हराने में समर्थ हूँ, परन्तु ये दोनों अचल और चपल मेरी मौसी के लड़के होने से मेरे भाई हैं। अतः इन्हें मारना तो उचित नहीं है, क्योंकि इससे मेरा लोकापवाद (लोगों में मेरी निन्दा होगी) और धर्म का नाश होगा। किन्तु, यह चपल तो दुष्टाचरण और दुष्ट प्रकृति वाला है। यदि वह छल-कपट द्वारा मेरी पत्नी आम्रमञ्जरी को उठाकर ले जाय और उसे मार दे या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैरान करे तो उसे फिर से ग्रहण करने में अथवा उसका त्याग करने से लोगों में मेरी अपकीर्त्ति होगी। जब मैं अचल के साथ युद्ध करूं तब मेरी पत्नी की रक्षा कर सके ऐसा कोई बलवान व्यक्ति भी मुझे इस समय दिखाई नहीं देता। अतः अच्छा तो यही होगा कि इस समय मैं अपनी पत्नी को लेकर इस स्थान से कहीं दूर चला जाऊं।

अचल के साथ युद्ध और उसकी पराजय

यही सोचकर मैं आम्रमञ्जरी को लेकर गगनशेखर नगर से चल पड़ा। यह क्रीडानन्दन उद्यान मैंने पहले भी कई बार देखा था अतः उसे लेकर मैं यहीं इस लतामण्डप में आ गया। उसके कुछ देर पश्चात् ही हमें ढूंढते हुए अचल और चपल भी यहाँ आ गये। आकाश में रहकर अचल ने मुझे तिरस्कार पूर्ण कटु वचन सुनाये और युद्ध के लिये निमन्त्रित किया। उन कठोर वचनों को सुनकर मेरे मन की स्थिति कैसी दुविधाजनक हो गई थी, बतलाता हूँ।

एक ओर मेरी प्रिय प्रेममूर्ति प्रिया के स्नेह-तन्तु मुझे बांध रहे थे और दूसरी ओर शत्रु का युद्ध-रस का निमन्त्रण मुझे युद्ध के लिये ललकार रहा था। मेरे हृदय की ऐसी स्थिति हो गई थी कि न उठा जाता था और न रहा जाता था। मैं मानसिक द्वन्द्व के कारण निर्णय करने में मूढ सा बन गया था, मानों किसी भूले पर भूल रहा होऊँ। अर्थात् उस समय न तो मैं मेरी पत्नी को अकेली छोड़कर जाना चाहता था और न अचल-चपल के युद्ध निमन्त्रण को भुलाकर कायर ही कहलाना चाहता था। [१७६–१८०]

अन्त में मैं एकदम प्रबल क्रोधावेश* में आकर अचल की ओर दौड़ा तथा उसके साथ युद्ध करने लगा। हमारी लड़ाई कैसी स्थिति में हुई और मैंने कैसे अचल को पराजित किया यह तो आपने स्वयं देखा ही है। जैसे ही अचल हार कर भागने लगा मैंने भी तुरन्त उसका पीछा किया। जब मैं उसके निकट पहुँचा तब मैंने भी उसे कटु वचनों द्वारा अत्यधिक ललकारा, तब वह रुका और एक बार फिर हमारा युद्ध हुआ। मैंने प्रबल सपाटे से उस पर प्रहार किया जिससे उसकी हड्डियां टूट गईं और वह आकाश से जमीन पर गिरा। उसके अंगोपांग चूर-चूर हो गये, उसकी शक्ति नष्ट हो गई, दीनता आ गई, उसकी विद्याओं का प्रभाव नहीं चला और वह हलन-चलन रहित निष्पन्द सा हो गया।

आम्रमञ्जरी का स्मरण

मैंने सोचा कि अचल तो अब ऐसा हो गया है कि फिर से लड़ने के लिये मेरे सामने आने की हिम्मत नहीं करेगा, किन्तु आम्रमञ्जरी को अकेली छोड़ कर मैं इसके पीछे लगा, यह तो आकाश में मुट्ठी मारने या दाल को छोड़कर उसके

---

* पृष्ठ, ४८२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छिलके खाने जैसा हो गया। बेचारी अकेली आम्रमञ्जरी तो भय से ही मर गई होगी, अथवा चपल उसे अकेली देखकर अवश्य ही पकड़ कर ले गया होगा।

[१८१—१८२]

अरे! मैंने यह कैसा बिना सोचे-विचारे काम किया! अवश्य ही वह पापी उसे उठा ले गया होगा और लेकर न जाने कहाँ चला गया होगा। अब वह दुरात्मा पापी चपल कहाँ गया होगा? खैर, चल कर देखूं तो सही। ऐसा सोचकर त्वरित गति से मैं वहाँ से लौटा। मैं थोड़ा ही चला था कि चपल मुझे सामने आता हुआ मिला।

चपल की पराजय

दूर से चपल को आते देखकर ही मेरे मन में अनेक तर्क-वितर्क उठने लगे। मैं सोचने लगा कि, अरे! यह चपल यहाँ कैसे आ गया? क्या आम्रमञ्जरी इस पापी को दिखाई ही नहीं दी? अथवा कहीं उसने इसकी विषयसुख भोगने की इच्छा का विरोध किया हो और इस पापी ने उसे मार ही न दिया हो! कुछ भी हो यह तो निश्चित है कि यदि आम्रमञ्जरी जीवित होती और इस पापी के हाथ में आने जैसी होती तो यह उसे छोड़कर यहाँ अचल के पीछे नहीं आता। कहा भी है :—

एकान्त स्थान में ढक्कन रहित दही से भरी हुई मटकी को देखकर और दही के स्वाद को जानते हुए भी, ऐसा कौनसा मूर्ख कौवा होगा जो उसे छोड़कर अन्य स्थान को जायेगा? [१८३]

इससे अनुमान होता है कि आम्रमञ्जरी जीवित ही नहीं है। यदि वह जीवित होती तो उसे छोड़कर चपल यहाँ कदापि नहीं आता। मैं मेरे मन में ऐसी ही अनेक प्रकार की सच्ची-झूठी आशंकायें कर रहा था तब तक चपल मेरे पास आ गया। वह शीघ्र ही मुझ से युद्ध करने लगा। उसे भी मैंने अचल की ही भांति पराजित कर जमीन पर गिराया और उसकी भी अचल जैसी ही गति हुई।

अचल और चपल दोनों को हराकर मैं सोचने लगा कि क्या मेरी प्रिय पत्नी मर गई है? क्या उसे किसी ने नष्ट कर दिया है या कहीं छुपा कर रख दिया है? या उसे किसी अन्य के हाथ में सौंप दिया है? इस प्रकार प्रिय पत्नी के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की कुविकल्प विचार रूपी तरंगमालाओं के मध्य मन रूपी नदी में डूबता-उतराता मैं यहाँ आ पहुँचा। स्नेह शंकाशील होता ही है। यहाँ आते ही मैंने अपनी प्रिया को पूर्णरूप से सुरक्षित देखा तो मेरे जो में जी आया, मेरा हृदय प्रफुल्लित हुआ, मेरे सम्पूर्ण शरीर में आनन्द व्याप्त हो गया, मेरा रोम-रोम पुलकित हो गया, मेरी चेतना स्थिर हो गई, मेरे सारे शरीर में शांति ही शांति व्याप्त हो गई और हर्ष से मेरा शरीर उद्वेलित हो उठा। मेरे चित्त में जो उद्वेग था, वह समाप्त हुआ। मेरी प्रियतमा ने आपके विषय में मुझे सब कुछ बताया तथा आपके माहात्म्य से कैसी अद्भुत घटना घटित हुई थी उस सब का वर्णन किया।

इस प्रकार संक्षेप में मेरी आत्मकथा समाप्त हुई, कहकर रत्नचूड ने अपना कथन समाप्त किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. विमल, रत्नचूड और आम्रमञ्जरी

रत्नचूड का आभार-प्रदर्शन

आत्मकथा पूरी कर रत्नचूड ने आगे बात चलायी। धीर पुरुष, भाई विमल ! आपने मेरी प्रियतमा की रक्षा कर वास्तव में मेरे ही जीवन की रक्षा की है। उसकी रक्षा से आपने मेरे कुल की उन्नति की है और मुझे विशुद्ध यश प्राप्त करवाया है। [१८४]

महानुभाव ! मैं आपकी प्रशंसा में* अधिक क्या कहूँ ? इस संसार में ऐसी कोई वस्तु या विषय नहीं जिसे आपने मेरे लिये न किया हो, अर्थात् आपने मेरा सब कुछ कर दिया है। [१८५]

लोक में कहावत है कि उपकार का बदला चुकाना तो वणिकों (व्यापारियों) का धर्म है, इसमें क्या विशेषता है ? पर जो प्राणी उपकार का बदला चुकाने से मुंह चुराता हो, उसे तो पशु ही समझना चाहिये। किये गये उपकार का बदला न चुकाने वाला मनुष्य हो ही नहीं सकता। अतः हे विमल कुमार ! आप मुझ पर कृपा कर मुझे आज्ञा प्रदान करें कि आपको क्या प्रिय है ? मैं आपका सेवक आपके लिये वह कार्य करने को तत्पर हूँ। [१८६-१८७]

विमल—हे कृतज्ञश्रेष्ठ ! आपको ऐसे संभ्रम में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। आज मुझे आपके दर्शन से क्या प्राप्त नहीं हुआ ? अर्थात् सब कुछ प्राप्त हो गया। इससे अधिक प्रिय मुझे और क्या हो सकता है ? कहा है :—

सज्जन व्यक्ति का एक मीठा बोल हजारों मोहरों से अधिक मूल्यवान है, ऐसे भाग्यवान का दर्शन मिलना तो लाखों मोहरों से भी अधिक कीमती है और करोड़ों मोहरें खर्च करने पर भी ऐसे सज्जन भाग्यवान पुरुष के हृदय के साथ भाव-पूर्वक मिलन तो अति दुर्लभ है। [१८८]

हे भद्र ! मैंने आपका ऐसा क्या काम कर दिया है कि जिससे उसका बदला चुकाने के विषय में आप इतने व्यग्र हैं ?

विमल का उत्तर सुनकर रत्नचूड ने अपने मन में विचार किया कि ऐसा सज्जन पुरुष किसी भी वस्तु की मांग तो क्या करेगा ? पर, मुझे तो मेरे इस अकारण मित्र का कुछ न कुछ प्रत्युपकार तो अवश्य ही करना चाहिये। अन्यथा मेरे

---

* पृष्ठ, ४८३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन को शांति नहीं मिलेगी। ऐसा सोचकर रत्नचूड ने अपने हाथ में एक रत्न प्रकट किया, जो देखने में इतना असाधारण था कि उसमें भूरा, लाल, पीला, सफेद और काला कौनसा रंग है, कुछ भी स्पष्टतया कहा नहीं जा सकता था। इसके प्रकट होते ही चारों दिशाएँ जगमगा उठीं। यह रत्न सभी रंगों से सुशोभित इन्द्रधनुष जैसा था और अपनी किरणों की प्रभा सर्वत्र फैला रहा था। यह रत्न विमल को दिखाते हुए रत्नचूड ने कहा—भाई विमल ! यह रत्न समस्त प्रकार के रोगों को दूर करने वाला, महाभाग्यवान, संसार से दारिद्र्य को नष्ट करने वाला, मोर पंख के समान सब रंगों वाला और गुणों में चिन्तामणि रत्न जैसा है। देवताओं ने मेरे कार्य से प्रसन्न होकर प्रसन्नता से यह रत्न मुझे अर्पित किया था। इस रत्न में यह विशेषता है कि इस लोक में यह मनुष्यों की सकल इच्छाओं की पूर्ति करता है। [१८८–१९२]

प्रिय बन्धु कुमार ! कृपा कर आप इस रत्न को ग्रहण करें। जब तक आप इस रत्न को नहीं लेंगे तब तक मेरे चित्त को शांति नहीं मिलेगी।

रत्नचूड के अत्याग्रह के उत्तर में विमल बोला –महात्मा बन्धु ! आप इस विषय में थोड़ा भी आग्रह नहीं करें और न अपने मन में संताप ही करें। आपने दिया और मैंने ले लिया, फिर क्या बाकी रहा ? देखो भाई ! यह देव प्रदत्त अमूल्य रत्न तो आपके पास रहे तो ही अच्छा है, अतः आप इसे संभाल कर रखें और मन में किसी भी प्रकार का संकल्प-विकल्प न करें।

तब आम्रमञ्जरी बोली—बन्धु विमलकुमार ! आर्यपुत्र की इस अभ्यर्थना (इच्छा) को आप भंग न करें। देखिये कहा भी है :—

चित्त में स्पृहारहित होने पर भी सत्पुरुष प्रेम से प्रेरित होकर दान देने को उद्यत दानी की प्रार्थना को कदापि भंग नहीं करते, क्योंकि उनमें इतनी दाक्षिण्यता (दयालुता) होती है कि वे किसी को मना कर उसका दिल नहीं तोड़ सकते। [१९३]

महर्घ्य रत्न-प्राप्ति पर भी निःस्पृहता

आम्रमञ्जरी की बात सुनकर विमल उत्तर दे ही रहा था कि रत्नचूड ने आदरपूर्वक देवता द्वारा प्राप्त वह रत्न दिव्य वस्त्र में लपेटकर (मूल्यवान डिबिया में रखकर) विमल के वस्त्र के पल्ले में बांध दिया।* ऐसे अद्भुत और महर्घ्य रत्न के प्राप्त होने पर भी इच्छारहित मध्यस्थ भावधारक विमल के चेहरे पर हर्ष का कोई भाव प्रकट नहीं हुआ। विमल के ऐसे गुण को देख कर रत्नचूड के हृदय में विमल के प्रति अत्यधिक आदर भाव जागृत हुआ। उसके नेत्र विस्मय से विकसित हो गये और वह मन में सोचने लगा कि, अहा ! इस भाई का माहात्म्य तो कुछ अपूर्व ही लगता है। ऐसी निःस्पृहवृत्ति तो कहीं देखने में नहीं आई। इस कुमार का चरित्र

* पृष्ठ ४८४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो मनुष्य लोक में दिखाई देने वाले साधारण पुरुषों से अत्यन्त भिन्न प्रकार का अलौकिक ही लगता है। जिन महात्मा पुरुषों का चित्तरत्न ही ऐसा अमूल्य एवं असाधारण हो गया हो, उन्हें बाह्य निर्जीव रत्नों से प्रयोजन भी क्या है ? वास्तव में अनेक भवों से जिन्होंने धर्म कार्यों से अपने चित्त को रंग लिया हो, ऐसे पुण्यशाली जीवों का ही चित्त ऐसा होता है। जो प्राणी सर्वदा पापी, शुद्ध धर्म से बहिष्कृत और तुच्छ-वृत्ति के होते हैं, उनका ऐसा निर्मल चित्त कदापि नहीं हो सकता।

[१६४–२०१]

विमल का परिचय

उपरोक्त विचारानन्तर रत्नचूड ने पुनः विचार किया कि, मुझे इस कुमार के सम्बन्ध में पूरा पता लगाना चाहिये कि यह कहाँ का निवासी है ? क्या नाम है ? इसके पिता कौन हैं ? इसका गोत्र क्या है ? यह यहाँ क्यों आया है और इसका व्यवहार कैसा है ? इस बारे में मुझे कुमार के मित्र से पूछना चाहिये। ऐसा विचार कर समाधान हेतु रत्नचूड मुझे एकान्त में ले गया और मुझ से सब बातें पूछीं। मैंने (वामदेव के रूप में संसारी जीव ने) कहा कि यहीं पास ही वर्धमानपुर नामक नगर है, जहाँ क्षत्रिय कुलोत्पन्न धवल राजा राज्य करते हैं, यह विमल उनका पुत्र है। आज प्रातः उसने मुझसे कहा कि लोगों से ऐसा सुना है कि अपने नगर के बाहर एक क्रीड़ानन्दन नामक अत्यधिक रमणीय उद्यान है। यह उद्यान हमने पहले कभी नहीं देखा, इसलिये चलो आज इसे ही देखें। कुमार की इच्छा और आज्ञा को मान देकर हम दोनों इस उद्यान में आये। फिर हमने दूर से आप दोनों के शब्द सुने। शब्द किसके हैं ? यह जानने की जिज्ञासा हुई, अतः हम उस ओर चल पड़े जिस दिशा से शब्द आ रहे थे। चलते-चलते हमें पृथ्वीतल पर दो प्रकार के पांवों के निशान दिखाई दिये, जिससे हम जान गये कि कोई स्त्री-पुरुष इधर से गये हैं। फिर आगे बढ़कर हमने लतामण्डप में आप दोनों को देखा। विमलकुमार सामुद्रिक शास्त्र के माध्यम से मनुष्य के लक्षण भली प्रकार जानता है, अतः उसने उन लक्षणों के आधार से बताया कि इनमें से जो पुरुष है वह चक्रवर्ती बनेगा और साथ में जो स्त्री है वह चक्रवर्ती की पत्नी बनेगी। इस प्रकार हमारा यहाँ आने का यही प्रयोजन था। कुमार का समग्र व्यवहार विद्वानों द्वारा प्रशंसनीय है, लोग उसका सन्मान करते हैं, वह बन्धुओं में आह्लाद उत्पन्न करता है, मित्रों को उसका व्यवहार प्रिय है और मुनिगण भी उसके व्यवहार की स्पृहा करते हैं। अभी तक इसने किसी भी तत्त्व ज्ञान के मत को स्वीकार नहीं किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. विमल का उत्थान : देवदर्शन

[स्वभाव से निःस्पृह, दाक्षिण्यवान और महासत्त्ववान विमलकुमार का परिचय रत्नचूड विद्याधर को हुआ। रत्नचूड ने राजकुमार को पहचाना, उसकी निःस्पृहवृत्ति का स्वयं अनुभव किया और उसके विशाल हृदय की निर्लोभ वृत्ति का प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया।]

मुझसे कुमार का परिचय सुनकर रत्नचूड अपने मन में विचार करने लगा कि इसे भगवान् की प्रतिमा का दर्शन कराना चाहिये। मुझे लग रहा है कि भगवान् की प्रतिमा के दर्शन से इस पर महानतम उपकार होगा और प्रत्युपकार करने का मेरे मन में जो मनोरथ है वह भी पूर्ण होगा।

क्रीडानन्दन वन में युगादीश प्रासाद

उपरोक्त विचार करने के पश्चात् रत्नचूड और मैं कुमार के पास आये और रत्नचूड ने विमल से कहा*--मित्र कुमार! कुछ समय पूर्व मेरे मातामह (नाना) मणिप्रभ इस उद्यान में आये थे तब उन्हें यह क्रीडानन्दन वन अत्यन्त कमनीय प्रतीत हुआ था। उद्यान की प्राकृतिक छटा से हर्षित होकर उन्होंने विद्याधरों के आने के लिये यहाँ एक अद्‌भुत सुन्दर और विशाल मन्दिर का निर्माण करवाया और उसमें युगादिदेव श्री आदिनाथ देव के बिम्ब को प्रतिष्ठित किया था। (स्थापना की)। इसीलिए मैं इस उद्यान में पहले भी कई बार आया हूँ। यह मन्दिर और बिम्ब अतिशय सुन्दर है, आप भी इसे देखने की कृपा करें। विमल बोला—जैसी मित्र की इच्छा। उत्तर सुनकर रत्नचूड हर्षित हुआ। हम सब भगवान् के मन्दिर की तरफ गये और देव-प्रासाद को देखा।

यह मन्दिर स्वच्छ स्फटिक रत्न की कान्तिवाला, सोने से मढा हुआ, शरद् ऋतु में विद्युत्वलय की चमक से घिरे बादलों के समान शोभित हो रहा था। हीरे, रत्न और माणक-मणियों के तेज से अन्धकार दूर हो रहा था और उनका प्रकाश दूर से ही दिखाई दे रहा था। [२०२-२०३]

दैदीप्यमान अत्यन्त स्वच्छ और निर्मल स्फटिक मणियों से निर्मित आंगन (फर्श) और सोने के स्तम्भ विशाल प्रासाद को रमणीय बना रहे थे। स्तम्भों पर जड़े हुए लाल प्रवाल की किरणों से लटकती हुई मोतियों की मालायें

---

* पृष्ठ ४८५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी रक्तिम लग रही थीं। लटकती हुई मोतियों की मालाओं के झूलों में जड़े हुए मरकत (नीले) रत्नों की किरणों से श्वेत चामर (चंवर) भी श्याम वर्णी प्रतीत हो रहे थे। श्वेत चामरों में लगे स्वर्ण निर्मित दंडों से छत में जड़े हुए काच भी पीतवर्णी (पीले) दिखाई देते थे। काचमण्डल में जहाँ-जहाँ लाल रंग की मणियों के टुकड़ों से हारमालायें जड़ी हुई थीं और इन मणियों की हारमाला के नीचे शुद्ध स्वर्ण की किंकिणी जाल (घूघरों की लड़ें) लटकाई हुई थीं। ऐसे अनुपम सौन्दर्य वाले मन्दिर में प्रवेश कर हम सब ने भगवान् आदिनाथ की प्रतिमा के दर्शन किये।

विमल को जाति-स्मरण ज्ञान

स्वर्ण निर्मित भगवत्प्रतिमा मनोहारिणी थी, विकार रहित थी, झूंठे आडम्बरों से मुक्त थी, अतीव शान्त और दैदीप्यमान थी तथा इस मूर्ति की प्रभा चारों दिशाओं में फैल रही थी। [२०४]

साथ में आये हम चारों व्यक्तियों ने अत्यन्त उल्लसित भाव से हर्ष से आँखें विस्फारित कर जिन-बिम्ब के दर्शन किये और भगवान् आदिनाथ को नमन किया। रत्नचूड और आश्रमञ्जरी ने भी जिन-प्रतिमा की विधि-पूर्वक वन्दना की, उस समय पवित्र आनन्द की उर्मियों के उल्लास से उनका शरीर पुलकित एवं रोमांचित हो गया था।

चराचर तीनों लोकों के समस्त जीवों के बन्धु युगादीश भगवान् के बिम्ब को देखते ही विमलकुमार का जीववीर्य अतिशय उल्लसित एवं प्रस्फुटित हुआ, उसने बड़े-बड़े कर्म के जाले तोड़ दिये, उसकी सद्बुद्धि में वृद्धि हुई और गुणों के प्रति दृढ़ अनुराग उत्पन्न हुआ। वह सोचने लगा —

अहा! भगवान् का कैसा कमनीय और मनोहारी रूप है! इस बिम्ब में कैसी अलौकिक सौम्यता है! अहा इसका निर्विकारीपन! अहो इसकी अतिशयता! अहो इसका कितना अचिन्त्य माहात्म्य है, अद्वितीय प्रभाव है! अहा! इनके इस प्रकार के निष्कल मनोहर आकार से ही अनन्त गुण-समूह की महत्ता स्पष्ट दिखाई देती है। प्रतिमा के दर्शन से ही यह सुनिश्चित प्रतीत होता है कि ये देव वीतराग हैं, वीतद्वेष हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं। [२०५–२०६]

इस प्रकार चिन्तन करते-करते ही विमल ने मध्यस्थ भाव से स्वकीय आत्मा के साथ लगे कर्म-मल को कितने ही अंशों में* क्षय कर दिया और उसे जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया, जिससे उसे पूर्व-भवों की समस्त घटनायें (चित्रपट के समान) याद आने लगीं। अपने पूर्व-जन्मों के दृश्य देखकर वह इतना रस-विभोर हो गया कि उसे मूर्छा आ गई। वह मन्दिर के फर्श पर गिर गया, जिसे देखकर सब सम्भ्रम

---

* पृष्ठ ४८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(विचार) में पड़ गये कि कुमार को क्या हो गया ? तुरन्त उसके शरीर पर शीतल पवन की गई जिससे उसकी मूर्छा दूर हुई और चेतना आई। उसे जागृत होते देखकर रत्नचूड ने सादर पूछा—मित्र विमल ! ऐसे अद्‌भुत देवालय में तुम्हें क्या हो गया ? ऐसे स्थान पर मूर्छा आने का क्या कारण हुआ ? [२०७–२१०]

रत्नचूड के प्रश्न को सुनकर विमल में फिर से भक्तिभाव जागृत हो गया, शरीर रोमांचित हो गया, हर्ष से नेत्र प्रफुल्लित हो गये और दोनों हाथ जुड़ गये। उसी स्थिति में खड़ा होकर वह रत्नचूड के दोनों पांव पकड़ कर हर्षाश्रुपूर्ण डबडबाये नेत्रों से पुनः पुनः उसे प्रणाम करने लगा और बोला—हे मित्र ! तू ही मेरा शरीर, मेरा प्राण, मेरा भाई, मेरा नाथ, मेरे माता-पिता, मेरा गुरु, मेरा देव और मेरा परमात्मा है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। हे धीर वीर उपकारी ! आपने मुझे समस्त पापपुञ्ज का प्रक्षालन करने में समर्थ और संसार की परिसमाप्ति करने वाली जिन-प्रतिमा का दर्शन करवाया। [२११–२१४]

हे रत्नचूड ! जिन-बिम्ब का दर्शन करवाकर आपने सर्वोत्कृष्ट सौजन्य का प्रदर्शन किया है, आपने मेरे लिये मोक्ष का द्वार खोल दिया है, मेरी संसार बेल को छिन्न-भिन्न कर दिया है, दुःख के जालों को मूल से उखाड़ कर सुख वृक्ष प्रदान किया है और मुझे परम सुखस्थान मोक्ष के निकट पहुँचा दिया है। हे परमोपकारी ! किन शब्दों में तेरे उपकार का वर्णन करूं ?

रत्नचूड–भाई ! तुम्हें क्या हो गया ? तू यह सब क्या कह रहा है ? मुझे तो कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है ?

पूर्वकालीन सुकृत्यों का स्मरण

विमल–आर्य ! भगवान् की प्रतिमा के दर्शन करने से मुझे जाति-स्मरण ज्ञान हो आया जिससे मुझे मेरे कई पूर्व-जन्मों की स्मृति स्पष्ट हो गई। पहले भी मैंने कई जन्मों में प्रेम और भक्तिपूर्वक भगवान् के बिम्ब के दर्शन किये हैं ऐसा मुझे याद आया। पूर्व-जन्मों में सम्यक् ज्ञान रूपी निर्मल जल से मैंने चित्तरत्न को बहुत बार स्वच्छ किया था। सम्यक् दर्शन द्वारा धर्म के सद् अनुष्ठानों को आत्मीभूत बनाया/अपनाया था। आत्मा को भावना द्वारा भावित कर भावनामय बना दिया था, साधुओं की उपासना/सेवा से अन्तःकरण को सुवासित बना दिया था, समस्त प्राणीवर्ग के प्रति मैत्री-भाव रखना तो मेरा स्वभाव ही हो गया था, गुणीजनों के गुणाधिक्य को देखकर मैं हृदय में आनन्द का अनुभव करता हुआ अंगांगीभाव/एकतार धारण कर चुका था, क्लेशग्रस्त प्राणी को देखकर चित्त में करुणा रस उमड़ पड़ता था, समझाने पर भी न समझने वाले लोगों के प्रति उपेक्षा भाव अधिक दृढ़ हो गया था, विषयजन्य सुख और दुःख के प्रति औदासीन्य वृत्ति अधिक निश्चल हो गई थी, शांतरस आत्मा में एकरस हो गया था, संवेग से पूर्णतया परिचित हो गया था, संसार पर वैराग्य/निर्वेद दृढ़ हो गया था, करुणा में अत्यधिक वृद्धि हो गई थी,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आस्तिकता सुदृढ़ हो गई थी, शुद्ध देव गुरु धर्म पर परिपूर्ण श्रद्धा हो गई थी, सद्गुरुओं पर अपूर्व भक्ति वृद्धि को प्राप्त हुई थी और उस समय तप-संयम तो घर के ही हो गये थे। इसीलिये आज भगवान् के बिम्ब के दर्शन करते ही उसके निष्कलंक भाव हृदय पर अवतरित होने लगे और मैं अमृत सिंचित प्रीति से पूर्ण, सुख से सराबोर और हर्ष-प्रमोद से आछन्न हो गया होऊं, ऐसा लगने लगा।

उस समय मेरे मन में आया कि, अहा! ये देव राग, द्वेष, भय, अज्ञान, शोक आदि से रहित हैं। ये प्रशान्त मूर्ति दिखाई देते हैं और* इनको देखने से नेत्र आनन्दित होते हैं। इनको बारम्बार देखने से मुझे अधिक आह्लाद होता है। इससे मुझे लगा कि मैंने निश्चित रूप से पहले भी कभी इन्हें भली प्रकार देखा है। यह चिन्तन करते हुए मैं लोकातीत अवर्णनीय रस—जो अनुभूति के द्वारा संवेद्य (स्मृति में आता) है और जो अत्यधिक सुन्दर है—में डूब गया। अपने एक पूर्व-जन्म में मुझे उत्तम सम्यक्त्व रत्न प्राप्त हुआ था, उस जन्म से आज के जन्म तक की सभी भूतकालीन घटनाओं का मुझे स्मरण हो आया। [२१५–२१८]

महात्मन्! मन्दिर में खड़े-खड़े ही मुझे यह जाति-स्मरण ज्ञान हो गया, अतः महान गुरु द्वारा प्राणियों को होने वाले लाभ को आपने मुझे आज ही प्राप्त करवा दिया है।

ऐसा कहते-कहते रत्नचूड के पांवों को विमलकुमार ने फिर पकड़ लिया और बोला--हे नरोत्तम! मेरी मूर्छा को लेकर चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। रत्नचूड विद्याधर ने उसे उठाया और गले लगाकर स्वधर्मी-बन्धु की तरह अत्यन्त विनयपूर्वक उसे प्रणाम किया।

७. विमल का उत्थान : गुरु-तत्त्व-परिचय

[रत्नचूड ने वास्तव में उपकार का बदला चुकाया। देव दर्शन करवाकर विमल की आत्मा को मोक्ष के प्रति उन्मुख किया जिसके लिए विमल रत्नचूड का आभार मान रहा था। रत्नचूड विमल के उपकार का बोझ नहीं सह सका, क्योंकि वह स्वयं विमल के उपकार से दबा हुआ था। हे अगृहीतसंकेता! फिर रत्नचूड ने विमल को गुरु-तत्त्व का परिचय कराया, सुनो।]

---

* पृष्ठ ४८७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपकार-कीर्तन

प्रणाम कर रहे विमल को उठाकर रत्नचूड ने स्वधर्मीबन्धु की भांति स्वयं प्रणाम किया और बोला—कुमार ! मेरा मानसिक उत्साह और मेरे मन के सभी मनोरथ एक क्षण मात्र में पूर्ण हुए हैं तथा प्रत्युपकार करने की मेरी इच्छा भी पूर्ण हुई है, क्योंकि जिस महान तत्त्वज्ञान एवं तत्त्वमार्ग का तुझे पूर्व-जन्म में परिचय हुआ था, उसे इस जन्म में स्मरण कराने में मैं निमित्त बना। मेरी भावना पूर्ण हुई। हे कुमार ! तुझे जो इतना अधिक हर्ष हो रहा है वह ठीक ही है। कहा भी है :—

सन्नारी, पुत्र, राज्य, धन, मूल्यवान रत्न या स्वर्ग के सुख मिलें तब भी महात्मा पुरुषों को संतोष नहीं होता है, क्योंकि ये सभी सुख तुच्छ, बाह्य और अल्प-कालीन हैं, अतः विचारशील धीर-पुरुषों को तो इनसे संतोष हो ही नहीं सकता। इस महा भयंकर भव-समुद्र में अति दुर्लभ जैनेन्द्र मार्ग की प्राप्ति होने पर ऐसे महात्मा पुरुषों का हृदय हर्ष से परिपूर्ण हो जाता है। कारण यह है कि सर्वज्ञ-प्ररूपित धर्म की प्राप्ति होते ही प्राणी समता सुख रूपी अमृत के स्वाद का अनुभव करता है और उसके मन में प्रतीति होती है कि अनन्त आनन्दपूर्ण मोक्ष को प्राप्त करवाने में यही निश्चितरूप से साधन बन सकता है। अतएव सर्वज्ञ मार्ग की प्राप्ति से सज्जन पुरुषों को हर्ष और उल्लास क्यों न हो ? [२१६–२२३]

सभी प्राणी अपनी शक्ति के अनुसार फल प्राप्त करना चाहते हैं। कुत्ते को तो रोटी का टुकडा मिलने से वह सन्तुष्ट हो जाता है, किन्तु सिंह को अपने पराक्रम से हाथी का शिकार कर उसके मांस से ही संतोष होता है। चूहे को चावल के दाने मिल जाय तो ऊंचा-नीचा होकर नाचने लगता है, जब कि हाथी को तो सुभोजन देने पर भी वह उपेक्षा से ही ग्रहण करता है। [२२४–२२५]

जिन्हें तत्त्वज्ञान का दर्शन नहीं हुआ, वे मूढ़ प्राणी क्षुद्र मन वाले होते हैं और थोड़े से धन या राज्य की प्राप्ति होते ही फूलकर कुप्पा हो जाते हैं। [२२६]

धीर ! तुझे तो चिन्तामणि रत्न जैसा महामूल्यवान रत्न प्राप्त होने पर भी तूने इसे मध्यस्थ भाव (सहज भाव) से स्वीकार किया, किन्तु तुम्हारे मुख पर हर्ष की या विषाद की एक रेखा भी मैंने नहीं देखी। जब कि सन्मार्ग-लाभ (सर्वज्ञ मार्ग) की प्राप्ति से तेरा सारा शरीर रोमांचित हो गया और तुझे इतना अधिक आनन्द हुआ कि तेरे सारे शरीर में हर्ष के लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगे। हे श्रेष्ठ पुरुष ! तू वास्तव में धन्य है, साधुवाद का पात्र है। [२२७–२२८]

भाई ! मेरा इतना अधिक उपकार मानने की और मुझे गुरु मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। बार-बार मेरे पांवों में पड़कर मुझे लज्जित क्यों करते हो ?* मैंने ऐसा तुम्हें क्या दे दिया है ? मैं तो निमित्त मात्र हूँ। तू स्वयं ही ऐसी कल्याण-

* पृष्ठ ४८८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परम्परा के योग्य है, तुम में रही हुई पात्रता/योग्यता को देखकर ही मैंने तनिक-सा प्रयत्न किया था।

यद्यपि समग्र भावों को जानने वाले तीर्थंकरों को भी लोकान्तिक देव जागृत करते हैं तथापि वे देव तीर्थंकरों के उपदेशक या गुरु नहीं हो जाते, ऐसा ही मेरे विषय में समझो। [२२६-२३०]

विमल —महात्मन्! ऐसा मत कहो। तुमने मेरे लिये जो कुछ किया है उसकी तुलना लोकान्तिक देवों के आचार से नहीं की जा सकती। भगवान् को बोध लोकान्तिक देवों के निमित्त से नहीं होता, जबकि तुमने तो भगवान् के बिम्ब का दर्शन करवाकर मेरा सम्पूर्ण रूप से कल्याण किया है।

सर्वज्ञ-भाषित धर्म की प्राप्ति में जो भी प्राणी तनिक भी निमित्त/साधन बनता है वह परमार्थ से गुरु ही है। [२३१]

तुमने मुझे सर्वज्ञ धर्म की प्राप्ति करवाई, अतः तुम मेरे गुरु हो इसमें क्या संशय है? सद्गुरु का विनय एवं वैयावृत्य (सेवा) करना सज्जनों का कर्त्तव्य है, अतः तुम्हारे उपकार के बदले में मैं तुम्हारा विनय करूं यह तो मेरा कर्त्तव्य है। बन्धुवर! भगवान् की आज्ञा है कि स्वधर्मीबन्धु कैसी भी स्थिति का हो तब भी उसकी वन्दनादि विनय करनी चाहिए। तब मुझे सद्धर्म की प्राप्ति कराने वाले तुम्हारे जैसे महानुभाव का विनय न करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। किसी भी प्रकार की अपेक्षा या आकांक्षारहित होने से तू मेरा पवित्र सद्गुरु है, अतः तेरा विनय करना योग्य ही है। [२३२-२३४]

रत्नचूड—कुमार! ऐसा मत कहो। तुझमें इतने अधिक गुण हैं कि उन गुणों की अपेक्षा से तू देवताओं का भी पूज्य है, वस्तुतः तुम ही मेरे सत्गुरु हो, अतः तुम्हारा कथन किसी प्रकार उचित नहीं लगता। [२३५]

विरक्ति और कर्त्तव्य

विमल—सर्वगुण-सम्पन्न कृतज्ञ महामना पुरुषों का यह स्पष्ट लक्षण है कि वे अत्यन्त भक्तिपूर्वक अपने गुरु की पूजा करते हैं, उनकी सेवा करते हैं और उन्हें सन्मान देते हैं। जो प्राणी अपने गुरु का दास, भृत्य और गुलाम बनकर उनकी सेवा करने में लेश मात्र भी नहीं लजाता वही सच्चा महात्मा, पुण्यात्मा, भाग्यशाली, कुलवान, धैर्यवान, जगत् वन्दनीय, तपस्वी और विद्वान् है। जो शरीर गुरु की सेवा-शुश्रूषा में तत्पर रहता है वही सच्चा शरीर है। जो वाणी गुरु की स्तुति करती है, गुरु के गुणगान करती है वही सच्ची वाणी है और जो मन सदा गुरु में लवलीन रहता है वही सच्चा मन है। धर्मदान का उपकार करने वाले प्राणी के उपकार का बदला करोड़ों जन्मों तक उसकी सेवा करके भी नहीं चुकाया जा सकता।

[२३६-२४०]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाई ! मुझे तेरे साथ अभी निम्न विषय में विशेष रूप से विचार करना है। इस संसार रूपी कैदखाने से मेरा मन अब विरक्त हो गया है, विषय मुझे दुःख से आछन्न लगते हैं, प्रशमभाव लोकोत्तर अमृत के आस्वादन जैसा लगता है,* अतः अब मुझे गृहस्थ में न रहकर भागवती दीक्षा लेनी है। मेरे माता-पिता और बहुत से भाई-बन्धु भी हैं उनको भी प्रतिबोध प्राप्त हो, क्या ऐसा कोई मार्ग या उपाय है ? यदि मेरे माध्यम से किसी उपाय से उन्हें भी प्रतिबोध हो सके और वे भी भगवद्-भाषित धर्म को प्राप्त कर सकें, ऐसा कोई उपाय आपको ज्ञात हो तो विचार कर मुझे बतलाइये जिससे मैं तत्त्वतः बान्धव-कार्य का आचरण कर, उनका भी हित-साधक बन सकूं। अर्थात् उन पर तात्त्विक उपकार करने का मुझे अवसर मिल सके और मैं अपने कर्त्तव्य को पूर्ण कर सकूं, क्योंकि अन्य किसी प्रकार से मैं अपना कर्त्तव्य निभा सकूं यह सम्भव नहीं है।

बुधाचार्य-परिचय

रत्नचूड—भाई विमल ! हाँ, इसका मार्ग है। एक बुध नामक आचार्य हैं। यदि वे किसी कारणवश किसी प्रकार यहाँ पधार सकें तो आपके स्वजन सम्बन्धियों और ज्ञातिजनों को अवश्य ही प्रतिबोधित कर सकते हैं, क्योंकि ये आचार्य अतिशयों के निधान, अन्य प्राणियों के मन के भावों (विचारों) को जानने में निपुण, प्राणियों को प्रशम-रस की प्राप्ति करवाने में असाधारण, अद्वितीय विद्वान्, संयम-वान् और योग्य समय पर समयानुकूल वाणी बोलने में अतिशय विचक्षण हैं।

विमल—आर्य ! ऐसे असाधारण गुण-लब्धि-सम्पन्न बुधाचार्य को आपने कहाँ देखा ?

रत्नचूड—गई अष्टमी को इसी क्रीडानन्दन उद्यान के इसी मन्दिर में जब मैं अपने परिवार के साथ भगवान् की पूजा करने आया था तब इन पूज्य आचार्य को मैंने मन्दिर के बाह्य द्वार के पास देखा था। मन्दिर में प्रवेश करते समय मैंने महान् तपोधन मुनिवृन्द को देखा था। उनके मध्य में एक बड़े तपस्वी बैठे थे जो वर्ण से काले, आकृति से बीभत्स, त्रिकोण सिर वाले, बांकी-टेढ़ी लम्बी गर्दन वाले, चपटी नाक वाले, विकराल और छिदे-छिदे दांतों वाले, लम्बोदर, सर्वथा कुरूप और दर्शक को देखने मात्र से उद्वेग प्राप्त हो ऐसे थे। जो अति मधुर और गम्भीर स्वर से स्पष्ट समझ में आने योग्य वर्ण और उच्चारण से सुन्दर, भाव एवं अर्थपूर्ण भाषा में आकर्षक धर्मोपदेश सुना रहे थे। यह देखकर दूर से ही मेरे मन में विचार आया कि ये आचार्यश्री देशना तो उच्चकोटि की सुना रहे हैं, शब्द-गांभीर्य भी बहुत

* पृष्ठ ४८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अच्छा है किन्तु गुणानुसार उनका रूप नहीं है। इस प्रकार विचार करते-करते मैं मन्दिर में प्रविष्ट हुआ।

रत्नचूड का देव-पूजन

मन्दिर में पहुँचकर मैंने भगवान् के बिम्ब के साथ टकटकी लगा दी। मैंने भगवत्प्रतिमा के ऊपर से निर्माल्य (पूर्व दिन में अर्चित) फूल चन्दनादि उतारे, सम्मार्जन (मोरपींछी आदि से) किया, जल से प्रक्षालित कर स्वच्छ वस्त्र से पोंछ कर विलेपन किया, पूजन की, पुष्पों से शोभित किया, मंगल दीपक प्रज्ज्वलित किया, सुगन्धित धूप किया और समस्त प्रकार के सांसारिक, मन्दिर सम्बन्धी और द्रव्य पूजा सम्बन्धी कार्यों का प्रतिषेध किया। अनन्तर बैठने के स्थान का प्रमार्जन (शुद्ध) कर भूमि पर दोनों घुटने और दोनों हाथ टिका पर पञ्चांग प्रणाम कर भगवत्मुख की ओर दृष्टि को एकाग्र किया। सद्भावनाओं के कारण शुभ परिणाम बढ़ने लगे, हृदय में आत्यन्तिक भक्ति प्रकट हुई, नेत्र हर्षाश्रुओं से पूरित हो गये, शरीर रोमांचित हो गया और रोम-रोम प्रफुल्लित हो गया। मानो मेरा सारा शरीर कदम्ब पुष्प हो ऐसा विकस्वर हो गया। अत्यन्त भक्ति में लीन होकर अर्थज्ञानपूर्वक मैंने शक्रस्तव से प्रभु की स्तुति की, पञ्चांग प्रणाम किया और भूमि पर बैठ गया। फिर योग मुद्रा धारण कर सर्वज्ञ प्ररूपित प्रवचन एवं शासनोन्नतिकारक प्रधान (श्रेष्ठ) स्तोत्रों से भगवान् की स्तुति की। स्तुति करते-करते भगवान् के गुणों से अन्तःकरण रंग गया। तदनंतर* पुनः पञ्चांग प्रणाम कर, उसी अवस्था में प्रमोद में वृद्धि करने वाले आचार्यादि को नमस्कार किया। उसके बाद पुनः खड़ा होकर जिन मुद्रा धारण कर चैत्यवन्दन किया और अन्त में मुक्ताशुक्ति मुद्रा से प्रणिधान किया।

इसी बीच में मेरे परिवार ने भी भगवान् के सन्मुख चढ़ाने योग्य बलि-विधान (नैवेद्य) और स्नात्र पूजा के उपकरण (सामग्री) तैयार की तथा अलंकारों से गुम्फित श्रेष्ठ वस्त्र का चन्दरवा बांधा। तत्पश्चात् जिनाभिषेक-पूजन (स्नात्र पूजा) प्रारम्भ की। इस समय संगीत प्रारम्भ हुआ, कलकाहल (ढोल) बजाया जाने लगा, सुघोषा घंटा बजाया जाने लगा, नरघा और भाणक बजने लगे, दिव्य दुंदुभियों की स्वर-लहरी निकलने लगी, शंख का मधुरनाद होने लगा, पटह (नगारे) बजने लगे, मृदंग पर ताल दी जाने लगी और कंसालक की ध्वनि फैलने लगी। इस प्रकार इन वाद्ययंत्रों की स्वर-लहरी के साथ स्तोत्र पाठ (स्नात्र पूजा) की मधुर शब्दावली गुञ्जरित होने लगी। इधर एक ओर मन्त्र-जाप चल रहा था और उधर पुष्पवर्षा की गई। पुष्पों की सुगन्ध से आकृष्ट होकर भ्रमर पंक्ति झणझणाट/गुञ्जारव करने लगी। महामूल्यवान् रस, सुगन्धित औषधियां और पवित्र तीर्थों के जल से जगत् के समस्त प्राणियों के बंधु जिनेन्द्र प्रतिमा का आनन्दपूर्वक अभिषेक किया जाने लगा। तत्पश्चात् शांति एवं धीरजपूर्वक आम्रमंजरी ने अभिषेक-पूजन किया। आम्रमंजरी

---

* पृष्ठ ४९०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के साथ आगत समस्त सखियों ने भी हर्षित होकर समस्त उचित क्रियाएँ निष्पादित कीं और गायन तथा पूजा में उल्लासपूर्वक सम्मिलित हुईं। अन्त में महादान दिया गया और अन्य सभी आवश्यक क्रियाएँ पूर्ण की गयीं।

रत्नचूड का गुरु-दर्शन

इस प्रकार महदानन्द और उल्लास के साथ भगवान् का अभिषेक-पूजन पूर्ण कर साधु-वन्दना के लिये मैं मन्दिर से बाहर आया। मैंने देखा कि एक महा-तपस्वी आचार्य साधुवृन्द के मध्य में कमलासन पर विराजमान हैं। मन्दिर में प्रवेश करते समय जैसे मधुर गम्भीर वाणी से धर्मोपदेश कर रहे थे वैसा ही आकर्षक धर्मोपदेश अभी भी कर रहे थे। परन्तु, इस समय उनका रूप अनुपम सुन्दर था। वे रतिरहित कामदेव के समान, रोहिणीरहित चन्द्र के समान, शचीरहित इन्द्र के समान, तप्त उत्तम सुवर्ण के समान, द्युतिमान एवं तेजस्वी थे और स्वकीय देह-दीप्ति की प्रभा से आस-पास बैठे मुनिमण्डल को भी कंचनमय (पीतवर्णी) बना रहे थे। उनके पाँव के तलवे (पगथली) कछुए के समान उन्नत, नाड़ियों का जाल गूढ और छिपा हुआ, प्रशस्त शुभ लक्षणों से चिह्नित, दर्पण के समान जगमग करते हुए नाखून, दोनों चरणों की सुश्लिष्ट अंगुलियाँ, हस्तिशूण्ड के समान जंघाएँ, सिंह-शावक की लीला को भी तिरस्कृत करने वाली कठिन पुष्ट गोलाकार और विस्तृत कटि, प्रलम्बमान (घुटने को छूने वाली) भुजाएँ, मदोन्मत्त विशाल हाथी के कुम्भस्थल को भेदन करने में समर्थ हथेलियां, त्रिवली विराजित कण्ठ, चन्द्र एवं कमल की शोभा को भी हीन दिखाने वाला मुख, उत्तुङ्ग एवं सुस्थित नासिका, सुश्लिष्ट मांसल और प्रलम्ब कान, कमल दल की शोभा से भी अधिक शोभायमान एवं कमनीय आँखें, एक समान और मिली हुई दन्त-पंक्ति से स्फुरायमान प्रभा से रक्ताभ अधर, अष्टमी के चन्द्र के समान दैदीप्यमान विशाल ललाट जो नीचे के शरीरावयवों पर चूडामणि की शोभा को धारण कर रहा था। अधिक क्या कहूं? इस समय वे अतुलनीय और अनुपमेय शारीरिक सौन्दर्य के धारक थे।

साधु-पुरुषों की लब्धियाँ

मैंने मन्दिर में प्रवेश करते हुए आचार्यश्री को धर्मोपदेश देते हुए उनकी गम्भीर एवं मधुर ध्वनि सुनी थी,* अतः उनका वही धीर-गम्भीर स्वर सुनकर मुझे विस्मय हुआ और मैं आश्चर्यान्वित होकर सोचने लगा कि, मंदिर प्रवेश के समय मैंने जो स्वर सुना था ठीक वह ऐसा ही था। अहो! तब तो मन्दिरप्रवेश के समय जो आचार्य धर्मदेशना दे रहे थे वे भी यही होने चाहिए, किन्तु वे तो एकदम कुरूप थे, फिर इनका अनुपम सुन्दर रूप कैसे हो गया? पर इसमें नवी-

* पृष्ठ ४६१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नता भी क्या है ? मेरे धर्मगुरु सिद्धपुत्र चन्दन ने मुझे बताया था कि श्रेष्ठ साधु अनेक प्रकार की लब्धियों के धारक होते हैं और लब्धियों के प्रभाव से वे स्वेच्छानुसार अपना रूप विविध प्रकार का बना सकते हैं। वे परमाणु जैसे सूक्ष्म या पर्वत सदृश विशाल और अर्क (आकड़े) की रूई के समान हल्के-फुल्के लघु भी बन जाते हैं। वे देह को विस्तारित कर विश्व में व्याप्त हो सकते हैं, देवेन्द्र को किंकर के समान आज्ञा दे सकते हैं, कठोर से कठोर शिलातल में डुबकी लगा सकते हैं, एक घड़े में हजारों घड़े दिखा सकते हैं और एक वस्त्र से सहस्रों वस्त्र दिखा सकते हैं। वे मात्र, कान से ही नहीं अपितु शरीर के किसी भी अंगोपांग से सुन सकते हैं, स्पर्श मात्र से समस्त रोगों को दूर कर सकते हैं और गगनतल में पवन की भांति विचरण कर सकते हैं। इन लब्धिधारक सिद्ध-साधुओं के लिये कुछ भी अशक्य नहीं है। लब्धि द्वारा वे ऐसे विविध कार्य करने में पटु होते हैं। इन आचार्य भगवान् को जब मैंने पहले देखा था तब वे कुरूप थे और अब अत्यन्त स्वरूपवान एवं सुडौल दिखाई देते हैं, इससे लगता है कि वे अतिशय लब्धिधारी हैं।

गुरु-परिचय

उपरोक्त विचार करते-करते प्रहृष्टचित्त होकर मैंने आचार्य महाराज को वन्दन किया और अन्य मुनियों को भी मैंने नमन किया। उन्होंने भी मुझे स्वर्ग और मोक्षमार्ग के साधनभूत 'धर्मलाभ' रूपी आशीर्वाद दिया। शुद्ध भूतल पर बैठकर मैं आचार्यदेव की अमृतोपम धर्मदेशना सुनने लगा। उनकी यह धर्मदेशना भव्य प्राणियों के मन को आकर्षित करने वाली, विषयाभिलाषाओं में विक्षेप डालने वाली, मोक्ष-प्राप्ति की अभिलाषा उत्पन्न करने वाली, संसार-प्रपंच पर निर्वेद (वैराग्य) जागृत करने वाली और जीव को कुमार्ग पर जाने से रोकने वाली थी। आचार्यश्री के ऐसे अद्वितीय उपदेश को सुनकर मैं उनके गुणों से गद्गद् हो गया। फिर मैंने निकट बैठे हुए एक शान्तमूर्ति मुनिराज से पूछा– ये भगवान् कौन हैं ? इनका नाम क्या है ? ये कहाँ के हैं ? मेरे प्रश्नों के उत्तर में मुनिराज बोले—ये भगवान् हमारे गुरुदेव हैं। इनका नाम आचार्य बुध है। ये धरातल नगर के राजा शुभविपाक और निजसाधुता रानी के पुत्र हैं। राज्य वैभव को तृणतुल्य समझकर इन्होंने उसका त्याग कर दिया और श्रमण बन गये। अधुना अनेक स्थानों पर अप्रतिबद्ध विहार करते हुए आचार्य भगवान् भिन्न-भिन्न स्थानों पर विचरण कर रहे हैं।

भाई विमल ! बुधाचार्य के सम्बन्ध में सुनकर, उनके अतिशय की महिमा प्रत्यक्ष देखकर, उनके अद्भुत सुन्दर रूप को देखकर और उनके धर्मदेशना-कौशल का अनुभव कर मैंने सोचा कि अहो ! आज तो आदिनाथ भगवान् के दर्शन कर वस्तुतः रत्नाकर के दर्शन ही किये हैं, क्योंकि ऐसे-ऐसे पुरुष-रत्न भी यहाँ मिल जाते हैं। इस विचार से मैं भगवान् अर्हत् प्रणीत मार्ग (मत) में मेरु के समान अडिग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो गया और मेरा पूरा परिवार भी इन आचार्य भगवान् के दर्शन से अर्हद् धर्म में स्थिर हो गया। भगवान् को वन्दना कर मैं अपने स्थान पर गया और आचार्यश्री भी वहाँ से* अन्यत्र विहार कर गये। यह घटना गत अष्टमी की है। भाई विमल ! मैं इसीलिये कह रहा था कि यदि महात्मा बुध आचार्य किसी प्रकार यहाँ पधार जायें तो तुम्हारे परिवार और बन्धुओं को वे अवश्य ही प्रतिबोध दे सकते हैं। इन आचार्य भगवन्तों को तो दूसरों पर उपकार करने का व्यसन ही है। इसीलिये उन्होंने उस दिन मुझे और मेरे परिवार को धर्म में स्थिर करने के लिये दो बार भिन्न-भिन्न वैक्रिय रूप धारण किया था।

विमल—आर्य ! तब तो इन महात्मा को यहाँ पधारने के लिये आप अवश्य ही अभ्यर्थना करना।

रत्नचूड—जैसी कुमार की आज्ञा। अभी तो मेरे वियोग से मेरे पिता व्याकुल हो रहें होंगे और मेरी माता तो पागल हो गई होगी, इसलिये उनके मन को शान्ति देने के लिये उनके पास जाना होगा। फिर तुम्हारी आज्ञानुसार सब व्यवस्था करूंगा। इस विषय में अब तुमको मन में किंचित् भी संकल्प-विकल्प करने की आवश्यकता नहीं है।

सज्जन से बिछोह

विमल—आर्य रत्नचूड ! क्या आपको जाना ही पड़ेगा ?

रत्नचूड—कुमार ! आपकी संगति-रूप अमृतरस का आस्वादन करने के पश्चात् जाने की बात तो मेरे मुँह से निकल ही नहीं सकती। सज्जन की दृष्टि से जड़ (मूर्ख) भी सन्तोष प्राप्त करता है। जैसे चन्द्र के उदय होने पर उसके दर्शन से कुमुद विकसित हो जाता है वैसे ही उस जड़ प्राणी को भी क्षणभर में सज्जन पर इतनी प्रीति हो जाती है कि वह जीवित रहते हुए उस सज्जन को छोड़कर अन्यत्र किसी स्थान पर नहीं जाता। अनन्त दुःखों से परिपूर्ण इस संसार में अमृत के समान यदि कुछ भी है तो वह सज्जन पुरुष के साथ हृदय-मिलन ही है, ऐसा मनीषियों का कथन है। इस संसार में विरह रूपी मुद्गर न हो तो सज्जन की संगति जैसी अमूल्य वस्तु के दो टुकड़े करने (भंग करने) में कोई भी पदार्थ समर्थ हो ही नहीं सकता। जो प्राणी एक बार सज्जन पुरुष को प्राप्त कर उसे छोड़ देता है, वह मूर्ख चिन्तामणिरत्न, अमृत या कल्पवृक्ष को प्राप्त कर उसे छोड़ रहा है, ऐसा समझना चाहिये। हे कुमार ! तेरे विरह के त्रास से जाने की बात कहने से ही मेरी जीभ तालु से चिपक रही है। 'मुझे यहाँ से जाना है' ऐसे शब्द मैं आपके सन्मुख किसी प्रकार बोल भी नहीं सकता। अरे ! आपके सन्मुख ऐसा कहना तो मुझे वास्तव में वज्राग्नि के समान अत्यन्त निष्ठुर लगता है। अरे ! ये शब्द तो मेरे मुख से निकल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी नहीं सकते। फिर भी मेरे माता-पिता अत्यधिक चिन्तित हो रहे होंगे अतः इस कारण से उन्हें शान्ति प्रदान करने के लिये लाचारी से मुझे ऐसा कहना ही पड़ रहा है। [२४१-२४६]

विमल—आर्य रत्नचूड ! यदि ऐसा ही है तो आप प्रसन्नता से जाइये, परन्तु मैंने जो अभ्यर्थना की है उसे भूल मत जाना। किसी भी प्रकार से महात्मा बुधसूरि को एक बार यहाँ अवश्य लाना।

रत्नचूड—कुमार ! इस विषय में संकल्प-विकल्प करने की आवश्यकता ही नहीं है।

सज्जन पुरुष के बिछोह की कल्पना मात्र से कातरहृदया आम्रमंजरी आँखों में आँसू लाते हुए टूटती आवाज में बोली—कुमार ! आप मेरे सगे भाई हैं। हे नरोत्तम ! आप मेरे देवर हैं। हे सुन्दर ! वस्तुतः आप ही मेरे शरीर और प्राण हैं। आप ही मेरे नाथ अर्थात् कुशल-क्षेमकारक हैं।* हे महाभाग ! देखो, मैं गुणहीन हूँ इसलिये मुझे भूल मत जाना, मुझे याद रखना। आप जैसों के स्मृति पटल में जो व्यक्ति रहे वह वास्तव में भाग्यशाली है। [२५०-२५१]

विमल—आर्ये ! यदि मैं अपने गुरु और गुरुपत्नी को भी स्मृति पटल में नहीं रखूँ तो मेरा धर्म कहाँ रहा और मेरी सज्जनता या बड़प्पन भी कहाँ रहा ? [२५२]

इस प्रकार मेरे साथ वार्तालाप करते हुए रत्नचूड और आम्रमंजरी वहाँ से विदा हुए। ★

८. दुर्जनता और सज्जनता

गुरुकर्मी वामदेव

संसारी जीव अगृहीतसंकेता के समक्ष स्वयं की वामदेव के भव की कथा आगे सुनाते हुए कहता है कि, हे भद्रे अगृहीतसंकेता ! रत्नचूड और विमलकुमार ने बहुत ही उच्चकोटि की धर्म सम्बन्धी इतनी बात-चीत की, पर गुरुकर्मी और लम्बे समय तक संसार भ्रमण करने वाला होने से, मद्यपी, निद्रित, विक्षिप्त, मूर्छित, अनुपस्थित और मृतप्रायः की भाँति मेरे हृदय में धर्म का एक वचन भी

* पृष्ठ ४६३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं उतरा। मेरा हृदय मानो वज्र-शिला के कठोरतम पत्थर से बना हो जिससे कि वह जिनवचन रूपी अमृत के सिंचन से भी तनिक भी नरम, भीगा या द्रवित नहीं हुआ। इसके पश्चात् भगवान् की विशेष स्तुति कर मैं और विमल मन्दिर से बाहर निकले।

अमूल्य रत्न को भूमि में छुपाना

मन्दिर के बाहर आकर विमल बोला—भाई वामदेव! यह रत्न देते समय रत्नचूड ने मुझ से कहा था कि यह बहुत ही मूल्यवान और प्रभावशाली है। किसी महान् लाभदायक प्रसंग पर ही इसका उपयोग किया जा सकता है। मुझे तो इस रत्न के प्रति न तो कोई विशेष इच्छा है और न कोई आकर्षण। मेरी उपेक्षा के कारण कहीं यह गुम न हो जाय अतः इसे यहीं किसी स्थान पर छिपाकर हमें चलना चाहिये। उत्तर में मैंने कहा—जैसी कुमार की इच्छा। मेरे इतना कहते ही विमल ने अपने वस्त्र के पल्ले से बंधे रत्न को मुझे सौंप दिया। मैंने जमीन में गड्ढा खोद कर रत्न को छिपा दिया और भूमि को समतल बनादी ताकि कोई पहचान न सके। फिर हम दोनों नगर में गये। वहाँ से मैं अपने घर चला गया और कुमार राजभवन को चला गया।

दौर्जन्य : रत्न का अपहरण

घर पहुँचते ही मेरे शरीर में स्तेय और बहुलिका (माया) ने प्रवेश किया। उनके प्रभाव में मैं सोचने लगा कि रत्न देते समय रत्नचूड ने कहा था कि इससे सर्व कार्य सिद्ध हो सकते हैं और यह चिन्तामणि रत्न के समान समस्त गुणों से परिपूर्ण है। ऐसी मूल्यवान वस्तु बार-बार प्राप्त नहीं होती, ऐसे रत्न को कौन छोड़ सकता है? अतएव अन्य सब खटपट और चिन्ता छोड़कर किसी भी प्रकार इस रत्न को चुरा ही लूँ। [२५३-२५४]

ऐसे अधम विचार के परिणामस्वरूप मैं नीचता पर उतर आया। विमल के स्नेह को भूल गया और उसके सद्भावों की अवगणना करदी। इस कृत्य का मुझे भविष्य में क्या फल मिलेगा, इसका भी विचार नहीं किया। महापाप कर रहा हूँ यह भी नहीं सोचा। कार्य-अकार्य की तुलना भी नहीं की और मात्र स्तेय एवं माया के वशीभूत होकर मैं तुरन्त उस स्थान पर गया जहाँ भूमि में रत्न छिपा-कर रखा था। उस गड्ढे को खोदकर रत्न को वहाँ से निकाला और दूर दूसरे स्थान पर जमीन खोदकर उसे छुपा दिया। मेरे मन में तर्क उठा कि यदि विमल यहाँ आ गया और उसे जमीन खोदने पर रत्न नहीं मिला तो वह यही समझेगा कि मैंने रत्न चुरा लिया है, अतः मुझे इसी वस्त्र के साथ रत्न जितना बड़े पत्थर का टुकड़ा बाँधकर इसी स्थान पर छुपा देना चाहिये जिससे कि यदि कदाचित् विमल जमीन खोदकर देखे और उसे रत्न के स्थान पर पत्थर मिले तो वह समझेगा कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसकी पुण्यहीनता के कारण यह रत्न पत्थर में बदल गया है।* ऐसा सोचकर मैंने उसी कपड़े में रत्न के आकार का पत्थर बांधकर उसी स्थान पर और उसी दशा में दबा दिया। इस प्रकार कार्य सम्पन्न कर मैं अपने घर चला आया।

वह दिन तो मेरा आराम से बीत गया। रात्रि में पलंग पर लेटते ही मुझे चिन्ता होने लगी कि, 'अरे! मैं रत्न घर नहीं लाया, यह तो बहुत बुरा किया। यदि किसी ने मुझे रत्न दूसरे स्थान पर छुपाते देख लिया होगा तो वह अवश्य ही उसे निकाल कर ले जायेगा। अब मुझे क्या करना चाहिए? इस अन्धेरी रात में तो अभी वहाँ जाना अशक्य हैं। तब 'क्या हो? क्या करूँ?' इस प्रकार सच्चे-झूठे तर्क-वितर्क करने से मन इतना अधिक आकुल-व्याकुल और सन्तप्त हो गया कि मुझे सारी रात नींद नहीं आई, पलंग पर इधर-उधर करवट बदलते हुए ही रात बीत गई। प्रातः उठते ही जहाँ रत्न छुपाया था वहाँ मैं शीघ्रता से जा पहुँचा।

इसी बीच विमल मेरे घर पर आया तो मैं उसे घर पर नहीं मिला। परिजनों को पूछने पर उन्होंने कहा कि 'निश्चित रूप से तो कुछ भी नहीं कह सकते, परन्तु उसे क्रीड़ानन्दन उद्यान की तरफ जाते हुए अवश्य देखा था।' विमल मेरे स्नेह से खिंचा हुआ मेरे पीछे-पीछे जिस मार्ग से मैं गया था उसी मार्ग से आया। दूर से मैंने उसे आते देखा और देखते ही घबराहट में मैं यह भूल गया कि रत्न को मैंने अन्य स्थान पर छिपाया है। फलतः रत्न के स्थान पर मैंने जो पत्थर का टुकड़ा कपड़े में लपेट कर छुपाया था, घबराहट में मैंने उसे ही खोदकर निकाल लिया और चट-पट कटि-वस्त्र में छुपा लिया और जमीन को समतल कर दिया। फिर मैं उद्यान के दूसरे हिस्से में चला गया। इतने में विमल मेरे पास आ पहुँचा। उसने देखा कि भय से मेरी आँखें बार-बार झपक रही हैं तो वह बोला—'मित्र वामदेव! तू अकेला यहाँ क्यों आया? अरे! तू डर क्यों रहा है?' मैं बोला 'भाई! प्रातः उठते ही मुझे समाचार मिला कि तुम उद्यान में आये हो अतः तुमसे मिलने मैं भी यहाँ आ गया। यहाँ आकर मैंने तुमको बहुत ढूंढ़ा पर तुम नहीं मिले, इस कारण से मेरा मन भय से त्रस्त हो गया कि कुमार कहाँ चले गये? इसी चिन्ता में मेरी आँखें भयभीत प्रतीत हो रही हैं। अब तुम्हें देखकर मेरा भय दूर हो गया। अब मेरा मन स्वस्थ हो जायेगा।' मेरा उत्तर सुनकर विमल बोला—'यदि ऐसा है तो अच्छा ही हुआ कि हम मिल गये। चलो, अब हम भगवान के मन्दिर में दर्शन करने चलें।' मैंने कहा—चलो।

हम दोनों जिन मन्दिर के पास आ पहुँचे। विमल मन्दिर में चला गया और मैं कुछ बहाना बनाकर द्वार के बाहर ही खड़ा हो गया। मैं सोचने लगा कि 'हो न हो विमल अवश्य ही सब कुछ जान गया है, अतः मैं शीघ्र ही यहाँ से भाग जाऊं,

* पृष्ठ ४६४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्यथा विमल अवश्य ही यह रत्न वापिस ले लेगा। जब तक मैं इस नगर में रहूँगा, वह मुझे छोड़ेगा नहीं, अतः मुझे यह नगर छोड़कर पलायन ही कर देना चाहिये।' ऐसा विचार कर मैं तेजी से भागा। घर पर भी नहीं गया, सीधा नगर के बाहर चला आया। दौड़ते-दौड़ते मैंने अधिक प्रदेश पार कर लिया। तीन रात और तीन दिन लगातार दौड़ कर मैं २८ योजन (३४० कि० मी० लगभग) दूर पहुँच गया। फिर मैंने अपनी अण्टी में से रत्न वाला कपड़ा निकाला और उसकी गांठ खोली। हाथ में लेकर देखता हूँ तो रत्न के स्थान पर पत्थर! पत्थर को देखते ही 'हाय! मर गया' कहता हुआ मैं मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। बड़ी कठिनता से मुझे चेतना आई तो पश्चात्ताप करने लगा और जोर-जोर से रोने लगा। मैं क्यों वहाँ से भाग कर आया? नगर भी छोड़ा और रत्न भी गुमाया। जीव! चल, अब वापिस उस स्थान पर लौट कर रत्न लेकर आ। रोते हुए मैं वापिस अपने नगर की तरफ चला।

विमल का सौजन्य

हे अगृहीतसंकेता! इधर मेरे मन्दिर के बाहर से भागने के बाद जब विमल भगवान् के दर्शन कर बाहर निकला तो उसने मुझे वहाँ नहीं देखा, जिससे उसे यह चिन्ता हुई कि वामदेव कहाँ चला गया? उसने सारे* जंगल में, मेरे घर और पूरे नगर में मेरी खोज करवाई, पर मेरा कहीं पता नहीं लगा। उसने चारों दिशाओं में अपने आदमी मुझे ढूंढ़ने के लिए भेजे। उधर जब मैं वापस लौट रहा था तब मेरा पता लगाने घूम रहे विमल के कुछ आदमी मुझे दिखाई दिये जिन्हें देखते ही मैं भयभीत हो गया। वे मेरे पास आये और कहने लगे—'वामदेव! तुम्हारे वियोग से कुमार घबरा गये हैं, प्रतिक्षण शोक-मग्न रहते हैं, तुम्हें ढूंढ़कर लाने के लिए हमें भेजा है। उनकी बात सुनकर मैंने मन ही मन कहा—'चलो, अच्छा हुआ। लगता है विमल ने मुझे रत्न निकालते नहीं देखा' इस विचार से मेरे मन का भय दूर हो गया। विमल के पुरुष मुझे लेकर विमल के पास आये। मुझे देखते ही विमल अत्यन्त स्नेहपूर्वक मुझसे गले मिला। हम दोनों की आँखों में आंसू थे, पर मेरे आंसू कपट के थे और विमल के आंसू प्रियजन से मिलन पर हर्ष के थे।

वामदेव की अधमता : बनावटी बात

मिलन के बाद विमल ने मुझे अपने आधे आसन पर बिठाया और मुझसे पूछा—मित्र वामदेव! तू मन्दिर के बाहर से क्यों चला गया? कहाँ गया? क्या हुआ? क्या बात हुई? सब कुछ मुझे बता।

उत्तर में मैंने कहा—मित्र विमल! सुनो, जब तुम जिनमन्दिर में चले गये तब मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे मन्दिर में आ रहा था कि मैंने आकाश में से किसी विद्याधरी को भूतल पर आते देखा। वह कैसी थी? सुनो :—

* पृष्ठ ४९५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह विद्याधरी अपने रूप और लावण्य के तेज से समस्त दिशाओं को प्रकाशित कर रही थी और हाथ में यमराज की जिह्वा जैसी भीषण नंगी तलवार लिये हुए थी। [२५५]

एक ही समय में सुन्दर और भयंकर रूप वाली उस विद्याधरी को देखकर मैं शृंगार और भयानक रस का एक साथ अनुभव कर ही रहा था कि उसने मुझे वहाँ से उठाया और आकाश मार्ग में तेजी से उड़ने लगी।

उस समय मैंने हा कुमार ! हा कुमार !! कह कर जोर से आवाजें लगाईं, पर मुझ विह्वल और रोते-चिल्लाते को लिये हुए वह विद्याधरी और भी तेजी से आगे बढ़ने लगी। आकाश में उड़ते-उड़ते वह अपने पीन पयोधरों को मेरे वक्ष से चिपका कर मुझे अपनी बाहों में भींचकर अति स्नेह से बार-बार मेरे मुँह का चुम्बन करने लगी और रतिक्रिया के लिये मुझ से प्रार्थना करने लगी। मित्र ! यद्यपि वह स्त्री मुझ पर इतनी अनुरक्त थी और इतना स्नेह दिखा रही थी, फिर भी तेरे जैसे श्रेष्ठ मित्र के वियोग में वह मुझे विष जैसी लग रही थी। सारे वक्त मैं यही विचार कर रहा था कि यद्यपि यह विद्याधरी अत्यधिक रूपवती है और मुझ पर इतनी अधिक आसक्त है तथापि उससे भी अधिक उत्तम मित्र के बिछोह में वह लेशमात्र भी मुझे सुख नहीं दे सकती। [२५६–२५९]

वह विद्याधरी मुझसे सम्भोग के लिये प्रार्थना कर ही रही थी कि अचानक एक-दूसरी विद्याधरी वहाँ आ पहुँची और उसने मुझे देखा। मुझे देखते ही उसे भी मेरे साथ विषय-सुख भोगने की इच्छा जागृत हो गई और वह भी मुझे खींचने लगी। इस खींचातान में दोनों विद्याधरी एक-दूसरे को 'ओ पापिनी ! दुष्टा ! तू कहाँ जा रही है ?' कहती हुई अपशब्दों की मारा-मारी करने लगी और उनमें घमासान युद्ध प्रारम्भ हो गया। [२६०]

वे दोनों लड़ाई में इतनी व्यस्त हो गईं कि मेरा भान ही भूल गईं जिससे मैं उनके हाथ से छूट पड़ा और भूमि पर आ गिरा। इतने ऊपर से गिरने के कारण मेरी हड्डियां चूर-चूर हो गईं और मेरे बहुत सी चोटें आईं। मेरा शरीर चूर्ण बन गया और मुझ में भागने की भी शक्ति न रही। फिर भी मैं सोचने लगा कि 'इन दोनों में से कोई आकर मुझे पकड़े उससे पहले ही यदि मैं यहाँ से भाग जाऊँ तो इस जीवन में विमल से मिल सकता हूँ' यही सोचकर मैं बड़ी कठिनाई से छिपते हुए वहाँ से भागा। मार्ग में मेरा पता लगाने आये हुए तेरे पुरुष मुझे मिल गये और मैं इनके साथ तेरे पास चला आया।* कुमार ! यही मेरी आप बीती है।

विमल का मुझ पर स्वाभाविक और निष्कपट प्रेम था जिससे मेरी बनावटी कहानी सुनकर भी वह बहुत प्रसन्न हुआ। मेरे शरीर में बसी हुई बहुलिका (माया)

* पृष्ठ ४९६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी बहुत प्रसन्न हुई। माया को लगा कि वामदेव ने विमलकुमार को खूब मूर्ख बनाया और उसे ठगकर भी उसका विश्वास प्राप्त कर लिया।

वामदेव को उदरशूल

मैं अपनी कृत्रिम कथा विमल को सुना ही रहा था कि अचानक मेरे शरीर में इतनी तीव्र वेदना उठी, मानो मगरमच्छ मुझे निगल रहा हो, मानो मैं वज्र से दबा जा रहा हूँ, मानो यमराज मुझे चबा रहे हों। अचानक क्या हो गया ? कुछ समझ में नहीं आया। मेरे उदर की समस्त आंते कटने लगीं, पेट में इतने जोर का शूल/दर्द उठा कि मेरी आँखें बाहर निकल आयीं, सिर में दर्द से चीसें उठने लगीं, शरीर का जोड़-जोड़ ढीला पड़ गया, दांत हिलने लगे, मुंह में से सांसें निकलने लगीं, नेत्र फिरने लगे और वाणी बन्द हो गयी। ऐसी अनहोनी वेदना देखकर विमल भी घबरा गया, आकुल-व्याकुल हो गया और हाहाकार कर उठा। धवल महाराज भी वहाँ आ पहुँचे और बहुत भीड़ इकट्ठी हो गई। तुरन्त ही नगर के सब वैद्यों को बुलवाया गया। राजाज्ञा से उन्होंने मुझे बहुत-सी औषधियां खिलाईं, पर मेरी व्याधि में थोड़ी भी कमी नहीं हुई।

अमूल्य रत्न की खोज : भण्डाफोड़

मेरी इस अवस्था को देखकर विमल को रत्न की याद आयी। अभी रत्न के उपयोग करने का समय है, ऐसा सोचकर वह स्वयं ही क्रीडानन्दन उद्यान में गया और जहाँ रत्न छुपा कर रखा था उस स्थान को खोदा। पर, अफसोस ! उसे वहाँ रत्न नहीं मिला। 'अब क्या होगा ? मित्र के प्राण कैसे बचेंगे ?' यही सोचते हुए वह मेरे समीप वापिस आया। उसे रत्न के जाने का विषाद नहीं था, पर मेरे प्राणों की चिन्ता थी।

इसी बीच उसी समय एक बुड्ढी स्त्री सिर धुनाती हुई वहाँ प्रकट हुई। पहले उसने अपने शरीर को मरोड़ा, दोनों हाथ ऊँचे किये, सिर के बाल खोले भयंकर रूप बनाया, फट्-फट् आवाज करने लगी और सारे शरीर से भयंकर चेष्टायें करने लगी। राजा और सभी लोग भयभीत हो गये और उन्होंने उसकी पूजा की, धूप दिया और उससे पूछा—भट्टारिका ! तू कौन है ?

उत्तर में वह बोली—मैं वन देवी हूँ। वामदेव की यह अवस्था मैंने ही की है। इस पापी ने सद्भावयुक्त सरल स्वभावी विमल को धोखा देकर ठगा है। इस पापी ने रत्न को चुरा कर दूसरे स्थान पर छिपा दिया था। फिर घबराहट में रत्न के बदले पत्थर को लेकर भागा था। जब इसे मालूम हुआ तो रत्न लेने के लिये लौटकर वापिस आ रहा था और यहाँ आकर इसने यह नकली कहानी गढ़ सुनाई है। इस प्रकार वनदेवी ने सारी घटना का भण्डाफोड़ इतने विस्तार से किया कि सब लोग मेरी चोरी और ठगी के बारे में समझ गये। जहाँ मैंने रत्न छुपाया था

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस स्थान को साथ ले जाकर बताया और रत्न दिखाया। इतना प्रत्यक्ष प्रमाण देकर वह बोली—इस दुरात्मा वामदेव को अब मैं चकनाचूर कर दूंगी।

वनदेवी के निर्णय को सुनकर विमल ने प्रार्थना की—देवि ! सुन्दरि ! ऐसा न करिये। यदि आप ऐसा करेंगी तो मेरे मन को अत्यन्त दुःख होगा।

सुजनता की पराकाष्ठा

विमल की प्रार्थना पर देवी ने मुझे छोड़ दिया, पर लोगों ने मेरी जी भर कर खूब निन्दा की, शिष्ट लोगों ने मुझे धिक्कारा और मेरा तिरस्कार किया, बालकों ने मेरी हंसी उड़ाई और स्वजन सम्बन्धियों ने भी मुझे घर से निकाल दिया। लोगों की दृष्टि में मैं तृण से भी अधिक तुच्छ और नीच हो गया। विमल में इतनी महानता थी कि इतनी अधिक लज्जाकारी घटना हो जाने पर भी वह अब भी मुझे पहले जैसा ही मित्र मानता था और मुझ पर पहले जैसा ही स्नेह रखता था। अपने स्नेह में, अपने प्रेम-भाव में उसने कोई कमी नहीं आने दी। एक क्षण भी मेरे से अलग नहीं होता था और मुख से भी यही कहता था मित्र वामदेव ! ना-समझ लोग कुछ भी कहें, तू अपने मन में तनिक भी उद्विग्न न होना,* क्योंकि सब लोगों को प्रसन्न करना तो बहुत कठिन है। अतः लोगों की बात पर तुझे ध्यान ही नहीं देना चाहिये।

हे अगृहीतसंकेता ! विमलकुमार जब उपरोक्त बात कह रहा था तब उसे मेरे दुष्ट चरित्र के बारे में सब कुछ मालूम हो गया था। तब भी मैं बहुलिका (माया) के प्रभाव से ऐसा दुष्ट व्यवहार कर रहा था और भाग्यशाली विमल फिर भी मेरे साथ ऐसा अच्छा बर्ताव कर रहा था। इसका कारण यह था कि सूर्य चाहे पश्चिमी दिशा में उदय हो और पूर्व में अस्त हो, क्षीरसमुद्र भले ही अपनी मर्यादा को छोड़ दे, आग का गोला भले ही बर्फ जैसा ठण्डा हो जाय, मेरु पर्वत चाहे तुम्बी की तरह पानी पर तैरने लगे, पर अकारण करुणा और स्नेह वाले सज्जन पुरुष तो दाक्षिण्य समुद्र से ओत-प्रोत ही होते हैं। जिसका आदर किया हो, जिसे एक बार अपना लिया हो, उसे वे नहीं छोड़ते। भद्रे ! यही सज्जनों की वास्तविक महत्ता है। सज्जन पुरुष दुष्टों की चेष्टाओं को जानते हुए भी नहीं जानते, देखते हुए भी नहीं देखते और स्वयं परम पवित्र शुद्ध आत्मा बनकर ऐसे लोगों पर थोड़ी भी श्रद्धा नहीं रखते। हे अगृहीतसंकेता ! उस समय मेरे सगे सम्बन्धियों ने मुझे छोड़ दिया, मेरा बहिष्कार कर दिया, लोगों ने मुझे अधम माना तथापि महात्मा विमलकुमार ने मुझे अपने पास रखा। मैं उसी के साथ रहने लगा। [१-६]

❖

---

* पृष्ठ ४६७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. विमल-कृत भगवत्स्तुति

[मेरे अत्यन्त अधम व्यवहार के उपरान्त भी विमलकुमार ने अपनी सज्जनता बनाये रखी। मेरे प्रति अपने प्रेम-भाव में थोड़ी भी कमी न आ पाये इसका पूरा ध्यान रखा। मेरे प्रति उसने अपना सम्बन्ध पहले की ही भांति निरन्तर रखकर अपनी महानता और विशिष्टता का परिचय दिया।]

अन्यदा एक दिन मैं विमल लोचन विमल के साथ क्रीडानन्दन उद्यान में स्थित तीर्थंकर महाराज के मन्दिर में दर्शन करने गया। वन्दन-पूजन की समस्त विधियां/क्रियायें पूर्ण होने के पश्चात् विमल ने अत्यन्त मधुर वाणी में श्री जिनेश्वर देव की स्तुति प्रारम्भ की।

विमल अभी स्तुति कर ही रहा था कि इतने में ही अपनी देदीप्यमान द्युति से दिशाओं को प्रद्योतित करता हुआ रत्नचूड विद्याधर वहाँ आ पहुँचा। उसके साथ अन्य बहुत से विद्याधर भी आये थे। उन्होंने पीछे खड़े होकर कर्णप्रिय अत्यन्त मधुर आवाज में गाई जा रही भगवान् की स्तुति को सुना। स्तुति सुनकर रत्नचूड अतीव प्रमुदित हुआ। वह सोचने लगा कि, अहा! धन्यात्मा विमलकुमार जगत्बन्धु महाभाग्यवान् श्री परमात्मा की स्तुति कर रहा है, धन्य है उसे! हमें उसकी स्तुति को ध्यानपूर्वक सुनना चाहिये। फिर उसने बिना कुछ शब्द किये संकेत मात्र से ही सब विद्याधरों को शान्त रहने का संकेत किया और स्वयं भी आम्रमंजरी के साथ चित्रलिखित-सा हलन-चलन रहित निश्चल होकर खड़ा हो गया।

उस समय विमलकुमार के नेत्र आनन्द अश्रुओं से पूरित हो गये। उसकी दृष्टि तीर्थंकर देव के मुख पर एकाग्र और स्थिर हो गई। उसकी वाणी अतिशय गम्भीर हो गई और उसका सम्पूर्ण शरीर रोमांचित/पुलकित हो गया। उस समय उसमें भक्ति का आवेश इतना प्रबल हो गया कि उसके प्रभाव में मानो वह साक्षात् शाश्वत परमात्मा श्री जिनेश्वर भगवान् के सम्मुख खड़ा होकर उन्हें उपालम्भ की भाषा में, विश्वास-आश्वासन की भाषा में, स्नेह युक्त प्रणय शब्दों में, प्रार्थना और प्रेम की मधुरता से विशुद्ध मन से स्तुति करने लगा। [७–१५]

इस अपार महा भयंकर संसार समुद्र में डूबे हुए प्राणियों को तारने वाले हे नाथ! इस भीषण भवसागर में पड़े हुए मुझ को आप क्यों भूल गये?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रैलोक्य को आनन्द देने वाले हे लोक बन्धु ! मैं सद्भाव को धारण कर रहा हूँ, फिर भी आप मुझे इस संसार सागर से तारने में विलम्ब क्यों कर रहे हैं ? लगता है, आप मुझे भूल गये हैं।

हे करुणामृतसागर ! मैं दीन-हीन अनाथ बनकर आपकी शरण में आ गया हूँ तथापि आप मुझे भव से पार नहीं करते।* हे स्वामिन् ! शरणागत के साथ इस प्रकार व्यवहार करना कदापि उचित नहीं है।

हे नाथ ! आप दयालु हैं तब इस घोर संसार अटवी में एक छोटे हिरण के बच्चे के समान मुझे अकेला क्यों छोड़ रखा है ? यह आपकी कैसी दयालुता है ?

भयभीत और निरालम्ब अकेला हरिण का बच्चा जैसे घोर जंगल में इधर-उधर तरल दृष्टि दौड़ा कर सहायता के लिये देखता है वैसे ही हे नाथ ! मैं भी असहाय और भयत्रस्त बना सजल नेत्रों से इधर-उधर आपकी सहायता की अपेक्षा कर रहा हूँ, क्योंकि आपके अतिरिक्त इस संसार में मेरा कोई अवलम्ब नहीं है। आपकी सहायता के बिना मैं तो इस संसार जंगल में भय से ही मर जाऊंगा।

हे अनन्तशक्तिसम्पन्न ! जगत् के आलम्बनदायक नाथ ! मुझ अनाथ को इस संसार रूपी जंगल से पार कर निर्भय करिये।

हे नाथ ! जैसे इस संसार में सूर्य के अतिरिक्त कमल को विकसित करने में कोई सक्षम नहीं है, वैसे ही हे जगच्चक्षु ! आपके अतिरिक्त इस जगत से मेरी निर्वृत्ति करने में (मुझ को उबारने में) अन्य कोई समर्थ नहीं है।

क्या यह मेरे कर्म का दोष है ? या मेरा स्वयं (कष्ट-साध्य अधम आत्मा) का दोष है ? अथवा दूषित काल का प्रभाव है ? या मेरी आत्मा अभी तक भव्य नहीं बन पाई है ?

सद्भक्तिग्राह्य भुवन-भूषण ! क्या मुझ में आपके प्रति अभी तक ऐसी निश्चल भक्ति ही उत्पन्न नहीं हुई है ?

खेल ही खेल में कर्म के जाल को छिन्न-भिन्न करने वाले ! कृपातत्पर हे स्वामिन् ! आप मुक्ति के इच्छुक मुझ को अभी तक मुक्ति क्यों नहीं देते ?

हे जगत् के अवलम्बन ! मैं आपसे स्पष्टतया निवेदन करता हूँ कि हे नाथ ! इस लोक में आपको छोड़कर मेरा और कोई आधार नहीं है, कोई शरण-दाता नहीं है।

हे प्रभो ! आप ही मेरे माता, पिता, भाई, स्वामी और गुरु हैं। हे जगदानन्द ! हे प्राणेश्वर ! आप ही मेरे जीवन हैं।

---

* पृष्ठ ४६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे बिना पानी के मछली तड़फ-तड़फ कर मर जाती है वैसे ही हे नाथ ! यदि आप मेरा तिरस्कार करेंगे, मेरे प्रति उपेक्षा रखेंगे तो मैं भी इस भूमि पर निराश होकर तड़फ-तड़फ कर मर जाऊंगा ।

हे प्रभो ! मेरा मन आप में पूर्णतया निश्चल हो चुका है, यह तो मैंने स्वयं अनुभव किया है । हे केवलज्ञानी ! आप तो अन्य लोगों के मन में रहे हुए समस्त भावों को जानने वाले हैं, फिर मैं आपको यह बात किस मुख से निवेदन करूं ?

प्रभो ! मेरा मन तो कमल के समान है और आप त्रिभुवन को प्रकाशित करने वाले सूर्य हैं । जैसे सूर्य के उदित होने पर कमल विकसित होता है वैसे ही आपका ज्ञान रूपी प्रकाश मेरे चित्त को विकसित कर मेरे कर्म रूपी कोष को विदीर्ण कर देता है ।

हे जगन्नाथ ! आपको तो अनन्त प्राणियों की परम्परा के व्यापार पर ध्यान देना पड़ता है अतः आपकी मेरे ऊपर कैसी दया-माया है, मैं नहीं जानता ।

जैसे मोर बादल को देखकर नाच उठता है वैसे ही हे जगन्नाथ ! आपका सद्धर्म रूपी नीरद (मेघ) रूप देखकर मेरा मन मयूर नाच उठता है और मेरे हाथ-पाँव भी नृत्य करने लगते हैं ।

भगवन् ! यह तो कृपा कर मुझे बताइये कि मेरा इस प्रकार नाच उठना वास्तव में आपकी भक्ति है या कोरा पागलपन ?

जब आम्र वृक्ष पर मंजरियां आ जाती हैं तब उसे देखकर जैसे कोयल स्वतः ही मधुर तान कुहू-कुहू छेड़ देती है । वैसे ही सुन्दर रस और आनन्द-बिन्दु-संदोह-दायक ! आपको देखकर मेरे जैसा मूर्ख भी मुखर हो जाता है और आपकी स्तुति करने लग जाता है ।

हे जगत्श्रेष्ठ ! हे स्वामिन् ! मैं मूर्ख और असम्बद्ध प्रलाप करता हूँ ऐसा मानकर आप मेरी उपेक्षा नहीं करें, तिरस्कार नहीं करें,* क्योंकि सन्त/सज्जन पुरुष नत व्यक्ति के प्रति वात्सल्यभाव के धारक होने के कारण उनके प्रति कुछ भी ऊंचा-नीचा कह देने पर भी रुष्ट नहीं होते ।

हे जगन्नाथ ! बच्चा तुतला-तुतला कर अस्पष्ट, अस्त-व्यस्त और झूंठे सच्चे शब्द बोलता रहता है फिर भी क्या उसके निरर्थक प्रलाप से पिता के आनन्द में वृद्धि नहीं होती ?

उसी प्रकार हे प्रभो ! मैं मूर्ख भी बच्चे की तरह ग्राम्य शब्दों द्वारा कुछ भी उल्टी-सीधी बकवास (स्तुति) कर रहा हूँ । मेरी इस बकवास से आपकी प्रसन्नता में वृद्धि हो रही है या नहीं ? कृपया यह तो बताइये ।

---

* पृष्ठ ४९९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनादिकालीन अभ्यास और योग के कारण मेरी स्थिति ऐसी हो गई है कि मेरा चपल मन अपवित्र कीचड़ के गड्ढे में गन्दे सूअर के समान फंसा ही रहता है।

हे नाथ! मैं अपने इस चंचल मन को रोकने में असमर्थ हूँ, अतः हे देव! आप कृपाकर इसे रोकें।

प्रभो! मेरे बार-बार प्रार्थना करने पर भी आप उत्तर नहीं देते, तो हे अधिपति! क्या आपको मुझ पर अभी भी संदेह है कि मैं आपकी आज्ञा का किंचित् भी पालन नहीं करूंगा?

प्रभो! मैं आपका किंकर बनकर आपकी सेवा में इतना आगे बढ़ गया कि उच्च और स्वच्छ भावना पर चढ़ रहा हूँ, फिर भी ये परीषह मेरा पीछा कर रहे हैं, इसका क्या कारण है?

आपको प्रणाम करने वाले लोगों की शक्ति को बढ़ाने वाले हे मेरे नाथ! अभी भी ये दुष्ट उपसर्ग मेरा पीछा नहीं छोड़ते, इसका क्या कारण है? हे स्वामिन! आप तो समस्त विश्व के द्रष्टा हैं तथापि आश्चर्य है कि आपका यह सेवक आपके सामने बैठा है और उसे यह कषाय रूप शत्रुवर्ग पीड़ित कर रहा है, तब भी आप मेरी तरफ क्यों नहीं देखते? आप मुझे इन शत्रुओं से छुड़ाने में समर्थ हैं और मैं आपकी करुणा के योग्य हूँ तथापि आप मुझे कषाय-शत्रुओं से घिरा हुआ देखकर भी मेरी उपेक्षा करते हैं, यह आप जैसे शक्ति-सम्पन्न के लिये उचित नहीं है।

अहो महाभाग्यवान! संसार से मुक्त आपको देखने के पश्चात् इस विषम-संसार में क्षण-मात्र भी रहने में मुझे किंचित् भी प्रीति नहीं है।

हे प्रभो! आंतरिक शत्रु-समूह ने मुझे दारुण बन्धनों से जकड़ रखा है, बांध रखा है, अतः मैं क्या करूं?

हे नाथ! आप कृपा कर अपनी उद्दाम लीला से मेरे इस शत्रु समूह को मेरे से दूर करदें जिससे मैं आपकी शरण में आ सकूं।

धीर! हे परमेश्वर! यह संसार आपके आश्रित है और मुझे इस संसार सागर से पार लगाना भी आपके अधीन है। भगवन्! यदि ऐसा ही है तो आप चुपचाप क्यों बैठे हैं? मेरा उद्धार क्यों नहीं करते?

हे करुणाधाम! अब संसार समुद्र से मेरा बेड़ा पार लगाइये, देर मत कीजिये। आपके अतिरिक्त मेरा कोई शरण नहीं है, आधार नहीं है, अतः मेरे उच्चरित उद्गारों को क्या आप जैसे महापुरुष अब भी नहीं सुनेगें। [१६-५०]

❖

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०. मित्र-मिलन : सूरि-संकेत

[विमलकुमार अत्यन्त भाव-विह्वल होकर भगवान् की प्रार्थना कर रहा था। मैं पास ही खड़ा था और मेरे पीछे रत्नचूड एवं आम्रमञ्जरी अपने परिवार के साथ शान्ति से खड़े स्तुति सुन रहे थे। पूरे मन्दिर में दिव्य शान्ति और दिव्य गान प्रसरित हो रहा था। ऐसे अतिशय आनन्द के इस प्रसंग पर विमल के मुख से स्तुति के शब्द भाव, रस, एकाग्रता और प्रेम-पूर्वक निकल रहे थे। आखिर स्तुति पूर्ण हुई।]

मित्र-मिलन

प्राणियों के नाथ भगवान् की सुन्दर मानसिक सद्भावपूर्ण स्तुति के पश्चात् विमल ने पंचांग प्रणाम किया। उसकी मधुर वाणी से अत्यन्त हर्षोल्लसित और रोमांचित विद्याधर रत्नचूड ने मन में अत्यधिक सन्तुष्ट होकर कहा – 'हे धैर्यवान ! आपने भवभेदक भगवान् की अतिशय सुन्दर भावपूर्ण स्तुति की है।' इस प्रकार कहता हुआ रत्नचूड विमल के सन्मुख आया और पुनः कहने लगा – 'हे महाभाग्यवान बन्धु ! त्रैलोक्यनाथ भगवान् पर आपकी इतनी अधिक दृढ़ भक्ति है, आप वास्तव में भाग्यशाली हैं, कृतकृत्य हैं और आपका इस भूमण्डल पर जन्म सफल है। हे नरोत्तम ! यह निश्चित है कि आप वास्तव में संसार से मुक्त हो ही गये हैं, * क्योंकि प्राणी को एक बार चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति होने के बाद वह कभी दरिद्री नहीं होता, अर्थात् उसमें फिर से दरिद्री बनने की योग्यता ही समाप्त हो जाती है।' [५१–५५]

विद्याधराधिपति रत्नचूड ने अत्यन्त मधुर वाणी से विमल का अभिनन्दन किया और तत्पश्चात् भक्ति पूर्वक आदिनाथ भगवान् को नमस्कार किया। तदनन्तर विमल ने रत्नचूड को नमस्कार किया और उसने भी स्नेह-पूर्वक विमल को प्रणाम कर आदर-पूर्वक उसे शुद्ध भूमि पर अपने पास बिठाया। आम्रमञ्जरी भी अभिवादन नमस्कार आदि कृत्य पूर्ण कर वहाँ आकर उनके पास बैठ गई। सब विद्याधर भी मस्तक झुकाकर भूमितल पर बैठ गये। दोनों ने एक दूसरे के स्वास्थ्य के बारे में कुशल समाचार पूछे और क्षेमकारी संवाद प्राप्त कर प्रसन्नता-पूर्वक दोनों बातें करने लगे। [५६–५९]

---

* पृष्ठ ५००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रत्नचूड को महाविद्याओं की प्राप्ति

रत्नचूड ने कहा—हे महाभाग्यवान बन्धु ! मुझे वापिस यहाँ आने में अधिक समय लगा जिसका कारण बताता हूँ, और आपने मुझे बुध आचार्य को यहाँ लाने के लिये कहा था, किन्तु मैं उन्हें अभी तक नहीं ला सका हूँ। हे महाभाग्य ! उसका भी कारण बताता हूँ, सुनें—आपके पास से प्रस्थान कर मैं सीधा वैताढ्य पर्वत पर अपने नगर की ओर गया। वहाँ मेरी माता शोक-विह्वल हो रही थी और मेरे पिताजी भी शोक-सन्तप्त हो रहे थे। दिन भर उनके पास रहकर उनको धैर्य बन्धाया। परस्पर मिलने-भेंटने में वह दिन आनन्द-पूर्वक व्यतीत हो गया। रात्रि में प्रभु को नमस्कार कर मैं पलंग पर सो गया। परमात्मा जिनेश्वर भगवान् का ध्यान करते हुए मैं बाहर से तो निद्रित जैसा लग रहा था, पर भीतर से जागृत था। उस समय 'हे भुवनेश्वर भक्त ! महाभाग्यशाली ! उठो उठो' ऐसे मनोहर शब्द मेरे कान में पड़े, जिसे सुनकर मैं जागृत हुआ। उस समय मैंने देखा कि अनेक देवियां अपने तेज से दिशाओं को प्रकाशित करती हुई मेरे सामने खड़ी हैं। मैं तत्क्षण ससंभ्रम उठ खड़ा हुआ और उनकी अतुलित पूजा की। वे सब मेरी प्रशंसा करते हुए कहने लगी—'हे नरोत्तम ! जिनेश्वर-भाषित धर्म तुम्हारे मन में दृढ़ीभूत (स्थिर) हुआ है, अतः तुम धन्यवाद के पात्र हो, कृतकृत्य हो और हमारे द्वारा पूज्य हो। हम रोहिणी आदि विद्या देवियां हैं। तुम्हारे पुण्य से प्रेरित होकर तुमको पूर्ण योग्य समझकर तुम्हारा वरण करने हेतु स्वयं चलकर तुम्हारे पास आई हैं। तुम्हारे अत्यन्त निर्मल गुणों से हम तुम्हारे वशीभूत हुई हैं और हम सभी अंतः-करण पूर्वक तुम्हारी अत्यन्त अनुरागिणी बनी हैं। हे धैर्यवान ! जिस भाग्यशाली के हृदय में विश्व को जाज्वल्यमान करने वाला परमेष्ठि नमस्कार मन्त्र बसा हुआ है उस प्राणी के लिये क्या कोई भी वस्तु की प्राप्ति दुर्लभ हो सकती हैं ? पंच परमेष्ठि नमस्कार मंत्र के प्रभाव से हम तुम्हारे साथ यन्त्रवत् जुड़ी हुई हैं और तुम्हारी किंकरियां बनकर स्वयं तुम्हारे पास आई हैं। हे पुरुषोत्तम ! हम तुम्हारे शरीर में प्रवेश करेंगी। हमें आज्ञा दीजिए। भविष्य में आप चक्रवर्ती बनेंगे। विद्याधरों की यह विशाल सेना हमारे आदेश से अब आपके अधीनस्थ हो गई है।* यह समस्त विशाल सेना अब आपको स्वामी स्वीकार कर अभी आपके द्वार पर खड़ी है।' उनके ऐसा कहते ही देदीप्यमान कुंडल, बाजूबन्द और मुकुटों की मणियों की प्रभा से दिशाओं को प्रकाशित करते हुए अनेक विद्याधरों ने आकर मुझे नमस्कार किया। [६०–७५]

उसी समय प्रातःकाल की नौबत गड़गड़ा उठी और काल-निवेदक ने सूचित किया—सूर्य अपने स्वभाव से संसार में उदित हुआ है जो मनुष्यों की स्थूल दृष्टि के प्रसार को बढ़ाता है और मानवों को प्रबोध (जाग्रत) करता है। विशुद्ध सद्धर्म

---

* पृष्ठ ५०१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के समान सूर्य भी सदनुष्ठानों का हेतु बनता है, अर्थात् दिन में लोगों से प्रशस्त कार्य करवाता है और समग्र सम्पत्तियों को प्राप्त करवाता है। अतः हे लोगों ! उठो जागो और सद्धर्म का आदर करो, जिससे तुम्हें अतर्कित और अकल्पित विभूतियां (समृद्धियां) प्राप्त होंगी। [७६–७८]

रत्नचूड का राज्याभिषेक

कालनिवेदक के शब्द सुनकर मैंने मन में सोचा कि, अहा ! भगवद्भाषित सद्धर्म की महिमा कितनी प्रभावशाली है कि जिन विद्याओं का कभी मुझे स्वप्न में भी ध्यान नहीं था वे स्वयं ही मुझे सिद्ध हो गईं। परन्तु, मुझे हर्षित होकर इसी में अनुरक्त नहीं होना चाहिये। वास्तव में तो यह मेरे लिये विघ्न ही उपस्थित हुआ है, क्योंकि अब मैं अपने मित्र विमल के साथ दीक्षा नहीं ले सकूंगा। कारण यह है कि पुण्यानुबन्धी पुण्य को भी भगवान् ने तो सोने की बेड़ी ही कहा है। सिद्धपुत्र चन्दन ने तो मुझे पहले ही बता दिया था कि मैं विद्याधरों का चक्रवर्ती बनूंगा और विमल ने मेरे शारीरिक लक्षणों को देखकर इसी बात का समर्थन किया था। तब क्या किया जा सकता है ? जो होना होगा वह तो होगा ही ! मैं ऐसा सोच ही रहा था कि विद्या देवियाँ मेरे शरीर में प्रविष्ट हो गईं और विद्याधरों ने मेरा राज्याभिषेक प्रारम्भ कर दिया। अनेक प्रकार के कौतुक रचे गये, अनेक मंगल किये गये, पवित्र तीर्थों से जल मंगवाया गया, चौदह रत्न प्रकट हुए और सोने तथा रत्नों के कलश तैयार करवाये गये। यों अत्यन्त आनन्द और महोत्सव पूर्वक मेरा राज्याभिषेक किया गया।

बुधाचार्य का गुप्त संदेश

बन्धु विमल ! उसके पश्चात् देव-पूजा, गुरु और बड़े लोगों का सन्मान, राजनीति की स्थापना, प्रधानवर्ग और सेवकों का नियोजन, अधीनस्थ राज्यों की यथोचित भेंट और प्रणाम स्वीकार तथा अभिनव राज्यों की उचित व्यवस्था आदि कार्यों में मेरे कितने ही दिन व्यतीत हो गये। इन कार्यों से निवृत्त होते ही मुझे आपका आदेश स्मरण में आया और मैं सोचने लगा कि, अरे ! आपने मुझे बुधाचार्य का पता लगाकर उन्हें आपके पास लाने को कहा था, किन्तु मैं कितना प्रमादी हूँ कि अभी तक मैंने न महात्मा का पता ही लगाया और न उन्हें विमल के समीप ही ले जा सका। अतएव फिर महात्मा का पता लगाने मैं स्वयं ही अनेक देश-देशान्तरों में घूमा। अन्त में एक नगर में मुझे आचार्य बुध के दर्शन हुए। मैंने उन्हें आपके बन्धुजनों को प्रतिबोधित करने की प्रार्थना की। उन्होंने कहा – तुम यहाँ से जाओ और मेरा गुप्त संदेश विमल को दे दो। मैं कुछ समय पश्चात् आऊंगा। विमल के सम्बन्धियों को प्रतिबोधित करने का एकमात्र यही उपाय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तदनन्तर बुधसूरि ने रत्नचूड को जो गुप्त संदेश दिया था उसे उसने विमल के कान के पास अपना मुंह लेजाकर धीरे से सुना दिया।* हे अगृहीतसंकेता ! उसने जो सन्देश विमल को सुनाया वह मैं नहीं सुन सका। गुप्त संदेश सुनाने के बाद सब लोग सुन सके इस प्रकार रत्नचूड ने विमल से कहा— इसी कारण से मुझे यहाँ आने में देरी हुई और मैं बुधसूरि को अपने साथ नहीं ला सका। उत्तर में विमल बोला— भाई ! आपने बहुत अच्छा किया।

फिर मैं, विमल, रत्नचूड, आम्रमञ्जरी और अन्य सभी विद्याधर नगर में आये। रत्नचूड दो-तीन दिन तक वहाँ आनन्द पूर्वक रहा, फिर वापिस अपने नगर को लौट गया। ●

११. प्रतिबोध-योजना

विमलकुमार का विरक्ति भाव

कुशल भावों का अत्यधिक अभ्यस्त होने से, कर्मजाल के पूर्णरूप से निर्बल हो जाने से, ज्ञान की अत्यधिक विशुद्धि होने से, इन्दिय सुखों को त्याज्य मान लेने से, प्रशान्त भाव को धारण कर लेने से, किसी भी प्रकार का दुश्चरित्र या दुर्व्यवहार विद्यमान न होने से, आत्मवीर्य प्रबल हो जाने से और परमपद प्राप्ति का समय निकट आ जाने से विमलकुमार राज्य-लक्ष्मी में अनुरक्त नहीं हो रहा था। ऐसी स्थिति में वह विमलकुमार शरीर-संस्कार (शरीर की किसी प्रकार की शुश्रूषा या विभूषा) नहीं करता था। किसी प्रकार के लीला-नाटक आदि की रचना नहीं करवाता था। ग्राम्यधर्म (लोक प्रचलित साधारण धर्म) की तो उसे रंच मात्र भी अभिलाषा नहीं थी। वह तो केवल इस संसार रूपी जेल से विरक्त रहकर सदा शुभ ध्यान में लीन रहते हुए अपना समय व्यतीत कर रहा था।

विमल के माता-पिता का चिन्तन

विमल को विरक्त देखकर उसकी माता कमलसुन्दरी और पिता धवल राजा को चिन्ता हुई कि, अरे ! यह विमल सुन्दर स्वस्थ, मनोहारी तरुण होने पर भी, कुबेर के वैभव को भी तिरस्कृत करने योग्य वैभवपति होने पर भी वह देवांगनाओं

● पृष्ठ ५०२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को भी अपने लावण्य से पराजित करने वाली सुन्दर राजकन्याओं को देख कर भी उन पर आसक्त क्यों नहीं होता ? वह स्वयं रूपातिशय से कामदेव को भी तिरस्कृत करता है, सभी कलाओं में निष्णात है, शरीर से स्वस्थ है, सभी इन्द्रियां भी पूर्ण एवं पुष्ट हैं और उसने अभी तक किसी मुनि का दर्शन भी नहीं किया है, फिर भी युवावस्था का विकार उस पर क्यों असर नहीं करता ? वह कभी अर्ध उन्मीलित नेत्र से किसी पर कटाक्ष भी नहीं फैंकता, मुख से मन्द मन्द स्खलित वचन भी नहीं बोलता, वाद्य एवं गायन कला का भी उपयोग नहीं करता, सुन्दर वस्त्राभूषण भी धारण नहीं करता, मदान्ध भी नहीं होता, सरलता का त्याग भी नहीं करता और विषय सुख का तो नाम भी नहीं लेता। अरे ! इसका यह संसार-विमुख अलौकिक चरित्र कैसा है ? यदि यह प्रिय पुत्र इस प्रकार विषय सुखों से विमुख होकर साधु की तरह रहेगा तो हमारा यह राज्य निष्फल है, हमारी प्रभुता व्यर्थ है, वैभव निष्प्रयोजन है और हम जीवित भी मृत समान हैं। अतएव राजा-रानी ने विचार किया कि इस पुत्र को किस प्रकार विषयों में प्रवृत्त करवाया जाय। एकान्त में दोनों ने गहराई से विचार-विमर्श किया और अन्त में इस निर्णय पर आये कि उसे विषय-सुख का अनुभव करवाने के लिये पाणिग्रहण का प्रस्ताव स्वयं ही कुमार के समक्ष रखना चाहिये। वे जानते थे कि पुत्र विनयी, उदार हृदयी और सरल स्वाभावी होने से हमारी बात कभी नहीं टालेगा।

माता-पिता का कथन

ऐसा परामर्श कर धवल राजा और कमलसुन्दरी एक दिन विमलकुमार के पास आये और कुछ प्रसंग निकाल कर बोले - प्रिय ! सैकड़ों मनोरथों के बाद हमें तुम्हारी प्राप्ति हुई है। यद्यपि तुम अब राज्य-धुरा को धारण करने में सक्षम हो गये हो तथापि तुम अपनी* अवस्था के अनुरूप कार्य क्यों नहीं करते ? राज्य-भार क्यों नहीं संभालते ? राजकन्याओं से विवाह क्यों नहीं करते ? अनेक प्रकार के विषय सुखों का भोग क्यों नहीं करते ? कुल-संतान की वृद्धि क्यों नहीं करते ? अपनी इस शान्त और सुखी प्रजा को आनन्दित क्यों नहीं करते ? अपने स्वजन-सम्बन्धियों को आह्लादित क्यों नहीं करते ? प्रणयिजनों (प्रेमीजनों) को संतुष्ट क्यों नहीं करते ? अपने पितृदेवों का तर्पण (तृप्त) क्यों नहीं करते ? मित्र-वर्ग को सन्मानित क्यों नहीं करते ? और हमारे इन वचनों को मान्य कर हमें हर्षविभोर क्यों नहीं करते ?

विमल का उत्तर

अपने माता-पिता की बात सुनकर विमलकुमार ने मन में विचार किया कि माता-पिता ने बहुत ही सुन्दर बात कही है। इनकी यही बात इनको प्रतिबोधित

* पृष्ठ ५०३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने का मार्ग प्रशस्त कर सकेगी अर्थात् उन्हीं की बात से अब उनको उपदेश दिया जा सके ऐसी व्यवस्था होना सम्भव है। ऐसा सोचकर विमलकुमार ने विनयपूर्वक उत्तर दिया—पिताश्री ! आप जो आज्ञा प्रदान करें और मातुश्री जो आदेश दें वह सब तो मेरे लिये आचरण करने योग्य है ही, इसमें संकल्प-विकल्प तो किया ही नहीं जा सकता। मेरा इस विषय में ऐसा विचार है कि हमारे राज्य में रहने वाले सभी लोगों के दुःख दूर कर, उन्हें सुखी बनाकर फिर मैं सुख का अनुभव करूं तो श्रेष्ठ रहेगा। राज्य की वास्तविक सार्थकता इसी में है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। राजा का प्रमुख धर्म यही है और इसी में उसकी प्रभुता है। कहा भी है कि :—

विधाय लोकं निर्बाधं स्थापयित्वा सुखेऽखिलम्।
यः स्वयं सुखमन्विच्छेत् स राजा प्रभुरुच्यते ।।
यस्तु लोके सुदुःखार्त्ते सुखं भुंक्ते निराकुलः।
प्रभुत्वं ही कुतस्तस्य कुक्षिम्भरिरसौ मतः ।। [७६-८०]

जो राजा अपनी प्रजा को बाधा-पीड़ा रहित बनाकर सर्वत्र सुख की स्थापना करने के पश्चात् स्वयं भी सुख की कामना करता है तो वही राजा वास्तव में प्रभु कहा जाता है। किन्तु जिसकी प्रजा तो दुःख से तड़फती रहे और वह स्वयं बिना किसी व्याकुलता के निरन्तर सुख भोगता रहे तो फिर उसकी प्रभुता कहाँ रही ? ऐसा राजा या स्वामी तो निरा पेटू और स्वार्थी ही है।

पिताजी ! माताजी ! मुझे तो यही राज्य-धर्म लगता है। अब वह समय आ गया है। अभी ग्रीष्म ऋतु से सारी पृथ्वी तप रही है, अतः मैं तो इसी मनोनन्दन उद्यान में रहूंगा। मेरे बन्धु और मित्र वर्ग भी यहीं मेरे पास ही रहेंगे। आप दोनों की आज्ञा का पालन करते हुए और ग्रीष्म ऋतु में करने योग्य सभी लीलाओं को करते हुए मैं वहाँ रहूंगा। आप राजपुरुषों को ऐसी आज्ञा दीजिये कि जो कोई दुःखी और दुर्भागी प्राणी हों उन्हें ढूंढ कर वे वहाँ मेरे पास लावें और वे सब भी मेरे साथ सुख का अनुभव कर सकें ऐसी व्यवस्था करें। (इस प्रकार की योजना को कार्यान्वित करने से राज्य-धर्म भी निभेगा और आपकी आज्ञा का पालन भी होगा।)

विमलकुमार का उत्तर सुनकर उसके माता-पिता बहुत प्रसन्न हुए और बोले—पुत्र ! बड़ों का मान रखने वाले हमारे लाड़ले ! तुमने बहुत ही सुन्दर कहा। तेरे जैसे विवेकी पुरुष को तो यही कहना चाहिये और ऐसा ही करना चाहिये।

विमल का हिमगृह में निवास

धवल महाराजा की आज्ञा से मनोनन्दन उद्यान में एक विशाल हिमगृह (ताप नियंत्रित गृह) बनवाया गया। यह हिमगृह निरन्तर कमल के पत्तों से आच्छादित रहे इस प्रकार इसकी रचना की गई। नीलरत्न जैसे हरे केले के वृक्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारों तरफ बांध दिये गये। एक कृत्रिम नदी भवन के मध्य में बनाई गई जिसमें कपूर आदि सुगन्धी पदार्थों से गमकता पानी निरन्तर बहता ही रहे। चन्दन और कपूर के पानी से चारों तरफ मिट्टी गीली की गई और दीवारों पर चारों तरफ सुगन्धी बेलें, कमलनाल के तन्तु और नालों से भिन्न-भिन्न विभाग बना कर हिमभवन तैयार करवाया गया। ग्रीष्म ऋतु के ताप को दूर करने और शीत ऋतु का सुखदायी वातावरण उत्पन्न करने वाले इस हिमभवन में शिशिर ऋतु के नव पल्लव के समान सुन्दर रंग-बिरंगे पलंग और ठंडे तथा* सुखकारी सुकोमल आसनों की व्यवस्था की गई। हिमभवन के तैयार हो जाने पर विमल अपने बन्धुओं, मित्रों एवं लोक समुदाय के साथ उसमें प्रविष्ट हुआ। विमल और उसके साथ आये जन-समुदाय पर चन्दन का लेप किया गया, कर्पूर की पराग से ढक दिया गया, सुगन्धी लोध्र फूलों की मालाओं से मण्डित कर दिया गया, मोगरा पुष्पों से अलंकृत किया गया और सारे शरीर पर बड़े-बड़े मोतियों की मालायें अथवा मोती के फूलों की मालायें पहनाई गईं। सबको पतले और कोमल (मुलायम) वस्त्र पहनाये गये, मानों सुगन्धित शीतल झिरमिर वर्षा हो रही हो ऐसे शीतल सुगन्धी पंखों से सब को पवन किया गया। सब को रसमय और सात्विक आहार करवाया गया, सुगन्धित पान खिलाये गये और मनोहारी मधुर एवं अस्पष्ट गीतों से सब को प्रमुदित किया गया। अंगुली आदि के इशारों से प्रवर्तित सुन्दर विविध प्रकार के नृत्यों से आनन्दित किया गया। सुन्दर चेष्टायें करती हुई मनोहारिणी विलासिनी स्त्रियों के कमलपत्र जैसे चपल नेत्रों की पंक्तियों के अवलोकन से कुमार सहित समस्त लोगों के हृदयों को अत्यन्त उल्लसित करते हुए ऐसा दृश्य उपस्थित कर दिया गया कि मानो कुमार सहित सभी लोग स्पष्टतः रतिसागर में डूब गये हों। अपने माता-पिता को अत्यधिक प्रमुदित करने के लिये कुमार ने ऐसी योजना बनाई कि सभी लोगों को अपनी आत्मा से भी अधिक बाह्य सुख प्राप्त हो और उसके माता-पिता को भी अतीव प्रसन्नता हो। पूर्वोक्त राजाज्ञा के अनुसार इस कार्य के लिये नियुक्त राजकीय पुरुषों द्वारा सभी दुःखी प्राणियों को इस हिमभवन में लाया जाता, उनके सब दुःख दूर किये जाते और उन्हें सुखी/आनन्दित बनाने के लिये सब प्रकार की अनुकूलता का प्रबन्ध किया जाता। युवराज विमल अपने पिता धवल राजा को यों सर्व प्रकार से संतुष्ट कर रहा था। पुत्र को इस प्रकार सुखसागर में डुबकी लगाते देखकर राजा ने नगर में आनन्दोत्सव मनाया और सम्पूर्ण प्रजा को हर्ष हो ऐसे आनन्द के साधनों की रचना करवाकर नया त्यौहार पैदा कर दिया। [८१]

दीन-दुःखी की खोज

धवल राजा और महादेवी कमलसुन्दरी संतुष्ट हुए और समस्त प्रजाजन एवं मंत्रीमण्डल भी प्रमुदित हुए, क्योंकि उनकी धारणा के विपरीत उन्हें युवराज

* पृष्ठ ५०४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विमल सुखसागर में डुबकी लगाता हुआ दिखाई दिया। एक दिन दीन-दुःखियों को ढूंढ़ कर लाने गये हुए कई राजपुरुष हिमभवन में प्रविष्ट हुए और राजा के सामने पर्दा लगाकर उन्होंने पर्दे के पीछे एक पुरुष को बिठाया। फिर सामने आकर महाराजा को प्रणाम करते हुए बोले—'महाराज! आपकी आज्ञा से हम दीन दुःखियों को ढूंढ़ते हुए घूम रहे थे कि हमें एक अत्यन्त दुःखी पुरुष दिखाई दिया, जिसे हम आपके पास यहाँ ले आये हैं। यह पुरुष अत्यन्त घृणा उत्पन्न करने वाला होने से आपके दर्शन के योग्य नहीं है इसलिये हमने इसे पर्दे के पीछे रखा है। अब इसके विषय में आपका जैसा निर्देश हो वैसा करें।' यह सुनकर धवल राजा ने पूछा—'भद्रो! तुमने उसे कहाँ देखा और वह किस प्रकार एवं किस कारण से अत्यन्त दुःखी है? घटना और कारण बताओ।'

महाराजा के प्रश्न को सुनकर राजपुरुषों में से एक ने हाथ जोड़ कर कहा—देव! आपकी आज्ञानुसार दुःख और दरिद्रता से उत्पीड़ित लोगों को ढूंढ़कर लाने के लिये हम गये हुए थे। अपने नगर में तो हमने सब को सुखी और आनन्दमग्न देखा, अतः हम जंगल में गये। वहाँ दूर से हमने इस पुरुष को देखा। उस समय मध्याह्न का समय था, पृथ्वीतल अग्नि की भांति तप रहा था। तप्त लोहपिण्ड के समान सूर्य आग का गोला बनकर जगत को तापित कर रहा था। ऐसे समय में अग्नि के समान जलती रेत में इस पुरुष को हमने बिना जूतों के उघाड़े पैर चलते देखा। [८२–८३]*

हमने सोचा कि यह व्यक्ति अत्यन्त दुःखी होना चाहिये, अन्यथा ऐसे समय में नंगे पैर क्यों चलता? हमने दूर से ही आवाज देकर उसे बुलाया—'अरे भाई! ठहरो! ठहरो!!' हमारी आवाज के उत्तर में वह बोला—'भाइयों! मैं तो खड़ा ही हूँ, तुम्हीं सब ठहरो।' ऐसा कह कर वह चलने लगा। मैं शीघ्रता से दौड़कर उसके पास गया और बड़ी कठिनाई से बलपूर्वक उसे पकड़ कर एक वृक्ष के नीचे लाया। अनन्तर समस्त राजभृत्य इसका वर्णन करते हुए कहने लगे—इसके शरीर का रंग भयंकर दावाग्नि से जले हुए वृक्ष के ठूँठ जैसा काला था, भूख से उसका पेट अन्दर जा रहा था, होठ प्यास से सूख गये थे, यात्रा की थकान उसके शरीर पर स्पष्ट दिखाई दे रही थी, इसके शरीर पर अत्यधिक पसीना हो रहा था मानो भयंकर अन्तस्ताप से जल रहा हो, शरीर से कोढ गल रहा था, शरीर पर बने कृमियों के जालों से वह अत्यन्त व्याधिग्रस्त लगता था, मुख की भावभंगी से हृदयशूल की वेदना से ग्रसित लगता था, अंग-प्रत्यंग हिल रहे थे और शरीर पर वृद्धावस्था के चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहे थे, गहरी और गर्म स्वांस छोड़ रहा था मानो महाज्वर से ग्रसित हो, आँखों में चेप और मैल जम रहा था और आँखों से सतत पानी बह रहा था, नाक चिपक गया था, हाथ-पैर लगभग सड़ गये थे, सिर गंजा हो रहा था मानो अभी लोच किया हो, शरीर पर अत्यन्त मैले वस्त्र का टुकड़ा और एक कम्बल था, हाथ में

* पृष्ठ ५०५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डंडे से बंधी दो तुम्बियें थीं और ऊन से बनी एक पींछी लटक रही थी। हे स्वामिन् ! जब हमने इसे देखा और इसका अत्यन्त बीभत्स रूप हमें दिखाई दिया तब हमें लगा कि यह समस्त दुःखों का भण्डार, दरिद्रता की अंतिम स्थिति में फंसा हुआ और वास्तव में दया का पात्र है। हे नाथ ! इसके बीभत्स रूप को देखकर हमें लगा कि यह इसी संसार में नारकीय जीव है, जो यहीं नरक की पीड़ा भोग रहा है। [८४-८५] ऐसे प्रत्यक्ष नारकीय प्राणी को देखकर हमने उससे कहा—'हे भद्र ! इस भरी दोपहरी में तू क्यों भटक रहा है ? हे भाई ! ठंडी छाया में थोड़ा बैठता क्यों नहीं ?' तब इसने उत्तर दिया—'भाइयों ! मैं स्वतंत्र नहीं हूँ। मेरे गुरु की आज्ञा से भटक रहा हूँ। मुझे उनकी आज्ञा का अनुसरण करना ही पड़ता है।' हम सोचने लगे कि, अरे ! यह तो बेचारा पराधीन है। अहो ! इसके महान दुःख के कारणों पर विचार करने से मन कुंठित हो जाता है। एक तो यह ऐसी अत्यंत खेद-जनक स्थिति में है और फिर पराधीन भी है। पुनः हमने इससे पूछा—'भाई ! यदि तू तेरे गुरु की आज्ञा इसी प्रकार सर्वदा मानता रहेगा तो उससे तुझे क्या लाभ होगा ?' हमारे प्रश्न के उत्तर में इसने कहा—'भाइयों ! मेरे साथ आठ बड़े-बड़े यम जैसे भयंकर ऋणदाता लगे हुए हैं। वे दया-रहित हैं और मुझे बहुत दुःख देते हैं। मेरे गुरु उनको ग्रन्थीदान देकर (ऋण को चुका कर) मुझे उनके त्रास से मुक्त करेंगे।' इस दुःखियारे का ऐसा विचित्र उत्तर सुनकर हम विचार में पड़ गये। 'अहो! यह तो बहुत दुःख की बात है। यह तो बहुत पीड़ित लगता है। इसके दुःख का कारण बहुत ही कष्टदायी है। ऐसी अत्यन्त अधम स्थिति में भी दान लेकर अपना ऋण चुकाने की इसे दुराशा है। हद हो गई। इससे अधिक दुःखी मनुष्य इस संसार में और कहाँ मिलेगा ?' ऐसा सोचकर हमने इस दरिद्री से कहा—'भद्र ! तू हमारे साथ हमारे राजा के पास चल। वहाँ ले जाकर हम तुम्हारे सब दुःख दूर करवायेंगे। तेरी सब दरिद्रता मिटायेंगे और कर्ज भी चुकवा देंगे।' हमारी बात का इसने विचित्र उत्तर दिया। वह बोला 'भाइयों! आपको मेरी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। तुम या तुम्हारे राजा मुझे (कर्ज से) नहीं छुड़ा सकते'* ऐसा कहकर यह तो फिर से चलता बना। इसके इस विचित्र व्यवहार को देखकर हमने सोचा कि शायद यह दुरात्मा अत्यन्त दुःख से पागल हो गया है, पर हमें तो अपने राजा की आज्ञा का पालन करना चाहिये। यही सोचकर हम इसे पकड़ कर आपके सामने लाये हैं।

राजसेवकों से सारा वृत्तान्त सुनकर धवल राजा ने कहा—'अहा ! यह तो बड़ी अद्भुत घटना है। मुझे भी इसमें कुतूहल लग रहा है। मुझे देखने दो, बीच से पर्दा हटा दो।' राजपुरुषों ने पर्दा हटा दिया। धवल राजा को ठीक वैसा ही पुरुष दिखाई दिया जैसा कि राजपुरुषों ने वर्णन किया था। ऐसे विचित्र बीभत्स पुरुष को देखकर राजा और उसके पारिवारिक लोग अत्यधिक विस्मित हुए। ☐

* पृष्ठ ५०६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२. उग्र दिव्य-दर्शन

[अत्यन्त आश्चर्यजनक घटना घटित हुई। विचित्र प्रश्न करने वाला और अत्यन्त दुःखी तथा बीभत्स दिखाई देने वाला प्राणी धवल राजा के समक्ष खड़ा था। उसके आँखों की चमक और व्यवहार का वेग विचित्र होता जा रहा था। उसके सम्बन्ध में राजपुरुषों द्वारा किया गया वर्णन सब को आश्चर्य में डुबो रहा था।]

विमल का विशिष्ट-चिन्तन

विमलकुमार सोच रहा था कि, अहो! आचार्य बुध भगवान् ही आ पहुँचे लगते हैं। अहो! आचार्य इतने शक्तिसम्पन्न हैं कि वे चाहे जैसा रूप बना सकते हैं। उनकी शक्ति को धन्य है। अहा! उनकी मुझ पर कितनी कृपा है। अहो! अन्य पर उपकार करने की उनकी सात्विक वृत्ति को धन्य है। अहो! अपनी सुख-सुविधा की वे तनिक भी अपेक्षा नहीं रखते। अहो! किसी कारण या अपेक्षा के उनकी सज्जनता को धन्य है। कहा भी है :—

सत्पुरुष स्वभाव से ही अपने कार्य की उपेक्षा/अवगणना करके भी दूसरों के कार्य-साधन में सर्वदा उद्यमशील रहते हैं। दूसरों का हितसाधन करना उनका प्राकृतिक गुण है, इसमें संदेह नहीं। अथवा सत्पुरुष दूसरों के हित-साधन को स्वयं का ही कार्य समझकर प्रवृत्ति करते हैं। सूर्य प्रभात से संध्या तक लोक को उद्योतित करता है, पर क्या वह किसी से कुछ फल की आशा करता है? नहीं। वह अपनी प्रवृत्ति मात्र परोपकार के लिए ही करता है और परोपकार को ही स्वकार्य समझता है। अपना कार्य होने पर भी सत्पुरुष उसकी ओर विशेष लक्ष्य नहीं रखते। चन्द्र में कलंक है जिसे मिटाना उसका कार्य है, फिर भी वह उस ओर ध्यान न देकर मात्र जगत में शीतल चांदनी फैलाने का ही कार्य करता है। धीर एवं बुद्धिशाली पुरुष बिना प्रार्थना के ही परहित का कार्य करते हैं। वर्षा भली प्रकार बरस कर सृष्टि को नवपल्लवित करती है और गर्मी को शांत करती है, पर मेघ से प्रार्थना करने कौन जाता है? साधु पुरुष स्वप्न में भी अपने शरीर के सुख की इच्छा नहीं करते, दूसरों के सुख के लिये अनेक प्रकार के क्लेश सहन करना, ताप सहन करना, दुःख भोगना ही उनका वास्तविक सुख होता है। जिस प्रकार आग का स्वभाव अपनी गर्मी से अनाज आदि पकाना और जल का स्वभाव प्राणियों को जीवन देना है उसी प्रकार सत्पुरुषों का लोक में परहित करने का स्वभाव ही होता है। ऐसे सत्-पुरुष जो अन्य के हित और परोपकार में रत रहते हैं और जो परहितार्थ अपने सुख, धन और जीवन को भी तृण-तुल्य समझते हैं वे स्वयं ही अमृत नहीं तो क्या हैं? महात्मा अपने धन और जीवन का उपयोग भी परहित में करने के लिए सर्वदा कृत-निश्चय होते हैं। ऐसे महात्मा पुरुषों के स्वकीय प्रयोजन निश्चित रूप से स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं। [८६–९३]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुझे तो निश्चित रूप से प्रतीत होता है कि स्वयं बुध आचार्य ही वैक्रिय रूप धारण कर मेरे बन्धुवर्ग को बोध देने के लिए यहाँ आये हैं। [९४] अरे हाँ, आचार्यदेव ने रत्नचूड द्वारा मुझे कहलाया था कि मैं दीन-दुःखियों की शोध-खोज करूं और वे अन्य रूप धारण कर यहाँ आयेंगे। उन्होंने यह भी कहलाया था कि यदि मैं उन्हें पहचान लूं तो भी मैं उन्हें वन्दना नहीं करूं और जब तक स्व-प्रयोजन की सिद्धि (अपने बन्धुओं को प्रतिबोधित करने का कार्य सिद्ध) नहीं हो तब तक मैं उनकी किसी से पहचान भी नहीं करवाऊं।

आचार्य को अंतरंग प्रणाम

आचार्य बुध के गुप्त संदेश को स्मरण कर तथा उनकी परोपकारवृत्ति की प्रशंसा कर विमल ने उन्हें मानसिक नमस्कार किया :—

हे वस्तु सद्भाव के ज्ञाता ! भव्य प्राणियों के वत्सल ! * मूढ प्राणियों को प्रतिबोध देने में कुशल ! हे आचार्य भगवन् ! आपको नमस्कार हो। अज्ञान रूपी अपार जल से भरे संसार-सागर को पार करवाने में निपुण हे महाभाग महात्मन् ! आपका स्वागत है। आप भले पधारे, आपने यहाँ पधार कर बहुत ही प्रशस्त कार्य किया। [९५–९६]

आचार्य भगवान् ने भी विमल के मानसिक नमस्कार का मानसिक उत्तर इस प्रकार दिया :—

हे भद्र ! हे अनघ ! (पापरहित) तेरी कार्य-सिद्धि के लिए संसार-सागर से पार उतारने वाला और सर्व प्रकार के कल्याण को प्रदान करने वाला तुझे धर्मलाभ हो। [९७]

दीन-दुःखी के आक्रोशमय उद्गार

जब राजपुरुष इस दीन-दुःखी पुरुष को हिमभवन में लेकर आये थे तब उस समय वह खेद सहन करने में असमर्थ हो हाय-हाय करता हुआ जमीन पर बैठ गया और जमीन पर बैठा-बैठा ही ऊंघने लगा। उसे ऐसी विचित्र स्थिति में देखकर वहाँ उपस्थित पुरुषों में से कई हँस रहे थे, कई शोकातुर थे, कई निन्दा कर रहे थे और कई तिरस्कार कर रहे थे। कई लोग आपस में चुपचाप बातें कर रहे थे—'अरे ! यह तो बहुत दुःखी है, गरीब है, रोगग्रस्त है, परिश्रान्त है, व्यथित है, भूख से पीड़ित है। अरे ! यह नराधम तो एक नाटक जैसा ही है। अरे ! इसे कहाँ से उठा लाये ? कौन ले आया ? देखो न, अत्यधिक दुःखी होने पर भी बेचारा कुछ नहीं समझता और बैठा-बैठा ही ऊंघ रहा है।' [९८–९९]

उपरोक्त परिस्थिति को देखकर परिवर्तित रूप में विद्यमान बुध आचार्य ने अपनी आँखों को दीपक के समान तेजस्वी बना लिया और अतिशय कुपित होकर

* पृष्ठ ५०७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभाजनों पर तीक्ष्ण दृष्टि फैंकते हुए गंभीर स्वर में कहने लगे अरे ! पापी अधम पुरुषों ! क्या मैं तुमसे भी कुरूप हूँ कि तुम मूर्खों की तरह मुझ पर हँस रहे हो ? क्या तुम मुझे अपने से अधिक दुःखी समझकर हँस रहे हो ? अरे मूर्खों ! शरीर के काले तुम्हीं हो, भूख से पाताल में पेट धसे हुए तुम्हीं हो, प्यास से सूखे होंठ वाले भी तुम्हीं हो। मार्ग-श्रम से थके हुए भी तुम्ही हो, ताप से पीड़ित भी तुम्हीं हो और कोढी भी तुम्हीं हो, मैं नहीं। अरे नराधमों ! शूल पीड़ा से तुम्हीं पीड़ित हो, वृद्धावस्था से जीर्ण भी तुम्हीं हो, महाज्वर से ग्रसित भी तुम्हीं हो, उन्मादग्रस्त और अंधे भी तुम्हीं हो, मैं नहीं। अरे मूर्ख मनुष्यों ! पराधीन ऋणग्रस्त और बैठे-बैठे ऊंघने वाले भी तुम्हीं हो, मैं नहीं। दरिद्र, मलिन और दुर्भागी भी तुम्हीं हो, मैं नहीं। अरे ना-समझ बच्चों ! अरे पापियों ! काल की आँख तुम पर ही लगी है, तभी तो मुझे दुर्बल मुनि मानकर तुम लोग मुझ पर हँस रहे हो [१००–१०५]

दीन का उग्र दर्शन

इस दीन-दुःखी पुरुष की जाज्वल्यमान सूर्य जैसी तेजस्वी आँखों से निकलते दैदीप्यमान प्रकाश से चारों दिशाएं प्रकाशित हो रही थीं। उसकी विद्युत् जैसी लप-लपाती जिव्हा और चमकती हुई दंतपंक्ति को देखकर तथा सारे संसार को थर-थर कंपित करने वाली सिंहनाद जैसी वाणी को सुनकर, जैसे हरिणों का झुंड भय से थर-थर कांपने लगता है वैसे ही सभी सभाजन भय से कांप उठे। [१०६–१०८]

धवल राजा का चिन्तन और प्रार्थना

विचक्षण धवल राजा ने अपनी कल्पना को दौड़ाया और कुछ सोचकर विमल से बोले—कुमार ! यह कोई साधारण पुरुष नहीं लगता है।* इसकी आँखें पहले मैल और चेप से भरी थी और अब सूर्य से अधिक चमक रही हैं। हे वत्स ! इसका मुंह तेज से दैदीप्यमान हो रहा है। वत्स ! रणभूमि में करोड़ों शत्रुओं को छिन्न-भिन्न कर देने वाली इसकी सिंहनाद-सम वाणी सुनकर मेरा दिल अब भी कांप रहा है। अतः मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि यह कोई साधारण पुरुष न होकर प्रच्छन्न रूप में साधु का वेष धारण कर कोई देव यहाँ आया है। अतएव हे वत्स ! ये मुनिपुंगव क्रोधान्ध होकर हम सब को अपने तेज से जला कर भस्म न कर दें, उसके पहिले ही हमें इन्हें शान्त करना चाहिये, प्रसन्न करना चाहिये और इनकी कृपा प्राप्त करनी चाहिये। [१०९–११३]

विमल—आपश्री का निर्णय मुझे भी युक्तियुक्त लग रहा है, इसमें संदेह नहीं। ये साधारण पुरुष न होकर अवश्य ही कोई विशिष्टतम महात्मा प्रतीत होते हैं। पिताजी ! ये हमारा कुछ भी बिगाड़ करें उसके पहले ही हमें इन्हें प्रसन्न कर

* पृष्ठ ५०८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेना चाहिये। महात्मा लोग भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं, अतः हमें इनके पांवों में पड़ना चाहिये। [११४-११५]

विमल की बात सुनकर दैदीप्यमान चपल मुकुटधारी धवल राजा अपने दोनों हाथ जोड़कर मुनि महाराज की ओर दौड़े और उनके चरणों में गिर पड़े। महाराजा द्वारा मुनि के चरण-कमल छूकर वन्दना करते ही वहाँ उपस्थित जन-समूह ने भी मुनि के चरण छूकर नमस्कार किया। पांवों में पड़े-पड़े ही महाराजा बोले--हे मुनिराज! हम निर्बुद्धि अज्ञानी मनुष्यों ने आपका जो अपराध किया हो उसे क्षमा कीजिए और हम पर प्रसन्न होकर आपका दिव्य-दर्शन कराने की कृपा कीजिये। [११६-११८]

दिव्य-दर्शन

राजा और सभी लोग उनको प्रणाम कर जैसे ही खड़े होकर सामने देखते हैं तो उनके आश्चर्य का पारावार नहीं रहता। दीन-दुःखी, कुरूप, भिखारी के स्थान पर उन्होंने देखा कि मुनीन्द्र एक अत्यन्त सुन्दर दिव्य स्वर्ण-कमल पर विराजमान हैं। उनके शरीर का लावण्य देवों के लावण्य को भी तिरस्कृत करने वाला और नेत्रों को तृप्त करने वाला है। उनका तेज इतना अधिक विस्तृत और दीप्तिमान था कि मानो वे साक्षात् सूर्य ही हों। वे समस्त लक्षणों से विभूषित और समस्त अंगोपांगों से स्पष्टतः अतिशय सुन्दर दिखाई देते थे। मुनीश्वर को अतिशय कान्तिमान सुन्दर स्वरूप में देखकर राजा और वहाँ उपस्थित समग्र जन समूह के नेत्र आश्चर्य से प्रफुल्लित हो गये। [११९-१२२] □

१३. बुधसूरि : स्वरूप-दर्शन

दीन-दुःखी दिखाई देने वाले भिखारी ने जब अपना अत्यन्त आकर्षक रूप धारण किया और एक शांत मुनीश्वर के रूप में स्वर्ण-कमल पर बैठकर उपदेश देना प्रारम्भ किया तब वहाँ उपस्थित लोग स्वभाव से ही अन्दर ही अन्दर बातें करने लगे—अरे! यह पहले तो कैसे कुरूप थे और अब ऐसे सौन्दर्यपुञ्ज कैसे हो गये? लगता है वास्तव में ये कोई महा भाग्यशाली देवता ही होंगे। [१२३]

धवल राजा का प्रश्न

जब लोग मन ही मन उपरोक्त बातें कर रहे थे तब भूपति धवल ने अपने दोनों हाथ जोड़कर ललाट पर लगाते हुए पूछा—भगवन्! आप कौन हैं? क्या हमें बताने की कृपा करेंगे? [१२४]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि—भूप ! मैं न तो कोई देवता हूँ और न ही कोई राक्षस ! मैं तो एक साधारण यति (साधु) हूँ और मेरे वेश से ही आप सब यथावस्थित रूप भली प्रकार समझ सकते हैं। [१२५]

धवल राजा—भगवन् ! आपने पहले जो अत्यन्त बीभत्स, घृणोत्पादक, करुणाजनक विकृत रूप धारण किया था, उसका क्या कारण था ? आपके पहले शरीर में जो काला रंग आदि स्पष्ट दोष दिखाई दे रहे थे,* वे सब दोष आप में न होकर हम लोगों में हैं, ऐसा आपने जो कहा वह किस कारण से कहा ? फिर क्षण भर में आपने ऐसा असाधारण सुन्दर रूप कैसे धारण कर लिया ? भगवन् ! मुझ जैसे मूढ को तो इन आश्चर्यजनक बातों को देखकर मन में अत्यधिक कुतूहल हो रहा है, अतः हे प्रभो ! आप इस सम्बन्ध में स्पष्टतः समझाकर मेरी जिज्ञासा को शांत करने की कृपा करें। [१२६–१२९]

बुधाचार्य का उत्तर

बुधाचार्य—भूपेन्द्र धवल और सभाजनों ! आप मध्यस्थ मानस बनाकर शान्ति से बैठें और मेरे द्वारा कथ्यमान प्रसंग को ध्यानपूर्वक सुनें। हे राजन् ! मैंने पहिले जो रूप धारण किया था, वह संसार में रहे हुए जीवों को उद्देश्य (लक्ष्य) में रखकर ही धारण किया था। वास्तव में सभी संसारी जीव मेरे पहले के रूप जैसे ही हैं, किन्तु वे मूढ चित्त वाले होने से इसे समझ नहीं पाते। अतः सब प्राणियों पर दृष्टान्तभूत (घटित होने वाला) और उन्हें लज्जित करने वाला अत्यन्त बीभत्स रूप मैंने उन प्राणियों को प्रतिबोधित करने के लिए ही धारण किया था। हे राजन् ! मैंने वह रूप मुनि वेष में धारण किया उसका विशेष कारण था और 'काला रंग आदि शरीर के समस्त दोष तुम में ही हैं मुझ में नहीं' यह भी मैंने सकारण ही कहा था। हे भूप ! इस विषय पर अब मैं विस्तार से कथन करता हूँ, आप सभी सभाजन बुद्धि-चातुर्य को धारण कर ध्यानपूर्वक सुनें और समझने का प्रयत्न करें। [१३०–१३५]

स्पष्टीकरण—१. काला रंग

सर्वज्ञ दर्शन में जो बुद्धिशाली मुनि महात्मा होते हैं वे तप और संयम के योग से अपने समस्त पापों और दोषों को क्षालित कर देते हैं, अतः बाहर से चाहे वे काले-कीट दिखाई देते हों, घृणोत्पादक बीभत्स हों, कोढी हों, भूख-प्यास से पीड़ित हों, तथापि वस्तुतः (परमार्थ से) वे सुन्दर हैं। हे राजन् ! पाप में आसक्त, विषयों में गृद्ध और सद्धर्म से बहिष्कृत (विशुद्ध धर्म से दूर) गृहस्थ बाह्य दृष्टि से निरोग, सुखी और आनन्दित दिखाई देने पर भी तत्त्वतः वे रोगी, दुःखी और पीड़ित हैं। पुनः, काला रंग आदि दोष जैसे गृहस्थों में होते हैं वैसे साधुओं में नहीं

---

* पृष्ठ ५०९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते । उनमें ये दोष क्यों नहीं होते, इसका कारण अब मैं समझाता हूँ । जो व्यक्ति बाहर से सुवर्ण जैसे पीले रंग का हो किन्तु भीतर से पाप रूपी अंधकार से लिप्त हो तो परमार्थ से वह काला ही है, ऐसा पण्डितजनों का अभिमत है । हे नरेन्द्र ! बाहर से कोयले जैसा काला व्यक्ति भी यदि अन्तःकरण से स्फटिक रत्न जैसा निर्मल हो तो वह कनकवर्णी ही है, ऐसा विचक्षण लोग मानते हैं । अतएव काले रंग वाले साधु का भी मन यदि वास्तव में शुद्ध है तो, हे नरपति ! परमार्थतः उसे स्वर्ण के समान कनकवर्णी ही मानना चाहिये । हे नराधिप ! गृहस्थ संसार में रहकर अनेक प्रकार के आरम्भ-समारम्भ युक्त पाप-परायण होता है, अतः उसका शरीर स्वर्ण जैसा गौरवर्णी दिखने पर भी परमार्थ से उसे कृष्णवर्णी ही समझना चाहिये । इसी वास्तविकता के कारण मैंने उस समय तुम्हें और सभाजनों को कहा था कि काला मैं नहीं तुम सब लोग हो ।* [१३६–१४५]

२. भूख

हे नरेश्वर ! मैंने तुम सब को भी भूखा बताया उसका भी स्पष्टीकरण सुनो । पहले भूख शब्द की व्याख्या समझो । चाहे जितने विषयों के प्राप्त होने पर भी तृप्ति न हो, सन्तोष प्राप्त न हो, उसे ही विद्वान् परमार्थ-दृष्टि से भूख मानते हैं । अर्थात् खाने की इच्छा को भूख तो मात्र व्यवहार में कहा जाता है, वास्तविक भूख तो मानसिक असन्तोष पर आधारित है । सद्धर्म से रहित संसार के सभी मूढ प्राणी प्रायः संसार में इतने अधिक आसक्त होते हैं कि उन बेचारों की यह भूख कभी मिटती ही नहीं, अर्थात् सदा बुभुक्षित ही रहते हैं । ऐसे प्राणी खा-पीकर, विषय भोगकर तृप्त दिखाई देने पर भी तत्त्व से वे क्षुधातुर ही हैं, ऐसा समझें । दूसरी ओर निरन्तर सन्तोष से पुष्ट होने वाले साधुओं का यदि आप गहराई से अवलोकन करें तो, हे राजन् ! आपको दिखाई देगा कि यह भयंकर भाव-भूख उन पर कोई असर नहीं कर पाती; क्योंकि उनके मन में कभी असन्तोष होता ही नहीं । चाहे उनके पेट खाली हों, भूख से उत्पीड़ित दिखाई देते हों तथापि स्वस्थ मन वाले होने से उन्हें तृप्त ही समझना चाहिये । हे पृथ्वीपति ! इसीलिये मैंने तुम सब को क्षुधा से पीड़ित कहा था और स्वयं को तृप्त बताया था । [इस से तुम्हें समझना चाहिये कि मेरे जैसे योग्य आचरण वाले सभी साधु तृप्त हैं और तुम्हारे जैसे संसार में रहने वाले धन-धान्य, विषय, कषाय और परिग्रह में आसक्त गृहस्थ अतृप्त हैं ।] [१४६–१५१]

३. प्यास

हे नरपति ! अप्राप्त भोगों को प्राप्त करने की अभिलाषा भाव-कंठ का शोषण करने वाली होने से उसे ही प्यास कहा जाता है । जैन धर्म-रहित प्राणी चाहे जितना पानी पीकर भी निरन्तर इस भाव-तृष्णा से पीड़ित रहते हैं, क्योंकि

* पृष्ठ ५१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्हें नये-नये विषय-भोग प्राप्त करने की अभिलाषा निरन्तर बनी रहती है, जिससे उनका भाव कण्ठ सूखता ही रहता है। दूसरी ओर यदि आप मुनियों के विषय में अवलोकन करेंगे तो आपको प्रतीति होगी कि ये महात्मा भविष्य में प्राप्त करने योग्य किसी भी प्रकार के भोगों के विषय में बिल्कुल इच्छा-रहित होते हैं, निःस्पृह होते हैं, इससे उन्हें सामान्य जल प्राप्त हो चाहे न हो किन्तु वे वास्तविक प्यास से तो दूर ही रहते हैं। भोग भोगने की अभिलाषा प्राणी को कैसा आकुल-व्याकुल बना देती है, इस पर तनिक गम्भीरता से विचार करें। हे राजन्! इसीलिये मैंने कहा था कि तुम सब तृषा-पीड़ित हो, मैं नहीं। [१५२–१५५]

४. मार्ग-श्रम

इस संसार का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ और इसका अन्त कहाँ और कब हो जायगा, इसे कोई नहीं जानता। यह संसार-मार्ग सैकड़ों दोष रूपी चोरों से व्याप्त है, पूरा मार्ग विषम है, विषय रूपी मस्त हाथी या विषैले सर्पों से भरा हुआ है और दुःख रूपी धूल से परिपूर्ण है। हे नरेन्द्र! ऐसे आदि-अन्त-रहित, चोर-सर्प से व्याप्त विषम मार्ग को विद्वानों ने अपने भाव-चक्षुओं से देखा है और इस सम्पूर्ण मार्ग को शरीरधारियों के लिये अति भयंकर दुःख और खेद का कारण बताया है। संसारी प्राणी इस संसार-मार्ग पर कर्म रूपी सम्बल (गठरी) का भार सिर पर लाद कर (घाणी के बैल की तरह) निरन्तर घूमते रहते हैं, पर लेशमात्र भी आगे नहीं बढ़ पाते। फलतः विशुद्ध जैन-धर्म-रहित मूढ प्राणी संसार-महामार्ग से थककर खेद प्राप्त करते हुए निरन्तर क्षुभित और दुःखी दिखाई देते हैं। उनके व्यवहार में उनका मार्ग-श्रम स्पष्ट झलकता है। वे चाहे शीत-ताप-नियन्त्रित सुन्दर घर, बंगले या राज्यमहल में रहते हों तथापि तत्त्वतः उन्हें निरन्तर मार्गश्रम से थकित ही मानना चाहिये। हे भूपति! दूसरी ओर मुनि विवेकपर्वत शिखर पर स्थित सतताह्लादकारी जैनपुर में निवास कर लीला लहर करते हैं। जैनपुर के हिम-शीतल चित्तसमाधान मण्डप में रहकर वे अपने आपको इतना निवृत्त कर लेते हैं कि मार्गश्रम अथवा त्रास का कोई भी कारण उनके पास नहीं रहता, अर्थात् विगतश्रम हो जाते हैं। बाहर से देखने पर आपको मुनिगण मार्गश्रम से परिश्रान्त लग सकते हैं, किन्तु परमार्थ से उन्हें अश्रान्त समझना चाहिये।* इसीलिये हे राजेन्द्र! मैंने पहले तुम्हें थका हुआ और स्वयं को खेदनिर्मुक्त कहा था। [१५६–१६४]

५. ताप

हे भूप! क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी चतुर्विध दारुण और गहन कषायों के ताप से संसारी प्राणियों के सर्वांग सतत जलते रहते हैं। यद्यपि बाह्य शरीर पर वे सदा चन्दनादि शीतल पदार्थों का विलोपन किये रहते हैं, फिर भी

* पृष्ठ ५११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कषायों के ताप से वे सर्वदा तप्त ही रहते हैं। हे नृप ! जबकि दूसरी ओर साधुगण सतत शांत मन वाले, निष्कषाय और पापरहित होने से निस्ताप रहते हैं। यद्यपि बाह्य दृष्टि से वे ताप-पीड़ित दिखाई देते हैं, तथापि परमार्थ से उन्हें ताप से दूर ही समझना चाहिये। हे राजेन्द्र ! इसीलिये मैंने पूर्व में कहा था कि तुम सब ताप-पीड़ित हो, मैं नहीं। [१६५–१६९]

६. कोढ :

हे नरेन्द्र ! जैसे सामान्यतया कोढ की व्याधि होने पर शरीर में कृमि पैदा हो जाते हैं, हाथ-पैरों से कोढ झरता रहता है, नाक चपटी अथवा नष्ट हो जाती है, आवाज घर्घर (मोटी) और अव्यक्त हो जाती है वैसे ही हे राजन् ! मनीषियों ने मिथ्यात्व, अज्ञान अथवा कुदेव कुगुरु कुधर्म में श्रद्धा को ही कुष्ठ व्याधि कहा है। इस कोढ से ग्रसित होने पर संसारी प्राणियों में अनेक प्रकार के कुविकल्प रूपी कृमि उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे उनका आस्तिकता रूपी रस गलता रहता है, रूप नष्ट हो जाता है, सद्बुद्धि रूपी नासिका चपटी हो जाती है और मदोन्मत्तता के कारण उनकी वाणी भी घर्घर और अस्पष्ट हो जाती है। सम, संवेग, निर्वेद और करुणारूपी जो हाथ-पैर की अंगुलियां हैं वे मूल से नष्ट हो जाती हैं। इसीलिये हे पृथ्वीनाथ ! विद्वज्जनों ने संसारी मूढ प्राणियों को सर्वदा मिथ्यात्वरूपी कोढ के उद्वेग से ग्रसित कहा है। यद्यपि वे सर्व अवयवों से सुन्दर दिखाई देते हैं, तथापि भाव (अन्तरंग दृष्टि) से उनके शरीर के समग्र अवयव कृमिजाल से क्षत-विक्षत ही समझना चाहिये। दूसरी ओर मुनिगण सम्यग्भाव (सम्यक्त्व) से पवित्र और मिथ्यात्व से रहित होने से उन्हें यह मिथ्यात्व रूपी कोढ नहीं होता, अतः उन्हें सर्व अवयवों से सुन्दर समझना चाहिये। हे नृपति ! यदि कभी बाह्य शरीर से वे कुष्ठ-ग्रसित भी दिखाई दें तब भी वे मानसिक कुष्ठ से रहित होने से कोढी नहीं हैं, ऐसा समझना चाहिये। इसी दृष्टि से विचार कर मैंने कहा था कि तुम सब कोढ-ग्रस्त हो, मैं नहीं। [१७०–१७७]

७. शूल-पीड़ा

हे राजन् ! प्राणियों को जब अन्य प्राणी पर द्वेष-भाव उत्पन्न होता है तब उसकी समृद्धि को देखकर उस पर ईर्ष्या होती है, उसे ही विद्वान् पुरुष शूल-पीड़ा कहते हैं। इस ईर्ष्या रूपी शूल से आक्रांत प्राणियों के हृदय में प्रतिक्षण टीस उठती रहती है और वे दूसरों को दुःखी देखकर प्रसन्न होते हैं। द्वेष से धधकते हुए वे बार-बार अपने चेहरे को विकृत करते हैं। किन्तु, हे राजन् ! सर्वत्र समान चित्तवाले और द्वेष-रहित साधुओं को यह महाशूल नहीं होता। इसी कारण को ध्यान में रखकर मैंने पहले कहा था कि तुम सब शूल से पीड़ित हो, मैं नहीं।

[१७८–१८१]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. वृद्धावस्था

हे नरेन्द्र ! अनादि काल से संसार-चक्र चल रहा है, जिसमें प्राणी समान गति से जन्म, मरण और पूर्ववत् व्यवहार की प्रवृत्ति करता ही रहता है,* पर इसके इस जन्म-मरण और व्यवहार में कोई विशिष्टता देखने में नहीं आती है। इसने न कभी श्रेयस्करी विद्याजन्म (विद्वत्ता का अनुभव) ही प्राप्त किया है, न कभी इसने विवेक रूपी तरुणाई ही प्राप्त की है और न कभी भावमृत्यु को ही प्राप्त होता है। इसलिये प्राणी जब तक संसार में रहता है, मात्र जीवन-मरण के चक्कर ही लगाता रहता है और अनन्त दुःख समूह रूपी वृद्धावस्था से जीर्ण-शीर्ण ही दिखाई देता है। बाह्य दृष्टि से चाहे ऐसे प्राणी युवक ही दिखाई देते हों, पर तत्त्वतः उन्हें जरा-जीर्ण ही समझना चाहिये। हे नृप ! जब कि दूसरी ओर साधुओं का जीवन ही श्रेयस्करी विद्यामय होता है, विवेक रूपी यौवन से वे ओत-प्रोत रहते हैं और दीक्षा सुन्दरी के साथ आनन्द से विलास करते हैं। उन्हें त्रासकारी बुढ़ापा आता ही नहीं, वे सदा भाव-यौवन में ही रहते हैं और जब मरते हैं तब इस प्रकार मरते हैं कि उन्हें पुनः जन्म लेना ही न पड़े। अतः सभी संसारी प्राणी दीर्घजीवी होने पर भी बुढ़ापे से जीर्ण हैं, जब कि साधु अपने कर्मों को काटने में शक्तिमान होने से सर्वदा यौवन में ही रहते हैं। (हे राजन ! इसी पर्यालोचन के कारण मैंने पहले तुम लोगों से कहा था कि तुम सब वृद्ध हो, मैं नहीं।) [१८२–१८८]

९. ज्वर

हे भूप ! संसारी मूर्ख प्राणी सर्वदा राग रूपी संताप से संतप्त रहते हैं, अतः विद्वानों ने उन्हें महाज्वर से तप्त कहा है। साधुओं में तो राग की गन्ध भी नहीं होती, अतः बाह्य दृष्टि से भले ही वे ज्वर-पीड़ित दिखाई देते हों, पर राग रूपी संताप से रहित होने से उन्हें ज्वर-रहित ही समझना चाहिये। [१८९-१९०]

१०. उन्माद

हे धरानाथ ! अपने आपको पण्डित मानने वाले भी जब मूर्ख संसारी प्राणी की तरह करणीय कर्त्तव्य/कार्य और सद् अनुष्ठान में तो प्रवृत्त नहीं होते, अपितु बार-बार रोकने पर भी पाप कार्य तथा अकरणीय कार्यों में तत्परता से प्रवृत्त होते हैं, अतः वे उन्मत्त (पागल) ही हैं ऐसा समझें। जबकि दूसरी ओर शुद्ध बुद्धि वाले साधुगण सर्वदा सदनुष्ठान में रत रहते हैं, अतः उन्हें ऐसा उन्माद नहीं होता। हे राजन् ! इसी विचार-विमर्श के आधार पर मैंने कहा था कि तुम सब वृद्धावस्था से जीर्ण, रोगग्रस्त और उन्मादयुक्त हो, मैं नहीं हूँ। [१९१-१९४]

११. अन्धापन

हे वसुधापति ! संसारी प्राणी भले ही बाह्य दृष्टि से विशाल नेत्रों वाले हों और अपने सुन्दर नेत्रों से आंखें फाड़-फाड़ कर देख रहे हों, फिर भी वे अन्दर से

---

* पृष्ठ ५१२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कामान्ध होते हैं, अतः पहले से ही मैंने उन्हें विकलाक्ष (अन्ध) कहा है। इस प्रकार का कामजन्य अन्धत्व साधुओं में कदापि नहीं होता है। यद्यपि बाह्य दृष्टि से साधु मन्द दृष्टि वाले या नेत्रहीन भी होते हैं पर वे कामान्ध नहीं होते, अतः उन्हें अन्धा नहीं कहा जा सकता। हे राजन्! इसीलिये मैंने तुम सब लोगों को अन्धा और स्वयं को पूर्ण एवं विशाल नेत्रों वाला सुलोचन कहा है। [१९५–१९८]

१२. पराधीनता

हे राजन्! गृहस्थ प्राणी पराधीन क्यों है और साधू स्वतन्त्र क्यों है? इस विषय में अब बताता हूँ। स्त्री, पुत्र और चंचल कुटुम्ब आदि भिन्न-भिन्न कर्मों से निर्मित होने से परमार्थ से स्नेह-रहित हैं।* पर, जिन मूढ प्राणियों ने इस परमार्थ को नहीं समझा है, उन्हें तो वे मन से अत्यन्त ही प्रिय लगते हैं और वे तो इसे ही संसार में सारभूत तत्त्व मानते हैं। उनके मोह में फंसा पामर प्राणी रात-दिन पशु की भांति दास/नौकर की भांति क्लेश सहन करता है। वह न तो स्वस्थ चित्त से खाना खा सकता है, न रात में सो सकता है और धन-धान्य से समृद्ध होने की चिन्ता में निरन्तर आकुल-व्याकुल रहता है। वह सदा कुटुम्ब का आज्ञाकारी बनकर आदेशों का पालन करता रहता है, फिर भी वस्तुतत्त्व के परमार्थ से अनभिज्ञ अपनी पराधीनता को नहीं जानता। यह प्राणी मनुष्य आदि चार गति वाले इस संसार-चक्र में सकल जीवों से माता, पिता, भ्राता, स्त्री, पुत्र, पुत्री आदि सम्बन्धों से अनेक बार सम्बन्धित हो चुका है। इस वस्तुस्थिति को समझने वाला चतुर प्राणी फिर क्यों बार-बार उनके लिये अपने जीवन को हारता है? क्यों अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है? इसीलिये महात्मा पुरुष स्त्री, पुत्र आदि रूप इस पिंजरे का पूर्णरूप से त्याग कर निःसंग स्वतन्त्र हो जाते हैं। निःसंग बुद्धि वाले साधु ही स्वतन्त्र हैं, स्वाधीन हैं, भाग्यशाली हैं, पाप-रहित हैं और जगत् के स्वामी हैं। ऐसे महाबुद्धिमान् महात्मा अपने गुरु के अधीन होने पर भी घर-कुटुम्ब के पाश/बन्धन से निर्मुक्त होने से पूर्णतया स्वतन्त्र हैं। हे मानवेश्वर! इस बात को ध्यान में रखकर ही मैंने तुम्हें पराधीन और अपने को स्वतन्त्र कहा था। [१९९-२१०]

१३. आठ ऋणदाता

हे राजन्! मैंने पहले जो कहा था कि मेरे सिर पर आठ ऋणदाता हैं, वे प्राणियों से सम्बन्धित ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म हैं, जो प्राणी को अनेक प्रकार के दुःख देते हैं। ये कर्म जीव को निरन्तर व पुनः-पुनः कदर्थित करते रहते हैं। इन तीव्र दारुण कर्मों से प्राणी दान आदि लेने-देने में, भोग-उपभोग करने में और अपनी शक्ति का उपयोग करने में असमर्थ हो जाता है। ये कई प्राणियों को कभी भूखा-प्यासा रखते हैं, कभी उसे दीन-हीन बनाकर विह्वल कर देते हैं और कभी उसे नरक के कोठे में डालकर गाढ़ पीड़ा देते हैं। ये आठ कर्मरूपी ऋणदाता साधुओं के

* पृष्ठ ५१३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी होते हैं, किन्तु वे शुद्ध प्रायः होते हैं। उनका ऋण अल्प मात्रा में होता है, अतः वे उनको इतना कष्ट नहीं दे पाते। फिर वे मुनिगण इतने शक्ति-सम्पन्न एवं कृत-निश्चयी होते हैं कि नित्य ही अपने ऋण को थोड़ा-थोड़ा चुकाकर उसे घटाते रहते हैं, अतः ये आठ ऋणदाता साधुओं को इतना त्रास नहीं दे सकते। हे राजन्! इसीलिये मैंने पहले तुम सबको कर्जदार और स्वयं को ऋणमुक्त कहा था। [२११-२१६]

१४. प्रचला निद्रा

हे नरेन्द्र! जैन-धर्म-रहित प्राणी नित्य ही भाव निद्रा में सोते रहते हैं इसका भी विवेचन सुनो। कर्म-परम्परा अति भीषण है, यह संसार-सागर अति-घोर है, राग आदि भयंकर दोष हैं, प्राणियों का मन चपल है, पाँचों इन्द्रियाँ बहुत चंचल हैं,* जीवन अस्थिर है, समस्त समृद्धियां भी चलायमान हैं, शरीर क्षणभंगुर है, प्रमाद प्राणियों का शत्रु है, पाप-संचय दुस्तरणीय है, असंयम दुःख का कारण है, नरक रूपी कुंआ महा भयंकर है, प्रियजनों का संयोग अनित्य है, अप्रिय संयोग भी क्षणिक है, कलत्र-मित्र और बान्धवजनों के प्रति राग और विराग भी क्षणिक है, मिथ्यात्व बैताल महा भयंकर है, वृद्धावस्था तो हाथ में ही बैठी है, भोग अनन्त दुःखदायी है और मृत्यु रूपी पर्वत अति दारुण है। यह सब बिना सोचे ही प्राणी पांव पसार कर सोया है, अपने विवेक चक्षुओं को बन्द कर चेतना-शून्य होकर घुर-घुर आवाज करता हुआ घोर निद्रा में पड़ा है। विवेकीजनों द्वारा बहुत तेज आवाज से जगाने पर वह थोड़ा जागकर भी अपनी आँखों को घूर्ण-मान करता हुआ पुनः इस महामोह निद्रा में बार-बार सो जाता है। हम कहाँ से आये हैं? किस कर्म से आये हैं? कहाँ आये हैं? कहाँ जायेंगे? इन सब पर ये मूर्ख प्राणी कोई विचार नहीं करते। अतः बाह्य दृष्टि से ऐसे प्राणी जागृत दिखाई देने पर भी वस्तुतः वे भाव-निद्रा में सो रहे हैं, समझना चाहिये। जबकि मुनिपुंगवों को ऐसी महामोह रूपी निद्रा नहीं होती। वे भाग्यशाली तो नित्य जागृत रहते हैं। सर्वज्ञ प्ररूपित आगम रूपी दीपक से महाबुद्धिमान साधु अपनी और अन्य प्राणियों की गति और आगति को जान जाते हैं, अतः उन्हें बाह्य निद्रा से सुप्त होने पर भी विवेक नेत्रों के खुले होने से जागृत ही समझना चाहिये। इन सब बातों का विचार कर ही मैंने पहले कहा था कि तुम सब सो रहे हो, मैं नहीं। महामोह निद्रा में पड़े होने के कारण तुम वस्तु-स्वरूप को सम्यक् प्रकार से नहीं समझते, जबकि मेरे विवेक चक्षु खुले होने से मैं प्रत्यक्षतः एवं स्पष्टतः देखता हूँ। [२१७-२३२]

१५. दरिद्रता

हे राजन्! जो सद्धर्म से रहित हैं, परमार्थ से उन्हीं प्राणियों को दरिद्रता से आक्रान्त दारिद्र्य-मूर्ति समझना चाहिये। हे नरपति! ज्ञान, दर्शन, चारित्र और

* पृष्ठ ५१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीर्य जो भावरत्न हैं, वस्तुतः वे ही धन के भण्डार हैं, वे ही ऐश्वर्य के कारण हैं और वे ही सुन्दर हैं; जो पापात्माओं के पास नहीं होते। फिर इनके बिना उनके पास कैसा धन ? फलतः इन भाव-रत्नों से रहित जो लोग धन से परिपूर्ण दिखाई देते हैं, उन्हें भी परमार्थ से निर्धन ही समझना चाहिये।* हे भूप ! जबकि दूसरी ओर साधु महात्मा तो नित्य ही चित्त रूपी मन्दिर में इन भाव-रत्नों से जगमगाते रहते हैं, अतः वे ही वास्तव में सच्चे धनिक हैं, वे ही धन्य हैं और वे ही परम विभूति सम्पन्न हैं। वे निःसंदेह निखिल संसार का पोषण करने में शक्तिमान हैं। हे नृप ! बाहर से फटे मैले वस्त्रों से वे भले ही मलिन, भिखारी और दरिद्र दिखाई देते हों और उनके हाथ में तूम्बड़े (पात्र) दिखाई देते हों तथापि परमार्थ से विद्वानों ने उन महर्ध्य एवं अमूल्य रत्नधारी मुनियों को ही परमेश्वर माना है। हे नरेन्द्र ! आवश्यकता पड़ने पर वे महात्मा अपने तेज के द्वारा एक तृण से भी रत्नों के भण्डार का निर्माण कर सकते हैं। अतः अपने दारिद्र्य का पर्यालोचन न कर आपने मुझ जैसे भाव-रत्नों के धारक महाधनी साधु को दरिद्री कैसे बतलाया ? [२३३–२४२]

१६. मलिनता

हे पृथ्वीपति! जो व्यक्ति कर्म-मल से भरा हुआ है वही वास्तव में मलिन है। कर्म-मल से पूरित प्राणी शरीर के बाहरी अंगोपांगों को कितना भी धोकर, सुन्दर वस्त्र धारण करले तथापि उसकी मलिनता में न्यूनता नहीं आती। जबकि बाहर से मलिन वस्त्र धारण करने पर भी जिनके मन बर्फ, मोती के हार और गाय के दूध के समान स्वच्छ हैं, हे मानवेश्वर ! वे ही वास्तव में स्वच्छ हैं, निर्मल हैं, ऐसा समझना चाहिये। तुम सब लोगों में विद्यमान इस भाव-मलिनता का विचार किये बिना ही तुम सब ने किस कारण से मेरी हँसी उड़ाई ? [२४३–२४५]

१७. दुर्भाग्य

सद्धर्म में निरत पुरुष ही इस विश्व में सौभाग्य-सम्पन्न होता है। ऐसा पुरुष ही विवेकी पुरुषों का हृदयवल्लभ होता है। जिसका चित्त सद्धर्मवासित होता है वही जगत के समस्त सुर, असुर, चराचर प्राणियों का बन्धु तुल्य होता है। अर्थात् ऐसा सत्पुरुष ही समस्त सृष्टि के साथ मैत्री-भाव/प्रेम-भाव रखता है। साधु तो इस लोक में सर्वदा सदाचार में ही रत रहते हैं, अतः वे ही वास्तव में सौभाग्यशाली हैं। जो ऐसे साधु पुरुषों से द्वेष करते हैं वे नराधम हैं, पापी हैं। जिस प्राणी में अधर्म का जितना आधिक्य है वह भावतः उतना ही दुर्भागी है। सभी विवेकी पुरुष ऐसे अधर्मी की निन्दा करते हैं। अतः जो प्राणी पाप-रत है वही लोक में दुर्भाग्य के योग्य होता है। हे नराधिप ! ऐसे पापी की जो प्रशंसा करते हैं वे भी दुर्भागी और पापी

---

* पृष्ठ ५१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। फिर मैं तो प्रकट रूप में भी मुनि वेष में था, धर्मी था। ये दुर्भागी लोग मुझ सौभागी को देख भी सकते थे, तब भी तुम लोगों ने मुझे दुर्भागी क्यों कहा ? किस लिये मेरी निन्दा की ? [२४६-२५१]

१६. पारमार्थिक आनन्द

[धवल राजा और सभाजनों को अपने स्वरूप का दर्शन कराते हुए बुधाचार्य ने संसारी जीवन की अधमता और साधु जीवन की महत्ता पर प्रकाश डाला। संसारी जीवों की झूठी समझ को दूर करने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि किसी भी प्रकार उनकी निन्दा करना उचित नहीं था।]

सांसारिक सुख

उन्होंने कहा—हे राजन् ! जिनवचनामृत-रहित पामर प्राणी इस संसार के गर्भ में भटकते हैं, कर्म-परम्परा रूपी रस्से से निरन्तर बंधते हैं, विषयों को भोगने पर भी तृप्ति न होने से विषय-बुभुक्षा से पीड़ित रहते हैं, विषयेच्छा रूपी तृषा से प्यासे रहते हैं, निरन्तर भवचक्र में भटकते हुए थक कर खिन्न हो जाते हैं, कषाग्नि से प्रतिदिन दहकते रहते हैं, मिथ्यात्व रूपी कोढ से ग्रस्त रहते हैं, ईर्ष्या शूल से बिंधते रहते हैं, संसार में दीर्घकाल तक निवास होने के कारण वृद्धावस्था से जीर्ण हो जाते हैं, राग-ज्वर से धधकते हैं,* कामवासना रूपी काचपटल से अन्धे हो जाते हैं, भाव-दरिद्रता से आक्रान्त हो जाते हैं, जरा रूपी राक्षसी से पराभव प्राप्त करते हैं, मोहान्धकार से आच्छादित रहते हैं, पांच इन्द्रियों के घोड़ों से खींचे जाते हैं, क्रोधाग्नि में पकते रहते हैं, मान पर्वत से स्तब्ध रहते हैं, माया जाल से वेष्टित रहते हैं, लोभ समुद्र में डूबते रहते हैं, इष्ट-वियोग की वेदना से सन्तप्त रहते हैं, अनिष्ट के संयोग से परितप्त होते हैं, कालपरिणति के वशीभूत इधर से उधर डोलते रहते हैं, लम्बे समय तक बड़े कुटुम्ब के भरण-पोषण से बार-बार संत्रस्त होते हैं, कर्म रूपी कर्जदारों से बार-बार लांछित होते हैं, महामोह की दीर्घ निद्रा से सब से पीछे रह जाते हैं और अन्त में मृत्यु रूपी मगर-मच्छ के ग्रास बनते हैं। हे राजन् ! यद्यपि ये संसारी प्राणी वीणा, मृदंग आदि के मधुर स्वर सुनते हैं, नेत्रों को आकृष्ट करने वाले विभ्रम, विलास एवं कटाक्ष युक्त मनोहर रूप देखते हैं, अच्छी

* पृष्ठ ५१६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरह से निष्पादित कोमल स्वादिष्ट और मनोनुकूल विशिष्ट प्रकार का भोजन करते हैं, कपूर, अगरु, कस्तूरी, पारिजात, मंदार, नमेरु, हरि-चन्दन, संतानक के फूलों को और अग्निपुट द्वारा निर्मित सुगन्धित पदार्थों की सुगन्ध लेते हैं, ललित ललनाओं का कोमल शैया पर आनन्द से स्पर्श करते हैं, आलिंगन करते हैं, प्रेमी मित्रों के संग आनन्द करते हैं, सुन्दर वन वाटिका में विलास करते हैं, मनोवांछित चेष्टायें और क्रीड़ायें करते हैं, वर्णनातीत विषय-वासना-रस में आकंठ डूबे रहते हैं, रसासक्ति के अभिमान में आंखें भी मुंदी (निमीलित) रहती हैं तथापि उन प्राणियों का यह सुखानुभव मात्र क्लेश रूप और निरर्थक ही है। हे राजन्! मैंने प्रारम्भ में जो विविध प्रकार के दुःखों के सैकड़ों कारण बतायें हैं उनसे तो यह संसारी प्राणी निरन्तर घिरा ही रहता है, फिर सुख कैसे प्राप्त हो सकता है? मानसिक शांति कैसे मिल सकती है?

इस प्रकार की परिस्थिति में भी, दुःखों से आकण्ठ डूबा हुआ होने पर भी प्राणी मोह के कारण अपने को सुखी मानता है। हे भूप! उसका यह सुख शिकारियों द्वारा शक्ति, नाराच (बाण), तोमर (भाला) से आहत होने पर त्रस्त हरिण को जैसा सुख प्रतीत होता है वैसा ही संसारी प्राणियों का सुख है। अथवा उसका यह सुख आटा लगे कांटे में फंसी हुई तालुविद्ध मूर्ख मछली का सुख ही है जो आटा खाने के लोभ में अपने प्राण गंवाती है। हे नरेन्द्र! विशुद्ध धर्मरहित प्राणियों के मस्तक दुःख-संघात में इतने विदीर्ण रहते हैं मानो वे महादुःखी नारकीय जीव ही हों, अर्थात् वास्तविक सुख की तो गन्ध भी उनके पास नहीं फटकती।

[२५२-२५५]

साधुओं के पारमार्थिक आनन्द

हे राजन्! श्रेष्ठ मुनिपुंगवों को उपरोक्त सभी क्षुद्र उपद्रव कदापि बाधित/उत्पीड़ित नहीं करते हैं, क्योंकि उनका मोहान्धकार नष्ट हो जाता है और उन्हें सम्यक् ज्ञान (विशुद्ध सत्य ज्ञान) की प्राप्ति हो जाती है। किसी भी विषय का कदाग्रह (झूठा आग्रह) करने की प्रवृत्ति से वे निवृत्त हो जाते हैं। संतोषामृत उनकी रग-रग में व्याप्त रहता है। वे किसी भी प्रकार का अनैतिक आचरण नहीं करते जिससे उनकी भव-बेल सूख कर टूट जाती है। धर्म मेघ रूपी समाधि स्थिर हो जाती है और उनका अन्तरंग अन्तःपुर (आन्तरिक गुण) उनके प्रति अधिकाधिक अनुरक्त होता है।

मुनिपुंगवों के अन्तरंग अन्तःपुर (११ पत्नियों) का वर्णन भी सुनिये—

इन श्रमण वृन्दों को धृति सुन्दरी सन्तोष प्रदान करती है, * श्रद्धा सुन्दरी चित्त को प्रसन्न रखती है, सुखासिका सुन्दरी आह्लादित करती है, विविदिषा सुन्दरी शान्ति का प्रसार करती है, विज्ञप्ति सुन्दरी प्रमोद प्रदान करती है, मेधा सुन्दरी सद्बोध प्रदान करती है, अनुप्रेक्षा सुन्दरी हर्षोल्लास का कारण भूत बनती है,

* पृष्ठ ५१७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैत्री सुन्दरी मनोभीप्सित अनुकूल आचरण करती है, करुणा सुन्दरी प्रति समय वात्सल्य भाव रखती है, मुदिता सुन्दरी सतत आनन्द प्रदान करती है और उपेक्षा सुन्दरी समस्त प्रकार के उद्वेगों का नाश करती है।

हे नरेश्वर ! अत्यन्त प्रिय एवं प्रगाढ़ अनुरागिणी इन ग्यारह सुन्दरियों में प्रेमासक्त (धैर्यादि आन्तरिक गुणों में दृढ़ासक्त) होकर ये मुनीन्द्र सर्वदा आमोद-प्रमोद करते हैं, अर्थात् प्रमुदित रहते हैं। इन्हीं सुन्दरियों (आन्तरिक गुणों) के सम्पर्क से ये श्रमणगण स्वयं की आत्मा को संसार-सागर से पार और निर्वाण-सुख-समुद्र में डूबा हुआ मानते हैं। (यह तो अनुभव सिद्ध और शास्त्र प्रसिद्ध ही है कि) शान्त चित्त वाले विशुद्ध ध्यानी मुनियों को जो सुख प्राप्त होता है वैसा सुख देवों को, इन्द्र को या चक्रवर्ती को भी प्राप्त नहीं हो सकता। जो महात्मागण अपने देह रूपी पिंजरे में भी पराया हो इस भाव से रहते हैं, उन्हें कैसा सुख मिलता है, यह पूछने का साहस ही कौन कर सकता है ? संसार-गोचरातीत जिस सुख की अनुभूति वे करते हैं उस आनन्द रस के स्वरूप को वे ही जान सकते हैं, अन्य प्राणी नहीं। ऐसी परिस्थिति में भी जब कि मैं सुख-पूरित हूँ तब भी वस्तुतत्त्व के पारमार्थिक रहस्य को समझे बिना लोगों ने मुझे दुःखी कहकर मेरी जो निन्दा की है, वह व्यर्थ है। स्वयं दुःखी होते हुए भी तुम सब लोग झूठे सुख के अभिमान में विचित्र नाटक कर रहे हो, किन्तु हे राजेन्द्र ! वास्तविक पारमार्थिक सुख क्या है ? कहाँ है ? कैसे मिलता है ? यह कोई नहीं जानता और न समझने की कोई चेष्टा ही करता है। [२५६–२६२] ❖

१५. बठरगुरु कथा

[सदागम के समक्ष संसारी जीव वामदेव अपनी आत्मकथा को आगे सुनाते हुए कहता है कि दरिद्री के वेष में उपस्थित बुधाचार्य अपनी बुलन्द आवाज में मेरे मित्र विमल के पिता धवल राजा को जब उपरोक्त विवेचन सुना रहे थे तब राजा के मन में एक शंका उठी और उन्होंने आचार्य से पूछा।]

धवल राजा का प्रश्न : आचार्य का समाधान

भगवन् ! आपके कथनानुसार जब विषयों में दुःख और समभाव में ही सब से उत्तम सुख है तब सब लोग उसे समझ कर भी बोध को क्यों नहीं प्राप्त करते ? [२६३]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुधाचार्य—राजन् ! लोग महामोह के वशीभूत होकर वस्तुतत्त्व को नहीं समझते (सत्यमार्ग पर नहीं चलते और परमार्थ सुख के विषय में विचार भी नहीं करते ।) जैसे इस बठरगुरु ने किया था । [२६४]

धवल राजा—भगवन् ! यह बठरगुरु कौन था और उसे तत्त्वबोध क्यों नहीं हुआ ?

बुधाचार्य—राजन् ! मैं तुम्हें बठरगुरु की कथा विस्तार से सुनाता हूँ । सुनो—

बठरगुरु की कथा

भव नामक एक बड़ा गाँव था । इस गाँव में स्वरूप नामक शिव मन्दिर था । यह मन्दिर मूल्यवान रत्नों से पूर्ण, विविध प्रकार के खाद्य पदार्थों से भरपूर, द्राक्षादि स्वादिष्ट शीतल मधुर पेय से युक्त, धन-धान्य से समृद्ध और सोने, चाँदी, कपड़े तथा वाहनों से सम्पन्न था । यह शैव देवमन्दिर स्फटिक जैसा निर्मल, उत्तुंग, सुखोत्पादक और सब प्रकार की सामग्री से परिपूर्ण था । [२६५]

इस शिव मन्दिर में सारगुरु नामक शिवाचार्य अपने कुटुम्ब के साथ रहता था । वह इतना ग्रथिल (गेला, मूर्ख) था कि अपने हितेच्छु और प्रेमी कुटुम्बीजनों का भी भली प्रकार पालन-पोषण नहीं करता था और न उनके स्वरूप (वास्तविकता) को ही जानता था । शिवमन्दिर में कैसी समृद्धि भरी हुई है, यह भी वह नहीं जानता था । अर्थात् उसकी मूर्खता की पराकाष्ठा तो यह थी कि वह न तो यह जानता था कि घर में कौन-कौन हैं और न यह जानता था कि घर में कितनी पूंजी है ।*

उस गाँव के चोरों को यह पता लग गया था कि शिव मन्दिर में कितनी समृद्धि है और उसके मूर्ख व्यवस्थापक को इसका पता भी नहीं है । अतः धूर्त चोरों ने वहाँ आकर सारगुरु से मित्रता गाँठी । पगला आचार्य चोरों को भले लोग, हितेच्छु, प्रेमी और हृदयवल्लभ समझने लगा । परिणामस्वरूप आचार्य अपने कुटुम्ब का अनादर कर चोरों के साथ निरन्तर विलास करने लगा और अपने कुटुम्ब को भूल-सा गया ।

सारगुरु के ऐसे विचित्र व्यवहार को देखकर शिवभक्त उसे समझाने लगे—'भट्टारक ! आप जिनकी संगति कर रहे हैं वे महाधूर्त और चोर हैं । आपको उनकी संगति छोड़ देनी चाहिये ।' सारगुरु ने तो उनकी बात सुनी ही नहीं, सुनी भी अनसुनी करदी । उसकी मूर्खता से तंग आकर लोगों ने उसका नाम बठर (मूर्ख) गुरु रख दिया । आखिर में जब लोगों को यह विश्वास हो गया कि यह मूर्ख धूर्त और तस्करों से घिर गया है और उनकी मैत्री में ही आनन्द मानता है तब लोगों

* पृष्ठ ५१८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने शिव मन्दिर में आना ही छोड़ दिया। शिवभक्तों का आना-जाना बन्द होने से धूर्तों का जोर बढ़ा, उन्होंने अपना कपट जाल अधिक फैलाया। बठरगुरु के पागलपन को बढ़ावा देने लगे और अन्त में शिवमन्दिर पर अपना अधिकार कर, बठरगुरु के परिवार को एक कोठरी में बन्द कर ताला लगा दिया।

शिवमन्दिर और बठरगुरु को अपने वश में कर धूर्त तस्कर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सब से अधिक धूर्त तस्कर व्यक्ति को अपना नायक चुना। फिर धूर्त लोग अपने नायक के सन्मुख तालियाँ बजाकर नाच करने लगे और बठरगुरु से भी प्रतिदिन अनेक प्रकार के नाटक करवाने लगे। नाच करते हुए धूर्त चोर लोग गाते भी जाते थे—

हे मनुष्यों! तुम भी किसी प्रकार धूर्तता का भाव धारण कर मित्र को ठगो और उसके भोजन का हरण करलो। देखो, हमने तो बठरगुरु के मन्दिर में घुसकर अधिकार कर लिया और अब मनमानी कर रहे हैं। अतः तुम यहाँ आकर देखो तो सही कि हम कैसे उसके नायक (अधिकारी) बन गये हैं। [२६६]

अन्य चोरों ने अपनी दूसरी तान छेड़ी—

अरे! हमारी जगप्रसिद्ध धूर्तता से यह बठरगुरु तो हमारे वश में आ गया है और सैकड़ों रत्नों की समृद्धि के साथ यह शिवमन्दिर भी हमारे हस्तगत हो गया है। हम सब खाते हैं, पीते हैं और मस्ती छानते हैं। [२६७]

इतने पर भी वह हतभागी बठरगुरु न तो अपने तिरस्कार और विडम्बना को समझता है, न अपने कुटुम्ब का हाल-चाल जानता है और न यह जानता है कि धन-धान्य से परिपूर्ण मन्दिर दूसरों के हाथ में चला गया है। वह यह भी नहीं समझता कि मन्दिर पर अधिकार करने वाले उसके शत्रु हैं, मित्र नहीं। वह तो इन शत्रुओं को अपना परम मित्र मानता है। ऐसी मूर्खता से पागल बना बठरगुरु हृष्ट-तुष्ट होकर रात-दिन चोर परिवार के बीच में नाचता गाता हुआ आनन्द मानता है।

इस भव गांव में चार मोहल्ले थे अतिजघन्य, जघन्य, उत्कृष्ट और अत्युत्कृष्ट। जब बठरगुरु को भूख लगती है और चोरों से भोजन मांगता है तब चोर उसके शरीर पर काले दाग बनाकर, हाथ में घटकर्पर (मिट्टी की ठीकरी का पात्र) देकर कहते हैं कि, 'मित्र गुरु महाराज! भिक्षा मांगिये, थोड़ा घूमिये।' बठर की तो स्थिति ऐसी हो गई थी कि जैसा चोर कहे वैसा उसे करना ही पड़े। अतः वह धूर्तों से घिरा हुआ पहले अतिजघन्य मोहल्ले में गया। वहाँ धूर्तों ने ताल दे-देकर उसे घर-घर नचाया। धूर्तों ने मोहल्ले में रहने वाले अधम लोगों को गुरु की * मरम्मत करने का संकेत किया, अतः उस मोहल्ले के निवासियों ने यमराज के समान बठर गुरु की लाठियों, पत्थरों, लातों और मुट्ठियों से खूब मरम्मत की। घोर पीड़ा से तिलमिलाता

* पृष्ठ ५१६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ बेचारा बठर जोर-जोर से रोने चिल्लाने लगा। इस अतिजघन्य मोहल्ले में बठर ने बहुत समय तक घूमकर घोर दुःख देखे, पर उसे कहीं भी भिक्षा नहीं मिली। मार खाकर वह उस अतिजघन्य मुहल्ले से वापिस निकला। उसका मिट्टी का खप्पर टूट गया। ठीकरे के फूट जाने पर धूर्तों ने बठर के हाथ में मिट्टी का सकोरा दिया और उसे लेकर दूसरे जघन्य मोहल्ले में आये। यहाँ के क्षुद्र निवासियों ने भी बठर की खूब खिल्ली उड़ाई। यहाँ पर भी उसे भिक्षा नहीं मिली और वह इस मोहल्ले से खाली हाथ लौटा। सकोरे के फूट जाने पर धूर्तों ने बठर को ताँबे का पात्र दिया और उसको तीसरे उत्कृष्ट मोहल्ले में ले गये। यहाँ पर बठर को रत्नपूरित शिव मन्दिर का नायक (स्वामी) है इस कारण कुछ-कुछ भीख मिली। यहां के निम्न लोगों ने भी इसकी कदर्थना/विडम्बना की, परन्तु पहले और दूसरे मोहल्ले जितनी नहीं। इस तीसरे मोहल्ले में भी वह बठर कुछ समय तक घूमता रहा। एक दिन उसका ताम्रपात्र भी टूट गया। ताम्रपात्र के टूट जाने पर धूर्तों ने बठर को चांदी का पात्र दिया और उसे अपने साथ चौथे अत्युत्कृष्ट मोहल्ले में ले गये। यहाँ के निवासी उसे रत्नों के अधिपति के रूप में भली प्रकार जानते थे, अतः यहाँ बठर को घर-घर से सुसंस्कृत बढ़िया भिक्षा मिली। [२६८-२७४]

इस प्रकार से धूर्त चोर लोग बठर गुरु को पुनः-पुनः एक से दूसरे मोहल्ले में फिराते, रात-दिन नाटक करवाते और नचाते। प्रत्येक घर के लोग उसकी हंसी उड़ाते, उसे मारते, प्रसन्नता से तालियां बजाकर उसकी नकल उतारते और विविध प्रकार से उसकी विडम्बना करते। तस्करों के द्वारा ऐसी कदर्थना किये जाने पर भी वह मूर्ख गुरु जैसी-तैसी भिक्षा से पेट भरकर मन में प्रसन्न होता, सन्तुष्ट होता। [२७५-२७७]

कभी-कभी तो उत्साह में आकर गाने भी लगता—

अरे! यह मेरा मित्रवर्ग तो मेरे ऊपर अत्यधिक प्रेम रखता है और सब लोग मेरा विनय (सन्मान) करते हैं। अरे! मुझे तो यह सचमुच में राज्य मिल गया और यह मेरा विकट उदर (पेट) भी अमृत भोजन से भर जाता है। [२७८]

विशेषता तो यह कि मूर्ख बठरगुरु आकण्ठ दुःख में डूबा हुआ होने पर भी अपने को सुखसमुद्र से सराबोर मानता था और उन धूर्त चोरों के दोषों का वर्णन कर उनके स्वरूप को बताने वाले हितेच्छुओं से द्वेष करता था। [२७९] वह मूर्ख यह बात तो समझता भी नहीं था कि स्वयं बाह्य भावों में पटक दिया गया है, वह पामर रत्नों से परिपूर्ण स्वकीय मन्दिर से निकाल दिया गया है, अपने हितेच्छु अनुरागी सुन्दर कुटुम्बियों से दूर कर दिया गया है और दुःखसमुद्र में डूबा हुआ है। इन सब परिस्थितियों को पैदा करने वाले ये धूर्त चोर हैं, यह भी वह नहीं जानता था।

हे राजन्! इस प्रकार बठरगुरु की कथा का एक भाग मैंने तुम्हें सुनाया। ये धर्मरहित संसारी प्राणी भी इसी प्रकार के हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. कथा का उपनय एवं कथा का शेष भाग

बठरगुरु की कथा सुनकर धवल राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—महाराज! यह कैसे हो सकता है?

बुधाचार्य—राजन्! सुनिये। इस कथा का उपनय (सार) इस प्रकार है:—

इस संसार को भव नामक गांव समझें। संसार के मध्य में जीव-लोक के स्वरूप (वास्तविक रूप) को अति विस्तृत शिव-मन्दिर समझें। जैसे शिव-मन्दिर रत्नों से भरपूर है वैसे ही जीव का स्वरूप अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य आदि अमूल्य रत्नों से पूर्ण है और समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला तथा परमानन्द को देने वाला है। जैसे रत्नों का स्वामी हो भौताचार्य*/सारगुरु है वैसे ही जीव-स्वरूप का स्वामी समग्र जीवलोक है। जीव के ज्ञानादि जो स्वाभाविक गुण हैं वे उसके कुटुम्बी हैं। यद्यपि ये स्वाभाविक गुण ही श्रेयस्कारी और हितकारी हैं, पर सारगुरु रूपी जीव-लोक के चित्त में यह प्रतिभासित नहीं होता। [२८०–२८३]

इस संसार में कर्म-योग (सांसारिक कार्य प्रणाली) से मदोन्मत्त यह जीव भी सारगुरु की तरह गुणरत्नों से पूर्ण अपने स्वरूप को नहीं जानता। राग-द्वेष आदि दोष ही चोर कहे गये हैं, जो महा धूर्त हैं और इस जीवलोक को ठगते हैं, किन्तु सारगुरु की ही भांति जीवलोक को ये धूर्त तस्कर ही मित्र और प्रिय लगते हैं। ये रागादि धूर्त ही जीव को अपने गाढ बन्धन में बांध कर कर्मोन्माद बढ़ाते हैं, जीव के स्वरूप को वश में कर उसके जो स्वाभाविक गुण रूपी कुटुम्बी हैं, उनका हरण कर, कारागार में डाल कर चित्त-द्वार बन्द कर देते हैं। हे पृथ्वीनाथ! ये रागादि धूर्त तस्कर शिवमन्दिर के समान जीवलोक के गुण-रत्नों से समृद्ध स्वरूप का हरण कर उस पर अधिकार कर लेते हैं। जीव के स्वाभाविक गुणों का हरण कर, उसके भाव-कुटुम्ब को अपने वश में कर, ये धूर्त उस पर महामोह का राज्य स्थापित कर देते हैं, जैसे चोरों ने सारगुरु को वश में कर उसके कुटुम्ब को कमरे में बन्द कर ताला लगा दिया था। सांसारिक उन्माद के बढ़ जाने से सारगुरु रूपी जीवलोक रागादि धूर्तों को अपना मित्र मानकर हृष्टचित्त होता है और उनके वशीभूत हो जैसे वे नचाते हैं, वैसे नाचता है। हे नृप! गीत, ताल और नृत्य का जो यह महा कोलाहल इस संसार में सुनाई देता है वह रागादि चोरों द्वारा ही किया जा रहा है। [२८४–२९१]

---

* पृष्ठ ५२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे शिवभक्तों ने सारगुरु को बार-बार टोका, समझाया, वैसे ही जैन दर्शन के प्रबुद्ध विद्वानों को समझना जो इस जीव को प्रतिक्षण रोकते हैं और इस जीव को बार-बार समझाते हैं कि, हे जीवलोक ! तुझे इन राग-द्वेष आदि चोरों की संगति नहीं करनी चाहिये, ये तेरे भाव शत्रु हैं और सर्वस्व हरण करने वाले दुष्ट हैं। किन्तु, कर्म के प्रबल उन्माद में विह्वल बना संसारी जीवलोक सारगुरु के समान ही उनके हितकारी वचनों की अवगणना कर, हृदय से राग-द्वेष आदि शत्रुओं को ही अपना श्रेष्ठ सुहृद् व भाग्यशाली और हितेच्छु मित्र मानता है। जैसे शिवभक्तों ने वस्तुस्थिति और उसकी मूर्खता को जानकर सारगुरु का बठरगुरु नामकरण कर उसके पास जाना छोड़ दिया था वैसे ही जैन दर्शन के प्रबुद्ध साधु, मुनि महात्मा भी यह जानकर कि यह जीव भी राग-द्वेषादि धूर्तों से घिरा हुआ है, अतः मूर्ख समझ कर उसे छोड़ देते हैं। [२९२–२९७]

कथा प्रसंग में पहले कह चुके हैं कि जैसे भूख से व्याकुल होने पर बठरगुरु ने उन धूर्त तस्करों से भोजन की याचना की तब उन तस्करों ने बठरगुरु के हाथ में मिट्टी का खप्पर देकर, शरीर पर मषी के तिलक आदि लगाकर भिक्षा मंगवाई वैसे ही इस जीव के साथ भी समान रूप से घटित होता है। [२९८–२९९]

राग आदि के वश में पड़ा हुआ प्राणी भोग भोगने की उत्कट इच्छा वाला बन जाता है, अतः अपने माने हुए राग-द्वेषादि मित्रों के समक्ष जब अपनी भोगेच्छा प्रकट करता है * तब बठरगुरु की तरह राग-द्वेष आदि गर्वोन्मत्त धूर्त चोर प्राणी को भोगों की भिक्षा मांगने को विवश करते हैं। भिक्षा हेतु भ्रमण करने की विधि इस प्रकार है :—काले पाप कर्मों जैसे सारे शरीर पर गहरे काले दागों से अच्छी तरह से चर्चित कर, विशाल नरक के आयुष्य रूपी मिट्टी का ठीकरा उसके हाथ में दे देते हैं। भव गांव में जो चार मोहल्ले अतिजघन्य, जघन्य, उत्कृष्ट और अत्युत्कृष्ट कहे गये हैं उन्हें क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गति समझना चाहिये। मिट्टी का खप्पर, सकोरा, ताम्रपात्र और रजत पात्र को भी क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतियों का आयुष्य समझना चाहिये। यह जीव भी भाव-चोरों से घिरकर पापात्मा नरक गति रूप प्रथम मोहल्ले में भटकता है। वहाँ मांगने पर भी उसे भोग-भोजन नहीं मिलता, किन्तु क्षुद्रजनों के समान भयानक नरकपालों द्वारा उत्पीड़ित किया जाता है। इस प्रकार तीव्र अनन्त महादुःख का अनुभव कर आयुष्यरूपी खप्पर/ठीकरे के टूट जाने पर यह जीव किसी अन्य गति में प्रविष्ट होता है। फिर भव ग्राम के दूसरे मोहल्ले के समान यह भोगेच्छु लम्पट प्राणी तिर्यंच योनि में जाता है। वहाँ भी वह भटकता है किन्तु उसकी भोगेच्छा पूरी नहीं होती और वह अधमजनों द्वारा केवल भूख-प्यास आदि विविध कष्टों को भोगता है। सकोरे रूपी तिर्यञ्च आयुष्य के फूट जाने पर, कुछ पुण्य की प्राप्ति होने पर वह तीसरे उत्कृष्ट मोहल्ले में अर्थात् मनुष्य गति में आता है। वहाँ कुछ पुण्योदय से

* पृष्ठ ५२१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसे आन्तरिक ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है, जिसे छाया कहा गया है। हे महाराज ! उस छाया रूपी पुण्योदय के फल-स्वरूप यहाँ प्राणी की भोगेच्छा कुछ-कुछ पूरी होती है, किन्तु यहाँ भी धूर्त तस्कर, राजभय आदि के समान राग-द्वेष रूपी धूर्त उसे अनेक प्रकार से पीड़ित करते हैं। ताम्र-पात्र के भग्न होने पर जैसे बठरगुरु चौथे अत्युत्कृष्ट मोहल्ले में ले जाया जाता है, उसी प्रकार हे नरेन्द्र ! मनुष्य आयु-रूप ताम्रपत्र के भग्न होने पर कभी जीव देवगति को भी प्राप्त होता है। यहाँ जीव की अन्तरंग ऐश्वर्य रूपी गुणरत्नों की छाया अधिक गहरी और विशाल होती है, अतः वह जीव यहाँ अत्यधिक भोगों को प्राप्त करता है। वह जीव देवलोक में रजतपात्र के आकार के समान देव भव की आयुष्य को भोगता है और इस गति में यथेच्छ भोगरूपी भोजन प्राप्त करता है। [३००–३१७]

हे महाराज ! जैसे बठरगुरु भूख लगने पर भव ग्राम में भिक्षा के लिये बारम्बार इधर-उधर भटकता है, कर्मयोग से उन्मत्त रहता है, पाप-मसि से विलेपित रहता है राग-द्वेष रूपी धूर्त उसको चारों ओर से घेर कर हुँकार करते हैं, हँसते हैं,* गाते हैं, चिल्लाते हैं, नाचते हैं, उद्दाम लीला करते हैं और अनेक गति रूप घरों में जब जीव भटकता है तब उसी के साथ रहते हैं। [३१८–३२०]

बठर गुरु प्राप्त भिक्षा से मन में प्रसन्न होता है, पर वह बेचारा यह जान भी नहीं पाता कि उसके रत्नादि वैभवों से परिपूर्ण मन्दिर पर और उसके स्नेहशील हितेच्छु कुटुम्ब पर धूर्तों ने अधिकार कर रखा है जिससे वह दुःख-समुद्र के मध्य में फंसा हुआ स्वयं के स्वरूप को नहीं पहचान पाता। केवल मोहदोष की अधिकता से सन्तुष्ट और सुखी मानता हुआ, विविध चेष्टायें करता हुआ स्वकीय आत्मा की अधिकाधिक बिडम्बना करता है वैसे ही यह प्राणी जब संसार में कदाचित् तुच्छ वैषयिक सुख, इन्द्रत्व, देवत्व, राज्य, रत्न, धन, पुत्र, स्त्री आदि को प्राप्त करता है तब वह मिथ्या-भिमानपूर्वक अपने को पूर्ण सुखी मानने लगता है। वह इस तुच्छ सुख में इतना डूब जाता है कि उसे सच्चे सुख की ओर आँख उठाकर देखने का भी समय नहीं मिलता और तनिक सोच-विचार भी नहीं करता। हे राजन् ! जैसे तुम्हारी इस सभा में बैठे लोग यह मानते हैं कि अहो ! उन्हें सुख मिल गया, अहो ! उन्हें स्वर्ग मिल गया और वे अपने को कृतार्थ समझने की भूल करते हैं। पर, यह नहीं समझते कि उनका स्वयं का आत्म-स्वरूपज्ञान, दर्शन, वीर्य, आनन्द आदि अनन्त अमूल्य रत्नों से भरा हुआ है। ये पामर यह भी नहीं जानते कि महामूल्यवान रत्नों से परिपूर्ण स्वकीय आत्मा का स्वरूप जिसे मन्दिर के समान कहा गया है उसे राग-द्वेष रूपी चोरों ने हरण कर लिया है। ये यह भी नहीं जानते कि क्षमा, मार्दव, सरलता, निर्लोभता, सत्य आदि मेरा भाव-कुटुम्ब ही वास्तव में मेरा है और जो प्रियकारी एवं हितवर्धक है। राग-द्वेष रूपी शत्रुओं से घिरे प्राणी को यह भी जानकारी नहीं होती कि इन दुष्ट धूर्तों ने चित्तरूपी कारागृह में उसे डालकर, उसके आत्म-स्वरूप को जकड़ कर कैद कर लिया

---

* पृष्ठ ५२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। अनन्त आनन्द, महा ऐश्वर्य और वास्तविक सुख के हेतुभूत कुटुम्ब से दूर हटाया हुआ प्राणी दुःख समूह से भरे हुए भव ग्राम में फंसा रहता है, फिर भी वह राग-द्वेष आदि अपने शत्रुओं को ही अपना मित्र मानता रहता है। बठरगुरु की भिक्षा-प्राप्ति के समान ही थोड़े से विषय सुख की प्राप्ति होते ही यह मूर्ख प्राणी लहर में आकर हँसने, नाचने और तालियाँ पीटने लगता है। हे राजन्! यह संसारी प्राणी तत्त्व को न समझकर दुःखसमुद्र में डूबा हुआ होने पर भी अपने को सुखी समझता है। यही वस्तुस्थिति है। [३२१–३३५]

दुःखों से मुक्ति कैसे हो ?

आचार्य द्वारा बठर-कथा का दार्ष्टान्तिक उपनय (रहस्य) सुनकर धवल राजा ने पूछा—भगवन्! आपके कथनानुसार जब हम सब पागल, सदा सन्निपात-ग्रस्त और अति विषम रागादि तस्करों से घिरे हुए हैं जिन्होंने हमारे शिवमन्दिर रूपी रत्नपूरित स्वरूप पर अधिकार कर रखा है और हमारे क्षमादि स्वाभाविक गुणयुक्त भाव-कुटुम्ब का नाश कर दिया है, जिससे हम इस भव ग्राम रूपी संसार में भटक रहे हैं, जहाँ भोग की भीख भी मिलना अति दुर्लभ है, फिर भी उसके अंश मात्र की प्राप्ति से संतुष्ट हो जाते हैं और परमार्थ से दुःखसागर में डूबे हुए हैं तब हमारा इस परिस्थिति से उद्धार कैसे होगा ?

बुधाचार्य—राजेन्द्र! * अब मैं तुम्हें बठरगुरु की कथा का शेष भाग सुनाता हूँ। उसमें बठर का उद्धार जिस प्रकार हुआ उसी प्रकार तुम्हारा भी भव-विडम्बना से उद्धार हो सकेगा।

धवल राजा – भगवन्! उसके बाद बठरगुरु का क्या हुआ ?

आचार्य बोले :—

कथा का शेष भाग

राजन्! बठरगुरु को निरन्तर धूर्त तस्करों द्वारा दिये गये त्रास को देखकर किसी एक शिव-भक्त को उस पर अत्यधिक दया आ गई। उसने सोचा कि वास्तव में साधन-सम्पन्न किन्तु भोला बठर इस प्रकार पीड़ित हो यह तो ठीक नहीं है। इसे इस भयंकर दुःख से मुक्त करने का कोई न कोई उपाय सोचना चाहिये। सोचते-सोचते शिव-भक्त किसी वैद्यराज के पास गया और उसे बठर का सारा वृत्तान्त सुनाकर उससे उसकी दुःखमुक्ति का उपाय पूछा। वैद्य ने उसे जो उपाय बतलाया, उसे शिव-भक्त ने अच्छी तरह समझ लिया। वैद्य द्वारा बताये गये उपाय के अनुसार सामग्री लेकर वह रात में शिव मन्दिर में गया। उसने जब देखा कि बहुत समय तक बठर को नचाते-नचाते थक कर धूर्त सो गये हैं तब भक्त ने अवसर देखकर मन्दिर में जाकर दीपक जलाया। प्रकाश होते ही बठर ने भक्त को देखा। उस समय उसमें तथाभव्यता (योग्यता) होने से एवं अत्यधिक थकान से श्रान्त होने के कारण बठर ने कहा--"मैं बहुत थक गया हूँ, मुझे बहुत प्यास लगी है, थोड़ा पानी पिला

* पृष्ठ ५२३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो ।' शिव-भक्त ने कहा—'गुरुजी ! मेरे पास तत्त्वरोचक तीर्थ जल है, इसे आप पीजिये ।' बठर ने वह जल पीया । उस जल के पीते ही उसका उन्माद क्षण भर में नष्ट हो गया, उसकी चेतना निर्मल हो गई और जैसे ही उसने अपनी दृष्टि शिव मन्दिर में घुमाई वैसे ही उसको ज्ञात हो गया कि जिन्हें वह अपना मित्र समझता था वे तो उसके शत्रु, चोर, लुटेरे और धूर्त हैं । फिर बठर ने शिव-भक्त से पूछा कि, 'यह सब कैसे हुआ ?' भक्त ने सारा वृत्तांत बठर को धीरे-धीरे सुना दिया । सारी वास्तविकता सुनकर गुरु ने पूछा—'अब मुझे क्या करना चाहिये ?' भक्त ने उसे एक वज्रदण्ड दिया और कहा—'गुरु ! ये जो तेरे मित्र बनकर बैठे हैं वे वास्तव में तेरे शत्रु हैं, इन्हें इस वज्रदण्ड से मार भगाओ, तनिक भी विलम्ब या ढील मत करो ।' उसी समय गुस्से में आकर बठर ने चोरों को वज्रदण्ड से मार-मार कर उनका कचूमर निकाल दिया । फिर बठर ने अपनी चित्त कोठरी को खोला तो उसका कुटुम्ब भी मुक्त हुआ । जब उसने आँखों के सामने रत्नों का ढेर देखा तब उसे ज्ञात हुआ कि शिवमन्दिर में कितनी अमूल्य सम्पत्ति है, जिससे उसका मन अति हर्षित हुआ । फिर उसने चोर, लुटेरों और धूर्तों से भरे हुए भवग्राम को छोड़ दिया और एकान्त में आये हुए निरुपद्रव एक शिवालय नामक महामठ में पुनः सारगुरु के नाम से रहने लगा । इस प्रकार सारगुरु की कथा का शेष भाग पूर्ण हुआ ।

शेष कथा का संक्षिप्त उपनय

धवल राजा—भगवन् ! बठरगुरु की उत्तरकथा हम पर कैसे घटित होगी ?

आचार्य—राजन् ! इस कथा में जो शिवभक्त है उसे सद्धर्म के उपदेशक सद्गुरु समझें । संसार रूपी भवग्राम में भटकते हुए, रागादि चोरों से त्रस्त, अनेक दुःखों से पीडित, अपने अन्तरंग ऐश्वर्य से भ्रष्ट, स्व-भाव रूपी गुणों के हितेच्छु कुटुम्ब से रहित, संसार में आसक्त, भिखारी की तरह विषयों की भीख मांगने और थोड़ी सी भीख से सन्तुष्ट होने वाले कर्मोन्माद से विह्वल प्राणी को देखकर सद्गुरु को उस पर करुणा आती है और इस प्रकार की भयंकर दुःख-परम्परा से उसे किस प्रकार छुड़ाया जाए इसका विचार करते हैं । [३३६–३३८]*

इसके परिणामस्वरूप गुरु उपाय ढूंढ़ते हैं और जिनेश्वर भगवान् रूपी महा-वैद्य के उपदेश से उपाय जान लेते हैं । तदनन्तर जैसे धूर्त चोर सोये हुए होते हैं वैसे ही जब राग-द्वेषादि क्षयोपशम भाव को प्राप्त होते हैं तब अवसर देखकर धर्माचार्य जीवस्वरूप शिवमन्दिर में जाकर सत्यज्ञान का दीपक प्रज्वलित करते हैं और प्राणी को सम्यक् दर्शन रूपी निर्मल जल पिलाते हैं तथा चारित्र रूपी वज्रदण्ड उसके हाथ में देते हैं । उस समय प्राणी का आत्मस्वरूप रूप शिवमन्दिर सत्यज्ञान रूपी दीपक के प्रकाश से जगमगा उठता है, महा प्रभावशाली सम्यग्-दर्शन रूपी जलपान से आठों कर्मों का उन्माद नष्ट हो जाता है और उसके हाथ में महावीर्यशाली दैदीप्य-मान चारित्र का वज्रदण्ड आता है तब वह धर्माचार्य के उपदेश का अनुसरण कर

* पृष्ठ ५२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहले महामोह आदि धूर्तों और राग-द्वेष आदि चोरों को सचेत करता हुआ चारित्र रूपी वज्रदण्ड के प्रहार से उन्हे पछाड़ देता है। महामोह और राग-द्वेष रूपी चोर धूर्तों का निर्दलन करने पर प्राणी का कुशलकारी आशय (भावनायें) विस्तृत होता है, उसके पूर्व में बंधे हुए कर्म क्षय होते हैं, नये कर्मों का बन्ध नहीं होता और अधम व्यवहार के प्रति प्रीति नष्ट हो जाती है। उसका जीव-वीर्य (आन्तरिक तेज) उल्लसित होता है, आत्मा निर्मल बनती है, अत्यधिक अप्रमाद भाव जागृत होता है, झूठे-सच्चे संकल्प-विकल्प नष्ट हो जाते हैं, समाधिरत्न स्थिर हो जाता है और उसकी संसार-परम्परा घटती जाती है।

तत्पश्चात् जब प्राणी स्वयं के चित्तरूप कमरे के आवरण रूप जो दरवाजे बन्द थे उन्हें वह खोलता है तब उस कमरे में बंद स्वयं के स्वाभाविक गुण रूपी कुटुम्बीजन प्रकट होते हैं। अत्यन्त विशुद्ध ज्ञान रूपी प्रकाश से अपनी आत्मऋद्धि का अवलोकन कर प्राणी को निर्बाध आनन्द की प्राप्ति होती है, सच्ची आत्मजागृति होती है और मन में प्रमोद होता है। फलस्वरूप वह दुःख से भरपूर भवग्राम (संसार) को छोड़ देने का विचार करता है। संसार त्याग की इच्छा होने से उसकी विषय मृग-तृष्णा शान्त हो जाती है, अन्तरात्मा रुक्ष हो जाती है, शेष सूक्ष्म कर्म परमाणु भी झड़ जाते हैं, चिन्ता-रहित हो जाता है, विशुद्ध आत्मध्यान स्थिर हो जाता है और योगरत्न दृढ़ हो जाता है। उस समय वह जीव जब महासामायिक को ग्रहण कर अपूर्वकरण द्वारा क्षपक श्रेणी को प्राप्त कर बड़े-बड़े कर्मजालों की शक्ति का नाश कर देता है तब उसमें शुक्लध्यान रूपी अग्नि-ज्वाला प्रकट होती है। अनन्तर योग का वास्तविक माहात्म्य प्रकट होता है और वह समग्र घाती कर्मों के पाश से मुक्त होकर परमयोग की स्थिति को प्राप्त होता है, जिससे प्राणी में केवलज्ञान का आलोक प्रदीप्त होता है। इसके पश्चात् जगत् पर अनुग्रह (उपकार) करता है। आयुष्य के अल्प रहने पर केवली समुद्घात द्वारा शेष चार कर्मों को भी समान कर, मन वचन और काया की प्रवृत्ति का निरोध कर, शैलेशी अवस्था पर आरोहण करता है। पश्चात् वह भवोपग्राही समग्र कर्म-बन्धनों को तोड़कर देह रूपी पिंजरे का सर्वथा त्याग कर, भवग्राम (संसार) का सर्वदा के लिये त्याग कर, सततानन्द प्राप्त कर, समस्त प्रकार की बाधा-पीड़ा से मुक्त होकर शिवालय (मोक्ष) नगर में पहुँच जाता है। यह नगर महामठ जैसा है वहाँ वह सारगुरु की तरह अपने को स्थापित कर अपने भाव-कुटुम्बियों (स्वाभाविक गुणों) के साथ समस्त कालों में रहता है।

हे राजन्! इसी कारण मैंने तुम्हें कहा था कि बठरगुरु की उत्तर कथा में जिस प्रकार घटित हुआ उसी प्रकार यदि तुम्हारे सम्बन्ध में भी घटित हो तो तुम भी समस्त प्रकार के दुःख, कष्ट, त्रास और विडम्बना से मुक्त हो सकते हो, इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७. बुधाचार्य-चरित्र

बुधाचार्य द्वारा बठरगुरु की कथा* और सारगर्भित उपनय सुनकर धवलराजा हर्षित हुए और समस्त सभाजन भी अत्यधिक प्रमुदित हुए। इस वास्तविकता को सुनकर उनमें इतना अधिक भक्तिरस उमड़ पड़ा कि उनके कर्म के जाले पतले पड़ गये और उन्होंने हाथ जोड़ कर मस्तक पर लगाते हुए कहा – हे यतीश्वर ! जिस प्राणी के आप जैसे नाथ हों, भक्तवत्सल हों उसका कौनसा कार्य सिद्ध नहीं हो सकता ? अतएव आप निर्विकल्प चित्त होकर हमें मार्ग-दर्शन दीजिये कि अब हमें क्या करना चाहिये ? जिससे कि हमारी इस दुःख-पूर्ण संसार से मुक्ति हो सके। [३३९–३४२]

बुधाचार्य का सदुपदेश

बुधाचार्य–भद्रों ! तुम सब लोगों ने बहुत अच्छी बात की है। तुम लोगों की बुद्धि प्रशंसनीय है। मेरे विवेचन को तुम लोगों ने भली प्रकार से समझा है। हे श्रेष्ठ मानवों ! आप लोगों ने मेरे वाक्यार्थ को भावार्थ सहित (सरहस्य) समझ लिया है, ऐसा लगता है। अतः हे नरेन्द्र ! मैं मानता हूँ कि सम्प्रति मेरा परिश्रम सफल हुआ है। हे राजन् ! मेरा यही आदेश है कि संसार से मुक्ति के लिये तुम्हें भी वही करना चाहिये जो मैंने किया है। [३४३–३४५]

धवल राजा—भगवन् ! आपने क्या किया है ? वह बताने की कृपा करें।

बुधाचार्य—राजेन्द्र ! इस कारागृह जैसे संसार को असार जानकर मैंने संसार से मुक्ति के लिये भागवती दीक्षा को अंगीकार किया है। यदि तुम लोगों को भी मेरे उपदेश से अनन्त दुःखों से परिपूर्ण संसार रूपी कैद खाने से निर्वेद (वैराग्य) हुआ हो तो संसार का सर्वथा उच्छेद करने वाली भागवती दीक्षा को अंगीकार करो। कहावत है कि "धर्म की त्वरित गति है" अर्थात् धर्म के कार्यों में तनिक भी विलम्ब नहीं करना चाहिये, अतः हे भव्य लोगों ! तुम्हें भी यह कार्य शीघ्र ही सम्पन्न करना चाहिये। [३४६–३४८]

धवल राजा—भगवन् ! आपने जो कर्त्तव्य निर्दिष्ट किया है वह मेरे मानस में स्थिर हो गया है, किन्तु मुझे एक जिज्ञासा (कौतूहल) उत्पन्न हुई है वह शान्त हो ऐसा स्पष्टीकरण करें। हे नाथ ! हमें तो आपने परिश्रम करके प्रतिबोधित किया, किन्तु आपको किसने, कब, कैसे और किस नगर में प्रतिबोधित किया ? अथवा हे भगवन् ! आप स्वयंबुद्ध परमेश्वर हैं ? हम सब के हित की इच्छा से हम सब की जिज्ञासा को तृप्त करने की कृपा करें। [३४९–३५१]

---

* पृष्ठ ५२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुधाचार्य—राजन् ! शास्त्रों की ऐसी आज्ञा है कि साधुओं को अपनी आत्मकथा का वर्णन नहीं करना चाहिये; क्योंकि आत्मकथा का कथन करने से लघुता (तुच्छता) प्राप्त होती है। यदि मैं अपना चरित्र तुम्हारे समक्ष कहूंगा तो ['अपने मुंह मियां मिठ्ठु' बनने की कहावत के अनुसार] मुझे भी लोग तुच्छ समझने लगेंगे; क्योंकि स्वचरित्र का वर्णन करने पर यह अनिवार्य है, अतएव आत्म-वर्णन करना योग्य नहीं है। [३५२–३५३]

आचार्य देव की बात सुनकर धवल राजा ने पूज्य गुरुदेव के चरण पकड़ लिये और कौतूहल जानने के आवेग में आत्म-कथा सुनाने का बारम्बार आग्रह करने लगे। धवल राजा और सभाजनों का इतना अधिक आग्रह देखकर आचार्य बोले—लोगों ! तुम्हें मेरा चरित्र सुनने की अत्यधिक जिज्ञासा और कौतूहल है तो लो सुनो ! मैं तुम्हें अपनी आत्मकथा सुनाता हूँ,* ध्यानपूर्वक सुनो। [३५४–३५६]

बुध-चरित्र

इस लोक में प्रख्यात अनेक घटनाओं से ओत-प्रोत, विस्तृत और अति सुन्दर धरातल नामक एक सुन्दर नगर था। इस नगर में सुप्रसिद्ध प्रभाववाला जगत् का आह्लादकारी कीर्तिमान शुभविपाक नामक राजा राज्य करता था। इस राजा ने अपने प्रताप से समग्र भू-मण्डल पर अधिकार कर रखा था। उसके समग्र अंगोपांगों से अत्यन्त रूपवती जगत्प्रसिद्ध और अतिप्रिय निजसाधुता नाम की रानी थी। अन्यदा समय परिपूर्ण होने पर निजसाधुता देवी की कुक्षि से बुध नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। यह पुत्र लोकविश्रुत हुआ; क्योंकि यह गुणों की खान थी और समग्र कला-कौशल का मन्दिर था। क्रमशः यौवनावस्था को प्राप्त होने पर यह कुमार रूपाधिक्य के कारण कामदेव की तरह अत्यधिक आकर्षक बन गया।
[३५७–३६१]

इस शुभविपाक राजा के एक भाई था जिसका नाम अशुभविपाक था और वह भयंकर, अदर्शनीय और जगत्संतापकारी जनमेजय के सदृश था। इस अशुभविपाक की पत्नी का नाम परिणति था, जो जगत्प्रसिद्ध लोक-संतापकारिणी और अति भयंकर शरीर वाली थी। इनके एक मन्द नामक पुत्र हुआ, जो अति रौद्र आकृति वाला था और साक्षात् विष के अंकुर जैसा क्रूर था। वह करोड़ों दोषों का भण्डार और गुणों की छाया से भी दूर था। जैसे-जैसे वह मन्द बड़ा होता गया वैसे-वैसे मन्द मदविह्वल मदोद्धत बनता गया। बुध और मन्द चचेरे भाई होने से उनमें गाढ मैत्री होना स्वाभाविक था। बचपन से ही वे साथ ही पले थे, साथ ही खेलते थे और साथ ही आनन्द कल्लोल करते थे। कभी नगर में, कभी उद्यानों में वे क्रीड़ारस-परायण होकर स्वेच्छा से साथ-साथ ही घूमने और खेलने निकल जाते थे।
[३६२–३६७]

---

* पृष्ठ ५२६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इधर विमलमानस नगर में शुभाभिप्राय नामक राजा राज्य करता था जिसके एक चारुदर्शना धिषणा नाम की पुत्री थी। यह पुत्री जब युवावस्था को प्राप्त हुई तब स्वयंवर रचाया गया, जिसमें उसने बुधकुमार का वरण किया। पश्चात् उसके पिता ने बड़ी धूमधाम से बुधकुमार के साथ उस धिषणा का लग्न कर दिया। बुध और धिषणा को अनेक मनोरथों के पश्चात् काल-पूर्ण होने पर एक सर्वगुणसम्पन्न अति रूपवान विचार नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। [३६८–३७०]

१८. घ्राण परिचय : भुजंगता के खेल

नासिका महागुफा

अन्यदा बुधकुमार और मन्द अपने क्षेत्र में क्रीड़ा कर रहे थे उस समय अकस्मात एक आकर्षक विचित्र घटना घटित हुई। इस घटना का वर्णन आप सुनें।

जिस क्षेत्र में बुध और मन्द क्रीड़ा कर रहे थे उस क्षेत्र के किनारे उन्होंने ललाटपट्ट नामक एक मनोहर, विशाल श्रेष्ठ पर्वत देखा। उस पर्वत पर एक अत्युच्च शिखर था, जिस पर एक मनोरम कबरी नामक झाड़ी थी। ऐसा लगता था मानों उसके चारों ओर भ्रमरों के झुण्ड बैठे हों। ऐसे मनोरम पर्वत और वन-शोभा को देखकर उन दोनों का मन पर्वत को निकट से देखने का हो गया और वे उस तरफ चल पड़े। वे बढ़ ही रहे थे कि उन्होंने पर्वत की तलहटी में सुदीर्घ शिलाओं द्वारा निर्मित * नासिका नामक लम्बी महा गुफा देखी। यह महा गुफा दूर से इतनी रमणीय लग रही थी कि वे दोनों इसे देखने का लालच नहीं छोड़ सके। वे दोनों प्रसन्न होकर गुफा की तरफ चलने लगे। पास जाकर उन्होंने देखा कि गुफा के मुख पर दो बड़े-बड़े अपवरक (कक्ष) हैं। कमरों के द्वार पर खड़े रहकर उन्होंने देखा कि गुफा बहुत गहरी है और उसके भीतर गहन अन्धकार है। अन्धेरा इतना गहरा था कि तेज दृष्टि वाला भी कुछ न देख सके और न यह जान सके कि गुफा कितनी लम्बी होगी। [३७१–३७८]

गुफा के पास आकर मन्द बोला – देखो इस गुफा में दो बड़े-बड़े द्वार हैं, लगता है किसी बड़े शिलाखण्ड से नासिका महा गुफा के दो भाग किये गये हैं।

* पृष्ठ ५२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह सुनकर बुध ने कहा— हाँ, भाई ! तेरी बात ठीक है। इन दोनों द्वारों के बीच जो मोटी शिला दिखाई देती है, उसे गुफा को दो भागों में बाँटने के लिये ही प्रयुक्त किया गया है। [३७६–३८०]

घ्राण एवं भुजंगता का परिचय

बुध और मन्द इस प्रकार वार्तालाप कर ही रहे थे कि गुफा द्वार में से एक चपल आकृति वाली बालिका बाहर आई। बाहर आते ही बालिका ने दोनों राजपुत्रों को प्रणाम किया, चरण छुए और चेहरे पर अत्यन्त स्नेह और प्रेम के भाव प्रदर्शित करते हुए बोली— अहा ! आपका सुस्वागत ! आपकी मुझ पर बड़ी कृपा है। आपने यहाँ पधार कर, सुधि लेकर मुझ पर महती कृपा की है।

इस रूपवती बाला का मधुर सम्भाषण सुनकर मन्द मन में बहुत सन्तुष्ट हुआ। उसके वाक्चातुर्य और भाषण-कुशलता से मन्द उसके प्रति आकर्षित हुआ। उत्तर में वह स्नेहपूर्वक नम्रता से बोला—हे सुलोचने ! तुम कौन हो और किस कारण से इस गुफा में रहती हो ? हमें बताओ। [३८१–३८५]

मन्द कुमार के वचन सुनते ही वह बाला शोकावेश में मूर्छित एवं चेतनाशून्य होकर जमीन पर गिर पड़ी। उसकी दशा देखकर मन्द की उसके प्रति आसक्ति और बढ़ गई। उसकी मूर्छा भंग करने के लिये वह हवा करने लगा और ठंडे पानी के छींटे देने लगा। चेतना आने पर बाला के नेत्रों से बड़े-बड़े मोतियों के समान अश्रुबिन्दु टपकने लगे। मन्द द्वारा पुनः-पुनः शोक का कारण पूछने पर उसने स्नेह से गद्गद स्वर में कहा—अरे नाथ ! मैं वास्तव में मन्दभागिनी हूँ कि आप दोनों मेरे स्वामी होकर भी मुझे भूल गये, मेरे शोक का इससे बड़ा क्या कारण हो सकता है ? मेरे देव ! मैं आप दोनों की सेविका भुजंगता हूँ। आपने स्वयं ही तो मेरी नियुक्ति इस नासिका महागुफा में की थी। इसी गुफा में आप दोनों का प्राणप्रिय मित्र घ्राण रहता है, जिसकी परिचारिका बनकर मैं आपकी आज्ञा से ही यहाँ रहती हूँ। आप दोनों की घ्राण के साथ चिरकालीन मित्रता है। यह मित्रता कब और कैसे हुई, हे नाथ ! इस बारे में बताती हूँ, आप सुनें। [३८६–३९२]

पूर्व इतिहास

बहुत समय पहले आप दोनों असंव्यवहार नगर में रहते थे, जहाँ कर्म-परिणाम राजा का शासन चलता था। उसी की आज्ञा से पहले आपको वहाँ से हटाकर एकाक्षसंस्थान नगर में लाया गया, फिर आप दोनों प्राणियों से व्याप्त विकलाक्ष नगर में आये।* आपको स्मरण होगा कि इस नगर में तीन मोहल्ले थे। त्रिकरण नामक दूसरे मोहल्ले में बहुत से कुलपुत्र रहते थे। वहाँ आप दोनों भी रहते थे। जब आप दोनों वहाँ रहते थे तब कर्मपरिणाम राजा ने आप पर प्रसन्न होकर आप दोनों को यह गुफा और उसका रक्षक घ्राण नामक मित्र दिया था। यह घ्राण मित्र और हितकारी है ऐसा आप दोनों मानते थे। उसके बाद से ही

* पृष्ठ ५२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपार शक्ति और महत्ता वाला आपका यह मित्र आपके लिये सुख-सिन्धु का कारण बना। आपका यह मित्र आप पर बहुत स्नेह रखता है। राजा के आदेश से वह इस गुफा में ही रहता है और आप दोनों उसका भरण-पोषण करते हैं। जहाँ-जहाँ आप गये हैं, वहाँ-वहाँ नानाविध सुगन्धित पदार्थों से आप दोनों ने उसका पोषण किया है। एक बार आप दोनों जब मनुजगति में गये तब तो आप लोगों ने उसका विशेष रूप से पोषण किया। आप दोनों ने ही बड़े स्नेह से मुझ निर्भागिनी भुजंगता को अपने मित्र घ्राण की परिचारिका/दासी नियुक्त किया था। घ्राण से आप दोनों की मित्रता चिर-समय से है और तभी से मैं भी आपकी सेविका के रूप में लोगों में प्रसिद्ध हूँ। फिर भी आप गज-निमीलिका धारण कर मुझे न पहचानने का अभिनय कर रहे हैं, अतएव मेरे लिये इससे अधिक शोक का क्या कारण हो सकता है? हे नाथ! पुरातन काल से चले आ रहे आपके इस मित्र पर कृपा दृष्टि करें और उसके प्रति स्नेह रखकर पुनः उसका पालन-पोषण करें। [३९३–४०५]

अपने झूठे स्नेह का इस प्रकार भ्रामक प्रदर्शन करती हुई भुजंगता बुध और मन्द कुमार के पाँवों में गिर पड़ी। बुध कुमार को इस भुजंगता का व्यवहार असुन्दर प्रतीत हुआ और उसे उसके व्यवहार में धूर्तता दिखाई दी तथा उसे लगा कि उसका पैरों में गिरना कृत्रिमता पूर्ण है। कहा भी है :—"कुलवती स्त्रियों के कपोलों पर स्मित हास्य होता है, वे मृदुवाणी में लज्जापूर्वक बोलती हैं और उनकी तरफ निर्निमेष (एकटक) देखने पर भी उनमें विकार दृष्टिगोचर नहीं होता।" यह बाला तो बड़ी तेज-तर्रार है, इसके नेत्र विलास से स्फुरित हो रहे हैं और इसकी वाक्पटुता से स्पष्ट लगता है कि यह कोई दुष्टा है, इसमें कोई सन्देह नहीं। महात्मा बुध ने इस प्रकार मन में निश्चित कर उसकी बात का कोई उत्तर नहीं दिया। [४०६–४१०]

मन्द की आसक्ति

मन्द कुमार को उसके व्यवहार में कोई कृत्रिमता नहीं लगी, अतः चरणों में गिरी हुई उस बाला को हाथ पकड़ कर उठाया तथा प्रेम से विह्वल होकर उससे बोला—हे सुन्दरि! विषाद को छोड़। सुमुखि! जरा धैर्य धारण कर। हे बाले! तू ने जो कहा वह ठीक ही होगा। हे सुलोचने! पर सच्ची बात तो यह है कि * मुझे तो कुछ भी याद नहीं है। फिर भी तू ने जो स्नेह प्रदर्शित किया है तथा पुरानी स्मृतियों को प्रत्यक्ष की तरह साकार कर दिया है, अतः अब यह बता कि अब मुझे क्या करना चाहिये? ताकि मैं तदनुसार ही करूँ। हे भद्रे! मैं तो तेरा स्नेहक्रीत किंकर हो चुका हूँ।

भुजंगता—नाथ! जैसे आपने पूर्वकाल में अपने मित्र घ्राण का पोषण किया वैसे ही अब भी अपने पुराने मित्र का पोषण करें, उसे भुलायें नहीं, यही मेरी प्रार्थना है।

---

* पृष्ठ ५२९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन्द—हे कमलमुखी सुन्दरि ! मित्र घ्राण का पोषण कैसे करूँ ? यह तो बता ।

भुजंगता—नाथ ! आपका यह मित्र सुगन्ध का लोभी है, अतः इसका पोषण सुगन्धित द्रव्यों से करें । चन्दन, अगरु, कपूर, कस्तूरी, केसर आदि के चूर्ण का विलेपन इसे अत्यधिक प्रिय है । इलायची, लोंग, कपूर आदि अन्य सुगन्धित फलों और पदार्थों से बना ताम्बूल (पान) यह बड़े प्रेम से खाता है । मघमघायमान करते सुगन्धित धूप, गन्ध गुटिकायें, अनेक प्रकार के सुगन्धित पुष्प आदि अन्य सभी सुगन्धित पदार्थ इसे अति प्रिय हैं, लेकिन दुर्गन्ध इसे तनिक भी प्रीतिकर नहीं है, अतः यदि आप इसका सुख चाहते हों तो दुर्गन्ध से इसे सदा दूर रखें । इस प्रकार आप अपने मित्र घ्राण का पोषण करें । यह मित्र आपको दुःखनाशक और सुखकारक होगा । हे देव ! यदि आप इस पद्धति से घ्राण का पालन-पोषण करेंगे तब इससे आपको जो सुख प्राप्त होगा उसका वर्णन करना भी अशक्य है ।

मन्द—हे विशालनेत्रि ! तुमने बहुत अच्छी बात कही । हे सुभ्रु ! जैसा तुमने कहा, वैसा ही मैं करूँगा । अब तुम आकुलता को छोड़कर स्वस्थ हो जाओ ।

यह सुनकर बालिका की आँखें हर्ष से विकसित हो गईं । 'आपकी बड़ी कृपा' कहती हुई वह भुजंगता फिर मन्द के पैरों पर गिर पड़ी । [४११–४२५]

बुध की कर्त्तव्यशीलता

बुध कुमार तो निर्जनवन में स्थित मुनि के समान मौन धारण कर भुजंगता का कृत्रिम प्रेम-प्रदर्शन और वाचालता का खेल देखता रहा । बालिका भुजंगता भी समझ गई कि यह कोई (पहुँचा हुआ व्यक्ति है,) शठ है, मेरे चक्कर में आने वाला नहीं है । अतः वह मुँह से तो कुछ भी न बोली किन्तु बुध की ओर तिरस्कृत दृष्टि फेंक कर मन ही मन कुछ बड़बड़ाने लगी । उसके अस्पष्ट शब्दों में छुपी हुई विजय की दुष्ट वासना को देख बुध ने मन में विचार/निश्चय किया कि, अरे ! यह पर्वत और महागुफा तो मेरे क्षेत्र (शरीर) में ही है जिसमें घ्राण बैठा है, अतः मुझे उसका पोषण तो करना ही है । किन्तु, यह दुष्ट बालिका जैसा कह रही है तदनुसार सुख की कामना से इसका पोषण करना मेरा कर्त्तव्य नहीं है । अतः जब तक मैं इस क्षेत्र (शरीर) से मुक्त नहीं हो जाता तब तक लोक-यात्रा के अनुरोध से, विशुद्ध मार्ग से, बिना आसक्त हुए मैं इसका पोषण करूँगा । ऐसा सोचकर बुध ने घ्राण का पोषण कर्त्तव्य रूप में करते हुए भी किसी प्रकार के दोषों को नहीं अपनाया और * उत्तम सुख भी प्राप्त करता रहा । [४२६–४३१]

इधर मन्द कुमार दुष्टा भुजंगता के वशीभूत होकर घ्राण के पालन-पोषण में आसक्त होकर दुःखसागर में गोते लगाने लगा । वह मन्द सुगन्धित द्रव्यों को

---

* पृष्ठ ५३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकत्रित कर उसकी निर्माण प्रक्रिया में रात-दिन व्याकुल बना रहता। इससे उसकी शान्ति नष्ट हो गई और उसका मन विक्षुब्ध रहने लगा। वह मूर्ख दुर्गन्ध से बचने के लिये दुर्गन्ध-नाशक साधनों को एकत्रित करने के लिये सर्वदा खिन्न-मनस्क रहता। वह 'शान्ति का सुख क्या है ?' यह भी नहीं जानता था। इस कारण विवेकीजन उस पर हँसते थे। तदपि वह मोहदोष के कारण घ्राण के पालन-पोषण में प्रगाढासक्त होकर अपने आपको पूर्ण सुखी मानता था। [४३२–४३५]

१९. मोहराज और चारित्रधर्मराज का युद्ध

विचार का देशाटन-अनुभव

इधर बुध कुमार और धिषणा का पुत्र विचार योग्य पालन-पोषण से शनैः-शनैः युवावस्था को प्राप्त हो गया था। एक बार यह कुमार विनोद हेतु भ्रमण के लिये देशान्तरों की ओर यात्रा हेतु चल पड़ा। जिस समय भुजंगता और घ्राण का परिचय बुध कुमार से हुआ था उसी समय विचार कुमार बाह्य और आन्तरिक प्रदेशों की लम्बी यात्रा कर वापस अपने घर लौटा था। विचार के यात्रा-प्रवास से लौटने पर उसकी माता धिषणा, पिता बुध और समस्त राज-परिवार को अत्यधिक आनन्द हुआ और इस प्रसन्नता के समय में उन्होंने एक बड़ा उत्सव मनाया। इसी उत्सव में विचार को पता लगा कि पिताजी और चाचाजी की घ्राण से मित्रता हुई है, अतः उसने अपने पिताजी को एकान्त में ले जाकर हाथ जोड़कर विनयपूर्वक कहा :— [४३६–४४०]

पिताजी ! मैं छोटे मुँह बड़ी बात नहीं करना चाहता, किन्तु आप दोनों की घ्राण से जो मित्रता हुई है, वह योग्य नहीं है। वह अच्छा व्यक्ति नहीं है, महादुष्ट हैं। क्यों ? इसका कारण आप सुनें। पिताश्री ! आप जानते हैं कि मैं आपको और माताजी को पूछे बिना देश-दर्शन की कामना से भ्रमण के लिये यहाँ से चला गया था। तात ! मैंने भूमण्डल पर भ्रमण करते हुए अनेक ग्राम, नगर, कस्बों की रमणीयता का दर्शन किया। अन्यदा मैं घूमता हुआ भवचक्र नगर में पहुँचा।

मार्गानुसारिता मौसी से मिलन

इस नगर के राज्य-मार्ग पर मैंने एक सुन्दरी को देखा। मुझे देखकर इस विशालाक्षी सुन्दर ललना को अतिशय प्रसन्नता और अवर्णनीय नवीन रस का अनुभव हुआ। जैसे कल्पवृक्ष की मंजरी को अमृत के छींटे देने पर, घन-गर्जन से हर्षित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होकर नृत्याभिमुख मयूरिका को, रात्रि विरह के पश्चात् चक्रवाक को देखकर चकवी को, निरभ्र शरद् ऋतु में चन्द्रकला की सुन्दरता को देखकर किसी को भी आनन्द होता है वैसा ही आनन्द मुझे अपलक दृष्टि से देखकर उस शान्त साध्वी स्त्री को हो रहा था। मानो उसका किसी राज्य सिंहासन पर अभिषेक हो रहा हो अथवा सुखसागर में डुबकी लगा रही हो, वैसी ही आनन्द दशा का वह अनुभव कर रही थी। उसे हर्ष-विभोर देखकर मुझे भी आनन्द हुआ "स्नेह से परिपूर्ण सज्जन पुरुष को देखने से चित्त अवश्य ही आर्द्र/प्रेममय हो जाता है," इस साधारण नियम के अनुसार मैं भी उसके प्रति आकर्षित हुआ। मैंने उसे प्रणाम किया और उसने मुझे आशीर्वाद दिया।

फिर वह बोली—हे वत्स ! * मेरे हृदयनन्दन ! तू कौन है ? कहाँ से आया है ? बतला।

उत्तर में मैंने कहा—'मैं धरातल नगर निवासी बुधराज और धिषणा माता का पुत्र हूँ और ज्ञान प्राप्त करने के लिए विदेश यात्रा करता हुआ इधर आ निकला हूँ।' मेरा उत्तर सुनकर उसकी आँखों में हर्ष के आँसू आ गये और स्नेह-पूर्वक मुझसे मिलकर, बार-बार मुझे चूमती हुई मेरे सिर को सूंघने लगी। [४४१-४५२] वह फिर बोली—

हे महाभाग्य ! तू यहाँ आया यह बहुत ही अच्छा किया। पुत्र ! तेरे हृदय और आँखों से मैंने पहले ही तुझे पहचान लिया था। मनुष्य के नेत्र और हृदय जाति-स्मरण के हेतु हैं, जिसे देखने मात्र से ही प्रिय अथवा अप्रिय का ज्ञान हो जाता है। प्रिय वत्स ! तू तो मुझे प्रायःकर नहीं जानता, क्योंकि जब मैंने तुझे छोड़ा था तब तू बहुत छोटा था। तेरी माता धिषणा मेरी प्रिय सखी है और बुध-राज का भी मुझ पर बहुत स्नेह है। मेरा नाम मार्गानुसारिता है। तेरी पापरहित पवित्र माता तो मेरा शरीर, जीवन, प्राण और सर्वस्व है और तेरे पिता बुधराज तो मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं। उन दोनों की आज्ञा से जब मैं लोकदर्शन के लिये निकली थी तब तो तेरा जन्म ही हुआ था। अतः हे सुन्दर पुत्र ! तू तो मेरा भानजा है, मेरा जीवन है। प्रिय वत्स ! तू मेरा सर्वस्व है और मेरा परमात्मा है। वत्स ! तू देश-भ्रमण के लिए घर से निकला यह अच्छा ही किया। मुझे तो निःसंशय ऐसा लगता है कि तू बहुत ही जिज्ञासु है। [४५३-४६०] कहा भी है:—

यह संसार अनेक प्रकार की घटनाओं और कुतूहलों से भरा पड़ा है, जो प्राणी घर से निकल कर उसको आदि से अन्त तक नहीं देखता वह कूप-मण्डूक जैसा है। अर्थात् ऐसे व्यक्ति के लिए संसार बहुत छोटा होता है और उसकी दृष्टि भी सीमित होती है। धूर्तों की धूर्तता और छल-कपट से भरी हुई तथा विविध घटना-चक्रों से परिपूरित इस पृथ्वी को जब तक अनेक बार न देख ले तब तक उस पुरुष

* पृष्ठ ५३१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को विलासिता, पाण्डित्य, बुद्धिमत्ता, चातुर्य, विविध देशों की भाषाओं का ज्ञान और व्यवहार-सौष्ठव का ज्ञान एवं अनुभव हो ही कैसे सकता है ? [४६१-४६३]

तू इस महान् भवचक्र नगर को देखने आया यह बहुत ही अच्छा किया। हे वत्स ! यह नगर अनेक घटनाओं का मन्दिर है, अनेक नूतन एवं अद्भुत वस्तुओं का संगम है तथा चतुर मनुष्यों से व्याप्त है। जिस प्राणी ने इस नगर को अच्छी तरह देख लिया उसने समस्त चराचर विश्व को देख लिया; [क्योंकि यहाँ स्वर्ग, मृत्यु और पाताल का समावेश हो जाता है।] अधिक क्या कहूँ, वत्स ! तू स्वयं चलकर यहाँ आया और सौभाग्य से मेरी दृष्टि तुझ पर पड़ गई, अतः मैं धन्य हूँ, भाग्यशाली हूँ और कृतकृत्य हूँ। [४६४-४६७]

उत्तर में मैंने कहा –हे अम्ब ! जैसा आप कह रही हैं यदि वैसा ही है* तो मैं मानता हूँ कि मेरे भाग्य ने मुझे आप जैसी माता से मिलन करवाकर सर्वश्रेष्ठ कार्य किया है। हे माताजी ! अब आप मुझ पर महती कृपा कर मुझे यह समस्त भवचक्र नगर अच्छी तरह दिखावें। [४६८-४६९]

भवचक्र-दर्शन

विचार अपने पिता बुधराज से कह रहा है कि मेरी मार्गानुसारिता मौसी ने मेरा उत्तर सुनकर मेरी प्रार्थना को स्वीकार किया और विविध घटनाओं के साथ समग्र भवचक्र नगर मुझे साथ लेकर दिखलाया। इस नगर में भ्रमण करते हुए दूर से मैंने एक नगर देखा, जिसके मध्य में एक बड़ा पहाड़ और उसके शिखर पर बसा हुआ दूसरा नगर था। यह देखकर मैंने मौसी से पूछा –'हे मात ! भवचक्र नगर के मध्य में यह कौनसा पुर है ? यह कौनसा महागिरि है ? और पर्वत शिखर पर स्थित कौनसा पुर है ?' मेरा प्रश्न सुनकर मार्गानुसारिता मौसी ने कहा–'पुत्र ! क्या तू नहीं जानता ! यह तो जगत् में सुप्रसिद्ध सात्विकमानसपुर है, यह विश्व-विख्यात विवेकगिरि पर्वत है और इसके अप्रमत्त नामक शिखर पर स्थित त्रिभुवन विख्यात जैनपुर नामक महानगर है। तू तो तत्त्वसार का ज्ञाता है फिर तूने ऐसा प्रश्न क्यों किया ?' [४७०-४७५]

घायल संयम

मौसी के साथ मेरी बात हो ही रही थी कि एक नवीन घटना घटित हुई। घटना सुनिये :—

मैंने देखा कि गाढ प्रहारों से आहत और विह्वल एक राजपुत्र को अन्य पुरुष उठाकर ला रहे हैं और उसको घेरे हुए बहुत से पुरुष हैं। उसे देखते ही मैंने मौसी से पूछा—माताजी ! यह राजपुत्र जैसा घायल पुरुष कौन है ? इस पर इतने गाढ प्रहार किसने किये हैं ? इसे ये पुरुष कहाँ ले जा रहे हैं ? और इसकी सेवा में कौन लोग खड़े हैं ? [४७६-४७८]

---

* पृष्ठ ५३२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्गानुसारिता—इस महागिरि पर चारित्रधर्मराज का राज्य है। उसके पुत्र यतिधर्म का यह प्रसिद्ध पराक्रमी संयम नामक योद्धा है। इस राज्य के प्रबल शत्रु महामोह आदि अत्यधिक दुष्ट हैं। इसे अकेला देखकर उन्होंने इसे खूब मारा। शत्रुओं की संख्या अधिक होने से इसे इतनी मार खानी पड़ी कि इसका सारा शरीर लहूलुहान और जर्जरित हो गया है। यतिधर्म के सुभट इसे रणभूमि से उठाकर लाये हैं। हे वत्स ! ये सुभट इसे स्वकीय राजमन्दिर में ले जा रहे हैं। इसी जैनपुर में इसके सभी सम्बन्धी रहते हैं। [४७६–४८२]

मैंने कहा—मौसी ! शत्रुओं द्वारा अपने अनुचर को इतना घायल देखकर अब चारित्रधर्मराज क्या करेंगे, यह देखने की मुझे बड़ी उत्कंठा है, अतः आप कृपाकर मुझे उस शिखर पर ले चलिये और बताइये कि अब इस संयम का स्वामी चारित्रधर्मराज क्या करता है ? [४८३–४८४]

चारित्रधर्मराज की सभा में विचार-विनिमय

मौसी ने मेरी बात सुनकर कहा—वत्स ! ऐसा ही करते हैं। पश्चात् मौसी का अनुसरण करता हुआ मैं उसके साथ विवेकगिरि पर्वत पर गया।* वहाँ से मैंने देखा कि जैनपुर के चित्तसमाधान मण्डप में राजमण्डल के मध्य में चारित्रधर्मराज बैठे थे। उनके आस-पास बहुत से दूसरे राजा बैठे थे, जिन सब के नाम और गुणों का मौसी ने अलग-अलग वर्णन किया, क्योंकि वह स्वयं उन सबको भली प्रकार से जानती थी। इसी समय सैनिकगण घायल संयम को वहाँ लेकर शीघ्रता से आये और सारी घटना कह सुनाई। शत्रु द्वारा अपने व्यक्ति की ऐसी घायल दशा देख कर और सुनकर सारी सभा क्षुब्ध हो गयी। उस समय सभाजनों के भयंकर-गर्जन और हथेलियों द्वारा ताल ठोंकने की प्रबल ध्वनि से पृथ्वी काँप उठी। उस खलबली से वह सभा गर्जित महासमुद्र जैसी दिखाई देने लगी। कई क्रोधित यमराज की तरह हुँकार करने लगे, कईयों की भुजायें फड़कने लगीं, किन्हीं के रोंगटे खड़े हो गये, किन्हीं के मुँह क्रोध से लाल हो गये, किन्हीं की भौहें चढ़ गईं, कोई छाती तानकर अपनी तलवारों पर दृष्टि डालने लगे, कोई क्रोधान्ध हो जाने से आरक्त नेत्र वाले हो गये, किन्हीं के प्रचण्ड अट्टहास से पृथ्वी काँपने लगी, किन्हीं के क्रोध से आतप्त शरीरों से पसीने की बूंदे टपकने लगीं और किन्हीं के शरीर क्रोध से अग्नि-पिंड के समान लाल हो गये। [४८५–४९४]

समस्त राजमण्डल को क्षुभित देखकर चारित्रधर्मराज को उनके मंत्री सद्बोध ने कहा—देव ! धैर्यवान सत्पुरुषों को यों असमय के घन-गर्जन की भाँति एवं कायर पुरुषों के समान क्षुब्ध होना उचित नहीं है। आवेश में आये हुए इन राजाओं को शान्त कीजिये, इनका अभिप्राय जानिये और इनकी परीक्षा भी करिये। [४९५–४९७]

---

* पृष्ठ ५३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सद्बोध मंत्री की बात सुनकर चारित्रधर्मराज ने सभा में व्याप्त क्षोभ को रोकने के लिये समग्र राजाओं की तरफ अपनी दृष्टि घुमाई, जिसे देखकर विचक्षण राजा और योद्धा मौन हो गये। [४६८]

चारित्रधर्मराज ने सभी सभासदों से कहा—राजाओं! जो घटना घटित-हुई है वह तो आपने सुनी ही है और समझी भी है। अब हमको इस विषय में क्या करना चाहिये? आपके मन में जो विचार हों, उन्हें प्रकट करें। [४६६]

सभासदों का आक्रोश

महाराज का प्रश्न सुनकर वहाँ बैठे सत्य, शौच, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य आदि राजाओं के मन में युद्ध करने का उत्साह बढ़ा और उन्होंने एक आवाज में कहा—अपने योद्धा संयम की उन्होंने ऐसी दुर्दशा की उसे क्या चुपचाप सहन कर लें? क्या अभी भी हमें प्रतीक्षा करनी चाहिये? हे देव! अपराध करने वाले को क्षमा करने से यदि अपराध की क्षमा ही अपथ्य सेवन के समान परिणत होती हो अर्थात् उनकी अपराध वृत्ति में बढ़ोतरी होती हो तो उसको जड़मूल से नष्ट कर देना ही परमौषध है। जब तक पापात्मा महामोह आदि भयंकर शत्रुओं को मार कर न भगाया जायगा तब तक हम जैसों को सुख की गन्ध भी कैसे मिलेगी? परन्तु जब तक इस सम्बन्ध में देवचरणों की (आपकी) प्रबल इच्छा नहीं होगी * तब तक इन दुरात्माओं का नाश नहीं होगा। हे स्वामिन्! देखिये, आपका एक-एक योद्धा ऐसा वीर है कि भयंकर समरांगण में अकेला भी सम्पूर्ण शत्रु सेना को पराजित कर भगा सकता है, जैसे अकेला केशरीसिंह मृगों की पूरी टोली को भगा सकता है। यदि आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा बीच में बाधक न होती तो इस शत्रु सेना को ज्वार भाटा से क्षुभित समुद्र की लहरों की भांति हमारे योद्धा क्षणमात्र में नष्ट कर देते।

[५००–५०६]

सेनापति का आक्रोश

मोहराजा आदि के विरुद्ध एकमत से संघर्ष करने को उद्यत सभी महारथी राजा महाराजा के समक्ष खड़े हो गये। उनके शरीर पर युद्ध-लोलुपता (रण की खुजली) के चिह्न देखकर महाराज ने अपनी दृष्टि उनकी ओर घुमाई तो वे सब महारथी, दुर्दान्त मदोन्मत्त हाथी को विदीर्ण करने में समर्थ सिंह जैसे दिखाई देने लगे। विचारने योग्य महत्वपूर्ण प्रसंग होने से चारित्रधर्मराज अपने मंत्री सद्बोध और सेनापति सम्यग्दर्शन के साथ गुप्त मन्त्रणा करने हेतु मन्त्रणा कक्ष में चले गये। हे पिताजी! मौसी मार्गानुसारिता भी उस समय मेरे साथ अन्तर्ध्यान होकर उस कक्ष में प्रविष्ट हो गई। महाराज चारित्रधर्मराज ने अपने मंत्री और सेनापति से पूछा कि, अब हमें क्या करना चाहिये? इस पर सेनापति सम्यग्दर्शन ने कहा—देव! हमारे महारथी योद्धा सत्य, शौच आदि ने जैसा कहा वैसा ही करने का समय

* पृष्ठ ५३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आ गया है। इस प्रसंग में विचार या विलम्ब करने का प्रश्न ही क्या है ? कारण यह है कि अत्यन्त दुष्ट चित्त वाले और नष्ट करने योग्य शत्रुओं द्वारा ऐसा असहनीय अपराध होने पर तो कोई भी स्वाभिमानी अनदेखी कर चुपचाप कैसे बैठ सकता है ? शत्रु से पराजित होकर अपमानित होने से तो वह मर जाय तो श्रेयस्कर है, जल जाय तो अच्छा है, उसका जन्म न लेना ही प्रशस्य है और यदि वह गर्भ में ही गल जाता तो अच्छा होता। जो प्राणी शत्रुओं से बार-बार मर्दित होकर और धूलि-धूसरित होकर भी स्वस्थ चित्त से चुपचाप बैठा रहे, तो वह प्राणी धूल, तृण और राख जैसा तुच्छ है, या यों कहें कि वह कुछ भी नहीं है तो ठीक है। यदि किसी राजा का एक भी शत्रु होता है तो वह उसे जीतने की इच्छा रखता है तब जिसके सिर पर अनन्त शत्रु हों वह चुप कैसे बैठ सकता है ? अर्थात् उसके लिये अनदेखी करना लेशमात्र भी योग्य नहीं है। अतः हे महाराज ! आप अपने समस्त शत्रुओं को नष्ट कर, पृथ्वी को निष्कंटक कर फिर निराकुल होकर शान्ति से बैठिये। इस प्रकार अत्यन्त उत्कट वाक्यों द्वारा प्रसंगोचित कार्य करने में अपने विचार प्रदर्शित कर सेनापति सम्यग्दर्शन चुप होकर बैठ गया। [५०७–५१८]

सद्बोध का राजनीति-चिन्तन

तदनन्तर चारित्रधर्मराज ने सद्बोध मन्त्री की तरफ अपनी दृष्टि घुमाई और इशारे द्वारा उसे अपना अभिप्राय प्रकट करने का संकेत किया। प्रत्येक घटना के कारणों का पृथक्करण कर गहन चिन्तन के पश्चात् वस्तु-तत्त्व के रहस्य को समझने में कुशल मन्त्री इस प्रकार बोला—देव ! विद्वान् सेनापति जी ने आपके समक्ष जो युक्तिसंगत परामर्श दिया है, उसके पश्चात् मेरे जैसे का इस प्रसंग में कुछ बोलना भी उचित नहीं है, फिर भी हे राजेन्द्र ! आप मुझे गौरव प्रदान कर प्रसंगानुसार विचार व्यक्त करने की आज्ञा देते हैं, अतः आपकी कृपा और उत्साह से प्रेरित होकर ही मेरी वाणी प्रस्फुटित हो रही है।* सम्यग्दर्शन की ओर लक्ष्य कर मन्त्री ने कहा—सेनापति जी ! आपमें उत्कट तेज है। आपका वाक्चातुर्य पर अधिकार है। आपकी स्वामिभक्ति भी सराहनीय है। हे धीर ! आपने कहा कि स्वाभिमानी व्यक्ति का शत्रुओं द्वारा किये गये पराभव को सहन करना दुःसहनीय है, यह सत्य है। यह भी सत्य है कि शत्रु द्वारा पराभूत प्राणी इस संसार में तुच्छ है। महामोह आदि शत्रु दुष्ट हैं, शठ हैं, पापी हैं, नाश करने योग्य हैं, इसमें भी कोई संशय नहीं है। महाराज के अनुचर उनका नाश करने में समर्थ/पराक्रमी हैं, यह भी सत्य है। महाराज के महारथी योद्धाओं की बात छोड़िये, उनकी स्त्रियाँ भी महामोह आदि का नाश करने में सक्षम हैं, तदपि विचक्षण पुरुष योग्य अवसर के बिना कोई भी कार्य प्रारम्भ नहीं करते ; क्योंकि नीति और पुरुषार्थ योग्य अवसर के प्राप्त होने पर ही कार्य सिद्ध कर सकते हैं। यद्यपि महाराज और आपके समक्ष

* पृष्ठ ५३५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नीतिशास्त्र की बातें करना तो पिष्ट-पेषण जैसा ही है, तथापि कुछ विशेष बातें फिर से याद दिलाने की धृष्टता करता हूँ :— [५१६–५२८]

राजनीति में छः गुण, पाँच अंग, तीन शक्ति, तीन उदय और सिद्धि, चार प्रकार की नीति और चार प्रकार की राजविद्या प्रतिपादित की गई है। इस प्रकार की और भी अनेक नीतियाँ नीतिशास्त्र में वर्णित हैं, जिनसे आप दोनों सुपरिचित हैं, अतः उनका वर्णन क्या करना।

छः गुण हैं :—स्थान, यान, सन्धि, विग्रह, संश्रय और द्वैधीभाव।

राजनीति के पाँच अंग हैं—१. उपाय, २. देशकाल का विभाग, ३. सैन्यबल और सम्पत्ति का ज्ञान, ४. आपत्ति का प्रतीकार और ५. कार्यसिद्धि। राजनीतिज्ञ पुरुष इन पाँचों अंगों के पूर्णतया जानकार होते हैं और इन अंगों का सम्यक् प्रकार से चिन्तन करते हैं।

तीन प्रकार की शक्ति कही गई है :—१. उत्साह शक्ति, २. प्रभाव शक्ति, और ३. मंत्र शक्ति। अर्थात मानसिक प्रेरणा, राज्य का प्रभाव और वास्तविक चिन्तन यह तीन प्रकार की शक्ति है।

इन तीन शक्तियों की प्राप्ति से राज्यरक्षण, प्रभुता और शत्रु-विजय यह तीन प्रकार के उदय होते हैं और स्वर्ण, मित्र तथा भूमि का लाभ होता है। यह तीन प्रकार की सिद्धि कहलाती है।

राजनीतिज्ञ साम, दाम, भेद और दण्ड इन चार प्रकार की नीतियों का निखिल कार्यों में पर्यालोचन कर प्रवृत्त होते हैं।

राजाओं को चार प्रकार की राजविद्या का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। तर्कविद्या, त्रयी (साम, यजु और ऋग् तीन वेदों का ज्ञान), वार्ता (कृषि और इतिहास का ज्ञान) और दण्डनीति। [५२६–५३७]

हे महत्तम! इस समस्त राजविद्या के श्रीपूज्यपाद और सेनापति जी सम्यक् प्रकार से विशिष्ट ज्ञाता हैं ही, अतः अधिक विवेचन की क्या आवश्यकता है? मुझे तो केवल यह निवेदन करना है कि कोई व्यक्ति कितने भी शास्त्र जानता हो, पर अपनी अवस्था को ठीक से न समझ सकता हो तो उसका ज्ञान अन्धे के सामने स्वच्छ दर्पण रखने के समान व्यर्थ है।* जो व्यक्ति असाध्य कार्य को करने का प्रयत्न करता है, किन्तु उस विषय में योग्य विवेक नहीं रखता वह हँसी का पात्र बनता है और समूल नष्ट हो जाता है। तात! जिस प्रयोजन को स्वीकार किया है उसका मूल पहले ही नष्ट हो चुका है, अतः युद्ध करने का या शत्रु-विजय का यह उत्साह क्या अर्थ रखता है? कारण स्पष्ट है :—यह भवचक्र, स्वयं हम, वे महामोह आदि शत्रु, कर्मपरिणाम, अपने महाराजा आदि सभी तो संसारी जीव

* पृष्ठ ५३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नामक महात्मा के अधीन हैं और उसी के अधिकार में यह महाटवी है। पर, यह संसारी जीव तो अद्यावधि मेरे जैसे का नाम भी नहीं जानता और महामोह आदि शत्रुओं को अपना प्रगाढ़ मित्र मानता है। अतएव यह निश्चित है कि जिस सैन्य-पक्ष के प्रति संसारी जीव का अधिक पक्षपात (झुकाव) होगा उसी की विजय होगी; क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति में मूलनायक/वरराजा तो वही है। अतः जब तक उसकी समझ में यह नहीं आये कि हमारी सेना उसका हित करने वाली है तब तक वह हमारे पक्ष में नहीं होगा और जब तक वह हमारे पक्ष में न हो तब तक युद्ध की तैयारी, प्रयाण और विग्रह/युद्ध आदि व्यर्थ हैं। ऐसे समय में तो साम नीति का अवलम्बन कर, गजनिमीलिका की तरह दर्शक बनकर इस स्थिति की उपेक्षा करना ही समुचित है। कार्य की महत्ता का चिन्तन कर विज्ञजन पहले कार्य-सीमा का संकोच भी करते हैं, अर्थात् पीछे भी हटते हैं। जैसे हाथी को मारते समय सिंह पीछे हटकर वेग के साथ सबल आक्रमण करता है। ऐसा करने से पुरुषत्व/पराक्रम का नाश नहीं होता। [५३८–५४९]

सम्यग्दर्शन—आर्य ! यह संसारी जीव हमको पहचानेगा या नहीं ? इसका तो कुछ पता ही नहीं चलता और शत्रु जैसे आज हमें त्रस्त कर रहे हैं वैसे ही भविष्य में भी पुनः-पुनः त्रस्त करते रहेंगे। देखिये, जैसे आज अवसर का लाभ उठाकर शत्रुओं ने हमारे योद्धा संयम को घायल किया वैसे ही वे भविष्य में हम सबको भी बार-बार मार-मारकर घायल करते रहेंगे। अतएव इस स्थिति में चुप्पी साधना संगत नहीं है। [५५०–५५१]

सद्बोध—आर्य ! इस विषय में शीघ्रता मत करिये। योग्य समय पर ही पग उठाया जा सकता है। आप घबरायें नहीं, क्योंकि यह निश्चित है कि देर-अबेर संसारी जीव हमें अवश्य पहचानेगा। इसका कारण यह है कि कर्मपरिणाम महाराजा जैसे उनके सैन्य (पक्ष) में सम्मिलित हैं वैसे ही हमारे सैन्य पक्ष में भी हैं। उनका व्यवहार सर्वदा दोनों पक्षों के साथ प्रायः समान रहता है। इधर संसारी जीव भी कर्मपरिणाम महाराजा की आज्ञानुसार ही समस्त प्रवृत्ति करता है। भविष्य में कभी अवसर देखकर कर्मपरिणाम महाराजा संसारी जीव को हमारी पहचान करायेंगे, उसे बतायेंगे कि हम उसके कितने हितेच्छु हैं, तब संसारी जीव प्रसन्नता से हमारी पूजा करेगा, हमारा सन्मान करेगा और तभी हम शत्रु का निर्दलन करने में समर्थ होंगे। [५५२–५५५]

आर्य ! किसी समय अवसर देखकर, चिन्तन कर कर्मपरिणाम महाराजा पहले अपनी बड़ी बहिन लोकस्थिति से परामर्श लेंगे, अपनी पत्नी काल-परिणति को पूछेंगे, अपने सेनापति स्वभाव को कहेंगे,* नियति और यदृच्छा आदि स्वकीय परिजनों को अवगत करेंगे और फिर संसारी जीव की पत्नी भवितव्यता को भी अनुकूल करेंगे। संसारी जीव निर्मल होकर स्थिति समझने योग्य हो गया है, ऐसे

* पृष्ठ ५३७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवसर की अपेक्षा करेंगे और देखेंगे कि उसे हमारी बात रुचिकर प्रतीत होने लगी है तभी महाराजा उसे हमारी पहचान करायेंगे। उस समय किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होने से संसारी जीव को वह बात हितकारी लगेगी। फलस्वरूप वह हमको निर्मल दृष्टि से देखेगा और हमारी बात को प्रसन्नता से स्वीकार करेगा। सेनापति जी! तभी हम अपने शत्रु को समूल नष्ट करने में समर्थ होंगे। अतः मेरे विचार में अभी इस प्रसंग में समय बिताना ही हितकारी है। [५५६]

सम्यग्दर्शन—मन्त्री जी! यदि ऐसा ही है, तो उन दुरात्माओं के पास हमें किसी दूत को भेजना चाहिये जिससे कुछ नहीं तो वे हमारे लोगों की कदर्थना तो न करें और अपनी मर्यादा को तो न तोड़ें। [५५७]

सद्बोध मंत्री—मेरी राय में तो अभी दूत भेजना भी व्यर्थ है। अभी तो बगुले की तरह इन्द्रियों को संकुचित कर चुपचाप बैठकर समय की प्रतीक्षा करना ही श्रेयस्कर है। [५५८]

सम्यग्दर्शन—पुरुषोत्तम! मेरी समझ में तो भयभीत होकर चुपचाप बैठने का कोई कारण नहीं है। वे पापी कितने भी क्रोधित हों तब भी मेरे जैसे का क्या बिगाड़ सकते हैं? अथवा, हे मान्यवर! यदि हमको विग्रह नीति वाले दूत को न भेजना हो तो, समझा कर वास्तविकता का ज्ञान करवाने वाले (सामनीति वाले) दूत को भेजकर उसे कहें कि वह सन्धि की शर्तें उचित रूप में तय करके आवे। इसमें क्या आपत्ति है? [५५९-५६०]

सद्बोध—आर्य! ऐसा न कहिये, क्योंकि जब विपक्षी क्रोध में उन्मत्त हो तब सामनीति नहीं चल सकती, इससे तो संघर्ष की वृद्धि ही होती है। तप्त घी में पानी डालने से वह और भभक उठता है, यह संशय-रहित है। मान्यवर! यदि आपकी इच्छा हो तो एक बार दूत भेजकर आपके कौतुहल को भी पूर्ण कर देते हैं, पर उसका वही परिणाम आयेगा जो मैं कह रहा हूँ। महाराज की इच्छा भी दूत भेजने की हो तो एक दूत भेज दिया जाय और शत्रुओं की भावना को भली प्रकार समझ कर तदनुसार समयोचित कार्य किया जाय। [५६१-५६३]

दूत-प्रेषण

सद्बोध मंत्री की अन्तिम बात का महाराज चारित्रधर्मराज ने भी अनुमोदन किया, अतः सत्य नामक एक दूत को शत्रु-सेना की तरफ भेजा। पिताजी! उस समय मेरी असीम जिज्ञासा को देखकर मेरी मौसी मार्गानुसारिता प्रच्छन्न रूप से दूत का अनुसरण करती हुई मुझे साथ-साथ ले गई। अन्त में हम महामोह राजा की सेना के निकट पहुंचे। मैंने वहाँ देखा कि प्रमत्तता नदी के किनारे चित्तविक्षेप नामक बड़े मण्डप के सभास्थल में सिंहासन पर महामोह महाराज विराजमान थे। शत्रुओं से खचाखच भरी हुई इस राज्यसभा में सत्य नामक दूत ने प्रवेश कर महाराज को प्रणाम किया। उसे एक योग्य आसन पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिठाया गया। परस्पर कुशल समाचार पूछने के बाद अदम्य साहसी दूत ने उदार बुद्धि से क्रोध को शांत करने के लक्ष्य से कहा :—[५६४–५६८]

दूत का संदेश

इस चित्तवृत्ति अटवी का अधिष्ठाता और स्वामी तो संसारी जीव ही है, इसलिये वही इसका मूल नायक है। यह संदेहरहित है कि बाह्य और अंतरंग सभी संसारी राजाओं का* और उनके ग्रामों एवं नगरों का अधिपति भी वही है। यही कारण है कि आप हम और अन्य कर्म-परिणाम आदि अंतरंग राजा तो संसारी जीव के किंकर हैं। ऐसी परिस्थिति में जबकि हम सब का राज्य एक ही है और हमारे स्वामी भी एक ही संसारी जीव हैं तब परस्पर में विरोध कैसा ? शक्ति संपन्न और स्वामिभक्त सेवक परस्पर मिलकर भाई-बन्धुओं की तरह रहते हैं। अपने स्वामी का हित चाहने वाले सेवक आपस में लड़-भिड़कर अपने ही पक्ष का नाश करने वाला कोई कार्य नहीं करते। अतएव हे राजन्! आज के पश्चात हम दोनों का प्रेम सदा के लिये बना रहे, हमारी प्रीति और आनन्द में सतत वृद्धि हो तभी हमारे स्वामी संसारी जीव की वास्तविक सेवा हो सकेगी। [५६९–५७४]

दूत की भर्त्सना

सत्य नामक दूत की स्पष्ट बात सुनकर मदोन्मत्त मोहराजा की सभा अत्यधिक क्षुब्ध हो गई। वहाँ उपस्थित राजा और योद्धा अपने होठ काटने लगे, उनके शरीर लाल-पीले हो गये, जमीन पर पैर पटकने लगे और सभी की बुद्धि क्रोध से अन्धी हो गई। सत्य दूत की स्पष्टोक्ति उन्हें अच्छी नहीं लगी, यह जताने के लिये वे सभी एक साथ बोल पड़े—"अरे दुष्ट! मूर्ख! अरे दुरात्मा! तुझे किसने ऐसी शिक्षा दी है कि संसारी जीव हमारा स्वामी है, हम तुम उसके सेवक हैं तथा हम और तुम सम्बन्धी हैं। तू ऐसी कपोल कल्पित बातें बनाता है! तेरे पक्ष वाले सब याद रखें कि तुम सब नराधम पाताल में चले जाओ तो भी हम नहीं छोड़ेंगे। अरे अधम! तू क्या बोला ? संसारी जीव हमारा स्वामी! और तुम लोग हमारे सम्बन्धी! अरे! बहुत अच्छा सम्बन्ध जोड़ा! धन्य है तेरे वचनों और गुणों को! तू अपनी भलाई चाहता है तो अपने इष्टदेव का स्मरण कर और शीघ्र ही उल्टे पैरों यहाँ से भाग जा। तुम लोगों की शान्ति करने के लिये हम भी तुम्हारे पीछे-पीछे ही आ रहे हैं" इस प्रकार कहते हुए वे परस्पर तालियाँ पीटते, हँसते और निकृष्ट वचनों से दूत की कदर्थना करने लगे। [५७५–५८१]

उसी समय उन क्रोधान्ध शत्रु राजाओं ने कवच धारण कर, अपने शस्त्रास्त्र धारण कर महामोह के साथ युद्ध के लिये प्रस्थान कर दिया। इधर सत्य दूत ने भी वापस आकर चारित्रधर्मराज को सब परिस्थिति से अवगत कराया। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि महामोह की पूरी सेना चढ़कर आ रही है, तब उन्होंने भी अपनी सेना

* पृष्ठ ५३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को तैयार होने की आज्ञा दे दी। सम्पूर्ण सेना सज्जित होकर चित्तवृत्ति अटवी के किनारे पर आकर युद्ध के लिये सन्नद्ध हो गई। यहाँ इन दोनों महामोह और चारित्रधर्मराज का विस्मयकारी युद्ध हुआ। [५८२-५८५]

चारित्रधर्मराज और मोहराज का युद्ध

एक ओर चारित्रधर्मराज का अनुसरण करने वाले राजाओं के समूह और उनके करोड़ों योद्धाओं के शस्त्रों से निर्गत विस्तृत प्रकाश-जाल चारों ओर फैले अन्धकार का नाश कर रहा था, तो दूसरी ओर दुष्टाभिसन्धि आदि महामोहराजा के प्रचण्ड उग्र/भयंकर राजाओं की रणभेरी बज रही थी और उनके काले शरीरों की प्रभा से चारों ओर अन्धकार पटल फैल रहा था जिससे ज्ञान रूपी सूर्य का जो प्रकाश आ रहा था वह आच्छादित हो रहा था।* दोनों सेनाओं का भयंकर युद्ध होने लगा जिससे कायर मनुष्यों के मन में मृत्यु का महा भय उत्पन्न होने लगा। शस्त्रों और युद्ध के वाद्यों की ध्वनि से संसार में संचरण करने वाले जीवों को त्रास हो रहा था और इस महायुद्ध को देखने की लालसा से विशाल संख्या में विद्याधर और विद्यासिद्ध आ गये थे। इसी भीषण संग्राम में महामोह राजा के योद्धा अपने दुश्मनों को पराजित करते हुए आगे बढ़ रहे थे। [५८६]

चारित्रधर्मराज की धर्म-सेना शत्रु के अनेक प्रकार के भयंकर शस्त्रों से मार खा रही थी। उनके हाथी, घोड़े, रथ आदि के दल पराजित हो रहे थे और शत्रु की भयंकर गर्जना सुन उनकी सम्पूर्ण सेना काँप उठी थी। [५८७]

हे पिताजी! अन्त में इस युद्ध में चारित्रधर्मराज पर बलशाली महामोह राजा की विजय हुई। चारित्रधर्मराज की सेना पराजित होकर भाग खड़ी हुई और योद्धागण भाग कर अपने स्थानों में छुप गये। महामोह के योद्धा जयनाद का कोलाहल करते हुए शत्रुओं के पीछे भागे और उन्हें चारों तरफ से घेर लिया। युद्धजय के पश्चात् महामोह नरेन्द्र का राज्य चारों तरफ फैल गया और चारित्रधर्मराज घेरे के बीच में घिर गये। [५८८-५९०]

पिताजी! उस समय मौसी ने पूछा—क्यों वत्स! युद्ध देखा? अब तो तुम्हारा कुतूहल शान्त हुआ?

उत्तर में मैंने कहा—हाँ मौसी! आपकी कृपा से मेरी जिज्ञासा पूर्ण हुई। मौसी! अब मुझे यह जानने की अभिलाषा है कि इस युद्ध का मूल कारण क्या है? कृपया उसे बतला दें। [५९१-५९२]

संघर्ष का मूल कारण

मार्गानुसारिता मौसी—वत्स! जब यह महायुद्ध चल रहा था तब तूने महाराजा रागकेसरी के आगे युद्धनिपुण मंत्री विषयाभिलाष को देखा होगा? पहले

* पृष्ठ ५३९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक बार इस मंत्री ने संसार को अपने वश में करने की इच्छा से अपने पाँच कर्मचारी कहीं भेजे थे। चारित्रधर्मराज के तन्त्रपाल संतोष ने इन पाँचों को खेल-खेल में ही पराजित कर दिया था। हे पुत्र! तभी से दोनों पक्षों में परस्पर विरोध पैदा हो गया, जिसके परिणामस्वरूप अभी ऐसा महायुद्ध अन्तरंग राजाओं में हुआ। यह सब आन्तरिक राजाओं की आन्तरिक खटपट का परिणाम है। [५६३–५६६]

पिताजी! जब मैंने मौसी से पूछा कि इन पाँच कर्मचारियों के नाम क्या हैं? ये पाँचों संसार को किस प्रकार वश में कर सकते हैं? तब मौसी ने कहा कि, वत्स! इनके नाम स्पर्श, रसना, घ्राण, दृष्टि और श्रोत्र हैं। ये स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द पहले तो प्राणी को अपनी तरफ आकर्षित करते हैं और उसके पश्चात् वे तीनों जगत् को अपने वश में कर लेते हैं। इन पाँचों में से प्रत्येक इतना प्रबल शक्ति-सम्पन्न कि वह अकेला ही संसार को वश में कर सकता है। यदि ये पाँचों ही सम्मिलित होकर संसार को वश में कर लें, तो इसमें बड़ी बात ही क्या है? [५६७–५६८]

विचार का स्वदेश में प्रत्यागमन

तदनन्तर मैंने मौसी से कहा –माताजी! देश-दर्शन और भ्रमण का मेरा कौतूहल पूर्ण हो गया है। आपकी कृपा से मैंने थोड़े समय में ही बहुत कुछ देख लिया है। अब अपने पूज्य पिताजी के पास शीघ्र ही जाऊँगा। [५६९]

मार्गानुसारिता ने कहा कि –वत्स! इन लोगों का व्यवहार और चेष्टायें तुमने देख ही ली हैं, अब तुम जाओ। मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे ही आ रही हूँ। पिताजी! इस प्रकार प्रयोजन का निश्चय कर वहाँ से सीधा मैं यहाँ आया हूँ।* मुझे आपसे केवल यही निवेदन करना है कि आपका मित्र घ्राण अच्छा व्यक्ति नहीं है। यह भोले लोगों को ठगने वाला, उन्हें त्रस्त करने वाला और संसार में भटकाने वाला है। रागकेसरी के मन्त्री ने मनुष्यों को त्रस्त और विडम्बित करने के लिये जिन पाँच अनुचरों को संसार में भेजा है, उन्हीं में से तीसरा यह घ्राण है। [६००–६०२]

बुध का निर्णय

विचार कुमार अपने पिता बुधराज के समक्ष उपरोक्त वृत्तान्त सुना ही रहा था कि मार्गानुसारिता वहाँ आ पहुँची और उसने बुध नरेन्द्र के सम्मुख विचार के कथन का समर्थन किया, फलस्वरूप बुध ने घ्राण का त्याग करने का निश्चय कर लिया। [६०३–६०४]

मन्द की दशा

इधर दूसरी ओर मन्द कुमार भुजंगता की संगति में पड़कर घ्राण मित्र के पालन-पोषण में सदा उद्यत रहने लगा। वह उसके लिये उत्तमोत्तम सुगन्धित द्रव्य

* पृष्ठ ५४०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकत्रित करने में प्रयत्नशील रहने लगा। अर्थात् वह अपने मित्र घ्राण को प्रसन्न करने के लिये अनेक कष्ट सहन करके भी सुगन्धित पदार्थ प्राप्त करने के अवसर को हाथ से नहीं जाने देता था। [६०५]

हे राजन्! इसी धरातल नगर में देवराज नामक राजा था जिसके लीलावती नामक पत्नी थी जो मन्द कुमार की बहिन थी। एक दिन मन्द कुमार अपनी बहिन के यहाँ गया। संयोगवश उसी समय लीलावती ने अपनी सौत के पुत्र को मारने के लिये एक डूम्ब से हलाहल तेज विष को सुगन्धित पदार्थ में मिलवाकर पुड़िया बनवाई और उस पुड़िया को घर के दरवाजे के बाहर रख दी, जिससे कि उससे आकर्षित होकर सौत का लड़का उसे सूंघे और मर जाय। विष-मिश्रित सुगन्धी द्रव्य की पुड़िया द्वार पर रख कर वह घर के भीतर चली गई। उसके थोड़ी देर पश्चात् ही मन्द कुमार वहाँ आया और उसने द्वार पर पड़ी हुई पुड़िया को देखा, जिसमें से उत्कट तीव्र सुगन्ध निकल रही थी। उसके अन्तर में प्रविष्ट भुजंगता ने उसे उसी समय उस सुगन्ध को घ्राण तक पहुँचाने का आदेश दिया। फलस्वरूप दुरात्मा मन्द ने उस कागज की पुड़िया को खोला और उसे नाक के पास ले गया। अन्तर में बैठे हुए घ्राण ने ज्योंही उस तीव्र सुगन्ध को सूंघा त्योंही तत्क्षण उसके सारे शरीर में मूर्छा व्याप्त हो गई और मन्द वहीं जमीन पर गिरकर मृत्यु को प्राप्त हुआ।

घ्राण की आसक्ति में रक्त मन्दकुमार की मृत्यु की इस घटना से बुध कुमार को घ्राण के प्रति अत्यधिक विरक्ति उत्पन्न हो गई। [६०६–६११]

बुध की दीक्षा

तत्पश्चात् बुध कुमार ने अपनी साली मार्गानुसारिता से पूछा—भद्रे! इस घ्राण से अब मैं पूर्णरूपेण विरक्त हो गया हूँ। अब यह मेरे से सर्वदा दूर ही रहे, इससे मेरा किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहे, ऐसा कोई उपाय बतलाइये। [६१२]

मार्गानुसारिता—देव! भुजंगता का त्याग कर आप सदाचारी बन जाइये और सदाचार-परायण साधुओं के समुदाय में रहिये। साधुओं के मध्य में रहते हुए सदाचारी जीवन बिताने पर घ्राण आपके पास रहते हुए भी आपका कुछ बिगाड़ नहीं सकेगा। दोष और संक्लेश का कारण नहीं बन सकेगा। इसकी छाया भी आप पर नहीं पड़ेगी और धीरे-धीरे स्वतः ही इसका सर्वथा त्याग हो जायेगा। [६१३–६१४]

बुध कुमार को मार्गानुसारिता का कथन आत्म-हितकारी लगा, अतः उसने वैसा ही करने का निश्चय कर लिया। सद्गुरु का योग मिलने पर उसने गुरु महाराज के पास दीक्षा ग्रहण की और साधुओं के बीच रहकर सदाचार का पालन करने लगा तथा सद्गुरु की उपासना सेवा में दत्तचित्त हो गया। धीरे-धीरे आगमोक्त शुद्ध भावों का ज्ञान होने पर उसे कुछ लब्धियों की प्राप्ति भी हुई और आचार्य ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गच्छ-संचालन के हेतु सूरि पद के योग्य समझकर उसे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। [६१५-६१७]

अपनी आत्मकथा को समाप्त करते हुए बुधसूरि ने धवल राजा से कहा—हे राजन्! आपको प्रतिबोधित करने वही बुधसूरि अपने गच्छ और शिष्यों को छोड़कर अकेला यहाँ आया है। हे धरानाथ! जो व्यक्ति आपको कथा सुना रहा है और आप सब सुन रहे हैं वह कथावाचक बुधकुमार नामक व्यक्ति मैं स्वयं ही हूँ। [६१८-६१९] ●

२०. विमल की दीक्षा

आत्मकथा समाप्त करने के पश्चात् बुधसूरि ने कहा—हे राजन्! मेरी आत्मकथा जो अभी मैंने सुनाई है, वह जैसे मुझे प्रतिबोधित करने में कारणभूत हुई वैसे ही वह आप सब को प्रबुद्ध करने में समर्थ है। क्योंकि, त्रैलोक्य में जहाँ कहीं मनुष्य विचरण करते हैं वहीं उनके पीछे महामोहादि शत्रु उन्हें उत्पीड़ित करने के लिए भागते-फिरते हैं। महामोह और उसके अधीनस्थ सभी योद्धा अत्यन्त भयंकर हैं और जो भी प्राणी उनके चक्कर में आता है, उसके वे क्षणभर में टुकड़े-टुकड़े कर उसके अस्तित्व का लोप कर देते हैं। हे नरेन्द्र! उनका निवारण करने के लिए जैनशासन रूपी स्थान ही अत्युत्तम और भयरहित है। जो प्राणी इस तत्त्व-रहस्य को समझते हैं और भय से मुक्त होना चाहते हैं, उन्हें इस निर्भय स्थान में प्रवेश करना चाहिये। हे भूपति! आपको इस कार्य में पल भर की भी देरी नहीं करनी चाहिए। आप कालकूट विष जैसे भयंकर इन्द्रिय विषयों का त्याग करें और इस दिव्य प्रशम सुखरूपी अमृत का पान करें। [६२०-६२५]

बुधसूरि की सारगर्भित वाणी को सुनकर धवल राजा ने मुस्कराते हुए विमलकुमार एवं अन्य सभासदों की तरफ देखा और फिर उन सबको लक्ष्य करके कहा—सभाजनों! महात्मा बुधसूरि ने जो उपदेश दिया है उसे आप सबने सुना है, क्या आपके हृदय पर उनके वचनों का कुछ असर हुआ है? यह सुनकर जैसे सूर्य के प्रकाश से कमलवन विकसित हो जाता है वैसे ही बुधसूरि (सूर्य) के प्रताप से समस्त सभाजनों के मुखकमल खिल उठे। सभी ने एक साथ भक्ति पूर्वक हाथ जोड़कर मस्तक झुकाते हुए कहा देव! हमने महात्मा के वचन ध्यानपूर्वक सुने हैं और आपकी कृपा से उसके भाव (रहस्य) को भी समझा है। अभी तक हमारे मन अज्ञानान्धकार से घिरे हुए थे, उन्हें महात्मा ने अन्धकार दूर करके प्रकाशमान कर

* पृष्ठ ५४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिया है। हम सब मिथ्यात्व के विष में झोंके खा रहे थे, पर महात्मा ने अमृत-सिंचन कर हमें जीवनदान दिया है। आचार्यदेव के वचन हमारे चित्त में गहराई से उतरे हैं, अतः गुरुदेव के आदेश का हमें अविलम्ब पालन करना चाहिए।
[६२६-६३२]

समस्त सभाजनों के ऐसे प्रशस्त उत्तर को सुनकर धवल राजा अति प्रसन्न हुए। राजा के मन का आशय सभाजन जानते थे और सभाजनों के मन का आशय राजा ने जान लिया था। चिन्तित कार्य को कार्यान्वित करने के पूर्व किसी का राजसिंहासन पर राज्याभिषेक करना आवश्यक था। राजा का विचार विमलकुमार को राजगद्दी देने का था, अतः उन्होंने विमल से कहा--पुत्र! मेरा विचार दीक्षा लेने का है, अब तुम राज्य का सम्यक् प्रकार से पालन करो। बड़े पुण्योदय से मुझे आज श्रेष्ठतम सद्गुरु का योग मिला है। [६३३-६३४]

विमल--पिताजी! यदि मैं आपका प्रिय पुत्र हूँ तब आप मुझे दुःखों से परिपूर्ण राज्य पर स्थापित करने की इच्छा क्यों करते हैं? इससे लगता है कि आपका मुझ पर सच्चा स्नेह नहीं है। पिताजी! आप मुझे दुःखपूरित संसार में फेंककर स्वयं मुक्तिमार्ग की ओर प्रयाण करना चाहते हैं तो आपके ये विचार श्रेष्ठ नहीं माने जा सकते।

विमलकुमार के वचनों को सुनकर तत्त्वदर्शी धवल राजा को प्रसन्नता हुई, वे बोले—पुत्र! तेरे विचार सुन्दर हैं और अवसर के योग्य हैं। यदि तेरी भी यही इच्छा है तो हम तुझे छोड़कर नहीं जायेंगे। [६३५-६३७]

तदनन्तर धवल राजा ने अपने दूसरे पुत्र कमल का राज्याभिषेक किया।* फिर आठ दिन तक अत्यधिक धूमधाम से जिन पूजा की, अष्टाह्निका महोत्सव किया, पूरे देश और नगर में अनेक दीन-दुःखी याचकों को विधिपूर्वक अनेक वस्तुओं का प्रचुर दान दिया और अवसरोचित समस्त कर्त्तव्य पूर्ण कर शुभ दिन में अपनी रानी, पुत्र विमलकुमार, बन्धुजनों एवं कई नगरवासियों सहित बुधसूरि महाराज के पास विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहण करने हेतु नगर से बाहर निकला। विशेष क्या कहूँ? उस दिन बुधसूरि का अमृतमय प्रवचन जितने लोगों ने सुना था उनमें से बहुत ही थोड़े लोगो ने दीक्षा नहीं ली। जिन थोड़े से लोगों ने चारित्र ग्रहण नहीं किया उन्होंने सम्यक्त्व सहित श्रावक के बारह व्रतों को अंगीकार किया। सच ही है, रत्नों की खान के पास जाकर कौन दरिद्री रह सकता है? [६३८-६४२]

* पृष्ठ ५४२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१. वामदेव का पलायन

वामदेव के भव में संसारी जीव अपनी आत्मकथा सदागम के समक्ष सुनाते हुए कह रहा है--हे अगृहीतसंकेता ! इस सम्पूर्ण घटना के घटित होने के समय मैं तो वहाँ वामदेव के रूप में उपस्थित ही था। आचार्य की रूप-परिवर्तन की शक्ति, वास्तविकता को समझकर उसे प्रकट करने का कौशल, अपने कथन को रूपक द्वारा समझाने का चातुर्य और महामोह के अन्धकार को दूर करने वाले प्रवचनों को सुनकर भी मैं लेशमात्र भी प्रबुद्ध नहीं हुआ, मेरे मन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा और मुझे उनका कथन तनिक भी रुचिकर नहीं लगा। इसका क्या कारण था ? यह भी तू सुन। तुझे याद होगा कि पहले बहुलिका योगिनी (माया) मेरी बहिन बनी हुई थी, उस बहिन ने योगशक्ति से मेरे शरीर में प्रवेश कर लिया था और मुझ पर अपना अधिकार जमा लिया था। आचार्य के पास आने के समय भी वह मेरे शरीर में उल्लसित हो रही थी। [६४३–६४५]

हे अगृहीतसंकेता ! ऐसे अत्यन्त दयालु, परोपकारी, कुशल, प्रतापी, महाभाग्यवान और विशुद्ध जीवन वाले महापुरुष महात्मा आचार्य को मुझ दुरात्मा ने इस बहुलिका की शिक्षा में आकर वंचक और ढोंगी माना। मैंने माना कि यह साधु के वेष में कोई पाखण्डी आया है जो अपनी इन्द्रजाल जैसी रचना कर झूठी चतुरता से सब लोगों को ठग रहा है। देखो, इसकी दुष्टता और ठग विद्या को ! इसने कैसा युक्तियुक्त जाल फैलाया है ! इसका वाक्चातुर्य कितना महान् है कि राजा और उसके सभासद भी मूर्ख बन गये हैं ! बात ऐसी है कि जो दुरात्मा प्राणी इस बहुलिका के वशीभूत हो जाता है वह स्वयं शठाधम बनकर सारे संसार को धूर्त समझने लगता है। मैंने भी अनेक सच्ची झूठी कल्पनाओं के द्वारा उस समय बुधाचार्य को धूर्त माना, फलस्वरूप उनके विशुद्ध प्रवचनों का मुझ क्षुद्र पर कोई असर नहीं हुआ। [६४६–६५०]

इधर नगर में महोत्सव हो रहा था, दीक्षा का समय निकट आ रहा था। उस समय मुझ पापी ने विचार किया कि मेरा मित्र विमल आग्रह करके बलपूर्वक मुझे अवश्य ही दीक्षा दिलवायेगा, अतः उसके आग्रह करने के पहले ही मैं यहाँ से कहीं भाग जाऊं तो अच्छा रहेगा। हे चपलनेत्रा ! इस विचार से मैं मुट्ठी बाँधकर, भागकर वहाँ से इतनी दूर चला गया कि ढूंढ़ने पर भी मेरी गन्ध न मिल सके।

[६५१–६५३]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वामदेव के भविष्य की पृच्छा

दीक्षा के समय विमल ने मुझे समुपस्थित न देखकर बहुत ढुंढ़वाया, पर जब मेरा कोई पता न लगा तब उसे चिन्ता हुई और उसने बुधाचार्य से पूछा--भगवन्! वामदेव कहाँ गया है? और किस कारण से गया है?

गुरु महाराज ने अपने ज्ञान से उपयोग लगाकर, मेरा समस्त चरित्र जानकर कहा--वह इस डर से भाग गया है कि कहीं तुम उसे आग्रह कर बलपूर्वक दीक्षा न दिलवा दो।*

इस पर विमल ने गुरु महाराज से पूछा--भगवन्! आपके अमृतोपम वचन सुनकर वह मेरा मित्र ऐसी चेष्टा क्यों करता है? क्या वह भव्य जीव नहीं है? [६५४-६५७]

बुधाचार्य--कुमार! वामदेव अभव्य तो नहीं, पर अभी उसका व्यवहार किसी विशेष कारण से ऐसा बना हुआ है। इसकी एक बहुलिका नाम की अंतरंग बहिन है, जो महा भयंकर योगिनी है। वह शरीर के भीतर रहकर अपनी प्रवृत्ति करती है। वामदेव को उस पर बहुत स्नेह है। फिर इसका स्तेय नामक एक अंतरंग भाई भी है, उस पर भी इसका बहुत राग है। ये दोनों वामदेव को अपने वश में करके रखते हैं। इन दोनों के वशीभूत होकर ही इसने अभी ऐसा व्यवहार किया है। पहले भी इसने इन दोनों के कहने पर ही रत्नों की चोरी की थी। प्रकृति से तो वामदेव सुन्दर ही है, किन्तु अभी इन दोनों के प्रभाव के कारण ही वह ऐसी विपरीत प्रवृत्ति कर रहा है। [६५८-६६१]

विमल--गुरुदेव! वह बेचारा इन दोनों दुष्ट अन्तरंग भाई-बहिनों से कब मुक्त होगा? यह तो बताइये। [६६२]

बुधाचार्य--विमल! बहुत समय पश्चात् इसका इनसे छुटकारा होगा। वह कैसे होगा, सुनो। विशदमानस नगर में शुभाभिसंधि नामक राजा राज्य करता है, जिसके शुद्धता और पापभीरुता नामक दो अतिशय निर्मल आचार वाली रानियाँ हैं। शुद्धता के एक ऋजुता नामक पुत्री है और पापभीरुता के अचौर्यता नामक पुत्री है। ये दोनों कन्यायें पढ़ी-लिखी और सुन्दर हैं। इनमें से ऋजुता अत्यन्त सरल और साधु जीवन वाली है। यह सभी को सुख देने वाली है और हे भाग्यशाली! तुम्हारे लोगों की वह जानी पहचानी है। राजा की दूसरी अचौर्यता नामक कन्या भी स्पृहारहित, शिष्ट पुरुषों की प्रिय और सर्वांगसुन्दरी है तथा इसे भी तुम्हारे जैसे पहचानते हैं। जब तुम्हारा मित्र वामदेव इन दोनों भाग्यशाली कन्याओं से विवाह करेगा तब स्तेय और बहुलिका उस पर अपना किसी प्रकार का प्रभाव नहीं दिखा सकेंगी, क्योंकि ऋजुता और अचौर्यता, बहुलिका और स्तेय की प्रकृति से ही विरोधिनी हैं। अतः दोनों एक साथ नहीं रह सकती। [जहाँ ऋजुता होगी वहाँ

* पृष्ठ ५४३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहुलिका को भागना ही पड़ेगा। सरलता के समक्ष माया कैसे टिकेगी ? अचौर्यता के समक्ष स्तेय / चोरी कैसे टिकेगी ?] जब ये दोनों वामदेव को मिलेंगी तभी माया और स्तेय से उसकी मुक्ति होगी। इस समय वह नाममात्र भी धर्म-प्राप्ति के योग्य नहीं है, अतः अभी उसके प्रति उपेक्षाभाव रखना ही उचित है। [६६३–६७०]

आचार्यदेव के वचन सुनकर मेरे मित्र महात्मा विमल ने वस्तुस्थिति को समझ कर मेरे प्रति उपेक्षाभाव धारण कर लिया और फिर मेरे सम्बन्ध में विचार करना भी छोड़ दिया। [६७१] □

२२. वामदेव का अन्त एवं भव-भ्रमण

विमल के पास से भागकर मैं कांचनपुर गया। वहाँ के बाजार में एक दुकान पर सरल नामक सेठ बैठा था। मैं उसकी दुकान पर गया। मेरे शरीर में रही हुई बहुलिका ने उसी समय अपना प्रभाव दिखाया और उसके वशीभूत होकर मैं सेठ के पाँवों में गिर गया। कृत्रिम नाटक करते हुए मेरी आँखें आनन्दाश्रुओं से भर गईं। मेरे नाटक को सत्य समझकर सरल सेठ का दिल भी पिघल गया, वह बोला— भद्र ! क्या हुआ ? तू क्यों रो रहा है ?

मैं—पिताजी ! आपको देखकर मुझे अपने पिताजी की याद आ गई।

सरल सेठ— वत्स ! तू मत रो। यदि ऐसा ही है तो* आज से तू मेरा पुत्र ही है।

मैं—आज से मैं भी आपको अपना पिता मानता हूँ।

तत्पश्चात् सेठ मुझे अपने घर ले गया और अपनी स्त्री बन्धुमती को मुझे सौंप दिया। उसने मुझे स्नान, भोजन आदि करवाया और मेरा नाम तथा कुल आदि पूछा। मैंने अपना नाम, कुल आदि बता दिया। सेठ को जब ज्ञात हुआ कि मैं उसका सजातीय ही हूँ, उसके कुल का ही हूँ तो वह बहुत प्रसन्न हुआ। वह अपनी स्त्री से बोला—

प्रिये ! हम वृद्ध हो गये हैं और अभी तक हमारे पुत्र नहीं हुआ है, यही सोचकर भगवान ने हमें पुत्र दिया है। आज से वामदेव को अपना पुत्र समझो। [६७२]

पति के वचन सुनकर बन्धुमती भी बहुत प्रसन्न हुई। सरल सेठ ने घर का सारा भार मुझे सौंप दिया, मानो मैं ही घर का स्वामी होऊं और दुकान में गुप्त

* पृष्ठ ५४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थान पर रखे हुए हीरे मोती आदि मूल्यवान रत्न भी मुझे बतला दिये। सेठ को धन पर अधिक आसक्ति थी इसलिए वह दुकान पर ही सोता था और मुझे भी अपने साथ ही सुलाता था।

एक दिन संध्या का भोजन कर हम घर में बैठे थे कि सरल सेठ के प्रिय मित्र बन्धुल के घर से निमन्त्रण आया कि आज उसके यहाँ पुत्र-प्राप्ति की उपलब्धि में छठी का रात्रि जागरण है और उसमें सेठजी की उपस्थिति आवश्यक है। सेठ ने मुझ से कहा---पुत्र वामदेव ! आज मुझे बन्धुल के यहाँ जाना ही पड़ेगा, तुम दुकान जाओ और वहाँ सावधानी से सोना।

मैंने कहा–पिताजी ! आपके बिना मुझे अकेले दुकान जाना अच्छा नहीं लगता। आज तो मैं घर पर ही माताजी के पास रहूँगा। सेठ ने सोचा कि पुत्र का माता के प्रति स्नेह अधिक है इसलिए मुझे अपनी इच्छानुसार करने को कहकर सरल सेठ बन्धुल के यहाँ चला गया।

रात्रि के समय मेरे शरीर में स्थित स्तेय जागृत हुआ और उसके वशीभूत मेरे मन में सेठ की दुकान में छुपाया हुआ अमूल्य धन चुरा लेने का विचार हुआ। अर्ध रात्रि को उठकर मैं दुकान पर गया। मुझे दुकान खोलते हुए चौकीदारों ने दूर से ही देखकर पहचान लिया था। मैं अभी नया ही था, इसलिये उन्हें थोड़ी शंका हुई कि यह भाई मध्यरात्रि में दुकान क्यों खोल रहा है ? उन्होंने मुझे कुछ नहीं पूछा, पर गुप्त रूप से मेरी गतिविधियों पर पैनी दृष्टि रखी। सेठ ने मूल्यवान रत्न दुकान में जहाँ छिपा रखे थे, वहाँ से उन्हें निकाल कर दुकान के पीछे की गली में जमीन खोदकर मैंने उन्हें छिपा दिया। इतना सब करते-करते प्रातःकाल हो गया, अतः मैंने ही हल्ला मचाया कि, अरे लोगों ! दौड़ो, सेठ के यहाँ चोरी हो गई है।

नगर के लोग इकट्ठे हो गये, सेठजी भी आ पहुँचे। चौकीदार भी आये। बाजार में कोलाहल मच गया। सेठ ने मुझसे पूछा—पुत्र वामदेव ! क्या बात है ? यह सब भीड़ इकट्ठी क्यों हो रही है ?

मैंने कहा–पिताजी ! हम मर गये। रात को दुकान में चोरी हो गई। ऐसा कहकर मैंने सेठजी को खुली दुकान और भूमि में रत्न रखने के गुप्त स्थान पर हुए खड्डे को दिखाया।

सेठ ने पूछा--पुत्र वामदेव ! तुझे इसकी खबर कैसे और कब हुई ?

मैंने कहा--पिताजी, आप तो मित्र के यहाँ चले गये, मैं अकेला रह गया। आपके विरह में मुझे नींद नहीं आई, सारी रात बिस्तर पर लोटता रहा। जब थोड़ी रात शेष रह गई तो मेरे मन में विचार आया कि दुकान का बिस्तर पिताजी के स्पर्श से बहुत पवित्र हो चुका है, उस पर सोने से शायद मुझे नींद आ जायेगी। अन्य स्थान पर तो आयेगी नहीं। यही सोचकर मैं दुकान पर आया और देखा कि यहाँ चोरी हो गई है तब मैंने हल्ला मचाया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरी बनावटी बात सुनकर चौकीदार लोग जो वहीं थे, सोचने लगे कि यह वामदेव वास्तव में दुरात्मा है, हरामखोर है, पक्का चोर है । अहो इसका वाक्-जाल ! * वाचालता ! धूर्तता ! कृतघ्नता ! विश्वासघात ! और पापिष्ठता ! उन्होंने सेठजी को आश्वासन दिया कि सेठ साहब ! आप मन में तनिक भी चिन्ता न करें, आश्वस्त हो जावें, हमें चोर का पता लग गया है।

इस प्रकार कहकर उन्होंने मेरी तरफ अर्थ-पूर्ण दृष्टि घुमाई जिससे मैं भय-भीत हो गया । मैंने मन में समझ लिया कि चौकीदारों ने मुझे पहचान लिया है । चौकीदारों ने मुझे माल सहित रंगे हाथों पकड़ने का निश्चय किया और मेरे पीछे कुछ गुप्तचरों को लगा दिया । उस पूरे दिन मेरे मन में संकल्प-विकल्प आते रहे । सन्ध्याकालीन अन्धेरा होते ही मैं दुकान के पीछे गया और छुपाये हुये रत्न निकाले । ज्योंही मैं रत्न लेकर भागने को हुआ कि चौकीदारों ने मुझे माल सहित पकड़ लिया । हो-हल्ला होने से नगर के लोग पुनः वहाँ इकट्ठे हो गये । चौकीदारों ने मेरी सारी चालाकी लोगों के सामने प्रकट कर दी । लोगों को यह सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ कि सेठ ने जिसे अपना पुत्र मान कर सारा धन उसे देने का निश्चय किया था, उसी ने विश्वासघात कर अपने ही घर में चोरी की ।

चौकीदार मुझे नगर के राजा रिपुसूदन के पास ले गये । चोरी की सजा मृत्युदण्ड थी और मैं तो माल सहित पकड़ा गया था, अतः राजा ने मेरा वध करने की आज्ञा दे दी ।

जब सरल सेठ को पता लगा तो वे दौड़े हुये राजा के पास आये और राजा के पाँव पकड़कर कहा—

देव ! यह वामदेव मेरा पुत्र है, उसके प्रति मेरा अत्यन्त स्नेह है, इसके बिना मैं जीवित नहीं रह सकूँगा, अतः मुझ पर अनुग्रह/दया कर इस बालक को छोड़ दीजिये । आप चाहे मेरा सारा धन ले लीजिये, अन्यथा इसके अभाव में मैं मर जाऊँगा इसमें संशय नहीं है । [६७३–६७४]

राजा ने सोचा कि सरल सेठ वास्तव में सरल ही है, बहुत भोला है । राजा ने दयाकर मृत्युदण्ड की आज्ञा को निरस्त कर दिया और सेठ का धन भी ग्रहण नहीं किया । किन्तु, उन्होंने सेठ को कहा—सेठ ! इस तुम्हारे सुपुत्र को मेरे पास रखो । यह विषांकुर है, पक्का चोर है और लोगों को दुःख देने वाला है, अतः इसको अरक्षित/मुक्त छोड़ना उचित नहीं है । [६७५–६७७]

इधर मेरा पुण्योदय मित्र जो जन्म से ही मेरे साथ था और दिनोंदिन दुर्बल हो रहा था, अब एकदम नष्टप्रायः हो गया था और मुझे छोड़कर चला गया था, क्योंकि मेरा ऐसा दुश्चरित्र देखकर वह मुझसे ऊब गया था । [६७८]

---

* पृष्ठ ५४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सरल सेठ ने राजाज्ञा को शिरोधार्य किया। मैं अन्य लोगों द्वारा तिरस्कृत होता हुआ दीन-हीन की भाँति राजमहल में रहने लगा। मेरे अन्तरंग भाई-बहिन स्तेय और बहुलिका यद्यपि मेरे शरीर में ही निवास कर रहे थे तथापि भीषण राज्यदण्ड के भय से वे अपना प्रभाव नहीं दिखा रहे थे। ऐसा लगता था जैसे वे अन्दर ही अन्दर शांत हो गये हों। भद्रे! फिर भी लोग तो मुझे शंका की दृष्टि से ही देखते थे और अन्य किसी के चोरी करने पर भी मुझ पर संदेह करते थे। मेरे सच कहने पर भी लोग उसे नहीं मानते। मेरे वचन पर लोगों को विश्वास ही नहीं रहा। लोग मुझे धिक्कार की दृष्टि से देखते हुए कहते -- बैठ जा, देख ली तेरी सत्यवादिता! जिस प्रकार काला सर्प दूसरे सभी सांपों के लिये संताप का कारण होता है उसी प्रकार मैं भी सबके उद्वेग का कारण हो गया था। हे अगृहीतसंकेता! ऐसे संयोगों में बहुत समय तक रहकर मैं अनेक प्रकार की विडम्बनायें भोगता रहा।

[६७६–६८३]

हे भद्रे! एक बार किसी विद्यासिद्ध ने राजा के भण्डार में चोरी की और उसमें से सभी रत्न अलंकार आदि ले गया। विद्या के बल से वह अदृश्य होकर भीतर घुसा था और अदृश्य होकर ही वापस निकल गया था, इसलिये पकड़ा नहीं गया। उस चोरी का कलंक मेरे सिर पर आया।* सब को याद था कि मैंने पहले भी चोरी की थी और राजमहल में मेरे सिवाय किसी का प्रवेश असंभव था, अतः संदेह के आधार पर मैं पकड़ा गया। अपराध मंजूर करवाने के लिए मुझे बहुत मारा और अनेक प्रकार की यातनायें दीं। राजा भी अत्यन्त क्रोधित होकर मुझे अनेक प्रकार से सताने लगा और अन्त में मुझे मृत्युदण्ड दे दिया गया। हे विशालाक्षि! इस बार भी सरल सेठ ने आकर मुझे बचाने का बहुत प्रयत्न किया पर राजा नहीं माना और मुझे रोते-चिल्लाते एवं विलाप करते हुए को फांसी के तख्ते पर चढ़ा दिया गया। [६८४–६८७]

संसारी जीव का पुनः भव-भ्रमण

जिस समय मुझे मृत्यु-दण्ड दिया गया उसी समय मेरी स्त्री भवितव्यता द्वारा पूर्व में दी गई गोली जीर्ण हो गई थी, अतः उसने मुझे दूसरी नवीन गुटिका दी जिसके प्रभाव से हे भद्रे! मैं पापिष्ठवास नामक नगर के अन्तिम उपनगर पाप-पिंजर (सातवीं नरक) में उत्पन्न हुआ। यह स्थान अनन्त तीव्र दुःखसमूह से व्याप्त था। वहाँ मैंने असंख्यात काल तक अनेक प्रकार के महा दारुण दुःख सहे। उसके बाद भवितव्यता ने मुझे पुनः दूसरी गोली दी जिसके प्रभाव से मैं पंचाक्षपशु संस्थान (पंचेन्द्रिय तिर्यंच गति) में आया। इस प्रकार नयी-नयी गुटिकायें देकर भवितव्यता ने मुझे अन्य अनेक स्थानों पर भटकाया। हे भद्रे! हे सुलोचने! असंव्यवहार नगर के अतिरिक्त कोई स्थान नहीं बचा जहाँ मैं कई-कई बार नहीं

---

* पृष्ठ ५४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भटका होऊँ। बहुलिका (माया) के सम्पर्क से मैंने बहुत पाप किये थे इसलिए पंचाक्षपशुसंस्थान में भी मुझे कई बार स्त्रीयोनि में उत्पन्न होकर विविध विडम्बनायें सहन करनी पड़ीं। बहुलिका और स्तेय के संसर्ग से प्रेरित होकर मैं निरन्तर पाप कर्म करता गया और असह्य दुःख भोगता रहा। हे सुमुखि! जहाँ-जहाँ मैं गया, वहाँ-वहाँ वे दोनों मेरे साथ ही रहे। [६८८–६९४]

प्रज्ञाविशाला की रहस्य-विचारणा

संसारी जीव की आत्मकथा सुनकर प्रज्ञाविशाला के मन में प्रबल संवेग उत्पन्न हुआ। वह सोचने लगी कि, अहो! स्तेय मित्र तो अकल्पनीय दुःखदायक है। माया भी असीम भयंकर हैं। यह बेचारा इन दोनों में आसक्त रहा जिससे इसे इतना भटकना पड़ा और भयंकर दुःख उठाने पड़े। अहो! पहले तो इसने माया के वशीभूत होकर विमलकुमार जैसे महात्मा पुरुष को ठगा, फलस्वरूप वर्धमान नगर में तृण जैसा तुच्छ बना। फिर कञ्चनपुर में स्तेय के वश होकर वात्सल्यभाव धारक सरल सेठ के यहाँ चोरी कर उन्हें धोखा दिया, जिससे इसने घोर विडम्बनायें प्राप्त कीं। वामदेव के भव में इसका सम्पूर्ण जीवन ही माया और स्तेय से घिरा हुआ दिखाई देता है। महाभाग्यशाली बुधसूरि का सम्पर्क और उनके उपदेशों का भी इस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ, इसका कारण भी माया ही है। किसी व्यक्ति के पूर्ण सत्य बोलने पर भी उसकी बात पर विश्वास न हो और उल्टा सत्य बोलने वाले के प्रति तिरस्कार की भावना ही जागृत हो तो समझना चाहिये कि ऐसी विपरीत मति वाला व्यक्ति अवश्य ही माया के वश में है। दूसरे व्यक्ति द्वारा किये गये अपराध का कलंक भी संसारी जीव पर आया, इसका कारण भी माया और स्तेय ही है। वस्तुतः माया और स्तेय अनन्त दोषों के भण्डार हैं, फिर भी दुरात्मा पापी लोग इन दोनों का सम्पर्क नहीं छोड़ते। [६९५–७०२]

भव्यपुरुष की दृष्टि में कल्पित वार्ता

संसारी जीव की आत्मकथा सुनकर भव्यपुरुष मन में अति विस्मित हुआ।* वह सोचने लगा कि इस तस्कर संसारी जीव की कथा तो बड़ी विचित्र, अतिरंजित, असंभव जैसी और पूर्णरूप से अपूर्ण-सी लगती है। लोगों के प्रतिदिन के व्यवहार से यह असंगत-सी लगती है। यद्यपि इसकी कथा हृदय को आकर्षित करती है तथापि मुझे तो बिलकुल अपरिचित जैसी, गहन भावार्थ वाली और तुरन्त न समझ में आने वाली लगती है। इसके द्वारा वर्णित कथा को सुनकर मन में कई प्रश्न उठते हैं। जैसे—उसका असंव्यवहार नगर में एक कुटुम्बी के रूप में रहना, वहाँ अपनी स्त्री भवितव्यता के साथ अनन्त काल तक रहना, फिर कर्मपरिणाम महाराजा की आज्ञा से वहाँ से बाहर निकलना। फिर एकाक्षपशुसंस्थान और अन्य

* पृष्ठ ५४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेकों तथा भिन्न-भिन्न स्थानों में अनन्त दुःख भोगते हुए भटकना। इसने यह भी बतलाया कि उसी की स्त्री भवितव्यता उसे अनन्त काल तक अनेक स्थानों में भटकाती रही। उसी ने लीला से उससे नन्दीवर्धन में रिपुदारण और वामदेव के नाम से रूप धारण करवाये। प्रत्येक भव के मध्य में अनन्त काल व्यतीत हुआ, जिसके अन्तराल में उसकी भार्या ने उससे अनेक नाटक करवाये, नये-नये रूप धारण करवाये, नाच नचवाये और असहनीय दुःख सहन करवाये। अधिक आश्चर्यजनक और विचित्र बात तो यह है कि ये सारे प्रयोग उसको गोलियाँ खिलाकर किये गये। इन गोलियों की इतनी अधिक शक्ति कैसे रही होगी? फिर उसकी पत्नी ने ही उसे ये गोलियां खिलाईं और इतने नाच नचवाये, यह बात तो लोक-विरुद्ध एवं कल्पित-सी लगती है और मुझे तो कुछ समझ में नहीं आती। [७०३–७१२]

क्या यह तस्कर पुरुष अनन्तकाल तक इसी स्थिति में रहेगा? या आगे जाकर यह भविष्य में कभी अजर-अमर भी बन सकेगा? हन्त! यह कालस्थिति कौन है? यह भवितव्यता नामक स्त्री कौन है? यह अपने पति को ही इस प्रकार भटकाती है, यह तो पूर्णतया प्रतिकूल और नयी बात ही है। यह स्त्री अपने पति को बार-बार महा शक्तिशाली गोलियां तैयार करके देती है। इन गोलियों के प्रभाव से यह प्राणी वही होने पर भी अनन्त प्रकार के रूप धारण करता है। ये गोलियाँ कैसी हैं? और भवितव्यता कैसे उन्हें अपने पति को देती है? [७१३–७१५]

इस कथा में अनेक नगर, अन्तरंग मित्र, स्वजन-सम्बन्धी आदि के नाम आये हैं, वे कौन थे? इसका मैं निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ। मुझे तो लगता है, यह संसारी जीव निद्रा में अनुभूत स्वप्न की कोई कथा सुना रहा है। अथवा किसी सिद्ध पुरुष द्वारा फैलाये हुए इन्द्रजाल जैसी यह कपोल-कल्पित कथा है। मानो किसी प्रतिभाशाली पुरुष ने अपनी कल्पना से लोकरंजन के लिए इस अद्भुत चरित्र की रचना की हो! यह जो प्रज्ञाविशाला सन्मुख बैठी हुई है इसकी मुखाकृति से तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह समस्त वार्ता को हृदयंगम कर चुकी है। इस प्रज्ञा-विशाला ने पहले भी मुझे संसारी जीव का चरित्र बतलाया था, किन्तु अभी मैं उसे भूल चुका हूँ। यदि अभी बीच में ही मैं कुछ पूछूंगा तो मेरा पूछना अप्रासंगिक होगा और अगृहीतसंकेता आदि अन्य लोग जो यहाँ बैठे हैं, मुझे मूर्ख समझेंगे!* अतः अभी तो मैं चुप बैठकर इस तस्कर संसारी जीव की बात सुनता रहूँ, बाद में जब प्रज्ञा-विशाला मुझे एकान्त में मिलेगी तब उससे इसका रहस्य पूछ लूंगा। यह सोचकर भव्यपुरुष संसारी जीव की कथा सुनता हुआ चुपचाप बैठा रहा। [७१६–७२२]

अगृहीतसंकेता इस कथा को सुनकर विस्मित हो रही थी और बार-बार संसारी जीव के मुख की ओर देख रही थी, जिससे प्रतीत हो रहा था कि वह इस कथा के रहस्य को नहीं समझ पा रही है। [वह इस वास्तविकता को मात्र कथा

* पृष्ठ ५४८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही समझ रही थी और अन्य कथाओं के समान ही उसका मूल्य आँक रही थी। श्रोता को वक्ता की बात समझ में आ रही है या नहीं ? यह श्रोता के मुख के भावों से मालूम पड़ जाता है। तदनुसार अगृहीतसंकेता का मुख भी यह बता रहा था कि वह कथा के गूढ़ रहस्य को नहीं समझ रही है।] [७२३]

सदागम का गाम्भीर्य

भगवान् सदागम तो संसारी जीव के समस्त वृत्तान्त को पहले से ही जानते थे, अतः वे उसके आत्मवृत्त को सुनते हुए मौन ही रहे। [सदागम अर्थात् शुद्धज्ञान, उसका विषय तो जानना ही होता है, उससे कोई बात कैसे छिपी रह सकती है ? मात्र उपयोग लगाते ही उसे सब ज्ञात हो जाता है। सदागम का मौन अर्थसूचक था और उनके मुख की गम्भीरता उनके हृदय की गहनता को प्रकट करती थी।] [७२४]

संसारी जीव ने अपनी आत्मकथा को आगे बढ़ाते हुए कहा—हे अगृहीत-संकेता ! एक समय मेरी पत्नी भवितव्यता मुझ पर प्रसन्न हुई और मेरे किसी शुभ कर्म के कारण मुझ पर कृपालु होकर कहने लगी—

आर्यपुत्र ! अब तुम्हें लोकविश्रुत आनन्द नगर जाना है और वहाँ आनन्द-पूर्वक रहना है।

मैंने कहा—देवि ! आपकी इच्छानुसार करना मैं अपना निश्चित कर्त्तव्य मानता हूँ, जैसी आपकी आज्ञा।

भवितव्यता ने उस समय मुझे अपना वास्तविक सच्चा पुण्योदय मित्र वापस सौंपा और एक अन्य सागर नामक मित्र भी मेरी सहायता के लिये मुझे दिया। मेरी बुद्धिमती पत्नी समझ गई होगी कि अब मुझे सागर मित्र की अवश्य ही आवश्यकता पड़ेगी। सागर को मुझे सौंपते हुए उसने कहा—आर्यपुत्र ! यह तेरा मित्र सागर रागकेसरी राजा और मूढता रानी का प्रिय पुत्र है। मैंने ऐसी व्यवस्था की है कि अब यह तुम्हारी सम्यक् प्रकार से सहायता करेगा। [७२५–७२९]

भवितव्यता ने मुझे नयी गुटिका प्रदान की जिसके प्रभाव से मैं अपने अंतरंग मित्र पुण्योदय और सागर के साथ आनन्दनगर के लिये प्रस्थान करने की तैयारी करने लगा। [७३०]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपसंहार

ये घ्राणमायानृतचौर्यरक्ता, भवन्ति पापिष्ठतया मनुष्याः ।
इहैव जन्मन्यतुलानि तेषां, भवन्ति दुःखानि विडम्बनाश्च ।। [७३१]

तथा परत्रापि च तेषु रक्ताः, पतन्ति संसारमहासमुद्रे ।
अनन्तदुःखौघचितेऽतिरौद्रे, तेषां ततश्चोत्तरणं कुतस्त्यम् ? ।। [७३२]

जो प्राणी पापप्रिय होते हैं, वे घ्राणेन्द्रिय, माया/कपट और चोरी में आसक्त होकर इस भव में भी अनेक अतुलनीय दुःख और विडम्बनाएं प्राप्त करते हैं और परभव में भी पापों से परिवेष्टित होने से अनन्त दुःखसमूह से परिपूर्ण महाभयंकर संसार-समुद्र में गहरे डूब जाते हैं । ऐसी अवस्था में वे इस महाभयंकर समुद्र को तैर कर कैसे पार उतर सकते हैं ?

जैनेन्द्रादेशतो वः कथितमिदमहो लेशतः किञ्चिदत्र,
प्रस्तावे भावसारं कृतविमलधियो गाढमध्यस्थचित्ताः ।
एतद्विज्ञाय भो ! भो ! मनुजगतिगता ज्ञाततत्त्वा मनुष्याः,
स्तेयं मायां च हित्वा विरहयत यतो घ्राणलाम्पट्यमुच्चैः । [७३३]

इस प्रस्ताव में जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित उपदेश को जो कुछ थोड़ा बहुत कथारूप में गूंथा है, उसके आन्तरिक भाव को/गूढ रहस्य को समझने के लिये अपनी बुद्धि को निर्मल कर, अपने चित्त को पूर्णरूपेण मध्यस्थ कर कथा के आशय को समझने का प्रयत्न करें । हे मनुष्य गति में विद्यमान मनुष्यों ! यदि आप तत्त्वज्ञ हैं, अर्थात् आपने इस कथा के रहस्य को सम्यक् प्रकार से समझा है तो आप स्तेय/चोरी, माया और घ्राणेन्द्रिय लम्पटता का सर्वथा त्याग करदें । [७३३]

इति उपमिति-भव-प्रपंच कथा में माया,
चोरी और घ्राणेन्द्रिय आसक्ति के
फल को प्रकट करने वाला
पाँचवां प्रस्ताव
समाप्त हुआ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपमिति-भव-प्रपंच कथा

६. षष्ठ प्रस्ताव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पात्र-परिचय

स्थल	मुख्य पात्र	परिचय	सामान्य पात्र	परिचय
आनन्दपुर (बहिरङ्ग)	केसरी	आनंदपुर का राजा		
	जयसुन्दरी	राजा केसरी की रानी	कमल सुन्दरी	हरिकुमार की माता, राजा केसरी की मृतरानी
	हरिशेखर	आनंदपुर का वणिक		
	बंधुमती	हरिशेखर की पत्नी		
	धनशेखर	कथानायक संसारी जीव, हरिशेखर-बंधुमती का पुत्र		
	पुण्योदय सागर (लोभ)	धनशेखर के अंतरंग मित्र		

जयपुर नगर (बहिरङ्ग)	बकुल	जयपुर नगर का सेठ		
	भोगिनी	बकुल सेठ की पत्नी		
	कमलिनी	धनशेखर की पत्नी, बकुल सेठ की पुत्री		

रत्नद्वीप (बहिरङ्ग)	हरिकुमार	आनंदपुर के राजा केसरी की रानी कमल-सुन्दरी का पुत्र	धरण	सार्थवाह
	नीलकंठ	रत्नद्वीप का राजा, हरिकुमार का मामा	बसुमति	रानी कमल सुन्दरी की विश्वस्त सेविका
			बंधुला	तापसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	शिखरिणी	राजा नीलकंठ की रानी	मन्मथ	हरिकुमार के अंतरंग मित्र
	मयूरमंजरी	हरिकुमार की पत्नी, राजा नीलकंठ की पुत्री	ललित	
			पद्मशेखर	
			विलास	
	यौवन	कालपरिणति (अंतरंग) के अनुचर, धनशेखर के मित्र	विभ्रम	
	मैथुन		कपोल	
			सुबुद्धि	नीलकंठ राजा का मन्त्री
			दमनक	मन्त्री सुबुद्धि का सेवक

शुभ्रचित्त नगर (अन्तरङ्ग)	सदाशय	शुभ्रचित्त नगर का राजा	
	वरेण्यता	राजा सदाशय की रानी	
	ब्रह्मरति	सदाशय–वरेण्यता की पुत्री, मैथुन की शत्रु	
	मुक्तता	सदाशय–वरेण्यता की पुत्री, सागर की वैरिणी	

मनुजगति (अन्तरङ्ग)	कर्मपरिणाम	मनुजगति का राजा, जगत्पिता		
	कालपरिणति	कर्मपरिणाम की रानी, जगन्माता		
	सिद्धान्त	परमपुरुष		
	अप्रबुद्ध	सिद्धान्त का शिष्य	वितर्क	अप्रबुद्ध का शिष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निकृष्ट अधम विमध्यम मध्यम उत्तम वरिष्ठ	कर्मपरिणाम के छह पुत्र	महामोह, विषयाभिलाष, चारित्रधर्मराज, सद्बोध, मंत्री आदि	

(अन्तरङ्ग)				
औदासीन्य (राजमार्ग)	दृष्टि	विषयाभिलाष मंत्री की पुत्री		
अध्यवसाय (महाह्रद)	अभ्यास	उत्तमकुमार का अनुचर	मैत्री	योगिनी देवियाँ
धारणा (महानदी)	वैराग्य	चारित्रधर्मराज प्रेषित अनुचर	मुदिता	
धर्मध्यान (दण्डोलक, केडी)			करुणा	
सबीजयोग (दंडोलक से विशालमार्ग)			उपेक्षा	
शुक्लध्यान (दंडोलक, केडी)				
शैलेशी (अंतिम, महामार्ग)			शार्दूल	हरिकुमार का मित्र
निर्वृत्ति (महानगरी)				
समता (योगनलिका)				

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. धनशेखर और सागर की मैत्री

आनन्दनगर : राजा-रानी

*इस मनुष्य लोक के बहिरंग प्रदेश में एक आनन्द नामक विशाल नगर था। इस नगर में सतत आनन्द ही आनन्द रहता, दोष तो इससे कोसों दूर रहते। इस आनन्द नगर में निवास करने वाले मनुष्य अनेक प्रकार के विलास, उल्लास, रूप-लावण्य और लीलाओं से देवताओं के साथ स्पर्धा करते थे, अर्थात् देवसुखों के भोक्ता थे। मात्र उनके पलक झपकते थे, जिससे प्रतीत होता था कि वे मनुष्य हैं देव नहीं, क्योंकि देवताओं के पलक नहीं झपकते। इस नगर की स्त्रियाँ अपलक दृष्टि से पुरुषों को अपनी ओर आकर्षित कर रही थीं, पर आँख से कोई संकेत नहीं करती थीं, अतः ऐसा ज्ञात हो रहा था मानो इन्होंने देवांगनाओं का आकार धारण कर रखा हो। यहाँ के निवासी चित्र-विचित्र वस्त्र एवं रत्नाभूषणों की किरणों से दैदीप्यमान होकर ऐसे सुन्दर लग रहे थे मानो इन्द्रधनुष की प्रत्यंचा पर आकाश का एक भाग ही सुशोभित हो रहा हो। सारांश यह है कि नगर-निवासी सुखी थे, नारियाँ सर्वांगसुन्दरियाँ थीं और उनके रत्नाभूषण यह बता रहे थे कि वे सुखी और समृद्ध हैं। [१–४]

इस आनन्द नगर में लोकविश्रुत केसरी नामक महाराजा राज्य करते थे। शत्रुओं के विशाल हाथियों के कुंभ को विदीर्ण कर, संसार के बड़े भाग को उत्साह एवं उल्लास पूर्वक जीतकर अपने अधीन रखने में वे चतुर थे। इस राजा के अनेक सुन्दरी-वृन्दों के मध्य में अपने गुणों से जयपताका प्राप्त करने वाली अर्थात् सुन्दर नारियों में सर्वश्रेष्ठ, कमल-पत्र जैसे नयन वाली, पतिपरायणा जय-सुन्दरी नामक महारानी थी। [५–६]

धनशेखर का जन्म

इस नगर में एक हरिशेखर नामक व्यापारी रहता था। वह धनवान, नगर का आधारस्तम्भ और राजा केशरी का प्रिय पात्र था। यह हरिशेखर अपने दान-गुण से जनसमूह में याचक-वृन्द रूपी धान्य में श्रावण के बादल जैसा प्रसिद्ध हो रहा था, अर्थात् जैसे बादल वर्षा कर धरती में बोये अनाज को कई गुणा बढ़ा देता है वैसे ही वह अर्थिजनों को दान देकर उन्हें अपना बना लेता था। वह अपने उत्तम गुणों से अपने मित्रों को प्रफुल्लित करता था जैसे सूर्य कमल-वन को विकसित करता है। अर्थात् सेठ जैसा धनवान था वैसा ही उत्तम गुणवान भी था। [७–८]

---

* पृष्ठ ५४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हरिशेखर सेठ की बन्धुमती नामक एक अत्यन्त प्रिय पत्नी थी। वह आर्य कुल में उत्पन्न, लावण्य और अमृत के कुण्ड के समान परम पवित्र और हरिशेखर के हृदय में बसी हुई प्रेममूर्ति जैसी ही थी। बन्धुमती ऐसी लगती थी मानो सौन्दर्य का भी सौन्दर्य हो, लक्ष्मी की साक्षात् मूर्ति हो और उत्तम शीलव्रत एवं सदाचार का तो मानो आवास-स्थान ही हो, ऐसी पवित्र थी। वह पतिभक्ति में तो साक्षात् मन्दिर जैसी लगती थी। [९–१०]

हे अगृहीतसंकेता ! मेरी आन्तरिक पत्नी भवितव्यता ने अब मुझे एक नयी गुटिका दी जिससे मैंने बन्धुमती की कुक्षि में प्रवेश किया। माता की कुक्षि रूप यन्त्र में अनेक प्रकार के कष्ट भोगने के बाद जब मेरा समय परिपूर्ण हुआ तो मैं बाहर आया और मुझे ऐसा लगा मानो मैं कोई नरक का जीव था और अब उस नरक से बाहर आ गया हूँ। मेरे आन्तरिक मित्र पुण्योदय और सागर (लोभ) भी मेरे साथ ही इस संसार में आये। [११–१२]

बन्धुमती पुत्र-जन्म से अत्यन्त प्रसन्न हुई। हरिशेखर भी अति प्रमुदित हुआ और उन्होंने धूमधाम से हर्षोल्लास पूर्वक पुत्र-जन्म महोत्सव मनाया। मेरे जन्म को १२ दिन होने पर मेरे माता-पिता ने विशाल महोत्सव पूर्वक मेरा नामकरण किया और मेरा नाम धनशेखर रखा। मेरे अन्तरंग मित्र पुण्योदय और सागर भी मेरे शरीर में समाये हुए मेरे साथ ही उत्पन्न हुए, किन्तु मेरे माता-पिता को उनके सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं थी; क्योंकि वे मेरे आन्तरिक मित्र थे और मेरे शरीर में ही समाये हुए रहते थे। हे भद्रे ! इस प्रकार पुण्योदय और सागर के साथ सुखपूर्वक वर्धित होता हुआ * मैं क्रमशः कामदेव के मन्दिर के समान युवावस्था को प्राप्त हुआ। तदनन्तर मुझे किसी कलाचार्य के पास भेजा गया, जिनके पास रहकर मैंने धर्मकला के अतिरिक्त सभी कलाओं का अध्ययन किया। [१३–१७]

सागर (लोभ) की महिमा

जैसे-जैसे मैं बड़ा हो रहा था वैसे-वैसे ही मेरे मित्र सागर (लोभ) के भी हौंसले बढ़ रहे थे। अब सागर मेरे मन में अपने शक्ति-पराक्रम से प्रतिक्षण अनेक प्रकार की विचार-तरंगें उत्पन्न कर रहा था। जैसे समुद्र में पवन-प्रेरित प्रतिक्षण लहरें उठती हैं वैसे ही मेरे मन में मेरे मित्र सागर की प्रेरणा से अनेक विचार-तरंगे उठ रही थीं। कैसी-कैसी तरंगे उठ रही थीं ? इसका किञ्चित् दिग्दर्शन प्रस्तुत है। [१८]

इस जगत् में धन ही वास्तविक सार है, धन ही वास्तविक सुख का स्थान है, लोग धन की ही प्रशंसा करते हैं, धन के ही अधिकाधिक गुण गाये जाते हैं, धन ही विश्ववन्द्य है, धन ही सर्वोत्तम तत्त्व है, धन ही परमात्मा है और धन में ही

* पृष्ठ ५५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्त विश्व प्रतिष्ठित/समाहित है। यदि आप गहराई से परीक्षण करके देखेंगे तो मालूम होगा कि वस्तुत: विश्व में धनहीन व्यक्ति तृण के समान, राख के ढेर के समान, शरीर के मैल के समान या धूल के समान है। अथवा यह कह सकते हैं कि धन के बिना वह कुछ भी नहीं है, अकिंचित्कर है। इस संसार में राजा, देव या इन्द्र भी धन के चमत्कार से ही बनते हैं। पुरुषत्व एक समान होने पर भी एक दाता और एक याचक, एक स्वामी और एक सेवक आदि जो अन्तर दिखाई देते हैं वे सब धन के ही चमत्कार हैं, माया के ही नाटक हैं। इस सब का रहस्य यही है कि मनुष्य को कैसे भी प्रयत्नों द्वारा इस भव में धन एकत्रित करना चाहिये, अन्यथा उसका मनुष्य जन्म ही निरर्थक है, ऐसा समझना चाहिये। [१६–२४]

इस बात को ध्यान में रखकर चाहे अपने घर में अपने पूर्वजों द्वारा कितना ही धन अर्जित किया हुआ क्यों न हो, फिर भी मुझे स्वयं अधिक धनार्जन करना ही चाहिये। जब तक मैं अपने स्वयं के हाथों से जगमगाते रत्न और हीरे-माणक के ढेर पैदा कर अपने घर में संग्रह नहीं करूं तब तक मैं सुख से कैसे बैठ सकता हूँ? मेरे मन को शान्ति कैसे हो सकती है? अत: अब मुझे किसी दूर-देशान्तरों में जाकर सब प्रकार का प्रयत्न करना चाहिये। चाहे वह प्रयत्न/कर्म प्रशंसनीय हो या निन्दनीय, किन्तु किसी भी प्रकार स्वयं अपने हाथों से धन पैदा कर मुझे अपना घर रत्नों के ढेर से भरना ही चाहिये। [२५–२७]

हे अगृहीतसंकेता! इस प्रकार मित्र सागर (लोभ) की तरंगों से तरंगित होते हुए व्याकुल होकर एक दिन मैं अपने पिताजी के पास गया [२८] और उनसे निवेदन किया—

धनशेखर का विदेश-गमन

मैं (धनशेखर)—पिताजी! मुझे धनोपार्जन हेतु परदेश जाने की प्रबल इच्छा हो रही है। मेरा विचार है कि मैं परदेश जाकर अपनी शक्ति का स्फुरण करूँ, मेरे पुरुषार्थ को बतलाऊँ। अत: आप मुझे विदेश-गमन की आज्ञा दीजिये। [२९]

हरिशेखर—पुत्र! अपने पास अपने पूर्वजों द्वारा एकत्रित इतना प्रभूत धन है कि तू कितना भी विलास कर, उपभोग कर, दान दे, खर्च कर, फिर भी अपनी कुल-परम्परागत पूंजी कम नहीं होगी। हे वत्स! उसमें से तू अपनी इच्छानुसार खर्च कर या उसकी व्यवस्था कर, पर परदेश जाने की बात मत कर। तेरे बिना मैं एक क्षण भी नहीं रह सकता। [३०–३१]

मैं (धनशेखर) पिताजी! पूर्व-पुरुषों द्वारा अर्जित लक्ष्मी का उपभोग करने में तो मनुष्य को लज्जा आनी चाहिये। मुझे तो इसमें नवीनता लगती है कि ऐसा करते हुए लोगों को शर्म क्यों नहीं आती? जैसे बच्चे बचपन में माता का स्तन-पान करते हैं वैसे ही मूर्ख लोग पूर्वजों द्वारा अर्जित धन का उपभोग करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बालिग होने के पश्चात् पूर्वजों द्वारा अर्जित धन का उपभोग तो बहुत ही शर्मनाक और तिरस्कार योग्य है। पिताजी ! यदि इस कुल-परम्परागत धन का ही उपभोग किया जाता रहे तो* वह कितने दिन चलेगा ? समुद्र में से एक-एक बूंद पानी निकालने पर भी यदि उसमें नया पानी नहीं डाला जाय तो एक न एक दिन वह भी खाली हो जाता है। अर्थात् उपार्जन के बिना तो कुबेर का भण्डार भी खाली हो सकता है, तब फिर अपनी पूंजी की तो गिनती ही क्या है ? अतः हे पिताजी ! मुझे धनोपार्जन करने की जो प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई है, उत्साह जागृत हुआ है उसे आप भंग कर मुझे निरुत्साहित न करें और मेरे वियोग को सहन करने की शक्ति स्वयं में जागृत करें। पिताजी ! मेरे मन में जो बात है, वह मैं आपको स्पष्टतः बता देना चाहता हूँ। बात यह है कि परदेश जाकर अपने भुजबल से जब तक लक्ष्मी पैदा न करूँ तब तक मेरे मन को शान्ति नहीं मिल सकती, मैं सुख की साँस नहीं ले सकता। अतः मुझे तो किसी भी प्रकार से परदेश जाना ही है, मैं यह बात अपने मन में निश्चित कर चुका हूँ। फिर आप मेरे जाने में अड़चन क्यों पैदा कर रहे हैं ? मुझे तो किसी भी प्रकार जाना ही है। [३२–३७]

मेरे पिताजी ने देखा कि पुत्र ने परदेश जाने का दृढ़ निश्चय कर लिया है और वह किसी भी प्रकार रुकेगा नहीं। अधिक खींचने से बात टूट जायेगी, अतः उन्होंने विचार कर कहा; किन्तु कहते हुए स्नेह से उनका हृदय गद्गद हो गया और आँखों में आँसू झलक आये। [३८]

हरिशेखर—पुत्र ! यदि तूने मन में ऐसा ही दृढ़ निश्चय कर लिया है और तू रुक नहीं सकता तो स्वकीय विचारानुसार अपने मनोरथ (अभिलाषा) को पूर्ण कर। [३९] किन्तु, मेरी इतनी सी बात ध्यान में रखना कि तेरा लालन-पालन सुखावस्था में हुआ है, तू प्रकृति से बहुत ही सीधा है। परदेश दूर है और मार्ग बहुत खतरनाक है। लोग कुटिल हृदय एवं वक्र-प्रकृति के होते हैं, स्त्रियाँ पुरुषों को ठगने और रिझाने की कला में कुशल होती हैं, नीच और दुर्जन पुरुष अधिक होते हैं और सज्जन पुरुष तो भाग्य से ही कहीं मिलते हैं। धूर्त लोग अनेक प्रकार के प्रयोग करने में चतुर होते हैं, व्यापारी कपटी होते हैं, क्रयाणक आदि पदार्थों की रक्षा करने में बहुत कठिनाइयाँ आती हैं, नवयौवन अनेक प्रकार के विकारों का घर होता है, स्वीकृत कार्य-पद्धति का प्रतिफल जानना दुःशक्य होता है, पाप अथवा यम अनर्थ करवाने के लिये सर्वदा उद्यत रहता है और बिना अपराध ही क्रोधित होने वाले चोर एवं लुच्चे-लफंगे निष्कारण ही उत्पीड़ित करने वाले होते हैं। अतएव जब जैसा प्रसंग आये वैसा ही कभी पण्डित और कभी मूर्ख बन जाना। कभी उदार और कभी कठोर, कभी दयालु और कभी निर्दय, कभी वीर तो कभी डरपोक, कभी दानवीर तो कभी कंजूस, कभी बकवृत्ति के समान मौन तो कभी चतुर वक्ता बन

* पृष्ठ ५५१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाना और सर्वदा क्षीरसमुद्र के समान अगाध गाम्भीर्य और शान्त बुद्धि वाला बनकर रहना, ताकि कोई भी मनुष्य तेरा रहस्य न जान सके। परदेश में तू ऐसा ही व्यवहार करना, यही तुझे मेरी शिक्षा है।

मैं (धनशेखर) पिताजी! आपकी बड़ी कृपा है जो आपने मुझे इतनी सुन्दर व्यावहारिक शिक्षा दी है। अब आप मेरी बुद्धि और पुरुषार्थ की महत्ता देखियेगा। पिताजी! मैं यहाँ से एक रुपया भी लेकर नहीं जाऊंगा। आपकी पूंजी में से मैं एक फूटी कौड़ी भी साथ नहीं ले जाऊंगा। मैं केवल मेरा पुरुषार्थ ही अपने साथ लेकर जाऊंगा। यदि मैं इस पुरुषार्थ के बल पर ही धन एकत्रित कर, वापस घर लौटकर आऊं तब ही आप निःसंशय समझें कि मैं आपका असली पुत्र हूँ और आपने जो मेरा नाम धनशेखर रखा है वह उचित एवं सार्थक है। यदि मैं धनोपार्जन न कर वापस न लौट सका तो आप समझ लेवें कि आपका पुत्र परदेश में मर गया है, अतः आप जलांजलि प्रदान करदें। कहा भी है: साथियों, धन, व्यापार की वस्तुएं, सहयोगियों आदि के बल पर तो स्त्री भी पैसा पैदा कर सकती है। धन के साधनों से धन प्राप्त करने में क्या विशेषता है? अच्छे संयोगों में तरुण व्यक्ति अर्थ-संचय कर सके इसमें क्या नवीनता है? पिताजी? मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि पूर्वोक्त किसी भी प्रकार की विशेष सामग्री से रहित होकर भी मैं अपने पुरुषार्थ के बल पर आपका घर रत्नों के भण्डार से भर दूंगा। [४०–४३]

इस प्रकार कह कर मैंने अपने पिताजी के चरण छुए। उस समय निकट में खड़ी हुई मेरी माता बन्धुमती पुत्र-स्नेह से आँखों से आँसू टपकाती हुई यह सब बातें सुन रही थी, मैंने उनके भी चरण छुए। मां-बाप रोते रहे और मैं दृढ निश्चयी होकर एकदम पहने हुए कपड़ों से ही घर से बाहर निकल गया। मेरे शरीर में अन्तर्हित* मेरे मित्र सागर और पुण्योदय मेरे साथ ही थे। [४४–४५]

जब मैं बाहर निकला तब कुछ धैर्य धारण कर मेरे पिता ने रोती हुई मेरी माता बन्धुमती से कहा—प्रिये! रुदन मत कर। यह तो हर्ष का प्रसंग है, क्योंकि जो स्त्री, प्रमादी, भाग्य को मानने वाला, साहस-शक्तिरहित, उत्साहरहित, निर्वीर्य पुरुषार्थहीन जैसे पुत्र को जन्म दे वह रोये तब तो बात अलग है, पर तूने तो ऐसे पुत्र को जन्म दिया है जो धीर, साहसी, कुलभूषण और पूर्ण उत्साही है, अतः तेरे रुदन करने या दुःखी होने का तो कोई कारण ही नहीं है। अपना लड़का व्यापार-धन्धे में लग जाय, यह तो बहुत अच्छी बात है। यह तो अपना गुण ही है कि अपना प्रियपुत्र व्यवसाय-परायण हुआ है और व्यापार हेतु ही परदेश जा रहा है, अतः अब तू विषाद का त्याग कर। [४६–४८]

* पृष्ठ ५५२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. धन की खोज में

[हे अगृहीतसंकेता ! इस प्रकार मैं अपने माता-पिता के साथ उपरोक्त बातचीत कर, पहने हुए कपड़ों से ही, बिना एक पाई भी साथ में लिए, आनन्द नगर से निकल पड़ा। मेरे मन में स्व-पराक्रम से पूर्वजों के धन की सहायता के बिना ही धनार्जन करने की इच्छा थी। इसी विचार से मैं आगे चल पड़ा।]

वहाँ से धन की खोज में मैं दक्षिण दिशा की ओर समुद्र के किनारे-किनारे बढ़ा। आगे जाकर समुद्र के तट पर एक जयपुर नामक सुन्दर नगर में मैं पहुँच गया। उस नगर के बाहर एक विशाल उद्यान था, जिसमें जाकर मैं विश्राम करने लगा और सोचने लगा :—

अब मुझे किसी भी प्रकार अगणित धन एकत्रित करना ही चाहिये, तो क्या मैं अति चपल लहरों से तरंगित एवं क्षुभित समुद्र को लांघ कर धन की खान रत्न-द्वीप जाऊं ? अथवा रणक्षेत्र में प्रबल पराक्रमी वैभवसम्पन्न राजाओं को पराजित कर, मार कर उनकी लक्ष्मी छीन लूं ? उनसे धन छीनना कोई बुरी बात तो नहीं है, उस धन पर उनका अधिकार ही क्या है ? अथवा धन प्राप्त करने का एक अन्य उपाय भी है, क्या मैं चण्डिका देवी की आराधना कर, उसे अपनी प्रचण्ड भुजाओं के मांस और रुधिर से तृप्त कर, उसके प्रसन्न होने पर उससे धन की याचना करूं ? अथवा अन्य सब काम छोड़, रात-दिन एक कर रोहणाचल पर्वत को ही पाताल तक खोद दूं, ताकि उसकी जड़ में से मुझे विपुल धन प्राप्त हो जाय। या पर्वत की गुफा में जाकर रसकूपिका में से रस भर लाऊँ, जिससे उस रस के संयोग से धातुवाद के बल पर यथेच्छ स्वर्ण का निर्माण कर सकूं। [४९–५३]

मेरे मित्र सागर (लोभ) के प्रभाव से मैं वहाँ बैठा-बैठा संकल्प-विकल्प में डूबा हुआ धन प्राप्ति के अनेक मनोरथ बांधने लगा। मैं इस प्रकार के अस्त-व्यस्त विचारों में गोते लगा रहा था कि, हे भद्रे ! एकाएक मेरी दृष्टि मेरे सन्मुख स्थित केसू के वृक्ष पर पड़ी। एक अन्य आश्चर्य यह था कि उस वृक्ष का एक पतला अंकुर वृक्ष की शाखा से निकल कर नीचे भूमि की गहराई तक चला गया था। [५४–५५] किंशुक वृक्ष और उसकी शाखा को देखते ही कुछ समय पूर्व ही सीखा हुआ धातुवाद (भूस्तर विद्या) याद आ गया। मैंने मन में विचार किया कि इस वृक्ष के नीचे अवश्य ही धन होना चाहिये, क्योंकि भूस्तर विद्या (मेटालर्जी एवं मिनरेलोजी) में बताया गया है कि :—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खन्यवाद (धातुवाद)

जिस स्थल पर क्षीरवृक्ष (जिसके तने में छेद करने पर दूध जैसा सफेद पदार्थ निकले) उगा हो, उस स्थान पर थोड़ा या अधिक धन अवश्य ही मिलता है। जहाँ बेलपत्र या पलाश का वृक्ष हो वहाँ भी थोड़ा बहुत धन अवश्य होता है। यदि वृक्ष का तना मोटा हो तो धन अधिक होता है और पतला हो तो धन कम होता है। यदि ये वृक्ष रात में चमकते हों तो धन अधिक होगा और यदि रात्रि में सिर्फ गर्म ही होते हों तो धन कम होगा। केसू या बेल के वृक्ष के तने में छेद करने पर यदि लाल रंग का रस निकले तो उस स्थान पर रत्न हैं, यदि पीले रंग का रस निकले तो सोना और सफेद रंग का रस निकले तो चांदी है, ऐसा समझना चाहिये। केसू के वृक्ष का तना ऊपर से जितना मोटा हो और यदि नीचे से भी* उतना ही मोटा हो तो उस स्थान पर प्रचुर निधान सुरक्षित है, ऐसा समझें। यदि उस वृक्ष का तना ऊपर से पतला, पर नीचे से मोटा हो तो उस स्थान पर भण्डार छुपा हुआ होना चाहिये, पर यदि उसका तना ऊपर से मोटा और नीचे से पतला हो तो उस स्थान पर कुछ भी धन छुपा हुआ नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। [५७–६१]

मैंने जो उपरोक्त खनिजवाद (धातुवाद) सीखा था वह मुझे याद आ गया। मेरे सन्मुख जो पलाश (केसू) का वृक्ष था उसका मैंने भलीभांति निरीक्षण किया। इस वृक्ष का तना ऊपर जाकर पतला हो रहा था, अतः मैंने सोचा कि इस स्थान पर विपुल धन होना चाहिए। फिर मैंने उसके तने में अपना नाखून गड़ाया तो उसमें से पीले रंग का रस निकला, जिससे मैंने सोचा कि यहाँ सोना होना चाहिये। उसी समय मेरे मित्र सागर (लोभ) ने मुझे प्रेरित किया जिससे मैं वृक्ष के नीचे का भाग खोदकर उसमें से सोना निकालने के लिए उद्यत हुआ। मैंने 'नमो धरणेन्द्राय, नमो धनदाय, नमो क्षेत्रपालाय' आदि मन्त्रों का उच्चारण करते हुए उस वृक्ष के नीचे का भाग खोदना प्रारम्भ किया। खोदते-खोदते स्वर्ण मोहरों से भरा हुआ एक तांबे का पात्र मुझे दिखाई दिया। यह देखकर मेरा मित्र सागर बहुत प्रसन्न हुआ। मैंने भी उन मोहरों को गिना तो वे पूरी एक हजार निकलीं। वास्तव में तो यह सब मेरे दूसरे मित्र पुण्योदय की शक्ति का प्रभाव था जो कि मेरे शरीर में समाया हुआ था, पर महामोह के वशीभूत और सागर के प्रति पक्षपात होने से मैं यही मानता रहा कि मुझे इस धन की प्राप्ति मेरे मित्र सागर की कृपा से ही हुई है। इतना धन प्रारम्भ से ही प्राप्त होने पर मेरे मन में तनिक संतोष हुआ।

जयपुर में कमलिनी के साथ लग्न

उन एक हजार मोहरों को छुपा कर अपने शरीर पर बांधकर मैंने जयपुर नगर में प्रवेश किया। मैं सीधा बाजार में गया। बाजार में बकुल नामक सेठ अपनी

---

* पृष्ठ ५५३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुकान पर बैठा था। जिस समय उसने मुझे देखा उसी समय मेरे मित्र पुण्योदय ने उसके मन में कुछ आन्तरिक प्रेरणा उत्पन्न की जिससे वह स्वयं चलकर मुझ से मिलने आया, बातचीत की, प्रसन्न हुआ और प्रीति पूर्वक मुझे अपने घर पर चलने और रहने के लिए निमंत्रित किया। न मालूम किस कारण से मेरे प्रथम दर्शन से ही उसके दिल में मेरे प्रति स्नेह उभर आया, मानो मुझे देखकर उसके स्नेह तन्तु विकसित हो गये हों। मैंने उनका निमन्त्रण स्वीकार किया, अतः वे तुरन्त ही मुझे अपने घर ले गये। घर में अपनी प्रिय पत्नी भोगिनी को बुलाकर उन्होंने उससे मेरा पूर्ण आदर-सत्कार करने के लिए आदेश दिया। फिर सेवकों ने मुझे स्नान करवाया और सुकोमल रेशमी वस्त्र पहनने के लिए दिये। वस्त्र पहनकर मैं बाहर आया तो मुझे एक सुन्दर आसन पर बिठा कर, सेठ ने मेरे साथ ही बैठकर मनोहारी स्वादिष्ट भोजन किया। भोजन करके उठने पर मुझे पान-सुपारी दी गई।

भोजन के पश्चात् बातचीत चली। सेठ निश्चिन्त होकर मेरे पास बैठा और प्रेमपूर्वक 'मैं कहाँ का निवासी हूँ? मेरा कुल, जाति और नाम क्या है?' आदि प्रश्न पूछने लगे। मैंने भी उन्हें सत्य-सत्य बतलाया। मेरा पूर्ण परिचय प्राप्त कर सेठ मन में सोचने लगा कि यह तो कुल, शील, वय और रूप में योग्य है, अपनी ही जाति का है और सुन्दर रूपवान है, अतः अपनी पुत्री कमलिनी के यह सर्वथा योग्य है। कमलिनी सेठ की इकलौती पुत्री थी। वह रूप में कामदेव की पत्नी रति से भी सुन्दर और समस्त शुभ लक्षणों और गुणों से युक्त थी। सेठ ने अपनी पुत्री को पास बुलाया। दृष्टि-सम्मिलन से दोनों का परस्पर प्रेम देखकर, सेठ ने शुभ दिन देखकर उसका विवाह मेरे साथ कर दिया। तदनन्तर बकुल सेठ ने मुझ से कहा—वत्स धनशेखर! यह घर तुम्हारा अपना ही है, ऐसा समझो। किसी भी प्रकार की उद्विग्नता से रहित होकर यहाँ रहो और मेरी पुत्री के साथ आनन्द करो।

मैंने उत्तर में कहा—आदरणीय! जब तक मैं अपने भुजबल से रत्नों के ढेर एकत्रित नहीं करूं तब तक मेरे लिए भोगलीला एक प्रकार की बिडम्बना मात्र ही है। मेरे विचार से तो ऐसा आनन्द तिरस्कार और धिक्कार के योग्य ही है। ऐसे भोग भोगने मुझे उचित नहीं लगते। अतः हे पूज्य! भविष्य में आप मुझे ऐसी आज्ञा न दें। मैं घर पर नहीं रह सकता। मुझे आप कोई अच्छा साथ बताइये कि जिसके साथ में रत्नद्वीप जाऊँ और वहाँ से अपने परिश्रम से रत्नों का संचय कर साथ लेकर आऊं। [६२-६३]

बकुल सेठ ने कहा—वत्स! दुर्लंघ्य विशाल समुद्र लांघ कर इतनी दूर जाने की तुझे क्या आवश्यकता है? मेरी पूंजी लेकर उससे यहीं अपनी इच्छानुसार व्यापार करो और धन कमाओ। [६४]

मैंने सेठ के इस उदार प्रस्ताव पर न तो कुछ ध्यान दिया और न उसका आभार ही माना। उत्तर में मैंने इतना ही कहा—पूज्य श्री! यदि आपका ऐसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही* आग्रह है कि मैं अभी विदेश नहीं जाऊं तो ठीक है। मेरे पास जो थोड़ी पूंजी है उसी से मैं यहाँ रहकर अलग व्यापार करूंगा, पर मैं अपना मकान अलग लूंगा और अपनी दुकान भी अलग खोलूंगा। [६५]

बकुल सेठ ने मेरे इस प्रस्ताव को स्वीकार किया, क्योंकि वह चाहता था कि किसी प्रकार उसकी पुत्री उसकी दृष्टि के सामने ही रहे।

धनशेखर द्वारा कर्मादानों (निम्नकोटि) का व्यापार

इसके पश्चात् मैंने व्यापार करना प्रारम्भ किया। मेरा मित्र सागर (लोभ) मेरे भीतर रहकर बार-बार मुझे प्रेरित करता रहता था जिससे प्रतिक्षण धन पैदा करने के नये-नये तर्क-वितर्क और विचार-तरंगे मेरे मन में हिलोरें ले रही थीं। (मेरा मन धन बढाने के भिन्न-भिन्न रास्तों पर बिना लगाम के घोड़े की तरह सरपट भाग रहा था)। इससे मेरी धर्मबुद्धि भ्रष्ट हो रही थी। किसी भी प्रयत्न से धन बढ़ाना बस यही मेरा लक्ष्य हो गया था, जिससे मेरी दयालुता भाग रही थी और सरलता तथा नम्रता का नाश हो रहा था। मेरी बुद्धि ऐसी कुण्ठित हो गई थी, इस कारण मुझे ऐसा लग रहा था कि इस संसार में मात्र धन ही सार है, प्रधान है। व्यवहारी का मन रखने की स्वाभाविक उदारता भी मुझ में घटती जा रही थी और मेरे हृदय से संतोष भी अदृश्य होता जा रहा था। फिर मैंने अनाज लेना शुरू किया। अनाज, तेल और रुई बड़े-बड़े गोदामों में भरने लगा। लाख का, गुड का और जीवों से संकुलित तेल निकलवाने का (घाणी का) धन्धा भी करने लगा। पूरे के पूरे जंगल कटवा कर कोयले बनवाने का धन्धा भी करने लगा। (ये सभी कर्मादान हैं जिनसे महा आरम्भ होता है)। सच्चा झूंठा करने लगा। सरल प्रकृति के लोगों को लेने-देने में लूटने लगा। मुझ पर विश्वास रखने वालों को धोखा देने लगा। लेने-देने के झूठे तोल-माप रखकर अधिक लेने और कम देने लगा। धन-चिन्ता में मैं इतना तन्मय हो गया कि तेज प्यास लगने पर भी मुझे पानी पीने की और भूख से व्याकुल होने पर भी भोजन करने का समय नहीं मिलता। धन की लोलुपता में मुझे रात को नींद भी नहीं आती। [मेरी अत्यन्त सुन्दर, सरल, पतिभक्ता, पद्म जैसी प्रियपत्नी कमलिनी से भी मिलने का, दो बातें करने का, उसके निकट बैठने का और सहवास का समय भी मुझे नहीं मिलता।] पत्नी के सुन्दर दिव्य विकसित कमल जैसे आरक्त और मधुर अधरों पर भ्रमर की भांति रसपान करने का भी मुझे इस धन लोलुपता के कारण कभी समय नहीं मिला। [६६–६७]

हे कमलनेत्री अगृहीतसंकेता! इस प्रकार मैंने अनेक कष्ट सहे, दुख: उठाये और चिन्ता में अपने को गलाया तब कहीं जाकर मेरी पूंजी में ५०० मोहरों की वृद्धि हुई। जैसे ही मेरे पास डेढ हजार मोहरें हुई वैसे ही मेरी इच्छा उन्हें दो हजार करने की हुई। हिंसाजन्य अनेक निम्न व्यापार करने पर जब मेरे पास दो

* पृष्ठ ५५४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हजार मोहरें हो गयी तब मेरी इच्छा दस हजार मोहरें इकट्ठी करने की हो गई। फिर अधिक व्यापार करने और अनेक प्रकार के पापों का सेवन करने पर जब मेरी पूंजी दस हजार मोहरें हो गईं तो तुरन्त ही मेरी इच्छा एक लाख मोहरें करने की हो गई। भद्रे! विविध प्रयत्नों से मैंने इसकी भी पूर्ति करली। मेरा सागर (लोभ) मित्र अन्दर बैठा हुआ मुझे प्रेरित करता ही रहता था और किसी भी प्रकार एक लाख मोहरों के स्थान पर दस लाख एकत्रित करने को उत्साहित करता रहता था। फिर मैंने अनेक व्यापार किये, तकलीफें उठाई, रात-रात भर जागा और महान प्रयत्नों के बाद अन्त में मैं दस लाख मोहरें एकत्रित करने में भी सफल हुआ। [६८–७१]

हे भद्रे! जब मेरी पूंजी दस लाख स्वर्ण मोहरों की हो गई तो मेरे मित्र सागर (लोभ) ने भीतर से बार-बार मुझे एक करोड़ मोहरें इकट्ठी करने के लिए उत्साहित किया। मैंने पहले जो-जो व्यापार किये थे उन सब को अधिक उत्साह से तथा अधिक बड़े पैमाने पर किया, फिर भी दस लाख और करोड़ में बहुत बड़ा अन्तर था इसलिए मेरी इच्छा पूरी न हो सकी। [७२–७३] अतः मैंने कोटिपति की मनोकामना पूर्ण करने के लिए अधिकाधिक विविध योजनायें बनाकर उनको कार्यरूप में परिणत करना प्रारम्भ किया। परदेश में जाकर व्यापार करने वाले अनेक गाड़ीवान बनजारों को नियुक्त किया। ऊंटों के बड़े-बड़े टोलों पर वस्तुएं भर-कर परदेश भेजीं। बड़े-बड़े जहाजों पर माल भरकर देशान्तरों में भेजा। गधों का विशाल झुण्ड एकत्रित कर उन पर माल लाद कर परदेश भेजा। चमड़े के व्यापा-रियों के साथ मिलकर व्यापार किया। राजाओं से मिलकर अमुक-अमुक देशों से व्यापार करने और कर वसूली के आज्ञा पत्र लिखवाये। बड़ी संख्या में बैल पाल कर फिर उन्हें बधिया (नपुसंक) बनाकर कृषकों और गाड़ीवानों को बेचा। पैसा पैदा कर मुझे देने के लिए वेश्यागृह चलाया। जिन कामों में स्पष्टतः अत्यन्त अधमता दिखाई दे वे सभी काम मैं करने लगा। दारू, ताड़ी, शराब आदि बनाने के धन्धे भी मैंने खोल दिये। सुन्दर हाथियों के दांत कटवाकर हाथी दांत का व्यापार करने लगा। [ये सभी कर्मादान हैं]। अनेक प्रकार की खेती करवाने लगा और गन्ने का रस निकलवा कर उससे गुड़ और चीनी बनवाने के धन्धे भी चालू किये।

संक्षेप में कहूं तो इस संसार में जितने भी व्यापार धन्धे हैं उनमें से एक को भी मैंने नहीं छोड़ा।* हे भद्रे! मेरे सागर मित्र की इच्छा तृप्त करने के लिए मैंने ऐसे-ऐसे धन्धे किये कि जिनकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। न मैं पाप से डरा, न मैंने क्लेश की परवाह की, न किसी प्रकार के सुख की इच्छा की और न जरा भी संतोष ही किया। मेरे सागर मित्र को संतोष देने के लिए मैंने उसकी आज्ञा-नुसार मेरे से हो सके वे सभी व्यापार धन्धे किये। महान् पापजन्य कार्यों को करने पर बहुत समय पश्चात् कहीं जाकर अन्त में मेरे पास एक करोड़ स्वर्ण मोहरें हुई।

पृष्ठ ५५५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह सब कुछ मेरे अन्तर्निहित मेरे दूसरे मित्र पुण्योदय के प्रभाव से मुझे मिला था। [७४–७६]

करोड़ स्वर्ण मोहरें हो जाने पर भी मेरे आन्तरिक मित्र सागर को संतोष नहीं हुआ। उत्साहित करने की उसकी प्रवृत्ति बार-बार मुझे अन्दर से प्रेरित करती ही रहती थी। जब-जब अवसर मिलता तब-तब वह मुझ पर अपनी आज्ञा चलाता और मुझे विवश कर आगे बढ़ाता। वह मुझे समझाता—'देख, तूने मेरे परामर्श और संकेतानुसार काम किया तो मेरे प्रताप से तुझे एक करोड़ मोहरें प्राप्त हो गई। अब तू यदि पूर्ण उत्साह रखेगा तो करोड़ों रत्न पैदा करना भी तेरे लिए कुछ दुर्लभ या अशक्य नहीं होगा। पर, रत्न यहाँ नहीं मिलेंगे, उसके लिए तो तुझे इस समुद्र को लांघकर रत्नद्वीप जाना पड़ेगा, यदि तू उत्साह रखेगा तो मेरे प्रताप से तुझे वे भी मिलेंगे।' इस प्रकार सागर मित्र ने मुझे समुद्र लांघ कर रत्नद्वीप जाने के लिए प्रेरित किया और बार-बार की प्रेरणा से इस बात की मेरे मन पर ऐसी अमिट छाप डाल दी कि यदि कोई देव आकर भी मुझे इस कार्य से निवृत्त होने के लिए कहे तो भी मैं अपने निर्णय से पीछे न हटूं। [७७–७६]

जब मैंने अपने मन में रत्नद्वीप जाने का दृढ़ निश्चय कर लिया तब यह बात मैंने अपने श्वसुर बकुल सेठ को बतलाई।

सेठ महा विलक्षण व्यापारी थे, उन्होंने दीर्घ-दृष्टि से मुझे उत्तर दिया—प्रिय वत्स! जैसे-जैसे मनुष्य को अधिकाधिक धन की प्राप्ति होती रहती है वैसे-वैसे और अधिक प्राप्त करने के उसके मनोरथ बढ़ते रहते हैं। एक करोड़ रत्न प्राप्त हो जाय तो उससे अधिक प्राप्त करने की बलवती इच्छा होगी। धधकती हुई आग में इन्धन डालने से क्या वह आग तृप्त हो जाती है? वत्स! तूने बहुत धन कमाया है, तुझे अब संतोष धारण करना चाहिये। जो धन कमाया है उसकी ठीक से व्यवस्था कर उसे बनाये रखना ही अधिक उचित है। अतः अब सब प्रकार की व्याकुलता को छोड़कर कुछ दिन आराम से बैठो और चित्त को स्थिर करो। [८०-८२]

मेरे श्वसुर के वचन सुनकर मैंने कहा—आदरणीय! आप इस प्रकार न बोलें, कहा भी है कि—

जब तक यह प्राणी पुरुषार्थ नहीं करता, अपनी शक्ति को प्रस्फुटित नहीं करता, कार्य का आरम्भ नहीं करता तब तक लक्ष्मी उसकी तरफ पीठ फेर कर रहती है, वह कभी उसका वरण नहीं करती। पर, कार्य का आरम्भ कर देने पर लक्ष्मी उसकी तरफ प्रेमदृष्टि से देखती है। जैसे अपने प्रेमातुर प्रणयी को प्राप्त करने के लिए कुलटा स्त्री अपने धनहीन पुरुष को छोड़ देती है वैसे ही साहस और उत्साह रहित प्राणी को लक्ष्मी एक बार वरण करके भी छोड़ देती है। जो अपना सब कामकाज बन्द करके अपने चित्त को अन्यत्र लगाता है, जो अपने धनोपार्जन के कार्य को बन्द कर देता है, उसकी तरफ लक्ष्मी कुलवती स्त्री की भांति लज्जा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वक देखती तो है, पर उससे कोई प्रेम व्यवहार नहीं रखती। कितनी भी विषम परिस्थितियों में भी जो प्राणी धनोपार्जन के उत्साह को नहीं छोड़ता, उसके वक्ष-स्थल पर लक्ष्मी बिना किसी प्रेरणा के ही आ चिपकती है, वह उसका स्वयं ही वरण करती है। जो धैर्यवान प्राणी अपनी बुद्धि का उपयोग कर पराक्रम या युक्ति से लक्ष्मी को बांधकर रखता है, उसकी लक्ष्मी प्रोषितभर्तृका की तरह प्रतीक्षा करती है। जो प्राणी थोड़ी सी लक्ष्मी प्राप्त होने पर सन्तोष धारण कर लेता है, उसकी तरफ यह लक्ष्मीदेवी बहुत ही उपेक्षा की दृष्टि से देखती है। ऐसे प्राणी को वह तुच्छ प्रकृति का मानती है और उसके यहां वह किञ्चित् भी नहीं बढ़ती। जो प्राणी अपने धनोपार्जन के गुणों से लक्ष्मी देवी को प्रसन्न नहीं कर सकता, उसके साथ इस देवी का प्रेम-सम्बन्ध होने पर भी वह लम्बे समय तक नहीं चल सकता। इसीलिये समझदार लोग धनोपार्जन के विषय में कभी संतोष नहीं करते। अतः हे माननीय! आप मुझे रत्नद्वीप जाने की आज्ञा प्रदान करें। [८३-९०]

बकुल सेठ ने मेरे इस लम्बे भाषण का संक्षेप में ही उत्तर दिया प्राणी पाताल में जाय या मेरु पर्वत के शिखर पर चढ़े, रत्नद्वीप जाये या घर में रहे, चाहे जितना पुरुषार्थ करे या बिना उद्यम बैठा रहे, पर उसने पूर्व में जैसे बीज बोये होंगे उसके अनुसार ही उसे फल की प्राप्ति होगी।* तथापि तुम्हारा परदेश जाने का इतना अधिक आग्रह है तो जाओ, मेरी आज्ञा है, जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहाँ जाओ। [९१-९२]

श्वशुरजी का उत्तर सुनते ही मैंने उनके प्रति अपना आभार प्रकट किया।

धनशेखर का रत्नद्वीप-गमन

अब मैंने रत्नद्वीप जाने की तैयारी प्रारम्भ की। अनेक प्रकार का किराणा मैंने एकत्रित किया। जहाज तैयार करवाये, उसमें खलासी, मिस्त्री, चालक आदि का प्रबन्ध किया। जाने के दिन का मुहूर्त निकलवाया, लग्न शुद्धि का विचार किया, निमित्त (शकुन) की खोज करने लगा। श्रुतियां की गईं, अर्थात् ज्योतिषियों से पता लगवाया गया कि अमुक दिन अमुक दिशा में जाना ठीक होगा या नहीं? इष्ट देवता का स्मरण किया गया, समुद्र देव की पूजा की गई, विशाल श्वेत ध्वज फहराये गये, जहाजों में बड़े-बड़े कूपक (मध्य स्तम्भ) खड़े किये गये, प्रवास हेतु आवश्यक ईंधन लिया गया, जल की टंकियां भरवाई गईं। अन्य जो कुछ भी सामान यात्रा में आवश्यक हो उसे और युद्ध के लिए आवश्यक सर्व प्रकार की सामग्री जहाजों में चढ़ाई गई। समुद्र-मार्ग से व्यापार करने वाले और विशेषकर रत्नद्वीप जाकर व्यापार करने वाले व्यापारियों को साथ में लिया।

इस प्रकार सब तैयारियाँ पूर्ण होने पर मैं अन्य धनवान व्यापारियों के साथ रत्नद्वीप जाने के लिये तैयार हुआ और मेरी पत्नी को मैंने उसके पिता के घर

* पृष्ठ ५५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिजवा दिया। जब मुहूर्त का शुभ दिन और समय आया तब समस्त प्रकार के मांगलिक कृत्य कर मैं ठीक समय पर जहाज पर चढ़ा। मेरे आंतरिक मित्र सागर और पुण्योदय भी मेरे साथ ही थे। [९३–९४]

जब हमारे जहाजों का लंगर उठाने का समय हुआ तो शहनाइयां बजने लगीं, शंख बजने लगे, मंगल गीत गाये जाने लगे, चपल बटुक ब्रह्मचारी स्वस्ति पाठ करने लगे और वृद्ध लोग आशीर्वाद देते हुए वापस नगर की ओर जाने लगे। छोड़ी हुई पत्नी दीन अबला जैसी लगने लगी। मित्रों में कुछ प्रसन्न हुए और कुछ खिन्न हुए और सज्जन लोग मन ही मन अनेक प्रकार के मनोरथ करने लगे।

इस प्रकार याचकों के मनोरथ पूर्ण करते हुए, अवसर योग्य उत्सव करते हुए, पवन के अनुकूल होने पर हम सब यात्रीगण जहाजों में जाकर बैठ गये। [९५] पश्चात् जहाजों के लंगर उठाये गये और उन पर पाल चढ़ाये गये। जहाज एक के बाद एक श्रेणीबद्ध चलने लगे। चालक बराबर ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने लगे। इस प्रकार हमारे जहाज मार्ग पर चल पड़े। मन के अनुकूल पवन भी चल रहा था। तीव्र पवन के वेग से समुद्र में उठती उत्ताल तरंगों से उद्वेलित बड़े-बड़े मत्स्यों के पूंछ के आघात से उत्पन्न भीषण ध्वनि से जलजंतु भयभीत होकर दूर भाग रहे थे। उत्ताल तरंगों के जहाजों से टकराने पर दूर-दूर तक सफेद फैन के पहाड़ दृष्टिगोचर हो रहे थे और कछुए आदि अनेक प्राणी नष्ट हो रहे थे। ऐसे मार्ग पर हमारे विशाल जहाजों का बेड़ा चलने लगा। अति विस्तृत महासमुद्र में हमारे जहाज आगे बढ़े। बीच-बीच में अनेक छोटी-बड़ी घटनाएँ होती रहीं और अन्त में हम सभी थोड़े समय बाद सकुशल रत्नों से परिपूर्ण रत्नद्वीप पर आ पहुँचे। हम सभी अत्यन्त प्रसन्न हुए। यात्रा सकुशल समाप्त हुई इसलिये हमने अपने आपको भाग्यशाली माना।

व्यापारी जहाजों से उतरे। जो-जो वस्तुएं दिखाने योग्य थीं उन्हें साथ लिया। वहाँ के राजा से मिलकर उन्हें नजराना (भेंट) अर्पित किया। राजा ने भी हमारे प्रति प्रेम प्रदर्शित किया। कर चुकाया गया और बिक्री की वस्तुओं की गिनती की गई। व्यापारी एक दूसरे को हाथ देने लगे (रुमाल ढक कर अंगुलियों के इशारे से भाव तय करने का एक तरीका)। सभी ने अपनी-अपनी इच्छानुसार वस्तुएं (माल) बेचीं, उसके बदले में अपने देश ले जाने योग्य वस्तुएं खरीद कर भरी, लोगों को इनाम दिये। तदनन्तर मेरे साथ आये हुए दूसरे व्यापारी तो वापस अपने देश जाने के लिये तैयार हुए और चले भी गये। परन्तु मुझे तो मेरे मित्र सागर ने प्रेरित करते हुए कहा – 'मित्र! जिस देश में नीम के पत्तों के बदले रत्न मिलते हों ऐसे देश को छोड़कर शीघ्रता से वापस क्यों लौट रहा है?' [९६] मेरे मित्र के परामर्श से मैंने वहीं दुकान खोल दी और रत्न खरीदने का व्यापार प्रारम्भ कर दिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. हरिकुमार की विनोद गोष्ठी

[मेरे साथ आये हुए सभी व्यापारी विदा हो गये, अपना बिक्री-खरीद का व्यापार पूरा कर अपने देश वापस लौट गये। पर, सागर मित्र की प्रेरणा से मैं रत्नों के ढेर एकत्रित करने के लिये रत्न द्वीप में ही रह गया और वहीं अपना व्यापार प्रारम्भ कर दिया। मेरा सम्पूर्ण समय सागर की प्रेरणा से धनोपार्जन के उपायों को सोचने में और उन्हें क्रियान्वित करने की योजना बनाने में व्यतीत हो जाता था। हे अगृहीतसंकेता ! उसके पश्चात् एक और घटना घटित हुई जिसे सुन।]*

हरिकुमार का पूर्व-वृत्तान्त

एक दिन एक बुढ़िया मेरे पास आई और कहने लगी 'पुत्र ! मुझे तुम्हारे साथ कुछ बात करनी है।' मैंने जब उसे अपनी बात सुनाने को कहा, तब वह बोली—'वत्स ! तुझे यह तो पता ही है कि आनन्दपुर में केसरी नामक राजा राज्य करता है। उस राजा के दो रानियां हैं—एक जयसुन्दरी और दूसरी कमलसुन्दरी। कमलसुन्दरी के साथ क्या घटना घटित हुई, यह बताती हूँ।

इस केसरी राजा की राज्य पर अत्यधिक आसक्ति थी और उसे सदा यह भय बना रहता था कि यदि उसके पुत्र होगा तो वह उसे मार कर स्वयं राजा बन जायेगा, अतः जैसे ही कोई पुत्र जन्म लेता वह उसे मार देता। इस प्रकार उसने तुरन्त के जन्मे कुछ बच्चों को तो स्वर्गधाम पहुँचा ही दिया। कमलसुन्दरी को इस बात का पता लग गया। एक बार वह फिर गर्भवती हुई। गर्भ में रहे हुए बालक पर माता का स्वाभाविक स्नेह रहता ही है, इसीलिये एक दिन कमलसुन्दरी पुत्र-मोह से मुझे (वसुमती) साथ लेकर अन्धकारमयी रात्रि में राजमहल से भाग निकली। आगे जाकर एक विशाल और भयंकर जंगल आया। कमलसुन्दरी बहुत सुकोमल थी और उसे कभी पैदल चलने का काम नहीं पड़ा था, इसलिये उसे बहुत दुःख उठाना पड़ा। जब पौ फटने का समय हुआ तब रानी के नितम्ब विकसित होने लगे और नाभि (सुण्डी) में दर्द उठने लगा। पेट में दारुण शूल उठने से उसके चरण आगे बढ़ने से रुक गये। उसका पूरा शरीर टूटने लगा और हृदय जोर से धड़कने लगा। आँखें मिच गईं और उबासी पर उबासी आने लगी। तब रानी ने कहा—सखि वसुमति ! अब तो मैं एक कदम भी नहीं चल सकती। मेरे शरीर में बहुत अधिक पीड़ा हो रही है और मेरा समस्त शरीर अत्यधिक व्यथित हो गया है। उस समय मैंने विचार किया कि इसको एकाएक क्या हो गया है ? तभी मुझे

---

* पृष्ठ ५५७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान आया कि रानी के प्रसव का समय निकट आ गया लगता है। फिर मैंने रानी को धैर्य बंधाया और प्रसूति के लिये आवश्यक स्थान की व्यवस्था करने लगी। तभी मेरी स्वामिनी वेदना से व्याकुल होकर पछाड़ खाकर जमीन पर गिर पड़ी और तीव्र करुण स्वर से हाय-हाय करने लगी। तत्काल ही उसने पुत्र को जन्म दिया किन्तु उसी क्षण उस सुकोमल कमलसुन्दरी के प्राण पखेरु भी उड़ गये।

ऐसी अप्रत्याशित भयंकर घटना को देखकर मुझ मन्दभागिनी पर तो वज्र ही गिर गया। मैं अत्यन्त भयभीत हो गई, मानो मेरा सर्वनाश हो गया हो! मुझे मूर्छा आने लगी, मानो मैं स्वयं भी मर रही होऊँ! मानो मुझे किसी ग्रह ने ग्रस लिया हो! इस प्रकार मैं मन्दभाग्य वाली एकदम शून्य हृदय हो गई और मुझे यह भी नहीं सूझ पड़ा कि अब मुझे क्या करना चाहिये? मैं केवल जोर-जोर से विलाप करने लगी।

हे देवि! तू बोल, मुझ से बात कर। प्रिय सखि! तू मुझ से बात क्यों नहीं करती? देख, सुलोचने! मेरी स्वामिनि! तूने कितने सुन्दर पुत्र को जन्म दिया है! हे राजीवनयनि देवि! जरा अपनी आँख खोल कर अपने सुन्दर पुत्र को तो देख ले! जिस पुत्र के लिये तूने विशाल राज्य का त्याग किया, प्रिय पति का त्याग किया और महान् दुःख उठाये, उस पुत्र की तरफ एक बार तो दृष्टिपात कर ले! अहा! भाग्य भी हृदय को चीर डालने वाली कैसी-कैसी विचित्र घटनाएं घटित करता है। जिस भाग्य ने ऐसा सुन्दर पुत्र दिया उसी भाग्य ने इस देवी को जमीन पर पछाड़ कर उसके प्राण पखेरु उड़ा दिये। अरे बालक! तेरी रक्षा करने में तत्पर और ममत्व से लबालब भरी हुई माता का जन्मते ही तूने प्राणहरण कर लिया, यह तो ठीक नहीं किया। अरे पुत्र! इस बेचारी ने पुत्र-सुख को प्राप्त करने के लिये पति का त्याग किया और राजमहल से बाहर निकली, पर पुत्र! तूने तो इस बेचारी को उस सुख से भी वंचित कर दिया। [९७-१०१]

इस प्रकार विलाप करते-करते रात्रि व्यतीत हुई और सूर्योदय हुआ। भाग्य से उस समय उसी मार्ग से कोई सार्थ (बनजारों का समूह) निकल रहा था। इस सार्थ के सार्थवाह ने जब मुझे रोते और विलाप करते देखा तब मुझे धैर्य बंधाया। * उसने विस्मित होकर मुझ से सब घटना पूछी और मैंने संक्षेप में उसे सब बात बतादी। मैंने सार्थवाह से पूछा कि आपका सार्थ किस तरफ जा रहा है? तब उसने बताया कि उनका सार्थ यहाँ से समुद्र के किनारे तक जाएगा और वहाँ से जहाजों द्वारा रत्नदीप जाएगा। उसका उत्तर सुनकर मैंने विचार किया कि मेरी जानकारी के अनुसार रत्नद्वीप में नीलकण्ठ राजा राज्य करता है जो कमलसुन्दरी का सगा भाई है, अतः यह बालक नीलकण्ठ राजा का भाणेज होता है। इसलिये इस बालक को वहीं ले जाकर इसके मामा को सौंप देना चाहिये जिससे कि वहाँ इसका उचित पालन-पोषण और रक्षण हो सके। अच्छा ही हुआ कि यह सार्थ मार्ग

पृष्ठ ५५८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर मिल गया। फिर धरण सार्थवाह से आज्ञा लेकर मैं उसके साथ यहाँ रत्नद्वीप पहुँच गई। इस बालक पर मेरा अत्यधिक स्नेह होने से मेरे स्तनों में दूध भर आया और उसे पी कर ही यह नवजात बालक यात्रा में जीवित रह सका। रत्नद्वीप पहुँच कर मैंने बालक को महाराजा नीलकण्ठ को दिखाया और कमलसुन्दरी सम्बन्धी सब घटना उन्हें कह सुनाई। नीलकण्ठ राजा को बहिन की मृत्यु पर शोक हुआ, पर साथ ही भाणजे के सकुशल पहुँचने की प्रसन्नता भी हुई। उन्होंने बालक का नाम हरि रखा। वह भाणेज अनुक्रम से बड़ा होने लगा और वह राजा नीलकण्ठ को अपने प्राण से भी अधिक प्यारा लगने लगा। [१०२] फिर उसे कलाविज्ञान की शिक्षा दिलवाई गई। अभी वह कुमार युवा हो गया है और देवकुमार जैसे रूप और आकृति को धारण कर अपने मामा के राज्य में आनन्द कर रहा है। मैंने उसे सब वास्तविकता बतलादी है। अभी-अभी उसे समाचार प्राप्त हुए हैं कि आप भी आनन्दपुर के रहने वाले हैं और वहीं से यहाँ आये हैं। आप कुमार के देश के हैं, इसलिये कुमार आपको अपने देश का जानकर आपसे मिलना चाहते हैं। अतः पुत्र! आप उनके पास चलने की कृपा करें।

हरिकुमार से परिचय

हरिकुमार की माता की दासी और कुमार की धात्री (धायमाता) उस वसुमती वृद्धा के वचन सुनकर मैंने उसके साथ जाना स्वीकार किया और तत्काल ही मैं उसके साथ हरिकुमार के पास गया। वहाँ जाकर मैंने देखा कि हरिकुमार अपने मित्रों के मध्य बैठा है। मैंने जाकर हरिकुमार को नमस्कार किया। धात्री वसुमती (वृद्धा) ने कुमार से मेरा परिचय करवाया। मुझ से मिलकर कुमार बहुत प्रसन्न हुआ। प्रेम से अपने नेत्र अर्धनिमीलित करते हुए उत्साहपूर्वक मुझे हृदय से लगाकर उसने मुझे अपने आधे आसन पर बिठाया। फिर कुमार बोला—भद्र! मुझे पहिले ही माजी (वसुमती धाय) ने बताया था कि हरिशेखर मेरे पिताजी के प्रिय मित्र हैं और लोगों के कथनानुसार मुझे मालूम हुआ है कि आप हरिशेखर के पुत्र हैं, अतः भाई! आप तो मेरे सच्चे भाई ही हैं। आप तो मेरे शरीर और प्राण ही हैं। आप यहाँ आये यह बहुत ही अच्छा हुआ। [१०३-१०५]

राजकुमार हरि से इतना अधिक आदर पाकर मैं पुलकित हो गया। फिर मैंने कहा देव! माजी ने मुझे सब घटना बतला दी है। इस सेवक का आप इतना अधिक आदर सत्कार करें, यह किसी प्रकार उचित नहीं है। जैसे मेरे पिताजी आपके पिता श्री केसरी महाराज के अनुजीवी (सेवक) हैं, वैसे ही मैं भी आपका सेवक आपकी सेवा में उपस्थित हूँ, इस विषय में आप तनिक भी संदेह न करें। मेरे उत्तर को सुनकर कुमार अत्यधिक प्रसन्न हुआ और अपने मित्रों से मेरा परिचय करवा कर मित्रों के साथ आनन्दोत्सव मनाने लगा। मित्र के मिलाप को अति उज्ज्वल प्रसंग मानकर कुमार मेरे साथ मित्र जैसा व्यवहार करने लगा और सम्बन्ध भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मित्रता का ही रखा। कुमार के साथ आनन्द करते-करते मेरे कई दिन व्यतीत हो गये। [१०६–१०९]

कुछ समय पश्चात् कामदेव को उद्दीप्त करने वाली, प्राणियों के आनन्द में वृद्धि करने वाली और उद्यानों के लिए आभूषण जैसी बसन्त ऋतु * आई। उस समय हरिकुमार मुझे साथ लेकर अपनी मित्र-मण्डली सहित उद्यान की शोभा देखने के लिए घूमने निकला। घूमते हुए कोकिलाओं की कुहु-कुहु से कूजित रमणीय आनन्ददायी आम्रवन में पहुँच कर हम सब बैठे। [११०–११२]

चित्रपट का प्रभाव

उस समय दूर से हमें आशीर्वाद देती हुई एक तपस्वनी वहाँ आ पहुँची। वह वृद्धावस्था के कारण जीर्ण-शीर्ण शरीर वाली और रौद्राकृति की धारक थी। उसे देखते ही कुमार ने उसका स्वागत किया, उसे प्रणाम किया और वार्तालाप द्वारा उसे प्रसन्न किया। प्रसन्नचित्त होकर उस तपस्विनी ने एक कन्या का चित्र कुमार को दिखलाया। चित्र कुमार के हाथ में देकर, वह तपस्विनी सहज विकार और उत्कंठा को छिपाते हुए कुमार के मुख की ओर एकटक देखने लगी, यह जानने के लिए कि चित्र देखकर कुमार के मुख पर क्या भाव प्रकट होते हैं? चित्र देखकर कुमार के मन पर जोरदार चोट लगी है, उसकी आंखों में विकार भाव उभरें हैं और उसका मन चित्र के प्रति विशेष आकर्षित हुआ है, यह देखकर वह 'मैं जा रही हूँ' कहते हुए शीघ्र ही वहाँ से चली गयी। [११३–११६]

चित्र में चित्रित कन्या की छवि देखते ही कुमार विकार से ऐसा दिङ्मूढ-सा हो गया मानो उसे कामदेव ने अपने बाण से विद्ध कर दिया हो। उसकी इस अवस्था को मित्रों ने भांप लिया। क्योंकि, वह कभी तो हूँ शब्द करता, कभी सिर धुनता, कभी नींद में से उठ रहा हो ऐसी प्रवृत्ति करता, कभी चुटकी बजाता, कभी समझ में न आने वाली बातें बोलता कभी गहरा गर्म निःश्वास छोड़ता, कभी हाथ हिलाता, कभी चित्रलिखित कन्या को बार-बार देखता, कभी हंसने जैसा मुंह बनाकर आंखें बड़ी-बड़ी करता और कभी पलकें बिना झुकाये ही मन्द-मन्द मुस्कान पूर्वक स्नेह पूर्ण दृष्टि से इधर उधर देखता। [११७–१२०]

हरिकुमार की ऐसी अवस्था होने पर उसके पास बैठी हुई मित्र-मण्डली उससे कहने लगी—

मन्मथ –(मुंह पर मुस्कान ला कर) अरे भाई! हृदयस्थित अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न रसों का अनुभव करते हुए भी, बाहर से इन्द्रियों को या हाथ-पाँव को बिना चलाये ही यह अन्तर्नाद (अन्तरंग नृत्य) क्या चल रहा है?

ऐसा एकदम सीधा प्रश्न सुनकर हरिकुमार ने अपने आपको संभाला और फिर मन्मथ से बोला—अहा! इस चित्रकार की प्रवीणता को देख कर मैं बहुत

* पृष्ठ ५५९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रसन्न हुआ हूँ। मित्र ! तू देख तो सही, चित्र की प्रत्येक रेखा स्पष्ट और भूल रहित है। इसमें जो आभूषण पहनाये गये हैं वे सुन्दरी के शरीर से बिलकुल मेल खा रहे हैं। इसमें रंग और छाया का संयोजन उचित अनुक्रम से हुआ है। चित्रित कन्या के मुख पर भाव इतने स्पष्ट झलक रहे हैं मानों वह मुंह से बोल रही हो ! चित्र में भावों की स्पष्टता प्रकट करना बहुत ही कठिन काम है। चतुर परीक्षकों की दृष्टि में चित्रकला-परीक्षण का मुख्य मुद्दा ही भावों की स्पष्टता है। इस चित्र में चित्रित कन्या के अंगोपांगों और मुखाकृति की रेखाओं से उसके भाव प्रकर्षता के साथ बहुत ही स्पष्ट झलक रहे हैं। मेरे इस प्रकार कहने का कारण यह है कि चित्रलिखित कन्या ऐसी लग रही है मानो वह बचपन को पार कर तरुणाई के द्वार पर खड़ी हो और कामदेव उस पर अपना प्रभाव व्यक्त कर रहा हो। चित्र में ये भाव इतने सुन्दर और स्पष्ट ढंग से प्रकट किये गये हैं कि एक छोटा-सा बच्चा भी चित्र को देखकर इन भावों को समझ सकता है, तब फिर विद्वानों को ऐसा लगे तो इसमें नवीनता ही क्या है ? देखो :—

चित्रित कन्या के स्तनों का अग्रभाग उद्भिन्न होता हुआ दिखाया गया है जो यह प्रकट कर रहा है मानो वह अपने लावण्य रस को बाहर निकाल रही हो। अंगोपांग की रचना से वह अपने प्रस्फुटित प्रोद्दाम यौवन को स्पष्टतः बता रही है। ऊंची चढ़ी हुई भौंहे और लीला में अर्ध-निमीलित नेत्र मानो यह प्रकट कर रहे हैं कि यह कन्या वाणी द्वारा मन्द-मन्द निमन्त्रण दे रही हो। कपोलों पर असाधारण रूप से स्फुरित और हंसता हुआ रमणीय मुखकमल तथा अति चपल और तिरछे नयन यह बता रहे हैं कि मानो यह कन्या मदन को अपने साथ ही लेकर घूम रही हो। [१२१-१२३]* ऐसी सुन्दर कन्या का चित्र स्पष्ट भावों और योग्य आकर्षण के साथ चित्रित कर चित्रकार ने मेरा मन मुग्ध कर लिया है। मुझे तो ऐसा लग रहा है कि इतनी स्पष्टता से सब भावों को प्रकट करने की ऐसी कुशलता संसार में अन्य किसी भी चित्रकार में शायद ही हो ! क्योंकि, ऐसी कुशलता मैंने पहले कभी कहीं नहीं देखी है।

मन्मथ—(पद्मकेसर की ओर उन्मुख होकर)—क्यों भाई पद्मकेसर ! कुमार जो कह रहे हैं क्या यह बात सच्ची है ?

पद्मकेसर—मित्र ! यह बात तो सच ही है। पर प्राणियों की चित्तवृत्ति भी विचित्र प्रकार की होती है। मुझे तो ऐसा लग रहा है कि चित्रकार से भी चित्र-लिखित कन्या अधिक सुन्दर और अधिक योग्य है।

ललित—मित्र ! क्या इस चित्रित कन्या ने कोई विशेष कार्य किया है ? क्या तुमने इस चित्र में कोई आश्चर्यजनक बात देखी है ? या कभी तुमने ऐसा कोई चित्र देखा है ?

---

* पृष्ठ ५६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पद्मकेसर—हाँ, अच्छी तरह देखा है।

विलास—मित्र पद्मकेसर! इस चित्रित कन्या ने क्या विशेष कार्य किया है? उसका वर्णन तो तू हमारे समक्ष कर।

पद्मकेसर—देख भाई! इस कुमार का मन कामदेव से आतुर अन्य किसी भी स्त्री से आज तक दुर्गम ही रहा, जीता नहीं गया। जिस मन का उल्लंघन आकाश में चलने वाली विद्याधरी भी नहीं कर सकीं, जिस मन को किन्नरियां भी हरण नहीं कर सकीं, जिस मन को देवांगनाएं भी साध्य नहीं कर सकीं, जिसे गंधर्व जाति की स्त्रियां भी नहीं जीत सकीं, जिस मन में सर्वदा सत्वगुण ही प्रधान रूप से प्रवर्तित होता हो, जो मन राजसी और तामसी विचारों का निरन्तर तिरस्कार करता हो, ऐसे महावीर्यवान कुमार के मन को इस चित्रलिखित कन्या ने चित्र में रह कर ही जीत लिया है, यह वास्तव में आश्चर्यजनक बात ही है। यह वास्तविकता केवल मैंने ही देखी हो ऐसी बात नहीं, आप सबने भी अभी-अभी स्पष्ट रूप से यह बात देखी है।

विभ्रम—भाई! यह तो सचमुच आश्चर्य हुआ, ऐसा कह सकते हैं। पर, इसमें चित्र ने क्या किया?

पद्मकेसर—अरे मूर्ख शिरोमणि! चित्र शब्द के दो अर्थ होते हैं, चित्र याने छवि, चित्र याने आश्चर्य। यह चित्र वास्तविक चित्र ही है। अर्थात् यह छवि आश्चर्यजनक है।

कपोल—आपने कैसे जाना कि चित्रलिखित कन्या ने कुमार के मन को जीत लिया है? क्या आपके पास इसका कोई प्रमाण है?

पद्मकेसर—वाह रे मूर्खों के सरदार! क्या तू इतना भी नहीं देख सकता? देख, मन रूपी सरोवर जब तक भीतर से अत्यधिक क्षुब्ध न हुआ हो तब तक इस प्रकार के स्पष्ट हुंकार आदि नहीं निकलते और न अनेक प्रकार की मन की तरंगे ही उत्पन्न होती हैं। इस पर भी यदि तुझे मेरे कथन पर विश्वास न हो तो तू स्वयं कुमार को पूछ देख, तुझे वास्तविकता का पता लग जायगा और सारी बात स्पष्ट हो जायेगी।

हरिकुमार—मित्र पद्मकेसर! अब बिना प्रसंग की इस बेकार की बात-चीत को बन्द करो। कुछ चातुर्य-पूर्ण आनन्ददायक प्रश्नोत्तर चलाओ, जिससे कि कुछ आनन्द की प्राप्ति हो।

पद्मकेसर ने हंसते हुए उत्तर दिया—जैसी कुमार की आज्ञा। फिर मित्रों में निम्नलिखित विद्वद्गोष्ठी/प्रश्नोत्तरी चली—

प्रश्नोत्तर गोष्ठी

पद्मकेसर ने प्रश्न किया— (१)

पश्यन् विस्फारिताक्षोऽपि, वाचमाकर्णयन्नपि।
कस्य को याति नो तृप्ति, किंच संसारकारणम्॥१२५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ—विस्फारित नेत्रों से देखता हो और वाणी को सुनता हो, फिर भी किसे, क्यों संतोष नहीं होता, शान्ति नहीं मिलती और इस संसार का कारण क्या है ?

हरिकुमार ने प्रश्न तो सुना पर उसका मन तो चित्र में चित्रित कन्या ने हरण कर लिया था, जिससे उसने मात्र हुंकारा ही दिया। पद्मकेसर ने मन में सोचा कि कुमार ने मेरा प्रश्न बराबर सुना नहीं है अतः इसे फिर से अधिक स्पष्टता से एक बार और बोलूं जिससे कि यह श्लोक उसके ध्यान में आ जावे। इस विचार से पद्मकेसर ने उपरोक्त प्रश्न वाला श्लोक दुबारा बोला, पर उसके उत्तर में भी कुमार ने सिर्फ धीरे से हुंकारा ही भरा। इससे पद्मकेसर को पूर्ण विश्वास हो गया कि चित्रलिखित कन्या ने कुमार के हृदय को बिलकुल शून्य बना दिया है,* अतः वह थोड़ा हँस पड़ा। दूसरे मित्र भी परस्पर हंसी करने लगे और एक दूसरे का मुंह देखने लगे। यह देखकर हरिकुमार का मन कुछ ठिकाने आया। उसे लगा कि उसके मित्रों ने उसकी मानसिक दशा को जान लिया है और यह ठीक नहीं हुआ है। इससे उसके मन में अभिमान जागृत हुआ और उसने अपने मन में कन्या के सम्बन्ध में जो संकल्प-विकल्प हो रहे थे, उनको दबा दिया तथा ध्यानपूर्वक सुनने लगा। उसके मन में कुछ विचार आये और वह बोला—अरे मित्र ! तू हँस क्यों रहा है ? मेरी हँसी उड़ाने की आदत छोड़ दे। तेरा प्रश्न एक बार फिर से बोल। इस पर पद्मकेसर ने उपरोक्त श्लोक को पुनः पढ़ा। इस समय कुमार का प्रश्न पर ध्यान था, अतः जैसे ही प्रश्न पूरा हुआ उसके मन में उत्तर भी आ गया और उसने तत्क्षण उत्तर दिया—"ममत्वं"।

[यहाँ कुमार के उत्तर को समझ लेना चाहिये। प्रश्न था खुली आँखों से देखने पर और वाणी को सुनने पर भी किसे किसलिये शांति नहीं मिलती ? उत्तर है 'ममत्व' मेरापन। यह मोह राजा का संसार को अंधा करने वाला मंत्र है। पूरी दुनिया को नचाने वाला, भटकाने वाला, फंसाने वाला यह मंत्र प्राणी को बिलकुल विचित्र बना देता है। आँख से देखते हुए और कान से सुनते हुए भी ममत्व की वस्तु के प्रति कभी तृप्ति होती ही नहीं, कभी अघाता ही नहीं, उसे कभी शांति नहीं मिलती। चाहे जितना देखें और सुनें पर अभी और अधिक सुनने और देखने की उसकी इच्छा कभी पूरी नहीं हो पाती, इस सब का कारण ममत्व/अभिमान/मेरापन है। दूसरा प्रश्न है--संसार का कारण क्या है ? इसका उत्तर भी ममत्व ही है। संसार-भ्रमण, भवपरिपाटी, चक्रपर्यटन का कारण भी ममत्व ही है। मोह राजा का स्थान और उसके अधिकारों का वर्णन इस ग्रन्थ को पढ़ने वाले पाठक भली प्रकार जानते हैं, अतः इस सम्बन्ध में अधिक विवेचन करना व्यर्थ है। इस प्रकार दो पंक्ति के प्रश्न का उत्तर कुमार ने तीन अक्षरों में दे दिया।]

* पृष्ठ ५६१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२)

पद्मकेसर ऐसा संक्षिप्त किन्तु सही उत्तर सुनकर अतिशय विस्मित हुआ। फिर उसने दूसरा प्रश्न किया--

कस्या बिभ्यद्भीरुर्न भवति संग्रामलम्पटमनस्कः।
वाताकम्पितवृक्षा निदाघकाले च कीदृक्षाः ॥१२६॥

भावार्थ --युद्ध करने में जिसका मन लगा हो वह किससे अधिक भयभीत नहीं होता ? ग्रीष्म में पवन से कांप रहे वृक्ष कैसे लगते हैं ?

कुमार ने पद्मकेसर को प्रश्न पुनः बोलने के लिये कहा। श्लोक दुबारा सुनने पर थोड़े से विचार के पश्चात् कुमार ने उत्तर दिया—"दलनायाः।"

पद्मकेसर ने उत्तर स्वीकार किया।

[यहाँ प्रथम प्रश्न यह था कि जिस योद्धा का मन सर्वदा युद्ध में रमा रहता है, वह किससे अधिक भयभीत नहीं होता ? उत्तर में कहा गया है कि ऐसा योद्धा 'दलना' अर्थात् सेना से नहीं डरता। जिसको युद्ध करने जाना है और जिस योद्धा का मन सदा युद्ध में ही लगा रहता है, वह बड़ी से बड़ी सेना को देखकर भी, कभी अधिक तो क्या तनिक भी भयभीत नहीं होता। दूसरा प्रश्न है ग्रीष्म में पवन से कांप रहे वृक्ष कैसे लगते हैं ? उत्तर वही है कि वृक्ष पत्ररहित होने से ठूंठ जैसे लगते हैं। ग्रीष्म में वृक्ष के पत्ते सूख कर गिर जाते हैं और फिर नये पत्ते बसंत के आगमन पर ही आते हैं अतः वह 'दल-न-आयः दलनायाः' अर्थात् जिसमें पत्ते (दल) नहीं आते हों ऐसा वृक्ष ठूंठ ही लगता है। इस प्रकार पूर्ण श्लोक के दो प्रश्नों का संक्षिप्त और सही उत्तर यहाँ भी केवल चार अक्षरों में दिया गया है।]

(३)

इसके पश्चात् अर्हद् दर्शन (जैनमत) की ओर अभिरुचि वाले विलास नामक मित्र ने कहा-- कुमार ! मैंने भी एक प्रश्न मन में सोच रखा है। कुमार के यह कहने पर कि प्रश्न बोलो, उसने निम्न श्लोक बोला--

कीदृग्राजकुलं विषीदति ? विभो ! नश्यन्ति के पावके ?
बौध्यं काननमच्युताश्च बहवः काले भविष्यन्त्यलम् ?।
कीदृक्षाश्च जिनेश्वरा ? वद विभो ! कस्यै तथा रोचते ?
गन्धः कीदृशि मानवे जिनवरे भक्तिर्न सम्पद्यते ? ॥१२७॥

भावार्थ--किस प्रकार का राजकुल (राज्य) अन्त में विषाद (नष्ट) को प्राप्त होता है ? अग्नि में कौन नष्ट होता है ? ज्ञातव्य को जाग्रत करने वाला उद्यान कौन-सा है ? ऐसा कौन है जो अपने स्थान से भ्रष्ट न हो और वह अल्प समय में परिपूर्ण दशा को प्राप्त हो ? जिनेश्वर कैसे होते हैं ? हे प्रभो ! कहो, गन्ध किस को प्रिय लगती है और किस प्रकार के मनुष्य के मन में जिनेश्वर भगवान् पर भक्ति जागृत नहीं होती ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक ही श्लोक में ऐसे सात प्रश्नों को सुनकर कुमार बोला—भाई ! तुम्हारे प्रश्न तो व्यस्त-समस्त हैं, अर्थात् एक-दूसरे के विपरीत अटपटे और बहुल समास युक्त हैं। अतः दुबारा अधिक स्पष्ट रूप से बोलो जिससे कि प्रत्येक प्रश्न अच्छी प्रकार से ध्यान में आ सके। कुमार की इस मांग पर विलास ने श्लोक को धीरे-धीरे स्पष्ट रूप से दुहरा दिया। सोचकर हरिकुमार ने हंसते हुए उत्तर दिया—सुन भाई ! तेरे प्रश्नों का उत्तर है "अकुशलभावनाभावितमानसे"

[उपरोक्त श्लोक में सात प्रश्न एक साथ पूछे गये हैं, जिनका उत्तर उपरोक्त एक ही शब्द में किस प्रकार दिया गया है, इसके कला-कौशल का नमूना भी देखिये :—

१. किस प्रकार के राज्य का अन्त में नाश होता है ? उत्तर में से चार अक्षर लीजिये 'अकुशल' अप्रवीण। अर्थात् राज्यनीति को न समझने वाले राज्य का अन्त में नाश होता है।

२. अग्नि में कौन जलते हैं ? पहले के दो अक्षर छोड़कर उत्तर में तीन आगे वाले अक्षर लीजिये उत्तर आयेगा 'शलभा' याने पतंगे अग्नि में जलते हैं।

३. ज्ञातव्य को जाग्रत करने वाला उद्यान कौनसा है ? उत्तर में पहले के चार अक्षर छोड़कर आगे के तीन अक्षर लीजिये, उत्तर आयेगा 'भावना'। अर्थात् भावना रूपी उद्यान से जानने योग्य को जानने की इच्छा जाग्रत होती है।

४. अपने स्थान से भ्रष्ट न हो और जो अल्प समय में पूर्ण दशा को प्राप्त हो, ऐसा कौन है ? इसके उत्तर में पहले के छः अक्षर को छोड़कर आगे के तीन अक्षर लीजिये, उत्तर आयगा—'नाभावि'। अर्थात् न अभावि जो अभव्य न हो याने जो भव्य हो। भव्य जीव अपने स्थान से च्युत नहीं होते और समय बीतने पर अन्त में मोक्ष में जाते हैं, परिपूर्ण दशा को प्राप्त होते हैं।

५. जिनेश्वर कैसे होते हैं ? उत्तर में पहले के आठ अक्षर छोड़कर आगे के तीन अक्षर लीजिये, उत्तर आयेगा 'वितमा' याने विगतं तमः येषां ते' जिनका अज्ञान रूपी अन्धकार सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो गया है, ऐसे केवलज्ञानी जिनेश्वर होते हैं।

६. गन्ध किसको प्रिय है ? उत्तर है 'मानस'। सुगन्ध मन को प्रिय लगती है।

७. किस प्रकार के मनुष्य के मन में जिनेश्वर भगवान् पर भक्ति जागृत नहीं होती ? उत्तर में पूरा ही पद ले लीजिये 'अकुशलभावनाभावितमानसे' जो अच्छी भावना नहीं रखते, उनकी जिनेश्वर पर भक्ति जागृत नहीं होती।

(४)

हरिकुमार के उत्तर को सुनकर विभ्रम बहुत हँसा। जब हरिकुमार ने पूछा कि, भाई क्यों हँस रहे हो ? तब उसने कहा—कुमार। आपने विलास को प्रश्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का उत्तर देकर इसका गर्व उतार दिया, यह बहुत अच्छा किया। यह भाई हम सब को यह प्रश्न बार-बार पूछता था, पर हममें से किसी को भी इसका उत्तर नहीं सूझता था, जिससे इसका दिमाग सातवें आसमान पर चढ़ गया था।

विलास—अरे! कुमार ने मेरा गर्व उतारा सो तो ठीक, पर आज तो वे तुम सब का गर्व उतारने पर तुले हुए हैं, तुम सब ने अपने मन में जो भी प्रश्न सोच रखे हों उन्हें बोलो तो सही, आज वे तुम्हारा अभिमान भी अवश्य ही उतार देंगे।

मन्मथ—कुमार! मैंने भी दो समस्यायें (प्रश्न) सोच रखी हैं।

कुमार—प्रसन्नता से बोलो, मैं उत्तर दूंगा।

मन्मथ—सुनो, मेरी दोनों समस्यायें (प्रश्न) हैं—

दास्यसि प्रकटं तेन, गृह्णामि न करात्तव।
भिक्षामित्युदिता काचिद् भिक्षुणा लज्जिता किल ॥१२८॥
करोऽतिकठिनो राजन्नरीभकटघट्टनम्।
विधत्ते करवालस्ते निर्मूलां शत्रुसंहतिम् ॥१२९॥

भावार्थ—तू प्रकट रूप से मुझे देती है, इसलिये तेरे हाथ से भिक्षा नहीं लूंगा। भिखारी के ऐसा कहने पर दान देने वाली स्त्री शर्मा गई।

भिखारी ऐसा क्यों बोलेगा? और उसके इस वचन से देने वाली क्यों लज्जित होगी? स्पष्टतः विरोधी बात दिखाई दे रही है।

दूसरे श्लोक को भी साधारण तौर पर पढ़ने से यह अर्थ निकलता है—हे राजन्। तेरी कठोर तलवार शत्रु के समूह को मूल से नष्ट करती है और शत्रुओं के हस्तिसमूह के गंडस्थलों को भेद देती है।

हरिकुमार—(हंसकर) देख, भाई! तेरे प्रथम श्लोक में जो स्पष्ट विरोध है उसका भंग इस प्रकार होगा। श्लोक के प्रथम शब्द 'दास्यसि' का सन्धि विच्छेद करना पड़ेगा, जैसे 'दासी असि'। फिर इस श्लोक का अर्थ होगा—हे बहिन! तू प्रकट ही दासी/गणिका है,* अतः मैं तेरे हाथ से भिक्षा नहीं लूंगा। भिखारी के ऐसा कहने पर देने वाली स्त्री (दासी) लज्जित हो गई। दासी यदि नीच जाति की हो तो उसके हाथ से भिक्षा लेना भिक्षु पसंद नहीं करेगा तब वह स्त्री अवश्य लज्जित होगी ही, इसमें कोई विरोधाभास नहीं है।

दूसरे श्लोक में 'करोऽतिकठिनः' शब्द का 'कर+अतिकठिनः=करोऽतिकठिनः' संधि-विच्छेद करना होगा। सन्धि-विच्छेद करने पर अर्थ होगा, हे राजन्! तेरा अति कठिन हाथ शत्रुओं के हस्ति समूह के गंडस्थल को भेद देता है और तेरी तलवार शत्रुओं के समूह को मूल से नष्ट कर देती है।

इस प्रकार सन्धि-विच्छेद करने से अर्थ पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाता है और विरोधाभास का भंग हो जाता है, बस यही तेरे प्रश्न का उत्तर है।

---

* पृष्ठ ५६२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(५)

मन्मथ—वाह कुमार ! आपके बुद्धि-चातुर्य का क्या कहना ? चाहे कितने ही अटपटे सवाल पूछे जायें, पर उत्तर तो आपकी जिह्वा पर ही रहते हैं। धन्य हो आपकी कुशाग्र बुद्धि को !

उस समय मैंने (धनशेखर ने) एक ऐसा श्लोक सोचा जिसका अन्तिम पद गूढ (छुपा हुआ) हो। मैंने कुमार से कहा—मैंने एक गूढ चतुर्थ पाद (जिसका चतुर्थ चरण गूढ हो) श्लोक सोच रखा है, यदि आज्ञा हो तो पूंछू ? इस श्लोक के तीन पद मैं बताऊंगा, चौथा पद आपको ढूंढना होगा।

कुमार के हां भरने पर मैंने अपने श्लोक के ३ पद बोले—

विभूतिः सर्वसामान्या, परं शौर्यं त्रपा मदे ।

भूत्यै यस्य स्वतः प्रज्ञा, ... ।।१३०।।

साधारण तौर पर इसका अर्थ यह होगा कि जिसकी संपत्ति सब के लिये उपयोग में आती हो, जिसमें उत्कृष्ट वीरता हो फिर भी जो गर्व करने से शर्माता हो, जिसकी बुद्धि स्वभाव से ही परोपकार के लिये हो.....

उपरोक्त तीनों पद सुनकर कुमार सोचने लगा, फिर अपने मन में उसका उत्तर सोचकर सन्तुष्ट हुआ और बोला—अरे भाई धनशेखर ! तू तो बहुत चतुर निकला, तूने अत्यधिक महत्व के चतुर्थ गूढ पाद की योजना कर रखी है।

सब ने एक साथ पूछा—क्यों, कुमार ! क्या हुआ ? क्या चौथा पद मिल गया ? हमको भी तो सुनाओ भाई !

कुमार बोला—अच्छा तो सुनिये, इसका चौथा पद बनता है "पात्रभूतः स भूपतिः।" उत्तर सुनकर सभी मित्र विस्मित हुए।

उपरोक्त चतुर्थ पद को पहले कहे गये श्लोक में जोड़ने पर पूरे श्लोक का यह अर्थ निकलता है :—

जिस राजा की सम्पत्ति सब के हित के काम में आती हो, जो राजा महापराक्रमी हो फिर भी अभिमान नहीं करता हो और जो अपनी बुद्धि का उपयोग प्रजा की भलाई के लिये ही करता हो, वही राजा वास्तव में राजा है, अर्थात् भू (पृथ्वी) का सच्चा स्वामी (पति) है। भूपति शब्द के तीनों अक्षर प्रथम तीनों पदों में प्राप्त हैं।

(६)

इसी समय कपोल नामक मित्र ने कहा—कुमार ! मैंने भी एक गूढ चतुर्थ-पाद वाला श्लोक सोच रखा है, सुनो—

न भाषणः परावर्णे, यः समो रोषवर्जितः।

भूतानां गोपको ऽत्रस्तः, ... ।।१३१।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधारण तौर पर इसका अर्थ होगा—जो दूसरों की निन्दा नहीं करता, जो साम्यभाव वाला और क्रोध रहित है, जो स्वयं अभय है और जो प्राणियों की रक्षा करता है, ... ।

श्लोक के तीन पद सुनते ही कुमार ने चौथे चरण की पूर्ति तत्काल ही करदी—"स नरो गोत्रभूषणः ।"

उत्तर सुनकर कपोल ने कहा—वाह भाई । मेरे जैसे को तो ऐसी पूर्ति करने में बहुत समय लग जाय । मुझे तो श्लोक के तीन पद तैयार करने में भी बहुत समय लगा, फिर भी कुमार ने तत्काल पादपूर्ति कर उत्तर दे दिया । अहो ! कुमार का बुद्धि-वैभव तो अप्रतिहत शक्तिसंपन्न है, असाधारण है । वस्तुतः कुमार तो बुद्धि-निधान हैं । सब मित्र-मण्डली ने स्वीकार किया कि कपोल ने जो बात कही है वह निःसंदेह सत्य है ।

उपरोक्त श्लोक के तीन पदों में चौथा पद जोड़ने पर पूरे श्लोक का यह अर्थ निकलता है कि—

जो प्राणी दूसरों को निन्दा नहीं करता, जो समान स्थिति वाला है और क्रोध नहीं करता, जो स्वयं भय रहित है और अन्य प्राणियों की रक्षा करता है, ऐसा मनुष्य कुल का आभूषण है ।

इस श्लोक में भी शब्दालंकार है । चौथे पद का अन्तिम शब्द 'भूषणः' के सभी अक्षर प्रथम के तीन पदों में मिल जाते हैं ।

इस प्रकार जितने समय तक प्रश्नोत्तर गोष्ठी होती रही तब तक हरिकुमार का ध्यान चित्रलिखित कन्या से हट गया, उतने समय तक वह उसे भूल गया । [१३२]

संयोगवश उसी समय उस स्थान पर एक कबूतर और कबूतरी प्रेम-लीला कर रहे थे । कबूतर का कबूतरी को चूमना, उसके चारों तरफ चक्कर काटना, उसके साथ मस्ती करना, इत्यादि देखते ही कुमार को वह विस्मृत हुई चित्रकन्या पुनः स्मृति में आ गई । [१३३]

हरिकुमार का ध्यान पुनः चित्र की ओर चला गया और मित्रों की बातचीत से ध्यान हट गया । फिर तो पवन के झकोरों से जैसे दीपक की स्थिति होती है, पानी के कुण्ड में शिला पड़ने से पानी के सतह की जो स्थिति होती है, कुटुम्ब के भरण-पोषण की चिन्ता में दरिद्रों के मन की जैसी स्थिति होती है, दूसरों से पराभव पाकर अभिमानी मनुष्य की जैसी मनःस्थिति होती है और अविरति सम्यक् दृष्टि की जैसे संसार के भय से मनःस्थिति होती है वैसी ही स्थिति कुमार के मन की हो गई । स्मृतिपटल पर बार-बार कन्या का चित्र उभरने लगा और कुमार इधर-उधर झूमने लगा । जैसे एक योगी बाह्य वस्तु के व्याक्षेप से मुक्त होकर अपने ध्येय के प्रति तन्मय होकर ध्यानारूढ़ हो जाता है वैसे ही कुमार को बाह्य विषयों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से मुक्त होकर चित्रलिखित कन्या के लक्ष्य पर अपना ध्यान लगाते हम सभी ने देखा। [१३४]

उस समय मैंने (धनशेखर) कुमार से पूछा—कुमार ! क्या बात है ?

कुमार ने उत्तर में कहा— भाई धनशेखर ! कल रात में मेरा सिर दर्द कर रहा था जिससे नींद नहीं आई। उसके असर से अभी भी मेरा सिर दर्द कर रहा है और चक्कर आ रहे हैं।* अतः ये मन्मथ आदि मित्र यदि जाना चाहें तो जायें, यदि रहना चाहें तो यहाँ घूमें फिरें। तू अकेला मेरे साथ रह। चल, अपन पास में ही चन्दन लतागृह में चलें ताकि वहाँ मैं थोड़ी देर शान्ति से सो सकूं।

कुमार की इस इच्छा को जानकर और संकेत को स्वीकार कर मन्मथ आदि सभी मित्र वहाँ से विदा हुए। केवल मैं कुमार के साथ रहा।

४. हरिकुमार की काम-व्याकुलता : आयुर्वेद

सभी मित्रों के विदा होने पर मैं और कुमार लतामण्डप में प्रविष्ट हुए। ठण्डे सुकोमल पत्तों को एकत्रित कर मैंने एक बिछोना कुमार के लिये बनाया। कुमार उस पर बैठे। पर, उस ठण्डे बिछोने पर भी कुमार इस तरह तड़फने लगे, जैसे तपती रेत में पड़ी हुई मछली तड़फती हो। उन्हें तनिक भी शान्ति प्राप्त नहीं हुई। फिर मैंने उनके बैठने के लिये कोमल आसन का प्रबन्ध किया और कुमार को उस आसन पर बिठाया। जैसे सूली पर चढ़ाये हुए चोर को सुख नहीं मिलता वैसे ही कुमार को इस आसन पर भी चैन नहीं मिला। फिर वह मेरे कन्धे से लगकर इधर-उधर झूमने लगे। फिर भी उनके हृदय का अन्तस्ताप लेशमात्र भी कम नहीं हुआ।

काम का प्राबल्य

फिर कुमार कभी सोये, कभी बैठे, कभी खड़े हुये, कभी इधर-उधर घूमे, पर जैसे नरकगति के दुःखपीड़ित जीव को नारकी में सुख नहीं मिलता वैसे ही उन्हें भी सुख या शान्ति नहीं मिली। जितने भी सुख-शान्ति पहुँचाने के उपाय हो सकते थे वे सब मैंने प्रयुक्त किये, पर उनसे कुमार की वेदना उलटी बढ़ती ही गई। इस प्रकार कामाग्नि से जलते हुए कुमार पर्याप्त समय तक उस शीतल लता-गृह में रहे परन्तु उनकी कामाग्नि का ताप शान्त नहीं हुआ। [१३५–१३६]

---

* पृष्ठ ५६३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन्मथ आदि मित्र कुतूहल के कारण कुमार की दशा को देखकर गये नहीं थे, प्रत्युत कुमार न देखे वैसे प्रच्छन्न रूप से छुपकर देख रहे थे और परस्पर इशारों से कुमार का उपहास कर रहे थे। [१३७]

उसी समय मध्याह्न का शंख बजा, मानों मनुष्यों के शरीर में कामाग्नि भड़काने के लिये वह कामदेव की पुकार हो! शंख बहुत जोर से बहुत समय तक बजता रहा और दूर से उसकी ध्वनि कुमार के कान में भी पड़ी। इसी समय कुमार को घर ले जाने के लिये मन्मथ आदि सभी मित्र लतागृह में आये। सभी कुमार से कहने लगे--देव! अब दोपहर हो गयी है, आप घर पधारें। वहाँ जाकर देव-पूजा आदि नित्यकर्म से निवृत्त होकर दिवसोचित अन्य कार्य सम्पन्न करें।

[१३८-१४०]

उत्तर में कुमार बोले--मित्रों! धनशेखर को मेरे पास छोड़कर आप सब घर जाइये। मेरा सिर-दर्द कुछ कम होने पर मैं भी धनशेखर के साथ घर चला जाऊंगा। अभी तो मेरे सिर में चीस उठ रही है, शरीर में गर्मी बढ़ रही है, अतः कुछ और देर तक इस शीतल लतागृह में रहने की मेरी इच्छा है। [१४१-१४२]

कुमार के हृदय में अन्तस्ताप की गर्मी थी और वह अन्तस्ताप किस कारण से था यह भी सभी समझ गये थे, तथापि वह राजकुमार था अतः उन्हें सीधा नहीं कहा जा सकता था। फलतः धूर्तता से वे परस्पर इस प्रकार बातचीत करने लगे कि उसे कुमार भी सुन ले। इस प्रकार की बातचीत से उनका आशय क्या है, यह कुमार भी समझ गया [१४३]

आयुर्वेद

अरे कपोल। तू आयुर्वेद में बहुत प्रवीण है, तो बता न कुमार के शरीर में क्या विकार हुआ है? उसका कारण क्या है और उसे शान्त करने का क्या उपाय है?

कपोल ने उत्तर दिया--

मित्रों! वैद्यक शास्त्र में कहा है कि वात, पित्त और कफ ये तीन शारीरिक दोष हैं तथा राजस् और तमस् दो मानसिक दोष हैं। इन दोनों प्रकार के दोषों से शरीर में व्याधि उत्पन्न होती है जो भाग्य और युक्ति पूर्वक किये गये औषधोपचार से शान्त होती है, अर्थात् योग्य पुरुषार्थ और अनुकूल भाग्य हो तो शारीरिक दोष मिटते हैं। ज्ञान, विज्ञान,* धैर्य, स्मृति और समाधि से मानसिक दोष ठीक होते हैं।

[१४४-१४५]

इन शारीरिक दोषों में से वात : रुक्ष, ठण्डा, सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म, चलता-फिरता, स्वच्छ या कठिन होता है। जैसा वात हो उससे विपरीत वस्तुओं का प्रयोग करने से वह शान्त हो जाता है। [जैसे रुक्ष वायु स्निग्ध पदार्थों के प्रयोग से, शीत वायु गरम

* पृष्ठ ५६४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थों के प्रयोग से, सूक्ष्म वायु भारी पदार्थों से और चल वायु दही जैसे स्थिर द्रव्यों से तथा कठिन वायु नरम पदार्थों के प्रयोग से शान्त होती है।] (१४६)

पित्त : स्निग्ध, तिक्त, खट्टा, तरल और गरम होता है। यह भी इससे विपरीत गुणों वाले पदार्थों के प्रयोग से शान्त होता है। [जैसे स्निग्ध पित्त के लिये रूखे पदार्थों का प्रयोग, गरम के लिये शीतल पदार्थ, तिक्त के लिये फीके पदार्थ, तरल के लिये ठोस पदार्थ और खट्टे के लिये कड़ुवे पदार्थों के उपयोग से पित्त शान्त होता है।] [१४७]

कफ : भारी, शीतल, नर्म, स्निग्ध और मधुर होता है। यह भी विपरीत पदार्थों के प्रयोग से शान्त होता है। [जैसे भारी के लिये हलके पदार्थ, ठण्डे के लिये गरम, नरम के लिये कठोर, स्निग्ध के लिये रूखे और मीठे कफ के लिये कड़ुवे पदार्थों का उपयोग करने से कफ शान्त होता है।] [१४८]

वैद्यक शास्त्र में छः प्रकार के रस बताये गये हैं :— मीठा, खट्टा, नमकीन, तिक्त, कड़ुआ और कषायला। इन छः में से मीठा, खट्टा और नमकीन रस कफ को उत्पन्न करने वाला और बढ़ाने वाला होता है। तिक्त, कड़ुवा और कषायला रस वायु को उत्पन्न करने वाला और बढ़ाने वाला होता है। तिक्त, खट्टा और खारा रस पित्त को उत्पन्न करने वाला और बढ़ाने वाला होता है। मीठा, खट्टा और नमकीन रस वायु को शान्त करता है। मीठा, कड़ुआ और कषायला रस पित्त को शान्त करता है। कषायला, तिक्त, और कड़ुवा रस कफ को शान्त करता है। [१४९–१५१]

अजीर्ण चार प्रकार का होता है। आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण विष्टब्धाजीर्ण और रसशेषाजीर्ण। ये अजीर्ण के चार प्रकार हैं जिनकी पहचान पहले समझ लेनी चाहिये। आमाजीर्ण में खायी हुई वस्तु की गन्ध डकार में आती है, क्योंकि इसमें खायी हुई वस्तु का रस ही नहीं बन पाता। विदग्धाजीर्ण की डकार में धुएं की गन्ध आती है। विष्टब्धाजीर्ण में शरीर टूटता है, आलस्य आता है और उबासियें आती हैं। रसशेषाजीर्ण में खाना अच्छा नहीं लगता, खाने की तनिक भी इच्छा नहीं होती, भोजन के प्रति अरुचि या विरक्ति हो जाती है। [१५२]

यह निश्चित करने के पश्चात् कि कौन से प्रकार का अजीर्ण है, यदि आम अजीर्ण हो तो वमन (उल्टी) करवाकर पेट साफ करवाना चाहिये। यदि विदग्ध अजीर्ण हो तो छाछ पिलानी चाहिये। यदि विष्टब्ध अजीर्ण हो तो गर्म पानी से सेक करना चाहिये और यदि रसशेष अजीर्ण हो तो आराम से सोकर नींद लेना चाहिये। चारों प्रकार के अजीर्ण की पहचान और उसके दूर करने के उपाय ऊपर बताये गये हैं, क्योंकि सब प्रकार के रोग अजीर्ण से ही होते हैं अतः इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये। [१५३–१५४]

मालूम होता है कि कुमार को अन्तर्ज्वर (नाड़ी ज्वर) और अजीर्ण का विकार हुआ है। इन्हें विदग्ध अजीर्ण हुआ लगता है, क्योंकि इसी के कुपित होकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इनके वायु और पित्त दोनों में एकाएक वृद्धि हुई है। वायु और पित्त दोनों ने मिलकर भीतरी ज्वर उत्पन्न किया है, इसी से सिर में शूल (दर्द) भी है। शास्त्र में कहा है—

भुक्ते जीर्यति जीर्णेऽन्ने जीर्णे भुक्ते च जीर्यति।
जीर्णे जीर्यति भुक्तेऽन्ने दोषैर्नानाभिभूयते ॥ [१५५]

खाये हुए अनाज के पच जाने पर खाने से, अजीर्ण होने पर नहीं खाने से, और पचे हुए अनाज के एकदम पच जाने पर खाने से मनुष्य को किसी प्रकार की व्याधि नहीं सताती।

विक्रम बोला—मित्र कपोल! अभी तू बीमारी का निदान नहीं कर पाया है। वैद्य का कर्त्तव्य है कि बीमार को देखने पर रोग के मूल कारण का पता लगावे। बीमार की विशेष प्रकृति कैसी है, इसका सूक्ष्मता से अन्वेषण करे। उसके शरीर में बल किस प्रकार का और कितना है, इसका विचार करे। शरीर में किस प्रकार की कमी है, इसकी जानकारी के लिये शरीर के प्रत्येक अंग की ठीक से जांच करे और उसके अनुकूल कौनसी वस्तु है तथा वह पथ्य का सेवन कर सकता है या नहीं, यह ज्ञात करे। इसमें धैर्य है या नहीं, कितना धैर्य है, खाने और पचाने की कितनी शक्ति है, व्यायाम करने या चलने-फिरने की शक्ति है या नहीं और उसकी उम्र कितनी है, यह सब जानना आवश्यक है।

जो रोग के संचय, प्रकोप, प्रसार, स्थान और व्यक्ति भेद की भी जानकारी रखता है वही श्रेष्ठ वैद्य है। यदि रोग को संचय की अवस्था में ही रोक दिया जाय तो उसका प्रकोप नहीं हो सकता, पर यदि उसका प्रसार होने दिया जाय तो वह अधिक बलवान हो जाता है। [१५६–१५७]

भाई कपोल! तुमने तो कुमार की कुछ भी जांच नहीं की, मात्र उनका मुंह देखकर ही 'शरीर में विकार है' अपने पोपले मुंह से बड़-बड़ कर बोल गए हो।*

उत्तर में कपोल ने कहा—भाई विभ्रम! कुमार की प्रकृति आदि और उसके रोग का संचय आदि सब स्थितियाँ मेरे ध्यान में हैं।

ग्रीष्म ऋतु में दिन, रात्रि और अवस्था के अन्त में जब अजीर्ण होकर समाप्ति की ओर हो तब वायु का प्रकोप होता है। ग्रीष्म ऋतु के प्रारम्भ में, रात्रि के प्रारम्भ में, दिन के प्रारम्भ में, उम्र के प्रारम्भ में (बचपन में) और अजीर्ण के प्रारम्भ में कफ का प्रकोप होता है। ग्रीष्म ऋतु के मध्य में, दिवस के मध्याह्न में, अर्ध-रात्रि में और अजीर्ण के मध्य में पित्त का प्रकोप होता है। शरद् ऋतु में भी पित्त अधिक बलवान होता है, ग्रीष्म ऋतु में वायु का संचय होता है, वर्षा में उसका प्रकोप होता है और शरद् ऋतु में वह शान्त हो जाता है। वर्षा में

* पृष्ठ ५६५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पित्त का संचय होता है, शरद् ऋतु में उसका प्रकोप होता है और हेमन्त में वह शान्त हो जाता है। शिशिर ऋतु में कफ का संचय होता है, वसन्त में उसका प्रकोप बढ़ता है और ग्रीष्म में वह शान्त हो जाता है। [१५८–१५९]

हेमन्त और शिशिर ऋतु प्रायः समान ही है, पर शिशिर में हेमन्त की अपेक्षा कुछ ठण्ड अधिक बढ़ जाती है, बादल रहते हैं और वर्षा की ठण्डी और शुष्क हवा चलती है जो आदानकारी है। [१६०]

यह सब मैंने मन में पूर्ण रूप से सोच-समझ लिया है, पर इस विषय में अधिक विचार करने से क्या लाभ ? मेरे विचार से तो कुमार को अजीर्ण का रोग ही है।

अहा ! यह कपोल अपने को आयुर्वेद में बहुत पारंगत समझता है, पर वास्तव में यह कितना मूर्ख है। ऐसा सोचकर कुमार थोड़ा हँसा। उसकी हँसी को देखकर सभी मित्रों ने एक साथ पूछा—मित्र ! क्या हुआ ? आप क्यों हँसे ?

उत्तर में कुमार बोला—मैं कपोल की मूर्खता पर सोच रहा था। मैंने अपनी हँसी को रोकने का बहुत प्रयत्न किया, पर मैं हँसी को रोकने में सफल न हो सका।

पद्मकेसर ने समयानुसार चुटकी ली, कुमार ! आपकी बड़ी कृपा हुई। हमें जो काम सिद्ध करना था वह पूर्ण रूप से सिद्ध हो गया। कुमार ! आपके मन के आन्तरिक ताप की शान्ति के लिये और विनोद के लिये ही हम सब ने मिलकर यह हास्य-विनोद और भाषण प्रारम्भ किया था। अर्थात् हम सब कोई गम्भीर वार्ता नहीं कर रहे थे। [१६१]

कहा भी है कि—

चित्तोद्वेगनिरासार्थं, सुहृदां तोषवृद्धये।
तज्ज्ञाः प्रहसनं दिव्यं, कुर्वन्त्येव विचक्षणाः ॥ [१६२]

मित्रों के चित्त के उद्वेग को दूर करने और उसकी सन्तोष एवं शान्ति वृद्धि के लिये विचक्षण विद्वान् उच्च प्रकार का हास्य-विनोद करते ही हैं।

वस्तुतः आपके विकार को समूल नष्ट करने की औषध तो वह सन्यासिनी ही जानती है और वह ही इसको सम्पादित (पूर्ण) कर सकती है, अन्य कोई भी आपकी सहायता कर सके ऐसा नहीं लगता। अतः, हे कुमार ! उसको ढुंढ़वाकर शीघ्र ही बुलवा लें, यही अच्छा है। अब व्यर्थ का विलम्ब करने से क्या लाभ ?

कुमार—भाई पद्मकेसर ! यदि तू जानता है तो फिर अपनी इच्छानुसार उपाय कर।

पद्मकेसर—मित्र ! तो फिर उस तपस्विनी को खोजकर बुलाने किसे भेजूं ?

कुमार को अन्य मित्रों पर विश्वास नहीं था, अतः उसने उस तपस्विनी को बुलाने के लिये मेरा (धनशेखर का) नाम प्रस्तावित किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैं वहाँ उपस्थित था ही । मैंने तुरन्त ही कुमार की आज्ञा को सहर्ष स्वीकार किया और कहा– 'आपकी बड़ी कृपा ।' ऐसा कहकर मैं तत्काल ही तपस्विनी को बुला लाने के लिये निकल पड़ा ।

५. निमित्तशास्त्र : हरिकुमार-मयूरमंजरी सम्बन्ध

[लतामण्डप में हरिकुमार को छोड़कर, उसकी इच्छानुसार तपस्विनी को ढूंढ़कर लाने के लिये निकला हुआ धनशेखर (संसारी जीव) अपनी कथा को आगे चलाते हुए सदागम के समक्ष अगृहीतसंकेता से कहता है ।]

मैं जिस समय लतामण्डप से बाहर निकला और नगर की तरफ बढ़ा, उसी समय मुझे रास्ते में वह तपस्विनी दिखाई दे गई। मैंने उसे प्रणाम किया और पूछा—भगवति ! उस चित्रपट की क्या कथा है ? उसमें किस कन्या की छवि है ? आप इतनी शीघ्र वहाँ से क्यों चली आईं ?

परिव्राजिका का स्पष्टीकरण

तपस्विनी ने मेरा प्रश्न सुनकर कहा– सुनो, आज प्रातः उषाकाल में मैं भिक्षा के लिये निकली थी । तुम्हें ज्ञात ही है कि रत्नद्वीप के महाराजा नीलकण्ठ की शिखरिणी नामक एक महारानी है । मैं भिक्षा के लिये उसी के राजमहल में प्रविष्ट हुई तो मैंने देखा कि महारानी शिखरिणी बहुत चिन्ताग्रस्त है और उसकी चिन्ता से पूरा परिवार उद्विग्न है । सभी कुमारियाँ शोकाकुल, सभी कंचुकी घबराये हुए और वृद्ध स्त्रियाँ आशीर्वादातुर दिखाई पड़ीं । यह देखकर मैंने सोचा कि इतनी चिन्ता और शोक का क्या कारण हो सकता है ?* इतने में ही शिखरिणी रानी स्वयं चलकर मेरे पास आई । मैंने उसे आशीर्वाद दिया और उसने मुझे सिर झुका कर प्रणाम किया । मुझे एक सुन्दर आसन पर बिठाकर महारानी बोली—भगवति बन्धुला ! आप जानती ही हैं कि मेरी पुत्री मयूरमंजरी मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारी है । उसके आनन्द में मेरी शान्ति, उसकी क्रीड़ा में मेरा वैभव और उसके सुख में मेरा जीवन है । न जाने किस कारण से आज प्रातः से ही वह चिन्ता-ग्रस्त है । उसके मन में किसी प्रकार की व्यग्रता है जिससे वह घबराई हुई और विकारग्रस्त सी लग रही है । वह ऐसी लग रही है जैसे वह शून्यचित्त हो गई हो । उसके मुंह से ऐसा लग रहा है मानो उसे तीव्र ज्वर आया हो । राजकन्या के

* पृष्ठ ५६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने योग्य सभी कार्यों का उसने त्याग कर दिया है। बात यहाँ तक बढ़ गई है कि वह जो नियमानुसार प्रतिदिन देव-गुरु को नमस्कार करती थी, आज उसने वह भी नहीं किया है। उसने रात के पहने हुए कपड़े भी नहीं बदले हैं, प्रतिदिन प्रातः पहनने के आभूषणों को छुआ भी नहीं है, न विलेपन किया है और न पान ही खाया है। स्वनिर्मित अपने बाल उद्यान की देखभाल स्वयं प्रतिदिन करती है वह भी आज भूल गई है। अपनी सहेलियों को साधारण मान भी नहीं देती, अपने पाले हुए तोता मैना की देखभाल भी नहीं करती और गेंद क्रीड़ा भी नहीं करती। मात्र विद्याधरों के जोड़ों का चित्र बनाती है, सारसों के जोड़ों को देखती है, बार-बार द्वार की तरफ दौड़ती है और बार-बार अस्फुट शब्दों में आत्मनिन्दा करती है। सखियों पर बिना कारण क्रोध करती है तथा कुछ पूछने पर उत्तर ही नहीं देती, मानो सुना ही न हो। मैं उसके बारे में अधिक क्या बताऊं? मानो यह पागल हो गई हो, शून्यचित्त हो गई हो या उसे भूत लग गया हो। मानो यह मयूरमंजरी न होकर कोई अन्य लड़की हो। [१६३] आज प्रातः से ही उसके व्यवहार में इतना बड़ा अन्तर आ गया है। उसकी ऐसी अवस्था देखकर मेरा मन न जाने कैसा-कैसा हो रहा है। भगवति देवि! आप तो निमित्तशास्त्र में अतिनिपुण हैं, आप देखकर बतायें कि यह किस विषय में सोच रही है? साथ ही यह भी बतावें कि यह जिस विषय में सोच रही है, वह उसे प्राप्त होगी या नहीं? यदि प्राप्त होगी तो कब तक?

निमित्त-शास्त्र

मैंने उत्तर में रानी से कहा—मैं देखकर बता रही हूं। भाई धनशेखर! फिर मैंने लग्न निकालने प्रारम्भ किये। प्रथम मंगल के लिये सिद्धि पद लिखा, फिर विशेषमंगल के लिये देवी सरस्वती का मुख कमल बनाया, फिर ध्वजा आदि आठों आयों को बनाया, साथ ही स्त्री हृदय की कुटिलता को प्रकट करने वाली तीन गोमूत्रिकायें (आड़ी-टेढी लकीरें) खींची। गणना करके आठों आयों को उनके स्थान पर रखा। गणना में जो बचा उसके अनुसार तीन-तीन अंक लिखे, (इन अंकों के अनुसार ही फलादेश प्राप्त होता है)। इस प्रकार सर्वगणना करने के साधनों को प्रयुक्त कर मैंने महारानी से कहा—

निमित्तशास्त्र में ध्वज, धूम्र, सिंह, श्वान, वृषभ, खर, हस्ति और वायस, ये आठ प्रकार की आयें होती हैं। इन आठ आयों के आठ प्रकार के बल होते हैं जैसे काल, दिवस, समय (अवसर), मुहूर्त, दिशा, नक्षत्र बल, ग्रहबल और निसर्गबल। हे महादेवि! प्रस्तुत प्रयोजन में यहाँ जो आयें बनी हैं, उनके परिणामस्वरूप ध्वज, खर और वायस आय प्राप्त हुई हैं, इनका फल मैं बताती हूँ। निमित्तशास्त्र कहता है कि इन तीन में से पहली आय यह बताती है कि चिन्ता किस विषय में है, दूसरी आय से उसके अच्छे-बुरे फल का पता लगता है और तीसरी आय से परिणाम कब फलित होगा, इसका पता लगता है। [१६४–१६७]*

* पृष्ठ ५६७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम आय में यदि श्वान, ध्वज या वृषभ आये तो चिन्ता किसी जीवित प्राणी के सम्बन्ध में है, ऐसा समझना चाहिये। यदि प्रथम आय में सिंह या वायस आये तो चिन्ता मूल स्थान (किसी नगर, ग्राम आदि) के बारे में है और यदि प्रथम आय में धूम्र, हस्ति या खर आये तो चिन्ता किसी धातु के सम्बन्ध में है ऐसा समझना चाहिये। [१६८]

यहाँ प्रथम आय में ध्वज आया है अतः मयूरमंजरी किसी जीवित प्राणी के सम्बन्ध में सोच रही है, ऐसा प्रतीत होता है। उस आय के काल और समय आदि की गणना करने से वह प्राणी पुरुष होना चाहिये। मेरी गणना के अनुसार वह राजपुत्र है और उसका नाम हरि है। यहाँ धूम्र पर खर आय आई है अतः उस पुरुष की प्राप्ति अवश्य होगी, क्योंकि निमित्तशास्त्र में कहा गया है कि ध्वज पर खर आवे तो स्थान बनाता है, धूम्र पर खर आवे तो अवश्य ही लाभ की प्राप्ति होती है और सिंह पर खर आवे तो नाश होता है। अन्य किसी भी आय पर खर आने से मध्यम फल की प्राप्ति होती है। [१६९]

लाभ कितने समय में मिलेगा, इसका पता तीसरी आय से चलता है। यहाँ तीसरी आय में वायस है, अतः मेरी गणनानुसार लाभ की प्राप्ति आज ही होनी चाहिये। निमित्तशास्त्र के अनुसार यदि तीसरे पद में ध्वज या हस्ति की आय हो तो फल प्राप्ति एक वर्ष में होती है, वृषभ या सिंह की आय हो तो एक माह में, श्वान या खर की आय हो तो एक पक्ष में और धूम्र या वायस की आय हो तो एक दिन में (उसी दिन) फल मिलता है। [१७०]

भाई! मेरी बात सुनते ही रानी की चिन्ता दूर हुई। उसे मेरी बात पर विश्वास हुआ और समझ गई कि इच्छित जामाता (जंवाई) का लाभ शीघ्र ही प्राप्त होगा। अतः मेरे पाँव छूकर रानी शिखरिणी बोली—भगवति! आपने मुझ पर बड़ी कृपा की। आपने जो कहा वह सत्य है। मेरी पुत्री मयूरमंजरी की प्रिय सखी लीलावती अभी-अभी कह रही थी कि आज प्रातः हरिकुमार लीलासुन्दर उद्यान की ओर अपने मित्रों के साथ जा रहा था तब मंजरी ने उसे देखा था। मंजरी काफी समय तक उसे एक-टक देखती रही, पर किसी भी संयोग से कुमार की दृष्टि मयूरमंजरी पर नहीं पड़ी, अर्थात् कुमार ने उसे नहीं देखा। लीलावती यह भी कह रही थी कि कुमार के प्रति उसके मन में प्रेमाभिलाषा जाग्रत हुई, पर यह प्रेम पूरा हो सकेगा या नहीं? इसी चिन्ता में उसकी यह अवस्था हुई है। अब आपने अपने ज्ञान चक्षु से जो कुछ देखा है, वैसा ही इन दोनों का मिलन भी हो जाये, ऐसा करने की कृपा भी आप ही करें।

भाई! मैंने रानी से कहा कि कुमार का क्या अभिप्राय है इसका मुझे पहले पता लगाने दें। इस पर रानी बोली कि आप तो सब जानती हैं, इस विषय में आपको अधिक क्या कहूँ? फिर मैंने चित्रपट पर मयूरमंजरी की छवि चित्रित की। वह चित्र लेकर मैं लीलासुन्दर उद्यान में आई। वहाँ हरिकुमार को देखकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह चित्रपट मैंने उसे दिया और उसके मुख पर कैसे भाव आते हैं, यह देखती रही। मुझे लगा कि इसके मन में भी मंजरी के प्रति प्रेमाभिलाषा जाग्रत हुई है। फलतः मेरा कार्य पूर्ण (सिद्ध) हो गया। तत्पश्चात् महारानी को यह संवाद देने तथा इस सम्बन्ध में और क्या करना चाहिये यह पूछने के लिये मैं तुरन्त ही वहाँ से लौट आई। मैंने महादेवी से कहा—'हरिकुमार तो अब मेरी मुट्ठी में है, अब इस विषय में और क्या करना चाहिये वह बताओ।' शुभ संवाद सुनकर महारानी बहुत प्रसन्न हुई और अपनी पुत्री से कहने लगी—'पुत्रि मयूरमंजरी! भगवती तपस्विनी ने जो कुछ कहा वह तू ने सुना या नहीं? अब तुझे अपना * हृदयवल्लभ अवश्य मिलेगा।' मयूरमंजरी ने बात सुनी पर उसे पूर्ण विश्वास नहीं हुआ, अतः वह लजाती हुई बोली—'ओ माताजी! क्यों बिना सिर-पैर की बात कर मुझे ठग रही हैं।' महारानी समझ गई कि मयूरमंजरी को अभी विश्वास नहीं हुआ है। अब समय नष्ट करने में कुछ सार नहीं है ऐसा विचार कर वह शीघ्र ही महाराजा नीलकण्ठ के पास गई और उन्हें सब समाचारों से अवगत कराया। मयूरमंजरी के साथ हरिकुमार का सम्बन्ध हो यह बात महाराजा को भी पसन्द आई। इस विवाह-सम्बन्ध को बिठाने और कुमार को यहाँ लाने के लिये ही राजा-रानी ने मुझे अभी-अभी भेजा। हे भाई! यही चित्रपट का वृत्तान्त है। चित्रालेखित राजकन्या मयूरमंजरी ही है और मैं इसी प्रसंग में प्रयत्नशील हूँ।

मयूरमंजरी आलेखित चित्रपट-द्वय

फिर मैंने तपस्विनी से पूछा—देवि! आपने हाथ में क्या ले रखा है?

उत्तर में तपस्विनी बन्धुला ने कहा—मंजरी के हाथों से चित्रित ये दो चित्र हैं।

मैंने पूछा—यह तो ठीक है, पर चित्र साथ में लाने का क्या प्रयोजन है?

तपस्विनी ने स्पष्ट उत्तर दिया—संभव है कुमार को मेरे वचन पर विश्वास न हो तो उसकी शंका को दूर करने के लिये मंजरी के मनोभावों को प्रकट करने वाले ये चित्र हैं। अर्थात् कुमार की शंका को दूर करने के लिये ही मैं इन्हें साथ लायी हूँ। यदि आवश्यकता होगी तो उनका उपयोग करूंगी।

मैंने कहा—भगवती देवी ने सब काम बहुत ही सुन्दर किया है। आपने अपनी व्यवस्था से कुमार को जीवन दान दिया है।

फिर मैं तपस्विनी के साथ उद्यान में हरिकुमार के पास आया। तपस्विनी बन्धुला ने इस विषय में राजाज्ञा को कह सुनाया। तपस्विनी ने मुझे जो विस्तृत वर्णन सुनाया था वह भी मैंने कुमार को सुना दिया, किन्तु उसे फिर भी विश्वास नहीं हुआ। उसे लगा कि उसकी चिन्ता दूर करने के लिये ही यह सब कृत्रिम नाटक

* पृष्ठ ५६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रचा गया है। तब उसके मन में विश्वास जमाने के लिए तपस्विनी ने कपड़े पर कपड़े में लिपटे हुए वे चित्र उसे दिखाये। कपड़ा हटाकर कुमार चित्र देखने लगा। प्रथम चित्र में एक अति सुन्दर समान लम्बाई और समान वय वाले विद्याधर-दम्पत्ति को उज्ज्वल रंगों में चित्रित किया गया था। वस्त्रावृत अंग के उन्नत-अवनत अवयवों की रमणीय संयोजना और उचित प्रकार से पहनाये गये आभूषण इतने स्पष्ट थे कि बारीक से बारीक रेखा भी स्पष्ट झलक रही थी। इस युगल के अवयवों की रचना छोटे-छोटे बिन्दुओं से ऐसी विलक्षण बनाई गई थी कि नूतन प्रेमरस की उत्सुकता स्पष्टतः झलकती थी। विद्याधर-दम्पत्ति प्रेम से एक-दूसरे को हर्षोत्फुल्ल दृष्टि से इस प्रकार देख रहे थे मानो अत्याकर्षक प्रेम का साम्राज्य उनकी आँखों में समा गया हो, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता था। चित्र के नीचे द्विपदी छन्द में लिखित निम्न कविता को भी कुमार ने पढ़ा :—

प्रियतमरतिविनोदसम्भाषणरभसविलासलालिताः।
सततमहो भवन्ति ननु धन्यतमा जगतीह योषितः ॥१७१॥

अभिमतवदनकमलरसपायनलालितलोललोचनाः।
सुचरितफलमनर्घ्यमनुभवति शमियमम्बरचरी यथा ॥१७२॥

अपने हृदयवल्लभ प्रियतम के साथ प्रेमरति, विनोद, भाषण, प्रेमोत्साह और विलास से सतत लालित स्त्रियाँ इस संसार में वास्तव में विशेष भाग्यशालिनी होती हैं। इस विद्याधरी की भाँति ऐसी स्त्रियाँ स्वकीय मनपसन्द पुरुष को अपने मुखकमल के रस का पान करवाकर अपनी आँखों को तृप्त करती हुई पूर्व-पुण्य के फलस्वरूप अमूल्य सुख का अनुभव करती हैं।

प्रथम चित्रपट को देखने के पश्चात् कुमार दूसरा चित्र देखने लगा। इस दूसरे चित्र में एक राजहंसिनी चित्रित की गई थी। वन में लगे दावानल में दग्ध वनलता जैसी, अत्यन्त हिमपात से काली पड़ी हुई कमल के डंठलों जैसी, प्रभात के सूर्योदय से लुटी हुई कान्तिहीन चन्द्रकला जैसी, टूटी और कुमलायी हुई आम्रमंजरी जैसी, सर्वनाश-प्राप्त कृपण स्त्री जैसी, सर्व प्रकार की कान्ति और तेज से रहित, अत्यन्त शोक के कारण समस्त अवयवों से दुर्बल बनी हुई और कण्ठ तक प्राण आ गये हों ऐसी यह राजहंसिनी दिखाई दे रही थी। इस चित्र के नीचे भी द्विपदी खण्ड (निम्न कविता) लिखी थी :— *

इयमिह निजकहृदयवल्लभतरदृष्टवियुक्तहंसिका।
तदनुस्मरणखेदविधुरा बत शुष्यति राजहंसिका ॥१७३॥

रचितमनन्तमपरभवकोटिषु दुःसहतरफलं यया।
पापमसौ नितान्तमसुखानुगता भवतीदृशी जन! ॥१७४॥

* पृष्ठ ५६९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे अपने प्रिय के वियोग में प्रिया उसे बार-बार स्मरण कर अधिकाधिक शोक करती हुई सूख जाती है वैसे ही यह राजहंसिनी अपने हृदय में बसे हुए प्रिय को एक बार देखने के पश्चात् उसके वियोग में सूख कर कांटा हो रही है। हे मानवों ! अन्य करोड़ों भवों में जिसके फल को सहन करना पड़े ऐसे अनन्त पाप करने वाले मनुष्य को ही ऐसी दुःखद अवस्था प्राप्त होती है।

ये दोनों चित्र देखकर और उनके नीचे लिखे छन्दों को पढ़कर हरिकुमार के मन में यह बात घर कर गई कि, अहो ! राजकुमारी बहुत ही कुशल और रसिक जान पड़ती है। अहो ! इसके चातुर्य से लगता है कि इसमें रहस्य के सार को ग्रहण करने की अद्भुत शक्ति है। अहो ! अपना सद्भाव अन्तःकरण-पूर्वक अर्पण करने की शुद्ध बुद्धि भी उसमें स्पष्ट दिखाई देती है। सच ही ऐसा लग रहा है कि उसके मन में मेरे प्रति दृढ़ प्रेम है। इसका कारण यह है कि इसने प्रथम चित्र में विद्याधर-दम्पत्ति को चित्रित कर उसने अपने अन्तःकरण की गहनतम अभिलाषा को अभिव्यक्त कर दिया है और दूसरे चित्र में विरही राजहंसिनी को चित्रित कर उसके माध्यम से उसने यह प्रकट कर दिया है कि अभिलषित वस्तु के न मिलने पर उसकी दशा कैसी दीन हो सकती है। इसने चित्रों में ही उक्त भाव इतनी सुन्दरता से अंकित कर दिये हैं कि इससे उसके मनोभाव स्पष्टतः व्यक्त हो जाते हैं। फिर चित्र के नीचे छन्द लिख कर तो उसने उन भावार्थों को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है।

तत्पश्चात् कुमार ने अपने पास बैठे हुए मन्मथ आदि मित्रों को चित्र दिखाये। मित्र तो उसके मन की बात पहले ही जानते थे, अतः वे एकदम बोल पड़े—अरे कुमार ! मित्र !! उठ, उठ !! शीघ्र जाकर उस बेचारी राजहंसिनी को धैर्य बंधा, उसमें शान्ति आप्लावित कर और उसे उसकी धारणा में स्थिर कर। किसी मृत्यु को प्राप्त होने वाले व्यक्ति की उपेक्षा करना ठीक नहीं है।

उत्तर में कुमार ने मात्र इतना ही कहा—अच्छा, ऐसी बात है तो चलो ऐसा ही करें।

परिणय

उसके पश्चात् सभी राजभवन में गये। नीलकण्ठ महाराज ने बहुत मान-पूर्वक अपनी प्रिय पुत्री मयूरमंजरी हरिकुमार को अर्पित की। उसके पश्चात् शुभ लग्न पर हरिकुमार और मयूरमंजरी का लग्न महोत्सव बहुत आडम्बरपूर्वक मनाया गया।

इस उत्सव के अवसर पर अनेक मनुष्य मधुर रसपान से मस्त होकर लस्तपस्त हो गये। अनेक लोगों को उनकी इच्छा के अनुसार दान में धन दिया गया। यह लग्न इतना सुन्दर हुआ कि देवता भी इससे अत्यन्त विस्मय और आनन्द को प्राप्त हुए। लोग उस समय नाचने और खाने-पीने में अत्यन्त मग्न हो गये।

[१७५]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर बहुत आडम्बरपूर्वक देव-गुरु की पूजा की गई। सामन्तों को सन्मानित किया गया, परिजन, प्रेमीवर्ग को पहरावणी (वस्त्राभूषण) दी गयी, राज्य कर्मचारियों को प्रसन्न किया गया, प्रधान वर्ग अथवा प्रजाजनों को सन्तुष्ट किया गया और ऐसे अन्य सभी करणीय कृत्य किये गये। इस प्रकार विवाह का आनन्द चारों ओर प्रसरित हो गया।

---

६. मैथुन और यौवन के साथ मैत्री

नीलकण्ठ राजा को मयूरमंजरी अपने प्राणों से भी अधिक प्यारी थी। इस सर्वांगसुन्दरी प्रेमनिपुणा मयूरमंजरी को अपनी पत्नी के रूप में प्राप्त कर हरिकुमार अपनी मित्र-मण्डली के साथ अपना समय आनन्दपूर्वक व्यतीत करने लगा। उस समय रत्नद्वीप में उसकी बहुत प्रसिद्धि हुई। नीलकण्ठ के पुत्र नहीं था अतः पूरा परिवार और सम्बन्धीजन कुमार पर मुग्ध थे। कुमार के अनेक गुण उन्हें आनन्दित करते थे, अतः सभी उसके प्रति विशेष आकर्षित होते गये। यहाँ तक कि समग्र अन्तःपुर, नगर निवासी और राज्यमण्डल भी कुमार पर मुग्ध होने लगा, उसके नाम से संतोष प्राप्त करने लगे और उसके लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने को तत्पर हो गये। [१७६-१७९]

हे अगृहीतसंकेता! इधर कुमार मुझ पर इतना अधिक स्नेह रखता था कि मैं एक क्षण भर भी उसे छोड़ नहीं सकता था और उसे भी मेरा पलभर का वियोग भी सहन नहीं होता था। मुझ पर सद्भावपूर्वक सच्चा स्नेह रखने वाला मेरा अन्तरंग मित्र भाग्यशाली पुण्योदय मेरे साथ था, उसी के प्रताप से मेरा कुमार के साथ इतना प्रगाढ स्नेह-बन्धन हो गया था। [१८०-१८१] इसी पुण्योदय के प्रताप से कुमार के साथ रहकर मुझे अनुपम विषय सुख भोगने को मिल रहे थे, देवताओं को भी दुर्लभ विलास के साधन प्राप्त हो रहे थे, उत्तमोत्तम पुरुष भी जिसकी कामना करें ऐसी सत्संगति प्राप्त हो रही थी* और मेरे ज्ञान एवं बुद्धि में वृद्धि हो रही थी। लोगों में मेरे यश का डंका बज रहा था और मेरे गौरव में सचमुच वृद्धि हो रही थी।

धनशेखर के संकल्प-विकल्प

हे भद्रे! मुझे सब प्रकार की अनुकूलताएं होते हुए भी सागर (लोभ) मित्र की प्रेरणा से मेरे मन में अनेक नये-नये संकल्प-विकल्प होते रहते थे।

---

* पृष्ठ ५७०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[१८२] मैं सोचता कि हरिकुमार से मेरी मित्रता मेरे धन कमाने के काम में विघ्न पैदा करने वाली है। मेरे ग्रह अच्छे नहीं लगते। जान-बूझकर मैंने यह व्यर्थ का अनर्थ खड़ा किया है। इस कुमार ने तो मुझे बिना पैसे का नौकर बना लिया है। मैं यहाँ रत्न एकत्रित करने आया था, पर अपनी इच्छानुसार रत्न एकत्रित नहीं कर सका। यह तो लोकप्रसिद्ध जमश्रुति (कहावत) मेरे ऊपर ही घटित हो गई है—"गधे को समस्त सुख देने वाला स्वर्ग तो मिल गया पर वहाँ भी हाथ में रस्सी लिए एक धोबी उसे मिल ही गया।" ('भाग्य दो कदम आगे चलता है' वाली कहावत चरितार्थ हुई।) मैं तो बिना किसी विघ्न के यहाँ रत्न एकत्रित करने आया था, पर यहाँ भी मुझे उक्त गधे के समान विघ्नरूप यह कुमार मित्र मिल गया। [१८३–१८४]। अब मैं इसको एकाएक छोड़ भी नहीं सकता, क्योंकि यह राजपुत्र है, शक्तिशाली है और यदि यह मेरे ऊपर क्रुद्ध हो गया तो मेरा सर्वनाश कर देगा। अतः अब मुझे कभी-कभी इससे दूर रहना चाहिये, कभी-कभी पास रहना चाहिये, कभी-कभी साधारण मिलन नमस्कार और कभी-कभी उसके मन को अनुरंजित करने वाले कार्य करने चाहिये। मुझे अब किसी भी प्रकार रत्न इकट्ठे करने हैं, इस कार्य में मेरी एकनिष्ठता और मेरे स्वार्थ में विघ्न न पड़े ऐसा ही व्यवहार मुझे कुमार के साथ करना चाहिये। [१८५–१८६]

मैंने अपने मन में धन एकत्रित करने की जो उपरोक्त धारणा बनाई उसे मैंने कार्यरूप में भी परिणत किया। बहुत प्रयास के पश्चात् मैं रत्नों का प्रचुर संग्रह करने में सफल हुआ। इन रत्नों पर मुझे इतनी गाढासक्ति और उसके प्रति इतना मोह बढ़ा कि मेरी चेष्टायें और व्यवहार को देखकर विवेकी पुरुष हंसने लगे। इस रत्न-राशि पर अत्यन्त मूर्छाग्रस्त होकर इन रत्नों को कभी मैं आँखें फाड़-फाड़ कर बार-बार देखता, कभी उन पर हाथ फेरता, कभी हाथ में लेकर उछालता और कभी छाती से चिपका कर प्रसन्नता से खिल उठता। कभी गड्ढा खोदकर उसमें गाड़ देता और उस पर सैकड़ों प्रकार के निशान बनाता। फिर सोचता कि मुझे यहाँ रत्न गाड़ते हुए किसी ने देख तो नहीं लिया? इस शंका से रत्नों को फिर उस गड्ढे में से निकालकर दूसरे स्थान पर गाड़ता और फिर उसके ऊपर दूसरे प्रकार का निशान बनाता। समय-समय पर बार-बार जाकर उन निशानों का निरीक्षण करता। मुझे किसी का विश्वास न होता। अविश्वास के कारण रात में नींद नहीं आती और दिन में चैन नहीं पड़ता। हे भद्रे! सागर मित्र के दोष के कारण मुझे धन पर ऐसी मूर्छा, गाढ आसक्ति, राग और मोह हो गया। अब मैं कभी-कभी समय निकाल कर कुमार के पास चला जाता और उसके मन को आनन्दित कर लौट आता। शेष अधिक समय घर पर ही रहकर अधिकाधिक रत्न इकट्ठे करने की योजना बनाता रहता। रत्नोपार्जन करने में मैं इतना लोलुप बन गया कि मेरी पूरी लगन उसी ओर लग गई और मैं उसी के सपने देखने लगा। मैं सोचने लगा कि रत्नद्वीप में जितने रत्न हैं उन सब रत्नों को इकट्ठे कर उन्हें अपने देश ले जाऊं। [१८७–१९३]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यौवन और मैथुन के साथ मैत्री

भद्रे ! मैं जब रत्नद्वीप में था तब एक और अप्रत्याशित घटना घटित हुई, वह सुनाता हूँ, सुनो। तुम्हें स्मरण होगा कि कर्मपरिणाम महाराजा की त्रिभुवन में प्रसिद्ध कालपरिणति नामक महारानी है।* उसके अत्यन्त रसिक दो विशेष दास हैं जिनके नाम यौवन और मैथुन हैं। उन दोनों में एक बार निम्न वार्तालाप हुआ। [१९४–१९६]

यौवन–मित्र मैथुन ! संसारी जीव इस समय अपने वश में है। तुम्हारे ध्यान में होगा कि इस समय वह धनशेखर के नाम और रूप से जाना जाता है। मुझे लग रहा है कि अब तुम्हारा भी उसके पास जाने का समय आ गया है। अभी अच्छा अवसर है, अतः चलो हम उसके पास चलें। [१९७–१९८]

मैथुन–भाई यौवन ! यदि ऐसी बात है तो वह धनशेखर जहाँ पर है वहाँ मुझे ले चल और उसके साथ मेरा परिचय करवादे। मुझे तेरे साथ चलने में बहुत आनन्द आयेगा। [१९९]।

यौवन–मित्र ! मैं पहले भी उसके पास गया था, उस समय उसने मेरा योग्य सन्मान किया था और मेरी सेवना भी की थी। मैं अवश्य ही तुझे उसके पास ले चलूंगा और उससे तेरा परिचय करा दूंगा। यह धनशेखर ऐसी प्रकृति का है कि इसके साथ सम्बन्ध जोड़ने में आनन्द आयेगा। [२००]

इस प्रकार बातचीत कर वे दोनों अन्तरंग मित्र यौवन और मैथुन मेरे पास आ पहुँचे। फिर यौवन मुझसे बोला—भाई धनशेखर ! आज मैं अपने साथ अत्यन्त प्रेमालु एक मित्र को लाया हूँ। यह बहुत अच्छा है और मित्रता करने योग्य है। मेरे समान ही समझ कर तुम इसके साथ मित्रता करो। मेरी उपस्थिति में इस मित्र के आने पर तुझे बहुत ही आनन्द प्राप्त होगा। मेरा यह मित्र बहुत सुख देने वाला और लहर में मस्त करने वाला है। अथवा बछड़े वाली दुधारू गाय के इतने अधिक गुण गाने की आवश्यकता ही क्या है ? [२०१–२०३]

मित्र यौवन, जिसे मैं पहले से ही जानता था, उपरोक्त बात कह कर चुप हो गया। हे भद्रे ! वास्तविकता तो यह थी कि ये दोनों मित्र महाभयंकर अनन्त दुःखों के खड्डे में धकेलने में कारणभूत थे, परन्तु मोहराजा के दोष से बँधा हुआ विपरीत विचारों से प्रतिबद्ध मैं उस समय यह नहीं समझ सका। सागर के साथ मेरी मित्रता करवाकर भाग्य चुप नहीं हुआ, मेरी विडम्बना कुछ बाकी थी उसे पूर्ण करने के लिए अब मेरी मैत्री मैथुन से करवाई गई। कहावत है कि "जब ऊंट भार से दबकर मुख से बूम मार रहा हो तब भी उस समय यदि अधिक भार उसकी पीठ पर न समा सके तो थोड़ा बोझ उसके गले में भी बाँध दिया जाता है। [२०४–२०६]

---

* पृष्ठ ५७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे भद्रे ! यौवन की बात सुनकर मैं मोह-विह्वल हो गया, मन में उनके प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ और मैंने दोनों को अपने विशेष मित्रों के रूप में स्वीकार कर लिया तथा उन्हें भी सूचित कर दिया कि अब मैं उनके प्रति सच्ची प्रीति रखूंगा। मेरे अन्तरंग राज्य के स्वान्त नामक भवन के स्थान पर उसके अधिपति के रूप में मैंने मैथुन मित्र की स्थापना कर उसे आश्रय दिया और स्वान्त नामक महल के पास ही गात्र नामक (शरीर) महल के स्थान पर यौवन मित्र को स्वामी के रूप में नियुक्त किया। [२०७–२०९]

यौवन और मैथुन का प्रभाव ? कुकर्मों में प्रवृत्ति

उसके पश्चात् ये दोनों मेरे शरीर के भीतर अपने-अपने स्थान पर रहकर, मेरे द्वारा लालित-पालित होकर अपने शौर्य का मुझ पर प्रभाव दिखाने लगे। हे भद्रे ! यौवन मुझ में क्रीड़ा, विलास, प्रहसन, हास्य, चुटकले और वीरता आदि मन को हरण करने वाले अनेक गुण उत्पन्न करने लगा। हे भद्रे ! मैथुन ने मेरे पर ऐसा प्रभाव डाला कि मैं सैकड़ों स्त्रियों के साथ भोग-विलास करूं तब भी मेरा मन नहीं भरे। जैसे दावानल में कितनी ही लकड़ी डालने पर भी उसका पेट नहीं भरता वैसे ही कितनी ही स्त्रियों के साथ मैथुन सेवन करने पर भी मुझे तृप्ति नहीं होती।* फिर मैथुन मित्र ने मुझे नगर की सब से सुन्दर वेश्या के साथ भोग भोगने के लिये प्रेरित किया, पर मेरा पुराना अन्तरंग मित्र सागर जो धन का लोभी था, मुझे समझाता रहा कि ऐसा नहीं करना, क्योंकि ऐसा करने से धन की हानि होगी और एकत्रित पूंजी विनाश को प्राप्त होगी। इस प्रकार एक तरफ मैथुन मुझे विलास करने की आज्ञा देता तो दूसरी तरफ सागर मुझे धन का लोभ दिखला कर रोकता। मैं बहुत नाजुक स्थिति में आ गया, "एक तरफ नदी तो दूसरी तरफ व्याघ्र" वाली मेरी दशा हो गयी। मैं घबरा गया। हे भद्रे ! सागर मित्र पर मुझे अधिक प्रेम था, वह मुझे सब से प्यारा था, उसके प्रति मेरा अधिक आकर्षण था, पर साथ ही मैथुन की आज्ञा का उल्लंघन करने में भी मैं असमर्थ था। अन्त में दोनों के दबाव में आकर मैं एक अप्रत्याशित दारुण कर्म कर बैठा, क्योंकि मेरी इच्छा दोनों की आज्ञा मानने की थी। [२१०–२१६]

दोनों मित्रों को प्रसन्न रखने के लिए मैंने सोचा कि कुछ ऐसा उपाय करना चाहिये कि जिससे मेरी मैथुन-सेवन की इच्छा भी तृप्त हो और धन भी खर्च न करना पड़े। इसके लिए मैं बाल-विधवा, परित्यक्ता, प्रोषितभर्तृका (जिसका पति परदेश गया हो), भक्त-स्त्रियों या बिना पैसा लिए अथवा नाम मात्र का पैसा लेकर वश में होने वाली स्त्रियों के साथ भोग भोगने का विचार करने लगा। सागर मित्र के भय से और मैथुन की आज्ञा मानने के लिए मैंने न तो कार्य-अकार्य का विचार किया और न लोकलाज से ही डरा तथा बिलकुल पागल की तरह ऐसी

* पृष्ठ ५७२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्त्रियों को ढूंढ-ढूंढ कर उनके साथ मैथुन सेवन करने लगा। इस प्रकार के व्यवहार से मैंने अपनी मर्यादा का त्याग कर दिया और निर्लज्ज होकर ढेढणी और भंगिन जैसी ओछी स्त्रियों में भी संगम की कामना से भटकने लगा। मुझ से मैथुन सेवन किये बिना रहा नहीं जाता और उसके लिए पैसे भी खर्च नहीं करने थे, अतः मैं जघन्य कुकर्म में प्रवृत्त हो गया। हे भद्रे! इस प्रकार अग्राह्य और नीच स्त्रियों में भटकने से मेरी बहुत निन्दा हुई और उन स्त्रियों के सम्बन्धियों ने मेरा बहुत अपमान किया, मुझे बहुत मारा और समाज में मेरी बहुत अपकीर्ति हुई। मैं हरिकुमार का मित्र था और उस समय तक मेरा अन्तरंग मित्र पुण्योदय मेरे साथ था इसलिये उन स्त्रियों के सम्बन्धियों ने मुझे जान से नहीं मारा और न मुझे दण्ड ही दिलाया। परन्तु, इस मैथुन मित्र के प्रसंग से मैं समाज में अत्यन्त तिरस्कृत और विवेकवान शिष्टजनों का निन्दापात्र बना। फिर भी हे सुलोचने! मैं मूढचित्त यह मानता रहा कि यह मैथुन मित्र मुझे महान सुख देने वाला है, निष्कामवृत्ति से प्रेम रखने वाला है और आनन्द की मस्ती में झुलाने वाला है। उस समय मुझे निश्चित रूप से यही लगता था कि इस संसार में जिसे मैथुन नहीं मिला उसका जीवन ही क्या है! अथवा उसका जीना और नहीं जीना बराबर है। जीवित भी वह मुर्दा ही है। उस समय मुझे मैथुन पर इतना अधिक प्रेम था और मैं उस पर इतना आसक्त था कि मुझे वह गुणों का पुञ्ज ही दिखाई देता था, उसमें एक भी दोष दिखाई नहीं पड़ता था। ऐसी विपरीत बुद्धि के कारण मुझे मैथुन पर बहुत प्रेम था। वह मेरा अत्यन्त प्यारा मित्र था। फिर भी उससे भी अत्यधिक मेरा प्रिय मित्र तो सागर ही था।

[२१७–२२६]

हे पापरहित अगृहीतसंकेता! उस समय मैं यही समझ रहा था कि सागर मित्र की कृपा से ही देवों को भी अप्राप्य माणक रत्नों के ढेर मुझ गरीब को मिले हैं, अतः वह धन्यवाद का पात्र है। सागर और मैथुन मुझे ऐसी कई दुःखपूर्ण पीड़ाएं पहुँचाते फिर भी मैं मूर्खता के कारण उनमें आनन्द मानता था और यह समझ कर कि मेरे जैसा दूसरा कोई नहीं है। मैं रत्नद्वीप में ही रहता रहा। [२२७–२२८]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. समुद्र से राज्य-सिंहासन

[हरिकुमार निर्दोष आनन्द-विलास करता हुआ, समय-समय पर मेरी मित्रता का लाभ लेता हुआ आनन्दपूर्वक अपना समय व्यतीत कर रहा था। मैं सागर के प्रताप से रत्न इकट्ठे कर रहा था और मैथुन के असर से स्त्रियों में भटक रहा था। सागर का मुझ पर अधिक प्रभाव था, पर विलास में मुझे आनन्द आता था। लोभवश धन नहीं खर्च करता था जिससे नीच स्त्रियों के प्रसंग में पड़कर अपयश का भागी बन रहा था। कुमार में मेरी जैसी विलासप्रियता या लोभ नहीं था।]

हरिकुमार की ख्याति : नीलकण्ठ की दुश्चिन्ता

हरिकुमार में सब प्रकार की सादगी और स्नेहवृत्ति होने से महाराजा नीलकण्ठ का सम्पूर्ण राज्यवर्ग, राजा का अन्तःपुर और पूरा राज्य उस पर मुग्ध था। उसके गुणों से सभी प्रसन्न थे और सभी उसके प्रति प्रेम रखते थे। हरिकुमार जैसे-जैसे उम्र में बढ़ रहा था वैसे-वैसे उसके राज्यकोष और राज्यवैभव में भी वृद्धि हो रही थी। यह बात प्रसिद्ध ही है कि "जनता के अनुराग से संपत्ति में वृद्धि होती है।"* जब वह हरिकुमार मयूरमञ्जरी के साथ हाथी पर सवार होकर, मित्रों और राजपुरुषों से परिवेष्टित होकर, श्वेत छत्र से शोभित होकर घूमने निकलता तो उनकी शोभा इन्द्र-इन्द्राणी जैसी लगती। नगर-निवासी उसकी तरफ एक-टक देखते रहते और उसे वास्तव में भाग्यशाली मानते। [२२६–२३२]

कुमार पर जनता के अतिशय अनुराग को देखकर महाराजा नीलकण्ठ को द्वेष होने लगा। वे सोचने लगे कि कुमार के मन में अवश्य ही मेरे प्रति दूषित भाव होंगे।' ऐसे कलुषित विचारों से महाराजा का मन मलिन हो गया। वे सोचने लगे– मैं वृद्ध हो गया हूँ, पुत्रहीन हूँ, मेरे पास इस समय मेरा कोई पक्षधर नहीं है और इस कुमार ने मेरे सम्पूर्ण राज्य कर्मचारियों और सम्बन्धियों को अपने वश में कर लिया है। संक्षेप में मेरा समग्र राज्यतन्त्र इसने संभाल लिया है और मेरे मंत्री भी उसके प्रति आकर्षित हैं। इस प्रकार वर्धित प्रताप और महाबली यह कुमार कभी मेरे सम्पूर्ण राज्य को भी हड़प सकता है, इसमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं है। अतः अब इसके सम्बन्ध में मुझे अनदेखी नहीं करनी चाहिये। नीति एवं व्यवहार कुशल मनुष्य कह गये हैं कि, "आधा राज्य हड़प करने वाले नौकर को यदि मारा न जाय तो एक दिन स्वयं को उसके हाथ से मरना पड़ता है।" [२३३–२३६]

---

* पृष्ठ ५७३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतएव मैं अपने विशेष मन्त्री सुबुद्धि से परामर्श कर, उसका सहयोग प्राप्त कर कुमार का वध करवा डालूं, ऐसा राजा ने अपने मन में विचार किया।

तत्पश्चात् राजा नीलकण्ठ ने शीघ्र ही सुबुद्धि मंत्री को एकान्त में अपने पास बुलवाया और अपना गूढ अभिप्राय उसे बतलाया। सुबुद्धि मंत्री कुमार को भली प्रकार जानता था और उसके पवित्र सद्गुणों से रंजित होकर उससे प्रेम रखता था। राजा का निर्णय सुनकर उसके हृदय पर वज्र गिरने जैसा झटका लगा, पर राजा का निर्णय स्पष्ट और टाला न जा सकने वाला समझकर उसने राजा की हाँ में हाँ मिला दी। मंत्री ने राजा से कहा—'हे देव! आपके मन में जैसा ठीक लगे वैसा ही करिये। महान पुरुष बुद्धि को अयोग्य लगे ऐसे कार्य में कभी भी प्रवृत्ति नहीं करते।' फिर हरिकुमार को मारने का दृढ़ निश्चय कर राजा और मंत्री अपने-अपने स्थान पर गये। [२३७–२४१]

मन्त्री सुबुद्धि की दक्षता

पवित्र बुद्धि वाला, वयोवृद्ध, अनुभवी सुबुद्धि मंत्री राजा की आज्ञा को सुनकर जब घर आया तो सोचने लगा कि राजा की भोग सुख की आसक्ति को धिक्कार है। उसके इस अज्ञानजनित निर्णय को भी धिक्कार है। ऐसी राज्य-लम्पटता भी सचमुच निन्दनीय एवं धिक्कार योग्य है। राज्य के सम्बन्ध में अनेक अच्छे बुरे विचार आते ही रहते हैं, यह सत्य ही है। एक समय हरिकुमार इन महाराजा को प्राणों से भी अधिक प्यारा था। यह सर्वगुणनिधान होते हुए भी महाराजा का जंवाई है और उनकी सगी बहिन का एक मात्र पुत्र/भाणेज भी है। इनके आश्रय में रहने वाला कुमार आज बिना कारण राजा का द्वेषभाजन हो गया है। राजा की दृष्टि में यह उनका महान शत्रु और वध योग्य हो गया है। अहा! भोग और तृष्णा की कामनाओं से जो अन्धापन आता है, वही ऐसी भयंकर परिस्थितियों का कारण बनता है। इसके अतिरिक्त और कोई कारण नहीं। अहा! ऐसा महान पवित्र, विनयशील, अलोभी, शुद्धात्मा हरिकुमार जो पाप से डरने वाला है, क्या वह कभी स्वप्न में भी राज्य-हरण का विचार कर सकता है? राज्य के लोभ से महाराजा नीलकण्ठ इस समय मूर्ख, बुद्धिविकल और विचारहीन बन गये हैं, इसमें कुछ भी संदेह नहीं। इस पवित्र शुद्धात्मा रत्न जैसे उज्ज्वल हरिकुमार का अब किसी भी उपाय से मुझे रक्षण करना चाहिये। [२४२–२४७]

मंत्री ने अपने हृदय में कुमार के रक्षण का संकल्प कर अपने एक विश्वासी भृत्य दमनक को सब बात अच्छी तरह समझाई। राजा के साथ जो बात हुई वह सब और भविष्य में क्या होने वाला है वह सब समझाकर गुप्त रूप से कुमार के पास दमनक के द्वारा ये समाचार भिजवा दिये* और यह भी कहलाया 'कुल-

* पृष्ठ ५७४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूषण कुमार ! हम पर कृपा कर आप यह देश छोड़कर शीघ्र ही चले जायें, इसमें तनिक भी विलम्ब न करें।' [२४८–२४९]

हरिकुमार की प्राणरक्षा : पलायन

दमनक ने आकर कुमार को सब समाचार कहे। सुनकर कुमार के पेट का पानी भी नहीं हिला। मामा का या मौत का उसे किंचित् भी भय नहीं हुआ। फिर भी उसके मानस में वृद्ध मंत्री सुबुद्धि के प्रति बहुत आदर था, अतः उसके आग्रह को ध्यान में रखकर, समुद्र पार कर स्वदेश जाने का उसने तुरन्त निश्चय कर लिया। हे भद्रे ! निर्णय करते ही हरिकुमार ने मुझे अविलम्ब एकान्त में बुलवाया और अत्यन्त विश्वासपूर्वक मेरे सामने सब वृत्तान्त कह सुनाया कि राजा ने बिना कारण उस पर द्वेष किया है और मंत्री के परामर्श एवं निर्देश के अनुसार वह इसी समय समुद्र पार कर भारतवर्ष/स्वदेश लौट जाना चाहता है। मित्र धनशेखर ! मैं तेरा विरह क्षण भर भी सहन नहीं कर सकता, अतः तुम भी मेरे साथ चलने के लिये तैयार हो जाओ। [२५०–२५३]

कुमार का निर्णय सुनकर मैंने अपने मन में विचार किया कि बड़े आदमी के साथ मैत्री करने का यह फल है। मैं तो यहाँ रत्न राशि एकत्रित करने आया था मगर जब से इसकी मित्रता हुई तब से इस काम में विघ्न ही पड़ा। अब इसके साथ इतनी गहन मित्रता हो गई है कि छोड़ते भी नहीं बनता। मुझे उसके साथ जाना ही पड़ेगा। अन्य कोई बहाना नहीं चलेगा। [२५४]

ऐसा सोचकर मैंने प्रकट में कुमार से कहा— भाई ! आपकी जैसी इच्छा, इसमें मुझे क्या कहना है।

मेरा उत्तर सुनकर कुमार प्रसन्न हुआ। फिर वह बोला— मित्र ! कोई सुदृढ़ जहाज जो तैयार हो और अभी रवाना होने वाला हो तो उसका पता लगाओ। मैंने रत्न का बहुत बड़ा भण्डार इकट्ठा किया है उसको लेकर शीघ्र ही जहाज में बैठ जायें।

मैंने कुमार के निर्णय को शिरोधार्य किया। तुरन्त ही मैं समुद्र के किनारे गया और सर्व सामग्री से सम्पन्न और अत्यधिक सुदृढ़ दो बड़े जहाज ढूंढ निकाले। एक जहाज में कुमार के रत्न भर दिये और दूसरे जहाज में मैंने मेरे रत्न भर दिये।

यह सब तैयारी गुप्त रूप से चल रही थी तभी संध्या हो गई। अन्धेरा होने पर किसी परिजन को संदेह न हो इस प्रकार चुपचाप मयूरमंजरी और वसुमती को साथ लेकर हरिकुमार और मैं समुद्र किनारे पहुँचे। वहाँ हमने जहाजों और उनके कर्मचारियों की खूब अच्छी तरह से जांच की। रात्रि का प्रथम प्रहर बीतने पर रमणी के कपोल जैसा पाण्डुरंग का चन्द्र आकाश में उदित हुआ। उसी समय समुद्र में खलबली मची, जल-जन्तुओं के शोर के साथ ही समुद्र में ज्वार आ गया। कुमार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी पत्नी के साथ अपने जहाज में बैठा और मैं अपने जहाज में बैठने जा ही रहा था कि कुमार बोला—भाई धनशेखर ! तुम भी मेरे जहाज में ही आ जाओ, मुझे तुम्हारे बिना एक क्षण भी नहीं सुहाता, अर्थात् तुम्हारे बिना एक पलभर भी मैं अकेला नहीं रह सकता ।

मित्र हरिकुमार के आग्रह से मैं भी कुमार के जहाज में बैठ गया । जहाज में प्रवेश करने के बाद मांगलिक शकुन किये गये । चालकों ने अपने स्थान ग्रहण किये । पाल खोले गये और उसमें हवा भरते ही हमारे जहाज चलने लगे । जहाज चलते-चलते आगे बढ़ रहे थे । इस प्रकार कुछ दिन व्यतीत हुए और हमने भारत की तरफ जाने का अधिक भाग समुद्र मार्ग से पार कर लिया ।

धनशेखर का हरिकुमार को समुद्र में फेंकना

हे अगृहीतसंकेता ! जिस समय हमारी यात्रा आनन्दपूर्वक चल रही थी उसी समय मेरे दोनों पापी अन्तरंग मित्र सागर और मैथुन एक साथ उपस्थित होकर मुझे अन्दर से प्रेरित करने लगे । पहले पापकर्मी सागर ने अपना रोब जमाया । उसने मुझे उकसाया कि ऐसा रत्नों से भरा हुआ जहाज कभी दूसरों के हवाले किया जा सकता है ? पाप-प्रेरक सागर की आंतरिक प्रेरणा से मेरे मन में विचार आया कि, अहा ! मेरे भाग्य तो वस्तुतः अतिशय प्रबल हैं । मेरा एक जहाज तो रत्नों से भरा हुआ है ही, अब यह रत्नों से भरा हुआ कुमार वाला* दूसरा जहाज भी मुझे मिल जाय तो मेरे मन के समस्त मनोरथ पूर्ण हो जायें ।

[२५५–२५७]

उसी समय मेरे दुरात्मा मित्र मैथुन ने भी मुझे आन्तरिक प्रेरणा दी । मेरे मन में धन सम्बन्धी पाप तो पहले से ही भरा था उसमें इस दुष्ट बुद्धि ने और वृद्धि की । उसने मुझे उकसाया कि इस अत्यन्त पृथुस्तनी, विशाल नेत्रों वाली, पतली कमर वाली, सुकोमला, मोटे नितम्ब वाली, गजगामिनी, लावण्यामृत से ओत-प्रोत, महास्वरूप वाली मयूरमंजरी की तुलना में दूसरी स्त्री इस विश्व में मिलना असंभव है । जब तक तूने उसके साथ काममुख नहीं भोगा तब तक तेरा जन्म व्यर्थ है, तेरा जीवन निष्फल है । अतः इस आकर्षक नेत्रों वाली ललना को तुझे सब से अधिक बहुमूल्य मानना चाहिये और किसी भी प्रकार उसे अपने वश में करना चाहिये ।

[२५८–२६१]

मैथुन की इस प्रेरणा से प्रेरित होकर मैंने सोचा—एक तो रत्नों से भरा हुआ कुमार वाला जहाज मुझे प्राप्त करना है और दूसरे मयूरमंजरी को अपनी अंक-शायिनी बनाना है । इस प्रकार करने से मुझे धन प्राप्ति के साथ स्त्री-संभोग का आनन्द भी प्राप्त होगा । परन्तु, जब तक हरिकुमार जीवित है तब तक मुझे इन

* पृष्ठ ५७५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों में से एक भी वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती, अतः इन दोनों को प्राप्त करने का एक ही उपाय है कि मैं किसी भी प्रकार कुमार को अपने मध्य में से समाप्त कर दूं, इस कांटे को निकाल दूं। इस प्रकार सागर और मैथुन मित्रों के वशीभूत होकर इन विचारों के परिणामस्वरूप पाप-परिपूर्ण होकर मैंने अपने मन में निश्चय किया कि किसी को भी संशय न हो इस प्रकार युक्तिपूर्वक कुमार का मैं वध कर दूं।
[२६२–२६३]

मैंने जब उपरोक्त निर्णय लिया तब यह नहीं सोचा कि कुमार मेरे प्रति कितना अगाध प्रेम रखता है। मैंने न उसकी स्नेह रसिकता का विचार किया, न मित्रद्रोह के महापाप को सोचा और न कुल में लगने वाले राज्यद्रोह के बड़े भारी कलंक का ही विचार किया। मैं दीर्घकालीन उसकी मित्रता को भूल गया, उसके शुद्ध व्यवहार को भी भूल गया, अथवा उसके विशुद्ध जीवन को भी भूल गया। उसने मुझे अनेक बार सन्मानित किया था उसे भी मैंने ताक पर रख दिया और सच्चे पुरुषार्थ का नाश कर न्याय के मार्ग से भटकने का मैंने निर्णय ले लिया।

अन्यदा मैं दुष्कर्म प्रेरित होने के कारण रात्रि में उठा और कुमार को जहाज के किनारे पर ले गया तथा उसे वहाँ लघु-शंका करने को प्रेरित किया। वह सोच ही रहा था कि मैं उसे ऐसा क्यों कह रहा हूँ तब तक तो वह मेरे धक्के को सहन न कर, एक हृदयभेदी चीत्कार के साथ समुद्र में गिर पड़ा। [२६६–२६७]

समुद्र देव द्वारा रक्षण

चीत्कार के साथ जहाज में से कुछ समुद्र में गिरने के छपाके की आवाज सुनते ही लोग जाग गये और चारों तरफ कोलाहल होने लगा। मयूरमंजरी को बहुत भय लगा और मैं तो मूर्ख जैसा शून्य मनस्क होकर वहाँ का वहाँ खड़ा रह गया। मेरे ऐसे अति भयंकर पाप कर्म को देखकर समुद्र का अधिपति देव मुझ पर अत्यन्त क्रोधित हुआ। कुन्द के फूल अथवा चन्द्रमा जैसे कुमार के निर्मल गुणों से वह उस पर बहुत प्रसन्न था अतः तुरन्त ही महाभयंकर आकृति धारण कर धमाधम करता हुआ जहाज के निकट आया। उस देव ने सब से पहले उसी क्षण अत्यन्त आदरपूर्वक हरिकुमार को समुद्र के जल में से निकाल कर जहाज पर रखा।
[२६८–२७१]

हे अगृहीतसंकेता ! तुझे याद होगा कि मेरे जन्म से ही मेरा अन्तरंग मित्र पुण्योदय मेरे साथ था और उसका सहयोग मुझे सर्वदा मिलता रहता था। उसका मेरे प्रति अभी भी प्रेम था। यद्यपि कुछ समय से वह क्षीण होता जा रहा था, पर मेरे इस अत्यन्त अधम कृत्य को देखकर तो वह मुझ पर बहुत ही क्रोधित हुआ और वह सदा के लिए मुझे छोड़कर मेरे से दूर चला गया। [२७२]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समुद्र देव का कोप

जिस समुद्र देव ने कुमार को वापस जहाज पर रखा था उसके तेज से दशों दिशाएं बिजली की तरह चमकने लगी और चारों तरफ प्रकाश ही प्रकाश हो गया। उस देव ने अब महा भयंकर रूप धारण कर मेरे सामने आकर गरजते हुए अति कठोर/क्रूर स्वर में कहा—'अरे महापापी ! दुर्बुद्धि ! कुलनाशी ! निर्लज्ज ! मर्यादाहीन ! अधम ! हिंजड़े ! मन से तू ऐसा घोर और अतिरौद्र कर्म कर रहा था फिर भी अभी तक तेरे टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं हो गये ?' ऐसे भयंकर शब्द बोलते हुए अपने होठों को दांतों से दबाकर महा भीषण भृकुटी चढ़ाकर वह मेरे पास आया। उसे देखते ही मैं थर-थर कांपने लगा और उसी अवस्था में मुझे उठाकर वह आकाश में * खड़ा हो गया। [२७३–२७६]

उस समय हरिकुमार मेरे पक्ष में आया। मैंने उसे मारने का प्रयत्न किया था, उसे भूलकर, पूर्व के स्नेह को ध्यान में रखकर उसने अपनी सज्जनता बतलाई। तुरन्त ही देव को मस्तक झुकाकर उसके पैरों पड़ा और हाथ जोड़कर मेरे लिए प्रार्थना करने लगा—हे देव ! आपके पैरों में गिरकर प्रार्थना करने वाले मुझ पर यदि आपकी सच्ची दया है तो आप मेरे मित्र को छोड़ दें। हे देव ! आपने तो मुझे काल के मुंह से बचाया है। अब आप मुझ पर इतनी कृपा और करें और मेरे इस प्रिय मित्र को न मारें। देव ! इसके बिना मुझे अपना जीवन बिताना कठिन होगा। इसके बिना मेरा सुख, मेरा धन और मेरा शरीर भी व्यर्थ है, अतः आप कृपा कर किसी भी प्रकार इसे छोड़ दें। [२७७–२८०]

कुमार मेरा समग्र चरित्र जानता था। मैंने उसके विरुद्ध जो भयंकर षड्यन्त्र रचकर उसे समुद्र में धकेला था, उसे भी वह जानता था। फिर भी उस महाभाग्यवान नरश्रेष्ठ ने मेरे प्रति इतना प्रशस्ततम व्यवहार किया था। सच है, "साधु पुरुष किसी भी प्रकार के विकारों से रहित ही होते हैं।" हरिकुमार की इस विचित्र एवं अप्रत्याशित याचना को सुनकर देव मुझ पर अत्यधिक क्रोधित होकर कुमार से कहने लगा—हे महाभाग्यशाली कुमार ! तू तो वास्तव में ही भद्रजन और सरल स्वभावी है, तुझे जिस स्थान पर जाना है वहाँ जा। इस दुष्ट घातकी को तो मैं इसकी दुष्टता का अच्छा फल चखाऊंगा। [२८१–२८३]

यों सज्जन को सज्जनता का उत्तर देकर देव ने आकाश में मुझे प्रबल वेग से घुमाया और फिर जोर से उछाल कर समुद्र में फेंक दिया। मुझे देव ने इतने जोर से फेंका कि उस समय समुद्र में बहुत जोरदार धमाका हुआ और मैं समुद्र की तलहटी में पहुँच गया। अन्धकार से काले समुद्र तल में मैं थोड़ी देर तक नरक के जीव की स्थिति का अनुभव करता रहा और भद्रे ! फिर अपने पाप कर्मों को

---

* पृष्ठ ५७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोगने के लिए समुद्र के ऊपर आ गया। 'मैं डूब गया हूँ या मर गया हूँ' यह सोच-कर देव वापस चला गया। उस समय पवन अनुकूल होने से हरिकुमार दोनों जहाजों को लेकर भारतवर्ष के समुद्र तट पर पहुँच गया। [२८४–२८६]

हरिकुमार को राज्य-प्राप्ति

समुद्र तट पर उतरते ही हरिकुमार ने लोगों के मुख से सुना कि, 'उसके पिता आनन्दनगर के राजा केसरी मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं।' समाचार सुनकर शीघ्र ही हरि अपने राज्य की तरफ गया और बिना किसी क्लेश या लड़ाई के पैतृक राज्यगद्दी पर स्वयं बैठ गया। [२८७–२८८] कुमार की धाय माता वसुमती ने उस समय कमलसुन्दरी की सब घटना विस्तार से बतलाकर समस्त पारिवारिक बान्धवजनों और राज्यपुरुषों के समक्ष यह सिद्ध कर दिया कि हरिकुमार केसरी राजा का पुत्र ही है। कमलसुन्दरी का पुत्र की रक्षा हेतु भागने से लेकर आज तक का सारा घटनाचक्र सुनकर सब लोग कुमार के प्रति अत्यधिक आकर्षित हुए और राज्य का वास्तविक अधिकारी उन्हें मिला है यह जानकर सारी प्रजा ने संतोष प्राप्त किया।

इस प्रकार हरिकुमार अपने प्रबल पुण्य के प्रताप से राजा बना और अन्त में विशाल भूमण्डल का अधिपति बना। कुमार ने अपनी सज्जनतावश मेरे पिता हरिशेखर को बुलाकर रत्नों से भरा हुआ मेरा जहाज उन्हें सौंप दिया।

८. धनशेखर की निष्फलता

धनशेखर की दुर्दशा

देव ने मुझे समुद्र तल में फेंक दिया था। जब मैं ऊपर आया तो पर्वत जैसी विकट ऊंची-ऊंची खारे पानी की लहरें मुझे थपेड़े मार रही थी, बड़े-बड़े मगरमच्छ मुझ पर अपनी पूंछों से आघात कर रहे थे, अनेक तन्तु जैसे जलजन्तुओं द्वारा मैं बांधा जा रहा था, सफेद शंखों के समूहों में पछाड़ा जा रहा था, परवाल (समुद्री घास) के सघन वनों में गुम हो रहा था, अनेक प्रकार के मगरमच्छों, जल मनुष्यों, सर्पों और नक्रों (शार्कों) द्वारा भयभीत किया जा रहा था। कछुओं की कठोर पीठ के कांटों से लहुलुहान, गले तक प्राण आ गये हों ऐसी मृतप्रायः स्थिति में सात दिन और सात रात्रि तक उस महासमुद्र में अनेक प्रकार के दुःख उठाते हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्त में मैं किनारे पर लगा। ज्वार ने मुझे किनारे पर फेंक दिया था, पर मैं उस समय मूर्छित था। शीतल पवन के झकोरों से मुझ में कुछ चेतना आयी।*

चेतना आने पर मुझे बहुत जोर की भूख और प्यास लगी। मैं फल और पानी की खोज में इधर-उधर भटकने लगा। मेरा पुण्योदय समाप्त हो गया था, अतः अब मैं कुछ भी प्रवृत्ति करूं उसमें मुझे असफलता ही मिलती थी। अनेक स्थानों पर भटकते हुए मुझे एक जंगल दिखाई पड़ा, पर वह भी पुष्प-फल रहित मरुभूमि के उजाड़ प्रदेश जैसा था। सात दिन का भूखा-प्यासा और अनेक प्रकार के दुःखों से उत्पीड़ित मेरी उस समय कैसी दशा हो रही थी, यह तो सहज अनुमान का विषय था। इतने पर भी अभी मुझे बहुत पाप का फल भोगना बहुत बाकी था और मेरे हाथ से नये पाप होने शेष थे इसलिये इस घोर दुःख में भी ऐसे संयोग मिल ही गये जिससे कि मेरी प्राण रक्षा हो गई। जैसी-तैसी तुच्छ वस्तुएं खाकर मैं अपना जीवन चलाने लगा। [२८६–२६०]

वहाँ से भटकते हुए मैं आगे बढ़ने लगा। अनेक गांवों, नगरों और देशों में घूमते हुए अन्त में मैं वसन्त देश में पहुँचा। न खाने का ठिकाना, न रहने का ठिकाना, न पीने का ठिकाना, ऐसी भयंकर स्थिति में मैं अनेक स्थानों पर घूमा, पर अपने अभिमान के कारण मैं अपने पिता के घर आनन्दपुर नहीं गया। मेरा पुण्योदय मित्र मुझे छोड़ चुका था। मात्र सागर और मैथुन अन्तरंग मित्रों को साथ लेकर पुनः धनोपार्जन की कामना से मैं अनेक देशों में घूमता रहा। [२६१–२६२]

कार्यों में निष्फलता

भिन्न-भिन्न देशों में जाकर मैंने अनेक नये-नये कार्य धन कमाने के लिये किये, पर पुण्य के अभाव में धन की प्राप्ति तो नहीं हुई, किन्तु जो भी कार्य किया उसमें रुपये की अठन्नी जरूर हो गई। मैंने कैसे-कैसे काम किये, इसका संक्षिप्त वर्णन सुनाता हूँ—

मैंने खेती का कार्य किया तो उस वर्ष उस स्थान पर वर्षा ही नहीं हुई और सारे देश में अकाल पड़ा।

फिर मैंने अत्यन्त विनयपूर्वक नीचा मुंह करके राजा की नौकरी स्वीकार की। बहुत ध्यान लगाकर राज्य सेवा सच्चे दिल से करने लगा, किन्तु उसमें भी ऐसे प्रसंग आने लगे कि राजा अकारण ही मुझ पर क्रोधित होने लगा और अन्त में मुझे नौकरी छोड़ देनी पड़ी।

राज्य-सेवा को छोड़कर अब मैंने सेना में नौकरी करली, पर मेरे सेना में भर्ती होते ही एक बड़ा युद्ध प्रारम्भ हो गया और मुझे युद्ध के मोर्चे पर जाना पड़ा। युद्ध में अपना कर्त्तव्य और सेनापति की प्रसन्नता के लिए मुझे अनेक शस्त्रास्त्रों की

* पृष्ठ ५७७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार सहन करनी पड़ी, जिससे मेरे शरीर में अनेक घाव हो गये और दुःखी मन से मुझे सेना की नौकरी भी छोड़नी पड़ी।

फिर मैंने बैलगाड़ी खरीदी और भाड़े से एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल और यात्रियों को ले जाने लगा, पर कुछ ही दिनों के बाद मेरे बैलों को तिलक (खरवा) रोग लग गया जिससे मेरे सारे बैल मर गये।

तब मैंने कुछ गधे खरीदे और उन पर माल लाद कर बनजारे का कार्य प्रारम्भ किया। मेरी इच्छा एक देश से दूसरे देश के साथ व्यापार चलाने की थी। इसी कामना से जब मैंने बनजारों के समूह को इकट्ठा कर व्यापार करना प्रारम्भ किया तब चोरों ने हमारे समूह पर धावा बोला और हमारा सर्वस्व लूटकर हमारे व्यापार को चौपट कर दिया।

अपनी निष्फलताओं से तंग आकर अन्त में मैंने किसी गृहस्थ के घर में नौकर का कार्य स्वीकार किया और अनेक प्रकार से उसकी सेवा करने लगा, पर मेरी सेवा के बदले में मेरा मालिक मुझ पर कुपित होता रहता और निश्चित वेतन भी नहीं देता। तंग आकर मुझे यह नौकरी भी छोड़ देनी पड़ी।

हे सुमुखि ! फिर मैंने किसी व्यापारी के जहाज पर नौकरी की। परदेश के साथ व्यापार करने के लिए जहाजों में माल भरा गया और वे जहाज परदेश जाने के लिए समुद्र में चलने लगे, पर मेरे कर्म-संयोग से वे जहाज तूफान में घिर गये और समुद्र में डूब गये। जहाजों में भरी हुई व्यापार की सब वस्तुएं भी समुद्र-तल में समा गईं। मेरे हाथ में एक लकड़ी का तख्ता आ गया था जिसे पकड़ कर मैं बड़ी कठिनाई से किनारे लगा, और अपने प्राण बचा सका।

तख्ते के साथ तैरता-तैरता मैं रोधनद्वीप के किनारे पर लगा था। मैंने सुन रखा था कि इस द्वीप में अनेक प्रकार के खनिज पदार्थ जमीन में से निकलते हैं, अतः बहुत परिश्रम कर मैं जमीन खोदने लगा, पर भाग्य की विडम्बना थी कि मेरे हाथ धूल के सिवाय कुछ भी नहीं लगा।

इसके पश्चात् मैं एक राजा से मिला और उसकी आज्ञा लेकर मैंने रसायनों से सोना, चांदी आदि बनाने के धातुवाद के कार्य द्वारा धन कमाने का प्रयत्न किया। पत्थरों पर, पेड़ों की जड़ों पर, मिट्टी पर पारे को शोध कर कई प्रकार के प्रयोग किये और इन प्रयोगों के पीछे अपने जीवन का अमूल्य समय नष्ट किया, पर मेरे हाथ तो सोने के बदले नमक ही लगा। मुझे किसी प्रकार का लाभ नहीं हुआ और परिश्रम भी व्यर्थ गया।

फिर, धन कमाने की इच्छा से द्यूतकला सीखकर मैं अनेक प्रकार का जुआ खेलने लगा, पर उसमें भी जुआरियों ने मुझे जीत लिया और मुझे बांधकर इतना मारा कि मेरी हड्डी-पसली एक हो गई। बड़ी कठिनता से मैं जुआरियों के फंदे से छूटा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर मुझे एक महात्मा पुरुष मिले । उनके पास से मैंने रसकूपिका कल्प की विधि सीखी । रससिद्धि की पुस्तक को लेकर मैं रात में रसकूपिका वाली पहाड़ की गुफा में गया और उसमें से रस निकालने का जैसे ही प्रयत्न करने लगा वैसे ही एक सिंह अपनी मोटी पूंछ उछालता और भयंकर गर्जन करता वहाँ पहुँच गया । मैं भयभीत होकर वहाँ से भागा* और बड़ी कठिनाई से अपनी जान बचा पाया ।

[२९३–३०६]

हे अगृहीतसंकेता ! तुझे क्या-क्या बतलाऊं ? उस समय मैंने धन प्राप्त करने की इच्छा से न मालूम कौन-कौन से पाप-कर्म नहीं किये । अनेक व्यापार किये पर पुण्योदय मेरे साथ नहीं था इसलिये जो भी काम करता वह उलटा ही पड़ता और प्रत्येक काम में मुझे लाभ के बदले कठिनाइयों में ही फंसना पड़ता । पुण्योदय के बिना मेरी ऐसी दशा हुई कि बहुत जोर की भूख लगने पर मैंने भीख भी मांगी तब भी मुझे भीख नहीं मिली । मेरी ऐसी दुर्दशा हो गई । जब मुझे इस प्रकार प्रत्येक काम में असफलता ही हाथ लगने लगी तब मैं बहुत ही निराश हो गया और मैंने यह निश्चय कर लिया कि अब मैं कुछ भी काम नहीं करूंगा । इस प्रकार मैं हाथ पर हाथ रखकर पैर पसार कर बैठ गया । [३०७–३०९]

सागर का उपदेश : अनुसरण और निष्फलता

जब मैं इस प्रकार निराश होकर बैठ गया तब मेरे अन्तरंग मित्र सागर ने फिर मुझे प्रेरित किया और मुझे उत्साहित करने के लिए हितोपदेश देने लगा—प्रिय धनशेखर ! मैं तुझे तेरे लाभ की बात कहता हूँ, तू ध्यानपूर्वक सुन—

न विषादपरैरर्थः, प्राप्यते धनशेखरः ।
अविषादः श्रियो मूलं, यतो धीराः प्रचक्षते ।।३११।।

हे धनशेखर ! जो प्राणी निराश हो जाते हैं उन्हें कभी धन की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसीलिए विद्वान् मनुष्य कहते हैं कि किसी भी काम में निराश नहीं होना चाहिये, यही धन एकत्रित करने का मूल मंत्र है ।

इसलिये पुरुषार्थी मनुष्य को निराशा छोड़कर, भाग्य के विपरीत होने पर भी परिश्रम कर धनोपार्जन करने का प्रयत्न करना चाहिये । यही सच्चा पौरुष है और इसी से लाभ मिल सकता है । आलसी बनकर बैठे रहने से या अन्य किसी प्रकार से लाभ प्राप्त नहीं हो सकता । तुझे कितना कहूँ, धन तो अवश्य प्राप्त करना चाहिये । वह चाहे झूठ बोलकर, दूसरे के धन को चुराकर, मित्र-द्रोह कर, अपनी सगी माता को मार कर, पिता का खून कर, सगे भाई का घात कर, सगी बहिन का नाश कर, स्वजन-सम्बन्धियों का विनाश कर और समस्त प्रकार के पापाचरण

---

* पृष्ठ ५७८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करके भी किसी भी प्रकार से धन इकट्ठा करना ही चाहिये। धन की महिमा इस संसार में कुछ और ही प्रकार की है।

धनवान मनुष्य कितना भी पाप करे तब भी धन की महिमा के कारण वह लोगों में पूजा जाता है, लोग उसकी सेवा करते हैं, सगे-सम्बन्धी उसके चारों तरफ फिरते हैं, भाट चारण उसकी महिमा गाते हैं, बड़े-बड़े विद्वान् एवं पंडित लोग भी उसका सन्मान करते हैं और अत्यन्त विशुद्ध धर्मात्मा मनुष्य से भी अधिक धर्मात्मा उसे माना जाता है। धन की ऐसी स्थिति है। इसीलिये हे धनशेखर! तू सर्व प्रकार के विषाद का त्याग कर, धैर्य धारण कर और फिर से द्विगुणित उत्साह-पूर्वक धन कमाने के कार्य में परिश्रम प्रारम्भ करदे। तू मेरी शक्ति को बराबर समझ ले और जैसा मैं उपदेश/परामर्श दे रहा हूँ वैसा कर।

हे सुन्दरांगी अगृहीतसंकेता! इस दुरात्मा सागर मित्र के परामर्श, पाप पूर्ण उपदेश और प्रेरणा से प्रेरित होकर मैंने पुनः अनेक प्रकार के पातकी कार्य प्रारम्भ किये। अर्थात् उसने नये-नये प्रकार के पाप करने और नये-नये व्यापार करने के लिये मेरी बुद्धि को प्रेरित किया और उकसाया जिससे मैं दुर्बुद्धि अनेक प्रकार के पाप कर्म करने लगा। यह सागर मुझे जो आज्ञा देता उस पर मैं बिना विचार किये जैसा वह कहता वैसे सब धन्धे करता, व्यापार करता। इस प्रकार उसमें होने वाले समस्त पापों को मैं अपनाने लगा। इस प्रकार मैंने अनेक पाप कर्म किये, मगर मुझे एक फूटी कौड़ी भी मिली नहीं, क्योंकि मेरा मित्र पुण्योदय तो कर्म का रुष्ट होकर मेरे से दूर चला गया था। इसीलिये हे सुन्दरि! पुण्योदय-रहित और मिथ्याभिमान के वश होकर मैं अपने श्वसुर बकुल के यहाँ भी नहीं गया।

[३१२–३१५]

मेरी ऐसी विषम दशा हो गई थी और मैं ऐसी असहनीय स्थिति से गुजर रहा था, फिर भी मेरा मित्र मैथुन अपने अन्य मित्र यौवन के साथ मेरा पीछा नहीं छोड़ रहा था। वह मुझे बार-बार प्रेरित करता, उकसाता रहता था। परन्तु, मैं तो एकदम निर्धन गरीब हो गया था और मेरा पुण्योदय मित्र भी मुझ से विदा हो गया था जिससे कोई अच्छी स्त्री तो मेरे सामने देखती भी नहीं थी। सुन्दरी तो क्या पर कोई कानी कुबड़ी स्त्री भी मेरी तरफ नहीं झांकती थी। इस प्रकार मैथुन सेवन की इच्छा और प्रेरणा तो अविरत चलती रहती, पर अभीष्ट स्त्री-संयोग नहीं मिलता, जिससे मेरा मन अन्दर ही अन्दर निरन्तर जलता रहता।* किन्तु पुण्योदय बिना मेरी इच्छा कभी पूरी नहीं हो सकी। [३१६-३१८]

इस प्रकार धन की इच्छा और मैथुन की प्रेरणा से मैंने अनेक देशों में भटकते हुए अनेक प्रकार के दुःखों को सहन किया। सभी जगह मुझे निराशा और निष्फलता ही हाथ लगी और मेरी अभिलाषाएँ पूरी नहीं हुई। [३१९] □

* पृष्ठ ५७९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. उत्तमसूरि

उत्तमसूरि का पदार्पण

अन्यदा अनेक गुणरत्नों की खान आचार्य उत्तमसूरिजी महाराज आनन्दनगर में पधारे। उनके साथ में अनेक सत्साधुओं का बड़ा भारी संघ आया था और वे सभी नगर के बाहर मनोरम उद्यान में ठहरे थे। आचार्य के आगमन के समाचार मिलने पर राजा हरिकुमार बहुत प्रसन्न हुआ और समस्त राज्यवृन्द से परिवृत होकर बड़े आडम्बर/उत्सव के साथ उनकी वन्दना करने उद्यान में गया। आचार्य श्री की विधि-पूर्वक वन्दना कर, सभी साधुओं को नमस्कार कर, सुखसाता पूछकर वह शुद्ध जमीन पर बैठा और उनके साथ ही समस्त राज परिवार भी आचार्यदेव की धर्मदेशना सुनने के लिये उत्सुक होकर भूमि पर बैठा। आचार्य महाराज ने सब के योग्य सब को समझ में आ सके, ऐसा अमृत स्वरूप उपदेश दिया। [३२०-३२३]

हरिशेखर की जिज्ञासा : समाधान

महाराजा हरिकुमार भी उपदेश सुनकर अपने मन में बहुत आनन्दित हुए और उनका चित्त प्रसन्न हो गया। राजा को ज्ञात हुआ कि आचार्य श्री का ज्ञान सूक्ष्म पदार्थों को भी भली-भांति जान लेता है, दूर रहे हुए अथवा व्यवधानयुक्त पदार्थों के बारे में भी वे जान जाते हैं, भूतकाल में घटित घटनाओं के विषय में और भविष्य काल में घटित होने वाली घटनाओं के विषय में भी वे जान सकते हैं। जब राजा को इस बात का विश्वास हो गया तब वे सोचने लगे कि धनशेखर मेरा प्रिय मित्र था, फिर भी उसने मुझे समुद्र में क्यों धकेला? पहले तो वह मेरा इष्टमित्र था फिर एकाएक उसके विचार परिवर्तित कैसे हुए और उसने ऐसा कुव्यवहार क्यों किया? वह देव कौन था? कहाँ से आया था? उसने रुष्ट होकर धनशेखर को समुद्र में क्यों फेंक दिया? मेरा मित्र धनशेखर अभी जीवित है या मर गया? आदि-आदि अनेक प्रश्न और वह समग्र घटना हरि राजा को याद आ गई।
[३२४-३२८]

अभी राजा यह सब बातें अपने मन में सोच ही रहे थे कि आचार्य उत्तम-सूरि ने उनके मन के सब भाव मनःपर्यव-ज्ञान द्वारा जान लिये और कहने लगे—राजन्! तुम्हारे मन में यह प्रश्न उठा है कि तेरा मित्र तुझ पर बहुत प्रेम रखता था फिर भी उसने तुम्हें समुद्र में क्यों फेंक दिया? सुनो, इसका उत्तर यह है कि, इस धनशेखर के सागर और मैथुन नाम के दो अन्तरंग मित्र हैं। सारा अपराध इन दोनों मित्रों का है। उस बेचारे का तो इसमें कुछ भी दोष नहीं है। यह धन-शेखर अपने स्वभाव से तो अच्छा है, भला है और सुन्दर है, पर इसके ये पापी मित्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसके व्यवहार को पलट देते हैं। उसके लुच्चे मित्र मैथुन ने तेरी पत्नी मयूरमंजरी के साथ भोग भोगने की दुर्बुद्धि उसमें उत्पन्न की और सागर मित्र ने तेरा रत्नों से भरा हुआ जहाज हड़प जाने की प्रेरणा दी। इस प्रकार इन दोनों मित्रों ने उसके मन में दुर्बुद्धि उत्पन्न की जिसके फलस्वरूप धनशेखर ने तुम्हें समुद्र में फैंक दिया। उन पापी-मित्रों से प्रेरित धनशेखर के इस अति अधम कृत्य से समुद्र का देव कुपित हुआ। उसने तुम्हारी रक्षा की और धनशेखर को समुद्र में डुबो दिया। उसके भाग्य से वह मरा नहीं और तैर कर ऊपर आ गया। सागर और मैथुन मित्र अब भी उसे अनेकों देशों में भटका रहे हैं और अनेक प्रकार की विपदाओं और दुःखों में फंसा रहे हैं। [३२६–३३६]*

हे भद्रे ! चार ज्ञान से युक्त आचार्यश्रेष्ठ उत्तमसूरि के मुखारविन्द से मेरे दुष्ट चरित्र के सम्बन्ध में इतनी स्पष्टता से जानकर हरि राजा के मन में आचार्य प्रवर के अपूर्व ज्ञान के प्रति अत्यधिक श्रद्धा जाग्रत हुई। स्वयं विशाल हृदय वाला होने से उसके मन में मेरे दुष्ट चरित्र के प्रति तनिक भी क्रोध नहीं आया, अपितु बेचारा धनशेखर दुःख-जाल में फंस गया जानकर व्यथित हुआ। सद्बुद्धि और करुणाप्लावित मानस होने से हरि राजा ने पुनः भक्तिपूर्वक प्रणाम कर पूछा—भगवन् ! मेरा मित्र धनशेखर कब इन दोनों पापी मित्रों से छुटकारा पा सकेगा ? वह पूर्णतया सुखी कब होगा ? यह बतलाने की कृपा करें।

[३३७–३४०]

हरि राजा का प्रश्न सहेतुक और स्पष्ट था। उत्तमसूरि ने तुरन्त ही मधुर वाणी में उत्तर दिया—राजन् ! तेरे प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर दे रहा हूँ, अपनी विशद बुद्धि से उसे समझ लेना। शुभ्रचित्त नगर में त्रिभुवन को आनन्द देने वाले सतता-नन्दी सदाशय नामक राजा राज्य करते हैं। इनकी लोक-प्रसिद्ध वरेण्यता नामक महारानी और ब्रह्मरति तथा मुक्तता नाम की दो कन्यायें हैं। वे दोनों कन्यायें अत्यन्त सुन्दर, रूपवान, अनुपम लोचन वाली और गुण की भण्डार हैं। इन दोनों के सम्पूर्ण गुणों का वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है ? [३४१–३४३]

हे राजेन्द्र ! इन दोनों में से सर्वांगसुन्दरी ब्रह्मरति इतनी प्रतापिनी है कि वह पवित्र साध्वी यदि सानन्द दृष्टि से किसी प्राणी को देख लेती है तो वह प्राणी पवित्र हो जाता है। यही कारण है कि सभी उसे पवित्र कहकर पुकारते हैं। यह ब्रह्मरति स्थूल आनन्द से दूर रहती है, सर्व प्रकार के गुणों की आधार है और बड़े-बड़े योगीजन भी उसे नमस्कार करते हैं। संसार में ऐसा प्रसिद्ध है कि यह राज-कन्या अनन्तवीर्य पुंज को प्रदान करने वाली है। संसार में मैथुन के नाम से प्रसिद्ध धनशेखर के अन्तरंग मित्र की यह प्रबल शत्रु है और उसका नाश करने वाली है।

---

* पृष्ठ ५८०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्मरति और मैथुन में स्वभाव से ही शत्रुता है, अतः ये दोनों कभी एक साथ नहीं रह सकते। ऐसी सर्वगुणसम्पन्न योगीवन्द्य यह राजकन्या सतत आनन्दकेलि में रमण करती रहती है। [३४४–३४६]

हे राजन्! दूसरी मुक्तता नामक कन्या भी निःसन्देह सर्व गुण सम्पन्न और सर्व दोषों का नाश करने वाली है, अतः स्वभाव से ही धनशेखर के महापापी इष्ट मित्र सागर के साथ उसका जन्मजात विरोध है। इन दोनों के बीच सर्वदा लड़ाई चलती रहती है। परिणामस्वरूप यह पापात्मा सागर ज्यों ही शुद्ध धर्म से परिपूर्ण इस मुक्तता कन्या को देखता है त्यों ही वह उसे दूर से ही देखकर तुरन्त भाग खड़ा होता है। [३४७–३४९]

अतएव जब ये दोनों कन्यायें तेरे मित्र धनशेखर को प्राप्त होंगी तब उसका इन दोनों पापी मित्रों से निःसन्देह छुटकारा होगा। जब इन दोनों कन्याओं के साथ धनशेखर का लग्न होगा और वह उनके साथ अत्यन्त आनन्द पूर्व क्रीड़ा करेगा, सुख भोगेगा, लहर करेगा तब वह अनन्त आनन्द को प्राप्त करने में समर्थ होगा। [३५०–३५१]

हरि राजा को यह जानकर कि कभी न कभी तो धनशेखर को आनन्द प्राप्त होगा ही, बहुत प्रसन्न हुआ। पर, उन कन्याओं की प्राप्ति उसे कैसे होगी? यह बात वह नहीं समझ सका। इसलिये उसने हाथ जोड़ मस्तक झुकाकर अत्यन्त भावपूर्वक नमस्कार कर आचार्य प्रवर से पुनः पूछा—भगवन्! आपने सर्व गुण-सम्पन्न जिन दो कन्याओं के बारे में अभी बतलाया, वे पापी-मित्रों का नाश करने वाली दोनों कन्यायें धनशेखर को कैसे प्राप्त होंगी? यह भी बतलाने की कृपा करें। [३५२-३५३]

विनीत राजा का प्रश्न सुनकर उत्तमसूरि ने कहा—नरेन्द्र! तेरे जैसे बुद्धिमान व्यक्ति को तो अपने शौर्य से त्रिभुवन को वश में रखने वाले अन्तरंग के महाराजा कर्मपरिणाम के बारे में मालूम होगा ही। यदि भविष्य में कभी ये महा पराक्रमी महाराजा* अपनी कालपरिणति महारानी के साथ तेरे मित्र धनशेखर पर प्रसन्न हो जायें तो वे अपने अधीनस्थ शुभ्रचित्त नगर के राजा सदाशय को कहकर उनसे उनकी दोनों पुत्रियों को तेरे मित्र को दिला सकते हैं। भविष्य में किसी समय ऐसा हो सकेगा। अर्थात् कर्मपरिणाम राजा के प्रसन्न होने पर भविष्य में कभी तेरे मित्र को ये दोनों कन्यायें प्राप्त होंगी। इन दोनों राजकन्याओं के प्राप्त होने पर तेरा मित्र परमसुख को प्राप्त करेगा और वह सर्व गुण सम्पन्न बनेगा। राजन्! कन्याओं को प्राप्त करने का अन्य कोई उपाय नहीं है, अतः अब इस सम्बन्ध में आप आकुलता का त्याग करें। [३५४–३५६]

---

* पृष्ठ ५८१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तमसूरि के उत्तर को सुनकर हरि राजा मेरे विषय की चिन्ता से मुक्त हुआ। इसके पश्चात् उन्होंने आचार्य से एक बहुत ही अर्थसूचक प्रश्न पूछा। [३५७]

महाराज ! आपने अभी बतलाया था कि धनशेखर ने ऐसा जो भयंकर दूषित काम किया और पापाचरण किया वह उसने अपने पापी सागर और मैथुन मित्रों की प्रेरणा से किया। वैसे धनशेखर स्वरूप (अन्तरंग दृष्टि) से बहुत अच्छा है, भद्रिक है। फलतः मेरे मन में यह जानने की जिज्ञासा हो रही है कि यदि प्राणी स्वरूप से निर्मल है तब वह दूसरों के दोष से दुष्ट कैसे बन सकता है ?

सूरि महाराज ने उत्तर में कहा – नरेश ! प्राणी स्वयं निर्मल होने पर भी दूसरों के दोषों से भी दुष्ट बन जाता है। इसका कारण सुनो—लोक दो प्रकार का है—एक अन्तरंग और दूसरा बाह्य। बहिरंग लोक के दोष तो प्राणी को लग भी सकते हैं और नहीं भी लग सकते, किन्तु अन्तरंग लोक के दोष तो अवश्य ही लगते हैं। हे राजेन्द्र ! अन्तरंग लोक के दोष कैसे होते हैं और किस प्रकार लगते हैं ? इस सम्बन्ध में मैं तुम्हें एक कथा सुनाता हूँ जिससे तुम सब बात अच्छी तरह से समझ सकोगे। मैं जो कथा सुना रहा हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो। [३५८]

कथा सुनने से अपनी शंका का समाधान होगा और आचार्य श्री की वाणी सुनने का लाभ भी प्राप्त होगा, यह सोचकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और आचार्य श्री को कथा सुनाने की प्रार्थना की।

---

१०. सुख-दुःख का कारण : अन्तरंग राज्य

उत्तमसूरि हरि राजा को कथा सुनाने लगे – राजन् ! यह तो तुम्हें ज्ञात ही है कि कर्मपरिणाम महाराजा और कालपरिणति के अनेक पुत्र हैं, पर उन्हें किसी की दृष्टि न लग जाये इसलिये अविवेक आदि मंत्रियों ने उन्हें भुवन में छुपा कर गोपनीय रूप से रखा है और संसार में यह बात फैला रखी है कि वे बांझ हैं। इन महाराजा के पास एक सिद्धान्त नामक परम सत्पुरुष है जो विशुद्ध सत्यवादी है एवं समस्त प्राणी समूह के लिए हितकारी है। यह सभी प्राणियों के भाव और स्वभावों को जानने वाला, कर्मपरिणाम एवं कालपरिणति के समस्त गोपनीय रहस्य-स्थानों तथा भेदों का सूक्ष्म ज्ञाता है। सिद्धान्त का विनय सम्पन्न शिष्य अप्रबुद्ध है। एक दिन उनमें निम्न वार्तालाप हुआ :—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुख-दुःख का हेतु अन्तरंग राज्य

अप्रबुद्ध—भगवन् ! इस संसार में प्राणी को क्या प्रिय है और क्या अप्रिय है ?

सिद्धान्त—भद्र ! प्राणी को सुख अति प्रिय और दुःख अप्रिय है। इसलिये सभी प्राणी सुख प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं और दुःख से दूर भागते हैं।

अप्रबुद्ध—फिर इस सुख और दुःख का कारण क्या है ?

सिद्धान्त—सुख का कारण राज्य है और दुःख का कारण भी राज्य ही है।

अप्रबुद्ध—राज्य सुख और दुःख दोनों का कारण कैसे हो सकता है ? इसमें तो स्पष्टतः विरोध प्रतीत होता है।

सिद्धान्त—वस्तुतः इसमें विरोध नहीं है, क्योंकि यदि राज्य का पालन भली प्रकार किया जाय तो वह सुख का कारण है और यदि उसका पालन गलत ढंग से किया जाय तो वह दुःख का कारण है।

अप्रबुद्ध—क्या सुख-दुःख का एकमात्र कारण राज्य ही है ? अन्य कोई कारण नहीं है ?

सिद्धान्त—हाँ, भाई ! एकमात्र राज्य ही सुख-दुःख का कारण है, अन्य कुछ नहीं।

अप्रबुद्ध—महाराज ! * यह बात तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। संसार में बहुत थोड़े प्राणियों को राज्य प्राप्त होता है, किन्तु सुख-दुःख का अनुभव तो सभी जीव करते हैं, ऐसा दृष्टिगोचर होता है।

सिद्धान्त—भद्र ! सुख-दुःख का कारण बाह्य राज्य नहीं, अन्तरंग राज्य है। संसार के सभी जीवों को वह अन्तरंग राज्य अवश्य प्राप्त होता है। यदि जीव अन्तरंग राज्य का पालन उचित पद्धति से करता है तो सुख प्राप्त करता है और यदि दुष्पालन करता है तो दुःख का अनुभव करता है। अतएव इसमें किसी प्रकार का प्रत्यक्ष विरोध नहीं है।

अप्रबुद्ध—भगवन् ! यह अन्तरंग राज्य एकरूप वाला/एक समान है या भिन्न-भिन्न प्रकार का है ?

---

* पृष्ठ ५८२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धान्त—सामान्य तौर पर यह एकरूप है, एक समान है, किन्तु विशेष प्रकार से देखें तो अनेक रूप वाला और भिन्न-भिन्न है।

अप्रबुद्ध—यदि ऐसा ही है तब इस सामान्य राज्य का राजा कौन है? उसका कोष और सेना कितनी है, उसके अधिकार में कौन सी भूमि और कौन-कौन से देश हैं और उसके पास अन्य किस प्रकार की राज्य सामग्री है? यह मैं सुनना चाहता हूँ, जानना चाहता हूँ।

सामान्य राज्य-वर्णन

सिद्धान्त—भद्र! सुनो—सामान्य राज्य का राजा संसारी जीव है। इस समस्त राज्य का राज्य भार इसी पर है तथा सब का आधारभूत भी यही है। समता ज्ञान, ध्यान, वीर्य आदि अनेक स्वाभाविक रत्नों से इस महाराज्य का भण्डार भरा है। इस विशाल राज्य में त्रिभुवन को आनन्ददायी और क्षीरसमुद्र के सदृश अत्यन्त निर्मल चतुरंगी सेना है। इसकी चतुरंगी महा सेना में गम्भीरता, उदारता, शूरवीरता आदि बड़े-बड़े रथ हैं। यशस्विता, सौष्ठवता, सज्जनता, प्रेम आदि बड़े-बड़े हाथी हैं। बुद्धिचातुर्य, वाक्पटुता, निपुणता आदि घोड़े हैं। अचपलता, प्रसन्नता, प्रशस्तता, मनस्विता और दाक्षिण्य आदि पैदल सैनिक हैं। संसारी जीव महाराजा के हितकारी चतुर्मुखधारी चारित्रधर्मराज नामक प्रतिनायक भी हैं। इस प्रतिनायक के सम्यग्दर्शन सेनापति और सद्बोध मन्त्री हैं। इस चारित्रधर्मराज के यतिधर्म और गृहस्थधर्म नामक दो पुत्र भी हैं। इसके सतोष तन्त्रपाल (प्रधान) है और शुभाशय आदि बहुत से योद्धा हैं। संसारी जीव राजा ने अपने सुराज्य में ऐसी चतुरंगी सेना बना रखी हैं। इस विशाल चतुरंगी सेना का वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है? यह महासेना अनन्त गुण-समूह से परिपूर्ण है। राजा स्वयं जब निर्मल होता है तब उसे देख/समझ सकता है।

[३५९–३६३]

इस महाराज्य की भूमि चित्तवृत्ति नामक महा अटवी में स्थापित की गई है जो चित्तवृत्ति के नाम से विख्यात है और सब का आधार इसी पर है। [३६४] इस चित्तवृति नामक अटवी में सात्त्विक-मानसपुर, जैनपुर, विमलमानस, शुभ्रचित्त आदि अनेक छोटे-मोटे नगर हैं और इन नगरों से जुड़े हुए अनेक ग्राम तथा खानें हैं।

इस महाराज्य की भूमि में धातिकर्म नाम के अनेक* डाकू हैं, इन्द्रिय नामक चोर हैं, कषाय नामक जल्लाद घूमते हैं और नौ-कषाय नामक लुटेरे घूमते-फिरते हैं। इसमें परीषह नामक उपद्रव-कर्त्ता चारों तरफ भ्रमण करते रहते हैं, उपसर्ग नामक महा भयंकर सर्प और प्रमाद नामक लम्पट रहते हैं। इन सब के दो नायक/नेता हैं—एक कर्मपरिणाम और दूसरा महामोह, ये दोनों भाई हैं।

---

* पृष्ठ ५८३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये दोनों नायक राज्य-ऋद्धि से पूर्ण, अत्यन्त अभिमानी, वीर और अपनी स्वतन्त्र चतुरंगी सेना से युक्त हैं। इनके अधीनस्थ करोड़ों योद्धा हैं। ये दोनों इतने घमंडी हैं कि अपने आपको ही राजा समझते हैं। ये समझते हैं कि संसारी जीव कौन होता है ? चारित्रधर्मराज की क्या हस्ती है ? यह चित्तवृत्ति अटवी और यह राज्य तो उनका और उनके बाप का है। अन्य किसी का शक्ति-सामर्थ्य नहीं कि वह इस राज्योपभोग में उनका सामना कर सके। इन सब चोर-लुटेरों ने कर्मपरिणाम को अपना राजा बना लिया है और अपने राज्य का विस्तार कर रहे हैं।

[३६५-३६७]

इन्होंने भीलपल्ली जैसे राजसचित्त, तामसचित्त और रौद्रचित्त आदि अनेक नगर बसा रखे हैं और महामोह को उसका राजा बना रखा है। अपनी चतुरंगी सेना भी महामोह राजा को सौंप रखी है और अपनी इच्छानुसार राज्य नीति का निर्धारण कर रखा है। राज्यधुरा का समस्त भार महामोह को सौंप रखा है। स्वयं कर्मपरिणाम महाराजा और कालपरिणति रानी तो मात्र मनुजगति नगरी में बैठे-बैठे संसार नाटक को देखते रहते हैं।

कर्मपरिणाम राजा, संसारी जीव महाराजा के शक्ति-सामर्थ्य को जानता है, चारित्रधर्मराज के बल को भी पहचानता है, महामंत्री सद्बोध की तन्त्रशक्ति और सेनापति सम्यग्दर्शन के सैन्यबल को भी लक्ष्य में रखता है और संतोष तन्त्रपाल का चातुर्य और शुभाशय आदि योद्धाओं के युद्धोत्साह की प्रबलता को भी जानता है। अतः वह संसारी जीव के प्रति अत्यन्त उपेक्षा-भाव नहीं रखता, किन्तु उसका भविष्य देखता रहता है, चारित्रधर्मराज आदि का अनुकरण करता है, उनके साथ एकात्मकता प्रकट करता है, प्रेम बढ़ाता है और उनके लिए सुयोग्य प्रयोजनों की योजना करता है। इसीलिये चारित्रधर्मराज और उनके अधीनस्थ सभी राज्य कर्मचारी भी कर्मपरिणाम राजा को मध्यस्थ मानते हैं। उनकी तटस्थता के कारण ही उन्हें अपना स्वामी मानते हैं और उनके साथ सरल व्यवहार करते हैं। इसीलिए संसारी जीव के महाराज्य में कर्मपरिणाम राजा को बड़ा और परामर्श लेने योग्य माना जाता है। यही कारण है कि चारित्रधर्मराज भी उन्हें सम्मान देते हैं।

चोरों का सरदार महामोह अपने बाहुबल के अभिमान में संसारी जीव या चारित्रधर्मराज और उनके सैन्यबल को तृण जैसा भी नहीं समझता। वह तो अपने आपको ही सर्वोपरि मानता है। संसारी जीव महाराजा जब तक अपने आत्मीय स्व-राज्य को नहीं पहचानता और यह नहीं जानता कि उसके पास भी महाबलवान चतुरंगी सेना है, अनन्त धन भण्डार और भूमि है, स्वयं में परमेश्वरत्व की सत्ता है, तब तक उस अवसर का लाभ उठाकर चोरों का सरदार महामोह सदल-बल संसारी जीव की अधीनस्थ भूमि पर आक्रमण करता है, घेरा डालता है, उसके सारे नगर,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्राम, खानें आदि अपने अधीन कर लेता है, स्वेच्छानुसार विलास करता है* और संसारी जीव को एकदम अकिंचित्कर/निर्माल्य कर देता है। वह महामोह संसारी जीव के महत्तम बल को नहीं के समान निर्वीर्य बना देता है और संसारी जीव के महाराज्य का स्वयं को ही प्रभु समझता है।

किसी समय यदि संसारी जीव को मालूम पड़ता है कि उसका राज्य महामोह ने दबा रखा है। जब उसे अपने बल-वीर्य, समृद्धि एवं अपने स्वरूप का भान होता है, तब वह महामोह से लड़ने को उद्यत होता है, अपने बल और कोष की वृद्धि करता है। युद्ध में कभी संसारी जीव विजयी होता है और कभी महामोह विजयी होता है। जितना-जितना संसारी जीव महामोह पर विजय प्राप्त करता है उतना-उतना वह सुख प्राप्त करता है और जितने अंश में वह महामोह से हारता है, उतना ही वह दुःखी होता है।

हे भद्र! धीरे-धीरे संग्राम का अभ्यास करते हुए जब वह अपने भीतर रहे हुए अतुलनीय बलवीर्य को प्रकट करने में समर्थ होता है तब महामोह आदि शत्रुओं को मूल से नष्ट कर निष्कंटक राज्य प्राप्त करता है और अपने प्रशस्त महाराज्य को प्राप्त कर, चित्तवृत्ति का त्याग कर निरन्तर आनन्द सुख और स्वाभाविक सुख को प्राप्त होता है। इसीलिये अंतरंग राज्य ही उसके सुख तथा दुःख का कारण है। यह निःसंदेह है कि यदि अन्तरंग राज्य का पालन समुचित पद्धति से किया जाय तो वह संसारी जीव के सुख का कारण होता है, अन्यथा वही उसके दुःख का कारण हो जाता है। हे भद्र! सामान्य अन्तरंग राज्य जो संसारी जीव के सुख-दुःख का कारण है उसकी संघटना/रचना इसी प्रकार की कही गई है। [३६८-३७२]

अप्रबुद्ध—भगवन्! वर्तमान में संसारी जीव का सुराज्य है या कुराज्य?

सिद्धान्त—भद्र! अभी तो संसारी जीव का कुराज्य ही है। अभी तो वह यह भी नहीं जानता कि वह इतने बड़े राज्य का स्वामी है। न तो उसे अपने बल, कोष और समृद्धि का पता है और न वह अपने स्वरूप को ही जानता है। अभी तो वह संसारी जीव बाह्य प्रदेश में ही भटक रहा है, दुःख-समुद्र में डूबा हुआ है और मैथुन एवं सागर मित्र उसे बराबर भटका रहे हैं। बेचारे की चारित्रधर्मराज अधीनस्थ सेना भी महामोह राजा आदि द्वारा घिरी हुई है और वह अपनी शक्ति का प्रयोग न कर सके ऐसी स्थिति में पड़ा हुआ है।

अप्रबुद्ध—सामान्य अन्तरंग राज्य संसारी जीव के सुख-दुःख का कारण है, यह तो समझ में आया किन्तु विशेष रूप से देखने पर यह अन्तरंग राज्य अनेक रूपों

---

* पृष्ठ ५८४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में विभक्त हो ऐसा प्रतीत होता है। अतः मैं इसका स्वरूप जानना चाहता हूँ, कृपा कर बतलावें।

सिद्धान्त—भद्र! सुनो—महाराजा संसारी जीव ने समस्त कार्यों में पूर्व-वर्णित कर्मपरिणाम राजा को प्रमाणभूत माना है। कर्मपरिणाम राजा इच्छानुसार अपने पुत्रों को भिन्न-भिन्न रूप में अपना परिपूर्ण राज्य बाँटकर उसका अधिपति बना देता है। इस प्रकार अनन्त राजाओं के भेद से यह अन्तरंग राज्य भी अनन्तरूप है। प्रत्येक जीव अपने राज्य का राजा होता है और जीव अनन्त हैं इसलिये पात्र-विशेष के कारण राज्य भी अनन्त प्रकार के हैं। [३७३–३७६]*

हे भद्र! यही कारण है कि कर्मपरिणाम के अनन्त राजपुत्रों में से किसी को यह सुख का कारण होता है तो किसी को दुःख का कारण। सुख-दुःख भी अनेक प्रकार के होने से यह अंतरंग राज्य भी अनेक प्रकार का है।

अप्रबुद्ध --भदन्त! कर्मपरिणाम राजा के पुत्र जब राज्य कर रहे थे, तब प्रत्येक की क्या स्थिति रही? यह जानना चाहता हूँ।

कर्मपरिणाम के छः पुत्र

सिद्धान्त— भद्र! मैंने अभी बतलाया था कि कर्मपरिणाम राजा के अनन्त पुत्र हैं। यदि एक-एक के स्वरूप का वर्णन करने लगूं तो कभी इस कथा का अन्त ही नहीं आ सकता। तथापि तुझे सुनने जानने का कौतूहल है अतएव सब पुत्रों की स्थिति का एक सर्वग्राही रूप तुझे बतलाता हूँ।

अप्रबुद्ध— महती कृपा होगी, बतलाइये।

सिद्धान्त—इस कर्मपरिणाम के पुत्र छः प्रकार के हैं, १. निकृष्ट, २. अधम, ३. विमध्यम, ४, मध्यम, ५. उत्तम और ६. वरिष्ठ। कर्मपरिणाम महाराजा से प्रार्थना कर मैं एक ऐसी योजना बनाता हूँ कि वे प्रत्येक प्रकार के पुत्रों को एक-एक वर्ष का राज्य प्रदान करें। फिर तुम अपने अन्तरंग कर्मचारी वितर्क को यह देखने के लिये भेजना कि ये छहों पुत्र अपने राज्य का पालन/उपभोग किस प्राकर करते हैं? वितर्क प्रदत्त विवरण के आधार पर तेरी समझ में आ जायगा कि कर्मपरिणाम का विशेष राज्य किस प्रकार अनेक रूप और भिन्न-भिन्न है।

अप्रबुद्ध के स्वीकार करने पर सिद्धान्त आचार्य ने पूर्वोक्त निर्धारित योजनानुसार कर्मपरिणाम राजा के छः प्रकार के पुत्रों को अलग-अलग एक-एक वर्ष का राज्य दिलवाया और अप्रबुद्ध ने अपने कर्मचारी वितर्क को उनके राज्य-संचालन का सूक्ष्मता से अध्ययन करने भेज दिया।

* पृष्ठ ५८५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. निकृष्ट-राज्य

वितर्क ने मनुष्य गति में छः वर्ष बिताये और वहाँ से लौटकर अप्रबुद्ध को उन छः प्रकार के राज्यों का अपना अनुभव सुनाया। वह बोला—

देव ! यहाँ से प्रस्थान कर मैंने उनके अन्तरंग राज्य में प्रवेश किया। उस समय नगर-नगर, ग्राम-ग्राम में मनुष्यभव-आवेदन नामक पटह बजाकर घोषणा की जा रही थी। उद्घोषक कह रहा था—पूर्व-परम्परा के अनुसार यहाँ प्रथम राजा निकृष्ट का राज्य प्रारम्भ हो गया है। हे लोगों ! आप काम करें, खायें-पियें और मौज करें। [३७६]

इस उद्घोषणा को सुनकर राजमण्डल विचार में पड़ गया कि यह नया राजा न जाने कैसा होगा ? सारे राज्य में खलबली मच गयी। मनुष्य-जन्म-प्रदेश के अनेक छोटे राजा, विद्वान् और कुटुम्बीजन चिन्तित एवं क्षुब्ध होकर अपने-अपने स्थानों पर परस्पर मन्त्रणा करने लगे कि, न जाने यह नया निकृष्ट राजा कैसा होगा ?

[३७७–३७९]

निकृष्ट का स्वरूप

पूर्वोक्त चोर-लुटेरे भी संगठित होकर अपने सरदार महामोह की संसद में पहुँचे और उनके साथ विचार-विमर्श करने लगे। उस समय विषयाभिलाष मन्त्री ने महामोह नरेन्द्र के समक्ष अपने विचार प्रकट करते हुए कहा—

यह जो नया निकृष्ट नामक राजा बना है, यह कैसा होगा ? क्या करेगा ? * यह हम सब नहीं जानते, इसलिये हम सब चिन्तातुर हो गये हैं। परन्तु, देव ! यह हमारा विषाद अकारण है, निर्हेतुक है। हम व्यर्थ ही आकुल-व्याकुल हो गये हैं। मेरे इस प्रकार कहने का प्रयोजन/कारण यह है कि महाराजा कर्मपरिणाम ने इस निकृष्ट को बनाया ही ऐसा है कि वह हमारा उत्पीड़न करने में कभी समर्थ नहीं हो सकता, अपितु वह तो सदा हमारे वश में रहने के लिए ही निर्मित हुआ है। हमारा ही नहीं, हमारे सैनिकों का भी वह आज्ञापालक/किंकर बनकर कार्य करेगा। हम यह मानकर चलें कि कर्मपरिणाम ने इस राज्य पर जो इसकी नियुक्ति की है, उसके इस राज्य के वास्तविक राजा तो हम ही रहेंगे। अतः अब हमारा यह राज्य निष्कंटक हो गया है। फलतः हमें आनन्द मनाना चाहिये। विषाद करने की क्या आवश्यकता है ? [३८०–३८६]

---

* पृष्ठ ५८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोह-राज्य में प्रसन्नता

महामोह हे आर्य ! कर्मपरिणाम ने इस निकृष्ट को कैसा बनाया है ? विस्तार से शीघ्र ही बतलाओ । [३८७]

विषयाभिलाष—देव ! सुनिये—निकृष्ट एकदम कुरूप, भाग्यहीन, महा-निर्दय, परलोकज्ञान से पराङ्मुख, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष से दूर, गुरु-निन्दक, महापापी, देव-द्वेषी और विशुद्ध अध्यवसाय की गन्धमात्र से रहित है । वह संसार को उद्विग्न करने वाला, साक्षात् विषांकुर और दोष-समूह का घर है । गम्भीरता, उदारता, पराक्रम, धैर्य, शक्तिस्फुरण आदि गुण तो इस निकृष्ट से पलायन कर दूर ही दूर रहते हैं । अधमाधम, अपने समग्र आत्मिक पराक्रम से शून्य ऐसा निर्बल पुरुष इस राज्य गद्दी पर आया है । ऐसा कापुरुष हमारा क्या बिगाड़ सकता है ? आप क्यों घबराते हैं ? इस बेचारे को तो अभी यह भी मालूम नहीं कि उसे राज्य प्राप्त हुआ है । वह स्वयं अनन्त बल-वीर्य और समृद्धि से पूर्ण है, इसका भी उसे भान नहीं । बेचारा तत्त्वतः यह भी नहीं जानता कि वह कौन है और उसका स्वरूप क्या है ? हमारे चोर-लुटेरे भाई इसके राज्य को दबा कर इसके आत्मधन को लूटने वाले हैं, इसका भी इसे पता नहीं है । वह तो हमें अपना हितेच्छु, सम्बन्धी और बन्धु ही मानता है । इतना ही नहीं, वह तो हमें अपना स्वामी और अपने से श्रेष्ठ समझता है । अतः हे देव ! यदि आपके मन में किंचित् भी व्याकुलता हो तो उसे निकाल दीजिये और राज्य में उत्सव मनाने की आज्ञा दीजिये जिससे कि हमारे सभी लोग प्रसन्न हों ।

[३८८–३९५]

विषयाभिलाष मन्त्री की बात सुनकर महामोह राजा को अत्यानन्द हुआ और सभा में उपस्थित सभी लोगों को भी आनन्द हुआ । महामोह राजा ने प्रसन्न होकर चारों तरफ उत्सव मनाने की आज्ञा दे दी । विषयाभिलाष मन्त्री कथित निकृष्ट राज्य के वृत्तान्त को सुनकर महामोह राज्य के समस्त अनुचर नाचने-गाने और आनन्दातिरेक से अपने हर्ष को विविध भांति प्रकट करने लगे । हर्षित होकर बधाइयां बांटने लगे । कहने लगे—जिस राजा ने अनन्त रत्नों से परिपूर्ण राज्य प्राप्त किया है वह तो हमारे हाथ में है, हमारे वश में है* वह तो और अपने लोगों को जानता भी नहीं । अतः हे भाइयों ! यह तो बहुत अच्छा हुआ । इस निकृष्ट राजा का राज्य तो हमारे लिए अत्यन्त सुखदायक हुआ । इस खुशी में आओ, हम सभी आज अत्यन्त आनन्द से खायें, पियें, गायें और नाचें । [३९६–४००]

महामोह राजा के सभी नगर और गांवों में, जो भीलों की बस्तियों जैसे थे, प्रसन्नता की लहर फैल गयी । बधाइयाँ बांटी जाने लगीं । लोग अपनी दुकानें सुन्दर ध्वज-पताकाओं से सजाने लगे । घातीकर्म नामक चोर अपने मन में यह जानकर

---

* पृष्ठ ५८७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्यन्त उल्लसित हुए कि अब हमारा शासन चलेगा। इन्द्रिय चोरों को संतोष हुआ कि अब वे राज्य का सर्वस्व अपहरण कर अपना घर भरेंगे। कषाय लुटेरे भी यह जानकर प्रमुदित हुए कि अब उन्हें अधिक लूट का मौका मिलेगा। नो-कषाय डाकू भी हर्षित हुए कि अब वे अधिक डाका डाल सकेंगे। परीषह नामक दुष्ट योद्धागण लोगों को दुःख में डुबा देने के विचार से आनन्दित हो रहे थे। उपसर्ग रूपी भयंकर सर्प भी प्रसन्न थे कि अब उन्हें अधिक लोगों को डसने का अवसर मिलेगा। मद्य आदि प्रमाद भी अब लोगों को अधिक पागल बनाने के विचार से प्रमुदित थे।

महामोह राजा का पूरा परिवार वैसे भी अभिमान से अन्धा और मदमस्त था, अब निकृष्ट राजा के राज्य में तो वह क्या-क्या नहीं करे? अर्थात् वह जो करे वह थोड़ा था। [४०१]

चारित्रधर्मराज की मन्त्रणा

इधर चारित्रधर्मराज के राज्य और सेना में भी महामोह राजा द्वारा स्थापित निकृष्ट राजा के राज्य की घोषणा से जो प्रतिक्रिया हुई उसे भी बतलाता हूँ। 'निकृष्ट राजा होगा' यह घोषणा सुनकर चारित्रधर्मराज के राज्य में भी विचार-चर्चा प्रारम्भ हुई कि यह निकृष्ट कैसा है और किस पद्धति से राज्य संचालन करेगा? [४०२-४०३]

सद्बोध मंत्री ने विचार कर कहा—देव! वह निकृष्ट समस्त प्रकार से दुरात्मा एवं अत्यन्त कुरूप है, ऐसा हमें मालूम हुआ है। वह दुरात्मा न तो अपने राज्य का नाम जानता है और न हम सब को पहचानता ही है, प्रत्युत वह हमें शत्रु मानकर हमारे साथ शत्रु जैसा व्यवहार करता है। हमारे बड़े शत्रु मोह राजा के प्रति उसका इतना अधिक पक्षपात है कि वह मोह के साधनों को ही बढ़ा रहा है और अपने स्वराज्य, देश या लोगों की तो कोई खबर ही नहीं लेता, बात भी नहीं पूछता। हम तो अभी दोहरी विपत्ति/मुसीबत में आ फंसे हैं। पहले से ही हम लोग मोह राजा द्वारा पराजित हैं दूसरा उस पर ऐसा निकृष्ट राजा हमारा स्वामी बना है। सचमुच भाग्य भी दुर्बल को ही मारता है। भाग्य के दोष से अभी जो निकृष्ट का राज्य हुआ है वह तो हमारे विनाश का ही समय है। मुझे लगता है कि सचमुच अब हमारा प्रलय-काल आ गया है। [४०४-४०८]

महामंत्री के उपरोक्त वचन सुनकर चारित्रधर्मराज, उनके पास खड़े सभी छोटे राजा और समस्त परिवार निस्तेज हो गया। सभी का मुख उतर गया। जैसे घर में किसी प्रियजन की मृत्यु होने पर सारा परिवार शोक-ग्रस्त हो जाता है, हताश हो जाता है, दीनता से विकल हो जाता है, दारुण व्यथा से व्यथित हो जाता है वैसे ही निकृष्ट राजा के सम्बन्ध में सद्बोध मन्त्री के मुख से विवरण सुनकर चारित्रधर्मराज के पूरे परिवार में महाशोक छा गया। चारित्रधर्मराज के अधीनस्थ सात्विकपुर आदि अनेक नगरों और ग्रामों में भी शोक फैल गया।*

* पृष्ठ ५८८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निकृष्ट की राज्य-प्राप्ति के समाचारों से चारित्रधर्मराज के सभी प्रदेशों के लोग आनन्द, हर्ष, उत्सवरहित होकर शोकमग्न हो गये एवं पूर्णतः दुःखी हो गये। [४०६–४१३]

अन्तरंग राज्य पर मोह राजा का आधिपत्य

एक ही घटना से एक तरफ मोहराज की सेना में आनन्द फैल गया तो दूसरी तरफ चारित्रधर्मराज की सेना में शोक फैल गया, यह देख कर मुझे ऐसे निकृष्ट राजा और उसके गुणों को देखने का कुतूहल पैदा हुआ। मैंने अपने मन में सोचा कि जिसके ऐसे गुण हैं वह निकृष्ट राजा कैसा होगा ? मुझे अवश्य ही देखना चाहिये। इन्हीं विचार-तरंगों में मैंने निर्णय किया कि जब वह अपना राज्य ग्रहण करने राज्य में प्रवेश करेगा तब उसे देखूंगा। यही विचार कर मैं उसके राज्य में जाकर उसे देखने के लिये उसके आने की प्रतीक्षा करने लगा, किन्तु निकृष्ट राजा जब अपने राज्य में प्रवेश करने के लिये आया तो महामोह आदि तस्करों ने उसे राज्य में प्रवेश ही नहीं करने दिया। इसके विपरीत महामोह आदि ने निकृष्ट राजा की सारी भूमि पर अधिकार कर लिया और चारित्रधर्मराज की सेना को घेरकर, नाश कर उस पर भी विजय प्राप्त कर ली तथा निकृष्ट राजा को उसके राज्य के बाहर धकेल दिया। हे देव ! इस प्रकार महामोहराज आदि तस्करों ने निकृष्ट राजा को बाहर निकाल कर, अन्तरंग राज्य पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। [४१४–४१८]

बहिरंग राज्य का निरीक्षण

अन्तरंग राज्य की यह उथल-पुथल एवं दुर्दशा देखकर, हे देव ! बहिरंग प्रदेश का अवलोकन करने की अभिलाषा से मैं बाह्य प्रदेश में आ गया। हे देव ! वहाँ मैंने देखा कि अपने राज्य से भ्रष्ट निकृष्ट राजा यहाँ अत्यन्त दुःखी और दयनीय स्थिति में है। वह नराधम पाप-कर्मों में आसक्त, अत्यन्त दीन, अत्यन्त क्रूर, लोगों का निन्दापात्र, अपने पुरुषार्थ से भ्रष्ट और अन्य पर आधारित नपुंसक जैसा दिख रहा था। उसके शरीर पर फफोले और घाव दिख रहे थे, पूरा शरीर मैल से भरा हुआ था, पाप के ढेर जैसा लग रहा था और दूसरों का आज्ञापालक, परवश, दीन-दुःखी, लाचार, दयापात्र, नौकर जैसा लग रहा था। अपने राज्य से भ्रष्ट होकर वह निकृष्ट लोगों की दृष्टि में भी दुर्भागी लग रहा था। यह तो सब ही जानते हैं कि "जो व्यक्ति अपने ही घर में पराभव प्राप्त करता है वह बाहर तो पराभूत होता ही है।" अब वह निकृष्ट घास या लकड़ी बेचकर, हल चलाकर, पशु-पक्षियों को मारकर, पत्रवाहक बनकर और अनेक प्रकार के निन्दनीय कार्य कर तथा सैकड़ों प्रकार के आक्रोश सहन कर बड़ी कठिनाई से अपना पेट भरता था। जो अत्यधिक दुःखी हो, अत्यन्त पापी हो क्रूर कर्म करने वाला हो, ढेढ-चमार जैसा हो वैसा ही वह राज्य भ्रष्ट होकर ढेढ-चमार जैसा लग रहा था। फिर भी उसे महामोह आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चोरों पर बहुत प्रेम था और उन्हें अपना हितेच्छु मानता था। चारित्रधर्मराज और उनके अधीनस्थ राजाओं का तो वह नाम भी नहीं जानता था। यह स्थिति देखकर कर्मपरिणाम राजा उस पर बहुत क्रोधित हुए और 'तुझे राज्य का पालन करना नहीं आता' यह कहकर बेचारे निकृष्ट को भवचक्र के पापीपिंजर नामक अति भयंकर स्थान पर भेज दिया, जहाँ उसे अनेक बार अनन्त पीड़ायें दी गई और महादुःखी किया गया, ऐसा मैंने सुना। [४१९-४३०]

निकृष्ट राज्य पर चिन्तन

अपने स्वामी अप्रबुद्ध को निकृष्ट के बारे में बतलाते हुए वितर्क ने आगे कहा—अहा! एक तो बेचारा निकृष्ट अपने राज्य में प्रवेश ही नहीं कर सका।* उसके प्रवेश के पहिले ही तस्करों ने उसके सम्पूर्ण राज्य का हरण कर लिया और उसकी अति उत्तम सेना भी घिर गई। परिणाम स्वरूप बेचारे ने यहाँ भी अनेक दुःख पाये, राज्य से भ्रष्ट हुआ और दूसरा नारकी में जाकर वहाँ भी अनेक प्रकार के त्रास निरर्थक ही सहे। उस दुरात्मा निकृष्ट को यह सब दुःखों का समूह और पीड़ा अज्ञान के कारण ही हुई है, क्योंकि वह पापी अधमाधम जीव अपने राज्य को भी नहीं पहचान सका। यदि उसे पता होता कि उसका राज्य रत्नों से पूर्ण एवं अति सुन्दर है और यदि उसे चारित्रधर्मराज की सेना का पता होता तो वह अपने सच्चे मित्रों को मित्र रूप में ग्रहण करता और महामोहराज तथा उसकी सेना को अपना शत्रु समझता, जिससे उसे इतनी दुःख-परम्परा प्राप्त नहीं होती। यदि उसने सत्य को सम्यक् प्रकार से समझा होता तो अपनी शक्ति और नीति का भलीभांति उपयोग कर, चोर लोगों की सेना को भगा कर अपने राज्य पर निष्कंटक राज्य करता। [४३१-४३६]

जो होना था वह तो हुआ ही। मुझे चिन्ता करने से क्या? अब मुझे तो आपकी आज्ञानुसार दूसरे अधम के राज्य में जाकर पता लगाना था, अतः वहाँ जाकर मैंने क्या अनुभव किया? वह आपको सुनाता हूँ। [४३७]

---

* पृष्ठ ५८९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२. अधम-राज्य : योगिनी दृष्टिदेवी

वितर्क अपने स्वामी अप्रबुद्ध से बोला—हे देव। द्वितीय वर्ष के प्रारम्भ में भी उसी प्रकार पटह (ढोल) बजाकर उद्घोषणा की गई कि अरे लोगों ! इस वर्ष अधम का राज्य हुआ है, अतः खाओ, पिओ और मौज करो। इस बार भी मोह राजा और चारित्रधर्मराज की सेनाओं में प्रथम वर्ष की भांति अधम राजा कैसा होगा, इस सम्बन्ध में विचार-विमर्श हुआ। मोह राजा की राज्यसभा में महामोहराज के मंत्री विषयाभिलाष ने अधमराजा के स्वरूप और गुणों का जो विस्तार से वर्णन किया, उसे मैं बतलाता हूँ। [४३८–४४०]

मंत्री विषयाभिलाष कहने लगा—देखो, अधम के पिता ने इस अधम राजा को कैसा बनाया है ? इस अधम का स्वरूप विस्तार से बतलाता हूँ :—

अधम का स्वरूप

यह अधम इस लोक (भव) में गाढासक्त है। सर्व प्रकार के आनन्द भोगने का इच्छुक है। इस भव को ही सब प्रकार से पूर्ण मानता है। परलोक से विमुख है। धर्म और मोक्ष के प्रति इसको द्वेष है। अर्थ और काम पुरुषार्थ में तल्लीन है। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में अत्यन्त लुब्ध है। तप, दया, दान, शील, ब्रह्मचर्य आदि गुणों की हंसी उड़ाने वाला विदूषक है। अतः वह हमारा तो अत्यधिक प्रिय ही है। उसे भी हमारे प्रति प्रेम है। वह हमारा आज्ञापालक है। वह चारित्रधर्मराज और उसकी सेना का द्वेषी है, उनका एकान्ततः शत्रु है। उसे अभी तक अपने स्वराज्य का ज्ञान ही नहीं है। अपने बल, वीर्य और स्वरूप को भी वह नहीं जानता है। हम वास्तव में चोर-लुटेरे हैं, यह भी वह नहीं जानता। इसलिये मुझे लगता है कि, हे देव ! इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि अधम का राज्य वस्तुतः हमारे हित के लिये ही निर्मित हुआ है। हमें केवल इतना ध्यान रखना है कि वह किसी भी प्रकार अपने राज्य में प्रवेश न कर सके; क्योंकि एक बार यदि यह अपने राज्य में प्रविष्ट हो गया तो हमारी चेष्टाओं को जानकर हमें पहचान लेगा। इस दुरात्मा अधम में तनिक वीर्य, पराक्रम, शक्ति है, इसलिये इसे राज्य से बाहर ही रखना चाहिये। इसका राज्य में प्रवेश हमारे लिये हितकर नहीं है। [४४१-४४७]

महामोह महाराजा ने पूछा—आर्य ! दुरात्मा अधम * अपने राज्य में प्रवेश न कर सके और बाहर ही बाहर रहे इसके लिये कोई मार्ग हो तो विस्तारपूर्वक बतलाओ।

---

* पृष्ठ ५६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयाभिलाष—देव ! मैंने अभी बताया था कि अधम अर्थ और काम में अधिक आसक्त है, इसलिये हम सभी को मिलकर उसे बाह्य प्रदेश में धन बटोरने और विषय सेवन में इतना व्यस्त रखना चाहिये कि वह अपने अन्तरंग राज्य में प्रवेश ही न कर सके।

महामोह ने आज्ञा दी कि, 'आर्य ! ऐसा ही करो। यह योजना सेना को बतला दो, जिससे अधम प्रतिपल धन और विषयों में डूबा रहे और अन्तरंग में झांक भी न सके।' आज्ञा सुनते ही समस्त सैन्य योजना-पूर्ति में संलग्न हो गया। [४४८-४५१]

योगिनी दृष्टिदेवी की नियुक्ति

विषयाभिलाष मंत्री की एक दृष्टि नामक पुत्री जो अत्यधिक चतुर, परम-योगिनी, अतिस्वरूपवान, विशालाक्षी एवं आकर्षक थी और सभा में बैठी थी, उसने महाराजा से कहा—देव। आपने तो देवता, दानवों और मनुष्यों को पहले ही जीत रखा है, फिर आपके समक्ष अधम की शक्ति भी कितनी सी है जो उस अकेले को जीतने के लिये आप सब तैयार हुए हैं। महाराज ! आप आज्ञा दें तो मैं अकेली ही उसे वश में कर सकती हूँ, इसमें क्या बड़ी बात है। आप सब व्यर्थ में क्यों चिन्तित हो रहे हैं ? हे देव ! मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि थोड़े ही समय में मैं उसे राज्य-भ्रष्ट कर दूंगी, उसके अन्तरंग राज्य से उसे दूर रखूंगी और आपका आज्ञा-कारी बना दूंगी। मैं ऐसा उपाय करूंगी कि वह न केवल अपने बल और सेना से बेखबर रहे अपितु सदा अपनी सेना से रुष्ट रहे। हे देव ! मेरे इस कथन में आप तनिक भी संशय नहीं करें। हे स्वामिन् ! यह तो आप मानते ही हैं कि मैं जहाँ जाती हूँ वहाँ स्पर्श आदि भाई-बहिन मेरे सहचारी रूप में मेरे साथ ही रहते हैं और ये स्पर्श आदि अपने ही व्यक्ति हैं। मैं जिस किसी पुरुष को वशीभूत करने जाती हूँ उस समय भाव से आप सब लोगों का सामीप्य भी मुझे प्राप्त होता है। आपको स्मरण होगा कि गत वर्ष निकृष्ट राजा तो धन और विषय लोलुपता से रहित था, उसे भी मैंने आपके सान्निध्य में राज्य-भ्रष्ट कर पापीपिंजर नरक में पहुँचा दिया था। अतः इसे अपने अंतरंग राज्य में जाने से रोकने में तो कठिनता ही क्या है ? हे स्वामिन् ! अब आप विलम्ब न कर मुझे शीघ्र आज्ञा प्रदान करें ताकि मैं उस अधम राजा को उसके राज्य में प्रवेश ही न करने दूं।

महामोह राजा ने दृष्टि देवी को विश्वासपात्र और योग्य समझ कर अधम राजा को वश में करने की आज्ञा दे दी और दृष्टि देवी तत्क्षण ही बाह्य प्रदेश में अधम राजा के पास पहुँच गई। [४५२-४६०]

इधर चारित्रधर्मराज के मण्डल में भी अधम राजा के राज्य के समाचारों से खलबली मच गई, समस्त मण्डल त्रस्त और भयभीत हो गया। जैसे गत वर्ष निकृष्ट के राजा बनने पर विचार-विमर्श हुआ था और सारे प्रदेश में शोक फैल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया था वैसे ही इस समय भी अधम राज्य के संवादों से समस्त साधु-मण्डल शोक-ग्रस्त हो गया। [४६१–४६२]

दृष्टिदेवी का प्रभाव

दृष्टिदेवी ने योगबल से सूक्ष्म रूप धारण किया और गुप्त रूप से अधम राजा की आँखों में समा गई। दृष्टि के प्रभाव से अधम राजा स्त्रियों के रूप-सौन्दर्य के निरीक्षण में अधिक लोलुप हो गया और सौन्दर्य अवलोकन के अतिरिक्त संसार में सुख का अन्य कोई कारण नहीं है, ऐसा वह मानने लगा। स्त्रियों के कटाक्ष, तिरछी नजर, इंगितादि चेष्टायें, अंगोपांग, हाव-भाव, लावण्य, हास्य, लीला, क्रीडा आदि को आंखें फाड़-फाड़ कर देखने में ही उसे आनन्द आने लगा। मूर्ख अधम राजा स्त्रियों के नेत्रों को नीलकमल, मुख को चन्द्रमा,* स्तनों को स्वर्णकलश और प्रत्येक अंगोपांग में सौन्दर्य की कल्पना करने लगा। वह स्त्रियों के विलास, लास्य, चपलता, नखरे, हाव-भाव देखने में रस लेने लगा और रूपवती ललनाओं का नाटक देखकर प्रसन्न होने लगा। सुन्दर चित्र, आकर्षक वस्तुएं और विशेषकर सुन्दर स्त्रियों को देखकर वह अति हर्षित होता। सौन्दर्य-दर्शन के ऐसे प्रसंगों पर वह सोचता था—'अहो! मुझे तो अतिशय सुख है, मुझे तो यहाँ स्वर्ग मिल गया है! मैं पुण्य-शाली हूं कि मुझे निरन्तर आश्चर्योत्पादक रूप और सौन्दर्य के दर्शन प्राप्त होते हैं।' इस प्रकार वह अधम रात-दिन सौन्दर्य-दर्शन में इतना लुब्ध हो गया कि सोच ही न सका कि वह कौन है? कहाँ से आया है? और क्या कर रहा है? [४६३-४७०]

दृष्टिदेवी के साथ ही उसके भाई-बहिन स्पर्शन आदि, स्वयं महामोह राजा और उसकी सेना भी अपना-अपना काम कर रही थी। परिणामस्वरूप अधम राजा में जो थोड़ा बहुत ज्ञान था वह भी नष्ट हो गया। यों अधम राजा धन और विषय सुख में तल्लीन होकर बाह्य प्रदेश में ही भटकता रहा। सारे समय रूप-दर्शन, धन बटोरना और इन्द्रियों के विषयों को भोगने में ही उसने सुख और कर्त्तव्य की इतिश्री मान ली। अपने राज्य, अपनी सेना, अपनी अखूट सम्पत्ति और अपने स्वयं के राजा होने का तो उसे भान ही न रहा। दृष्टिदेवी, महामोह राजा और उसकी सेना को वह अपना हितेच्छु और मित्र मानने लगा और उन्हीं का पूरा विश्वास करने लगा। इस प्रकार अधम को अपने विश्वास में लेकर तस्कर सैन्य ने धीमे-धीमे उसका समस्त राज्य हड़प लिया और अधम को अपना वशंवद बनाकर, उसके समस्त समर्थकों को मार-मार कर भगा दिया। [४७१–४७५]

इस प्रकार अधम राजा अपने राज्य से भ्रष्ट हुआ, अपने सच्चे हितैषियों से रहित हुआ और अपने शत्रुओं से घिरकर हतपराक्रम हुआ। दूसरों के अधीनस्थ रहने में वह सुख मानने लगा। शब्दादि इन्द्रिय विषय जो दुःख रूप हैं और दुःख को उत्पन्न करने वाले हैं, उसे अज्ञानवश प्राणी सुख रूप मानता है। अर्थात् वास्तविक

* पृष्ठ ५६१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुख क्या है और कहाँ है, इसे न जानने से विपरीतमति के कारण इन्द्रिय सुख को ही वह वास्तविक सुख मानने लगता है। वह अधम बाह्य प्रदेश में ऐसा भटक गया कि उसकी तुलना राज्य कर्मचारी, अभिनेता, भाट, चारण या जुआरी से की जा सकती है। स्वयं राजा होते हुए भी वह संसार में सर्वत्र अभिनेता और जुआरी के रूप में पहचाना जाने लगा। महामोह राजा की सेना के प्रभाव में वह दुनियां में व्यभिचारी, महापापी, विवेकीजनों की दृष्टि में दयापात्र, नास्तिक, मर्यादाहीन और धर्मानुष्ठानों का द्वेषी बन गया। धर्म करने वालों को वह हास्य पूर्वक ढोंगी, भोगहीन और भाग्यहीन कहने लगा और अर्थ तथा काम में तल्लीन लोगों को विद्वान् मानने लगा। वह समझने लगा कि जिसकी स्त्री अपने वश में हो, जिसे नित्य नूतन सौन्दर्य दर्शन प्राप्त होता हो और जिसके पास अगणित धन हो उसे यहीं मोक्ष प्राप्त है, वही सच्चा सुखी है, अन्य सब तो व्यर्थ ही विडम्बना मात्र हैं। इस प्रकार अधम राजा ने बाह्य प्रदेश में ही भटकते हुए अपना सर्वस्व खो दिया, अच्छे विचारों से वंचित रहा और ऐसी निकृष्ट दशा में ही आनन्द मानने लगा। [४७६–४८२]

अन्यदा अधम को एक रूपवती चाण्डालिन स्त्री दिखाई दी और दृष्टिदेवी के प्रभाव से वह उस पर आसक्त हो गया। उसे अपनी कुल मर्यादा, लोकलज्जा, कलंक, अपयश, पाप या भविष्य का भी विचार न हुआ। न तो उसे लोकनिन्दा का भय हुआ और न ही उसने कार्य-अकार्य का विचार किया।* उस चाण्डालिन स्त्री के रूप-सौन्दर्य का लम्पट बनकर वह उसी की तरफ निर्निमेष दृष्टि से एकटक देखने लगा और अन्य समस्त व्यवहार भूल गया। अधम का ऐसा अति विपरीत लोकनिन्द्य तुच्छ व्यवहार देखकर सब लोग उसकी निन्दा करने लगे, तिरस्कार करने लगे और उसे फटकारने लगे। अर्थात् अन्तरंग राज्य से भ्रष्ट होकर वह बाह्य प्रदेश में भी जन-समूह से निन्दित हुआ। सब लोगों ने इकट्ठे होकर उस महान् अकार्य करने वाले अधम को राज्य से निकाल दिया; क्योंकि "गुणों की ही सर्वत्र पूजा होती है।" फिर बाह्य प्रदेश में भी अति भयंकर दुःखों को सहन कर निकृष्ट की तरह अधम को भी कर्मपरिणाम राजा ने रुष्ट होकर, यह कहकर कि 'तुमने राज्य बहुत गलत ढंग से किया, तुम्हें राज्य करना नहीं आता' पापीपिंजर नामक महा भयानक स्थान में डाल दिया। यहाँ भी उसे अनन्तविध दुःख प्रदान किये गये। [४८३–४९०]

वितर्क कहने लगा कि, उस समय मेरे मन में विचार आया कि निकृष्ट की तरह अधम राजा भी राज्य मिलने पर भी ऐसी दुरावस्था को प्राप्त हुआ, वह अपने राज्य, अपनी सेना और अपने बल-वीर्य को नहीं जान सका, इसका भी एकमात्र कारण उसका अज्ञान ही था अन्य कोई कारण नहीं। [४९१]

* पृष्ठ ५९२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. विमध्यम-राज्य

वितर्क तृतीय वर्ष के राजा का वर्णन करते हुए कहता है—देव ! तीसरे वर्ष में विमध्यम को अन्तरंग राज्य सौंपा गया। गत दो वर्षों में जिस प्रकार घोषणा की गई थी उसी प्रकार इस बार भी की गई। गत वर्षों की भांति इस बार भी महामोह और चारित्रधर्मराज की सभाओं में इस नये राजा के विषय में विचार-विमर्श हुआ। [४९२–४९३]

महामोह राजा ने अपने मंत्री विषयाभिलाष से पूछा—आर्य ! अन्तरंग राज्य के इस नये राजा के गुणों के सम्बन्ध में क्या जानते हो ? सुनाओ। [४९४]

उत्तर में विषयाभिलाष बोला—महाराज ! यह नया राजा वैसे तो हमारे प्रति प्रेम दृष्टि रखने वाला होने से हमें प्रिय तो है, पर कभी-कभी यह चारित्रधर्म-राज की तरफ भी देख लेता है। यद्यपि वह अपने हृदय से हमें अपने भाई के समान ही मानता है तथापि चारित्रधर्मराज की सेना से भी अपेक्षा रखता है। इसका प्रेम एवं पक्षपात हमारे प्रति अधिक है और चारित्रधर्मराज के प्रति आदर-सन्मान कम है। इसकी इस लोक के प्रति जैसी आसक्ति है वैसे ही वह परलोक के प्रति भी वांछा करता है, दृष्टि रखता है। इसका मन मुख्यतः धन बटोरने और काम भोगों में आसक्त है, पर कभी-कभी सहज धर्मकार्य भी करता रहता है। यह प्रकृति से सरल, सभी देव-गुरुओं एवं तपस्वीजनों की स्तुति करने वाला, दान देने वाला, शील पालन करने वाला और सत्शास्त्र पर किसी प्रकार का दूषण नहीं लगाने वाला है। हे देव ! यह हमारे लिये बहुत अच्छा नहीं है, क्योंकि चारित्रधर्मराज की सेना के स्वरूप को भी सामान्यतः जानता है। इस वर्ष हमें अधिक सावधान रहना पड़ेगा। जैसे भी हो वैसे इसे भी अन्तरंग राज्य में प्रविष्ट होने से रोकना पड़ेगा। यदि हमने थोड़ी सी भी भूल की तो अंतरंग राज्य में प्रवेश करते ही यह अपनी सेना को पहचान लेगा और उसका * पालन-पोषण करेगा, तथा हमारी सेना के लिये बाधायें खड़ी कर देगा, यह निःसंदेह है। यह बाह्य प्रदेश में रहकर ऊपर-ऊपर से स्वयं की सेना का परिपालन करता रहे तो हमारे लिये अत्यन्त बाधक नहीं बन पायेगा। जैसे हमने पहले दृष्टिदेवी के सहयोग से अधम को उसके राज्य में प्रवेश करने से रोका था, वैसे ही इसे भी रोकना पड़ेगा। अतएव हे स्वामिन् ! अब आप अपनी योजना को क्रियान्वित करने के लिये अविलम्ब आज्ञा प्रदान कीजिये, जिससे कि विमध्यम अपने राज्य में प्रवेश कर अधिकार प्राप्त न कर सके।

---

* पृष्ठ ५९३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह सुनकर महामोह ने विमध्यम को उसके अन्तरंग राज्य में प्रवेश करने से रोकने की आज्ञा दे दी। [४६५-५०६]

विमध्यम का राज्य

आज्ञा मिलते ही मोह राजा के तस्कर सैनिकों ने दृष्टिदेवी के सहयोग से विमध्यम को अपने अन्तरंग राज्य में प्रवेश करने से रोक दिया और उसके राज्य पर अपना आधिपत्य जमा लिया। पर, इस बार चारित्रधर्मराज की सेना को अधिक पीड़ित नहीं किया और किंचित् उस सैन्य की अपेक्षा भी रखी। परिणाम-स्वरूप वह राज्य से बहिर्भूत होने पर भी आत्मीय राज्य और सेना का भी कभी-कभी मान-सन्मान के साथ पालन-पोषण करने लगा। विमध्यम ने रात-दिन के समय को तीन भागों में बांट दिया था। वह समयोचित कुछ समय धर्म-कार्य करता, कुछ समय धनोपार्जन करता और कुछ समय विषय सेवन में बिताता। वह धर्म, अर्थ और काम तीनों में प्रवृत्ति करता था जिससे चारित्रधर्मराज आदि भी संतुष्ट थे और गत वर्षों की तरह शोक-मग्न भी नहीं थे। विमध्यम राजा की तुलना त्रिवर्ग (अर्थ, काम, धर्म) साधक सदाचारी ब्राह्मण या प्रजापालक राजा से की जा सकती है। इस पद्धति से वह विमध्यम लोगों में भाग्यशाली और पुण्यवान के रूप में प्रशंसित भी हुआ। विमध्यम का पिता कर्मपरिणाम महाराजा भी अपने पुत्र की राज्यपालन पद्धति से कुछ प्रसन्न हुआ। फलस्वरूप उसने कभी विमध्यम को सुख पूर्ण संयोग वाले पशुसंस्थान में भेजा तो कभी सुख-साधन युक्त मानवावास में और कभी सुख से भरपूर विबुधालय (देवलोक) में भी भेजा था, ऐसा मैंने सुना। [५०७-५१६]

१४. मध्यम-राज्य

विमध्यम का राज्य समाप्त होने पर चौथे वर्ष मध्यम नामक चौथे पुत्र का राज्य प्रारम्भ हुआ। गत वर्षों की भांति इस बार भी उसकी नियुक्ति की घोषणा पटह बजाकर की गई। महामोह और उसके मंत्री के बीच भी गत वर्षों की ही तरह इस नये राजा के विषय में विचार-विमर्श हुआ। महामोहराज द्वारा मध्यम के गुण और स्वरूप के सम्बन्ध में पूछने पर विषयाभिलाष मंत्री ने कहा :—

महाराज! यह मध्यम राजा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों में पूरे समय भाव-पूर्वक प्रयत्न करने वाला है। वह इन चार पुरुषार्थों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में मोक्ष को ही सच्चा परमार्थ स्वरूप मानता है। वह यह भी जानता है कि मोक्ष रूपी साध्य को प्राप्त करने का वास्तविक साधन धर्म ही है, अतः वह अर्थ और काम में अधिक आसक्त नहीं होता। यद्यपि वह धन और काम भोगों के दोषों को भली भांति जानता है, तथापि स्वयं में अत्यन्त विशाल पराक्रम के अभाव में वह उसको परमार्थ से बन्धन/दोष स्वरूप ही समझता है! फिर भी इन बन्धनों को तोड़ने में अभी वह अपने आपको असमर्थ पाता है। उसका चिन्तन सदा मोक्ष लक्ष्य की ओर ही रहता है, अर्थात् वस्तु स्वरूप को बराबर समझता है।* फिर भी यह नरपति आवश्यक सामर्थ्य के अभाव में बन्धु, पुत्र, कलत्रादि इन भाव-बन्धनों को तोड़ने में अक्षम है। [५१७–५२२]

वितर्क कहता है कि विषयाभिलाष मन्त्री ने महामोहराज आदि के सन्मुख मध्यम के स्वरूप गुणों का चित्रण किया वैसा ही मध्यम का स्वरूप-वर्णन मैंने जनता के मुख से भी सुना।

अप्रबुद्ध—वितर्क! तुमने मध्यम के सम्बन्ध में लोगों के मुख से और क्या-क्या सुना?

वितर्क—देव! सुनिये। सिद्धान्त गुरु ने जो बातें आपको पहले बतलाई थीं उन्हीं सिद्धान्त गुरु से इस मध्यम राजा की भी पहचान थी। सिद्धान्त गुरु ने एक बार मध्यम राजा को उद्देश्यपूर्वक समझा दिया था जिससे वह अपने आन्तरिक अन्तरंग राज्य को भी थोड़ा बहुत जान गया था। उनके उपदेश से वह अपनी ऋद्धि-समृद्धि और वास्तविक स्वरूप को तथा चारित्रधर्मराज के योद्धाओं को भी पहचान गया था। सिद्धान्त के वचनों से वह यह भी जान गया था कि महामोह आदि शत्रु कितने प्रबल तस्कर हैं। फलस्वरूप मध्यम राजा ने अपने वीर्य (बल) को थोड़ा-थोड़ा प्रकट कर अन्तरंग राज्य की आधी भूमि को अपने अधीन कर लिया। मध्यम राजा के सहायक चारित्रधर्मराज और उसके योद्धा भी इससे प्रसन्न हुए और मोह राजा आदि चोर-लुटेरे घबराये। महामोह आदि तस्कर भी मध्यम राजा की शक्ति को जान गये, अतः अब उन्होंने भी उसके राज्य को अधिकार में करने के विचार का त्याग कर दिया और राजा के अनुचर जैसे बन-कर उससे डरते हुए, भय खाते हुए उसके आस-पास ही मंडराने लगे। चारित्रधर्म-राज आदि राजा, सेना एवं बान्धवजन भी अपने स्वामी की इतनी सामर्थ्य को देखकर मन में किंचित् प्रसन्न हुए और दृष्टिदेवी जो पिछले राजाओं को वश करने में समर्थ हुई थी वह भी मध्यम राजा के मार्ग में अत्यन्त बाधक नहीं बन सकी, अर्थात् उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकी। [५२३–५३२]

इस प्रकार मध्यम राजा ने अपने मण्डल को थोड़ा जीत लिया था और धीरे-धीरे अपने राज्य का विस्तार करने की प्रतीक्षा करने लगा। बाह्य प्रदेश में मध्यम

* पृष्ठ ५९४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजा की बहुत प्रशंसा हुई। लोग कहने लगे कि यह राजा सचमुच भाग्यवान और पुण्यवान है, इसको सत्य मार्ग प्राप्त हुआ है, यह धन्य है। [५३३–५३४]

अधिक क्या ? जैनेन्द्र-शासन में प्रवृत्त जिन जीवों ने सत्य मार्ग प्राप्त किया है, जिनके मन में सच्ची शुद्ध श्रद्धा जाग्रत हुई है, जो जीव, अजीव आदि तत्त्वों के जानकार हैं, जो अपनी शक्ति के अनुसार पाप से पीछे हटे हुए हैं, जो अपनी विशुद्ध लेश्या वैचारिक प्रवृत्ति से संसार के सभी प्राणियों को आह्लादित करते हैं, ऐसे प्राणी जिस प्रकार का आचरण करते हैं ठीक वैसा ही आचरण मध्यम राजा ने अपने राज्य को भोगते समय किया। तत्त्व को समझ कर परलोक और मोक्ष के लिये प्राणी जिस प्रकार का पुरुषार्थ करता है उसी प्रकार का उद्यम करने वाला मध्यम राजा भी था। [५३५–५३८]

मध्यम राजा का पिता सार्वभौम नरपति कर्मपरिणाम महाराजा * अपने पुत्र की इस प्रवृत्ति से प्रसन्न हुआ और उसका राज्य-काल पूरा होने पर उसे असंख्य सुखों से भरपूर विबुधालय (देवलोक) में भेज दिया। [५३९–५४०]

१५. उत्तम-राज्य

वितर्क अप्रबुद्ध से कह रहा है—निकृष्ट, अधम, विमध्यम और मध्यम इन चार प्रकार के राजाओं का भिन्न-भिन्न चरित्र और राजतन्त्र का अवलोकन करने के पश्चात् 'पांचवां उत्तम क्या करेगा और किस प्रकार राज्य का पालन करेगा ?' इस सम्बन्ध में मुझे जानने की उत्सुकता जाग्रत हुई। गत वर्षों की भांति इस वर्ष भी उत्तम राजा के राज्यारंभ की घोषणा देश के सभी नगरों और ग्रामों में हुई। घोषणा सुनकर अन्तरंग राज्य के अधिपति चारित्रधर्मराज और महामोहराज की सभाओं में भी इस नये राजा के विषय में ऊहा-पोह एवं विचार-विमर्श हुआ। [५४१-५४३]

सद्बोध मंत्री ने सेना में शांति तथा धैर्य बनाये रखने के लिए चारित्रधर्म-राज के समक्ष उत्तम राजा के स्वरूप और गुणों का विस्तार से वर्णन करते हुए कहा—

भाइयों ! इस नये राजा से आप लेशमात्र भी न घबरायें। यह राजा बहुत अच्छा, हमारे प्रति प्रेम रखने वाला और हमारे आनन्द में विशिष्ट वृद्धि करने

* पृष्ठ ५६५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाला है। यह राजा जानता है कि उसका यह राज्य अनेक अमूल्य रत्नों से समृद्ध है। यह हमारी सेना के प्रत्येक नायक को उसके नाम और गुणों से जानता है और उन गुणों का स्वयं उसके साथ क्या सम्बन्ध है उसे भी जानता है। पुनः हमारी सेना कैसी है? कितनी है? सेनापतियों के क्या-क्या गुण हैं? हमारे कौन से स्थान, ग्राम, नगर, प्रदेश आदि हैं तथा अन्तरंग राज्य में कौन-कौन चोर हैं और कौन शुद्धाचरण वाले हैं? इसे भी वह जानता है। इस राज्य में किस प्रकार की परिस्थिति उत्तम है? इस समस्त वस्तुस्थिति को भी उत्तम भूपति समझता है। इतना ही नहीं, समझी हुई बात को क्रियान्वित करने के लिए भी सर्वदा तत्पर रहता है, जिससे हमारी सेना की बल-शक्ति में वृद्धि होती है और हमारे यश तथा तेजस्विता में भी वृद्धि होती है। वह महामोह आदि हमारे शत्रुओं को पहचानता है तथा उनको दबाकर रखने वाला और उनका नाश करने वाला है। एक राजा के योग्य सभी गुणों से अलंकृत होने के कारण यह राजा हमारे लिए श्रेष्ठ है और इसका राज्य परमार्थ से हमारा राज्य हो गया है, ऐसा आप समझें। देव! इस सम्बन्ध में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है। [५४४–५५०]

सद्बोध मंत्री के उपरोक्त वचन सुनकर चारित्रधर्म आदि राजाओं के मुख-कमल प्रफुल्लित हो गये। फिर उन्होंने आनन्दित होकर आश्चर्यजनक हर्ष-महोत्सव मनाया और परस्पर अभिनन्दन किया तथा बधाईयां बांटने लगे। सभी राजा आनंद रस में लीन होकर गाने लगे—

अहो! इस उत्तम राजा के प्रकर्ष-पूर्ण प्रबल राज्य में समग्र तस्कर-समूह के बल का दलन (हनन) कर दिया जायेगा। अल्प समय में ही यह राज्य उत्तम/श्रेष्ठ प्रकार का हो जायेगा और विशेष रूप से इसका राज्य साधुजनों को अतिशय आनन्द प्रदान करने वाला हो जायेगा। [५५१–५५३]

इधर उत्तम-राज्य की स्थापना के समाचार सुनकर महामोह राजा की सेना तो हताश हो गई। 'अरे मर गये!' कहते हुए वे सचमुच अधमरे से हो गये। वे सोचने लगे कि, अब कहाँ जायें? कहाँ भागें? जीवन-रक्षा कैसे करें? क्या करें? इन्हीं विचारों में आकुल-व्याकुल होकर वे घबराने और दुःखी होने लगे। [५५४–५५५]

अपने पिता कर्मपरिणाम महाराजा से राज्य प्राप्त कर उत्तम राजा पहले सिद्धान्त गुरु के पास गया और उनसे आन्तरिक राज्य की गुप्त स्थिति के बारे में पूछा। उत्तम ने कहा—महाराज! इस अति दुर्गम राज्य में मुझे कैसे प्रवेश करना चाहिये?* महा प्रचण्ड चोरों का नाश कैसे करूं? किस नीति से राज्य करने पर यह विशाल राज्य मेरे वश में होगा? मेरी पौरुष-शक्ति का उपयोग मुझे कहाँ करना चाहिये? पूज्यवर! आप विधिवेत्ता हैं, आप सब कुछ उपाय/मार्ग जानते हैं,

* पृष्ठ ५९६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः मुझे ऐसा मार्ग बताइये जिससे मेरा राज्य निष्कंटक हो और मुझे अन्य किसी से भी त्रास प्राप्त न हो सके। [५५६–५५६]

उत्तर में सिद्धान्त गुरु ने उत्तम से कहा – वत्स ! तू सचमुच राज्य करने के योग्य है, यह निःसन्देह है। क्योंकि, तुझे मोक्ष-प्राप्ति की प्रबल इच्छा है और उसी के लिये तू धर्म की साधना करता है। तू विरत होकर संसार से दूर होता जा रहा है। तू अर्थ और काम से पराङ्मुख होता जा रहा है। ये सभी योग्य लक्षण हैं। मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रवृत्त होने वाले को आनुषंगिक रूप से जो यश और सुख प्राप्त होता है उसमें वह मोहित/लुब्ध नहीं होता, इसीलिए वे बन्ध के कारण नहीं बनते। मैं तुझे भी ऐसा ही देख रहा हूँ। इस संसार का सभी प्रपंच तुझे स्पष्टतः दिखाई दे रहा है। उसके रहस्य और विषमता को तूने समझ लिया है, इसीलिये पिता द्वारा सौंपे गये राज्य को भी तूने पहचान लिया है। हे नरोत्तम ! इस राज्य में प्रवेश करने की विधि बतलाता हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो। [५६१–५६४]

राज्य-प्रवेश का उपाय

राजन् ! अन्तरंग राज्य में प्रवेश करने से पहले गुरु महाराज से पूछना। गुरु महाराज जो उपदेश दें/मार्ग बतावें उस पर सम्यक् प्रकार से आचरण करना। वेद मंत्रों से मंत्रित अग्नि की जिस प्रकार अग्निहोत्री रक्षा करता है उसी प्रकार गुरु महाराज की सेवा/उपासना करना। धर्मशास्त्रों का मननपूर्वक अभ्यास कर तलस्पर्शी ज्ञाता बनना। उनमें वर्णित सिद्धान्तों/रहस्यों का गहन-चिन्तन करना और उन्हें समझकर हृदय को उन पर दृढ़ करना। धर्मशास्त्रों में बताई हुई क्रियाओं/अनुष्ठानों का पालन करना। संत महात्माओं की पर्युपासना/सेवा करना। दुर्जन मनुष्यों से सर्वदा दूर रहना और उनके परिचय का त्याग करना। १. सर्व प्राणी अपने समान ही है, ऐसा समझ कर उनकी रक्षा करना, उन्हें प्राणदान देना, २. सर्व प्राणियों को हितकारी, मधुर, अवसर योग्य और सोच-समझ कर सत्य वचन बोलना, ३. दूसरे के धन का तिल मात्र भी बिना स्वामी की आज्ञा के नहीं लेना, ४. समस्त स्त्रीवर्ग के साथ संभाषण, स्मरण, कल्पना, प्रार्थना, वार्तालाप आदि नहीं करना, उनके सामने एकटक नहीं देखना और ५. बाह्य तथा अन्तरंग सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग करना। आत्म-संयम में विशेष उपकारी साधुवेष को धारण करना। नव कोटि विशुद्ध आहार, उपधि, शैय्या आदि से अपने शरीर का निर्वाह करना और ग्राम-नगर आदि में निःस्पृह होकर अप्रतिबद्ध विहार करना। तंद्रा, ऊंघ, निराशा, आलस्य और शोक को निकट आने का अवसर भी नहीं देना। सुकोमल स्पर्श पर मूर्छित न होना, स्वादिष्ट रस का लोलुप न बनना, सुगन्धित पदार्थों पर मोहित न होना, कमनीय रूप सौन्दर्य पर आसक्त न होना और मधुरध्वनि पर लुब्ध न बनना। कर्कश शब्दों के प्रति उद्वेग न करना, वीभत्स रूप को देखकर जुगुप्सा न करना, अमनोज्ञ रस को देख कर द्वेष न करना, दुर्गन्धित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थों की निन्दा न करना और अरुचिकर स्पर्श की गर्हा न करना। प्रत्येक क्षण अत्यन्त विशुद्ध भाव-जल से धोकर आत्मा को स्वच्छ रखना। सर्वदा मन में समस्त प्रकार से संतोष रखना, विचित्र प्रकार का* तप करना, पांच प्रकार का स्वाध्याय करना, सर्वदा अन्तः करण को परमात्मा में स्थापित करना और पांच समिति एवं तीन गुप्ति से पवित्र मार्ग पर निरन्तर चलना। क्षुधा, प्यास आदि २२ परिषहों को सहन करना, देव-मनुष्यादि कृत उपसर्गों को सहन करना, बुद्धि, धैर्य तथा स्मृति के बल में यथाशक्य वृद्धि करना और जिन शुभ योगों की प्राप्ति न हुई हो उन्हें प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न करना।

उक्त मार्ग का अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करने से अन्तरंग राज्य में प्रवेश हो सकता है, तुझे भी इसी मार्ग पर चलकर राज्य में प्रवेश करना चाहिये।

उत्तम राजा बोले—जैसी भगवन् की आज्ञा।

अंतरंग राज्य का मार्ग

इसके पश्चात् सिद्धांत गुरु ने अपना उपदेश आगे चलाया—वत्स! उपरोक्त पद्धति से अन्तरंग राज्य में प्रवेश करते समय तुम अभ्यास नामक व्यक्ति को अपने अंगरक्षक (विशेष सहायक) के रूप में अवश्य साथ रखना। ऐसा करने पर चारित्रधर्मराज की सेना का वैराग्य नामक योद्धा भी सहयोगी के रूप में तेरे साथ आ जायेगा। इन दोनों अभ्यास और वैराग्य को साथ में लेकर तुम अन्तरंग राज्य में प्रवेश करना। महामोह राजा की सेना के किसी भी व्यक्ति को बाहर मत आने देना। यदि कोई बलात्कारपूर्वक बाहर आने का प्रयत्न करे तो उसे देखते ही मार देना (मोह के उदय को निष्फल कर देना)। चारित्रधर्मराज की सारी सेना को धैर्य बंधाना और चित्तवृत्ति राज्य-भूमि को स्थिर करना। मैत्री, मुदिता, करुणा, और उपेक्षा नामक चार महादेवियों को इस राज्य भूमि में प्रवर्तित करना और उनके प्रसार को अधिकाधिक बढ़ाकर उनसे राज्यपालन में सहायता लेना। जब यह सब सामग्री तैयार हो जाये, तब तू पूर्व दिशा के द्वार से अन्तरंग राज्य में प्रवेश करना। इस अन्तरंग भूमि के उत्तर दिशा की (बायीं) ओर महामोह राजा की सेना के आधारभूत उपयोग में आने वाले ग्राम, नगर, घाटी, नदी, पर्वत आदि हैं। दक्षिण की (दायीं) तरफ चारित्रधर्मराज की सेना से सम्बन्धित ग्राम, नगर आदि हैं। इन दोनों सेनाओं की आधारभूमि तो चित्तवृत्ति महाटवी ही है। इस चित्तवृत्ति अटवी के अन्त में पश्चिम दिशा में निर्वृत्ति नामक नगरी है। चित्तवृत्ति अटवी को पार करने के बाद सामने ही निर्वृत्ति नगरी है। जब तू निर्वृत्ति नगरी में पहुंचेगा तब तेरे सारे मनोरथ पूर्ण होंगे और तुझे अन्तरंग राज्य-प्राप्ति का वास्तविक फल प्राप्त होगा, अतः इस नगरी में पहुंचने का तू यथाशक्य पूर्ण प्रयत्न करना। चित्त-वृत्ति अटवी के मध्यभाग में होकर औदासीन्य नामक एक अतिसुगम राजमार्ग जाता

* पृष्ठ ५६७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। यह मार्ग चारित्रधर्मराज की सेना को अत्यन्त प्रिय है। इस मार्ग को महामोह राजा की सेना स्पर्श भी नहीं कर सकती। इस मार्ग पर अनवरत चलकर तू निर्वृत्ति नगरी की ओर जाना। इस मार्ग पर तुझे पहले अध्यवसाय नामक विशाल सरोवर मिलेगा। इस सरोवर की विशेषता यह है कि जब यह गंदा होता है तब स्वाभाविक रूप से महामोह राजा की सेना का पोषण करता है और चारित्रधर्मराज की सेना को उत्पीड़ित करता है, किन्तु जब यह स्वच्छ होता है तब प्रसन्नतापूर्वक स्वाभाविक रूप से चारित्रधर्मराज के सैन्य को पुष्ट करता है और महामोह राजा के सैन्य को * दुर्बल बनाता है। यही कारण है कि महामोह की सेना अपने हित के लिये इसे दूषित करती रहती है और चारित्रधर्मराज की सेना अपने उपकारार्थ इसे स्वच्छ करती रहती है। तू इस अध्यवसाय महासरोवर को स्वच्छ करने के लिये मैत्री, मुदिता, करुणा, उपेक्षा महादेवियों को नियुक्त कर देना; क्योंकि ये चारों देवियां इस सरोवर को निर्मलतम/स्वच्छतम बनाने में अत्यन्त चतुर हैं। इस सरोवर को स्वच्छ करने से चारित्रधर्मराज की सेना अधिक बलवान होगी, जिससे तेरे अधीनस्थ राजा भी पुष्ट होंगे और महामोह राजा की सेना बलहीन हो जायेगी, तब ही तू आगे प्रयाण कर सकेगा। आगे जाकर तुझे इसी सरोवर में से निकली हुई धारणा नामक महानदी मिलेगी। तब तू अपने आसन को स्थिर कर, हलन-चलन को रोक कर, श्वासोच्छ्वास को बन्द कर, सकल इन्द्रियों के व्यापार को रोक कर, अति वेग से चलकर नदी में प्रवेश कर जाना। इस समय महामोह आदि भयंकर शत्रु नदी में संकल्प-विकल्प की उत्ताल तरंगे पैदा करेंगे, पर तू अत्यन्त सावधानी पूर्वक इन तरंगों को उठते ही शांत कर देना। जब तू धारणा नदी को पार कर आगे बढ़ेगा तब तुझे धर्म-ध्यान नामक दण्डोलक (पगडण्डी) मिलेगी। इस पगडण्डी से आगे बढ़ने पर तुझे सबीजयोग नामक बड़ा रास्ता मिलेगा। इस रास्ते पर चलते हुए तेरे महामोहादि समग्र शत्रुओं का प्रतिपल नाश होता जायगा और उनके निवास स्थान भी सब अस्त-व्यस्त होकर विनाश की अवस्था को प्राप्त होते जायेंगे। इस मार्ग पर चारित्रधर्मादि अनुकूल मित्र अधिक बलवान होंगे। तेरी सम्पूर्ण अन्तरंग राज्य-भूमि अधिकाधिक स्वच्छ और विशुद्ध होती जायेगी। पहले उसमें जो राजस् और तामस् वृत्तियां थीं, उनका अब नामो-निशान भी नहीं रहेगा। इस मार्ग से आगे बढ़ने पर एक ओर शुक्ल ध्यान नामक दण्डोलक आयेगा। दण्डोलक से चलकर आगे बढ़ने पर तुझे विशुद्ध केवलालोक की प्राप्ति होगी, जिससे तू सभी वस्तुओं और भावों को यथावस्थित शुद्ध आकार में देख सकेगा। यह दण्डोलक आगे जाकर निर्बीजयोग नामक बड़े मार्ग से मिल जायेगा। इस मार्ग पर चलते हुए भयंकर शत्रुओं का शमन करने के लिये तुझे केवली-समुद्घात नामक कठिन प्रयत्न करना पड़ेगा। ऐसा करके तू योग नामक तीन दुष्ट वैतालों का नाश कर सकेगा।

---

* पृष्ठ ५६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योगों के नष्ट होने के पश्चात् शैलेशी मार्ग आयेगा, इस मार्ग पर चलना। इस पर चलकर ही तू अन्त में निर्वृत्ति नगरी पहुँच सकेगा। यह नगरी सर्वदा स्थिर रहती है और यहाँ किसी प्रकार की रुकावट या पीड़ा नहीं होती, इसीलिये इसका नाम निर्वृत्ति नगरी रखा गया। यदि तू उदासीनता नामक राज्य मार्ग को छोड़कर इधर-उधर नहीं भटकेगा तो तुझे उपरोक्त सभी स्थान क्रमशः प्राप्त होते जायेंगे। इस मार्ग पर चलते हुए तू अपने पास समता नामक योगनलिका (दूरबीन) अवश्य रखना और इस योगनलिका के प्रयोग द्वारा तू दूर के पदार्थों की स्थिति भी बराबर देखते रहना। फिर तू स्वयं ही सभी वस्तुओं के यथावस्थित सत्य स्वरूप को देख सकेगा और प्रत्येक अवसर पर आवश्यक एवं समयोचित कदम उठा सकेगा। अर्थात् इस समता योगनली द्वारा तू स्वयं ही सब कुछ निर्णय कर सकेगा। इसलिये अब तुझे अधिक उपदेश देने की आवश्यकता नहीं है।

हे वत्स! इस निर्वृत्ति नगरी में तो सर्वदा आनन्दोत्सव चलते ही रहते हैं, अतः यहाँ पहुंचकर ही तू अन्तरंग * राज्य-प्राप्ति का वास्तविक फल और लाभ का भोक्ता बन सकेगा। उस समय तुझे किसी भी प्रकार की बाधा-पीड़ा नहीं रहेगी। सम्पूर्ण शत्रु-समूह के नाश से तू निर्भय हो जायगा। हे भाग्यशालिन्। वहाँ तू सर्वदा आनन्द की लहरों में मग्न रहेगा। तेरे साथ जो अन्तरंग राज्य के राजा हैं उन्हें भी समृद्धि प्राप्त होगी और तुझ में लय होकर वे भी तेरे साथ आनन्द का भोग करेंगे। [५६५-५६७]

वत्स! तू यह भी लक्ष्य में रखना कि अन्तरंग राज्य में प्रवेश करते ही तू पहले तेरे शत्रुओं का नाश करने वाले पराक्रमी योद्धा वैराग्य को प्रमुख बना देना और मार्गों के जानकार अभ्यास को अपने साथ रखकर उसके मार्ग-दर्शन में ही आगे बढ़ना। हे महाभाग! इन दोनों की सहायता से राज्य में प्रवेश करने के पश्चात् पद-पद पर तेरी समृद्धि में वृद्धि होगी। अधिक क्या कहूँ? संक्षेप में तुझ से यही कहना है कि तू इस राज्य मार्ग का कभी त्याग मत करना, अपने अन्तरंग शत्रुओं का नाश करते रहना, बाह्य संपत्ति या आकर्षणों के प्रति आसक्त मत होना, चारित्र-धर्म आदि तेरे हितेच्छुओं का सम्यक् प्रकार से पालन-पोषण करना और मेरे उपदेश को बारम्बार स्मरण करते रहना। हे वत्स! यदि तू इस प्रकार करेगा तो तेरा सब प्रकार से कल्याण होगा। वत्स! अब तू जा और निर्मल राज्य कर। तुझे सिद्धि, लाभ और राज्यफल प्राप्त होंगे और मेरा परिश्रम/प्रयत्न भी सफल होगा। [५६८-५७२]

"जैसी भगवान् की आज्ञा" कहते हुए उत्तम राजा ने प्रस्थान किया।

उत्तम का उपदेशानुसार अनुष्ठान

महात्मा सिद्धान्त गुरु के उपदेश के अनुसार ही बुद्धिशाली उत्तम राजा ने अन्तरंग राज्य में प्रवेश किया और उनके मार्ग-दर्शनानुसार ही अपने सभी कर्त्तव्य पूर्ण किये। [५७३-५७४]

---

* पृष्ठ ५६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे देव ! महामोह आदि शत्रुओं ने पहले की ही भांति उत्तम राजा को वश में करने की कामना से योगिनी दृष्टिदेवी को नियुक्त किया, किन्तु वह उसे वश में करने में असमर्थ रही, प्रत्युत उत्तम राजा ने ही उसे अपने वश में कर लिया। इतना ही नहीं, अन्त में महामोह आदि समस्त शत्रुओं पर उसने विजय प्राप्त करली। [५७५–५७६]

तदनन्तर उत्तम ने धीमे-धीमे समस्त शत्रुवर्ग का नाश कर दिया और निष्कण्टक तथा दिन-प्रतिदिन वर्धमान, प्रताप/समृद्धि सम्पन्न सुन्दर राज्य को प्राप्त कर अपनी सेना का भली प्रकार पालन करते हुए समस्त प्रजा को आह्लादित करने लगा। उसने निर्वृत्ति नगरी के मार्ग को नहीं छोड़ा, इधर-उधर नहीं भटका, इसलिये वह लोगों में श्लाघा/प्रशंसा को प्राप्त हुआ। लोग बारम्बार उसका गुण-गान करने लगे कि, उत्तम राजा धन्य है, कृतकृत्य है। यह महाभाग्यवान् कर्त्तव्य-पालक नरश्रेष्ठ उत्तम पुण्यवान् महात्मा है, जिसने अपने पुण्य-कर्मों के माध्यम से राज्य का बहुत अच्छे ढंग से पालन किया। [५७७–५७९]

फिर तो देवता, दानव, मनुष्य, इन्द्र और चक्रवर्ती भी उसकी अनेक प्रकार से स्तुति करने लगे। निष्कंटक मुक्ति-मार्ग की ओर प्रयाण करते हुए उसने सर्वोच्च सन्मान/पूजा प्राप्त की। अनेक सुखों से परिपूर्ण त्रिभुवन प्रसिद्ध अन्तरंग राज्य का पालन करता हुआ, सिद्धान्त गुरु द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करता हुआ वह निर्वृत्ति नगरी के निकटतर पहुँचने लगा। औदासीन्य मार्ग से चलता हुआ तथा वैराग्य और अभ्यास की सहायता से उपरोक्त सरोवर, रास्तों, पगडण्डियों और नदियों को पार करता हुआ, निरन्तर प्रगति करता हुआ वह आगे बढ़ता रहा। आत्मविकास की सारी प्रक्रियाओं को क्रमशः सम्पन्न करता हुआ वह सर्वदा आनन्दोत्सव से ओत-प्रोत निर्वृत्ति नगरी में पहुँच गया और* अन्तरंग राज्य के सर्वोत्तम फल को प्राप्त कर उसको भोगने में समर्थ हुआ। [५८०–५८३]

हे देव ! मैंने तो यहाँ तक सुना है कि इस निर्वत्ति नगरी में न मृत्यु है, न वृद्धावस्था है, न पीड़ा है, न शोक है, न उद्वेग है, न भय है, न क्षुधा है, न तृषा है और न किसी प्रकार का उपद्रव ही है। वहाँ तो स्वाभाविक, बाधा-पीड़ारहित, स्व-स्वाधीन, अनुपम अनन्त सुख ही सुख है। मोक्ष का सुख वर्णनातीत और तर्करहित है। इस उपमातिग सुख का अनुभव तो किसी सम्पूर्ण ज्ञानी या विशिष्ट महायोगी को ही हो सकता है। [५८४–५८५]

इस प्रकार राज्य का पालन करने से उत्तम भूपति निर्वृत्ति नगरी को प्राप्त कर सका और इस नगरी में पहुँचकर वह चिन्तारहित बन गया। तत्पश्चात् उसने उसको राज्य प्रदान करने वाले अपने पिता कर्मपरिणाम महाराजा को पराजित कर, विजयश्री प्राप्त करली। फलस्वरूप उसे ढोक (कर, चौथ) देने की भी

---

* पृष्ठ ६००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकता नहीं रही। वह सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हो गया और अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन से परिपूर्ण होकर, समस्त क्रियाओं से रहित होकर निरन्तर रमण करने लगा। चित्तवृत्ति महाराज्य का सफलतापूर्वक पालन/रक्षण करने के फलस्वरूप उसे अनन्त काल तक निर्वृत्ति नगरी में निवास करने का सुयोग मिला। [५८६–५९०]

हे देव ! इस प्रकार अपने राज्य का विधिपूर्वक पालन कर वह उत्तम महीपति निर्वृत्ति नगरी में पहुँचा। [५९१]

१६. वरिष्ठ-राज्य

कर्मपरिणाम राजा ने छठे वर्ष में अपने छठे पुत्र वरिष्ठ को राज्य के सिंहासन पर स्थापित किया। गत वर्षों की भांति इस वर्ष भी नये राजा के स्थापित किये जाने की घोषणा ढोल बजाकर की गई। महामोहराज और चारित्र-धर्मराज की राज्यसभा में भी उनके मंत्रियों ने नये राजा के गुणों के विषय में विस्तृत जानकारी दी। महामोहराज आदि तस्कर तो इस नये राजा के विषय में सुनकर आनन्दहीन, निस्तेज और अभिमानरहित होकर मृतप्रायः हो गये। चारित्र-धर्मराज की सेना अत्यन्त हर्षित हुई। सम्पूर्ण साधु-मण्डल अतिशय प्रमुदित हुआ और उन्होंने पूरे देश में बधाइयाँ भेजीं। उत्तम राजा ने राज्य-साधन में जो कुछ किया था वही इस वरिष्ठ राजा ने भी किया, अतः उसका फिर से वर्णन करना अनावश्यक है। इस राजा की विशेषता यहाँ बतला रहा हूँ। [५९२–५९६]

इस राजा का सिद्धान्त गुरु से पहले कई बार परिचय हो चुका था और वह स्वयं भी बुद्धिशाली होने से उसने सिद्धान्त गुरु के वचनों/निर्देशों का अनुसरण किया था। अतः अभी राज्य-प्राप्ति के समय उसे सिद्धान्त गुरु से पूछने की आवश्यकता नहीं रही थी। 'राज्य क्या है और उसे प्राप्त करने के साधन क्या हैं ?' इस विषय में भी उसे मार्ग-निर्देश/उपदेश की आवश्यकता नहीं रही, क्योंकि यह महाभाग्यशाली वरिष्ठ सम्पूर्ण राज्य-परिस्थिति को पहले से ही जानता था, उसके हेतु और साधनों को भी जानता था और सम्पूर्ण अन्तरंग राज्य-मार्ग को देख सकता था। वरिष्ठ महाराजा अपनी स्वयं की शक्ति से राज्य पर स्थापित हुए थे, अतः अनेक बहिरंग राज्य के महात्मा उनकी पदाति सेना में भर्ती हो गये। वरिष्ठ की सेना में प्रविष्ट महात्मा भिन्न-भिन्न गणों/समुदायों में बाह्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रदेश में होने से * उन गणों का संचालन करने से वे गणधर कहलाये। वरिष्ठ राजा स्वयं सिद्धान्त के ज्ञाता थे, परन्तु परोपकार की दृष्टि से उन्होंने अपने गणधरों को सिद्धान्त का उपदेश दिया। राजा की आज्ञा से सिद्धान्त को आदरपूर्वक प्राप्त कर गणधर सिद्धान्त के शरीर को सुन्दर बनाते हैं, परिष्कार करते हैं। पश्चात् ये गणधर सम्यक् प्रकार से निर्णय और संस्कार कर सिद्धान्त के अंग और उपांगों की स्थापना करते हैं। यद्यपि परमार्थ की दृष्टि से तो सिद्धान्त अजर-अमर ही हैं, फिर भी लोक में तो यही प्रसिद्ध हुआ कि इसकी रचना वरिष्ठ राजा ने की है। राज्य-साधन में वरिष्ठ का कोई उपदेष्टा नहीं था। उसने तो स्वयं के ज्ञान-बल से ही राज्य-साधन किया था। वह वरिष्ठ भूपति किसी के सहयोग की अपेक्षा नहीं रखता था, महाभाग्यशाली था, स्वकीय शक्ति-पराक्रम से युक्त था, परापेक्षी नहीं था और स्वयं ज्ञानी था। [५९७–६०७]

वरिष्ठ राजा का स्वरूप

वरिष्ठ राजा के सम्बन्ध में जो लोकवार्ता चल रही थी उसी को सुनकर मैं जान पाया कि कर्मपरिणाम पिता ने वरिष्ठ राजा को कैसा बनाया? वही मैं आपसे निवेदन करता हूँ।

यह नरेश्वर वरिष्ठ भगवान् सर्वदा परोपकार के लिये आतुर रहते। अपने स्वार्थ को तो उन्होंने तिलांजलि दे रखी थी। वे सर्वदा उचित क्रिया में तत्पर रहते, देव और गुरु का बहुमान रखते और किसी भी प्रकार की दीनता से रहित एवं ओजस्वी हृदय वाले थे। वे कार्य प्रारम्भ से लेकर अन्तिम सफलता तक दीर्घ-दृष्टि से देखने वाले, कृतज्ञ, परमैश्वर्य युक्त, किसी पर पूर्व-वैर से शत्रुता न रखने वाले और धीर-गम्भीर आशय वाले थे। वे परीषहों की अवज्ञा करने वाले, उपसर्गों से निर्भय, इन्द्रियसमूह के प्रति निश्चित, महामोहादि शत्रुओं को तृणवत् समझने वाले, चारित्रधर्मराज आदि अपने सैन्यबल पर आत्मभाव रखने वाले और सम्पूर्ण लोक का उपकार करने की अत्यधिक अभिलाषा रखने वाले थे।

चोरों को हटाकर वरिष्ठ महाराजा द्वारा अपने राज्य में प्रवेश करते ही लोगों में अत्यन्त आनन्द छा गया। उसी समय उनका राज्य दिव्यराज्य में परिणत हो गया। पश्चात् निरंतर आनंदोत्सव से परिपूर्ण राज्य को भोगते हुए महाराजा का बहिरंग ऐश्वर्य कैसा था? वर्णन करता हूँ, सुनो! जिनके जगमग करते मुकुट, बाजूबन्द, हार और कुण्डलों से चारों दिशाएँ प्रकाशित होती हैं। ऐसे इन्द्र इन महाराज के पदाति होकर रहते हैं। तीनों लोक के देवता, मनुष्य और असुर महाराज के अनुचर ही हों ऐसा आचरण करते हैं। स्वर्ग, मृत्यु और पाताल लोक की समस्त समृद्धि इनके चरणों में निवास करती है। फिर भी वे तो सर्व प्रकार से पूर्णतया निःस्पृह हैं। [६०९–६१३]

---

* पृष्ठ ६०१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वरिष्ठ महाराज जिस मार्ग से निर्वृत्ति नगर जाने के लिये निकले, उस मार्ग को वे गुप्त नहीं रखते, उसे सर्व प्राणियों के समक्ष प्रकट करते हैं और सब को उस मार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं। इसीलिये देव, असुर और मनुष्य उनके प्रति भक्तिरस से झूमते हुए, अति गहन प्रेम से जिस प्रकार उनकी सेवा-भक्ति करते हैं, वह बतलाता हूँ। इन महाराजा के उपदेश देने के लिये देवता एक अति सुन्दर निर्मल समवसरण की रचना करते हैं* जिसके तीन प्राकार/कोट चांदी, सोने और रत्नों द्वारा बनाये जाते हैं।

[महाराजा की सर्वोत्कृष्टता प्रकट करने के लिये निम्न आठ महा प्रातिहार्यों की रचना देवताओं द्वारा की जाती है।]

१. चारों तरफ उड़ते भंवरों की मधुर झंकार/गुंजारव ध्वनि युक्त, मनोज्ञ, सुकोमल पल्लव विभूषित प्रशस्ततम अशोक वृक्ष की रचना करते हैं।

२. भ्रमर झंकार युक्त मनोहर पंच वर्ण के अनेक प्रकार के पुष्पों की वृष्टि सुरासुर अपने हाथों से निरन्तर करते रहते हैं जिससे दसों दिशायें सुगन्धमय हो जाती हैं।

३. वरिष्ठ महाराज के समवसरण में बैठकर धर्मोपदेश देने के समय देवता आनन्ददायक सुन्दर सुमधुर दिव्य निर्घोष करते हैं।

४. कमल-नाल के सुन्दर तन्तुओं जैसे स्वच्छ, उज्ज्वल और सुन्दर आकार वाले चामर जगत् प्रभु के दोनों तरफ अनवरत ढुलाते रहते हैं।

५. समवसरण के मध्य में अशोकवृक्ष के नीचे चार विशाल सिंहासनों की रचना की जाती है जो अनेक प्रकार के रत्नों की शोभा से जगमगाते रहते हैं, जिस पर बैठकर प्रभु चार मुखों से उपदेश देते हैं। [भगवान् स्वयं पूर्वाभिमुख बैठते हैं, अन्य तीन तरफ देवता उनके प्रतिरूप/प्रतिबिम्ब की रचना करते हैं।]

६. भगवान् के पीछे भामण्डल की रचना की जाती है जो आकाश मण्डल को प्रकाशित करता है और सूर्य के आकार को धारण कर भगवान् के शरीर और कान्ति को उल्लसित करता है।

७. प्रभु के आगमन और उनकी परोपकारिता को प्रदर्शित करते हुए देव किन्नर आकाश में रहकर सुमधुर ध्वनि से देव-दुन्दुभि बजाते हैं, जिसकी ध्वनि कर्णप्रिय, अत्यन्त मधुर और लोगों के हृदय को उल्लसित करने वाली होती है।

८. एक के ऊपर एक ऐसे तीन छत्र प्रभु के सिर के ऊपर सुशोभित रहते हैं जो प्रभु के त्रैलोक्यपति और वरिष्ठ होने की सूचना देते हैं।

---

* पृष्ठ ६०२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे देव ! इस प्रकार देव और दानव अष्ट महाप्रातिहार्यों की रचना करते हैं। इससे यह महाभाग्यशाली वरिष्ठ राजा अधिक सुशोभित होता है। [६१४-६२५]

देवताओं द्वारा रचित प्रातिहार्यों के अतिरिक्त स्वयं वरिष्ठ राजा का शरीर अति सुगन्धित होता है, मल, स्वेद और रोगरहित होता है। इनके शरीर का मांस और रक्त गाय के दूध जैसा या मोती के हार जैसा धवल होता है। इनका आहार और नीहार चर्मचक्षु से नहीं दिखाई देता। श्वासोच्छ्वास कमल जैसा सुगन्धित होता है। ये चारों गुण जन्म से ही इन्हें प्राप्त होते हैं। [६२६-६२७]

प्रभु के उपदेश प्रदान करने हेतु देवता एक योजन मात्र के समवसरण की रचना करते हैं, किन्तु प्रभु के अतिशय से उसमें करोड़ों मनुष्य और देवता बैठ सकते हैं, तनिक भी भीड़-भाड़ नहीं होती। प्रभु अर्धमागधी भाषा में उपदेश देते हैं, किन्तु सुनने वाले सभी मनुष्य, तिर्यञ्च और देवता उसे अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं। एक योजन में बैठे हुए सभी प्राणियों को प्रभु की वाणी सम्यक् प्रकार से सुनाई देती है। प्रभु के विचरण-स्थानों के चारों ओर पूर्वोत्पन्न वैर-विरोध, महामारी, ईति आदि का उपद्रव और बीमारियां स्वतः ही शांत हो जाती हैं और उनके प्रताप से भविष्य में कुछ समय तक उत्पन्न नहीं होतीं। उपरोक्त भूमि में सौ योजन तक दुर्भिक्ष (अकाल), अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चोर-डाकुओं का भय और स्वचक्र एवं परचक्र का भय नहीं रहता।

महामोहादि शत्रुओं का विनाश हो जाने से सद्गुण स्वतः ही वरिष्ठ राजा में उत्पन्न हो जाते हैं।

प्रभु जहाँ विचरण करते हैं वहाँ धर्मचक्र, छत्र, ध्वज, रत्न-जड़ित चामर एवं सिंहासन साथ चलते हैं। देवनिर्मित नव कमलों पर भगवान् चरण रखते हुए विचरण करते हैं। ये नव कमल क्रमशः पीछे से आगे आते रहते हैं एवं उनके प्रभाव से कांटों के मुंह उल्टे हो जाते हैं। प्रभु के नाखून, रोमावली, सिर के केश और दाढ़ी आदि नहीं बढ़ते। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श मनोहारी हो जाते हैं। छहों ऋतुएं पुष्पादि से युक्त अनुकूल हो जाती हैं। विहार/विचरण भूमि सुगंधित जल-सिक्त और पुष्पाच्छादित हो जाती हैं* और निरन्तर पंचवर्णी सुगन्धित पुष्प-वर्षा से समवसरण की भूमि जांघों तक भर जाती है। पक्षी भी भगवान् की प्रदक्षिणा करते हैं। सदा काल अनुकूल पवन चलता है। वृक्ष भी भक्तिरस से पूर्ण होकर प्रभु के समक्ष नत हो जाते हैं। कम से कम एक करोड़ देवता भगवान् की सेवा में निरन्तर उपस्थित रहते हैं।

ये सभी अतिशय भक्ति से पूर्ण देवताओं द्वारा रचे जाते हैं जो वरिष्ठ राजा को अपने राज्यभोग के समय प्राप्त होते हैं। हे देव ! वरिष्ठ राजा की

---

* पृष्ठ ६०३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्याण-संदोहमयी इन अद्भुत विभूतियों/समृद्धियों का वर्णन वाणी द्वारा करना अशक्य है। [६२८–६३९]

त्रिभुवनस्थ समग्र प्राणियों के नेत्रों को तृप्त करने वाले, सब को आनन्द देने वाले, महासुखदायी, निर्वृत्तिनगरी का मार्ग बतलाने वाले और अनेक लोगों को निर्वृत्ति नगरी पहुंचाने वाले ये वरिष्ठ महाराज ही हैं। [६४०]

हे देव ! इस प्रकार का राज्य करते हुए अन्त में महाप्रतापी वरिष्ठ राजा स्वयं भी निर्वृत्ति नगरी में पहुंच गये। पूर्व प्रकरण में वर्णित उत्तम राजा ने जिस प्रकार शत्रुओं का नाश किया उसी प्रकार इन्होंने भी अपने समस्त शत्रुओं को नष्ट कर दिया, ऐसा निःसंशय समझ लें। [६४१–६४२]

हे स्वामिन् ! परमयोगिनी दृष्टिदेवी ने भी अपनी शक्ति का भरपूर उपयोग इन वरिष्ठ राजा पर किया, पर उसका सब प्रयत्न व्यर्थ गया, वह इनका कुछ भी बिगाड़ न सकी। वरिष्ठ राजा ने उसे सत्वहीन बनाकर उसको उसके साथियों से अलग कर दिया, जिससे वह मूढ और शक्तिहीन होकर अन्त में नष्ट हो गई। इस प्रकार वरिष्ठ महाराज सर्व प्रकार से कृत-कृत्य होकर, बाधा-पीड़ा रहित होकर, नित्य शांत, सम्पूर्ण आनन्द में मग्न होकर सदाकाल के लिये निर्वृत्ति नगरी में निजगुणों में रमण करते हुए विराजित हैं। [६४३–६४५]

वितर्क अप्रतिबुद्ध से कह रहा है कि, आपने उपरोक्त छः राज्यों का सूक्ष्मता से अवलोकन कर, ब्योरेवार विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करने की जो आज्ञा प्रदान की थी, वह अब पूर्ण हुई। मैंने छहों राजाओं का वर्णन आपके समक्ष प्रस्तुत कर दिया है। [६४६]

१७. हरि राजा और धनशेखर

वितर्क से छः राजाओं के विषय में सुनकर अप्रबुद्ध अपने मन में सोचने लगा कि, अहो ! महात्मा सिद्धान्त ने मुझे पहले जो बात बतलाई थी वह पूर्णरूपेण सत्य सिद्ध हो रही है। उनकी कथित वाणी में तनिक भी अन्तर या विरोध दृष्टिगत नहीं होता। सिद्धान्त महात्मा ने पूर्व में कहा था कि सुख और दुःख दोनों का कारण अन्तरंग राज्य है, वह ठीक ही है। राज्य तो एक ही है, पर पात्र-विशेष के कारण जैसा उसका पालन होता है वैसा ही वह सुख और दुःख का कारण होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है । वितर्क ने स्वयं अपनी आँखों से निरन्तर छः वर्ष तक इसका अनुभव करके मुझे बतलाया है । सिद्धान्त गुरु द्वारा कही हुई बात गलत भी कैसे हो सकती है ?
[६४७–६५०]

वितर्क के वर्णनानुसार निकृष्ट और अधम को यह राज्य दुःख का कारण हुआ; क्योंकि उन्होंने राज्य का दुष्पालन किया और वे उस राज्य को पहचान भी नहीं सके । विमध्यम को अल्पसुख का कारण हुआ; क्योंकि वह प्रायः बाह्य प्रदेश में ही रहा और राज्य-पालन बहुत मंद गति से किया । मध्यम को यह राज्य * लम्बे समय तक सुख का कारण हुआ, क्योंकि उसने राज्य के अन्दर प्रवेश कर किंचित् आदरपूर्वक उसका पालन किया । उत्तम राजा और वरिष्ठ राजा को वही राज्य समस्त प्रकार के सुखों का कारण हुआ, क्योंकि उन्होंने उसका बहुत ही उत्तम पद्धति से पालन किया था । मैंने तो इन छहों के एक-एक वर्ष के राज्य-पालन से सारी परिस्थिति को समझ लिया है । मनीषियों ने कहा है—'जिस मनुष्य ने सूक्ष्म अवलोकन द्वारा एक वर्ष देखा हो और इच्छानुसार उसको भोगा हो तो समझना चाहिये कि उसने सारी दुनिया को देख लिया है ।' कारण यह है कि संसार के भाव घूम-घूम कर, बदल-बदल कर, भिन्न-भिन्न सम्बन्धों में इसी प्रकार घटित होते रहते हैं । सिद्धान्त महात्मा की कृपा से सुख-दुःख के हेतु क्या हैं ? वे कहाँ रहते हैं और प्राणी पर किस प्रकार घटित होते हैं ? यह मेरी समझ में आ जाने से मेरी अप्रबुद्धता नष्ट हो गई, अब मैं प्रबुद्ध हो गया । [६५१–६५७]

इन राज्यों का विचार बार-बार करते हुए भूपति प्रबुद्ध की अन्तरात्मा को अत्यन्त आनन्द हुआ, संतोष हुआ । उस पर पर्यालोचन करते हुए तथा पृथक्करण करते हुए निश्चिन्त हुआ और अत्यन्त हर्षित होकर, निरातुर होकर अपूर्व शांति को प्राप्त किया । [६५८]

कथा का रहस्य

उत्तमसूरि हरि राजा को उपदेश देते हुए आगे कहते हैं—हरिराज ! प्रसंगानुसार तुझे उपरोक्त वार्ता कही । अब इस पर से तुझे इसका रहस्य समझना चाहिए । निष्कर्ष/रहस्य बतलाता हूँ—

जिस प्रकार महामोहादि शत्रु और दृष्टिदेवी निकृष्ट और अधम राजा के लिए भयंकर दोष और त्रास का कारण बने और उन्हें महा अधम गति में पहुंचाया उसी प्रकार परमार्थ ज्ञानरहित प्राणियों को अन्य अन्तरंग शत्रु त्रास देते हैं और उन्हें अवर्णनीय नीच स्थिति में डाल देते हैं । पुनः 'रखड़ता हुआ धनशेखर भी अपने पापी अन्तरंग मित्रों के कारण पीड़ित हो रहा है', सुनकर इस विषय में तूने प्रश्न किया था कि क्या प्राणी दूसरों के दोषों से भी पीड़ित हो सकता है और तदनुसार

---

* पृष्ठ ६०४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धनशेखर भी मित्र दोषों के कारण पीड़ित हो रहा है ? इसका उत्तर यह है कि ऐसे अन्तरंग मित्रों के कारण ही धनशेखर इस प्रकार की निकृष्ट चेष्टा करता है। [६५६-६६४]

शंका का निराकरण

हरि राजा—भगवन् ! इस विषय में अब मेरा संशय दूर हुआ, किन्तु एक सदेह और शेष रह गया है, कृपया उसे भी दूर कीजिये। आपने कर्मपरिणाम महाराजा के छः पुत्र बतलाये, उनके विदा होने के बाद क्या होता है ? क्या इन छः के पश्चात् दूसरे राज्य नहीं होते या पुनः-पुनः यही राज्य होते हैं ? [६६५-६६७]

उत्तममूरि—इस संसार में भिन्न-भिन्न रूपों में चर-अचर चितने भी प्राणी हैं, वे सभी वस्तुतः कर्मपरिणाम महाराजा के ही पुत्र हैं और उनका समावेश निःसन्देह उपरोक्त छः प्रकार के पुत्रों में हो जाता है। उनके चले जाने पर उनके जैसे अन्य पुत्रों को वह राज्य सौंप दिया जाता है। नये आने वाले पुत्रों के नाम भी उपरोक्त निकृष्ट, अधम आदि छः प्रकार के होते हैं और उनके नाम-गुण के अनुसार ही वे क्रमशः सुखासुख के कारण उत्पन्न कर सुख-दुःख भोगते हैं।* राजेन्द्र ! अन्य की बात छोड़िये। देखिये, मैं स्वयं भी कर्मपरिणाम राजा का एक पुत्र हूँ। यह आपके ध्यान में होगा कि कर्मपरिणाम ने अपने उत्तम नामक पुत्र को एक वर्ष के लिये राज्य दिया था। उस उत्तम ने सिद्धान्त गुरु द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर वैराग्य और अभ्यास के साथ चलकर, पूर्व-वर्णित कर्त्तव्यों का पालन करते हुए अन्तरंग राज्य में प्रवेश किया था। उसने राज्य में प्रवेश कर महामोहादि शत्रुवर्ग का नाश किया था तथा चारित्रधर्मराज की सेना का पोषण/संवर्धन किया था। वह मैं ही हूँ। उत्तम प्रकार के राज्य का उपभोग करते हुए ही मैं मेरे सहायक इन साधुओं के साथ यहाँ आ पहुँचा हूँ। पाँचवें भूपति उत्तम राजा की वार्ता में उसके जिन गुणों सुखों, विभूतियों और चेष्टाओं का वर्णन किया था, हे राजन् ! वे सभी गुण, सभी सुख, विभूतियाँ और चेष्टायें इस समय मुझ में निःसन्देह रूप से विद्यमान हैं, अन्तर्निहित हैं। इस समय मैं अन्तरंग राज्य कर रहा हूँ और भक्तिभाव से विनम्र देवता बारम्बार "मैं गुणगणों का भण्डार हूँ" कहते हुए धन्यतापूर्वक मेरी स्तुति कर रहे हैं। मुझे इस समय ऐसा स्वसंवेदनसिद्ध आत्मिक सुख का अनुभव हो रहा है जो इस राज्य का पालन करते हुए ही प्राप्त होता है। उस सुख का विवेचन वर्णनातीत है। मेरे पास आत्मिक रत्नों का भण्डार है और मेरी अन्तरंग चतुरंगी सेना संख्यातीत (इतनी बड़ी) है कि उसकी गिनती भी नहीं हो सकती। सिद्धान्त महात्मा ने उत्तम राजा की वार्ता में जिन चेष्टाओं/कर्त्तव्यों का वर्णन किया है, मेरी चेष्टायें, अनुष्ठान और प्रवृत्ति भी अभी वैसी ही है। जैसे मैं कर्मपरिणाम का उत्तम नामक पुत्र विद्यमान हूँ वैसे ही निकृष्ट आदि पुत्र भी इस संसार में निःसंशय रूप से जन्मे हुए

* पृष्ठ ६०५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही हैं। राज्य एक प्रकार का है और प्राणी अनेक प्रकार के हैं, अतः राज्य के प्रवाह को किसी भी प्रकार विभक्त किये बिना एक साथ सभी प्राणी अपनी-अपनी योग्यतानुसार राज्य भोगते हैं। अर्थात् नदी के प्रवाह की भांति अन्तरंग राज्य का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से चलता रहता है और प्रत्येक प्राणी एक ही समय में एक ही साथ उसे भोगते रहते हैं।[६६८–६८३]

हरि राजा की दीक्षा

आचार्य के वचनों के भावार्थ को हृदयंगम करते हुए हरि राजा ने पूछा—भगवन्! परमार्थ दृष्टि से संसार में भ्रमण करने वाले सभी देहधारी प्राणी कर्मपरिणाम राजा के पुत्र हैं और वह सभी को चित्तवृत्ति नामक अन्तरंग भूमि का राज्य सौंपता है। यद्यपि यह भूमि एक ही प्रकार की है फिर भी पात्र-विशेष के कारण अनेक रूपात्मक भिन्न-भिन्न आकार धारण करती है और पात्रानुसार सुख-दुःख का अनुभव होता है। यदि ऐसा ही है तब तो मैं स्वयं भी कर्मपरिणाम राजा का पुत्र हूँ और मैं भी उपरोक्त छः में से किसी एक प्रकार का राज्य इस समय भोग रहा हूँ।

उत्तमसूरि—राजन्! आपने वस्तुस्थिति को ठीक ही समझा है। यह अन्तरंग राज्य सभी को प्राप्त होता है और आप भी इस समय विमध्यम नामक राज्य का पालन कर रहे हैं, किन्तु आप इस राज्य के स्वरूप को पहचान नहीं पा रहे हैं। आप रात-दिन धर्म, अर्थ और काम की साधना कर रहे हैं, पर इनकी साधना इस प्रकार कर रहे हैं कि जिससे परस्पर कोई विरोध नहीं होता। विमध्यम के सभी लक्षण आप में घटित हो रहे हैं। पूर्व में मैंने विमध्यम राज्य के जो लक्षण बताये थे, क्या वे लक्षण अब आपके ध्यान में नहीं आ रहे हैं ?*

हरि राजा—मुझे यह विमध्यम राज्य नहीं चाहिये। भगवन्! आपने जो आत्मीय उत्तम राज्य का वर्णन किया है, वही मुझे भी प्रदान कीजिये।

उत्तमसूरि—राजन्! आपके विचार अत्युत्तम हैं। हे नरोत्तम! जैसे इन साधुओं को यह राज्य प्राप्त हुआ है वैसे ही आपको भी हो सकता है। इस राज्य को प्राप्त करने का प्रव्रज्या के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है। जब इन साधुओं को पूर्व-वर्णित अत्यन्त मनोहारी स्वराज्य प्राप्त करने की आपके समान प्रबल स्पृहा/अभिलाषा हुई थी तब मैंने इनके लाभ के लिये इन्हें बताया था कि भागवती दीक्षा लिये बिना अन्तरंग भूमि के उत्तम राज्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। तब इन्होंने सर्व पापहारी दीक्षा ग्रहण की। परिणामस्वरूप इन्होंने निःशेष सुख के हेतुभूत इस उत्तम महाराज्य को प्राप्त किया। राजेन्द्र! यदि आपको भी उत्तम राज्य प्राप्ति की इच्छा है तो आप भी भागवती दीक्षा ग्रहण करें। [६८४–६८८]

---

* पृष्ठ ६०६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हरि राजा—महाराज ! यदि इतने मात्र से इतना बड़ा महासुखदायी राज्य मिल जाता हो तो फिर विलम्ब क्यों किया जाये ? शुभ कार्य में देरी क्यों की जाये ? हे भदन्त ! आप मुझे अविलम्ब भागवती दीक्षा प्रदान करने की कृपा कीजिये । [६८६–६९०]

राजा के उपरोक्त वचन सुनकर सूरि महाराज के नेत्र आनन्द से विकसित हो गये । वे बोले—राजन् ! आपने अत्युत्तम बात कही । यह महान् राज्य सर्वोच्च और महासुख-परम्परा का दाता है तथा दीक्षा लेने से प्राप्त हो सकता है । इस वास्तविकता को जानकर कौन बुद्धिमान व्यक्ति इस कार्य से पीछे हटेगा ? थोड़े के लिए अधिक को खोने की बात कौन बुद्धिमान व्यक्ति स्वीकार करेगा ? आप तो निःसंदेह रूप से भगवान् के मत की दीक्षा लेने के सचमुच योग्य हैं । योग्यता बिना हम इस सम्बन्ध में प्रयत्न भी नहीं करते । आप योग्य हैं, अतः प्रसन्नतापूर्वक दीक्षा ग्रहण कीजिये और अक्षय आनन्द को प्राप्त कीजिये । [६९१–६९३]

गुरु महाराज के वचनों को उसी प्रकार शिरोधार्य करते हुए हरि राजा ने अपने महाविवेकी मंत्री और सेनापति के साथ मंत्रणा की और अपने शार्दूल नामक पुत्र को राज्य गद्दी पर स्थापित कर दिया । पश्चात् जिनेश्वर भगवान् के मन्दिर में आठ दिन तक बड़े ठाठ-बाट से महोत्सव मनाया, अभिलाषियों को अर्थदान दिया, गुरु महाराज का पूजा-सम्मान किया, बड़ों को सम्मानित किया, सम्पूर्ण नगर के सभी लोगों के आनन्द में सभी प्रकार से वृद्धि की और उस समय करने योग्य सभी क्रियाएं पूर्ण कीं । आवश्यक कार्य और कर्त्तव्य पूर्ण कर, अपनी प्रिय पत्नी मयूर-मंजरी, अनेक प्रमुख राजाओं और प्रधानों के साथ नगर से बाहर निकल कर, उन सब ने विधिपूर्वक उत्तमसूरि के पास दीक्षा ग्रहण की । हरि राजा ने निरन्तर आनन्द देने वाले सर्वोत्कृष्ट सुन्दर राज्य को प्राप्त किया और आनन्द में लीन होकर अपने आत्मिक स्वराज्य में वृद्धि करते हुए पृथ्वी पर विहार करने लगे ।

[६९४–६९८]

लोभ से धनशेखर की मृत्यु

संसारी जीव अपनी आत्मकथा को आगे बढ़ाते हुए अगृहीतसंकेता से कह रहा है—हे अगृहीतसंकेता ! मेरे मित्र मैथुन और सागर मुझ से चिपटे रहे । मैं उन्हें नहीं छोड़ सका । परिणामस्वरूप उन्होंने मुझ से अनेक नाटक करवाये । धन का लोभी होने से मैं कई देशों में भटकता फिरा और अनेक प्रकार के क्लेश प्राप्त किये । अनेक नगरों और ग्रामों में भटकते हुए मैं एक बार एक बीहड़ जंगल में आ पहुँचा । थका होने से मैं एक बेल के वृक्ष के नीचे आराम करने बैठ गया । वहाँ ऊपर दृष्टि करते ही मैंने देखा कि बेल वृक्ष की एक शाखा से* अंकुर फूट कर नीचे जमीन तक आया हुआ है । लक्षणों के अनुसार मैंने निर्णय किया कि इस वृक्ष के

* पृष्ठ ६०७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नीचे धन अवश्य छिपा हुआ होना चाहिये। हे भद्रे ! उस समय अन्दर से मेरे सागर मित्र ने उस धन को निकालने की प्रेरणा की कि, 'धनशेखर ! शीघ्र ही इस निधान को खोदकर बाहर निकाल।' थका होने पर भी मित्र की प्रेरणा से मैंने जमीन खोदी। गहरा खोदने पर मैंने देखा कि दैदीप्यमान रत्नों से भरा एक विशाल घड़ा रखा है। ये रत्न इतने पानीदार थे कि इनकी आभा से चारों तरफ प्रकाश ही प्रकाश फैल रहा था। हे सुलोचने ! ज्यों ही मैं प्रसन्नचित्त होकर सागर की आज्ञा से रत्न-पूरित कुम्भ को ग्रहण करने के लिये बढ़ा त्यों ही महाभीषण नाद से दिशाओं को बधिर करता हुआ जमीन में से काल जैसा भयंकर वैताल बाहर निकल आया। उसकी आँखों से ज्वाला निकल रही थी और मुंह से फट्-फट् की भीषण आवाज निकल रही थी, लम्बी दाढें बाहर निकली हुई थीं और उसका मुंह यमराज से भी अधिक भयंकर था। हे भद्रे ! देखते ही देखते उसने रोते-चिल्लाते हुए मुझे बलपूर्वक अपनें मुंह रूपी कोटर में ठूंस लिया और कड़कड़ करते हुए चबा गया।

[६९९–७०८]

धनशेखर के भव में आते हुए भवितव्यता ने मुझे जो गोली दी थी वह उसी समय घिस-घिस कर पूर्ण हो गई, अतः भवितव्यता ने तत्काल ही मुझे नई गुटिका प्रदान की। उस गुटिका के प्रताप से मैं फिर पापिष्ठ निवास नगरी के सातवें मोहल्ले में चला गया। हे सुमुखि ! यहाँ अनेक प्रकार के भयंकर दुःखों का अनुभव करके जब मैं वहाँ से बाहर निकला तो भवितव्यता की प्रबलता से मैं फिर अनन्त काल तक अनेक स्थानों पर भटका। हे पापरहिता ! मेरे दुःखों का क्या वर्णन करूं ? संक्षेप में संसार का कोई ऐसा स्थान नहीं रहा जहाँ मैं न गया हूँ और सर्व प्रकार के दुःख न भोगे हों।

इस प्रकार अनेकों दुःख सहन करने के पश्चात् मेरे कुछ शुभ कर्मों के प्रताप से मेरी पत्नी भवितव्यता ने पुनः एक बार मुझ से कहा - नाथ ! आर्य पुत्र !! एक साह्लाद नामक पत्तन है जो बहुत सुन्दर है, अत्यन्त प्रसिद्ध है और बाह्य प्रदेश में स्थित है। आप पहले जैसे अन्य नगरों में गये हैं वैसे ही अब इस नगर में जाकर रहें। [७०९–७१३]

मुझे तो मेरी पत्नी की आज्ञा माननी ही थी; क्योंकि उसके समक्ष मेरा कुछ भी वश नहीं चलता था. अतः मैंने देवी की आज्ञा शिरोधार्य की। इस समय भी देवी ने मेरे साथ पुण्योदय नामक एक सहचर भेजा और मुझे एक नयी गोली बनाकर दी। उस गोली के प्रताप से अपने सहायक के साथ मैंने साह्लाद नगर जाने के लिये प्रस्थान किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपसंहार

यदिदमसुलभं भो ! लब्धमेभिर्मनुष्यै–
र्बहुविधभवचारात्यन्तरौद्रैर्नरत्वम् ।
तदपि नयनलोलामैथुनेच्छापरीता,
लघुधनलवलुब्धा नाशयन्त्येव मूढाः ।।७१४।।

अनेक प्रकार के सांसारिक भ्रमणों के पश्चात् बड़ी कठिनाई से यह मनुष्य जन्म प्राप्त होता है, जिसे मूर्ख प्राणी रूप-सौन्दर्य का लोभी बनकर, मैथुन की अभिलाषाओं में डूबकर और थोड़े से धन में लुब्ध होकर यों ही गंवा देता है, व्यर्थ ही नष्ट कर देता है । [७१४]

विगलितास्त इमे नरभावतः,
प्रबलकर्ममहाभरपूरिताः ।
सततदुःखमटन्ति पुनः पुनः,
सकलकालमनन्तभवाटवीम् ।।७१५।।

इस प्रकार कठिनाई से प्राप्त मनुष्य भव से भ्रष्ट होकर प्राणी दुष्कर कर्मों का विशाल बोझ धारण कर बहुत लम्बे समय तक अनन्त संसार अटवी में महा भयंकर दुःख भोगता हुआ भटकता रहता है । [७१५]

तदिदमत्र निवेदितमञ्जसा,
जिनवचो ननु भव्यजना ! मया ।
इदमवेत्य निराकुरुत द्रुतं,
नयनसागरमैथुनलोलताम् ।। ७१६ ।।

भव्य प्राणियों ! यहाँ मैंने संक्षेप में जिनेश्वर भगवान् के वचनों का प्रतिपादन किया है । उसकी वास्तविकता को आप समझें तथा रूप, लोभ और मैथुन की समस्त प्रकार की आसक्ति को शीघ्र ही दूर करें ।। ७१६ ।।

उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा का लोभ,
मैथुन और चक्षुरिन्द्रिय विपाक
वर्णन का यह छठा
प्रस्ताव सम्पूर्ण हुआ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपमिति-भव-प्रपंच कथा

७. सप्तम प्रस्ताव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्ताव सातवां

पात्र-स्थानादि परिचय

स्थल	मुख्य पात्र	परिचय	सामान्य पात्र	परिचय
साल्लाद नगर (बहिरंग)	**जीमूत**	साल्लाद नगर का राजा, घनवाहन का पिता	**सिद्धार्थ**	ज्योतिषी
	लीलादेवी	जीमूत राजा की पटरानी, घनवाहन की माता	**प्रियंकरी**	बधाई देने वाली दासी
	घनवाहन	कथानायक, संसारी जीव	**नीरद**	जीमूत राजा का छोटा भाई, अकलंक का पिता
	मदनमंजरी	घनवाहन की रानी	**पद्मा**	नीरद की पत्नी, अकलंक की माता
	अकलंक	घनवाहन का मित्र, घनवाहन के चाचा का पुत्र		
बुधनंदन (उद्यान)	**प्रथम मुनि**	लोकोदर में आग देखकर वैराग्य पाने वाला		
	द्वितीय मुनि	मदिरालय देखकर वैराग्य पाने वाला		
	तृतीय मुनि	अरघट्ट यंत्र देखकर वैराग्य पाने वाला		
	चतुर्थ मुनि	सन्निपात/उन्माद देखकर वैराग्य पाने वाला		
	पंचम मुनि	चार व्यापारी का कथानक सुनकर वैराग्य पाने वाला		
		चारु, योग्य, हितज्ञ, मूढ़ — वसंतपुर निवासी व्यापार हेतु रत्न-द्वीप गये हुए चार मित्र व्यापारी		
	छठा मुनि	संसृति नगर के बाजार को देखकर वैराग्य पाने वाला		
	कोविद	मुनिवृन्द के आचार्य	**सदागम**	चारित्रधर्मराज प्रेरित उपदेशक
(अंतरंग)	**परिग्रह**	रागकेसरी का ५वां पुत्र, सागर का मित्र	**महामोह**	चित्तवृत्ति अटवी का महाराजा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संज्ञा	परिग्रह की पत्नी	ज्ञानसंवरण	आठ कर्मों में से पहला कर्मराजा
		चारित्र-धर्मराज	चित्तवृत्ति में घिरा हुआ राजा
		सद्बोध	चारित्रधर्मराज का मंत्री
		सम्यग्दर्शन	चारित्रधर्म-राज का सेनापति
		गृहिधर्म	चारित्रधर्म-राज का छोटा लड़का

क्षमातल नगर	स्वमल-निचय	क्षमातल नगर का राजा	
	तदनुभूति	स्वमलनिचय की रानी	
	कोविद	राजा का पुत्र (कोविद और कोविदाचार्य एक ही हैं)	
	बालिश	राजा का पुत्र	
	श्रुति	कर्मपरिणाम की कन्या	
	संग	दासी-पुत्र, श्रुति का अग्र-गामी और संयोग मेलापक	गंधर्व मिथुन किन्नर युगल

		मकरध्वज, हास, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा	मोहराज का परिवार और उनके छोटे सेना-पति
	शोक	महामोह का अनुचर	
	सागर	महामोह का अनुचर, परिग्रह का मित्र	
	बहुलिका	माया	
	कृपणता	सागर की सहचारिणी	
		विद्या	चारित्रधर्मराज की मानसिक कन्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

			निरीहता चारित्रधर्मराज और विरति की पुत्री
साकेतपुर (बहिरंग)	**अमृतोदर**	नन्दसेठ और धनसुन्दरी का पुत्र	**सुदर्शन** उपदेशक, अमृतोदर का उपकारी
मानवावास जनमन्दिरपुर	**बंधु**	बन्धुदत्त और प्रियदर्शना का पुत्र, द्रव्यसाधु	**सुन्दर** बन्धु का उपदेशक
	विरोचन	आनन्द और नन्दी का पुत्र, संसारी जीव	**धर्मघोष** विरोचन का उपदेशक गुरु
			सम्यग्दर्शन चारित्रधर्मराज का सेनापति
मानवावास	**कलंद**	आभीर मदन और रेणा का पुत्र, संसारी जीव	
काम्पिल्यपुर	**वासव**	वसुबन्धु और धरा का पुत्र, संसारी जीव	**शांतिसूरि** वासव को बोध देने वाले आचार्य
सोपारक	**विभूषण**	शालिभद्र और कनकप्रभा का पुत्र, संसारी जीव	**सुधाभूत** विभूषण के गुरु, आचार्य
भद्रिलपुर	**विशद**	स्फटिकराज और विमला का पुत्र, संसारी जीव	**सुप्रबुद्ध** विशद का उपदेशक, मुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. घनवाहन और अकलंक

घनवाहन का जन्म

*त्रैलोक्य को आश्चर्यान्वित करने वाला, दुःखों को दूर करने वाला और सम्पूर्ण जगत् को आह्लादित करने वाला साह्लाद नामक एक विशाल नगर है। जहाँ स्त्री-पुरुषों के युगल परस्पर अन्तःकरण के प्रेम से और अपने रूप एवं शक्ति से काम-लीलायें करते हुए कामदेव एवं रति का भ्रम उत्पन्न करते थे। इस साह्लाद नगर में जीमूत नामक राजा राज्य करता है, जिसने अपने समस्त शत्रुओं को समूल नष्ट कर दिया है। जो स्वयं महारथी है और उसके प्रताप-तेज से अंजित होकर समस्त सामन्तवर्ग मानपूर्वक नमस्कार करता है। इस राजा के लीलादेवी नामक कार्यकुशल एवं रति के समान आनन्दायिनी महारानी है जिसे राजा ने अपने अन्तःपुर की पटरानी बना रखा है। [१–४]

हे अगृहीतसंकेता ! भवितव्यता द्वारा दी हुई नई गोली के प्रभाव से और उसके आदेशानुसार मैंने लीलादेवी की कोख में प्रवेश किया। नौ माह से कुछ अधिक दिन तक नारकीय पीड़ा को सहन करने के पश्चात् उचित समय पर मैं उसकी कुक्षि से बाहर आया। [५–६]

मेरे जन्म से मेरी माता लीलादेवी बहुत प्रसन्न हुई। प्रेमाश्रुओं से पूरित उसके नेत्र आनन्द से चपल हो गये और पुत्ररत्न की प्राप्ति से वह अत्यन्त हर्षित हुई। मेरे साथ ही उसी समय मेरे अन्तरंग मित्र पुण्योदय का भी जन्म हुआ, किन्तु वह मेरे अन्तरंग (गुप्तरूप से शरीर में समाया) होने से उसे कोई भी नहीं देख सका। मेरी माता की प्रियंकरी नामक दासी ने मेरे जन्म की राजा को बधाई दी, जिसे सुनकर राजा भी अत्यन्त हर्षित हुआ। राजा ने सन्तुष्ट चित्त होकर उसे महादान देकर उसका दासीपन समाप्त कर दिया। नगर भर में जन्मोत्सव मनाया गया, जेल से कैदियों को छोड़ा गया, स्थान-स्थान पर नौबत और शहनाई बजने लगी, घर-घर में आनन्दोत्सव, नृत्य, गायन, खानपान और दान आदि होने लगे। चारों तरफ राज्य के सभी लोग मेरे जन्मोत्सव से आनन्दित हुए।

ज्योतिष-शास्त्र

जन्मोत्सव मनाने के पश्चात् मेरे पिताजी ने सिद्धार्थ नामक प्रसिद्ध ज्योतिषी को बुलाकर मेरे जन्म समय के ग्रह-नक्षत्रों के भावफल के सम्बन्ध में पूछा। ज्योतिषी ने कहा कि, देव ! जैसी आज्ञा। सुनिये—

---

* पृष्ठ ६०८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभी आनन्द नामक संवत्सर (वर्ष) चल रहा है, शरद् ऋतु है, कार्तिक मास की द्वितीया तिथि है, गुरुवार है, भद्रा है, कृत्तिका नक्षत्र है, वृषभ राशि है, धृतियोग है, लग्न सौम्य घर का है, उर्ध्वमुखी होरा कुण्डली है,* सभी ग्रह उच्च स्थान में बैठे हैं, सभी पाप ग्रह ११वें घर में बैठे हैं। हे राजन्! कुमार का ऐसी सुन्दर राशि में जन्म हुआ है कि उसे समस्त प्रकार की अपार संपत्ति प्राप्त होगी, इसमें कोई संदेह नहीं है। [७–१३]

राजा–आर्य! राशियाँ कितने प्रकार की होती हैं और प्रत्येक के क्या-क्या गुण-दोष हैं? मैं सुनना चाहता हूँ।

सिद्धार्थ–देव! सुनिये:–राशियाँ १२ प्रकार की होती हैं। उनके नाम मेष, वृषभ, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ और मीन हैं। प्रत्येक राशि के गुण इस प्रकार हैं :—

१. मेष—इस राशि में जन्मे व्यक्ति की आँखें चपल होती हैं, झपकती रहती हैं, रोगरहित रहता है, धर्म कार्य में कृतनिश्चय होता है, जांघें विशाल होती हैं, कृतज्ञ होता है, पराक्रमी होता है, राजपूजित होता है, कामिनियों के हृदय को आनन्दित करने वाला होता है, पानी से निरन्तर डरने वाला होता है, आवेश से कार्यारम्भ करने वाला और अन्त में नरम पड़ने वाला होता है। इसका १८वें या २५वें वर्ष में दुर्घटना से कुमरण होता है। यदि इस घात से बच जाय तो वह सौ वर्ष तक जीवित रहता है। मंगलवार चतुर्दशी की अर्धरात्रि में कृत्तिका नक्षत्र में इसकी मृत्यु होती है। [१४–१७]

२. वृषभ—इस राशि में जन्मा व्यक्ति निम्न गुणों से युक्त होता है :—वह भोगी होता है, दानी होता है, पवित्र होता है, दक्ष/प्रवीण होता है। इसका गण्डस्थल स्थूल होता है, महाबली होता है, तेजस्वी होता है, अधिक रागासक्त होता है, कण्ठरोगी होता है, इसके पुत्र अच्छे होते हैं, चाल में विलासिता झलकती है, सत्यवक्ता होता है, इसके कन्धे और गण्डस्थल पर चिह्न होते हैं। यदि २५ वर्ष तक कोई दुर्घटना न हो तो वह १०० वर्ष तक जीवित रहता है। बुधवार, रोहिणी नक्षत्र में किसी चौपाये पशु द्वारा इसकी मृत्यु होती है। [१८–२०]

३. मिथुन—इस राशि में जन्मे व्यक्ति का शरीर पुष्ट, आँखें चञ्चल, मन विषय भोग में अत्यन्त आसक्त, धनवान, दयावान, लोकप्रिय, कण्ठरोगी, गायन एवं नाट्यकला में कुशल, कीर्तिमान, अधिक गुणवाला, गौरवर्ण, लम्बा और वाक्-कुशल होता है। १६वें वर्ष में पानी में डूब कर मरने का भय रहता है। इससे बच जाय तो ८० वें वर्ष में पौष माह में पानी या अग्नि से मृत्यु होती है। [२१–२३]

४. कर्क– इस राशि में जन्मा हुआ कार्यकुशल, धनवान, वीर, धर्मिष्ठ, गुरु-वत्सल, सिरदर्दवाला, बुद्धिशाली, दुबला, कृतज्ञ, यात्रा-प्रिय, क्रोधी, बचपन में

* पृष्ठ ६०६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुःखी, कुछ वक्र प्रकृति वाला, अच्छे मित्र और नौकर चाकरों से परिपूर्ण होता है। २०वें वर्ष में गिर पड़ने की दुर्घटना से बच जाय तो ८० वर्ष तक जीवित रहता है। इसकी मृत्यु भी मिगसर या पौष के शुक्ल पक्ष की रात में होती है। [२४-२६]

५. सिंह—इस राशि में जन्मा हुआ क्षमावान, मनस्वी, कार्यकुशल, मांस-मद्य प्रेमी, यात्रा-प्रिय और विनयी होता है। इसे सर्दी का भय बना रहता है, बात-बात में क्रोधित हो जाता है, पुत्र एवं परिवार बड़ा होता है, माता-पिता को प्रिय होता है और लोगों में व्यसनी के नाम से प्रसिद्ध होता है।* इसकी मृत्यु ५०वें वर्ष में होती है, यदि बच जाय तो १०० वर्ष तक जीवित रहता है। शनिवार, मघा नक्षत्र, चैत्र माह में अच्छे पुण्य क्षेत्र में इसकी मृत्यु होती है। [२७-२९]

६. कन्या—इस राशि वाला अधिक विलासी, वेश्यागामी, धनवान, दान-दाता, दक्ष, कवि, वृद्धावस्था में धर्मपरायण, लोकप्रिय, नाट्य-गायन-प्रेमी और प्रवासप्रिय होता है। यह अपनी स्त्री से दुःखी रहता है। ३०वें वर्ष में शस्त्र या पानी द्वारा मृत्यु होती है, इससे बच जाय तो ८०वें वर्ष में वैशाख माह, मूल नक्षत्र, बुधवार को इसकी मृत्यु होती है। [३०-३२]

७. तुला—इस राशि में जन्मा व्यक्ति बिना कारण क्रोधित होता है, स्वयं दुःखी होता है, स्पष्ट वक्ता होता है, क्षमाशील होता है, चपल नेत्र वाला होता है, अस्थिर लक्ष्मी वाला होता है, अपने घर में ताकत बताने वाला होता है, व्यापार-कुशल होता है, देव-पूजक होता है, मित्र-स्नेही होता है, यात्रा प्रिय होता है, सुहृदों में प्रिय होता है। २०वें वर्ष में दीवार के नीचे दबकर मृत्यु की संभावना होती है, इससे बच जाय तो ८०वें वर्ष में जेठ माह, अनुराधा नक्षत्र, मंगलवार को मृत्यु होती है। [३३-३५]

८. वृश्चिक—इस राशि में जन्मा व्यक्ति छोटी उम्र में अधिक यात्रा करता है। क्रूर प्रकृति, वीर, पीली आँखों वाला, परस्त्री में आसक्त, अभिमानी और स्वजन-परिजनों के प्रति निष्ठुर हृदय होता है। इसे साहस करने से लक्ष्मी प्राप्त होती है। यह अपनी माता के प्रति भी दुष्ट बुद्धिवाला, धूर्त और चोर होता है। अनेक कार्य प्रारम्भ करता है, पर एक को भी पूरा कर फल प्राप्त नहीं कर पाता। इसकी १८वें वर्ष में या २५वें वर्ष में चोर, शस्त्र या सर्प द्वारा मृत्यु की संभावना होती है, इससे बच जाय तो ७० वर्ष तक जीवित रह सकता है। [३६-३८]

९. धन—इस राशि वाला शूरवीर, सत्यवक्ता, बुद्धिमान, सात्त्विक प्रकृति वाला, लोकप्रिय, शिल्प-विज्ञान का ज्ञाता, धनवान, सुन्दर स्त्री वाला, अभिमानी,

* पृष्ठ ६१०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारित्र-सम्पन्न, मधुर-भाषी, तेजस्वी, स्थूल देहधारी और कुल-नाशक होता है। इसकी जन्म से १८ वें दिन तक मृत्यु की संभावना होती है, इससे बच जाय तो ७७ वर्ष तक जीवित रहता है। [३९-४१]

१०. मकर—इस राशि वाला व्यक्ति दुराचारियों का प्रिय, स्त्रियों के वशीभूत, पण्डित, परस्त्री आसक्त और गायक होता है। इसके गुप्तांग पर निशान होता है। अनेक पुत्रों वाला, फूलों का शौकीन, धनवान, त्यागी, स्वरूपवान, ठंड से डरने वाला, सर्दी की व्याधि से ग्रस्त, विशाल परिवार वाला, और बार-बार सुख की चिन्ता करने वाला होता है। इसकी २०वें वर्ष में शूल व्याधि से मृत्यु की सम्भावना है, इससे बच जाय तो ७०वें वर्ष के भाद्रपद माह में शनिवार को मृत्यु होती है। [४२-४४]

११. कुम्भ—इस राशि में जन्मा व्यक्ति दानेश्वरी, आलसी, कृतघ्न, हाथी या घोड़े जैसी आवाज वाला, मेढ़क जैसी कुक्षिवाला, निर्भीक, धनवान्, जड़-दृष्टि, चंचल हस्त, पुण्यवान, स्नेहरहित और मान तथा विद्या प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयत्न करने वाला होता है। इसकी १८वें वर्ष में बाघ से मृत्यु की सम्भावना है, इससे बच जाय तो ८४ वर्ष तक जीवित रहता है। [४५-४७]*

१२. मीन—इस राशि वाले की सभी चेष्टाएँ और व्यवहार अति गंभीर होते हैं तथा वह शूरवीर, वाक्चतुर, उच्च पद प्राप्त और क्रोधी होता है। रण-नीति चतुर, त्याग या दान में असमर्थ, कंजूस, गायन-कला-विशारद और भाई-बन्धुओं के प्रति वात्सल्य वाला होता है। यह सेवाभावी और तेज गति से चलने वाला होता है। [४८-४९]

हे राजेन्द्र ! मैंने जो मेष आदि राशियों के गुणों का वर्णन किया है, वह सर्वज्ञों द्वारा अपने शिष्यों के समक्ष वर्णित के समान ही है, क्योंकि ज्योतिष, निमित्त आदि अतीन्द्रिय शास्त्र जो बाह्य इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है उन सब का वर्णन सर्वज्ञों द्वारा पहले ही हो चुका है। यदि किसी स्थान पर कोई बात न मिले या विपरीत प्रतीत होती हो तो उसे जानने वाले की बुद्धि-अल्पज्ञता का दोष ही समझना चाहिए; क्योंकि अल्पज्ञान वाले लोग शास्त्रों की गहराई और सूक्ष्मता को नहीं समझ सकते। ऐसी स्थिति में यदि क्रूर ग्रहों की दृष्टि न पड़ी हो और राशियाँ बलवान् हों तो उपरोक्त गुण सत्य/खरे ही उतरते हैं, अन्यथा नहीं होते, ऐसा आप समझें। [५०-५३]

राजा जीमूत ने ज्योतिर्विद् के उपरोक्त कथन को सत्य और शंकारहित होकर स्वीकार किया। फिर सिद्धार्थ ज्योतिषी का सन्मान कर, पूजन कर और उचित दान देकर उसको विदा किया। उचित समय पर आनन्द महोत्सव और भोजन एवं दानपूर्वक मेरा नाम घनवाहन रखा गया।

---

* पृष्ठ ६११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अकलंक-जन्म : मैत्री

जीमूत राजा का नीरद नामक छोटा भाई था जिसकी पत्नी का नाम पद्मा-रानी था। इस पद्मा रानी ने भी इसी समय में एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम अकलंक रखा गया। मेरा और अकलंक का सुखपूर्वक पालन-पोषण अनेक प्रकार से होने लगा। हम दोनों साथ-साथ बड़े हुए, साथ-साथ धूल में खेले, धूल में लोटे और साथ-साथ बाल-क्रीड़ाएँ कीं। मेरा कभी काका के लड़के अकलंक से विरह नहीं हुआ। भवितव्यता ने बालपन से ही अकलंक के साथ मेरी मित्रता नियोजित कर दी थी जो दिनोंदिन गाढ होती गई और हमारा पारस्परिक स्नेह बढ़ता ही गया। फिर हम दोनों ने एक ही उपाध्याय के पास समस्त कलाओं का अध्ययन भी किया। हे सुन्दरी ! इस प्रकार आनन्द-कल्लोल करते हुए हम दोनों कामदेव के मंदिर रूप यौवनावस्था को प्राप्त हुए। [५४–५८]

अकलंक बचपन में, कुमारावस्था में और युवावस्था में भी उच्च व्यवहार/आचरण वाला, लघु कर्मी, भाग्यवान्, व्यसनरहित, दुर्व्यवहार-रहित, दुश्चेष्टा-रहित, शान्तमूर्ति, पवित्रात्मा, विनयी, देवपूजक, मधुरभाषी, स्थिरचित्त, निर्मल-मन, स्वल्परागी, प्रकृति से ही विकार-रहित और साधारणतया परमार्थ का ज्ञाता न होने पर भी तत्वज्ञानी जैसा दिखाई देता था। फिर उसका सुसाधुओं से सम्पर्क/परिचय हुआ, उनके पास आने-जाने के प्रसंग बढ़े और * उनके व्याख्यान सुन-सुन कर जैन आगमों का भी कुशल जानकार हो गया। हे भद्रे। धर्मिष्ठ प्रकृति का होते हुए भी अकलंक का मेरे प्रति स्नेहभाव होने से हम दोनों निरन्तर आनन्दपूर्वक क्रीडा विलास करते रहते। [५९–६३]

एक दिन मैं प्रातःकाल में विचक्षण अकलंक को साथ लेकर क्रीडा करने के लिये मनोहारी बुधनन्दन उद्यान में गया। मेरी इच्छा को मान देकर दोपहर तक वह मेरे साथ खेला। तत्पश्चात् जब उसकी इच्छा घर जाने की हुई तब मैंने कहा कि इस उद्यान के मध्य में एक बड़ा मन्दिर है, वहाँ चलकर थोड़ी देर विश्राम करें, फिर घर चलेंगे। [६४–६६]

मुनि-दर्शन

अकलंक ने मेरी बात मान ली और हम दोनों उद्यान के मध्यभाग में स्थित विशाल जिन मन्दिर में प्रविष्ट हुए। अन्दर जाकर हम दोनों ने नम्रभाव से जिनेश्वर भगवान् की स्तुति की और वापस बाहर आये। मन्दिर के बाहर अकलंक ने श्रेष्ठ मुनिगणों को देखा। पूछने पर मालूम हुआ कि आज अष्टमी होने से वे नगर के उपाश्रय से यहाँ देव-वन्दन के लिये आये हैं। यह भी ज्ञात हुआ कि सभी साधुओं ने पहले तीर्थंकर भगवान् को विधिपूर्वक वन्दन किया, फिर अलग-अलग

---

* पृष्ठ ६१२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानों पर बैठकर सिद्धान्त-वाचन, सूत्र-पाठ और ज्ञान-ध्यान में अपना समय व्यतीत कर रहे हैं। ये सभी साधु अत्यधिक निर्मल कान्ति-सम्पन्न थे और दूर-दूर बैठे हुए ऐसे लग रहे थे मानो बाह्यद्वीप समुद्र में स्थित चन्द्र हों! बाह्य दृष्टि से भी बुद्धिशाली दिखाई देते थे। अत्यन्त सुन्दर आकृति वाले और इच्छित फल को देने वाले वे साधु कल्प-वृक्षों के समान सुशोभित हो रहे थे। [६७–७२]

उस समय अकलंक ने मुझ से कहा—कुमार घनवाहन! देखो, देखो! ये मुनिपुंगव कामदेव जैसे रूपवान, सूर्य जैसे तेजस्वी, मेरु पर्वत जैसे स्थिर, समुद्र जैसे गम्भीर और महाऋद्धिवान देवताओं के समान लावण्य सम्पन्न दिखाई देते हैं। ये ऐसे अनेक गुणों के भण्डार तेजस्वी महापुरुष तो राज्य-भोग भोगने के योग्य हैं, फिर ये भाग्यशाली पुरुष ऐसे दुष्कर चारित्र का पालन क्यों करते हैं? इन्होंने ऐसे कठिन साध्वाचार को क्यों ग्रहण किया होगा? मेरे मन में ऐसे कई स्वाभाविक प्रश्न उठ रहे हैं और मन में कौतूहल पैदा हो रहा है, अतः चलो, हम इन मुनि-पुंगवों के पास चलें और प्रत्येक से वैराग्य का कारण पूछें।

मैंने भी अकलंक के प्रस्ताव को स्वीकार किया और हम दोनों उन मुनिगणों के पास प्रश्न पूछने के लिये चले गये।

२. लोकोदर में आग

सिद्धान्त का पाठ करते हुए एवं ज्ञान-ध्यान में व्यस्त अलग-अलग बैठे हुए मुनियों में से एक के पास मैं और अकलंक गये। पहले हम दोनों ने मुनिराज को वंदन किया। फिर अकलंक ने शांत स्वर से मुनिराज से पूछा—भगवन्! आपका संसार पर से वैराग्य होने का क्या कारण बना?

उत्तर में मुनि बोले—सुनिये, मैं लोकोदर नामक ग्राम का रहने वाला एक कौटुम्बिक/गृहस्थ हूँ। एक रात इस नगर में चारों तरफ भारी आग लग गई। चारों तरफ धुंए के बादल छा गये और अधिकाधिक अग्नि-ज्वाला की लपटें निकलने लगीं। बांस फूटने जैसी कड़-कड़ की आवाजें होने लगीं। आवाजें सुनकर लोग जाग गये। चारों ओर कोलाहल मच गया। बच्चे चिल्लाने लगे, स्त्रियां दौड-भाग करने लगीं, अन्धे हो-हल्ला/कोलाहल करने लगे, पंगु उच्चस्वर से रोने लगे, कुतूहली खिलखिलाने लगे,* चोर चोरी करने लगे सब वस्तुएं जलने लगीं, कंजूस लोग विलाप करने लगे और सम्पूर्ण नगर माता-पिता-रहित अनाथ जैसा हो गया।

* पृष्ठ ६१३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पूर्ण नगर तथा जन-समूह को जलाने वाली इस आग को देखकर एक बुद्धिमान मंत्रवादी बाहर आया। नगर के बीच गोचन्द्रक (एक ऊंचे चबूतरे) पर खड़े होकर उसने पहले स्वयं कवच धारण किया, फिर चारों तरफ मंत्रित रेखा खींचकर चबूतरे के मध्य में एक विशाल मण्डल बना लिया, फिर उच्च स्वर में नगर के लोगों को बुलाने लगा—'भाईयों! आप सब इस मन्त्रित मण्डल में आ जाइये, यहाँ आपके शरीर और वस्तुएं नही जलेंगी।' उसकी आवाज सुनकर कुछ लोग उस मन्त्रित मण्डल में चले गये।

अन्य लोग पागल, शराबी, हृदय-शून्य, आत्मशत्रु और ग्रह-ग्रसित की तरह अपने शरीर और सर्वस्व को जलते हुए देखकर भी मूर्खों की भांति आग में घास, लकड़ियां और घी से भरे हुए घड़े डालकर आग को बुझाने का प्रयत्न करने लगे। इस विचित्र परिस्थिति को देखकर मण्डल में प्रविष्ट लोगों में से कुछ ने कहा—'अरे भोले लोगों! यह आग को बुझाने का उपाय नहीं है। या तो जल डालकर अग्नि को शांत करो या मंत्रवादी द्वारा मन्त्रित मण्डल में चले आओ, जिससे हमारी भांति तुम भी आग से बच सकोगे।' परन्तु लोगों ने उनकी बात को अनसुना कर दिया। कुछ ने सुनकर भी लापरवाही की, कुछ तो हंसी उड़ाने लगे और उलटा उपदेश देने लगे तथा कुछ तो क्रोधित होकर मारने भी दौड़े। यह देखकर मण्डल के लोग चुप हो गये। कोई-कोई समझदार पुण्यशाली प्राणी मण्डल में प्रविष्ट भी होते रहे।

कुमारों! मेरी तथाविध भवितव्यता होने से मुझे मण्डल में रहे हुए लोगों की बात रुचिकर प्रतीत हुई अतः मैं कूदकर मण्डल में चला गया। मण्डल में प्रविष्ट होकर मैंने देखा कि पवन के वेग से आग बढ़ रही है और नगर के सभी लोग रोते-चिल्लाते और चीखें मारते हुए आग में जल रहे हैं। तदनन्तर मण्डल में रहने वाले कई लोगों ने दीक्षा ग्रहण की, उस समय मैं भी उनके साथ प्रव्रजित हो गया। हे भद्र! यही मेरे वैराग्य का कारण है।

उपनय

मुनि की बात सुनकर अकलंक अत्यन्त प्रसन्न हुआ और दूसरे मुनि के पास जाने के लिये उठ खड़ा हुआ। मैं तो इस कथा का कुछ भी भावार्थ नहीं समझ सका, अतः मैंने अकलंक से पूछा—

कुमार! मुनि ने वैराग्य का जो कारण बतलाया उसे सुनकर तुम्हें तो अत्यधिक प्रसन्नता हुई, किन्तु मुझे तो कुछ भी समझ में नहीं आया, अतः तुम मुझे इसका भावार्थ ठीक से समझाओ। [७३]

अकलंक बोला—भाई! मुनि ने जिसे लोकोदर ग्राम कहा है उसे इस संसार को समझो * और इस संसार में वह रहता है ऐसा समझो। महामोह के

* पृष्ठ ६१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्धकार को रात्रि समझो। राग-द्वेष रूपी अग्नि से यह नगर निरन्तर जलता ही रहता है। तामसभाव/कषाय परिणति से धूंए के बादल छाये रहते हैं। राजसभाव रूपी आग के शोले भभकते रहते हैं। संसार के क्लेश को बांस फूटने की आवाज समझो। राग-द्वेष रूपी अग्नि से उत्तप्त होकर लोग जाग उठते हैं और कोलाहल करते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ रूपी कषाय बालक दारुण क्रन्दन करते हैं। कृष्ण, नील, कपोत अशुद्ध लेश्या रूपी स्त्रियां हांफती हुई दौड़ने लगती हैं। संसार में रागाग्नि से तप्त मूर्ख प्राणी अंधों की तरह चिल्लाते हैं। वस्तुस्थिति को जानकर भी उस पर आचरण नहीं करने वाले पंगु उच्च स्वर से रोते हैं। नास्तिक हंसोड़ों की तरह व्यर्थ की धमाचौकड़ी करते हैं। इन्द्रिय रूपी चोर धर्म-सर्वस्व की चोरी करते हैं। राग रूप अग्नि से आत्मगृह की अच्छी-अच्छी वस्तुएं जलने लगती हैं। कुछ लोग चिल्लाते हैं, 'क्या करें ?' इस भयंकर आग को बुझाने में हम असमर्थ हैं, इसे कंजूसों का विलाप समझो। भाई ! साधु ने इस संसार में लगी हुई भीषण आग का वर्णन किया और उसके द्वारा फैल रही अव्यवस्था को चित्रित किया। लोग परस्पर एक-दूसरे को नहीं बचा सकते, इसीलिये संसार रूपी नगर को अनाथ कहागया। यहाँ मंत्रवादी को विशुद्ध परमेश्वर सर्वज्ञ महाराज समझो, जिन्होंने उठकर गोचन्द्रक आकार के मध्यलोक में आत्मकवच धारण कर सूत्र के मन्त्रों से रेखायें-खींचकर तीर्थ-मण्डल की स्थापना की और धर्मोपदेश के आकर्षण से लोगों को अपने मण्डल में बुलाया। तीर्थंकर/मन्त्रवादी की धर्मदेशना/आह्वान से उत्साहित होकर कुछ भाग्यशाली पुरुष उनके तीर्थमण्डल में प्रविष्ट हुए पर उनकी संख्या अत्यल्प थी; क्योंकि संसार के जीवों की संख्या की अपेक्षा से वे उसके अनन्तवें भाग जितने ही थे। जो सर्वज्ञ के तीर्थ में मंत्रवादी के मण्डल में गये वे संसाराग्नि दावानल से बच गये। [७४–८६]

अन्य महामूर्ख लोग राग-द्वेष रूपी अग्नि से जल रहे इस संसार को विषयों से शांत करने का प्रयत्न करने लगे। जो स्त्री-पुत्रादि पर आसक्ति रखकर, धन एकत्रित करते हुए पाँचों इन्द्रियों को खुली छोड़ कर इस संसाराग्नि को बुझाने का प्रयत्न करते हैं, वे तो उसमें घास के पूले और लकड़ी के गट्ठर डालकर उसको बढ़ाते ही रहते हैं। जो लोग बार-बार कपट, लोभ, अभिमान, क्रोध आदि से इस अग्नि को शांत करने का प्रयत्न करते हैं, वे इसमें घी के घड़े डाल कर उसे बढ़ाने का काम ही करते हैं।* तीर्थ-मण्डल के अन्दर प्रविष्ट लोग बार-बार उन्हें समझाते हैं कि घास, लकड़ी और घी डालने से अग्नि बुझेगी नहीं, वह तो और अधिक भड़केगी, पर वे नहीं समझते। बार-बार बताने पर भी कि संसाराग्नि तो प्रशम जल के छिड़काव से ही शांत होगी, वे उसका उपयोग नहीं करते और न सत्तीर्थ रूपी मण्डल में ही प्रविष्ट होते हैं। संसाराग्नि को बुझाने की बात सुनकर उस पर आचरण करना तो दूर रहा, प्रत्युत वे ऐसा उपदेश देने वालों की हंसी उड़ाते हैं। इन मुनि-महात्माओं की भांति कोई सा व्यक्ति ही वस्तुस्थिति को समझ पाता है।

* पृष्ठ ६१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्होंने सत्य को समझा और प्रबुद्ध होकर सर्वज्ञ के तीर्थ-मण्डल में प्रविष्ट हुए। तत्पश्चात् इन्होंने देखा कि संसारोदरवर्ती सभी लोग राग-द्वेष रूपी अग्नि से अत्यन्त विह्वल होकर जल रहे हैं और अशुद्ध अध्यवसाय रूपी पवन इस अग्नि को और अधिक बढ़ा रहा है। ग्रामीणों के समान अज्ञानी जैसे-जैसे अधिक रोते-चिल्लाते हैं, वैसे-वैसे तीर्थ-मण्डल में सुरक्षित मुनियों के आँखों के सामने यह धधकती अग्नि उन्हें अधिक जलाती है। [९०–९८]

अन्त में मुनि ने कहा कि मण्डल के भीतर रहने वाले कुछ लोगों ने दीक्षा ग्रहण की और उनके साथ मैंने भी प्रव्रज्या ग्रहण की। हे भद्र घनवाहन! मुनि के इस वाक्य में भी वक्रोक्ति है। मैंने पूछा—कुमार! इस समस्त घटना में वक्रोक्ति कैसे है? अकलंक ने कहा—तीर्थ मण्डल में चार प्रकार के लोग होते हैं—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। इस वाक्य का अर्थ यह है कि तीर्थमण्डल में रहने वाले सभी लोग दीक्षा नहीं ले पाते, कुछेक ही दीक्षा लेते हैं, उन्हीं में से एक ये मुनि भी हैं। हे भद्र! सारी कथा में वक्रोक्ति से मुनि ने संसाराग्नि को वैराग्य का कारण बताया है। यह कथा बहुत चमत्कारपूर्ण होने से उसे सुनकर मेरा चित्त अत्यन्त हर्षित हुआ। हे भद्र! मैंने यह भी सोचा है कि मुनि महाराज ने जो बात कही है वह पूर्ण सत्य है। निरन्तर जलता हुआ यह संसार सज्जनों के लिये तो वैराग्य का कारणभूत ही होता है। यह भी सत्य है कि मूर्ख/जड़बुद्धि लोग अपनी आत्मा को इस संसाराग्नि में जलाते हैं, जबकि उनमें से कुछ बुद्धिशाली लोग उससे बाहर निकल जाते हैं। इन मुनि महाराज ने हम दोनों को प्रतिबोधित करने के लिये ही लोकोदर में आग लगने की कथा को अपने वैराग्य का कारण बताया है।

[९९–१०५]

मुझे लगता है कि वे ऐसा कह रहे हैं—'अरे भाइयों! इस प्रदीप्त आग से जल रहे संसार में तुम दोनों भी जल रहे हो। तुम्हारे जैसे विवेकीजनों को तो तीर्थ-मण्डल में प्रविष्ट हो जाना चाहिये। जो भाग्यवान प्राणी भावपूर्वक हमारे इस तीर्थ-मण्डल में प्रवेश करते हैं, उन्हें राग-द्वेष की यह अग्नि कभी जला नहीं सकती।' ये मुनि-श्रेष्ठ इस कथा द्वारा हमें भी यह उपदेश सुना रहे हैं, ऐसा मुझे स्पष्ट लग रहा है। भाई घनवाहन! मुनिसत्तम के ये उत्तम विचार मुझे तो बहुत ही प्रिय लगते हैं, तुम्हें रुचिकर हैं या नहीं, यह मैं नहीं जानता। [१०६–१०८]

हे भद्रे! अकलंक की उपरोक्त बात सुनकर * मैं तो चुप ही रहा। मैंने कोई उत्तर नहीं दिया, क्योंकि मेरा मन अभी तक पाप से भरा हुआ था, पाप-पूर्ण संसार में ही आसक्त था।

वहाँ से हम मन्दिर के बाहर ज्ञान-ध्यान में रत दूसरे मुनि के पास पहुँचे और उन्हें वन्दन किया। [१०९-११०]

* पृष्ठ ६१६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. मदिरालय

घनवाहन के भव में संसारी जीव अपनी आत्मकथा को आगे बढ़ाते हुए अगृहीतसंकेता को उद्देश्य कर कह रहा है। दूसरे मुनि के पास पहुँच कर हम दोनों ने वन्दन किया, फिर अकलंक ने पूछा—भगवन्! इतनी छोटी उम्र में आपके दीक्षा लेने का क्या कारण है?

उत्तर में मुनि बोले—सौम्य! सुनो, शराबियों के एक बड़े समूह को मद्य पीने में तत्पर देखकर मुझे वैराग्य हो गया। मेरे शरीर के सभी अंग मद्य के नशे में चूर हो गये थे और मैं एक बड़ा मद्यपी बन गया था। मुझ पर कृपा कर ब्राह्मण महात्माओं ने मुझे प्रतिबोधित किया, जिससे मुझे वैराग्य हो गया। [१११–११३]

मदिरा और मदिरालय

अकलंक—पूज्य! इस मद्यशाला का विस्तृत वर्णन कर यह बताने की कृपा करें कि वे मद्यपी कैसा व्यवहार करते थे और वे ब्राह्मण कौन थे?

मुनि—सुनिये, यह मद्यशाला अनेक घटित घटनाओं से युक्त और अनन्त लोगों से परिपूर्ण होने से इसका सम्यक् प्रकार से वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है? तदपि हे नरोत्तम! मैं आपके समक्ष उसका संक्षेप में वर्णन करता हूँ। ध्यानपूर्वक सुनें। [११४–११६]

यह मद्यशाला अनेक प्रकार की सुवासित मदिरा से लोगों को सन्तुष्ट करती है। सुन्दर पात्रों में चित्र-विचित्र शराबें शोभायमान हैं। इसके चषक (मद्यपात्र) काले कमल के समान सुन्दर हैं। मदिरा और मद्यपान मद्यरसिकों के प्रमोदानुभूति का कारण है। [११७]

इसमें रहने वाले सभी लोग मदिरा के नशे में धुत्त रहते हैं। वे नाचते-कूदते और हंसी-मजाक करते हुए प्रफुल्लित होते हैं। बाह्य दृष्टि से देदीप्यमान तूफानी लोग मुंह से सीटियाँ बजाते हुए गीत गाते रहते हैं। परस्पर ताल देते हुए एक ही साथ सैकड़ों रास करते रहते हैं। [११८]

यह मद्यशाला सुन्दर आकृति वाले अनेक प्रौढ़ प्राणियों से भरी है। इसमें प्रगाढ मद से उन्मत्त एवं उद्धत अनेक स्त्रियाँ भी सम्मिलित हैं। यह शाला इतनी लम्बी है कि इसका प्रारम्भ कहाँ से हुआ और अन्त कहाँ पर है? कुछ पता नहीं लगता। यह लोकाकाश नामक भूमि में स्थित है। [११९]

इसमें करोड़ों मृदंग और कांसे बजते रहते हैं वीणा के नाद से इसके आनन्द में वृद्धि होती रहती है। बांस (बांसुरी) आदि वाद्ययन्त्रों की ध्वनि से युवा बराती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक उद्धत होते हैं और वे हजारों प्रकार की विचित्र आवाजें करते रहते हैं। [१२०]

मद्यशाला में नृत्य, गायन, विलास, मद्यपान, भोजन, दान, आभूषण और मान-अपमान की धमाल चलती ही रहती है। यहाँ अनेक विचित्र उलटी-सुलटी विचार-तरंगें चलती ही रहती हैं, जिससे यह मद्यशाला लोगों को चमत्कार का कारण प्रतीत होती है। [१२१]

हे भद्र! अनेक विध विभ्रम चेष्टाओं वाले रसिकजनों से सर्वदा सेवित और सर्व सामग्री से परिपूर्ण इस मद्यशाला को मैंने देखा। हे सौम्य! लोक में ऐसा कोई नाटक या आश्चर्य नहीं जो मैंने इस मदिरालय में अनुभूत न किया हो। [१२२-१२३]

मदिरालय के मुख्यतः निम्न तेरह विभाग हैं :—

१. यहाँ अनन्त लोग शराब के नशे में धुत्त पड़े रहते हैं। वे बेचारे न तो कुछ बोलते हैं, न कोई चेष्टा करते हैं और न कोई विचार करते हैं। वे किसी प्रकार का कोई लौकिक व्यवहार भी नहीं करते हैं, मात्र मृतप्रायः की तरह मूर्छित अवस्था में पड़े रहते हैं। [१२४-१२५]

२. यहाँ दूसरे भी अनन्त लोग हैं। वे भी उपरोक्त के समान ही मूर्छित अवस्था में रहते हैं, पर वे * कभी-कभी बीच-बीच में कुछ-कुछ लौकिक व्यवहार करते हैं। [१२६]

३. यहाँ पृथ्वी और पानी आदि के रूप और आकृति धारण करने वाले असंख्य लोग उपरोक्त अवस्था में नशे में धुत्त पड़े रहते हैं। [१२७]

४. यहाँ असंख्य लोग ठूंस-ठूंस कर मात्र मदिरा का स्वाद ही लिया करते हैं। ये न कुछ सूंघते हैं न कुछ देखते हैं और न कुछ सुनते हैं। शून्यचित्त वाले ये लोग जमीन पर लोटते रहते हैं। नशे की घेन में जीभ से कुछ स्वाद लेते रहते हैं और कभी-कभी चिल्लाते रहते हैं। [१२८-१२९]

५. यहाँ पूर्वोक्त स्वरूप धारक असंख्य लोग ऐसे भी हैं जो केवल सूंघते हैं, देख-सुन नहीं सकते [१३०]

६. यहाँ असंख्य लोग नशे में घूरते हुए आंखें खोल-खोल कर सामने पड़ी वस्तु को देखते तो हैं, पर सुनते नहीं। इनकी चेतना पर भी मदिरा का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। [१३१]

७. यहाँ असंख्य लोग मदिरा के नशे में चेतना-शून्य हो गये हैं। इनके मन मर गये हैं इसलिये मनरहित माने जाते हैं। [१३२]

८. यहाँ असंख्य लोग स्पष्ट चेतना वाले तो हैं किन्तु सर्वदा अधिक नशे की अवस्था में होने के कारण वे दुष्ट शत्रुओं द्वारा बार-बार छेदे, भेदे और चीरे

* पृष्ठ ६१७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाते हैं। वे आपस में भी छेदते, भेदते और काटते रहने के कारण तीव्र वेदना भोगते रहते हैं। [१३३-१३४]

९. यहाँ ऐसे असंख्य लोग हैं जिनके चित्त शराब की घेन में भ्रमित चित्त वाले हो गये हैं। कौनसा काम अकरणीय है, यह तो वे समझते ही नहीं। वे पशु-पक्षी की आकृति को धारण करने वाले, मुंह से चिल्लाने वाले, अपनी माँ के साथ भी संभोग करने वाले, धर्म-अधर्म को नहीं जानने वाले, कुछ भी कार्य करने वाले और अव्यक्त बोली बोलने वाले हैं। उनमें से कुछ नशे में जमीन पर लोटते हैं, कुछ आकाश में उड़ते हैं और कुछ पानी में डुबकी लगाते हैं। ये लोग परस्पर लड़ मरते हैं और अत्यन्त कठोर दुःख सहन करते हैं। सचमुच शराब समस्त आपत्तियों का कारण है। [१३५-१३९]

१०. इस मद्यशाला में दो प्रकार के असंख्य मनुष्य हैं—मदमत्त बने हुए असंख्य और दूसरे संख्यात। जो नशे में मत्त हैं वे बेचारे भूमि पर लोटते हैं, वमन थूक, पित्त, विष्टा और मूत्र खाते-पीते हैं। हे भद्र! दूसरी प्रकार के ये संख्यात मनुष्य नशे में मत्त होकर परस्पर लड़ते हैं, कूदते हैं, नाचते हैं, उच्च स्वर में हंसते हैं, गाते हैं, व्यर्थ का भाषण करते हैं, बेकार फिरते हैं, जमीन पर लोटते हैं और दौड़ा-दौड़ करते हैं। विलास के आनन्द-रस में मैल, कचरा, मांस, श्लेष्म आदि तुच्छ वस्तुओं से भरी हुई स्त्रियों के मुख और नेत्रों का चुम्बन करते हैं* और विवेकी मनुष्य को लज्जा आने योग्य बिब्बोक आदि विचित्र आचरण करते हैं। माँ-बाप को भी मारने लगते हैं, चोरी आदि अनार्य कार्य करते हैं और कैसे भी भ्रष्ट कार्य हों उनमें तत्पर हो जाते हैं। परिणामस्वरूप राजपुरुषों द्वारा पकड़े जाते हैं, अनेक प्रकार की भयंकर तीव्र वेदना और मार सहन करते हैं।

[१४०-१४६]

११. इस विभाग में असंख्य प्राणी ऐसे हैं जिन्हें चार उपविभागों में बांट दिया गया है। ये भी मदिरा के नशे में मस्त होकर कलबल-कलबल करते रहते हैं। यहाँ इनके सन्मुख अविरत रूप से बांसुरी और वीणा के मधुर स्वर होते रहते हैं, नाटक और खेल चलते रहते हैं, आनन्द-विलास और वादित्रों के मधुर स्वर चलते रहते हैं। इस धमाल में वे स्वयं भी नाचते, कूदते, हंसते, रोते और अपनी स्त्रियों के साथ अपनी आत्मा की अनेक प्रकार की विडम्बनायें करते रहते हैं। मदिरामत्त होने से वे एक-दूसरे से ईर्ष्या करते हैं, शोक करते हैं, अभिमान से फूलते हैं, कभी-कभी अकार्य भी कर बैठते हैं। ये चारों समुदाय वाले अपने आप को सुखी मानते हैं, पर वास्तव में वे दुःखी ही हैं। [१४७-१५०]

१२. इस मदिरालय में संख्यात लोग ऐसे भी हैं जो मदिरा नहीं पीते और मध्यस्थ भाव से रहते हैं। मदिरा पीने वाले लोग प्रतिदिन इनकी हंसी उड़ाते हैं और असूया से इनको ब्राह्मण के नाम से बुलाते हैं। [१५१-१५२]

---

* पृष्ठ ६१८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. हे सौम्य ! इस मद्यशाला के बाहर अनन्त लोग ऐसे भी हैं जो स्वयं महाबुद्धिशाली हैं और मदिरा सेवन से रहित हैं। वे इस अस्त-व्यस्त और अव्यवस्थित मद्यशाला से सदा के लिये दूर होकर बाधा-पीड़ाओं से रहित हो गये हैं और निरन्तर आनन्दोत्सव में मग्न रहते हैं। [१५३-१५४]

हे भद्र ! इस मद्यशाला (लोक) में अनेक विभागों में से उपरोक्त मुख्य तेरह विभागों का स्वरूप संक्षेप में मैंने तुम्हें बताया। मैं स्वयं भी मदिरा के नशे में मत्त होकर उपरोक्त वर्णित पहले विभाग में अनन्त काल तक रहा। फिर किसी प्रकार क्रमशः दूसरे, तीसरे और चौथे विभाग में मदघूर्णित होकर उद्दाम लीला करता हुआ बहुत काल तक रहा। उपरोक्त तेरह में से प्रथम और अन्तिम के दो विभाग अर्थात् तीन विभागों को छोड़कर शेष दसों विभागों में मद्यपी की दशा में पापों के कारण मैं अनन्त बार भटकता रहा। [१५५-१६०]

मदिरालय की भूमि जो वमन, पित्त, मूत्र, विष्टा, कफ आदि अपवित्र वस्तुओं से वीभत्स और दुर्गन्धित हो रही थी, उसमें मैं मद्यपी की दशा में लोटा, गुलाचें खायीं, घुटनों के बल चला, खड़ा हुआ, गिरा, नशे में चिल्लाया, कभी हंसा, नाचा, रोया, दौड़ा,* लोगों से लड़ा, बलवान लोगों से प्रतिक्षण मार खाई और प्रहारों से शरीर जर्जर हो गया। इस प्रकार लाखों दुःखों से उत्पीड़ित/त्रस्त होकर भी मैं इस मद्यशाला में विचरता रहा। [१६१-१६४]

एक बार इस मद्यशाला में स्थित मुझ पर किसी ब्राह्मण की दृष्टि पड़ी। उसको मुझ पर करुणा/दया आयी। उसने सोचा कि यह बेचारा स्वयं को शराब के व्यसन से अत्यन्त दुःख का अनुभव कर रहा है, अतः किसी उपाय द्वारा इसका व्यसन छुड़वाना चाहिये जिससे यह भी हमारी तरह से सुखी हो सके। यह सोचकर ब्राह्मण ने मुझे प्रतिबोध देने का, समझाने का प्रयत्न किया। वह पुकार-पुकार कर मुझे सच्ची बात समझाने लगा किन्तु मदिरा के नशे में मत्त मैं उसकी बात को न सुनकर शून्य चेतन जैसा मद्यशाला के विभिन्न विभागों में भटकता रहा। जब ब्राह्मण जोर-जोर से चिल्लाने लगा तो मैंने थोड़ा सा हुंकारा दिया, तब उसने मुझे बुलाने का बहुत प्रयत्न किया। इस अवसर पर मदिरा का नशा कुछ कम होने से मेरी चेतना प्रकट होने लगी और मैंने उत्तर दिया। तत्पश्चात् उसने विस्तार से मदिरा के दोष बताये। मुझे भी उसकी बात पर विश्वास हुआ और मैंने मदिरापान के त्याग का निश्चय किया और मैं भी उसके जैसा ब्राह्मण बन गया। सभी ब्राह्मणों ने दीक्षित होकर साधु-वेष पहन रखा था अतः मैंने भी साधु-वेष धारण कर लिया। यद्यपि शराब से जो अजीर्ण मुझे हुआ था वह अभी तक नहीं मिटा है तदपि मुझे आशा है कि दीक्षा के प्रभाव से मैं अपने सारे अजीर्ण को समाप्त कर दूंगा। हे भद्र ! यही मेरे वैराग्य का कारण है।

---

* पृष्ठ ६१६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे बहिन अगृहीतसंकेता ! साधु महाराज की उक्त वार्ता सुनते हुए ही अकलंक के मन में उस सम्बन्ध में विचार-विमर्श चलने लगा जिससे उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। पूर्वभव में अभ्यास किये गये ज्ञान का स्मरण होने से उसे कथा का भावार्थ समझ में आ गया जिससे वह बहुत प्रमुदित हुआ और मुनि महाराज को वन्दना कर तीसरे मुनि की ओर जाने लगा।

कथा का उपनय

पहले की भांति ही मैंने (घनवाहन ने) अकलंक से कहा कि इस वार्ता का भावार्थ मैं नहीं समझ पाया हूँ, अतः स्पष्ट रीति से इसका रहस्य मुझे बतला दे। मेरी जिज्ञासा देखकर अकलंक बोला—भाई घनवाहन ! यह संसार ही मद्यशाला है। इस रूपक के द्वारा मुनि ने स्वयं को संसार से वैराग्य होने का कारण बतलाया है। तू इस उपनय को ध्यानपूर्वक सुन।

यह संसार वस्तुतः मदिरालय के समान ही है, क्योंकि इसमें अनन्त घटनायें घटित हो चुकी हैं, हो रही हैं और होती रहेंगी। इसमें अनन्त जीव शराबी का चरित्र निभा रहे हैं। आठ प्रकार के कर्म और उनके भिन्न-भिन्न भेद अनेक प्रकार के मद्य हैं। इनमें से चार प्रकार के कषाय आसव हैं, नौ प्रकार के नोकषाय सिरके हैं, चार घाति कर्म मदिरा है, भिन्न-भिन्न गति के आयुष्य मदिरा के आधारभूत होने से चित्र-विचित्र मद्यपात्र (भाण्ड) हैं, प्राणियों के शरीर कर्मरूपी मद्य का उपयोग करने से मद्य पीने के पात्र हैं, इन्द्रियाँ शरीर को विभूषित करने वाली होने से और अत्यन्त आसक्ति का कारण होने से उन्हें काले कमल की उपमा दी गई है। * कर्मरूपी मद्य से उन्मत्त लोट-पोट बने लोग नाचते, कूदते, हँसते रास-विलास करते और विडम्बोकादि अनेक प्रकार की चेष्टायें करते हैं उन्हें कलकल ध्वनि, उनके आपसी लड़ाई-झगड़ों को मृदंग, दुष्ट लोगों द्वारा उत्पन्न क्लेश को कांसे और दुःखी प्राणियों के मंद-मंद विलाप को वीणा की उपमा दी है। लोगों की शोकपूर्ण करुण चीत्कार को बांस (बांसुरी) की आवाज, आपद्ग्रस्त प्राणियों की चेष्टाओं को मृगुन्द की आवाज, प्रिय वियोग की अवस्था में दीनता प्रकट करने वाले विलाप को करताल की आवाज कहा गया है। अत्यन्त अज्ञान के वशीभूत मूर्ख लोग बरातियों का अनुकरण करते हैं।

इसमें कमनीय आकार के धारक देवता पात्र का रूप धारण करते हैं और उनकी अप्सरायें गाढ मदोद्धत युवती स्त्रियों का। यह मद्यशाला इतनी विशाल और लम्बी है कि इसके प्रवेश और अन्तिम छोर का कुछ पता ही नहीं लगता, अर्थात् यह अनादि अनन्त है और सर्वदा लोकाकाश में स्थित है। इसमें नाच, गायन, विलास, मद्यपान, भोजन, दान, अलंकार-ग्रहण, मान-अपमान आदि चित्र-विचित्र भाव चलते ही रहते हैं, जो अज्ञानी प्राणियों के संसार-वर्धन और विवेकी प्राणियों के वैराग्य का कारण बनते हैं।

---

* पृष्ठ ६२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि महाराज ने मद्यशाला के जो तेरह प्रकार के प्राणियों के विभाग बताये हैं उन्हें विभिन्न अवस्थाओं के जीव समझना। इन विभागों का भावार्थ इस प्रकार है—१. असंव्यवहार वनस्पति, २. संव्यवहार वनस्पति, ३. पृथ्वी, पानी, वायु और अग्नि के एकेन्द्रिय, ४. बेइन्द्रिय, ५. तेइन्द्रिय, ६. चौ इन्द्रिय, ७. असंज्ञी पंचेन्द्रिय, ८. नारकीय, ९. पंचेन्द्रिय तिर्यंच, १०. संमुच्छिम और गर्भज मनुष्य, ११. भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देव, १२. ब्राह्मण के नाम से बतलाये गये इन्द्रियों पर संयम रखने वाले त्यागी वैरागी संयत मनुष्य और १३. संसार मद्यशाला से बाहर हुई मुक्त आत्माएं।

इन सभी प्राणियों की संख्या और इनके लक्षण भी साथ में बताये गये हैं। उनके सम्बन्ध में होने वाली चित्र-विचित्र घटनाओं का भी संक्षेप में वर्णन किया गया है। इसमें मुनि महाराज ने स्वयं अपने आप को कर्म-मद्य का पान करने वाला बताया और किस-किस विभाग में कितना-कितना भटकना पड़ा, यह भी बतलाया। ये पहले असंव्यवहार जीव राशि में अनन्त काल तक रहे। वहाँ से अनन्त काल व्यतीत होने पर बड़ी कठिनाई से बाहर निकले और संव्यवहार वनस्पति जीव राशि में बहुत समय तक रहे। तदनन्तर दशों विभागों/स्थानों में बारंबार घूमते/भटकते रहे। इनको पहले असंव्यवहार विभाग में फिर से और अन्तिम दो ब्राह्मण एवं मुक्तात्माओं के विभाग में अभी तक प्रवेश नहीं मिल सका है। इन तीनों स्थानों के अतिरिक्त दस विभागों में इन्हें कैसी-कैसी तीव्र पीड़ायें सहन करनी पड़ीं यह इन्होंने स्पष्ट किया।

हे सौम्य! मुनि महाराज ने इस वार्ता द्वारा हमें भी समझाया है कि यह संसार मद्यशाला जैसी है और आत्मा के दुःख का कारण है।* अन्त में उन्होंने कहा कि 'मद्यशाला स्थित ब्राह्मणों ने उन्हें देखा और यत्नपूर्वक प्रतिबोधित किया' आदि की संघटना/योजना इस प्रकार घटित होती है। [१६५–१६६]

अनादि संसार में तथाप्रकार के स्वभाव के योग से कर्म की उत्कृष्ट स्थिति को भोग कर प्राणी मनुष्य भव में आता है और सुसाधु-महात्माओं के सम्पर्क में आने पर नदी में घिसते पत्थर की तरह उसे द्रव्यश्रुत (ऊपरी ज्ञान) की प्राप्ति होती है किन्तु कर्म-मदिरा के नशे में उसे सम्यक्त्व की तथा वास्तविक परमार्थ ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, जिससे वह सत्क्रिया का आचरण नहीं कर पाता और श्रेष्ठ साधुओं के सम्पर्क का लाभ नहीं उठा पाता। यही प्राणी की कर्म-मद्य-सेवन की तीव्र इच्छा है। हे सौम्य! यही कामना अतिभयंकर और संसार-वर्धन का कारण है। इसके वशीभूत प्राणी बेभान होकर बार-बार परिभ्रमण करता है। जब काल आदि समस्त हेतु अनुकूल होते हैं तभी प्राणी अति दारुण कर्म की गाँठ को शुभ भाव से काटकर राधावेध की तरह अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त होने वाले सद्-दर्शन को प्राप्त करता है। सुसाधु-ब्राह्मणों द्वारा प्रतिबोध के लिए बुलाने पर जब

* पृष्ठ ६२१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणी हुंकारा देता है, इसी को धर्मोपदेश के बोध की स्वीकृति समझना चाहिये। इसी को "दर्शन, मुक्ति-बीज, सम्यक्त्व, तत्त्ववेदन, दुःखान्तकृत्, सुखारम्भ" आदि नामों से जाना जाता है। ये सभी शब्द एक ही बात (हुंकार) की सूचना देते हैं। जब प्राणी सम्यग् दर्शन युक्त होता है तभी तत्त्वश्रद्धान से उसकी आत्मा पवित्र हो जाती है, कृतकृत्य हो जाती है, फिर वह संसार समुद्र में नहीं भटकता। ऐसा प्राणी सम्यग् शास्त्र के अनुसार जिसका जैसा वास्तविक स्वरूप होता है, उसे वैसा ही अपनी बुद्धिचक्षु से देखता है। जैसे किसी प्राणी का नेत्र-रोग नष्ट हो जाने पर उसे वस्तुओं का रूप ठीक-ठीक दिखाई देता है वैसे ही वह यथास्थित रूप को देखकर प्रशान्त अन्तरात्मा से परम संवेग-भाव का आश्रय लेकर वस्तुओं में स्थित आन्तरिक भावों पर यथायोग्य विचार करता है। [१६७–१७७]

ऐसे प्राणी की विचारधारा इस प्रकार की होती है—यह भयंकर संसार-समुद्र जन्म, मरण, वृद्धावस्था, व्याधि, रोग, शोक से परिपूर्ण और प्राणियों को अनेक प्रकार के क्लेश उत्पन्न कराने वाला है। जब कि जन्म-मरण-भय आदि क्लेशों से रहित और बाधा-पीड़ा-वर्जित स्थान मोक्ष ही प्राणी के लिये सुखकारी है। हिंसा आदि दुःख संसार-वृद्धि के कारण और अहिंसा आदि बाधा-पीड़ा-रहित मोक्ष के कारण हैं। यों बुद्धि-चक्षु से संसार का निर्गुणत्व और मुक्ति के गुणत्व को देखकर विशुद्ध आत्मा आगम में कथित नियमानुसार उसके लिए प्रयत्न करता है। जैसे कोई कामी पुरुष अपनी प्रिय वल्लभा को प्राप्त करने के लिए अनेक दुष्कर कठिन कार्य करता है वैसे ही मोक्ष प्राप्त करने की दृढ़ इच्छा वाला प्राणी क्षुद्र प्राणियों को अति दुष्कर लगने वाले महान कार्यों और अनुष्ठानों को भी पूरा करता है। उपादेय मनोज्ञ वस्तु को प्राप्त करने के प्रयास में जो कठिनतम अनुष्ठान आदि किये जाते हैं उससे उसके मन में तनिक भी पीड़ा नहीं होती, क्योंकि साध्य को प्राप्त करने की मन में दृढ़ इच्छा होती है और चित्त तथा विचार प्रतिबन्धित हो जाते हैं। एकबार साध्य को प्राप्त करने में मन लग जाने के बाद उसके प्रयत्न में किये गये परिश्रमों से उसे कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती। ऐसे विचारवान व्यक्ति को तो उलटे त्याज्य वस्तु को ग्रहण करने में कठिनाई होती है।* जैसे व्याधिग्रस्त व्यक्ति जब कटु औषधोपचार से आरोग्य प्राप्त करने लगता है तब उसे कड़वी दवा पीने में भी बुरी नहीं लगती और उसे प्रीतिपूर्वक नियमित रूप से लेता है, वैसे ही उत्तम मनुष्य जब अपने को संसार-व्याधि से ग्रस्त देखता है और जब उपचार करने पर उसे समता रूपी आरोग्य प्राप्त होने लगता है तब वह साध्य को प्राप्त करने के लिए पूर्णशक्ति, प्रसन्नचित्त और दृढ़ता से प्रयत्न करता है तथा उसमें अधिकाधिक प्रगति करता रहता है। इसी हेतु वह शुद्ध चारित्र को प्राप्त कर उसमें क्रमशः आगे बढ़ता जाता है। तत्पश्चात् सर्वज्ञ बनकर, अन्त में ज्ञानयोग से भवोपग्राही चार अघाती कर्मों का क्षय कर शाश्वत मोक्ष को प्राप्त

* पृष्ठ ६२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है। प्राणी को ऐसी महान कल्याणकारी परम्परा अधिकांश में सत्साधु एवं गुरुजनों की सेवा से ही प्राप्त होती है, इसीलिये मनीषियों ने कहा है—

[१७८–१८९]

भक्तिपूर्वक निरन्तर साधु-सेवा, भावपूर्वक प्राणियों के प्रति मैत्री और अपने आग्रह का त्याग ही धर्म हेतु के साधन हैं। [१९०]

साधु-सेवा से निरन्तर वास्तविक और शुभकारी उत्तम उपदेश प्राप्त होता है, धर्म का आचरण करने वाले महापुरुषों का दर्शन होता है और योग्य पात्र के प्रति विनय करने का प्रसंग प्राप्त होता है। साधु-सेवा का यह कोई सामान्यफल नहीं अपितु महाफल है। [१९१]

मैत्री की भावना वाले प्राणी के शुभ भावों में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, शुभ भाव रूपी जल के छिड़काव से द्वेषरूपी अग्नि शान्त होती जाती है।

[१९२]

झूठे आग्रह का त्याग करने से निखिल दोषों को उत्पन्न करने और समस्त गुणों का घात करने वाली तृष्णा चली जाती है। इस प्रकार गुण समूह से युक्त होकर विशुद्ध आत्मा जब अपने आशय में स्थिर होकर कार्य सिद्ध करती है तब तत्त्वज्ञानी उसे सम्यग् धर्म का साधक कहते हैं। [१९३–१९४]

भाई घनवाहन! मुनि ने जो यह बात कही, उसका रहस्य यही है कि करुणा-तत्पर ब्राह्मण का रूप धारण करने वाले ने मुनि को बोध दिया।

[१९५]

इस कथा में मुनि ने जो अन्य बात कही वह तो प्रथम मुनि की कथा में भी आ चुकी है, अतः उसका निष्कर्ष स्पष्ट होने से मैं पुनः वर्णन नहीं करता हूँ। यह तो स्पष्ट है कि त्याग (विरति) रहित समग्र प्राणी कर्मरूपी मद्य में आसक्त और धुत्त रहते हैं, जब कि साधुगण संसार-मद्यशाला में रहते हुए भी उससे दूर रहते हैं। इस मुनि को ब्राह्मण रूपी साधु ने कर्ममद्य से यत्नपूर्वक अलग किया और उसे दीक्षा दी, यही उसके वैराग्य का कारण है। दीक्षा के प्रताप से कर्मरूपी अजीर्ण के विष को समाप्त कर यह मुनि भी संसार-मद्यशाला से बाहर चलें जायेंगे, मुक्त हो जायेंगे।

[१९६–१९९]

भद्र घनवाहन! ऐसी दुःखद और गंदी मद्यशाला में अपने जैसों का जान-बूझ कर रहना उचित नहीं है। [२००]

हे अगृहीतसंकेता! अकलंक ने इस प्रकार इस कथा का विस्तार से विवेचन किया, पर मुझे तो उससे कुछ भी बोध प्राप्त नहीं हुआ। जैसे शून्य अरण्य में मुनि मौन धारण करते हैं वैसे ही मैं भी चुप रहा। फिर हम दोनों तीसरे मुनि के पास गये। [२०१–२०२]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. अरहट-यन्त्र

बुधनन्दन उद्यान के मन्दिर के बाहर अलग-अलग बैठकर ज्ञान-ध्यान करने वाले मुनियों में से अब हम तृतीय मुनि के पास पहुँचे। अकलंक ने अत्यन्त भक्ति-पूर्वक सच्चे हृदय से मुनि को वन्दन किया,* मैंने भी वन्दन किया। फिर अत्यन्त विनयपूर्वक अकलंक ने मुनि से वैराग्य का कारण पूछा, तब मुनि ने कहा कि पानी निकालने के एक अरहट्ट (रहँट) यन्त्र को देखकर मुझे वैराग्य हुआ।

अकलंक ने सोचा कि जिस प्रकार प्रथम मुनि को आग को देखकर और दूसरे मुनि को मद्यशाला को देखकर वैराग्य हुआ वैसे ही इस मुनि को रहँट को देखकर वैराग्य हुआ होगा। आनन्दित और स्मित हास्य से मनोहर दिखने वाले इस महात्मा से इस सम्बन्ध में विशेष पूछने पर कुछ नवीन तथ्यों की जानकारी प्राप्त होगी, यह सोचकर प्रसन्न-वदन अकलंक ने मुनि से पूछा—महाभाग ! रहँट से आपको वैराग्य किस प्रकार हुआ। [२०३–२०६]

मुनि बोले - हे नरोत्तम ! सुनो, मैंने जिस पानी निकालने के अरहट्ट यन्त्र (रहँट) को देखा, वह पूरे वेग से चल रहा था। वह रात-दिन चलता था। वह सम्पूर्ण एक ही यन्त्र था और उसका नाम भव था। इसको खेंचने (चलाने) वाले राग, द्वेष, मनोभाव और मिथ्यादर्शन नामक चार खेडूत साथी थे। इन सब के ऊपर महामोह था, उसी महापुरुष के प्रताप से यह यन्त्र चल रहा था। इस रहँट यन्त्र को चलाने के लिये सोलह कषाय रूपी बैल लगे हुए थे जो बिना घास-पानी के भी चलते थे, फिर भी बहुत बलवान और उद्धत थे, अत्यन्त वेगवान और शीघ्रता से काम करने वाले थे। रहँट पर काम करने वाले हास्य, शोक, भय आदि कुशल सेवक थे और जुगुप्सा, रति, अरति आदि दासियां कार्य-तत्पर थीं। इस यन्त्र पर दुष्टयोग और प्रमाद नामक दो बड़े तुम्बे लगे थे। विलास, उल्लास और विब्बोक चेष्टा नामक आरे इस यन्त्र के चक्र में लगे हुए थे। [२०७-२१२]

वहाँ असंयत-जीव नामक महाभयंकर अतिगहन कूप था जो अविरति रूपी जल से भरा था और वह इतना गहरा था कि इसका तल भी दिखाई नहीं देता था। उस यन्त्र में जीवलोक नामक अत्यन्त विस्तृत और लम्बी घटमाला लगी थी जो पाप और अविरति रूपी पानी से भर-भर कर बाहर आकर खाली होती थी। इस यन्त्र को मरण नामक नौकर बार-बार चलाता था, उस समय पट्टिका-घर्षण से उत्पन्न खट-खट की तेज आवाज को विवेकी पुरुष दूर से ही सुन लेते थे। [२१३–२१५]

---

* पृष्ठ ६२३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वहाँ कुए से निकले जल को ग्रहण करने वाली 'अज्ञान-मलिन आत्मा' नामक बड़ी नाली थी। पास ही जल-संचित करने के लिये मिथ्याभिमान नामक सुदृढ़ कुण्डी थी, जिसमें से संक्लिष्ट-चित्तता नामक छोटी नाली और भोग-लोलुपता नामक अति लम्बी पतली नाली निकल रही थी। यह नाली जन्म-सन्तान नामक खेत और अलग-अलग जन्म रूपी क्यारियों की सिंचाई करती थी, जिनमें कर्मप्रकृति नामक बीज बोया जाता था और तज्जीवपरिणाम नामक व्यक्ति यह बुआई कर रहा था। फलस्वरूप सुख-दुःख आदि धान्य-समूह उत्पन्न होता था। इस सब का कारण तो यह अरहट्ट यन्त्र ही माना जाता था। वहाँ सतत उत्साही असद्बोध नामक सिंचाई करने वाला सर्वदा तैयार ही रहता था जिसे महामोह राजा ने इसी कार्य के लिये नियुक्त कर रखा था। [२१६-२२१]

भद्र अकलंक ! ऐसी निखिल सामग्री से परिपूर्ण सतत भ्रमोत्पादक * संसार अरहट्ट यन्त्र पर मैं लम्बे समय तक सोता हुआ पड़ा रहा। देखो, सामने ये भाग्यशाली मुनिराज जो ध्यानमग्न हैं, जो मेरे गुरु कहलाते हैं, उन्हें मुझ पर दया आई। उन्होंने मुझे वहाँ सोया देखा, मेरी समस्त चेतना को गाढ मूर्छित देखा, तब बहुत प्रयत्न पूर्वक इन्होंने मुझे प्रतिबोधित किया, जागृत किया। यह भव अरहट्ट कैसा है? इसके यथास्थित रूप का विस्तृत वर्णन किया और कहा—अरे मूर्ख ! इस पूरे यंत्र का स्वामी तू ही है, इसके फल को भोगने वाला भी निःसंदेह रूप से तू ही है, फिर तू स्वयं क्यों इस भव-अरहट्ट को नहीं जानता? भाई ! बराबर समझ, तू अनन्त दुःख भोग रहा है, भूतकाल में भोगे हैं और भविष्य में भोगेगा। इसका कारण यह भव अरहट्ट ही है यह बात संशय रहित है, अतः तू इसका त्याग कर दे।

मार्गदर्शन कराने वाले इन परोपकारी महात्मा से मैंने पूछा—मैं इस भव अरहट्ट का त्याग कैसे करूं ?

महात्मा ने बताया—हे महासत्वशाली ! तू दीक्षा ग्रहण कर। जो उत्तम प्राणी भाव से भागवती दीक्षा ग्रहण करते हैं, उनके सम्बन्ध में यह भव-अरहट्ट अपने आप ही हीन और नष्ट प्रायः हो जाता है। [२२२-२२९]

मेरे गुरु के उपरोक्त वचन सुनकर मैंने उन्हें भावपूर्वक स्वीकार किया और मैंने दीक्षा ले ली। हे सौम्य ! मेरे वैराग्य का यही कारण है। [२३०]

मुनि महाराज के वचन सुनकर अकलंक बोला—भगवन्। आपको वैराग्य का कारण तो बहुत अच्छा मिला। ऐसा कौन समझदार व्यक्ति होगा जिसे इस संसार-अरहट्ट चक्र को देख/समझ कर भी संसार से विरक्ति न हो ?

इन मुनि महाराज को भक्ति पूर्वक वन्दन कर अकलंक और मैं अन्य मुनि महाराज के पास चले गये। [२३१-२३३] 卐

---

* पृष्ठ ६२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. भव-मठ

मैं अकलंक के साथ चौथे साधु के पास गया। वन्दन कर हम नीचे बैठे तब मुझे प्रतिबोधित करने के लिये अकलंक ने भाग्यशाली मुनि से वैराग्य का कारण पूछा। [२३४]

मुनि बोले—भद्र अकलंक! विभिन्न रूपों वाले हम सभी चट्टा (परिव्राजक) एक बड़े मठ में आनन्द पूर्वक रहते थे। वहाँ हमारे भक्तों का एक परिवार आया। इस परिवार में वैसे तो अनेक मनुष्य थे, पर परिवार का संचालन करने वाले मुख्य पाँच व्यक्ति थे। उन्होंने हमारे साथ ऐसा व्यवहार किया जिससे वे हमें अपने हितेच्छु लगे। हे सौम्य! वास्तव में तो यह परिवार हमारा शत्रु था, पर हमें ऐसा लगने लगा मानों हमारा प्रेमी हो। इस परिवार ने विद्यार्थियों को आदरपूर्वक विविध प्रकार का भोजन कराया। नये-नये भोजन के लोलुप विद्यार्थियों ने परिवार के आन्तरिक भाव से अनभिज्ञ रहकर डटकर भोजन किया, ठूंस-ठूंस कर पेट भरा। इस परिवार ने मन्त्रित भोजन बनाया था जिससे उस अतिदारुण अन्न को खाते ही कई परिव्राजक-बटुकों को तुरन्त सन्निपात हो गया और कुछ को अपच होकर उन्माद हो गया। इस भोजन से विद्यार्थियों का गला अवरुद्ध हो गया,* जीभ पर कांटे-कांटे हो गये, श्वास नली गर्र-गर्र बोलने लगी, वे विह्वल हो गये और ऐसा लगने लगा मानो उनकी चेतना नष्ट हो गई हो। कुछ छात्रों का ज्वर की पीड़ा से शरीर जलने लगा, कुछ को सर्दी लगने लगी और कई चेतना-शून्य होकर जमीन पर लोटने लगे। सन्निपात की तीव्रता से पीड़ित होकर वे कभी चिल्लाते तो कभी तड़फड़ाते, कभी उनके मुख से झाग निकलते। इस प्रकार मठ के वे छात्र शोचनीय दशा को प्राप्त हो गये। उस भोजन से जो मठ के परिव्राजक और बटुक उन्मादग्रस्त हो गये थे वे पापी देव, गुरु और संघ की निन्दा करने लगे, विपरीत बोलने लगे, और निकृष्ट चेष्टायें करने लगे। जिनकी चेतना ही लुप्त हो गई हो, उनकी कौनसी चेष्टा अच्छी हो सकती है? कुछ इस भोजन के दोष से पशु के समान अधर्मी बने या उसके विष से मूर्ख जैसे हो गये। [२३५–२४६]

यहाँ सामने जो स्वाध्याय-ध्यानमग्न पवित्रात्मा मनिपुंगव बैठे हैं, वे विशुद्ध वैद्यकशास्त्र के परम ज्ञाता हैं। हे भद्र। एक बार मैं मूढात्मा जब मठ के परिव्राजकों के मध्य में सन्निपात-ग्रस्त होकर भटक रहा था तब इन महापुरुष ने मुझे देखा। इनको मुझ पर करुणा आई और इन्होंने अपनी औषधि के प्रयोग से मेरा सन्निपात

---

* पृष्ठ ६२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिटाया, फलस्वरूप मेरी चेतना अधिक स्पष्ट हुई। अन्य विद्यार्थियों की संगति से मुझ में जो उन्माद था उसे इन महात्मा ने बहुत यत्नपूर्वक मिटाया। जब इन महाभाग्यशाली महात्मा ने देखा कि मेरा मन स्वस्थ हुआ है और मैं उनकी बात समझने योग्य हुआ हूँ तब उन्होंने मुझे बताया कि सारा मठ ही उन्माद और सन्निपात-ग्रस्त है। मैंने देखा कि सभी छात्र अव्यक्त स्वर से बोल रहे हैं, प्रलाप कर रहे हैं, ऊंघ रहे हैं और दुःख में डूबे हुए हैं। यह दृश्य देख कर मैं अत्यन्त भयभीत हुआ। [२४७-२५३]

मुनि ने कहा—भद्र! भोजन के दोष से तू भी ऐसा ही था, तेरी भी ऐसी ही दशा थी। देख, तेरे शरीर पर अभी भी अजीर्ण के विकार दिखाई देते हैं। देख, जैसा करने के लिये मैं तुझे कह रहा हूँ, यदि तू वैसा नहीं करेगा तो तू फिर से ऐसे ही दुःख में डूब जायेगा।

मुनि महाराज के उपदेश को सुनकर, उस पर विश्वास कर और मठवास के भय से भयभीत होकर मैंने इस भोजन के अजीर्ण का शोधन करने वाली दीक्षा स्वीकार की। अब ये मुनिपुंगव मुझे जिन-जिन क्रियाओं/अनुष्ठानों को करने के लिये कहते हैं उन सब को मैं सम्यक् प्रकार से करता हूँ। यही मेरे वैराग्य का कारण है। [२५३-२५६]

मुनिराज की बात सुनकर अकलंक ने प्रेम से नेत्र ऊपर उठाये, मुनि को वन्दन किया और अगले मुनि की तरफ जाने लगा। उस समय मैंने अकलंक से पूछा—मित्र मुझे तो मुनि की बात समझ में नहीं आई, अतः उसके भावार्थ को स्पष्ट रूप से तुम समझाओ। [२५७-२५८]

कथा का रहस्य

अकलंक ने कहा—भाई धनवाहन! मुनि शिरोमणि ने * इस संसार को मठ की उपमा दी है। लोह-शलाका के समान संसार में प्राणी भिन्न-भिन्न रूप धारण करते हैं। वे अनेक प्रकार के हैं और एक-दूसरे से सम्बन्धरहित भी हैं, अतः मठ निवासी साधुओं के समान हैं। इनके कोई माता-पिता, सगे-सम्बन्धी नहीं हैं। ये परमार्थ से धनरहित हैं और ये सभी जीव परस्पर सम्बन्धरहित हैं। संसार-मठ में रहने वाले जीव रूपी परिव्राजक-विद्यार्थियों के पास बन्धहेतु नामक भक्त परिवार आता है। बन्धहेतु तो विचित्र प्रकार के होते हैं और कई हैं, पर उनमें से मुख्य पाँच हैं। अतः बन्धहेतु परिवार के संग्राहक और संचालक मुख्य पाँच व्यक्ति कहे गये हैं :—प्रमाद, योग, मिथ्यात्व, कषाय और अविरति। ये पाँच जीवों के बन्धहेतु हैं। प्राणी पर अनादि काल से मोह राजा का असर इतना अधिक है कि मोहराज और उसका उपर्युक्त परिवार जो वास्तव में प्राणी के कर्म-बन्ध के हेतु होने से उसके शत्रु हैं, फिर भी उसे हितकारी मित्र जैसे लगते हैं। मठ

* पृष्ठ ६२६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निवासी विद्यार्थियों की तरह यह मन्दबुद्धि प्राणी भी इनके शत्रुता पूर्ण दुष्ट स्वरूप को नहीं पहचानता। [२५६–२६६]

जिस प्रकार मठ निवासियों को भक्त परिवार ने मन्त्रित भोजन कराया, उसी प्रकार मोह राजा की आज्ञा से इस प्राणी की लोलुपता को बढ़ाने के लिये चित्र-विचित्र भोजन तैयार कराये जाते हैं। इस भोजन को महामोह स्वयं मन्त्रित करते हैं, जिससे वह ज्ञान को आवृत/आच्छादित कर देता है। इस खाद्य सामग्री को पूर्ववर्णित बन्धहेतु तैयार कर खिलाता है। मोह से अत्यन्त लोलुप जीव मठ निवासियों की भांति इस स्वादिष्ट भोजन को प्राप्त कर अपनी आत्मा को उससे ठूंस-ठूंस कर भर लेता है। उस समय प्राणी को उसके दारुण परिणामों का न तो ज्ञान होता है और न वह उस पर विचार ही करता है। इस कुभोजन के परिणाम-स्वरूप उसे जो अज्ञान होता है, उसी को अनभिग्रह मिथ्यात्व नामक सन्निपात कहा गया है। [२६७–२७०]

यह प्राणी महा अन्धकार रूपी मिथ्याज्ञानमय भाव-सन्निपात के प्रभाव से एकेन्द्रिय अवस्था में लकड़ी की भांति निश्चेष्ट पड़ा रहता है। बेइन्द्रिय की अवस्था में आवाज अव्यक्त होने से गर्र-गर्र करता सुनाई देता है। तेइन्द्रिय की अवस्था में भूमि पर इधर-उधर लोट-पोट होता रहता है। चार इन्द्रिय की अवस्था में झणझणारव करता हुआ फड़फड़ाता है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय की अवस्था में पीड़ित होता है। गर्भज पंचेन्द्रिय के आकार में झाग निकालता हुआ तड़फता है। अपर्याप्त अवस्था में अवरुद्ध गले वाला दिखाई देता है। नरक में अनेक प्रकार के दुःखों एवं तीव्र तापों से व्यथित जीभ पर कांटे हो गये हों, ऐसा लगता है। नरक में ही अधिक गर्मी और अधिक सर्दी से दुःखी होता है। पशु के रूप/आकार में कुछ सोच-विचार नहीं कर पाता। मनुष्य का जन्म प्राप्त कर बारम्बार अधिक मोहित होता है। देव अवस्था में महामोह की निद्रा में समय खो देता है और सभी अवस्थाओं में धर्म-चेतनाहीन होकर ही रह जाता है। *

हे सौम्य! मिथ्या ज्ञान का अन्धकार रूपी भयंकर सन्निपात जीव को उसके कर्म-भोजन के परिणामस्वरूप ही होता है। [२७१]

नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गति में वर्तमान अधिकतर प्राणियों को इस अकल्याणकारी भोजन के परिणामस्वरूप सर्वज्ञ-शासन के विपरीत अभिनिवेश हो जाता है। इस अभिनिवेश के वशीभूत होकर वे राग, द्वेष, मोह से कलुषित को परमात्मा मानते हैं, आत्मा को एकान्त नित्य, क्षणिक, सर्वगत, पंचभूतात्मक या श्यामाक धान अथवा तण्डुल जैसा मानते हैं, सृष्टिवाद को स्वीकार करते हैं और अन्य तत्त्वों को भी उलटा-सुलटा कर देते हैं। इसी को अभिगृहीत मिथ्यादर्शन रूपी कर्म-भोजन के सामर्थ्य से उत्पन्न उन्माद कहा जाता है। इस उन्माद से ग्रस्त

* पृष्ठ ६२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति वास्तविक विशुद्ध मार्ग को दूषित करता हुआ प्रलाप करता है। तपोमार्ग को उड़ाने के लिये तपस्या की हंसी करता है। स्वेच्छानुसार व्यवहार करने का उपदेश देकर मानो नाचता है। आत्मा, परलोक, पुण्य, पाप आदि कुछ भी नहीं है, ऐसा कहते हुए मानो कूद रहा है। सर्वज्ञ मत के ज्ञाता पुरुषों से जब पराजित हो जाता है तब रोता दिखाई देता है और अपने तर्क की डण्डी से नगारा बजाते हुए गाता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

हे सौम्य ! इसीलिये जैनेन्द्र मत से विपरीत दृष्टि वाले उन्माद-ग्रह-ग्रस्त लोग नाचते, कूदते, गाते, रोते और खिलखिला कर हंसते हैं, ऐसा कहा गया है। ये सभी प्राणी कर्मरूपी विष के प्रभाव को धारण करते हैं और उनकी धर्म-चेतना नष्ट प्रायः हो जाती है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। [२७२–२७३]

इन मुनि ने कहा था कि 'सन्मुख विराजमान मेरे गुरुदेव मुनि-पुंगव वैद्यक शास्त्र का प्रगाढ़ परिश्रमपूर्वक अध्ययन कर निष्णात बने हैं। वे कृपा-परायण होने से उन्होंने अपने औषधोपचार से मुझे दारुण सन्निपात के प्रभाव से मुक्त किया।' मुनि का उक्त कथन पूर्णतया घटित होता है। हे सौम्य ! सुन, ये मुनिगण सिद्धान्त रूपी आयुर्वेद का परिश्रमपूर्वक अध्ययन कर, पारंगत विद्वान् बनकर संसारस्थ समस्त प्राणियों के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जान लेते हैं। जब किसी भी व्याधि-ग्रस्त का ये मुनिश्रेष्ठ वैद्यराज निरीक्षण/निदान करते हैं तब उन्हें प्रतीत होता है कि यह प्राणी कर्म-भोजन द्वारा उत्पन्न सन्निपात से ग्रस्त है। फलस्वरूप ऐसे भाग्य-शाली मुनियों के हृदय में ऐसे प्राणी पर करुणा उत्पन्न होती है और वे सोचते हैं कि किस उपाय से इस पामर प्राणी को संसार-क्लेश से मुक्त किया जाय? इस निदान के फलस्वरूप वे प्राणी मुनिराज की निन्दा करते हैं, उन पर क्रोध करते हैं अथवा उन्हें मारते हैं, तब भी ये महासत्वशाली उस पर किंचित् भी क्रोधित नहीं होते। वे सोचते हैं कि ये बेचारे कर्म-सन्निपात से अत्यन्त पीड़ित हैं, मिथ्यात्व उन्माद से संतप्त हैं, पाप रूपी विष से मूर्च्छित हैं, सदा दुःख के भार से दबे हुए हैं* और इनकी विशुद्ध धर्म चेतना नष्ट हो गई है। अतः परवश होकर यदि ये निन्दा, आक्रोश या मारपीट करें तो उन पर कौनसा विचक्षण व्यक्ति क्रोध करेगा? करुणारसिक प्राणी दुःख पर डाम नहीं लगाते, घाव पर नमक नहीं लगाते/छिड़कते। [२७५–२८३]

कर्म से आवृत ये बेचारे प्राणी मात्र दया के पात्र ही नहीं, वरन् विवेकी प्राणियों को संसार से उद्वेग कराने वाले भी हैं। सन्निपात और उन्मादग्रस्त ऐसे पागल जीवों को संसार में भटकते हुए देखकर जिनेन्द्र कथित स्वरूप को समझने वाले व्यक्ति सोचते हैं कि मनुष्य जन्म प्राप्त करने पर भी ये बेचारे ऐसी स्थिति में पड़े हैं, यह तो बहुत ही बुरी बात है। यह दृश्य देखकर किस विचारशील को इस संसार-कारागृह पर प्रेम हो सकता है। [२८४–२८६]

---

* पृष्ठ ६२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे सौम्य ! ऐसी स्थिति में इन करुणायुक्त चित्त वाले गुरु महाराज ने स्वकीय कर्मरूपी सन्निपात-ग्रस्त इस चौथे मुनि को प्रतिबोधित किया। इन वैद्य-श्रेष्ठ ने एक मठवासी छात्र-तुल्य प्राणी को अपने वचना-मृत औषधि से साधु बना कर स्वस्थ किया, सन्निपात के असर से मुक्त किया। अतः वास्तव में इन्हें श्रेष्ठ वैद्य ही कहा जा सकता है। [२८७–२८८]

पुनः इन मुनि ने कहा था कि, 'मेरे में उस समय अन्य चट्टों (परिव्राजक-छात्रों) के सहवास से उन्माद था उसे भी इन्होंने प्रयत्नपूर्वक मिटाया।' इसका फलितार्थ यह है कि गुरु महाराज ने पहले तो बोध द्वारा अज्ञानियों के महा पाप-कारक अभिग्राहिक मिथ्यात्व का नाश किया, फिर अन्य तीर्थियों के सहवास से आये हुए उन्माद जैसे अभिनिवेश मिथ्यात्व का क्षय किया। इसके पश्चात् जब प्राणी सम्यक् भाव में आता है तब गुरु महाराज इस मठ रूपी संसार के विस्तार को समझाते हैं और बताते हैं कि यह सारा संसार कैसा है। उस समय यह प्राणी देखता है कि जैसे मठ में विद्यार्थी रहते हैं, उसी प्रकार संसार में प्राणी रहते हैं और कर्म-भोजन के दोष से वे सन्निपात और उन्माद से पीड़ित होते हैं। उन्हें दुःख से पीड़ित रहते, चिल्लाते और नशे में चूर जैसे देखकर तथा बक-बक करते देखकर यह भयभीत हो जाता है। [२८९–२९४]

फिर इन मुनि ने अपने गुरु महाराज से कहा—हे पूज्यवर ! चारों गति में संसार-भ्रमण करने वाले सभी प्राणी मुझे दुःखी दिखाई देते हैं, इन्हें देखकर मुझे बहुत उद्वेग होता है।

इस पर मुनिराज बोले—भद्र ! जैसे ये सभी प्राणी तुझे दुःख-समुद्र में डूबे हुए और रक्षणरहित दिखाई देते हैं, तू भी पहले वैसा ही था। तेरे शरीर पर अभी भी कर्म का अजीर्ण दिखाई देता है, उसे जीर्ण करने के लिए मैं तुझे जो क्रिया/अनुष्ठान बताता हूँ उसे तू कर। यदि तू इस क्रिया को नहीं करेगा तो पुनः इस संसार में दुःखग्रस्त हो जायेगा। [२९५–२९८]

गुरु महाराज के उपर्युक्त वचन सुनकर इस मुनि ने जैनेन्द्र मत की दीक्षा ग्रहण की और गुरुदेव ने जिन सत्क्रियाओं/अनुष्ठानों * को करने के लिए कहा, उन सब को इन्होंने भलीभांति पूर्ण किया। अभी भी ये मुनि कर्म-भोजन से हुए अजीर्ण को प्रतिदिन क्षीण करते रहते हैं। इस प्रकार मुनि ने अपने वैराग्य का कारण हमारे समक्ष प्रस्तुत किया। [२९९–३००]

भाई धनवाहन ! ऐसा मत समझ कि इस संसार में कर्म-भोजन के अजीर्ण से पीड़ित मात्र ये साधु ही हैं। हम सभी ऐसी ही पीड़ा भोग रहे हैं। मनुष्य जन्म प्राप्त कर हमारे जैसे प्राणियों को भी इस कर्म-अजीर्ण का शोधन करना चाहिए और ऐसा करने के लिए हमें भी दीक्षा-ग्रहण करनी चाहिए। [३०१–३०२]

---

* पृष्ठ ६२९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे अगृहीतसंकेता ! उस समय भी मैं तो कर्मभार से अधिक आच्छादित और भारी हो रहा था, अतः अकलंक द्वारा प्रस्तुत विचार मुझे रुचिकर नहीं लगे। मैंने उसके विचारों की उपेक्षा ही की। [३०३]

६. चार व्यापारियों की कथा

हे अगृहीतसंकेता ! मैं उदार चरित्र अकलंक के साथ वहाँ बैठे हुए मुनियों में से पाँचवें मुनि के पास गया। वन्दन कर हम दोनों मुनि के समक्ष बैठे, तब मुनि ने सामान्य प्रकार से उपदेश दिया। इसके पश्चात् अकलंक ने मुनि से पूछा—भगवन् ! आप संसार से विरक्त क्यों हुए ? वैराग्य का क्या कारण है ? मैं जानना चाहता हूँ। [३०४-३०५]

मुनि—भाई ! सामने जो आचार्यप्रवर बैठे हैं उन्होंने मुझे एक कथा कही, जिसे सुनकर मुझे वैराग्य उत्पन्न हुआ और मैंने दीक्षा ग्रहण की। [३०६]

अकलंक—महाराज ! ऐसे अनुपम वैराग्य का कारण बनने वाली कथा अवश्य ही अनुग्रह करके मुझे सुनाइये। [३०६]

चार व्यापारियों की कथा

मुनि—अच्छा सुनो। वसन्तपुर नगर में सार्थवाहों के चार पुत्र रहते थे। ये चारों समवयस्क और समव्यसनी थे। इन चारों में प्रगाढ़ मैत्री थी। अन्यदा इन चारों को अनेक आवर्तों, जलचरों और अन्य अनेक सैकड़ों भयों से व्याप्त समुद्र पार कर व्यापार करने के लिये रत्नद्वीप जाने की इच्छा हुई। इन मित्रों के नाम क्रमशः चारु, योग्य, हितज्ञ और मूढ थे और जैसे इनके नाम थे वैसे ही उनमें गुण भी थे। चारों अपने-अपने जहाज लेकर रत्नद्वीप पहुँचे। रत्नद्वीप सब प्रकार के रत्नों की खान था। बिना पुण्य के इस द्वीप में पहुँचना ही कठिन था। भाग्यवान व्यक्ति ही इस सुन्दर द्वीप में पहुँच सकते हैं। इस द्वीप में पहुँच कर भी बिना परिश्रम के रत्न के ढेर प्राप्त नहीं होते। भोजन की सामग्री सामने परोसी हुई होने पर भी बिना हाथ हिलाये कौन भोजन कर पाता है ? [३०७-३१२]

रत्नद्वीप में पहुँच कर चारु ने अन्य सब काम छोड़कर, कुछ शुद्ध मानसपूर्वक केवल रत्न एकत्रित करने का कार्य किया। वह बहुत विचक्षण था अतः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिन्न-भिन्न उपायों से लोगों को आकर्षित कर प्रतिदिन नये-नये रत्न एकत्रित करता रहता था। इस दृढ़ निश्चयी नरोत्तम ने अल्प समय में ही अपना पूरा जहाज मूल्यवान रत्नों से भर लिया, क्योंकि वह स्वयं रत्नों के गुण-दोषों का परीक्षक था। उसे उद्यान आदि में इधर-उधर घूम-फिर कर व्यर्थ समय गंवाने में रुचि नहीं थी। हे भद्र! रत्न-परीक्षा (ज्ञान) और सदाचार पालन (चारित्र) द्वारा चारु ने रत्नद्वीप में रहकर अपने लक्ष्य को प्राप्त किया, अपना स्वार्थ सिद्ध किया।* [३१३–३१७]

चारु का दूसरा मित्र योग्य था। इसने भी रत्नद्वीप में रत्न एकत्रित करने की इच्छा से व्यापार प्रारम्भ किया, किन्तु वह उद्यान आदि में घूम-घूम कर अपना कुतूहल भी शान्त करता था। रत्नों के गुण-दोषों के परीक्षण का ज्ञाता तो था, किन्तु घूमने आदि में उसकी शक्ति का ह्रास अधिक होता था। वह प्रतिदिन वन, उद्यान, सरोवर आदि पर घूमने जाता था जिससे उसका बहुत सा समय व्यर्थ चला जाता था। चारु के उपालम्भ के भय से वह अन्तःकरण के आदर बिना बेगार की तरह से कभी-कभी थोड़े रत्न एकत्रित करता था। वहाँ बहुत समय तक रहने पर भी उसने थोड़े से अच्छे माणक ही खरीदे थे और अधिकांश समय घूमने-फिरने में ही बिता दिया था। वह रत्नद्वीप में गया तो व्यापार करने था और इतने दिनों में बहुत सा व्यापार कर सकता था किन्तु अपने मौज-शौक के कारण उसने अपना अधिकांश समय व्यर्थ गंवा दिया। थोड़े लाभ के लिये उसने अधिक समय व्यतीत किया। [३१८–३२३]

चारु का तीसरा मित्र हितज्ञ था। इसे रत्नों की परीक्षा का ज्ञान ही नहीं था। दूसरों के संकेत निर्देश पर ही वह रत्नों को पहचानता था। फिर इसे उद्यान आदि में घूमने का, चित्रादि देखने का अत्यधिक कुतूहल था जिससे रत्न-व्यापार में बाधा आती थी। आलस्य और शौक के कारण वह मन लगाकर रत्नों का व्यापार नहीं कर पाता था। जब उसका व्यापार करने का थोड़ा मन होता तो धूर्त लोग शंख, कांच के टुकड़े, कौड़ियें आदि ऊपर से चमकीली मामूली वस्तुएं उसे रत्न के स्थान पर बेच देते। उसे रत्नों की परीक्षा न होने से वह ठगा जाता और मामूली वस्तुओं को भी रत्न समझ कर खरीद लेता। इस प्रकार हितज्ञ रत्नद्वीप आकर भी प्रमाद और कुतूहल में पड़कर अपने स्वार्थ को सिद्ध करने में असमर्थ रहा। [३२४–३२८]

चारु का चौथा मूढ नामक मित्र तो रत्नों के परीक्षण ज्ञान से पूर्णतया अनभिज्ञ था। अन्य लोगों द्वारा रत्नों के गुण-दोष समझाने पर भी वह मोहग्रस्त मूर्ख उन्हें स्वीकार नहीं करता था। फिर उसे कमलों के उद्यानों में, वन-खण्डों में, बगीचों में घूमने, चित्र देखने और देवमन्दिरों की शोभा देखने में अधिक रस आता था; जिससे इन्हीं कामों में उसका अधिकांश समय व्यतीत हो जाता था और

* पृष्ठ ६३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यापार के लिये उसे समय ही नहीं मिलता था। रत्न-परीक्षा से अनभिज्ञ वह वास्तविक अमूल्य रत्नों से तो द्वेष करता था और धूर्तों द्वारा रत्न कहकर बेचे गये शंख, कांच के टुकड़े, कौड़ियां आदि खरीद लेता था। बाग-बगीचों में घूमने तथा कौतुक देखने में ही वह अपना समय नष्ट करता था। [३२९–३३१]

जब चारु का जहाज रत्नों से भर गया तब उसने वापस लौटने का सोचा और अपने अन्य मित्रों का हाल भी जानना चाहा। सब से पहले वह अपने मित्र योग्य के पास पहुँचा और उसे बताया कि उसका जहाज तो रत्नों से भर चुका है, अतः वह अपने देश लौटना चाहता है। उसके क्या हाल हैं? क्या वह भी उसके साथ देश में लौटने को तैयार है? [३३२–३३३]

योग्य ने बताया कि उसे तो अभी बहुत थोड़े ही रत्न प्राप्त हुए हैं, जहाज अभी तक भरा नहीं है। जब चारु ने इसका कारण पूछा तब उसने बताया कि उसका बहुत सा समय घूमने-फिरने में बीत गया था। चारु ने समझाया—मित्र! बाग-बगीचे देखने का शौक ठीक नहीं है।* यहाँ आकर भी यदि रत्न एकत्रित नहीं किये तो अपने आपको ठगना ही हुआ। तेरे जैसे के लिये यह बात योग्य नहीं है। मित्र! तू जानता है कि रत्न सुख के कारण हैं और उन्हें प्राप्त करने के लिये ही हम यहाँ आये हैं, तदपि उस लक्ष्य की उपेक्षा करना या उस तरफ पूरा ध्यान न देना तो आत्मशत्रुता ही है। यह तो अपने हाथों अपने पांव पर कुल्हाड़ी मारने जैसा हुआ। तू इतने दिनों बाग-बगीचों में घूमा उससे तेरा पेट तो नहीं भरा ना? तब बुद्धिमानी तो इसी में है कि जिससे अपना स्वार्थ सिद्ध हो वही कार्य पहले किया जाय, क्योंकि अपने स्वार्थ का नाश करना तो मूर्खता है। क्या तुझे लज्जा नहीं आती कि तू जिस काम के लिए यहाँ आया था उसे छोड़कर अन्य कामों में व्यर्थ ही अपना समय खो रहा है? भाई! अब मेरे कहने से इस मौज-शौक को छोड़कर सतत प्रयत्न पूर्वक रत्न एकत्रित करने में लग जा। यदि तू मेरा कहना नहीं मानेगा तो मैं तुझे यहीं छोड़कर देश लौट जाऊंगा, क्योंकि मेरा प्रयोजन तो सिद्ध हो चुका है। जैसा तूने अभी तक समय खोया वैसा ही भविष्य में भी खोता रहेगा तो अपने स्वार्थ से भ्रष्ट होगा और दुःखी होगा। [३३४–३४१]

चारु के उपर्युक्त वचनों से योग्य अपने मन में बहुत लज्जित हुआ और उसने अपने मित्र को विश्वास दिलाया कि अब वह उसके कहे अनुसार ही करेगा, अन्य कोई कार्य नहीं करेगा। वह थोड़े दिन और रुक जाय और उसे भी अपने साथ ही लेकर देश लौटे। चारु के स्वीकार करने पर योग्य ने मौज-शौक को छोड़कर अपना सारा समय रत्न एकत्रित करने में लगा दिया। [३४२–३४४]

अब चारु अपने दूसरे मित्र हितज्ञ के पास आया। उससे भी उसने वही बात कही कि उसका जहाज तो रत्नों से भर चुका है इसलिये वह देश लौटना

* पृष्ठ ६३१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहता है, उसके क्या हाल हैं ? चारु की बात सुनकर हितज्ञ ने घबराते हुए आज तक जो कुछ एकत्रित किया था उसे चारु को बतलाया। चारु ने देखा कि हितज्ञ ने मात्र शंख, कांच के टुकड़े और कौड़ियें इकट्ठी कर रखी हैं। जब चारु ने उससे पूछा कि इतने दिनों तक वह क्या कर रहा था ? तब हितज्ञ ने आज तक किस प्रकार वह घूमने-फिरने में अपना समय व्यतीत कर रहा था, वह सब कुछ बताया। सुनकर कृपालु चारु ने समझाया—मित्र हितज्ञ ! पापी धूर्तों ने तुझे ठग लिया है। तुझे रत्नों का परीक्षण ज्ञान न होने से, तुझे मूर्ख समझ कर उन पापियों ने उसका लाभ उठाया है। तू बहुत भोला है। तू यहाँ रत्नद्वीप में व्यापारी बनकर रत्नों का व्यापार करने आया है, मौज-शौक करने नहीं आया है। सच्चे व्यापारी को ऐसे खोटे शौक नहीं करने चाहिये। [३४५–३४९]

चारु के उपर्युक्त वचन सुनकर हितज्ञ ने विचार किया कि, अहो ! चारु की बात कितनी अच्छी है, इसका मेरे प्रति कितना स्नेह है। मेरा हित कहाँ है और अहित कहाँ है, वह सब कुछ भली प्रकार जानता है। अतः इसी से पूछ लूँ कि अब मुझे क्या करना चाहिये ? यह सोचकर उसने पूछा—मित्रवत्सल चारु ! अब मैं अपना समय बाग-बगीचे देखने, चित्र देखने और मौज-शौक में थोड़ा भी नहीं बिताऊंगा। अब मुझ पर कृपा कर रत्नों के गुण-दोष अच्छी तरह बतला दो ताकि मुझे भी रत्नपरीक्षा आ जाय। फिर मैं तुम्हारे निर्देशानुसार कांच, शंख आदि न खरीद कर सच्चे रत्न ही खरीदूंगा और अपने जहाज को रत्नों से भर कर तुम्हारे साथ ही देश चलूंगा, अतः हे नरोत्तम ! थोड़े दिन आप और ठहर जावें। [३५०–३५४]

चारु ने* सोचा कि योग्य की भांति हितज्ञ भी सच्चे उपदेश से अपने नाम को सार्थक करेगा। यह सोचकर चारु ने हितज्ञ को रत्न-परीक्षा सिखाई और केवल सच्चे रत्न ही खरीदने के बारे में उसे प्रयत्नपूर्वक समझाया। चारु के उपदेश से उसने मौज-शौक में व्यर्थ समय गंवाना बन्द कर दिया। अपने पास के पहले इकट्ठे किये काँच, शंख आदि का त्याग किया और एकाग्रता से मात्र अमूल्य रत्न एकत्रित करने में लग गया। अब हितज्ञ व्यापार-कुशल बन गया था और स्वयं रत्नों की परीक्षा कर खरीदने लग गया था। [३५५–३५८]

इसके पश्चात् चारु अपने तीसरे मित्र मूढ के पास गया और आदरपूर्वक उसे अपने स्वदेश लौटने के विचारों से अवगत किया। मूढ बोला – भाई चारु ! तू अभी देश लौटकर क्या करेगा ? इस द्वीप की रमणीयता को क्या तुम नहीं देख रहे हो ! इसे चारों तरफ घूम-फिर कर अच्छी तरह देखो। इसका तट कितना रमणीय है। चारों तरफ कमल वन हैं, ऊंचे-ऊंचे मकान हैं, सुन्दर उद्यान हैं, बड़े-बड़े सरोवर हैं। ये सब इस द्वीप की शोभा को द्विगुणित करते हैं। यहाँ कितने आराम और क्रीडा के स्थल हैं जो पुष्पों से भरे हुए वनखण्डों से आवेष्टित हैं। यहाँ

* पृष्ठ ६३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक समय तक सुखोपभोग कर फिर जब इच्छा होगी तब स्वदेश लौट जायेंगे। मैंने भी अपना जहाज माल से भर लिया है।

फिर मूढ ने अपने जहाज में भरा हुआ माल चारु को दिखाया। चारु ने देखा कि मूढ ने अपने जहाज में सिर्फ कौड़ियें, शंख और कांच के टुकड़े भर रखे हैं। यह देखकर प्रशस्त मन वाला चारु सोचने लगा कि यह बेचारा मूढ तो सचमुच मूर्ख ही है। यहाँ आकर यह मौज-शौक में मग्न हो गया है और इसके अज्ञान का लाभ उठाकर धूर्तों ने इसको अच्छी तरह ठग लिया है। यदि अब भी यह सावधान हो जाय तो अच्छा है, अतः व्यापार के सच्चे मार्ग की जानकारी हेतु इसको शिक्षा प्रदान करूं।

यह सोचकर श्रेष्ठ बुद्धि वाले चारु ने कहा—मित्र बाग-बगीचों में घूमना और चित्र देखना हमारे योग्य नहीं है। हम यहाँ रत्नों का व्यापार करने आये हैं, उसमें यह मौज-शौक तो विघ्नकारक है। यह तो अपने आप को ठगना है। मित्र! मुझे लगता है कि पापी धूर्तों ने तुझे अच्छी तरह ठगा है। जो चमकते काच के टुकड़े हैं, उन्हें रत्न कह कर तुझे बेच दिया है। भाई! ये सब कचरा तूने खरीद लिया है, व्यर्थ की वस्तुएं तूने खरीद ली हैं, इनसे तुझे कोई लाभ नहीं होगा। अतः अब तू इन्हें छोड़ और मूल्यवान सच्चे रत्न एकत्रित कर। रत्नों की पहचान मैं तुझे बताता हूँ। [३५९–३६९]

चारु मूढ को रत्नों की परीक्षा बताने को उद्यत हुआ तभी मूढ एकाएक आवेश में आ गया और बोला—जाओ! मुझे तुम्हारे साथ नहीं आना है। तुम जिस काम में लगे हो उसी को करते रहो। मित्र! तू तो वैसा का वैसा ही रहा। यहाँ आकर भी वैसी ही बातें करता है। मैं यहाँ छैल-छबीला बन कर घूम रहा हूँ तो तू मेरा तिरस्कार कर रहा है और चला है मुझे रत्न परीक्षा बताने। जैसे मुझे रत्नों की परीक्षा आती ही न हो। मेरे रत्न-संचय को कचरा बता रहा है। भले ही मेरे रत्नों में चमक कम हो, पर मुझे तेरे बताये रत्न नहीं चाहिये। [३७०–३७३]

चारु ने मूढ के उपर्युक्त कथन का उत्तर देने के लिए जैसे ही मुंह * खोला वैसे ही मूढ फिर बोलने लगा—मित्र! मुझे न तो तेरे रत्न चाहिए और न ही तेरे जैसे रत्न चाहिए। मेरा काम उनके बिना भी चल जायगा। मुझे तुम्हारी सलाह, शिक्षा या उपदेश की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है। चुपचाप अपना रास्ता नापो।

यह सुनकर चारु ने अपने मन में विचार किया कि इस मूढ को शिक्षा देने का कोई उपाय मुझे तो नहीं सूझता; क्योंकि यह मेरी तो बात ही नहीं सुनता और अपनी ही ढपली बजाये जा रहा है। [३७४–३७६]

इधर योग्य और हितज्ञ ने चारु के उपदेश के अनुसार कार्य किया और अल्प समय में उन दोनों ने भी अपने जहाज मूल्यवान् रत्नों से भर लिये। चारु

---

* पृष्ठ ६३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन दोनों के साथ स्वदेश लौटा। मूढ को इन्होंने वहीं छोड़ दिया। तीनों मित्रों ने स्वदेश में पहुँच कर अपने-अपने रत्न बेचे जिससे उनको अपार लक्ष्मी प्राप्त हुई और वे आनन्द से परिपूर्ण होकर सुख से रहने लगे। [३७७–३७९]

मूढ रत्नद्वीप में मौज-शौक ही करता रहा, उसने रत्न एकत्रित नहीं किये। परिणामस्वरूप वह निर्धन हो गया और अनेक प्रकार से दुःखी होने लगा। वहाँ के किसी क्रोधी राजा ने उसके दुर्व्यवहार से क्रोधित होकर उसे रत्नद्वीप से बाहर निकाल कर भयंकर जल-जन्तुओं से भरे हुए और भयानक लहरों से त्रास देने वाले आदि-अन्त-रहित अदृष्टतल वाले समुद्र में फैंक दिया। [३८०–३८१]

सौम्य अकलंक ! मेरे पूज्य आचार्यदेव ने मुझे उपर्युक्त कथा कही, जिसे सुनकर मुझे वैराग्य उत्पन्न हुआ। यही मेरे वैराग्य का कारण है। [३८२]

अकलंक कथा का भावार्थ/रहस्य भली प्रकार समझ गया था जिससे उसका मुख-कमल विकसित हो गया। इन मुनि को नमस्कार कर अकलंक अन्य मुनि के पास जाने लगा। [३८३]

मैंने कहा—मित्र अकलंक ! तुमने तो मुनिराज से वैराग्य का कारण पूछा जिसके उत्तर में मुनि ने उपर्युक्त कथा सुनाई। मुझे तो इस कथा से वैराग्य का कोई सम्बन्ध ही प्रतीत नहीं होता। यह कथा तो असम्बद्ध-सी लगती है। मुझे तो तो इस कथा का भावार्थ कुछ भी समझ में नहीं आया। [३८४]

कथा का उपनय

अकलंक बोला—भद्र धनवाहन ! मुनिराज ने कोई असंबद्ध बात नहीं की। इस कथा में बहुत गूढ रहस्य छिपा हुआ है, ध्यानपूर्वक सुन।

कथा के वसन्तपुर नगर को असंव्यवहार जीवराशि समझना चाहिये। सुन्दरतम, सुन्दरतर, सुन्दर और निकृष्ट चार प्रकार के विकास क्रम के अनुसार संसारी जीवों को यथार्थ नामधारक चार व्यापारी चारु, योग्य, हितज्ञ और मूढ समझना चाहिये। संसार के विस्तार को समुद्र समझ। समुद्र की भांति संसार में भी जन्म जरा, मरण रूपी पानी रहता है। जैसे अतिगम्भीर समुद्र को पार करना कठिन है वैसे ही अतिगहन मिथ्यादर्शन और अविरति के कारण संसार को पार करना कठिन है। जैसे समुद्र में चार बड़े पाताल कलश हैं, वैसे ही संसार विस्तार में भी चार महा भयंकर कषाय रूपी पाताल कलश हैं। जैसे समुद्र की ऊंची-ऊंची दुर्लंघ्य लहरें महा भयंकर लगती हैं वैसे ही संसार में महामोह की लहरें बहुत भयंकर होती हैं। समुद्र में बड़े-बड़े जलजन्तु रहते हैं वैसे ही यह संसार अनेक प्रकार के दुःख रूपी जन्तुओं से भरा है। समुद्र में जैसे तीव्र गति के पवन से समुद्र क्षुब्ध होता रहता है वैसे ही संसार में रागद्वेष रूपी तेज पवन से निरन्तर क्षोभ उत्पन्न होता रहता है। समुद्र उफनते हुए पानी से प्रत्येक क्षण चपल रहता है वैसे ही यह संसार भी संयोग-वियोग रूपी उफानों से सदा चंचल रहता है। समुद्र ज्वार से आकुल रहता है वैसे ही संसार अनेक प्रकार के मनोरथ रूपी ज्वार से निरन्तर व्याकुल रहता है। जैसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समुद्र का आदि-अन्त नहीं दिखाई देता वैसे ही संसार के विस्तार का भी कोई आदि-अन्त दिखाई नहीं देता।

इस संसार-समुद्र में मनुष्य जन्म की प्राप्ति रत्नद्वीप में पहुँचने के समान है। बाग-बगीचों में घूमने का कुतूहल पाँचों इन्द्रियों के विषयों को भोगने की अभिलाषा के समान है। सर्वज्ञ प्ररूपित विशुद्ध धर्म के विपरीत प्रवृत्ति करने वाले कुधर्मों को शंख, कोड़ियें और काँच के टुकड़ों के समान समझना चाहिये। रत्नद्वीप के धूर्तों के समान ही संसार में कुधर्म का प्रचार करने वाले कुतीर्थियों को समझना चाहिये। जीव के स्वरूप को जहाज और मोक्ष को स्वदेश आगमन/स्वस्थानगमन के समान समझना चाहिये; क्योंकि वही आत्मा का वास्तविक स्वस्थान है।* मूढ पर क्रोधित होने वाले राजा को स्वकर्मपरिणाम राजा समझ और उसे समुद्र में फेंकने को संसार का अनन्त भव-भ्रमण समझ।

भाई धनवाहन! यदि तू उपर्युक्त उपमाओं को ध्यान में रखकर पुनः इस कथा पर विचार करेगा तो तुझे इसका गूढार्थ समझ में आ जायेगा। फिर भी तुझे विशेष रूप से समझाने के लिये मैं विस्तार से इसका स्पष्टीकरण करता हूँ, सुन—[३८५]

जिस प्रकार चारु वसंतपुर नगर से निकल कर समुद्र को पार कर रत्नद्वीप पहुँचा। यहाँ आकर कृत्रिम और अकृत्रिम रत्नों की पहचान की। बाग-बगीचों में जाकर मौज-शौक में समय बर्बाद नहीं किया। धूर्त लोगों को पहचान गया। बनावटी रत्नों का क्रय नहीं किया। विशिष्ट और महर्घ्य रत्नों को क्रय करने का व्यापार किया। अल्प समय में ही अमूल्य रत्नों का संग्रह किया। रत्नद्वीप के विशिष्ट लोगों में अपना स्थान बनाया। अपने जहाज को रत्नों से भर लिया और अपने स्वार्थ/प्रयोजन को सिद्ध किया वैसे ही चारु की भांति इस संसार में जो सुंदरतम भव्य जीव हैं वे असंव्यवहार जीव राशि में से निकल कर इस विस्तृत अनन्त संसार-समुद्र को पार कर रत्नद्वीप जैसे मनुष्य भव को प्राप्त करते हैं। मनुष्य जन्म में लघुकर्मी होकर रत्न परीक्षक के समान वे त्याज्य और ग्रहणीय को जानते हैं। ऐसे प्राणी विचार करते हैं कि मनुष्य जन्म प्राप्त करना अति दुर्लभ है। यह मनुष्य जन्म सचमुच रत्नों की खान है। सत्य, अनन्त सुख और निर्वाण प्राप्ति का यह साधन है। मनुष्य जन्म जैसे उत्तम स्थान को प्राप्त कर विष से भी भयंकर फलों को प्रदान करने वाले इन्द्रिय-विषय रूपी मौज-शौक में उसे खोना अयोग्य है। ऐसे सुन्दरतम प्राणी सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म-मार्ग को बिना किसी के उपदेश के स्वयं प्राप्त कर लेते हैं। वे कुतीर्थिक रूपी ठगों से नहीं ठगे जाते। कुधर्म ग्रहण नहीं करते और स्वयं परीक्षा कर सच्चे रत्न रूपी साधु-धर्म रूपी अमूल्य रत्नों का ही व्यापार करते हैं। वे सर्वदा क्षमा, नम्रता, सरलता निर्लोभता, तप, संयम, सत्य, शौच, मूर्छात्याग/

* पृष्ठ ६३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिग्रह-त्याग, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, प्रशम आदि गुण-रत्नों को प्रतिपल एकत्रित करते रहते हैं। वे सद्गुरु, सुसाधु और स्वधर्मी भाइयों को अपनी तरफ आकर्षित करते हैं। वे सद्गुणों से अपनी आत्मा रूपी जहाज को परिपूर्ण करते हैं और वास्तव में आत्महित साधन का कार्य निष्पादन करते हैं।

जैसे योग्य ने रत्नद्वीप में जाकर रत्नों के गुण-दोषों का परीक्षण किया, रत्न खरीदने के लिए छोटा-सा व्यापार भी किया, किंतु उद्यानों में घूमने-फिरने के मौज-शौक के चक्कर में अपना अधिकांश समय नष्ट किया। फलस्वरूप रत्नद्वीप में अधिक समय तक रहने पर भी वह विशिष्ट रत्नों का सञ्चय नहीं कर सका। वैसे ही हे भद्र धनवाहन ! योग्य के समान सुन्दरतर (मध्यम) जीवों में भव्यता तो होती है, पर वे धीरे-धीरे मनुष्य भव प्राप्त करते हैं। वे लघुकर्मी होने से गुण-अवगुण की परीक्षा कर सकते हैं और सर्वज्ञ-दर्शन को प्राप्त कर श्रावक के योग्य कुछ-कुछ गुण-रत्नों (अणुव्रतों) को ग्रहण करने का व्यापार करते हैं। वे दुर्जेय लोभ को नहीं जीत सकते। उनकी इन्द्रियाँ अधिक चपल होती हैं, अतः वे धन और इन्द्रिय-विषयों में बार-बार आकर्षित होते रहते हैं। धन और विषयों पर ममत्व होने के कारण* उनका बहुत-सा समय व्यर्थ चला जाता है और बहुत थोड़े समय के लिए वे रत्न-व्यापार कर पाते हैं। जो रत्न एकत्रित करते हैं वे भी श्रावक के योग्य साधारण कीमत के अणुव्रत रूपी गुणव्रत इकट्ठे कर पाते हैं। वे साधुधर्म से प्राप्त होने वाले महामूल्यवान गुण-रत्नों (महाव्रतों) को एकत्रित नहीं कर पाते।

जैसे हितज्ञ रत्नद्वीप पहुँच कर भी स्वयं रत्न-परीक्षक न होने के कारण, दूसरों से शिक्षण/उपदेश प्राप्त करके भी रत्न ग्रहण करने की ओर ध्यान नहीं दे सका और मौज-शौक में ही समय नष्ट करता रहा। धूर्तों को पहचान नहीं सका। फलस्वरूप चमकते हुए काच के टुकड़ों को अमूल्य रत्न समझ कर संग्रह करता रहा और चारु के उपदेश से पूर्व स्वयं को छलता रहा। वैसे ही हे भद्र धनवाहन ! हितज्ञ के समान सुन्दर (सामान्य) जीवों में भी भव्यता तो होती है, पर उन्हें मनुष्य जन्म की प्राप्ति बहुत कठिनाई से होती है। किंचित् गुरुकर्मी होने से उन्हें धर्म के गुण-दोषों की परीक्षा नहीं होती। वे दूसरों के उपदेश की अपेक्षा रखते हैं। इन्द्रिय-विषयों और धन में अत्यन्त लुब्ध होने से वे सर्वज्ञ-प्ररूपित विशुद्ध धर्मरत्न को प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। कुतीर्थिकों द्वारा बिछाये जाल और उनकी ठग-विद्या को वे नहीं समझ पाते। शांति, दया, इन्द्रिय-निग्रह आदि अमूल्य रत्नों को वे मूल्यहीन मानते हैं। अपने दम्भ-प्रधान अज्ञान के कारण बाहर से चमकते हुए नकली रत्न जैसे कुधर्म के अनुष्ठानों को धर्म-बुद्धि से करते हैं और उन्हीं को सुन्दर तथा लाभ-दायक मानते हैं। चारु जैसे सद्गुरु के उपदेश के पहले वे सचमुच अपने आप को ठगते रहते हैं।

---

* पृष्ठ ६३५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे मूढ रत्नद्वीप तो पहुँचा किन्तु वह स्वयं रत्न-परीक्षा-ज्ञान से शून्य होने पर भी दूसरों की शिक्षा को भी अग्राह्य समझता था, मौज-मस्ती में ही सारा समय बर्बाद करता था, अमूल्य रत्नों का तिरस्कार करता था, कांच के टुकड़ों को महर्घ्य रत्न समझता था, धूर्तों ने उसे अच्छी तरह से छला था और वह स्वयं अपने को ठगता रहता था वैसे ही हे भद्र धनवाहन ! मूढ जैसे निकृष्ट जीव किसी प्रकार रत्नद्वीप रूपी मनुष्य भव को प्राप्त करके भी स्वयं अभव्य या दुर्भव्य होने से तथा गुरुतर/भारी कर्मी होने से न तो स्वयं धर्म के गुण-दोष की परीक्षा कर सकते हैं और न ही किसी चारु जैसे सद्गुरु के उपदेश को सुनने का ही उन्हें अवकाश होता है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों में तथा धन के संचय और रक्षण में वे अत्यन्त लुब्धता से प्रवृत्ति करते हैं। शांति, दया आदि शुद्ध अनुष्ठान रूपी गुणरत्नों के प्रति वे द्वेष करते हैं और स्नान, होम, यज्ञ आदि जीवघातक तथा जीवसंतापक पापकारी अनुष्ठानों के प्रति धर्म-बुद्धि रखते हैं। ऐसे कुअनुष्ठानों का वे स्वयं तत्त्वबुद्धि से आचरण करते हैं। इस प्रकार कुतीर्थिकों द्वारा ऐसे निकृष्ट प्राणियों का धर्मधन चुराया जाता है और वे स्वयं को अनेक प्रकार से ठगते रहते हैं।

७. रत्नद्वीप कथा का गूढार्थ

अकलंक ने रत्नद्वीप कथा का विस्तृत विवेचन करते हुए कहा—जैसे चारु ने अपना जहाज मूल्यवान रत्नों से भर कर स्वदेश जाने की इच्छा से अपने मित्र योग्य के पास जाकर कहा कि, मित्र ! अब मैं स्वदेश जाना चाहता हूँ, क्या तुम भी साथ ही चल रहे हो ? इस पर योग्य ने कहा था कि, मेरा जहाज अभी तक भरा नहीं है। मैं थोड़े से ही रत्नों का संग्रह कर पाया हूँ। यह सुनकर जब चारु ने इसका कारण पूछा तो * उत्तर देते हुए योग्य ने कहा कि, इस व्यवसाय में मेरी मौज-मस्ती ही बाधक बनी है। इसी प्रकार हे भद्र धनवाहन ! चारु जैसे महात्मा मुनिराज अपनी आत्मा को तप, संयम, शांति, संतोष, ज्ञान-दर्शन आदि मूल्यवान् भाव-रत्नों से भरकर जब मोक्ष रूपी स्वस्थान में जाने की इच्छा प्रकट करते हैं, उस

* पृष्ठ ६३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय योग्य जैसे देशविरतिधारक श्रावकों को मोक्ष का निमन्त्रण देते हुए उन्हें उपदेश देते हैं। उत्तर में श्रावक कहते हैं कि अभी उनमें इतने गुण-रत्न एकत्रित नहीं हुए हैं कि वे स्वस्थान जा सकें। योग्य जैसे गुणों के प्रति रुचि रखने वाले प्राणियों को चारु जैसे साधु पुरुष कहते हैं कि यद्यपि यह मनुष्य जन्म ऐसा है कि इसमें सद्गुण एकत्रित करने का कार्य सरलता से हो सकता है और ऐसा करना प्राणी के स्वाधीन है, तथापि आपने हमारी भांति सम्पूर्ण गुण रत्नों को एकत्रित नहीं किया, इसका क्या कारण है ?

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में श्रावक बताते हैं कि इन्द्रिय-विषयों का व्यसन और धन के प्रति ममत्व ही सम्पूर्ण गुण-रत्नों को एकत्रित करने में विघ्नभूत बने हैं।

जैसे चारु ने योग्य को कहा था—भद्र ! रत्नद्वीप में आकर भी काननादि कुतूहलों में समय गंवाना उचित नहीं है। यह कुतूहल विशिष्ट रत्नों को ग्रहण करने में न केवल महाविघ्नकारी बना है अपितु आत्मवंचना का कारण भी बना है। तुम जानते हो कि यहाँ के अमूल्य रत्न सुख के कारण हैं तदपि उनका अनादर करके तुम आत्म-शत्रु क्यों बनते हो ? तुम यह भी जानते हो कि लम्बे समय तक मौज-मस्ती मारने पर इसकी पूर्ति/तृप्ति कभी नहीं हुई, अतः तुम्हें स्व-अर्थ की साधना में ही प्रवृत्त होना चाहिये। अन्यथा तुम्हारा रत्नद्वीप आगमन निरर्थक ही सिद्ध होगा। अतएव हे मित्र ! कौतुकों का त्याग कर मेरे सान्निध्य में महर्ध्य रत्नों का उपार्जन कर, अन्यथा तू स्वार्थ/लक्ष्य भ्रष्ट हो जायेगा।

चारु की हितशिक्षा सुनकर योग्य अत्यन्त लज्जित हुआ। उसने अपनी भूल स्वीकार की और भविष्य में मौज-शौक में समय न खोकर, रत्नद्वीप में रहते हुए मात्र रत्न एकत्रित करने का ही कार्य करने का आश्वासन दिया और शीघ्र ही अपना जहाज सच्चे रत्नों से भर लिया। वैसे ही भद्र घनवाहन ! मुनिपुंगव भी देशविरति श्रावकों को हित-शिक्षा देते हैं :—

सज्जनों ! तुम्हें मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है तुमने जिन-वचनामृत रस का आस्वादन किया है। संसार की असारता और निरर्थकता तुम्हें ज्ञात है। शरीर मल-कीचड़ से भरा हुआ है, तारुण्य संध्याकालीन बादलों की भांति क्षण-क्षण में नष्ट होने वाला है, जीवन ग्रीष्म-तप्त पक्षी के गले जैसा चञ्चल है और स्वजनवर्ग का स्नेह-विलास थोड़े समय में स्वतः ही नष्ट होता अपनी आँखों से देख रहे हो। ऐसी अवस्था में धन और इन्द्रिय-विषयों पर ममत्व कैसे उचित कहा जा सकता है ? यह तो स्पष्टतः अपने आप को ठगना हुआ। ज्ञान आदि विशिष्ट रत्नों की प्राप्ति में तो इस ममत्व से विघ्न ही होता है। भद्रों ! तुम लोग जानते हो कि इन्द्रिय विषयों के फल बहुत भयंकर और मन को उद्वेलित करने वाले हैं। स्त्रियां चञ्चल-हृदया होती हैं। स्त्रियाँ चिर सुख का स्थान भी नहीं है और वे आर्त्त-रौद्र ध्यान का कारण भी हैं। तुम्हें यह भी ज्ञात है कि ज्ञान सुगति मार्ग का प्रदीप है, अत्यन्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानसिक आह्लाद का कारण है और बुरी योनियों में गिरते हुए प्राणियों का हस्तावलम्ब है। दर्शन मन को अतिशय प्रमुदित करने वाला, महा क्षेमकारी और मोक्ष में निक्षेप/स्थापन कराने वाला है। चारित्र हृदय को प्रफुल्लित करने वाला, निरन्तर आनन्दोत्सव कराने वाला है और * जीव-वस्त्र पर अनादि-काल से लगे मैल को स्वच्छ करने वाले शुद्ध जल के समान है। तप सर्व संगरहित बनाता है और असंयुक्त (अनागत) कर्म-मैल को रोकने वाला है। संयम भवभ्रमण के भय को दूर करने वाला और भविष्य के हर्ष का कारण है। हे भव्यजनों! यह सब जानते हुए भी यह तुम्हारी कैसी अविद्या, कैसा मोह, कैसा आत्मवंचन और कैसी आत्म-शत्रुता है कि विषयों में अत्यन्त मुग्ध बनते हो, स्त्रियों पर मोहित हो, धन पर लुब्ध होते हो, सम्बन्धियों के प्रति प्रगाढ स्नेह रखते हो, तरुणाई पर फूले नहीं समाते हो और अपना रूप देख-देख कर हर्षित होते हो। तुम्हें अनुकूल प्रसंग प्राप्त होने पर प्रसन्न होते हो, हितकारी उपदेश देने वाले पर क्रोधित होते हो, गुणों से द्वेष करते हो और हमारे जैसे सहायक के साथ होने पर भी सन्मार्ग से भागते हो। सांसारिक सुखों से हृष्ट होते हो, ज्ञान का अभ्यास नहीं करते हो, दर्शन का आदर नहीं करते हो, चारित्र का पालन नहीं करते हो, संयमित नहीं होते हो और तप आदि के द्वारा आत्मा को गुण-पुञ्जों का पात्र नहीं बनाते हो।

हे भविकजनों! यह तुम्हारी कितनी बड़ी भूल है! कैसा प्रमाद और कैसी आत्म-वंचना है! तुम्हारी यह प्रवृत्ति कितनी अधिक हानिप्रद है! जब तक तुम्हारी ऐसी प्रवृत्ति रहेगी तब तक हे भद्रों! तुम्हारा मनुष्य-जन्म निरर्थक है। हमारे जैसों का सान्निध्य भी निष्फल है। तुम्हें यह अभिमान है कि तुम उपर्युक्त सभी बातों के जानकार हो, यह भी निष्प्रयोजन है। तुम्हें भगवान् के दर्शन की प्राप्ति हुई है, पर उससे भी तुम्हें कोई लाभ नहीं है। तुम्हारी प्रवृत्तियों से तुम्हारे अपने ही हाथों अपने स्वार्थ का नाश हो रहा है, इसका कारण तुम्हारा अज्ञान ही है। तुमने इन विषयों का लम्बे समय तक सेवन किया है, फिर भी तुम्हें न तो सन्तुष्टि/तृप्ति हुई है, न होने की है, फलतः तुम्हारे जैसों का इनमें आसक्त होकर बैठे रहना उचित नहीं है। अतः अब भी विषयासक्ति का त्याग करो, स्वजनों के प्रति ममता को छोड़ो, धन-संग्रह और घर-गृहस्थी की झूठी ममता/व्यसन का परिहार करो, सब संसारी कचरे को फेंक दो, भागवती दीक्षा ग्रहण करो और सत्य, ज्ञान आदि गुणों का संचय करो। हम जब तक तुम्हारे पास हैं तब तक अपनी आत्मा को गुणों से भर दो और अपने पारमार्थिक स्वार्थ को सिद्ध कर लो। यदि तुम ऐसा नहीं करोगे तो हमारी हितशिक्षाओं के अभाव में सद्बुद्धि-रहित होकर तुम अपने स्वार्थ से भ्रष्ट हो जाओगे।

[चारु ने योग्य को जो उपदेश दिया उसे सुसाधु के वचनामृत तुल्य समझना चाहिये।]

---

* पृष्ठ ६३७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्मुनियों के उपालम्भ पूर्ण उपदेश रूपी वचनामृत सुनकर योग्य की ही भांति देशविरतिधर श्रावक भी अपनी प्रवृत्ति के लिए लज्जित होते हैं, सच्चे-झूठे उत्तर नहीं देते और मन में झूठा अभिनिवेश नहीं रखते। परन्तु साधु के वचनों को अपने हित के लिये स्वीकार करते हैं, उनका आदर करते हैं और यथोक्त विधान के अनुसार भगवत्प्ररूपित महाव्रतों को स्वीकार कर अपने आत्मा रूपी जहाज को गुण-रत्नों से भर लेते हैं।

जैसे चारु ने हितज्ञ के पास जाकर स्वयं के साथ स्वदेश लौटने को आमंत्रित किया, उस पर हितज्ञ ने स्वोपार्जित धन-राशि चारु को दिखाई। चारु ने जब उसके जहाज में भरे हुए रत्नों के स्थान पर शंख, कौड़े और काच के टुकड़े देखे तब उसका कारण पूछा। हितज्ञ ने मौज-शौक को इसका कारण बताया। वैसे ही हे भद्र धन-वाहन! मिथ्यादृष्टि भव्य प्राणियों की भद्रता को देखकर सम्पूर्ण गुणोपेत सुसाधु उन्हें सद्धर्म-उपदेश * देने को तत्पर होते हैं। इस कथन को चारु हितज्ञ के पास गया—के तुल्य समझें।

तदनन्तर ये साधु उन भद्रक भव्य मिथ्यादृष्टि प्राणियों को अपने धर्मोपदेश द्वारा मोक्ष का आमन्त्रण देते हैं। उत्तर में वे भव्य मिथ्यादृष्टि कहते हैं—हम भी तो धर्मानुष्ठान करते हैं, नित्य स्नान करते हैं, अग्निहोत्र प्रज्वलित रखते हैं, तिल और समिधा द्वारा होम करते हैं, गाय, भूमि और सोने का दान देते हैं, कुंए, तालाब और बावड़ी खुदवाते हैं, कन्यादान करते हैं। ऐसा कहने वाले प्राणियों ने शंख, कौड़े और काच के टुकड़े इकट्ठे कर रखे हैं, ऐसा समझना चाहिये।

ऐसे मिथ्यादृष्टि प्राणी सुसाधुओं से निवेदन करते हैं - भो—भट्टारक! हम सुख से रहते हैं क्योंकि माँस खाते हैं, मद्य पीते हैं, सरस स्वादिष्ट बत्तीस प्रकार का भोजन करते हैं, तैंतीस प्रकार की सब्जी खाते हैं, सुन्दर स्त्रियों के साथ विलास करते हैं, सुकोमल निर्मल मूल्यवान वस्त्र पहनते हैं, पांच सुगन्धित युक्त पान खाते हैं, विविध पुष्पमालायें धारण करते हैं, विलेपन करते हैं, धन का ढेर इकट्ठा करते हैं और हमारी इच्छानुसार क्रीड़ा करते हुए विचरण करते हैं। शत्रु की गन्ध भी सहन नहीं करते, स्वकीय कीर्ति को चारों दिशाओं में फैलाते हैं, अपनी कांति और व्यवहार को मनुष्यभूमि के देवता के सदृश बनाते हैं और मनुष्य जन्म में जो कुछ सार रूप है, उन सब का स्वयं अनुभव करते हैं। इस सब को हितज्ञ के बाग-बगीचों में घूमने के समान समझना चाहिये।

हितज्ञ के मुख से स्वचेष्टित कथन सुनकर जैसे कृपापूरित हृदय से चारु ने हितज्ञ को कहा—'मित्र! तू पापी धूर्त लोगों से ठगा गया है। तू स्वयं अनभिज्ञ होने से रत्नों के गुण-दोषों का परीक्षण करने में असमर्थ है। तू रत्नद्वीप रत्नों का व्यापार करने के लिये आया है अतः काननादि घूमने और मौज-मस्ती का व्यसन

* पृष्ठ ६३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो तुझे रखना ही नहीं चाहिये। इस व्यसन से परमार्थतः तू ठगा जाकर मुख्य लक्ष्य से भ्रष्ट ही होगा।'

चारु का मैत्री और सौजन्य पूर्ण हितकारी कथन सुनकर और चारु को विज्ञ रत्नपरीक्षक मानकर हितज्ञ ने उसकी शिक्षा को सहर्ष स्वीकार किया। मौज-शौक का त्याग कर व्यापार करने का दृढ़ निश्चय किया और रत्न परीक्षा सीखने-की कामना से चारु का शिष्यत्व भाव स्वीकार करने की मनोवांछा प्रकट की। चारु भी हितज्ञ के व्यवहार से प्रसन्न हुआ और उसने हितज्ञ को रत्न-लक्षण का सम्यक् प्रकार से शिक्षण प्रदान किया। शिक्षण प्राप्त कर हितज्ञ रत्नों के गुण-दोषों का विचक्षण परीक्षक बन गया। तत्पश्चात् हितज्ञ संगृहीत कृत्रिम रत्नों का परिहार कर, विशिष्ट रत्नों का संग्रह करने में दत्तचित्त हो गया।

हे भद्र धनवाहन! इसी प्रकार मुनिसत्तम भी करुणापूरित मानस से भद्रक भव्य मिथ्यादृष्टि प्राणियों को इस प्रकार हितशिक्षा पूर्ण धर्मदेशना देते हैं—

हे भद्रों! यह सत्य है कि तुम धार्मिक हो, अपनी बुद्धि से सच्चा समझ कर ही धर्म करते हो, पर सच्चा धर्म किसमें है, उसकी विशेषता अभी तुम्हें ज्ञात नहीं है क्योंकि तुम बहुत भोले हो। तुम्हें कुधर्मशास्त्रकारों ने ठगा है। हिंसा के कार्यों से कभी धर्म-साधना नहीं होती। सब प्राणियों पर दया करने को ही भगवान् ने विशुद्ध धर्म कहा है। होम यज्ञ आदि तो इसके विरुद्ध हैं। इस प्रकार धर्मबुद्धि से अधर्म-सेवन उचित नहीं है, फिर तुम्हारा यह कहना कि तुम * मांस-मदिरा का सेवन कर सुखी हो, यह भी तुम्हारे अज्ञान को ही प्रकट करता है। विवेकशील पुरुष तो तुम्हारी बात सुनकर हँसे बिना नहीं रह सकते। शरीर विविध पीड़ाओं से व्याप्त है, विभिन्न रोगों से भरा है, वृद्धावस्था शीघ्रता से आने वाली है, राज्य-दण्ड का भय है जिससे शरीर और मन संतप्त रहता है। तरुणाई टेढ़ी-मेढ़ी चाल से बीत जाने वाली है। सम्पत्तियां सभी प्रकार के दुःख उत्पन्न करने वाली है। स्नेहियों का वियोग मन को दग्ध कर देता है। अप्रिय संयोगों से मन व्याकुल होता है। मृत्यु-भय प्रतिदिन निकट आ रहा है, शरीर अपवित्र पदार्थों का भण्डार है। निःसार विषय वासनाएं पुद्गलों के परिणाम को प्रकट करती हैं। सारा संसार असंख्य दुःखों से भरा हुआ है, इसमें प्राणी को सुख कहाँ? सुख का प्रश्न ही नहीं उठता। परमार्थ से यह सब एकान्त दुःख है, पर तुम्हें उसमें सुख का झूठा भ्रम होता है। यह भ्रम तुम्हारे कर्मों के फलस्वरूप होता है और यही संसार-भ्रमण का कारण है। अतः हे भद्रों! अति कठिनाई से प्राप्त ऐसा सुन्दर मनुष्य जन्म तुम्हें मिला है। धर्म करने योग्य सामग्री और अनुकूलता भी तुम्हें प्राप्त हुई है। हमारा उपदेश भी तुम्हें मिलता रहता है। गुण प्राप्त करना तुम्हारे हाथ में है। ज्ञानादि मोक्ष का मार्ग स्पष्ट है। जीव का वस्तु स्वभाव अनन्त आनन्द है। जीव को अपने

---

* पृष्ठ ६३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति ही मोक्ष है और उसकी प्राप्ति बोध, श्रद्धा और अनुष्ठान (ज्ञान, दर्शन, चारित्र) से होती है। यह सब कुछ जानते हुए भी तुम अपने आपको ठगते हो और महर्ध्य रत्नों की परीक्षा कर उन्हें एकत्रित नहीं करते हो तो फिर तुम्हारा इस मनुष्य जन्म रूपी रत्नद्वीप में आना व्यर्थ नहीं तो और क्या है?

मुनिश्रेष्ठ के उपर्युक्त वचन सुनकर हितज्ञ जैसे भद्र भव्य मिथ्यादृष्टि जीव सोचते हैं कि भगवत्स्वरूप मुनिराजों का मेरे प्रति प्रेम है, वात्सल्य है। इनका ज्ञान अतिशय अगाध है और इनका कथन हृदयवेधी/असर कारक है। उपदेश के परिणामस्वरूप उनके मन में उच्च शुभ भावना उत्पन्न होती है और अभी तक धन-प्राप्ति और विषय भोग के प्रति जो आसक्ति थी वह कम होने लगती है। फिर वे मुनियों से सच्चा धर्म-मार्ग पूछते हैं, शिष्यभाव धारण कर विनयादि से गुरु का मन प्रसन्न करते हैं। तब गुरु महाराज उन्हें गृहस्थोचित एवं साधुओं के योग्य देशविरति और पूर्ण निवृत्ति का धर्म-मार्ग बताते हैं तथा उसे विशिष्ट यत्न पूर्वक प्राप्त करने का उपाय बताते हुए कहते हैं :—

भद्रों ! यदि तुम्हारी इच्छा है कि तुम्हें विशुद्ध सद्धर्म/आत्म-धर्म की प्राप्ति हो तो सब से पहले तुम्हें इन कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिये—तुम्हें दयालुता का सेवन/व्यवहार करना चाहिये, किसी का भी तिरस्कार नहीं करना चाहिये, क्रोध का त्याग कर दुर्जनों की संगति छोड़ देनी चाहिये और झूठ बोलने का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। दूसरों के गुणों का गुणानुरागी बनना, चोरी न करना, मिथ्याभिमान का त्याग करना, परस्त्री-सेवन का त्याग करना, धन, ऋद्धि अथवा ज्ञान प्राप्ति से फूलना नहीं चाहिये और दुःखी प्राणियों को दुःख से मुक्त करने की इच्छा रखनी चाहिये। पूजनीय गुरुओं की पूजन-भक्ति, देवों का वन्दन, सम्बन्धियों का सम्मान और स्नेहियों की आशा-पूर्ति का प्रयत्न करना चाहिये। मित्रों का अनुसरण करना, अन्य का दोष-दर्शन और निन्दा न करना, दूसरों के गुणों को ग्रहण करना, और अपने गुणों की प्रशंसा में लज्जा का अनुभव करना चाहिये।* अपने छोटे से सुकृत्य का भी पुनः-पुनः अनुमोदन करना और परोपकार के लिये यथाशक्य प्रयत्न करना चाहिये। महापुरुषों से आगे होकर बातचीत करना, दूसरों के मर्म को प्रकट नहीं करना, धर्म-युक्त व्यक्तियों का अनुमोदन/समर्थन करना, सुवेष/सादी वेशभूषा धारण करना और शुद्ध आचरण का पालन करना चाहिये। इस प्रकार की प्रवृत्ति से तुम्हें सर्वज्ञ प्ररूपित शुद्ध धर्म के अनुष्ठान की योग्यता प्राप्त होगी।

गृहस्थ-धर्म/श्रावकाचार धारक जनों को अकल्याणकारी मित्रों (मोहादि अन्तरंग शत्रुओं) का सम्बन्ध छोड़ देना चाहिये। कल्याणकारी मित्रों (चारित्र धर्मराजा आदि आन्तरिक मित्रों) से मित्रता बढ़ानी चाहिये। अपनी उचित स्थिति

---

* पृष्ठ ६४०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। लोक व्यवहार की अपेक्षा रखनी चाहिये। गुरु और बड़े लोगों को मान देना और उनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करना चाहिये। दानादि सद्गुणों में विशेष प्रवृत्ति, भगवान् और देव की उदार पूजा, साधु महात्माओं की निरन्तर शोध और उनका संयोग मिलने पर विधिपूर्वक धर्मशास्त्र का श्रवण करना चाहिये। यत्नपूर्वक शास्त्रों की पर्यालोचना करते हुए उनके अर्थ/रहस्य को समझ कर उसे जीवन में उतारना, धैर्य धारण करना, भविष्य का विचार करना और मृत्यु को सदा अपने सम्मुख समझना चाहिये। परलोक-साधन में तत्परता, गुरुजनों की सेवा, योगपट्ट का दर्शन, योग के रूप को अपने मन में स्थापित करना, धारणा को स्थिर करना, किसी भी प्रकार के आन्तरिक विक्षेप का त्याग करना, और मन वचन काया के योगों की शुद्धि का प्रयत्न करना चाहिये, भगवान् के मन्दिर-मूर्तियों को तैयार करवाना चाहिये। तीर्थंकरों के वचनों/शास्त्रों को लिखवाना, मंगल जप/नमस्कार मंत्र का जाप करना, चार शरण को स्वीकार करना और अपने दुष्कृत्यों की निन्दा करनी चाहिये। अपने सत्कृत्यों की बार-बार अनुमोदना करना, मंत्र-देवों की पूजा करना, पूर्व पुरुषों के प्रशस्त चरित्रों को पुनः-पुनः श्रवण करना, उदारता रखना और उत्तम ज्ञान में प्रतिपल रमण करना चाहिये। इस प्रकार की प्रवृत्ति से तुम में साधुधर्म के अनुष्ठानों को करने की योग्यता प्राप्त होगी।

इसके पश्चात् बाह्य और अन्तरंग संग का त्याग करने से और दूसरों द्वारा प्राप्त आहार पर तुम्हारा जीवन आधारित होने से तुम भाव-मुनि बनोगे। फिर तुम्हें प्रतिदिन सूत्र और उसके अर्थ को ग्रहण करने की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये। मन में वस्तु तत्त्व को समझने की जिज्ञासा उत्पन्न होनी चाहिये। अपने और दूसरों के शास्त्रों का अध्ययन करना, परोपकार के कार्यों में सदा तत्पर रहना, पर-पक्ष के आशय को भली प्रकार समझना, अपने नाम को सार्थक करने वाले गुरु के साथ सच्चा सम्बन्ध कैसे स्थापित हो इसकी शोध करना, गुरु का भली-भांति विनय करना और सभी अनुष्ठानों की विधियों को करने के लिये तत्पर रहना चाहिये। सात मण्डलि (सूत्र, अर्थ, भोजन, कालग्रहण, आवश्यक, स्वाध्याय और संथारा) में पूर्ण प्रयत्न करना, आसन-स्थापनाचार्य और छोटे-बड़े साधुओं का जो क्रम शास्त्रों में बताया गया है उसका बराबर पालन करना चाहिये। साधु के योग्य उचित अशन (भोजन) क्रिया का पालन करना, विकथा आदि विक्षेपों का सर्वथा त्याग करना, सभी क्रियाओं में भावपूर्वक उपयोग/विवेक रखना और सूत्रार्थ श्रवण की विधि को सीखना चाहिये। बोध-परिणति का आचरण करना सम्यक् ज्ञान में स्थिरता का प्रयत्न करना और मन को स्थिर करना चाहिये। ज्ञान-प्राप्ति का अभिमान नहीं करना चाहिये। ज्ञानहीनों का मजाक नहीं उड़ाना, विवाद का त्याग करना, समझ रहित व्यक्ति की बुद्धि का पृथक्करण करने के प्रयास का त्याग करना अथवा अनपढ़ और पढ़े हुओं के प्रति व्यवहार में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं करना चाहिये। कुपात्र मनुष्य को शास्त्र का अभ्यास नहीं कराना चाहिये। इस प्रकार की प्रवृत्ति से तुम्हें ऐसी योग्यता प्राप्त होगी कि गुणानुरागी लोग तुम्हारा बहुमान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करेंगे, शांति रूपी लक्ष्मी स्वतः ही प्राप्त होगी और तुम भाव-सम्पत्तियों के आश्रय-स्थान बन जाओगे ।

जब तुम्हारी आन्तरिक वास्तविक योग्यता उपर्युक्त प्रकार की हो जायेगी तब गुरु महाराज की तुम पर कृपा होगी और वे प्रसन्न होकर तुम्हें * सिद्धान्त का सार बतायेंगे । फिर तुम में श्रवणेच्छा, श्रवण, ग्रहण, धारणा, ऊहा (सामान्य ज्ञान), अपोह (अर्थ-विज्ञान), विचारणा और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति, ये आठ प्रज्ञा गुण प्रस्फुटित होंगे । तत्पश्चात् तुम्हें आसेवना, प्रत्युपेक्षणा, प्रमार्जन, भिक्षाचर्या आदि की विधि भी अपनी आत्मा के साथ एकमेक करनी होगी । इर्यापथिकी दोषों का प्रतिक्रमण करना, आलोचना लेना, निर्दोष भोजन-विधि सीखना, विधिपूर्वक पात्र स्वच्छ करना, आगमानुसार मल-विसर्जन विधि तथा स्थंडिल भूमि का बराबर निरीक्षण करना होगा । तदनन्तर तुम्हें समस्त उपाधि-रहित होकर षड् आवश्यक (प्रतिक्रमण) करना, आगमानुसार काल-ग्रहण, पांच प्रकार का स्वाध्याय, प्रतिदिन की क्रिया में सावधानी, पांच प्रकार के आचार का पालन, चरण-करण की सेवना और अंगांगीभाव से आत्मा को अप्रमादी बनाते हुए अति उग्र विहार करना चाहिये । ऐसी प्रवृत्ति से अस्खलित मोक्ष में पहुँच जाने वाले गुण-समूहों की तुम्हें प्राप्ति होगी ।

इस प्रकार भगवत्स्वरूप सन्मुनि उन्हें सद्गुणों के उपार्जन का मार्ग बताते हैं । मुनि के उपर्युक्त उपदेश से जो अभी तक मिथ्यादृष्टि किन्तु स्वयं भद्र एवं भविष्य में हितसाधन की योग्यता वाले भव्य प्राणी हैं वे सावधान हो जाते हैं, भावरत्न (सच्चे धर्म) के परीक्षक बनते हैं, कुधर्मों का त्याग करते हैं और सद्गुणों के उपार्जन में लग जाते हैं । फिर स्वयं ही गुरु से कहते हैं :—

भट्टारक ! हम तो अभी तक महान विपत्तियों के हेतु विषयभोगों से बहुत ही अधिक ठगे गये हैं । धूर्त स्वरूप कुतीर्थिकों ने हमें बहुत भ्रमित किया है, पर अब हमें ज्ञात हो गया है कि इन सबका कारण हमारा मोह दोष ही था । अब आपने वात्सल्य भाव से कृपा कर हमें विशुद्ध मार्ग बताया है, अतः हे स्वामिन् ! अब हम आपके पूर्वोक्त कथनानुसार ही सब कुछ करेंगे । इस प्रकार के भव्य प्राणियों पर साधुओं की मधुर वाणी का अच्छा प्रभाव होता है और वे उसके अनुसार चलने का निर्णय लेते हैं, जिससे अन्त में वे अपने सच्चे स्व-अर्थ को सिद्ध करने में समर्थ होते हैं । [३८६–३८८]

तत्पश्चात् जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि चारु अपने तीसरे मित्र मूढ के पास गया और प्रेमपूर्वक स्वदेश लौटने को कहा । इस पर मूढ ने उसे कहा—'मित्र ! स्वदेश जाकर क्या करेंगे ? अभी तो यहाँ दर्शनीय कई स्थान हैं जिन्हें अभी देखना है । यह रत्नद्वीप रमणीयतम स्थान है । देख, देख ! यह द्वीप चारों ओर से

* पृष्ठ ६४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पद्म-खण्डों/ कमल वनों से सुशोभित है, आकर्षक उद्यान है, सरोवरों से मंडित है, कमनीय विहार स्थल है, सुगन्धित पुष्पों और वनराजियों से स्पृहणीय हो रहा है और श्रेष्ठ लोगों का अभिलषणीय स्थान है। अतः यहाँ अधिक समय तक सुख का उपभोग करने के पश्चात् स्वस्थान की ओर चलेंगे। मुझे तो यहाँ से जाना ही अच्छा नहीं लगता। वैसे मैंने भी तेरे समान माल से जहाज भर लिया है।

यह कह कर मूढ ने काच के टुकड़ों से भरा हुआ जहाज चारु को दिखाया। काच के टुकड़ों को देखकर चारु को मूढ पर दया आती है और वह उसे हित शिक्षा देते हुए कहता है—मित्र! काननादि कौतुकों में और मौजमस्ती में समय नष्ट कर तूने अच्छा नहीं किया। रत्न के भ्रम से कुरत्नों/काच के टुकड़ों का तूने संग्रह किया है, अतः तू इन कुरत्नों का त्याग कर और इन सुरत्नों को ग्रहण करने का प्रयत्न कर। मित्र! * सुरत्नों के लक्षण ये हैं। इस प्रकार चारु ज्यों ही रत्नों के लक्षण बताने लगा त्यों ही मूढ क्रोधावेश में आकर बोला—

मैं नहीं जाऊंगा। तुम्हें जाना हो तो तुम जाओ। तुम्हें जो कार्य करना हो, करो। तुम जैसा चाहते हो वैसा नहीं होगा। तुम मेरे देदीप्यमान रत्नों को काच के टुकड़े बताते हो। मुझे तुम्हारे सुरत्नों से कोई लेना देना नहीं। इस प्रकार मूढ ने कृपापूर्वक हितशिक्षा-दान देने को उद्यत चारु का मुंह-तोड़ जवाब देकर उसको तिरस्कृत किया।

मूढ के इस व्यवहार से चारु ने विचारपूर्वक निश्चय किया कि यह मूढ हितशिक्षा देने योग्य नहीं है।

इसी प्रकार भद्र घनवाहन! चारु के तुल्य भगवत्स्वरूप मुनिगण जब मूढ जैसे दुर्भव्य या अभव्य प्राणियों को धर्मोपदेश देने के लिये तत्पर होते हैं, उनके समीप जाते हैं और उन्हें विशुद्ध धर्म का उपदेश देकर मोक्षगमन के लिये आमन्त्रित करते हैं तब ऐसे मूढ-सदृश प्राणी गुरु महाराज से कहते हैं :—

अरे साधुओं! हमें तुम्हारा मोक्ष नहीं चाहिये। तुम भी उस मोक्ष में जाकर क्या करोगे? देखो, तुम्हारे मोक्ष में न खाना है, न पीना है। न कोई भोग विलास है और न कोई ऐश्वर्य। वहाँ न तो दिव्य देवांगनाओं का संयोग है और न ही कमनीय कमलाक्षियों के कटाक्ष। वहाँ किसी प्रकार का प्रेम-संभाषण, नाच, गाना, हँसना, खेलना कुछ भी तो नहीं है। हन्त! इसे मोक्ष कहते हैं? यह तो बन्धन हुआ। [३८९–३९०]

देखिये, हमारा यह संसार का विस्तार तो हमारे चित्त को अत्यन्त आनन्दित करने वाला है, हमें तो अत्यन्त रमणीय लगता है। संसार में हमें खूब खाना-पीना, धन, सम्पत्ति, विलास, आभूषण मिलते हैं और कमलाक्षी स्त्रियों के साथ इच्छित आनन्द भोगने को मिलते हैं। हम स्वेच्छानुसार आचरण करते हैं, नाचते

* पृष्ठ ६४२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, गाते हैं, विलोपन करते हैं और सब प्रकार के सुख साधन हमें यहाँ प्राप्त हैं। हे श्रमणों ! ऐसे सुख सामग्री से परिपूर्ण संसार को छोड़कर मोक्ष में जाने का तुम्हारा विचार हमें तो ठीक नहीं लगता। छोड़ो मोक्ष की बात को। हमें तो ससार की तुलना में मोक्ष में अधिक सुख नहीं लगता। पहले यहाँ के प्राप्त सुख को भोग लें, फिर मोक्ष जाने की सोचेंगे। [३९१–३९५]

साधुओं ! जो सद्धर्म तुम्हारे मन में स्थित है वह तो हमें भी ज्ञात है। तुम धर्म का गर्व क्यों करते हो ? देखो, हम भी अनेक पाडे, बकरे और सूअरों को मारकर उनके खून से चंडिका का तर्पण करते हैं। गोमेध, अश्वमेघ और नरमेघ यज्ञ करते हैं। अनेक बकरों की यज्ञ में आहुति देते हैं। अनेक प्राणियों का मर्दन कर चारों प्रकार के यज्ञ करते हैं। बेचारे अनेक पशुओं को उस बुरी योनि से निकाल कर उन्हें समस्त दुःखों से मुक्त करते हैं। हमारी पापऋद्धि से हम दिन-प्रतिदिन जीवों को मार-मार कर यज्ञ स्थान को मांस से भर देते हैं, * फिर अपनी इच्छानुसार उसका दान कर देते हैं। इस प्रकार हम नित्य ही अपने धर्मकृत्य द्वारा अपने कर्त्तव्य का पालन कर स्वयं को कृतकृत्य समझते हैं, अतएव तुम्हारे द्वारा बताये गये धर्म की हम बात भी नहीं करते। [३९६–४०१]

मूढ जैसे अभव्य प्राणियों द्वारा आचार्य महाराज को ऐसा उत्तर देने पर भी उन शान्त-मूर्ति धैर्यशाली मुनियों को इन पर अधिक दया आती है और उन्हें प्रतिबोध देकर मार्ग पर लाने के विचार से वे पुनः कहते हैं :—

भद्रों ! संसार को बढ़ाने वाले ऐसे झूठे भ्रम में फँसे रहना उचित नहीं है। तुम विपरीत मार्ग पर जा रहे हो। तुमने जिन इन्द्रिय-भोगों की बात कही इनका परिणाम तो सर्प-दंश की भांति भयंकर है। इनका अन्त बहुत कटु है। वे पाप से आच्छन्न और महा भयंकर क्लेश-वर्धक हैं। तुम स्त्रियों में आसक्त रहते हो, पर वास्तव में तो वे प्रायः अकार्यकर्त्री होती हैं और स्वभाव से माया की छाब ही हैं। उनके विलास, नाच, गायन और चाल सभी विडम्बना मात्र ही है। भाइयों ! मोक्ष तो अनन्त आनन्द से परिपूर्ण है और वह आनन्द सर्वदा बना रहता है। जीवों की आत्म-व्यवस्था/आत्म-स्वरूप सभी प्रकार के क्लेशों से रहित है। अतः मनुष्य जन्म को प्राप्त कर खाने-पीने और विलास में डूबे रहकर आत्म-प्रवञ्चना करना तुम्हारे जैसे व्यक्तियों के योग्य नहीं है। थोड़े दिनों तक टिकने वाले इन्द्रिय-भोगों में आसक्त रहकर, मोक्ष के राजमार्ग को छोड़कर तुम अनन्त संसार के फन्दे में मत फंसो। धर्म के अनुष्ठान करने की बुद्धि से अन्य जीवों को मारने का पाप कर रहे हो, यह तो संसार को बढ़ाने वाला है। अतः ऐसे कुशास्त्रों के दुराग्रह में फंसकर ऐसा पाप का काम मत करो। पाप-दोषों का नाश करने वाले अहिंसा धर्म में प्रवृत्ति करो। [४०२–४१०]

---

* पृष्ठ ६४३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनिराज द्वारा शान्ति से कहे गये उपर्युक्त उपदेशामृत को सुनकर मूढ जैसे पापी प्राणी क्रोधित हो जाते हैं और क्रोध के आवेश में ही मुनि से कहते हैं—अरे साधुओं ! हमें शिक्षा देने की और अपनी चतुराई बताने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैसे आये हो वैसे ही उलटे पैरों वापस लौट जाओ। अरे पापिष्ठों ! तुम भोगों की इतनी निन्दा करते हो और हमारे माने हुए धर्म की बुराई करते हो, अतः सचमुच तुम हमारे शत्रु हो। तुम्हें तो सीधे यम के द्वार पहुँचाना चाहिये। हमारा ऐसा सुन्दर विशुद्ध धर्म तुम्हें प्रिय नहीं है तो हे अधमपुरुषों ! हमें भी तुम्हारे धर्म की कोई आवश्यकता नहीं है। हे श्रमणाधमों ! तुम अपने लोगों को तुम्हारा सद्-धर्म बतलाओ, हमें तुम्हारे धर्म से कोई प्रयोजन नहीं है। [४११–४१५]

मूढ प्राणियों के क्रोधित होकर उपर्युक्त उत्तर देने पर साधुओं को उन पर और अधिक दया आती है। वे एक बार और उन्हें सद्धर्म के लक्षण बताने का प्रयत्न करते हैं। मुनिराज द्वारा पुनः धर्म के लक्षण बताने को उद्यत होने पर मूढ प्राणी आँखें लाल कर, क्रोध से होठ दबाकर लात मारने और धक्का-मुक्की करने को तैयार हो जाते हैं और एक दो लात तो मार ही देते हैं। मूढ की ऐसी चेष्टाओं को देखकर शान्त मुनि अपने मन में निश्चय करते हैं कि, यह प्राणी किसी भी प्रकार सन्मार्ग पर नहीं आ सकता, अतः वे ऐसे प्राणी के प्रति उपेक्षा धारण करते हैं। * यह निश्चय हो जाने पर कि अमुक गाय वन्ध्या है तब फिर उससे दूध प्राप्ति का प्रयत्न व्यर्थ ही है। [४१६–४१९]

अन्तिम निष्कर्ष

जैसे पूर्व-कथित चारु के उपदेश को योग्य और हितज्ञ ने अंगीकार कर तदनुसार आचरण/व्यापार किया, विशिष्ट अमूल्य रत्नों का क्रय कर संग्रह किया, रत्नों से अपने-अपने जहाजों को भरा और चारु के साथ स्वदेश/स्वस्थान को गये। स्वस्थान में पहुँच कर ये तीनों रत्नों का व्यापार कर सततानन्द के भाजन बने। मूढ के दुर्व्यवहार से कुपित होकर रत्नद्वीप के भूपति ने उसे रत्नद्वीप से निष्कासित कर समुद्र में फिकवा दिया जिससे वह मूढ अनन्त दुःख-पीड़ाओं का भाजन बना। वैसे ही भाई धनवाहन ! देशविरतिधारक श्रावक (योग्य) और भद्र प्रकृति वाले भव्य मिथ्यादृष्टि (हितज्ञ) जैसे प्राणी जब मुनिराज (चारु) का उपदेश सुनते हैं तब उसके अनुसार आचरण करने लगते हैं और अन्त में सर्वज्ञ प्ररूपित पाँच महाव्रतों को स्वीकार करते हैं, जिससे उनमें ज्ञानादि गुणों की वृद्धि होती है। धीरे-धीरे उनकी आत्मा ऐसे गुणरत्नों से परिपूर्ण हो जाती है और अन्त में परमपद (मोक्ष) को प्राप्त कर निरन्तर सतत अनन्त आनन्द-समूह के पात्र बनते हैं। क्योंकि, वहाँ उन्हें आत्मा में एकत्रित ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूपी रत्नों का ही व्यापार करना होता है। मूढ जैसे प्राणी जब पाप से पूरे भर जाते हैं तब

* पृष्ठ ६४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मपरिणाम राजा अत्यन्त कुपित होता है और उसे मनुष्य जन्म रूपी रत्नद्वीप से निकाल कर संसारसागर में निरन्तर दुःख सहने के लिये फेंक देता है।

हे घनवाहन ! उपर्युक्त चार व्यापारियों की कथा के गूढार्थ को समझ कर ही पांचवें मुनि ने संसार का त्याग कर दीक्षा ग्रहण की। कथा में सच्ची घटना और रूपक को बहुत ही सुन्दरता से प्रतिपादित किया है। इसके रहस्य का चिन्तन कर्म को काटने वाला है। कौन सा बुद्धिमान भव्य पुरुष ऐसा होगा जो इस कथा के गूढार्थ को समझ कर मुनित्व को स्वीकार नहीं करेगा ? रत्नद्वीप जैसे मनुष्य भव को प्राप्त कर अपने आत्मा रूपी जहाज को गुणरत्नों से नहीं भरेगा और अन्त में मोक्ष को प्राप्त करना नहीं चाहेगा ? [४२०–४२२]

[इस कथा के विचार मात्र से प्राणी संसार से भयभीत हो जाता है और धर्म में अनुरक्त हो जाता है। अब तो तुझे मुनि द्वारा कही गई कथा का भावार्थ समझ में आ गया होगा।]

हे अगृहीतसंकेता ! उस समय मेरी कर्म-स्थिति भी कुछ जीर्ण हुई थी, जिससे मेरे मन में भी कुछ भद्र भाव जागृत हुए और अकलंक की बात मुझे किंचित् सुखकारी और मधुर लगी। फिर भी मैं चुप ही रहा, कुछ भी उत्तर नहीं दिया।

८. संसार-बाजार (प्रथम चक्र)

मेरे मित्र अकलंक के साथ मैं (घनवाहन के भव में संसारी जीव) छठे मुनिराज के पास गया। हमने मुनिराज का वन्दन किया और उन्होंने हमें धर्मलाभ कहा। अकलंक ने मुनिराज से वैराग्य का कारण पूछा, इस पर मुनिराज ने कहा—भाई अकलंक ! आदि-अन्त रहित संसृति नामक एक नगरी है। उस नगरी में स्थित बाजार ही मेरे वैराग्य का कारण बना है। [४२३]

अकलंक ने विचार किया कि जैसा तीसरे मुनि ने अपने वैराग्य का कारण अरहट चक्र को बतलाया वैसा ही यह बाजार भी होगा। फिर भी उसने मुनि से पूछ ही लिया—भगवन् ! इस बाजार से आपको कैसे वैराग्य हुआ ? स्पष्ट करने की कृपा करें। [४२४–४२५]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर में मुनि बोले—भाग्यवान ! सामने जो ध्यानमग्न मुनि महाराज बैठे हैं, उन्होंने अनेक जन्मों को उत्पन्न करने वाले इस बाजार को मुझे बतलाया।* इस बाजार में बहुत लम्बी-लम्बी भव रूपी श्रेणियां हैं। दुकानें सुख-दुःख नामक किराणों से भरी हुई हैं। इसमें खरीद-बिक्री में व्यस्त अनेक जीव रूपी व्यापारी किराणा एकत्रित करने और अपने स्वार्थ में तत्पर आकुल-व्याकुल दिखाई दे रहे हैं। वहाँ निम्न, मध्यम और उत्कृष्ट पुण्य-पाप रूपी मूल्य देकर स्वानुरूप वस्तुएं खरीदी जा सकती हैं। अनेक पुण्यहीन गरीब जीवों से यह बाजार भरा हुआ है, सर्वदा खुला रहता है और व्यापार चलता रहता है। इस संसृति नगरी का बलाधिकृत/सेनापति महामोह है, जिसके अधीन काम क्रोध आदि अधिकारी हैं। वहाँ कर्म नामक रौद्र ऋण दाता और जीव कर्ज लेने वाले हैं। इस कर्जदाता से कोई नहीं बचा सकता। ये लेनदारों को ऐसी अति दारुण जेल में डाल देते हैं जहाँ से छुटकारा ही न हो सके। वहाँ कषाय नामक दुर्दान्त मदोन्मत्त बच्चे लोगों को उद्वेलित करते हुए कलकल करते रहते हैं। यह बाजार अनेक आश्चर्यजनक नवीनताओं से युक्त है। निरन्तर आकुल-व्याकुल और जागृत रहने वाला इसके समान दूसरा कोई बाजार संसार में नहीं है। [४२६-४३४]

सूक्ष्म निरीक्षण करने पर मुझे ज्ञात हुआ कि इस बाजार में रहने वाले सभी प्राणी अन्दर से अत्यन्त दुःखी हैं। हे भाग्यशाली ! सन्मुख ध्यानस्थ बैठे मेरे गुरु महाराज ने कृपापूर्वक उस समय मेरी आँखों में ज्ञानांजन लगाया, जिससे मेरी दृष्टि अत्यन्त निर्मल हो गई और दुकानों के अन्त में एक मठ जैसा शिवालय दूर से मुझे दिखाई दिया। सद्बुद्धि-दृष्टि से इस शिवालय में मुक्त नामक अनन्त पुरुष मुझे दृष्टिगोचर हुए। वे निरन्तर आनन्द से युक्त और समस्त प्रकार की बाधा-पीड़ा से रहित थे। मुझे लगा कि मैं भी इन दुकानों में से किसी एक में व्यापार कर रहा हूँ, पर शिवालय को देखने के पश्चात् मुझे उसी में जाने की तीव्र इच्छा वाला निर्वेद जाग्रत हुआ। मैंने गुरु महाराज से कहा - नाथ ! चलिये हम इस बाजार को छोड़कर इसके अन्त में स्थित शिवालय में चलकर रहें। इस कोलाहल पूर्ण बाजार में तो मुझे क्षण भर भी शान्ति नहीं मिलती। मेरी इच्छा आपके साथ उस मठ में जाने की ही है।

मेरी इच्छा सुनकर गुरु महाराज बोले—'हे नरश्रेष्ठ ! यदि तुझे मठ में जाने की ऐसी तीव्र इच्छा है तो तू मेरी दीक्षा ग्रहण कर, क्योंकि यह दीक्षा ही शीघ्रता से मठ में पहुँचाती है।' उत्तर में मैंने कहा—'भगवन् ! यदि ऐसी बात है तो मुझे शीघ्र ही दीक्षा दीजिये, इसमें थोड़ा भी विलम्ब मत करिए।' मेरा उत्तर सुनकर उन्होंने मुझे सर्वज्ञ मत की पारमेश्वरी दीक्षा प्रदान की और उस मठ में पहुँचने के कारण रूप कर्त्तव्य/अनुष्ठान समझाये। इन कर्त्तव्यों का पालन करते हुए ही अभी मैं यहाँ रह रहा हूँ। [४३५-४४४]

---

* पृष्ठ ६४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाजार और मठ का वर्णन सुनने के पश्चात् अकलंक ने पूछा—महाराज ! आपके गुरु महाराज ने आपको किस प्रकार के कर्त्तव्य बतलाये ?* जिनके बल पर आप मठ में पहुँचना चाहते हैं ? कृपा कर मुझे विस्तार से समझाइये। [४४५]

मुनिराज बोले—सौम्य अकलंक ! सुनो। मेरे गुरु महाराज ने उस समय मुझे कहा था :—

भद्र ! तेरी सम्पत्ति/अधिकार में रहने के लिये एक सुन्दर कमरा है, जिसका नाम काया है। इसके पंचाक्ष नामक झरोखे हैं और क्षयोपशम नामक गर्भगृह है। इसके पास ही कार्मण शरीर नामक भीतरी चौक या कमरा है। इस भीतरी कमरे/चौक में एक चित्त नामक अति चपल बन्दर का बच्चा रहता है।

यह सुनकर मैंने कहा—यह सब ठीक है।

पुनः गुरु ने कहा—इन सब को साथ में रखकर ही तुझे दीक्षा लेनी है, क्योंकि योग्य अवसर की प्राप्ति के पहले इनका त्याग नहीं हो सकता।

मैंने कहा—जैसी आपकी आज्ञा।

तत्पश्चात् गुरु महाराज ने मुझे दीक्षा दी और समझाया—भद्र ! इस बन्दर के बच्चे का तुझे भली प्रकार रक्षण करना चाहिये।

मैंने कहा—जैसी आपकी आज्ञा ! आप कृपा कर मुझे यह तो बतायें कि इस बन्दर के बच्चे को किससे भय है ? जिससे मैं उन भयों से उसकी रक्षा कर सकूं।

उत्तर में गुरु महाराज ने बताया—सौम्य ! यह बन्दर का बच्चा जिस चौक में रहता है, वहाँ अनेक प्रकार के उपद्रवकारी तत्त्व हैं। वहाँ कषाय नामक चपल चूहे उस बेचारे को काटते रहते हैं, नोकषाय नामक डंक मारने में पटु भयंकर बिच्छु डंक मारते रहते हैं, संज्ञा नामक क्रूर बिल्लियां खा जाती हैं, राग-द्वेष नामक भयंकर मोटे चूहे इसे हड़प कर जाते हैं और महामोह नामक अतिरौद्र बड़ा बिल्ला इसे पूरा ही निगल जाता है। परिषह उपसर्ग नामक डांस-मच्छर इसे बार-बार काट कर सन्तप्त करते रहते हैं, दुष्टाभिसन्धि और वितर्क नामक वज्र जैसी सूण्डों वाले खटमल इसका खून चूस लेते हैं, झूठी चिन्ता नामक गिलहरियाँ बार-बार पीड़ित करती हैं और रौद्राकार प्रमाद नामक तिलचट्टे बारंबार तिरस्कृत/पराजित करते हैं। अविरति कीचड़ नामक जूंए बार-बार डंक मारती हैं और मिथ्यादर्शन नामक अति घोर अन्धेरा उसे अन्धा बना देता है। हे भद्र। इस बन्दर के बच्चे को गर्भगृह/चौक में रहते हुए ही स्थायी रूप से निरन्तर ऐसे अनेक उपद्रव होते रहते हैं, जिसको तीव्र वेदना को बेचारा चित्त/बन्दर-बालक सहन नहीं कर सकता और रौद्रध्यान रूपी खैर के अंगारों से धधकते कुण्ड में कूद पड़ता है। किसी

* पृष्ठ ६४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय यह अनेक प्रकार के कुविकल्प रूपी मकड़ियों के जालों से जिसका मुंह छिप गया है ऐसी अति भीषण आर्तध्यान रूपी गहन गुफा में छिप जाता है। तुझे अप्रमत्त भाव से सर्वदा इस बन्दर के बच्चे को अग्निकुण्ड में या गहन गुफा में जाने से रक्षण करना चाहिये।

मैंने पूछा—भगवन्! इसको अग्नि-कुण्ड या गुफा में जाने से रोकने का उपाय क्या है?

तब गुरु महाराज ने कहा—भाई! काया नामक कमरे के पांच गवाक्ष (द्वार) हैं, उनके बाहर ही पांच विषय नामक विषवृक्ष हैं जो अति भयंकर हैं। इनकी गंध मात्र से * बन्दर के बच्चे को मूर्छा आने लगती है। इनको देखने से वह चपल बन जाता है और श्रवण मात्र से वह मरने लगता है। फिर स्पर्श करने और खाने से तो उसका विनाश हो इसमें आश्चर्य ही क्या? पहले कहे गये चूहे आदि के उपद्रव बन्दर के बच्चे को इतना अधिक त्रस्त कर देते हैं कि वह व्याकुल होकर इन विषवृक्षों को आम्रवृक्ष मानने लगता है और प्रसन्नता पूर्वक इन विषवृक्षों पर आसक्त हो जाता है। पहले बताये गये पांच द्वारों से बाहर निकल कर वह अत्यन्त अभिलाषापूर्वक इन वृक्षों की तरफ दौड़ता है। वह इनके कुछ फलों को अच्छा समझ कर उन पर लुब्ध हो जाता है और कुछ फलों को खराब मानकर उनसे द्वेष करता है। इन वृक्षों पर अत्यन्त आसक्ति पूर्वक डाल-डाल पर घूमता है। वृक्षों के नीचे अर्थनिचय/विषयरज नामक सूखे पत्ते फल-फूल आदि कचरा जमा हुआ होता है, उस पर वह बार-बार लोटता है और भोग-स्नेह रूपी बरसाती जल-बिन्दुओं से गीला होकर कर्म-परमाणु-निचय अर्थात् वृक्ष के फल-फूल परागरूपी इस कर्मपरमाणु रज/धूल को अपने शरीर पर चिपका लेता है।

भावार्थ

गुरु महाराज द्वारा कही गयी उपरोक्त वार्ता का भावार्थ मेरी समझ में आ गया था, अतः मैंने विचार किया कि सामान्यतः शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पांच विष वृक्ष प्रतीत होते हैं। अस्पष्ट दिखाई देने वाले इनके फूल और अधिक स्पष्ट दिखाई देने वाले विशेष 'आविर्भाव' इसके फल प्रतीत होते हैं। विषयों की आधारभूत वस्तुएं इसकी शाखायें प्रतीत होती हैं। चित्तरूपी बन्दर के बच्चे का इन डालियों पर घूमना उपचार से ही समझना चाहिये, क्योंकि लोग प्रायः ऐसा कहते हैं कि 'अभी मेरा मन अमुक स्थान पर गया।' गुरुजी की बात भली-भांति मेरी समझ में आ रही थी, अतः आगे भी समझ में आयेगी ही, ऐसा सोचकर मैंने वार्ता को आगे चलाने का अनुरोध किया।

गुरु महाराज ने आगे कहा—भद्र! भोग-स्नेह-जल से जब इस बन्दर के बच्चे का शरीर गीला होता है और वह कर्मपरमाणुनिचय नामक रज में लोटता है,

* पृष्ठ ६४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तब यह धूल उसके शरीर पर अधिक चिपक जाती है और उसका सारा शरीर धूलि-धूसरित हो जाता है। एक तो बन्दर वैसे ही चञ्चल होता है, फिर यह जहरीली धूल शरीरवेधक होने से उसके शरीर में घाव कर देती है, शरीर क्षीण होकर शिथिल हो जाता है, उसका मध्य भाग चारों तरफ से फट जाता है। जहरीली धूल सारे शरीर में और विशेष रूप से मध्यभाग में असर करती है जिससे सारा शरीर जलने लगता है। फलस्वरूप उसका पूरा शरीर काला हो जाता है और कहीं कहीं से लाल भी दिखाई देने लगता है। जब वह वापस अपने गर्भगृह/चौक में जाता है तब पहले बताये गये चूहे मच्छर आदि के उपद्रव फिर होने लगते हैं। इन उपद्रवों का आक्रमण उस पर प्रति क्षण अधिकाधिक उग्र होते रहते हैं।

रक्षण के उपाय

भद्र ! इस चित्त रूपी बन्दर के बच्चे को इन उपद्रवों से बचाने का सीधा उपाय यह है कि स्ववीर्य/आत्मशक्ति नामक अपने हाथ में अप्रमाद नामक वज्रदण्ड लेकर पांचों द्वारों के पास खड़े रहना और जब-जब वह बन्दर का बच्चा इन्द्रिय रूपी झरोखों से विषय रूपी विषवृक्ष के फलों को खाने की इच्छा से बाहर आवे तब-तब उसे वज्र दण्ड दिखा कर, फटकार कर बाहर आने से रोकना। फिर भी यह चित्त बन्दर अधिक चञ्चल होने से यदि बाहर आ जाय तो उसे जोर से डरा धमकाकर वापस लौटा देना। बाहर आने पर रोक लगी होने से उसकी विषवृक्ष रूपी आम्र फल खाने की इच्छा निवृत्त हो जायगी और भोग-स्नेह-जल से भीगकर जो सर्दी हो गई थी वह दूर हो जायगी। * शरीर सूखेगा और उसमें गर्मी आयेगी। शरीर के सूखने से उस पर लगी हुई धूल प्रति क्षण नीचे गिरने लगेगी, उसके घाव भरने लगेंगे, शरीर की क्षीणता दूर होगी, शरीर काला पड़ने से रुकेगा और झूठी लाली नष्ट होगी। फिर से उसके शरीर पर धवलता (सफेदी) आयेगी, शारीरिक स्थिरता बढ़ेगी और दर्शनीय सुन्दर रूप बनेगा। इसके बाद गर्भगृह में भी उसे उपर्युक्त उपद्रव अधिक तंग नहीं करेंगे। फिर कमरे में रहे हुए चूहे, बिल्ली, करोलिया, मच्छर आदि का भी तुझे इसी अप्रमाद वज्रदण्ड से चूरा-चूरा कर देना चाहिये। तदनन्तर चौक के रास्ते से यदि बन्दर का बच्चा बाहर निकलेगा तब भी उसको किसी प्रकार का भय नहीं रहेगा। हे भद्र ! यही उसकी रक्षा का उपाय है।

मैंने गुरुजी से पूछा—भदन्त ! इस बन्दर के बच्चे की रक्षा करने से मुझे क्या लाभ होगा ?

गुरुजी ने कहा—भद्र ! तुम्हें शिवालय मठ बहुत पसन्द आया था और वहाँ जाने की तुम्हारी इच्छा हुई थी। इस मठ में पहुँचने का मुख्य उपाय चित्तरूपी इस बन्दर के बच्चे की सुरक्षा है। इसकी भली प्रकार सुरक्षा करने से यह बिना

* पृष्ठ ६४८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी विघ्न के शिवालय में पहुँचने का प्रबल कारण बनता है। अतएव हे भद्र ! यदि इस मठ में जाने की तुम्हें बुद्धि हुई है, अभिलाषा है तो तुझे इस चित्त रूपी बन्दर के बच्चे की सुरक्षा करने का सुदृढ़ प्रयत्न करना चाहिये। यह बन्दर का बच्चा लम्बे समय से चक्र (भ्रमावर्त) में पड़ा है, इसमें से इसका बाहर निकलना अत्यन्त कठिन है।

यह कैसे चक्र के चक्कर में पड़ा, यह भी बताता हूँ :—ऊपर बताये गये चूहे, बिल्ली आदि के अत्यधिक उपद्रवों से पीड़ित होकर, मोह के वश में यह बच्चा आम्रफल की भ्रांति से विषवृक्ष के फल खाने दौड़ता है, जिससे धूल की मोटी परत इसके शरीर पर जम जाती है। फिर भोग-स्नेह-जल से भीगने पर शरीर क्षत-विक्षत हो जाता है। फिर चूहे आदि उसको खाने की इच्छा से उस पर अधिक संख्या में अधिक तीव्रता से आक्रमण करते हैं। जैसे-जैसे यह अधिक पीड़ित होता है वैसे-वैसे शान्ति प्राप्त करने के लिये वह आम्र वृक्ष की तरफ दौड़ता है। फलस्वरूप और अधिक धूल चिपकती है, अधिक भीगता है, शरीर अधिकाधिक क्षत-विक्षत और जर्जरित होता है। हे भद्र ! यों इस चक्र (आवर्त) में पड़ने के बाद बार-बार उपद्रव बढ़ते जाते हैं। ऐसे दूषित चक्र (आवर्त) में पड़ने के बाद जब तक तू स्वयं इसकी रक्षा नहीं करेगा, तब तक यह विघ्न रहित नहीं हो सकता। अतः हे नरश्रेष्ठ ! जैसा मैंने ऊपर बताया है, तदनुसार निरन्तर इसकी सुरक्षा करनी चाहिये, तभी यह चित्त रूपी बन्दर का बच्चा विघ्नरहित हो सकेगा। [४४६–४५४]

मैं गुरुजी की वार्ता का भावार्थ समझ गया। अतः उस पर चिन्तन करते हुए मेरे मन में निम्न सत्य प्रस्फुटित हुआ—

रागादि से उपद्रव प्राप्त चित्त इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति करता है, जिससे इसका कर्मसंचय बढ़ता जाता है। * भोग-स्नेह की वासना उसके साथ एकीभूत होती रहती है, जिससे संसार सम्बन्धी संस्कार उत्पन्न होते हैं। ये संस्कार ही वह क्षत-विक्षत अवस्था है। इन संस्कारों से ही चूहे बिल्ली आदि के समान ये रागादि उपद्रव तीव्र होते हैं। ये उपद्रव प्रतिक्षण बढ़ते रहते हैं जिससे प्रेरित यह चित्त बार-बार विषयों की तरफ दौड़ता है तथा बार-बार कर्म बांधता है जो अधिक चिकने होते जाते हैं। चिकनाहट के कारण उपद्रव अधिक बढ़ते हैं। इस प्रकार यह चित्त ऐसे चक्र (आवर्त) में पड़ जाता है जिसका तल कहीं दिखाई नहीं देता। इस चक्र में इसको करोड़ों प्रकार के दुःख होते हैं जिससे यह छूट नहीं सकता। इसकी रक्षा का उपाय स्ववीर्य रूपी हाथ द्वारा अप्रमाद दण्ड का उपयोग बताया है। अतः मुझे अब गुरुजी के उपदेशानुसार अप्रमादी बनकर उसका पूर्णतया अनुशीलन करना चाहिये। [४५५–४६२]

कारण यह है कि यह शरीर, सम्पत्ति, भोग, सगे-सम्बन्धी आदि सभी बाह्य पदार्थ स्वप्न समान हैं, इन्द्रजाल हैं, गंधर्व नगर हैं। सद्बुद्धि द्वारा ऐसा निर्णय कर,

* पृष्ठ ६४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बार-बार ऐसी तात्त्विक भावना करता रहूँगा जिससे इस संसार के जाल से चित्त का बन्धन हटेगा। मेरे चित्त का संसार के साथ अनादि काल से सम्बन्ध होने से यह संसार की तरफ दौड़ेगा तो अवश्य, परन्तु उसकी यह दौड़ आत्मा के लिये हानिप्रद है, यह जानकर प्रयत्नपूर्वक चित्त को उधर जाने से रोकूंगा और उसे समझाऊंगा कि, हे चित्त ! तुझे इस प्रकार बाहर भटकने से क्या लाभ ? तू तो अपने स्वरूप में ही स्थिर रह, जिससे आनन्द में लीन रह सके। यह संसार बाहर भटकने के समान ही है क्योंकि यह दुःखों से भरा हुआ है और अपने स्वरूप में रहना ही मोक्ष है, जो अनेक सुखों से परिपूर्ण है। अतः सुख प्राप्त करने की इच्छा से बाहर भटकना व्यर्थ है, अयुक्त है। क्योंकि संसार तो दुःखपूर्ण ही है। आत्मा में स्थिर रहने से तुझे इस जन्म में भी बहुत सुख मिलेगा और यदि तू बाहर भटकेगा तो इस भव में भी बहुत दुःख प्राप्त करेगा। कहा भी है :—

पराधीनता ही पूर्ण दुःख है और स्वाधीनता ही पूर्ण सुख है। बाह्य-भ्रमण पराधीनता है और आत्मरमण ही स्वाधीनता है। आत्मा के बाहर रही हुई कोई भी वस्तु तुझे प्रिय लग सकती है, पर तुझे यह जानना चाहिये कि वे सभी वस्तुएं नाशवान हैं, दुःखदायी हैं, आत्मस्वरूप से भिन्न हैं और मैल से भरी हुई हैं।

अतः हे चित्त ! ऐसी वस्तुओं के लिये तू क्यों व्यर्थ में ही कष्ट उठाता है ? आत्मा को छोड़कर क्यों इस प्रकार बारम्बार बाहर भटकता है ? यदि आत्मा के बाहर की कोई वस्तु सुन्दर होती तो वह दुःख निवारण में भी समर्थ होती, पर आत्मस्वरूप में तेरी स्थिरता के अतिरिक्त कोई भी बाह्य वस्तु वास्तव में दुःख निवारण में समर्थ नहीं है। जब तू भोग रूपी भयंकर अंगारों से जलता है तब तुझे आनन्द स्वरूप आत्मा में ही शान्ति मिलती है, फिर तू बाह्य भ्रमण का व्यर्थ ही कष्ट क्यों उठाता है ? * अतएव हे चित्त ! तू अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य और आनन्द से परिपूर्ण आत्मा में स्थिर होकर शीघ्र ही निराकुल बन। [४६३–४७५]

आत्मा में स्थिर रहने से भोग रूपी चिकनाई सूख जाती है जिससे निःसंदेह चिपकी हुई कर्मरज अवश्य ही गिरती जाती है। तेरे शरीर पर जो भयंकर धारियां पड़ गई हैं वे अत्यन्त दूषित वासनाओं से उत्पन्न हुई हैं। परन्तु, जब तू इन वासनाओं की पीड़ा से मुक्त होगा तब तुझे भोगों पर कोई प्रीति नहीं रहेगी। विद्वानों का कहना है कि इन धारियों में पड़े ये भोग-पिण्ड (गांठें) जैसी हैं, जो थोड़ी सी देर आनन्द देती हैं, पर जब इन भोग-पिण्डों को भोगना पड़ता है तब वे अधिक पीड़ा-दायक होती हैं। भोगों को भोगने के समय थोड़ी देर आनन्द प्राप्त होता है, किन्तु दूषित वासनाओं के ध्यान से ये अन्त में पीड़ा को अधिक बढ़ावा देती हैं। यदि तेरे शरीर से बुरी वासनाएं निकल जायं तो वह निर्विघ्न निरन्तर आनन्दयुक्त बन जाय। ऐसी स्थिति के प्राप्त होने पर तुझे भोग की इच्छा ही नहीं रहेगी। अतः हे चित्त !

---

* पृष्ठ ६५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तू बाह्य भ्रमण का त्याग कर और अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिर होकर बैठ तथा निराबाध बन। [४७६-४८१]

चित्त को इस प्रकार शिक्षा देकर, समझा कर मैं भलीभांति लक्ष्य पूर्वक इसकी रक्षा में तत्पर रहूँगा। यदि यह पापी चञ्चल चित्त इतना समझाने पर भी नहीं मानेगा तो मैं इसे बाह्य-भ्रमण से प्रयत्न पूर्वक बार-बार रोकूंगा। फिर कषाय, नोकषाय आदि सभी उपद्रवियों का अप्रमाद रूपी शस्त्र से नाश कर दूंगा। रागादि उपद्रवियों को उनके प्रतिपक्षियों के सहयोग तथा ज्ञान के उपयोग से एवं शुभध्यान के सेवन से मैं शीघ्र नष्ट कर दूंगा। राग-द्वेष का नाश होने पर परिषह उपसर्ग आदि बाह्य उपद्रव मुझे पीड़ित नहीं कर सकेंगे। फिर मेरा चित्त आत्माराम बन जायेगा, रागादि उपद्रवों से मुक्त हो जायेगा, बाहर भटकता बन्द हो जायेगा और मोक्ष के योग्य बन जायेगा।

हे अकलंक! मन में ऐसा दृढ़ निश्चय कर, उसके अनुसार आचरण करने का निर्णय लेकर अभी मैं प्रमाद का त्याग कर, सावधान होकर यहाँ निवास कर रहा हूँ। ऐसा उन छठे मुनि महाराज ने अपने वैराग्य और दीक्षा का कारण बताते हुए कहा। [४८२-४८८]

---

६. संसार-बाजार (द्वितीय चक्र)

छठे मुनि के वैराग्य-हेतु की कथा सुनकर अकलंक ने कहा - भगवन्! आपने बहुत अच्छा किया। आपने सद्गुरु की वाणी के रहस्य को समझ कर, योग्य प्रकार से आचरण कर आप उसे अपने जीवन में उतार रहे हैं। आपने जिस चित्त के चक्र की बात कथा में कही, वैसा ही एक अन्य चक्र भी मेरे विचार से होना चाहिये। मेरा यह विचार ठीक है या नहीं? आप सुनकर स्पष्टीकरण करें।

मुनि ने कहा - भद्र! अपने विचार प्रकट करो।

अकलंक ने कहा—चित्त/मन दो प्रकार का कहा गया है, द्रव्यचित्त और भावचित्त। मनपर्याप्ति वाली आत्मा द्वारा ग्रहण किये गये मनोवर्गणा के पुद्गलों से द्रव्यचित्त निर्मित होता है। (छः पर्याप्तियों में से छठी मनपर्याप्ति द्वारा जो मनोवर्गणा ग्रहण की जाती है उसी को द्रव्यमन कहा जाता है।) यह द्रव्यमन जब जीवात्मा के साथ संयुक्त होता है तब उसे भावमन कहा जाता है। भावमन कार्मण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर में रहता है, इसीलिये इसे अलग जाना जाता है। * नियमानुसार तो भावमन जीव ही है, पर जीव चित्तरूप होते भी हैं और नहीं भी होते। उदाहरण के तौर पर केवली भावमन-रहित होते हैं। (किसी को मन से उत्तर देने के लिये वे द्रव्यमन का उपयोग करते हैं, किन्तु केवलज्ञान होने से भावमन की अपेक्षा नहीं रहती। अर्थात् केवलज्ञानी के द्रव्यमन तो होता है, किन्तु भावमन नहीं होता)। जब यह प्राणी राग-द्वेष आदि से युक्त होता है तब मिथ्याज्ञान के कारण वह विपरीत निर्णय लेता है। फलस्वरूप दुःखदायी वस्तु में सुख प्राप्त करने की कामना से उसमें प्रवर्तित होता है। अर्थात् मिथ्याज्ञान के कारण वह यह निर्णय नहीं कर पाता कि वास्तविक सुख और दुःख कहाँ है? झूठी प्रवृत्ति के स्नेह-तन्तु कर्म-परमाणुओं को आकर्षित करते हैं, जिससे जन्म-जन्मान्तर का प्रारम्भ होता है। इन जन्मांतरों में प्राणी फिर से विपरीत निर्णय लेता है और रागादि संतति की वृद्धि करता है। रागादि संतति से विषयाकांक्षा होती है, विषयाकांक्षा से स्नेह-तन्तुओं का जन्म होता है, स्नेह-तन्तुओं से कर्म-ग्रहण होता है और कर्म-ग्रहण से दुबारा जन्म होता है। पुनः बुद्धि-विपर्यास से रागादि का क्रम चलता है। इस प्रकार यह जन्म-जन्मान्तर का चक्र अविच्छिन्न रूप से चलता ही रहता है। जब तक यह प्राणी विपरीत निर्णय लेता रहता है तब तक उसकी अनिष्टकारी भव-पद्धति (संसार-भ्रमण) चलती ही रहती है। भगवन्! मैंने आपके समक्ष यह द्वितीय चक्र की बात प्रस्तुत की है। मेरा उपर्युक्त कथन उपयुक्त है या नहीं? कृपा कर बतायें। [४८६-४६७]

उत्तर में मुनिराज ने कहा—महाभाग्यवान! तेरा कथन पूर्णरूप से युक्ति-युक्त है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। तेरे जैसे तत्त्व के जानकर झूठी बात कर ही कैसे सकते हैं? ऊपर की वार्ता से मैंने भी समझा और तुम्हारी बात का गुरुजी ने भी समर्थन किया था कि विपरीत निर्णयों का यह चक्कर ही अनिष्टकारी भवचक्र का कारण है। अतः सच्ची-झूठी बात का सच्चा विवेक रखने वाले प्राणियों को यथाशक्य इन विपर्यासों/विपरीत निर्णयों का त्याग करना चाहिये। एक बार विपर्यासों का नाश होते ही इस द्वितीय चक्र की अन्य बातों का तो अपने आप ही जड़मूल से नाश हो जायगा। विपर्यास का त्याग ही सच्चा विवेक है, सच्चा तत्त्व-ज्ञान है और आस्रव-रहित धर्म है। जो अप्रमादी प्राणी विपर्यास का त्याग कर सच्चा तत्त्वज्ञ बन जाता है, उसे अपने मनोविकारों का जाल अपने से भिन्न लगता है। वह मन को अलग और अपनी आत्मा को उससे अलग देखता है, अतः उसे आत्मा निरन्तर आनन्दमय लगती है। फिर उसे न तो दुःख पर द्वेष होता है और न उसे सुख-प्राप्ति की इच्छा ही होती है। इस प्रकार मन से अलग होने पर, मन पर आसक्ति दूर हो जाती है जिससे इन्द्रियों के विषयों पर स्नेह नहीं रहता। स्नेह (चिकनाई) जाते ही कर्म-परमाणुओं का संचय रुक जाता है। इस प्रकार निःस्पृह होने पर संसार-बीज का नाश हो जाता है और वह मुक्त जीवों के समान जन्मान्तर

* पृष्ठ ६५१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रारम्भ नहीं करता तथा उसके भवचक्र का चलना बन्द हो जाता है। [४९८–५०५]

ऊपर दो प्रकार की बात कही गई है --एक कर्मबन्ध और दूसरा उससे फैलता भवचक्र। जो इन दोनों की प्रवृत्ति और निर्वृत्ति की वास्तविकता को जानते हैं, वे क्या संसार को बढ़ाने वाले शरीर, धन, इन्द्रिय-भोग या अन्य किसी भी पदार्थ पर कदापि राग कर सकते हैं ? जिस प्राणी का चित्त सांसारिक पदार्थों पर आसक्त होता है, जिसे उनमें आनन्द और सुख की प्रतीति होती है, समझना चाहिये कि अभी तक उसने संसार-चक्र और विपर्यासचक्र को वस्तुतः तत्त्व से नहीं पहचाना है। * इसका कारण यह है कि ज्ञान और क्रिया के योग से ही फल की प्राप्ति होती है, समस्त कार्यों की सिद्धि होती है, अन्य किसी भी कारणों से कार्य-सिद्धि नहीं हो सकती। ज्ञान द्वारा साध्य को बराबर पहचान कर, फिर उस पर सम्यक् प्रकार से आचरण करने पर ही साध्य की प्राप्ति हो सकती है। महामति (उमास्वाति) ने वस्तुस्वरूप को इसी प्रकार बताया है—"ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः" "सम्यक् प्रवृत्तिः साध्यस्य प्राप्त्युपायोऽभिधीयते"। सम्यक् आचरण ही साध्य प्राप्ति का उपाय है। यदि उससे साध्य की प्राप्ति न हो तो वह उपाय उपाय ही नहीं कहा जा सकता। जहाँ असाध्य का आरम्भ है, वहाँ सम्यग् ज्ञान नहीं और जहाँ सम्यग् ज्ञान नहीं, वहाँ साध्य का आरम्भ नहीं। साध्य और सम्यग् ज्ञान का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसीलिये आगम का जानकार जो भी क्रिया करता है उसे सच्ची क्रिया कहा जाता है और जो व्यक्ति योग्य क्रिया में यथाशक्ति प्रयत्न करता है उसे आगम का जानकार कहा जाता है। जो प्राणी चिन्तामणि रत्न के स्वरूप को जानता है, जो गरीबी से पीड़ित है और जो उसकी प्राप्ति के अनेक उपाय भी जानता है, वह उसे प्राप्त करने के प्रयत्न को छोड़कर अन्य कार्यों में कदापि प्रवृत्ति नहीं कर सकता। अतः जो साध्य से विपरीत प्रवृत्ति करता है वह साध्य के स्वरूप को भली प्रकार से जानता ही नहीं। जो भौंरा मालती पुष्प की सुगन्ध को जानता है वह घास या दूब पर बैठने की प्रवृत्ति नहीं करता। संसार का अभाव होने से सत्प्राणी मुक्ति को प्राप्त करता है। अधिक क्या कहूँ ? तात्पर्य यह कि तुमने जो दूसरे चक्र की बात कही, वह सत्य है। मेरे गुरुजी ने भी इन सब बातों के परिणाम स्वरूप ही मुझे बन्दर के बच्चे की यत्नपूर्वक रक्षा करने का विशेष कर्त्तव्य बताया था। [५०६–५१७]

अकलंक -- महाराज ! इस बन्दर को शिवालय/मठ में कैसे ले जाया जाय ? गुरुजी ने इसके क्या-क्या उपाय बताये ? [५१८]

छठे मुनि—भद्र ! जैसा आचार्य भगवान् ने मुझे मार्ग बताया, वह सुनाता हूँ सुनो—सौम्य ! पिछले प्रकरण में जिस क्षयोपशम नामक गर्भगृह का वर्णन आया है, उसमें छः परिचारिकायें रहती हैं। उनका सामान्य नाम लेश्या है और प्रत्येक

* पृष्ठ ६५२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का नाम क्रमशः कृष्ण, नील, कपोत, तैजस्, पद्म और शुक्ल हैं। ये इसी गर्भगृह में उत्पन्न होती हैं, यहीं की समृद्धि से पलती हैं, यहाँ बढ़ती हैं और इसी स्थान को पुष्ट करती हैं। इनमें से पहले की तीन क्रूरतम क्रूरतर और क्रूर हैं। ये तीनों अनेकों अनर्थ-परम्पराओं की कारणभूत हैं और बन्दर के बच्चे की तो वास्तविक शत्रुभूत ही हैं। गर्भगृह में अनेक प्रकार के अशुभ कचरे की वृद्धि करने की हेतु हैं। तुझे भी इन अनेक दुःखों से पूर्ण बाजार में रखने और शिवालय-गमन में विघ्नदायक ये तीनों ही हैं। पुनः हे भद्र ! अन्य तीन शुद्ध, शुद्धतर और शुद्धतम स्वरूपधारिणी हैं। वे अनेक प्रकार की आह्लाद-परम्परा को प्रदान करती हैं, बन्दर के बच्चे की सहायक बहिनों के समान हैं, गर्भगृह को शुद्ध करने वाली हैं और तुझे इस निस्सारता की परम्परा से ओत-प्रोत बाजार से निकाल कर शिवालय पहुँचाने में अनुकूलता प्रदान करने वाली हैं। इन छहों ने गर्भगृह में ऊपर चढ़ने के लिये अपनी शक्ति से परिणाम नामक सीढ़ियां बना रखी हैं। इस पर चढ़ने के लिये प्रत्येक ने क्रमशः * एक के ऊपर एक, असंख्य-असंख्य अध्यवसाय नामक सीढियां बनाई हैं जो अध्यवसाय स्थान नाम से प्रसिद्ध है। कृष्ण लेश्या ने जो असंख्य सीढ़ियां बनाई हैं, वे काले रंग की हैं। नील लेश्या द्वारा नीले रंग की, कपोत लेश्या द्वारा कबूतरी रंग की, तैजस् लेश्या द्वारा विशुद्ध चमचमाती, पद्म लेश्या द्वारा श्वेत कमल जैसी और शुक्ल लेश्या द्वारा विशुद्ध स्फटिक जैसे निर्मल श्वेतरंग की असंख्य सीढ़ियां बनाई गई हैं। बन्दर का बच्चा जब तक पहली तीन लेश्याओं द्वारा बनाई सीढ़ियों पर घूमता है तब तक उछल-उछल कर झरोखे की तरफ दौड़ता है और आम्रवृक्ष (विष वृक्ष) पर छलांग मारता है। छलांग मारते हुए नीचे गिरता है और उसका पूरा शरीर धूलिधूसरित हो जाता है। वहाँ चिकनाई की बूंदों से उसके शरीर पर सैंकड़ों धारियां पड़ जाती हैं शरीर क्षत-विक्षत और जर्जरित हो जाता है। फिर चूहे बिल्ली आदि विशेष उपद्रवों द्वारा उसे अधिकाधिक त्रास देते हैं, जिससे वह नष्टप्रायः सा/मूर्च्छित सा भयंकर आकृति वाला बन जाता है और निरन्तर संतप्त स्थिति में दिखाई देता है। इस स्थिति में यह बन्दर का बच्चा (चित्त) तेरे लिये भी अनन्त दुःखदायी परम्पराओं का कारण बनता है। अतः तुझे इस बच्चे को पहली तीन लेश्याओं द्वारा निर्मित सीढ़ियों से ऊपर चौथी लेश्या द्वारा निर्मित सीढ़ियों पर चढ़ाना चाहिये। यहाँ उसे प्रतिक्षण संताप कम होने लगेगा। बाधा-पीड़ायें कम होने लगेंगी, चूहे, बिल्ली, मच्छर आदि के उपद्रव कम होंगे और आम्रफल (विषफल) खाने की इच्छा कम हो जायगी। फिर मकरन्द की स्निग्धता के सूखने से शरीर पर चिपकी हुई धूल नीचे गिरेगी और उसे किंचित् सुख प्राप्त होगा तथा शरीर तेजस्वी एवं स्वरूपवान बनेगा। इसके पश्चात् तुझे पांचवीं लेश्या द्वारा निर्मित सीढ़ियों पर चढ़ाना चाहिये। यहाँ संताप और कम होंगे, उपद्रव बहुत कम होंगे, अपथ्य आम्र-फल खाने की इच्छा बहुत कम हो जायगी, शरीर सूख जायगा और उस पर लगी धूल-कचरा अधिकांश

* पृष्ठ ६५३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में नीचे गिर जायगा। फिर बन्दर के बच्चे के शरीर में हुए घाव भरने लगेगें, आनन्द प्राप्त होगा, शरीर श्वेत होगा, स्वास्थ्य में वृद्धि होगी और वह विशाल बनेगा। इसके बाद उसे छठी लेश्या द्वारा निर्मित सीढ़ियों पर चढ़ाना। यहाँ इसकी दुःख भोगने की स्थिति अत्यन्त कृश हो जायगी, उपद्रव नष्ट हो जायेंगे, आम्रफल खाने की इच्छा नहीं के समान हो जायेगी, धूल और कचरे में लोटने की इच्छा भी नष्टप्रायः हो जायगी और मकरन्द के स्नेह की स्निग्धता एकदम सूख जायेगी।* शरीर एकदम शुष्क हो जाने से धूल-कचरा सब गिर जायगा, शरीर स्वच्छ हो जायगा और निरन्तर आह्लाद तथा निर्मल स्फटिक जैसी शुद्धता प्राप्त हो जायगी।

पीछे की तीन परिचारिकाओं/लेश्याओं द्वारा निर्मित सीढ़ियों पर चढ़ते हुए उसे प्रतिपल धर्मध्यान रूपी मन्द-मन्द पवन लगेगा। यह पवन संताप को दूर करने वाला, सुखकारी, शीतल और सद्गुण रूप कमल वन के परागकणों से सुगन्धित होगा। इस पवन के लगने से बच्चा सतत प्रमुदित होता जायेगा। चूहे, बिल्ली, बिच्छु, मच्छर आदि के उपद्रव वाले कमरे और पहले की तीन लेश्याओं द्वारा निर्मित अंधकारमयी सीढ़ियों को छोड़कर, बाद की तीन लेश्याओं द्वारा निर्मित भय-रहित प्रकाश पूर्ण सीढ़ियों पर बन्दरों की एक टोली छिपकर रहती है। वे तेरे इस बन्दर के बच्चे के सम्बन्धी हैं। इस टोली का मुखिया/विशुद्ध धर्म नामक एक विशालकाय बन्दर है। यह विशुद्धधर्म बन्दर प्रशम, दम, संतोष, संयम, सद्बोध आदि परिवार से परिवृत है। धृति, श्रद्धा, सुखप्राप्ति, जिज्ञासा, विज्ञप्ति, स्मृति, बुद्धि, धारणा, मेधा, क्षान्ति, निःस्पृहता आदि वानरियाँ भी इस टोली में हैं। धैर्य, वीर्य, औदार्य गाम्भीर्य, शौंडीर्य, ज्ञान, दर्शन, तप, सत्य, वैराग्य, अकिंचन्य, मार्दव, आर्जव, ब्रह्मचर्य, शौच आदि बन्दर बच्चे भी इस टोली में हैं। जब तुम्हारा बन्दर का बच्चा पीछे की तीन लेश्याओं द्वारा निर्मित सीढ़ियों पर चढ़ना प्रारम्भ करेगा तब किसी-किसी स्थान पर महावानर, वानरियां और बन्दर-बच्चों में से कोई-कोई प्रकट होगा, वे सब इस टोली में से ही होंगे। तेरे बन्दर के बच्चे का रूप भी इन सब के शरीररूप है, जीवनभूत है, सर्वस्व है और सच्चा हित करने वाला है। यह बन्दरों की टोली स्वरूप में स्थिर, सूर्य जैसी तेजस्वी/प्रकाशमान और अपने दर्शनीय वर्ण से जगत् को आह्लादित करने वाली है, गवाक्षों के बाहर लगे विषवृक्षों की तरफ जाने की अभिलाषा से रहित होती है तथा कर्म-परमाणु-रज रूपी फल, फूल, धूल और कचरे में लोटने की इच्छा से रहित होती है। यह बन्दरों की टोली भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न सीढ़ियों पर दिखाई देती है। तेरा बन्दर का बच्चा जब अपने इन विशिष्ट सम्बन्धी और हितकारी बन्दरों की टोली को प्रकाशमान, नूतन, उच्च मार्ग पर मिलेगा तब उसे बहुत आनन्द प्राप्त होगा और अत्यन्त हर्ष में आकर ऊपर-ऊपर की सीढ़ियों पर चढ़ता चला जायेगा तथा अन्त में छठी लेश्या द्वारा

* पृष्ठ ६५४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्मित सीढ़ियों तक पहुँच जायेगा। वहाँ यह बन्दर टोली तेरे बच्चे के शरीर पर शुक्लध्यान नामक गोचन्दन रस का ठण्डा लेप करेगी। इन सीढ़ियों पर चढ़ते-चढ़ते जब तेरा बच्चा आधे रास्ते तक पहुँच जायगा तब वह गाढ आनन्द में ओत-प्रोत हो जायेगा। इससे ऊपर की सीढ़ियों पर चढ़ने में यह असमर्थ होगा। हे सौम्य! यह बन्दर का बच्चा क्योंकि तेरा जीवन है, तेरा आन्तरिक धन है और तेरे ही साथ एकमेक है, अतः जैसे-जैसे यह ऊपर चढ़ेगा वैसे-वैसे तू भी ऊपर चढ़ता जायेगा। अब यह बच्चा आगे नहीं चढ़ सकता, अतः तुझे यहीं छोड़ देगा। आगे की सीढ़ियों पर तुझे स्वयं चढ़ना पड़ेगा। * अन्त में इन सीढ़ियों को भी छोड़कर स्व सामर्थ्य से पाँच ह्रस्व अक्षर के उच्चारण समय तक आकाश में अधर रहकर, अपने कमरे/गर्भगृह और बन्दर के बच्चे का त्याग कर, कूदकर, एक झपट्टे में बाजार को छोड़कर, तपाक से उड़कर शिवालय में प्रविष्ट हो जाना। वहाँ पहले से अवस्थित लोगों के बीच अनन्त काल तक रहकर अनन्त आनन्द का अनुभव करते रहना।

मैंने कहा—जैसी गुरुदेव की आज्ञा। भद्र अकलंक! मेरे गुरुजी ने उस समय मुझे बताया था कि इस प्रकार यह बन्दर का बच्चा तुझे मठ/शिवालय में ले जाने में समर्थ है।

छठे मुनिराज के भावार्थ से पूर्ण और अत्यन्त रहस्यमय उपर्युक्त वचन सुनकर अकलंक ने मुनिराज को वन्दन किया और कहा—हे मुनिराज! आपके श्रेष्ठतम आचार्य भगवान् ने आपको अत्यन्त सुन्दर उपदेश दिया। आप उसे आचरण में उतार रहे हैं यह अत्यन्त प्रशंसनीय है। आप जैसे प्रभावशाली व्यक्ति के लिये यही उचित है। [५१६-५२०]

यों छठे मुनिराज को नमस्कार कर हम आगे बढ़े।

१०. सदागम का सान्निध्य : अकलंक की दीक्षा

हे अगृहीतसंकेता! छठे मुनिराज के पास से जब हम आगे चले तो भाग्यशाली अकलंक को मुझे सम्यक्बोध देने की इच्छा जागृत हुई, अतः थोड़ा रुक कर उसने कहा—भाई घनवाहन! इन मुनि महाराज ने स्पष्ट शब्दों में जो बातचीत की उसका गूढार्थ तुझे समझ में आया या नहीं? देख, इन श्रमण भगवन्त ने महत्व की बात हमें कही है। [५२१-५२२]

* पृष्ठ ६५५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनिश्रेष्ठ ने हमें बताया कि क्लेशरहित मन ही संसार-समुद्र को शीघ्र पार करवाने का हेतु है। लेश्या के परिणामों से ही मन को क्लेशरहित बनाया जा सकता है। जब वह विशुद्ध लेश्या द्वारा शुद्ध अध्यवसायों की तरफ ले जाया जाता है तभी वह क्लेशरहित होता है और क्लेशरहित होकर ही संसार को पार कराने में समर्थ होता है। दूसरी महत्वपूर्ण बात उन्होंने यह कही कि मन ही शिवगमन (मोक्ष) का कारण है और वही संसार का भी कारण है, ऐसा मुनिगण कहते हैं। पूर्व प्रकरण में जिस कमरे, गर्भगृह, बन्दर के बच्चे आदि का वर्णन किया गया है, वह सभी प्राणियों के लिये समान ही है। बन्दर का बच्चा जब पूर्व-वर्णित सीढ़ियों पर चढ़ता है तब उसका चढ़ना ही भव/संसार का कारण है। चढ़ते हुए उसके आस-पास जो दुकानें आती हैं, उसमें वह उछलता हुआ चला जाता है और प्राणी को भी शीघ्र उस दुकान पर ले जाता है। [५२३-५२८]

मैंने पूछा—मित्र अकलंक ! तुम्हारा कथन मैं नहीं समझ पाया, इसका आन्तरिक भावार्थ क्या है ?

अकलंक—भाई धनवाहन ! सुनो—लेश्या और उसके अध्यवसाय तो तेरी समझ में आ गये होंगे। मरने के समय प्राणी का चित्त जिस लेश्या के अध्यवसाय में होता है, अन्य भव में प्राणी उसी लेश्या के वैसे ही अध्यवसाय में उत्पन्न होता है। कहा भी है "अन्त मति सो गति।" चित्त असंख्य अध्यवसायों में प्रवृत्ति करता रहता है, इसीलिये वह चित्र-विचित्र योनि रूपी संसार का कारण बनता है। यदि यह चित्त दोषपूर्ण अध्यवसाय में प्रवृत्ति करता है तो संसार का कारण बनता है और यदि वही निर्दोष/विशुद्ध अध्यवसाय में प्रवृत्ति करता है तो मोक्ष का कारण बनता है। यह चित्त ही तेरा वास्तविक अंतरंग धन है। धर्म और अधर्म, सुख और दुःख का आधार भी यही चित्त है। अतः इस चित्तरूपी अमूल्य रत्न की भली प्रकार रक्षा करनी चाहिये। * भावचित्त और जीव परस्पर एक ही है, विभेद नहीं है। अतः जो प्राणी भावचित्त की रक्षा करता है वह अपनी आत्मा की रक्षा करता है। जब तक यह चित्त भोग की लोलुपता से वस्तुओं और धन को प्राप्त करने के लिये जहाँ-तहाँ दौड़ता रहेगा तब तक उसे सुख की गंध भी कैसे प्राप्त हो सकेगी ?

[५२९-५३४]

जब यह चित्त निःस्पृह होकर, सर्व प्रकार के बाह्य-भ्रमण का त्याग कर, इच्छारहित होकर अपनी आत्मा में स्थिर होगा तभी तुझे परम सुख की प्राप्ति होगी।

कोई भक्ति करे या स्तुति करे, कोई क्रुद्ध हो या निन्दा करे, इन सब पर एक समान दृष्टि हो, सब पर चित्त में समान भाव हो, तभी तुझे परम सुख की प्राप्ति होगी।

---

* पृष्ठ ६५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने सगे-सम्बन्धी हों या अपने शत्रु हों या अपने को हानि पहुँचाने वाले हों, इन सब पर जब चित्त में एक समान भाव होंगे, एक पर राग और दूसरे पर द्वेष नहीं होगा, तभी तुझे परम सुख की प्राप्ति होगी।

पाँचों इन्द्रियों के विषय अच्छे हों या बुरे, सुखदायी हों या दुःखदायी, इन सब पर जब चित्त में एक समान वृत्ति होगी, किसी विषय पर प्रेम और किसी का तिरस्कार नहीं होगा, तभी तुझे परम सुख की प्राप्ति होगी।

गोशीर्ष चन्दन से शरीर पर लेप करने वाले मनुष्य पर और छुरी से घाव करने वाले मनुष्य पर जब मन में लेशमात्र भी भेद-भाव नहीं होगा, अभिन्न चित्त-वृत्ति होगी, तभी तुझे परम सुख की प्राप्ति होगी।

संसार के सभी पदार्थ पानी के समान हैं, तेरा चित्त रूपी कमल इन्हीं से उत्पन्न है। और, इन्हीं के निकट रहते हुए भी जब इनमें लिप्त नहीं होगा, जैसे कमल पानी से अलग रहता है वैसी स्थिति जब तेरे चित्त की होगी, तभी तुझे परम सुख की प्राप्ति होगी।

उद्दाम यौवन से दैदीप्यमान लावण्य और अत्यन्त सुन्दर रूपवती ललित ललनाओं को देखकर भी जब मन में किंचित् भी विकार पैदा नहीं होगा, तेरे चित्त की स्थिति जब ऐसी निर्विकार स्वरूप होगी, तभी तुझे परम सुख की प्राप्ति होगी।

अत्यन्त आत्म-सत्त्व को धारण कर जब चित्त, अर्थ और काम-सेवन से विरक्त होगा, पराङ्मुख होगा और धर्म में आसक्त होगा तभी तुझे परम सुख की प्राप्ति होगी।

जब मन राजस् और तामस् प्रकृति का त्याग कर स्थिर समुद्र के समान कल्लोल रहित शांत और सात्विक बनेगा, तभी तुझे परम सुख की प्राप्ति होगी।

जब चित्त मैत्री, करुणा, मध्यस्थता और प्रमोद भावना से युक्त होकर मोक्ष प्राप्ति में एकरस होकर लगेगा, तभी तुझे परम सुख की प्राप्ति होगी।

भाई घनवाहन ! इस जगत में प्राणी को सुख-प्राप्त करने के लिये चित्त के अतिरिक्त अन्य कोई साधन उपलब्ध नहीं है। त्रैलोक्य में सुख-प्राप्ति का एक मात्र यही साधन है। [५३५–५४५]

हे अगृहीतसंकेता ! अकलंक के पूर्वोक्त वचनामृत को सुनकर मैं किंचित् आह्लादित हुआ। फिर मेरे मित्र अकलंक ने दृष्टान्त रूपी मुद्गर से मेरी अत्यधिक सघन कर्म-पद्धति को काट दिया, जिससे मैं लम्बे काल की कर्म-स्थिति को पार कर शेष अल्प काल की कर्मस्थिति के निकट पहुँच गया। यह अल्पकालीन कर्मस्थिति शीघ्र तोड़ी जा सके, ऐसी है। [५४६–५४८]

हे विशालाक्षि ! वामदेव के प्रस्ताव [भव] में बुधसूरि ने जो वचन कहे थे वह तो तुझे याद ही होंगे ?*

* पृष्ठ ६५७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अगृहीतसंकेता—आचार्य की वाणी मेरी स्मृति-पटल में भलीभांति नहीं आ रही है अतः तू ही पूर्व-प्रसंग को स्पष्ट कर।

संसारी जीव—हे चपललोचना भद्रे ! आचार्य बुधसूरि ने अपनी आत्म-कथा कहते हुए कहा था कि उनका एक पुत्र विचार देश-देशांतरों का भ्रमण करने के लिये प्रवास पर गया था और वह भवचक्रपुर में घूम कर, निरीक्षण कर, बहुत समय के पश्चात् मार्गानुसारिता को साथ लेकर वापस लौटा था। उसने एकांत में मुझे (बुधसूरि को) महाबलवान मोहराज और चारित्रधर्मराज के बीच हुए युद्ध का वर्णन सुनाया था। उसने यह भी कहा था कि इस युद्ध में मोहराज की जीत हुई थी और दर्प के साथ चारित्रधर्मराज की सेना को चारों तरफ से घेरकर खड़ा था। इस प्रकार चारित्रधर्मराज को घिरी हुई स्थिति में देखकर और उसके चारों ओर दर्पिष्ठ मोहराज की बलवान सेना देखकर वह मेरे पास आया था।

[५४६–५५६]

इतना सुनते ही अगृहीतसंकेता को पहली सब बातें याद आ गई और उसने समर्थन किया कि, हाँ घ्राण के दोष बताते समय यह वार्ता पहले आ चुकी है, अब मुझे सारी बातें भली-भांति याद आ गई हैं। भाई ! तत्पश्चात् इसके आगे क्या हुआ ? वह सुनाओ। [५५७–५५८]

तब संसारी जीव ने कहा—हे मृगलोचने ! अब मैं आगे की आत्मकथा (घटनाओं) का वर्णन करता हूँ, तुम ध्यान पूर्वक सुनो।

अनन्तकाल से चित्तवृत्ति अटवी में चारित्रधर्मराज की पूरी सेना चारों तरफ से घिरी हुई थी। यह घटना तेरे लक्ष्य में आ ही गई। मैं अकलंक के समीप खड़ा-खड़ा उसकी बात सुन रहा था। उस समय जो घटना घटित हुई उसे भी सुनो।

[५५६–५६१]

अपनी सेना को शत्रुबल द्वारा घिरा हुआ और पीड़ित देखकर सद्बोध मंत्री ने विषण्णवदन चारित्र धर्मराज से कहा—देव ! अब इस विषय में अधिक चिन्ता की आवश्यकता नहीं है। हमारे मनोरथ वृक्ष के पुष्प आने लगे हैं, इससे लगता है कि अब हमारा कार्य सिद्ध होगा। वस्तुतः जब तक यह महा प्रभावशाली संसारी जीव हमको नहीं पहचानता तभी तक हमें शत्रुओं की पीड़ा है। जैसे ही यह हमको पहचानेगा, हमें सांत्वना देगा और हमारा संपोषण करेगा वैसे ही हम शत्रु (मोहराज) की पूरी सेना को नष्ट करने में समर्थ हो जायेंगे। हे देव ! यह संसारी जीव ही हमारा महाप्रभु है। चित्तवृत्ति अटवी में पहले जो घोर अन्धकार फैला था, उसमें अब कुछ-कुछ प्रकाश किरणें दिखाई दे रही हैं। इससे अनुमान होता है कि अब संसारी जीव हमें विशेष रूप से पहचानने की स्थिति में आ रहा है। उसकी चित्तवृत्ति में रहे अन्धकार में हम ऐसे छिप गये थे कि उसने आज तक हमें देखा ही नहीं। पर, अब यह अन्धकार दूर हो रहा है और उसमें प्रकाश किरणें प्रस्फुटित हो रही हैं, अतः संसारी जीव हमारा दर्शन अवश्य करेगा। मेरा यह परामर्श है कि हमारे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाराजा कर्मपरिणाम को पूछकर संसारी जीव के पास किसी विश्वस्त व्यक्ति को भेजना चाहिये जो वहाँ जाकर उसे हमारे अनुकूल बनावे * और कुछ समय बाद उसके मन में हमें देखने की लालसा उत्पन्न करे। [५६२–५७०]

सद्बोध मंत्री की सम्मति सुनकर चारित्रधर्मराज ने कहा—हे मन्त्रिन्! तुमने बहुत ही प्रशस्त और उचित परामर्श दिया। अब यह बताओ कि किसको संसारी जीव के पास भेजा जाय?

मंत्री–देव! मेरे विचार से सदागम को भेजना चाहिये। जब संसारी जीव का सदागम से अधिक परिचय होगा, तब उसमें हमारे दर्शन की इच्छा उत्पन्न होगी। फिर कर्मपरिणाम महाराजा उसका हमसे परिचय करायेंगे, तभी हम शत्रु को नष्ट करने में समर्थ होंगे। [५७१–५७४]

चारित्रधर्मराज ने मंत्री के परामर्श को मानकर और सदागम को मेरे पास आने की आज्ञा दी। फिर राजा ने मंत्री से पूछा—यदि सदागम के साथ अपने सेनापति सम्यक्दर्शन को भेजा जाय तो कैसा रहेगा?

मंत्री—स्वामिन्! संसारी जीव के पास सम्यक् दर्शन जाय यह तो निःसंदेह बहुत ही उत्तम प्रस्ताव है। सम्यक्दर्शन साथ हो तभी सदागम भी अपना वास्तविक लाभ प्रदान कर सकता है। ऐसा होने पर हम सब का परिचय उससे हो सकता है। पर, अभी उसे भेजने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ है, अतः अभी नहीं भेजना ही ठीक रहेगा। विचक्षण लोग बिना अवसर की प्राप्ति हुए कोई कार्य नहीं करते।

[५७५–५७९]

चारित्रधर्मराज–हे मन्त्रिन्! तब उसको भेजने का अवसर कब प्राप्त होगा?

मंत्री—देव! इस सम्बन्ध में मेरे विचार आपके समक्ष प्रस्तुत करता हूँ, आप सुनें। अभी सदागम संसारी जीव के पास जाकर रहे और उसे भली प्रकार अपना बनाले। उसके पश्चात् अवसर देखकर सम्यक्दर्शन को भेजेंगे, क्योंकि सदागम के पास रहने से जब संसारी जीव उससे परिचित होगा और उसमें जब स्वयं की शक्ति उत्पन्न होगी तभी सम्यक्दर्शन का उसके पास जाना उचित रहेगा। मंत्री की राय को मानकर राजा ने सदागम को मेरे पास भेज दिया।

[५८०–५८३]

इधर महामोह राजा ने तो पहले से ही अपने विश्वस्त अधिकारी ज्ञान-संवरण को मेरे पास भेज रखा था। इसने चारित्रधर्मराज की पूरी सेना को पर्दे के पीछे छिपा रखा था और महामोह की सेना की सहायता एवं पोषण कर रहा था। ज्ञानसंवरण के प्रभाव से महामोह की सेना भयरहित थी और सभी निश्चिन्त होकर आनन्द में बैठे थे। अब जैसे ही इस ज्ञानसंवरण ने सदागम को मेरे पास आते देखा, वह डर के मारे छिप कर बैठ गया। [५८४–५८७]

* पृष्ठ ६५८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अकलंक की दीक्षा

इधर अंतरंग राज्य में उपर्युक्त हलचल हो रही थी उधर अकलंक सब मुनियों के गुरु जो ध्यानमग्न बैठे थे, उनके पास गया * और उनके चरण-स्पर्श कर वन्दन किया। मैं भी उसके साथ ही गुरुजी के पास गया। गुरु महाराज कोविदाचार्य का जब ध्यान पूर्ण हुआ तब उन्होंने हमें धर्मलाभ दिया और अकलंक के साथ वार्तालाप किया। अकलंक ने कुछ प्रश्न पूछे जिसका कोविदाचार्य ने उत्तर दिया। फिर वे धर्मोपदेश देने लगे। उसी समय मैंने उनके पास में बैठे महात्मा सदागम को देखा। [५८८–५९०]

मैंने अकलंक से पूछा—मित्र ! यह सदागम कौन है ?

अकलंक—घनवाहन ! ये महात्मा सदागम साधु-पुरुषों के आराध्य हैं। ये जो आज्ञा देते हैं उसे विनयपूर्वक सभी साधु स्वीकार करते हैं। सदागम का गुण-गौरव एवं महत्व आचार्यदेव भली प्रकार जानते हैं। हे भद्र ! ये धर्म और अधर्म का विवेचन करने वाले और अत्यन्त हितकारी हैं, अतः इनसे सदुपदेश प्राप्त करने के लिए तुझे इनसे परिचय करना चाहिए। मुझे, इन साधुओं को और आचार्य भगवान् को जो ज्ञान प्राप्त हुआ है वह महात्मा सदागम से ही प्राप्त हुआ है। आचार्यश्री इन हितकारी सदागम से तेरा परिचय/सम्बन्ध करा देंगे। इनसे परिचय/सम्बन्ध करने पर तुझे शीघ्र ही अपना लाभ-हानि, हित-अहित क्रमशः सब ज्ञात हो जायगा।

हे भद्रे ! मित्र के आग्रह से और कुछ अन्तरात्मा के सन्तोष से मैंने सदागम से परिचय/सम्बन्ध स्थापित किया। कोविदाचार्य ने सदागम के गुण और महत्ता बतलाई, पर मुझे उसके प्रति श्रद्धा नहीं हुई। केवल मित्र अकलंक को प्रसन्न करने के लिये श्रद्धाशून्य होकर मैं चैत्यवन्दन करता, साधुओं को दान आदि देता, पर मेरी अन्तरात्मा में इनके प्रति प्रीति नहीं थी। भावशून्य चित्त से मैं ऊपरी दिखावे के लिये सब काम करने लगा। हे भद्रे ! अकलंक के अनुरोध से मैं नमस्कार मन्त्र आदि का जप और पाठ भी करने लगा। इन सब कार्यों को करने में मेरा मन तो नहीं था, पर अकलंक के आग्रह से मैं सब कुछ करता रहा। [५९१–६००]

तदनन्तर माता-पिता की आज्ञा लेकर अकलंक ने तुरन्त ही गुरु कोविदाचार्य के पास दीक्षा ग्रहण की और सुसाधुओं से परिवृत आचार्यश्री के साथ मुनिचर्या के अनुसार विहार करते हुए अन्य स्थान को चला गया। [६०१–६०२]

* पृष्ठ ६५९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. महामोह और परिग्रह

इधर महामोह राजा के राज्य में जब पता लगा कि चारित्रधर्मराज द्वारा सदागम को मेरे पास भेजा गया है तो वहाँ जिस प्रकार की हलचल मची, उसे भी बतलाता हूँ।

रागकेसरी के मन्त्री विषयाभिलाष को जब मालूम हुआ कि उसका विशिष्ट अधिकारी ज्ञानसंवरण सदागम के भय से छिपकर बैठ गया है तब उसने महामोह महाराजा से कहा—महाराज! अभी तक ज्ञानसंवरण को किसी प्रकार त्रास या भय नहीं था और हम सब निश्चिंत बैठे थे। परन्तु, देव! अब सदागम संसारी जीव के पास जाकर रहने लगा है, जिससे ज्ञानसंवरण भयभीत हो गया है। सदागम आपका कट्टर विरोधी है, * अतः उसकी उपेक्षा करना तनिक भी उचित नहीं है। विद्वान् लोग "नाखून से उखाड़ी जाने वाली वस्तु को इतनी बढ़ने ही नहीं देते कि फिर उसे कुल्हाड़ी से उखाड़नी पड़े।" [६०३–६०७]

मन्त्री के उपर्युक्त वचन सुनकर महामोहराज की पूरी सभा क्षुब्ध और सदागम पर क्रोधित हो उठी। महायोद्धा भौंहे चढ़ाकर हुंकार करने लगे, होठ काटने लगे और जमीन पर पांव पछाड़ते हुए एक साथ ही महामोहराज से कहने लगे—'देव! हमें आज्ञा दीजिये, हमें जाकर पापी सदागम को मार डालना चाहिये।' प्रत्येक योद्धा की आवाज एक-साथ होने से सभा-स्थल में खलबली मच गयी।

इस परिस्थिति को देखकर महामोह राजा ने कहा—मेरे वीर सैनिकों! तुम सब कथनानुसार करने वाले ही हो। किन्तु, महापापी सदागम ने संसारी जीव के पास मेरे द्वारा प्रेषित ज्ञानसंवरण का अपमान किया है, अतः उस दुरात्मा का हनन मेरे हाथों से ही हो, यह उचित है। वीरों! मैं तुम सब का सामूहिक रूप ही हूँ, अतः सदागम मेरे द्वारा मारे जाने पर भी उसका श्रेय तुम सब को ही मिलेगा। क्योंकि, तुम सब मुझ में समाये हुए ही हो, इसलिये उसे मारने के लिये मेरा जाना वास्तव में तुम्हारे जाने के समान ही है। तुम सब यहीं रहो, पापी सदागम को मारने के लिये मैं स्वयं ही जाता हूँ। तुम सब स्वामीभक्त हो इसलिये सावधान रहना। तुम्हारे में से जब कभी किसी की आवश्यकता पड़ेगी तब बीच-बीच में यथा-अवसर अपना कर्त्तव्य निभाते रहना।

हे वीरों! मेरे पौत्र रागकेसरी के पुत्र सागर का मित्र परिग्रह मुझे बहुत प्रिय है, उसे यहाँ छोड़कर जाना मुझे अच्छा नहीं लगता। यह महाशक्तिशाली है

---

* पृष्ठ ६६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और समग्र दृष्टि से मेरी सहायता करने योग्य है, अतः अकेले परिग्रह को अपने साथ लेकर मैं सदागम का नाश करने जा रहा हूँ।

महाराजा महामोह का अत्यन्त आग्रह देखकर सब ने मस्तक झुका कर उनके कथन को मान्य किया। [६०८-६१९]

हे भद्रे! तत्पश्चात् महामोह और परिग्रह अत्यन्त उत्साह पूर्वक मेरे समीप आये। मैंने इन दोनों को आते हुए देखा। हे चपललोचना सुन्दरि! अनादि काल से इनके विषय में अभ्यस्त होने के कारण मेरा इनसे स्नेह-सम्बन्ध पुनः शीघ्र ही स्थापित हो गया।

उसी समय मेरे पिता श्री जीमूतराज नरेन्द्र की मृत्यु हुई। सभी सम्बन्धियों और मंत्रियों ने मुझे राजगद्दी पर बिठाया। सभी सामन्तों ने मेरी आज्ञा स्वीकार की। शत्रु मेरे दास हो गये। अनेक विभूतियों से परिपूर्ण समृद्ध राज्य मुझे प्राप्त हुआ। मेरे राज्य-प्राप्ति का आन्तरिक कारण तो मेरा पुण्योदय मित्र था किन्तु महामोह के स्नेह में मग्न मैंने उस समय उसे नहीं पहचाना और यह सब परिग्रह मित्र का प्रभाव ही समझा। [६२०-६२४]

इधर जब मेरा मन शरीर, विषयभोग, राज्य, चित्र-विचित्र * विभूतियों और पौद्गलिक पदार्थों की तरफ आकर्षित होता रहता था उस समय सदागम मुझे परामर्श देता—भाई धनवाहन! ये सभी वस्तुएँ क्षणभंगुर हैं, दुःख से पूर्ण हैं, मल से भरी हुई हैं, तेरे स्वभाव से विपरीत हैं, बाह्य-भ्रमण कराने वाली हैं, अतः हे धनवाहन! तू इन पर मूर्छा मत रख। तेरी आत्मा ज्ञान, दर्शन, वीर्य और आनन्द से पूर्ण है। यह आनन्द स्थिर, शुद्ध और स्वाभाविक है और तुझे अन्तर्मुखी करने वाला है। अतः हे नरोत्तम! तुझे उसी तरफ आकर्षित होना चाहिये। जिससे तू निरंतर आनन्द और निर्वृति को प्राप्त कर सके। [६२५-६२८]

दूसरी तरफ महामोह मुझे शिक्षा देता कि मेरा राज्य, संपत्तियां, शरीर, शब्दादि इन्द्रिय-भोग और अन्य सभी जो ऐसे पदार्थ हैं वे स्थिर हैं, सुखपूर्ण हैं, निर्मल हैं, हितकारी हैं और उत्तम हैं। महामोह पुनः कहता कि जीव, देव, मोक्ष, पुनर्जन्म, पुण्य, पापादि कुछ भी नहीं है। यह संसार पंचभूत का बना हुआ है। अतः हे धनवाहन! जब तक शरीर है तब तक इच्छानुसार खाओ, पीओ, आनन्द करो, रात-दिन सुन्दर भोग भोगो और मनोहर नेत्र वाली ललित ललनाओं के साथ यथेष्ठ काम-सुख भोगो। पहला मूर्ख पुरुष तुझे जो सीख देता है उसे तू मत मान। [६२९-६३३]

इसी समय परिग्रह कहने लगा—हे धनवाहन! सोना, अनाज, रत्न, आभूषण आदि प्रयत्न पूर्वक एकत्रित कर। अर्थात् तू घर बना, जमीन खरीद और चारों तरफ अपनी समृद्धि को बढ़ा। इसके लिये यथाशक्य प्रयत्न कर। जो प्राणी

---

* पृष्ठ ६६१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त धन का भली प्रकार रक्षण करता है और अप्राप्त के लिये प्रयत्न करता है, जो कभी संतुष्ट होकर नहीं बैठता, उसी को निरन्तर सुख प्राप्त होता है। [६३४–६३५]

हे सुलोचने ! सदागम, महामोह और परिग्रह की ऐसी भिन्न-भिन्न शिक्षा को सुनकर मेरा मन किञ्चित् डांवाडोल हो गया। मैं निर्णय नहीं ले सका कि मुझे क्या करना और क्या नहीं करना चाहिये। इसी समय ज्ञानसंवरण जो छिप गया था, महामोह की उपस्थिति से उसमें पुनः शक्ति आई और भय छोड़कर वह मेरे शरीर में पुनः प्रविष्ट हो गया। इससे सदागम द्वारा दिया गया उपदेश और उसका रहस्य मेरी समझ में नहीं आया और उसकी मधुर वाणी से मेरा चित्त रंजित नहीं हुआ। हे भद्रे ! अनादि काल से अत्यन्त अभ्यस्त होने के कारण महामोह और महापरिग्रह का कथन मुझे सचोट लगा और वह मेरे हृदय में जम गया। अतः मैंने देव-पूजा, गुरु-वन्दन, नमस्कार मंत्र का जाप आदि धर्मक्रियाओं का त्याग कर दिया और भोगों में आसक्त हो गया। मैंने साधुओं को दान देना और अन्य सत्कार्यों में धन का उपयोग करना बन्द कर दिया तथा अधिकाधिक धन एकत्रित करने लगा। प्रजा पर नये-नये कर थोपने लगा जिससे प्रजा कर के बोझ से दब-सी गयी। फिर मुझे सभी सांसारिक कार्यों में अत्यन्त गाढ आसक्ति होने लगी। मोहराज अपनी शक्ति का यथाशक्य उपयोग करने लगा। सदागम के प्रति मुझे तनिक भी रुचि नहीं रही। परिग्रह के वशीभूत मुझे सब कुछ कम ही नजर आने लगा। चाहे जितनी प्राप्ति हो फिर भी मेरी इच्छा कभी पूरी नहीं होती। जितना अधिक मिले उससे भी अधिक अर्थात् समस्त धन प्राप्त करने की इच्छा होती रहती। * मेरी आन्तरिक स्थिति को ऐसी देखकर सदागम मुझ से दूर चला गया। महामोह और परिग्रह मेरे आन्तरिक राज्य के स्वामी बन गये। उनकी इच्छा पूरी हुई जिससे उन्हें प्रसन्नता और संतोष हुआ। [६३६–६४४]

अकलंक मुनि और कोविदाचार्य का आगमन

अन्यदा कोविदाचार्य मेरे मित्र अकलंक और अन्य साधुओं के साथ भिन्न-भिन्न स्थानों में विहार करते हुए मेरे नगर में आये। मैं वैसे किसी साधु को वन्दन करने नहीं जाता था, पर अकलंक से मेरा पुराना गाढ स्नेह था इसलिये उसे प्रसन्न करने के लिये वहाँ गया और अकलंक तथा उसके गुरु कोविदाचार्य तथा अन्य सभी मुनियों को नमस्कार किया।

कोविदाचार्य ने अपने ज्ञान बल से मेरा पूरा इतिवृत्त (चरित्र) जान लिया था। अन्य लोगों से भी अकलंक ने मेरे बारे में बहुत कुछ सुन लिया था। अतः प्रसंगानुसार मुनि अकलंक ने अपने आचार्य से कहा—नाथ ! सदागम का क्या महत्त्व है और उसकी कितनी शक्ति है ? यह राजा धनवाहन को समझाने की कृपा

* पृष्ठ ६६२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करें। साथ ही दुर्जनों की संगति से प्राणियों में क्या-क्या दूषण उत्पन्न होते हैं? क्या-क्या हानि होती है? यह भी आप उसे विशेष रूप से बतलाइये, जिससे इसको सत्य मार्ग का सम्यक् प्रकार से ज्ञान हो सके। यदि यह सदागम की भक्ति करे और महामोह एवं परिग्रह की दुष्ट संगति छोड़ दे तो इसे इस भव तथा पर भव में अतुल सुख प्राप्त हो। अतः हे विभो! आप कृपा कर इसे सत्य का परिचय कराइये।

[६४५-६५०]

कोविदसूरि ने स्वीकृति दी, फिर मुझे ध्यानपूर्वक सुनने को कहा। अकलंक के आग्रह से मैं सूरि महाराज के निकट बैठा और सूरि महाराज ने अपनी कथा हमें सुनाई।

---

१२. श्रुति, कोविद और बालिश

[अकलंक मुनि के कहने से मन में आचार्य भगवान् की कथा के प्रति निरादर होते हुए भी अपने चित्त को अन्यत्र लगाकर मैं कथा सुनने तो बैठ गया, पर मुझे उनकी कथा में कोई रुचि नहीं थी।]

आचार्य महाराज ने कथा प्रारम्भ की :—

एक क्षमातल नामक नगर है जिसके राजा का नाम स्वमलनिचय और रानी का नाम तदनुभूति है। इनके कोविद और बालिश नामक दो पुत्र हैं। कोविद का पूर्वजन्म में सदागम से परिचय हुआ था। जब कोविद ने इस जन्म में फिर से सदागम को देखा तब ऊहापोह (विचार) करते-करते उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया, जिससे पूर्वकाल का परिचय स्मृति में आ गया और सदागम को देखकर उसके चित्त में आनन्द की वृद्धि हुई। फिर यह समझ कर कि यही मेरा हितकारी गुरु है उसने सदागम को अपना गुरु स्वीकार किया। कोविद ने सदागम का स्वरूप बालिश को भी समझाया, किन्तु उसके हृदय में पाप होने से उस दुर्बुद्धि ने उसे स्वीकार नहीं किया।

कोविद का श्रुति के साथ लग्न

इधर कर्मपरिणाम महाराज ने अपनी कन्या श्रुति को कोविद और बालिश के पास भेजा। यह कन्या स्वयंवर द्वारा विवाह करने की इच्छुक थी। कन्या के साथ एक संग नामक दासपुत्र था। यह दासपुत्र सम्बन्ध कराने में अतीव निपुण और चालाक था तथा सर्वदा श्रुति के आगे-आगे चलने वाला था। संग को श्रुति से पहले ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वहाँ भेज दिया गया था। श्रुति ने कोविद और बालिश दोनों को पसद किया और दोनों से विवाह किया।

कोविद और बालिश के स्वाधिकार में निजदेह नामक पर्वत था जिसके ऊपर मूर्धा नामक महाशिखर था। इस शिखर के दोनों तरफ श्रवण नामक कपाट युक्त दो कक्ष थे। श्रुति ने इन दोनों कक्षों को देखा और अपने निवास के लिये पसंद किया। पति की आज्ञा लेकर वह इन दोनों कमरों में रहने लगी। इस प्रकार श्रुति श्रवणप्रासाद में कोविद और बालिश के साथ विचरण करने लगी।

बालिश और श्रुति

इधर श्रुति को प्राप्त कर * बालिश प्रसन्न हुआ। अत्यन्त हर्षित होकर वह सोचने लगा कि, अहा ! मैं बहुत भाग्यशाली हूँ कि मुझे पुण्य के प्रभाव से इतनी सुन्दर मनोहर श्रुति नामक स्त्री प्राप्त हुई है। मैं भाग्यवान हूँ, कृतकृत्य हूँ, पुण्यवान हूँ। [६५१-६५२]

उसे श्रुति के प्रति स्नेहपरायण जानकर, अवसर देखकर एक दिन संग उसके पास गया और मधुर वाणी में बोला—

हे देव ! आपके अत्यन्त हितेच्छु कर्मपरिणाम महाराजा ने मेरी स्वामिनी श्रुतिदेवी का विवाह आपके साथ किया यह बहुत ही उत्तम कार्य हुआ। महाराज ! रूप, वय, कुल, शील और लावण्य में समानता होने पर पति-पत्नी में परस्पर प्रेम होता है, किन्तु इन सब में समानता बहुत कठिनाई से प्राप्त होती है। आप पुण्यवान हैं कि आपको पुण्य-कर्मों से इन सब में समानता प्राप्त हुई है। अब इस मनोहर प्रेम-सम्बन्ध को यथाशक्य अधिकाधिक बढ़ाने की आवश्यकता है। [६५३-६५६]

शठात्मा दासपुत्र संग के वाक्य सुनकर बालिश बोला—भाई संग ! तेरी बात तो ठीक है, पर यह तो बता कि यह प्रेम-सम्बन्ध कैसे बढ़े ?

संग—प्रिया को जो वस्तु अधिक प्रिय हो, उसका उसे बार-बार उपभोग करवाने से प्रेम-सम्बन्ध बढ़ता है।

बालिश—मेरी प्रिया को कौनसी वस्तु अधिक प्रिय है, यह तो बता ?

संग—देव ! इन्हें मधुर ध्वनि बहुत प्रिय है।

बालिश—यदि ऐसा ही है तो मैं ऐसा प्रबन्ध कर दूंगा कि एक क्षण के भी विश्राम बिना वह निरन्तर मधुर ध्वनि सुनती ही रहे।

संग—धन्यवाद कुमार ! आपकी बड़ी कृपा।

प्रियतमा को प्रिय वस्तु को बताने वाले उसके दासपुत्र संग पर बालिश को अत्यधिक प्रेम उत्पन्न हुआ, अतः उसने उसे अपने हृदय में स्थापित कर लिया। [६५७-६६०]

* पृष्ठ ६६३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके पश्चात् बालिश श्रुति को वीणा, वेणु, मृदंग, काकली, गीत आदि मधुर स्वर और गायन सुनाने लगा। जब श्रुति इससे प्रसन्न होती तो वह प्रमुदित होता और मन में समझता कि वह बहुत सुखी है। इस संसार में उसे स्वर्ग का सुख मिल गया है। वह सचमुच भाग्यवान है कि उसे सततानन्ददायी श्रुति जैसी पत्नी मिली। [६६१-६६२]

बालिश दासपुत्र संग को अपने हृदय में स्थापित कर अत्यन्त स्नेह से उसकी चापलूसी करते हुए, सुन्दर मधुर ध्वनि, राग-रागिनियों और वादित्रों के नाद से श्रुति का पालन-पोषण करने लगा। अन्त में वह राग-रागिनियों में इतना डूब गया कि उसने दूसरे सब काम छोड़ दिये, धर्म को दूर से ही नमस्कार किया और छैल-छबीला जैसा व्यवहार करने लगा, जिससे वह विवेकीजनों की दृष्टि में हास्यपात्र बन गया। [६६३-६६४]

कोविद और श्रुति

इधर कोविद ने सदागम से पूछा - महाराज ! श्रुति स्वयं चलकर मेरे पास आई और मेरा वरण किया, अतः वह मेरी हितेच्छु है या नहीं ? कृपा कर बतलाइये।

सदागम—हे नरोत्तम कोविद ! जब यह तेरी पत्नी दासपुत्र संग के साथ हो तब वह तनिक भी हितेच्छु नहीं है। इसका कारण मैं बतलाता हूँ, तू सुन।

रागकेसरी राजा के मंत्री ने पहले संसार को वश में करने के लिये पाँच अधिकारी भेजे थे उनमें से एक यह है। रागकेसरी मोहराजा का पुत्र है और कर्मपरिणाम महाराजा का भतीजा है। रागकेसरी कर्मपरिणाम महाराजा का मंत्री भी है और जगत् प्रसिद्ध लुटेरा भी है। महामोह का तो सारा कार्य यही करता है। सभी लोग विश्वासपूर्वक जानते हैं कि कर्मपरिणाम महाराजा सब से अधिक बलवान, सर्वश्रेष्ठ * और सभी प्राणियों का बुरा-भला करने वाले हैं। यदि लोगों को यह मालूम हो जाय कि श्रुति इस लुटेरे रागकेसरी की पुत्री है, तो कोई उससे विवाह करने को तैयार न हो। अतः रागकेसरी ने अपने विशेष सेवक संग को श्रुति की सेवा में नियुक्त कर दिया है तथा उसको सब गुप्त बातें बताकर पहले से ही यहाँ भेज दिया है। वह श्रुति को कर्मपरिणाम की पुत्री बतलाता है, परन्तु वस्तुतः श्रुति रागकेसरी की ही पुत्री है। दुरात्मा रागकेसरी ने संसार को ठगने के लिये अपनी कन्या को संग के साथ भेजा है, तब वह तुम्हारी हितेच्छु कैसे हो सकती है ? यद्यपि तूने उसे अपनी पत्नी बनाया है, पर वह पति को ठगने वाली है, अतः हे भद्र ! तू कभी उसका विश्वास मत करना। तूने उससे विवाह कर लिया है इसलिये अभी उसका त्याग तो नहीं किया जा सकता, पर उसके दासपुत्र संग से सदा बचकर रहना।

---

* पृष्ठ ६६४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका विश्वास करके कभी इसके कपट जाल में मत फंसना। यदि यह पापी संग तेरे पास नहीं आये तो श्रुति तेरे पास रहकर भी तेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकती, तेरे लिये दोषकारिणी नहीं बन सकती। जब श्रुति अपने सेवक संग के साथ होती है तब वह अरुचिकर शब्दों से द्वेष और मधुर ध्वनि की लोलुप बनती है, पर स्वयं यह ऐसी नहीं है। यह संग के साथ से ही विकृत होती है। जब यह संग के सहवास से राग-द्वेष के वश होकर तुझे प्रेरित करे तब यह अनेक दुःखों की परम्परा का कारण बनती है। किन्तु, संग से दूर रहकर कैसी भी वाणी सुनकर यह मध्यस्थ रहती है, राग-द्वेष रहित रहती है, इसीलिये पीड़ादायक नहीं होती। यह नीच संग अत्यन्त अधम व्यक्ति है, दुष्टात्मा है, दासीपुत्र है और अनेक प्रकार के दुःख और त्रास का कारण है, अतः वह सर्वथा त्याग करने योग्य है। [६६५–६८०]

विनम्र कोविद ने सदागम की शिक्षा/परामर्श को शांति से सुना, स्वीकार किया और श्रुति के दास संग का सर्वथा त्याग कर दिया। यद्यपि कोविद ने श्रुति का विवाह-सम्बन्ध कायम रखा, तदपि अब उसमें शब्द सम्बन्धी आतुरता या उत्सुकता जागृत नहीं होती। उसे बुरे शब्दों से द्वेष और मधुर शब्दों पर राग नहीं होता। इससे लोगों में उसकी प्रशंसा होती और वह स्वयं सुखी हो गया। यों कोविद ने संग का त्याग कर पूर्ण सुख प्राप्त किया और बालिश ने संग को हृदय-स्थित कर भरपूर दुःख प्राप्त किया। [६८१–६८३]

हे भूप! बाह्य प्रदेश में एक तुंगशिखर नामक बड़ा पर्वत है। एक दिन कोविद और बालिश उस पर्वत पर जाने लगे। इस अत्यन्त उच्च पर्वत पर देवताओं द्वारा निर्मित एक गुफा है जो बहुत विशाल है और इतनी लम्बी है कि मानव को उसका अन्त कहीं दिखाई नहीं देता। [६८४–६८५]

बालिश की मृत्यु

इधर एक किन्नर युगल और एक गन्धर्व युगल में एक दिन गायन-कला की प्रतिस्पर्धा हुई। दोनों युगल अपनी-अपनी कला को श्रेष्ठतम बताने लगे। इस प्रतिस्पर्धा का निर्णय करने के लिये उन्होंने तुंगशिखर की विशाल गुफा का स्थान चुना। परीक्षकों की उपस्थिति में परस्पर की प्रतिस्पर्धा से वे दोनों युगल अपनी-अपनी गायन-कला का वहाँ एकान्त स्थान में प्रदर्शन करने लगे। * अत्यन्त कर्ण-प्रिय मधुर ध्वनि से राग आलाप लेने लगे। हे नृप! उसी समय कोविद और बालिश भी शिखर पर पहुँच गये। गुफा के भीतर से आते युगलों के गायन के सुमधुर स्वर को सुनकर वे सावधान हो गये। [६८६–६८९]

इस समय दुरात्मा बालिश ने संग की प्रेरणा से श्रुति को गुफा के द्वार के पास खड़ा कर दिया। हृदयस्थित संग की प्रेरणा से स्वयं भी गायन सुनने में तल्लीन हो गया। बालिश ने अपना सर्वस्व श्रुति को अर्पण कर दिया था, अतः उस समय

---

* पृष्ठ ६६५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो वह श्रुतिमय ही हो गया था। वह रस में इतना लीन हो गया कि उसे कुछ भी सुध-बुध नहीं रही। संग ने भी उस समय अपनी पूरी शक्ति का प्रयोग किया जिससे बालिश बेजान होकर निर्जीव पत्थर की शिला की तरह गुफा में गिर पड़ा। बालिश के गिरने से गुफा में जोरदार धमाका हुआ। धमाके से सभी देव, गन्धर्व और किन्नर चौंक गये। रंग में भंग होने से वे सब बालिश पर क्रोधित हुए। सभी एक साथ बोल पड़े--'अरे! यह यहाँ कौन है? पकड़ो, इसे मारो।' इस प्रकार आवेश में बोलते हुए उन्होंने बालिश को बन्धनों में जकड़ दिया और लात-घूंसों के प्रहार से इतना मारा कि वह वहीं मर गया। [६६०-६६४]

कोविद की दीक्षा

इधर सदागम के उपदेश से कोविद ने संग का त्याग कर दिया जिससे श्रुति के साथ होते हुए गायन सुनकर भी वह उसमें आसक्त (मूछित) नहीं हुआ। बालिश को मार खाते और जमीन पर गिरते देखकर वह अविलम्ब पर्वत के शिखर से नीचे उतर आया और धर्मघोष नामक आचार्य के पास पहुँच गया। बालिश की घटना से उसकी विवेक बुद्धि जाग्रत हुई जिससे उसने दीक्षा ग्रहण करली और साधु बन गया। अनुक्रम से उसके गुरु ने उसे अपने स्थान पर आचार्य पद प्रदान किया। हे राजन्! वही कोविद मैं स्वयं हूँ। [६६५-६६८]

राजेन्द्र! मेरा भाई बालिश अपने शत्रु रूप मित्र संग की संगति से व्यथित हुआ, अनेक दुःख प्राप्त किये और अन्त में मृत्यु को प्राप्त हुआ। हितकारी महात्मा सदागम ने मुझे ऐसे दुःख-जाल से बचाया, क्योंकि उनके उपदेश से ही मैंने संग का त्याग किया था। फिर संयम ग्रहण करने के पश्चात् तो मेरे लिये सर्वदा आनन्द ही आनन्द है। यह सब उपकारी सदागम का ही प्रताप है। अभो भो मैं सदागम के प्रत्येक निर्देश/आज्ञा का पालन करता हूँ। सदागम समस्त प्राणियों का हितेच्छु है। आत्मा में स्थित आन्तरिक शत्रुओं (मोहराज, परिग्रह) की संगति का परिणाम बहुत ही भयंकर है। हे महाराज! अतः जो प्राणी वास्तव में अपनी भलाई/हित चाहते हों उन्हें दुष्ट आन्तरिक शत्रुओं की संगति का त्याग कर सदागम के साथ सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये। [६६९-७०३]

घनवाहन का द्रव्य-आचार

हे अगृहीतसंकेता! महात्मा कोविदाचार्य की अत्यन्त सुन्दर आत्मकथा मुझे नाममात्र भी नहीं रुचि। इसके विपरीत मुझे मन में ऐसा लगने लगा कि आचार्य और अकलंक ने मिलकर किसी भी प्रकार मेरा महामोह और परिग्रह से साथ छुड़ाकर सदागम से संगति कराने के लिये ही यह षड्यन्त्र रचा है।

[७०४-७०५]*

* पृष्ठ ६६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार मेरे मन में विचार चल रहे थे और 'मुझे क्या करना चाहिये' इस चिन्ता में पड़ा हुआ था। उसी समय मेरे मन के विचारों और आशय को समझने वाले मुनि अकलंक ने झट से अवसरानुसार बात छेड़ दी। वे बोले—भाई घनवाहन! आचार्य भगवान् की वाणी तुझे बराबर समझ में आई या नहीं? उत्तर में मैंने कहा—हाँ भाई! बराबर समझ गया। बुद्धिमान् अकलंक ने अवसर का लाभ उठाकर तुरन्त कहा—यदि बराबर समझ में आ गई हो तब तो आज से ही उसी के अनुसार आचरण करना प्रारम्भ कर देना चाहिये। [७०६–७०७]

अकलंक पर मेरा अत्यन्त स्नेह था, भगवान् कोविदाचार्य के आस-पास का वातावरण भी अचिंत्य रूप से प्रभावित था, मेरी कर्मग्रंथि भी नष्ट होने के निकट पहुँच गई थी और मुझ में आचार्य के समक्ष कुछ कहने की सामर्थ्य भी नहीं थी, अतः मैंने अकलंक की बात स्वीकार करली। उसी समय पुनः सदागम फिर मेरे निकट आ पहुंचा। मैंने फिर से चैत्यवंदन आदि कृत्य प्रारम्भ कर दिये। पहले मैंने जो धर्म का अभ्यास किया था उसे फिर से याद किया, ताजा किया और फिर से दान आदि देना प्रारम्भ किया। इस समय महामोह और परिग्रह मेरे से थोड़े दूर खिसक गये थे। इन सब का ग्रहण मैंने मात्र अकलंक की लज्जा से ऊपर-ऊपर से किया था। मेरे मन में तो इनके प्रति किंचित् भी प्रेम नहीं था, क्योंकि मैंने इन सब को अन्तर्मन से स्वीकार नहीं किया था।

उस समय अकलंक को तो ऐसा लगने लगा मानो मेरी सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति कम हुई हो, मानो धनसंचय के सम्बन्ध में अब मुझे संतोष हो गया हो और सदागम के साथ मेरा पूर्ण सम्बन्ध हो गया हो। मेरी स्थिति को सुधरा हुआ समझ कर अकलंक मुनि और आचार्य महाराज वहाँ से विहार कर अन्यत्र चले गये।

१३. शोक और द्रव्याचार

हे भद्रे! अकलंक मुनि के अन्यत्र विहार करते ही महामोह और परिग्रह फिर जाग्रत हुए, प्रसन्न हुए और मेरे निकट आगये तथा सदागम फिर मुझ से दूर चला गया। मैं फिर दान आदि सत्कार्यों के प्रति शिथिल हो गया। धर्मोपदेश पूर्णतः भूल गया और एकदम पशु जैसा बन गया। मुझ में जो धर्मांकुर उगे थे वे व्यर्थ हो गये। धीरे-धीरे मैं पुनः विषय-सेवन में मूर्छान्धि और धन एकत्रित करने में तल्लीन हो गया। अनेक स्त्रियां और सुवर्ण एकत्रित करने में मैं प्रजा को अनेक प्रकार से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पीड़ित करने लगा। अनेक प्रकार की भोग-तृप्ति के लिये मैंने महलों में हजारों स्त्रियां एकत्रित कीं, सोने से सैकड़ों कुँए भर दिये और महामोह के अधीन होकर पृथ्वी को स्वर्ण रहित बना दिया। इस संसार में ऐसा कौनसा पाप होगा जो मैंने मोह और परिग्रह के वश में होकर न किया हो! मेरी सारी इच्छायें मेरे अन्तरंग मित्र पुण्योदय की कृपा से पूरी होती थी, पर मैं मोह और परिग्रह के वशीभूत इस तथ्य को न समझ सका। उसे प्रेम का प्रत्युत्तर भी नहीं दिया, जिससे वह मुझ पर कुछ क्रोधित हो गया। [७०८–७१३]

शोक का आगमन

उसी समय मेरी हृदयवल्लभा प्रिया मदनसुन्दरी जो मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय थी वह शूल-व्याधि से पीड़ित हुई। थोड़े दिन व्याधिग्रस्त रही और अन्त में मृत्यु को प्राप्त हुई। मेरे हृदय पर भारी आघात लगा। [७१४]

इसी समय महामोह का एक बड़ा योद्धा शोक, जो अत्यन्त विनयी सेवक था, अपने स्वामी के पास आया। आदर-पूर्वक अपने स्वामी को प्रणाम किया और अवसर देखकर अत्यन्त कपट-पूर्वक मुझ में समा गया। [७१५–७१६]

देवी मदनसुन्दरी को पुनः-पुनः याद कर मैं उच्च स्वर से रोने लगा, चिल्लाने लगा, सिर पीटने लगा और आँसू गिराने लगा। मैंने अपने शरीर-संस्कार और राज्यकार्य पर ध्यान देना एकदम बन्द कर दिया और अत्यन्त दुःखित अवस्था में ऐसा बन गया मानो मुझे कोई ग्रह लगा हो। [७१७–७१८]

अकलंक का उपदेश

किसी ने अकलंक मुनि के पास मदनसुन्दरी की मृत्यु और मेरे शोकमग्न होने के समाचार पहुँचा दिये। यह सुनकर * मुझ पर कृपा कर वे मेरे नगर में पधारे। उन्होंने आकर देखा कि मैं एकदम शोकमग्न हूँ और मैंने सभी सत्कार्य छोड़ दिये हैं, तब मुझ पर दया कर उन्होंने कहा—भाई घनवाहन! यह तू क्या कर रहा है? क्या तू मेरा वचन एकदम भूल गया है? क्या तूने सदागम को छोड़ दिया है? अरे! इन दुष्टों ने तुझे सचमुच ठग लिया है। भाई! तू तो सब कुछ समझता था, आंतरिक रहस्य जानता था, फिर ऐसी बच्चों जैसी चेष्टा क्या तुझे शोभा दे रही है? शोक तुझे बार-बार मदनसुन्दरी की याद दिलाकर तेरे चित्त को व्याकुल कर रहा है, क्या तू यह नहीं जानता? मेरी बतायी सब बातें भूल गया? अरे! तनिक सोच तो सही! सभी प्राणी यमराज के मुंह में ही हैं तथापि उनका एक क्षण का जीवन भी आश्चर्यजनक ही है। यमराज कब ग्रास बना लेगा यह कोई नहीं जानता। यमराज इतना क्रूर है कि यह प्रेम, बन्धन, अवस्था, सम्बन्ध किसी की भी अपेक्षा नहीं करता। मदमस्त हाथी की तरह उसके मार्ग में जो भी आता

* पृष्ठ ६६७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है उसका कचूमर निकाल देता है। यह कृतान्त (यमराज) हिमकण जैसा व्यवहार कर सज्जन रूपी सुन्दर कमल और लोगों की आंखों के तारों को क्षण भर में सुखा देने वाला है। मनुष्य शरीरधारी को मंत्र-तंत्र, धन के ढेर, बड़े-बड़े निपुण वैद्य, रामबाण औषधियां, भाई-बन्धु और स्वयं इन्द्र भी यमराज से नहीं छुड़ा सकता। मृत्यु ऐसा उपद्रव है जिसका प्रतीकार/प्रतिशोध अशक्य है। एक दिन सभी को जाना है, फिर इस सिद्ध मार्ग पर किसी को जाते देख कर कौन समझदार व्यक्ति घबरायेगा ? विह्वल होगा ? [७१६–७२८]

महाभाग्यशाली अकलंक मुनि मेरे शोक को दूर करने के लिये अश्रान्त होकर प्रतिदिन मुझे धर्मोपदेश देते रहते। भिन्न-भिन्न प्रकार से जीवन-मरण के सम्बन्ध में बताते। मृत्यु सम्बन्धी विशिष्ट तत्त्वज्ञान के झरने मेरे समक्ष बहाते, परन्तु महामोह के वशीभूत मैं शोक की चाल ही चलता और महात्मा अकलंक के वचनों पर ध्यान नहीं देता। मैं हतबुद्धि होकर बार-बार रोता। हे बाले ! प्रिये ! प्रियतमे ! सुन्दरी ! प्रेमिके ! हे सुमुखि ! हे कमलनयने ! सुन्दर भौंरों वाली ! कान्ता ! मृदुभाषिणी ! पतिवत्सला ! पतिप्रेमी ! पतिव्रता ! हा देवी मदनसुन्दरी ! तेरे प्राणप्यारे घनवाहन को इस प्रकार रोता छोड़कर तू कहाँ चली गई ? प्यारी ! तू मुझे शीघ्रता से एक बार अपना दर्शन देदे। इस रोते विरही से एक बार बात करले। प्रिये ! यहाँ आकर एक बार मुझ से मिल जा और मेरी इस अत्यन्त दयनीय स्थिति को अपनी उपस्थिति से दूर कर दे।

हे भद्रे ! मैं तो महात्मा अकलंक के समक्ष भी निर्लज्ज होकर इस प्रकार अनर्गल प्रलाप करता रहता और वे मुझे बार-बार उपदेश दे रहे हैं, इस पर तनिक भी लक्ष्य नहीं देता। [७२६–७३४]

हे भद्रे ! महामति अकलंक सब कुछ देखते, मोह के साम्राज्य पर विचार करते। स्वयं महाबुद्धिशाली, दयावान, परोपकारी तथा मेरे प्रति स्नेहशील होने से मेरी दयनीय स्थिति को देखकर वे पुनः मुझे उपदेश देने लगे :—[७३५]

महाराज घनवाहन ! तेरे जैसे के लिये ऐसा बच्चों जैसा व्यवहार योग्य नहीं है। तू पुरुषत्वहीनता को छोड़, धैर्य धारण कर, अन्तःकरण से स्वस्थ बन, अपनी आत्मा को स्मरण कर, अपना एकान्त अहित करने वाले महामोह का त्याग कर, शोक को * छोड़ और परिग्रह का सम्पर्क शिथिल कर। सदागम का अनुसरण कर और उसके उपदेश के अनुसार आचरण कर जिससे कि मेरे चित्त को प्रसन्नता हो। भाई ! क्या तू इतने ही दिनों में उन प्रथम मुनि की लोकोदर में आग (संसाराग्नि) की कथा भूल गया ? क्या तू संसार मद्यशाला की कथा भी भूल गया ? क्या संसार अरहट चक्र की बात भी तुझे याद नहीं रही ? क्या संसार मठ में रहने वाले लोगों के सन्निपात और उन्माद की बात तेरे लक्ष्य में नहीं रही ? मनुष्य

* पृष्ठ ६६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन्म रूपी रत्नद्वीप की दुर्लभता का भी क्या तुझे ध्यान नहीं रहा ? संसार बाजार में रहने वाले लोगों की स्थिति का पर्यालोचन कर क्या तुझे वैराग्य नहीं होता ? अरे ! क्या तुझे तेरे चित्त रूपी बन्दर के बच्चे की चपलता भी स्मृति में नहीं रही ? क्यों भूल गया कि इस चित्त की निरन्तर रक्षा की आवश्यकता है। यदि तू उसकी रक्षा करना स्वीकार करता है तो फिर तदनुसार आचरण क्यों नहीं करता ? भाई ! क्यों विषवृक्षों पर कूद रहा है ? क्यों लोट-पोट होकर अर्थनिचय नामक पत्र-फल-फूल रूपी कर्मरज को अपने शरीर पर चिपका रहा है ? तू मोक्षमार्ग को भली प्रकार जानकर भी अपनी आत्मा को महाघोर नरक की तरफ क्यों घसीट रहा है ? तेरे चित्त की रक्षा द्वारा तेरी आत्मा को शिवालय मठ में पहुँचाने का जो उपाय बताया गया है, उसको उपयोग में लेकर अपने को सततानन्दी मोक्ष में क्यों नहीं ले जाता ? हे महाराज ! संसारी प्राणियों के लिये विपत्तियाँ तो हस्तगत के समान पग-पग पर हैं, प्रियजनों का वियोग भी सुलभ है, बड़ी-बड़ी बीमारियाँ दूर नहीं जो चलते-फिरते भी हो जाती हैं, दुःख भी एकदम पास में ही है जो क्षण-क्षण में चिपकने वाले हैं और मृत्यु तो निश्चित ही है। अतः निर्मल विवेक ही प्राणी का सच्चा रक्षक है, यही वास्तविक आधार है, अन्य कोई नहीं।

शोक का पलायन

बहिन अगृहीतसंकेता ! जैसे गहरी नींद में सोये को आवाजें देकर उठाया जाय, विष के असर में झूमते हुए व्यक्ति को संस्फुरायमान प्रबल मंत्रों द्वारा स्थिर किया जाय, मद्य के नशे में मदमस्त बने प्राणी का आकस्मिक भय द्वारा नशा उतारा जाय, या मूर्छित प्राणी को शीतल जल और पवन के योग से सचेत किया जाय और सन्निपात-ग्रस्त व्यक्ति की उन्मत्तता निपुण चिकित्सक की नियमानुसार चिकित्सा द्वारा ठीक की जाय, वैसे ही अकलंक मुनि की उपर्युक्त विस्तृत सुन्दर वचन-पद्धति से मुझ में कुछ शुद्धि आई, मैं स्थिर हुआ और मुझ में चेतना जाग्रत हुई।

इस स्थिति को देख शोक महामोह के पास गया और नमस्कार कर बोला—देव ! अब मैं जा रहा हूँ, अकलंक मुझे यहाँ रहने नहीं देता, बैठने नहीं देता। यह तो लट्ठ लेकर मेरे पीछे पड़ा है।

महामोह—वत्स शोक ! यह अकलंक बहुत ही क्रूर है, अति विषम है। यह धनवाहन के साथ मिल कर बेचारे को ठग रहा है, उसे विपरीत मार्ग पर ले जा रहा है। अब हमारा क्या होगा ? कुछ समझ में नहीं आता। अभी तो तू जा, पर सावधान रहना। हमारा मिलन आगे फिर कभी होगा।

शोक—'जैसी महाराज की आज्ञा' कहकर वह वहाँ से विदा हुआ।

मैंने भी अकलंक मुनि के वचन स्वीकार किये। सदागम के प्रति प्रेम प्रदर्शित किया तथा महामोह और परिग्रह के प्रति किंचित् तिरस्कार जताया। पहले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सीखे हुए ज्ञान का फिर से प्रत्यावर्तन किया, नये शास्त्रों को पढ़ने के प्रति आदर दिखाया, जिन मन्दिर बनवाये, प्रतिमायें स्थापित करवाईं, तीर्थ-यात्रायें कीं, स्नात्र महोत्सव करवाये और सुपात्रों को दान दिया। मेरी शुभ क्रियाओं को देखकर अकलंक मुनि को मन में संतोष हुआ कि उसने मुझे गुणवान बना दिया है, मुझे सुमार्ग पर ले आया है।

---

१४. सागर, बहुलिका और कृपणता

महामोह के विशेष अंगरक्षक और अति समर्थ सागर (लोभ) ने जब अपने मित्र परिग्रह की दुर्दशा सुनी तब उसे अपने मन में अत्यन्त दुःख हुआ और वह मित्र की सहायता के लिये मेरे पास आने को तत्पर हुआ।* इसके लिए उसने राग-केसरी से आज्ञा मांगी, जो उसे प्राप्त हो गयी। उस समय वहाँ बहुलिका भी उपस्थित थी, उसने अपने पिता रागकेसरी से कहा—पिताजी! जहाँ सागर जाय वहां मुझे तो अवश्य ही जाना चाहिये। आप तो जानते ही हैं कि वह मेरे बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता।

बहुलिका की मांग पर विचार करते हुए रागकेसरी ने उत्तर में कहा—पुत्रि! अच्छी बात है, यदि ऐसा ही है तब तू भी जा। पर, कृपणता तो सागर का शरीर और प्राण ही है। जब तू जा रही है तो उसे भी साथ लेती जा, इससे सागर को भी धैर्य रहेगा। बहुलिका और कृपणता दोनों बहिनें भी साथ आ रही हैं यह जानकर सागर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने पिताजी की कृपा का आभार माना और दोनों बहिनों के साथ मेरे पास आ पहुँचा।

इन तीनों को मेरे पास आते देखकर महामोह और परिग्रह भी अत्यन्त प्रसन्न हुए। आते ही कृपणता ने मेरा आलिंगन किया जिससे मेरे मन में विचार उत्पन्न हुआ कि सुख के साधन उपलब्ध कराने वाले अपने धन का अदृष्ट पारलौकिक सुख के लिए व्यय करना क्या व्यर्थ नहीं है? पर, यह अकलंक मुनि तो मुझे नित्य ही द्रव्यस्तव (पूजा, यात्रा, महोत्सवादि) करने की प्रेरणा देता है और कहता है कि महाराज घनवाहन! यदि अभी तेरी भावस्तव (त्याग, समता, आत्मरमणतादि) करने की क्षमता नहीं है तो द्रव्यस्तव का आदर किया कर, आचरण किया कर।

---

* पृष्ठ ६६९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धीरे-धीरे भावस्तव की क्षमता भी आजायेगी। उनके कहने से मैंने विपुल धन व्यर्थ मे ही खर्च कर दिया, अब मुझे क्या करना चाहिये ?

कृपणता के प्रभाव से मैं उपर्युक्त चिंता में पड़ा ही था कि तभी बहुलिका ने भी मेरा आलिंगन किया जिससे मेरे मन में कुबुद्धि उत्पन्न हुई। मैं सोचने लगा 'यदि मैं किसी युक्ति से अकलंक मुनि का यहाँ से विहार करा सकूं तो मेरा यह व्यर्थ का खर्चा बच सकता है।' यह सोचकर मैं अकलंक मुनि के पास आया और विनय पूर्वक निवेदन किया—'भगवन् ! आपकी बड़ी कृपा है कि आप मेरे उपकार के लिए यहाँ पधारे। वह कार्य अब सम्पूर्ण हुआ और आपका मासकल्प (शेषकाल) भी समाप्त हुआ। महात्मा कोविदाचार्य को मन में बुरा लगेगा कि विहार का समय हो जाने पर भी हमने आपको रोक कर रखा। आपके अधिक रुकने से हमें भी उपालम्भ मिलेगा, अतः अब आप यहाँ से विहार कीजिये। मैं आपके आदेशों का पूर्ण रूप से पालन करूंगा। आप इस सम्बन्ध में तनिक भी चिन्ता न करें, निश्चिन्त रहें।' मेरा कथन सुनकर मुनि अकलंक वहाँ से विहार कर अपने गुरु के पास चले गये।

परिग्रह पर पुनः आसक्ति

अकलंक मुनि के जाते ही सागर (लोभ) के निर्देश से मैंने धर्म कार्यों में होने वाले धन-व्यय को बन्द कर दिया और पुनः परिग्रह में आसक्त हो गया। [७३६]

मुझे फिर से अपने में आसक्त जानकर परिग्रह ने अपने मित्र से कहा—मित्रवत्सल सागर ! मैं तो प्रत्यक्षतः क्षय हो रहा था, तुमने आकर मुझे बचा लिया। मित्र ! तुझ से भी अधिक अपने भाई पर वात्सल्य रखने वाली इस कृपणता बहिन ने इस समय मुझे जीवनदान दिया है। बहुलिका भी मेरी परम उपकारिणी है, इसी ने मेरे प्रगाढ़ महाशत्रु अकलंक को यहाँ से निर्वासित करवाया है। हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुमने बहुत अच्छा किया कि समय पर पहुँच कर मेरी रक्षा की और महाराजा महामोह के प्रति अपनी सच्ची भक्ति को प्रदर्शित किया। [७३७–७४०]

इन तीनों की प्रशंसा सुनकर महामोह ने कहा—वत्स परिग्रह ! * तू पूर्णरूप से सत्य ही कह रहा है। हे वत्स ! यह सागर तो मेरा प्राण ही है। मैंने अपनी सारी शक्ति इसमें स्थापित कर दी है जो इसमें पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हो चुकी है। मेरे सैन्यबल में यह मेरा सच्चा भक्त है, मेरा सच्चा पुत्र है, राज्य के योग्य है और तेरी रक्षा करने में सक्षम है। [७४१–७४३]

महामोह द्वारा उत्तेजित सागर मुझे अधिकाधिक वशीभूत करने में समर्थ हुआ और सदागम के सम्पर्क में बाधक बना। सागर के वशीभूत मेरी आशा-तृष्णा दिन-प्रतिदिन बढ़ती गयी और सदागम मुझ से दूर होता गया। अन्त में मैंने सभी

* पृष्ठ ६७०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्कार्यों का त्याग कर दिया और अकलंक मुनि के आने के पहले जैसा था वैसा ही हो गया। सभी प्रकार का द्रव्यस्तव शिथिल हो गया और मैं संसाररसिक बनकर महापरिग्रह में मूर्छित हो गया। [७४४–७४५]

कोविदाचार्य की शिक्षा

हे भद्रे ! कृपासागर अकलंक मुनि ने जब मेरा वृत्तान्त सुना तब उनके मन में फिर से मुझे सुमार्ग पर लाने का विचार उठा। उन्होंने अपने गुरु कोविदाचार्य को प्रणाम कर फिर से मेरे पास आने की आज्ञा मांगी।

विचक्षण आचार्य ने मुनि के हृदय के सद्भाव को समझ कर कहा —वत्स अकलंक ! तेरा यह प्रयत्न व्यर्थ होगा, अतः वहाँ जाने के कष्ट का त्याग कर। क्योंकि, जब तक महामोह और परिग्रह उसके समीप डेरा डाले पड़े हैं, तब तक हे मुनि ! उस घनवाहन पर कुछ भी असर नहीं होगा। वह कर्मशील नहीं बन सकेगा। ये दोनों मूल नायक हैं और सागर आदि अनेकों के आश्रय स्थान हैं। वे सभी एक के बाद एक उसके पास नियम पूर्वक आते रहेंगे। वह वर्तमान में उन दुष्टों के वश में हो रहा है, अतः अभी उसे कैसा उपदेश ? कैसा धर्म ? कैसे सदागम का मिलन सम्भव हो सकता है ? अभी उसे धर्मदेशना देना तो बहरे के आगे बीन बजाना, अन्धे के समक्ष नाचना और ऊसर भूमि में बीज बोने के समान है। [७४६–७५२]

कदाचित् मान लें कि तेरे प्रयास से उसमें कुछ परिवर्तन हो भी जाय तो वह बहुत ही थोड़ा और अल्पकालीन होगा तथा तुझे अपने ज्ञान-ध्यान की विशिष्ट हानि होगी। तेरे द्वारा बार-बार जागृत करने पर भी जब तक वह महामोह और परिग्रह के पाश में जकड़ा रहेगा तब तक वह महामोह की भावनिद्रा में ही पड़ा रहेगा, अतः हे आर्य ! अभी तेरा घनवाहन के निकट जाना व्यर्थ है। जिससे स्व-कार्य की हानि हो ऐसे कार्य में विचक्षण लोग नहीं पड़ते। [७५३–७५५]

अकलंक—भगवन् ! आपका कथन सत्य है, पर बेचारे इस घनवाहन का इन अनर्थकारी दुष्टों से कब छुटकारा होगा ?

विद्या और निरीहता

कोविदाचार्य—तुम्हारे जैसे प्राणी चारित्रधर्मराज के सेनापति सम्यग्दर्शन को तो जानते ही हैं। इस सेनापति ने चारित्रधर्मराज के साथ मिल कर अपने वीर्य से एक विद्या नामक अति मनोहर मानस-कन्या निर्मित की है। यह अत्यन्त रूपवती, विशाल आँखों वाली, जगत को आह्लादित करने वाली, विश्व के भाव और अर्थ को जानने वाली और सर्व अवयवों से सुन्दर है।* संसारातीत लावण्यवती यह कन्या सतत उद्दाम लीला से विलास करती हुई, स्त्री सम्बन्ध से दूर रहने वाले मुनियों को भी अति प्रिय है। यह सभी सम्पदाओं की मूल, सब क्लेशों को नष्ट करने वाली और

* पृष्ठ ६७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अक्षय आनन्द को प्राप्त कराने वाली कही गई है। जब घनवाहन इस कन्या से विवाह करेगा तब मोहराज के फन्दे से छूटेगा। यह कन्या अपनी शक्ति के कारण पापी महामोह की प्रबल विरोधिनी है। इस कारण ये दोनों कदापि एक साथ नहीं रह सकते। [७५३–७६३]

चारित्रधर्मराज की एक दूसरी निरीहता नामक निष्पाप सर्वांगसुन्दरा मनोहर कन्या है, जो विरति देवी की कुक्षि से उत्पन्न हुई है। उसके भाई उसे अत्यधिक सन्मान देते हैं और चारित्रधर्म के राज्य में वह सर्व प्रिय है। यह सम्यक्दर्शन सेनापति का अत्यन्त अभीष्ट है, सद्बोध मन्त्री की अतिवल्लभ है और स्वामीभक्त तन्त्रपाल संतोष द्वारा पाली पोषी गई है। यह स्वभाव से ही अति श्रेष्ठ है। इसकी सभी इच्छायें पूर्ण हो गई हैं, अतः वह वस्त्र, आभूषण, माला आदि शरीर-शोभा की इच्छा नहीं करती। इसे स्वर्ण, रत्न या विविध प्रकार के भोगों से आकर्षित नहीं किया जा सकता। यह भाग्यशालिनी कन्या समग्र जगत् वन्द्य मुनियों की प्रिय है, दुःखों का नाश करने वाली है और चित्त को आनन्द देने वाली है। जब घनवाहन इस लावण्यवती कन्या से विवाह करेगा तब वह पापी परिग्रह के फन्दे से छूटेगा। यह कन्या दुरात्मा परिग्रह की शत्रु है, अतः उसे देखते ही वह पापी अत्यन्त भयभीत होकर भाग जायेगा। [७६४–७७१]

अकलंक—भगवन्! महामोह और परिग्रह का निर्दलन करने वाली इन दोनों कन्याओं का लग्न घनवाहन से कब होगा?

कोविदाचार्य—बहुत समय पश्चात् घनवाहन को इन कन्याओं की प्राप्ति होगी और तभी इनका विवाह भी उसके साथ होगा।

अकलंक—यदि आपकी आज्ञा हो तो इन दोनों कन्याओं को प्राप्त करवाने में मैं घनवाहन की सहायता करूं?

कोविदाचार्य—हे महाभाग! अभी इन कन्याओं को प्राप्त करवाने का तेरे जैसे व्यक्ति को अधिकार नहीं है। इन दोनों कन्याओं को प्रदान करने का मात्र कर्म-परिणाम महाराज को ही अधिकार प्राप्त है। जब वे इन्हें देने के लिये सहमत होंगे तभी तेरे जैसे भी उसमें हेतु बन सकेंगे।* जब उन्हें लगेगा कि घनवाहन इन कन्याओं को प्राप्त करने योग्य हो गया है तभी वे सुखप्रदाता भाग्यशालिनी कन्याओं का लग्न उसके साथ करेंगे। अतएव अनधिकार चेष्टा होने के कारण तू इसकी चिन्ता छोड़ दे। जो वस्तु तेरे हाथ में नहीं है उसके लिये आग्रह मत कर और निराकुल होकर अपने स्वाध्याय ध्यान में तल्लीन हो जा।

हे भद्रे! गुरुजी के वचन को स्वीकार कर अकलंक मुनि ने मेरे बारे में चिन्ता करना छोड़ दिया और स्वयं आतुरता-रहित होकर स्वाध्याय, ज्ञान, ध्यान में तल्लीन हो गये। [७७२–७८०]

* पृष्ठ ६७२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५. महामोह का प्रबल आक्रमण

अकलंक मुनि से उपेक्षित और महामोह एवं परिग्रह के आश्रित होने के कारण इन दोनों के पारिवारिक लोग एक-एक करके मेरे पास आ-आ कर मुझे पीड़ित करने लगे। उनके अधीनस्थ एक व्यक्ति के जाते ही दूसरा आ जाता और कुछ न कुछ कारण निकाल कर मेरे पास रहने लगता। [७८१-७८२]

हे अगृहीतसंकेता! महामोह के परिवार द्वारा मैं जिस प्रकार पीड़ित किया गया, यदि उसका विस्तृत वर्णन करने बैठूं तो वह बहुत लम्बा हो जायगा और तुम भी मुझे वाचाल कहने लगोगी, इसलिये संक्षेप में कहता हूँ, सुनो—

महामोह के प्रत्येक सेनानियों का घनवाहन पर प्रयोग

चित्तवृत्ति महाटवी में प्रमत्तता नदी के बीच स्थित तद्विलसित द्वीप के बारे में तो तुम्हें याद ही होगा। पूर्ववर्णित इस द्वीप में चित्तविक्षेप मण्डप, तृष्णा वेदिका और उस पर विपर्यास सिंहासन पर बैठे महामोह राजा अपने अविद्या शरीर से शोभायमान थे, यह भी तुम्हें याद होगा। विमर्श और प्रकर्ष ने प्रस्ताव ४ में इनका वर्णन किया है। हे विशालाक्षि! यह सब वर्णन तुम्हें अच्छी तरह याद होगा। [७८३-७८७]

अगृहीतसंकेता ने कहा कि उसे यह सब याद है, अब आगे सुनाओ।

संसारी जीव ने घनवाहन के भव की अपनी कथा को आगे बढ़ाते हुये कहा—

हे सुलोचने! इस सम्बन्ध में विमर्श ने प्रकर्ष को जो बतलाया था वह तुझे स्मरण में होगा कि उस वेदिका पर मिथ्यादर्शन आदि बहुत से महामोह के अधीन राजा, योद्धा, माण्डलिक, सामन्त आदि जो अपनी स्त्रियों, परिवार और कर्मचारियों के साथ बैठे थे उनमें से प्रत्येक योद्धा सपरिवार मुझे कदर्थित करने के लिये मेरे पास आ पहुँचा। इसका कारण यह था कि इन सब का नायक महामोह मेरे समीपवर्ती था। फलस्वरूप उनमें से शायद ही कोई बचा हो जिसने मुझे त्रास न दिया हो। [७८८-७९१]

सब से पहले महामूढता ने मुझे उस भव के वर्तमान भावों और परिस्थितियों में इतना गृद्ध और मूर्छित कर दिया कि मैं सन्मार्ग से भ्रष्ट हो गया।

मिथ्यादर्शन ने सदागम को मुझ से दूर हटाया और मेरी बुद्धि में इतना भ्रम उत्पन्न कर दिया कि मैं असत्य को सत्य मानने लगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसकी पत्नी कुदृष्टि ने मुझ से धर्म-बुद्धि से अनेक दारुण पाप करवाये और मुझे अधोगति में धकेला।

रागकेसरी ने निःसार और साधुजनों द्वारा निन्दित शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयों के प्रति मेरे मन में प्रीति उत्पन्न की और मेरे मन को दुर्बल बनाया।

इसकी जगत्प्रसिद्ध पत्नी मूढता * के वश होकर मैं संसार की अनिष्टता को कभी न समझ पाया। [७६२–७६६]

महामोह के पुत्र द्वेषगजेन्द्र ने कारण, बिना कारण जहाँ-तहाँ मुझमें अप्रीति उत्पन्न की और मुझे सन्तप्त किया।

इसकी पत्नी अविवेकिता ने तो मुझे वशवर्ती बनाकर कार्य-अकार्य का विचार करने से ही रोक दिया।

रागकेसरी के मंत्री विषयाभिलाष ने मुझे शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में अत्यन्त लोलुप बनाकर अपने वश में कर लिया।

इसकी पत्नी भोगतृष्णा ने मुझे प्राप्त विषयों में गाढ मूर्छान्ध बनाया और अप्राप्त भोगों के प्रति मेरे मन में आकांक्षा उत्पन्न कर विडम्बित किया।

[७६७–८००]

हे भद्रे ! गाम्भीर्यता के प्रबल विरोधी हास्य ने मुझे बिना कारण ही बहुत बार हा-हा करके मुंह फाड़-फाड़ कर हंसाया और मेरे मुख की गम्भीरता को नष्ट किया।

हे भद्रे ! रति के वश विवश होकर मैंने मल, मूत्र, मांस, चर्बी आदि दुर्गन्धित पदार्थों से भरी हुई स्त्रियों के साथ रमण किया।

हे भद्रे ! भिन्न-भिन्न प्रसंगों को लेकर अरति ने मेरे मन को अनेक प्रकार से उद्वेलित और सन्तप्त किया।

भय ने मेरे मन में आतंक पैदा किया कि मैं मर जाऊंगा या कोई मुझे मार देगा या मेरा राज्य छीन लेगा।

प्रिय बन्धु की मृत्यु या धन के नष्ट होने आदि कारणों से शोक ने मुझे बार-बार विडम्बित किया।

जुगुप्सा ने मुझे तत्त्वमार्ग से हटाकर मिथ्याबुद्धि में लगाया और मुझे विवेकी-जनों के मध्य हास्य का पात्र बनाया।

पूर्ववर्णित पितामह महामोहराज की गोद में तूफान मचाने वाले रागकेसरी के आठ पुत्र और द्वेषगजेन्द्र के आठ पुत्र, इन सोलह कषाय बच्चों ने तो मुझे इतना उद्विग्न किया कि उसका वर्णन करना भी कठिन है। [८०१–८०८]

---

* पृष्ठ ६७३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर, ज्ञानसंवरण ने मुझे अन्तरंग ज्ञान-प्रकाश से रहित कर दिया, मेरे विचार बुद्धि और तर्क पर पर्दे डालकर मेरी मति को घेर लिया।

फिर दर्शनावरण ने मुझ से घुर्र-घुर्र करवाया, मुझे निद्राधीन कर दिया। मुझे काष्ठ जैसा मूढ और चेष्टा रहित बनाकर किसी भी प्रकार के दर्शन से विमुख किया।

हे सुन्दरांगि ! वेदनीय ने मुझे कभी अत्यन्त आह्लादित और कभी संताप-विह्वल किया।

हे सुलोचने ! आयुष्य नृपति ने मुझे बहुत लम्बे समय तक घनवाहन के रूप में कायम रखा।

नाम नामक राजा ने अपनी शक्ति प्रदर्शित कर मेरे शरीर में अनेक चित्र-विचित्र रूप बनाये।

हे सुमुखि ! गोत्र ने अपने प्रभाव से मुझे कभी उच्च वर्णीय और कभी नीच वर्णीय प्रसिद्ध किया। *

अन्तराय ने मुझे लाभ, दान, भोग, उपभोग में अपनी शक्ति को प्रकट करने से रोका। [८०६-८१४]

हे विशालाक्षि ! पापात्मा दुष्टाभिसन्धि ने मुझे आर्त्त और रौद्र ध्यान में फंसाकर मुझसे अनेक पाप करवाये।

इनके अतिरिक्त भी महामोह की सेना में जितने भी महारथी महायोद्धा थे उन सबने बारी-बारी से तत्काल ही मेरे पास आकर अपनी-अपनी शक्ति से मुझे प्रभावित किया।

मुनि अकलंक की उपेक्षा के कारण मैं अनाथ जैसा हो गया था, अतः मेरे इन भाव-शत्रुओं ने निर्भय होकर मुझे अनेक प्रकार से कदर्थित एवं पीड़ित किया। [८१५-८१७]

एक बार मुझे त्रस्त करने के लिये मकरध्वज (कामदेव) महामोह नरेन्द्र के पास आया। वह अपने साथ अपनी पत्नी रति, विषयाभिलाष मंत्री और उसके पांच कुटुम्बियों (बच्चे, पांच इन्द्रियों) को साथ लेकर आया। हे मृगलोचनि ! अपने कार्य को सिद्ध करने के लिये वह कवच-सन्नद्ध होकर हाथ में तीर कमान लेकर आया। कामदेव को देखकर मोहराज अत्यन्त प्रसन्न हुए। स्वयं कामदेव भी अपने स्वरूप को देखकर प्रमुदित हुआ। मकरध्वज के सम्मिलन से तो मोहराज मदमस्त गन्ध हस्ति की तरह अत्यन्त बाधक बनकर मुझे अनेक प्रकार की पीड़ा देने को उद्यत हो गया। [८१८-८२२]

---

* पृष्ठ ६७४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कामदेव के पुष्पबाण से आहत होते ही मैं शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध में अन्धे व्यक्ति के समान लुब्ध हो गया। मैं इन पाँचों भोगों में इतना डूब गया कि मेरी सद्बुद्धि कब नष्ट हो गई, मुझे पता ही नहीं चला। कीचड़ भरे गड्ढे में पड़े सूअर के समान मैं विषयों के अपवित्र कीचड़ में रात-दिन निर्लज्ज होकर निमग्न रहने लगा। अनेक प्रकार के भोगों को बहुत समय तक अनेक बार भोगने पर भी मुझे तृप्ति नहीं हुई। घी पिलाने से कभी दुबला बन्दर मोटा हुआ है? जितने अधिक भोग मैं भोगता उतनी ही अधिक मेरी भोग-तृष्णा बढ़ती रहती। यह सत्य ही है कि बडवानल अग्नि में पानी डालने से वह और भभकती है। चन्द्र-किरण के समान निर्मल अकलंक के उपदेश, महामोह रूपी बादलों से आवृत हो जाने से मैं उन सब शिक्षाओं को पूर्णरूपेण भूल गया।

तब मुझे इस प्रकार भाव-शत्रुओं से घिरा हुआ देखकर सदागम ने समझ लिया कि अभी उसका अवसर नहीं है, अतः वह भी मेरे से दूर चला गया।

[८२३–८२८]

ऐसे विचित्र संयोगों में भी मेरी सभी इच्छायें पूर्ण होती थीं, यह मेरे अन्तरंग मित्र पुण्योदय की ही कृपा थी, पर उस समय मैं मूढ इस बात को नहीं समझ पाया।

कामदेव के वशीभूत होकर सब राज्य-कार्यों को छोड़कर मैं रात-दिन अपने अन्तःपुर-स्थित स्त्रियों के साथ भोग-विलास करते हुए रहने लगा। नगर में कोई सुन्दर स्त्री दिखाई देती या उसके सम्बन्ध में किसी से सुनता तो उस स्त्री को चाहे वह कुलवान हो या कुलहीन, पकड़वा कर अपने महल में मंगवा लेता और बलात्कार पूर्वक उसे अपनी पत्नी बना लेता। न तो मैं पाप का ही विचार करता, न कुल-कलंक की ही चिन्ता करता,* न अपने राज्यधर्म के विषय में ही सोचता और न मंत्रियों द्वारा रोके जाने पर ही रुकता। [८२९–८३३]

राज्यभ्रष्ट घनवाहन

मेरे इस अधम आचरण से मेरी प्रजा, सामन्त, सगे-सम्बन्धी सभी मेरे से विरक्त हो गये, उद्विग्न एवं रुष्ट हो गये। मेरी सेना भी मेरी निन्दा करने लगी। सभी जगह गुणों की पूजा होती है, पूजा में सम्बन्ध कारणभूत नहीं होते। लोगों द्वारा हो रही मेरी निन्दा/गर्हा को जानते हुए भी मैं महामोह के वशीभूत होकर निन्दनीय कार्यों में आकण्ठ डूबा ही रहा। मुझ पापिष्ठ ने नीच कुलोत्पन्न, मनुष्यों के लिए अगम्य/अयोग्य स्त्रियों को भी अपने अन्तःपुर में रख लिया। [८३४–८३७]

मेरे नीरदवाहन नामक एक छोटा भाई था जो लज्जालु, विनयवान, सुस्वभावी, लोकप्रसिद्ध, पुरुषार्थी एवं महाउद्योगी था। मेरे अत्यन्त अधम व्यवहार से उद्विग्न प्रजाजन, सामन्त, मंत्री एवं सेनापति ने एक दिन एकत्रित होकर विचार

---

* पृष्ठ ६५७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया और सब ने एकमत होकर नीरदवाहन से एकान्त में कहा—कुमार ! अब घनवाहन अगम्य स्त्रियों में आसक्त, मर्यादाहीन, बुद्धिहीन, नष्टधर्म पशुतुल्य एवं कुलकलंकी हो गया है। अब यह श्वान-तुल्य नराधम इस राज्य सिंहासन के योग्य नहीं रह गया है। यह तो राज्य को खो चुका है और वंश को भी इसने लज्जित कर दिया है। अब इसका विनाश निकट ही है, अतः अब राज्य के प्रति उपेक्षा करना आपको और हमें शोभा नहीं देता। विरोधी राज्यों को हमारे राजा की इस अधोगति का पता लगे, उसके पहले ही राज्य की बागडोर आपको संभाल लेनी चाहिये। अन्यथा न आपके भाई रहेंगे, न राज्य रहेगा, न संपत्ति रहेगी, न हम रहेंगे, न मर्यादा रहेगी और न यह नगर ही बच पायेगा।

मेरे भाई नीरदवाहन ने उनकी युक्तियुक्त बात को सुना और उनकी अभिलाषा एवं चेष्टायें देख कर वह उस पर विचार करने लगा। [८३८–८४५]

हे भद्रे ! इधर मेरे अतिअधम व्यवहार से निर्बल पड़ा हुआ मेरा अन्तरंग मित्र पुण्योदय भी अत्यधिक उद्विग्न हुआ और अन्त में मेरी अत्यन्त नीचता पूर्ण वृत्ति से घबराकर मुझे छोड़कर चला गया। मेरे पापों की अधिकता से मेरे भावशत्रु बढ़ते गये, परिणामस्वरूप मेरे कर्म की स्थिति अधिक लम्बी हो गई। इन सब आन्तरिक और बाह्य कारणों से मन्त्री, सामन्त और प्रजाजनों की बात को युक्तियुक्त समझ कर विचारपूर्वक नीरदवाहन ने राजा बनना स्वीकार कर लिया। नीरदवाहन की सम्मति प्राप्त होते ही उसी समय सैनिकों ने शराब के नशे में चूर मुझ को आकर बाँध लिया। मैंने इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई, पर मेरे कर्मचारियों या मेरे भाई-बन्धुओं आदि किसी ने मेरी कोई सहायता नहीं की। हे सुभ्रु ! उस समय नरक के परमाधामियों की तरह मेरे मन्त्रियों और सेनापति आदि ने मिलकर मुझे नरक तुल्य महाभयंकर कैदखाने में डाल दिया। [८४६–८५१] *

सब ने मिलकर मेरे छोटे भाई नीरदवाहन का राज्याभिषेक बड़े हर्षोल्लास से किया। सब लोग हर्षित होकर नाचने लगे और हृदय से संतुष्ट हुए। कुस्वामी के नाश और सुस्वामी के गुणों से प्रसन्न सैनिकों और प्रजा ने खूब खुशियाँ मनाईं। प्रसन्नता की उर्मियों को प्रकट करने के लिए उस समय प्रजा और सैनिकों ने क्या-क्या उत्सव नहीं मनाए ? [८५२–८५३] *

मल, मूत्र, कचरे आदि अतितुच्छ पदार्थों की दुर्गन्ध से भरा हुआ वह कैदखाना जिसमें मुझे रखा गया था बहुत संकड़ा और फिसलन भरा माता के गर्भ जैसा था। भूख-प्यास से व्याकुल और लोहे की जंजीरों से जकड़े हुए मुझ को छोटे बच्चे भी मेरे पहले के दुर्व्यवहार को याद कर मारते और तिरस्कार करते थे। यातनास्थानों में भी मेरे सम्बन्धीजन आकर मेरा तिरस्कार करते। नरक में जैसे नारकी जीवों को शारीरिक सन्ताप दिया जाता है वैसे ही अनेकविध शारीरिक सन्ताप मुझे

* पृष्ठ ६७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस कैदखाने में प्राप्त हुए। महामोह के वशीभूत एवं राज्यभ्रष्ट होने से मुझे कितना मानसिक एवं शारीरिक सन्ताप हो रहा था इसका तो वर्णन ही नहीं हो सकता। मेरे इस विपुल राज्यवैभव और समृद्धि को अन्य लोग भोग रहे हैं, इस शोक से मैं पीड़ित था। सुख में पले पोसे मेरे इस शरीर की ऐसी दुर्दशा हो, मेरे ही सेवक मेरा तिरस्कार/अपमान करें, इस प्रकार पीड़ित करें यह कितनी मानसिक-सन्ताप की बात थी। मेरे स्वर्ण भण्डार और रत्नों को जिन पर मेरा स्वामित्व था उसे दूसरे लोग चुरा रहे हैं। हाय मैं मारा गया! यों मैं धन-मूर्छा से व्यथित हुआ।

[८५४–८६०]

हे भद्रे! दुःखपूरित नरक जैसे कारावास में मैं अपने पापकर्मों से बहुत समय तक रहा। हे चारुलोचने! मैंने इतनी शारीरिक और मानसिक पीड़ायें महामोह और उसके परिवार के दोष के कारण ही सहन की थी, फिर भी संसार पर से मेरी आसक्ति कम नहीं हुई। बहुत समय तक कैदखाने में बैठा-बैठा भी मैं अन्य लोगों पर क्रोध करता रहा, आर्त-रौद्र ध्यान करता रहा और बदला लेने का विचार करता रहा। [८६१–८६३]

अन्त में मुझे दी हुई उस भव की गोली जीर्ण हुई और मेरी स्त्री भवितव्यता ने मुझे नई गुटिका प्रदान की तथा उसी के प्रभाव से पापिष्ठनिवास के सातवें मोहल्ले (सातवीं नरक) में मैं पापिष्ठ (नारकी) के रूप में उत्पन्न हुआ।

[८६४–८६५]

१६. अनन्त भव-भ्रमण

पापिष्ठनिवास नगरी के अप्रतिष्ठान नामक स्थान पर मैं ३३ सागरोपम काल तक अनेक प्रकार के वज्र के कांटों से छिन्न-भिन्न होते हुए गेंद की तरह से उछलता रहा। फिर अन्य गोली देकर भवितव्यता मुझे पंचाक्षपशुसंस्थान में ले गयी और वहाँ मच्छ के रूप में उत्पन्न किया। वहाँ से मेरी गोली (आयु) समाप्त होने पर दूसरी गोली देकर भवितव्यता मुझे फिर पापिष्ठनिवास के अप्रतिष्ठान स्थान में ले गई और वहाँ से वापस पंचाक्षपशुसंस्थान में सिंह के रूप में उत्पन्न किया।

[८६६–८६८]

यहाँ से गोली समाप्त होने पर अन्य-अन्य गोलियाँ देकर पापिष्ठनिवास के चौथे मोहल्ले में और फिर पंचाक्षपशुसंस्थान में बिलाव के रूप में उत्पन्न किया। इस प्रकार मेरी पत्नी भवितव्यता ने विविध प्रकार के नये-नये रूप धारण करवाये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और प्रत्येक प्रसंग पर दुःख समुद्र के विस्तार का प्रतिक्षण साक्षात्कार करवाया।* असंव्यवहार नगर के अतिरिक्त प्रत्येक नगर में भवितव्यता मुझे बार-बार ले गई और संसार के समस्त स्थानों पर मुझे भ्रमण करवाया। हे सुन्दरि! महामोह के परिवार से घिरा हुआ और अपनी पत्नी भवितव्यता की आज्ञा का पालन करते हुए मैंने कौन-कौन सा नाटक नहीं खेला। हे भद्रे! मेरी पत्नी ने परिग्रह की आड़ में प्रत्येक योनि में मुझे अनेक प्रकार से विडम्बित किया। उसने मुझे गृह-कोकिलिका (गोह) सर्प और चूहे के रूप धारण करवाये, जिसमें मैं धन के भण्डार को प्राप्त कर प्रसन्न होता था और उसकी रक्षा करता था तथा किसी के द्वारा उसका हरण कर लेने पर विह्वल होकर मृत्यु प्राप्त करता था। [८६६–८७४]

भवितव्यता प्रसन्न

जैसे घर्षण-घूर्णन न्याय से नदी में घिसते-घिसते पत्थर भी गोल हो जाता है उसी प्रकार अनन्त काल तक घिसते-घिसते जब मैं कुछ ठीक हुआ तब गजगामिनी भवितव्यता मुझ पर प्रसन्न हुई। अनन्त काल तक मेरे साथ भटक-भटक कर महामोह आदि भी थक जाने से अब कुछ निर्बल हो गये थे। हे सुमुखि! मेरे पाप भी कम हुए थे, मेरी कर्मस्थिति भी कम हुई थी और मेरी कर्मग्रन्थी भी कुछ निकट आ गई थी। अतः अब भवितव्यता ने मुझे दूसरी गोली देकर मानवावास में उत्पन्न किया।

मनुजगति के भरत क्षेत्र में साकेतपुर नगर में नन्द नामक व्यापारी अपनी पत्नी धनसुन्दरी के साथ रहता था। भवितव्यता की गोली के प्रभाव से मैं धन-सुन्दरी की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। मेरा नाम अमृतोदर रखा गया। क्रमशः बढ़ते हुए काम-मन्दिर के समान मैं युवावस्था को प्राप्त हुआ। एक बार वहाँ जंगल में घूमते हुए मैंने सुदर्शन नामक साधु को देखा। उन्होंने भी कृपा कर मुझे उपदेश दिया। हे भद्रे! उन्हीं के समीप मैंने इन महात्मा सदागम को फिर देखा। मुनि के उपदेश से मेरे मन में कुछ भद्र परिणाम उत्पन्न हुए और मैंने द्रव्यतः/बाह्यतः श्रावकपन ग्रहण किया और नमस्कार मन्त्र आदि का उच्चारण/पाठ करने लगा। [८७५–८८४]

मेरी एकभवभेदी गोली के समाप्त होने पर भवितव्यता ने मुझे दूसरी गोली दी जिसके प्रभाव से मैं भवचक्र में स्थित विबुधालय में भुवनपति देव के रूप में उत्पन्न हुआ। विबुधालय में भुवनपति, व्यंतर, ज्योतिष और कल्पवासी पाटकों में देव संज्ञक कुलपुत्र देव रहते हैं। पहले तीन के क्रमशः दस, आठ और पाँच भेद हैं। कल्पवासी के कल्पस्थ और कल्पातीत दो भेद हैं। कल्पस्थ देवों के १२ और कल्पातीत के ६ एवं पांच आवास हैं। हे भद्रे! उपर्युक्त चार प्रकार के देवों में से प्रथम प्रकार के देवों में मेरा जन्म होने से मैं विबुध (देव) जाति का कुलपुत्र हुआ। हे

* पृष्ठ ६७७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पद्माक्षि ! यहाँ आकर मैं फिर सदागम को भूल गया। वह भी अपने अवसर की प्रतीक्षा करते हुए मुझे छोड़ कर मेरे से दूर चला गया। * मैं यहाँ डेढ पल्योपम तक महान ऋद्धि सम्पन्न देव के रूप में यथेष्ट सुख भोगता रहा और आनन्द में डूब कर लीलापूर्वक अपना समय व्यतीत करने लगा। [८८५-८६०]

मेरा काल समाप्त होने पर सन्तुष्ट चित्त होकर मेरी पत्नी भवितव्यता ने फिर मुझे दूसरी गोली दी जिससे मैं मानवावास के बन्धुदत्त व्यापारी की पत्नी प्रियदर्शना की कुक्षि से बन्धु नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। क्रमशः बढ़ते हुए मैं तरुण हो गया। तब एक बार मैं सुन्दर नामक मुनि के सम्पर्क में आया। उनके समीप भी मैंने इन सदागम महात्मा को देखा। मुनीश्वर ने मुझे सदागम के विषय में कुछ बताया और शिक्षा देकर मेरी आँखें खोलने का प्रयत्न किया। हे भद्रे ! इनके प्रभाव से मैं भावरहित जैन श्रमण (द्रव्य साधु) बन गया। [८६१-८६४]

द्रव्य श्रमणत्व के प्रभाव से मैं फिर विबुधालय में व्यंतर रूप में उत्पन्न हुआ। यहाँ की महर्द्धि और सुख में मैं फिर सदागम को भूल गया। इसके पश्चात् मैं फिर मानवावास में लाया गया जहाँ फिर मेरी भेंट सदागम से हुई। हे भद्रे ! इस प्रकार मेरी भार्या भवितव्यता के निर्देश से अनन्त भवचक्र में भटकते हुए मैंने अनन्त बार सदागम से भेंट की और बार-बार इन्हें भूलता गया। इन महात्मा को भूल जाने से मैं अधिकाधिक भवचक्र में भटकता रहा और यदा कदा सदागम के सम्पर्क में आता रहा। इसके फलस्वरूप हे सुलोचने ! मैं अनन्त बार द्रव्य श्रावक बना, अनन्त बार द्रव्य साधु बना और मुझे इन महात्मा सदागम से मिलने का सौभाग्य भी मिलता रहा। जब-जब मैं महात्मा सदागम को भूलता तब-तब मुझे मेरी पत्नी भवितव्यता अनेक स्थानों पर ले जाती और भिन्न-भिन्न रूप से त्रसित करती। कई बार तो मैं इन महात्मा को भूलकर कुतीर्थिक यति (संन्यासी) आदि भी बना। उस समय मैंने इन सदागम महात्मा को झूठा और प्रपंची तक बतलाया। इस प्रकार की परिस्थितियां इस अन्तरहित भवचक्र में अनन्त बार उत्पन्न हुईं। इस भवचक्र में भटकते हुए कई बार मेरी कर्मस्थिति लम्बी हुई और कई बार छोटी हुई। कई बार मोहराज आदि शत्रु बलवान होते और कई बार महात्मा सदागम के प्रभाव से भावशत्रु अंकुश में आते और निर्बल बनते। इस प्रकार बार-बार सदागम महात्मा से भेंट होते रहने से मेरा इनसे अधिकाधिक सम्पर्क/परिचय बढ़ता गया। इस गाढ सम्पर्क से क्या हुआ ? यह भी तू सुनकर समझ लें। [८६५-६०५]

महात्मा सदागम के अधिक परिचय से मेरी चितवृत्ति अटवी कुछ निर्मल हुई। योग्य अवसर जान कर सेनापति सम्यग्दर्शन मेरे पास आने के लिये उद्यत हुआ। उसने सद्बोध मन्त्री से कहा—आर्य ! आपने पहले मुझे योग्य अवसर की प्रतीक्षा करने के लिये कहा था। मुझे लगता है कि संसारी जीव के पास मेरे जाने

* पृष्ठ ६७८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अब उचित समय आ गया है। अतः हे नरोत्तम ! आप महाराजा से पूछें, यदि उनकी आज्ञा हो तो अब मैं संसारी जीव के पास जाऊँ। [६०६-६०८] *

सद्बोध—भाई ! तूने बहुत ठीक कहा। तुमने योग्य अवसर को बराबर ढूंढा है। पश्चात् सद्बोध मंत्री ने फिर चारित्र धर्म महाराज से पूछा। महाराज ने मंत्री के कथन को स्वीकार किया और सेनापति सम्यग्दर्शन को मेरे पास भेजने की आज्ञा प्रदान की। [६०६-६१०]

मेरे पास आने से पहले सम्यग्दर्शन ने मंत्री से पूछा—हे देव ! यदि आपकी आज्ञा हो तो इस पापरहित निर्दोष पुत्री विद्या को भी अपने साथ ले जाकर उसे भेंट स्वरूप प्रदान करूं। इससे संसारी जीव को भी संतोष होगा।

सद्बोध—सेनापति ! अभी विद्या को ले जाने का समय नहीं आया है। क्यों ? इसका कारण भी सुनो। यह संसारी जीव अभी बहुत कच्चा है। अभी वह तुझे अच्छी तरह पहचान नहीं सकेगा अभी तो वह तुझे सामान्य रूप से ही स्वीकार करेगा। जब तक वह तेरे तात्त्विक स्वरूप को न समझे और समझ कर उसे भलीभांति धारण न करे तब तक विद्या कन्या उसे नहीं दी जा सकती। अभी हम उसके कुल और शील को नहीं जानते। अभी हमारा उससे गाढ़ परिचय भी नहीं है। यदि वह विद्या का पराभव/तिरस्कार करे, उसके साथ अच्छे सम्बन्ध न रखे तो मेरे जैसे को बहुत दुःख होगा। अतः अभी विद्या को बिना लिये ही तुम उसके पास जाओ। योग्य समय पर वह तेरा स्वरूप अच्छी तरह से समझेगा। जब तेरा वास्तविक स्वरूप उसके ध्यान में आ जायगा तब मैं विद्या को लेकर वहाँ आऊंगा। अभी संसारी जीव को सदागम का आश्रय प्राप्त हुआ है और उसके मोहादि भावशत्रु निर्बल हुए हैं तथा उसके सुख के स्वाद को चखा है। यह महाराज चारित्रधर्मराज के प्रति उन्मुख भाव वाला हुआ है और उसके मानस में महाराज के दर्शन की इच्छा उत्पन्न हुई है। अभी तुम विद्या कन्या के बिना जाओगे तब भी बहुत लाभ प्राप्त होगा, अतः अभी तुम अकेले ही जाओ। [६११-६१६]

सम्यग्दर्शन – जैसी महाराज की आज्ञा और आपका परामर्श।

इस प्रकार महाराजा के आदेश से और मंत्री के परामर्श से सेनापति अकेला ही मेरे पास आने के लिए निकल पड़ा। समय पर विद्या को अपने साथ लेकर आने के लिए उसने मंत्री को संकेत कर दिया। [६२०]

* पृष्ठ ६७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७. प्रगति के मार्ग पर

हे भद्रे ! मानवावास के जनमंदिर नगर में आनन्द गृहस्थ अपनी पत्नी नन्दिनी के साथ रहता था। भवितव्यता द्वारा दी गई गोली के प्रभाव से मैंने नन्दिनी की कुक्षि में प्रवेश किया और उसके पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ मेरा नाम विरोचन रखा गया। क्रमशः बढते हुए मैं युवावस्था को प्राप्त हुआ।

धर्मघोष मुनीन्द्र की धर्मदेशना

एक समय मैं नगर के बाहर चितनन्दन उद्यान में घूमने गया। वहाँ मैंने धर्मघोष आचार्य को देखा। इस समय मेरी कर्मस्थिति संक्षिप्त हो गई थी और महामोहादि भावशत्रु निर्बल हो गये थे। अतः मैंने महाभाग्यवान आचार्य के चरण छूए और निर्जीव स्वच्छ भूमि देखकर बैठ गया। आचार्य के दर्शन से मेरे मन में भद्र भाव उत्पन्न हुए और मैं धर्म-सन्मुख हुआ। मेरे हृदय के भावों को ज्ञान से जान कर आचार्यश्री ने कानों को पवित्र करने वाले अमृत के समान आनन्ददायक मधुर शब्दों से उपदेश देना प्रारम्भ किया :—

संसार में मनुष्य जन्म प्राप्त करना अति कठिन है, उसमें भी जैन धर्म की प्राप्ति तो और भी कठिन है।* जिस बुद्धिमान पुरुष को इनकी प्राप्ति हो, उसे तो इनके द्वारा परमपद की प्राप्ति करनी ही चाहिये। ऐसा न करने से क्या होगा ? यह भी सुनलो। इस भयंकर संसार रूपी अन्तरहित मार्ग पर उसे यात्रा के लिये आवश्यक सामग्री एवं पाथेय साथ में लिये बिना ही चलने से मार्ग में अतुलनीय दुःख परम्परा का भाजन बनना पड़ेगा। साथ ही प्राणी को यह भी समझना चाहिये कि कुशल कर्म ही संसार-समुद्र को पार करने के मुख्य साधन है, अतः उसे कर्मयोगी की तरह अच्छे कार्य ही करने चाहिये। ऐसे अमूल्य मनुष्य जन्म को व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। [९२१-९२८]

सन्मार्ग-दर्शन

उस समय धर्मघोष आचार्य के पास महात्मा सदागम भी पुनः दृष्टिगोचर हुए। मुनीन्द्र के वचनों को अंगीकार करने की आकांक्षा जागृत हुई और मैंने आचार्यश्री से पूछा—भगवन् ! मुझे क्या करना चाहिये, यह बताने की कृपा करें।

आचार्य—भद्र ! सुनो, तुम्हें इस संसार नाटक का पूर्णरूपेण अनादर करना चाहिये। जिनके रागद्वेष और मोह नष्ट हो गये हैं और जो अनन्त ज्ञान, दर्शन,

---

* पृष्ठ ६८०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीर्य, और आनन्द से परिपूर्ण हैं ऐसे परमात्मा की आराधना करनी चाहिये। उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलने वाले साधु भगवन्तों की भक्ति करनी चाहिये और जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष रूपी नौ तत्त्वों को सच्चे तत्त्वों के रूप में स्वीकार करना चाहिये। समस्त प्रकार से तीर्थंकर महाराज के वचनरूपी अमृत का पान करना चाहिये। उनके साथ एकात्मकता धारण करनी चाहिये अथवा उपकारी-उपकारक भाव को समझना चाहिये। आत्महितकारी अनुष्ठान करना चाहिये। पुण्यानुबन्धी पुण्य का संचय करना चाहिये। अन्तःकरण को निष्कलंक रखना चाहिये। कुविकल्परूपी वचन-जाल का त्याग करना चाहिये। भगवान् के वचन के सार को ढूंढ निकालना चाहिये। राग-द्वेष आदि दोषों को पहचानना चाहिये। सद्गुरु के उपदेशरूपी औषधि को ग्रहण करना चाहिये। निरन्तर मन को सदाचरण में लगाना चाहिये। दुर्जनों द्वारा प्रणीत कुधर्म के वचनों का तिरस्कार करना चाहिये। महापुरुषों के मध्य में अपने को स्थापित करना चाहिये और निष्प्रकंपित स्थिर चित्त से रहना चाहिये।

सम्यक्दर्शन का आगमन

धर्मघोष आचार्य का उपर्युक्त मधुर व्याख्यान चल ही रहा था कि सेनापति सम्यग्दर्शन वहाँ आ पहुँचा। अति कठिनता से भेदी जाने योग्य कर्मग्रन्थि को भेद कर मैंने उसे देखा। उसे देखते ही मुझे आचार्य के उपदेश के प्रति रुचि हुई और उनके कथन पर श्रद्धा पैदा हुई, जिससे मुझे लगा कि सेनापति मेरा वास्तविक हितकारी बन्धु है। मैंने आचार्यश्री से कहा – नाथ! आपकी आज्ञानुसार कर्त्तव्य करने के लिये मैं तत्पर हूँ। फिर आचार्य को वन्दन कर मैं अपने घर गया।

अब मैं सम्यग्दर्शन युक्त हुआ और मुझे तत्त्व पर श्रद्धा हुई, जिससे मेरी आत्मा पवित्र हो गई। किन्तु, अभी मेरी यह श्रद्धा विशिष्ट ज्ञान से रहित थी। हे सुमुखि! 'जिनेन्द्र भगवान् ने जो कुछ कहा है वही निःशंक सत्य है' इस प्रकार की श्रद्धा से मैं उस समय प्रसन्न था। सदागम ने अपना विज्ञान मुझे थोड़ा-थोड़ा बतलाया था वही मैं जानता था, किन्तु वस्तु के सूक्ष्म भाव एवं गहन भावार्थ को अभी मैं नहीं समझता था। मेरे गुरु बहुत ही योग्य और उपदेश-कुशल थे, फिर भी वे मुझे सूक्ष्म ज्ञान नहीं दे सके; क्योंकि विशेष ज्ञान के लिये आवश्यक योग्यता अभी मुझे प्राप्त नहीं हुई थी। हे सुन्दरांगि! श्रद्धा और * ज्ञान का वास्तविक कारण तो अपनी योग्यता ही है, गुरु तो सहकारी कारण निमित्त मात्र हैं। उदाहरण के तौर पर देख—धनवाहन के भव में अकलंक मुनि एवं कोविदाचार्य ने मुझे उपदेश देने का बहुत प्रयत्न किया था, पर मुझ पर कुछ भी असर नहीं हुआ था, मुझे श्रद्धा भी नहीं हुई थी। हे सुमुखि! उसके पश्चात् भी मेरा अनन्त बार सदागम से सम्पर्क हुआ पर मैं श्रद्धाशून्य होने से उसकी बात को सत्य ही नहीं मानता था। प्राणी में

* पृष्ठ ६८१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब जितनी योग्यता होती है तब उतने ही गुण उसे प्राप्त होते हैं। योग्यता बिना गुण-प्राप्ति या उसकी वृद्धि नहीं हो सकती। अतः आचार्य के उपदेश से मुझे मात्र सूक्ष्म ज्ञानरहित सच्ची श्रद्धा हुई, क्योंकि उस समय मुझ में इतनी ही योग्यता/पात्रता थी। [९२९-९३७]

गृहिधर्म का आगमन

कर्मग्रन्थी का भेद करते हुए मैंने कर्मस्थिति को क्षीण किया था। उस समय उसमें से भी दो से नौ पल्योपम की स्थिति को मैंने और कम कर दिया, जिससे चारित्रधर्मराज का पुत्र गृहिधर्म मेरे पास आया। मैंने उसे सामान्य तौर से पहचाना, विस्तृत परिचय नहीं कर सका। मैंने कतिचिद् सामान्य व्रत नियम भी ग्रहण किये और तदनुसार उनका पालन भी किया। मैंने जितना पालन किया वह श्रद्धा से विशुद्ध बुद्धिपूर्वक किया, परिणामस्वरूप भवितव्यता मुझे दूसरी गोली देकर कल्पवासी विबुधालय में ले आई। [९३८-९४०]

सौधर्म देवलोक : पूर्वभव-स्मरण

सौधर्म के नाम से प्रसिद्ध प्रथम देवलोक में देदीप्यमान देवता का रूप धारण करते हुए मैं क्षणभर में सुख-शय्या से जागृत हुआ। देवता का जन्म किस प्रकार होता है और उस समय उसका शरीर कैसा होता है यह सुनने योग्य है, अतः सुन—

एक दिव्य पलंग पर सुन्दर अति कोमल स्पर्श वाला बिछौना था। उस पर बहुत ही मुलायम चित्तानन्ददायक आच्छादन (चादर) बिछा था। आस-पास अति सुगन्धित फूलों और धूप की सुगन्ध फैल रही थी। आँखों को प्रिय लगने वाला दिव्य वस्त्र का अति सुन्दर चन्दोवा पलंग के ऊपर बंधा हुआ था।

वहाँ मेरे सन्मुख दोनों हाथ पसार कर खड़े हुए देवताओं के आनन्द स्वर से मुझे अत्यधिक आश्चर्य हुआ। उस समय मेरे शरीर पर मुकुट, कड़े, बाजूबन्द, हार और कुण्डल आदि आभूषण सुशोभित हो रहे थे। शरीर पर सुगन्धित लेप, मुख में पान और कण्ठ में सदैव ताजा रहने वाला पुष्पहार था। ऐसे सुन्दर संयोगों में मैं शय्या से उठकर बैठा हुआ। उस समय चारों दिशायें प्रकाशमान हो रही थीं।

उस समय शय्या के पास ही देवांगनाएं खड़ी थीं, जिनके सुन्दर नेत्र निर्निमेष होते हुए भी अति चपल थे, जो अत्यन्त सुन्दर थीं और प्रेम भरी आँखों से 'जय जय नन्दा, जय जय भद्दा' बोल रही थीं। वे कह रही थी 'हे नन्द ! हे भद्र ! आपकी जय हो। आप देव हैं। आप हमारे स्वामी हैं। हम आपकी दासियां हैं।' इस प्रकार अद्भुत रूप सौन्दर्य वाली वे देवियां मधुर एवं कर्णप्रिय शब्दों से बोल रही थीं। [९४१-९४७]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरे आस-पास ऐसी अद्भुत समृद्धि को देखकर मेरी आँखें विस्मय से प्रफुल्लित हो गईं और मैं सोचने लगा कि कौन से सत्कार्य के फलस्वरूप मुझे यह ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त हुई है। हे विमललोचने ! उस समय मुझे ज्ञान हुआ कि विरोचन के भव में मैंने रुचि और समझ पूर्वक जो गृहस्थ-धर्म का पालन किया था उसी का यह फल मुझे मिला है। मैं सोच ही रहा था कि सेनापति सम्यग्दर्शन और सदागम मेरे पास आ पहुँचे। तब मुझे ध्यान आया कि यह सब इन पुण्यपुरुष महात्माओं का प्रताप है। उसी समय मैंने दोनों को अपने बन्धु के समान स्वीकार कर लिया। इस निश्चय के साथ ही मैं शय्या से उठा और देवताओं के योग्य अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने में लग गया। [९४८–९५१] *

देव कर्त्तव्य का पालन

देवभूमि में रत्नकिरणों की प्रतिच्छाया से रक्तिम दिखाई देने वाले जल से पूर्ण और प्रफुल्लित कमलों से शोभायमान सरोवर में हृष्ट-पुष्ट नितम्ब और पयोधरों वाली रूपवती देवाँगनाओं के साथ मैंने जलक्रीड़ा की। फिर मैं लीलापूर्वक जिन मन्दिर में गया। यह जिन मन्दिर अति भव्य और शुद्ध स्वर्ण से निर्मित था तथा इसका आंगन रत्न-जटित था। वहाँ दृढ़ भक्ति पूर्वक मैंने जिनेन्द्र भगवान् को वन्दन किया। फिर मैंने तीर्थंकर देव के वचनों से परिपूर्ण मणिरत्नमय निर्मल पत्रों में संग्रहित मनोहर पुस्तक को खोला। इस पुस्तक के लिखित वर्णन को पढ़ने से रोम-रोम विकसित होता था। ऐसी सुन्दर पुस्तक को पढ़ा और मुझे क्या-क्या करना है, इसकी जानकारी उस ग्रन्थ से प्राप्त की। इस देवलोक में मैंने इच्छानुसार पाँचों इन्द्रियों के भोग भोगे और दो सागरोपम से कुछ कम काल तक मैं यहाँ आनन्दपूर्वक रहा। [९५२–९५५]

कलन्द आभीर

यहाँ का समय पूरा होने पर भवितव्यता ने मुझे फिर एक गोली दी जिससे मैं पुनः मानवावास में मदन नामक आभीर (ग्वाले) की पत्नी रेणा की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। यहाँ मेरा नाम कलंद रखा गया। हे सुन्दरांगि ! यहाँ आने पर मेरे प्रिय बन्धु सम्यग्दर्शन और सदागम को तो मैं भूल ही गया। वे यहाँ आये ही नहीं। हे भद्रे ! मैंने वहाँ गृहिधर्म को भी नहीं देखा। क्योंकि, सम्यग्दर्शन और सदागम के अभाव में वह एकाकी दृष्टिगोचर भी नहीं होता। फिर भी, हे हंसगामिनि ! पूर्वभव में मेरा कुछ विकास हुआ था जिससे मैं पाप से डरता रहा और भद्र परिणाम से ही मैंने ग्वाले के भव को पूरा किया। [९५६–९५९]

विस्मृति और भ्रमण

भवितव्यता द्वारा दी गई अन्य गोली से मैं मानवावास से ज्योतिषी देवगति में उत्पन्न हुआ। यहाँ भी मुझे अतुल सम्पत्ति प्राप्त हुई। खूब इन्द्रियों को तृप्त

* पृष्ठ ६८२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया और प्रचुर भोग भोगे। यहाँ महामोह और परिग्रह से कई बार भेंट हुई। मैंने उनसे सम्बन्ध बढ़ाया और उनके प्रति विशेष पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया। उन्हें मैंने अपना मित्र मान लिया। सम्यग्दर्शन और सदागम को तो मैं बिलकुल भूल ही गया। [९६०-९६२]

ज्योतिषी देव का मेरा काल समाप्त होने पर भवितव्यता ने फिर मुझे दूसरी गोली देकर पंचाक्षपशुसंस्थान में मेंढ़क के रूप में उत्पन्न किया। महामोहादि से सम्बन्ध बढ़ाने के कारण मेरी पत्नी भवितव्यता मुझसे रुष्ट हो गई थी और उसे मुझे नाच नचाने की आदत पड़ी हुई थी, इसीलिये मेंढक के भव की गोली जीर्ण हो जाने पर उसने मुझे नई-नई गोलियां देकर मुझसे अनेक रूपों में नाटक करवाये और अनेक स्थानों पर इधर-उधर भटकाया। [९६३-९६४]

वासव

नानाविध स्थानों में भ्रमण करवाकर मेरी पत्नी भवितव्यता ने फिर मुझे मानवावास के कम्पिलपुर नगर के राजा वसुबन्ध की धरा नामक रानी की कूख से वासव नामक राजपुत्र के रूप में उत्पन्न किया। यहाँ मेरे पास वैभव होने पर भी मैं सत्कृत्य करता था जिससे सर्व प्रिय हो गया था। युवक होने पर एक बार मैं शान्तिसूरि नामक सद्धर्मोपदेशक से मिला। हे भद्रे! इनका उपदेश सुनने के बाद मुझे सम्यग्दर्शन और सदागम भी दिखाई दिये। इनके अधिक परिचय से मेरे सुहृदाभास शत्रु महामोहादि कुछ निर्बल हुए। महामोहादि भावशत्रु बाहर से मित्र जैसे लगते थे पर वास्तव में वे मेरे आन्तरिक शत्रु ही थे, किन्तु अभी तक मैं उन्हें अच्छी तरह नहीं परख सका था।

हे चारुभाषिणि! सम्यग्दर्शन और सदागम के सम्पर्क एवं प्रताप से यहाँ मुझे कुछ लाभ हुआ। यहाँ का काल समाप्त होने पर भवितव्यता मुझे दूसरे देवलोक में ले गई।* यहाँ भी मेरा सम्यग्दर्शन और सदागम से परिचय हुआ। यहाँ बहुत समय तक मैंने देवताओं के दिव्य और अतुल सुखों का उपभोग किया और आनन्द में समय व्यतीत किया। [९६५-९७०]

सम्यग्दर्शन और सदागम की जय-पराजय

देवलोक से मैं फिर मनुजगति के कांचनपुर नगर में आया। महामोह के दोष से यहाँ भी मैं सम्यग्दर्शन और सदागम को भूल गया। हे भद्रे! इस प्रकार मैंने असंख्य बार सम्यग्दर्शन और महात्मा सदागम से भेंट की होगी और अनेक बार ये मेरे पास से चले गये होंगे। सम्यग्दर्शन तो मेरे पास से एकदम ही चले गये थे। इसका कारण यह था कि मैं संख्यातीत स्थानों पर भटका किन्तु अभी तक मैंने वास्तविक विरति (त्याग) भाव धारण नहीं किया था। मात्र ऊपरी श्रद्धा से

---

* पृष्ठ ६८३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्तुष्ट होकर श्रावक बना था पर सर्वविरति (पूर्ण त्याग) की भावना नहीं हुई थी। क्योंकि, कई बार नैसर्गिक सरलता के कारण और कई बार किसी को प्रसन्न रखने के लिए मैंने श्रद्धायुत होकर श्रावक वेष धारण किया था, किन्तु हृदय से सर्व-विरति भाव कदापि धारण नहीं किया था। संख्यातीतवार जब-जब सम्यग्दर्शन से भेंट होती थी तब-तब मेरा सदागम से अवश्य मिलाप होता था और उसके मूल में सामान्य रूप से गृहिधर्म अवश्य रहता था। कई बार ऐसा भी बना कि गृहस्थ धर्म के साथ मैंने सम्यग्दर्शन को नहीं भी देखा। सामान्यतः सम्यग्दर्शन के साथ सामान्य गृहस्थधर्म और सदागम को मैंने असंख्य बार देखा। जब-जब मैंने इन तीनों को देखा तब-तब मुझे सुख प्राप्त हुआ, पर बीच-बीच में कई बार मैंने इन्हें छोड़ भी दिया। अकेले सदागम को तो मैंने अनन्तबार देखा, पर इसके बिना सम्यग्-दर्शन कभी दिखाई नहीं दिया। [९७१–९७९]

हे भद्रे ! जब-जब सम्यग्दर्शन मेरे पास होता तब-तब पुण्योदय मेरा मित्र बना रहता और मेरे अनुकूल रहता। मानवावास या विबुधालय में मुझे जो यथेष्ट भोग, संपत्ति और विलास के सुख-साधन प्राप्त होते थे वे सब पुण्योदय के ही प्रताप से प्राप्त होते थे। हे भद्रे ! सम्यग्दर्शन की उपस्थिति से अन्य लाभ यह होता था कि मेरी कर्मस्थिति लघ्वी (संक्षिप्त) होती जाती, भावशत्रु भयभीत रहते और महामोहादि चुप पड़े रहते। हे सुमुखि ! जब कभी मेरे भावशत्रु प्रबल हो जाते तब मेरा पुण्योदय मित्र मुझ से दूर हो जाता जिससे मुझे बहुत त्रास होता। पुण्योदय के दूर होते ही मेरे समक्ष दुःख के पहाड़ खड़े हो जाते। इस सब के फलस्वरूप ही भवितव्यता मुझे अनन्त काल से भटका रही थी। पुण्योदय के अभाव में कर्मस्थिति फिर लम्बी हो जाती और मन एकदम अधम तथा तत्त्व-श्रद्धा-रहित हो जाता। ऐसे समय मोहादि महाशत्रु प्रबल हो जाते और मुझ पर अपना प्रभुत्व जमाते तथा सम्यग्दर्शन और सदागम मुझ से दूर चले जाते। ऐसी घटना अनेक बार घटी। [९८०–९८६]

एक विशेष बात तुझे और बतलादूं कि मिथ्यादर्शन द्वारा जब सेनापति सम्यग्दर्शन पराभूत होता तब ज्ञानसंवरण * सदागम पर विजय प्राप्त कर उसे भी दूर कर देता। कभी सम्यग्दर्शन और सदागम भी विजय प्राप्त कर मिथ्यादर्शन और ज्ञानसंवरण को दूर भगा देते।

हे भद्रे ! इस प्रकार दोनों पक्षों की जय-पराजय चलती ही रहती। देश, काल, बल और परिस्थिति के अनुसार जब जिसकी प्रबलता होती तब उसकी विजय और विपक्ष की पराजय होती। इस प्रसंग में मुख्य बात यह थी कि दोनों पक्षों में से जिस पक्ष के प्रति मैं अपना प्रेम प्रदर्शित करता प्रायः उसकी विजय होती और जिसके विरुद्ध रहता उसकी पराजय होती। दोनों पक्षों की हार-जीत अनन्त काल तक होती रही। [९८७–९९०]

---

* पृष्ठ ६८४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विभूषण

बहिन अगृहीतसंकेता ! अन्यदा भवितव्यता ने मुझे नई गोली देकर मानवावास के मध्यवर्ती सुन्दर सोपारक नगर के व्यापारी शालिभद्र की पत्नी कनकप्रभा की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न किया। यहाँ मेरा नाम विभूषण रखा गया।

महापुरुषों की निन्दा : आशातना

एक समय मैं शुभकानन उद्यान में गया। वहाँ मुझे सुधाभूत आचार्य के दर्शन हुए। मैंने उनका उपदेश सुना। उसी समय मेरी सेनापति सम्यग्दर्शन और इन महात्मा सदागम से भेंट हुई। उपदेश सुनकर मुझे तत्त्व पर रुचि/श्रद्धा हुई, पर मन में विरति (त्याग) भाव उत्पन्न नहीं हुआ। हे निष्पापे ! गुरु के आग्रह से आंतरिक सच्ची इच्छा के बिना मैं साधु भी बन गया। मैंने साधु का वेष धारण किया और साधुओं के बीच रहा भी, पर कर्म-दोष से मैं विभाव (विपरीत) मार्ग पर चला गया और अपने वास्तविक कर्तव्य को भूल गया। ऐसे अवसर पर महामोहादि पुनः प्रबल हो गये और सम्यग्दर्शन तथा सदागम भावतः मेरे से दूर चले गये। महामोह के वशीभूत में परनिन्दा करने लगा, सकारण या अकारण दूसरों पर आक्षेप करने लगा। मैंने तपस्वियों की निन्दा की, आदर्श चरित्र वाले महापुरुषों की निन्दा की, सत्क्रिया में रुचि रखने वाले प्राणियों की टीका-टिप्पणी की। ऐसे उच्चस्तरीय पुरुषों की निन्दा करते हुए मेरे मन में किंचित् भी ग्लानि नहीं हुई। बात यहाँ तक पहुँची कि संघ, श्रुतज्ञान, गणधरों और स्वयं तीर्थंकरों की निन्दा और आशातना करने से भी मैं नहीं चूका। गणधर और तीर्थंकर भी अमुक विषय को बराबर नहीं समझ सके, ऐसे आक्षेप मैंने किये। यों साधु का वेष धारण करके भी मैं पूर्णरूपेण पापात्मा, गुणों का शत्रु और महामोहाभिभूत भयंकर मिथ्यादृष्टिवान बन गया।

दुःख-समुद्र में पतन

हे भद्रे ! ऐसी पाप चेष्टाओं के परिणाम स्वरूप मैं अति कठिन दुर्भेद्य कर्मसमूह से घिर गया। परिणाम स्वरूप मेरी पत्नी भवितव्यता ने मुझे फिर से अनन्त काल तक दुःखसमुद्र में डुबा कर लगभग सभी स्थानों पर भटकाया। इस संसार में रही हुई समस्त द्रव्यराशि को मैंने अर्धपुद्गल-परावर्तन से कुछ कम समय में भोग लिया और चारों तरफ खूब भटका। हे पद्मपत्राक्षि ! इस संसार-चक्र के भ्रमण में एक भी विपत्ति शेष न रही जो मुझ पर न पड़ी हो, अर्थात् एक भी दुःख या विडम्बना बाकी न रही। [९९१–१००४]

प्रज्ञाविशाला की विचारणा

संसारी जीव की उपर्युक्त आत्मकथा सुनकर उसके भावार्थ को थोड़ा-थोड़ा समझने वाली अगृहीतसंकेता मन में चकित हुई। इस आत्मकथा को सुनकर प्रज्ञाविशाला के मन में* तीव्र संवेग उत्पन्न हुआ और वह सोचने लगी—

---

* पृष्ठ ६८५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैं ऐसा समझती हूँ कि संसारी जीव को लगे समस्त पापों में से महामोह और परिग्रह अति भयंकर हैं। इसका कारण यह है कि जब संसारी जीव को सम्यग्दर्शन का परिचय नहीं हुआ था और वह किसी भी प्रकार के गुणों से रहित था तब क्रोधादि पापों ने उसे अनर्थ-परम्परा में झोंका, उसे नचाया, इसमें तो आश्चर्य ही क्या ? किन्तु सम्यग्दर्शन का परिचय होने और गुण प्राप्त करने के पश्चात् भी महामोह और परिग्रह ने इसे दीर्घकाल तक संसार के सभी स्थानों में भटकाया, इसीलिये ये दोनों अतिप्रबल अनर्थकारी हैं।

जहाँ-जहाँ महामोह और परिग्रह होते हैं, वहाँ-वहाँ क्रोधादि तो होते ही हैं, क्योंकि इस समस्त समुदाय का नायक महामोह ही है। परिग्रह भी इस सब का आश्रय स्थान है, क्योंकि यह लोभ का मित्र है और लोभ महामोह की सेना में मुख्य अधिकारी है। अतः संसारी जीव के गुणों के घात के लिए ये दोनों मूलतः नायक हों तो इसमें भी क्या आश्चर्य ? वैसे क्रोधादि भी प्राणी के सद्गुणों का नाश करने में समर्थ हैं, किन्तु ये दोनों उच्चस्तर पर पहुंचे हुए प्राणी को भी नीचे गिराने में समक्ष है, इसीलिये ये अति दारुण कहे जाते हैं। महामोह के बिना क्रोधादि तो हो ही नहीं सकते, क्योंकि वे तो बेचारे पैदल सैनिकों जैसे हैं। इन्हें आज्ञा देने वाले सेनापति तो ये दोनों ही हैं। सिद्धि-प्राप्ति के इच्छुक प्राणियों के लिये विशेष रूप से अनुक्रम से इनके दोषों का यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है। संसारी जीव के समस्त अनर्थों के जनक ये दोनों ही हैं। गुरु महाराज इस वास्तविकता को नित्य ही अपने उपदेश द्वारा लोगों को बताते रहते हैं, चेतावनी देते रहते हैं, फिर भी लोग इन दोनों पापियों का त्याग नहीं करते, तब क्या किया जाय ? कोविदाचार्य ने श्रुति को दुष्टा कहा था, पर मूर्ख मनुष्य बार-बार उसी में आसक्त होते हैं, उसके हाथ में फंसकर उसके खिलौने बन जाते हैं।[१००५–१०२०]

प्रज्ञाविशाला को गाढ चिन्तन में संलग्न देखकर भव्यपुरुष ने पूछा—कहिये माताजी ! आप क्या सोच रही हैं ?

उत्तर में प्रज्ञाविशाला ने कहा—वत्स ! पहले तू निराकुल होकर संसारी जीव की पूरी आत्मकथा सुनले, शीघ्रता न कर। मेरे मन में जो विचार उठे हैं वे मैं तुम्हें बाद में सुना दूंगी। इसकी आत्मकथा अब लगभग समाप्त होने आ रही है, अतः तू पहले इसे ध्यान पूर्वक सुनले।

यह सुनकर राजकुमार भव्यपुरुष आदर सहित चुप हो गया। संसारी जीव * पुनः अपनी आत्मकथा का शेष भाग सुनाते हुए कहने लगा।

[१०२१–१०२४]

---

* पृष्ठ ६८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशद

बहिन अगृहीतसंकेता ! इसके पश्चात् भवितव्यता मुझे भद्रिलपुर नगर के राजा स्फटिकराज की पत्नी विमला रानी की कूख में ले गई। वहाँ मैं उनके पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ और मेरा नाम विशद रखा गया। राजवैभव के आनन्द का उपभोग करते हुए, क्रमशः बढ़ते हुए मैं युवावस्था को प्राप्त हुआ। एक समय मेरा सुप्रबुद्ध मुनि से मिलन हुआ। इनकी सुसंगति से मुझे जैन-शासन का बोध हुआ। हे भद्रे ! उस समय सेनापति सम्यग्दर्शन, महात्मा सदागम और राजकुमार गृहिधर्म से मेरी पुनः मित्रता हुई। वहाँ मैंने व्रतों का पालन किया और मेरी आत्मा तात्त्विक श्रद्धा से पवित्र हुई। इस स्थिति में मैं वहाँ लम्बे समय तक रहा। मात्र सूक्ष्म पदार्थों का पृथक्करण करने योग्य गहन ज्ञान मुझे नहीं हुआ था, पर मैं धीरे-धीरे प्रगति कर रहा था। परिणाम स्वरूप मेरा अन्तरंग मित्र पुण्योदय फिर से प्रकट हुआ और मेरे साथ अधिकाधिक प्रीति बढ़ाता गया।

गमनागमन

पुण्योदय के प्रताप से मैं तीसरे देवलोक में गया जो विबुधालय का एक भाग है। वहाँ मैंने शब्दादि पाँचों इन्द्रियों के सुन्दर/प्रशस्त भोगों को खूब भोगा। देवलोक में तो इन्द्रिय भोगों की विपुलता रहती ही है। सात सागरोपम काल तक मैं देवलोक में रहा, फिर मानवावास में आया, वहाँ से फिर विबुधालय में गया। हे भद्रे ! यों अनेक बार मेरा आवागमन होता रहा। संक्षेप में, मेरे तीनों मित्रों के साथ मैंने बारह ही देवलोकों को कई बार देखा। बीच-बीच में कभी-कभी मेरे मित्र मुझे छोड़ भी जाते थे, पर क्रमशः इन तीनों मित्रों के साथ मेरे सम्बन्ध धीरे-धीरे दृढ़ होते जा रहे थे। इसके पश्चात् मेरी पत्नी भवितव्यता ने बारहवें देवलोक से मुझे वापस मानवावास में भेजा, उसका वर्णन अब आगे करता हूँ।

[१०२५–१०३३]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपसंहार

विमलमपि गुरूणां भाषितं भूरिभव्याः,
प्रबलकलिलहेतुर्यो महामोहराजः ।
स्थगयति गुरुवीर्योऽनन्तसंसारकारी,
मनुजभवमवाप्तास्तस्य मा भूत वश्याः ।।१०३४।।

अनेक प्रकार के प्रबल षड्यन्त्र खड़े करने वाला, संसार को अनन्त काल तक बढ़ाने वाला और महान् शक्तिशाली यह महामोह महाराजा है । गुरु महाराज के विशुद्ध एवं पवित्र उपदेश को, बारम्बार विवेचन पूर्वक स्पष्ट की हुई बात को भी जो दबा देता है, निर्जीव कर देता है, दूर कर देता है ऐसा प्रबल यह महामोह राजा है । अतः हे भव्य प्राणियों ! मनुष्य जन्म प्राप्त कर कभी इस मोहराजा के वशीभूत न बनें । [१०३४]

सकलदोषभवार्णवकारणं,
त्यजत लोभसखं च परिग्रहम् ।
इह परत्र च दुःखभराकरे,
सजत मा बत कर्णसुखे ध्वनौ ।।१०३५।।

परिग्रह लोभ का मित्र है, सभी दोषों का कारण है और संसार-समुद्र में डुबाने वाला है, अतः इस परिग्रह का त्याग करें । इस भव और परभव में दुःख के भार से आप्लावित ध्वनि-सुख (श्रवणेन्द्रिय के माने हुए सुख मधुर-ध्वनि) में आसक्ति न रखें । [१०३५]

एतन्निवेदितमशेषवचोभिरत्र,
प्रस्तावने तदिदमात्मधिया विचिन्त्य ।
सत्यं हितं च यदि वो रुचितं कथञ्चि-
त्तर्णं तदस्य करणे घटनां कुरुध्वम् ।।१०३६।।

अनेक घटनाओं से इस खण्ड (प्रस्ताव) में उपर्युक्त बात को स्पष्ट किया गया है । आत्मदृष्टि से आप लोग इस विषय में विचार करें और यदि आपको इसमें से कोई भी बात सत्य एवं हितकारी लगती हो और उसके प्रति आप में रुचि उत्पन्न हुई हो तो ऐसे हितकारी कथन को आप शीघ्र अपने जीवन में सक्रिय आचरण रूप से उतारने का प्रयत्न करें । [१०३६]

उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा का महामोह, परिग्रह,
श्रवणेन्द्रिय के फल का वर्णन करने वाला
सातवां प्रस्ताव समाप्त ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपमिति-भव-प्रपंच कथा

८. अष्टम प्रस्ताव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पात्र-परिचय

स्थल	मुख्य पात्र	परिचय	सामान्य पात्र	परिचय
सप्रमोद नगर (बहिरंग)	मधुवारण	सप्रमोद नगर का राजा		
	सुमालिनी	मधुवारण राजा की पटरानी		
	गुणधारण	संसारी जीव, मधुवारण-सुमालिनी का पुत्र		
	कुलन्धर	गुणधारण का मित्र		
साह्लाद मंदिर (वन)	कनकोदर	गन्धसमृद्ध नगर का राजा		
	कामलता	राजा कनकोदर की पटरानी		
गन्धसमृद्ध नगर	मदनमंजरी	संसारी जीव गुणधारण की पत्नी, कनकोदर-कामलता की पुत्री (भविष्य में होने वाली सुललिता और अगृहीत-संकेता)	लवलिका	मदनमंजरी की सखी, नरसेन और वल्लरिका की पुत्री
			अमितप्रभ	गगनवल्लभपुर के विद्युद्दंत विद्याधर का पुत्र
			भानुप्रभ	गान्धर्वपुर के नागकेसरी विद्याधर का पुत्र
			रतिविलास	रथनुपुर के रतिमित्र विद्याधर का पुत्र
			धवलिका	महारानी कामलता की दासी
			कालनिवेदक	समय-सूचक प्रहरी
			चटुल	कनकोदर विद्याधर का अनुचर
			कल्याण	गुणधारण का अनुचर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(अन्तरंग)	पुण्योदय	गुणधारण के अन्तरंग मित्र
	सदागम	
	सम्यग्दर्शन	
	सात राजा	
	सुखासिका	गुणधारण की अन्तरंग सखी
	कन्दमुनि	छद्मस्थ विद्वान् साधु, भविष्य में होने वाली महाभद्रा और प्रज्ञाविशाला
	निर्मलाचार्य	केवलज्ञानी, उपदेशक

— दशकन्या परिचय —

चित्तसौन्दर्य नगर (अन्तरंग)	शुभपरिणाम	चित्तसौन्दर्य नगर का राजा
	निष्प्रकम्पता	राजा शुभपरिणाम की रानी
	चारुता	राजा शुभपरिणाम की रानी
	१. क्षान्ति	रानी निष्प्रकम्पता की पुत्री
	२. दया	रानी चारुता की पुत्री
शुभ्रमानस नगर (अन्तरंग)	शुभाभिसन्धि	शुभ्रमानस नगर का राजा
	वरता	राजा शुभाभिसन्धि की रानी
	वर्यता	राजा शुभाभिसन्धि की रानी
	३. मृदुता	रानी वरता की पुत्री
	४. सत्यता	रानी वर्यता की पुत्री
विशद मानस नगर (अन्तरंग)	शुद्धाभिसन्धि	विशदमानस नगर का राजा
	शुद्धता	राजा शुद्धाभिसन्धि की रानी
	पापभीरुता	राजा शुद्धाभिसन्धि की रानी
	५. ऋजुता	रानी शुद्धता की पुत्री
	६. अचौरता	रानी पापभीरुता की पुत्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभ्रचित्तपुर (अन्तरंग)	सदाशय	शुभ्रचित्तपुर का राजा	
	वरेण्यता	राजा सदाशय की रानी	
	७. ब्रह्मरति	सदाशय-वरेण्यता की पुत्री	
	८. मुक्तता	सदाशय-वरेण्यता की पुत्री	धर्म, शुक्ल } दो अन्तरंग श्वेत पुरुष
	९. विद्या	सेनापति सम्यग्दर्शन की पुत्री	पीता, पद्मा, शुक्ला } तीन सुन्दर परिचारिकाएँ (लेश्याएँ)
	१०. निरीहता	चारित्रधर्मराज-विरति की पुत्री	
	जनतारण	गुणधारण का पुत्र	

ग्रैवेयक १:२:३:४:५	ग्रैवेयक देव	संसारी जीव देव के रूप में

सिंहपुर (बहिरंग)	गंगाधर	संसारी जीव, महेन्द्र-वीणा का पुत्र
	सुघोषाचार्य	जैनाचार्य, गंगाधर के उपदेशक

शंखनगर (बहिरंग)	महागिरि	शंखनगर का राजा	
	भद्रा	राजा महागिरि की रानी	ऋद्धि गौरव, रस गौरव, साता गौरव } शैलराज के अन्तरंग सहयोगी
	सिंह	संसारी जीव, महागिरि-भद्रा का पुत्र	
	धर्मबंधु	मुनि, सिंह के धर्म गुरु	आर्त्ताशय, रौद्राभिसन्धि } गौरवों के अनुयायी
			कृष्णा, नीला, कापोता परिचारिकाएँ, लेश्याएँ, आर्त्ताशय और रौद्राभिसन्धि की सेविकाएँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचाक्ष पशु संस्थान			आयुष्य	अन्तरंग का एक स्वतंत्र राजा
विबुधालय			अत्यन्त अबोध	एकाक्ष निवास का राज्यपाल
मानवावास			तीव्र मोहोदय	एकाक्ष निवास का सेनापति

समस्त पात्र-सम्मिलन

क्षेमपुरी	युगन्धर	क्षेमपुरी का राजा	प्रियंकरी	दासी
	नलिनी	राजा युगन्धर की रानी		
शंखनगर	अनुसुन्दर	संसारी जीव, चक्रवर्ती, चोर	पुरन्दर	अनुसुन्दर चक्रवर्ती का पुत्र
चित्तरम उद्यान				
मनोनन्दन चैत्य				
हरिपुर (बहिरंग)	भीमरथ	हरिपुर का राजा		
	सुभद्रा	राजा भीमरथ की रानी		
	समन्तभद्र	भीमरथ-सुभद्रा का पुत्र, आचार्य, सदागम	सुघोष	आचार्य समन्तभद्र के गुरु
	महाभद्रा	भीमरथ-सुभद्रा की पुत्री, समन्तभद्र की बहिन, प्रज्ञाविशाला, कन्दमुनि का जीव, प्रवर्तिनी साध्वी	दिवाकर	गंधपुर के रविप्रभ और पद्मावती का पुत्र, महाभद्रा का पति
रत्नपुर (बहिरंग)	मगधसेन	रत्नपुर का राजा		
	सुमंगला	राजा मगधसेन की रानी		
	सुललिता	मगधसेन-सुमंगला की पुत्री, मदनमञ्जरी का जीव, अगृहीतसंकेता		

चोर-सम्बन्धी रचना

अकुशल	द्रव्य, चोरी की वस्तु
कर्ममल	भस्म, शरीर पर लेपन
राजस्	सोनागेरु का हथछापा
तामस्	मसी का चांदला
रागकल्लोल	कणेर की माला
कुविकल्प-सन्तति	सकोरों की लम्बी माला
धापातिरेक	टूटा हुआ मिट्टी का ठीकरा (शिर पर)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असदाचार	गधा (बैठने के लिए)
दुष्टाशय	राजपुरुषों से वेष्टित
विवेकीजन	पापों की निन्दा करने वाले
कषाय	उद्धत बालक
संभोग	शब्दादि विषय, फूटा ढोल
बहिर्लोकविलास	दुर्जनों का अट्टहास्य

शंखपुर (बहिरंग)	श्रीगर्भ	शंखपुर का राजा, अनुसुन्दर चक्रवर्ती (संसारी जीव) का मामा
	कमलिनी	राजा श्रीगर्भ की रानी, महाभद्रा की मौसी
	पुण्डरीक	श्रीगर्भ-कमलिनी का पुत्र भव्यपुरुष, सुमति, आचार्य समन्तभद्र के पट्टधर
	संसारी जीव	कथानायक, अनुसुन्दर चक्रवर्ती
	अवधि	सद्बोध का मित्र

	अमृतसार	गांधारराज-पद्मिनी का पुत्र, संसारी जीव की प्रगत आत्मा	धनेश्वर — आचार्य पुण्डरीक का पट्टधर आचार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. गुणधारण और कुलन्धर

गुणधारण कुमार *

मानवावास में एक सप्रमोद नगर था। यह नगर अनेक अकल्पनीय उत्तम गुणों से विभूषित था और इसमें निरन्तर उत्सव होते रहते थे। जैसे मेघ पृथ्वी को जल का दान देकर उपजाऊ बनाते हैं वैसे ही यहाँ के नागरिक प्राथियों को दान रूपी जल से सिंचित कर हर्षित करते थे। हृष्ट-पुष्ट नागरिक अपनी मन्द गति से झूमकर चलते हुए मानो इन्द्र के ऐरावत हाथी का भ्रम उत्पन्न करते थे। यहाँ की ललनायें रूप-लावण्य और वस्त्राभूषणों से देवांगनाओं जैसी लग रही थीं। उनके पलक झपकने मात्र से वे देवियों से भिन्न दिखाई देती थीं। इस नगर में मधुवारण नामक राजा राज्य करता था जो शत्रु रूपी हाथियों के गण्डस्थल को छिन्न-भिन्न करने वाला, अत्यन्त पुरुषार्थी और विख्यात कीर्त्ति वाला था। यह राजा राज्यधन को प्रजा का धन मानकर उसे इस प्रकार व्यय करता था कि जिससे अधिकाधिक लोकोपयोगी कार्य हो सके। यह इतना आत्मविश्वासी था कि उसकी स्त्री अत्यन्त रूपवती होने पर भी उसने रणवास में कोई पहरेदार नहीं रखा था। उसकी रूप-लावण्य से परिपूर्ण, कमल जैसी आँखों वाली, उत्तम कुलोत्पन्न, अनेक गुण विभूषित सुमालिनी नामक महारानी थी। इसने राजा को अपने हृदय में बसा लिया था, फिर भी वह स्वयं राजा के चित्त में बसी हुई थी अर्थात् इनमें दो शरीर एक मन जैसा अटूट प्रेम था। [१–७]

हे भद्रे अगृहीतसंकेता ! मेरी स्त्री भवितव्यता की प्रेरणा से मैंने पुण्योदय के साथ इस निपुण धर्माचारिणी महादेवी सुमालिनी की कुक्षि में पुत्र रूप से प्रवेश किया। हे अनघे ! योग्य समय पूर्ण होने पर मैं कूख से बाहर आया। मेरे शरीर के सब अवयव सुन्दर थे। मेरा मित्र पुण्योदय भी मेरे साथ ही बाहर आया। मेरा जन्म होते ही चारों तरफ आनन्द फैल गया, बाजे बजने लगे, संगीत होने लगा और पूरा राजभवन हर्ष में डूब गया। उस समय जो बधाइयाँ दी गईं, उनका वर्णन अशक्य है। मेरे पिताजी को भी अत्यन्त आनन्द हुआ। मनमोहक रास, नृत्य और विलास होने लगे, बाजे बजने लगे, लोगों को पुरस्कार वितरित किये गये, भोजन प्रचुर मात्रा में वितरित किया गया, गायन की महफिलें जमने लगीं, मद्य की मस्ती में मस्त लहरी लोग इधर-उधर घूमने लगे, सुन्दर स्त्रियों के साथ वामन नृत्य करने लगे, कुबड़े और कंचुकी हास्य-विनोद करने लगे और याचकों के मनोरथ पूर्ण किये गये। इस प्रकार जनमानस को आश्चर्यचकित करने वाला चमत्कारिक रूप से मेरा

---

* पृष्ठ ६८७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन्मोत्सव मनाया गया जिससे सर्वत्र आनन्द और बधाइयों के शब्द गूंजने लगे। योग्य समय पर मेरे पिता ने अत्यन्त आनन्दपूर्वक मेरा नाम गुणधारण रखा। दूध पिलाने वाली, कपड़े पहनाने वाली, स्नान कराने वाली, खिलाने वाली और गोद में लेने वाली पाँच धायों द्वारा मेरा पालन-पोषण होने लगा। जिस प्रकार स्वर्ग में देव अनेक प्रकार के सुखों का अनुभव करते हैं* वैसे ही सुख सागर में उन पाँच धात्रियों के द्वारा पालित मैं बड़ा होने लगा। [८–१४]

गुणधारण और कुलन्धर की मैत्री

मेरे पिता के सगोत्रीय भाई विशालाक्ष नामक राजा थे। मेरे पिताजी और उनके मध्य ऐसी गाढ मैत्री थी कि दोनों एक दूसरे पर प्राण न्यौछावर करते थे। इनके एक कुलन्धर नामक पुत्र था। मेरे पिता का कुलन्धर पर अतिशय स्नेह होने से वह सप्रमोद नगर में ही रहता था। कुलन्धर और मेरे बीच भी प्रगाढ़ स्नेह था। धीरे-धीरे मित्रता बढ़ती गई और हम दोनों गाढ मित्र हो गये। कुलन्धर अतिशय विशुद्ध हृदय वाला, सुन्दर, रूपवान, भाग्यशाली, प्रवीण, सर्वगुण-सम्पन्न और वास्तव में कुल का दीपक ही था। इस शुद्ध बुद्धि वाले सद्गुणी मित्र के साथ मैं बड़ा होने लगा और हम दोनों में परस्पर सद्भावपूर्वक प्रगाढ़ स्नेह बढ़ता ही गया। फिर हमने साथ रहकर कला का अभ्यास किया, साथ-साथ खेले और साथ ही साथ कामदेव के मन्दिर स्वरूप युवावस्था को प्राप्त हुए। [१५–१९]

सुन्दरी का मोहन

हमारे नगर से थोड़ी ही दूर पर मेरुपर्वत के नन्दनवन जैसा अति मनोरम आह्लादमन्दिर नामक श्रेष्ठ उद्यान था। हम दोनों को यह उद्यान अत्यन्त प्रिय था। इसे देखते ही हमारे नेत्रों को शान्ति प्राप्त होती थी और हमारा चित्त आह्लादित होता था, अतः हम प्रायः प्रतिदिन वहाँ जाते थे। [२०–२१]

एक दिन प्रातः हम इस उद्यान में गये तो हमने दूरवर्ती दो स्त्रियों को स्पष्टतः देखा। इनमें से एक तो विशाल नेत्रों वाली और अपने रूप-लावण्य एवं विलास से कामदेव की पत्नी रति की भी परिहास करने वाली थी। दूसरी स्त्री इतनी सुन्दर नहीं थी। पहली सुन्दरी ने अपने भौंहे रूपी धनुष से दृष्टिबाण मेरी तरफ फेंके। उसके दृष्टिपथ में आते ही मैं पूरा का पूरा इन बाणों से बिंध गया। फिर एक आम्र वृक्ष की शाखा पर विलास-पूर्वक लटक कर उस चारु अंग वाली ने झूला झूलने के बहाने अपने उन्नत उरोजों का प्रदर्शन कर मेरा मन मोह लिया। उस समय उसके बाह्य चिह्नों से मैंने उसके आन्तरिक भाव को जान लिया। उसका मन भी चकित, विस्मित, स्नेहयुक्त और विचारमग्न होकर अति लज्जित हो गया हो ऐसा मुझे लगा। मन और नेत्रों को आनन्दित करने वाली उस सुन्दर ललना के प्राकृतिक सद्भाव एवं अर्पण करने योग्य हाव-भावों को देखकर मेरा चित्त आह्लादित

* पृष्ठ ६८८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो गया। उस समय क्षणभर में मैं सोचने लगा कि कहीं यह कामदेव की पत्नी रति तो नहीं है ? साक्षात् इन्द्राणी तो नहीं है ? या विष्णु-हृदय-स्थित लक्ष्मी ही तो कहीं शरीर धारण कर नहीं आ गई है ? हे सुमुखि ! विचार ही विचार में मैं कामदेव के पुष्पबाणों से बिंध गया और मेरा मानस विकार-ग्रस्त हो गया। मेरे पास ही खड़े मेरे मित्र कुलन्धर ने कुछ जिज्ञासा पूर्वक मेरी तरफ देखा। मुझे लगा कि यह भी मेरे मन की बात भांप गया है। फिर मैंने अपने मुँह पर प्रकट होने वाले भावों को छिपाकर बात को उड़ाने का प्रयत्न किया। मेरे मन में उस समय यह विचार भी आया कि "विवेकी पुरुषों को परस्त्री के सामने कामुक दृष्टि से नहीं देखना चाहिये, प्रतिष्ठित लोगों के लिये यह तो बड़ी लज्जा की बात है।" ओह ! मेरे मित्र ने यदि मुझे पराई स्त्री पर कुदृष्टि से झाँकते देख लिया होगा तो वह अपने मन में क्या सोचेगा ? मैंने लज्जित होकर* उसकी दृष्टि बचाकर बार-बार उसकी तरफ देखा और यह जानने का प्रयत्न किया कि उस पर मेरी मनोवृत्ति का क्या प्रभाव हुआ है ? कला-कुशल कुलन्धर ने मेरे हृदय के भाव जान लिये थे, अतः उसने भी बात को घुमाते हुए मुझसे कहा कुमार ! हम बहुत समय से यहाँ खेल रहे हैं, अब मध्याह्न भी हो रहा है, अधिक रुकने से क्या लाभ ? चलो घर चलें। मैंने भी उ: कहा—हाँ भाई ! तुम्हारी जैसी इच्छा, चलो चलें। फिर हम दोनों अपने-अपने भवनों में चले गये और दिवसोचित शेष कार्य सम्पन्न किये। [२२-३७]

गुणधारण की काम-विह्वलता

रात में जब मैं अकेला अपने पलंग पर सोया तो खटाक से मेरी कल्पना में फिर वह मृगनयनी प्रमदा आ खड़ी हुई। हे भद्रे ! यदि मेरा पवित्र अन्तरंग मित्र पुण्योदय मेरे साथ नहीं होता और मेरी सहायता नहीं करता तो इस प्रमदा ने मेरे चित्त पर छाकर, न मालूम कितना बड़ा काँटा मेरे हृदय में चुभा कर घाव कर दिया होता और न जाने मेरी क्या गत बन गई होती, यह तो कहना ही असम्भव है। किन्तु, केवल निष्पाप पुण्योदय के निकट होने के कारण ही वह प्रमदा मेरे लिये अत्यधिक घातक/बाधक नहीं बन सकी; क्योंकि निर्दोष पुण्योदय मित्र सांसारिक पदार्थों पर प्राणियों के मन को दृढ़ एवं बन्धनरहित बना देता है। फिर भी उस कमल-नयनी की स्मृति से मुझे सहज चिन्ता हो गई कि वह कौन होगी ? किसकी पत्नी होगी ? इन्हीं विचारों में मुझे नींद आ गई और प्रातःकाल हो गया।

पुनः उद्यान-गमन : कामलता-मिलाप

प्रातः कुलन्धर फिर मेरे पास आया। प्रमदा को फिर से देखने की किंचित् इच्छा से मैंने उससे पूछा—क्यों मित्र ! आज फिर आह्लाद-मन्दिर उद्यान में चलें ?

कुलन्धर ने मुस्कराते हुए कहा—क्यों, क्या कोई चाबी वहाँ भूल आये हो क्या ?

---

* पृष्ठ ६८६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुझे लगा कि, अरे ! कुलन्धर ने मेरे मन की बात जान ली है। ऐसा सोचकर मैंने कहा—मित्र ! अब परिहास छोड़ो, चलो हम फिर उद्यान में जाकर देखें कि वह कौन है ? किसकी पत्नी या पुत्री है ? हमें यह परीक्षा करनी है कि वह कन्या योग्य है या नहीं ? ऐसा मत सोच कि मैं परस्त्री को भी ग्रहण कर लूँगा। पर, यदि वह कुमारी कन्या होगी तो इन्द्र द्वारा पीछा किये जाने पर भी मैं उसे नहीं छोड़ूंगा।

कुलन्धर ने आश्वासन दिया—भाई ! शीघ्रता मत कर। पहले उद्यान में चलकर उसे ढूँढ़ते हैं, फिर तुझे जैसा अच्छा लगेगा वैसा ही करेंगे।

तदनन्तर हम दोनों उद्यान में गये और उस स्थान को देखा जहाँ कल उन दोनों स्त्रियों को देखा था। पर, वे वहाँ दिखाई नहीं दीं, जिससे मेरे मन में उस मृगनयनी से मिलने और उसे प्राप्त करने की कामना से सहज उद्वेग भी हुआ और मन भी पीड़ित हुआ।* वन में चारों तरफ ढूंढ़ते हुए हम दोनों एक आम्रवृक्ष के नीचे बैठे ही थे कि हमारे पीछे पत्तों की मर्मर ध्वनि से किसी के चलने का आभास हुआ। गर्दन घुमाते ही मैंने दो स्त्रियों को देखा। उनमें से एक तो मध्यम वय की सुशोभना सुन्दर स्त्री थी और दूसरी उसके साथ वाली सामान्य। [३८–५४]

हम दोनों खड़े हुए और गर्दन झुकाकर नमन किया। मुझे गौर से देखकर मध्यमवय की स्त्री की आँखों में हर्ष के आँसू आ गये और वह बोली—वत्स ! तेरी उम्र मुझसे भी अधिक हो। फिर कुलन्धर से बोली—वत्स ! आयुष्मान हो। मुझे आप दोनों से एक आवश्यक बात कहनी है, थोड़ी देर बैठो।

कुलन्धर ने कहा—जैसी माताजी की आज्ञा। तत्पश्चात् उस प्रौढ़ा ने अपने हाथों से भूमि स्वच्छ की। हम सब स्वच्छ जमीन पर बैठ गये और उस स्त्री ने अपनी कथा प्रारम्भ करते हुए कहा—वत्स ! सुनो—

२. मदनमंजरी

विद्याधरी का कथन

विद्याधरों के निवास स्थान वैताढ्य नामक विशाल पर्वत पर एक गन्धसमृद्ध नगर है। विद्याधरों का चक्रवर्ती कनकोदर राजा यहाँ राज्य करता है। मैं उसी की पत्नी कामलता महादेवी हूँ। दिन, माह और वर्ष बीत गये पर मुझे एक भी संतान नहीं हुई। मेरे वन्ध्यापन से मैं और मेरे पति दोनों ही उद्विग्न एवं व्यथित थे। हमने पुत्र-

* पृष्ठ ६९०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्ति के लिये अनेक औषधियों का सेवन किया, ग्रहशान्ति करवाई, सैकड़ों मानताएँ मानीं, निमित्तज्ञों से भविष्य पूछा, मंत्रज्ञों से जाप करवाये, तन्त्रज्ञों से यन्त्र बनवाकर हाथ में बाँधे, अनेक जड़ी बूटियें पीं, अनेक टोटके किये, अवश्रुतियाँ निकालवाईं, भविष्य पूछा, मादलिये पहने, प्रश्न पूछे, प्रशस्त स्वप्नों का अर्थ पूछा, योगिनियों की प्रार्थना की। संक्षेप में ऐसा कोई उपाय शेष न रहा जो सन्तति-प्राप्ति के लिये हमने न किया हो। अन्त में कुछ समय पश्चात् मेरी प्रौढावस्था में मुझे गर्भ रहा। महाराजा अत्यधिक प्रसन्न हुए।

मदनमंजरी का जन्म

योग्य समय पर मैंने एक पुत्री को जन्म दिया। उसके शरीर की कान्ति इतनी अधिक दीप्तिमान थी कि वह अपने तेज से चारों दिशाओं को प्रकाशित कर रही थी। इस सुसमाचार को जानकर राजा को अपार हर्ष हुआ। उसने खूब बधाईयाँ बाँटी। शुभ दिन में सगे-सम्बन्धियों को बुलाकर सन्मानित कर उनके समक्ष उसका नाम मदनमंजरी रखा। मदनमंजरी सुख में पल रही थी और वह सभी को अत्यन्त प्रिय थी।

स्वयंवर मण्डप

मेरे पति को नरसेन नामक योद्धा से अत्यन्त स्नेह था। उसके भी वल्लरी के समान कोमल पुत्री थी जिसका नाम लवलिका था। मदनमंजरी और लवलिका में परस्पर प्रगाढ प्रेम था। दोनों ने एक साथ सर्व कलाओं का अभ्यास किया। अनुक्रम से मदनमंजरी ने तरुणाई प्राप्त की। वह अत्यन्त रूपवती और अधिक पढ़ी-लिखी होने से ऐसा सोचकर कि 'उसके योग्य पति का मिलन कठिन है' वह पुरुषद्वेषिणी बन गई। जब लवलिका द्वारा उसके पुरुषों के प्रति ऐसे विचार मालूम हुए, तो मुझे हार्दिक खेद हुआ। जब मैंने महाराजा को यह बात बताई* तब वे भी चिन्ताग्रस्त हो गये कि, अब इस कन्या का विवाह कैसे होगा? अन्त में महाराजा को एक बात सूझी। उन्होंने स्वयंवर मण्डप की रचना कर सभी विद्याधर राजाओं और राजकुमारों को निमंत्रित कर दिया। सभी विद्याधर राजा आने लगे। उनका योग्य सन्मान कर एक ऊँचे मञ्च पर सभी को अलग-अलग योग्य स्थानों पर बिठाया गया। स्वयंवर मण्डप के मध्य में महाराजा कनकोदर अपने परिवार के साथ बैठे। मदनमंजरी को सुन्दर वस्त्राभूषण, मेंहदी, चन्दनादि सुगन्धित पदार्थों एवं पुष्पहारों से सजाकर उसकी सखी लवलिका के साथ हम सब ने स्वयंवर मण्डप में प्रवेश किया। देवाङ्गनाओं के सौन्दर्य का भी उपहास करने वाली मदनमंजरी के लावण्य को देखकर सभी विद्याधर राजाओं के चित्त उद्वेलित हो गये और वे निर्निमेष होकर एकटक उसे देखते हुए चित्रलिखित से स्तब्ध हो गये। मैंने मदनमंजरी को प्रत्येक

---

* पृष्ठ ६९१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजा का परिचय देना प्रारम्भ किया। प्रत्येक के नाम, गोत्र, वैभव, निवास स्थान, सौन्दर्य, गुण, आयुष्य, राज्यचिह्न आदि का परिचय दिया। जैसे—

पुत्रि ! देख, यह विद्युद्दंत राजा के पुत्र अमितप्रभ विद्याधर है। गगनवल्लभ नगर के स्वामी हैं। बहुत ऋद्धिवान हैं। देवता जैसे सुन्दर हैं। सर्वकलाओं में प्रवीण हैं। इनकी पताका में सुन्दर मोर का चिह्न है जो बिजली जैसा चमक रहा है। [५५–५६]

वत्से ! ये गान्धर्वपुर नगर के स्वामी महाराजा नागकेसरी के पुत्र भानुप्रभ हैं। ये बहुत शक्तिशाली, ऋद्धिवान, अत्यन्त मनोहर आकृतियुक्त, अनेक विद्याओं में प्रवीण, गुणों के भण्डार और बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके ध्वज में गरुड़ सुशोभित है। [५७-५८]

हे मदनमंजरि ! देख, ये रथनुपुर-चक्रवालपुर के महाराजा रतिमित्र के पुत्र रतिविलास हैं। ये अढलक सम्पत्ति और ऋद्धि-सम्पन्न हैं। इनका शरीर स्वर्ण जैसा सुशोभित है। ये सर्व विज्ञान के सागर और गुणों की खान हैं। इनके ध्वज में सुन्दर बन्दर का चिह्न है। [५९–६०]

स्वयंवर-भंग

जैसे-जैसे मैं प्रत्येक राजा या राजपुत्र का वर्णन करते हुए धीरे-धीरे मदनमंजरी के साथ-साथ आगे बढ़ रही थी वैसे-वैसे मदनमंजरी का मुँह उतरता जा रहा था। वह विषाद को प्राप्त होती जा रही थी। [६१]

जैसे कोई निर्भागी स्त्री अपनी सौत के गुणों को सुनकर खिन्न हो जाय, आपत्ति-ग्रस्त योद्धा शत्रु-सेना की शक्ति को सुनकर उदास एवं निरुत्साह हो जाय, अभिमानी वादी जैसे प्रतिवादी के अतिशय को देखकर पीला पड़ जाय, ईर्ष्यालु वैद्य दूसरे कुशल वैद्य को आता देखकर जैसे पीछे हट जाय या गर्विष्ठ ज्ञानी को अन्य विज्ञानी के नैपुण्य को देखकर मन की जैसी स्थिति हो जाय वैसी ही स्थिति उस समय विद्याधर नृपतियों का वर्णन सुनकर मदनमंजरी की हो रही थी। उसने तो अपनी दृष्टि को भी ऊपर नहीं उठाया, नीचे दृष्टि किये वह अत्यन्त म्लानमुखी हो गई। मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। 'अरे ! इसको क्या हो गया' इस चिन्ता से मैंने कहा—पुत्रि ! क्या तुझे इन विद्याधर राजाओं में से कोई पसन्द आया ? क्या बात है ? क्यों कुछ भी नहीं बोलती ? मदनमंजरी ने तुरन्त उत्तर दिया—माताजी ! अब हम शीघ्र* इस मण्डप से चलें। मैंने सब के दर्शन कर लिये। मुझे तो इनमें से कोई भी योग्य नहीं लगा। इनके बनावटी वर्णन सुन-सुन कर मेरा सिर दर्द करने लगा है।

पुत्री का उत्तर सुनकर मैं चिन्तित एवं खिन्न हो गई। सोचा कि कहीं यह पागल तो नहीं हो गई ? जब मैंने महाराजा कनकोदर को सब बात बताई तब वे भी

* पृष्ठ ६९२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिन्तातुर हो गये और बोले—'इसे शीघ्र राजमन्दिर में ले जाओ और इसकी मानसिक स्थिति से कहीं इसका शरीर भी अस्वस्थ न हो जाय इसका ध्यान रखो।' पति के आदेश से मैं शीघ्र ही पुत्री को लेकर स्वयंवर मंडप से निकली और राजभवन में आ गई।

मेरे पास बैठी हुई मदनमंजरी की सखी इस लवलिका को भी इस घटना से बहुत चिन्ता हुई। वह बोली—माताजी! अब आपने मेरी सखी के विवाह के लिये क्या उपाय सोचा है? मुझे तो कुछ नहीं सूझता।

मैंने कहा—लवलिका! हमें भी कुछ उपाय नहीं सूझता। तेरी सखी तो बहुत गर्वीली है, इसे कोई राजा भी पसंद नहीं आता। अब तू ही इससे पूछकर कोई उपाय ढूँढ़। हमारी दृष्टि में जितने भी उपाय थे, उन्हें हमने कार्यान्वित कर देख लिया है। हम मन्दभाग्यों को तो अब कोई उपाय दिखाई नहीं देता। कहते-कहते मेरे नेत्रों से मोतियों की माला के समान बड़े-बड़े आँसू टपक पड़े और मैं रोने लगी।

लवलिका ने मुझे सान्त्वना देते हुए कहा—माताजी! आप दुःखी न हों। मैं अपनी सहेली से पूछूँगी। वह स्वयं विनीत-शिरोमणि है, अतः माता-पिता को संतप्त करने वाली नहीं बनेगी। मेरे पूछने पर वह अवश्य इस विषय में कुछ न कुछ बतायेगी। ऐसा उत्तर देकर लवलिका ने मुझे तनिक आश्वस्त किया।

उस समय स्वयंवर मण्डप में एकाएक ही खलबली मची। किसी भी विद्याधर राजा का वरण किये बिना जब मदनमंजरी को वापस लौटते देखा, तब सभी राजाओं को ऐसा लगा जैसे उनका सर्वस्व अपहरण कर लिया गया हो। रत्न भण्डार के लुट जाने पर व्यक्ति की जैसी स्थिति होती है, या मुद्गर की मार से जैसे विषण्ण वदन हो जाते हैं, अथवा आकाश मार्ग में चलते हुए आकाश गामिनी विद्या के नष्ट होने पर गगन-चारियों की जैसी मनःस्थिति होती है वैसे ही वे सब शून्य, म्लानमुख, उदास और क्रोधित हो गये। कनकोदर राजा से एक शब्द भी कहे बिना वे सब स्वयंवर मण्डप से निकल कर एक दिशा में चले गये।

स्वप्न-दर्शन : फल

इस घटना से कनकोदर राजा अत्यधिक शोक-सन्तप्त हुए। वह एक दिन उन्हें एक वर्ष जैसा लगा। जैसे-तैसे रात हुई। नियमानुसार प्रतिदिन संध्या समय राज्य सभा जुड़ती थी, उसमें भी वे उपस्थित नहीं हुए। उल्टा मुँह कर पलंग पर पड़ गये। पलंग पर इधर से उधर करवट बदलते हुए बिना नींद के ही सारी रात व्यतीत हो गई। अन्त में मन अधिक भारी होने पर ऊषाकाल में थोड़ी आँख लगी। आँख लगते ही राजा को स्वप्न आया। स्वप्न में राजा ने दो पुरुष और दो स्त्रियों को देखा। उन्होंने महाराज से पूछा—महाराज कनकोदर! जाग रहे हैं या सो गये?

उत्तर में मानों महाराज ने कहा—वह जग रहे हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्होंने कहा—'सुनो, शोक छोड़ो। मदनमंजरी के लिये पहले से ही वर ढूँढ़ लिया गया है, वही उसका पति होगा। अब मदनमंजरी के लिये दूसरे पति को ढूँढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमने ही उसे विद्याधर राजाओं का द्वेषी बनाया है। हम उसका विवाह अन्य के साथ नहीं होने देंगे।' इतना कहकर स्वप्न के चारों व्यक्ति अदृश्य हो गये।

इसी समय प्रातःकालीन नौबत बज उठी। राजा भी उठे और मन में हर्षपूर्वक स्वप्न के अर्थ का विचार करने लगे। * ठीक इसी वक्त समय-सूचक कर्मचारी ने कथन किया—

हे लोगों! यह उदय होता सूर्य सब को शिक्षा दे रहा है कि आप कोई न संताप करें, न हर्षित हों और न घबरायें ही। जैसे मैं अनादि काल से नित्य उदय होता हूँ, तेजस्वी होता हूँ और अस्त हो जाता हूँ वैसे ही प्रत्येक भव में तुम्हारा भी उदय, प्रकर्ष और अस्त निश्चित है। [६२-६३]

समयसूचक के कथन पर राजा ने विचार किया कि, अरे! स्वप्न का जो अर्थ उसने सोचा था उसका यह कालनिवेदक समर्थन ही कर रहा है। जैसे स्वप्न में देवरूपी चार व्यक्तियों ने उसको कहा कि मदनमंजरी का पति उन्होंने पहले से ही देख रखा है, जैसे सूर्य प्रतिदिन उदय, मध्य और अस्त होता है, ठीक वैसे ही मनुष्य भी प्रत्येक जन्म में सुख-दुःख, लाभ-हानि और गमन-आगमन प्राप्त करता है। यह सब प्रत्येक प्राणी के लिये पहले ही से निश्चित होता है, अतः इस विषय में किसी को शोक नहीं करना चाहिये। मदनमंजरी के पति के विषय में भी जब यह पहले से ही निश्चित है तब चिन्ता करने से क्या लाभ? ऐसा सोचते हुए राजा निश्चिन्त/आश्वस्त हुए और उनकी व्याकुलता दूर हुई।

वर-शोधन के लिये पर्यटन

इधर लवलिका मदनमंजरी के पास गयी और उससे सीधा प्रश्न किया कि, इस विषय में अब क्या करना चाहिये?

उत्तर में मदनमंजरी ने कहा—यदि मुझे माता-पिता आज्ञा दें तो मैं स्वयं सारी पृथ्वी का भ्रमण कर, यथेप्सित योग्य वर को ढूँढ़ कर उसके साथ विवाह करूँ।

लवलिका ने मदनमंजरी के प्रस्ताव को मुझे बताया और मैंने महाराज से बात की। उन्होंने सोचा कि 'पुत्री ने योग्य प्रस्ताव ही रखा है। स्वप्न के चार व्यक्तियों द्वारा कहे गये इसके पूर्व निर्णीत पति को ढूँढ़ने का/प्राप्त करने का सम्भवतः यही उपाय उपयुक्त है।' इस विचार के फलस्वरूप उन्होंने मदनमंजरी को पृथ्वी-भ्रमण/देशाटन की आज्ञा दे दी। उनकी सम्मति में मेरी सम्मति तो साथ ही थी।

---

* पृष्ठ ६६३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मदनमंजरी अपनी सहेली लवलिका को साथ लेकर वर ढूँढ़ने और समस्त भूमण्डल का अवलोकन करने निकल पड़ी। उसे गये कुछ दिन व्यतीत हुए। हमारा पुत्री पर अत्यधिक प्रेम था, अतः हम उसकी उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे। हमें एक-एक दिन व्यतीत करना अत्यन्त दूभर लग रहा था।

लवलिका का संदेश

कुछ दिनों पश्चात् एक दिन अचानक यह लवलिका उतरा हुआ चेहरा लेकर हमारे पास आई। एक तो यह अकेली थी और चेहरा भी उतरा हुआ था, अतः झट से हमारा हृदय बैठ गया और हमें संदेह हुआ कि मदनमंदरी का क्या हुआ ? "स्नेह सर्वदा शंका कराता है, स्नेही का अहित पहले दिखाई देता है।" हमारी भी यही गति हुई। लवलिका ने हमें प्रणाम किया तब हमने पूछा—लवलिका ! राजकुमारी का कुशल मंगल तो है ?

लवलिका—हाँ, माताजी ! मदनमंजरी कुशलपूर्वक है।

मैंने पूछा—तब मदनमंजरी अभी कहाँ है ?

लवलिका—माताजी ! सुनें, हम यहाँ से निकल कर अनेक ग्रामों, नगरों में घूमी, अनेक घटनाओं से पूर्ण सारी पृथ्वी का अवलोकन किया, कई स्थानों पर गयीं और कई लोगों से परिचय हुआ। पृथ्वी पर कैसी-कैसी अद्‌भुत घटनायें घटती हैं और कैसे भिन्न-भिन्न स्वभाव के व्यक्ति रहते हैं, इसका अनुभव किया। घूमते-घूमते हम सप्रमोद नगर पहुँची। इस नगर के बाहर स्थित आह्लादमन्दिर उद्यान है। बाहर से यह उद्यान बहुत सुन्दर लग रहा था, अतः इसे अच्छी तरह देखने का हमें कौतूहल हुआ। हम थोड़ी देर खड़ी रहकर देखने लगीं। वहाँ हमने ऊपर से ही देवता जैसी अत्यन्त सुन्दर आकृति के धारक दो आकर्षक राजकुमारों को देखा। उन दो में से एक को देखते ही मेरी प्यारी सहेली कामदेव के बाण से घायल हो गई। मदन-ज्वर से पीड़ित मेरी सखी मेरे साथ बगीचे में उतरी।* हम दोनों उनको दिखाई दे सकें ऐसे आम्रवन में एक आम्रवृक्ष के निकट रुकीं। मेरी सखी तो उनमें से एक राजकुमार को अपलक/एकटक देख रही थी। मुझे ऐसा लगा कि उस राजकुमार की भी दृष्टि मेरी सखी पर पड़ गई है।

मेरी सखी उस समय ऐसे अपूर्व रस का अनुभव करने लगी कि मानो किसी ने उसे सुखसागर में तरबतर कर दिया हो, मानो उसके पूरे शरीर पर किसी ने अमृत की वृष्टि की हो। माताजी ! वर्षा ऋतु में घन-गर्जन को सुनकर जैसे मयूरी हर्षित हो जाती है वैसा ही रोमांच उसके सारे शरीर में हुआ। कदम्ब पुष्प की तरह उसका मुख विलास से मधुर हो गया और उसका सम्पूर्ण शरीर रस से भीगा हुआ दिखाई दिया। मानो रस-वृष्टि से नृत्य कर रही हो, बार-बार लज्जित हो

* पृष्ठ ६६४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रही हो। मानो विशाल आँखों से हंस रही हो। इस प्रकार वह एकचित्त कुमार पर दृष्टि जमाये रही। [६४–६७]

मेरी सहेली को एकचित्त रस में डुबकियाँ लगाते देख मैं भी बहुत हर्षित हुई। मैंने सोचा कि, अहो ! मेरी सखी सचमुच अत्यन्त ही चतुर है और इसकी अभिरुचि भी कितनी विशिष्ट है। मुझे लगता है कि राजकुमारी उस कमनीय युवक पर आकर्षित हुई है। अहा ! कैसा सुन्दर उसका स्वरूप ! कैसी लावण्यता। अहा सचमुच इन दोनों का सम्बन्ध हो जाय तो वह कामदेव और रति के सम्बन्ध जैसा ही होगा ! अहा ! यह युगल जोड़ी तो सचमुच विधाता ने ही बनाई है। मुझे लगता है कि आन्तरिक प्रेम युक्त इस मिलन से हमारी इच्छा पूर्ण हुई है। [६८–७१]

मैं इस प्रकार सोच ही रही थी कि वह युवक किसी कारण से तत्काल अपने मित्र के साथ उठा और वहाँ से चल पड़ा। उनके जाते ही मेरी सहेली की आँखें तरल हो गईं, मानो उसका धन-भण्डार नष्ट हो गया हो इस प्रकार अत्यन्त विह्वल हो गई। [७२–७३]

तब मैंने उससे कहा—सखि ! यदि तुझे यह तरुण पसंद आया हो तो चलो हम आपके माता-पिता के पास चलें। मुझे विश्वास है कि यह अवश्य ही इस नगर के राजा मधुवारण का पुत्र होगा। अन्य ऐसा आकर्षक रूपवान कौन हो सकता है ? अतः पिताजी की आज्ञा लेकर उसका वरण किया जाय। अब विलम्ब करने की क्या आवश्यकता है ?

मदनमंजरी—सखी लवलिका ! मुझे तो वह पसंद आया है, पर मेरे मन में एक शंका है जिससे दुःख होता है। मुझे लगता है कि उसने मुझे पसंद नहीं किया है, अन्यथा वह इतनी शीघ्रता से उठकर क्यों चला जाता ?

लवलिका—नहीं सखि ! ऐसा मत कह। तू जरा सोच, क्या उसकी दृष्टि तेरी तरफ नहीं थी ? क्या तेरी तरफ देखते हुए उसकी आँखों में तुझे संतोष दिखाई नहीं दिया था ? फिर तू ऐसी बात क्यों करती है ? मैं तो यहाँ तक कह सकती हूँ कि वसन्त ऋतु में जैसे भ्रमरों को रसाल आम्रमञ्जरी पर रुचि होती है, उससे भी अधिक वास्तविक रुचि उसको तुझ पर हुई है, इसमें कोई संदेह नहीं। हे सुमुखि ! तू अपने मन से शंका को निकाल दे। उसे तुझ पर प्रेम हुआ है और वह चतुराई से यहाँ से दूर चला गया है। अतः चलो हम माता-पिता के पास चलें और उन्हें सारा वृत्तान्त बतायें। [७४–७६]

लवलिका ने आगे बताया कि उसके उपर्युक्त कथन से मदनमंजरी को कुछ सांत्वना मिली, कुछ स्वस्थ हुई,* पर उसने यहाँ लौटने से इन्कार किया। वह बोली—सखि ! अभी मुझ में यहाँ से चलने की शक्ति नहीं है। मेरा शरीर अस्वस्थ

* पृष्ठ ६९५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। मैं अभी इस उद्यान को छोड़कर कहीं नहीं जा सकती। तुम शीघ्रता से जाओ और माता-पिता को सब समाचार बतला दो।

माताजी ! मैंने सोचा कि सखी ने जो निर्णय किया है, उसमें परिवर्तन की कोई गुंजाइश नहीं है। अतः मैंने एक विशाल वृक्ष की कोटर में ठण्डे पत्तों की शय्या बनाकर उस पर उसे सुलाया और उसको शपथ दिलवायी कि वह उस स्थान से तनिक भी इधर-उधर नहीं जायेगी और असमंजसकारी कोई कदम नहीं उठायेगी। तदनन्तर तलवार जैसे काले बादलों को चीरती हुई मैं वेगपूर्वक यहाँ आ पहुँची हूँ। अब आप जैसा उचित समझें वैसा करें।

पिता का निर्णय

लवलिका से उपर्युक्त सारा वृत्तान्त सुनकर मेरे स्वामी महाराजा कनकोदर ने मुझ से कहा—देवि ! तुम शीघ्र मदनमंजरी के पास जाओ और उसे आश्वस्त करो। मैं सब सामग्री एकत्रित कर तुम्हारे पीछे-पीछे शीघ्र ही पहुँच रहा हूँ। अपने गुप्तचर चटुल ने अभी-अभी मुझे यह गुप्त संदेश दिया है कि स्वयंवर मण्डप से उठकर बिना मुझसे मिले जो विद्याधर राजा चले गये थे वे बहुत क्रोधित हैं। अतः मेरा सब प्रकार से सन्नद्ध होकर वहाँ आना ही ठीक रहेगा। मुझे कुछ भेंट भी ले जानी चाहिये। भेंट के लिये कुछ सामग्री एकत्रित करने में भी मुझे कुछ समय लगेगा। अतः तुम शीघ्र जाकर उसे धैर्य बन्धाओ।

महाराज की आज्ञा को शिरोधार्य कर मैंने अपनी प्रिय दासी धवलिका को साथ लिया और लवलिका को मार्ग-दर्शन के लिये आगे कर, हम सब इस उद्यान में आ पहुँची।

माता का आगमन

यहाँ पहुँचते ही मैंने ठण्डे पत्तों की शय्या पर बैठी और योगिनी की भाँति किसी एक ही विषय के ध्यान में मग्न पुत्री मदनमंजरी को देखा। वह इतनी एकाग्र थी कि हमारे आने का भी उसे पता नहीं लगा। हम सब जाकर उसके पास में बैठ गये। फिर लवलिका ने उसके ध्यान को भंग करते हुए कहा—सखि ! माताजी आई हैं और तुम यों ही बैठी हो ?

लवलिका की बात सुनकर पुत्री की एकाग्रता टूटी। उसने आलस्य मोड़ा, आँखें झपकायीं और सम्भ्रम पूर्वक उठकर मेरे पांव छूए। मैंने आशीष दी—पुत्रि ! चिरंजीवी हो। तू मुझ से भी अधिक आयुष्यमान्, पतिव्रता और सौभाग्यवती हो। तेरा हृदयवल्लभ तुझे शीघ्र प्राप्त हो। फिर मैंने उसे ऊपर उठाया, आलिंगन किया, गोद में बिठाया, मुख चूमा, सिर सूँघा और पुनः कहा—पुत्रि ! थोड़ा धैर्य धारण कर, शोक का त्याग कर। देख, मुझे ऐसा लग रहा है कि तेरी इच्छा अब शीघ्र ही पूरी होगी। तेरे पिताजी भी शीघ्र ही यहाँ आ रहे हैं अब तेरी इच्छा पूर्ति में थोड़ी घड़ियाँ ही शेष रह गई हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'मेरे ऐसे भाग्य कहाँ ?' धीरे से कह कर नीचा मुँह किये वह वहीं बैठी रही।

उस समय सूर्य अस्त हुआ। सर्वत्र अन्धकार फैल गया। आकाश में तारे जगमगाने लगे। चकवे चकवी की जोड़ी का वियोग हुआ। कमल बन्द हो गये। पक्षी अपने-अपने घोंसलों में चले गये। उल्लू चारों तरफ उड़ने लगे।* भूत, वैताल प्रसन्न हुए। आकाश में चन्द्रमा उग आया और उसकी शुभ्र चान्दनी चारों ओर फैल गयी। हमने पुत्री के मन को प्रसन्न रखने के लिये सारी रात कहानियाँ और अन्य चुटकले आदि सुनाकर बड़ी कठिनाई से बिताई।

प्रातः सूर्य के उदय होने पर मैंने लवलिका से कहा—लवलिका ! थोड़ी देर आकाश में खड़ी रहकर देखो, महाराजा कनकोदर आ रहे हैं या नहीं ? उन्हें इतनी देरी कैसे हो गयी ? अभी तक नहीं आये। लवलिका आकाश में उड़ी, ऊपर जाकर थोड़ी देर स्थिर रही, फिर अत्यन्त हर्ष के साथ वापस भूमि पर आ गई। मैंने पूछा, अरे बहुत अधिक हर्ष हो रहा है, क्या बात है ? महाराजा पधार गये क्या ?

लवलिका—नहीं, माताजी ! महाराज तो अभी नहीं आये हैं, पर कल वाले दोनों राजकुमार यहाँ आ पहुँचे हैं। वे मेरी सखी को ढूँढते हुए पूरे उद्यान में फिर रहे हैं, पर हम जिस स्थान पर बैठे हैं, वह अति गहन होने से हम उनकी दृष्टि-पथ में नहीं आये हैं। उनमें से एक जो मेरी सखी के हृदयवल्लभ हैं, मेरी सखी को न देखकर कुछ खिन्न हो रहे थे, तब उनके मित्र ने कहा—भाई गुणधारण ! कल हम जिस आम्रवृक्ष के नीचे बैठे थे और जहाँ से तुमने उस पवनचालित कमलपत्र जैसी चंचल नेत्रों वाली और हृदय को चुराने वाली युवती को देखा था, उसी स्थान पर फिर चलें, इधर-उधर फिरने से क्या लाभ ? भाग्य अनुकूल होगा तो वहीं उससे भेंट (मुलाकात) हो जाएगी।

राजकुमार ने मित्र की बात स्वीकार की और दोनों कुमार अभी इसी आम्रवन में आ गये हैं। माताजी यही मेरे हर्ष का कारण है।

मदनमंजरी—माताजी ! ऐसी कृत्रिम बातें बनाकर यह क्यों मुझे ठग रही है ? मदनमंजरी ने लवलिका की सब बात झूँठी मानी और निःश्वास छोड़ते हुए कहा। उसे विश्वास दिलाने के लिये लवलिका ने सैकड़ों सौगन्ध खायी, पर पुत्री मदनमंजरी को उस पर विश्वास नहीं हुआ।

इस प्रसंग को समाप्त करने के लिये मैंने कहा—लवलिका ! शपथें लेने से क्या लाभ ? तू मेरे साथ चल और कुमार को मुझे बता। उन्हें यहीं लाकर पुत्री को दिखादें जिससे इसे वास्तविक आनन्द प्राप्त हो सके। लवलिका के हाँ कहने पर दासी धवलिका को वहाँ छोड़ हम दोनों तुम्हारे पास आयी हैं।

---

* पृष्ठ ६९६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुमार ! मेरी पुत्री दुष्कर रुचिवाली होने से साधारणतः किसी को पसंद ही नहीं करती । अभी उसके प्राण कण्ठ तक आ गये हैं । कृपया उठकर चलिये, उसे देखिये और संभालिये । [७७]

मेरे और कुलन्धर के सामने इस प्रकार अपनी आप-बीती सुनाकर मदनमंजरी की माता कामलता विद्याधरी चुप हो गई ।

३. गुणधारण-मदनमंजरी-विवाह

दर्शन से रसानुभूति

महारानी कामलता की आपबीती पूरी होने पर मैंने अपने मित्र कुलन्धर की ओर देखा । उसने कहा—भाई कुमार ! मैंने भी सब बात सुनी है, चलो, इसमें क्या आपत्ति है ? पश्चात् हम दोनों वहाँ से उठे और सब मिल कर वहाँ आये जहाँ मदनमंजरी थी । कामलता ने मदनमंजरी का जैसा वर्णन किया था वैसी ही स्थिति उसकी हो रही थी । उसके दर्शन कर मुझे ऐसा लगा जैसे मैं सुखसागर में डुबकियाँ लगा रहा हूँ, रति-रसपूर्ण समुद्र में उतर गया हूँ, आनन्दानुभूति में डूब गया हूँ, मानो मेरे सर्व मनोरथ पूर्ण हो गये हों, मेरी सभी इन्द्रियाँ आनन्दित हो गई हों तथा समग्र महोत्सवों के समूह वहाँ एकत्रित हो गये हों ।*

मुझे देखते ही मदनमंजरी भी 'अरे ! यह तो सचमुच वही है' सोचकर हर्षित हो गई । 'बहुत लम्बे समय बाद दिखाई दिये' इस विचार से उत्कंठित हो गई (यद्यपि २४ घण्टे से अधिक नहीं बीते थे, पर विरही प्रेमियों के लिये तो यह भी बहुत लम्बा समय होता है) । पर, 'वे अभी यहाँ कैसे हो सकते हैं' ऐसा तर्क करने लगी । 'कहीं वह स्वप्न तो नहीं देख रही है' इस विचार से खिन्न हो गई । 'अरे ! वे तो सचमुच वही हैं' इस निर्णय से उसका विश्वास जमा । 'इतना लम्बा विरह सहकर वह कैसे जीवित रह सकी' इस विचार से लज्जित हुई । 'अब ये मुझे स्वीकार करेंगे या नहीं' इस विचार से उद्विग्न हो गई । पर, 'ये तो मेरे सामने ही देख रहे हैं' जान कर प्रमुदित हुई । मदनमंजरी को उस समय अनेक प्रकार के मिश्र रसों का अनुभव हुआ । उसका शरीर रोमांचित हो गया, पसीने से भीग गया,

* पृष्ठ ६६७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्वासोच्छ्वास तेज हो गया और वह हृदयहारी मधुरलता की तरह कांपने लगी। मुझे वह ललित ललना अपने स्निग्ध कपोल और चञ्चल नेत्रों से उस समय वर्णातीत अत्यन्त प्रीति रस में डूबती हुई नजर आई। [७८]

उस समय कामलता ने मौन तोड़ा—क्यों पुत्रि ! अब तो तुझे लवलिका की बात पर विश्वास हुआ ? प्रश्न सुनकर स्मित हास्य से मेरे हृदय को रंजित करती हुई और हास्य सुधा से अपने कपोलों को उज्ज्वल (रक्ताभ) करती हुई मदनमंजरी अधोमुखी होकर नीचे देखने लगी। इस दृश्य से सभी हर्षित हुए।

कनकोदर आगमन

उसी समय महाराज कनकोदर वहाँ आ पहुँचे। चारों तरफ जगमगाते रत्नों की देदीप्यमान प्रभा से आकाशमार्ग उद्योतित हो गया। राजा के साथ वाले विद्याधर मानो महान् ऋद्धिमान देव हों ऐसा प्रतीत होने लगा। उनके मध्य में महाराज कनकोदर दूर से इन्द्र की भाँति आकाश में सुशोभित होने लगे। उन्होंने अपने विमान में अनेक रत्न भर रखे थे जिनकी शोभा अवर्णनीय थी। आकाश से सप्रमोदपुर नगर को देखकर वे सभी धीरे-धीरे आह्लाद-मन्दिर उद्यान में उतरने लगे और हम सब अत्यन्त विस्मयपूर्वक उन्हें नीचे उतरते हुए देखते रहे।

[७९–८१]

कनकोदर राजा के नीचे उतरते ही हम सब खड़े हो गये और मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया। सभी अपने-अपने योग्य स्थान पर बैठे। महाराजा कनकोदर ने प्रेम पूर्ण दृष्टि से कुछ समय मेरी तरफ देखा। फिर 'यह वही होना चाहिये' ऐसा मन में निश्चय होने से प्रसन्नचित्त होकर उन्होंने महारानी कामलता की ओर देखा। चतुर लोग आस-पास की परिस्थितियों से अनुमान द्वारा सब कुछ समझ जाते हैं। चतुर कामलता भी राजा के आन्तरिक भाव को समझ गई और उसने संक्षेप में राजा को सब कुछ बता दिया।

अपना अभिप्राय प्रकट करते हुए राजा बोले—देवि ! अभी तक हम अपनी पुत्री की अभिरुचि को अति दुर्लभ कहा करते थे। हमें यह भी संदेह था कि यह कभी किसी पुरुष को स्वीकार भी करेगी या कुंवारी ही रहेगी, पर इसने तो ऐसे पुरुषरत्न को पसंद किया है कि इस पर लगे दुष्कर रुचि के आरोप को झुठला दिया है। सच ही है, इन्द्राणी इन्द्र के अतिरिक्त अन्य को कैसे स्वीकार कर सकती है ? राजा के अभिप्राय का कामलता ने समर्थन किया और कहा कि, हाँ ऐसा ही है, इसमें क्या संदेह है ?

मदनमंजरी का पाणिग्रहण

यह चर्चा चल रही थी कि महाराजा के पास अतिवेग से उनका गुप्तचर चटुल आया और उनके कान में कुछ गुप्त संदेश दिया। दूत को विसर्जित कर राजा ने कामलता से कहा—'ऐसे आवश्यक कार्य में देरी उचित नहीं है' यह कहकर राजा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने पास ही बैठे कुलन्धर से परामर्श किया और उसी स्थान पर संक्षिप्त विधि से अपनी कन्या का विवाह मुझ से कर दिया।

आनन्दपूर्वक विवाह-कार्य सम्पन्न कर राजा ने वज्र, वैदूर्य, इन्द्रनील, महानील, कर्केतन, पद्मराग, मरकत, चूड़ामणि, पुष्पराग, चन्द्रकान्त, रुचक, मैचक आदि बहुमूल्य रत्नों से भरे अपने विमानों को * कुलन्धर को बताते हुए कहा—भद्र राजपुत्र! ये विमान मैं पुत्री को दहेज में देने के लिये लाया हूँ। जिस प्रकार हमारी पुत्री से विवाह कर कुमार ने हमारे आनन्द में वृद्धि की है, उसी प्रकार हमारे इन विमानों में भरी हुई वस्तुओं को भी कुमार ग्रहण करें, ऐसा हमारा अनुनय है।

चतुर कुलन्धर ने उत्तर में कहा—आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। इसमें अनुनय का अवकाश ही कहाँ है? "बड़े लोगों को जब जैसी इच्छा हो वैसी आज्ञा दे सकते हैं, राजपुत्रों से पूछने या कहने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।" उत्तर सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुए। उनको लगा कि वे कृत-कृत्य हो गये हैं, उनका जीवन सफल हो गया है। 'पुत्री मदनमंजरी आज सचमुच सन्तुष्ट और निश्चिन्त हुई है' इस विचार से महारानी कामलता भी परम सन्तुष्ट हुई और लवलिका आदि राजा का पूरा परिवार हर्षित हुआ।

"पुत्री के जन्म पर शोक होता है, बड़ी होने पर चिन्ता होती है, विवाह योग्य होने पर संकल्प-विकल्प होते हैं और दुर्भाग्य से ससुराल में दुःखी रहे या विधवा हो जाय तो गाढ दुःखकारी होती है। अपने अनुरूप, रुचि के अनुकूल, धर्मिष्ठ और धनवान योग्य वर को पुत्री प्रदान करने पर निश्चिन्तता प्राप्त होती है।" इसी के अनुसार रत्नराशि के साथ मदनमंजरी को मुझे प्रदान कर राजा और समस्त परिजन प्रमुदित थे। [८२-८४]

युद्धातुर विद्याधर दल

इसी समय सप्रमोद नगर पर बादलों की तरह छायी विद्याधरों की एक बड़ी सेना आकाश मार्ग से आती हुई दिखाई दी। इन सैनिकों के पास अनेक चक्र, तलवारें, भाले, बर्च्छे, बाण, शक्तिबाण, फरसे, धनुष, दण्ड, गदा, नेजे आदि शस्त्र-अस्त्र थे; जिनकी चमक से आकाश प्रकाशित हो रहा था। यह सेना अति विकराल, युद्धातुर, विजय-मद-गर्वित और असंख्य गगनचारी योद्धाओं तथा सेनापतियों से सुसज्जित थी। इसके योद्धा अपने सिंहनाद, करतल ध्वनि और जयनाद से आकाश को गुंजा रहे थे। इसके सैनिक कवच, शिरस्त्राण (टोप) आदि से सज्जित होकर क्रोधान्ध अवस्था में लड़ने को तैयार होकर आये थे। हमने सिर उठाकर देखा तब तक तो युद्धाभिमान से स्पर्धा करती हुई यह पूरी सेना आकाश में हमारे सिर के ऊपर आ पहुँची। [८५-८६]

---

* पृष्ठ ६६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजा कनकोदर ने गर्जनापूर्वक अपने सैनिकों को हाक लगाई। विद्याधर योद्धाओं! शीघ्र तैयार हो जाओ। चटुल गुप्तचर ने मुझे अभी-अभी यह गुप्त संदेश दिया था वह स्पष्टतः प्रत्यक्ष हो गया। चटुल ने बतलाया था कि पुत्री के स्वयंवर मण्डप से क्रोधित होकर मेरे से संभाषण किये बिना ही गये हुये राजा मात्सर्य और द्वेष से अन्धे होकर आपस में मिल गये हैं। अपने गुप्तचरों द्वारा उन्हें पता लग गया है कि मदनमंजरी का विवाह गुणधारण से हो रहा है। वे समझते हैं कि विद्याधर होने के नाते वे जमीन पर चलने वाले गुणधारण से अधिक उत्तम हैं। अतः वे कैसे सहन कर सकते हैं कि उनकी विद्यमानता में मदनमंजरी किसी साधारण पुरुष से विवाहित हो! इसीलिये वे सब युद्धातुर होकर लड़ने के लिये आये हैं। मेरे वीरों! जैसे गरुड़ कौओं पर टूट पड़ता है वैसे ही इनके इस आह्लाद-मन्दिर बगीचे में उतरने के पहले ही इन पर टूट पड़ो और इनके मिथ्याभिमान को नष्ट कर इन्हें मिट्टी में मिला दो। मुझे तुम्हारी वीरता पर पूरा विश्वास है, अतः अपनी वीरता दिखाकर स्वामी का मान रखो। [९०–९५]

राजा की रणगर्जना सुनकर वे सभी योद्धा तैयार होकर* जमीन से आकाश में चढ़ने को तत्पर हुए। यह दृश्य देखकर मैंने (गुणधारण) सोचा कि, ओह! मेरे लिये यहाँ खून की नदियाँ बहे, इन लोगों का विनाश हो, यह तो ठीक नहीं है। [९६–९७]

स्तम्भन और शान्ति

उसी समय एक अप्रत्याशित घटना घटी, उसे भी सुनें। किसी ने दोनों सेनाओं को स्तम्भित कर दिया। जमीन पर खड़ी कनकोदर की सेना और आकाश में खड़ी विपक्षी विद्याधरों की सेना दोनों चित्रलिखित-सी जहाँ की तहाँ स्तम्भित हो गई, पुत्तलिकाओं के समान स्थिर हो गई। उनका गर्वगर्जन, उनकी सब हलन-चलन, यहाँ तक कि आँखों की पुतलियाँ तक भी हिलनी बन्द हो गईं। दोनों सेनायें एक दूसरी को निःशब्द और चित्र-लिखित-सी दशा में देखकर आश्चर्य-चकित रह गईं। [९८–१००]

आकाश-स्थित सेना ने मुझे और मदनमंजरी को श्रेष्ठ आसन पर बैठे देखा। मुझे देखकर उन सब के मन में विचार आया—अहा! इस कुमार का कैसा सुन्दर रूप है! कैसी आकृति है! क्या कान्ति है! कैसे सुन्दर गुण हैं! कितना धैर्य है! कितनी स्थिरता है! अहा! विचारशीला मदनमंजरी ने सचमुच ही इस महात्मा पुरुष को अपनी परीक्षा के बाद ही पति बनाया है। निःसंदेह इसी महापुरुष ने अपने तेज से हमको स्तम्भित कर दिया है। देखो, यह मदनमंजरी और अपने मित्र के साथ स्वस्थ बैठा है और हम सब स्तम्भित हैं। हमने इस पुरुषरत्न को

* पृष्ठ ६६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार डालने की इच्छा की, यह बहुत ही बुरा किया, इसी महापाप के फलस्वरूप ही स्तम्भित हुए हैं। यह महापुरुष ही हमारा स्वामी है, हम सब उसके सेवक हैं।

क्षमा और आनन्द

इस विचार के आते ही उनकी ईर्ष्याग्नि शान्त हो गई, अतः जिसने उनको स्तम्भित किया था, उसी ने उन्हें तत्क्षण पुनः स्वतन्त्र कर दिया। स्वतन्त्र होते ही वे सब नभचारी तुरन्त नीचे आये और मेरे चरणों में गिर पड़े। उन्होंने अपने दोनों हाथ जोड़कर ललाट पर लगाकर कहा—'नाथ ! हमारे अपराध क्षमा करें। अब हम आपके दास हैं। हमारी जो भूल हुई उसके लिये क्षमा-प्रार्थी हैं।' हे भद्रे ! उनकी क्षमायाचना को देखकर कनकोदर राजा का अभिमान भी नष्ट हुआ जिससे उनकी सेना भी स्तम्भन से मुक्त हुई। सभी विद्याधर हाथ जोड़कर परस्पर क्षमा-याचना करने लगे। सभी की आँखों में हर्ष के आँसू आ गये। सब परस्पर सगे भाइयों के समान गले मिले। [१०१–१११]

मधुवारण आदि को आनन्द

किसी के द्वारा मेरे पिताजी (मधुवारण राजा) को भी ये समाचार ज्ञात हुए और वे भी उस आह्लाद मन्दिर उद्यान में आ पहुँचे। दूर से उनको आता देख मैं खड़ा हो गया, मेरे साथ अन्य सभी विद्याधर उनका सन्मान करने खड़े हो गये। मैंने और मदनमंजरी ने पिताजी के चरण-कमलों में मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। मेरी माताजी आदि सभी अन्तःपुरवासी, मन्त्रि-मण्डल और बहुत से नगर निवासी भी यहाँ आ गये थे। हम सब ने सब को यथोचित नमन आदि किया। विद्याधरों ने भी उनका यथायोग्य सन्मान किया जिससे सभी हर्षित हुए। [११२–११४]*

मेरे पिताजी अत्यधिक आनन्द से रोमांचित हो गये, आनन्दाश्रुओं से उनके नेत्र भीग गये और अत्यन्त हर्ष से मुझ को आलिंगन में जकड़ लिया। [११५]

मित्र कुलन्धर ने विनयावनत होकर उस समय पिताजी को सब वृत्तान्त संक्षेप में सुनाया जिससे उपस्थित समुदाय को पूरी घटना की जानकारी हो गई। सभी विद्याधर हाथ जोड़कर मेरे पिताजी से कहने लगे—प्रभो ! गुणधारण कुमार हमारा देव है, हमारा स्वामी है। आपके इस चिरंजीवी पुत्र ने हमें जीवन-दान दिया है। यह धन्य है। कृतार्थ है। महाभाग्यवान है। इन्होंने इस पृथ्वी को सुशोभित किया है। इनमें अकल्पनीय शक्ति-पराक्रम है। इनके जैसा अन्य गुणवान मनुष्य इस संसार में हमारे देखने में नहीं आया। [११६–११८]

विद्याधरों को मेरी स्तुति करते देख मेरे पिताजी और माता सुमालिनी अत्यन्त प्रसन्न हुए। मेरे वैभव को देखकर सम्पूर्ण राजमन्दिर निवासी परिजन,

* पृष्ठ ७००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सैनिक, नगरनिवासी, बालक और वृद्ध सभी अत्यन्त हर्षित हुए। 'जिन्हें हम अपना मानते हैं उन्हें ऋद्धि-सिद्धि या मान प्राप्त होने पर प्रसन्नता हो, इसमें क्या आश्चर्य ? हमारी कल्पना से भी अधिक ऋद्धि-सिद्धि अपने प्रेमीजन को मिलती देखकर तो अपार हर्ष होता ही है।' अत्यन्त आनन्दित लोगों ने फिर हमारा नगर प्रवेश महोत्सव किया। 'अत्यधिक प्रसन्नता होने पर मानव क्या-क्या नहीं करता !' [११६–१२१]

प्रवेश महोत्सव के समय विद्याधर आकाश में चलने लगे। मैं अपने पिताजी के साथ उनके पीछे जयकुंजर नामक मुख्य हाथी की अम्बाडी पर बैठा था। मेरे पीछे दूसरे हाथी पर कुलन्धर बैठा था। हथनियों पर माताजी आदि स्त्रीवर्ग बैठा था। हमारे आगे लोगों का विशाल समूह चल रहा था। कोई नाच रहे थे, कोई विलास (हँसी ठठोली) कर रहे थे, कोई हर्ष के आवेश में उच्च स्वर से गा रहे थे। कुछ ने पुष्पहार और कुछ ने सुन्दर वस्त्राभूषण पहने रखे थे, जिससे सभी लोग देवता जैसे सुशोभित हो रहे थे। अत्यन्त प्रमोद और मानसिक सुखभार के कारण उस समय वह उद्यान नन्दनवन और वह नगर देवलोक जैसा लग रहा था। अत्यन्त विशाल नितम्ब और सुन्दर उरोजों वाली ललित ललनाएँ हर्षपूर्वक नृत्य गान कर रहीं थीं। ऐसे सैकड़ों प्रकार के विलासों सहित हमारा नगर प्रवेश हुआ। [१२२–१२५]

मेरे पिताजी ने कनकोदर राजा के सभी विद्याधरों तथा दोनों तरफ की सेनाओं के सभी योद्धाओं का उचित दान और सत्कार-सन्मान किया। हे अगृहीत-संकेता ! मेरा वह पूरा दिन ऐसे बीता मानो वह दिन रत्नमय हो, अमृतरचित हो, सुखरस-पूर्ण हो। अधिक क्या कहूँ, वह दिन वर्णनातीत रूप से व्यतीत हुआ। इस दिन मुझे अत्यन्त आह्लाद हुआ। सब मनोरथों की सिद्धि हुई, कामदेव का सर्वस्व प्राप्त हुआ, मदनमंजरी जैसी अतुलनीय सुन्दरी प्राप्त हुई और महामूल्यवान रत्नों का भण्डार प्राप्त हुआ। मेरे काम और अर्थ सम्बन्धी अकल्पनीय मनोरथ सिद्ध हुए। उस दिन मेरे माता-पिता को अत्यधिक संतोष हुआ, बन्धुवर्ग हर्षित हुआ और नागरिकों ने महोत्सव मनाया। शत्रु मेरे वश में हो गये जिससे भी मेरा मन अत्यन्त हर्षित हुआ। पूरे दिन अत्युन्नत दशा का अनुभव किया और रात्रि के प्रथम प्रहर तक पिताजी के पास रहकर हमने बहुत प्रकार से आनन्दोत्सव मनाया। [१२६–१३१]

इसके पश्चात् रात्रि का शेष भाग * मदनमंजरी के साथ सर्व सामग्री से पूर्ण महल में बिताया। देवता देवलोक में जैसा सुख भोगते हैं वैसे ही सुख का मैंने उस रात अनुभव किया। सुरतामृत सुख के प्रेमसागर में गहरी डुबकी लगाने का अनुभव किया। पर, मेरी किसी भी विषय में अत्यन्त लोलुपता नहीं थी, इससे मैं कहीं अत्यन्त आसक्त नहीं हुआ।

---

* पृष्ठ ७०१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुरत-सुख का अनुभव करने के पश्चात् हम निद्राधीन हुए। प्रातः मदन-मंजरी के साथ उठा और उठकर उसी के साथ माता-पिता के पास जाकर उन्हें प्रणाम किया और फिर मैं अपने सभी प्रभातकालीन कर्त्तव्यों में लग गया। [१३२–१३४]

---

४. कन्दमुनि : राज्य एवं गृहिधर्म-प्राप्ति

कुलन्धर का स्वप्न

मेरा मित्र कुलन्धर दूसरे दिन प्रातः मेरे पास आया और बताया कि उसने रात में एक बहुत सुन्दर स्वप्न देखा है। स्वप्न में उसने स्पष्टरूप से पाँच व्यक्ति देखे जिसमें से तीन पुरुष और दो स्त्रियाँ थीं। उन्होंने बताया कि गुणधारण अभी जो सुखसागर में डुबकियाँ लगा रहा है, वह सब निःसंदेह हमने ही उसके लिये उपलब्ध कराया है। हे कुलन्धर ! भूतकाल में उसके सम्बन्ध में जो कुछ अच्छा हुआ और भविष्य में जो कुछ होगा, वह सब हमारा ही किया हुआ था और होगा। इस प्रकार सूचित कर वे पाँचों पुरुष तुरन्त अदृश्य हो गये। हे कुमार ! ये पुरुष कौन थे ? उन्होंने किस प्रकार की योजना से तुझे सारे सुख उपलब्ध करवाये ? यह स्वप्न से ज्ञात नहीं हो सका। [१३५–१४०]

स्वप्न-फल-विचार

मैंने कहा—भाई कुलन्धर ! इस स्वप्न का वृत्तान्त पिताजी आदि को बतायें जिससे वे हमें इसके वास्तविक भावार्थ को स्पष्टतः समझा सकें। फिर कुलन्धर राज्यसभा में गया। राज्यसभा में विद्वत्समूह बैठा था। पिताजी और राज्यसभा के समक्ष बुद्धिमान कुलन्धर ने स्वप्न की बात कह सुनाई। पिताजी एवं सभी विद्वानों ने स्वप्न के अर्थ पर अलग-अलग विचार किया, फिर सभी ने एकमत होकर निम्न फलार्थ निश्चित किया। ऐसा लगता है कि अमुक देव गुणधारण के अनुकूल हुए हैं। उन्होंने ही कुमार के लिये कल्याणमाला निर्मित की है, ये सब सुख-साधन उपलब्ध कराये हैं। कुमार की सभी अनुकूलतायें उन्हीं के प्रताप से है। उन्होंने ही प्रसन्न होकर कुमार के मित्र को स्वप्न में आकर यह सब बताया है कि यह सब कल्याण-परम्परा हमारे द्वारा सर्जित है। [१४१–१४५]

विद्वानों द्वारा किये गये स्वप्न-निर्णय को मैंने भी सुना; क्योंकि उस समय मैं भी राज्यसभा में उपस्थित था। पहले महारानी कामलता ने मेरे श्वसुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कनकोदर के स्वप्न की जो बात कही थी उसमें दो पुरुषों और दो स्त्रियों ने कहा था कि उन्होंने मदनमंजरी के लिये पति ढूँढ़ रखा है। इस स्वप्न की बात मुझे पूर्णतः याद थी। मेरे मन में शंका हुई कि श्वसुर के स्वप्न में चार व्यक्ति थे और कुलन्धर के स्वप्न में पाँच, तो कौन से ऐसे देव हैं जिन्हें मेरी अनुकूलता के लिये इतनी चिन्ता रहती है, फिर इस चिन्ता का कारण क्या है ? इन स्वप्नों के पीछे कोई गहन कारण होना चाहिये, जो इस समय तो समझ में नहीं आता, पर जब कभी किसी अतीन्द्रिय विषय के ज्ञाता मुनि महाराज का संयोग मिलेगा * तब ही उनसे पूछकर स्पष्ट निर्णय कर सकूँगा। इसके अतिरिक्त इसका संतोषजनक निर्णय असंभव है। मेरे मन में स्वप्न के अर्थ के प्रति सन्देह होने पर भी पिताजी एवं विद्वानों के अविनय से बचने के लिये मैंने प्रकट रूप से स्वप्नार्थ में कोई दोष नहीं निकाला और उनके निर्णय को मान्य किया। [१४६-१५१]

जो विद्याधर राजा कनकोदर से लड़ने आये थे और जो आखिर में मेरे सगे हो गये थे, उन्हें राजा कनकोदर के साथ कुछ दिन हमारे राज-मन्दिर में ठहराया था। उनका योग्य आदर सत्कार किया गया। आनन्दामृत में स्नान कर, मेरे प्रति सेवकत्व स्वीकार कर कुछ दिनों बाद वे सब अपने-अपने स्थानों को लौट गये। [१५२-१५३]

मर्त्यलोक में देवसुखानुभव

मदनमंजरी के साथ रतिसुखसागर में डूबकर अनेक प्रकार की लीलाओं में मेरे दिन व्यतीत होने लगे। देवलोक में देवता जैसे सुखों का अनुभव करते हैं वैसे सुखों का मैंने मर्त्यलोक में अनुभव किया। दिन-प्रतिदिन प्रेमरस का अधिकाधिक पान करने लगा। आनन्दरसामृत प्रतिदिन बढ़ता ही गया और सद्भावपूर्वक उसका मिलाप अधिकाधिक सुख देने लगा। हमारा प्रेमबन्ध अधिक सुदृढ़ होता गया। हमारे आह्लाद में निरन्तर प्रसार होता गया और हमारी प्रेम गोष्ठी विशेष दृढ़ होती गई। राज्यकार्य की चिन्ता पिताजी करते थे। अनेक राजा मुझे नमस्कार और प्रणाम किया करते थे। हे विशालाक्षि ! ऐसे सुन्दर संयोगों में मुझे तो चिन्ता की गन्ध भी नहीं आती थी। मेरे दिन सुख में व्यतीत हो रहे थे। विद्याधर अनेक सुगन्धित फूलों के पुष्पहार ले आते थे, सुन्दर आभूषण आदि सर्व पदार्थ ले आते थे। इस प्रकार हमारी सभी इच्छाओं की तृप्ति होने से सम्पूर्ण सुख की प्राप्ति हो रही थी। यद्यपि मेरा शरीर इस सुखसागर में अवगाहन करता था तथापि मेरी आत्मा इसमें तनिक भी लुब्ध/आसक्त नहीं होती थी। हे चार्वङ्गि ! इस प्रकार अपनी सुन्दर पत्नी मदनमंजरी और सन्मित्र कुलन्धर के साथ आनन्द करते हुए मेरा समय व्यतीत हो रहा था। [१५४-१५८]

---

* पृष्ठ ७०२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कन्दमुनि समागम

एक दिन मैं अपने मित्र और पत्नी के साथ आह्लादमन्दिर उद्यान में गया। वहाँ मैंने कन्द नामक मुनीश्वर के दर्शन किये। इन महान ओजस्वी यतीन्द्र को देखकर मैंने अत्यन्त विनयपूर्वक नम्र बनकर योग्य नमस्कार किया तथा धर्म सुनने और प्राप्त करने की बुद्धि से शुद्ध जमीन देखकर उनके सामने बैठा। कन्द मुनि ने हृदयाह्लादकारिणी कर्णप्रिय मधुर धर्मदेशना दी। मैं उनकी देशना को अत्यन्त आदरपूर्वक सुन रहा था तभी, हे भद्रे! मेरे अन्तरंग में पूर्व परिचित दो सुबन्धु आविर्भूत हुए, जिन्हें मैंने तुरन्त पहचान लिया। उनमें से एक तो ये महात्मा सदागम थे और दूसरा मेरा परम मित्र सम्यग्दर्शन था। हे सुलोचने! गुरु महाराज के उपदेश से प्रबोधित होकर मैंने इन दोनों को अपने हितेच्छु के रूप में पहचाना और गुरुवचन से जागृत होकर उन्हें उसी भाव से स्वीकार किया। [१५६–१६४]

पहले मैं जब विबुधालय में था तब वेदनीय राजा के मुख्य भाई सातावेदनीय नामक राजा से मेरा घनिष्ठ परिचय हुआ था। वह मुझ पर बहुत मैत्रीभाव/स्नेह रखता था, मेरा पक्ष लेता था और मुझ पर अत्यधिक आसक्त रहता था। विबुधालय की मेरी मित्रता को याद कर वह मेरे साथ ही सप्रमोद नगर आया था। पर, अभी तक उसने छिपकर ही मुझे सुख का आस्वादन करवाया था। मेरे पुराने मित्रों सदागम और सम्यग्दर्शन का पुनः परिचय होते ही यह भी मुझ से स्पष्टतः प्रत्यक्षरूप से मिल गया और मेरी सुख-प्राप्ति की योग्यता को इसने गुरु महाराज के समक्ष ही अनन्त गुणी बढ़ा दी। इसके पश्चात् सातावेदनीय राजा की मित्रता और सहायता से मुझे स्त्री और रत्न-प्राप्ति से उत्पन्न होने वाले सुख में अनन्तगुणी वृद्धि हो गई।* जिस प्रकार मैंने सम्यग्दर्शन और सदागम को स्वीकार किया था वैसे ही उस समय मेरी पत्नी मदनमंजरी और मित्र कुलन्धर ने भी गुरु महाराज के समक्ष ही महात्मा सदागम और सेनापति सम्यग्दर्शन को अपने हितेच्छु के रूप में स्वीकार किया। ऐसे सुन्दर परिवर्तन से अत्यधिक प्रसन्न होकर पवित्र मुनिराज ने फिर से अधिक विशुद्ध धर्मोपदेश दिया। [१६५–१७०]

चारित्रधर्मराज और सद्बोध की विचारणा

इधर चित्तवृत्ति अटवी में महामोह आदि राजा जो घेरा डालकर पड़े थे वे कुछ शक्तिहीन हुए, कुछ नरम हुए, काँपने लगे और भय से घेराव छोड़कर दूर-दूर जा बैठे। बहिन अगृहीतसंकेता! उस समय चारित्रधर्मराज के मन में कुछ संतोष हुआ और उसे प्रकट करते हुए उन्होंने अपने मंत्री सद्बोध से कहा—मन्त्रिवर! अभी अच्छा अवसर आ गया लगता है, बहुत सी अनुकूलताएँ बढ़ रही हैं, अतः अभी तुम पुत्री विद्या को लेकर संसारी जीव के पास चले जाओ। अभी अधिक लाभ

* पृष्ठ ७०३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने की संभावना है, क्योंकि चित्तवृत्ति अटवी कुछ अधिक उज्ज्वल हुई लगती है। हम पर डाला गया घेरा कुछ कम हुआ है, शत्रु भी अपने से कुछ दूर चले गये हैं, अतः कर्मपरिणाम महाराजा को पूछ कर यदि वे आज्ञा दें तो पुत्री विद्या को लेकर शीघ्र संसारी जीव के पास चले जाओ। हमारे गुप्तचरों से मुझे अभी-अभी संदेश मिला है कि संसारी जीव कुमार गुणधारण अभी कन्दमुनि के समक्ष बैठा है, अतः यदि तुम अभी पुत्री को लेकर पहुँच जाओगे तो वह अवश्य तुम्हें स्वीकार कर लेगा। [१७१-१७६]

सद्बोध मंत्री ने राजा के विचार सुने, उनके विषय में अपने मन में विचार किया और वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए योग्य निर्णय सोचकर कहा—

देव ! आपका कथन ठीक है, इसमें कोई संदेह नहीं, पर मेरे विचार से अभी इस विषय में थोड़ा कालक्षेप और करना चाहिये। योग्य अवसर की प्रतीक्षा करते हुए कुछ ढील देनी चाहिये; क्योंकि संसारी जीव के पास अभी कुछ समय उसके दो अन्तरंग मित्र पुण्योदय और सातावेदनीय रहने वाले हैं। अभी कुछ समय तक उसके ये दोनों मित्र उसे भोग फल देंगे। अभी उसे पुण्य का उदय बहुत भोगना शेष है और शब्दादि सुख का पूर्ण लाभ प्राप्त करना है। इन दोनों मित्रों का कुमार पर अधिक स्नेह है, अतः वे उसे विषय सुख का आस्वादन करवाना चाहते हैं। इसलिये अभी वे गुणधारण कुमार को आग्रह पूर्वक घर (संसार) में रखेंगे। फलतः जब तक संसारी जीव इन दोनों मित्रों के आग्रहानुसार आचरण करते हुए घर/संसार में रहकर शब्दादि स्थूल विषयों को सुख का कारण समझे तब तक विद्या को उसके पास ले जाना मुझे तो किसी प्रकार योग्य नहीं जँचता। मेरा तो यह प्रस्ताव है कि अभी कुमार गृहिधर्म को उसकी पत्नी के साथ शीघ्र ही संसारी जीव के पास भेजना चाहिये। अभी संसारी जीव के समय और आस-पास के संयोगों को देखते हुए यदि कुमारश्री को सपरिवार वहाँ भेजा जाय तो वह अधिक समुचित होगा और जिस कार्य को सिद्ध करने की आपकी इच्छा है, उसमें साधक भी आगे जाकर वही बनेंगे। हे देव ! कुमार की पत्नी सद्गुणरक्तता तो संसारी जीव को अत्यन्त इष्ट होगी। मुझे लगता है कि कुमार के वहाँ जाने से गुणधारण भावपूर्वक उनका आदर करेगा और उन्हें अपने सम्बन्धी के रूप में स्वीकार कर लेगा। [१७७-१८४]

पहले भी जब-जब संसारी जीव के पास सदागम था तब-तब उसने अपने कुमार गृहिधर्म को बहुत बार द्रव्य (उपचार) से देखा है। फिर सम्यग्दर्शन भी अपने कुमार गृहिधर्म को अपने साथ लेकर संसारी जीव के पास जाता रहा है, क्योंकि अपने सेनापति को गृहिधर्म कुमार पर अत्यधिक स्नेह है। सम्यग्दर्शन के संसारी जीव के पास जाने के बाद दो से नौ पल्योपम पृथकत्व काल में भी उसने * भावपूर्वक गृहिधर्म को अपनी संगति में रखना स्वीकार किया था। पहले जब-जब

* पृष्ठ ७०४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसारी जीव ने सदागम और सम्यग्दर्शन को पुनः-पुनः देखा है, तब-तब उसने गृहिधर्म को भावतः स्वीकार किया है और ऐसी परिस्थिति असंख्य बार आई है। हे देव ! वर्तमान में गुणधारण मेरे अथवा सदागम के अधिक निकट आ रहा है, अतः गृहिधर्म का उसके पास जाना विशेष अनुकूल रहेगा। अतः मेरे विचार में अभी कुमार गृहिधर्म उसके पास जाये और उसे अपने गुणों से विशेष प्रसन्न करे। जब वह प्रसन्न हो जायगा तब मेरे और मेरे जैसे अन्य लोगों का भी उसके पास जाने का समय आ जायेगा। [१८५-१९०]

देव ! दूसरी बात यह है कि अभी कुमार गृहिधर्म के वहाँ जाने से वह अपने शत्रु महामोह आदि को अधिक त्रास दे सकेगा और चित्तवृत्ति अटवी विशेष रूप से अधिक शुद्ध होगी। गृहिधर्म वहाँ होने से वह बार-बार संसारी जीव को प्रेरित करता रहेगा जिससे वह हमें देखने की इच्छा से हमारी ओर उन्मुख होगा। उसकी आत्मा को अधिकाधिक शान्ति और सुख प्राप्त होगा, उसके मन में अधिकाधिक संतोष होगा, उसके कर्म निर्बल बनेंगे और उसके संसार-भ्रमण का भय दूर हो जायगा। गृहिधर्म के ये चार बड़े गुण हैं। अतएव इन परिस्थितियों में अभी गृहिधर्म को वहाँ भेज देना चाहिये। फिर अवसर देखकर हम सब उसके पास चलेंगे। [१९१-१९४]

गृहिधर्म समागम

चारित्रधर्मराज को सद्बोध मंत्री का परामर्श समयानुसार उचित लगा और उसके विचार नीतिसम्मत एवं निर्मल लगे, अतः उन्होंने शीघ्र ही व्यवस्था कर अपने छोटे पुत्र गृहिधर्म को निर्देश दिया। इस कार्य के लिये पहले कर्मपरिणाम महाराजा की आज्ञा ली गई। तत्पश्चात् गृहिधर्म मेरे (संसारी जीव गुणधारण के) पास आने के लिये निकल पड़ा। जिस समय मैं आह्लादमन्दिर उद्यान में कन्दमुनि के समक्ष बैठकर व्याख्यान सुन रहा था, उसी समय वह मेरे पास आ पहुँचा और मुनि ने मुझे श्रावकधर्म का उपदेश देकर उसे प्रकट किया। उसकी पत्नी सद्गुणरक्तता और उसके बारह कर्मचारी (श्रावक के १२ व्रत) भी उसके साथ थे। मैंने उन सब को बान्धव-बुद्धि से मुनि महाराज के समक्ष ही स्वीकार किया, स्वागत किया और उन सब का यथोचित आदर किया। मेरे मित्र कुलन्धर ने भी उसी समय गृहिधर्म, उसकी पत्नी और उसके १२ कर्मचारियों को अन्तरंग से स्वीकार किया। इस समय हमें अतिशय आनन्द प्राप्त हुआ। [१९५-१९९]

स्वप्नफल-पृच्छा

गृहिधर्म को स्वीकार करने के बाद मैंने कन्दमुनि से स्वप्न में आये चार और पाँच व्यक्तियों के विषय में पूछा। कनकोदर और कुलन्धर को जो स्वप्न आये थे उनके अन्तर को बताते हुए उन स्वप्नों का पूरा वृत्तान्त मुनिराज को कह सुनाया और उसके भावार्थ को जानने की जिज्ञासा उनके समक्ष प्रस्तुत की।

कन्दमुनि बोले—भाई गुणधारण ! तेरे स्वप्नों का भावार्थ अतीन्द्रिय ज्ञानी गुरु के अतिरिक्त कोई नहीं बता सकता। मेरे गुरु निर्मलसूरि केवलज्ञान रूपी सूर्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से उद्योतित/प्रकाशित हैं, पर वे अभी दूर देश में विहार कर रहे हैं। हे भद्र ! जब मैं उनके चरण-वन्दन के लिये जाऊँगा, तब तेरी शंका का समाधान उनसे पूछूंगा। मुझे विश्वास है कि दोनों स्वप्नों के विषय में तुझे जो सन्देह है उस बारे में वे स्पष्ट निर्णय दे सकेंगे। वे महाज्ञानी हैं, अतः स्वप्न के भीतरी आशय/रहस्य को बराबर समझते हैं। [२००-२०४]

उत्तर में मैंने कहा—भगवन् ! यदि आपके गुरु महाराज निर्मलाचार्य स्वयं ही यहाँ पधार सकें तो कितना अच्छा हो ! [२०५]*

कन्दमुनि—हे महाभाग ! मैं तेरे कहने से गुरु महाराज के पास जाऊंगा और उन्हें यहाँ पधारने की प्रार्थना करूंगा। मुझे विश्वास है कि वे स्वयं यहाँ पधार कर तेरे मनोरथ पूर्ण करेंगे। अथवा उनकी आत्मा केवलज्ञान के प्रकाश से लोकालोक के समग्र भावों को जानती है, अतः तेरे मन के भावों को जानकर, मेरे बिना बुलाये भी वे स्वयं यहाँ पधार सकते हैं। जब तक वे यहाँ न पधारें तब तक तुम्हें सदागम और सम्यग्दर्शन के साथ गृहिधर्म का पूर्ण आदर करना चाहिये। [२०६-२०८]

गुरु महाराज के मधुर एवं कर्णप्रिय अन्तिम उपदेश को मैंने अत्यन्त आदर-पूर्वक स्वीकार किया और कहा—भगवन् ! आपकी बहुत कृपा। मेरी पत्नी ने भी भगवान के वचनों को स्वीकार किया। हे भद्रे ! फिर गुरु महाराज को मुहुर्मुहुः विनयावनत होकर मस्तक झुकाकर वन्दन कर मैं अपनी पत्नी और मित्र के साथ उद्यान में से अपने राजभवन में आ गया। तत्पश्चात् महाभाग्यवान कंदमुनि भी अन्य मुनियों के साथ अपने गुरु निर्मलाचार्य के पादपद्मों का वन्दन करने वहाँ से विहार कर गये। [२०९-२११]

गुणधारण को राज्य-प्राप्ति

हे अगृहीतसंकेता ! इसके कुछ दिनों बाद मेरे पिता मधुवारण धर्म का सेवन करते हुए समाधि-मरण पूर्वक परलोक पधार गये।

मेरे बान्धवजनों, मन्त्रियों और सेनापति ने अत्यन्त हर्षित होकर महान् आनन्द से मेरा राज्याभिषेक किया। उस समय सभी प्रकार के योग्य महोत्सव आदि मनाये गये। मुझे राज्य-प्राप्त होते ही सारा राज्य मण्डल मेरा अनुरागी हो गया, शत्रु मेरे वशवर्ती हो गये, विद्याधर तो पहले ही वश में थे। देवता भी नतमस्तक होकर मेरी आज्ञा में रहने लगे। मेरा कोष, आज्ञा और समृद्धि भी बढ़ने लगी। धनुष-बाण चलाये बिना और क्रोध किये बिना ही मेरा राज्य निष्कंटक हो गया। सुखों की प्राप्ति होने पर भी मेरा मन उनमें लवलेश भी लुब्ध नहीं हुआ। मैं रात-दिन सदागम और सम्यग्दर्शन की अधिक प्राप्ति का प्रयत्न करने लगा। पुण्योदय से संयुक्त होकर गृहिधर्म का आदर करने लगा। सातावेदनीय राजा मुझे निरन्तर

---

* पृष्ठ ७०५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आह्लादित करता रहा। हे सुन्दरांगि ! इस प्रकार पत्नी मदनमंजरी और मित्र कुलन्धर के साथ उद्यम करते हुए और स्वर्गोपम लीला सुख भोगते हुए, आनन्द समुद्र में डुबकियाँ लगाते हुए मेरा बहुत समय व्यतीत हो गया। [२१२-२२०]

५. निर्मलाचार्य : स्वप्न-विचार

निर्मलाचार्य का पदार्पण

एक दिन कल्याण नामक मेरे एक परिचारक ने मेरे पास आकर मुझे विनय-पूर्वक नमस्कार किया और बोला—देव ! आह्लाद मन्दिर उद्यान में देव-दानवों से पूजित अचिन्त्य महिमा वाले महाभाग्यवान् निर्मलाचार्य महाराज पधारे हैं, यही सूचना देने के लिये मैं आपके समक्ष उपस्थित हुआ हूँ [२२१–२२२]

हे भद्रे ! सेवक के उपर्युक्त वचन सुनते ही मुझे अवर्णनीय आनन्द हुआ। मानो मैं अपने शरीर, राजभवन, नगर और सम्पूर्ण त्रैलोक्य में भी न समा पाऊं इतना आनन्द हुआ।* ऐसे शुभ समाचार देने वाले सेवक को मैंने संतुष्ट चित्त होकर एक लाख मोहरें पारितोषिक में दीं और उसे प्रसन्न कर विदा किया।

[२२३–२२४]

हे भद्रे ! फिर में अत्यन्त आदरपूर्वक अपने मित्र कुलन्धर और पत्नी मदनमंजरी को साथ लेकर सूरिमहाराज को वन्दन करने के लिये नगर से बाहर निकल पड़ा।

देवताओं द्वारा स्वर्ण-निर्मित देदीप्यमान अति सुन्दर कमल पर सूरि महाराज विराजमान थे। इनके आस-पास अनेक मुनि, देव, दानव, विद्याधर आदि मर्यादा-पूर्वक बैठे थे। सबके मस्तक झुके हुए थे और उन सबको केवली भगवान् सुन्दर धर्मोपदेश दे रहे थे। [२२५–२२७]

दूर से ही आचार्यश्री के दर्शन होते ही अत्यन्त आनन्द से मेरा पूरा शरीर रोमांच से विकसित हो गया। मेरे साथ अधीनस्थ राजा थे, उन्होंने और मैंने भी राज्य के पाँच चिह्न छत्र, तलवार, मुकुट, वाहन और चामर का त्याग कर दिया, उत्तरासंग धारण किया और आचार्यश्री के अवग्रह में प्रवेश किया। (३½ हाथ दूर रहकर) हम सब ने विधिपूर्वक आचार्यश्री को द्वादशावर्त वन्दन किया और योग्य

* पृष्ठ ७०६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रमानुसार अन्य मुनियों को भी वन्दन किया। केवली भगवान् और मुनियों से आशीर्वाद प्राप्त कर, पुनः पुनः नमन कर, शुद्ध निर्जीव जमीन देखकर बैठ गये। मुझे अत्यन्त प्रमोद हुआ और मेरी अन्तरात्मा अतिशय प्रसन्न हुई। केवली भगवान् ने भव्य जीवों के कर्मविष को नष्ट करने के लिए अमृतवृष्टि के समान मधुरामृत वाणी से देशना प्रारम्भ की। [२२८-२३२]

धर्मदेशना

भव्य प्राणियों ! यह संसार-चक्र जो निरन्तर घूमता ही रहता है और जो अनेक प्रकार के भयंकर दुःखों से परिपूर्ण है, उसमें धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसकी शरण ली जा सके। यहाँ मृत्यु के लिये ही जन्म होता है। रोग-वहन के लिये ही शरीर प्राप्त होता है। वृद्धावस्था के हेतुभूत यौवन आता है। वियोग के लिये ही संयोग का समागम होता है। इसमें अनेक प्रकार की स्थूल सम्पत्तियों की प्राप्ति भी दुःख के लिये ही होती है। अतः शरीर, यौवन, संयोग और सम्पत्तियां जिन्हें आप बहुत ही कीमती समझते हो, हे सांसारिकजनों ! वे सब दुःख की ही कारणभूत हैं। प्राणियों के सम्बन्ध/सम्पर्क में आने वाली संसार की एक भी वस्तु ऐसी नहीं है जो उसके दुःख के लिये न हो। सांसारिक पदार्थों में सुख की आशा करना मरुस्थल में जल की आशा करना है। आप पूछेंगे कि फिर सुख कहाँ है और सुखी कौन है ? जो अमूर्त्त दशा को प्राप्त हो गये हैं, जो सर्व भावों को जानते हैं, जो त्रैलोक्य से भी ऊपर (सिद्धगति) में पहुँच गये हैं, जिन्होंने सभी प्रकार के संग का त्याग कर दिया है, ऐसे महात्मा गण ही सुखी हैं। सर्व प्रकार के राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से जो मुक्त हैं, जिनकी सब प्रकार की पीड़ा/बाधा नष्ट हो गई है और जिनके सभी सत्कार्य सिद्ध हो गये हैं, ऐसे महात्माओं के सुख का तो कहना ही क्या है ?

जिस प्राणी का संसार में जन्म ही नहीं होगा, उसे न बुढ़ापा सतायेगा और न मृत्यु। जब जन्म, जरा, मृत्यु का अभाव हो जाता है तब सभी दुःखों का अभाव स्वतः ही हो जाता है। सब दुःखों का नाश होने पर ही परमानन्द भाव की प्राप्ति होती है, शाश्वत सुखों की प्राप्ति होती है, अतः सिद्धों का सुख अव्याबाध होता है।

अथवा संसार में रहने वाले भी जिन महापुरुषों ने बाह्य और आन्तरिक परिग्रह का त्याग कर दिया है, जो निःस्पृह/इच्छारहित हो गये हैं, जो संतुष्ट हैं, जो ध्यानमग्न हैं, जो समता रूपी अमृत का पान करते हैं, जो संगरहित हैं, जो अहंकार रहित हैं और जिनका चित्त निर्मल हो गया है, ऐसे सुसाधु महात्मा शरीर धारण करते हुए भी परम सुखी हैं।*

* पृष्ठ ७०७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस संसार में सभी प्राणी सुखी होना चाहते हैं, पर सुख सुसाधुता के अतिरिक्त कहीं प्राप्त हो नहीं सकता है। अतः हे महासत्वों! इस पर विचार करें और इसे आचरण में उतारें। यदि आप लोगों को मेरी बात युक्तिसंगत प्रतीत होती हो तो आप भी इस असार संसार का त्याग करें और सुसाधुता को अंगीकार करें।

[२३३–२४३]

हे अगृहीतसंकेता! उस समय मेरे कर्म कुछ क्षीण हो गये थे, अतः आचार्य-प्रवर का उपदेश मुझे रुचिकर और सुखकारी प्रतीत हुआ। [२४४]

मैंने मन में सोचा कि भगवान् ने जो सुख का कारण बताया है उस पर मुझे आचरण करना चाहिये। हे भद्रे! इस प्रकार मेरी दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा जागृत हुई। [२४५]

संशय-निवेदन

आचार्यश्री की मन को प्रमुदित करने वाली वचनामृत-वृष्टि के पूर्ण होने पर कन्दमुनि ने दोनों हाथ जोड़कर ललाट पर लगाते हुए खड़े होकर आचार्यश्री से पूछा—भगवन्! इस संसार में किस प्राणी को समय व्यतीत करना दुष्कर होता है?

आचार्य—गुरु के समक्ष जिसे अपनी जिज्ञासा के बारे में कुछ पूछना हो, उसे जब तक पूछने का अवसर न मिले तब तक समय बिताना कठिन होता है।

कन्दमुनि—भगवन्! यदि ऐसा ही है तो गुणधारण राजा के मन के संदेह को दूर करने में आप पूर्णरूपेण समर्थ हैं, अतः उसे दूर करने की कृपा करें।

आचार्य—बहुत अच्छा! मैं इसका संदेह दूर करता हूँ, सुनो।

मैंने (गुणधारण) कहा—भगवान् की महान कृपा। फिर मैंने कन्दमुनि से कहा—आपने मेरे संदेह के विषय में आचार्यश्री से पूछकर बड़ी कृपा की, मैं आपका बहुत आभारी हूँ।

कन्दमुनि—राजन्! आप केवली भगवान् की कृपा के योग्य हैं, अब भगवान् के वचन ध्यानपूर्वक सुनें।

मैं अधिक विनयी बनकर मस्तक झुकाकर स्थिर चित्त होकर बैठ गया, तब निर्मलाचार्य ने कहा—हे गुणधारण राजन्! तेरे मन में यह संदेह है कि राजा कनकोदर ने स्वप्न में जिन चार व्यक्तियों को देखा वे कौन थे? फिर कुलन्धर ने स्वप्न में पाँच व्यक्ति देखे वे कौन थे? वे किस प्रकार तेरे कार्यों को सिद्ध करते हैं? वे देव थे या और कोई? एक ने चार और दूसरे ने पाँच क्यों देखे? ये दोनों स्वप्न-मात्र थे या इसका कुछ गहन अर्थ भी है?

गुणधारण—हाँ, भगवन्! आपने जैसा फरमाया वैसा ही संदेह मेरे मन में है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संशय-निवारण

आचार्य—राजन् ! यह तो बड़ी लम्बी कथा है। इसे आद्योपान्त कैसे कहा और सुनाया जा सकता है ?

गुणधारण—यदि ऐसा है तब भी आप कृपाकर यह समस्त वार्ता मुझे सुनाकर मेरा संदेह दूर करें।

तब भगवान् निर्मलाचार्य ने असंव्यवहार नगर से लेकर अभी तक की मेरी सारी आत्मकथा संक्षेप में सुना दी।

तत्पश्चात् आचार्य ने कहा—राजन् ! तेरी चित्तवृत्ति में अनेक नगर-ग्रामों से व्याप्त एक बड़ा अन्तरंग राज्य है। इस राज्य से तेरे हितेच्छु चारित्रधर्मराज आदि को बाहर निकाल कर महामोह आदि शत्रुओं ने दीर्घ काल से इस पर आधिपत्य कर लिया था। इसका कारण यह था कि महाराजा कर्मपरिणाम भी* अभी तक तुम्हारे प्रतिकूल होने के कारण महामोहादि के बल को पुष्ट करते रहते थे किन्तु अभी-अभी वे तेरे अनुकूल हुए हैं। इन्होंने ही अपनी महारानी कालपरिणति को तेरे समक्ष किया है और तेरी पत्नी भवितव्यता को प्रसन्न किया है, अपने विशेष अधिकारी स्वभाव को भी तेरे पास भेजा है और तुम्हारे मित्र पुण्योदय को प्रोत्साहित किया है। इन्होंने ही महामोहादि शत्रुओं का तिरस्कार कर उन्हें कुछ दूर भगाया है और चारित्रधर्मराज आदि को आश्वासन दिया है। इन्होंने ही आज से पूर्व तुझे अनेक सुख-परम्परा के मार्ग दिखाये हैं। इनकी अनुकूलता से ही तुझे संदागम से स्नेह हुआ और सम्यग्दर्शन से मित्रता हुई है। सदागम और सम्यग्दर्शन के प्रति तेरे स्नेह के फलस्वरूप ही महाराज कर्मपरिणाम तेरे प्रति अधिक से अधिक अनुकूल होते रहे हैं। यही कारण है कि तूने विबुधालय में परिवार सहित निवास करते हुए विशिष्टतर सुख-परम्परा प्राप्त की। कर्मपरिणाम महाराजा ने तेरे मित्र पुण्योदय को प्रोत्साहित किया जिससे तूने मधुवारण राजा के यहाँ जन्म लिया और बहिरंग राज्य में तुझे मदनमंजरी जैसी पत्नी प्राप्त हुई। यह पुण्योदय विशिष्ट उत्तम प्रकृति का है। इस पुण्योदय ने एक समय विचार किया कि तुझे इस प्रकार के सुख-समूह प्राप्त कराने में उसका क्या स्थान है ? क्योंकि, समस्त कार्यों की संघटना तो पूर्ववर्णित चार महापुरुष ही करते हैं। इसी विचार से यथेच्छ रूप धारण करने वाले पुण्योदय ने कनकोदर राजा को स्वप्न में उन दो पुरुषों और दो स्त्रियों के दर्शन कराये, वे थे :—कर्मपरिणाम महाराजा, कालपरिणति महारानी, स्वभाव और भवितव्यता। इन्होंने ही स्वप्न में राजा को कहा था कि मदनमंजरी के लिये पहले से ही वर ढूंढ़ कर रखा है, अतः अन्य वर ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं है। इसी ने मदनमंजरी को विद्याधरों से विमुख किया था। यह सब पुण्योदय के कार्य का ही दर्शन था। परन्तु, अपनी महानुभावता के कारण वह

* पृष्ठ ७०८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वयं स्वप्न में अदृश्य रहकर कर्मपरिणाम आदि के मुंह से ही यह बात कहलाई कि वे ही सब कुछ कर्त्ता-धर्ता हैं।

बाद में जब कर्मपरिणाम को यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने कहा—आर्य पुण्योदय ! गुणधारण को तुमने ही सब प्रकार का सुख प्राप्त करवाया है। फिर भी तुमने स्वयं को प्रच्छन्न रखकर हम को इसका कर्त्ता बतलाया यह तो उचित नहीं है।

पुण्योदय—देव ! आप ऐसा न कहें। मैं तो आपका आज्ञाकारी सेवक हूँ। परमार्थ से तो आप ही कर्त्ता हैं। वही मैंने स्वप्न में कनकोदर को बताया, इसमें अनुचित क्या है ?

कर्मपरिणाम—आर्य ! यह सत्य है, फिर भी परम हेतु तो तुम्हीं हो। तुम्हारे बिना हम भी किसी को सुख प्राप्त नहीं करवा सकते, अतः तुम्हें भी स्वप्न में यह बात स्वयं कहनी चाहिये। जब तक तुम ऐसा नहीं करोगे तब तक हमारे चित्त को शान्ति नहीं मिलेगी।

पुण्योदय*—जैसी देव की आज्ञा। तत्पश्चात् कुलन्धर को स्वप्न में पाँच मनुष्य दिखाये, जिसमें चार तो पूर्वोक्त कर्मपरिणाम, कालपरिणति, स्वभाव और भवितव्यता ही थे और पांचवाँ स्वयं पुण्योदय था। पुण्योदय ने स्वप्न के माध्यम से यह बताया कि समस्त कार्यों की सफलता ये पाँचों ही प्रदान करते हैं।

हे राजन् गुणधारण ! इस विवेचन से आपको यह स्पष्ट हो गया होगा कि ये चारों और ये पाँचों कौन थे ? वस्तुतः ये चारों और पाँचों ही आपके समस्त कार्य-कलापों की संघटना/योजना करते रहते हैं। अतः आपकी जिज्ञासा का समाधान हो गया होगा ? संशय न करें।

* पृष्ठ ७०६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. कार्य-कारण-शृंखला

पुण्योदय के कार्य

स्वप्नों के विषय में मेरे मन में उठे संदेह का निराकरण होने से मैं उत्साहित हुआ और मैंने इस अपूर्व अवसर का यथाशक्य लाभ उठाने के लिये आचार्यश्री से कुछ अन्य प्रश्न पूछने का निश्चय किया। मैंने (गुणधारण) सविनय पूछा---

गुरुदेव! मदनमंजरी की प्राप्ति के बाद भी मुझे जो निरुपम सुख की प्राप्ति हुई, क्या उसे भी कर्मपरिणाम आदि चारों महापुरुषों की प्रेरणा से पुण्योदय ने ही उपलब्ध करवाई है?

आचार्य—राजन्! वह सब पुण्योदय ने ही किया है। यही नहीं, पहले भी उसने तुझे कई बार अनेक प्रकार से सुख प्राप्त करवाये हैं। नन्दीवर्धन के भव में कनकमंजरी से सम्बन्ध, रिपुदारण के भव में नरसुन्दरी से सम्बन्ध, वामदेव के भव में विमलकुमार जैसे सद्गुणी मित्र की प्राप्ति, धनशेखर के भव में अनेक प्रकार के महार्घ्य रत्नों की प्राप्ति, धनवाहन के भव में कलंकरहित अकलंक जैसे मित्र से निश्छल गाढ स्नेह आदि सभी सुख इसी ने प्राप्त करवाये हैं। इसने तुझे अनेक बार राज्य प्राप्त करवाया और सभी स्थानों पर अनेक प्रकार की सुख सुविधायें प्राप्त करवाईं। पर, दुःख है कि तूने कभी भी न तो इस पुण्योदय मित्र से परिचय ही किया और न कभी उसकी शक्ति को ही पहिचाना। इसके विपरीत सर्व दोषों के केन्द्रस्थान हिंसा, वैश्वानर, मृषावाद, शैलराज, स्तेय, बहुलिका, मैथुन, सागर, परिग्रह और महामोह आदि का पक्ष लिया। बिना पुण्योदय को पहचाने तूने अपने होने वाले लाभों की प्राप्ति इन दारुण दोषों के समूह हिंसा आदि से हुए ऐसा माना। हितेच्छु को न पहचान कर शत्रुओं को मित्र माना।

गुणधारण—भगवन्! जब मित्र पुण्योदय मुझे पहले भी सुख-परम्परा प्रदान करने का हेतु रहा है, तब बीच-बीच में इतने दुःख मुझे क्यों हुए? अनन्त काल तक मुझे क्यों यहाँ से वहाँ भटकना पड़ा?

आचार्य—राजन्! तेरा प्रश्न बहुत विशाल है। यदि तुझे इसका स्पष्टीकरण जानना ही है तो मुझे प्रारम्भ से ही सब कुछ बताना पड़ेगा जिससे कि तेरे समस्त संदेह दूर हों।

गुणधारण--भगवन्! मुझ पर कृपाकर सब कुछ विस्तार से समझाइये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मपरिणाम के दो सेनापति

आचार्य—भूपति ! याद करो, तुम्हें अभी मैंने बतलाया था कि जब तुम असंव्यवहार नगर में कौटुम्बिक के रूप में संसारी जीव के नाम से रहते थे तभी से तुम्हारी चित्तवृत्ति में अनादि काल से अन्तरंग राज्य रहा ही है, जिसमें चारित्रधर्मराज आदि की और महामोहादि नरेन्द्रों की दोनों सेनायें रहती हैं। ये दोनों सेनायें सर्वदा एक दूसरे के विरुद्ध रही हैं। कर्मपरिणाम महाराज को महामोह के प्रति कुछ अधिक प्रेम है; क्योंकि ये दोनों एक ही जाति के हैं। यद्यपि ये महाराज तेरी शक्ति पर निरन्तर सूक्ष्म दृष्टि रखते हैं * तथापि ये दोनों पक्षों के मध्य साधारणतया निष्पक्ष जैसे रहते हैं। वास्तव में तो ये महाराजा प्रज्वलित अग्नि जैसे हैं और जब जिस पक्ष की प्रबलता देखते हैं तब उस पक्ष को प्रश्रय (टेका, बढावा) देते रहते हैं। यह स्थिति अनादि काल से चल रही है।

कर्मपरिणाम महाराजा के दो सेनापति हैं, एक का नाम पापोदय है और दूसरा यही पुण्योदय है। पापोदय प्रकृति से ही अत्यन्त भयंकर और तेरे प्रतिकूल व्यवहार करने वाला है, अतएव महामोहादि तेरे शत्रुओं की सेना का एक भाग जो अत्यन्त दूषित है, रौद्र है, भयंकर है, क्रूर है और नितान्त असुन्दर है उसका सेनापति यह बन बैठा है। पुण्योदय तेरे अनुकूल है इसलिये कर्मपरिणाम की सेना का दूसरा भाग जो सुन्दर और श्रेष्ठ है, तेरा बन्धुरूप है, वह उस चारित्रधर्मराज आदि की शुभ सेना का सेनापति बना हुआ है। जब तू असंव्यवहार नगर में था तब से ही यह पापोदय स्पष्ट रूप से तेरे साथ लगा हुआ है। यह इतना स्पष्ट था कि तेरी पत्नी भवितव्यता ने भी कभी तुझे इसका विशेष परिचय कराने का प्रयत्न नहीं किया। नृपति गुणधारण ! तुम्हें संसार में जहाँ-तहाँ भटकाने वाला यह पापोदय ही है। एक के बाद एक होने वाली तेरी दुःख-सन्तति का कारण भी यह पापोदय ही है। हिंसा आदि तेरे अनर्थकारी शत्रुओं को तूने मित्र माना और तुझे हितकारी पुण्योदय को पहचानने भी न दिया, इन सबका कारण यह पापोदय ही है।

राजन् ! इस पापोदय ने तेरे चित्तवृत्ति अन्तरंग महाराज्य में से स्वयं तुझे ही बाहर निकाल फेंका है, तुझे पदभ्रष्ट किया है और तेरी आज्ञा का पालन करने वाले, तेरे एकान्त हितेच्छु चारित्रधर्मराज आदि अन्तरंग बल (सेना) को मार भगाया है। तेरा एकान्त अहित करने वाली महामोह आदि की सेना को तुझे सन्तोषदात्री मित्रों की सेना जैसी बताई है, उनके प्रति तेरे मानस में आसक्ति उत्पन्न की है। स्वयं भी ठगने में कुशल और अपने को छिपाने में समर्थ होने से पापोदय ने स्वयं को तुम्हारा प्रेमी और हितेच्छु प्रकट किया है। यद्यपि उस समय पुण्योदय

---

* पृष्ठ ७१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी तेरे पास रहता था, पर वह तुझे पापोदय से अनुबद्ध देखकर तेरा अधिक हित नहीं कर सकता था। बीच-बीच में उसकी भलमनसाहत के अनुसार वह तुझे थोड़ा-थोड़ा सुख देता था, किन्तु कल्याण-परम्परा को प्राप्त करवाने में वह कारणभूत नहीं बन पाता था। इसमें पुण्योदय का कोई दोष नहीं था। समस्त दोष तो पापोदय का ही था।

गुणधारण—गुरुदेव ! फिर पापोदय अभी चुपचाप कैसे बैठा है ?

आचार्य—देखो, राजन् ! यह पापोदय भी स्वतन्त्र नहीं है। यह भी कर्म-परिणाम, कालपरिणति, स्वभाव, भवितव्यता आदि के अधीन है। इन चारों महापुरुषों ने मिलकर अभी पापोदय को तुझ से दूर निकाल भगा दिया है। जब से इन चारों महापुरुषों की आज्ञा लेकर सदागम तेरे पास आया है तब से उन्होंने पापोदय को निर्बल बना दिया है। तभी से यह पापोदय तुझ से दूर खिसक कर बैठ गया है और तुझे दुःख पहुँचाने का हेतु नहीं बन सका है। परिणामस्वरूप तेरे सम्बन्ध में पुण्योदय को अधिक अवकाश मिला है, सुअवसर मिला है। हे भूप ! बीच-बीच में जब-जब ऐसी परिस्थिति आई है तब-तब भी तुझे सदागम पर अधिक प्रीति हुई है* और सदागम के प्रताप से तुझे सुख की प्राप्ति हुई है। ये चारों महापुरुष जब भी पापोदय को तेरे निकट भेजते तभी तू फिर सदागम का साहचर्य छोड़ देता और पापोदय के वशीभूत होकर अनेक प्रकार के दुःख भोगता। [२४६–२४८]

हे नृप ! ये चारों महापुरुष विचार-विमर्श पूर्वक एकमत होकर तेरे सम्बन्ध में विचार करते थे और तेरे समस्त कार्यक्रम निश्चित करते थे। इस संसार में उन्होंने अनन्तबार पुण्योदय को तुझ से मिलाया, पापोदय को छिपाकर सदागम से तेरा मिलाप कराया। फिर जब उन्होंने अपने तेज से गृहिधर्म के साथ सम्यग्दर्शन को तेरे पास भेजा तब उन्होंने पापोदय को तुझ से अधिक दूर कर दिया और तेरी चित्तवृत्ति में जो उसकी सेना पड़ाव डाले हुए थी उसे भी पापोदय को दूर ले जाना पड़ा। इससे तुझे अधिक सुख प्राप्त हुआ। फिर पुण्योदय के साथ तेरा अधिक गाढ सम्बन्ध हुआ और चारों महापुरुषों ने तुझे पुण्योदय के साथ विबुधालय भेजा। वहाँ से तुझे फिर मानवावास में लाया गया और यहाँ तुझे अनेक प्रकार की कल्याण-परम्परा प्राप्त करवाई। एक बार फिर इन चारों महापुरुषों ने पापोदय और उसकी सेना को तेरे निकट भेजा, जिससे तेरे सम्बन्धियों ने भी तेरा त्याग कर दिया और तुझे महान दुःख प्राप्त हुए। इस प्रकार तुझे असंख्य बार सुख मिला और गया, दुःख मिला और गया। सुन्दर और दूषित वस्तुओं का संयोग और वियोग भी अनेक बार हुआ।

राजन् ! इस राजमन्दिर में (सप्रमोदनगर में मधुवारण राजा के घर में) तेरा जन्म होने से पूर्व तुझे अनेक बार सुन्दर-असुन्दर वस्तुओं का संयोग-वियोग प्राप्त हो चुका है। अभी इन चारों महापुरुषों की आज्ञा से पापोदय अपनी सेना को लेकर

* पृष्ठ ७११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुझ से बहुत दूर जाकर चुपचाप बैठा है। अभी कर्मपरिणामादि चारों ने महाभाग्यशालीय सातावेदनीय राजा और पुण्योदय को तेरे निकट भेजा है और वे तुझे सुख पहुँचा रहे हैं। हे भूप! अभी उनका पापोदय पर विशेष प्रेम नहीं होने से पवित्र पुण्योदय तेरे प्रति जागृत हुआ है। पुण्योदय ने तुझे बहुत सुख-परम्परा प्राप्त करवाई है और उसमें भी लोलुपता-रहित शान्त एवं प्रशस्त मानसिक स्थिति प्राप्त करवाई है। [२४६-२५६]

संक्षेप में तेरे सभी सुन्दर-असुन्दर कार्यों के हेतु ये चारों महापुरुष ही हैं। इन्हीं चारों मनुष्यों को स्वप्न में देखा गया है, इसमें कोई संदेह नहीं। जब ये महापुरुष तुझ से प्रतिकूल होते हैं तब पापोदय को आगे कर तुझे अनेक प्रकार के दुःख और त्रास प्रदान करते हैं और जब ये अनुकूल होते हैं तो पुण्योदय को आगे कर भिन्न-भिन्न कारणों से अनेक प्रकार के सुख प्राप्त करवाते हैं। अभी तक तुझे जो कुछ भी शुभ या अशुभ प्राप्त हुआ है या भविष्य में होगा उन सब के निश्चित रूप से हेतु ये चारों महापुरुष ही हैं। [२६०-२६३]

स्वयोग्यता

गुणधारण—गुरुदेव! सुख-दुःख, शुभ-अशुभ प्राप्त तो मुझे ही होते हैं? इनका अनुभव तो मैं ही करता हूँ, फिर क्या मैं स्वयं इनके विषय में कुछ नहीं कर सकता? क्या मैं निरर्थक ही हूँ?

आचार्य - नहीं, राजन्! ऐसा नहीं है। अभी मैंने जिन महापुरुषों और सेनापतियों की बात की है, वे सब तो तेरे ही पारिवारिक जन हैं, उन सब का नायक तो तू स्वयं ही है।* ये चारों महापुरुष तेरे विकास-क्रम की योग्यता की परीक्षा करने के पश्चात् ही निर्णय लेते हैं। फिर उस निर्णय के अनुसार ही तेरे सुख-दुःख-प्राप्ति के कारण बनते हैं, अतः तेरे सभी कार्यों में तेरी स्वयं की योग्यता (विकास) ही मुख्य कारण है। अतः हे नृप! अभी या भूतकाल में तूने जो कुछ भी अच्छे-बुरे अनुभव किये हैं, उन सब का मुख्य कारण तेरा स्वयं का विकास है, कर्मपरिणाम आदि तो सहकारी कारण हैं। अनादि काल से तेरा यह विकास-क्रम तुझ से संयुक्त है और उसी के अनुसार तेरा यह सब भव-प्रपञ्च (संसार-विस्तार) का निर्माण होता है। तेरी स्वयं की योग्यता के बिना ये कर्मपरिणाम आदि बेचारे शुभाशुभ आदि कुछ भी नहीं कर सकते। अतः अपने सभी अच्छे-बुरे कार्यों का प्रधान कारण (हेतु) तुम्हारा स्वयं का विकास-क्रम ही कहा गया है। वस्तुतः तुम स्वयं इनके नियोजक हो। [२६४-२७०]

कार्यों का परम कारण सुस्थितराज

गुणधारण—नाथ! आपने मेरे कार्यों की साधना हेतु जिन कारणों को बताया, उनके अतिरिक्त भी अन्य कोई कारण शेष रह गया है जिसे मैं अभी तक न जान सका हूँ?

---

* पृष्ठ ७१२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य – राजन् ! सुनो—निरन्तर आनन्द-सन्दोह से पूर्ण, निरामय, अति मनोहर एक निर्वृत्ति नामक नगर है। वहाँ अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्द से परिपूर्ण सर्वज्ञ सर्वदर्शी सुस्थित नामक महाराजा राज्य करते हैं। यही महाराजा संपूर्ण जगत के परमेश्वर हैं, विश्व के प्रभु हैं और संसार के सभी प्राणियों के अच्छे-बुरे सभी कार्यों के परम कारण भी यही हैं। ऐसी सिद्ध आत्माएँ अनेक हैं, पर गुण की दृष्टि से वे सब एक ही हैं, अतः आचार्यों ने उन्हें एक ही बताया है। ये सब अचिन्त्य शक्ति-सम्पन्न आत्माएँ हैं, अतः महात्माओं ने इन्हें ही परमेश्वर कहा है। ये ही बुद्ध हैं, ये ही ब्रह्मा हैं, ये ही विष्णु हैं, ये ही महेश्वर हैं, ये ही अशरीरी हैं और ये ही जिन हैं। तत्त्वद्रष्टा महात्मा इन्हें इन्हीं नामों से पहचानते हैं। तेरी कार्य-परम्परा के कारण ये अपनी इच्छा से नहीं बनते; क्योंकि ये तो वीतराग हैं, राग-द्वेष और सर्व इच्छाओं से रहित हैं। कोई भी कार्य बिना इच्छा के नहीं होता और जहाँ इच्छा होती है वहाँ राग-द्वेष होता ही है, किन्तु वीतराग परमात्मा में तो राग-द्वेष हो ही नहीं सकता। फिर वे तुम्हारी सुन्दर या असुन्दर कार्य-परम्परा किस प्रकार करते हैं ? तथा किस प्रकार कार्य निष्पत्ति होती है ? मैं तुझे स्पष्टतः समझाता हूँ। इन सिद्ध भगवान् ने सभी लोगों को अनुशासन में रखने के लिये एक अपरिवर्तनीय, त्रिकाल, स्पष्ट और निश्चल विधान बना रखा है। उस विधान की आज्ञाओं का सभी लोगों को पालन करना चाहिये। ये आज्ञाएँ निम्न हैं :—

१. अपनी चित्तवृत्ति को अन्धकार-रहित करें और उसे गो-दुग्ध, मुक्ताहार, ओसकण, कुन्दपुष्प और चन्द्रमा के समान श्वेत, शुद्ध और प्रकाशमान करें।

२. महामोह राजा और उसकी सेना को, जो भयंकर संसार के कारण हैं, अपने शत्रु रूप में पहचानें और प्रति क्षण उन्हें नष्ट करने का प्रयत्न करें।

३. चारित्रधर्मराज और उनकी सेना जो महान कल्याणकारी है, उन्हें अपने हितेच्छु और मित्र रूप में पहचानें और सर्वदा उनका पोषण करें।

विधाता की/सिद्ध प्रभु की यह हितकारिणी आज्ञा त्रिकाल सिद्ध है और* सभी लोगों के लिये समान है, अतः उनकी आज्ञा का पालन करने वाले सभी अनुयायियों का यह कर्त्तव्य है कि वे पूजा, ध्यान, स्तवन, व्रत-आचरण आदि के द्वारा इन आज्ञाओं का पालन करें और इन्हें अपने जीवन में उतारें। जिन आचरणों का निषेध किया गया है, उन्हें करने से आज्ञा-भंग होता है। इन महाराजा ने द्वादशांगी (१२ अंगों) में बहुत-सी बातें कही हैं, पर उन सबका सार उपरोक्त आज्ञाओं में आ जाता है। इन आज्ञाओं का यह माहात्म्य है कि जो व्यक्ति जितने अंश में इनका पालन करता है वह उतने ही अंश में सुखी होता है। चाहे वह इन आज्ञाओं का स्वरूप जानता हो या न जानता हो। जो प्राणी इन आज्ञाओं का

---

* पृष्ठ ७१३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लंघन करता है या इनके विपरीत आचरण करता है, वह इनका स्वरूप जानने पर भी दुःखी होता है। मोह के वशीभूत प्राणी जितने अंश में इन आज्ञाओं का उल्लंघन करता है उतना ही दुःखी होता है और जितने अंश में इनका पालन करता है उतना ही सुखी होता है। अतएव यह स्पष्ट है कि समस्त प्राणियों को इसकी आज्ञा का उल्लंघन करने से दुःख और आज्ञा-पालन से सुख प्राप्त होता है। [२७१-२९०]

त्रैलोक्य में एक भी ऐसी अच्छी-बुरी घटना या उसका एक अंशमात्र भी ऐसा नहीं जो उपर्युक्त आज्ञा की अपेक्षा रखे बिना घटित होता हो, अर्थात् इस संसार में होने वाली सभी क्रियाएँ, प्राणी की सभी प्रवृत्तियों के परिणाम, मन वचन काया की प्रवृत्ति आदि सब कुछ इस सिद्ध-आज्ञा के अप्रतिहत नियमों के अनुसार घटित होती हैं। इसीलिये ये सिद्ध प्रभु राग-द्वेष और इच्छारहित होने पर भी और हमसे इतनी दूर निर्वृत्ति नगरी में रहने पर भी सभी कार्यों के परम कारण हैं, ऐसा समझें। [२९१-२९२]

हे गुणधारण! संसार के सभी भले-बुरे कार्यों के परम हेतु वे सिद्ध भगवान् ही हैं, इसमें कोई संशय नहीं है। तुझे पूर्व में जो विविध प्रकार के दुःख हुए वे सभी उनकी आज्ञा के उल्लंघन के कारण ही हुए। अभी उनकी आज्ञा का कुछ अंश में पालन करने से तुझे थोड़ा-थोड़ा सुख प्राप्त होता जा रहा है। जब तू उनकी आज्ञा का पूर्णरूपेण पालन करेगा तब तुझे वास्तविक सच्चे सुखसंदोह का रस ज्ञात होगा। तेरे सभी कार्यों के लिये उपर्युक्त कारणों में से कुछ कारण मुख्य हैं और कुछ गौण हैं। इन सबको तुझे तेरे कार्यों के कारण रूप में बराबर समझ लेना चाहिये। हे राजन्! उपर्युक्त कारणों में से एक की भी अनुपस्थिति में कार्य-सिद्धि नहीं हो सकती। संक्षेप में, उपर्युक्त सभी हेतुओं को कार्य-सिद्धि के लिये कारण-समाज/हेतुसमूह के रूप में जानना चाहिये। [२९३-२९७]

गुणधारण—भगवन्! क्या आपने कार्य के सभी कारणों को बता दिया है? क्या इतने ही कारण हैं? अथवा अन्य भी कारण हैं जो बताने में शेष रह गये हैं?

आचार्य—राजन्! प्रायः सभी हेतुओं को मैंने बता दिया है। इन सभी कारणों के एकत्रित होने पर ही कार्य सिद्ध होता है। नियति (भाग्य) और यदृच्छा आदि एक दो कारण और भी हैं पर वे भवितव्यता के अन्तर्गत ही आ जाते हैं।

हे सुलोचनी अग्रहीतसंकेता! इस प्रकार गुणधारण के भव में मेरे स्वप्न सम्बन्धी सन्देह का आचार्यश्री निर्मलसूरि केवली ने विस्तृत रूप से स्पष्टतया निराकरण किया, जिससे मेरी शंका नष्ट हुई और मैंने हाथ जोड़कर आचार्य के वचनोक्ते शिरोधार्य किया। [२९८-३०१]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. दस कन्याओं से परिणय

सैन्य-स्तम्भन का कारण

अवसर का लाभ उठाकर मैंने निर्मलाचार्य केवली से विद्याधरों की सेनाओं के स्तम्भन के विषय में मेरे मन में जो अति आश्चर्य हो रहा था उस विषय में भी प्रश्न पूछ ही लिया*—प्रभो ! मेरे समक्ष जब विद्याधरों की सेना युद्ध करने आई थी तब दोनों ही सेनाओं का आकाश और भूमि पर स्तम्भन किस कारण से हुआ था और किसने कर दिया था ?

आचार्य—राजन् ! उसमें भी अन्तिम कारण पुण्योदय ही है। इसी ने अन्य कारणों को प्रेरित किया है। इसी की शक्ति और प्रेरणा से वनदेवता तुझ पर प्रसन्न हुए और दोनों सेनायें स्तम्भित हो गईं। तुम्हारी इच्छा थी कि तुम्हारे कारण से विद्याधरों में परस्पर खून की नदी न बहे इसीलिये उन्हें स्तम्भित किया था। फिर तेरी इच्छानुसार ही उन्हें स्तम्भन से मुक्त भी कर दिया था और उन्हें तेरे भाई जैसा बना दिया था। इस प्रसंग में वनदेवता ने जो कार्य किया वह भी वस्तुतः पुण्योदय ने ही किया था, क्योंकि वनदेवता को प्रेरित करने वाला भी यही निष्पाप पुण्योदय ही था। हे नरोत्तम ! यह पुण्योदय दूसरों को प्रेरणा देकर सब प्रशस्त कार्य दूसरों से करवाता है, स्वयं कोई कार्य नहीं करता। इसका स्वभाव है कि वह काम का यश सदा अन्यों को दिलाता है। इसी प्रकार पापोदय भी अन्य द्वारा अशुभ कार्य करवाता है और अपयश का भागी अन्यों को बनाता है। हे नृप ! संसार में जो भी भले-बुरे कार्य होते हैं उनके हेतु कुछ अन्य ही दिखाई देते हैं, पर वास्तव में वे हेतु गौण होते हैं, मुख्य हेतु तो पुण्योदय या पापोदय ही होते हैं। पहले भी तुझे जो अनेक प्रकार के दुःख भिन्न-भिन्न कारणों से हुए हैं, उनके पीछे भी मुख्य कारण यह पापोदय ही रहा है। हे गुणधारण ! अब पुण्योदय का समय आया है तो वह भी भिन्न-भिन्न साधनों से तुझे सुख पहुँचा रहा है, पर बाह्य-वस्तुएँ तो निमित्त मात्र हैं, वास्तविक कारण तो पुण्योदय ही है। [३०२–३१२]

शुभाशुभ बाह्य निमित्त

गुणधारण—भगवन् ! मेरे समस्त संदेह अब नष्ट हो गये हैं। आपके वचनों को मैंने संक्षेप में इस प्रकार समझा है—जब मैं अज्ञान से निर्वृत्ति नगर स्थित परमेश्वर सुस्थित महाराज की आज्ञा का उल्लंघन करता हूँ और अपनी चित्तवृत्ति को भावान्धकार से मलिन करता हूँ तथा महामोहादि की सेना का पोषण करता हूँ तब मेरे इस व्यवहार को देखकर कर्मपरिणाम, कालपरिणति, स्वभाव

---

* पृष्ठ ७१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और भवितव्यता ये चारों महापुरुष मेरे प्रतिकूल हो जाते हैं तब कर्मपरिणाम का सेनापति पापोदय मेरे विरुद्ध अपनी सारी सेना लेकर आ जाता है एवं अनेक अन्तरंग और बाह्यकारणों को प्रेरित कर मुझे अनेक प्रकार से पंक्तिबद्ध दुःख पहुँचाता है। जब मैं अपनी स्वयोग्यता विकास-क्रम से, भगवान् सुस्थित महाराजा की कृपा से, यथार्थ ज्ञान को प्राप्त कर इनकी आज्ञा का पालन करता हूँ और भावान्धकार के प्रक्षालन से अपनी चित्तवृत्ति को निर्मल बनाकर चारित्रधर्मराज की सेना को प्रसन्न करता हूँ, तभी मेरे इस व्यवहार से कर्मपरिणाम आदि चारों महापुरुष मेरे अनुकूल होते हैं। पश्चात् कर्मपरिणाम का सेनापति पुण्योदय अपनी सेना के साथ मेरे पास आता है* तथा बाह्य एवं अन्तरंग साधनों को प्रेरित कर मुझे सुख-परम्परा प्रदान करता है। इन सभी कारणों का समूह ही कार्य को उत्पन्न करता है, इनमें से अकेला कोई भी कारण कुछ भी कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता।

सम्पूर्ण सुख की जिज्ञासा

भगवन्! जैसा आपने बतलाया कि पुण्योदय ने ही मुझ इस प्रकार का किंचित् सुख प्राप्त करवाया है। आपके इन वचनों से मेरे मन में कुतूहल और जिज्ञासा उत्पन्न हुई है। मैं सोचता हूँ कि जिस दिन मुझे मदनमञ्जरी की प्राप्ति हुई उसी दिन मुझे दहेज में महामूल्यवान रत्नों की प्राप्ति हुई, चिन्तन मात्र से विद्याधरों का युद्ध रुका, दोनों सेनाओं में भ्रातृभाव हुआ और वे मेरे सेवक बने, माता-पिता को संतोष हुआ, नगर में आनन्द महोत्सव हुआ, नगरवासी प्रमुदित हुए, विद्याधर मेरे घर आये, पिताजी ने उनका आतिथ्य सत्कार किया, मेरा यश सर्वत्र फैला, अतः वह दिन सुखों से परिपूर्ण होने के कारण मुझे अमृतोपम प्रतीत हुआ। इसके पश्चात् मदनमञ्जरी से प्रेम सम्बन्ध बढ़ा, कन्दमुनि के दर्शन हुए, सातावेदनीय, सदागम, सम्यग्दर्शन और गृहिधर्म से मित्रता हुई, राज्य प्राप्ति हुई। मैं यथेच्छ सुखों में विलास करने लगा। इन यथेच्छ सुखों के सन्मुख मुझे देवलोक के सुख भी तुच्छ प्रतीत हुए। फिर आपके दर्शन हुए, सन्देह-निवारण हुआ। आपके मुखकमल के दर्शन और वचनामृत श्रवण से मुझे जो सुखातिरेक की प्राप्ति हो रही है वह वचनातीत है। इतने सारे सुख को आपने पुण्योदय द्वारा सम्पादित थोड़ा-थोड़ा सुख या सुखांश कहा, इसका क्या तात्पर्य है? यदि यह सुखांश मात्र है तो फिर सम्पूर्ण सुख क्या है? यह जानने की मेरे मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई है। कृपया समझायें कि सम्पूर्ण सुख किस प्रकार का होता है?

आचार्य—राजन्! सम्पूर्ण सुख का स्वरूप तो तुम अपने अनुभव से ही समझ सकोगे। उसे बताने से क्या लाभ?

गुणधारण—प्रभो! मुझे वह अनुभव कब और किस प्रकार होगा?

---

* पृष्ठ ७१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पूर्ण सुख का हेतु दस कन्याओं से लग्न

आचार्य—राजन् ! जब तुम्हारा विवाह दस कन्याओं से होगा, जब उनके साथ तुम्हारा अत्यन्त सद्भावपूर्वक प्रेम-सम्बन्ध होगा, जब तुम इनके साथ अत्यन्त आनन्दपूर्वक उद्दाम लीला-विलास करोगे तब तुम्हें जो सुख होगा उसकी अपेक्षा से तुम्हारा वर्तमान सुख तो सुख का अंश मात्र ही है ।

गुणधारण—प्रभो ! मैं तो मदनमंजरी का भी त्याग कर आपके चरण-कमलों में दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ तब फिर मेरा नयी दस कन्याओं से परिणय कैसे होगा ?

आचार्य—तुझे अवश्य ही इन कन्याओं से परिणय करना होगा । उनसे संयुक्त होने पर ही* तुम दीक्षा ले सकोगे । उनके साथ दीक्षा लेने में कोई कठिनाई या कोई विरोध नहीं होगा । फिर उनके बिना दीक्षा का अर्थ भी क्या है ? उनके समान कुटुम्बियों के अभाव में तेरा दीक्षा लेना व्यर्थ है । उनके बिना तेरा विकास नहीं हो सकता । अतः पहले तुम इन दस कन्याओं से विवाह करो, फिर नियमपूर्वक मैं तुम्हें दीक्षित करूँगा ।

'भगवन् ! आप यह क्या कह रहे हैं ?' मैं अपने मन में चकित हो रहा था तभी कन्दमुनि ने प्रश्न किया—गुरुदेव ! गुणधारण को जिन कन्याओं से विवाह करना है, वे कौन-सी हैं ?

आचार्य—यह तो बहुत प्राचीन वृत्तान्त है । मैं पहले तुम्हें सुना चुका हूँ, वे ही दस कन्यायें हैं, नवीन नहीं हैं ।

कन्दमुनि—गुरुदेव ! मैं तो यह बात भूल गया हूँ । मुझ पर अनुग्रह कर यह सब पुनः बताने की कृपा करें कि उन कन्याओं के क्या नाम हैं ? वे कहाँ रहती हैं ? कौन-कौन उनके सम्बन्धी हैं ?

आचार्य—सुनो ! चित्तसौन्दर्य नगर के राजा शुभपरिणाम की निष्प्रकंपता और चारुता नामक दो रानियों से उत्पन्न क्रमशः क्षान्ति और दया नामक दो कन्याएँ हैं ।

शुभ्रमानस नगर के शुभाभिसन्धि राजा की वरता और वर्यता नामक दो रानियों से उत्पन्न मृदुता और सत्यता नामक दो कन्याएँ हैं ।

विशदमानस नगर के शुद्धाभिसन्धि राजा की शुद्धता और पापभीरुता नामक दो रानियों से उत्पन्न ऋजुता और अचौर्यता नामक दो कन्याएँ हैं ।

शुभ्रचित्तपुर नगर के सदाशय राजा की वरेण्यता रानी से उत्पन्न ब्रह्मरति और मुक्तता नामक दो कन्यायें हैं ।

सम्यग्दर्शन की अपनी एक मानसी कन्या विद्या है ।

---

* पृष्ठ ७१६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाराज चारित्रधर्मराज और विरति देवी की पुत्री निरीहता है।

हे आर्य ! ये दस कन्याओं के नाम, उनके माता-पिता के नाम और उनके निवास स्थान हैं।

कन्दमुनि—नाथ ! आपकी बड़ी कृपा। अब कृपया यह बताइये कि महाराजा गुणधारण को ये कन्याएँ कैसे प्राप्त होंगी ?

आचार्य – महाराजा कर्मपरिणाम कालपरिणति आदि के साथ विचार कर, उनकी अनुमति प्राप्त कर, पुण्योदय को आगे कर, उन-उन नगरों में जाकर, उन कन्याओं के माता-पिता को अनुकूल कर, उन समस्त कन्याओं को महाराज गुणधारण को दिलवायेंगे। महाराज गुणधारण को तो केवल सद्गुणों का अभ्यास करते हुए अपनी आत्मयोग्यता बढ़ानी चाहिये जिससे कि कर्मपरिणाम उनके अनुकूल हों।* कर्मपरिणाम के अनुकूल होने पर कन्याओं के माता-पिता स्वतः ही प्रसन्न होकर कन्यादान के लिये तैयार हो जायेंगे और दसों कन्यायें भी स्वतः ही इनकी अनुरागिणी बन जायेंगी। इससे गुणधारण और दसों कन्याओं के मध्य अकृत्रिम प्रेम होगा। ऐसा स्वाभाविक प्रेम-बन्ध अत्यन्त सुदृढ़ होगा और किसी के तोड़ने से नहीं टूटेगा।

कन्दमुनि—भगवन् ! इसमें कहने की बात ही क्या है ? आपके वचनों का यथार्थतः पालन कर और सद्गुणों का अभ्यास कर महाराज गुणधारण नाम को सार्थक करेंगे। वे आपकी आज्ञानुसार ही करेंगे। नाथ ! आप केवल विशेषरूप से यह आदेश दें कि उन कन्याओं की प्राप्ति के लिये कौन से सद्गुण सतत अनुशीलन करने योग्य हैं ?

अनुशीलनीय गुण

आचार्य—आर्य ! सुनो—

१. क्षान्ति कन्या को प्राप्त करने के इच्छुक को सभी प्राणियों से मैत्री रखनी चाहिये। अन्यों द्वारा किये गये पराभव को सहन करना चाहिये। उसके द्वारा पर-प्रीति का अनुमोदन करना चाहिये। पर-प्रीति के संपादन से आत्मा पर अनुग्रह होता है, ऐसा समझना। आत्मा का पराभव करने से दुर्गति प्राप्त होती है, अतः ऐसी आत्मा की निन्दा करना। जो मुक्तात्मा दूसरों को कभी क्रोधित नहीं करते, वस्तुतः वे धन्य हैं, फलतः उनकी प्रशंसा करना। हमारा तिरस्कार करने वाले हमारी कर्म-निर्जरा के हेतु हैं, अतः उन्हें हितकारी समझना। संसार को असार बताने वाले को गुरु-भाव से स्वीकार करना और सदा अपने अन्तःकरण को निश्चल/स्थिर बनाना।

२. दया कन्या को प्राप्त करने के अभिलाषी को किसी भी प्राणी को लेशमात्र भी सन्ताप नहीं पहुँचाना चाहिये, सभी प्राणियों के प्रति बन्धु-भाव का

* पृष्ठ ७१७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार करना चाहिये और परोपकार में प्रवृत्ति करनी चाहिये। दुःख में पड़े प्राणियों के प्रति उपेक्षा नहीं रखनी चाहिये और समस्त जगत के प्राणियों के प्रति आह्लादकारी भावों को धारण करना चाहिये।

३. हे आर्य! मृदुता कन्या को प्राप्त करने के लिये जातिमद, कुलाभिमान, बलाभिमान, रूपगर्व, तपगर्व, धनगर्व, श्रुत-अहंकार, लाभमद, और अन्य के प्रति प्रेम रखने के मद/अभिमान का त्याग करना चाहिये। नम्रता धारण करनी चाहिये, विनय का अभ्यास करना चाहिये तथा अपने हृदय को नवनीत-पिण्ड जैसा मृदु बना लेना चाहिये।

४. सत्यता कन्या की प्राप्ति करने के लिये दूसरों का मर्मोद्घाटन नहीं करना चाहिये, चुगली नहीं करनी चाहिये, निन्दा नहीं करनी चाहिये, कटु भाषण का त्याग करना चाहिये, कपटपूर्ण वक्रोक्ति छोड़ देनी चाहिये, परिहास (हँसी-मजाक) का त्याग करना चाहिये, असत्य या अर्धसत्य का त्याग करना चाहिये, वाचालता का त्याग करना चाहिये, अतिशयोक्ति रहित यथार्थता का उद्घाटन करना तथा सदा सत्य, प्रिय और मृदु बोलने का अभ्यास करना चाहिये। उक्त सद्गुण अनुशीलक के प्रति सत्यता स्वयमेव स्वतः ही अनुरागिणी बन जाती है।

५. ऋजुता की प्राप्ति के लिये कुटिलता का त्याग करना चाहिये, सर्वत्र सरल स्वभाव रखना चाहिये, दूसरों को ठगने की प्रवृत्ति छोड़नी चाहिये, मन को विशुद्ध रखना चाहिये, अपना व्यवहार सदा स्पष्ट रखना चाहिये,* विचारों में सदा उच्चता रखनी चाहिये और अपने अन्तःकरण को सदा दण्ड जैसा सीधा रखना चाहिये। ऐसा करने से ऋजुता स्वतः ही अनुरागिणी बन जाती है।

६. अचौर्यता कन्या की कामना करने वाले को पर-पीड़न से डरना चाहिये, परद्रोह-बुद्धि का त्याग करना चाहिये, पर-धन-हरण-कामना का त्याग करना चाहिये। सदा यह लक्ष्य में रखना चाहिये कि पर-धन के अपहरण से कितनी निन्दा होती है, कितनी त्रास/पीड़ा होती है, कितनी दुर्गति होती है, अतः चोरी का सर्वथा त्याग करने से अचौर्यता स्वयमेव अनुरागवती होकर वरण करती है।

७. हे आर्य! मुक्तता को प्राप्त करने के लिये विवेक को आत्ममय करना चाहिये, आत्मा को बाह्य और अन्तरंग परिग्रह से अलग देखना चाहिये, परिग्रह प्राप्त करने की इच्छा का दमन करना चाहिये। जैसे पानी में रहकर भी कमल पानी से अलग रहता है वैसे ही अपने अन्तःकरण को सदा अर्थ और काम से अलग रखना चाहिये।

८. हे कन्दमुनि! ब्रह्मरति की प्राप्ति के लिये सुर-नर-तिर्यञ्च की सभी स्त्रियों को माता के समान समझना चाहिये। जहाँ वे रहती हों वहाँ नहीं रहना चाहिये, स्त्री-कथा नहीं करनी चाहिये, उनकी शय्या पर बैठना नहीं चाहिये, उनके

---

* पृष्ठ ७१८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर के अंगोपांगों को अनिमेष दृष्टि से टकटकी लगाकर नहीं देखना चाहिये, जहाँ युगल रति-क्रिया कर रहे हों ऐसे स्थानों के निकट में नहीं ठहरना चाहिये, पहले किये गये भोग-विलास का स्मरण नहीं करना चाहिये, गरिष्ठ और चटपटा भोजन नहीं करना चाहिये, प्रमाण से अधिक भोजन नहीं करना चाहिये, शरीर-शृंगार नहीं करना चाहिये और रति-अभिलाषा का सर्वथा दमन कर देना चाहिये।

९. विद्या कन्या के अभिलाषिक को यह सोचना चाहिये कि सब पुद्गल द्रव्य, देह, धन, विषय आदि अनित्य हैं, शरीर अपवित्र पदार्थों से भरा है, अन्ततः ये सभी दुःख-स्वरूप हैं और आत्मा पुद्गल से भिन्न स्वभाव वाली है। अतएव सब प्रकार के कुतर्क-जालों को तहस-नहस कर देना चाहिये और वास्तविक वस्तु-तत्त्व पर पूर्णरूपेण चिन्तन-मनन करना चाहिये। ऐसे सद्गुण-धारक को सद्बोध स्वयं बुलाकर सम्यग्दर्शन की आत्मजा विद्या को प्रदान करता है।

१०. निरीहता कन्या के इच्छुक को यह सोचना चाहिये कि इच्छायें चित्त-संताप को बढ़ाने वाली हैं। भोग-अभिलाषा मन को उद्वेग देने वाली है। जन्म मृत्यु के लिये ही होता है। प्रिय का संयोग भी वियोग के लिये ही होता है। रेशम का कीड़ा जैसे अपने शरीर में से रेशम के तन्तु निकाल कर स्वयं ही उसमें बँध जाता है वैसे ही प्राणी अपने संसार-विस्तार में स्वयं ही निबिड बन्धनों में बँध जाता है। वस्तुओं के संग्रह करने की प्रवृत्ति क्लेश को बढ़ाने वाली है। सर्व प्रकार के संग एवं सम्बन्ध उद्विग्नता बढ़ाने वाले हैं, प्रवृत्ति दुःख-रूप है और निवृत्ति ही सुख-स्वरूप है। ऐसे विचार निरन्तर करते रहने चाहिये। ऐसे विचारक के प्रति निरीहता कन्या प्रगाढ़ानुराग धारण करती है।

हे राजन्! उपर्युक्त सभी सद्गुणों का अभ्यास तुझे निरन्तर करना चाहिये जिससे वे दस कन्याएँ तुझे प्राप्त हो सकें। ऐसा करते हुए योग्य अवसर के प्राप्त होने पर कर्मपरिणाम महाराज जब चारित्रधर्मराज को सेना के साथ तेरे पास भेजेंगे तब उस सेना के प्रत्येक योद्धा में जो-जो सद्गुण हैं उनका अभ्यास तुझे करना होगा और उन्हें अपने जीवन में उतारना होगा, जिससे उन सब का अनुराग तुम्हारे प्रति आकर्षित हो। फिर तो वे स्वामी-भक्त सुभट महामोह की सेना को शीघ्र मार भगायेंगे।* इस प्रकार तुझे भावराज्य की प्राप्ति होने पर तुम अपने स्वयं के बल से भाव-शत्रुओं पर विजय प्राप्त करोगे और इन दस कन्याओं के साथ आनन्द-सुख भोगते हुए अनन्त सुख को प्राप्त करोगे। अतएव तुम्हें उन उपर्युक्त समस्त सद्गुणों का अनुष्ठान करना चाहिये।

लग्न सम्बन्धी उपाय-चिन्तन

कन्दमुनि—गुरुदेव! गुणधारण राजा की यह अभिलाषा कितने समय में पूर्ण होगी?

---

* पृष्ठ ७१९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य—मात्र छः महीनों में ।

गुणधारण—नाथ ! शीघ्रता कीजिये । मेरा मन प्रव्रज्या (दीक्षा) लेने के लिये अत्यधिक उतावला हो रहा है । मुझे तो अभी दीक्षा दीजिये । छः मास का समय तो अत्यन्त लम्बा है । मेरे लिये इतनी प्रतीक्षा करना बहुत कठिन है । कृपया अब अधिक बिलम्ब मत कीजिये ।

आचार्य—राजन् ! शीघ्रता व्यर्थ है । जिन सद्गुणों का अनुष्ठान/आचरण करने के लिये अभी मैंने कहा है, वे सद्गुण ही परमार्थ से दीक्षा है । द्रव्यलिंग (साधु का वेष) तो तुमने पहले भी अनन्त बार लिया है, पर सद्गुणों का आचरण भली प्रकार नहीं करने से, भावलिंग न होने से उस वेष से तुम्हारा कोई वास्तविक विकास न हो सका, तुम कोई विशिष्ट गुणों का सम्पादन नहीं कर सके । अतः पहले मेरे द्वारा उपदिष्ट इन सद्गुणों का अनुशीलन करो, फिर दीक्षा लेना ।

कन्दमुनि—गुरुदेव ! दस कन्याओं में से पहले किससे और बाद में किससे लग्न होगा ?

आचार्य—आर्य ! गुणधारण राजा जब मेरे द्वारा उपदिष्ट सद्गुणों का अनुशीलन और आचरण करेगा तब थोड़े समय बाद सद्बोध मन्त्री अपनी कन्या विद्या को लेकर राजा के पास आयेगा और विद्या का लग्न राजा से करेगा । फिर वह राजा के पास ही रहेगा । यह मन्त्री बहुत ही कुशल, अनुभवी और अवसर का जानकार है । वह इतना विश्वसनीय है कि उसके रहते हुए हमारे जैसों को उपदेश देने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी । अतः उसके आने के पश्चात् वह स्वयं ही सब कुछ बता देगा । राजा गुणधारण को तो मात्र उसके परामर्श को प्रमाणीभूत मानकर उसके अनुसार कार्य करते रहना होगा ।

गुणधारण—भगवन् ! आपकी महान कृपा । अब मैं आपके निदश की प्रतीक्षा करूँगा । तत्पश्चात् अपने परिवार और सेवकों सहित आचार्य भगवान् को वन्दन कर मैं वापस अपने नगर में लौटा आया ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. विद्या से लग्न : अन्तरंग युद्ध

विद्या से लग्न

मैं केवली भगवान् निर्मलाचार्य के आदेशानुसार उच्च सद्गुणों का अभ्यास और भगवत् पर्युपासना करता हुआ अपना समय व्यतीत करने लगा। अन्यदा उच्च भावनाओं का चिन्तन करते-करते एक समय मुझे नींद आ गई। नींद से आँख खुलने पर भी वही भावना मन में बसी हुई थी जिसका विचार करते-करते नींद लग गई थी, अतः मेरी भावना प्रबलता से बढ़ती गई और वह गाढ़तर होती गई। जब थोड़ी रात बाकी रह गई तो मुझे अत्यन्त प्रमोद हुआ। मैं चकित होकर इधर-उधर देख ही रहा था कि इतने में सद्बोध मन्त्री विद्याकुमारी को साथ लेकर मेरे समीप आ पहुँचे। मैं विस्मित दृष्टि से उनको देखता रहा।

मैंने सद्बोध के समीप विद्या को देखा कि वह कुमारी नेत्रों को आनन्द-दायिनी, सर्व अवयवों से सुन्दर, आस्तिक्य रूपी सुन्दर मुख वाली, उज्ज्वल एवं निर्मल नेत्रों वाली, तत्त्वागम और संवेगरूपी उरोजों वाली तथा प्रशम रूपी मनोहर नितम्ब वाली थी। वह स्पृहणीय, सर्वगुण-सम्पन्न और चित्त को निर्वाण (शान्ति) प्राप्त कराने वाली थी। मैं एकाग्र दृष्टि से उस कुमारी विद्या को पर्याप्त समय तक* देखता रहा।

उसी रात्रि को उसी समय सद्बोध मन्त्री ने सदागम आदि की साक्षी में पवित्र विद्या का लग्न मुझ से कर दिया। सब को अत्यन्त आनन्द हुआ। इस प्रकार वह रात्रि आनन्द से पूर्ण हुई। [३१३–३१६]

प्रातःकाल होते ही मैं उठा और अपने परिवार के साथ आचार्यश्री के पास गया और उनको तथा अन्य सभी साधुगणों को वन्दन किया। फिर विनयपूर्वक हाथ जोड़कर निर्मलाचार्य को रात्रि का पूर्ण वृत्तान्त सुनाया और आचार्यश्री से पूछा—भगवन्! रात को मुझे ऐसी कौनसी अत्यन्त सुन्दर और उच्च भावना हुई कि जिससे मेरा चित्त हर्षोल्लास से भर गया? [३१७–३१९]

आचार्य—राजन्! सुनो, कर्मपरिणाम राजा अभी तुम्हारे सद्गुणों से तुम पर प्रसन्न हो गया है। अतः वह स्वयं सद्बोध के पास गया और उसे प्रोत्साहित किया कि वह अपनी कन्या विद्या को लेकर तुम्हारे पास जावे और विद्या का लग्न तुम से करदे। तब मन्त्री ने चारित्रधर्मराज आदि से परामर्श किया और विद्या को लेकर तुम्हारे पास आने के लिये प्रस्थान कर दिया [३२०–३२२]

---

* पृष्ठ ७२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महामोहराज की सेना में खलबली : युद्ध

इस समाचार को सुनते ही महामोह आदि शत्रुओं में खलबली मच गई। पापोदय की अध्यक्षता में वे इस पर विचार करने लगे।

विषयाभिलाष बोला—यदि हत्यारा सद्बोध संसारी जीव के पास पहुँच गया तो समझ लो कि हम सब बे-मौत मर गये। इसलिये हम सब को मिलकर, उसके मार्ग को रोक कर यथाशक्य उसके वहाँ पहुँचने में बाधा डालनी चाहिये।

उत्तर में पापोदय ने कहा—आर्य! अभी जब कि हमारे स्वामी कर्मपरिणाम महाराजा स्वयं उनके पक्ष में हैं तब हम क्या कर सकते हैं? जब तक वे हमारे पक्ष में थे तब तक हम प्रबल थे। महाराजा के दोनों सेनाओं के प्रति तटस्थ रहने पर भी हम उनसे युद्ध करते हैं और वह हमारा कर्त्तव्य भी है। पर, अभी तो सद्बोध कर्मपरिणाम महाराजा की आज्ञा से ही संसारी जीव के पास शीघ्रता से जा रहा है, तब उसे रोकना कैसे उचित हो सकता है? इस समय महाराजा का मेरे पास युद्ध करने का कोई आदेश भी नहीं है, इसीलिये उन्होंने हमें उससे दूर बिठा रखा है। ऐसी परिस्थिति में अभी सद्बोध को उसके पास जाने देना चाहिये और हमें योग्य अवसर की प्रतीक्षा करनी चाहिये। अवसर आने पर हम उसे समझ लेंगे। [३२३–३३१]

यह सुनकर ज्ञानसंवरण राजा के होठ क्रोध से फड़क उठे। वह शीघ्र युद्ध के लिए जाने को उद्यत हुआ और कड़क कर बोला—यदि मेरे जीवित रहते मेरा प्रतिपक्षी सद्बोध बिना किसी रुकावट के संसारी जीव के पास चला जाता है, तो मेरा जीना व्यर्थ है। इस प्रकार भयभीत होने से तो मेरा जन्म मात्र माता को क्लेश देने वाला ही माना जायगा।* तुम लोग भय से शिथिल पड़ गये हो तो तुम्हारी इच्छा, आओ या न आओ, मैं तो यह चला उसे रोकने। [३३२–३३४]

लज्जा के मारे पापोदय आदि भी ज्ञानसंवरण के पीछे-पीछे चले और सब ने जाकर सद्बोध मन्त्री के मार्ग को रोक लिया, पर उनके मन में यह शंका थी कि न जाने अब क्या होगा? "अनैक्य और संशय विनाश के कारण होते हैं" यह तो जगत् प्रसिद्ध ही है। [३३५–३३६]

इधर चारित्रधर्मराज की सेना भी सद्बोध मन्त्री के साथ चलते हुए उस स्थान पर पहुँच गई जहाँ ज्ञानसंवरण और पापोदय आदि अपनी सेना के साथ उसका मार्ग रोके खड़े थे। दोनों सेनायें परस्पर एक-दूसरे को ललकारने लगीं, सिंहनाद/गर्जना करने लगी, युद्ध-वाद्य बजने लगे और उनमें भीषण युद्ध छिड़ गया। एक तरफ अत्यन्त श्वेत शंख के समान सुन्दर सफेद रंग की सेना थी तो दूसरी तरफ काले भौंरों के समान कृष्ण रंग वाली सेना थी। दोनों का परस्पर युद्ध ऐसा लग

---

* पृष्ठ ७२१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहा था मानो गंगा और यमुना का संगम हो रहा हो। रथी योद्धा रथ वालों से, हाथी वाले हाथियों की घनघटा के समक्ष, घोड़े वाले घोड़े वालों से और पदाति पैदल सैनिकों से लड़ रहे थे। युद्ध में सैकड़ों सैनिक जमीन पर गिर कर लोट रहे थे। प्रत्यक्ष में योगियों को भी विस्मित करने वाला, अत्यन्त उद्भट पुरुषार्थ को प्रकट करने वाला और अनेक योद्धाओं से संकीर्ण दोनों सेनाओं का तुमुल युद्ध चल रहा था। [३३७–३४१]

दोनों सेनाओं के भीषण और संशयकारक इस भयंकर युद्ध के समाचार सुनकर कर्मपरिणाम महाराजा इस विकट परिस्थिति में मन ही मन में सोचने लगे कि, अरे इस समय मुझे प्रत्यक्षतः (खुल्लमखुल्ला) किसी एक सेना का पक्ष नहीं लेना चाहिये। क्योंकि, इससे मनों में भेद की रेखा खिंच जायेगी। मुझे तो दोनों ही सेना वाले तटस्थ मानते हैं, अतः प्रकट रूप से एक का पक्ष लेने से दूसरे रुष्ट हो जायेंगे। मेरा प्रकट पक्षपात देखकर महामोहादि मेरे मित्र मुझ से अलग हो जायेंगे। असमय में ऐसी विकट परिस्थिति अपने हाथों उत्पन्न करना युक्तिसंगत नहीं है। यद्यपि अभी मुझे चारित्रधर्मराज की महाबली सेना प्रिय लग रही है और संसारी जीव के सद्गुण भी अच्छे लग रहे हैं तथापि संसारी जीव का क्या विश्वास ? वह फिर दोषों की तरफ झुक सकता है और तब जिन पर मैं सदा से आश्रित हूँ उन मेरे बन्धु महामोहादि के बिना मेरी क्या गति होगी ? अतः मेरे लिये अभी यही हितकारक होगा कि अभी मैं प्रच्छन्न रूप से ही चारित्रधर्मराज की सेना को पुष्ट करूँ, जिससे यदि पापोदय आदि उससे पराजित हो जायें तब भी भविष्य में महामोहादि मेरे बन्धु मुझ से विरुद्ध नहीं होंगे। इस प्रकार मन में सम्यक् रीत्या निश्चय कर कर्मपरिणाम ने गुप्तरूप से तुम्हारे पास आकर मदुपदिष्ट तुम्हारी भावनाओं में वृद्धि की। [३४२–३४६]

हे गुणधारण ! जब तुम इस प्रकार उच्चतर भावना पर आरूढ़ थे तभी सद्बोध मन्त्री की सेना प्रबल हो गई। कहा भी है कि "मणि, मन्त्र, औषधि और भावना की अचिन्त्य शक्ति * अद्भुत/आश्चर्यकारक होती है।" जैसे-जैसे तेरी विशुद्ध एवं उच्च भावना बढ़ती गई वैसे-वैसे युद्ध में महामोहादि स्वतः ही निर्बल होते गये, हारते गये। क्षणभर में सद्बोध की सेना का प्राबल्य बढ़ता गया और उसने पापोदय की सेना को जीत लिया। महामोहादि समस्त शत्रुओं को लहूलुहान कर दिया और ज्ञानसंवरण राजा को विशेष रूप से चूर-चूर कर दिया। पापोदय आदि निस्तेज और निष्पन्द हो गये, ठण्डे पड़ गये और सद्बोध जीतकर विद्या सहित तुम्हारे निकट आने लगा। उस समय हे राजन् ! युद्ध का शुभ परिणाम देखकर तू भी सद्बोध मन्त्री के निकट गया और तेरे मन में अत्यधिक हर्षोल्लास हुआ। फिर तो सद्बोध मन्त्री ने आकर विद्या का लग्न तुझ से कर ही दिया।

* पृष्ठ ७२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके पश्चात् की घटनायें तो राजन् ! तुम जानते ही हो। कल रात तेरी भावनाओं में जो वृद्धि हुई और हर्षोल्लास हुआ उसका कारण अब तुम्हारी समझ में निःसन्देह रूप से आ गया होगा। [३५०-३५८]

अन्तरंग शत्रुओं की वर्तमान और भविष्य की स्थिति

गुणधारण—भगवन् ! पापोदय, ज्ञानसंवरण, महामोहादि शत्रु अब क्या कर रहे हैं ?

आचार्य—अभी वे मात्र समय व्यतीत कर रहे हैं और अवसर की ताक में बैठे हैं। जो खिचकर के बाहर आये वे नष्ट हो गये (उदय में आये वे भोग कर समाप्त हो गये), जो तेरी चित्तवृत्ति में निर्बल होकर लुक-छिपकर बैठे हैं (उपशम-भाव को प्राप्त हैं) वे अवसर की प्रतीक्षा में हैं और अवसर आने पर ये मात्सर्यग्रस्त सभी संगठित होकर भीषण युद्ध के लिये एकदम तैयार हो जायेंगे। हे महाराज ! ऐसा अवसर आने पर तुम्हें सद्बोध मन्त्री के परामर्श के अनुसार कार्य करना चाहिये। उसके सहयोग से चारित्रधर्मराज के एक-एक योद्धा को लेकर तुझे प्रतिपक्षी सेना के एक-एक योद्धा पर भिन्न-भिन्न ढंग से प्रहार कर उन्हें पराजित करना चाहिये। [३५९-३६२]

गुणधारण—जैसी भगवान् की आज्ञा।

इसके बाद मासकल्प (शेषकाल) समाप्त होने पर आचार्य प्रवर अन्यत्र विहार कर गये।

९. नौ कन्याओं से विवाह : उत्थान

धर्म, शुक्ल पुरुष और पीतादि परिचारिकायें

आचार्यश्री के उपदेशानुसार मैं विशेष रूप से अनुष्ठान करने लगा जिससे मेरा अन्तःकरण अधिकाधिक शुद्ध होता गया। मेरा शरीर भी कसौटी पर चढ़ा और सद्बोध मन्त्री को मैंने अपनी चित्तवृत्ति में प्रवेश करवाया।

फिर एक दिन मन्त्री ने मुझे समाधि नामक दो पुरुष बताये। उनका रंग श्वेत था। वे अत्यन्त सुन्दर स्वरूपवान दर्शनीय और सुखदायी थे। उनका परिचय कराते हुए सद्बोध ने कहा—देव ! इन दोनों में से एक का नाम धर्म और दूसरे का नाम शुक्ल है। समाधि इनका सामान्य नाम (गोत्र) है। ये दोनों तुम्हारे अन्तरंग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में प्रवेश करने वाले हैं, अतः इनका पूर्ण आदर-सत्कार करना चाहिये। मैंने मन्त्री के कथन को स्वीकार किया।

तत्पश्चात् मंत्री ने विद्युत (तेजस्) पद्म और स्फटिक (शुक्ल) वर्ण की सुन्दर आकृति वाली सुख-स्वरूपी तीन लेश्या गोत्रीय स्त्रियों को बताया। इनके नाम पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या बताये। इनका परिचय कराते हुए मन्त्री ने कहा—

देव ! ये तीनों स्त्रियाँ धर्म की सेविकायें हैं और शुक्ल लेश्या विशेष रूप से शुक्लध्यान की परिपोषक है। ये तीनों अत्यन्त उपयोगी, योग्य और लाभदायक हैं, [३६३]* अतः इनके साथ बहुत अच्छा व्यवहार करें। इनके बिना तुम्हारे उपकारी धर्म और शुक्ल दोनों पुरुष तुम्हारे पास नहीं रह पायेंगे। तुम्हें जिस राज्य की प्राप्ति करनी है उसमें मुख्य सहायक ये दोनों पुरुष हैं, अतः तुम्हें इन तीनों स्त्रियों का अच्छी तरह पोषण करना चाहिये। मैंने कहा—बहुत अच्छा, मैं ऐसा ही करूँगा।

वैवाहिक तैयारियाँ

अब मैं चित्तवृत्ति में प्रवेश करने लगा। उपर्युक्त तीनों लेश्याओं के निर्देशानुसार प्रवृत्ति करने लगा। विद्या के साथ विलास करने लगा। सद्बोध के साथ बार-बार मन्त्रणा करने लगा और सदागम, सम्यग्दर्शन तथा गृहिधर्म का सन्मान करने लगा। इस प्रकार करते हुए मुझे आचार्यश्री के विहार के बाद लगभग पाँच माह बीत गये। अन्त में मेरे सद्गुणों से कर्मपरिणाम राजा मेरे अनुकूल हुए। फिर वे स्वयं चित्तसौन्दर्य आदि नगरों में गये और शुभपरिणाम आदि राजाओं को मेरे अनुकूल कर उन्हें अपनी कन्याओं का लग्न मेरे साथ करने को प्रेरित किया। अनन्तर सेनापति पुण्योदय को आगे कर कालपरिणति आदि अपने परिवार को लेकर मेरे पास आये। कन्याओं से विवाह के लिये उन्होंने मुझे मेरी चित्तवृत्ति में प्रवेश करवाया। तदनन्तर कर्मपरिणाम महाराज ने शुभपरिणाम आदि चारों राजाओं को सन्देश भेजा कि वे सभी सात्विकमानसपुर में आये हुए विवेक पर्वत के शिखर पर स्थित जैनपुर में आ जायें। चारों राजा अपने परिवार सहित वहाँ आ पहुँचे। सब का आदर-सत्कार किया गया और सब ने मिलकर लग्न का दिन निश्चित किया।

महामोह की सेना में घबराहट

इधर महामोह की सेना एकत्र हुई और सब मिलकर इस विषय पर विचार करने लगे। विषयाभिलाष मन्त्री बोला—देव ! यदि संसारी जीव क्षान्ति आदि नौ कन्याओं से विवाह कर लेगा तो हम सब की तो मौत ही है, अतः अब हमें इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। विषाद का त्याग कर साहसपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए। कहा भी है कि :—

* पृष्ठ ७२३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"जब तक कार्य का अन्त दिखाई न दे तब तक भले ही डर लगता रहे, किन्तु प्रयोजन के प्राप्त होने पर तो निर्भय होकर प्रहार करना चाहिये।" [३६४]

महामोहराज ने मन्त्री के कथन का अनुमोदन किया, सभी योद्धाओं ने उसका समर्थन किया, युद्ध की सामग्री तैयार की गई और सेना को तैयार रहने की आज्ञा दी गई। थोड़े ही समय में सारा सैन्य सन्नद्ध होकर आ पहुँचा। सेना में युद्धोत्साह था, किन्तु सब के मन में यह भय अवश्य था कि 'महाराजा कर्मपरिणाम अभी उनके विरुद्ध हैं' अतः वे सब व्याकुल भी हो रहे थे।

भवितव्यता से परामर्श

अन्त में विचार कर वे देवी भवितव्यता के पास आये और उससे सविनय पूछा—

हे भगवति ! इस परिस्थिति में हमें क्या करना चाहिये ?

भवितव्यता ने कहा—भद्रो ! अभी युद्ध का समय नहीं है। अभी मेरा आर्य-पुत्र (पति) सुधर गया है, आदरणीय बन गया है। कर्मपरिणाम महाराज के अभी उसके प्रति उच्च विचार हैं। फिर शुभपरिणाम आदि बड़े-बड़े राजा भी उसके पक्ष में हैं। दोहरी मदद और सहयोग से मेरे आर्यपुत्र संसारी जीव को अपने सैन्य-बल के निरीक्षण की उत्सुकता जाग्रत हुई है। ऐसे संयोगों में महाराजा उसे उसका सैन्यबल अवश्य दिखायेंगे और वे आर्यपुत्र उसका पोषण भी अवश्य करेंगे। अतः यदि तुम अभी * युद्ध करोगे तो तुम सब का प्रलय एवं नाश हो जायेगा। अतः अभी तुम सब चुपचाप छिपकर योग्य अवसर की प्रतीक्षा करो। जब अवसर आयेगा तब मैं स्वयं तुम्हें सूचित कर दूंगी। तुम तो जानते ही हो कि मैं सदाकाल तुम सब के कार्यों का विशेष ध्यान रखती हूँ। फिर तुम्हें इस विषय में चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है ?

भवितव्यता के परामर्श से उन्होंने प्रकट-युद्ध का विचार छोड़ दिया, किन्तु अपनी-अपनी योगशक्ति से मेरी चितवृत्ति में छिप कर बैठ गये।

मोह-कल्लोल और सद्बोध

उनके प्रभाव से मेरे मन के घोड़े दौड़ने लगे। आचार्यश्री ने कहा था कि "इन कन्याओं से विवाह के पश्चात् ही वे तुझे दीक्षा देंगे" पर, यह दीक्षा तो बाहुओं से स्वयंभूरमण समुद्र को तैरने जैसी दुष्कर है। मरण पर्यन्त साधुओं की अति कठिन नैष्ठिक क्रियाओं का पालन करना होगा। शरीर में रोगादि आतंकों की भी सम्भावना है। फिर सुख से पाले पोषे गये मेरे इस शरीर से यह सब कैसे होगा ? दीर्घकाल तक में रूखा-सूखा भोजन कैसे करूंगा ? कातरहृदया बेचारी मदनमंजरी अभी जवान है, उसे जीवन-पर्यन्त मेरा वियोग सहना अत्यधिक कष्टदायक होगा। यह सब सोचते हुए मेरा चित्त थोड़ा विचलित हुआ।

---

* पृष्ठ ७२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुनः मैंने सोचा--अभी इन कन्याओं का विवाह स्थगित कर दूँ । अभी क्यों न जवानी का मजा लूट लूँ ? ये कन्यायें तो मेरे हाथ में ही हैं, यौवन ढल जाने पर इनसे लग्न कर दीक्षा ले लूंगा ।

सद्बोध मन्त्री की अनुपस्थिति में मेरे मन के घोड़े दौड़ ही रहे थे कि तभी मन्त्री आ गये । मैंने अपना अभिप्राय मन्त्री को सुनाया ।

सद्बोध मन्त्री बोले--देव ! आपने यह ठीक नहीं सोचा । यह आत्महित का क्षतिकारक, परमसुख का बाधक और आपके अज्ञान का सूचक है । आप जैसे व्यक्ति के ऐसे विचार स्वाभाविक नहीं हैं । यह तो दुरात्मा महामोहादि का विलास है । गुप्त धन को हस्तगत करने के समय जैसे वैताल विघ्न डालने के लिये आकर खड़े हो जाते हैं वैसे ही चित्तवृत्ति में छुपे हुए वे दुष्ट आपकी सिद्धि में विघ्न डालने के लिये ठीक अवसर पर आ पहुँचे हैं, पर आप अपनी आत्मा को उनसे न ठगने दें ।

मन्त्री की बात मुझे जँच गई । मैंने पूछा--आर्य ! फिर मुझे क्या करना चाहिये ?

सद्बोध--आपको अपने बल से ही उन्हें हटाना चाहिये ।

गुणधारण--मेरा कौनसा बल (सैन्यबल) है ? बतलाइये ।

सद्बोध- मैं तुम्हें तुम्हारा बल दिखलाने को तैयार हूँ किन्तु यह अधिकार कर्मपरिणाम महाराजा को ही है ।

कर्मपरिणाम महाराजा वहाँ उपस्थित ही थे । उपर्युक्त बात-चीत सुनकर उन्होंने कहा--आर्य ! मेरी आज्ञा से तुम्हीं इन्हें इनके बल को बतला दो । परमार्थ से वह मेरे द्वारा ही बताया गया समझा जायेगा ।

सद्बोध ने महाराजा की आज्ञा को शिरोधार्य किया ।

स्वबल-दर्शन

तब सद्बोध मन्त्री ने मुझे चित्तसमाधान मण्डप में प्रवेश करवाया ।* वहाँ विद्यमान चारित्रधर्मराज और उसकी सेना को मुझे दिखाया । उन्होंने मुझे प्रणाम किया और मैंने भी प्रत्येक का सन्मान किया । इस सैन्य-निरीक्षण के समय मैं उच्चतम पद पर आसीन था और वे सब मेरे अधीनस्थ सैनिक थे । उन्होंने तुरन्त चतुरंग सेना को तैयार किया और शत्रुओं को मार भगाने के लिये व्यूह रचना की ।

उनके रण उल्लास को देखकर मेरे अधीनस्थ राजाओं ने भी उन सब को सन्मानित कर प्रसन्न किया । [३६५]

महामोहादि शत्रु दूर से ही इस तैयारी को देखकर भयभीत एवं पागल हो गये और पापोदय को आगे कर वे सब मृत्यु के डर से भाग खड़े हुए । तब उनके

---

* पृष्ठ ७२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निवास स्थान को तोड़कर, चित्तवृत्ति अटवी को स्वच्छ किया गया। शत्रुओं के नाश और विजय के उपलक्ष में उन्हें जयध्वज प्रदान किया गया। भागे हुए शत्रुओं में से कुछ का नाश/क्षय हुआ और कुछ बगुले की तरह चुपचाप छुपकर (उपशान्त होकर) बैठ गये। [३६६–३६८]

लग्न-समारम्भ

तदनन्तर अत्यन्त आनन्द पूर्वक मेरा अतिमनोरम विवाह-महोत्सव प्रारम्भ हुआ। मेरे इस उत्सव को देखकर मेरे अन्तरंग बन्धु बहुत हर्षित हुए। पहले अष्ट मातृका की स्थापना की गई और उनकी विधिवत् पूजा की गई। हे भद्रे! तब सद्बोध मन्त्री ने उन आठ माताओं की अलग-अलग क्या शक्ति है? इसका निम्नप्रकार से वर्णन किया—

१. जब मुनि लोग जैनपुर में चलते हैं तब इस माता के प्रभाव से ३½ हाथ दूर तक दृष्टि रखकर चलते हैं, जिससे मार्ग में किसी प्रकार का व्याक्षेप न हो और किसी जीव की विराधना न हो (ईर्या समिति)।

२. यह माता अपने प्रभाव से मुनियों से सद्वाक्य, पवित्र वाक्य ही बुलवाती है। वे यथातथ्य, हितकारी और अत्यन्त सीमित शब्दों में बोलते हैं (भाषा समिति)।

३. तीसरी माता भोजन का समय होने पर मुनियों से सर्वप्रकार के दोष-रहित निर्दोष भोजन की शोध करवाती है और उसे सीमित मात्रा में ही खाने की आज्ञा देती है (एषणा समिति)।

४. चौथी माता के प्रभाव से मुनि लोग किसी पात्र आदि वस्तु को लेने या रखने के समय उसे अच्छी तरह देखकर, प्रमार्जित कर सावधानी से लेते या रखते हैं (आदानभाण्डमात्रनिक्षेपण समिति)।

५. पाँचवीं माता मुनियों से बचा हुआ आहार, मल, मूत्र आदि का त्याग करना हो तो पहले शुद्ध निर्जीव भूमि देखकर त्याग करवाती है, जिससे किसी जीव को त्रास न हो (परिष्ठापनिका समिति)।

६. छठी माता के प्रभाव से साधुओं का मन निरन्तर आकुल-व्याकुलता से रहित रहता है। यदि उनके मन में कोई दोष उत्पन्न हो गये हों तो इसके प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं (मनोगुप्ति)।

७. यह माता अपने प्रभाव स साधुओं से कारणों के अभाव में सर्वदा मौन धारण करवाती है। कारणवश बोलना आवश्यक हो तो वे दोषरहित और बहुत संक्षिप्त ही बोलते हैं (वचनगुप्ति)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. आठवीं माता के प्रभाव से साधु लोग प्रयोजन के अभाव में अपने शरीर को कछुए की तरह संकुचित कर रखते हैं। कारणवश चलना-फिरना आवश्यक हो तो यह कायिक दोषों से बचाती है (कायगुप्ति)।

प्रथम दिन जैनपुर में इन आठ मातृकाओं की स्थापना कर विधिपूर्वक पूजा की गई। [३६९–३८०]

पश्चात् चित्तसमाधान-मण्डप-स्थित निःस्पृहता वेदी को विशेष रूप से स्वच्छ कर सज्जित किया गया। चारित्रधर्मराज ने अपने तेज से वहाँ एक विस्तीर्ण अग्निकुण्ड निर्मित कर उसे प्रदीप्त किया। लग्न के समय की जाने वाली सभी यथोचित तैयारियाँ पूर्ण की गईं।* फिर तेजस्, पद्म और शुक्ल लेश्याओं ने वधुओं के स्नान, विलेपन, वस्त्राभूषण आदि कार्य सानन्द सम्पन्न किया। इन्हीं माताओं ने और मेरे सामन्तों तथा राजाओं ने मुझे भी स्नान, विलेपन आदि कराकर वस्त्राभूषण से सज्जित किया। [३८१–३८४]

तत्पश्चात् सानन्द लग्न विधि प्रारम्भ हुई। सद्बोध मन्त्री स्वयं पुरोहित बने। उन्होंने कर्म रूपी समिधा (लकड़ियों) को अग्नि में डालकर यज्ञ प्रारम्भ किया और इसमें सद्भावना रूपी आहुतियां देने लगे। अञ्जली भर-भर कर कुवासना रूपी लाजा को अग्निकुण्ड में डालने लगे। सदागम स्वयं ज्योतिषी बना और उसकी उपस्थिति में वृष लग्न के अमुक अंश में मेरा क्षान्ति कन्या से पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ। इस विवाह के होते ही शुभपरिणाम आदि राजा और निष्प्रकपता आदि रानियां अत्यन्त हर्षित और प्रमुदित हुये। फिर उसी वृष लग्न में मेरा दया आदि आठ कन्याओं से विवाह सम्पन्न हुआ। फिर मैं जीववीर्य नामक अति विस्तृत सिंहासन पर अपनी सभी पत्नियों के साथ बैठा। चारित्रधर्मराज आदि सब को इस विवाह महोत्सव से अतिशय हर्ष हुआ और वे प्रमुदित होकर अनेक प्रकार का विलास करने लगे।

वैश्वानरादि उपशान्त

मेरा जब विद्या से परिणय हुआ था तभी से परमार्थतः महामोह निर्बल हो गया था। पर, वह पूरे समुदाय की आत्मा था, सारभूत नेता था। कहावत है कि "रस्सी जल जाने पर भी उसका बट नहीं जाता" अतः जली हुई रस्सी के समान अभी भी वह मेरे समीप ही था। क्षान्ति आदि कन्याएं वैश्वानर आदि शत्रुओं की प्रबल विरोधिनी होने से वे तो सब भागे ही, पर चारित्रधर्मराज ने तो पापोदय सहित महामोह की पूरी सेना को भगा दिया। महामोह छिपकर चुपचाप बैठा था, पर अब वह त्रस्त होकर हिंसा, वैश्वानर आदि नौ लोगों के साथ मुझ से बहुत दूर जा बैठा। मेरे शत्रु अभी पूर्ण नष्ट नहीं हुए थे, पर वे शान्त हो गये थे जिससे मुझे प्रमोद हुआ।

---

* पृष्ठ ७२६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी दस श्रेष्ठ पत्नियों से आलिंगित होकर, अपने सैन्य बल और परिवार से घिर कर अब मैं अन्तरंग विलास में उद्दाम लीला का आत्म-साक्षात्कार स्वयं अनुभव करने लगा। इस आत्मिक सुख के अनुभव से अब मुझे निर्मलाचार्य के कथन की सत्यता पर पूर्ण विश्वास हुआ। [३८५-३९१]

अब शुभपरिणाम राजा और निष्प्रकंपता रानी से उत्पन्न अन्य अनेक कन्याओं—धृति, श्रद्धा, मेधा, विविदिषा, सुखा, मैत्री, प्रमुदिता, उपेक्षा, विज्ञप्ति, करुणा आदि का विवाह भी मुझसे कर दिया गया।

इन सब सुभार्याओं के साथ अब मुझे जिस अत्यन्त आनन्द और अलौकिक रस का अनुभव हुआ वह अवर्णनीय था। मैंने सोचा कि निर्मलाचार्य ने पूर्व में मुझे जिस सम्पूर्ण सुख के अनुभव की बात कही थी,* उसका साक्षात्कार अब मुझे हो रहा है। इस प्रकार मैं अब सप्रमोद नगर में रहता हुआ प्रमोदातिरेक का अनुभव कर रहा था। इसी समय आचार्यश्री मुनिमण्डल सहित विहार करते हुए वापस सप्रमोदपुर आ पहुँचे और उसी आह्लाद मन्दिर उद्यान में ठहरे। उनके आने के समाचार मिलते ही मैं तुरन्त अत्यन्त आदरपूर्वक उद्यान में गया और श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक वन्दन किया। [३९२-३९७]

द्रव्यतः मुनिवेषधारण

अपने दोनों हाथ जोड़कर ललाट पर लगाते हुए, हे बहिन अगृहीतसंकेता! मैंने आचार्यश्री से निवेदन किया—भगवन्! आपके आदेशानुसार अब तक मैंने समस्त कार्य पूर्ण कर लिये हैं, अतः हे नाथ! अब मुझे दीक्षित करने की कृपा करें।

आचार्य बोले—राजन्! तुम्हें भावदीक्षा तो स्वतः ही प्राप्त हो गई है, अब क्या दीक्षित करें? विशेषतः जो श्रमण रूप में अनुष्ठान करने का था उसे तो तुमने घर में रहते हुए भी सम्पन्न कर ही लिया। वस्तुतः तुम भावश्रमण तो बन ही गये। फिर भी विद्वान् लोक-व्यवहार का उल्लंघन नहीं करते, अतः हे नृपति! अब तुम्हें द्रव्यदीक्षा प्रदान करेंगे। क्योंकि, भावदीक्षा के साथ-साथ बाह्य वेष भी आत्मोन्नति का निमित्त कारण बनता है, अतएव तुम्हें द्रव्यदीक्षा भी प्रदान करते हैं। [३९८-४०३]

मैंने कहा—भगवान् की बहुत कृपा।

तत्पश्चात् आठ दिन तक जिन-पूजा, मुनिजनों की पूजा, नगरवासियों को आनन्दित और बन्धुवर्ग की सार-संभार करते हुए, याचकों को इच्छानुसार दान देते हुए, अपने पुत्र जनतारण का राज्याभिषेक कर और तत्समयोचित समस्त कार्य सम्पन्न कर मैं मदनमंजरी, कुलन्धर और प्रधान नागरिकों के साथ निर्मलाचार्य के पास विधि-पूर्वक दीक्षित हुआ।

---

* पृष्ठ ७२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्राभ्यास : अनशन

तदनन्तर मैंने समस्त साधु-क्रियाओं का अभ्यास किया, सदागम का गाढ़ प्रेमी बना और उसके द्वारा उपदिष्ट ग्यारह अंगशास्त्रों तथा कालिक और उत्कालिक सूत्रों का अध्ययन किया। सम्यग्दर्शन का अत्यन्त प्रेमी हुआ और चारित्रधर्मराज के प्रति मेरा प्रेम बढ़ता ही गया। उसके सैन्य का निकटता से परिचय प्राप्त किया और संयम तथा तपयोग से उसका पोषण किया। प्रमत्तता नदी आदि शत्रुओं के क्रीडास्थलों को भग्न कर चित्तवृत्ति को निर्मल किया। इस प्रकार गुरु-चरणों की सेवा और मुनिचर्या का पालन करते हुए बहुत समय व्यतीत हो गया। अन्त में मैंने संलेखना अंगीकार कर अनशन किया। मेरी दिनचर्या को देखकर भवितव्यता मुझ पर प्रसन्न हुई और उसने मुझे दूसरी नवीन गुटिका देकर विबुधालय के कल्पातीत विभाग में प्रथम ग्रैवेयक देवलोक में देवरूप में उत्पन्न किया।

वहाँ अत्यन्त मनोहर दिव्य पलंग पर अतिसुन्दर मूल्यवान सुकोमल वस्त्र बिछा हुआ था। अत्यन्त निर्मल आकृति में मैं वहाँ बहुत सुखपूर्वक रहा।* मैं प्रथम ग्रैवेयक में तेईस सागरोपम तक रहा। वहाँ मेरा सम्पूर्ण जीवन सर्व प्रकार की विघ्न बाधाओं से रहित, शान्त और सुखानुभव पूर्ण बीता और मैंने सुखामृत का साक्षात् अनुभव किया। [४०४-४०५]

सिंहपुर में गंगाधर

हे भद्रे! मेरी पत्नी भवितव्यता के प्रभाव से तेईस सागरोपम के अन्त में मनुजगति के ऐरावत विभाग में सिंहपुर नगर में महेन्द्र क्षत्रिय की पत्नी वीणा की कुक्षि से मैं पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। यहाँ मेरा नाम गंगाधर रखा गया। यहाँ मेरे पराक्रम की बहुत प्रसिद्धि हुई। [४०६-४०७]

योग्य उम्र के प्राप्त होने पर अच्छा यश प्राप्त करने के पश्चात् मुझ जाति-स्मरण ज्ञान हुआ। मैंने सुघोष नामक आत्मानुभवी आचार्य के पास दीक्षा ग्रहण की और उनके सान्निध्य में पूर्ववत् साधु की सभी क्रियाओं का अनुष्ठान किया। अन्त में संलेखना/अनशन आदि किया। भवितव्यता के प्रभाव से यहाँ से मैं दूसरे ग्रैवेयक में गया। [४०८-००९]

इस प्रकार अनुक्रम से फिर मनुष्य हुआ, दीक्षा ली, विधिपूर्वक पालन किया, अन्त में संलेखना/अनशनादि पूर्वक तीसरे ग्रैवेयक में गया। इस प्रकार पाँच बार मनुजगति में भावदीक्षा ग्रहण कर उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ और पाँच बार ग्रैवेयक में उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ गया। हे अगृहीतसंकेता! इस प्रकार मेरी स्थिति प्रवर्धित होती गई। अन्तिम पाँचवें ग्रैवेयक में मैं सत्ताईस सागरोपम काल तक रहा। वहाँ मुझे चित्त को नितान्त शान्त करने वाली, सुख-समूह को प्राप्त कराने वाली अतिसुन्दर और अत्यन्त पवित्र कल्याणमाला प्राप्त हुई। [४१०-४१२]

---

* पृष्ठ ७२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०. गौरव से पुनः अधःपतन

सिंह की दीक्षा

भवितव्यता के प्रभाव से मैं पाँचवें ग्रैवेयक से फिर छठी बार मनुज गति के धातकी-खण्ड-स्थित भरत क्षेत्र में शंखनगर में महागिरि राजा की भद्रा रानी की कुक्षि से सुन्दर रूपवान पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। यहाँ मेरा नाम सिंह रखा गया। राजवंश में जन्म होने से मुझे भोग की सभी सुन्दर सामग्री यथेष्ट रूप में प्राप्त हुई।

अनुक्रम से मैं युवावस्था को प्राप्त हुआ। हे सुलोचने! उस समय मैंने धर्मबन्धु नामक विद्वान् मुनि के दर्शन किये। उनके उपदेश से मैंने राज्य-वैभव का त्याग कर भागवती दीक्षा ग्रहण की। हे चारुगामिनि अगृहीतसंकेता! इस बार मैंने साधुओं की सर्व क्रिया-कलापों का अभ्यास किया, चरण-करण क्रिया में अच्छी तरह उद्युक्त हुआ, उग्र विहार किया और सद्भाव-पूर्वक सूत्र और अर्थ का अभ्यास करने का प्रयत्न किया। [४१३–४१६]

आचार्यपद-प्राप्ति : यश और सन्मान

थोड़े ही समय में मैंने द्वादशांगी (बारह अंगों) का अभ्यास कर लिया तथा मुझे चौदह पूर्व सहित द्वादशांगी प्राप्त हो गई। सदागम मेरे पास अतिशय प्रेम-पूर्वक सगे भाई के समान रहने लगा। पहले भी मैंने अनेक बार बहुत ज्ञान प्राप्त किया था पर पूरे चौदह पूर्वों का ज्ञान कभी प्राप्त नहीं हुआ था। इस बार तो पूरे चौदह पूर्वों का विशिष्ट ज्ञान मैंने खेल ही खेल में प्राप्त कर लिया। सदागम के सम्बन्ध से मुझे उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त हुआ। [४१७–४१९]

मेरे गुरु धर्मबन्धु ने जब देखा कि मैंने सभी सूत्र-अर्थ का अभ्यास सम्यक् रीति से कर लिया है तब उन्होंने मुझे श्री संघ के समक्ष आचार्य पद पर स्थापित कर दिया। उस समय अतिशय प्रमुदित होकर देव, दानव और मनुष्यों ने चमत्कार-पूर्ण महोत्सव किया। लोगों ने, देवताओं ने और गुरुजी ने भी मेरी श्लाघा/प्रशंसा की कि 'अहा! इतनी छोटी उम्र में इतना सारा ज्ञान ग्रहण किया, अतः तुम धन्य हो! तुम्हारा अवतार सफल है!' मेरे आचार्य-पद-महोत्सव पर लोकबन्धु जिनेश्वर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देव की वस्त्र, आभूषण, मालाओं से पूजा की गई और सम्पूर्ण संघ की भोजन से तथा वस्त्रादि की प्रभावना से सविधि पूजा की गई। [४२०–४२३]*

धीरे-धीरे मेरी ख्याति इतनी बढ़ गई कि सभी देव, मुनि और सज्जन पुरुष मेरे गुणों तथा मेरी ज्ञान महिमा से मेरे प्रति अधिकाधिक आकर्षित होते गये। अनेक महाविद्वान् शिष्य मेरा विनय करने लगे। अपने गच्छ के अतिरिक्त अन्य गच्छों के धुरन्धर पण्डित भी मेरे पास आने लगे। जैसे-जैसे मेरी प्रसिद्धि बढ़ती गई वैसे-वैसे मेरा काम भी बढ़ता गया। [४२४–७२५]

मैं अनेक ग्रामों, नगरों और राजधानियों में विहार/भ्रमण करता हुआ प्रत्येक स्थान पर विद्वत्तापूर्ण सुन्दर व्याख्यान देता, अनेक स्थानों पर सभाओं को प्रसन्न करता हुआ कीर्तिपताका फहराता रहा।

बड़े-बड़े वाद-विवादों में विपक्षी कुतीर्थियों के मत्त हस्ति-दल के कुम्भ-स्थलों को मैंने अपनी भाषा रूपी अंकुशों से तोड़ दिया, विदीर्ण कर दिया। जब मैं स्वशास्त्र और परशास्त्र के गहन/रहस्यपूर्ण ज्ञान की बातें विस्तार से समझाता तब बड़े-बड़े सेनापति, सामन्त और महाराजा भी उच्च स्वर में अत्यन्त प्रशस्त शब्दों में मेरा यशोगान करते, मेरी कीर्तिपताका फहराते और मेरे यश का पटह बजाते। वे इतने मधुर शब्दों में प्रशंसा करते कि जिसका वर्णन अशक्य है। उदाहरण स्वरूप वे कहते—हे नाथ! आप सचमुच धन्य हैं, भाग्यवान हैं, आपका जीवन सफल है, इस मृत्युलोक में आकर आपने पृथ्वी को सुशोभित किया है, अलंकृत किया है, आप वास्तव में परमब्रह्म रूप हैं, पृथ्वी के शृंगार हैं, धर्म के दीपक हैं, निरपवाद हैं, सच्चे सिंह हैं, आपने अपने नाम को सार्थक किया है। अनेक तीर्थिक, वादी और नास्तिक भी मेरी स्तुति करते थे और मेरे समक्ष सिर झुका कर चलते थे। प्रशंसा के साथ-साथ लोग मेरी सेवा और पूजा भी करने लगे।

इस प्रकार मैं आचार्य के रूप में सब लोगों का प्रिय नेता और अग्रगण्य बन गया। हे अगृहीतसंकेता! इसी बीच एक विशेष घटना घटित हुई, वह भी सुनो। [४२६–४३२]

भवितव्यता की सजगता

मेरी ऐसी अद्भुत ऋद्धि-सिद्धि और यश को देखकर मेरी पापिन पत्नी भवितव्यता ईर्ष्या के कारण मुझ से रुष्ट हो गई। उसे ध्यान आया कि पूर्व में जब महामोहराजा के सैनिकों ने उससे राय पूछी थी, तब उन्हें योग्य अवसर की प्रतीक्षा करने को कहा था। मुझ पर विश्वास कर आशा से वे बेचारे चुप हो गये थे। मुझे लगता है, अब उनका कार्य-सिद्धि का योग्य अवसर आ गया है। यदि मैं उन्हें सूचित कर दूंगी तो वे अपनी शक्ति का प्रयोग कर प्रसन्न और सुखी हो सकेंगे।

* पृष्ठ ७२६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे भद्रे! इस प्रकार सोचकर भवितव्यता ने पापोदय आदि सभी को कह दिया कि अब तुम्हारा कार्यसिद्ध करने का समय आ गया है। 'घर की फूट से घर नष्ट' होने की कहावत मुझ पर चरितार्थ हुई। फिर उसने कर्मपरिणाम आदि जो निर्दोष बन्धुत्व से मेरे अनुकूल हो गये थे तथा जिसने अपनी शक्ति से उन्हें निर्बल, चेष्टारहित और मूढ जैसा बना दिया उन्हें पुनः प्रेरित किया। [४३३–४३८]

मोह की प्रबलता : विषयाभिलाष का परामर्श

महामोह ने पापोदय को मुख्य सेनापति बना कर फिर व्यूह रचना की और मेरे सम्मुख आने के लिये निकल पड़े। मेरी पत्नी के कहने से वे लोग निकल तो पड़े, पर पूर्व की विपदाओं को स्मरण कर मन ही मन भयभीत हो रहे थे और अपनी विजय के प्रति आशंकित हो रहे थे। विजय प्राप्त करने के लिये वे परस्पर विचार-विमर्श करने लगे। [४३९–४४०]

मन्त्रणा के समय विषयाभिलाष मंत्री बोला—भाइयों! आज के अवसर को देखकर अपनी कार्यसिद्धि के लिये ज्ञानसंवरण राजा मिथ्यादर्शन को अपने साथ लेकर संसारी जीव के पास जाय, फिर शैलराज ऋद्धिगौरव, रसगौरव और सातागौरव को अपने साथ लेकर उसके समीप पहुँच जाय,* उसके तुरन्त बाद आर्त्ताशय और रौद्राभिसन्धि को भेजना उपयुक्त रहेगा। इनके साथ ही तीनों परिचारिकायें कृष्ण, नील और कपोत लेश्यायें भी स्वयं ही जायेंगी। हम सब अप्रमत्तता नदी के तीर पर पड़ाव डालें। इस नदी की मरम्मत कर इसमें पानी का प्रवाह एकत्रित करें। इसमें मण्डप आदि जो टूट गये हैं उनकी मरम्मत कर सुदृढ़ करें। इस प्रकार हमारी सेना नदी के तीर पर शिविर में रहेगी। सभी अपना कार्य सम्भाल लेंगे तो बिना परिश्रम के हमारा प्रभाव जम जायेगा और हम अवश्य ही विजयी होंगे।

मंत्री की बात मोहराजा और सारी सभा को रुचिकर लगी। सबने उसका समर्थन एवं अनुमोदन किया और तुरन्त ही उसे कार्यान्वित करना प्रारम्भ कर दिया।

गौरव-गजारूढ

हे अगृहीतसंकेता! ये सब जब मेरे निकट आये तब मेरी क्या स्थिति हुई? वह भी सुन। मेरे अत्यन्त गौरव, यश, सम्मान और पूजा को देखकर मेरे मन में इस प्रकार तरंगे उठने लगीं—अहा! मेरा अतुल तेज, गौरव और पांडित्य जगत में अद्वितीय और असाधारण है। वास्तव में मैं युगप्रधान हूँ। मेरे जैसा पुरुष न भूत काल में कोई हुआ है, न भविष्य में होने वाला है। सम्पूर्ण विद्याओं, कलाओं और अतिशयों ने स्वर्ग एवं मर्त्य आदि लोकों को छोड़कर मुझ में आश्रय लिया है। जब मैं राजा था तब मनुष्यों में श्रेष्ठ था, सुन्दर स्वरूपवान था और भोगों में *पाला-पोषा गया था, अब मैं श्रेष्ठतम आचार्य हूँ*, कोई साधारण व्यक्ति नहीं।

* पृष्ठ ७३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरा कुल, तप, लक्ष्मी, तेज महान है और मेरी प्रज्ञा भी महान है। वास्तव में महान व्यक्तियों का तो सब कुछ महान ही होता है। [४४१–४४७]

अधःपतन की संकलना

अहंकारपूर्वक मेरे मन में विकल्प उठ रहे थे, तरंगें उछल रही थीं और मन के घोड़े दौड़ लगा रहे थे। यह देखकर शैलराज पुलकित हुआ और उसने अपना अनन्तानुबन्धी स्वरूप प्रकट किया।

जहाँ शैलराज होता है वहाँ मिथ्यादर्शन तो इसके साथ रहता ही है और ज्ञानसंवरण को तो शैलराज के साथ विलास-क्रीडा करना बहुत ही अच्छा लगता है। ये तीनों मेरे पास आये और मेरे से घनिष्ठ सम्पर्क बढ़ाया। अन्त में मैं इनके वशीभूत हुआ, मेरा मन मलिन हुआ और शास्त्र के अन्दर का अर्थ/रहस्य जानते हुए भी अज्ञानी जैसा हो गया। मैं स्वयं शास्त्र पढ़ता था, दूसरों को वाचना देता था, उन पर व्याख्यान देता था, तथापि मिथ्यादर्शन आदि के चक्कर में इनका गूढार्थ बराबर नहीं समझ पाता था। परिणाम स्वरूप मैं ऊपर-ऊपर के साढे चार पूर्व पूर्णरूप से भूल ही गया, शेष पूर्वों का ज्ञान भूला नहीं था। [४४८–४५२]

प्रमत्तता के प्रवाह में

हे पापरहित भद्रे ! मेरे शत्रुओं ने इस समय मेरी चित्तवृत्ति में स्थित प्रमत्तता नदी में प्रयत्नपूर्वक बाढ पैदा कर दी जिससे पूर्वोक्त तीनों गौरव संज्ञक पुरुष अपनी-अपनी शक्ति से विशेष उछल-कूद मचाने लगे–

अहा ! मेरा कितना विशाल शिष्य समुदाय है ! कितने सुन्दर वस्त्र एवं* पात्रों की प्राप्ति है ! देव, दानव, मानव मेरी पूजा करते हैं। अणिमा (सूक्ष्म रूप बनाने की) आदि विभूतियाँ मेरे पास हैं। मैं इस प्रकार के अभिमान में और अधिक सिद्धियाँ प्राप्त करने की कामना करता रहा। (ऋद्धि गौरव)

मुझे जो-जो रसवाले आस्वाद्य पदार्थ मिलते थे, उनके प्रति मनमें आसक्ति पैदा हो गई और उनकी प्राप्ति के प्रति अति लोलुपता उत्पन्न हो गई। रस वाले पदार्थ न मिलने पर मैं लोगों से उनकी मांग भी करने लगा, जो साधुधर्म के विरुद्ध था। (रस गौरव)

कोमल शय्या, आसन, सुन्दर व सूक्ष्म रेशमी वस्त्र, नये-नये खाद्य पदार्थ मिलने पर मेरे शरीर को सुख और संतोष मिलता। इन वस्तुओं की प्राप्ति के प्रति भी मेरा लोलुपता बढ़ती गई। (साता गौरव)

इन तीनों गौरवों के वशीभूत होकर मैंने उग्र विहार करना छोड़ दिया और शिथिलाचारी बन गया। फिर आर्त्ताशय ने मेरे चित्त की शांति का हरण कर लिया और मैं दुष्ट संकल्प करने लगा। साधुवेष में होने से रौद्राभिसन्धि यद्यपि मुझे

---

* पृष्ठ ७३१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक हानि नहीं पहुँचा सका, पर वह मेरे पास खड़े-खड़े देखता रहा। कृष्ण, नील और कपोत लेश्यायें भी अपने स्वामी की सहायता करने लगीं, उनके कार्यों को गति देने लगीं और मुझे अधम मार्ग पर धकेलने लगीं।

इधर चित्तवृत्ति में चित्तविक्षेप मण्डप और तृष्णावेदी निर्मित और सज्जित करली गई। उसके ऊपर विपर्यास सिंहासन लगा दिया गया। फलस्वरूप चारित्र-धर्मराज आदि का समस्त परिवार चित्तवृत्ति महाटवी में छिप गया। इस समय मैं साधुवेष का धारक होकर भी मिथ्यादृष्टि हो गया। [४५३–४६४]

११. पुनः भव-भ्रमण

मेरे शत्रुओं को अब पूरा अवकाश मिल गया। वे सब प्रबल हो गये और सब संगठित होकर मुझ से शत्रुता करने लगे। सब ने मेरी पत्नी भवितव्यता से विचार किया और आयुष्यराज को बुलाया।

फिर भवितव्यता ने आयुष्यराज से कहा—भद्र! मेरे आर्यपुत्र (पति) को किसी योग्य मनोहर स्थान पर भेजना है, अतः इनके जैसे कर्म वालों के निवास योग्य रमणीय स्थान मुझे बतलावें। [४६५–४६६]

आयुष्यराज—देवि! इनका स्थान तो पहले से ही निर्णीत है। इसमें पूछना ही क्या है? तुम्हारे पति के वर्तमान चरित्र से अप्रसन्न होकर कर्मपरिणाम महाराजा भी अभी महामोह के पक्ष में हो गये हैं। इन्होंने पापोदय सेनापति को अग्रेसर कर दिया है। मुझे एकाक्षनिवास नगर में नियुक्त किया है और साथ में तीव्रमोहोदय तथा अत्यन्त अबोध सेनापति को भी बुलाया है। किसी कारण से कर्मपरिणाम महाराजा अभी सातावेदनीय पर भी अप्रसन्न हैं, अतः उसका सर्वस्व हरण कर उसे अकिंचित्कर एवं शक्तिहीन बना दिया है। अन्तिम आज्ञा यह दी है कि हम दोनों (आयु और भवितव्यता) संसारी जीव को उसके अन्तरंग परिवार के साथ तीव्र मोहोदय और अत्यन्त अबोध को साथ लेकर एकाक्षनिवास नगर में निवास करें। मैं आपको क्या बतलाऊँ? आप स्वयं तो सब-कुछ जानती हैं और मुझ से ही उनके निवास स्थान के बारे में पूछ रही हैं? यह आपका प्रेम है कि आप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुझ से ही कहलाना चाहती हैं। अन्यथा इसमें आपके लिये कुछ भी नवीन या अज्ञात नहीं है।

भवितव्यता—भद्र आयुष्क ! यद्यपि आपकी बात ठीक है, तथापि जहाँ आपके जाने का निश्चित हुआ है वहाँ * पति के साथ मुझे तो अवश्यमेव जाकर रहना है। पर, अभी मेरे पति को उसकी आयु के एक तिहाई भाग तक और यहाँ रहना है, वह पूरा होते ही खेल-मात्र में हम शीघ्र एकाक्षनिवास पहुँच जायेंगे। [४६७-४६८]

आयुष्यराज—देवि ! आप सब जानती हैं, मैं क्या कहूँ ? अब तो सिंह (संसारी जीव) शीघ्र ही वहाँ जाने के योग्य हो जायँ ऐसी सभी सामग्री तैयार करें तो अधिक अच्छा है। [४६९]

हे अगृहीतसंकेता ! इसके बाद तो सभी अति प्रबल हो गये और पूरे वेग से अपनी शक्ति का प्रयोग मुझ पर करने लगे। मुझे साधुधर्म से अत्यन्त शिथिल बना दिया और अनेक प्रकार से भ्रष्ट कर सुखलम्पट बना दिया। अब मुझे थोड़ी भी सर्दी, गर्मी, विघ्न, पीड़ा, परिषह सहन न होते और मैं सब प्रकार से अधिकाधिक स्थूल आनन्द कैसे प्राप्त हो यह सोचने लगा। सुख-प्राप्ति की आशा में मैं अपने यथार्थ मार्ग का त्याग कर विपरीत मार्ग पर चल पड़ा। मेरा जीवन-मार्ग बदल गया। [४७०-४७१]

साधुजीवन के अन्त में तो मैंने दैनिक क्रियाओं का भी त्याग कर दिया। मेरी चेतना मूढ़ हो गई और शरीर में अनेक प्रकार की व्याधियाँ और दोष पैदा हो गये। ऐसी बाह्य और आन्तरिक तुच्छ दशा में मैं अपने आत्म-लक्ष्य को भूल गया। उसी समय मेरी उस भव की गोली भी समाप्त हो गई।

भव-भ्रमण-परम्परा

तुरन्त ही मुझे दूसरी गोली दी गई जिससे मैं एकाक्षनिवास नगर पहुँचा और वहाँ मुझे पूर्व-वर्णित वनस्पति वाले मोहल्ले में रखा गया। नयी-नयी गोलियाँ देकर मुझे इसी नगर में अनेक स्थानों पर बहुत समय तक रखा गया।

फिर मुझे पंचाक्षपशुसंस्थान में ले जाया गया। वहाँ मेरी भावना कुछ विशुद्ध हुई जिससे मेरी स्थिति में सहज परिवर्तन हुआ और मेरी सुख-प्राप्ति की लालसा पूर्ण हो ऐसी योजना आगे चलाई गई तथा मुझे विबुधालय भेजा गया।

विबुधालय में जाने के बाद भी मैं कई बार पंचाक्षपशुसंस्थान में जा आया और वहाँ से फिर विबुधालय में गया। इन दोनों स्थानों के बीच मेरा बार-बार आवागमन होने लगा। पंचाक्षपशुसंस्थान से मैं कई बार व्यन्तर और दानव जाति

* पृष्ठ ७३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में जा आया। प्रसंगवश यदा-कदा मुझे अकाम निर्जरा हो जाती जिससे शुभ भावना उत्पन्न होती और उसके बल पर मैं व्यन्तर देव बनता। [४७२–४७३]

कभी अधिक अच्छे परिणाम होने से मैं सौधर्म देवलोक भी हो आया। एक बार देव और एक बार पशु, यों मेरा भव-भ्रमण चलता ही रहा। इन १२ देवलोक के देव कल्पोपपन्न कहलाते हैं। ये देवगण जिनेश्वर के जन्म कल्याणक आदि अवसरों पर महोत्सव करते हैं। इस आवागमन में मुझे गृहिधर्म और सम्यग्दर्शन का भी फिर से सम्पर्क हुआ, जिससे मैंने दर्शनचारित्र में प्रगति की और १२ में से ८ देवलोकों में जा आया। [४७४–४७५]

हे सुलोचने ! मैं अनेक बार मानववास में भी गया। कर्मभूमि और अकर्मभूमि अन्तरद्वीपों में मनुष्य बनकर बहुत समय बिताया। अकर्मभूमि में कभी १,२ और ३ पल्योपम तक रहकर कल्पवृक्षों से अपनी मनोवाञ्छायें पूर्ण कीं। यहाँ जितने पल्योपम का आयुष्य होता, उतने ही कोस का शरीर भी होता। वहाँ सुख पूर्वक रह कर आनन्द भोगा, सुख से आहार किया। वहाँ रहते हुए मेरे विचारों में विशुद्धता आई। फिर मैं अपनी पत्नी के साथ विबुधालय में गया। पूर्वोक्तविधि से नई-नई गोलियां प्राप्त कर वहाँ से अनेक बार अन्तरद्वीपों में गया और वापस विबुधालय में लौट आया। अन्तरद्वीपों में मेरा आयुष्य असंख्य वर्षों का रहा। [४७६–४८०]

जब मैं कर्मभूमि में था तब अज्ञान के वशीभूत होकर जल और अग्नि में झंपापात किया, पर्वतों पर से कूदा, विष खाया, चारों तरफ अग्नि जलाकर और सूर्य का ताप सहा (पंचाग्नि तप किया), रस्सी पर उल्टा लटका,* ऐसे-ऐसे अनेक हठयोग के कर्म धर्म-बुद्धि से किये। पर, इन सब में मेरा भाव शुद्ध था, इसलिये फिर विबुधालय में गया। वहाँ किल्बिषिक देव बना। फिर मनुष्य और व्यन्तर बना। मनुष्यगति में घोर बाल (अज्ञान) तप किये, पर मन में क्रोध एवं तपस्या का अधिक गौरव (अहंकार) होने से भवनपति बना। देवगति की अधम जातियों में भ्रमण करता रहा। मैं पुनः तापस के व्रत, अनुष्ठान और अज्ञानतप के प्रभाव से ज्योतिषी देवों में भी अनेक बार घूम आया। यों मेरी पत्नी अनेक बार मुझे नीच गति के देवों में और मनुष्य गति में भटकाती रही। मैंने जैन द्रव्य-दीक्षा भी ली और तप से अपनी देह को तपाया, क्रिया-कलापों के साथ ध्यान और अभ्यासपरायण भी बना, पर सम्यग्दर्शन-रहित होने से मूढता के कारण सर्वज्ञ प्ररूपित एक भी पद, वाक्य अथवा अक्षर पर श्रद्धा नहीं की। हे भद्रे ! द्रव्य-दीक्षा के फलस्वरूप अनेक बार नौ ग्रेवेयक तक जा आया। बीच-बीच में मानवावास भी आता रहा।

हे सुन्दरि ! मुझे इतना क्यों भटकना पड़ा ? इसका मूल कारण भी यही था कि मैं सिंह आचार्य के रूप में शिथिलाचारी बना। यदि उसी समय मैंने अपनी

---

* पृष्ठ ७३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चित्तवृत्ति को निर्मल बनाकर अपने शत्रुओं का नाश कर दिया होता तो मेरी प्रगति निश्चित रूप से हुई होती और मैं अपने राज्य पर आसीन होकर कभी का निर्वृत्ति नगर पहुँच गया होता। मेरा यह भव-भ्रमण मेरी स्वयं की दुश्चेष्टाओं के फलस्वरूप हुआ, अन्य किसी का इसमें कोई दोष नहीं। [४८१–४९१]

इतना कहकर संसारी जीव मौन हो गया।

संसारी जीव आत्मकथा सम्पूर्ण।

१२. अनुसुन्दर चक्रवर्ती

संकेत-दर्शन

संसारी जीव के सिंहाचार्य के उच्चतम पद से गिरकर वनस्पति में उत्पन्न होने और फिर अनन्त संसार-भ्रमण को सुनकर अगृहीतसंकेता ने कहा—भाई संसारी जीव! अभी तुमने भव-भ्रमण का कारण अपनी दुश्चेष्टायें बताईं, किन्तु इस विषय में मुझे लगता है कि अन्य और भी कारण हैं। यदि तुमने महाराजाधिराज सुस्थितराज की आज्ञा का सर्वदा स्थिर-बुद्धि से पालन किया होता तो ऐसी तीव्र अनर्थ-परम्परा नहीं भुगतनी पड़ती। तुम्हें जो अति दारुण दुःख उठाने पड़े वे इतने भयंकर हैं कि उन्हें सुनकर ही त्रास होता है। मेरी दृष्टि में महाराजा की आज्ञा का उल्लंघन भी तेरे भव-भ्रमण का प्रबल कारण है। [४९२–४९४]

इस सुन्दर विचार को सुनकर संसारी जीव आश्चर्यचकित रह गया और उसके मन में अगृहीतसंकेता के प्रति सन्मान पैदा हुआ। वह बोला—बहिन सुभ्रु! तुमने वास्तविक बात कह दी है; अभी तक तू बात का भावार्थ नहीं जानती थी, पर अब तो गूढार्थ बताकर सचमुच तू विचक्षणा हो गई है।

हे सुन्दरांगि! अब मैं यह बताता हूँ कि मैंने चोर का रूप क्यों धारण किया। यह सुनकर अगृहीतसंकेता ने प्रसन्न होकर कहा कि, भद्र! सुनाओ। मैं तो स्वयं यह बात सुनना ही चाहती थी। [४९५–४९६]

अनुसुन्दर का परिचय

अगृहीतसंकेता की इच्छा को जानकर संसारी जीव ने कहा—मेरी पत्नी भवितव्यता मुझे नौवें ग्रैवेयक से मनुजगति में स्थित क्षेमपुरी नगरी में लाई। हे सुन्दरि! यह तो तुम्हारे ध्यान में ही होगा कि इस मनुजगति में महाविदेह नामक अति सुन्दर और विस्तृत बाजार है। इस लम्बे-चौड़े बाजार में पंक्तिबद्ध अनेक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छोटी-मोटी दुकानें हैं। इन्हीं के मध्य में अनेक छोटे-बड़े सुन्दर नगर हैं।* इस बाजार के मध्य भाग में क्षेमपुरी स्थित है। इस स्थान को सुकच्छविजय कहा जाता है। आप हम सभी अभी इसी क्षेत्र में बैठे हैं और यह मनोरम क्षेमपुरी भी इसी विजय में स्थित है। [४९७–५००]

इस क्षेमपुरी में शत्रु रूपी अन्धकार का नाश करने वाला, सूर्य के समान तेजस्वी युगन्धर राजा राज्य करता था। वह महाप्रतापी, दिव्यकांति युक्त और कीर्तिवान था। इसके एक अत्यन्त प्रिय नलिनी नामक प्रसिद्ध पटरानी थी। राजा के दर्शन मात्र से उसका मुखकमल विकसित हो जाता था। वह बहुत भली, शांत, सुशील और नम्र थी। सूर्य के दर्शन से जैसे कमलिनी प्रफुल्लित हो जाती है, वैसे ही वह राजा को देखकर विकसित हो जाती थी। हे अगृहीत-संकेता! मेरी पत्नी भवितव्यता ने मुझे पुण्योदय के साथ इसी की कुक्षि में प्रवेश करवाया। [५०१–५०३]

जिस रात मैंने रानी की कूख में प्रवेश किया उसी रात उस कमलनेत्री ने सुख-शय्या में सोते-सोते चौदह महा स्वप्न देखे। स्वप्न देखकर रानी जागृत हुई और उसने प्रहृष्ट होकर अपने पति को वे गज आदि के स्वप्न सुनाये। राजा ने शांत चित्त से ध्यानपूर्वक स्वप्न सुने। फिर बोला, देवि! तुम्हें सर्वोत्तम स्वप्न आये हैं। इनके फलस्वरूप कुलदीपक पुत्र होगा जो देव-दानव का पूजनीय महान चक्रवर्ती बनेगा। पति के इस प्रकार मनोरम वाक्य सुनकर रानी अति हर्षित हुई। उसके नेत्र विकसित हो गये और उसने स्वामी के फलार्थ को स्वीकार किया। पश्चात् वह प्रेमपूर्वक गर्भ का पोषण करने लगी। समय पूर्ण होने पर माता ने मुझे जन्म दिया, अन्तरंग मित्र पुण्योदय भी गुप्त रूप से मेरे साथ ही था। मेरी अत्यन्त सुन्दर आकृति को देखकर रानी मन में अति प्रसन्न हुई। [५०४–५०८]

प्रियंकरी दासी तुरन्त मेरे पिताजी के पास गई। अत्यन्त हर्षावेश में गद्गद कंठ और हर्षोल्लसित नेत्रों से उसने पिताजी को मेरे जन्म की बधाई सुनाई। पुत्र-जन्म की बधाई सुन कर पिताजी हर्षित हुए, उनका पूरा शरीर रोमांचित हो गया और बधाई लाने वाली दासी को इच्छानुकूल पारितोषिक दिया। फिर पिताजी ने मेरा जन्म महोत्सव मनाने की आज्ञा दी। पिताजी के आदेश से उस समय चारों तरफ लोग जन्मोत्सव मनाने लगे। सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर लोग अपने सौन्दर्य का प्रदर्शन करने लगे, रसपूर्वक नाचने-गाने लगे, बाजे बजाने लगे, मस्ती में आकर हंसी-ठिठोली करने लगे, समूह बनाकर उद्यानों में जाने लगे, भोजन और मुखवास साथ में लेकर वन-विहार को निकल पड़े, स्वयं के सन्मान में वृद्धि हुई हो ऐसे हर्षोद्गार निकालने लगे, दान देने लगे और कामदेव का सन्मान करने लगे। सम्पूर्ण नगर और राज्य आनन्दोत्सव में निमग्न हो गया। छः दिन तक महान उत्सव मनाया गया, लोगों ने अनेक प्रकार की उद्दाम/उत्कृष्ट लीला की और आनन्द किया। [५०९–५१३]

* पृष्ठ ७३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छठे दिन की रात्रि को मेरे पिता और सगे-सम्बन्धी एकत्रित हुए और रात्रि-जागरण किया। जागरण महोत्सव इतना श्रेष्ठ था कि मर्त्यलोक में स्वर्ग का भ्रम होता था। महान प्रमोदपूर्वक एक माह पूर्ण होने पर शुभ दिन देखकर मेरा अनुसुन्दर नाम रखा गया। पाँच धात्रियों द्वारा मेरा पालन-पोषण होने लगा। दिन-प्रतिदिन मैं बड़ा होने लगा। माता-पिता की विशेष देखरेख में मेरा शरीर स्वस्थ रहा और क्रमशः बढ़ने लगा। कुमारावस्था आने पर मेरे कलाभ्यास की सब व्यवस्था की गई और उसका लाभ उठाकर मैंने सकल कलाओं का अभ्यास किया तथा पुरुष के योग्य सभी कलाओं में निष्णात बना। युवावस्था प्राप्त होने पर मुझे युवराज पद पर प्रतिष्ठित किया गया। हे भद्रे! मेरे पिताजी एवं नागरिकों ने युवराज पद-महोत्सव अत्यन्त आनन्द और हर्षातिरेकपूर्वक मनाया। * थोड़े समय बाद सूर्याकारधारक पिताजी युगन्धर स्वर्गवासी हो गये।। सूर्यास्त के साथ नलिनी का विकास भी अस्त हो गया, अर्थात् मेरी पूजनीय माताजी नलिनी महादेवी का भी देहान्त हो गया। [५१४–५१८]

माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् मेरे राज्याभिषेक का प्रसंग चल ही रहा था कि मेरी शस्त्रशाला में अतुलनीय चक्र आदि चौदह रत्न और यक्षों द्वारा रक्षित नौ निधान प्रकट हुए। मुझे चक्रवर्ती मानकर सुकच्छविजय के सभी राजा मेरे वशीभूत हुए तथा स्वयं को अनुचर और मुझे स्वामी स्वीकार किया। प्रताप तेज से मैंने क्षेमपुरी में रहकर ही समस्त छः खण्ड पृथ्वी को जीत लिया और सम्पूर्ण विजय क्षेत्र में मेरी जीत का यश फैल गया। बत्तीस हजार मुकुट-बंध राजाओं ने एकत्रित होकर १२ वर्ष तक मेरा राज्याभिषेक महोत्सव मनाया। प्रफुल्लित कमल जैसे नेत्रों वाली ६४ हजार ललनाओं के साथ मैंने भोग भोगे। अपनी सम्पूर्ण प्रजा को अत्यन्त प्रसन्नता प्रदान करता हुआ और महान संपत्तिशाली तथा चक्रवर्तित्व युक्त होकर मैंने बहुत समय आनन्दपूर्वक व्यतीत किया। समस्त स्थूल सुखों का सीमातिरेक चक्रवर्ती को प्राप्त होता है। वह मनुष्यों में सर्वोत्तम और राजाओं का राजाधिराज माना जाता है। मेरे सुखों और अनुकूलताओं का कितना वर्णन करूँ! हे चारुलोचने! संक्षेप में संसार के वर्णनातीत उत्कृष्ट स्थूल सुख और सभी प्रकार के आनन्दों का मैंने अनुभव किया। इस प्रकार मैंने ८४ लाख पूर्व तक सुख भोगे, राज्य किया और आनन्द भोगा। जीवन के अन्तिम भाग में अपने षट्-खण्ड राज्य का निरीक्षण करने मैं क्षेमपुरी से निकल पड़ा। मेरा राज्य कितना विशाल है और लोगों की स्थिति कैसी है, यह जानने के लिये मैं सुकच्छविजय के अनेक नगरों और गांवों में घूमा। घूमते हुए मैं शंख नामक नगर में आ पहुँचा। तत्पश्चात् सेना को पीछे छोड़कर अपने पुत्र राजवल्लभ को साथ लेकर मैं नन्दनवन जैसे चित्तरम उद्यान में आया। [५१९–५२९]

* पृष्ठ ७३५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. महाभद्रा और सुललिता

महाभद्रा का परिचय

हे अगृहीतसंकेता ! तुम्हें स्मरण होगा कि जब मैं गुणधारण के भव में था तब कन्दमुनि ने मुझे उपदेश दिया था । उस भव में मेरी पत्नी मदनमंजरी थी और मेरा मित्र कुलन्धर था । इनको भी भवितव्यता ने संसार में बहुत भटकाया और अनेक प्रकार के अच्छे-बुरे रूपों में उन्हें उत्पन्न किया । कन्दमुनि ने एक बार बहुलिका के सम्पर्क से छल-कपट किया था, अतः भवितव्यता कन्दमुनि के जीव को सुकच्छविजय के हरिपुर नगर में ले आयी ।

इस नगर में भीमरथ राजा और सुभद्रा रानी थी जिनके समन्तभद्र नामक एक पुत्र था । भवितव्यता ने सुभद्रा रानी की कूख में कन्दमुनि के जीव को प्रवेश कराया और छल-कपट माया के कारण उसे स्त्रीलिंग प्रदान किया । अनुक्रम से उसका जन्म पुत्री के रूप में हुआ और माता-पिता ने उसका नाम महाभद्रा रखा ।

राजकुमार समन्तभद्र को एक बार सुघोष मुनि के दर्शन हुए । उनका धर्मोपदेश सुनकर राजकुमार को वैराग्य हो गया । माता-पिता की आज्ञा लेकर उसने दीक्षा ले ली, अभ्यास किया और थोड़े ही समय में द्वादशांगी का ज्ञाता महाज्ञानी गीतार्थ हो गया । योग्य समझ कर गुरु महाराज ने उसे आचार्य पद पर स्थापित किया और वह संसार में समन्तभद्राचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।*

अनुक्रम से राजपुत्री महाभद्रा भी युवती हुई । माता-पिता ने उसे गन्धपुर नगर के राजा रविप्रभ और पद्मावती रानी के पुत्र दिवाकर से विवाहित किया । कारणवश दिवाकर की मृत्यु हो गई । समन्तभद्राचार्य ने योग्य अवसर जानकर अपने संसारी रिश्ते की बहिन महाभद्रा को योग्य उपदेश दिया, संसार की अस्थिरता और आत्महितकारी मोक्ष का यथार्थ मार्ग बतलाया । प्रतिबुद्ध होकर महाभद्रा ने भागवती दीक्षा ले ली । विद्वान् भाई की बहिन भी विदुषी हुई । इसने भी गहन अध्ययन किया और थोड़े ही समय में द्वादशांगी की ज्ञाता, गीतार्था, शक्तिशालिनी साध्वी बन गई । उसकी योग्यता को देखकर आचार्य ने उसे प्रवर्तिनी के पद पर स्थापित कर दिया ।

---

* पृष्ठ ७३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुललिता का परिचय

एक बार अन्य साध्वियों के साथ प्रवर्तिनी महाभद्रा विहार करती हुई रत्नपुर आ पहुँचीं। यहाँ मगधसेन राजा राज्य करता था। उसकी महारानी का नाम सुमंगला था। भवितव्यता ने मदनमंजरी के जीव को सुललिता की पुत्री के रूप में उत्पन्न किया। इसका नाम सुललिता रखा गया। क्रमशः वह तरुणी हुई, पर वह पुरुषद्वेषिणी बन गई। उसे किसी भी पुरुष का नाम, परिचय या उसकी छाया भी रुचिकर नहीं थी। उसे पति नाम की गन्ध से भी घृणा थी, अतः उसके माता-पिता उसके लग्न के विषय में चिन्तातुर थे।

जब महाभद्रा प्रवर्तिनी का रत्नपुर में पदार्पण हुआ तब मगधसेन राजा और सुमंगला रानी भी उनको वन्दन करने उपाश्रय में गये और अपनी प्रिय पुत्री सुललिता को भी साथ ले गये। प्रवर्तिनी को वन्दन कर उनसे मोक्षपदरूप कल्पवृक्ष को निश्चित रूप से उत्पन्न करने वाले बीज के समान "धर्मलाभ" का शुभाशीष प्राप्त किया। फिर उनसे अमृतप्रवाह जैसा शुद्ध धर्मोपदेश सुना।

यद्यपि भगवती का उपदेश अत्यन्त स्पष्ट था तथापि सुललिता बहुत भोली थी, अतः वह उसके अन्तरंग भावार्थ को नहीं समझ सकी, तदपि पूर्वभव के राग के कारण वह प्रवर्तिनी के प्रति आकर्षित हुई और भगवती महाभद्रा के मुख-कमल को टकटकी लगाये देखती रही। फिर उसने पिता से कहा—हे तात! मुझे प्रवर्तिनीजी के चरण-कमलों की उपासना करनी है। यदि आप आज्ञा दें तो मैं भी उनके साथ सर्वत्र विचरण करूँ।

पुत्री की मांग सुनकर रानी तो रो पड़ी, किन्तु राजा ने उसे रोककर कहा—देवि! रोने से क्या लाभ? पुत्री का मन जिस कार्य से प्रसन्न हो वह उसे करने देना चाहिये। उसके मन में विनोद पैदा करने का यही उपाय है, इसी से वह ठीक होगी। मेरे मत से वह गृहस्थ रूप में साध्वीजी के साथ भले ही रहे और विहार करे, पर हमसे पूछे बिना दीक्षा ग्रहण नहीं करे।

सुललिता ने पिता की आज्ञा को शिरोधार्य किया और साध्वीजी के साथ रह गई। माता-पिता अपने घर चले गये।

प्रवर्तिनी महाभद्रा के साथ सुललिता अनेक देशों में घूमी। उसके ज्ञानावरणीय कर्म का उदय इतना अधिक था कि उसे एक भी पाठ याद नहीं होता था। साधु-साध्वी के आचार या श्रावक के आवश्यक भी उस बेचारी को नहीं आ पाया। आगम के पाठ समझाने पर भी उसे उसका भावार्थ समझ में नहीं आया।

अन्यदा विहार करते हुए महाभद्रा साध्वी सुललिता के साथ शंखपुर नगर आ पहुँची और नन्द सेठ के घर की पौषधशाला में ठहरीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४. पुण्डरीक और समन्तभद्र

पुण्डरीक-परिचय

इस शंखपुर नगर में मेरे मामा श्रीगर्भ का राज्य था। उनकी रानी कमलिनी मेरी मामी थी और महाभद्रा प्रवर्तिनी की मौसी थी। इनके एक भी संतान नहीं थी।* कमलिनी रानी ने पुत्र-प्राप्ति के लिये अनेक मनौतियाँ मनाईं दान दिये, बूटियाँ खाईं। गुणधारण के भव में मेरा जो मित्र कुलन्धर था, उसने अपने अगले जन्म में अनेक प्रकार के शुभ कार्य किये, अतः भवितव्यता ने कुलन्धर के जीव को कमलिनी रानी की कूख में प्रवेश करवाया। जिस रात को उसने रानी की कुक्षि में प्रवेश किया, उसी रात रानी को स्वप्न आया कि एक सर्वांगसुन्दर पुरुष उसके मुंह से उसके शरीर में प्रविष्ट हुआ और बाहर निकला तथा किसी अन्य पुरुष के साथ चला गया। रानी ने अपने स्वप्न की बात राजा को कह सुनायी। स्वप्न-वृत्तान्त सुनकर राजा को परम हर्ष हुआ, पर साथ में कुछ विषाद भी हुआ। वह बोला—देवि! ऐसा लगता है कि तुम्हारे पुत्र होगा, पर कुछ समय बाद उसे किसी सुगुरु की प्राप्ति होगी और उनके उपदेश से प्रतिबोधित होकर वह दीक्षा ले लेगा। पुत्र-प्राप्ति की अभिलाषा-पूर्ति से रानी कमलिनी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई, शेष बात उसने अनसुनी करदी। तीसरे महीने रानी को शुभ कार्य करने के मनोरथ (दोहले) उत्पन्न हुए, जिन सभी को राजा ने पूर्ण किया। समय पूर्ण होने पर रानी के पुत्र-जन्म हुआ। राजा श्रीगर्भ परम सन्तुष्ट हुआ। सारे नगर और राज्य में पुत्र का जन्म-महोत्सव मनाया गया जिससे सभी लोगों को अत्यधिक आनन्द हुआ।

समन्तभद्राचार्य का संकेत

इधर समन्तभद्राचार्य को निर्मल केवलज्ञान प्राप्त हुआ और विहार करते हुए वे शंखपुर नगर आ पहुँचे तथा चित्तरम उद्यान में ठहरे। नन्द सेठ की पौषध-शाला में ठहरी हुई महाभद्रा साध्वी को जब पता लगा तो वे भी केवली महाराज को वन्दन करने उद्यान में पहुँची। सुललिता को आचार्य के पधारने के समाचार किसी कारण से नहीं लग सका और महाभद्रा उद्यान में आचार्य को वन्दन करने गई है, यह भी वह नहीं जान सकी। महाभद्रा जब आचार्य के वहाँ थी तभी किसी ने कहा कि 'राजा के पुत्र हुआ है।' यह सुनकर केवली भगवान् ने कहा—इस राजपुत्र ने पूर्व भव में अत्यधिक शुभ कार्यों का अभ्यास किया है। यद्यपि इसका जन्म राजा

---

* पृष्ठ ७३७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के यहाँ हुआ है तथापि यह अधिक समय तक राजभवन में नहीं रहेगा। बड़ा होकर दीक्षा लेगा और सर्वज्ञ प्ररूपित आगम-शास्त्रों का धारक बनेगा।

यह सुनकर महाभद्रा अपने उपाश्रय में वापस लौटी।

इधर राजपुत्र का नाम पुण्डरीक रखा गया और नामकरण महोत्सव मनाया गया।

सुललिता के सन्देह का निराकरण

इधर एक बार सुललिता घूमती हुई, अनेक प्रकार के कुतूहल देखती हुई चित्तरम उद्यान में आ पहुँची। वहाँ उसने समन्तभद्राचार्य को श्रीसंघ के मध्य में नवीन उत्पन्न राजपुत्र के गुणों का वर्णन करते हुए सुना। आचार्य कह रहे थे—'इसके अनुकूल बने कर्मपरिणाम महाराजा और कालपरिणति महारानी ने पुण्डरीक को मनुजनगरी में उत्पन्न किया है। यह सर्वोत्तम गुणों से युक्त बनेगा। भव्यपुरुष जब सुमति/प्रशस्त बुद्धि वाला बन जाता है तब वह सर्वोत्तम गुणों का भण्डार बन जाता है, इसमें संदेह क्या है?' सुललिता ने आचार्य के इस कथन को सुना। आचार्य ने यह बात बहुत से लोगों के समक्ष कही थी, जिसे सुनकर लोग अत्यन्त हर्षित हुए।

उपर्युक्त कथन सुनकर सुललिता को संदेह हुआ कि, 'इस राजकुमार के माता-पिता कालपरिणति और कर्मपरिणाम कैसे हो सकते हैं? फिर वह मनुजगति में कैसे उत्पन्न हो सकता है? भविष्य में होने वाले गुणों का वर्णन आचार्य अभी कैसे कर सकते हैं?' वहाँ से जाकर उसने महाभद्रा प्रवर्तिनी को अपने मन की शंका कह सुनाई। महाभद्रा ने सोचा कि सुललिता बहुत भोली है। यह सोचकर कि इसे प्रतिबोधित करने का यह अच्छा अवसर है। महाभद्रा ने कहा—भद्रे! कर्मपरिणाम और कालपरिणति इसी के ही नहीं, संसारस्थ सभी जीवों के माता-पिता हैं। यह बात उन्होंने उसे युक्तिपूर्वक भली प्रकार समझाई।

सदागम का परिचय

फिर उन्हें ध्यान आया कि इसको सदागम के प्रति प्रीति उत्पन्न करनी चाहिये। यह सोचकर उसे जागृत करने की शुभ भावना से वे बोलीं—बहिन! लोगों के मध्य में जो बात कर रहे थे और जिनकी बात लोग ध्यान पूर्वक सुन रहे थे, उनका नाम सदागम है। तुमने उन्हें ध्यानपूर्वक देखा होगा? इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं है कि ये महात्मा महान् शक्ति-सम्पन्न, विद्वान् और भूत-भविष्य के भावों के ज्ञाता हैं।* मुझे भी इस विषय में इन महात्मा की कृपा से ही मालूम हुआ है। मेरा इनसे दीर्घकाल से परिचय है। वे अत्यन्त प्रभावशाली हैं।

---

* पृष्ठ ७३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार उन्होंने सदागम के माहात्म्य और राजपुत्र के जन्म से सदागम को होने वाले आनन्द का विस्तृत वर्णन कर सुललिता (अगृहीतसंकेता) को समझाया।

यह सुनकर सुललिता ने कहा—भगवति! जब आपका महापुरुष सदागम से इतना अधिक परिचय है तब आप मेरा भी उनसे परिचय कराइये। महाभद्रा (प्रज्ञाविशाला) ने हर्ष से इसे स्वीकार किया। तत्पश्चात् सुललिता को साथ लेकर महाभद्रा समन्तभद्राचार्य के पास आई। आचार्य को देखते ही सुललिता को अत्यधिक हर्ष हुआ। हर्षावेश में वह बोली—भगवति! ऐसे महात्मा पुरुष का आपने अभी तक मुझे दर्शन नहीं करवाया। मैं बहुत भाग्यहीन रही, दर्शनों से वंचित रही। अरे! आप तो सचमुच बहुत स्वार्थिनी हैं। खैर, अब आप इन महात्मा के मुझे प्रतिदिन दर्शन कराने की कृपा करावें, जिससे कि मैं भी आप जैसी विदुषी बन जाऊँ। महाभद्रा ने इस प्रार्थना को स्वीकार किया।

उस दिन से दोनों प्रतिदिन आचार्य के पास आकर उनकी उपासना करने लगीं। एक मासकल्प (एक माह) पूर्ण होने पर आचार्य ने कहा—महाभद्रा! तुम्हारी जांघों की शक्ति क्षीण होने से अभी तुम विहार करने में असमर्थ हो अतः अभी शंखपुर में ही रहो। हम तो अब यहाँ से विहार कर अन्यत्र जायेंगे। अन्यदा फिर कभी हम यहाँ आयेंगे। तुम्हारे विशेष हित और जागृति के लिये ही हम पूरे एक माह तक यहाँ रहे। अन्यथा जिस क्षेत्र में साध्वियां विराजित हों वहाँ शेषकाल में साधुओं को मासकल्प करने (एक माह) भी रुकने का अधिकार नहीं है, किन्तु रोगी की सहायता के पुष्ट आलम्बन से ही हम यहाँ एक महीने रुके। अब तुम्हें यहाँ रहकर राजपुत्र पुण्डरीक (भव्यपुरुष) का विशेष ध्यान रखना चाहिये और उसके अनुकूल कार्य करना चाहिये। योग्य अवस्था को प्राप्त होकर वह मेरा शिष्य बनेगा।

महाभद्रा ने आचार्य के वचन को स्वीकार किया और आचार्य श्री वहाँ से विहार कर अन्यत्र चले गये।

पुण्डरीक और समन्तभद्र का परिचय

क्रमशः पुण्डरीक बड़ा होने लगा। उसकी बाल्यावस्था समाप्त हुई और वह युवावस्था को प्राप्त हुआ। बुद्धि के साथ उसमें गुण भी प्रस्फुटित होने लगे और महाभद्रा से उसका स्नेह भी प्रतिदिन बढ़ने लगा।

अन्यदा अनेक नगरों में विहार करते हुए एक बार समन्तभद्राचार्य पुनः शंखपुर नगर के चित्तरम उद्यान में पधारे। महाभद्रा को पता लगते ही स्वयं पुण्डरीक को आचार्य भगवान् के पास ले गई। पुण्डरीक भावी भद्रात्मा था, इसलिये आचार्य भगवान् को दूर से देखकर ही उसके मन में अत्यन्त हर्ष हुआ। वह उनके गुणसमूह को देखकर रंजित हुआ। केवली भगवान् के वचन सुनकर उसे उन पर अतिशय प्रीति हुई। उसकी बुद्धि शुद्ध थी, पर अभी उसे विशेष ज्ञान नहीं था, अभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह बहुत भोला था, अतः उसने महाभद्रा साध्वी से पूछा कि—भगवति ! ये महात्मा कौन हैं ? इनका नाम क्या है ?

प्रश्न सुनकर विचक्षणा महाभद्रा ने विचार किया कि राजपुत्र अत्यधिक सरल हृदय वाला है और इसकी चेष्टाओं से ऐसा लगता है कि यह आचार्य भगवान् के गुणों के प्रति आकर्षित हुआ है। अतः इस स्थिति का लाभ उठाकर इसके हृदय में भगवान् के आगमों के प्रति प्रीति उत्पन्न करनी चाहिये और इसके मन में उनके प्रति भक्ति जागृत करनी चाहिये। इस विचार से प्रवर्तिनी ने उत्तर में कहा—वत्स ! इनका नाम सदागम है।

उत्तर सुनकर पुण्डरीक ने पुनः पूछा—देवि ! यदि माता-पिता आज्ञा दें तो मैं इनके सान्निध्य में आगमों का अर्थ ग्रहण करना चाहता हूँ।

महाभद्रा ने कहा—यह तो बहुत अच्छी बात है।

इसके पश्चात् महाभद्रा ने पुण्डरीक के माता-पिता कमलिनी * और श्रीगर्भ राजा को वह बात कही। इस प्रस्ताव से उन्हें भी अत्यन्त आनन्द हुआ। उन्होंने बड़े उत्साह और प्रेमपूर्वक पुत्र की इच्छा स्वीकार की और अत्यन्त प्रसन्नता-पूर्वक अपने पुत्र को अभ्यास करवाने के लिये भगवान् को अर्पित कर दिया। तब से पुण्डरीक भगवान् के पास रह कर प्रतिदिन आगमों का अध्ययन करने लगा।

१५. चक्रवर्ती चोर के रूप में

कोलाहल का कारण

इसी चित्तरम उद्यान के मनोनन्दन चैत्य में समन्तभद्राचार्य संघ के समक्ष धर्मोपदेश दे रहे थे। उनके सामने बैठकर प्रवर्तिनी महाभद्रा और राजकुमार पुण्डरीक भी गुरु का उपदेश सुन रहे थे, तभी सुललिता भी वहाँ आ पहुँची। भव्य प्राणी केवली भगवान् के धर्मोपदेश में तल्लीन हो रहे थे, तभी मेरी सेना का कोलाहल राजमार्ग पर होने लगा। कोलाहल और गड़गड़ाहट बढ़ने लगी तो सभा में स्थित सभी के कान चौकन्ने हो गये।

---

* पृष्ठ ७२६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुललिता ने महाभद्रा से पूछा—भगवति ! यह भारी आवाज और गड़गड़ाहट कैसी है ?

महाभद्रा ने आचार्य की ओर दृष्टिपात करते हुए कहा—मुझे तो कुछ भी ज्ञात नहीं है ।

आचार्य ने देखा कि सुललिता और पुण्डरीक को प्रतिबोधित करने का यह अच्छा अवसर है, अतः वे बोले—अरे महाभद्रा ! क्या तुझे पता नहीं कि मनुजगति नामक प्रदेश में विख्यात महाविदेह नामक बाजार में हम सब अभी बैठे हैं । संसारी जीव नामक चोर आज चोरी के माल के साथ पकड़ा गया है । दुष्टाशय आदि दण्ड-पाशिकों (सिपाहियों) ने उसे पकड़ कर, बांधकर, चोरी के माल साथ कर्मपरिणाम महाराजा के सन्मुख प्रस्तुत किया है । कर्मपरिणाम महाराज ने कालपरिणति, स्वभाव आदि से विचार-विमर्श कर चोर को फांसी का दण्ड दे दिया है । अभी अनेक राजपुरुष संसारी जीव को जन-कोलाहल के बीच बाजार में से होकर, नगर से बाहर निकल कर पापी-पिंजर नामक वधस्थल पर ले जा रहे हैं । वहाँ लेजाकर उसे खूब मारा-पीटा जायगा और उसे मृत्यु-दण्ड दिया जायेगा । इसी कारण यह प्रबल कोलाहल हो रहा है ।

भगवान् की बात सुनकर सुललिता भौंचक्की हो गई । महाभद्रा की तरफ दृष्टिपात करते हुए उस भोली ने पूछ ही लिया—भगवति ! हम तो शंखपुर में बैठे हैं, यह मनुजगति तो नहीं ? हम इस समय चित्तरम उद्यान में बैठे हैं, यह महाविदेह बाजार कैसे हो गया ? यहाँ के राजा श्रीगर्भ हैं, कर्मपरिणाम नहीं ? फिर आचार्यप्रवर यह सब क्या कह रहे हैं ?

यह सुनकर आचार्यश्री ने कहा—धर्मशीला सुललिता ! तुम अगृहीतसंकेता हो, तुम्हें मेरी बात का गूढ अर्थ समझ में नहीं आया ।

सुललिता सोचने लगी कि केवली भगवान् ने तो मेरा नाम ही बदल दिया, दूसरा नामकरण कर दिया । फिर वह चुप होकर बैठ गई, पर उसके मुख पर भोलेपन और विस्मय के भाव स्पष्टतः झलक रहे थे, मानो भगवान् की बात का परमार्थ उसे तनिक भी समझ में न आया हो ।

वध-मोचन का उपाय : कथा पर संप्रत्यय

विचक्षणा महाभद्रा ने भगवान् के कथन के रहस्य को समझ लिया कि भगवान् ने किसी पापी संसारी जीव के नरक गति में जाने का स्पष्ट निर्देश किया है । वह दया के तीव्र आवेग के कारण करुणा से ओत-प्रोत हो गई । वह बोली—भगवन् ! आपने कहा कि चोर को मृत्यु-दण्ड दिया गया है, पर क्या चोर इस दण्ड से किसी प्रकार मुक्त नहीं हो सकता ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य—जब इसे तेरे दर्शन होंगे और जब वह हमारे समक्ष आयेगा तभी उसकी मुक्ति हो सकेगी।

महाभद्रा—क्या मैं उसके सन्मुख जाऊँ ?

आचार्य—हाँ जाओ। इसमें क्या दुविधा है ?

फिर करुणा से ओत-प्रोत महाभद्रा मेरे सन्मुख आई और बोलीं—*भद्र ! भगवान् सदागम की शरण स्वीकार कर। इस प्रकार कहने के साथ ही महाभद्रा मुझे भगवान् के समक्ष ले आई। समस्त परिषदों ने वधस्थल पर ले जाते हुए मुझे चोर के वेष में देखा। भगवान् को दूर से देखकर ही मुझे अवर्णनीय सुख प्राप्त हुआ। इस सुखानुभव से मुझे मूर्छा आ गई।

मूर्छा दूर होने पर मैंने भगवान् का शरण स्वीकार किया और भगवान् ने भी मुझे "मत डरो" कहकर आश्वस्त किया। भगवान् के आश्वासन से मुझे अभय-दान प्राप्त हुआ। राजपुरुष जो मुझे वधस्थल पर ले जाने आये थे वे भगवान् के प्रभाव से दूर भाग गये। पकड़ने वालों के भाग जाने और भगवान् की शान्त मुद्रा के सन्मुख होने से मैं सावधान/सजग हो गया। तत्पश्चात् जब तुमने मुझ से मेरा वृत्तान्त पूछा तब मैंने भगवान् समन्तभद्र का, महाभद्रा का, पुण्डरीक का और तुम्हारा समग्र कथानक विस्तार से कह सुनाया। यद्यपि तुमने अपना समस्त वृत्तान्त तो स्वयं अनुभव किया है, फिर भी स्वानुभव की प्रतीति अर्थात् तुम्हारा विश्वास जमाने के लिये और तुम्हें लाभान्वित करने के लिये उसे फिर से सुनाया; जिससे तुम्हें सम्प्रत्यय/विश्वास (प्रतीति) हो जाय कि संसारी जीव ने जो कुछ कहा वह स्पष्टतः निर्णीत बात ही कही है और अन्य सभी घटनाओं पर तुझे पूर्णतः सम्प्रत्यय/विश्वास हो जाय। कहो, बहिन ! अब तुम्हें मेरी आत्मकथा पर विश्वास हुआ या नहीं ?

शंका-समाधान

सुललिता ने कहा—मेरे आत्मानुभव के वृत्तान्त का मुझे विश्वास हुआ है, किन्तु एक शंका रह गई है जिसे मैं नहीं समझ पाई। यदि आप स्वयं अनुसुन्दर चक्रवर्ती हैं तो फिर आपने चोर का रूप किसलिये धारण किया ?

संसारी जीव—भद्रे ! तुम दोनों को प्रतिबोधित करने के लिये ही मैंने बाहर से चोर का रूप धारण किया है। तुझे यह बताया गया था कि संसारी जीव नामक चोर चोरी के माल के साथ पकड़ा गया है और कर्मपरिणाम राजा की आज्ञा से उसे वध-स्थल पर ले जाया जा रहा है। तुझे ऐसा कहकर महाभद्रा मेरे पास आई। उनके दर्शन की कृपा से मुझे प्रतिबोध हुआ। मैंने सोचा कि यद्यपि अत्यन्त विशाल बुद्धिवाली महाभद्रा (प्रज्ञाविशाला) भगवान् द्वारा कथित मेरा अन्तरंग चोर और चोरी का स्वरूप भलीभांति समझ गई है तथापि सुललिता (अगृहीत-

* पृष्ठ ७४०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संकेता) इस कथन के आन्तरिक रहस्य को लेशमात्र भी नहीं समझ पाई है। अतः यदि मैं चक्रवर्ती के रूप में आचार्यप्रवर के सन्मुख जाऊँगा तो उस बेचारी का सदागम/गुरुवचन पर विश्वास उठ जायगा; क्योंकि वह शुद्ध आगमों (सदागम) के भावार्थ को किञ्चित् भी नहीं जानती। उसे यह पता नहीं है कि इस चक्रवर्ती को ही भगवान् सदागम ने चोर कहा है। साथ ही मुझे लगा कि राजकुमार पुण्डरीक को भी मेरे चोर के रूप में आने से ही बोध प्राप्त होगा, क्योंकि यह भव्यपुरुष श्रेष्ठ मति (सुमति) वाला है और मेरा अथ से इति तक पूरा वृत्तान्त सुनकर वह उसके आन्तरिक भावार्थ को समझ जायगा। इसी के फलस्वरूप राजकुमार पुण्डरीक भी प्रतिबोध को प्राप्त होगा। इसीलिये मैंने वैक्रिय लब्धि से अपने आन्तरिक व्यवहार को सूचित करने वाले चोर के समस्त आकार-प्रकार को धारण किया।

अन्तरंग चौर्य-स्वरूप

अनुसुन्दर चक्रवर्ती द्वारा उपर्युक्त स्पष्टीकरण के बाद भी सुललिता के मन में अनेक शंकाएँ उठने लगीं। सरल स्वभावी प्राणी अपने मन की शंका को तुरन्त पूछ लेते हैं। अतः सुललिता ने पूछा—आपने जिस अंतरंग चोरी की बात कही, वह क्या है? इस चोरी के लिये इतनी अधिक पीड़ा और विडम्बना क्यों दी जाती है? अपनी आत्मकथा और उससे सम्बन्धित अन्य लोगों का समग्र विस्तृत * वृत्तान्त आपने कैसे जाना? कृपया इन सब के विषयों में विस्तार से स्पष्टीकरण करिये। आपकी कथा नवीन प्रकार की और कुतूहल उत्पन्न करने वाली है, जितनी अधिक स्पष्ट होगी उतनी ही अधिक रसवर्धक होगी।

सभी प्रश्नों के उत्तर का मन में विचार कर सुललिता (अगृहीतसंकेता) को प्रतिबोधित करने के लिये अनुसुन्दर से कहा—

अन्तिम ग्रैवेयक से मैं सुकच्छविजय की क्षेमपुरी नगरी के राजा युगन्धर और रानी नलिनी के पुत्र अनुसुन्दर के रूप में उत्पन्न हुआ। जिस समय मेरा नामकरण महोत्सव हो रहा था उसी समय भवितव्यता ने महामोह आदि राजाओं को प्रोत्साहित करते हुए कहा था :—

भाइयों! यह अनुसुन्दर वर्तमान में सम्यग्दर्शन से बहुत दूर हो गया है, अतः अभी अपने स्वार्थ-साधन के लिये तुम्हें जो भी प्रयत्न करने हों वे कर लो। यदि एक बार भी यह सम्यग्दर्शन से मिल जायगा तो वह अपने वर्ग की शक्ति बढ़ा लेगा। फिर पहले की भांति यह सम्यग्दर्शन तुम्हारा बाधक बनेगा और यह अनुसुन्दर भी त्रासदायक बनेगा। अभी तो थोड़े से प्रयत्न से वह तुम्हारे वश में हो जायगा, पर सद्बोध आदि इसके सहायक हो गये तो फिर इसको वश में करना अत्यधिक कठिन होगा। अतः अभी ही जैसे बने वैसे इसको अपने वश में करलो

---

* पृष्ठ ७४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और इसकी चित्तवृत्ति का साम्राज्य अभी अपने अधीन कर निराकुल हो जाओ, अन्यथा पछताओगे। [५३०-५३३]

हे भद्रे ! भवितव्यता की सूचना को महामोह की सेना ने स्वीकार किया। जब मैं छोटा बालक था तभी से इन्होंने निरंकुश होकर मुझे चारों ओर से घेर लिया और मुझे पथभ्रष्ट करने लगे। मुझे अपने वश में रखने के लिये वे अनेक प्रयत्न करने लगे। उन्होंने मेरी बुद्धि और चेतना को अन्धा कर दिया जिससे मैं पूरे समय महामोह के परिवार के मध्य रहने लगा और अपने सद्बन्धुओं के परिचय को ही भूल गया। इस प्रकार मैं महामोह के साथ तन्मय हो गया। फिर मोहराजा और उसके महामायावी योद्धाओं ने मुझ पर अपनी शक्ति का पूर्ण प्रयोग किया। परिणाम स्वरूप मैं पाप में पूर्ण रूप से रच-पच गया, पापार्जन-परायण हो गया। मैं कुमारावस्था में ही मांस खाने लगा, शराब पीने लगा, जुआ खेलने लगा और प्राणियों को अनेक प्रकार की पीड़ा देने लगा। युवावस्था आते ही मैं लोगों की स्त्रियों, कन्याओं और विधवाओं को सताने लगा और वेश्यागमन करने लगा। चक्रवर्ती बनने पर तो महा आरम्भ और महा परिग्रह में आसक्त हो गया। पापोत्पादक समस्त दोषों का निरपेक्ष होकर सेवन करने लगा। इस प्रकार चारों तरफ सभी स्थानों पर मैं धन-सम्पत्ति और इन्द्रिय विषयों में मूर्छित होता रहा। इन आसक्तियों के कारण बाह्य दृष्टि से मैं अपने को अत्यन्त सुखी अनुभव करने लगा। इस वातावरण में रहते हुए मैंने महामोहादि रूप अपने भाव-शत्रुओं को अपना बन्धु माना और अपने पूर्व वृत्तान्त को पूर्ण रूप से भूल गया। [५३४-५४१]

पापी मित्रों के प्रसार की वृद्धि के परिणाम स्वरूप मैंने अपनी चित्तवृत्ति अटवी को मलिनतम बना दिया, चारित्रधर्मराज की सेना को पराजित अवस्था में चारों तरफ से घिरी हुई और दबी हुई अवस्था में रहने दिया और अन्तरंग की क्षान्ति आदि अन्तःपुरस्थ स्त्रियों की उपेक्षा की। बाह्य दृष्टि से मैं महान प्रभावशाली राजा के रूप में प्रवर्धित होता रहा, किन्तु इधर कर्मपरिणाम राजा का राज्य भी अधिक प्रकाश में आने लगा। पापोदय बलवान होता गया, और महामोह राजा की सम्पूर्ण सेना अधिक प्रबल होकर धूम मचाने लगी। उन्होंने मेरी चित्तवृत्ति अटवी में फिर से नगर बसाये, प्रमत्तता नदी में बाढ़ पैदा कर दी, इस नदी के तद्विलसित द्वीप को विस्तृत किया और चित्तविक्षेप मण्डल को ढूंढकर अधिक स्वच्छ कर दिया। तृष्णावेदिका को फिर से सम्मार्जन कर तैयार किया, * विपर्यास सिंहासन को सुसज्जित किया और महामोह राजा ने अपनी अविद्या रूपी शरीर का पोषण कर उसे पुष्ट कर लिया। इस प्रकार उन्होंने पहले से उपस्थित सभी सामग्री का नवीनीकरण कर दिया।

सभी सामग्री के तैयार हो जाने पर परस्पर मंत्रणा होने लगी। विषयाभिलाष मंत्री ने कहा—प्रिय मित्र महीपालों ! आप सब मेरे परामर्श पर विचार

* पृष्ठ ७४२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करें। यह तो आप लोगों को स्मरण होगा कि पहले आप बुरी तरह हार चुके हैं। दिन-दहाड़े आग के शोले/लपटें देख चुके हैं। इसलिये इस घटना को दोहराने की क्या आवश्यकता है। इस प्रसंग में थोड़ी सी उपेक्षा के कारण ही पहले हमारा लगभग नाश हो गया था। अतः इस महत्त्व के विषय में इस बार थोड़ी-सी भी उपेक्षा करना योग्य नहीं होगा। वीरों! अभी से ऐसे प्रयत्न में लग जाओ जिससे कि हमारा राज्य सदा के लिये निष्कंटक रूप से स्थापित हो जाय। [५४२–५४४]

महामोह की पूरी सेना को विषयाभिलाष मंत्री के ये विचार युक्तिसंगत प्रतीत हुए। उन्होंने पूछा कि, इस प्रसंग पर उन्हें विशेष रूप से क्या-क्या करना चाहिये? उत्तर में मंत्री ने तत्काल करने योग्य सभी कार्य बता दिये।

जब मैं अधिक प्रोत्साहित हो गया तब उन्हीं के उपदेश से कर्मपरिणाम राजा द्वारा उस क्षेत्र में स्थापित कार्मण वर्गणा में से मैंने पाप नामक द्रव्य को प्रचर मात्रा में ग्रहण किया। उन्हीं लोगों ने मुझ से यह चोरी करवाई और उन्होंने फिर कर्मपरिणाम राजा के समक्ष मेरी शिकायत की। कर्मपरिणाम राजा ने आज्ञा दी कि 'मुझे अनेक प्रकार से पीड़ित करते हुए पापी-पिंजर में ले जाया जाय और वहाँ तड़फा-तड़फा कर मार दिया जाय।' राजा की आज्ञा से अधम कर्मचारी प्रसन्न हुए। फिर उन्होंने मेरे शरीर पर कर्मरज की राख (भस्म) लगाई, राजस् सोनागेरु के छापे लगाये, तामस घास से पूरे शरीर पर काले तिल-तिलक बनाये, मेरे गले में प्रबल रागकल्लोल-परम्परा नामक कनेर-मुण्डों की माला पहनाई, कुविकल्प-संतति रूपी कौडियों की दूसरी लम्बी माला पहनाई, मेरे सिर पर पापातिरेक नामक फूटी मटकी का ठीकरा छत्र के रूप में रखा, मेरे गले में अकुशल नामक पापकर्म की पोटली लटकाई, असदाचार नामक गधे पर बिठाया और यम जैसे दुष्टाशय आदि मोहराजा के कर्मचारियों ने मुझे चारों ओर से घेर लिया। विवेकी लोग मेरी निन्दा करने लगे, कषाय नामक डिम्भ (बच्चे) मेरे चारों ओर हो-हल्ला करने लगे, शब्दादि इन्द्रिय-संभोग रूपी फूटे नगारों की कर्कश आवाजें होने लगीं और बाह्य प्रदेश निवासी विलास नामक उपद्रवी मनुष्य अट्टहास द्वारा मेरी हंसी करने लगे। महामोहादि राजाओं ने ऐसी विकृत आकृति में देशदर्शन के बहाने मुझे पूरे महाविदेह के बाजार में घुमाया और वधस्थल की ओर ले चले। इसी आकृति में मुझे इस चित्तरम उद्यान के निकट लाया गया।

इसी समय तुम लोगों ने मेरी सेना की आवाज सुनी और साध्वी महाभद्रा मेरे पास आई।

इधर मैंने सेना को पीछे छोड़ दिया और राजवल्लभ तथा अपने विशेष पुरुषों के साथ मैं इस चित्तरम उद्यान में आया। मेरे सुन्दर हाथी पर से मैं इस उद्यान के रक्त अशोक के वृक्ष के नीचे उतरा।*यह दिव्य उद्यान मुझे बहुत रमणीय

* पृष्ठ ७४३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगा, अतःइसे देखने के लिये, मैं आगे बढ़ा। मेरे साथ के विनीत एवं चाटुकार राजपुत्र मुझे "देव ! देव" कहते हुए मधुर भाषा में उद्यान की शोभा दिखा रहे थे तभी मैंने दूर से महाभाग्यशालिनि महाभद्रा को साध्वी मण्डल के साथ आते देखा। उन्होंने गुरु महाराज से मुझे वधस्थल पर ले जाते हुए सुना था। करुणा से ओतप्रात होकर वे मेरे पास आ रही थीं, अतः मैं प्राकृतिक दृश्य देखना बन्द कर कीलित दृष्टि के समान निश्चल एकटक उनकी ओर देखने लगा। हे सुन्दरि ! यद्यपि साध्वी जी निःस्पृह, महाभाग्यशालिनि और महासत्वशालिनि थी, तथापि पूर्व काल के अभ्यास से मेरे प्रति प्रेमालु बनी, आकर्षित हुई। मुझे देखकर, गुरुदेव के वचनों पर विचार करती हुई मेरे निकट आई और "मैं नरकगामी जीव हूँ" इस विचार से अत्यन्त करुणापूर्वक मुझे स्थिर दृष्टि से देखने लगी। [५४५-५५१]

जब मैं गुणधारण के भव में था तब महाभद्रा का जीव कन्दमुनि के रूप में था और मेरा उनसे अच्छा सम्पर्क/परिचय था। उनके प्रति बहुमान करने का बारम्बार अभ्यास होने से, विनम्रता का नियन्त्रण होने से, हृदय में दृढ स्वीकृति होने से, गौरव से अत्यन्त भावित हृदय होने से तथा प्रेमभाव का अनुष्ठान होने से मेरे मन में विचार उत्पन्न हुआ कि 'अहा ! ये भगवति साध्वी कौन होंगी ? इन्हें देखते ही मेरा हृदय आह्लादित, नेत्र शीतल और शरीर शान्त हो गया है, मानो मैं अमृत कुण्ड में डुबकी लगा रहा हूँ।' इस विचार के साथ ही मैंने साध्वीजी को शिर झुकाकर प्रणाम किया और उन्होंने भी मुझे धर्मलाभ का आशीर्वाद देते हुए कहा :—

नरोत्तम ! यह मनुष्य जन्म मोक्ष प्राप्त करवा सकता है। उन्मार्ग के पथ पर चल कर आप इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को व्यर्थ गंवा रहे हैं, यह उचित नहीं है। आपको तो किसी अन्य मार्ग पर ही चलना चाहिये था। आपके स्वयं के कर्म/अपराध के कारण आपने चोर की आकृति धारण की है और आपको वधस्थल पर ले जाया जा रहा है तथा आपको अनेक प्रकार की भाव-विडम्बनाएँ दी जा रही हैं। फिर कैसा राज्य ? कैसा विलास ? कैसे भोग और कैसी विभूतियाँ ? इनमें शान्ति और स्वस्थता कहाँ है ? महाराज ! मनमें तनिक सोचिये ! [५५२-५५४]

इतना कहते हुए महाभद्रा मुझे गौर से देखने लगी। देखते-देखते ही उनके मन में भी विचार उठने लगे। विचारों के फलस्वरूप उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हो गया जिससे कन्दमुनि के समय से लेकर आज तक के सभी सम्बन्ध और अपने सभी पूर्व-भव याद आ गये। फिर शुभ अध्यवसायों के फलस्वरूप उन्हें उसी समय अवधिज्ञान भी उत्पन्न हो गया, जिससे मेरा पूर्व-चरित्र भी उन्होंने देख लिया। फिर वे प्रवर्तिनि महाभद्रा मुझे समझाने लगीं।

राजन् ! याद करो, जब तुम गुणधारण के भव में थे तब मेरे समक्ष उच्च प्रकार की धार्मिक क्रियाएँ/लीलायें करते थे, क्या भूल गये ? फिर क्षान्ति आदि अन्तरंग कन्याओं से लग्न कर सुख सुविधाओं से पूर्ण हो गये थे और अन्त में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावराज्य को प्राप्त कर लिया था, क्या वह भी भूल गये ? निर्मलसूरि ने आपको बहुत उपदेश दिया था, सम्पूर्ण अनन्त भवचक्र समझाया था और कार्य-कारण सम्बन्ध भी बताया था, क्या वह भी याद नहीं रहा ? * अरे भाई ! आपको ग्रैवेयक आदि में जो प्रचुरता से सुख प्राप्त हुए हैं, वह सब सदागम की शरण का ही प्रभाव था, क्या वह भी भूल गये ? अरे राजन् ! अब अधिक मोहित मत बनो, अभी भी समझो। तुम पर करुणा कर तुम्हें प्रतिबोधित करने के लिये यथार्थ बात समझाने के लिये ही मैं तुम्हारे पास आई हूँ [५५५-५५९]

महाभद्रा साध्वी जब मुझे उपयुक्त बोध दे रही थीं तभी सद्बोध मंत्री सम्यग्दर्शन के साथ मेरे पास आने का प्रयत्न करने लगे। पर, उनका मार्ग अन्तरंग शत्रुओं से अवरुद्ध होने से तथा पूरा मार्ग अन्धकार से आच्छन्न होने से वे मेरे पास नहीं आ सके। उसी समय भगवती महाभद्रा के वचन रूपी सूर्य की किरणों से प्रेरित जीववीर्य नामक श्रेष्ठ सिंहासन सूर्यकान्ति के समान प्रकाशित हो गया। सिंहासन के प्रकाशित होते ही तमस् रूपी अन्धकार नष्ट हो गया और मेरी चित्तवृत्ति अटवी में दोनों सेनाओं का भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो गया। सद्बोधमंत्री और सम्यग्दर्शन सेनापति ने जैसे ही प्रकाश देखा वे युद्ध-तत्पर हो गये और उन्हें घेर कर रखने वाली शत्रु सेना को अपने सुसज्जित बल से एक ही हमले/झटके में मार भगाया तथा वे दोनों मेरे पास आ पहुँचे। [५६०-५६४]

उपर्युक्त घटना अप्रत्याशित रूप से अत्यल्प समय में ही घटित हुई। सद्बोध और सम्यग्दर्शन के मेरे पास आते ही मेरे मन में तर्क-वितर्क उठने लगे और महाभद्रा के कथन पर मैं गहराई से विचार करने लगा कि 'भगवती महाभद्रा क्या कह रही हैं ?' ऊहापोह करते-करते मुझे जातिस्मरण ज्ञान हो गया, जिससे गुण-धारण के समय से सभी अवस्थायें स्मृति में आ गईं। सद्बोध मंत्री ने यद्यपि युद्ध जीत लिया था, फिर भी अन्दर ही अन्दर युद्ध चालू ही रखा। मेरे मन के उच्च प्रकार के अध्यवसाय बढते जा रहे थे, तभी सद्बोध के मित्र अवधिज्ञान ने अपने शत्रु अवधिज्ञानावरण को जीत लिया और मेरे पास आगया। इसके बल से मैं असंख्यात द्वीप-समुद्रों को और संसार के भवप्रपंच को देखने लगा। सिंहाचार्य के भव में मैंने जो पूर्वों का ज्ञानाभ्यास किया था और बाद में जिसे मैं भूल गया था वह सब स्मृति पटल पर आ गया। ज्ञान का आवरण हटते ही ज्ञान का अतिशय भी जाग्रत हो गया। निर्मलसूरि ने पहले मुझे जो आत्म संसार-विस्तार बताया था वह मेरी आँखों के सामने तैरने लगा। इस पर विचार करते-करते मुझे अपने असंख्य भव-परिभ्रमण का वृत्तान्त चलचित्र के समान दृष्टिपथ में आने लगा। इन सब को दृष्टि में रखते हुए तथा मुझे प्रतिबोधित करने के कारणों से प्रेरित होकर मुलालिता को सत्य दर्शन कराने और पुण्डरीक को वस्तुज्ञान कराने के लिये मुझे

* पृष्ठ ७४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चोर का रूप धारण कर यहाँ आना पड़ा। अन्तरंग में जो विडम्बनायें चल रही थीं उन्हें ही बाह्य रूप में प्रकट करते हुए मैं महाभद्रा के साथ यहाँ आया।

हे सुललिता ! उसके पश्चात् मेरा क्या हुआ ? यह तो तू स्वयं ही जानती है। तूने मुझे जो-जो प्रश्न पूछे उन सबका उत्तर मैंने दे दिया है।

भद्रे सुललिता ! तुम स्वयं ही मदमंजरी हो जिससे मेरे मन में स्नेहतन्तु अधिक दृढ हुआ है। तुम अभी भी परमार्थ के रहस्य को नहीं समझ सकी हो, अत्यन्त भोली हो, इस विचार से मेरे मन में करुणा उत्पन्न हुई है। सदागम/सर्वज्ञ देव के आगमों के प्रति सन्मान उत्पन्न होने से तेरे कठिन कर्मों का नाश होगा और तू भी प्रतिबोधित होगी, इसी विचार से इन महात्मा सदागम के चरण-कमलों की कृपा से मैंने मेरी विस्तृत आत्मकथा को संक्षेप में तुम्हें सुनाया। तेरे हृदय में सदागम के प्रति बहुमान उत्पन्न हो इस पद्धति से संक्षेप में कहते हुए भी यह अनन्त कथा छः माह में भी बड़ी कठिनाई से पूरी हो सकती है, जिसे मैंने सदागम की कृपा से तीन प्रहर में (नौ घंटे में) सुनाई और पूरी कथा में मैंने तुम्हें अगृहीतसंकेता के नाम से संबोधित किया। इस प्रकार संवेग को उत्पन्न करने वाले मेरे सम्पूर्ण भव-प्रपञ्च को तेरे कुतूहल को शांत करने के लिये कहते-कहते मेरे मन में भी वैराग्य उत्पन्न हो गया है।

हे भद्रे ! ऐसी * मेरी अन्तरंग चोरी और विडम्बनायें थीं। मेरा और मुझ से सम्बन्धित अन्य लोगों का जैसा वृत्तान्त मैंने जाना और अनुभव किया, वैसा तुझे कह सुनाया।

---

१६. प्रमुख पात्रों की सम्पूर्ण प्रगति

१. अनुसुन्दर चक्रवर्ती का उत्थान

सुललिता सरल स्वभावी और सहृदया थी। उसके हृदय पर संसारी जीव की आत्म-कथा का, विशेषकर अनुसुन्दर चक्रवर्ती की कथा का प्रचुर असर हुआ और उसके हृदय में प्रशस्त शुभ भावनायें उठने लगीं। कुमार पुण्डरीक भी कथा के भावार्थ को थोड़ा-थोड़ा समझ गया था और वह अत्यन्त प्रसन्न हो रहा था। अभी तक वह मौन था। अब उसने चोर की आकृति में उपस्थित अनुसुन्दर चक्रवर्ती से पूछा—

---

* पृष्ठ ७४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आर्य ! इस समय आपकी चित्तवृत्ति में कैसी भावना हो रही है ? आपकी चित्तवृत्ति का प्रवाह अभी किस दिशा में बह रहा है ?

अनुसुन्दर की चित्तवृत्ति : दीक्षा-ग्रहण की इच्छा

कुमार का प्रश्न और जिज्ञासा समयोचित ही थी। चक्रवर्ती की अन्तरंग चित्तवृत्ति पर इन सब घटनाओं का क्या प्रभाव हो रहा था, यह जानने योग्य ही था। उत्तर में अनुसुन्दर ने अपनी चित्तवृत्ति का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत किया। वह बोला :—

भद्र ! सुनो—जब अत्यन्त संवेग में आकर मैंने तुम्हारे समक्ष अपनी कथा सुनानी प्रारम्भ की थी तब चारित्रधर्मराज ने अपने मन में सोचा कि अब योग्य अवसर आ गया है, अतः वे अपनी सेना को लेकर मेरे निकट आये। मार्ग में सात्विकमानस नगर आया उसे अपने पराक्रम से आनन्दित कर दिया, विवेक पर्वत को अत्युज्ज्वल बनाया, पर्वत के शिखर पर स्थित अप्रमत्तत्व क्षेत्र को देदीप्यमान बनाया और जैनपुर को फिर से बसाया। चित्तसमाधान मण्डप को फिर से स्वच्छ किया, निःस्पृहता वेदी की मरम्मत कर सुसज्जित की और वेदी पर जाज्वल्यमान किरणों से सुशोभित जीववीर्य सिंहासन को पुनः प्रतिष्ठित किया। अपनी सेना को पूर्णरूपेण संतोष हो ऐसी व्यवस्था की। सेना को तैयार कर, दुर्गों को सुदृढ बनाकर चारित्रधर्मराज मेरे पास आये। मेरे पास आते हुए महामोह राजा की सेना से उनकी टक्कर हो गयी। [५६५–७१]

मेरी चित्तवृत्ति के एक रमणीय किनारे पर दोनों सेनाओं के बीच भयंकर युद्ध हुआ। मैंने वह महायुद्ध आँखों से देखा, वह अवर्णनीय महायुद्ध था। उस समय मैंने सेनापति सम्यग्दर्शन, सद्बोध मंत्री और चारित्रधर्मराज का पक्ष लिया, जिससे अन्त में चारित्र-धर्मराज की जीत हुई। देखते ही देखते क्षणमात्र में विपक्षी सेना के कई योद्धाओं को मार कर चारित्रधर्मराज ने जय-लक्ष्मी प्राप्त की। शत्रुसमूह का निष्पीडन कर उन्होंने मेरे चिरन्तन अन्तःपुर को अपने अधीन किया, अपना राज्य स्थापित किया और मेरे निकट आये।

महामोह राजा के सेवकों का सब कुछ लुट गया। यद्यपि वे बेचारे जैसे-तैसे जीवित थे, तदपि निर्बल और क्षीण होने पर भी वे चोरी से इधर-उधर छिप गये थे।

प्रिय पुण्डरीक ! मेरी चित्तवृत्ति की वर्तमान में यह अवस्था है। शत्रु भाग गये हैं जिससे मेरे श्रेष्ठ बन्धु हर्षित हैं। अब मेरी यह इच्छा हो रही है कि सर्वज्ञ प्ररूपित और त्रिजगद्-वन्द्य मुनिलिंग/मुनिवेष को ग्रहण कर महान् आत्मदान करूँ और मेरे अन्तरंग बन्धुओं का भली प्रकार पालन-पोषण करूँ। [५७२–५७८]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुसुन्दर का दीक्षा-महोत्सव

अपनी चित्तवृत्ति की अलौकिक आन्तरिक स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए चक्रवर्ती ने अपनी वैक्रिय लब्धि को वापस खींचना प्रारम्भ किया और देखते ही देखते चोर का रूप एवं उसे दण्डित करने के सब साधन विलुप्त हो गये * तथा चक्रवर्ती के सब स्वाभाविक चिह्न प्रकट हो गये। उसी समय मंत्री, सेनापति आदि भी उनके सन्मुख उपस्थित हो गये। उनके मन-मन्दिर में चारित्रधर्मराज की स्थापना हो चुकी थी और वे दीक्षा के माध्यम से उन्हीं का पोषण करना चाहते थे। उसने अपने विचार अपने मन्त्री, सामन्त और सेनापति को बताये। सब को उनका कथन अवसरोचित प्रतीत हुआ।

उसी समय अनुसुन्दर चक्रवर्ती ने अपने पुत्र पुरन्दर को सभी राज्य-चिह्न सौंप दिये और सभी राजाओं, सामन्तों, श्रेष्ठियों, मंत्रियों और सेनापतियों को बता दिया कि अब से उनका राजा पुरन्दर है। सभी ने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया। सभी ने उस समय भगवान् की अभिषेकपूजा आदि समस्त करणीय धर्म-क्रियायें कीं।

श्रीगर्भ राजा भी उसी समय अपने अन्तःपुर से निकले और वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने सभी का यथायोग्य विनय किया, सभी को प्रणाम किया। पुनः धर्म परिषद् प्रफुल्लित हुई और सर्वत्र आनन्द ही आनन्द छा गया।

२. सुललिता को प्रतिबोध

इस अत्युत्तम घटना से मुग्धा सुललिता का चित्त चमत्कृत हुआ। उसे अत्यधिक नवीनता लगी। कुमार पुण्डरीक को भी अत्यन्त संतोष हुआ और विस्मय से उसके नेत्र आनन्द से स्फुरित होने लगे। अनुसुन्दर जैसे चक्रवर्ती सम्राट् का अपनी अतुल राज्य-ऋद्धि का त्याग कर दीक्षा ग्रहण को तत्पर होना, सुललिता और पुण्डरीक के लिये आश्चर्यजनक और संतोषकारक ही था। [५७९–५८०]

सुललिता को उद्बोधन

चक्रवर्ती अनुसुन्दर ने समन्तभद्राचार्य से दीक्षा प्रदान करने का अनुरोध किया जिससे आचार्य उन्हें दीक्षा देने को तैयार हुए। उस समय अनुसुन्दर के मन में सहसा राजपुत्री सुललिता के प्रति करुणा उत्पन्न हुई और उसने उसे समझाने का अन्तिम प्रयत्न किया। वह बोला—मुग्धा सुललिता! तू अभी भी आश्चर्यान्वित

* पृष्ठ ७४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टि से इधर-उधर देख रही है, तो क्या तुझे अभी भी बोध प्राप्त नहीं हुआ ? ऐसा लगता है कि तुझे थोड़ा-थोड़ा भावार्थ तो समझ में आया है, पर अभी भी तेरा चित्त सत्य और बाह्य दृष्टि के बीच झूल रहा है । क्या तू ने अभी भी परमार्थ तत्त्व का निर्णय नहीं किया ? तुझे प्रतिबोधित करने के लिये ही मैंने अपने सम्पूर्ण भव-प्रपञ्च को तुझे सुनाया । यह चरित्र संसार से प्रकर्ष वैराग्य उत्पन्न करने वाला है, यह तो तेरी समझ में आया ही होगा ? फिर भी क्या तुझे अनन्त दुःखों से परिपूर्ण इस संसार कैदखाने पर निर्वेद उत्पन्न नहीं होता ? [५८१–५८६]

तू विचार कर असंव्यवहार नगर में जीवों को कैसी वेदना होती है, यह मैंने अपने अनुभव से उपमान/रूपक द्वारा तुझे विस्तारपूर्वक बताया । भोली! क्या तू अभी भी उस पीड़ा को नहीं समझी ? या तेरे हृदय में उसका महत्त्व पूर्णरूप से अंकित नहीं हुआ ! तू चिन्तारहित होकर संसार कारागृह में क्या देखकर अनुरक्त हो रही है ? क्या यथार्थ वस्तुस्थिति और अपने वास्तविक स्वरूप का अभी भी तुझे भान नहीं हुआ ? [५८७–५८८]

मैं एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय आदि भवों में और तिर्यञ्च गति में दीर्घ काल तक भटका हूँ । उस समय मुझे कैसे-कैसे दुःख उठाने पड़े, उसका विशदरूप से स्पष्ट विवेचन तेरे सम्मुख किया, क्या उसका भावार्थ तेरे मानसपटल पर तनिक भी अंकित नहीं हुआ ! हे मुग्धे ! फिर क्यों निश्चिन्त होकर विलम्ब कर रही है ? तुझे दुःखों के प्रति सच्चा त्रास क्यों नहीं होता ? [५८९–५९०]

हे बाले ! मोक्ष साधन के योग्य अतुलनीय मनुष्य जन्म प्राप्त कर भी मैंने हिंसा और क्रोध में आसक्त रहकर जिस दुःख-परम्परा का अनुभव किया है, क्या तूने अपने हृदय में उसके बारे में सोचा है ? क्या तूने उसके गूढ़ रहस्य और भावार्थ को अपने मन में उतारा है ? या मात्र इसे कल्पित कथा ही समझी है ? तुझे कथा के भीतर रहा हुआ भाव भी कुछ समझ में आया है या काल्पनिक वार्ता (उपन्यास) पढ़ने जैसा आनन्दाश्चर्य ही हुआ है ? [५९१–५९२]

मुझे मान और मृषावाद से कैसी पीड़ा सहन करनी पड़ी, चोरी और माया से कितनी व्यथायें हुईं, लोभ और मैथुन में अन्धा बनकर * मैंने जिन यातनाओं को सहन किया, उन सब को सुनकर भी क्या तेरा मन नहीं पिघला ? हे मुग्धे ! यदि ऐसा ही है तो तेरा मन वज्र का बना हुआ और कालसर्प-ग्रसित होना चाहिये । [५९३–५९४]

मैंने अपने अनुभव से तुझे बताया था कि महामोह और परिग्रह महान अनर्थ के कारण हैं और ये सभी दोषों के आश्रय स्थान हैं । अनुभव-सिद्ध अपनी इतनी विस्तृत आत्मकथा सुनाने पर भी तू मात्र विस्मित नेत्रों से देख रही है और उससे कुछ भी बोध प्राप्त नहीं करती, उसके भीतरी आशय को भी नहीं

---

* पृष्ठ ७४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समझती ? इससे ऐसा लगता है कि सचमुच तू अगृहीतसंकेता ही है ! तूने अपना नाम सार्थक कर दिया है । ऐसा मैंने पुनः पुनः कहा । [५६५–५६६]

हे भद्रे ! याद कर, स्पर्शन आदि इन्द्रियों का परिणाम कैसा अतिदारुण होता है ? यह मैंने क्रमशः बाल, मन्द, जड़, अधम, बालिश आदि के चरित्रों में तुझे विस्तार पूर्वक बताया है, तब भी तेरे हृदय में यह बात नहीं चुभी ? यदि तू इतनी स्पष्ट बात भी नहीं समझ सकती तो हे सुन्दरि ! तू एकदम मूर्ख, अज्ञानी और लकड़ी की मूर्ति जैसी ही है । [५६७–५६८]

इन्द्रियों को वश में करने के लिये मनीषी ने जैसा आचरण किया, विचक्षणाचार्य ने जैसे वचन कहे, बुधसूरि ने जो उपदेश दिया, उत्तमकुमार ने जैसा आचरण किया और कोविदाचार्य ने जो विज्ञान बताया, यह सब जान-सुनकर किसे संसार से वैराग्य नहीं होगा ? कौन इससे दूर भागने को तत्पर नहीं होगा ? [५६६–६००]

हे भद्रे ! तुझे प्रतिबोधित करने के लिये ही मैंने चित्तवृत्ति में स्थित अन्तरंग दोनों सेनाओं का स्वरूप बताया । एक सेना तेरी शत्रु है तो दूसरी तेरी बन्धु । इन दोनों सेनाओं में निरन्तर लड़ाई होती रहती है, यह सब सुनकर भी तुझे बोध नहीं होता, फिर तो तुझे समझाने का कोई उपाय ही शेष नहीं है । [६०१–६०२]

हे बाले ! कनकशेखर और नरवाहन की सज्जनता, विमलकुमार का निर्मल शुद्ध चरित्र, हरिकुमार राजा का विस्मयकारक त्याग, अकलंक का प्रशस्त विवेक और मुनियों के वैराग्योत्पादक अनेक रूप जानकर भी यदि तेरे हृदय पर असर नहीं होता तो वह कोरड़ा (कठोर मूंग) जैसा ही है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं । अतः यदि तुझे कोई मेरे जैसा पुनः- पुनः अगृहीतसंकेता कहे तो हे मुग्धे ! तुझे रोष नहीं करना चाहिये, नाराज नहीं होना चाहिये । सचमुच तू उस नाम के योग्य ही है, ऐसा तेरे आचरण से ज्ञात हो रहा है । [६०३–६०७]

बाले ! जब तू स्वयं मदनमंजरी थी तब पुण्योदय आदि तुझे मेरे पास ले आये थे । उस समय पुण्योदय ने तुझे कितना लाभ पहुँचाया, क्या तू वह भी भूल गई ? स्वयं तेरे द्वारा अनुभूत और समझाये गये सभी सन्दर्भ/प्रसंग क्या तुझे याद नहीं ? उस समय के राज्य-सुख, मनोहर विलास और आनन्द को तू स्मरण तो कर । कन्दमुनि के सम्पर्क/प्रसंग से कुलन्धर के साथ तुझे जिन-शासन के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हुई, तू प्रबुद्ध हुई और तेरा उत्थान प्रारम्भ हुआ । फिर केवलज्ञानी निर्मलाचार्य ने * हम दोनों के सन्मुख संसार के प्रपञ्च को स्पष्ट शब्दों में समझाया था, क्या यह भी तू भूल गई ? क्या उस समय तुझे कुछ भी बोध नहीं हुआ था ? यह सब तुझे फिर से याद दिला रहा हूँ तब भी तू शून्यचित्त होकर चुपचाप कैसे बैठी है ? हे बाले ! तुझे प्रतिबोधित करने, जागृत करने और सत्य-स्वरूप को समझाने के लिये मैंने पुनः इस भव-प्रपञ्च को तुझे सुनाया है । मैंने तुझे बताया है

* पृष्ठ ७४८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि एक यात्री जैसे अन्य-अन्य स्थानों पर भिन्न-भिन्न भवनों में निवास करता है, वैसे ही मेरा वास्तविक स्वरूप (आत्मस्वरूप) एक रूप होने पर भी यात्री की भांति मैंने विविध भव प्राप्त किये। पथिक के समान मैं संसारी जीव हूँ। वस्तुतः भाव से एकरूप होने पर भी इस संसार नाट्यशाला में मैंने नये-नये रूप धारण किये और अनेक प्रकार के पात्रों का नाटक किया। यह सब सुनकर भी तुझे इस संसार-बन्दीगृह से निर्वेद नहीं होता, तब मैं क्या करूँ ? [६०८–६१६]

भद्रे ! अन्तरंग के अनेक नगर, राजा और रानियों के नाम तुझ बताये और उनकी दस कन्याओं के नाम भी बताये। प्रत्येक के गुण कितने दिव्य, अद्भुत और अन्यत्र अप्राप्त हैं यह भी बताया। इनके विवाह का वर्णन भी किया और तुझे व्युत्पन्न करने (समझाने) के लिये अष्ट मातृका का वर्णन भी किया, यह सब सुनकर भी हे बालिके ! तुझे बोध नहीं हुआ, तेरे हृदय में जागृति नहीं आई और तुझे संसार से वैराग्य नहीं हुआ, तो तू पत्थर जैसी है। तुझे इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है ? [६१७–६१६]

हे मुग्धे ! मेरे स्नेह से बंधी हुई तूने भी निर्मलाचार्य के पास दीक्षा ली थी, तपस्या कर स्वर्ग में गई थी और वहाँ अनेक प्रकार के सुख भोगे थे। फिर भवचक्र में भटकती हुई यहाँ आई, क्या तुझे कुछ भी याद नहीं है ? [६२०–६२१]

सम्यग्दर्शन को दोषी बताकर तीर्थंकर महाराजा की आज्ञा का उल्लंघन कर, उनकी आशातना कर मैंने अत्यधिक दुःख प्राप्त किये और अर्धपुद्गल-परावर्तन से कुछ कम समय तक मैं संसार में भटका, यह सब कथा तुझ में संवेग जागृत करने के लिये ही मैंने कही, पर क्या तू ने उस पर ध्यान दिया ?

याद कर, एक बार मैंने चौदह पूर्व तक का अध्ययन कर लिया था, पर अभिमान के दोष से पुनः अनन्तकाय आदि में बहुत समय तक भटका। इतनी विद्वत्ता होने पर भी भटकना पड़ा, इस पर थोड़ा विचार तो कर ! ऐसी आश्चर्यजनक वार्ता सुनकर भी क्या तेरा मन चमत्कृत नहीं हुआ ? अरे ! ऐसी सच्ची और प्रत्यक्ष में अनुभूत बातें तुझे सुनाईं जिनमें से कुछ का तो तूने स्वयं अनुभव किया है। फिर भी यह तो अद्भुत बात है कि तू संवेग-रहित के समान ही दिखाई दे रही है। मैंने तुझे जो कुछ कहा, उस पर सूक्ष्म बोध पूर्वक विचार कर, मनन कर और उसके अन्दर के भावार्थ को पुनः–पुनः समझ। हे बालिके ! तू घबरा मत, मोह में मत पड़, सार को समझ और अब धर्माराधन में देर मत कर। जब तू ऐसा करेगी तभी मेरा सारा प्रयत्न सफल होगा और अपनी आत्मकथा सुनाने में जो परिश्रम मैंने किया है उसका भी मुझे फल प्राप्त होगा। [६२२–६२७]

३. पुण्डरीक को बोध

इतना कहकर अनुसुन्दर चक्रवर्ती चुप हो गये। पुण्डरीक राजकुमार जो वहीं बैठा-बैठा अनुसुन्दर की बात सुन रहा था वह बात के समाप्त होते ही मूर्छित होकर जमीन पर गिर पड़ा। अचानक यह क्या हो गया ? इस विचार से सारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभा संभ्रान्त हो गई और कुमार के पिता श्रीगर्भ राजा तो पूर्णतः आकुल-व्याकुल हो गये। अरे पुत्र ! तुझे क्या हो गया ?* कहती हुई कुमार की माता कमलिनी कांपने लगी। हवा करने पर धीरे-धीरे कुमार की मूर्छा दूर हुई और उसमें चेतना आने लगी।

चेतना प्राप्त होते ही उत्फुल्ल लोचन होकर कुमार ने श्रीगर्भ राजा से कहा पिताजी ! आपके यहाँ आने के पहले इन अनुसुन्दर चक्रवर्ती ने अपनी वास्तविक स्थिति के अत्यन्त विरुद्ध चोर का रूप धारण किया था और अपनी सम्पूर्ण आत्मकथा सुनाते हुए बताया था कि उन्हें किन-किन कारणों से संसार में भटकना पड़ा था। कथा सुनकर भी मुझे बोध नहीं हुआ था। मैंने सोचा था कि विशाल प्रज्ञायुक्त (प्रज्ञाविशाला) देवी महाभद्रा से इस कथा के आन्तरिक रहस्य के सम्बन्ध में पूछूंगा। इसी बीच आप पधारे। परिषद् में पुनः चक्रवर्ती अनुसुन्दर ने सुललिता को अनुशासित/प्रेरित/प्रतिबोधित करने के लिये कथा का कुछ भावार्थ संक्षेप में सुनाया, जिसे सुनकर मेरा मन अकथनीय रूप से प्रमुदित हुआ। इस अवर्णनीय प्रमोद से मुझे सहिष्णुभाव प्राप्त हुआ, अन्तर में चैतन्य जागृत हुआ जिससे मुझे मूर्छा आ गई। पर, इसी समय मुझे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। मुझे ध्यान आया कि पूर्व भव में मैं स्वयं कुलन्धर था और संसारी जीव (गुणधारण) का अभिन्न मित्र था। उस समय निर्मलाचार्य ने इस अनुसुन्दर चक्रवर्ती का जो विस्तृत भव-प्रपंच सुनाया था वह मैंने भी सुना था। चक्रवर्ती ने चोर के रूप में अभी जो अपनी आत्मकथा सुनाई यह वही थी जो निर्मलाचार्य ने सुनाई थी। यह सब स्मृति पथ में आते ही मेरे मन का संदेह दूर हो गया और उसी समय मुझे इस संसार-बन्दीगृह से विरक्ति पैदा हो गयी। पिताजी ! अब आप मुझे आज्ञा दें ताकि मैं भी अनुसुन्दर के साथ ही दीक्षा ग्रहण करूँ।

श्रीगर्भ और कमलिनि का दीक्षा-ग्रहण का निश्चय

पुत्र को दीक्षा की आज्ञा माँगते देखकर कमलिनि देवी तो एकदम रो पड़ी। श्रीगर्भ राजा ने पत्नी से कहा—देवि ! क्यों रोती हो ? याद करो :—

स्वप्न में तुमने एक पुरुष को मुख से प्रवेश करते और फिर बाहर निकलते देखा था। वही स्वप्न वाला उत्तम पुरुष यह पुण्डरीक है। यह महान् उत्तम गुणों से सम्पन्न है, शुद्ध धर्म का प्रसाधक है और मंगल/कल्याण का भाजन है। भविष्य में इसका उत्कृष्ट कल्याण/मंगल होने वाला है, अतः इसे रोकना उचित नहीं है। मेरे विचार से तो अपने सत्य स्नेह/निष्काम प्रेम को प्रकट करने के लिये हमें भी इसी के साथ दीक्षा ले लेनी चाहिये। देवि ! अभी यह छोटी उम्र का है, भोग-सुख भोगने के योग्य है, फिर भी धर्म पथ पर आरुढ़ हो रहा है, तब हमारे जैसे वृद्धों का तो संसार-बंदीगृह में पड़े रहना कैसे उचित कहा जा सकता है ?

---

* पृष्ठ ७४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजा का विचार सुनकर रानी कमलिनी अत्यन्त प्रसन्न हुई, हर्षावेश में गद्-गद् वाणी से बोली—आर्य-पुत्र ! आपने बहुत ठीक कहा, मुझे आपका प्रस्ताव स्वीकार्य है।

इस प्रकार दोनों ने पुण्डरीक को दीक्षा की आज्ञा दी और उसी समय श्री-गर्भराजा और कमलिनी रानी ने भी दीक्षा ग्रहण करने का निश्चय कर लिया। [६२८–६३२]

सुललिता को विषाद : प्रश्न

अनुसुन्दर के हृदयवेधी भाषण से राजपुत्री सुललिता का हृदय बिन्ध गया। पुण्डरीक और उसके माता-पिता के दीक्षा-तत्पर होने पर तो वह और भी संभ्रमित हो गई। उसमें संवेग उत्पन्न हुआ और उसने महाभद्रा साध्वी से हाथ जोड़कर आक्रोश और विषाद के साथ कहा—देवि ! मैंने पूर्व में ऐसा क्या कठोर पाप किया कि मैं ऐसी हो गई। देखिये ! यह पुण्डरीक तो घटना के समय उपस्थित था, मात्र कथा सुन रहा था, जो न तो इसे उद्देश्य कर और न इसे बोध देने के लिये ही कही गई थी तब भी क्षणमात्र में यह कथा के अन्तरंग भावार्थ को समझ गया। सचमुच यह राजपुत्र धन्य है ! महाभाग्यशाली अनुसुन्दर ने अत्यन्त आदर पूर्वक मुझे उद्देश्य कर विस्तार पूर्वक कथा सुनाई, फिर भी मुझ भाग्यहीना को न तो कथा का भाव ही समझ में आया और न बोध ही प्राप्त हुआ। मैं पशु की भांति गुमसुम बैठी रही।* अनुसुन्दर के एक वाक्य से इन तीनों भाग्यशालियों का संसार-सम्बन्ध भेद-ज्ञान पूर्वक छूट गया, पर मैं तो ग्राम्यजनों के समान अन्धी जैसी शून्य बनी रही और इनके स्पष्ट बोध का वास्तविक लाभ मुझे अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। हे भाग्य-शालिनि ! आश्चर्य है कि जिसके लिये प्रयत्न किया गया उसे उसका लाभ नहीं मिला। मुझे लगता है कि इसमें कुछ गूढ रहस्य होना चाहिये। देवि ! यदि आप जानती हो तो आप बताइये, अन्यथा सदागम से पूछकर बताइये कि किस पाप के उदय से मुझे बोध नहीं हो रहा है ? [६३३–६४१]

सुललिता का समाधान

इतना कहते-कहते सुललिता की आँखों में आँसू आ गये। उसके हृदय की अवस्था को देखकर अनुसुन्दर को दया आ गई। उसने कहा—(६४२)

मुग्धा सुललिता ! यदि तुझे अपने पूर्व पाप के बारे में जानने की जिज्ञासा है तो मैं बता देता हूँ, इसके लिये देवी महाभद्रा को कष्ट देने की आवश्यकता नहीं है।

सुललिता—आर्य ! यदि आप ऐसा करें तो बड़ी कृपा होगी। आप ही बतायें।

अनुसुन्दर—सुनो, जब मैं गुणधारण था तब मैंने दीक्षा ली थी। उस समय तू मदनमंजरी थी। तुझे भी वैराग्य उत्पन्न हुआ और मेरे साथ तुमने भी

---

* पृष्ठ ७५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीक्षा ली। फिर तुमने क्रिया-कलापों का अभ्यास किया और अनेक प्रकार के तप किये। उस समय तुम्हारे चित्त में एक दुर्बुद्धि पैदा हुई कि जो कुछ किया जाय उसके विषय में अधिक प्रचार/कोलाहल क्यों किया जाय? इसके फलस्वरूप तुम्हें स्वाध्याय की शब्दध्वनि भी अच्छी नहीं लगती, नयी वाचना लेने (पाठ सीखने) की रुचि नहीं होती, प्रश्न पूछना अच्छा नहीं लगता, परावर्तना/पुनरावृत्ति करना लक्ष्य में नहीं रहता, अनुप्रेक्षा/अभ्यास के विषय पर चर्चा करना भी अच्छा नहीं लगता और धर्मोपदेश देना या सुनना भी अच्छा नहीं लगता। फलतः तुम्हारा प्रचला (निद्रा) पर राग होने लगा, अभ्यास के प्रति उद्वेग होने लगा जिससे तुझे मौन रहना अच्छा लगने लगा। इतना अच्छा हुआ कि तुझे तीव्र अभिनिवेश (दुराग्रह) नहीं हुआ, जिससे तू ज्ञानाभ्यास करने वालों की विरोधिनी नहीं बनी। शास्त्राभ्यास करने वालों की बाधक या विघ्नकारक न बनी और उनके प्रति द्वेष नहीं रखा। धर्मशिक्षक गुरुओं के नाम को नहीं छिपाया और कोई बड़ी आशातना नहीं की। फिर भी कुबुद्धि के कारण ज्ञान के प्रति तुझ में शिथिलता आई और प्रवृत्ति में प्रमाद आने से तूने ज्ञान की थोड़ी आशातना की। इसके परिणामस्वरूप तूने ऐसा कर्म बाँधा कि संसार-चक्र में असंख्य काल तक भटकती रही और जड़ बुद्धि वाली बनी। जैसे-जैसे कर्म किये जाते हैं वैसे-वैसे ही कर्म बँधते हैं। उपेक्षा का भी फल प्राप्त होता है। हे सुललिता! प्रायः प्राणी के भाव पूर्व-भव के अभ्यास से अनुसार ही बनते हैं। इस भव के भावों का पूर्व-भव के अभ्यास के साथ कितना गाढ सम्बन्ध होता है यह तू स्वयं अपने पूर्व-भव के अभ्यास से जान सकती है। जैसे मदनमंजरी के भव में तू पुरुषद्वेषिणी थी, अतः इस भव में भी तुम पुरुषद्वेषिणी बनी। तुम्हारी सखियों ने जब देखा कि तुम ब्रह्मचर्य पर अधिक प्रेम रखती हो तब वे तुम्हें ब्राह्मणी कहने लगीं। अब इन सब बातों से तुम्हारे मन में कुछ मेल-मिलाप हुआ या नहीं?

सुललिता—'आर्य! आपके वचनों में ऐसी कौनसी बात हो सकती है जिसका मिलन मन में न होता हो? आपका कथन सूर्य के प्रकाश के समान स्पष्ट होता है, फिर भी मैं निर्भागिनी उल्लू की तरह मूर्ख बनी खड़ी हूँ। आपका कथन इतना स्पष्ट होने पर भी मुझ दुर्भागिनी पर उसका कोई असर नहीं होता।'* कहते हुए उसके नेत्रों से स्थूल मुक्तामाल के समान अश्रुओं की झड़ी लग गई। उसके रुदन और पश्चात्ताप से ऐसा लगने लगा जैसे उसे धर्म के प्रति लागणी पैदा हो गई हो।

सदागम की शरण

सुललिता की मनोदशा को समझ कर अनुसुन्दर चक्रवर्ती ने कहा— राजकुमारी! अब विषाद छोड़ो। तुमने ज्ञान की थोड़ी-सी आशातना कर जो कर्म

* पृष्ठ ७५१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बांधा था, वह अब क्षीण हो चुका है। अब भगवान् सदागम की भक्ति करो, उनकी शरण में जाओ। प्राणियों के तत्त्वज्ञान का मूल सदागम की आराधना ही है। जैसे-जैसे सदागम की आराधना अधिक होगी वैसे-वैसे तत्त्वज्ञान में अधिकाधिक वृद्धि होगी। अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश करने के लिये भगवान् सदागम सूर्य के समान हैं। तुम इनके चरण-कमलों में आ पहुँची हो अतः तुम सचमुच भाग्यशालिनी हो।

अनुसुन्दर के वचन सुनकर, जैसे पवन लगने से अग्नि की ज्वाला भभक उठती है वैसे ही सुललिता के हृदय में तीव्र संवेग रूपी अग्नि ज्वाला अधिक प्रज्वलित हुई। 'भगवान् समन्तभद्राचार्य स्वयं ही सदागम हैं' यह जानकर वह केवली भगवान् के चरणों में झुकी और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक बोली—

हे जगत् के नाथ! महात्मा सदागम! अज्ञान रूपी कीचड़ में फसी हुई मुझे बाहर निकालने में आप ही समर्थ हैं। हे महाभाग! मुझ निर्भागिनी को शरण देने वाले आप ही हैं। आप ही मेरे स्वामी हैं, मेरे पिता हैं, मेरे सर्वस्व हैं। हे नाथ! इस सेविका को अब कर्म-मल से रहित कर विशुद्ध कीजिये। [६४३–६४४]

सुललिता को जाति-स्मरण ज्ञान

सदागम के सन्मान का अतिशय प्रभाव होने से, संवेग अधिक गहरा होने से, हृदय सरल होने से, भगवान् का महा कल्याणकारी सामीप्य होने से और उसका मोक्ष निकट होने से उसके कर्म का विशाल जाल पश्चात्ताप के प्रवाह में बह गया। भगवान् के चरणों को अपने अश्रुओं से सिंचित करते हुए ही उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। मदनमञ्जरी आदि के भवों में जो कुछ घटित हुआ था और जिसका वर्णन अनुसुन्दर ने अभी-अभी किया था वह सब उसे चलचित्र की भांति प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा। उसके चित्त में अधिक प्रमोद जागृत हुआ और वह उठकर अनुसुन्दर के चरणों में गिर पड़ी।

अनुसुन्दर—सुललिता! यह क्या?

सुललिता—आर्य! भगवत् कृपा से जो होता है वह मुझे भी अभी-अभी प्राप्त हुआ है। भगवान् की कृपा से अभी-अभी मुझे भी जाति-स्मरण ज्ञान हो गया है जिससे आपके कथन पर मुझे निर्णय एवं विश्वास हुआ है। परिणाम स्वरूप अब मैं भी संसार-बंदीगृह से छूटना चाहती हूँ, विरक्त हो गई हूँ। इस भाग्यहीन बालिका पर आपने और भगवान् सदागम ने आज बहुत उपकार किया है।

अनुसुन्दर—बालिके! यह निःसंदेह बात है कि भगवान् सदागम अपने भक्त पर अवश्य उपकार करते हैं। तुझे ज्ञात ही है कि भाव-चोरी करते हुए मैं पकड़ा गया था और नरक की ओर जा रहा था, उससे मुझे अभी-अभी भगवान् ने ही छुड़ाया है। पापी प्राणी भी सदागम को प्राप्त कर उनकी भक्ति करे तो वे अवश्य ही पाप से मुक्त होते हैं, यह संशय-रहित है। हे भद्रे! तुझे अति कठिनाई से बोध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ, इससे घबराना नहीं चाहिये। चित्त में हीन भावना या मैं मन्दभाग्या हूँ ऐसा नहीं सोचना चाहिये। पहले मैं जब विपरीत मार्ग पर चल रहा था और अकलंक आदि मुझे सीधे मार्ग पर लाने का प्रयत्न कर रहे थे तब प्रबल पापाधिक्य के कारण मुझ पर कोई प्रभाव नहीं हुआ था। जब मेरे पाप कर्म कम हुए और मैं अपनी योग्यता को प्राप्त हुआ तब जिनशासन में प्रतिबोधित हुआ। इसमें मुझे तो तुझ से भी अधिक कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ीं। संक्षेप में, काल आदि हेतुओं के प्राप्त होने पर जब प्राणी के पाप नष्ट होते हैं तभी उसे बोध होता है और वह सन्मार्ग पर आता है। गुरु तो मात्र * सहकारी कारण और निमित्त बनते हैं।

[६४५–६५०]

सुललिता–आर्य ! आपका कथन सत्य है। मेरे मन में जो दुर्भावना और शंका पैदा हुई थी उन सब का अब नाश हो गया है। पर, मैंने पहले ऐसा निश्चय किया था कि 'माता-पिता की आज्ञा बिना दीक्षा नहीं लूंगी' उस विषय में अब मैं क्या करूं ?

अनुसुन्दर–आर्ये ! घबराने की आवश्यकता नहीं। देख, तेरे माता-पिता भी यहाँ आ पहुँचे हैं।

४. सात दीक्षायें

मगधसेन-सुमंगला का आगमन

अनुसुन्दर की बात समाप्त होते-होते उद्यान के बाहर प्रबल कोलाहल होने लगा। थोड़े ही समय में मनोनन्दन जिन मन्दिर में सुललिता के पिता राजा मगधसेन और उसकी माता सुमंगला ने परिवार के साथ प्रवेश किया। सब ने जिनेश्वर भगवान्, आचार्य एवं साधुओं को नमस्कार किया। सुललिता ने भी उठकर अपने माता-पिता को नमन किया। फिर मगधसेन राजा ने अनुसुन्दर चक्रवर्ती को प्रणाम किया और सभी अनुसुन्दर के समीप बैठ गये। सुमंगला ने भी सब को प्रणाम किया अपनी पुत्री सुललिता से मिलकर उसका मस्तक चूमा और उसके पास ही बैठ गयी। फिर हर्षावेग से गद्गद् होकर पुत्री से कहा—

* पृष्ठ ७५२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुत्रि ! तुझे बहुत दिनों से नहीं देखा, अतः तुझे देखने की इच्छा से हम राज्य छोड़कर यहाँ आये हैं। हे वत्से ! तेरे पिता को तो तेरे बिना चैन ही नहीं पड़ता और मेरा हृदय तो तेरे स्नेह को लेकर निरन्तर दग्ध होता रहता है। तेरा हृदय कितना कठोर और निर्दय है कि तूने इतने दिनों से अपने स्वास्थ्य और कुशल-क्षेम के सम्बन्ध में किसी के साथ समाचार भी नहीं भिजवाये। [६५१–६५३]

सुललिता का दीक्षा के लिये उद्यम

सुललिता—माताजी ! अधिक कहने की क्या आवश्यकता है ? आपका मुझ पर कितना स्नेह और सद्भाव है यह तो अभी प्रकट हो जायेगा। आपकी आज्ञा प्राप्त कर मैं अभी पारमेश्वरी जैनमत की प्रव्रज्या लेना चाहती हूँ। यह दीक्षा अद्भुत लाभ प्राप्त कराने वाली और संसार-सागर से पार उतारने वाली है। इस समय न केवल आप मुझे दीक्षा लेने से रोकेंगी, अपितु आप दोनों भी मेरे साथ निर्विकल्प होकर भागवती दीक्षा ग्रहण करेंगे तो आपका मुझ पर जो स्नेह, सद्भाव है वह सर्व लोगों के समक्ष प्रकट हो जायेगा। अपने सच्चे प्रेम को प्रकट करने का यह अपूर्व अवसर है और मुझे विश्वास है कि आप अपने स्नेह को अवश्य प्रकट करेंगे। [६५४-६५७]

मगधसेन और सुमंगला की उच्च भावना

भोली सुललिता के मुख से ऐसा अलौकिक उत्तर सुनकर राजा मगधसेन अति हर्षित हुए एवं विचारमग्न हो गये। पर, तुरन्त निश्चय कर सुमंगला से बोले -- देवि ! पुत्री ने तो हमारा मुंह बन्द कर दिया है, हमें प्रारम्भ में ही निरुत्तर कर दिया है। यह तो बहुत भोली थी, पर लगता है अब यह परमार्थ को समझने लगी है, अन्यथा ऐसा समयानुसार वचनविन्यास (वाणी) कैसे करती ? मेरा मानना है कि इसका वर्तमान निर्णय अयोग्य नहीं है। इसने ठीक ही कहा है, हमें भी इसके साथ दीक्षा ले लेनी चाहिये। इसी प्रकार इसके प्रति हमारा वास्तविक स्नेह प्रकट हो सकेगा। वैसे भी हम तो अब उम्र के अन्तिम छोर पर पहुँच गये हैं।

सुमंगला—जैसी आपकी आज्ञा।

माता-पिता की बात सुनकर सुललिता अत्यन्त हर्षित हुई। माता-पिता का आभार प्रदर्शन करती हुई उसने उनके चरण छुए। फिर उनको संक्षेप में अनुसुन्दर चक्रवर्ती आदि का वृत्तांत सुनाया और यह बताया कि उसकी दीक्षा लेने की इच्छा कैसे हुई। * सुनकर माता-पिता अत्यधिक सन्तुष्ट हुए और उनके मन में भाव-दीक्षा लेने के विचार उत्पन्न हुए। वे दोनों आचार्य के पास आये और अपनी दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। आचार्य ने भी उनके विचारों का अनुमोदन किया।

---

* पृष्ठ ७५३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीक्षायें

अनुसुन्दर आदि की दीक्षा के अवसर पर मनोनन्दन उद्यान क्षणमात्र में अनेक भव्य प्राणियों और मुनि महात्माओं से खचाखच भर गया। महान् आनन्दोत्सव होने लगा। आकाश से देवता भी नीचे उतरने लगे जिससे चारों ओर प्रकाश फैल गया। शहनाइयों और वाद्यों के स्वर और नाद से भुवन का मध्यवर्ती भाग संकीर्ण हो गया, अर्थात् उद्यान और मन्दिर का कोना-कोना गूंज उठा। अनेक प्रकार की वृहत् पूजाओं और सत्कार से उद्यान सुशोभित होने लगा। इस प्रसंग पर अनेक भव्य प्राणी विविध प्रकार के दान दे रहे थे, परस्पर सन्मान कर रहे थे, सद्गायन गा रहे थे और करणोचित वैधानिक कार्यों का सम्पादन कर रहे थे। [६५८–६६१]

उसी समय मगधसेन राजा ने रत्नपुर का और श्रीगर्भ राजा ने शंखपुर का राज्य भी अनुसुन्दर के पुत्र पुरन्दर को सौंप दिया। राज्यकार्य चलाने की सारी व्यवस्था कर, तुरन्त अन्य अवसरोचित सभी कार्य पूर्ण किये।

पश्चात् समन्तभद्राचार्य ने अनुसुन्दर, पुण्डरीक, उसके माता-पिता, श्रीगर्भ और कमलिनी, सुललिता, उसके माता-पिता सुमंगला और मगधसेन इन सातों व्यक्तियों को विधिपूर्वक भागवती दीक्षा प्रदान की। फिर उन्होंने इन सब को संयम में स्थिर करने के लिये अमृतोपम मधुर वाणी में संवेग-वर्धक सद्धर्मदेशना दी। इसे सुनकर सभी लोग आनन्दित हुए। सब के मन में शुभ भावों की वृद्धि हुई। तत्पश्चात् सभी अपने-अपने स्थान पर और देवता स्वर्ग में चले गये। [६६२-६६५]

उपदेश समाप्त होने पर महाभद्रा आदि साध्वियाँ भी आचार्यप्रवर की आज्ञा लेकर अपने उपाश्रय में चली गईं।

यह सब महोत्सव देखकर सूर्य ने सोचा कि वह तो आचार्यश्री के उपदेशानुसार करने में असमर्थ है, अतः लज्जा के मारे वह अन्य द्वीप में जाकर छिप गया (सूर्यास्त हो गया)।

सभी साधु अपनी आवश्यक क्रियायें (सामायिक, प्रतिक्रमण, वन्दन आदि) करने लगे। फिर स्वाध्याय और ध्यान में मग्न हो गये। इस प्रकार रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत हो गया। [६६६-६६८]

अनुसुन्दर का स्वर्गगमन

उस समय अनुसुन्दर राजर्षि को मन में अत्यन्त संतोष हुआ, अत्यन्त शान्ति हुई, कर्त्तव्यपूर्णता के मार्ग पर आने की प्रशस्त स्थिति का भान हुआ और अपना अहोभाग्य मानकर एकान्त में ध्यान-मग्न हो गये। उनकी लेश्यायें अधिक विशुद्ध होती गईं और उपशम श्रेणी पर चढ़कर वे उपशान्त मोह गुणस्थान पर आरूढ़ हो गये। आचार्यप्रवर द्वारा जब अन्य मुनियों को ज्ञात हुआ कि अनुसुन्दर का मरणकाल निकट आ गया है, तब सभी उनके पास आ गये और उन्हें समाधि उत्पन्न करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और जागृत करने हेतु अन्तिम आराधना कराने लगे। उसी समय उनका आयुष्य पूरा हुआ और उनकी आत्मा इस शरीर रूपी पिंजरे को छोड़कर सर्वार्थसिद्धि विमान में पहुँच गई, जहाँ वे तेंतीस सागरोपम की आयुष्य वाले महान ऋद्धि वाले देवता बने।

दूसरे दिन इसका पता लगने पर चतुर्विध श्रमण संघ वहाँ एकत्रित हुआ। राजर्षि अनुसुन्दर के मृत शरीर का विधिपूर्वक संस्कार कर परित्याग किया और मनुष्यों तथा देवताओं ने उनकी पूजा की।

सुललिता का शोक-निवारण

सुललिता को एक ही दिन में अनुसुन्दर पर अत्यधिक राग हो गया था। विशुद्ध धर्म का यथार्थ बोध कराने वाले इस महापुरुष के गुण अभी उसके हृदय में स्थिर हो रहे थे और पूर्वकाल के दीर्घ अभ्यास के स्नेह-तन्तुओं का जाल अभी टूटा नहीं था। उनके उपकार के बोझ से दबी हुई और संसार से अभी-अभी विरक्त हुई सुललिता के मन में अनुसुन्दर की अचानक मृत्यु के समाचार से * कुछ खेद हुआ और उसका मन शोकाक्रान्त हो गया। [६६९–६७१]

यह देखकर सुललिता को अधिक स्थिर करने और उसके शोक को दूर करने के लिये समन्तभद्राचार्य ने सभी के समक्ष सुललिता से कहा :—

आर्ये! जिस नरपुंगव महापुरुष ने एक ही दिन में अपना कार्य सिद्ध कर लिया, साध्य के मार्ग पर कूच कर कृतकृत्य हो गया, उस महात्मा के लिये शोक करना उचित नहीं है। उसने तो असाध्य कार्य सिद्ध कर लिया। यदि वह अधिक पाप कर्म के बोझ से संसार-समुद्र में डूब गया होता और यहाँ से नरक की तरफ प्रयाण किया होता तब तो उसके लिये शोक करना योग्य समझा जा सकता था, पर जो प्राणी विशुद्ध सद्धर्म को प्राप्त कर, अपने पाप रूपी मैल को धोकर सर्वार्थ-सिद्धि विमान को जाये, उसके लिये तो शोक मनाना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता।

जिस प्राणी को संयम धर्म अति दुर्लभ हो और जो दुःख के बोझ से संसार में भटक रहा हो, उत्तम व्यक्ति ऐसे प्राणी के लिये ही शोक करते हैं।

जो प्राणी संयमी होकर मृत्यु को प्राप्त करते हैं, उनके लिये विवेकीजन तनिक भी शोक नहीं करते। संसारचक्र में रहते हुए भी ऐसे प्राणी जहाँ भी रहें वहाँ उन्हें आनन्द और आन्तरिक सुख ही प्राप्त होता है, अतः उनके विषय में शोक करना उचित नहीं है।

जिस प्राणी ने परलोक में सुख देने वाले धर्म का सम्यक् प्रकार से आचरण न किया हो, वह मृत्यु का सामना होने पर भय खाता है; पर जिस प्राणी ने सद्धर्म

---

* पृष्ठ ७५४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपी पाथेय/संबल को अपने साथ बाँध लिया है, वह तो मृत्यु की प्रतीक्षा करता है और मृत्यु के निकट आने पर तनिक भी नहीं डरता। उसे तो मृत्यु महोत्सव जैसी लगती है, उसके लिये तो मरण महान आनन्द का प्रसंग है।

जिसने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूपी चार स्तम्भों से सुदृढ़ बनी और पाप को नाश करने वाली आराधना की हो उसे मृत्यु से क्या भय? उसके लिये मृत्यु क्या है? जिन मुनीश्वरों ने पाप-समूह को धोकर, आराधना कर, पण्डित मरण को प्राप्त किया है, वे तो पारमार्थिक आनन्द के जनक हैं, उत्पादक हैं और आनन्द स्वरूप हैं।

अतएव हे बाले! अनुसुन्दर राजर्षि ने तो अनार्य कार्य से निवृत्त होकर अपना कार्य सिद्ध कर लिया है, कृतकृत्य हो गया है, अतः उनकी मृत्यु पर कैसा शोक? ऐसा शोक कैसे उचित कहा जा सकता है? [६७२–६८२]

अनुसुन्दर का भविष्य

पुनः सुन—अनुसुन्दर राजर्षि तो यहाँ से सर्वार्थसिद्धि विमान में गये हैं। जब उनकी तेंतीस सागरोपम की आयुष्य पूरी होगी तब वे वहाँ से स्थिति क्षय होने पर, च्युत होकर पुष्करवर द्वीप के भरतक्षेत्र की अयोध्या नगरी के गंगाधर राजा और पद्मिनी रानी के पुत्र अमृतसार के नाम से जन्म लेंगे। वहाँ वे देव जैसी समृद्धि को प्राप्त करेंगे और मनुष्य रूप में देवताओं के समान दिव्यसुखों में लालित-पालित होंगे। यौवन प्राप्त होने पर वे समस्त कलाओं में कुशलता प्राप्त करेंगे। फिर विपुलाशय आचार्य से बोध प्राप्त कर, माता-पिता को समझा कर पारमेश्वरी दीक्षा ग्रहण करेंगे। इनकी आत्मा अत्यधिक विशुद्ध होती जायेगी वे और साधु जीवन में बहुत समय तक महान तप करेंगे। अन्त में अपने समस्त कर्मजाल को काटकर समाधिपूर्वक आगे बढ़ेंगे और संसार के प्रपंच को छोड़कर शिवालय/मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

[६८३–६८७]

हे आर्ये! इस प्रकार अनुसुन्दर राजर्षि तो भव्य प्राणियों के लिये अत्यन्त प्रमोद के कारण हैं। ऐसे महापुरुष के मृत्यु-प्रसंग पर किसी प्रकार का शोक-सन्ताप करना ही नहीं चाहिये। [६८८]

आचार्य से अनुसुन्दर राजर्षि का भविष्य सुनकर मुनि पुण्डरीक ने आचार्य को प्रणाम कर पूछा—भगवन्! राजर्षि अनुसुन्दर का भविष्य तो मैंने आपसे सुना,* किन्तु उनकी चित्तवृत्ति में सर्वदा साथ रहने वाले जो अच्छे-बुरे लोग थे उनका क्या होगा? वह भी बताने की कृपा करें। [६८९–६९०]

अन्तरँग बल का आविर्भाव

आचार्य—पुण्डरीक! सर्वार्थसिद्धि विमान से जब अनुसुन्दर का जीव अमृतसार के रूप में जन्म लेगा और सर्व संग का त्याग कर भाव-दीक्षा ग्रहण करेगा तब

* पृष्ठ ७५५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षान्ति, दया, मृदुता, सत्यता, ऋजुता, अचौर्यता, ब्रह्मरति, मुक्तता, विद्या और निरीहता आदि उसकी अन्तरंग पत्नियाँ जो इतने समय तक प्रच्छन्न थीं, पुनः उसकी चित्तवृत्ति में प्रकट होंगी। इसके साथ ही चारित्रधर्मराज की सेना भी प्रकट होगी। तत्पश्चात् अन्तरंग राज्य में धृति, श्रद्धा, मेधा, विविदिषा, सुखा, मैत्री, प्रमुदिता, उपेक्षा, विज्ञप्ति, करुणा आदि अन्तरंग पत्नियाँ भी पहले की भाँति उसकी चित्तवृत्ति में आविर्भूत होकर अतिशय सुख-संदोह प्रदान करेंगी। इस प्रकार इस महात्मा को अत्यन्त आनन्द एवं आह्लाद से परिपूर्ण अन्तरंग राज्य प्राप्त होगा और इस राज्य का भोग करते हुए वह अपने अन्तरंग शत्रुओं का जड़-मूल से नाश कर देगा। तदनन्तर महाबली अमृतसार मुनि अन्तरंग राज्य को अधिकृत करता हुआ अन्त में क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होगा (सातवें गुणस्थान से सीधे १३वें गुणस्थान की प्राप्ति) और चार घाती कर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त करेगा तथा विश्व पर अनेक प्रकार से अनुग्रह करता हुआ अन्त में केवली समुद्घात कर, समस्त योगों का निरोध कर, आयुष्य के अन्तिम भाग में शैलेशीकरण सत्क्रिया द्वारा शेष चार कर्मों (वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र) का भी निर्दलन कर देगा। उस समय उसके सभी कार्य सिद्ध होंगे, सभी क्रियाओं का अन्त हो जायेगा, सुन्दर कार्यों का सुन्दर परिणाम प्राप्त होगा और अपने सभी अन्तरंग बन्धुओं सहित वह निर्वृत्ति नामक सुन्दर नगरी का सुराज्य प्राप्त कर उसके फलों का आस्वादन करेगा। तत्पश्चात् वह अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त दर्शन से युक्त बनेगा। उसकी सभी रुकावटों एवं पीड़ाओं का नाश होगा और उसके ये सर्वभाव उसे सर्वकाल के लिये प्राप्त होंगे। यही उसके अन्तरंग सत्कुटुम्ब का भविष्य है। [६९१–७०१]

अब इसके दूसरे अन्तरंग कुटुम्ब का भविष्य भी सुनो। इधर राजर्षि अपनी कुभार्या भवितव्यता जो लम्बे समय से उसके साथ है, उसका त्याग कर देगा। महामोह राजा की शक्ति क्षीण हो जाने से वह भवितव्यता शोकमग्न हो जायगी और सोचेगी कि, अरे! मैंने दुर्बुद्धि के कारण महामोह की सेना का पक्ष लेकर अच्छा नहीं किया, परिणामस्वरूप आज मेरे समस्त मनोरथ भंग/छिन्न-भिन्न हो गये हैं। अरे रे! मैं तो सब कुछ जानने का घमण्ड करती थी, परन्तु जो बात विश्व में सब लोग जानते हैं, जिसे बालवृन्द भी बोलते रहते हैं उस तात्त्विक बात को मैं नहीं जान सकी। सब लोग जानते हैं कि जो स्थिर पदार्थों को छोड़कर अस्थिर पदार्थों के पीछे दौड़ता है, उसके स्थिर पदार्थ नष्ट होते हैं और अस्थिर पदार्थ तो नष्ट होने वाले हैं ही। मैंने स्थिर भावों को नहीं पहचाना। इसमें मेरा भी क्या दोष? यह बात तो रूढ़ हो गई है कि लोग अपने वास्तविक प्रयोजन से प्रायः घबरा जाते हैं, अतः मैं भी घबरा गई तो क्या हुआ? ऐसा विचार और निश्चय करते हुए कुभार्या भवितव्यता अमृतसार को छोड़कर, शोक का त्याग कर चुप हो जायगी और अन्य लोगों के कार्य में जुट जायगी। [७०२–७०७]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे पुण्डरीक मुनि ! अनुसुन्दर राजर्षि के अन्तरंग राज्य के लोगों के भविष्य के विषय में मैंने तुझे संक्षेप में बता दिया है ।*

समन्तभद्राचार्य से विस्तृत वृत्तान्त सुनकर पुण्डरीक आदि साधु बहुत प्रसन्न हुए और सुललिता का शोक दूर हुआ । [७०८–७०९]

१७. द्वादशांगी का सार

इसके पश्चात् सुललिता का मन अत्यधिक संवेग रंग में रंग गया । वह सोचने लगी कि, उसे बोध होने में बहुत कठिनाई हुई, अतः वह अवश्य ही गुरुकर्मी/भारी कर्मी तो है ही । ऐसा गुरुकर्मी जीवरत्न संवेग के पवन मात्र से शुद्ध नहीं हो सकता, उसे शुद्ध करने के लिये तो तीव्र तप रूपी प्रचण्ड अग्नि की महती आवश्यकता है । इस विचार से वह धन्या सुललिता गुरु महाराज की आज्ञा लेकर उनके आदेशानुसार प्रयत्न पूर्वक महाकष्टदायक तप से अपने आत्मरत्न को शुद्ध करने लगी । अर्थात् जो बालिका एक समय धर्म के स्वरूप को समझती भी नहीं थी, वही अब अपनी आत्मा की शुद्धि का मार्ग ढूँढ़ने लगी और प्रत्येक प्रसंग पर गुरु महाराज की आज्ञा लेकर महातप करने लगी । [७१०–७१२]

सुललिता का महातप

उसने जो महान तपस्या की उसका सहज ध्यान दिलाने के लिये संक्षेप में वर्णन करते हैं :—

एक, दो, चार, पाँच आदि उपवास रूपी अनेक प्रकार के रत्नों की माला वाले रत्नावली तप से वह रागमुक्त सुललिता साध्वी सुशोभित होने लगी ।

फिर अनेक प्रकार की चर्यायुक्त सुवर्ण की चार लड़ियों वाले हार के समान रमणीय कनकावली तप से वह विभूषित हुई ।

फिर वह महाभाग्यशालिनी उपवास, बेला, तेला, चोला, पंचोला आदि तप रूपी मोतियों की लड़ियों वाले मुक्तावली तप से अलंकृत हुई ।

---

* पृष्ठ ७५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रीड़ा की इच्छा से निवृत्त होने पर भी सिंहिनी के समान पराक्रमी इस राजकन्या ने लीलापूर्वक लघु सिंहविक्रीडित एवं बृहत् सिंहविक्रीडित तप किया।

फिर उसने शरीर के भूषण स्वरूप भद्रा, महाभद्रा, सर्वतोभद्रा और भद्रोत्तरा प्रतिमाएँ ग्रहण कीं।

फिर विनष्ट पाप वाली महादेवी सुललिता वर्धमान आयंबिल तप द्वारा प्रतिक्षण बढ़ती रही और अपने ज्ञान में वृद्धि करती रही।

चन्द्रायण तप द्वारा इसने अपने कुल रूपी आकाश को चन्द्रलेखा के समान उद्योतित किया।

फिर निष्पापा सुललिता ने यवमध्य और वज्रमध्य की आसेवना की जिसकी वजह से वह देवी संसार बन्दीगृह के प्रति एकदम निःस्पृहवृत्ति वाली हो गई। तपस्या से वह महान शक्तिशालिनी बन गई और उपर्युक्त तथा अन्य अनेक प्रकार के तपों से उसने अपने सब पाप धो डाले जिससे उसकी उत्थान-प्रगति निरन्तर बढ़ती गई। [७१३–७२१]

द्वादशांगी का सार : ध्यानयोग

इधर पुण्डरीक मुनि भी इतने ज्ञानाभ्यास-परायण हो गये कि कुछ ही समय में वे शास्त्र के गहन अर्थ और सूत्र को समझने वाले गीतार्थ एवं जितेन्द्रिय बन गये।

अन्यदा सम्पूर्ण आगम के विशुद्ध सार/आन्तरिक आशय को जानने की इच्छा से उन्होंने विनय पूर्वक गुरु महाराज से पूछा—भगवन्! बारह अंग सूत्र रूपी द्वादशांगी जो भगवान् द्वारा प्ररूपित है, वह तो समुद्र के समान अत्यन्त विशाल है. संक्षेप में इसका सार क्या है? यह बताने की कृपा करें। [७२२–७२४]

आचार्य—आर्य! सम्पूर्ण जैन आगम का सार सुनिर्मल ध्यानयोग है। सभी बातों का रहस्य इसी एक शब्द में आ जाता है। इसका कारण यह है कि जैन शास्त्रों के नीति विभाग में श्रावकों और साधुओं के लिये जो मूल और उत्तर गुणों का एवं बाह्य क्रियाओं का वर्णन है उन सब का अन्तिम लक्ष्य ध्यानयोग ही कहा गया है। इन सभी गुणों और क्रियाओं का हेतु ध्यान-योग की साधना है। शास्त्र में कहा गया है कि मुक्ति के लिये ध्यान-सिद्धि आवश्यक है और ध्यान-सिद्धि के लिये मानसिक चंचलता को दूर करना परमावश्यक है,* जो अहिंसा आदि विशुद्ध अनुष्ठानों से ही साधी जा सकती है। अतः सर्व अनुष्ठानों का अन्तिम साध्य मानसिक स्थिरता है, अर्थात् चित्त-शुद्धि ही अन्तिम लक्ष्य है। विशुद्ध एकाग्र मन ही सब से उत्तम प्रकार का ध्यान है। हे मुने! द्वादशांगी का सार शुद्ध ध्यानयोग है, अतः जिस प्राणी की इच्छा मोक्ष प्राप्त करने की हो उसे ध्यानयोग को सिद्ध करना चाहिये। शेष सभी मूल और उत्तरगुण रूपी अनुष्ठान ध्यानयोग के अंग रूप में ही स्थित हैं, इसीलिये इस ध्यानयोग को सब का सार कहा है। [७२५–७३०]

---

* पृष्ठ ७५७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरु महाराज के वचनामृत से सन्तुष्ट होकर शान्तात्मा पुण्डरीक महामुनि ने पुनः हाथ जोड़कर ललाट से छूते हुए गम्भीर स्वर में कहा—भगवन् ! जब मैं बालक था तब मुझे मोक्षमार्ग के प्रति बहुत कुतूहल था, बचपन में उस मार्ग को जानने की जिज्ञासा थी, अतः मैंने कई कुतीर्थिक धर्मगुरुओं से इस विषय में प्रश्न पूछे थे कि, हे भाग्यशाली महात्माओं ! सब विषयों का गूढ़ रहस्य और निःश्रेयस्कर/ मोक्ष-प्राप्ति का परम तत्त्व क्या है ? जो सब से महत्वपूर्ण सार हो उसे समझाइये। मेरे प्रश्न के उत्तर में भिन्न-भिन्न मान्यता के गुरुओं ने मुझे भिन्न-भिन्न उत्तर दिये, जिनका सार संक्षेप में निम्न है :— [७३१–७३४]

एक ने कहा—हिंसा करो या कुछ भी करो किन्तु मुमुक्षु प्राणी को अपनी बुद्धि पर किसी प्रकार का लेप (आवरण) नहीं चढ़ने देना चाहिये। उनका कथन था कि जैसे आकाश कभी कीचड़ से नहीं भरता वैसे ही सारे संसार को मार कर भी जिसकी बुद्धि पर लेप नहीं चढ़ता, उस पर पाप का लेप भी नहीं चढ़ता।

दूसरे ने कहा—जो प्राणी समस्त पापों का आचरण करके भी यदि एक बार भी महेश्वर का स्मरण करता है तो वह क्षणमात्र में समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। प्राणियों को छिन्न-भिन्न कर या सैंकड़ों पाप करने पर भी जो विरुपाक्षदेव शिव का स्मरण करता है वह प्राणी पाप से मुक्त हो जाता है।

तीसरे ने कहा—पापों की शुद्धि के लिए विष्णु भगवान् का ध्यान करना चाहिये ! विष्णु का ध्यान समस्त प्रकार के पापों का प्रक्षालन करने वाला है। उनका कथन था कि, स्वयं अपवित्र हो या पवित्र या अन्य कैसी भी अवस्था में हो पर जो पुण्डरीकाक्ष विष्णु भगवान का स्मरण करता है वह बाहर-भीतर से पवित्र हो जाता है।

कुछ लोगों ने पापाशन मंत्र को पाप-विनाशक बताया।

कुछ ने वायु जाप को मोक्ष का साधन बताया। उनका कथन था कि हृदय-स्थित पुण्डरीक कमल ध्यान से खिलता है। वह विकसित दल सुन्दर और मन-भ्रमर को सुख देने वाला होता है। इस ध्यान-मार्ग पर जाकर मन-भ्रमर परमपद में स्थापित हो जाता है। फिर मन में नाद (ध्वनि) लक्षित/ गुंजित होती है, वही परम तत्त्व है।

कुछ पूरक, कुम्भक और रेचक वायु द्वारा हृदय-कमल को विकसित करने के साधन को परम तत्त्व कहते हैं।

अन्य कहते हैं कि हृदय में जो मोगरे के फूल, चन्द्र या स्फटिक जैसा श्वेत बिन्दु है, जो ऊपर-नीचे या अगल-बगल होता रहता है वही ज्ञान का कारण है।*

* पृष्ठ ७५८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्य कहते हैं कि, ॐ परम अक्षर (प्रणवाक्षर) के ऊपर और नीचे लेप की हुई अग्निशिखा के चलने पर उसकी जो मात्रा होती है, वही अमृत-कला कहलाती है।

अन्य लोगों का मत है कि, नाक के अग्रभाग पर अथवा दोनों भौंहों के मध्य तुषार (बर्फ) या मोती के हार जैसा स्वच्छ बिन्दु दो प्रकार का होता है, चल और स्थिर। इस बिन्दु को ध्यान का विषय कहा जाता है। जब यह बिन्दु आग्नेय मण्डप (कोण) में मिलता है तब रक्तवर्णी, पूर्व में पीतवर्णी, वायव्य कोण में कृष्णवर्णी, पश्चिम दिशा में श्वेतवर्णी होता है। जब चित्त निर्मल हो तो यह पीला होता है, क्रोधित हो तो लाल होता है, शत्रु-नाश के समय काला होता है और जब श्वेत होता है तब पुष्टिकारक होता है।

अन्य कहते हैं कि, मुमुक्षु (मोक्ष प्राप्ति की इच्छा वालों) को नाड़ी-मार्ग सिद्ध करना चाहिये। उन्हें जानना चाहिये कि ईड़ा और पिंगला नाड़ियों का संचालन किस प्रकार होता है और उनका क्या कार्य होता है। नाड़ियों का संचार दायें या बायें किस प्रकार होता है, इसका वैज्ञानिक अध्ययन करना चाहिये और उस ज्ञान के द्वारा काल और बल का बाह्य ज्ञान प्राप्त कर, पद्मासन से बैठकर उच्च घंटानाद सुनना चाहिये।

कुछ ओंकार के उच्चारण को ही परम शान्तिदायक मानते हैं। नाभि में से सरल प्राण वायु निकलती है जो कमल के तन्तु जैसा आकार धारण कर मन्थर गति से सिर के अन्तिम भाग तक जाती है। वह मस्तक में तालु स्थित ब्रह्मरन्ध्र से बाहर निकलती है। कुछ लोग उस प्राणवायु के संचार पर ध्यान केन्द्रित करने और उसे मन्द गति से संचालित करने का वर्णन करते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि, सूर्य-मण्डल-स्थित आदिपुरुष अथवा हृदय-कमल-स्थित मूलपुरुष का ध्यान करना चाहिये और उसे ही अपने ध्येय रूप में पहचानना चाहिये।

कुछ बुद्धिमान, हृदय-आकाश में स्थित सैकड़ों किरणों से जाज्वल्यमान अत्यन्त सुशोभित नित्य परमपुरुष का ध्यान करने और उसे ही अपना ध्येय बनाने का परामर्श देते हैं।

कुछ, आकाश को ही ध्येय बनाने को कहते हैं।

कुछ, चल-अचल सम्पूर्ण विश्व को ध्येय रूप से पहचानने को कहते हैं।

कुछ, आत्मा में रहे हुए चित्त को ध्येय रूप से पहचानने को कहते हैं।

कुछ शाश्वत ब्रह्म को ही ध्येय रूप से जानने की सलाह देते हैं।

[७५७]

हे महात्मन्! जैसे आपने ध्यान-योग को ही द्वादशांगी का सार बताया है वैसे ही भिन्न-भिन्न तीर्थिक धर्मगुरुओं ने भी भिन्न-भिन्न पद्धति से योग को सार के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप में प्रतिपादित किया है। भगवन्! इन सब का अन्तिम सार तो ध्यान-योग ही हुआ। तब क्या ये सभी धर्मगुरु भी मोक्ष के साधक हैं? यदि सब का साध्य ध्यान के माध्यम से मोक्ष ही है तो फिर अलग-अलग योगियों ने ध्यान के भिन्न-भिन्न मार्ग क्यों बतलाये? मेरे मन में इस सम्बन्ध में प्रबल संशय है। हे नाथ! मेरे इस संदेहवृक्ष को आप अपने वचन रूपी हाथी की शक्ति से मूल सहित उखाड़ फेंकिये, मेरे संशय का संतोषजनक स्पष्टीकरण करिये। [७५८–७६०]

समन्तभद्र—आर्य! तेरा प्रश्न प्रसंगोचित है। तुम अभी जैनागम के सामान्य गीतार्थ बने हो, पर इसके गूढ रहस्य को बराबर नहीं समझ सके हो, इसीलिये ऐसा प्रश्न कर रहे हो। बात ऐसी है कि सभी धर्मगुरु कूटवैद्य (ऊँट वैद्य) जैसे हैं। जैन-धर्मज्ञ सद्वैद्य के शास्त्र रुपी महावृक्ष की एक-एक शाखा पकड़ने वाले हैं। इसीलिये तेरे मन में प्रश्न उठा है। इसका स्पष्टीकरण कथा द्वारा करता हूँ, सुनो।

[७६१–७६२]

१८. ऊंट वैद्य कथा

एक नगर के प्रायः सभी निवासी अनेक प्रकार की महा व्याधियों से ग्रस्त थे। इस नगर में एक महावैद्य (सच्चा वैद्य) था जो दिव्यज्ञानी,* समस्त संहिताओं का निर्माता, सर्व रोगों का नाश करने वाला और लोगों का उपकार करने की विशुद्ध भावना वाला था। पर, वहाँ के लोग पुण्यहीन थे इसलिये इस सच्चे वैद्य की बात नहीं मानते थे और उसके कथनानुसार कार्य नहीं करते थे। कुछ ही भाग्यशाली प्राणी इस वैद्य की बात मानते थे। यह वैद्य निरन्तर अपने शिष्यों को व्याख्यान देता था। वह व्याख्यान जो लोग सुनते थे उनमें से कुछ धूर्त लोग भी कतिपय बातें सीख लेते थे। इस प्रकार दूसरों से सुनकर, थोड़ा बहुत सीखकर "सौंठ की गांठ से"

* पृष्ठ ७५९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैद्य बने बहुत से धूर्त भी वैद्यक का धन्धा करने लगे थे। वहाँ के पुण्यहीन निवासियों के दुर्भाग्य से ऐसे ऊंट वैद्य अधिक प्रसिद्ध हो रहे थे। ये नये वैद्य अपने आपको पण्डित मानते थे। इन्होंने भी अपनी-अपनी नवीन संहिता बना डाली। इनमें से कुछ ने दूसरों से यथार्थ वैद्य के वचन सुनकर उनमें से कुछ को अपनी संहिता में भी जोड़ दिया। कुछ ने अपने पाण्डित्य के घमण्ड में सच्चे वैद्य के कथन से विपरीत वचनों से ही अपनी संहिता बनाई। नगर के रुग्ण नागरिक भिन्न-भिन्न रुचि वाले थे। किसी को एक वैद्य अच्छा लगता तो किसी को दूसरा। इस प्रकार भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न वैद्यों को पसंद करते। यों प्रायः सभी ऊंट वैद्य प्रसिद्ध हो गये और उन्होंने अपनी-अपनी वैद्यक शिक्षा की पाठशालायें खोल लीं तथा स्वकीय शिष्यों को अपनी-अपनी संहितानुसार वैद्यक सिखाने लगे। सिखाते समय ये ऊंट वैद्य अपने शिष्यों को इतना अधिक व्याख्यान पिलाने लगे कि वे संसार में महावैद्य के रूप में प्रसिद्ध हो गये। धीरे धीरे लोग वास्तविक मूल वैद्य को भूलने लगे और उनकी उपेक्षा तथा अनादर करने लगे।

सच्चा वैद्य रोगों का निदान कर जो औषधि बताता, उसका विधि पूर्वक सेवन करने से लोग निरोग हो जाते थे। सच्चे वैद्य के जीवन काल में जैसे उसने कई लोगों को रोगमुक्त किया था वैसे ही उसकी सुवैद्यशाला में सीखे हुए उसके शिष्यों ने भी उसकी संहितानुसार उपचार कर अनेक लोगों को रोगमुक्त किया था। अतएव यह चिकित्सालय सब लोगों के लिये रोगों का उच्छेद करने वाला बना। [७६३–७६५]

कुछ रोगी जो इन नये ऊंट वैद्यों के पास उपचार कराने गये, वे बेचारे अनेक व्याधियों और पीड़ाओं से घिरते गये। उन वैद्यों के जीवनकाल में जैसे उनका चिकित्सालय लोगों का अपकार करता था वैसे ही उनकी मृत्यु के बाद भी उनकी संहिता और उनके शिष्य लोगों को क्षति/ हानि पहुँचा रहे थे। [७६६–७६७]

इन नये वैद्यों की वैद्यशालाओं में भी कभी-कभी रोगियों के रोग कम हो जाते थे या दैवयोग से कदाचित् एकदम मिट जाते थे। इसका कारण यह था कि इन्होंने भी सच्चे वैद्य के कुछ वचन अपनी संहिता में जोड़े थे और कभी-कभी उसका अनुसरण करते थे। जब-जब ये ऊंट वैद्य सच्चे वैद्य के वचनानुसार उपचार करते थे तब-तब रोग कम हो जाता था या कभी दैवयोग से रोगी स्वस्थ भी हो जाता था। [७६८–७७०]

कुछ दुर्बुद्धि वाले वैद्य अपनी दुष्ट बुद्धि से ही कार्य करते रहे और सच्चे वैद्य के वचन नहीं समझ सके, वे तो नितान्तरूप से व्याधि को बढ़ाने वाले ही बने।* [७७१]

---

* पृष्ठ ७६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संक्षेप में कहें तो सच्चे वैद्य की वैद्यशाला ही रोग पर अंकुश रखने वाली थी. और उसकी संहिता में कही गई बातों का अनुसरण करने वाली वैद्यशालायें ही व्याधि को कम करने वाली थीं। [७७२]

इस अन्तर का कारण यह था कि सद्वैद्य भलीभांति जानता था कि सभी व्याधियां वात, पित्त और कफ से होती हैं। इन तीनों दोषों और उनके निवारण के सम्यक् उपाय भी वह जानता था। कूट वैद्य यह बात नहीं जानते थे। तत्त्व-विरोधी होने के कारण वे इन्हें नहीं समझ सकते थे। यदि कभी किसी भाग्यशाली रोगी को उनसे लाभ हो जाता तो वह 'घुणाक्षर न्याय' (दैवयोग) से ही होता था। वस्तुतः रोगों की चिकित्सा करने वाला तो एक वह ही सद्वैद्य था। [७७३–७७५]

कथा का उपनय : सद्वैद्य

पुण्डरीक ! तेरे समक्ष जो वैद्य की कथा संक्षेप में कही है वह तेरे संदेह को दूर करने में सक्षम है। अतः इस कथा का उपनय समझाता हूँ, सुनो—

उपर्युक्त कथा में जिसे नगर कहा गया है, उसे संसार समझो। संसारी जीव सब प्रकार के रोगों से ग्रस्त हैं।

उस नगर में एक सद्वैद्य था उसे परमात्मा/ सर्वज्ञ सद्वैद्य समझो। सर्वज्ञ केवलज्ञानी होते हैं, आगम रूपी शुद्ध सिद्धान्त उनकी संहिता है। वे सब लोगों पर उपकार करने वाले और कर्मरूपी भयंकर रोगों को मिटाने वाले हैं। किन्तु, अधिकांश संसारी जीव गुरु-कर्मी होते हैं, अतः वे सर्वज्ञ को परमेश्वर के रूप में स्वीकार नहीं करते। कुछ लघुकर्मी भाग्यशाली भव्यप्राणी सर्वज्ञ परमेश्वर को सद्वैद्य के रूप में स्वीकार करते हैं। जगद्गुरु सर्वज्ञ जब देवताओं और मनुष्यों की सभा में अपने शिष्यों को प्रभावोत्पादक देशना द्वारा मोक्षमार्ग बतलाते हैं उस समय वहाँ कुछ अन्य मनुष्य और देव भी उपस्थित रहते हैं, उनमें से कुछ दूषित विचार वाले भी सर्वज्ञ की देशना सुनते हैं। [७७६–७८२]

वैद्यशाला

सर्वज्ञ की देशना अनेक नयों की अपेक्षा से गम्भीरार्थ वाली होती है। इस देशना को सुनकर कुछ मन्दबुद्धि जीव जिनकी चेतना मिथ्यात्व से आक्रान्त होती है, वे विपरीत कल्पनायें करते हैं और जिन-सद्वैद्य की सभा से निकलकर, सुने हुए उपदेश का कुछ अंश पकड़ कर अपने शास्त्र बना लेते हैं। ऐसे मन्द-बुद्धि प्राणियों को कूट वैद्य (ऊंट वैद्य) समझना चाहिये। [७८३–७८४]

इनमें से सांख्य आदि कुछ आस्तिक लोगों ने अपने ग्रन्थों में कुछ सुन्दर एवं उपयोगी बातें जिनवाणी, जैनागम के अनुसार लिखीं और कुछ अपनी कल्पना के अनुसार लिखीं। किन्तु, अपने पाण्डित्य का अभिमान तो पूर्ण ग्रन्थ पर रखा। अतएव यहाँ इन्हें ऊंट वैद्य समझो। इनके शास्त्र भी सर्वज्ञ के कतिपय सद्वचनों से भूषित होने से संसार में प्रसिद्ध हुए। [७८५–७८७]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्य बृहस्पति, सूत आदि दुष्ट नास्तिकों ने जिनशास्त्र से विपरीत कल्पनायें कर बड़ी-बड़ी बातें कीं और अपनी वाचालता से संसार में प्रसिद्ध हुए। कहावत भी है कि 'संसार में चोर भी अपनी प्रगल्भता (वाक्पटुता) से प्रसिद्ध हो जाते हैं।' [७८८–७८९]

भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न रुचि वाले होते हैं, अतः अपनी-अपनी इच्छानुसार कुछ लोगों को * आस्तिक अच्छे लगते हैं तो कुछ को नास्तिक और कुछ को सर्वज्ञ एवं उनके शिष्य। [७९०]

पुनः वैशेषिक सूत्रकार कणभक्ष (कणाद) मुनि और न्यायसूत्र के प्रणेता अक्षपाद (गौतम) मुनि आदि धर्मगुरुओं ने अपने शास्त्र बनाये और उन्हें अपने शिष्यों को सिखाया। उन्होंने अपना तीर्थ/धर्म प्रवर्तित किया और अपने शिष्यों के लिए अनुष्ठानों की भी एक लम्बी शृंखला बनायी। इस प्रकार भिन्न-भिन्न वैद्यशालायें खड़ी हो गईं। [७९१–७९२]

रोगी

ऐसा होने पर भी जिन कर्म-रोगियों की चिकित्सा सर्वज्ञ की सद्वैद्यशाला में होती थी वे तो सचमुच भाग्यशाली थे क्योंकि वे निश्चित रूप से नीरोग हो जाते थे। [७९३]

जो प्राणी आस्तिक धर्म गुरुओं से उपचार कराने गये उनकी कर्म-व्याधि कुछ-कुछ कम हुई और कभी-कभी कोई-कोई रोग से पूर्णतया मुक्त भी हुआ। इस लाभ का कारण सर्वज्ञ सद्वैद्य के वचन थे, क्योंकि आस्तिकों ने भी सर्वज्ञ-भाषित कुछ वचन अपने शास्त्रों में गूंथ दिये थे। अथवा उनमें से किसी-किसी को कभी जाति-स्मरण आदि ज्ञान भी हो जाता था जिससे सर्वज्ञ के वचन उसके हृदय में स्थापित हो जाते थे। यही कारण है कि उनके कर्मरोग क्षीण हो जाते थे या कर्मरोगों से मुक्त हो जाते थे।

जिस प्रकार वैद्य शरीर में रहे हुए वात, पित्त और कफ को पहचान कर रोगों की चिकित्सा करते हैं, उसी प्रकार सर्वज्ञ महावैद्य राग, द्वेष और महामोह रूपी त्रिदोषों को पहचान कर फिर चिकित्सा करते हैं। इसीलिये सर्वज्ञशाला और उनके शास्त्रों से बाहर रहने वालों के यहाँ कर्मरोग की चिकित्सा कदापि नहीं हो सकती। [७९७–७९८]

जो लोग स्वयं नास्तिक हैं और जैन शास्त्र के पूर्णतया विपरीत हैं वे दुष्ट तो निश्चित रूप से संसार को बढ़ाने वाले ही हैं। तदपि अर्थ और काम में आसक्त गुरुकर्मी लोगों को जिनकी दृष्टि वर्तमान पर ही अधिक स्थिर रहती है, ये नास्तिक बहुत अच्छे लगते हैं। [७९९–८००]

---

* पृष्ठ ७६१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन

हे आर्य पुण्डरीक ! अन्य तीर्थ (दर्शन) तीर्थंकर महाराज के वचन में से ही निकले हुए हैं। इसी कारण जैन-दर्शन व्यापक है, सब से ऊपर है और सब में व्याप्त है। यही कारण है कि राग, द्वेष, महामोह के प्रतिपक्षी सत्य, जीव दया, ब्रह्मचर्य, पवित्रता, इन्द्रियनिग्रह, औदार्य, शोभन वीर्य, अकिंचनता (धनत्याग), लोभत्याग, गुरुभक्ति, तप, ज्ञान, ध्यान और अन्य इसी प्रकार के आस्तिक दर्शनों के अनुष्ठान स्वरूपतः सुन्दर और अच्छे तो लगते हैं, पर वे माँगे हुए आभूषणों के समान होने से सुशोभित नहीं होते। इसका कारण यह है कि वे सत्य, प्राणीदया, ब्रह्मचर्य आदि को अपनी कल्पना से गढे हुए अन्य वचनों के साथ मिला देते हैं और यज्ञ, होम आदि से जोड़ देते हैं। क्योंकि, वे सर्वज्ञ-वचन के अतिरिक्त अन्य वचनों से उनका मिश्रण कर देते हैं, इसलिये वे उन आभूषणों से सुशोभित नहीं होते। सर्व प्रकार की उपाधियों से रहित, मात्र गुणों का ही प्रतिपादन करने वाला सर्वज्ञ-दर्शन सभी तीर्थों/ दर्शनों में कतिपय अंशों में विद्यमान है। इस प्रकार सद्भावयुक्त सर्व-गुणसम्पन्न जैनदर्शन सर्वत्र व्याप्त है। मात्र बाह्य लिंग (वेष) ही धर्म का कारण नहीं है ऐसा समझो। [८०१–८०७]

तुमने पूछा था कि भिन्न-भिन्न प्रकार के ध्यान-योग के बल पर क्या ये अन्य दर्शन वाले भी मोक्ष के साधक हैं या नहीं ? इस प्रश्न का अब मैं स्पष्टीकरण करता हूँ। [८०८]*

बाह्य लिंग : वेष

कुछ प्राणियों का आचरण दुष्ट होता है वे स्वयं शुद्ध अनुष्ठान-रहित होते हैं। ऐसे लोग यदि ध्यान करते हैं तो वह दिखावा मात्र होता है। विवेकी लोगों को ऐसे दिखावे पर तनिक भी विश्वास नहीं करना चाहिये। जैसे धान का छिलका निकाले बिना चावल का मैल नहीं धुल सकता वैसे ही जीवन में पहले आरम्भ-समारम्भादि छिलकों को सदाचार और ध्यान के माध्यम से निकाले बिना अन्य कर्म-मल की शुद्धि नहीं हो सकती है। मलिन-आरम्भी लोगों की शुद्धि मात्र बाह्य ध्यान से नहीं हो सकती। जो तुच्छ सांसारिक आरम्भ-समारम्भ करते रहते हैं, उनकी शुद्धि मात्र बाह्य ध्यान से नहीं हो सकती। आचरण और अनुष्ठानरहित लोगों को छिलके वाले चावल जैसा ही समझना चाहिये। [८०९–८११]

जो प्राणी समस्त प्रकार की उपाधियों से रहित होते हैं वे मोक्ष प्राप्ति के योग्य उच्चतम और श्रेष्ठ ध्यानयोग की साधना करते हैं, जिससे वे मोक्ष के साधक बनते हैं। उपाधिरहित होकर ध्यानयोग की साधना करने वाली निर्मल आत्मा चाहे किसी भी तीर्थ/दर्शन को मानने वाली हो, उसे भावतः जैन शासन के अन्तर्गत ही समझना चाहिये।

---

* पृष्ठ ७६२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतएव मात्र जैन शासन/ दर्शन ही वास्तव में संसार का नाश करने वाला है, अतः जो भी दार्शनिक जैन शासन के अन्तर्गत हैं और समग्र उपाधियों से रहित हैं वे बाह्य वेष से भले ही अपने दर्शन को मानते हों, पर वे संसार का उच्छेद करने वाले होते हैं। [८१२–८१४]

संक्षेप में, जैसे सर्व रोगों की उत्पत्ति का कारण वात, पित्त और कफ है, जिससे इनका शमन हो और प्राणी निरोग हो वही औषधि संसार में उत्तम मानी जाती है वैसे ही कभी-कभी ऊंट वैद्य द्वारा दी हुई औषधि भी परमार्थतः 'घुणाक्षर न्याय' से सद्वैद्य-सम्मत औषधि के समान आरोग्यदायक हो जाती है। अतः जो-जो अनुष्ठान राग, द्वेष, मोहरूपी व्याधियों को नष्ट करने वाले और कर्ममल से परिपूर्ण आत्माओं को निर्मल करने वाले हैं, वे जैन शासन में हों, अन्य दर्शनों में हों, या कहीं भी हों, उन्हें सर्वज्ञ-दर्शन-सम्मत और अनुकूल ही समझना चाहिये। [८१५–८१८]

यह बात संदेहरहित है कि जो अनुष्ठान चित्त को मलिन करने वाले हों और मोक्ष में रुकावट पैदा करने वाले हों वे चाहे जैन मुनियों या श्रावकों (गृहस्थों) द्वारा आचरित हों, तब भी वे जैन-मत से बाहर हैं। तब अन्य दर्शन वाले जो चित्त को मलिन करने वाले और बाहर से दोष युक्त दिखाई देने वाले आरम्भादि अनुष्ठान करते हैं, उनके विषय में तो कहना ही क्या? अतएव जो प्राणी भाव पूर्वक विशुद्ध भावनारूढ होकर संसारसमुद्र को पार कर लेते हैं, उसमें बाह्य वेष की चिन्ता का कोई कारण नहीं है। वस्तुतः विकास-क्रम में मात्र बाह्य वेष को कोई स्थान नहीं है। [८१९–८२१]

माध्यस्थभाव

तेरी अन्य शंका यह थी कि सभी को मोक्ष की साधना करनी है, पर सब के ध्येय भिन्न-भिन्न हैं, इसमें क्या परमार्थ है? इसमें निहित परमार्थ भी लक्ष्य पूर्वक समझ :—

दुष्ट वैचारिक तरंगों के परिणामस्वरूप आत्मा पाप का बन्ध करती है और प्रशस्त शुभ विचारों से पुण्य का बन्ध करती है। जब आत्मा दोनों के प्रति उदासीन हो जाती है, अर्थात् बुरे के प्रति द्वेष और अच्छे के प्रति राग न करे तब वह पाप और पुण्य से भी अलग हो जाती है। जीव का यह स्वभाव है कि वह कभी अच्छे विचार और कभी बुरे विचार करता रहता है, जिससे पुण्य और पाप का बन्ध होता रहता है और बाद में उसके फल भोगने पड़ते हैं। जो इन दोनों से मध्यस्थ रहता है, उदासीन वृत्ति धारण करता है वह पाप और पुण्य से मुक्त रहता है। [८२२–८२४]

जैसे, अपथ्य भोजन से शरीर में व्याधियाँ पैदा हो जाती हैं वैसे ही भ्रम पैदा करने वाले और मन को मलिन करने वाले हिंसामय अनुष्ठानों से मन में बुरे विचारों की तरंगे उठती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार स्थिरता और निर्मलता पैदा करने वाले अहिंसात्मक अनुष्ठानों से मन में अच्छी विचार तरंगे उठती हैं। जैसे, पथ्यकारी थोड़ा भोजन स्वास्थ्य-वर्धक होता है वैसे ही अहिंसामय अनुष्ठान अच्छी विचार तरंगें उत्पन्न करते हैं।

तीसरा, उच्च ध्यान चित्त के सभी कर्मजालों का अन्त कर देता है। इस ध्यान में चित्त उपर्युक्त अच्छी-बुरी विचार तरंगों से मुक्त रहता है। यह माध्यस्थ भाव आत्मा के साथ लगे शुभ-अशुभ कर्मों को समाप्त करने में कर्म-निर्जरा का कारण बनता है। [८२५–८२७]

जिस प्राणी को मोक्ष प्राप्त करना हो, कर्म से मुक्त होना हो उसे चित्त के संकल्प-विकल्प रूपी जालों का निरोध करना पड़ेगा और उसके लिए राग, द्वेष आदि का विच्छेद करने वाले नाना प्रकार के उपायों का सतत प्रयोग करना होगा। [८२८]

ऐसे उपाय चाहे अन्य तीर्थिकों/ दर्शन वालों ने बताये हों अथवा जिन शासन में कथित हों उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। वैसे उपाय भावतीर्थ में व्याप्त होने से ध्येय भाव को दूषित नहीं करते। अर्थात् ध्येय का कोई आग्रह नहीं, मात्र उपाय भावतीर्थ में होना चाहिये। उपाय ऐसा होना चाहिये कि जिससे राग-द्वेष का विच्छेद हो और चित्त के संकल्प-विकल्प दब जायें।

ऐसा कहा जाता है कि मुमुक्षु बाहर से विशुद्ध कर्त्तव्य करते हुए नाना प्रकार के ध्येयों का आश्रय लेकर भी मोक्ष प्राप्त करते हैं, इसका कारण माध्यस्थ भाव ही है। इतना अवश्य है कि परमात्मा को ध्येय बनाने पर जैसा संवेग प्राणी के चित्त में उत्पन्न होता है, वैसा बिन्दु आदि को ध्येय बनाने पर नहीं हो सकता। चित्त को जैसा सुन्दर या असुन्दर आलम्बन मिलता है वैसा ही उसका स्वरूप हो जाता है, यह अनुभव सिद्ध है। [८२९–८३२]

भिन्न-भिन्न जीवों की रुचि भी भिन्न-भिन्न होती है, किसी के चित्त की शुद्धि किसी आलम्बन से होती है और किसी की अन्य आलम्बन से। इसीलिये अन्तःकरण को विशुद्ध करने वाली मौनीन्द्रमार्ग की देशना अनेक प्रकार के आशयों से परिपूर्ण अनेक प्रकार की है। अतः शुद्ध माध्यस्थ भाव धारण करने वाले, विशुद्ध अन्तःकरण वाले किसी पुण्यात्मा प्राणी को बिन्दु आदि ध्येयों से भी चित्त की शुद्धि हो जाय तो इसमें क्या आश्चर्य? [८३३–८३४]

कुछ मूर्ख प्राणी तत्त्व को जानकर भी विशुद्ध अन्तःकरण और मध्यस्थता के अभाव में विपरीत आचरण करते हैं जिससे वे अर्थ और काम में प्रवृत्ति करते हैं। जबकि हमारे जैसे योगी उसी तत्त्वज्ञान के परिणाम स्वरूप एकदम निर्विकल्प होकर भ्रमण करते हैं। अर्थात् ऐसे राग-द्वेष के वशीभूत और मलिन अन्तःकरण वाले प्राणियों को ज्ञान भी विपरीत फल देता है। प्रखर सूर्योदय के समय भी

---

* पृष्ठ ७६३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्भागी उल्लू वृक्ष की कोटर के अन्धकार में छुपा रहता है। इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त कर, वैराग्य का लाभ न उठाकर उल्लू जैसे प्राणी योग्य दृष्टि के अभाव में अज्ञानान्धकार से घिर कर संसार-वृक्ष की कोटर में छिपे रहते हैं। जब ज्ञान किरण से प्रदीप्त योग रूपी सूर्य हृदय में प्रज्जवलित हो तब अर्थ और काम का इच्छा रूपी अन्धकार कैसे विद्यमान रह सकता है? अतः निर्मल चित्त वाले, वैराग्य और अभ्यास के रसिक जीवों के आलम्बन अनेक प्रकार के हो सकते हैं; क्योंकि ये आलम्बन ही अन्त में उसे माध्यस्थ भाव की तरफ ले जाते हैं। इसीलिये अन्य कुतीर्थिकों/दर्शन वालों ने जो ध्येय के अनेक भेद बताये हैं, वे जिन मत रूपी समुद्र से निकले बिन्दु के समान हैं। अन्य दर्शनों की श्रेणी ऊंट वैद्य की वैद्यशालाओं के समान स्वरूप से तो कर्मरोग को बढ़ाने वाली ही है, पर कभी-कभी जो उनका कर्मरोग घटता हुआ या नष्ट होता हुआ दिखाई देता है, उसका कारण भी वे सर्वज्ञ-वचन ही हैं जो कहीं-कहीं उनके शास्त्रों में गूंथे हुए हैं, ऐसा समझो। [८३५–८४२]

सद्वैद्य की वैद्यशाला के समान ही सर्वज्ञ-मत की शाला है और इनकी द्वादशांगी रूपी संहिता ही कर्मरोग को नष्ट करने वाली है। लोगों में कोई-कोई सुन्दर वचन व्याधिनाशक भी प्रचलित होते हैं, पर वे समस्त गुणों की खान द्वादशांगी में व्याप्त वचनों में से ही हैं, ऐसा समझना चाहिये। [८४३–८४४]

कुछ बुद्धिहीन दार्शनिक हिंसा के अच्छे परिणाम बतलाते हैं और देव-देवी के स्मरण मात्र से पाप का नाश होना बतलाते हैं,* वे सब तत्त्वरहित हैं और उनके वचन युक्तिरहित तथा विवेकी पुरुषों के लिए हास्यास्पद हैं। [८४५–८४६]

१९. जैन दर्शन की व्यापकता

तत्त्व-जिज्ञासा

केवली समन्तभद्राचार्य के मुख से ध्यानयोग का स्वरूप सुनकर पुण्डरीक मुनि ने तत्त्व को विशेष स्पष्ट करने की अभिलाषा से आचार्यश्री से पुनः प्रश्न किया :—भगवन्! जैसे आप जैन दर्शन को व्यापक बताते हैं वैसे ही अन्य तीर्थिक/दार्शनिक भी अपने-अपने दर्शन को व्यापक बताते हैं। इसका क्या उत्तर है? जैसे सभी दार्शनिक अपने दर्शन की स्थापना करने वाले को सर्वज्ञ बताते हैं, दूसरे दर्शन का तिरस्कार करते हैं और अपने दर्शन की प्रशंसा करते हैं। स्वयं जिसे देव, धर्म, तत्त्व और मोक्ष मानते हैं, उसके प्रति दृढ़ आग्रह रखते हैं। वे स्वप्न में भी स्वीकार

* पृष्ठ ७६४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं करते कि अपने अतिरिक्त अन्य दर्शन भी सत्य दर्शन हो सकता है। अतः जैसे अन्य दार्शनिक अपने दर्शन का गर्व करते हैं वैसे ही हम भी अपने दर्शन का गर्व करते हैं। फिर हममें और उनमें क्या अन्तर है? हे नाथ! कृपया इसका स्पष्टीकरण करिये, ताकि मेरा मन सुमेरु शिखर के समान उन्नत हो जाये। [८४७–८५२]

जिज्ञासा का समाधान

स्वच्छ दन्तपंक्ति से प्रस्फुटित किरणों के समान शोभित अधर वाले गुरु महाराज ने पुण्डरीक का मन आश्वस्थ हो सके ऐसा संदेह-रहित निम्न स्पष्टीकरण किया :—

देव एक है

मैंने अभी जो जैन दर्शन को व्यापक बताया वह सम्यक्दृष्टि का, सत्य दृष्टि से देखने वालों का और गहन विचार तथा तत्त्वचिन्तन के परिणामस्वरूप किया गया निश्चय है। भेद-बुद्धि, तुच्छ-दृष्टि का परिणाम है। वह अपवित्रता से उत्पन्न होती है और प्राणी को मोहाभिभूत कर देती है। जो प्राणी तत्त्व को जानते हैं वे इस व्यापक दर्शन के अन्तर्गत आ जाते हैं। उनमें से ऐसी घबराहट पैदा करने वाली भेद-बुद्धि स्वतः ही चली जाती है। ऐसे भेद-बुद्धि-रहित प्राणी को एक ही देव दिखाई देता है। वह देव सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग, द्वेषरहित, महामोहादि का नाशक, सशरीरी होने पर सम्पूर्ण लोक का भर्ता तथा अशरीरी होने पर मोक्ष-प्राप्त परमात्मा ही हो सकता है। [८५३–८५७]

जब प्राणी अपने मन में देव का उपर्युक्त स्वरूप निश्चित करता है तब उसके चित्त में नाना प्रकार के शब्द कोई भेद-बुद्धि उत्पन्न नहीं कर सकते। वह तो स्वरूप पर ही दृष्टि रखता है, उसे नाम का मोह नहीं होता। फिर चाहे लोग ऐसे देव को बुद्ध, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, जिनेश्वर या अन्य किसी भी नाम से सम्बोधित करें। यथार्थ दृष्टि वाला इनकी कोई अपेक्षा नहीं करता, उसके लिए शाब्दिक-भेदों से कोई अर्थ-भेद नहीं होता। [८५८–८५९]

जो देव के उपर्युक्त स्वरूप को पहचान कर उसका भजन करते हैं, उनके लिए तेरे-मेरे का प्रश्न ही नहीं उठता। 'यह देव मेरे हैं, तेरे नहीं' यह सब तो मत्सर भाव/झूठा भ्रम है। जो कोई भी भाव से उसकी साधना करता है, भाव से उसकी कामना करता है, उसका वह शिव/कल्याण करता है। सींग के भय से चांडाल को पानी पीने से नहीं रोका जा सकता। जिसके समग्र प्रकार के क्लेश नष्ट हो गये हैं, वही देव है, अतः उसके लिए तो सभी प्राणी समान हैं। जो भी उसे पहचानता है, उसकी मुक्ति होती है। गंगा किसी की बपौती है? संसारी आत्मायें तो कर्मभेद से भिन्न-भिन्न प्रकार की ऊँच-नीच आदि भेद वाली होती हैं, किन्तु परमात्मा तो कर्म-प्रपंच से रहित है, अतः उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं हो सकता। [८६०–८६३]*

* पृष्ठ ७६५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परमात्मा आदि विशेषणों से युक्त, शुद्ध बोध का धारक, अशरीरी होने पर भी अपनी अनन्त शक्ति के प्रभाव से संसार से मुक्त कराने वाला एक ही देव है। जो भाग्यवान प्राणी ऐसे परमात्मा को सम्यक् प्रकार से पहचानते हैं और भाव से उसको स्वीकार करते हैं, उनके मन में उसका सत्य-स्वरूप सुदृढ़ हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसके सम्बन्ध में उनके मन में किसी प्रकार के वाद-विवाद या मत-भेद का कारण ही कैसे उत्पन्न हो सकता है ?

[८६४–८६५]

कुछ अल्पज्ञ लोग परमात्मा को राग-द्वेष से युक्त मानते हैं। ऐसे अल्पज्ञ लोगों को तत्त्व के जानकार महापुरुष करुणा-बुद्धि से बार-बार समझाते रहते हैं कि सर्वज्ञ देव राग-द्वेष रहित ही होते हैं। [८६६]

तात्त्विक दृष्टि से देव का स्वरूप तेरे समक्ष प्रस्तुत किया। ये देव प्रमाणों से सिद्ध हैं, अतः समस्त वादियों के मतानुसार भी एक ही हैं। संक्षेप में कहा जाय तो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, रागद्वेषरहित और महामोह को नष्ट करने वाले देव एक ही हैं।

[८६७]

धर्म एक है

परमार्थ दृष्टि से देखा जाय तो संसार में धर्म भी एक ही है। यह कल्याण-परम्परा का हेतु, स्वयं शुद्ध और शुद्ध गुणों से परिपूर्ण है। ये शुद्ध गुण दस प्रकार के हैं। जैसे—क्षमा, मार्दव, शौच (पवित्रता) तप, संयम, मुक्ति, (लोभ त्याग) सत्य, ब्रह्मचर्य, सरलता और त्याग। पण्डित लोग इस दस लक्षण युक्त धर्म को पहचानते हैं और इसे स्वर्ग तथा मोक्ष का दाता मानते हैं। वे इसकी शक्ति के सम्बन्ध में कभी वाद-विवाद नहीं करते। कुछ मूर्ख प्राणी धर्म की इससे विपरीत कल्पना करते हैं, किन्तु करुणार्द्र विद्वान् पुरुष उन्हें ऐसी विपरीत कल्पना करने से बार-बार टोकते हैं। प्रमाणों से सिद्ध होने वाला ऐसा धर्म भी एक ही है। हे पुण्डरीक ! इसका प्रतिपादन भी मैंने तेरे समक्ष कर दिया। [८६८–८७२]

मोक्ष-मार्ग एक है

तत्त्व संज्ञा वाला मोक्षमार्ग भी परमार्थ से एक ही है और विद्वान् पुरुष उसे एकरूप ही पहचानते हैं। जैसे, कोई इसे सत्व, कोई लेश्याशुद्धि, कोई शक्ति और कोई इसे योगियों को प्राप्त करने योग्य परम वीर्य कहते हैं। इसमें जो भेद दिखाई देते हैं वे नाम मात्र के हैं, अर्थ भेद तो किञ्चित् मात्र भी नहीं है। आचरण में भी ध्वनि-भेद सुनाई पड़ता है, जैसे कोई अदृष्ट, कोई कर्म-संस्कार, कोई पुण्य-पाप, कोई शुभ-अशुभ, कोई धर्म-अधर्म और कोई इसे पाश कहते हैं। ये सब पृथक्-पृथक् पर्याय मात्र हैं। एक ही अर्थ को बताने वाले सत्व, वीर्य आदि भिन्न-भिन्न शब्द हैं। इनकी हानि या वृद्धि क्रमशः संसार और मोक्ष का कारण होती है। पुण्य की हानि और पाप की वृद्धि से संसार में सर्व प्रकार की विपत्तियाँ आती हैं और पुण्य की वृद्धि से सब प्रकार की विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। [८७३–८७७]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशुद्धि की कोटियां (श्रेणियाँ) चार कही गई हैं—ऐश्वर्य, ज्ञान, वैराग्य और धर्म। जब सत्त्व, रजस् और तमस् से घिर जाता है तब प्रकाश अन्धकार में बदल जाता है और उपर्युक्त ऐश्वर्य आदि चारों गुण विपरीत हो जाते हैं। रजस् के आवरण से वैराग्य के स्थान पर अवैराग्य हो जाता है और तमस् के आवरण से ऐश्वर्य के स्थान पर अनैश्वर्य, ज्ञान के स्थान पर अज्ञान और धर्म के स्थान पर अधर्म हो जाता है। रजस् और तमस् दोनों साथ रहते हैं। जहाँ एक होता है वहाँ दूसरे का होना अवश्यंभावी है। रजस् और तमस् से घिरा हुआ मैल युक्त* सत्त्व सर्वथा संसार बढ़ाने वाला और दुःखों का कारण होता है। जबकि वही निर्मल सत्त्व शक्ति से परिपूर्ण तथा सुख एवं मोक्ष का कारण होता है। इस सत्त्व को निर्मल बनाने के लिये ही तप, ध्यान, व्रत आदि अनेक अनुष्ठान बताये गये हैं। यह शुद्ध सत्त्व ही परमदैवी / पारमेश्वरी तत्त्व भी है। सत्त्व-गोचर जो ज्ञान होता है वही यथार्थ ज्ञान है और इसके आश्रय में जिस श्रद्धा का पालन किया जाता है वही वास्तविक श्रद्धा है। इस श्रद्धा को बढ़ाने वाली क्रिया को ही सच्ची क्रिया कहा जाता है और उस सत्क्रिया के मार्ग पर चलने को ही सच्चा मोक्ष मार्ग। जिन महान् सत्त्वों ने शुद्ध बुद्धिपूर्वक सत् तत्त्व को पहचान लिया है, वे मेरु के समान निष्कम्प/निश्चल चित्त वाले हो जाते हैं, उनको किसी प्रकार की भ्रांति, शंका या घबराहट नहीं होती। जो मूढ़ लोग शुद्ध-तत्त्व मार्ग से भ्रष्ट होकर जहाँ-तहाँ भ्रमण कर रहे हैं, इधर-उधर भटक रहें हैं, उन पर महान कृपा कर शुद्ध बुद्धि वाले महान सत्त्व उन्हें सत्य मार्ग बताते हैं, और उन्हें भटकने से बार-बार रोकते/टोकते हैं। मैंने तुम्हारे समक्ष संक्षेप में अत्यन्त प्रशस्ततम सत्त्व का वर्णन किया। महान योगी इसी सत्तव का निर्णय कर अपने विशाल कार्यों को क्रियान्वित करते हैं। [८७८–८८८]

जैसे शुद्ध सत्त्व अविचल, एक और प्रमाणसिद्ध है वैसे ही मोक्ष भी अविचल, एक और प्रमाणसिद्ध है। यह अत्यन्त आह्लादकारी, सुन्दर और सुसाध्य है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त वीर्य वाली, अमूर्त, एक ही रूप वाली आत्मा का निज स्वरूप में रहना ही मोक्ष है। यही मोक्ष का लक्षण है। फिर उसे संसिद्धि, निर्वृत्ति, शान्ति, शिव, अक्षय, अव्यय, अमृत, ब्रह्म, निर्वाण या अन्य किसी भी नाम से पुकारा जाय, पर ये सब मोक्ष को ही ध्वनित करते हैं [८८९–८९१]

ये सभी प्रकार के कर्त्तव्य लेश्याशुद्धि के लिए ही हैं, लेश्याशुद्धि मोक्ष के लिये है और मोक्ष उपर्युक्त वर्णित लक्षण वाला है। अर्थात् जिससे आत्मा निज-स्वरूप में स्थित हो वही मोक्ष है और आत्मा को निज-स्वरूप में स्थित करने वाली लेश्याशुद्धि मोक्ष का कारण है। लेश्याशुद्धि की विशेषता या अल्पता के कारण देवगति या मनुष्य जन्म में आनुषंगिक रूप से जिन सुखों की प्राप्ति होती है, उन्हें भी मोक्ष-प्राप्ति के लिये त्याग करने योग्य कहा गया है। [८९२–९३]

---

* पृष्ठ ७६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सद्देव और सद्धर्म को प्रकट करने वाले सत्-शास्त्र इसी प्रकार के मोक्ष का प्रतिपादन करते हैं। जो शास्त्र दृष्ट (अनुमान, प्रमाण) से, इष्ट (आगम प्रमाण) से अबाधित हो और जो सर्व प्रमाणों से प्रतिष्ठित हो ऐसा एक ही शास्त्र सर्वत्र व्यापक है। ऐसे शास्त्र को ही व्यापक शास्त्र माना गया है। यह उस एक शास्त्र का भावार्थ कहा गया है जिसमें विशेष प्रकार के भाव व्याप्त हैं, उन्हें समझ कर अपनी इच्छानुसार विविध शब्दों में गूंथा गया है। उसे वैष्णव, ब्राह्मण, माहेश्वर, बौद्ध या जैन किसी भी नाम से कहा जा सकता है। जब तक इसके मूल भाव का नाश न हो तब तक शब्दों के परिवर्तन से कोई अन्तर नहीं आता। विद्वान् पुरुष तो अर्थ देखकर ही प्रसन्न होते हैं, उसके आन्तरिक भावार्थ का विचार करते हैं, वे मात्र शब्द या नाम का आग्रह नहीं रखते। किसी गुणहीन मनुष्य को देव कहने मात्र से वह देव नहीं बन जाता, यदि देव शब्द से सम्बोधित करने मात्र से वह मनुष्य प्रसन्न होता है तो उसे मूर्ख ही समझना चाहिये। [८९४–८९९]

ऐसी अवस्था में भी यदि अन्य दार्शनिक अपने-अपने दर्शन को व्यापक कहते हैं तो कहने दीजिये, इसमें झगड़ने की अथवा विवाद करने की कोई आवश्यकता नहीं है। हे पुण्डरीक महामुने! मोह के कारण जिनकी बुद्धि पर आवरण आ जाता है उनकी दृष्टि में विकार पैदा हो जाता है। वास्तव में तो दर्शन एक ही है, पर ऐसे विकारग्रस्त लोग ही दर्शन के अनेक भेद करते हैं, जो सचमुच झूठा मोह है।* जब प्राणी की बुद्धि पर से यह व्यामोह का पर्दा हट जाता है तब उसे सभी वस्तुएँ सद्बुद्धिगोचर होती हैं और जब उसे सद्दर्शन का भान हो जाता है तब उसमें थोड़ी सी भी भेद-बुद्धि नहीं रहती। शुद्ध दर्शन में भेद-बुद्धि को कोई स्थान नहीं है।

[९००–९०२]

सभी वादी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। जो आत्मा मोहनीय कर्मरूपी मैल से युक्त हो वह मोक्ष-मार्ग को देख या जान नहीं सकती। जब आँख में मैल होता है तब स्पष्टतः वस्तु का दर्शन नहीं होता। इसी प्रकार जब आत्मा के कर्म-मल का नाश होता है तभी उसे यथास्थित मोक्षमार्ग दिखाई देता है। ऐसी आत्मा चाहे जहाँ रहे, उसे स्वतः ही मोक्ष-मार्ग दिखाई दे जाता है। ऐसी स्थिति में प्राणी परमार्थ को प्रकट करने वाले सद्दर्शन को स्पष्ट देखता है और अपने झूठे आग्रह को छोड़ देता है। मनीषियों ने इसी स्थिति को भटके हुए को मार्ग पर लाना कहा है। विद्वानों का मत है कि जो प्राणी मूर्ख हो, गुणदोष की परीक्षा न कर सकता हो, ज्ञान-शून्य हो, ऐसा प्राणी सिद्धान्त रूप विषम दुरूह ज्ञान को कैसे प्राप्त कर सकता है? वस्तुतः मैं अच्छा तू खराब, मेरा दर्शन अच्छा तेरा खराब, यह सब बोलना/ मानना और ऐसी बातें करना तो स्पष्टतः मत्सर/द्वेष का खेल है।

[९०३–९०७]

---

* पृष्ठ ७६७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक क्या कहूँ ? इस लोक में जितने भी प्राणी यथावस्थित दृष्टि वाले हैं, वे सभी इस तात्त्विक शुद्ध दर्शन के अन्तर्गत आ जाते हैं। ऐसे विशाल दर्शन में रहने वालों का तेरा-मेरा तो नष्ट ही हो जाता है, अतः वे किसी प्रकार का वाद-विवाद करते ही नहीं। कभी वाद करना भी पड़े तो वे सब को समानता प्रदान करते हैं, सब के अन्दर गहराई में रही हुई एकरूपता का भान कराते हैं। कुछ प्राणियों का कर्म-मल नष्ट नहीं होने से वे विपरीत दृष्टि वाले होते हैं, जिससे मात्सर्य और अभिमान में आकर वे अपने दर्शन को ही व्यापक बताते हैं, उसी को सर्वव्यापक कहलवाने का दावा करते हैं। ऐसे जन्मान्ध तुल्य मनुष्यों को तो उत्तर न देना ही अच्छा है, अथवा यदि संभव हो तो ऐसे लोगों को तत्त्वमार्ग पर लाने का प्रयत्न करना चाहिये। इस ससार में मोह को नष्ट करने के समान अन्य कोई महत्तम उपकार नहीं है।

[९०८–९११]

पुण्डरीक ! तूने पूछा कि अन्य दार्शनिक अपने दर्शन को व्यापक बताते हैं, उसका क्या उत्तर है ? उसी विषय में मैंने तुझे ऐसा उत्तर बताया है कि जिसका कोई प्रतिघात न हो, कोई काट न कर सके। बात ऐसी है कि जैन-दर्शन में दृष्टिवाद नामक बारहवां अंग-शास्त्र है जो समुद्र के समान विशाल है, इस में सभी नयों (दृष्टियों) का समावेश है। इस सागर में कुदृष्टि रूपी नदियां भी आकर मिल जाती हैं, यह सब तू इससे स्पष्ट समझ सकेगा। जब तू इसका अभ्यास करेगा तब तेरे समस्त सन्देहों का विलय/नाश हो जायेगा और तुझे पूर्ण विश्वास हो जायगा कि सर्वज्ञ महाराज के वचनों से अधिक श्रेष्ठ कोई वचन नहीं है। [९१२–९१४]

इस प्रकार समन्तभद्राचार्य ने पुण्डरीक मुनि के प्रश्नों का विस्तारपूर्वक समाधान किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२० मोक्ष-गमन

समन्तभद्र का मोक्ष-गमन

सैद्धान्तिक रहस्यों के ज्ञाता आचार्य समन्तभद्र की वाणी से पुण्डरीक मुनि के समस्त संदेह नष्ट हो गये। वे क्रमशः द्वादशांगी के पारगामी विद्वान् बने। आचार्य समन्तभद्र की कृपा से अनन्त गम-पर्याय युक्त सभी भावों को विस्तार पूर्वक जान गये। उन्होंने गहन अभ्यास एवं चिन्तन-मनन द्वारा आगम के रहस्य ज्ञान को हृदयंगम किया। फिर आचार्यश्री ने इन्हें द्वादशांगी सूत्र की व्याख्या करने और गच्छ संभालने की आज्ञा दे दी। अपने आचार्य पद का स्थान पुण्डरीक मुनि को देते हुए समन्तभद्राचार्य अत्यन्त प्रसन्न हुए। अपने पीछे शासन के रक्षक की स्थापना कर, योग्य व्यक्ति को उसके योग्य पद पर स्थापित कर वे अपने कर्त्तव्य से उऋण हुए और मन में संतुष्ट हुए। पुण्डरीक मुनि को आचार्यपद पर प्रतिष्ठित करने की प्रसन्नता में आठ दिन तक देवों और मनुष्यों ने विधि पूर्वक एवं आनन्द से देव और संघ की पूजा-भक्ति की। * अन्त में समन्तभद्राचार्य ने अपने शरीर रूपी पिंजर को त्याग कर, कृतकृत्य होकर मोक्ष प्राप्त किया। [९१५–९२०]

पुण्डरीक का मोक्ष गमन

इसके पश्चात् पुण्डरीक आचार्य की भी प्रगति होने लगी। पहले उन्हें अवधिज्ञान प्राप्त हुआ और बाद में मनःपर्यव-ज्ञान भी प्राप्त हो गया। पुण्डरीकसूरि शासनदीपक बने। जैसे सूर्य अपने प्रकाश से कमलों को विकसित करता है वैसे ही उन्होंने अपने उपदेश रूपी किरणों के तेज से भव्य प्राणियों की महामोह रूपी निद्रा को उड़ा दिया और उन्हें जाग्रत कर दिया। लोगों के उपकार को ध्यान में रखकर ही उन्होंने एक देश से दूसरे देश में विहार किया, अपनी साधुचर्या में स्थिर रहे, निरतिचार चारित्र का पालन किया और अनेक गुण-विभूषित शिष्य समुदाय को संगठित किया। उन्होंने दान, शील, तप और भाव रूपी धर्म के चारों पायों का जीवन में क्रमशः पालन किया। जीवन के प्रथम भाग में त्याग किया, दूसरे भाग में शील (ब्रह्मचर्य) का पालन किया, तीसरे भाग में उत्कृष्टतम तपस्या की और चौथे भाग में भाव-धर्म को स्वीकार किया। इस प्रकार धर्म-जीवन के चारों विभागों का आचरण कर, दिन की आकृति को धारण करने वाले इस जीवन को भव्य रूप से व्यतीत करते हुए जिनशासन को प्रकाशित किया। सूर्य रूप पुण्डरीकाचार्य ने जीवन के सन्ध्या काल में अपने जीवन का अन्त निकट जान कर संलेखना (अन्तिम आराधना) अंगीकार कर ली। [९२१–९२५]

---

* पृष्ठ ७६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तिम आराधना के समय को निकट जानकर पहले उन्होंने अपने शिष्य-रत्न धनेश्वर को स्वकीय स्थान पर आचार्य पद पर स्थापित किया। धनेश्वर मुनि उच्च क्रियाओं के अभ्यासी थे। योग-क्रियाओं के पालक थे और सभी आगमों के गीतार्थ/निष्णात थे। क्रिया और ज्ञान में पारंगत शिष्यरत्न को आचार्य पद पर स्थापित कर आचार्य पुण्डरीक कृतकृत्य हुए। [९२६]

फिर आचार्य ने धनेश्वर को अनुज्ञा प्रदान कर, अपने सामने सब से आगे बिठाकर गच्छ का भार सौंपा और अनुशासनात्मक निर्देश दिया—

हे महाभाग्यशालिन्! यह जिनागम संसार रूपी महापर्वतों को भेदने में वज्र के समान है, पर वह बड़ी कठिनाई से सीखा जाता है। तुमने इसे सीखा है, अतः तुम धन्यवाद के पात्र हो। आज तुम्हें जिस पद का भार सौंपा गया है वह संसार में सब से उत्तम सत्सम्पदाओं का पद है, महास्थान है। यह आत्मसंपत्तियों का सर्वोच्च-तम पवित्र स्थान है और पहले भी कई महासत्त्वधारी धीर-वीर-पुरुष इसको सुशो-भित कर चुके हैं। हे वत्स! यह पद भाग्यशाली को ही दिया जाता है। जो महासत्त्व इस पद-भार को संभालता है, वह धन्य है। ऐसे भाग्यवान प्राणी इस पद को प्राप्त कर संसार से भी पार उतर जाते हैं। [९२७–९३०]

यह समस्त मुनिपुंगवों का समूह संसार-अटवी से घबराकर अब से तेरी शरण में है। तू इतना सक्षम है कि तू इन्हें संसार-अटवी से पार उतार सकता है, इसीलिये ये मुनि तेरी शरण में आये हैं। [९३१]

भाग्यशाली प्राणी स्वयं परमैश्वर्य युक्त निर्मल गुणपुञ्जों को प्राप्त कर संसार से त्रस्त प्राणियों की रक्षा करते हैं। उन्हें संसार-भय से मुक्त करते हैं। ये संसारी जीव सचमुच भाव-रोग से पीड़ित हैं और तू यथार्थ भाववैद्य/भिषग्वर है, अतः तुझे इन उत्तम संसारी जीवों को भाव-व्याधि के दुःख से प्रयत्नपूर्वक छुड़ाना चाहिये। जो गुरु स्वयं चारित्र और क्रिया में अप्रमादी होता है, परोपकार में उद्यमी होता है, मोक्ष पर दृढ़ लक्ष्य वाला होता है और संसार-बन्दीगृह से निःस्पृह होता है वही अन्य प्राणियों को दुःख और व्याधि से छुड़ा सकता है।

तू इस स्थान/पद के सर्वथा योग्य है और तुझे ऐसी प्रेरणा करना कल्प है/शास्त्र की आज्ञा है। इसीलिये मैंने तुझे इतना प्रेरित किया है। संक्षेप में तुझे अपने गच्छाधिपति पद के योग्य सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये। [९३२–९३५]

आचार्य पुण्डरीक के उपर्युक्त अनुशासनात्मक निर्देश को धनेश्वरसूरि नत-मस्तक होकर विनयपूर्वक सुनते रहे। तत्पश्चात् पुण्डरीकाचार्य ने अपनी दृष्टि अपने शिष्यों की तरफ घुमाई और कहा—हे शिष्यों! तुम सब को यह ध्यान रखना चाहिये कि धनेश्वरसूरि तुम्हें संसार-सागर से पार उतारने के लिये सचमुच एक सुदृढ़ जहाज के समान है। यदि तुम्हें सागर से पार उतरना है तो इस जहाज को कभी भी मत छोड़ना। तुम्हें सदा इनके अनुकूल बनकर रहना चाहिये, कभी भी इनके प्रतिकूल कोई कार्य नहीं करना चाहिये। सदा इनकी आज्ञा का पालन करना चाहिये, जिससे कि तुम्हारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गृह त्याग जैसा महान कार्य * सफलता को प्राप्त हो। यदि तुम इनकी आज्ञा का उल्लंघन करोगे, या आज्ञा के प्रतिकूल चलोगे तो वह जगत्बन्धु तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन माना जावेगा। तुम जानते ही हो कि भगवान् की आज्ञा के उल्लंघन से इस भव तथा परभव में तुम्हें अनेक प्रकार की विडंबनायें प्राप्त होंगी, अतः सदा इनकी आज्ञा में और इनके अनुकूल ही रहना। 'कुलवधु न्याय' से अर्थात् जैसे कुलवधु किसी भी प्रकार की स्खलना के कारण सास, ससुर, पति आदि से तिरस्कृत होने पर भी ससुराल और पति के चरणों को नहीं छोड़ती वैसे ही तुम्हें नियंत्रण में रखने के लिये यदि गुरु कुछ कटूक्ति भी कह दें तब भी तुम्हें जीवनपर्यन्त इनके चरण-कमलों को नहीं छोड़ना चाहिये, कभी इनका अनादर नहीं करना चाहिये।

जो भाग्यशाली गुरु-चरणों की सर्वदा सेवा करतें हैं वे ही वास्तव में सच्चे ज्ञान के पात्र हैं! ऐसे मुनियों का दर्शन निर्मल और चारित्र निष्प्रकम्प/स्थिर होता है। [९३६–९४१]

शिष्यों ने सिर झुका कर सद्धर्माचार्य के वचन स्वीकार किये और पुनः-पुनः गुरु महाराज को वन्दन किया। इस प्रकार अपने कर्त्तव्य को पूर्ण कर पुण्डरीकसूरि गण का त्याग कर किसी श्रेष्ठ पर्वत की गुफा में चले गये। [९४२–९४३]

गुफा में पहुँच कर वे स्थिर हो गये। महान् तपस्या के अनुष्ठान से उनके शरीर का रक्त-मांस सूख गया और अस्थिपंजर मात्र रह गया। फिर भी धैर्यवान मनस्वी महर्षि ने परिषह सहन करने के लिये स्वयं को एक शुद्ध शिला पर स्थिर कर दिया। फिर उन्होंने भावपूर्वक पंच परमेष्ठी मंत्र का स्मरण प्रारम्भ किया। चित्त को नमस्कार मंत्र में एकाग्र कर, हृदय में सिद्धों की स्थापना कर, दृष्टि को इधर-उधर से हटाकर प्रणिधान धारण किया। धर्मध्यान और शुक्लध्यान के हेतुभूत इस प्रणिधान को इन महान भाग्यवान आचार्य ने अत्यन्त विशुद्ध बुद्धिपूर्वक और तीव्र संवेग के साथ स्वीकार किया। इस प्रणिधान में उन्होंने निम्न चिन्तन किया:—

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य को प्राप्त करने में तत्पर मेरी अन्तरात्मा एक ही है, मात्र वही मेरी है, इसके अतिरिक्त अन्य सभी का मैंने त्याग कर दिया है। राग, द्वेष, मोह और कषाय रूपी मैल को धोकर मैं विशुद्ध हो गया हूँ। अब मैं सच्चा स्नातक हो गया हूँ। सभी जीव मुझे क्षमा करें, मैं सभी जीवों को क्षमा करता हूँ। मेरी आत्मा अब वैर-विरोध रहित होकर अत्यन्त शान्त और क्षेत्रज्ञ हो गई है। अभी तक मैंने किसी भी बाह्य वस्तु को अपनी समझ कर ग्रहण करने की भूल की हो, उसका अब मैं त्याग करता हूँ। [९४४–९५०]

महान् तीर्थंकर भगवान् (अरिहन्त), पापरहित सिद्ध भगवान्, विशुद्ध सद्धर्म और साधु मेरा मंगल करें। त्रैलोक्य में मैं इन चारों (अरिहन्त, सिद्ध, साधु और

* पृष्ठ ७६९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सद्धर्म) को ही सर्वोत्तम रूप से अंगीकार करता हूँ। भवभीरु (संसार से भयभीत) होकर मैं इन चारों की शरण ग्रहण करता हूँ [६५१-६५२]

मैं सभी कामनाओं से निवृत होता हूँ। मेरे मन के विकल्पजालों का मैं निरोध करता हूँ। अब मैं सभी प्राणियों का बन्धु हूँ और सभी स्त्रियों का पुत्र हूँ। सर्व प्रकार के मन, वचन काया के योगों का निरोध करने वाली शुद्ध सामायिक को अब मैंने ग्रहण कर लिया है। मैंने मन, वचन, काया की सभी चेष्टाओं का त्याग कर दिया है। हे परमेश्वर! हे महान् उदार सिद्धों! आप अपनी कृपा-दृष्टि इधर कीजिये, अपनी करुणा-दृष्टि मुझ पर डालिये। अभी मुझ में प्रकर्ष संवेग उत्पन्न हुआ है, अतः हे प्रभो! मेरे द्वारा इस भव में या अन्यत्र कभी भी कोई बुरा आचरण हुआ हो तो मैं उन सब की पुनः-पुनः निन्दा करता हूँ।

मैं समस्त उपाधि से विशुद्ध हो गया हूँ, ऐसा मैं इस समय मानता हूँ। आगे सत्य-तत्त्व को तो केवली भगवान् ही जानते हैं। [६५३-६५६]

मैं संसार-प्रपञ्च से विलग हो गया हूँ। इस समय मुझे एक मात्र मोक्ष की लगन लगी हुई है। जन्म-मरण का सर्वथा नाश करने वाले जिनेश्वर देव को मैंने मेरी आत्मा को समर्पित कर दिया है। इन महात्माओं को सद्भाव पूर्वक मेरा चित्त अर्पित है। अब वे इस समय अपनी शक्ति से मेरे समस्त शेष कर्मों का नाश करें। [६५७-६५८]

इस प्रकार प्रणिधान एवं आलोचना पूर्वक पुण्डरीक महात्मा ने शरीर के ममत्व का त्याग कर, निःसंग होकर एक शिला-खण्ड पर पादपोपगम (वृक्ष की तरह निश्चल होकर) अनशन धारण किया।

पादपोपगम की स्थिति में विराजमान पुण्डरीकाचार्य को उस समय देवों और असुरों की ओर से अनेक भीषण उपसर्ग हुए जिनको उन्होंने शान्तिपूर्वक अपने आंतरिक तेज से सहन किया। पशु-पक्षी और मनुष्यों के उपसर्ग भी उन्होंने उसी धैर्य से सहन किये।

इसके पश्चात् धर्म-ध्यान द्वारा उन्होंने अपने अनेक कर्मों का नाश किया और शुक्लध्यान धारण किया और अपने वीर्य (सत्त्व) रूपी अग्नि के बल से समग्र तथा कर्मजालों को भस्मीभूत कर दिया। शुभ ध्यान की वृद्धि होते-होते क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर चारों घाती कर्मों को नष्ट कर अनन्त वस्तुओं के दर्शक केवलज्ञान को प्राप्त किया। [६५९-६६३]

उस समय उनके गुणों से आकर्षित होकर उनकी पूजा करने के लिये चारों प्रकार के देवता वहाँ एकत्रित हुए। किन्नरगण मधुर स्वर में गाने लगे, आकाश में देव-दुन्दुभि बजाने लगे, देवांगनायें नृत्य करने लगीं, देवगणों ने चारों तरफ के रज (कचरे) को साफ कर सुगन्धित जल और मनोहर पुष्पों की वृष्टि की।

---

* पृष्ठ ७७०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारों तरफ की दिव्यगन्ध से आकर्षित होकर भौरों के झुंड वहाँ गुंजारव करने लगे जिससे वह प्रदेश क्षणमात्र में अति रमणीय और सुगन्ध से महक उठा। भक्तिरस में लीन देवों ने चन्दन का केवली के शरीर पर लेप किया, दिव्य धूप से सुवासित किया और अपने तेजस्वी देदीप्यमान मुकुट युक्त सिरों को मुनीश्वर के चरणों में झुकाकर उनकी स्तुति करने लगे तथा पाप-शुद्धि के लिए उनकी चरण-रज को अपने मस्तक पर लगाकर अपना अहोभाग्य मानने लगे।

इस प्रकार देवगण अतिशय प्रमोदपूर्वक मुनीश्वर के समक्ष खड़े थे तभी उन्होंने समुद्घात (एक साथ प्रबल वेग से कर्मों का नाश) अवस्था को प्राप्त किया। क्षणमात्र में समुद्घात द्वारा अशेष कर्मों का समीकरण करते हुए तीनों योगों का निरोध करने लगे।

क्रमशः चौदहवें गुणस्थान पर पहुँचकर, शरीर के योग का भी निरोध कर, शैलेशी अवस्था को प्राप्त हुए। शैलेशीकरण कर अन्तर्मुहूर्त में परमपद मोक्ष प्राप्त किया।

उस समय देवताओं ने उनकी विशेष रूप से महापूजा की और अपने कर्त्तव्य का पूर्णतया पालन करते हुए अत्यन्त आनन्दपूर्वक अपने पापों को नष्ट कर अपने-अपने स्थान को गये। [९६४–९७३]

महाभद्रा का मोक्षगमन

देवी महाभद्रा साध्वी ने भी प्रवर्तिनी के योग्य अपने कर्त्तव्य को पूरा किया और क्रमशः प्रगति करती हुई क्षपक श्रेणी पर आरूढ होकर सर्व कर्मों को भस्मीभूत कर मोक्ष पधारीं। इन्होंने भक्तपरिज्ञा अनशन (खाने-पीने का त्याग, पर चलने-फिरने का त्याग नहीं) द्वारा मोक्ष प्राप्त किया। [९७४]

सुललिता का मोक्षगमन

सुललिता साध्वी ने पूर्व-वर्णित अनेक प्रकार के तप किये, परिणामस्वरूप जैसे रत्न खार से निर्मल हो जाता है वैसे ही उनका चित्तरत्न अधिक निर्मल होता गया। अन्त में शरीर रूपी पिंजरे को छोड़कर कर्मों का क्षय कर इन्होंने भी भक्त-परिज्ञा अनशन द्वारा मोक्ष प्राप्त किया। [९७५–९७६]*

श्रीगर्भ का देवलोक-गमन : सामान्य प्रगति

श्रीगर्भ राजा तथा अन्य तपोधन साधुओं ने भी अनेक प्रकार के तपों की आराधना की और अन्त में देवलोक गये। सुमंगला आदि साध्वियाँ भी देवलोक में गईं।

अधिक क्या ? संक्षेप में कहा जाय तो मनोनन्दन उद्यान में जितने भी प्राणी समन्तभद्राचार्य के चरणों के निकट आये थे और जिन्होंने अनुसुन्दर का

* पृष्ठ ७७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चरित्र सुना था उन सब की अन्तरंग प्रगति हुई। जिन्होंने दूर रहकर, विस्मित होकर मात्र कुतूहल से उपदेश सुना था उनका भी कल्याण हुआ। जिन-जिन भव्य प्राणियों ने यह कथा सुनी उनका मन भी निश्चिततया भव प्रपञ्च से विरक्त हुआ, थोड़े बहुत अंश में उन्हें भी वैराग्य प्राप्त हुआ। इसके परिणामस्वरूप कुछ श्रोताओं ने दीक्षा ली, कुछ ने गृहस्थ धर्म स्वीकार किया, कुछ ने सम्यक्त्व प्राप्त किया और कुछ को संवेग प्राप्त हुआ। [९७७–९८१]

२१. उपसंहार

हे भव्यपुरुषों ! मैंने आपको महान् पुरुषों का यह वृत्तान्त सुनाया जिसे आपने भावार्थ सहित सुना/समझा। यदि आप इसे सम्यक् रीति से समझ गये हैं, तो आपको भी इसके अनुसार अनुष्ठान/आचरण करना चाहिये, जिससे कि इस प्रसंग में किया गया मेरा परिश्रम भी सफल हो। एक विशेष बात, मैंने इस ग्रन्थ में जो वृत्तान्त प्रस्तुत किया है, वह प्रायः सभी संसारी जीवों पर समान रूप से लागू होता है, तब स्वयं के चरित्र से मिलते चरित्र को सुनकर भी यदि आप उसे जीवन में उतारने में विलम्ब करें, उसकी उपेक्षा करें तो वह किसी प्रकार आपके लिए योग्य नहीं कहा जा सकता। [९८२–९८५]

उपनयों का उपसंहार

कुमार पुण्डरीक इस जम्बूद्वीप स्थित पूर्व महाविदेह क्षेत्रवर्ती सुकच्छ-विजय के शंखपुर नगर में श्रीगर्भ राजा और कमलिनी रानी का पुत्र हुआ। समन्त-भद्राचार्य ने जो शंखपुर के चित्तरम उद्यान में स्थित मनोनन्दन चैत्य में विराज रहे थे तब बालक की पात्रता को देखकर उन्होंने अनेक भव्य पुरुषों के समक्ष कहा था कि 'मनुजगति नगर में अनुकूल बने कर्मपरिणाम महाराजा और काल-परिणति महारानी के सुमति या भव्यपुरुष नामक बालक का जन्म हुआ है।' साथ में उन्होंने यह भी कहा था कि 'यह बालक बड़ा होकर समस्त गुणों का आधार सर्वगुण सम्पन्न होगा।' यह बात तो आपके ध्यान में ही होगी।

उपर्युक्त सभी वृत्तान्त लघुकर्मी भव्य पुरुषों पर समान रूप से घटित होता है। मनुष्य चाहे किसी क्षेत्र, नगर या स्थान में जन्म ले, पर वे सब मनुजगति नगरी में ही रहते हैं। बाह्यदृष्टि से उनके माता-पिता के भिन्न-भिन्न नाम भले ही हों, परन्तु वस्तुतः तो वे सभी कर्मपरिणाम राजा और कालपरिणति रानी के ही पुत्र हैं। फिर उनके कुछ भी नाम क्यों न रखे गये हों, पर उनका सामान्य नाम भव्यपुरुष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही रखा जाय तो कोई बाधा नहीं आती, उचित ही है। और, उनकी बुद्धि अच्छी होने से उन्हें सुमति भी कहा जा सकता है।

सदागम (सर्वज्ञ-भाषित आगम का प्रतिपादक) को पुरुष के आकार में बतलाने वाले श्री समन्तभद्राचार्य ने इसीलिये पुण्डरीक को मनुजगति निवासी लघु-कर्मी सर्वगुणसम्पन्न सुमति/भव्यपुरुष की उपमा प्रदान की है, वह उचित ही है।

जैसे महाभद्रा ने समन्तभद्राचार्य के वचन सुनकर, तुरन्त प्रतिबोधित होकर दीक्षा ग्रहण करली और प्रज्ञाविशाला बन गई, उसी प्रकार संसार में उत्तम पुरुष सर्वज्ञ-प्ररूपित आगम का उपदेश सुनकर तत्त्व का सम्यक् बोध प्राप्त करते हैं और उसे प्राथमिकता देते हुए शीघ्र ही साधु बन जाते हैं। परमार्थ से ऐसे पुरुषों को ही प्रज्ञाविशाल (विशाल बुद्धि वैभव वाले) कहा जाता है।*

सुललिता (अगृहीतसंकेता) को जैसे पूर्व भव के अभ्यास के कारण महाभद्रा से गुणकारी स्नेह-सम्बन्ध हुआ, वैसे ही संसार के कुछ भारीकर्मी जीवों का जब भविष्य सुधरने वाला होता है तब ऐसे भव्य प्राणियों का किसी न किसी सुसाधु से अवश्य सम्बन्ध होता है और ऐसा सम्बन्ध उसके गुण-वृद्धि का कारण होता है। क्योंकि, कल्याण-मित्र का योग सम्पत्ति को प्राप्त कराने वाला, योग्यता उत्पन्न करने वाला, गुण-रत्नों की खान भविष्य की कल्याण-परम्परा को सूचित करने वाला और जैसे अमृत का योग विष को नष्ट करता है वैसे ही कर्मरूपी महाकठिन विष को नष्ट करने वाला होता है।

जैसे महाभद्रा साध्वी ने समन्तभद्राचार्य के माध्यम से अपने उपदेश द्वारा सुललिता के हृदय में सदागम के प्रति भक्ति उत्पन्न की और पुण्डरीक की धाय बनकर उसका सदागम/आचार्य से परिचय करवाया वैसे ही परहित में तत्पर सुसाधु आज भी स्वभाव से ही गुरुकर्मी भव्य प्राणियों के प्रति अकृत्रिम स्नेहभाव रखते हैं और किसी भी प्रकार उनमें भगवान् के आगमों के प्रति भक्ति उत्पन्न करते हैं। क्योंकि, किसी भी प्रकार यदि एक बार सर्वज्ञ के आगम पर भक्ति उत्पन्न हो जाय तो वह कर्मरूपी कचरे को धोकर साफ करने वाली, जीवरत्न को विशुद्ध बनाने वाली, भव-प्रपंच से मुक्त करने वाली, तत्त्वमार्ग को बताने वाली और परमपद को प्राप्त करवाने वाली होती है।

अनुसुन्दर चक्रवर्ती ने स्वयं को ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् सुललिता और पुण्डरीक को संवेग उत्पन्न कराने हेतु उनके समक्ष अपने संसार-भ्रमण का सम्पूर्ण चरित्र उपमा/रूपक द्वारा विस्तार से सुनाया, वह भी प्रायः सभी जीवों पर समान रूप से घटित होता है।

जब भी कुछ जीव मोक्ष जाते हैं तब वे लोकस्थिति के सार्वजनिक नियोग के अनुसार और कर्मपरिणाम की आज्ञा से ही जाते हैं और उतने ही जीव

---

* पृष्ठ ७७२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवितव्यता के वशीभूत होकर असंव्यावहारिक राशि से बाहर निकलते हैं। फिर भिन्न-भिन्न प्रकार से अनन्त भव-भ्रमण करते हैं। भटकते हुए बड़ी कठिनाई से उन्हें कभी मनुष्य भव प्राप्त होता है, किन्तु उसे भी वे हिंसा-क्रोध आदि दोषों के सेवन में व्यर्थ गंवा देते हैं और मोक्ष-साधन के दुर्लभ अवसर को खो देते हैं। कभी-कभी सद्गुण प्राप्त करने का अवसर मिलने पर नाममात्र की प्रगति करते हैं। यद्यपि दोष-सेवन के परिणामस्वरूप उनकी सामग्री तो नरकगामी होती है, तथापि संयोग से नदी में घिसते-घिसते गोल बने पत्थर के समान सर्वज्ञ-प्ररूपित आगमों में कथित अनुष्ठानों को करते-करते उन्हें सम्यक्ज्ञान प्राप्त होता है। तब वे स्वयं समझते हैं और दूसरों को भी समझाते हैं कि यह संसार का प्रपञ्च एक नाटक जैसा है। जैसे नाटक में पात्र भिन्न-भिन्न वेष धारण करता है वैसे ही प्राणी नये-नये शरीर धारण करता है। जैसे नर्तक अनेक स्थानों पर जाकर नृत्य करता है वैसे ही यह प्राणी समय-समय पर अनेक योनियों में प्रवेश करता रहता है। जैसे नाटक में अनेक प्रकार के झोंपड़े, घर, बंगले, महल आदि बनाये जाते हैं वैसे ही संसार में देव विमान, भवन आदि अनेक स्थान होते हैं। जैसे नाटक करने वालों का एक पूरा कुटुम्ब होता है, टोली होती है, वैसे ही संसार में प्राणी के भाई, बन्धु और कुटुम्बियों की पूरी टोली होती है। अतः यह सम्पूर्ण भव-प्रपञ्च नाटक जैसा लगता है। द्रव्य की अपेक्षा से परमार्थतः आत्मा एक ही है और अकेला है, पर मनुष्य आदि गति में* उसे जो भिन्न-भिन्न नाम, पर्याय रूप से मिलते हैं, वे सब कृत्रिम हैं, झूठे हैं और अल्प समय के लिए हैं, अतः विवेकशील प्राणियों को इन पर्यायों पर विश्वास नहीं करना चाहिये। यह भव-प्रपञ्च लोकस्थिति के नियमानुसार होता है, कालपरिणति के संकेत से होता है और कर्मपरिणाम की सत्ता का ही यह परिणाम है। इसका स्वभाव और भवितव्यता इसी प्रकार की होती है। जीव की स्वयं की भव्यता भी इसमें हेतु रूप रहती है। इस प्रकार लोकस्थिति, काल, कर्म, स्वभाव, भवितव्यता और निजभव्यता की परस्पर अपेक्षा से, इन सब कारण-समुदाय के एकत्रित होने पर भव-प्रपंच उत्पन्न होता है। जब भव-प्रपंच के कारणों का परिपाक हो जाता है तब इसी प्रपंच का उच्छेद करने के लिये परमेश्वर की कृपा होती है। परमेश्वर का अनुग्रह निर्मल ज्ञान का हेतु बनता है और इस विशुद्ध ज्ञान के बल से ही आत्मा को यह बोध होता है कि मुझे जो सुख-दुःख अभी प्राप्त हो रहे हैं, या अभी मुझे संसार में रहना पड़ रहा है, अथवा मेरा मोक्ष भी हो सकता है, वह सब परमेश्वर की आज्ञा का पालन न करने और करने से ही होता है। परमेश्वर की आज्ञा का पालन, लेश्याओं (आत्मपरिणति) की विशुद्धि और उनकी आज्ञा का उल्लंघन आत्मा को मलिन करना है। इस विचार के परिणाम स्वरूप वह लेश्या को शुद्ध करने वाले सद्गुणों में प्रवृत्त होता है और लेश्या को मलिन करने वाले समस्त दोषों से दूर हटता जाता है। इस प्रकार लेश्या को शुद्ध करते-करते अन्त में उस पर पूर्ण विजय

---

* पृष्ठ ७७३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त कर अलेशी (लेश्या रहित) हो जाता है। फिर अपने स्वाभाविक स्वरूप में स्थित होकर स्वयं ही परमेश्वर/परमात्मा बन जाता है।

स्वयं समन्तभद्राचार्य को अनुसुन्दर चक्रवर्ती अर्थात् संसारी जीव का चरित्र प्रत्यक्ष ज्ञात हुआ था और महाभद्रा ने उनके कहने से इसे जाना था। इसी प्रकार सभी संसारी जीवों का चरित्र सर्वज्ञ के आगम को प्रत्यक्ष होता है और सुसाधु जब इसे दूसरों को सुनाते हैं तब प्रज्ञाविशाल (विशाल बुद्धि वाले) इसे स्वयं समझ लेते हैं और उसका प्रतिपादन दूसरों के समक्ष करने में भी स्वयं सक्षम हो जाते हैं।

यह सम्पूर्ण चरित्र सुललिता (अगृहीतसंकेता) को उद्देश्य कर सुनाया गया था, पुण्डरीक ने तो प्रासंगिक रूप से सुना मात्र था। फिर भी वह लघुकर्मी होने से उसने शीघ्र ही इस अनुसुन्दर चक्रवर्ती का जीवन-चरित सुनकर, समझकर, अवगाहन कर उसे अपने जीवन में कार्यान्वित कर लिया।

इसी प्रकार हे भव्यों! आगम और अनुभव से सिद्ध इस संसारी जीव के चरित्र को आप भली-भांति समझें, समझ कर उसे चरित्र/आचरण में उतारें, कषायों का त्याग करें, कर्म आने के मार्ग आस्रव के द्वार बन्द करदें, इन्द्रिय-समूह पर विजय प्राप्त करें, समग्र मानसिक मलिनता के जाल को ध्वंस करदें, सद्गुणों का पोषण करें, संसार के प्रपंच/विस्तार का त्याग करें और शीघ्र ही शिवालय (मोक्ष) पहुँचे जिससे कि आप भी सुमति (सन्मति वाले) भव्यपुरुष बन जायें।

यदि आप में भव्यपुरुष पुण्डरीक जितनी लघुकर्मिता न हो तो जैसे सुललिता को बार-बार प्रेरणा दी गई, बार-बार प्रेम पूर्वक समझाया गया, अनेक प्रकार के उपालम्भ दिये गये, पूर्व-भव की स्मृति दिला कर सचेत की गई, तब गुरुकर्मी होने पर भी वह प्रतिबोधित हुई, वैसे ही आप भी जागृत होकर बोध प्राप्त करें। अन्तर केवल इतना है कि यदि आप इस प्रकार बोध प्राप्त करेंगे तो आपकी गणना प्रज्ञाविशालों की श्रेणी में नहीं होगी, किन्तु आप भी अगृहीतसंकेता के नाम से पुकारे जायेंगे। यह अवश्य है कि गुरु महाराज को आपको प्रतिबोध देने में कण्ठशोषण अधिक करना पड़ेगा, उन्हें बहुत कठिनाई उठानी पड़ेगी। पर, यह तो निश्चित है कि वे आपको प्रतिबोध देंगे और अन्त में आप अवश्य प्रतिबोध प्राप्त करेंगे।

जिस प्रकार सुललिता को सदागम के ऊपर बहुमान हुआ और उस बहुमान के प्रभाव से सुललिता को स्वयं के दुश्चरित पर पश्चात्ताप हुआ, सद्गुणों पर पक्षपात/आकर्षण हुआ, फलस्वरूप उसके सकल कर्ममल का नाश हुआ वैसे ही आपको भी सदागम/सर्वज्ञागम पर तदनुरूप अन्तःकरणपूर्वक बहुमान रखना चाहिये जिसके परिणामस्वरूप आपको भी विशिष्ट सत्तत्त्व-बोध प्राप्त हो।

जिस प्रकार श्रेयांस कुमार और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को जातिस्मरण ज्ञान हुआ, जिससे वे पूर्वभवों के बारे में जान सके, उसी प्रकार संसारी जीव अनुसुन्दर चक्रवर्ती आदि को भी जातिस्मरण ज्ञान हुआ। जाति-स्मरण ज्ञान के फलस्वरूप उसने अपने पूर्वभवों की संसार-भ्रमण की सारी आत्मकथा स्वयं कहीं। यह शास्त्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की आज्ञानुसार और युक्तियुक्त ही है;* क्योंकि आगम में मतिज्ञान की वासना असंख्य काल तक रहती है, ऐसा कहा गया है। शास्त्र में ऐसा एक भी वचन या उदाहरण नहीं है जिसमें यह बताया गया हो कि मतिज्ञान की वासना असंख्य काल तक नहीं रह सकती। अनेक भवों के बाद भी यह वासना रह सकती है, अतः अनुसुन्दर ने अपने भव-भ्रमण की कथा स्वयं कही इसमें कोई विरोध नहीं है। [९८६–९८७]

ग्रन्थ का भावार्थ

प्रारम्भ से अन्त तक इस ग्रन्थ का भावार्थ निम्न है :—

इस संसार में ऐसी एक भी दुर्लभ वस्तु नहीं है जो कुशल-कर्म/पुण्य के विपाक के फलस्वरूप नहीं मिल सकती हो। पुण्य के प्रताप से सभी प्रकार के भोग और विपुल सुख प्राप्त हो सकते हैं, तथापि बुद्धिमान लोग शमसुख (शान्ति के साम्राज्य) को प्राप्त करना ही श्रेयस्कर समझते हैं। [९८८]

मनुष्य चाहे जितने उच्च पद पर पहुँच जाय, उच्चता की पराकाष्ठा प्राप्त करले, पर यदि वह पाप-कर्मों को अपना शत्रु न समझे तो वे प्रबल हो जाते हैं और तब वे प्राणी को इस भयंकर संसार-समुद्र में वेग से धकेल देते हैं। [९८९]

प्राणी ने यदि नरक में जाने योग्य भयंकर अशुभ पाप-कर्म संचित किये हों, तदपि यदि वह सदागम-बोध-परायण होकर क्षणभर भी पुण्य या शुभकर्म करे तो अन्त में वह पाप रहित होकर मोक्ष भी जा सकता है। [९९०]

इस वस्तुस्थिति को समझकर यथाशक्य शीघ्रातिशीघ्र मन के मैल को निकाल कर दूर फेंक दीजिये। मन के मैल को निकाल कर सदागम की सेवा करिये, जिससे सद्आगम के आधार पर आप भी अनुसुन्दर चक्रवर्ती की भांति मोक्ष प्राप्त कर सकें। [९९१]

एक विशेष बात यह भी है कि अनुसुन्दर चक्रवर्ती कर्ममल के वशीभूत हुआ, जिससे उसे अनन्त भव-भ्रमण करना पड़ा। उसके वृत्तान्त को कथा में इसलिये गूंथा गया कि प्राणियों की बुद्धि विकसित हो और उन्हें अपनी वस्तुस्थिति का ज्ञान हो जाय। [९९२]

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि जैसे अनुसुन्दर चक्रवर्ती को जिस पद्धति से अनेक भव करने पड़े उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी को भी करने पड़ें, यह आवश्यक नहीं है। क्योंकि, बहुत से प्राणियों ने एक ही भव में एकबार ही जिनेन्द्र-मत को प्राप्त कर उसी भव में मोक्ष प्राप्त किया है। कुछ प्राणियों ने जैनेन्द्र-मत की प्राप्ति करने के बाद तीसरे या चौथे भव में मोक्ष प्राप्त किया है। अनुसुन्दर ने जो-जो अनुष्ठान किये वे अनुष्ठान भिन्न-भिन्न रूप में करके भी अनेक भव्य जीव मोक्ष गये हैं।

---

* पृष्ठ ७७४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिन्न-भिन्न प्राणियों की भव्यता अलग-अलग होती है और अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार वे अपने संसार का क्षय करते हैं, अतः संसार से पार उतरने के लिए मूल आधार प्राणी की अपनी भव्यता ही है। [९९३–९९४]

भव्यों! यदि आपको इस कथा के गूढार्थ/आन्तरिक भावार्थ को मन में धारण करना हो, कथा के रहस्य को समझना हो तो संक्षेप में इस परमाक्षर मूल-मन्त्र को अपने हृदय-पटल पर अंकित करलें।

इस संसार में जिनागम/जिन-मार्ग को प्राप्त कर सुमेधा वाले प्रत्येक मनुष्य को जैसे भी हो सके, जितना भी हो सके, उतना कर्ममल का विशोधन करना चाहिये, पाप को ढूंढ़-ढूंढ़ कर निकाल फेंकना चाहिये। [९९५]

प्रस्ताव का उपसंहार

एतन्निःशेषमत्र प्रकटितमखिलैर्युक्तिगर्भैर्वचोभिः,
प्रस्तावे भावसारं तदखिलमधुना शुद्धबुद्ध्या विचिन्त्य।
भो भव्या! भाति चित्ते यदि हितमनघं चेदमुच्चैस्तरां व–
स्तत्तूर्णं मेऽनुरोधाद् विदितफलमलं स्वार्थसिद्ध्यै कुरुध्वम्॥ ९९६॥

इस प्रस्ताव में मैंने युक्तिपूर्ण वचनों से जो-जो वृत्तान्त/घटना कही है वह समस्त भावार्थों/निष्कर्षों से परिपूर्ण है। हे भव्य प्राणियों! इन सब पर शुद्ध बुद्धि से विचार करें। विचार के परिणामस्वरूप यदि आपको मेरा कथन निष्पाप लगे, यदि आपको यह कथन हितकारी लगे तो मुझ पर अनुग्रह कर इन ज्ञात-फल और अच्छे परिणाम वाली बातों को अपने जीवन में शीघ्र ही उतार लीजिये, इन्हें स्वीकार कीजिये और इन्हें अपने चारित्र में क्रियान्वित कीजिये। इसी में आपके स्वार्थ की परम सिद्धि है। [९९६]

उत्सूत्रमेव रचितं मतिमान्द्यभाजा,
किञ्चिद्यदीदृशि मयाऽत्र कथानिबन्धे।
संसारसागरमनेन तरीतुकामै–
स्तत्साधुभिः कृतकृपैर्मयि शोधनीयम्॥ ९९७॥

उपर्युक्त कथा की रचना मैंने संसारसागर को पार करने की भावना से की है। मेरी बुद्धि की अल्पज्ञता के कारण यदि इसमें कुछ सूत्र/सिद्धांत के विरुद्ध लिखा गया हो तो सज्जन पुरुष/सत्साधुगण मुझ पर कृपा कर उसका संशोधन करलें, सुधार लें। [९९७]

उपमिति-भव-प्रपंच कथा के पूर्वसूचित वार्तामेलक
वर्णन रूप आठवां प्रस्ताव पूर्ण हुआ।

उपमिति-भव-प्रपंच-कथा सम्पूर्ण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थकर्ता प्रशस्ति*

द्य तिलाखिलभावार्थः सद्भव्याब्जप्रबोधकः ।
सूराचार्योऽभवद्दीप्तः साक्षादिव दिवाकरः ।।९९८।।

निखिल भावार्थों को प्रकाशित करने वाले और भव्य प्राणी रूप कमल को विकसित करने वाले साक्षात् सूर्य के समान तेजस्वी सूराचार्य हुए । [९९८]

स निवृत्तिकुलोद्भूतो लाटदेशविभूषणः ।
आचारपञ्चकोद्युक्तः प्रसिद्धो जगतीतले ।।९९९।।

ये सूराचार्य निवृति कुल में उत्पन्न हुए थे, लाट देश के आभूषण रूप थे, पंचाचार के पालन में सर्वदा तत्पर थे और जगतीतल में प्रसिद्ध थे । [९९९]

अभूद् भूतहितो धीरस्ततो देल्लमहत्तरः ।
ज्योतिर्निमित्तशास्त्रज्ञः प्रसिद्धो देशविस्तरे ।।१०००।।

सूराचार्य के पश्चात् देल्लमहत्तर हुए, जो प्राणियों के हितकारी थे, धीर-वीर थे, ज्योतिष व निमित शास्त्र के ज्ञाता थे तथा देश के अधिकांश भाग में प्रसिद्धि-प्राप्त थे । [१०००]

ततोऽभूदुल्लसत्कीर्त्तिर्ब्रह्मगोत्रविभूषणः ।
दुर्गस्वामी महाभागः प्रख्यातः पृथिवीतले ।।१००१।।

उनके पश्चात् ब्रह्मगोत्र के विभूषण महाभाग्यशाली दुर्गस्वामी हुए । जिनकी कीर्ति उल्लसित हो रही थी और जो पृथ्वीतल पर ख्याति प्राप्त थे । [१००१]

प्रव्रज्यां गृह्णता येन गृहं सद्धनपूरितम् ।
हित्वा सद्धर्ममाहात्म्यं क्रिययैव प्रकाशितम् ।।१००२।।

दुर्गस्वामी ने दीक्षा ग्रहण करते समय प्रचुर धन-धान्य से पूरित गृह को छोड़कर, सत्क्रिया के माध्यम से सद्धर्म के माहात्म्य को प्रकाशित किया । [१००२]

यस्य तच्चरितं वीक्ष्य शशांककरनिर्मलम् ।
बुद्धास्तत्प्रत्ययादेव भूयांसो जन्तवस्तदा ।।१००३।।

दुर्गस्वामी का चन्द्रकिरण के समान निर्मल चारित्र देखकर, विश्वस्त होकर अनेक प्राणियों ने बोध को प्राप्त किया, अर्थात् संसार से विरक्त हुए । [१००३]

सद्दीक्षादायकं तस्य, स्वस्य चाहं गुरूत्तमम् ।
नमस्यामि महाभागं गर्गर्षिं मुनिपुंगवम् ।।१००४।।

---

* पृष्ठ ७७५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री दुर्गस्वामी और स्वयं मुझ (सिद्धर्षि) को दीक्षा प्रदान करने वाले, महाभाग्यशाली मुनिपुंगव सर्वोत्तम गुरु श्री गर्गर्षि को मैं नमस्कार करता हूँ। [१००४]

क्लिष्टेऽपि दुष्षमाकाले, यः पूर्वमुनिचर्यया।
विजहारेह निःसङ्गो, दुर्गस्वामी धरातले ॥१००५॥

श्री दुर्गस्वामी अत्यन्त हीन दुःषमकाल में भी पूर्णरूपेण निःसंग होकर पूर्वकाल अर्थात् चौथे आरे की श्रमण-चर्या का पालन करते हुए भूतल पर विचरण करते थे। [१००५]

सद्देशनांशुभिर्लोके, द्योतित्वा भास्करोपमः।
श्रीभिल्लमाले यो धीरो, गतोऽस्तं सद्विधानतः ॥१००६॥

सूर्य की उपमा के समान धैर्यशाली दुर्गस्वामी सद्देशना रूपी किरणों से लोक को उद्योतित करते हुए जीवन के सांध्य काल में सद्विधान पूर्वक श्रीभिल्लमाल नगर में अवसान को प्राप्त हुए। [१००६]

तस्मादतुलोपशमः सिद्धर्षिरभूदनाविलमनस्कः।

परहितनिरतैकमतिः सिद्धान्तनिधिर्महाभागः ॥१००७॥

दुर्गस्वामी के सिद्धर्षि (सद्ऋषि) हुए जो अतुलनीय उपशम के धारक, स्फटिक सदृश निर्मल चित्त वाले, परहित के करने में सदैव बुद्धि का व्यय करने वाले, सिद्धान्त के निधान और महाभाग्यशाली थे। [१००७]

विषमभवगर्तनिपतितजन्तुशतालम्बदानदुर्ललितः।
दलिताखिलदोषकुलोऽपि सततकरुणापरीतमनाः ॥१००८॥

संसार के विषम गर्त में पड़े हुए सैकड़ों प्राणियों को अवलम्बन रूपी दान देने वाले थे, स्वयं लाड़-प्यार में पले थे, जिन्होंने समस्त दोष-पुञ्जों का दलन कर दिया था तथापि जिनका मन सर्वदा करुणा से ओत-प्रोत रहता था। [१००८]

यः संग्रहकरणरतः सदुपग्रहनिरतबुद्धिरनवरतम्।
आत्मन्यतुलगुणगणैर्गणधरबुद्धिं विधापयति ॥१००९॥

यह सिद्धर्षि संग्रह/संक्षेप करने की कला में कुशल है, दूसरों पर निरन्तर सद् अनुग्रह और उपकार करता है और स्वयं के अतुलनीय गुणगणों के कारण वह तीर्थंकर के गणधर ही हों, ऐसी बुद्धि अन्य प्राणियों में उत्पन्न करता है। [१००९]

बहुविधमपि यस्य मनो निरीक्ष्य कुन्देन्दुविशदमद्यतनाः।
मन्यन्ते विमलधियः सुसाधुगुणवर्णकं सत्यम् ॥१०१०॥

जिनका विविध प्रकार का मन कुन्द पुष्प अथवा चन्द्रबिम्ब के समान निर्मल देखकर आजकल के विमल बुद्धि वाले नवयुवक भी मौलिक ग्रन्थों में प्रति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पादित [illegible] के गुण वर्णन को सत्य मानते हैं अर्थात् आदर्श साधु का जैसा शास्त्रों में वर्णन है, उसका यह सिद्धर्षि जीता जागता उदाहरण है । [१०१०]

उपमितिभवप्रपञ्चा कथेति तच्चरणरेणुकल्पेन ।
गीर्देवतया निहिताऽभिहिता सिद्धाभिधानेन ।।१०११।।

यह उपमिति-भव-प्रपंच कथा गीर्देवता अर्थात् सरस्वती देवी ने बनाई है और सरस्वती के चरणरज-कल्प सिद्ध नामक महर्षि ने इस कथा का कथन किया है। [१०११]

आचार्यो हरिभद्रो मे, धर्मबोधकरो गुरुः ।
प्रस्तावे भावतो हन्त, स एवाद्ये निवेदितः ।।१०१२।।

आचार्य हरिभद्रसूरि मेरे धर्मबोधकारक गुरु हैं । इस बात का मैंने प्रथम प्रस्ताव में ही निवेदन/संकेत कर दिया है । [१०१२]

विषं विनिर्धूय कुवासनामयं, व्यचीचरद्यः कृपया मदाशये ।
अचिन्त्यवीर्येण सुवासनासुधां, नमोऽस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये ।।१०१३।।

श्री हरिभद्रसूरि ने कुवासना से व्याप्त विष का प्रक्षालन कर मेरे लिये अचिन्तनीय वीर्य के प्रयोग से कृपा पूर्वक सुवासना रूप अमृत का निर्माण किया, ऐसे आचार्यश्री को नमस्कार हो । [१०१३]

अनागतं परिज्ञाय, चैत्यवन्दनसंश्रया ।
मदर्थमेव कृता येन वृत्तिर्ललितविस्तरा ।।१०१४।।

अनागत काल का परिज्ञान कर जिन्होंने मेरे लिए ही चैत्यवन्दन से सम्बन्धित ललितविस्तरा नामक वृत्ति की रचना की । [१०१४]

यत्रातुलरथयात्राधिकमिदमिति लब्धवरजयपताकाम् ।
निखिलसुरभवनमध्ये सततप्रमदं जिनेन्द्रगृहम् ।।१०१५।।

यत्रार्थस्टङ्कशालायां धर्मः सद्देवधामसु ।
कामो लीलावती लोके, सदाऽऽस्ते त्रिगुणो मुदा ।।१०१६।।

तत्रेयं तेन कथा कविना निःशेषगुणगणाधारे ।
श्रीभिल्लमालनगरे गदिताऽग्रिममण्डपस्थेन ।।१०१७।।

जहाँ अतुलनीय रथयात्रा महोत्सव से वर्धित, अखिल देवभवनों के मध्य में श्रेष्ठ उन्नत जयपताका से विभूषित और सतत प्रमुदित करने वाला जिनेन्द्र भगवान् का मन्दिर विद्यमान है। [१०१५]

---

* पृष्ठ ७७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहाँ टंकशालाओं में अर्थ/धन है, सद्देवों के धाम (जिनचैत्यों) में धर्म है और लीलावती ललनाओं के लोक में काम है। इस प्रकार जहाँ तीनों गुणों (अर्थ, काम और धर्म) का सर्वदा मोदकारी जमघट है। [१०१६]

ऐसे निखिल गुणगणों का आधारभूत श्री भिल्लमाल नामक नगर के अग्रिम मण्डप में रहते हुए सिद्धर्षि कवि ने इस कथा की रचना की। [१०१७]

प्रथमादर्शे लिखिता साध्व्या श्रुतदेवतानुकारिण्या।
दुर्गस्वामिगुरूणां शिष्यिकयेयं गुणाभिधया ॥१०१८॥

श्रुतदेवता का अनुकरण करने वाली गुरुवर श्री दुर्गस्वामी की शिष्या गुणा नाम की साध्वी ने इस ग्रन्थ का प्रथमादर्श (प्रथम प्रति) लिखा। [१०१८]

संवत्सरशतनवके द्विषष्टिसहिते (९२)ऽतिलंघिते चास्या।
ज्येष्ठे सितपञ्चम्यां पुनर्वशौ गुरुदिने समाप्तिरभूत् ॥१०१९॥

प्रायः समाप्ति की ओर अग्रसर संवत् ९६२ संवत्सर में ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी गुरुवार पुनर्वसु नक्षत्र में इस रचना की पूर्णाहुति हुई। [१०१९]

ग्रन्थाग्रमस्या विज्ञाय, कीर्तयन्ति मनीषिणः।
अनुष्टुभां सहस्राणि, प्रायशः सन्ति षोडश ॥१०२०॥

मनीषियों के मतानुसार इस कथा-ग्रन्थ का ग्रन्थाग्र/श्लोक परिमाण अनुष्टुब श्लोक-पद्धति से प्रायशः सोलह हजार है। [१०२०]

इति ग्रन्थकर्त्ता प्रशस्ति

महर्षि सिद्धर्षि प्रणीत उपमति-भव-प्रपञ्च कथा
का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

श्रावणी पूर्णिमा सं० २०३९
जयपुर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org